विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ

आलीजाह दरबार प्रेस, ग्वालियर, में मुद्रित

तथा

सिंधिया ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट के तत्वावधान में प्रकाशित

श्रीमन्त महाराज मेजर-जनरल सर जीवाजीराव शिन्दे

जी. सी. एस. आई., जी. सी. आई. ई.,

ग्वालियर नरेश

का

शुभ सन्देश

विक्रम संवत् आज सम्पूर्ण भारत में व्यवहार किया जाता है। विक्रमादित्य का नाम सदैव भारतीय हृदयों में गौरव एवं स्वाभिमान की भावना भरता रहा है। भले ही इतिहास के विद्वानों का इस विषय में कुछ भी मत हो, प्राचीन साहित्य, अनुश्रुति एवं लोककथाओं में प्रचलित श्री विक्रमादित्य का नाम, हमारे लिए पराक्रम, वैभव, न्याय-प्रियता, दान-वीरता एवं धर्म-परायणता का जीवित आदर्श रहा है।

विक्रमीय संवत्सर की दो सहस्र वर्षों की इस यात्रा द्वारा हमारी उस वर्तमान सभ्यता का निर्माण हुआ है जिसके हिन्दू, मुसलमान, सिख, जैन, पारसी, ईसाई आदि अंग हैं। अतएव भारतीय होने के नाते प्रत्येक भारतवासी का यह कर्तव्य है कि इस सर्वधर्ममयी संस्कृति के प्रतीक विक्रम संवत् की द्विसहस्राब्दी की समाप्ति और तीसरी सहस्राब्दी के प्रारम्भ पर जाति, धर्म एवं सम्प्रदाय की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठकर भारतवर्ष के उस अतीत गौरव का स्मरण करे जो विक्रम शब्द में निहित है।

यह एक गौरवमय संयोग है कि कला, साहित्य एवं दर्शनों की धात्री, प्राचीन सप्तपुरियों में परिगणित, विक्रमादित्य की राजधानी उज्जयिनी इस राज्य की सीमा के अन्तर्गत है और इस कारण से विक्रमादित्य की स्मृति हमारे लिए विशेष रूप से स्फूर्तिप्रद है।

हमारे प्राचीन इतिहास की विभूतियों के प्रति उपर्युक्त अवसर पर अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार श्रद्धा प्रकट करते रहना तथा इस प्रकार से उनके आदर्शों से प्राप्त प्रोत्साहन का उपकार चुकाने का प्रयत्न करते रहना हमारा पावन कर्तव्य है। भारतवर्ष के विश्रुत विद्वानों द्वारा श्री विक्रमादित्य एवं विक्रम संवत् की स्मृति में अर्पित किए गए विद्वत्ता के प्रसूनों का संग्रह, यह 'विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ' उस कर्तव्य-पालन की दिशा में एक स्तुत्य एवं सुन्दर प्रयास है, और निःसन्देह अभिनन्दनीय है।
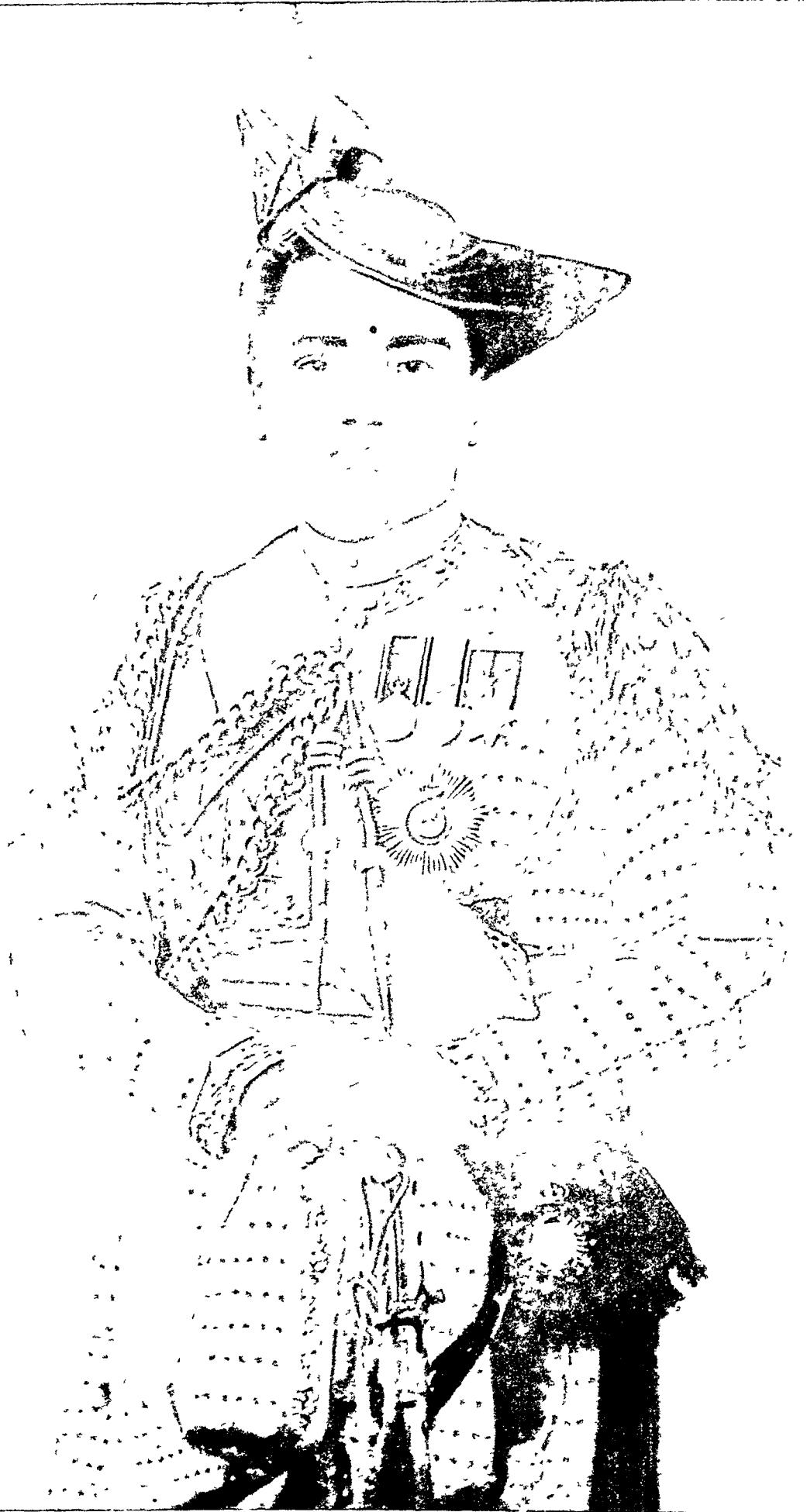
(वर्तमान उज्जयिनीपुरावराधीश)

मेजर-जनरल सर जीवाजीराव महाराज शिन्दे

प्रस्तावना

विक्रम द्वि-सहस्राब्दी-समारोह-समिति के अध्यक्ष के नाते श्रेष्ठतम विद्वानों की रचनाओं से गौरवान्वित एवं प्रख्यात कलाकारों की तूलिकाओं से सुसज्जित इस विक्रम-स्मृति-ग्रंथ को प्रस्तावित करने में मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है।

यह ग्रंथ उन विक्रमादित्य की स्मृति मे प्रकाशित हो रहा है जिनका नाम भारतवर्ष के सांस्कृतिक विकास, शौर्य और वैभव का प्रतीक है। उनकी यशोगाथा प्राचीन ग्रंथो मे बिखरी पड़ी है और उनके न्याय, बुद्धि, वैभव तथा विद्याप्रेम की कहानी अगणित जनश्रुतियों द्वारा बीस शताब्दियों की लम्बी काल-सीमा पारकर आज भारतवर्ष के कोने कोने मे फैली हुई है। वे अपने औदार्य, साहित्य-सेवा एवं अलौकिक प्रतिभा के कारण सर्वश्रुत हैं।

विक्रमादित्य ने अपनी गौरवशाली विजय के उपलक्ष मे जिस विक्रम सम्वत् की स्थापना की वह भारतीय शौर्य के विकास का सूचक महान् संवत्सर हमारी सांस्कृतिक परम्परा तथा एकसूत्रता का प्रतीक है। विक्रमीय संवत् की निर्बाध यात्रा भारतीय राष्ट्र की सांस्कृतिक, साहित्यिक, कलात्मक, वैज्ञानिक और ऐतिहासिक विकास, प्रगति और साधना की पूर्णता एवं अमरत्त्व की द्योतक है।

विक्रम-कालिदास के नाम के द्वारा इतने लम्बे समय तक बल, स्फूर्ति और यश का लाभ करनेवाले इस देश की वर्तमान पीढ़ी की भारतीय जनता, विद्वानों, कलाकारों, साहित्यिकों तथा ऐतिहासिक, पुरातत्त्व एवं संस्कृति प्रेमियों के कन्धों पर यह कर्त्तव्य था कि विक्रमीय संवत्सर के ये दो सहस्र वर्ष समाप्त होने की महत्सन्धि पर इन विभूतियों के गौरव के अनुकूल हमारे ऊपर उनके अपार ऋण और उपकार के हेतु आयोजन करते।

इस अभिप्राय से समिति ने देश-विदेश के भारतीय संस्कृति एवं इतिहास के पंडितों, कलाकारों एवं साहित्यकारों से इस ग्रंथ को अपनी कृतियों से विभूषित करने की प्रार्थना की। अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि भारतवर्ष के प्राय: सभी विश्वविद्यालयों एवं पुरातत्त्व संग्रहालयों से सम्बन्धित विद्वानों ने तथा सभी प्रान्तों के प्रसिद्ध विचारकों ने इस दिशा में अपना पूर्ण योग दिया और साथ ही भारतप्रेमी अन्य देशीय विद्वानों ने भी इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर अपना योग दान किया। ग्वालियर राज्य के विद्वानों को हाथ बँटाना तो प्राकृतिक ही था। मैं केन्द्रीय महोत्सव समिति की ओर से इन सबका कृतज्ञ हूँ।

सभी प्रान्तो के विश्रुत कलाकारो ने अपनी तूलिका एव कल्पना द्वारा इसे सुसज्जित किया है। मैं उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

इस ग्रथ के सम्पादक केन्द्रीय समिति के धन्यवाद के साथ साथ बधाई के अधिकारी है। काशी विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० रमाशकर त्रिपाठी एम० ए०, पी-एच० डी०, का मैं आभारी हूँ, जिन्होने समिति के आग्रह को स्वीकार कर प्रधान सम्पादक के पद को स्वीकार कर लिया है। इस ग्रथ के कार्यवाहक-सम्पादक श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने प्रारम्भ से लेकर मुद्रण तक जो परिश्रम किया है वह प्रशसनीय है। इसके मुद्रण के कार्य में जो देर हुई है वह इसका वृहत् आकार तथा युद्धजन्य परिस्थितियो को देखते हुए किसी सीमा तक क्षम्य ही है। ऐसी दशा में इस ग्रथ को इस रूप में मुद्रित कर देने का श्रेय आलीजाह दरबार प्रेस को है।

इस कार्य के सचालन में मुझे जितनी भी सफलता प्राप्त हो सकी है वह सब हमारे प्रजावत्सल श्रीमन्त ग्वालियर नरेश के पुण्य प्रताप का फल है। विक्रमादित्य की राजधानी के वर्तमान अधिपति, ग्वालियर की प्रजा के प्राण, हमारे श्रीमन्त सरकार यशस्वी एव चिरायु हो, इसी हार्दिक प्रार्थना के साथ मै इस निवेदन को समाप्त करता हूँ।

कृष्णराव दौलतराव महाडिक,
अध्यक्ष,
विक्रम द्विसहस्राब्दी-समारोह समिति,
ग्वालियर।

सम्पादकीय निवेदन

विक्रम संवत् की द्वि-सहस्राब्दी का समाप्त होना भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। धूमिल अतीत में विक्रम के स्मारकस्वरूप जिस विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ था उसके पथ की वर्तमान रेखा यद्यपि तमसाच्छन्न है, परन्तु इस डोर के सहारे हम अपने आपको उस शृंखला के क्रम में पाते है जिसके अनेक अंश अत्यन्त उज्वल एवं गौरवमय रहे हैं। ये दो सहस्र वर्ष तो भारतीय इतिहास के उत्तरकाल के ही अंश है। विक्रम संवत् के उद्‌भव तक विशुद्ध वैदिक संस्कृति का काल, रामायण और महाभारत का युग, महावीर और गौतम बुद्ध का समय, पराक्रमसूर्य चन्द्रगुप्त मौर्य एव प्रियदर्शी अशोक का काल अन्ततः पुष्यमित्र शुंग की साहसगाथा सुदूर भूत की बातें बन चुकी थीं; वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्रग्रंथ एवं मुख्य स्मृतियों की रचना हो चुकी थी; वैयाकरण पाणिनि और पतञ्जलि अपनी कृतियो से पण्डितो को चकित कर चुके थे; और कौटिल्य की ख्याति सफल राजनीतिज्ञता के कारण फैल चुकी थी। इन पिछले दो सहस्र वर्षो की लम्बी यात्रा मे भी भारत के शौर्य ने, उसकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता ने जो मान स्थिर कर दिए है वे विगत शताब्दियों के बहुत-कुछ अनुरूप है। विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी मे हमने भारशिवनागों, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, स्कन्दगुप्त, यशोवर्मन्-विष्णुवर्धन आदि के बल और प्रताप के सम्मुख विदेशी शक्तियो को थरथर काँपते देखा; भारत के उपनिवेश बसते देखे; भारत की संस्कृति व उसके धर्म का प्रसार बाहर के देशों में देखा; कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ आदि की काव्यप्रतिभा तथा दण्डी और बाणभट्ट की विलक्षण लेखनशक्ति देखी; कुमारिलभट्ट और शंकराचार्य के बुद्धि-वैभव को देखा; और स्वतंत्रता की वह्नि को सतत प्रज्वलित रखनेवाली राजपूत जाति के उत्थान व संगठन को देखा। दूसरी सहस्राब्दी में भाग्यचक्र की गति विपरीत हो गई। उसने उपनिवेशों का उजड़ना दिखाया और भारतीयों की हार और बहुमुखी पतन। परन्तु उनकी आन्तरिक जीवन-शक्ति का ह्रास नही हुआ, और यह दिखा दिया कि गिरकर भी कैसे उठा जा सकता है।

भारतीय संस्कृति के अभिमानियो को यह कम गौरव की बात नही है कि आज भारतवर्ष मे प्रवर्तित विक्रम संवत्सर बुद्धनिर्वाणकालगणना को छोड़कर संसार के प्रायः सभी प्रचलित ऐतिहासिक संवतों मे अधिक प्राचीन है। ऐसी महत्संधि पर यह सद्-संकल्प का उदय होना प्राकृतिक ही है कि विक्रमादित्य को, जो अनुश्रुति के अनुसार संवत् प्रवर्तक माने जाते हैं, ऐतिहासिक गवेषणापूर्ण एवं भारतीय सांस्कृतिकदाय का सिंहावलोकन करनेवाले विक्रम-स्मृति-ग्रंथ का प्रकाशन लोक-वाणी हिन्दी मे किया जाय।

विक्रमादित्य की राजधानी अवन्तिका के वर्तमान उज्जयिनीपुरवराधीश श्रीमन्त ग्वालियर नरेश के तत्त्वावधान में संयोजित विक्रम-समारोह-समिति ने इसी शुभ विचार से प्रेरित होकर विक्रम-स्मृति-ग्रंथ के सम्पादन एवं प्रकाशन का भार इस ग्रंथ के सम्पादक-मण्डल को सौंपा था। ऐसे महिमामय कार्यभार को प्राप्त करना जितने बड़े गौरव का विषय था उतना ही वह उत्तरदायित्व एवं कठिनाइयों से पूर्ण था। ऐसे महान् व कठिन कार्य को पूर्ण कर जो सन्तोष तथा प्रसन्नता सम्पादक-मण्डल को हुई है उसे छिपाना न तो शक्य ही है और न आवश्यक ही। परन्तु यहाँ यह धन्यवादपूर्वक लिख देना अत्यन्त आवश्यक है कि इस सब का श्रेय हमारे समर्थ सहायकगणों को है।

इस ग्रंथ की सामग्री को तीन खण्डों मे बांट दिया गया है। पहले खण्ड में विक्रमादित्य तथा उनके नवरत्नों से सम्बन्धित विवेचनयुक्त रचनाएँ है। इनमे सबसे पूर्व ई० पू० ५७ के विक्रमादित्य सम्बन्धी निबन्ध हैं। तत्पश्चात् विक्रमकालीन संस्कृति तथा विक्रमादित्य विरुदधारी नरेशों पर लेख है। नवरत्नों मे सर्वप्रथम कालिदास विषयक निबन्ध दिए गए हैं, फिर अन्य 'रत्नों' पर है।

दूसरे खण्ड मे विक्रमराजधानी उज्जयिनी, मालव तथा ग्वालियर राज्य सम्बन्धी रचनाएँ हैं। विक्रमादित्य एवं विक्रमादित्यों की इस भूमि को हमने 'विक्रम प्रदेश' कहा है। विक्रमादित्य तथा उज्जैन का घनिष्ट सम्बन्ध है; अतएव

सम्पादकीय निवेदन

पहले उज्जैन पर लेख हैं, फिर मालवगण एवं मालवप्रदेशसम्बन्धी और अन्त में ग्वालियर से सम्बन्धित रचनाएँ हैं। भारतीय सांस्कृतिक विकास में इस प्रदेश द्वारा दिए गए योग का पूर्ण विवेचन इस खण्ड में हो सके ऐसा प्रयास किया गया है। अठारहवीं शताब्दी के पश्चात् की घटनाओं एवं व्यक्तियों का उल्लेख यथासम्भव नहीं किया गया है।

तीसरे खण्ड में वे सब लेख हैं जो भारतीय सांस्कृतिक विकास से सम्बन्धित हैं, और उक्त दोनों खण्डों में से किसी में न आते थे। देश-विदेश के मान्य विद्वानों द्वारा इस महान् अवसर पर भारत के सांस्कृतिक विक्रम की अर्चना में प्रस्तुत की गई रचनाओं से युक्त इस खण्ड का नाम 'विक्रमार्चन' रखा है। लेखों को क्रम देने का अन्य कोई आधार न पाकर उन्हें लेखकों के नामों के अकारादि क्रम से रखा दिया गया है। इस खण्ड की कविताओं एवं उद्धरणों के सम्बन्ध में अकारादि क्रम को नहीं माना जा सका है।

इस ग्रंथ की कृतियों के सम्बन्ध में कोई बात लिखना धृष्टता होगी, यह अवश्य है कि इन लेखों में व्यक्त किए गए मत उनके लेखकों के ही हैं। वे अपने विषय में मान्य विद्वानों की रचनाएँ हैं। ये विद्वान विदेशों के भी हैं, और भारतवर्ष के तो प्रत्येक प्रान्त एवं विश्वविद्यालय के हैं। हम उन विद्वान लेखकों के अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर अपनी बहुमूल्य रचनाएँ भेजकर इस प्रयास को सफल बनाया। गत दो वर्षों तक उन्होंने ग्रंथ के इस ग्रंथ के मुद्रण की बाट देखी। हमें पूर्ण आशा है कि युद्धकाल की मुद्रण की कठिनाइयों को देखते हुए वे इस देर के लिए हमें क्षमा करेंगे।

भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त के प्रसिद्ध चित्रकारों ने हमें अपनी बहुमूल्य कृतियाँ देकर इस ग्रंथ को सुशोभित किया है। अनेक स्थानीय कलाकारों ने इसके लिए रेखा-चित्र बनाकर इसकी शोभा बढ़ाई है। हम उनको हार्दिक धन्यवाद देते हैं। भारतीय पुरातत्त्व विभाग तथा समस्त भारत के पुरातत्त्व संग्रहालयों के हम अत्यन्त आभारी एवं कृतज्ञ हैं, उनकी कृपा से हम अपने लेखों को सचित्र कर सके। फाइन आर्टस् म्यूजियम, बोस्टन, अमरीका, ने हमें बेसनगर की गंगा की मूर्ति का चित्र एवं उसके प्रकाशन की अनुमति भेजकर आभारी किया है। ग्वालियर पुरातत्त्व विभाग की मुक्तहस्त सहायता के बिना तो यह ग्रंथ अधूरा ही रह जाता। अपने विभाग के ब्लाक्स, फोटोग्राफ्स, पुस्तकें आदि देकर उन्होंने इस ग्रंथ के महत्त्व को बढ़ाया है।

केन्द्रीय समिति के सभापति श्रीमान् सरदार मेजर कृ० दी० महाडिक महोदय एवं मंत्री श्री बृजकिशोरजी चतुर्वेदी बार-एट-लॉ के सक्रिय सहयोग एवं प्रेमपूर्ण प्रोत्साहन के बिना यह कार्य पूरा करना हमारे लिए दुःसाध्य था।

अन्त में हम मेजर जनरल श्रीमन्त सर जीवाजीराव महाराज शिन्दे ग्वालियर नरेश के सम्मुख अत्यन्त विनम्रता-पूर्वक आभार प्रदर्शित करते हैं। उनके पुण्यप्रताप से यह प्रयास सफल हो सका है एवं उनके स्फूर्तिप्रद सन्देश द्वारा हमारा जो उत्साहवर्धन हुआ है उससे हम अपने कार्य को समुचित रूप से कर सके हैं।

इस ग्रंथ के सम्पादन में हुई त्रुटियों के लिए क्षमा मांगते हुए हमको यह कहावत ध्यान में आती है —'सर्पवद्दोषमुत्सृज्य गुणम् गृह्णन्ति साधवः'। आशा है उदारहृदय पाठक पढ़ते समय इसको न भूलेंगे। हम यह भी निवेदन करना चाहते हैं कि यदि इस ग्रंथ द्वारा विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता पर प्रकाश पड़ सका, भारतीय संस्कृति की महानता का किंचित् भी आभास मिल सका, और हमारी जन्मभूमि, विक्रमादित्य एवं विक्रमादित्यों की यह रंगस्थली, ग्वालियर प्रदेश द्वारा उस सांस्कृतिक महानता में दिए गए अंश-दान पर प्रकाश पड़ सका तो हम समझेंगे कि जिस आशा से हमें यह कार्य सौंपा गया था वह हम किसी अंश में पूर्ण कर सके, और यह ढाई वर्ष का कठिन श्रम व्यर्थ नहीं गया।

सूर्यनारायण व्यास — रमाशंकर त्रिपाठी

रामचन्द्र श्रीवास्तव — युधिष्ठिर भार्गव

हरिहरनिवास द्विवेदी

विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ

विषय-सूची

विक्रम-चक्र

(प्रथम खण्ड)

विक्रम-प्रदेश

(द्वितीय खण्ड)

विक्रमार्चन

(तृतीय खण्ड)

चित्र-सूची

(रंगीन)

(सादा)

विक्रम
स्मृति-ग्रन्थ

विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ

—प्रथम खण्ड—

श्री:

संवत्सर

दो सहस्र संवत् बीते हैं
हम निज विक्रम बिना आज फिर मरे मरे जीते हैं।
नित्य नये शक-हूण हमारा जीवन-रस पीते हैं
होकर भी क्या हुए आज भी उनके मनचीते हैं
आपस के सम्बन्ध हमारे कडुवे हैं - तीते हैं
भरे भरे हैं हाय हृदय ये किन्तु हाथ रीते हैं।

द॰ मैथिलीशरण

* कीर्ति-कलाप *

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय

'हरिऔध'

(चोपदे)

जिस नृमणि की मनोज्ञ मुकुटाभा ।
है अनय तम निधन निरत होती ॥
कीर्ति सर्वस्व दिव्यता जिसकी ।
है सकल कालिमा कलुष खोती ॥

है डुबाती अनीतियाँ सारी ।
नीति जिसकी पुनीत धारा बन ॥
जो नृपति मंजु राज्य नभ तल में ।
है जगत हित वितान देता तन ॥

जो प्रजा मंडली मयूरों का ।
है सरसता निकेत श्यामल घन ॥
पाठ पढ लोक रंजिनी रुचि का ।
कर सका जो सदैव जन रंजन ॥

है जिसे मर्म ज्ञात शासन का ।
है तुली न्याय की तुला जिसकी ॥
कान जिसकी प्रबन्ध पटुता के ।
सुन किसी की नहीं सके सिसकी ॥

कर सदा भूरि कान्त करतूतें ।
पा सका जो विभूतियाँ न्यारी ॥
है सुजनता भरी हुई जिसमे ।
है मनुजता जिसे बहुत प्यारी ॥

जो स्वयं वन्दनीय है बनता ।
कर सभी वन्दनीय का वन्दन ॥
जो धरा का सुधार करता है ।
सर्वदा धर्म का धुरंधर बन ॥

हैं हुए भाग्यमान भारत में ।
भूरिश इस प्रकार के भूपति ॥
वे रहे देश-काल दिव के रवि ।
भव अगति भूति दिव्यतम अनगति ॥

हाथ हित रत उठा हुआ उनका ।
दान नभ को सदा रहा छूता ॥
प्रति दिवस राज में बरसता धन ।
लाभ करता कनक सदन चूता ॥

ये खिले पूत भाव के पंकज ।
देख मुख लोक हित ललक रवि का ॥
देश में शान्ति-मूर्ति थी पुजती ।
क्रान्ति पर था हुआ पतन पविका ॥

थी विजय की ध्वजा उमा कर में ।
जो बताती विभूति को विमला ॥
व्यक्ति को गौरवित गिरा करती ।
थी घरों में विराजती कमला ॥

हैं उन्हीं में नितान्त कान्तचरित ।
विक्रमादित्य मान्य नृपसत्तम ॥
आज भी कीर्ति-कौमुदी जिनकी ।
कर सकी दूर दीर्घकालिक तम ॥

विक्रमीय प्रथम शती का संक्षिप्त भारतीय इतिहास
एवं
विक्रम-संवत् का प्रादुर्भाव

श्री भगवतशरण उपाध्याय

प्रस्तुत इतिहास एक बहुत उलझे हुए समय का होने के साथ-साथ संक्षिप्त है। प्रथम शती ई० पू० अथवा प्रथम विक्रमीय शती का प्रायः डेढ़सौ वर्षो का भारतीय इतिहास प्रचुर प्रश्नात्मक है।* इसमें अनेक समस्याएँ हैं, अनेक पहेलियाँ, काफी जटिल। उन पर विस्तारपूर्वक केवल बड़ी पुस्तक मे ही विचार किया जा सकता है। इस कारण इस लेख मे उस विषय का उद्घाटन परिमित रूप से ही संभव है। इसका अपूर्ण होना अनिवार्य और निश्चित है। फिर भी यह लेख इस विषय के एक विस्तृत विवेचन का मार्ग खोल सकता है। यह स्वयं इस प्रकार के अध्ययन की अनुक्रमणिका मात्र है। अस्तु।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का भारतीय इतिहास अत्यन्त उलझा हुआ है। अनेक जातियाँ, देशी और विदेशी, तत्कालीन भारतीय मंच पर अपना अभिनय करती रही। इस शताब्दी से शीघ्र पूर्व भारतवर्ष लगभग तीनसौ वर्षो तक साम्राज्य की छाया मे रह चुका था। चन्द्रगुप्त मौर्य के नीतिकुशल अमात्य चाणक्य ने अपनी सूझ और अपने अध्यवसाय से प्रायः सारे देश को एक शासन मे खीच लिया था और तब से—लगभग ३२५ ई० पू० से अथवा उससे भी पूर्व नन्द-काल से—प्रथम शती ई० पू० तक मगध साम्राज्य की तूती बोलती रही। इसमे कोई सन्देह नही कि साम्राज्य सर्वथा एक तो नही रह सका और अशोक के देहावसान के बाद ही दक्षिण के आंध्र-सातवाहन मौर्य साम्राज्य से दक्षिणापथ के प्रदेश खीच ले गए। शुगो के समय, उनके शासन के पहिले ही, पूर्व मे कलिंग का एक छोटा-मोटा साम्राज्य खड़ा हो गया था। और

* प्रस्तुत लेख प्रथम शती ई० पू० के कुछ पहले से आरंभ होकर प्रथम शताब्दी ईसा के बाद तक के प्रायः तीनसौ वर्षों के भारतीय इतिहास से सम्बन्ध रखता है।

※ कीर्ति-कलाप ※

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय

'हरिऔध'

(चोपदे)

जिस नृमणि की मनोज्ञ मुकुटाभा ।
है अनय तम निधन निरत होती ॥
कीर्ति सर्वस्व दिव्यता जिसकी ।
है सकल कालिमा कलुष खोती ॥

है दुराती अनीतियाँ सारी ।
नीति जिसकी पुनीत धारा बन ॥
जो नृपति मंजु राज्य नभ तल में ।
है जगत हित वितान देता तन ॥

जो प्रजा मंडली मयूरों का ।
है सरसता निकेत श्यामल घन ॥
पाठ पढ़ लोक रंजिनी रुचि का ।
कर सका जो सर्वत्र जन रंजन ॥

है जिसे मर्म ज्ञात शासन का ।
है तुली न्याय की तुला जिसकी ॥
कान जिसकी प्रबन्ध-पटुता के ।
सुन किसी की नहीं सके सिसकी ॥

कर सदा भूरि कान्त करतूतें ।
पा सका जो विभूतियाँ न्यारी ॥
है सुजनता भरी हुई जिसमें ।
है मनुजता जिसे बहुत प्यारी ॥

जो स्वयं वन्दनीय है बनता ।
कर सभी वन्दनीय का वन्दन ॥
जो धरा का सुधार करता है ।
सर्वदा धर्म का धुरंधर बन ॥

हैं हुए भाग्यमान भारत में ।
भूरिशः इस प्रकार के भूपति ॥
वे रहे देश-काल दिव के रवि ।
भव प्रगति भूति दिव्यतम अवगति ॥

हाथ हित रत उठा हुआ उनका ।
दान नभ को सदा रहा छूता ॥
प्रति दिवस राज में बरसता हुन ।
लाभ करता कनक सदन चूता ॥

थे खिले पूत भाव के पंकज ।
देख मुख लोक हित ललक रवि का ॥
देश में शान्ति-मूर्ति थी पुजती ।
क्रान्ति पर था हुआ पतन पवि का ॥

थी विजय की ध्वजा उमा कर में ।
जो बताती विभूति को विमला ॥
व्यक्ति को गौरवित गिरा करती ।
थी घरों में विराजती कमला ॥

हैं उन्हीं में नितान्त कान्तचरित ।
विक्रमादित्य मान्य नृपसत्तम ॥
आज भी कीर्ति-कौमुदी जिनकी ।
कर सकी दूर दीर्घकालिक तम ॥

विक्रमीय प्रथम शती का संक्षिप्त भारतीय इतिहास
एवं
विक्रम-संवत् का प्रादुर्भाव

श्री भगवतशरण उपाध्याय

प्रस्तुत इतिहास एक बहुत उलझे हुए समय का होने के साथ-साथ संक्षिप्त है। प्रथम शती ई० पू० अथवा प्रथम विक्रमीय शती का प्रायः डेढ़सौ वर्षो का भारतीय इतिहास प्रचुर प्रश्नात्मक है।* इसमे अनेक समस्याएँ है, अनेक पहेलियाँ, काफी जटिल। उन पर विस्तारपूर्वक केवल बड़ी पुस्तक मे ही विचार किया जा सकता है। इस कारण इस लेख मे उस विषय का उद्घाटन परिमित रूप से ही संभव है। इसका अपूर्ण होना अनिवार्य और निश्चित है। फिर भी यह लेख इस विषय के एक विस्तृत विवेचन का मार्ग खोल सकता है। यह स्वयं इस प्रकार के अध्ययन की अनुक्रमणिका मात्र है। अस्तु।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का भारतीय इतिहास अत्यन्त उलझा हुआ है। अनेक जातियाँ, देशी और विदेशी, तत्कालीन भारतीय मंच पर अपना अभिनय करती रही। इस शताब्दी से शीघ्र पूर्व भारतवर्ष लगभग तीनसौ वर्षो तक साम्राज्य की छाया मे रह चुका था। चन्द्रगुप्त मौर्य के नीतिकुशल अमात्य चाणक्य ने अपनी सूझ और अपने अध्यवसाय से प्रायः सारे देश को एक शासन मे खीच लिया था और तब से—लगभग ३२५ ई० पू० से अथवा उससे भी पूर्व नन्द-काल से—प्रथम शती ई० पू० तक मगध साम्राज्य की तूती बोलती रही। इसमे कोई सन्देह नही कि साम्राज्य सर्वथा एक तो नही रह सका और अशोक के देहावसान के बाद ही दक्षिण के आंध्र-सातवाहन मौर्य साम्राज्य से दक्षिणापथ के प्रदेश खीच ले गए। शुगो के समय, उनके शासन के पहिले ही, पूर्व मे कलिंग का एक छोटा-मोटा साम्राज्य खड़ा हो गया था। और

* प्रस्तुत लेख प्रथम शती ई० पू० के कुछ पहले से आरंभ होकर प्रथम शताब्दी ईसा के बाद तक के प्रायः तीनसौ वर्षों के भारतीय इतिहास से सम्बन्ध रखता है।

यहाँ के राजा महामेघवाहन खारवेल ने मगध सम्राट को अपने गजों से डरा दिया था। फिर चाहे हाथीगुम्फा शिलालेख की उसकी प्रशस्ति खोखली क्यों न हो और ग्रीकराज दिमित (Demetrios) न चाहे युक्रतिद के गृह विग्रह के कारण ही अपनी सेना को पाटलिपुत्र और मगध के पश्चिमी इलाके से खींच लिया हो, खारवेल कम से कम अपनी प्रशस्ति में 'योनराज' को भारत से बाहर भगाने का गर्व तो कर ही सका था। फिर भी मगध किसी न किसी रूप में भारत का साम्राज्य प्रतिनिधि बना रहा। मौर्यों, शुंगों और कण्वों के साम्राज्यकाल में ग्रीकों और शकों की मगध पर ही चोटें पड़ती रहीं और मगध निरन्तर छोटा होता हुआ भी अपने बढ़े प्रतिनिधित्व की रक्षा में पिसता रहा।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का भारतीय रंगमंच प्रायः पाँच स्थलों में विभक्त है। (१) पश्चिमोत्तर का सीमाप्रान्त और पंजाब, (२) मथुरा, (३) मगध का मध्यदेश, (४) सौराष्ट्र, गुजरात, और अवन्ती (उज्जयिनी), और (५) आंध्र सातवाहनों का दक्षिणापथ। इन सब केन्द्रों से कई प्रकार के जातीय विजातीय कुलों ने देश पर शासन किया और यद्यपि भौगोलिक विस्तार के अनुसार इस इतिहास का वर्णन पश्चिमोत्तर के सीमाप्रान्त अथवा दक्षिणापथ के आंध्रसातवाहनों से आरम्भ होना चाहिए था, राजनीतिक केन्द्र के कारण हम उसका आरंभ इस लेख में मध्यदेश अर्थात् मगध से करते हैं।

मगध—पुष्यमित्र शुंग ने ३६ वर्षों तक राज्य किया। ई० पू० १४८ के लगभग उसके देहावसान के बाद उसका पुत्र अग्निमित्र, जो कभी विदिशा में अपने पिता के साम्राज्य का शासक रह चुका था, सम्राट् बना। अग्निमित्र विलासी था। उसके विलास की कथा गुप्तकालीन कवि कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में लिखी है। इस समय उसकी आयु चालीस के ऊपर थी। उसका शासनकाल केवल आठ वर्षों तक रहा। फिर उसका भाई सुज्येष्ठ अथवा मुद्राओं का 'जेठमित्र' (ज्येष्ठमित्र) मगध की गद्दी पर बैठा और उसने सात वर्ष शासन किया। संभवतः इस समय पुष्यमित्र के कई बेटों ने मिलकर राज किया था। वायु-पुराण के अनुसार पुष्यमित्र के आठ बेटे थे, जिन्होंने सम्मिलित रूप से राज किया *। अग्निमित्र ने अपनी विलासिता में भी तलवार काफी मजबूती से पकड़ रखी थी, जैसा उसके विदर्भ विजय से जान पड़ता है। कालिदास ने उसके रस प्रिय जीवन का वर्णन और विदर्भ विजय का उल्लेख साथ ही किया है †। सुज्येष्ठ अथवा जेठमित्र के पश्चात् अग्निमित्र का वीरपुत्र वसुमित्र राजा बना। वसुमित्र ने अपनी युवावस्था में ही अपनी वीरता का प्रमाण दिया था, क्योंकि पितामह पुष्यमित्र के दूसरे अश्वमेध में घोड़े का संरक्षक वही था। सिन्धुनद के तट पर यवनों (ग्रीकों) की एक सेना ने उस घोड़े को बाँध लिया। इसपर दोनों दलों में बड़ा युद्ध हुआ और अन्त में वसुमित्र ने ग्रीकों को हराकर पितामह के अश्वमेध की रक्षा की ‡। उसका राज-काल दस वर्ष रहा। पुराणों के अनुसार शुंगवंश में दस राजा हुए, परन्तु वसुमित्र के बाद के राजाओं के सम्बन्ध में इतिहास प्रायः कुछ नहीं जानता। शुंगों के पाँचवें राजा आद्रक (ओद्रक) ने दो वर्ष राज किया। छठवें और सातवें राजा क्रमशः पुलिन्दक और घोष हुए जिनमें से प्रत्येक ने तीन वर्ष राज किया और आठवें वज्रमित्र ने नौ वर्ष। भागवत शुंगों में नवाँ शासक था। संभवतः उसीका दूसरा नाम काशीपुत्र-भागभद्र था। काशीपुत्र भागभद्र का नाम बेसनगर के वैष्णव स्तंभ-लेख में खुदा मिलता है। उसी राजा के दरबार में तक्षशिला के ग्रीक राजा अन्तलिकित (Antialkidas) ने अपना दूत भेजा था। इस दूत का नाम था 'दिय (Dion) का पुत्र हेलियोदोर (Heliodores)'। हेलियोदोर वैष्णव था और अपने को 'भागवत' कहता था। बेसनगर में उसने विष्णु का स्तंभ खड़ा किया। भागवत अथवा भागभद्र का शासनकाल पुराणों में बत्तीस वर्ष लिखा मिलता है। शुंगों का अन्तिम राजा देवभूति या देवभूमि था जिसने दस वर्ष राज किया। पुराणों के अनुसार वह व्यसनी था और उसे उसके मंत्री

* पुष्यमित्रसुतास्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपा—वायुपुराण।

† मालविकाग्निमित्र, अंक १, पृ० १० ११, निर्णयसागर संस्करण।

‡ सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः। तत उभयोः सेनयोर्महानासीत्संमर्दः।

तत परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निर्वर्तितः ॥१५॥ वही, पृ० १०२

वसुदेव ने मार डाला *। यह वसुदेव कण्ववंश का ब्राह्मण था। देवभूति की इस दुःखद मृत्यु की चर्चा बाण ने भी अपने हर्षचरित में की है। उसमे लिखा है कि "वसुदेव ने अपनी दासी से जनी दुहिता द्वारा अतिस्त्रीगामी अनंगपरवश उस शुग का उसकी रानी के वेश मे वध करा दिया" †।

इस प्रकार काण्वायन नृपो का आरभ शुगो के अवसान पर लगभग ७२ ई० पू० मे हुआ। काण्वायनो का कुल अल्पकालिक हुआ। इसमे केवल चार राजा हुए, जिन्होने कुल ४५ वर्ष राज्य किया ‡। इनमे से वसुदेव का शासनकाल नौ वर्ष, भूमिमित्र का चौदह वर्ष, नारायण का वारह वर्ष, और सुशर्मन् का दस वर्ष रहा।

शुग और कण्व राजाओ के समय मे ग्रीक और शक-आक्रमण हुए थे। अन्त मे कण्वो के अन्तिम राजा के हाथ से कमजोर तलवार सातवाहन नृपति सभवतः सिमुक ने छीन ली। इन ग्रीक, शक, और सात आक्रमणो का उल्लेख विधिवत् गार्गी-सहिता के युग-पुराण मे मिलता है। गार्गी-सहिता ज्योतिष का ग्रन्थ है। युग-पुराण उसीका प्राय. प्राचीनतम भाग है, जो उपलब्ध पुराणो मे सबसे प्राचीन है। यह श्लोकवद्ध है, परन्तु संभवत. इसका प्राकृत-गद्यात्मक रूप ई० पू० प्रथम शताव्दी के उत्तरार्ध मे ही प्रस्तुत हो चुका था क्योकि उस काल के पश्चात् के इतिहास का इसमे हवाला नही मिलता। इसका सम्पूर्ण मूल परिशिष्ट 'ख' मे दिया गया है। यहाँ उस मूल के प्रासगिक भाग का अनुवाद मात्र दिया जाता है। युग-पुराणके पाठ जटिल है और उसके अनेक स्थल दुरूह है, पर उसके वर्णन से शुग, शक और कण्व कुलो पर समुचित प्रकाश पड़ता है। युग-पुराण का वह अवतरण हम नीचे देते है :—

"तव शको का दुष्टस्वभाववाला, अर्थलुब्ध, महावली और पापी राजा विनाशकाल के उपस्थित होने पर कलिगराज शत (शात-) की भूमि की तृष्णा करने के कारण मृत्यु को प्राप्त होगा। वह सवल द्वारा निधन को प्राप्त होगा (?)। उसके निम्न सरदार तो निश्चय मारे जाएँगे।

"शकराज के विनष्ट होने पर पृथ्वी सूनी हो जाएगी। पुष्प नाम की नगरी सूनी हो जाएगी, अत्यन्त वीभत्स। वहाँ कभी कोई राजा होगा, कभी न होगा।

"तव लोहिताक्ष अम्लाट (अम्नाट) नाम का महावली धनुमूल (धनु के बल) से अत्यन्त शक्तिमान् हो उठेगा और पुष्य नाम धारण करेगा। रिक्त नगर को वे सर्वथा आक्रान्त कर लेगे। वे सभी अर्थलोलुप और बलवान होगे। तव वह विदेशी (म्लेच्छ) लोहिताक्ष अम्लाट रक्तवर्ण के वस्त्र धारण कर निरीह प्रजा को क्लेश देगा। पूर्वस्थिति को अधोगामी कर वह चतुर्वर्णो को नष्ट कर देगा।

"रक्ताक्ष अम्लाट भी अपने वान्धवों के साथ नाश को प्राप्त होगा। तव गोपालोभाम नामक एक नृपति होगा। वह गोपाल नृपति भी पुष्यक के साथ राज्य का साल भर भोग कर निधर्न को प्राप्त होगा। तव पुष्यक नाम का धर्मपर राजा होगा। वह भी वर्ष भर राज करके अन्त लाभ करेगा। उसके वाद सविल नामक महाबली और अजित राजा होगा जो तीन वर्ष के शासन के वाद नष्ट होगा।

"फिर विकुयशस् नामक अब्राह्मण लोक मे प्रसिद्ध होगा। उसका शासन भी अनुचित और दुष्ट होगा, जो तीन वर्षो तक चलेगा।

---

* देवभूतिं तु शुगराजानं व्यसनिनं तस्यैवामात्यः कण्वो वसुदेवनामा तं निहत्य स्वयमवनी भोक्ष्यति।—विष्णु-पुराण, ४, २४, ३९ पृ. ३५२ गीताप्रेस संस्करण।

† अति स्त्रीसंगरतमनंगपरवशं शुंगममात्यो वसुदेवो देवभूतिदासीदुहित्रा देवीव्यञ्जनया वीतजीवितमकारयत्। हर्षचरित, ६, पृ. १९९, बम्बई, १९२५। और देखिए पार्जिटर की पुस्तक *Dynasties of the Kali Age*, पृ. ७१।

‡ चत्वारः शुंगभृत्यास्ते नृपाः काण्वायना द्विजाः—वायुपुराण।

विक्रमीय प्रथम शती का संक्षिप्त भारतीय इतिहास

"तब पुष्पपुर उसी प्रकार (पूर्ववत्) जनसंकुल (बहुसंख्यक) हो जाएगा। सिद्धार्थ जन्मोत्सव वहाँ अत्यन्त उत्साह से मनाया जाएगा। नगर के दक्षिण भाग में उस (सिद्धार्थ वीर) का वाहन दिखाई देता है, जहाँ उसके दो सहस्र अश्व और गजशकट खड़े हैं। उस समय उस, स्तंभयुक्त भद्रपाक देश में अग्निमित्र होगा। उस देश में महारूपशालिनी एक कन्या जन्म लेगी। उसके लिए उस राजा का ब्राह्मणों के साथ दारुण युद्ध होगा। वहाँ विष्णु की इच्छा से निश्चय वह अपना शरीर छोड़ देगा। उस घोर युद्ध के बाद अग्निमित्र (अग्निवश्य) का पुत्र राजा होगा। उसका शासन सफल होगा जो बीस वर्षों तक कायम रहेगा। तब महेन्द्र की भाँति वह अग्नि (मैध्य अथवा वश्य) राज्य को प्राप्त कर शकों (जायसवाल—शबरों?) की एक संघवाहिनी से युद्ध करेगा। उस युद्ध में प्रवृत्त उस राजा की चपकोट (?) (नामक अस्त्र) से मृत्यु हो जाएगी।

"उस सुदारुण युद्धकाल के अंत में वसुधा शून्य हो जाएगी और उसमें नारियों की संख्या अत्यंत बढ़ जाएगी। करों में हल धारण कर स्त्रियाँ कृषिकार्य करेंगी और पुरुषों के अभाव में नारियाँ ही रणक्षेत्र में धनुर्धारण करेंगी। उस समय दस-दस बीस-बीस नारियाँ एक-एक नर को वरेंगी। सभी पर्वों और उत्सवों में चारों ओर पुरुषों की संख्या अत्यन्त क्षीण होगी, सर्वत्र स्त्रियों के ही झुंड के झुंड दीखेंगे, यह निश्चित है। पुरुष को जहाँ-तहाँ देखकर 'आश्चर्य'! 'आश्चर्य'! कहेंगी। ग्रामों और नगरों में सारे व्यवहार नारियाँ ही करेंगी। पुरुष (जो बचे खुचे होंगे लाचारी से) संतोष धारण करेंगे और गृहस्थ प्रव्रजित होंगे।

"तब सातुश्रेष्ठ (शात) अपनी सेनाओं से पृथ्वी जीत लेगा और दस वर्ष पर्यन्त राज करके निधन को प्राप्त होगा।

'फिर असंख्य विक्रान्त शक प्रजा को आचारभ्रष्ट होकर अकर्म करने पर बाध्य करेंगे। ऐसा सुना जाता है। जन-संख्या का चतुर्थ भाग शक तलवार के घाट उतार देंगे और उनका चतुर्थ (या धन) संख्या अपनी राजधानी को ले जाएँगे।

"उस राज्य के नष्ट होने पर (शक अथवा शात?) शिप्रा की प्रजा में देव (इन्द्र) बारह वर्षों तक अनावृष्टि करेगा। दुर्भिक्ष और भयपीडित प्रजा नष्ट हो जाएगी। तब उस रोमहर्षण दुर्भिक्ष और पापपीडित लोक में युगान्त होगा और साथ ही प्राणियों का विनाश। इसमें सन्देह नहीं कि तब जनमार का नृत्य होगा।'

ऊपर के स्थलों में कुछ महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक हैं। जान पड़ता है, अग्निमित्र के उत्तराधिकारियों में एक बार अन्तर्द्वंद्व चला। तब किसी शक राजा ने साम्राज्य स्थापित करना चाहा। यह संभवतः १०० ई० पू० का प्रथम शक आक्रमण था, जो शायद मथुरा के क्षत्रपों का था। ये अन्त्य शुंगों के समसामयिक थे। कालिंग सात संभवतः कोई सातवाहन राजा है, जिसने शकों को उनके सरदारों के साथ मार भगाया।

इन्हीं दिनों भारत के किसी भाग पर (जिसका उल्लेख युगपुराण में नहीं है) म्लेच्छ राजाओं का एक परिवार राज कर रहा था। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने उनको हिन्दू-ग्रीक माना है * और प्रत्येक का एक संभावित ग्रीक नाम दिया है, परन्तु यह युक्तपूर्ण नहीं जँचता।

अग्निमित्रों के उत्तराधिकारियों के बाद सातु राजा का उत्थान होता है। यह कोई सातवाहन राजा सा है।

इस काल में शकों के अत्याचार से पाटलिपुत्र की पुरुष संख्या अत्यन्त न्यून हो जाती है और स्त्रियाँ ही सर्वत्र कार्यों में नियुक्त हैं। बचे-खुचे पुरुष भी अधिकतर संन्यस्त हो गए हैं।

सातु राजा के बाद दूसरा शक-काल प्रारंभ होता है। क्षिप्रा के तट के निवासियों में शकों ने अनाचार फैला दिया है। शक मालवा की प्रजा का चतुर्थांश नष्ट कर चुके हैं और दूसरा चतुर्थांश या तो दास बनाकर अपनी राजधानी को ले गए हैं या उनके धन का चतुर्थांश उन्होंने अपहरण कर लिया है। इसके बाद ही दुर्भिक्ष और जनमार (प्लेग) संसार को आक्रान्त कर लेता है।

---

* J B O R S खण्ड १४, भाग ३, पृ ४१२

विक्रमीय प्रथम शती का संक्षिप्त भारतीय इतिहास

महाराष्ट्र का क्षहरात-कुल—क्षहरात शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कुछ कहना कठिन है। संभव है उसका सम्बन्ध तक्षशिला के पास के तत्कालीन 'छहर' नामक इलाके से हो। यह कुल महाराष्ट्र में शासन करता था। इसका पहला क्षत्रप भूमक था, जिसने सुराष्ट्र में राज किया। भूमक नहपान का पूर्ववर्ती शासक था जैसा उसके सिक्कों की बनावट, धातु, तथा उन पर खुदी लिखावट से जान पडता है। उसके सिक्के फिर स्पलिरिस और अयम् दोनों के संयुक्त सिक्कों के अंकनादि से मिलते हैं। इस कुल का सबसे प्रसिद्ध क्षत्रप नहपान हुआ। वह भूमक के बाद ही गद्दी पर बैठा, पर हमें पता नहीं कि भूमक और नहपान का पारिवारिक सम्बन्ध क्या था। परन्तु नहपान के शक होने में कोई सन्देह नहीं। उसका जामाता उषवदात (ऋषभदत्त) था जो एक लेख में अपने को स्वयं शक कहता है। उससे नहपान की जो कन्या ब्याही थी, उसका हिन्दू नाम था दक्षमित्रा। पाण्डुलेण (नासिक के समीप), जुन्नार और कार्ले (जिला पूना) के लेखों से स्पष्ट है कि नहपान महाराष्ट्र के एक बहुत बडे भूभाग का स्वामी था। उसने यह सारी भूमि सातवाहनों से जीती थी। उसने अपने जामाता को मालवा के विरुद्ध उत्तमभद्रों की सहायता के अर्थ भेजा था। अपनी विजय के बाद उषवदात ने पुष्करतीर्थ पर कुछ दान किया। नहपान का राजनीतिक प्रभाव इस प्रमाण से अजमेर के प्रान्त तक पहुँचा जान पडता है। उसके लेख किसी अनिश्चित संवत् के ४१-४६ वें वर्ष के हैं। संभवतः ये तिथियाँ शक संवत् की हैं। यदि ये तिथियाँ विक्रम संवत्* की नहीं हैं तो निश्चय नहपान ११९-२४ ई० में शासन करता था। कुछ विद्वानों ने उसे 'परिप्लस ऑव दि इरिथ्रियन सी' नामक ग्रीक पुस्तक में आए मम्बरुस या मम्बनस नाम से समान माना है†। यदि यह तिथि सही हुई तो उसे ईसा की पहली शती के तीसरे चतुर्थांश में होना चाहिए जैसा गलयम्बी के सिक्कों और नासिक-लेख से विदित होता है, क्योंकि नहपान अथवा उसके किसी उत्तराधिकारी की शक्ति सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि ने नष्ट करदी। परन्तु वास्तव में जितना नहपान की तिथि में सन्देह है उतना ही गौतमीपुत्र की में। दोनों का स्थिर करना कठिन है।

उज्जैन के क्षत्रप—उज्जैन के क्षत्रपों का प्रभुत्व पश्चिमी भारत में कई शताब्दियों तक कायम रहा। यसामोतिक का पुत्र चष्टन उज्जैन-कुल के क्षत्रपों का प्रारंभक था। चष्टन और तालेमी का ओजेनवाला तियस्तेनि (Tiastenes of Ozene) संभवतः एक ही थे। उसके सिक्के नहपान के सिक्कों से मिलते हैं और शायद उन्हीं की नकल हैं। चष्टन ने पहले क्षत्रप फिर महाक्षत्रप के पद से शासन किया। जूवो दुब्रोआ उसे गौतमीपुत्र या कुषाणों का सामन्त-राजा मानते हैं।‡ चष्टन का पुत्र और उत्तराधिकारी जयदामा केवल क्षत्रप था। उसके शासनकाल में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई और न उसने किसी प्रकार का सुयश ही कमाया। परन्तु उसका पुत्र और चष्टन का पौत्र रुद्रदामा महान् शासक हुआ। उसके प्रशस्तिलेख से उसकी समृद्धि और शक्ति का पता चलता है। १५० ई० का उसका जूनागढवाला शिलालेख उसके महान् कार्यों की प्रशंसा करता है।⁑ इससे पता चलता है कि उसने उचित शासन और विजय दोनों किए। उसने गर्वीले यौधेयों को जीता और दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णि को दो बार परास्त किया। वह महाक्षत्रप पद को प्राप्त हुआ था§। दूर दूर के देश उसका शासन मानते थे। उत्तरी गुजरात, सुराष्ट्र, कच्छ, सिन्धु की निचली तटवर्ती भूमि, उत्तरी कोंकण, मान्धाता का प्रान्त, पूर्वी और पश्चिमी मालवा और राजपूताना के कुकुर, मरु ⁂ आदि प्रदेश सब उसके शासन की सीमाओं के अन्तर्गत थे। इनमें से कुछ प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के अधिकार में कभी रह चुके थे, जिससे जान पडता है कि रुद्रदामा ने अपना राज्यविस्तार सातवाहनों को ही पंगु करके किया। उसके शासनकाल में सुदर्शन ह्रद के बाँध टूट गए थे जिन्हें उसके आनर्त और सुराष्ट्र के पह्लव प्रान्तीय शासक ने तीनगुना मजबूती से फिर से बँधवाया। उसका यह प्रान्तीय शासक कुलप का पुत्र सुविशाख नाम का था। रुद्रदामा ने इस कार्य का सम्पूर्ण व्यय बिना प्रजा पर कर लगाए

* Dubreuil, *Ancient History of Deccan*, पृ० २२

† उसकी राजधानी जायसवाल के अनुसार भरुकच्छ थी।

‡ *Ancient History of Deccan*, पृ० ३७

⁑ *Epigraphia Indica*, VIII, पृ० ३६-४९

§ स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना।

⁂ पूर्वापराकरावन्त्यनूपनीवृदानर्तसुराष्ट्रश्वभ्र(म)रुकच्छसिन्धुसौवीरकुकुरापरान्तनिषादादीनां समग्राणां तत्प्रभावात् .. .. ।

हुए अपने कोष से दिया था। पश्चिमी व्यापारपरक प्रदेशों के स्वामी होने के कारण और उसकी राजधानी उज्जयिनी के सार्थवाह-राजमार्ग पर स्थित होने के कारण उसके कोष मे अतुल सम्पत्ति धारावाहिक रूप से गिरती होगी।

रुद्रदामा के उत्तराधिकारी हुए तो अनेक पर वे अधिकतर नगण्य ही थे। तृतीय शती ईसवी मे ईश्वरदत्त के नायकत्व में आभीरो ने क्षत्रपो के राज्य पर आक्रमण करके उसे क्षत-विक्षत कर दिया। फिर भी क्षत्रपों का यह कुल जीवित रहा। उनके अन्तिम राजा का चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने नाश किया, जो संभवतः रुद्रसिंह तृतीय था।

उज्जयिनी के शको का ही ५८ ई० पू० में नाश कर मालवो का गण वहाँ स्थापित हुआ, जिसने अपने नाम से उस अवन्ति-देश का नया संस्कार किया और अपनी इस राष्ट्रीय विजय के उपलक्ष मे नए सिक्के (मालवानांजयः) चलाए और देश को विक्रम नामक एक राष्ट्रीय सवत् प्रदान किया जो उसी विजय की तिथि से चला। उसका विषय मालवो के अपने इतिहास से अधिक सम्बन्ध रखता है, अतः उस मालव-विक्रम-संवत् पर परिशिष्ट 'क' मे स्वतंत्र और सविस्तर विचार करेंगे।

पह्लव---भारतीय इतिहास मे हिन्दू-पार्थव अथवा पह्लवो का इतिहास भी जटिल है। परन्तु इनके सम्बन्ध के कुछ सिक्के और लेख हैं जिनसे इस राजकुल पर थोड़ा प्रकाश पड़ता है। वोनोनी (Vonones) इस कुल का आदि पुरुष था जो अराकोसिया और सेइस्तान मे प्रचुर शक्ति लाभ कर राजाधिराज बन गया। उसके सिक्के युक्रेतिद के कुल के सिक्को के समान हैं। उनपर वह अपने भाइयो स्पलिरिस् और स्पलहोरिस् तथा भतीजा स्पलगदमिस् से संयुक्त है। संभवतः उसके भाई-भतीजे उसके 'विजित' के गवर्नर (प्रान्तीय शासक) थे। वोनोनी के बाद स्पलिरिस् राजा हुआ। यही शायद अयस् द्वितीय का अधिपति था। उसके कुछ सिक्को पर ग्रीक भाषा मे सामने उसका नाम खुदा मिलता है और पीछे खरोष्टी मे अयस् का।

गुदुफर (Gondophernes), गुदुह्वर, गुडन और विन्दफर्ण आदि कई नामों से जाना जाता है। स्पलिरिस् के बाद वही गद्दी पर बैठा। हिन्दू-पार्थव राजाओ मे सबसे महान् वही था। तख्त-ए-बाही लेख ने उसका काल निश्चित कर दिया है। वह लेख १०३वे वर्ष का है*। यह उस राजा का २६वाँ शासनवर्ष है। उसने संभवतः १९ ई० से ४५ ई० तक राज किया। वह पूर्वी ईरान और पश्चिमी भारत के सारे शक-पह्लवों का राजा हो गया। कुछ ईसाई अनुश्रुतियों में उसे 'भारत का राजा' कहकर उसका सन्त टामस से सपर्क बताया गया है। सभवतः वह ईसाई सन्त गुदुफर से मिला था। गुदुफर के मरने पर उसका राज्य टूकटूक हो गया। अन्त मे कुषाणो ने उन टुकड़ो को भी आत्मसात् कर लिया।

सातवाहन---उपनिषत्काल मे और कदाचित् उससे पहले ही जो ब्राह्मण-राजन्य संघर्ष आरंभ हो गया था वह प्रचुर काल तक चलता रहा। उसकी वास्तविक समाप्ति गौतम बुद्ध के समय हुई, जब उनके उपदेशों के फलस्वरूप ब्राह्मण धर्म प्रायः शिथिल पड गया, परन्तु उसका एक बड़ा बुरा प्रभाव देश पर यह पड़ा कि गृहस्थ अधिकतर गृह छोड़ विहारवासी हो चले। ब्राह्मणो के साथ श्रमणवर्ग की भी गणना होने लगी और शीघ्र क्षात्रवृत्ति करनेवाले राजन्यो की संख्या विशेष रूप से घट चली। तभी ईरानी सम्राट् दारा (दारयबहु) ने बढ़कर पंजाब (सिन्धु) अपने साम्राज्य मे मिला लिया। भारतीय क्षत्रियों ने वास्तव मे काषाय त्रिचीवर धारण कर अपनी तलवार घर के कोनो मे टिका दी। इस समय ब्राह्मण, जिनके गृहस्थ अधिकतर श्रमण अथवा गृहवासी बौद्ध उपासक हो गए थे, अपनी वृत्ति के छूटने के कारण सभवतः कुछ चैतन्य हो गए। वर्णाश्रम-धर्म की चूले ढीली पड़ चुकी थी। इसी समय उनके नेताओ ने देखा कि भारत का पश्चिमोत्तर प्रान्त विदेशी आक्रमणो द्वारा आक्रान्त रहने लगा। ईरानियो के बाद ग्रीक आए---अलिकसुन्दर, सेलिउक और दिमित। फिर उनके नेताओ ने अपनी शक्तियो को एकत्र किया। राजन्यो की घर के कोनो मे टिकाई तलवार ब्राह्मणों ने उठाली और फलस्वरूप द्वितीय शती ई० पू० मे हमारे इतिहास मे एक नए भारत का नक्शा खड़ा हो गया, जो ब्राह्मण-साम्राज्यो का था। एक ही समय मे भारतवर्ष मे तीन ब्राह्मण-साम्राज्य स्रुवा फेक अस्त्रहस्त हुए। वे थे मगध के शुग, कलिंग के चेदि (चैत्र) और दक्षिण मे सातवाहन। इनमे अन्तिम सातवाहनों का इतिहास नीचे दिया जाता है।

---

* स्तेन कोनो, *CII* खण्ड २, नं. २०, पृ. ५७–६२.

विक्रमीय प्रथम शती का संक्षिप्त भारतीय इतिहास

सातवाहनो के आरभ के सम्बध में कुछ लिखना कठिन है। अशोक के 'सतियपुत' और इतिहासकार प्लिनी के 'सेतई' (Setai) से उनका सम्बध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है परन्तु ऐसा प्रयत्न वसेही असफल हुआ है जसे जिन प्रभासूरि के 'तीथकल्प' अथवा 'कथासरित्सागर' (६, ८७) का। शिलालेखो में उनके राजाओ को अधिकतर 'शातकर्णि' और 'सातवाहन' कहा गया है। परन्तु इन दोनो शब्दो का अथ करना कठिन है। विद्वानो म इस विषय में सहज ही मतक्य भी नहीं है। नासिक-लेख में निस्सन्देह गौतमीपुत्र को 'एकब्रम्हन' और शक्ति म राम (परशुराम) सरीखा कहा गया है*। उसे क्षत्रियो के दप और मान का दमन करनेवाला (खतियदपमानमदनस्य)† कहा गया है। इस प्रकार सातवाहनो का ब्राह्मण होना प्राय सिद्ध ही है। पुराण सातवाहनो को 'अध्र' कहते है। अध्र लोग गोदावरी और कृष्णा नदियो के बीच के भूभाग तेलुगू के रहनेवाले थे। उनकी प्राचीनता में कोई स देह नहीं। उनका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण, मेगस्थेनीज की 'इण्डिका' और अशोक के शिलालेखो में हुआ है। अध्र मौय साम्राज्य के अन्त में स्वतत्र हो गए। परन्तु यह ठीक समक्ष में नहीं आता कि उनका सातवाहनो से क्या सम्बध था? इसमें कोई सन्देह नहीं कि सातवाहन लेखो में 'अध्र' शब्द नहीं मिलता। सातवाहनो के प्राचीनतम लेख नानाघाट (पूना जिला) और सांची (मध्य भारत) में मिले है, जहाँ से उठ कर उन्होने अध्र देश जीत लिया था। उन दक्खिन निवासी सातवाहनो का सचमुच ही प्राचीन आध्रो से कहाँ तक रक्त-सम्बध था यह कहना कठिन है। साधारणतया उन्हे आध्र भी कहते होगे जो सभवत उनके अध्र देश जीत लेने के कारण और उसके बाद हुआ होगा।

सातवाहनों का समय—जितना कठिन सातवाहनो का मूल निश्चित करना है, उससे कही अधिक कठिनाई उनके काल निणय के सम्बध में हमें पडती है। पुराणो के आध्रो और सातवाहनो को एक मानते हुए कुछ विद्वान् उनका प्रारभ इसा पूव ततीय शती में रखते है। अय सिमुक को पुराणानुसार आध्र सातवाहनो का आदिपुरुष और कण्वो का विध्वसक मानकर उस कुल के शासन का आरभ २९ ई० पू० में मानते है। मौर्यों के अन्तिम नृपति वृहद्रथ को मारकर पुष्यमित्र शुग राजा हुआ और शुगो के अन्तिम राजा देवभूति को मारकर काण्वायन वसुदेव मगध के बचे-खुचे साम्राज्य का सम्राट् बना‡। इस प्रकार सातवाहनो के शासनकाल और उसकी तिथियो के सम्बध में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर कोई मत निश्चित नहीं किया जा सकता। फलस्वरूप उनके शासन का आरभिक समय दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसा पूव से २९ ई० पू० तक हो सकता है। यहाँ जो तिथियाँ अनुमित की गई हैं, उनकी प्रामाणिकता उतनी ही सदिग्ध है, जितनी अन्यो की। इन्हें केवल शृखला क्रम कायम रखने के लिए दिया जाता है।

सातवाहनों के राजा—ऊपर कहा जा चुका है कि सिमुक सातवाहन कुल का प्रतिष्ठापक और मूल राजा था। उसने ई० पू० प्रथम शती के मध्य में शासनरज्जु धारण की। उसके बाद उसका भाई कृष्ण (कन्ह) नासिक के आसपास का भी राजा बना, क्योकि वहाँ के एक शिलालेख में उसका सकेत है। सिमुक का पुत्र शातकर्णि इस वश का तीसरा नरेश था। वह प्रतापी राजा था। उसने दो अश्वमेध किए। नानाघाट के लेख में उसकी विस्तृत विजयो का उल्लेख है§। सांची स्तूप के द्वार पर खुद एक लेख में किसी शातकर्णि का उल्लेख है, जिससे जान पडता है कि मध्य भारत सातवाहनो के शासन में काफी पहले ही आ गया था। एक शातकर्णि खारवेल का भी समकालीन था। शातकर्णि ने अगीय महारठी त्रणकयिरो की पुत्री नायनिका (नागनिका) को ब्याहा था। वह शात कुमारो, शक्तिश्री और वेदश्री की अभिभाविका थी। इसके बाद का उनका इतिहास अधकार में है। गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि इस कुल का सभवत सबसे महान् शासक हुआ। इस अधकार युग के बाद उसी का प्रकाश इतिहास को मिलता है। पुराणो ने अनेक राजाओ के नाम गिनाए है पर अधिकतर वे नाममात्र हैं। उनमें से हाल, वासिष्ठिपुत्र श्रीपुलमावि और यज्ञश्री शातकर्णि विशेष उल्लेखनीय है।

* *Epigraphia Indica*, ८, पृ ६०, ६१, पक्ति ७ † वही, पक्ति ५

‡ काण्वायनस्ततो भृत्य सुशर्माण प्रसह्यतम्। शुगानाच यच्छेष क्षपयित्वा बल तदा। सिधुको अध्रजातीय प्राप्स्यतीमा वसुधराम्।—वायुपुराण।

§ *Rep Arch Sur West India* ५, पृ ६०

हाल ने प्राकृत भाषा मे प्रसिद्ध 'गाथासप्तशती' (सप्तशतक, सत्तसई) लिखी। प्रथम शती ईसवी के अन्त में शक-क्षत्रपो ने सातवाहनो के हाथ से महाराष्ट्र छीन लिया।

परन्तु सम्राज्ञी गौतमी बालश्री के नासिकवाले लेख से जान पड़ता है कि उसके पुत्र शातकर्णि ने दक्खिन शको से छीन लिया *। उसने क्षत्रियो के मान और दर्प का नाश कर वर्णाश्रम धर्म की रक्षा की। शक, यवनों और पह्लवों का उसने पराभव किया और क्षहरातो को नष्ट कर सातवाहन कुल की राज्यलक्ष्मी पुनर्स्थापित की †। जिन देशो को उसने जीता था उनके नाम थे—असिक, असक, मुलक, सुरठ, कुकुर, अपरान्त, अनूप, विदर्भ और आकरावन्ति ‡। नासिक (जोगलथम्बी) के चाँदी के सिक्कों से जान पड़ता है कि उसने शकराज नहपान का विध्वंस कर उसके सिक्के फिर से अपने नाम मे चलाए। अपने शासन के अठारहवे साल मे उसने नासिक के पास का पाण्डु-लेण (गुफा) दान किया और २४वे वर्ष में उसने कुछ साधुओं को भूमि दान कर एक लेख मे उसका उल्लेख किया ⁑। इस प्रकार उसने कम से कम २४ वर्षों तक राज किया।

जिसने गौतमीपुत्र शातकर्णि के राज्य को कुछ काल तक और विस्तृत किया और आन्ध्रदेश को जीता वह उसका पुत्र वासिष्ठिपुत्र श्रीपुलमावि था जो संभवतः १३० ईसवी मे सिंहासन पर बैठा। तालेमी का सिरोपोलेमाऊ (Siropolemaiou) संभवतः वही था। उसे तालेमी बैथन या पैठान (प्रतिष्ठान) का राजा कहता है। पैठान उत्तरकालीय सातवाहनों की राजधानी हो गई थी। रुद्रदामा ने अपने जूनागढ़वाले शिलालेख मे लिखवाया है, कि उसने दक्षिणापथ नरेश के शातकर्णि को दो वार हराया था §। संभवतः वह शातकर्णि पुलमावि ही था। श्री रैप्सन ने थाना जिले के कन्हेरीवाले लेख मे उल्लिखित वासिष्ठिपुत्र श्री शातकर्णि को यही पुलमावि माना है। उस लेख के अनुसार वह महाक्षत्रप रुद्र (रुद्रदामा) का जामाता था। इसी कारण जूनागढ़वाले लेख मे भी वह उसका 'अविदूर सम्बन्धी' कहा गया है। जूनागढ़वाले रुद्रदामा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उस शक-नृपति ने सातवाहनो के अनेक देश जीते और उसका राज्य दूर तक फैला हुआ था। लगभग १५५ ईसवी मे वासिष्ठिपुत्र श्रीपुलमावि का देहान्त हुआ।

यज्ञश्री शातकर्णि ने लगभग १६५ ई० से १९५ ई० तक शासन किया और उसने अपने कुल को फिर एक वार उन्नत किया। उसके कन्हेरी, पाण्डुलेण, चिन्न (कृष्णा जिला) आदि के लेखों और सिक्को के प्राप्ति-स्थान से विदित होता है कि उसका शासन वंगाल की खाड़ी और अरव सागर के मध्य के विस्तृत भू-प्रदेश पर था। वह भूमि के अतिरिक्त समुद्र का स्वामी भी जान पड़ता है। उसके एक प्रकार के सिक्को पर दो मस्तूलवाले एक समुद्रगामी पोत और एक मछली और शख के चित्र अंकित है। उन पर सामने खुदे लेख का पाठ है—(र) ण समस स (f) र यञ सतकणस। उनके पीछे की ओर उज्जैनी चिन्ह बने हैं। चिन्नवाले उसके लेख मे उसके शासन के २७वे वर्ष का उल्लेख है। यह शातकर्णि अपने कुल के पिछले काल मे एक महान् शासक हुआ। उसके उत्तराधिकारी नाममात्र के राजा थे। उनके समय मे आभीरो ने महाराष्ट्र और ईक्ष्वाकु और पल्लवो ने उसके पूर्ववर्ती प्रदेश सातवाहनो से छीन लिए।

इन शताब्दियों की सभ्यता--उत्तरी भारत—मौर्यो के बाद शुगो ने ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार किया। यज्ञ-क्रियाएँ लौटी। पुष्यमित्र और गौतमीपुत्र ने दो-दो बार अश्वमेध किए जो चिरोत्सन्न हो गया था। 'गार्गी-संहिता' के युग-पुराण से ज्ञात होता है कि ग्रीक और भारतीय नगरो मे साथ-साथ रहते थे। अनेक ग्रीक भागवत धर्म के उपासक हो गए थे। वेसनगर का वैष्णव-स्तंभ शुग-राज भागभद्र के दरबार मे तक्षशिला के ग्रीकराज अन्तलिखित द्वारा भेजे दिय के पुत्र 'भागवत' हेलियोदोर ने खड़ा किया था।

---

* *Ep. Ind.*, ८, पृ. ५९–६२.

† खतियदपमानमदस सकयवनपहलवनिसूदनस......................खखरातवसनिरवसेसकरस सातवाहनकुलयसपतिथापनकरस.......................।

‡ वर्तमान गुजरात, सौराष्ट्र, मालवा, बरार, उत्तरी कोंकण, और पूना-नासिक के समीपवर्ती प्रदेश।

⁑ *Ep. Ind.*, ८, नं. ५, पृ. ७३–७४.

§ वही, पृ. ३६–४९—दक्षिणापथपतेः सातकर्णेद्विरपि निर्व्याजमवजित्यावजित्य सम्बन्धाविदूरतयानुत्सादनात्प्राप्तयशसा—।

विक्रमीय प्रथम शती का संक्षिप्त भारतीय इतिहास

भारहुत और सांची की वेदिकाएँ (रेलिंग) और स्तूप इसी शुंग कला के स्मारक है। सांची के द्वार की कारीगरी विदिशा के गजदन्त कलाकारों का यश विस्तार करती है। अमरावती की कला भी तब का ही एक नमूना है।

तत्कालीन साहित्य भी शुंगो के शासन में खूब पनपा। वाल्मीकीय रामायण के अधिकतर भाग प्रायः इसी काल में रचे गए। महाभारत के भी अनेक स्थल तभी के है। मनुस्मृति की रचना भी सम्भवतः तभी की है। गोनद (गोंडा) के पतञ्जलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर अपना प्रसिद्ध महाभाष्य लिखा। वे पुष्यमित्र के समकालीन थे।

शुंगो के बाद जो अनेक शक और हिन्दू-ग्रीक शासक हुए वे भी अधिकतर भारतीय देवताओं के उपासक बन गए, जैसा उनके सिक्को के अध्ययन से जान पडता है। उन्होंने हिन्दू स्त्रियों से विवाह किया और अनेक ब्राह्मणों को अपना जामाता बनाया। अपने नाम भी उन्होंने भारतीय रखे। तब का हिन्दू समाज उदार था। निश्चय तभी ग्रीक और शक जनता हिन्दू जनता में खो गई।

सातवाहनो के समय का दक्षिण भारत—सातवाहनों का दक्षिण भारत उतना ही सजीव था जितना शुंगो और शक-पार्थवो का उत्तरी भारत। सातवाहन स्वयं तो ब्राह्मणधर्मी थे, परन्तु उनके शासन में बौद्ध और ब्राह्मण-धर्म समानरूप से समृद्ध थे। बौद्ध उपासक श्रमण भिक्षुओं के निवास के लिए दरीगृह खुदवाते और उन्हें दान करते थे। उनके भोजनार्थ सदाजीवी सत्रों का प्रबन्ध करते थे। धन द्रव्य को श्रेणियों में रखकर उसके ब्याज से ये सत्र अथवा इस प्रकार के अन्य देवकार्य चलाए जाते थे। चैत्यगृहों के भी अनेक निर्माण और दान सातवाहनों के उदार शासन में हुए। ब्राह्मण-धर्म तो सहज ही उदीयमान था, सातवाहन राजाओं के अश्वमेध, राजसूय और आप्तार्यामादि के अनुष्ठान से ब्राह्मणों की वृत्ति भी चमक उठी। शैव और वैष्णव सम्प्रदाय विशेष उन्नत थे। परन्तु धर्म, इन्द्र और अन्य वरुण, कुबेर आदि लोकपालों की भी पूजा होती थी, जिनकी मूर्तियाँ मन्दिरों में पधराई जाती थी। सम्प्रदायों की परस्पर सहधर्मिता थी। आपस में जब-तब वे दान भी करते थे। विदेशी भी बौद्ध और ब्राह्मण धर्म स्वीकार करते थे। कार्ले के एक लेख में दो यवन 'सिहध्वज' और 'धम' नाम के उल्लिखित है। शक-शासक उषवदात (ऋषभदत्त) ब्राह्मण धर्म का प्रबल अनुयायी था। शक रुद्रदामा का जामाता ब्राह्मण-सातवाहन वासिष्ठिपुत्र श्रीशातकर्णि था। इस प्रकार के अन्य अनेक सम्बन्ध ब्राह्मण धर्मियो और विदेशियों में स्थापित हो गए थे और होते जा रहे थे।

सामाजिक जीवन—सामाजिक स्तरों में सबसे ऊँचा स्तर उन राजनैतिक उच्चपदस्थ व्यक्तियों का था जो 'महाभोज', 'महारठी' और 'महासेनापति' थे। वे शासन के विविध राष्ट्रों (प्रान्तों) के कर्णधार थे। अमात्य, महामात्र और भाण्डागारिक उसी वर्ग के निचले छोर पर थे। नगम (सौदागर), सार्थवाह और श्रेणिमुख्य श्रेष्ठिन् ऋद्ध नागरिक थे। इनके अतिरिक्त समाज में वैद्य, लेखक, सुवर्णकार, गान्धिक और हालकीय (कृषक) आदि थे। मालाकार (माली), वधकी (बढ़ई), दासक (मछलीमार) और लोहवणिज (लुहार) आदि भी अपने-अपने व्यवसाय में दत्तचित्त थे। कुल का स्वामी कुटुम्बी और गृहपति कहलाता था।

आर्थिक जीवन—तब का आर्थिक जीवन श्रेणियों का था। एक व्यवसाय में काम करनेवाले अपना जो दल बना लेते थे उसे श्रेणी कहते थे। धान्निक (अन्न-व्यवसायी), कुम्हार, कोलिकनिकाय (जुलाहे), तिलपिषक, कासाकार, वसकार आदिकों की अनेक श्रेणियाँ देश में थी। इन श्रेणियों का अपना बैंक होता था जिसमें 'अक्षय-नीवी' (fixed deposit) डालकर लोग उसके ब्याज का उपयोग करते थे। सिक्के सोने, चाँदी और ताँबे के थे। चाँदी और ताँबे के सिक्के कार्षापण (कहापन) कहलाते थे। सुवर्ण ३५ चाँदी कार्षापणो के बराबर होता था।

दूर-दूर के देशों से व्यापार स्थल और जल के वणिक्पथों से होता था। भरुकच्छ, सोपारा और कल्याण सामुद्रिक बन्दर, और तगर, पैठन और उज्जयिनी व्यापारकेन्द्र थे। ई० स० प्रथम शती की ग्रीक व्यवसायिक पुस्तक *Periplus of the Erythrean Sea* (पेरिप्लस आव दि इरिथ्रियन सी) में उन सारी वस्तुओं की तालिका दी हुई मिलती है जो भारत से बाहर जाती और भारत में अन्य देशों से आती थी।

साहित्य—सातवाहनों के शासन में प्राकृत बहुत फूली फली। हाल ने स्वयं 'गाथासप्तशती' लिखी और उसके समकालीन गुणाढ्य ने पैशाची में 'बृहत्कथा' लिखी। सर्ववर्मन् का 'कातन्त्र' कदाचित् इसी समय लिखा गया। यह विशेष बात है कि ब्राह्मण सातवाहनों ने संस्कृत छोड़कर प्रान्तीय प्राकृतों को बढ़ाया।

भगवतशरण उपाध्याय

परिशिष्ट 'क'

विक्रम-संवत्

भारतवर्ष की काल-गणना मे बीसो सवत् चले परन्तु उनमे से जीवित थोड़े ही रहे। सबसे लम्बा जीवन-विस्तार विक्रम-संवत् का ही रहा। वैसे भारत मे कम से कम छह संवत् ऐसे थे जो विक्रम-संवत् से पहले चलाए गए। ये हैं सप्तर्षि-संवत्, कलियुग-संवत् (युधिष्ठिर संवत्), वीर-निर्वाण-संवत्, बुद्ध-निर्वाण-संवत्, मुरिय-काल (मौर्य-संवत्) और सिल्यूकिद-संवत्। इनमे से सप्तर्षि-संवत् कश्मीर और उसके आसपास के पर्वतीय प्रदेशो मे विशेषकर ज्योतिर्विदो द्वारा प्रयुक्त होता रहा है। कलियुग-संवत् भी पंचाँगादि मे ज्योतिषियो द्वारा ही प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार वीर-निर्वाण-संवत् का प्रयोग अधिकतर जैन आचार्यो द्वारा जैन-ग्रन्थो मे और बुद्ध-निर्वाण-सवत् बौद्ध ग्रन्थो मे पाया जाता है। चीन और तिब्बत आदि बौद्ध देशों मे भी इस बुद्ध-निर्वाण-सवत् का प्रचुर प्रचलन रहा है। मौर्य-संवत् (मुरिय काल) का उपयोग अत्यन्त अल्प हुआ है और जहाँ तक इतिहासविदों को ज्ञात है यह गणना-क्रम केवल एक बार उड़ीसा के पुरी जिले के हाथीगुम्फावाले खारवेल के शिलालेख मे प्रयुक्त हुआ है। सिल्यूकिद-सवत् तो भारत मे शायद किसी काल मे प्रयुक्त नही हुआ। इसे ग्रीकराज सिल्यूकस ने चलाया था परन्तु इसका प्रसार सभवतः हिन्दूकुश के इस पार न हो सका।

सिल्यूकिद-सवत् के बाद काल-क्रम से विक्रम-सवत् ही आता है क्योकि इसका आरंभ ई० पू० ५७—५६ मे हुआ था। उत्तरी भारत मे विक्रम-सवत् का आरभ चैत्र शुक्लपक्ष १ से और दक्षिण भारत मे कार्तिक शुक्लपक्ष १ से माना जाता है। इसीसे उत्तरी को 'चैत्रादि' और दक्षिणी को 'कार्तिकादि' सवत् कहते है। उत्तर मे महीने कृष्ण १ से आरभ होकर शुक्ल १५ को समाप्त होते है और दक्षिण मे शुक्ल १ से प्रारभ होकर कृष्ण अमावस्या को समाप्त होते है। इसी कारण उत्तरी भारत मे महीने 'पूर्णिमान्त' और दक्षिणी भारत मे 'अमान्त' कहलाते है। भारतवर्ष के संवतो मे जिस सवत् का उपयोग सवसे प्राचीन काल (उन्हे छोड़कर जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है) से लेकर आज तक प्रचलित रहा है वह है विक्रम-संवत्। इसके निचले छोर के सम्बन्ध मे तो किसी प्रकार का सन्देह हो ही नही सकता क्योकि हम आज इसका सर्वथा सर्वत्र प्रयोग कर ही रहे हैं परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि इस संवत् का प्राचीनतम प्रयोग इस नाम से नवी शती ईसवी से पूर्व मे नही मिलता। संभव है जिन लेखों मे इसका विक्रम-सवत् नाम से उल्लेख हुआ हो वे अब तक नही मिल सके और आगे मिलें, परन्तु यह कम कुतूहल का विषय नही कि जहाँ हमारे-नाना राजकुलो के खुदाए मिले हुए तिथिविधायक शिला, स्तंभ और अन्य लेखो की संख्या सहस्रो मे है वहाँ नवी शती ईसवी से पूर्व का एक भी लेख विक्रम-सवत् के स्पष्ट उल्लेख के साथ न मिला। जिस पहले लेख मे विक्रम-संवत् का सर्व प्रथम उल्लेख मिलता है वह चाहमान (चौहान) राजा चण्डमहासेन का है जो धौलपुर से मिला है और विक्रम-सवत् ८९८ अर्थात् सन् ८४१ ई० का हवाला देता है। उस लेख का एकांश इस प्रकार है:—वसु नव (अ) ष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य (।) वैशाखस्य सिताया (यां) रविवार युतद्वितीयाया...........।*

कृत और मालव सवत् जान पड़ता है, विक्रम-सवत् ही है। सभवतः विक्रम-संवत् का प्रयोग कृत और मालव नामो से हुआ है। कृत और मालव संवतो के एक होने मे तो कोई सन्देह है नही, क्योकि एक ही लेख मे दोनो का पर्यायवाची अर्थ मे प्रयोग हुआ है†। पर साधारणतया मालव और विक्रम संवतो के एक होने मे भी कोई सन्देह इसलिए

---

* *Indian Antiquary*, खण्ड १९, पृ. ३५.

† श्रीर्म्मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते (।)—*Epigraphia Indica*, खण्ड १२, पृ. ३२०.
कृतेषु चतुषु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालवपूर्व्वस्यां...........—राजपूताना संग्रहालय, अजमेर में सुरक्षित उदयपुर राज के नगरी का लेख।

नही होना चाहिए कि दोना का आरभ एक ही तिथि से है। अनेक वार इस प्रकार विक्रम-सवत् का प्रयोग मालव-सवत् के नाम से हुआ है।*

साधारणतया मालव-सवत् को ही विक्रम-सवत् कहते है। पश्चात् काल में तो यह सज्ञा लुप्त होकर केवल विक्रम-सवत्वाली ही रह गई और इस लोप की एक मजिल हमे तब उपलब्ध होती है जब हम कणस्वा के शिवमन्दिरवाले लेख में 'सवत्सर मालवेशाना' और मनालगढवाले म 'मालवेशगतवत्सर (र)' पढते है। जान पडता है कि बाद में लोग विक्रमादित्य और उनका मालवगण के साथवाला सम्बन्ध स्पष्ट न रख सके।

मालव-सवत् को विक्रम-सवत् क्या कहने लगे इस पर विद्वानो के मतभेद है। कुछ का तो कहना है कि विक्रमादित्य नाम के राजा ने ही इस सवत् को चलाया जिससे इसकी सज्ञा विक्रम-सवत् पडी। कुछ यह मानते है कि वास्तव म यशोधर्मदेव ने हूणो को हराकर यह सवत् चलाया और इस प्राचीन करने के लिए इसका आरभ ५०० वर्ष पूर्व फेक दिया। स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त में अटकल ही आधार और अट्ट दोनो है और इस पर विचार करने की आवश्यकता नही, यद्यपि यशोधर्मा स्वय एक विक्रमादित्य था। इसको न मानने का सबसे बडा कारण यह है कि मालव-सवत् एक विस्तृत काल से तब चला

---

* मालकाच्छरदा षट्त्रिंशत्सयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु—*Archaeological Survey Report*, खण्ड १०, प्लेट ११, ग्यारसपुरवाले लेख से।

श्रीर्म्मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसज्ञिते (।) एकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशत चतुष्टये (॥) प्रावृक्का (ट् का) ले शुभे प्राप्ते—*Ep Ind*, खण्ड १२, पृ ३२०—नरवर्मा का मदसौर (दशपुर) वाला शिलालेख।

कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्या मालवपूर्व्वस्या (४००) ८०१ कार्तिकशुक्लपञ्चम्याम्।—मध्यमिका का लेख, अजमेर के पुरातत्व सग्रहालय में सग्रहीत।

मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये। त्रिनवत्यधिकेब्दानाम्रि (मृ) तौ सेव्यघनस्तने। सहस्यमासशुक्लस्य प्रशस्तेह्नि त्रयोदशे—कुमारगुप्त प्रथम का मदसौर (दशपुर) का शिलालेख, फ्लीट, *Gupta Inscriptions*, पृ ८३

पञ्चसु शतेषु शरदा यातेष्वेकान्नवतिसहितेषु। मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु—वही, पृ १५४ यशोधर्मा (विष्णुवर्धन) के मदसौरवाले लेख से।

सवत्सरशतैर्यातै सपञ्चनवत्यर्गलै (।) सप्तभिर्मालवेशानां—कणस्वा (कोटा के पास) के शिव मदिर के लेख से, *Ind Ant*, खण्ड १९, पृ ५९

मालवेशगतवत्सर (र) शत द्वादशश्च (षट्विंशपूर्वक)—*Journal of the Asiatic Society of Bengal*, खण्ड ५५, भाग १, पृ ४६—अजमेर के चाहमान राजा पृथ्वीराज (पृथ्वीभट) के समय के मनालगढवाले (उदयपुर राज्यान्तगत) लेख से (स० १२२६)। इस लेख से अनुमान होता है कि लेखक के समय अर्थात सवत् १२२६ तक सभवत मालवों के गण होने की बात लोगों को भूल गई थी और 'मालवगणस्थिति' को 'मालवेश' का सवत्सर कहा जाने लगा था। इस लेख में आए मालवेश से तात्पर्य विक्रमादित्य से है, परन्तु सौभाग्यवश उस सज्ञा का सम्बन्ध अभी मालवा अथवा मालव (गण) से जुडा हुआ है। लेखक मालवगणवाली अनुश्रुति की परम्परा को भूलकर इस सवत्सर को 'मालवेश' का सवत् कहता हुआ भी उसका सम्बन्ध मालवा से न भूल सका।

आ रहा था। फ्लीट साहब के इस अनुमान को सहज ही विद्वानो ने त्याग दिया है। कुछ विद्वानों ने सन्देह किया है कि ई० पू० प्रथम शती मे कोई विक्रमादित्य नामक राजा हुआ भी या नही। सभवत: नही हुआ। उनका यह सन्देह कुछ मात्रा में ग्राह्य भी है। साधारणतया यह प्रश्न हो सकता है कि यदि प्रथम शताब्दी ई० पू० मे विक्रमादित्य नामक इतना प्रतापी राजा हो सकता तो कम से कम उसके कुछ शिलालेख, स्तभलेख अथवा अन्य लेख तो हमे प्राप्त होते। परन्तु जिन विद्वानों ने इस प्रश्न को उठाया है उन्होने इस बात पर शायद ध्यान नही दिया है कि प्रथम शती ई० पू० का समय अत्यन्त डावाँडोल और उथल-पुथल का था। सभव है ऐतिहासिक सामग्री बिखर गई हो जिसपर हम उसके अस्तित्व का आधार रख सकते। परन्तु साथ ही हमे यह बात न भूलनी चाहिए कि जनश्रुति के साथ-साथ ही ऐतिहासिक अनुश्रुति भी प्रथम शती ई० पू० में किसी विक्रमादित्य के होने के पक्ष मे है। डाक्टर स्तेन कोनो को उद्धृत करते हुए डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने भी इस काल मे होनेवाले एक विक्रमादित्य के ऐतिह्य को स्वीकार किया है ("Problems of Saka and Satavahana History"—*Journal of the Bihar and Orissa Research Society*, 1930 में प्रकाशित)। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह है कि हमारी साहित्यिक अनुश्रुति तो स्पष्टतया इस विक्रमादित्य-विषयक तथ्य के अनुकूल है। जैन-साहित्य, पट्टावलि, जिनसेन-गाथा आदि के अतिरिक्त विक्रमादित्य के प्रथम शती ई० पू० मे होने का प्रमाण सस्कृत और प्राकृत साहित्य से भी उपलब्ध होता है। सातवाहन (शालिवाहन) राजा हाल के प्राकृत सतसई ग्रन्थ 'गाथा-सप्तशती' मे राजा विक्रमादित्य का उल्लेख किया गया है*। इस हाल का समय लगभग प्रथम शती ईसवी है। कम से कम वह दूसरी शताब्दी ईसवी के बाद किसी प्रकार नही रखा जा सकता अर्थात् वह आन्ध्र सातवाहन विक्रमादित्य (प्रथम शती ई० पू०) से लगभग दो या तीन शताब्दियो के बाद जीवित था। राजा विक्रमादित्य का उल्लेख इस हाल ने तो किया ही है। उसके अतिरिक्त उस राजा का उल्लेख कश्मीरी कवि गुणाढ्य ने अपने पैशाची-प्राकृत के ग्रन्थ 'बृहत्कथा' मे किया है। यह गुणाढ्य हाल का समकालीन था। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' तो अब उपलब्ध नही है, परन्तु उसका संस्कृत रूपान्तर 'कथासरित्सागर' नाम से सोमदेवभट्ट द्वारा प्रस्तुत अब भी उपलब्ध है। इसमे राजा विक्रमसिह की कथा लंबक ६, तरग १ मे वर्णित है। अत: चूकि प्रथम शती ई० पू० वाले विक्रमादित्य के जीवन काल से दो सदियो के भीतर होनेवाले दो महापुरुषो (हाल और गुणाढ्य) के ग्रन्थो मे उस राजा का उल्लेख मिलता है, उसके ऐतिहासिक अस्तित्व मे किसी प्रकार का सन्देह करना अवैज्ञानिक होगा, विशेषकर जब हमारी जैनादि अन्य अनुश्रुतियो का इस सम्बन्ध मे सर्वथा ऐक्य है। फिर बाद मे आनेवाले विक्रमादित्यो के सम्बन्ध की अनुश्रुतियो से इस विक्रमादित्य की अनुश्रुतियो के मिल जाने का भी कोई कारण नही जब हमने केवल उन ग्रन्थकारो के प्रमाण दिए है जो उसके बाद के प्रथम विक्रमादित्य (गुप्तराज चन्द्रगुप्त द्वितीय) से पूर्व के थे।

इस प्रकार यह विचार तो प्राय: प्रमाणित हो जाता है कि ई० पू० प्रथम शती मे कोई विक्रमादित्य नाम का प्रतापी व्यक्ति था। वह कौन था यह कहना कठिन है, और यह भी कि 'विक्रमादित्य' उस व्यक्ति की सज्ञा थी या विरुद था। लगता है यह विरुद सा ही, और बाद के जिन-जिन नरेशो ने यह सज्ञा धारण की है वह है भी विरुदरूप मे ही†। डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने जिस राजा को विक्रमादित्य माना है वह है सातवाहन कुल का गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि।

---

* संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं। चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणुसिक्खिअं तिस्सा।—गाथा ४६४, वेबर का संस्करण।

† (१) चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (लगभग ३७५ ई.—४१४ ई.).
(२) स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (ल. ४५५–४६७ ई.)
(३) यशोधर्मन् विक्रमादित्य (५३३ ई.).
(४) हेमू (१५५६ ई.)

अपने Problems of Saka and Satavahana History* में उन्होंने विक्रम-संवत् पर जो विचार प्रकट किए हैं उनसे स्पष्ट है कि वे गौतमीपुत्र शातकर्णि को ही विक्रमादित्य मानते हैं। उन्होंने अपने उक्त लेख में शकों के विरुद्ध दो विजयों का उल्लेख किया है—(१) गौतमीपुत्र द्वारा नहपाण की, और (२) मालवों द्वारा शकों की। इसमें नं० (२) मान लेने में तो शायद किसी को आपत्ति न होगी परन्तु नं० (१) को स्वीकार करना कठिन है। पहले तो यही संदिग्ध है कि गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि और क्षहरात क्षत्रप नहपाण समकालीन थे। यदि यह हम मान भी लें, जो कई अन्योन्याश्रय न्यासों से संभव भी है, तब भी यह स्वीकार करना अभी अत्यन्त कठिन है कि वे प्रथम शती ई० पू० में थे। बहुत संभव है कि यदि सिमुक सातवाहनों का आदि पुरुष था और उसने काण्वायनों का २९ ई० पू० में नाश किया, तब उसके वंशज गौतमीपुत्र का निश्चय ईसा की शताब्दियों में ही राज कर सकना संभव हो सकेगा। उस दशा में गौतमीपुत्र को विक्रमादित्य और नहपाण को शक मानकर प्रथम शती ई० पू० में रखना कठिन हो जायगा। फिर यह भी संदिग्ध है (कुछ अंश में) कि नहपाण शक था। एक बात यह भी है कि यदि वह विक्रम सातवाहन होता तो हाल उसका हवाला देते समय उसे अपना पूर्वज अवश्य कहता। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि का विरुद 'विक्रमादित्य' नहीं था। और इससे भी विशिष्ट ध्यान योग्य बात यह है कि विक्रम-संवत् का प्रयोग स्वयं गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि अथवा उसके वंशज नहीं करते। वे केवल अपने राज्यकाल का करते हैं। यह कैसे संभव था कि जिसने इतनी बड़ी विजय के स्मारक में 'विक्रम-संवत्' चलाया उसका स्वयं वह या उसके वंशज अपने शिलालेखों में प्रयोग न करें? फिर उस संवत् का उपयोग क्या था? उसका प्रयोग किसके लिए उपयुक्त था, खासकर तब-जब हमें इसके विरोध में प्रमाण उपलब्ध हैं? कुषाणराज कनिष्क द्वारा चलाए शक-संवत् का प्रयोग स्वयं वह और उसके वंशधर करते हैं। इसी प्रकार गुप्तसम्राट् भी मालव-संवत् के साथ ही साथ अपने राज्यकाल और अपने पूर्वज चन्द्रगुप्त द्वारा चलाए गुप्त-संवत् (३१९-२० ई०) का प्रयोग (गुप्तप्रकाले गणना विधाय) बराबर अपने लेखों में करते हैं। इस कारण गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि को आदि विक्रमादित्य मानना युक्तिसंगत नहीं जँचता। फिर यह विक्रमादित्य कौन था?

विक्रमादित्य का प्रथम द्वितीय शती ईसवी के ग्रन्थों से होना प्रमाणित है इसका विवेचन ऊपर कर आए हैं। यहाँ पर एक अन्य अस्पष्ट और उल्टी युक्ति का प्रमाण भी विचार्य हो सकता है जो संभवतः श्रेयस्कर सिद्ध होगा। जिस विजय के उपलक्ष और स्मरण में यह विक्रम-संवत् घोषित और प्रचलित किया गया वह विजय कौनसी थी? गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि द्वारा नहपाणवाली विजय अनेक अन्य प्रमाणों से यहाँ अयुक्तियुक्त और अप्रासंगिक होने के कारण इस विषय पर प्रकाश नहीं डाल सकती। फिर एक ही और ई० पू० प्रथम शती की विजय है जो शकों के विरुद्ध हुई है और जिसके स्मारक-स्वरूप यह संवत् प्रचलित किया जा सका होगा। वह है मालवों की विजय शकों के विरुद्ध। मालवों ने शकों को अवंति से निकालकर वहाँ अपने गण (मालव-गण) की स्थापना की और अपने गण के नाम से ही अवंति प्रदेश का 'मालवा' नामकरण किया। यह घटना प्रथम शती ई० पू० में घटी और इसी के स्मारक में उन्होंने विक्रम-संवत् चलाया जिसकी प्रारंभिक तिथि मालव-गण की अवंति में स्थापना की तिथि होने के कारण (मालवगणस्थित्या) वह मालव-संवत् भी कहलाया। विक्रम-संवत् उसका नाम दो कारणों से हो सकता है। (१) या तो 'विक्रम' का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से न होकर 'शक्ति', 'विक्रम', 'पराक्रम' से हो जिसकी प्रतिष्ठा शकों के अवंति से निष्कासन और वहाँ मालवों की प्रतिस्थिति से हुई (जैसा श्री जायसवाल ने माना है) या (२) उसका यह नाम मालवजाति के किसी प्रमुख नेता के नाम से सम्बन्ध रखता होगा। इनमें प्रथम को स्वीकार करना असंभव इस कारण हो जाता है कि उस दशा में प्रथम शती ईसवी के हाल और गुणाढ्य के विक्रमादित्य सम्बन्धी निर्देश निरर्थक हो जाते हैं। इससे संख्या (२) वाला कारण ही यथार्थ जान पड़ता है। अस्तु,

---

* *Journal of the Bihar and Orissa Research Society*, खण्ड १६, भाग ३ और ४, पृ० २२६—३१६

श्री भगवतशरण उपाध्याय

इस पर नीचे फिर एक बार विचार करेगे। यहाँ इस पर प्रकाश डालना अधिक युक्तिसङ्गक जँचता है कि मालव-गण कब और किस प्रकार अवन्ति मे पहुँचे ? इस सम्बन्ध मे उनके ऐतिहासिक प्रसार पर विचार करना नितान्त आवश्यक है। अत: नीचे पंजाव से उनकी दक्षिण-पश्चिमी प्रगति पर विचार किया जाएगा।

किसी समय मे पंजाव मे अनेक गणतन्त्र (अराजक प्रजातन्त्र) फैले हुए थे। उन्हीमे मालवो और क्षुद्रको के गण भी थे। अलिकसुन्दर ने जब ३२६ ई० पू० मे भारत पर आक्रमण किया तव मालवो ने उससे सवल मोर्चा लिया था। सभवत: उन्हीके एक नगर का घेरा डालने पर उनके ही किसी वीर के वाण से अलिकसुन्दर आहत हुआ था। और यद्यपि अलिक-सुन्दर की छाती से भयकर शल्यक्रिया करके वह वाण निकाल लिया गया तथापि शायद वही घाव अन्ततः उसकी मृत्यु का कारण हुआ। मालव सरदारो ने अलिकसुन्दर से कहा था कि वे वहुत काल पूर्व से स्वतत्र थे, और राजपूताने मे वे वहुत काल पीछे करीव ३०० ई० तक स्वतत्र रहे जब उन्हे समुद्रगुप्त ने पराजित किया। इस प्रकार मालवो का स्वतत्र जीवन लगभग एक हजार वर्षों तक कायम रहा। अलिकसुन्दर के इतिहासकारो ने उन्हें 'मल्लोई' कहा है। मालव लोग उस ग्रीक आक्रमण के समय झेलम के तट पर थे। चिनाव जहाँ झेलम से मिलती है उस सगम से ऊपर क्षुद्रक और नीचे झेलम के वहाव के किनारे मालव लोग रहते थे। एरियन लिखता है (६,४) कि मालव लोग सख्या और युद्धप्रियता मे भारतीयों मे वहुत वढ़े-चढ़े थे। एरियन उन्हें स्वतत्र राष्ट्र कहता है (६, ६)। उनके नगर चिनाव और झेलम के तटो पर फैले हुए थे और उनकी राजधानी रावी के तट पर थी। मालव और क्षुद्रकों का प्रताप इतना जाना हुआ था कि उनसे युद्ध की संभावना देखकर ग्रीक सैनिकों के हृदयो मे आतक छा गया। कर्टियस* का कहना है कि जब ग्रीक सैनिको ने जाना कि उन्हे भारतीयो मे सवसे युद्धप्रिय गणतत्र मालवो से अभी लड़ना है तो वे सहसा त्रास से भर गए और अपने राजा को विद्रोह-भरे शब्दो से सवोधित करने लगे।

अलिकसुन्दर स मुठभेड़ होने के वाद उन्होने अपना निवासस्थान सर्वथा भयास्पद जाना और वे पंजाव छोड़ दक्षिण-पश्चिम की ओर वढ चले। कुछ काल तक साहित्य मे उनका पता नही चलता, परन्तु शुगकाल मे सहसा वे फिर भारतीय रंगमंच पर चढ़ आते है। पतञ्जलि को उनका ज्ञान है और भाष्यकार ने अपने महाभाष्य मे मालव-क्षुद्रको की किसी संयुक्त विजय का उल्लेख किया है, पर शीघ्र ही वाद मे क्षुद्रक खो जाते है। लेखो अथवा साहित्य मे हमे क्षुद्रको का पता नही चलता और पूर्वी राजपूताने की ओर पहुँचते-पहुँचते वे मालवो मे सर्वथा खो जाते है। प्रायः १५०-१०० ई० पू० मे हम मालवो को उनके नए आवास पूर्वी राजपूताना मे प्रतिष्ठित पाते है जैसा करकोट नागर (जयपुर राज्य) मे पाए गए उनके सिक्को से जान पड़ता है।† इसी समय पार्थव शको का भारतवर्ष पर आक्रमण हुआ जिनके ९५-९६ परिवार सिन्धुनद पार करके 'हिन्दुगदेश' चले आए थे और उन्होने सौराष्ट्र, गुजरात और अवन्ति देश पर अधिकार कर लिया था। धीरे-धीरे उनमे से सर्वशक्तिमान् एक कुल उन्हें आक्रान्त कर उन पर शासन करने लगा था। कालकाचार्य कथानकवाली कथा इसी समय परिघटित हुई। यही भारत का सर्वपूर्व प्राथमिक शक-परिवार था जिसका मालवो से सघर्ष हुआ था।

अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए मालव दक्षिण की ओर वढ़ते गए। सभवत: वे पटियाला राज के भटिण्डा की ओर से होकर वढ़े। वहाँ वे अपना नाम 'मालवाई' वोली मे छोड़ते गए है। इस वोली का विस्तार फिरोजपुर से भटिण्डा तक है‡। ५८ ई० पू० के आसपास वे अजमेर के पीछे से निकलकर अवन्ति की ओर वढ़ चले थे, जहाँ उन्हे एक विदेशी अभारतीय शक्ति से लोहा लेना पड़ा। लडाई जरा जमकर हुई क्योकि एक ओर तो स्वतत्रताप्रिय मालव थे और दूसरी ओर अवन्ति के वे शक जो पार्थवराज मज्ददात द्वितीय के क्रोध से भागे हुए थे। उन्हें भारत से वाहर मृत्यु का सामना करना

---

* Book ९, परिच्छेद ४; McCrindle, *Indian Invasion by Alexander*, पृ. २३४.

† Cunningham, *ASR.*, खण्ड १४, पृ. १५०.

‡ *Linguistic Survey of India* खण्ड ९, पृ. ७०९.

था इसलिए जान पर खेलकर शक मालवा से लडे परन्तु हार उन्ही की हुई। मालव विजयी हुए और उन्होने शको को अवन्ति से निकालकर उस प्रदेश का नाम अपने नाम के अनुरूप मालवा रखा। अवन्ति इसी तिथि से मालवा कहलाई और इसी विजय तिथि के स्मारक स्वरूप विक्रम-सवत् का प्रचलन हुआ। इस नए देश मे अपनी स्थिति के उपलक्ष मे और अपनी भारी विजय के स्मारक में नया सवत प्रचलित करने के साथ ही साथ उन्होने नए सिक्के भी चलाए और उनके ऊपर उन्होने अकित कराया--'मालवान (ना) जय (य)' *। इसी विजय और अपने गण के अवन्ति म प्रतिष्ठित होने के समय से (मालवगणस्थित्या) † आगे काल की गणना करने के लिए (काल ज्ञानाय) ‡ उन्होंने अपने मालव-सवत् या विक्रम-सवत् का आरभ किया। उनके प्रयोग से मालव-अथवा विक्रम सवत् प्रशस्त हुआ॥। आज तक हम सदा दो सहस्र वर्ष तक उसका उपयोग करत आए ह। गुप्तो ने उनकी स्वतत्रता नष्ट करदी और उनका नाम समुद्रगुप्त द्वारा विजित गणो में यौधेय, मद्र, आर्जुनायना आदि के साथ प्रयागवाले स्तभ पर मिलता ह। परन्तु उन्ह नष्ट करके भी वे उनके विजय-स्मारक सवत् को नष्ट न कर सके। स्वय गुप्त-सम्राट् मालव-सवत् का उपयोग करते रह। मालवा के नरेशो ने चौथी शती ईसवी स छठी शती ईसवी तक निरतर इस सवत् का प्रयोग किया। बाद म जब उनके गण की स्वतत्र सत्ता मिट गई, उसका नाम भी लोगो को विस्मरण हो गया, तब उनके क्षुद्र मुखिया की याद भर उन्हें रह गई और सभवत उसी के विक्रम नाम स बाद के भारतीय मालवो का स्मरण करत रहे और अनजाने उनके कीर्तिस्मारक सवत् का प्रयोग सहस्रो वष तक होता रहा।

इसम तो अब सन्देह रहा नही कि मालव-सवत् ही विक्रम-सवत् ह, जो उनके शको के हराने के स्मारक म चलाया गया। अब इस पर विचार करना ह कि वह मालव सवत् विक्रम-सवत् क्योकर कहलाने लगा? निश्चयपूर्वक तो यह कहना कठिन ह कि मालव सवत विक्रम-सवत क्यो और कब कहलाने लगा परन्तु इसम कोई सन्देह नही कि ऊपर निर्दिष्ट 'मालवेश'§ आदि इस सवत् की प्रगति के मजिल ह। मालव गण का जिस तेजी से लोप हो गया ह उसी तेजी के साथ लोगो न उनके प्रदेश की राजकता की भी कल्पना करली। जान पडता ह कि मालवा की सेना के सचालको मे प्रमुख विक्रम नाम का कोई व्यक्ति था जिसकी शक्ति और युक्ति ने शक-पराभव कराने मे विशेष भाग लिया और इसीसे कालान्तर में उसका सम्बन्ध मालव-सवत् से कर दिया गया। इस प्रकार के अन्य भी आचरण ससार के इतिहास मे हुए ह। रोमन स्वतत्रता का अन्त कर जूलियस सीजर और आक्टेवियस सीजर इसी प्रकार सम्राट बन गए थे और फ्रेन्च राज्यक्रान्ति के बाद नपोलियन न भी उसी लिप्सा का परिचय दिया था। प्लूटार्च लिखता ह कि जब विश्व जीतने के लिए अलिकसुन्दर ने ग्रीक नगर राज्यो स मदद माँगी थी तब उन्होने उनसे प्रतिज्ञा कराली कि वे उसकी सहायता इसी शर्त पर करेंगे कि वह उनके सामने अपने को 'खुदा का बेटा' न कहे। यही रूप मालव-गण मे भी प्रमुख व्यक्तियो का रहा होगा। धीरे धीरे उनके व्यक्तित्व की प्रबलता गणतत्र की शक्ति को कुचलकर उठ गई होगी। बाद की अनाराजक प्रजा ने गणतत्र के महत्व को न समझ कर उस सवत को मालवगण स हटाकर उसके मुखिया विक्रम स जोड दिया। यही दशा लिच्छवि राजाओ की हुई। इसी जन-दुर्बलता के कारण शाक्यो के मुखिया शुद्धोदन देश विशेष के राजा मान लिए गए।

---

* और 'मालव जय', 'मालवहण जय', 'मालवगणस्य' आदि।

† कुमारगुप्त प्रथम का मन्दसौरवाला लेख, Fleet, *Gupta Inscription* पृ ८३

‡ Fleet, वही, पृ १५४

॥ श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसज्ञके—*Ep Ind*, खण्ड १९, पृ ३२०

§ मालवेशगतवत्सर—*JASB* खण्ड ५५, भाग १, पृ ४६, और मालवेशाना—*Ep Ind.* खण्ड १९, पृ ५९

परिशिष्ट 'ख'

युग-पुराण का मूल

१. द्रुपदस्य सुता कृष्णा देहान्तरगता मही ॥
२. ततो न रक्षये वृत्त श्व (:?) शाते नृपमण्डले।
३. भविष्यति कलिर्नाम चतुर्थ पश्चिमं युगं॥
४. ततः कलियुगस्यातो (०दौ) परीक्षिज्ज (न) मेजयः।
५. प्रथिव्या पृथितः श्रीमानुत्पत्स्यति न सशयः॥
६. सोपि राजा द्विजै (:) सार्द्ध विरोधमुपधास्यति।
७. दारविप्रकृतामर्षः कालस्य वशमागतः॥
८. तत॰ कलियुगे राजा शिशुनागात्प्र (म?) जो वली।
९. उदधी (॰यो) नाम धर्मात्मा पृथिव्या प्रथितो गुणैः॥
१०. गगातीरे स रार्जार्षर्द्दक्षिणे स महावरे।
११. स्थापयेन्नगर रम्य पुष्पारामजनाकुल॥
१२. तेथ (प्राकृत, तत्र) पुष्पपुर रम्य नगर पाटली सुतम्।
१३. पञ्चवर्षसहस्राणि स्थास्यते नात्र संशयः॥
१४. वर्पाणा च शताः पञ्च पञ्चसवत्सरास्तथा।
१५. मासपञ्चमहोरात्र मूहूर्त्ताः पञ्च एव च॥
१६. तस्मिन् पुष्पपुरे रम्ये जनराजा शताकुले।
१७. ऋतुक्षा कर्मसुतः शालिशूको भविष्यति॥
१८. स राजा कर्मसूतो दुष्टात्मा प्रियविग्रहः।
१९. स्वराष्ट्रमर्दते घोर धर्मवादी अधार्मिकः॥
२०. स ज्येष्ठभ्रातर साधु केतिति (केतति ?) प्रथितं गुणैः।
२१. स्थापयिष्यति मोहात्मा विजय नाम धार्मिकम्॥
२२. ततः साकेतमाक्रम्य पञ्चालान्मथुरा तथा।
२३. यवना दुष्टविक्रान्ता (:) प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजं॥
२४. ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हिते।
२५. आकुला विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न सशयः॥
२६. श (स्त्र) दु (द्रु) म-महायुद्ध तद् (तदा) भविष्यति पश्चिमम्।
२७. अनार्याश्चार्यधर्माश्च भविष्यन्ति नराधमा.।
२८. ब्राम्हणा (:) क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव युगक्षये
२९. समवेपा ( ) समाचारा भविष्यन्ति न सशयः।
३०. पार्पडैश्च समायुक्ता नरास्तस्मिन् युगक्षये।
३१. स्त्रीनिमित्त च मित्राणि करिष्यन्ति न सशयः।
३२. चीरवल्कलसवीता जटावल्कल धारिणः।
३३. भिक्षुका वृपला लोके भविष्यन्ति न संशयः।
३४. त्रेताग्निवृपला लोके होष्यन्ति लघुविक्रियाः।
३५. ऊकारप्रथितैर्मन्त्रै (:) युगान्ते समुपस्थिते।
३६. आग्निकार्ये च जप्ये च अग्निके च दृढव्रताः।
३७. शूद्राः कलियुगस्यान्ते भविष्यन्ति न सशयः।
३८. भोवादिनस्तथा शूद्रा (:) ब्राह्मणाश्च (ा) र्यवादिनः।
३९. स (म) वेशा (:) समाचारा भविष्यन्ति न सशयः।
४०. धर्म्ममीत-तमा वृद्धा जन भोक्ष (क्ष्य) न्ति निर्भयाः।
४१. यवना ज्ञापयिष्य (॰) ति (नश्येरन्) च पार्थिवाः।
४२. मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदा।
४३. तेषामन्योन्य-सभाव (॰) भविष्यति न सशयः।
४४. आत्मचक्रोत्थित घोर युद्ध परमदारुण।
४५. ततो युगवशात्तेषा यवनाना परिक्षये।
४६. स (ा) केते सप्तराजानो भविष्यन्ति महावलाः।
४७. लोहिता (प्ते) स्तथा योधैर्योधा युद्धपरिक्षताः।
४८. करिष्यन्ति पृथिवी शून्यां रक्तघोरा सुदारुणा।
४९. ततस्ते मगधा कृत्स्ना गगासीना (:) सुदारुणाः।
५०. रक्तपात तथा युद्ध भविष्यति तु पश्चिम।
५१ अ (ा) ग्निवैश्यास्तु ते सर्वे राजानो (०नः) कृतविग्रहाः।
५२. क्षयं यास्यन्ति युद्धेन यथैषामाश्रिता जनाः।
५३. शकाना च ततो राजा ह्यर्थलुब्धो महावलाः।
५४. दुष्टभावश्च पापश्च विनाशे समुपस्थिते।
५५. कलिंग-शत-राजार्थे विनाश वै गमिष्यति।
५६ केचद्रकण्डै. (?) शवलैर्विलुंपन्तो गमिष्यति।
५७. कनिष्टास्तु हता (:) सर्वे भविष्यन्ति न सशयः।
५८. विनष्टे शकराजे च शून्या पृथिवी भविष्यति।
५९. पुष्पनाम तदा शून्य (॰) (वी) भत्स (॰) भवति (वत)।
६०. भविष्यति नृपाः कश्चिन्न वा कश्चिद्भविष्यति।
६१ ततो (ऽ) रणो धनुमूलो भविष्यति महावलाः।
६२. अम्लाटो लोहिताक्षेति पुष्यनाम (ग) मिष्यति।
६३. सर्वे ते नगर गत्वा शून्यमासाद्य (स) र्वतः।
६४. अर्थलुब्धाश्च ते सर्वे भविष्यन्ति महावला॰।
६५. तत. स म्लेच्छ आम्लाटो रक्ताक्षो रक्तवस्त्रभृत।
६६. जनमादाय विवश परमुत्सादयिष्यति।
६७. ततोवर्णास्तु चतुरः स नृपो नाशयिष्यति।
६८. वर्णाव वस्थितान् सर्वान् कृत्वा पूर्वाव्यवस्थि (तान्)।
६९. आम्लाटो लोहिताक्षश्च विपत्स्यति सवान्ववः।

७० ततो भविष्यते राजा गोपालोभाम-नामत ।
७१ गोपा (ल) तु ततो राज्य भुक्त्वा सवत्सर नृप ।
७२ पुष्यक चाभिसयुक्त तता निधनमप्यति ।
७३ ततो धमपरो राजा पुष्यको नाम नामत ।
७४ सोपि सवत्सर राज्य भु (क्त्वा) निधनम (ष्य)नि ।
७५ तत सविलो राजा जनरणो महाबल ।
७६ सोपि वषत्रय भुक्त्वा पश्चान्निधनमष्यति ।
७७ ततो विकुयशा कश्चिदब्राह्मणो लाकविश्रुत ।
७८ तस्यापि त्रीणि वषाणि राज्य दुष्ट भविष्यति ।
७९ तत पुष्पपुर (०) स्या (त) तथव जनसकुल ।
८० भविष्यति वीर (र-) सिद्धार्थ (ध) प्रसवोत्सवसकुल ।
८१ पुरस्य दक्षिणे पार्श्वे वाहन तस्य दृश्यते ।
८२ हयाना द्वे महस्रे तु गजवाहस्तु (क) ल्पत ।
८३ तदा भद्रपाक दशे अग्निमित्रस्तत्र कीलके ।।
८४ तस्मिन्नुत्पत्स्यत कन्या तु महारूपशालिनी ।
८५ तस्या (अ) र्थे स नृपो घोर विग्रह ब्राह्मणै सह ।
८६ तत्र विष्णुवशाद्दह विमा (क्ष्य) ति न सशय ।
८७ तस्मिन्युद्धे महाघोरे व्यतिक्रान्त सुदारुणे ।
८८ अ (ग्नि) ग्नि वश्यस्तदा राजा भविष्यति महाप्रभु ।
८९ तस्यापि विंशद्वर्षाणि राज्य स्फीत भविष्यति ।
९० (आ) ग्निवश्यस्तदा राजा प्राप्य राज्य महद्रवत् ।
९१ भीम शरर (शक ?) सघातविग्रह समुपष्यति ।
९२ तत शरर (शक ?) सघोरे प्रवृत्ते स महाबले ।
९३ वृषकोटे (टि) ना स नृपो मृत्यु समुपयास्यति ।
९४ ततस्तस्मिन् गत काल महायुद्ध (सु) दारुणे ।
९५ शून्या वसुमती घोरा स्त्री प्रधाना भविष्यति ।
९६ कृषि नाय करिष्यन्ति लाग (लक) लपाणय ।
९७ दुलभत्वा मनुष्याणा क्षत्रेषु धनुषाधना ।
९८ (विश) द्भाया दशो या (वा) भविष्यन्ति नरास्तदा ।
९९ प्रीणा पुरु (षा) लाक स्त्रि सवासु पवसु ।
१०० तत सघातशो नार्यो भविष्यन्ति न सशय ।
१०१ आश्चयमिति पश्यन्तो (दृष्ट्वा) या (थ) पुरुषा स्त्रिय ।
१०२ स्त्रियो व्यवहरिष्यन्ति ग्रामेषु नगरेषु च ।
१०३ नरा स्वस्था भविष्यन्ति गृहस्था रक्तवासस ।
१०४ तत सातुवरो राजा ह (ह) त्वा दण्डेन मर्दिनी (म्) ।
१०५ व्यतीत दशम वर्षे मृत्यु समुपयास्यति ।
१०६ तत प्रनष्टचारित्रा स्वकर्मोपहता प्रजा ।
१०७ करिष्यन्ति शका (-शका) पो (रा) बहुलाश्च इति श्रुति ।
१०८ चतुभाग तु (श) स्त्रेण नाशयिष्यन्ति प्राणिना ।
१०९ हरिष्यन्ति शका पोश (कोश ? तया ?) चतुर्भागं स्वके पुर ।
११० तत प्रजाया शेषाया तस्य राज्यस्य परिणामात् ।
१११ दवो द्वादशवर्षाणि अनावृष्टि करिष्यति ।
११२ प्रजानाश गमिष्यन्त दुर्भिक्षभयपीडिता ।
११३ तत पापशते लोक दुर्भिक्षे लोमहषण ।
११४ भविष्यति युगस्यान्त सवप्राणिविनाशन ।
११५ जनमारस्ततो घोरा भविष्यति न सशय ।*

---

* युग-पुराण का यह मूल पहले-पहल श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने *JBORS* में सितम्बर १९२८ वाले अक में पृ ३९७-४२१ में प्रकाशित किया। उससे सन्तुष्ट न होकर राव बहादुर के एच ध्रुव ने उसका एक दूसरा पाठ उसी पत्रिका के खण्ड १६, भाग १, पृ १८-६६ में छापा। परन्तु वास्तव में अभी तक इस पुराण का कोई पाठ शुद्ध नहीं कहा जा सकता। इस पर और विचार करने की आवश्यकता ह। ऐसा जान पडता ह कि इसके अनेक भाग इधर से उधर हो गए ह जिससे प्रसग को ठीक ठीक समझने में कठिनाई पडती ह और ऐतिहासिक सामजस्य बिगड जाता ह। —लेखक।
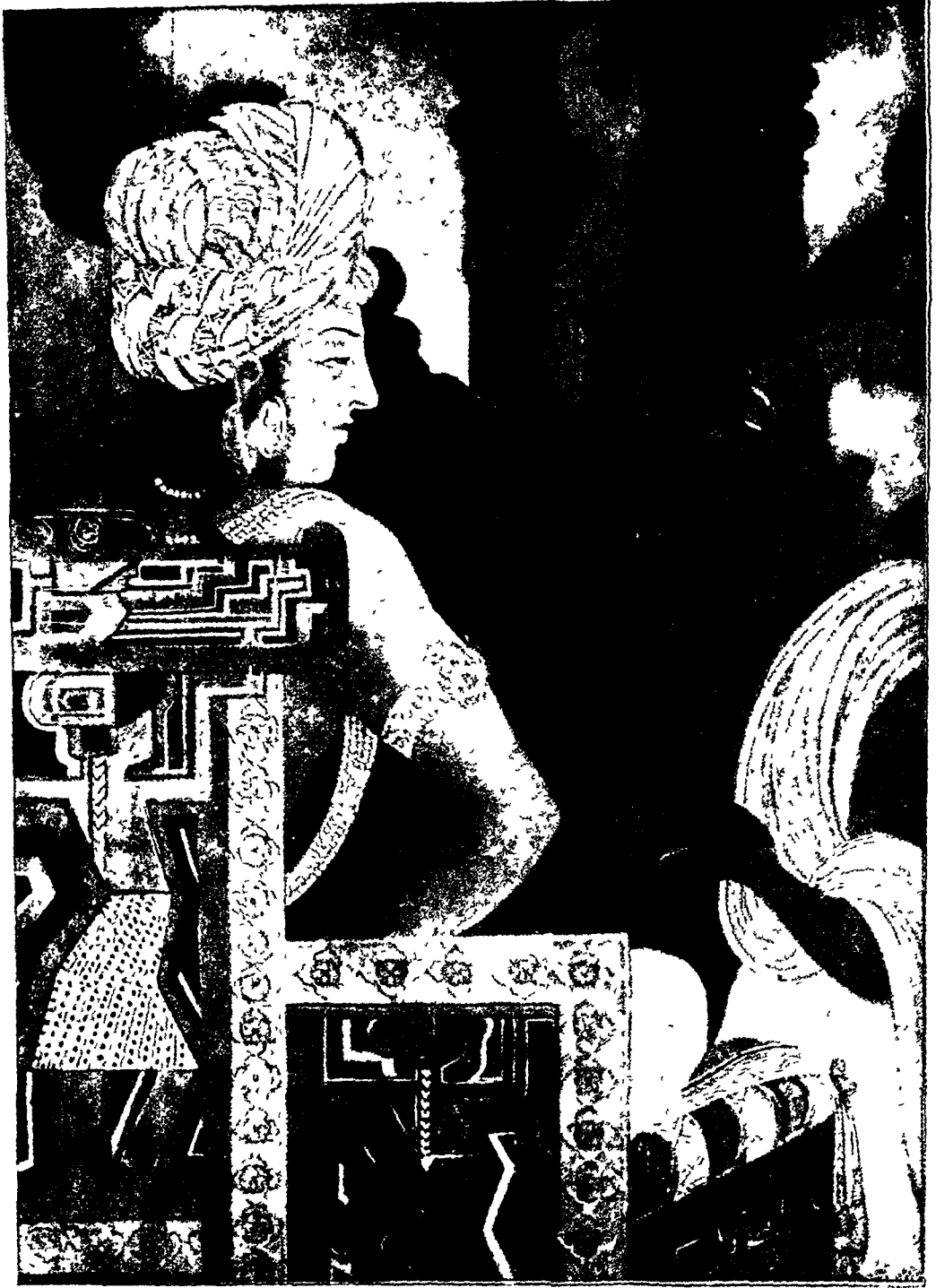
विक्रम और कालिदास

(चित्रकार—श्री असितकुमार हालद   लखनऊ)

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता

डॉ० लक्ष्मणस्वरूप एम. ए., डी. फिल.

रामायण, महाभारत और पुराणों मे वर्णित सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओ के अतिरिक्त भारत मे विम्बसार, अजातशत्रु, प्रद्योत, उदयन, नन्द, चन्द्रगुप्त, अशोक, पुष्यमित्र, अग्निमित्र, समुद्रगुप्त, यशोधर्म, हर्षवर्धन जैसे अनेक राजा और महाराजा प्रसिद्ध हो चुके है, परन्तु जो दिगन्तव्यापिनी कीर्ति और गगनचुम्बी यश विक्रमादित्य को प्राप्त हुए है वे किसी दूसरे शासक को नहीं मिले। भारतीय विद्वज्जनो की परम्परा के अनुसार विक्रमादित्य एक महारथी, महा-पराक्रमी और महातेजस्वी चक्रवर्ती सम्राट् थे। वे साहस की साक्षात् मूर्ति थे। उनका चरित्र अति उदार था, वे दानियो मे भी दानवीर थे। यदि उनके कमलनयनों की मधुर सुषमा तथा उनके स्मितकान्त ओष्ठ कुबेर के भण्डार थे, तो उनके क्रोध से रक्त नेत्र तथा वक्र भृकुटि करालकाल के द्वार थे। उनके अद्‌भुत अलौकिक विस्मयोत्पादक कार्यो का विस्तृत वर्णन (१) संस्कृत-साहित्य (२) जैन-साहित्य (३) महाराष्ट्री प्राकृत की गाथा सप्तशती (४) गुणाढ्य रचित पैशाची वृहत्कथा आदि ग्रन्थो मे पाया जाता है। पर योरुप और भारत के कुछ विद्वान् भारतीय परम्परा को विश्वास के योग्य न समझकर विक्रमादित्य के ऐतिहासिक अस्तित्व को स्वीकार नही करते। उनके कथन के अनुसार विक्रमादित्य किसी व्यक्ति-विशेष का निजी (स्व) नाम न था, वल्कि एक विरुद-मात्र था। इस विरुद या उपाधि को गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त द्वितीय, हर्षवर्धन, शीलादित्य आदि-आदि अनेक सम्राटो ने धारण किया। 'विक्रमादित्य' शब्द को अपने नाम के साथ जोड़ना वे अपने लिए गौरव की बात समझते थे। इसलिए कुछ विद्वानो की सम्मति मे विक्रमादित्य एक विरुद-मात्र था, केवल एक उपाधि थी, इस नाम का कोई व्यक्ति विशेष न था। ये विद्वान् वहुश्रुत, तीव्र-समालोचक, अनुसन्धान-प्रेमी तथा सत्यप्रिय है। हम उनको आदर की दृष्टि से देखते है। हमारे हृदय मे उनके प्रति श्रद्धा तथा वहु-सम्मान है, इसलिए उनके विचार को उपलब्ध सामग्री की कसौटी पर परखना आवश्यक है।

इस समय विक्रम सवत् का द्विसहस्राब्द समाप्त हुआ है। जैसे एक रचना उसके रचयिता की सूचक होती है, वैसे ही विक्रम संवत् की स्थापना उसके स्थापक के अस्तित्व की सूचक होनी चाहिये। पर ऐसा माना नही जाता, क्योकि विक्रम संवत् की स्थापना के विषय मे ही मतभेद है। योरुप के एक विद्वान् जेम्स फर्गुसन का मत* है कि विक्रम संवत् सन् ५४४ ईसवी

* *Journal of the Royal Asiatic Society*, 1870, pp. 81 H.

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता

में स्थापित किया गया और प्राचीनता प्रदान करने के लिए, सवत् का आरम्भ ६०० वर्ष पहले से कर दिया गया। यह एक सार-रहित कल्पना थी, तो भी मैक्समुलर जैसे जगद् विख्यात विद्वान् ने इसे स्वीकार कर लिया *। फर्गुसन के मत के अनुसार विक्रम सवत् छठी शताब्दी मे स्थापित किया गया। छठी शताब्दी से पहले यह सवत् विद्यमान नही था, इसलिये छठी शताब्दी से पहले इस सवत का कही प्रयोग नही मिलना चाहिए। परन्तु फर्गुसन के दुर्भाग्यवश छठी शताब्दी से पहले विक्रम सवत का प्रयोग मिलता है। एक लेख पर ४८१ सवत का उल्लेख है—"कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेषु मालवपूर्वाया "†। विजयगढ स्तम्भ पर ४२८ वर्ष का लेख है। मौखरियो के एक लेख पर २९५ वर्ष का अक है। उदयपुर रियासत में उपलब्ध नन्दी स्तम्भ पर २८२ वर्ष का उल्लेख है। तक्षशिला के ताम्रपत्र पर १३६ वर्ष का लेख है। युसुफजाई प्रदेश के पजतर स्थान के समीप एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। उस पर १२२ अक है और श्रावण की प्रथमा का उल्लेख है। यह वर्ष और मास भी विक्रम सवत् के ही हैं, इसलिए यह लेख तक्षशिला के ताम्रपत्र-लेख से भी अधिक प्राचीन है। पेशावर जिले में तख्तवाही स्थान पर एक लेख मिला है। यह लेख गाण्डाफरनस के राज्यकाल के २६ वें वर्ष में लिखा गया था। इस पर वैशाख की पञ्चमी और १०३ का अक है। निस्सन्देह यह तिथि और वर्ष भी विक्रम सवत् के ही है। इस कथन की पुष्टि रैप्सन (Rapson) की निम्न लिखित पंक्तियो द्वारा होती है—"There can be little doubt that the era is the Vikrama Samvat which began in 58 B C" (*Cambridge History of India*, Vol I p 576) इस प्रकार छठी शताब्दी —फर्गुसन द्वारा कल्पित स्थापना काल—से पूर्व के लेखो में विक्रम सवत् का प्रयोग हुआ है। इन प्रबल प्रमाणो से फर्गुसन की कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है।

अब एक दूसरी आपत्ति खडी की जाती है। कहा जाता है कि दूसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक के लेखो पर ५७ ई० पू० में प्रारम्भ होनेवाले सवत का प्रयोग अवश्य हुआ है, पर सवत् का नाम विक्रम सवत् नही बल्कि मालवगणस्थिति और कृत-सवत् है। छठी शताब्दी के पश्चात आठवी शताब्दी के लेखो में इस सवत् का नाम मालवेश-सवत् है। आठवी शताब्दी के अनन्तर ही उत्कीर्ण लेखो पर विक्रम का नाम पाया जाता है, जैसे ७९४ सवत् के लेख पर विक्रम का नाम स्पष्ट है— 'विक्रमसवत्सरशतेषु सप्तसु चतुनवत्यधिकेषु" इसी प्रकार चण्डमहासेन के धौलपुर-पत्र पर यह लेख मिलता है— वसु नव-अष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य" अर्थात् ८९८ वर्ष। इसी प्रकार "रामगिरिनन्दकलिते विक्रमकाले गते तु —इस लेख पर ९७३ वर्ष का उल्लेख मिलता है। एकलिंगजी के १०२८ वर्ष के लेख पर भी विक्रमादित्य का नाम पाया जाता है—"विक्रमादित्य भूभृत । अष्टाविंशतिसयुक्ते शते दशगुणे सति"। इससे सिद्ध है कि सबसे पहले ७९४ वर्ष के लेख पर ही विक्रमादित्य का नाम है। इस साक्ष्य से परिणाम निकाला जाता है कि सवत् की स्थापना तो ईसा से ५७-५८ वर्ष पूर्व हुई, पर स्थापक विक्रमादित्य न था बल्कि मालवगण था। इस पूर्वपक्ष के विरोध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि ससार में जितने भी सवत् या सन् प्रचलित है, वे सबके सब किसी न किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध रखते है जैसे युधिष्ठिर सवत्‡, बौद्ध सवत, महावीर सवत्, ईसवी-सन्, शक सवत् इत्यादि। एक भी उदाहरण ऐसा नही मिलता जिसका सम्बन्ध किसी न किसी व्यक्ति विशेष से न हो या जिसकी स्थापना किसी गण, प्रजातन्त्रराज्य, अथवा अभिजातकुल द्वारा की गई हो।

---

* *India what can it teach us ?* p 286

† *Nagri Inscription A S H C* 1915-16 p 56

‡ युधिष्ठिर सवत महाभारत के घोर सग्राम के पश्चात महाराज युधिष्ठिर के सिंहासन पर आरूढ होने के समय से आरम्भ होता है। बौद्ध और महावीर सवत् महात्मा बुद्ध तथा तीर्थकर महावीर के निर्वाण-काल से, ईसवी सन ईसामसीह के मृत्यु-समय से आरम्भ होते है। ईसवी सन पहले चैत्र मास में आरम्भ होता था पर पीछे से पोप ग्रेगरी के सशोधन करने के कारण अब पौष मास में आरम्भ होता है। शक सवत् ७८ ईसवी में शालिवाहन द्वारा अथवा रैप्सन के मतानुसार कनिष्क द्वारा स्थापित किया गया। (*Cambridge History of India*—Vol I Preface VIII—IX, pp 583, 585)

श्री डॉ० लक्ष्मणस्वरूप

दूसरी बात यह है कि विक्रम संवत् का प्रयोग पेशावर, काबुल और कंधार के लेखों मे पाया जाता है। जहाँ तक इतिहास से पता चलता है मालवगण ने पेशावर, काबुल, कंधार पर कभी शासन नही किया। महात्मा बुद्ध या महावीर के समान मालवगण किसी धर्म का प्रवर्तक भी नहीं बना। किसी संवत् के प्रचार में दो ही शक्तियो का प्रभाव होता है (१) राजनीतिक (२) धार्मिक। इन दोनों शक्तियों के अभाव मे मालवगण द्वारा स्थापित संवत् का काबुल और कधार में कैसे प्रयोग हुआ? संवत् की स्थापना किसी व्यक्ति-विशेष से ही सम्बन्ध रख सकती है। गण द्वारा संवत् की स्थापना स्वीकार नही की जा सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि विक्रम संवत् का सम्बन्ध भी एक व्यक्ति से है।

एक धारणा यह है कि यदि विक्रम संवत् का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से है और यह एक व्यक्ति द्वारा स्थापित किया गया है तो स्थापक का नाम विक्रमादित्य नही बल्कि अयस (Azes 1) है। यह मत* सर जॉन मारशल का है। रॅप्सन इस मत का समर्थक है†। तक्षशिला ताम्रपत्र के लेख मे १३६ अंक के पीछे 'अयस' शब्द लिखा है। सर जॉन मारशल 'अयस' शब्द का अर्थ करते हैं—'अजेस का'। उनका कहना है कि ताम्रपत्र लेख में जिस संवत् का निर्देश है यह वही संवत् है जो ईसा से ५७-५८ पूर्व आरम्भ होता है, पर इस संवत् का स्थापक विक्रमादित्य नही, अजेस प्रथम है। अजेस प्रथम ने किसी संवत् की स्थापना की थी इस बात की पुष्टि में सर जॉन मारशल ने कोई भी प्रमाण नही दिया। अजेस प्रथम के साहस तथा पराक्रम के विषय में कुछ भी ज्ञात नही। अजेस प्रथम के कुछ सिक्के मिलते हैं। इन सिक्को से अनुमान किया जाता है कि उसका राज्य पंजाब के कुछ भाग तथा कधार पर था। इन सिक्कों पर "महाराजस राजराजस् महन्तस् अयस" लिखा मिलता है। यदि सिक्कों पर स्थान के सीमित होते हुए भी महाराज राजराज इत्यादि लिखा जा सकता था तो क्या यह सम्भव हो सकता है कि ताम्रपत्र पर अजेस प्रथम के नाम के साथ "महाराजस्य राजराजस्य" इत्यादि शब्द न लिखे जाते? इन शब्दों के अभाव से स्पष्ट है कि ताम्रपत्र के लेख मे उपलब्ध 'अयस' शब्द का अर्थ 'अजेस का' नहीं हो सकता और न होना चाहिए। ताम्रपत्र लेख के 'अयस' शब्द के बहुत से अर्थ किये गये हैं। इसका सर्वश्रेष्ठ अर्थ भाण्डारकर महोदय ने किया है। उनके मतानुसार 'अयस' शब्द संस्कृत शब्द 'आद्यस्य' का प्राकृत रूप है। प्राकृत व्याकरण के अनुसार संस्कृत 'आद्यस्य' का प्राकृत रूप 'अयस' ही होगा। उस वर्ष मे दो आषाढ़ थे। 'आद्यस्य' अथवा 'अयस' से प्रथम आषाढ़ का निर्देश है। मुझे इस अर्थ को स्वीकार करने मे कुछ भी आपत्ति नही दिखाई देती। यही अर्थ यथार्थ प्रतीत होता है।

यदि अजेस प्रथम ने किसी संवत् की स्थापना की तो अजेस का नाम शिलालेखो में उत्कीर्ण संवत् के साथ उल्लिखित होना चाहिये था। पर अब तक एक भी शिलालेख मे अजेस का नाम नही पाया जाता। यदि अजेस ने सवत् चलाया था तो कम से कम उसका पुत्र अजीलिसेस तो उस संवत् का प्रयोग करता। अजीलिसेस के कुछ सिक्के मिलते हैं। उन पर अजेस द्वारा स्थापित संवत् का प्रयोग नही हुआ। स्वयं अजेस के सिक्कों पर किसी सवत् का प्रयोग नही हुआ। यदि अजेस ने संवत् चलाया तो उसने अपने सिक्को पर उसका प्रयोग क्यों न किया? अजेस के सिक्कों पर तथा उसके पुत्र अजीलिसेस के सिक्कों पर किसी भी संवत् के प्रयोग के अभाव से स्पष्ट है कि अजेस ने किसी सवत् की स्थापना नही की। अजेस का राज्य थोड़े वर्ष ही रहा‡। उसका राज्य तथा वंश शीघ्र ही नष्ट हो गये। इसलिए अजेस द्वारा किसी सवत् की स्थापना सम्भव ही नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त अजेस के उत्तराधिकारी भी अजेस द्वारा स्थापित संवत् का प्रयोग नही करते। पकोरेस, विमकडफाईसेस, कनिष्क आदि ने अजेस के संवत् का प्रयोग नही किया। अजेस का कही नाम नही लिया। अजेस के उत्तराधिकारी गोण्डोफरनेस का तख्तेवाही लेख उपलब्ध है। इस लेख मे 'अयस' का कही नाम नही पाया जाता। यदि

---

* *Journal of the Royal Asiatic Society* 1914 pp. 973 ff; 1915, pp. 191 ff.

† *Cambridge History of India*, Vol. I. Preface VIII, pp. 571, 581, 584.

‡ His family had been deposed and deprived of all royal attributes. (*Cambridge History of India*, Vol. I. p. 582).

अजेस ने सवत की स्थापना की होती तो तख्तेवाही लेख में उसका नाम अवश्य मिलता। इसी प्रकार युसुफजाई के पजतर स्थान मे उपलब्ध लेख में १२२ वष का अक है। इस लेख में भी अजेस का नाम नही पाया जाता, यद्यपि यह वही सवत् है जिसका आरम्भ ईसा स ५७ ५८ वष पूव होता है।

जसे ऊपर लिखा जा चुका है भारत में उपलब्ध शिलालेखा पर इस सवत् को 'मालवगणस्थिति' 'मालवेश' तथा 'विक्रम' के नामो से निर्दिष्ट किया गया है। शिलालेखा के इस साक्ष्य की उपस्थिति में इस सवत् की स्थापना अजेस द्वारा नही मानी जा सकती। यहाँ पर हम फ्रेंकलिन एजटन का मत उद्धत करते है। वे भी इसी परिणाम पर पहुँचे है। वे लिखत है —

"That Azes I ruled about 58 B C seems, indeed, quite well established But the theory, that he founded an era seems to hang on a slender thread, namely on a disputed (and as it seems to me improbable) interpretation of the word *Ayasa* in the Taksasila inscription published by Marshall L C If this word should turn out not to refer to an era 'of Azes', there would be no evidence left for the founding of an era by King Azes But the earliest certain inscriptions dated in this era agree with the unanimous Hindu tradition in localising the era in Malava This alone might make us hesitate And we should feel more comfortable about accepting the Azes theory, if other dates in this era were found in the interval between 136 (the Taksasila inscription) and 428 (the earliest date known in the 'Malava era') The lack of any dates in this interval makes it appear that, on the hypothesis assumed by Marshall and Rapson, this era of Azes, used by Kanishka's immediate predecessors, in Gandhara, was straightway thereafter replaced by the era of Kanishka, and apparently became extinct in the Kushan empire, only to reappear, several centuries later, in Eastern Rajputana as the 'Malava era' This does not sound very plausible" (*Vikrama's Adventures*) H O S Vol 26 Introduction (LXIII—IV)

अजेस विदशी था। यदि उसन किसी सवत् की स्थापना की तो उस सवत् के महीना तथा तिथियो के नाम भी विदशी होने चाहिये। आजकल प्रचलित विदशी ईसवी सन् के महीना तथा तिथियो के नाम भी विदशी है जसे जनवरी, फरवरी मण्डे, टचूसडे इत्यादि। इसी प्रकार विदेशी अजेस द्वारा स्थापित सवत् के महीना तथा तिथियो के नाम भारतीय नही होने चाहिए। परन्तु तक्षशिला-ताम्रपत्र लेख म आषाढ मास और पञ्चमी तिथि का उल्लेख है। युसुफजाई के पजतर लख म श्रावण मास तथा प्रथमा तिथि का उल्लेख है, गाण्डोफरनेस के तख्तेवाही लेख मे वैशाख मास और पञ्चमी तिथि का उल्लेख है। इन महीना तथा तिथियो के नाम से स्पष्ट है कि ईसा से पूव ५७-५८ में आरम्भ होनवाले सवत् की स्थापना किसी विदेशी अजेस द्वारा नही बल्कि किसी भारतीय महापुरुष द्वारा की गई। सार यह निकला कि ईसा से पूव ५७-५८ में आरम्भ होने वाला सवत् किसी गण अथवा विदशी नरेश अजेस द्वारा नही स्थापित किया गया। वह एक व्यक्ति विशष स सम्बन्ध रखता है। वह व्यक्ति विशष एक भारतीय ही था।

अब प्रश्न यह है कि वह भारतीय व्यक्ति विशेष कौन था? जनियो की परम्परा है कि महावीर के निर्वाण-काल से ४७० वष पीछ विक्रमादित्य ने सकल प्रजा को ऋण से मुक्त कर सवत् चलाया। इस परम्परा का साक्ष्य ईसा से पूव प्रथम शताब्दी में एक विक्रमादित्य का होना और उसके द्वारा सवत् की स्थापना का सिद्ध करता है।

श्री डॉ० लक्ष्मणस्वरूप

जैनियों की पट्टावलियो मे सुरक्षित परम्परा एक दूसरी परम्परा है। उनमे निर्दिष्ट समय-गणना भी इस बात की पुष्टि करती है। दो भिन्न-भिन्न परम्पराओ से एक ही परिणाम निकलता है। कोई कारण प्रतीत नही होता कि इन परम्पराओ पर विश्वास न किया जाय।

अब हम इस प्रश्न पर एक दूसरे प्रकार से विचार करते है। ईसवी सन् से पूर्व के भारतीय महाराज और सम्राट् विक्रमादित्य विरुद को धारण नही करते थे, जैसे अजातशत्रु, प्रद्योत, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, पुष्यमित्र आदि ने विक्रमादित्य की उपाधि को अपने नाम के साथ नही जोड़ा। ईसवी सन् के पश्चात् भारत के महाराज और सम्राट् जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त, शीलादित्य, यशोधर्म, हर्षवर्धन इत्यादि शक्तिशाली सम्राट् विक्रमादित्य की उपाधि को धारण करते है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल मे जो गौरव और प्रताप अश्वमेध यज्ञ करने से प्राप्त होते थे, ईसवी सन् के पश्चात् विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने से वही गौरव उपलब्ध होने लगा था। जिस प्रकार वैदिक काल मे अश्वमेध-यज्ञ का करना संसार-विजेता होने की घोषणा करना होता था उसी प्रकार विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना साम्राज्य तथा प्रभुत्व का सूचक बन गया था। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण नही की। गुप्तवशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अश्वमेध यज्ञ नही किया पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त, हर्षवर्धन मे से किसी ने भी अश्वमेध यज्ञ नही किया पर उनमे से प्रत्येक ने अपना आधिपत्य प्रकट करने के लिए विक्रमादित्य की उपाधि को धारण किया। प्रश्न उठता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे भारत-विजेता, चक्रवर्ती सम्राट् के लिए विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना किस प्रकार से गौरव या महत्व की बात हो सकती थी? अथवा ससार के सम्राटों की उपाधियो का उद्‌गम-स्थान अथवा स्रोत क्या है, इस पर कुछ विचार करना अनुचित न होगा। पहले हम योरुप को लेते है।

योरुप के इतिहास मे चार विशाल साम्राज्यो का वर्णन पाया जाता है—(१) रोमन साम्राज्य, (२) आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य, (३) रूसी साम्राज्य, (४) जर्मन साम्राज्य। इनमे से हम पहले रूसी सम्राट् की उपाधि का उद्‌गम-स्थान या स्रोत मालूम करने का प्रयत्न करेगे। रूसी सम्राट् की उपाधि है 'जार' (Czar)। अब जरा 'जार' (Czar) शब्द की उत्पत्ति पर ध्यान देना चाहिए। इसमे पहली बात तो यह है कि रूसी भाषाओ मे C का Z वर्ण के साथ संयोग कभी नही होता। ये दोनों वर्ण कभी भी संयुक्त नही होते। "The spelling 'Cz' is against the usage of all Slavonic languages. Its retention shows its foreign origin." इन दोनो वर्णों के सयोग से स्पष्ट है कि रूसी भाषा मे यह एक विदेशी शब्द है। यह शब्द वास्तव मे लेटिन शब्द 'सीजर' Caesar से निकलता है। इसको 'सीजर' का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यह वास्तव मे 'सीजर' Caesar शब्द का एक प्रकार का समानध्वन्यात्मक रूपान्तर है। 'Czar' शब्द का C वर्ण Caesar के Cae वर्ण के स्थानापन्न है। Czar का 'Zar', 'Caesar' के Sar के स्थानापन्न है। इस प्रकार Czar, Caesar के समान है। इससे स्पष्ट हो गया कि रूसी सम्राट् की उपाधि Czar का उद्‌गम-स्थान Caesar है।

आस्ट्रो-हंगेरियन और जर्मन साम्राज्यो के सम्राटो की उपाधि है कैसर 'Kaisar'। यह शब्द योरुप की विविध भाषाओ मे पाया जाता है:—गौथिक (Gothic) मे यह Kaisar है। प्राचीन जर्मन भाषा मे इसका रूप है Keisar। मध्यकालीन डच (Dutch) मे Keiser, Keyser तथा आधुनिक डच मे Keizer के रूप मे है। प्राचीन नार्वीजियन भाषाओं मे Keisari, Keisar तथा Keiser के रूप मे पाया जाता है। मध्यम अग्रेजी मे Kaiser, Keiser तथा प्राचीन अग्रेजी मे Casere तथा Caser रूप मिलते है। इसी शब्द Kaisar के अन्य १२ रूपान्तर है Caisere, Caysere, Caiser, Cayser, Caisar, Kayssar, Keyzar, Kaeisere, Koesar। इस शब्द का उच्चारण है कैजर Kaizer। लैटिन भाषा मे C वर्ण का उच्चारण दो प्रकार से होता है—(१) एक प्रकार तो वह है जिसके अनुसार C वर्ण का 'सी' उच्चारण होता है। (२) दूसरा प्रकार वह है जिसके अनुसार C वर्ण का 'क' उच्चारण होता है। उदाहरण के तौर पर हम प्राचीन

रोम के वाग्मी तथा ससार प्रसिद्ध नेता Cicero का नाम लेते ह। इस नाम का उच्चारण 'सिसरो' तथा 'किकरो' दोनो प्रकार से होता था जैस सस्कृत 'ष्' का उच्चारण मूर्धन्य 'ष्' तथा कण्ठ्य 'ख्' दो प्रकार से होता है, षष्ठि को खष्ठि, अथवा षष्ठि उच्चरित किया जाता है। इन रूपा को देखने से स्पष्ट है कि यह शब्द भी Caesar का रूपान्तर है। आस्ट्रो-हगेरियन तथा जमन सम्राटा की उपाधि का उद्गम-स्थान सीजर (Caesar) है।

रोमन साम्राज्य के निम्न लिखित सम्राट् हो गये ह —

Augustus	27 B C	14 A D	Maximinus	235 ,,	238 ,,
Tiberius	14 A D	37 ,,	Gordian III	238 ,,	244 ,,
Gaius	37 ,,	41 ,,	Philip	244 ,,	249 ,,
Clandius	41 ,,	54 ,,	Derius	249 ,,	251 ,,
Nero	54 ,,	68 ,,	Gallus	251 ,,	253 ,,
Vespasian	69 ,,	79 ,,	Aemilianus	253 ,,	260 ,,
Titus	79 ,,	81 ,,	Gallienus	260 ,,	268 ,,
Domitian	81 ,,	96 ,,	Clandius	268 ,,	270 ,,
Nerva	96 ,,	98 ,,	Aurelian	270 ,,	275 ,,
Trajan	98 ,,	117 ,,	Tacitus	275 ,,	276 ,,
Hadrian	117 ,,	138 ,,	Probus	276 ,,	282 ,,
Antoninus Pius	138 ,,	161 ,,	Carus	282 ,,	283 ,,
Marcus Aurelius	161 ,,	180 ,,	Constantine I	311 ,,	337 ,,
Comodus	180 ,,	193 ,,	Constantine II	337 ,,	361 ,,
Septimius Severus	193 ,,	211 ,,	Julian	361 ,,	363 ,,
			Jovian	363 ,,	364 ,,
Caracalla	211 ,,	217 ,,	Valentinian I	364 ,,	375 ,,
Macrinus	217 ,,	218 ,,	Gratian	375 ,,	
Elagabalus	218 ,,	222 ,,	Valentinian II	375 ,,	395 ,,
Alexandar Severus	222 ,,	235 ,,	Honorius	395 ,,	423 ,,
			Valentinian III	423 ,,	455 ,,

Maximus Avitus Majorian Severus Anthemius Olybrius Romulus Augustuslus } (455-475)

इनमें से प्रत्येक की उपाधि सीजर (Caesar) थी। योरुप के चार विशाल साम्राज्यो के सम्राटा के उपाधि का उद्गम-स्थान ह Caesar। यह Caesar एक व्यक्ति था। इसका पूरा नाम था जूलियस सीजर (Julius Caesar)। इस व्यक्ति ने उस समय के ससार को जीता, एस अद्भुत और अलौकिक काय किये कि सीजर (Caesar) नाम में एक विशेष महत्त्व तथा आकषण हो गया। सीजर (Caesar) नाम सुनते ही श्रोता के हृदय पर एक अनिवचनीय प्रभाव पडता था। इस नाम के साथ अलौकिक प्रभुत्व तथा अदभुत प्रताप सम्बद्ध हो गया था इसलिए रोमन साम्राज्य के प्रत्येक सम्राट ने इस नाम के महत्त्व, आकषण, तथा तज से लाभ उठाने के लिए इस नाम को उपाधि के तौर पर अपने नाम के साथ जोड लिया और स्वय 'सीजर' बन बठा। इससे सिद्ध हुआ कि योरुप के बडे-बडे सम्राटो की सबसे बडी उपाधि एक व्यक्ति विशष का नाम ह।

श्री डॉ० लक्ष्मणस्वरूप

उन्नीसवी शताब्दी के योरुप के इतिहास में इसी मनोवृत्ति का एक दूसरा जीता-जागता उदाहरण मिलता है। नेपोलियन (Napoleon) के अमानुषिक साहस और पराक्रम तथा महासंग्रामो मे अपूर्व विजयों के कारण 'नेपोलियन' शब्दमात्र में एक चमत्कार, एक मन को मोहनेवाला आकर्षण पैदा हो गया था। जनता के लिए यह शब्द एक वशीकरण मंत्र से कम न था। जब १८४८ मे फिलिप ने फ्रान्स देश मे क्रान्ति द्वारा शक्ति प्राप्त की तो अपनी शक्ति को दृढ़ करने के लिए उसने अपना नाम नेपोलियन रख लिया और वह नेपोलियन तृतीय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फ्रान्स देश के तृतीय साम्राज्य को सुसंगठित तथा सुदृढ करने मे नेपोलियन के नाम ने आशातीत सहायता दी।

धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी इसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन मिलता है। आदि शंकराचार्य के अलौकिक बुद्धि-चमत्कार के पश्चात्, उनके द्वारा स्थापित मठों के अध्यक्ष अपने आपको अभी तक शंकराचार्य कहते है। सिक्ख धर्म के स्थापक गुरू नानक थे। उनके पीछे आनेवाले सारे गुरू अपने आपको नानक कहते थे। दूसरे गुरू से लेकर दसवें गुरू ने जो कविताएँ रची है और अब ग्रन्थ साहिव मे सुरक्षित है वे सव नानक के नाम से रची गई हैं।

ऊपर लिखा गया है कि योरुप के चार विशाल साम्राज्यो के सम्राटों की उपाधि एक व्यक्ति-विशेष का नाम-मात्र है। इसी प्रकार ईसवी सन् के पश्चात् भारत के सम्राटों का अपने नाम के साथ विक्रमादित्य की उपाधि को जोड़ना इस बात का सूचक है कि कोई व्यक्ति विक्रमादित्य हुआ था। उसने अद्भुत अलौकिक कार्यों द्वारा सीजर तथा नेपोलियन के समान विक्रमादित्य शब्द मे एक प्रकार का आकर्षण और तेज उत्पन्न कर दिया और वह नाम जनता को मुग्ध करने का एक प्रकार का अमोघ वशीकरण मंत्र बन गया। इसलिए चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे शक्तिशाली सम्राट् ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। अन्यथा समरांगणों मे विहार करनेवाले विदेशियो के विजेता विशाल साम्राज्य के प्रभु चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे महावली परम भट्टारक परमेश्वर के लिए विक्रमादित्य या पराक्रम-मूर्ति या पराक्रम-सूर्य आदि शब्दों को अपने नाम के साथ जोड़ने से कोई विशेष लाभ या गौरव प्राप्त न हो सकता था। मेरी राय मे चन्द्रगुप्त द्वितीय का विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना इस बात की सूचना देता है कि उससे पूर्व कोई महातेजस्वी विक्रमादित्य नाम का सम्राट् भारत मे हो चुका था जिसके विदेशियो को परास्त करनेवाले दुर्निवार पराक्रम, अद्भुत तथा अलौकिक आचरणो के कारण 'विक्रमादित्य' शब्द एक अत्यन्त कमनीय उपाधि वन गया, यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे सम्राट् इस नाम को उपाधि बनाकर अपने नाम के साथ जोडने और अपने आपको विक्रमादित्य कहलाने मे गौरव अनुभव करते थे।

एक ऐसे ही महातेजस्वी विक्रमादित्य का वर्णन ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी से पूर्व मिलता है। महाराज हाल ने महाराष्ट्री प्राकृत पद्यो के एक सग्रह का संकलन किया। महाराज हाल का समय पहली या दूसरी शताब्दी है। इस संग्रह मे कुछ पद्य तो उनके स्वरचित है और कुछ अन्य कवियो के पद्य सगृहीत है। इस सुभाषितावलि का नाम है "गाथासप्तशती"। इसके एक पद्य में विक्रमादित्य का उल्लेख है। वह पद्य यहाँ उद्धृत किया जाता है:—

> "संवाहणसुहरसतोसिएण दंतेण तुह करे लक्खं।
> चलणेण विक्कमाइच्चचरिअं अनुसिक्खिअं तिस्सा।"

इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार है:—

> "संवाहन सुखरसतोषितेन दत्तेन तव करे लाक्षां।
> चरणेन विक्रमादित्यचरित्रं अनुशिक्षितं तस्याः॥"

इस पद्य का भावार्थ है—पति अपनी प्रिया के चरणो का सवाहन कर रहा था। प्रिया के चरण लाख रस से पुते हुए होने के कारण लाल थे। ऐसे चरणो के स्पर्श से पति के हाथो मे भी लाख लग गई अर्थात् वे लाल हो गये। इस कौतुक को देखकर कवि अथवा अभिन्न-हृदय मित्र पति को सम्वोधन करके कहता है कि प्रिया के चरणो ने सवाहनसुख से सन्तुष्ट होकर तुम्हारे हाथ मे लाख दे दिया। लाख देने से चरणों ने मानो विक्रमादित्य के चरित्र का अनुकरण किया है।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता

(मूल शब्द लक्ख–लाख श्लिष्ट पद ह। इसके दो अथ ह–(१) लाख नाम की एक धातु जिसका रस मेंहदी के समान पावा पर लगाया जाता ह (२) लाख रुपये।)

इस पद्य क साक्ष्य से सिद्ध ह कि हाल के समय से पूव, विक्रमादित्य नाम का एक महाप्रतापी और उदार सम्राट् हो चुका था जो चरण-सवाहन जसी साधारण सेवा से सन्तुष्ट होकर अपने नौकरा का लाख-लाख रुपय इनाम में द डालता था। इस कथन म यदि कुछ अतिशयोक्ति भी हो तो भी इस पद्य से विक्रमादित्य की उदारता, एश्वय और दानशीलता अवश्य प्रकट होते ह। इस प्रकार पहली या दूसरी शताब्दी से पूव एक वीर प्रतापी दानवीर विक्रमादित्य का अस्तित्व सिद्ध हो जाता ह।

कुछ विद्वान् इस पद्य का सन्दह की दृष्टि से देखते ह। पर सन्देह का कारण नहा बतलात। मालूम होता ह कि अस्पष्ट रूप स उनके मन म एक धारणा बठ गई ह कि यह पद्य प्रक्षिप्त ह अर्थात् जिस समय हाल ने गाथा सप्तशती का सकलन किया था उस समय यह पद्य विद्यमान न था बल्कि पीछे से मिला दिया गया ह। यदि यह पद्य प्रक्षिप्त है तो इसके लिए कोई प्रमाण दिया जाना चाहिए। यदि प्रमाण नही ह तो प्रमाण के अभाव में सन्देह करना न्याय्य नहा ह। कहावत ह कि जब तक पाप सिद्ध न कर दिया जाय तब तक मनुष्य पापी नही माना जा सकता। "A man is innocent until and unless he is proved guilty' इसी प्रकार जब तक इस पद्य को प्रक्षिप्त न सिद्ध कर दिया जाय इसकी अवहलना नही की जा सकती। यदि यह पद्य प्रमाण-कोटि पर आरूढ हो सकता है तो दूसरी या पहली शताब्दी से पूव विक्रमादित्य का अस्तित्व स्वीकार करना पडेगा।

दूसरी या पहली शताब्दी स पूव विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करन में गुणाढ्य द्वारा पैशाची भाषा म लिखी हुई बृहत्कथा स भी साक्ष्य मिलता ह। मूल बृहत्कथा अब उपलब्ध नही होती। वह नष्ट हो चुकी ह। पर पैशाची भाषा से मूल बहत्कथा का सस्कृत भाषा म रूपान्तर किया गया। इस रूपान्तर के समय का निणय नही हो सकता पर सस्कृत रूपान्तर आठवी शताब्दी स पूव अवश्य हो चुका था। इस सस्कृत रूपान्तर की इस समय दो शाखाय विद्यमान ह—(१) काश्मीरी, (२) नपाली। काश्मीरी शाखा के दो ग्रन्थ प्रतिनिधि ह—(क) क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामञ्जरी और (ख) सोमदेवरचित कथासरित्सागर। नपाली शाखा का एक ही ग्रन्थ मिलता है। वह है बुद्धस्वामी रचित श्लोकसग्रह। श्लोकसग्रह का सम्पादन फ्रान्स दश के प्रसिद्ध विद्वान् लाकोत (Lacote) ने किया ह। इन दाना शाखाओ के तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन द्वारा मूल बहत्कथा के कलेवर का निर्माण किया जा सकता ह। शाखाओ की विवेचना द्वारा हम निश्चित रूप से कह सकते ह कि मूल पशाची बृहत्कथा म अमुक-अमुक विषया का वणन था। गुणाढ्य कृत बहत्कथा की असदिग्ध विषय-सूची बनाई जा सकती है। यह निस्सन्देह कहा जा सकता ह कि गुणाढ्य ने अपनी मूल पैशाची बृहत्कथा में विक्रमादित्य के चरित्र का विस्तार सहित वणन किया था। गुणाढ्य के समय के विषय म विद्वानो में मतभद ह पर गुणाढ्य को पहली या दूसरी शताब्दी से पीछे नही घसीटा जा सकता। गुणाढ्य की मूल बृहत्कथा का साक्ष्य पहली या दूसरी शताब्दी से पूव एक तेजस्वी महापराक्रमी विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करता ह।

महाराष्ट्री प्राकृत तथा पैशाची बहत्कथा के अतिरिक्त विक्रमादित्य के चरित्र का वणन निम्न लिखित सस्कृत पुस्तका में पाया जाता ह—(१) शुकसप्तति, (२) सिहासनद्वात्रिंशिका, (३) वेतालपञ्चविंशति। ये तीनो ग्रन्थ तोते-मना की कहानी, सिहासनबत्तीसी, और बताल पच्चीसी के नाम से हिन्दी में प्रचलित ह। इनके अनेक अनुवाद और रूपान्तर तथा शाखाएँ भारत की भिन्न भिन्न भाषाओ मे उपलब्ध हैं। कथासरित्सागर का भी हिन्दी म अनुवाद हो चुका है। पर क्षेमेन्द्रकृत बहत्कथामञ्जरी का कोई अनुवाद अभी तक दृष्टिगोचर नही हुआ। इन ग्रन्था की कितनी ही कथाएँ भारत तथा योरप की भिन्न भिन्न भाषाओ के साहित्य म स्वतन्त्र रूप से पाई जाती ह।

जनियो के साहित्य में विक्रमादित्य का वणन (१) मेरुतुगसूरि रचित प्रबन्धचिन्तामणि, (२) देवमूर्तिप्रणीत विक्रमचरित, (३) रामचन्द्रसूरिकृत विक्रमचरित्र तथा (४) जमनी देशोद्भव याकोबी द्वारा सम्पादित कालकाचार्य-कथानक मे पाया जाता ह।

श्री डॉ० लक्ष्मणस्वरूप

संस्कृत-साहित्य मे वर्णित विक्रमादित्य के चरित्र का अध्ययन करने से ये बातें स्पष्ट हो जाती हैं और जहाँ तक इनका सम्बन्ध है उनमे कोई भी परस्पर विरोध नही है :—

(क) भर्तृहरि को एक अमृत फल मिलता है। वह उस फल को अपनी प्रियतमा रानी को देता है। रानी उसी फल को अपने एक प्राणप्रिय मित्र को दे देती है। वह मित्र उसी फल को किसी दूसरी स्त्री को दे देता है। वह स्त्री फिर उस फल को भर्तृहरि को दे देती है। इस घटना से भर्तृहरि के हृदय पर चोट लगती है। वह राजपाट छोड़कर बन को चला जाता है।

(ख) भर्तृहरि के जाने के पश्चात् राज्य का कोई रक्षक नही रहता।

(ग) राज्य मे अराजकता छा जाती है।

(घ) एक राक्षस राज्य का रक्षक बन जाता है।

(ङ) विक्रमादित्य आता है।

(च) विक्रमादित्य का राक्षस से युद्ध होता है।

(छ) विक्रमादित्य राक्षस पर विजय पाता है और राज्य का स्वामी बन जाता है।

(च) और (छ) से सिद्ध है कि राज्य-प्राप्ति से पूर्व विक्रमादित्य को युद्ध करना पड़ा। युद्ध एक राक्षस से हुआ। मेरी राय मे 'राक्षस' से क्रूर, कुटिल, अनार्य विदेशियो की ओर सकेत है। सीधे-सादे शब्दो मे हम कह सकते है कि सस्कृत साहित्य की विक्रम सम्बन्धी कथाओ के अध्ययन से यह परिणाम निकलता है कि अनार्य विदेशियो पर विजय पाकर ही विक्रमादित्य ने राज्य किया।

जो बात संस्कृत-साहित्य मे परोक्ष रूप से कही गई है वही बात जैन-साहित्य मे विशेषकर कालकाचार्य कथानक मे प्रत्यक्ष रूप से बतलाई गई है। जैन-साहित्य की परम्परा के अनुसार उज्जयिनी का एक राजा गर्दभिल्ल था। वह बड़ा दुष्ट था। कालकाचार्य जैन-मत के अनुयायी एक अच्छे विद्वान् साधु थे। उनकी बहिन सरस्वती बडी रूपवती थी। वह भी परिव्राजका बन गई। उसके रूप-लावण्य की छटा को देखकर गर्दभिल्ल उसपर आसक्त हो गया। मंत्रियो के समझाने पर ध्यान न देकर उसने साध्वी सरस्वती को बलात् अपने अन्त पुर मे डाल लिया। कालकाचार्य इस अन्याय को न सह सका। उसने शकद्वीप के शको की सहायता से उज्जयिनी पर आक्रमण कर दिया। गर्दभिल्ल मारा गया। उज्जयिनी पर शको का राज्य हो गया। शको ने प्रजा पर अनेक अत्याचार किये। धन-सम्पत्ति लुट गये। स्त्रियो का सतीत्व भंग किया गया। धर्म और न्याय का लोप हो गया। प्रजा की ऐसी दुर्दशा को देखकर और आर्तनाद को सुनकर गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शक्ति सग्रह की। उसने शको पर विजय पाई। प्रजा को ऋण से मुक्त कर दिया। शकों पर विजय पाने और सारी प्रजा को ऋण से मुक्त करने के उपलक्ष मे सवत् की स्थापना की। यह सवत् ईसा से ५७-५८ वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ। मेरी सम्मति मे संस्कृत-साहित्य मे वर्णित राक्षस जैन-साहित्य के शक ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन-साहित्य मे एक वास्तविक ऐतिहासिक घटना का वर्णन है। इस घटना के ऐतिहासिक स्वरूप को योरुप के कुछ विद्वान् स्वीकार करते है। हम यहाँ शारपान्तियर (Charpentier) के मत को उद्धृत करते है। वह लिखते है :—

"Only one legend, the *Kalkacharya-Kathanaka*, 'the story of the teacher Kalaka' tells us about some events which are supposed to have taken place in Ujjain and other parts of Western India during the first part of the first century B. C. or immediately before the foundation of the Vikrama era in 58 B. C. This legend is perhaps not totally devoid of all historical interest." (*Cambridge History of India*, Vol. I. P. 167).

रॅप्सन का मत भी यहां उद्धत किया जाता है —

"The memory of an episode in the history of Ujjayini may possibly be preserved in the Jain story of Kalaka The story can neither be proved nor disproved, but it may be said in its favour that its historical setting is not inconsistent with what we know of the political circumstances of Ujjayini at this period A persecuted party in the state may well have invoked the aid of the warlike Sakas of Sakadvipa in order to crush a cruel despot, and as history has so often shown, such allies are not unlikely to have seized the kingdom for themselves Both the tyrant Gardabhilla whose misdeeds were responsible for the introduction of these avengers, and his son Vikramaditya, who afterwards drove the Sakas out of the realm, according to the story, may perhaps be historical characters" (*Cambridge History of India* Vol I pp 532-533)

जन-साहित्य के इस इतिहास के विरुद्ध कुछ भी प्रमाण नही ह। विरोधी प्रमाण क अभाव म यह अविश्वास के योग्य नही ह। जहां तक विक्रमादित्य के एतिहासिक अस्तित्व का प्रश्न ह वह गाथासप्तशती और बृहत्कथा स सिद्ध होता ह। जन, महाराष्ट्री तथा पैशाची परम्परा ईसा से पूर्व विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करती है। हमे ईसा से ५७ ५८ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के ऐतिहासिक अस्तित्व को स्वीकार करने मे कुछ भी आपत्ति नही होनी चाहिए। यहां पर हम फ्रैंकलिन एजटन का मत भी उद्धत कर देना उचित समझते हैं। वे लिखत ह —

"I am not aware that there is any definite and positive reason for rejecting the Jainistic chronicles completely, and for saying categorically that there was no such king as Vikrama living in 57 B C Do we know enough about the history of that century to be able to deny that a local king of Malava, bearing one of the names by which Vikrama goes may have won for himself a somewhat extensive dominion in Central India ? It does not seem to me that Kielhorn has disproved such an assumption And I know of no other real attempt to do so" (*Vikrama's Adventures*-H O S Vol 26 Introduction p LXIV)

"It seems on the whole at least possible, and perhaps probable, that there really was a King named Vikramaditya who reigned in Malava and founded the era of 58 57 B C' (Op W LXVI)

* शकारि विक्रमादित्य *

(समवेत गान)

श्री सोहनलाल द्विवेदी

वह था जीवन का स्वर्ण-काल, जब प्रात पुलक ले मुसकाया ।
क्षिप्रा की लहरों में केसर कुंकुम का जल था लहराया ॥

आलोक अलौकिक छाया था,
वरदान धरा ने पाया था,
विक्रमादित्य के व्याज स्वयं आदित्य तिमिर में था आया ॥

वैभव विभूति के पद्म खिले,
सुख के सौरभ से सद्म हिले,
वहता मलयज उत्साह लिये, आनन्द चतुर्दिक् था छाया ॥

नवरत्नों की वह देव-सभा,
वितरित करती थी दिव्यप्रभा,
वह दिन कितना सुन्दर होगा ? जब था इतना प्रकाश छाया ॥

कवि कालिदास की वरवाणी,
गाती थी गौरव कल्याणी,
नव मेघदूत के छन्दों ने मकरन्द मेघ था वरसाया ॥

उज्जैन अवन्ती का वैभव,
दिशि-दिशि करता फिरता कलरव,
उस दिन, दरिद्रता धनी वनी, सवने ही था सब कुछ पाया ॥

शकारि विक्रमादित्य

कितनी शताब्दियाँ गईं बीत,
झकृत फिर भी अब भी अतीत,
सुनता रहता नीरव दिगत, नभ प्रतिध्वनि करता दुहराया ॥

इतिहास न वह भूला मेरा,
डाला विदेशियों ने घेरा,
यह विक्रम का ही था विक्रम, पल मे, पदतल, शक-दल आया ॥

उस विजय दिवस की स्मृति स्वरुप,
प्रचलित विक्रम सवत् अनूप,
ये दिवस मास, वे पुन्य पृष्ठ, जब जयध्वज हमने फहराया ॥

उस दिन की सुधि से है निहाल,
हिमगिरि का उन्नत उच्च भाल,
गगा-यमुना की लहरों में, अमृतोदक करता लहराया ॥

जागो फिर एक बार विक्रम !
नवजीवन का हो नव उपक्रम,
फिर, कोटि कोटि कठों ने मिल, जननी का विजय गान गाया ॥
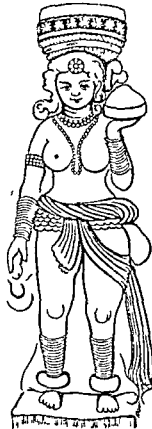
(चित्रकार—श्री रविशंकर रावल)

(चित्रकार—श्री रविशंकर रावल)
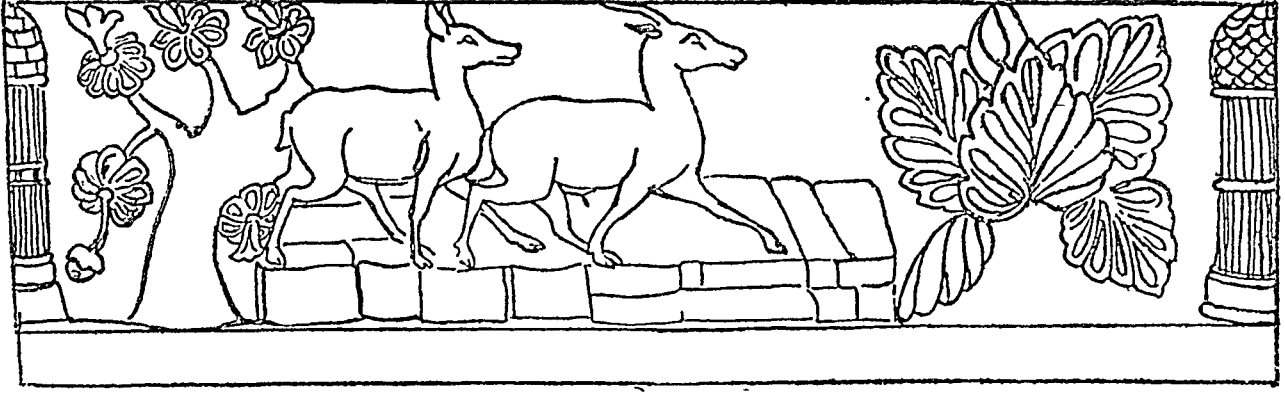
भारतीय इतिहास में विक्रम-समस्या

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

भारतीय अनुश्रुति पर अविश्वास.—यह बात तो मानना ही पडेगी कि भारतीय ऐतिहासिक अन्वेषण में योरप के विद्वानों ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वर्तमान वैज्ञानिक शैली मे इतिहास लेखन की नीव उनके द्वारा डाली गई है। परन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि उनमे से अधिकांश का दृष्टिकोण धार्मिक एवं राजनीतिक कारणों से प्रभावित रहा है। जो इतिहास लेखक धार्मिक क्षेत्र के (पादरी) थे उनके हृदय मे यह भावना प्रबल रहती थी कि पूर्व के एक अनुन्नत देश की सभ्यता ईसा के बहुत पहले की, एवं ईसामसीह के पवित्र अनुयायियो से अधिक समुन्नत नहीं हो सकती। राजनीतिक कारणो ने भी अच्छा प्रभाव नही डाला। जातिगत श्रेष्ठता की भावना के कारण कभी-कभी बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। इसके लिए एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। विंसेण्ट स्मिथ का भारत का प्राचीन इतिहास (*The Early History of India*) प्रारम्भ के स्तुत्य प्रयासो मे से है। प्रारम्भिक प्रयास होने के कारण उस मे भ्रान्तियाँ होना क्षम्य है, परन्तु उसमे लेखक का जो एक विशिष्ट दृष्टिकोण रहा है वह अवाञ्छनीय है। अलक्षेन्द्र के भारत-आक्रमण का हाल देने में उसने उक्त पुस्तक का सप्तांश व्यय किया है, जबकि वह स्वयं स्वीकार करता है कि उस आक्रमण का भारत पर कोई प्रभाव नही पड़ा था*। जब वह योरोपीय अलक्षेन्द्र की विजयवाहिनी के आगे भारतीय राजाओं एवं गणतन्त्रो को हारते

---

* "The campaign, although carefully designed to secure a permanent conquest, was in actual effect no more than a brilliantly successful raid on gigantic-scale, which left upon India no mark save the horrid scars of bloody war."

"India remained unchanged. The wounds of battle were quickly healed; the ravaged fields smiled again as the patient oxen and no less patient husbandmen resumed their interrupted labours; and the places of the slain myriads were filled by the teeming sworms of a population, which knows no

देखता है तो अनुभव करता है कि उसका मस्तक गौरव से ऊँचा हो रहा है*, परन्तु जब चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रचण्ड प्रताप के सम्मुख सेल्यूकस को भागना पड़ता है तब वही चन्द्रगुप्त के शौर्य के वर्णन में बड़ी कंजूसी दिखाता है† ।

सौभाग्य की बात है कि ऐसा दूषित दृष्टिकोण बहुत थोड़े योरोपीय इतिहास लेखकों का रहा है, परन्तु एक बात, जो बहुसंख्यक योरोपीय इतिहास लेखकों में पाई जाती है, वह है भारतीय अनुश्रुति पर अश्रद्धा। जिन पुराण और स्मृतियों के अध्ययन से भारतीय इतिहासज्ञों ने प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक वाङ्मय का पुनर्निर्माण किया है उन्हीं को प्रारम्भ में इन योरोपीय इतिहासवेत्ताओं द्वारा अतिरंजित वर्णनों से पूर्ण कपोल-कल्पना माना गया था।

अनुश्रुति पर अविश्वास होने के कारण योरोपीय विद्वानों ने भारतीय इतिहास को उलटी दिशा से देखा है। वे अनुश्रुति के केवल उस भाग को ही प्रमाणित मानते रहे हैं जिसे उन्हें विवश होकर अभिलेख, मुद्रा आदि के कारण मानना पड़ा, अन्यथा उन्होंने प्रारम्भ ही इस अनुमान से किया है कि भारतीय अनुश्रुति गलत है।

इस अनुश्रुति के अविश्वास ने प्राचीन भारतीय इतिहास की उज्ज्वलतम घटना के नायक, भारतीय स्वातन्त्र्य-भावना के उज्ज्वलतम प्रतीक, अत्याचारी शकों के उन्मूलनकर्त्ता विक्रमादित्य की भव्य मूर्ति पर ही पर्दा डालने का प्रयास

---

limit save these imposed by the cruelty of man, or the still more pitiless operations of nature India was not hellenized She continued to live her life of splendid isolation, and soon forgot the passing of the Macedonian storm No Indian author, Hindu, Buddhist or Jain makes even the faintest allusion to Alexander or his deeds"

V Smith—Early History of India, Page 117-118

* यह भावना नीचे लिखे अवतरण से स्पष्ट होगी —

"Such was India when first disclosed to European observation in the fourth century B C and such it always has been, except during the comparatively brief periods in which a vigorous central government has compelled the mutually repellent molecules of the body politic to check their gyrations and submit to the grasp of a superior controlling force"

Ibid—Page 370

स्मिथ इस बात को भूल गया है कि तस्वीर का दूसरा रुख भी है। ई० पू० चौथी शताब्दी में योरोपीय दर्शकों के सामने जो भारत आया उसके विषय में (सम्भवत ?) डा० अग्रवाल ने 'नागरी प्रचारिणी-पत्रिका, संवत् २०००' में पृष्ठ १०० पर ठीक ही लिखा है, "हर्ष की बात है कि राजा पौरव ने जिस जुझाऊ यज्ञ का प्रारम्भ किया था, क्षुद्रक-मालव जैसे लड़ाकू गण राज्यों ने उसे आगे जारी रखा और अन्ततोगत्वा यवन-सेना भारत विजय की आशा छोड़कर हृदय और शरीर दोनों से थकी-मांदी अपनी जन्मभूमि के लिए वापिस फिरी।"

† नीचे लिखे उद्गार प्रकट करते समय तो उसका उद्देश्य एवं भावना पूर्णत अनावृत हो जाते हैं —

"The three following chapters which attempt to give an outline of the salient features in the bewildering annals of Indian *petty states when left to* their own devices for several centuries, may perhaps serve to give the reader a notion of what India always has been when released from the control of a supreme authority, and what she would be again, if the hand of the benevolent power which now safeguards her boundaries should be withdrawn"

V Smith—Early History of India, Page 372

किया है। अनुश्रुति मे पूर्णरूप से प्रतिष्ठित विक्रमादित्य के अस्तित्त्व से ही इनकार किया गया। आज राम और कृष्ण के समान ही जिस वीर की कहानियाँ भारत के कोने-कोने मे प्रचलित है, भारतीय अनुश्रुति पर अविश्वास करनेवाले विद्वानो ने उसको समाप्त कर देने का प्रयत्न किया। इस सब का प्रधान कारण यह माना गया कि यद्यपि भारतीय अनुश्रुति मे विक्रमादित्य पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है और यद्यपि उनका प्रचलित संवत्सर आज ससार की वहुत वडी जनसख्या द्वारा प्रयुक्त है, तथापि चूकि ५७-५६ ई० पू० किसी विक्रमादित्य नामक राजा अथवा गणतन्त्र के नायक के सिक्के या अभिलेख नही मिलते, इसलिए यह अनुमान करके चलना होगा कि विक्रमादित्य नामक कोई व्यक्ति नही था। सिक्के और अभिलेख किसी शासक के अस्तित्व के अकाट्य प्रमाण हो सकते है, उसके अनस्तित्व एव अभाव के नही। और अभी भारतीय पुरातत्त्व के महासमुद्र का देखाही कितना अंश गया है, विशेषत: विक्रम के कार्यस्थल मध्यदेश, मालवा एवं उज्जयिनी मे तो अभी वहुत कार्य होना शेष है। वहुत सभव है कि आगे इस दिशा मे अनेक वस्तुएँ प्राप्त हो। अत. केवल सिक्के और अभिलेखो के न मिलने के कारण भारतीय अनुश्रुति पर अश्रद्धा नही की जा सकती।

विक्रम-संवत् सम्बन्धी अद्भुत अनुमान:—प्रारम्भ मे यह देखना उपयोगी एवं मनोरजक होगा कि विक्रम-संवत् एवं उसके प्रवर्त्तक विक्रमादित्य के विषय मे योरोपीय विद्वानो ने क्या क्या कल्पनाएँ की है।

संवत्-प्रवर्त्तन एक ऐसी घटना है, जिससे कोई भी इतिहासज्ञ, भले ही उसे भारत के गौरवपूर्ण अतीत पर कितनी ही अश्रद्धा रही हो, इनकार नही कर सका। जिस सवत् का अजस्रूपेण व्यवहार होता चला आ रहा है, उसका प्रवर्त्तन हुआ था इसे अस्वीकृत कौन कर सकता है? आज एक व्यक्ति जीवित है, इससे अधिक और इस वात का क्या प्रमाण हो सकता है कि उसका कभी जन्म भी हुआ होगा? सवत्सर की वयस् का प्रमाण भी अन्य कही ढूढने नही जाना पड़ेगा।

परन्तु, विक्रम-सवत् को कुछ विचित्र कल्पनाओ का सामना करना पडा। सर्वप्रथम फरगुसन* ने यह स्थापना की कि विक्रम-सवत् का प्रवर्त्तन ईसा से ५७-५६ वर्ष पूर्व नही वरन् ईसवी सन् ५४४ मे हुआ। उसका मत था कि ईसवी सन् ५४४ मे विक्रमादित्य नामक या उपाधिधारी व्यक्ति ने हूणो को पराजित कर एक संवत्सर की स्थापना की और उसे प्राचीनता की झलक देने के लिए उसका प्रारम्भ ६०० वर्ष पूर्व से माना। इससे अधिक विचित्र कल्पना और क्या हो सकती थी? प्रारम्भ मे इस पर अधिक ध्यान न दिया गया, परन्तु कुछ समय पश्चात् फरगुसन की प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए मैक्समूलर ने इस अभिनव आविष्कार का समर्थन किया† और इस प्रकार इस विचित्र स्थापना का अधिक प्रचार हुआ कि यह सवत् दो सहस्रवर्ष पुराना नही है। परन्तु सौभाग्य से यह मत अधिक पुष्टि न पा सका। फरगुसन का यह काल्पनिक महल धराशायी हो गया, जब वे अभिलेख‡ प्राप्त हो गए, जिनमे सन् ५४४ ई० के पूर्व के भी विक्रम-सवत् के उल्लेख थे।

सर भाण्डारकर§ और विन्सेण्ट स्मिथ¶ का मत भी कम कौतूहलपूर्ण नही था, यद्यपि वह फरगुसन के आविष्कार से कम विचित्र है। उनका कथन है कि प्रारम्भ मे यह सवत् मालव-संवत् के नाम से प्रसिद्ध था। गुप्तवंशीय विक्रमादित्य उपाधिधारी प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इस मालव-संवत् का नाम परिवर्तित करके विक्रम-सवत्‖ कर दिया। इस स्थापना

---

* जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी १८७०, पृ० ८१।

† *India: What it can teach us*? पृष्ठ २८६।

‡ देखिए परिशिष्ट 'क' पृष्ठ ५०।

§ जर्नल ऑफ दि बॉम्बे ब्रान्च ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, पृष्ठ ३९८।

¶ *Early History of India*, page 290 (Third Edition)

‖ चन्द्रगुप्त के 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण करनेवाले सर्व प्रथम सम्राट् होने के कारण भी ये विद्वान् इन्हें संवत्-प्रवर्त्तक विक्रम मानते है। परन्तु अभी हाल ही में बमनाला ग्राम में समुद्रगुप्त की जो सात स्वर्ण-मुद्राएँ प्राप्त हुई है, उनमें कुछ मुद्राओ पर 'पराक्रमः' लिखा है और एक पर 'श्रीविक्रमः' उपाधि लिखी है। अतः यह उपाधि मूलतः चन्द्रगुप्त द्वितीय से प्रारम्भ नही हुई, यह प्रमाणित होता है। विशेष विवेचन के लिए आगे देखिए पृष्ठ ४७।

भारतीय इतिहास मे विक्रम समस्या

के अनुयायी आज भी ह। परन्तु यह विचारणीय बात ह कि गुप्त-वश का गुप्त-सवत् अलग प्रचलित था और स्वय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कभी तथाकथित निज प्रवर्तित अथवा नाम-परिवर्तित विक्रमीय सवत्सर का प्रयोग नहीं किया *।

इस प्रकार जहा विक्रमीय सवत्सर की वयस घटाने के प्रयास हुए, वहाँ एसे भी अनेक प्रयास हुए जिन्होंने विक्रमादित्य के उसके जनक होने म शका की।

कीलहोर्न † इस सम्बन्ध में पूर्ण नास्तिक ह। उसका मत ह कि विक्रमादित्य नामक कोई राजा ई० पू० ५७ में नही था और न किसी व्यक्ति ने इसका प्रवर्तन किया। 'विक्रम-काल' का अर्थ उन्होंने माना ह युद्धकाल, और चूकि मालव-सवत् का प्रारम्भ शरद्-ऋतु म होता है, जब राजा लोग युद्ध के लिए निकलते थे, इसलिए इसका नाम विक्रम-सवत् रखा गया। इस मत को मानने में भी अनेक बाधाएँ ह। एक तो 'विक्रम' और 'युद्ध' शब्दो म अर्थ-साम्य नहा है, दूसरे विक्रम-सवत् शरद ऋतु में ही सर्वत्र प्रारम्भ नही होता।

कनिंघम ‡ और मार्शल + नामक विद्वानो ने भी अपनी-अपनी स्थापनाएँ की। उनके मत से विक्रम-सवत् का प्रवर्तन किसी विक्रमादित्य राजा ने नही किया था। कनिंघम के मत में उसका प्रवर्तक कुषाणवशीय राजा कनिष्क था। इस स्थापना के विषय म बहुत ऊहापोह की गई। अनेक विद्वानो ने इसके पक्ष और विपक्ष म लिखा ×। परन्तु सर जॉन मार्शल ने यह पूर्णरूपेण सिद्ध कर दिया कि कनिष्क का समय ५७ ई० पू० नही वरन् ७८ ई० ह। इस प्रकार कनिंघम की स्थापना समाप्त हुई, परन्तु मार्शल की स्थापना ने जोर पकडा। उसने कहा कि विक्रम-सवत् का प्रचलन गाधार के शक राजा एजेस ने किया था। यह मत भी निराधार ह। एजेस का सवत् उसीके नाम से चला था ऐसा सिद्ध हो चुका ह। ⁂ विक्रम-सवत् का प्रचलन पहले 'कृत' एव मालव-सवत् के नाम से था, 'अयस' नाम से नहीं। साथ ही भारत वर्ष के एक कोने में एक विदेशी राजा द्वारा चलाए गए सवत् के पीछे विक्रम-सवत् के साथ आज भी अभिन्नरूपेण सम्बद्ध शक विरोधी एव राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न नही हो सकती।

इसके अतिरिक्त कुछ मत और भी है। एक के अनुसार मालव-वीर यशोवर्मन् ¶ ने इस सवत् को चलाया तथा एक अन्य मत के अनुसार पुष्यमित्रशुग ‡‡ ने। डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल का मत ह कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ❘ ने इस सवत् का प्रवर्तन किया ह। डॉ० जायसवाल ने जन अनुश्रुति के विक्रमादित्य और इतिहास के गौतमीपुत्र शातकर्णि को एक ही मानकर अनुश्रुति और इतिहास का समन्वय किया ह। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल की स्थापना के दो आधार

---

* इसके साथ ही श्री भगवद्दत्तजी का मत भी विचारणीय ह। इनका मत ह कि गुप्तवशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ही वह विक्रमादित्य है, जिसने सवत् का प्रवर्तन किया और उसका समय ईसा की चौथी, पाँचवीं शताब्दी न होकर ई० पू० प्रथम शताब्दी ह। इस मत के समर्थक भी ह, परन्तु इस पर इतना कम विवेचन हुआ ह कि इसे सिद्ध या असिद्ध नहीं कह सकते।

† इण्डियन एण्टीक्वेरी १९ तथा २०।

‡ जर्नल आफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९१३, पृ० ६२७।

\+ जर्नल आफ दि रायल ऐशियाटिक सोसायटी १९१४, पृष्ठ ९७३ और १९१५ पृष्ठ १९१। साथ ही देखिए केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग १, पृष्ठ ५७१।

× इस विषय में जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी १९१३ दृष्टव्य ह, जिसमें कनिष्क के विक्रम सवत् प्रवर्तक होने या न होने के विषय में योरोपीय विद्वानो ने मत प्रकट किए ह।

⁂ इसके लिए इसी ग्रन्थ में डॉ० लक्ष्मणस्वरूप का निबन्ध विशेष रूप से दृष्टव्य ह।

¶ जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी १९०३, पृष्ठ ५४५, १९०९ पृष्ठ ८९।

‡‡ नागरी प्रचारिणी पत्रिका सवत् १९९०।

❘ जर्नल आफ बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसायटी, खण्ड १६ भाग ३ और ४ पृष्ठ २२६-३१६।

हैं। एक तो यह कि जिन गुणो का आरोप विक्रमादित्य मे किया जाता है वे सब गौतमीपुत्र शातकर्णि में थे। नाशिक-अभिलेख से माता गौतमी ने अपने पुत्र मे उन सब गुणों का होना लिखा है। दूसरा कारण यह है कि ई० पू० प्रथम शताब्दी में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने किसी शक राजा को हराया था। परन्तु, गौतमीपुत्र के समय के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है और यह प्राय: निश्चित ही है कि वह ई० पू० प्रथम शताब्दी मे नही था। इस अभिनव कल्पना ने अनेक अनुयायी बनाए है। परन्तु एक तो यह बात अभी सिद्ध नही है कि यह शक वही थे, जिन्होने उज्जैन पर अधिकार कर लिया था और गौतमीपुत्र की विजय पहली शताब्दी ई० पू० मे हुई थी। दूसरे, जिस प्रशस्ति मे गौतमीपुत्र के इतने गुणगान है, उसमे विक्रमादित्य-विरुद का उल्लेख तक नहीं है।

विक्रमीय सवत्सर को विक्रमादित्य नामक व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित न माननेवालों में डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर भी है। उनका कहना है कि विक्रम-सवत् का मूल नाम 'कृत-संवत्' है और उसे मालवगण के 'कृत' नामक सेनाध्यक्ष की शक-विजय के उपलक्ष मे 'कृत-सवत्' की सज्ञा दी गई। यद्यपि, उन्होने कालकाचार्य-कथानक के विक्रमादित्य सम्बन्धी श्लोको को प्रक्षिप्त माना है और जैन-परम्परा को अविश्वसनीय, फिर भी वे लिखते है, "अब यह भी माना जा सकता है कि जिस कृत नामक प्रजाध्यक्ष ने इस संवत् की स्थापना की उसका उपनाम विक्रमादित्य था।"* जब यहाँ तक अनुमान किया जा सकता है, तो ऐसे आधार भी हैं, जिनके कारण यह विश्वास किया जा सके कि ई० पू० ५७ मे विक्रमादित्य नाम का ही मालवगण का सेनाध्यक्ष अथवा राजा था।

अभिलेख एवं मुद्राओं से प्राप्त निष्कर्ष :—इन सब अद्भुत कल्पनाओ पर विचार कर लेने के पश्चात् अब आगे हम उपलब्ध आधारों पर विक्रम-सवत् और उसके प्रवर्त्तक के विषय मे विचार करेंगे। विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रधान आधार विक्रम-संवत् है। विक्रम-संवत् का प्रयोग उसके अस्तित्व की प्रबल दलील है। विक्रम-संवत् का प्राचीन अभिलेखो मे जिस प्रकार प्रयोग किया गया है उसे देखने पर अनेक बातों पर प्रकाश पडता है। संवत् १२०० विक्रमीय तक के प्राय: २६१ अभिलेख प्राप्त हुए है। इनमे से भी संवत् ९०० के पूर्व के तो ३३ ही है†।

परिशिष्ट 'क' मे दी गई सूची मे हमने प्रत्येक अभिलेख का संवत्, उसका प्राप्ति-स्थान, तथा संवत्-सूचक वह पाठ लिख दिया है जिसमे विक्रम-सवत् का उसके नाम के साथ उल्लेख है।

इस परिशिष्ट के अध्ययन से हम नीचे लिखे निष्कर्ष निकाल सकते हैं:—

१ संवत् २८२ से ४८१ तक इसे कृत-संवत् कहा गया है।

२. संवत् ४६१ से ९३६ तक इसे मालव-संवत् कहा गया है। संवत्-४६१ के मन्दसौर के अभिलेख मे इसे 'कृत' तथा 'मालव' दोनो संज्ञाएँ दी गई है।

३. संवत् ७९४ के ढिमकी के अभिलेख मे इस संवत् को सबसे पहले विक्रम-सवत् कहा गया है, परन्तु डॉ० अल्तेकर ने इस अभिलेखयुक्त ताम्रपत्र को जाली सिद्ध कर दिया है‡। अत: विक्रम-संवत् के नाम से यह सर्वप्रथम धौलपुर के चण्डमहासेन के ८९८ के अभिलेख मे व्यक्त किया गया है।

४. मालव तथा कृत नामों के प्रयोग की भौगोलिक सीमा उदयपुर, जयपुर, कोटा, भरतपुर, मन्दसौर तथा झालावाड़ है। विक्रम नाम सम्पूर्ण भारत मे प्रयुक्त हुआ है।

यह बात पूर्णरूपेण सिद्ध है कि कृत, मालव एवं विक्रम एक ही संवत् के नाम हैं। मन्दसौर के ४६१ संवत् के प्राप्त लेख मे एक ही संवत् को 'मालव' तथा 'कृत' कहा गया है। इतिहास मे कुमारगुप्त का समय निश्चित है। कुमारगुप्त के

---

* नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका वर्ष ४८, अंक १-४ संवत् २०००, पृष्ठ ७७।

† देखिए परिशिष्ट 'क'।

‡ एपीग्राफिया इण्डिका, भाग २६, पृष्ठ १८९।

भारतीय इतिहास में विक्रम-समस्या

ममय म व-युवमन् के मन्दसौर के ४९३ सवत के लेख की गणना करने पर ज्ञात होता ह कि वह विश्रम-सवत् ही ह और उसका नाम उक्त लेख मे लिखा ह 'मालवगणा की स्थिति स चारसौ तेरानवे वष बाद का' अर्थात् मालव-सवत्। अत मालव और विश्रम नाम एक ही सवत् के ह।

इसके आगे विचार करने के पूव हम 'कृत' शब्द के अथ पर विचार करगे। 'कृत' शब्द का ठीक अथ ज्ञात हो सके इसके लिए यह आवश्यक ह कि 'मालवगण' सम्बन्धी जो पाठ ह* उह एकत्रित करके उनपर विचार किया जाय —

१ श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसज्ञिते (४६१ मन्दसौर)।
२ मालवाना गणस्थित्या (४९३ मन्दसौर)।
३ विख्यापके मालववशकीर्ते (५२४ मन्दसौर)।
४ मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय (५८९ मन्दसौर)।
५ सवत्सर मालवेशानाम् (७९५ कोटा-राज्य)।
६ मालवकालाच्छरदा (९३६ ग्यारसपुर)।

इन पाठो का एक साथ देखने से यह ज्ञात होता है कि यह सवत् (अ) मालवश (या मालवगणाध्यक्ष) ‡ का चलाया हुआ ह, (इ) इसके कारण या इसके प्रारम्भ का कारण मालवगण की स्थिति† (उनके अस्तित्व की प्रतिष्ठा या पुनर्स्थापना) हुई, (उ) यह सवत् मालववश की कीर्ति का कारण है, (ए) इस मालव-सवत् को 'कृत' भी कहते ह। यदि इन सबको समन्वित रूप दे तो वह इस प्रकार होगा —"मालवश ने ऐसा काय किया, जिससे मालववश की कीर्ति बढी, मालवगण का अस्तित्व प्रतिष्ठित रह सका या उसकी पुनर्स्थापना की गई और उक्त महत्काय के उपलक्ष में इस सवत् का प्रवत्तन हुआ।"

इस विचार के प्रकाश में 'कृत' शब्द का अथ खोजना उपयोगी होगा। डॉ० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने कृत का अथ माना ह 'सतयुग या स्वणयुग'‡। अग्रवालजी का अनुमान सत्य के आसपास ह। 'कृत' का सीधा-सादा शाब्दिक अथ ह 'किया हुआ' अर्थात कम। यहाँ 'कृत' का अथ है मालवेश या मालवगणनायक का ऐसा कम जो मालववश की कीर्ति बढानेवाला था, जिससे मालवगण की स्थिति हुई, विदेशियो का विनाश हुआ और (डॉ० अग्रवाल के शब्दो में) सतयुग या स्वणयुग का प्रारम्भ हुआ।

अब अगला प्रश्न ह मालवेश के 'कृत' का 'विक्रम' में बदल जाना। इसके लिए विक्रम-सवत् के उल्लेख के प्रकार पर भी ध्यान देना होगा। इसका उल्लेख* निम्न प्रकारो से हुआ है —

१ कालस्य विक्रमाख्यस्य (८९८ धौलपुर)
२ विक्रमादित्यभूभृत (१०२८ उदयपुर)

---

* देखिए परिशिष्ट 'क'।

‡ मालवगणाध्यक्ष क्रमश मालवेश कसे हो गया इसके लिए देखिए डॉ० राजबली पाण्डेय का लेख 'विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता'।

† 'स्थिति' के अथ के विषय में भी विद्वानो में मतभेद ह। डा अल्तेकर इसका अथ 'परम्परा', 'सम्प्रदाय', 'रीति' आदि लेते ह। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते ह "मालव-गण की स्थिति शब्द का अर्थ क्या ह ? हमारी सम्मति में स्थिति का सीधा अथ स्थापना ह। मालव-गण की स्थापना का यह अथ नहीं ह कि उस गण की सत्ता पहले अविदित थी।" "शको की पराजय के बाद मालवगण ने स्वतत्रता का अनुभव किया। हमारी सम्मति में स्वतत्रता की यह स्थापना ही मालव-गण की स्थिति थी, जिसका मालव-कृत सवत के लेखो में कई बार उल्लेख ह।" डॉ० अग्रवाल का मत ही उचित ह और हमारी समझ में तो इसका अथ ह 'प्रतिष्ठित होना'।

‡ नागरी प्रचारिणी पत्रिका सवत् २०००, पृष्ठ १३१।

* देखिए परिशिष्ट 'क'।

३. विक्रमादित्यकाले (१०९९ वसंतगढ़-सिरोही)
४. वत्सरैर्विक्रमादित्यैः (११०३ तिलकावाडा-बडौदा राज्य)
५. श्रीविक्रमादित्योत्पादितसंवत्सर (११३१ नवसारी बडौदा)
६ श्रीविक्रमार्कनृपकालातीतसवत्सराणा (११६१ ग्वालियर)
७. श्रीविक्रमादित्योत्पादित सवत्सर (११७६ सेवाड़ी जोधपुर)

इससे यह ज्ञात होता है कि विक्रमीय नौवी शताब्दी से ही ऊपर लिखे मालवेश का नाम विक्रमादित्य माना गया था।

ऊपर लिखे दोनो विवेचनो को एक मे मिला देने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि विक्रमादित्य नामक मालवगण के अधिपति ने वह 'कृत'––कर्म किया था जिसका उल्लेख ऊपर है, जिसके कारण मालववश की कीर्ति बढी (परिशिष्ट 'क' के अभिलेख क्रमाक ७), जिसके कारण मालवगण की स्थिति रह सकी (अभिलेख क्रमांक ६ तथा ९) और इस संवत् का प्रवर्त्तन हुआ।

यहाँ यह वात भी विचारणीय है कि मालव एवं कृत नाम का प्रयोग जिस क्षेत्र मे हुआ है वह मालवा या उसके निकट का ही क्षेत्र है। यह भी हो सकता है कि गणतन्त्र की भावनायुक्त मालवजाति ने अपने गणनायक के व्यक्तिगत नाम को अपने सवत्सर मे प्रधानता न दी हो या स्वयं गणनायक विक्रमादित्य ने इसे पसन्द न किया हो और मालवे के बाहर राजतन्त्र प्रधान देशों ने गण की अपेक्षा गणेश मालवेश को ही महत्त्व देना उचित समझा हो।

अभिलेखो मे प्राप्त सवत्-सम्बन्धी पाठो के साथ मालव-मुद्राओ पर अकित लेखो पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। मालव-प्रान्त मे मालवगण की मुद्राएँ प्राप्त हुई है। उनमे कुछ मुद्राएँ ऐसी है जिन पर एक ओर सूर्य या सूर्य का चिह्न है तथा दूसरी ओर 'मालवानांजय.' अथवा 'मालवगणस्यजय:' अथवा 'जय मालवानाजय.' लिखा हुआ है। इन मुद्राओ के विषय मे श्री जयचन्द्र विद्यालकार अपने 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' मे लिखते है––"पहली शताब्दी ई० पू० के मालवगण के सिक्कों पर मालवानाजय और मालवगणस्यजय: की छाप रहती है। वे सिक्के स्पष्टत: किसी बडी विजय के उपलक्ष मे चलाए गए थे और वह विजय ५७ ई० पू० की विजय के सिवाय और कौनसी हो सकती थी?" (पृष्ठ ८७१) परन्तु इतना ही नही, सूर्य एव सूर्य का चिह्न दो वातों की ओर सकेत कर सकता है। या तो यह कि उक्त विजय को प्राप्त करनेवाला 'आदित्य' का उपासक था या उसका नाम स्वय 'आदित्यमय' था और यह नाम विक्रमादित्य होने के कारण वह अपना राजचिह्न सूर्य रखता था।

भारतीय अनुश्रुति में विक्रमादित्य––अभिलेखों और विक्रम-संवत् पर विचार कर लेने के पश्चात् अब हम भारतीय अनुश्रुति एव लोककथाओ पर विचार करेगें। आज महाराष्ट्र, गुजरात एवं सम्पूर्ण उत्तर-भारत विक्रमादित्य की लोककथाओ से पूरित है। उसका परदुखभंजन रूप, उसकी न्यायपरायणता, उसकी उदारता एवं उसका शौर्य प्रत्येक भारतीय का हृदय-हार वना हुआ है। परन्तु लोककथाओं द्वारा परम्परा की निरन्तरता का आभास भले ही मिल सके, उसके द्वारा इतिहास के शास्त्रीय वाङ्मय का निर्माण नही हो सकता। लोककथा का आधार केवल व्यक्तिगत स्मृति होने के कारण वह अधिक प्रामाणिक नही कही जा सकती। परन्तु अनुश्रुति का महत्त्व अधिक है। वह लिखित रूप मे होती है, अत: अधिक विश्वसनीय होती है।

मालवगणपति विक्रमादित्य की जो मूर्ति ऊपर अभिलेखो के विवेचन से वनी है, उसकी पूर्ति अनुश्रुति कहाँ तक करती है यह देखना भी उपयोगी होगा।

विक्रमादित्य सम्वन्धी भारतीय अनुश्रुतियो मे सवसे प्राचीन पैठण के राजा हाल के लिए रचित गाथासप्तशती है। हाल का समय ईसवी प्रथम शताब्दी है। गाथासप्तशती का विक्रम विषयक श्लोक इस प्रकार है:––

"संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअँ अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥५।५६॥

भारतीय इतिहास में विक्रम समस्या

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ईसा की पहली शताब्दी में यह बात पूर्णरूप से प्रचलित थी कि विक्रमादित्य नामक उदार एवं प्रतापी शासक ने भृत्यों को लाखों का उपहार दिया। गाथासप्तशती के काल के विषय में भी विवाद चल चुका है। डॉ० भाण्डारकर ने अनेक तर्क इस बात के पक्ष में प्रस्तुत किए कि गाथासप्तशती का रचनाकाल ईसा की छठी शताब्दी है,* परन्तु महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने डॉ० भाण्डारकर के तर्कों का खण्डन कर दिया है †।

दूसरी उल्लेखनीय अनुश्रुति सोमदेवभट्ट रचित कथासरित्सागर है। कथासरित्सागर गुणाढ्य रचित बृहत्कथा पर आधारित है। गुणाढ्य सातवाहन हाल का समकालीन है, अतः कथासरित्सागर एक ऐसे ग्रंथ का आधार लिए हुए है, जो विक्रमीय पहली शताब्दी का लिखा हुआ है। ऐसी दशा में कथासरित्सागर ‡ कम विश्वसनीय नहीं है। उसके अनुसार विक्रमादित्य उज्जैन के राजा थे, उनके पिता का नाम महेन्द्रादित्य और माता का नाम सौम्यदर्शना था। महेन्द्रादित्य के जब बहुत समय तक पुत्र न हुआ, तो उन्होंने शिव की आराधना की। इसी समय पृथ्वी पर धर्म का लोप और म्लेच्छों का प्राबल्य देखकर देवताओं ने महादेवजी से पृथ्वी का भार उतार लेने के लिए प्रार्थना की। शिवजी ने अपने गण माल्यवान् (अथवा इतिहास प्रसिद्ध मालवगण) से कहा कि तुम पृथ्वी पर मेरे भक्त महेन्द्रादित्य के यहाँ मानव रूप धारण करो और पृथ्वी का भार उतारो। उधर महेन्द्रादित्य को शिवजी ने यह वरदान दिया कि तुम्हारे पुत्र होगा और उसका नाम तुम विक्रमादित्य रखना। उसका वर्णन करते हुए सोमदेव ने लिखा है कि वह पितृहीनों का पिता, बन्धुहीनों का बन्धु, अनाथों का नाथ और प्रजाजन का सर्वस्व था §।

तीसरी अनुश्रुति जैन ग्रंथों की है। मेरुतुंगाचार्य रचित पट्टावली में यह लिखा है कि महावीर निर्वाण-संवत् के ४७० वें वर्ष में विक्रमादित्य ने शकों का उन्मूलन कर संवत् की स्थापना की। इसका समर्थन प्रबन्ध-कोष एवं धनेश्वर-सूरि रचित शत्रुंजय-माहात्म्य से भी होता है। किस प्रकार शकों ने उज्जयिनी के गर्दभिल्ल को जीता और किस प्रकार फिर विक्रमादित्य ने शकों को भगाया, इसका वर्णन जैन ग्रंथों में मिलता है।

कालकाचार्य-कथानक में शकों के आने का वर्णन है। उसके अनुसार जैन साधु कालकाचार्य एवं उनकी बहिन साध्वी सरस्वती जब उज्जैन में रहते थे उस समय वहाँ गर्दभिल्ल राजा राज्य करता था। एक दिन जब साध्वी सरस्वती पर गर्दभिल्ल की दृष्टि पड़ी तो वह उस पर अत्यधिक आसक्त हो गया और उसने उसे अपने अन्तःपुर में बन्द कर अपनी वासना का शिकार बनाया। कालकाचार्य सूरि ने सरस्वती को छुड़ाने के लिए अनेक प्रयास किए, गर्दभिल्ल को भी समझाया एवं अनुनय विनय की परन्तु कोई फल न हुआ। दुखी होकर कालकाचार्य ने राजा के नाश की प्रतिज्ञा की और वे सिंध की ओर चले गए। वहाँ अनेक शक राजा थे जो 'शाह' कहलाते थे और उन सब के ऊपर एक सम्राट् था जो 'शाहीशाहानुशाही' कहलाता था। इन्हींमें से एक शाह के पास कालकाचार्य पहुँचे और उस पर उन्होंने बहुत प्रभाव स्थापित कर लिया। एक बार 'शाहीशाहानुशाही' उस शाह से तथा कुछ अन्य शाहों से क्रुद्ध हो गया। कालकाचार्य ने उसे अन्य शाहों के साथ मालव की ओर आक्रमण करने की सलाह दी। शकशाह अन्य साथियों के साथ मार्ग में विजय करता हुआ उज्जयिनी आगया और उसने गर्दभिल्ल को हराकर भगा दिया।

साध्वी सरस्वती छुड़ा ली गई। कालकाचार्य आनन्द से रहने लगे और मालव पर शकों का आधिपत्य हो गया।

कुछ समय पश्चात् सार्वभौमोपम राजा श्रीविक्रमादित्य हुए, जिन्होंने शकों का वंशोच्छेद कर दिया। उन्होंने अनेक दान देकर मेदिनी को ऋणरहित करके अपने संवत्सर का प्रचलन किया।

---

* भाण्डारकर कमोमरेशन वाल्यूम, पृष्ठ १८७।

† प्राचीन लिपि-माला, पृष्ठ १६८।

‡ कथासरित्सागर, लम्बक ६, तरंग १, विक्रमसिंह की कथा तथा लम्बक १८ विषमशील की कथा।

§ ठीक इसी से मिलता हुआ वर्णन स्कन्दपुराण में है। इसमें विक्रमादित्य के पिता का नाम गन्धर्वसेन और माता का नाम वीरमती है। शिवजी और उनके गण आदि ऊपर के अनुसार है और गन्धर्वसेन को प्रमरवंशी लिखा है

पट्टावली के अनुसार विक्रमादित्य गर्दभिल्ल के पुत्र थे। इनके अतिरिक्त सिंहासनबत्तीसी, वैतालपच्चीसी, राजावली आदि अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें विक्रमादित्य सम्बन्धी किवदन्तियाँ संग्रहीत हैं।

विक्रमादित्य का जो रूप अनुश्रुति में मिलता है वह अत्यन्त पूर्ण एवं भव्य है। वह रूप ऐसा है जो ज्ञात ऐतिहासिक आधार, मुद्रा, अभिलेख आदि के विरुद्ध भी नही है। अतः योरोपीय विद्वानो के स्वर मे स्वर मिलाकर विक्रमादित्य के अस्तित्व को अस्वीकार करना मानसिक दासता के अतिरिक्त और कुछ नही है।

नवरत्न समीक्षा :—विक्रम और कालिदास की जोड़ी भारतीय अनुश्रुति एवं लोककथा मे प्रसिद्ध है; परन्तु इतिहासज्ञों का बहुमत आज कालिदास को गुप्तवशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानता है। ऐसी दशा में क्या ठीक माना जाय? पहला विचार तो यह हो सकता है कि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन थे। दूसरी बात यह हो सकती है कि कालिदास एक न होकर अनेक हो और उनमे से एक ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी मे हुआ हो, और यह भी हो सकता है कि मालवगणनायक विक्रमादित्य के समय में ही कालिदास हुए हो।

कालिदास को पूर्णतया चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन माननेवालों मे महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी* प्रधान है। उन्होने अन्य सब मतों का खण्डन करते हुए यह स्थापना की है कि कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्त के आश्रय मे थे। चन्द्रगुप्त ने ई० सन् ३८० से लेकर ४१३ पर्यन्त राज्य किया; अर्थात् कालिदास चौथी शताब्दी के अन्त मे या पाँचवी शताब्दी के प्रारम्भ में हुए होगे, यह उनका मत है। इसके विपरीत श्री क्षेत्रेश चट्टोपाध्याय दृढ़ रूप से कालिदास को ईसा की प्रथम शताब्दी मे रखते हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय भी कालिदास को ५७ ई० पू० विक्रमादित्य का समकालीन मानते है।

श्री जयशंकर प्रसाद का मत है कि कालिदास नामक कम से कम तीन साहित्यकार हुए हैं। इनमे से नाटककार कालिदास मालवगणनायक विक्रमादित्य के काल मे थे। इसके पक्ष मे जो उन्होंने तर्क दिए है उन्हे हम नीचे ज्यो का त्यो देते है † :—

"१. नाटककार कालिदास ने गुप्तवंशीय किसी राजा का सकेत से भी उल्लेख अपने नाटकों मे नही किया।

२. 'रघुवश' आदि मे असुरो के उत्पात और उनसे देवताओं की रक्षा के वर्णन से साहित्य भरा है। नाटकों मे उस तरह का विश्लेषण नही है। काव्यकार कालिदास का समय हूणो के उत्पात और आतंक से पूर्ण था। नाटको मे इस भाव का विकास इसलिए नही है कि वह शको के निकल जाने पर सुख-शान्ति का काल है। 'मालविकाग्निमित्र' मे सिन्धुतट पर विदेशी यवनो का हराया जाना मिलता है। यवनों का राज्य उस समय उत्तरीय भारत से उखड़ चुका था। 'शाकुन्तल' मे हस्तिनापुर के सम्राट् 'वनपुष्प-मालाधारिणी यवनियो' से सुरक्षित दिखाई देते है। यह सम्भवत. उस प्रथा का वर्णन है जो यवन-सिल्यूकस-कन्या से चन्द्रगुप्त का परिणय होने पर मौर्य्य और उसके बाद शुगवंश मे प्रचलित रही हो। यवनियो का व्यवहार क्रीतदासी और परिचारिकाओ के रूप में राजकुल मे था। यह काल ई० पू० प्रथम शताब्दी तक रहा होगा। नाटककार कालिदास 'मालविकाग्निमित्र' मे राजसूय का स्मरण करने पर भी बौद्ध प्रभाव से मुक्त नही थे; क्योकि 'शाकुन्तल' में धीवर के मुख से कहलवाया है— "पशुमारणकर्म्म—दारुणोप्यनुकम्पा—मृदुरेव श्रोत्रिय."— और भी —"सरस्वती श्रुतिमहती न हीयताम्" —इन शब्दो पर बौद्ध धर्म की छाप है। नाटककार ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारो के जो नाम लिए है, उनमे सौमिल्ल और कवियुग के नाटयरत्नो का पता नही। भास के नाटकों को चौथी शताब्दी ई० पू० माना गया है।

* कालिदास, पृष्ठ ४३।

† 'स्कन्दगुप्त-विक्रमादित्य' नाटक की भूमिका, पृष्ठ २८।

३ नाटककार ने 'मालविकाग्निमित्र' की कथा का जिस रूप में वर्णन किया है वह उसके समय से बहुत पुरानी नहीं जान पडती। शुंगवंशियों के पतन-काल में विक्रमादित्य का मालवगण राष्ट्रपति के रूप में अभ्युदय हुआ। उसी काल में कालिदास के होने से शुंगों की चर्चा बहुत ताजीसी मालूम होती है।

४ 'जामित्र' और 'होरा' इत्यादि शब्द जिनका प्रचार भारत में ईसा की पाँचवीं शताब्दी के समीप हुआ है, नाटक में नहीं पाए जाते।

५ गुप्तकालीन नाटकों की प्राकृत में मागधीप्रचुर प्राकृत का प्रयोग है। उस प्राकृत का प्रचार भारत में सैकडों वर्ष पीछे हुआ था। पाँचवीं, छटवीं शताब्दी में महाराष्ट्रीय प्राकृत प्रारम्भ हो गई थी और उस काल के ग्रंथों में उसी का व्यवहार मिलता है। 'शाकुन्तल' आदि की प्राकृत में बहुतसे प्राचीन प्रयोग मिलते हैं, जिनका व्यवहार छटी शताब्दी में नहीं था।"

इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्यत्र* लिखा है —

"संवत् १६९९ अगहन सुदी पञ्चमी की लिखी हुई 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की एक प्राचीन प्रति से, जो पं० केशवप्रसादजी मिश्र (भदनी, काशी) के पास है, दो स्थलों के नवीन पाठों का अवतरण यहाँ दिया जाता है —

(१) "आर्ये रसभावविशेष-दीक्षागुरोः **श्रीविक्रमादित्य-साहसाकस्याभिरूप-भूयिष्ठेयं परिषत्** अस्यां च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः।"

(२) "भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञोवज्रिणं भावयेथाः
गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्य—
नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः।"

इसमें मोटे टाइप में छपे हुए शब्दों पर ध्यान देने से दो बातें निकलती हैं। पहली, यह कि जिस विक्रमादित्य का उल्लेख शाकुंतल में है उसका नाम विक्रमादित्य है और 'साहसाक' उसकी उपाधि है। दूसरे, भरतवाक्य में 'गण' शब्द के द्वारा इन्द्र और विक्रमादित्य के लिए यज्ञ और गणराष्ट्र दोनों की ओर कवि का संकेत है। इसमें राजा या सम्राट् जैसा कोई सम्बोधन विक्रमादित्य के लिए नहीं है। तब यह विचार पुष्ट होता है कि विक्रमादित्य मालव गण-राष्ट्र का प्रमुख नायक था, न कि कोई सम्राट् या राजा। कुछ लोग जनपाल को विक्रमादित्य का पुत्र बताते हैं। हो सकता है कि इसी के एकाधिपत्य से मालवगण में फूट पडी हो और शालिवाहन के द्वितीय शक-आक्रमण में वे पराजित किए गए हों।"

यदि शाकुन्तल का उपर्युक्त पाठ सही है, तब तो यह कहना होगा कि यह बात पूर्णरूप से सिद्ध है कि यह नाटक मालवगणाधीश के सामने अभिनीत हुआ था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को तो महापण्डित राहुल सांकृत्यायन † 'गणारि'(!) कहते हैं, गणाध्यक्ष नहीं। उनके अनुमान से मालवगण के उन्मूलन का पाप इन्हीं चन्द्रगुप्त द्वितीय के मत्थे है। फिर यह नाटक गणाध्यक्ष विक्रमादित्य साहसाक के सामने ही अभिनीत हुआ होगा। इस पाठ की प्रामाणिकता के विषय में अभी अधिक नहीं कहा जा सकता। यदि इस पाठ का समर्थन किसी और प्रति से भी हो सके तब तो यह स्थापना निर्विवाद रूप से ही सिद्ध हो जाय।

अतः लोककथा एवं अनुश्रुति में प्रसिद्ध विक्रम-कालिदास की यह अमर जोडी इतिहास सिद्ध है, यह माना जा सकता है।

विक्रमादित्य के साथ कालिदास के अतिरिक्त अन्य आठ रत्नों का सम्बन्ध और जोडा जाता है। उसकी सभा में नवरत्न थे ऐसी अनुश्रुति है। ज्योतिर्विदाभरण का निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है —

धन्वन्तरिक्षपणकोऽमरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

* वही पृष्ठ १४।

† देखिए इसी ग्रन्थ में राहुलजी का लेख।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

इसमे विक्रम की सभा के नवरत्न गिनाए गए है जो इस प्रकार है :—

(१) धन्वन्तरि (२) क्षपणक (३) अमरसिंह (४) शंकु (५) वेतालभट्ट (६) घटखर्पर (७) कालिदास (८) वराहमिहिर (९) वररुचि।

यहाँ पर नवरत्नो का विस्तृत विवेचन करना अभीष्ट नही है। हम तो यहाँ यही देखना चाहते है कि उनमे से कौन से रत्न विक्रमकालीन होकर उसकी सभा को सुशोभित कर सके होगे। इनमे से कालिदास का विवेचन ऊपर हो चुका है। अव प्रधान रत्नो मे धन्वन्तरि पर यदि विचार किया जाय तो प्रकट होगा कि वैदिक काल मे भी एक धन्वन्तरि हो गए हैं, जो काशी के वेदकालीन राजा दिवोदास के तीन या चार पीढी पूर्व हुए थे।*

उसके बाद धन्वन्तरि नाम के वैद्यो की परम्परा चली और धन्वन्तरि-कृत कहे जानेवाले 'विद्याप्रकाशचिकित्सा' तथा 'धन्वन्तरि-निघण्टु' आदि के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि विक्रमकाल (५७ ई० पू०) मे भी कोई धन्वन्तरि हुए है। 'विद्याप्रकाशचिकित्सा' मे सूर्य की वन्दना† दी हुई है। उसे देखते हुए यह अनुमान होता है कि वैद्यराज धन्वन्तरि विक्रमादित्य के आश्रित थे। प्राचीन राजसभाओं से वैद्य सम्बन्धित होते ही थे अतः मालवगणाध्यक्ष की सभा मे भी वैद्य हो यह भी सम्भव है।

क्षपणक कौन थे तथा इनका समय क्या था, यह ज्ञात नही है। जैन साधु को क्षपणक कहते है‡। तो क्या जैन अनुश्रुति के सिद्धसेन दिवाकर भी विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नो में थे? परन्तु यह सब कल्पना-मात्र हैं। अभी तक इतिहास सिद्ध केवल इतना ही है कि 'अनेकार्थमजरीकोष' नामक ग्रन्थ के रचयिता एक महाक्षपणक ईसा की ८वी शती के पूर्व हुए थे§। इन महाक्षपणक का क्षपणक के साथ नामसाम्य होने के कारण श्री गोडे महाशय इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहते है कि अनेकार्थमंजरीकार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा मे समादृत विद्वान् हो सकता है। हमे इस निष्कर्ष से आपत्ति नही है और यह हमारे अनुमान के विपरीत भी नही है। हम समझते है कि महाकाल की नगरी मे विक्रमादित्य के सामने ही महाकाल को नमस्कार न करनेवाले सिद्धसेन दिवाकर‖ नामक जैन साधु को ही पीछे के लेखकों ने क्षपणक नाम से सम्वोधित किया। क्षपणक नाम विशेष न होकर जैन साधु का ही पर्याय है।

प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह का समय भी ई० पू० प्रथम शताब्दी माना जा सकता है। इसके विषय मे श्री जयचन्द्र विद्यालकार¶ ने लिखा है :—

> "सुप्रसिद्ध अमरकोष के देव-प्रकरण मे सबसे पहले बुद्ध के नाम है, फिर ब्रह्मा और विष्णु के। विष्णु के जो ३९ नाम हैं, उनमे राम का नाम नही है, कृष्ण के बहुत मे है। इसलिए उसके समय तक रामावतार की कल्पना न हुई थी। इसीलिए अमरकोष के कर्त्ता अमरसिंह का समय सम्भवतः पहली शताब्दी ई० पू० है। प्रायः उसी समय बौद्धो ने सस्कृत मे लिखना शुरू किया था, और अमरसिह भी बौद्ध था।"

शंकु के विषय में ज्योतिर्विदाभरण के अतिरिक्त और कही उल्लेख नही मिलता। ज्योतिष का शंकु-यन्त्र इन्हीं के नाम पर है अथवा उसकी आकृति के कारण उसका उक्त नाम पडा है, कहा नही जा सकता। ऐसी दशा मे उनका काल निर्णय करना कठिन है। इन्हे विक्रमादित्य का समकालीन मान लेने के मार्ग मे कोई कठिनाई नही आती।+

---

* जी० एन० मुखोपाध्याय-कृत हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडीसिन, दूसरा खण्ड, पृष्ठ ३१०-३११।

† यस्योदयास्तसमये पुरमुकुटनिष्ठचरणकमलोऽपि । कुरुतेऽञ्जलिं त्रिनेत्रः जयतु स धाम्नान्निधिः सूर्यः ।।

‡ आगे चलकर 'क्षपणक' को देखना अपशकुन माना जाने लगा था। देखिए 'मुद्राराक्षस' अंक ४।

§ देखिए इसी ग्रंथ में आगे श्री प्र० कृ० गोडे का लेख 'क्षपणक एवं महाक्षपणक'।

‖ देखिए इसी ग्रंथ में आगे डॉ० मिस क्राउजे का निबन्ध "जैन-साहित्य और महाकाल-मन्दिर"।

¶ भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ १००९।

+ कुछ विद्वान् शंकु को स्त्री मानते है। गुजरात के प्रख्यात चित्रकार श्री रविशंकर रावल ने नवरत्नों के चित्र में इन्हे स्त्री चित्रित किया है।

भारतीय इतिहास में विक्रम-समस्या

वेतालभट्ट का नाम लोककथा के विक्रमादित्य के साथ बहुत लिया जाता है। जनुश्रुति म अग्निवेताल और विक्रम का साथ बहुत प्रसिद्ध है। उज्जन म आज भी 'अगिया बेताल' का स्थान इस 'अग्निवेताल' का साक्षी रूप ह। परन्तु 'भट्ट' उपाधि यह सूचित करती ह कि यह कोई विद्वान् थे। इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि यह विद्वान् तान्त्रिक थे या अमानवी योनि के यक्ष राक्षस। अत शकु की तरह इ ह भी विक्रमकालीन मान सकते हं।

घटखपर क समय के विषय म भी कुछ ज्ञात नहा ह। इनके विषय म अनेक अनुमान किये गए ह। एक विद्वान् के अनुसार 'खपर' का अथ ह 'जस्ता' और 'घटखपर' विक्रम के वे वज्ञानिक थे जो इस धातु के प्रयोग में दक्ष थे।* कुछ विद्वाना के मत से 'घटखपर' एक जाति थी जो सम्भवत कुम्हार थी। आज की 'खापर्डे' जाति को भी इन 'घटखपर' की स्मृति माना गया ह। जो हो, हरिषेण की प्रशस्ति म हम एक 'खरपरिक'† जाति अवश्य दिखाई दी है। 'घटखपर' नामक एक काव्य भी ह जो कालिदास विरचित कहा जाता ह। पर यह कालिदास विक्रमकालीन कालिदास ह अथवा कोई और, यह निश्चित नहा ह। अत इस व्यक्ति का काल भी निश्चित नहीं। अनिश्चय की दशा में इनको विक्रम-कालीन मान लेने म कोइ आपत्ति नही दीखती।

वराहमिहिर क विषय में इतिहास के विद्वान् निश्चित तिथियाँ बतलाते हं। इनका समय ५५० ई० निर्धारित किया गया ह, परन्तु यह काल भी निर्विवाद रूप से मान लिया गया हो ऐसा नहा ह। यह उज्जन निवासी थे इसम सन्देह नहा ह। जब तक कोई ऐसा प्रमाण नही मिले जिसके द्वारा इनका समय ई० पू० प्रथम शताब्दी म जा सके तब तक वराह-मिहिर इस नवरत्न-समस्या को जटिल ही बनाए रहगे।

वररुचि का समय भी भारतीय इतिहास की एक समस्या बना हुआ है। कोई इन्हें कात्यायन मानकर इनका समय ईसा से प्राय ४०० वष पूव निर्धारित करते हं। इनके ग्र थ 'प्राकृत प्रकाश' की भूमिका में कावेल महोदय इनका समय ई० पू० प्रथम शताब्दी मानते ह और इस प्रकार यह विक्रमकालीन प्रतीत होते हैं।

ज्योतिर्विदाभरण का उपरोक्त श्लोक ही क्या, यह पूरा ग्रन्थ ही विद्वानो द्वारा प्रक्षिप्त माना गया है। परन्तु इस विषय में अन्तिम शब्द कह सकने के पूव अभी बहुत अधिक छानबीन की आवश्यकता है।

ये नवरत्न वास्तव में विक्रमादित्य की सभा में रहे हो या न रहे हा, या विक्रम के एक सहस्र वष उपरान्त उस सहस्राब्दी के श्रेष्ठतम विद्वाना को विक्रम से सम्बद्ध करने का किसी का सुन्दर अनुमान हो, अथवा नवग्रहो के समान विक्रमाक क चारा ओर यह रत्नमण्डली किसी कुशल कल्पना शिल्पी ने जड दी हो, परन्तु इसके कारण ५६-५७ ई० पू० होनेवाले विक्रमादित्य के अस्तित्व पर अविश्वास नहीं किया जा सकता।

विक्रमादित्य विरुद और विरुदधारी—विक्रमादित्य विरुद भारतीय इतिहास में उसी प्रकार प्रचलित हुआ, जिस प्रकार कि योरोपीय इतिहास में 'सीजर' या 'कसर' की उपाधि सवप्रिय हुई ह। सीजर' शब्द से जिस प्रकार साम्राज्य एव विजेता की भावना सम्बद्ध है, उसी प्रकार 'विक्रमादित्य' उपाधि में विदेशी शक्ति को पराजित करने की भावना निहित ह। परन्तु साथ ही यह भी भूल जाने की बात नही ह कि जिस प्रकार 'सीजर' नाम के प्रतापी सम्राट् के अस्तित्व के पश्चात् ही सीजर उपाधि का प्रादुर्भाव हुआ था, उसी प्रकार 'विक्रमादित्य' उपाधि चल निकलने के लिए किसी 'विक्रमादित्य' नामक विदेशिया के विनाशक के अस्तित्व का होना भी आवश्यक ह‡।

---

* देखिए आगे श्री ब्रजकिशोर चतुर्वेदी का लेख 'विक्रम के नवरत्न'।

† श्री गगाप्रसाद मेहता-कृत 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य', पृ० १६९।

‡ इस विरुद के विषय में पजाब के प्रसिद्ध विद्वान् श्री डॉ लक्ष्मणस्वरूप का मत भी तथ्यपूर्ण ह—"ईसवी सन् से पूव भारतीय महाराज और सम्राट विक्रमादित्य विरुद को धारण नहीं करते थे जसे अजातशत्रु, प्रद्योत, चन्द्रगुप्त मौय, अशोक, पुष्यमित्र आदि ने विक्रमादित्य की उपाधि को अपने नाम के साथ

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

अब हम आगे विक्रमादित्य विरुदधारी भारतीय नरेशों का विवेचन इस दृष्टि से करेंगे, जिससे यह ज्ञात हो सके कि यह सम्बोधन व्यक्तिवाचक नाम से उपाधि में कब परिवर्तित हुआ और जिन नरेशों ने इसे धारण किया वे कितने प्रतापी थे तथा इसका प्रभाव लोककथा और अनुश्रुति पर क्या पड़ा।

अभी तक सबसे प्रथम विक्रमादित्य उपाधिधारी गुप्तवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य समझे जाते थे, परन्तु अब यह सिद्ध हो गया है कि समुद्रगुप्त ने भी यह उपाधि धारण की थी*। यह उपाधि इस महान् विजेता सम्राट्

नहीं जोड़ा। ईसवी सन् के पश्चात् भारत के महाराज और सम्राट् जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त, शीलादित्य, यशोधर्म, हर्षवर्धन इत्यादि शक्तिशाली सम्राट् विक्रमादित्य की उपाधि को धारण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में जो गौरव और प्रताप अश्वमेध यज्ञ करने से प्राप्त होते थे, ईसवी सन् के पश्चात् विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने से वे ही गौरव उपलब्ध होने लगे थे। जिस प्रकार वैदिक काल में अश्वमेध यज्ञ का करना संसार-विजेता होने की घोषणा करना होता था उसी प्रकार विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना साम्राज्य तथा प्रभुत्व का सूचक बन गया था। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण नहीं की। गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अश्वमेध यज्ञ नहीं किया पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की।"

* जर्नल ऑफ दि न्यूमेस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया खण्ड ५, भाग २, दिसम्बर १९४३ के अंक में पृष्ठ १३६-३७, पर इन्ही मुद्राओं का विवेचन करते हुए श्री डिस्कलकर लिखते हैं :—

"On the seventh coin the dress of the king and other items are similar to those in coins No 1 to 5, and in all respects this coin closely resembles the coins of Samudragupta of the standard type. But it is of an extraordinary importance, in that it bears on the reverse the legend "Shree Vikramah" instead of the usual legend "Parakramah". No other coin of Samudragupta has hitherto been found bearing this legend, which is found used only on the coins of Chandragupta II. This novelty may be explained in two ways.

"It may be supposed, therefore, that the coin of Samudragupta in the Bamnala hoard bearing on the reverse the Biruda Sri Vikramah was struck in the early period of Chandragupta's reign, the old die for the obverse of the coin of Samudragupta being used instead of the die of Chandragupta's early coins of the archer type. After only a few coins were struck in this way the mistake was detected and the further minting of the coin was discontinued. It is for this reason that our coin in the Bamnala find is the only specimen of the variety so far found. If this supposition is accepted, it would be better to call this as Chandragupta's coin wrongly bearing on the obverse the die of Samudragupta's coin.

"An alternative suggestion can also be made. It may be supposed that in the later period of his reign Samudragupta introduced the epithet Vikram in place of the usual synonymous epithet Parakrama used on coins of the standard type, and that Chandragupta continued to adopt on his coins the

के लिए पूर्णरूपेण उपयुक्त है इसमें शंका नहीं। शकक्षत्रप रुद्रसेन समुद्रगुप्त के पराक्रम से शंकित हुआ था और उसने उसके दरबार में अपना राजदूत भेजा था। इसके गुणों का वर्णन इसके राजकवि हरिषेण की प्रशस्ति की अपेक्षा अधिक सुन्दर रूप में नहीं किया जा सकता, इसलिए हम उसके आवश्यक अंश के अनुवाद को उद्धृत करते हैं —

"जिसका मन विद्वानों के सत्संग-सुख का व्यसनी था, जो शास्त्र के तत्त्वार्थ का समर्थन करनेवाला था जो सत्कविता और लक्ष्मी के विरोधों को विद्वानों के गुणित गुणों की आज्ञा से दबाकर (अब भी) बहुतेरी स्फुट कविता से (मिले हुए) कीर्ति राज्य को भोग रहा है जिसका पृथ्वी पर कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था, जिसने सैकड़ों सच्चरितों से अलंकृत अपने अनेक गुणगणों के उद्रेक से अन्य राजाओं की कीर्तियों को अपने चरणतल से मिटा दिया था, जो अचिन्त्य पुरुष की भाँति साधु के उदय और असाधु के प्रलय का कारण था, जिसका कोमल हृदय भक्ति और प्रणतिमात्र से वश हो जाता था, जिसने लाखों गौएँ दान की थीं, जिसका मन कृपण, दीन, अनाथ, आतुरजनों के उद्धार और दीक्षा आदि में लगा रहता था, जो लोक के अनुग्रह का साक्षात् जाज्वल्यमान स्वरूप था, जिसके सेवक अपने भुजबल से जीते हुए राजाओं के विभव को वापिस देने में लगे हुए थे जो लोकनियमों के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिए ही मनुष्य रूप था, किन्तु लोक में रहनेवाला देवता ही था।' *

समुद्रगुप्त का विक्रम उपाधि धारण करना कुछ स्थिति-पालक विद्वान् हास्यास्पद भले ही माने, † परन्तु ईसवी सन् ३८० के आसपास राज्यारोहण करनेवाले यशस्वी सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण की, यह उसकी मुद्राएँ पूर्ण रूप से सिद्ध करती हैं। इसने शक क्षत्रपों का उन्मूलन कर शकारित्व स्थापित किया। परन्तु ईसवी

epithet Vikrama which he liked better than the epithet Parakrama It may be said against this view that the coins of the standard type of Samudragupta, which is a close copy of the later coins of the Kushan type, are the earliest of all his coins and that if he had introduced the new epithet on some coins of his standard type, it could have been used also on other coins struck by him "

श्री डिस्कलकर के ये दोनों अनुमान स्थिति-पालन की दृष्टि से किए गए हैं। अभी तक की मान्य ऐतिहासिक धारणाओं पर आघात न हो यही बात उक्त विद्वान के मस्तिष्क में प्रधान रही है। पहला अनुमान तो वे यह करते हैं कि यह चन्द्रगुप्त की ही मुद्रा है और गलती से दूसरी ओर समुद्रगुप्त के साँचे का प्रयोग हो गया है। यह अनुमान अत्यन्त हास्यास्पद है। प्राचीन काल में ऐसी भूलें कम होती थीं, और इसे सिद्ध करने के लिए श्री डिस्कलकर को गुप्त-साम्राज्य के प्रबन्ध में कुछ भूलें भी ढूँढ़नी होंगी, वह भी विशेषतः एक ऐसे मामले में, जो सम्राट के सम्मुख अवश्यम्भावी रूप से जाना हो। दूसरा अनुमान तो स्वयं उन्होंने ही लँगड़ा कर दिया है।

हमारे विचार से तो सम्भावना यह है कि समुद्रगुप्त ने जब हरिषेण के शब्दों में "दैवपुत्र शाहिशाहानुशाही शक आत्मनिवेदन कन्योपायनदान गरुत्मदंकस्वविषय भुक्तिशासनयाचनाद्युपाय" अर्थात् जब दैवपुत्र शाही शाहानुशाही शक आत्मनिवेदन करने लगे थे तथा अपनी कन्याएँ भेंट में देने लगे थे, अपने विषय भुक्ति के शासन के लिए गरुड़ की राजमुद्रा में अंकित फरमान माँगने लगे थे, तब सम्राट स्कन्दगुप्त ने प्रथम शक-मानमर्दक मूल विक्रमादित्य के नाम को विरद रूप में धारण किया। और पीछे से जब उसने समस्त भरतखण्ड को अपने प्रबल पराक्रम से आक्रान्त कर दिया तब 'पराक्रम' विरद धारण किया।

* प्रयाग के स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की विजय प्रशस्ति के अनुवाद से उद्धृत (देखिए श्री गंगाप्रसाद मेहता कृत 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य', पृष्ठ १६६ ६८)।

† देखिए, जर्नल आफ दि न्यूमेस्मेटिक सोसायटी आफ इण्डिया दिसम्बर १९४२ में श्री डिस्कलकर का मत।

प्रशस्ति लिखने के लिए इसे अपने पिता के समान हरिषेण जैसा राजकवि नही मिला था। यह सम्राट् महान् विजयी, अपार दानी, विद्या एव कला का आश्रयदाता तथा धर्म-रक्षक था *।

गुप्त सम्राटो मे अन्तिम सम्राट्, जिसने अपने पौरुष से विदेशी शको का मान मर्दन किया 'स्कन्दगुप्त' था। इसने भी विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की थी। इसके सिक्को पर 'परम-भागवत-श्रीविक्रमादित्य-स्कन्दगुप्त.' अकित है। इसके अभिलेख † से प्रकट है कि कुललक्ष्मी विचलित थी; म्लेच्छो और हूणो से आर्य्यावर्त आक्रान्त था। अपनी सत्ता वनाए रखने के लिए जिन्होने पृथ्वी पर सोकर राते विताईं, हूणो के युद्ध मे जिसके विकट पराक्रम से धरा विकम्पित हुई, जिन्होने सौराष्ट्र के शको का मूलोच्छेद करके परादित्त को वहाँ का शासक नियत किया, वह स्कन्दगुप्त ही थे।

गुप्तो के पश्चात् यशोधर्म्मनदेव ने विक्रमादित्य उपाधि धारण की थी ऐसा कुछ लोगो का मत है। उसने ईसवी सन् ५४४ (या ५२८) मे करूर के रणक्षेत्र मे शको को परास्त करके दो विजय-स्तम्भो का निर्माण कराया। इन पर से फरगुसन ने विक्रम-संवत्-प्रवर्तक-सम्बन्धी अपना विचित्र मत स्थापित किया था। परन्तु यह विदित है कि यशोधर्म्मन ने अपनी किसी प्रशस्ति मे विक्रमादित्य उपाधि धारण नही की।

इसके पश्चात् फिर छोटे-मोटे अनेक विक्रमादित्य हुए। दक्षिण मे भी अनेक राजाओ ने यह उपाधि धारण की। यहाँ तक कि हेमू ने भी, जव उसे यह भ्रम हुआ कि उसे मुगल-राज्य उखाड फेकने मे सफलता मिल जायगी, अपने आपको विक्रमादित्य लिखा।

विदेशियो पर विजय की भावना तो विक्रमादित्य उपाधि के साथ है ही, साथ ही पिछले विक्रमादित्य उपाधिधारियो ने साहित्य-कला को आश्रय दिया, अपार दान दिए और राजसभा के वैभव को अत्यधिक वढाया। यही कारण है कि आज से प्राय· एक सहस्र वर्ष पूर्व विक्रमादित्य का जो रूप प्रचलित हुआ, उसमे मालवगण-प्रधान विक्रमादित्य तो छिप गया और उसके स्थान पर विक्रमादित्य उपाधिधारी सम्राटो की समन्वित मूर्ति वन गई। भारतीय सस्कृति एव एकतत्रीय शासन-प्रणाली मे जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ था वह विक्रमादित्य से सम्वन्धित हो गया। महान् विजयी, परदु खभजन, न्याय-परायण, त्यागी, दानी, एव उदारचरित के रूप मे उसकी कल्पना हुई। मालवगणमुख्य मे यह सव गुण होगे, इससे इनकार नही, परन्तु उसका यह चित्र अतिरजित अवश्य हो गया।

उपसंहार —ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यो और अनुश्रुति के विवेचन से यह सिद्ध होता है कि उज्जैन-स्थित मालवगणो पर ई० पू० ५७ मे शको का अधिकार हो गया था। इस समय के धार्मिक विद्वेष ने शको के अधिकार होने मे सहायता की थी। विक्रमादित्य नामक 'व्यक्ति' ने मालवगणतन्त्र का सगठन कर उसे अत्यधिक वलशाली वनाया, शको का मूलोच्छेद किया और सवत्सर की स्थापना की। उसी समय 'मालवानाजय:' लेखसहित मुद्राएँ भी प्रचलित की गईं। यह विक्रमादित्य अत्यन्त प्रतापशाली और उदात्त गुण सम्पन्न था।

यह प्रयास केवल इस हेतु किया गया है कि भारतीय अनुश्रुति के नायक, हमारी प्राचीन सस्कृति एव गौरव के प्रधान अवशेष विक्रम-सवत् के प्रवर्त्तक, विजयी विक्रमादित्य के अस्तित्व को असिद्ध करने के जो प्रयास किए गए है उनका निराकरण हो सके। विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी मे महान् विजेताओ द्वारा उसके नाम की उपाधि ग्रहण करने मे अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करना इस वात का सूचक है कि भारतीय सदा से ही विक्रमादित्य के नाम को अत्यन्त मान एवं आदर की दृष्टि से देखते थे। आज राजमहल से दरिद्र की कुटी तक फैली हुई विक्रम की गौरवगाथाएँ उसी भावना की प्रतीक है। विक्रमादित्य का चलाया हुआ यह विक्रम-सवत् हमारी अमूल्यतम एव महान्तम थाती है। यह हमारे विक्रम की स्मृति है, इसीसे हम भावी विक्रम की शक्ति सचित करेगे।

---

* गंगाप्रसाद मेहता-कृत "चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य" पृष्ठ ५९-६६

† विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन,
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
समुदितवलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा,
क्षितिपचरणपीठे स्थापितोवामपादः ॥

परिशिष्ट 'क' * ⁑

क्रमांक	संवत	प्राप्ति-स्थान	नामक या दाता	संवत्-सम्बन्धी पाठ
१	२८२	नान्दसा (उदयपुर राज्य)	शक्तिगुण गुरु	कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्व्यशीतयोः २००-८०-२ चैत्र पूर्णमासी (स्या) म्।
	२८४	बर्नाला (जयपुर राज्य)	( ) वर्धन	कृतेहि (कृत) २०० ८०-४ चैत्र शुक्लपक्षस्य पंचदशी।
	२९५	बड़वा (जयपुर-राज्य)		कृतेहि (कृत) २००-९० ५ फाल्गुन शु० ५
	२९५	,,		,,
	२९५	,,		,,
	३३५	बर्नाला (जयपुर राज्य)	भट्ट	कृतेहि ३००-३०-५ जरा (ज्येष्ठ) शुद्धस्य पंचदशी।
२	४२८	विजयगढ़ (भरतपुर राज्य)	विष्णुवर्धन	कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु ४००-२० ८ फाल्गुण-बहुलस्य पंचदश्यामेतस्यां पूर्वायाम्।
३	४६१	मन्दसौर (ग्वालियर राज्य)	नरवर्मन्	श्रीर्मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते-कषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये। दिने आश्वयुजशुक्लस्य पंचम्यामथ सत्कृते।
४	४८०	गंगधार (झालावाड-राज्य)	विश्ववर्मन्	यातेषु चतुर्षु कृतेषु शतेषु सौम्येष्वाष्टाशीत सोत्तरपदेष्विह वत्सरेषु। शुक्ले, त्रयोदशदिने भुवि कार्तिकस्यमासस्य।
५	४८१	नगरी (उदयपुर राज्य)	दो वणिक् बन्धु	कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालवपूर्वायां ४००-८० १ कार्तिक-शुक्लपंचम्याम्।
६	४९३	मन्दसौर (ग्वालियर-राज्य)	कुमारगुप्त (बन्धुवर्मन)	मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्तने, सहस्य मासशुक्लस्य प्रशस्तेऽह्नि त्रयोदशे।
७	५२४	मन्दसौर (ग्वालियर राज्य)	प्रभाकर	शरन्निशानायकरामलाया विख्यापके मालववंशकीर्तेः। शरद्गणे पंचशते व्यतीते, त्रिघातिताष्टाभ्यधिके क्रमेण।
⁂ ९	५८९	मन्दसौर (ग्वालियर राज्य)	राजाधिराज परमेश्वर यशोधर्मन् विष्णुवर्धन	पंचसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्ननवतिसहितेषु, मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु।

* यह परिशिष्ट डॉ० देवदत्त भाण्डारकर द्वारा तयार की गई विक्रम-संवत के उल्लेखवाले अभिलेखों की सूची पर से तयार किया गया है। भाण्डारकर की यह सूची एपीग्रेफिया इण्डिका के भाग १९ २३ के परिशिष्ट 'क' के रूप में निकली है। जो अभिलेख उक्त सूची के बनने के पश्चात प्राप्त हुए हैं उन्हें भी इसमें सम्मिलित कर दिया गया है।

⁑ इस सम्बन्ध में १०३ अंक पड़ा हुआ तख्तेबाही का गोण्डोफारनिस का अभिलेख भी विचारणीय है। अनेक विद्वान् इसे विक्रम-संवत मानते हैं, परन्तु यह मत विवादास्पद है।

† आगे के पांच अभिलेख डा० भाण्डारकर की उक्त सूची में नहीं हैं। इनका उल्लेख डॉ० अल्तेकर के एपीग्रेफिया इण्डिका, भाग २६, पृष्ठ ११८-१२५ पर किया है।

⁂ यह क्रमांक डॉ० भाण्डारकर की सूची के अनुसार है। उक्त सूची के उन अभिलेखों के उल्लेख छोड़ दिए गए हैं, जिनमें संवत का नामोल्लेख नहीं है।

क्रमाक	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	सवत्-सम्वन्धी पाठ
१६	७७०	चित्तौड़गढ	मान	मालवेश-सवत्सर †।
१७	७९४	धीनीकि * (काठियावाड) ..	जैकदेव	विक्रमसवत्सरशतेसु सप्तषु चतुर्नवत्यधिकेष्वकत:। कार्तिकमासापरपक्षे अमावस्याया आदित्यवारे ज्येष्ठानक्षत्रे रविग्रहणपर्वणि ।
१८	७९५	कणस्व (कोटा-राज्य) ..	शिवगण	सवत्सरशतैर्यातै: सपचनवत्यर्गलै. सप्तभिर्मालवेशानाम् ।
२७	८९८	धौलपुर	चण्डमहासेन ..	वसुनवाष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य वैशाखस्य सिताया रविवारयुतद्वितीयाया चन्द्रे रोहिणिसयुक्ते लग्ने सिंहस्य शोभने योगे।
३७	९३६	ग्यारसपुर (ग्वालियर-राज्य) ..	..	मालवकालाच्छरदां षट्त्रिशत्सयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु मधाविह।
४८	९७३	विजापुर	राष्ट्रकूट विदग्धराज	रामगिरिनन्दकलिते विक्रमकाले गते तु शुचिमासे । ‡
६३	१००५	वोधगया	..	विक्रम-सवत्सर १००५ के मधुमास के शुक्लपक्ष की चतुर्थी शुक्रवार का उल्लेख है।
६७	१००८	आहार (उदयपुर-राज्य) ..	अल्लट	कार्तिक सितपचम्या अग्रटनाम्नासुसूत्रधारेण। प्रारब्ध देवगृहं कालेवसुशून्यदिकसख्ये ॥ दशदिग्विक्रमकाले वैशाखे शुद्धसप्तमी दिवसे। हरिरिह निवेशितोऽ य घटितप्रतिमो. वराहेण ॥
७२	१०१३	ओसिआ (जोधपुर-राज्य) ..	..	विक्रम-सवत्सर ११०३ फाल्गुण शुक्लपक्ष तृतीया । ‡
८०	१०२८	एकलिंगजी (उदयपुर-राज्य) ..	नरवाहन.. ..	विक्रमादित्यभूभृत:। अष्टाविंशतिसयुक्ते शते दशगुणे सति।
११७	१०८६	राधनपुर (वम्बई-प्रान्त) ..	भीमदेव	विक्रम-सवत् १०८६ कार्तिक शुदि १५।
१२३	१०९९	वसन्तगढ (सिरोही-राज्य) ..	पूर्णपाल	नवनवतिरिहासीद् विक्रमादित्यकाले। जगति दशशतानामग्रतो यत्र पूर्णा प्रभवति नभमासे स्थानके चित्रभानो. ॥ मृगशिरसिशशाके कृष्णपक्षे नवम्याम् ।
१२८	११०३	तिलकवाड़ा (वड़ौदा-राज्य) ..	जसोराज-भोजदेव ..	वत्सरैर्विक्रमादित्यै: शतैरेकादशैस्तथा। त्र्युत्तरैर्मार्गमासेऽस्मिन् सोमे सोमस्य पर्वणि ।

† डॉ० भाण्डारकर ने इसका मूल पाठ नही दिया। कर्नल टॉड के 'एनाल्स ऑफ राजस्थान' से उक्त पाठ का अनुवाद उद्धृत किया है जो इस प्रकार है:—

"Seventy had elapsed beyond seven hundred years (Semvatisir) when the lord of the men, the king of Malwa, formed this saka.

इस पर डॉ० भाण्डारकर ने यह सम्भावना की है कि इसके मूल पाठ में 'मालवेश' के संवत् का उल्लेख होगा।

* इस ताम्रपत्र को डॉ० अल्तेकर ने जाली सिद्ध कर दिया है। एपीग्राफिया इण्डिका, भाग २६, पृ० १८९।

‡ इसका मूल पाठ डा० भाण्डारकर ने नही दिया है।

क्रमांक	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	संवत्-सम्बन्धी पाठ
१३८	१११६	उदयपुर (ग्वालियर राज्य)	उदयादित्य	एकादशशतवर्षाङ्गतदधिक षोडसच विक्रमेद्रसाम। सवत १११६ नवसतकसीति शाक गत शालिवाहिन च नृपाधीश शाक ९८१।
१३६	१११८	दवगढ (झासी)	सती प्रस्तर	विक्रम-सवत १११८ ज्येष्ठ सु० मगलवार।
१४१	११३१	नवसारी (बडौदा राज्य)	कणराज एव दुलभराज	श्रीविक्रमादित्योत्पादित सवत्सर शतेष्वेकादशसु एकत्रिंशदधिकेषु अङ्कतोऽपि स० ११३१ कार्तिक शुदि एकादशी पर्वणि।
१५५	११४८	मूनक (बडौदा राज्य)	कणदव त्रैलोक्यमल्ल	विक्रम सवत् ११४८ वशाख शुदि १५ सोमे। अद्य सोमग्रहणपर्वणि।
१५६	११५०	ग्वालियर	महिपालदव	एकादशस्वतीतेषु सवत्सरशतेषु च। एकान-पचाशति च गतेष्वब्देषु विक्रमात्॥ पचाशे चाश्विने मास कृष्णपक्षे अकतोऽपि। ११५० आश्विनबहुलपचम्याम।
१६५	११५७	अर्थूणा (वासवाडा राज्य)	चामुण्डराज	सप्तपचाशदधिके सहस्र च शतोत्तरे। चत्रकृष्णद्वितीयायाम।
१६९	११६१	ग्वालियर	महीपालदेव का उत्तराधिकारी	श्रीविक्रमार्कनृपकालातीतसवत्सरणामेकषष्टयधिकायामेकादशशत्या माघ-शुक्लषष्ठ्याम।
१७६	११६४	कदमाल (उदयपुर राज्य)	विजयसिंह	श्रीविक्रमकालातीत सवत्सरशतेष्वेकादशसु चतुःषष्ट्यधिकेषु आषाढ मास अमावस्या सूर्यग्रहणेऽकतोऽपि सवत ११६४ वर्षे आषाढवदि १५।
१७९	११६६	अथूणा (वासवाडा राज्य)	विजयराज	वर्षसहस्रे याते षटषष्ठ्युत्तरशतेन सयुक्ते। विक्रमभानो काल विक्रम-सवत ११६६ वशाख सुदि ३ सोमे।
२००	११७६	सेवाडी (जोधपुर राज्य)	रत्नपाल	श्रीविक्रमादित्योत्पादितातीतसवत्सरशतेष्वेकादशसु षटसप्तत्यधिकेषु ज्येष्ठमास-बहुल-पक्षाष्टमी-गुरुवासरे। अङ्कतोऽपि सवत् ११७६ ज्येष्ठ वदि ८, गुरौ।
२३२	११९१		यशोवमदेव	श्रीविक्रम-कालातीत-सवत्सरकनवत्यधिक-शतकादशेषु कार्तिक शुदिअष्टम्याम।
२४०	११९५	उज्जैन (ग्वालियर राज्य)	जयसिंह	विक्रमनृप-कालातीत सवत्सरशतैकादशसु पचनवत्यधिकेषु। अकत सवत ११९५ ज्यष्ठ-वदि १४ गुरौ।
२४१	११९५	भद्रेश्वर (कच्छ राज्य)	जयसिंहदेव	विक्रम-सवत् ११९५ वर्षे आषाढ शुदि १० रवौ अस्या सवत्सर-मास पक्ष-दिवस-पूर्वाया तिथौ।
२४५	११९६	दोहद (जिला पचमहाल बम्बई)	जयसिंहदेव	श्रीनृप विक्रम-सवत् ११९६।
२५०	११९८	किराडू (जोधपुर-राज्य)	जयसिंह सिद्धराज तथा सोमेश्वर	अष्टनवतौ वर्षे विक्रम भूपत।
२५२	११९९	झालरापाटन (झालावाड राज्य)	नरवमदेव तथा यशोवमदव	विक्रमार्क-सवत ११९९ फाल्गुण शुदि।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता

श्री डॉ॰ राजबली पाण्डेय, एम. ए., डी-लिट्

जनश्रुति—

मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और कृष्ण के पश्चात् भारतीय जनता ने जिस शासक को अपने हृदय-सिंहासन पर आरूढ़ किया है वह विक्रमादित्य है। उनके आदर्श, न्याय और लोकाराधन की कहानियाँ भारतवर्ष मे सर्वत्र प्रचलित है, और आवाल-वृद्ध सभी उनके नाम और यश से परिचित है। उनके सम्बन्ध मे यह प्रसिद्ध जनश्रुति है कि वे उज्जयिनीनाथ गन्धर्वसेन के पुत्र थे। उन्होने शको को परास्त करके अपनी विजय के उपलक्ष मे संवत् का प्रवर्तन किया था। वे स्वयं काव्य-मर्मज्ञ तथा कालिदासादि कवियों के आश्रयदाता थे। भारतीय ज्योतिप-गणना से भी इस वात की पुष्टि होती है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य ने विक्रम-संवत् का प्रचार किया था।

अनुश्रुति—

भारतीय-साहित्य मे अंकित अनुश्रुति ने भी उपर्युक्त जनश्रुति को किसी न किसी रूप मे स्वीकार किया है। इनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है:—

१. अनुश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य का प्रथम उल्लेख 'गाथासप्तशती' मे इस प्रकार मिलता है:—

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअँ अणुसिक्खिअँ तिस्सा ॥ ५-६४ ॥

इसकी टीका करते हुए गदाधर लिखते हैं—"पक्षे संवाहणं सवधनम्। लक्ख लक्षम्। विक्रमादित्योऽपि भृत्य-कर्तृकेन शत्रुसवाधनेन तुष्ट. सन् भृत्यस्य करे लक्ष ददातीत्यर्थः।" इससे यह प्रकट होता है कि गाथा के रचना-काल में यह वात प्रसिद्ध थी कि विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक थे, जिन्होने शत्रुओ के ऊपर विजय के उपलक्ष मे भृत्यों को लाखो का उपहार दिया था। 'गाथासप्तशती' का रचयिता सातवाहन राजा हाल प्रथम शताब्दी ई॰ पश्चात् मे हुआ था। अतः इसके पूर्व विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। इस ऐतिहासिक तथ्य का प्रतिपादन महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अच्छी तरह से किया है (एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १२, पृ. ३२०)। इसके विरुद्ध डॉ॰ देवदत्त

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता

रामकृष्ण भाण्डारकर ने 'गाथासप्तशती' म आए हुए ज्योतिष के सकेता क आधार पर कुछ आपत्तियाँ उठाई थी (भाण्डारकर-स्मारक ग्रन्थ, पृ० १८७-१८९), किन्तु इसका निराकरण म० म० प० गौरीशकर हीराचन्द ओझा न भली भाँति कर दिया है (प्राचीन लिपिमाला, पृ० १६८)।

२ जन पडित मरुतुगाचाय-रचित पट्टावली म लिखा ह कि नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल न उज्जयिनी में तेरह वष तक राज्य किया। इनके अत्याचार के कारण कालकाचाय न शका को बुलाकर उसका उन्मूलन किया। शका ने उज्जयिनी में चौदह वष तक राज्य किया। इनके बाद गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शका से उज्जयिनी का राज्य वापिस कर लिया। यह घटना महावीर निर्वाण क ४७० व वष (५२७ ४७०=५७ ई० पू०) म हुई। विक्रमादित्य ने साठ वष तक राज्य किया। उनक पुत्र विक्रमचरित उपनाम धर्मादित्य ने ४० वष तक राज्य किया। तत्पश्चात् भल्ल, नल तथा नाहद न क्रमश ११, १४ और १० वष तक शासन किया। इस समय वीर निर्वाण क ६०५ वष पश्चात् (६०५-५२७=७८ ई० प०) शक-सवत का प्रवतन हुआ।

३ प्रबन्धकोष के अनुसार महावीरनिर्वाण के ४७० वष बाद (५२७-४७०=५७ ई० पू०) विक्रमादित्य न सवत का प्रवतन किया।

४ धनेश्वर सूरि विरचित शत्रुञ्जयमाहात्म्य म इस बात का उल्लख ह कि वीर-सवत् क ४६६ वष बीत जाने पर विक्रमादित्य का प्रादुर्भाव होगा। उनक ४७७ वष पश्चात् शिलादित्य अथवा भोज शासन करगा। इस ग्रन्थ की रचना ४७७ विक्रम-सवत् मे हुई, जबकि वलभी के राजा शिलादित्य ने सुराष्ट्र स बौद्धा को खदडकर कई तीर्थों को उनस वापस किया था। (देखिये डा० भाउदाजी, जरनल ऑफ बाम्बे एशियाटिक सोसायटी, जिल्द ६, पृ० २९-३०)।

५ सोमदव भट्ट विरचित कथासरित्सागर (लम्बक १८, तरग १) में भी विक्रमादित्य की कथा आती ह। इसके अनुसार ये उज्जयिनी के राजा थे। इनके पिता का नाम महेन्द्रादित्य तथा माता का नाम सौम्यदर्शना था। महेन्द्रादित्य ने पुत्र की कामना से शिव की आराधना की। इस समय पृथ्वी म्लेच्छाक्रान्त थी। अत इसक त्राण क लिये देवताओ न भी शिव से प्राथना की। शिवजी न अपन गण माल्यवान्* को बुलाकर कहा कि पृथ्वी का उद्धार करन के लिये तुम मनुष्य का अवतार लेकर उज्जयिनीनाथ महेन्द्रादित्य के यहाँ पुत्र रूप स उत्पन्न हो। पुत्र उत्पन्न होने पर शिवजी के आदेशानुसार महेन्द्रादित्य न उसका नाम विक्रमादित्य तथा उपनाम (शत्रु-सहारक होन के कारण) विषमशील रखा। बालक विक्रमादित्य पढ-लिखकर सब शास्त्रा म पारगत हुआ, और प्राज्य-विक्रम होने पर उसका अभिषेक किया गया। वह बडा ही प्रजावत्सल राजा हुआ। इसके बारे म लिखा ह —

स पिता पितहीनानामबधूना स बाधव ।
अनाथाना च नाथ स प्रजाना क स नाभवत् ॥ १८ १-६६ ॥

(वह पितहीना का पिता बन्धु रहिता का बन्धु और अनाथा का नाथ था। प्रजा का तो वह सवस्व ही था।) इसके अनन्तर विक्रमादित्य की विस्तत विजया और अद्भुत कृत्या का अतिरजित वणन ह।

कथासरित्सागर अपक्षाकृत अर्वाचीन ग्रन्थ होते हुए भी क्षमेन्द्रलिखित बृहत्कथामञ्जरी और अन्ततोगत्वा बहत्कथा (गुणाढ्यरचित) पर अवलबित ह। गुणाढ्य सातवाहन हाल का समकालीन था, जो विक्रमादित्य से लगभग १०० वष पीछे हुआ था। अत सोमदव द्वारा कथित अनुश्रुति विक्रमादित्य के इतिहास से सवथा अनभिन्न नही हो सकती। सोमदेव के सम्बन्ध म एक और बात ध्यान देने की ह। वे उज्जयिनी क विक्रमादित्य के अतिरिक्त एक दूसर विक्रमादित्य को भी जानते थे, जोकि पाटलिपुत्र का राजा था— "विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके (लम्बक ७, तरग ४)"। इसलिए जो आधुनिक एतिहासिक मगधाधिप पाटलिपुत्रनाथ गुप्त सम्राटा को उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्य स अभिन्न समझते ह, व अपनी परम्परा और अनुश्रुति के साथ बलात्कार करते ह।

* कथा की पौराणिक शली में 'गण' से गणतत्र और 'माल्यवान' से मालव जाति का आभास मिलता ह।

श्री डॉ० राजबली पाण्डेय

६. द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, राजावली आदि ग्रन्थों तथा राजपूताने मे प्रचलित (टॉड्स राजस्थान मे संकलित) अनुश्रुतियों मे उज्जयिनीनाथ शकारि विक्रमादित्य की अनेक कथाएँ मिलती है।

साधारण जनता की जिज्ञासा इन्ही अनुश्रुतियों से तृप्त हो जाती है और वह परम्परा से परिचित लोक-प्रसिद्ध विक्रमादित्य के सम्बन्ध मे अधिक गवेषणा करने की चेष्टा नही करती। किन्तु आधुनिक ऐतिहासको के लिए केवल अनुश्रुति का प्रमाण पर्याप्त नही है। वे देखना चाहते है कि अन्य साधनो द्वारा ज्ञात इतिहास से परम्परा और अनुश्रुति की पुष्टि होती है या नही। विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे वे निम्नलिखित प्रश्नो का समाधान करना चाहते है:—

(१) विक्रमादित्य ने जिस सवत् का प्रवर्तन किया था उसका प्रारम्भ कव से होता है?

(२) क्या प्रथम शताव्दी ई० पू० मे कोई प्रसिद्ध राजवश अथवा महापुरुष मालव प्रान्त मे हुआ था या नही?

(३) क्या उस समय कोई ऐसी महत्वपूर्ण घटना हुई थी जिसके उपलक्ष मे सवत् का प्रवर्तन हो सकता था?

इन प्रश्नो को लेकर अव तक प्राय: जो ऐतिहासिक अनुसन्धान होते रहे है उनका साराश सक्षेप मे इस प्रकार दिया जाता है:—

(१) यद्यपि ज्योतिषगणना के अनुसार विक्रम-संवत् का प्रारम्भ ५७ ई० पू० मे होता है किन्तु ईसा की प्रथम कई शताव्दियो तक साहित्य तथा उत्कीर्ण लेखो मे इस सवत् का कही प्रयोग नही पाया जाता। मालव प्रान्त मे प्रथम स्थानीय सवत् मालवगण-स्थिति-काल था, जिसका पता मन्दसौर प्रस्तर-लेख से लगा है—मालवाना गणस्थित्या याते शतचतुष्टये (फ्लीट: गुप्त उत्कीर्ण लेख स० १८)। यह लेख पाँचवी शताव्दी ई० प० का है।

(२) प्रथम शताव्दी ई० पू० मे किसी प्रसिद्ध राजवश अथवा महापुरुष का मालव प्रान्त मे पता नही।

(३) इस काल मे कोई ऐसी क्रान्तिकारी घटना मालव प्रान्त मे नही हुई जिसके उपलक्ष मे सवत् का प्रवर्तन हो सकता था।

उपर्युक्त खोजो से यह परिणाम निकाला गया है कि प्रथम शताव्दी ई० पू० मे विक्रमादित्य नामक कोई शासक नही हुआ। तत्कालीन विक्रमादित्य कल्पना-प्रसूत है। सभवत: मालव-सवत् का प्रारम्भ ई० पू० प्रथम शताव्दी मे हुआ था। पीछे से 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी किसी राजा ने अपना विरुद इसके साथ जोड दिया। इस प्रकार सवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता वहुत से विद्वानो के मत मे असिद्ध हो जाती है। इस प्रक्रिया का फल यह हुआ कि कतिपय प्राच्यविद्याविशारदो ने प्रथम शताव्दी ई० पू० के लगभग इतिहास मे प्रसिद्ध राजाओ को विक्रम-सवत् का प्रवर्तक सिद्ध करने की चेप्टा प्रारम्भ की।

आनुमानिक मत—

(१) फर्गुसन ने एक विचित्र मत का प्रतिपादन किया। उनका कथन है कि जिसको ५७ ई० पू० मे प्रारम्भ होनेवाला विक्रम-सवत् कहते है वह वास्तव मे ५४४ ई० प० मे प्रचलित किया गया था। उज्जयिनी के राजा विक्रम हर्ष ने ५४४ ई० मे म्लेच्छो (शको) को कोरूर के युद्ध मे हराकर विजय के उपलक्ष मे सवत् का प्रचार किया। इस सवत् को प्राचीन और आदरणीय वनाने के लिये इसका प्रारम्भ काल ६×१०० (अथवा १०×६०)=६०० वर्ष पीछे फेक दिया गया। इस तरह ५६ ई० पू० मे प्रचलित विक्रम-सवत् से इसको अभिन्न मान लिया गया। किन्तु क्यो ६०० वर्ष पहले इसका प्रारम्भ ढकेल दिया गया, इसका समाधान फर्गुसन के पास नही है। इसके अतिरिक्त ५४४ ई० प० के पूर्व के मालव-सवत् ५२९ (मन्दसौर प्रस्तर अभिलेख, फ्लीट: गुप्त उत्कीर्ण लेख स० १८) तथा विक्रम-सवत् ४३० (कावी अभिलेख, इण्डियन ऐण्टिक्वेरी वर्ष १८७६, प० १५२) के प्रयोग मिल जाने से फर्गुसन के मत का भवन ही धराशायी हो जाता है (फर्गुसन के मत के लिये देखिये इण्डियन ऐण्टिक्वेरी वर्ष १८७६, पृ० १८२)।

(२) डॉ० फ्लीट का मत था कि ५७ ई० पू० मे प्रारम्भ होनेवाले विक्रम-संवत् का प्रवर्तन कनिष्क के राज्यारोहण-काल से शुरू होता है (जरनल ऑफ दि रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी, वर्ष १९०७, पृ० १६९)। अपने मत के समर्थन मे उनकी दलील यह है कि कनिष्क भारतीय इतिहास का एक प्रसिद्ध विजयी राजा था। उसने अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्य

की स्थापना की। बौद्ध धम क इतिहास म भी अशोक क बाद उसका स्थान था। एस प्रतापी राजा का सवत् चलाना बिलकुल स्वाभाविक था। किन्तु यह मत डा० फ्लीट के अतिरिक्त और किसी विद्वान् का मान्य नहा ह। प्रथम ता कनिष्क का समय ही अभी अनिश्चित ह। दूसर, एक विदेशी राजा के द्वारा देश के एक कोन म प्रवर्तित सवत् देश-व्यापी नहीं हो सकता था। तीसर, यह बात प्राय सिद्ध ह कि कुषणा न काश्मीर तथा पजाब म जिस सवत् का व्यवहार किया था वह पूव प्रचलित सप्तर्षि-सवत् था, *जिसम सहस्र तथा शत क अक लुप्त थ। यदि यह बात अमान्य भी समझी जाय तो भी* कुषण-सवत कनिष्क था और कुषणा क बाद पश्चिमोत्तर भारत म इसका प्रचार नहा मिलता।

(३) श्री वल्ड गोपाल अय्यर न अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत का तिथिक्रम' (क्रानालाजी आफ एन्शण्ट इण्डिया, पष्ठ १७५) म इस मत का प्रतिपादन किया ह कि विक्रम-सवत् का प्रवतक सुराष्ट्र का महाक्षत्रप चष्टन था। विक्रम सवत वास्तव म मालव-सवत ह। मन्दसौर प्रस्तर-लख म स्पष्ट बतलाया गया ह कि मालव जाति क सगठन-काल स इसका प्रचलन हुआ (मालवाना गणस्थित्या यात शतचतुष्टये—फ्लीट गुप्त उत्कीर्ण लेख, स० १८)। कुषणा द्वारा इस सवत् का प्रवतन नहा हो सकता था। एक ता कनिष्क का समय विक्रमकालीन नहा, दूसरे यह बात सिद्ध नहा कि उसका राज्य कभी मथुरा और बनारस के आग भी फला था। क्षत्रपा के अतिरिक्त अन्य किसी दीर्घजीवी राजवश का पता नहीं, जिसका मालव प्रान्त पर आधिपत्य रहा हा और जिसको सवत् का प्रवतक माना जा सक। जब हम इन सब बाता को ध्यान म रखत हुए रुद्रदामन् के गिरनार क लख म पढत ह कि "सब वर्णों न अपनी रक्षा क लिये उसका अपना अधिपति चुना था" (सव वर्णैरभिगम्य पतित्व वतन—एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ८०, प० ४७) तब हम यह बात स्वीकार करते ह कि मालवा और गुजरात की सब जातिया न उसका अपना राजा निर्वाचित किया था, जिस तरह कि इसके पूव उन्हान रुद्रदामन् के पिता जयदामन और उसके पितामह चष्टन का चुना था। प्राचीन ग्रथ एतरय ब्राह्मण म लिखा ह कि "पश्चिम के सभी राजाआ का अभिषक स्वराज्य क लिये हाता था और उनकी उपाधि स्वराट् होती थी।" इन स्वतत्र जातिया न एकता में शक्ति का अनुभव करत हुए और आवश्यकता क सामन सिर झुकात हुए अपन ऊपर विजयी चष्टन क आधिपत्य म अपने को एकत्र करक सगठित किया। यही महान् घटना, एक बडे शासक क आधिपत्य म मालव जातिया का सगठन ५७ ई० पू० म सवत के प्रवतन स उपलक्षित हुई। तब स यह सवत् मालवा म प्रचलित ह। चष्टन और रुद्रदामन् न मालवा के पडोसी प्रान्ता म भी शासन किया, इसलिये सवत् का प्रचार विध्यपवत के उत्तर के प्रदेशा म भी हो गया।

अय्यर महोदय का यह कथन कि विक्रम-सवत वास्तव म मालव-सवत् ह, स्वत सिद्ध ह। कनिष्क के विक्रम-सवत् के प्रवतक हान के विरोध में उनका तक भी युक्तिसगत ह। किन्तु कनिष्क से कहीं स्वल्प शक्तिशाली प्रान्तीय विदेशी क्षत्रप, जिसके साथ राष्ट्रीय जीवन का कोई अग सलग्न नहा था, सवत् के प्रवतन म कस कारण हो सकता था, यह बात समझ में नहा आती। रुद्रदामन् क अभिलेख म सब वर्णों द्वारा राजा के चुनाव का उल्लेख केवल प्रशस्तिमात्र ह। प्रत्येक शासक अपने अधिकार को प्रजासम्मत कहने की नीति का प्रयाग करता ह। इसके अतिरिक्त रुद्रदामन् लोकप्रिय हो भी गया हो तो भी उसका यह गुण दो पीढी पहल चष्टन म, सघष की नवीनता तथा तीव्रता के कारण, नहीं आ सकता था। श्री अय्यर की यह युक्ति अत्यन्त उपहासनीय मालूम होती ह कि मालवादि जातिया ने चष्टन के आधिपत्य म अपना सगठन किया और इसक उपलक्ष म सवत् का प्रवतन किया। राजनीति का यह साधारण नियम ह कि कोई भी विदेशी शासक विजित जातिया को तुरन्त सगठित होन का अवसर नहीं दता। फिर अपने पराजय-काल से मालवा ने सवत् का प्रारम्भ किया हो, यह बात भी असाधारण मालूम पडती ह।

(४) स्व० डा० काशीप्रसाद जायसवाल न जन अनुश्रुतिया के आधार पर यह निष्कष निकाला कि "जन-गाथाओ और लोकप्रिय कथाआ का विक्रमादित्य गौतमीपुत्र शातकर्णि था। प्रथम शताब्दी ई० पू० में मालवा में मालवगण वतमान था, जसाकि उसके प्राप्त सिक्का स ज्ञात होता ह। शातकर्णि और मालवगण की सयुक्त शक्ति ने शका का पराजित किया। इसलिये शका की पराजय म मुख्य भाग लेनवाले शातकर्णि 'विक्रमादित्य' क विरुद से विक्रम-सवत् का प्रवतन हुआ। मालवगण ने भी उसके साथ सधि के विशष ठहराव (स्थिति, आम्नाय) के अनुसार अपना इस समय सगठन किया

और इसी समय से मालवगण-स्थितिकाल भी प्रारम्भ हुआ (जर्नल ऑफ विहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १६ वर्ष १९३०)।

उपर्युक्त कथन मे मालव-सातवाहन-सघ का वनना तो स्वाभाविक जान पडता है (यदि इस समय साम्राज्यवादी सातवाहनो का अस्तित्व होता), किन्तु शातकर्णि विक्रमादित्य (?) के विजय से मालवगण गौरवान्वित हुआ और उसके साथ सधि करके मालव-सवत् का प्रवर्तन किया, यह वात विलकुल काल्पनिक और असगत है। इसके साथ ही यह ध्यान देने की वात है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने न केवल शको को हराया, किन्तु शक, छहरात, अवन्ति, आकरादि अनेक प्रान्तों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया (नासिक उत्कीर्ण लेख, एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ६०)। अत' उसके दिग्विजय की घटना मालवगण-स्थिति के काफी वाद की जान पडती है। साहित्य और उत्कीर्ण लेख, किसी से भी इस बात का प्रमाण नही मिलता कि कभी किसी सातवाहन राजा ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी। सातवाहन राजाओ का तिथिक्रम अभी तक अनिश्चित है। अपने मतो को सिद्ध करने के लिए विद्वानो ने उसे घपले मे डाल रखा है। किन्तु बहुसम्मत सिद्धान्त यह है कि काण्वो के पश्चात् साम्राज्यवादी सातवाहनों का प्रादुर्भाव प्रथम-शताब्दी ई० पू० के अपरार्द्ध मे हुआ। इसलिये आन्ध्रवश का तेईसवॉ राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि प्रथम शताब्दी ई० पू० में नही रखा जा सकता। सातवाहन राजाओ के लेखों मे जो तिथियॉ दी हुई है वे उनके राज्यवर्षो की है। उनमे विक्रम-सवत् या किसी अन्य क्रमवद्ध सवत् का उल्लेख नही है। जायसवाल के इस मत के सम्वन्ध मे सवसे अधिक निर्णायक गाथासप्तशती का प्रमाण मिलता है। आन्ध्रवश के सत्रहवे राजा हाल के समय मे लिखित गाथासप्तशती विक्रमादित्य के अस्तित्व और यश से परिचित है, अत. इस वश का तेईसवॉ राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि तो किसी भी अवस्था मे विक्रमादित्य नहीं हो सकता।

सीधा ऐतिहासिक प्रयत्न—

इस तरह विक्रमादित्य के अनुसन्धान मे प्राच्यविद्याविशारदो ने अपनी उर्वर कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है। किन्तु इस प्रकार के प्रयत्न से विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता की समस्या हल नही होती। यदि परम्परा के समुचित आदर के साथ सीधी ऐतिहासिक खोज की जाय तो सवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य का पता सरलता से लग जाता है। वास्तविक विक्रमादित्य के लिए निम्न-लिखित शर्तो का पूरा करना आवश्यक है:—

(१) मालव प्रदेश और उज्जयिनी राजधानी,
(२) शकारि होना;
(३) ५७ ई० पू० मे सवत् का प्रवर्तक होना; और
(४) कालिदास का आश्रयदाता।

अनुशीलन—

(१) यह वात अव ऐतिहासिक खोजों से सिद्ध हो गई है कि प्रारम्भ मे मालव-प्रदेश मे प्रचलित होनेवाला संवत् मालवगण का सवत् था। सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के समय मालव जाति पंजाब मे रहती थी। मालव-क्षुद्रक-गण-सघ ने सिकन्दर का विरोध किया था, किन्तु पारस्परिक फूट के कारण मालवगण अकेला लड़कर यूनानियो से हार गया था। इसके पश्चात् मौर्यो के कठोर नियत्रण से मालव जाति निष्प्रभसी हो गई थी। मौर्य-साम्राज्य के अन्तिम काल मे जव पश्चिमोत्तर भारत पर वाख्त्रियो के आक्रमण प्रारम्भ हुए तव उत्तरापथ की मालवादि कई गण जातियॉ वहॉ से पूर्वी राजपूताने होते हुए मध्य-भारत पहुँची और वहॉ पर उन्होने अपने नये उपनिवेश स्थापित किये। समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्ति-लेख से सिद्ध होता है कि चौथी शताब्दी ई० प० के पूर्वार्द्ध मे उसके साम्राज्य की दक्षिण-पश्चिम सीमा पर कई गण-राष्ट्र वर्तमान थे, किन्तु इससे भी पहले प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० पू० मे मालव जाति अवन्ति-आकर (मालव-प्रान्त) मे पहुँच गई थी, यह वात मुद्राशास्त्र से प्रमाणित है। यहॉ पर एक प्रकार के सिक्के मिले है जिन पर ब्राह्मी अक्षरों मे 'मालवाना जयः' लिखा है (इण्डियन म्यूजियम कॉइन्स, जिल्द १, पृ० १६२; कनिगहैम ऑर्केआलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द ६०, पृ० १६५-७४)।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता

(२) ई० पू० प्रथम शताब्दी के मध्य में मगध-साम्राज्य का भग्नावशेष काण्वों की क्षीण शक्ति के रूप में पूर्वी भारत में बचा हुआ था। बाल्त्रियों के पश्चात् पश्चिमोत्तर भारत शकों द्वारा आक्रान्त होने लगा। शक जाति ने सिन्ध प्रान्त के रास्ते भारतवर्ष में प्रवेश किया। यहाँ से उसकी एक शाखा सुराष्ट्र होते हुए अवन्ति आकर बसी और बढ़ने लगी। इस बढ़ाव में शकों का मध्य-भारत के गणराष्ट्रों से संघर्ष होना बिलकुल स्वाभाविक था। बाहरी आक्रमण के समय गण जातियाँ संघ बनाकर लड़ती थीं। इस संघ का नेतृत्व मालवगण ने लिया और शकों को पीछे ढकेलकर सिन्ध प्रान्त के छोर पर कर दिया। *कालकाचार्य की कथा में शकों को निमन्त्रण देना, अवन्ति के ऊपर उनका अस्थायी आधिपत्य तथा* अन्त में विक्रमादित्य द्वारा उनका निवासन आदि सभी घटनाओं का मेल इतिहास की उपर्युक्त धारा से बैठ जाता है।

(३) शकों को पराजित करने के कारण मालवगणमुख्य का शकारि एवं विरुद हो गया। यद्यपि इस घटना से शकों का आतंक सदा के लिए दूर नहीं हुआ, तथापि यह एक क्रान्तिकारी घटना थी, और इसके फलस्वरूप लगभग डेढ़सौ वर्ष तक *भारतवर्ष शकों के आधिपत्य से सुरक्षित रहा। इसलिये इस विजय के उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन हुआ* और मालवगण के दृढ़ होने से इसका गण-नाम मालवगण स्थिति या मालवगण-काल पड़ा।

(४) *अब यह विचार करना है कि क्या मालवगण-मुख्य कालिदास के आश्रयदाता हो सकते हैं या नहीं? अभिज्ञान* शाकुन्तल की कतिपय प्राचीन प्रतियों में नान्दी के अन्त में लिखा मिलता है कि इस नाटक का अभिनय विक्रमादित्य की परिषद् में हुआ था। (सूत्रधार। आर्ये इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोः **विक्रमादित्यस्य** अभिरूपभूयिष्ठा परिषत्, अस्यां च कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन अभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेन उपस्थातव्यम् अस्माभिः, तत् प्रतिपात्रम् आधीयतां यत्नः। नान्द्यन्ते। (जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता, १९१४ ई०)। प्रायः अभी तक विक्रमादित्य एक-तान्त्रिक राजा ही समझे जाते रहे हैं, किन्तु काशी विश्व विद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पं० केशवप्रसाद मिश्र के पास सुरक्षित अभिज्ञानशाकुन्तल की एक हस्तलिखित प्रति (प्रतिलिपन काल–अगहन सुदी ५ संवत् १६९९ वि०) ने विक्रमादित्य का गण से सम्बन्ध व्यक्त कर दिया है। इसके निम्नांकित अवतरण ध्यान देने योग्य हैं —

(अ) आर्ये, रसभावविशेषदीक्षागुरोः **श्रीविक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्याभिरूपभूयिष्ठेयं** परिषत्। अस्यांच कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। (नान्द्यन्ते)

(आ) भवतु तव बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु, त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः। **गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यैर्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः** ॥ (भरतवाक्य)।

उपर्युक्त अवतरणों में मोटे टाइप में छपे पदों से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि जिस विक्रमादित्य का यहाँ निर्देश है उनका व्यक्तिवाचक नाम विक्रमादित्य और उपाधि साहसाङ्क है। भरतवाक्य का 'गण' शब्द राजनैतिक अर्थ में 'गण राष्ट्र' का द्योतक है। 'शत' संख्या गोल और अतिरंजित है और 'गणशत' का अर्थ कई गणों का गण-संघ है। 'गण' शब्द के अर्थ की संगति अवतरण (अ) के रेखांकित पद से बैठती है। विक्रमादित्य के साथ कोई राजतान्त्रिक उपाधि नहीं लगी है। यदि यह अवतरण छन्दोबद्ध होता तो कहा जा सकता था कि छन्द की आवश्यकतावश उपाधियों का प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु गद्य में इसका अभाव कुछ विशेष अर्थ रखता है। निश्चय ही विक्रमादित्य सम्राट् या राजा नहीं थे, अपितु गणमुख्य थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार गणराष्ट्र कई प्रकार के थे – कुछ वार्ताशस्त्रोपजीवी, कुछ आयुधजीवी और कुछ राजशब्दोपजीवी। ऐसा जान पड़ता है कि मालवगण वार्ताशस्त्रोपजीवी था, इसलिये विक्रमादित्य के साथ राजा या अन्य किसी राजनैतिक उपाधि का व्यवहार नहीं हुआ है।

इन अवतरणों के सहारे यही निष्कर्ष निकलता है कि विक्रमादित्य मालवगण मुख्य थे। उन्होंने शकों को उनके प्रथम बढ़ाव में पराजित करके इस क्रान्तिकारी घटना के उपलक्ष में मालवगणस्थिति नामक संवत् का प्रवर्तन किया, जो आगे चलकर विक्रम-संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विक्रमादित्य स्वयं काव्यमर्मज्ञ तथा कालिदासादि कवियों और कलाकारों के आश्रयदाता थे।
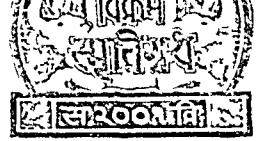
श्री डॉ० राजवली पाण्डेय

अव यह प्रश्न हो सकता है कि मालवगणस्थिति अथवा मालव-संवत् का विक्रम-संवत् नाम किस प्रकार से पडा ? इसका समाधान यह है कि संवत् का नाम प्रारम्भ मे गणपरक होना स्वाभाविक था, क्योंकि लोकतात्रिक राष्ट्र में गण की प्रधानता होती है, व्यक्ति की नही। पाँचवी शताव्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध मे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने भारत मे अन्तिम वार गणराष्ट्रो का संहार किया था। तव से गण-राष्ट्र भारतीय प्रजा के मानसिक क्षितिज से ओझल होने लगे थे और आठवी-नवी शताव्दी ई० पू० तक, जवकि सारे देश मे निरकुश एकतंत्र की स्थापना हो गई थी, गणराष्ट्र की कल्पना भी विलीन हो गई। अत: मालवगण का स्थान उसके प्रमुख व्यक्ति विशेष विक्रमादित्य ने ले लिया और सवत् के साथ उनका नाम जुट गया। साथ ही साथ मालवगण मुख्य विक्रमादित्य राजा विक्रमादित्य हो गये। राजनैतिक कल्पना की दुर्वलता का यह एकाकी उदाहरण नही है। आधुनिक ऐतिहासिक खोजो से अनभिज्ञ भारतीय प्रजा मे कौन जानता है कि भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा वुद्ध के पिता गण-मुख्य थे। अर्वाचीन साहित्य तक मे वे राजा करके ही माने जाते है। यह भी हो सकता है कि राजशव्दोपयोगी गणमुख्यो की 'राजा' उपाधि, राजनैतिक भ्रम के युग मे विक्रमादित्य को राजा वनाने मे सहायक हुई हो।

प्रथम शताव्दी ई० पू० मे विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता प्रमाणित करने के साथ यह भी आवश्यक जान पड़ता है कि उन स्थापनाओं का सक्षेप मे विवेचन किया जाय, जिनके आधार पर कालिदास के साथ विक्रमादित्य को भी गुप्तकाल में घसीटा जाता है और 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी गुप्त सम्राटो मे से किसी एक से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। वे स्थापनाएँ निम्नलिखित विवेचनो पर अवलम्वित है:—

(१) कुछ ऐतिहासिको की धारणा है कि तथाकथित वौद्धकाल मे वैदिक (हिन्दू) धर्म, सस्कृत और साहित्य-सकटापन्न हो गये थे। अत. ईसा के एक-दो शताव्दी आगे पीछे सस्कृत-काव्य का विकास नही हो सकता था। गुप्तो के आगमन के वाद हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के साथ सस्कृत-साहित्य का भी पुनरुत्थान हुआ। तभी सस्कृत-साहित्य मे कालिदास जैसे कुशल तथा परिष्कृत काव्यकार का होना संभव था। 'पुनरुत्थान' मत के मुख्य प्रवर्तक मैक्समूलर थे। पीछे की ऐतिहासिक खोजो से यह मत असिद्ध हो गया है (विस्तृत विवेचन के लिए देखिए डॉ० जी० व्यूलर, इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, वर्ष १९१३)। 'वौद्ध-काल' मे न तो वैदिक धर्म लुप्त हुआ था और न सस्कृत-साहित्य ही। गुप्तकाल के पहले ईसा की दूसरी शताव्दी मे सुराष्ट्र के महाक्षत्रप रुद्रदामन् के गिरनार अभिलेख मे गद्यकाव्य का वडा ही सुन्दर उदाहरण मिलता है (..... पर्जन्येनैकार्णवभूतायामिव पृथिव्या कृताया ......युगनिधनसदृशपरमघोरवेगेन वायुना प्रमथितसलिलविक्षिप्तजर्जरी-कृताव......) एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ४७)। राजकीय व्यवहार का यह गद्यकाव्य अवश्य ही उस युग मे वर्तमान पद्यकाव्य के अनुकरण पर लिखा गया होगा। ई० पू० शुगकाल मे रचित पातञ्जल महाभाष्य मे उद्धृत उदाहरणो मे काव्यों की शैली और छन्द पाये जाते है (कीलहार्न : महाभाष्य का सस्करण)। इसके अतिरिक्त रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यो के अधिकाश भाग ई० पू० के लिखे गये है। मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ ईसा की पार्श्ववर्ती शताव्दियो मे लिखी गई है। काव्य की उपर्युक्त धारा के प्रकाश मे प्रथम शताव्दी ई० पू० मे कालिदास के नाटको और काव्यों की रचना विलकुल असंभव नही जान पड़ती।

(२) कालिदास के काव्यों और वौद्ध पण्डित अश्वघोष के वुद्धचरित नामक काव्य मे अत्यधिक साम्य है। कथानक की सृष्टि और विकास, वर्णन-शैली, अलकारों का प्रयोग, छन्दों का चुनाव, शव्दविन्यासादि मे दोनो कलाकारो मे से एक दूसरे से अत्यन्त प्रभावित है। इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है.—

रघुवश	वुद्धचरित
ततस्तदालोकन तत्पराणां	ततः कुमारः खलु गच्छतीति
सौधेषु चार्माकरजालवत्सु।	श्रुत्वा स्त्रियः प्रेष्यजनात्प्रवृत्तिम् ॥
वभूवुरित्थं पुर सुन्दरीणां	दिदृक्षया हर्म्यतलानि जग्मुः
त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ७-५ ॥	जनेन मान्येन कृताभ्युनुज्ञाः ॥ ३-१३ ॥

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता

यह तो प्राय सभी विद्वान् मानते है कि कालिदास की रचना दोनो में से श्रेष्ठ है, किन्तु उनमे से कतिपय यह भी मान लेते है कि संस्कृत काव्य के विकास में अश्वघोष पहले हुए। कालिदास ने उनका अनुकरण कर अपनी शैली का विकास और परिमार्जन किया। अश्वघोष कुषण सम्राट् कनिष्क के समकालीन थे, जिनका समय प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी ई० पू० है। इसलिये कालिदास का काल तीसरी शताब्दी के पश्चात् संभवत गुप्तकाल में होना चाहिए (इ० बी० कावेल अश्वघोष का बुद्धचरित, भूमिका)। विचार करने पर यह युक्ति-परम्परा बिलकुल असंगत मालूम पडती है। यह बात विदित है कि प्रारम्भिक बौद्ध-साहित्य पालि प्राकृत में लिखा गया था। पीछे संस्कृत-साहित्य के प्रभाव और उपयोगिता को स्वीकार कर बौद्ध लेखको ने संस्कृत को अपने साहित्य और दर्शन का माध्यम बनाया। इसलिए संस्कृत की काव्यशैली के प्रचलित और परिष्कृत हो जाने पर उन्होने उसका अनुकरण किया। अत स्पष्ट है कि अश्वघोष ने कालिदास की शैली का अनुकरण किया। यदि उनकी कला अपेक्षाकृत हीन है, तो यह अनुकरण का दोष है। प्राय अनुकरण करनेवाले अपने आदर्श की समता नहीं कर पाते।

(३) कालिदास को पाचवी या छठवीं शताब्दी ई० पू० में खीच लाने मे एक प्रमाण यह भी दिया जाता है कि उनके ग्रन्थो मे यवन, शक, पह्लव, हूणादि जातियो के नाम आते है। हूणो ने ५०० ई० प० मे भारतवर्ष पर आक्रमण शुरू किए अत इनका उल्लेख करनेवाले कालिदास का समय इनके पश्चात् होना चाहिए (लिटररी रिमेन्स आफ डा० भाउदाजी, पृ० ४९), परन्तु ध्यान देने की बात तो यह है कि रघुवंश मे हूणो अथवा अन्य जातियो का वर्णन विदेशी विजेता के रूप मे नहीं आता। रघु ने अपने दिग्विजय मे उनको भारत की सीमा के बाहर पराजित किया था। अत कालिदास के समय मे हूणो को भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के पास कही होना चाहिए। चीन तथा मध्य एशिया के इतिहास से प्रमाणित हो गया है कि ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी मे हूण पामीर के पूर्वोत्तर मे आ चुके थे (गुल्ट्ज लाक चीन का इतिहास, जिल्द १, पृ० २२०)।

(४) ज्योतिष के बहुत से संकेत कालिदास के ग्रन्थो में आये है। कई एक विद्वानो का यह मत है कि कुषण काल के बाद भारतीयो ने ज्योतिष के बहुत से सिद्धान्त यूनान और रोम से सीखे थे। इसलिए कालिदास का समय इनके काफी पीछे होना चाहिए। किन्तु इस बात के माननेवाले इस सत्य को भूल जाते है कि स्वयं यूनानियो ने कई शताब्दी ई० पू० में बबिलोनियो के लोगो से ज्योतिष शास्त्र सीखा था (मैक्समूलर इण्डिया, व्हाट कैन इट टीच अस ? पृ० ३६१)। भारतवर्ष चौथी-पाचवी शताब्दी ई० पू० मे पारसीक सम्पर्क में अच्छी तरह आ गया था। अत वह बबिलोनिया और चाल्डिया का ज्योतिष शास्त्र आसानी से सीख सकता था (प्रो० एस० बी० दीक्षित भारतीय ज्योतिष का प्राचीन इतिहास, पृ० १५७)। ई० पू० में रचित रामायण मे ज्योतिष के सिद्धान्तो का काफी प्रयोग किया गया है (१-१८-९-१५, २-१५-३ आदि)।

(५) वराहमिहिर की तथाकथित समकालीनता से भी कालिदास का समय पाचवी शताब्दी ई० पू० मे निश्चित किया जाता है। ज्योतिर्विदाभरण मे निम्नलिखित उल्लेख है —

> धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासा ।
> ख्यातो वराहमिहिरो नृपते सभाया रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इस अवतरण के सम्बन्ध मे प्रथमत यह कहना है कि इस अनुश्रुति का जिस ग्रन्थ मे उल्लेख है वह कालिदास की रचना नहीं है। दूसरे एक दो को छोडकर यहा जितने रत्न एकत्रित किये गये है वे समकालीन नहीं। तीसरे, यह अनुश्रुति पीछे की और बिलकुल असली है, अन्यत्र कही भी इसकी चर्चा नहीं। अत वराहमिहिर की कालिदास से समकालीनता कल्पनाजन्य मालूम होती है, जिस प्रकार से कि कालिदास और भवभूति के एक सभा में एकत्र होने की किम्वदन्ती।

इस प्रकार कालिदास को गुप्तकालीन और इस कारण से विक्रमादित्य को गुप्त-सम्राट् सिद्ध करने की उक्तिया तर्कसिद्ध नहीं मालूम पडती है। विक्रमादित्य के गुप्त-सम्राट् होने के विरुद्ध निम्नलिखित कठोर आपत्तिया है —

(१) गुप्त-सम्राटो का अपना वंशगत संवत् है। उनके किसी भी उत्कीर्ण लेख मे मालव अथवा विक्रम-संवत् का उल्लेख नहीं है। जब उन्होने ही विक्रम-संवत् का प्रयोग नहीं किया तो पीछे से उनके गौरवास्त के बाद, जनता ने उनका सम्बन्ध विक्रम-संवत् से जोड दिया, यह बात समझ मे नहीं आती।
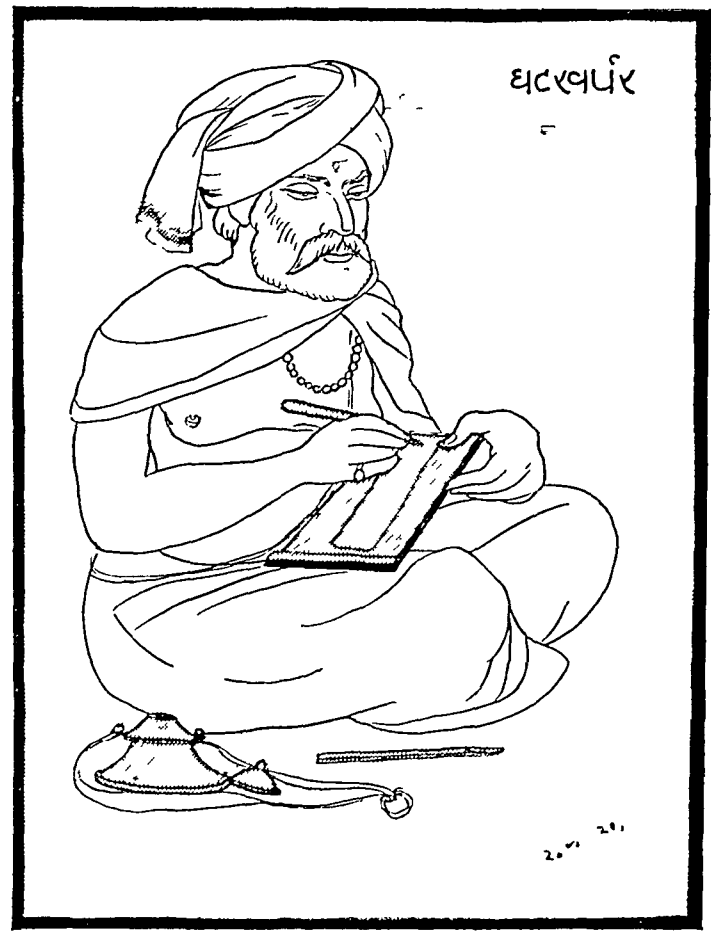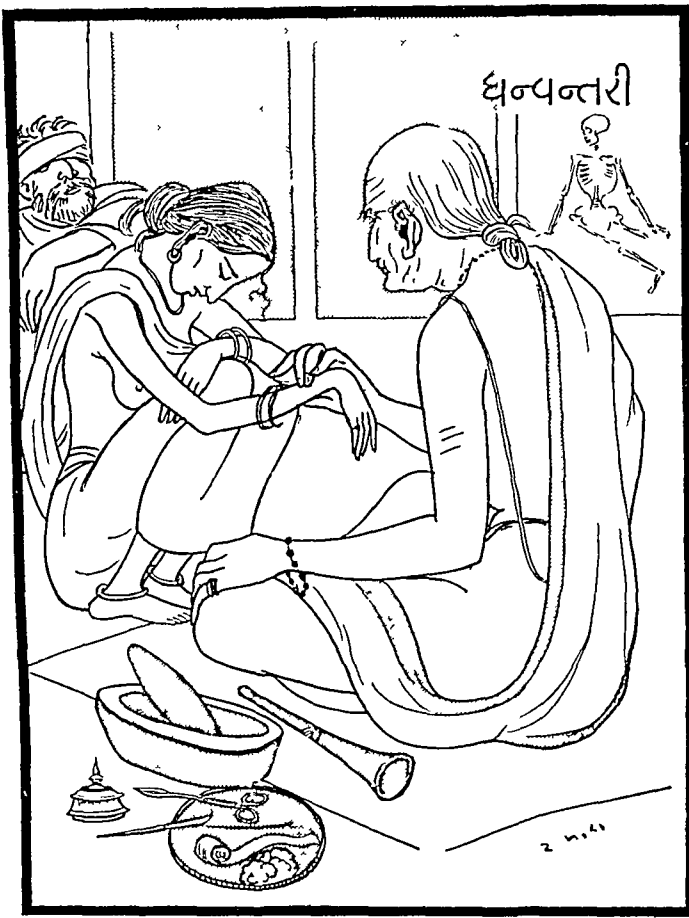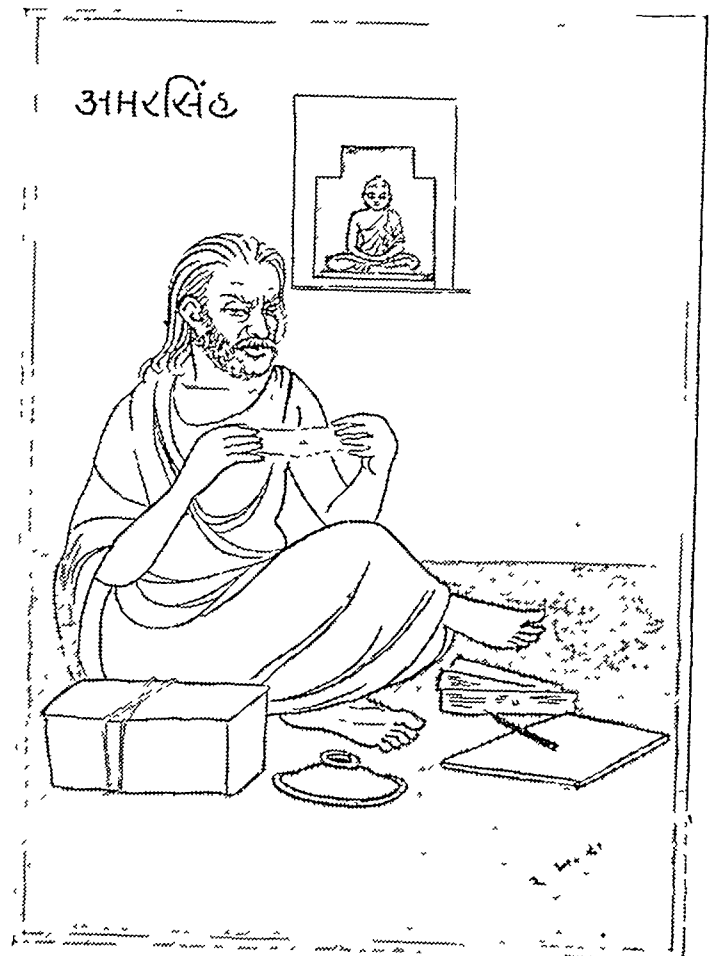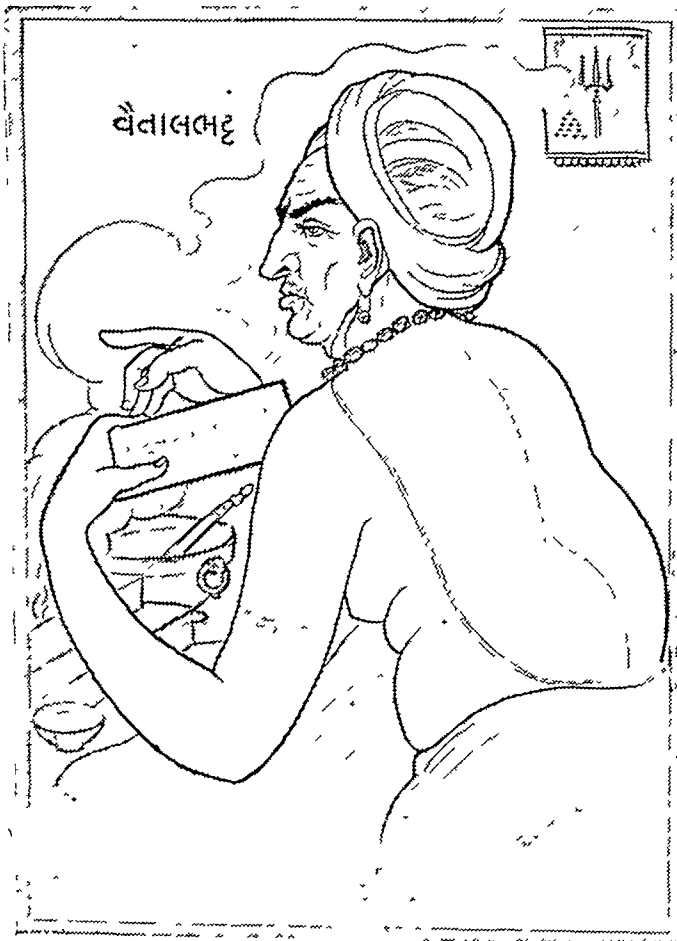
(चित्रकार—श्री रविशंकर रावल)

(चित्रकार—श्री रविशंकर रावल)

(२) गुप्त-सम्राट् पाटलिपुत्रनाथ थे, किन्तु अनुश्रुतियों के विक्रमादित्य उज्जयिनीनाथ थे। यद्यपि उज्जयिनी गुप्तों की प्रान्तीय राजधानी थी, किन्तु वे प्रधानतः पाटलिपुत्राधीश्वर और मगधाधिप थे। मुगल-सम्राट् दिल्ली के अतिरिक्त आगरा, लाहौर और श्रीनगर मे भी रहा करते थे। फिर भी वे दिल्लीश्वर ही कहलाते थे। इसके अतिरिक्त सोमदेवभट्ट ने अपने कथासरित्सागर मे स्पष्टतः दो विक्रमादित्यों का उल्लेख किया है—एक उज्जयिनी के विक्रम तथा दूसरे पाटिलपुत्र के। उनके मन मे इस सम्बन्ध मे कोई भी भ्रम नही था।

(३) उज्जयिनी के विक्रम का नाम विक्रमादित्य था, उपनाम नही। कथासरित्सागर मे लिखा है कि उसके पिता ने जन्मदिन को ही उनका नाम शिवजी के आदेशानुसार विक्रमादित्य रखा; अभिषेक के समय यह नाम अथवा विरुद के रूप मे पीछे नही रखा गया। इसके विरुद्ध किसी गुप्त-सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नही था। द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त के विरुद क्रमशः विक्रमादित्य और क्रमादित्य (कहीं-कहीं विक्रमादित्य) थे। समुद्रगुप्त ने तो कभी यह उपाधि धारण ही नही की *। कुमारगुप्त की उपाधि महेन्द्रादित्य थी, नाम नही। उपाधि प्रचलित होने के लिए यह आवश्यक है कि उस नाम का कोई लोकप्रिय तथा लोकप्रसिद्ध व्यक्ति हुआ हो, जिसके अनुकरण पर पीछे के महत्वाकाक्षी लोग उस नाम की उपाधि धारण करे। रोम मे 'सीजर' उपाधिधारी राजाओ के पहले सीजर नामक सम्राट् हुआ था। इसी प्रकार विक्रम-उपाधिधारी गुप्त नरेशों से पूर्व विक्रमादित्य नामधारी शासक अवश्य ही हुआ होगा, और यह महापराक्रमी मालवगण-मुख्य विक्रमादित्य साहसाक ही था।

---

* इन्दौर राज्यान्तर्गत बमनाला ग्राम में प्राप्त 'पराक्रमः' एवं 'श्री विक्रमः' उपाधि अंकित समुद्रगुप्त की मुद्राओं का अभी समुचित प्रचार न होने के कारण विद्वान् लेखक ने यह मत प्रकट किया है।—सं०
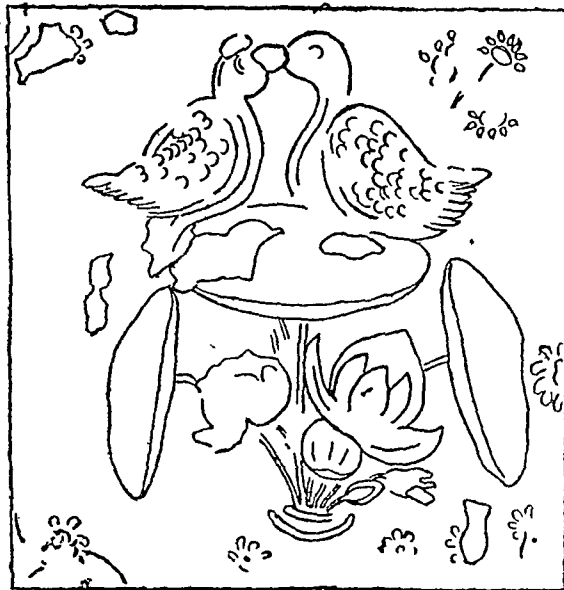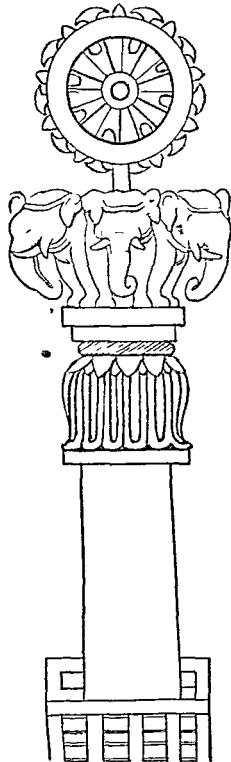
* विक्रमादित्य *

श्री उदयशकर भट्ट

कुकुम भाल तिलक रचि देकर जो आया वरदान विश्व का,
चल नक्षत्रों की जग मग में जग मग करता ज्ञान विश्व का,
जिसने नव-जीवन के द्वारा किया दीर्घ कल्याण विश्व का,
उसको सतत प्रणाम हमारा, ज्योतिष्मान विधान विश्व का !

जिसने काल भाल पर अपनी स्मृति का अकित विन्दु किया,
जिसने यशोधार से लघुतर निर्झरिणी को सिन्धु किया,
जिसने उठते हुए हिमालय से अपने यश को देखा,
है अक्षुण्ण आज जिस विक्रम की यह सवत्सर रेखा।

जो विक्रम सूर्योदय के सँग शक-याना का कोप पिए,
गूँज उठा सब भूत, भविष्यत्, वर्तमान जय घोष लिए,
जो भारत के प्राण प्राण में, रोम-रोम बन विजय बहा,
अतल, वितल, पाताल, धरा ने जिसका जय-सन्देश कहा।

एक लहर से अपर लहर ने जिसके विजय-गीत गाए,
सात समुद्रों पर जिसके स्वर गूँज उठे छाए-छाए,
एक वृक्ष से अपर वृक्ष पर जिसका यश झुक झूम उठा,
अतरीप से काश्मीर तक मलय-पवन भी चूम उठा।

वह भारत का एकछत्र विक्रमादित्य सम्राट् अमर,
वह भारत का एकछत्र साहित्य हिमालय तुग शिखर,
वह भारत का एकछत्र मन्दार सरस अभिमत दाता,
वह भारत का एकछत्र शृगार भारती निर्माता !

महामहिम विक्रमादित्य को कवि का शत-शत बार प्रणाम।
शक विजयी युग निर्माता को इस युग का शत बार प्रणाम।

विक्रमादित्य और विक्रम-संवत

महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ

भारतवर्ष मे विक्रमादित्य एक वड़ा प्रतापी राजा माना जाता है। इसके विषय मे कहा जाता है कि यह मालवे का प्रतापी राजा था और शक (सीदियन) लोगो को हराने के कारण 'शकारि' के नाम से प्रसिद्ध हो गया था।

अपनी इसी विजय की यादगार मे इसने 'विक्रम-सवत्' के नाम से अपना संवत् प्रचलित किया था, जो आज तक वरावर चला आता है। यह राजा स्वय विद्वान् और कवि था तथा इसकी सभा मे अनेक प्रसिद्ध विद्वान् और कवि रहा करते थे। इसकी राजधानी उज्जैन नगरी थी। परन्तु डाक्टर कीलहार्न की कल्पना के अनुयायी पाश्चात्य विद्वान् इस वात को स्वीकार करने मे सकोच करते है। उनका कहना है कि विक्रमादित्य नाम का कोई राजा ही नही हुआ है और न उसका चलाया कोई संवत् ही है। आजकल जो सवत् विक्रम के नाम से प्रसिद्ध है वह पहले 'मालव-संवत्' के नाम से प्रचलित था और पहले-पहल विक्रम का नाम इस सवत् के साथ धौलपुर से मिले चौहान चण्डमहासेन के वि० सं० ८९८ (ई० स० ८४१) के लेख मे जुड़ा* मिला है। उसमें लिखा है:—

'वसुनवअष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य'।

इससे पूर्व के जितने लेख और ताम्रपत्र इस सवत् के मिले है उनमे इसका नाम 'विक्रम-सवत्' के बजाय 'मालव-संवत्' लिखा मिलता है। जैसे:—

'श्रीर्मालवगणाम्नाते प्रशस्तेकृतसंज्ञिते
एकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये † ।'

* इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग १९, पृ० ३५।

† एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १२, पृ० ३२०।

अर्थात्—मालव-सवत् ४६१ म।

'कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्या मालव पूर्वाया'‡

अर्थात—मालव सवत् ४८१ म।

मालवाना गणस्थित्या यात शतचतुष्टये त्रिनवत्यधिकेब्दाना+'

अर्थात्—मालव सवत् ४९३ म।

'पञ्चसु शतेषु शरदा यातेष्वेकान्नवतिसहितेषु
मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु× ।'

अर्थात्—मालव-सवत ५८९ म।

'सवत्सरशतर्यात सपचनवत्यर्गल सप्तनिम्र्म्मालवेशाना§'

अर्थात—मालव-सवत् ७९५ बीतन पर।

इस प्रकार भिन्न भिन्न स्थाना न मिले उपर्युक्त लेखा के अवतरणा से पाठका को विदित हो जायगा कि उस समय तक यह सवत् विक्रम-सवत क बजाय मालव सवत् कहलाता था।

यद्यपि विनिकी (काठियावाड) मे मिले ७९४ के दानपत्र म सवत् के साथ विक्रम का नाम जुडा मिला ह, तथापि उसम लिखा रविवार और सूर्यग्रहण एक ही दिन न मिलने स डाक्टर फ्लीट और कील्हान उसे जाली बतलाते ह।

कर्कोटक (जयपुर) स कुछ सिक्के मिले ह। उनपर 'मालवाना जय' पढा गया ह। विद्वान् लोग उन सिक्का को ई० स० पूर्व २५० से ई० स० २५० के बीच का अनुमान करत ह। इसस प्रकट होता ह कि शायद मालव जातिवाला ने अपनी अवन्ति दश की विजय की यादगार म ये सिक्के चलाये हा और उसी समय उक्त सवत भी प्रचलित किया हो, तथा इन्ही लोगा के अधिकार म आने स उक्त प्रदेश भी मालव दश कहलाया हो। इसी म समुद्रगुप्त के इलाहाबाद वाले लेख म अन्य जातिया के साथ-साथ माल्व जाति के जीतने का भी उल्लेख मिलता ह।

इन्ही सब बाता के आधार पर डाक्टर कील्हान ने कल्पना की ह कि ईसवी सन् ५४४ म मालवे के प्रतापी राजा यशोधर्मन् (विष्णुवर्धन) ने करूर (मुलतान के पास) म हूण राजा मिहिरकुल को हराकर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी और उसी समय प्रचलित माल्व सवत् का नाम बदलकर 'विक्रम-सवत्' कर दिया था तथा साथ ही इसम ५६ वर्ष जोडकर इस ६०० वर्ष पुराना भी घोषित कर दिया था। परन्तु इस कल्पना का कोई आधार नही दिखाई देता, क्योकि एक ता यशोधर्मन् के 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण करने का कही भी उल्लेख नही मिलता ह, दूसरे, एक प्रतापी राजा का अपना निज का सवत् न चलाकर दूसरे के चलाये सवत् का नाम बदलना और साथ ही उसे ६०० वर्ष पुराना सिद्ध करने की चेष्टा करना भी सम्भव प्रतीत नही होता। तीसर श्रीयुत सी० वी० वैद्य का कहना ह कि डाक्टर हार्नले और कील्हान का यह लिखना कि ई० स० ५४४ म करूर म यशोधर्मन् ने मिहिरकुल को हराया था, ठीक नही है। उन्होने इस विषय में अलबरूनी क लेख स जो प्रमाण दिया है, उससे अनुमान होता है कि उक्त करूर का युद्ध ५४४ ईसवी के बहुत पहले ही हुआ था।

डाक्टर फ्लीट राजा कनिष्क को विक्रम-सवत् का चलानेवाला मानते ह, परन्तु यह भी उनका अनुमान ही ह।

‡ यह लेख अजमेर के अजायबघर में रक्खा ह।

+ कार्पस इन्सक्रिप्शन इण्डिकेरं, भाग ३, पृ० ८३ और १५४।

× इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग १९, पृ० ५९। § इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग १२, पृ० १५५।
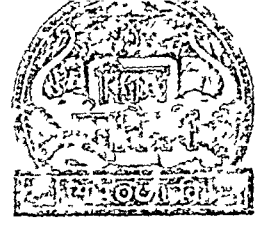
श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ

मि० स्मिथ और सर भाण्डारकर का अनुमान है कि उक्त मालव-संवत् का नाम वदलनेवाला गुप्तवंशी राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय था, जिसकी उपाधि 'विक्रमादित्य' थी। परन्तु यह अनुमान भी ठीक नहीं जँचता; क्योंकि एक तो जव उस समय गुप्तों का निज का चलाया संवत् विद्यमान था, तव उसे अपने पूर्वजों के संवत् को छोड़कर दूसरों के चलाये संवत् को अपनाने की क्या आवश्यकता थी। दूसरे, चन्द्रगुप्त द्वितीय के सौ वर्ष से भी अधिक वाद के ताम्रपत्रों में मालव-संवत् का उल्लेख मिलता है।

पुराणों मे आन्ध्र वंशी नरेश हाल का नाम मिलता है। इसी हाल (सातवाहन) के समय 'गाथासप्तशती' नाम की पुस्तक वनी थी। इसकी भाषा प्राचीन मराठी है। इसके ६५वें श्लोक मे विक्रमादित्य की दानशीलता का उल्लेख इस प्रकार है :—

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइच्चचरिअमणुसिक्खिअं तिस्सा ॥

(उक्त गाथा का संस्कृतानुवाद।)

संवाहन-सुखरसतोषितेन ददता तव करे लक्षम्।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः ॥

मि० विंसैण्ट स्मिथ हाल का समय ईसवी सन् ६८ (वि० सं० १२५) अनुमान करते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उक्त समय के पहले ही विक्रमादित्य हो चुका था और उस समय भी कवियो में वह अपने दान के लिए प्रसिद्ध था।

यद्यपि कल्हण की 'राजतरगिणी' मे विक्रमादित्य उपाधिवाले दो राजाओं को आपस में मिला दिया है, तथापि उसमे के शकारि विक्रमादित्य से इसी विक्रमादित्य का तात्पर्य है। इसको प्रतापादित्य का सम्बन्धी लिखा है।

इसी प्रकार सातवाहन (हाल) के समय के महाकवि गुणाढ्य रचित पैशाची (काश्मीर की ओर की प्राकृत) भाषा के 'वृहत्कथा' नामक ग्रन्थ से भी उक्त समय से पूर्व ही विक्रमादित्य का होना पाया जाता है। यद्यपि यह ग्रन्थ अव तक नही मिला है, तथापि सोमदेवभट्ट रचित इसके सस्कृतानुवादरूप 'कथासरित्सागर' (लंवक ६, तरंग १) में उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की कथा मिलती है।

ईसवी सन् से १५० वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिम से शक लोग भारत में आये थे। यहाँ पर उनकी दो शाखाओं का पता चलता है। एक शाखा के लोगो ने मथुरा मे अपना अधिकार स्थापित किया और वहाँ पर वे 'सत्रप' नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके सिक्कों से उनका ईसवी सन् से १०० वर्ष पूर्व तक पता चलता है। दूसरी शाखा के लोग काठियावाड़ की तरफ गये और वे पश्चिमी 'क्षत्रप' कहाये। इन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय ने परास्त किया था। परन्तु इन शकों की पहली शाखा का, जोकि मथुरा की तरफ गई थी, ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी के प्रारम्भ के वाद क्या हुआ, इसका कुछ भी पता नहीं चलता। सम्भवतः इन्हें ईसवी सन् से ५८ वर्ष पूर्व के निकट इसी शकारि विक्रमादित्य ने हराया होगा और इसी घटना की यादगार मे उसने अपना सवत् भी प्रचलित किया होगा।

पेशावर के पास तख्तेवाही नामक स्थान से पार्थियन राजा गुडूफर्स (गोण्डोफरस) के समय का एक लेख मिला है। यह राजा भारत के उत्तर-पश्चिमाञ्चल का स्वामी था। इस लेख मे १०३ का अंक है, पर संवत् का नाम नहीं है। डा० फ्लीट और मि० विन्सैण्ट स्मिथ ने इस १०३ को विक्रम-संवत् सिद्ध किया है। ईसा की तीसरी शताब्दी में लिखी हुई यहूदियों की एक पुस्तक में राजा गुडूफर्स का नाम आया है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय भी यह संवत् वहुत प्रसिद्ध हो चुका था और इसका प्रचार मालवे से पेशावर तक हो गया था। अतः विक्रमादित्य का इस समय से वहुत पहले होना स्वतः सिद्ध हो जाता है, परन्तु अभी तक यह विषय विवादास्पद ही है।

विक्रम-संवत् का प्रारम्भ कलियुग संवत् के ३०४४ वर्ष वाद हुआ था। इसमें से (५६ या) ५७ घटाने से ईसवी सन् और १३५ घटाने से शक्-संवत् आ जाता है। उत्तरी हिन्दुस्तानवाले इसका प्रारम्भ चैत्र शुक्ला १ से और दक्षिणी

विक्रमादित्य और विक्रम सवत्

हिन्दुस्तानवाले कार्तिक शुक्ला १ से मानते हैं। अत उत्तर में इस सवत् का प्रारम्भ दक्षिण से सात महीने पहले ही हो जाता है।

इसके महीनो म भी विभिन्नता है। उत्तरी भारत में महीना का प्रारम्भ कृष्णपक्ष की १ से और अन्त शुक्लपक्ष की १५ को होता है। परन्तु दक्षिणी भारत में महीना का प्रारम्भ शुक्लपक्ष की १ से और अन्त कृष्णपक्ष की ३० को होता है। इसीलिये उत्तर में विक्रम-सवत् के महीने पूर्णिमान्त और दक्षिण में अमान्त कहलाते हैं। इससे यद्यपि उत्तर और दक्षिण म प्रत्येक मास का शुक्लपक्ष तो एक ही रहता है, तथापि उत्तरी भारत का कृष्णपक्ष दक्षिणी भारत के कृष्णपक्ष से एक मास पूर्व होता है। अर्थात् जब उत्तरी भारतवाला का चैत्रकृष्ण होता है तो दक्षिणी भारतवाला का फाल्गुनकृष्ण रहता है। परन्तु दक्षिणवाला का महीना शुक्लपक्ष की १ से प्रारम्भ होने के कारण शुक्लपक्ष म दोना का चैत्र शुक्ल हो जाता है।

पहले काठियावाड, गुजरात और राजपूताने के कुछ भागा म इस सवत का प्रारभ आषाढ शुक्ला १ से भी माना जाता था, जसाकि निम्नलिखित प्रमाणा से सिद्ध होता है —

अडालित (अहमदाबाद) से मिले लेख मे लिखा है —

"श्रीमन्नृपविक्रमसमयातीत आषाढादि सवत् १५५५ वर्षे शाके १४२० माघमासे पचम्या।"

इसी प्रकार—डूगरपुर के पास स मिले लेख म लिखा है —

"श्रीमन्नृपविक्रमार्कराज्यसमयातीत सवत १६ आषाढादि २३ वर्षे (१६२३) शाके १४८८।"
इसके अतिरिक्त जोधपुर आदि में सेठ लोग इस सवत् का प्रारम्भ श्रावण कृष्णा १ से मानते हैं।
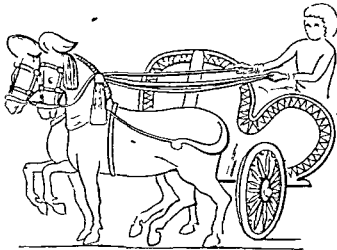
विक्रम-संवत् का प्रादुर्भाव

डॉ. आ. ने. उपाध्ये, कोल्हापुर

अन्य साधनों की अपेक्षा, विक्रम-सवत् ने ही विक्रमादित्य का नाम आजतक जीवित रखा है। यह संवत् आजकल भारतवर्ष के अनेक भागो मे प्रचलित है। जहाँ तक गुजरात और मध्य देश के जैन लेखको का सम्बन्ध है, उन सब ने अपनी प्रशस्तियो मे किसी ग्रंथ विशेष के निर्माण अथवा प्रतिलिपि की तिथि का उल्लेख करते हुए मुख्यतः इसी संवत् का उपयोग किया है। कभी-कभी वीरनिर्वाण-सवत् के निर्णय करने के सम्बन्ध मे भी इसका उपयोग किया गया है; कुछ ग्रंथकारों ने तो शक-काल और विक्रम-काल दोनो का ही उल्लेख किया है; और कुछ स्थानों पर तो 'विक्रम-शक' जैसे वाक्यांश का प्रयोग मिलता है। उक्त विस्तृत विवेचन मे न पड़कर यहाँ कुछ सम्बन्धित एव स्पष्ट उद्धरण दिये जाते है, जिनमे विक्रम-संवत् विक्रमादित्य की मृत्यु से प्रचलित हुआ, ऐसा कहा गया है।

१—देवसेन जिसने अपना दर्शनसार धारा मे संवत् ९९० मे समाप्त किया था (देखिये जैन हितैषी, भाग १३; भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीटयूट विवरण का भाग १५, खण्ड ३-४)। कुछ जैन सघो के उत्पत्ति की तिथि निम्न प्रकार से देता है :—

(१) एक्क-सए छत्तीसे विक्कम-रायस्स मरण-पत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवड़ो संघो ॥११॥

(२) पंच-सए छत्तीसे विक्कम-रायस्स मरण-पत्तस्स।
दक्खिण-महुरा जादो दाविड़-संघो महा-मोहो ॥२८॥

(३) सत्त-सए तेवण्णे विक्कम-रायस्स मरण-पत्तस्स।
णंदियड़े वरगामे कट्ठो संघो मुणेयव्वो ॥३८॥

विक्रम-सवत् का प्रादुर्भाव

२—वही लेखक अपने भावसग्रह (माणिकचन्द्र ग्रथमाला, न २० बम्बई सवत् १९७८) म श्वेतपट सघ के जन्म का उल्लेख इस प्रकार करता ह —

(१) छत्तीसे वरिस-सए विक्कम रायस्स मरण-पत्तस्स ।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवड-सघो हुवलहीए ॥१३७॥

इसी छन्द का वामदव (जो विक्रम-सवत् की १५वी अथवा १६वी शताब्दी के लगभग थ) ने अपने सस्कृत भावसग्रह म आधार लकर निम्नलिखित श्लोक लिखा ह —

सपर्ट्त्रिशे गतेऽब्दाना मृते विक्रमराजनि । सौराष्ट्रे वलभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥१८८॥

३—अमितगति अपने सुभाषितरत्न सन्दोह (निणय-सागर-सस्करण) की निर्माण तिथि इस प्रकार देता ह —

समारूढे पूतत्रिदिवसति ('वसतिविक्रम') विक्रम नृपे।
सहस्रे वर्षाणा प्रभवति हि पञ्चाशदधिके ।
समाप्त (समाप्ते) पञ्चम्यामवति धरणीं मुञ्जनृपतौ ।
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिद शास्त्रमनघम् ॥९२२॥

अपनी धर्मपरीक्षा म वह केवल इस प्रकार उल्लेख करता ह —

सवत्सराणा विगते सहस्रे ससप्ततौ विक्रमपार्थिवस्य ।

४—रत्ननन्दी अपने भद्रबाहु-चरित में इस प्रकार लिखता ह —

मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसयुते ।
दशपञ्चशतेऽब्दानामतीते शृणुतापरम् ॥१५७॥

देवसेन धारा म रहता था और अमितगति मुज का समकालीन था। उपर्युक्त कथना से सन्देहातीत रूप से यह स्पष्ट हो जाता ह कि ये ग्रथकार किसी गणना विशेष का सहारा नही ले रहे थे, वरन् वास्तविक रूप से उनका विश्वास था कि विक्रम-सवत् उसी तिथि से प्रारम्भ हुआ जिस दिन अमितगति के शब्दा म विक्रम 'देवा के पूत निवास' को प्रस्थान कर गये।
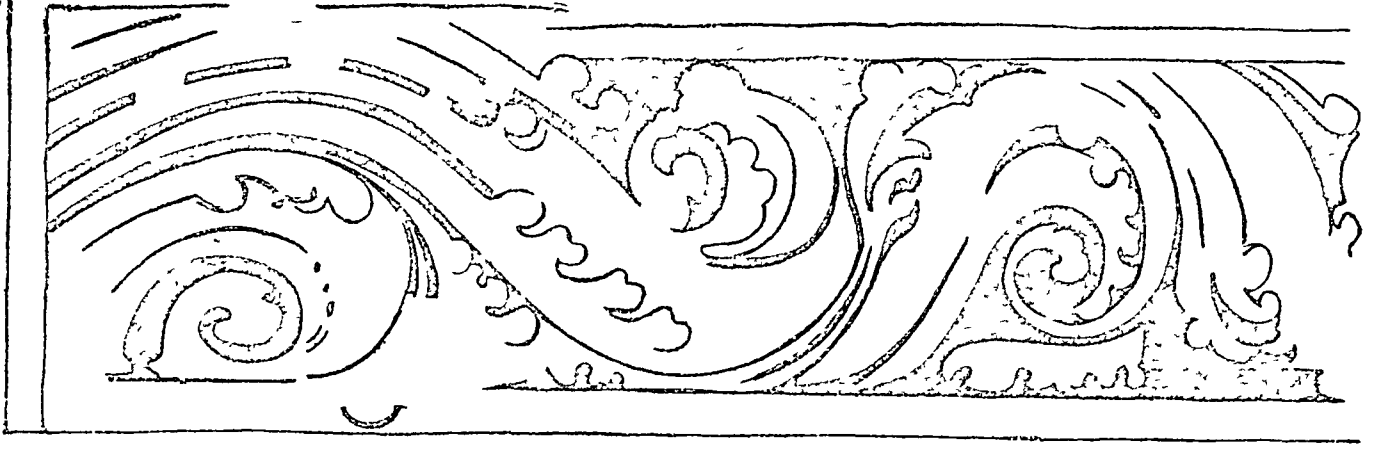
विक्रम-संवत् और उसके संस्थापक

श्री जगनलाल गुप्त

आज संसार का पंचमांश विक्रम-संवत् के प्रवर्त्तक जिस महापुरुष की द्विसहस्राब्दी का उत्सव मना रहा है, उसी के अस्तित्व को योरोप के विद्वानों ने (और स्कूल-कालेजो मे पठन-पाठन के लिए इतिहास-पुस्तक लिखनेवाले भारतीयों ने भी) शंकास्पद वना दिया है, यह केवल काल की विडम्बना है। विक्रम-सवत् का प्रचार भारतवर्ष के वणिक् समाज के द्वारा ससार के कोने-कोने मे पाया जाता है, इसके लिए भारत का राष्ट्र सदैव उसका ऋणी रहेगा, क्योकि विक्रम-संवत् की रक्षा करके उस अग्रेजी से अनभिज्ञ, अर्ध-शिक्षित और गँवार समझे जानेवाले इस भारतीय वणिक् ने उन ग्रेज्युएटो से बढ़कर देश और राष्ट्र की सेवा की है जो सम्राट् विक्रमादित्य के अस्तित्व को शंकास्पद ही नही बना रहे, प्रत्युत उसके अस्तित्व को मिटा रहे हैं। चीन, अरब, अफ्रीका, योरोप, जापान या अमेरिका, सब जगह भारतवर्ष के व्यापारी और ज्योतिषी सदैव विक्रम-संवत् का उपयोग करके अपना काम चलाते है, और भारतवर्ष भर मे तो प्रत्येक हिन्दू ही इसका उपयोग करता है। अतः हमे कहना पड़ता है कि यदि इस संवत् का इतना अधिक प्रचार न होता तो कदाचित् इस सवत् के अस्तित्व को भी विवाद का विषय इन महानुभावों की कृपा से बनना पड़ता। तो भी यह प्रश्न तो उठाया ही जा रहा है कि इस संवत् का प्रचार अधिक पुराने समय से नही रहा है, एव इसका सम्वन्ध विक्रमादित्य से नही है क्योंकि प्राचीन उल्लेखों मे इसके साथ विक्रम का नाम उल्लिखित नही पाया जाता। दूसरी शंका यह है कि विक्रमादित्य नामक कोई सम्राट् उज्जयिनी मे आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व ऐसा नही हुआ जिसके द्वारा इस प्रचलित विक्रम-संवत् की स्थापना की गई हो।

प्रथम हम विक्रम-सवत् के प्राचीनत्व पर विचार करेगे। आईने-अकबरी के लेखक ने तो इस संवत् का उल्लेख किया ही है, किन्तु उससे भी पहिले अवूरेहाँ ने इसका उल्लेख अपने यात्रा-विवरण मे स्पष्टरूप से किया है और इन दोनों विद्वानो ने विक्रमादित्य तथा उसकी विजय के साथ इसका सम्वन्ध बताया है। किन्तु इससे भी पूर्व अनेक शिलालेखों मे इस संवत् का प्रयोग किया गया है। विक्रमादित्य के नाम से इस संवत् का पुराना उल्लेख श्रीएकलिंगजी के शिलालेख मे संवत् १०२८ (सन् ईसवी ९७१) का प्राप्त होता है (जर्नल ऑफ बॉम्बे रॉयल एशियाटिक सोसायटी ब्रांच, भाग २२,

पृष्ठ १६६), किन्तु इससे भी पूव धौलपुर के शिलालेख म विक्रम-काल के नाम से सवत् ८९८ (सन् ८४१) में इसका उल्लेख किया गया ह—

वसुनवाष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य।
वशाखस्य सिताया रविवारयुतद्वितीयाया॥

(*Indian Antiquary*, Vol 20, p 406)

इससे पहले इस सवत् को 'मालवकाल' ग्यारसपुर के एक शिलालेख में कहा गया है—

मालवकालाच्छरदा षट्त्रिंशतसयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु।

यह सवत् ९३६ (सन् ८७९ ई०) का उल्लेख है। 'मालवेश' के नाम से भी कहा-कहा इसे लिखा गया है, और इस मालवेश पद का अथ केवल विक्रमादित्य ही हो सकता है, यह कहने की आवश्यकता नही ह। यह उल्लेख मनालगढ़ के शिलालेख में सवत् १२२६ (सन् ११७० ई०) का है—

मालवेश गतवत्सर शत द्वादशश्च षड्विंशपूवक ॥

किन्तु इसमे भी पूव इस सवत् का व्यवहार शिलालेखो में किया गया ह और वहाँ इसका नाम 'मालवगण-सवत्' ह। इस प्रकार के एक उल्लेख म मालवगणो को मालवो भी (बहुवचन) कहा ह—

पञ्चेसु शतेषु शरदा यातेष्वेकानवतिसहितेषु
मालवगणस्थितिवशात कालज्ञानाय लिखितेषु।
सवत्सरशतर्यात सपञ्चनवत्यगनसप्तभिर्मालवानाम्॥

यह सवत ७९५ (सन् ७३९ ई०) का उल्लेख ह। इससे भी पहले के उल्लेख ये ह—

मालवानागणस्थित्या यातेशतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानमृतौ सेव्यघनस्तने॥

सवत् ४९३ (सन ४३६ ई०)।

श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसज्ञिते।
एकषष्टयधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये॥

यह सवत् ४६१=सन् ४०४ ई० का उल्लेख ह। इसमे मालवगणो के साथ इसे कृत-सवत् भी कहा ह। इससे अपेक्षाकृत पुराने लेखो में इसका नाम केवल 'कृत' ही मिलता ह—

कृतेषु चतुर्षु वषशतेष्वष्टाविंशेषु फाल्गुणबहुलस्य पचदश्यामेतस्या पूर्वाया।

यह सवत् ४२८=३७२ ईसवी का उल्लेख ह,

यातेषु चतुर्ष कृतेषु सौम्येष्वसित चोत्तर पदेषु ३३ वत्सरेषु।
शुक्ले त्रयोदश दिने भुवि कार्तिकस्य मासस्य सवजनचित्तसुखावहस्य॥

इसमें सवत् ४००=सन ई० ३४३ का उल्लेख भी 'कृत' नाम से ही किया गया ह। इससे भी पूव—

कृतयोद्वयोवर्षशतयोद्वचशीतयो।

सवत् २८२=सन् २२५ के नान्दसा-स्तभ लेख मे शक्तिगुणगुरु के षष्ठिरात्रि यज्ञ का उल्लेख प्राप्त होता ह और यहाँ भी इस सवत् का नाम 'कृत ही दिया ह।

ये सभी उद्धरण फ्लीट के 'गुप्त इन्सक्रिपशन्स' नाम ग्रथ से भिन्न भिन्न विद्वान लेखको ने उद्धत किये ह। इस विवरण से यह स्पष्ट ह कि विक्रमादित्य का नाम इस सवत् के साथ नवी शती म लग चुका था, इससे पूव मालवेश कहे

जानवाले मालवगण इस संवत् के प्रवर्तक माने जाते थे। कालान्तर मे गण-राज्य पद्धति सम्वन्धी वाते सर्व साधारण की दृष्टि से लोप हो जाने पर "मालवेशानां गणाना" के स्थान मे केवल मालवेश या विक्रम ही लिखा जाने लगा। किन्तु 'मालवगण' का जव उल्लेख किया जाता था तो साथ ही यह भी कहा जाता था कि मालव-गणो की स्थिति (कायमी, Establishment of the malava-ganas) से प्रारम्भ होने वाला संवत्। इसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर इसे मालव-काल (मालव-युग, Malava Period) भी कहा गया था। किन्तु इन नामो से भी पुराना नाम कृत-सवत् है। हमारा विचार है कि इसे कृत न पढ़कर 'कृत्त' या 'कृत्य' पढ़ना अधिक उचित है। इस पर आगे लिखा जायगा।

यहाँ यह महत्त्वपूर्ण घटना भी स्मरण रखने योग्य है कि सवत् ३८६ और उसके पश्चात् इस संवत् का व्यवहार नैपाल जैसे एकान्त प्रान्त मे भी यथेष्ट होने लगा था जैसा कि डॉ. भगवानलालजी इन्द्र ने नैपाल के शिलालेखो के सम्वन्ध मे लिखते समय सिद्ध किया है। (*Indian Antiquary*, Vol XIII, pp. 424-26)

तो भी पाठकों को आश्चर्य होना संभव है कि इन प्राचीन उद्धरणो मे जहाँ विक्रम के नाम का उल्लेख नही पाया जाता वहाँ विक्रम के शकारि होने एवं शको की पराजय के सम्वन्ध मे इस संवत् के प्रारम्भ होने का सकेत भी कही नही है। किन्तु चाहे यहाँ शको का स्पष्ट उल्लेख न भी किया गया हो तो भी मालव-गण-स्थिति शब्दों का ठीक अर्थ यही है कि मालवगणो की सत्ता आरम्भ होने का संवत्। मालवो ने अपनी सत्ता किस प्रकार स्थापित की यह इतिहास से स्पष्ट होने की वात है। इस नाम से पुराना नाम 'कृत' है जिसे हम 'कृत्त' या 'कृत्य' पढना उचित समझते है। 'कृत्त' शब्द का अर्थ 'कत्ल', 'वध', या 'शत्रु का नाश' है। राजनीति मे शत्रु-वध के लिए कृत्या (स्त्रीलिग) शब्द प्राचीन ग्रंथो मे सर्वत्र व्यवहृत किया गया है, उसी का रूप 'कृत्य' और 'कृत्त' हो सकता है। जो विद्वान् इस पद को कृत्युग या सत्युग के अर्थ मे पढ़ते है, वे कदाचित् यह भूल जाते है कि युगवाचक शब्द 'कृत्' है 'कृत' नही, फिर इस भ्रम का एक परिणाम या कुपरिणाम यह होता है कि इस शब्द के आधार पर इसके संस्थापक को, अश्वमेध आदि वैदिक कृत्यों का प्रवर्तक मानकर जैनो और बौद्धों का द्रोही सिद्ध करने के लिए पुष्यमित्र को विक्रमादित्य सिद्ध करना पड़ता है। सत्य वात तो यह है कि भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास मे साम्प्रदायिक उत्पीडन अथवा धार्मिक मतभेद या दार्शनिक सिद्धान्तो की विभिन्नता के आधार पर रक्तपात की वात नितान्त अश्रुत थी। भारतवर्ष की सस्कृति इस सम्वन्ध मे अत्यन्त उच्च एवं सहिष्णु रही है। यदि यहाँ विचारों की स्वतंत्रता की रक्षा विद्वानों ने न की होती, जो एक प्रकार से उनके लिए वैयक्तिक प्रश्न भी था, तो यहाँ अनेक प्रकार के दर्शनो का प्रादुर्भाव कैसे सम्भव होता? ज्योतिषशास्त्र सम्वन्धी अनेक सिद्धान्त-ग्रंथ कैसे निर्माण हो सकते थे? तंत्रवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, कर्मवाद, ज्ञानवाद, निराकार-वाद, साकारवाद आदि अगणित वादों की सृष्टि कैसे होती? संक्षेप मे भारतवर्ष के विषय मे "नैको मुनिर्यस्य मतिर्न भिन्नः" जैसी लोकोक्ति का जन्म कदापि नही हो सकता था। साम्प्रदायिक उत्पीडन की उपस्थिति मे वौद्ध और जैन धर्म के आचार्यों और संस्थापको को पुराणो मे अवतार और महापुरुष के रूप मे उल्लिखित क्यो किया जाता? महात्मा बुद्ध को पुराणों में विष्णु का अवतार कहा है और भागवत मे ऋषभदेव का सविस्तर इतिहास लिखा गया है। फलत. विक्रम-सवत् की स्थापना भी धर्म के नाम पर किये गये रक्तपात पर करने का विचार नितान्त अ-भारतीय, भारतीय सभ्यता और सस्कृति के विरुद्ध है। पुष्यमित्र की ही वात लीजिए। कुछ वौद्ध लेखो के आधार पर, जो विदेशी बौद्धों ने राजनीतिक हेतुओं से उसी प्रकार प्रेरित होकर लिखे है, जैसे आजकल के विदेशी विद्वान् लिखते रहते है, पुष्यमित्र के विषय मे कहा जाता है कि इसने जैन और वौद्धों का दमन बडी निर्दयता से किया था एव इनके मठो को सम्पूर्ण भारतवर्ष मे जलाकर नष्ट कर डाला था। इसने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करके फिर से वैदिक युग ला दिया था, इसीलिये इस कृतयुग या कृत-सवत् की सृष्टि की गई थी। किन्तु तनिक विचारने से ही यह स्पष्ट हो सकेगा कि पुष्यमित्र के सम्वन्ध मे पुराणकारो तथा अन्य भारतीय प्राचीन विद्वानो ने कभी ऐसी धारणा नही वनाई। कम से कम उसे धर्म के रक्षक एव विधर्मियो के नष्ट करनेवाले के रूप मे भारत के विद्वत्समाज ने कभी भी उल्लिखित नही किया। वह उसे ऐसा जानते, मानते और समझते ही नही थे। इसके लिए यहाँ एक प्रमाण देना ही वस होगा। हर्षचरित के प्रसिद्ध विद्वान् लेखक गद्य के आचार्य वाण से हमारे विज्ञ पाठक परिचित है। जिस कट्टर शैव कुल में

विक्रम संवत् और उसके संस्थापक

इस सारस्वत का जन्म हुआ था वहाँ पुत्रों के नाम तक 'अच्युत' 'ईशान' 'हर' और 'पाशुपत' जैसे सम्प्रदाय-भावपूर्ण रखे जाते थे। 'कृतोपनयनादि क्रिया-कलाप' बाण के पिता चित्रभानु के एक भाई का नाम त्र्यक्ष था। महाराज हर्ष का निमंत्रण-पत्र पाकर 'कृतसन्ध्योपासन' बाण ने उसपर विचार किया था और "भगवान् पुरारातिं" में दृढ़ भक्तिपूर्वक विश्वास करके उसने हर्ष के दरबार में जाना निश्चय किया था। 'गृहीताक्षमाल' बाण 'देवदेवस्य विरूपाक्षस्य क्षीरस्नपनपुरःसरां" पूजा करके राजद्वार पर पहुँचा। कहने का अभिप्राय यह है कि बाण साम्प्रदायिक दृष्टि से कट्टरशैव था और उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह किसी जैन या बौद्ध धर्म के उत्पीडक वैदिक सम्राट् के लिए कोई निन्दापूर्ण वाक्य लिखेगा। प्रत्युत् उससे तो यही आशा है कि वह पुष्यमित्र जैसे वैदिकयज्ञ-यागों के पुनः प्रचलित करनेवाले सम्राटों का प्रशंसापूर्वक अभिनन्दन ही करेगा। यही क्या, जैन और बौद्ध विद्वानों को छोड़कर ऐसे सम्राटों की प्रशंसा तो प्रत्येक विद्वान् के द्वारा साधारणतः होनी चाहिए। किन्तु हम देखते हैं कि बाण ने ही पुष्यमित्र को अनार्य तक लिखा है और वह उसी कार्य के लिए जो उसने वैदिक धर्म के उद्धार के लिए किया था—उसने जैन या बौद्ध मौर्य महाराज बृहद्रथ को मारकर मगध का सिंहासन स्वयं हस्तगत करके ही तो, योरोपियन विद्वानों के कथनानुसार, बौद्ध धर्म का नाश एवं वैदिक धर्म का पुनरुत्थान किया था, इसी पर बाण ने लिखा है—

प्रतिज्ञादुर्बलञ्च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम्।

अभिप्राय यह है कि भारतवर्ष के ऐतिहासिक विद्वानों की दृष्टि में साम्प्रदायिक उत्पीडक नरेशों का न कभी कुछ मान था और न यह कार्य प्रतिष्ठाजनक समझा जाता था। फलतः सेनापति पुष्यमित्र (जो अग्निमित्र का पिता एवं मौर्यवंश का अन्तक था) भी न तो साम्प्रदायिक अत्याचार करनेवाला सम्राट् था और न उसका इस कार्य के लिए भारतवर्ष में कोई सार्वजनिक सम्मान प्राप्त हो सकता था, फिर नये संवत् की स्थापना का स्वागत तो इस प्रकार के रक्तपात के उपलक्ष में भारतवासी कब स्वीकार कर सकते थे।

'मालवगणस्थित्यब्द' के साथ आरम्भ से ही मालवेश विक्रमादित्य के नाम का सम्बन्ध न होने का एक कारण कदाचित् यह भी है कि मालवा की राज्य-शासन प्रणाली गण शासन पद्धति थी जो एक प्रकार की प्रजातंत्र या प्रतिनिधितंत्र की प्रणाली थी। ऐसी सामूहिक राज्य प्रणाली में किसी विशेष सार्वजनिक राज-कार्य जैसे जय-पराजय, संधिविग्रह का यश किसी एक व्यक्ति को देने में संघ में फूट पड़ने का भय बना रहता है। महाभारत, शान्तिपर्व के ८१वें अध्याय में इस फूट पड़ने के भय को लेकर, तथा संघ-शासन की कठिनताओं पर बहुत स्पष्ट रूप से भगवान् कृष्ण के द्वारा ही कहलाया गया है। उन्हीं कठिनताओं को विचार कर मालवगण की विजय के उपलक्ष्य में स्थापित संवत् के यश को संघ ही मूलतः प्राप्त कर सकता था केवल संघपति, फिर चाहे वह विक्रम हो अथवा कोई और हो, नहीं अपना सकता था। यह भी हो सकता है कि संघपति ने स्वयं फूट पड़ने की आशंका से उस यश को संघ के ही अर्पण कर दिया हो और इस प्रकार संघपति विक्रम की उदारता से वह संवत् मालव-गण-संघ के नाम से ही प्रसिद्ध किया गया हो। किन्तु शकों का पराभव एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी, इस महान् कृत्य या कृत्यों के वीर सेनापति का नाम किसी प्रकार भी नहीं भुलाया जा सकता था, अतः इतिहास ने शकों के इस कृत्य के करनेवाले (जिसे अलंकार की भाषा में युद्ध-यज्ञ का होता कहना उचित होगा) सेनापति विक्रम का नाम विशेष रूप से याद रखा, वह श्रुति और उपश्रुति तथा व्याख्यानादि के द्वारा सर्वसाधारण में क्रमानुगत प्रसिद्ध होता चला गया, और जब गण शासन सम्बन्धी बात भूल गई तो संवत् के इतिहास को स्पष्ट रखने के लिए उसके साथ सेनापति या संघपति का नाम मिला दिया गया।

किन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या वस्तुतः प्राचीनकाल में कोई विक्रम नामक व्यक्ति संवत् का संस्थापक हुआ भी था? और यदि ऐसा व्यक्ति कोई हुआ था तो कब? इसपर हमारा नम्र निवेदन है कि यदि कोई व्यक्ति हुआ ही नहीं था तो फिर यह नाम आ कहाँ से गया? विक्रम को स्पष्टरूप से 'शकारि' कहा जाता है, जिसका अर्थ यही है कि संवत्कार विक्रम ने शकों का घोर पराभव किया था। मालवगण ने किस व्यक्ति की अधिनायकता में शकों का यह सर्वनाश किया था, अन्ततः कोई व्यक्ति तो उनका मुख्य नायक या सेनापति रहा होगा। बिना सेनापति के युद्ध चलही किस प्रकार सकता था। बस जो भी व्यक्ति शकों के विरुद्ध अभियान करने में मालवगण-राष्ट्र का अधिनायक था, वही विक्रम था।

किन्तु प्राचीन लेखों में भी विक्रम-सवत्कार के नाम का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। वृहत्कथामञ्जरी मे इस विक्रम की दिग्विजय का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

ततो विजित्य समरे कलिंगनृपतिं विभुः।
राजा श्रीविक्रमादित्यः स्त्रींप्रायः विजयश्रियस्।
अथ श्री विक्रमादित्यो हेलया निर्जिताखिलः।
म्लेच्छान् काम्बोजयवनान् नीचान् हूणान् सबर्बरान्।
तुषारान् पारसीकांश्च त्यक्ताचारान् विश्रृंखलान्।
हत्वाभ्रूभंगमात्रेण भुवो भारमवारयत्।
तं प्राह भगवान् विष्णुस्त्वं ममांशो महीपते।
जातोसि विक्रमादित्य पुरा म्लेच्छशशांकतः।

यहाँ विक्रमादित्य को इसकी शूरवीरता के कारण विष्णु का अंशावतार तक कहा गया है।

वृहत्कथामञ्जरी का मूल आधार गुणाढच का पैशाची भाषा का ग्रंथ वृहत्कथा रहा था। गुणाढच प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन के आश्रित और समकालीन थे—

ततः स मर्त्यवपुषा माल्यवान् विचरन् वने।
नाम्ना गुणाढचः सेवित्वा सातवाहनभूपतिम्॥ कथासरित्सागर।

इसका अर्थ यह है कि गुणाढच विक्रम-संवत् के थोड़े समय पश्चात् ही हुए थे, इसीलिए कथासरित्सागर के सम्पादक विद्वद्वर श्री दुर्गाप्रसाद शास्त्री ने इस विद्वान् का समय ७८ ई० के आसपास स्वीकार किया है। इसी गुणाढच के पैशाची भाषा के मूलग्रंथ वृहत्कथा को लेकर सस्कृत मे दो ग्रंथ लिखे गये थे–(१) बृहत्कथामञ्जरी, और (२) कथासरित्सागर। कथासरित्सागर से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य के अनुकरण पर आध्र सम्राट् कुन्तल सातकर्णि ने भी दिग्विजय की एवं उसी के अनुकरण पर अपना विरुद विक्रम रखकर शालिवाहन का प्रसिद्ध शक-संवत् चलाया था। अपने नाम की पृथक्ता प्रकट करने के लिए उसने अपने विरुद के साथ विषमशील (क्रोधी या असहिष्णु) और जोड़ा था। यह शालिवाहन १६वे आंध्र नरेश महेन्द्र-मृगेन्द्र सातकर्णि का पुत्र था जिसे भागवत मे शिवस्वस्ति एवं ब्रह्माण्ड पुराण मे मृगेन्द्र स्वातिकर्ण लिखा है। पार्जिटर की सूची मे इसे १२वी सख्या पर उल्लिखित किया है और यूनानियो द्वारा इसका नाम माम्बरस सरगनस (Mambaras Saraganas Senior) लिखा गया है। कुन्तल सातकर्णि भागवत का गौतमीपुत्र पार्जीटर की सूची मे १३वाँ आंध्र नरेश है, किन्तु पुराणो की सूची मे इसका क्रम १७वाँ है और यूनानियों नें इसे युवक सरगनस (Junior Saraganas) लिखा है। शालिवाहन शकाब्द का संस्थापक यही कन्तल सातकर्णि है जिसके विषय मे कथासरित्सागर में लिखा है:—

नाम्ना तं विक्रमादित्यं हरोक्तेनाकरोत्पिता।
तथा विषमशीलं च महेन्द्रादित्यभूपतिः॥

इसके पिता ने शिव के कहने से इस पुत्र का नाम विक्रम भी रखा था। इसने—

सापरान्तच्छदेवेन निर्जितो दक्षिणापथः।
मध्यदेशः ससौराष्ट्रः सवंगांगा च पूर्वदिक्।
सकश्मीरा च कौवेरी काष्ठा च करदीकृता।
तानि तान्यपि च दुर्गाणि द्वीपानि विजितानि च।
म्लेच्छसंघाश्च निहिताः शेषाश्च स्थापितावशे।
ते ते विक्रमशक्तेश्च प्रविष्टाः कटके नृपाः।

विक्रम-सवत् ओर उसके सस्थापक

दिग्विजय के पश्चात् राजधानी को लौटने पर सम्राट् कुन्तल सातकर्णि विषमशील विक्रमादित्य का जिस प्रकार स्वागत किया गया था, उसका भी कुछ वणन देखिए—

जय विजितसकलपार्थिव विनत शिरोधारि तात गुर्वात।
जय विषमशील विक्रमवारिनिधे विक्रमादित्य।
जय जय तेज साधितभूतगणम्लेच्छविपिनदावाग्ने।
जय देव सप्तसागरसीव्यमहीमानिनीनाथ।

इस शालिवाहन शकाब्द के सस्थापक के विषय म यह ऐतिहासिक तत्त्व सदव स्मरण रखने योग्य है कि इस महान् विजता ने भी विक्रम-सवत् के सस्थापक की नाइ शका का पराभव किया था और उसी की स्मृति में यह शकाब्द भी विक्रमाब्द से १३५ वष पश्चात चलाया गया था। इसके शका स युद्ध करने का वृत्तान्त जन ग्रथा से जिस प्रकार ज्ञात होता ह उसे यहा विस्तार में न देकर उस सम्ब ध के मूलवाक्यो को ही उद्धृत किया जाता है—

भरुकच्छपुरेऽत्रासीद नृपतिनरवाहन ।
ससमृद्धात्मकोषस्य श्रीमदप्यवमन्यते ॥१॥
इत प्रतिष्ठानपुरे पार्थिव शालिवाहन ।
बलेनापि समृद्ध स रुरोध नरवाहनम् ॥२॥
आनयत्परिशीर्षाणि यस्तस्याऽऽदा महाधिक ।
लक्ष विलक्ष तत्तस्य नित्य घ्नन्ति तदभटा ॥३॥
हा तस्यापि भटा केप्यानियु सोदात्रकिञ्चन।
सोऽथ क्षीणजनो नष्ट्वा पुनरेति समान्तरे ॥४॥
पुनर्नष्ट्वा तथवेति नाभूद् तद्ग्रहणक्षम ।
अथके मायया हाल सचिवो निरवास्यत ॥५॥
स परम्परयात्रासीद भरुकच्छनराधिप ।
अपास्तोऽल्पापराधोऽपि निजामात्यस्तत कृत ॥६॥
नात्वा विश्वस्त सोऽवक्त राज्य प्रायेण लभ्यते।
तदन्यस्य भवस्यार्थे पाथेय कुरु पार्थिव ॥७॥
धमस्थानविधानाद्यद्रव्यप्रायाय तत्तत ।
आगा मन्त्रिगिरा हाल पार्थिवोऽथाह मन्त्रिण ॥८॥
मिलितोऽसि किमस्य त्व सोऽवदन्नमिलाम्यहम्।
अथान्त पुरभूषादि द्रविणस्त तदाक्षिपत ॥९॥
हालेऽथ पुनरायाते निद्रव्यत्वान्ननाश स ।
नगर जगृहे हाल्ने द्रव्यप्रणधिरेषिका ॥१०॥

ये श्लोक जिनमें शक नरेश नरवाहन या नहपान की पराजय का वृत्तान्त दिया ह श्वेताम्बर जन सम्प्रदाय के आवश्यक सूत्र के उत्तराद्ध की १३०८वी गाथा के भाष्य में भद्रबाहु ने निर्युक्ति भाष्य में लिखे ह जिस पर हरिभद्रसूरि की वृत्ति भी ह।

शका को हराकर विक्रम या विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने की प्रथा ही, जान पडता है, भारतवष में पड गई थी, इसीसे विक्रमादित्य के शकारि नाम होने का भी विशेष महत्त्व प्रतीत होता है। ऊपर किस प्रकार शालिवाहन ने शको को परास्त करके विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की यह प्रमाणित किया गया ह। इसके पश्चात् इतिहास मे गुप्तवश के सस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम ने इस उपाधि को ग्रहण किया था ऐसी सम्भावना अनेक ऐतिहासिक विद्वान करते ह, किन्तु स्मिथ

इसे विश्वसनीय स्वीकार नही करते (*The Early History of India*, p. 347)। चन्द्रगुप्त प्रथम के उपलब्ध सिक्को से भी उसके विक्रम-पद ग्रहण करने की घटना सिद्ध नही होती। उसने शकों पर कोई विजय भी प्राप्त नही की थी। उसके पश्चात् समुद्रगुप्त महान् के पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य का पद ग्रहण किया था। एक प्रकार के उसके सिक्कों पर लिखा मिलता है "श्रीविक्रमः" और इस लेख के बाईं ओर लक्ष्मी की बैठी मूर्ति है; दूसरी ओर इस सोने के सिक्के के "देवश्री-महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्तः" अंकित है। एक और प्रकार के सिक्कों पर एक ओर "देवश्री-श्रीचन्द्रगुप्तस्य विक्रमादित्यस्य" भी लिखा पाया जाता है। चन्द्रगुप्त के एक प्रकार के सिक्के अग्निकुण्ड के सामने खड़े हुए राजा की मूर्तिवाले है, जिनके दूसरी ओर पद्म पर खड़ी लक्ष्मी की मूर्ति है। इस मूर्ति के दाहिनी ओर "विक्रमादित्यः" लिखा है। ऐसे प्रकार के सिक्कों मे से कुछ पर तो––

"क्षितिमवजित्यसुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः।"

उपगीति छन्द भी लिखा पाया जाता है। इससे भी अधिक सिंह को मारते हुए राजा के भी चन्द्रगुप्त के कुछ सिक्के है जिन पर एक ओर सिंह पर बैठी अम्बिका देवी की मूर्ति है, और दूसरी ओर तीरकमान से-सिंह को मारते हुए राजा की मूर्ति। राजमूर्ति की ओर वंशस्थ छन्द मे राजा को 'भुविसिंह-विक्रम' लिखा है––

"नरेन्द्रचन्द्रप्रथित (गुण) दिवं जयत्यजेयो भुविसिंहविक्रमः।"

और दूसरी ओर "सिंहविक्रमः" ही लिखा है। एक प्रकार के सिक्कों पर राजा की उपाधि "श्रीसिंह-विक्रमः" है, और एक और प्रकार के सिक्को पर "अजित-विक्रमः"। इस प्रकार की कोई साक्षी चन्द्रगुप्त प्रथम के सम्बन्ध मे प्राप्त नही होती। इसलिए यही कहना पडता है कि प्रथम चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध मे विक्रमादित्य-पदवी ग्रहण करने की कल्पना ऐतिहासिक आधार से रहित है, और द्वितीय चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध मे निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उसने यह पद धारण किया था। किन्तु उसने शको को भी पराजित किया था तबही उसने यह पद ग्रहण किया था। स्मिथ ने अपने इतिहास के पृष्ठ ३०७ पर लिखा है––

"The greatest military achievement of Chandrgupta Vikramaditya was his advance to the Arabian Sea through Malwa and Gujrat and his subjugation of the peninsula of Surashtra or Kathiawar, which had been ruled for centuries by the Saka dynasty, of foreign origin, known to European scholars as the Western Sataraps."

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी कुमारगुप्त प्रथम था और इसके शासनकाल मे हूण लोगों के आक्रमण फिर भारत पर होने लगे थे। भारतवर्ष के इतिहास मे इनको भी शकों के साथ गिना गया है और कुमारगुप्त ने अवश्य इन्हें मारकर भगाया था, तब ही उसने भी "विक्रम" पद ग्रहण किया था, क्योंकि उसके कुछ सिक्कों पर वंशस्थ छन्द मे "कुमारगुप्तो युधि सिंहविक्रमः" लिखा पाया जाता है। कुछ सिक्कों पर तो "कुमारगुप्तो युधिसिंह विक्रमः" ही लिखा है। एक प्रकार के सिक्कों पर "श्रीमान् व्याघ्रबलपराक्रमः" भी लिखा है। किन्तु इसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने तो इन हूणों को बड़ी करारी पराजय दी थी जिसके कारण बहुत समय तक इन्होंने भारत की ओर मुह नही किया था और इसीलिए स्कन्दगुप्त ने भी विक्रमादित्य की पदवी स्वीकार की थी (स्मिथ का इतिहास पृष्ठ ३२६)। "महाराजाधिराज प्रथम कुमारगुप्त की मृत्यु के उपरान्त उनका बड़ा बेटा स्कन्दगुप्त सिंहासन पर बैठा। स्कन्दगुप्त ने युवराज रहने की अवस्था मे पुष्यमित्र और हूण लोगों को परास्त करके, अपने पिता के राज्य की रक्षा की थी। कहा जाता है कि युवराज भट्टारक स्कन्दगुप्त ने अपने पितृकुल की विचलित राजलक्ष्मी को स्थिर रखने के लिए तीन रातें भूमि पर सोकर बिताई थी" (बाँगलार इतिहास प्रथम भाग, पृष्ठ ६२–३)। इस महान् वीर सम्राट् के एक प्रकार के सिक्को पर एक ओर "जयति दिवं श्रीक्रमादित्य" और दूसरी ओर "क्रमादित्य" लिखा है। स्कन्दगुप्त के मालवावाले सिक्कों मे उसे स्पष्ट ही "परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीस्कन्दगुप्त-विक्रमादित्यः" पढ़ा जाता है। उसके ऐसे ही एक प्रकार के चाँदी के सिक्कों पर भी "परमभागवतश्रीविक्रमादित्यस्कन्द-

विक्रम सवत् और उसके सस्थापक

गुप्त" तथा अन्य प्रकार के सिक्को पर भी यही लेख उपलब्ध होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शक, हूण आदि म्लेच्छ जातियो को परास्त करने के उपलक्ष मे विक्रमादित्य का पद भारतवर्ष के राजा स्वीकार करते थे और विक्रमादित्य का शकारि नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजनीतिक भाषा मे यो कहना उचित होगा कि विदेशी विजेताओ से स्वदेश की दासता का जुआ हटानेवाले महापुरुष ही विक्रम नाम से प्रसिद्ध होते थे एव वे अपने नाम से सवत भी चला देते थे, और विक्रमाब्द भी, शकाब्द के समान भारतवर्ष मे से एक विदेशी सत्ता को नष्ट करके उस स्वतत्र बनाने की स्मृति का सवत् है। यह एक राष्ट्रीय सवत् है, साम्प्रदायिक नही, तभी इसकी रक्षा वैदिक और अवैदिक सब प्रकार के साहित्य मे की गई है।

किन्तु हमको यहाँ वह तक भी देखना उचित है जिसके आधार पर योरोपियन विद्वान विक्रम नाम के किसी व्यक्ति के अस्तित्व को भी नही मानते तथा यह भी कहते है कि जिस समय से आजकल इसकी गणना की जाती है उससे कई सौ वर्ष पश्चात् गणना करने के ज्योतिष सम्बन्धी कार्यों के लिए इस सवत् की स्थापना की गई थी।

आरम्भ में ही हम यह स्मरण करा देना उचित समझते हैं कि ज्योतिष सम्बन्धी कार्यों के लिए करण ग्रथो में सामान्यत और प्राय सवत्र शकाब्द का प्रयोग किया गया है क्योकि वह वर्ष चैत्र से सवत्र आरम्भ होता है, विक्रम-वर्ष का उपयोग ज्योतिष के करण ग्रथो में नही के बराबर है, अत यह युक्ति नितान्त निबल है। तो भी डॉ० फर्गुसन ने सब प्रथम कहा था कि इस सवत की स्थापना सन ५४४ ई० में हुई थी और तब पीछे गणना करके इसका आरम्भ ५७ ई० पू० मे माना गया था। स्मिथ का मत ऊपर दिया है। डॉ० वीवर और होल्ट्जमन का मत भी फर्गुसन से मिलता है। किन्तु डॉक्टर पिटसन और डॉक्टर ब्युहलर सवतकार विक्रम-पदधारी व्यक्ति का अस्तित्व ईसा के ५७ ई० पू० मे ही स्वीकार करते थे फिर चाहे उस व्यक्ति का नाम कुछ भी रहा हो।

ऐसा जान पडता है कि ग्रेगरी के सशोधित पञ्चाग (Calendar) का इतिहास योरोप के फर्ग्युसन और उनका अनुकरण करनेवाले विद्वानो की दृष्टि मे था। वर्तमान ईसवी सवत् का मूल जूलियस सीजर का स्थापित और सशोधित पञ्चाग था, और जूलियस सीजर ने स्वय रोमन सवत् मे सशोधन करके अपना सवत् चलाया था। रोमन सवत का आरम्भ रोमन अनुश्रुतियो के अनुसार रोम के प्रथम शासक नूमा के समय से माना जाता था और वह ३५५ दिन का गिना जाता था जो एक प्रकार से चान्द्रवर्ष की मोटी गणनामात्र थी, क्योकि चान्द्रवर्ष का मान ३५४ दिन ८ घण्टे ४८ मिनट ३६ सेकिण्ड होता है। इस हिसाब से रोमन सवत मे प्रति वर्ष सौरवर्ष से १० और ११ दिन के मध्यवर्ती अन्तर पडता था। उधर रोम के पुरोहित और ऋत्विजो को अपने धार्मिक और राष्ट्रीय कृत्य ऋतुओ की समानता का ध्यान रखकर भी कराने पडते थे, और वे इसी हेतु से कभी कभी फरवरी मास की २३ तारीख के पश्चात् २७ दिन का एक अधिक मास गिनकर वर्ष मे १३ मास गिन लेते थे, और अपने चान्द्र वर्ष को स्थूल रूप से सौर वर्ष के निकट ले आते थे। किन्तु इस विधि से चान्द्र और सौर वर्षों का पारस्परिक अन्तर कभी भी पूर्णतया दूर नही होता था तथा जूलियस सीजर के समय में यह अन्तर ९० दिन का हो गया था, अर्थात जो घटना २५ जुलाई को घटी गिनी जाती थी, वस्तुत वह २५ अप्रैल की घटना होती थी। कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त अन्तर के कारण २५ अप्रैल को २५ जुलाई गिना और समझा जाता था। यह अन्तर बहुत अधिक था, और ऋतुओ के आधार पर मनाये जानेवाले रोमन लोगो के उत्सवो मे बडी विच्छृखलता उत्पन्न हो गई थी—वसन्त के पर्व और उत्सव शीतऋतु में पडने लगे थे। सीजर ने अपने समय के सर्वोत्तम गणितज्ञ ज्योतिषियो से सम्मति ली और २३ फरवरी के पश्चात् २३ दिन का एक मास तथा ६७ दिन का एक और महीना इस प्रकार ९० दिन के दो अधिक मास गिनकर सीजर ने जुलाई ईसवी सन् से पूर्व ४६ वर्ष मे रोमन सवत् का सशोधन किया। ६७ दिन का महीना नवम्बर के अन्त में और दिसम्बर आरम्भ होने से पूर्व बढाया गया था, और इस प्रकार उस वर्ष में दिसम्बर जो दसवा मास गिना जाता था १२वा मास गिना गया और आगे से वर्ष का आरम्भ भी प्रथम जनवरी से गिना जाने लगा, किन्तु इससे पूर्व वर्ष का आरम्भ १ मार्च से होता था। इस प्रकार ४६ ई० पू० का वर्ष ४४५ दिन का एव 'अधाधुन्धी' का वर्ष समाप्त हो जाने पर ४५ ई० पू० की प्रथम जनवरी से रोमन सवत् की गणना सौर मास से होने लगी। किन्तु केवल इस सशोधन से ही रोमन सवत् की गणना ज्योतिष या ऋतुचक्र की दृष्टि से बिल्कुल ठीक नही हो गई थी। सीजर ने अपने प्रचलित वर्ष को ३६५¼ दिन

का नियत किया था; और इस प्रकार प्रति चतुर्थ वर्ष मे फरवरी मे २९ दिन गिनकर इस ¼ की गणना को पूर्ण किये जाने का नियम उसने बनाया था। किन्तु वास्तविक गणना से इस मान मे कुछ मिनट अधिक गिने जाते थे, लगभग ११ मिनट १० सेकिण्ड। सन् १५८२ ईसवी (सवत् १६३९ विक्रम) मे पोप ग्रेगरी ने इस भूल का सशोधन भी किया और वर्ष का मान ३६५ दिन ५ घण्टा ४९ मिनट १२ सेकिण्ड निश्चय करके उस वर्ष की गणना मे ११ दिन कम कर दिये, १२ सितम्बर के स्थान मे ११ सितम्बर के पश्चात् एकदम २३ सितम्बर गिना गया। इस सुधरे हुए मान के संवत् को ईसवी सन् माना गया और इसी के आधार पर गणना करके ईसाई धर्म की पिछली घटनाओं का क्रम स्थापित किया गया एव ईसाई सवत् का आरम्भकाल निश्चय किया गया। इस प्रकार जो ईसाई संवत् का आरम्भकाल निश्चित किया गया था वह एक प्रकार से महात्मा ईसा का जन्मकाल भी था, किन्तु यह निश्चय किया हुआ जन्मकाल वास्तविक जन्मकाल से ४ वर्ष पीछे है। अस्तु। इस ईसाई सवत् को पोप ग्रेगरी ने सवत् १६३९ मे गणना करके पीछे की डेढ सहस्र वर्ष की घटनाओं का निर्धारण भी इसीके आधार पर किया था और इस तरह पाठको की दृष्टि मे यह बात बैठती है कि ग्रेगरी के संवत् का आरम्भ ईसवी सन् के आरम्भ से होता है, अतः ग्रेगरी का समय या जन्मकाल भी ईसा की प्रथम शती मे ही होना चाहिए। किन्तु यह बात वास्तविकता से दूर है, तोभी यह ऐतिहासिक सत्य है कि उसने लगभग डेढ सहस्र से भी अधिक वर्ष पीछे अपने सवत् की स्थापना करके (जिसे सवत् की स्थापना न कहकर पञ्चाग का संशोधन कहना ही अधिक उचित है) पिछली घटनावली को भी उसी के आधार पर गिना और उसका समय निर्धारण किया। फर्ग्युसन और फ्लीट आदि योरोपियन विद्वान् ग्रेगरी के पञ्चांगसशोधन की समानता को ध्यान मे रखकर उसी मानदण्ड से विक्रम-संवत् के विषय मे भी यह तर्क लगाते है कि ५०० या ७०० वर्ष पीछे इस सवत् की स्थापना करके इसीके आधार पर पिछली घटनावली को अंकित किया गया होगा एव इस सवत् को भी, इसी कारण से कि ५७ ई० पू० तक की घटनाएँ इसके आधार पर गणित की गई थी, तभी से आरम्भ हुआ स्वीकार कर लिया गया होगा।

किन्तु वस्तुतः यह तर्क नितान्त निराधार और हेत्वाभास मात्र है। प्रथम तो ग्रेगरी और जूलियस सीजर के सम्मुख एक सवत् पहले से वर्तमान था जिसका उक्त दोनो सुधारकों ने संशोधन मात्र किया था; फिर उनका सशोधन भी केवल पञ्चांग का संशोधन था, संवत् के वास्तव आरम्भकाल के विषय मे उन्होने कुछ भी निर्णय नही किया था। यहाँ विक्रम-सवत् के सम्बन्ध मे यह कहना नितान्त असत्य है कि इस के पञ्चांग का संशोधन किसी चन्द्रगुप्त आदि गुप्त नरेश या हर्ष यशोधर्मन् आदि सम्राट् ने किया था। पञ्चागसशोधन को बतलानेवाली कोई भी अनुश्रुति इस सवत् के साथ उक्त सम्राटो के सम्बन्ध मे भारतीय इतिहास को ज्ञात नही है, वह बिलकुल अश्रुतपूर्व है। यदि पञ्चागसशोधन किया गया हो तो उसके विषय मे दो कल्पनाओ मे से कोई एक स्वीकार करनी होगी, अर्थात् (१) विक्रम-सवत् किसी अशुद्ध पञ्चांग के साथ पहले से प्रचलित था जिसमे अशुद्धि इतनी अधिक बढ गई थी कि रोमन पञ्चाग की भाँति पर्वो और उत्सवो का ऋतु-विपर्यय भी होने लगा था, उसीको दूर करने के लिए यह प्रयास किया गया था। इस तर्क मे हम विक्रम-सवत् और उसके अशुद्ध पञ्चाग की सत्ता पहले से ही स्वीकार कर लेते है, किन्तु इस सवत् के अशुद्ध पञ्चाग का तो कोई भी इतिहास उपलब्ध नही होता, अत. यह कल्पना विद्वत्समाज मे स्वीकार कदापि नही की जा सकती (२) दूसरी कल्पना यह हो सकती है कि सवत् की स्थापना-मात्र उनका कार्य था, और उसी समय जब (चन्द्रगुप्त आदि जिस किसी के द्वारा भी यह स्थापित किया गया था) इसके सस्थापक ने इसे आरम्भ किया था वर्तमान प्रचलित पञ्चाग के साथ इसे प्रारम्भ किया था। किन्तु इसमे प्रश्न यह उठता है कि प्रारम्भ करनेवाले इन सम्राटो को इसकी क्या आवश्यकता पड़ी थी कि वे इस सवत् को चलाकर भी इसका श्रेय किसी कल्पित व्यक्ति को देने के लिए व्यग्र थे? उन्होने किस आधार पर, किसके अनुकरण पर शकारि विक्रमादित्य का नाम इसके साथ जोडा? मालवा, मालव-गण आदि से इसका सम्बन्ध क्यो मिलाया? इसी प्रकार के और भी अनेक तर्क इस विषय मे उपस्थित होगे। वस्तुतः जब डॉक्टर ब्यूहलर और डॉक्टर कीलहार्न ने यह सिद्ध कर दिया है, एवं ऐसे शिलालेख आदि प्राचीन लिखित प्रमाण भी उपलब्ध हो चुके है, जिनका उल्लेख इस निबन्ध के आरम्भ मे ही किया गया है, कि यह सवत् ५४४ ईसवी से बहुत पहिले से व्यवहार मे आ रहा था, तो इस तर्क का मूल्य कुछ भी नही रह जाता।

स संवत् का उल्लेख भारतवर्ष के राष्ट्रीय साहित्य मे, चाहे वह जैन हो या अजैन, बौद्ध हो या अबौद्ध, वैदिक हो या अवैदिक, सर्वरूपेण राष्ट्रीय ढंग से किया गया है। इसे राष्ट्र को अत्याचारपूर्ण विदेशी शासन से स्वतत्रता प्राप्त होने की

विक्रम-संवत् और उसके संस्थापक

तिथि माना जाता रहा है। यह किसी भारतीय नरेश के साम्प्रदायिक उत्पीडन का इतिहास नहीं है, किन्तु उस स्वतन्त्रता के युद्ध का इतिहास इसमें अनुप्राणित है जिसके लिए संसारभर के सभ्य राष्ट्र सदैव व्याकुल रहते हैं, जिसका समादर हमारी संस्कृति में सर्वोपरि है, एवं जिसे स्मरण करके हम आज भी स्वतन्त्रता प्राप्त करने की आशा करते हुए जीवित हैं। भारतवासी इस स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्राचीन तिथि को किसी प्रकार भी भुला नहीं सकते। उस तिथि को, जिसके संस्थापक ने अपना सर्वस्व, अपना अस्तित्व, अपना व्यक्तित्व, अपना निजी नाम और गोत्र उसके ऊपर निछावर कर दिया, किसी प्रकार भी नहीं भुलाया जा सकता, भले ही ये पाश्चात्य विद्वान् कितने ही तर्काभास इसके विरुद्ध उपस्थित करें।

एक बात और, कुछ विद्वान् नहपान (नरवाहन) को इस संवत् का प्रवर्तक मानते हैं। ऐसे विद्वानों में श्री राखालदास बनर्जी मुख्य हैं। डॉक्टर फ्लीट महोदय की सम्मति में कनिष्क ने इसका आरम्भ किया था और सर जान मार्शल तथा रप्सन के मत में अजेस या अय नामक सम्राट ने इसे चलाया था। इन सबके उत्तर में हमें एक ही बात कहनी है और वह यह कि ये सब सम्राट् शक अर्थात् विदेशी थे। यदि इन्होंने कोई संवत् भारतवर्ष में चलाया होगा (या चलाया होता) तो वह भारतवर्ष की गुलामी के आरम्भ का संवत् हो सकता था। कौन बुद्धिमान् ऐसा है जो यह स्वीकार करेगा कि बौद्धिक और आत्मिक ज्ञान में भारतवर्ष जैसा समृद्ध देश अपनी गुलामी की तिथि को, सार्वजनिक रूप से, सदा के लिए, स्वीकार कर सका होगा। फिर इन सभी विद्वानों के मत सर्वसम्मत या निर्भ्रान्त भी नहीं हैं और गणना से वे शकाब्द के अधिक निकट आते हैं, किन्तु शकाब्द के निर्णय का प्रश्न यहाँ नहीं उठाया जा सकता। यह स्वीकार किया जा सकता है, (और ऐसा उचित भी है) कि इन सम्राटों ने अपने स्वतन्त्र संवत् लगभग उसी समय में चलाये हों जब उन्होंने उनकी गणना आरम्भ की थी, किन्तु उपरोक्त हेतु के कारण उनके संवत् का अस्तित्व तो उन्हीं के वंश की सत्ता के साथ-साथ समाप्त हो जाना स्वाभाविक और अनिवार्य था। राष्ट्र उनके संवतों को अपनी संस्कृति में किसी प्रकार भी स्थान नहीं दे सकता था। प्राच्यविद्यामहार्णव स्वर्गीय श्री काशीप्रसादजी जायसवाल ने विक्रमादित्य का व्यक्तित्व गौतमीपुत्र शातकर्णि में स्वीकार किया है और उनका मत श्री हरितकृष्णदेव को भी मान्य है। किन्तु इस आन्ध्र-सम्राट् की शक-विजय का तो दूसरा शकाब्द भारत में प्रचलित है। उनका ऐसा परिणाम किसी ऐतिहासिक गणना की भूल के आधार पर भी हो सकता है। कुछ भी हो, इस प्रश्न का निर्णय विक्रमादित्य के व्यक्ति के साथ ही किया जा सकता है।

योरोपियन विद्वानों में डॉक्टर स्टेन कोनो के विचार सबसे अधिक स्पष्ट और पुष्ट हैं जिन्होंने इस संवत् का प्रवर्तक उज्जयिनी के महाराज सम्राट् विक्रमादित्य को स्वीकार और सिद्ध किया है। यही बात निम्नलिखित प्राचीन जैन गाथा में भी कही गई है—

कालान्तरेण केणइ उप्पाडिट्ठा सगाण तंवसम्।
जावो मालवराया णामेण विक्कमाइच्चो ॥६५॥
तथा
नियवो संवच्छरो जेण ॥६८॥ (कालकाचार्यकथानक)

गुर्जर देश भूपावली में भी इस सम्राट् के सम्बन्ध में कुछ श्लोक दिये हैं जिन्हें यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है —

वीरमोक्षाच्च सत्पृत्यायुते वर्षचतु गते।
व्यतीते विक्रमादित्य उज्जयिन्यामभूदिति ॥१२॥
सत्वसिद्धाग्निवेताल प्रमुखानेकदैवत।
विद्यासिद्धो मंत्रसिद्ध सिद्धसौवर्णपुरुष ॥१३॥
धर्मादिगुणविख्यात स्थाने स्थाने नरापर।
परीक्षाकषपाषाण निघृष्ट सत्वकञ्चन ॥१४॥
स सम्मान श्रिया दान नराणामखिलामिलाम्।
कृत्वासंवत्सराणा स आसीत् कर्ता महीतले ॥१५॥
षडशीतिमित राज्य वर्षाणातस्य भूपते।
विक्रमादित्यपुत्रस्य ततो राज्य प्रवर्तितम् ॥१६॥
पञ्चत्रिंशयुते भूपवत्सराणां शते गते।
शालिवाहन नृपोऽभद्वत्सरे शककारक ॥१७॥

विक्रमकालीन कला

श्री डॉ० मोतीचन्द्र एम्. ए., पी-एच. डी.

भारतीय इतिहास के दो चार अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्नो मे एक प्रश्न विक्रम-संवत् की ई० प० पहली शताब्दी में स्थापना भी है। एक पक्ष प्रथम शताब्दी ई० पू० मे विक्रम के ऐतिहासिक अस्तित्व को स्वीकार करता है तो दूसरा पक्ष चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही भारतीय इतिहास तथा अनुश्रुति का विक्रम मानता है। विक्रम-संवत् पहले मालवा तथा उसके आसपास के देशों मे मालव तथा कृत-सवत् के नाम से ख्यात था, इस प्रश्न को लेकर भी ऐतिहासिको मे काफी चर्चा रही है। विक्रम-संवत् का जटिल प्रश्न तब तक उनकी चर्चा की एक विशेष सामग्री रहेगा जब तक कोई ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नही होता जिससे नि:सन्दिग्ध भाव से एक शकोच्छेदक विक्रम की ऐतिहासिक स्थापना प्रथम शताब्दी ई० पू० मे हो सके। विक्रम-संवत् का प्रश्न कितना भी जटिल क्यों न हो, एक बात तो जैन अनुश्रुतियों के आधार पर कही ही जा सकती है कि विक्रम की प्रथम शताब्दी ई० पू० मे ऐतिहासिक स्थिति वास्तविक है। ये विक्रम कौन थे इस विवादग्रस्त प्रश्न पर इस छोटेसे लेख मे विचार करना सम्भव नही। हमें तो इस लेख मे केवल यही दिखलाना है कि विक्रमकाल मे भारतीय कला की कितनी उन्नति हुई।

विक्रम के ऐतिहासिक रूप को अगर हम थोड़ी देर के लिए अलग रखकर केवल विक्रम के शाब्दिक अर्थ पर विचार करे तो पता चलता है कि वैदिककाल मे विक्रम शब्द का प्रयोग आगे बढ़ने के अर्थ मे हुआ है तथा बाद मे यही शौर्य तथा बल का द्योतक हो जाता है। विक्रम के इन शाब्दिक अर्थों से यही बोध होता है कि विक्रम-युग भारतीय इतिहास मे उस युग को कहते थे जिसमे सभ्यता के धीमे पडते हुए स्रोत मे एक ऐसी बाढ़ आवे जिससे युग-युगान्तर से जमी हुई कीच-काई बहकर आप्लावित भूमि पर नई मिट्टी की एक ऐसी तह जम जावे जिसमे पैदा हुई अपार आत्मिक अन्नराशि मानव वर्ग का मानसिक पोषण कर सके तथा जिसमे उत्पन्न हुए रंग-बिरंगे सुगन्धित सांस्कृतिक पुष्प अपनी सुरभि से दिशाओ को भर दे। विक्रम-युग मे एक ऐसे पुरुषश्रेष्ठ राजा का जन्म होता है जो अपनी भुजाओं के बल से विदेशी सत्ता को उखाड़ फेकता है तथा उस सार्वभौम राज्य की स्थापना करता है, जिसका उद्देश्य प्रजापालन, व्यापारवृद्धि, कला की उन्नति इत्यादि होता है। वैदिक तथा पौराणिक युग मे जिन उद्देश्यो को लेकर चक्रवर्ती सम्राटों की कल्पना की गई है विक्रम-युग भी करीब-करीब

उन्ही भावनाओ का प्रतीक है। जिस प्रकार चक्रवर्तियो के रथो के अप्रतिहत पहिये देश के एक कोने से दूसरे कोने तक घूम सकते थे उसी प्रकार विक्रम-युग के राजाओ के रथो के पहिये भी। पर विक्रम-युग की एक और विशेषता थी। सास्कृतिक उत्तेजना से लोकाराधन तथा लोककल्याण की भावनाओ को इस युग मे इतना अधिक प्रोत्साहन मिलता है जिससे मनुष्य की अन्तर-चेतनाओ के तार समस्वर होकर बजने लगते है, जिससे भावनाओ के सागर मे प्रबल तरगे उठने लगती है जिनमें डूबकर कला और साहित्य एक नए रग मे रँगकर एक नई अनुभूति से आलोडित होकर हमारे सामने आते है। इस दृष्टिकोण से विक्रम-युग केवल राजनीतिक उथल-पुथल से स्वराज्य की पुण्यमयी भावना को ही हमारे सामने नही रखता, उसका उद्देश्य तो हम सबमे उस मानसिक स्फूर्ति का प्रजनन है जो सब साहित्य और कलाओ की जननी है। प्रथम शताब्दी ई० पू० में साहित्य-क्षेत्र का विशेष उथल पुथल का तो हमे ज्ञान नही है पर कला के क्षेत्र मे तो एक नवीन धारा बही जिसके प्रतीक-स्वरूप आज भी साची के तोरण तथा नासिक और कारले की बौद्ध लेण गडी है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के युग ने कवि सम्राट् कालिदास को हमारे सामने रक्खा तथा कला में उस रस की धारा बहाई जिससे गुप्त कला अमर हो गई। यह इसी युग की प्रेरणात्मक शक्ति का फल है जिससे अनुप्राणित होकर भारतीय कला तथा साहित्य के अमर सिद्धान्त देश की चहार दिवारी लाघते हुए अफगानिस्तान, मध्य-एशिया, चीन, जापान, कोरिया, बरमा, स्याम, मलाया इत्यादि मे जा पहुँचे।

विक्रम-युग मे एक ओर तो राजनीतिक प्रगति हो रही थी। शको को हराकर विक्रमादित्य देश को एकता के सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न कर रहे थे दूसरी ओर कला के क्षेत्र मे भी एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहा था। पिछले मौर्यकाल तथा शुगकाल की कला सादृश्यवाद के सिद्धान्त से अनुप्राणित थी। इस कला का सम्बन्ध न तो रसशास्त्र से था न आध्यात्मिकता इसे छू गई थी। इस कला का उद्देश्य जीवन की वास्तविकताओ का, आमोद प्रमोद का सीधा-सादा अलकरण था। जिस तरह जातक की प्राचीन कथाएँ जीवन के साधारण से साधारण पहलू को हमारे सामने विना किसी बनावट के या शृगार के रख देती है, उसी प्रकार भरहुत के अर्धचित्र (relief) हमें भारत के तात्कालिक जीवन के अनेक पहलुओ को किसी आदर्श से रँगे बिना हमारे सामने रख देते है। नाच रग, खेल-कूद, आपानक, वस्त्र, आभूषण तथा भारतीय जीवन के और बहुत से पहलुओ का चित्रण इस कला का विशेष उद्देश्य है। शुगकालीन कला जीवन के कितने निकट थी इसका पता हम शुगकाल की मूर्तियो से मिलता है। बसाढ, भीटा, कौशाम्बी इत्यादि जगहो से मिली हुई मट्टी के अर्धचित्रो की यह एक खास विशेषता है कि उनमे देवी-देवताओ को छोडकर शुगकालीन स्त्री-पुरुषो के चित्र अकित है, जिनसे हम तत्कालीन जीवन की बहुतसी बाते जान सकते है। भरहुत की कला मे अलकारिक उपकरणो का प्रयोग भी केवल चित्रो की शोभा बढ़ाने के लिए ही किया गया है। फरगुसन ने इन अर्धचित्रो के अलकारो के बारे मे जो लिखा है वह आज भी सत्य है —

Some animals such as elephants, deer and monkeys are better represented than any sculpture known in any part of the world, so too are some trees and the architectural details are cut with an elegance and precision that are very admirable The human figures too, though very different from our standard of beauty and grace, are truthful to nature, and where grouped together combine to express the action intended with singular felicity "

(फरगुसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टन आर्किटेक्चर, पृ० ३६)

"कुछ पशु, जैसे हाथी, हिरन तथा बन्दरो का चित्रण ऐसा हुआ है जैसा ससार की और किसी मूर्तिकला मे नही हो पाया है। कुछ पेडो तथा वस्तु की सूक्ष्मताओ का चित्रण ऐसी सुन्दरता तथा खूबी के साथ हुआ है जिससे हमारा चित्त उनकी ओर खिचता है। मनुष्य-मूर्ति की बनावट भी, गोकि उनकी बनावट हमारी सुन्दरता के मापदण्ड से भिन्न है, सादृश्यता लिए हुए है। तथा जहाँ उनकी कल्पना समूह मे होती है वहाँ वह बडी खूबसूरती तथा सरलता से अपनी योजना के उद्देश्यो को भली भाति प्रकट कर देती है।"
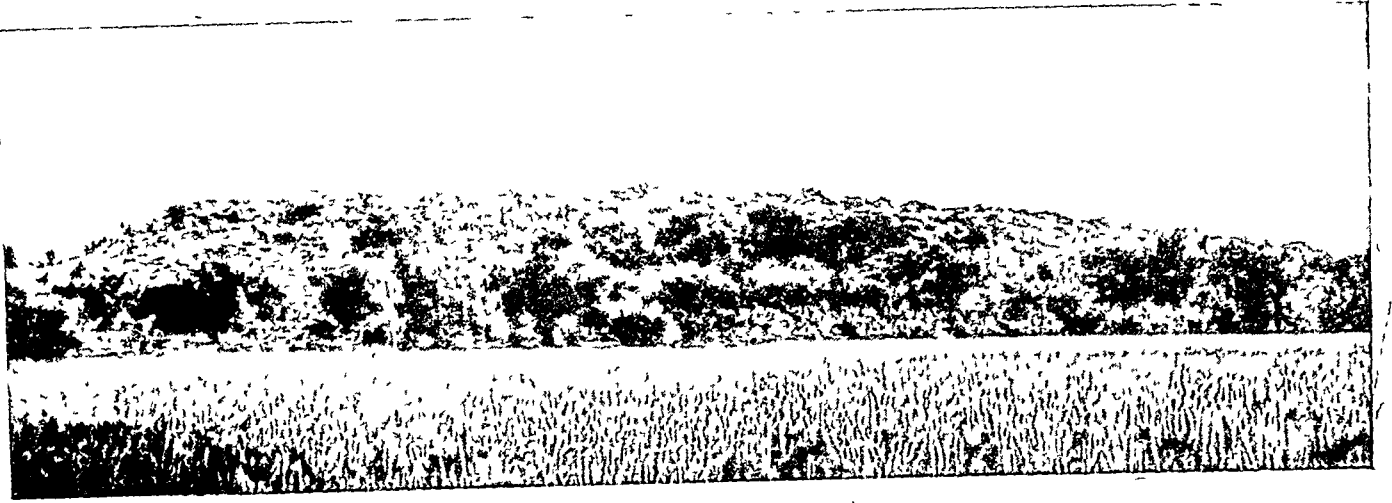
साँची—दूर से दृश्य।

बमनाला मे प्राप्त समुद्रगुप्त की मुद्रा, पृष्ठ ४७।

'मार-विजय', पृष्ठ ८४।
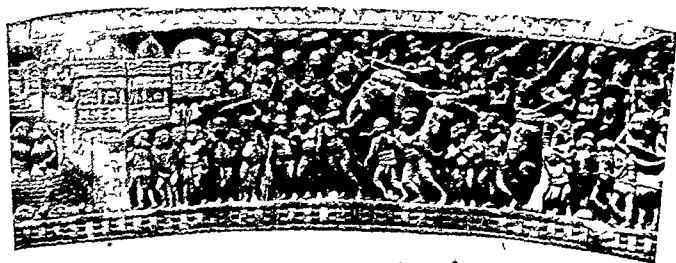
'बुद्धचिह्न के लिए लड़ाई', पृष्ठ ८४।

श्री डॉ० मोतीचन्द्र

भरहुत की इस कला का प्रसार एक स्थानिक न होकर भारतवर्ष में वहुत दूर तक फैला हुआ था। पूना के पास भाजालेण के अर्धचित्र इसी युग के कुछ विकसित अवस्था के चित्र है। वेदसा, कोन्दाने, पीतलखोरा तथा अजण्टा की दस नम्बर की गुफाएँ भी इसी समय वनी। सॉची के १ तथा २ नम्बर के स्तूप भी इसी युग मे वने। उडीसा मे उदयगिरि तथा खडगिरि की गुफाएँ भी इसी युग की देन हैं।

लगभग ७० ई० पू० मे शुंग-राज्य का अन्त हुआ तथा काण्व या सातवाहनों ने विजित राज्य पर अपना अधिकार जमाया। सातवाहन इसके वहुत पहले से ही पश्चिम तथा दक्खिन मे अपना राज्य जमाए हुए थे। ईसवी सदी के लगभग पचास वर्ष पहले उन्होने पूर्वी मालवा (आकर) पर अपना अधिकार जमाया। शातकर्णि राजाओ की छत्रछाया मे भरहुत की अर्ध-विकसित कला उस पूर्णता को प्राप्त हुई जिसको लेकर हम आज दिन भी साँची की कला पर गौरव करते है। साँची के वडे स्तूप के चारो तोरण तथा स्तूप नम्वर ३ का तोरण करीव ५० वर्षो के अन्तर मे वने। इस वात का ठीक-ठीक पता नही चलता कि ये तोरण किस सातवाहन राजा के समय मे वने। साँची के वड़े स्तूप के दक्खिनी तोरण पर एक लेख है जिसमे श्री शातकर्णि का उल्लेख है, पर शातकर्णि नाम के आन्ध्रवश मे वहुतसे राजे हो गए है इसलिए साँची-स्तूपवाले शातकर्णि की पहचान ठीक-ठीक नही हो सकती। वूलर इत्यादि विद्वानो का मत था कि वे ई० पू० दूसरी शताव्दी के श्री शातकर्णि ही है जिनका उल्लेख नानाघाट तथा हाथीगुफा के अभिलेखो मे आया है (मार्शल, दी मॉनुमेण्टस् ऑफ सॉची, जिल्द १, पृष्ठ ५)। पर मार्शल का मत है कि सॉची की उन्नत कला को देखते हुए यह वात अमान्य है। सॉची के श्री शातकर्णि पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार या तो श्री शातकर्णि द्वितीय थे जिन्होने ५६ साल राज्य किया और जिनका समय ई० पू० प्रथम शताव्दी मे था अथवा महेन्द्र शातकर्णि तृतीय अथवा कुन्तल शातकर्णि थे। अभाग्यवश मालवा के सातवाहन-युग का आरम्भिक इतिहास अभी अन्धकारमय है। दूसरी शताव्दी ई० मे जव इस अन्धकार मे कुछ प्रकाश की आभा मिलती है तव हम गौतमीपुत्र शातकर्णि को आकर-अवन्ति का राजा पाते है। जैन अनुश्रुतियो के अनुसार, जिनमे कालकाचार्य की कथा प्रसिद्ध हैं, ६१-५७ ई० पू० मे उज्जयिनी पर शकों का अधिकार था। यह भी पता चलता है कि प्रथम शताव्दी ई० के अन्त मे आकर-अवन्ति पर क्षहरातो का कुछ दशको तक अधिकार था। इस अधिकार का अन्त १२५ ई० मे श्रीगौतमीपुत्र शातकर्णि ने आकर-अवन्ति को जीतकर किया। लेकिन मालवा वहुत दिनो तक आन्ध्रों के हाथ मे न टिक सका, लगभग १५० ई० के महाक्षत्रप रुद्रदामा ने विजित देशो को पुनः अपने अधिकार मे कर लिया।

उपरोक्त विवरण से सॉची के वड़े स्तूप के तोरणो के समय के वारे मे दो वाते प्रकट होती है। एक तो यह कि ये तोरण ई० पू० प्रथम शताव्दी मे वने, और दूसरे यह कि आकर उस समय आंध्रवंश के शातकर्णि नाम के किसी राजा के अधिकार मे था। जैन तथा व्राह्मण अनुश्रुतियो के अनुसार इसी काल मे उज्जयिनी के विक्रमादित्य की स्थापना होती है। अव प्रश्न यह उठता है कि ये विक्रमादित्य कौन थे और उनका प्रतिप्ठान के शातकर्णि राजाओं से क्या सम्वन्ध था? इस लेख का विषय विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता प्रमाणित करना नही है। पर जहाँ तक कला का सम्वन्ध है यह निर्विवाद है कि इसी युग मे भारतीय कला मे एक ऐसी नूतनता और ओज का समावेश हुआ जैसा पहले कभी नही हुआ था। यह तो ठीक-ठीक नही कहा जा सकता कि किन-किन कारणों से प्रेरित होकर कला अपने पुराने तथा जीर्ण आवरण को छोड़कर नवीनता की ओर झुकने लगती है, पर इतिहास इस वात का साक्षी है कि किसी महान् राजनीतिक उथल-पुथल के साथ ही साथ कलाकारो के दृष्टिकोण मे भी अन्तर आने लगता है। उनके हृदय के कोनो मे छिपे हुए जीर्णशीर्ण कला के सिद्धान्त नई स्फूर्ति से उत्प्रेरित होकर युग की कला को एक नए साँचे मे ढालते हैं। राजा तथा प्रजा की रक्त-प्रणालियों में वहते हुए सास्कृतिक ओज को ये कलाकार मूर्त रूप देते हैं। उदाहरणार्थ गुप्त-युग को लीजिए। कुषाण-साम्राज्य के अन्तिम दिनों की ओजहीन कला उस टिमटिमाते हुए दीपक के समान है जिसका तेल जल चुका है फिर भी उसकी वत्ती उकसाई जाती है जिससे उस दीप का प्रकाश चाहे वह कितना ही धीमा क्यों न हो थोड़ी देर तक ढहते हुए महल में उजाला रख सके। लेकिन गुप्तयुग की कला को लीजिए तो मालूम पडता है कि दीपक तो वही पुराना है लेकिन नवीन तेल वत्ती से सुशोभित होकर अपने जाज्वल्यमान स्निग्ध प्रकाश से वह दिशाओं को आपूरित करने लगता है। गुप्तों की साम्राज्य स्थापना भारतीय इतिहास की एक महान् घटना है। उस साम्राज्य का उद्देश्य भारतीय संस्कृति तथा व्राह्मण-धर्म को पुनरुज्जीवन

देना था। विदेशियों के संसर्ग से दूषित कला, धर्म तथा संस्कृति को पुनः उसके प्राचीन पथ पर आसीन करना ही गुप्त-युग की विशेषता है। अब हम देख सकते हैं कि एक महान राजनीतिक घटना का कला की उन्नति से क्या सम्बन्ध है। आगे चलकर हम देखेंगे कि विक्रम-काल की कला भी गुप्तकालीन कला के समान पथप्रवृत्त थी और अगर हम विक्रम की ऐतिहासिक सत्ता स्वीकार करते हैं तो सांची इस बात की साक्षी है कि विक्रम-युग जिसकी कथा हम आज दिन भी शहरों में, देहातों में अपने बड़े बूढ़ों से सुनते हैं केवल राजा की न्याय-परायणता तथा कवियों के समादर के लिए ही विख्यात नहीं था, उस काल में कलाकारों का भी वही आदर मिला जिसके फलस्वरूप उन्होंने भारतीय कला को एक नए रास्ते पर चलाया।

सांची की पहाड़ी, जिस पर स्तूप बने हुए हैं, भोपाल रियासत में जी० आई० पी० रेलवे के सांची स्टेशन के बहुत पास स्थित है। पहाड़ी ३०० फुट से भी कम ऊँची है तथा उसके ढालों पर झाड़ झखाड़ से काफी हरियाली रहती है। खिरनी के हजारों पेड़ अपनी सघन छाया से पथिकों और चरवाहों को आराम पहुँचाते रहते हैं। वसन्त में ढाक के फूल पहाड़ी पर आग सी लगा देते हैं। प्रकृति देवी के इस सुन्दर उद्यान में आत्मचिन्तनरत बौद्धों ने सांची के स्तूपों की कल्पना की। प्राचीन लेखों में सांची का नाम काकणाव या काकणाय आता है लेकिन चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में इसका नाम काकनाद बोट पड़ा। सातवीं शताब्दी में इसका नाम बदलकर बोटश्री पर्वत हो गया (मानुमेण्ट्स ऑफ़ सांची, जि० १, पृ० १२)।

इस बात का ठीक ठीक पता नहीं चलता कि बौद्ध सांची में अशोक के समय में आए या उसके पहले। महावंश में लिखा है कि अशोक की रानी देवी अपने पुत्र महेन्द्र को विदिशा के पास चेतियगिरि के विहार में महेन्द्र की लंका यात्रा के पहले ले गई। कुछ विद्वान् चेतियगिरि को ही सांची का पुराना नाम मानते हैं, पर इस बात की सत्यता की परख अभी तक नहीं हो पाई है।

सांची का बड़ा स्तूप अण्डाकार है जिसका सिरा कटा हुआ है। यह अण्ड चारों ओर एक मेधि से घिरा हुआ है जिसका मुतक्का प्राचीनकाल में प्रदक्षिणा पथ का काम देता था। इसपर चढ़ने के लिए दक्षिण की तरफ दोहरी सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। जमीन की सतह पर इस स्तूप को घेरे हुए एक दूसरा प्रदक्षिणा पथ है जो वेदिका से घिरा हुआ है। वेदिका की बनावट बिलकुल सादी है लेकिन उसके चारों ओर चारों दिशाओं को लक्ष्य करते हुए चार तोरण हैं। पहले विद्वानों की धारणा थी कि इस स्तूप का आकार अशोक के समय से ज्यों का त्यों बना हुआ है तथा तोरण द्वितीय शताब्दी ई० पू० में बनाए गए। बाद की खोज में ये धारणाएँ भ्रमात्मक साबित हुई हैं। असल में बात यह है कि अशोक के समय में स्तूप सादे ईंटों का था, बाद में उसमें भव्यता लाने के लिए भक्तों ने इसे आवरणों से ढँक दिया। सर जॉन मार्शल के कथनानुसार स्तूप पर आवरण चढ़ने के पहले किसीने उसे तोड़-फोड़ दिया था और शायद यह काम पुष्यमित्र शुंग की आज्ञा से किया गया। स्तूप इस बुरी तरह से तोड़ा गया है कि यह कहना मुश्किल है कि अशोक के समय में इसका क्या रूप था। लेकिन जाँच करने से यह पता चलता है कि आरम्भ में इसका अण्ड नीचे से ६० फुट चौड़ा था। इसके चारों ओर एक चबूतरा था और सिरे पर छत्रावलियों से युक्त वेदिका से घिरी हुई एक हर्मिका थी। इसके दोनों प्रदक्षिणा पथों की वेदिकाएँ शायद लकड़ी की बनी हुई होंगी और स्तूपों की तरह बुद्ध का कोई अस्थिचिह्न इस स्तूप में भी गाड़ा गया होगा जो स्तूप के तोड़े जाने पर गायब हो गया (वही, पृ० २४-२५)।

अशोक के बाद जब हम इस स्तूप के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो पता चलता है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० में किसी शुंग राजा के राज्यकाल में ही इसकी इतनी अच्छी तरह से मरम्मत हुई जिससे वह बिलकुल नया सा हो गया। पत्थर के आवरण से पूरा स्तूप, प्रदक्षिणा-पथ, वेदिका इत्यादि ढक दिए गए और उनपर बढ़िया चूने का पलस्तर कर दिया गया। स्तूप तैयार हो जाने पर उसके सिरे पर वेदिका सहित छत्र चढ़ाया गया। बाद में स्तूप को घेरे हुए पत्थर की वृहदाकार वेदिका बनी जिनपर दाताओं के नाम खुदे हुए हैं। संक्षेप में शुंगकाल में सांची के बड़े स्तूप की यही अवस्था रही होगी।

सातवाहन युग में स्तूप के चारों ओर चार तोरण बनाए गए जो अपनी विशालता तथा सुन्दर गढ़न के लिए भारतीय कला में अद्वितीय हैं। सबसे पहले दक्षिण का तोरण बना और इसके बाद क्रमशः उत्तरी, पूर्वी और पश्चिमी तोरण बने। इन तोरणों की कला की क्रमिक उन्नति से ऐसा पता लगता है कि ये सब तोरण २० या ३० वर्षों के अन्तर में बने

श्री डॉ० मोतीचन्द्र

होगे। इन चारो तोरणो की वनावट एकसी है। हर एक तोरण मे दो स्तम्भ है जिनकी खुभिओ (Capital) पर तीन-तीन सूचियाँ अवलम्वित है। खुभिओं पर सटे पेट वाली सिह मूर्तियाँ या बौनो की मूर्तियाँ, और उन्हीं खुभियो से निकलती हुई यक्षिणियो, वृक्षिकाओ और शाल-मत्रिकायो की मूर्तियाँ सबसे निचली सूची के वाहर निकले हुए कोनो को सँभाले हुए थी। सूचियो के अन्तरालों मे भी यक्षिणियो इत्यादि की मूर्तियाँ थी और सूचियो के घुमटेदार अंशो पर हाथी या सिह की मूर्तियाँ थी। वाकी वचे हुए अन्तर स्थान मे हाथीसवार और घुड़सवारोकी मूर्तियाँ थी। इन सवारो की वनावट मे एक विशेषता यह थी कि ये दो मुहवाले थे। दक्षिणी तोरण की सूचियो के अन्त से निकलती हुई गंधर्व मूर्तियाँ है। उत्तरी तोरण मे ऐसी ही गंधर्व मूर्तियाँ सवसे निचले सूची के छोरों से निकलती दिखलाई गई है। शेष दोनो तोरणो मे ये मूर्तियाँ नही पाई जाती। तोरणो के सिरे पर हाथी या सिह पर चढे हुए धर्मचक्र की आकृति तथा उसके वगल मे त्रिरत्न अकित थे। स्तम्भ इत्यादि जातक कथाओ तथा नाच-रग, आपानक इत्यादि के दृश्यो से भरे है। इनमे चैत्र-वृक्षो तथा स्तूपों के, जो गौतम बुद्ध तथा और मानुषी वुद्धो के चिह्नस्वरूप थे, काल्पनिक पशु-पक्षियों और गंधर्वों के तथा और भी वहुतसे चित्र-विचित्र अलंकरणो से अकित है।

साँची के स्तूप नम्वर दो पर वने हुए अर्धचित्रों की जाँच-पडताल से हमे इस वात का पता चलता है कि अधिकतर चित्र भरहुत की पुरानी परिपाटी के अनुसार वने थे, लेकिन उनमे कुछ ऐसे भी चित्र है जिनसे कला के विकसित सिद्धान्तो का आभास मिलता है। कारीगरी की यह असमानता भरहुत की कला मे भी पाई जाती है। इस अनैक्यता का कारण भरहुत की कला का प्राचीन दासकला के वन्धनो से निकलकर प्रस्तर को अपना आलम्वन वनाना भी हो सकता है। नवीन आलम्वन के लिए शिल्पियो का धीरे-धीरे तैयार होना स्वाभाविक था। इस तैयारी के युग मे कुछ शिल्पी अधिक ग्रहण-शील रहे होंगे और कुछ कम। इसीलिए कुछ चित्र अच्छे वन पड़े है और कुछ वुरे। भरहुत के करीव १०० वर्ष वाद जव साँची के तोरण वने तव कला कही अधिक उन्नतशील हो चुकी थी लेकिन फिर भी इसमे पुरानी कला के रूढिगत सिद्धान्त अपना सिर वीच-वीच मे ऊपर उठाते देख पड़ते है। प्राचीनता की इस झलक को कलाकारो की धार्मिक कट्टरता नही कहा जा सकता। असल मे वात यह है कि भारतीय कला सदा से प्राचीन आचार्यो द्वारा प्रतिपादित रूढ़िगत सिद्धान्तो के पक्ष मे रही है। लेकिन प्रगतिशीलता की भी उसमे कमी नही थी। जव-जव ऐसे अवसर आए जिनमे कला को एक नया रास्ता ग्रहण करना पडा तव-तव भारतीय कलाकारो ने सहर्ष नई कला का स्वागत किया। लेकिन वापदादो के समय से चली आई हुई कला को एकदम से भूल जाना असम्भव था और इसीलिए हम सातवाहन-युग की विकसित कला मे भी कभी-कभी पुरानेपन की झलक पा जाते है। कारीगरी की असमानता का एक दूसरा कारण हो सकता है कि सव कारीगर विशेपकर मूर्तिकार अथवा चित्रकार एक ही साँचे मे ढले हुए नही होते। इनमे कुछ अच्छे होते है, कुछ मध्यम और कुछ कामचलाऊ। एक ऐसे वडे काम मे जहाँ ऐसे सैकडो कारीगर लगे हों यह अवश्यम्भावी है कि थोड़ेसे मामूली कारीगर भी काम मे लग गए हो जिनके घटिया काम से पूरे अलंकार मे कही-कही विषमता आ गई हो। उदाहरणार्थ, भरहुत के अजात-शत्रुवाले स्तभ (कनिंघम, स्तूप ऑफ भरहुत, प्ले० १७) की तुलना साँची के उसी प्रकार के दृश्य से कीजिए (मार्शल, वही जि० ३, प्ले० ३४ सी और ३५ ए) तो पता चलता है कि इस फलक मे भरहुत-युग से गढ़न अच्छी है, रेखाएँ भी सुस्पष्ट है फिर भी कलाकार कुछ प्राचीन रूढ़ियो के छोडने में असमर्थसा देख पड़ता है। मनुष्य एक दूसरे से सटे हुए एक के ऊपर दूसरी कतार मे प्राचीन परिपाटी के अनुसार खडे किए गए है। लेकिन साथ ही साथ प्राचीन मुद्राओं के प्रदर्शन का यत्न यहाँ नही देख पड़ता। शुग-काल मे सम्मुख चेहरा, उलटा चेहरा, तथा एक-चश्मी शवीह का अधिक प्रयोग होता था, तीन-चौथाई चेहरा तो कभी-कभी ही दिखलाया जाता था। पर साँची के प्राचीन रूढ़िगत अर्धचित्रो मे चेहरे अधिकतर तीन चौथाई अंग मे दिखलाए गए है। भरहुत के चित्रो मे दूरी दिखलाने के लिए मूर्तियाँ एक दूसरे के ऊपर कतारो मे सजा दी गई है लेकिन उनकी नाप ज्यो की त्यो रक्खी गई है, दूर होने से उनमे छुटाई-वड़ाई नही आने पाई है। साँची के पुराने अर्धचित्रो मे मूर्तियाँ एक ही सतह पर रक्खी गई है, लेकिन दूरी दिखलाने के लिए पिछली कतारो मे मूर्तियाँ कद मे कुछ छोटी दिखला दी गई है। साँची के अर्धचित्रों मे एक वात मान ली गईसी देख पड़ती है कि सवसे निचली पंक्ति दर्शक से सवसे पासवाली है और सिरे की पक्ति सवसे दूर।

विक्रमकालीन कला

कला पर पजाब तथा बाह्लीक की ग्रीक कला का प्रभाव ह। यह एक अजीवसी बात ह। अनेक युगो में जब-जब भारतीय सस्कृति अथवा कला न आगे कदम उठाया ह तब-तब यूरोपीय विद्वानो ने यह दिखलाने की भरपूर चेष्टा की ह कि यह उन्नति विदेशी छाप को लेकर हुई, माना भारतीयो मे स्वत उन्नत होने की शक्ति का विकास ही नही हुआ था। इस सम्बध म एक ध्यान दने योग्य बात ह। ससार म कला की उन्नति तथा अवनति का इतिहास देखने से हम उस नसर्गिक नियम का पता चलता ह जिसके अप्रतिहत चक्र की अनुगामिनी होकर कला एक समय आगे बढती हुई उच्चतम आदर्शों तक पहुँच जाती ह और फिर उसी कला के रूढिगत सिद्धान्त धीरे-धीरे स्वतत्र अभिव्यक्ति का गला घोटकर उसे गहरे खड्ड म गिरा दते ह। यह नियम ससार की सब कलाओ क लिए लागू रहा ह और भारतीय कला भी इस नियम का अपवाद नही ह। इसलिए यह कहना कि समय समय स विदशी सिद्धान्त ही गिरती हुई भारतीय कला को स्फूर्ति प्रदान करते रहे ह गलत होगा। इस बात का मानन म किसी को काई आपत्ति नही हा सकती कि भारतीय कला ने समय-समय पर बहुत से अलकार विदेशी कलाओ स लिए ह तथा उनको ठठ भारतीय साँच म ढालकर इतना अपना लिया ह कि उनकी जड का पता लगना तक मुश्किल हो जाता ह। लेकिन इसस यह तो नही कहा जा सकता कि भारतीय कला की सर्वांगीण उन्नति उन थोडेसे विदेशी अलकारा पर ही अवलबित ह। उस उन्नति की जड की खोज म हम उस काल विशेष की राजनीतिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक क्षमता की जाच-पडताल करनी होगी जिनका अवलम्बन लकर कला आगे बढती ह। साँची की कला के बारे म सर जान माशल का यह कहना कि साची के अर्धचित्रा म सादृश्ययुक्त अकन ह, केवल दिमागी उपज ही नही, कुछ ठीक नही मालूम पडता। नमून का सामन बिठलाकर या प्रकृति की शोभा निरीक्षण करते हुए चित्र बनाने की प्रथा भारतीय पद्धति क विपरीत ह। चिन्तन म ही आकृति को मूत रूप देना भारतीय कला की एक विशेषता रही ह। इसका प्रमाण भरहुत म तथा साची म अर्धचित्रा स मिलता ह तथा गुप्तकाल की चिन्तनशील कला स। माशल जब सादृश्यता की ओर इशारा करत ह तो उनका सम्भवत तात्पय यह ह कि इस युग में भारतीय कला म सादृश्यता विदशी कला की दन ह। लेकिन जब हम साची की कला म सादृश्यता की ओर झुकाव देखत ह तो हम यह न समझ लेना चाहिए कि मानसिक चिन्तन स रूप भद की कल्पना जो प्राचीन भारतीय कला का आदश था इस युग म कोरे सादृश्यवाद म परिणत हो गया। इसका तो कवल यही उत्तर ह कि इस काल म मानसिक शक्तियो म दृढीकरण से रूपभेद की कल्पना को एक सहारा मिला और यही कारण ह कि तत्कालीन मूर्तियो म बाह्याकृतियो का भरहुत की मूर्तियो के बनिस्बत अधिक सुस्पष्टभाव से अकन हुआ ह।

साची के अर्धचित्रा का विधान ऐसे सुचारु रूप स हुआ ह कि प्रस्तर म अकित कथाएँ अपने आप बोलती सी दख पडती ह। उस समय की सस्कृति मे इतिहास क लिए ये चित्र रत्नभाण्डागार की तरह ह। साची की कला का विषय बौद्ध धम ह। अर्धचित्रा म अकित जातक-कथाएँ दशक के हृदय को बौद्धधम की ओर आकर्षित करती ह। लेकिन विचार करके देखा जाय तो पता लगता ह कि जिस जीवन का चित्रण साची क अर्धचित्रा मे दिया गया है उनका धम के गूढ तत्त्वा स बहुत कम सम्बध ह। गुप्तकाल की बौद्ध या शव या वष्णव मूर्तियो म आत्मचिन्तन के गूढ तत्त्वो का सन्निवेश ह। भरहुत तथा साची की कला में यह बात नहा पाई जाती, इसका उद्देश्य आत्मचिन्तन तथा साधना को असाधारण जनता क सामने रखना नही ह, इसका उद्देश्य तो जनसमूह के उस जीवन को रखना ह जो बिना किसी बनाव-चुनाव के उनका अपना ह। स्खलितवस्त्रा यौवनोन्मत्ता यक्षिणियो की मूर्तियों की कल्पना के उदगम स्थान को ढूढने के लिए हमे बौद्ध या ब्राह्मण धम की खोज नहा करनी चाहिए। इस कला का उद्गम तो उस हँसते खेलते समाज स हुआ जिसके जीवन म काम और अथ की वही महिमा थी जो धम और मोक्ष की। अगर हम थोडी देर के लिए यह भी मानले कि जिस लोक-धम की व्याख्या साची क अर्धचित्रा द्वारा की गई ह उसका उद्देश्य कामोत्तेजकता की आड म धमवृद्धि था तो यह कहना पडेगा कि वह लोक धम बौद्धो या उपनिषदो की शिक्षा क सवदा विपरीत था। इस लोक धम की जड तो मातृपूजा की उस प्राचीन परिपाटी म मिलेगी जो ससार क कोने-कोने म फली हुई थी। यही कारण ह कि बौद्ध और ब्राह्मण दार्शनिको ने अपनी नित्य-साधना म कला को विशेष महत्त्व नहीं दिया। क्योकि ई० पू० प्रथम शताब्दी तक कला रसास्वादन या ब्रह्मास्वादन का सोपान नहा हो गई थी। बौद्ध धम ने तो कला का माध्यम केवल इसलिए स्वीकार किया कि उसके द्वारा साधारण वग का मन धम की ओर आकृष्ट हो सक। यह तभी सम्भव था जब साधारण जनता को मनचीती वस्तु मिले, जो उसकी बुद्धि को कसरत न कराकर ठीक एसे अलकार, आकृतियाँ तथा दृश्य उनके सामने रक्खे जिनम वह अपना प्रतिबिम्ब देख सक।
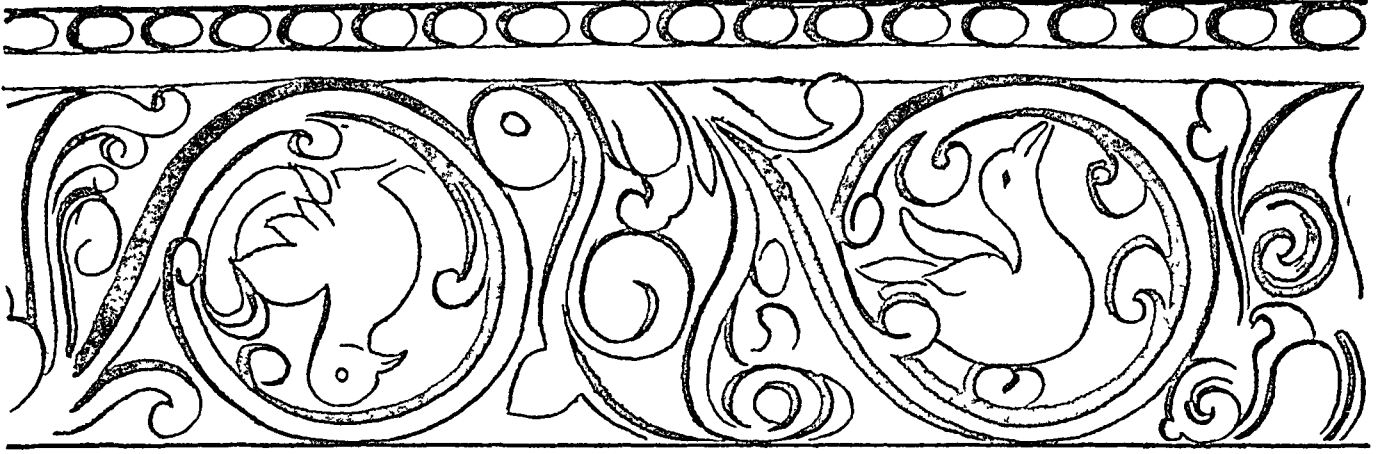
विक्रमादित्य सम्बन्धी ऐतिहासिक उल्लेख

श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

हमारे परम सौभाग्य से वीर विक्रमादित्य का लीलाक्षेत्र अवन्ति-मालवा-प्रदेश और उनकी राजधानी उज्जैन, राष्ट्र-संस्कृति के महान् रक्षक एवम् प्रचारक पुनीत शिन्दे राजवश के अधीन होने के कारण हमको भारतीय सभ्यता के उस सर्वोत्कृष्ट पुरुष श्रीविक्रमादित्य के अवतारकृत्य की द्वितीय सहस्राब्दी समाप्त होने के उपलक्ष में, उत्सव सम्पन्न करने का जो विशिष्ट अवसर प्राप्त हुआ है, उसके विषय मे केवल इतना ही कथन अलम् होगा कि इस सुयोग के कारण उन के विषय मे हमारे देश के कोने-कोने मे जो विविध उत्सव, सहस्रो सभाएँ, विभिन्न चर्चा और तत्कालीन भारतीय सस्कृति के विवेचन सम्वन्धी विद्वानो मे विचार विनिमय हुआ, यदि वह ग्रन्थ-रूप मे प्रकाशित किया जाय तो उसके अनेक सहस्र पृष्ठ सहज ही मे हो सकेगे। भारतीय सस्कृति सम्वन्धी ऐसी विवेचनात्मक और परम रमणीय तथ्यबोधोत्पादक चर्चा, कम से कम विगत वर्षो मे नही हुई।

वास्तव मे श्री सावरकरजी के शब्दो मे 'विक्रम' अब कोई व्यक्ति विशेष नही, वरन् वह भारतीय सस्कृति का प्रतीक बन गया है। खाल्डियन, सुमेरियन, ईजिप्शियन आदि सभ्यताएँ नष्ट-भ्रष्ट हो गई। आज उनका नामलेवा तक नही रहा; किन्तु हम उसी पूज्य पुरुष के वशज और उत्तराधिकारी दो हजार वर्षो के असंख्य दिवस गिनगिन कर उनके द्वारा प्रर्वत्तित सवत्सर की द्वि-सहस्राब्दी-समाप्ति-उत्सव सम्पन्न करने को जीवित है; क्या यह हमारे लिए कम अभिमान और स्फूर्ति का विषय है? विक्रम नामक एक ही व्यक्ति हुआ या अनेक, यह विवाद भी इस बात का परिचायक है कि भारतीय सस्कृति ही एक से अधिक पराक्रमी पुरुषो की परम्परा निर्माण कर सकती है। आज इस देश मे शकारि विक्रम का नाम अमर है; क्योकि उन्हीके प्रबल प्रताप और पुरुषार्थ के कारण शको का नामोनिशान तक यहाँ नही रहा। ऐसी दशा मे क्या विक्रम का नाम कभी 'यावत् चन्द्र दिवाकरौ' इस धरातल से विस्मृत हो सकता है?

विक्रम नामधारी सम्राट् ईसा से पूर्व हुए या अनन्तर? उस नाम का कोई पुरुष हुआ भी या यह केवल उपाधि है, आदि प्रश्नो के विषय मे कई मत है। एक पक्ष प्रबल युक्तियो द्वारा वर्तमान विक्रम-सवत्-प्रवर्तक उस महान् व्यक्ति

विक्रमादित्य सम्बन्धी ऐतिहासिक उल्लेख

विक्रमादित्य का ईसा पूर्व ५७ वर्ष में होना घोषित करता है तो दूसरा पक्ष गुप्तवंशीय सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त को ही वास्तविक विक्रमादित्य उपाधिधारी बताता है। कुछ विद्वान् आन्ध्रभृत्य शातकर्णि, पुष्यमित्र, एजेस, कनिष्क, दशपुर के राजा यशोधर्मदेव आदि विभिन्न शासकों को ही विक्रमादित्य घोषित करते हैं। विक्रम शब्द के साथ ही शकारि, कालिदास, नवरत्न, विक्रम-संवत्-गणना की प्रथा आदि विषयों के संयुक्त कर देने से विक्रमादित्य का यथार्थ इतिहास अत्यन्त क्लिष्ट एवम् दुरूह बन गया है। ऐतिहासिक दन्तकथाओं में कुछ विकृति या तोड़मरोड़ भले ही हो जाए, किन्तु उनका आधार कुछ ऐतिहासिक तथ्य अवश्य ही होता है, अतएव दो हजार वर्षों जैसे लम्बे समय तक जो बात इस देश में प्रचलित रही हो, वह सहसा निर्मूल होगी, यह बात मानने को कोई भी तैयार नहीं होगा। अहमदाबाद के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री शाह अपने "प्राचीन भारतवर्ष" में विक्रम की उपाधि धारण करनेवाले १५ व्यक्ति बताते हैं, अतएव जिस व्यक्ति का अनुकरण इतने अधिक रूप में पाया जावे, क्या उसके अस्तित्व के विषय में ही शंका प्रदर्शित करना योग्य कहा जा सकता है? शकारि विक्रमादित्य ईसा पूर्व ५७ व वर्ष में अवश्य हुए, इसमें कोई सन्देह नहीं। भारतीय परम्परा के अनुसार जहाँ एक ही वंश में पूर्वजों के नाम दुहराने की प्रथा अस्तित्व में है, वहाँ एक से अधिक विक्रम नामधारी व्यक्तियों का प्रमाण मिल जाय तो तत्सम्बन्धी शंका होना भी स्वाभाविक ही है। २५ वर्ष पूर्व किसको ज्ञात था कि हमारे देश में पाँच हजार वर्ष पूर्व के 'मोहन जो दड़ो' और 'हड़प्पा' जैसे लुप्त नगर प्रकट होंगे। इसी प्रकार कौन कह सकता है कि यदि सौभाग्य से उज्जैन या मालवा के प्राचीन स्थानों के अवशेषों का उत्खनन किया जावे तो विक्रम सम्बन्धी और भी प्रामाणिक और महत्वपूर्ण साधन उपलब्ध नहीं होंगे, अतएव हमें इस लेख के द्वारा यही देखना है कि विक्रम सम्बन्धी वास्तविक तथ्य क्या है?

विक्रम सम्बन्धी ख्यातों का सारांश तो यही है कि विक्रम उज्जयिनी (अवन्तिका) के राजा गन्धर्वसेन के पुत्र थे। अपने बड़े भाई शंख को मारकर वे गद्दी पर बैठे। अनन्तर अपना राज्य छोटे भाई भर्तृहरि को देकर वे तप करने वन को चले गये, किन्तु भर्तृहरि के राज्य से उदासीन हो जाने के कारण फिर से उन्होंने राजपाट सँभाला। उनकी भगिनी का नाम मनावति था तथा गौड देशाधिपति गोपीचन्द उनके भागिनेय थे। विक्रम ने बड़ा यश कमाया और विदेशी आक्रामक शकों का पराभव करके अपने नाम का विक्रम-संवत् प्रचलित किया। वे विद्या और कलाओं के उपासक तथा कालिदासादि नवरत्न पंडितों के आश्रयदाता थे, आदि।

विक्रम सम्बन्धी पैशाची, प्राकृत, अर्धमागधी, संस्कृत तथा हिन्दी, मराठी, बंगाली, गुजराती आदि भाषाओं में विपुल साहित्य है, और उनके सम्बन्धी असंख्य कहानियाँ यत्रतत्र बिखरी पड़ी हैं। उनका तुलनात्मक अध्ययन और विवेचन सहजसाध्य बात नहीं है। उनके आधार पर ऐसे विलक्षण प्रश्न उद्भूत होते हैं कि उनके उत्तर भी सन्तोषजनक रूप से नहीं दिये जा सकते।

विक्रम के कुटुम्बी—पिता, माता, भाई, बहिन, भानजा, संवत् प्रचलन का यथार्थ समय, कालिदासादि नवरत्न, उनकी सभा के पंडित नायपथ आदि प्रश्न भी उनके चरित्र के साथ जोड़ दिये जावें तो वह 'भानुमती के पिटारे' से कम मनोरंजक और दुर्गम्य नहीं होगा। तत्सम्बन्धी काफी चर्चा हो चुकी है और वर्तमान परिस्थिति में उसके विवेचन का अन्त होना भी असम्भव है, जब तक कि एकाएक पृथ्वी के गर्भ से अन्य दबी छिपी सामग्री प्रकाश में न आ जाय। अतएव यहाँ पर इस लेख के द्वारा हम उस महापुरुष सम्बन्धी अब तक के उपलब्ध ऐतिहासिक उल्लेखों का ही विवेचन करेंगे।

ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह तो सभी कोई स्वीकार करते हैं कि ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में पंजाब में मालव नामक एक वीर जाति बसती थी और उनका एक स्वतन्त्र गण-राज्य था। लखनऊ पुरातत्त्व म्यूजियम के अध्यक्ष श्री वासुदेवशरणजी ने खोज की है कि पाणिनि के खण्डकादिभ्यश्च सूत्र के गणपाठ में "क्षुद्रकमालवात्सेना संज्ञायाम्" जैसा उल्लेख पाया जाता है, जिससे क्षुद्रक-मालव इन उभय जाति की सेना होना सिद्ध है। सिकन्दरकालीन सभी यूनानी इतिहासकारों ने मालवों के युद्ध का वर्णन किया है। मालवों ने ग्रीकों के साथ बड़ी वीरता से घोर युद्ध किया था। जयपुर-राज्य के करकोट नगर में दूसरी शताब्दी ईसा के पूर्व के मालव जाति के अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिन पर "मालवानाजय"

श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

ऐसा उल्लेख पाया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि मालव जाति ने कारणवश या अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत करने के उद्देश्य से पंजाब का परित्याग कर राजपूताने की ओर प्रस्थान किया था।

उस समय राजपूताने मे भी मालवों के अतिरिक्त उत्तम भद्रों का गणराज्य था; अतएव उन दोनों जातियों मे संघर्ष हुआ। शकस्थान के शकों की क्षहरात नामक शाखा ने सौराष्ट्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था तथा क्षहरातों का तक्षशिला और मथुरा पर भी अधिकार था। सौराष्ट्र के द्वितीय शक राजा नहपान के जामातृ उषवदात ने मालवों के विरुद्ध उत्तम भद्रों को सहायता दी थी, जिसका उल्लेख नाशिक गुफा के शिलालेख मे पाया जाता है (इं० एं० ८।७८)। अनन्तर मालव राजपूताने से प्रस्थान कर वर्तमान मालवा में आ वसे, जिससे यह प्रान्त उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ज्ञात होता है कि मालवो का सौराष्ट्र के क्षहरातों से पुनश्च संघर्ष हुआ; अतएव मालवगणो के नेता ने सैनिक संगठन करके तत्कालीन हिन्दू सम्राट् दक्षिणापथेश्वर सातवाहन राजराज गौतमीपुत्र श्री शातकर्णि की सहायता से शकों का विनाश करके उन्हे मालवा से खदेड़ दिया; जिसका उल्लेख नाशिक प्रशस्ति में पाया जाता है, यथा **"आकरावति राजस, सक यवन-पह्लव निसूदनस वरवारण विक्रम चारु विक्कमस्य"** तथा **"खखरात वंस निरवसेस करस"** इन लेखो में क्षहरात वंश का नि:पात करने का स्पष्ट उल्लेख है। अनन्तर मालवों ने दक्षिणापथेश्वर से सन्धि की एवम् विदेशियों के पराजय तथा स्वराज्य की स्थापना के फल-स्वरूप मालवों का संगठन तथा उनके गण की प्रतिष्ठा हुई। वही घटना "मालवगण स्थिति" को वतलाती है और वही नूतन संवत्-स्थापना का कारण हुई। मालवगणो का अधिपति विक्रमादित्य ही था। हमारे पुराणो मे कई राजवशों का उल्लेख पाया जाता है और सौभाग्य से उनमे भी यह घटना अकित है। भविष्य पुराण मे लिखा है कि:—

"शकानां च विनाशार्थमार्यधर्म विवृद्धये।
जातः शिवाज्ञया सोऽपि कैलासात् गुह्य कालयात्"
विक्रमादित्यनामानं पिता कृत्वामुमोहह ॥

× × × × × ×

गंधर्वसेनश्च नृपो देवदूतात्मजो वलिः
शिवाज्ञया च नृपति विक्रमस्तनय स्ततः।
शतवर्षं कृतं राज्यं देवभक्तस्ततोऽभवत्।"

यदि भविष्य पुराण की रचना आधुनिक भी मान ली जाय तो भी, वायु, मत्स्य, विष्णु आदि पुराणों मे गर्दभिल्ल राजा के साथ विक्रमादित्य का वर्णन भी पाया जाता है। उक्त पुराण चतुर्थ शताब्दी से प्राचीन होना सभी को स्वीकार है।

ईसा की प्रथम शताब्दी मे सातवाहन राजा हाल ने गाथासप्तशती नामक प्राकृत ग्रंथ की रचना की, जिसमें विक्रमादित्य नरेश का स्पष्ट उल्लेख है। यथा **"संवाहण सुहरस तोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्। चलणेन विक्रमाइत्त चरिअं अणु सिक्खिअं तिस्सा"** इसका अर्थ है "संवाहण (पगचम्पी) से प्रसन्न होकर नायिका के चरण ने तुम्हारे हाथ मे लाक्षा (महावर) का रग सक्रांत करते हुवे विक्रम नरेन्द्र के चरित्र को सीखा है (खडिता नायिका); क्योकि विक्रम ने भी सम्वाधन (शत्रु की सेना को वन्धन करने) से सन्तुष्ट होकर अपने भृत्य के हाथ मे लक्ष (लाख रुपये) दिये थे" अव तक कोई विद्वान् उक्त प्रमाण का खण्डन नही कर सका है और उससे निर्विवाद सिद्ध है कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी मे विक्रम-सवत् स्थापक विक्रम नरेन्द्र अवश्य हुए है।

महाकवि गुणाढच ने पैशाची भाषा मे बृहत्कथा नामक ग्रंथ की रचना की, जिसका समय ईसा की द्वितीय शताब्दी निश्चित है। अनन्तर उसी के आधार पर कवि क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी नामक ग्रथ की रचना की। इन दोनों ग्रंथों के आधार पर ही कवि सोमदेव ने कथासरित्सागर लिखा। उसमे महेन्द्रादित्य तथा सौम्यदर्शना के तप से प्रसन्न होकर शिवगण

विक्रमादित्य सम्बन्धी ऐतिहासिक उल्लेख

माल्यवान् के विक्रम का अवतार लेकर पृथ्वी को म्लेच्छों से छुड़ाने की कथा अंकित की है। इसमें उल्लिखित संकेत 'गण', 'माल्यवान्', 'म्लेच्छ (शक)' आदि विचारणीय हैं जो स्पष्टतया विक्रमादित्य को ही इंगित करते हैं। सोमदेव ने पाटलिपुत्र के एक और विक्रम का उल्लेख किया है, अतएव उक्त उल्लिखित विक्रम मालवाधिप शकारि ही थे।

जैन ग्रंथों में भी विक्रमादित्य सम्बन्धी उल्लेख पाये जाते हैं और यद्यपि उनका रचनाकाल अनन्तर का है, फिर भी हमें सहसा उनमें वर्णित जनश्रुतियों पर विश्वास करना ही पड़ता है। धनेश्वर सूरि विरचित शत्रुंजयमाहात्म्य (रचना काल विक्रम-संवत् ४७७), मेरुतुंगाचार्य रचित पट्टावलि, प्रबन्धकोष तथा तेरहवीं शताब्दी में लिखित प्रभावक चरित्र के कालकाचार्य-कथानक से शकारि विक्रम सम्बन्धी बहुत कुछ बातें ज्ञात होती हैं। जैन साधु कालकाचार्य की भगिनी सरस्वती ने भी उस धर्म की दीक्षा ली थी। वह परम सुन्दरी थी। अवन्ति के गर्दभिल्ल राजा ने बलात् उसका अपहरण किया, जिससे कालकाचार्य कुपित होकर शकों को मालवे पर चढ़ाई करने के लिये लिवा लाया और यहाँ पर उन का राज्य स्थापित हुआ। अनन्तर विक्रमादित्य (गर्दभिल्ल-सुत) ने शकों को पराजित करके पुनश्च अपना राज्य स्थापित किया और नया संवत् चलाया। उक्त घटना कालकाचार्य-कथानक में निम्न रूप में अंकित की है —

"शकानां वंशमुच्छेद्य कालेन कियतापि हि।
राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोपमोऽभवत्॥
स चोन्नत महासिद्धिः सौवर्णपुरुषोदयात्।
मेदनीमनृणां कृत्वा ऽचीकरद्वत्सरं निजम्॥"

अर्थात् विक्रमादित्य ने शकों को नष्ट करके अपना राज्य फिर से सम्पादन किया और उस विजय के उपलक्ष में नया संवत् चलाया। प्रभावक चरित्र के मूल प्राकृत चरित्र में भी उक्त श्लोक विद्यमान हैं और प्रसिद्ध पश्चिमीय पंडित डा० स्तीन कोनो तथा केसरी के सम्पादक श्री करन्दीकरजी उसको प्रामाणिक मानते हैं।

काशी विश्व विद्यालय के डॉ० अलतेकर उसे प्रक्षिप्त बताते हैं, किन्तु प्रमाणों से सिद्ध है कि शुंग वंश के अनन्तर मालवा पर परमार राजा का आधिपत्य हुआ। राजा देवदूत परमार का पुत्र गर्दभिल्ल उर्फ गन्धर्वसेन था। उसीका पुत्र विक्रमादित्य था, जो सम्भवतः परधर्मीय जैन सरस्वती की कोख से उत्पन्न होने के कारण विषमशील भी कहलाता था। गन्धर्वसेन के पहले के चार और उक्त तीन कुल सात राजाओं ने ७२ वर्ष तक मालवे में राज्य किया। मेरुतुंगाचार्य रचित पट्टावलि में उल्लेख है कि नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल ने उज्जैन में १३ वर्ष तक राज्य किया, किन्तु उसके उक्त कथित अत्याचार के कारण कालकाचार्य ने शकों से उसका पराभव कराया। शकों का यहाँ पर १४ वर्ष तक आधिपत्य रहा, किन्तु गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से अपना राज्य छुड़ा लिया। विक्रम ने साठ वर्ष तक राज्य किया, उसके पुत्र विक्रमचरित्र उर्फ धर्मादित्य ने ४० वर्ष तक राज्य किया, आदि। धनेश्वर सूरि विरचित शत्रुंजयमाहात्म्य में भी विक्रम का उल्लेख है। उसका रचनाकाल विक्रम-संवत् ४७७ बताया जाता है, किन्तु डाक्टर अल्तेकरजी ने यह सिद्ध किया है कि उसमें उल्लिखित शिलादित्य नामक राजा का अस्तित्व ही नहीं था। इस प्रकार अनेक ग्रंथों में उल्लिखित जनश्रुतियों को अविश्वसनीय क्योंकर माना जाय, जबकि अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से ईसा पूर्व संवत् ६० में शकों का राज्य उज्जैन तक फैला हुआ था और अनन्तर वह नष्ट भी हुआ, तो क्या वह घटना अपने आप घटित हो गई? अस्तु।

यद्यपि ईसा पूर्व मालवा प्रान्त पर मौर्य सम्राट् अशोक तथा अनन्तर कण्ववंशीय पुष्यमित्र के अधिकार होने के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं, किन्तु ऐतिहासिक आधार पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि अवन्ति देश में स्थान-स्थान पर गणराज्यों का आधिपत्य था, जिनके पचासों प्रकार के कार्षापण अर्थात् पंचमार्क सिक्के हमको उपलब्ध हुए हैं, अतएव सम्भव है कि चक्रवर्तित्व या सम्राट् के नाते वे गण राज्य भी देशकाल की परिस्थिति के अनुसार उनके करद राज्य हो गये हों। विक्रमादित्य का वंश उन्हीं गण राज्यों में से एक था। मालवा के धारमति (मौजा धसोई परगना सुवासरा), उज्जैन, महेश्वर आदि प्राचीन स्थानों पर गन्धर्वसेन सम्बन्धी कई प्रकार की कहानियाँ प्रचलित हैं।
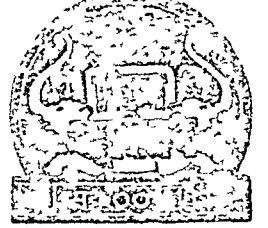
श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

पौराणिक आख्यानों तथा नाथपंथ सम्बन्धी ग्रंथों में भी इस सम्बन्धी उल्लेख पाये जाते हैं। सुलोचन गन्धर्व के शापित होकर एक कुम्हार (कमठ-कुल्लाल) के यहाँ खर होने तथा राजकन्या सत्यवती से उनका परिणय आदि बातें नवनाथ भक्तिसार जैसे मध्यकालीन मराठी ग्रंथों में पाई जाती है।

विक्रमादित्य ने ही महाराजा शातकर्णि की सहायता से शको का पराभव किया; अतएव उनका शकारि कहलाना सर्वथा स्वाभाविक है। वही विचारणीय घटना नूतन विक्रम-संवत् स्थापित करने का कारण हुई। उक्त घटना की ऐतिहासिकता के विषय मे मतभेद नही है, किन्तु मालवा मे उपलब्ध प्राचीन शिलालेखों के आधार पर डॉक्टर अल्तेकरजी का कहना है कि उनमे केवल "कृत" नामक संवत् का उल्लेख है; मालव तथा विक्रम शब्द उसके साथ बाद को जोड़े गये है; अतएव कृत नामक किसी वीर ने ही उसको प्रचलित किया है।

ईसा पूर्व ५७ वें वर्ष नूतन संवत् प्रचलित होने, शकों का मालवा में पराजय आदि ऐतिहासिक घटनाओं के विषय में तो उक्त डॉक्टर महोदय को कोई आक्षेप नही है। केवल संवत्-प्रतिष्ठाता के नाम का ही प्रश्न सुलझाने को रह जाता है। हाल के विवाद में ही अल्तेकरजी ने उक्त प्रश्न उपस्थित किया है। उसके उत्तर मे कोई कहता है कि कृत्तिका-नक्षत्र और कार्त्तिक से विक्रम-संवत् आरम्भ होने के कारण ही वह आरम्भ मे 'कृत' कहलाया तो कोई साठ संवत्सरों की कल्पना के साथ ही आविर्भूत नूतन संवत्-प्रचलन के कारण नूतन-कृत ज्योतिष सिद्धान्त ही उक्त नामकरण का कारणीभूत होना वताते है। म्लेच्छों के पराभव के कारण कृत अर्थात् सतयुग प्रचलित होने की बात भी कही जाती है। किन्तु पौर्वात्य और पाश्चात्य पंडित यह तो एक स्वर से स्वीकार करते है कि ईसा पूर्व ५७ वें वर्ष नूतन संवत् अवश्य ही प्रचलित हुआ, अलवत्ता उसके प्रतिष्ठापक के विषय मे मतभेद है।

सवसे पहले प्रसिद्ध पश्चिमीय पडित फर्ग्युसन ने यह प्रतिपादित किया कि संवत् ५४४ में कोरूर स्थान पर शकों का पराभव हुआ था। अतएव उसके उपलक्ष मे उक्त संवत् उज्जैन के राजा हर्ष (मन्दसौर के राजा यशोधर्मदेव) ने प्रचलित किया; किन्तु इसके पूर्व के संवत् ४९३ तथा ५२९ के शिलालेख मन्दसौर में प्राप्त हो चुके है; अतएव फर्ग्युसन की बात अपने आप ही खण्डित हो जाती है। डॉ० फ्लीट ने कनिष्क के राज्यारोहण से उसका सम्बन्ध स्थापित किया; किन्तु उसका समय अनन्तर का है और नूतन खोज से वही शक-संवत् का प्रचलित करनेवाला सिद्ध हो चुका है।

डॉक्टर विंसेण्ट स्मिथ ने गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय को उसका प्रतिष्ठापक माना है; किन्तु गुप्तों का अपना निजी स्वतंत्र संवत् था। साथ ही उसका समकालीन आज तक कोई ऐसा शिलालेख नहीं मिला, जिसमें किसी संवत् के साथ विक्रम का नाम जुड़ा हुआ हो।

डॉक्टर कीलहार्न ने कार्त्तिक मास मे युद्ध के लिये प्रस्थान करने की ऋतु होने से विक्रम-संवत् की उत्पत्ति बताई है, तो डॉक्टर मार्शल ने पार्थियन राजा 'एजेस' द्वारा उसका प्रचलित करना बताया है; किन्तु उसका समय तथा मालवा से सम्बन्ध होने का कोई प्रमाण नही मिलता। भारतीय पंडितों में से डॉक्टर भाण्डारकर ने पुष्यमित्र के शकों के पराजित करके ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा करने के उपलक्ष मे 'कृत' संवत् की प्रतिष्ठा होना बताया है; किन्तु शुंग नरेश का शासनकाल १८० ईसा पूर्व था। श्री गोपाल अय्यर ने *Chronology of Ancient India* मे गिरनार लेख के आधार पर रुद्रदामन् को विक्रम-संवत् का प्रतिष्ठापक वतलाया है। किन्तु वह भी ठीक नही जँचता। स्वर्गीय डॉक्टर काशीप्रसादजी जायसवालजी ने गौतमीपुत्र शातकर्णि को ही नासिक गुफा-लेख के विक्रम शब्द के आधार पर तथा मालवगणों की सहायता से शकों का संहार करने के उपलक्ष मे उक्त विरुद धारण करने तथा नूतन संवत् प्रचलित करने की बात कही है; किन्तु दक्षिणापथ के राजा का मालवा में संवत् प्रचलित करना असम्भव मालूम पड़ता है। साथ ही शिलालेखों मे विक्रम शब्द केवल पराक्रम के लिए उपयुक्त हुआ है, क्योंकि शातकर्णि के अन्य लेखों या सिक्को पर उक्त विरुद पाया नही जाता।

विक्रमादित्य सम्बन्धी ऐतिहासिक उल्लेख

समुद्रगुप्त महान् पराक्रमी सम्राट् था। उसकी हाल ही में कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ होलकर राज्य के नीवन गाँव के निकट उपलब्ध हुई है। उनमें से एक मुद्रा पर 'श्री विक्रम' जैसा स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। उससे कम से कम स्मिथ का यह कथन तो असत्य साबित हो चुका है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही सबसे पहले विक्रमादित्य विरुद धारण किया था। समुद्रगुप्त महान् पराक्रमी सम्राट् थे, इसीसे कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि वेही विक्रमादित्य हों, किन्तु वह बात भी जँचती नहीं, क्योंकि समुद्रगुप्त रचित श्रीकृष्ण-चरित्र-ग्रंथ उपलब्ध हो चुका है, जिसमें राजा शूद्रक के विक्रमादित्य होने की बात लिखी है, किन्तु शूद्रक सम्बन्धी अभी तक कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक साधन उपलब्ध नहीं हुए, इसीसे कुछ विद्वान् पुष्यमित्र को ही शूद्रक होने की कल्पना करते हैं। पुष्यमित्र कदापि संवत् प्रवर्तक नहीं हो सकता, इसका विवेचन हम ऊपर कर आये हैं।

उक्त विभिन्न विचार-प्रणाली के आधार पर यह तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि अभी तक बहुमत विक्रमादित्य सम्बन्धी मत स्थिर नहीं कर सका है।

अब हम विक्रम-संवत् सम्बन्धी विभिन्न मतों का अवलोकन करेंगे। अब तक मालवा या अन्यत्र जितने भी शिला-लेख उपलब्ध हो चुके हैं, उनमें सबसे प्राचीन लेख जयपुर राज्यान्तर्गत बरनाला ग्राम में प्राप्त संवत् २८४ के यूप लेख पर 'कृतेहि' (=कृत) नामक एक संवत् का उल्लेख पाया जाता है। कोटा राज्य के बडवा के संवत् २९५ तथा उदयपुर राज्य के नानवा ग्राम के संवत् २८२ में भी उसी कृत संवत् का उल्लेख है। इसी कृत संज्ञा का यथार्थ अर्थ मालवा प्रान्त के मन्दसोर में प्राप्त संवत् ४६१ "श्रीमालव गणाम्नाते प्रशस्ते कृत संज्ञिते। एकषष्ट्यधिके प्राप्ते, समाशत चतुष्टये।" के लेख में पाया जाता है।

अर्थात् मालवगण द्वारा स्थापित कृत-संवत् का उसमें स्पष्ट उल्लेख है। संवत् ४९३ तथा ५८९ के मन्दसोर के लेखों तथा नगरी के संवत् ४८१ के लेख में "मालवगणम्यितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु", "मालव पूर्वायाम्" जैसे उल्लेखों से उसका परिमाण ठीक विक्रम-संवत् से मिलता-जुलता है। ग्यारसपुर (भेलसा) के संवत् ९३६ वाले लेख में उसे मालव देश का संवत बताया है। इससे यह सिद्ध है कि विक्रम-संवत् मालवा के मालवगण द्वारा ही प्रचलित हुआ था। जब बहुत काल बीत जाने पर सर्व साधारण जनता को मालव-गणाधिपति विक्रमादित्य की विस्मृति होने लगी, तब मालव-संवत् बाद में विक्रम-संवत में परिणत किया गया, जो उस महापुरुष की स्मृति अमर रखने के सर्वथा योग्य था। विक्रम-संवत् का सबसे पहला उल्लेख धौलपुर में प्राप्त चण्डमहासेन के संवत् ८९८ के शिलालेख में पाया जाता है। अनन्तर बिजापुर के राष्ट्रकूट विदग्धराज के संवत् ९७३ वाले लेख में 'विक्रमगतकाल' तथा नवसारी में प्राप्त चालुक्य कर्कराज के संवत् ११३१ के ताम्रपट में भी 'विक्रमादित्योत्पादित संवत्सर' जैसा उल्लेख पाया जाता है। इससे यह सिद्ध है कि जिस प्रकार गुप्त-संवत् अनन्तर वल्लभी में परिवर्तित हो गया, उसी प्रकार मालव-संवत् का भी विक्रम-संवत् में रूपान्तर हो गया। गुजरात के चालुक्यों ने उसका खूब प्रचार किया।

इस प्रकार हम महान् सम्राट् विक्रमादित्य, तथा विक्रम-संवत् सम्बन्धी विभिन्न इतिहासज्ञों के दृष्टिकोणों का विहंगावलोकन कर चुके। अभी स्पष्ट प्रमाणाभाव के कारण तत्सम्बन्धी एक मत नहीं हो सका है। अतएव हमें भावी अन्वेषण की बाट देखना ही उचित मालूम देता है। जनश्रुतियाँ तथा प्राप्त साधनों के आधार पर तो यही कहना अलम् होगा कि —

> यत्कृतम् यन्न केनापि, यद्दत्तं यन्न केनचित्।
> यत्साधितमसाध्यं च विक्रमार्केण भूभुजा॥

अर्थात् विक्रमादित्य ने वह किया जो आज तक किसी ने नहीं किया, वह दान दिया जो आज तक किसी ने नहीं दिया तथा वह असाध्य साधना की जो आज तक किसी ने नहीं की, अतएव उनका नाम अमर रहेगा।

विक्रम का न्याय

मेजर सरदार श्री कृ० दौ० महाडिक

जिस प्रकार आज कोई भारतवासी यह जानने का प्रयत्न नही करता कि राम और कृष्ण भारतीय इतिहास के किस काल मे हुए थे और वे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं भी या नही, परन्तु उनको अपने जीवन का आदर्श तथा उद्धारक मानता हैं; ठीक उसी प्रकार भारतवर्ष की जनता मे विक्रमादित्य भी ऐतिहासिक राजा न होकर भारतवर्ष के आदर्श नरेश की भावना-मात्र रह गया है। विक्रमादित्य का नाम लेते ही हमारे हृदय-पटल पर एक आदर्श नृपति की तसवीर खिच जाती है। विक्रमादित्य के विषय मे प्रचलित दन्तकथाओं मे ऐतिहासिक सत्य कितना है यह विवाद की बात है, परन्तु उनमे भारतीय जनता की विक्रम-भावना का पूर्ण समावेश है, इसमे सन्देह नही।

भारतीय न्याय का सच्चा आदर्श क्या है इसे पूरी तरह जानने के लिए हमे प्राचीन स्मृतियो के साथ इन विक्रम-विषयक दन्तकथाओं से भी सहायता मिल सकती है। विक्रमादित्य के न्याय के विषय मे एक कथा नीचे लिखे प्रकार से जनता मे प्रचलित है। महाराज विक्रमादित्य रात्रि मे अपनी राजधानी मे गश्त लगाया करते थे। एक दिन जब वे वेश बदले हुए घूम रहे थे तो उन्होने देखा कि कुछ चोर चोरी की तैयारी मे है। राजा ने सोचा कि इन्हें दण्ड देने की अपेक्षा इनका सदा के लिए सुधार कर देना अधिक उचित होगा। इस विचार से राजा उनसे मिले और अपने आपको उनका सहधर्मी बतलाकर उनके साथ हो लिए। वे लोग एक धनवान व्यक्ति के यहाँ चोरी करने गए और बहुतसी सम्पत्ति ले आए। जब उस सम्पत्ति का बटवारा हो रहा था उस समय महाराज वहाँ से चल दिए और नगर-रक्षको द्वारा उन चोरों को पकड़वाकर सवेरे दरबार मे उपस्थित करने को कहा। दूसरे दिन दरबार मे चोरो ने देखा कि रात का उनका साथी स्वयं सिंहासन पर बैठा है। उन्होने कहा "राजा! जिस कार्य मे आप स्वय हमारे साथ थे, उसमे हमें दण्ड कैसा"? राजा ने उनसे कहा कि तुम्हारे बचने का एक ही मार्ग है। यदि तुम कभी चोरी न करने का प्रण करो और आगे परिश्रम करके अपनी जीविका उत्पन्न करने का वचन दो तो तुम्हे मुक्ति मिल सकती है। उनके वचन देने पर राजा ने उन्हे मुक्त कर दिया, उनके रोजगार का उचित प्रवन्ध कर दिया और धनवान व्यक्ति का सब धन उसे वापस लौटा दिया।

* विक्रमोद्बोधन *

श्री हरिकृष्ण प्रेमी

वत्स,
मेरी जीवन-वल्लरि के फूल,
मेरी चरम साधनाओं के फल,
मेरी कठिन तपस्याओं के वरदान मधुर,
तुम पर केन्द्रित
भारत की आशाएँ, अभिलाषाएँ।
मैंने तुमको दूध पिलाया,
गोद खिलाया,
आँखों की पुतली सा तुमको
उर की ममता की पलकों के
भीतर रक्खा सदा सुरक्षित,
पुष्ट किया तन को—
सह्याद्रि पर्वतों की चट्टानों सा।
और हृदय को जोश दिया है
नर्मदा, ताप्ती, गोदावरी नदी की
प्रबल धार सा,
चली जा रही चीर
कठिन अन्तर जो गिरिमालाओं का।
तुम इस महाराष्ट्र के वासी
जिसके पर्वत नहीं पिघलते।
जो रण में जाकर
रिपु के शस्त्रों से भीत न होते।
मैंने तुम्हें सिखाया—
मस्तक को पर्वत सा
सदा उठाए रहना,
मैंने तुम्हें सिखाया—
सरिता की धारा सा
जीवन सदा बहाते रहना।
तुमको मैंने दिया जगत् को,
जैसे दिया अमर कटक ने
दान नर्मदा के यौवन का।
तुम मेरी आँखों के प्रकाश हो।
आज तुम्हें मैं भेज रही हूँ
भारत की आशा को ज्योतित करने।
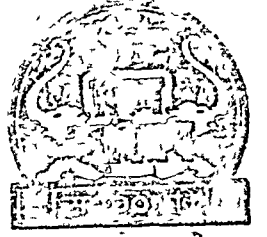
विक्रमोद्‌बोधन

जाओ,
जाओ वत्स, सातकर्णि,
गौतमीपुत्र, द्रुत
महामृत्यु से खेल खेलने,
रिपु के प्रवल सैन्य से लोहा लेने,
और देश का मान बढ़ाने,
भारत को स्वाधीन बनाने,
जाओ ।
जाओ क्षिप्रा के तट पर,
जहाँ विदेशी शक शूरों से
लड़ते हुए,
हुए स्वर्ग के अतिथि
तुम्हारे पिता,
गर्व जिन पर
करते थे सभी सातवाहन,
जो भारत को
पदमर्दित होते नहीं देख सकते थे,
इसीलिये जो
स्वतंत्रता के महायज्ञ की
आहुति बनकर
अमर हो गए ।
मैं जीवित रह गई,
सती न हुई,
नारि-धर्म की मर्यादा को भूली,
क्योंकि धर्म से देश बड़ा है ।
स्वर्ग-सिद्धि से,
जग के हित में
सहते रहना क्लेश, बड़ा है ।
दुखी देश के दुख में
लेने भाग, मुक्ति को भी ठुकराया ।
यह वैधव्य शीश पर लादा
केवल इस आशा से—
यह मेरा नन्हा सा बालक
होगा बड़ा,
और हाथों में
लेगा यह तलवार तीक्ष्णतम,
स्नान कराएगा यह उसको
तप्त-रक्त से उनके,
जिनने भारत की
इस स्वर्ण-भूमि को
है किया पददलित,
रखा निरापद नहीं किसी का जीवन,
जो भारत के वैभव से
हो आकर्षित
आ गए लूटने-खाने ।

× × ×

यह भारत
जिसके बल-विक्रम का
जयनाद हुआ
भूमंडल के प्रत्येक देश में,
जिसका ज्ञान और विज्ञान
मार्ग दिखाता मानवता को;
जिसकी संस्कृति के चरणों पर
फूल चढ़ाते
रोम और यूनान देश थे,
जिसके पोत अखिल विश्व के
महासिंधुओं की
छाती को चीरा करते;
जिसके व्यवसायों पर
वसुधा का जीवन है निर्भर,
कला और साहित्य जहाँ के
हैं आदित्य समान प्रकाशित,
जिसने दुनियाँ को
दिया दान समता का, मानवता का,
जिसने निर्माण किए
साम्राज्य नहीं,
प्रभुता के बन्धन से
बाँधा संसार नहीं;
जिसने पाकर शक्ति और वैभव
किया न पीड़ित जग का जीवन;
जिसने अखिल विश्व की
मानवता को एक कुटुंब समान बनाया;
आज वही भारत,
हो रहा त्रस्त ।

× × ×

श्री हरिकृष्ण प्रेमी

ये वर्वर शक
लूट रहे भारत का वैभव,
जो धन द्रव्य, परिश्रम कर,
करते हैं अर्जित भारतवासी,
उसे लूट कर ले जाते हैं,
शकस्तान के
प्रासादों का शृंगार सजाने,
भारत के लोगों को जो
ले जाते वरवस दास वनाकर,
रखते हैं जिनको
पशुओं से भी वुरी तरह,
जो भारत के नर-नारी के
स्वाभिमान का
मूल्य समझते नहीं जरा भी।
वौद्ध और जैनों को फुसला
खड़ा किया है
वैष्णव और शैव लोगों के सम्मुख।
वत्स, स्वार्थ से अन्धे होकर
काट रहे ये
अपनी ही माता के अवयव।

× × ×

वत्स,
समय आया है
जव तुम शौर्य दिखाओ,
भारत के कोने-कोने में
शब्द गौतमी के पहुँचाओ,
वौद्ध जन-वैष्णव—
शव द्रविड आर्य—
सव पुत्र एक जननी के,
एकत्रित हो
दूर करो अपने कन्धों से
जुआ दासता का दुखदाई।
वढते चले आ रहे हैं
दलते हुए देश का जीवन,
वादल दल से,
ये वर्वर शक।
वत्स, इन्हें दिखलाओ
भारत की तलवार वही
जो चन्द्रगुप्त ने
दिखलाई थी सेल्यूकस को।
याद रखो तुम राजनीति वह
वता गया कौटिल्य हमें जो।
दया, अहिंसा, प्रेम
कर न सकेंगे काम
वर्वर शक लोगों के आगे।
गीता का सन्देश
कर्म करने का मत भूलो।
पौरुष दिखलाओ,
आत्मा अमर,
न उसको कोई मार सकेगा।
सातकर्णि, तुम जाओ
और नया युग लाओ।
भारत के विक्रम का, जय का
नव सवत्सर तुम करो प्रवर्तित।
मुझको है विश्वास शत्रु के रक्त से
अभिषेक करूंगी शीघ्र तुम्हारा।
उज्जयिनी के
महाकाल के मन्दिर में
फिर से हों घंटे की ध्वनि
वन्द पडी है जो वर्षों से।
महाकाल वनकर तुम जाओ,
जाओ।*

*कविवर 'प्रेमी' ने श्री जायसवाल के आधार पर गौतमीपुत्र सातकर्णि को मूल विक्रमादित्य मानकर यह सुन्दर कविता लिखी है। सं०।
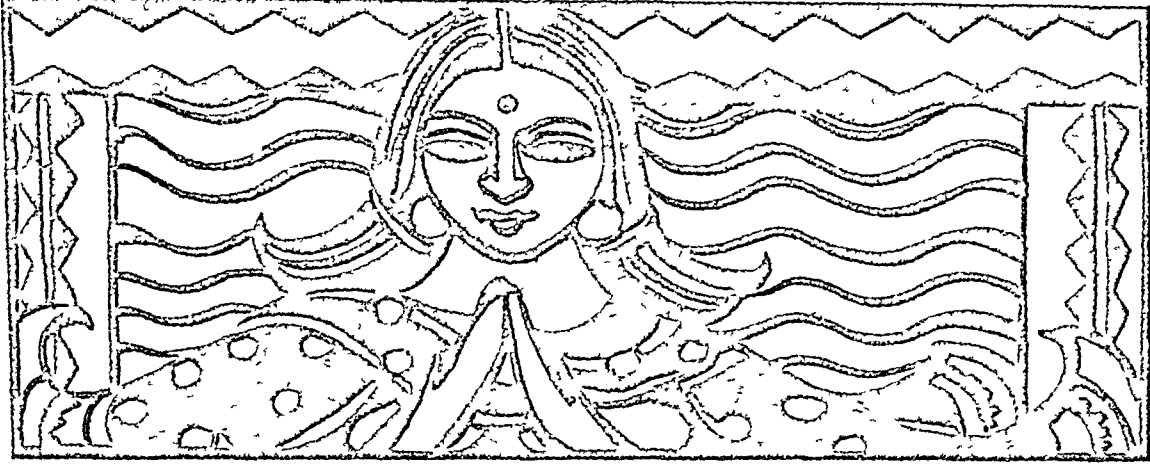
विक्रमकालीन न्यायालय

श्री गोविन्दराव कृष्णराव शिन्दे, बार-एट-लॉ

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

भारतीय संस्कृति का विकास—प्राचीन भारतीय संस्कृति की यह एक विशेषता रही है कि देश में अनेक राजनीतिक हलचलों के होते हुए भी उसके विकास मे कोई बाधा नही आई है। जो नवीन परिस्थिति उत्पन्न होती थी उसका समन्वय करके और उसे अपने आपमे घुला-मिलाकर वह आगे बढ़ने लगती थी। इसका प्रधान कारण तो यह था कि जब नगरों और राज्यों मे राजवंश बदलते थे उस समय भारत की ग्राम-संस्था तथा यहाँ के ऋषि मुनियों के आश्रम सुरक्षित ही रहते थे। समाज का नियंत्रण करनेवाले शास्त्रों की रचना होती थी इन आश्रमों में, और उनका पालन होता था ग्रामों में। भारतीय संस्कृति के ये दो मूलाधार जब तक अविचल रहे तब तक भारतीय संस्कृति नियमित तथा दृढ़ रूप से प्रगति करती रही। प्राचीन भारत के न्यायालयो तथा उनके द्वारा प्रयुक्त नियमों आदि पर विचार करते समय भी इस तथ्य पर ध्यान रखना आवश्यक है। बहुत समय तक अविच्छिन्न रहनेवाले प्रवाह द्वारा निर्मित होने के कारण न्यायालय एवं न्याय की भावना प्राचीन भारत में प्रायः एकसी रही। बाह्य परिस्थितियों के कारण कुछ विस्तार की बातो मे भले ही अन्तर आ जाय, परन्तु मूल सिद्धान्त वेही रहे है।

विक्रमकालीन न्यायालय से तात्पर्य—इस बात का निर्णय तो इतिहास के विद्वान् करेगे कि विक्रमादित्य कौन थे, वह केवल एक विरुद है अथवा नाम, वे चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त थे अथवा मालवगण के नेता? हमारे निबन्ध के आशय के लिए तो यह मानना ही बहुत है कि विक्रमीय संवत्सर दो सहस्र वर्ष पुराना है, भले ही उसके नाम बदलते रहे हों। और हम जब विक्रमकालीन न्यायालयों पर विचार करना चाहते है तो हमारा काम केवल इतने से चल जाता है कि हम ईसवी पूर्व प्रथम शती के आसपास के भारतीय न्यायालयो की खोजबीन करें।

उस समय के न्यायालयों से सम्बन्धित शास्त्रों की जब हम खोज करने निकलते है तो हमारी दृष्टि मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति पर पड़ती है। भारतीय इतिहास के पंडित मनुस्मृति का रचनाकाल ईसा से १७० वर्ष पूर्व के लगभग

मानते ह और याज्ञवल्क्य का समय ईसा की दूसरी शताब्दी बतलाया जाता ह। इस बीच में इन्हीं दोना स्मृतियो के सिद्धान्त माने जाते थे। अतएव यदि अपने विषय का प्रतिपादन हम इन दोना स्मृतिया को प्रधान आधार बनाकर करें तो हम लगभग यह कह सकते हैं कि हमने विक्रमकालीन न्यायालय का विवेचन किया ह। इन दोना स्मृतिया के अतिरिक्त यदि अन्य ग्रन्था का सहारा लिया जाय तब इन न्यायालया का चित्र और भी स्पष्ट हो जाता है। अत इन दोना स्मृतियो को मूलाधार बनाकर साथ-साथ तद्विषयक अन्य ग्रन्थो का उपयोग भी इस लेख में किया गया है।

मामला के पद—आज जिस प्रकार न्यायालय अपराध अथवा सम्पत्ति सम्बन्धी दो विभागा में बटे हुए ह उस प्रकार प्राचीनकाल में नहीं थे। एक ही न्यायालय दोना प्रकार के मामला में निणय दे देता था। मनु ने सम्पूण मामला को अठारह भागा में बाँट दिया है —(१) ऋण (२) धरोहर (३) बिना स्वामित्व के कोई माल बेच देना (४) साझेदारी (५) दी हुई वस्तु वापिस ले लेना (६) वेतन न देना (७) ठहरावो का पालन न करना (८) क्रय विक्रय में बदल जाना (९) पशुआ के स्वामी तथा पालका के बीच विवाद (१०) सीमा-विवाद (११) मारपीट (१२) गाली (१३)चोरी (१४) साहस (१५) व्यभिचार (१६) पति-पत्नी के कत्तव्य (१७) बटवारा और (१८) जुआ।*

नारद ने इनको एकसौ तीस प्रकारा म विभाजित कर दिया है। इस प्रकार प्राय सभी साम्पत्तिक एव अपराध सम्बन्धी झगडे इन 'पदा' पर चल सकत थे।

राजा का कत्तव्य—न्यायदान करना राजा का प्रधान कत्तव्य था। राज्य म जो पाप अथवा अनाचार किये जाते थे उनका उत्तरदायित्व राजा पर होता था। यदि राजा द्वारा किसी निरपराध को दण्ड मिल जाय अथवा अपराधी को दण्ड न मिले तो उस अपयश के अतिरिक्त नरकवास का भय था।† राजा से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसको प्रजा के शासन का अधिकार हो, यह आवश्यक नही कि वह क्षत्रिय ही हो। इसके अतिरिक्त इससे यह ज्ञात होता है कि स्मृतिकार की दृष्टि में केवल राजतन्त्र ही नही थे, गणतन्त्र भी थे। न्याय करते समय नृप का क्रोध और लोभ से रहित होना चाहिए। न्यायदान में व्यक्तिगत द्वेष अथवा अन्य कारणा से उत्पन्न हुए क्रोध को भी स्थान नही था और न आर्थिक लाभ को स्थान था।‡

---

* तेषामाद्यमृणादान निक्षेपोऽस्वामिविक्रय ।
सम्भूय च समुत्थान दत्तस्यानपकर्म च ॥
वेतनस्यैव चादान सविदश्च व्यतिक्रम ।
क्रयविक्रयानुशयो विवाद स्वामिपालयो ॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।
स्तेय च साहस चैव स्त्रीसग्रहणमेव च ॥
स्त्रीपुधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ मनु० अ० ८ श्लो० ४-७ ॥

† अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्याश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरक चैव गच्छति ॥ मनु० अ० ८ श्लो० १२९ ॥

‡ यह व्यवस्था भारत के न्याय की ईसवी सन् के बहुत पूव की है। इसके विपरीत इसकी उस समय के बहुत बाद की योरोप में प्रचलित न्याय प्रणाली से तुलना करना उपयोगी होगा। नॉरमन काल की न्याय पद्धति पर लिखते हुए कम्ब्रिज विश्व विद्यालय के राजनियम के अध्यापक श्री जक्सन लिखते ह —

"The holding of Courts was not thought of as being a public service. The right to hold a Court and take the profit to

न्यायालय के सदस्य—इतने प्रतिबन्धों के साथ भी राजा अकेला न्यायदान करने के लिए नही बैठता था। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि न्याय करते समय राजा के पास सम्मति देनेवाले ब्राह्मण भी होने चाहिए और उसे ऐसे सभासद भी (जिनकी संख्या सात, पाँच या तीन होना चाहिए) अपने साथ के लिए चुन लेने चाहिए जिनमे नीचे लिखे गुण हो *:—

(१) जो मीमांसा, व्याकरण आदि जानते हों,

(२) जिन्होंने वेदादि का अध्ययन किया हो,

(३) जो धर्मशास्त्र जानते हों,

(४) जो सत्यवक्ता हों और

(५) जो शत्रु तथा मित्र को समान समझते हों।

इनके अतिरिक्त कात्यायन ने यह भी लिखा है कि सभा मे ऐसे वैश्यों को भी बैठाया जाय जो धर्मशास्त्र के नियम समझते हों।

अन्य अधिकारी—राजा को चाहिए कि ऐसे दो व्यक्तियों को क्रमशः गणक † (Accountant) तथा लेखक (Scribe) नियुक्त करे ‡ जिनमे नीचे लिखे गुण हों:—

(१) जो व्याकरण जानते हों,

(२) जो अभिधान (कोष) के जानकार हों,

(३) जो पवित्र हों, और

(४) जो विभिन्न लिपियो के ज्ञाता हों।

इनके अतिरिक्त एक सत्यनिष्ठ, विश्वसनीय एवं बलिष्ठ शूद्र साध्यपाल के रूप मे नियुक्त किया जाता था, जो साक्षियों और वादी-प्रतिवादियों को लाता था तथा उनकी रक्षा करता था एवं मामलों के अन्य साधन उपलब्ध करता था।

प्राड्विवाक—इस अधिकारी की स्थिति राजा की उपस्थिति मे कुछ स्मृतियों में अनिश्चितसी है। याज्ञवल्क्य स्मृति में ऊपर उल्लिखित अधिकारियों के अतिरिक्त, राजा के उपस्थित रहते और किसी अधिकारी की आवश्यकता नहीं बतलाई है। परन्तु नारद ⁑ और व्यास की यह सम्मति ज्ञात होती है कि राजा की मौजूदगी मे भी प्राड्विवाक (मुख्य न्यायाधीश) होना चाहिए। इनके मतानुसार इसका कार्य राजा की उपस्थिति मे अर्थी और प्रत्यर्थी से प्रश्न करना और उसके कथनो की जाँच करना है।

---

be made, was more in the nature of private property. It was on the same footing as the right to run a ferry and exclude anyone else from running a ferry in competition."

"The Machinery of Justice in England" p. 2.

* श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः॥ याज्ञवल्क्य॥

† शब्दाभिधानतत्वज्ञौ गणना कुशलौ शुची।
नानालिपिज्ञौ कर्तव्यौ राज्ञा गणकलेखकौ॥

‡ इन गणक और लेखक को मृच्छकटिक में क्रमशः 'श्रेष्ठि' और 'कायस्थ' कहा है।

⁑ धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः।
समाहितमतिः पश्येद्व्यवहाराननुक्रमादिति॥

दिये जाते थे।* इन न्यायालयो को विशेष प्रकार के मामले सुनने का अधिकार था, क्योकि प्राचीन न्याय-पद्धति का यह मान्य सिद्धान्त था कि जिस प्रकार का मामला हो उसे सुनने के लिए उसी प्रकार की न्याय-सभा होना चाहिए।

कुल द्वारा किये हुए निणय पर श्रेणी, और श्रेणी के निणय पर पूग, एव पूग पर राजा द्वारा अधिकृत पदाधिकारी विचार कर सकते थे। इस नृप द्वारा अधिकृत व्यक्ति के निर्णय के विरुद्ध राजा स्वय अपील सुनता था।

वास्तव में प्राचीन भारत की यह विशेषता थी कि राजा तक बहुत कम मामले जाते थे। कुल, श्रेणी एव गणा की न्याय सभाएँ ही उन्ह निपटा देती थीं। कुछ प्रकरण ऐसे अवश्य थे जिन्हें केवल उच्च न्यायालय ही सुन सकते थे। उदाहरणार्थ 'साहस' (गम्भीर अपराध) पूग या गण के न्यायालय नही सुन सकते थे।

कायवाही लिखी जाती थी—ऊपर लिखा जा चुका है कि न्याय-सभा में एक लेखक अथवा कायस्थ भी होता था। उसका काय कायवाही के आवश्यक विवरण लिखना था। न्याय के लिए प्राथना-पत्र लिखित प्रस्तुत नही होते थे। प्रत्यर्थी (मुद्दाअलेह अथवा मुजरिम) के उपस्थित हो जाने पर अर्थी (मुद्दई अथवा फरियादी) का कथन लिख लिया जाता था और उसके नीचे उसका नाम जाति आदि लिखी जाती थी तथा साल मास और दिन भी लिखा जाता था।† कात्यायन ने इसके लिखने की विधि विस्तारपूर्वक बताई है। वे कहते ह कि अर्थी का यह कथन पहले खडिया से काष्ठ-फलक पर लिखा जाय और फिर शोधन करके पत्र (कागज या अन्य भोज-पत्र आदि) पर लिखा जाय। इसी प्रकार अर्थी की उपस्थिति में प्रत्यर्थी का उत्तर लिखा जाता था। ऐसा प्रत्युत्तर लिखा जाने के पश्चात् ही अर्थी को वे साधन (साक्ष्य) लिखा देने पडते थे जिनसे वह अपने कथन की पुष्टि करता था। साक्षिया के कथन भी लिखे जाते थे।‡ और अन्त में जय-पत्र (डिग्री) लिखा जाता था। इस जय-पत्र में अर्थी-प्रत्यर्थी के कथन, दोना पक्षा का साक्ष्य और सभा का निणय तथा उससे लागू होनेवाला न्याय का सिद्धान्त लिखा जाता था। उस पर अध्यक्ष के हस्ताक्षर तथा राजकीय मुद्रा लगाई जाती थी।

वकील—यहाँ इस बात पर भी विचार प्रकट कर देना समीचीन होगा कि प्राचीन राज-सभाओ मे वकीला द्वारा पैरवी होती थी अथवा नही। यह तो निश्चित है कि जिस रूप में आज वकील कार्य करते ह उस रूप में न तो प्राचीन भारत में कोई वग था और न योरप में ही। आज वकीला के प्रधानत दो काय है। एक तो वे मामले को राजनियम के अनुसार अग्रसर करने में न्यायालय के सहायक होते ह और दूसरे वे अर्थी अथवा प्रत्यर्थी के स्थान पर उपस्थित होते है। प्राचीन भारत में न्यायसभा की जो बनावट थी उसके कारण पहले काय के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता न हो सकती थी। न्यायसभा म उपस्थित ब्राह्मणा एव नियुक्त सभ्यो का यही कार्य था। वे धमशास्त्र के नियमो में पारगत होते थे। उनकी उपस्थिति में प्राड्विवाक या राजा राजनियम सम्बन्धी भूल न कर सकता था।

दूसरे काय के लिए, अर्थात् स्वय उपस्थित न होकर दूसरे को नियुक्त करने का आदेश स्मृतिया में ह। अप्रगल्भ, जड, वृद्ध, स्त्री, बालक और रोगिया को यह अधिकार था कि वे अपनी ओर से कथन करने के लिए या उत्तर देने के लिए उचित रूप से नियुक्त व्यक्ति भेजें।§ इनके कथनो पर जय या पराजय अवलम्बित होती थी।‖ ऐसे व्यक्तियो को,

---

* नृपेणाधिकृता पूगा श्रेणयोऽथ कुलानि च।
पूर्व पूर्व गु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्॥ याज्ञवल्क्य।

† प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्य यथावेदितमर्थिना।
समामासतदर्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितम्॥ याज्ञवल्क्य।

‡ मृच्छकटिक, नवम् अक।

§ अप्रगल्भजडोन्मत्तवृद्धस्त्रीबालरोगिणाम्॥
पूर्वोत्तर वदेद्बन्धुर्नियुक्तोऽन्योऽथवा नर॥ बृहस्पति।

‖ अर्थिना सनियुक्तो वा प्रत्यर्थिप्रेरितोऽपि वा।
यो यस्यार्थे विवदते तयोजयपराजयौ॥ नारद।

श्री गोविन्दराव कृष्णराव शिन्दे

जो पक्षकारों के न तो निकट सम्बन्धी होते थे और न विधिवत् नियुक्त होते थे, यदि वे किसी पक्षकार की ओर से बोलते थे, दण्ड मिलता था।‡

जिस प्रकार आज कुछ गम्भीर अपराधों की दशा में न्यायालय में व्यक्तिगत उपस्थिति अनिवार्य होती है या अनिवार्य की जा सकती है, उसी प्रकार प्राचीन भारत मे भी नियम था। कुछ अपराध ऐसे थे जिनके विचार मे स्वयं उपस्थित होना पड़ता था।‡

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि वकीलों का वर्ग वर्तमान रूप में प्राचीन भारत में नही था, फिर भी उनके कारण जो भी सुविधा आजकल मिलती है, वह प्राचीनकाल में भी प्राप्त थी।

मृच्छकटिक—शूद्रक का मृच्छकटिक नाटक कुछ विद्वानों के मत से ई० पू० प्रथम शताब्दी अर्थात् हमारे विक्रम-काल मे लिखा गया है। अपने निर्माणकाल के सामाजिक जीवन का इसमे बहुत सुन्दर चित्रण है। सौभाग्य से उसमे एक मुकद्मे का भी वर्णन आगया है। स्मृतियों मे दिए हुए सिद्धान्तों का कार्यान्वित रूप क्या था यह इससे प्रकट होता है। इसमें न्यायालय और उससे सम्बन्धित कर्मचारियों के नाम आए है। मृच्छकटिक के व्यवहार नामक नवम् अंक मे सबसे आरम्भ मे 'शोधनक' आता है। इस कर्मचारी का कार्य आसनों को सजाना, कार्यार्थियो को बुलाना आदि था। यही सम्भवतः स्मृतियों का 'साध्यपाल' है। आजकल के चपरासी और खल्लासी दोनों का कार्य इसने किया है। न्याय-सभा को 'व्यवहार-मण्डप' कहा गया है और न्यायाधीश को 'अधिकरणिक'। यही स्मृतियो का प्राड्विवाक् है। इसके साथ ही श्रेष्ठि तथा कायस्थ आते हैं। अधिकरणिक, श्रेष्ठि एव कायस्थ आदि के यथा स्थान बैठ जाने पर शोधनक 'व्यवहार-मण्डप' के बाहर जाकर आवाज लगाता है कि जो कार्यार्थी हो वे अपने मामले प्रस्तुत करे। आगे प्रकट होता है कि अभियोग मौखिक ही निवेदन किया जाता था और 'कायस्थ' उसे लिखता था। यह लिखना प्रारम्भ मे खरिया द्वारा ही होते है। आगे मामले के पक्षकार एवं न्यायाधीश का कर्त्तव्य भी बतलाया गया है। अर्थी और प्रत्यार्थी के ऊपर घटनाओं को सिद्ध करने का भार था तथा न्यायाधीश का कर्त्तव्य उनका अर्थ निर्धारित करना था। न्याय का कार्यक्रम प्रारम्भ होते ही सब सम्बन्धित व्यक्ति बुलाए जाते है।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। मृच्छकटिक मे अभियुक्त को उस समय तक निर्दोष समझकर उसका पूर्ण सम्मान किया गया है जब तक कि उसपर अभियोग सिद्ध नही हो गया। कथन लेने की प्रणाली भी आजकल के न्यायालयों के समान ही बतलाई गई है। न्यायाधीश, श्रेष्ठि एवं कायस्थ अभियुक्त से प्रश्न करते है। अभियोग के प्रमाणित होते ही अभियुक्त को आसन पर से उठाकर भूमि पर बैठा दिया जाता है। न्यायाधीश (अधिकरणिक) केवल निर्णय देता है, दण्ड का विधान राजा के हाथ मे ही है। राजा के पास निर्णय तुरन्त ही भेज दिया जाता है और वह दण्ड की व्यवस्था भी उसी समय कर देता है। बध-दण्ड की व्यवस्था होने के कारण अपराधी 'चाण्डाल' को सौप दिया जाता है।

इस दृश्य में दो तीन बातें बहुत मार्के की है। अभियोगी राजा का साला है, परन्तु फिर भी अभियुक्त को प्रारम्भ मे निरपराध समझकर ही आदर मिलता है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि न्यायाधीश चारुदत्त को निरपराध समझता है, परन्तु फिर भी प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने उसे झुकना पड़ता है; भले ही उसकी सहानुभूति अन्त तक चारुदत्त के साथ रहती है। तीसरी बात न्याय की शीघ्रता है।

---

‡ यो न भ्राता न च पिता न पुत्रो न नियोगकृत्।
परार्थवादी दंड्य, स्याद्व्यवहारेषु विब्रुवन ॥ कात्यायन।

‡ ब्रह्महत्यासुरापाने स्तेयेषु गुर्वगनागमे।
मनुष्यमारणे स्तेये परदाराभिमर्शने ॥
अभक्ष्यभक्षणे चैव कन्याहरणदूषणे।
पारुष्ये कूटकरणे नृपद्रोहे तथैव च ॥ कात्यायन।

मिलता-जुलता जना में प्रचलित पाठ है, जिसमें लिखा है कि वह सिंहासन बत्तीस पुतलियों से सुशोभित था। इस प्रकार हम देखते है कि सिंहासन बत्तीसी के विभिन्न पाठकारो ने इन पुतलियो का स्थान अलग-अलग कल्पित किया है।*

इन पुतलियो के विषय में भी एक कथा प्रचलित है। यह बत्तीस पुतलियाँ पूर्व में पार्वती की सखियाँ बत्तीस सुराङ्गनाएँ थी। एक बार वे एक सुन्दर आसन पर बैठी हुई थीं कि उन्हे भगवान् शकर ने विलासपूर्ण दृष्टि से देखा। भगवती गौरी ने इसे देख लिया और क्रुद्ध हो शाप दिया "निर्जीव पुत्तलिकाएँ होकर इन्द्र के सिंहासन से लग जाओ"। इस कथा से इस सिंहासन की कल्पना और भी स्पष्ट हो जाती है। यह सिंहासन इन पुतलियो के उसमे लगने के पूर्व ही पूर्ण था। यह तो पीछे से आकर लग गई थीं।

इन्द्र प्रदत्त विक्रम के इस सिंहासन का मूलरूप कल्पित करने के लिए भारत के प्राचीन शिल्पशास्त्र में वर्णित सिंहासन के आकार-प्रकार पर दृष्टि डालना उचित होगा।

सिंहासन से तात्पर्य है सिंह-मुद्रित मनोहर आसन (मानसार, अध्याय ४५ श्लोक २०४)। यह सिंहासन राजाओ के लिए होता था। राजाओ के राज्याभिषेक के लिए सिंहासन का होना आवश्यक समझा गया है। प्राचीन भारत में ही क्या, ससार के समस्त प्राचीन तथा अर्वाचीन देशो में राज्याभिषेक के समय विशिष्ट एव बहुमूल्य आसनो का उपयोग होता रहा है। प्राचीन भारत में अभिषेक की चार स्थितियाँ मानी गई है और उनके अनुसार चार प्रकार के सिंहासनो का वर्णन है (१) प्रथमासन (२) मगलासन (३) वीरासन और (४) विजयासन।

इन आसनो के भी दस प्रकार बतलाए गए है (१) पद्मासन (२) पद्मकेसर (३) पद्मभद्र (४) श्रीभद्र (५) श्रीविशाल (६) श्रीबन्ध (७) श्रीमुख (८) भद्रासन (९) पद्मबन्ध और (१०) पादबन्ध। बैठनेवाले नरेन्द्र की स्थिति के अनुसार ये आसन बनवाये जाते थे। पद्मासन नामक सिंहासन शिव अथवा विष्णु के लिए होता था। पद्मभद्र चक्रवर्ती नरेश प्रयोग करते थे, श्रीमुख मडलेशो के काम में आता था, और पादबन्ध 'अष्टगृह' राजाओ के उपयोग की वस्तु थी।

सिंहासन के पाए सिंह की आकृति के होते थे, परन्तु पादबन्ध आसनो में तथा वश्य तथा शूद्र जाति के छोटे राजाओ के आसनो में सिंह की आकृति नही बनाई जाती थी और उनके केवल चार पाए होते थे। अन्य सिंहासनो के छह पाए हुआ करते थे।

---

* सिंहासन बत्तीसी के चार पाठ मिले है। इनमें सिंहासन के विषय में नीचे लिखे पाठ मिलते है —

(१) महार्घवररत्नखचितम् सिंहासनम् .... तत्सिंहासने खचिता द्वात्रिंशत पुत्तलिका सन्ति। तासाम् शिरसि पदम् निधाय तत्सिंहासन अध्यासितव्याम्। (दक्षिण पाठ)

(२) —— — — रत्नसिंहासनम् महत्।
उपसिंहासनानि अत्र द्वात्रिंशत् तेषु पुत्रिका।
तन्मूर्धनि चरण न्यस्य समारोहेत् महासनम्।
अस्मिन् सिंहासनेस्थित्वा सहस्रम् शरदम् सुखम्।
भुव पालय भूपाल ... "॥ (श्लोकबद्ध पाठ)

(३) दिव्यरत्नखचितम् चन्द्रकान्तमणिमयं सिंहासनम् च दत्तम्।
तस्मिन् सिंहासने देदीप्यमानास् तेज पुञ्ज इव द्वात्रिंशत पुत्तलिका सन्ति। (सक्षिप्त पाठ)

(४) द्वात्रिंशच्चालिभंजिका चालितम् कान्तचन्द्रकान्तमणिमयम् । (जैन पाठ)
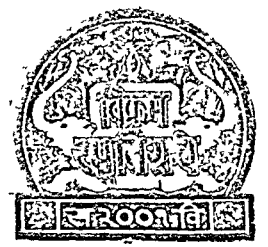
श्री मालोजीराव नृ० शितोले

हिन्दू धर्मशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार राजा की अथवा राजसंस्था की उत्पत्ति दैवी वतलाई गई है। इस संसार में अराजकता के कारण जो कष्ट फैले हुए थे उन्हे मिटाने के लिए तथा जगत् के रक्षार्थ ईश्वर ने राजा को बनाया और इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुवेर के अंश से उसका निर्माण किया *।

यदि राजा से तात्पर्य केवल एकतंत्री राजा से न मानकर शासन करनेवाली संस्था के प्रतिनिधि से लिया जाय तो ये लक्षण किसी भी शासन-प्रणाली से लागू हो सकते है।

इस राजा के अधिकार का मूल धर्मशास्त्र के अनुसार राज्याभिषेक संस्कार है। प्राचीन ग्रन्थों मे अभिषेक की जो रीति वर्णित है उसमें सिंहासन का प्रधान स्थान है। राज्याभिषेक का सिंहासन † प्रारम्भ मे खदिर की लकड़ी का बना होता था और उस पर सिंह की चर्म विछी रहती थी। वह अत्यन्त विशाल होता था। अभिषेक के अतिरिक्त राज-सभा, न्यायसभा, एवं यज्ञों में भी राजा सुन्दर सिंहासनों पर आरूढ होता था।

राजा अथवा राज-संस्था की उत्पत्ति जब दैवी है, तो यह आवश्यक है कि सिंहासन की कल्पना के साथ-साथ दैवी भावना सम्वद्ध कर दी जाय। विक्रम के सिंहासन को भी इन्द्र द्वारा प्रदत्त कल्पित किया गया है। उसमे जो सौन्दर्य वर्धन के लिए वत्तीस पुत्तलिकाएँ लगी है, वे देवागनाएँ है, और वे इतनी सुन्दर है कि जिन्हे देखकर कामारि शंकर के मन में भी क्षोभ हुआ। अतः हम यह देखते है कि इस सिंहासन मे जिन-जिन बातो की कल्पना की गई है वे सार्थक तथा सहेतुक है।

इस सिंहासन की एक अन्य विशेषता है, उस पर वैठने का प्रभाव। इस सिंहासन को देते समय इन्द्र ने विक्रमादित्य से कहा था "इस सिंहासन पर बैठना और ससार की रक्षा करना"। इस पर बैठने का प्रभाव भी अद्भुत था। महादरिद्रमन ब्राह्मण भी जब उस टीले पर चढता था, जिसके नीचे यह सिंहासन दवा हुआ था, तो उसका हृदय अत्यन्त उदात्त एवं उदार विचारों से भर जाता था। राजा भोज ने भी इसकी परीक्षा की थी। वह स्वयं उस टीले पर चढ़ा और उसके हृदय मे राजोचित पूत विचारों का उदय इस प्रकार हुआ "मै संसार की रक्षा करूँगा, सव के दुःखों और क्लेशो का हरण करूँगा, समस्त संसार के कल्याण का प्रयत्न करूँगा, दैन्य का नाश करूँगा, पाप का उन्मूलन कर दूंगा, साधुओ का परित्राण और दुष्टों का विनाश करूँगा"। सिंहासन पर वैठने का प्रभाव ही इस प्रकार का हो कि राजा में उपयुक्त गुणों का अपनेआप स्फुरण हो और जिस राजा मे ये गुण न हों और प्रयत्न करने पर उत्पन्न भी न हो सकते हों उसे राजसिंहासन पर आसीन होने का अधिकार नही है, इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए ही मानो सिंहासनबत्तीसी लिखी गई है। विक्रमादित्य के परलोक गमन के पश्चात् जब मंत्रियो ने देखा कि ऐसा गुणवान राजकुमार उसके वंश मे नही है तो उसे अपवित्र और लाञ्छित कराने के वजाय भूमि मे गाड़ देना उचित समझा और जब एक सहस्र वर्ष उपरान्त राजा भोज ने उसपर आरोहण का प्रयत्न किया तो एक-एक पुतली ने विक्रम के एक-एक गुण का वर्णन किया और बहुत चुभता हुआ एवं सीधा प्रश्न किया "राजा भोज ! यदि तुझमे ये गुण हों तभी तू इस सिंहासन पर चढ़"।

---

* अराजकेहि लोकेऽस्मिन्सर्वतोविद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रानिर्हृत्य शाश्वतीः॥ मनुस्मृतिः अ० ७, श्लो० ३ तथा ४॥

† इस विषय में स्वर्गीय विद्वान् डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है—आविद् या घोषणा के उपरान्त राजा काठ के सिंहासन (आसन्दी) पर आरूढ़ होता है, जिस पर साधारणतः शेर की खाल बिछी रहती है। इस अवसर के लिए चार मंत्र है। आगे चलकर जब हाथीदाँत और सोने के सिंहासन वनने लगे, तब भी काठ के सिंहासन का व्यवहार किया जाता था।..........यज्ञों में भरतों के सिंहासन की बनावट या तर्ज प्रसिद्ध है। (देखिए हिन्दू राज्य-तंत्र, दूसरा खण्ड, पृष्ठ ४८)।

विक्रम का सिंहासन

राजा के लिए बहुमूल्य सिंहासन का निर्माण ससार के प्राय सभी देशों में होता था। राज्याभिषेक के उपरान्त भी उनका उपयोग होता था। योरप में पहले यह मच के ऊपर होता था जिसमें सीढ़ियाँ लगी होती थीं। इस पर आसीन होना वहाँ के राज्यारोहण-समारोह का एक विशेष अग था। सुलेमान के तख्त के विषय में कल्पना है कि वह हाथी दाँत का बना हुआ था और उस पर स्वर्णस्तर चढे हुए थे, उसके बाजुओं में दो सिंहों की मूर्तियाँ थीं और उसकी छै सीढ़ियों पर भी सिंह के जोड़े बने हुए थे। फारस के अब्बास नामक सम्राट् का सिंहासन सफेद स्फटिक का बना हुआ था। रूस के पीटर महान् के प्रपिता जार माइकेल फियोडोराविच के स्वर्ण सिंहासन में आठ सहस्र नीलमणि, पन्द्रह सौ माणिक्य और दो विशाल पुखराज जडे हुए थे। भारत के मुगल सम्राट् शाहजहाँ का मयूर सिंहासन अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसमें चाँदी की सीढ़ियाँ थीं। उसके पाए सोने के थे, उसमें रत्न जडे हुए थे और उसमें मयूर के पखों की रत्नजटित आकृति बनी हुई थी। उसकी लागत बारह करोड स्वर्ण-मुद्रा बतलाई जाती है।

सम्राट् और राजा ही नहीं, साधु-सन्त भी अपने विशिष्ट सिंहासनों पर बैठते हैं। योरप के पोप का अत्यन्त सुन्दर एव बहुमूल्य आसन है। भारत के आचार्यों के गद्दीधारी भी विशिष्ट आसनों का प्रयोग करते हैं। भारत में बुद्ध भगवान् की कुछ मूर्तियाँ एव चित्रों में उन्हें सिंहों से अकित आसनों पर आसीन चित्रित किया है।

यह सब वर्णन प्रसगवश किया गया है। इस लेख का उद्देश्य अनुश्रुति और जनश्रुति में कल्पित विक्रम के सिंहासन का रूप निरूपण करना ही है। यह रूप हमें सिंहासन बत्तीसी के विविध पाठों के अध्ययन से तथा उसके साथ सिंहासन की शास्त्रीय कल्पना से स्पष्ट हो जाता है। सिंहासन बत्तीसी के रचयिता (तथा प्रतिलिपिकारों) का अन्य उद्देश्य * चाहे जो रहा हो परन्तु उसमें राज्य-सिंहासन का अत्यन्त मनोहर वर्णन और राजधर्म की विस्तृत, हृदयग्राही एव स्पष्ट व्याख्या मिलती है और उनका सम्बन्ध भारत के शौर्य, औदार्य एव विक्रम के प्रतीक विक्रमादित्य से कर दिया गया है।

* निश्चय ही यह उद्देश्य धीमता के अनुरूप कालयापन एव सकल-लोक-चित्त-चमत्कृत करना ही है।
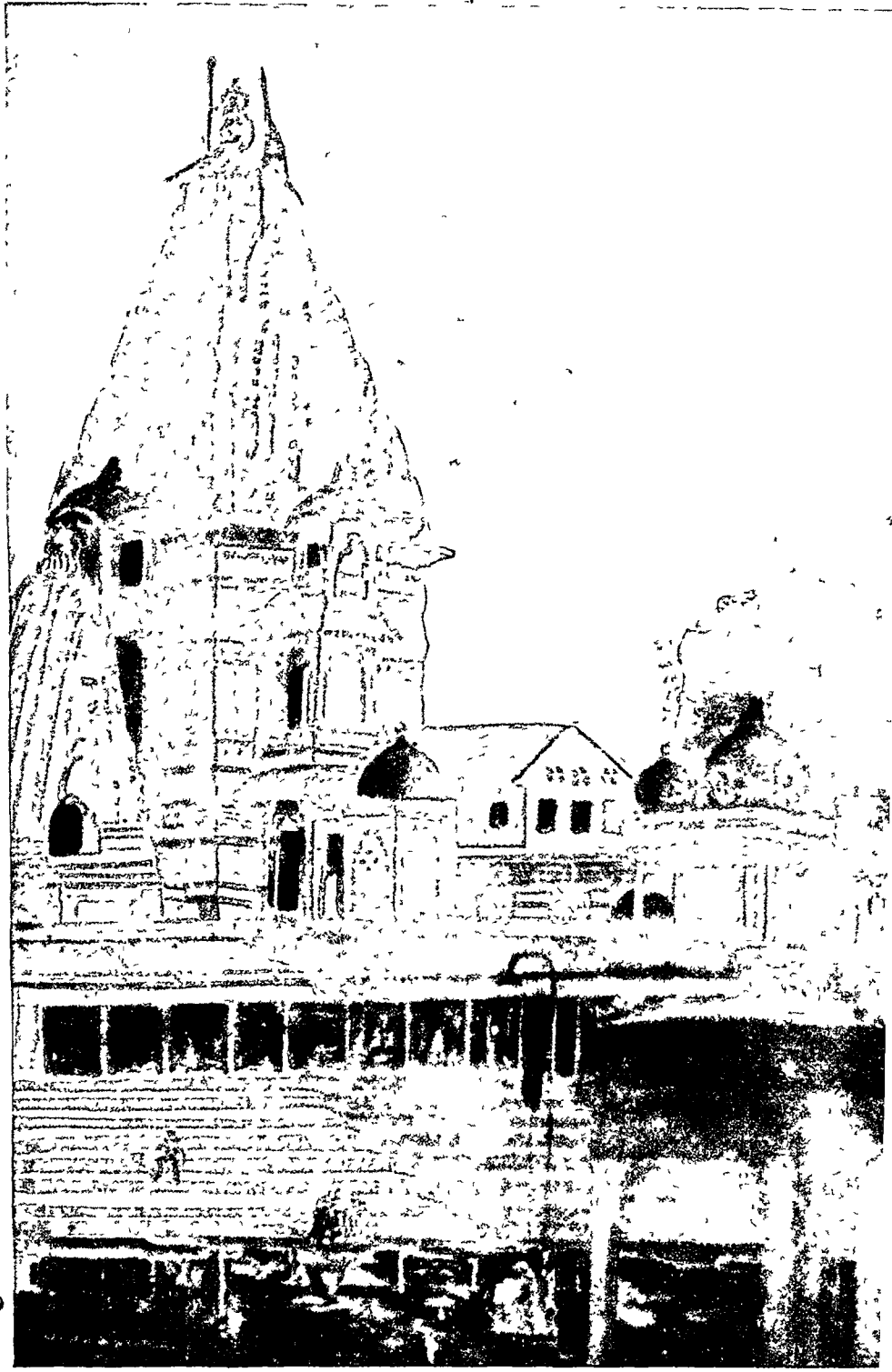
महाकाल-मन्दिर

(चित्रकार—श्री पी० भार्गव, मथुरा)

लोककथा में विक्रमादित्य

श्री शान्तिचन्द्र द्विवेदी

मनुष्य-जगत् के सवाक् होने के कुछ ही काल बाद से लोककथा का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। उसके बीज और विकास के साधन तो मनुष्य परिवार के साथ के ही मानना पड़ेंगे। साधारण भाषा में उसे हम आदिकाल से चली आती मानेंगे। इस मान्यता से मनुष्य के मानसिक विकासकालीन बारीक इतिहास को छोड़कर अन्य शास्त्रीय व्यतिरेक भी नही होगा और हमको कहानी के प्रचलन के प्रारम्भ के समय की कुछ कल्पना भी हो सकेगी।

पूर्व की अनुश्रुति अनादि है। प्रत्यक्ष घटनाएँ भी मनुष्य आदिकाल से अनवरत देख रहा है। मानस जगत् के उसके भाव अनन्त है और उसकी कल्पनाओं का विशाल आकाश भी अपरिमेय है। इन सबमें उसकी दिलचस्पी भी घनी है। यही सब लोककथा के मूलतत्त्व है। कथाकार अपनी इच्छानुसार इनसे कहानी का शरीर गढ़कर अपनी वाणी से उसे अनुप्राणित कर देता है। कथा-प्रवक्ता की इच्छा ही उसके रूप की सर्वोपरि सृष्टा है।

आदिकाल से लोककथाएँ कही और सुनी जाती रही हैं। इस अखण्ड परम्परा के कारण उनमें अनुपम सौन्दर्य आ गया है। किन्तु इस कथन का यह तात्पर्य नही है कि जो लोककथाएँ आदिकाल मे प्रचलित थीं, वही आज भी है। लोककथाओं की रचना और विकास तथा उनके संस्करण का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें थोड़े निकट से उनका अध्ययन करना होगा।

प्रत्येक कथा की रचना छोटे-छोटे कथानकों से होती है। उदाहरणतः विक्रमादित्य और राजा कर्ण की कथा का पूर्वार्ध (१) अकाल पडना (२) राजहंस के एक जोड़े का भोजन की टोह मे निकलना (३) विक्रम द्वारा उनका सत्कार (४) खजाने के मोती समाप्त होना (५) विक्रम का दूसरे के दुःख के लिए व्यथित होना (६) राजपाट छोड़कर पत्नी सहित मुफलिसी के जीवन के लिए निकलना (७) राजा का लुहार के यहाँ नौकरी करना (८) भगवान् के दर्शन (९) राजा द्वारा केवल उन दो पक्षियों के भोजन के लिए याचना (१०) राजा के बगीचे मे मोतियों के झाड़ इत्यादि इन छोटे-छोटे कथानकों से बना है। इन छोटे कथानकों के और भी छोटे हिस्से होना सम्भव है। कथा के इन

लोककथा में विक्रमादित्य

छोटे-छोटे पुर्जों को हम मूल कथानक अथवा मूल कल्पना कहेंगे। इन मूल कथानकों अथवा मूल कल्पनाओं के मिश्रण तथा परिवर्तित और व्यामिश्र रूपों से सारा लोक-साहित्य निर्मित हुआ है। निर्मित कथानक असंख्य हैं और फिर कल्पना भी अनन्त हैं। अतः इन मूल कथानकों अथवा कल्पनाओं की संख्या भी सीमाहीन है। किन्तु कथाओं में इनका मिश्रित और परिवर्तित रूप खूब ही पाया जाता है। वह सर्वथा स्वाभाविक भी है। एक ही कथानक अथवा कल्पना बिलकुल उसी रूप में अथवा थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अनेक कथाओं में पायी जाती है। केवल विक्रमादित्य की कहानियों में ही विक्रम स्वयं भी पद्मिनी से विवाह करते हैं, तोते के शरीर में उनके आश्रयदाता राजा को भी वे पद्मिनी प्राप्त कराते हैं और उनका पुत्र भी पद्मिनी से विवाह करता है। इन घटनाओं को सम्बद्ध बनाने के लिए यह कल्पना की जा सकती है कि सिंहलद्वीप में अनेक पद्मिनी पैदा होती हैं। किन्तु यह कल्पना कथाकार की भावना के विरुद्ध है। वह तो संसार में पद्मिनी केवल एक मानता है और उसको उसका नायक प्राप्त करता है। इस प्रकार नायक पद्मिनी से विवाह करता है—यह लोककथाओं में एक व्यापक कल्पना हुई। इसी प्रकार की व्यापक कल्पनाओं को हम व्यापक मूल कथानक अथवा व्यापक मूल कल्पना कहेंगे।

आदिकाल से ये मूल कथानक प्रचलित हैं, ये अखण्ड परम्परा से कहे सुने गये हैं, अतः इनमें नर्मदा के कंकड़ सरीखा शिवत्व आया है। प्रश्न उठता है कि क्या सारे मूल कथानक आदिकाल में ही कथाओं में जोड़ दिये गये और वे ही आजतक चले आ रहे हैं? तर्क और वास्तविकता—ये दोनों ही इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं। ऊपर ही देख चुके हैं कि मूल कथानकों की संख्या का अन्त नहीं है। मनुष्य की परम्परा आगे बढ़ रही है—उसकी कल्पनाओं का मार्ग प्रशस्त है और पार्थिव घटनाएँ भी वह नित्य नवीन देख रहा है। अतः अनगिनती संख्या में नई मूल कल्पनाओं का निर्माण अवश्यम्भावी है। और वैसा होता भी है। वीर विक्रमाजीत और राजा भोज इत्यादि विशिष्ट नामों की कहानियाँ उनके प्रादुर्भाव के पहले कैसे बन सकती थीं। इसके साथ ही पुरानी बात भूलने की आदत भी मनुष्य में है। अतः पुरानी मूल कल्पनाओं का लोककथाओं में से लोप होना और नवीन मूल कल्पनाओं का उनमें स्थान पाना, यह स्वाभाविक क्रम है—यद्यपि इस नियम का आभास वास्तविकता को बहुत ही अधिक शक्तिशाली अण्वीक्षण यंत्र द्वारा देखने पर ही हो सकता है।

वास्तविक तथ्यों का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लोककथाओं में परिवर्तन अत्यन्त धीमी गति से होते हैं। अतः अमित काल पूर्व की कल्पनाएँ हम उनमें सुरक्षित पा सकते हैं। "दस चार चौदह विद्या के निधान" इस प्रयोग में हम विक्रमकालीन परिगणन की परिपाटी आज भी लोककथा प्रवक्ता के मुंह से सुन सकते हैं। लोककथा साहित्य में क्रान्ति के अवसर व्यवहारतः न के बराबर आते हैं। अच्छे से अच्छे और बुरे से बुरे युग के संस्मरण भी इस महासागर में इस पार से उस पार तक एक पूरी हिलोर नहीं उठा पाते हैं—तरंग का अनुभव भले ही किया जा सके। लोककथाओं में विस्मरण और सर्जन की प्रक्रियाओं के संस्करण भी बड़े धीमे होते हैं। बिना आधार के नवीन रचना तो अपवाद ही हो सकती है। और इस कारण इन कथाओं का सौन्दर्य सदा सतेज रहता है। लोककथा का संस्कारकर्त्ता एक चिर सुन्दर वस्तु में अपना सुन्दर दान जोड़ देता है और उसपर भी उसका प्रकाशन का अधिकार सुरक्षित नहीं होता। उससे आगे की परम्परा उसको पूरी तरह परखकर उसका पूरा उपयोग करती है। लोककथा कोरे कागद पर काली स्याही बनकर नहीं रहती। उसका अधिष्ठान तो लोकमानस है। परीक्षण स्थल में ही सतत निवास के कारण लोककथाओं का ऐसा मर्मस्पर्शी रूप है।

बुन्देलखण्ड में दिनभर के कामों से निपटकर रात्रि को भोजन आदि से निवृत्त होकर निश्चिन्तता से बैठने के लिए लोग जुड़ते हैं। यहां लोककथा का अनुष्ठान होता है। कथा प्रवक्ता अपनी कहानी कहता है, एक व्यक्ति उस समाज में से 'हुँका' देता है और बाकी सब व्यक्ति मौन रहकर सुनते हैं। इस अनुष्ठान में हुँका एक अपरिहार्य साधन है। 'हुँका' देने का ढंग बड़ा आकर्षक होता है। प्रवक्ता के विराम स्थलों पर (जो वाक्य पूरा होने तक अनेक बार आते हैं) "हूँ!" "हाँ साब!" "और का!" "ऐसई है!" इत्यादि उत्तर देना तो साधारण है। किन्तु प्रवक्ता का "सहो भरने" के लिए "चल दए है!" "पाहाव गए हैं!" "धन्न है!" "पटक दए है!" सदृश उत्तर घटना-वर्णन के अनुसार चतुर "हुँका" देनेवाला देता है।

श्री शान्तिचन्द्र द्विवेदी

लोककथा के इस ठाठ के लिए स्थान अथवा ऋतु का वन्धन नही है। खेत, खलिहान, अथाई अथवा कोड़े (अग्निकुण्ड) पर जहाँ कही भी समय काटने की अथवा मनोरंजन की आवश्यकता होती है—यह कहानियाँ कही सुनी जाती देखी जा सकती है। घर मे वच्चो को सोने के लिए छोटी छोटी कहानियाँ कहकर वहलाया जाता है।

श्रव्य साहित्य होना लोककथा की एक महत्त्वपूर्ण विशेपता है। पुस्तको के पत्रो मे वन्द न होकर उन्मुक्त भागीरथी की भाँति उसकी युग युग की यात्रा ने कहानी कहने की एक स्वतंत्र कला को विकसित किया है। कुशल प्रवक्ता अपने श्रोताओ को कहानी के प्रत्यक्ष दर्शन करा देने मे समर्थ होता है। प्रवक्ता के हावभाव और वाक्य-विन्यास श्रोता को दर्शक वना देते है। वीच वीच मे दोहा चौबोला अथवा गीत भी आते जाते है। लिपिवद्ध की जाने पर भी इन कथाओ का सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है, किन्तु कहने की कला तो इनमे चमत्कार ला देती है। जिस प्रकार कहानी कही जाती है उस प्रकार लिखी जाना सम्भव नही है।

इन कथाओं का संस्कारकर्त्ता जान अथवा अनजान मे प्रवक्ता ही होता है। प्रवक्ता होना किसी का विशेप अधिकार नही। कोई भी व्यक्ति जो कहानी जानता है और उसे सुनाता है—प्रवक्ता है। निश्चित रूप से पहले वह इन कहानियों का श्रोता रहा होता है। एक वात महत्त्वपूर्ण है कि किसी कथा मे श्रोताओ को यदि यह ज्ञात होता है कि कुछ अंश वदला है तो उसकी चर्चा छिड जाती है। और जिस प्रकार लिखे साहित्य मे 'पाठभेद' का प्रकरण चलता है उसी प्रकार इन लोककथाओ मे "हमने तो ऐसी ही सुनी है" "हमने इससे इस प्रकार भिन्न सुनी है" इस प्रकार का 'प्रवचन-भेद' का प्रकरण चलता है। लोककथाओं मे परिवर्त्तन उचित नही है—इस भावना का ऊपर के व्यवहार से आभास मिलता है। किन्तु इनमे परिवर्त्तन होते तो है ही। प्रयास से भी और अनायास भी वे प्रवक्ताओ द्वारा ही होते है। प्रवक्ता के मस्तिष्क मे कथा की केवल मूल कल्पनाएँ रहती है। भाषा और कथा के शरीर की वाहरी सजावट—यह सव प्रवक्ता का अपना निजी होता है। इस कारण कथानक के वारीक परिवर्त्तन के अतिरिक्त कथा के कलेवर मे प्रवक्ता के व्यक्तित्व की छाप निश्चित है। प्रवक्ता की सामाजिक एव आर्थिक अवस्थाओ और रुचिओ का भी लोककथाओ पर पर्याप्त प्रभाव पडता है। एक ही कहानी मे विक्रम को एक प्रवक्ता सिपाही वनाता है और दूसरा जोगी। यह प्रवक्ता क्रमश. सिपाही और जोगी है। पहला प्रवक्ता कचन देनेवाला दैत्य बताता है और दूसरा ऋपि-समूह। कथाओ मे जादू का जोर भी एक विशिष्ट कल्पना वाले समाज मे ही पाया जाता है। लोकमानस का अध्ययन करने के लिए लोककथा एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

"वातसी न झूठी, वतासा सी न मीठी, घड़ी घडी का विसराम—जानै सीताराम। सक्कर को घोड़ा सकलपारे की लगाम, छोड दो दरियाव मे चला जाय छमाछम छमाछम। हाथभर के मियाँसाव, सवा हाथ की डाढी, हलुवा के दरिया मे वहे चले जाते है—चार कौर इधर मारते है, चार कौर उधर मारते है। इस पार घोडा, उस पार घास—न घास घोड़े को खाय न घोडा घास को खाय। इतने के वीच मे दो लगाई घीच मे, तऊ न आये रीत मे, तव धर कढोरे कीच मे, झट आगए वस रीत मे। हँसिया सी सूधी, तकुआ सी टेढी, पहला सौ करौं*, पथरा सौ कौरौ†, हातभर ककरी नौ हात वीजा—होय होय, खेरे गुन होय‡। वतासा कौ नगाडौ, पोनी कौ डका—किडीधूम किडीधूम। जरिया§ कौ कॉटौ अठारा हाथ लॉवौ—भीत फोर भैंस कै लागौ। कहानियाँ की वहन महानियाँ। तानै वसाए तीन गॉव—एक अंजर, एक वजर, एक मे मॉसई नइयाँ। जामै नइयाँ मॉस‖, वामै वसै तीन कुम्हार—एक लगडा, एक लूला, एक के हातई नइयाँ। जाकै नइयाँ हात, तानै वनाई तीन हँडियाँ—एक ओंगू, एक वोगू, एक कै औठई नइयाँ। जाकै नइयाँ ओठ, ताय बिसाएँ¶ तीन जनी**—एक औरू, एक वौरू †† एक कै मौहई ‡‡ नइयाँ। जाकै नइयाँ मोह, वानै चुरए§§ तीन चॉउर—एक अच्चौ, एक कच्चौ, एक के चोटई नइयाँ। वाने नेउते तीन वाम्हन—एक अफरौ ‖‖, एक डफरौ, एक कै पेटई नइयाँ....... . । जो इन वातन कौ झूठी समझै तौ राज कों डण्ड और जात कों रोटी। कहता तो कहता पर सुनता सावधान चइए। न कहनवारे को दोस,

---

* रुई से भी कठोर; † पत्थर से भी कोमल; ‡ खेरे (गॉव—चैतन्यारोपित) के गुण से होता है; § झरवेरी; ‖ आदमी। ¶ मोल लेती है; ** स्त्रियाँ; †† मूक; ‡‡ मुंह ही; §§ पकाये; ‖‖ पेट भरा हुआ, तृप्त।

न सुननवारे का दोस, दोस वाका जाने वात वनाके ठाडी करी। और दास वउरा नइयाँ, काएके वानें ता रन काटवे का वात वनाई—दोस वाका जो दोस लगावे। और वात सच्चियइ हुईए काएके तवई तो कही गई।"—इस प्रकार की भूमिका के साथ वुन्देलखण्डी कथा-प्रवक्ता अपनी कहानी का प्रारम्भ करता है।

ऊपर की भूमिका से उसकी कथा का पूरा परिचय मिल जाता है। इसी प्रकार की अलंकारिक भाषा में उसकी कहानी होती है। वह चेतावनी दे देता है कि कल्पना की उडान असम्भव की सीमा तक ली जावेगी। और यह सभी वुन्देलखण्डी लोककथाओं में है। किसी भी प्रकार की कल्पना करने में कथाकार को थोडी भी हिचक नहीं है। पशु, पक्षी, पर्वत, वृक्ष–सवको वह अपनी कथा में मनुष्य की वाणी प्रदान कर सकता है। जड प्रकृति भी आपस में वार्तालाप कर सकती है। अलौकिक और असम्भव चमत्कारों का वर्णन उसके लिए सहज है—जैसा भूमिका की घटनाओं में किया गया है। मरे आदमी जिन्दा हो जाते हैं, इच्छा करते ही सोने के सतखण्डे महल खडे हो जाते हैं और चुटकी बजाते ही काठ का घोडा हवा में उडने लगता है। किन्तु "जो इन वातन कौं झूठी समझ तो राजका डण्ड और जात का रोटी सच्चियइ हुइए काएके तवई तो कही गई" भूमिका का यह अंश भी ध्यान देने योग्य है। घटनाएँ अत्यन्त कल्पित और असम्भव होते हुए भी उनमें एक केन्द्रीय सत्य होता है, जिसके लिए वह सारी कथा कही गई होती है। लोककथा "घरी घडी का विसराम" और "रन काटने के लिए" होते हुए भी उसका उपयोग धर्म और नीति का व्यापक, सीधा और प्रभावशाली प्रचार करने के लिए किया गया है। तत्त्व में प्रवेश लोककथाकार सरल कर देता है। मनुष्य जगत् के युगयुग के अनुभव भी इन लोककथाओं में संकलित हैं। इन कथाओं की वय बहुत अधिक होने से उसी अनुपात से इनमें ग्रथित ये अनुभव भी परिपक्व होते हैं। प्राचीन लिपिबद्ध धार्मिक और नैतिक कथासाहित्य को लोककथा का गौरवयुक्त पद प्राप्त हुआ है। और हमारे मतानुसार तो ये कथाएँ मूलत लोककथाएँ ही हैं—बाद में उनका संकलन, सम्पादन और उपयोग तथा प्रक्षेप किया गया है। धर्मप्राण भारत में धर्म और नीति का लोककथा साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव होते हुए भी मानस जगत् के अन्य भावों की भी अभिव्यक्ति इनमें थोडी भी नहीं पिछडी है। सभी भावों का इस महोदधि में पूरा उत्कर्ष देखा जा सकता है। इसी कारण प्रवक्ता अपनी भूमिका में कहता है कि "कहता तो कहता पर सुनता सावधान चइए।"

इतिहास का प्रभाव लोककथाओं पर बहुत थोडा दिखता है। यदि ऐतिहासिक वृत्त इनमें मिलें तो कथाकार को कोई उजर नहीं है। किन्तु यदि वह भ्रष्ट रूप में हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि प्रवक्ता को तो अपने केन्द्रीय सत्य के प्रतिपादन और मनोरंजन से अधिक वास्ता है—इतिहास के प्रति शायद वह बिलकुल उदासीन है।

"राजा रानी और राजकुमार-राजकुमारी"—इनके चित्रणों की ही भरमार लोककथाओं में होती है, यह भ्रामक कल्पना एकदम निर्मूल है। चिमऊ चोर, कलिया भगिन, गडरिया, धोबी, पूतविलासी नाई सतला जोगी, सिपाही, गधा, घोडा कुत्ता, बैल, ऊँट, हाथी, बन्दर, स्यार, लडैया, लुखया, शेर, चीता, सेठ-साहूकार, महते, कोतवाल सरदार, राजा-रानी, राजकुमार राजकुमारी—सबका महत्त्व लोककथाओं में एकसा है। इन कथाओं में गडरिया भी सेठ की लडकी पर अनुरक्त हो सकता है और वह भी उसके पास जा सकती है। 'वादसाह असब्बरा' गडरिया को अपना मित्र बनाता है और विक्रम अपनी प्राणरक्षा के लिए कलिया भगिन के पास जाते हैं। अतीत में सामाजिक और आर्थिक वैषम्य का अस्तित्व होते हुए भी लोकमानस उसके कारण कभी व्यथित नहीं हुआ और न उसे ईर्ष्या ही हुई, क्योंकि साधना की सुलभता और जीवन की सरलता उसे यथेष्ट मस्त बनाए थी। इसी कारण यह साम्ययोग इन कथाओं में है।

इन वुन्देलखण्डी लोककथाओं में राजा वीर विकरमाजीत की कहानियों को सम्मानपूर्ण पद प्राप्त है। ये गम्भीर और शुभ समझी जाती हैं। पूछे जाने पर प्रवक्ता कहते हैं कि "राजा वीर विकरमाजीत, पर दुख के काटनहार हते, चौदा विद्या के निधान हते। उन सरीखो राजा तो पृथवी पै हावो मुसकिल है। सेर और वकरिया उनके राज में एक घाट पै पानी पियत हुते।" विक्रम की कथाएँ प्रवक्ता बडे आदर से सुनाते हैं। यह पवित्र और शुभकर मानी जाती हैं। राजाओं के व्यक्तिगत नामों से जितनी कथाएँ प्रचलित हैं उन सबमें इन कहानियों की संख्या अब तक हमें सबसे अधिक मिली है। राम और कन्हैया की तरह विकरमा नाम भी वुन्देलखण्ड में खूब मिलेगा।

श्री शान्तिचन्द्र द्विवेदी

व्यक्तित्व—यह पहले ही देखा जा चुका है कि लोककथाओं में ऐतिहासिक वृत्तों की विशेष चिन्ता नहीं की जाती है। अतः इनमे वर्णित राजा बीर बिकरमाजीत कौनसा है इसका निर्णय शास्त्रीय नही हो सकता। किन्तु जितना भी कुछ मसाला अटकल के लिए उपलब्ध है, उसके अनुसार यह राजा वीर विकरमाजीत उज्जैन नगरी का स्वामी और विक्रम-संवत् का प्रवर्त्तक ही सिद्ध होता है।

"चौदा विद्या के निधान, परदुख के काटनहार राजा वीर विकरमाजीत" यह प्रशस्ति बुन्देलखण्डी लोककथाओं मे विक्रम का नाम आने पर सदा उपयोग मे लाई जाती है। हमारा यह आग्रह नही (न हमारा यह क्षेत्र ही है) कि गौतमी-पुत्र शातकर्णि को शकारि विक्रम माना जाय, परन्तु उसकी नासिक-प्रशस्ति लोककथा के हमारे विक्रमादित्य के वर्णन से बहुत मिलती जुलती है। माता गौतमी बालश्री उस लेख मे अपने पुत्र सातकर्णि के लिए लिखती है—"राजाओ के राजा, गौतमी के पुत्र, हिमालय-मेरु-मन्दार पर्वतों के समान सारवाले, असिक असक मुळक सुरठ कुकुर अपरान्त अनूप विदर्भ आकर (और) अवन्ति के राजा, विक्र छवन पारिजात सह्य कण्हगिरि मच सिरिटन मलय महिद सेटगिरि चकोर पर्वतों के पति, सब राजा लोगों का मण्डल जिसके शासन को मानता था ऐसे, दिनकर की किरणों से विबोधित विमल कमल के सदृश मुखवाले, तीन समुद्रों का पानी जिसके वाहनों ने पिया था ऐसे, प्रतिपूर्ण चन्द्रमण्डल की श्री से युक्त प्रियदर्शन, अभिजात हाथी के विक्रम के समान, नागराज के फण ऐसी मोटी मजबूत विपुल दीर्घ शुद्ध भुजाओवाले, अभयोदक देते देते (सदा) गीले रहनेवाले निर्भय हाथोवाले, अविपन्न माता की सुश्रूषा करनेवाले, त्रिवर्ग और देशकाल को भली प्रकार बाँटनेवाले, पौरजनों के साथ निर्विशेष सम सुख-दु खवाले, क्षत्रियों के दर्प और मान का मर्दन करनेवाले, शक यवन पह्लवों के निषूदक, धर्म से उपार्जित करो का विनियोग करनेवाले, कृतापराध शत्रुओं की भी अप्राणहिंसा-रुचिवाले, द्विजों और अवरों के कुटुम्बो को बढानेवाले, खखरातवश को निरवशेष करनेवाले, सातवाहन कुल के यश के प्रतिष्ठापक, सब मण्डलों से अभिवादित चरण, चातुर्वर्ण्य का सकर रोक देनेवाले, अनेक समरों में शत्रु-संघो को जीतनेवाले, अपराजित विजयपताका युक्त और शत्रु जनो के लिए दुर्धर्ष सुन्दर पुर के स्वामी, कुलपुरुष परम्परा से आये विपुल राजशब्द वाले, आगमों के निलय, सत्पुरुषो के आश्रय, श्री के अधिष्ठान, सद्गुणो के स्रोत, एक-धनुर्धर, एक-शूर, एक-ब्राह्मण, राम केशव अर्जुन भीमसेन के तुल्य पराक्रमवाले, नाभाग नहुष जनमेजय. ....ययाति राम अम्बरीष के समान तेजवाले................श्रीसातकर्णि ...." बुन्देलखण्डी लोककथाओ मे राजा वीर बिकरमाजीत के चरित्र को अध्ययन करने पर सहसा यह कल्पना होती है कि माता गौतमी वालश्री ने अपने लेख मे उसीका संक्षेप लिखा है जो जन-जन के हृदय पर अंकित था और जिसकी स्मृति आज भी जनता के हृदय मे सुरक्षित है। 'गौतमीपुत्र' 'विक्रमादित्य' भले ही न हो पर विक्रम विषयक लोककथाकार और नासिक-अभिलेख के लेखक की शैली मे कोई अन्तर नही है।

प्रजापालक और परदुख के काटनहार—बुन्देलखण्डी लोककथाओं मे विक्रमादित्य का सबसे बड़ा गुण उनकी प्रजापालकता और परदुःख निवारण बताया है। उसका चित्रण भी सबसे अधिक किया गया है। "अभयोदक देते देते (सदा) गीले रहनेवाले निर्भय हाथोंवाले...........त्रिवर्ग और देशकाल को भली प्रकार बाँटनेवाले, पौरजनो के साथ निर्विशेष सम सुख-दु खवाले, धर्म से उपार्जित करों का विनियोग करनेवाले, कृतापराध शत्रुओं की भी अप्राणहिंसा रुचि-वाले, द्विजो और अवरो के कुटुम्बों को बढानेवाले" माता गौतमी बालश्री द्वारा वर्णित श्री शातकर्णि के इन गुणो का आरोप लोककथाओ के विक्रमादित्य मे भी बडी सुन्दरता से किया गया है।

राजा वीर विकरमाजीत अपनी प्रजा का सुख-दुःख जानने के लिए रात को बहुधा उज्जैन नगरी मे वेश बदलकर घूमते दिखाई देगे। किसी का दुःख मालूम हुआ कि उसको मिटाने के लिए उनकी आत्मा अत्यन्त विकल हो जाती है। उसका दुःख मिटाने के लिए वड़ा से बडा खतरा भी वे मोल ले लेते है। वन मे आग लगती है। एक साँप विह्वल होकर शीतल होने के लिए राजा से अपने को मुख मे रख लेने की प्रार्थना करता है। विक्रम रख लेते है—यद्यपि पीछे से साँप उनके पेट मे घुसकर उनको जलंधर रोग से पीड़ित कर देता है। चोर उनके महल मे चोरी करते है तो वे स्वयं उसकी शोध करते है और चोरो को दण्ड आजीविका के रूप मे मिलता है। कोई दो औरतों की कथा सुनकर विक्रम वही दौड़े जाते हैं

और अपनी संगीत निपुणता के कारण उनके राजा को इन्द्रसभा में ले आते हैं। कोई नवयुवक परदेस गया। बहुत दिनों से उसके न लौटने के कारण उसके कुटुम्बी व्याकुल हैं तो राजा वीर विकरमाजीत उसे ढूंढने जाते हैं। और क्योंकि उसे राजा की नौकरी से छुट्टी नहीं मिलती है अतः वे स्वयं उसकी जगह नौकरी करते हैं और उसे घर भेजते हैं।

दुष्काल से पीड़ित राजहंसों का एक जोड़ा विक्रम के पास आता है। खजाने के मोती उनके सत्कार में समाप्त होने को आते हैं। राजा को शंका होती है कि वे राजहंस के जोड़े को मोती न चुगा सकेंगे और इस प्रकार उनको कष्ट होगा। "जब मैं कुछ पक्षियों के एक जोड़े का भी पोषण नहीं कर सकता तब ऐसे राजपाट का क्या अर्थ?" ऐसा चिन्तन करते हुए विक्रम रानी सहित आत्मग्लानि से राजपाट छोड़कर मुफलिसी के जीवन के लिए निकल जाते हैं और एक लुहार के यहां मजदूरी पर रहते हैं। भयंकर आत्मग्लानि और पक्षियों के उस जोड़े की चिन्ता तीव्रता की इस मात्रा तक पहुँचते हैं कि भगवान् उनको दर्शन देते हैं और वरदान माँगने को कहते हैं। राजा वीर विकरमाजीत को न तो इस समय वैभव की लालसा ही जाग्रत होती है और न मुक्ति की भावना ही। वे तो उन पक्षियों के लिए भोजन ही माँगते हैं—जो उनको उनके बगीचे में सदा-बहार सदा फलेफूल मोतियों के वृक्षों के रूप में मिलता है।

उज्जैन नगरी में दो दिन पहले ही विवाह होकर आई एक स्त्री का पति मर जाता है। विक्रम वहाँ पहुँचते हैं। वह कहती है 'राजा वीर विकरमाजीत, तेरे राज में मैं विधवा भई। तू तो पराए दुख को काटनहार है, मेरो दुख न हर सके?' विक्रम लाश को न जलाने की हिदायत देकर रवाना होते हैं। अपनी जान पर खेलकर अमृतपती (वह अँगूठी जिससे अमृत टपकता है) देवी से वरदान में लाते हैं। उससे उस नवयुवक को जिन्दा करते हैं। सन्तला जोगी एक सेठ की बहू को ले भागता है। वह बड़ा भारी जादूगर है। अतः उस सेठ के सातों पुत्रों को घोड़ों सहित उसने पत्थर के बना दिये, जो उस बहू को लेने गये थे। सेठ-सेठानी और उनकी छहों पुत्रवधुओं का परिवार इधर अत्यन्त विकल हो गया था। विक्रम को रात्रि के गश्त में इसका समाचार मिला। उस बहू और सेठ के उन पुत्रों की मुक्ति के लिए राजा चल पड़े। मार्ग में शिवजी भी उनको सन्तला जोगी के जादू का भय बताते हैं। किन्तु विक्रम को अपने प्राणों का मोह नहीं है। वह दुनियाभर के खतरे उठाकर उनका उद्धार करते हैं।

देशाटन के सिलसिले में एक नगर में विक्रम पहुँचते हैं जहाँ एक बुढ़िया रो रही है। आज रात को राजकुमारी के पहरे पर उसके एकलौते पुत्र की बारी है, जहां का पहरेदार प्रति दिन सवेरे मरा हुआ मिलता है। विक्रम द्रवित होकर बुढ़िया को सान्त्वना देते हैं और स्वयं उस लड़के की जगह पहरे पर जाते हैं, जहाँ रात्रि में पहरेदारों की मृत्यु का कारण—राजकुमारी के मुख में से निकली हुई नागिन को मारते हैं और इस प्रकार उस कुमारी और आधे राज्य के अधिकारी होते हैं।

आपत्ति के मारे विक्रम एक बार राजा भोज की नौकरी में जाते हैं। वहां उन्हें स्यारनी की बोली द्वारा ज्ञात होता है कि आज राजा भोज की मृत्यु है। विक्रम स्यारनी के पीछे दौड़ते हैं। स्यारनी देवी के मन्दिर में घुसती है और वहाँ विक्रम को स्यारनी के बजाय प्रत्यक्ष देवी के दर्शन होते हैं। राजा भोज की मृत्यु टलने का उपाय विक्रम द्वारा पूछे जाने पर देवी बतलाती है कि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा शीशदान दिये जाने पर भोज की मृत्यु टल सकती है। विक्रम उसी क्षण अपना सिर काटकर देवी के चरणों पर चढ़ा देते हैं। पीछे भोज के आग्रह के कारण देवी उनको जीवित करती है।

जादू के चक्कर में पड़कर राजा विक्रम तोते के शरीर में रहकर जीवनयापन कर रहे थे। उनका प्रतिद्वंद्वी उनके शरीर में रहकर सारे तोते मरवा रहा था। विक्रम एक पेड़ के पास से निकले जिसपर निन्यानवे तोते बहेलिया के जाल में फँसे हुए थे। उनके दुःख को देखकर विक्रम कातर हो गये और स्वयं भी उन तोतों के साथ उस जाल में जा फँसे। यद्यपि वे युक्ति से सबको छुटाने के लिए फँसे थे किन्तु दैवयोग से उनकी युक्ति से और सब तोते तो उड़ गये—वे स्वयं बहेलिया के हाथ पकड़े गये और मौत के खतरे का सामना करना पड़ा।

विक्रम की परदुःख कातरता का चरम उत्कर्ष तो राजा करन और विक्रम की कथा के उस प्रवचन में हुआ है जिसमें राजा करन ने राजहंस के जोड़े को बन्दी बनाकर केवल इसलिए दुःख दिया कि दुष्काल में विक्रम के यहाँ उनको पूरा आराम

मिला था अत: वे "चौदा विद्या के निधान, परदु:ख के काटनहार राजा बीर विकरमाजीत की जय" का घोष करते हुए उसके महल के ऊपर से निकले थे। राजा करन जो रोज सवेरे सवा मन कंचन का दान करता था, यह सहन न कर सका कि उसका यशोगान तो कही न सुना गया और विक्रम कोई ऐसा राजा है, जिसकी जय पक्षी भी बोलते है। एक रमते जोगी द्वारा विक्रम को राजहंसों की जोड़ी के कष्ट का समाचार मिला। उन राजहंसो का कष्ट मिटाने के लिए वह राजा करन के पास दौड़े आये। यहाँ उनको एक दूसरे दृश्य ने और भी व्यथित कर दिया। अपना शरीर कढाव मे पकाकर ऋषियो को खिलाने के बदले मे राजा करन को सवा मन कंचन प्राप्त होता था। राजहंस की जोडी को कष्ट देकर राजा करन ने विक्रम को क्रुद्ध करने के लिए काफी मसाला इकट्ठा कर दिया था। किन्तु विक्रम करन के इस दिन-प्रति-दिन के कष्ट को देखकर व्यथित हो जाते है। वे अपने शरीर को चीर चीरकर उसमे तीव्र मसाले भरते है और उस कढाव मे मेवा के साथ पकते है। "धन्न रे राजा वीर विकरमाजीत, परदुख के काटनहार!"—कहानी के प्रवाह के इस स्थल पर प्रवक्ता और श्रोता सभी के मुह से सहसा ये उद्गार निकल पडते है! वह ऋषि-मण्डल इस माँस को खाकर बहुत प्रसन्न होता है क्योकि आखिर वह माँस राजा वीर विकरमाजीत का था, और मन मे संकल्प करता है कि आज राजा करन जो माँगेगा सो पावेगा। जीवित होने पर विक्रम माँगते है "आजते राजा करन कढ़ाओ उटन न आवै और सवा मन कचन रोज पलका तरै पावै।" राजा करन को ऐसे कष्ट से मुक्ति दिलाकर और राजहंस मुक्त करवाकर विक्रम वापस उज्जैन लौटते है।

वैभव, विक्रम और यश—"धन्न रे राजा वीर विकरमाजीत, जाके वगीचा मे मुतियन के झाड फरे!" जहाँ ऐसा वर्णन हो और अमृतपेंती, भगवान् के दर्शन, चाहे जो सुलभ हो, उस वैभव के लिए अधिक क्या कहा जाय। प्रवचन-भेदानुसार दो अथवा चार 'वीर' विक्रम की व्यक्तिगत शक्तियाँ थी। इन वीरो मे सब कुछ कर सकने की शक्ति थी। विक्रमादित्य के विक्रम का वर्णन उनके साहसी कार्यों द्वारा किया गया है। वे कभी भी अपने प्राणो के लिए हिचकते नही हैं। जो कार्य उनको उचित दिखता है, उसमे वे अपने प्राणो की बाजी लगा देते है। सफलता उनकी चेरी दिखती है। अनेक राजाओ की विक्रम के पुत्र के साथ अपनी कन्या के विवाह की लालसा, सुदूर सिंहल मे दानव का यह कथन कि विक्रम के पुत्र के देखते ही उस गुफा की अभेद्य वज्रशिला अपने आप तड़क जायगी, जिसमे उसके प्राणो की बगुली रहती थी, और वैसा ही होना—ये सब विक्रम के यश और पराक्रम के ही परिचायक है।

चीन देश की राजकुमारी जिस व्यक्ति से विवाह करने को लालायित थी उसका यश विशाल ही होगा। ऐरावत हाथी और श्यामकर्ण घोडे के पास जब विक्रम अनायास पहुँचते है तो वे "धन्न भाग, जो आज चौदा विद्या के निधान, परदु ख के काटनहार, राजा वीर विकरमाजीत के दरसन पाये!" कहकर कृतार्थ होते है। सन्तला जोगी से सेठ के पुत्रो और बहू का उद्धार करने जब विक्रमादित्य जाते है तो उन्हे सन्तला जोगी की जान लेने जाना पडता है। यह जान 'सात समुन्दर आड़े और सात समुन्दर ठाडे' पार एक टापू पर एक बड के पेड पर पिंजडे मे टँगी हुई बगुली मे थी। उस बड़ के वृक्ष के पत्ते पत्ते पर साँप और विच्छू थे। विक्रम समुद्र किनारे पहुँचते है। समुद्र के सारे जीवजन्तु विक्रम के दर्शन पाकर धन्य धन्य ध्वनि करते है और विक्रम के दर्शन पाकर अपना जन्म सफल मानते है। अपनी पीठों का पुल बनाकर विक्रम को उसके ऊपर से निकालकर वे उनको इच्छित टापू पर पहुँचाते है। बड़ के ऊपर के साँप विच्छू भी समुद्री जीवो की तरह विक्रम के दर्शनों से अपने को धन्य मानते है और विक्रम पिंजड़ा लेकर वापस लौटते है। इस्माल जोगी के जादू से अपनी रक्षा करने के लिए पद्मिनी से विवाह करने को विक्रम की सिंहलद्वीप की यात्रा मे राघव मच्छ का बेटा भी विक्रम के दर्शन से उसी प्रकार अपने को कृतार्थ मानता है और इस ओर से विक्रम को स्वयं अपनी पीठ पर तथा वापस लौटते समय जबकि उनके साथ सात रानियाँ और अगणित फौज थी, 'झाझर-पातर' पर रखकर उन सबको समुद्र पार कराता है।

अत्यन्त चमत्कारपूर्ण घटना तो वह है कि जब चिमऊं, राजाज्ञा से, ऐसी चीज जो न देखी गई हो और न सुनी गई हो, ढूंढ़ता ढूंढ़ता चीन देश की राजकुमारी के उस बगीचे मे पहुँचता है जहाँ अपने आप बिना मनुष्य के रहँट चल रहा था, बिना मनुष्य के ही क्यारियो मे पानी लग रहा था और फूल चुनने और मालाएँ बनने का काम भी अपने आप बिना आदमी के हो रहा था। चिमऊँ ने सोचा कि सचमुच ऐसा काम विक्रम ने न देखा और न सुना होगा। फिर भी परीक्षण के लिए उसने

लोककथा में विक्रमादित्य

विक्रमादित्य की आन दी कि "चौदा विद्या को निधान, परदु ख को काटनहार, राजा वीर विक्रमाजीत ओ मतको सांचो होय तो जे सब काम वन्द हो जांय"। वे सब काम उसी क्षण वन्द हो गये। सुदूर चीन में लोककथा के विक्रमादित्य की आन ने काम किया।

चौदा विद्या के निधान और जादू—विक्रम पशु-पक्षियो की वोली पहचानते थे यह तो इन लोककथाओ में एक व्यापक मूल कल्पना है। तोते के वेश म विक्रम अपने आश्रयदाता राजा को एक गभवती घोडी की खरीद करवाते हैं जिसका पट चीरने पर उसमें से श्यामकण अथवा उडना घोडा निकलता है। अश्व विद्या की आत्यन्तिक निपुणता का यह परिचायक ह। वेश वदले जव विक्रम पद्मिनी लेकर लौटते ह, तव माग में सिंहलद्वीप के किसी अन्य राज्य के नगर में वे खच चलाने के लिए एक लाल वेचने को जाते ह। राजा का जौहरी उनके लाल में कुछ खोट वताता ह। विक्रम जौहरी से अपना अच्छा से अच्छा लाल वताने को कहते ह। जौहरी के उस सर्वोत्तम लाल को विक्रम अत्यन्त निकृष्ट श्रेणी का वताते ह। राजा के आगे शत लगाकर दोना लाला की परीक्षा होती है। चोट पडने पर जौहरी का लाल चार टुकडे हो जाता ह और विक्रम का लाल घन तथा निहाई म गड्ढे कर दता है। जौहरी अपना सवस्व विक्रम को देकर हाथ पांवा से निकल जाता है और राजा वेश वदले हुए विक्रम को अपना सवाई जौहरी नियुक्त करता है। यह कथा विक्रम के पुन के सम्बध मे भी प्रचलित है। जिन कथाआ पर जादू का असर नहीं पडा ह उनमें विक्रम का यह गुण वताया गया है कि अपना शरीर छोडकर दूसरे मृत शरीर में प्रवेश कर सकते थे। विक्रम की सगीतकला में आत्यन्तिक निपुणता के वणन भी अनेक जगह आते ह। एक वार विक्रम छत्तीसा वाद्या का स्वर मिलाकर कोई राग रागिनी वजाते ह तो इन्द्रलोक में उसकी मधुर झनकार पहुँचती ह और इन्द्र के दरवार में इनको ले जाने के लिए अप्सराएँ आती हैं।

किन्तु जहा कथाओ पर जादू का असर पडा ह वहां तो ये चौदह विद्याएँ जादू की हो गयी हैं। विक्रमादित्य केवल चौदह विद्याएँ जानते ह जवकि इन कथाआ मे विद्याआ की सख्या इक्कीस तक गिनाई गई ह। जादू की कथाआ म अधिकाश क्रम ऐसा ह कि चौदह विद्याएँ विक्रम जानते ह, पन्द्रह उनका प्रतिद्वन्द्वी जानता है और इक्कीस तक की सख्या म विद्याएँ वे कन्याएँ जानती ह जिनके साथ विक्रम को प्रतिद्वन्द्वी से वचने के लिए विवाह करना पडता है। पन्द्रहवी विद्या अनेक जगह इन जादू की कथाआ में वह वताई गई ह जिससे अपना जीव दूसरे मृत शरीर में इच्छानुसार पहुँचाया जा सकता ह। विक्रम इस विद्या को सीखने गये—ऐसी अनेक कथाएँ ह। प्रवचन भेदानुसार देवी अथवा कलिया भगिन के पास विक्रम यह विद्या सीखने जाते ह और किसी कथा में नाई और किसी म धोवी उनके साथ लगकर छुपकर यह विद्या सीखता ह। कथानक एक ही है कि लौटने म विक्रम से उक्त विद्या का प्रदशन करने को वह कहता ह और विक्रम के अन्य शरीर म घुसते ही वह स्वय विक्रम के शरीर मे घुसकर अपने शरीर की दाहक्रिया कर देता ह। विक्रम के शरीर में आकर वह विक्रम के जीव को नष्ट करने का उपाय करता ह—यद्यपि पीछे प्रयत्न करने पर विक्रम अपने शरीर में आ जाते ह और उस प्रतिद्वन्द्वी को दण्ड देते हैं। इन जादू की कथाओ में सदा लडाइया आती ह। लडाइयो के लिए ही जादू ह—ऐसा मालूम होता ह। जादू की लडाई में चमत्कार भी खूब होता है। कभी चील वनकर लडाई होती ह, कभी चिडिया पर वाज झपटता ह। सन्तला जोगी मुर्गा वनकर उस मोती को चुगने के लिए झपटता है जिसमे विक्रम की नवविवाहिता पत्नी ने उनके प्राण छुपा दिये थे, तो वह राजकुमारी विल्ली वनकर उस मुर्गे पर टूटती ह और उसे मार डालती ह। इस्माल जोगी पन्द्रह विद्याएँ जानता था, उससे विजय पाने के लिए विक्रम ने सिंहलद्वीप की सात कन्याआ से विवाह किया। उनम पद्मिनी इक्कीस विद्याएँ जानती थी। वापस आकर विक्रम ने जव इस्माल जोगी से युद्ध किया तो विक्रम की हार हुई। पद्मिनी ने इस्माल से कल आने को कहा। दूसरे दिन एक गधे को आदमियो से मरवा कर रख लिया। इस्माल जोगी के आने पर उससे अपनी विद्या वताकर गधे को जीवित करने को कहा। इस्माल ने जैसे ही अपने प्राणा का प्रवेश गधे में किया—पद्मिनी ने उसका शरीर जलवा दिया। इस्माल गधा ही बना रह गया। सव आगे को चल दिये और गधा साथ ले लिया गया। ऐसी चमत्कारपूण घटनाएँ इस जादू में सहज है। चौदह विद्याओ को जादू का रूप दे देने से निश्चित रूप से उनका असली प्रतिभावान् रूप नष्ट हो जाता है और इसीलिए जादू की कथाआ में ८-९ से २१ तक की गिनती विद्याआ के लिए गिनाई गई ह।

श्री शान्तिचन्द्र द्विवेदी

विक्रमादित्य का ज्योतिषी—अमरसिंह पण्डित का नाम विक्रमादित्य के ज्योतिषी की तरह आता है। किन्तु इस नाम को अधिक महत्त्व देना उचित नहीं दिखता है। प्रवचनभेद की बाट देखना उचित है। अमरसिंह रात्रि को पत्नी का कुतूहल पूरा करने के लिए घड़े की ज्वार को मोतियों के रूप में परिणत करनेवाली घड़ी का शोध कर रहे थे। जब उनने 'हूँ' कहा तब पण्डितानी तो चूक गईं—घड़े में डण्डा न दे सकी—मकान के पीछे खड़े विक्रम ने उसी समय एक कद्दू पर तलवार मारी। कद्दू के दोनों पलवे सोने के हो गये। इसी प्रकार दूसरी रात को स्यार की बोली का अर्थ अमरसिंह से सुनकर विक्रम ने दो लाल प्राप्त किये। राजसभा में विक्रम ने अमरसिंह का मान किया और कहा कि "शोधवेवारो तेरे सरीको और वेधवेवारो मेरे सरीको" होना चाहिए।

विक्रम-संवत्—विक्रम-संवत् के प्रचलन के सम्बन्ध में बड़ी अद्भुत कल्पना एक कथा में है। अमावस्या के दिन राजसभा में विक्रम द्वारा तिथि पूछी जाने पर अमरसिंह ने पूर्णमासी बतलायी। सभा में सन्नाटा छा गया। सबने पूछा, "तो आज पूर्णचन्द्र उगेगा?" अमरसिंह के मुख से निकल तो चुका ही था। बोले, "हाँ, उगेगा।" पिता की चिन्ता दूर करने के लिए उनकी पुत्री चन्द्रमा के आराधन के लिए गयी और उस रात्रि को पूर्णचन्द्र उगा। तभी से विक्रम-संवत् का प्रचलन हुआ और मासारंभ पूर्णिमा के बजाय अमावस्या के बाद से होने लगा। "सन्न राजा वीर बिकरमाजीत कौ और सक राजा सारवाहन कौ।"—प्रसिद्ध कथाप्रवक्ता सूरी महते ने इस कथा के अन्त में एक 'जनवा' की मुस्कराहट के साथ यह कहा था। इस कथा का अधिक स्पष्ट प्रवचन कदाचित् मिले।

सारवाहन—सारवाहन शालिवाहन का ही रूपान्तर समझना चाहिए। हमारी कथाओं में सारवाहन को विक्रम का औरस पुत्र बताया गया है। विक्रम की कथाओं में एक व्यापक मूल कल्पना है कि राजा किसी कुमारी से विवाह करता है अथवा उसे अधब्याही करके छोड़ आता है। यह विवाहिता छल से राजा से पुत्र उत्पन्न करती है। यह पुत्र जाकर राजा को छल-बल से नीचा दिखाता है। बाद को परिचय होता है और राजा अपनी पत्नी को बुला लेता है और यह लड़का राजकुमार होता है। किन्तु सारवाहन की कथा में रानी के नवविवाहित होने का कोई उल्लेख नहीं है। रानी गर्भवती महल में ही होती है। रानी के गर्भ के सम्बन्ध में ज्योतिषी विक्रम को बताते है कि इस रानी के गर्भ से ऐसा पुत्र होगा जो बल, बुद्धि, विक्रम और यश में उनको परास्त करेगा। विक्रम उस रानी को मरवाने की आज्ञा देते हैं। रानी किसी प्रकार अपनी प्राणरक्षा करती है। एक कुम्हार उसे अपनी धर्म की पुत्री बनाकर रखता है। रानी के गर्भ से सारवाहन पैदा होता है। वह बड़ा होता है। कुम्हार उसे खेलने के लिए मिट्टी के घोड़े और सिपाही बना बनाकर देता है जिन्हें वह घर की छत्त पर रखता जाता है। छत्त इस फौज से भर जाती है। एक दिन चार भाइयों का एक ऐसा प्रकरण, जिसका न्याय स्वयं विक्रम नहीं कर सके थे, सारवाहन निपटाता है। विक्रम को इसका समाचार मिलता है। वह सारवाहन को बुलाना भेजते हैं जिसकी वह अवज्ञा करता है। विक्रम एक बड़ी फौज लेकर उस पर चढ़ाई करते हैं। उसकी माता अपनी छिंगुरी का रक्त छिड़ककर अथवा प्रवचन भेदानुसार देवी अमृत से उसकी मिट्टी की फौज में जीवन डाल देती है। युद्ध में सारवाहन विजयी होता है। बादको विक्रम को यह ज्ञात होने पर कि सारवाहन उनका ही पुत्र है, वे प्रसन्न होकर उसे साथ लिवा ले जाते हैं। इस कथा में राजा के अन्य पुत्रों की तरह सारवाहन ने छल-बल नहीं किया है—प्रत्यक्ष युद्ध ही किया है। लेकिन सिंहासन बत्तीसी अथवा विक्रम-चरित्र में वर्णित शालिवाहन की तरह इनमें सारवाहन को विक्रम का संहारक नहीं बताया गया है।

सारवाहन का चित्रण बड़ा जगमगाता हुआ किया गया है। विपत्ति के कारण सारवाहन के साथ की बरात और धनधान्य सब विवाह को जाते हुए मार्ग में नदी में डूब जाते हैं। उस नगर में पहुँचने पर उसके भी हाथ पाँव कट जाते हैं। किन्तु स्वयंवर में राजकुमारी सारवाहन के गले में ही माला डालने की प्रार्थना हाथी से करती है। हाथी उस ठूँठ के गले में माला डालता है। इसके बाद देवताओं द्वारा सारवाहन का मान होता है। उनकी कंचन की काया होती है और "करम, धरम, लच्छमी और सत्त" के जिस प्रकरण को त्रैलोक्य में कोई भी नहीं निपटा सका था, उसको निपटाकर सारवाहन वापस लौटते हैं।

लोककथा में विक्रमादित्य

विक्रमादित्य और स्त्री समाज—लोककथाओं में त्रिया-चरित्र राजा वीर विकरमाजीत के चरित्र से बड़ा बताया गया है। परीक्षण के बाद स्वयं विक्रम इस बात को स्वीकार करते हुए बताए गए हैं। अनेक स्थलों पर विक्रम स्त्रियों से लज्जित होते बताये गये हैं। स्त्रियों के आगे राजा की प्रतिभा कम होना—यह एक व्यापक मूल कल्पना दिखायी देती है। जादूगर प्रतिद्वंद्वी से बचने के लिए तो उनको हमेशा अधिक विद्या जाननेवाली कुमारी ढूंढ़ना पड़ती है जिससे विवाह करके ही वे अपनी रक्षा कर पाते हैं। यह नवविवाहिता ही जादूगर शत्रु को हराकर उनकी रक्षा करने में समर्थ होती है। जादू की कथाओं पर यदि ध्यान न भी दिया जाय, तब भी उपरोक्त मूल कल्पना बहुत अधिक व्यापक है। जलन्धर के रोगी विक्रम भी अपनी नवविवाहिता पत्नी के प्रयास से ही अच्छे होते हैं।

दुर्बल विक्रम—मालिन अथवा वेश्या का महल में बुलाया जाना—यह एक मूल कल्पना है जिससे लोककथाओं के विक्रम की चारित्रिक दुर्बलता का भ्रम हो सकता है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि लोक-मानस में यह कल्पना एक राजा को दूषित नहीं करती है।

लोककथाओं में विक्रम दयनीय होते हुए भी यत्र तत्र खूब देखे जा सकते हैं। यह व्यापक मूल कल्पना लोकमानस के सांसारिक अनुभवों के परिपाक की परिचायक है। जलन्धर के रोगी विक्रम कुएं पर अथवा भड़भूजे के यहां नौकरी करते देखे जा सकते हैं। जादू की कथाओं में तो उनका हाल बहुत ही बुरा हो जाता है। क्योंकि वे केवल चौदह विद्याएं जानते हैं जबकि अन्य व्यक्ति पन्द्रह से इक्कीस विद्याएं तक जानते हैं। इन कथाओं में विक्रम को कभी अन्य योनियों में भटकना पड़ता है, कभी अधिक विद्या जाननेवाली कुमारियों से विवाह करने के लिए अथक प्रयास करना पड़ते हैं। और विवाह के बाद भी यदि किसी से युद्ध होता है तो विक्रम तो हतप्रभ ही रहते हैं—उनकी नवविवाहिता पत्नियां ही उनके प्रतिद्वंद्वी को हराती हैं।

वह दृश्य भी बड़ा दयनीय है जब विक्रम उज्जैन नगरी के बाहर जिस गधे पर बैठकर एड़ लगाते हैं, वही उनको लेकर गिर पड़ता है। और वहां कुएं पर पानी भरती हुई ब्राह्मण की बेटी कहती है, "राजा काए कीं जे गधा मारें डारत हौ, वो वोई हतो, जे जइ है।" अपने पुत्र के छल के कारण गस्त के सिलसिले में रात्रि में औरत का वेश किये अथवा कोदे पीसते हुए विक्रम दिखना—यह एक व्यापक मूल कल्पना है। किन्तु यह ""पुत्रादिच्छेत्पराजयम्" के अनुसार ही है। क्योंकि अनेक जगह विक्रम स्वयं "जब तेरो जाओ छल है मोय, तबईं लुआउन आहौं तोय"—यह अपनी नवविवाहिता के अंचल पर लिखकर आते हैं।

उपसंहार—इन लोककथाओं में विक्रम के चित्रण को देखकर उनके सम्बन्ध में लोककल्पना का आभास होता है। विक्रम की परदुःखकातरता, प्रजापालकता, उदारता, वैभव, यश, पराक्रम और प्रभाव का चित्रण करते हुए लोककथाकार अघाता नहीं है। कथाओं में विक्रम अनन्य लोकप्रिय दिखते हैं। नये श्रोता को जादू सम्बन्धी कहानियां सुनकर यह शंका हो सकती है कि विक्रम पराजित अथवा कम प्रभावशाली क्या? किन्तु थोड़े बारीक अध्ययन के बाद मालूम हो जाता है कि लोककथा में जहां जादू शुरू हुआ कि फिर तो स्वयं कथा प्रवक्ता पर जादू का भूत सवार हो जाता है। इस प्रकार जादू की तो लोककथा में एक स्वतंत्र शाखा है जिसमें बुद्धि का बंधन प्रवक्ता और श्रोता दोनों छोड़ देते हैं। पुत्र से पराजित होने और स्त्रियों के आगे विक्रम को दीन बताने की मूल कल्पनाओं का आधार तो लोक जीवन का कल्पना-माधुर्य और अनुभव-परिपाक ही है।

लोकजीवन के इस अंधकारमय युग में भी विक्रमादित्य का यश शरार "हारी कमी झाक, दिवारी कसो दिया" जैसा बुन्देलखण्डी लोककथाओं में प्रदीप्तिमान है।*

---

* हमने लेखक से 'विक्रम-स्मृति-ग्रंथ' के लिए बुन्देलखण्ड में प्रचलित विक्रम-सम्बन्धी लोककथाओं का अध्ययन करने का अनुरोध किया था, उसके परिणाम-स्वरूप लेखक ने यह विद्वत्तापूर्ण लेख लिखा है। सं०।
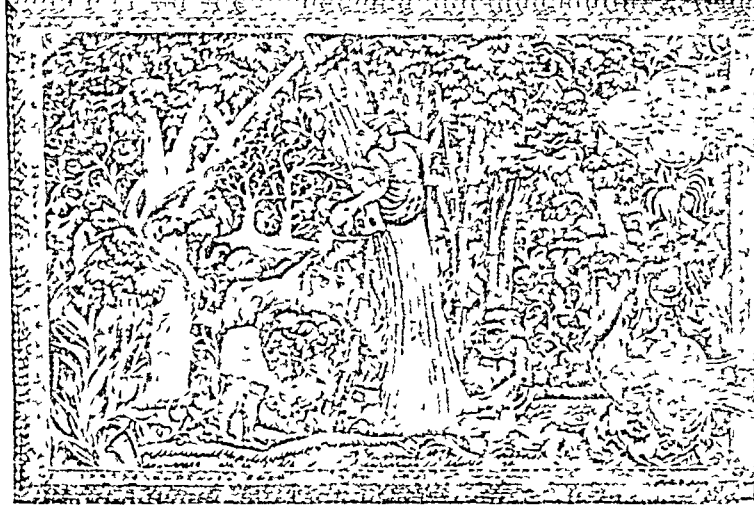
आयुर्वेद का विक्रम-काल

आयुर्वेदाचार्य श्री डॉ० भास्कर गोविन्द घाणेकर बी. एससी; एम. बी; बी. एस.

पिछली कुछ शताब्दियो से आयुर्वेद की ऐसी निकृष्ट दशा हो गई है कि आयुर्वेद प्रेमी भी स्वयं उसकी वहुत तरफदारी नही कर सकते। पाश्चात्य लोग जो अपनी चिकित्सा-प्रणाली का उत्कर्ष चाहते है, आयुर्वेद को वदनाम करने के लिए उसको अवैज्ञानिक कहकर घृणा की दृष्टि से देखते है; और हमारे भारतीय भी उनकी देखादेखी विना सोचे-समझे और पढे-गुने एक पग आगे वढकर आयुर्वेद का उपहास किया करते है। परन्तु एक काल ऐसा था जब ज्ञात जगत् आयुर्वेद की ओर श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखा करता था। उसका कारण यह था कि उस कालखण्ड मे भारतवर्ष मे आयुर्वेद के एक से एक वढ़कर, धुरधर विद्वान् उपस्थित थे जिनके अथक परिश्रम और तत्वान्वेषण से आयुर्वेद अन्य देशो की चिकित्सा प्रणाली की तुलना मे परम उन्नत और गुरुस्थान पर हो गया था, जिनके चिकित्सा चमत्कारो को देखकर और सुनकर अन्य देशो के लोग दाँतोतले अँगुली दवाते थे और जिनके पास आयुर्वेद का अध्ययन करने के लिए भारतवर्ष की यात्रा करके वैद्यक ज्ञान प्राप्त कर उसका उपयोग अपने वैद्यक में किया करते थे।

कालक्रमणिका की दृष्टि से भारतीय अन्य शास्त्रो के समान आयुर्वेद का इतिहास वहुत ही अपूर्ण और अनिश्चित स्वरूप का है। एक भी ऐसा ग्रन्थ नही है जिसका निर्माणकाल ठीक मालूम हुआ है, न एक भी ऐसा प्राचीन ग्रन्थकार है जिसकी जीवनी से हम भली भाँति परिचित हो गये है। ऐसी अवस्था मे आयुर्वेद के उज्ज्वल काल की ठीक मर्यादा वताना वहुत कठिन है। इस कठिनाई को दूर करके उस काल की स्थूल कल्पना वाचको के सामने रखने के लिए मैंने चार काल-खण्ड वनाये है जिनमे आयुर्वेद का इतिहास सक्षेप मे देने की कोशिश की गई है।

(१) वेदपूर्वकाल—आयुर्वेद संसार का एक अत्यन्त प्राचीन वैद्यक शास्त्र है इस विषय मे सव सहमत है, परन्तु उसकी प्राचीनता कहा तक पहुँचती है इस विषय मे मतभिन्नता है। सुश्रुत और काश्यप सहिताकारो के अनुसार पृथ्वीतल

आयुर्वेद का विक्रम काल

पर मनुष्यों की उत्पत्ति होने के पहले आयुर्वेद का अवतार* हुआ है। बहुत लोग इस उक्ति को एक पौराणिक कल्पना समझेंगे। परन्तु यह कोरी कल्पना नहीं है, इसके पीछे बड़ा भारी तत्त्व छिपा हुआ है जो संहिताकारों की विशाल बुद्धि और सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का साक्ष्य देता है। यदि पशु-पक्षियों की ओर देखा जाय तो उनमें भी अपनी प्रजा की रक्षा का प्रबन्ध करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति दिखाई देती है। मनुष्यों का तो कहना ही क्या है? उनको न केवल वर्तमान प्रजा की किन्तु भावी प्रजा की तथा न केवल स्वास्थ्यरक्षा की किन्तु आर्थिक और सांस्कृतिक रक्षा की अत्यधिक चिन्ता लगी रहती है जिसके परिणामस्वरूप हमेशा लड़ाई झगड़े हुआ करते हैं। यहाँ पर केवल स्वास्थ्यरक्षा का ही विचार अभिप्रेत है। इसलिए उस दृष्टि से यदि मनुष्यों की ओर देखा जाय तो भी सब लोग इस विषय में प्रयत्नशील दिखाई देते हैं कि अपनी भावी प्रजा सुदृढ़ और स्वस्थ उत्पन्न हो जाय। आजकल इस प्रयत्न में सहायता करने के लिए प्रत्येक उन्नतिशील देश में स्वास्थ्य विभाग की ओर से या शासकों की ओर से 'एण्टीनेटल क्लीनिक' नाम की सार्वजनिक संस्थाएँ खोली गई हैं। प्रजा उत्पन्न होने से पूर्व उसके परिपालन का कितना महत्त्व होता है इसका परिचय इन आधुनिक पाश्चात्य 'प्रिनेटेल क्लीनिक' (Prenatal clinic) संस्थाओं के द्वारा स्पष्ट जाहिर होता है। इस महत्त्व को सामने रखकर काश्यप-संहिताकार कौमारभृत्य को † आयुर्वेद के अष्टांगों में अधिक महत्त्व का बताते हैं। जब साधारण मनुष्य अपनी भावी प्रजा के परिपालन में इतने प्रयत्नशील रहते हैं तब यदि सृष्टि का उत्पादक प्रजापति अपनी लाडली और सर्वश्रेष्ठ प्रजा मनुष्यजाति‡ के परिपालन का प्रबन्ध करे या उस पर इस प्रकार का प्रबन्ध करने का आरोप किया जाय तो उसमें आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता।

अब प्रजा उत्पन्न होने से पूर्व प्रजापति ने जो आयुर्वेद उत्पन्न किया उसका स्वरूप किस प्रकार का हो सकता है इस विषय का विचार किया जायगा। सभी लोग जानते हैं कि गुणविकासवाद के अनुसार मानवजाति उत्पन्न होने से पहले चन्द्र, सूर्य तथा तज्जनित दिनरात्र षटऋतु इत्यादि कालविभाग, जल, वायु, खनिज द्रव्य, विविध वनस्पति और प्राणी उत्पन्न हो‡ जाते हैं। इन सब वस्तुओं का मनुष्यों का स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए तथा गिरे हुए स्वास्थ्य को पुनर्स्थापित करने के लिये उपयोग करने का शास्त्र ही आयुर्वेद है। आयुर्वेद के अनुसार कोई द्रव्य अनौषधि॥ नहीं है, केवल युक्ति की आवश्यकता है। सुश्रुत संहिता के प्रथम अध्याय में इस प्रकार § आयुर्वेद की संक्षिप्त व्याख्या दी गई है और यह भी स्पष्ट किया है कि आगे की सम्पूर्ण संहिता में केवल इसी का ही विस्तार होगा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि वेद पूर्वकाल में मनुष्य प्रजापति निर्मित उपर्युक्त द्रव्यों का उपयोग अपने स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए तथा बिगड़े हुए स्वास्थ्य को पुनर्स्थापित करने के लिए करते रहे और इस प्रकार से स्वास्थ्यरक्षा और व्याधिपरिमोक्ष के सम्बन्ध में अनुभव प्राप्त करते गये। परन्तु ये सब अनुभव लोगों के मन में रहे और

---

*इह खल्वायुर्वेदं नाम यदुपांगमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः कृतवान् स्वयम्भूः ॥ सुश्रुत ॥
अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः स्वयम्भूर्ब्रह्मा प्रजाः सिसृक्षुः प्रजानां परिपालनार्थमायुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् सर्ववित् ॥ काश्यपसंहिता ॥

† कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते। आयुर्वेदस्य महतो देवानामिव हव्यपः ॥ काश्यपसंहिता ॥

‡ भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः ॥ मनुस्मृति ॥

‡ आत्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। अन्नात् प्रजाः प्रजायन्ते। तैत्तिरीयोपनिषत् ॥

॥ अनेन निदर्शनेन नानौषधिभूतं जगति किंचिद्द्रव्यमस्ति ॥ सुश्रुत ॥

§ शारीराणां विकाराणामेष वर्गश्चतुर्विधः। प्रकोपे प्रशमे चैव हेतुरुक्तश्चिकित्सकः।
बीजं चिकित्सितस्यैतत्समासेन प्रकीर्तितम्। सविंशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति ॥ सुश्रुत ॥
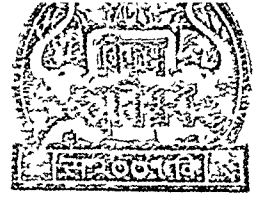
अक्षर-सम्वद्ध नही हुए। संक्षेप मे वेद पूर्वकाल का आयुर्वेद अलिखित और प्रयोगात्मक था। इसको आयुर्वेद की शैशवावस्था कह सकते हैं।

(२) वेदकाल---इस कालखण्ड में मनुष्यो मे अपने विचार अक्षरसम्वद्ध करने की वुद्धि और शक्ति आ गई जिससे अन्य विचारों और आचारो के साथ साथ प्रसंगानुरूप वैद्यकीय विचार भी अक्षरसम्वद्ध हो गये। सम्पूर्ण वेद और व्राह्मण ग्रन्थों का वैद्यकीय दृष्टचा आलोडन करने पर उनमे आयुर्वेद सम्वन्धी असंख्य उल्लेख दिखाई देते है। ये उल्लेख अन्य वेदों की अपेक्षा अथर्ववेद में अधिक पाये जाते है। इसलिए आयुर्वेद सहिताकारों ने अथर्ववेद को अपना गुरू मान लिया है और आयुर्वेद का मूल अथर्ववेद मे ही* वताया है। यदि वेदो मे मिलनेवाले सव वैद्यकीय उल्लेख शारीर, निघंटु, कायचिकित्सा, शल्य चिकित्सा, विप चिकित्सा, जल चिकित्सा, सूर्य चिकित्सा, प्रसूति और कौमार इत्यादि आयुर्वेद के विविध अंगों के अनुसार संग्रहीत किये जॉय तो एक सुन्दर 'वेदाग आयुर्वेद' का ग्रन्थ वन सकता है। इन उल्लेखो मे जराजीर्ण च्यवन को नवयौवन प्राप्ति†, युद्ध मे पैर कट जाने पर लोहे के पैर का उपयोग करना‡, छिन्न भिन्न शरीर को इकट्ठा करके उसमें प्राणप्रतिष्ठापना करना‡, कटे हुए सिर को जोड़ना‡, अन्धे को नेत्रदान ¶ इत्यादि अनेक चमत्कृतिपूर्ण और कुतूहलजनक कर्मों का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु इन साधारण तथा विशेष कर्मो को करने की पद्धति, उनकी प्रक्रिया या उपपत्ति का विवरण कही भी नही दिखाई देता; सम्पूर्ण वेदांग आयुर्वेद विखरा हुआ, असंगतिक और मंत्रतंत्र-घटित (Mystical) स्वरूप में § मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि वेदकाल में वैद्यक ज्ञान वहुत कुछ वढ़ गया था, फिर भी एक स्वतत्र शास्त्र बनने के लिए जिस प्रकार की सुसंगतिक और सोपपत्तिक उन्नति किसी शास्त्र की होनी चाहिए उतनी उसकी उन्नति उस समय मे नही हुई थी। इसको आयुर्वेद की विवर्धमानावस्था कह सकते है।

(३) विक्रम काल---इस कालखण्ड मे भारतवर्ष मे आयुर्वेद के एक से एक वढकर धुरधर विद्वान् उत्पन्न हुए, जिन्होंने अविश्रान्त परिश्रम और तत्त्वान्वेपण से वेदाग आयुर्वेद मे उसे स्वतंत्र शास्त्र वनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक और महत्त्व के अनेक परिवर्तन किए। इनके कुछ उदाहरण दिग्दर्शन के लिए यहाँ पर दिये जाते हैं।

---

* तत्रभिषजा चतुर्णामृक्सामयजुर्वेदायर्वेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या॥ चरक॥
आयुर्वेदः कथंचोत्पन्न इति। आह, अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः॥ काश्यपसंहिता॥

† युवंच्यवानमश्विना जरन्तं पुनर्युवानं चक्रतुः शचीभिः॥ ऋग्वेद॥

‡ सद्योजङ्घामायसीं विश्पलायै धनेहिते सर्तवे प्रायधत्तम्॥ ऋग्वेद॥

‡ हिरण्यहस्तमश्विना रराणा पुत्रं नरावध्रिमत्या अदत्तं। त्रिधाहश्यावमश्विना विकस्तमुज्जीवस ऐरयतं सुदानू॥ ऋग्वेद॥

‡ आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्वं शिरः प्रत्यैरयतं॥ ऋग्वेद॥

¶ आक्षी ऋजाश्वे अश्विनावधत्तं ज्योतिरंधाय चक्रथुर्विचक्षे।
शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृजाश्वं ते पिताधं चकार।
तस्मादक्षिनासत्या विचक्ष आदत्तं दस्राभिषजावनर्वन्॥ ऋग्वेद॥

§ वेदो ह्याथर्वणो दानस्वस्त्ययन वलिमंगल होमनियम प्रायश्चित्योपवास मन्त्रादि परिग्रहाच्चिकित्सां प्राह॥ चरक॥

तत्र (अथर्ववेदे) हि रक्षाबलि होम शान्ति............प्रतिकर्म विधानमुद्दिष्टं विशेषण॥ (काश्यपसंहिता)

आयुर्वेद ने मंत्रतंत्रादि का पूर्णतया त्याग नही किया, कहीं कहीं उसका प्रयोग किया है। परन्तु चिकित्सा की दृष्टि से इसका स्थान अत्यन्त गौण है। आयुर्वेद ने चिकित्सा का मुख्य आधार आहार विहारादि पथ्य और उसके पश्चात् औषधि को माना है। सदा पथ्यं प्रयोक्तव्यं नापथ्येन स सिद्धति। औषधेन विना पथ्यैः सिद्धयते भिषगुत्तमैः। विना पथ्यं न साध्यं स्यादौषधानां शतैरपि॥ हारीतसंहिता॥

आयुर्वेद का विक्रम-काल

वेदो मे शरीर का कुछ ज्ञान मिल जाता है, परन्तु वह अत्यन्त अपूर्ण और पशुओ के शरीर का है। आयुर्वेद मनुष्यो का वचक* होने के कारण मनुष्य शरीर का ज्ञान वैद्यो के लिए आवश्यक होता है। महर्षियो ने इसलिए मृत मनुष्य शरीर का परीक्षण करने का † उपक्रम किया, तथा शरीर के विविध अगो पर चोट लगने के परिणामो को देखकर उन अगो के कार्यों को ‡ मालूम करने का प्रयत्न किया। वेदो मे सहस्रावधि वनस्पतियो के उल्लेख § मिलते है, परन्तु स्वरूप, गुण धर्म इत्यादि का विवरण नही मिलता। इन्होने उनकी पहचान वनचारियो से ⁑ प्राप्त की, गुण धर्मों के अनुसार उनके गुण बनाये ¶, और गुण धर्मों की उपपत्ति रस वीर्य विपाक के अनुसार निश्चित की। वेदो मे अनेक शस्त्र-कर्म मिलते है, परन्तु उनकी पद्धति का वर्णन नही दिखाई देता। इन्होने साद से साद शस्त्रकर्म से लेकर नासासधान (Rhinoplasty) जैसे अनोखे शस्त्रकर्म तक ♁ सब शस्त्रकर्मों की पद्धति वर्णन की, शस्त्र कर्मों के लिए आवश्यक अनेक उपयोगी यत्रशस्त्र निर्माण किए, शस्त्र कर्म के समय सज्ञाहरण के लिए क्लोरोफाम के समान मद्य का उपयोग⁂ शुरू किया, शस्त्र कर्म के पश्चात उत्पन्न होनेवाले दोष (Sepsis) का निराकरण करने के लिए व्रणबधन की वस्तुओ को सूर्य की किरणो से, निंब वचादि जीवाणुनाशक वनस्पतियो के धूपन से, अग्नि से या उबलते पानी से विशोधित करके♃ काम मे लाने की प्रथा शुरू की, जिसे आधुनिक जीवाणुनाशक व्रण चिकित्सा-पद्धति की जननी समझ सकते है। वेदो में त्रिदोषो का केवल उल्लेख ⁜ मिलता है, परन्तु उनके स्वरूपादि का विवरण नही दिखाई देता। इन्होने उनके ऊपर गम्भीर विचार करके उनके प्राकृत तथा विकृत कार्य निश्चित किये, उनके आधार पर सम्पूर्ण औषधि द्रव्यो के गुण धर्म निश्चित किये, विविध रोगो की सम्प्राप्ति ठीक की, उनका वर्गीकरण किया और उनके लिए बहुत सुन्दर और सरल चिकित्सा प्रणाली स्थापित की। वेदो मे ज्वर यक्ष्मा, कुष्ठ इत्यादि सक्रामक रोगो के उल्लेख बहुत मिलते है। इन्होने इन रोगो के प्रसार के साधन मालूम करके ⁑ स्थान परित्याग, सम्बन्धविच्छेद, रसायन प्रयोग इत्यादि मार्गों द्वारा इनकी रोक थाम

---

* तस्यायुष पुण्यतमो वेदो वेदविदा मत । वक्ष्यते यन्मनुष्याणा लोकयोरुभयोर्हित ॥ चरक ॥

† तस्मान्नि सशय ज्ञान हर्त्राशल्यस्य वाञ्छता। शोधयित्वा मृत सम्यग्द्रष्टव्योऽग विनिश्चय ॥ सुश्रुत ॥

‡ क्लैब्य। वदन्ति शेफसश्छेदाद् वृषणोत्पाटनेनच ॥ चरक ॥

§ शत ते राजन् भिषज सहस्रमुर्वीगभीरा सुमतिष्टे अस्तु ॥ ऋग्वेद ॥

⁑ गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिण । मूलाहाराश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते ॥ सुश्रुत ॥

¶ चरक, सूत्र स्थान, अध्याय ४ और सुश्रुत, सूत्र स्थान, अध्याय ३८ और ४०।

♁ They have already borrowed from them (Hindus) the operation of Rhino plasty—Weber's History of Medicine—इस पद्धति को आज भी पाश्चात्य शस्त्र विज्ञान में भारतीय पद्धति कहते है।

⁂ मद्यप पाययेन्मद्य तीक्ष्ण यो वेदनासह ॥ सुश्रुत ॥

♃ न केवल व्रण धूपयेत, शयनाद्यपिव्रणदौर्गन्ध्यापगमार्थं नीलमक्षिकादि परिहारायच॥ डल्हण ॥
धूमो मृहशयनासनवस्त्रादिपुशस्यते विषनुत ॥ चरक ॥
उदरान्मेदस्ते वर्तिनिगता यस्य देहिन । अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात् ॥ सुश्रुत ॥
अन्यथा अतप्तशस्त्रच्छेदेन पाकभयस्यात् ॥ डल्हण ॥

⁜ त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रि पार्थिवानि त्रिरुदत्त मद्भ्य । ओमान श यो ममकायसूनवे त्रिधातु शर्म वहत शुभस्पति। ऋग्वेद॥ त्रिधातु वात पित्त श्लेष्म धातुत्रय शमन विषय सुख वहतम् ॥ सायनभाष्य ॥

⁑ प्रसगाद्गात्रसस्पर्शान्निश्वासात् सहभोजनात्। सहशय्यासना चापिवस्त्रमाल्यानुलेपनात्।
कुष्ठ ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एवच। औपसर्गिक रोगाश्च सक्रामन्ति नरान्नरम ॥ सुश्रुत ॥

करने मे काफी सफलता प्राप्त की। वेदों मे प्रसवकाल की अवधि दस महीने की* बताई गई है। इस अवधि मे कई वार फर्क दिखाई देता है। इन्होंने इस विषय की जॉच करके इस अवधि की अवैकारिक अधिक से अधिक और कम से कम मर्यादा† बताई जो आधुनिक जॉच के साथ ठीक ठीक मिलती है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक पहलुओ से वेदाग वैद्यक में इस काल मे परिवर्तन और सुधार होने के कारण आयुर्वेद एक सुसघटित, सर्वागसुन्दर और स्वतत्र शास्त्र बन गया तथा उसकी योग्यता वेदों के बराबर और उपयोगिता‡ वेदों से भी अधिक हो गई।

इस काल में आयुर्वेद इतना बढ गया था कि एक व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण आयुर्वेद का आकलन करके उसके सब अंगों का व्यवसाय करना असम्भवसा हो गया था। इसलिए आयुर्वेद शल्यशालाक्यादि आठ अंगो मे विभक्त किया गया था, इन अंगों के ग्रन्थ भी स्वतंत्र बनाए गए थे और आधुनिक काल के समान उन अंगों के विशेषज्ञ (Specialists) अपना अपना व्यवसाय¶ राज दरबार तथा अन्य स्थानो मे कार्यक्षमता के साथ तथा लोगो के विश्वास के साथ किया करते थे। इस काल में आयुर्वेद की कीर्ति इतनी बढ गई थी कि भारत के बाहरी देशो मे भी वह पहुँच गई थी जिसके परिणामस्वरूप बाहर के लोग वैद्यकीय ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारतवर्ष मे आया करते थे और यहाँ से वापिस जाने पर भारतीय ज्ञान का उपयोग अपने शास्त्र को समृद्ध करने मे किया करते थे। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि आज भी कई भारतीय प्राचीन वैद्यकीय शब्द विलायती वैद्यक मे§ दिखाई देते हैं। सिकन्दर जब भारत मे आया तब वह अपने सैनिकों के साथ सैनिक वैद्यो को भी ले आया था। परन्तु भारत के सर्पदश की चिकित्सा मे उनको सफलता न मिल सकी। इसलिए उसने यहॉ के कुछ विषवैद्य अपनी छावनी मे रक्खे और वापिस जाते समय वह कुछ वैद्यों को साथ लेकर चला गया।

यह काल आयुर्वेद की दृष्टि से उज्ज्वल, दिग्विजयी और शाश्वत कीर्ति देनेवाला रहा। इस काल की प्राचीन मर्यादा ठीक ठीक बताना बहुत कठिन है। परन्तु यह निश्चिति से कहा जा सकता है कि संवत्कार विक्रमादित्य के पहले कुछ शताब्दियो से उसके पश्चात् कुछ शताब्दियो तक आयुर्वेद की यह उज्ज्वल दशा रही। चूकि यह काल विक्रमादित्य के काल के समान आयुर्वेद के लिए उज्ज्वल, दिग्विजयी और शाश्वत कीर्ति प्रदान करनेवाला रहा तथा चूकि इसका मध्य बिन्दु स्वयं विक्रम रहा इसलिए मैंने आयुर्वेद के इस काल को विक्रम का नाम दिया है। इस काल को आयुर्वेद की यौवनावस्था कह सकते हैं।

---

* धाता श्रेष्ठेन रूपेणास्यानार्या गविन्योः। पुमांसं पुत्रमाधे हि दशममासि सूतवे ॥
यथावातो यथा मनोयथा पतन्ति पक्षिणः। रावा त्वं दशमास्यसाकं जरायुणापताव जरायु पद्यताम् ॥ अथर्ववेद॥

† नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते। अतोऽन्यथाविकारी भवति ॥ सुश्रुत ॥

‡ आयुर्वेद मेवाश्रयन्ते वेदाः। एवमेवायमृग्वेद यजुर्वेद सामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमो भवत्यायुर्वेदः।
काश्यपसंहिता ॥ टिप्पणी नं. १४ भी देखियेगा॥

¶ कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भमर्मणि ॥ रघुवंश ॥
उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः। सर्वोपकरणैर्युक्ता कुशलैः साधुशिक्षिताः ॥
कोशं यन्त्रायुधंचैव येच वैद्याश्चिकित्सकाः। तत्संगृह्ययौराज्ञां ये चापि परिचारकाः।
शिबिराणिमहार्हाणि राज्ञां तत्र पृथक् पृथक्। तत्रासन् शिल्पिनः प्राज्ञाः शतशो दत्तवेतनाः।
सर्वोपस्करणैर्युक्ता वैद्याः शास्त्रविशारदाः ॥ महाभारत ॥
चिकित्सकाः शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्र हस्ताः स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्यः उद्धर्षणीयाः पृष्ठतोऽनुगच्छेयुः ॥
आपन्न सत्वायां कौमारभृत्यो गर्भमर्मणि प्रजने च वियतेत।
तस्मादस्य जांगलीविदो (विषवैद्य) भिषजश्चासन्नाः स्युः ॥ कौटिलीय अर्थशास्त्र ॥

§ शृंगवेर--Zingiber, कोष्ठ—Costus, पिप्पली Piper, शर्करा Sakkaron हृद—Heart,
विष—Virus, अस्थि— os, osteoro, पित्त—Pituata, शिरोब्रम्ह—Cerebrum

आयुर्वेद का विक्रम काल

(४) वाग्भट काल—भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन काल से सुवर्णभूमि के रूप में संसार में प्रसिद्ध रहा। इसलिए उसको लूटने की इच्छा भी अत्यन्त प्राचीन काल से भारतेतर देशों के लोगों में रही। इसका परिणाम यह होता रहा कि भारत पर प्राचीन काल से विदेशियों के आक्रमण होते रहे। जब तक भारतीयों में क्षात्रतेज चमकता रहा तथा भारत में विक्रमादित्य के समान पराक्रमी और विद्वानों का आदर करनेवाले शासक रहे तब तक इन आक्रमणकारियों की एक भी न चली। परन्तु इनका अभाव होने पर इन्होंने भारत में उत्पात मचाया। इसका परिणाम यह होने लगा कि देश में अशान्ति फैलने लगी, दारिद्र्य बढ़ने लगा और विद्या-कला का लोप होने लगा। अर्थात् इस काल में आयुर्वेद की भी बहुत हानि हुई। इससे बचने के लिए वाग्भट ने अपने समय में जो आयुर्वेद का अंश बचा हुआ था उसका संग्रह उसके विविध अंगों के अनुसार जरा विस्तार से अष्टांग संग्रह में और संक्षेप से अष्टांग हृदय में किया। इस कालखण्ड में माधव निदान, सिद्धयोग तथा अन्य ग्रंथों का जो निर्माण हुआ वह सब संग्रहस्वरूप का था। इसलिए इस काल को संग्रह काल भी कह सकते हैं। इस काल में आयुर्वेद की उन्नति नहीं हुई, अवनति ही होती रही। इसको आयुर्वेद की वृद्धावस्था कह सकते हैं।

(५) भविष्यकाल—वृद्धावस्था के पश्चात् सृष्टि नियम के अनुसार मृत्यु ही एकमात्र घटना बाकी रहती है। यह नियम सृष्ट पदार्थों के लिए भले ही लागू हो, वेदों और शास्त्रों के लिए नहीं लागू होता। आयुर्वेद वेद भी है और शास्त्र भी*। इसलिए उसके लिए यह नियम कदापि भी लागू नहीं हो सकता। अब सवाल यह उठता है कि 'क्या आयुर्वेद इस जराजीर्ण दशा में भविष्य में रहेगा?'। इसका उत्तर है 'कदापि नहीं'। इसका कारण यह है कि आयुर्वेद के पास जराजीर्ण शरीर को नवयौवन† प्रदान करने की शक्ति है। अतः मुझे विश्वास है कि भविष्य में आयुर्वेद फिर से नवयौवन प्राप्त करके चिकित्सा जगत् में सम्मान का स्थान प्राप्त करेगा।

---

* अस्मिन्शास्त्रे पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते ॥ सुश्रुत ॥
रोगान् शास्ति इति शास्त्रम् ॥ आयुरारोग्य दानेन धर्माय कामादीनां शासनाद्वा शास्त्रम्। मरणात् त्रायते इति वा शास्त्रम् ॥

† रसायनस्यास्य नरः प्रयोगाल्लभेत जीर्णोऽपि कुटिप्रवेशात।
जराकृतं रूपमपास्य सर्वं बिभर्ति रूपं नवयौवनस्य ॥ चरक ॥

विक्रमकालीन उन्नति

श्री रामनिवास शर्मा

भारतवर्ष में एक समय था जब उज्जयिनी मे आजसे दो सहस्र वर्ष पहले परम भट्टारक महाराज विक्रमादित्य शासन कर रहे थे। भारतवर्ष के सास्कृतिक विकास, शौर्य और वैभव के वे प्रतीक थे। वे अपने औदार्य, विद्वत्ता, साहित्य-सेवा, अलौकिक प्रतिभा एवं दिग्विजय के कारण सर्वश्रुत थे। वे प्रत्येक बात मे इतने अद्वितीय थे कि उनकी उपमा संभवतः किसी से भी नही दी जा सकती। उनकी शालीनता, मनुष्यता, वाग्मिता, बुद्धिमत्ता विविध और विभिन्न अनन्त विचित्रताओं के गीत आज भी घर-घर सुनने को मिलते है। साराश यह है कि वे माधुर्य और ऐश्वर्य दोनो ही प्रकार की गुण-राशि के अप्रतिम उदाहरण थे।

उनके यहाँ लोक-विश्रुत बृहस्पति के समान सहस्रों विद्वान् थे। पचासो एकाधिक विषयो के आचार्य थे। अनेक आचार्य-प्रवर थे। ऐसे भी महामहिम उद्‌भट विद्वान् थे जोकि सरस्वती के वरदपुत्र और कण्ठाभरण कहे जाते थे। इनमें भी उनके अन्यतम विशेषज्ञ पण्डित, कलाकार और राज्य-व्यवस्थापक तो उस समय के सूर्य-चन्द्र ही थे। साथ ही व्यष्टि और समष्टि-वादी शास्त्रियो की संख्या भी कम नही थी। किन्तु इन सबमें उनके नवरत्न तो भूतल के अजर-अमर रत्न थे। उनमे भी महाकवि कालिदास तो सर्वोत्कृष्ट महापुरुष थे। ससार के विद्वानों का कथन है कि कालिदास सरस्वती के हृदय-की वस्तु थे, साहित्यश्री के शृंगार थे, कला-नैपुण्य के आचार्य थे, मानवीयता के प्राण थे, सार्वजनीन और सार्व-भौम आदर्श तत्त्वों के पुजारी और चित्रकार थे। सर्वाधिक वे सौन्दर्य के कवि थे। उनका व्यक्तित्व भौतिक, दैविक और आत्मिक विकासोन्मुख तत्त्व-वस्तु का समन्वय-सामंजस्य-पूर्ण विकास था। ऐसी दशा मे वे एक आदर्श थे। प्रत्येक देश और मानव-समाज की वस्तु थे।

उनका अभिज्ञान शाकुन्तल ससार की सर्वोत्तम पुस्तक है। उसमें विश्व-प्रकृति, मानव-प्रकृति और भारत की आत्मा पूर्णतः व्यक्त हुई है। उसकी प्रशंसा करना वस्तुतः भगवती वीणा-पाणि का ही कार्य है।

उस समय की सम्पूर्ण आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक समृद्धि उन्हीके चरणो के प्रश्रय से अनुप्राणित और समुन्नत थी। रमा, उमा, और गिरा उनकी वशवर्तिनी-सी बनी हुई थी। इन्ही विक्रमादित्य के विषय मे एक

विक्रमकालीन उन्नति

इतिहासकार इस प्रकार लिखते ह कि उज्जयिनी-पनि विक्रमादित्य ग धवसन के पुत्र थे। इनका पहला नाम विक्रमसेन था। इन्हींके समय में अवन्तिका को उज्जयिनी नाम मिला। ये चालीस वष की अवस्था म सिंहासन पर बैठे थे। ये बडे गुणी, न्यायी और वीर थे। इनकी न्याय प्रियता तथा दानशील्ता की आज तक ऐसी प्रशसा है कि इनकी गणना बलि और हरिश्चन्द्र जसे दानियो के साथ की जाती ह। अन्य राजाओ की प्रशसा करने में भी लोग वलि, विक्रम, राम, युधिष्ठिर आदि से वण्य नरेश की उपमा देते ह। भारतीय विचारानुसार इनम राजोचित सभी गुणो का सग्रह था।

इन्हीके लोकोत्तर व्यक्तित्व के विषय में कालिदास अपने ज्योतिर्विदाभरण में लिखते ह कि वे इन्द्र तुल्य अखण्ड प्रतापी थे, समुद्र की तरह गम्भीर थे, कल्प-तरु के समान दाता थे, रूप में कामदेव-से थे, शिष्ट और शान्त थे, दुष्ट-दमन में अदभुत थे, शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने में अद्वितीय थे।

कविकुल-चूडामणि कालिदास के ग्रन्थो से यह भी व्यजित होता है कि उनके समय का समाज पूर्ण सम्पन्न था, गुरुकुल प्रणाली का प्रचार था, ललित कलाओ का समधिक समादर था, शिक्षित स्त्री-पुरुष सस्कृत बोलते थे और शिष्टाचार का मूल्य था, देश धन धान्य-सम्पन्न था, व्यापार उन्नति पर था, यन्त्र विद्या की अच्छी दशा थी, खनिज पदार्थों की अभिवद्धि का ख्याल था और गृहोपयोगी शिल्प का मान था, गण-तन्त्रो का अस्तित्व था, साम्राज्य भावना बलवती थी, शासन सत्ता नियन्त्रित थी, राजा का योग्य होना अनिवाय था और शासन में ब्राह्मणो का पर्याप्त हाथ था।

इतिहास-ममज्ञ स्वर्गीय श्री० रमशचन्द्रदत्त इन्ही विक्रमादित्य के विषय में अपने 'सभ्यता का इतिहास' में इस तरह लिखते ह कि वह अमर यशस्वी था, हिन्दू-हृदय और हिन्दू की शक्ति का विकासक था और हिन्दुत्व और हिन्दू धम को पुनरुज्जीवित करने वाला था, उसका व्यक्तित्व जाति का पथ प्रदशक था, वह हिन्दू हित और हिन्दू-साहित्य का उद्धारक था और भारतीय आवश्यकताओ का महान् पूरक था।

यह भी कहा जाता है कि उस समय का भारत प्रत्येक दृष्टि स समुन्नत था। देवता भी इसके गुण-गान करते थे। अन्यान्य देशो और द्वीप-द्वीपान्तरो में इसके नाम की धूम थी। ससार के लोग विक्रम के व्यक्तित्व, नवरत्न और भारतीय समुत्कर्ष के प्रभावो स प्रभावित प्राय भारत-दशनाथ आया करते थे। ऐतिह्य स तो यह भी प्रमाणित होता ह कि ऐसे यात्रियो का ताता-सा बँधा रहता था।

किन्तु कुछ विद्वानो की सम्मति म विक्रम काल और विशेषत विक्रमादित्य की एक सर्वोत्तम, सव प्रमुख और अन्यतम विशेषता यह भी थी कि वह अपने उत्तरकाल, उत्तरकालीन व्यक्तियो और भारतीय समाज पर अपना प्रभाव पर्याप्त मात्रा में छोड गए।

किसी न सत्य ही कहा ह कि विभूतियाँ अपने जीवनकाल म जो कुछ मानव-समाज को देती ह, उससे अधिक वे देश और काल को दे जाती ह। उनकी यही देन समय पाकर पूणत देश-काल की वस्तु बनकर अनन्त समय तक मानव-समाज को लाभ पहुँचाती रहती ह। इसी दृष्टिकोण से विचार करने पर मालूम होता ह कि विक्रम-काल और विक्रम-व्यक्तित्व की छाप आज भी भारतीय हृदयो पर स्पष्ट दिखाई देती ह। आज भी उससे भारतीय हृदयो को प्रेरणा मिलती ह उत्साह मिलता ह। साथ ही एक ऐसी परमोपयोगी और उत्पादक वात भी मिलती ह जो इतनी मात्रा म किसी दूसरे व्यक्तित्व और काल से नही मिल रही है।

तत्कालीन भारतीय राज-समाज विक्रम प्रभाव स प्रभावित था। वह प्रभाव इतना हुआ कि अनेक नृपति-पुगवो ने विक्रम के अनुकरणीय गुण, कम, स्वभाव और क्रियाकलापो को शोभा, आवश्यकता, अनुकरण प्रियता अथवा महत्त्वाकाक्षावश अपनाना शुरू किया। यही नही, अपितु अनेको ने अपने नाम के साथ पदवी की भाँति विक्रम शब्द को भी लगाना प्रारम्भ किया। इसी का यह सुफल या कुफल ह कि आज भारतीय इतिहास और जनश्रुतियो म हमें विक्रम-पदवी-धारी राजा और सम्राट पर्याप्त सख्या म मिलते ह। परन्तु उनमें मुख्य श्रावस्ती का विक्रमादित्य, काश्मीर का विक्रमादित्य, मवाड का विक्रमादित्य और बगाल का विक्रमादित्य ह।

[शेष पृष्ठ १३० पर देखिए]

हमारा विक्रमादित्य

श्री गोपीकृष्ण विजयवर्गीय

विक्रमादित्य इतना महान् था कि उसका यह नाम बाद के राजाओं और सम्राटो के लिए एक पदवी ही वन गया। वहुत से लेखक विक्रमादित्य के नाम के पहले सम्राट् शब्द लगा कर उसके समय की राज्य-व्यवस्था का अपमान करते हैं। मुझे तो सम्राट् की अपेक्षा गणाध्यक्ष विक्रमादित्य अधिक प्रिय लगता है; क्योकि वह व्यवस्था हमारी आकांक्षित लोकतंत्री व्यवस्था के अधिक निकट जँचती है। इतने प्रसिद्ध गणाध्यक्ष की ऐतिहासिकता के विषय मे ही अभी वादविवाद चल रहा है, यह हम भारतीयो के लिए वड़े खेद की वात है। किन्तु अब तो प्राय. अधिकाश विद्वानो ने विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को स्वीकार कर लिया है। सन् ५८-५७ ईसवी पूर्व मे विक्रमादित्य ने विदेशी शकों को हराकर स्वतंत्रता का झण्डा ऊँचा किया था, तथा अपना सवत् प्रारम्भ किया था। भारतवर्ष के लिए यह अत्यन्त गौरव की बात है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्राचीनता, उच्च सस्कृति और महान् कार्यो का अभिमान होना चाहिए और इस दृष्टि से विक्रमादित्य हमारे लिए अत्यन्त गौरव और अभिमान की विभूति है।

गणाध्यक्ष विक्रमादित्य सम्बन्धी ऐतिहासिक खोजों के निरूपण में मै पड़ना नही चाहता, मै तो केवल यह वताना चाहता हूँ कि विक्रमादित्य के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या होना चाहिए।

हमे विक्रमादित्य के महत्त्व को संकुचित नही बना डालना चाहिए। विक्रमादित्य किसी सम्प्रदाय का विरोधी नही था। राष्ट्रीय एकता का प्रतीक विक्रमादित्य मालवगण का महान् योद्धा नायक था। उसी रूप मे हमे उसका आदर करना चाहिए। आज के संकुचित साम्प्रदायिक विद्वेष के लिए हमे विक्रमादित्य का उपयोग नही करना चाहिए, किन्तु गणतंत्रवादी और जनतंत्रवादी योद्धा नेता के रूप मे हमे उसका स्मरण करना चाहिए। वह साम्राज्यवादी सम्राट् भी नही था। वह तो गणतत्रवादी समाज का अगुआ था। अब तो जमाना बहुत वदल गया है। आज तो हमे हिन्दू-समाज की जाति-प्रथा तथा छूतछात आदि कुरीतियों से घोर संघर्ष करना है। आज हम उस पुरानी हिन्दू-समाज-व्यवस्था को पुनः स्थापित नही कर सकते जो दो हजार वर्ष पूर्व प्रचलित थी। हर समाज और देश विकासोन्मुख है। हमे पुराने

हमारा विक्रमादित्य

इतिहास और पुरानी सस्कृति का आदर करना चाहिए, तत्कालीन परिस्थिति में सब से आगे बढ़े हुए होने का अभिमान करना चाहिए, किन्तु अब हिन्दू-सगठन के बजाय सच्चे हिन्दुस्तानी-सगठन का आदर्श रखना चाहिए। विक्रमादित्य का सम्मान हमें प्रत्येक हिन्दू के हृदय में ही नही, प्रत्येक मुसलमान, ईसाई, आदि के हृदय में भी, उत्पन्न करना चाहिए। इतनी शताब्दियो तक भारत में रह लेने के बाद हम एक दूसरे को अपरिचित या विदेशी नही कह सकते। एक ही आर्य खून के हिन्दू और मुसलमान केवल धर्मभेद के कारण भिन्न भिन्न या परदेशी नही माने जा सकते। जातीय श्रेष्ठता के सिद्धान्त ने ससार में कितनी खूनखराबी मचाई है यह हम आज प्रत्यक्ष देख सकते है। गणाध्यक्ष विक्रमादित्य का सम्मान और गौरव हमें आधुनिक युग के आदर्शों से मेल खानेवाले रूप में मनाना चाहिए।

विक्रमादित्य न केवल योद्धा था, प्रत्युत अच्छा और न्यायपूर्ण शासन-व्यवस्थापक भी था। आज हमें जन-दुःख-भजक, लोकहितैषी, न्याय प्रेमी विक्रमादित्य से बहुत कुछ सीखना होगा। जनता की कष्ट-कथाओ की जांच करने के लिए वह छद्मवेष में जनता मे फिरता था, यह भी एक जनश्रुति है। विक्रमादित्य विद्या और सस्कृति का उन्नायक भी था। विक्रमादित्य के नवरत्नो की कथा प्रसिद्ध ही है। नवरत्न उसके साथ थे या नही इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही सन्देह हो, परन्तु इसमें सन्देह नही रहा है कि उसने विद्या और सस्कृति को अवश्य प्रोत्साहन दिया था। अनेक विद्वान् उसके काल में थे, और नाटककार कालिदास भी उसके समय में विद्यमान था।

भारतवर्ष का अतीत काल जैसा महान् और उज्ज्वल था, वैसा ही भविष्य भी महान् और उज्ज्वल होनेवाला है। भिन्न भिन्न सास्कृतिक प्रदेशो के अखिल भारतीय सघ के रूप में, भिन्न भिन्न सुन्दर क्यारियो के उद्यान की भाँति, हमारा यह देश—यही विक्रमादित्य और विक्रमादित्यो का देश—फिर उच्च और गौरवशाली होनेवाला है। हमारे पूर्वजो की कीर्ति जो आज हमारे अज्ञान के कूडे-करकट में दबी पडी है, सच्चे तेज और चमक के साथ चमकेगी, और भारतीय सभ्यता का सच्चा उत्थान होगा।

[पृष्ठ १२८ का शेष अश]

इनके सिवा प्रतीच्य और प्राच्य चालुक्य-वशो में भी पाँच विक्रम उपाधिधारी राजा हुए है। साथ ही दक्षिणापथ के गुत्तल-नामी सामन्त राज्य में भी विक्रम पदवीधारी तीन राजा हुए है। दाक्षिणात्य बाण-राजवश में भी प्रभुमेरुदेव-पुत्र विजयबाहु एक विक्रम पदवीधारी राजा हुआ है। इसी तरह कहा जाता है उज्जयिनी के भी असली विक्रमादित्य के सिवा, विक्रम पदवीधारी दो एक राजा हुए है। इनमें एक हूण विक्रमादित्य नामक राजा भी है।

किन्तु विक्रमादित्य-पदवी धारण करनेवाले और तदनुकूल थोडा-बहुत आचरण करनेवालो में श्रेष्ठतम वास्तविक नराधिप तो प्रथम चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त विक्रमादित्य और द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही है।

यदि हमारी शास्त्रीय जनश्रुतियाँ सत्य है तो अनेक विद्वानो के शब्दो में यह मानना पडेगा कि उक्त तीनो सम्राटो के समय उज्जयिनी सम्राट् परम भट्टारक महाराज के विक्रम-काल का भव्य प्रभाव गुप्तकाल में भी नामशेष नही हुआ था, अपितु दिनानुदिन बढ ही रहा था। विशेषत द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय तो इतना बढा कि ज्ञात इतिहास में भारत पहली बार पूर्णोन्नत कहलाने योग्य समझा जाने लगा। तिथि क्रम की दृष्टि से चीनी, ईरानी और रोमन साम्राज्यो में भारत ही अपेक्षाकृत विस्तृत और उन्नत माना जाने लगा। और शासन-सौन्दर्य, ज्ञान विज्ञान, सुखशान्ति और ऋद्धि सिद्धि आदि सभी बातो में अद्वितीय भी प्रमाणित हुआ। ऐतिहासिक लोगो की दृष्टि में यह वह समय था जब ससार का दिग्दिगन्त इसी के ज्ञानालोक से आलोकित था। इसी से चीन, जापान और योरुप ने भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में जागृति और सभ्यता का पाठ पढ़ा था।
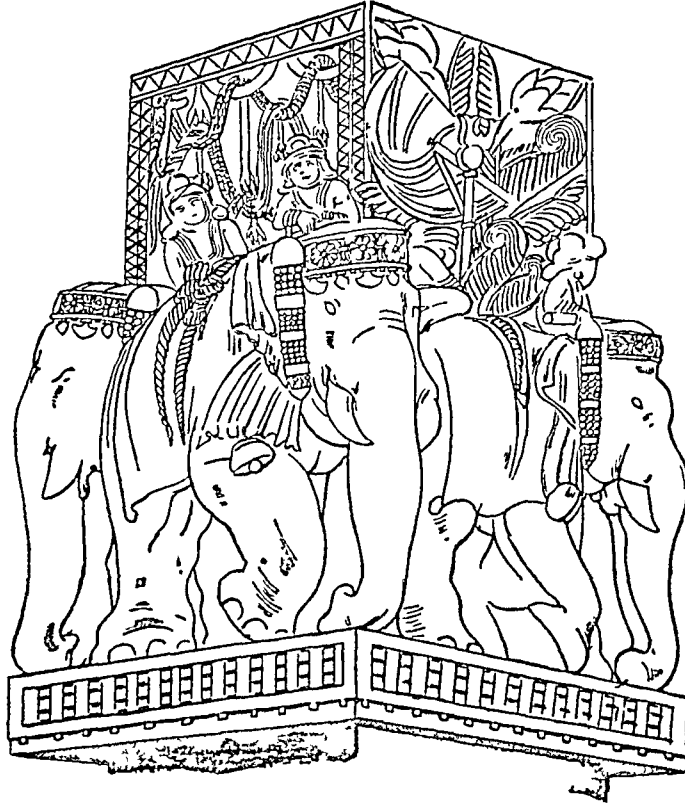
जनता का विक्रमादित्य

भारत के अतीत गौरव का प्रतीक

श्री सम्पूर्णानन्द एम० एल० ए०

विक्रमादित्य कौन थे, उनके राज्य का विस्तार कितना था, उनके जीवन मे कौनसी मुख्य मुख्य घटनाएँ हुईं, उन्होंने कभी अश्वमेध किया या नही, उनका शासनकाल किस वर्ष से किस वर्ष तक था, उनकी परिषद् कौन कौनसे विद्वान् सुशोभित करते थे—ये सब प्रश्न महत्त्वपूर्ण है; परन्तु इनका महत्त्व विद्वानो के लिए है। साधारण भारतीय, वह भारतीय जिसका सामूहिक नाम 'जनता' है, इन बातों को नही जानता। उसने इन प्रश्नो को अब तक नही सुना है, सुनकर उसे इनमे कुछ विशेष रस भी नही आ सकता। वह जिस विक्रमादित्य, जिस राजा 'विकरमाजीत' से परिचित है उनका व्यक्तित्व ऐतिहासिक विक्रमादित्य से बहुत बड़ा है। जनश्रुति और सिंहासन-बत्तीसी के विक्रमादित्य ऐतिहासिक खोज की अपेक्षा नही करते। यदि देश विदेश के विद्वान् मिलकर यह व्यवस्था देदे कि इस नाम या उपाधि का कोई भी नरेश नही हुआ तब भी लोकसूत्रात्मा जिस विक्रमादित्य को जानती-मानती है उनकी स्मृति सुरक्षित रहेगी। इसका कारण स्पष्ट है। जनता के विक्रमादित्य व्यक्ति नही है, वे कई विचारो, कई आदर्शों के प्रतीक है।

जनता के विक्रमादित्य आदर्श भारतीय नरेश थे। आदर्श नरेश मे प्रायः वे सब गुण होते है जो हीगेल के मत के अनुसार राजसत्ता मे पाये जाते हैं, या यो कहिए कि आदर्श राजसत्ता मे पाये जाने चाहिए। वह जनता के उत्तम 'स्व' का प्रतीक होता है। मनुष्य से भूल होती ही है, उसका राग द्वेष, उसका अधम 'स्व' उसको नीचे खीचता है, इसलिए उसे दण्डित होना पड़ता है, परन्तु यदि राज की ओर से समुचित, निष्पक्ष, व्यक्तिगत प्रतिहिंसा आदि भावो से अरञ्जित न्याय होता है तो अपराधी का उत्तम 'स्व' दण्ड की न्याय्यता को स्वीकार करता है। दण्ड पाना, कष्ट भोगना, किसी को अच्छा नही लगता, परन्तु वास्तविक न्याय करनेवाले के प्रति द्वेष नही होता। एक अव्यक्त भावना रहती है कि यह दण्ड भी मेरे भले के लिए दिया जा रहा है। न्यायमूर्ति राजा भी माँ बाप की भाँति गुरुजनो मे गिना जाता है। हीगेल के सिद्धान्त के अनुसार राज-सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित होने से व्यक्ति के 'स्व' की पूर्णता और पूर्णाभिव्यक्ति होती है। मैं इस राज का अवयव हूँ,

❀ मालवाना जयः ❀

श्री महेन्द्र

वर्ष बीते दो हजार !
बढ रहे थे देश में
क्रूर अत्याचार जब हूणों-शकों के,
और जनता खो रही थी
आत्म-गौरव, शक्ति अपनी,
सभ्यता, सम्मान अपना।
धर्म, सस्कृति का पतन
था हो रहा जब तीव्रगति से,
छा रहे थे जब निराशा मेघ आ आ।
सगठित भी थी नहीं जब
वीर मालव जाति सारी,
राष्ट्र को जब छोडकर, सकीर्ण बनते जा रहे थे,
मालवों के हृदय दुर्बल।
नष्ट होता जा रहा था
वह पुरातन, पूर्ण वैभव,
छा रहा था विश्व मे
भीषण निविड़-तम भी भयकर,

रात दुख की बढ रही थी
नाश के साधन अमित एकत्र कर !
ठीक ऐसे ही समय
ज्योति देखी विश्व ने, नव-जागरण के स्वर सुने,
एक युग के विशृखल, बिगडे हुए,
उजडे हुए,
मिटते हुए,
सोते हुए, इस देश के जन प्राण को
वीर विक्रम ने जगाया !
सगठन कर पूर्ण बिखरी शक्ति का,
विश्व को अनुभव कराया,—
मिट नहीं सकते कभी हम,
त्याग हम मे है अपरिमित,
है भुजाओं में पराक्रम,
हम विजय के योग्य हैं,
कह सकेंगे, कह चुके हैं,—
माल्वाना जय !!
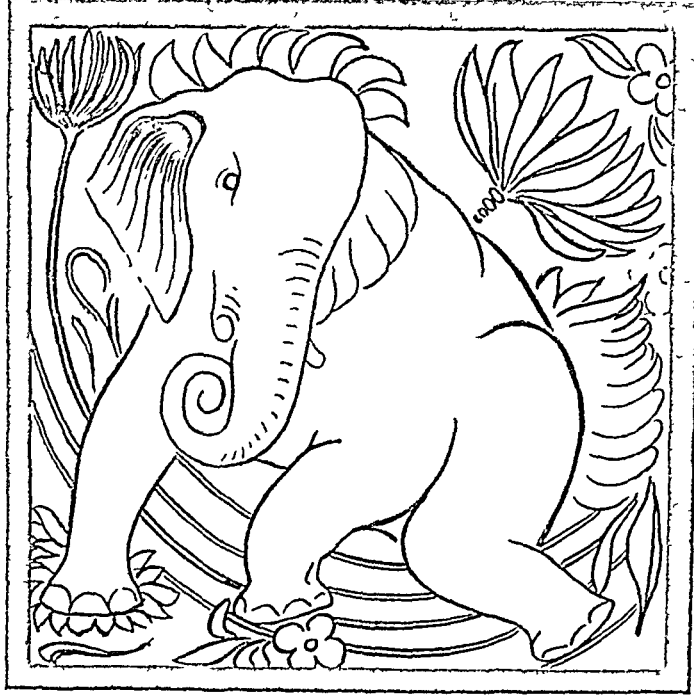
गुजराती साहित्य में विक्रमादित्य

दीवान बहादुर श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी, एम० ए०, एलएल० बी०, जे० पी०

विक्रम-संवत् की द्वि-सहस्राब्दी पर उत्सव के आयोजन के विचार की उत्पत्ति के साथ ही यह प्रश्न सम्पूर्ण देश के विवेचन का विषय बन गया है कि क्या इस संवत् के प्रवर्तक का अस्तित्व वास्तव मे कभी रहा है, और यदि रहा है तो इस नाम का कोई एक सम्राट् हुआ है अथवा एक से अधिक, और वह कोई काल्पनिक व्यक्ति था अथवा वास्तविक, और यह प्राकृतिक है कि गुजराती लेखक भी इस पर विचार करने मे संलग्न हों। शास्त्री रेवाशंकर मेघजी पुरोहित नामक संस्कृत के विद्वान् पण्डित उनमे से एक है और उन्होंने ऐतिहासिक तथा पौराणिक उदाहरण उद्धृत करते हुए यह तथ्य स्थापित किए है—(१) विक्रमादित्य का अस्तित्व सम्राट् के रूप मे रहा है, (२) उसकी राजधानी मालवान्तर्गत उज्जयिनी थी, (३) उसने ईसवी पूर्व ५७ से पहले विक्रम संवत् का प्रवर्तन किया, तथा (४) यह संवत् युधिष्ठिर द्वारा प्रवर्तित संवत् के समाप्त होने पर प्रचलित किया गया। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि यह संवत् मालव* सवत् के नाम से भी प्रसिद्ध था।

प्राचीन गुजराती साहित्य मे शासक के रूप मे विक्रम की अनेक विशेषताओ मे हारून-उल-रशीद की भाँति उसके साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन भी मौलिक रूप मे नही वरन् संस्कृत से अनूदित रूप में किया गया है। जहाँ तक मराठी साहित्य का सम्बन्ध है वैताल पच्चीसी के पाठ का आधार मूल संस्कृत का हिन्दी अनुवाद था; † तथापि कवि सामल (विक्रम संवत् १७७४-१८२१) द्वारा गुजराती में लिखित वैताल पच्चीसी अधिक प्राचीन थी। इसके छन्दों की रचना सन् १७१९ तथा

---

* 'शक-प्रवर्तक पर-दुःख-भंजन महाराज विक्रमादित्य' पृष्ठ ६ से ९ तक 'गुजराती' का दिवाली-अंक (२४ अक्टूबर १९४३ आषाढ़ वदी राम-एकादशी, संवत् १९९९)।

† किङ्कणी टेल्स ऑफ विक्रम (१९२७), भूमिका।

१७२९ के बीच में हुई। इस ग्रन्थ की रचना करने में कवि को दस वष लगे। इसका मराठी रूपान्तर सन् १८३० में किया गया। इस प्रकार गुजराती रूपान्तर लगभग एक शताब्दी अधिक प्राचीन था।

इसका रचयिता और इसका नाम 'सिंहासन बत्तीसी' अथवा सिंहासन की बत्तीस कहानियाँ रखनेवाला कवि सामल अठारहवी शताब्दी में प्राचीन गुजराती साहित्य के तीन ज्योतिमय स्तम्भो में से एक था और आख्यानकारा का शिरोमणि माना जाता था। वह सस्कृत से पौराणिक उपाख्याना का अनुवाद करके उनको गाकर सुनाता था। उस काल में असस्कृतज्ञ श्रोताओ के वीच सस्कृत श्लोको के स्थान पर देशभाषा में आख्यान गाकर सुनाने की यह प्रणाली गुजरात में बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुई थी।

सामल व्रजभाषा जानते थे, फिर भी उन्होने सस्कृत पाठ* को ही अपना आधार बनाया और उन्होने जहाँ चाहा परिवतन भी कर दिए।

सामल के रचनाकाल में कविताओ के कथानको का आधार शास्त्रो से ग्रहण करने की कवियो में प्रथा थी। कल्पना प्रसूत रचनाएँ निषिद्ध मानी जाती थी। इस कारण सामल को अपनी रचना में धार्मिकता का पुट देना पडा।

सामल की कहानियो ने देश के भीतरी भाग में भी प्रवेश प्राप्त किया था। उसकी कहानियो ने केरा जिले में राखीदास नामक एक धनी जमीदार का ध्यान आकर्षित किया। वह विद्या का सरक्षक था। उसने सामल को बुलवाया, अपने साथ रहने को उसे आमन्त्रित किया तथा उसके भरण-पोषण के निमित्त कुछ भूमि भी प्रदान की। इस उपहार के बदले सामल ने राखीदास का नाम अमर कर दिया और उसे भोज के समकक्ष बना दिया। सामल की प्रत्येक रचना में उसकी अत्यधिक प्रशसा है।

सामल के जीवन का उद्देश्य उपदेशात्मक था। लोकप्रिय भाषा में लिखित तथा पठित कहानियो तथा उपाख्याना द्वारा वह जनसाधारण को अनियमित, अनैतिक तथा निरानन्द जीवन से दूर ले जाकर सदाचार के माग पर ले जाना चाहता था, इसके लिए उसने प्रत्येक सहायक साधन को ग्रहण किया। सम्राट् विक्रमादित्य को वह सदव 'पर-दुख भजन' के नाम से पुकारता है और उसके साहसपूर्ण कार्यों का वणन करनेवाली आख्यायिकाएँ उसके उपयुक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपयुक्त ज्ञात हुईं, अत उसने दस वष पयन्त उन्हें उचित तथा लोकप्रिय रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया।

वह विक्रम का जन्म तथा उसके साहसपूर्ण कार्यों का उल्लेख सक्षेप अथवा विस्तार रूपसे विभिन्न स्थानो पर करता है जिनमें से कुछ इस प्रकार है —

वह विक्रम का वश क्रम गन्धवसेन से बतलाता है जिसने त्र्यम्बकसेन की लडकी से विवाह किया। गन्धवसेन रात्रि को देवता का रूप तथा दिन में गधे का रूप धारण कर लेता था। एक दिन गधे का चम उसकी सास द्वारा जला दिया गया, और परिणामस्वरूप नगर के विनाश के रूप में आपत्ति आई। रानी, जो उस समय गभवती थी, भागी और उसने एक ऋषि के आश्रम मे आश्रय लिया जहा उसने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम विको रखा गया। उसने उज्जैन में वताल पर विजय प्राप्त की और उस स्थान का राजा हो गया तथा अन्तत उसने भरतखण्ड पर एक-छत्र सम्राट् के रूप में

---

* 'सिंहासन बत्रीसी'—ले० अम्बालाल बी० जन, बी० ए०, प्रथम भाग १९२६, पृष्ठ ३ जहा कवि कहता है कि उसने अपने प्राकृत में रचे ग्रन्थ के लिए सस्कृत को आधार बनाया है।

† *Mile-stones in Gujrati Literature*—ले० कृ० मो० झवेरी, पृष्ठ ९७ प्रथम सस्करण १९१४।

शासन किया।‡ आगे नन्दा नाम की पुतली के मुख से कहलवाया गया है—"सुनो, राजा भोज! यह उस राजा विक्रमादित्य का सिंहासन है जिसका नाम 'पर-दुख-भंजन' है। वह इन्द्र के पास से आया है, वह शूरवीर है तथा धैर्यवान् भी है। उसने चक्रवर्ती के रूप मे शासन किया तथा एक संवत् प्रचलित किया, वह सभी स्त्रियो के लिए (अपनी स्त्री के अतिरिक्त) भाई के समान था और वह नारायण का भक्त था। उसने संसारभर को मुक्त कर दिया और उसके राज्य मे अहर्निश आनन्द ही आनन्द छाया रहता था।"†

उसकी उदारता का वर्णन करने के लिए 'अहरनी अवनीकारी' शब्द प्रयुक्त हुए है। 'अहरनी' शब्द वास्तव में अऋणी है। यह आख्यायिका प्रचलित है कि आश्विन मास के अन्तिम दिन वह अपनी समस्त प्रजा को एक साथ बुलाता था और अनुसन्धान के पश्चात् ऋणी होनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को ऋणमुक्त कर देता था जिससे प्रत्येक मनुष्य नव वर्ष के दिन कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से अपनी अपनी आय-व्यय पुस्तक को, जहाँ तक आरम्भ का सम्बन्ध है बिना लिखे पृष्ठ से प्रारम्भ कर सके। यही कारण है कि विक्रम-सवत् का नया वर्ष कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है।

पीछे भी एक आख्यायिका§ मे उसने विक्रम की उत्पत्ति तथा उसके राज्य के वर्णन के विकास एवं विस्तार के लिए तीन पृष्ठ लिखे है। यहाँ उसने विक्रम के भाई भर्तृहरि का उल्लेख भी किया है, जो अन्ततः सन्यासी हो गया था।

विमला नाम की पुतली द्वारा कही गई दशम आख्यायिका, जो गन्धर्वसेन की आख्यायिका कही जाती है॥ इस कहानी से भिन्न है। उसमे विक्रम के जन्म तथा राज्य का सविस्तर वर्णन है। इसमे प्रभव को, जो पीछे से विक्रम का सचिव हुआ, उसका भाई बना दिया है। उनकी माता त्र्म्बक घाड्या त्र्म्बकवती मे रहती थी जो भूकम्प द्वारा विनष्ट हो जाने के पश्चात् पुनर्निर्मित होने पर केम्बे (खम्भायत) के नाम से प्रसिद्ध हुई। प्रत्येक सवत् का वर्ष-चक्र प्रभव¶ के नाम से प्रारम्भ होता है। अपने वशीकृत वैताल से उसने यह जान लिया था कि वह १३५ वर्ष ७ मास १० दिवस तथा १५ घड़ी तक जीवित रहेगा। सम्भवत. यह समय पैठण के शालिवाहन (विक्रम सवत् के १३५ वर्ष पश्चात्) के संवत् के प्रारम्भ के समकालीन होने से विक्रम का जीवन इतना रखा गया है।

विक्रम के जीवन तथा राज्य का और भी भिन्न रूप सामल की वैताल पच्चीसी नामक रचना मे प्राप्त होता है, जो बत्तीस कहानियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत रचना मे सम्मिलित है। कहानी के भूमिका भाग मे वह राजा भोज के शासन का यशोगान करता है और कुछ आगे चलकर पञ्चदण्ड के छत्र का वर्णन करता है तथा यह बतलाता है कि विक्रम ने कैसे और किन परिस्थितियो मे जन्म लेकर राज्य किया।‡‡

राजा विक्रम के शौर्य, औदार्य तथा अन्य सद्गुणो के साथ उसकी राजधानी का वर्णन एक अन्य स्थान पर भी प्राप्त होता है।§§

---

‡ सिंहासन बत्रीसी, भाग १, ले० अम्बालाल बी० जैन, बी० ए० (१९२६) पृष्ठ ५, प्रथम आख्यायिका।

† वही, पृष्ठ २५-२६।

§ वही, पृष्ठ १६०-१६३, चतुर्थ कथा।

॥ वही, भाग २, पृष्ठ ५०१-५४०।

¶ (१) कालिदास का ज्योतिर्विदाभरण (२) 'गुजराती' प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित पंचांग।

‡‡ बृहत् काव्यदोहन, भाग ६, पृष्ठ ४९१-४९२, गुजराती प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित।

§§ कवि दलपतराय कृत काव्यदोहन द्वितीय माला (१८०५)।

देते ह। इस प्रकार आपका कोप रिक्त हो जायगा, तब कृपका पर नवीन कर लगाने पड़ेंगे, अन्तत जिनका परिणाम भूमि का चरम शोषण होगा और फिर असन्तोष का घोष सुनाई देगा तथा शत्रुओ को उत्तेजना मिलेगी। यह सत्य ह कि सम्राट् दानशीलता का यश अर्जित करेंगे, परन्तु आपके अमात्य सबकी दृष्टि में सम्मान खो देंगे।" महाराज ने उत्तर दिया "किन्तु म अपनी निज की बचत में से निधना की सहायता की इच्छा करता हूँ। मैं किसी कारण से भी अपने निजी लाभ के लिए बिना विचारे देश पर भार नही डालूगा"। तदनुसार उन्होने निधना के लाभ के लिए पाँच लक्ष की वृद्धि की*।"

किन्तु उनके शासनकाल में एक दु खद घटना घट गई। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु के आचाय महातपस्वी मानोर्हित का देहावसान उस समय हो गया, और यह समझा जाता ह कि इस तपस्वी की मृत्यु में विक्रमादित्य कारणभूत थे। विक्रमादित्य के प्रशसका और जीवनी लेखका के लिए निम्न घटनाएँ कुछ आकपक होगी —

इसके † कुछ समय पश्चात् ये महाराज वाराह की मृगया म व्यस्त हुए। माग भटक जाने पर उन्होने एक व्यक्ति को माग निर्देश करने पर एक लक्ष मुद्राएँ प्रदान की। इधर शास्त्रा के आचाय मानोर्हित ने एक व्यक्ति से क्षौर कराया और उसे इस काय के लिए तत्काल एक लक्ष स्वण मुद्राएँ द दी। इस उदार काय का उल्लेख प्रधान इतिहासकार द्वारा इतिवृत्त में किया गया। महाराज इसे पढकर लज्जित हुए, उनका अभिमानी हृदय इससे निरन्तर व्यथित होने लगा और इसीलिए उन्होने मानोर्हित पर दोषारोपण कर दण्डित करने की इच्छा की। इस उद्देश्य से उन्होने विद्वत्ता की श्रेष्ठ कीर्तिवाले सौ विभिन्न धार्मिक व्यक्तिया की एक परिषद् की घोषणा की और यह आदेश दिया कि "म विभिन्न (भ्रान्त) मतो को नियन्त्रित और (शास्त्राथ की) वास्तविक सीमाओ का निर्धारण करना चाहता हूँ। विविध धार्मिक सम्प्रदाया के मत इतने विभिन्न ह कि किस पर विश्वास किया जाय—मस्तिष्क यह नही जान पाता। अत आज अपनी अधिकतम योग्यता मेरे आदेश के पालन में लगा दीजिए।" शास्त्राथ के लिए मिलने पर उन्होने दूसरा आदेश दिया कि "नास्तिक मत के आचाय अपनी योग्यता के लिए विश्रुत ह। श्रमण तथा बौद्ध मतावलम्बिया को उचित है कि वे अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्ता को भले प्रकार से देख ले। वे विजयी होकर बौद्धमत को समादर प्राप्त कराएँगे, किन्तु पराजित होने की दशा में उनका उन्मूलन कर दिया जायगा।" इस पर मानोर्हित ने नास्तिका से शास्त्राथ किया और उनम से ९९ को निरुत्तर कर दिया। अब एक नितान्त अयोग्य व्यक्ति उनके लिए शास्त्राथ को बिठाया गया तथा महत्त्वहीन वादविवाद के लिए (मानोर्हित ने) अग्नि तथा धूम का विषय प्रस्तुत किया। इस पर महाराज तथा नास्तिका ने यह कहकर कोलाहल किया कि "शास्त्रा का आचार्य मानोर्हित वाग्व्यवहार म भ्रान्त हो गया ह। उसे पहल धूम तथा पीछे अग्नि कहना चाहिए था। वस्तुओ का यह स्थिर क्रम है।" कठिनाई का स्पष्टीकरण करने के इच्छुक मानोर्हित को एक शब्द भी सुनाने का अवसर नही दिया गया। इस पर लोगों के अपने साथ किए गए ऐसे व्यवहार से लज्जित होकर उन्होने अपनी जिह्वा दाँता से काट डाली और अपने शिष्य वसुबन्धु को इस प्रकार उपदेश लिखा, "दुराग्रही व्यक्तिया के समूह म न्याय नही होता, मूढ व्यक्तियो मे विवेक नही होता।" इस प्रकार लिखने के पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई†। यह घटना वास्तव म शोचनीय ह, परन्तु हम यह समझ सकते ह कि सभवत महाराज विक्रमादित्य का यह अभिप्राय नही था‡।

यहा यह कहना असम्बद्ध न होगा कि चीनी भाषा म विक्रमादित्य का नाम 'छाव् जिर्' ह, जिसका अथ है विक्रम (विक्रमण करना, ऊपर निकालना) + आदित्य।

* 'बुद्धिस्ट रिकॉड ऑव् दी वेस्टन वल्ड' भाग १, पृष्ठ १०७, १०८, एस० बीलकृत अग्रेजी अनुवाद।

† ऊपर अवतरित घटनाओ के पश्चात।

‡ यह अधिक सभव ह कि यह दन्तकथा युआन्-च्वांङ के समय में साम्प्रदायिक कारणा से प्रचलित की गई हो और यह निश्चय ही सवत-प्रवतक उज्जयिनी-नाथ विक्रमादित्य से सम्बन्धित नहीं ह, यह तो श्रावस्ती के महाराज की कथा ह। स०।
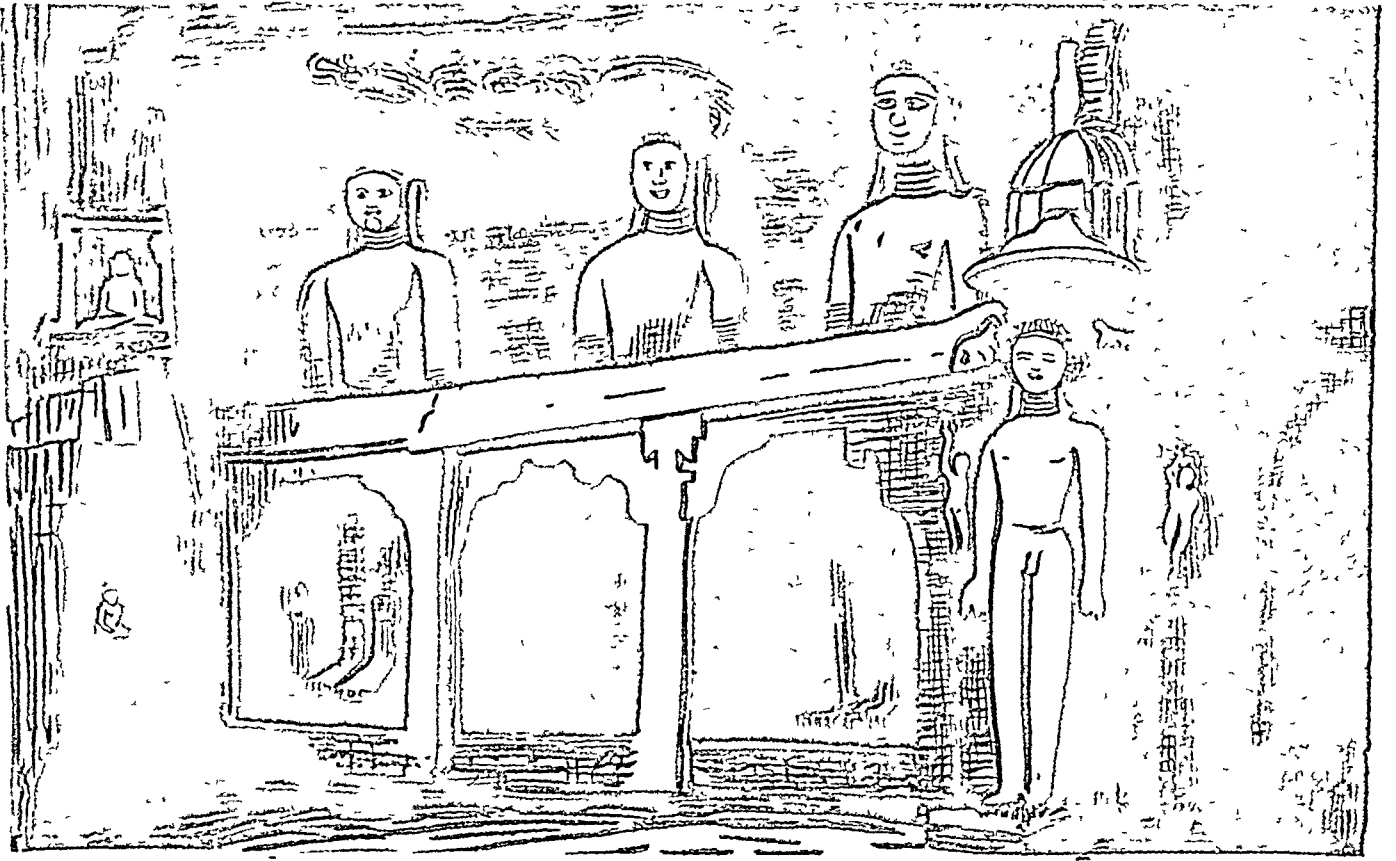
विक्रमादित्य सम्बन्धी जैन साहित्य

श्री अगरचन्द नाहटा

भारतवर्ष के इतिहास मे महान् प्रतापी अक्षुण्ण कीर्तिशाली सम्राट् विक्रमादित्य का स्थान वेजोड़ है। उनके द्वारा प्रवर्तित विक्रम नामक संवत्सर शताब्दियों से सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त है। विक्रमादित्य की कथाएँ भारत के कोने कोने में प्रसिद्ध है, पर खेद है कि विक्रमादित्य की कथाओं और संवत्सर की जितनी अधिक प्रसिद्धि है, उनके विशुद्ध इतिहास की जानकारी उतनी ही अंधकारमय है। कुछ समय पूर्व तो ऐतिहासिक विद्वानो को यहाँ तक सन्देह हो गया था और कई अंशों मे अब तक भी है, कि विक्रम-सवत्सर का प्रवर्त्तक शकारि विक्रमादित्य नाम का राजा सन् ५७ ई० पूर्व हुआ भी था या नही *। पर हर्ष की वात है कि अव यह मत अनेक नवीन अनुसन्धानो द्वारा शिथिल हो गया है। इतने पर भी समस्या भलीभांति सुलझ नही पाई है, और अव भी यह प्रश्न विवादास्पद रूप में उपस्थित है।

स्वर्गीय पुरातत्त्वविद् श्री काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार ई० पू० ५७ मे शकारि गौतमीपुत्र सातकर्णि ने नहपाण आदि शक राजाओ का उन्मूलन कर विक्रमादित्य के पद से प्रसिद्धि प्राप्त की †। और इसका समर्थन श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार आदि विद्वानो ने भी किया है ‡। जैन परम्परा के अनुसार इस समय वलमित्र नामक राजा ने शकों को हटाकर उज्जयिनी पर अधिकार किया था। इसके पूर्व इतिहास—शको के आगमन, गर्द्दभिल्ल के उच्छेदन का विशद वर्णन कालकाचार्य सम्वन्धी उल्लेखो एवं कथाओ मे पाया जाता है। जैन पुरातत्त्वविद् मुनि कल्याणविजयजी ने अपने

---

* भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ ७८५ और "चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य", पृष्ठ ३९।

† सन् १९१४ में पटना के अंग्रेजी दैनिक एक्सप्रेस में प्रकाशित "ब्राह्मिन एम्पायर" शीर्षक लेख और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की प्रस्तावना।

‡ भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ ७३३ से ७८८।

"वीर निवाण-संवत् और जन-कालगणना" * नामक निबंध में इस घटना का संक्षिप्त विवरण † इस प्रकार दिया है —

"बलमित्र भानुमित्र के अमल के ४७वें वर्ष के आसपास उज्जयिनी में एक अनिष्ट घटना हो गई। वहाँ के गर्दभिल्ल वंशीय राजा दर्पण ने कालकसूरि नाम के जैन आचार्य की बहिन सरस्वती साध्वी को जबरन पर्दे में डाल दिया। आर्य कालक ने गर्दभिल्ल को बहुत समझाया, उज्जयिनी के जैन-संघ ने भी साध्वी को छोड़ देने के लिए विविध प्रार्थनाएँ कीं, पर राजा ने एक भी न सुनी।

"कालकसूरि ने निरुपाय हो राजसत्ता की मदद लेना चाही, पर उज्जयिनी के गर्दभिल्ल दर्पण से लोहा लेनेवाला कोई भी राजा उस समय नहीं था। भरोच के बलमित्र भानुमित्र कालक और सरस्वती के भानजे थे, पर वे भी दर्पण के सामने अँगुली ऊँची करने का साहस नहीं कर सके। अन्त में कालक ने परदेश जाकर किसी राजसत्ता की सहायता लेने की ठानी और वे पारसकूल जा पहुँचे।

"पारसकूल में जाकर कालक ने एक शकवंशी शाह (माडलिक राजा) के दरबार में जाना शुरू किया। निमित्त-ज्ञान के बल से थोड़े ही दिनों में कालक ने शाह के मन को अपने वश में किया और मौका पाकर वह उस और दूसरे अनेक शाहों को समुद्रमार्ग से हिन्दुस्तान में ले आया। रास्ते में लाटदेश के राजा बलमित्र भानुमित्र आदि भी शाहों के साथ हो गए।

"कोई ९६ शक माडलिक और लाट के राजा बलमित्र की संयुक्त सेना ने उज्जयिनी को जा घेरा। घमासान लड़ाई के बाद शक शाहों ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया और गर्दभिल्ल को कैद करके सरस्वती साध्वी को छुड़ाया। कालकसूरि की सलाह के अनुसार गर्दभिल्ल को पदच्युत करके जीवित छोड़ दिया गया और उज्जयिनी के राज्यासन पर उस शाह को बिठलाया जिसके यहाँ कालक ठहरे थे।

"उक्त घटना बलमित्र के ४८वें वर्ष के अन्त में घटी। यह समय वीर निर्वाण का ४५३वाँ वर्ष था।

"४ वर्ष तक शकों का अधिकार रहने के बाद बलमित्र भानुमित्र ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया और ८ वर्ष तक वहाँ राज्य किया, भरोंच में ५२ वर्ष और उज्जैन में ८ वर्ष, सब मिलकर ६० वर्ष तक बलमित्र भानुमित्र ने राज्य किया। यही जैनों का बलमित्र पिछले समय में 'विक्रमादित्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी सत्ता के ६० वर्षों से ५ वाँ आँकना पूरा हुआ।

बलमित्र भानुमित्र के बाद उज्जयिनी के राजसिंहासन पर नभसेन बैठा।

नभसेन के पाँचवें वर्ष में शक लोगों ने फिर मालवा पर हमला किया, जिसका मालव प्रजा ने बहादुरी के साथ सामना किया और विजय पाई। इस शानदार जीत की यादगार में मालव प्रजा ने "मालव-संवत्" नामक एक संवत्सर भी चलाया, जो पीछे से "विक्रम-संवत्" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ‡"

---

* ना० प्रचारिणी पत्रिका, भाग १०, अंक ४। † इस घटना का कुछ विस्तार से वर्णन कल्याणविजयजी ने अपने "आर्य कालक" लेख में किया है, जो द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ के पृष्ठ ९४-११९ में छपा है।

‡ जैन परम्परा की कालकाचार्य-कथा की ऐतिहासिकता को सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है।

(१) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ग्रंथ के पृष्ठ ३९ में श्रीयुत् गंगाप्रसाद मेहता, एम० ए०, लिखते हैं—"कालकाचार्य-कथा नामक-जैन ग्रंथ से पता चलता है कि मध्य भारत में शकों ने विक्रमाब्द के पहले अपना राज्य स्थापित किया था, जिन्हें विक्रमादित्य उपाधिवाले एक हिन्दू राजा ने परास्त किया। जिन शकों का विक्रमादित्य से मालवा में युद्ध हुआ था, उनके राजाओं ने शाही और शाहानुशाही अर्थात् राजाधिराज का विरुद धारण कर रखा था, इस बात का भी उस कथा में उल्लेख है, जिसका समर्थन शक राजाओं के सिक्कों पर उत्कीर्ण उपाधियों से पूरी तरह होता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि उक्त कथानक का आधार ऐतिहासिक है।'

(२) पुरातत्ववेत्ता स्टेन कोनो का कथन है कि इस जैन-कथा पर अविश्वास करने का लेशभर भी कारण मुझे प्रतीत नहीं होता (खरोष्ठी शिलालेख कार्पस ई इंडिकेरम् जिल्द, २, भा० १, पृ० २५-२७)।

श्री अगरचन्द नाहटा

विक्रमादित्य की कथाओं का विशाल साहित्य

विक्रम की लोकप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण उनके सम्बन्धी कथाओ का विशाल साहित्य है। यह साहित्य इतना विशाल है कि किसी के राज्य की कथाएँ इतने विपुल परिमाण मे नही पाई जाती। वेताल-पच्चीसी, सिंहासन-बत्तीसी आदि कथाओ के ग्रन्थ प्रायः प्रमुख सभी भारतीय भाषाओ मे पाये जाते है। इन कथानको मे से कई कथाओ का आधार बहुत प्राचीन साहित्य है; उदाहरणार्थ वेताल-पच्चीसी की कथाएँ ११वी शताब्दी के प्रसिद्ध कथा-सग्रह (१) बुध-स्वामी-विरचित बृहत्कथा-श्लोक-सग्रह, (२) क्षेमेन्द्र-रचित बृहत्कथामजरी (ई. १०५०), (३) सोमदेव-रचित कथासरित्सागर (ई० स० १०७०) मे पाई जाती है। इन तीनो का आधार गुणाढ्य-रचित बृहत्कथा ग्रन्थ है, जो पैशाची भाषा मे था, पर अभी लुप्त है। इसका समय ई० ५वी शताब्दी के पूर्व का ही अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार पचदण्ड की कथाओं का जैन-पंचदण्ड-चरित्र सं० १२९० का रचित है। क्षेमंकर ने सिहासनबत्तीसी को महाराष्ट्री भाषा मे रचित उक्त कथा को देखकर अपना ग्रन्थ बनाने का उल्लेख किया है। खेद है कि वह महाराष्ट्री कथा भी अब उपलब्ध नही है एव उसका समय अज्ञात है। जैनकवि राजवल्लभ ने सिद्धसेन-रचित सिहासनद्वात्रिंशिका का उल्लेख किया है, पर वह भी अब प्राप्त नही है। विक्रम सम्बन्धी कथाओ एव साहित्य की प्रचुरता होने पर भी खेद है कि भारतीय विद्वानो ने उनकी खोज, तुलनात्मक अध्ययन, आलोचना एवं प्रकाशन की ओर उदासीनता दिखाई है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानो ने इसकी अच्छी कदर की है। उन्होने कई कथाओ को बड़े सुन्दर ढग से सम्पादित करके प्रकाशित किया है। * उनके अनुवाद अग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, स्वीडिश आदि भाषाओ मे आलोचना के साथ प्रकाशित किये है।

विक्रम सम्बन्धी समग्र साहित्य और उसमें जैन साहित्य का स्थान

जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है, विक्रम सम्बन्धी साहित्य बहुत ही विशाल है। सस्कृत मे उपर्युक्त तीन कथा ग्रन्थों के अतिरिक्त शिवदासकृत वेतालपचविंशति (प्रति:—स्टेट लाइब्रेरी बीकानेर) एव यही कथा जभलदत्त-रचित (बगीय विद्वान् जीवानद द्वारा) कलकत्ते से प्रकाशित है। केटलोगस् केटलोग्राम मे वल्लभ-रचित उक्त नाम के ग्रन्थ का एवं सिंहासनद्वात्रिंशिका का वररुचि, कालिदास, रामचन्द्र (सभवत. रामचन्द्र सूरि ही है) और शिव के रचित होने का उल्लेख है। जैन ग्रन्थावली मे विद्यापतिभट्ट-रचित विक्रम-चरित्र का उल्लेख पाया जाता है। बीकानेर स्टेट की अनूप सस्कृत लाइब्रेरी मे मलेखेडर भट्ट रचित विक्रमार्क-चरित्र की प्रति है जिसमे सिंहासन-बत्तीसी की कथाएँ है। संस्कृत-साहित्य के इतिहास के पृष्ठ ३१७ मे मद्रास से प्रकाशित "विक्रमार्क-चरित्र" का उल्लेख किया है, सभवत. वह यही होगा। पेजर के सपादित कथासरित्सागर के अग्रेजी अनुवाद के परिशिष्ट मे एतद्विषयक प्रकाशित साहित्य की सूची दी है, उसके अनुसार तामिल एव महाराष्ट्री भाषाओ मे भी विक्रम-साहित्य है, जिसका अनुवाद केनकेड और वेलिंग्टन ने किया है। गुजराती भाषा मे नरपति-रचित पचदण्डवार्ता (स० १५६०) एव मधुसूदन व्यास कृत हसावती-चरित्र (स० १६५४) फार्बस् सभा से प्रकाशित है। गुर्जर के प्रसिद्ध कवि सामलभट्ट (स० १७७९-८०) ने विक्रम की पचदण्ड एवं सिंहासनबत्तीसी की कथाओ को लेकर बहुत सरस साहित्य का निर्माण किया। पर इस भाषा मे अधिकतर साहित्य जैनो का ही है, जिसका परिचय इस लेख में कराया गया है। हिन्दी भाषा मे वेतालपच्चीसी एव सिंहासनबत्तीसी की कथाओ पर कई कवियो के ग्रन्थो का पता चला है, यथा:—

१—वेताल-पच्चीसी:—१. गंगाधर-रचित विक्रमविलास (स० १७३९) २. भवानीशंकर (स० १८७१)। ३. देवीदत्त (स० १८१२) ४. शभुनाथ त्रिपाठी (सं० १८०९) ५. भवानीसहाय. ६. सूरति मिश्र (हि. खोज रिपोर्ट) ७. लल्लूलाल (गद्य) ८. भोलानाथ चौबे (विक्रमविलास पद्य) (पेजर-सपादित कथा-सरित्सागर का परिशिष्ट) ९. प्रल्हाद-रचित स० १६६१ भा. व. ८ (श्रीपूज्यजी भडार)। (पजाव खोज रिपोर्ट—सन् १९२२।२४—के पृ० ४७ मे प्रल्हाद का समय १७६१ लिखा है, पर वह गलत है)।

२—इनके अतिरिक्त मुझे दो ग्रन्थ नये मिले है:—

१. भगतदास (अनूप संस्कृत लायब्रेरी), अपूर्ण:—हमारे संग्रह मे।

---

* हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज से "सिंहासनद्वात्रिंशिका" के ४ रूपान्तर बड़े उत्तम ढंग से (सानुवाद) प्रकाशित हुए है, एवं "पंचदण्ड-छत्र-प्रबन्ध" भी जर्मनी से प्रकाशित हो चुका है।

विक्रमादित्य सम्बन्धी जैन साहित्य

३—सिंहासन-बत्तीसी—१ गगाराम, २ परमसुख, ३ कृष्णदास, ४ मेघराज प्रधान, ५ काजिमअली (स० १८०१), ६ लल्लूलाल, ७ सेनापति चतुर्वेदी (स० १९२८ पू), ८ सोमनाथ (सं० १८०७)। इनके अतिरिक्त मुझे देवीदास-कृत सिंहासनवत्तीसी नामक ग्रन्थ का और पता चला है जो स १६३३ फा सु ८ का दवास में रचा गया है।

८—धनिकथा—१ गणपति (स १८२६ वागोर) २ जोरावरमल (१८२५ नागपुर) ३ रामानन्द ४ कृपाराम (स १८८०) ५ अज्ञात कर्तृक।

राजस्थानी भाषा में पद्यमय कविहालू-रचित वेतालपच्चीसी (पद्य ७७३, पत्र १४ से १६, वद्धमान भडार), विक्रम-परकायाप्रवेश-कथा विप्र वस्ता रचित (पद्य ३२१, पत्र ७, गोविन्द पुस्तकालय) एव गद्य राजस्थानी में बीकानेर नरेश अनूपसिंहजी के लिए रचित वेतालपच्चीसी, सिंहासनवत्तीसी के अतिरिक्त उक्त नामवाले अन्य गद्य अनुवाद एव पचदण्ड, चौबोली (प्र स सा मडल, दिल्ली) और धनिकथा आदि साहित्य उपलब्ध है।

यद्यपि विक्रम सम्बन्धी जनेतर-साहित्य की कमी नहीं है, फिर भी प्राचीनता एव विपुलता म विक्रम सम्बन्धी जन साहित्य भारतीय समग्र साहित्य स बाजी मार लेता है। जबकि भारतीय विविध भाषाओ के एतद् सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थ सब मिलाकर ५० से कम होग, अकेले जन विद्वानो ने ५५ ग्रन्थ रचकर जो गौरव प्राप्त किया है, वह अत्यन्त श्लाघनीय एव उल्लेखनीय महान् प्रयत्न है।

तेरहवी शताब्दी के पश्चात् विक्रम सम्बन्धी जन-साहित्य का निर्माण प्रारभ होता है। उन सब में विक्रमादित्य के साथ 'सिद्धसेन दिवाकर' नामक जन विद्वान् के सम्बन्ध का उल्लेख पाया जाता है। सिद्धसेन दिवाकर का समय ५वीं शताब्दी है†, अत ये उल्लेख द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य सम्बन्धी प्रतीत होते है। इसी प्रकार अन्य कई उल्लेखो में भी विक्रमादित्य नामसाम्यवाले २-३ विक्रमादित्यो के सम्मिश्रण हो गये मालूम होते है। खेद है, हमारे विद्वानो ने विक्रमादित्य की कथा रूप विशाल कथा-साहित्य पर अभी तक गभीर आलोचनात्मक दृष्टि नहीं डाली, अन्यथा कई नवीन तथ्य प्रकाश में आने की सभावना थी। मेरे नम्र मतानुसार पिछली अनेक कथाओ में भी थोडा बहुत ऐतिहासिक तथ्य अवश्य है।

विक्रमादित्य सम्बन्धी जैन साहित्य की सूची

१ सस्कृत (मौलिक ग्रन्थ)

रचनाकाल	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एव प्रकाशन-स्थान
(१) स १२९०-९८	पचदण्डात्मक विक्रमचरित्र	अज्ञात	प्र हीरालाल हसराज जामनगर। उ जन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास।
(२) १३वीं या १५वीं शती	सिंहासन द्वात्रिंशिका ‡	क्षेमकर	प्र उ लाहौर के सूचीपत्र में।

† देखें—सन्मति प्रकरण प्रस्तावना एव प्रभावक चरित्र में मुनि कल्याणविजयजी का पर्यालोचन।

‡ कई विद्वान् इसे १३वीं शती की बतलाते है, पर षट्पुरुषचरित्र के कर्त्ता क्षेमकर १५वीं शती में हुए है। इस सिंहासन-द्वात्रिंशिका में इसका आधार महाराष्ट्रीय भाषा का उक्त कथानक बतलाया है, पर वह अभी अज्ञात है।

श्रीविक्रमादित्यनरेश्वरस्य चरित्रमेतत् कविभिर्निबद्ध ।
क्षेमकरेण मुनिना वरगद्यपद्यबन्धेन युक्तिकृतसस्कृतबन्धुरेण।
विश्वोपकारविलसद्गुणकीर्तनाय चक्रे चिरामर पण्डितहर्षहेतु ॥१॥

इसकी बीकानेर स्टेट लायब्रेरी में २, बृहद् ज्ञान भडार में २, एव हमारे सग्रह में भी अपूर्ण प्रति उपलब्ध है।

श्री अगरचन्द नाहटा

रचनाकाल	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एवं प्रकाशन-स्थान
(३) सं. १४७१ लगभग	विक्रमचरित्र*	उ. देवमूर्त्ति (कासहृद्गच्छीय)	सं० १४९६ लि. प्रति लीवडी भंडार।
(४) सं. १४९० मा. सु. १४ रवि	विक्रम (पंचदण्ड) चरित्र खंभात	साधुपूर्णिमा गच्छीय रामचंद्रसूरि	दानसागर† भंडार, बीकानेर।
(५) सं. १४९०, दर्भिका ग्राम	विक्रमचरित्र ३ (सिंहासन द्वात्रिंशिका).	साधुपूर्णिमा रामचन्द्रसूरि	उ. जै. सा. सं. इतिहास।
(६) सं. १४९९ ..	विक्रमचरित्र ४ ग्रं. ६७१२	तपागच्छीय शुभशील ..	प्र. हेमचन्द्रसूरि ग्रंथमाला अहमदाबाद।
(७) सं. १५२४ लगभग	सिंहासनद्वात्रिंशिका ५ ..	धर्मघोष गच्छीय राजवल्लभ	सं. १६१२ लि. प्रति गोविन्द-पुस्तकालय, बीकानेर।
(८) अज्ञात ..	विक्रमचरित्र-पत्र ३६ ..	राजमेरु	जीरा (पंजाब) भंडार।
(९) अज्ञात ..	विक्रमचरित्र	इन्द्रसूरि	उ. जैन ग्रंथावली पृ. २५९।
(१०) अज्ञात ..	विक्रमपचदण्डप्रबन्ध‡ ..	पूर्णचन्द्रसूरि ‡ ..	उ. जैन ग्रंथावली पृ. २६०।

(३) इसका गुजराती अनुवाद (स्व. मणिलाल नभुभाई कृत) बड़ौदा के केलवणी खाता से सं० १९५१ में प्रकाशित है।

(४) इसकी प्रति यहाँ के उपाध्याय जयचन्द्रजी यति के ज्ञानभंडार में भी है। इसके १२ सर्ग ये हैं—राज्य-प्राप्ति, अग्नि-वैतालोत्पत्ति, सुकोमलापाणिग्रहण, खर्पर-चौरोत्पत्ति-निग्रह, विक्रमचरित्र-जन्म, अवदातकरण, पितृमिलन, शुभमति-रूपमती-पाणिग्रहण, विक्रमचरित्रकनकश्रीनाम, सिद्धसेन-प्रबोध, वसुधाअनृणीकरण, कीर्तिस्तंभविरचन, शत्रुञ्जयोद्धार, पंचदण्डवर्णन, कालिदासोत्पत्ति, सौभाग्यसुंदरी-परिणयन, तत्परीक्षाकरणाद्यघटकुमारमिलन, विक्रमादित्य-स्वर्ग-गमन, चतुःचामरहारिणीवर्णन, विक्रमचरित्र-राज्योपवेशनयात्राकरण, स्वर्ग-गमन।

(५) इसकी यह एक ही प्रति, पत्र ४८ की यहाँ के श्रीगोविन्द-पुस्तकालय में मिली है, इसमें इससे पूर्व रचित सिद्धसेनकृत उक्त कथा का उल्लेख है:—

पूर्वंश्रीसिद्धसेनेन विक्रमादित्यकीर्तनम्। कृतं सिंहासनाख्यानं जगज्जनमनोहरम्॥२॥

अन्त में ग्रंथकार ने अपना परिचय एवं गद्य बंध से उक्त पद्य बंध कथा रचने का निर्देश इस प्रकार किया है:—

गच्छश्रीधर्मघोषस्तदनु सुविहितश्चक्रचूडामणित्वं, वादीन्द्रो धर्मसूरिः नृपवरतिलको बोधको वीसलस्य।
जित्वा वादान्यनेकविविधगुणगुणा शासनेष्वोन्नतिं यः यस्यश्रीमूलपट्टे त्रिजगजयकरो श्रीयशोभद्रसूरिः॥७२॥
श्रीविक्रमार्कगुणवर्णनगद्यबंधात् पद्ये कृता सुगमता जनकौतुकाय।
सूरेन्द्रशिष्यमहिचन्द्रगुणाधिकेन श्रीराजवल्लभकृता वरपाठकेन॥७३॥

* इसके १४ सर्गों के नाम इस प्रकार है—विक्रमोत्पत्ति, राज्यप्राप्ति, स्वर्ण-पुरुष-लाभ, पंचदण्डछत्र-प्राप्ति, द्वादशावर्त्त-वन्दनक-फल-सूचक-कौतुक-नयवीक्षि, देवपूजाफलसूची, राज्यागमन, विक्रम-प्रतिबोध, जिनधर्मप्रभावसूचक-हंसावली-विवाह, विनयप्रभाव, नमस्कारप्रभाव, सत्त्वाधिककथाकोष, दानधर्मप्रभाव, स्वर्गारोहण, सिंहासन-द्वात्रिंशिका। (जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ४६८)।

इस ग्रंथ की एक और प्रति संवत् १४८२ लिखित बम्बई की रॉयल एशियाटिक सोसायटी के नं. १७७३ में विद्यमान है।

† इस लेख में उल्लिखित दानसागर भंडार, अभयसिंह भंडार, महिमा-भक्तिभंडार, वर्द्धमान भंडार, श्रीपूज्यजीभंडार, जयचन्द्रजी का भंडार, कृपाचन्द्रसूरि-ज्ञानभंडार, सेठिया-लायब्रेरी, गोविन्द पुस्तकालय, बीकानेर स्टेट-लायब्रेरी और हमारा संग्रह ये सभी बीकानेर में ही अवस्थित है। बीकानेर के जैन ज्ञान-भंडारों में लगभग ५०००० हस्त-लिखित प्रतियाँ है। इन ज्ञानभंडारों का परिचय मैंने अपने स्वतन्त्र लेख में दिया है, जो शीघ्रही प्रकाशित होगा।

‡ इस ग्रन्थ का अन्तिम पत्र यहाँ के कोचरों के उपाश्रय के त्रुटित ग्रन्थों में है जो १५वीं शताब्दी लिखित है, अतः पूर्णचन्द्रसूरि का समय इससे पूर्व का ही निश्चित है।

विक्रमादित्य सम्बन्धी जैन साहित्य

२ प्रबन्ध-सग्रहों के अन्तर्गत विक्रमादित्य सम्बन्धी सामग्री ‡

रचना काल	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एव प्रकाशन-स्थान
(११) स १३३४ च सु ७ गु	प्रभावक-चरित्र	प्रभाचन्द्र सूरि	वृद्धवादि प्रबन्ध में।
(१२) स १३६१ वै सु १५ वद्धमानपुर	प्रबन्ध चिन्तामणि	मेरुतुगसूरि	विक्रमार्क प्रबन्ध में।
(१३) स १४०५, दिल्ली	प्रबन्ध-कोष (चतुर्विंशति प्रबन्ध)	राजशेखर सूरि	विक्रमादित्य-प्रबन्ध, सिद्धसेन प्रबन्ध
(१४) १३वीं से १५वीं शती	पुरातन प्रबन्ध-सग्रह	अज्ञात	विविध विक्रमार्क प्रबन्धों में।

(१५) अज्ञात कर्तृक कई प्रबन्ध एव चरित्र जैन भडारो मे प्राप्त है।
(न ११ से १४ के ग्रथ सिंघी-जैन-ग्रथमाला से प्रकाशित है।)

३ लोकभाषा* में विक्रम सम्बन्धी जैन साहित्य

रचना काल	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एव प्रकाशन-स्थान
(१) स १४९९	विक्रमचरित्रकुमाररास	वडतपा गच्छीय साधुकीर्ति	उ ज गु क भा १, पृ ३५॥
(२) स १५६५ ज्ये सु	विक्रमसेन चौपई	पूर्णिमा गच्छीय उदयभानु	उ ज गु क भा १ पृ ११३।
(३) स १५९६ के लगभग	विक्रमरास	तपा गच्छीय धर्मसिंह	उ ज गु क भा १ पृ १६५।
(४) स १६३८ मा सु ७ ‡ रवि उज्जयिनी	विक्रमरास †	आगम विडालव गच्छीय मगल-माणिक्य	उ ज गु क भा १ पृ २४७
(५) स १७२२ पो सु ८ बु खेमतानगर	विक्रमादित्यचरित्र	तपा गच्छीय मानविजय	अभयसिंह भडार।
(६) स १७२४ काती कूड नगर	विक्रमसेन § चौपई	तपा गच्छीय मानसागर	वद्धमान भडार।
(७) स १७२४ पो व १० गढवाड़ा	विक्रमादित्यरास	तपा गच्छीय परमसागर	उ ज गु क भा ३ पृ १२२८ ‡।
(८) स १७३७ लगभग	विक्रमादित्यरास	खरतर दयातिलक	अपूर्ण बीकानेर।

४ विभिन्न कथाओं को लेकर रचित स्वतन्त्र लोकभाषा-कृतियाँ

(क) वैताल पच्चीसी चौपई

रचना काल	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एव प्रकाशन-स्थान
(९) स १५९३ श्रा व ९ गु रत्नाकरपुर		सोरठ गच्छीय ज्ञानचन्द्र	उ जैन गु क भा ३, पृ ५४५।
(१०) स १६१९ द्वि श्रा व ९, वडवाग्रामे		तपा गच्छीय देवशील	प्रति—वद्धमान भडार, गोविन्द पुस्तकालय, स्टेट लायब्रेरी।

‡ विशेष जानने के लिए जैन सत्यप्रकाश के विक्रम विशेषाक में प्रकाशित प्रो० हीरालाल कापडिया व मुनि न्यायविजयजी आदि के लेख।

* जैन मुनियो का चातुर्मास के अतिरिक्त एक स्थान पर १ मास से अधिक नहीं रहने का विधान होने से वे हरदम भ्रमणशील रहते है, इसमे उनकी भाषा में कई अन्य भाषाओ का सम्मिश्रण रहता है, ताकि हरेक प्रान्तवाले सुगमता से उपयोग कर सके। हमने उक्त तालिका के ग्रथो को गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी भाषा के भागों में विभक्त न कर केवल लोकभाषा के शीर्षक में लिख दिये है। फिर भी इनमें सबसे अधिक गुजराती, फिर राजस्थानी और कुछ ग्रथो में हिन्दी का सम्मिश्रण है।

† इसमें सिंहासनबत्तीसी, वैतालपच्चीसी, पचदण्डछत्र, लीलावती, परकायाप्रवेश, शीलमती, खापराचोर आदि विक्रम सम्बन्धी कथाओ का उल्लेख है।

§ इस नाम की इनसे भिन्न अन्य एक जैन चौपई ग्रन्थ का आदि पत्र हमारे सग्रह में है।

‡ जैन श्वेताम्बर कान्फरेन्स, बम्बई से इसके २ भाग प्रकाशित हुए है। तीसरा भाग छप रहा है। ये तीनों भाग जैन भाषा-साहित्य की जानकारी के लिए, एव सस्कृत, प्राकृत श्वेताम्बर जैन ग्रथों की जानकारी के लिए यहीं से प्रकाशित "जैन साहित्यनो इतिहास" ग्रथ अपूर्व है। इन चारों के सम्पादक, सग्राहक श्री मोहनलाल दलीचद देसाई बी ए, एलएल बी, एडवोकेट महोदय है।

रचनाकाल	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एवं प्रकाशन-स्थान
(११) स. १६४६ इन्द्रोत्सव-दिने	..	खरतर हेमाणंद ..	प्रति—बीकानेर स्टेट लायब्रेरी।
(१२) सं. १६५० लगभग	..	वड गच्छीय मुनिमाल ..	प्रति—गोविंद पुस्तकालय।
(१३) सं. १६७२ पौ० सु. २	..	तपा गच्छीय सिंहप्रमोद ..	प्रति—भाण्डारकर इन्स्टीटयूट पूना।
(१४) ..	..	अज्ञात	उ. पंचदंडवार्त्ता पृ. १२६।
		(ख) पंचदण्ड चौपई	
(१५) सं. १५५६ वै. सु. २	..	अज्ञात *	उ. जैन गु. क. भा. १। पृ. ९९ प्र. बुद्धिप्रकाश वर्ष ७९ अं. २—३।
(१६) सं. १५६० ..	..	सिंहकुशल	उ. फार्बस सभा से प्रकाशित पंचदण्डवार्त्ता मे।
(१७) सं. १५८३ ..	..	विनय समुद्र	प्रति—पनाचंदजी सिंधी सुजानगढ पत्र २१।
(१८) सं. १६५० के लगभग	..	वड गच्छीय मुनि मालदेव	प्रति—जयचन्दजी का भंडार।
(१९) सं. १७२८ फा.सु. ५ गारबदेसर	..	खरतर ग. लक्ष्मीवल्लभ ..	प्रति—हमारे संग्रह में।
(२०) सं. १७३३ फाल्गुन	..	खरतर ग. लाभवर्द्धन ..	प्रति—सेठिया लायब्रेरी।
(२१) सं. १८३० ज्ये. सु. १० र. औरगाबाद	..	तपा-भाणविजय ..	प्रति—अभयसिंह भडार।
		(ग) सिंहासनबत्तीसी चौपई	
(२२) सं. १५१९ ..	..	पूर्णिमा गच्छीय मलयचन्द्र	प्रति—सेन्ट्रल लायब्रेरी, बड़ौदा लीवडी भंडार।
(२३) सं. १५९८ मि.सु. १० गुरुवार	..	ज्ञानचन्द्र	प्रति—अभयसिंह भडार।
(२४) सं. १६११ ..	..	उपकेश ग. विनयसमुद्र ..	प्रति—बीकानेर स्टेट लायब्रेरी।
(२५) सं. १६१६ वै. ब. ३ र. बारेज	..	विवदणीक ग. सिद्धसूरि ..	उ.जैन गु. क. भा.१, पृ.२०५।
(२६) स. १६३६ आसोज बदी २ मेडता	..	खरतर हीरकलश ..	प्रति—हमारे सग्रह मे, वर्द्धमान भंडार, गोविन्द पुस्तकालय।
(२७) सं. १६७८ ..	..	तपा संघविजय ..	प्र० "—साहित्य" सं. १९३३ अप्रैल से दिसम्बर के अको मे।
(२८) स. १७४८ श्रा. ब. ७, फलौधी	..	खरतर विनयलाभ ..	प्रति—हमारे सग्रह एवं श्रीपूज्यजी भ० मे।
(२९) स. १६७१ (ग्र. २८०० गा. २४७८)	..	अज्ञात	प्रति—महिमाभक्ति बं. नं. ३६।
		(घ) विक्रम-खापरा-चोर चौपई	
(३०) स. १५६३ ज्ये.सु. ७ चित्तौड़	..	खरतर ग. राजशील ..	प्रति—जयचन्द्रजी भडार।
(३१) सं. १७२३ ज्येष्ठ सीरोही	..	खरतर ग. अभयसोम ..	प्रति—हमारे सग्रह मे।

* हिन्दी-विद्यापीठ, उदयपुर से प्रकाशित रा. हिं. हस्त. ग्रंथों की खोज भाग १ में कर्त्ता का नाम सिद्धसेन लिखा है; पर उसका आधार अज्ञात है।

विक्रमादित्य सम्बन्धी जैन साहित्य

रचनाकाल	ग्र थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एव प्रकाशन-स्थान
(३२) स १७२७ नभ सु १३ जयतारण		खरतर ग लाभवर्द्धन	प्रति—हमारे सग्रह में।
	(ङ) विक्रम चौबोली चौपई		
(३३) स १७२४ आषाढ वदी १०		खरतर ग अभयसोम	प्रति—श्रीपज्यजी भडार।
(३४) स १७६२		खरतर ग कीर्तिसुदर	प्रति—श्रीपूज्यजी भडार।
(३५) स १७७० से पूव		पल्लीवाल ग हीराणद	प्रति—कृपाच द्रसूरि ज्ञान-भडार।
	(च) विक्रम लीलावती चौपई		
(३६) स १५९६ व सु १४ बुधवार		ककसूरि शिष्य	उ जन गु क भा ३, पृ ६२३।
(३७) स १७२८ सोजत		खरतर कुशलधीर	जै गु क भा २, पृ २६०।
	(छ) विक्रम-कनकावती चौपई		
(३८) स १७६७ मि सु १०, राधनपुर		तपा कान्तिविमल	उ ज गु क भा २, प ४६९।
	(ज) विक्रम-शनीश्चर रास		
(३९) स १६८८ (१) का व ७, गुरुवार		तपा सघविजय	उ जन गु क भा ३, पृ ९५३।
(४०) स १७३६ लगभग राधनपुर		खरतर धर्मसिंह	उ जैन गु क भा २, पृ ३४१।
(४१) १९ वी		ललितसागर	भीमसी माणक के प्रकाशन।

उपर्युक्त सभी रचनाएँ पद्य मे है। गद्य में भी एतद्विपयक कई ग्रथ जन ज्ञानभण्डारो मे पाये जाते ह, पर उनके रचयिताओ के जन होने के सम्ब ध म निश्चित नही कहा जा सकता*।

इस प्रकार यथाज्ञात विक्रमादित्य सम्ब धी श्वेताम्बर जन साहित्य के ५५ ग्रथा की सूची यहाँ प्रकाशित की जा रही है। विशेप खोज करने पर और भी अनेक ग्रथा के मिलने की सभावना ह। इनमें से कई ग्रथो की अनेक प्रतियाँ बीकानेर के अनेक सग्रहालयो मे ह, यहा स्थानाभाव से केवल एक दो स्थाना का ही निर्देश किया गया ह।

आश्चय की बात है कि श्वेताम्बर जनो ने जब विक्रमादित्य के सम्ब ध में ५५ ग्रथ बनाये ह, दिगम्बर समाज के केवल एक ही विक्रम-चरित्र (श्रुतसागर रचित, १६वी शती) का उल्लेख आरा के जैन सिद्धान्त भवन से प्रकाशित प्रशस्ति सग्रह म पाया जाता ह। श्वेताम्बर जनो के इतने विशाल साहित्य निर्माण के दो प्रधान कारण ह—१) उन्होने लोक-साहित्य के सजन एव सरक्षण में सदा से बडी दिलचस्पी रखी ह, इसके प्रमाणस्वरूप विक्रम-कथाओ के अतिरिक्त अ य अनेक लोककथाओ पर रचित अनेक ग्रथ उपलब्ध ह (देखें—जन साहित्यनो इतिहास पृ ६०८, ६६६, ६७९)। २ आचाय सिद्धसेन दिवाकर नामक श्वेताम्बर जन विद्वान् का विक्रमादित्य से घनिष्ट सम्ब ध—यहाँ तक कि उनके उपदेश से विक्रमादित्य के जनी होने तक का कहा गया है और उसने शत्रुजय तीर्थ की यात्रा भी की थी।

* इनके अतिरिक्त जन कवि कुशललाभ विरचित माधवानल-कामकदला चौपई (स १६१६ फा सु १३, जसलमेर) में भी विक्रमादित्य के परदुखभजन की कथा आती ह। राजस्थानी में कवि गणपति (स १५८४ श्रा सु ७, आमुदरि) एव गुजराती में दामोदर रचित (स १७३७ पूव) यही ग्र थ इसी नामवाली उपयुक्त रचना के साथ बडौदा ओरियण्टल सीरीज से प्रकाशित ह। इसी प्रकार रूपमुनि रचित अबड चौपई (स १८८० ज्ये सु १०, बुधवार अजीमगज में रचित) आदि में भी विक्रम के पञ्चदण्ड आदि के कथानक पाये जाते ह।

जैन साहित्य में विक्रमादित्य

श्री डॉ० बनारसीदास जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०

महाराज विक्रमादित्य का नाम भारतवर्ष मे जितना ही अधिक प्रसिद्ध है, पाश्चात्य विद्वानों ने उतना ही अधिक उनके अस्तित्व मे सन्देह प्रकट किया है। इसका कारण यह है कि न तो विक्रमादित्य के समय का बना हुआ कोई ऐसा ग्रन्थ विद्यमान है जिसमे उनका स्पष्ट उल्लेख हो, और न कोई ऐसे प्राचीन शिलालेख या मुद्रा प्राप्त हुए है जिनमे उनका नाम या वृत्तान्त अंकित हो। ऐसी दशा मे पाश्चात्य विद्वानों के लिए विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता मे सन्देह करना स्वाभाविक बात थी। यद्यपि कथासरित्सागर (लम्बक १८) तथा उसके पश्चात्कालीन ग्रन्थों मे विक्रमादित्य सम्बन्धी बहुत से उल्लेख और कथाएँ पाई जाती है, परन्तु वे अर्वाचीन तथा परस्पर विरोधी होने से विश्वसनीय नहीं समझी जाती। इस प्रकार की अधिकतर सामग्री जैन साहित्य मे मिलती है। लेकिन जैन साहित्य अति विशाल है। इसका बहुत बड़ा भाग अभी तक प्रकाशित नही हुआ, और जो प्रकाशित हो चुका है वह भी सारे का सारा किसी एक पुस्तकालय मे प्राप्य नही है। अतः विक्रम सम्बन्धी जो वृत्तान्त यहाँ लिखा जाता है वह सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

पहले उन ग्रन्थों की सूची दी जाती है जिनमें विक्रमादित्य का चरित्र अथवा उल्लेख मिलते है। ये ग्रन्थ प्रायः सबके सब श्वेताम्बर सम्प्रदाय के है। दिगम्बर ग्रन्थो का इस लेख मे समावेश नही किया जा सका। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से उल्लेख होंगे। इन उल्लेखों मे जो परस्पर भेद दिखाई देता है, उसका कारण यह है कि विक्रमादित्य किसी व्यक्ति विशेष का नाम नही था। यह तो एक विरुद है, जिसे कई राजाओं ने धारण किया। पीछे होनेवाले लेखकों ने एक विक्रमादित्य का वृत्तान्त दूसरे के साथ मिला दिया। चूंकि उज्जयिनीपति महाराज विक्रमादित्य अधिक प्रसिद्ध थे, इसलिए सब घटनाएँ उन्हीं के जीवन से सम्बद्ध हो गईं।

साहित्य-सूची—

१. वीरनिर्वाण और विक्रम-संवत् का अन्तर बतानेवाली प्राचीन गाथाएँ जो बहुत से ग्रन्थों में उद्धृत मिलती हैं।

२. सं० १२९० अथवा १२९४ मे एक जैनाचार्य द्वारा रचित पञ्चदण्डात्मक विक्रमचरित्र (प्रकाशक—हीरालाल हंसराज, जामनगर; ओरियण्टल इन्स्टीटयूट, बड़ौदा)।

३ सं० १३३४ में प्रभाचन्द्र द्वारा रचित प्रभावक चरित (सिंघी जन ग्रन्थमाला)। विशेषकर कालकाचार्य, जीवसूरि और वृद्धवादिसूरि-चरित।

४ सं० १३६१ मे मेरुतुंग द्वारा रचित प्रबन्धचिन्तामणि (सिंघी जन ग्रंथमाला)। विशेषकर विक्रमार्क प्रबन्ध और सातवाहन प्रबन्ध।

५ सं० १३६४ से १३८९ मे जिनप्रभसूरि द्वारा रचित विविधतीर्थकल्प (सिंघी जन ग्रन्थमाला)। विशेषकर अपापा-वृहत्कल्प, प्रतिष्ठानपुरकल्प, कुडुगेश्वरकल्प।

६ सं० १४०५ में राजशेखर द्वारा रचित प्रबन्धकोश (सिंघी जन ग्रन्थमाला)। विशेषकर जीवदेवसूरि-प्रबन्ध, वृद्धवादि सिद्धसेन प्रबन्ध, सातवाहन प्रबन्ध, विक्रमादित्य प्रबन्ध।

७ सं० १४५० से पूर्व किसी आचार्य ने महाराष्ट्री प्राकृत में सिंहासनद्वात्रिंशिका * रची।

८ सं० १४५० के आसपास तपागच्छीय देवसुन्दरसूरि के शिष्य क्षेमंकरसूरि ने नं० ७ के आधार पर संस्कृत गद्यपद्यमयी सिंहासनद्वात्रिंशिका रची।

९ सं० १४७१ के लगभग कासद्रहगच्छ के देवचन्द्र सूरि के शिष्य उपाध्याय देवमूर्ति ने विक्रमचरित नाम का ग्रन्थ रचा। इसमें १४ सर्ग हैं। उनके नाम—विक्रमादित्य की उत्पत्ति, राज्यप्राप्ति, स्वर्णपुरुष-लाभ, पञ्चदण्ड-छत्र प्राप्ति, द्वादशावर्तवन्दनक-फलसूचक-कौतुक-नयवीक्षि, देवपूजाफलसूचकस्त्रीराज्यगमन, विक्रमप्रतिबोध, जिन धर्म प्रभावसूचक-हंसावली-विवाह, विनयप्रभाव, नमस्कारप्रभाव, सत्त्वाधिक-कथा-कोश, दानधर्मप्रभाव स्वर्गारोहण, और अन्तिम सर्ग सिंहासन-द्वात्रिंशत्कथा। †

१० सं० १४९० में पूर्णिमागच्छीय अभयचन्द्रसूरि के शिष्य रामचन्द्रसूरि ने दर्भिका ग्राम (डभोई) में उपर्युक्त ग्रन्थ नं० ९ के आधार पर संस्कृत पद्यबन्ध ३२ कथा रूप विक्रमचरित्र रचा। इसकी श्लोक-संख्या ६०२० है।

११ सं० १४९० में उक्त रामचन्द्रसूरि ने संस्कृत गद्य-पद्य में २२५० श्लोक प्रमाण खम्भात में पञ्चदण्डातपत्र-छत्र प्रबन्ध की रचना की। प्रकाशक—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९१२, प्रोफेसर वेबर, सन् १८७७।

१२ सं० १४९४ में तपागच्छीय मुनि सुन्दरसूरि शिष्य शुभशीलगणि ने भी एक विक्रमचरित्र बनाया (हेमचन्द्र ग्रन्थमाला, अहमदाबाद)।

१३ सं० १६१६ में सिद्धिसूरि ने संस्कृत पर से सिंहासनबत्रीशी (गुजराती में) बनाई।

१४ सं० १६३६ में हीरकलश ने विस्तार करके सिंहासनबत्रीशी (गुजराती में) बनाई।

१५ सं० १६३८ में मंगलमाणिक्य ने विक्रम राजा और खापरा चोर का रास (गुजराती में) बनाया।

१६ सं० १६३८ में मल्लदेव ने विक्रम चरित्र पञ्चदण्ड कथा की रचना की।

---

* महाराष्ट्री की सिंहासन-द्वात्रिंशिका के होने में इजर्टन महोदय ने शंका प्रकट की है। देखिये विक्रमचरित, हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज, पुस्तक २६, प्रस्तावना पृ० ५५।

† मोहनलाल दलीचन्द देसाई कृत "जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास", § ६८२।
इस ग्रन्थ की दो प्रतियाँ ऐसी मिलती हैं जो कर्त्ता के समय के आसपास लिखी गई। एक तो सं० १४८२ में मेदपाट (मेवाड) में राजा कुम्भकर्ण के राज्य में वेसग्राम में कासद्रहगच्छ के देवचन्द्रसूरि (कर्ता के गुरु) के शिष्य उद्योतन सूरि के पट्टधर शिष्य सिंहसूरि ने अपने लिए वाचनार्थ शीलसुन्दर से लिखवाई (वेबर नं १७७३)। दूसरी उसी सिंहसूरि ने सं० १४९५ में महोतिलक से लिखवाई (लींबडी भंडार)। इसकी श्लोक संख्या ५३०० है।

१७. सं० १६७८ मे संघ (सिंह) विजय ने भी विस्तृत सिंहासनबत्रीशी की रचना की।

१८. विक्रम की सत्रहवी शताब्दी मे समयसुन्दर ने सस्कृत गद्य मे सिंहासनद्वात्रिंशिका रची। (पंजाब जैन भंडार सूची; नं० २९३७)।

१९. सं० १७७७ से १७८५ मे सामलभट्ट ने अपनी सिंहासनबत्रीशी की रचना की। इसमें पञ्चदण्ड की कथा उपर्युक्त ग्रन्थ न० २ से ली गई है।

२०. राजमेर कृत विक्रमचरित्र। लगभग २००० श्लोक प्रमाण। संस्कृत पद्य। (पंजाब जैन भंडार सूची; नं० २३२७)।

२१. लाभवर्द्धन कृत विक्रमादित्य चौपई। लगभग १००० श्लोक प्रमाण। गुजराती (पंजाब जैन भडार सूची नं० २३३०)।

२२. पूर्णचन्द्र कृत विक्रमपञ्चदण्ड-प्रबन्ध। श्लोक प्रमाण ४०० (जैन ग्रन्थावली पृ. २६०)।

२३-२४. जैन ग्रन्थावली पृ २६० पर दो विक्रमनृप-कथाओं का उल्लेख है। एक का श्लोक प्रमाण २३४, दूसरी पद्यबद्ध का २२५ है।

२५-२६. जैन ग्रन्थावली पृ. २१८ पर एक विक्रम-प्रबन्ध तथा दूसरे विद्यापति भट्ट कृत विक्रमादित्य-प्रबन्ध का उल्लेख है।

२७. जैन ग्रन्थावली पृ. २५९ पर इन्द्रसूरि कृत विक्रमचरित्र का उल्लेख है (पीटर्सन, रिपोर्ट ५)।

२८. कालकाचार्य-कथानक जिसमे बतलाया है, कि किस प्रकार कालकाचार्य ने अपनी भगिनी सरस्वती के अपहारक गर्दभिल्ल को शकों द्वारा राज्य-च्युत किया और फिर कुछ काल पीछे विक्रमादित्य ने शकों को परास्त करके उज्जयिनी का राज्य पुनः प्राप्त किया। इस कथानक की अनेक रचनाएँ मिलती है, जिनमे से कुछ को प्रो० नार्मन ब्राउन ने "स्टोरी ऑफ़ कालक" नामक अपने ग्रन्थ मे संपादित किया है।

२९. स्थविरावली, पट्टावली, गुर्वावली सज्ञक कृतियो मे थोड़ा बहुत विक्रमादित्य सम्बन्धी विषय मिलता है। इनमे से हिमवत् स्थविरावली अति महत्त्वशाली है। इसका गुजराती अनुवाद हीरालाल हंसराज ने प्रकाशित किया है।

जैन साहित्य मे विक्रम सम्बन्धी सामग्री की सूची देने के बाद इस सामग्री का जो अंश मुझे प्राप्त हो सका और उसमे से जो वृत्तान्त मैं सकलित कर सका हूँ उसका सार नीचे दिया जाता है‡ :—

विक्रमादित्य का मौर्यवंशी होना—अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को युवराज पदवी देकर उसे उज्जयिनी का शासक बना दिया। वहाँ रहते हुए कुणाल अन्धा हो गया। उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम था सम्प्रति। अशोक की मृत्यु के पश्चात् पाटलिपुत्र के सिंहासन पर सम्प्रति बैठा, लेकिन अशोक के दूसरे पुत्रो ने संप्रति का विरोध किया। इसलिए दो बरस पीछे सम्प्रति पाटलिपुत्र को छोड़कर अपने पिता की जागीर उज्जयिनी मे आ गया। यहाँ उसने शेष आयु शान्ति-पूर्वक व्यतीत की। अब पाटलिपुत्र का राज्य पुण्यरथ (या दशरथ) ने सँभाल लिया। इस प्रकार मौर्य राज्य के दो हिस्से हो गये। संप्रति के कोई पुत्र नही था। उसके मरने पर उज्जयिनी का राज्य अशोक के पौत्रो, तिष्यगुप्त के पुत्रो बलमित्र और भानुमित्र नामक राजकुमारो ने हस्तगत कर लिया। ये दोनो भाई जैन धर्म के उपासक थे। ये वीर-निर्वाण से २९४ वर्ष बाद उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठे और ६० वर्ष तक राज्य करते रहे।

‡ अहमदाबाद से "जैन-सत्य-प्रकाश" का विक्रम-विशेषांक निकला है। उसके विविध लेखों में विक्रम सम्बन्धी जैन-साहित्य और परम्परा का विस्तृत विवेचन किया गया है।

जैन साहित्य में विक्रमादित्य

इनके पश्चात् बलमित्र का पुत्र नभोवाहन उज्जयिनी का राजा बना। यह भी जनधर्मी था। इसकी मृत्यु वीर-निर्वाण से ३९४ वरस बाद हुई।

नभोवाहन के पश्चात् उसका पुत्र गदभिल्ल उज्जयिनी के राज्य सिंहासन पर बठा। विक्रमादित्य इसी गदभिल्ल का पुत्र था।

मौय-राज्य का दो शाखाओ मे विभक्त हो जाना तो कई विद्वानो ने माना है, परन्तु गदभिल्ल का मौर्यान्वयी होना केवल हिमवत् स्थविरावली में मिलता ह, जिसका उल्लेख मुनि कल्याण विजय ने "वीर-निर्वाण-सवत् और जन काल-गणना" नामक अपने निबन्ध में किया है।

विक्रमादित्य की राज्य प्राप्ति—विक्रमादित्य को उज्जयिनी का राज्य बपौती रूप से घर बठे बिठाये नही मिला। उसने यह राज्य प्रवल शत्रुओ को जीतकर प्राप्त किया, क्योकि गदभिल्ल ने एक ऐसी दुष्ट चेष्टा की थी जिसके कारण उज्जयिनी का राज्य उसके हाथो से निकल कर शका के हाथ में चला गया था। यह घटना इस प्रकार हुई —

"कालकाचाय नामी एक बडे प्रभावशाली जन साधु थे। उनकी बहिन सरस्वती भी साध्वी बन गई थी। वह बहुत रूपवती थी। एक बार गदभिल्ल ने उसे दखा और वह उस पर आसक्त हो गया। उसे उठाकर उसने बलात्कार अपने अन्त पुर में डाल लिया। इस पर कालकाचाय ने गदभिल्ल को बहुत समझाया कि आप इसे छोड देवें, इसका सतीत्व नष्ट न करें, आप सरीखे न्यायी राजा को ऐसा करना उचित नही, राजा तो प्रजा का रक्षक होता ह, न कि भक्षक। गदभिल्ल ने कालकाचाय की बात नही मानी। फिर उसके मन्त्रिया ने प्रार्थना की कि आप साधु साध्वी का शाप न लेवें, लेकिन राजा ने उनकी प्राथना भी नहीं सुनी।

तब कालकाचाय उज्जयिनी में उन्मत्त पुरुष की भाति फिरने लगे। अन्त में वे सुराष्ट्र (सोरठ) देश को चले गये और वहाँ के शासक शक सामन्ता को, जो "शाहि" कहलाते थे, अपने बुद्धिबल से प्रसन्न किया। एक बार अवसर पाकर उन सबको इकट्ठा होकर उज्जयिनी पर धावा करने की सलाह दी। उन्होने मिलकर गदभिल्ल से उज्जयिनी का राज्य छीन लिया। स्वाभाविक बात ह कि विदेशी शासका के हाथ से उज्जयिनी की प्रजा तग आगई होगी। उसकी दीन दशा देखकर विक्रमादित्य से न रहा गया। उसने अपने बुद्धिबल और पराक्रम से शका को परास्त किया और वह स्वय उज्जयिनी के राजसिंहासन पर बठ गया।"*

---

*विक्रमादित्य की राज्यप्राप्ति के सम्बन्ध में कई और कथायें भी ह। जसे—

(१) विक्रमादित्य भर्तृहरि का भाई था और उसके पश्चात् उज्जयिनी के सिंहासन पर बठा। (इजटन, उक्त पुस्तक, पृ २४७)।

(२) विक्रम नामक एक राजपूत था जो जन्म से दरिद्र, पर बुद्धिमान था। एक बार घमता फिरता वह अवन्ती नगरी के पास आया। वहाँ का राजा मर चुका था। जो नया राजा बनता, उसे पहली ही रात अग्नि-वेताल राक्षस मार डालता। अब मत्री लोग विवश थे। ज्योही विक्रम ने नगर में प्रवेश किया, लोगा ने उसे राजा बना लिया। जब विक्रम को राक्षस का हाल मालूम हुआ तो उसने पलग के समीप मिठाई का ढेर लगवा दिया। अब यथापूव राक्षस आया और विक्रम को खाने लगा। विक्रम ने कहा—"पहले आप मिठाई खा लीजिए"। मिठाई खाकर राक्षस प्रसन्न हो गया, और विक्रम को जीवित छोड दिया। विक्रम प्रतिदिन मिठाई का ढेर लगवा रखता। एक रात विक्रम ने राक्षस से पूछा कि मेरी कुल आयु कितनी होगी। उसने उत्तर दिया, "पूरे एकसौ बरस, न एक दिन कम और न एक दिन अधिक।" अब अगले दिन विक्रम ने मिठाई का ढेर नहीं लगवाया। यह देख राक्षस बहुत क्रुद्ध हुआ, और विक्रम के साथ युद्ध करने लगा। विक्रम ऐसी शूरता से लडा कि राक्षस प्रसन्न हो गया। अब उसने उज्जयिनी में आना छोड दिया और वहाँ विक्रम आनन्दपूवक राज करने लगा। (देखिए प्रबन्ध चिन्तामणि, विक्रमार्क प्रबन्ध § १, २; इजटन, उक्त पुस्तक, पृ २५०-२५१)।

श्री डॉ० वनारसीदास जैन

विक्रमादित्य का जैन धर्म को अंगीकार करना—जैन न्याय को क्रमवद्ध करके इसे शास्त्र का रूप देनेवाले, संस्कृत के अद्वितीय पण्डित, श्री सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य के समकालीन माने जाते है। इन्ही सिद्धसेन के उपदेश से प्रभावित होकर विक्रमादित्य ने जैनधर्म को अंगीकार किया*। यह प्रसग ऐसे वना।

जैनों के आगम ग्रन्थ अर्धमागधी प्राकृत मे रचे हुए है। पण्डित मण्डली मे इस भाषा का संस्कृत जैसा आदर नही था। सिद्धसेन ने सोचा कि यदि जैन आगमों का सस्कृत मे अनुवाद हो जाय, तो जिनवाणी की वड़ी प्रभावना होगी। यह सोचकर सिद्धसेन ने आगमों का संस्कृत में अनुवाद करने की अपने गुरु से आज्ञा माँगी। गुरु ने कहा कि तेरे इस संकल्पमात्र से जिनवाणी की आशातना (निरादर) हुई है। अनुवाद कर लेने पर तो महापाप लगेगा। इस खोटे संकल्प के लिए तुझे पाराञ्चित प्रायश्चित्त करना चाहिए, जिसके अनुसार वारह वरस तक अवधूत वेष मे रहकर तुझे जैन धर्म का पालन करना होगा। इस अवस्था मे सिद्धसेन एक वार उज्जयिनी मे आये। वहाँ महाकाल के मन्दिर में जाकर भी उन्होंने शिवलिंग को प्रणाम नही किया। लोगो ने इस बात की सूचना राजा विक्रमादित्य को दी। राजा ने सिद्धसेन को वुलाकर पूछा कि आपने शिवलिंग को प्रणाम क्यो नही किया? सिद्धसेन ने उत्तर दिया कि यदि मैं शिवलिंग को प्रणाम करूँगा तो वह फट जावेगा और आप अप्रसन्न हो जायँगे। यह सुनकर राजा को वड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सिद्धसेन के वचन की परीक्षा करने के उद्देश्य से उनसे कहा कि मेरे सामने शिवलिंग को प्रणाम कीजिए। इस पर सिद्धसेन ने पार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति प्रारम्भ कर दी। पहला ही श्लोक पढ़ा था कि शिवलिंग से धूम की रेखा निकलने लगी। लोग समझे कि अव शंकर महादेव के नेत्र से आग निकलेगी और इस भिक्षु को भस्म कर देगी। लेकिन थोड़ी ही देर मे शिवलिंग फट गया और उसमें से पार्श्वनाथ की दिव्य मूर्ति निकल पडी। इस कौतुक को देखकर विक्रमादित्य को जैन धर्म मे दृढ श्रद्धा हो गई और उसने श्रावक के वारह व्रत धारण किये।†

विक्रमादित्य और कालिदास—विक्रमादित्य विद्या का प्रेमी था और विद्वानों का वड़ा आदर सम्मान करता था। ज्योतिर्विदाभरण मे लिखा है कि उसकी सभा मे नौ पण्डितरत्न थे जिनके नाम ये हैं—१. धन्वन्तरि, २. क्षपणक, ३. अमरसिंह, ४. शकु, ५. वेतालभट्ट, ६. घटखर्पर, ७. कालिदास, ८. वराहमिहिर और ९. वररुचि। इनमे से क्षपणक से तात्पर्य सिद्धसेन दिवाकर का है। कालिदास विक्रमादित्य का जामाता था, क्योकि उसका विवाह विक्रमादित्य की पुत्री प्रियगुमञ्जरी से हुआ था। कालिदास एक पशुपालक का पुत्र था और कुछ पढा लिखा न था। प्रियंगुमञ्जरी की अवज्ञा से उसने काली की उपासना की और उससे आशुकवित्व का वर प्राप्त किया। तव उसने कुमारसभव आदि तीन महाकाव्य और छै प्रवन्ध वनाये।‡

विक्रम का बल पराक्रम—जैसाकि विक्रमादित्य के नाम से प्रकट है, वह विक्रम और साहस का पुतला था। निर्वलों की रक्षा और दीन-अनाथो के दुख दूर करना उसके जीवन का मुख्य ध्येय था। कैसा ही साहस का काम क्यों न हो, वह उसे करने से नही घवराता था। उसकी शूरवीरता की अनेक कथाएँ, विशेषकर सिंहासनद्वात्रिंशिका मे मिलती है। इनका निर्देश यहाँ नही किया जा सकता। ऐसा करने से लेख का कलेवर बहुत वढ़ जायगा।

विक्रम की दानशीलता—विक्रमादित्य इतना दानशील था कि उसने समस्त पृथ्वी को ऋणमुक्त कर दिया था। यह बात आजतक प्रसिद्ध है।

---

* प्रभावकचरित (विजयसिंहसूरिचरित) श्लोक ७७, (वृद्धवादिचरित) श्लोक ६१-६५। प्रवन्ध-चिन्तामणि (विक्रमार्क-प्रवन्ध) §§७-८।

† प्रभावकचरित (वृद्धवादिसूरिचरित) श्लोक १२१-५०। इजर्टन, हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज, पुस्तक २६, पृष्ठ २५१।

‡ प्रवन्धचिन्तामणि (विक्रमार्क-प्रवन्ध) §२।

जैन साहित्य में विक्रमादित्य

विक्रम का नया सवत् चलाना—विक्रमादित्य के नया सवत् चलाने के कई उल्लेख मिलते हैं। प्रबन्ध चिन्तामणि मे विक्रमाक प्रब घ के अन्त में लिखा ह, "अन्त समय में नवनिधियो ने विक्रमादित्य को दशन देकर कहा कि कलियुग में तो आपही एकमात्र उदार ह। और वह परलोक को प्राप्त हुआ। उसी दिन से विक्रमादित्य का सवत्सर प्रवृत्त हुआ, जो आज भी जगत् में वतमान है।"

विक्रम और सातवाहन—एक बार विक्रम की सभा में किसी नमित्तिक ने कहा कि प्रतिष्ठानपुर में सातवाहन राजा बनेगा।

सातवाहन की उत्पत्ति—महाराष्ट्र देश में प्रतिष्ठानपत्तन वडा प्रसिद्ध नगर था। एकदा उमम अपनी विधवा भगिनी समेत दो पथिक आकर एक कुम्हार के घर ठहरे। दैवयोग से उनकी बहिन को गर्भ हो गया। इसपर वे उसे अकेला छोडकर वहा से चल दिये। दिन पूरे हो जाने पर उसके बालक उत्पन्न हुआ, जो वडा होकर कुम्हार के लडको से मेला करता था। उनसे उसने मिट्टी के हाथी, घोडे, रथ आदि वाहन बनाना सीख लिये। इसीसे उसका नाम सातवाहन पड गया।

उधर उज्जयिनी में एक बूढा आदमी मरा। मरते समय उसने अपने चारो पुत्रो से कहा कि मेरी चारपाई के पाया के नीचे चार घडे दबे ह। तुम उनको निकालकर एक एक बाँट लेना। जब धरती खोदी गई तो एक घडे में सोना, दूसरे म काली मिट्टी, तीसरे में भसा और चौथे में हड्डिया मिली। इस पर चारो में झगडा हुआ कि कौन किस घडे को लेवे। वे झगडते हुए न्याय कराने के लिए विक्रमादित्य के पास आये। वह इनका न्याय न कर सका। फिर वे प्रतिष्ठानपुर पहुँचे। वहाँ इनको उदास देखकर सातवाहन ने पूछा कि क्या बात है? उदासी का क्या कारण ह? झगडा बतलाये जाने पर उसने कहा कि जो सोनेवाला घडा लेवे उसको और कुछ न मिले। जो मिट्टीवाला घडा लेवे, वह सब भूमि, खेत-क्यारिया आदि का स्वामी समझा जावे। भूसेवाले को खत्ते कोठा में भरा अनाज मिल जावे। हड्डियावाला गौ, भस आदि पशुओ को ले लेवे। ऐसा करके हिसाब लगाने पर सबके हिस्से में बराबर बराबर सम्पत्ति आई और वे सब प्रसन्न हो गये।

जब वे उज्जयिनी में आये और विक्रम को सूचना मिली कि उनका न्याय हो गया, तो उसने उन्हें बुलाकर पूछा "तुम्हारा न्याय किसने किया?" उन्होने उत्तर दिया कि सातवाहन ने। अब विक्रमादित्य को नमित्तिक के वचन याद आये कि प्रतिष्ठानपुर में सातवाहन राजा होगा। यह सोचकर कि राजा बनकर सातवाहन मेरा विरोध करेगा, विक्रम ने प्रतिष्ठानपुर को घेरा डालकर दूत द्वारा उसे कहला भेजा कि म कल तुम्हे मार डालगा। यह सुन सातवाहन लडाई के लिये तयार हो गया। उसने रातारात मिट्टी की बहुतसी सेना बना डाली। फिर एक देवता की उपासना करके उसमें प्राणो का सचार करा दिया। इस सेना द्वारा सातवाहन ने विक्रम को भगा दिया।†

विक्रम के पुत्र—विक्रमादित्य के पुत्र विक्रमसेन को पुरोहित ने आशीर्वाद दिया कि आप अपने पिता विक्रमादित्य से भी अधिक प्रतापी होवें। इसपर सिंहासन की पुतलियो ने हँसकर कहा कि विक्रमसेन की विक्रमादित्य से समता भी नही हो सकती, अधिकता तो दूर रही। कारण पूछने पर पुतलियो ने विक्रमादित्य के पराक्रम आदि लोकोत्तर गुणो का बखान किया और पूछा कि क्या विक्रमसेन ऐसा कर सकता ह? इस प्रकार पुतलिया ने विक्रमसेन के गव का निराकरण किया। ‡

उपर्युक्त वृत्तान्त जन साहित्य में पाये जाने वाले विक्रम सम्बन्धी उल्लेखो का एक नमूना ह। खोज करने से यह काफी विस्तृत हो सकता ह। इसका ऐतिहासिक महत्त्व कुछ हो या न हो पर यह कथा-साहित्य की दृष्टि से वडा सरस और उपयोगी है।

---

† विविध-तीर्थकल्प (प्रतिष्ठानपुरकल्प) पृ० ५९-६०। प्रबन्धकोष (सातवाहन प्रबन्ध) §§८२ ८६।
‡ प्रबन्धकोष (विक्रम प्रबन्ध) §९८।

अरबी-फारसी में विक्रमादित्य

श्री महेश प्रसाद, मौलवी आलिम फाजिल

भारतीय इतिहास मे अपने गुणों तथा कार्यों के कारण महाराज विक्रमादित्य ने जो अक्षय कीर्ति प्राप्त की है उससे अनेक भाषाओं मे उनका नाम किसी न किसी रूप मे अवश्य पाया जाता है। अरबी मे 'किताबुलहिन्द' नाम का एक महान् ग्रन्थ है। उसकी रचना सन् १०३० ई० अथवा इस सन् के कुछ ही काल बाद हुई है। लेखक एक मुसलमान है जो प्रायः अलबेरूनी के नाम से विख्यात है। इस जगत्-विख्यात लेखक के उक्त ग्रन्थ मे सब से पहले महाराज विक्रमादित्यजी का नाम उनके काल के एक रसायनिक (वैज्ञानिक) के सम्बन्ध मे इस प्रकार पाया जाता है :—

"राजा विक्रमादित्य, जिसके संवत् के विषय मे हम आगे उल्लेख करेगे, के समय मे उज्जैन नगर मे व्याडि नामक एक व्यक्ति था जिसने अपना सम्पूर्ण ध्यान इस (रसायन) विज्ञान की ओर दिया था और अपना जीवन व धन दोनों को इसके निमित्त नष्ट कर दिया, किन्तु उसके उत्साह के कारण उसको इतना भी लाभ न हुआ था कि साधारण स्थितियो में भी उसे सुगमता के साथ सहायता होती। वह बहुत दुखी हो गया था इस कारण उसे अपने उस उद्यम से बहुत घृणा हो गई जिसके निमित्त उसने कठिन परिश्रम किया था। निदान शोकातुर व निराश होकर वह एक नदी के तट पर बैठ गया। अपने हाथ मे अपने उस रसायन-ग्रन्थ को लिया जिसमे से वह औषधियो के लिये योग तैयार किया करता था और उस ग्रन्थ मे से एक-एक पन्ने को निकाल जल मे प्रवाह करना आरम्भ किया। दैवयोग से उसी नदी के तट पर बहाव की ओर कुछ दूरी पर एक वेश्या बैठी थी। उसने बहते हुये पन्नों को एकत्र किया और रसायन-विषयक कुछ पन्नो को एक साथ कर दिया।

व्याडि जब समस्त पुस्तक को फेक चुका, उसके पश्चात् व्याडि की दृष्टि उस वेश्या पर पड़ी। इसके पश्चात् वह वेश्या व्याडि के समीप आई और पूछा कि आपने अपनी पुस्तक के साथ क्यो ऐसा व्यवहार किया? व्याडि ने उत्तर दिया कि पुस्तक से कुछ लाभ नही हुआ, इस कारण मैंने ऐसा किया। मुझे जो कुछ लाभ इससे होना चाहिए वह नही हुआ और इसी के निमित्त मै धनहीन हो गया। मेरे पास बहुत सम्पत्ति थी किन्तु अब मैं बहुत दुखी अवस्था मे हूँ और मै बहुत काल तक आशा लगाये हुए था कि इसके कारण मैं सुखी हूँगा। वेश्या बोली—"जिस कार्य के निमित्त आपने अपना जीवन

अरबी फारसी में विक्रमादित्य

लगाया ह, जिस बात को ऋषियो ने सच्चा करके दिखलाया है उसके होने की सम्भावना से निराश न बने। आपकी इष्टसिद्धि म जो रुकावट ह वह सम्भवत केवल किसी प्राकृतिक घटना के कारण ह, वह सम्भवत किसी घटना से दूर हो जायगी। मेरे पास बहुतसा ठोस धन ह। वह सब धन आपका है। सम्भवत उस धन से आप अपने मनोरथ की सिद्धि में सफलीभूत होगे।" ऐसा होने पर व्याडि ने अपना काय फिर आरम्भ किया।

रसायन विषयक ग्रन्थ पहेलिया के ढग पर रचे गये ह। इस कारण व्याडि को एक शब्द के समझने मे धोखा हुआ था। औषधि के योग में जो शब्द था उसका अथ है 'तेल' और 'मनुष्य का रक्त' और दोना की आवश्यकता औषधि मे थी। वास्तव में 'रक्तामल' लिखा हुआ था और उसका अथ लाल आमलक लिया गया था। जब वह औषधि को प्रयोग म लाता था तो किसी दशा म भी उससे लाभ न होता था। एक बार उसने विविध औषधियो को आग पर ठीक करना आरम्भ किया और आग की लपट उसके सिर को छू गई। उसका भेजा सूख गया। उसने सर पर बहुतसा तेल लगाया व डाला। वह भट्टी पर से कहीं जाने के लिए उठा। जहा भट्टी थी उसकी छत में लोहे का एक कीला निकला हुआ था। वह उसके सिर में लगा और रक्त बहने लगा। उसको दद हुआ तो वह नीचे की ओर देखने लगा। ऐसी दशा में उसकी खोपडी के ऊपर से तेल मिले हुए रक्त की कुछ बूदें औषधि मे पड गइ और उसको कुछ पता न लगा। तत्पश्चात जब औषधि की तयारी का काय समाप्त हो गया, तो उसने और उसकी स्त्री ने औषधि को परखने के लिए अपने शरीर पर मला तो दोना हवा में उडे।

इस बात को जानकर विक्रमादित्य अपने राज भवन से निकले और उनको अपनी आखो से देखने के निमित्त बाहर आये। इसपर उस पुरुष ने चिल्लाकर कहा—'अपना मुह मेरे थूक के लिये खोलिए'। किन्तु एक घृणित बात होने के कारण राजा ने ऐसा नही किया और थूक कपाट के पास गिरा, डेवढी तुरन्त सोने की हो गई।

व्याडि और उसकी स्त्री जहा चाहते थे उडकर चले जाते थे। उसने इस विज्ञान के विषय में सुप्रसिद्ध पुस्तक लिखी ह। जनता का ख्याल ह कि स्त्री-पुरुष दोना जीवित है।"

महाराज विक्रमादित्य से सम्बन्ध रखनेवाली यह बात कही और अकित ह या नहीं—मैं इस विषय मे कुछ नही कह सकता। हाँ, अब यह अवश्य कह देना चाहता हूँ कि उक्त बात के सिवा अलबेरूनी ने अपने अमूल्य ग्रन्थ मे विक्रमीय सवत् पर भी आगे चलकर प्रकाश डाला ह जसाकि पिछली पक्तिया मे उल्लेख हो चुका है।

फारसी के तो अनेक ग्रन्था मे महाराज विक्रमादित्य की चचा ह। अकबरी हाल विषयक ग्रन्था— 'आईन अकबरी' व 'मुन्तखबुत्तवारीख' में विशेषकर विक्रमीय सवत् सम्बन्धी बात है, किन्तु अकबरी-काल के थोडे ही काल बाद सन् १६०६ या १६०७ ई० की रचना 'तारीख फरिश्त नामी ग्रन्थ ह उसम जो कुछ मिलता है उसका सार आगे दिया जा रहा है।

"विक्रमाजीत जाति का पवार था, उसका स्वभाव बहुत अच्छा था। इसके विषय मे जो कहानिया हिन्दुओ में प्रचलित ह उनसे स्पष्ट होता ह कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या था। युवा अवस्था म यह राजा बहुत समय तक साधुओ के भेष मे घूमता रहा और उसने बडा तपस्वी जीवन व्यतीत किया। पचास वर्षों की वय हुई तो ईश्वरीय महिमा से उसने सनिक-जीवन की ओर ध्यान दिया। ईश्वर की ओर से यह बात निश्चित थी कि यह साधु एक महा प्रतापी राजा हो और मनुष्यो को अत्याचारियो के पजे से छुडाये, इस कारण दिन प्रति दिन उसके काय में उन्नति ही होती गई। थोडे ही काल में नहरवाला और मालवा दोना देश उसके अधिकार में आगये। राज-काय को हाथ में लेते ही उसने न्याय को ससार म ऐसा फलाया कि अन्याय का चिह्न बाकी न रहा और साथ ही साथ उदारता भी अनेक कार्यों में दिखलाई।"

हिन्दुओ का विश्वास ह कि उस राजा का पद साधारण सासारिक मनुष्यो से कही उच्च था। जो बात उसके हृदय में उत्पन्न होती थी वह साफ साफ प्रगट हो जाती थी। रात्रि में जो घटनाएँ उसके राज्य में होती थी वह प्रात काल उसको स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती थी।

श्री महेशप्रसाद, मौलवी आलिम फाजिल

यद्यपि वह राजा था तथापि समस्त मनुष्यो के साथ वहुत प्रेम का व्यवहार करता था। उसके निवास-स्थान में मिट्टी के एक प्याले और बोरिये (चटाई) के सिवा और कुछ न था। उसने अपने काल में उज्जैन बसाया और धार मे दुर्ग बनाकर उसको अपना निवास-स्थान वनाया। उज्जैन मे महाकाल नामक देवालय उसी ने बनवाया और ब्राह्मणो व साधुओं के निमित्त वृत्तियाँ नियुक्त की ताकि वह लोग वहाँ पूजा-पाठ करते रहे।

वह अपने समय का अधिक भाग लोगों का हाल जानने और ईश्वर की उपासना में व्यतीत करता था। इसके निमित्त भारतवासियों के हृदयो मे बडा स्थान है और इसके सम्बन्ध मे नाना प्रकार की कथाएँ बतलाते है। वर्ष और महीनों की तारीख का श्रीगणेश इसी राजा के मृत्यु-दिन और महीने से होता है और इस पुस्तक के रचनाकाल तक हिजरी सन् का एक हजार पन्द्रहवाँ वर्ष है, विक्रमीय सवत् के आरम्भ को एक हजार छ सौ त्रेसठ वर्ष बीत चुके है।

ईरान का राजा उर्दशीर इसका समकालीन था। कुछ लोगो का मत है कि इसका और ईरान के राजा शापूर का काल एक ही था। इस राजा के अन्तिम दिनो मे शालिवाहन नाम के एक जमीदार ने इस पर आक्रमण किया। नर्मदा के तट पर दोनों ओर की सेनाओ का घोर युद्ध हुआ। अन्त मे शालिवाहन विजयी हुआ और विक्रमादित्य मारा गया। इस राजा (विक्रमादित्य) के समय से सम्वन्ध रखनेवाली वहुतसी दन्त-कथाएँ ऐसी है जो मानने योग्य नही। इस कारण उनको नही लिखा जा रहा है।

विक्रमादित्य के पश्चात् वहुत समय तक मालवा की दशा अति शोचनीय रही। कोई उदार और न्यायी राजा न हुआ। किन्तु जव राजा भोज के हाथ मे यहाँ का राज्य आया तो यहाँ की दशा सुधरी।"

अन्त मे मै यह लिख देना चाहता हूँ कि मैने जो कुछ लिखा है केवल विषय की सूचनामात्र है। मेरा विश्वास है कि यदि विशेष उद्योग किया जाय तो इस प्रतापी राजा के विपय मे कुछ अन्य ग्रन्थो मे भी कुछ और बाते अवश्य मिलेगी।

सन् १७४२ ई० का काव्य-संग्रह *

इस्तम्वोल के प्रसिद्ध राजकीय-पुस्तकालय 'मकतव-ए-सुलतानिया' जिसे वर्तमान मे 'मकतव-ए-जमहूरिया' कहते है, वह तुर्की ही नही, पूर्वीय-समस्त देशो मे सवसे वडा और विशाल है। पुस्तकालय के अरवी विभाग मे १७४२ ई० का लिखा हुआ काव्यसग्रह देखने को मिला, जो तुर्की के प्रसिद्ध राजा सुलतान सलीम ने अत्यन्त यत्नपूर्वक किसी प्राचीन प्रति के आधार पर लिखवाया था। यह हरीर (एक प्रकार का रेशमी कपडा जो ऐसे कामों के लिये ही बनाया जाता था) पर लिखा है, और अत्यन्त सुन्दर सुनहरे बेल-बूटेदार काम से सजा हुआ है। यह सग्रह तीन भागो मे है। प्रथम भाग मे अरव के आदि कवियो का—अर्थात् इस्लाम से पहिले के कवियो का जीवन, और उनके काव्यों का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। दूसरे भाग मे मुहम्मद साहव के प्रारम्भिक-काल से लेकर बनी-उम्मय्या-कुल के अन्त तक के कवियो का वर्णन है। और तीसरे भाग मे बनी अव्बास कुल के आरम्भ से प्रसिद्ध राजा खलीफा हारूँ-रशीद के दरवारी कवियो अर्थात् लेखक ने अपने समय तक के कवियो का वर्णन कर दिया है। पुस्तक का नाम 'सेअरुल ओकूल' है। इसका सग्रहकर्ता अरवी-काव्य का कालिदास अबू-आमिर अब्दुल-असमई है, जो इस्लाम के प्रसिद्ध राजा खलीफा हारूँरशीद का दरवारी कवि था। इस संग्रह-पुस्तक का प्रथम सस्करण सन् १८६४ ई० मे वर्लिन से प्रकाशित हुआ था, और दूसरा सन् १९३२ ई० मे वेरूत (फिलिस्तीन) से प्रकाशित हुआ है। इसे अरवी काव्य का वहुत प्रामाणिक और पुरातन संग्रह माना जाता है।

इस पुस्तक की भूमिका मे प्राचीन-अरव की सामाजिक अवस्था, मेल-जोल, खेल-तमाशो के सम्वन्ध मे भी काफी प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त मुख्य रूप से प्राचीन-कालीन अरवो के प्रधान तीर्थ मक्का का भी वहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। यहाँ लगनेवाले वार्षिक मेले-जिसको 'ओकाज' कहा जाता था, जिसमे कि अरवो के धार्मिक, राजनीतिक,

* देखिए 'विक्रम' के 'दीपोत्सवी अंक' संवत् २००१ में श्री ईशदत्त शास्त्री का लेख। सं०।

अरबी-फारसी में विक्रमादित्य

साहित्यिक, सामाजिक आदि हर विषयो पर विवाद किया जाता था और उसके प्रदत्त निर्णय को समस्त अरब शिरसा-वन्द्य मानते थे, उसका वर्णन भी विस्तृतरूपेण किया गया है। इस मेले में विशाल कवि-सम्मेलन हुआ करता था, जिसमें अरब के प्रमुख सभी कवि भाग लेते थे। ये कविताएँ पुरस्कृत होती थीं। सर्व प्रथम कवि की कविता को सोने के पतरे पर अंकित कर मक्का के प्रसिद्ध मंदिर के अन्दर लटकवा दिया जाता था। और अन्य श्रेणी की कविताएँ ऊँट की झिल्ली, या भेड़-बकरी के चमड़े पर लिखकर मंदिर के बाह्य भाग में टँगवा दी जाती थीं। इस प्रकार अरबी-साहित्य का अमूल्य साहित्य-धन हजारों वर्षों से मंदिर में एकत्रित होता चला आता था। पता नहीं यह प्रथा कब से प्रारम्भ हुई थी, परन्तु हजरत मुहम्मद साहब के जन्म से २३ २४ सौ वर्ष पुरानी कविताएँ उक्त मंदिर में प्रस्तुत थीं। किन्तु मक्का पर इस्लामी सेना के अधिकारावसर पर ये सब नष्ट-भ्रष्ट कर दी गई थीं। परन्तु जिस समय यह सैन्य मक्का पर आक्रमण कर रही थी-उसके साथ हजरत मुहम्मद के दरबार का कवि—हस्सान बिनसाबिक भी था। जिसने कुछ रचनाएँ अपने पास उस समय सुरक्षित करली थीं। इसकी तीसरी पीढ़ी के समय हारूँरशीद जैसे साहित्यिक खलीफा का काल था। लाभ की आशा से यह पतरे लेकर वह कवि-वंशज मदीने से बगदाद जाकर लेखक—अबू-आमिर अब्दुल्ल असमई से मिला। उसे प्रयत्न स्वरूप हजारों पाउण्ड इसका पारितोषिक दिया गया। इनमें पाँच सोने के पत्र थे, और १६ चमड़े के। इन पाँच पत्रों पर दो अरब के आदि कवि लवी बेने, और अखतब बिनतुर्फा के काव्य अंकित थे।

इन पत्रों से प्रेरित होकर खलीफा ने लेखक अबू-आमिर को एक ऐसा ग्रंथ लिखने की आज्ञा दी जिसमें अरब के तमाम कवियों के जीवन, और काव्य-कला का वर्णन हो। इस प्रकार जो संग्रह प्रस्तुत किया गया था, उससे एक कविता पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ हम उद्धृत करते हैं।

हजरत मुहम्मद से एक सौ पैंसठ वर्ष पूर्व जहम बिनतोई नामक एक कवि हो गया है। जो निरन्तर 'ओकाज' के कवि सम्मेलन में तीन वर्ष तक सर्व प्रथम आता रहा है। इसकी तीनों उक्त कविताएँ सोने के पत्रों पर अंकित होकर मंदिर में लटकाई गई थीं। इससे यह स्पष्ट है कि वह बहुत प्रतिभा-सम्पन्न था। उसकी कविता का उदाहरण यह है —

> इत्रश्शफाई सनतुल बिकरमतुन, फहलमिन करीमुन यतफीहा वयोवस्सरू।
> बिहिल्लाहायसमीमिन एलो मोतकब्बेनरन, बिहिल्लाहा यूही क्द मिन होवा यफखरू।
> फज्जल-आसारि नहनो ओसारिम बेजेहलीन, युरीदुन बिआबिन कजनबिनयखतरु।
> यह सबदुन्या कनातेफ नातेफी बिजेहलीन, अतदरी बिलला मसीरतुन फकेफ तसबहू।
> कऊन्नी एजा माजकरलहदा वलहदा, अशमीमान, बुरुकन कद् तोलुहो वतस्तरू।
> बिहिल्लाहा यकजी बनना बले कुल्ले अमरेना, फहेया जाऊना बिल अमरे बिकरमतुन॥ (सेअरुल-ओकूल पृष्ठ ३१५)

अर्थात्—वे लोग धन्य हैं जो राजा विक्रम के राज्य काल में उत्पन्न हुए, जो बड़ा दानी, धर्मात्मा, और प्रजा पालक था। परन्तु ऐसे समय हमारा अरब ईश्वर को भूल कर भोग विलास में लिप्त था। छल-कपट को ही लोगों ने सब से बड़ा गुण मान रखा था। हमारे तमाम देश (अरब) में अविद्या ने अन्धकार फैला रखा था। जैसे बकरी का बच्चा भेड़िये के पंजे में फँसकर छटपटाता है, छूट नहीं सकता, ऐसे ही हमारी जाति मूर्खता के पंजे में फँसी हुई थी। संसार के व्यवहार को अविद्या के कारण हम भूल चुके थे, सारे देश में अमावस्या की रात्रि की तरह अन्धकार फैला हुआ था, परन्तु अब जो विद्या का प्रात कालीन सुखदाई प्रकाश दिखाई देता है, वह कैसे हुआ यह उसी धर्मात्मा राजा विक्रम की कृपा है। जिसने हम विदेशियों को भी अपनी दयादृष्टि से वंचित नहीं किया, और पवित्र धर्म का सन्देश देकर अपनी जाति के विद्वानों को यहाँ भेजा, जो हमारे देश में सूर्य की तरह चमकते थे। जिन महापुरुषों की कृपा से हमने भुलाए हुए ईश्वर और उसके पवित्र ज्ञान को जाना, और सत्पथ-गामी हुए, वे लोग राजा विक्रम की आज्ञा से हमारे देश में विद्या और धर्म के प्रचार के लिए आए थे।
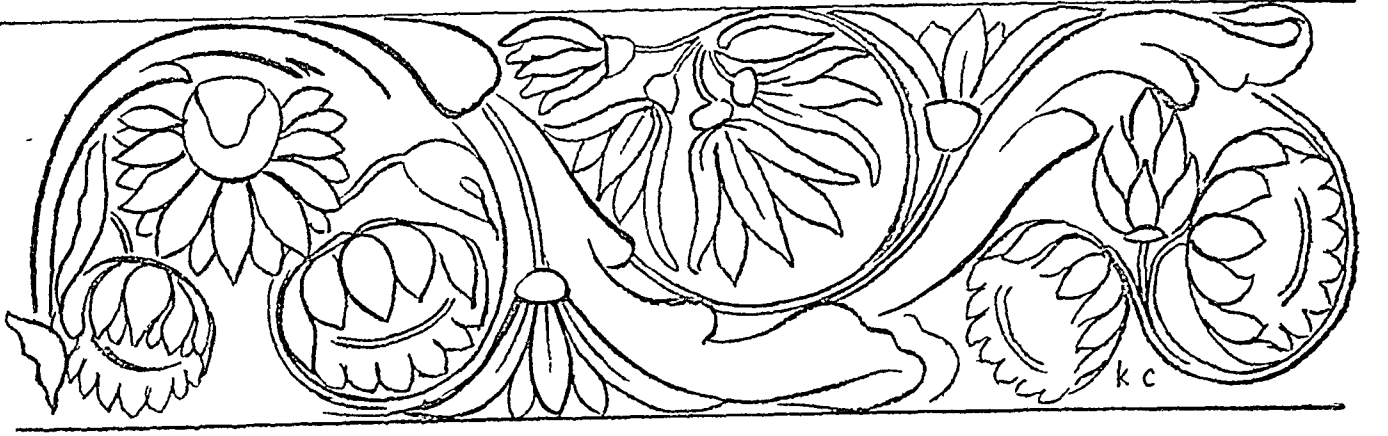
इतिहास एवं अनुश्रुति में विक्रमादित्य

श्री डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार एम्० ए०, पी-एच० डी०

शिलालेख एवं मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्य से ईसा की चतुर्थ शताब्दी से पूर्व विक्रमादित्य नाम के किसी भारतीय सम्राट् का अस्तित्व प्रमाणित नही होता। वास्तव मे उस शताब्दी से पूर्व 'आदित्य' शब्दान्त उपाधियों के प्रचलित होने का कोई प्रमाण प्राप्त नही है। पुराणो के भविष्यानुकीर्तन खण्ड ऐतिहासिक वर्णन को चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ तक ले आते हैं; उनमे विक्रमादित्य का उल्लेख प्राप्त न होना इस सम्बन्ध मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि वह महान् सम्राट् वास्तव मे उनके समय से पूर्व हुआ होता तो अपेक्षाकृत अपरकालीन पुराणकर्ता विक्रमादित्य जैसे दैदीप्यमान व्यक्तित्व की अवगणना सरलता से न कर सकते। जो हो, ५८ ई० पू० से प्रारम्भ होने वाला एक संवत् अवश्य है, जो विक्रम-सवत् कहलाता है और पीछे की अनुश्रुति उसे उज्जयिनी सम्राट् विक्रमादित्य द्वारा प्रवर्तित मानती है। परन्तु ईसवी संवत् की प्रारंभिक शताब्दियों मे विक्रम-संवत् के वर्ष 'कृत' कहलाते थे और कुछ काल पश्चात् मालवगणतन्त्र से उनका निकट सम्बन्ध होने का उल्लेख है। आठवी तथा नवी शताब्दियो में ही इस सवत् का सम्बन्ध विक्रमादित्य के नाम के साथ स्थापित किया गया। एक सम्भावना यह भी है कि यह संवत् प्राचीन सिथोपार्थियन काल-गणना हो, जिसे राजपूताना और मालवा मे मालव जाति अपने जन्म-स्थान पंजाब के झग जिले के आसपास से ले गई हो। विक्रम-संवत् के प्रवर्त्तक विक्रमादित्य नामक सम्राट् तथा सातवाहन वंश के गौतमीपुत्र शातकर्णि को एक मानने का सिद्धान्त हास्यास्पद है; क्योंकि यह गौतमीपुत्र ईसवी दूसरी शताब्दी के पूर्वार्ध मे राज्य करता था और किसी भी साधन से उसे ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी मे नहीं रखा जा सकता। अनुश्रुति से यह संकेत मिलता है कि गोदावरी-तट पर स्थित प्रतिष्ठान इस राजा की राजधानी थी, जिसके सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस के राजा विक्रमादित्य की स्वीकृत राजधानी उज्जयिनी तथा पाटलिपुत्र से सम्बद्ध होने की सूचना कही प्राप्त नही होती। गौतमीपुत्र ने कभी किसी संवत् का प्रवर्त्तन नही किया; अर्थात् उसके उत्तराधिकारियो द्वारा उसके राज्य-वर्षों की परम्परा का विस्तार नही किया गया। इसके अतिरिक्त कही भी उसे विक्रमादित्य अभिहित नहीं किया गया और उसका विशेषण 'वरवारण-विक्रम-चारु-विक्रम' उपर्युक्त उपाधि से नितान्त असम्बद्ध है। 'हाल'

इतिहास एव अनुश्रुति मे विक्रमादित्य

की सत्तसई में हुए विक्रमादित्य के उल्लेख से कुछ भी सिद्ध नही होता, कारण कि इसकी सम्पूण गाथाओ का रचनाकाल ईसवी सन् की पाचवी शताब्दी से पूव स्वीकार नही किया जा सकता।

प्राचीनतम ऐतिहासिक विक्रमादित्य, मगध का चक्रवर्ती, गुप्त राजवश में उत्पन्न, चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७६-४१४ ई०) था। उनके पिता दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त भी पराक्रमाक और 'श्री विक्रम' विरुद से विश्रुत थे। पूव में बगाल से पश्चिम म काठियावाड तक विस्तृत उत्तरी भारत की समस्त भूमि पर चन्द्रगुप्त द्वितीय शासन करता था। इसी ने पश्चिमी भारत के शक राजाओ का उन्मूलन किया और इसी सम्राट् का उल्लेख उज्जयिनी पुरवराधीश्वर तथा पाटलिपुरवराधीश्वर इन दोनो रूपो म धारवाड जिले म गुत्तल के गुत्तओ (गुप्तो) क शिलालेखो पर अकित अनुश्रुतियो में ह। मालवा, काठियावाड तथा राजपूताना से शको का उच्छेदन हो चुकने पर उज्जयिनी प्रत्यक्षत गुप्तवश के सम्राटो की अप्रधान राजधानी सी हो गई। चन्द्रगुप्त द्वितीय विदेशियो का मूलोच्छेदक एव आर्यावत के विस्तीण साम्राज्य का शासक ही नहा था, वरन् उसके सम्बन्ध में यह भी विश्रुत ह कि उसने नागो के शक्तिशाली राजवश के साथ तथा बरार के वाकाटको के साथ और सभवत कनड के कदम्बो के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करके दक्षिण के पर्याप्त भाग पर अपने राजनतिक प्रभाव का विस्तार किया था। वैष्णव धम के भागवतस्वरूप की एव परमभागवत उपाधि की, जिसका प्रयुक्त होना ईसवी पाँचवी शताब्दी से प्रारम्भ हुआ, लोकप्रियता का मूल निस्सन्देह वही था। वह विद्या का महान् सरक्षक भी था। यह प्रसिद्ध ह कि पाटलिपुत्र के शाववीरसन जसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि पश्चिम भारत की विजय-यात्राओ म उसके साथ गये थे।

भारतवष के अत्यन्त विस्तीण भूभाग पर आधिपत्य, विदेशियो का उन्मूलन, साहित्य का सरक्षण तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के अन्य अनेक सम्भाव्य उत्कृष्ट गुणो ने लोक की कल्पना पर अधिकार किया और उसके नाम को इस छोर से उस छोर तक सम्पूण भारतवष में लोकप्रिय बना दिया। उसके नाम तथा कार्यों को केन्द्र बनाकर प्रत्यक्षत उसके जीवनकाल म ही आख्यायिकाओ का प्रादुर्भाव होने लगा एव उसकी मृत्यु के पश्चात् भी अधिक काल तक उनम असदिग्ध रूप से वृद्धि ही होती रही। इस प्रकार सम्भव तथा असम्भव कथाएँ प्रचुर सख्या म उसके जीवन से सम्बद्ध करदी गई। ससार के सभी भागो म बहुधा ऐतिहासिक व्यक्तियो के प्रिय नामो से सम्बद्ध आख्यायिकाओ का प्रादुभाव हुआ ह और भारतवष का सम्राट् विक्रमादित्य भी भारतवासियो द्वारा प्रधानत उसकी प्रिय स्मृति के प्रति सदव अनुभव किए गए हार्दिक सम्मान स उत्पन्न विस्तृत आख्यायिकाओ के प्रभा-मडल से आलोकित ह। साधारण लोकमत प्राचीन काल क सम्राट् विक्रमादित्य को सभी शासकोचित गुणो स युक्त मानता ह और उसके चरित्र म वह किसी भी सुन्दर, महान् एव उदार तत्त्व की स्थिति को स्वीकृत करता है। एक लोकप्रिय कपोलकल्पना द्वारा उसका नाम कृत अथवा मालवगण-सवत् नाम से विश्रुत प्राचीन सियोपार्थियन गणना के साथ सम्बद्ध कर दिया जाने के परिणामस्वरूप उसकी स्थिति ईसवी पूव प्रथम शताब्दी म कही जाती ह। वह समस्त भारतवष पर शासन करनेवाले सम्राट् के रूप म माना गया ह। कहा जाता ह कि नवरत्न अथवा तत्कालीन भारतीय कला, साहित्य एव विज्ञान के प्रतिनिधि नौ महान् साहित्यिक व्यक्तियो को सम्राट् विक्रमादित्य का सरक्षण प्राप्त था। यह भी विश्वास किया जाता ह कि महाराज विक्रमादित्य दुष्टो को दण्ड देने तथा गुणीजनो को पुरस्कृत करने में कभी न चूकते थे। असदिग्ध रूप से कुछ आख्यायिकाओ का आधार, भले ही वह आशिक हो, ऐतिहासिक तथ्यो पर ह किन्तु यह भी निश्चित ह कि उनम से अनेक काल्पनिक तथा अनतिहासिक ह। अशोकावदान म लिपिबद्ध प्रचलित अनुश्रुतियाँ मौयवशी अशोक के जीवन के सम्बन्ध म सदा प्रामाणिक नहीं मानी जाती। गाहडवाल जयचन्द्र तथा चन्देल परमार्दिदेव के साथ दहली, अजमेर तथा साँभर के राजा पृथ्वीराज ततीय के सम्बन्धो के विषय म पृथ्वीराज रासो तथा आल्हखण्ड म उपन्यस्त प्रचलित अनुश्रुतियो में अधिकाश चौहान, गाहडवाल तथा चन्देल राजवशो के समकालीन अधिक विश्वस्त लेखो के प्रमाणो स असमर्थित होने के साथ-साथ निश्चित रूप से उनके प्रतिकूल भी ह। अत भारतीय आख्यायिकाओ के विक्रमादित्य से सम्बद्ध सभी अनुश्रुतियो पर, विशेषत यह देखते हुए कि उनम से कुछ की पुष्टि विश्वसनीय प्रमाणो से नही होती तथा शेष सवविदित ऐतिहासिक सत्यो के स्पष्टत विरुद्ध है, असदिग्ध रूप से विश्वास करना अनुचित ह। उदाहरणाथ, वराहमिहिर विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नो में से एक उज्ज्वल रत्न था, ज्योतिर्विदाभरण की यह

श्री डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार

अनुश्रुति निस्सन्देह अवास्तविक है, क्योंकि इसी सुविश्रुत ज्योतिर्विद् के स्वयं के लेखों और उसकी टीका से इसकी मृत्यु ५८७ ई० में होना, ४७६ ई० मे जन्म और आर्यभट्ट का इसका पूर्ववर्ती होना असंदिग्ध रूप से प्रमाणित है। अतः न तो वह विक्रमादित्य के अनुश्रुति-सिद्ध काल ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में हुआ और न प्रथम ऐतिहासिक विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल ईसवी चतुर्थ-पंचम शताब्दी मे हुआ।

इतिहास का निर्णय कुछ भी क्यो न हो, अनुश्रुति के विक्रमादित्य--जिसकी स्मृति मे हम आज उत्सव मना रहे है--किसी प्रकार भी अस्तित्वहीन व्यक्ति-विषयक निरर्थक कल्पना नही हो सकती। वह भारतीय राजत्व का आदर्श है तथा हिन्दू-इतिहास के स्वर्ण-युग का महान् प्रतिनिधि है। वह भारतीय देशभक्तों के कल्पना-जगत् मे आज भी यशःशरीर से सर्वोपरि वर्तमान है। उसकी उपाधि अथवा भूमिका ग्रहण करनेवाले उसके पश्चात्वर्ती राजाओ तथा साम्राज्य-संस्थापकों द्वारा एवं विभिन्न युगो मे उसका उल्लेख करनेवाले अनेक लेखको द्वारा भी उसकी स्मृति को अमरत्व प्रदान कर दिया गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्तराधिकारी गुप्त विक्रमादित्यो, वादामी और कल्याणी के चालुक्यवशी विक्रमादित्यों, वाण राज-परिवार के विक्रमादित्यों, कलचुरि-वंश का गागेयदेव विक्रमादित्य तथा गुहिलोत विक्रमाजीत (विक्रमादित्य) इस यशःशालिनी उपाधि को धारण करनेवाले भारतीय राजाओं मे से कुछ है। राष्ट्रकूट गोविन्द चतुर्थ आदि कुछ मध्यकालीन राजा शौर्य अथवा अन्य राजोचित गुणो मे विक्रम से उच्चतर होने की घोषणा करते थे, तथा परमार सिन्धुराज प्रभृति अन्य राजा स्वयं को नवसाहसांक (नवीन-विक्रमादित्य) कहते थे। सिन्धुराज के पुत्र, सरस्वती के आलम्व भोज और विक्रमादित्य को एक माननेवाली अनुश्रुति भी निरर्थक नही है। मध्यकाल के पिछले भाग में दिल्ली के राजसिंहासन पर आधिपत्य जमाने वाले हेमू जैसे व्यक्ति द्वारा एवं वंगाल के अन्तर्गत जैसोर के प्रतापादित्य के पिता द्वारा विक्रमादित्य उपाधि धारण किया जाना सुविश्रुत है। मुगल सम्राट् अकवर का नौरतनों (नवरत्नों) को संरक्षण देकर प्राचीन भारत के सम्राट् विक्रमादित्य से प्रतिस्पर्धा करना भी प्रसिद्ध है। विक्रमादित्य का उल्लेख करनेवाले वहुसंख्यक लेखको मे से परमार्थ, सुवन्धु, ह्वेनत्संग, कथासरित्सागर तथा द्वात्रिंशत् पुत्तलिका के रचयिता, अलविरूनी, वामन एवं राजशेखर आदि अलकार-शास्त्र के आचार्य तथा काव्यशास्त्रकार, मेरुतुग आदि अनेक जैन ग्रंथकार, अमोघवर्ष के सजनदान पत्र तथा गोविन्द चतुर्थ के कैम्बे एवं सॉगलीदान पत्र सदृश लेखों के लेखकों आदि के नामों का हम उल्लेख कर सकते है। इस प्रकार इस महान् सम्राट् की स्मृति क्रमानुगत उत्तरकालो मे भारत के समस्त सत्पुत्रो के कृतज्ञतापूर्ण अनुस्मरण से सर्वधित होती रही।

विक्रमादित्य के प्रति प्रेम और आदर उन सयोजक तत्त्वो मे से है जो सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक विभिन्नताओ के कारण दुर्भाग्यवश विभाजित हुए भारतवर्ष के विभिन्न भाषाभाषी दलो को एक सूत्र मे आवद्ध करेंगे। अव विशेषत. वर्तमान लौह-युग के असंख्य उत्पीड़नो से उत्पन्न हमारी वेदना मे अपने पुण्य नाम द्वारा शान्ति प्रदान करने-वाले महान् विक्रम की स्वर्ण-पताका के नीचे पारस्परिक सहयोग की भावना के साथ हमे आ जाना चाहिये।

अन्त मे हम हृदय से वासवदत्ता के रचयिता सुवन्धु की शोकवाणी को अनुनादित करते हैं :—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसंति चरति नो कंकः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

दीन दुखियो के सुहृद्, भारतीय संस्कृति एवं धर्म के संरक्षक, विद्या के अवलम्व, विदेशियों के उन्मूलक, महान् विक्रमादित्य के लिए आज पुनः हमारा सामूहिक क्रन्दन स्फुटित होता है :—

"विक्रम ! भारत तेरे विना दैन्य का अनुभव करता है, कही तू आज हमारे वीच होता ! "

---

* गीत *

श्री गोपालशरणसिंह

दो सहस्र वर्षों का जीवन !

विक्रम के विक्रम की स्मृतियाँ।
कालिदास की अनुपम कृतियाँ।
भारत की अगणित संस्कृतियाँ।
इन सबका निज हृदय पटल पर
है कर चुका यथाविधि अंकन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

कितने ही सुख-दुख की बातें।
मधु के दिवस शिशिर की रातें।
प्रमुदित शरद व्यथित बरसातें।
निज स्मृतियों के मञ्जु-द्वार में
गूँथ चुका है प्रेम निकेतन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

अद्भुत नियति-नटी का नर्तन।
अविरत ज्ञान जलधि का मन्थन।
जग के कितने ही आन्दोलन।
देख चुका है निज नयनों से
अगणित उथल पुथल परिवर्तन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

देख चुका अतुलित समृद्धियाँ।
स्वर्ण रजत से ज्योतित निधियाँ।
बिछी भूमि में रत्नावलियाँ।
अपने सबल बाहुदण्डों से
तोड़ चुका कितने ही बन्धन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

कितने ही संकट भी आये।
रहे घोर घन नभ में छाये।
किन्तु काल-गति रोक न पाये।
है कर चुका न जाने कितनी
विपदाओं का मान विमर्दन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

आर्य-सभ्यता का हेमाचल।
बहु आदर्शों का क्रीडास्थल।
विविध मतों का सदन समुज्ज्वल।
अगणित नर-नारी का सम्बल
है असंख्य हृदयों का स्पन्दन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

ढूँढ़ रही हैं तरुण पीढ़ियाँ।
आत्मोन्नति की नई सीढ़ियाँ।
टूट रही हैं शिथिल रूढ़ियाँ।
करता है स्वागत नवयुग का
नई भावना का अभिनन्दन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

वैक्रम-अनुश्रुति

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

भारतीय कल्पना को अत्यधिक स्पर्श करने का सौभाग्य जितना विक्रमादित्य को प्राप्त है उतना केवल कतिपय महापुरुषो को ही प्राप्त हो सका है। सुभाषितो मे, धार्मिक ग्रन्थो मे, कथा-साहित्य मे एवं लोक-कथाओ मे विक्रम-चरित्र ओतप्रोत है। भावुक एवं वीरपूजक भारतीय हृदयो मे शकों के अत्याचार एवं अनाचार से त्राण दिलानेवाले इस महान् वीर की मूर्ति सदा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप से स्थापित हो गई। यही कारण है कि विक्रमीय प्रथम शती से लेकर आज तक विक्रमादित्य विपयक साहित्य की वृद्धि ही होती गई है। सस्कृत से लेकर प्राकृत, अपभ्रंश और वर्तमान प्रान्तीय भापाओ मे विक्रम चरित्र सम्बन्धी सैकडों ही ग्रन्थ भरे पडे है।

इस लेख मे हम अत्यन्त सक्षेप में विक्रमीय साहित्य की विशाल राशि मे से केवल कुछ को ही प्रस्तुत करना चाहते है। इनके देखने से यह तो ज्ञात होगा ही कि वहुत प्राचीन समय से ही लोक-मस्तिष्क मे विक्रमादित्य की क्या भावना रही है, ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस साहित्य का मूल्य वहुत अधिक है। इनका प्रत्येक विवरण भले ही इतिहास की कसौटी पर खरा न उतरे परन्तु इनका समन्वित रूप, साहित्य की विशिष्ट वर्णन-शैली को हटाकर ऐतिहासिक अन्वेषक के लिए भी महत्त्व-पूर्ण है। उसके द्वारा ज्ञात ऐतिहासिक सामग्री के ढाँचे मे रूप-रग भरा जा सकता है। अत: आगे क्रमश: एक एक विक्रम विपयक ग्रन्थ का ऐतिहासिक मूल्याकन कर उसमे निहित विक्रम विषयक उल्लेख देने का प्रयत्न करेगे। इस प्रकार तुलना एव परख से विक्रमादित्य की अनुश्रुति-सम्मत मूर्ति की धुधली रूप-रेखा प्रस्तुत हो सकेगी। इस आशय के लिए यहाँ केवल गाथासप्तशती, कालकाचार्य-कथा, कथासरित्सागर, वेतालपच्चीसी, सिंहासन-बत्तीसी, राजतरगिणी, प्रबन्ध चिन्तामणि ज्योतिर्विदाभरण तथा भविष्य-पुराण को ही लिया गया है, क्योकि विक्रम-विपयक सम्पूर्ण साहित्य का इस प्रकार विवेचन करना तो एक महान् ग्रन्थ का विपय है तथा वहुत ही कष्ट-साध्य कार्य है—यद्यपि वह किए जाने योग्य अवश्य है। वैसे तो इन ग्रन्थो के विपय मे कालक्रम के अनुसार लिखना उचित होगा परन्तु उससे हमारे कथा-प्रवाह मे भग होगा। अत: आगे हम उनको उसी क्रम से लेगे जिससे कथा-प्रवाह बना रहे।

कालकाचार्य-कथा—कालकाचार्य नामक चार जैनाचार्य हो गए है। पहले श्यामार्य नाम कालकाचार्य, जिनका समय वीर-निर्वाण-संवत् ३३५ के लगभग है, दूसरे गर्दभिल्ल राजा से साध्वी सरस्वती को छुडानेवाले, जिनका अस्तित्व-

काल वीर-निर्वाण-सवत् ८५३ के आसपास ह तथा चौथे कालक का समय वीर-सवत् ९९३ ह।* इनमें से दूसरे आचाय कालक का सम्बन्ध विक्रमी घटना से ह।

कालकाचाय-कथा जो आज प्राप्त हाती ह उसम इन चारा की कथाएँ सम्मिलित कर दी गई ह, इनमें से हमारे लिए तो गदभिल्ल के राज्य का उन्मूलन करनेवाले कालकाचाय की कथा ही उपयोगी है। इस कथा में गदभिल्ल की शका द्वारा पराजय एव गदभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य द्वारा शका की पराजय का उल्लेख ह। मरुतुगाचाय रचित पट्टावली में पिछली घटना का समय वीर निर्वाण-सवत् ४७० (अर्थात् ५७ ई० पू० अथात् विक्रम-सवत की प्रारम्भ तिथि के ७ वष पूव) वतलाया ह। प्रबन्ध-कोष में भी सवत् प्रवत्तन की यही तिथि बतलाइ ह। धनेश्वर सूरि रचित शत्रुजय महात्म्य में विक्रमादित्य के प्रादुभाव का समय वीर-सवत ४६६ बतलाया ह। इस प्रकार सम्पूर्ण जन अनुश्रुति इस तिथि तथा घटना का समथन करती है। इधर पुराणा में भी गदभिल्ल्वश का राज्य-काल यही ईसवी पूव-प्रथम शताब्दी बतलाया गया ह।

सप्तगदभिला भूयो भोक्ष्यन्तीमा वसुन्धराम्।†
शतानि त्रीण्यशीतिश्च शका ह्यष्टादशव तु॥—मत्स्यपुराण

इस कथा म प्रधान घटना शका के मालव आक्रमण की ह। प्रश्न यह ह कि क्या कोई शक-आक्रमण प्रथम शती ईसवी म मालव पर हुआ था? इसका उत्तर 'खरोष्ट्री इन्सक्रिप्शन्स' की भूमिका म स्तीन कोना ने दिया ह। इसम इस विद्वान् ने भारतवष के बाहर तथा भारत म प्राप्त सामग्री के आधार पर शका का इतिहास प्रस्तुत किया ह। वह लिखता ह, 'भारतवर्ष के प्रथम शक-साम्राज्य के इतिहास का पुनर्निमाण इस प्रकार किया जा सकता ह ई० पू० ८८ म मिथ्राडेटस द्वितीय की मत्यु क थोड समय पश्चात् ही शीस्तान के शका ने अपने आपको पर्थिया से स्वतन्त्र कर लिया और उस विजय-यात्रा का प्रारम्भ कर दिया जिसने उन्ह सिन्धु-नद के देश तक पहुँचा दिया। बाद को ई० पू० ६० के लगभग शका ने अपना साम्राज्य उस प्रदेश तक बढ़ा लिया था जिसे कालकाचाय-कथानक म हिन्दुक देश कहा गया ह (सिन्धु-नद का निचला प्रदेश) और उसके पश्चात् वे काठियावाड और मालवे की ओर बढ़े, जहाँ उन्हाने सम्भवत अपना राष्ट्रीय सवत्सर चलाया। यहा सन् ५७-५६ ई० पू० म विक्रमादित्य ने उनका उन्मूलन किया और अपनी इस विजय के उपलक्ष म अपने सवत्सर का प्रवत्तन किया, जो हमें उसके प्राय ७० वष पश्चात् मथुरा में प्रयुक्त मिलता ह।‡

कालिकाचाय-कथा की एतिहासिकता का यह विद्वान् बडे उत्साह एव दृढ़ता के साथ समथन करता ह। वह लिखता है—"मुझे तो इसका थोडासा भी कारण नही दिखता कि अन्य लोगा के समान म इस कथा को असत्य मान लूँ।§" स्तीन कोना ही नहा रैप्सन ने कम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग १ पृष्ठ ५३२ पर इस कथा की घटनाओ के विश्वसनीय होने के विषय में लिखा ह। श्री नारमन ब्राउन भी अपने कालकाचार्य-कथानक की भूमिका में इसकी घटनाओ की ऐतिहासिकता को स्वीकार करते ह।

कालकाचाय-कथा के वतमान पाठा के विषय म श्री नारमन ब्राउन ने लिखा ह कि सभी ज्ञात पाठा का एक ही मूल स्रोत से प्रवाहित मान लेना असम्भव है। यह स्रोत न ता इन पाठा म से कोई एक है और न कोई अप्राप्त पाठ। सम्भव है कि कालक नाम के साथ बहुत समय तक बहुतसी जनश्रुतियाँ सम्बद्ध रही हो जो श्वताम्बर सम्प्रदाय म प्रचलित थी। यह जब मौखिक रूप म थी तब जन साधु इस विस्तृत अथवा सक्षिप्त रूप म अपने शब्दा म सुनाते रहे। और जब यह कथा लिपिबद्ध की गई तो वह इसी मौखिक स्रोत से लिखी गई।‖ आगे इस कालक-कथा के केवल सम्बद्ध भाग का सक्षिप्त रूप दिया जाता ह।

---

* द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रथ, पृष्ठ ९५ ९६।

† Pargiter, *The Purana Text of the Dynasties of the Kali Age* pp 45, 46 72,

‡ पृष्ठ ३६।

§ पृष्ठ २७।

‖ *The Story of Kalaka* Norman Brown, page 3

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

इस संसार के जम्बू द्वीप के भारत देश में धारावास नामक एक नगर था। उसमे वज्रसिंह नामक प्रतापी राजा रहता था। सुरसुन्दरी नामक उसकी रानी थी। इस रानी से कालक नामक उसके एक पुत्र हुआ। इस कालक की एक बार गुणाकर नामक (जैन) आचार्य से भेंट हुई। उनके उपदेश से यह बहुत अधिक प्रभावित हुआ और उनका शिष्य हो गया। कालक को विद्वान् एवं साधना मे सम्पन्न देख गुणाकर ने उसे सूरि पद दिया।

कालकाचार्य अपने शिष्यों सहित उज्जयिनी नगरी मे आए और वहाँ रहने लगे। उज्जयिनी नगरी मे गर्दभिल्ल नामक राजा राज्य करता था। उसने एक दिन अत्यन्त रूपवती कालक की छोटी बहिन साध्वी सरस्वती को देखा और उसके रूप पर मुग्ध होकर उसे अवरुद्ध करके अपने अन्तःपुर मे डाल दिया। कालक सूरि ने राजा को बहुत समझाया परन्तु कामान्ध राजा ने एक न मानी। सूरि ने जैन-संघ द्वारा भी राजा को समझवाया परन्तु राजा ने जैन संघ की बात भी न मानी। क्रुद्ध होकर कालक ने प्रतिज्ञा की कि यदि गर्दभिल्ल का उन्मूलन न करूँ तो प्रवंचक, संयमोपघातक और उनके उपेक्षकों की गति को प्राप्त होऊँ।

सूरि ने विचार किया कि गर्दभिल्ल का बल उसकी 'गर्दभी' विद्या है। अतः उसका उन्मूलन युक्ति से ही करना होगा। उन्होने उन्मत्त का वेष बना लिया। वे प्रलाप करने लगे "यदि गर्दभिल्ल राजा है तो क्या? यह अन्त पुर रम्य है तो क्या? यदि देश मनोहर है तो क्या? यदि लोग अच्छे वस्त्र पहिने है तो क्या? यदि मै भिक्षा माँगता हूँ तो क्या? यदि मैं शून्य देवल में सोता हूँ तो क्या?" इस प्रकार इनका हाल देखकर पुर के लोग कहने लगे 'हाय, राजा ने अच्छा नही किया।' राजा की यह निन्दा सुनकर मंत्रियों ने भी उसे साध्वी को छोड देने की सलाह दी, परन्तु राजा ने एक न मानी।

सूरि ने वह नगर छोड़ दिया और वह चलते-चलते शककुल नामक (सिन्धुनद के) कूल पर पहुँचे। वहाँ के सामन्त साहि कहलाते थे और उनका नरेन्द्र 'साहानुसाहि' कहलाता था। वहाँ एक 'साहि' के समीप सूरि रहने लगे, जिसे उन्होने अपने मंत्र-तंत्र से प्रसन्न कर लिया था।

जब सूरि साहि के साथ आनन्द से रह रहे थे उसी समय एक दूत आया जिसने साहि को साहानुसाहि की भेजी हुई एक कटारी दी और उसको यह सन्देश दिया कि उससे साहि अपना गला काटले। साहि को भयभीत देखकर कालक ने पूछा कि साहानुसाहि केवल उसी से अप्रसन्न है अथवा और किसी से भी। ज्ञात यह हुआ कि इसी प्रकार ९५ अन्य साहियो को आदेश दिया गया है। कालक की सलाह से यह ९६ साहि इकट्ठे हुए और उन्होने 'हिन्दुक देश' को प्रयाण किया।

वे समुद्र मार्ग से सुराष्ट्र (सूरत या सौराष्ट्र) आए। उस देश को ९६ भागों मे बाँटकर वे सब वहाँ राज्य करने लगे।

वर्षाऋतु बीतने पर कालकसूरि ने गर्दभिल्ल से बदला लेने के विचार से साहियो को उत्तेजित किया और कहा कि इस प्रकार निरुद्यम क्यो बैठे हो, उज्जयिनी नगरी को हस्तगत करो क्योकि वह 'वैभवशालिनी मालव भूमि की कुन्जी है।"

उन्होने कहा कि हम ऐसा करने को तैयार है परन्तु हमारे पास धन नही है। कालक सूरि ने ईटो के एक भट्टे को सोने का बना दिया। उसे लेकर साहियों ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। लाट देश के राजा ने भी उनका साथ दिया। दोनों ओर की सेनाओ मे भयंकर युद्ध हुआ। गर्दभिल्ल की सेना के पैर उखड़ गए। गर्दभिल्ल ने नगर के भीतर शरण ली। नगर घेर लिया गया।।

गर्दभिल्ल ने गर्दभी विद्या सिद्ध की। गर्दभिल्ल उसे प्रत्यक्ष करने लगा। प्रत्यक्ष होने पर वह बड़ा भयकर शब्द करती जिसे सुनकर शत्रु-सेना का कोई भी मनुष्य अथवा पशु भय-विह्वल होकर रुधिर वमन करता हुआ अचेत पृथ्वी पर गिर पड़ता। कालक सूरि यह रहस्य जानते थे। उन्होने सब सेना को पीछे हटा दिया और अपने साथ केवल १०८ तीरन्दाज रख लिए। उन्हे सूरि ने समझा दिया कि जैसे ही गर्दभी शब्द करने को मुहँ खोले वे तीर चलाकर उसका मुहँ भरदे। इस प्रकार गर्दभी विद्या निष्फल हुई, गर्दभिल्ल* हारकर पकडा गया और सूरि के सामने लाया गया। अपमानित गर्दभिल्ल निर्वासित कर दिया गया।

---

* अभी अनेक विद्वानों ने एक नवीन चर्चा प्रारम्भ की है। मालवे में सोनकछ के पास गन्धावल नामक स्थान है। वहाँ एक गन्धर्वसेन का मन्दिर खोज निकाला गया है। गन्धावल के विषय में यह भी लिखा है कि

जिस साहि के साथ कालक सूरि रह थे वह सब साहियों का मुखिया बना और वे उज्जयिनी में रहने लगे। वे शक-कुल से आए थे, अत शक कहलाते थे और इस प्रकार 'शक-वंश' चला।

कुछ समय बाद विक्रमादित्य हुआ जिसने शक-वंश का नाश किया और मालव का राजा बना। वह पृथ्वी पर एक ही वीर था, जिसने अपने विक्रम से अनेक नरेंद्रों को दबाया और अपने कार्यों से सुन्दर कीर्ति का सचय किया, जिसने अपने साहस से कुबेर की आराधना की और उनसे वरदान प्राप्त कर शत्रु तथा मित्र सभी को अगणित दान दिए, जिसने अपार धनराशि देकर सबको ऋण-मुक्त करके अपने सवत्सर का प्रवर्तन किया।*

कुछ समय पश्चात् एक शक राजा हुआ, जिसने विक्रमादित्य के वंशजों का भी उन्मूलन किया और विक्रम-सवत् के १३५ वर्ष पश्चात उसने अपना शक-सवत चलाया।

इस कथा के पढने पर तथा ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों से इसे मिलान पर यह स्पष्ट होता है कि इसमें बहुत कुछ उस समय का इतिहास सच्चे रूप में ही सन्निहित है। यह जैन सम्प्रदाय की धार्मिक कथा है, अत कालकाचार्य के व्यक्तित्व में अलौकिकता का जुड जाना तो सम्भव है परन्तु उसमें इतिहास की घटनाओं को बिगाडकर लिखने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दूसरे, जैन सम्प्रदाय में धार्मिक साहित्य को अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। अत भले ही यह कथा प्रारम्भ में मौखिक रूप में प्रचलित थी, फिर भी उसमें अधिक परिवर्तन की प्रवृत्ति न रही होगी। यद्यपि स्मृति-दोष तथा सक्षेप एव विस्तार की इच्छा ने अच्छा प्रभाव नहीं डाला होगा।

कथासरित्सागर—सोमदेवभट्ट-कृत कथासरित्सागर यद्यपि विक्रमी बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में लिखी गई है, परन्तु अनेक कारणों से उसका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक है। यह कथा गुणाढ्य रचित पैशाची प्राकृत में लिखी गई बृहत्कथा को आधार मानकर रची गई है। स्वय सोमदेव ने लिखा है 'बृहत्कथायाः सारस्य सग्रह रचयाम्यहम्।'

बृहत्कथा का लेखक गुणाढ्य सातवाहन हाल का समकालीन था। अत कथासरित्सागर विक्रमादित्य के प्राय एक शताब्दी पश्चात ही लिखे गए ग्रन्थ के आधार पर होने के कारण उसका विक्रमादित्य का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।

कथासरित्सागर में विक्रमादित्य का नाम चार स्थान पर आया है।

पहले तो छठे लम्बक का प्रथम तरग में उज्जैन के राजा विक्रमसिंह का उल्लेख है। इसमें केवल विक्रमसिंह की बुद्धि एव उदारता सम्बन्धी कथा है। राजा शिकार खेलने निकलता है उसने मार्ग के एक मन्दिर में दो आदमियों को बात करते पाया। लौटने पर फिर वे वहां मिले। उसे सन्देह हुआ। बुलाकर उसने उनका हाल पूछा। उनके सत्य कहने पर उसने उन्हें आश्रय दिया।

वहाँ जैनमतावलम्बियों का प्रभुत्व है। ऐसे स्थान पर जैन धर्म विरोधी गर्दभिल्ल का मन्दिर क्योंकर हो सकता है, यह सोचने की बात है। इसके विषय में एक विद्वान् ने यह अनुमान किया है कि गर्दभिल्ल का अपमान करने के लिए ही उसकी यह गर्दभमुखी प्रतिमा बनाई गई है। परन्तु अपमान करने के लिए मन्दिर बनाने की अभिनव कल्पना से हम सहमत नहीं हो सकते। फिर यह प्रतिमा अत्यन्त अर्वाचीन भी है। इसके लिए उक्त विद्वान (श्री० कवचाले) ने यह लिखा है कि यह किसी प्राचीन प्रतिमा की प्रतिकृति है। बात यह ज्ञात होती है कि यह वराह प्रतिमा है। मध्यकाल की वराहावतार की मूर्तियां अनेक ग्रामों में पाई जाती है। वराह-पूजन की प्रथा कम होने पर वराह मूर्तियों के नाम भी विभिन्न हो गए। एक ग्राम में हमने लोगों को उसे दाने की मूर्ति भी कहते सुना। ज्ञात यह होता है कि गन्धावल के जैनी उस वैष्णव सम्प्रदाय के मन्दिर को गन्धर्वसेन का मन्दिर कह उठे और वराह के मुख को गर्दभ के मुख की कल्पना कर उठे। यह भी कोई आश्चर्य नहीं कि यह फूहड रीति से गढी हुई मूर्ति वराह की शास्त्रोक्त मूर्तियों से भिन्न हो।

* अभी डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने कालक-कथा के विक्रमादित्य सम्बन्धी श्लोकों को प्रक्षिप्त अनुमानित किया है। परन्तु इस अनुश्रुति का प्रतिपादन अन्य सभी जैन ग्रन्थों द्वारा होता है अत उसे अकारण ही प्रक्षिप्त मानना उचित नहीं है।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

उसके पश्चात् लम्बक ७ की तरंग ४ मे पाटलिपुत्र के विक्रमादित्य का उल्लेख है। "विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके।" यह कथा भी उज्जयिनीपति विक्रमादित्य से सम्बन्धित न होकर पाटलिपुत्र-पुरवराधीश से सम्बन्धित है। यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है; क्योकि इससे ज्ञात होता है कि सोमदेव के सामने उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्य के अतिरिक्त भी एक विक्रमादित्य थे। यह पाटलिपुत्र के राजा विक्रमादित्य निश्चय ही ५७ ई० पू० के संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य से भिन्न थे।

आगे बारहवे लम्बक मे उज्जैन के विक्रम केशरी का उल्लेख है। उसमे प्रतिष्ठान देश के राजा विक्रमसेन के पुत्र त्रिविक्रम के साथ विक्रम कथा मे प्रसिद्ध वाचाल वेताल तथा उनके 'अपराजिता' नामक खड्ग को सम्बद्ध कर दियां है। इस बारहवे लम्बक मे प्रख्यात 'वेताल पंचविशतिका' सम्मिलित है। यह स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप मे एव विभिन्न पाठों मे मिली है। उसका वर्णन आगे किया गया है।

वास्तव मे जिसे विक्रमादित्य का विस्तृत उल्लेख कहा जा सकता है वह तो अठारहवे लम्बक मे है। (यही कथा क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथा-मजरी के दसवे लम्बक मे है) इस लम्बक मे पॉच तरग है। इनमे प्रधान पहली तरग है, जिसमे विक्रमादित्य का जन्म, गुण शील आदि का वर्णन किया गया है। उसका संक्षिप्त रूप नीचे दिया जाता है:—

अवन्ति देश मे विश्वकर्मा द्वारा बनाई हुई अत्यन्त प्राचीन नगरी उज्जयिनी है जो पुरारि शंकर का निवास-स्थान है।

वहॉ पर महेन्द्रादित्य* नामक राजा राज्य करता था जो अत्यन्त बली, शूर तथा सुन्दर था। उसकी सौम्यदर्शना नामक अत्यन्त रूपवती रानी थी और सुमति नामक मत्री था। उसके प्रतीहार का नाम वज्रायुध था। परन्तु उसके कोई सन्तान नही थी। पुत्र-प्राप्ति के लिए राजा अनेक व्रत, तप आदि कर रहा था।

उसी समय एक दिन जब शिवजी कैलाशपर्वत पर पार्वती सहित विश्राम कर रहे थे, उनके पास इन्द्र पहुँचे और निवेदन किया कि महीतल पर असुर म्लेच्छो के रूप मे अवतरित हो गए है। वे यज्ञादि क्रियाओ मे विघ्न डाल रहे है, मुनि कन्याओं का अपहरण कर लेते है और अन्य अनेक पापाचार करते है। षट्वकार आदि क्रिया न होने से देवो को हवि प्राप्त नही होता। इनके नाश का कोई उपाय बतलाइए।† भगवान् शकर ने कहा कि आप अपने स्थान को जायँ, मै इसका उपाय कर दूगा। उनके चले जाने पर भगवान् शकर ने माल्यवान् गण को बुलाकर कहा कि उज्जयिनी महानगरी के राजा महेन्द्रादित्य के घर मे तुम जन्म लो और देवताओ का कार्य करो। वहाँ यक्ष-राक्षस वेताल को अपने वश मे करके म्लेच्छों का उन्मूलन करो और मानवो के भोग भोगकर पुन. लौट आओ। माल्यवान्‡ ने उज्जयिनी में महेन्द्रादित्य की रानी के गर्भ मे प्रवेश किया।

भगवान् शकर ने महेन्द्रादित्य को स्वप्न मे दर्शन देकर कहा कि 'मै तुम पर प्रसन्न हूँ, तुम्हारे ऐसा पुत्र होगा जो द्वीपों सहित इस पृथ्वी पर विक्रमण करेगा, यक्ष-राक्षस-पिशाचादि को वश मे करेगा और म्लेच्छ सघ को विनष्ट करेगा। इस कारण उसका नाम 'विक्रमादित्य' होगा और रिपुओ से वैर रखने के कारण वह 'विषमशील' भी कहलायगा। प्रातःकाल जब राजा मन्त्रियो को यह स्वप्न सुना रहे थे उसी समय अन्त पुर की एक चेटी ने एक फल लाकर दिया और कहा कि रानी को स्वप्न मे यह फल मिला है। राजा को विश्वास हुआ कि उसे पुत्र प्राप्त होगा।

---

* यदि यह 'महेन्द्रादित्य' गुप्तवंशीय कुमारगुप्त को माने तो यह कथा 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' से सम्बन्धित मानी जायगी। कुमारगुप्त के सिक्कों पर "परम भागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्यः" लिखा मिलता है। अतः स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के पिता का विरुद "महेन्द्रादित्य" था यह माना जा सकता है। परन्तु इस कथा का विक्रमादित्य पाटलिपुरवराधीश से भिन्न है, अतः यह नाम-साम्य केवल आकस्मिक ज्ञात होता है।

† म्लेच्छों के इस अत्याचार के वर्णन की तुलना शकों के उस अत्याचार के वर्णन से की जा सकती है जो गर्ग-संहिता के एक अध्याय 'युग-पुराण' में दिया गया है।

‡ यहाँ व्यञ्जना से मालवजाति और गणतन्त्र का अर्थ लिया जा सकता है।

रानी का गर्भ अत्यन्त तेजस्वी था और समय पाकर महेन्द्रादित्य के बालक के समान पुत्र उत्पन्न हुआ और उसका नाम विक्रमादित्य तथा विषमशील रखा गया। इसके साथ ही मंत्री सुमति और वज्रायुध के घर पुत्र उत्पन्न हुए और उनके नाम क्रमशः महामति तथा भद्रायुध रखे गए। बाल विक्रमादित्य इनके साथ क्रीडा करने लगे और उनका तेज, बल और वीर्य दिन प्रति दिन बढ़ने लगा। समय पर उनका यज्ञोपवीत एवं विवाह हुआ। अपने पुत्र को युवा एवं प्राज्य-विक्रम जानकर राजा ने उसका विधिवत अभिषेक किया और स्वयं काशी में रहकर शिव की आराधना करने चला गया।

फिर अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में सोमदेव ने विक्रमादित्य के शौर्य, पराक्रम एवं प्रजापरायणता का वर्णन किया है —

> सोऽपि तद्विक्रमादित्यो राज्यमासाद्य पैतृकम्। नभो भास्वानिवारेभे राजा प्रतपितुं क्रमात्॥६१॥
> दृष्ट्वैव तेन कोदण्डे नमत्यारोपितं गुणम्। तच्छिक्षयैवोच्छिरसोऽप्यानमत् सर्वतो नृपाः॥६२॥
> दिव्यानुभावो वेतालराक्षसप्रभृतीनपि। साधयित्वानुशास्ति स्म सम्यगुन्मार्गवर्तिनः॥६३॥
> प्रसाधयन्त्य ककुभः सेनास्तस्य महीतले। निश्चेरुर्विक्रमादित्यस्यादित्यस्येव रश्मयः॥६४॥
> महावीरोऽप्यभूद्राजा स भीरुः परलोकतः। शूरोऽपि चाचण्डकरः कुभर्ताप्यंगनाप्रियः॥६५॥
> स पिता पितृहीनानामबन्धूनां स बान्धवः। अनाथानां च नाथः स प्रजानां कः स नाभवत्॥६६॥

(वह विक्रमादित्य भी पैतृक राज्य को पाकर पृथ्वी पर अपने प्रताप को इस प्रकार फैलाने लगा जैसे आकाश में सूर्य अपने प्रताप को फैलाता है। धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाते हुए उस राजा को देखकर बड़े बड़े अभिमानी राजा नतमस्तक हो जाते थे। दिव्यानुभाववाला वह राजा उन्मार्गवर्ती वेताल राक्षस आदि की साधना करके उन पर शासन करता था। पृथ्वी पर विक्रमादित्य की सेना सम्पूर्ण दिशाओं में इस प्रकार व्याप्त हो गई थी जैसे सूर्य की किरणें। अत्यन्त वीर्यवान् होते हुए भी वह राजा परलोक से डरनेवाला था—शूरवीर होते हुए भी वह अचण्डकर था और कुभर्ता (पृथ्वीपति) होते हुए भी स्त्री-प्रिय था। वह पितृहीनों का पिता था, बन्धुहीनों का बन्धु था, अनाथों का नाथ था एवं प्रजाजनों का सर्वस्व था।)

एक बार जब विक्रमादित्य अपनी सभा में बैठे थे तो दिग्विजय को निकले हुए उनके सेनापति 'विक्रमशक्ति' का दूत उन्हें मिला। उसने कहा —

> "सापरान्तश्च देवेन निर्जितो दक्षिणापथः। मध्यदेशः ससौराष्ट्रः सवंगांगा च पूर्वदिक्॥७६॥
> सकश्मीरा च कौबेरी काष्ठा च करदीकृता। तानि तान्यपि दुर्गाणि द्वीपानि विजितानि च॥७७॥
> म्लेच्छसंघाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वशे। ते ते विक्रमशक्तेश्च प्रविष्टाः कटके नृपाः॥७८॥
> स च विक्रमशक्तिस्तै राजभिः सममागतः। इतः प्रयाणकेष्वास्ते द्वित्रेष्वेव खलु प्रभो॥७९॥

(आपके द्वारा अन्य देशों सहित दक्षिणापथ, सौराष्ट्र सहित मध्यदेश और वंग एवं अंग सहित पूर्व दिशा जीत ली गई है। कश्मीर सहित कौबेरी काष्ठा को करद बना लिया गया है, अन्य दुर्ग और द्वीप भी जीत लिए गए हैं। म्लेच्छ संघों को नष्ट कर दिया गया है, और शेष को वशवर्ती कर लिया है और वे सब राजा विक्रमशक्ति की सेना में भरती हो गए हैं। वह विक्रम शक्ति उन राजाओं के साथ आ रहे हैं।)

इस प्रकार सोमदेव ने विक्रमादित्य के राज्य विस्तार का भी वर्णन कर दिया है। इस समाचार को सुन विक्रमादित्य बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि यात्रा में जो जो घटनाएँ हुई हों वह सुनाओ।

इस प्रकार विक्रमादित्य सम्बन्धी अनेक कथाएँ दी गई हैं। उनका ऐतिहासिक महत्त्व अधिक नहीं है। जनश्रुति में प्रसिद्ध अग्निवेताल इनमें भी आया है। समुद्रपार मलयद्वीप की राजकुमारी से विवाह का उल्लेख बृहत्तर भारत का चिह्न है। लोक-कथाओं के राजा सिंहल की पद्मिनियों से सदा विवाह करते रहे हैं। अन्य स्त्रियों के अतिरिक्त सिंहल की राजकुमारी मदनलेखा से भी विक्रम का विवाह होना लिखा है। परन्तु क्या वर्तमान सीलोन यह सिंहल हो सकता है? वहाँ की वर्तमान "पद्मिनियों"(!) को देखते हुए तो इसमें सन्देह है।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

अन्त मे सोमदेव ने लिखा है कि इस प्रकार आश्चर्यों को सुनता हुआ, देखता हुआ और करता हुआ वह भूपति विक्रमादित्य द्वीपों सहित पृथ्वी को जीतकर राज्य करने लगा।

> इत्याश्चार्याणि श्रृण्वन्सः पश्यन्कुर्वंश्च भूपतिः।
> विजित्य विक्रमादित्यः सद्वीपां बुभुजे महीम्॥

जैन अनुश्रुति का गर्दभिल्ल इस कथा मे नही है। उसके स्थान पर विक्रम के माता पिता भाई बन्धु आदि के नाम भी विभिन्न हैं। परन्तु भविष्यपुराण, वेतालपंचविंशतिका एवं कथासरित्सागर के नाम प्रायः मिलते है। इसमे तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की ओर भी संकेत है। मालवगण, शकों का अत्याचार आदि के संकेत बिखरे हुए मिलते हैं, भले ही शिवजी के गण माल्यवान को मालवगण मानने मे एवं म्लेच्छों को 'शक' मानने मे अनुमान एवं कल्पना का सहारा अधिक लेना पड़े।

वेतालपंचविंशतिका—पीछे कथासरित्सागर के प्रसंग में लिखा है कि 'वेतालपंचविंशतिका' मूल में क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामञ्जरी' तथा सोमदेव के 'कथासरित्सागर' का अंश है। यह अपनी मूल पुस्तक से पृथक् होकर कब, कैसे और किसके द्वारा स्वतंत्र कथा के रूप मे जनमनरंजन करने लगी है, यह ज्ञात नही है। परन्तु इस मनोरंजक ग्रन्थ के विविध पाठों की तुलना करने से एक बात अवश्य ज्ञात होती है कि क्रमशः लोककल्पना ने इसके त्रिविक्रम राजा को विक्रमादित्य मे परिवर्त्तित कर दिया और विक्रम-परिवार का विवरण भी कथा मे जोड़ दिया। इस ग्रन्थ के अनेक पाठों मे कथासरित्सागर और सिंहासनद्वात्रिंशिका की कथाएँ मिश्रित पाई जाती है।

जम्भलदत्त विरचित वेतालपंचविंशतिका का प्रारम्भ 'विक्रम केशरी' नाम से किया गया है:—

"इह हि महिमण्डले नरपतितिलको नाम विविधमणिकुण्डलमण्डितगण्डस्थलो नानालंकारविभूषितसर्व शरीरो......
......पुरन्दर इव सर्वांगसुन्दरो राजचक्रवर्त्ती श्रीमान् विक्रमकेशरी बभूव।।"*

परन्तु आगे जम्भलदत्त ने 'विक्रमादित्य' संज्ञा का उल्लेख किया है:—

> "विक्रमादित्योऽपि भ्रमति एक शाखायाम् धृतवान्।"
> "त्वम् इतो महासत्त्वमहाराजश्रीविक्रमादित्यस्य राजधानीम् गत्वा।।"†

परन्तु सूरतकवि ने जयपुराधीश सवाई महाराज जयसिंह के आदेश पर जिस संस्कृत पाठ का हिन्दी भाषान्तर किया है उसमे तो पुराण, सिंहासनद्वात्रिंशिका तथा अन्य प्रचलित कथाओं का सम्मिश्रण है। उसके प्रारम्भिक भाग में विक्रमादित्य के माता, पिता, परिवार आदि का विस्तृत उल्लेख है।

उसके अनुसार गन्धर्वसेन धारा* नगर का राजा था। उसके चार रानियाँ थी। उनसे छह वेटे थे। गन्धर्वसेन की मृत्यु के पश्चात् बडा राजकुमार 'शंख' गद्दी पर बैठा। शंख को मार कर उसका छोटा भाई विक्रम गद्दी पर बैठा। विक्रम बहुत प्रतापी था। वह धीरे धीरे सम्पूर्ण जम्बू द्वीप का राजा बन गया और उसने अपना संवत् चलाया। देशाटन के लिए उत्सुक होने के कारण उसने अपना राजपाट अपने छोटे भाई भर्तृहरि को सौप दिया और स्वयं यात्रा को चला गया।

इसके पश्चात् भर्तृहरि और उसकी रानी की प्रसिद्ध अमृत-फल की कथा दी हुई है। (यह कथा सिंहासन द्वात्रिंशिका मे भी है और आगे उक्त प्रकरण मे दी गई है।) भर्तृहरि के वैराग्य के कारण सिंहासन रिक्त हो गया। यह सुन विक्रम अपने देश को लौटा और यहाँ उसकी उस योगी से भेट हुई जिसने उसे वेताल के पास भेजा। इस प्रारम्भिक कथा के पश्चात् वेताल की कहानियाँ प्रारम्भ होती है।

जम्भलदत्त की वेतालपंचविंशतिका की मूलकथा यह है कि विक्रमादित्य के पास एक योगी आया और उसने राजा को प्रसन्न कर उससे यह याचना की कि वह उसे एक अनुष्ठान मे सहायता करे। वास्तव मे यह योगी राजा विक्रम से द्वेष

---

* वेताल पंचविंशति— M. B. Cineneau द्वारा सम्पादित पृष्ठ, १२।

† वहीं—पृष्ठ १५०।

रखता था तथा उसकी बलि देना चाहता था। उदारता एव सरलतावश राजा ने यह स्वीकार कर लिया। योगी ने रात को राजा को श्मशान में बुलाया और दूर वृक्ष के नीचे लटकते हुए एक शव को लाने को कहा। अत्यन्त भयकर वातावरण में लटकते हुए शव को राजा उठाने लगा तो वह शव उचककर उस वृक्ष को ऊपर की डाल से लटक गया। राजा ने बडी कठिनाई से उसे पकड लिया और उसे लाद ले चला। उस शव मे एक वेताल घुस गया था। वह राजा के साहस से प्रसन था। उसने एक एक कर राजा को पच्चीस कथाएँ सुनाइ। अन्त में इस वेताल की सहायता से राजा ने उस योगी को ही मार डाला।

यह कथा सिंहासनद्वात्रिंशिका म भी ह। इस प्रकार हम देखते ह कि कथासरित्सागर के विक्रम केशरी और वेताल की कथा क्रमश विक्रमोन्मुखी होती गई। और इससे यह भी ज्ञात होता ह कि विक्रम-कथा ने लोक मस्तिष्क पर तथा कथा-साहित्य पर अपना प्रभाव पूणत स्थापित कर लिया था।

विक्रम और वेताल की जोडी लोक कथा एव अनुश्रुति में दृढ करने में वेतालपचविंशतिका ने अधिक सहायता की है। विक्रम के नवरत्नो के वेतालभट्ट और अनेक कथाओ के अग्निवेताल तथा इस वाचाल वेताल म क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न का समाधान कर सकना हमारे लिए सम्भव नही ह।

सिंहासन-द्वात्रिंशिका—विक्रम-साहित्य में विक्रम-चरित् या सिंहासन-द्वात्रिंशिका का स्थान बहुत महत्त्वपूण है। यह सम्पूण भारतवष में प्रचलित रही है। इसकी कथाएँ भारत के सभी प्रान्तो में एवं सभी भाषाओ म प्रचलित ह। यह ग्रन्थ वास्तव में विक्रमादित्य के प्राय एक सहस्र वष पश्चात् राजा भोज के विक्रमत्व का प्रतिपादन करने के लिए लिखा गया है और उससे यह प्रकट होता है कि विक्रमादित्य के आविर्भाव के लगभग एक सहस्र वष बाद जनता के विक्रमादित्य का क्या रूप था।

कथा साहित्य जहाँ जनमत का अत्यन्त सुन्दर दपण है वहाँ इतिहास के लिए उसका उपयोग अत्यन्त सावधानी से करने की आवश्यकता है। जो बात अनेक मुखो से कही जाय अथवा अनेक लेखनियो से लिखी जाय और सिंहासन-द्वात्रिंशिका के ही एक पाठ के अनुसार जिसका उद्देश्य 'सकललोकचित्तचमत्कारिणीकथा' कहना मात्र हो तब उसमें कल्पना प्रसूत तथ्यो के सम्मिश्रण की बहुत सभावना है। इस ग्रन्थ के सस्कृत भाषा में ही (इजटन विक्रमचरित की भूमिका पृष्ठ २९) पाच विभिन्न पाठ मिले ह। इन पाँचो म पर्याप्त अन्तर है। इनके अतिरिक्त फिर मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओ में अनेक लेखको ने इसे अपनी रचनाओ का आधार बनाया है। इस कथा के साथ एक बात और विशेष हुई। इसे जैन साधुओ ने पूण रूप से अपना लिया और विक्रमादित्य की मूर्ति जैन सम्प्रदाय के साचे म ढालने का प्रयत्न किया। सिंहासन-द्वात्रिंशिका के जैन पाठ में बहुतसी एसी कथाएँ भी जुडी हुई है जो जैन सम्प्रदाय की अन्य पुस्तको में पाई जाती ह। चौदहवीं शताब्दी मे विरचित मेरुतुगाचाय के प्रबन्धचिन्तामणि की अनेक कथाएँ इस ग्रन्थ से मिलती जुलती ह। मेरुतुगाचाय ने इस चिन्तामणि में जैन सम्प्रदाय में प्रचलित निबन्धो का सग्रह मात्र किया है। अत प्रबन्ध चिन्तामणि एव सिंहासन-द्वात्रिंशिका की कथाओ मे समानता एक ही मूल स्रोत—जैन अनुश्रुति को आधार बनाने के कारण ज्ञात होता ह।

यह ग्रन्थ अनेक नामो से प्रचलित है। विभिन्न पाठो में इसके यह नाम प्राप्त हुए ह—विक्रम चरित्र, विक्रमाक-चरित्र, विक्रमादित्यचरित्र, सिंहासनद्वात्रिंशिका, सिंहासनद्वात्रिंशत्कथा तथा सिंहासनकथा। यह छह नाम तो ऊपर उल्लेख किए गए सस्कृत के पाच पाठो की विभिन्न प्रतियो में ही मिलते ह। वतमान प्रान्तीय भाषाओ में प्रयोग किए गए नाम इनसे पृथक् ह।

सबसे कठिन बात इस पुस्तक के लेखक के नाम का पता लगाना तथा इसके रचनाकाल का निणय करना है।

कुछ विद्वान् यह मानते है कि यह कथा धारा नरेश परमार भोजदेव के समय में लिखी गई, और इसका कारण यह बतलाते ह कि इसमें भोज के महत्त्व स्थापन को लक्ष्य बनाया गया है। परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य अटकल भी लगाए गए है। इस पुस्तक के कुछ पाठों में हेमाद्रि विरचित चतुवगचिन्तामणि के दानखण्ड का उल्लेख है जिससे यह अनुमान किया गया कि यह हेमेन्द्र के समय (१३वी शताब्दी ई०) के पश्चात् लिखी गई। एक पाठ में तो हेमाद्रि को उसका रचयिता भी

बतलाया है। ऐसी दशा में यह काल उक्त पाठों का ही माना जा सकता है, न कि मूल पुस्तक का। इसके रचना-काल के विषय मे किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकना यद्यपि सम्भव नही परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह तेरहवी शताब्दी (ईसवी) के पूर्व की रचना है और भोज देव के समय मे या उनके पश्चात् लिखी गई है।

इस कथा के रचयिता की खोज भी हमें किसी निश्चित परिणाम पर नही पहुँचाती। विभिन्न पाठों मे रचयिताओं के नाम नन्दीश्वर, कालिदास, वररुचि, सिद्धसेन दिवाकर एवं रामचन्द्र लिखे हैं।

इनमे से कालिदास, वररुचि एवं सिद्धसेन दिवाकर इनके रचयिता नही हो सकते। किसी ने स्वयं लिखकर यह बड़े बड़े नाम जोड दिये हैं। इन पाठों मे जैन-पाठ के रचयिता का नाम कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। जैनपाठों की अनेक प्रतियो में यह ज्ञात होता है कि मूल महाराष्ट्र से इसे क्षेमंकर मुनि ने संस्कृत मे लिखा है :—

श्रीविक्रमादित्यनरेश्वरस्य चरित्रमेतत् कविभिर्निबद्धम्।
पुरामहाराष्ट्रवंरिष्टभाषामय महाश्चर्यकरं नराणाम्॥
क्षेमंकरेण मुनिना वरगद्यपद्यबन्धेन युक्तिकृतसंस्कृतबन्धुरेण।
विश्वोपकारविलसद्गुणकीतनाय चक्रेऽचिरादमरपण्डितहर्षहेतुः॥

परन्तु मूल विक्रमार्क चरित का रचयिता कौन था यह ज्ञात नही है। संस्कृत-साहित्य के निर्माता व्यक्तिगत यश तथा कीर्ति से अपने आपको दूर ही रखते रहे। ग्रन्थ की रचना कर वे उसमे अपने अस्तित्व को निमज्जित कर देते थे।

अब आगे यह देखना है कि इस विक्रम-चरित्र में विक्रमादित्य के चरित्र को कैसे और किस रूप मे चित्रित किया है।

उज्जैन नगर के राजा भर्तृहरि थे। अनंगसेना नाम की उनकी अत्यन्त सुन्दरी पत्नी थी तथा उनके भाई का नाम था विक्रमादित्य। एक निर्धन ब्राह्मण ने तपस्या करके पार्वतीजी को प्रसन्न कर लिया और उनसे अमरता का वरदान माँगा। पार्वतीजी ने उसे एक फल दिया, जिसके खाने से वह अजर-अमर हो सके। उसे खाने के पूर्व उसने विचार किया कि यदि वह उस फल को खा लेगा तो निर्धनता के कारण दुखी ही रहेगा। अत: उसने वह फल राजा भर्तृहरि को दिया। राजा अनंगसेना को अत्यधिक प्रेम करता था। उसने उसके सौन्दर्य को स्थिर एवं अमर करने के विचार से वह फल अनंगसेना को दे दिया। अनंगसेना ने वह फल अपने प्रेमी सारथी को दिया। सारथी ने उसे अपनी प्रेमिका एक दासी को दिया, दासी ने एक ग्वाले को और ग्वाले ने अपनी प्रेमिका एक गोबर उठानेवाली लडकी को दे दिया। वह लडकी उस फल को अपनी गोबर की डलिया के ऊपर रखकर लेजा रही थी कि राजा की दृष्टि उस पर पडी। राजा उस फल को पहचान गया। निश्चय करने के लिए उसने उस निर्धन ब्राह्मण को बुलाया। ब्राह्मण ने वह फल पहचान लिया। राजा ने जब रानी से पूछताछ की तो उसे सारा रहस्य ज्ञात हुआ। उसे अत्यधिक ग्लानि हुई। उसने वह फल स्वयं खा लिया और राजपाट अपने भाई विक्रमादित्य को देकर वैरागी हो गया।

विक्रमादित्य ने प्रजा का रंजन करते हुए नीतिपूर्वक राज्य करना प्रारम्भ किया। एक बार एक कपटी साधु राजा के पास आया और एक अनुष्ठान मे सहायता देने की याचना की। राजा ने उसे स्वीकार किया। अनुष्ठान में उस साधु ने राजा की बलि देना चाही, परन्तु राजा ने उसकी ही बलि देदी। इसी प्रसंग मे एक वेताल राजा पर प्रसन्न हो गया। उसने वचन दिया कि जब जब राजा उसे बुलाएगा वह उपस्थित होगा। उसने राजा को अष्टसिद्धि प्रदान की। (यह कथा वेताल-पच्चीसी के प्रसंग मे विस्तार से दी गई है।)

इसी समय विश्वामित्र की तपस्या से इन्द्र को बहुत भय हुआ। उसने निश्चय किया कि रंभा या उर्वशी मे से एक अप्सरा को विश्वामित्र की तपस्या भंग करने के लिए भेजा जाय। उसने देव सभा मे उनके नृत्यकौशल का प्रदर्शन कराया और दोनो मे जिसका प्रदर्शन अधिक उत्तम हो उसको ही विश्वामित्र के पास भेजने का विचार किया। परन्तु देवसभा यह निर्णय ही न कर सकी कि किसका नृत्य अधिक श्रेष्ठ है। नारदजी की सलाह से इन्द्र ने अपने सारथि मातलि को भेजकर विक्रमादित्य को बुलाया। विक्रमादित्य ने नृत्य को देखकर उर्वशी को दोनों मे श्रेष्ठ ठहराया। कारण पूछने पर उसने नृत्य

की अत्यन्त सुन्दर शास्त्रीय व्याख्या की और अपने निणय के औचित्य को सिद्ध कर दिया। प्रसन्न होकर देवराज ने उसे अपना सिंहासन भेट म दिया। इस सिंहासन को राजा अपनी राजधानी म ले आए और उपयुक्त समय म उसपर आरूढ़ हुए।

कुछ समय पश्चात् प्रतिष्ठान नगर में एक छोटी सी लडकी के शेष नाग द्वारा शालिवाहन नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस समय उज्जन में अशुभ चिन्ह दिखाई देने लगे। ज्योतिषियो ने राजा के विनाश की भविष्यवाणी की। राजा को शकर द्वारा यह वरदान प्राप्त हो चुका था कि उसे केवल वही व्यक्ति मार सकेगा जो ढाई वष की लडकी से उत्पन्न हुआ हो। राजा ने अपने मित्र वेताल को बाहर भेजा कि वह इस बात की खोज करे कि कही एसा बालक उत्पन्न तो नहीं हो गया ह। प्रतिष्ठान में वेताल ने शालिवाहन को देखा और उसके जन्म का हाल जाना। उसने राजा को वह हाल सुना दिया। राजा ने प्रतिष्ठान पर आक्रमण कर दिया, परन्तु शालिवाहन ने उसे आहत कर दिया। उस घाव से राजा उज्जन आकर मर गया।

राजा के मरने पर उसकी रानी ने अपने सात मास के गभ स राजकुमार को निकाला। मन्त्रियो की देखरेख में राज्य चलने लगा। परन्तु इन्द्र के सिंहासन पर बठने योग्य कोई व्यक्ति शेष नही था, अत उसको एक पवित्र खेत में गाड दिया गया।

बहुत समय पश्चात् यह सिंहासन धार के राजा भोज को प्राप्त हुआ। जब वह इस पर बठने की तैयारी करने लगा तो इसमें लगी हुई बत्तीस पुतलियो में से एक मानवी भाषा में बोल उठी 'हे राजन्! यदि तुझ में विक्रमादित्य जसा शौय, औदार्य, साहस तथा सत्यवादिता हो तभी तू इस सिंहासन पर बठने का प्रयत्न करना!' राजा भोज ने उस पुत्तलिका से विक्रमादित्य की उदारतादि का वणन करने को कहा।

इस प्रकार उस सिंहासन की बत्तीसो पुतलियो द्वारा एक एक करके विक्रम के गुणो का अतिरजित वणन कराया गया ह।

पहली पुतली ने विक्रम के दान का वणन इस प्रकार किया ह—

"निरीक्षिते सहस्रतु नियुतं तु प्रजल्पिते। हसने लक्षमाप्नोति सतुष्ट कोटिदो नृप ॥"

दूसरी पुतली ने विक्रमादित्य की परोपकारिता की कहानी कही ह। राजा एक ब्राह्मण के ऊपर देवी को प्रसन्न करने के लिए अपने सिर को बलि देने को तैयार हो गया। राजा की उदारता की नीचे लिखे शब्दो में प्रशसा करते हुए देवी ने ब्राह्मण का अभीष्ट सिद्ध किया —

"छायाम् मन्यस्य कुर्वन्ति स्वय तिष्ठति चातपे। फलन्ति परार्थेषु नात्महेतुमहाद्रुमा ॥
परोपकाराय वहन्ति निम्नगा। परोपकाराय दुहन्ति धेनव ॥
परोपकाराय फलन्ति वृक्षा। परोपकाराय सता विभूतय ॥

तीसरी पुत्तलिका ने विक्रमादित्य की उदारता की कहानी कही है। किस प्रकार विक्रम ने समुद्र द्वारा प्रदत्त चारो रत्न ब्राह्मण को उदारतापूर्वक दे दिये थे इसका वणन इसमें ह। अन्त में इस पुत्तलिका ने कहा है—"ओ राजन्! औदार्य तो सहज उत्पन्न गुण होता है वह औपाधिक नही है, क्योकि—

चम्पकेषु यथा गन्ध कान्तिर्मुक्ताफलेषु च। पयेऽक्षुदण्डे माधुयम् औदार्यं सहज तथा ॥

यदि तुममें ऐसा औदाय हो, तो इस सिंहासन पर आरूढ़ हो।"

चतुर्थ पुत्तलिका द्वारा राजा के उपकार मानने के स्वभाव का वणन कराया गया ह। देवदत्त नामक ब्राह्मण ने राजा का उपकार किया। उसके बदले में राजा ने उसे अपने पुत्र का हत्यारा समझकर भी उस एक उपकार के बदले म क्षमा कर दिया, क्योकि वह समझता था 'य कृतमुपकार विस्मरति स पुरुषाधम इव।'

पाँचवी पुत्तलिका ने विक्रमादित्य की उदारता की कहानी कही है, जिसमें राजा द्वारा अमूल्य रत्नो को दान में देना बतलाया ह।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

छठी पुतली ने भी विक्रम के औदार्य का ही वर्णन किया है, जिसमें विक्रम ने असत्यवादी किन्तु आर्त ब्राह्मण की मनोवाञ्छा पूरी की है क्योंकि—

> "दत्त्वाऽर्तस्य नृपो दानं शून्यलिंगं प्रपूज्य च।
> परिपाल्याऽश्रितान्नित्यम् अश्वमेधफलं लभेत् ॥"

सातवीं पुत्तलिका राजा के पराक्रम की गाथा कहती है। इस कथा मे विक्रमादित्य के उस पराक्रम का वर्णन है जिसके कारण वह छिन्न मस्तक स्त्री-पुरुषों के युग्म को जीवित करने के लिए स्वयं अपने मस्तक की बलि देने को तत्पर हो गया था। जब भुवनेश्वरी उसपर प्रसन्न हुई तब राजा ने उस युग्म के लिए ही राज्य की याचना की, अपने लिए कुछ न माँगा। इस कथा मे प्रसंगवश राजा विक्रमादित्य के राज्य की दशा का भी वर्णन आ गया है। "विक्रमादित्य के राज्य मे सर्व जन सुखी थे, लोक मे दुर्जनरूपी कण्टक नही थे। सर्व जन सदाचारी थे। ब्राह्मण वेद शास्त्र के अभ्यास मे लग्न तथा स्वधर्मचर्या-पर एवं षट्कर्म मे निरत थे। सब वर्ण के लोगो में पाप का भय था, यश की इच्छा थी, परोपकार की वासना थी, सत्य से प्रेम था, लोभ से द्वेष था, परोपकार का आदर था, जीवदया का आग्रह था, परमेश्वर मे भक्ति थी, शरीर की स्वच्छता थी, नित्यानित्य वस्तु का विचार था, वाणी मे सत्य था, बात के पालन मे दृढ़ता थी और हृदय मे औदार्य गुण था। इस प्रकार सब लोग सद्वासनायुक्त पवित्र अन्तःकरण होकर राजा के प्रसाद से सुखी रहते थे।"

आठवी पुत्तलिका की कथा के अनुसार राजा विक्रमादित्य ने प्राणों की बाजी लगाकर एक जलहीन तालाब को पानी से भर दिया। उस तालाब मे पानी नही ठहरता था। आकाशवाणी द्वारा यह ज्ञात हुआ कि जब तक बत्तीस लक्षणों से युक्त पुरुष अपने रक्त को अर्पित नही करेगा, उस तालाब मे पानी नही ठहरेगा। राजा इसके लिए तैयार हो गया।

नवमी पुत्तलिका की कथा इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसमें विक्रमादित्य से सम्बन्धित अन्य नाम आए है। यह भी राजा के औदार्य और धैर्य की कहानी है। विक्रमादित्य का महि नाम का मत्री था, गोविन्द नामक उपमंत्री था, चन्द्र नामक सेनापति था तथा त्रिविक्रम नामक पुरोहित था। इस त्रिविक्रम के कमलाकर नामक पुत्र था। इसी कमलाकर के लिए राजा ने काची नगर की एक वेश्या नरमोहिनी को राक्षस के पाश से मुक्त किया था।

दसवी पुतली ने राजा विक्रम की उस उदारता का वर्णन किया जिसके द्वारा उसने कठोर तपस्या द्वारा प्राप्त किया हुआ अजर अमरता प्रदान करनेवाला फल भी एक रुग्ण ब्राह्मण को दान कर दिया था।

ग्यारहवी पुत्तलिका द्वारा वर्णित कहानी मे एक विशेषता है। वह महाभारत की एक कथा से बिलकुल मिलती-जुलती है। महाभारत मे एक कथा है कि वनवास के समय कुन्ती सहित पाण्डव एक ऐसे नगर मे पहुँचे जहाँ प्रत्येक परिवार मे से क्रमशः एक व्यक्ति एक राक्षस को खाने के लिए भेट किया जाता था। पाण्डवों को आश्रय देनेवाले ब्राह्मण के घर यह क्रम आने पर उसके बदले भीम गए और उन्होने उस राक्षस को ही मार डाला। सिंहासनबत्तीसी की कथा मे राजा विक्रम इस प्रकार के नगर का हाल पक्षियों से सुनते है और उनके द्वारा अपने आपको राक्षस को अर्पित करने पर वह उनकी उदारता पर मुग्ध होकर उन्हें नही खाता है।

बारहवीं पुत्तलिका की कथा मे विक्रमादित्य द्वारा एक राक्षस को मार कर एक शापग्रस्त ब्राह्मण-पत्नी का उद्धार करना तथा एक ब्राह्मण-पुत्र को धन दान देने की कथा है।

तेरहवी पुतली विक्रमादित्य द्वारा डूबते हुए ब्राह्मण युग्म को बचाकर वरदान पाने की कथा कहती है। इस वरदान के फल को भी राजा ने एक ब्रह्म-राक्षस को दान कर उसे स्वर्ग दिलाया।

चौदहवीं कथा मे राजधर्म की व्याख्या है और विक्रम द्वारा प्राप्त चिन्तामणि के समान मनवाछित फल देनेवाले 'काश्मीरलिंग' के दान का उल्लेख है।

पन्द्रहवीं कथा मे राजा विक्रमादित्य के पुरोहित का नाम वसुमित्र बतलाया गया है। यह भी राजा के परोपकार की कथा है।

सोलहवी पुतली द्वारा कही गई कथा मे विक्रमादित्य के दिग्विजय का उल्लेख है। उसने उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम मे परिभ्रमण करके वहाँ के नृपतियों को अपने वश मे किया और उनके द्वारा अर्पित किये हुए हाथी, घोड़े तथा धन

आदि लेकर उन्हें उनके राज्या मे पुन प्रतिष्ठित कर वापस लौटा। यहाँ आकर उसने एक ब्राह्मण को कन्यादान के लिए बहुतसा स्वर्ण दिया।

सत्रहवीं पुत्तलिका ने राजा के त्याग और उदारता की कथा कही है। राजा ने अपने प्रतियोगी को कष्ट से बचाने के लिए अपने शरीर का ही दान देना स्वीकार किया।

अठारहवी कथा राजा के अपूर्व दान की कहानी है। राजा ने सूर्य द्वारा प्राप्त प्रति दिन स्वर्णभार देनेवाली अँगूठियाँ को एक निर्धन ब्राह्मण को दान में दे डाला।

उन्नीसवी पुत्तलिका द्वारा कहलाई गई कथा में पुन विक्रम के राज्य का वर्णन है। जब विक्रम पृथ्वी पर शासन कर रहा था सब लोक आनन्द परिपूर्ण हृदय थे, ब्राह्मण श्रौतकर्म में निरत थे, स्त्रियाँ पतिव्रता थी, पुरुष शतायु थे, वृक्ष फलयुक्त थे, इच्छानुसार जल की वर्षा होती थी, मही सदा सम्पूर्ण शस्यमती थी, लोक म पाप का भय था, अतिथि की पूजा होती थी, जीवा पर कृपा होती थी, गुरुजना की सेवा होती थी और सत्पात्र को दान मिलता था, ऐसी प्रजा की प्रवृत्ति थी। आगे इस कथा में विक्रम द्वारा उस रस और रसायन के दान का वर्णन है जो उसे बलि से प्राप्त हुए थे। इसी प्रकार के दान का वर्णन बीसवी कहानी में है।

इक्कीसवी पुत्तलिका की कथा में विक्रमादित्य के एक और मत्री का नाम आया है। उसका नाम बुद्धिसिन्धु था। इसके पुत्र अनगल के बतलाने पर राजा को अष्टसिद्धिया से जो वरदान प्राप्त हुए उनके दान का वर्णन है। बाईसवी कथा भी विक्रम द्वारा एक ब्राह्मण के हेतु जीवन-दान देने के लिए तत्पर होने की है। तेईसवी कथा में दु स्वप्न के फल निवारणार्थ विक्रम द्वारा किये गए दान की कथा है।

चौबीसवी पुतली द्वारा बतलाई गई कहानी महत्त्वपूर्ण है। इसमे विक्रम को मारनेवाले शालिवाहन एव उसके नगर प्रतिष्ठान का उल्लेख है। एक सेठ ने मरते समय अपने धन का बटवारा अपने चारो बेटो के बीच करने के लिए चार घडे रख दिए। उसके मरने पर उनमे क्रमश मिट्टी, घास, कोयला तथा हड्डियाँ भरी हुई थी। इसका अर्थ न समझ कर वे विक्रम के पास गए। परन्तु वहाँ भी कोई इस बात का अर्थ न बतला सका। जब वे प्रतिष्ठानपुर निवासी शालिवाहन के पास गए तो उसने बतलाया कि मिट्टी, घास, कोयला एव हड्डिया का अर्थ क्रमश भूमि, अन्न, स्वर्ण तथा पशुधन है। यह समाचार सुन विक्रम ने शालिवाहन को बुलाया। परन्तु शालिवाहन ने आने से मना कर दिया और बडा अपमानजनक उत्तर दिया। राजा विक्रम ने प्रतिष्ठान पर चढ़ाई कर दी। शालिवाहन कुम्हार के यहाँ रहता था। उसने मिट्टी की सेना बनाई। उसके पिता शेष ने उस सेना को जीवित कर दिया। परन्तु विक्रम की फौज को यह सेना हरा न सकी। तब शेष ने सर्पों को भेजा। विक्रम ने वासुकी को प्रसन्न कर अमृत घट प्राप्त कर लिया। शालिवाहन द्वारा भेजे गए ब्राह्मणो ने जब राजा को वचनबद्ध करके वह अमृत घट मागा तो केवल अपने वचन पालन के लिए विक्रमादित्य ने वह अमृत-घट जान बूझकर शालिवाहन के आदमियो को दान दे दिया।

पच्चीसवी कहानी में देश का अन्नदुर्भिक्ष मिटाने के लिए विक्रम द्वारा आत्मबलि देने का निश्चय करने की कथा है। छब्बीसवी कथा रघुवश मे वर्णित नन्दिनी और दिलीप की कथा का स्मरण दिलाती है। गाय की रक्षा के लिए राजा सारी रात वृष्टि म सिंहो के मुकाबिले म खडा रहा। सत्ताईसवी कथा मे वर्णन है कि राजा विक्रम ने अष्टभैरवो को अपने रक्त की बलि देकर सिद्धि प्राप्त कर उसे एक जुआरी को इसलिए दे दी कि वह उससे धन प्राप्त करे और जुआ खेलना छोड दे। अट्ठाईसवी कहानी में राजा एक देवी से इस बात का वरदान मांगता है कि वह मानव-बलि लेना बन्द करदे। उन्तीसवी कथा में विक्रम द्वारा ५० करोड दान देने का उल्लेख है। तीसवी कहानी विशेष रूप से इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसमें राजा विक्रम द्वारा पाडच देश के राजा द्वारा भेजे हुए कर के धन को एक इन्द्रजालिक को देदिया। अत पाडच देश के राजा का विक्रम का करद होना प्रकट होता है।

इकतीसवी पुत्तलिका द्वारा वेतालपचविंशतिका की कथा कहलाई गई है। राजा से एक योगी अनुष्ठान में सहायता करने का वचन लेता है। उसे श्मशान से शव लाने को कहता है। वहाँ उसे शव पर वाचाल वेताल मिलता है। परन्तु इस ग्रन्थ मे पच्चीस कथाएँ नही दी गई है, केवल एक दी गई है।
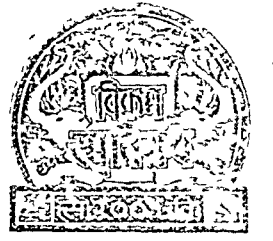
श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

बत्तीसवी अन्तिम पुतली राजा विक्रम का यशोगान करती है। वह कहती है कि विक्रम जैसा राजा भूमण्डल पर नही है। उसने काष्ठमय खड्ग से सारे संसार को जीत लिया था और पृथ्वी पर एकछत्र राज्य स्थापित किया था। उसने शकों को पराभूत कर अपना संवत् चलाया। उसने दुष्टो का नाश किया, निर्धनो की निर्धनता मिटा दी। दुर्भिक्ष मिटा दिए।

बत्तीसों पुत्तलिकाएँ इस प्रकार कथा सुन कर फिर यह कहती है कि वे शापग्रस्त देवागनाएँ थी जो पार्वती के शाप से पुत्तलिकाएँ बनकर इस सिंहासन से लग गई थी। भोजराज को यह विक्रम की कथा सुनाने से वह शाप मुक्त हुई है।

विक्रम-चरित्र की इस कथा के जैन पाठ मे अन्य पाठों से बहुत भेद है। इसमे प्राय: छह कथाएँ नई जोड़ी गई है। पहली कथा अग्निवेताल और विक्रम की है। अग्निवेताल का स्थान अभी भी उज्जैन मे है। इससे यह कथा विशेष महत्त्वपूर्ण है। एक कथा मे सिद्धसेन दिवाकर का विक्रम का गुरू होना बतलाया है। यह कथाएँ प्रबन्ध-चिन्तामणि मे भी है। अतः उसी प्रसंग मे इन पर प्रकाश डालेंगे।

जैन पाठकारों ने विक्रमादित्य के जन्म की एक कहानी भी जोड़ दी है। इसके अनुसार विक्रम की उत्पत्ति दैवी एवं अलौकिक बतलाई है। प्रेमसेन राजा के मदनरेखा नामक अत्यन्त रूपवती कन्या थी। इस राजा के नगर मे गन्धर्वसेन नामक एक शापग्रस्त यक्ष गर्दभ के रूप मे रहता था। उसने राजा से कहा कि यदि वह कन्या मदनरेखा का विवाह उसके साथ न करेगा तो उसके नगर का क्षेम नही है। यक्ष की अलौकिक शक्ति का परिचय पाकर राजा ने अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। नगर की रक्षा का विचार कर तथा विधि के विधान को समझकर कन्या ने उस गर्दभ से विवाह कर लिया। यक्ष सुन्दर रूप धारण कर रात्रि के समय राजकन्या के साथ विहार करता था। एक दिन मदनरेखा की माता उससे मिलने आई। उसने देखा कि गन्धर्वसेन ने गर्दभ की खाल एक ओर फेक दी है और अत्यन्त सुन्दर रूप धारण किए बैठा है। माता ने गर्दभ की खाल को जला दिया। गन्धर्वसेन ने कहा कि अब वह शाप मुक्त हो गया है और स्वर्ग जायगा। उसने कहा कि जो बालक तुम्हारे हो उसका नाम विक्रमादित्य रखना। तुम्हारी दासी के जो गर्भ है उसका नाम भर्तृहरि रखना। समय पाकर दोनो पुत्र उत्पन्न हुए।

यह गन्धर्वसेन गर्दभिल्ल से प्राय: मिलता जुलता है।

प्रबन्ध चिन्तामणि—मेरुतुंगाचार्य-कृत प्रबन्ध-चिन्तामणि जैन ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्रधान है। इसकी रचना संवत् १३६१ वि० मे की गई थी। इस ग्रन्थ को लिखने मे मेरुतुग का उद्देश्य विशुद्ध ऐतिहासिक था। उन्होने स्वयं इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे लिखा है—"यद्यपि विद्वानो द्वारा बुद्धि (संकलन) से कहे गए प्रबन्ध (कुछ-कुछ) भिन्न भिन्न भावोंवाले अवश्य होते है; तथापि इस ग्रन्थ की रचना सुसम्प्रदाय (योग्य परम्परा) के आधार पर की गई है इसलिए (इसके विषय मे) चतुरजनों को वैसी चर्चा न करनी चाहिए।" इसपर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् श्री जिनविजयजी लिखते हैं—"मेरुतुगसूरि ने इस ग्रन्थ को संकलन करने मे कुछ तो पुराने प्रबन्ध ग्रन्थो की सहायता ली और कुछ परम्परा से चली आती हुई मौखिक बातो का आधार लिया।................. प्रबन्ध-चिन्तामणि की कुछ बाते ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा भ्रान्त भी मालूम होती है लेकिन मेरुतुगाचार्य उनके लिए निष्पक्ष और निराग्रह हैं—यह बात इस श्लोक के गत कथन से सूचित होती है।" तात्पर्य यह कि प्रबन्ध-चिन्तामणि मे उस समय प्रचलित अनुश्रुतियो को बिना किसी फेरबदल के लिपिबद्ध किया गया है।

इस ग्रन्थ का प्रथम प्रबन्ध ही विक्रमार्क (विक्रमादित्य) के विषय में है। मेरुतुग की ऐतिहासिक प्रणाली से इतना तो निश्चित है कि उन्होंने अपनी ओर से कुछ मिलाया न होगा, अतः प्रबन्ध-चिन्तामणि का विक्रमार्क-चरित्र विक्रमीय चौदहवी शताब्दी मे जैन सम्प्रदाय मे प्रचलित रूप माना जा सकता है।

विक्रमादित्य के राजा होने के पूर्व के जीवन के विषय मे इस ग्रन्थ के दो स्थलों पर उल्लेख है। प्रकीर्णक प्रबन्ध में भर्तृहरि की उत्पत्ति की कथा मे लिखा है कि अवन्तिपुरी मे एक व्याकरण का विद्वान् पण्डित रहता था। उसके चार वर्णों की चार स्त्रियाँ थी। क्षत्री स्त्री से विक्रमादित्य उत्पन्न हुए और शूद्रा से भर्तृहरि का जन्म हुआ। यह भर्तृहरि वैराग्य-शतक आदि के कर्त्ता थे।

वैक्रम-अनुश्रुति

विक्रमार्क राजा के प्रबन्ध में लिखा है—"अवन्ति देश के सुप्रतिष्ठान* नामक नगर में असम साहस का एकमात्र निधि, दिव्य लक्षणो से लक्षित, सत्कर्म, पराक्रम इत्यादि गुणो से भरपूर राजपुत्र था।" यह राजपुत्र बहुत निर्धन था। धन पाने के हेतु वह अपने मित्र भट्टमात्र के साथ रोहण पर्वत को गया। रोहण पर्वत की यह विशेषता थी कि ललाट को हथेली से 'हा दैव!' कहकर चोट मारने से, अभाग्यवान् मनुष्य को भी रत्न मिलते थे। परन्तु विक्रम यह करने को तैयार न था। भट्टमात्र विक्रम को लेकर उस पहाड के पास पहुँचा और जब विक्रम कुदाल से उस पर्वत में प्रहार कर रहा था, तो उसे अपनी माता की मृत्यु का दुखद समाचार मिला। विक्रम ने कुदाल फेंक दिया और 'हा दैव' कहकर माथा ठोका। तुरन्त ही एक सवा लाख का हीरा निकल आया। जब विक्रम को यह ज्ञात हुआ तो उसने वह रत्न उस पर्वत पर यह कहकर फेंक दिया कि इस रोहणगिरि को धिक्कार है जो 'हा दैव' ही कहलाकर दरिद्रो का निर्धनतारूपी घाव भरता है।

इसके पश्चात् विक्रमादित्य के राज्य प्राप्ति की कथा है। इसी प्रकार की कथा सिंहासन-बत्तीसी के जैनपाठ में भी मिलती है। उसने अवन्ति देश में एक राक्षस को सन्तुष्ट किया। वह उसी प्रकार प्रतिदिन भक्ष्य-भोज्य पाकर सन्तुष्ट रहने लगा। एक दिन विक्रम राजा ने उससे अपनी आयु पूछी। अग्निवेताल ने कहा कि विक्रम की आयु १०० वर्ष है और किसी भी प्रकार कम या अधिक नही हो सकती। अगले दिन राजा ने उसे कुछ खाने को न दिया और लडने को तैयार हो गया। युद्ध में जब राक्षस हार गया तो वह बोला "मै तुम्हारे अद्भुत साहस से प्रसन्न हूँ। तुम जो कहो उस आदेश का पालन करनेवाला मै अग्निवेताल तुम्हे सिद्ध हुआ।"

इसके पश्चात् मेरुतुग ने लिखा है "इस प्रकार अपने पराक्रम से दिग्मण्डल को आक्रान्त करनेवाले उस राजा ने छियानवे प्रतिद्वन्द्वी राजाओ के राज्य को अपने अधिकार मे किया" और "कालिदासादि महाकवियो द्वारा की हुई स्तुति से उत्कर्ष होकर उसने चिरकाल तक विशाल साम्राज्य का उपभोग किया।"

इसके पश्चात् विक्रमादित्य विषयक ११ कथाएँ और दी गई हैं। एक कथा में विक्रमादित्य की लडकी का नाम प्रियगुमञ्जरी बतलाया है। वररुचि उसका उपाध्याय है। प्रियगुमञ्जरी की अशिष्टता से अप्रसन्न होकर वररुचि ने उसे शाप दिया कि उसका पति 'पशुपाल' होगा। कन्या ने प्रण किया कि वह ऐसे व्यक्ति से विवाह करेगी जो वररुचि का गुरु हो। जब वररुचि इस कन्या के लिए वर खोज रहे थे तो जगल में भैसे चराते हुए कालिदास मिले। उन्होने उन्हे 'करचण्डी' शब्द का अर्थ बतलाया अत गुरु बने। कालिदास का विवाह प्रियगुमञ्जरी के साथ हुआ। जब इनकी मूर्खता प्रकट हुई तो प्रियगुमञ्जरी ने उनका अपमान किया। दुखी होकर विद्वत्ता प्राप्त करने के लिए कालिदास ने काली की आराधना की। देवी प्रसन्न हुई और कालिदास ने कुमारसम्भव प्रभृति तीन काव्य तथा छह प्रबन्ध बनाए।

अगली कथा 'सुवर्ण पुरुष की सिद्धि' के प्रबन्ध में विक्रम की उदारता और धैर्य का वर्णन है। यह कथा सिंहासन-बत्तीसी के जैनपाठ में इकत्तीसवी पुत्तलिका द्वारा कहलाई गई है। इसमें दाता नामक सेठ के धवलगृह (महल) की कथा है। सेठ ने जो नवीन धवलगृह बनवाया था उसमें उसे 'गिरता हूँ' शब्द सुनाई दिया और 'मत गिरो' यह कहकर वह भागकर राजा के पास आया। राजा ने वह धवलगृह (महल) स्वय खरीद लिया। रात को जब वही 'गिरता हूँ' शब्द हुआ तो राजा ने कहा 'शीघ्र गिरो'। उसके ऐसा कहते ही सुवर्ण-पुरुष वहाँ गिरा और राजा को उसकी प्राप्ति हुई।

अगला विक्रमादित्य के सत्व का प्रबन्ध है। यह कथा भी सिंहासन बत्तीसी के जैनपाठ में सम्मिलित है और बत्तीसवी पुतली द्वारा कहलाई गई है। इसमें राजा के सत्त्व (साहस) के प्रेम का सकेत है। अवन्तिकापुरी में बिकने आई हुई कोई वस्तु बिना बिके नही लौटती थी। एक व्यक्ति 'दारिद्र्य' की मूर्ति बनाकर लाया। किसी के न खरीदने पर स्वय राजा ने उसे क्रय कर लिया। दारिद्र्य के आने पर लक्ष्मी आदि राजा को छोड गई। परन्तु जब सत्त्व (साहस) छोडकर जाने लगा तो राजा आत्महत्या को तैयार हो गया। सत्त्व प्रसन्न हुआ और रह गया। परिणाम यह हुआ कि लक्ष्मी आदि फिर लौट आए।

---

* अवन्ति देश में सुप्रतिष्ठान नामक नगर का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवत यह उज्जयिनी के लिए ही लिखा गया है।
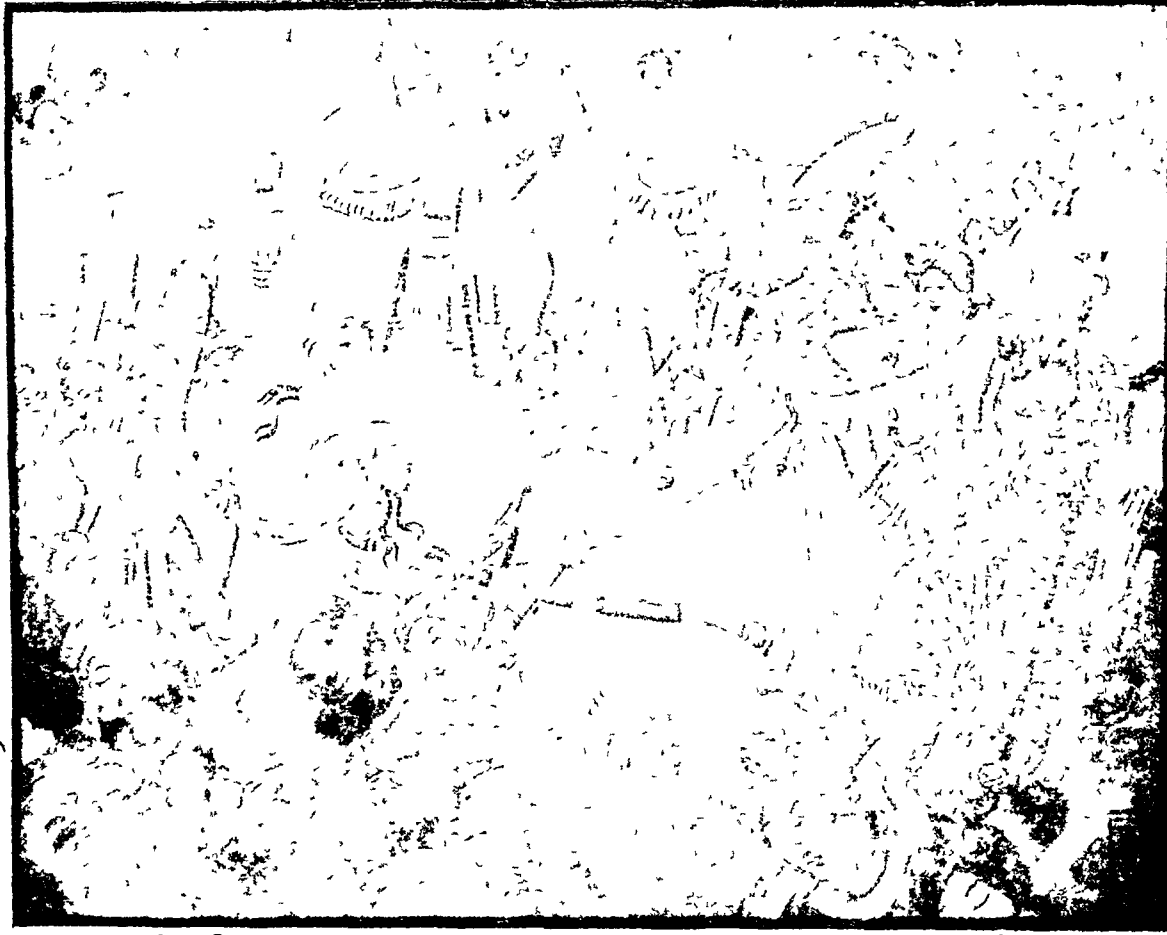
विक्रमादित्य की विजययात्रा

(चित्रकार—श्री उपेन्द्र महारथी, पटना)

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

अगला 'सत्त्व परीक्षा' नामक निबन्ध भी इसी प्रकार राजा के साहस का वर्णन करता है। इसमे विक्रम के साहस को देखकर उसके पास आए हुए ज्योतिषी ने कहा है "तुम्हारा यह सत्व (साहस) रूपी लक्षण वत्तीस लक्षणों से भी बढ़कर है।" यह कथा सिंहासन बत्तीसी के जैन पाठ मे उन्तीसवी पुतली द्वारा कहलाई गई है।

विद्यासिद्धि के प्रवन्ध मे विक्रमादित्य की उदारता का वर्णन है। जब वह 'परकाया प्रवेश' की विद्या सीखने श्रीपर्वत पर भैरवानन्द योगी के पास जाने लगा तो एक ब्राह्मण उसके साथ हो लिया और उसने विक्रम से यह वचन ले लिया कि पहले यह विद्या मुझे सिखाना फिर तुम सीखना। राजा ने दुख उठाकर भी यह वचन पाला।

अगले प्रवन्ध में विक्रमादित्य के जैन साधु सिद्धसेन दिवाकर से प्रभावित होने की कथा है। यह कथा सिहासन बत्तीसी के जैनपाठ में विस्तार से मिलती है।

विक्रमादित्य सिद्धसेन दिवाकर के 'सर्वज्ञ पुत्र' विरुद को सुनकर उनकी परीक्षा लेते है। वे मन ही मन उन्हे प्रणाम करते है। अपने श्रुतज्ञान से राजा का मनोगत भाव जान सिद्धसेन ने उन्हें दाहिना हाथ उठाकर धर्म लाभ का आशीर्वाद दिया। यह देखकर राजा बहुत चमत्कृत हुआ। इस प्रवन्ध मे राजा द्वारा पृथ्वी को अनृण करने का भी उल्लेख है।

अगले प्रवन्ध मे विक्रमादित्य की मृत्यु से विक्रम संवत् प्रवर्त्तन होना कहा गया है। आगे प्रकीर्णक प्रवन्ध मे 'विक्रमादित्य की पात्र परीक्षा' नामक कथा और है।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रबन्ध चिन्तामणि तथा सिहासन वत्तीसी के जैन पाठ मे जैन सम्प्रदाय मे प्रचलित विक्रमादित्य की कथाओ का सग्रह किया गया है। हम इस प्रकरण का अन्त मेरुतुग द्वारा की गई विक्रमादित्य की प्रशंसा से करेगे।

अन्त्योऽप्याद्यः समजनि गुणैरेक एवावनीशः। शौर्योदार्यप्रभृतिभिरभारंतोर्वीतले विक्रमार्कः॥
श्रोतुः श्रोतामृतसमनवत्तस्य राज्ञः प्रबन्धं। संक्षिप्योच्चैर्विपुलमपितं वच्मि किञ्चित्तदादौ॥

पुराण—अर्थशास्त्रकार ने इतिहास की परिभाषा मे छह वाते सम्मिलित बतलाई है। १. पुराण, २. इतिवृत्त, ३. आख्यायिका, ४. उदाहरण, ५ धर्मशास्त्र और ६. अर्थशास्त्र। अतएव पुराण भी इतिहास के एक अग माने गए है। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानो ने पुराणों के प्रति वहुत अश्रद्धा प्रकट की है, यहाँ तक कि किसी समय विल्सन आदि योरोपियन विद्वान् इनका रचनाकाल ईसवी ग्यारहवी शताब्दी के पश्चात् तक बतलाते थे। परन्तु अब पुराणो का ऐतिहासिक मूल्य विद्वानो द्वारा माना जा चुका है। उनके आधार पर प्राचीन भारतीय इतिहास का पुर्नर्निर्माण किया गया है। अत. यह देखना उचित होगा कि विक्रमादित्य का वर्णन पुराणो मे क्या दिया हुआ है।

कालकाचार्य कथानक मे गर्दभिल्ल से मिलते हुए एक गर्दभिन् वंश का उल्लेख है जिसने ७२ वर्ष राज्य किया (पार्जीटर, पुराण-पाठ, पृष्ठ ४५-४६)। इसके अतिरिक्त पुराणो मे विक्रमादित्य का उल्लेख कम ही मिलता है। केवल भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व मे विक्रमादित्य का विशद वर्णन दिया है। भविष्य पुराण को पार्जीटर आंध्र राजा यज्ञश्री के समय मे ईसवी दूसरी शताब्दी के अन्त मे लिखा हुआ बतलाते है। अत. वह बहुत बहुमूल्य उल्लेख है। परन्तु स्मिथ का मत है कि भविष्य पुराण का वर्त्तमान रूप वहुत कुछ प्रक्षिप्त एवं घटा-बढ़ा है, अतः इतिहास की दृष्टि से बेकार है। जो हो, विक्रमादित्य का पुराण-वर्णित रूप यहाँ दिया जाता है।

भविष्य पुराण मे विक्रमादित्य का उल्लेख दो स्थल पर आया है। द्वितीय खण्ड के अध्याय २३ मे लिखा है:—

तस्मिन्काले द्विजः कश्चिज्जयंतो नाम विश्रुतः॥
तत्फलं तपसा प्राप्तः शक्रतः स्वगृहं ययौ।
जयतो भर्तृहरये लक्षस्वर्णेन वर्णयन्॥
भुक्त्वा भर्तृहरिस्तत्र योगारूढो वनं गतः।
विक्रमादित्य एवास्य भुक्त्वा राज्यमकंटकम्॥

इसम जयन्त नामक ब्राह्मण के तपोवल से इन्द्र से अमृत फल लाने का उल्लेख है। इस ब्राह्मण ने इमे भर्तृहरि को वेच दिया। भर्तृहरि योगारूढ होकर वन को चले गए तव विक्रमादित्य उनके स्थान पर राजा हुआ। यही कहानी सिंहासन वत्तीसी आदि अन्य पुस्तकों में जिस रूप म प्राप्त है अन्यत्र दिया गया ह।

भविष्य पुराण क अनुसार कलियुग के ३७१० वप पश्चात् (सप्तत्रिंशाते वर्षे दशाब्द चाधिके कलौ) अवन्ति मे प्रमर नामक राजा हुआ। उसके पश्चात उसके वंश म पश्चात क्रमश महामद, देवापि, देवदूत और गन्धवसन हुए। गन्धवसेन अपना राज्य अपने पुत्र शख को देकर वन को चले गए। वहा वन म इन्द्र द्वारा भेजी हुई वीरमती नामक देवागना से गन्धवसेन के विक्रमादित्य उत्पन्न हुए। विक्रमादित्य का जन्म शका का विनाश करने के लिए, आयधम की स्थापना करने के लिए हुआ था। स्वय शकर का गण 'शिव दृष्टि' विक्रम रूप म अवतरित हुआ था। इस विक्रमादित्य को शिवजी ने वत्तीस पुतलिया युक्त सिंहासन भी दिया। माता पावती ने सिंहासन के साथ वताल नामक गण भी विक्रमादित्य की रक्षा के लिए भेजा। विक्रमादित्य न वहुत समय तक राज्य किया। उसने दिग्विजय तथा अश्वमेध यज्ञ किए।

इस पर भविष्य पुराण का यह अश विक्रम सम्बन्धी सभी कथाओ को एक नवीन रूप में प्रस्तुत करता ह। यह कथा मूल भविष्य पुराण में होगी यह शकास्पद है, क्योंकि यह तो प्रमर, चाहमान आदि राजपूतो की दवी उत्पत्ति वतलाने के लिए गढी गई ज्ञात होती ह।

स्कन्द पुराण म भी विक्रमादित्य का उल्लेख है। कुमारिका खण्ड म लिखा है कि कलियुग के ३००० वप *बीत जाने पर अर्थात लगभग १०० ई० पू० विक्रमादित्य का जन्म हुआ था।*

अन्य स्फुट ग्रन्थ—इस प्रसग मे हम गाथासप्तशती, ज्योतिर्विदाभरण तथा राजतरगिणी का उल्लख करगे। इन पुस्तको में विक्रमादित्य का उल्लेख आया है।

इन तीनो में गाथासप्तशती वहुत महत्त्वपूर्ण ह। यह कुन्तल देश के राजा, प्रतिष्ठान (पठण) नगर के अधीश, शातकर्ण (शातकर्णि) उपनामवाले द्वीपिकर्ण के पुत्र, मलयवती के पति और हालादि उपनामवाले आन्ध्रभृत्य सातवाहन क लिए अथवा उसके द्वारा लिखी गई ह। *इस सातवाहन वश का ईसवी सन् २२५ के आसपास अन्त हो गया था।** एसी दशा में यह ग्रन्थ उक्त समय के पूर्व ही लिखा माना जायगा। इसके रचनाकाल के विषय में वहुत विवाद चलाया गया है। डॉ० देवदत्त भाण्डारकर इसका रचनाकाल ईसा की छठवी शताब्दी वतलाते हैं।† यह सव खींचतान इस कारण से की गई थी कि डॉ० रामकृष्ण भाण्डारकर का यह मत पुष्टि पा सके कि गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ही प्रथम एव शकारि संवत प्रवर्त्तक विक्रमादित्य था। यदि गाथासप्तशती का रचनाकाल दूसरी शताब्दी विक्रमी मान लिया जाय तो सर भाण्डारकर की यह कल्पना असत्य सिद्ध होती ह। परन्तु अव तो इस कल्पना को असत्य सिद्ध करने के एकाधिक आधार ज्ञात हो गए ह।

डॉ० देवदत्त भाण्डारकर के मत के खण्डन में महामहोपाध्याय रायवहादुर गौरीशकर हीराचन्द ओझाजी द्वारा दिए गए तक हम यहा उद्धत करते हं —

"देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर ने विक्रम-सवत् सम्बन्धी अपने लेख म 'गाथासप्तशती' के राजा विक्रम के विषय में लिखते हुए उक्त पुस्तकके रचनाकाल के सम्बन्ध म लिखा ह कि 'क्या गाथासप्तशती वास्तव मे उतना पुराना ग्रंथ ह जितना कि माना जाता है? वाण के हर्षचरित के प्रारम्भ के १३वे श्लोक में सातवाहन के द्वारा गीता के 'कोश' के वनाए जाने का उल्लेख अवश्य ह परन्तु इस 'कोश' को हाल की सप्तशती मानने के लिए कोई कारण नही है जसाकि प्रॉ वेवर ने अच्छी तरह वतलाया है। उसी पुस्तक में मिलनेवाले प्रमाण उसकी रचना का समय वहुत पीछे का होना वतलाते ह। यहाँ पर केवल दो वातो का विचार किया जाता हैं। एक तो उस (पुस्तक) म कृष्ण और राधिका का (१।८९) और दूसरा मगलवार (३।६१) का उल्लेख है। राधिका का सवस पुराना उल्लेख जो मुझे मिल सका वह पचतत्र म ह जो ई० स० की पाचवी शताब्दी का वना हुआ ह। एसे ही तिथियो के साथ या सामान्य व्यवहार में वार लिखने की रीति ९वी शताब्दी

* स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २३२।

† भाण्डारकर स्मृति-ग्रन्थ, पृष्ठ १८८–१८९।

से प्रचलित हुई, यद्यपि उसका सबसे पुराना उदाहरण बुधगुप्त के ई० स० ४८४ के एरण के लेख में मिलता है। यदि हम गाथा सप्तशती के हाल का समय छटी शताब्दी का प्रारम्भ माने तो अधिक अनुचित न होगा" (आर० जी० भंडारकर कोम्मेमॉरेशन वॉल्यूम पृ० १८८-८९)। हम उक्त विद्वान् के इस कथन से सर्वथा सहमत नही हो सकते क्योंकि बाणभट्ट सातवाहन के जिस सुभाषित रूपी उज्ज्वल रत्नों के कोश (सग्रह, खजाने) की प्रशंसा करता है (अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः। विशुद्धजातिभिः कोश रत्नैरिव सुभाषितैः ।।१३) वह 'गाथासप्तशती' ही है, जिसमे सुभाषित रूपी रत्नों का ही सग्रह है। यह कोई प्रमाण नही कि प्रॉ० वेवर ने उसे गाथासप्तशती नही माना इसलिए वह उससे भिन्न पुस्तक होना चाहिए। वेबर ने ऐसी ऐसी कई प्रमाणशून्य कल्पनाएँ की है जो अव मानी नही जाती। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. सर रामकृष्ण गोपाल भडारकर ने भी वेबर के उक्त कथन के विरुद्ध बाणभट्ट के उपर्युक्त श्लोक का सम्बन्ध हाल की सप्तशती से होना माना है (बम्बई, ग्रं; जि० १, भा० २, पृ० १७१तै, ऐसा ही डाक्टर फ्लीट ने (ज० रॉ० ए० सो०; ई० स० १९१६, पृ० ८२०) और 'प्रवन्ध-चिन्तामणि' के कर्त्ता मेरुतुग ने माना है (प्रवन्ध-चिन्तामणि, पृ. २६)। पाँचवी शताब्दी के बने हुए पंचतंत्र मे कृष्ण और राधिका का उल्लेख होना तो उलटा यह सिद्ध करता है कि उस समय कृष्ण और राधिका की कथा लोगों मे भलीभाँति प्रसिद्ध थी, अर्थात् उक्त समय के पहले से चली आती थी। यदि ऐसा न होता तो 'पंचतंत्र' का कर्ता उसका उल्लेख ही कैसे करता? ऐसे ही तिथियो के साथ या सामान्य व्यवहार मे वार लिखने की रीति का ९वी शताब्दी मे प्रचलित होना बतलाना भी ठीक नही हो सकता, क्योकि कच्छ राज्य के अंधे गाँव से मिले हुए क्षत्रप रुद्रदामन् के समय के (शक) संवत् ५२ (ई० स० १३०) के ४ लेखों में से एक लेख मे 'गुरुवार' लिखा है। (वर्षे द्विपचाशे ५२-२ फाल्गुण बहुलस द्वितीया वी २ गुरुवास (रे) सिंहलपुत्रस ओपशतस गोत्रस० स्वर्गीय आचार्य वल्लभजी हरिदत्त की तय्यार की हुई उक्त लेख की छाप से) जिससे सिद्ध है कि ई० स० की दूसरी शताब्दी मे वार लिखने की रीति परम्परागत प्रचलित थी। राधिका और बुधवार के उल्लेख से ही 'गाथासप्तशती' का छटी शताब्दी मे बनना किसी प्रकार सिद्ध नही हो सकता है। डॉ० रामकृष्ण गोपाल भाडारकर ने भी गाथासप्तशती के कर्ता हाल को आध्रभृत्य वश के राजाओ मे से एक माना है (बम्बई ग्रं; जिल्द १, भाग २, पृ. १७१) जिससे भी उसका आध्रभृत्य (सातवाहन) वशियो के राजत्वकाल मे अर्थात् ई० स० की पहिली या दूसरी शताब्दी मे बनना मानना पड़ता है।*"

'गाथासप्तशती' मे विक्रमादित्य के उल्लेख से जहाँ उसकी ऐतिहासिकता पर प्रभाव पड़ता है, वहाँ उसके गुणों पर भी प्रकाश पड़ता है। विक्रमादित्य अपार दानी था, यह लोक कल्पना पिछले विक्रमादित्य विरुदधारियो के कारण ही अस्तित्व मे नही आई है, वह मूल विक्रमादित्य के विषय मे भी थी, यह बात सप्तशती की विक्रम विषयक गाथा से स्पष्टतया प्रकट होती है। वह गाथा इस प्रकार है:—

> **"संवाहण सुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं।**
> **चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणुसिक्खअंतिस्सा ।।४६४।।**

इस गाथा मे चरणो के सवाहन के सुखरस से तुष्ट हुई नायिका द्वारा विक्रमादित्य के चरित्र का अनुकरण करके "लक्ख" (लाल रग की लाख या लक्ष मुद्रा) नायक के कर मे दिए जाने का भाव प्रकट किया गया है। इसके शृंगार पर के भाव के अनूठेपन से हमे कोई सम्बन्ध नही है, न हमे कवि के उपमेय से सम्बन्ध है, हम तो इस गाथा के उपमान 'विक्रमादित्य' पर ही विचार करेगे। वह विक्रमादित्य ऐसा था जो केवल चरण-स्पर्श से प्रसन्न होकर लाखो मुद्राएँ दान दे देता था।

इस गाथा से विक्रमादित्य के दान का पता तो चलता ही है, परन्तु आज के वातावरण मे-जबकि विक्रमादित्य के अस्तित्व पर ही शका की जा रही है अधिक महत्त्व की सूचना तो यह है कि विक्रमीय द्वितीय शताब्दी के पूर्व एक विक्रमादित्य था। इस प्रकार विक्रमीय संवत्सर के प्रवर्त्तन का सेहरा चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा अन्य तथाकथित संवत् प्रवर्त्तको के सिर नही बाँधा जा सकता।

विक्रमीय संवत् की तेरहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे (सवत् १२०५ वि० के लगभग) लिखी गई कल्हण की प्रख्यात राजतरंगिणी मे भी शकारि विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है। परन्तु इसके द्वारा विक्रम-समस्या मे गड़बडी ही फैली है।

* **प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ १६८-१६९।**

वैक्रम-अनुश्रुति

सबसे पहले विक्रमादित्य का उल्लेख कल्हण ने राजतरंगिणी की दूसरी तरंग के पाँचवें तथा छठवें श्लोक में किया है—

"अथ प्रतापादित्याख्यास्तत्रानीय दिगन्तरात्।
विक्रमादित्य भूभर्तुर्ज्ञातिराभिषिच्यत ॥५॥
शकारि विक्रमादित्य इति सभ्रममाश्रित।
अन्यैरत्रान्यथालेखि विसवादिकदर्थितम् ॥६॥

प्रतापादित्य विक्रमादित्य का रिश्तेदार था, यह लिखकर कल्हण ने यह टिप्पणी की है कि यह वह विक्रमादित्य नहीं जो शकारि था, जसाकि कुछ लोग भ्रमवश मानते है। इससे यह स्पष्ट है कि राजतरंगिणीकार के समय में यह विवाद था कि प्रतापादित्य का बाधव विक्रमादित्य शकारि था या नहीं। कल्हण ने अपना यह मत स्थिर किया है कि इस प्रतापादित्य का बाधव विक्रमादित्य शकारि नहीं था। कल्हण के मस्तिष्क में केवल एक ही 'शकारि' की भावना थी।

इस प्रतापादित्य का समय राजतरंगिणी की गणना से लगभग १६९ ई० पू० होना है। अत यह उल्लेख मूल विक्रमादित्य का ही हो सकता है और एक सौ बारह वर्ष का अन्तर कालगणना की भूल के कारण हो सकता है। इस काल की कल्हण की गणना ठीक मानी भी नहीं जा सकती।

कल्हण ने जिस विक्रमादित्य को शकारि माना है वह मातृगुप्त का आश्रयदाता विक्रमादित्य है। वह लिखता है—

तत्रानेहस्युज्जयिन्या श्रीमान् हर्षापराभिध।
एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत ॥१२५॥

काश्मीर में मातृगुप्त के राज्य के समय में उज्जयिनी में किसी हर्ष विक्रमादित्य का राज्य नहीं था। दसवीं शताब्दी में मालवे में एक हर्षदेव परमार अवश्य हुए है। फिर यह कल्हण के 'शकारि' हर्ष विक्रमादित्य कौन हो सकते है। मातृगुप्त के समय में मालवे पर स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का शासन था। अत अनुमान यह किया जाता है कि उक्त श्लोक का मूल पाठ 'श्रीमान् हर्ष पराभिध' के स्थान पर 'श्री स्कन्द पराभिध' होगा। और स्कन्दगुप्त के लिए ही कल्हण ने आगे लिखा है—

म्लेच्छोच्छेदाय वसुधा हरेरवतरिष्यत।
शकान्विनाश्य येनादौ कार्यभारो लघूकृत ॥

परन्तु चूंकि कल्हण इस एक विक्रम विरुदधारी को शकारि समझता था इसलिए उसने प्रतापादित्य के समकालीन विक्रमादित्य के शकारित्व पर अविश्वास किया। काश्मीर के इतिहास को केन्द्रबिन्दु बनानेवाले इतिहासकार कल्हण ने ५७ ई० पू० के मालव विक्रमादित्य के अस्तित्व पर यदि नहीं, तो कम से कम उनके शकारित्व पर शका का सूत्रपात किया था। परन्तु हमें तो उनसे केवल एक बात लेनी है, वह यह कि ई० पू० में एक विक्रमादित्य था। उस समय उज्जैन से उसने शकों का खदेड भगाया था यह बात हम दूसरी अनुश्रुतियों से पूर्णत पुष्ट कर सके है।

ज्योतिर्विदाभरण कालिदास नामक ज्योतिषी ने लिखा है। यह कालिदास अपने आपको विक्रमकालीन महाकवि कालिदास मनवाने पर तुला हुआ है। वह अपने आपको उज्जयिनी पति विक्रम का मित्र बतलाता है, रघुवश आदि तीनों काव्यों का कर्ता कहता है। वह पुस्तक का रचनाकाल भी सवत् २४ वि० लिखता है। परन्तु इस पुस्तक की घटिया रचनाशैली कहती है कि यह ग्रन्थ रघुवश के रचयिता का नहीं हो सकता। दूसरे सवत् २४ विक्रमीय में की गई इस रचना में वि० स० १३५ में प्रारम्भ होनेवाले शक-सवत् का भी उल्लेख है, जिससे उक्त ग्रन्थ की भ्रामक तिथि भी प्रकट होती है। परन्तु इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक मानने में हमारे अनेक मित्रों का जी दुखता है। इस विवाद में पडना यहाँ अभीष्ट भी नहीं है, अत हम यहाँ तो केवल इतना ही कह देना चाहते है कि "भारतीय ज्योतिष शास्त्र" मे श्री० शकर बालकृष्ण दीक्षित इस ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रमीय तेरहवीं शताब्दी के अन्त में मानते है।

इस ग्रन्थ में विक्रम की सभा के जो नवरत्न गिनाए गए है उनका उल्लेख हो चुका है। उनके अतिरिक्त मणि, अशु, जिष्णु, त्रिलोचन, हरि कवि तथा सत्य, श्रुतसेन, बादरायण, मणित्थ और कुमारसिंह ज्योतिषी और गिनाए है। उसकी

सेना भी बहुत विशाल बताई है। तीन करोड़ पैदल सिपाही, दस करोड़ अश्वारोही, चौवीस हजार हाथी के अतिरिक्त उसके पास चार लाख नावे भी बतलाई है। उसने ९५ शक राजाओ को हराकर अपना संवत् चलाया। (कालकाचार्य कथानक के ९६ 'साहियो' से यह सख्या मिलती है) इस ग्रन्थ मे यह भी लिखा है कि विक्रमादित्य रूम देश के 'शक' राजा को जीतकर उज्जैन लाया, परन्तु फिर उसे छोड़ दिया। (रोम सम्राट् को विक्रमादित्य हराकर उज्जैन लाए या नही, इस विषय मे तो हम मौन रहना ही श्रेयस्कर समझते है, यहाँ हम केवल इतना लिखना उचित समझते है कि उस समय, अर्थात् ५७ ई० पू० के आसपास, रोम मे परम प्रतापी जूलियस सीजर प्रभावशील था और ४५ ई० पूर्व मे रोम की सीनेट ने उसे आजीवन डिक्टेटर बना दिया था।)

समन्वय—विक्रमादित्य सम्बन्धी अनुश्रुतियो का दिग्दर्शन हम कर चुके है। अब इन सब विभिन्न कथाओ का समन्वय कर हम विक्रमादित्य का अनुश्रुति-सम्मत रूप प्रस्तुत करने का प्रयास करेगे।

सबसे प्रथम तो विक्रमादित्य के माता-पिता, भाई, बान्धव मत्री आदि के नामो को ही लेते है। यह सब एक स्थल पर नीचे की सरिणी से एक दृष्टि मे ज्ञात होगे :—

	कालक-कथा	कथासरित्सागर	बेतालपच्चीसी	भविष्य पुराण	सिंहासनबत्तीसी	प्रबन्ध चिन्तामणि
	१	२	३	४	५	६
पिता ..	गर्दभिल्ल..	महेन्द्रादित्य ..	गन्धर्वसेन	गन्धर्वसेन	गर्दभ वेशधारी गधर्व, (केवल जैन पाठ मे)	..
माता ..	..	सौम्यदर्शना .	..	वीरमती ..	मदनरेखा (केवल जैन पाठ मे)	..
भाई ..	..	..	१. शंख... २. भर्तृहरि	१. शख .. २. भर्तृहरि	भर्तृहरि (जैन पाठ)	भर्तृहरि
पुत्री ..	. .	..	..	..	..	प्रियंगुमंजरी
विवाह ..	..	सात पत्नियाँ .. मलयावती, मदन-लेखा, आदि	..	..	..	..
पुरोहित ..	..	..	..	..	१. त्रिविक्रम २. वसुमित्र	..
मंत्री ..	..	.	..	..	भट्टि, बहिसिन्धु	..
सेनापति ..	..	विक्रमशक्ति ..	..	..	चन्द्र ..	..

साथ ही इन सब कथाओ को एक मे मिलाकर जो विक्रम चरित्र बनता है उसे अत्यन्त सक्षेप मे नीचे दिया जाता है :—

१. जन्म, माता-पिता और भाई—विक्रमादित्य के जन्म के सम्बन्ध मे अनेक असाधारण एव अलौकिक बातें सम्मिलित हो गई है। विक्रमादित्य भारतीय अनुश्रुति मे अत्यन्त महान् व्यक्ति माने गए है। ऐसे व्यक्ति का जन्म किसी विशेष उद्देश्य से होता है। राम और कृष्ण के जन्म का हेतु धर्म की स्थापना, दुष्टो का दलन एवं सन्तो की रक्षा था। उसी प्रकार विक्रम का जन्म भी भविष्य पुराण के अनुसार 'शकानाश्च विनाशार्थं' एव 'आर्यधर्म विवृद्धये' हुआ था। कथा-सरित्सागर के अनुसार भी उसका अवतरण म्लेच्छो से आक्रान्त पृथ्वी के उद्धार के लिए हुआ था। इन दोनों कथाओं मे शिवजी के गण 'माल्यवान्' ने विक्रमादित्य के रूप मे अवतार लिया था।

प्रबन्ध चिन्तामणि मे विक्रम के पिता का नाम नही दिया और न उनके जन्म मे कोई अलौकिकता बतलाई गई है। सिंहासनबत्तीसी के जैन पाठ मे गर्दभरूपधारी गन्धर्व है, कालकाचार्य कथा मे गर्दभिल्ल तथा बेतालपच्चीसी और भविष्यपुराण मे गन्धर्वसेन है। इन सब नामों मे बहुत अधिक ध्वनिसाम्य है। कथासरित्सागर का 'महेन्द्रादित्य' नाम अवश्य भिन्न है। माता के नाम मे तो साम्य बिलकुल नही है।

२ राज्यप्राप्ति—प्रबंध चिन्तामणि ने विक्रम को गरीब तथापि स्वाभिमानी राजपुत्र बतलाया है। उसने अग्निवेताल से लड़कर अवन्ति का राज्य प्राप्त किया। कथासरित्सागर, भविष्यपुराण, कालककथा, सिंहासनबत्तीसी एवं वेतालपच्चीसी सभी उसे राजा का बेटा बतलाते हैं, इनमें से कुछ में वह भाई शंख से राज्य लेता है, कुछ में भर्तृहरि से तथा कुछ में सीधा अपने पिता से।

३ राज्य विस्तार—विक्रमादित्य का राज्य विस्तार भी अत्यधिक बतलाया गया है। कथासरित्सागर में उन देशों की गणना कराई गई है (पीछे देखिए)। कथासरित्सागर का विक्रमादित्य सिंहल, मलयद्वीप आदि के राजाओं का मित्र था। सिंहासन बत्तीसी के अनुसार पाण्ड्यदेश से इसे कर मिलता था। वास्तव में अनुश्रुति का विक्रम समस्त संसार का एकछत्र सार्वभौम सम्राट् था, रूम और चीन तक तो वह विजय करने जाया करता था और फारस के राजा को उसका सेनापति ही बांध लाता था।

४ शौर्य, दान एवं परोपकार—राजा विक्रमादित्य की युद्ध-वीरता की कथा वर्णन करने में अनुश्रुति ने अधिक समय नहीं लगाया। परन्तु दूसरे की थोड़ीसी भलाई के लिए वह अपने प्राण देने का भी नहीं चूकता था। करोड़ों की संख्या में वह दान देता था। संसार को ऋण-ग्रस्त देख वह सबको ऋणहीन करने पर कटिबद्ध हो जाता था। अपने प्राणों की बाजी लगाकर प्राप्त हुई सिद्धियों को वह बिना सोचे समझे दे डालता था। यहाँ तक कि अपने विरुद्ध युद्ध करते हुए शालिवाहन के आदमी को वह अमृत दे देता है।

५ विक्रम राज—तुलसीदास ने रामराज्य में सभी सुखों की कल्पना की है। हमें भी सिंहासनबत्तीसी में विक्रम राज की बड़ी विशद एवं सुन्दर कल्पना मिली है। उन उद्धरणों को पूरा पूरा हम पीछे दे चुके हैं। दिन रात प्रजा पालन में तत्पर, परदुखपरायण विक्रम की प्रजा सुखी हो यह स्वाभाविक ही है।

६ संवत प्रवर्तन—विक्रमादित्य ने संवत् प्रवर्तन कब और कैसे किया इसके विषय में अनुश्रुति में बहुत स्पष्ट उल्लेख नहीं है। प्रबंध चिन्तामणि में विक्रम की मृत्यु से संवत् का प्रारम्भ माना है। सिंहासन बत्तीसी में पृथ्वी को ऋण-हीन करके संवत् प्रवर्तन किया है। कालक-कथा के अनुसार शकों को हराकर विक्रम ने संवत् प्रवर्तन किया।

७ शालिवाहन और विक्रम की मृत्यु—जन्म के समान ही विक्रमार्क का अवसान भी लोककथा अत्यन्त रहस्य-पूर्ण बतलाती है। विक्रम का प्रतिष्ठान के शालिवाहन से बैर भी लोक प्रसिद्ध हो गया है। कुछ ग्रन्थों में शालिवाहन प्रतिष्ठान का राजा है, कुछ में ढाई वर्ष की बालिका से उत्पन्न शेषनाग का पुत्र। परम पराक्रमी विक्रम को मारनेवाला शालिवाहन भी अलौकिक बन गया।

८ सिंहासन आदि—विक्रम का सिंहासन और उनके मित्र वेताल के साथ साथ वररुचि, कालिदास आदि भी इन कथाओं में कहीं कहीं दिखाई देते हैं। विक्रम का सिंहासन तो भारतीय कथा साहित्य की अत्यन्त आकर्षक वस्तु बन गई है। विक्रम के अतिरिक्त उसपर कोई दूसरा बैठ ही नहीं सकता। उसपर बैठ कर न्याय बुद्धि एवं शासन-क्षमता, उदारता आदि का अपने आप उदय होता है।

उपसंहार—वैक्रम-अनुश्रुति के महासागर में से यह कुछ रत्न परखकर उनकी लोकरंजनकारी द्युति का विवेचन यहां किया है। विशुद्ध ऐतिहासिक सामग्री यदि अस्थियों का पंजर है तो लोककथा उसके ऊपर चढ़ा हुआ मांस एवं चर्म है। यह एक दूसरे के पूरक हैं। इससे यह स्पष्ट है कि लोक मस्तिष्क में इतना गहरा प्रविष्ट होनेवाला परदुखभंजन, जन मन-रंजन, दानी, संवत् प्रवर्तक वीर विक्रमादित्य केवल कल्पना मात्र नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि पिछले विक्रमादित्य उपाधिधारी सम्राटों की छाया ने मालवगण-नायक मूल विक्रम की तसवीर को लोक मस्तिष्क रूपी पट पर अत्यन्त गहरे रंगों से रँग दिया है। गुप्तवंशीय सम्राटों के 'विक्रमादित्य' विरुद के कारण यह गण-नायक सम्राट् बना, उनकी दिग्विजयों को देखकर उस स्वातन्त्र्य प्रेमी जाति के नेता को रोम, फारस, मलय, लंका आदि का विजेता बनना पड़ा। यह सब कुछ होते हुए भी लोक कल्पना का विक्रमादित्य अपने आप में पूर्ण है, इसे इतिहासज्ञों के निर्णय की चिन्ता नहीं, उसकी मूर्ति भारतीय संस्कृति की प्रतीक बन गई है, उसका संवत् भारत का राष्ट्रीय एवं धार्मिक संवत्सर हो गया है। भारतीय संस्कृति की अजस्र धारा के साथ एवं विक्रम संवत् की अनन्त यात्रा के साथ वीर विक्रमादित्य का नाम भी अमर रहेगा।
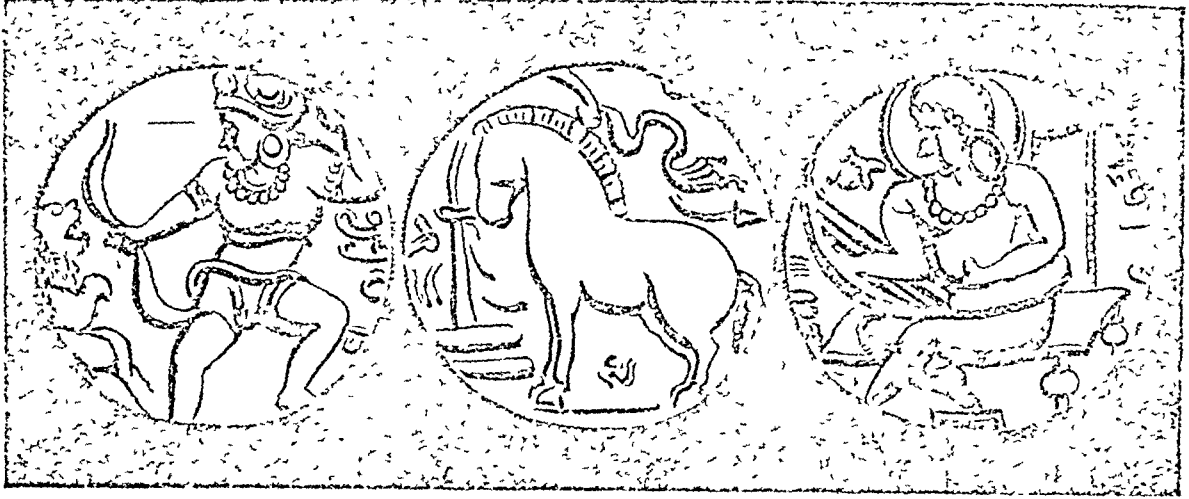
सम्राट समुद्रगुप्त

श्री डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच० डी० (लण्डन),

प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास मे समुद्रगुप्त एक शक्तिशाली सम्राट् एव विजेता हुआ है। वह अपनी तीव्र रणप्रवृत्ति के कारण अशोक के ठीक प्रतिकूल कहा जा सकता है। अशोक के हृदय पर तो एक ही युद्ध की भयंकरता ने भारी आघात पहुँचाया था। कलिंग के सहस्त्रो वीरो को हताहत देखकर और उनके वन्धुजनो के रोमाचकारी रुदन को सुनकर उसे घोर आत्मग्लानि हुई, और तदुपरान्त वह दयाप्रधान वौद्धधर्म की शरण मे गया। तवसे उसने "धर्म्मविजय" की पताका फहराई, और शान्ति तथा अहिंसा का प्रसार किया। किन्तु इसके विपरीत समुद्रगुप्त ने अपने सामने शस्त्र द्वारा दिग्विजय का लक्ष्य रक्खा। वैष्णव होते हुए भी वह क्षात्र-धर्म का पूर्ण परिपालन करनेवाला था। उसने भरसक यह प्रयत्न किया कि खड्ग के वल से अन्य राज्यों का उन्मूलन कर भारत में अपनी सत्ता स्थापित करे और वह उसका एकछत्र सम्राट् माना जाय।

समुद्रगुप्त के गुणो तथा सफल उद्योगो का वृत्तान्त विशेपकर इलाहावाद के स्तम्भ-लेख से उपलब्ध हुआ है।* इस पापाण-स्तम्भ पर, जो अव गंगा और यमुना के संगमवाले किले के भीतर है† एक ओर सन्धिविग्रहिक कुमारामात्य

* खेद है इस लेख में कोई तिथि नही दी हुई है। डा० फ्लीट (Dr Fleet) के मत से यह समुद्रगुप्त के मरने के पश्चात् उत्कीर्ण किया गया था, किन्तु यह उनका भ्रम था। जिस वाक्य के आधार पर उन्होने यह निश्चय किया था कि समुद्रगुप्त की मृत्यु की ओर संकेत है, उसका ठीक अर्थ यह है कि सम्राट् के विजयवर्धित-यश के फैलाव के लिए भूमण्डल पर्याप्त न था, अतएव वह स्वर्ग में भी जाकर व्याप्त हुआ। दूसरे, इस स्तम्भ पर समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ का कोई उल्लेख न होना भी यही सिद्ध करता है कि यह लेख उसके जीवन में ही उत्कीर्ण हुआ था।

† ऐसा अनुमान किया जाता है कि शायद अशोक ने पहले इस स्तम्भ को कौशाम्वी में, जहाँ के महामात्रो को वह अपने लेख में सम्वोधित करता है, खड़ा करवाया था, और वाद को अकवर ने वहाँ से उखड़वाकर प्रयाग भेज दिया था। ह्वानच्वांग (Yuan Chwang) जव अपनी भारत यात्रा के समय (६२९-४५ ई०) घूमता हुआ प्रयाग पहुँचा, तव उसने इस स्तम्भ को वहाँ नहीं देखा था।

महादण्डनायक हरिषेणविरचित समुद्रगुप्त की अनेक समर सम्बन्धी भीषणकथा उत्कीर्ण है और दूसरी ओर अशोक के दया एव अहिंसा स भरे अमृतरूपी सदुपदेश। इसके अतिरिक्त समुद्रगुप्त का एक लेख मध्यप्रान्त के सागर जिला में एरन (प्राचीन ऐरिकिन) नामक ग्राम मे मिला ह, और दो ताम्रपत्र भी—पहला नालन्दा (बिहार प्रान्त) में और दूसरा अयोध्या में। ये दोना ताम्रपत्र उसके क्रमश पाचवें तथा नवे वष म उत्कीण किये गये थे, किन्तु उनके मिश्रित अक्षरा तथा अशुद्ध भाषा को देखकर विद्वान् लोग यह समझत ह कि शायद ये दोना लेख पीछे के एव जाली ह।

समुद्रगुप्त ने अपने शौय एव प्रताप की सूचक कई उपाधिया धारण की, जसे सवराजोच्छेत्ता*, पराक्रमाक, व्याघ्र-पराक्रम, अश्वमेधपराक्रम, महाराजाधिराजश्री इत्यादि। उसके हाथ में गरुडध्वज लिए राजमूर्तिवाले (Standard type) सोने के सिक्का पर एक ओर "समरशतवितत‌विजयो जितारिपुरजितो दिव जयति" खुदा ह, और बहुधा दूसरी ओर "पराक्रम"। किन्तु १९४० ई० में इन्दौर राज्य के निमार (Nimar) जिला के भीखनगांव (Bhikangaon) परगना के अन्तगत बमनाला (Bamnala) ग्राम में समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा कुमारगुप्त प्रथम के काल के इक्कीस सोने के सिक्के प्राप्त हुए थे †। इनम से समुद्रगुप्त क समय के आठ सिक्के थे—सातध्वजवाले सिक्के और एक हाथ म वीणा लिए राजमूर्तिवाला सिक्का (Lyrist type)। प्रथम प्रकार के सिक्का में से एक ऐसा ह जिसके एक ओर "पराक्रम" जो उन पर अक्सर लिखा मिलता है उसके स्थान पर "श्रीविक्रम" अकित है। इसलिए इस सिक्के की प्राप्ति विशेष ध्यान देने योग्य ह। अब स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि क्या चन्द्रगुप्त द्वितीय की भाति समुद्रगुप्त भी "श्रीविक्रम" विरुदधारी था? इस नये सिक्के की दूसरी तरफ (reverse) को यदि हम चन्द्रगुप्त द्वितीय के धनुषवाले (Archer type) सिक्का की दूसरी तरफ स मिलावे तो उनमें विचित्र समता दीख पडती ह। इस प्रकार के सिक्का को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शायद अपने राजत्वकाल के प्रारम्भ म चालू किया था। इसलिए यह सम्भव ह कि बमनालावाला समुद्रगुप्त का वह सिक्का जिस पर दूसरी ओर (reverse) "श्रीविक्रम" लिखा ह चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय म ही जारी किया गया हो, और भूल से उसके पहली तरफ (obverse) चन्द्रगुप्त के धनुषवाले (Archer type) सिक्का के ठप्पा को न लगाकर उसी साचे का इस्तेमाल किया हो जो समुद्रगुप्त के राज्यकाल में प्रचलित था। कुछ सिक्का पर लगने के बाद जब यह गलती मालूम की गई तो वह ठप्पा लगाना एकदम बन्द कर दिया गया। यदि इस तक में कुछ तत्त्व है ता इस सिक्के का ऐतिहासिक खोज की दृष्टि से कुछ भी महत्त्व न होगा। तब यही मानना पडेगा कि वह वस्तुत चन्द्रगुप्त द्वितीय का सिक्का ह, केवल उसपर लापरवाही से समुद्रगुप्त का ठप्पा लगा दिया गया ह। परन्तु बिना किसी अन्य प्रमाण के ऐसा मत निर्धारित करना बिल्कुल उपयुक्त नहीं प्रतीत होता ह। क्या यह नहीं हो सकता ह कि अपनी शक्ति तथा यश को चतुर्दिक् फलाकर समुद्रगुप्त ने स्वय "पराक्रम" उपाधि से "श्रीविक्रम" को अधिक पसन्द किया हो? इसके विरुद्ध यह बात अवश्य कही जा सकती ह कि ध्वजवाले सिक्के (Standard type) समुद्रगुप्त के राजत्वकाल क प्रारम्भ म चलाये गये थे, और यदि उसने तब यह नया विरुद धारण किया था तो क्या कारण है कि वह कवल एक सिक्के का छोडकर किसी दूसर प्रकार के सिक्के पर नही मिलता है। परन्तु यह दलील निर्णयात्मक नहीं हो सकती ह क्योकि जसा श्रीदिस्कल्करजी लिखते ह, क्या यह मुमकिन नहीं ह कि समुद्रगुप्त के शासन के अन्त में भी ध्वजवाले सिक्के (Standard type) जारी किये गये हो। सम्भवत बमनालावाला वह सिक्का जिस पर "श्रीविक्रम" उत्कीर्ण ह उन्हीं म स एक ह। अतएव यह मानने मे विशेष आपत्ति नही दीखती कि गुप्तवंश मे समुद्रगुप्त ही पहला सम्राट था जिसने 'श्रीविक्रम' की प्रसिद्ध उपाधि धारण की थी।

---

* प्रवरसेन द्वितीय के समय के प्रभावती गुप्ता के रिथपुर (Rithpur) ताम्रपत्र लेख (देखिये D C Sircar, *Select Inscriptions* Vol I, p 416) से स्पष्ट ह कि यह उपाधि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी धारण की थी।

† देखिए D B Diskalkar *Journal of the Numismatic Society of India*, Vol V, pt II, pp 1, f

श्री डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी

सोने के कुछ ऐसे सिक्के मिले है जिनपर "कच" अथवा "काच" नाम अकित है। वह कौन था, इस पर विद्वानों में वड़ा मतभेद है। डॉ० विंसेण्ट स्मिथ के मतानुसार वह समुद्रगुप्त का कोई विरोधी भाई था*। यह ठीक है कि भविष्योत्तर पुराण के कलियुग राजवृत्तान्त† मे समुद्रगुप्त के "कच" नाम के एक सौतेले भाई का उल्लेख है ‡। किन्तु उक्त पुस्तक प्रामाणिक नही मानी जा सकती। उसमें ऐतिहासिक घटनाओ का वर्णन थोडा है, और अधिकतर किंवदन्तियों का संग्रह है। फिर उसमे वाद को काफी अश मिला भी दिये गये है। डॉ० डी० आर० भाण्डारकर ◖ के विचार मे "काच" वाले सिक्के रामगुप्त नामक राजा के है। इसकी ऐतिहासिकता 'देवीचन्द्रगुप्त' नाम के नाटक पर निर्भर है। यह नाटक तो अव उपलब्ध नहीं है, किन्तु इसके कुछ उद्धरण रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र रचित 'नाटचदर्पण' ग्रन्थ मे मिलते है। डॉ० भाण्डारकर का विश्वास है कि "काच" तो गलती से इन सिक्को पर खुद गया है; वास्तव मे होना चाहिए "राम", क्योंकि गुप्तकाल के अक्षरों में थोड़ेही फेरफार से 'र' का 'क' और 'च' का 'म' पढा जा सकता है। इन सिक्को के दूसरी ओर (reverse) राजमूर्ति के वाएँ हाथ के नीचे 'काच' और चारो तरफ उपगीति छन्द में "काचोगामवजित्य दिवं कर्मभिरुत्तमैर्जयति", और फल लिए खड़ी हुई लक्ष्मीदेवी की दाहिनी तरफ "सर्वराजोच्छेत्ता" लिखा है। इन सिक्कों के "दिवं कर्मभिरुत्तमैर्जयति" की समुद्रगुप्त के धनुपवाले (Archer type) सिक्कों के "सुचरितैर्दिवं जयति" लेख से विलकुल समानता है। इसलिए इन "काच" वाले सिक्को को शायद समुद्रगुप्त ने चलाया हो। पर ऐसा मान लेने के पहले यह जान लेना चाहिए कि इन सिक्को का लेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के 'छत्र' वाले सिक्कों के लेख से भी वहुत मिलता है, जैसा "क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवम् जयति विक्रमादित्यः" से स्पष्ट है। फिर प्रवरसेन द्वितीय के काल के प्रभावती गुप्ता के रिथपुर (Rithpur) ताम्रपत्र लेख से यह ज्ञात है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय की भी एक उपाधि "सर्वराजोच्छेत्ता" थी। तव क्या "काच" वाले सिक्के चन्द्रगुप्त द्वितीय के नही हो सकते है? परन्तु इसको मानने मे अड़चन यह है कि ये सिक्के शैली (style), वनावट (execution) तथा तोल (weight) में समुद्रगुप्त के अन्य सिक्कों के ही समान हैं। दूसरे "सर्वराजोच्छेत्ता" समुद्रगुप्त के लिए अधिक उचित उपाधि प्रतीत होती है, क्योंकि उसने अनेक समकालीन राजाओं को युद्ध में हराया था। तीसरे "कर्मभिरुत्तमैः" से उसके अश्वमेधयज्ञादि का, जिसमें उसने ब्राह्मणों को प्रचुर दान दिया था, संकेत मालूम पड़ता है। अतएव "काच" शायद समुद्रगुप्त का नाम था, और वह सिक्के उसी के चलाये हुए थे। किसी नरेश का यह नाम होना असम्भव नहीं। गुप्तकाल के कुछ वाद की अजन्ता की एक गुफा के लेख में दो नृपों का नाम 'काच' लिखा हुआ है ⁂। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के मन्त्री वीरसेन का नाम 'साव' था ✻। ऐसा मालूम पड़ता है कि समुद्रगुप्त का पहले का नाम "काच" था, और अपनी विजयो के पश्चात् जव वह आसमुद्रक्षितीश हो गया और उसका यश चारो समुद्र पर्यन्त फैल गया (चतुरुदधिसलिलास्वादितयशः), तव उसने अपना नाम समुद्रगुप्त रख लिया। प्राचीनकाल मे राजाओं के अक्सर एक से अधिक नाम होते थे। यथा, चन्द्रगुप्त द्वितीय को देवगुप्त अथवा देवराज भी कहते थे। ऐसे ही शायद समुद्रगुप्त का नाम "काच" था।

समुद्रगुप्त अपने पिता चन्द्रगुप्त प्रथम के पश्चात् सिंहासनारूढ़ हुआ। उसकी माता का नाम कुमारदेवी था। वह लिच्छवि वंश की थी, यह सिक्को और उत्कीर्ण लेखों से स्पष्ट है। जॉन ऐलन (John Allan) महोदय ⁑ के मतानुसार समुद्रगुप्त ने अपने माता पिता की स्मृति मे कुछ सिक्के चलाये थे, जिन्हें विद्वान् लोग चन्द्रगुप्त प्रथम प्रकार

---

* *Early History of India*, 4th ed., p. 297, N. 1.

† M. Krishnamachariar, *History of Classical Sanskrit Literature*, Introduction, pp. CII-III.

‡ *Journal of the Numismatic Society of India*, Vol. V, pt. II.

◖ *Malaviyaji Commemoration Volume*, 1932, pp. 204-06.

⁂ *Arch. Surv. West Ind.*, Vol. IV, p. 129, ll. 4, 6.

✻ *Corpus Inscriptionum Indicarum*, Vol. III, No. 6 p. 34.

⁑ *Catalogue of Coins of the Gupta Dynasties*, Introd., p. XVIII.

सम्राट् समुद्रगुप्त

(Chandragupta I type) के सिक्के कहते हैं। इनके पहली ओर (obverse) बाईं तरफ खड़ा हुआ चन्द्रगुप्त प्रथम कुछ वस्तु (अँगूठी या कड़ा ?) कुमारदेवी को दे रहा है, जो उसके दाहिनी तरफ बाएँ मुह किये खड़ी है। चन्द्रगुप्त प्रथम अपने बाएँ हाथ में अर्धचन्द्राकार ध्वजा लिए हुए है। उसके दोनों तरफ "चन्द्रगुप्त" लिखा हुआ है, और बाएँ तरफ "कुमारदेवी"। इन सिक्कों के दूसरी ओर (reverse) दाहिनी तरफ मुह किये हुए सिंह पर लक्ष्मी-देवी बैठी है। उसके बाइं तरफ एक चिन्ह (symbol) बना है, और दाहिनी तरफ "लिच्छवय" लिखा है। परन्तु कुछ विद्वान् इन सिक्कों को स्मृति तमगे नहीं मानते। वे इनको चन्द्रगुप्त प्रथम के ही सिक्के कहते हैं *। यह हो सकता है कि उसने लिच्छविकुमारी "श्रीकुमारदेवी" के साथ अपना विवाह होने के उपलक्ष में इन सिक्कों को चलाया हो। यह सम्बन्ध चन्द्रगुप्त प्रथम के उत्थान का कारण हुआ, और शायद इसीलिए लेखों में समुद्रगुप्त गर्वपूर्वक "लिच्छविदौहित्र" कहा गया है।

इसका ठीक पता नहीं है कि समुद्रगुप्त अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र था अथवा नहीं। किन्तु इलाहाबाद के स्तम्भ पर यह अवश्य लिखा है कि उसको चन्द्रगुप्त प्रथम ने स्वयं अपना उत्तराधिकारी चुना था। इससे अन्य कुमार बहुत उदासीन हुए (तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षित), और सभासद लोग प्रफुल्लित (सभ्येषूच्छ्वसितेषु) भावों के उद्वेग से चन्द्रगुप्त प्रथम का शरीर रोमाञ्चित हुआ, और अपने पुत्र को सर्वथा योग्य बताते हुए उसने उसका आलिंगन किया (आर्योहीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै रोमभि)। फिर उसको स्नेहाश्रुभरे नेत्रों से देखकर कहा कि इस पृथ्वी की रक्षा करो—

> स्नेहव्याकुलितेन बाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा।
> य पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति॥

चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी उसकी शूरता व बुद्धिमत्ता के कारण तो चुना ही था, परन्तु उसमें श्रीकुमारदेवी का भी हाथ कुछ अवश्य रहा होगा।

डॉ० जायसवालजी के मतानुसार† जब चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त को पृथ्वी के पालन करने का निर्देश दिया था, उस समय वह मगध की गद्दी से च्युत था। उस प्रसिद्ध विद्वान् के मत में गुप्त लोग कारस्कर जाट थे, और कौमुदीमहोत्सव नामक पुस्तक का चण्डसेन और चन्द्रगुप्त प्रथम एक ही व्यक्ति थे‡। चण्डसेन को मगध के राजा, सुन्दरवर्मन् ने, जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी, गोद लिया था। किन्तु इसके पश्चात् उसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम कल्याणवर्मन् रखा गया। चण्डसेन बड़ा होने के कारण अपने को उत्तराधिकारी समझता था। कौमुदीमहोत्सव में लिखा है कि उसने मगध-राज के शत्रु लिच्छवियों से विवाह सम्बन्ध स्थापित किया। उन लोगों ने मगध पर चढ़ाई कर दी। बूढ़ा सुन्दरवर्मन् लड़ाई में मारा गया। भयग्रस्त मन्त्री कुमार कल्याणवर्मन् के प्राण बचाने के लिए उसको लेकर किष्किन्धापर्वत की ओर चले गए§। अब चण्डसेन अथवा चन्द्रगुप्त ने लिच्छवियों की सहायता से मगध में निरंकुश शासन किया। लोग उसके अत्याचार से त्रसित हुए। उन्होंने इस आततायी पिताद्रोही कारस्कर दत्तक के प्रति विद्रोह का झण्डा उठाया। पम्पासर से जनता ने कल्याणवर्मन् को फिर बुलाया, और सुगांग नामक राजमहल में समारोह के साथ उसका अभिषेक किया। चण्डसेन को हार माननी पड़ी, और मगध छोड़कर भागना पड़ा। डॉ० जायसवाल के मत में यह घटना लगभग ३४० ई० के हुई थी, जब चन्द्रगुप्त रोहतास और अमरकण्टक के बीच शबरों से युद्ध कर रहा था¶। इस विप्लव के बाद अथवा बीच में चन्द्रगुप्त की मृत्यु हो गई, और उसके पुत्र समुद्रगुप्त को मगध की राजलक्ष्मी छीनने के लिए फिर उद्योग करना पड़ा।

---

* *J A S B*, Numismatic Supplement, No XLVII, Vol III (1937), p 105-11

† *J B O R S*, Vol XIX, pts I, II, pp 117-19

‡ *Ibid*, p 113

§ *Ibid*, p 114

¶ *Ibid*, p 118

तीन चार वर्ष अनन्तर वह सफलीभूत हुआ*। डॉ० जायसवाल के मत में कौमुदीमहोत्सव का 'मगधवंश' और इलाहाबाद के स्तम्भलेखवाला 'कोटकुल' एक है, और इसी 'कोटकुलज' से† जिसकी पराजय का उल्लेख उसमे है, समुद्रगुप्त ने मगध की राजधानी पाटलिपुत्र फिर से छीनी था।

यद्यपि डॉ० जायसवाल का उपरोक्त मत बहुत से विद्वानों को मान्य नही है, और यह ठीक है कि वह चण्डसेन और चन्द्रगुप्त प्रथम की अभिन्नता की कमजोर भित्ति पर निर्भर है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि जब समुद्रगुप्त गद्दी पर बैठा उस समय गुप्तराज न तो सुविस्तृत हुआ था, न अधिक शक्तिशाली। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम मगध, प्रयाग, साकेत तथा अन्य समीपवर्ती प्रदेशों का ही राजा था। पुराणो मे निम्न लिखित श्लोक मिलता है :—

> अनुगंगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
> एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

और इससे शायद हमको चन्द्रगुप्त प्रथम के काल की गुप्त राज्य की सीमा मालूम होती है।

जब समुद्रगुप्त राजा हुआ तो उसने अपने वंश का प्रताप चतुर्दिक् फैलाने का निश्चय किया। उसने इस साम्राज्य-लिप्सा को कृपाण के बल से पूर्ण किया। उसका संघर्ष किन किन राजाओं से हुआ इसका ब्यौरा इलाहाबाद के स्तम्भ-लेख से जाना जाता है। यद्यपि उसमे दक्षिणापथ के राजाओ का उल्लेख पहले है, परन्तु यह युद्धकला के कुछ विपरीत मालूम पड़ता है कि वह अपने निकटवर्ती आर्यावर्त के राजाओ से लोहा न लेकर पहले दक्षिण की ओर जाय‡। इसलिए यही मानना उचित है कि समुद्रगुप्त ने पहले आर्यावर्त के राजाओ को पराजित किया। उनके नाम ये है :—

(क) रुद्रदेव। श्रीयुत दीक्षित तथा डॉ० जायसवाल के मत मे रुद्रदेव और रुद्रसेन प्रथम वाकाटक एक ही है। किन्तु यह ठीक नही मालूम होता, क्योकि वाकाटक लोग आर्यावर्त मे नही राज्य करते थे, और समुद्रगुप्त के समय मे उनका ऱ्हास भी नही हुआ।

(ख) मतिल—यह शायद वही राजा है जिसकी एक मुहर (seal) बुलन्दशहर जिला मे मिली है। ऐलन (Allan) के मतानुसार ये दोनो भिन्न थे, क्योंकि बुलन्दशहरवाली मुहर के मतिल के नाम के पहले कोई सम्मानसूचक 'श्री' इत्यादि नही लिखा है। परन्तु राजाओ के नाम के पहले ऐसा न होने के बहुत से उदाहरण मिलते है। इसलिए ऐलन महोदय की विरुद्ध युक्ति मे कुछ तत्त्व नही है।

(ग) नागदत्त—सम्भवतः यह नागवंश का एक राजा था। उस समय नागो का बड़ा बोलवाला था, और उनकी शक्ति के चार बड़े केन्द्र थे, मथुरा, विदिशा, पद्मावती और कान्तिपुरी।

(घ) चन्द्रवर्मन्—यह ठीक ठीक नही कहा जा सकता है कि वह कहाँ का राजा था। कुछ विद्वानो के मत मे वह और मेहरौली-लोहस्तम्भलेख का चन्द्र⁑ तथा सुसूनिया-शिलालेख का पुष्करणाधिपति चन्द्रवर्मन्¶ अभिन्न थे। पर इन सबका एक होना बहुत सन्देहात्मक है। मेहरौली लोहस्तम्भ लेख का चन्द्र तो कोई बड़ा रणदक्ष एव प्रतिभा-सम्पन्न "एकाधिराज" था, और सुसूनिया-शिलालेखवाला चन्द्रवर्मन् वंगदेश का कोई स्थानीय शासक था।

---

* *Ibid.*, p. 113.

† इस सम्बन्ध में रैप्सन महोदय ने उन सिक्कों की ओर ध्यान दिलाया है जिनपर "कोट" लिखा है (*JRAS*, 1889, p. 449 f.)

‡ श्रीयुत Jouveau Dubreuil के मतानुसार समुद्रगुप्त पहिले दक्षिण की ओर ही गया था (*History of the Dekkan*, p. 9)

⁑ Fleet, *Corpus Inscriptionum Indicarum*, Vol. III, No. 32, pp. 140f.

¶ *Ep. Ind.*, XII, p. 318; *Boc, A. S. B.*, 1895, pp. 177 f.

(ङ) गणपतिनाग—इसके नाम से स्पष्ट है कि वह नाग कुल का था। इसके सिक्के आधुनिक नरवर तथा भेलसा (प्राचीन विदिशा), जो दोना स्थान ग्वालियर राज्य में हैं, पाये गये हैं। सम्भवत वह विदिशा का राजा था*।

(च) नागसेन—यह भी नागवशीय था। रैप्सन† ने इसको और हर्षचरित के नागसेन को अभिन्न बतलाया है। बाण ने लिखा है कि पद्मावती का राजा नागसेन इसलिए नष्ट हुआ था कि उसकी गुप्तमन्त्रणा एक सारिका पक्षी ने व्यक्त कर दी (नागकुलजन्मन सारिकाश्रावितमन्त्रस्य आसीद् नाशो नागसेनस्य पद्मावत्याम्)‡। पद्मावती का आधुनिक रूप पदमपवाया है जो ग्वालियर राज्य में नरवर से प्राय २५ मील दूर ह।

(छ) नन्दिन्—यह भी शायद नागवश का ही था। पुराणो में नागकुलोत्पन्न शिशुनन्दि तथा नन्दियशस् का वणन ह। शिवनन्दि नाम का भी एक नाग राजा हुआ है§। नन्दिन् की अभिन्नता क्या इन्ही में से किसी से थी?

(ज) अच्युत—यह वही राजा है जिसके तांबे के सिक्के बरेली जिला के रामनगर (प्राचीन अहिच्छत्र) नामक स्थान में मिले हैं। इन सिक्का पर "अच्यु" लिखा ह। बनावट, शली इत्यादि में ये पद्मावती के नाग राजाओ के सिक्का के सदृश है, इसलिए यह सम्भव हो सकता है कि अच्युत भी नागवश का हो। क्या उसका सम्बन्ध मथुरा के नागवश से था?

(झ) बलवमन्—यह नहीं मालूम कि वह कौन था। डॉ० जायसवाल के मतानुसार कौमुदी-महोत्सववाले कल्याणवमन् का अभिषेक जब पाटलिपुत्र में हुआ तब उसने बलवमन् नाम धारण किया‖। किन्तु श्री० के० एन० दीक्षित बलवमन् को आसाम के राजा भास्करवमन् का पूवज मानते है, जिसका उल्लेख निधनपुर-ताम्रपत्र में है¶। इन मता की पुष्टि किसी अन्य प्रमाण द्वारा नही हुई है।

आर्यावत के उपरोक्त राजाओ को पराजित कर समुद्रगुप्त ने उनके राज्यो को अपने राज्य में मिला लिया**। इस प्रकार राजाओ के अस्तित्व मिटाने को कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में "असुरविजय" कहा है।

फिर समुद्रगुप्त ने "अटवी" देश के राजाओ को नष्ट कर उनको जबरदस्ती अपना सेवक बना लिया (परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य)। कहा जाता है कि अटवी देश में लगभग १८ राज्य थे, और वह बघेलखण्ड से लेकर उडीसा के सागरतट तक फला हुआ था††।

---

* *Indian Historical Quarterly*, Vol I, p 255

† *J R A S*, 1898, p 449 डॉ० जायसवाल ने नागसेन और कल्याणवमन् के श्वसुर मथुराधीश कीर्तिसेन को एक ही बताया ह। (*J B O R S*, Vol XIX, pts, I, II, p 133

‡ See also *Harshacharitra*, Translation by Cowell and Thomas p 192

§ Dubreuil, *Ancient History of the Dekkan*, p 31

‖ *J B O R S*, Vol XIX (1933), p 142

¶ *Ep Ind*, XII, pp 73, 76

** "रुद्रदेवमतिलनागदत्तचन्द्रवमगणपतिनागनागसेनाच्युतनन्दिबलवर्माद्यनेकार्यावतराजप्रसभोद्धरणोद्वृतप्रभावमहत ...."।

†† *Indian Historical Quarterly*, Vol I, p 256
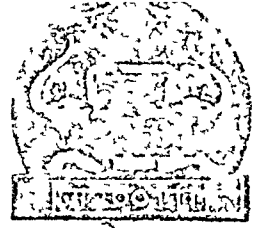
तत्पश्चात् समुद्रगुप्त दक्षिणापथ की ओर गया, और वहाँ के राजाओं को हराकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इलाहाबाद के स्तम्भ पर उनका इस प्रकार उल्लेख है* :—

(क) कोसलदेश का महेन्द्र—यह कोसल महाकोसल अथवा दक्षिणकोसल था। इसके अन्तर्गत आधुनिक मध्यप्रान्त के विलासपुर, रायपुर तथा सम्भलपुर जिले हैं। इसकी एक राजधानी श्रीपुर (आधुनिक सीरपुर) थी।

(ख) महाकान्तार का व्याघ्रराज—सम्भवतः यह वही है जिसका नाम उच्छकल्प महाराज के लेखों में केवल व्याघ्र है। वह जयनाथ का पिता था, और उसके राज्य मे बुन्देलखण्ड की आधुनिक जसो (Jaso) तथा अजयगढ़ रियासतों के कुछ भाग शामिल थे†। किन्तु श्री जी० रामदास के मतानुसार महाकान्तार और गंजाम तथा विजगापट्टम जिला का "झाड़खण्ड" प्रदेश एक ही है‡।

(ग) कुराल अथवा केरल का मण्टराज—कीलहार्न (Kielhorn) महोदय‡ के विचार से यह वही है जिसका नाम ऐहोल (Aihole) लेख में कुनाल है, और जिसको पुलकेशि द्वितीय ने जीता था। यह वही कोलेरू झीलवाला प्रदेश है जो गोदावरी एवं कृष्णा नदी के बीच में है। यह झील तो इलाहाबाद लेखवाले वेंगीराज्य मे ही शामिल थी। इसलिए कुराल शायद वह था जिसको आजकल कुराड अथवा सोनपुर प्रदेश कहते है। इसकी प्राचीन राजधानी गोदावरी पर ययातिनगरी थी§। परन्तु फ्लीट (Fleet) ने कुराल या केरल को मलाबार प्रदेश से अभिन्न बताया है॥।

(घ) पिष्टपुर का महेन्द्र—यह स्थान गोदावरी जिले मे है, और आजकल पिठापुरं कहलाता है। फ्लीट (Fleet) के मतानुसार कलिंग की यह प्राचीन राजधानी थी¶।

(ङ) पहाड़ी कोट्टूर का स्वामिदत्त—फ्लीट ने इस स्थान को कोयम्बटूर के कोट्टूर अथवा पोलाची (Pollaci) से अभिन्न माना है**। किन्तु डिबरुई (Dubreuil) महोदय इसको और आधुनिक गंजाम जिले के कोठूर (Kothoor) को एक ही मानते है। डॉ० भाण्डारकर पूर्ण पद "पैष्टपुरक-महेन्द्रगिरि-कौट्टूरक-स्वामिदत्त" को इस प्रकार अलग करते है कि उसका मतलब निकले "पिष्टपुर का महेन्द्रगिरि और कौट्टूर का स्वामिदत्त"। किन्तु महेन्द्रगिरि ऐसा नाम साधुओ का तो अवश्य होता है, राजाओं का नही। कुछ विद्वानो के मतानुसार उपरोक्त पद के दूसरे ही अर्थ है, अर्थात् "पिष्टपुर तथा महेन्द्रगिरि के समीप का स्वामिदत्त"। किन्तु यह ठीक नही प्रतीत होता है। क्योकि प्रत्येक राजा का एक ही गढ़ उल्लिखित है, और यह समझ मे नही आता कि स्वामिदत्त के सम्बन्ध मे दो स्थानो का नाम देने की क्या आवश्यकता थी।

---

* "कौसलकमहेन्द्रमहाकान्तारकव्याघ्रराजकैरलकमण्टराजपैष्टपुरकमहेन्द्रगिरिकौट्टूरकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमनकाञ्चेयकविष्णुगोपावमुक्तकनीलराजवैंगेयकहस्तिवर्मपालक्कोग्रसेनदैवराष्ट्रकुबेरकौस्थलपुरकधनञ्जयप्रभृतिसर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य............."।

† *J. H. Q.*, Vol. I (1925), p. 251.

‡ *Ibid*, p. 684.

‡ *Ep. Ind.*, VI. p. 3 Note.

§ *Bulletin of the School of Oriental Studies*, II, III, p. 569.

॥ *C. II. III*, p. 13. किन्तु देखिये G. Ram Das *I. H. Q.*, I, p. 685; Dubreuil, *A H. D.*, p. 59.

¶ *Ind. Ant. XXX* (1901), p. 26.

** *J. R. A. S.*, 1897, p. 29.

(च) एरण्डपल्ल का दमन—इस स्थान की समता फ्लीट (Fleet) ने खानदेश के एरण्डोल (Erandol) से की है। किन्तु जी० रामदास ने इसकी अभिन्नता विजगापट्टम जिला के गोलकुण्डा तालुका के एण्डिपल्लि (Yendipalli) अथवा कृष्णा जिला के इलोर तालुका के एण्डपिल्लि (Endapilli) से मानी है*। डिबरुई (Dubreuil) के मतानुसार यह गंजाम जिला के चिकाकोल समीपस्थ एरण्डपल्लि (Erandapalli) से अभिन्न है, जिसका उल्लेख देवेन्द्रवर्मन् के सिद्धान्तम् ताम्रपत्र में है†।

(छ) काञ्ची का विष्णुगोप—काञ्ची वही है जो आजकल मदरास के चिंगलीपुत (Chingleput) जिला में काञ्जीवरम् नाम से प्रसिद्ध है। यह प्राचीन समय में विद्या का केन्द्र तथा पल्लवों की राजधानी थी।

(ज) अवमुक्त का नीलराज—यह स्थान कहाँ है, इसका ठीक पता नहीं। हाथीगुम्फा लेख के अनुसार "आव" देश अथवा "आव" लोगों की राजधानी गोदावरी के निकट पिथुंड (Pithunda) थी।

(झ) वेंगी का हस्तिवमन्—यह स्थान गोदावरी जिला के इलोर ताल्लुका के पेड्ड-वेगि (Pedda-Vegi) से अभिन्न है। हुल्स (Hultzsch) के मतानुसार हस्तिवमन् और अत्तिवर्मन् पल्लव एक ही व्यक्ति थे‡।

(ञ) पालक्क का उग्रसेन—फ्लीट (Fleet) तथा स्मिथ (Smith) के मतानुसार यह स्थान वही है जो मलाबार जिले में पालघाट अथवा पालक्काडु प्रदेश कहलाता है। डॉ० रायचौधरी इसको और पलक्कद (Palakkada) को जो पल्लवों के एक प्रान्त की राजधानी थी, एक ही मानते हैं§। श्री जी० रामदास इसकी अभिन्नता निलोर जिला के पक्कई (Pakkai) नामक स्थान से स्वीकार करते हैं‖। किन्तु डिबरुई (Dubreuil) पालक्क को उसी नाम की राजधानी से एक बताते हैं, जो कृष्णा जिले में है और जिसका उल्लेख पल्लवों के बहुत से ताम्रपत्रों में है¶।

(ट) देवराष्ट्र का कुबेर—फ्लीट तथा स्मिथ देवराष्ट्र को महाराष्ट्र से अभिन्न मानते हैं। श्री का० ना० दीक्षित कहते हैं कि यह स्थान शायद वही हो जो आजकल सतारा जिला में देवराष्ट्र नाम से प्रसिद्ध है, और जहाँ एक मन्दिर है जिसको समुद्रेश्वर कहते हैं। श्री जी० रामदास देवराष्ट्र और धारवाड़ जिले के देवगिरि को एक ही समझते हैं**। किन्तु श्री डिबरुई (Dubreuil) के मतानुसार वह विजगापटम् जिला के एल्लमञ्चिली (Yellamanchili) प्रदेश से अभिन्न है††। इसका उल्लेख विजगापटम् जिला में पाये गये बहुत से ताम्रपत्रों में है।

---

* *I H Q*, Vol I, pt IV p 683

† *Ep Ind* XII p 212

‡ *J H Q*, I, pt II, p 253

§ *Political History of India*, 3rd ed pp 368

‖ *I H Q*, I, pt, IV, p 686, *Ep Ind VIII*, p 161

¶ *Aff D* p 58, *Z R A S*, 1905, p 29, Venkayya's *Annual Report*, 1904-05, p 47

** *I H Q*, I pt IV, p 587

†† *A H D*, p 60, *A S R*, 1908-09, p 123

(ठ) कुस्थलपुर का धनञ्जय—स्मिथ (Smith) के मतानुसार कुशस्थलपुर भूल से कुस्थलपुर लिखा गया है, और यह आनर्त की राजधानी द्वारकापुरी का नाम था। श्री जी० रामदास भी स्मिथ से सहमत हैं। किन्तु डा० बार्नेट कुस्थलपुर को उत्तरी आर्कट (North Arcot) जिला के पोलूर (Polur) समीपस्थ कुट्टलूर (Kuttalur) नाम के स्थान से अभिन्न बताते हैं*।

यदि हम उपरोक्त फ्लीट (Fleet) तथा स्मिथ (Smith) की बताई हुई अभिन्नताओं को स्वीकार करें तो स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त विजय करता हुआ सुदूर पालघाट अथवा मलाबारतट तक पहुँचा, और फिर महाराष्ट्र, गुजरात, खानदेश होता हुआ मगध लौटा। किन्तु यदि हम श्री डिबरुई (Dubreuil) तथा अन्य विद्वानों के मत को मानें तो समुद्रगुप्त की विजयवैजयन्ती दक्षिण के पूर्वीतट उड़ीसा मे ही उड़ी थी। श्री० डिबरुई (Dubreuil) तो यहाँ तक कहते है कि दक्षिण के उपरोक्त राजाओ ने समुद्रगुप्त के विरोध मे काञ्ची के विष्णुगोप की अधिनायकता में एक गुट बनाया, और इस घोर संघर्ष मे गुप्त सम्राट् को हार मानकर शीघ्रातिशीघ्र मगध की ओर लौटना पडा †। किन्तु इस मत मे कुछ भी सार नही है। इस गुट (Confederacy) का कही लेशमात्र भी प्रमाण नही है। यह उक्त विद्वान् के ही मस्तिष्क की उपज है। समुद्रगुप्त ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित कर कैद किया, और फिर उनको दया दिखाकर राज्य लौटा दिया। वह केवल उनकी अधीनता स्वीकार करने से सन्तुष्ट हो गया। और ऐसा करने से वह उन नरेशो की भक्ति मोल ले रहा था। कौटिल्य और मनु ने भी यही बताया है कि विजेता को बहुधा राज्य न छीनना चाहिए, किन्तु पराजित राजा को अथवा उसके किसी वंशज को गद्दी दे देना चाहिए। यथा—

सर्वेषां तु विजित्वैषां समासेनचिकीर्षितम्।
स्थापयेत्तत्र तद्वश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम्॥ (VII २०२).

इस प्रकार समुद्रगुप्त ने दक्षिण मे धर्मविजय की, और इस सम्बन्ध मे कालिदासकृत रघुवंश से एक श्लोक उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा:—

गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयीनृपः।
श्रियम् महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदनीम्॥

समुद्रगुप्त के सैन्यबल तथा सफल उद्योगो ने उसके समकालीन राजाओं को बहुत प्रभावान्वित किया। इसलिए इलाहाबाद के स्तम्भ लेखानुसार प्रत्यन्त-नृपतियो और गणराज्यों ने उसकी प्रचण्ड आज्ञा को शिरोधार्य करके 'कर' दिया और आकर प्रणाम किया ("सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य")। प्रत्यन्त-नृपति निम्न लिखित देशों के थे:—

(क) समतट—वराहमिहिर के अनुसार समतट भारत के पूर्वीयभाग मे था। ह्वान च्वाग् (Yuan Chwang) लिखता है कि यह देश ताम्रलिप्ति के पूर्व और समुद्र के समीप था। यह शायद गंगा और ब्रह्मपुत्र नदी के मुहाने का प्रदेश था, जिसका मध्यभाग आजकल का जसोर (Jessore) जिला है। उसकी राजधानी कर्मान्ति थी, जो कोमिल्ला (Comilla) जिला के काम्ता अथवा बड़काम्ता नगर से अभिन्न है‡।

(ख) दवाक—फ्लीट (Fleet) के मतानुसार दवाक आधुनिक ढाका है। स्मिथ (Smith) इसके अन्तर्गत आजकल के बोगरा (Bogra), दिनाजपुर (Dinajpur) तथा राजशाही (Rajshahi)

---

* *Calcutta Review*, 1924, p. 253 note.

† *A. H. D.* p. 61.

‡ *J. A. S. B.*, 1914, p. 85, *J. H. Q.*, I, p. 256.

जिले को समझते ह। किन्तु डॉ० भाण्डारकर के मतानुसार टिपरा (Tippera) तथा चटगाँव (Chittagong) के पर्वतीय प्रदेशो का प्राचीन नाम दवाक था*।

(ग) कामरूप—आसाम। इसका मध्यभाग अब भी कामरूप कहलाता है।

(घ) नेपाल—आधुनिक नेपाल, जिसकी राजधानी काठमांडू है।

(ङ) कर्तृपुर—ओल्डम (Oldham) महोदय के मतानुसार इसको आजकल का कमाऊँ, गढवाल, तथा रुहेलखण्ड कह सक्ते हैं†। वहाँ अब भी कतुरियाराज नाम मिलता है। किन्तु फ्लीट तथा ऐलन (Allan) कर्तृपुर को जालन्धर जिला के करतारपुर से अभिन्न मानते ह।

गणराज्यो म मुख्य नाम ये थे —

(क) मालव—मालव लोग वही ह जिनको ग्रीक लेखको ने "मल्लोई" (Malloi) नाम दिया है। वे अलिक्जेंडर (Alexander) के आक्रमण के समय पञ्जाब में बसते थे। ईसा की पहिली शताब्दी तक वे राजपूताना भी पहुँच गये थे। जयपुर राज्य के नागरछाल प्रदेश में उनके बहुत से सिक्के मिले ह, जो ईसा के पूर्व १५० से सन् २५० ईसवी तक के ह। गुप्तो के समय तक मालव लोग और भी दक्षिण की ओर गये, और लेखो से मालूम होता है कि तब वे मेवाड व कोटा आदि स्थानो में थे। अन्त म वे लोग मध्यभारत म जाकर बसे, और उनसे उस देश का नाम मालव पडा।

(ख) आर्जुनायन—ये लोग मालवो और यौधेय लोगो के बीच अलवर तथा जयपुर राज्य के पूर्वीभाग में बसे थे। क्या इनके नाम से यह कहा जा सकता है कि पाण्डव योद्धा अर्जुन से इनका कुछ सम्बन्ध था?

(ग) यौधेय—बृहत्संहिता में आर्जुनायन और यौधेय भारत के उत्तरी भाग के वासी माने गये हं। जिन स्थानो से उनके सिक्के तथा लेख मिले हं उनसे मालूम होता है कि यौधेय लोग सतलज तथा यमुना के बीचवाले प्रदेश में रहते थे। विजयगढ लेख‡ से स्पष्ट है कि उनका फैलाव भरतपुर राज्य तक था। अब भी उनके नाम की निशानी 'जोहियावार' (Johiyawar) प्रदेश में, जो बहावलपुर राज्य के निकट ह, मिलता है।

(घ) मद्रक—ये लोग यौधेयो के उत्तर रावी और चिनाव के बीच म रहते थे। ये पहिले भद्र कहे जाते थे। इनकी राजधानी साकल (सियालकोट) थी¶।

(ङ) आभीर—स्मिथ (Smith) के मतानुसार ये लोग अहिरवाड के रहनेवाले थे, जो पार्वती और वेत्रवती (बेतवा) नदियो के बीच मध्य भारत (Central India) मे था। किन्तु शायद वे विनशन के समीप पश्चिमी राजपूताना के वासी थे। इसी प्रदेश को "पेरीप्लस" (Periplus) में 'अभीरिया' (Abiria) कहा है। क्षत्रप लेखो के अनुसार आभीर लोग सौराष्ट्र और गुजरात म भी थे।

(च) प्रार्जुन—स्मिथ (Smith) के विचार म वे मध्य प्रान्त (C P) के नरसिंहपुर जिले म थे। किन्तु डा० भाण्डारकर उनका सम्बन्ध नरसिंहगढ से जोडते ह।

---

* *I H Q*, I, p 257, किन्तु देखिए R D Banerji, *Age of the Imperial Guptas*, p 20

† *J R A S* 1898, pp 198-99

‡ CII, III, No 58, pp 251-52

¶ *J A S B*, 1922, p 257f
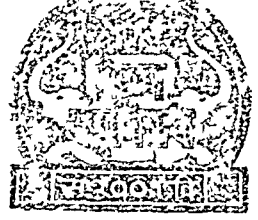
(छ) सनकानीक—ये लोग शायद भेलसा (Bhilsa, Gwalior State) प्रदेश में शासन करते थे। उदयगिरि के एक लेख मे सनकानीक महाराज छगलग के पौत्र तथा महाराज विष्णुदास के पुत्र का नाम मिलता है, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय का सामन्त था*।

(ज) काक—ये सनकानिकों के पड़ौसी थे। डॉ० जायसवाल के मत मे इनकी राजधानी काकपुर थी, जो भेलसा (Bhilsa) से लगभग २० मील दूर है†। क्या इनका सम्बन्ध काकनाद नाम से भी है? यह साञ्ची (Sanchi) का दूसरा नाम था।

(झ) खरपारिक—ये लोग मध्यप्रान्त (C. P.) के दमोह (Damoh) जिला के रहनेवाले थे। शायद ये और बतिहागढ (Batihagarh) लेख ‡ के खर्पर लोग एक ही थे§।

अत ऊपर लिखे विवरण से मालूम होगा कि समुद्रगुप्त ने अपने समकालीन राजाओं से भिन्न भिन्न प्रकार से व्यवहार किया था। कुछ नरेशों को उसने समूल नष्ट किया और बलपूर्वक उनके राज्यों को छीन लिया। दूसरो को उसने पराजित करके पकड लिया, और फिर उनको छोड़कर उनकी गद्दी दे दी। तीसरे वे थे जिन्होने स्वयं समुद्रगुप्त की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत होकर उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार अपनी विजयो से समुद्रगुप्त ने अपने को एक विस्तृत साम्राज्य का स्वामी बना लिया। किन्तु साम्राज्य के बाहर भी ऐसे परराष्ट्र थे जो उससे मैत्रीभाव रखने के लिए लालायित थे। चीनी ग्रन्थो‖ से पता चलता है कि उसके सिंहलद्वीपी समकालीन राजा मेघवन्न अथवा मेघवर्ण (३५२-७९ ई०) ने बोधगया मे कुछ धार्मिक कृत्यों के लिए दो भिक्षु भेजे थे। किन्तु उनका वहाँ कुछ भी आदर सत्कार न हुआ। यहाँ तक कि उनको ठीक ठहरने का भी स्थान न मिला। स्वदेश लौटने पर उन्होने अपने राजा से सब दुखडा कहा। तब मेघवर्ण ने अच्छी भेंटो के साथ समुद्रगुप्त के पास अपने दूत भेजे, और यह प्रार्थना की कि सिंहाली बौद्धो के ठहरने के लिए उसको बोधगया मे एक विहार बनाने की आज्ञा मिले। समुद्रगुप्त ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार किया, और शीघ्र ही वहाँ पर एक बहुत सुन्दर बिहार बनकर खड़ा हो गया जो व्हानच्वॉग (Yuan Chwang) के यात्रा समय 'महाबोधि संघाराम' के नाम से प्रसिद्ध था। इलाहाबाद स्तम्भ-लेख से भी हमको यह विदित होता है कि सिंहल द्वीप तथा अन्य द्वीपो के वासी¶ और दैवपुत्रशाहि शाहानुशाहि शक तथा मुरुण्डो ने भी समुद्रगुप्त से "आत्मनिवेदन करके, कन्याओं को उपहार स्वरूप देकर, और अपने अपने प्रदेशों मे राज्य करने के लिए गरुढ मुहर से लगी हुई आज्ञा पा करके" मित्रता मोल ली। यथा,

"दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डैःसैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदंकस्वविषय-भुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य..................."।

यद्यपि इसमे कुछ अतिशयोक्ति सम्भव है, तथापि इस बात मे कोई सन्देह नही मालूम होता कि समुद्रगुप्त के प्रखर प्रतापरूपी सूर्य की प्रचण्ड रश्मियों से आतप्त होकर इन परराष्ट्रो ने उसकी कृपा व मित्रता की छाया की शरण ली। ये दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्ड कौन थे, यह ठीक कहा नही जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम तीन उपाधियाँ

---

* *C. I. I.*, III, No. 3, p 25.

† *J. B. O. R. S.*, XIX (1933), p. 148.

‡ *Ep. Ind.*, XII pp. 46, 47, V. 5.

§ *J. H. Q.*, I (1925), pp. 258.

‖ Sylvain Levi, *Journal Asiatique*, 1900 pp. 406, 411;. V A. Smith, *Ind. Ant.*, 1902, pp. 192-97.

¶ क्या इनसे मतलब मलयद्वीपवासियों से तो न था?

थी, और अन्त के दो शब्द जातिसूचक ह। दवपुत्रशाहिशाहानुशाहि पहले महान् कुशान सम्राट्, कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि, की उपाधि थी। किन्तु जब कुशान साम्राज्य का विनाश हुआ तो छोटे छोटे कई राज्य स्थापित हो गए और उनके शासका ने इन उपाधिया को अलग अलग धारण किया। इनका प्रयोग उसी प्रकार होता था जैसे आजकल शाह और सुलतान का*। शाहि उपाधि "किदार कुशान" जाति के राजा ने धारण की थी। इसका राज्य गन्धार में था। किन्तु जनग्रन्थ कालकाचाय कथानक के अनुसार शक राजा अपने को शाहि कहते थे†। एक लेख में यह उपाधि कनिष्क के लिए दी गई है‡। शाहानुशाहि एक ईरानी उपाधि थी, जिसको कुशान सम्राटा ने बक्ट्रिया (Bactria) तथा भारत के शक नृपा से लिया था§। यह भारतीय महाराजाधिराज अथवा राजाधिराज के समान थी। वासुदेव कुशान के सिक्का पर अक्सर (Shao nano Shao Bazodeo Koshano) लिखा मिलता है‖। स्मिथ के मतानुसार शाहानुशाहि भारत से बाहर किसी राजा की उपाधि थी। उसको वह ससानियन (Sassanian) सम्राट् सपोर द्वितीय (Sapor II) से अभिन्न मानते ह, क्याकि इसने उस उपाधि को धारण किया था। इसके विपरीत ऐलन (Allan) का मत ह कि यह उपाधिधारी वह कुशान राजा था जिसका राज्य भारत की सीमा से वक्षुनदी (Oxus) तक फला था। क्योकि इसका कोई प्रमाण नही है कि इस समय गुप्त और ससानियन साम्राज्या में किसी प्रकार का सम्बन्ध था, और यह भी निश्चित ह कि उनके बीच म एक शक्तिशाली कुशान राज्य था¶। देवपुत्र चीनी उपाधि 'थीन-त्सु' (Tien-tzu) के तुल्य है, और इसको कुशाना ने शायद चीनिया से लिया था। चीनी लेखक अक्सर भारत के देवपुत्र (Ti-pouo-fo-tan-lo) का उल्लेख करते ह, और सम्भवत उनका मतलब उस राजा से ह जो पञ्जाब के किसी भाग में शासन करता था**।

यहाँ यह भी लिखना उचित होगा कि डॉ० भाण्डारकर के मतानुसार "दवपुत्रशाहिशाहानुशाहि" एक ही पद है और इसको तीन उपाधियो में तोडना ठीक नही। इससे बाद के किसी महान् कुशान सम्राट् से बोध होना चाहिए। इसकी समता "देवपुत्र महाराज राजातिराज" उपाधि से की जा सकती है, जिसको महान् कुशान सम्राटा ने अथवा बाद के "कुशान पुत्रा" ने धारण किया था‡‡।

अब रही शक और मुरुण्डा की बात। यह दोना शब्द निस्सन्देह जातिसूचक ह। यह हो सकता है कि ये 'शब्द' वही थे जो "पश्चिमीक्षत्रप" कहलाते ह और जिनका राज्य सौराष्ट्र (काठियावाड) तथा मालवा मे था। समुद्रगुप्त के समय में इन्हाने नम्रता धारण की, किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इनकी शक्ति को बिलकुल छिन्न-भिन्न कर दिया। किन्तु ऐलन (Allan) के मतानुसार ये उत्तर-पश्चिम के शक थे जिन्हाने एक ओर Ardoxpo वाले कुशानसिक्का की तरह अपने सिक्के चलाये थे। आरम्भ में समुद्रगुप्त ने शायद इन्हा सिक्का के आधार पर अपने सिक्के जारी किये थे। मुरुण्डलोग सम्भवत शक अथवा कुशान जाति के थे। पुराणा म उनका उल्लेख शक, यवन, तुखार आदि विदेशी जातियो के साथ है। लासेन (Lassen) के मतानुसार व लम्पाक (Lampaka) देश के थे, जो अलियल (Aliyal)

---

* Allan, *C C G D*, Introd, pp XXVII

† *Z D M G*, 1880, p 254

‡ *Ep Ind*, I, No 19, p 3191

§ Allan, *C C G D*, Introd, p XXVI

‖ Smith, *Catalogue of Coins*, p 91

¶ Allan, *C C G D*, Introd, p XXVIII

** *Ibid*, p XXVII

‡‡ *I H Q*, I, p 259
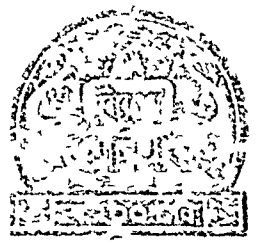
तथा कुनार (Kunora) नदियों के वीच में है। किन्तु सिलवॉलेवि (Sylvain Levi) महोदय के विचार मे वे टालेमी (Ptolemy) के मुरुण्डेइ (Murundae) से अभिन्न हैं। ये गंगा के बाएँ तट पर वसे थे। चीनी वृत्तान्तो में लिखा है कि 'वु' (Wu) वंश के समय (२२२-८० ई०), फानचन (Fan-chan) ने, जो फुनान (Fu-nan) का राजा था, मियान-लून (Meon-Loun) नामक भारत के एक नरेश के पास दूत भेजा। इस Meon-Loun नाम मे विद्वान् लोग मुरुण्डों का संकेत पाते हैं। उपरोक्त ग्रीक तथा चीनी प्रमाणों की पुष्टि कुछ जैन ग्रन्थों से भी होती है, क्योकि सिंहासनद्वात्रिंशिका मे मुरुण्डराज कान्यकुब्जाधिपति कहा गया है, और प्रवन्ध चिन्तामणि मे उसका निवासस्थान पाटलिपुत्र लिखा है। इसलिए सम्भव है कि मुरुण्ड लोग पहिले गंगा की घाटी में अर्थात् मध्यप्रदेश में रहते थे, और गुप्तों का उत्कर्ष उनके ह्रास के वाद हुआ हो। किन्तु इलाहावाद के स्तम्भ-लेख मे मुरुण्ड लोगो का वर्णन उत्तर-पश्चिमी राज्यो के साथ किया गया है, इसलिए समुद्रगुप्त के समय मे उनकी शक्ति का केन्द्र इसी दिशा में रहा होगा।

अपनी विजयपताका दूर देशो में फैलाकर समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया, जो वहुत काल से उत्सन्न हो रहा था ('चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः........')। पता नही कि यह यज्ञ "चिरोत्सन्न" क्यों कहा गया है, क्योकि समुद्रगुप्त के थोड़े ही पहिले प्रवरसेन प्रथम वाकाटक तथा भारशिव राजाओ ने अश्वमेध यज्ञ किया था। भारशिवों के वारे में तो यहाँ तक कहा गया है कि उन नरेशों ने दश अश्वमेध यज्ञ किये थे (भगीरथ्यमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानाँ दशाश्वमेधावभृथस्नानानाँ भारशिवानाम्)। सम्भव है लेख रचयिताओ ने इन सव यज्ञों के सम्वन्ध मे कुछ भी न सुना हो, इसलिए समुद्रगुप्त को "चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्ता" कहा है, अथवा उसने पूर्ववत् सव प्रकार के कृत्यों के साथ वह यज्ञ किया हो। इसको उसने अपनी दिग्विजय के बाद परन्तु इलाहावाद स्तम्भ पर लेख उत्कीर्ण होने के पहिले किया होगा, क्योंकि उसमे अश्वमेध की ओर तनिक भी सकेत नही है। इस यज्ञ मे समुद्रगुप्त ने ब्राह्मणो को वहुतसा सुवर्ण गौओं के साथ दान में दिया। इसके करने के समय उसने कुछ सोने के सिक्के भी प्रचलित किये। इन सिक्को पर एक ओर (obverse) पताकायुक्त यज्ञस्तूप में वँधे हुए यज्ञीय घोड़े की मूर्ति और दूसरी ओर (reverse) हाथ मे चँवर लिए प्रधान महिषी की मूर्ति और "अश्वमेधपराक्रमः" लेख है। इन सिक्को पर घोड़े की मूर्ति के चारो तरफ उपगीति छन्द में—

"राजाधिराज पृथिवीमवित्वा,
दिवं जयत्यप्रतिवार्यवीर्यः"

अथवा किसी किसी मे—

"राजाधिराज पृथिवीं विजित्य,
दिवं जयत्याहृतवाजिमेधः"*।

लिखा मिलता है।

लखनऊ अजायवघर मे एक पत्थर की घोड़े की मूर्ति है जिसपर वहुत धुंधले अक्षरों में "द्गुत्तस्स देयधम्म" खुदा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मूर्ति उसी यज्ञ के समय वनाई गई थी। किन्तु लेख संस्कृत में न होने से कुछ सन्देह अवश्य उत्पन्न होता है कि सम्भवतः वह गुप्तों के समय का नही है।

समुद्रगुप्त केवल अनुपम योद्धा ही न था, किन्तु वह शास्त्रों में भी वड़ा प्रवीण था†। स्वयं तो प्रकाण्ड पण्डित था ही, और वह विद्वानों का संसर्ग भी वहुत पसन्द करता था‡। उसमे कवित्व शक्ति भी अच्छी थी। इलाहावाद स्तम्भ-लेख

---

* *J. Boc. A. S. B.*, New Series, Vol. X, p. 256.

† "शास्त्रतत्वार्थभर्तुः"

‡ "प्रज्ञानुषंगोचितसुखमनसः"

में उसको "कविराज" की पदवी दी गई ह, और यह भी लिखा है कि उसकी कृतियाँ दूसरे विद्वानो की जीविका का सहारा हो सकती थी। ("विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभि प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य ")। खेद है उसकी कोई रचना अभी तक उपलब्ध नही हुई, अन्यथा उसकी कवित्व शक्ति का कुछ परिचय हमको मिलता। कुछ दिन हुए मेरे शिष्य श्री एन० पी० जोशी ने मुझे स्थानीय सरस्वतीभवन से "कृष्णचरितम्" नाम की एक पुस्तक दिखाई थी। उसके रचयिता "विक्रमाक महाराजाधिराज परम भागवत श्री समुद्रगुप्त" कहे गये ह। किन्तु मुझे तो यह पुस्तक बहुत बाद की और प्रमाणरहित मालूम पडती ह।

कवि होने के अतिरिक्त समुद्रगुप्त सगीत प्रेमी भी था। उसके कुछ ऐसे सिक्के मिले ह जिनके एक ओर खाट पर बैठे हुए और हाथ में वीणा लिए हुए राजा की मूर्ति ह और दूसरी ओर बत के बने हुए आसन पर बैठी हुई लक्ष्मीदेवी की मूर्ति ह। इलाहाबाद स्तम्भ-लेख मे भी लिखा है कि समुद्रगुप्त ने अपनी प्रखर बुद्धि से देवताओ के गुरु बृहस्पति को शर्मिन्दा किया, और तुम्बुरु और नारद को अपने सगीत कौशल से ("निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरु-नारदादे")। समुद्रगुप्त स्वय कितना पुरुषार्थी व पराक्रमी था, यह उसके उन सिक्को स पता चलता ह जिनपर एक ओर दाहिने हाथ में बाण और बाएँ हाथ मे धनुष लेकर खडे हुए राजा की मूर्ति ह। कुछ ऐसे भी सिक्के मिले ह जिनपर "व्याघ्रपराक्रम" लिखा ह। इनमें समुद्रगुप्त व्याघ्र का शिकार करते हुए दिखाया गया है। उसकी मूर्ति क्या ही बल और तेजयुक्त मालूम पडती ह।

इलाहाबाद के स्तम्भ-लेख म "गरुत्मदक" का उल्लेख ह। इसलिए उसके मुहर के गरुड अक से स्पष्ट है कि वह विष्णु का उपासक था। नालन्दा में मिले हुए ताम्रपत्र लेख म तो वह चन्द्रगुप्त द्वितीय की तरह "परम भागवत" भी कहा गया ह।

समुद्रगुप्त ने बहुत वर्षों तक राज्य किया, और फिर उसकी मृत्यु ३८० ई० के पूर्व हो गई, क्योंकि मथुरा के एक लेख के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय उस वर्ष राज्य कर रहा था।

समुद्रगुप्त भारत के इनेगिने महान् सम्राटो मे था। इलाहाबाद स्तम्भ-लेख म वह धनद, वरुण, इन्द्र तथा अन्तक आदि के समान बताया गया ह, और वह शूरवीर होते हुए दया की सजीव मूर्ति था। वह सचमुच दीनो का रक्षक था, और दरिद्र और दुखियो की सेवा में ही सतत् उद्यत रहता था ("कृपणदीनानाथातुरजनोद्धरणमन्त्रदीक्षाद्युपगतमनस")।
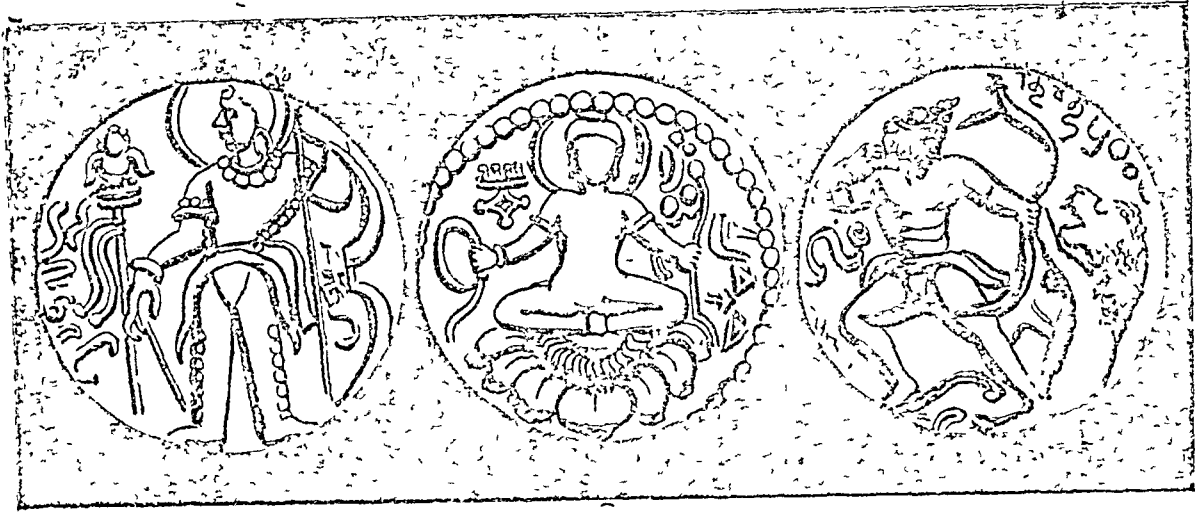
चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

श्री डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी एम्० ए०, पी-एच्०, डी०

राजत्व के इतिहास मे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य अद्वितीय व्यक्तित्व है। विक्रम-शब्द-समन्वित विरुद धारण करने की उनकी अभिरुचि परम्परागत महाराज विक्रमादित्य से उनकी अभिन्नता स्थापित करने के लिए दृढ आधार प्रस्तुत करती है। जैसा आगे ज्ञात होगा, उनकी छत्राकृति मुद्राओ पर अकित लेख मे यह कहा गया है कि "महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त पृथ्वी को जीतने के पश्चात् अपने सत्कृत्यो द्वारा स्वर्ग को जीतते है और विक्रमादित्य विरुद धारण करते हैं।" उनकी सिहमारक आकृति की मुद्राओ पर वे 'सिहविक्रम' विरुद धारण करते है और अश्वारोही आकृति की मुद्राओ के दूसरे पार्श्व पर 'अजित-विक्रमः' लेख अकित है। पश्चिम भारत के क्षत्रप शासकों की नवविजित भूमि मे प्रचलित रौप्य मुद्राओं पर विजेता के रूप मे अपने विक्रम की ओर सकेत करने के लिए वे अभिप्रायपूर्ण 'विक्रमादित्य' विरुद धारण करते है और इन मुद्राओं के एक दूसरे प्रकार पर भी 'विक्रमादित्य' विरुद प्राप्त होता है।

परम्परा के महाराज विक्रमादित्य को नवरत्नो अथवा नौ प्रख्यात साहित्यिको से, जो उनकी राजसभा को आलोकित करते हैं, सम्वद्ध किया गया है। ये नवरत्न ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ मे इस प्रकार गिनाए गये है :—

धन्वंतरिक्षपणकोऽमरसिंहशंकुबेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वैवररुचिर्नवविक्रमस्य॥

इन रत्नों मे से केवल कवि कालिदास का कुछ पिछले साहित्यिक मूल ग्रन्थो मे चन्द्रगुप्त द्वितीय से सम्वन्ध स्थापित किया गया है। किन्तु यह वात निर्णीत नही है कि यह कालिदास वही प्रसिद्ध कवि थे। इस निवन्ध द्वारा गुप्त इतिहास के महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की परम्परा के महाराज विक्रमादित्य से अभिन्नता का विवेचन करना अभीष्ट नही है, इसके द्वारा उनके शासन सम्वन्धी अभिलेख एवं मुद्राओं के दृढ़, निश्चित एवं तिथियुक्त स्रोतो से ज्ञेय सभी तथ्यों का वास्तविक विवेचन उपस्थित करना मात्र इष्ट है। उनके इतिहास का लेखन उनके शासन सम्वन्धी विभिन्न स्रोतों से

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

प्राप्य प्रमाणा तक सीमित एव उनपर आधारित है। विक्रम-माला का अत्यन्त प्रमापूर्ण मणि होने के कारण यह उचित ही ह कि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासन का वणन भी विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ में सम्मिलित किया जाय।

काल—उनके शासन के समय के प्राप्त हुए वहु-सख्यक तिथियुक्त अभिलेखो से इनके काल का अनुमान किया जा सकता है। इनमें से प्रथम गुप्त-सवत् ६१ = ३८० ईसवी का मथुरा-स्तम्म का अभिलेख है। (इपिग्राफिया इण्डिका XXI I)। इस अभिलख में डॉ॰ डी॰ सी॰ सरकार द्वारा पढे गए (Select Inscriptions I 270) कुछ महत्त्वपूर्ण शब्द (जिनसे यह प्रकट होना है कि गुप्त-सवत् ६१ [सवत्सरे एकषष्ठे] का यह अभिलेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन के पाँचवें वप म अकित किया गया था) इस प्रकार ह—'महाराज राजाधिराज श्री-चन्द्रगुप्तस्य-विजय-राज्य-सवत्सरे-पचमे, अत उनका राज्यकाल गुप्त-सवत् ६१-५ = गुप्त-सवत् ५६ = ईसवी ३७६ में प्रारम्भ हुआ था। यह कहा जा सकता ह कि इसकी परिभाषा अलवेरूनी ने अपने इस कथन में की ह—'गुप्ता का सवत् शक काल से २४१ वप पश्चात् पडता ह, अथात् ईसवी ७८ + २४१ = ३१९ में (Sachau, *Alberuni's India*, II 7), उस गुप्त-सवत् की इस अभिलेख में प्राचीनतम तिथि का उल्लेख होने के कारण यह महत्त्वपूण है।

उनके राज्यकाल का दूसरा तिथियुक्त अभिलेख गुप्त-सवत् ८२ = ४०१ ईसवी का उदयगिरि गुफा का अभिलेख ह जो उसके सनकानिक वशीय माडलिक ने अंकित कराया था।

तीसरा गुप्त-सवत् ८२ = ४०१ ईसवी का साँची का प्रस्तर अभिलेख ह जिसे आम्रकार्दव ने अकित कराया था जा चन्द्रगुप्त द्वितीय का मत्री या "जिनके प्रसाद का वह अपने जीवन के लक्ष्य की पूर्ति के हेतु ऋणी था (आप्यायित-जीवित-साधन) और जो अनेक रणक्षेत्रो में विजयी हुआ था (फ्लीट, सख्या ६)।

चौथा अभिलेख गुप्त-सवत् ८८ = ४०७ ई॰ का गढवा शिलालेख है। इस अभिलेख का चन्द्रगुप्त के नाम वाला भाग नष्ट हो गया ह किन्तु अब भी सुरक्षित इसकी तिथि और उनके परम भागवत एव महाराजाधिराज विरुद इन दोनो से यह वात निश्चित् रूप में मानी जा सकती ह कि यह उनके ही राज्यकाल का है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की तिथि का अनुमान उनके द्वारा सुराष्ट्र विजय क पश्चात् अपने पूववर्ती क्षत्रप शासको की मुद्राओ के आदश पर प्रचलित की गयी रौप्य मुद्राओ पर से भी किया जा सकता ह। यह विदित होगा कि पश्चिमी क्षत्रपो की सबसे पीछे की मुद्राएँ ३१० अथवा ३१ X सवत् = ३८८ अथवा ३८८—७७ ईसवी की ह। चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा पुनर्मुद्रित मुद्राओ की सबसे पूव की तिथि ९० अथवा ९० X सवत् = ४०९ अथवा ४०९-१३ ई॰ है।

नाम—ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के अनेक नाम थे। साँची अभिलेख म (फ्लीट, सख्या ५) उसे देवराज नाम दिया गया ह। वाकाटको के एक अभिलेख में प्रभावतीगुप्ता का देवगुप्त एव कुबेरनागा की पुत्री के रूप में उल्लेख ह। उसमें देवगुप्त का महाराजाधिराज के रूप में वणन है जबकि रानी प्रभावतीगुप्ता के रिद्धपुर के दानलेख में उसके पिता का नाम चन्द्रगुप्त द्वितीय उल्लिखित ह। इससे देवगुप्त चन्द्रगुप्त का दूसरा नाम प्रतीत होता है। यह भी ज्ञात होता ह कि चन्द्रगुप्त का तीसरा नाम देवश्री था, जसा उनकी धनुधर एव मञ्च की आकृतिवाली मुद्राओ पर अकित ह।

नियोजन—समुद्रगुप्त के एरण के प्रस्तर-अभिलेख में (फ्लीट, सख्या ४) यह कहा गया ह कि समुद्रगुप्त ने अपने सब पुत्रो में से उन्हे परिगृहीत किया था (तत्परिगृहीतन)। इसी सत्य की पुनरुक्ति स्कन्दगुप्त के विहार एव भितरी के प्रस्तर-स्तम्भ-अभिलेखो में (फ्लीट सख्या १२-१३) की गयी ह जिनमें चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए 'तत्परिगृहीत' पद प्रयुक्त किया गया ह। समुद्रगुप्त द्वारा अपने सब पुत्रो में से चन्द्रगुप्त द्वितीय का अभिप्रायपूवक परिगृहीत करने के सत्य की पुनरुक्ति यह प्रदर्शित करती ह कि गुप्तवश के इतिहास म यह एक प्रमाणित घटना है और इसलिए कुछ पीछे के लेखो एव परम्परा के आधारवाली यह स्थापना त्यागने योग्य ह कि समुद्रगुप्त का आसन्न उत्तराधिकारी उसका रामगुप्त नाम से ज्ञात एक अन्य पुत्र था। समुद्रगुप्त एव चन्द्रगुप्त द्वितीय के बीच में कोई अन्य गुप्त शासक हुआ, इस कल्पना का
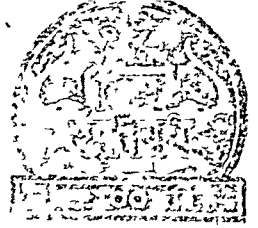
द्वार अभिलेख बन्द कर देते है। वास्तव मे समुद्रगुप्त अपने पुत्र के प्रति वे ही स्तुति-वचन कहता है जो उसके प्रति उसके उस पिता ने कहे थे जिसने उसे अपने राजसिंहासन का उत्तराधिकारी होने के लिए उसके बान्धववर्ग (तुल्यकुलज) में उसे योग्यतम उद्घोषित किया था। इन उल्लेखो से अपने पूर्ववर्ती द्वारा अनियोजित किसी शासक को स्थान शेष नही रहता।

कुल—समुद्रगुप्त की राजमहिषी, चन्द्रगुप्त की माता एरण के अभिलेख मे दत्ता तथा मथुरा के प्रस्तर-अभिलेख में दत्तादेवी और स्कन्दगुप्त के विहार एवं भितरी के प्रस्तर-स्तम्भ-अभिलेखो मे महादेवी विरुद के साथ कही गयी है।

चन्द्रगुप्त के कम से कम ध्रुवदेवी एवं कुवेरनागा नाम की दो रानियाँ थी। ध्रुवदेवी का उल्लेख तीन गुप्त-अभिलेखों मे (फ्लीट, सख्या १०, १२ और १३) है जिनमें उसका महादेवी और राजकुमार कुमारगुप्त प्रथम की माता के रूप मे वर्णन है। वैशाली मे प्राप्त हुई मुद्रा पर उसके महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय की महिषी एवं महाराज गोविन्दगुप्त की माता महादेवी ध्रुवस्वामिनी की होने का वर्णन अकित है। इस मुद्रा की ध्रुवस्वामिनी अन्य अभिलेखो की ध्रुवदेवी से भिन्न नही है। महारानी कुवेरनागा चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावतीगुप्ता की माता के रूप में तथा नागवंश मे उत्पन्न हुई (नागकुलोत्पन्ना: देखिए *J. R. A. S B.* १९२४, पृष्ठ ५८) विश्रुत है।

वाकाटकों से इस वैवाहिक संधि के फलस्वरूप गुप्तवंश को अनेक सन्ताने प्राप्त हुईं और राजनीतिक प्रभाव में विस्तार प्राप्त हुआ।

जैसा कहा जा चुका है समुद्रगुप्त ने वाकाटक महाराज रुद्रदेव अर्थात् रुद्रसेन प्रथम को (३४४-४८ ई०) पराजित किया था जिसे अपने प्रदेश का, उसके विस्तार के लिए पश्चिम की ओर स्थान छोडते हुए, पूर्वीभाग (बुन्देलखण्ड) उसे सौप देना पड़ा था। उसके पश्चात् के महाराज पृथिवीषेण प्रथम ने मध्यभारत तथा कुन्तल सहित दक्षिण की अपनी विजयो द्वारा वाकाटक शक्ति का अत्यधिक विस्तार किया। वाकाटक शक्ति के इस अभ्युदय के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त को अपनी पुत्री का पृथिवीषेण प्रथम के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय के साथ विवाह करके सधि का प्रयत्न करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि वाकाटकों की राजनीति गुप्त-साम्राज्य से प्रभावित हो गई। इस परिवर्तन का संकेत कतिपय साहित्यिक लेखों एवं अभिलेखों से प्राप्त होता है। पृथिवीशेण प्रथम ने दीर्घकाल तक (३७५ ई० तक) शासन किया, किन्तु उसके पुत्र एवं चन्द्रगुप्त के जामाता रुद्रसेन द्वितीय का राज्यकाल थोडा रहा जिसके पश्चात् उसकी पुत्री का राज-प्रतिनिधि के रूप में शासन तथा पिता (चन्द्रगुप्त) का नियंत्रण रहा। प्राकृत काव्य सेतुवन्ध के टीकाकार के कथनानुसार चन्द्रगुप्त का दौहित्र प्रवरसेन द्वितीय उसकी राज-सभा मे था और उसने इस काव्य की रचना की थी, जिसका संशोधन कालिदास ने विक्रमादित्य के आदेशानुसार किया था। यह परम्परा चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य, कालिदास तथा प्रवरसेन द्वितीय वाकाटक को समकालीन कहती है। पुन. भोज ने अपने शृंगार-प्रकाश मे एक श्लोक दिया है जिसे कालिदास का कहा है और जिसने, कहा गया है कि, गुप्त सम्राट् को कुन्तल के स्वामी की राजसभा के विलासपूर्ण जीवन की सूचना दी थी। यह कुन्तल का स्वामी उसका दौहित्र प्रवरसेन द्वितीय ही होगा। क्षेमेन्द्र के औचित्यविहार मे भी कुन्तल की राजसभा में कालिदास के दौत्य का उल्लेख कुन्तलेश्वर दौत्य के रूप मे है। प्रवरसेन द्वितीय के पत्तन के ताम्रपत्रों मे भी उनके लेख के कर्त्ता के रूप मे कालिदास का उल्लेख है। इन उल्लेखो से यह निर्णय नही होता कि उनमे उल्लिखित कालिदास सुविश्रुत महान् कवि कालिदास ही है, किन्तु वे अपने पिता के हस्तक्षेप को, जो उसके विलासी एवं काव्य-मग्न पुत्र के कुशासन मे और भी बढ़ गया था, निमंत्रण देनेवाली महारानी प्रभाकरगुप्ता के राज-प्रतिनिधि-शासन के फलस्वरूप उत्पन्न हुए गुप्त सम्राटों के कुन्तल के साथ सम्पर्क की स्थापना करते है।

कुन्तल के साथ गुप्त सम्राटों के सम्पर्क का साक्ष्य तालगुन्द के स्तम्भ-अभिलेख से भी प्राप्त होता है जिसमें कहा गया है कि कुन्तल (कनारी प्रदेश) मे वैजयन्ती के एक कादम्ब राजा ने अपनी पुत्रियाँ गुप्त एवं अन्य राजाओं को विवाह मे दीं। ऐसा प्रतीत होता है कि कादम्ब महाराज काकुस्थवर्मन् ने अपनी पुत्री का विवाह कुमारगुप्त (अथवा उसके पुत्र) के साथ किया। कुन्तल के कुछ मध्यकालीन शासक अपनी परम्परा चन्द्रगुप्त से जोड़ते हैं। पश्चिमी गंगा के अनेक दान-

लेन्व यह सूचना करते ह कि काकुस्थवमन् का काल ४३५-४७५ ईसवी है (दाँडेकर, *History of the Guptas*, पष्ठ ८७ ९१, रायचौधुरी, *Political History*, पृष्ठ ३४२ नोटस्)।

घटनाएँ—च द्रगुप्त के शासन की सबसे महत्त्वपूण घटना उनकी पश्चिमी मालवा और सुराष्ट्र (काठियावाड) की विजय है जो शकक्षत्रपा के शासनान्तगत थे। समुद्रगुप्त के एरण के प्रस्तर-अभिलेख से यह प्रकट है कि पूर्वी मालवा गुप्तो के अधिकार म पहले ही आ चुका था। ऐरिकिण (एरण) नगर वतमान मध्य प्रदेश के सागर जिले के एक उपविभाग में स्थित था और अभिलेख मे उसका समुद्रगुप्त के स्वकीय उपभोग के नगर (स्वभोग नगर) के रूप में वर्णन है। पश्चिमभारत मे शक प्रदेश पर च द्रगुप्त के अभियानो की आधारभूमि पूर्वी मालवा रहा होगा। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि की गुफा के अभिलेख में जो उसी गुफा के उसके दूसरे अभिलेख के समान तिथियुक्त नही है, बताया गया ह कि अपनी सम्पूण-पथिवी विजय की योजना को सफल बनाने के प्रयत्न मे (कृत्सनपृथ्वीजयार्थेन) पूर्वी मालवा के उस स्थान पर महाराज स्वय और उनके साथ पाटलिपुत्र नगर से अभिवन्दना करता हुआ वीरसेन शाव नामका उनका सचिव, किस प्रकार आये। यह भी कहा गया है कि 'राजर्षि' के रूप म वर्णित चन्द्रगुप्त द्वितीय ने वीरसेना की नियुक्ति अपने सन्धि विग्रहिक-सचिव के रूप मे की। उदयगिरि के गुप्त-सवत् ८२=४०१ ईसवी के गुफा-अभिलेख से यह ज्ञात होता ह कि सनकानिक जाति का (भेलसा के पास का) शासक च द्रगुप्त द्वितीय को अपना महाराजाधिराज स्वीकार करता था। साची का गुप्त-सवत ९३=४१२ ईसवी का अभिलेख भी बतलाता ह कि उनके आम्रकार्दव नामक अनेक सग्रामा के विख्यात विजयी अधिकारी द्वारा शासित उस प्रदेश में च द्रगुप्त का प्रभुत्व कितना दृढ स्थापित था। ये अभिलेख पश्चिम की ओर गुप्ता की शक्ति के विस्तारक्रम को प्रदर्शित करते है। इस उन्नति को वास्तविक सहायता च द्रगुप्त की वाकाटक राजा के साथ हुई सधि से प्राप्त हुई थी जिसकी भौगोलिक स्थिति इस राज्य के उत्तर की ओर गुजरात एव सुराष्ट्र के शक क्षत्रपा के विरुद्ध किए जानेवाले अभियानो पर प्रभाव डाल सकती थी।

इन शक प्रदेशा की वास्तविक विजय केवल मुद्राआ से प्रमाणित होती ह। जैसा पहले कहा जा चुका है पश्चिमी क्षत्रपा की सबसे पीछे की मुद्राएँ ३८८ ईसवी के पश्चात् की प्राप्त नही होती तथा इस क्षेत्र में मिलनेवाली चन्द्रगुप्त द्वितीय की सबसे पूव की मुद्राएँ ४०९ ईसवी से पहले की प्राप्त नही होती। इस प्रकार लगभग बीस वर्ष लम्बे युद्ध के पश्चात् गुप्त शक्ति का विस्तार पश्चिमी समुद्र तक हो सका था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी रजत मुद्राएँ यद्यपि क्षत्रपा के आदश पर प्रचलित की थी, तथापि अपने विजय चिह्ना को उनपर वे सतकता से अकित कराते थे। मुद्राआ के पृष्ठ भाग पर कोई परिवतन सूचित नही होता। पूव की भाति आज भी दिखनेवाला ग्रीक अभिलेख के चिह्नो के साथ राजा का सिर और उसमें पीछे तिथि अब भी विद्यमान ह। किन्तु दूसरे पार्श्व पर चत्य के स्थान पर गुप्तो का राजचिह्न गरुड और उनका मुद्रालेख 'परमभागवत' मुद्रित हो गए ह।

बाण के हर्षचरित्र में शक शासक पर च द्रगुप्त की विजय का सकेत करते हुए साहित्यिक साक्ष्य भी वहाँ प्राप्त होता ह जहा यह कहा गया ह कि कामी शक शासक की अभिलषित स्त्री के छद्मवेश में चन्द्रगुप्त ने उसे उसी की राजधानी म ही मार डाला।

सचिव—च द्रगुप्त के अनक याग्य सचिव थे जिनका अभिलेखो म इस प्रकार उल्लेख ह —

१ उदयगिरि की वष्णव गुफा के गुप्त-सवत् ८२ के अभिलेख के अनुसार सनकानिक कुल का एक शासक (महाराज) चन्द्रगुप्त को अपना महाराजाधिराज मानकर उनकी सेवा में (पादानुध्यात) था। वह समुद्रगुप्त द्वारा जीते हुए एव च द्रगुप्त द्वारा अपने पश्चिम के अभियान की तयारिया के स्थान के रूप मे निरीक्षित पूर्वी मालवा के प्रदेशा के भागपति अधिकारिया म से रहा होगा।

२ साची के गुप्त-सवत् ९३ के प्रस्तर-अभिलेख के अनुसार सुकुलिदेश से अभिवन्दना करता हुआ एव उस सम्राट् के सरक्षण (प्रसाद) के फलस्वरूप जिसको उसने अनेक सग्रामा में युद्ध करक एव विजय प्राप्त करके राजभक्तिपूवक

सेवा की थी, प्राप्त हुई अपनी प्रचुरता में से जिसे वृत्तिदान किया था काकनादबोट (साँची का प्राचीन नाम) के उस महाविहार से सम्बद्ध 'आम्रकार्दव'।

३. उदयगिर की शैव गुफा के अभिलेख के अनुसार पाटलिपुत्र से अभिवन्दना करता हुआ 'शाववीरसेन' जो वंशपरम्परागत अधिकार से (अन्वयप्राप्तसाचिव्यो) चन्द्रगुप्त का 'सांधिविग्रह' सचिव था तथा इस प्रकार दूर-दूर तक के अभियानों मे महाराजाधिराज के साथ रहा था।

४. 'शिखरस्वामी' जिनका फैजावाद जिले में प्राप्त हुए एक प्रस्तरलिंग पर लिखित गुप्त-संवत् ११७=४३६ ईसवी के कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल के अभिलेख मे 'कुमारामात्य' पद के साथ महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय के मंत्री के रूप में वर्णन है (एपिग्राफिया इण्डिका, X ७१-७२)।

५. महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र महाराज श्री गोविन्दगुप्त जो उनके द्वारा प्रचलित की गयी एवं वसाढ मे श्री ब्लॉच को प्राप्त हुई मुद्रा से (*A S R*, १९०३-४, पृ० १०१-२०) ऐसा ज्ञात होता है कि तीरभुक्ति नाम के प्रान्त के, जिसका प्रधान कार्यालय वैशाली में था, भोजपति थे। यह प्रतीत होता है कि हाल ही मे प्राप्त हुए मालव-विक्रम-संव्रत् ५२४ के मन्दसौर के अभिलेख में भी गोविन्दगुप्त का उल्लेख है (*A S I*, Annual Report, 1922-23, p. 187; एपिग्राफिया इण्डिका, App No. 7)।

शासन-व्यवस्था सम्वन्धी अधिकारी—वसाढ (प्राचीन वैशाली) में श्री ब्लॉच द्वारा किए गये उत्खनन के फलस्वरूप राजकुमार गोविन्दगुप्त, उनकी शासन व्यवस्था के अनेक अधिकारियों तथा उनके प्रान्त के प्रमुख नागरिकों एवं समाजो द्वारा प्रचलित की गयी मिट्टी की वहुसख्यक मुद्राएँ प्रकाश में आयी है। उनमे इन अधिकारियों का उल्लेख है:—

१. 'कुमारामात्याधिकरण' राजकुमार के अमात्यों में मुख्य। उसे 'युवराज' की विचित्र उपाधि दी गयी है जिसे एक अन्य मुद्रा में एक और महत्त्वपूर्ण उपाधि 'भट्टारक' के साथ राजकुमार के मुख्य अमात्य के रूप मे दुहराया गया है। २. सेना का अधिनायक 'बलाधिकरण' जिसे 'युवराज' एवं 'भट्टारक' उपाधि भी प्राप्त है। ३. सेना के कोष का अध्यक्ष 'रणभाण्डाधिकरण'। ४. नगर-रक्षक-दल का अध्यक्ष 'दण्डपाशाधिकरण'। ५. प्रधान दोष-प्रकाशक 'विनयशूर'। ६. प्रधान कंचुकी 'महाप्रतिहार'। ७ तलवर (अनिश्चित)। ८. प्रधान न्यायाधीश 'महादण्डनायक'। ९. राजनियम एवं व्यवस्था का सचिव 'विनय-स्थिति-स्थापक'। १०. पदाति एवं अश्वारोही सेना का अध्यक्ष 'भटाश्वपति'। ११. प्रान्त का शासक 'उपरिक' जैसे 'तीरभुक्ति-उपरिक-अधिकरण' में। यह वात ध्यान देने योग्य है कि इन मुद्राओं मे 'कुमारामात्याधिकरण' नामक अधिकारी के लिए प्रयुक्त हुए 'श्रीपरम-भट्टारक-पादीय' एवं 'युवराज-पादीय' पद क्रमशः सम्राट् एवं युवराज के साथ रहनेवाले महामात्र के लिये प्रयुक्त हुए है।

वैशाली की नगर-सभा के कार्यालय का प्रधान विधायक अधिकारी 'वैशाली-अधिष्ठान-अधिकरण' कहलाता था। उदानकूप नगर का शासन 'परिषद्' नामक नगर-सभा द्वारा होता था। काकनादबोट के विहार का प्रवन्ध 'आर्य-संघ' एवं पाँच व्यक्तियों की 'पंचमंडली' नाम की समिति द्वारा होता था' (फ्लीट, संख्या ५)।

निगम अथवा आर्थिक संघ—विभिन्न आर्थिक हितोंवाली श्रेणियों के 'निगमों' द्वारा इनमें से बहुसंख्यक मुद्राएँ प्रचलित की गयी है। ये निगम साहूकारों (श्रेष्ठी, वर्तमान सेठ), यातायात के व्यवसायियों (सार्थवाह) एवं व्यापारियों (कुलिक) के थे। ये निगम आज के व्यापारी-संघों (चॅम्वर ऑफ कॉमर्स) के समान काम करते थे। अनेक मुद्राएँ इन तीनों निगमों द्वारा सम्मिलित रूप से प्रचलित की गयी थी जैसा इस मुद्रालेख से प्रकट है 'श्रेष्ठी-कुलिक-निगम'। 'कुलिकनिगम का चिह्न उचित रूप से मुद्रा-मजूषा था। (देखिए मेरी *Local Government In Ancient India* [Oxford] पृष्ठ, १११-११३)।

इनमें से कुछ निगम उस काल के बक का काय करते थे। काकनादवोट के 'श्री महाविहार' के प्रबन्ध के अधिकारी आर्य सघ' को २५ दीनारो का दान मुद्रा रूप म इस ठहराव के साथ कि धन सघ द्वारा न्यासनिधि के रूप में रखा जायगा और उसके ब्याज में से पाच भिक्षुओ को प्रति दिन भोजन कराने का तथा महाविहार के रत्नग्रह (सभवत बुद्ध, धम एव सघ इन तीन रत्नो के निवास-गृह के रूप में स्तूप) में 'यावत्-चन्द्र दिवाकरौ' दीपक जलाने का प्रबन्ध किया जायगा सघ के पास स्थायी निक्षेप रखे जाने के लिए प्राप्त हुआ (फ्लीट, सख्या ५)। इस प्रकार सघ यहाँ निक्षेप रखनेवाले बैंक का तथा दान की निधि को अक्षुण्ण रखते हुए दाता द्वारा नियत उसके लाभ के अधिकारियो की सहायता के अथ एक निधि को सतत सुरक्षा में रखनेवाले न्यास धारक का भी काय करता ह। गढवा के गुप्त-सवत् ८८ के प्रस्तर अभिलेख म भी इसी प्रकार के एक व्यवहार का सकेत ह। (फ्लीट, सख्या ७)।

प्रान्त-विभाग—साम्राज्य सुविधाजनक शासनव्यवस्था सम्बन्धी प्रान्तो में विभाजित था। सबस बडा विभाग देश कहलाता था, उदाहरणाथ 'सुकुलिदेश' (फ्लीट, सख्या ५)। प्रान्त भुक्ति भी कहलाता था, उदाहरणाथ बासढ के मुद्रा-अभिलेख में 'तीर-भुक्ति'। प्रान्त के 'प्रदेश' अथवा 'विषय' नाम के उप विभाग थे, यथा 'ऐरिकिण प्रदेश' (फ्लीट, सख्या २)।

धम—गुप्त साम्राज्य में सब धर्मों के साथ समान व्यवहार होता था। उस काल के प्रधान धम वष्णव, शव एव बौद्ध धम थे। इनमें से प्रत्येक धम की सहायता के लिए किये गये धम-दायो को साम्राज्य से प्रोत्साहन प्राप्त होता था। गुप्त सम्राट् स्वय कट्टर हिन्दू थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 'परमभागवत' उपाधि धारण की थी जो वष्णव उपाधि है (फ्लीट, सख्या ४)। फ्लीट का सख्या ४ का अभिलेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक प्रमुख सचिव द्वारा ईश्वरवासक नामक एक गाँव अथवा भूभाग दान दिये जाने का तथा काकनादवोट (साँची) के महाविहार के 'आयसघ' कहे जानेवाले बौद्ध भिक्षुओ के समुदाय को द्रव्य दिये जाने का उल्लेख करता ह। दानकर्त्ता बौद्ध होने के कारण वह चन्द्रगुप्त के नाम के साथ उनका साधारण विशेषण 'परमभागवत' अर्थात् 'विष्णु का परम भक्त' नहीं लगाता। उदयगिरि की एक गुफा में चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक शव सचिव का अभिलेख है। वह गुफा शम्भु अथवा शिव के मन्दिर के रूप म खोदी गयी थी, उसमें (फ्लीट, सख्या ६) भी स्वभावत असम्बद्ध मानकर सम्राट् की 'परमभागवत' उपाधि को छोड दिया गया ह। उदयगिरि की दूसरी गुफा, जिसमें गुप्त-सवत् ८२ का तिथियुक्त अभिलेख ह उसके (१) दो पत्नियो के साथ चतुर्भुज विष्णु की तथा (२) बारह भुजाओवाली देवी की (जो सम्भवत लक्ष्मी हो सकती ह) आकृतियोवाले मूर्ति निर्माण के कारण वैष्णव-गुफा प्रतीत होती है (फ्लीट, पृष्ठ २३)। गुप्त-सवत् ८८ का गढवा का प्रस्तर-अभिलेख वष्णव अभिलेख होने के कारण उसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए 'परमभागवत' उपाधि का उल्लेख है। यह अभिलेख बहुत कुछ नष्ट हो गया ह किन्तु अवशिष्ट खण्डो में एक वष्णव सस्था को उसके अधिवासी ब्राह्मणो के लिए 'सदा-सत्र' की सहायतार्थ दस-दस 'दीनार' के दान का लेख है। इस दान से यह ज्ञात होता है कि जनता की धार्मिक वत्ति मानव की सेवा द्वारा परमात्मा की उपासना के रूप में समाज सेवा के दानो को प्रोत्साहन देती थी।

मथुरा का ३८० ई० का स्तम्भ-अभिलेख शव धम से उत्पन्न उदिताचाय के अधीन मथुरा में स्थापित माहेश्वर सम्प्रदाय का साक्ष्य देता है। अभिलेख में वह अपने उपमित, कपिल तथा पाराशर नाम के 'भगवन' पूर्वाचार्यों का उल्लेख करता है जिनकी परम्परा में वह स्वय चौथा है (भगवत्पाराशराच्चतुर्थेन)। वह परम्परा में स्वय के भागवतकुशिक से दशम होने का भी वणन करता ह जो इस प्रकार शवमत के इस विशिष्ट माहेश्वर सम्प्रदाय का प्रवत्तक था। इन कुशिक का वायु एव लिंग पुराण म शिवमहेश्वर के अन्तिम अवतार के रूप में कहे गये महान् लकुली के प्रथम शिष्य कुशिक के रूप म उल्लेख ह। लकुली के चार शिष्य थे, जिनमें से प्रत्येक एक-एक पाशुपत मत का प्रवतक था।

इससे आगे इस अभिलेख में कहा गया है कि अपने पुण्य में अभिवृद्धि करने के निमित्त से (स्व-पुण्य आप्यायननिमित्तम्) तथा अपने 'गुरुओ' की 'कीर्ति' के हेतु से भी आचाय उदित ने गुरुओ के पुण्यस्थल में (गुरु-आयतने) 'उपमितेश्वर' एव 'कपिलेश्वर' की प्रतिष्ठा की। जिस प्रकार से 'ईश्वर' शब्द यहा प्रयुक्त हुआ है, यह माना गया है कि उससे सूचित होता

है कि गुरुओं की आकृतियों अथवा मूर्तियों के साथ 'शिव-लिंग' 'प्रतिष्ठापित' किये गये थे। प्रत्येक आचार्य के नाम पर एक लिंग प्रतिष्ठित किया गया था तथा यह तथ्य कि वह 'गुरु-आयतने' स्थापित किया गया था यह प्रदर्शित करता है कि शिव-लिंगों के साथ मूर्तियाँ भी थी। भास के 'प्रतिमा-नाटक' मे 'देव-कुल' कहे गये प्रतिमूर्तियों के राजकीय अलिंद का उल्लेख है और इस 'गुरु-आयतने' की भी सम्भवत: आचार्यों के 'प्रतिमा-गृह' के रूप में योजना की गयी थी। अभिलेख का पाठ इस प्रकार है—'उपमितेश्वर–कपिलेश्वरौ–गुर्व्वायतने—गुरु................'। डॉ० डी० आर० भाण्डारकर की सूचना के अनुसार (एपिग्राफिया इण्डिका, XXI, पृ० ५) गुरु के पश्चात् खण्डित शब्द, जिनके लिए कम से कम पाँच अक्षरों का स्थान दिखता है, 'गुरु-प्रतिमा-युतौ' थे, यह माना जा सकता है। आचार्य उदित कहते हैं कि यह स्मारक उनकी स्वयं की ख्याति के अर्थ नही है (नैतत्ख्यात्यर्थंम) किन्तु माहेश्वरों के मनोयोग के लिए (विज्ञप्ति:) एवं 'आचार्यों' के उद्बोधन के लिए कि वे इसे अपनी निज की सम्पत्ति (आचार्याना परिग्रहम्) माने और शंकाहीन होकर (विशंकम्) उपायनों से इसे पूजित करे (पूजा-पुरस्कारम्) तथा दान लेकर इसे परिपालित करें (परिग्रह-पारिपाल्यम्)। यह भी ध्यान देने योग्य है कि कुमारगुप्त एवं बंधुवर्मन् के मन्दसौर के प्रस्तर-अभिलेख में 'देवकुल-सभा-विहार' शब्द आये है (फ्लीट, संख्या १८)।

अभिलेखों के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्राएँ उनके वैष्णव होने की सूचना देती हैं। उनकी अश्वारोही आकृति की स्वर्ण मुद्राओं के 'परमभागवत' मुद्रा-लेख से यह ज्ञात होता है। अपने उस नव विजित प्रदेश में जो पहले पश्चिमी क्षत्रपों के अधीन था प्रचलित करने के उद्देश्य से क्षत्रप मुद्राओं के आधार पर मुद्रित की गयी उनकी मुद्राओं पर भी यह मुद्रालेख दृष्टिगत होता है। विजेता के रूप में उन्हें विजित प्रदेश की परिपाटी एवं व्यवहारों का और विशेषत: उनकी अभ्यस्त मुद्राके स्वरूप का यथासम्भव अधिक से अधिक पालन करना पडा था। इस प्रकार अपनी नवमुद्रित मुद्राओं के मुख भाग पर उस काल के क्षत्रप शासकों की प्रतिआकृति के रूप में शताब्दियों से व्यवहृत होते चले आ रहे परम्परागत राजा के सिर को उन्होने वनाए रखा, किन्तु उनके पृष्ठ भाग का उपयोग अपनी विजय एवं शासकपरिवर्तन को सूचित करने के लिए किया। मुख भाग पर भी क्षत्रप-संवत् के स्थान पर गुप्त-संवत् के मुद्रण द्वारा गुप्त-विजय सूचित की गयी है, तथापि पृष्ठ भाग में गुप्त-मुद्राओं की विशेषता समाविष्ट हुई है। उसमें क्षत्रपों के चैत्य का स्थान चन्द्रगुप्त द्वितीय का देवता विष्णु का वाहन गरुड़ ले लेता है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की ताम्र-मुद्राएँ, उनके पृष्ठ भाग पर गरुड़ होने के कारण उनका धर्म वैष्णव घोषित करती हैं।

केन्द्र—साम्राज्य की राजधानी प्रयाग के स्तम्भ-अभिलेख मे पुष्प कहा गया पाटलिपुत्र नगर था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के अभियानों एवं विजयो से यह प्रकट होता है कि पूर्वी मालवा के विदिशा नगर से भी उनका सम्वन्ध था जवकि, जैसा हम पहले देख चुके हैं, उनके साथ अपना सम्वन्ध प्रदर्शित करने वाले कनारी प्रदेशों के कुछ शासकों ने उनका वर्णन पाटलिपुत्र के अधीश्वर के साथ साथ 'उज्जयिनीपुरवराधीश्वर' के रूप मे किया है। उनका उज्जयिनी के साथ सम्बन्ध परम्परागत शकारि विक्रमादित्य से उनकी अभिन्नता का भी अनुमोदन करता है। वसुवन्धु के चरित्र-लेखक परमार्थ ने एक विक्रमादित्य की राजधानी अयोध्या होने का वर्णन किया है, यह वात भी ध्यान देने योग्य है। वसुवन्धु (५००-५६९ ई०) उज्जयिनी निवासी ब्राह्मण था जो कुछ काल तक मगध मे रहा तथा ५४६-६९ ई० के मध्य चीन में रहा। वह लिखता है कि विक्रमादित्य के पुत्र वालादित्य के निमत्रण पर पुरुषपुर (पेशावर) का अधिवासी वसुवन्धु अयोध्या आया; जिन्होने बौद्ध धर्म के सरक्षक के रूप मे पहले उसे वालादित्य का अध्यापक वनाया। यदि इन विक्रमादित्य को चन्द्रगुप्त द्वितीय माना जाय तो अयोध्या को उनके साम्राज्य के प्रधान नगरों मे से माना जायगा। यह अभिन्नता वसुवन्धु की तिथि पर निर्भर है। यह हम देख ही चुके है कि वैशाली किस प्रकार साम्राज्य का एक महत्त्वपूर्ण नगर था।

मुद्राएँ—अपने विस्तृत साम्राज्य की आवश्यकताओं के अनुकूल अपने पिता की भाँति चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अनेक प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित की थीं। वे (१) धनुर्धर, (२) मंच, (३) छत्र, (४) सिंहमारक, तथा (५) अश्वारोही की आकृतियों से युक्त थी। इन प्रकारों के भी अपनी विशेषताओं से युक्त अनेक उप-प्रकार है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

धनुधर-आकृति-युक्त—उनकी इस आकृति की मुद्राएँ सबसे अधिक प्राप्त ह और ये अनेक प्रकार की ह। पहली प्रकार वह ह जिसके पृष्ठ भाग पर देवी के आसन के रूप में सिंहासन अथवा कमल है और इनमें से प्रत्येक प्रकार में मुख-भाग पर धनुष की तथा चन्द्र नाम की स्थिति के अनुसार अप्रधान श्रेणियाँ ह।

पृष्ठ-भाग पर सिंहासनयुक्त—इस प्रकार की मुद्रा के मुख भाग पर समुद्रगुप्त की धनुधर आकृति युक्त मुद्राओ के समान वाम कर में धनुष तथा दक्षिण कर में बाण लिए हुए वाम पार्श्व में खडा हुआ प्रभा वाम पर पट्ट से आवेष्टित गरुडध्वज, वाम बाहु के नीचे चन्द्र, चारो ओर 'देवश्रीमहाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्त' मुद्रालेख दृष्टिगत होता है। इस मुद्रा के पृष्ठ भाग पर सामने को मुख किए हुए समुद्रगुप्त की इसी प्रकार की अन्य मुद्राओ के सदृश प्रभामण्डल युक्त, उच्च-पृष्ठाधार-युक्त सिंहासन पर आसीन वाम हस्त मे समृद्धिशृग लिए हुए तथा दक्षिण में पट्ट युक्त, चरणो को कमल पर रखे हुए लक्ष्मी, बिन्दुओ की सीमारेखा, दाईं ओर 'श्रीविक्रम" परिलक्षित होते ह। इसका पृष्ठाधार रहित सिंहासन पर आसीन वामहस्त में समृद्धिशृग के स्थान पर कमल धारण किए हुए देवीयुक्त और इस प्रकार अधिक भारतीय शली का एक अन्य प्रकार ह।

पृष्ठ भाग पर कमलयुक्त—इस प्रकार की मुद्रा के मुख भाग के वाम पार्श्व पर पैरो के पास खडे तूणीर मे से बाण खींचता हुआ राजा तथा पृष्ठ भाग पर प्रभामडलयुक्त सामने को मुख किये कमल पर आसीन दक्षिण एव वाम करो में क्रमश पट्ट तथा कमल धारण किये देवी प्रदर्शित ह।

इस श्रेणी के अन्य प्रकारो मे (१) दक्षिण कर में बाण लिए हुए वाम पार्श्व पर राजा पृष्ठ भाग पर सिंहासनयुक्त मुद्राओ के समान, (२) मुख भाग पर ध्वज से ऊपर अर्धचन्द्र, (३) मुख-भाग पर ध्वज से ऊपर (विष्णु का) चक्र, (४) दक्षिण पार्श्व में केवल कटिवस्त्र एव आभूषण धारण किये हुए, वाम कर म धनुष तथा दक्षिण में बाण लिए खडा हुआ राजा, (५) एक अत्यन्त दुष्प्राप्य प्रकार में बाइ हाथ को दक्षिण कर मे धनुष लिए हुए किन्तु बाणरहित वाम कर को कटि प्रदेश पर आश्रय दिये हुए खडा राजा, दृष्टिगत होते ह।

यह ध्यान देने योग्य ह कि उपर्युक्त (२) तथा (३) प्रकार की मुद्राओ की विशेषता उनका अधिक भार तथा अशुद्ध धातु है और (४) प्रकार में भारतीय कटिवस्त्र एव कटिसूत्र को कुषाण वेशविन्यास का त्याग करके स्थान दिया गया ह।

अधिक सम्भव यह है कि अपनी आकृतियो के कारण मुद्राओ की सिंहासन-युक्त श्रेणी उत्तर के प्रान्तो मे और कमलयुक्त श्रेणी पूर्व तथा मध्य के प्रान्तो में, जहा विदेशी आकृतियाँ उपयुक्त नही थी, प्रचलित थी।

मंच-आकृति-युक्त—मुखभाग पर कटिवस्त्र एव रत्न धारण किये बाईं ओर को सिर किये, ऊँचे पृष्ठाधार-युक्त मच पर उसके किनारे पर वाम कर को आश्रय दिये, ऊपर उठे हुए दक्षिण कर में पुष्प लिये बठा हुआ राजा, मुद्रालेख 'देवश्रीमहाराजाधिराजस्यश्रीचन्द्रगुप्तस्य' दृष्टिगत है। पृष्ठभाग पर धनुधर की आकृतियुक्त मुद्राओ के कुछ नमूनो के समान पृष्ठाधारहीन सिंहासन पर आसीन सामने को मुख किये ऊपर उठे वाम कर में कमल लिए, चरणो को कमल पर आश्रय दिये देवी (लक्ष्मी), दाईं ओर 'श्रीविक्रम' मुद्रालेख प्रदर्शित है। इण्डियन म्यूजियम के नमूने में मुखभाग पर 'विक्रमादित्यस्य' शब्द और है तथा मच के नीचे 'रूपाकृती' लेख ह। यह शब्द स्पष्ट रूप से अनेक शारीरिक तथा सास्कृतिक गुणो का निर्देश करता ह। मुद्रा का यह प्रकार बहुत कम मिला ह और जसा उसके पृष्ठभाग पर सिंहासन की आकृति होने से सकेत मिलता है, यह सम्राट् के शासनकाल के प्रारम्भ में प्रचलित किया गया था।

छत्र-आकृति-युक्त—मुखभाग पर अकित मुद्रालेख में विभिन्नता होने के कारण इस आकृति की मुद्राओ के दो मुख्य प्रकार है। प्रथम प्रकार के मुखभाग पर बाइ ओर दक्षिण कर से बाईं ओर बनी वेदिका पर आहुति अर्पित करता हुआ तथा वाम कर को तलवार की मूठ पर रखे हुए *प्रभामण्डलयुक्त राजा खडा ह,* उसके पीछे *बौना अनुचर*
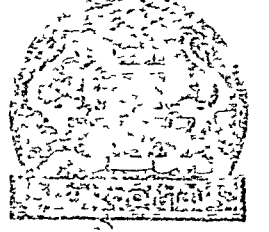
उसके ऊपर छत्र की छाया किये है तथा अन्य प्रकारों के मुद्रालेख 'क्षितिप्रवजित्यसुचरितैर्दिवंजयतिविक्रमादित्य:' से भिन्न 'महाराजाधिराज:श्रीचन्द्रगुप्त.' मुद्रालेख प्रदर्शित है। पृष्ठभाग पर बाईं ओर को कमल पर खडी हुई दक्षिण कर में पट्ट तथा वाम कर मे कमल धारण किये हुए प्रभामण्डलयुक्त देवीं (लक्ष्मी) तथा मुद्रालेख 'विक्रमादित्य:' है। दूसरे प्रकार में (पद्मसम्भवा के अनुसार) देवी कमल मे से उदित होती हुई दिखती है। इस आकृति मे देवी की विभिन्न स्थिति तथा अंगविन्यासोंवाले नमूने भी प्राप्त होते है।

मुख भाग के मुद्रालेख का अर्थ है। "विक्रमादित्य पृथ्वी विजय करके अपने सत्कृत्यों द्वारा स्वर्ग विजय करते है"

सिंह-मारक-आकृति-युक्त—इस आकृति की मुद्राओ का प्रदर्शन मुख-भाग पर विभिन्न स्थितियों मे सिंह की मृगया करते हुए राजा को दिग्दर्शित करनेवाले तथा पृष्ठभाग पर विभिन्न स्थितियो मे उपयुक्त देवी दुर्गासिंहवाहिनी युक्त बहुसंख्यक विभेदोवाले नमूनों मे हुआ है।

प्रथम श्रेणी के मुख-भाग पर बाईं अथवा दाईं ओर पीछे उड़ते हुए कटिसूत्र सहित अधोवस्त्र, उष्णीष अथवा सुसज्जित शिरोवस्त्र तथा रत्न धारण किये धनुप से सिंह पर, जो पीछे गिर पड़ता है, प्रहार करते हुए तथा पैर से उसे कुचलते हुए खड़ा राजा प्रदर्शित है।

पृष्ठभाग पर प्रभामण्डलपूर्ण दाएँ अथवा बाएँ को मुख किए हुए सिंह पर आसीन फैले हुए दक्षिण कर मे पट्ट एवं कुछ प्रकारों मे वामकर मे समृद्धि-श्रृंग तथा अन्य मे कमल धारण किए हुए देवी (लक्ष्मी-अम्बिका), बिन्दुओ की सीमा-रेखा, बाईं ओर को चिह्न अंकित है।

मृगया का दृश्य मुद्राओं पर निम्नांकित विभिन्न रूपों से अंकित हुआ है :—

१. ऊपर वर्णन किए गए प्रकार से सिंह पर बाण प्रहार करते हुए किन्तु उसे पैर से न कुचलते हुए बाईं ओर को राजा।

२. राजा सिंह पर बाण-प्रहार करते हुए, जो अपनी उछाल से पीछे गिर पडता है।

३. राजा अपना वाम चरण सिंह की पीठ पर रखते हुए तथा बाएँ हाथ में धारण किए धनुष से उसपर प्रहार करते हुए जो अपना सिर पीछे को मोड़ता हुआ पीछे को हटता है।

४. पीछे को हटता हुआ सिंह बाईं ओर।

५. दाईं ओर खड़ा राजा सिंह पर वाम चरण स्थापित किए हुए तथा राजा के ऊपर उठे हुए दक्षिण कर में गृहीत खड्ग के उसपर होनेवाले आघात के साथ ही पीछे को सिर मोडे हुए राजा पर झपटता हुआ सिंह। विंसेण्ट स्मिथ ने इन प्रकारो का वर्णन सिंहपादपीड़क, योद्धासिंह तथा प्रतिनिवृतसिंह की आकृतियों के रूप मे किया है।

पृष्ठ-भाग की देवी भी आकृति की मुद्राओं मे ये थोडे से भेद प्रदर्शित करती है। (१) सामने को मुख किये दाई ओर को जानेवाले सिंह पर आसीन देवी (२) अपना वाम कर सिंह के कटि प्रदेश पर रखे सिंह की विपरीत दिशा को बैठी हुई देवी (३) पीछे को सिर मोड़े बाईं ओर पड़े हुए सिंह पर सामने को मुख किए आसीन देवी।

अब जहाँ तक मुद्रा लेख का सम्बन्ध है प्रथम श्रेणी के मुखभाग पर पूरा पाठ इस प्रकार है :—

नरेन्द्रचन्द्रः प्रथितश्रिया दिवम्। जयत्यजेयो भुवि सिंहविक्रमः॥

"नरेन्द्रों मे चन्द्रमा, दूर-दूर तक फैली कीर्ति से, पृथ्वी पर अजेय सिंह के पराक्रम से स्वर्ग को जीतता है।"

द्वितीय श्रेणी पर अन्य मुद्रा लेख है जिसे इस प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है :—"नरेन्द्रसिंहचन्द्रगुप्तः पृथिवीं जित्वा दिवं जयति"—"नरेन्द्रों मे सिंह चन्द्रगुप्त पृथ्वी विजय करके स्वर्ग को जीतता है।"

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

पृष्ठभाग पर बहुधा 'श्रीसिंहविक्रम' मुद्रालेख है। एक प्रकार पर यह 'सिंहचन्द्र' है।

हम इस प्रकार यह देखते हैं कि सिंह की मृगया ने सम्राट् की कल्पना पर अधिकार कर लिया था जिसके द्वारा मृगया के विभिन्न अवसरों पर राज-आखेटक तथा उनके विशाल मृगया-जन्तु ने अपनेआप को जिन स्थितियों में देखा था उन सब सम्भव स्थितियों को पुनः अंकित करने में नियुक्त शिल्पियों द्वारा प्रस्तुत की गयी अनेक रचनाओं का संकेत प्राप्त हुआ। यह बात ध्यान देने योग्य है कि समुद्रगुप्त व्याघ्र की मृगया करने का इच्छुक था, किन्तु उसका पुत्र सिंह से अधिक प्रभावित हुआ था। पिता और पुत्र दोनों में महान् मृगया-जन्तु की कल्पना के सम्बन्ध में अन्तर होने का कारण महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि समुद्रगुप्त की व्याघ्र की आकृतिवाली मुद्राएँ गंगा की तराई की विजय के उपलक्ष में चलाई गई थीं जिसके जंगलों में आज भी बंगाली व्याघ्रों की प्रचुरता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की सिंह की आकृति युक्त मुद्राओं का भी ऐसा ही प्रादेशिक महत्त्व है और वे उनकी सिंहों के अधिवास युक्त प्रदेश की विजय के उपलक्ष में प्रचलित की गयी थीं। वे उनकी पश्चिमी मालवा तथा सुराष्ट्र अथवा वर्तमान काठियावाड की, जो भारतवर्ष में आज भी सिंहों के निवास स्थल हैं, विजय की स्मृति में चलायी गयी थीं। आगे एक दूसरे से सम्बद्ध किये गये व्याघ्र और देवी गंगा के समान, मुख भाग के सिंह से पृष्ठ भाग पर की देवी दुर्गा की प्रकृत कल्पना प्राप्त हुई है, जिसका उनके साथ उनके पवित्र आसन एवं वाहन के रूप में सम्बन्ध है। सुराष्ट्र के क्षत्रप शासकों को विजय करने के पराक्रमपूर्ण दुष्कर कार्य में चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा आह्वान की गयी अजेय 'शक्ति' के प्रतीक के रूप में वे सिंह पर आरूढ हैं। इस प्रकार गुप्त सम्राटों की मुद्रा-पद्धति में उसे आकृति प्रदान करनेवाला तथा अधिक ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त करानेवाला अभिप्राय एवं उद्देश्य कल्पित है।

अश्वारोही-आकृति-युक्त—इस आकृतिवाली मुद्राएँ चन्द्रगुप्त द्वितीय की महत्त्वपूर्ण नवीन योजना का स्वरूप हैं और उनके उत्तराधिकारी कुमारगुप्त प्रथम ने उन्हें विस्तृत रूप में प्रवर्तित रखा।

इनके मुख भाग पर दाईं अथवा बाईं ओर को पूर्ण रूप से सज्जित अश्व पर आरूढ राजा है, जिसके वेशविन्यास में कटिसूत्र सहित पीछे को उड़ता हुआ कटिवस्त्र तथा (कुण्डल, केयूर, हार आदि) रत्नाभरण हैं। कुछ नमूनों पर उसके वाम कर में धनुष है तथा अन्य पर उसके वाम पार्श्व में खड्ग है।

इनके पृष्ठभाग पर दाईं ओर को वेत्रपीठ पर आसीन, फैले हुए दक्षिण कर में पट्ट तथा वाम कर में उनके पीछे पत्र एवं मूलवाले कमल को धारण किये देवी, और बिन्दुओं की सीमा रेखा चित्रित है। यह आकृति इन मुद्राओं की 'आडोक्सो' मुद्राप्रणाली से स्पष्ट भिन्नता को तथा पूर्ण भारतीय स्वरूप को लक्षित करती है।

मुखभाग का मुद्रालेख 'परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तः' अथवा 'भागवतो' और पृष्ठभाग का 'अजित-विक्रम' है।

'भागवत' की नयी उपाधि का प्रयोग यह सूचित करता है कि अपना विजय का कार्यक्रम पूर्ण कर चुकने के कारण सम्राट् अब 'शक्ति' के उपासक नहीं रहे। वे अब शान्ति की चर्चा में संलग्न हो सकते हैं और अपने आपको भागवत के रूप में अहिंसा धर्म को अर्पित करते हुए विष्णु तथा शान्ति एवं समृद्धि की देवी उनकी सहचारिणी लक्ष्मी के उपासक के अनुरूप वेणु ग्रहण करने के लिए खड्ग का परित्याग कर सकते हैं।

रजत मुद्रा—ऊपर निर्दिष्ट मुद्राएँ यद्यपि स्वर्ण की थीं, पश्चिम के क्षत्रपों के राज्य को हस्तगत करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त द्वितीय को, उस प्रदेश की रजतमुद्राप्रणाली को उसपर कुछ गुप्त साम्राज्य की विशेषताएँ मुद्रित कराके बनाए रखना पड़ा था। इन पुनः मुद्रित रजत-मुद्राओं के मुखभाग पर दाईं ओर को क्षत्रप-मुद्राओं के समान ग्रीक अक्षरों के चिह्नों सहित राजा का ऊर्ध्व शरीर तथा बाईं ओर को 'व (र्ष)' शब्द तथा शक-संवत् के स्थान पर गुप्त-संवत् की ब्राह्मी अंकों में तिथि प्रदर्शित है। पृष्ठभाग की बनावट पूर्णरूप से गुप्त-सम्राटों की निज की है। उसमें सामने को मुख किए पंख फैलाए खड़े हुए विष्णु के वाहन गरुड की आकृति एवं सम्राट् को वैष्णव बतानेवाला तदनुरूप 'परम भागवत-महाराजाधिराज-श्री चन्द्रगुप्त विक्रमाकस्य' मुद्रालेख अंकित है।

श्री डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी

ताम्रमुद्रा—चन्द्रगुप्त द्वितीय ताम्रमुद्रा प्रचलित करानेवालों में भी सर्वप्रथम थे। इन मुद्राओं की, साधारण आकृति है, मुखभाग पर राजा एवं पृष्ठभाग पर गरुड़ और इन दोनों की बनावट मे विभिन्नता। उनमे दक्षिण कर में पुष्प ग्रहण किए हुए राजा का ऊर्ध्व शरीर, शरीर का तीन चौथाई भाग अथवा आधा भाग मुद्रित है और प्रभामण्डलयुक्त गरुड़ पंख फैलाए हुए सामने को मुख किए खड़ा हुआ, अथवा यज्ञ-वेदिका पर खडा हुआ, अथवा मुख में सर्प पकड़े हुए, अथवा उसे केवल पंजों से पकड़े हुए अंकित है। इन ताम्र मुद्राओं मे छत्र की आकृतिवाली भी एक प्रकार है जिसमें बौने अनुचर सहित जो उस पर छत्र की छाया किए है, वेदिका पर राजा प्रदर्शित है। ऐसी आकृति की मुद्राएँ भी हैं जिनपर राजा की आकृति नही है किन्तु मुखभाग के मुद्रालेख 'श्रीचन्द्र' के साथ, जो पृष्ठभाग के मुद्रालेख 'गुप्त:' से पूर्ण होता है अथवा कुछ उदाहरणों पर बिना 'गुप्त' प्रत्यय के केवल 'चन्द्र' नाम के साथ गरुड़ अंकित है। कुछ नमूनो मे एक और प्रकार प्राप्त होता है जिसमे गरुड़ के स्थान पर नीचे तक लटकते पुष्पो सहित पुष्पाधार अंकित है।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त की मुद्रा सम्वन्धी नवीनताएँ मंच, छत्र, सिंह, अश्व, गरुड तथा सिंहासनासीन देवी, आर्डोक्सो के स्थान पर कमलासनस्थ लक्ष्मी की आकृतियाँ और रजत एवं ताम्र मुद्राएँ है।

उपाधियाँ—चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्राओ से उनकी ये उपाधियाँ प्राप्त होती है:—

रूपाकृति, विक्रमादित्य, विक्रमांक, सिंहविक्रम, नरेन्द्रचन्द्र तथा परमभागवत (जिसका उल्लेख उनके अभिलेखों में भी है)।

फा-हिएन् की देखी हुई उस काल में देश की अवस्था—चन्द्रगुप्त उस विस्तृत साम्राज्य का शासन करते थे जिसका आयतन पश्चिम के काठियावाड़ प्रायद्वीप से पूर्व में बंगाल तक तथा उत्तर में हिमालय से नर्मदा तक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल के अन्तर्गत ईसवी सन् ३९९-४१४ के बीच भारतवर्ष की यात्रा करनेवाले चीनी यात्री फा-हिएन् के यात्रा-वर्णन से प्राप्त साम्राज्यवासी जनता के भौतिक एवं नैतिक उत्कर्ष की छाया से गुप्त-शासन की उत्तम व्यवस्था प्रतिविम्बित होती है, यद्यपि उसने अपने वर्णन मे चन्द्रगुप्त का नामोल्लेख नही किया है।

भारतवर्ष एवं चीन के बीच सास्कृतिक आदान-प्रदान का फा-हिएन् ही एकमात्र प्रधान उदाहरण नही था। चीन दीर्घ काल से भारतवर्ष को उस ज्ञान एवं उच्चतम प्रज्ञा की रक्षा के स्थान के रूप में मानता रहा है जिसकी उसके सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्कों को उत्कंठा एवं भक्तिपूर्ण जिज्ञासा रही है। इनकी प्राप्ति उन्हें बुद्धधर्म मे हुई और उसके उद्भव एवं विकास का स्थल था भारतवर्ष। चीन को बुद्धधर्म का ज्ञान तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के सुप्राचीन काल मे हो गया था। तब से इसने चीन के धार्मिक क्षेत्रों की प्रगति तथा ज्ञान को उसके मूल स्रोत से ही पान करने की इच्छामूलक भारतवर्ष की यात्रा करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करदी।

चीन मे बौद्ध धर्म के शास्त्रों का ज्ञान अत्यन्त अपूर्ण था, यह फा-हिएन् ने अत्यन्त दु:ख के साथ अनुभव किया। उस काल मे भारतवर्ष को की जानेवाली इस प्रकार की स्थल-यात्राओ मे आनेवाली विपत्तियों की उपस्थिति मे इन 'शास्त्रो' की प्राप्ति के हेतु से हुइ-चिग्, ताओ-चेंग्, हुइ-यिंग्, हुई-वे तथा अन्य अनेक चीनी विद्वानों के साथ भारत की यात्रा करने के लिए संयुक्त मण्डली का उसने संगठन किया। यात्रा मे इस धर्म-मण्डली को इसी उद्देश्य से इनसे पूर्व प्रस्थान करनेवाले अन्य लोग मिले। वे चिह-येन्, हुइचिएन्, सेंग्-शाओ, पाओ-सुन्, सेंग-चिग् आदि थे।

बुद्धधर्म का अनुयायी जो पहला देश उन्होने देखा वह 'शान्-शान्' था। यहाँ "लगभग ४००० से अधिक सभी हीनयान मतावलम्वी भिक्षु थे।" फा-हिएन् कहता है कि "शमनों के साथ-साथ इन देशों की साधारण जनता भी भारतवर्ष के धर्म का आचरण करती है।"

इसके पश्चात् वह मण्डल अनेक 'तारतार' देशों मे होकर गया और वहाँ भी उन्होने देखा कि "वे सब जिन्होने गृह का त्याग कर दिया है (आचार्य तथा नवच्छात्र), भारतवर्ष के ग्रन्थों का और भारतवर्ष में बोली जानेवाली भाषा का अध्ययन करते है।"

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

'कश्गहर' देश में हीनयान बौद्ध भिक्षुओं की संख्या "४००० से अधिक" थी।

निर्जन प्रदेशों में होकर दुस्तर नदियों के पार अपनी यात्रा में "अनुपम कष्टों को सहन करता हुआ वह मण्डल अतिथियों का सुखप्रद 'खोतन्' देश में आया जहाँ भिक्षुओं की संख्या "अनेक दससहस्र थी और जो बहुधा महायान थे। वे भारतीय नाम से विश्रुत 'गोमती' विहार में निवास करते थे जहाँ "घण्टानाद के साथ ही भोजनार्थ ३००० भिक्षु एकत्र हो जाते थे।" 'खोतन्' में ऐसे १४ विशाल विहार थे।

पास ही एक और २५० फीट ऊँचा "स्वर्ण एवं रजत से आच्छादित" विहार था, जिसके निर्माण में ८० वर्ष और तीन राजाओं का शासन-काल लगा था।

इससे आगे बौद्धधर्म का स्थान काशगर था। वहाँ इन यात्रियों ने "श्रमणों की आवश्यकताओं के अनुसार सब प्रकार के रत्नों से युक्त" दान करने के लिए राजा को 'पञ्च परिषद्' करते देखा। वहाँ १००० हीनयान भिक्षु तथा बुद्धके ष्ठीवन पात्र एवं दांत के रूप में कुछ पवित्र अवशेष थे।

काशगर से हिमाच्छादित प्रदेशों को पार करके ये यात्री उत्तरी भारत तथा दारेल नाम के स्थान पर आये जहाँ अनेक हीनयान भिक्षु थे।

इसके पश्चात उन्हें गम्भीरतम कठिन मार्ग से बहते हुए सिन्धु नद सहित एक "दुर्गम, अत्यन्त ढालू एवं संकटपूर्ण पथ का" सामना करना पड़ा। जिनमें पर नहीं जमते थे ऐसे ७०० डग नीचे उतरकर वे "रस्सियों के लटकते हुए पुल" द्वारा सिन्धु नद के पार हुए और भिक्षुओं से मिले, जिन्होंने उत्सुकतापूर्वक फा हिएन से पूछा "क्या आप जानते हैं कि बुद्धधर्म पूर्व की ओर प्रथम कब गया?" इसके उत्तर में फा हिएन् ने कहा "निर्वाण के २०० वर्ष पश्चात् मैत्रेय बोधिसत्त्व की मूर्ति स्थापित करने की तिथि से भारतवर्ष के श्रमण सूत्रों और शास्त्रों को नदी से पार लाने लगे थे।"

सिन्धु को पार करके ये यात्री 'उद्यान' नाम के प्रदेश में आये जहाँ बुद्ध धर्म 'अत्यन्त उन्नत दशा में' था तथा 'मध्य भारत अथवा मध्यराज्य' की भाषा व्यवहृत होती थी।

इस के पश्चात् वे 'गांधार' और फिर 'तक्षशिला' तथा पेशावर आये जहाँ महाराज कनिष्क ने "४०० फीट से अधिक ऊँचा पगोडा बनवाया था जो गौरव और शोभा में अद्वितीय था।"

भगवान् बुद्ध के अवशेषों की अथवा उनके पदचिह्न, जिसपर उन्होंने अपने वस्त्र सुखाए थे वह शिला, उनका भिक्षा पात्र तथा जहाँ एक कपोत को मुक्त कराने के लिए उन्होंने अपना मांस काटकर दिया था, अथवा समवेदना के कारण किसी जीव के लिए अपनी आँखें अथवा अपना सिर काट दिया था, अथवा क्षुधित व्याघ्र की तृप्ति के लिए अपना शरीर दे दिया था वे स्थल आदि उनके जीवन की घटनाओं की स्मृति रक्षा तथा पूजा करने के लिए इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में स्थान-स्थान पर स्तूप बने हुए थे।

यहाँ से फा हिएन एकाकी रह गया। उसके साथी हुइ किंग्, हुइन्ता, ताओ-चेंग्, हुइ मिंग् पायो-युन्, तथा सेंग् चिंग् सब चीन को लौट गये।

फा हिएन् इसके पश्चात् बुद्ध की कपाल की अस्थियुक्त एक स्तूपवाले नगरहार प्रदेश में पहुँचा जहाँ आसपास के देशों के शासक "अर्चन करने के लिए अपने राजदूत नियमित रूप से भेजते हैं।" नगरहार की राजधानी में एक स्तूप था जिसमें बुद्ध के दांत स्थापित थे। ऐसा ही एक स्तूप और भी था जिसमें बुद्ध का काँसे की मूठ का दण्ड स्थापित था, एक और स्तूप में उनके वस्त्र स्थापित थे, बुद्ध की छाया की गुफा थी तथा एक अन्य ८० फीट ऊँचा स्तूप उस स्थान पर बना हुआ था जहाँ बुद्ध ने क्षौर कराया था तथा नख कटवाए थे।

फा हिएन् तथा उसके अन्य दो साथियों ने अब छोटे हिमाच्छादित पर्वत (सफेद कोह) पार किये जहाँ फाहिएन् से यह कहते हुए "मैं बच नहीं सकता, तुम इसी में हो कि जब तक तुम चल सको चलते जाओ, ऐसा न करो कि हम सब

यही समाप्त हो जॉय" उसका साथी चलवसा। शव को मृदुता से थपथपाता हुआ फाहिएन शोक मे चिल्ला उठा "यह नियति है; इसमे क्या किया जा सकता है।"

इस प्रदेश को पार करके ये यात्री अफगानिस्तान देश मे आये और वहाँ उन्होंने हीनयान तथा महायान दोनों सम्प्रदायों के लगभग ३००० भिक्षु देखे।

फलन अथवा वन्नू मे भी उन्होंने उतने ही भिक्षु देखे जहाँ से पूर्व को यात्रा करते हुए वे पुनः सिन्धु नद पार हुए और पंजाव के भिद नामक प्रदेश मे आये जहाँ वुद्धधर्म वहुत उन्नत अवस्था मे था।

"जिन सवमे लगभग १०००० भिक्षु निवास करते थे ऐसे वहु-संख्यक विहारों" वाले पंजाव को पार करते हुए ये यात्री मन्दोर अथवा मथुरा मे आये और वहाँ लगभग ३००० भिक्षुओ से युक्त २० विहार यमुना के तट पर देखे।

मथुरा के दक्षिण मे "(ब्राह्मणों का) मध्यप्रदेश कहलानेवाला देश है जहाँ लोग समृद्ध एवं सुखी है और उनपर गणनापत्र मे लिखित होने का अथवा अन्य राज्याधिकारिक वन्धन नही है। जो राजा की भूमि जोतते है केवल उन्हे अपने लाभ में से कुछ देना पड़ता है। जो जाना चाहे वे जा सकते है तथा जो रुकना चाहे वे रुक सकते है। राजा अपने शासन प्रवन्ध मे शारीरिक दण्डो का उपयोग नही करता, अपराधियों को उनके अपराध की गुरुता के अनुसार केवल अर्थ-दण्ड दिया जाता है। राजद्रोह के दुवारा प्रयत्न का दण्ड भी केवल दायाँ हाथ काट देना है। राजा के सभी अंग-रक्षकों को निश्चित वेतन मिलता है। सारे देश मे कोई भी जीवित प्राणी का हनन नही करता, न मद्य पीता है, न प्याज या लहसन खाता है; किन्तु चण्डाल इनसे पृथक् है। वे घृणित मानव (कुष्ठी) को चण्डाल कहते है।"

"इस देश मे लोग सुअर अथवा वाज नही पालते, पशुओं का व्यापार नही करते और क्रय-विक्रय के स्थानों पर मॉस वेचनेवालो की दूकाने अथवा कलारियाँ नही है। विनिमय के माध्यम के रूप मे वे कौडियो का उपयोग करते है। केवल चण्डाल ही मृगया एव मछलियो का व्यापार करते है।"

"राजा, नगर-पिता तथा कुलीन लोग विहार एव स्तूप निर्मित कराते थे तथा भूमि, गृह एवं उद्यान खेती के लिए मनुष्य और वैलों सहित देते थे। नियामक अधिकारपत्र लिख दिये जाते थे जिनकी अवमानता करने का साहस पश्चाद्वर्ती राजा नही करते थे।"

"शय्या, तूलिका, भोजन तथा वस्त्रों सहित गृह अत्रुट रूप से निवास एवं यात्रा करनेवाले भिक्षुओं को दिये जाते है; और यह सभी स्थानो पर इसी रूप मे होता है।"

"सारिपुत्र, मुगलन तथा आनन्द की आराधना मे और अभिधर्म, विनय एवं सूत्रों के लिए भी स्तूप वनाए जाते हैं।"

"धार्मिक कुटुम्व वार्षिक निवृत्ति के पश्चात् भिक्षुओ को वस्त्र तथा उनकी अन्य आवश्यक अनेक वस्तुएँ अर्पित करने के लिए दान करते है।"

यह वात ध्यान देने योग्य है कि मध्य देश वैदिक धर्म का दुर्ग एवं गुप्त साम्राज्य का हृदय था जहाँ भारत की संस्कृति सर्वोत्कृष्ट रूप मे विद्यमान थी। फा-हिएन् के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि जनता को राज्य की ओर से पर्याप्त व्यक्तिगत स्वतत्रता थी जिसमे राज्य के अधिकारियो द्वारा गणनासूची मे नाम लिखाना अथवा अन्य प्रतिवन्धो के रूप मे कोई कष्ट-प्रद हस्तक्षेप नही किया जाता था। आर्थिक स्वतंत्रता थी जिसमे श्रमिको के आवागमन पर नियंत्रण नही था जिसके फल-स्वरूप कृपक अपने खेतो से दासो की भाँति वँधे नही थे; तथा दयापूर्ण अपराध सम्वन्धी विधान था। लोगों की नैतिक उन्नति तथा सामाजिक भावना उनके धर्म एवं शिक्षण सस्थाओं के लिए अर्पित किये जानेवाले उदार दानों से प्रदर्शित है। इन दानों ने कृषि के लिए आवश्यक साधन मनुष्य तथा पशुओं सहित भूमि के स्थायी समर्पण का रूप ले लिया था। इससे

यह ज्ञात होता ह कि इन सास्कृतिक सस्थाओ को खेती की भूमि तथा फल एव फूलो के उद्यान आदि अपनी भूसम्पत्ति से अपना व्यय चलाने के अथ पर्याप्त आय प्राप्त करने के लिए कृषि विभाग व्यवस्थित करने पडते थे। उन दिनो विद्यालयो एव महाविद्यालयो की सहायता के लिए मुद्रा के रूप में दान करना प्रचलित नही था। जीवनयापन की पद्धति का आधार अहिंसा थी जिसके अन्तगत प्याज तथा लहसुन प्रभृति उत्तेजक मसाले रहित निरामिष शाकाहार का विधान था और कलारी, सुअरपालना एव मास वेचना भी वर्जित थे।

अब फा हिएन् ने वुद्ध धम के तीर्थ-स्थल 'सकिस' (क्पिथ) की यात्रा की जहाँ अशोक ने एक स्तूप तथा सिंह की मूर्ति के शिखरवाला ६० फीट ऊँचा स्तम्भ निर्मित करवाया था और जहाँ १००० भिक्षु रहते थे और पास के ही एक और विहार में छह-सात सो भिक्षु रहते थे तथा वह बौद्ध धम के अनेक स्मारकोवाली 'श्रावस्ती' नामक तीथस्थली को गया।

यहाँ फा हिएन् अपने एकमात्र साथी ताओ चेग् के साथ आया। भिक्षुओ ने फा-हिएन् से पूछा "आप किस देश से आये ह।" और जब उसने उत्तर दिया "चीन से" तो भिक्षुओ ने दीघ नि श्वास छोडा और कहा "बहुत अच्छा, क्या यह भी सम्भव है कि धम की खोज में विदेशी इतनी दूर यहाँ तक आ सक्ते ह? जब से हम भिक्षुओ द्वारा धम एक पीढी से दूसरी पीढ़ी को दिया जाना प्रारम्भ हुआ ह, हमारे धम का कोई चीनी अनुयायी यहाँ आया, यह ज्ञात नही है।"

श्रावस्ती में फा-हिएन् ने प्रसिद्ध जेतवन विहार देखा जिसे वह "जिसने भूमि को ले लेने के लिए स्वर्ण मुद्राएँ बिखेर दी थी उस सुदत्त" द्वारा निर्मित स्वण उपवनवाला विहार कहता है।

उसने "वे सब स्थल जहा प्राचीन काल के मानवो ने स्मृति के चिह्न स्थापित किये थे," देखे।

"इस देश में विधर्मियो (अबौद्धो) के ९६ सम्प्रदाय ह, जिनमें प्रत्येक के अपने शिष्य हैं जो अपना भोजन भी भिक्षा से प्राप्त करते हैं परन्तु भिक्षापात्र नहीं रखते।"

"इसके अतिरिक्त विजन प्रदेश की सडको के किनारे धमशालाएँ बनवाकर जिनमें इधर उधर से आते-जाते हुए परिव्राजक भिक्षुओ तथा यात्रियो को विस्तर, भोजन एव जल सहित आश्रय प्राप्त होता ह वे मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु ठहरने देने की अवधि प्रत्येक (धमशाला) की अलग-अलग है।"

मानव मे अभिव्यक्त परमात्मा के नरनारायण रूप की उपासना जिस धम का अग है, तथा जनता की अधिकाश सख्या वदिक धर्मां का पालन करनेवाली होते हुए भी ऐसी धमशालाओ की, जिनमे बिना जाति अथवा धर्म के भेदभाव के हिन्दू-धर्म के सभी सम्प्रदायो तथा बौद्धो को भी प्रवेश प्राप्त था, स्थापना द्वारा जो उपासना प्रकट हुई थी वह समाज-सग्रह की भावना से प्रेरित सावजनिक औदार्य का महत्त्वपूण प्रमाण ह। यह जानकारी भी आकषक ह कि इन प्राचीन काल की धमशालाओ में उनकी स्थानापन्न वतमानकालीन धमशालाओ के अल्पकाल तक ठहरने देने के नियम की पूव-कल्पना विद्यमान थी।

फा हिएन् ने देवदत्त से तथा कश्यप, क्रकुच्छद अथवा कनकमुनि सदृश पूव वुद्धो से सम्बद्ध स्थान उस काल में भी देखे।

उसने कपिलवस्तु को ऊजड पाया और उसमे अनेक बौद्ध स्मारक "अब तक विद्यमान" देखे। "राजपथो पर वन्य हाथियो एव सिंहो का भय रहता ह।" वह लुम्बिनी, रामग्राम तथा वशाली को भी गया और गगापार करके मगध में पाटलिपुत्र में आया।

"पूर्व काल में सम्राट् अशोक द्वारा शासित" पाटलिपुत्र में "सम्राट् का प्रासाद अपने विविध कक्षो सहित, जिन सभी का निर्माण दिव्य आत्माओ ने किया था, जिन्होने शिलाओ को चिना, भीते और द्वार बनाए, आकृतियाँ खोदी तथा मानवेतर अलौकिक खुदाई तथा पच्चीकारी का काय किया, आज भी विद्यमान ह।"
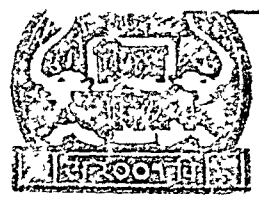
इस वर्णन से यह सूचना प्राप्त होती है कि पाटलिपुत्र की गुप्त-साम्राज्य मे वह महत्त्वपूर्ण स्थिति नहीं रही थी जो मौर्यसाम्राज्य के अन्तर्गत थी।

पाटलिपुत्र तक फा-हिएन् के साथ उसका साथी ताओ-चेंग् गया, किन्तु यहाँ से वह भी छूटना था। मध्य भारत के श्रमणों की आध्यात्मिकता से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने यह प्रार्थना की "अव से जव तक बुद्ध न हो जाऊँ, मै किसी वाह्य भूमि मे न रहूँ।" "अतः वह रह गया और लौटकर न गया, किन्तु फा-हिएन् का उद्देश्य सम्पूर्ण चीन की भूमि में शास्त्रों के ज्ञान का प्रसार करना होने के कारण वह अन्त में अकेला ही लौट गया।"

पाटलिपुत्र में फा-हिएन ने एक हीनयान का तथा दूसरा महायान का विहार देखा। पहले विहार में था रैवत नाम का एक ब्राह्मण वौद्ध आचार्य "विशाल-बुद्धि-वैभवयुक्त, असाधारण विद्वत्ता से पूर्ण, निःशेष ज्ञान का आकर मानव।" सम्पूर्ण देश बौद्ध धर्म के विस्तृत प्रसार के अर्थ इस एक पुरुष का आदर करता था, उसे प्रमाण मानता था। इसी विहार में एक और प्रसिद्ध ब्राह्मण आचार्य मजुश्री था जो 'सम्पूर्ण देश मे अग्रणी धार्मिक भिक्षुओं द्वारा समादृत था।'

मगध-देश एवं उसकी संस्कृति पर फा-हिएन् की आलोचना मनोरंजक है। "मध्य-भारत के सव प्रदेशों की अपेक्षा इसमें सबसे बड़े नगर हैं। इसके अधिवासी धनिक एवं उन्नतशील हैं तथा अपने पड़ौसी के प्रति हार्दिक तथा क्रियात्मक दानशीलता के आचरण मे एक दूसरे से स्पर्धा करते हैं।"

"चार चक्रोंवाले पॉच खण्ड के रथों मे" मूर्तियों की यात्रा सदृश अपने उत्सवों में "ब्राह्मण बुद्धों को निमंत्रित करने आते हैं" और इस प्रकार उनका धार्मिक दृष्टिकोण पूर्ण उदार था।

जहाँ तक समाज-सेवा-युक्त लोकसंग्रह का प्रश्न है, फा-हिएन् कहता है कि "इस देश के प्रतिष्ठित निवासियों ने अपने प्रधान नगरों में दातव्य औषधालय स्थापित किये हैं और इनमे सव निर्धन अथवा निःसहाय रोगी, अनाथ, विधवाएँ तथा विकलांग आते हैं। उनकी उत्तम परिचर्या होती है, एक चिकित्सक उनका उपचार करता है और उनको आवश्यकतानुसार भोजन एवं औषधियाँ दी जाती हैं। उनको पूर्ण सुखसाधन दिये जाते हैं और जव वे स्वस्थ हो जाते हैं, चले जाते हैं।"

फा-हिएन् ने पाटलिपुत्र में अशोक का अभिलेखयुक्त एक स्तम्भ उसके स्तूप के पास और इसी के समीप सिंह की प्रतिमा के शिखरवाला अभिलेखयुक्त एक दूसरा स्तम्भ देखा।

इसके पश्चात् वह नालन्दा में होकर "जहाँ सारिपुत्र ने जन्म लिया था" तथा जहाँ प्राचीन काल का एक स्तूप उस समय भी विद्यमान था तथा राजगृह में होकर गया जहाँ उसने बुद्ध धर्म के अनेक पुण्य-स्थल एवं गृध्रशैल की यात्रा की जहाँ "वह अपनी भावनाओं से गद्गद् हो गया।" किन्तु उसने अपने आँसू रोके और कहा "पूर्वकाल में बुद्ध ने यहाँ निवास किया और सुरांगम सूत्र, १, का प्रवचन किया, बुद्ध का साक्षात्कार कराने के लिए आवश्यक समय से अत्यन्त पीछे उत्पन्न हुआ फा-हिएन् उनके चिह्नों और निवास-स्थलों को केवल निश्चल नेत्रों से देख ही सकता है।"

इसके पश्चात् वौद्ध पुण्य-स्थलों और स्मारकों को देखते हुए उसने गया एवं बोधगया की यात्रा की और फिर पाटलिपुत्र को पीछे लौटकर वनारस तथा उसके मृग-वन में पहुँचा जहाँ उसने अधिवासी भिक्षुओं सहित दो विहार देखे।

यहाँ से उसने अपने घर लौटने की यात्रा आरम्भ की। पाटलिपुत्र को लौटकर और "गंगा के प्रवाह का नीचे को अनुसरण करता हुआ" वह चम्पा में आया, जहाँ से आगे वढ़ते हुए तामलुक प्रदेश में, "जहाँ समुद्र का एक वन्दर है" पहुँचा। यहाँ उसने २४ विहार देखे "सूत्रों की प्रतिलिपि एवं मूर्तियों का प्रतिचित्रण करता हुआ वह यहाँ दो वर्ष रहा और फिर "एक विशाल वाणिज्य-पोत पर समुद्रयात्रा पर चलकर" १४ दिन मे लंका में पहुँचा। लंका में वह दो वर्ष तक रहा और उसने

सस्कृत के कुछ पवित्र ग्रन्थो की, विनय की, आगमो की तथा शास्त्रो के उद्धरणो की प्रतिलिपि प्राप्त की। फिर वह एक "विशाल वाणिज्य-पोत पर यात्रा में प्रवृत्त हुआ जिस पर २०० से अधिक प्राणी थे, और जिसके पृष्ठ भाग मे उससे छोटा एक पोत समुद्र म दुर्घटना होने तथा बडे पोत के नष्ट हो जाने के समय के लिए बँधा था।" ऐसी दुर्घटना हो ही गयी। दो दिन बाद उन्हे एक भारी झझावात का सामना करना पडा जो १३ दिन और रात चलता रहा और पोत में एक छेद से जल प्रविष्ट होने लगा जो उनके एक द्वीप के किनारे पहुँचने पर बन्द कर दिया गया था। यात्रियो को अपना भारी सामान समुद्र में फेंक देना पडा था और फा हिएन् ने डरकर प्रार्थना की थी कि उसकी पुस्तक और मूर्तियाँ जिन्हे वह चीन ले जा रहा था बचाली जाँय तथा उसके जीवन का परिश्रम नष्ट न किया जाय।

वे "९० दिन से अधिक जव नाम के एक देश में पहुँचने तक यात्रा करते गये जहाँ नास्तिकता तथा वैदिक धर्म उन्नत थे, किन्तु बुद्ध का धर्म अत्यन्त असन्तोषप्रद अवस्था में था।"

जावा में फा-हिएन् "लगभग ५ मास तक रहा और पुन एक बडे वाणिज्य पोत पर सवार हुआ जिसके ऊपर भी २०० से अधिक व्यक्ति थे। उन्होने अपने साथ ५० दिन का भोजन का सामान लिया।"

उन्हे फिर एक भारी झझावात का सामना करना पडा। ब्राह्मण यात्रियो ने असन्तोष प्रकट किया कि "हमारी आपत्ति का कारण एक श्रमण को पोत पर चढाना हुआ है। हम उचित है कि उसे किसी द्वीप पर छोड दें। एक मनुष्य के लिए अपना सबका जीवन सकट मे डालना उचित नही है।" फा हिएन् के पक्ष का एक दूसरे यात्री ने साहसपूर्ण समर्थन किया तथा उन्हे मौन कर दिया। उसी समय पोत के प्रधान अधिकारी की यात्रा योजना म अव्यवस्था हो गयी। "इस प्रकार वे ७० दिन तक, जब तक उनका भोजन का सामान तथा जल लगभग समाप्त हो गया चलते गये और उन्हें पेय जल आपस में बाटकर जो प्रत्येक व्यक्ति को लगभग दो पिण्ट मिला समुद्र के जल से भोजन बनाना पडा। फिर दिशा बदलकर १२ दिन समुद्र में चलने के पश्चात भूमि पर पहुँचे। उस स्थान का प्रधान अधिकारी बौद्ध था। उसने यह सुनकर कि एक श्रमण आया है जो अपने साथ जहाज में धर्म पुस्तके तथा मूर्तियाँ लाया है अपने अनुचरो के साथ उसका स्वागत करने के लिए समुद्र तट को तत्काल प्रस्थान कर दिया।"

इस प्रकार फा हिएन् की वह यात्रा समाप्त हुई जिस पर उसने यह टीका लिखी है "जिन परिस्थितियो को मुझे भुगतना पडा था उनका सिंहावलोकन करते हुए मेरा हृदय अपनेआप धडकने लगता है और पसीना बहने लगता है। जिन सकटो का मुझे सामना करना पडा, उनसे मन तन नही चुराया। इसका कारण यही था कि मैने अपने ध्येय को दृढतापूर्वक दृष्टि में रखा।"

यह स्मरण रखना चाहिए कि फा हिएन् ने मध्य चीन से गोबी के मध्य प्रदेश में होकर, हिन्दूकुश के पार और सम्पूर्ण भारतवर्ष को पार करते हुए ठेठ हुगली के समुद्र-सम्मेलन तक सारे मार्ग पर पैदल ही यात्रा की थी जहाँ से वह दुर्घटनाओ से बाल-बाल बचने के पश्चात् ३० विभिन्न देशो में यात्रा करके ६ वर्ष अथवा इससे अधिक केवल यात्रा ही यात्रा करके तथा दूसरे ६ वर्ष भारतवर्ष में ठहरने में तथा अध्ययन में व्यतीत करने के पश्चात् जहाज पर चढकर समुद्र मार्ग से चीन लौटा था।

धर्म-पुस्तको की तथा मूर्तियो की प्रतिलिपि एव प्रतिचित्रण उसकी यात्रा का मुख्य उद्देश्य था और भारतवर्ष की शिक्षण-पद्धति की उपस्थिति में जहा अध्ययन एव अध्यापन लिखित साहित्य के आधार पर न होकर, जिसकी प्रतिलिपि की जा सकती और पाण्डुलिपियो के रूप म जिसे ले जाना सम्भव होता, मौखिक पद्धति से होता था, उस उद्देश्य का पूर्ण होना कठिन था। अध्ययन के विषय लिखित रूप में नहीं थे और शिक्षा सीधे आचार्य के मुख से विनिःसृत शब्दो द्वारा ग्रहण करनी पडती थी जिनका श्रुति के रूप में "श्रवण, ध्यान एव चिन्तन" करना पडता था। इस प्रकार फा हिएन् लिखता है कि "उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशो म धर्म-ग्रन्थ एक कुलपति के पश्चात् भावी कुलपति को मौखिक रूप म दिये जाते थे

श्री डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी

और उसे प्रतिलिपि करने के लिए कोई लिखित ग्रन्थ प्राप्त नही थे। पाटलिपुत्र का केवल एक महायान विहार ऐसा स्थान था जिसे उसने इसका अपवाद पाया और जहाँ उसे शास्त्रो की एक प्रति "सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अनुसार ७००० श्लोकों की, उसी की विस्तृत अपर पाण्डुलिपि जिसकी परम्परा भी एक कुलपति से दूसरे कुलपति को मौखिक अध्यापन द्वारा ही विना लिपिबद्ध किये चली आती थी, लगभग ६००० श्लोकों मे अभिधर्म से लिए गये उद्धरण, एक सूत्र की २५०० श्लोको की सम्पूर्ण प्रति तथा २००० श्लोकों मे वैपुल्यपरिनिर्वाण सूत्र की परिवेष्टित पाण्डुलिपि भी प्राप्त हुई। अतः फा-हिएन् सस्कृत (एव पालि?) का लेखन एवं भाषण सीखते हुए तथा शास्त्रो की प्रतिलिपि करते हुए तीन वर्ष तक यहाँ रुका।"

उत्तर-भारत की चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के काल की जो उस समय वहाँ का सर्वोच्च सम्राट् था, संस्कृति के फा-हिएन् द्वारा लिखे गये वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस काल मे देश द्वारा अर्जित नैतिक उच्चता एवं भौतिक समृद्धि का सम्पूर्ण श्रेय-गुप्त शासन की कुशल व्यवस्था को प्राप्त है। विंसेण्ट ए० स्मिथ की इस सम्मति का कि "चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन की अपेक्षा भारतवर्ष किसी समय भी प्राच्य पद्धति के अनुसार सुचारुतर शासन व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं रहा" तथ्य इससे प्रकट होता है। जैसा हम देख ही चुके है फा-हिएन् का सम्वन्ध वौद्धमतावलम्वी भारत और उसके ज्ञान एवं धर्म के केन्द्रों से था जो उस काल मे भी भारतवर्ष की सीमा को पार कर गये थे और भारतीय दर्शन की सर्वोच्चता की वन्दना करते हुए एवं उसकी संस्कृति का क्रियात्मक रूप से अनुसरण करते हुए वृहत्तर भारत के निर्माण मे सहायक हो रहे थे। उद्यान (वर्तमान स्वात) के सीमान्त प्रदेश मे ही वुद्ध-भिक्षुओ से युक्त विहारो की सख्या ५०० थी। पंजाव भी वौद्ध विहारों से परिपूर्ण था जिनमे निवास करनेवाले वौद्ध विद्यार्थियो की संख्या १०००० थी। अकेली मथुरा नगरी में ही जो वैदिक धर्म का केन्द्र थी २० विहार थे और उनमे ३००० भिक्षु निवास करते थे। जिस प्रदेश मे वर्तमान संयुक्त-प्रान्त स्थित है उस काल मे वहाँ की वैदिक धर्म की शक्तिमत्ता का परिचय वहाँ इस धर्म के विभिन्न ९६ सम्प्रदाय तथा मत होने से प्राप्त हो सकता है।

इस सम्पूर्ण विद्वत्ता का प्रतिनिधित्व एव सरक्षण इसके कुछ महान्‌तम आचार्यो द्वारा होता था। इनमें कुछ का जैसा हम देख चुके है फा-हिएन् ने नाम से उल्लेख किया है। इस प्रकार पाटलिपुत्र अपने "सम्पूर्ण देश द्वारा समादृत एवं सम्राट् द्वारा भी सेवित" महायान के धुरन्धर ब्राह्मण आचार्य राधासामी के लिए विश्रुत था। दूसरा महान् आचार्य मुंजश्री नाम का ब्राह्मण वौद्ध आचार्य था जिसका देश के परम धार्मिक श्रमण तथा महायान भिक्षु आदर एवं प्रतिष्ठा करते थे।

यह भी हम देख चुके है कि उस काल मे शिक्षण-संस्थाओं का व्यय व्यक्तिगत दानशीलता एवं शासन की उदारता से चलता था। ये दान मुद्रा के रूप मे न होकर इन विहारों को कृषिक्षेत्र, फलफूलों के उद्यान या गृहदान करने के रूप में होते थे। भूमि के दान के साथ आवश्यक श्रमिक एवं बैल आदि भी दिये जाते थे। नागरिको के व्यक्तिगत दान का जहाँ तक सम्वन्ध है यह लिखा गया है कि समीप निवास करनेवाले कुटुम्ब "इन भिक्षुओं के संघो के आवश्यक पदार्थों की पूर्ति प्राचुर्य के साथ करते है जिससे वहाँ इनकी कमी नही रहती।" यह भी वर्णन किया गया है कि उचित ऋतु पर ये कुटुम्ब "तरल भोजन जो साधारण समय के अतिरिक्त ग्रहण किया जासके भिक्षुओ मे वितरित कराने" मे एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा करते थे। फा-हिएन् "भिक्षुओं को दिये जानेवाले (शाखा मे से) वार्षिक उपहार, वस्त्रो के तथा ऐसे अन्य पदार्थों के जिनकी भिक्षुओं को आवश्यकता होती, दान" का उल्लेख करता है।

जैसा ऊपर सकेत किया जा चुका है यह भी विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य है कि उच्च शिक्षा का माध्यम सस्कृत भाषा थी अत. उसे तीन वर्ष तक पाटलिपुत्र मे रहकर फा-हिएन् को सीखना पडी थी। यह भी मनोरंजक ज्ञातव्य है कि उस काल मे आचार्यों के साथ-साथ धर्म-ग्रन्थों के सम्मान मे भी स्तूप निर्मित होते थे। इस प्रकार सारिपुत्र, महामौद्गल्यायन तथा आनन्द की स्मृति मे स्तूपों का निर्माण हुआ था, जब कि इसी प्रकार के स्मारक अभि-धर्म, विनय तथा सूत्र प्रभृति उत्कृष्ट धर्म-ग्रन्थो को स्थापित करने के लिए भी निर्मित हुए थे। प्रत्येक हीनयान अथवा महायान विहार मे गर्भ-गृह नामक एक स्थान होता था जहाँ उसके निवासी पूजन करते थे।

अन्त मे, हम यह भी देख चुके है कि गुप्तकालीन भारत में सावजनिक दानशीलता के फलस्वरूप जनता के श्रेय की उन्नति के अथ विपुल प्रकार की बहुसंख्यक सस्याएँ वतमान थी। इनम से दातव्य औषधालय तथा यात्रिया को निवास, शयनीय, भोजन एव जल प्रदान करनेवाली धम शालाओ का जिनमे जाति अथवा धम के भेदभाव के बिना सब को प्रवेश प्राप्त था प्रत्यक्ष दर्शी की भाति फा-हिएन् ने उल्लेख किया ह। इसके साथ-साथ सुअर पालना, मुर्गी आदि पालना, मास के विक्रय-स्थल तथा मद्यशाला आदि आचार एव नीति की विरोधी सस्थाओ को शासन की ओर से प्रोत्साहन प्राप्त नही होता था। प्याज एव लहसुन सदृश उत्तेजक मसालो को भी राष्ट्र के भोज्य पदार्थों में से बहिष्कृत कर दिया गया था। अन्तत हम कह सकते ह कि गुप्त-साम्राज्य पश्चिम तथा पूव दोनो के साथ पोत विद्या द्वारा ससग स्थापित होने के मार्ग खोज रहा था। फा हिएन् के वणन से प्रकट होता ह कि ताम्रलिप्ति के समुद्री बन्दरगाह से लका, जावा, सिआम तथा चीन सदृश देशो के साथ व्यापार में कितनी प्रगति थी तथा पश्चिम में भारत के समुद्र माग द्वारा चलनेवाले व्यापार के फलस्वरूप रोम की मुद्राएँ प्रचुर परिमाण में इस देश में और विशेषत दक्षिण मे आती थी जिससे मुद्रा के लिए रोमन भाषा का शब्द दिर्नारिअस (denarius) गुप्त-साम्राज्य की मुद्राप्रणाली का शब्द बन गया।
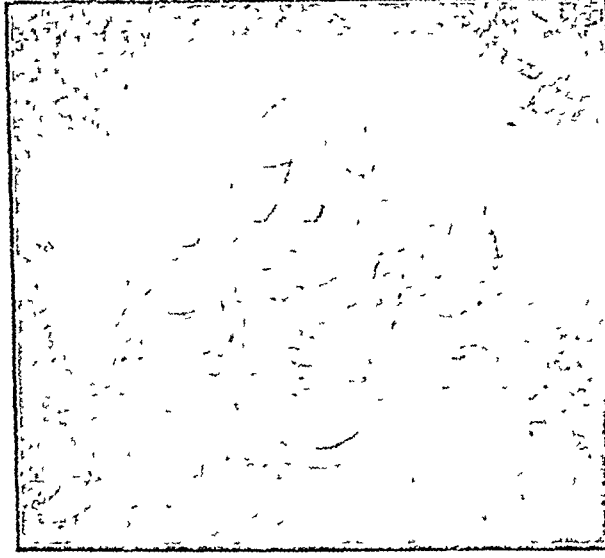
त्रिविक्रम

श्री कृष्णाचार्य एम्० ए०

विक्रमादित्य उपाधि या नाम से अनेक सम्राट् भारत मे हो गए हैं। जनसाधारण की धारणा है कि इस नाम का परम पराक्रमी सम्राट् उज्जैन में हो गया है। प्राचीन इतिहास से अभी तक यह निश्चय नहीं हो पाया है कि उज्जयिनी में कोई विक्रमादित्य हुआ। एक इतिहासकार किसी को संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य बतलाता है तो दूसरा उसके विरुद्ध प्रमाण देता है। जनश्रुति यह है कि विक्रम इसी नगरी का राजा था; उसी ने नवीन संवत् चलाया (ठीक दो हजार वर्ष पहले), शकों को हराया, प्रजा मे शान्ति स्थापित की। उसकी बुद्धि, न्याय और दान की अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं।

आज हम पाटलिपुत्र, कल्याण और तंजौर (तंजुवुर) के विक्रमादित्यो की चर्चा करेगे। प्राचीन भारत के साहित्य के गम्भीर अनुशीलन से पचीसों विक्रमादित्यों को प्रकाश मे लाया जा सकता है। विक्रमदेव*, विक्रमसेन†, विक्रमराज‡ और विक्रमार्क§ जैसे कुछ अल्प नामान्तरों पर ध्यान न दिया जाय तो ज्ञात होगा कि भारत-भूमि ने अनेक यशस्वी राजाओं को जन्म दिया। दक्षिणापथ के दो शासकों ने भी अपने नाम को विक्रम चोल और विक्रम पाडय जैसे विरुदों से धन्य किया।

चालुक्य वंश के छह सम्राटों ने इस उपाधि को धारण किया। किन्तु सर्वप्रथम गुप्त सम्राटों ने ही विक्रम शब्द का मान किया, भारत के अन्य सम्राट् इसको गुप्तो जैसी प्रतिष्ठा न दे सके। राजपूत काल मे गांगेयदेव भी कलचुरिवंश का ख्यातिलब्ध शासक हो गया है, इसके दानपत्रों मे भी 'विक्रमादित्य' उपाधि का उल्लेख पाया जाता है।❡ अपने स्वामी को लगभग बीस युद्धों मे शत्रु को हराने का यश दिलानेवाले हेमू❢ ने भी 'विक्रम' विरुद को अपनाया।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

स्कन्दगुप्त द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पौत्र थे। अपने राज्यकाल के प्रारम्भ में स्कन्द ने प्रजा को आन्तरिक षड्यंत्रों तथा वाह्य आक्रमणों से त्रस्त पाया। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि स्कन्दगुप्त अपने सौतेले भाई पुरगुप्त से सिंहासन के लिए लड़े, किन्तु इस घटना का कोई प्रमाण नही।

---

* डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० १०४१। † नेपाल वंशावली। ‡ वही § चापवंशीय राजा।

❡ खैरह और जबलपुर के दानपत्र।

❢ मुसलमान इतिहासकारों ने इसे विक्रमादित्य लिखा है। उनके मत से वह हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहता था।

त्रिविक्रम

जिस समय स्कन्दगुप्त के पिता महाराजाधिराज कुमारगुप्त राज्य करते थे उसी समय विदेशी ववर हूणो ने सीमा-प्रान्त पीडित कर रखा था। अपनी विलासी प्रवत्ति के कारण कुमारगुप्त ने इन हलचला की ओर उचित ध्यान न दिया। वह चाहते तो हूणा पर विजय प्राप्त कर प्रजा को अभय दान देते। हूणो ने गाधार, उद्यान और उरदा में अपना आतक फला रखा था। भारत के उत्तरी द्वार की अवहेलना का परिणाम यह हुआ कि "पाचवी शताब्दी के अन्त में कपिशा, गाधार और नगरहार के समृद्ध नगर (गुप्त साम्राज्य के प्रान्त) भारत के मानचित्र से सदव के लिए मिट गए। इस आक्रमण ने उत्तरी भारत में अन्तिम यूनानिया के बचे-खुचे ससमरण खा दिए। हूणा के आने के बाद भारत से उस सभ्यता का लाप हो गया जिसने शक, कुपाण तथा अन्य जातियो को पचा लिया था। उनके पादानान्त ने महान् कुपाण सम्राटो द्वारा निर्मित मन्दिर, विहार तथा अन्य वभव प्रतीक धूलधूसरित कर दिए। उसी समय तक्षशिला का विश्व विद्यालय भूगभ में विलीन कर दिया गया।"* इन हूणा से स्कन्दगुप्त अपने पिता के राज्यकाल में ही लडने चला। भीतरी के स्तम्भ-लेख से प्रमाणित है कि उसने हूणो की बढती बाढ को एक बार फिर रोका —'हूणयस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यांधरा कंपिता।'

किन्तु अपने वीर पुत्र की इस महान् विजय का जयनाद महाराजाधिराज कुमारगुप्त न सुन सके। 'पिता की मृत्यु के उपरान्त विप्लुत होती हुई वशलक्ष्मी को (स्कन्दगुप्त ने) अपने भुजबल से अरि को जीतकर भूमि पर पुन स्थापित किया, और जलभरे नेत्रावाली अपनी मा स मिलकर उसे परितोप दिया—ठीक उसी प्रकार जिस तरह कृष्ण ने अपने रिपु (कस) को मारकर दवकी को छुडाकर दिया था।"† इन काव्यात्मक ऐतिहासिक उद्गारा ने स्कन्द के शौय को अमर कर दिया ह। *माँ के नेत्रा में वैधव्य और विजयोल्लास एक साथ व्यक्त हो रहे ह। दवकी और कृष्ण की उपमा से उस सक्टावस्था का* स्पष्ट आभास मिलता है, 'विचलित कल-लक्ष्मी को फिर स अचल करने के लिए त्रियाम क्षितितल पर ही (स्कन्दगुप्त ने) शयन किया।'‡ समरभूमि म कहा वे पयक तथा अन्य विलास-वैभव! शत्रु स घोर सग्राम करने के बाद प्रजावत्सल सम्राट् को अवश्य ही उस माता की गोद म मीठी निद्रा आई होगी जिसने उस सम्राट को जन्म दिया और जो मृत्यु के उपरान्त भी अपने अक मे 'लक्ष्मी द्वारा वरण किए हुए'§ सम्राट् को समेट लेगी।

सुदशन झील—स्कन्दगुप्त पूव से पश्चिम तक फले हुए प्रदेशा की स्वय कसे देखभाल कर सकता था। अत दूरस्थ प्रान्तो में योग्य प्रतिनिधि नियुक्त किए। गिरनार स्थान से प्राप्त शिलालेख में एक एसे ही योग्य, पणदत्त नाम के प्रान्तपाल का उल्लेख हुआ है। यह लेख अत्यन्त पुराना है। सकडा वप के अन्तर से उत्पन्न होनेवाले कई सम्राटा के शिल्पियो की लेखनी का सौभाग्य प्राप्त करने के कारण महत्त्वपूण माना जाता ह। महाराज अशोक के पिता चन्द्रगुप्त मौय के मत्री पुष्यगुप्त ने सौराष्ट्र मे प्रजा के हित के लिए एक झील का निर्माण कराया था। अशोक के समय सौराष्ट्र मडलाधीश यवन तुषास्फ था। तुषास्फ ने भी जनता-जनार्दन की सेवा के लिए उस जलाशय में से नहरें निकलवाई थी। विक्रम-सवत् २०७ में सुराष्ट्र और मालवा का राजा रुद्रदामन् था। इस शक सम्राट ने भी उसी शिला पर अपनी यशोगाथा खुदवाई। रुद्रदामन् की इस प्रशस्ति से ज्ञात होता ह कि उसने अपनी निजी सम्पत्ति द्वारा इस कासार का जीर्णोद्धार कराया। उसने इस झील का विस्तार तिगुना कराकर 'सव तटो' पर सेतु (बाध) निर्मित कराए।¶

स्कन्दगुप्त के समय यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक झील फिर जीण हो गई थी, जल सूख गया। वास्तव मे सुदशन के स्थान पर वह अब दुदशन नाम साथक कर रही थी।‖ प्रजा को विशेषकर गर्मी के दिना में कप्ट होने लगा, अत प्रभूत धन-

---

* पितरिदिवमुपेते विप्लुता वशलक्ष्मीं भुजबलविजितारिय प्रतिष्ठाप्य भूय।
जितमिव परितोषान् मातर सास्रुनेत्रां हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेत ॥

† इम्पीरियल गुप्ताज, आर० डी० बनर्जी।

‡ विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
समुदितबलकोशान् पुष्यमित्राश्च जित्वा क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपाद ॥ (भितरी से)

§ स्वमात् कोशात् महता धनौघेनातिमहता च कालेन त्रिगुणदृढतरविस्तारायाम सेतु विधाय सवतटे।
महाक्षत्रप रुद्रदामन् की गिरनार प्रशस्ति।

¶ जयीहलोके सकल सुदशन पुनान हि दुदशनता गत क्षणात। स्कन्दगुप्त का लेख।

‖ व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान् लक्ष्मी स्वय यं वरयाञ्चकार॥

राशि लगाकर उसके उद्धार मे फिर हाथ लगाया गया। सुदर्शन-उद्धार के साथ साथ वहाँ के स्थानीय शासक चक्रपालित ने विष्णु मन्दिर की स्थापना भी कराई।

इसी प्रकार न जाने कितने लोक-संग्रहात्मक कार्यों में परमभागवत स्कन्दगुप्त ने हाथ लगाया होगा! कहा जाता है कि हूणो से तृतीय बार युद्ध करते-करते इस विक्रमादित्य ने प्राणों की आहुति दी। गुप्तवंश में स्कन्द अन्तिम प्रतिभासंपन्न और प्रभावशाली नृप हुआ। इस सम्राट् के उपरान्त गुप्तों का सूर्य सदैव के लिए गुप्त हो गया।

विक्रमादित्य षष्ट: कल्याण चालुक्य

चालुक्य वंश मे छह विक्रमादित्य हो गए हैं, किन्तु इनमें सर्वश्रेष्ठ सम्राट् षष्ट विक्रमादित्य हुए। इनके पिता सोमेश्वर के तीन पुत्र थे—सोमेश्वर द्वितीय, विक्रमादित्य और जयसिंह।

मझले भाई विक्रमादित्य ने युवराजकाल मे ही आसपास के शक्तिशाली शासकों से लोहा लिया। सर्व प्रथम केरल के सम्राट् को नतमस्तक किया। विक्रमादित्य को अपनी ओर प्रयाण करते सुनकर सिंहल के राजा ने पराजय स्वीकार करली। अब पल्लवों को परास्त करने का संकल्प किया। पल्लव-वंश के राजाओं से विक्रमादित्य के पूर्वज लड़ चुके थे और पल्लवों का दमन भी किया जा चुका था। पल्लवो की शक्ति क्षीण नही हो पाती थी, कुछ ही समय मे युद्ध के लिए फिर प्रस्तुत हो जाते थे। विक्रमादित्य* के राजकवि विल्हण ने अपनी प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक 'विक्रमांकदेवचरित' में लिखा है कि चोलपति 'भागकर कन्दराओं मे छिप गए।' विक्रम ने कांची मे प्रवेश कर अपार धन प्राप्त किया। इसी प्रकार वेंगी और चक्रकोट मे अपनी साख स्थापित की।

विक्रमादित्य षष्ट अनेक देशों को जीतने मे लगे ही हुए थे कि अचानक ही पिता के तुंगभद्रा में प्रवेश कर शरीर छोड़ने का समाचार मिला। विक्रम कल्याण मे लौट आए और नवीन सम्राट् (अपने ज्येष्ठ भाई सोमेश्वर द्वितीय) को युद्ध से प्राप्त समस्त धन भेट किया। 'विक्रमांकदेवचरित' पढ़ने से विदित होता है कि सोमेश्वर का व्यवहार विक्रमादित्य के प्रति प्रशसनीय रहा, किन्तु वह प्रेम स्थाई न रह सका। कल्हण के शब्दों मे वह 'प्रजाउत्पीड़क' शासक था। दिन पर दिन स्थिति वदलती गई। अन्त मे विक्रमादित्य ने अपने छोटे भाई जयसिंह को साथ लेकर राजनगरी त्याग दी। सम्राट् सोमेश्वर ने (सम्भवत:) विक्रमादित्य के पराक्रम से भयभीत होकर पीछे से सेना भेजी, किन्तु उस सेना को अनुभवी विक्रमादित्य से परास्त होकर दुर्दशाग्रस्त अवस्था मे लौटना पड़ा।

विक्रमादित्य ने युवराजकाल मे जीते हुए प्रदेशो मे सेना लेकर आपत्तिकाल मे काम आनेवाले मित्रों की परीक्षा करने की इच्छा की। तुगभद्रा नदी के तट पर सेना का सगठन किया गया। वनवासी के राजा ने विक्रमादित्य के साथ सहानुभूति का व्यवहार किया और यहाँ कुछ दिन तक उसे ठहरना पड़ा। आगे वढ़ने पर विक्रम का सत्कार मलय, कोंकण और अलूप के शासकों ने भी किया। केरल सम्राट् (मलावार) ने युद्ध करना ही निश्चित किया; किन्तु विक्रमादित्य को कुछ भी कठिनाई न हुई, उसके विक्रम ने शीघ्र ही उसे झुका दिया। अव काची में द्रविड़ों से मुठभेड़ होने की प्रारम्भिक अवस्था मे ही काचिराज झुक गए, यहाँ तक कि अपनी कन्या देकर विक्रम को अपना जामात्र वनाया। विक्रमादित्य तुंगभद्रा लौट आए। किन्तु उसी समय वेंगी के राजा ने काची को हस्तगत कर लिया। चालुक्यो के आक्रमणों से कांची के पल्लव शासक निर्वल हो गए थे, जो चाहता वही घुस पडता। दूसरे काची के सम्राट् वृद्ध थे। इस सफलता से उत्साहित हो वेंगीपति ने विक्रमादित्य के भाई सम्राट् सोमेश्वर को भी भडकाया। वेंगी और चालुक्य सम्राटों ने एक साथ तुगभद्रा पर आक्रमण करके विक्रम की शक्ति को नष्ट करना चाहा। विक्रमादित्य विचलित नही हुए। अपने शौर्य और वुद्धि-वैभव से आगे और पीछे दोनों

* विक्रमादित्य के पिता सोमेश्वर प्रथम भी ख्यातिलब्ध शासक थे; इन्होंने भी चोल 'राजाधिराज' को हराया। वे कृष्णा नदी के किनारे युद्ध मे वीरगति को प्राप्त हुए। इसी प्रकार मालवा और कांची तक अपना प्रभुत्व फैलाया। उत्तर में (बुन्देलखण्ड) कर्ण को हराया। सोमेश्वर शैव थे; भयानक ज्वर और शरीर से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने तुंगभद्रा नदी में प्रवेश कर प्राण विर्सजित किए।

सेनाओं को एक साथ हराया। सब प्रथम श्वसुर का उद्धार किया, उसके उपरान्त कल्याण में प्रवेश किया। कुछ 'सकोच के साथ' भाई का सिंहासनच्युत कर बन्दी बनाया।

विक्रम-सवत् १०७५ में विक्रमादित्य का अभिषेक हुआ। विक्रमादित्य ने पचास वर्ष तक राज्य कर प्रजा में शान्ति स्थापित की। सम्राट् होने के उपरान्त भी यत्रतत्र युद्ध चलते रहे, किन्तु कुलपरम्परा के अनुसार अब युद्धा का भार उसके ज्येष्ठ पुत्र 'राजाधिराज' पर आ गया।

विक्रमादित्य ने अभिषेक के दिन से नवीन सवत् भी प्रचलित किया, किन्तु वह शीघ्र लुप्त हो गया। विक्रमादित्य के जीवन का अधिकाश भाग युद्ध में व्यतीत हुआ। अपने भाई का सिंहासन-च्युत करनेवाली घटना सिद्ध करती ह कि राजदण्ड शक्तिशाली हाथा म ही रह सकता ह।

अन्य विक्रमादित्या की भाति चालुक्य-वश का यह सम्राट् भी विद्याप्रेमी था। याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका करनेवाले दो प्रसिद्ध विद्वान् हुए। प्रथम बगाल के जीमूतवाहन और द्वितीय विज्ञानेश्वर। विज्ञानेश्वर की टीका मिताक्षरा जीमूतवाहन से भी अधिक प्रामाणिक समझी जाती है क्याकि सारे भारत में, बगदेश को छोडकर, विज्ञानेश्वर का मत प्रचलित ह। यह विज्ञानश्वर, मिताक्षरा के लेखक, विक्रमादित्य की सभा के ही रत्न थे। दूसरे प्रसिद्ध विद्वान् काश्मीरी पडित विल्हण थे। ऊपर बतलाया जा चुका है कि आपने 'विक्रमाकदेवचरित' नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक की रचना की ह। सस्कृत-साहित्य म बाण के 'हर्षचरित' के अतिरिक्त दूसरा ऐतिहासिक ग्रन्थ यही है।

विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्ल, कलिविक्रम और परमाडिराय नामा से भी प्रसिद्ध थे। वास्तविक नाम इन्ही में से कोई रहा होगा, किन्तु रणक्षेत्र में अनेक विजया को अर्जित करने के कारण विक्रमादित्य नाम से प्रसिद्ध हो गए। बिल्हण लिखता ह कि विक्रमादित्य की रानी (महिषी महादेवी) चन्द्रलेखा अनुपम सुन्दरी थी। विक्रम को उसने एक स्वयवर में वरण किया। महाशय भाडारकर स्वयवरवाली घटना पर सन्देह करते ह, किन्तु जब तक इसके विपक्ष में कोई प्रमाण नही मिलता तब तक इस घटना को सत्य ही मानना उचित है। विक्रमादित्य ने विष्णु के एक मन्दिर की स्थापना कराई और उस मन्दिर क सम्मुख सुन्दर तडाग निर्मित हुआ। उसने विक्रमपुर नगर भी बसाया। विल्हण लिखता है कि पुरवासी उसके शासनकाल म "रात में भी ताले नही लगात थे, चारा क स्थान पर सूय रश्मियाँ ही दूसरा के घरा म चुपके से प्रवेश करती थीं।"

विक्रम चोल

नवा शताब्दी म तजौर को केन्द्र मानकर चाल राज्य साम्राज्य के रूप में विकसित हुआ। इस राजवश में प्रथम प्रतापी राजा राजराज चोल हुए। अपने २८ वष के शासनकाल म, (विक्रम-सवत् १०४२ से १०६९ तक) आसपास के सम्राटा, जसे चेर, वगी के चालुक्य, मलाबार तट पर कोल्लम, कलिंग के उत्तरी खण्ड, कुग और पाडया को हराया और इनमें से अधिकाश को अपनी छत्रछाया में कर लिया। किन्तु राजराजदेव के अद्भुत पराक्रम का आभास तब हुआ जबकि उसने भारत के बाहर भी अपना समुद्री बेडा दृढ करके लका पर आक्रमण किया। अपने राज्यकाल के बीसवें वष में लका को भी साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया, समुद्री सेना के बल पर अन्य कई द्वीपो से भी धन एकत्रित किया [लक्दीव (?) और माल्दीव (?)]। उस समय ब्रह्मा तक चाल राज्य के नाविक आया जाया करत थे।

राजराज से भी अधिक ऐश्वयवान् सम्राट् राजेन्द्र चाल, जिसको विक्रम चोल भी कहा गया है, हुआ। लका विजय के उपरान्त राजराज ने स्वय युद्धा में भाग लेना कम कर दिया और विक्रम चोल को अपने वश-परम्परा के अनुसार युद्ध कायक्रम का भार विक्रम-सवत् १०६८ में दे दिया।

राजेन्द्र या विक्रम चोल आज इस ससार में नही ह किन्तु वह अपने पीछे सकडा लेख साक्षी स्वरूप छोड गया ह। इन लेखा में उसकी वीरता के मनोरजक वणन आज भी एक हजार वष पहले के इतिहास की कहानी कहने को प्रस्तुत है।

तिरु मल्लि वळर लेख से ज्ञात हुआ है कि अपने राज्यकाल के तीसरे वष (राज्यकाल विक्रम-सवत् १०६९) में वीर राजेन्द्र ने इडतुरईनाडू, बनवासी, कोल्लीप्पाक्कई और मण्डक कडम्बम् को जीत लिया।
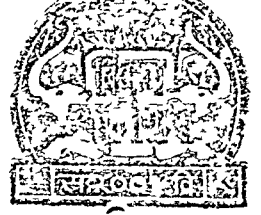
दूसरा पग चालुक्यों के विरुद्ध उठाया गया।* सत्याश्रय उस समय चालुक्यों के सम्राट् थे। विक्रम ने श्रुतिमान नक्कन चन्द्रन को शत्रु के हाथी पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। चन्द्रन युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए। यह युद्ध अन्त में स्वयं विक्रम को लड़ना पडा। तुगभद्रा पार जा शत्रु के हृदयदेश मे युद्ध करके राजधानी तक अपने रथों के चक्रों को प्रर्वातित किया। इस प्रकार पल्लवो के स्थान पर चोलो से चालुक्यो का शत्रुभाव का विनिमय हुआ। सारे दक्षिण में पल्लवों के उपरान्त अब चोल सर्वोपरि शासक हो गए। युद्ध का अन्त चार वर्षों मे हुआ।

लंका-विजय—सिंहासनस्थ होने के पाँचवे वर्ष धुर दक्षिण की ओर विजयवाहिनी चली। लंका में उस समय महिन्द पंचम राज्य करते थे।† राजेन्द्र के पास समुद्री युद्ध मे कुशल योद्धाओ और पोतों का अभाव न था। पिता द्वारा आयोजित की हुई सेना को और अच्छी तरह से दृढ़ करके विक्रम चोल ने भी लंका पर द्वितीय चोल-आक्रमण किया। राजधानी मे प्रवेश करके बहुमूल्य राजमुकुट हरण किया। इन्द्र के मुकुट और हार भी, जो पूर्व समय मे पाडचों के पास थे, हस्तगत किए। लंका चोल साम्राज्य के अन्तर्गत मिला लिया गया।

केरलों से युद्ध—केरल विजय का ठीक-ठीक स्वरूप बतलाना कठिन है। इतना निश्चित है कि केरल और पांडच को जीतकर राजेन्द्र ने अपने साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया। इन भागो पर अपने पुत्र 'जयवर्मन् सुन्दर चोलपांडच' को शासक नियुक्त कर दिया। तुगभद्रा से लेकर लका तक के प्रदेशो पर चोल राज्य की ध्वजा फहराने लगी।

विक्रम-सवत् १०७८ मे पश्चिमी चालुक्यो से फिर युद्ध हुआ। 'तामिल-प्रशस्ति' के अनुसार "साड़े सात लाख दृढ़ स्वभाववाले रहपाड़ि (निवासी), विपुल धनराशि तथा जयसिंह की ख्याति को हर लिया। मुशंगी के रणक्षेत्र से पलायन कर चालुक्यो का राजा कही जा छिपा।" श्री नीलकण्ठ शास्त्री के मत से विक्रम को धन तो मिला किन्तु जनपद सम्वन्धी लाभ नही हुआ; उनकी धारणा है कि तामिल प्रशस्ति की साढ़े सात लाख रहपाड़ियों के आत्मसमर्पण की बात अत्युक्तिपूर्ण है।

दिग्विजय यात्रा—साम्राज्यवादी नीति को छोड धर्मशास्त्रों मे वर्णित दिग्विजय की भावना से प्रेरित हो विक्रम चोल ने गंगा के मैदानो की ओर अपने कुशल सेनापति दण्डनाथ को भेजा। इस यात्रा का मूल अभिप्राय गंगा का पवित्र जल लाकर चोल राज्य को पवित्र करना था। तिरुवालंगाडु‡ के अभिलेख मे इस यात्रा का विस्तृत वर्णन दिया है—"स्वर्ग से गगा लानेवाले सूर्यवश-अवतंस राजा भगीरथ की तपस्या का उपहास करता सा" वह गंगाजल के लिए उत्सुक हुआ। चोल सेना ने हाथियो के सेतु के सहारे कई नदियाँ पार की। सर्व प्रथम चन्द्रवशतिलक इन्द्ररथ पर चढ़ाई की गई, फिर रणसूर का राजकोष हस्तगत किया। वगदेश के राजा महीपाल को भी झुक जाना पडा। लेखों मे जल लाने के भाव को निश्चित रूप से अत्युक्तिपूर्ण ढग से लिखा है; (दण्डनाथ ने) "राजाओं को अपने हाथों मे गंगाजल विक्रम चोल के सम्मुख ले जाने के लिए विवश किया।" वास्तविकता इतनी ही है कि जिन राजाओ ने रास्ते मे कुछ भी कठिनाई उपस्थित की उन्हें दण्डनाथ ने हराया। सवत् १०८० मे पवित्र जल लाने के लिए प्रारम्भ की हुई यात्रा सफलतापूर्वक समाप्त हुई। इस घटना से प्रसन्न हो सम्राट् ने 'गगैकोड' उपाधि धारण की; एक नगर 'गगैकोडचोलपुरम्' नाम से स्थापित किया, उसी नगरी के पास एक वृहत्काय कृत्रिम जलाशय बनवाया; इसमे १६ मील लम्बे सेतु (बाँध) लगवाए, स्थान-स्थान से सिंचाई के लिए छोटी-छोटी नहरे भी निकलवाईं। जलमय जय-स्तभ बनवाया। नगर को एक विशाल राजभवन और गगनचुम्बी मन्दिर से सुशोभित कराया। मन्दिर शिल्पकला के अद्वितीय उदाहरण है।§ इस उत्साहपूर्ण योजना से अनुमान किया जा सकता है कि उत्तरापथ की इस यात्रा को उस समय कितना महत्त्वपूर्ण समझा गया! हजारो मील की दूरी; सैकडो छोटे-वड़े सामन्त और राजो से युद्ध, तब कही जल प्राप्त हो सका।

समुद्र-पार—विक्रम चोल की विजय-चमू को इतने से ही सन्तोष नही हुआ। सम्राट् राजराज की जलसेना का भी पूरा-पूरा उपयोग करने की योजना बनी। अपने राज्यकाल के चौदहवे वर्ष मे बंगाल सागर को पार कर राजेन्द्र की सेना 'कडारम्' पहुँची! अभी तक कडारम् शब्द से वड़ी उलझन पड़ी हुई थी, किन्तु विक्रम-सवत् १९७५ मे महाशय कोएड्स

* होट्टर लेख। † महावंश। ‡ इसी लेख मे 'विक्रम चोल' उपाधि का प्रयोग हुआ है।

§ हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स् इन इण्डिया एण्ड सीलोन।

(Coedes) को वर्मा में (पेगू) सिक्ना प्रस्तर के बने हुए दो अष्टकोणीय विजयस्तम्भ मिले। उस ऐतिहासिक खोज ने सिद्ध कर दिया ह कि विक्रम चोल यहाँ तक आया। तामिल प्रशस्ति इस युद्ध का वणन इन शब्दा में करती है —

(उसने) "उत्ताल तरगायमान समुद्र में कई जलयाना को भेजकर कडारम् के राजा सग्राम विजयोतुग वमन् का बन्दी बना लिया, उसके महान् हाथिया को घेरा, राजा के धमपूवक एकत्रित राजकोष को हस्तगत किया। देश का युद्धद्वार 'विद्या-धर तोरण' चोल सेना ने ग्रस लिया।" विक्रम-सवत् १०८२ से १०८४ में पेगू का जीतने के उपरान्त नीकावार (नक्कवारम्) और अण्डमन द्वीपा पर भी विजयपताका फहराई गई।

चीन से लेकर पूर्वीय द्वीपा में व्यापारिक सुविधा प्राप्त करने के लिए ही इन युद्धो की आवश्यकता हुई। विक्रम-सवत् ११४५ के सुमात्रा में प्राप्त तामिल लेखा से तामिल सौदागरा का होना उक्त उद्देश्य की पुष्टि के लिए यथेष्ट ह।

चालवश में विक्रम चोल (वीर राजेन्द्र) से महान् दूसरा सम्राट् न हुआ। उसकी इन विजया के अतिरिक्त विभिन्न लेखो में प्रयुक्त उपाधिया से भी उसकी महानता का अनुमान किया जा सकता है —१ मुडिगोण्ड चोल, २ पण्डिल चोल, ३ वीर राजेन्द्र, ४ गगकोण्डचोल, ५ राजकेशरीवमन् वीर राजेन्द्र दव, ६ विक्रम चोल।

उपसहार—इन उपाधिया मे स्पष्ट है कि विक्रम चोल वीर, पण्डित तथा धार्मिक सम्राट् था। इन तीनो गुणो के अभाव में 'विक्रमत्व' की स्थापना नही हो सकती। चालवशीय इतिहास के पृष्ठा को उलटकर देखने से ज्ञात हो जाता ह कि प्रशस्तिकारा ने साम्राज्यवादी नीति के फलस्वरूप नए राज्या को चोल साम्राज्य में मिलाए जान पर उत्साह प्रदर्शित न कर गगा के जल का प्राप्त करने मे ही उत्साह दिखलाया है। गगा का जल धार्मिक भावना को ता जाग्रत करता ही ह साथ में दिग्विजय का उच्च आदश भी उपस्थित हो जाता ह। अपने विक्रम स अन्यान्य देशो में युद्ध-रथ के चक्र का सफलतापूवक प्रवतन करना तथा उन सम्राटा को अभय का वचन देना ही वास्तविक दिग्विजय है। मनु (भारत का प्रथम समाज तथा राजनीतिशास्त्री) और कौटल्य ने भी राजा के कर्त्तव्यो में यह बतलाया ह कि अन्य राज्या को जीतकर वही के राजा को पुन उस क्षेत्र का अधिकारी बना देना चाहिए। कारण यह ह कि स्थानीय शासक ही अपनी प्रजा के धम तथा परम्परागत कार्य पद्धति से परिचित रहता है अत वही अपनी प्रजा की समुचित सेवा कर सकता ह। पौरुष प्रदर्शन का नाम ही दिग्विजय है, सकुचित भावनावश साम्राज्यवृद्धि की उसम गन्ध भी नही।

सक्षेप में 'विक्रम' शब्द की महिमा पर वाक्य लिख लेखनी को विराम दिया जायगा।

विक्रम शब्द का इतिहास भी कम मनोरजक नही है। आर्यों के प्राचीन एव प्रियतम धम और गाथा ग्रन्थ ऋग्वेद म इस शब्द को सवप्रथम प्रतिष्ठा मिली। उस समय विष्णु सूय का पर्य्याय था। विष्णु की प्रशसा में ऋषियो ने अनेक मत्रा की सृष्टि की ह। अधिक प्रसिद्ध मत्र यह ह —'इद विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा विदने पदम।'

विष्णु का ऐश्वय समस्त विश्व म रम गया क्योकि उसका विक्रम (बल) इतना पुष्ट था कि तीन पगो मे ही सब कुछ नाप डाला। भारत में युगयुगान्तरा के राजा दिग्विजया द्वारा उसी विक्रम की स्थापना करते आए ह। युद्धरथ के चक्र-प्रवतन द्वारा वह माना अपना विक्रम नापना चाहते है। सूय-रश्मियाँ कहाँ नही जातीं? इसी प्रकार वह सोचते ह कि उनका रथचक्र (पहिया) कहाँ नही जा सकता?

विक्रम शब्द में सभी प्रकार की शक्तिया का समावेश हो गया ह, उसकी आत्मा म भारतीय आर्यों ने युग-युग की साधना के फलस्वरूप लोक-सग्रहात्मक समस्त उपकरणा की भावना उँडेल दी ह। पालवशीय सम्राट् धमपाल ने बिहार प्रान्त मे एक विश्व विद्यालय की स्थापना कराई, उसका नाम था 'विक्रम शिला'। चालुक्यवशीय षष्ठम् विक्रमादित्य ने जिस नई नगरी का निर्माण कराया उसका नाम भी 'विक्रमपुर' हुआ। राजाओ के अतिरिक्त मत्रिया के नाम भी 'विक्रम' हुआ करते थे।* न जाने कितने रूपो में विद्या-प्रकाशन, बुद्धि प्रदशन, धन प्रभुत्व तथा ऐश्वय प्राप्ति आदि अनेक सास्कृतिक चेतनाओ को व्यक्त करने के लिए इस शब्द की उपासना की गई ह।

* डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉदन इण्डिया, पृ० १०४१।
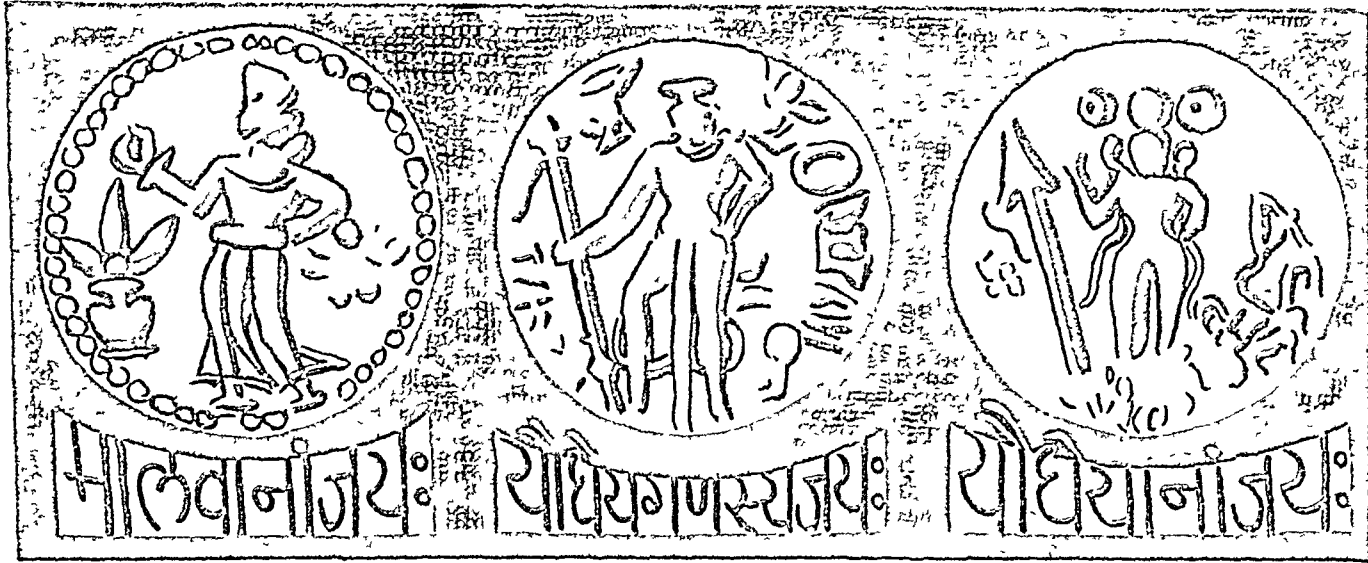
यौधेयगण और विक्रम

श्री राहुल सांकृत्यायन त्रिपटकाचार्य

श्रीगुप्त मगध के कोई साधारण से सामन्त थे जो ३२० ई० से पहले मौजूद थे। यह एक साधारणसा सामन्तवंश गुप्तों जैसे एक असाधारण राजवंश को जन्म देगा उस समय इसकी कौन कल्पना कर सकता था? लेकिन उनके पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम को लिच्छिवि कन्या कुमारदेवी से ब्याह करने का मौका मिला और इस वंश का भाग्य पलट गया। लिच्छिवि बुद्धकाल मे एक प्रवल प्रजातंत्री (गणतंत्री) जाति थी। उसके सामने मगध और कोशल के प्रतापी राजा भी नही ठहर सकते थे, उनकी स्वतंत्रप्रियता इतिहास-प्रसिद्ध है। कौन जानता था कि ऐसे स्वतंत्रताप्रिय श्रेष्ठ कुल मे गणतंत्र व्यवस्था का विनाशक जन्म लेगा। कुमारदेवी ने दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त (३३५-३८०) को पैदा किया। उस समय पूर्वी भारत में गण समाप्त हो चुके थे, लेकिन पश्चिमी भारत—विशेषत: सतलज और यमुना तथा हिमालय और आधुनिक ग्वालियर के बीच मे बड़े शक्तिशाली गणों का शासन था। ऐतिहासिकों मे किसी ने पद्मावती (पवायाँ, ग्वालियर-राज्य) के भारशिवो को पाँच शताब्दियो से चले आते यवन और शक राजाओ का उच्छेत्ता कहा, किसी ने गुप्तवंश को इसका सारा श्रेय दिया, लेकिन डॉ० अल्तेकर का नया अनुसन्धान इस विषय मे सबसे अधिक प्रामाणिक है। और दरअसल विदेशी शासन का उच्छेद उत्तरी भारत के किसी प्रतापी राजा ने नही किया, उच्छेद किया भरतपुर से उत्तर यमुना सतलज और हिमालय के बीच के प्रतापी यौधेयगण ने। यौधेयगण ने यह सिद्ध करके दिखला दिया कि गणशक्ति—जनशक्ति राजशक्ति से कही अधिक प्रभुताशाली होती है। उस समय कम से कम आसपास के प्रदेशो मे इस प्रतापीगण की कीर्ति खूब फैली होगी। लेकिन समय आया कि उस विजयिनी जाति का नाम भी शेष नही रह गया और उनके अस्तित्व के बारे में? यदि उनके सिक्के जहाँ-तहाँ बिखरे न मिले होते तो शायद इलाहाबादवाले अशोकस्तम्भ पर उत्कीर्ण समुद्रगुप्त के शिलालेख से भी उनका ज्यादा पता न लगता। यौधेयो के वीर सेनापति भी रहे होंगे, उनकी गणसस्था के सभापति भी रहे होंगे, मगर उन्होंने अपने सिक्को पर लिखा—"यौधेयगणस्य जयः" (यौधेयगण की जय)। पीछे का इतिहास भी बतलाता है कि विदेशियो को भारत पर प्रभुता प्राप्त करने के लिए यमुना और सतलज के बीच ही के किसी स्थान पर अपनी अन्तिम निर्णायक लड़ाई लड़नी पड़ी होगी। और यह प्रदेश था यौधेयो के हाथ मे। यही अपनी भूमि पर किसी जगह यौधेयवीरो ने ईसा की तीसरी सदी मे शक-शासन का सर्वनाश किया और फिर डॉ० अल्तेकर के अनुसार "यौधेयानां

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के राज्य-काल का सामाजिक जीवन

हम चन्द्रगुप्त के राज्य-काल के सामाजिक जीवन की तीन बातो का ही विवेचन करगे, अर्थात् शासन प्रबन्ध, गाहस्थ्य-जीवन और धार्मिक स्थिति।

शासन-प्रबन्ध

राज्य के सम्पूर्ण मामलो में राजा का प्रमुख स्थान था और मन्त्रीगण उसके काय म सहायता करते थे। यह बात बहुत ही मनोरजक है कि चीनी यात्री फाह्यान जिसने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के राज्य-काल में भारतवर्ष की यात्रा की थी और जिसने कभी भी उसके नाम का उल्लेख नहीं किया उसके शासन प्रबन्ध का किस प्रकार वर्णन करता है। वह लिखता ह,"राजा के मन्त्री और वे व्यक्ति, जो उसकी अन्य सब कार्यों में सहायता करते थे, वेतन और पेंशन प्राप्त करते थे।' * इस उल्लेख से इस बात का पता चल सकता ह कि प्रथमत —राज्य का सर्वोच्च अधिकारी राजा था, द्वितीयत , जो व्यक्ति शासन प्रबन्ध में उसकी प्रत्यक्षरूपेण सहायता करते थे उसके मन्त्री थे, तृतीयत ऐसे अन्य पदाधिकारी भी होते थे जो इन मन्त्रियो के अधीनस्थ रहते थ एव शासन के इन सम्पूर्ण सेवको को वेतन और पेंशन मिलती थी। ऐसा प्रतीत होता ह कि स्मृतियो के आदेशो के अनुसार राजा का स्थान इतना ऊँचा होता गया कि शनै शनै वह देवता-स्वरूप माना जाने लगा। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि नारद ने यह नियम बना दिया कि "जो कुछ राजा करता ह न्याय-सगत है। यह नियम पूर्व निर्धारित ह, क्योकि ससार की रक्षा का भार राजा को सौंपा गया ह। अत कोई भी शासक, भले ही वह अयोग्य हो, प्रजा द्वारा सदव पूजनीय ह।"† ऐसी दशा म यह समझना आश्चर्यजनक न होगा कि इस काल के अभिलेखो में हम राजा को अचिन्त्य पुरुष, लोक धाम-देव, परमदवत आदि नामकरणो से विभूषित पाते ह और उसको कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम आदि देवताओ की उपमा दी गई है।‡

राजा को अनेक भव्य उपाधियो से सम्मानित किया जाता था। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख किया गया ह कि "चौथी शताब्दी के पूर्व में राजा की उपाधि केवल महाराज थी।§ यह व्यापक नियम के रूप में निर्धारित नहीं किया जा सकता क्योकि यह बात सर्वविदित ह कि चन्द्रगुप्त प्रथम, जिसका होना इसी काल में कहा जा सकता है, जैसाकि चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा के शिलालेख स सूचित होता ह, महाराजाधिराज की उपाधि से विभूषित था।‖ इसके अतिरिक्त जसाकि उदयगिरि गुफा के शिलालेख से प्रकट होता ह कि चन्द्रगुप्त द्वितीय सदृश राजा की परम भट्टारक जसी अन्य उपाधियाँ भी होती थी।¶

राजा न केवल ऐसी ही दिव्य उपाधियो से विभूषित होता था परन्तु उस समय के शासक राज्य-सत्ता के कुछ विशेष आदर्श भी रखते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा के शिलालेख से हमें यह ज्ञान होता है कि वह "सर्वराजोच्छेत्ता, (सम्पूर्ण राजाओ का उच्छेदक), पृथिव्या अप्रतिरथ (पृथ्वी पर जिसका (समान शक्ति का) कोई विरोधी न था) और चतुरुदधिसलिलास्वादित यशसो (जिसके यश का आस्वादन चारो समुद्रो के सलिल ने किया था) था"** इन बातो से यह लक्षित होता ह कि शासक से यह आशा की जाती थी कि वह विजेता एव अप्रतिरथ हो और उसकी यश ख्याति सम्पूर्ण पृथ्वी पर व्याप्त हो। सर्वथा ही ये राजा के विशेष गुण समझे जाते थे। समुद्रगुप्त के एरण शिलालेख में वर्णित राजा के विशेष गुणो से इनकी तुलना अत्यन्त मनोरजक है जिसम उसको "भक्ति, नीति, शौर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम आदि गुणो से

* दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ ९९ (जे० डब्ल्यू० लडले, कलकत्ता १८४८)।

† नारद, १८, २०२३ पृष्ठ २१७।

‡ देखिए फ्लीट, सी० आई० आई० पृष्ठ १४, १६, २९०।

§ सेन, वही पष्ठ ८८९।

‖ फ्लीट, वही (४) पृष्ठ २८।

¶ वही (३) पृष्ठ २५।

** वही (४) पृष्ठ २६ २७।
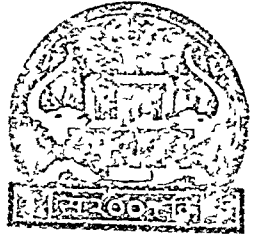
युक्त एवं असंख्य हाथी, घोड़ों और अतुल अन्नराशि का अधिपति बतलाया गया है।* जब वयस्क होकर सिंहासनारूढ़ होता था तो यथार्थ मे राज्य-भार सँभालने के पूर्व उसको अभिषिक्त किया जाना आवश्यक था। एरण शिला लेख में राज्याभिषेक समारोह का उल्लेख किया गया है जिसमे यह वर्णन किया गया है कि समुद्रगुप्त अनेक वैभव सम्पन्न था जिनमे से एक राज्याभिषेक संस्कार किया जाना भी था। ये बातें राजा की उपाधि से सम्बद्ध थी (राजशब्द-विभवैरभिषेचनाद्यैः)।† इस प्रसंग से यह प्रकट है कि समुद्रगुप्त का राज्याभिषेक अवश्य ही उस रीति से हुआ होगा जिसका उल्लेख एरण शिलालेख मे प्राप्त है। इस विषय में भी संदेह नही किया जा सकता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का राज्याभिषेक भी इसी भाँति हुआ होगा। इस स्थान पर 'मुजमलुत्तवारीख' के अनुसार यह स्मरण रखना भी उचित होगा कि चन्द्रगुप्त द्वितीय अपने भाई रामगुप्त को मारकर, उसके उत्तराधिकारी के रूप मे किस प्रकार सिंहासनारूढ हुआ। "तदनन्तर उसने, प्रजा के जयघोष के मध्य वजीर और प्रजा को सिंहासन के निकट बुलाया।"‡ यह प्रसंग स्पष्टतया उसके राज्याभिषेक से सम्बन्ध रखता है जिसका पूर्ण विवरण बृहत्संहिता मे दिया गया है।§ यदि वराह-मिहिर को चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन मान लिया जाय,‖ तो यह बहुत सम्भव है कि राज्याभिषेक समारोह का जैसा विशद चित्रण वराहमिहिर द्वारा किया गया है, वह उसका एक विशिष्ट चित्रण समझा जा सकता है जो सम्भवतः उसकी कल्पना से अथवा ऐसी अन्य बातो से अलंकृत हो जिन तक अभी हमारी पहुँच नही हो सकी है। यह बात उस समय स्पष्ट हो जाती है जब हम अभिषेक समारोह के इस चित्रण की तुलना उसी समारोह के उस के चित्रण से करते है कादम्बरी में बाणभट्ट ने किया है।¶

गुप्त-काल मे राजसिंहासन के उत्तराधिकार की समस्या भी एक अत्यन्त जटिल विषय बनी हुई थी। निस्सन्देह राज्य का उत्तराधिकारी प्रायः ज्येष्ठ पुत्र ही हुआ करता था, परन्तु कभी-कभी यह आवश्यक नही होता था कि सिंहासनारूढ होने के लिए ज्येष्ठ पुत्र को ही चुना जाय जैसाकि हम चन्द्रगुप्त द्वितीय के सम्बन्ध में पाते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्रों के विषय मे तो यह घटना सर्वथा ही प्रकट है कि उनमे आपस मे संघर्ष हुआ और अन्त मे सबसे शक्तिशाली ही सफल हुआ। स्कन्दगुप्त के भीतरी शिलालेख से हमे यह ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय को किस प्रकार उसके पिता समुद्रगुप्त ने अपने दोनों पुत्र राम और चन्द्र मे से सिंहासनारूढ होने के लिए, 'पुत्रस्तत्परिग्रहीतो'** वाक्य का अनुगमन करते हुए स्वीकार किया, जिसका आशय उसके चुने जाने से है। किन्तु जैसाकि बाद के अन्य प्रमाणों से प्रकट होता है कि रामगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ, क्योकि प्रत्यक्षतः वह अपने भाई चन्द्रगुप्त से बड़ा था यद्यपि रामगुप्त की अपेक्षा चन्द्रगुप्त "सत्पुत्र"†† समझा जाता था और निश्चय ही उसके अल्पकालीन शासन के पश्चात् उसका योग्य भाई चन्द्रगुप्त ही उसका उत्तराधिकारी हुआ। निश्चय ही चन्द्रगुप्त ने अपने भाई राम की हत्या की होगी और इस प्रकार राज्यारोहण के अपने मार्ग को प्रशस्त किया होगा, यह बात केवल बाण द्वारा हर्षचरित मे किये गए वर्णन से ही प्रकट नही होती परन्तु अन्य साधनों से भी ज्ञात होती है जिनका प्रति पूर्व में सकेत किया गया है और इसका वर्णन बाद की जनश्रुतियों में भी प्राप्त होता है। वैतालपच्चीसी के हिन्दी संस्करण मे हमे यह कथा इस प्रकार मिलती है:—"धारा नामक एक नगर था, वहाँ गन्धर्वसेन राजा राज्य

---

* वही (२) पृ० २०।

† वही, (२) पृष्ठ २०।

‡ इलियट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस, I, पृ० ११२।

§ वराहमिहिर, बृहत्संहिता, अध्याय ४८, पृष्ठ ७१-८० (कर्न)।

‖ देखिए पंचसिद्धान्तिक, अध्याय I, पृष्ठ ३०।

¶ बाण, कादम्बरी, पृष्ठ ८४-८६।

** फ्लीट वही (१७) पृष्ठ ५१।

†† ई० आइ० २१, संख्या I, पृष्ठ ८।

ऐसे उच्च पदाधिकारियो का ज्ञान वराहमिहिर को भी रहा होगा, यह उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हमको वहत्सहिता से यह पता चलता है कि राजा के अतिरिक्त उसके मत्री, प्रधान सेनापति, युवराज, निरीक्षक और अन्य कमचारी गण, राजज्योतिषी, राजपुरोहित, प्रादेशिक शासक, अन्त पुर के सरक्षक, अपादक केन्द्रा मे पयवेक्षक और राजदूत भी होते थे।* प्रादेशिक शासक अपने प्रदेश का शासन प्रबन्ध करते थे और स्थानीय पदाधिकारी ग्राम्य परिषदा में अपने काम का प्रबन्ध करते थे, बसाढ की मुद्राओ में से एक में उदनकूपे परिषद् का उल्लेख है,† जिससे यह प्रकट होता है कि ऐसी सस्था ग्राम्य मामलो के सचालन के लिए केवल एक स्थानीय सभा थी।

इस स्थल पर यह कहना असगत न होगा कि बसाढ मुद्राओ से, जो प्रकटत चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र गोविन्दगुप्त के उस काल की ह जब वह उत्तर बिहार में स्थित तीरभुक्ति (तिरहुत) का प्रादेशिक शासक (महाराज) था। कई पदाधिकारियो के ऐसे नामप्रकट होते ह जो उसके समय व्यवहार मे आते होगे।‡ हमें ऐसे पदाधिकारियो की मुद्राएँ प्राप्त हुई ह जिनका श्रेणीकरण सुविधा की दृष्टि से केन्द्रीय और प्रान्तीय पदाधिकारियो के रूप मे किया जा सकता ह। केन्द्रीय पदाधिकारियो से अभिप्राय उन बडे अधिकारियो से ह जो राजा के सम्पर्क म रहते थे। ऐसे अधिकारी महाप्रतिहार (प्रधान द्वारपाल) और महादण्डनायक (प्रधान सेनापति, जो नागरिक एव सनिक दोनो प्रकार के कार्यों का सम्पादन करता था) होगे। प्रादेशिक शासक के सन्निकट के अन्य पदाधिकारी भी होत थे। ये, उपरिक (वह उच्च पदाधिकारी जिसे उपरि कर वसूली का कार्य सौंपा जाता था), कुमारामात्य (युवराज का परामशदाता), तलवर (पुलिस पदाधिकारी) और विनयस्थितिस्थापक (प्रजा की नतिक स्थिति की देखभाल करनेवाला पदाधिकारी) और भटाश्वपति (पदाति एव अश्वारोही सेना के सेनापति) थे।

जसाकि उपरोक्त कथन स ज्ञात होता है इन विभिन्न विभागो के पदाधिकारियो के अधीन अपने-अपने पथक् कार्यालय होते थे जिन्हे अधिकरण कहा जाता था। युवराज के अधिकार में दो अधिकरण थे (१) युवराज पादीय-कुमारामात्याधिकरण (युवराज के मत्री अथवा परामर्शदाता का कार्यालय) एव (२) श्रीपरम भट्टारकपादीय-कुमारामात्याधिकरण (युवराज के उस परामशदाता का कार्यालय जो सम्राट् के प्रति उत्तरदायी होता था)। इन दोनो पदाधिकारियो का अन्तर ध्यान देने योग्य ह, विशेषतया युवराज का काय स्पष्टत केवल मात्र अपना शासन प्रबन्ध चलाना ही नही था परन्तु वह सम्राट् के प्रति उत्तरदायी भी था। अन्य पदाधिकारियो के भी अपने-अपने अधिकरण होते थे। दण्डपाशिक, जो अन्ततोगत्वा अवश्य ही महादण्डनायक के प्रति उत्तरदायी होता था, दण्डपाशाधिकरण नामक अपने कार्यालय का अधिकारी होगा। उपरिक का कार्यालय उपरिकाधिकरण कहा जाता था और विनयस्थितिस्थापक का कार्यालय तिरभुक्त-विनय स्थिति-स्थापक अधिकरण कहलाता था। सनिक विभाग के दो कार्यालय होते थे, रणभाण्डागार-अधिकरण (युद्धकोष का कायभार रखनेवाले पदाधिकारी का कार्यालय) और बलाधिकरण (बलाधिकृत§ का कार्यालय)। तीरभुक्ति के प्रादेशिक शासक गोविन्दगुप्त की राजधानी का कार्यालय वशाली नामक स्थान पर था जो वशाल्याधिष्ठान-अधिकरण कहलाता था।

स्थानीय परिषदो का निर्माण अवश्य ही इस प्रकार का होगा जिनमें श्रेष्ठी, सार्थवाह और कुलिक निगम उनके अग होते होगे। इस काल के पश्चात् के शिलालेखो से स्थानीय शासन प्रणाली के सचालन पर अत्यधिक प्रकाश पडता ह।

ये पदाधिकारी शासन प्रबन्ध की अपनी-अपनी इकाइयो का प्रबन्ध करते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि गुफा के शिला-लेखो से हमें यह ज्ञात होता है कि आम्रकादव सुकुलिदेश में नास्ति (पुर ?) नगर का निवासी था और उसने ईश्वर-

* वराहमिहिर बृहत-सहिता, अध्याय ५३।

† ए० एस० आई० आर० १९०३-४ पृष्ठ १०९।

‡ ए० एस० आई० आर० १९०३-४ पृष्ठ १०९।

§ देखिये वही (२३) पृष्ठ १०९।

वासक ग्राम किसी§ को दान कर दिया था। जैसाकि इस दान-पत्र के विवरणों से यह भलीभाँति प्रकट होता है कि इस काल मे ग्राम शासन-प्रवन्ध की सवसे छोटी इकाई थी। इसके ऊपर पुर और पुर के ऊपर देश होता था। परन्तु समुद्रगुप्त के एरण के अभिलेखो से हमे यह पता चलता है कि देश और पुर के मध्य मे प्रदेश (जिला)* होता था जिसको विषय भी कहते थे।

जिस कुशलता के साथ चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-प्रवन्ध का संचालन होता था उसका वर्णन समकालीन यात्री फाह्यान ने नीचे लिखे शब्दों मे किया है :—"प्रजा सुख एवं समृद्धि से परिपूर्ण थी। न तो उन्हें जनगणना की पुस्तकें ही ज्ञात थीं और न न्यायाधिकारी एवं राजनियम। जो राजा की भूमि जोतते थे वही उपज प्राप्त करते थे। जव कोई जाना चाहता तो चला जाता था और जव रहना चाहता था रह जाता था। उन पर शासन करने के लिए राजा को (पीड़ा देनेवाले) दण्डों के साधनो की आवश्यकता नही होती थी। यदि कोई अपराध का दोषी होता था तो केवल उसे अर्थ-दण्ड दिया जाता था और ऐसा करते समय वे उसके अपराध की लघुता एव गुरुता पर ध्यान रखते थे। जव कोई दुराचारी दुवारा अपराध करता था तो उसका सीधा हाथ काट लिया जाता था।"† इस उल्लेख से यह अनुमान किया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य-काल मे प्रजा सुखी और सन्तुष्ट थी और वाधक प्रतिवन्धों से अत्यल्प कष्ट पाती थी। परन्तु फाह्यान का यह कहना कि उस राज्य-काल मे न्यायाधिकारी और राज-नियमों का अनस्तित्व था, केवल इस वात का द्योतक है कि या तो फाह्यान को भ्रान्त सूचना मिली या उसने यथार्थ वातो के जानने का स्वयं प्रयास नहीं किया; क्योकि वह वौद्ध-साहित्य के अध्ययन मे संलग्न रहता था। उसके ही विरोधी वर्णनो से यह प्रकट होता है कि वह कितना असावधान निरीक्षक हो सकता है; क्योकि एक स्थान पर वह लिखता है कि राजाओ को अपनी प्रजा पर शासन करने के लिए पीडाजनक दण्डो की आवश्यकता नही होती थी और उसी स्थान पर वह आगे चलकर यह लिखता है कि दुवारा अपराध करने पर सीधा हाथ काट लिया जाता था मानों इससे अधिक पीड़ाजनक दण्ड कोई और भी हो सकता है।

गार्हस्थ्य जीवन

अव हम इस राज्य-काल मे व्याप्त गार्हस्थ्य जीवन की कुछ वातों पर विचार करेगे। चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है कि "उस देश के निवासी किसी जीवित प्राणी को नही मारते, न वे मदिरा-पान करते है और न लहसुन और प्याज खाते हैं। हमे चेन छ लो (चाण्डालो) को इसका प्रतिवाद समझना चाहिये। चेन छ लो शब्द मे घृणा का भाव है। इन लोगों के गृह अन्य लोगो से पृथक् होते थे। जव वे किसी नगर या वाजार मे प्रवेश करते थे तो वे अपनी उपस्थिति प्रकट करने के लिए एक लकड़ी का टुकड़ा पीटते थे। इस इगित से अन्य लोग उनसे वच जाते थे और उनके ससर्ग से अपने को सुरक्षित कर लेते थे। केवल चेन छ लो ही आखेट की खोज मे जाते थे और माँस वेचते थे।‡ कालिदास से जो साक्ष्य प्राप्त होता है उसके अनुसार फाह्यान का यह कहना ठीक नही है कि उस समय माँस नही वेचा जाता था एवं मदिरा पान नही किया जाता था। अस्पृश्यो की यह दुरावस्था सातवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे ह्यूनसाँग के समय तक प्रचलित रही।ǂ आगे चलकर फाह्यान ने फिर यह लिखा है कि "वे जीवित पशु नही वेचते थे, वाजार मे न तो पशु-वध-गृह थे और न मदिरालय थे। मुद्रा के रूप मे वे कौड़ियों का प्रयोग करते थे"।‡ ये वर्णन कालिदास के वर्णनो¶ और इस काल की प्रसिद्ध मुद्राओं के

---

§ देखिये फ्लीट, वही (८) पृष्ठ ३५।

* देखिये फ्लीट वही (२) पृष्ठ २०।

† दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ ९९।

‡ दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ ९९-१००।

ǂ ह्यूनसांग, रेकर्डस्, I, पृष्ठ ७४।

‡ दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ १००।

¶ देखिये शाकुन्तल, अंक २, पृष्ठ १९।

परन्तु ये दान जनता द्वारा वास्तव में किस प्रकार किये जाते थे इसका वर्णन उस समय के शिलालेखों में मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के साची शिलालेख (सन् ४१२ ४१३) मे यह वर्णन है कि आम्रकार्दव नामक व्यक्ति ने किस प्रकार और क्या सदा-सत्र खोलने के लिए दान किया। वह चन्द्रगुप्त द्वितीय का सेवक था। सम्राट् की उसपर असीम कृपा थी, वह ऐसा व्यक्ति था "जिसके जीवन निर्वाह के साधन उसके पराक्रम के कारण सरल एवं सुखकर हो गए थे।" उसने दान-सम्पत्ति (मूल्य या अक्षयनीवी) को मज और शरभग नामक दो व्यक्तियों से और राजकुल के आम्रात से खरीदा था। इस सम्पत्ति के अतिरिक्त उसने २५ दीनार भी दिए थे जिनके ब्याज से, जब तक कि सूर्य चन्द्र का अस्तित्व रहे, पाँच भिक्षुओं को भोजन दिया जाय और रत्नगृह (स्वयं मठ में) में एक दीपक रखा जाय। इस दान का उद्देश्य चन्द्रगुप्त द्वितीय के "सम्पूर्ण गुणों की पूर्णता" का प्रचार करना था। इस उद्देश्य से उसने काकनादबोट के विहार के महान् एवं पवित्र मठ के श्रद्धालु व्यक्तियों के समाज में स्थान प्राप्त कर लिया और पंच मण्डली के समक्ष साष्टांग प्रणाम करके, मज और शरभग से खरीदे हुए ईश्वरवासक ग्राम का दान कर दिया।"*

इन मठों में वे क्या करते थे इसका वर्णन भी फाह्यान ने किया है। वह लिखता है कि "धर्मगुरु निरन्तर सत्कार्यों में सलग्न रहते हैं, वे स्वाध्याय और ईश्वर चिन्तन भी करते हैं। जब विदेशी धर्माचार्य आते हैं तो गुरुजन उनका अभिवादन करते हैं और बारीबारी से उनके वस्त्र एवं पात्रों को वहन करते हुए उन्हें भीतर ले जाते हैं। वे उनको पाद प्रक्षालन के लिए पानी, लगाने के लिए तैल और मधुपर्क लाते हैं। जब वे कुछ समय तक विश्राम कर लेते हैं, उनसे यह प्रश्न किया जाता है कि उन्हें कितने वर्ष किस क्रम में करने हैं? निवास पर पहुँचकर जब नियमानुसार प्रत्येक आवश्यक वस्तु उनको प्रस्तुत करदी जाती है तब उन्हें विश्राम करने दिया जाता है।" † ये कार्य नियमपूर्वक बड़े-बड़े मठों में ही किये जाते होंगे न कि साधारण सदा-सत्रों में।

इन मठों के विद्वान् भिक्षुओं का राजाओं द्वारा अत्यधिक सम्मान किया जाता था, जैसाकि कम से कम फाह्यान के लेखों से प्रकट है। जब कभी राजा लोग इन भिक्षुओं के पास जाते थे तो सबसे पहले वे अपने मुकुट उतार लेते थे और तब वे, उनके राजकुमार और अधिकारीगण उनको स्वयं बनाये हुए भोज्य पदार्थों की भेंट करते थे। ऐसा करने के उपरान्त वे भूमि पर एक फर्श बिछा देते थे और उनके सम्मुख तिपाई पर बैठ जाते थे क्योंकि धर्मगुरुओं की उपस्थिति में "वे श्रेष्ठ आसन पर बैठने का साहस नहीं कर सकते थे।" ‡ ऐसी प्रथाएँ ह्यानच्वांग और इत्सिंग के समय तक प्रचलित रही होंगी।

---

* दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ १००।

† दी पिल्ग्रिमेज आफ फाह्यान, पृष्ठ १००।

‡ दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ ९९।
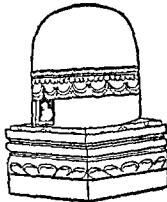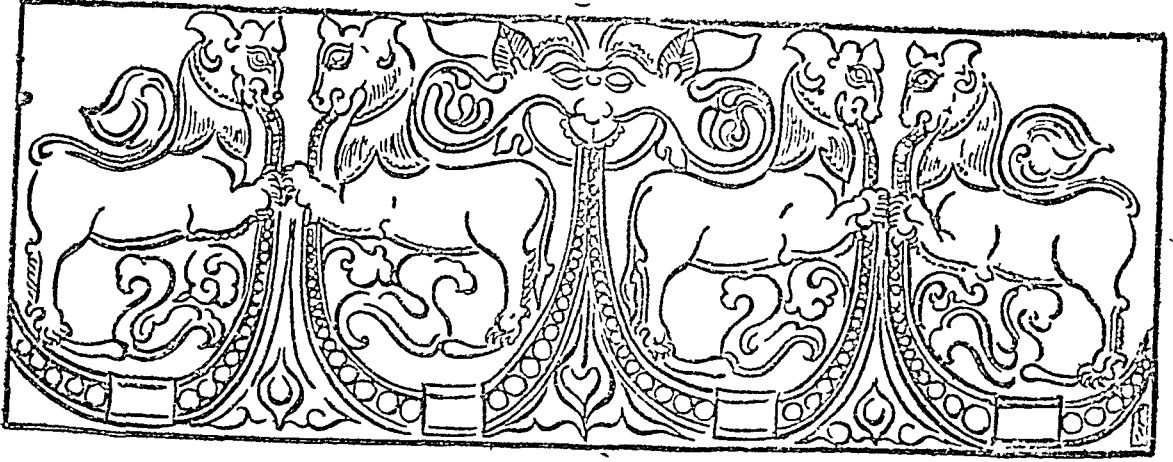
हेमचन्द्र विक्रमादित्य

श्री चन्द्रवली पांडे एम्० ए०

हेमचन्द्र विक्रमादित्य को हम नही जानते और नही जानते हम हेमू वनिया को। हम जानते है वस उसी हेमू वक्काल को जो सन् १५५६ ई० मे पानीपत के मैदान मे जा जमा था और जीतने ही को था कि कहीसे आँख में ऐसा तीर लगा कि वस वही हौदे मे ढेर हो रहा। उस समय कोई उसका साथी न हुआ। महावत भी मारा गया। भक्त हाथी उसे लेकर जंगल की ओर भागा तो सही पर वीच ही मे वह भी पकडा गया। हेमू की आँख खुली तो वह वैरी के हाथ में वन्दी था। उसकी प्रभुता स्वप्न थी। फिर क्या था, वैरी की वन आई और वात की वात मे सर कही और धड़ कही हो गया। सर सरकार की कृपा से कावुल पहुँचा तो धड़ दिल्ली के द्वार पर लटका दिया गया। और इतने से सन्तोष न हुआ तो वृद्ध पिता का भी वध किया गया और देश मे मुगली छा गई। चारों ओर अकवर का आतंक दौड़ गया और पलभर में विक्रमादित्य का सूरज डूव गया। किसी ने हेमू का साथ न दिया। जिस देश ने 'कहाँ राजा भोज कहाँ गंगा तेली' के गपोडे में 'गंगा तेली' को घर-घर फैला दिया उससे इस 'हेम' के लिये इतना भी न वना कि कही उसका नाम भी तो चलता। यदि इसके वैरी इतिहासकार इसके विषय मे इतना भी न लिखते और इस हेमचन्द्र विक्रमादित्य का हेमू वक्काल के रूप में परिहास भी न करते तो हम आज किस हेमू का नाम लेते और किस हेमचन्द्र विक्रमादित्य की वर्षी मनाते ? अरे, जिसे अपनी सुधि नहीं, उसकी सुधि भला कोई पराया क्यों ले और क्यो उसके पुराण को इतिहास का रूप दे ? फिर भी हमारे देश के शम्सुल-उल्मा मौलाना मुहम्मदहुसैन 'आजाद' किस आजादी से लिख जाते है :—

"चगताई मोर्वरिख वनिये की जात को गरीव समझकर जो चाहें सो कहे मगर इसके कवाअद वन्दोवस्त दुरुस्त और अहकाम ऐसे चुस्त हो गए थे कि पतली दाल ने गोश्त को दवा लिया। अफगानों मे जो वाहम कशाकशी और वेइन्तजामी रही उसमे वह एक जंगी और वाइकवाल राजा वन गया। अदली की तरफ से लश्कर जर्रार लिये फिरता था, कही धावा मारता था, कही मुहासिरा करता था, और किला वन्द करके वही डेरे डाल देता था। अलवत्ता यह कवाहत जरूर हुई कि विगड़े दिल अफगान उसके अहकाम से तंग आकर न फक्त उससे वल्कि अदली से भी वेजार हो गये।" (दरवार अकवरी, पृष्ठ ८४३।)

परन्तु अदली (सन् १५५४ से १५५६ ई० तक) भी भलीभाँति जानता था कि हेमू के अतिरिक्त उसका कहीं कोई सहारा नहीं। उसने एक दिन मे उसे अपना सव कुछ नहीं वना दिया। उसके हाथ में शासन-सूत्र आने के पहले ही गली-गली में नून की फेरी करनेवाला वनिया सरकार में वहुत कुछ वन चुका था। वह सरकारी मोदी था, वाजार का चौधरी था,

'उर्दू' का कोनवाल या। जहाँ था, सफलता उसके साय थी। और जब अदली का कोई कणधार न रहा तब वही वनिया आगे बढा और उसके अनुमोदन से वह मदान मारा कि अफगान देखते ही रह गये। एक दो नहीं कुल २२ मदान मार चुका या और कहीं किसीसे कभी पीछे नहीं हटा था। अफगान पहले तो उसे बक्काल कहकर तुच्छ समझते थे पर रणभूमि में जब सामने आते थे तब आटा-दाल का भाव मालूम होता था और प्रत्यक्ष देख लेते थे कि जीत इस वनिये के साथ चलती है। ताजखा करानी से जब अदली का सामना हुआ और दाना गगा के तट पर जाकर एक दूसरे का मुह देखने लगे तब साहसी हेमू ने ही गगा पार कर करानी को खदेडा और उधर से पलटा तो इब्राहीम सूर के पैर भी कालपी में उखड गये और अन्त में बयाना के किले म उसे घिरना ही पडा। हेमू उसको निर्मूल कर आगरा दिल्ली को लेना ही चाहता था कि चुनार से अदली का फरमान पहुँचा। हेमू पूरब की ओर लपटा तो अदली भी भागता हुआ कालपी के पास उससे आ मिला। फिर तो हेमू ने मुहम्मदखा की सेना पर चरकना पर यमुना पार कर अचानक ऐसा धावा बोल दिया कि जो जहाँ या तहाँ ही रह गया और विजयश्री हेमू के हाथ लगी। सब कुछ हुआ पर जब वह आगरा और दिल्ली का अधीन करता हुआ पानीपत के मदान म पहुँचा तब विक्रमादित्य बन चुका था। यहीं उसके पराक्रम का अन्त हुआ। यहीं उसके विक्रम का आदित्य अस्त हुआ। और ऐसा अस्त हुआ कि फिर कहा कहने का भी न उगा। निश्चय ही हेमू ही हमारा अन्तिम विक्रमादित्य है और अवश्य ही हिन्दू के हाथ से ही अकबर को मुगल साम्राज्य मिला, कुछ पठाना के हाथ स कदापि नहीं।

हा, भारत के इतिहास में हेमू का व्यक्तित्व सबसे निराला है। महाराज पृथ्वीराज के हाथ स दिल्ली जो गई तो फिर कभी किसी हिन्दू की न हुई, किसी हिन्दू के हाथ नहा आई। चार दिन के लिये हिन्दू से बने मुसलमान मियाँ खुसरो भी नासिरुद्दीन के नाम से दिल्ली के सुल्तान (सन् १३२० ई०) रह पर अन्त म तुगलक की तलवार स वह भी दूर हुए और दिल्ली बाहरी मुसलमाना की हो रही। पठान शेरखा सचेत हुआ तो उसने मुगला स अफगानी राज्य छीन लिया और बहुत कुछ हिन्दी राज्य करने लगा। उसके कुल की डूबती नया का डाँडा डाँडी छोडकर सभाला हेमू बक्काल ने और सोचा कि पठान उसके हो रहे। वह इन्हीं अफगाना के सहारे जीतने चला विदेशी मुगला को। वह जीत भी गया। परन्तु उसने भूल यह की कि इन अफगाना के मजहब को नही समझा और इन्हींके बल पर बना चाहा 'शकारि' विक्रमादित्य। जो चाहा सो हो गया पर जो चाहता था सो न हो सका। कारण उसी 'आजाद' के मुह से सुनिए—

"इसे समझना चाहिये था कि म किस लश्कर और किन लश्करिया स काम ले रहा हूँ। यह न मेरे हमकौम है, न मेरे हमवतन है, न हम मजहब है। जो कुछ करते है या करेगे पेट की मजबूरी, या उम्मेद या इनआम या जान के आराम के लिये करते है। और मेरी मीठी जबान, खुशखूई, ददख्वाही और मोहब्बतनुमाई इसका जुज आजम था—फिर भी यह सारी बातें आरजी हैं। यह कोई नही समझता कि इसकी फतह हमारी फतह है। और हम मर भी जायगे तो हमारी औलाद इस कामयाबी की कमाई खायेगी।" (वही पृष्ठ ८४८।)

परिणाम जो होना था वही हुआ। अफगानी तोपखाना पहले ही मुगला का हो गया। और जब जीतते-जीतते हेमू घायल हो आख की पीडा से अचेत हो गया तब उस नमकहलाल हाथी के सिवा उसका कोई अपना न रह गया जो उसकी सुधि लेता अथवा उसके काम को पूरा करता। यदि वह राजपूत होता तो कुछ राजपूत तो उसके साथ मर मिटते? पर नहीं, जिसने इतने राजपूता का मान-मर्दन कर वनिया होते हुए अपने को विक्रमादित्य घोषित कर दिया उसका साथ कौन देता! अस्तु, उसका अन्त हुआ और साथ ही उस विरुद का भी जो 'शकारि' का द्योतक और 'साका' का परिचायक है। हमारे लिये यह कोई आश्चय की बात नहा कि हम आज न तो अपने प्रथम विक्रमादित्य को जानते है और न अन्तिम विक्रमादित्य को ही। परन्तु हमारे इस अन्तिम विक्रमादित्य को हमारा अकबर खूब जानता था और इसीसे तो उसकी हत्या पर उसके अगअग को चिन म अलग-अलग बना दिखाकर कहता था कि इस घमडी का काम तो पहले ही तमाम हो चुका था। मने इसे क्या मारा। सच है, अकबर ने हेमू को नहीं मारा, उसे तो देश के दुर्भाग्य अथवा दैव ने मारा। अहमद यादगार का कहना कितना सच है कि अकबर के भाग्य का उदय था कि मृत्यु का तीर हेमू के भाल म जा लगा—

"चू सितारा‌य दौलत अकबरशाही रूये दर तरक्की दाश्त नागाह तीर कजा बपेशानीये हेमू खुद।" (तारीख-ए-शाही, बप्टिस्ट मिशन प्रेस, रो० ए० सु० ऑफ बगाल १९३९ ई०, पृष्ठ ३६२।)

किन्तु भाग्य का प्रताप अथवा मुसलमाना का न्याय तो देखिए कि उनसे इतना भी न देखा गया और लोक म यह प्रवाद (तारीख-ए-शाही, पृष्ठ ३५७) फैला दिया गया कि हेमू ने तो मुगला को जीतने के लिये हजरत कुतुबल हक के मजार पर जाकर मिन्नत मान लिया व्रत ठान लिया था कि जीत के बाद मुसलमान हो जाऊँगा और इस्लाम का प्रचार करूँगा। पर विजयी होने पर उसने किया एक भी नहा। फलत उसे इसका फल भोगना और तलवार के घाट उतरना पडा। क्या खूब? देखिए हमारे इस विक्रमादित्य का हमारी आँखों के सामने कैसी गति होती है?
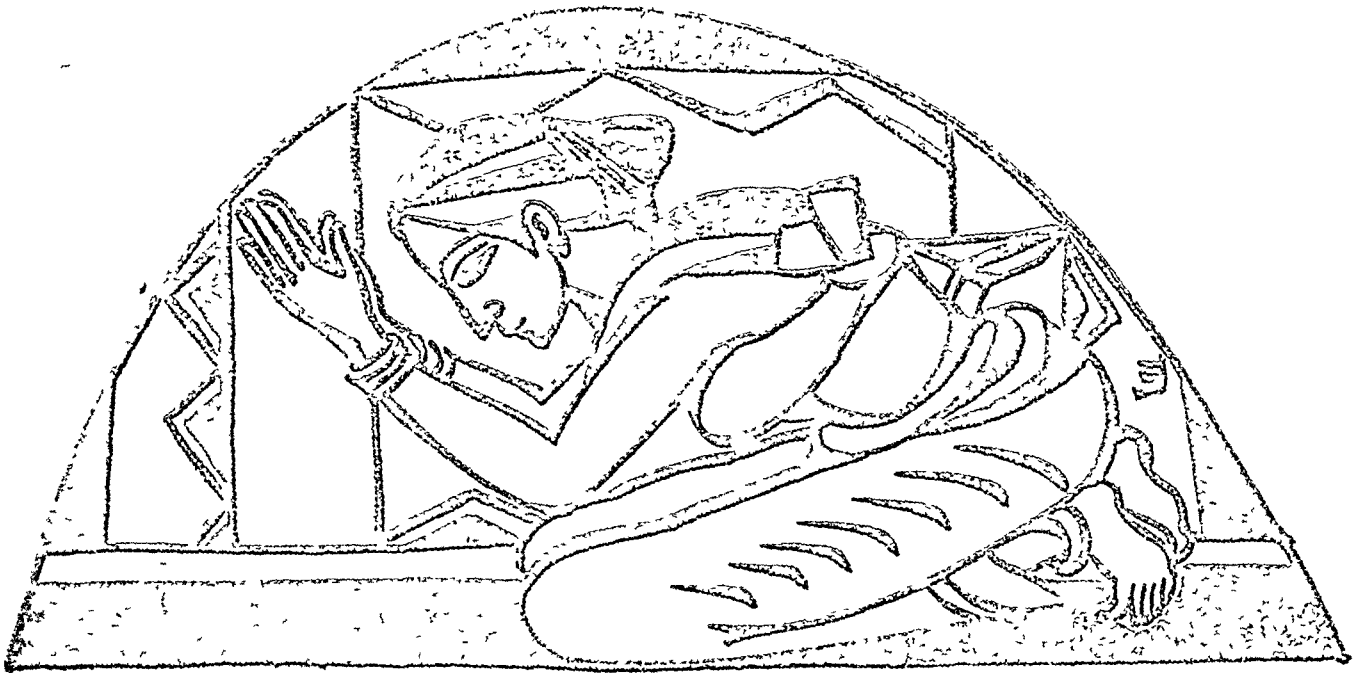
युग सहस्र संवत्सर विक्रम

श्री० डॉ० रामकुमार वर्मा एम्. ए., पी. एच्. डी.

इस अनंत पथ पर—जिस पर
ये धूल कणों से रवि-शशि संभ्रम—
उठते-गिरते हैं जैसे
गति का समीर होगा न कभी कम।

किसी तारिका को कोई भी,
तारा छू न सका इस क्षण तक
कभी न विचलित होगा जैसे,
नभ की गति का अनुशासित क्रम।

ऐसे महा प्रभंजन का है
कौन महा संचालक अनुपम ?
ध्वनित हो उठी जैसे गति ही—
युग सहस्र संवत्सर विक्रम।

युग सहस्र संवत्सर ! तुम में—
क्या युगत्व है ? क्या सुख-दुख मय—
राजनीति के चक्रों के तुम संचालक हो ?
निर्मम निर्भय ?

शक-हूणों के पदाघात से—
क्रुद्ध हुए तक्षक से उन्नत
प्राण-वायु कर पान, उठे हो
हे युग-फण ! हे युग-जिह्वामय ?

युग सहस्र फन फैलाकर तुम,
पान करो अविरल प्रकाशमय।
शेष बनो तुम-बनो शेषशायी से
दीन-हीन के आश्रय।

श्री डॉ० रामकुमार वर्मा

संवत्सर ! यह है प्रशस्ति की रेखा—
मेरी प्रिय ध्वनि नव नव
स्वर्गंगा के ज्योति कणों से
ज्योतित अपने मणि से अवयव—

में लेकर भू खण्ड उसे तुम
दो चिरजीवन का आश्वासन
मरु में चू जावे शीतल कण
तरु में जाग्रत हों नव पल्लव।

क्रूर घृणा में दया—दया में प्रेम—
प्रेम में जीवन उद्भव।
तेजोमय रवि-सा नर करदो
नारी चन्द्रकला-सी अभिनव।

करालं महाकाल कालं कृपालुं

चित्रकार—श्री निकोलस डी० रोरिक

('कल्याण' सम्पादक श्री महावीरप्रसादजी पोद्दार के सौजन्य से प्राप्त)
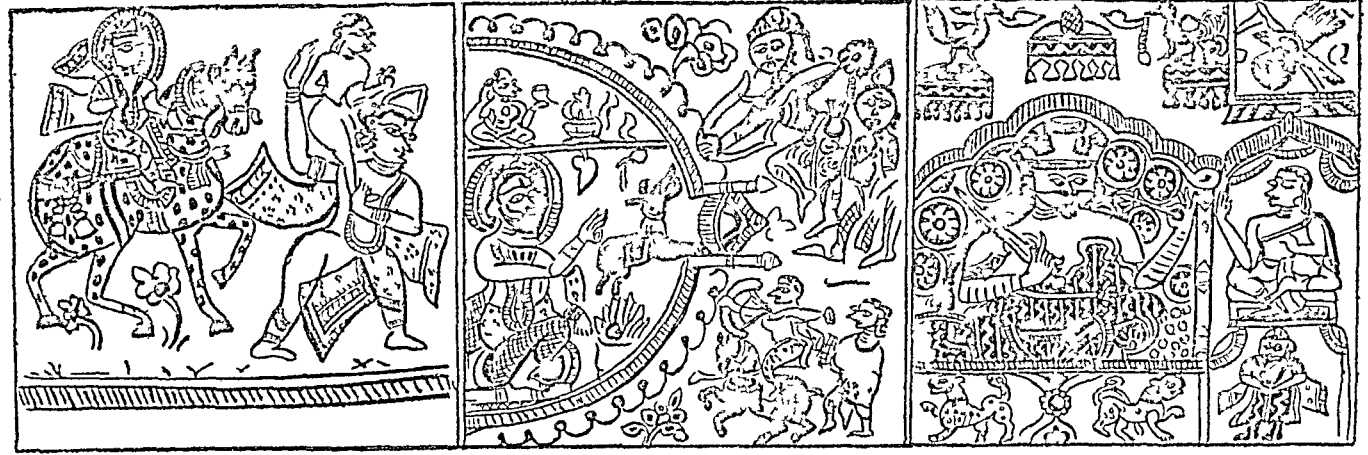
आचार्य कालक

—एक कहानी* —

श्री डॉ० विष्णु अम्बालाल जोशी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

आरम्भ

वार निर्वाण के ४०० वर्ष के बाद भारत अन्धकारयुग की झंझा में विडोलित था। सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक संगठन, साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात से विशृंखल हो चुका था। पूर्व ऋषियो ने समाज को जिस वर्ण-सूत्र मे विभाजन कर सशक्त किया था, वह सूत्र टूट चुका था; देश के प्रांगण मे दो विभूतियों ने मानव जाति को धर्म के सत् रूप का जो अमर सन्देश दिया था, वह सन्देश भी काल की गति से विरूप हो चला था। प्रजा अनेक भ्रान्तियों मे पड़कर त्रस्त जीवनयापन कर रही थी और प्रजापति अपनी महत्वाकांक्षाओं की नीच वृत्ति मे निरंकुश बन गए थे। युग के अन्धकार में पूर्व-गौरव मूक था।

उज्जयिनी ने 'नाम' पा लिया था, पर 'काम' का वह स्वर्णमय स्वप्न भर देख रही थी। उसके पटल पर उस अन्धकाराच्छन्न आकाश में झिलमिलाती तारावली अपनी कोमल रश्मियों से एक स्वप्निल संसार का चित्र अंकित कर रही थी। नगर के तट पर क्षिप्रा अपनी लोल लहरियों मे प्रवाहित होकर अमराइयों के पात-पात में, फूल-फूल मे जीवन भर जाती थी; पर उसका संगीत अभी स्वर ही भरने लगा था।

कौन नही जानता कि रावण 'राम-राज्य' की कल्पना और सृष्टि का आधार नही था, कौन नही जानता कि दुर्योधन गीता के अमर सन्देश का हेतु नही था? प्रकाश और अन्धकार का ऐसा ही अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। उज्जयिनी का शासक, इस समय गर्दभिल्ल दप्पण था, जिसका बल हिंसक-दानव-सा था, जिसका न्याय व्याघ्र-सा था और जिसका शासन

* विद्वान् लेखक ने 'कालकाचार्य कथानक' को आख्यायिका के रूप में प्रस्तुत किया है, यद्यपि कल्पना का मिश्रण कर उसे मूल से भिन्न रूप दे दिया है। सं०।

निरकुश मत्त-सा था। उसने चिरपरिचित गणतंत्र प्रथा का मूलोच्छेद कर दिया था और शासन का समस्त भार अपने और अपने मनोनुकूल 'तीर्थों' के हाथों में ले लिया था। यह नवीन तंत्र केवल उसकी महत्वाकांक्षा और विलासप्रियता की पूर्ति के लिये रचा गया था। और उसकी सफलता में किसी ओर से भी किसी प्रकार का विरोध होता था, उसका वह सारी शक्ति और सारी धूर्तता से सामना करता और उसके अंकुर को पल्लवित भी नहीं होने देता था। प्रजा अपने पूर्व सुख और ऐश्वर्य के बचे भाग का उपभोग करती हुई उस उत्पीडन को सह रही थी। उसका शासन इस प्रकार एकतंत्री-एकरंगी हो गया था।

× × × × × ×

चारुचन्द्र की रजत किरणों की कबरी-छाया नगर के बाहर-बाहर वाले पथ पर पड रही थी। दोनों ओर विशाल वृक्षों की सघन रेखा दिगन्त में विलीन हो रही थी। उसी घनी चन्द्रिका में एक सुसज्जित महान् रथ रुनझुन करता हुआ तीव्रगति से सुपथ पर अग्रसर था। उसके चार अश्वों के खुरों की टाप सम पड रही थी और उनकी बाग जिस सारथी के हाथ में थी उसके मुख पर आत्मगौरव की आभा स्पष्ट लक्षित थी। रथ में कोई विशिष्ट व्यक्ति विराजमान था।

वह किसी मधुर-स्मृति के आकर्षण में इतना आत्मविस्मृत हो जाता था कि कभी कभी वस्तु-ज्ञान से विहीन हो जाने से उसके मुख से अनायास ही निकल पडता था—"तुम अनुपम हो, सुन्दरी!" पर ज्योंही वह सजग हो उठता, वह त्योंही सारथी को सम्बोधित कर कह देता था—"शीघ्रता कर, सूत!" और सूत "जो आज्ञा" कहकर अपनी बाग को पुन सम्हाल लेता। वह अपने कार्य में दक्ष था और अपने अश्व-गण की शक्ति और ज्ञान पर पूर्ण विश्वास रखता था। रथ पवन-पथगामी हो रहा था।

इसी रथ के पीछे एक दूसरा रथ चला आ रहा था जिसमें दो सभ्य विराजमान थे। सभ्य और उसके सरस्वती-महोत्सव के सम्बन्ध में कुछ विनोदप्रिय सभाषण कर रहे थे। शायद, उस उत्सव से ही वे सब लौटे जा रहे थे।

एकाएक वह अग्रगामी रथ एक सघन स्थल पर रुक गया। रुकते ही, सारथी नीचे उतर पडा और कर-बद्ध हो एक ओर खडा हो गया। और शीघ्र ही दूसरा रथ भी वहाँ आ पहुँचा, और वह कुछ दूर पीछे ठहर गया। उसमें से वे दोनों सभ्य उतरकर बडी तत्परता से उस विशिष्ट व्यक्ति के सम्मुख आकर सादर मुख-नत किए खडे हो गये। एक ने कहा—"महाराज!"

"योगीश्वर तक मेरे आने की सूचना दे आओ। जाओ, शीघ्रता करो!"

"जो आज्ञा, स्वामिन्!"

कुछ काल उपरान्त, वही व्यक्ति और आश्रम का एक ब्रह्मचारी हाथ में दण्ड-दीपिका लिए वहाँ आ उपस्थित हुए। ब्रह्मचारी ने महाराज को अभिवादन किया और विनयपूर्वक बोला—"भगवन् आपकी राह देख रहे हैं।"

महाराज, उन सभ्यों की सहायता से, रथ में से उतरे और दण्ड-दीपिका के प्रकाश में वे उस आश्रम की ओर चल पडे।

योगीश्वर पर्णकुटी के बाहर चबूतरे पर रक्खी एक पीठिका पर विराजमान थे। रात्रि के प्रथम प्रहर के शान्त और निष्क्रिय वातावरण में भी उनकी आकृति गम्भीर और उग्र थी। जटाजूट उनके विभूति-मंडित भाल पर वेष्टित था। विशाल नेत्र जैसे अपने ही अग्निताप से उभरी पलकों में समा नहीं रहे थे। श्मश्रु का वर्ण कृष्ण था और वह हृद्भाग को पूर्ण आच्छादित किये हुए थी। वे कोपीन धारण किए हुए थे। इस गम्भीर रूप में भी उनके मुख पर तपोतेज प्रदीप्त था, जो प्रत्येक आगन्तुक की श्रद्धा को अवश्य जगा जाता था।

उनके सम्मुख आते ही, महाराज ने अभ्यर्थना कर उनके चरणों की रज सिर पर धारण की। योगीश्वर ने कहा—"तेरी मनोकामना पूर्ण हो, भक्त! इस समय कैसे आना हुआ?" और उन्होंने महाराज को बैठने के लिए अपने सम्मुख स्थित अन्य पीठिका की ओर इंगित किया। वे फिर बोले— "तुम इतने आतुर क्यों हो?"

श्री डॉ० विष्णु अम्बालाल जोशी

महाराज पीठिका पर विराज गये, विनय से उन्होने जवाव दिया—"आप सर्वज्ञाता है, भगवन्! मै आपके आशीर्वाद के लिए आतुर था, अव निश्चिन्त हूँ।"

मुनीश्वर की गम्भीर मुद्रा पर मुस्कान-रेखा खिच गई। वे बोले—"भक्त, जानता है तू निमित्त-ज्ञानी कालक का द्वेषी वनने जा रहा है?"

"यह मै जानता हूँ, भगवन्! पर आपकी शक्ति के प्रति अटल भक्ति और विश्वास मे यह ज्ञान मेरी लगन को कैसे विचलित कर सकता है! आपकी शक्ति के आशिक प्रसाद से मै गर्दभिल्ल हो गया हूँ, भगवन्, उस कालक के कोप की आप वात कह रहे है। उस कोपाग्नि मे, मुझे विश्वास है, वह स्वय ही भस्मीभूत हो जायगा।"

महाराज क्षणिक रुके, अपने उद्वेलित भाव-तरग का उन्होने शमन किया और फिर मौन मुनीश्वर की ओर दृष्टिपात कर वे सव्रीड़ा नत-मस्तक होकर बोले:—

"सुना था भगवन्, कि मुनि कालक और उसकी भगिनी नगरी के वाहर क्षिप्रातट वाले उपाश्रय में आये है, कोई विशेप वात नही थी; पर कल मैने उपा के शान्त और रम्य वातावरण मे क्षिप्रा की लोल-लहरो मे एक देवबाला-सी सुन्दरी को जलक्रीड़ा करते देखा, मेरे नेत्र जड़ हो गये। उस क्रीडा मे सन्यासिनी की निष्कामना नही थी, वरन् मोहिनी आकर्षण तथा लगाव का एक अलक्ष्य भाव था जो उसके अग-अग मे रोमाच का सचार कर जाता था, यह मैने अनुभव किया था, भगवन्! सरिता के उस तट के एक विशाल वृक्ष से उडकर एक कलहंसी का पीछा करते हुए कलहस को देखकर उसके मुख पर स्मित हास्य की रेखा खिच गई और उसकी कोमल लम्वी कमल-बाहु जल-तरगो को अपने आवृत मे भरने फैल गई। न मालूम उस तरंगालिगन मे उसका कैसा सुखद स्वप्न था! भगवन्, स्नान के पश्चात् अन्तरीय और स्तनाशुक वदल विखरी केशराशि का जूड़ा वनाकर वह धीरे-धीरे तट-लता-कुञ्जों मे घूमने लगी और एक सुन्दर मंदार पुष्प-गुच्छ को तोड़कर अपने जूडे मे धारण करने लगी—उसके इस अनुपम सौन्दर्य का आकर्पण तीव्र था, भगवन् और उसकी इस आसक्ति प्रवृत्ति ने मुझे विचलित कर दिया। मै एकाएक हँस पडा और उस हास्य-ध्वनि ने उसे सचेत कर दिया। उसने सशंकित मेरी ओर देखा और तुरन्त लज्जा से आरक्त मुख को नीचा कर वह वहाँ से चली गई। भगवन्, क्या यही उसका व्रती जीवन है? कहता हूँ उसके जीवन को कालक यों वॉध देना चाहता है, उसे मुक्त करने की मेरी इच्छा है। सोचता हूँ कि नगर के महाकाल के मन्दिर की 'पण्या' वनकर वह अपने जीवन को अधिक सार्थक वना सकती है. .... ।"

इस अतिकथन से महाराज की वाणी वाधित हुई और वे रुक गये। मुनीश्वर, उसी गम्भीर मुद्रा मे, महाराज से बोले—"भक्त, पानक चाहिये।" और महाराज की स्वीकारोक्ति के पूर्व ही वे ऊँची ध्वनि मे एक शिष्य का नाम उल्लेख कर कहने लगे—"भक्त के लिए पानक लाओ तो।"

"जो आज्ञा!"

इस प्रत्युत्तर के कुछ देर वाद ही हिमानन्द शिष्य हाथ मे एक काष्ठ-पात्र लेकर उपस्थित हुआ और उसे महाराज को सविनय भेंट कर रिक्त पात्र को लेने वह एक ओर खडा रहा। महाराज के पान कर चुकने पर वह उसे लेकर उसी ओर चला गया जिधर से वह आया था।

"कैसा अमृत-सा जीवन प्रदान करनेवाला पानक है!"

योगीश्वर ने तव कहा—"तू कह रहा था कि वह सुन्दरी महाकाल के मन्दिर की पण्या वनकर क्यों न अपने जीवन को सार्थक कर सकती है—पर क्या इतनी ही तेरी कामना है, भक्त?"

"आपके समक्ष गुप्त कुछ नहीं है, भन्ते!"

मुनीश्वर की आकृति अधिक गम्भीर और विचारमय हो गई। उनके नेत्रों की कान्ति अधिक प्रदीप्त हो गई। वे सर्वदृष्टा की भांति कहने लगे—"अर्द्धरात्रि के समय उज्ज्वल चॉदनी की शीतल छाया मे उपाश्रय के वाहर किसी की

प्रतीक्षा म एकाकी मौन खडा वह कौन ह ? एक कोमल मन्द स्वर-लहरी के सुनते ही एकाएक आकृष्ट होनेवाला वह कौन ह ? उपाश्रय के आलिंदवाले उपवन के मध्य चत्वाल पर अपनी ही नग्नरूपराशि की माया में मग्न नारी के चक्षु-सस्पर्श से अभिभूत वह कौन है ?"

"भगवन्, मुझे क्षमा करें।"

"और फिर भी उस नारी के प्रति तेरी मुक्त भावना—महाकाल के मन्दिर की पण्या ..."।

मुनीश्वर अट्टहास कर उठे।

महाराज अपने दोना कर जोडे अवाक् बठे थे।

मुनीश्वर अपने अट्टहास की ध्वनि के अवसान में ही बोले—"और अभी-अभी मनाये जानेवाले उत्सव की बात, भक्त !"

"वही से आ रहा हूँ। उस सरस्वती-पूजन के महोत्सव में सम्मिलित होने का अभिप्राय आपसे छिपा नही ह भगवन् ! कालक भगिनी सरस्वती का वह निमल श्वेत परिधान से वेष्टित वदा अनुपम था। उसके कल्कठ से उठी हुई वह देवि-स्तुति 'ॐ ह्रीं नमो भगवति ' एक ग धव बाला की अश्रुत वाणी-सी सबको अभिभूत कर गई और उस सगीत का अन्त 'केवलि पन्नत धम्म सरण पवज्जामि !' में सबकी सज्ञा—सबकी सत्ता साध्वी सरस्वती के नत मुद्रा की भाँति उस देवी प्रतिमा के चरणो में विसर्जित हो गई। कसा उसका विकास ह, कमा उसका स्वर है और कसा उसका आकषण है, भगवन्! सच, वह जनपदकल्याणी है! आपकी स्वीकृति चाहता हूँ।"

"भक्त, मखलिपुत्र ने कहा ह कि जीवा को जो सुख-दु ख होना है, वह स्वयकृत नही और अन्यकृत भी नहीं है। किन्तु यह सब सिद्ध ही है, स्वाभाविक ही ह। कालक वचीपरम ह, और वह निमित्तज्ञानी कहकर वचना करता ह। आखिर जो जूठन उसे प्राप्त हुई है वह आजीवक-साधु की ही तो देन है। भक्त, मेरे सम्मुख उसकी सिद्धि अकारत्य होगी, तू निश्चिन्त होकर काय सिद्धि कर !"

"धन्य भगवन् !"

"रात्रि अधिक बीत चुकी है, भक्त !"

महाराज उठे और नत होकर मुनीश्वर के चरण स्पश किये और कहा—"जाता हूँ, भगवन् !"

"जा, पर यह याद रखना कि इस काल के बाद न तू कालक के सम्मुख आना और न सरस्वती को आने देना। मेरे परोक्ष म वह अपने ज्ञान का प्रयाग कर सकता ह। समझ गया न, भक्त !"

"हाँ, भगवन् !"

'तेरी मनोकामनापूण होगी !"

× × × × ×

चादनी अब भी छिटक रही थी। उपाश्रय की ग धकुटी के द्वार पर क्षमाश्रमण आचार्य कालक गम्भीर मुद्रा मे खडे थे। वद्धमान वृक्ष की सघन कबरी छाया के उसपार दूर उनकी समस्त शक्तियाँ केंद्रित थीं और जब अविरल उत्पात ध्वनि विशेष उग्रता स सुप्त वातावरण को प्रतिध्वनित कर जाती, तो जिज्ञासा की प्रबल आतुरता उनके मुख की गम्भीरता के स्तर के भीतर स्पष्ट झलक पडती थी। आखिर, दूर एक मूर्ति को तीव्रगति से भगते इधर आते हुए उन्होने देखा, वे पहिचान कर ही पुकार उठे—'सागर !"

"हाँ क्षमण। साध्वी म "

'क्या ?"

'भयकर बात है, भन्ते !"
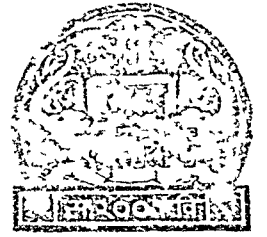
श्री डॉ० विष्णु अम्बालाल जोशी

और क्षिप्र श्वास लेता हुआ वह आचार्य के सम्मुख आकर निराश मूर्तिसा खडा हो गया। उसके वस्त्र अस्तव्यस्त थे। मालूम होता था कि अवश्य किसी एकागारिको से भिड़न्त हो गई है। आगन्तुक इतना भयभीत और व्यथित था कि वहुत देर तक वह मूक ही खडा रहा। और आचार्य भी दुर्घटना की आशंका से स्तब्ध होकर उसके कथन की प्रतीक्षा मे चुप रहे।

वह कोलाहल अव भी चारों दिशाओं मे व्याप्त हो रहा था। आखिर उस कटुशान्ति का भार असह्य हो गया और आचार्य दृढ़ता से वोले—"क्या कह रहे थे, सागर!"

"क्षमण, महा अनर्थ हुआ है। जैसा अमंगल का आत्म-निर्देश आपको हुआ था, वैसा ही काण्ड घटा है। साध्वी सरस्वती राज-दस्युओ के द्वारा हर ली गई है। भगवन्, हमने प्रतिरोध किया था, पर.......कुछ न वन पड़ा। और मैं यही सूचना देने आपके..........…"।

आचार्य कालक की गम्भीर मुद्रा मे अनेक वक्र रेखाएँ खिच गईं। उनके नेत्र मानसिक द्वन्द्व की अग्नि मे प्रज्ज्वलित हो उठे। फिर भी वे मूक रहे।

सागर भिक्षु, उत्तेजित, कभी उस दिशा की ओर जिधर से वह आया था, और कभी आचार्य की मौन मुद्रा की ओर देखता हुआ कह-कह उठता था—

"अनर्थ हुआ है, आचार्य! वे गर्दभिल्ल के अनुचर थे.......मैंने परीक्षा की है, प्रभु! सन्देह की बात नही है...... रथ राजा के थे.........और देवी का आर्तनाद...........भगवन्, दस्यु तत्पर थे. ....जीवन देकर भी वचा सकता तो पर. ..."।

दूर का वह कोलाहल शान्त हो गया था। केवल मन्द से मन्दतर होते हुए अश्वों की टापे अव भी सुनाई दे जाती थी।

और अन्य आश्रमवासी भी दीर्घश्वास लेते घवराते हुए वहाँ आकर चुपचाप खडे हो गये। किसी ने कुछ भी कहने का साहस नही किया। वे सव पृथ्वी की ओर देख रहे थे। तव आचार्य कालक का गम्भीर नाद सुनाई दिया—

"तुम सव चिकित्सक विमलसूरि के पास जाओ। किसीके विशेष गम्भीर आघात तो नही लगा है, प्रवुद्ध!...... और विमलसूरि है कहाँ? अपनी कुटि मे .... और सागर, तुम से कुछ मत्रणा करनी है। आओ।"

कहकर वे अपनी गन्धकुटी के भीतर प्रवेश कर गये। सागर भी उनके पीछे-पीछे चला गया और द्वार पर जाकर खड़ा हो गया। स्वभावानुसार क्षमाश्रमण अपनी पीठिका पर नही वैठे थे, वरन् वे गन्धकुटी के आँगन पर इधर से उधर और उधर से इधर घूम रहे थे। सागर इस क्रिया को चुपचाप देख रहा था।

क्षमाश्रमण के सम्मुख जैसे महान्धकार था और उसमे एक प्रचण्ड झंझावात जैसे वह रहा था। अपने जीवन के निश्चित स्वप्न आज प्रभा के समान चमककर विलीन होते हुए उन्हे प्रतीत हो रहे थे। इस निर्ग्रन्थ जीवन की अनासक्त प्रवृत्ति मे भी साध्वी सरस्वती ने अपनी सरलता, व्रतपरायणता, और अनुकरणीय त्याग के द्वारा आचार्य के हृदगत भगिनी-प्रेम को एक अपूर्व सात्विक अपनत्व मे परिवर्तित कर दिया था। पर आज जव वह एक सुन्दर युवती की भाँति अन्यान्यो के द्वारा हरण करली गई थी, उनकी अन्त संज्ञा मे दवी भ्रातृ-भावना उद्वेलित हो-होकर उन्हें अपने जीवन की वीती घटनाएँ याद दिला जाने लगी—मगध देशांतर्गत धारावास नगर के राजभवन, माता सुरसुन्दरी और पिता वयरसिंह का प्रेमभाव; वहिन सरस्वती के साथ राजभवन के साथी, प्रांगण, अलिन्द, प्रासाद, उपवन-सव स्थानों मे वालक्रीडा; अश्वारूढ़ होकर वनविहार; वन की प्रकृति सुपमा मे एकाग्र जैनाचार्य 'गुणाकर' से भेट; उनके धर्मोपदेश से प्रभावित होकर गृहत्याग और फिर वहिन सरस्वती की भी जैन-साध्वियों के पास दीक्षा आदि एक-एक कर कई घटनाएँ स्मृति-पटल पर चित्रवत् उतरने लगी। गृहत्याग के पश्चात् अपने अविरल अध्ययन, अपने अखण्डित इन्द्रिय-निग्रह, अपने गूढ मनन और एकाग्र तप से जो भी दैहिक सम्पत्ति का त्यागन और जोभी आत्मिक तत्व का उपार्जन उन्होने किया था, उसके अन्तर्गत एक ही महती आकाक्षा थी और वह थी सत् धर्म का प्रचार! इसी हेतु उन्होने धर्मद्रोही आजीवक आचार्य का शिष्यत्व भी स्वीकार किया था और ज्योतिष-निमित्त-शास्त्र का अध्ययन किया था, इस सिद्धान्त पर कि विद्या-प्राप्ति के निमित्त साधु को पतित साधु अथवा गृहस्थ की भी सेवा करनी चाहिये। पर ये प्रयत्न और प्रयत्न का मूल आग्रह—सव उन्हे साध्वी सरस्वती के साथ ही हरण

होते हुए दिखलाई दिये। साध्वी सरस्वती का हरण न केवल उज्जयिनी के श्रावक-सघ की अक्षमता और अशक्ति की ओर ही सकेत कर जाता था, वरन् साथ ही आचार्य कालक की प्रतिमा पर भी कुठाराघात था। और व अपने ही सम्मुख ये ही नष्ट होते देख सकते थे। वे गिरने के बजाय उठना चाहते थे। और आज का काण्ड भविष्य मे होनेवाली किसी विशेष क्रान्ति का सूत्रपात है, उनका मन पर्याय ज्ञान यही सूचना दे रहा था, क्योकि इस घटना का सूत्र केवल उज्जयिनी-पति गर्दभिल्ल के हाथ में नही ह पर उसका मुख्य पर अलक्ष सूत्रधार आजीवको का प्रधान दहन ह, यह वे जान गये थे।

योगी दहन के प्रति प्रतिस्पर्द्धा भावना आचार्य कालक के हृदय को क्रोधाग्नि से हिला हिला गई, जला-जला गई। उनका गौर मुखाकृति रक्त-सचार के आधिक्य स कृष्णवर्ण हो गई, और घूमते-घूमते उनके हाथ की मुट्ठियाँ बँध गईं। वे एकाएक रुके और किंकर्त्तव्यविमूढ़ से खडे सागर से बोले—

"तूने कहा था कि इस हरण में राज का हाथ है—क्या न सागर?"

"हाँ श्रमण!"

"तू नही जानता कि घटना किसी अन्य ही सूत्रधार स सचालित ह। राजा दर्पण 'गर्दभी प्रदात्ता' के बिना एक पग भी आगे नही बढ सकता, सागर! हम अधिक सतर्क होकर काम करना होगा, नही तो उज्जयिनी में सत्धर्म के प्रचार और रक्षा से हमे विमुख होना पडेगा। उस आजीवक की शक्ति कम नही ह।

कहकर वे फिर विचारमग्न इधर-उधर तीव्र गति से घूमने लगे। और वे फिर स्वत भाषण-सा करने लगे—

"ज्ञातपुत्र का वचन है कि बहुत से पाखण्डी गुरुओ की सेवा किया करते हैं—हे गौतम, क्षणमात्र भी प्रमाद न कर। और दर्पण अपनी महत्वाकाक्षा की, अपनी भोगलिप्सा की पूर्ति के लिये ऐसे ही गुरु का आश्रय ग्रहण कर चुका ह। उज्जयिनी का भाग्य आज इन आसुरी प्रवृत्तियो के प्रहार से खण्ड-खण्ड हो रहा है। वह राजा है और इस रूप में उसके विचार का, उसके कार्यों का एक विशेष महत्त्व है, क्योकि उनका प्रभाव परोक्ष तथा अपरोक्ष ढग से प्रजा पर पडता है। आयुष्मान सागर, न केवल उज्जयिनी-सघ के लिए, सत्धर्म के लिए वरन् मालव के लिए भी हमें सचेत होना होगा। नही तो साध्वी सरस्वती की आह सबका सर्वनाश कर देगी।"

आचार्य कालक की विस्फारित स्थिर आँखें मूक खडे सागर पर पडी, वह उनकी ओर देखकर केवल इतना ही बोला—"हाँ, श्रमण!"

"यह सच है, सागर, कि कर्म अपने कर्त्ता के ही पीछे लगते ह, अन्य किसी के नहीं। पर राजा के कर्म तो प्रजा को, देश को एक गति देनेवाले होते ह। वही अपने कर्मों का भोक्ता नही होता, वरन् जाति, समाज और देश भी उसके फल के सुख-दुःख को समान अनुभव करते है। ज्ञातपुत्र ने कहा है कि जो मनुष्य काम भोगो में आसक्त होते ह वे बुरे से बुरे पापकर्म कर डालते हैं, अन्त में महान् क्लेश पाते हैं। इसीलिये सोचता हूँ, सागर, कि उस पाप-कक्ष के विस्तार के पूर्व ही हमे सतर्क हो जाना होगा।"

और यह कहकर जब वे अपनी पीठिका पर जा बैठे और सागर को हस्त इगित से पास में बैठने का आदेश दिया।

आचार्य कालक इस बीच शान्त हो गये थे और उनकी स्वाभाविक गम्भीरता पुन लौट आई थी। स्थिरता आ गई थी। वे भविष्य के कार्यक्रम पर विचार कर रहे थे। आखिर वे फिर बोले—

"सागर, मैं प्रातःकाल राजभवन की ओर जाऊँगा और परिस्थिति के अनुसार कार्य करूँगा। इसके पूर्वकथित उत्क्षेपणीय भिक्षुको को यह आदेश मिल जाना चाहिये कि वे उस समय वही किसी न किसी भाँति उपस्थित रह और समय देखकर कटु शब्दो स मेरा विरोध करें और राज-कर्मचारियो की दृष्टि में उनके बनने का प्रदर्शन कर। भिक्षुकियो को भी सूचित कर देना चाहिये कि वे साध्वी सरस्वती की गतिविधि का सूक्ष्म निरीक्षण करती रह। बुद्धिव्रत को जाकर समझा दो, वह सुचारुरूप से सब कुछ कर लेगा। जाओ सागर!"

"जो आज्ञा!"

× × × ×

श्री डॉ० विष्णु अम्बालाल जोशी

दिन चढ गया था। सागर अपनी आम्रकुटी के भीतर टहलता हुआ आचार्य की प्रतीक्षा में आतुर था और कभी-कभी वह द्वार पर आकर मार्ग की ओर एक दृष्टि डाल भी जाता था। एक बार, इसी प्रकार जब वह द्वार पर आया, तो उसने आचार्य की कुटी के द्वार को खुले देखा। वह तुरन्त उस ओर तीव्रगति से चल पड़ा। उत्तरासंग का एक छोर पृथ्वी पर लटक रहा था, पर उसका ध्यान उधर था ही नही। चला-चला गन्धकुटी के द्वार पर आकर वह खडा हो गया। आचार्य, कुछ घड़ी पूर्व के समान ही, कुटी के आँगन पर घूम रहे थे। आहट पाकर उन्होने द्वार की ओर देखा और सागर को अभिवादन करते देखकर आचार्य ने कहा——

"धर्मवृद्धि, सागर!"

"भन्ते!"

"भीतर आओ, सागर! द्वार वन्द कर देना।"

सागर द्वार वन्द करके गुरू की पीठिका के निकट आकर बैठ गया।

"जिज्ञासु हो, सागर! पर परिस्थिति अनुकूल नही है, पहिले से अधिक विषम हो गई है। इसपर भी जो कुछ वहाँ घटा है, हमारे ध्येयपूर्ति के लिये साधक हो सकती है। इससे अधिक की आशा भी नही की जा सकती थी। उत्क्षेपणों का प्रदर्शन सफल रहा। कठोर आक्षेप करते हुए आक्रोश से उन्होने मुझे सम्वोधित किया, कहा——'यह मायावी है, पापश्रुत का अनुशीलन कर सघ की मर्यादा और पवित्रता को भंग कर रहा है। वह अपनी व्यक्तिगत स्पर्द्धा के कारण समस्त सत्-धर्म को राजशक्ति के विरुद्ध कर रहा है। वह मोमुह है, वह रभस है, वह उपनाही है।' और जब राजाज्ञा के अनुसार मेरे लिये प्रव्राजन की घोषणा की गई, तो वे सव हर्ष से चिल्ला उठे: 'उचित है, उचित है! वह इसी के योग्य है!!' राजकर्म-चारियो पर उनके इस प्रदर्शन का प्रभाव मै वडी सूक्ष्मता से देख रहा था। और केवल यही सफलता भविष्य की चिर सफलता वन जावे, तो कोई आश्चर्य नही। फिर भी, और सव वाते विचारणीय है। मुझे उज्जयिनी की भूमि त्यागने का आदेश मिला है। हमे अपने काँटों को फूल वनाना है, मुझे ऐसा लगता है कि यह भी, वाह्यरूप से अनर्थसूचक होता हुआ भी शुभ है। मुझे अवश्य ऐसा करना पड़ता, पर राजाज्ञा का आधार पाने से अव नगरी की सीमा को त्यागना विपक्षियों के सन्देह का कारण नही वन सकता। क्यों न?"

"उचित है, भन्ते!"

"मुझे तुरन्त इस स्थान को त्यागना होगा। इसीलिये सागर, यहाँ का भार तुम्हारे ऊपर है। मेरी अनुपस्थिति में तुम्हारे सम्मुख कुछ कर्त्तव्य है। प्रकटरूप से तुम्हे मेरे कार्यो के विरुद्ध घोपणा करनी होगी; और ऐसे कार्य करते रहना होगा जिससे राज का कृपाभाजन वनने मे सहायता मिलती रहे। और साथ ही गुप्त रीति से सरस्वती की रक्षा और सत्-धर्म की अनुयायी प्रजा का संगठन करते रहना होगा। वड़ी गम्भीर वात है, सागर, परन्तु तुम्हारी शक्ति और वुद्धि पर मुझे विश्वास है।"

"आपकी आज्ञा मेरे जीवन का व्रत वने, भन्ते!"

"ज्ञातृपुत्र तेरी रक्षा करेगा।" क्षमाश्रमण आचार्य कालक ने कहा, "एक वात और। वह आजीवक वड़ा चतुर है। आज भी, जैसाकि चाहता था, स्वय राजा दप्पण मेरे सम्मुख नही आया। मैंने कई युक्तियो से उससे साक्षात्कार करना चाहा। मेरा अभिप्राय था कि आवर्तनीमाया से उसको विभ्रम करदू, पर मै इस प्रयोजन मे सफल न हो सका। ये सूक्ष्म-क्रियाये आजीवक की वुद्धि वैभव के उदाहरण है। तुम उसकी गतिविधि से पूर्ण परिचित रहने का प्रयत्न करना। सागर, धर्म की रक्षा के लिये इस प्रकार कटिवद्ध होना हमारा कर्त्तव्य है।"

सागर ने नतमस्तक होकर मौन स्वीकृति प्रदान की। इस विपादमय काल मे भी आचार्य के मुख पर एक आनन्द की रेखा खिच गई। वे भावमग्न वोले——

"मेरा मन हलका हुआ है, सागर! और तुम देखोगे कि तुम्हारे निमित्त-ज्ञानी दिशा-प्रमुख आचार्य का आज से मतिभ्रम, विक्षिप्त, पागल के नाम से उल्लेख किया जायगा और इस वात को तुम्हे अपने मुंह से जनजन के कानों तक

पहुँचाना होगा जिससे सब जान जाय कि सरस्वती के हरण, निर्वासन की क्षप्ति ने उन्हे वैसा बना दिया है। वे कही चले गये है–मर गये है! चौंक पडे, अन्तेवासी!"

"यह कैसे होगा, भन्ते!"

"सद्धर्म के लिये सब करना होगा!"

× × × ×

राजनगरी में उस दिन जिह्वा-जिह्वा पर बात रही।

साध्वी सरस्वती की चर्चा चलती, तो कहा जाता—रात्रि को स्वय सरस्वती ने योगीश्वर के आश्रम में आकर उनके चरण पकड लिये, कहा, 'मुझे शरण दो। मेरे बन्धु का शासन असह्य है।' योगीश्वर ने बडी उदारता से उसको अभयदान दिया। और वह अब महाकाल के मन्दिर में 'पण्या' बनने को आतुर है।

महाराज गदभिल्ल दप्पण की चर्चा चलती, तो बडे गोपनीय ढग से कहा जाता—महाराज को जब इस घटना की खबर लगी, तो वे तुरन्त योगीश्वर की सेवा में उपस्थित हुए और उन्होने साध्वी सरस्वती की रक्षा का सम्पूर्ण भार अपने कन्धो पर ले लिया। इस सकट समय तक साध्वी राजमहलो में ले जाई गई है।

आचार्य कालक की चर्चा चलती तो कटाक्ष से कहा जाता—बडा निमित्तवेत्ता बना था, जिसके अहम् में साध्वी सरस्वती पीडित और व्यथित होकर मुक्ति की राह देखने लगी थी। उसकी क्रूरता क्या बखानी जा सकती है? राजाज्ञा से वह निर्वासित हुआ है, यह उचित ही है, उचित ही है!

× × × ×

कुछ काल उपरान्त, एक दिन उज्जयिनी के उपाश्रय में मुख्य पीठिका पर विराजमान श्रमण सागर ने उपस्थानशाला में उपस्थित चारो परिषद्–(भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका) के सम्मुख यह घोषित किया कि आचार्य कालक त्रिक, चतुष्क, चत्वर, महाजन आदि स्थानो में इस प्रकार उन्मत्त की तरह प्रलाप करते फिरते हुए देखे गये–'यदि गदभिल्ल राजा है तो इससे क्या? यदि वह रम्य अन्त पुर है तो इससे क्या? यदि देश मनोहर है तो इससे क्या? यदि नगरी अच्छी बसी है तो इससे क्या? मैं भिक्षा मांगता फिरता हूँ तो इससे क्या? अगर शून्य देवल मे बसता हूँ तो इससे क्या?'—इस प्रकार बकते हुए उन्होने उज्जयिनी का त्याग किया। सघ इस पलायन से अनभिज्ञ है। और यह भी सुना गया है कि उन्होने राज-द्वार पर एक भीषण प्रतिज्ञा की थी कि यदि गदभिल्ल का राज्योन्मूलन न करूँ तो प्रवचन-सयमोपघातक और उनके उपेक्षक की गति को प्राप्त होऊँ। इन सब सूचनाओ से विदित होता है कि आचार्य कालक पापश्रुत विद्याओ के जटिल चक्र में पडकर सद्धर्म से च्युत हो गये है। उनके कार्य ज्ञातपुत्र की वाणी के विरुद्ध है। इसीलिये, जब तक आचार्य कालक अपने आस्रव निरोध गामिनी प्रतिपद् का त्यागकर पुन केवली प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार नही कर लेगे, तब तक वे उत्क्षेपण भिक्षु की तरह समझे जावेगे।

× × × ×

कुछ काल उपरान्त, आजीवकाश्रम में एक रात्रि स्वय उज्जयिनी महाराज दप्पण योगीश्वर के साथ मत्रणा कर रहे थे। कुटी का द्वार बन्द था और एक रजतमडित दीप-पात्र की वर्त्ति उज्ज्वल ज्योति से जगमगा रही थी। योगीश्वर एक सुसज्जित पर्यक पर और उनके सम्मुख एक भव्य उच्च पीठिका पर महाराज विराजमान थे। कुटी के समस्त अलकार चित्ताकर्षक थे और इसी कारण भ्रम होता था कि यह एक योगी का शयनागार है! महाराज के हाथ में एक स्वर्णपात्र था, वे पान कर रहे थे, इसी भाति योगीश्वर के हाथ में भी वैसा ही स्वर्णपात्र था, वे भी पान कर रहे थे। उनका वदन अपनी विभूति लिए हुए प्रसन्न था।

"दुर्भाषी कालक उज्जयिनी के लिए ही नही, मगध के लिए ही नही वरन् सघ के लिए भी यो मर जायगा, ऐसी मैने नही सोची थी, भगवन्!"
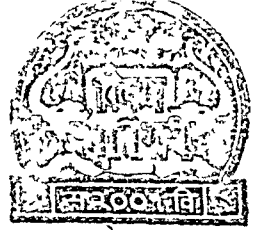
श्री डॉ० विष्णु अम्बालाल जोशी

योगीश्वर, सुनकर, अट्टहास करते हुए ही बोले––

"भक्त, तू वार्त्ता को उडाना चाहता है!"

"नही, भगवन्!" मानों महाराज के हृदय पर आघात लगा हो, वे चौक पड़े थे।

"साध्वी सरस्वती की बात कह रहा था न?"

"हाँ, भगवन्!"

"वह जनपदकल्याणी है?"

"हाँ, भगवन्!"

"तो गुरु भेंट कब होगी, भक्त! ऐसी कभी भूल तो नही हुई।"

मद मे तैरती हुई अपनी बडी बडी आँखे महाराज के नतवदन पर स्थिर करते हुए योगीश्वर ने कहा।

"पर वह अभी मार्ग पर............।"

"नही आई, क्यों न?––उसका उपाय मै बताऊँगा, भक्त! पर तू क्या कहने आया था?"

"यही कि वह समझाने-बुझाने पर महाकाल के मन्दिर में नृत्याभिनय करने को तत्पर हो गई है। आपको मैं निमंत्रण देने आया था।"

योगीश्वर पुनः अट्टहास कर उठे––"भक्त, नारी की माया में आ रहे हो। वह तुझे भुलावा दे रही है।"

महाराज विचार मे पड़ गये। अपने स्वर्णपात्र से बची घूंट पीकर वे बोले––"आप नारी-चरित्र के ज्ञाता है, भगवन्! मुझे प्रज्ञा प्रदान कीजिये।'

योगीश्वर ने अरवा की ओर सकेत किया, उसमे एक रजतपात्र रखा हुआ था, उन्होने कहा––

"यह सधान किया हुआ पानक है। उसे पिलाना और फिर गुरू के समीप..... ....याद रहेगा न, भक्त! मै इस प्रदर्शन मे उपस्थित नही हो सकूगा।"

"भगवन् की सेवा मे शीघ्र ही मै उपस्थित होऊँगा!" कहकर वे उठ खडे हुए।

× × × ×

कुछ घडी उपरान्त, उसी रात्रि के अन्तिम प्रहर मे सौम्याभिक्षुकी–(विश्वस्त होने के कारण महाराज की ओर से जिस पर साध्वी सरस्वती के ऊपर आँख रखने का और समझा बुझाकर सरल मार्ग पर लाने का कार्य सौपा गया था।)–गुप्त गृह के द्वार पर आकर खड़ी हुई और रक्षणियों से हँसती हुई बोली––"साध्वी की वासना जगी या नही।"

आदर से खड़ी होकर वे सब भी हँस पडी। और भीतर जाती सौम्या कहती गई––

"तुम भी क्या साध्वी बनी रहोगी दुष्टाओं––जाओ, मिल आओ अपनो से। तब तक मै हूँ यहाँ!"

रक्षणियो के मन की भावना को यों केन्द्रित करके वह भवन के भीतर एक श्वेत वस्त्रधारी अचलमूर्ति के सम्मुख आ खड़ी हुई। उसे यों चेतनाहीन देखकर वह बोली––"साध्वी!"

उसका म्लान मुख ऊपर उठा और सौम्या भिक्षुकी को देखकर उसका दबा हुआ श्वास धीरे-धीरे बाहर निकला।

"साध्वी कितनी बार कहूँ कि शीलविपन्न के सम्मुख ऐसा आचरण प्रयोजनीय नही है। और सच कहूँ, तुम इस प्रकार तो और अधिक भली लगती हो।" कहकर वह हँस पड़ी, और फिर बोली, "तैयार हो न!"

"किसके लिये, सौम्या!"

"मरने को!" इस खीज मे भी आखिर सौम्या की हँसी उमड़ पड़ी।

"हा, म तयार हूँ।" उस व्यथिता के मुख पर भी जीवन रेखा झलक पडी।

"तो भूलो मत, मेरी साध्वी कि आज तुम्हे महाकाल के मन्दिर म नृत्य करना है।"

"मुझे याद है।"

"एक बात और याद रखोगी।" कहकर सौम्या ने उसके कन्धे पर हाथ रक्खा, और कहा, "इधर आओ।"

और वह उस भवन के अन्तरकक्ष की ओर बढी, सरस्वती भी उसके पीछे होली। एक सुरक्षित स्थान पर खडी होकर सौम्या ने उसे अपने निकट खीच लिया, कहा—"मरना चाहती हो तो एक सुअवसर मिल रहा है।"

"क्या?"

"योगीश्वर ने तुम्हारे पान के लिये सधान की हुई सुरा भेजी है—बोलो पिओगी।"

"पी लूगी, सौम्या!"

सरस्वती की इस सरलता पर भिक्षुकी हँस पडी और आचल से उसकी तीव्रता को रोकने लगी। फिर स्थिर होकर बोली—'उसका भार भी, भाग्यवश, मुझे मिला है, पर महाराज उस समय वही वतमान रहेंगे क्योकि उस पान के बाद जिस प्राणी का दशन तुम करोगी, उसके प्रति तुम्हारे मन मे विकार उत्पन्न होगा। पीओगी न, और वह भाग्यशाली कौन होगा, जरा बतलाओ तो!"

"दुष्टा!"

"कह जो रही थी—पीऊँगी और म तो मरूँगी आखिर—पर किस पर यही तो पूछ रही हूँ।"

"चुप न रहोगी?"

सौम्या, आखिर, फिर गम्भीर हुई और बोली—

"यह भी याद रखना। उस समय वाटिका में अन्य कोई भी नही होगा। तुम चत्वाल पर बठी रहोगी। कुछ काल बाद म आऊँगी और तुम्हे वह मधु-पान देने का प्रयत्न करूँगी। मेरी स्थिति ऐसी होगी कि दूर पर सम्मुख खडे महाराज कुछ भी न देख सकें। तुम आनाकानी की क्रियायें प्रदर्शित करना, और इसी बीच म तुम्हारे अन्तरीय की नीवी से जकडे एक अन्य पात्र मे पानक डाल दूगी, फिर तुम शीघ्र लविदुकूल से अपने अग्र भाग को ढककर उस मधु पान को अपने हाथ म ले लेना। म उसी समय चली जाऊँगी। तुम पीने का हीला करना और सम्मुख खडे महाराज की ओर देख चकित हरिणी-सी यह कहते वहा स भगना, 'योगीश्वर दहल!' तुम भोली हो न, इस अन्तिम बात को नही समझ पाई होगी।"

तब, उसने मूक खडी सरस्वती के कान म धीरे से यह कहा—'शिष्य गुरू के बीच ईर्षा का प्रथम अकुर यो बोया जायगा, साध्वी!"

× × × ×

कुछ काल उपरान्त, एक दिन सायकाल के समय महाराज गदभिल्ल एक पुष्पित लताकुञ्ज से निकलकर मध्य में छोटे स सरोवर की स्फटिक शिला स निर्मित सोपान पर आ खडे हुए। सरोवर की साध्य शोभा अपूव थी। अस्ताचलगामी सूय की अनुरजित रश्मिया खिले कमलो का स्पश कर रही थी और जल-पक्षियो की केलि से उत्पन्न लोल लहरें अचिन्त्य आनन्द में मग्न हँस रही थी। शीतल सुगधित पवन वह रहा था और विविध पक्षियो का कलरव हरित पात-पात पर ध्वनित हो रहा था।

उसी समय, सौम्या के साथ साध्वी सरस्वती वहा आई और सरोवर के दूसरे किनारे पर वे खडी हो गईं। महाराज की दृष्टि उधर जाते ही, सौम्या मुस्कराकर चुपचाप वहा से अदृश्य हो गई।

महाराज दप्पण का हृदय स्पन्दित हो उठा। प्रकृति की इस सुषमा में खडी उस श्वेतावरणवेष्टित नारी का सौन्दर्य कितना अपूर्व था! वे खिंचे हुए उसके पीछे आ खडे हुए और मृदुता से बोले—"देवी!"

श्री डॉ० विष्णु अम्बालाल जोशी

चौंककर, साध्वी सरस्वती सलज्ज घूम दो चरण पीछे खडी हो गई। उसके मुख पर अनुरंजित किरणें पड़ रही थी। वह मन्द-मन्द वोली—"राजन्!"

"देवी, महाकाली के उत्सव पर तुमने जो अनुपम कला का प्रदर्शन किया था, उसके लिये मैं वधाई देता हूँ। सच कहता हूँ देवी, मैं देखकर आत्मविभोर हो गया।"

"आप उदार हैं, राजन्!"

साध्वी का प्रथम बार, ऐसा मुक्त आचरण महाराज गर्दभिल्ल की विलास-भावना को उद्दीप्त कर गया। वे मदमस्त होकर वोले—"तुम्हें पुष्प अधिक प्रिय थे न, देवी!"

"हाँ!"

"उस कुन्ज की ओर देखो, कितनी लताएँ प्रगाढ़ालिंगन में वद्ध होकर पुष्पों का उपहार दे रही हैं। ये सव हिल-मिलकर अपने मन की प्रतिस्पर्द्धा प्रकट कर रही है, देवी!"

"क्यों?"

"क्यों!" महाराज पुलकित हो उठे, उसकी सरलता पर वे हँसते हुए वोले, "इसलिये कि उनमे प्रत्येक की इच्छा तुम्हारे अंग का शृंगार बनने की है।"

साध्वी सरस्वती सिर नीचा किये मौन रही।

"किस पुष्प को वह सौभाग्य प्रदान करोगी, सुन्दरी!"

"नही, नही। उनकी ऐसी भावना कब हुई है।"

"तुम किसकी भावना जान सकी हो!"

एकाएक उस सरोवर मे हलचल हुई, एक पालतू कलहंस का जोड़ा रतिकेलि कर रहा था। महाराज गर्दभिल्ल जानते थे, पर अनजान वनकर उन्होंने उधर देखा और तव सरस्वती ने भी।

महाराज ने उन्मत्त होकर कहा—"देखती हो देवी!"

"हाँ।"

"क्या यह जीवन नही है?"

"यह सव मैं नही जानती, राजन्!"

"देखकर भी क्या नही जान सकोगी? मेरे निकट आओ, देवी!"

एकाएक जैसे वाण खाकर कोई व्यथित हो उठता है, वैसेही साध्वी सरस्वती आर्तनाद कर उठी—'योगीश्वर दहल!'

"क्या हुआ, देवी!"

"वह, वह—उस पान के वाद-आपके और मेरे बीच खडा होता हुआ दिखाई दे जाता है और फिर उसके अदृश्य पद-ध्वनि के पीछे-पीछे मेरे हृदय की गति वरवस खिंच जाती है। आपके प्रति एक कटु विरक्ति की भावना भर............ देखो, मैं खिंची जा रही हूँ।"

और अनमनी विवश अवला-सी साध्वी सरस्वती जैसे किसी दुर्दमनीय-शक्ति से आकर्षित हुई दूर-दूर चली जा रही थी। उसकी व्यथा से महाराज गर्दभिल्ल का कठोर मन भी, स्वार्थास्वार्थ के मिश्रण भाव से, द्रवीभूत हो उठा और साथ ही योगीश्वर की छलना मूर्तिमान होकर उसके नेत्रों मे व्याप्त हो गई। वे क्रोधान्ध होकर चिल्ला उठे—

"साध्वी, उस योगीश्वर के पाखण्ड का खण्डन करूँगा। उसने मुझे धोका दिया है, वह वंचक है। वदला लेने के बाद, देवि, मैं तुम्हारे सम्मुख आऊँगा। देखता हूँ, वह मेरे मार्ग मे कैसे आता है!"

× × × ×

आचार्य कालक

बहुत काल उपरान्त, कृष्णपक्ष की अँधियारी रात्रि की मध्य घडी आम्रकुटी के द्वार की कुण्डी के घात स मन्द-मन्द ध्वनित हो उठी। द्वार खुल पडा और श्रमण सागर एक अपरिचित आगन्तुक को सामने खडा देख विस्मित हुए।

कुटी म जलते हुए दीप की हलकी ज्योति मे वह आगन्तुक वेशविन्यास से वष्णव प्रतीत होता था। इसके पहिले कि श्रमण कुछ कह, उसने ही हाथ से कुटी मे चलने का सकेत किया। और वे दोना चुपचाप कुटी में प्रविष्ट हुए, आगन्तुक द्वार वन्द करना नही भूला।

श्रमण सागर ने, पीठिका पर बैठकर, बडे विनीत भाव से अतिथि को बैठने की प्राथना की और फिर वे प्रबल जिज्ञासा से उसकी ओर देखने लगे।

"नही पहिचाना, श्रमण !" यह कहकर वह आगन्तुक हँस पडा, "म अपनी कला में सफल हुआ तब न ?"

"अरे, प्रबुद्ध तीक्ष्ण !"

"हा, श्रमण !" और अब प्रबुद्ध तीक्ष्ण ने श्रमण को अभिवादन किया।

"कोई नवीन समाचार !"

"अवश्य, इसीलिये, अद्ध रात्रि के समय श्रमण को जगाने का साहस कर सका हूँ।"

"कहो !"

"आचाय क्षमाश्रमण मातृभूमि का परित्याग कर पारसकूल के लिए रवाना हो गए ह।"

"पारसकूल के लिए !"

"हा, श्रमण ! और आदेश दे गये ह कि उज्जयिनी में यह प्रचार किया जाना चाहिये कि आचार्य का देहावसान हो गया ह, केवल साध्वी के सम्मुख इस सूचना की असत्यता प्रकट कर दी जाय, और गुप्त रीति से, सघ का पूण सगठन, राज के प्रति विरोधी भावना का उद्दीपन और धन का सग्रह—इस ओर तन मन से दत्तचित्त हो जाना चाहिये।

"ठीक ह। और कुछ, तीक्ष्ण !"

"श्रमण की कृपा, मगल कामना !"

"ज्ञातृपुत्र सबका सहायक है !"

× × × ×

कस आश्चय की बात ह कि पारसकूल के निकटवर्ती अष्ठीला पर निर्मित एक मुनिवास का शिखर पवन के स्पश स लहराती सन-धर्म पताका स शोभित था!

वह कौन महा प्रतिभाशाली व्यक्ति ह कि जिसके चरणा पर अनार्यां की हिंसकवृत्ति श्रद्धा भक्ति म परिवर्तित होकर बिखर पडी ह ?

क्या वहा तो उस मुनिवास के द्वार पर तेजोमय शान्त मुद्रा में खडा हुआ नही ह ? और वे तो मालव भूमि से निर्वासित उज्जयिनी के क्षमाश्रमण निमित्त वत्ता आचाय कालक ह। वे न विक्षिप्त प्रतीत होते ह और न मृतक ही—उनकी सत्ता वसा ही व्यक्तित्व, वसा ही गाभीय, वसा ही तेज लिये हुए है जसाकि उज्जयिनी के उपाश्रय की गन्धकुटी के द्वार पर खडे हुए क्षमाश्रमण म देखा जाता था।

आचाय कालक मौन कुटी-द्वार पर खडे सम्मुख फली हरित राशि के परे अनन्तसमुद्र की उत्ताल तरगा के प्रवाह को देख रहे थे। एक के बाद दूसरा विचार उठ उठ जाता था। उज्जयिनी का उपाश्रय, खारवेलवशज, शुग विजयी दपण की क्षुब्ध नगरी, भगिनी साध्वी सरस्वती की सरल पावन मूर्ति और उनसे सम्बन्धित अनेक दुःख सुख घटनाएँ

एक-एक लहर-सी आ आकर विलीन होती जा रही थी। वे अब उन्हें स्वप्नवत् प्रतीत होती थी, जैसे जिस लोक की वे बातें थी वह तो सागर के छोर के समान ही अनन्त और अदृश्य हो ! कभी उनका ध्यान संध्याकाल के अस्त होते हुए सूर्य की ओर आकृष्ट होता, वह कैसा अस्ताचल पर खडा अपनी आदि-दिशा की ओर कोमलासक्ति से देख रहा है, और फिर भी धीरे-धीरे किसी अपरिचित देश की ओर विवश डूबा चला जा रहा है ! आचार्य की एकटक पलकों मे भी वैसी ही आसक्ति झलक पड़ती थी, सोचकर कि क्या उनका यह चरण भी सूर्य की भाँति परिधि का अतिक्रमण कर गया है ? कभी उनके सम्मुख यह प्रश्न उठता कि उस अपार जलराशि का जो प्रवाह एक समय उन्हें अपनी मातृभूमि की ओर वहा ले जाने के लिए व्यग्र था, वही क्या अव विराटरूप धारण कर अजेय बाधक-सा सम्मुख खडा है और विदेशीय भूमि के कूल पर ही वहा देने के लिए व्यग्र है ? कभी उनका ध्यान आकाश-मण्डल में नाना भाँति के पक्षी हठात् हर लेते, वे कलरव करते हुए रत्नाकर की ओर से भी उड़-उडकर आते दिखाई दे रहे है, पर उस समय कोई भी उस ओर जाता हुआ दृष्टिगोचर नही हो रहा है। इस विस्तृत प्रकृति-रूप-राशि में और पशुपक्षियों के कलरव में उन्हें अपनी ही स्थिति एकाकी प्रतीत होती। इस भूमि के पेड-पौधे, फल-फूल, पशु-पक्षी—सब चराचर मे से कोई एक भी उनका न हो सकता था और न वे—अकेले ही उन सबके हो सके थे। ऐसी भावना उठते ही उनका हृदय व्यथा से कुण्ठित हो जाता था कि फिर जिस दस्यु टिड्डी-दल को वे अपनी मातृभूमि की ओर ले जाने का आयोजन कर रहे है, उन सबको वहाँ के पेड़-पौधे, फल-फूल, पशु-पक्षी—सब चराचर अपना भी सकेगे ! ....

उनकी आत्म-चेतना यही कह जाती कि जो कुछ हो रहा है वह अच्छा नही हो रहा है ! अप्रमादसूत्रवाली महावीर की वह वाणी, जो गौतम के प्रति कही गई थी, उन्हें याद आ जाती- "धर्म पर श्रद्धा लाकर भी शरीर से धर्म का आचरण करना वड़ा कठिन है। संसार में बहुत से धर्मश्रद्धालु मनुष्य भी कामभोगों में मूर्छित रहते है। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर !" और जब वे अपनी स्थिति पर विचारते तो गर्दभिल्ल-सरस्वती काण्ड के विरुद्ध जो पग उठाया गया था, उसके अन्तर्गत एक अचिन्त्य प्रमाद-प्रेरणा ही थी, उसकी अवहेलना कर, टालकर वे आज अपने को धोका नही दे सकते थे। फिर भी, अब उनके सामने और कोई मार्ग नही था। जो घर बनाया जा चुका है, वह मिट्टी का घरौंदा नही था कि पैर से रौंद देते......... और जब ऐसा करना असम्भवसा प्रतीत होता था, तो उनका उद्योग दो आधार लेकर सन्तुष्ट हो जाता था। एक था, शक-साहों का सत्धर्म के प्रति प्रवृत्त होना, और दूसरा था, अत्याचारी गर्दभिल्ल का मूलोच्छेदन कर सरस्वती के साथ-साथ मालव को मुक्त करना। एकाकीपन का चिन्तन ही, इस प्रकार आचार्य कालक के सम्मुख 'भाव' और 'कर्म' की इस विरूपता को बिखेर देता था। पर जब वे क्रियाशील होकर अपने ध्येय के लिये कदम उठाते, यह भावुकता युग-विचार-धारा मे दब जाती जिसका प्रभाव आचार्य कालक पर भी था ही। उस समय यह कहा जाने लगा था कि सत्-धर्म के प्रचार की सफलता मे निंद्य साधन को स्वीकार करना अनुचित नही है; क्योकि आखिर साध्य का मूल्याकन साधन के भले बुरे पर नही लगाया जा सकता। उनका भी विचार ऐसा ही था। और जब यह प्रश्न सामने आता, उनके मस्तिष्क की तर्कबुद्धि प्रदीप्त हो जाती थी। आखिर वे निमित्तज्ञानी थे, जैन संघ के आचार्य थे ! ......

पर इस समय वे अवश्य भावतरंग मे ही बह रहे थे कि उस साध्य कलरव को भंग करती हुई भानु-भिक्षु की ध्वनि सुनाई दी, "आचार्य, स्वयं साहि पधार रहे है !"

ध्यान भंग होते ही आचार्य कालक ने स्वस्थता प्राप्त की, वे निश्चिन्त से बोले—"भीतर दीपक जला दो, और तब उन्हे लिवा लाओ, भानु ! मै भीतर ही मिलूगा।"

"जो आज्ञा श्रमण !"

उस कुटिया के सम्मुख फैले मैदान में एक दीर्घकाय वीर पुरुष, जो सिर पर रत्नों से जड़ित तिग्रखौदा और शरीर पर बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण किये था, उपस्थित हुआ। उसके मुख पर स्पष्ट चिन्ता की रेखा खिंची हुई थी, और व्यग्र-सा वह चारों ओर देख रहा था। और शायद किसीको वहाँ न देखकर ही पीछे आते हुए भिक्षु की ओर घूमकर वह बोला—

"आचारज !"

वह भिक्षु एकाएक साहि की उपस्थिति और उनकी उग्रता देखकर आश्चर्यान्वित था और इसी कारण इस प्रश्न का उत्तर वह हाथ के संकेत से ही दे सका। संकेतानुसार, साहि कुटि के भीतर प्रविष्ट हो गया।

एक पीठिका पर आचार्य कालक बैठे हुए थे, साहि ने उन्हें देखते ही झुककर अभिवादन किया। आचार्य कालक ने कहा—"धर्मवृद्धि, साहि!"

और कुछ विचार कर फिर बोले—"आपके आगमन की घड़ी के अनुसार मुझे कुछ घोर चिन्ता का आभास मिल रहा है। पर वही मंगल का हेतु होगा पहिले यहाँ स्थान ग्रहण कीजिये, साहि!"

बैठने के उपरान्त साहि ने कहा—"बड़ी खराब बात है, आचारज, साहानुसाहि मिथ्रदात के दूत द्वारा एक कटारी और कागज मिला है, लिखा है कि यदि अपने कुनबे को बचाना चाहते हो तो अपना सिर इस कटारी से काट लो क्योंकि तुमने अब्बाजान जतवान को मारने में हिस्सा लिया था और सुना है अब तुमने एक हिन्दुक जादूगर का मजहब मान लिया है। कैसी खोटी बात है! और आपने क्या-क्या कहा था, आचारज?"

इस सूचना ने आचार्य कालक की भावभंगी में विशेष प्रभाव नहीं डाला। हाँ, वे अधिक गम्भीर अवश्य दिखाई दिये। उनके मस्तिष्क में अनेक विचार आ-आकर स्थिर होने लगे थे। और मुख पर झलकती हुई परिवर्तन की रेखा स्पष्ट प्रकट कर जाती थी कि वे शीघ्र ही किसी निश्चय पर पहुँचते जा रहे हैं। अन्त में, वे दृढ़ता से बोले—"साहि, हमने क्या कहा था? यही कि आपका भविष्य उज्ज्वल है। अगर सत्धर्म में ऐसी ही प्रवृत्ति रही, तो अवश्य एक न एक दिन आपके यशोगान दिग्दिगन्तर में गूँजेंगे। क्या विश्वास नहीं होता?"

"नहीं आचारज, पर साहानुसाहि की ताकत का मुकाबला"।

"क्या साहानुसाहि का दूत आपके पास ही आया है?"

"मेरे भेदियों ने खबर दी है कि सीस्तान के सब साहियों के पास ऐसा ही फरमान गया है।"

"सब साहियों के पास!"

"हाँ, आचारज!"

"उन साहियों के पास भी जिन्होंने अब तक सत्धर्म को स्वीकार नहीं किया है?"

"हाँ, उनके पास भी!"

"बहुत ठीक है। मैं साहानुसाहि से संघर्ष की बात नहीं कहता, साहि!"

"तो ..."

आचार्य कालक ने उस विदेशी साहि के जिज्ञासाभरे चेहरे पर अपनी दृष्टि जमा दी, वे फिर मुख उन्नत कर बोले—"मैं भारत की ओर से निमंत्रण देता हूँ!"

"क्या हिन्दुकदेस से?"

"हाँ, आज का दिन खुशी का दिन है, साहि!" उनका मुख कहते कहते आरक्त हो गया, "गणना के अनुसार यह दिन आना ही था और इसी दिन की आशा मुझे मातृभूमि को त्यागने पर बाधित कर गई थी। इस अवसर से आपको लाभ उठाना होगा, साहि!"

"लाभ, लाभ कैसा!"

"आपसे स्पष्ट बात कह दूँ साहि! मेरे पारसकूल आने का एक ध्येय था। उज्जयिनी का गर्दभिल्ल नामक एक राजा है, उसने मेरी बहिन साध्वी सरस्वती का हरण किया है। वह अत्याचारी है और विलासप्रिय। साहि, राजा के लिए ये दोनों अवगुण घातक होते हैं, इसलिये उसका पराभव निश्चित है। गर्दभिल्ल सत्धर्म के प्रबल विद्रोही एक आजीवक

के आदेशानुसार जैन सघ का नाश करना चाहता है। और साध्वी का हरण उसके संकल्प का पहिला उद्योग है। साहि, आप वीर हैं। जीवन आपके लिए संग्राम है केवल। अपनी समस्त शक्तियों के उत्सर्ग करने के बाद प्राप्त विजय-पराजय का मूल्य आप जानते है। और आपके सब उद्योग विजयश्री से सुशोभित होगे—ऐसे ही उत्कृष्ट ग्रह आपके नाम पर पड़े है, साहि! घर मे ही रहने से आपकी शक्ति केवल साधारण कलह मे क्षय होती रहेगी और मै आपको उस प्रशस्त क्षेत्र की ओर आह्वान कर रहा हूँ जहाँ आप अपनी शारीरिक शक्ति का, अपनी रण-कुशलता का, अपनी धर्मपरायणता का मंगलमय परिचय दे सकते है। उज्जयिनी की जैन प्रजा, राजगृह मे वन्दिनी सरस्वती और आपके अतिथि आचार्य कालक की आशा इस महायान पर आश्रित है। इसका अर्थ है हिन्दुकदेश के महान भाग का महाराजाधिराज होना! साहि, क्या कर सकेगे? या इसी छोटे देश की सीमा मे पड़े रहकर साहानुसाहि की भेजी हुई कटारी से..................साहि, कुछ श्रेष्ठ काम करना होगा। क्या कहते हो?"

"आचारज, आप ज्ञानी है। मै खुश हूँ कि मेरे सामने एक खुला मैदान है, जहाँ बहादुर जी सकता है! पर फिर भी दूसरे साहियों की राय लेनी जरूरी है।"

आचार्य कालक ने दृढ़ता से कहा—"अवश्य, यह आवश्यक है।"

साहि ने उठकर अभिवादन किया—"मेरा दिल हलका है, आचारज!"

आचार्य ने कहा—"आपके शुभ की कामना करता हूँ, साहि! तुम्हारी धर्म मे वृद्धि हो!"

× × × ×

उज्जयिनी के उपाश्रय में—

सागर—"सौराष्ट्र गणतंत्र इतने अशक्त थे, भानु!"

भानु—"सगठित होकर वे अगर शकवाहिनी का सामना करते, श्रमण, तो निश्चय था कि विजय इतनी शीघ्र नही प्राप्त होती। अधिकाश गणतत्र सत्-धर्मानुयायी थे। उन्होने आचार्य कालक के साथ आनेवाले विदेशियों का भी समान स्वागत किया। वहाँ के श्रमण-सघ बहुत काल से इसी हेतु प्रयत्नशील थे। क्षमा करें, श्रमण, उज्जयिनी की स्थिति कैसी है!"

सागर—"मुझे सन्तोष है।"

भानु—"वर्षा ऋतु-बाधक अवश्य है, पर आचार्य कालक की नीति अद्भुत है, श्रमण! उनका कथन है कि प्रभु महावीर की ओर से यह मगल-मूल अवधि मिली है—एक ओर यातायात के बन्द होने से उज्जयिनी के मंत्री-मण्डल को हमारे आगमन का तनिक भी रहस्य प्रकट नही होगा और दूसरी ओर इस बीच हम सैन्य तथा धन का संग्रह और भारतीय अन्य राजाओं की सहायता प्राप्त कर सकेगे। श्रमण, आचार्य कालक का विचार है कि शकराज नरपान के पास धन का अभाव है और वह लोभी भी है, इसीलिये रुष्ट-सा प्रतीत हो रहा है। सैनिक भी हतोत्साह है।"

सागर—"धन का प्रबन्ध है, भानु। और मेरा विश्वास है कि जैसी आवश्यकता होगी और अधिक संग्रह किया जा सकता है। उज्जयिनी के उपासक श्रेष्ठी कर्त्तव्यच्युत नही होंगे।"

× × × ×

उज्जयिन्ती के राज-उपवन में—

एक कुन्ज से निकल भिक्षुणी ने चुपचाप आकर भाव-सिन्धु मे डूबी सरस्वती के कन्धे पर अपना हाथ रखा, वह चौंक पड़ी और घूमकर बोली—"कौन?"

"मै हूँ! महाराज से क्या बातें हुईं, साध्वी? तुम अब प्रणयक्षेत्र मे प्रवीण हो चली हो!"

"यह सब तुम्हारी शिक्षा है, दुष्टा!"

भिन्नुणी हँस पडी, और बोली—"उसका शुभ फल शीघ्र मिलेगा, साधिका!"

"म कुछ नहीं चाहती, दुष्टा! इन सब प्रपचा से म व्यथित हो गई हूँ। मै इस बन्धन से मुक्ति चाहती हूँ।"

"सुनती हूँ, अब तुम शीघ्र राज .. ।"

इस अर्द्ध उच्चरित शब्द के सकेत से स्वच्छ श्वेत वस्त्रा से ढका साध्वी सरस्वती का कृश शरीर कम्पन कर उठा, वह सदिग्ध दृष्टि से भिक्षुणी की ओर दखने लगी।

भिन्नुणी इस भाव से परिचित थी, वह मुस्कराकर बोली —"फिर वही सन्देह!"

'जीवन ऐसी विवशता भी लिये हुए होता है, इसका अनुभव मेरा नया है, भिक्षुणी! तुम ऐसी ऐसी बाते कहकर ही मेरे हृदय को या सन्देह से भर देती हो। जब विचार उठता है कि राज की ओर से तो तुम यह सब प्रपच कर रही हो, तो मेरा अग प्रत्यग सिहर उठता ह!"

"और जो महाराज से वार्त्ता हुई थी—उसका स्पन्दन कसा था, साध्वी!"

"ये भेदभरी बातें! भिक्षुणी, मेरा उपहास कर रही हो।"

और पवन के एक झझा से बुझे दीपपात-सा प्रभाहीन होकर उसका मुख नत हो गया।

भिक्षुणी, देखकर, करुणार्द्र कह उठी—"साध्वी, जीवन के इस कटु पक्ष में तुम्हारा उपहास करना ही मेरा अभिप्राय होता ता तुम्हारे पवित्र चरणो की रज लेकर मै सघ को छोडकर कही अन्यत्र चली जाती। जानती हूँ कि तुम्हारी केवली प्ररूपित धर्म की श्रद्धा कितनी अगाध है, फिर भी मै यह भी जानती हूँ कि तुम आखिर नारी हो। इसीलिये, इन कटु घडिया की व्यथा को दूर करने के प्रयास में मै तुम्हारे इस पक्ष से खिलवाड करती हूँ। तुम अप्रसन्न होती हो, साध्वी!"

सरस्वती की सरल दृष्टि को अपनी ओर पडी देखकर भिक्षुणी मुस्कराकर बोली—"महाराज ने क्या "।

"उन्ह आज एक सूचना देनी थी जसे उसको सुनने के लिए ही म आतुर होऊँ। कहा, 'आये हुए एक शिष्य के द्वारा मने उस असाधु को कहला भेजा ह कि उज्जयिनी का अधिपति मैं हूँ! और इसके उपरान्त राजचर के द्वारा मने उसके लिये निर्वासन-पत्र भेज दिया ह।' भिक्षुणी, इस अज्ञानी महाराज पर मुझे हँसी आ गई और शायद वह समझा होगा कि म सुखानुभूति कर रही हूँ। और मेरी समझ में यही नहीं आता कि क्या मेरे लिये इतना सघर्ष का सूत्रपात हो रहा ह?"

"और सुनोगी, साध्वी!"

"क्या?"

"क्षमाश्रमण सौराष्ट्र आ चुके ह। उनके साथ जन धर्मावलम्बी शकराज भी ह। वे शीघ्र तुम्हारी मुक्ति करेंगे।"

"शकराज—जैन धर्मावलम्बी—कालक—और मेरी मुक्ति! ये सब कैसी बाते है, भिक्षुणी!"

"धीरे बोलो, साध्वी! इनका रहस्य स्वय आचार्य आकर तुम्हें सुनायगे—पर मुझे इतनी ही सूचना मिली है।"

वह मूक रही। उसके सामने होनेवाले नरमेधयज्ञ की विभीषिका नृत्य करने लगी। और यह सोच-सोचकर ही वह काँपने लगी कि इस हिंसा का सब पाप-भार उसके अहिंसात्मक व्रत की विडम्बना करेगा! वह व्यथित हो चिल्ला उठी—'नातृपुत्र, मुझे क्षमा करो! मुझे उठा लो!!"

× × × ×

श्री डॉ० विष्णु अम्बालाल जोशी

सौराष्ट्र के महा-श्रमण-सघ में---केवल शकराज नरपान आचार्य कालक के सम्मुख विराजमान हैं। दोनों मौन हैं, और विचारमग्न हैं।

कुछ देर बाद ही, शकराज ने अपना सिर ऊपर उठाया और कहा---"आचारज, बरखा के खतम होते ही हमला कैसे हो सकता है?"

"मैं गणना कर चुका हूँ। इस समय जब सुविधा मिले उज्जयिनी की ओर हमारी सैना प्रस्थान कर दे।"

"यह सब माकूल है, पर.........".

"पर क्या?"

"आचारज, मुआफ करे, पर. ....यही कि दौलत की तंगी..............।"

"उसका प्रबन्ध हो चुका है।"

"क्या हो चुका है? ठीक हुआ, बहुत ठीक हुआ, आचारज! ये सब दौलत की तंगी महसूस कर रहे थे और नाराज थे, और लश्कर भी इनाम चाहता था। इन सब की खुशी मे हमारी जीत है।"

"मुझे यह सब मालूम है, शकराज!"

"मैं क्या ऐलान कर दू तब?"

"यही कि कल मनचाहा इनाम राज की ओर से सबको मिलेगा, क्यों न शकराज!"

शकराज का मुख खिल उठा, उन्होने सन्तुष्टि-सूचक सिर हिला दिया।

उसी समय बाहर से एक साधू की आवाज आई---"क्षमाश्रमण, एक 'विधर्मी' आपसे मिलना चाहता है!"

क्षमाश्रमण प्रसन्न हुए, वे बोले---"यही भेज दो, भिक्षु!"

"जो आज्ञा, भगवन्!"

वह 'विधर्मी' भीतर आया और पहले किसी अन्य व्यक्ति की उपस्थिति का भास पाते ही वह चौक पड़ा, पर दूसरे ही क्षण शकराज को पहिचान कर उसने पहले आचार्य के मुस्कराते हुए चरण छुए और फिर शकराज को अभिवादन किया। आचार्य कालक बोले---"धर्मवृद्धि, उदार! स्पष्ट कहो।"

"सूचना मिली है कि योगीश्वर ने राजाज्ञा के अनुसार उज्जयिनी त्याग दी है।"

आचार्य कालक के मुख पर फिर प्रसन्नता की रेखा दौड़ गई, वे शकराज से बोले---"मंगलमय समाचार है, शकराज! तुम उस महात्मा की शक्ति नही जानते। फिर भी उसका वहाँ से जाना, समझो आधा युद्ध हमने जीत लिया है। भ्रमणशील तुम विश्राम करो। तुम्हे यथोचित पुरस्कार मिलेगा।"

उसके जाने पर, आचार्य कालक फिर कहने लगे---"उद्योगी पुरुष को सब कुछ मिल जाता है, शकराज! मेरी वाणी असत् नही है।"

"मैं आपके हुक्म का तावेदार हूँ।"

"मेरे ध्यान का केन्द्र साध्वी सरस्वती है, शकराज! उसका उद्धार जब होगा, तब मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी। वह दुष्ट दप्पण पशु है, विलासी है और..............।"

"और सुना है, आचारज, सरस्वती खूबसूरत है, जवान है।"

चकित आचार्य कालक ने सूक्ष्म दृष्टि से शकराज की भावभरी आँखो की ओर देखा। वे मन्द-मन्द बोले---"वह साध्वी है!"

× × × ×

आचार्य कालक

जिस नरमेध यज्ञ की आशंका मात्र से ही साध्वी सरस्वती का हृदय कांप उठा था, उसमें प्रथम आहुति पड़ते ही अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी। प्रान्त प्रान्त के श्रमण संघों ने, सकौशल, यथायोग्य सहायता प्रदान कर आचार्य कालक के समस्त अभिप्रेत उपकरणों की पूर्ति की। लाट और पाञ्चाल के राजाओं ने भी मित्र-नीति अंगीकार करके गुप्तरीति से शकराज का साहचर्य स्वीकार किया। आचार्य कालक को सन्तोष हुआ—सन्तोष हुआ कि उनकी कार्य-पद्धति से किसी का विरोध नहीं है। पर फिर भी, मातृभूमि के सुरम्य तथा शान्त प्रकृति-क्षेत्र में अपने एक-एक चरण की प्रतिक्रिया वे देखते, तो उनका हृदय व्यथा से क्षुब्ध हो जाता। जब वे विदेशीय भूमि पर थे, वहाँ की प्रकृति और उसके नाना रूपों की अन्यता और तटस्थता ऐसी ही भावना की ओर निर्देश कर जाती थी। पेड़-पौधे कांपते हुए, पशु-पक्षी त्रस्त होते हुए कहीं दूर भग जाना चाहते, विश्व से कहते कि "हमारे घरों का उजाड़नेवाला एक दल बादल चला आ रहा है!"

और जिस दल बादल को उड़ाकर आचार्य इधर लाये थे, उसकी मनोवृत्ति पर भी उन्हें सन्देह हो चला था। धीरे-धीरे, इस अभियान के समग्र में उन्हें अपना सद्उपदेश असफल होता जान पड़ा। वे जान गये कि शकराज और अन्य साहि 'धर्म' और 'अर्थ' में से किसको विशेष महत्त्व देते हैं! शकराज जो वर्षा-ऋतु के अन्तिम दिनों में भी युद्ध के लिये उज्जयिनी की ओर अभियान करने में हिचक रहा था, प्रचुर धन पाकर कुल्ल और उलूम्प की सहायता से वर्षा के समाप्त होते न होते अवन्ति की सीमा में पहुँच गया। उस विदेशी दल का आग्रह लक्ष्मी पर ही आश्रित था, आचार्य कालक की आँखें खुल गईं। वे चिन्तित थे। फिर भी, सरस्वती का उद्धार और अपनी प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिये जो मार्ग वे अपना चुके थे उससे विमुख होना अब कठिन ही नहीं, असम्भव था।

और उज्जयिनीपति महाराज गर्दभिल्ल! वे स्वप्न में भी ख्याल नहीं कर सकते थे कि 'मृतक' कालक का प्रण ऐसा विराट तथा उग्र रूप धारण कर आ उपस्थित होगा। और जब वह साकार रूप से उज्जयिनी के महान दुर्ग को घेर कर डटा गया, तो उज्जयिनी पति अवाक् रह गये।

महाराज दर्पण ने जब विदर्भ राष्ट्र की सीमा के विस्तार हेतु, चौदह वर्ष पूर्व, उज्जयिनी पर आक्रमण किया था, उस समय उनकी शक्ति अपार थी और साथ ही, योगीश्वर की अनुकम्पा उनकी प्रत्येक महत्वाकांक्षा की सफलता रूप थी। *महाराज का विश्वास था कि उनका बुद्धि-वैभव, उनकी राजनीति-पटुता, उनकी दूरदर्शिता और उनकी योग सिद्धियों के* उपभोग का अवसर मिला है, वह प्रभुदत्त है। और इसी विश्वास पर वे सत् और असत् सब कुछ करते रहे। पर, माया की आसक्ति, धीरे-धीरे, उनकी एक ओर, शक्ति का ह्रास करती गई और दूसरी ओर, योगीश्वर के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा को मन्द करती गई। और अन्त में, एक ही आसक्ति-केन्द्र की स्पर्द्धा में (जो कि गुप्त शत्रु-पक्ष के चरों द्वारा उत्तेजित की गई थी) गर्दभिल्ल दर्पण का राज-सत्ताधिकार अपने महत्वाकांक्षा की सफलता के ईश्वर-प्रदत्त आधार पर ही कठोराघात कर बैठा। इन्द्रिय लोलुप राजा ने योगीश्वर के उज्जयिनी त्याग की सूचना में अपनी राजाज्ञा-पालन की अखण्डता अनुभव की, तो हर्ष मनाया था। पर उस दिन उज्जयिनी के दुर्ग के बाहर जब उन्होंने असंख्य कण्ठों से निकली हुई गगनवेधी उल्लासमय ध्वनि सुनी थी, उनके मानस-नेत्रों के सम्मुख योगीश्वर की वह गम्भीर मूर्ति क्षणभर के लिए उतर गई थी, और उनके हृदय में एक अभिलाषा उठी थी 'वे होते तो ' यही उनके जीवन की पहिली निराशा थी।

और एक विद्रोही रात्रि की घोर निस्तब्धता में राजा दर्पण ने सुना कि नगर प्राचीर के पश्चिमवर्ती तोरण-द्वार की रक्षणी-सेना ने शत्रु के लिए कपाट खोल दिए हैं, और शत्रु के स्वागतार्थ उपस्थित नागरिकों की वीर-जय-जयकार ने दिग्दिगन्त को प्रतिध्वनित कर दिया है। राजा को याद था कि उनके प्रथम स्वागत के लिए भी तो उन्हीं वीर-योद्धाओं की तलवारें हर्ष और उमंग में चमक उठी थीं, और नगर का राजपथ उन्हीं नागरिकों से और सुशोभित अट्टालिकाएँ नारियों से डटी पड़ी थीं। और आज आज वही सौभाग्य किसी और को मिल रहा है! यही उनकी दूसरी निराशा थी।

इस प्रकार निराशा पर निराशा के बादल घिरते गये, तो उज्जयिनीपति गर्दभिल्ल दर्पण क्रोध से अधिक उग्र, अधिक दृढ़ और अधिक हिंसक हो उठे।

वे परिणाम को जानते थे, इसी कारण वीर की भाँति जीकर मर जाना ही अब उनकी चाहना थी। राजभवन का दुर्गम दुर्ग अभी तक अखण्ड था।

युद्ध की ऐसी ही विकट परिस्थितिवाले एक दिन, उज्जयिनी के उपाश्रय में आचार्य कालक, शकराज, लाटपति, पाचालपति दुर्ग को खण्डित करने के विषय पर मंत्रणा कर रहे थे।

शकराज हतोत्साह कह चुके थे—"वह गजब ढाह रही है, आचारज! हमारे लडाका तिनके की तरह मर रहे है।"

और लाट-पाचालपति ने उसका समर्थन किया था।

आचार्य कालक विचारमग्न थे। आखिर, उस स्थान की व्याप्त शान्ति की उत्सुकता को समाधान करते हुए वे बोले—"मै जानता हूँ कि वह गर्दभी-विद्या का ज्ञाता है और अष्टम् भक्तोपवासी होकर उसको प्रत्यक्ष कर रहा है। उसका परिणाम, अवश्य ही, भयकर होता है।"

लाट-स्वामी बलमित्र ने कहा—"हाँ, क्षमाश्रमण, उसका प्रभाव सैनिको पर विनाशक हो रहा है, वे भय-विह्वल होकर रुधिर वमन करते हुए अचेत हो पृथ्वी पर गिर पडते है।"

"एक कदम बढाना मुश्किल हो रहा है।"

"शकराज, इसका प्रतिकार एक ही युक्ति है। हमे एकसौ आठ शब्दवेधी योद्धाओं को एक विशेष शिक्षा देनी होगी। वह गर्दभी-रूप-धारिणी कहाँ रक्खी गई है, लाटराजन्!"

"अट्टालक मे।"

"वैसेही ऊँचे स्थल पर गर्दभी-सी आकृतिवाली वस्तु को रख कर उसमे दूर से एक साथ बाण चलाने की शिक्षा प्रदान की जाय उन यौद्धाओ को, और.. ... .और यह काम लाटराजन् तुम्हारे ऊपर छोडता हूँ। और जब राजा दप्पण योग विद्या से गर्दभी को प्रत्यक्ष करने लगे कि उसी समय वे शिक्षित योद्धा उसका मुख बाणो से भर दे। इसी रीति की सफलता में गर्दभिल्ल का नाश है, शकराज! कर सकोगे लाटराजन्?"

"वैसा ही होगा आचार्य!" लाट-राज ने प्रसन्नता और दृढ़ता से कहा।

× × × ×

विजयोत्सव पर उज्जयिनी चंचल हो रही थी। घर-घर पर पुष्प मालाएं, पताकाएँ फहरा रही थीं; स्थान-स्थान पर मधुर गान हो रहा था। राजसभा मे नगर के सब प्रतिष्ठित व्यक्ति उपस्थित थे और यथायोग्य आसनासीन थे। सब साहि भी अपनी वेशभूषा पहिन वहाँ उपस्थित थे। सिन्ध, सौराष्ट्र, लाट आदि प्रदेशो के राजा, मण्डलाधीश, श्रमण आदि शकराज के प्रथम सिंहासनारूढ दिवस पर भेट देने और सम्मान प्रदर्शन करने के लिये आये हुए थे। राजसभा की शोभा अपूर्व थी। उसके मध्य मे एक उच्च मच था जिसमे मणि-मण्डित मयूर-सिहासन पर साहानुसाहि शकराज नरपान विराजमान थे।

राजतिलक की समस्त विधिविधान के पश्चात् आचार्य कालक अपने आसन से उठे। और शकराज के निकट खड़े होकर उन्होने उनके मस्तक पर तिलक किया। साहानुसाहि नरपान ने अभिवादन किया, और आचार्य ने कहा—"धर्मवृद्धि, शक सम्राट्!"

उनका आशीर्वाद जन-जन की विजय-ध्वनि मे विलीन हो गया। उन्नत मुख आचार्य कालक, फिर धीरे-धीरे अपने आसन के निकट आ खड़े हुए। और जब राजभवन की हर्षध्वनि शान्त हुई, आचार्य कालक शक-सम्राट् को सम्बोधित कर बोले—"विजय हुए इतने दिन बीत चुके, पर साध्वी सरस्वती अभी तक मुक्त नहीं हुई है, शक-सम्राट्! मै इसका रहस्य जानना चाहता हूँ।"

आचार्य कालक की गम्भीर वाणी ने सबकी संज्ञा को शक सम्राट् के मुखपर ला केन्द्रित किया। सब आतुर होकर प्रश्नोत्तर की प्रतीक्षा करने लगे।

शक सम्राट् स्तम्भित अवश्य हुए, उनका मुख आरक्त हो गया था, फिर भी स्वस्थता प्राप्त कर वे दृढ़ता से बोले— "आचारज सुना है, वह खूबसूरत है—अगर मलका बने तो क्या हज है ?"

उसके कथन में जाति निर्भयता लक्षित थी, और अब नई विजय ने नई शक्ति ने उसको उभार दिया था जसे।

आचार्य कालक के मुख की लालिमा गाढ हो चली, वे बोले—"शकराज, यही सुनना होगा, इसे मैं जानता था। पर तुम अपनी परीक्षा में असफल रहे हो।"

इसके पश्चात्, ऊँची आवाज में वे किसी को पुकार उठे—"सौम्या भिक्षुणी !"

अन्तरिक्ष के किसी अज्ञात कोने से एक कोमल आवाज आई—"जो आज्ञा, क्षमाश्रमण !"

सभा-मण्डप स्तब्ध था। महाशान्ति छाई हुई थी, क्योंकि ऐसा भी कुछ होगा, इसकी किसीको सम्भावना न थी। सबकी जिज्ञासा जग उठी थी, और उनके नेत्र उस ध्वनि के केन्द्र बिन्दु की ओर एकाग्र थे। शक सम्राट् के आश्चर्यान्वित नेत्र उसी ओर लगे थे।

और सबने देखा। शक सम्राट् ने भी देखा कि श्वेत वस्त्र से वेष्टित एक मूर्ति धीरे-धीरे गुप्त-मार्ग की ओर से चली आरही है और आकर आचार्य कालक के सम्मुख पुण्डरीक मुख को नत किये खडी हो गई है। उसके उत्तरासग की अत्यन्त क्षीणता में उसका अस्थिपिंजर दृष्टिगोचर हो रहा था। मूर्ति खडी थी, मानो अचेतन हो, भावविहीन हो।

आचार्य कालक ने भी उस मूर्ति की ओर एक बार देखा, और फिर शक-सम्राट् को लक्ष्य कर वे बोले—"मेरे प्रति जो तुम्हारी श्रद्धा थी उसे तुमने इस रंकाल पर खो दी है, शकराज ! देखा, यह मेरी बहिन सरस्वती है। इसका रूप देखा तुमने ? इसकी मुक्ति के लिये जो हिंसा की गई थी, उसके प्रायश्चित्त का यह रूप है। तुम अपनी पाप वासना की पूर्ति के लिए और अधिक क्या करना चाहते हो ?"

शक-सम्राट् के नेत्र नत थे। जिह्वा चुप थी।

आचार्य फिर बोले—"इस सुखद अवसर पर मैं कुछ नहीं कहना चाहता, पर भविष्य मुझे असंदिग्ध प्रतीत होता है, शकराज ! तुम्हारा पराभव निश्चित है।" कहकर आचार्य कालक ने अपनी भगिनी की ओर देखा, और कहा—"साध्वी बोलेगी—

अरिहंते सरणं पवज्जामि। सिद्धे सरणं पवज्जामि।
साहू सरणं पवज्जामि। केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि॥"

आचार्य कालक के गम्भीर नाद में एक क्षीण कण्ठ भी ध्वनित हो उठा था और उसके अवसान में वह भी लुप्त हो गया था। इसके पश्चात् आचार्य कालक वहां से चल पडे। उनके पीछे-पीछे वही अस्थिपिंजर मूर्ति चली जा रही थी।

सभा-मण्डप मौनमुग्ध था।
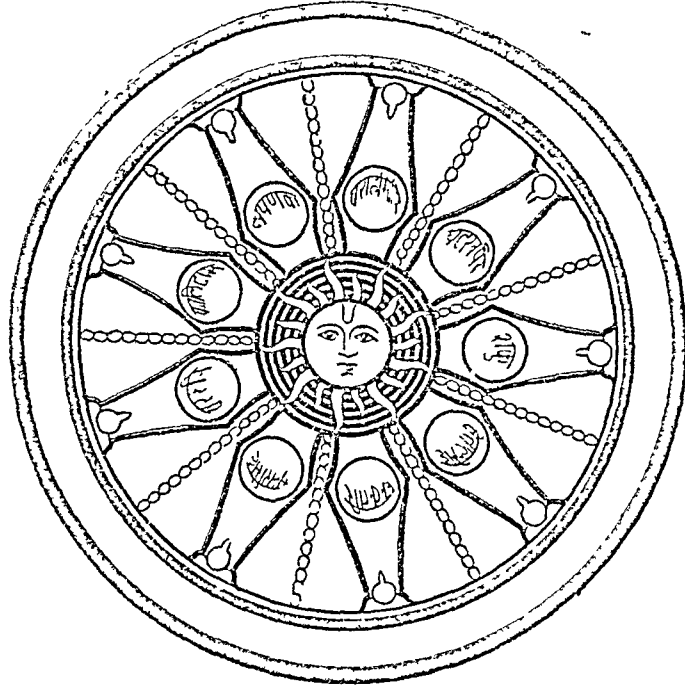
श्री विक्रम के नवरत्न

श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी, बार-एट्-लॉ

महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों की कथा बहुत प्राचीन है। परन्तु इसका प्रमाण केवल 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रंथ के निम्नलिखित श्लोक मे ही पाया जाता है :—

"धन्वन्तरिक्षपणकाऽमरसिंहशंकु वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां, रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य॥"

इस श्लोक के आधार पर ही विक्रम के नवरत्न (१) धन्वन्तरि (२) क्षपणक (३) अमरसिह (४) शकु (५) वेतालभट्ट (६) घटखर्पर (७) कालिदास (८) वराहमिहिर और (९) वररुचि वताए जाते है। प्रोफेसर कर्न के साथ साथ कई प्रसिद्ध इतिहासकार एवं पुरातत्त्व वेत्ताओ ने इस श्लोक के साथ साथ 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ को भी जाली बतलाने का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि "ज्योतिर्विदाभरण" ग्रन्थ प्रसिद्ध कवि कालिदास का बनाया हुआ नही है परन्तु किसी अन्य गणक कालिदास ने ११६४ शके मे इसकी रचना की थी। इसलिए इसका प्रमाण कहाँ तक मान्य हो सकता है इस विषय मे बहुत वादविवाद चल रहा है। विद्वानों का यह भी मत है कि ईसा के ५७ वर्ष पूर्व कोई विक्रम नाम का राजा हुआ ही नही और इसलिए विक्रम-सवत् को चलानेवाले नए नए नाम खोजने का प्रयत्न अब जारी हुआ। यशोधर्मन्, हर्षवर्धन, चन्द्रगुप्त द्वितीय, अग्निमित्र, और गौतमीपुत्र शातकर्णि इत्यादि को नाना प्रकार के प्रमाणों के आधार पर विक्रमादित्य वताने का प्रयत्न किया गया है। और पाश्चात्य एवं पूर्वीय विद्वानो का अधिक मत चन्द्रगुप्त द्वितीय के पक्ष मे ही है। परन्तु यह कहना कठिन है कि जो प्रमाण इस मत के पक्ष मे बताए जाते है वही अकाट्य और अन्तिम है।

हमारी राय मे भारत के प्राचीन इतिहास की सामग्री अब भी भूमि के नीचे दबी हुई पडी है और जव तक सिलसिलेवार प्रान्त-प्रान्त मे, उत्खनन नहीं होता तव तक प्राचीन इतिहास के विषय मे एक मत निश्चित कर लेना अत्यन्त कठिन है। मोहन-जो-दारो और हड़प्पा के उत्खनन के अनन्तर प्राचीन भारत के इतिहास के सम्बन्ध में जिस शीघ्रता से दृष्टि-

कोण बदला है वह किसी से छिपा नहीं है। सभव है उज्जयिनी में उत्खनन होने के अनन्तर हमें वह सामग्री उपलब्ध हो सके जिससे विक्रमादित्य-काल के विषय में वह सारे मत बदलने पडें जो आज प्रचलित किए जा रहे ह। यह कहना कठिन है कि जितनी मुद्रा, और जितने सिक्के उपलब्ध हो सकते थे वे सब उपलब्ध हो चुके। यह कहना और भी कठिन ह कि सारे ऐतिहासिक ताम्रपत्र, शिलालेख और हस्त लिखित पुस्तके जो आवश्यक ह इतिहासकारा के सम्मुख आ चुके ह।

इन परिस्थितिओ में विक्रमादित्य और विक्रम सम्बन्धी काल के विषय में पुरानी जनश्रुतियो को बिलकुल मिथ्या बतलाना समीचीन प्रतीत नही होता। इतिहासकार भले ही कहते रह कि 'ज्योतिर्विदाभरण' में बतलाए हुए नौ विद्वाना का एक काल में होना इतिहास से सिद्ध नही होता, परन्तु जब तक प्राचीन इतिहास की सारी सामग्री को ऊपर लाने का प्रयत्न नही होगा तब तक अपर्याप्त सामग्री के आधार पर इतिहासकारा के कथन से लोकमत सन्तुष्ट नही हो सकता।

'ज्योतिर्विदाभरण' पर भी कहा कही भ्रान्तिपूर्ण आलोचनाएँ हुई ह परन्तु उसपर एक स्वतत्र लेख लिखना ही उपयुक्त होगा। यहाँ इतना लिखना पर्याप्त है कि 'ज्योतिर्विदाभरण' कभी भी लिखा गया हा उसके ग्रन्थकार का मिथ्या लिखने की आवश्यकता नही थी। कम से कम, इतना मानना उपयुक्त होगा कि जैसी जनश्रुति ग्रथकार के काल में थी वसी ही उसने लिख दी।

वराहमिहिर की बृहत्-सहिता के अग्रेजी अनुवाद की भूमिका में स्वय प्रोफेसर कन महोदय ने ही सवत् १०१५ (९४८ ई०) के बुद्धगया में प्राप्त उस शिलालेख का उल्लेख किया ह जिसमें विक्रमादित्य के "नवरत्नानि" में से प्रसिद्ध पडित अमरदेव की प्रशसा की गई ह। यह अमरदेव कोषकार अमरसिंह ही ह ऐसा विद्वाना का मत ह। कम से कम इतना सत्य ह कि आज से एक हजार वर्ष पूर्व विक्रम के नवरत्ना का अस्तित्व माना जाता था।

(१) कालिदास—नवरत्ना में कालिदास की प्रसिद्धि बहुत हो चुकी ह। उनके विषय में कई पुस्तक प्रकाशित हो चुकी ह। इस ग्रथ में भी विद्वत्तापूर्ण कई स्वतत्र लेख छप रहे ह। इसलिए उनके विषय में यहाँ कुछ लिखना अनावश्यक ह। अन्य आठ रत्ना के विषय में जो सामग्री मिली ह उसके सकलन का प्रयत्न आगे किया गया है। पाश्चात्य और पूर्वीय विद्वाना के विचार भी यथातथ्य बतलाए गए ह।

(२) क्षपणक—'क्षपणक' प्राचीन काल में जन साधु को कहते थे। मुद्राराक्षस मे 'क्षपणक' के भेष में जासूस का रहना बताया गया है। शकर दिग्विजय में उज्जयिनी में शकर का शास्त्रार्थ किसी क्षपणक से होना लिखा ह।

विक्रमादित्य के काल म जन पडिता में केवल श्रीसिद्धसेन दिवाकर का अस्तित्व माना जाता है। जन ग्रथा मे विक्रम के ऊपर उनका अत्यधिक प्रभाव भी बताया गया ह। जन आगम ग्रथा का सस्कृत भाषा में लिखने का प्रयत्न भी सिद्धसेन दिवाकर ने किया था ऐसा भी प्रसिद्ध ह। इन कारणा से श्रीसिद्धसेन दिवाकर को ही क्षपणक बताया जाता ह।

'ज्योतिर्विदाभरण' के एक दूसरे श्लोक में विक्रमकालीन वज्ञानिका के नाम लिखे हे जिनमें वराहमिहिर, सत्यश्रुतसेन, बादरायण, मणित्थ और कुमारसिंह के नाम आते ह। टीकाकारा ने सिद्धसेन दिवाकर का दूसरा नाम श्रुतसेन बतलाया ह।

सिद्धसेन ज्योतिष में और तत्र म भी पारगत थे और सम्भव है वे विक्रम के नवरत्ना में रहे हा। परन्तु जो प्रमाण लिखे गए हैं वे अकाट्य नही ह। जन साधु का एक ही स्थान पर रहना अधिक उपयुक्त नही जँचता। सम्भव ह क्षपणक कोई अन्य नय्यायिक हो।

(३ ४) शकु और वेतालभट वास्तव में क्षपणक, शकु और वेतालभट्ट के जीवन के सम्बन्ध म अभी तक कोई प्रकाश नही पडा ह। शकु का नाम 'ज्योतिर्विदाभरण' के ८ वें श्लोक में भी पाया जाता ह यथा —

"शकु सुवाग्वररुचिमणिरंगुदत्तो, जिष्णु स्त्रिलोचनहरीघटकर्पराख्य।
अन्येऽपि सन्ति कवयोऽमरसिंहपूर्वा यस्यव विक्रमनृपस्य सभासदोऽमी॥"

(अर्थात् विक्रम की सभा में ९ सभासद थे —(१) शकु (२) वररुचि (३) मणि (४) अगुदत्त (५) जिष्णु (६) त्रिलोचन (७) हरि (८) घटखपर और (९) अमरसिंह।)

इससे शकु का एक प्रसिद्ध विद्वान तो होना सिद्ध होता है।

एक प्राचीन श्लोक ऐसा भी वताया जाता है जिसमे लिखा है कि शवर स्वामी ने ४ वर्णो की स्त्रियो से विवाह किया था। ब्राह्मण स्त्री से वराहमिहिर ने जन्म लिया। क्षत्रिय स्त्री से भर्तृहरि और विक्रमादित्य ने जन्म लिया। वैश्य स्त्री से हरिश्चन्द्र और शंकु ने जन्म लिया और शूद्र स्त्री से अमरसिंह ने जन्म लिया।

इस श्लोक का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि 'सावर भाष्य' के कर्ता श्री शवर स्वामी ने चार वर्णों के शिष्यों को विद्या प्रदान की थी। और शकु एक वैश्य थे और विक्रम के गुरुभाई रहे होंगे। कोई कोई इनको मन्त्रवादिन् और कोई कोई इनको प्रसिद्ध रसाचार्य शंकु वतलाने का प्रयत्न कर रहे है। कई किंवदन्तियो मे इनको स्त्री भी वतलाया है। कोई इनको ज्योतिषी भी वतलाते है।

शकु से भी कम परिचय वेतालभट्ट का मिलता है। प्राचीनकाल मे 'भट्ट' या 'भट्टारक' पंडितों की भी एक वड़ी उपाधि हुआ करती थी। सम्भव है यह भी एक वड़े पंडित हो। और यह भी सम्भव है कि "वेताल पचविंशतिका" सरीखे कथाओं के यह ही ग्रंथकर्त्ता रहे हों। उज्जयिनी के महाकाल-स्मशान से इनका सम्वन्ध बताया जाता है। कथा यह है कि रोहणगिरि से विक्रम अग्निवेताल को जीतकर लाए थे और अग्निवेताल से उनको अद्‌भुत एवं अदृश्य सहायता मिलती रही। सम्भव है साहित्यिक होते हुए भी भूत, प्रेत, पिशाच साधना मे यह पारंगत रहे हों। यह भी सम्भव है कि आग्नेय अस्त्र एवं विद्युत् शक्ति मे यह पारंगत हो और विक्रमादित्य के राज्य मे कापालिक या तान्त्रिकों के प्रतिनिधि रहे हो और इनकी साधना-शक्ति से राज्य को लाभ होता रहा हो।

(५) **अमरसिंह**—राजशेखर की काव्यमीमांसा के अनुसार अमर ने उज्जयिनी (विशाला) मे शिक्षा प्राप्त करके काव्यकार की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। सवसे पहिला संस्कृत कोष जो प्राप्त है अमरसिंह का "नामलिंगानुशासन" है जो अव अमरकोष के नाम से प्रसिद्ध है। अमरकोष मे कालिदास का नाम आता है। मंगलाचरण मे वुद्धदेव की प्रार्थना है और कोप में वौद्ध शव्द और विशेपकर महायान सम्प्रदाय के शव्द भी वहुत पाए जाते है, जिनसे वौद्धकाल और कालिदास के वाद मे अमरकोप का लिखा जाना प्रतीत होता है।

जिनेन्द्र वुद्धि ने सन् ७०० ई० मे 'न्यास' लिखा है। अमरकोष उसके वहुत पहिले का होगा। क्योकि उसमे अमर का नाम श्रद्धा से लिया गया है। अमरकोप पर वहुत से आचार्यों ने टीका लिखी है। ग्यारहवी सदी मे क्षीरस्वामी की टीका वहुत ही प्रसिद्ध है। वंद्यघाटीय सर्वानन्द ने ११५९ मे और रायमुकुट ने १४३१ ई० मे अमरकोष पर टीका लिखी है जिनसे पता चलता है कि सन्त मेधावी १६ आचार्य इनके पहिले टीका लिख चुके थे। संस्कृत कोष-ग्रंथो में इतनी टीकाएँ किसी पर भी नही लिखी गई है।

(६) **घटकर्पर**—शंकु और घटकर्पर के नाम 'ज्योतिर्विदाभरण' मे दो वार आए है और घटकर्पर का भी विद्वान पडित होना निश्चित ही है। इनके नाम 'घटकर्पर' और 'घटखर्पर' दोनों ही पाए जाते है।

सम्भव है इन्होने वहुत से ग्रंथ लिखे हों परन्तु इस समय इनके नाम का एक ही काव्य वताया जाता है जो २२ श्लोकों में है। कालिदास के मेघदूत की तरह इसमे एक विरहिणी नवयुवती अपने परदेशस्थ पति को मेघो द्वारा सम्वाद भेजती है। इस काव्य मे यमकालंकार की भरमार है। कवि ने यहाँ तक कहा है कि अनुप्रास, यमक और शाब्दिक चमत्कार की प्रतियोगिता मे दूसरा कवि उसके वरावर नही हो सकता। अगर कोई हो तो टूटे घडे मे पानी उसके यहाँ पहुँचाने को तैयार हैं। "तस्मै वहेयमुदकं घट-कर्परेण"। काव्य साधारण श्रेणी का ही है परन्तु प्रतिभा अवश्य है।

वड़े वड़े दिग्गज विद्वानों ने इसपर टीकाएँ लिखी है जिनमे अभिनवगुप्त, शान्तिसूरि, भरतमल्लिका, शंकर, रामपति-मिश्र, गोविन्द, कुशलकवि, कमलाकर, ताराचन्द, और वैद्यनाथदेव की टीकाएँ प्रसिद्ध है। कई विद्वानो का मत है कि यह काव्य कालिदास का ही लिखा हुआ है और यह उनके प्रारंभिक काल की रचना है। मेघों द्वारा प्रेमिका ने दूरस्थ पति को सन्देश भेजने का २२ श्लोकों का यह दूत-काव्य उस महाकाव्य का प्रवर्तक है जो परिपक्वावस्था मे कालिदास ने

श्री विक्रम के नवरत्न

मन्दाक्रान्ता छद और अत्यन्त कोमलकान्तपदावलि में 'मेघदूत' के नाम से लिखा था। अभिनवगुप्त ने टीका म लिखा है "अत्र कर्ता महाकवि कालिदास इत्यनु श्रुतमस्माभि "। कमलाकर और ताराचन्द्र और अन्य टीकाकारा ने भी इसी बात को सही माना है। परन्तु गोविन्द एव वैद्यनाथ देव घटखपर कवि को स्वतत्र मानते ह।

दूसरा मत यही ह कि 'घटखपर' काव्य से ही 'कालिदास' के 'मेघदूत' काव्य को प्रोत्साहन मिला ह और 'घटखपर' स्वतत्र कवि था। रघुवश, कुमारसम्भव, मेघदूत और ऋतुसहार के श्लोको म घटखपर के विचार साम्य दृष्टिगोचर होते ह। 'घटखपर' का एक दूसरा छोटा काव्य 'नीतिसार' भी बताया जाता है।

'घटकर्पर' या 'घटखपर' नाम अवश्य ही विचित्र प्रतीत होता ह। घटकपर काव्य का अन्तिम श्लोक है —

"भावानुरक्तवनितासुरत शपेयमालभ्य चाम्बु तृषित करकोशपेयम्।
जीवेय येन कविना यमकै परेण, तस्म वहेयमुदक घटकपरेण॥"

काव्य के अन्तिम शब्द "घटकपरेण" से ही काव्य का नामकरण 'घटकपर' हुआ और फिर कवि का नाम भी 'घटकपर' होकर वह विक्रम के नव रत्ना म बताया गया, ऐसा कई विद्वाना का मत है। यह मत सही मान लेना उचित न होगा। यह सम्भव है कि इसी बहाने कवि ने अपना नाम काव्य के अन्त म रखा हो।

जो कुछ भी हो 'घटखपर' नाम अत्यन्त विलक्षण है। सम्भव ह कि इनका नाम कुछ और हो, परन्तु इसी नाम से प्रसिद्धि पाई हो। सम्भव है यह नामकरण भी कुछ विशेष कारणवश किया गया हो।

विक्रम के इतने भारी साम्राज्य का शासन यह नौ कोरे पडित और कवि ही किया करते थे ऐसा सही नही हो सकता। वास्तव म नवग्रहो के आधार पर ही नवरत्नो की सृष्टि की गई होगी। विक्रम-आदित्य के साथ (नवग्रह की भाँति) नव-रत्न होना समीचीन है। एक एक रत्न के पास एक एक शासन विभाग होने की कल्पना अनुचित न होगी।

धन्वन्तरि के पास स्वास्थ्य विभाग, वररुचि के पास शिक्षा विभाग, कालिदास के पास सगीत, काव्य और कला विभाग, क्षपणक के पास न्याय, अग्निवेताल के पास सेना व तात्रिक कापालिक और विद्युत् शक्ति विभाग होने की कल्पना की जा सकती है।

हमारा प्राचीन आदर्श महान् था। एक विषय में पारगत होते हुए भी मन, वाणी और शरीर की शुद्धता के लिए अन्य विषयो पर भी वही विशेषज्ञ ग्रन्थ लिखा करते थे। जो महर्षि पतञ्जलि को महाभाष्यकार ही समझते ह वह भूल करते ह। उन्होने व्याकरण, योग और वैद्यक तीनो पर अलग अलग प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे थे। राजा भोज की 'न्यायवार्तिका' म पतञ्जलि के प्रति श्रद्धाञ्जलि का निम्न लिखित श्लोक हमारे प्राचीन भारत के आदर्शो का सूचक है —

"योगेन चित्तस्य, पदेन वाचा, मल शरीरस्य तु वद्यकेन।
योऽपाकरोत् त प्रवर मुनीना, पतञ्जलि प्राञ्जलि रानतोऽस्मि॥"

(मुनियो म श्रेष्ठ उन पतञ्जलि को वन्दना करता हूँ जिन्होने (१) महाभाष्य के द्वारा वाणी की अशुद्धता मिटाई, (२) योगसूत्र लिखकर चित्त की अशुद्धता मिटाई, और (३) वैद्यक ग्रन्थ लिखकर शरीर का मल हटाया।)

सम्भव ह शकु और घटखपर भी विद्वान और कवि होते हुए भी किसी विषय म विशेषज्ञ होगे और शासन का कोई विभाग इनके पास रहा होगा। विक्रमादित्य का काल महायान तत्र का काल था जिसने व्याडि और नागार्जुन सरीखे प्रसिद्ध वज्रानिको को जन्म दिया था। मध्यभारत और उज्जयिनी म महायान तत्र का बहुत प्रचार रहा था ऐसा कुब्जिका तत्र म पाया जाता है। दरबार पुस्तकालय नेपाल में जो पुस्तक सुरक्षित ह वह प्रति छठवीं शताब्दी की ह उसमें यह श्लोक मिलता ह —

"दक्षिणे देवयानो तु पितृयानस्तयोत्तरे। मध्यमे तु महायान शिवसज्ञा प्रजोयते॥"

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी

इस काल मे शैव और बौद्ध तंत्रो का सम्मिलन हो रहा था और देश के लिए नवीन आविष्कार किए जा रहे थे। शिव को "पारद" (पारा-Mercury) का जन्मदाता बताकर "षडगुण बल जारित" पारद से ताम्र का सुवर्ण बनाए जाने की रीति निकाली गई थी। योगीश्वर शिव के नाम पर देश की आर्थिक अवस्था मे सुधार किया जा रहा था। 'पारद के आधार पर वायुयान वायु मे उडने लगे थे, ताम्र का सोना बनने लगा था और भारत की साम्पत्तिक अवस्था नवीन आविष्कारो के सहारे दिन पर दिन उन्नति करने लगी थी। और पारद एव जसद (zinc) का उन दिनों बोलवाला था महाकालतंत्र, कुब्जिकातंत्र, रुद्रयामलतत्र व अन्य तात्रिक ग्रन्थों मे इन्ही दोनो की महिमा पाई जाती थी।

रुद्रयामल तंत्र मे धातुमञ्जरी मे जसद के पर्य्यायवाची शब्द निम्न लिखित बताए गए है:—

जासत्वं च जरातीतं राजतं यशदायकम्। रुप्यभ्राता, वरीयश्च, त्रोटकं, कोमलं लघुम्।।
चर्मकं, खर्परं, चैव, रसकं, रसवर्द्धकम्। सदापथ्यं, बलोपेतं, पीतरागं सुभस्मकम्।।

(यानी जस्ता के पर्यायवाची शब्द जासत्व, यशद, यरुदायक, रुप्यभ्राता, चर्मक, खर्पर, और रसक थे।)

'जसद' यशदायक का अपभ्रंश है और 'यशदायक' (जसद) शब्द मे ही जसद की प्रशंसा निहित है। उन दिनों यह नवीन आविष्कार देश की अमूल्य सम्पत्ति हो रहा था। इसी का पर्यायवाची शब्द 'खरपर' भी था।

उस समय के वैज्ञानिक आविष्कारो को देखकर, स्वतत्र साम्राज्य स्थापित करनेवाले सम्राट् विक्रमादित्य' ने आविष्कारो का विभाग अलग स्थापित करके एक विशेषज्ञ को सौप दिया हो तो आश्चर्य की बात तो नही हो सकती। और किसी कारणवश उस विशेषज्ञ का नाम ही 'घटखर्पर' पड़ गया हो तो भी आश्चर्य नही। घड़े मे जसद रखनेवाले को 'घटखरपर' कहते होंगे, ऐसा हमारा मत है। इस विषय मे प्रमाण का अवश्य अभाव है।

वास्तव मे विक्रमकालीन भारतीय अवस्था का अधिक हाल तात्रिक ग्रन्थो मे मिल सकता है। उज्जयिनी और महाकाल का अधिक सम्बन्ध तात्रिकों और कापालिको और तत्र-ग्रन्थो से रहा है और इसीलिए जब तक तंत्र-ग्रन्थों के आधार पर अनुसन्धान न हो तब तक घटखर्पर, शंकु और वेतालभट्ट सम्बन्धी पहेलियाँ आसानी से सुलझ नही सकती।

(७) वररुचि—राजशखर ने लिखा है कि वररुचि शास्त्रकार की परीक्षा मे पाटलिपुत्र मे उत्तीर्ण हुए थे। कथासरित्सागर के अनुसार वररुचि का दूसरा नाम कात्यायन था। वह शिवजी के पुष्पदन्त नामक गण के अवतार थे। शिवजी के शाप से कौशाम्वी मे एक ब्राह्मण कुल मे जन्म लिया और पाँच वर्ष की अवस्था मे ही पितृहीन हो गए थे। प्रारंभ से ही श्रुतधर थे। एक बार अकस्मात् व्याडि और इन्द्रदत्त दो विद्वान इनके घर आए और कौतुकवशात् व्याडि ने प्रातिशाखा का पाठ किया जिसको वररुचि ने वैसे-का-वैसा ही दुहरा दिया। इसपर व्याडि और इन्द्रदत्त इनको पाटलिपुत्र ले गए। वहाँ वर्ष और उपवर्ष शिक्षा प्राप्त की। वही पाणिनि पढ़ रहे थे जिनको पहिले शास्त्रार्थ मे परास्त किया। तदनन्तर स्वय परास्त हुए। उपकोशा से व्याह होने पर महाराजा नन्द के मंत्री हुए। महाराज नन्द की मृत्यु के अनन्तर वन मे चले गए और काणभूति को कथा सुनाकर शाप से मुक्ति पाई। कुमारलाट के 'सूत्रालंकार' से इनम से कई बातो का समर्थन होता है।

जिनप्रभसूरि-विरचित 'विविधतीर्थकल्प' मे लिखा है कि सिद्धसेन दिवाकर की सम्मति से महाराज विक्रमादित्य की शासन-पट्टिका लिखी गई थी जिसको उज्जयिनी नगरी मे संवत् १, चैत्र सुदी २, गुरुवार को "भाटदेशीय महाक्षपटलिक परमार्हत-श्वेतांबरोपासक-ब्राह्मण गौतमसुत कात्यायन ने लिखा था।" जिनप्रभसूरि का सुल्तान मुहम्मद तुगलक के राज्य मे बड़ा मान था और कहा जाता है यह शासन-पट्टिका उन्होंने स्वय देखी थी। यदि यही कात्यायन वररुचि भी कहलाते थे तो ज्योतिर्विदाभरण के इस लेख की पुष्टि होती है कि महाराज विक्रम के नवरत्नों मे वररुचि भी थे।

कात्यायन के कोषग्रन्थों मे 'नाममाला' का नाम लिया जाता है। पाणिनि के व्याकरण पर कात्यायन की वार्त्तिकाएँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। पातञ्जलि के महाभाष्य मे कात्यायन की वार्त्तिका के १२४५ सूत्र सुरक्षित है और बहुतसी कारिकाएँ भी मिलती हैं। पातञ्जलि ने 'वररुचि काव्य' का भी अस्तित्व बतलाया है। कातंत्र व्याकरण का चतुर्थ भाग, प्राकृत-

प्रकाण, लिंगानुशासन, पुष्पसूत्र और वररुचि संग्रह भी कात्यायन के बताए जाते हैं। धर्मशास्त्र, श्रौतसूत्र, और यजुर्वेद प्रतिशाख्य भी कात्यायन के बताए जाते हैं। वेबर के अनुसार कात्यायन का समय २५ वर्ष ईसा के पूर्व है। गोल्डस्टकर का द्वितीय शताब्दी के प्रथम भाग में, और मैक्समूलर का चतुर्थ शताब्दी के द्वितीय भाग में अनुमान है।

श्रीमेरुतुंगाचार्य कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में लिखा है कि वररुचि उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की लड़की 'प्रियगुमञ्जरी' को पढ़ाते थे। एक बार कन्या ने गुरु के साथ हास्य किया। क्रोध में आकर वररुचि ने शाप दिया कि "तू गुरु का उपहास कर रही है तुझे पशुपाल पति मिले"। कन्या ने कहा कि जो आदमी आपका गुरु होगा उसीसे ब्याह करूँगी।

एक दिन वररुचि जंगल में घूमते घूमते थक गए थे। पानी नहीं मिला। एक पशुपाल से पानी माँगा। पानी नहीं था। उसने कहा भैंस का दूध पीलो और भैंस के नीचे बैठकर "करचण्डी" करने को कहा। वररुचि ने किसी भी कोष में 'करचण्डी' शब्द नहीं पढ़ा था। पूछने पर पशुपाल ने दोनों हथेलियों को जोड़कर 'करचण्डी' नामक मुद्रा बताकर भैंस का दूध पिलाया। एक विशेष शब्द बताने के कारण वररुचि ने इस पशुपाल को अपना गुरु माना। राज-प्रासाद में फिर ले आकर राजकन्या का पाणिग्रहण कराया। वह पशुपाल कालिका जी की आराधना करने लगा और कालिका के प्रत्यक्ष दर्शन होने पर उसे विद्या प्राप्ति हुई और उसका नाम कालिदास हुआ। उसने कुमारसंभव प्रभृति ग्रन्थ लिखे। उक्त जैन ग्रन्थ के अनुसार विक्रम, वररुचि और कालिदास समकालीन थे।

पं० भगवद्दत्तजी ने अपने 'भारत के इतिहास' में आचार्य वररुचि को विक्रमादित्य का समकालीन होना सिद्ध किया है। उन्होंने प्रमाण भी दिए हैं जिनमें से कुछ यहाँ उद्धृत किए जाते हैं —

(१) वररुचि ने अपने आर्याछन्दोबद्ध एक ग्रन्थ के अन्त में लिखा है —

"इतिश्रीमदखिलवाग्विलासमण्डितसरस्वती-कण्ठाभरण-अनेक विशारण श्रीनरपतिसेवितविक्रमादित्यकिरीटकोटि निघृष्ट-चरणारविन्द आचार्य-वररुचि-विरचितो लिंग विशेष विधि समाप्त ॥"

अर्थात् आचार्य वररुचि महाप्रतापी विक्रम का पुरोहित था।

(२) आचार्य वररुचि अमरसिंह के पूर्वज अथवा समकालीन थे। अमर लिखता है —

"समाहृत्यान्य तन्त्राणि, सक्षिप्र प्रति संस्कृत ॥"

इसपर टीकासर्वस्वकार लिखता है —**व्याडि-वररुचि प्रभृतीनां तन्त्राणि समाहृत्य ॥**

(३) वररुचि के अनेक ग्रन्थ अब भी मिलते हैं। 'वाररुचनिरुक्त समुच्चय' ग्रन्थ स्कन्दस्वामी (सन् ६३०) से बहुत पहिले का है।

(४) धोयी अपरनाम श्रुतिधर जो राजा लक्ष्मणसेन का सभा पण्डित (वि सं ११७३) था लिखता है —

ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्य गोष्ठी—

विद्याभर्तुं खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम् ॥ (सदुक्तिकर्णामृत, पृष्ठ २९७)

(श्रुतिधर ने लक्ष्मणसेन की सभा में वही प्रतिष्ठा प्राप्त की, जोकि विक्रमादित्य की सभा में वररुचि ने की थी।)

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि महाप्रतापी विक्रमादित्य का वररुचि से अवश्य सम्बन्ध था।

(८) धन्वन्तरि—धन्वन्तरि काशी के राजा दिवोदास बताए जाते हैं। सम्भव है जब महाराजों पर विजय पाकर विक्रमादित्य सम्राट हुए हों तब काशीराज उनकी राजधानी उज्जैन में बुलाए जाकर सम्राट् की अन्तरंग सभा के सदस्य हुए हों। यह भी सम्भव है कि आयुर्वेद के प्रचार करने के हेतु, राजपाट अपने पुत्र को देकर काशीराज दिवोदास वृद्धावस्था में केवल वैद्यक शिक्षा प्रसार हेतु उज्जयिनी में बस गए हों।
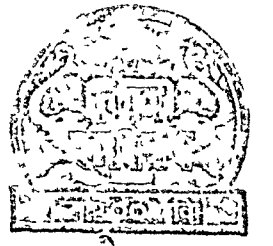
श्री वृजकिशोर चतुर्वेदो

ज्योतिर्विदाभरण मे वताए गए नवरत्नो की कथा कपोल-कल्पना मात्र है, यह मान लेना ठीक नही है। यदि प्रसिद्ध विद्वानों के नामो को एकत्र करके नौ विद्वानों की सभा की कल्पना ही समीचीन थी तो ज्योतिर्विदाभरण का रचनाकार अन्य विद्वान्——पाणिनि, पतञ्जलि, भास और अश्वघोष का भी नाम ले सकते थे। परन्तु वे नाम न लेकर साधारण व्यक्ति घटखर्पर, शंकु, क्षपणक, वेतालभट्ट के नाम नवरत्नो में गिनाए गए है, जो अगर कल्पना ही है, तो अवश्य एक निम्न कल्पना का परिचय दिया है। वास्तव मे, प्रतीत यह होता है कि ग्रन्थकार ने कल्पना को काम मे न लेकर वस्तुस्थिति का सही वर्णन किया है।

सुश्रुत संहिता मे धन्वन्तरि, दिवोदास और काशीराज एक ही व्यक्ति के नाम हैं। परन्तु विष्णुपुराण के अनुसार पुरूरवा के वंश मे काशीराज के पोते धन्वन्तरि थे और धन्वन्तरि के पोते दिवोदास हुए थे। हरिवंश पुराण मे लिखा है कि 'काश्य' के पडपोते धन्वन्तरि और धन्वन्तरि के पडपोते दिवोदास थे। सम्भव है यह तीनों ही बडे भारी वैद्य हुए हो, और एक कोई विक्रमादित्य के समकालीन और नवरत्न रहे हो। स्कन्द, गरुड और मार्कण्डेय पुराणो मे धन्वन्तरि को त्रेतायुग मे होना बताया है। धन्वन्तरि की माता का नाम वीरभद्रा था और वह जाति की वैश्य थी। गालव मुनि के प्रभाव से ऋपियो ने कुशो की एक मूर्ति वनाई और वीरभद्रा की गोदी मे फेकदी और वैदिक मंत्रो के वल से उस मूर्ति मे जीवन-सञ्चार किया गया। इसलिए वह वैद्य कहलाए। विष्णुपुराण मे समुद्रमन्थन की कथा मे समुद्र से निकले रत्नों मे धन्वन्तरि का आना वताया गया है। इस तरह एक ही पुराण मे धन्वन्तरि के विपय मे दो कथाएँ है।

धन्वन्तरि ने अश्विनीकुमार की तीन कन्याएँ (१) सिद्ध विद्या (२) साध्य विद्या (३) और कष्टसाध्य विद्या इनको व्याह लिया। और उनके सेन, दास, गुप्त, दत्त इत्यादि १४ पुत्र हुए। सम्भव है यह कथा केवल विद्या प्राप्ति की कथा ही हो। सुश्रुत के अतिरिक्त उनके १०० शिष्य प्रसिद्ध हैं। 'भारतीय औषधि के इतिहास' मे डाक्टर गिरीन्द्रनाथ मुकर्जी ने धन्वन्तरि प्रणीत दस ग्रन्थ वताए है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार धन्वन्तरि ने चिकित्सा-तत्व-विज्ञान, दिवोदास ने चिकित्सादर्शन, और काशीराज ने चिकित्सा कौमुदी निर्मित की। इसके अनन्तर धन्वन्तरि ने (१) अजीर्णामृतमञ्जरी (२) रोग निदान (३) वैद्य-चिन्तामणि (४) विद्याप्रकाश चिकित्सा (५) धन्वन्तरि निघंटु (६) वैद्यक भास्करोदय (७) चिकित्सा सारसग्रह और निर्मित किए। भारतीय आयुर्वेद पद्धति मे धन्वन्तरि आदि गुरु है।

(९) **आचार्य वराहमिहिर**——वराहमिहिर का काल ५५० ई० वताया जाता है। उनकी मृत्यु ईसवी सन् ५८७ ई० मे वताई जाती है। वास्तव मे वराहमिहिर के वृहत् सहिता मे दिए गए शकाब्द के हिसाव से विद्वानो ने यह सिद्ध किया है कि कालिदास और वराहमिहिर साथ साथ नही हो सकते थे।

वराहमिहिर ने अपना जन्म-सवत् कही नहीं लिखा। अपना जन्म-स्थान और वश-परिचय अवश्य दिया है। वृहज्जातक के उपसंहार मे उन्होंने लिखा है कि अवन्ती के पास कपित्त्य नामके ग्राम मे आदित्यदास के घर मे उन्होने जन्म लिया। कपित्त्थ (वर्तमान कायथा) उज्जैन से ११-१२ मील पर उज्जैन-मक्सी-रोड-पर है और रियासत इन्दौर के अन्तर्गत है। श्लोक यह है :——

> आदित्यदास तनयस्तवाप्त बोधः कापित्थके सवितृलब्धवरप्रसादः।
>
> आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग् होरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार॥

शंकर वालकृष्ण दीक्षित के "भारतीय ज्योतिप शास्त्राचा इतिहास" के अनुसार वराहमिहिर ने वृहत्-सहिता शक सं० ४२७ मे लिखी है। श्री० एस० नारायण एय्यंगर ने स्वर्गीय प्रोफेसर सूर्यनारायण राव के मत का खण्डन करते हुए लिखा था कि ४२७ शालिवाहन शक न होकर विक्रम संवत् है। एक के मत के अनुसार वराहमिहिर विक्रम संवत् ४२७ में व दूसरे के मत के अनुसार विक्रम संवत् ५६२ मे हुए थे। हमारी राय मे यह भी सम्भव है कि जो वर्प वराहमिहिर ने

लिखे है वह विक्रम या शालिवाहन के न होकर कोई दूसरे ही संवत् के हों। इसलिए जबतक बृहत्-संहिता के रचनाकाल के विषय में दूसरा प्रमाण न मिले, तब तक, कोई निश्चित सम्मति प्रकट करना उचित नहीं होगा। यवनराज स्फुजिध्वज ने एक पुरातन शकाब्द का उल्लेख किया था।

'ज्योतिर्विदाभरण' को श्रीयुत दीक्षितजी ने इसलिए जाली बताया है कि उसमें अयनांश निकालने की विधि दी गई है और वह भी वराहमिहिर के अनुसार। परन्तु क्या यह सम्भव नहीं है कि ग्रन्थ कालिदास ने ही लिखा हो परन्तु ग्रन्थ के आदि, मध्य, और अन्त में समय समय पर क्षेपक बढते चले गए हों। जब तक 'ज्योतिर्विदाभरण' की मूल प्रति न मिले तब तक ग्रन्थ के विषय में और उसके अनुसार 'विक्रम के नवरत्नों' के विषय में यह कहना कठिन है कि यह कपोल कल्पना है।

वैज्ञानिकों में वराहमिहिर और आर्यभट्ट सरीखे प्रखर विद्वानों ने प्राचीन काल में भारत के नाम को उज्ज्वल किया है। वराहमिहिर के पिता आदित्यदास भी बहुत बड़े गणितज्ञ और ज्योतिषी थे और वराहमिहिर के पुत्र पृथुयशस भी विद्वान हुए हैं। पृथुयशस की 'षट्पञ्चाशिका' की टीका भी वराहमिहिर के टीकाकार महोत्पल ही ने की है। वराहमिहिर की बृहत्-संहिता, समास-संहिता, बृहज्जातक, लघुजातक, पंचसिद्धान्तिका, विवाहपटल, योगयात्रा, बृहत्यात्रा और लघुयात्रा प्रसिद्ध हैं।

पंचसिद्धान्तिका के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों की टीका दिग्गज विद्वान भट्टोत्पल ने की है। पंचसिद्धान्तिका में वराहमिहिर ने लाटाचार्य, सिंहाचार्य, आर्यभट्ट, प्रद्युम्न और विजयनन्दी के मतों को उद्धृत किया है जो उनके पूर्ववर्ती विद्वान थे और जिनके नाम आज वराह के कारण ही सुरक्षित हैं। पैतामह, गार्ग, ब्रह्म, सूर्य, और पौलिश सिद्धान्तों को भी वराहमिहिर ने ही सुरक्षित रखा है। वराहमिहिर की विद्या और उनका अगाध ज्ञान देखकर यह विचार होता है कि अवश्य ही उन्होंने देश-पर्यटन के साथ विदेशगमन भी किया था। यूनानी ज्योतिषियों के प्रति वराहमिहिर के बड़े सम्मान और आदर के भाव हैं ऐसा बृहत् संहिता में इस श्लोक को वराहमिहिर के उद्धृत करने से पता चलता है —

> म्लेच्छाहि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम।
> ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्द्विज ॥

यवन (Ionians or Greeks) वास्तव में म्लेच्छ हैं परन्तु शास्त्र में पारंगत होने से वे ऋषियों के समान पूजित हैं फिर शास्त्र पारंगत द्विज तो देवता सरीखा पूजा का पात्र है।

डाक्टर ए० बैरीडेल कीथ ने लिखा है कि वराहमिहिर कोरे गणितज्ञ, ज्योतिषी या वैज्ञानिक ही हों यह बात नहीं है, उनकी भाषा इतनी प्राञ्जल और कविता इतनी रसिकता और माधुर्य लिए हुए है कि बड़े बड़े कवियों की उपस्थिति में उनका स्थान बहुत ऊँचा रहेगा। पाठकों के मनोरञ्जनार्थ सप्तर्षियों की स्थिति पर वराहमिहिर की बृहत्-संहिता का निम्नांश हम यहाँ उद्धृत करते हैं जिससे पता चलेगा कि साहित्य और विज्ञान का कितना सुन्दर सम्मिश्रण किया गया है। बृहत्-संहिता में लिखा है —

'जिस प्रकार रूपवती रमणी गूंथे हुए मोतियों की माला और सुन्दर रीति से पिरोए हुए श्वेत कमलों के हार से अलंकृत होती है उसी प्रकार उत्तर प्रदेश इन तारकों से अलंकृत है। इस प्रकार अलंकृत, वे कुमारियों के सदृश हैं जो ध्रुव के पास उसी प्रकार नाचती और घूमती हैं जिस प्रकार ध्रुव उनको आज्ञा देता है। मैं प्राचीन और सनातन गर्ग के प्रमाण से कहता हूँ कि जब पृथ्वी पर युधिष्ठिर का राज्य था तो सप्तर्षि दसवें नक्षत्र मघा में थे और शककाल इसके २५२६ वर्ष उपरान्त है। सप्तर्षि प्रत्येक नक्षत्र में ६०० वर्ष रहते हैं और उत्तर पूर्व में उदय होते हैं। सात ऋषियों में से जो उस समय पूर्व का शासन करता है वह मरीचि है। उसके पश्चिम में वशिष्ठ है। फिर अंगिरस, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ के समीप सती अरुन्धती है।"
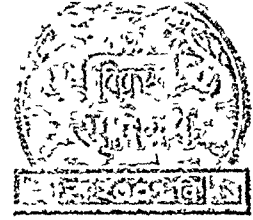
श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी

यह दिखलाने के लिए कि आर्य ज्योतिषी बहुत पहले से पृथ्वी की आकर्षण शक्ति (Law of Gravitation) मानते थे, अलबेरूनी ने 'वृहत्-संहिता' को उद्धृत किया है।

वराहमिहिर का भूगोल, खगोल, इन्द्रायुध, भूकम्प, उल्कापात, वायुधारण, दिग्दाह प्रवर्षण, रोहिणी योग, ऋतु-परिवर्तन, वर्ष मे धान्य और धान्य के मूल्य मे घटावढ़ी का ज्ञान अत्यन्त अगाध तो था ही और ज्योतिष गणित और फलित के वे पूर्ण पंडित भी थे। परन्तु अन्य विषयों का ज्ञान भी उनको वहुत था।

हीरा, पद्मराग, मोती और मरकत का बड़ा विशद वर्णन उन्होंने अपने रत्न-परीक्षा नामक अध्याय में दिया है। हीरा के क्रय विक्रय के नियम आजकल (Indian or Tavermies Rule or Rule of Square) के नाम से प्रसिद्ध हैं। शुक्र नीति मे बहुत पहिले लिखा गया था कि :—"यथा गुरुतरं वज्रं तन्मूल्यं रत्तिवर्गतः"। अर्थात् अगर एक वज्र (हीरा) वजन मे १ रत्ती है और उसका मूल्य 'क' है तो ४ रत्तीवाले हीरा का मूल्य '२ क' होगा।

गणितज्ञ होने के कारण वराहमिहिर ने इसे बहुत अच्छी तरह समझाया है। उनके समय में ८ सफेद तिल का १ तन्दुल और ४ तन्दुल का १ गुजा माना जाता था। वे कहते है कि "अगर २० तन्दुल भारी हीरा का मूल्य २ लाख रुपया होता है तो ५ तन्दुल वजनी हीरा ५०,००० रुपये का नही हो सकता, क्योकि यहाँ वर्ग-नियम लागू होगा और ५ तन्दुलवाले हीरा का मूल्य २ लाख का (२५×४) या १००वाँ हिस्सा=२००० रुपया ही होगा।"

इसी प्रकार मरकत, मोती और पद्मराग के मूल्य निर्धारित करने के नियम एवं उनके अच्छे चिह्न पहचानने के नियम दिए गए हैं। आजकल पीले हीरे भारत मे नहीं होते और दक्षिणी अफ्रीका से ही आते हैं; परन्तु वराहमिहिर के समय मे पीत हीरे भी यही पाए जाते थे। लाल, पीले, श्वेत और रंगहीन हीरों का वर्णन किया गया है :—"रक्तं, पीतं, सितं, शैरीषं"। इसके अनन्तर वृक्षायुर्वेद में वृक्षों के रोगों और औषधियों का वर्णन है। पशुओं मे गौ, अश्व, हाथी, कुक्कुट, कूर्म, छाग इत्यादि के लक्षण बताए हैं। कामसूत्र का भी सूक्ष्म विवरण है। वास्तुविद्या, प्रासाद-लक्षण, प्रतिमा-लक्षण और प्रतिमा-प्रतिष्ठापन पर अलग क्रियात्मक परिच्छेद है।

कई दवाइयाँ वज्रलेप के लिए बताई है जिसके लगाने से एक पत्थर दूसरे पत्थर से सहस्त्रों वर्षो को चिपक सकता है। इन लेपों का बौद्धकालीन मन्दिर और चैत्यों मे पर्याप्त उपयोग किया जाता था और इसीलिए वे मन्दिर भलीभाँति सुरक्षित है।

एक अध्याय शस्त्रपान पर है जिसमें यह बताया है कि हथियारो की धार पर शान किस तरह रखनी चाहिए जिससे थोड़े प्रयत्न से धार अत्यन्त तेज हो सके। एक अन्य अध्याय 'शिलादारण' पर है। चट्टानों को तोड़ने के लिए आजकल बारूद की आवश्यकता होती है परन्तु उस काल में कई औषधियो का क्वाथ बनाया जाता था जो कई चूर्णों के साथ चट्टानों पर छिड़का जाता था जिसके कारण चट्टान इतना गलने लगता है कि वह काटे-जाने योग्य हो जाता है। बृहत्-संहिता का ७६वाँ अध्याय गंधी और अत्तारों के कार्य से सम्बन्धित है। बकुल, उत्पल, चम्पक, प्रतिमुक्तक के गन्ध किस प्रकार बनाने चाहिए और किस अनुपात से क्या क्या वस्तु डालनी चाहिए इसका विशद विवेचन है। लोष्ठक प्रस्तार (Mathematical calculus) से सहस्त्रों प्रकार की सुगन्धियाँ बनाने की पूरी विधि लिखी गई है। यही कारण है कि उज्जयिनी की बनी सुगंधित वस्तुएँ, गन्ध, धूप एवं अनुलेपन की सामग्रियाँ बरोच होकर अलेकजेंड्रिया होती हुई उन दिनों ग्रीस और यूरोप पहुँचकर अत्यन्त प्रसिद्धि पा रही थी। क्रियात्मक रसायन (Applied chemistry) और देश की व्यापारिक अवस्था को सुधारने की इच्छा से लिखे हुए इस अध्याय का प्राचीन भारत के इतिहास मे कम महत्व नहीं है।

प्रकाश के मूर्च्छन एवं किरणविघट्टन (Reflection of light) का भी अच्छा विवरण बृहत्-संहिता में मिलता है। आजकल 'एटम' (atom) और एलक्ट्रन (electron) परमाणु देखने में सबसे छोटी वस्तु (the

minimum visible) मानी जाती है। वराहमिहिर के शिल्पशास्त्र में परमाणु तिरछी सूर्यकिरण की मोटाई को बताया गया है। परमाणु का हिसाब वराहमिहिर ने इस प्रकार बतलाया है —

८ परमाणु=१ रजस। ८ रजस=१ बालाग्र (बाल) ८ बालाग्र=१ लिक्ष। ८ लिक्ष=१ यूक।
८ यूक=१ यव। ८ यव=१ अंगुली। २४ अंगुली=१ हस्त।

आचार्य सर ब्रजेन्द्रनाथ सील ने लिखा है कि इस तरह पाँचवी शताब्दी में ही—जब ग्रीक गणित और विज्ञान अति साधारण था—एक हिन्दू वराहमिहिर ने एक तिरछी पतली सूर्यकिरण की मोटाई की कल्पना कर ली थी। वराहमिहिर का उन दिनों का एक परमाणु वर्तमान इंच का ३॥ लाखवाँ हिस्सा है। पाश्चात्य विज्ञान अभी तक इससे बहुत आगे नहीं जा सका।

वास्तव में आचार्य वराहमिहिर विद्वान, साहित्यिक कवि, वैज्ञानिक, ज्योतिषी एवं व्यापारिक रसायनज्ञ ही नहीं थे, वे उन महापुरुषों में थे जिनका नाम प्राचीन-भारत के निर्माताओं में सदा ही प्रमुख बना रहेगा। कोई भी सम्राट् उनको अपने नवरत्नों में स्थान देकर साम्राज्य को गौरवान्वित करने का प्रयत्न करता।

* कालिदास *

श्री गोपाल शरणसिंह

जहाँ हैं वाल्मीक कविश्रेष्ठ
जहाँ हैं मुनिवर वेदव्यास,
वहीं ऊँचा कर के निज शीश
खड़े हो तुम भी उनके पास;

सदा जो रहता है उत्फुल्ल
काव्य-सर के हो तुम जलजात,
विश्व की प्रतिभा के उत्कर्ष
हुए तुम कालिदास विख्यात!

तुम्हारे ग्रन्थों से सम्पन्न
हुआ है भारत का साहित्य,
दिया तुम ने जग को आलोक,
देश-नभ के बन कर आदित्य;

कहा था तुम ने "है हिमवान
मही का मानदण्ड अवदात",
किन्तु भारत-गौरव के आप
बन गये मानदण्ड तुम ख्यात!

खिली जो कलीं प्रेम-जल-सिक्त
कुसुम-कलिका-सी मृदु कमनीय,
छिन्न कोमल लतिका-सी आज
हुई वह शकुन्तला दयनीय;

खींच कर तुमने उसका चित्र
दिखाया अद्भुत योग-वियोग,
एक क्षण में अपार सुख-भोग
एक क्षण में अपार दुख-भोग!

किया सुरपति से पाकर दण्ड
यक्ष ने राम-शैल में वास,
नियति ने दया-भाव से खींच
तुम्हें पहुँचाया उस के पास;

विरहिणी पत्नी की कर याद
हो गया जब वह विकल विशेष,
बना कर वारिधरों को दूत
तुम्हीं ने भिजवाया सन्देश!

कालिदास

छुड़ाने को शंकर का ध्यान
चलाया स्मर ने उन पर बाण,
हुआ तब हर को रोष महान्
बचा सुर सके न उसके प्राण।

द्रवित होकर तुमने कविवर्य !
कराया रति से करुण विलाप,
मिला फिर उसको यह वरदान
मिटेगा तेरा यह सन्ताप।

किया तुमने रचकर 'रघुवंश'
प्रवर्धित रघु-कुल का सम्मान,
न भूला उसको निज कर्तव्य
आपदा भी जब पड़ी महान्;

प्राण संकट में थे अत्यन्त
हुए पर विचलित नहीं दलीप,
दिखा कर साहस शौर्य विचित्र
बन गये नरपति-वंश प्रदीप।

मिला जो जग में तुम को स्थान
देश को है उसका अभिमान,
तुम्हारी रचना का सम्मान
हमारे लिए हुआ वरदान,

हुए कितने ही कवि उत्पन्न
गये हैं बीत हजारों वर्ष,
किन्तु किञ्चित भी हुआ न क्षीण
तुम्हारी कविता का उत्कर्ष।

काव्य का जो प्रासादिक रूप
दिखाया तुम ने मनोभिराम,
कहाँ से लाकर भरी अनूप
छटा उस में स्वर्गीय ललाम ?

हृदय में करते शीघ्र प्रवेश
तुम्हारे उर के मृदु उद्गार,
बह रही है जग में सर्वत्र
तुम्हारी काव्य-सुधा की धार।

दिया तुमने पवित्र शृंगार
प्रेम से करके ओत प्रोत,
हो गई आर्द्र भरत की भूमि
बहाया तुमने करुणा-स्रोत;

दिखाया तुम ने हमें विचित्र
प्राकृतिक सुषमा का संसार,
जगा कर मन में भाव नवीन
किया तुम ने रस का सञ्चार।

कहाँ से पाकर अद्भुत शक्ति
काव्य की तुमने की थी सृष्टि ?
विश्व को तुम ने दी थी दिव्य
कहाँ से लाकर अन्तर्दृष्टि ?

छोड़ कर अनुपम कीर्ति विभूति,
किया तुम ने जग से प्रस्थान,
किन्तु निज कृतियों को अमरत्व,
यहाँ भी तुम कर गये प्रदान।
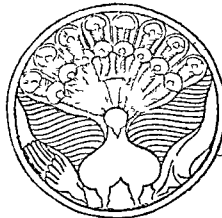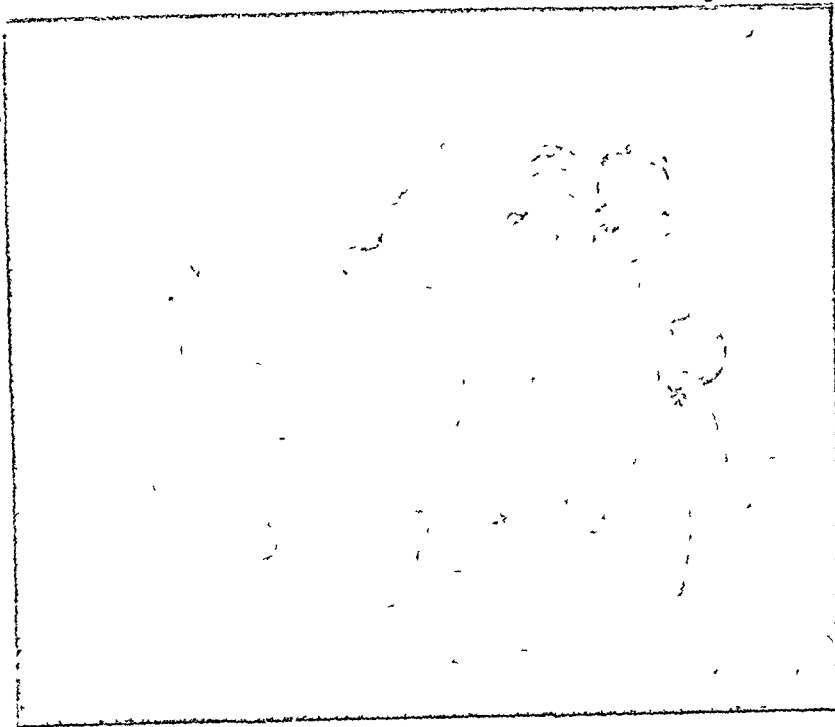
कालिदास

महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ

कविकुल-गुरु कालिदास के वनाये कहे जानेवाले 'ज्योतिर्विदाभरण' में उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य की सभा में नौ प्रसिद्ध विद्वानों का होना लिखा है, जो उसकी सभा के 'नवरत्न' कहलाते थे :—

> धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
> ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेस्सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

अर्थात्, राजा विक्रमादित्य की सभा मे (१) धन्वन्तरि * (२) क्षपणक † (३) अमरसिंह ‡ (४) शंकु ※ (५) वेतालभट्ट ⁑ (६) घटखर्पर ⁂ (७) कालिदास, (८) वराहमिहिर ⁂⁂ और (९) वररुचि § ये नौ विद्वद्रत्न रहते थे।

परन्तु इतिहास से पता चलता है कि ये सब विद्वान् समकालिक न थे। उदाहरणार्थ वराहमिहिर को ही लीजिए। इसने अपनी 'पञ्चसिद्धान्तिका' नामक पुस्तक मे स्पष्ट लिखा है कि "यह पुस्तक मैंने शक संवत् ४२७ मे समाप्त की।" इससे इसका विक्रम संवत् ५६२ (ई० स० ५०५) मे होना सिद्ध होता है। अस्तु आगे हम कालिदास के विषय में विद्वानों की सम्मतियाँ उद्धृत करते हैं।

---

* इस विद्वान् का विशेष हाल नहीं मिलता है।

† इसने अनेकार्थध्वनिमञ्जरी और उणादिसूत्र की क्षपणकवृत्ति लिखी थी।

‡ यह अमरकोष का कर्ता अमरसिंह विक्रम की पाँचवीं शताब्दी में हुआ था।

※ इस विद्वान् का भी विशेष विवरण नहीं मिलता।

⁑ इसने नीतिप्रदीप की रचना की थी।

⁂ इसने नीतिसार और रामकृष्ण विलोमकाव्य नामक पुस्तकें लिखी थीं।

⁂⁂ इसने शक संवत् ४२७ (ई. स. ५०५= वि. सं. ५६२) में पञ्चसिद्धान्तिका बनाई थी।

§ इसका अस्तित्व ईसवी सन् पूर्व की चौथी शताब्दी में अनुमान किया जाता है। इसे कात्यायन भी कहते थे। इसने अष्टाध्यायीवृत्ति, व्याकरण की कारिका, प्राकृत प्रकाश, पुष्पसूत्र, लिंगवृत्ति, आदि अनेक ग्रन्थ लिखे थे।

कालिदास

जन विद्वान् पण्डिताचाय योगिराट् ने अपनी बनाई हुई 'पार्श्वाभ्युदय' की टीका के अन्त में लिखा है कि कालिदास नामक एक कवि ने 'मेघदूत' नामक काव्य बनाया और दूसरे कविया का अपमान करने के लिए उसे दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा अमोघवष* (प्रथम) की सभा में लाकर सुनाया। यह बात विनयसेन को अच्छी न लगी। अत उसकी प्रेरणा से जिनसेनाचाय ने कालिदास का परिहास करते हुए कहा कि "आपके काव्य में प्राचीन काव्य की चोरी करने से सुन्दरता आगई है।" इसपर कालिदास ने उक्त काव्य देखने की इच्छा प्रगट की। परन्तु जिनसेन ने उत्तर दिया कि वह काव्य एक दूसरे नगर में है। अत उसके आने में ८ दिन लगेंगे। इन्हीं ८ दिनों के अवकाश म जिनसेन ने 'मेघदूत' के श्लोकों के एक एक दो दो पदो को लेकर उक्त 'पार्श्वाभ्युदय‡' नामक काव्य बना डाला और समय पर सभा म ला सुनाया।

इससे सिद्ध होता है कि कालिदास वि० स० ८७२ से ९३४ (ई० स० ८१५ से ८७७) के मध्य विद्यमान था। परन्तु यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि एक तो 'पार्श्वाभ्युदय' का उक्त टीकाकार‡ योगिराट् विजयनगर-नरेश हरिहर* का समकालीन अर्थात् जिनसेन से करीब ५०० वष बाद हुआ था। अत उसका लेख प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। दूसरा सातवी शताब्दी के बाणभट्ट रचित हर्षचरित में निम्न लिखित श्लोक मिलता है —

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते? ॥१७॥

इससे सिद्ध होता है कि कालिदास अवश्य ही बाणभट्ट से पहले हो चुका था, ऐसी हालत में उसका अमोघवर्ष (प्रथम) के समय होना असम्भव ही है।

सर विलियम जोस और डाक्टर पीटरसन इसको ईसवी सन् से ५७ वर्ष पूर्व के विक्रम सवत् के प्रवर्तक और उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य का समकालीन अनुमान करते है। तथा पण्डित नन्दर्गीकर ने अश्वघोष⁑ रचित 'बुद्ध-चरित' नामक काव्य में कालिदास रचित काव्यों के कितने ही श्लोकपाद ज्यों के त्यों दिखलाकर उक्त पाश्चात्य विद्वानों के मत की पुष्टि की है। आजकल के बहुत से विद्वान् कालिदास का गुप्त नरेशो के समय होना सिद्ध करते है। उनके कथनो का साराश आगे दिया जाता है।

रघुवश में निम्न लिखित श्लोक-पाद है —

'तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः'। १।५५
'अथास्य गोप्ता गृहिणीसहायः'। २।२४
'इक्षुच्छायानिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्धातं शालिगोप्यो जगुर्यश ।४।२०।
'सगुप्तमूलप्रत्यन्त शुद्धपार्ष्णिरयान्वित ।
षड्विधबलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ।४।२६'।
'ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी, कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम् ।५।३६।
'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ।६।४।'

---

* शिलालेखो के आधार पर इस अमोघवर्ष का समय ई स ८१५ से ८७७ (वि० स० ८७२ से ९३४) त माना गया है और 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला' इसी की बनाई मानी जाती है।

† विनयसेन और जिनसेन दोनो ही वीरसेन के शिष्य थे। इनमें से जिनसेन अमोघवर्ष (प्रथम) का गुरु था।

‡ श्रीमन्मूर्त्या मरकतमयस्तम्भलक्ष्मीं वहन्त्या, योगैकाग्र्यस्तिमिततरया तस्थिवांसं निदध्यौ।
पार्श्वं दैत्यो नभसि विहरन् बद्धवैरेण दग्ध, कश्चित् कान्ता विरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्त ॥

‡ इसमें इरुगदण्डनाथरचित रत्नमाला का उल्लेख भी आया है।

* इसका समय ईसवी सन् १३९९ (वि० सं० १४५६) के करीब था।

⁑ अश्वघोष ईसवी सन् की पहली शताब्दी में हुआ था।

महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ

अतः जिस प्रकार ‡ मुद्राराक्षसनामक नाटक के—

'क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलाद्रक्षत्येनं तु बुधयोगः।'

इस श्लोक मे व्यञ्जनावृत्ति से चन्द्रगुप्त का उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार रघुवंश के उपर्युक्त श्लोकों में 'गुप्त' और 'कुमार' शब्दो के आने से प्रकट होता है कि कालिदास गुप्तों का समकालीन था, और उसने अपने काव्य में व्यञ्जनावृत्ति से ही उनका उल्लेख किया है।

इसी आधार पर कुछ विद्वान् इसे चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) का और कुमारगुप्त का तथा कुछ इसे *स्कन्दगुप्त का समकालीन मानते है। आगे इसी विषय की और भी कुछ उक्तियाँ उद्धृत की जाती है:—

कालिदासरचित 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक मे शुगवशी अग्निमित्र का वर्णन है। यह (अग्निमित्र) इस (शुग) वंश के संस्थापक पुष्यमित्र का पुत्र था, जिसने कि ईसवी सन् से १७९ (वि० सं० से १२२) वर्ष पूर्व के करीव शुगवंश की स्थापना की थी। अत. कालिदास अवश्य ही इसके बाद हुआ होगा। चालुक्यवशी राजा पुलकेशी दूसरे के समय के ई० स० ६३४ (वि० स० ६९१) के एक शिलालेख मे कालिदास का नाम आया है। अत: यह कवि उक्त समय से पहले ही हुआ होगा।

कालिदास ने इन्दुमती के स्वयंवर मे सवसे पहले मगध नरेश का वर्णन किया है। उसमे उसे 'भारतचक्रवर्ती'† लिखा है। सातवी शताव्दी के पहले मगध मे दो ही प्रतापी राजा हुए थे। एक पुष्यमित्र और दूसरा चन्द्रगुप्त (द्वितीय)। परन्तु रघुवश के चौथे सर्ग मे दिग्विजय के वर्णन मे सिन्धुनदी के तट पर रघु द्वारा हूण लोगो का हराया जाना लिखा है। ये लोग पहले पहल गुप्तों के समय ही आये थे।

कालिदास ने उज्जयिनी का जैसा वर्णन किया है वैसा विना उक्त स्थान को देखे कोई नही कर सकता। उदयगिरि के लेख से चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का वहाँ (उज्जैन) जाना सिद्ध होता है। अत: सम्भवत: उसीके साथ कालिदास भी वहाँ पर गया होगा।

मेघदूत मे दिङ्नाग‡ नामक वौद्ध नैयायिक का उल्लेख है। हुएन्त्सांग आदि के भ्रमण-वृत्तान्तो से पता चलता है कि मनोरथ का शिष्य वसुवन्धु था और उस (वसुवन्धु) का शिष्य दिङ्नाग था। इसने पुष्पपुर मे शिष्यत्व ग्रहण किया था। मनोरथ कुमारगुप्त के समय था, तथा वसुवन्धु और दिङ्नाथ स्कन्दगुप्त के समय विद्यमान थे।

हुएन्त्साग ने लिखा है कि मगध के राजा कुमारगुप्त की सभा मे अन्यायपूर्वक परास्त किये जाने के कारण मनोरथ ने आत्महत्या कर ली थी। इस पराजय मे कालिदास भी शरीक था। इसीसे अपने दादागुरू का वदला लेने को दिङ्नाग ने कालिदास के काव्यो की कडी समालोचना की थी, और इसीसे क्रुद्ध होकर कालिदास ने भी उस (दिङ्नाग) का मेघदूत मे इस प्रकार व्यंग से उल्लेख किया है।

कालिदास ने अपने काव्यों मे 'राशिचक्र' का उल्लेख किया है, तथा 'जामित्र' और 'होरा' आदि कुछ ज्योतिष के पारिभाषिक शव्दो का भी प्रयोग किया है। इससे भी कालिदास का गुप्तो के समय होना सिद्ध होता है, क्योकि ईसवी सन् ३०० के करीव वने हुए 'सूर्यसिद्धान्त' मे 'राशिचक्र' का उल्लेख नही है, परन्तु आर्यभट्ट के ग्रन्थ मे है। यह आर्यभट्ट ई० स० ४७८ (वि० सं० ५३५) मे पाटलिपुत्र मे हुआ था।

राशिचक्र के विभागो का यथा 'होरा' 'द्रेक्कोण' (द्रेष्काण) आदि का उल्लेख पहले पहल ग्रीक ज्योतिषी 'फर्मीकस मीटरनस' (Fermicus Meternus) के ग्रन्थ मे मिलता है। इसका समय ई० स० ३३६ से ३५४ (वि० सं० ३९३ से ४११ तक) था। इन वातो पर विचार करने से कालिदास का ई० स० ३३६ (वि० सं० ३९३) के वाद होना ही सिद्ध होता है।

---

* मनोरंजन घोष के आधार पर। † रघुवंश में ऐसा कोई पद नहीं मिलता है।
‡ दिङ्नागाना पथि, परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्।१४।

कालिदास

अब आगे उन विद्वानो की उक्तियाँ दी जाती है, जो कालिदास को विक्रम सवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य का समकालीन मानते है।

श्रीयुत चि० वि० वैद्य का कथन है कि रघुवश में इन्दुमती के स्वयवर† में एकत्रित हुए राजाओ में दक्षिण के शासक पाण्ड्यो का और उनकी राजधानी उरगपुर (उराइयूर-कावेरी के तट‡ पर) का वर्णन है, तथा रघु की दिग्विजय के वर्णन में चोलो और पल्लवो का उल्लेख नही है।

परन्तु इतिहास से सिद्ध है कि चोल-नरेश करिकाल ने ईसवी सन् की पहली शताब्दी में पाण्ड्यो को परास्त कर दिया था, और इसके बाद तीसरी शताब्दी में एक बार फिर पाण्ड्यो ने प्रबलता प्राप्त कर अपनी राजधानी मदुरा (मदुपुरा) में स्थापित की थी। इसके बाद ईसवी सन् की पाँचवी या छठी शताब्दी में पल्लव-नरेशो द्वारा पाण्ड्यो का फिर पतन हुआ। अत कालिदास का ईसवी सन् की पहली शताब्दी के पूर्व होना ही सिद्ध होता है, क्योकि एक तो ई० स० की पहली शताब्दी में पतन होने के बाद दुबारा जिस समय पाण्ड्यो ने अपना प्रभुत्व कायम किया था उस समय उनकी राजधानी उरगपुर न होकर मदुरा थी। परन्तु कालिदास ने अपने रघुवश में उनकी पहली राजधानी (उरगपुर) का ही उल्लेख किया है। यदि कालिदास गुप्तो के समकालीन होता तो अपने काव्यो में (उनकी राजधानी) मदुरा का उल्लेख करता। दूसरा रघु के दिग्विजय में चोलो और पल्लवो का उल्लेख न करने से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि वह ईसा की पहली शताब्दी के पूर्व ही हुआ था, क्योकि यदि वह गुप्तो का समकालीन होता तो इनका उल्लेख भी अवश्य ही करता। तीसरे कालिदास के काव्यो और नाटको में 'यवनी' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलो पर आया है। परन्तु इतिहास बतलाता है कि यद्यपि अशोक के समय से ही भारत से यवन लोगो का खासा सम्बन्ध हो गया था, तथापि ईसा की पाँचवी शताब्दी में वह टूट गया था।

एक शका यह भी होती है कि यदि कालिदास अपने समकालीन प्रतापी गुप्त राजाओ का उल्लेख अपने काव्यो में करना ही चाहता था तो उसे रोकनेवाला कौन था? फिर इस प्रकार घुमा फिराकर उनका उल्लेख करने की उसे क्या आवश्यकता आ पडी।

इन बातो से सिद्ध होता है कि कालिदास ईसवी सन् से ५७ वर्ष पूर्व के प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य का समकालीन था। परन्तु अभी इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता।

कालिदास के जन्मस्थान के विषय में भी बडा मतभेद है। कुछ विद्वान् उसे काश्मीर का, कुछ मालवे का और कुछ नवद्वीप का रहनेवाला सिद्ध करते है।

इसके श्रव्यकाव्यो में रघुवश, कुमारसम्भव, मेघदूत, ऋतुसहार और दृश्य काव्यो में शकुन्तला, विक्रमोवर्शी तथा मालविकाग्नि मित्र प्रसिद्ध है। नलोदय, द्वात्रिंशत्पुत्तलिका पुष्पबाणविलास‡, श्रृगारतिलक, ज्योतिर्विदाभरण आदि भी इसके रचे कहे जाते है।

सीलोन की कथाओ मे प्रसिद्ध है कि वहाँ के प्रसिद्ध राजा कुमारदास (कुमार धातुसेन) ने कालिदास को अपने यहाँ बुलवाया था और वहाँ जाने पर कालिदास और कुमारदास की आपस में घनिष्ट मैत्री हो गई थी। कुछ समय बाद वहीं पर कालिदास की मृत्यु हुई। स्नेह की अधिकता के कारण उक्त राजा (कुमारदास) ने भी अपने आपको इस कवि (कालिदास) की चिता में डाल दिया। 'पराक्रमबाहुचरित'† से इस बात की पुष्टि होती है। 'महावश' के अनुसार कुमारदास की मृत्यु ई० स० ५२४ (वि० स० ५८१) में हुई थी। अत नही कह सकते कि वह कौनसा कालिदास था।

---

* जर्नल, भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना, जिल्द २, भाग १।

† रघुवश, सर्ग ६, श्लोक ५९-६०।

‡ गदवल में मिले चालुक्य राजा विक्रमादित्य के ताम्रपत्रो से उरगपुर का कावेरी के तट पर होना सिद्ध होता है। मल्लिनाथ ने भ्रम से उरगपुर को नागपुर लिख दिया है। * रघुवश, सर्ग ४।

‡ ज्योतिर्विदाभरण में शक संवत् का उल्लेख है। अत यह विक्रमकालीन कालिदास का बनाया नहीं हो सकता। इसी प्रकार द्वात्रिंशत्पुत्तलिका आदि के विषय में भी सन्देह होता है।

† यह ग्रन्थ ५०० वर्ष का पुराना है।

कालिदास की जन्म-भूमि

श्री वागीश्वर विद्यालंकार, साहित्याचार्य

एक जगह उपनिषद् मे लिखा है कि 'तत्सृष्ट्वा तदनुप्राविशत्'—अर्थात् वह उसे बनाकर उसी मे समा गया। यह उक्ति इस महान् कलाकार के विषय मे भी खूब ही सत्य सिद्ध हुई है। किस माता पिता से, कब और कहाँ इस कवि का जन्म हुआ, वह किस राजा के आश्रय मे और कहाँ-कहाँ रहा, ये प्रश्न आज भी जिज्ञासुओ के लिए पहेली बने हुए है। जिस प्रकार घोर निर्जन मे उच्चारण किया हुआ शब्द उच्चारण करनेवाले के कानो मे लौट आता है, ठीक यही दशा इस प्रश्न की भी है। जिस प्रकार ब्रह्म ने अपनी आत्मा से इस अव्यक्त प्रकृति मे समाकर इसे रूप और नाम दे दिए—इसे व्यक्त कर दिया, और फिर वह स्वय उससे पृथक् नही रहा, इसके कण-कण मे व्याप्त हो गया, वैसे ही कवि भी अपनी कृति में कुछ ऐसा समा गया है कि उससे बाहर उसका पता ही नही लगता। परीक्षणनलिकाओ, तेजाबो, पुरानी हड्डियो, स्तरों, शिलालेखो तथा सिक्को द्वारा अन्तिम सत्ता तक—सत्य तक पहुँचने का दम भरनेवाला नया युग अधीर हो उठा है। भय है कि वह मनचाही सामग्री न मिलने पर यही फैसला न दे बैठे कि कालिदास नाम का कोई कवि हुआ ही नही। सम्राट् विक्रमादित्य के सम्बन्ध में ऐसे ही निर्णय की स्याही तो अभी सूखी भी नही। इसलिए संस्कृत साहित्य के स्वाध्यायशील प्रेमियों का प्रथम कर्तव्य है कि वे शीघ्र ही अपने कवि को इनके हाथो होनेवाली अकाल मृत्यु से बचा लें।

हम प्रारम्भ मे ही यह स्वीकार कर लेना चाहते है कि कालिदास के जीवन के सम्बन्ध मे हमारे पास भी अभी तक कोई बहिरंग साक्ष्य अथवा ऐसा प्रमाण नही है, जिसे हम पाठको के समक्ष बलपूर्वक रख सके। यद्यपि हमें यह आशा अवश्य है कि हम निकट भविष्य मे ही ऐसा कर सकेगे। जब तक वह नही होता तब तक के लिए हम अपने अभी तक के अनुशीलन के कुछ परिणामो को प्रकाशित कर रहे है ताकि उन पर अन्य विद्वान् भी अपने विचार प्रकट कर सके। अनुकूल सम्मतियो से हमे अपने विचार के पक्ष मे बल प्राप्त होगा, जब दूसरी ओर प्रतिकूल सम्मतियों से हमे दूसरे पक्षो को और अधिक समझने और उनपर विचार करने का अवसर मिलेगा। जिस पक्ष को हम यहाँ अपना कहकर प्रकट करने लगे है, उसके लिए हमे कुछ भी आग्रह नही है। विचार विमर्श से जो भी परिणाम निकल आवे हम उसे तुरन्त स्वीकार कर लेने को उद्यत है। सत्य तो यह है कि आज से बाईस वर्ष पूर्व हमने स्वर्गीय महावीरप्रसादजी द्वारा लिखित 'कालिदास'

नामक निबन्ध-संग्रह को पढ़ा था और उससे प्रभावित होकर हमारा झुकाव भी इसी ओर हो गया था कि कालिदास की जन्मभूमि काश्मीर ही है, किन्तु इस पक्ष को अधिक पुष्ट करने के विचार से हम ज्यों ज्यों अध्ययन करने लगे, हमारी यह सम्मति शिथिल होती गयी और अन्त में बिलकुल बदल ही गई। ऐसा क्यों हुआ यह हम यथास्थान प्रकट करेंगे।

महाकवि कालिदास के जो ग्रन्थ पठन-पाठन में सर्वत्र प्रचलित हैं, उनमें उन्होंने अपने माता-पिता, कुल, निवास-स्थान व काल आदि के विषय में सर्वथा मौनावलम्बन कर पाठकों के साथ मानो चिर भविष्य के लिए आँखमिचौनी खेलने की सोची। ऐसे मनोविनोद उन्हें अवश्य ही बहुत प्रिय लगते होंगे। तभी तो अलका के वर्णन में उन्होंने मेघ से कहा था कि 'वहाँ मन्दाकिनी के जलबिन्दुओं से शीतल मन्द पवन का आनन्द लेती हुई देवांगनाएँ तटवर्ती मन्दार द्रुमों की छाया में अपने प्रेमियों के साथ बैठकर स्वर्णचूर्ण की ढेरी में छिपाई मणियों को ढूँढने का खेल खेला करती हैं।' * वे छिप गये हैं, हम ढूँढ रहे हैं, देखें परिणाम क्या होता है।

कालिदास कब हुए, किस राजा के आश्रय में रहे—इस समय इस वादविवाद में न पड़ते हुए यहाँ हम केवल इतना ही कहकर आगे चल देना चाहते हैं कि उन्हें तीन स्थानों—मगध, उज्जयिनी, और गंगायुक्त हिमालय से विशेष अनुराग है और इसका कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। यदि हम उस कारण का पता लगा सकें तो हमारा कार्य स्वयं सिद्ध हो जावेगा। अब हम इन तीनों प्रदेशों के विषय में अलग अलग विचार करते हैं।

मगध—रघुवंश के प्रारम्भ में ही हमें कवि के मगधप्रेम का परिचय मिलने लगता है। दिलीप की रानी सुदक्षिणा का परिचय देते हुए कवि ने लिखा है कि वह मगधवंश † की थी। आगे भी जगह जगह उसे "मागधी" ‡ अर्थात् मगध के राजवंश की कन्या कहकर स्मरण किया है। पुनः रघुवंश के नवें सर्ग में दशरथ की रानियों की ओर निर्देश करते हुए कवि ने फिर लिखा है कि राजा ने मगध, कोशल और केकय की राजकन्याओं का पाणिग्रहण किया। यहाँ यह बात विचारणीय है कि कौशल्या तथा कैकयी के तो नाम ही उनके वंश का परिचय स्वयं दे रहे हैं, परन्तु "सुमित्रा" किस राजवंश की थी, यह उसके नाम से ही नहीं पता चलता। स्वयं वाल्मीकि रामायण भी इस प्रश्न पर मूक है। बस कवि को अपनी कल्पना से काम लेने का अवसर मिल गया, और उसने सुमित्रा को मगध की राजकुमारी बना दिया।

इसी प्रसंग में अब हम दूसरे दृश्य को लेते हैं। विदर्भ की राज-कन्या अनिन्द्यसुन्दरी इन्दुमती की स्वयम्वर-सभा जमी हुई है। "राजवंश विशारद वन्दीजन सूर्य तथा चन्द्रवंश के प्रसिद्ध नरेशों की प्रशस्तियाँ गा रहे हैं। मण्डप में जलती हुई अगर-बत्तियों की धूम लेखाएँ उठ उठकर ऊपर लगी पताकाएँ चूमती हुई वातावरण को सुरभित कर रही हैं। शंखनाद के साथ मिला हुआ मंगल-वाद्यों का प्रचण्ड घोष दिगन्तों तक व्याप्त हो रहा है, जिसे सुनकर नगरोद्यानों के मयूर मोदमग्न हो नाच रहे हैं। इसी समय वधू-वेष से सुशोभित कुमारी इन्दुमती बड़ी सज-धज के साथ वहाँ प्रकट होती है। कन्या के रूप में, विधाता की रचना के उस अद्भुत चमत्कार को देखकर, राजगण अपने आपको भूल जाते हैं।" ‡‡

---

* मन्दाकिन्याः सलिल शिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि । मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः॥
अन्वेष्टव्यैः कनक सिकता मुष्टि निक्षेपगूढैः । सक्रीडन्ते मणिभिरमर प्रार्थिता यत्र कन्याः ॥

उत्तरमेघ, श्लोक ४॥

† तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगध-वंशजा, पत्नी सुदक्षिणेत्यासीत् अध्वरस्येवदक्षिणा ॥ रघु० सर्ग १—३१

‡ तयो जगृहतु पादान् राजा राज्ञी च मागधी॥ रघु० १ सर्ग। श्लोक ५७।

‡‡ अथ स्तुते वन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेव लोके। सचारिते चागुरुसारयोनौ धूमे समुत्सर्पति वैजयन्तीः॥ रघु० सर्ग ६—८॥

पुरोपकण्ठो पवनं श्रयाणां, कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ, प्रध्मात शंखे परितो दिगन्तां स्तूर्यस्वने मूर्च्छति मंगलार्थे ॥ ९ ॥

मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवार शोभि, विवेश मंचान्तर राजमार्ग पतिंवरा क्लृप्त विवाहवेशा ॥ १० ॥

तस्मिन् विधातातिशये विधातुः कन्यामये नेत्र शतकलक्ष्ये, निपेतुरन्तः करणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवल मासनेषु ॥ ११ ॥

श्री वागीश्वर विद्यालंकार, साहित्याचार्य

तभी सुनन्दा नामवाली प्रतिहार-पालिका जो सब राजाओं और उनके वंश के इतिहास से सुपरिचित थी और पुरुषों के बीच मे घबराती नही थी, इन्दुमती को सबसे प्रथम मगधेश्वर के समक्ष ले जाकर इस प्रकार कहने लगी—"ये शरणार्थियो को शरण देनेवाले महाप्रतापी मगधराज है, प्रजानुरञ्जन के कारण ये सर्वत्र प्रसिद्ध है, इनका नाम है परंतप और ये वस्तुतः है भी शत्रुओं को तपानेवाले। भले ही सहस्त्रों राजाधिराज हों किन्तु पृथ्वी राजन्वती तो इन्हीसे कहलाती है। नक्षत्र तथा तारावली व्याप्त भी रात्रि ज्योतिष्मती तो चन्द्रमा से ही समझी जाती है। यदि तुम्हारा हृदय इनसे पाणिग्रहण का अभिलाषी हुआ हो तो समझो कि अपने महलों के झरोखों मे बैठकर तुम्हें देखती हुई पुष्पपुर की नारियों के नेत्र कृतार्थ हो जावेगे।" सुनन्दा के किये परिचय को सुनकर तथा मगधेश्वर की ओर देख और अपने मस्तक को थोड़ासा झुका प्रणाम करती हुई वह चुपचाप आगे बढ़ गई*।

यहाँ कवि ने मगधेश्वर को सबसे प्रथम स्थान देकर ही सम्मानित नही किया किन्तु उसे इन्दुमती से प्रणाम भी करवा दिया है। साथ ही उसे शरणार्थियों को आश्रय देनेवाला बतलाकर सम्भवतः यह भी व्यंजना से कह दिया है कि यह उसका आश्रयदाता भी है।

अब कहा यह जा सकता है कि किसी न किसी राजा को तो प्रथम स्थान मिलता ही है। इतने मात्र से कोई परिणाम नही निकाला जा सकता। इसपर हमारा उत्तर यह है कि जिस मगधराज को स्वयंवर-सभा मे प्रथम स्थान देकर पूजित किया गया है, उसेही रघुवश के चतुर्थ सर्ग मे दिग्विजय के प्रसंग मे कवि ने पराजित होने से बचा लिया है। रघु अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर पहले पहल पूर्व की ओर ही बढा। "बडी भारी सेना के अग्रभाग में चलता हुआ वह ऐसा प्रतीत होता था, मानों पूर्वसागर की ओर बढ़ती हुई गंगा के आगे आगे भगीरथ हो"†। "पूर्व के उन उन देशों को पराजित करता हुआ वह विजयी तालवनों की श्रेणी से श्याम पूर्व समुद्र तट तक जा पहुँचा"‡। अयोध्या से पूर्व की ओर बढ़ने पर रघु का संघर्ष सर्वप्रथम मगधेश्वर के साथ ही होना चाहिए था, किन्तु कवि ने इस विषय में कुछ न कहकर ही सब कुछ कह दिया कि उसका क्या अभिप्राय है।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि कवि का मगध के प्रति ऐसा पक्षपात क्यों है? उत्तर स्पष्ट है कि वह शरणार्थियों का आश्रयदाता है। कवि ने जब मगधेश्वर के गुणों का वर्णन करना चाहा तो उसकी दृष्टि सबसे पहिले इसी पर पड़ी। प्रतीत होता है कि कवि ने रघुवंश और मेघदूत अपने मगध निवास के समय मे ही लिखे। मगध के प्रति कवि के हृदय में सम्मान है, कृतज्ञता है किन्तु वह औत्सुक्यपूर्ण उष्ण अनुराग नही जो उज्जयिनी के प्रति है।

उज्जयिनी—ऊपर कहा जा चुका है कि कवि मगध मे रहता अवश्य है किन्तु केवल शरीर से "निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिता केवलमासनेषु" (रघुवंश ६।११)। उसे वहाँ परिस्थितिवश रहना पड़ता है किन्तु उस रहने को वह शाप§ समझता है। उसका हृदय कभी तो देवदारुद्रुमो के नवकिसलयों को विदलित करके उनके रस से सुरभित हुए हिमालय से उन समीरों को आलिंगन करने के लिए उत्सुक हो जाता है, जिन्हे वह समझता है कि वे सम्भवतः उसकी गुणवती प्रेयसी के शरीर को छूकर आ रहे हैं¶। और कभी वह मार्ग की वक्रता‖ की भी परवाह न करके उज्जयिनी के प्रासादो के वातायनों मे बैठी हुई नगर-

---

* रघुवंश सर्ग ६ श्लोक २०-२५.

† स सेनां महतीं कर्षन् पूर्वसागर गामिनीम्। बभौ हरजटाभ्रष्टां गंगामिव भगीरथः॥ रघु०, सर्ग ४—३२॥

‡ पौरस्त्यानेवमाक्रामं स्तांस्ताञ्जन पदाञ्जयी। श्रय तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः॥ रघु०, सर्ग ४—३४॥

§ शापेनास्तंगमित महिमा वर्ष भोग्येण भर्तुः। मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक १॥

¶ भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणाम्, ये तत् क्षीरस्तुति सुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिंग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः, पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदंगमेभिस्तवेति॥ उत्तरमेघ, श्लोक ४४॥

‖ वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशाम्, सौधोत्संग प्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरित चकितैस्तत्र पौरांगनाम्, लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि॥ पूर्वमेघ, श्लोक २७॥

कालिदास की जन्म-भूमि

नारियों के चपला से चञ्चल लोचनों की कटाक्षच्छटा का आनन्द लाभ करने को लालायित हो उठता है। कवि ने अपने दूत मेघ को मगध नहीं भेजा, इससे अनुमान होता है कि वह उन दिनों मगध में ही रहता है, अथवा किसी राजकार्यवश मगध से भी कुछ और नीचे उसे जाना पड़ा है और वहाँ अपनी इच्छा के विरुद्ध भी रुकना पड़ा है। अपनी विवशता को कवि ने मेघदूत के प्रथम पद्य में "भर्तु शापेन" कहकर प्रकट किया है। फिर तीसरे पद्य में अपने स्वामी को उसने "राजराज"* अर्थात् सम्राट् कहा है। सातवें में "धनपति" † कहा है, जिसका आशय शायद यही है कि वह कवि को धन देता है, जिसके कारण कवि अपने आपको आठवें श्लोक में "पराधीनवृत्ति"‡ कह रहा है। उज्जयिनी के सम्बन्ध में कवि ने जो उद्गार प्रकट किये हैं, उनमें उत्कण्ठा है। कवि की आत्मा वहाँ उड़कर पहुँच जाना चाहती है। उसे वहाँ के ग्रामवृद्धों के मुख से सुनी हुई उदयन की प्रेम व वीरतापूर्ण गाथाएँ याद आती हैं और याद आती हैं अपने प्रथम यौवनावतार के दिनों की मधुमय घड़ियाँ। वह प्रणय-याचना में चतुर प्रियतम की तरह, कामिनियों की अंगग्लानि को दूर करनेवाले, क्षिप्रा के विकसित कमलों की गन्ध से मधुर, प्राभातिक समीरणों को नहीं भूल सका है। ललित ललनाओं के चरणरागांकित महलों में धूप-धूम से अपने केशपाश को सुरभित करती हुई मालव-ललनाओं की सुखद-स्मृति उसे सता रही है। रात्रि के घोर अन्धकार में अपने प्यारों से मिलने के लिए राजमार्गों पर जाती हुई योषिताओं से उसे सहानुभूति है। तभी तो वह मेघ से कहता है कि कसौटी पर खिंची सुवर्ण रेखा की तरह सुन्दर, अपनी विद्युल्लेखा की आभा से, उन्हें रास्ता भर दिखा देना, पानी बरसाकर उन्हें व्याकुल न करना ⁂। कवि उज्जयिनी को भूलोक में अवतीर्ण स्वर्ग समझता है‡ जिससे कि वह स्वयं निर्वासित हो चुका है।

उज्जयिनी के क्रीडा काननों, क्षिप्रातटों, गृहमन्दिरों, प्रेमी प्रेमिकाओं, उत्सव आमोदों के प्रति कवि के हृदय में एक असाधारण आकर्षण है। उनसे वंचित हो जाने की कसक है, उनमें पुनः पहुँचने की लालसा है। इसका कुछ न कुछ विशेष कारण अवश्य होना चाहिए। किसी किसी का मत है कि सम्भवतः उज्जयिनी ही कवि की जन्मभूमि हो, क्योंकि उसी के प्रति इतनी गहरी भावना हो सकती है। जन्मभूमि के प्रति अपने हृदय की कृतज्ञता, भक्ति व भावना को कवि ने चिरप्रवास से लौटे श्रीराम के उद्गारों में प्रगट किया है*। इस पर हमारा वक्तव्य इतना ही है कि हम इस मत को स्वीकार कर लेते यदि कवि का इससे भी अधिक अनुराग हम एक अन्य प्रदेश के प्रति न देखते। इसमें सन्देह का अवसर ही नहीं कि कवि उज्जयिनी में रहा अवश्य है और वह भी अपने जीवन के स्वर्गीय प्रभात में। ऋतुसंहार कवि की प्रथम रचना है। उसमें विन्ध्य और उज्जयिनी के ही दृश्यों और ऋतुशोभाओं तथा दैनिकचर्य्याओं का प्रधानतया वर्णन है। उसकी इस कल्पना में विन्ध्य समाया हुआ है। कवि की दूसरी रचना 'मालविकाग्निमित्र' नाटक प्रतीत होती है। इसकी कथा उज्जयिनी के क्षेत्र में ही आबद्ध है। इसमें कालिदास ने अपना परिचय कुछ संकोच और कुछ आत्मविश्वास के साथ 'अभिनवकवि'॥ कहकर दिया है।

श्रुति परम्परा भी प्रसिद्ध है कि कालिदास उज्जयिनी सम्राट् विक्रमादित्य की राजसभा के मुख्यतम रत्न थे, किन्तु इन सब बातों से भी यह निर्विवाद सिद्ध नहीं हो जाता कि कवि की जन्मभूमि भी यही थी। हमारी सम्मति में कवि के उज्जयिनी प्रेम का कारण वहाँ उसका चिर-निवास ही है। इससे अधिक कुछ नहीं।

---

* अन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ॥ पूर्वमेघ, श्लोक ३॥

† संदेशं मे हर धनपति क्रोधविश्लेषितस्य। पूर्वमेघ, श्लोक ७॥

‡ न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीन वृत्तिः। पूर्वमेघ, श्लोक ८॥

⁂ गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं, रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीम्। तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्मभूर्विक्लवास्ता॥ पूर्वमेघ, श्लोक ३७॥

‡ शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम्॥ पूर्वमेघ, श्लोक ३०॥

* रघुवंश, सर्ग १३, श्लोक ६२॥

॥ मालविकाग्निमित्र।

श्री वागीश्वर विद्यालंकार, साहित्याचार्य

इसी स्थान पर प्रसंग से हम एक अन्य विषय पर भी कुछ विचार कर ले तो शायद अनुचित न होगा। कालिदास विक्रमादित्य को जानते है, यह तो उनके 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के नाम से ही प्रकट है। इस नाटक की नायिका उर्वशी है, किन्तु नायक पुरुरवा है नकि विक्रम। कोई पण्डित कह सकते है कि विक्रम अर्थात् पराक्रम द्वारा उर्वशी के प्राप्त करने की कथा होने के कारण इसका नाम 'विक्रमोर्वशीय' है। किन्तु यह समाधान भी पर्याप्त नही है। अवश्य ही कवि ने विक्रमादित्य की किसी विजय के अवसर पर खेलने के लिए इसकी रचना की है। यह विक्रम गुप्तवंश का प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा स्कन्दगुप्त नही हो सकता। यदि इनमे से कोई होता तो कवि मेघदूत मे उज्जयिनी के प्रसंग मे उदयन* को स्मरण न कराता, अथवा उसके साथ ही विक्रमादित्य की गाथाओ के सुनाने का भी उल्लेख करता। कवि ने ऐसा नहीं किया। इससे प्रतीत होता है कि वह उज्जयिनी के विक्रम का समसामयिक है। और इसीलिए उसने जानवूझकर उसका नाम नही लिया। क्योकि कवि व्यंजना को अभिधा की अपेक्षा अधिक पसन्द करते है। 'विक्रमोर्वशीय' मे भी 'विक्रम' का वाच्यार्थ पराक्रम सही, किन्तु व्यंग्यार्थ 'विक्रमादित्य' ही है। 'विक्रमोर्वशीय' के देखने से ही ज्ञात होता है कि यह विजय कोई प्रारम्भिक ही है अन्तिम नही†। मालूम होता है कि इस समय तक विक्रम वैसा ख्यातिलाभ न कर चुके थे जैसाकि रघुवंश के रघु, जिनकी यशोगाथाओ को गन्ने की छाया मे बैठी खेत की रक्षिकाएँ भी गाया करती थी‡। रघुवश¶ को पढ़ने से पता चलता है कि उसके रचनाकाल तक कवि का उज्जयिनी स्नेह काफी शिथिल हो चुका था। यदि वह उनकी जन्मभूमि होती तो यह सम्भव न था।

गंगा तथा हिमालय का प्रदेश—महाकवि कालिदास के ग्रन्थों को पढ़ने से यदि किसी स्थान के प्रति उनका सर्वतोऽधिक प्रेम प्रकट होता है तो वह है गंगायुक्त हिमालय का प्रदेश। इस प्रदेश के प्रति कवि के हृदय मे आदर है, भक्ति है, प्रेम है, वहाँ निवास के दिनो का उल्लास तथा वहाँ से प्रवास के समय की उत्कण्ठा है। विरहावस्था मे, आषाढ के प्रथम दिन§ पूर्व की ओर से उठकर, गिरिशिखरो पर वप्रक्रीड़ा करते गज के समान सुन्दर मेघ को देखकर कण्ठाश्लिष्ठ-प्रणयिजन की स्मृति से कवि व्याकुल हो जाता है। उसके नेत्रों मे आँसू छलछला आते है॥, हृदय हाथ से निकल जाता है, विवेक जाता रहता है, वह चेतनाचेतन** का भी विचार न करता हुआ, उसे ही अपना सन्देशहर बना लेता है। वह उसे मार्ग मे आम्रकूट, दशार्ण की राजधानी विदिशा, उज्जयिनी, देवगिरि, दशपुर, ब्रह्मावर्त्त और कुरुक्षेत्र की सैर कराता हुआ कनखल पहुँचा देता है। कनखल वह स्थान है जहाँ पर्वतो से

---

* प्राप्यावन्तीनुदयन कथा कोविद ग्राम वृद्धान्॥ पूर्वमेघ, श्लो० ३०॥

† नारद—राजन् श्रूयताम् महेन्द्रसन्देशः।

राजा—अवहितोऽस्मि।

नारद—प्रभावदर्शी मघवा वनगमनाय कृतबुद्धिं भवन्तं अनुशास्ति।

राजा—किमाज्ञापयति।

नारद—त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टः सुरासुरसंगरो भावी। भवाँश्च सायुगीनः सहायो नः। तेन त्वया न शस्त्रं संन्यस्तव्यम्। इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति। (विक्रमोर्वशीय ५म अंक)।

‡ इक्षुच्छायनिषीदन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्। आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥ रघु० ४। २०॥

¶ रघुवंश सर्ग ६ श्लोक ३१-३६॥

§ आषाढ़स्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्ट सानुम्, वप्रक्रीड़ापरिणत गज प्रेक्षणीयं ददर्श॥ पूर्वमेघ, श्लोक २॥

॥ मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथा वृत्ति चेतः कण्ठाश्लेष प्रणयिनि जने किं पुनः दूरसंस्थे॥ पूर्वमेघ, श्लोक ३॥

** कामार्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतना चेतनेषु, पूर्वमेघ। श्लोक ५॥

निकलकर गगा सवप्रथम समभूतल पर प्रवाहित होती है। कनखल* से आगे वह अपने दूत को गगोत्तरी और हसद्वार से गुजरकर कलाश जाने के लिए कहता ह, जिसके अक में प्रणयी के बाहुपाश में आबद्ध कामिनी की तरह अलकापुरी† सुशोभित है। इस अलका का वणन करते समय कवि के हृदय की समस्त भावना उसकी लेखनी के अग्रभाग पर केन्द्रित होगई प्रतीत होती है। मेघ को देखकर उसकी सौदामिनीसी कामिनियो, उसके इन्द्रधनुष से चित्रपटो, उसके गम्भीर घोषसी ध्वनिवाले मृदगो से युक्त अलका के मणिजटित प्रासाद उसकी आँखो के आगे नाचने लगते ह‡। उपवन कुसुमो के आभूषणो से अलकृत ललनाओ की नम क्रीडाएँ, उसे विह्वल कर डालती ह। मधुर कण्ठ से कुबेर का गुणगान करते हुए किन्नरो से युक्त वभ्राजनामक बाह्योद्यान में वार्तालाप करते हुव युगलप्रेमियो को देख वह मन मारकर रह जाता है‡।

वहाँ उसका अपना घर, उसके आगे मन्दारतरु†, स्वण कमलो से अलकृत वापिका‡, क्रीडाशल, वकुल तथा अशोक-वृक्ष§ और इन सबके बीच में कलामात्र शेष हिमाशु लेखासी उसकी विरहक्षामा‖ पत्नी इन सबको स्मरण कर उसके नेत्रो से अश्रुधारा वहने लगती है।

किन्तु यहा पर हम एक अत्यावश्यक बात कह देना चाहते ह। वह यह कि पुराणो में वर्णित इस अलका से कवि का कोई सम्बन्ध नहीं है, जिस प्रकार मेघदूत के प्रारम्भ म कवि ने रामगिरि पवत पर यक्ष को खडा करके अपने प्रवास स्थान की केवल दिशा ही दिखाई ह, वास्तविक स्थान नही। क्योकि हम अन्यत्र कह आए ह कि वास्तविक नाम लेने स काव्य का सौन्दय मन्द पड जाता है, व्यजना नही रहती। इसी प्रकार यहाँ भी कवि ने अपने अभिजन की दिशा ही बतलाई ह, उसका निकटतम निर्देश ही किया ह। कवि का यह आशय सवथा नहीं कि वह अलका का ही निवासी है। अलका की अपेक्षा भी कुछ अधिक वह उसके पास के किसी अन्य स्थान को मानता है, यह कुमारसम्भव के चतुथ सर्ग से स्पष्ट हो जाता ह। वहा लिखा ह कि वे सप्तर्षि-गण कलाशवासी शिव के स्थान से चलकर, अर्थात् कुछ उधर से कुछ पश्चिम दक्षिण की ओर, हिमालय के नगर "औषधिप्रस्थ" में पहुँचे। यह नगर सब सम्पत्तियो के आगार अलका से भी बढकर था। मालूम होता था कि स्वग की उत्कृष्टतम विभूतियो को लाकर उनसे इसकी रचना की गई थी¶। पाठक इन शब्दो को ध्यान से पढकर इससे कवि के उज्जयिनी वणन को मिलावें तो स्पष्ट विदित हो जावेगा कि उसका अनुराग इस स्थान के प्रति कहीं अधिक है। उज्जयिनी स्वग के समान या उससे कुछ कम ही थी जबकि यह नगर उससे कही बढ़कर है।

इस नगर के चारो ओर खाई थी, जिसमें गगा की धारा प्रवाहित हो रही थी। इसके साल अर्थात् चारो ओर की दीवार मणिमाणिक्यो से अलकृत तथा इसके वप्र अर्थात् दीवारो के स्थूल आधार नाना प्रकार की ओषधियो की आभा से

* तस्मादगच्छेदनु कनखल शलराजावतीर्णाम्, जह्नो कन्या सगरतनया वग सोपान पक्तिम्॥ पूवमेघ, श्लोक ५०॥

† तस्योत्सगे प्रणयिन इव स्रस्तगगादुकूला-न त्व दृष्ट्वा न पुनरलका ज्ञास्यसे कामचारिन्॥ पूवमेघ, श्लोक ६३॥

‡ विद्युत्वन्त ललितवनिता सेन्द्रचापसचित्रा, सगीताय प्रहतमुरजा स्निग्धगभीर घोषम्॥
अन्त स्तोय मणिमय भुवस्तुगमभ्र लिहाग्रा प्रासादास्त्वा तुलयितुमल यत्र तस्मैविशेष॥ उत्तरमेघ, श्लोक १॥

‡ अक्षय्यान्तभवन निधय प्रत्यह रक्तकण्ठ। उदगायद्भिधनपति यश किन्नर यत्र साथम्॥
वभ्राजाख्या विबुधवनिता वारमुख्यासहाया, बद्धालापा वहिरुपवन कामिनो निर्विशन्ति॥ उत्तरमेध, श्लोक ८॥

† यस्योपान्ते कृतक तनय कान्तया वर्धितो मे। हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दार वृक्ष॥ उत्तरमेघ, श्लोक १२॥

‡ वापीचास्मिन् मरकत शिला बद्धसोपान मार्गा। हमश्छिन्ना विकच कमल स्निग्ध वदूय नाल॥ उत्तरमेघ, श्लोक १३॥

‖ रक्ताशोकश्चल किसलय केसरश्चात्र कान्त। प्रत्यासन्नौ कुरबकवृत्ते माधवी मण्डपस्य॥ उत्तरमेघ, श्लोक १५॥

§ अधिक्षाया विरहशयने सनिपण्णकपार्श्वाम्। प्राचीमूले तनुमिवकलामात्र शेषा हिमाशो। उत्तरमेघ, श्लोक २६॥

¶ त चाकाशमसिश्यामामुत्पत्य परमपम। आसेदुरोपधीप्रस्थ मनसा समरहस॥ कुमार, सग ६—३७॥
अलकामति वाह्यव वसति वसु सपदा। स्वर्गाभिष्यन्द वमने कृत्वेवोपनिवेशितम॥ कुमार०, सग ६—३७॥

जगमगा रहे थे* । इसके आगे कवि ने प्रायः उन्ही शब्दो तथा उन्ही भावो में इसका वर्णन किया है जिनमें उसने मेघदूत की अलकापुरी का किया था। दोनो वर्णन तुलना के योग्य है। नीचे हम पाठको के मनोरंजनार्थ दोनो को उद्धृत किए देते हैं† । सबसे अन्त मे कवि कहता है कि "हिमालय के उस कमनीय नगर को देखकर वे दिव्य मुनि भी चकित हो गए कि जिन पुण्यो से हम केवल स्वर्ग ही प्राप्त कर सके वे तो केवल वञ्चना मात्र ही रहे‡ ।" यह है कवि के भावावेश की पराकाष्ठा। इसेही किसी ने दूसरे शब्दों मे कहा है—"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।" ध्यान रहे कि हिमालय का यह नगर देवलोक मे नही, इसी भूमि पर है। हिमालय कहता है—"हे मुनिगण! आपने मेरे गृह मे पधारकर मेरा गौरव बढ़ाया है, जिसके कारण मै अपने आपको मूर्ख होते हुए भी बुद्धिमान्सा, लोहमय होता हुवा भी हिरण्मयसा और भूमिस्थ होता हुवा भी स्वर्गारूढ़सा समझने लगा हूँ।"⁑ हे मुनियो! अपने शिर पर धारण किये हुए गंगा के जलप्रपात तथा आपके चरणोदक से मै पवित्र हुआ। अबसे सब प्राणी आत्मशुद्धि के लिए मेरा आश्रय लिया करेगे क्योकि जिस स्थान को आप जैसे सज्जन अपनी पदधूलि से पवित्र कर देते है वही तीर्थ हो जाता है। आपके चरणस्पर्श से मेरा यह स्थावररूप तथा आपके आज्ञानुग्रह से मेरा यह चेतनरूप—दोनो ही आज कृतकृत्य हुए ⁂ । मुझसे आपकी क्या सेवा बन सकती है? मै आपके लिए क्या नही कर सकता? मालूम होता है कि मुझे केवल कृतार्थ करने के लिए ही आपने यहाँ पधारने का कष्ट किया है ⁂ । स्वयं मैं, मेरी

---

* गंगा स्त्रोतः परिक्षिप्तं वप्रान्तज्वलितौषधि। बृहन्मणिशिलासालं गुप्तावपि मनोहरम् ॥ कुमार०, सर्ग ६—३८॥

† (I) (क) यत्र कल्पद्रुमैरेव विलोलविटपांशुकैः। गृहयंत्रपताकाश्रीरपौरादरनिर्मिताः॥ कुमार०, सर्ग ६—४१॥

(ख) लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्याम्। एकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥ उत्तरमेघ। श्लोक ११॥

(II) (क) शिखरासक्तमेघानां व्यज्यन्ते यत्र वेश्मनाम्। अनुगर्जितसंदिग्धाः करणैर्मुरजस्वनाः॥ कुमार०, सर्ग ६—४०।

(ख) विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः, संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः, प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥उत्तर मेघ। श्लोक १॥

(III) (क) भ्रूभेदिभिः सकम्पोष्ठैर्ललितांगुलितर्जनैः। यत्र कोपै कृताः स्त्रीणामाप्रसादर्थिनः प्रियाः॥ कुमार, सर्ग ६—४५॥

(ख) सभ्रूभंगप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघैः। तस्यारंभश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः॥ उत्तरमेघ। श्लोक १०॥

‡ अथ ते मुनयो दिव्याः प्रेक्ष्य हैमवतं पुरम्। स्वर्गाभिसंधि सुकृतं वञ्चनामिव मेनिरे॥ कुमार सर्ग ६—४७॥

⁑ मूढं बुद्धमिवात्मानं हैमीभूतमिवायसम्। भूमेर्दिवमारूढं मन्ये भवदनुग्रहात्।
अद्य प्रभृति भूतानामधिगम्योऽस्मि शुद्धये। यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते॥ कुमार०, सर्ग ६—५५-५६॥

⁂ अद्य प्रभृति भूतानामधिगम्योऽस्मि शुद्धये। यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते॥ कुमार०, सर्ग ६—५६॥
अवैमि पूतमात्मानं द्वयेनैव द्विजोत्तमाः। मूर्ध्नि गंगाप्रपातेन धौतपादाम्भसाच वः॥" कुमार०, सर्ग ६—५७॥
जंगमं प्रैष्यभावे वः स्थावरं चरणांकितम्। विभक्तानुग्रहं मन्ये द्विरूपमपि मे वपुः॥ कुमार०, सर्ग ६—५८॥

⁂ कर्तव्यं वो न पश्यामि स्याच्चेत् किं नोपपद्यते। मन्ये मत्पावनामैव प्रस्थानं भवतामिह। कुमार०, सर्ग ६—६१॥

कालिदास की जन्म भूमि

धर्मपत्नी, मेरे कुल की सवस्व यह मेरी कन्या–सब आपकी सेवा में उपस्थित ह। बस आज्ञा कीजिए*। इसके उत्तर में ऋषि बोले—तुमने जो कुछ कहा सब ठीक है, तुम्ह यही शोभा देता है। तुम्हारा हृदय भी तुम्हारे शिखरा के समान ही समुन्नत ह। स्थावररूप तुम्ह शास्त्रा म साक्षात् विष्णु कहा गया है। यह ठीक ही है, क्योंकि तुमने चराचर का धारण किया हुवा है †। अपने विमल विस्तार से निरन्तर फैलनेवाली, समुद्र तक व्याप्त तुम्हारी कीर्तियाँ तथा नदियाँ लोक को पवित्र कर रही ह। परमेष्ठी महादव का तथा तुम्हारा आश्रय प्राप्त कर त्रिलोक पावनी गगा अपने आपको धन्य मानती है ‡। यज्ञ भाग को प्राप्त करनेवाले देवगणा म तुम्हारी भी गणना होती ह, तुम्हारे समक्ष सुवर्णमय शिखरोंवाला सुमेरु मन्दप्रभ ह ‡। अस्तु, हम जिस काय के लिए आये ह वह वस्तुत तुम्हारा ही ह किन्तु, उसे तुम्हारे सम्मुख उपस्थित करने का श्रेय हम अवश्य मिलेगा ‡। तदनन्तर ऋषिया ने अनेक प्रकार से शिव का परिचय देते हुए कहा कि स्वय वे शम्भु तुम्हारी कन्या का पाणिग्रहण करना चाहते ह और इसी प्राथना के लिए उन्हाने हम तुम्हारी सेवा म भेजा ह। अत जिस प्रकार वाणी अथ से युक्त ह तुम भी पावती को शिव से युक्त करदो। अपनी पुत्री योग्य वर को देकर माता पिता निश्चिन्त हो जात ह ‡। तुम्हारी कन्या के बड भाग्य ह कि सभी देवना भी शिव से दूसर नम्बर पर इसके ही चरणा में प्रणाम किया करगे। वधू तुम्हारी कन्या, देनेवाले तुम, माँगनेवाले हम और वर स्वय शम्भु–तुम्हारे कुल का इससे अधिक गौरव क्या हो सकता है§! जो किसी की स्तुति नहीं करता किन्तु जिसकी स्तुति सब करत हं, जो किसी की वन्दना नहीं करता, किन्तु जिसकी वन्दना सब करते ह उससे अपनी कन्या का सम्बन्ध कर तुम विश्वगुरु के भी गुरू बन जाओ‡।

---

* एते वयममीदारा कन्येय कुलजीवितम। ब्रूत येनात्र व कायमनास्था वाह्यवस्तुषु॥ कुमार०, सग ६—६३॥

† उपपन्नमिद सवमत परमपित्वयि। मनस शिखराणाञ्च सदृशी ते समुन्नति॥ कुमार, सग ६—६६॥
स्थाने त्वां स्थावरात्मान विष्णुमाहुस्तथाहिते। चराचराणा भूतानां कुक्षिराधारता गत॥ कुमार०, सग ६—६७॥

‡ अच्छिन्नामलसन्ताना समुद्रोम्यनिवारिता। पुनन्ति लोकान् पुण्यत्वात् कीतय सरितश्चते॥ कुमार०, सग ६—६९।
यथव श्लाघ्यते गगा पादेन परमेष्ठिन। प्रभवेण द्वितीयेन तथवोच्छिरसा त्वया॥ कुमार०, सग ६—७०॥

‡ यज्ञभागभुजां मध्ये पदमातस्थुषा त्वया। उच्च हिरण्मय शृग सुमेरोर्वितथी कृतम्॥ कुमार०, सग ६—७२॥

‡ तदागमनकाय न गुणकार्यं तवन तत्। श्रेयसायुपदेशात्तु वयमत्रांशभागिन॥ कुमार०, सग ६—७४॥

‡ स ते दुहितर साक्षात् साक्षी विश्वस्य कमणाम्। वृणुते वरद शम्भुरस्मत् सक्रामित पद॥ कुमार०, सग ६—७८॥
तदयमिव भारत्या सुतया योक्तुमहसि। अशोच्या हि पितु कन्या सद्भर्तृप्रतिपादिता॥ कुमार०, सग ६—७९॥

§ प्रणम्यशितिकण्ठाय विबुधास्तदनन्तरम्। चरणौरञ्जयन्त्यस्याश्चूडामणि मरीचिभि॥ कुमार०, सग ६—८१॥
उमावधूभवान् दाता याचितार इमे वयम्। वर शम्भुरलह्येष त्वत् कुलोद्भूतये विधि॥ कुमार०, सर्ग ६—८२॥

‡ अस्तोतु स्तूयमानस्य वन्द्यस्यानन्यवन्दिन। सुतासम्बन्ध विधिना भव विश्वगुरोर्गुरु॥ कुमार०, सग ६—८३॥

श्री वागीश्वर विद्यालंकार, साहित्याचार्य

इस प्रकार हमने देख लिया कि कवि के लिए हिमालय केवल मिट्टी और पत्थरों का ढेर ही नही, वह देवतात्मा भी है–देवता रूप है*। वह उसकी आराध्या देवी भगवती पार्वती का ही गुरू अर्थात् पिता नही किन्तु विश्वभर के गुरू स्वयं शिव का भी गुरू है। त्रैलोक्य नमस्कृत महादेव उसे सिर झुकाकर प्रणाम करते है। वे उसे अपना श्वसुर बनाकर अपने आपको कृतार्थ मानते है†।

गंगायुक्त हिमालय के इस थोड़े से प्रदेश के प्रति कवि का पक्षपात रघुवंश में भी प्रकट हुए बिना नही रह सका। रघु की विजयवाहिनी सब देशो को पादाक्रान्त करती हुई फारस, हूण देश और कम्बोज होती हुई, पंजाब को पारकर अन्त में कवि के इसी गौरी-गुरु हिमालय के चरणों में आ पहुँची‡। कवि का स्वदेशानुराग इसे मगध की तरह बिना निर्देश किये ही आगे बढ़ने नही देता। वह इसकी पराजय भी नही दिखलाता। अत: कवि लिखता है :–"रघु की घुड़सवार सेना हिमालय पर चढ़ने लगी। घोडों के सुमो के आघात से उठी रेणु से मानो वह उसके शिखरों का अभिवर्धन-अभिनन्दन कर रही थी। वहाँ कन्दराओं मे सोये हुए सिंहों ने, सैन्यघोष से निद्रा भंग होने पर एकबार गर्दन फेरकर निर्भयता से उस ओर देखा और फिर लेट गए‡‡। मानो उन्होंने यह कहा कि हम भी तुम्हारी तरह ही वीर है, तुम्हारी कुछ परवाह नही करते। तुम हमें न छेड़ो, हम तुम्हें कुछ न कहेगे। यहाँ कवि ने जिस कौशल से अपने प्रदेश के पुरुष-सिहो की आनबान का वर्णन कर दिया है वह केवल सहृदय ही समझ सकते है। यह हिमालय का कौनसा प्रदेश है–यह सन्देह किसीको न रह जाए इसलिए कवि कहता है कि "भूर्जपत्रो में मर्मरित तथा वेणुओं से वंशी ध्वनि करनेवाले तथा गंगा के जलकणों से सुशीतल मारुत उसकी सेवा कर रहे थे*। यहाँ से कुछ आगे बढ़ते ही रघु का सघर्ष पर्वतीय गण राज्यों से हुआ*।

राजा दिलीप वशिष्ठ ऋषि की धेनु नन्दिनी को चराने के लिए प्रतिदिन वन मे जाया करते थे। एक दिन राजा की परीक्षा करने के लिए वह गौरीगुरू हिमालय की उस घाटी मे जा पहुँची, जहाँ गंगा के प्रपात के निकट हरी हरी घास लहलहा रही थी। कहाँ हिमालय और गंगा, एवं कहाँ अयोध्या तथा उसके निकट ही वशिष्ठ का आश्रम ? कुछ समझ मे नही आता कि मामला क्या है। गंगा और हिमालय ने कवि की कल्पना पर कुछ ऐसा प्रभाव कर रक्खा है कि उसे सर्वत्र वे ही दीखते है। कवि विशाखदत्त ने राजा नन्द की ऐसी ही प्रेमदशा का वर्णन राक्षस के इस उद्गार मे किया है––

"अज्ञासीः प्रीति योगात् स्थितमिव नगरे राक्षसानां सहस्रम्"

अभिज्ञान शाकुन्तल के छठे अंक मे मछुए द्वारा अँगूठी मिल चुकने के पश्चात् राजा को सब पुरानी बाते एक एक कर याद आ रही है। "किस प्रकार मैने शकुन्तला का तिरस्कार किया, किस प्रकार वह बेचारी अपने साथियों की ओर बढ़ी ही थी कि उसी समय कण्व के शिष्य शारंगरव ने उसे निष्ठुरता से डाँट दिया और तब किस प्रकार अश्रुपूर्ण कातर-नेत्रों से वह मेरी ओर ताकती रह गई, इसकी कटुस्मृति मेरे हृदय को विष-दग्ध शर की तरह छेद रही है।" इसी समय

---

* अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः॥ कुमार०, सर्ग १, श्लोक १॥

† हरीर्मानभूद्भूमिधरो हरेण, त्रैलोक्य वन्द्येन कृत प्रणामः॥ कुमार०, सर्ग ७, श्लोक ५४॥

‡ ततो गौरी गुरुं शैलं मारुरोहाश्वसाधनः। वर्धयन्निव तत् कूटानुद्धूतैर्धातु रेणुभिः॥ रघु०, सर्ग ४, श्लोक ७१॥

‡‡ शशंस तुल्य सत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसंभ्रमम्। गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम्॥ रघु०, सर्ग ४, श्लोक ७२॥

* भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचक ध्वनि हेतवः, गंगाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे॥ रघु०, सर्ग ४, श्लोक ७३॥

* तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत्॥ रघु०, सर्ग ४, श्लोक ७७॥

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः। गंगाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरो गह्वरमाविवेश॥
रघु०। सर्ग २-२६॥

इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता मुहुस्तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसर कलुषामर्पितवती मयिक्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम्॥ शाकु० ६॥ ९॥

उसके बनाये शकुन्तला के चित्र को लेकर परिचारिका चतुरिका वहाँ आ जाती है। राजा देखकर कहता है कि यह तो अभी अधूरा ही ह। वह तूलिका मँगवाता है। अपने मित्र माधव्य के यह पूछने पर कि इसमें अब और क्या बनाना शेष है? राजा उत्तर देता है कि सुनो—'पहले तो इसमें मालिनी नदी बनानी ह, जिसके पुलिन में हस-युगल केलि कर रहे ह। उसके दोनो प्रान्तो में गौरीगुरु हिमालय के पावन टीले अकित करने ह। और फिर जिसकी शाखाओ में मुनियो के वल्कल वस्त्र लटक रहे हैं ऐसे तपोवन तरु के नीचे कृष्णमृग के सीग से अपने वामनेत्र को खुजाती हुई एक हरिणी का भी चित्र बनाना चाहता हूँ *। कवि चाहता तो चित्र को पहले ही पूर्ण बनवा सकता था, ऐसा न करके उसने पीछे से गिनाई इन वस्तुओ पर विशेष बल ही दिया है। नही तो गौरी-गुरु के प्रति कवि का असाधारण अनुराग पाठको के ध्यान मे कसे आता?

कुमार-सम्भव, शाकुन्तल और मेघदूत की तरह विक्रमोवशीय नाटक की घटना का मुख्य स्थान भी हिमालय ही है। उवशी आदि अप्सराएँ कुबेर के यहाँ से लौट रही थी कि मार्ग में उनपर हिरण्यपुरवासी केशी दानव ने आक्रमण कर दिया। उसने उवशी तथा चित्रलेखा को वन्दी बना लिया। शष अप्सराओ के क्रन्दन कोलाहल को सुनकर सूर्य की पूजा करके लौटता हुआ राजा पुरुरवा अचानक वहाँ आ निकला। उसने युद्ध करके असुर के हाथ से उवशी का उद्धार किया। राजा की वीरता पर वह मुग्ध होकर उसके प्रिय पाश में बद्ध हो गई। अनेक विघ्नो के बाद तृतीय अक में दोनो प्रेमी एक दूसरे को पा सकने में सफल हुए। चतुर्थांक में राजा पुरुरवा उवशी को साथ लेकर हिमालय में गन्धमादन पवत पर पहुँचता है। वह गगा के तट पर खेलती हुई किसी विद्याधर कुमारी को देखने लगता है इससे रुष्ट होकर उवशी कार्तिकेय के तपोवन में जा निकलती ह, वहाँ जाते ही वह लता बन जाती ह। राजा उसे सवत्र ढूढता फिरता है, अन्त में सगमनीय मणि के प्रभाव से वह पुन अपनी प्रियतमा को प्राप्त कर लेता है। इत्यादि।

कुमार-सम्भव के आधार पर पहले भी बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अब दो पद्य और देकर इस प्रसग को समाप्त करते ह। कुमार सम्भव के प्रथम सग का प्रारम्भ ही हिमालय की महिमा के गान से होता है। कुछ दूर चलकर कवि लिखता ह कि "भागीरथी के झरने के जलकणो को वहन करनेवाले, देवदारु के वनो को पुन पुन आन्दोलित करते हुए, मयूरो को प्रचवित करनेवाले जिसके पवन को शिकार के पीछे भागते हुए किरातगण सेवन किया करते ह†। इसी प्रथम सग के अन्त में कवि पुन लिखता है—"वे गजचमधारी, सयतेन्द्रिय, अपने गगा प्रवाह से देवदारु वन को आप्लावित करनेवाले महादेवजी कस्तूरीमृग की सुरभि से सुवासित, किन्नरगणो की मन्द सगीत ध्वनि से मुखरित, हिमगिरि के उस प्रदेश में, समाधिस्थ होग ये।" (कुमार १-५३)।

ऋतुदश्यादि—इस प्रकार हमने देख लिया कि केवल मालविकाग्निमित्र नाटक तथा ऋतुसहार काव्य को छोडकर इस कवि की कोई भी रचना ऐसी नही जिसमें गगायुक्त हिमालय के वणन को महत्त्व न मिला हो। अब हम कवि के ग्रन्थो पर सक्षेप में इस दृष्टि से विचार करते ह कि उनमें किस प्रदेश के ऋतु दृश्यादि का वणन प्राय मिलता है।

ऋतुसहार—पहले भी कहा गया है कि ऋतुसहार की रचना कवि ने सम्भवत उज्जयिनी में रहकर की है। वह उसकी प्रारम्भिक कृति ह। हमारा अनुमान है कि कवि लगभग १८-२० वष की आयु मे स्वदेश छोडकर मध्य भारत पहुँचा ह, और उन्ही दिनो कविता के माग में अनभ्यस्तपदन्यासा, अव्यक्तवण रमणीयवच प्रवृत्ति उसकी शिशुप्रतिभा इसमें लडखडाती तथा तुतलाती दृष्टिगोचर होती है। ऋतुसहार म एक दो स्थान पर विन्ध्य‡ का नाम लेकर वणन किया

---

* कार्यासकत लीन हसमिथुना स्त्रोतोवहा मालिनी। पादास्तामभितोनिषण्ण हरिणा गौरीगुरो पावना ॥
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरो निर्मातुमिच्छाम्यध । शृगे कृष्णमृगस्य वामनयन कण्डूयमानां मृगीम्॥ शाकु० ६।१७॥

† भागीरथी निझरसीकराणा वोढा मुहु कम्पित देवदारु। यद्वायुरन्विष्ट मृग किरातरासेव्यते भिन्न शिखण्डि बह॥
कुमार० सग १ पद्य १५॥

‡ जलभरविनतानामाश्रयोऽस्माक मुच्च रयमिति जलसेकस्तोयवास्तोयनम्रा।
अतिशयपरुषाभिर्ग्रीष्मवह्ने शिखाभि समुपजनिततापं ह्लादयन्तीव विन्ध्यम्॥ ऋतुस० २।२७॥

गया है। ऋतुवर्णन भी ऐसा है जो प्रायः उत्तर भारत में नहीं हो सकता। कवि ने लिखा है—"कि शरद् ऋतु में नारियाँ प्रहृष्ट होकर अपने स्तनमण्डलों को चन्दनलेप तथा मुक्ताहारो से एवं श्रेणीतट को रशनाकलापों से अलंकृत कर रही है।* यहाँ तक कि क्षेत्रों मे सस्य के नवप्रवालोद्गम से रमणीय, पके हुए धान के खेतो से सुशोभित, कमलो को जला देनेवाले और तुषारवर्ती हेमन्त के आ जाने पर भी कुछ मनचली स्तनशालिनी विलासिनियाँ अपने वक्षःस्थल को चन्दनराग और तुषार, कुन्द तथा चन्द्र के समान सुन्दर मुक्ताहारो से सजाती ही चली जाती है। यद्यपि वहुतसी दूसरी प्रमदाओ ने वाहुओ मे से अनन्त, कमर मे से काञ्चीकलाप और पैरों मे से नूपुरो को उतार दिया है†। इस हेमन्त मे भी प्रफुल्ल नीलोत्पलो से अलंकृत, मदमत्त राजहंसों से सुशोभित, निर्मल एवं शीतल जलवाले सरोवर लोगों के हृदयो को हरते रहते हैं‡। हिमालय तथा गंगा के निकटवर्ती उत्तर भारत मे न तो यत्रतत्र वडे वड़े सरोवर ही देखने मे आते है और न हेमन्त में लोग उनका आनन्द-लाभ कर सकते है। ऋतुसंहार मे हेमन्त तथा शिशिर मे भी शीतल ओस के ही टपकने तक का वर्णन है। हिमों के जमने तथा घने कुहरों से गगनमण्डल के घटाटोप हो जाने का नही। किन्तु प्रकृति का यह रूप हमें कवि के केवल एक ही ग्रन्थ ऋतु-संहार मे उपलब्ध होता है अन्यत्र नही। और इसका कारण भी हमने स्पष्ट कर ही दिया है कि इसमें कवि ने विशेषतया उसी प्रदेश की ऋतुओं का वर्णन किया है। कुमार-सम्भव, मेघदूत और कही कही रघुवंश मे भी ऋतुओं का जो रूप हमारे सामने आता है और जोकि कवि के नेत्रो मे, हृदय मे, कल्पना मे वसा हुआ है वह दूसरा ही है। वह तो वही है जो गंगायुक्त हिमालय के प्रदेशों मे झलकता है। मेघदूत के उत्तरभाग का छठा पद्य देखिये—"जिस नगरी के गगनचुम्वी महलों की ऊपर की वैठक मे पवन के साथ चुपचाप प्रवेशकर और वहाँ के सुन्दर पदार्थों—चित्रादिकों को अपने जलकणों से विकृत करके मानो शंकाकुल हुए तुम जैसे मेघ, धूमराशि का वेष धारण कर, जालमार्गों द्वारा सफाई से खिसक जाते है⁑। मकानों के अन्दर मेघों के इस प्रकार घुस आने और निकल जाने का वर्णन हिमालयवासी कवि ही कर सकता है, अन्य नही।

रघुवंश के चौदहवे सर्ग के ३७वे पद्य में कवि श्रीराम के मुख से पुनः कहलवाता है—"देखो तो! भगवान् सूर्य से उत्पन्न, सदाचार से उज्ज्वल, राजर्षिवंश मेरे व्यवहार के कारण इस प्रकार कलंकित होने को है, जैसे मेघवात के संस्पर्श से दर्पण⁂!" स्वयंवर-सभा मे परास्त हुए कुछ जी-जले राजाओं ने राह मे असहाय समझकर अज को घेर लिया। घोर युद्ध प्रारम्भ हुआ "शत्रुओ के चलाए हुए अस्त्र-जाल से उसका रथ आच्छन्न हो गया। उसकी केवल ऊँची ध्वजा ही दूर से दीख रही थी, मानो कुहरे से ढके हुए दिन के पूर्वभाग मे ऊपर से थोडासा सूर्य चमक रहा हो⁂⁑।" शत्रुओं को परास्त करके

---

* हारैः सचन्दनरसैः स्तनमण्डलानि, श्रोणीतटं सुविपुलं रसनाकलापैः। पादाम्बुजानिकलनूपुरशेखरैश्च नार्यः प्रहृष्ट-मनसोऽद्यविभूषयन्ति॥ ऋतुसं०॥ ३।२०॥

† मनोहरैश्चन्दनरागगौरैस्तुषार कुन्देन्दुनिभैश्च हारैः। विलासिनीनां स्तनशालिनीनामलं क्रियन्ते स्तनमण्डलानि॥ ऋतुसं० ४।२॥

न बाहुयुग्मेषु विलासिनीनां प्रयान्ति संगं वलयांगदानि। नितम्वविम्वेषु नवं दुकूलं तन्वंशुकं पीनपयोधरेषु॥ ४।३॥
कांचीगुणैः कॉचनरत्नचित्रैर्नो भूषयन्ति प्रमदा नितम्बम्। न नपुरैर्हंसरुतं भजद्भिः पादाम्वुजान्यम्बुजकान्तिभांजि।४।४।

‡ प्रफुल्ल नीलोत्पल शोभितानि सोन्मादकादम्ब विभूषितानि, प्रसन्नतोयानि सुशीतलानि सरांसि चेतांसि हरन्ति पुंसाम्॥ ऋतु० सर्ग ४ पद्य ९॥

⁑ नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमीरालेख्यानां सलिलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्यः॥
शंकास्पृष्टाइव जलमुवस्त्वादृशा जालमार्गै र्धूमोद्गारानुकृति निपुणा जर्जरा निष्पतन्ति॥ मेघ० उत्तर। पद्य ६॥

⁂ राजर्षिवंशस्य रवि प्रसूते रूपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम्। मत्तः सदाचारशुचेः कलंकः पयोदवातादिव दर्पणस्य॥ रघु० सर्ग १४ पद्य ३७॥

⁂⁑ सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथः परेषांध्वजाग्रमात्रेणबभूवलक्ष्यः। नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किंचित्प्रकाशेन विवस्वतेव॥ रघु० सर्ग ७ पद्य ६०॥

कवि कालिदास

महाकाल कालेश्वर की ऐतिहासिक आरती,
कैसे थी सवारती वीणा पाणि।
भारती !
ग्राम वृद्ध करते उदयन की चर्चा,
किन्तु, कवि !
तुमने कहीं न की क्यों
उस मानव की अर्चा
जिसका नामधेय पूछोगे हमसे तुम ?
जो था भारत के भाल पर
सोभाग्य कुकुम !
प्रबल प्रताप,
जिसके हुकार से अरि उठते थे काँप !
यह भी बताना होगा क्या ?
दुर्मद दुरत यवनों का आक्रमण
त्रस्त व्यस्त वनगण !!
छाया था तिमिर सघन,
उठी घोर प्रलय घटा,
कठगत प्राण,
द्वार पर था खडा मरण !!!
एक पदाघात से,
वज्र झझावात से,
किसने विकीर्ण किये यवनों के कालधन ?
जाके टकराये वे हिमगिरि के शृग से !
चूर्ण चूर्ण होके बिखरा उनका दस अभिमान !
गाने लगे पुलकित दिगत—
परम पराक्रम विक्रमादित्य का विजय गान !
यशो-गान !!
विक्रम दिवस स्मारक यह
विक्रम का सवत्सर !
उस दिन से ही पुर सर !
उज्जयिनी अवन्तिका,
सस्कृति का पलना,
कलना जहाँ होती थी
नक्षत्रों की दिन-रात !
भूल गए सभी बात ?
अमरसिंह, घटखर्पर वररुचि
वराहमिहिर, धन्वन्तरि
क्षपणक आदि
नवरत्नों की नव्यसभा
विगलित करती थी
देवों की दिव्य प्रभा ?
उसकी भी न दे पाये तुम एक विभा ?
होता जहाँ रहता था दिन दिन हर्षोत्सव,
निशि-निशि दीपोत्सव !
वैभव विभूतियाँ करती थीं
रँगरेलियाँ !
अठखेलियाँ !!
इन्द्रधनु वन जातीं दिग्वधुएँ
रत्नों के रग से
कौतुक प्रसग से
वैभव तरग से !
आज हो रहा है उस मानव का कीर्तिगान
जिसने भुज विक्रम से दिया था हमें अभयदान,
प्राण-दान !
महात्राण !
अवर में गूँथ दिये थे यहीं
सुख-शाति के सुखद वितान !
गरिमाएँ महिमाएँ लेती थीं मदिर तान !
जहाँ आज भासमान
काल फण पर मणि समान
अमर तुम्हारे गान !!
कवि-कुल-गुरु कालिदास !
आज यदि होते यहाँ,
हर्ष भार ढोते यहाँ,
महाप्राण ! लिखते अवश्य तुम
कोई मधुर महागान,
जिसका होता गीत-भार—
'भारतीय सस्कृति के अभ्युत्थान !
विक्रम महान् !'
आज जहाँ तक भी तुम्हारे,
कवि कालिदास—
काव्य की सुरभि प्रसार
वहाँ तक—
चक्रवर्त्ति सम्राट् !
अमिट है तुम्हारे विजयकेतु का विस्तार !!!

मेघदूत—कामरूप पुरुष

श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल एम० ए०, पी०-एच्० डी०

१

मेघ अनेक कौतुकों के आधान का हेतु* है। उसके आने से प्रकृति में न जाने कितनी नवीन अभिलाषाओ का उदय होता है, कितनी तीव्र विश्वतोमुखी चेतना सब जगह फूट पडती है। सबही मेघ के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करते है। किन्तु सामान्यतया मेघ को जड समझा जाता है। उसके स्वरूप मे ऐसी कौनसी बात है जो चेतन-अचेतन सभी प्राणी मेघ का स्वागत करने पर उतारू हो जाते है ? वर्षाऋतु के नए खिलते हुए सौन्दर्य को जिसने एकबार भी देखा है और मननपूर्वक देखकर उस आनन्द की बहिया मे अपने आपको बह जाने दिया है, वह अनुभव के साथ कह सकता है कि सावन-भादो का उमड़ा हुआ जीवन कवि की कोरी कल्पना नही है, बल्कि जामुनो के रस-निर्भर होने, बलाकाओ के काले-काले बादलो मे ऊँची उड़ान भरने और गम्भीरा के इतराने मे एक विश्वव्यापी परिवर्तन और सच्चाई है, जो प्रकृति के साथ साथ मनुष्य के मन को भी मस्त कर देती है। इनके स्रोत का खोजी प्रत्येक सहृदय है, वह प्रकृति की पाठ्य पुस्तक मे से ही मेघ के नाना-स्वरूपो का अध्ययन कर लेता है। उसके लिए मेघदूत का सारा वर्णन एक खण्ड-काव्य मे कैसे समा सकता है ? मेघ-काव्य की व्याख्याएँ अनन्तकाल तक होती रहेगी। प्रकृति स्वय ही हर वर्ष मेघदूत पर महाभाष्यो की रचना करती है।

मेघ के वर्ण कितने प्रकार के हो सकते है, इसे कोई कवि कहाँ तक लिखकर बताएगा। कज्जल के पहाड़ और चिकने घुटे अंजन (१।५९)† की आभारूप जो उपमान है, वे मेघ की सार्वभौम वर्षाकालीन श्री‡ के वर्णन के लिए प्रतीक मात्र है। पर्वतों मे, घाटियो मे, वनो मे, गाँवों मे, आठ पहर के भीतर सदा बदलनेवाली कान्ति का अध्ययन तो प्रकृति का निरीक्षक सहृदय पाठक ही कर सकता है। इसी प्रकार बिजली के चमकने और बादल के गरजने को भी जहाँ तक कहते बना कवि ने कहा है। नदी तीरो के उपान्त भाग मे जो सुभग स्तनित होता है§, पर्वत-कन्दराओ मे आमन्द्र प्रतिध्वनि के कारण

* तस्य स्थित्वा कथमपिपुरा कौतुकाधानहेतोः। मेघ० १।३।

† स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे—मेघदूत।

‡ इष्टान् देशाञ्जलदविचर प्रावृषा सम्भृतश्रीः—मेघ० २।५२।

§ तीरोपान्तस्तनित सुभगं—मे० १।२४।

मेघदूत—कामरूप पुरुष

जो मुरज ध्वनि होती है*, तथा जो श्रवण परुष† और स्निग्ध गम्भीर घोष‡ हैं, उनका वर्णन करके भी कालिदास ने मेघ के स्तनयित्नुरूप के सामने विराम-चिह्न नहीं लगा दिया है। जब तक प्रकृति में मेघ गरजेंगे तभी तक कविकृत वर्णना की नई नई व्याख्याएँ होती रहेंगी। मेघदूत के सम्पूर्ण रहस्य को व्याख्याओं द्वारा प्रकाशित कर देना दक्षिणावर्तनाथ, अरुणगिरिनाथ और मल्लिनाथों के वश की बात नहीं है।

यह तो मेघ के स्थूल रूप की बात हुई, उसका अभिलाषाओं के नये नये बीज बोनेवाला स्वरूप तो और भी गम्भीर और अज्ञेय है। यथार्थ में कवि को मेघ के कौतुकाधान रूप से ही विशेष प्रयोजन है। उसीके सहारे वह चेतनाचेतन के भेद को भुलाकर प्रकृति-व्यापी एकता का दिग्दर्शन कराना चाहता है। हमारे यक्ष ने पहले आँख उठाकर मेघ को वप्रक्रीडा में लगे हुए हाथी के समान ही देखा। इस दर्शन में मनोभावों का बिलकुल सहयोग न था, वह केवल इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान था। लेकिन मेघ मनोभावों पर ही प्रभाव डालनेवाला है। उसके कौतुकाधान हेतु रूप के सामने कुछ देर खड़े रहने पर यक्ष की जागरूकता बढ़ी। पहले केवल इन्द्रियाँ काम करती थीं, अब मन में उथल-पुथल हुई। यक्ष की उन्हीं आँखों में आँसू भर आए—अन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।

रामगिरि के आश्रम में बैठे बैठे उसके मन ने अलका की दौड़ लगाई। दुरगम और वेगशाली मन के लिए समय की अपेक्षा नहीं है। शरीर स्थूल है, वही भर्ता के शाप से बँध सकता है, मन तो शाप की दशा में भी स्वतन्त्र है। फिर वह मन आठ महीनों की साधना में तप चुका है, उसकी अनुभव-योग्यता और स्फुरण प्रतिभा बहुत उत्कृष्ट हो गई है। उसने पहले इस शाश्वत नियम का आविष्कार किया—मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः

अर्थात्, मेघ के देखने पर संयोगीजनों का चित्त भी दूसरी तरह का हो जाता है, फिर उनका तो कहना ही क्या जो वियोगी है—कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।

अर्थात्, जिन्होंने अपने सहचर मीत से दूर बसेरा लिया है उनके लिए तो वर्षाकाल अति दूभर है। यक्ष को जैसे ही कण्ठालिंगन प्रणयवती भार्या का स्मरण हुआ, उसकी विह्वलता बढ़ी और देश का व्यवधान उसके लिए असह्य हो उठा। हा, कौनसा ऐसा अपराध है जिसके कारण उसे निम्न लिखित दण्ड मिले—सोऽतिक्रान्तः श्रवण विषयं लोचनाभ्यामदृष्टः देश की बाधा पर विजय पाने का एक मार्ग तो यह था—

"यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानाम्।
मन्द्रस्निग्धध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि। मेघ० २।३६।

अर्थात्, मेघ का शब्द सुनकर जैसे विप्रोषित पथिकों के समूह अपनी पतिव्रता भार्याओं की कर्कश रूक्ष-वेणी-मोक्ष करने की इच्छा से घरों को लौट पड़ते हैं, वैसेही यक्ष भी अलका को वापिस चला जाता। परन्तु यह महीना सावन का था। यक्ष का शापान्त होने में चार मास की देरी थी। यक्ष की मुक्ति तो तब होगी जब शारंगपाणि विष्णु शेष की शय्या से उठेंगे (शापान्तोमे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ)। इसलिए उसके सामने एक ही उपाय रह गया। उसके द्वारा यद्यपि प्रत्यक्ष सम्मिलन तो नहीं हो सकता था, किन्तु कुछ कुछ वैसे ही आनन्द की अनुभूति सम्भव थी—

कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात्किंचिदून

---

* निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत् कंदरेषु ध्वनि स्यात्। संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्र। मेघ० १।५६। इस श्लोक में तथा कुर्वन्सन्ध्या-बलि-पटहतां शूलिन श्लाघनीयाम्। मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यते गर्जितानाम्। (मे० १।३४) श्लोक में मेघ को उपदेश है कि वह अपने स्वर और शब्द को शिवार्पण करके सफल करे। अद्रिग्रहण गुरुभिर्गर्जित —मे० १।४४।

† श्रवणपरुष गर्जित—मे० १।६१।

‡ स्निग्धगम्भीरघोषम्—मे० २।१।

मेघदूत का यक्ष

(चित्रकार श्री रामगोपाल विजयवर्गीय, जयपुर)

अर्थात्, उसके जी मे यह आया कि दयिता के प्राणों की रक्षा के लिए अपने किसी मित्र के द्वारा सन्देश-वार्ता सुदूर अलका में भेजे। इसी प्रवृत्तिहारक की हैसियत से मेघ के जिस स्वरूप का ज्ञान कवि ने हमें कराया है वह वहुत ही उच्च, साभिप्राय और सच्चा है।

हमने वैज्ञानिक की मेघ-विषयक नीरस कल्पना के दर्शन किये। **धूमज्योति सलिलमरुतां सन्निपातः**—अर्थात्, मेघ मे है ही क्या? धुएँ ने सलिल का वस्त्र पहिन लिया* है जिसके साथ ज्योति और वायु भी आन मिली है। जिसे हम मेघ-मेघ पुकारते है उसमे आत्मा तो है ही नही। क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा की भाँति कुछ तत्त्वो के एक जगह मिल जाने से मेघ संज्ञक विलक्षण पदार्थ उत्पन्न हो जाता है। उसमें कैसे मनोभाव और कहाँ की आत्मा? शरीर को ही आत्मा माननेवाले जड़वादियों की युक्तियो का उपसंहार ही वैज्ञानिक का मेघ है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु नामक चार तत्वों से ही जिनके यहाँ शरीर और आत्मा सब कुछ वन जाती हैं, उनके लिए अमरपन की कल्पना वज्र उपहास के अतिरिक्त और क्या है? आधुनिक विज्ञानान्वेषी शरीर-शास्त्री भी इस देह मे भौतिक और रासायनिक (Physical और Chemical) द्विविध कार्यो के अतिरिक्त किसी चैतन्य कार्य को (vital process) मानते हुए वड़े हिचकिचाते हैं, यद्यपि केवल भौतिकी और रसायन के वल पर शरीर के समस्त चैतन्य कार्यो की व्याख्या उनके निकट भी बिलकुल असम्भव है। इस प्रकार के जड़वादी सदा से रहे हैं, यद्यपि कवि की उस शताब्दी मे उनको वहुत वल प्राप्त हो गया था। उनकी बड़ी खरी आलोचना कवि ने की और उनके 'सन्निपात' को विलकुल ही निकम्मा और वेसूझ कहकर उसे तिरस्कृत कर दिया। कवि को जड़ भूतों की आवश्यकता नही, वह तो सन्देश पहुँचाना चाहता है जिसके लिए चतुर प्राणियों की अपेक्षा होती है—

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः।
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः॥ मेघ १।५।

अर्थात्, कहाँ धुएँ, आग, पानी, और हवा का जमघट और कहाँ विचक्षण इन्द्रियोंवाले प्राणियों से ले जाने योग्य सन्देश-वार्ताएँ! † जड़ देह को ही आत्मा कहनेवाले के प्रत्युत्तर में कवि दो बातें रखता है—एक तो जड़ में प्राण संयुत-प्राणी कैसे हो सकता है और दूसरे ज्ञान-विज्ञान मे समर्थ अन्तःकरण की उत्पत्ति जड-सन्निपात में कहाँ से आई? इस विवाद का अन्तिम निर्णय केवल अनुभव की शरण मे जाने से हो सकता है। अनुभव उन लोगो का पक्का है जो सर्वत्र चैतन्य के ही दर्शन करते हैं, जिनको अपने चारों ओर आनन्द का महाम्वुधि भरा हुआ जान पड़ता है। ऐसे लोग प्रत्यक्ष अनुभव से कहते हैं कि जिसे तुम जड़ समझते हो वह वास्तव मे प्रकृति का ज्ञान-रूप पुरुष है‡। ऐसे विशुद्ध अनुभव के आगे प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाण सब निम्नकोटि के है। इस प्रकार देहात्मवाद और चैतन्यात्मवादरूप विवाद का यहाँ अन्त करके प्रकृत प्रसंग से सम्बन्ध रखनेवाले मेघ के कामरूप स्वरूप की चर्चा आगे की जायगी।

योगियों के ज्ञान और कामियो के सन्देश को ग्रहण करनेवालो के गुणो में बड़ी समता पाई जाती है। ज्ञान किसी को घोलकर नही पिलाया जा सकता। गुरु शिष्य को चिनगारी मात्र दे देता है, उसे जो सुलगा लेता है वही सच्चा चेला है। शिष्य में जव तक तीव्र वैराग्य न होगा अथवा अपने भीतर की आग न होगी, तब तक उसके हृदय मे ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित न होगी। इसी प्रकार कामीजन भी सन्देश ले जानेवाले को संकेतमात्र दे देते हैं। उदन्त-वाहक जितना चतुर होगा

---

* मेघे शकस्तस्य धूमः सलिलं वास एव वा। बृहद्देवता ४।४१।

† धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः पूर्व पक्ष है। सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः पहली वात का प्रत्युत्तर (antithesis) है। जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः में सिद्धान्तपक्ष मिलता है।

‡ कालिदास के समय में दार्शनिक संसार में उपरोक्त दो दलों का वड़ा संघर्ष था। कवि ने अप्रत्यक्ष रूप में अपनी सम्मति का उपन्यास किया है। 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' और 'जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः' के कामार्ताः और कामरूपं को ज्ञानार्ताः और ज्ञानरूपं पढ़ने से मानो इस विवाद का निर्णायक उत्तर हमें कालिदास के ही शब्दों में मिल जाता है।'

उसकी सन्देश-व्यञ्जना भी वैसीही उत्कट होगी। सन्देश का सारा पोथा कोई किसी को कण्ठ नही करा सकता। यदि कोई कामी इसीपर निर्भर रहे कि जो कुछ उसके मन में है उस सभी की उद्धरणी वह सन्देश ले जानेवाले के सामने कर देगा तो यह उसकी भूल है। कामी का हृदय अनन्त हो जाता है। उसमे सारा विश्व समा सकता है। एक ही वियोगी के आसू सब ससार को प्रलय-सागर मे मग्न कर सकते है—कवियो का यह कहना अतिशयोक्ति भले ही मालूम हो पर है यह सत्य। एक ज्ञानी का ज्ञान सारे जगत् का उद्धार कर सकता है। आत्मा को जान लेने के बाद ज्ञानी को ऐसा प्रतीत होता है कि अब विश्वभर के बन्धन इससे छूट जायगे। उसका मार्ग इतना सरल होता है कि उसकी समझ में सब ही उसपर चलकर सुख-दुःख से पार हो सकते है। एक आत्मानुभवी के आनन्द से यदि समस्त विश्व की तपन बुझ सकती है तो एक कामी या वियोगी के आसुओ से सब पिघल भी सकते है, एक सन्तप्त की आह से सब झुलस भी सकते है। कारण यह है कि मनोभावो की कुछ थाह नही है। ज्ञान या प्रेम की अनुभूति मे शरीर का भान तो बिलकुल छूट जाता है। क्षुत्पिपासा, शीतोष्ण, आदि द्वन्द्वो की सहन-सामर्थ्य दोनो में एकसी हो जाती है। दोनो रात-रातभर जाग सकते है, दोनो के ही आसुओ का प्रवाह सततवाही हो जाता है। इस प्रकार वियोगी के हृदय की कुछ थाह नही है।

इतने चेतन-सम्पन्न मन के सारे सन्देश को न कोई विप्रयुक्त जन कहकर पार पा सकता है और न दूसरा याद ही रख सकता है। यदि सन्देशवाहक ज्यो का त्यो ही सन्देश को पहुँचाने पर कमर कसले तो वह सन्देश जडीभूत होगा, सन्देशवाहक केवल पत्र वाहक बन जायगा। फिर उस सन्देश को सिवाय प्रेमी के और सब न तो सुन ही सकेगे और न समझ ही सकेगे। यक्ष का सन्देश-वाहक तो आकाश-मार्ग से जाता है। वह स्वय सन्देश रूप हो गया है। सर्वदा और सर्वत्र सभी प्राणी उस सन्देशरूप मेघ की व्याख्या अपने अपने लिए करेगे। एक अलका की यक्षिणी ही क्या, इसी प्रेम-पथ में न जाने कितनी और विरहिणी खो गई है। आकाश-मार्ग से जानेवाला मेघ तो सबके लिए अनन्त सन्देश सुनाता चलता है—

त्वामारूढ पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ता । प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिता प्रत्ययादाश्वसन्त्य ॥ मे० १।८।

अर्थात्, हे मेघ जब तुम आकाश में विचरोगे, तब अनेक पथिको की वनिताएँ विश्वासभरे हृदय से तुम्हे देखेगी। उसके इस प्रकार सोत्सुक दर्शन का रहस्य उद्गृहीतालकान्ता पद में है। वे प्रवास मे पतिव्रता रही है। इसलिए केश सस्कारो को बिलकुल भूल गई होगी। छूटे हुए केश ही नेत्रो पर गिरकर दृष्टि का मार्ग रोकना चाहते है, उन्हे एक हाथ से ऊपर उठाकर वे मलिनवसना प्रियाएँ मेघ को उत्कण्ठापूर्वक देखेंगी। उद्गृहीतालकान्ता मे जो पातिव्रत की ध्वनि है उसी की सविशेष व्याख्या कवि ने उत्तरमेघ मे यक्षिणी के वर्णन में की है।

ऐसे सन्देशार्थों पर जब कवि का ध्यान गया तो उसने उनकी अनन्त गम्भीरता दिखाने के लिए उनके आगे क्व पद रख दिया, जिस प्रकार जड मेघ का निकम्मापन दिखाने के लिए सन्निपात क्व कहा था।

जड-सन्निपात मेघ और अपने सन्देशार्थों में उसे महदन्तराल या बडा असामञ्जस्य देख पडा। उन सन्देशार्थों की प्रवृत्ति भेजने के लिए उसे निम्न लिखित सामग्री की आवश्यकता हुई—पटुकरण प्राणिभि प्रापणीया।

समर्थ इन्द्रियोवाला चेतन प्राणी ही प्रेम सन्देश ले जाने के योग्य है। उसकी इन्द्रियो मे वह इन्द्र शक्ति होनी चाहिए जिसके कारण इन्द्रियाँ इन्द्रियाँ कहलाती है*। इन्द्र शक्ति ही इन्द्रियो को बल देती है†—

दधातु इन्द्र इन्द्रियम—ताण्डयमहा ब्रा० १।३।५।

इन्द्र से शून्य व्यक्ति से कुछ काम सिद्ध नही होता। विशेषत प्रेम-वार्ता के लिए तो वृष-सम्पन्न‡ पुरुष ही होना चाहिए। इस प्रकार कवि को दो गुणो की चाह हुई, एक तो चेतन प्राणी की और दूसरे इन्द्रिय सामर्थ्य से युक्त प्राणी की। ये दोनो गुण जिसमे हो वही अलका तक दूत बनकर जा सकेगा।

---

* मयि इदम् इन्द्र इन्द्रियम दधातु—श० १४।९।४२।

† इन्द्रो में बले श्रित —तैत्तिरीय ब्रा० ३।१०।८।८। इन्द्रियम ववीय मिन्द्र —श० ३।९।१।१५। अर्थात् इन्द्रियो के बाप का नाम इन्द्र है।

‡ वृषा वा इन्द्र—कौषीतकी २०।३।

श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

उपरोक्त दो क्व के द्वन्द्व मे यक्ष का अनुभव तीव्र हुआ। उस औत्सुक्य की दशा में उसका जडांश विलकुल निर्गलित हो गया, आत्मेतर पदार्थो की प्रीति जाती रही, वहिर्मुखी प्रवृत्ति के लिए वाह्य जगत् मे कोई स्थान न रहा, और हुआ क्या 'वाढी उत्कण्ठा जक्ष वुद्धि विसरानी सव.. .. .. .' यक्ष 'अपरिगणयन्' दशा में जाकर संसारगत परिगणनाओं को भूल गया। उसका दृष्टि-विन्दु ही और का और हो गया। उसके इस परिवर्तन मे किस नियम ने काम किया? अर्थात उसको अन्तिम अनुभव की कोटि तक पहुँचाने के लिए किस प्रकार मन-वुद्धि आदि अन्तःकरणों को नया जन्म लेना पडा? इसकी व्याख्या यह है—**कामार्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु**—अर्थात् काम से आर्तजन चेतन और अचेतन के भेद को बिलकुल भूल जाते है। यही वात यक्ष के साथ हुई, अर्थात्, वह उन विषयों मे वेसुध हो गया जिनमे संसारीजन जागते है। मानों नये जगत् के अनुभव लेने के लिए उसने **प्रकृति कृपणाश्चेतना चेतनेषु** के मंत्र द्वारा अपना नया कल्प कर लिया। वह स्थूल अन्नात्मक देह की सत्ता को भूलकर मनोमय साम्राज्य का अधिवासी वन गया। ऐसी दशा मे रहनेवाले वियोगी या अन्य अनुभवियों को भी अरति या विषय-द्वेष नामकी अवस्था प्राप्त हो जाती है जिसका वर्णन उत्तरमेघ (२।२७) में है। इसमें इन्द्रियाँ अपने विषयों से विनिवृत्त हो जाती है। उनके अनुभवो के वहिः केन्द्र रस-शून्य होते है, और मन के चिन्त्य विषय मे ही समस्त रस सचित हो जाता है। इस निर्मलस्थिति को प्राप्त हुआ मनुष्य स्थूल-भोगो का भूखा नही रहता, वह उनसे निर्लेप हो जाता है और केवल भाव की भूख से मस्त रहता है। इस भोगपराङ्मुख वृत्ति का वर्णन निम्न श्लोक मे है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति॥

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि चेतन और अचेतन के विवेक को भूलने के लिए जिस साधना और चित्त-शुद्धि की आवश्यकता है यक्ष उस सम्पत्ति से युक्त है। कविवर नान्हालाल का वचन है कि 'माँस के भूखे राक्षस होते है और भाव के भूखे देव*।' भोग की तृष्णा राक्षसी है और स्त्री के प्रेमभाव की पिपासा दैवी। यक्ष प्रेम की परिभाषा के इस अर्थ में दैवी है, आसुरी नही।

एक अर्थ मे हम सभी लोग चेतन और अचेतन के भेद को भूले हुए है। शंकराचार्य के शब्दों में हम सब लोग पशुओ के समान आत्मानात्म-विवेक से शून्य है, और इसी विवेकहीन दशा मे आत्मा के दैवी स्वरूप को भुलाकर उससे वद्ध और जड देह के समान काम ले रहे है; इस कारण हमारे कर्म सुख-दुख मे सने है, उनमे आनन्द नही। हमारी इन्द्रियाँ भोगोन्मुखी है, वे अन्तरात्मा को नही देखती। इस प्रकार का जड-चेतन का अविवेक सामान्यतः पाया जाता है। वह वन्धन का हेतु है, उससे श्रेय की आशा नही। चेतनाचेतन की कृपणता दो तरह की होती है—एक तो अचेतन को चेतन समझना और दूसरे चेतन को भी अचेतन मानने लगना। एक ऊर्ध्वमुखी और सात्विकी है और दूसरी अधोमुखी और तामसी। यदि यक्ष जिसे अव तक चेतन समझ रहा है उसे भी जडवत् देखने लगे, तो वह स्वयं भी विलकुल जड़ हो जायगा। उस अन्तःसंज्ञाशून्य मूर्च्छित अवस्था में पड़े हुए यक्ष की करुण कथा और अनुभवों को कौन सहृदय सुनना चाहेगा; वे अनुभव संसार के लिए किसी भी तरह नये न होंगे, उनसे किसी की ज्ञान-वृद्धि और कल्याण की आशा न होगी।

कवि चैतन्य के विस्तार को किसी भी अवस्था मे संकुचित करना न चाहेगा। चित्त का सीमावद्ध होना ही दुःख है, चित्त का असीमित विस्तार ही परम आनन्द है। ज्यों ज्यो शरीरस्थ चित्त का विकास-क्षेत्र वढ़ता है, हमारे आनन्द की मात्रा मे वृद्धि होती जाती है। क्या संसार और क्या आत्मानुभव, दोनों दशाओं मे यह नियम सत्य है। हाँ, आत्मानुभव की अवस्था मे चिति का विकास निःसीम या अनन्त हो जाता है। उस आनन्द की तुलना मे संसारगत चितिविस्तार के सव सुख नीचे ठहरते है।

यक्ष ने चेतनाचेतन के भेद को भुलाने में इसी उत्तरायण मार्ग का अवलम्वन लिया। वह सव जगत् को परम चैतन्यमय देखने लगा। उसके सामने से मानो पर्दा उठ गया। उस आनन्द-सागर में मग्न हुए विना कौन उसका रस त्रिकाल में भी जान सकता है? यक्ष ने इस आवरण के दूर करने में दम्भ नही किया, उसका चैतन्य-ज्ञान क्षणिक या

* ऊषा—हिन्दी अनुवाद।

बनावटी नहीं था। सचाई इस अनुभव की पहली कसौटी है। इसीलिए कवि ने लिखा है—प्रकृति-कृपणः—अर्थात् मन, कर्म, वचन तीनों ही बिलकुल बदल जाते हैं। भीतर बाहर सर्वत्र ही अमृत आनन्द की सम्प्राप्ति होती है। इस अनुभव की प्राप्ति के लिए प्रत्येक नचिकेता को यम के द्वार पर आकर अपना चोला बदल डालना पड़ता है। इस मार्ग में बुद्धि एक होती है, बहुत शाखाओंवाली और अनन्त नहीं*। फलत यक्ष की बुद्धि में निश्चय होगया कि अनुभवों की इयत्ता केवल भौतिक जगत तक ही परिमित नहीं है, उनका सच्चा स्वरूप वह है जिसमें सर्वत्र चैतन्य की सम्प्राप्ति होती है। ऐसे यक्ष ने मेघ को एक बार फिर देखा, अब धूम-ज्योति-सलिल मरुतों के सन्निपात रूप में उसे जिस विलक्षण पुरुष के दर्शन हुए, वह विश्व के मेघ विषयक ज्ञान में अभूतपूर्व है। वैज्ञानिकों की पर्जन्य विषयक मति की अवहेलना करते हुए हमारे मन में जो कविकृत मेघ ज्ञान जानने का औत्सुक्य उत्पन्न हुआ था, उसकी तृप्ति अब आकर होती है। हम मन ही मन कह रहे थे—'हे महापुरुष, तुम भी तो कुछ कहो कि हम मेघ को क्या जानें।' अब उसी रहस्य को कवि ने हमारे लिए खोल दिया है—

जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः। मेघ० १।६।

मैं तुम्हें जानता हूँ कि तुम प्रकृति के कामरूप पुरुष हो। इसी ज्ञान को बताने के लिए मेघदूत काव्य का उपक्रम किया गया है। ऐसे कामरूप पुरुष को कवि अलका के उस लोक में ले जाना चाहता है (गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम्), जहाँ काम को भस्मावशेष करनेवाले शिव का साक्षात् निवास जानकर कामदेव अपना चाप चढ़ाने से डरता है—

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तम्। प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्। मे० २।१०।

इसी ज्ञान में मेघदूत के अध्यात्मशास्त्र का सार है। हमें 'जानामि त्वां प्रकृति पुरुषं कामरूप मघोनः' पर विशेष ध्यान देना है।

इस पंक्ति का सामान्य अर्थ टीकाकारों ने स्थूल और भौतिक ही किया है। यथा—कामरूपमिच्छाधीनविग्रहम्। दुर्गादिसंचारक्षममित्यर्थ। मघोनः इन्द्रस्य प्रकृतिपुरुषं प्रधानपुरुषं जानामि। मल्लिनाथ।

अर्थात्, अपनी इच्छा के अनुसार रूप बदलनेवाले तुम इन्द्र के प्रधान पुरुष हो। परन्तु इस भौतिक लक्षण से कहीं आगे इस श्लोक के अन्तस्तल में जो गम्भीर अर्थ भरा है उसके आलोक से सारा ग्रन्थ ही एक बार जगमगा उठता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि यक्ष को चतुर इन्द्रियों वाले दूत की आवश्यकता थी। यहाँ यक्ष ने स्वयं इन्द्र के ही कामरूप पुरुष को अपने दूतकर्म के लिए चुन लिया है। इन्द्र के पुरुष से बढ़कर इन्द्र शक्ति और कहाँ सम्भव है? हमारी दूसरी आवश्यकता थी चेतना सम्पन्न प्राणी। यहाँ मेघ ही समस्त चर और अचर प्रकृति का पुरुष है। स्वयं विकासोन्मुखी प्रकृति उसे चाहती है, दूर से ही मेघ का शब्द सुनकर उसे रोमांच हो आता है (मे० १।११) वह उसके वन्ध्यात्व दोष को मिटाकर उसमें प्रजापति के क्रम की वृद्धि करता है। यह क्रम निम्न लिखित है—

पर्जन्य से वृष्टि, वृष्टि से ओषधि-अन्न, अन्न से रस, रस से वीर्य, और वीर्य से प्रजोत्पत्ति। कैसा निरापद मार्ग बना हुआ है।

कामरूप मेघ ही ऐसा सामर्थ्यवान् पुरुष है। इस मेघ का सम्बन्ध इन्द्र से है। वह इन्द्र का प्रधान-पुरुष क्या, स्वयं इन्द्र का रूप ही है। इन्द्र और मेघ का सम्बन्ध सनातन है। वेदों में भी इन्द्र के वर्षण-कार्य की विस्तृत मीमांसा है। वृष शब्द और इन्द्र का घनिष्ट सम्बन्ध है। वृष और वृषभ शब्द प्रायः छह सौ बार ऋग्वेद में आये हैं। उसमें से आधी बार वे इन्द्र के विशेषण हैं। सोम के लिए किये गए सौ प्रयोगों में भी इन्द्र का साहचर्य है। जो पुरुषों में वृष है, वही स्त्रियों में सोम है। शेष प्रयोगों का अर्थ प्रायः रेतसिञ्चन और पुरुष के प्रजननात्मक कार्य का निर्देश करता है।, शतपथ, ताण्ड्य और कौषीतकी ब्राह्मणों में इन्द्र को साक्षात् वृष कहा है। वृष नाम वर्षण—सामर्थ्य का है। यह शक्ति जिसमें हो वही वृषा है।

---

* व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्। —गीता।
खाते पीते सोते सदा यक्ष को यक्षिणी का ही स्मरण रहता था।

श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

अंग्रेजी में वृषण का अर्थ Sprinkling या fertilisation है। पुरुष और योषित् के वर्षण और मेघ और पृथ्वी के वर्षण मे कुछ अन्तर नही है। विराट् प्रकृति मे जैसे मेघ नौ मास तक तपकर ब्रह्मचर्य धारण करता है, और उसके वाद फिर ऋतुकाल में रसनिषिञ्चन, जिस प्रकार गर्जनरूप शब्द के कारण पृथ्वी का शिलीन्ध्ररूप रोमांच, धरित्री के सोम अर्थात् प्रसवार्ह गुण की अभिव्यक्ति, और तव वास्तविक वर्षण है, वैसेही सारा क्रम पुरुष-योपित् मे भी है। प्रजा-संवर्धन की दृष्टि से मेघ के वर्षण और पुरुष के वर्षण मे न केवल भेद का अभाव है, वल्कि गहरी समानता और व्यापक सम्वन्ध है। गर्भधान के समय पुरुष कहता है 'वृष ने हमारे अन्दर जिन समर्थ अमोघवीर्यो को उत्पन्न किया है, उनसे तू गर्भ धारण कर'; * तथा 'प्रजापति नाम वृषभ की सहायता से मैं स्कन्दित होता हूँ, तू वीरपुत्र को धारण कर।'† वस्तुतः पुरुप को द्यौ और पृथ्वी के विराट् प्राजापत्य कर्म का भी मर्म उस समय स्मरण करना होता है, और वह कहता है—

असौ अहमस्मिसा त्वं; द्यौरहं पृथिवी त्वं; रेतोऽहं रेतोभृत्त्वं; मनोअहमस्मि वाक्त्वं; सामाहमस्मि ऋक्त्वम्
बौ० गृ० सू० १।७।४१।

पुरुप-स्त्री का यह मनोरम सम्वन्ध हमारे साहित्य मे नाना उपमानों से कहा गया है। पुरुष उत्तरारणि और स्त्री अधरारणि है, उनके मन्थन से प्रजाग्नि प्रज्वलित होती है। स्त्री शमी और पुरुप अश्वत्थ है; उनका प्राजापत्य कर्म ही शमी गर्भ अश्वत्थ का रूप है। यज्ञ के शब्दो मे स्त्री वेदि है जिसमे वृपरूप अग्नि का आधान होता है—

योषा वै वेदिर्वृषाऽग्निः—श० १।२।५।१५।

यह वृषाग्नि वीर्य की ही संज्ञा है—**वीर्यं वा अग्निः—तैत्तिरीय ब्रा० १।७।२।२।**

मेघ की वृषाग्नि के लिए सारी पृथ्वी ही वेदि स्वरूप है‡। पुरुष की इन्द्र-शक्ति के निर्माता वृषण-कोष है⁑। आयुर्वेद के वर्णित वाजीकरणतंत्र मे रिक्त पुरुष को वृष सम्पन्न करने के लिए प्रयोगो की सज्ञा वृष्य है। इस प्रकार यह निश्चित है कि पुरुष मे प्रजोत्पत्तिरूप वर्षण करने की जो सामर्थ्य है वही उसकी इन्द्रियों का ओज है, जिसके स्कन्दित होने से उसके तेज की हानि होती है।

विराट् प्रकृति मे जो आप् हैं मनुष्य देह मे वेही रेतरूप है। मनुष्य शरीर को देवताओं की सभा कहा गया है§। जिसमें सब देवताओं ने प्रवेश किया है। जलो के लिए कहा है—**आपो में रेतसि श्रिताः तै० बा० ३।१०।८।६।** इन्ही जलो के वर्षणात्मक रूप की संज्ञा इन्द्र है। इन्द्र शब्द के और भी अनेक अर्थ है यथा आत्मा, प्राण, मन, सूर्य, अग्नि क्षात्र-तेज आदि, परन्तु हमारा प्रयोजन यहाँ वृपात्मक इन्द्र से ही है। इन्द्र की विद्यमानता से द्युलोक गर्भ धारण करता है (द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी')¶ यह इन्द्र ही द्युलोक को वर्षण शक्ति से युक्त करनेवाला है—

वृषासि दिवो वृषभः पृथिव्या वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानां।
वृषेण त इन्दुर्वृषभ पीपाय स्वादूरसी मधुपेयो वराय॥ ऋ० ६।४४।२१।

अर्थात्, हे इन्द्र तुम द्युलोक, पृथ्वी, स्पन्दनशील नदियो और वनस्पतियो के वर्षक (Sprinkler) हो। हे वृषभ, श्रेष्ठ वृषशक्ति से सम्पन्न तुम्हारे लिए स्वादिष्ट मधुश्चुत सोम की वृद्धि हो। उस वर्पक की प्रेरणा से यह प्रकृति वृषस्यन्ती होती है।

---

* यानि प्रभूणि वीर्याणि ऋषभा जनयन्तु नः। तैस्त्वं गर्भिणी भव स जायताम् वीरतमः स्वानाम्। हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र १।२५।१।

† मूः प्रजापतिनात्यृषभेण स्कन्दयामि वीरं धत्स्वासौ। —हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र।

‡ यावती वै वेदिस्तावतीयं पृथिवी—जैमिनीय उपनिषद् ब्रा० १।५।५।

⁑ आण्डाभ्यां हि वृषा पिन्वते—श० १४।३।१।२२।

§ एषा वै दैवी परिषद् दैवी सभा, दैवी संसत्—जैमिनीय उ० ब्रा० २।११।१३। इस सभा के देवता और प्रतिनिधियों (represrentatives) का तथा उनके आयतनों (Constituencies) का विस्तृत वर्णन ऐतरेय उपनिषद् (२।४) में है।

¶ यथाग्नि गर्भा पृथिवी द्यौर्यथेन्द्रेण गर्भिणी। वायुर्यथा दिशां गर्भ एवं गर्भ दधातु ते॥

मेघदूत—कामरूप पुरुष

वृष और इन्द्र के तादात्म्य ज्ञान के साथ ही वृष और काम की घनिष्ठता भी जाननी आवश्यक है। काम का अधिष्ठान स्वाधिष्ठान चक्र में है, जहां जल तत्त्व मुख्य ह। जल का ही विपरिणमित रूप रेत है जो काम का रूप ह। जल की सज्ञा इरा कही जा चुकी ह। इसीके कारण काम को सस्कृत भाषा मं इराज और यूनानी भाषा में इरोस (Eros) कहा गया है। सस्कृत कोषा में वृष का एक अथ काम ह। शिव ने काम को भस्म कर दिया था, तभी से उनके नाम वृषाञ्चन, वृषभध्वज और वृषकेतु आदि ह। शिव की सबसे बडी विजय वृष का अपने वश में करके उसपर सवारी करना ह। प्राय जगत् के सब पुरुषा पर वृष सवारी करता ह अर्थात् सब काम के अधीन ह, कोई कोई महाभाग पुण्य तपस्वी ही अपने ज्ञान चक्षु से काम को वश में करके वृष को वाहन बना लेते ह।

इन्द्र का वष और काम के साथ जो घनिष्ट सम्बध वदिक समय म ही निर्णीत हो गया था, उसके कारण एक ओर तो पुराणा मे इन्द्र को विलासी, कामी और पराये की साधना-तपस्या से द्वेष करनेवाला वर्णित किया गया है, तथा दूसरी ओर पश्चिमी विद्वाना के हाथ में पडकर इन्द्र रंभानेवाला बैल बन गया है। पुराणो का इन्द्र चरित्र तो थोडेसे ही विचार से समझ में आ सकता ह। भारतीय अध्यात्म का यह सवमान्य सिद्धान्त है कि आत्म-दशन की सिद्धि तक पहुँचने के लिए पहले काम-वासना-तृष्णा-विषय या भोग लिप्सा का सर्वांश म दमन करना अनिवाय है। बिना काम को जीते आगे बढ़ने वाले साधक शरभ मृगा के समान कामरूपी इन्द्र के वज्र की मार से खण्ड-खण्ड हो जात ह। अध्यात्म-पथ के तपस्वी पथिक को धयपूवक इस ज्ञान विज्ञान का नाश कर देनेवाले दुरासद पाप्मा शत्रु का वश में कर लेना चाहिए। यह काय कठिन अथवा असम्भव भले ही प्रतीत हो, परन्तु है नितान्त आवश्यक, और बिना इस माग पर चले दूसरी गति ही नही ह। अखण्ड समाधि लाभ करने के लिए शिव को इन्द्र के भेजे हुए काम को पहले भस्म करना पडा। मदन के निग्रह से ही शिव अरूपहार्य हो सके—अरूपहाय मदनस्य निग्रहात पिनाकपाणि—कुमारसम्भव ५।५३।

इसी प्रताप से शिवजी वृषारूढ हो गए। वृष पर सवारी करनेवाले शिव के चरणो में वृष शक्ति के प्रमुख इन्द्र ने ऐरावत के साथ मस्तक नवाया। वृष वाहन शिव और वृषा इन्द्र का सम्बन्ध कालिदास ने इस श्लोक में कितनी स्पष्टता से बताया ह—

> असपवस्तस्य वृषेण गच्छत प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा।
> करोति पादावुपगम्य मौलिना, विनिद्रमन्दार-रजोरुणांगुली ॥ कुमारसम्भव ५।८०।

अर्थात्, मदस्रावी ऐरावत नाम दिग्गज ह वाहन जिसका, ऐसा वृषा देवेन्द्र सब सम्पदाआ से विहीन किन्तु वृष को वाहन कर लेनेवाले देवराज शकर के चरणो में प्रणाम करता ह। इसी वृष पर बोधि ज्ञान पाने से पहले भगवान् बुद्ध को भी चढना पडा था। शिव की काम विजय और बुद्ध की मार-विजय* म कोई अन्तर नही है। त्र्यम्बक ने अपने तृतीय नेत्र के वीक्षण से वज्रपाणि को जडीभूत कर दिया था, वही वज्रपाणि इन्द्र बुद्ध का अनुचर बनकर उनके चरणा की सेवा करता ह। बुद्ध-गया के पास की इन्द्रशल गुहा में जब भगवान् बुद्ध तपस्या कर रहे थे तब पचशिख गन्धव के साथ इन्द्र ने उनके दशन किए थे।

जब भी कोई तपस्वी सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, काम उसके मार्ग में बाधा डालता ह। कितने ही तो उसके प्रलोभना में फसकर विश्वामित्र के समान स्खलित हो जाते हैं और कितने ही शुक के समान उन उपद्रवो की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते। इन्द्र शतक्रतु ह। क्रतु का अथ शक्ति या वीय है†। शत के अथ अनगिनत सख्या के ह। इन्द्र

---

* अजन्ता की २६वीं गुफा में बुद्ध की मार-विजय को अदभुत चित्रो द्वारा दर्शाया गया ह। इन्द्र ऐरावतारूढ होकर हाथ में वज्र लिये ह, और बुद्ध के शान्त ज्योतिष्मान मुख को देखकर अपनी पराजय से खिन्नसा देख पडता है।

† क्रतु=वीय (ऐतरेय ब्रा० १।१३)। Kratos=Strength। क्रतु के अथ यज्ञ भी ह।

इन्द्र शतक्रतु ह क्याकि उसने सौ यज्ञों के तेज को आत्मसंयुक्त किया ह। वदिक साहित्य के अनुसार शरीर एक यज्ञ है, जिसमें सिर उखा ह जो मनन शक्ति का पचन करती है। सब सकल्पा का उद्गम मस्तिष्क में ही होता है। इन्द्रियों को सयमाग्नि में हुत करने से तत्सम्बन्धी देवता को अमृतभाग प्राप्त होता ह। इन्द्रियों का विषयासक्त होना आसुरी कार्य,

या काम की शक्ति शरीर मे सवसे प्रवल है। वह इन्द्र सदा यह चाहता है कि और जितने पुण्य या यज्ञीयभाव हैं उनकी सामर्थ्य उसके वीर्य से कम रहे। वह स्वयं शतवीर्य है, और किसी भाव को निन्यानवे से अधिक नही होने देता। जिसके शरीर मे और कोई पुण्य व्रत शतवीर्य या शतक्रतु हो सकेगा, उससे इन्द्र को अपना आसन छोड़ देना पड़ेगा और वह व्रत ही सर्वाभिभावी राजन्य या इन्द्र हो जायगा। इसीलिए कहा गया है कि इन्द्र किसी का सौवाँ यज्ञ पूरा नही होने देता। तपस्वियों के तप को वह सदा खण्डित करने के उद्योग में रहता है। यही इन्द्र का काम-संस्पृष्ट रूप पुराणो मे रोचक विस्तार के साथ कहा गया है। तपस्या की एकनिष्ठता और साधनैकाग्रता निवाहने का उपदेश देने के लिए वे सव कथाएँ स्तुतिपरक अर्थवाद हैं*।

पौराणिक इन्द्र की कथाओं मे इस प्रकार के विमर्श से संगति और व्युत्पत्ति लग सकती है। इन्द्र और वृष के आधिभौतिक और आध्यात्मिक सम्बन्धो को जिनका कुछ दिग्दर्शन हमने ऊपर किया है न समझने के कारण ही पश्चिमी विद्वान् इन्द्र को रम्भानेवाला वैल मान लेते हैं। वैदिक समय मे शब्दों की यौगिकवृत्ति अतिशय तरल दशा मे थी। वृषधातु से निष्पन्न सव शब्दों में वर्षणात्मक अर्थ की ओर ही प्रवान सकेत था। वृषभ शब्द मेघ, पुरुष, वैल सब मे समान अधिकार से घटित होता था। सब ही में उत्कटवृष शक्ति का गुण मौजूद है। वैदिक आर्य वृषभ शब्द से वैल भी समझते थे†, परन्तु वह ही अकेला उस शब्द का अर्थ न था‡। वैल और मेघ के सादृश्य को उन्होने वहुत दूर तक प्रतिपादित किया और 'भृशंरोरवीति' की प्रत्यक्ष समानता का उन्होने मेघ के लिए कई वार वर्णन किया है। घोर गर्जन करनेवाले काले वादलों मे और मस्त होकर रँभानेवाले उद्दाम वृषभ मे व्यापक दृष्टि रखनेवालो को एक ही तत्त्व दृष्टिगोचर होता है, जिसकी संज्ञा वृष है और जो पृथ्वी और स्त्री ससार मे प्रजापति के क्रम का एकमात्र संवर्द्धन करनेवाला है।

शिव के साथ जो वृष का सम्बन्ध था उसमें वृष का अर्थ वही है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके है। आध्यात्मिक भावों को कलात्मक रूप देने की प्रवृत्ति इस देश मे सदा से प्रवल रही है। प्रायः अचिन्त्य अनिर्वचनीय भावों को भी मूर्त रूप मे समझाने की चेष्टा की गई है। सहस्त्रशीर्षा पुरुष और शेषशायी विष्णु की कथा इसका एक उदाहरण है, सूर्य के सात अश्वो की कल्पना दूसरा है। इसी भाव से प्रेरित होकर कलाविद् पुराण निर्माताओं ने, जो प्राय: वैदिक अर्थों का ही लोककल्याण के लिए उपवृंहण करते थे, शिव का वाहन श्वेत रग का वृषभ रक्खा। कालिदास वृष शब्द का वर्षणात्मक अर्थ जानते थे जिसका उन्होंने कई जगह प्रयोग भी किया है। शिव के स्वरूप मे उन्हे 'कैलास गौर वृपमारुरुक्षु' की पदवी दी गई है। मेघदूत में कहा है कि मेघ मानसरोवर के सलिल का पान करता है, वही इन्द्र का वाहन ऐरावत हाथी विचरता है और सन्निकट कैलास पर ही शिव का नन्दी भी विद्यमान है। वस्तुतः मेघ, इन्द्र, ऐरावत, वृपभ सव मे

मृत्यु और विषपान है। प्राण ही सप्त समिधाएँ सप्त होता या सप्ताहुति है (मु० उ० २।१।८) जिनके समिद्ध होने से मनुष्य दीर्घायु और आरोग्यरूप अमृतत्व को पाता है। एतद्वै मनुष्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति—श० ९।५।१।१० अहर्निश प्रवृत्त इस यज्ञ में सैकड़ों ही अवसर पूर्णता या ध्वंस के आते हैं। देवतास्वरूप इन्द्रियों के जिनके कारण यह शरीर दैवी परिषद् कहलाता है, अधिपति मन का शतक्रतु या शत यज्ञ के वीर्य से सम्पन्न होना ही श्रेयस्कर है।

* इन्द्र के स्वरूप का अशेष वर्णन किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ में समा सकता है। इन्द्र और अहिल्या की कथा में इन्द्र सूर्य है जैसा कि कुमारिलभट्ट ने समझाया है। एवं समस्त तेजाः परमैश्वर्य निमित्तेन्द्रिय शब्द वाच्यः सवितैव अहनि लीयमानतया रात्रे रहल्या शब्दवाच्यायाः क्षयात्मक जरया हेतुत्वाज्जीर्यति अस्मादनेन एव उदितेन इति आदित्य एव अहल्याजार इत्युच्यते। न तु परस्त्रीव्यभिचारात्।

ऋग्वेद के इन्द्र मरुत्संवाद में इन्द्र आत्मा और सप्त मरुत् सात प्राण है (ऋग्वेद १।१६५)

(इन्द्र के विशेष वर्णन के लिये देखिए कुमारी अनन्त- लक्ष्मी का लेख—Indra, the Rigvedic Atman; Journal of Oriental Research, Madras Jan 1927.

† एतद्वा इन्द्रस्य रूपं यद्वृषभः—श० २।५।३।१८।

‡ वृषा वा इन्द्रः—कौषीतकी ब्रा० २०।३।

ही एक विराट् अन्त सम्बन्ध ह जिसका कुछ ज्ञान उपरिस्थित विवेचन से हो सकता ह। यौगिक वृप शब्द कालान्तर में वृषभ के लिए ही रूढ़सा हो गया यद्यपि आयुर्वेद के 'वष्य' शब्द तथा 'वृष्टि' आदि मे अभी तक उसके पुराने अर्थों का सकेत पाया जाता ह।

इस प्रकार यक्ष ने प्रकृति के कामरूप पुरुप का ज्ञान प्राप्त कर लिया। वह स्वय कामी* था। पुरुप-स्त्रीरूप जो द्वन्द्व प्रकृति में सवत्र दृष्टिगोचर होता ह उस योजना में वह अपनी कान्ता से वियुक्त भी था। उस स्वात्माश से सम्पर्क में आने के लिए उसकी जो आकुलता थी उसके कारण अन्त-दृष्टि सम्पन्न होकर उसने सब चराचर का ही द्वन्द्वरूप में देखा। विराट् प्रकृति के लिए तो पुरुप रूप में स्वय मेघ ही उसे दिखाई पडा। उस मेघरूपी बृहच्छेप ब्रह्मचारी ने अपने अभिक्रन्दन से समस्त सष्टि म हलचल मचा दी। सब पर ही उसका प्रभाव पडा। इसी विश्वव्यापी चेतना को मेघदूत के कर्त्ता ने अपने कवित्वगुण से हम सब लोगो के लिए अमर बनाकर रख दिया ह।

२

कालिदास ने इस विश्व के चेतन और अचेतन दो भाग किए ह। उन्हीका दूसरा रूप प्रकृति-पुरुष है। वस्तुत प्रकृति पुरुप की ही शक्ति ह और अचेतन चेतन का ही प्रतिबिम्ब या अधिष्ठान ह। चेतन और अचेतन के भेद को मिटाकर अन्तदृष्टि के द्वारा देखने पर अन्तजगत् और बहिजगत् के सामन्जस्य का जैसा अनुपम दृश्य हो जाता है उसीको मेघदूत में हम पग पग पर देखते ह। अन्तजगत् अध्यात्म के अनन्त सौन्दय से आलोकित है। हम बहुधा बाहरी प्रकृति के सौन्दर्य को अन्तर के सौन्दर्य से विच्छिन्न हुआ समझते ह। बिना आन्तरिक अनुभव के बाह्य सौन्दर्य केवल भटकानेवाला है। कभी किसी चिडिया या कभी किसी पुष्प को देखकर हम उल्लासित हो उठते ह, कभी नारी के सौन्दय से हम मुग्ध हो जाते हैं। हमारा सौन्दय केन्द्र बाहर रहता ह, और आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध न होने के कारण हमारी अपनी महिमा बहि सौन्दर्य की उपासना मे अस्तगमित हो जाती ह। पहले चेतन का अनुभव करके उसीका प्रतिबिम्ब जो बाह्य जगत् में देखते ह उन्हे सौन्दय का जसा विलक्षण और अनन्त आनन्द प्राप्त होता ह, वही विरही यक्ष को हुआ ह। उसकी दष्टि बडी पनी हो गई है। मेघ का ज्ञान हो जाने से प्राकृत जगत् के सौन्दय का अपार सागर उसके हाथ आ गया है। सवत्र उसे मेघ की विभूति के दशन होते ह। इसी सागर के सुदर सुन्दर रत्नो का व्यतिकर मेघदूत का प्रकृति-वणन ह।

बाह्य जगत् के पथ्वी और पवत, नदी और स्रोत, वन और उद्यान, नगर और जनपद, पुष्प और फल, वृक्ष और लता, पशु और पक्षी, स्त्री और पुरुप, देवयोनियां और देवता इन सब का सौन्दय मेघ के साथ मिलकर सहस्र रूपो में यक्ष के सामने आता ह। मेघ सबको मिलानेवाला मूल-तन्तु है, वह अपने वण से सबको रजित करता ह तथा प्रत्येक के सौन्दर्य से स्वय भी कान्तिमान् होता ह। प्रकृति में ऐसा कोई प्रकाश नही जिसमें मेघ की सौन्दय-ज्योति न मिली हो। कही वह दूसरो को छवि का वितरण करती ह और कही दिव के स्नानादि मे वह स्वय प्रभानुलिप्त होती है।

यही हाल चतन्य का है। मेघ के सम्पर्क से प्रकृति में चर-अचर सभी प्राण की बढ़िया में उतराने लगे ह। सौन्दय और चतन्य का एक साथ ही मिलाकर यथा स्थान कवि ने बडे कौशल से सन्निविष्ट किया ह। इस सम्मिश्रण से विलक्षण आनन्द की उत्पत्ति हुई ह। मेघदूत के प्रकृति-वणन में बाह्यरूपो की सूचीसी नही जान पडती। उसमें पद पद पर चतन्य शिवात्मक ज्योति का दर्शन और स्मरण होता ह। नदी बहती है, जामुन फलती ह, यह सत्स्वरूप है। इस सत् के कार्यों में चैतन्य अन्तर्निहित है। नदी क्यो अगाध जल से पूर्ण हो गई, आम्र-कानन और यूथिका वन क्यो सौरभ का विस्तार कर रहे ह—इन प्रश्नो का उत्तर देना ही मेघदूत की मनोहर विशेषता है। कवि कहता है कि चतन्य मेघ के दर्शन से प्रकृति का चतन्य भी उमड पडा ह। सबमें प्राण डालनेवाला मेघ ही ह। चेतन मेघ ने काम पुरुप बनकर प्रकृति के जिन जिन पदार्थों सत्वो को छू दिया है वे सब ही सुन्दर और दर्शनीय बन गए ह। द्युलोक और पृथ्वी के बीच ऐसा कौन ह जिसका मेघ से सम्बन्ध न हो, इसलिए सवत्र ही सत् पदार्थों में श्री या सौन्दय का आभास मिल रहा ह। ऐसे ही सत्य और चित का मेल मेघदूत काव्य मे मिलता है, इस कारण उसमे अनन्त सनातन आनन्द प्रदान करने की क्षमता है।

* अबला विप्रयुक्त स कामी—मे० १।२

श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

अब मेघ के आने से प्रकृति मे जो परिवर्तन होते है उनका कुछ वर्णन यहाँ किया जाता है। मेघ पृथ्वी को गर्भाधान कराता है। पृथ्वी उसकी दुहिता है। अथर्व वेद के प्राणसूक्त में मेघ को पृथ्वी का ब्रह्मचारी कहा है—

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिगो बृहच्छेयोऽनु भूमौ जभार। ब्रह्मचारी सिंचति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥ अथर्व० ११।५।१२।

अर्थात्, घोर गर्जन और अभिक्रन्दन करनेवाला, भूरा और काले रंग से युक्त, बृहत् जननवाला*, ब्रह्मचारी (ब्रह्म या उदक का वहन करनेवाला) मेघ भूमि का भरण करता है। वह पर्वत और पृथ्वी पर रेत का सिंचन करता है जिससे समस्त दिशाएँ जीवन धारण करती है। इस मंत्र मे केश बढाए हुए इन्द्रियवान् ब्रह्मचारी और मेघ की तुलना की गई है। दोनों पहले स्वय तपकर आत्मगर्भित होते है, उसके पश्चात् ही दूसरो को गर्भित करते है।

मेघ आकाश मे आकर जब गरजते है तब पृथ्वी को रोमांच हो आता है। इस सात्विक भाव के उदय से ही सब लोगो का कल्याण होता है। पृथ्वी मे से शिलीध्र निकलकर इस बात की पुष्टि करते है कि इस वर्ष खूब वृष्टि होगी, पृथ्वी गर्भ धारण करेगी और उससे रसवती औषधियो का जन्म होगा। मेघ के गर्जित का वर्णन करनेवाला निम्न श्लोक संस्कृत साहित्य के उन विचेय श्लोकों मे है जिनमे सरस्वती अपने अंश-रूप मे नही बल्कि कृत्स्नशः व्यक्त हो जाती है—

कर्त्तु यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां, तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः।
आकैलासाद्विसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः, संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥१।११॥

इसमे पृथ्वी और आकाश दोनो लोकों का सम्मिलन है। मेघ का गर्जन भूमि तक आता है, उससे पृथ्वी मे कन्दली फूटती है। पृथ्वी अपने यहाँ से हस भेजती है जो मेघो को आकाश मार्ग से अलका का मार्ग दिखाएँगे। विस-किसलय का शबल कल्पित करके आकाश मे उडते हुए राजहंस कैलाश तक मेघ को पहुँचाने जाते है। राजहंस अलका के अमर-लोक की यात्रा प्रति वर्ष करते है; उसी अलका के समीपस्थ यद्यपि मानसरोवर है पर अलका की वापी में निवास करने से हंस मानस को भी भूल जाते है†। राज-योग साधनेवाले हंस भी हर सवत्सर में अपने चक्रो‡ का वेध करके शिवलोक की यात्रा कर आते है। जो स्वयं पंथ को देख आया है वही दूसरों को वहाँ ले जा सकता है। अतएव नभ मे राजहंस कैलाश तक मेघ के साथ जाते है।

वृष-पुरुष के सम्पर्क से योषित् सुरभित परिमल का उद्गिरण करती है। उसी प्रकार पृथ्वी भी मेघ के निष्यन्द से उच्छ्वसित गन्धवाली हो जाती है⁂। पर्वत भूमि के धारण करनेवाले भूधर है। वे मेघ के साथ आत्मीय का व्यवहार करते है। रामगिरि तो मेघ को सुहृत् के तुल्य प्राणो से भी अधिक प्रिय मानता है। दोनों का सम्मिलन चिर विरह का पर्यवसान सूचित करता है, इसलिए रामगिरि के नयनो से ऊष्णवाष्प धारा निकलने लगती है—

काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य, स्नेहव्यक्तिश्चिर विरहजं मुंचतो वाष्पमुष्णम् ॥ मे० १।१२।

रामगिरि जड़ शिलाओ का संघात नही है, उसमे सौहार्द भाव से भरा हुआ मित्र का हृदय छिपा हुआ है। एक बार दयिता का प्रेम भले ही शिथिल पड़ जाय, परन्तु मित्र का प्रेम त्रिकाल में भी स्खलित नही होता—

दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने॥

इस रामगिरि की आत्मा की महिमा का रहस्य इस अध्यात्म-स्वरूप मे है—

वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरंकितं मेखलासु ॥१।१२॥

---

* इन्द्र की एक संज्ञा बृहद्रेणु है। 'बृहद्रेणु इन्द्रच्यवन बनकर मानुषी कृष्टियों का सहायक हुआ' ऋ० ६।१८।२।

† यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं, नाध्यासन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः॥ मे० २।१६॥

‡ राजहंस या परमहंस योगी बिसकिसलय अर्थात् पद्मों का आधार करते हुए ब्रह्माण्डस्थित शिव के दर्शन प्रति-वर्ष करते है। एक संवत्सर साधना का एक कल्प है।

⁂ त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधा गन्ध.................मे० १।४२।

मेघदूत—कामरूप पुरुष

अर्थात् रामगिरि की आत्मा रघुपति के पदों से अंकित होकर महनीय बनी है। इसी कारण वह वस्तुतः तुंग है (तुगमालिंग्य शैल १।१२)

माल क्षेत्र तो मेघ के अभिवर्षण की बाट जोह रहा है। आम्रकूट की शोभा मेघ के सम्पर्क से 'अमर मिथुन प्रेक्षणीय' हो गई है। आम्र काननों के पाण्डु विस्तार को भूमि की स्तनच्छवि प्राप्त कराने में मेघ ही कारण है। मानो आम्रकूट के जड शरीर में मेघ ने चैतन्य का प्रवेश करा दिया जिससे देवताओं की लालसा भी उस ओर प्रवृत्त हुई*। जिस भूमि को तुम्हारे गर्जन ने रोमांचित कर दिया था उसके ही स्तन पर आरूढ होकर तुम विश्राम करोगे। अमर मिथुन तुम्हारे इसी कामरूप को देखकर प्रसन्न होंगे। नीच नामक पर्वत मेघ के सम्पर्क से पुलकित हो गया है। उसकी प्रत्येक शिला में उत्कट वृष शक्ति की सुगन्ध निकल रही है। हे मेघ, तुम्हारे वहाँ विश्राम का हेतु यही है कि तुम पुरुष-स्त्री में व्याप्त उद्दाम यौवन का परिचय पाकर अपना आगमन सफल समझो। इन पर्वतों से आगे बढ़ने पर देवगिरि, हिमालय और कैलास के साथ तुम्हारा आध्यात्मिक सम्बन्ध होगा। देवगिरि स्कन्द की वसति है, वहाँ पुष्पवर्षण से उनकी पूजा करना। जिस मघवा के तुम प्रधान पुरुष हो उसी की सेनाओं की रक्षा करनेवाले सेनानी स्कन्द हैं—

तत्र स्कन्द नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा, धारासारैः स्नपयतु भवान व्योमगंगाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूनामत्यादित्य हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥ मे० १।४३॥

अर्थात्, हे मेघ, देवगिरि में नियत रूप से बसनेवाले सेनानी स्कन्द को तुम पुष्पवर्षक बनकर आकाश गंगा के जल से भीगे हुए फूलों की मूसलाधार वृष्टि से स्नान कराना। देव सेना की रक्षा के लिए शिवजी ने अग्नि के मुख में सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान् जिस तेज का संभरण किया है, वही स्कन्द है। उनकी पूजा में आत्म समर्पण करना तुम्हारे लिए उभय-लोक में परमोच्च सौभाग्य है। आगे चलकर कैलास के अतिथि होना। यह कैलास शंकर का राशीभूत अट्टहास है (राशीभूत प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहास —१।५८) जिन्होंने कभी तुम्हारे कामरूप को भस्म कर दिया था और अब फिर दूसरी बार जिनके लोक को जाने का तुमने उपक्रम किया है। पर यह यात्रा अभिमानी जुझाऊ योद्धा की नहीं है, अब की बार तो एक श्रद्धालु भक्त अपने आराध्य देव को भक्ति-नम्र होकर स्थिर पद की प्राप्ति के लिए प्रणाम करने चला है (मे० १।५५) चैतन्य के अन्तर्मुख और बहिर्मुख या अध्यात्म और अधिदैव स्वरूपों का साथ ही साथ कितना सुन्दर मेल कराया गया है। जड दृष्टि के लिए सब पर्वत ही है, परन्तु चैतन्य के लिए आम्रकूट और देवगिरि-कैलास में आकाश पाताल का अन्तर है। मेघ का सम्बन्ध दोनों से है, पर एक जगह भोग है, दूसरी जगह संयम, एक मर्त्य है दूसरा स्वर्ग्य, एक उज्जयिनी है दूसरी अलका। दोनों मार्गों का समन्वय ही उत्तम पथ है। यही 'प्रयाणानुरूप' मार्ग है, क्योंकि यदि मानुष-देह पंच विषयों से एकान्त असंपृक्त रह सकती तो विधाता ही इन्द्रियों को बहिर्मुखी क्यों बनाता। (कठ उ० ४।१) पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयम्भूः। मेघ को वेद में सिन्धुओं का वृषभ कहा गया है। यक्ष ने मार्ग का कथन करते हुए कितने ही स्रोतों का वर्णन किया है जिनका जल पानकर मेघ अपनी क्षीणता को दूर करेगा (क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य) प्रबल उद्वेग से बहती हुई नदियाँ सूचित करती हैं कि वे अपने सुभग पुरुष के साथ रसाभ्यन्तर होने जा रही हैं। वर्षा के सलिल को अपने गर्भ में धारण करनेवाली नदियाँ ही हैं। उनके भरकर चलने के दृश्य को और कम्पायमान होकर बरसने-वाले† मेघ को एक साथ देखता हुआ यक्ष सोचता है कि इन नायिकाओं को अवश्य मेघ के दर्शन-स्पर्शन से ही इतने भाग लगे हैं। जो नदियाँ ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप से या यों कहें कि मेघ के विरह में वेणी के समान पतली धारवाली हो गई थीं (वेणी भूत प्रतनु सलिला) वे ही अब मेघालोक से अन्यथा वृत्ति हो रही हैं। चंचल उर्मियोंवाली वेत्रवती के इतराने का ठीक ही नहीं है। जब सब के मान घट गए हैं वह तब भी सभ्रूभंग मुख से अपने वनिक्रदत् पति का आह्वान कर रही है—

तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यति स्वादु यस्मात्सभ्रूभंगं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥

---

* छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रैः, त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां, मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥ मे० १।१८।

† तद्यत्कम्पते मानो रेतो वर्षति तस्माद्वृषाकपिः, तद्वृषाकपे वृषाकपित्वम्—गोपथ ब्रा० उत्तर भाग ६।१२।

श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

वारि धाराएँ अहर्निश जिसके प्रताप से बहती हैं, वह रस का पोपक मेघ ही है। जब तक रस निर्भर पयोद की श्री अक्षुण्ण है, तब तक निर्विध्या को अपने सौभाग्य पर अभिमान करने से कौन रोक सकता है? वह उन्मादिनी बनकर कही आवर्तरूप नाभि को दिखाकर चलती है, कभी विहग-पक्तिरूप कॉचीदाम को झंकारती हुई भागती है। यह सब इतराना उसी कामरूप पुरुष के ऊपर निर्भर है जिसने अचेतन में भी चेतन का मंत्र फूक दिया है। ये वर्णन केवल प्राकृतिक ही नहीं है, इनमे प्रकृति चेतन मनोभावो से संक्रमित होकर चेतन की तरह ही सारे व्यवहार करने लगी है। इन व्यवहारों का साक्षी, भोक्ता और नियन्ता पुरुष मेघ के रूप मे सदा सर्वत्र प्रस्तुत होकर साथ साथ चलता है। इसके कारण कालिदास के प्रकृति-चैतन्य मे इतनी अधिक सजीवता आ गई है कि उसकी उपमा प्रकृति के ही उपासक विश्व के अन्य कवियों मे कही नही मिलती। कवि का मेघ चैतन्ययुक्त है, अतएव उसमे मन-बुद्धि भी है, जिनके द्वारा वह अमर-कण्टक और कैलाश के भेद को जानकर अपने अध्यात्म की सिद्धि भी कर लेता है। वह निर्विध्या के साथ तो विलास करता है, परन्तु सरस्वती के जल का पान करके अन्त करण को शुद्ध करता है*। चेतन प्राणी ही इस प्रकार के विवेक को रखते हुए स्वर्ग और संसार दोनो सिद्ध कर सकते है। कवि को पाठको की धार्मिक मनोवृत्ति पर प्रभाव डालने के लिए अन्य प्रकृति-कवियो की भांति कुछ धर्म-नीति नही कहनी पड़ती, वह मेघकृत व्यवहारो से ही सब कुछ सिद्ध करा लेता है। मेघ सक्रिय बनकर व्युत्पन्न व्यवहार करता है, वह निष्क्रिय और निरपेक्ष (passive) नही है। प्रकृति पग पग पर पुरुष के वश में और उसकी लीला से अवधूत मालूम होती है। इसी बात से मेघदूत का प्राकृतिक जगत् अत्यन्त हृदयहारी हो गया है।

वियोगिनी सिन्धु विरह मे पाण्डुवर्ण होकर प्रिय समागम की उत्कण्ठा से किसी प्रकार शरीर धारण कर रही थी। उसमे श्रृंगार के विभ्रम नही है, तपस्या ही उसका पातिव्रतोचित गुण है। मेघ को चाहिए कि उसकी कृशता को दूर करे। उसकी तनुता मे मेघ के सौभाग्य की व्यञ्जना है। यदि मेघ उस अर्थ पर ध्यान नही देता, तो सिन्धु नदी तो एक दिन निःशेष हो ही जायगी पर मेघ का सौभाग्य सिन्धु भी सूख जायगा--

सौभाग्यं ते सुभगविरहावस्थया व्यञ्जयन्ती, कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः। मेघ १।२९।

और वह गम्भीरा जिसका नितम्ब इस समय विवस्त्र हो गया है किसी समय इतनी विषयों से पराङ्मुखी थी कि उसे पुरुष दर्शन की चाह न थी। पर सदा एकसी अवस्था नही रहती। गम्भीर्यगुण† के ह्रसित होने पर गम्भीरा के सैन

---

* कृत्वा तासामभिगममपां सौम्यसारस्वतीनामन्तः शुद्धः त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः।। मे० १।४९।

सरस्वती देवनदी है। स्वयं ब्रह्माजी ने उसके किनारे तपस्या करके श्रुतियों का प्रकाश किया। सब ऋषियों के तपोवन सरस्वती के ही किनारे थे। सरस्वती के ही क्षेत्र में देवनिर्मित ब्रह्मावर्त है। सारे राष्ट्र ने जिस सरस्वती की इतनी महिमा मानी हो, मेघ भी उसे पूज्येतर भाव से नहीं देख सकता। कवि ने मेघ के शरीर और आत्मा को यहाँ स्पष्टता से पृथक् पृथक् देखा है। पुरुष का बाह्य वर्ण भले ही काला हो, वह नश्वर शरीर की उपाधि है। चेतन का सर्वस्व तो अन्तःकरण है, वह विशुद्ध चाहिए। अब तक मेघ ने जितने काम-विलास किये है, सरस्वती तीर्थ के जलपान से सबकी शुद्धि होती है। अब तपोभूमि देवतात्मा हिमालय का आरम्भ है। पितुः प्रदेशास्तवदेव भूमयः अर्थात् गौरीगुरु अद्रिराज देवभूमि है, वहाँ गंगा, हरद्वार, हरचरण न्यास, मुक्त त्रिवेणी, कैलास और मानसरोवर है। कैलास तो खंब्रह्म में वितान की तरह तना हुआ है। यहाँ तप के स्थान हैं; भोग तो सरस्वती से पहिले ही निवृत्त हो चुका है। कवि ने सरस्वती से आगे मेघ के विलास का वर्णन नहीं किया।

† अन्तर्जातस्य क्षोभस्य बहिर्लक्षणा भावो गाम्भीर्यम् अर्थात् अन्तर में उपजे हुए क्षोभ को बाहर प्रकट न होने देना गाम्भीर्य गुण है (रूपगोस्वामी कृतउज्ज्वल नीलमणि टीका जीवगोस्वामी) यह गुण जिसमें हो वही गम्भीरा नायिका है। कुछ दिन तक तो गम्भीरा अपने गुण को रख सकी पर अन्त में उसके भी नेत्र कटाक्षपूर्ण हो गए। अर्थात् उसके इंगिताकार अविदित न रह सके।

मेघदूत—कामरूप पुरुष

चलने लगे*। वह प्रसन्न चित्त हुई। उसका अगाध जल प्रसन्न अर्थात प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के योग्य हो गया। उसके जल में शफरी फरफराने लगी। उत्कण्ठा से परवश हुई गम्भीरा ने मेघ के प्रकृति सुन्दर बिम्ब को अपने में ग्रहण किया। उत्कण्ठिता के हृदय में जब नायक की छाया प्रवेश पा ले तब नायक को उसके अनुराग का निश्चय हो जाना चाहिए। ऐसे समय मेघ को उपदेश है कि वह अपने धैर्य को पकड़कर न बैठा रहे—अपनी संयमकृत जड़ता से गम्भीरा के कटाक्षों को व्यर्थ न करे—

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने, छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।

तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्यान्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥ १।४०॥

वह धैर्य क्या है इसे कवि ने ही अन्यत्र बताया है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः—कुमार सम्भव १।५९।

अर्थात्, विकार-हेतु उपस्थित होते हुए भी जिनके चित्त विकृत न होवें वे ही धीर हैं। उन्हींका भाव धैर्य गुण है†। हे मेघ, जब गम्भीरा का गाम्भीर्य जाता रहे, तब उसके पुरुष तुमको धैर्य धारण करके संयम का अभ्यास करना उचित नहीं है। पत्नी की काम विह्वलता विकृति है। विकृति से मिलने के लिए मेघ को भी विकृति में जाना पड़ेगा। प्रकृतिस्थ रहने से प्रेम-ग्रन्थि नहीं लग सकती। बिना प्रेम-गाँठ लगे प्रकृति-पुरुष मेघ विस्तार को प्राप्त गम्भीरा का उद्धार नहीं कर सकता।

वस्तुतः बात इतनी ही है कि जब तुम बरसोगे तो गम्भीरा का उथला नीर गम्भीर हो जायगा। परन्तु विश्व में काम-सङ्कल्प के जगानेवाले चेतन पुरुष के जीवन चरित्र में इतने से क्या काम चलता ? उस विराट ग्रन्थ में प्रतनु नदी वीचियों को भ्रू विलास और सहरियों के फरफराने को कटाक्ष कहकर पढ़ाया जाता है। और यह भी सत्य है कि कालिदास के समान उसका गम्भीर किन्तु प्रमोदपूर्ण पारायण आज तक कोई नहीं कर सका।

पृथ्वी, नदी, पर्वतों से एक कोटि ऊपर जब हम वनस्पति जगत् की ओर दृष्टिपात करते हैं तो ऐसा ज्ञात होता है कि मेघ के आने से समस्त पुष्प, फल, ओषधि, तरुलता आदि स्फूर्ति और चेतना से उच्छ्वसित हो रहे हैं। कारण यह है कि वनस्पतियों का पोषक आहार या पुष्ट देवता पय अर्थात् जल है (स वनस्पति उ व पयो भोजन') उस पय के वर्षक मेघ हैं। मेघ प्राणरूप से सबको जीवन देते हैं। इसी महान् प्राण भण्डार को पाकर प्रजाएँ आनन्द रूप होती हैं कि अब अन्न की उत्पत्ति होगी यथा—

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः। आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति॥ प्रश्न उ० २।१०।

---

* अनुभाव जो नायिकाओं में पाये जाते हैं दो प्रकार के होते हैं—चित्तज अर्थात् अन्तःकरण सम्बन्धी और गात्रज अर्थात बाह्य या देह सम्बन्धी। गम्भीरा नायिका का गाम्भीर्य गुण उसका चित्तज अनुभाव है। भ्रू भंग-कटाक्ष-आनन विकारादि गात्रज हैं।

† विकार हेतु रहते भी विकार का अभाव धैर्य है। विकार हो जाने पर उसको प्रगट न होने देना गाम्भीर्य है। धैर्य में मनोभावों की समता का नाश नहीं होता, गाम्भीर्य की आवश्यकता क्षुब्ध मनोभावों को छिपाने के लिए होती है। कालिदास के अनुसार यही धैर्य और गाम्भीर्य के लक्षण हैं। रसार्णव सुधाकर के कर्ता श्रीसिंग भूपाल इन लक्षणों से तो सहमत हैं परन्तु नामों में कुछ भेद है—

सर्वावस्थासमत्वाविदितेंगिताकारत्वयोर्लक्षणयोः चित्तधैर्य एवान्तर्भूतत्वात् भोजराजलक्षितौ स्थैर्यगाम्भीर्यस्वभावौ द्वौ चित्तारम्भौ चास्मदुक्ते धैर्य एवान्तर्भावाद् दर्शितौ चित्तारम्भौ' (पृ० ५२)—अर्थात धैर्य के दो भेद हैं—स्थैर्य और गाम्भीर्य। स्थैर्य कहते हैं सर्वावस्था समत्व अर्थात् सब अवस्थाओं में सम रहने को (विकार हेतौ अविकार), गाम्भीर्य के अर्थ हैं अविदितेंगिताकारत्व अर्थात् विकार हो जाने पर उसे प्रगट न होने देना। इस तरह कालिदास के धैर्य को इन्होंने स्थैर्यनाम दिया है और स्थैर्य गाम्भीर्य दोनों को धैर्य के ही अन्तर्गत मान लिया है। आलंकारिकों ने मनोभावों के यथार्थ वर्गीकरण की ओर कितना सूक्ष्म ध्यान दिया है, यह देखने योग्य है।

श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

अन्न के अधीन प्राण है। दोनो मे स्थूल सूक्ष्म का ही भेद है। इसलिए प्राण के सम्मुख ऊर्जवाली औषधियाँ नाना भाँति से अपनी प्रसन्नता प्रकट करती है। अथर्ववेद मे लिखा है * कि 'जब स्तनयित्नु गर्जनशील प्राण मेघ के रूप में औषधियो के समक्ष शब्दायमान होता है, तब औषधियाँ नवीन वर्चस के साथ गर्भ धारण करके नाना रूपों मे उत्पन्न होती हैं। जब ऋतुकाल मे औषधियो के आगे प्राण गरजता है, तब जो कुछ भी इस पृथ्वी पर है सब ही विशेष आनन्दित होता है। सींची हुई औषधियाँ प्राण से बोली—"हे सोम†, तूने हमारी आयु को बढ़ाया है, तूने हमे गन्धयुक्त किया है।"

सावन आया नही कि कुरैया के नए कुसुम निकल आए। उन्हे यक्ष ने प्रसादरूप से मेघ के ही अर्घ्यदान में चढ़ा दिया है। कही स्थल कदम्ब के मुकुलो की केसर कुछ कुछ खुलने लगी है। उनके हरे-पीले और कुछ श्याम रंग के अध-खिले फूल मानो मेघ का मार्ग सूचित करने के लिए ही जगलो मे झूम रहे है। जलाशयो के निकट भूमि कदलियों मे भी मुकुल निकल आए है। कही कदम्ब प्रौढ़-पुष्प हो जाते है, कही आम पककर पीले और रसीले होकर टपकते है। इन आम्र काननो ने आम्र कंटक को श्रृंगार से सज्जित किया है। काली और फूली जामुने जम्बू-कुञ्जो से नदियो मे टपकती हैं। अन्तरिक्ष मे मेघ को तृप्त करनेवाली शीत वायु पृथ्वी पर उदुम्बर काननो को पकाती है। यूथिकाओ के समूह के समूह सौरभ का विस्तार करने लगते है। निचुल या वेतस के लिए तो वर्षा अमृतकाल ही है।

वानीर को अभ्र पुष्प अर्थात् बरसात मे पुष्प धारण करनेवाला कहते है। सूचिभिन्न केतकी के कुसुमों से उपवनो की बाड़े हरी हरी लगने लगती है। विदिशा से अवन्ती तक असख्य उद्यान और उपवन है। उनमे पुष्प चयन करनेवाली किशोरियो के मुख का परिचय मेघ प्राप्त करता है। जलद काल मे अरविन्द कहाँ, परन्तु पुष्पलावियों के मुखारविन्द वर्षा के मैले जल मे भी खिले रहते हैं। मेघ-काल मे न हस होते है, न अरविन्द। कलमष कलुषित ऋतु मे राजहंस और पद्म दोनों ही मान सरोवर को चले जाते है। हसो को कवि ने **'बिसकिसलयच्छेद पाथेयवन्तः'** कहकर सूचित किया है कि हसों का जीवनाधार पद्म है। जिस वृष्टि से हसो की हानि होती है, उसमे पद्मो को पहले संकुचित होना पड़ता है। पद्मो के विकास के लिए उपयुक्त तो निरभ्र आकाशवाली शरद्-ऋतु ही है।‡ वर्षा मे कमल रहे भले ही, पर उन्हे अर्जुन के तीरों के समान कर्कश वृष्टि और बूंदों की मार सहनी पड़ती है—

राजन्यानां सितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा, धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि॥ मे० १-४८।

मेघ की प्रेरणा जैसे वायु के अधीन है, वैसेही वायु भी मेघ के अनुशासन मे चलती है। कैलाश पर पहुँचकर मेघ को वायु की इच्छानुसार कल्पद्रुम के नए किसलयो को धुनकर उसके आनन्द की वृद्धि करनी होती है। (**धुन्वन्कल्पद्रुम किसलयान्यंशुकानीव वातैः १।६२**)। कैलाश पर मानस, कल्पद्रुम, मन्दार, मन्दाकिनी, एक से एक दिव्य वस्तु है। खंब्रह्माण्ड को तानकर खड़े हुए कैलाश¶ के अतिथि के लिए संसार के किस पदार्थ की अभिलाषा शेष रहेगी जिसकी पूर्ति कल्पद्रुम से हो सकेगी। अष्टसिद्धि और नवनिधियो का मूर्तिमान रूप कल्पद्रुम है। शिवलोक मे पहुँचकर वृष को इस देवतरु के साथ आनन्द सम्मिलन के सिवाय और किसी वस्तु की चाह नही रहती।

---

* यत्प्राण स्तनयित्नुनाऽभिक्रन्दत्योषधीः। प्रवीयन्ते गर्भान् दधतोऽथो बह्वीर्विजायन्ते॥
यत् प्राण ऋतावागतेऽभि क्रन्दत्योषधीः। सर्वं तदा प्रमोदते यत् किं च भूम्यामधि॥
अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्। आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः॥ अथर्व ११।४।३, ४, ६।

† सोमेति—प्राण का ही एक नाम सोम भी है जो रसों से औषधियों को पुष्ट करता है। गीता में कहा है—
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः। गीता १५।१३। प्राणो वै सोमः—शतपथ ७।३।१।४५।

‡ मानुषी देह में जब वर्षाऋतु आती है तब उसके चक्र (पद्म या कमल) भी श्रीहत हो जाते है। शरीरस्थ वृषशक्ति जब उत्तरायण मार्ग की ओर जाती है तभी वे कमल खिलते है।

¶ कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः, शृंगोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्यस्थितः खं—मेघ १।५८।

यात्रा में विशेष कुतूहल है। अप्सराएँ तो जलात्मक वृष की ही चेष्टाओं के नाना रूप हैं। उनका जन्म जल-तत्व से है—अद्भ्य सरन्तीति अप्सरस। वृष और सोम के अनन्त विलास ही अप्सरा रूप है। इन्हीं के प्रलोभना द्वारा इन्द्र तपस्या में विघ्न डालते हैं। इन अप्सराओं के तेज को शुष्क करनेवाले सूर्य हैं जिनके पाद-मूल का उपस्थान बारी-बारी से सब करती हैं।* पिंगला की ही संज्ञा सूर्य है जो अप्सराओं के तेज को अग्निमय करके सुरक्षित करती है।

कवि ने प्रतिज्ञा की थी —जानामित्वां प्रकृति पुरुषं कामरूपं मघोनः। उसी काम रूप के दर्शन हमने प्रकृति में सर्वत्र घूमकर किए। अचेतन चेतन में कहीं भेद नहीं मिला। जड़ रामगिरि के चिर विरहोत्पन्न उष्ण आँसू और यक्षिणी के वपभोग्यविरहोत्पन्न गरम निःश्वास एक ही नियम का संकेत करते हैं। प्रकृति की विराट एकता ने चराचर को एक सूत्र में बांध रक्खा है। हमारे तमिस्रान्ध चक्षुओं को प्राय अपनी महिमा के आगे कुछ सूझ नहीं पड़ता। पर कवि की सहस्राक्ष दृष्टि में सब रहस्यों का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसलिए उसका मेघदूत सार्वभौम है। वह शुद्ध साहस से वेश्याओं के नखपदों को मेघ से मिलनेवाले सुख का भी वर्णन करता है, थोथी विरक्ति से नाक भौं नहीं सिकोड़ता। यदि वार विलासिनी उसके वर्णन की पात्र न समझी जाँय, तो उसका सार्वभौम चित्र अधूरा रहे। ऐसा तभी होगा, जब कवि प्रकृति की सचाई से अपने अहंकार को बढ़ जाने देगा। यदि मेघ के आने से पतिव्रता यक्षिणी का हृदय उन्मथित हो जाता है, तो वेश्या नर्तकियों का रमणी हृदय किस संयम में बँधा रहेगा? उस उद्दाम सरोवर में सबसे पहले बाढ़ आवेगी। जब प्रकृति की वास्तविकता ऐसी है, तो कवि को क्या अधिकार है कि वह वेश्या हृदय को पतित जानकर ठुकरा दे। स्थूल दृष्टि रखकर संसार का वर्णन करनेवालों के लिए वेश्या, पतिव्रता और अभिसारिका में भेद हो सकता है और कदाचित होना भी चाहिए। परन्तु अन्तर्दृष्टि से प्रेरित होकर जो मेघ का कार्य देखता है उसकी दृष्टि में संसार के सभी दृश्य अपना प्रतिबिम्ब डालते हैं, उसका अनुभव अखण्ड या समग्र होता है, एकदेशीय या विभक्त नहीं। समग्र का ज्ञान करनेवाला यदि अध्यात्म का उपदेश देता है तो उसके द्वार पतित, वेश्या और पापी सबके लिए खुले रहते हैं। सांसारिक जीव अपने नीतिधर्म के उपदेश में किसी को बहिष्कृत भले ही समझे, पर बुद्ध के लिए अम्बापाली का निमंत्रण भी कम मूल्यवान् नहीं है। लिच्छवि-राजकुमारों के घरों में यदि बुद्ध के चरणों की आवश्यकता है, तो इसी कारण से अम्बापाली का द्वार उनको और भी अधिक चाहता है। यह दृष्टि ज्ञान सम्पन्न बुद्ध की है। उनके हृदय में प्राणिमात्र का मूल्य है और कोई जीव इतना नहीं गिरा है कि वह उठ न सके।

कवि की भी ज्ञान-सम्पन्न अन्तर्दृष्टि यही रहती है। पर उसका मार्ग काव्य के द्वारा चैतन्य के आनन्द की प्राप्ति है। काव्य में कान्ता सम्मित उपदेश दिया जाता है। इसीलिए मेघदूत के अध्यात्म ज्ञान का ऊपर से कुछ पता नहीं चलता। पण्यस्त्रियों के विलास के मूल में कवि क्या वर्णन कर रहा है और उसकी निर्मित सृष्टि में उनका क्या स्थान है, इसे हम बहुधा नहीं देख पाते। मेघ के साथ सबका सम्बन्ध जोड़कर सब अच्छे बुरे भावों को उत्तराभिमुख करने में उसका जो चरम लक्ष्य है, उसकी प्रतीति ऊपर से नहीं होती, क्योंकि मेघदूत काव्य है, धर्मशास्त्र नहीं। फिर यह भी बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सब प्राणियों को अपने स्थान में रहकर ही आत्मा का उद्धार करना है। हम अपने मनोभावों को उच्च बनाकर सदा आगे बढ़ते रहें, पर एक स्थान से दूसरे स्थान में अपनी लोक स्थिति बदलते रहने से हमारे हाथ कुछ नहीं लगेगा। मुख्य परिवर्तन मन का है। वह मन विराट पुरुष को समर्पित रहे तो शरीर अपने आप सुधर जाता है। मेघदूत की समस्त प्रकृति अपने स्थान पर स्थित रहती है। केवल उसके भाव मेघ के साथ जाते हैं। स्वयं यक्ष भी अवधि से पहले रामगिरि को नहीं छोड़ सकता। हाँ अपने संकल्पों और विगणनाओं को वह मेघ के द्वारा अलका के लोक में भेज सकता है।†

---

* अप्सरो वारपर्यायेणेह भगवतः सूर्यस्य पादमूलोपस्थाने वर्तमाना बलवदुत्कण्ठिता उर्वश्या उत्कण्ठितास्मि—विक्रमोर्वशीये चतुर्थांके।

† हम सबको देशकाल के पाशों में सीमित करनेवाली माया (finitising principle) है जिसने हमें अनन्त से सान्त बना दिया है प्रत्येक व्यक्ति देश-काल के जिस बिन्दु (intersection point) पर खड़ा है वहां से वह भागकर नहीं जा सकता। उसका वह व्यक्तित्व ही उस बिन्दु पर खड़े होकर देखना है।

श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

पशु पक्षी मनुष्य देवयोनि सव पाश से वँधे हुए अपने स्थान में कर्म कर रहे हैं, समय से पहले भौतिक पाशों का अन्त नहीं हो सकता, अपने मन को हम आज ही प्रकृति-पुरुष के साथ मिला सकते है। यही परिवर्तन सव कुछ है। मेघ को काम-रूप पुरुष कहकर उसका काम-सम्वन्ध प्रकृति में जहाँ कहीं है उन सवका ही वर्णन कवि ने एकसी स्पष्टता और निर्भीकता के साथ किया है। इन सवके समवाय को वह पुरुष अलका मे ले जा रहा है। वह सर्वव्यापी वनकर सवका उद्धार करने में यत्नशील है। विष्णु-मेघ के लिए सव कुछ अपने तेजांश से सम्भव प्रतीत होता है। उसके निकट त्याज्य और हेय कोई भी पदार्थ नहीं है। इस कारण चेतन और अचेतन, गणिका और पतिव्रता, उज्जयिनी के वासी और अलका के प्राणी, सव एक-साथ उस मेघ सन्देश को सुनते है जिसे यक्ष ने सुना है। अपने संस्कारों के अनुरूप ही उस सन्देश से सवको स्फूर्ति प्राप्त होती है। भोगियों में भोग का भाव और प्रवल हो जाता है। इसी के वर्णन के कारण मेघदूत भोग-प्रधान काव्य प्रतीत होता है। परन्तु उसमे संयम और वैराग्य का जो छिपा हुआ तार है उसकी ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता। संसार में सवसे महनीय वस्तु 'स्वाधिकार' है। आत्म-नियोग या आत्मानुभूति ही परमश्रेय है। उसमें यक्ष ने जो असावधानता की उसका कारण भी उसका विषय-लिप्त हो जाना है। इस प्रमादजनित दण्ड की निराकृति के लिए शाप के वश होकर वह तपस्या कर रहा है। इस अनुभव की अवस्था में सवसे महत्त्व की वात जो उसने सीखी वह यह है कि काम का सृष्टि में क्या स्थान है। कहाँ तक यह आत्मकल्याण का साधन है, और किस सीमा से आगे वढ़ जाने पर यह मनुष्य को नीचे गिरा देता है। वह नेत्र खोलकर देखता है कि प्रकृति द्वन्द्वमयी है। उन दो भागों में परस्पर आकर्षण सम्वन्ध का हेतु काम है। परन्तु वह काम सदा शिव के सान्निध्य में रहना चाहिए। शिव से भस्म होकर ही उसे नवीन जीवन प्राप्त हुआ था। मेघदूत में सैकडो तरह से कवि ने इस तत्त्व की वात का वर्णन किया है। स्कन्द को पुष्पमेघी कृतात्मा होकर स्नान कराना, या भवानी को अपनी भक्ति से प्रसन्न करना, या हरचरण-न्यास की भक्ति-नम्र होकर परिक्रमा करना, या कैलाश के अतिथि होना—इन सव वातों मे एक ही अध्यात्म-भाव दृष्टिगोचर होता है, जिसके द्वारा काम अन्ततः अध्यात्म-सम्पत्ति मे विपरिणमित (spiritualised) हो जायगा।

क्षुद्र पक्षी से लेकर देवयोनियो तक का मेघ के साथ सम्वन्ध सव अपर या निम्नकोटि का है। इन सव से परे त्रिभुवन-गुरु चण्डीश्वर तथा उनके परिवार के साथ मेघ का सम्वन्ध अक्षर कोटि का है। ऊँचे से ऊँचे देव तक त्रिगुणात्मक या तीन गुणों के अधीन हैं। ये तीन गुणही तीन पुर है जो सोने चाँदी और लोहे के वने हुए कहे गए है (ऐतरेय ब्राह्मण १।२३) त्रिपुर के विजेता शंकर है—

संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः॥ मेघ १।५६।

किन्नरिया त्रिपुरासुर के विजेता, तीनों भुवनों के अधीश्वर शंकर की विजय के गीत गाती हैं। यह त्रिगुणमयी माया वड़ी दुरत्यय अर्थात् चण्डी है। त्रिपुर या त्रिभुवन के गुरु शिव ही चण्डीश्वर है (मेघ १।३३) उनका जो पवित्र धाम है वहाँ मेघ को अवश्य जाना चाहिए—**पुण्यं यास्यस्त्रिभुवनगुरो र्धाम चण्डीश्वरस्य।**

चण्डीमाया जिनके वश में है उनकी शरण मे जव संसार का कामरूप पुरुष पहुँचता है तो उसका भोग भी स्वर्गीय वन जाता है। ऐसा पुरुष अपनी भक्ति से भवानी को प्रसन्न करता है। उसकी दृष्टि में स्त्री सौन्दर्य परम सुन्दर का अति रमणीय प्रतीक मात्र है। अनुभव के अनन्तर उस रूप के दर्शन से आध्यात्मिक आनन्द और कला का विकास होता है, उसमें लालसा नहीं रहती। प्रकृति के सव पदार्थों का परिचय मनुष्य अपनी इन्द्रियों द्वारा दो ही तरह प्राप्त कर सकता है—ज्ञानी अथवा अज्ञानी वनकर। ज्ञानी की अवस्था में वह पदार्थ के वाह्य नाम रूप से मोहित न होकर उसकी असलियत जानने का प्रयत्न करता है। उसका भोग मुक्ति की भावना से भावित रहता है। मूर्ख या विषय कामी वह है जो पंच विषयों या भूतों की सत्ता को ही सच्ची समझकर उनमें अपनी लालसा तृप्त करने के लिए आत्मा को खो देता है। यक्ष किसी समय इसी मूढ़ दशा में विषयो में आसक्त या। अव वह काम के वाह्य भोग में लिप्त न होकर मानसिक क्षेत्र में उसके वास्तविक स्वरूप का अनुभव कर रहा है। काम पुरुष के साथ उसका अभिनव सम्वन्ध संयम, भक्ति और वैराग्य से नियंत्रित है। इसी कारण वह प्रत्येक क्षण देवाधिदेव शंकर को प्रसन्न करना चाहता है। पार्वती के साथ विवाह करने से पूर्व शंकर को

भी अपना काम विषयक भाव बदलना पडा था। इसी आन्तरिक परिवतन से प्ररित होकर यक्ष मेघ को महाकाल के मन्दिर म ठहरने का उपदेश देता है। और सब जगह तो उसने अपने दूत से जल्दी जाने को कहा ह (आशु गन्तुव्यवस्येत)—

मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेताथकृत्या।

परन्तु महाकाल के मन्दिर मे मेघ यदि समय से पहले पहुँच जाय तो उसे वहा सूर्यास्त तक ठहर जाना चाहिए। दिन का शेष भाग सिवाय शिव की साध्य पूजा म कृताथ करने के और कहा विताया जाय—

अप्यन्यस्मिन जलधर महाकालमासाद्य काले, स्थातव्य ते नयन विषय यावदत्येति भानु।
कुवन्सध्याबलिपटहता शूलिन श्लाघनीया मामन्द्राणा फलमविकल लप्स्यसे गर्जितानाम्॥ मेघ० १।३४।

इस प्रकार भगवत समर्पित जो काम या वृष शक्ति ह उसी के स्वाभाविक अर्थात् सृष्टि के लिए अत्यन्त आवश्यक रूप को हिन्दू शास्त्रो ने भगवान् का ही स्वरूप बताया है—प्रजनश्चापि कदप—गीता १।२८।

काम की ऐसी आध्यात्मिक कल्पना वस्तुत बहुत उच्च और कल्याण करने वाली ह। उसको पाकर मनुष्य स्त्री को भगवान् की विभूति समझता ह, अपनी अभिलाषाओ की दरिद्र भिखारिणी नही। वह उसकी आत्मा से मिल जाता है जोकि अनन्त सम्मिलन है। शरीर की एकता तो विच्छिन्न और नश्वर है।

ऊपर हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि मेघदूत म जो काम की प्रवल धारा वही ह और जिसके प्रभाव से चेतनाचेतन जगत् म कोई भी अछूता नही बचा है, वह स्थल भोग को पुष्ट करने के लिए नही ह, प्रत्युत उसके द्वारा कवि ने यह दिखाया है कि काम का आश्रय लेकर भी किस प्रकार विराट् प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके अन्त म परम शिवात्मक ज्योति के दशन सम्भव ह। जो मेघ निर्विन्ध्यादि नायिकाओ के साथ अनेक विलास करता ह वही अन्त में मणि-तट पर शिव और पावती के आरोहण म सहायक होता है। योगियो के मणितट, बुद्धो के मणिपद्म और ज्ञान की पुरी काशी की मणिकर्णिका में कोई भेद नही है, वहाँ पहुँचकर आनन्द ही आनन्द ह।
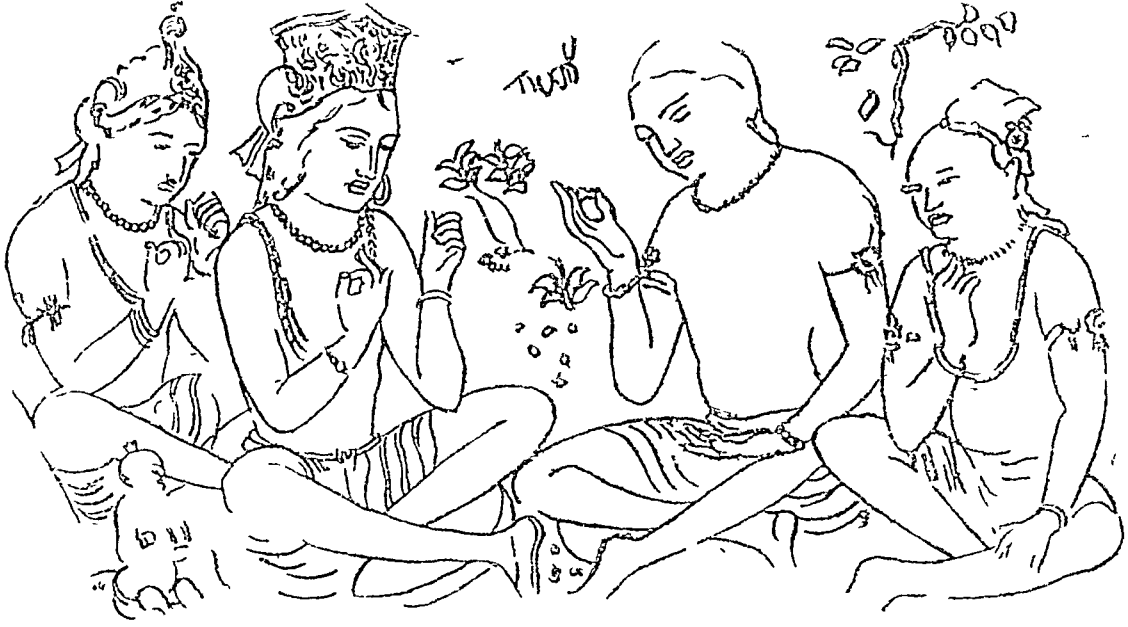
कालिदास का दूत-कर्म

श्री चन्द्रबली पांडे, एम्० ए०

राजकवि कालिदास के विलास की तो बात ही और है पर उनका 'दौत्य' भी किसी से कम नही है। देखिए भोजराज कहते हैं :—

"तत्र पदान्यथाकरणं द्विधा प्रकृतितो विभक्तितश्च। तत्र प्रकृतितो यथा—
असकलहसितत्वात् क्षालितानीव कान्त्या, मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिवतु मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां, त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥
अत्र त्वयीत्यस्य स्थाने यदा मयीति पठ्यते तदैतत्प्रार्थनावाक्यमपि अनुमतिवाक्यं भवति"।

(सरस्वतीकंठाभरण, द्वितीय परिच्छेद)।

राजा भोज के इस प्रस्तुत अवतरण से प्रसंग का कुछ भी पता नही चलता पर इतना व्यक्त हो जाता है कि इसकी 'प्रार्थना' पाठभेद के कारण 'अनुमति' बन गई है। अच्छा, तो यह प्रार्थना थी किसकी? वही राजा भोज फिर कहते है—

"नैयायिकी यथा—कालिदासः किं कुन्तलेश्वरः करोतीति विक्रमादित्येन पृष्ट उक्तवान असकलहसितत्वात्........
इदमेवोहयित्वा विक्रमादित्यः प्रत्युवाच—

पिवति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां, मयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥ इति॥"

(शृंगारप्रकाश, अष्टम प्रकाश)

भोजराज के जहाँ इस अवतरण से यह अवगत हुआ कि 'कालिदास' की उक्त 'प्रार्थना' पाठभेद के कारण 'विक्रमादित्य' की 'अनुमति' हो गई वही यह अड़चन भी सामने आगई कि वास्तव मे मूल पाठ है क्या? एक ओर तो भोज 'पिबतु' को ठीक मानते है और दूसरी ओर 'पिवति' को। फिर वस्तुस्थिति का ठीक पता कैसे हो?

कालिदास का दूत कर्म

भाग्यवश यही पद्य राजशेखर के काव्यमीमासा एव मखुक के साहित्यमीमासा नामक ग्रथ में भी आया है। राजशेखर 'हरण' पर विचार करते हुए लिखते ह —

"पादकदेशग्रहणमपि पादकदेशोपलक्षणपरम्। यथा—

असकलहसितत्वात् ....

यथा चोत्तरार्द्धे—

पिबतु .. .... " (काव्यमीमासा, एकादशोऽध्याय)

एव मखुक 'नयायिकी' के सम्बन्ध में कहते है —

"ऊहविपययविपरिणामाध्याहारवाक्यशेषव्यवहितकल्पनादिभिरुपकल्पामाना नयायिकी यथा—कालिदास किं कुन्तलेश्वर करोतीति विक्रमादित्येन पृष्ट उक्तवान—

असकलहसितत्वात् ....

इति। विक्रमादित्य 'पिबतु मयीत्यूहयित्वा इदमेव पद्यमुत्तरं पपाठ। इयमूहतो नयायिकी।" (साहित्यमीमांसा, द्वितीय प्रकरण)।

निदान हम देखते है कि राजशेखर तथा मखुक दोना ही आचाय इस बात में एक मत है कि वास्तव में कालिदास ने 'पिवति' और 'त्वयि' का प्रयोग किया था किन्तु विक्रमादित्य ने उन्हें 'पिबतु' और 'मयि' के रूप में कर लिया। 'त्वयि' और 'मयि' के विषय में तो कोई विवाद ह नही। सभी यहाँ एकमत ह। हाँ, 'पिवति और 'पिवतु' में द्वन्द्व अवश्य ह। सो बहुमत तो यही ह कि कालिदास ने 'पिवति' कहा और विक्रमादित्य ने 'पिवतु' के रूप में ग्रहण किया। होना भी यही था।

'पिवति' और 'पिवतु' पर विचार वाल की खाल निकालने के लिए नही प्रत्युत यह दिखाने के हेतु किया जा रहा है कि वस्तुत कालिदास का दौत्य क्सा था। कालिदास किस काम से भेजे गए थे, इसका पता नही, पर इतना तो निर्विवाद है कि उनके वापस लौट आने पर उनसे प्रश्न किया जाता ह कि कुन्तलेश्वर क्या करते ह? अब यदि इसका उत्तर यह दिया जा रहा ह कि अधरामृत पान करते ह तो ठीक। कारण कि इससे उनके 'वत्तमान' का बोध होता ह। और यदि 'पिवतु' का प्रयोग करते ह तो इसका अर्थ यह होता ह कि कालिदास वस्तु स्थिति को स्पष्ट न कर विक्रमादित्य से 'प्राथना' करते हैं कि उसे वैसा करने की 'अनुमति' मिले। किन्तु बात ऐसी है नही। कालिदास तो कुन्तलेश्वर के वत्तमान को वताते ह और विक्रमादित्य चट ताड लेते ह कि अब उससे कोई भय नही। वह भले ही अधरामत का पान करता रहे, हम तो उससे कोई विरोध नही रखते। चलो, अब तो उसकी चिन्ता दूर हुई, बस उसका विलास अब उसे और आगे बढने न देगा।

परन्तु यह कुन्तलेश्वर ह कौन जो विक्रमादित्य को इतना व्यथित कर देता है कि उसकी गति विधि का पता लगाने के लिए कवि कालिदास को दूत बनकर जाना पडता है? साहित्य अभी इसके सम्बन्ध में मौन है। हाँ, उपलब्ध सामग्री से इतना पता चलता है कि कालिदास ने कुन्तलेश्वर के यहाँ भी कुछ कर दिखाया था। क्षेमेन्द्र कहते ह—

"अधिकरणौचित्य यथा कुन्तलेश्वरदौत्ये कालिदासस्य—

इह निवसति मेरु शेखर क्ष्माधराणा, इह विनिहितभारा सागरा सप्तचान्ये।
इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राजमानं, धरणितलमिहव स्थानमस्मद्विधानाम्॥

अत्र महाराजदूतोऽपि सामन्तास्थाने स्वप्रभुसमुचितगौरवपूजार्हमासनमनासाद्य कायवशेन भूमावेवोपविष्ट प्रागल्भ्यगाम्भीर्येणव ब्रूते, ययास्मद्विधाना वसुधातल एव भुजगपतिभोगस्तम्भ प्राग्भारनिष्कम्प्ये धरासने स्थान युक्तं, यस्मादिहव मेरुरचलचक्रवर्ती समुपविष्ट, सप्तमहाब्धयश्च, तत्तुल्यतवास्माकमौचित्यमधिकरणपदसबद्धमेव॥"*

(औचित्यविचारचर्चा)

---

* ध्यान देने की बात ह कि यही प्रसग श्रीबल्लाल कवि के यहाँ कुछ और ही रूप धारण कर लेता ह जिससे किसी को इसकी साधुता में सन्देह हो सकता ह। पर वस्तुत बात ऐसी ह नहीं। बल्लाल कवि का ध्यान इतिहास

'पूजार्हमासनमनासाद्य' के साथ ही साथ 'पूजार्हमासनमापाद्य' पाठ भी देखने में आया है जिससे कालिदास के साथ कुन्तलेश्वर के व्यवहार मे बड़ा अन्तर आ जाता है किन्तु प्रकरण पर विचार करने से प्रथम पाठ ही अधिक संगत सिद्ध हुआ है और विद्वानों ने प्रायः माना भी उसी को साधु है। फलतः मानना पड़ता है कि कुन्तलेश्वर का व्यवहार कालिदास के प्रति शिष्ट न रहा किन्तु कालिदास ने अपनी प्रतिभा के सहारे उससे वह काम लिया कि कुन्तलेश्वर की आँख खुल गई और उन्होंने प्रत्यक्ष देख लिया कि चक्रवर्ती के लक्षण क्या हैं। सारांश यह कि अपनी निपुणता से कालिदास ने उन्हे परास्त कर ऐसा मोह लिया कि फिर कभी उनको उपद्रव की न सूझी और विक्रमादित्य के प्रतिकूल न हुए।

कालिदास के 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' काव्य का पता नही, परन्तु उसके दो उपलब्ध पद्यों के आधार पर पुराविदों ने मनमाना प्रासाद खड़ा कर लिया है और इतिहास की कतिपय गुत्थियों को सुलझाने का पूरा पूरा श्रम भी कर लिया है। प्रायः सभी विद्वानो को इस दौत्य का मधुर फल प्रणय ही दिखाई दिया है और फलतः इसी प्रणय की पूर्ति मे मनमाने वर भी ढूढे गए है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तो है ही उनके पुत्र* कुमारगुप्त तथा पौत्र स्कन्दगुप्त† भी इसी काम में लाए गए हैं

पर था ही नहीं; उन्हें तो किसी प्रकार कवि, काव्य एवं मर्मज्ञ रसिक का रूप दिखाना था। कहते हैं—

"ततः प्रविशति द्वारपालः—"देव! कोऽपि कौपीनावशेषो विद्वान् द्वारि तिष्ठति" इति। राजा—"प्रवेशय" इत्यवोचत्। ततः प्रवेशितः कविरागत्य "स्वस्ति" इत्युक्त्वानुक्त एवोपविष्टः प्राह—

इह निवसति मेरुः शेखरो भूधराणाम्। इह हि निहितभाराः सागराः सप्तचैव ॥
इदम् अतुलं अनन्तं भूतलंभूरिभूतः। अभवद्धरणसमर्थं स्थानम् अस्मद्विधानाम् ॥५९॥

राजा प्राह—"महाकवे! किं ते नाम? अभिधत्स्व।" कविः प्राह—"नामग्रहणं नोचितं पण्डितानाम्। तथापि वदामो यदि जानासि।"

कवि संकेत में अपना परिचय देता है "स च क्रीड़ाचन्द्रो दशनकिरणापूरिततनुः" तो कालिदास कहते हैं:—

"सखे क्रीड़ाचन्द्र! चिरात् दृष्टोसि। अथ कथम् ईदृशी ते दशा मण्डले मण्डले विराजत्यपि राजनि बहुधनवति"? (भोजप्रबन्ध, दशम प्रबन्ध)

उत्तर पर विचार करने की आवश्यकता नही। प्रस्तुत प्रकरण से प्रत्यक्ष है कि यहाँ इस पद्य को और ही रूप मिल गया है और इससे काम भी कुछ और ही लिया गया है। कालिदास के 'सखा' 'क्रीड़ाचन्द्र' का रहस्य क्या है, इसे कौन बताए? पर इतना तो व्यक्त ही है कि बल्लाल की दृष्टि में इस पद्य का सम्बन्ध क्रीड़ाचन्द्र ही से है। तो भी यह कहा नहीं जा सकता कि वास्तव में बल्लाल का पक्ष ही ठीक है, क्षेमेन्द्र का नहीं। वस्तु-स्थिति तो यह प्रतीत होती है कि कालिदास के प्रकृत पद्य में ही हेरफेर कर प्रस्तुत पाठ बना लिया गया है और क्रीड़ाचन्द्र को कालिदास का सखा बना दिया गया है। यदि यह ठीक है तो इतिहास के क्षेत्र में इसका कुछ महत्त्व नहीं; यह तो केवल कवि-सभा के योग्य है। और यदि 'क्रीड़ाचन्द्र' में 'चन्द्र' की 'क्रीड़ा' का संकेत हो तो बात और है।

* कुमारगुप्त के पक्ष में बहुमत दिखाई देता है। श्रीबल्लाल कवि का एक पद्य है—

"अष्टौ हाटककोटयस्त्रिनवतिर्मुक्ताफलानां तुलाः। पञ्चाशन्मधुगन्धमत्तमधुपाः क्रोधोद्धताः सिन्धुराः॥
अश्वानाम् अयुतं प्रपञ्चचतुरं दिव्यांगनानां शतं। दत्तं पाण्ड्यनृपेण यौतकमिदं वैतालिकायार्प्यताम् ॥१७०॥"

(भोजप्रबन्ध, अष्टात्रिंशत्तम प्रबन्ध)

बल्लाल कवि का यह कथन बड़े काम का होता यदि उन्हें इतिहास से कुछ रुचि होती। तो भी सहसा यह कहा नहीं जा सकता कि इसमें इतिहास की गन्ध भी नहीं है। सम्भव है गुप्तकुल की कोई वधू 'पाण्ड्य-नृप' की कन्या रही हो। 'पाण्ड्यनृप' और 'कुन्तलेश्वर' का विचार होना चाहिए। हमारी समझ में काकुत्स्थ-कन्या से कुमारगुप्त का विवाह मानना भूल है। कुमारगुप्त की दो देवियों का प्रमाण मिलता है। इनमें से 'अनन्तदेवी' का नाम तो 'भीतरी' की राज-मुद्रा पर अंकित है और 'देवकी' का नाम

और वाकाटक रुद्रसेन भी इससे दूर नही रहे हैं। किन्तु सच पूछिये तो इन पद्यों में प्रणय का नाम तक नही है, इनमें तो शुद्ध और खरी राजनीति ही बोल रही है। तनिक प्रश्न और उत्तर—करोति और पिबति—पर ध्यान दीजिए तो पता चले कि 'पिबतु' पर ही इसकी समाप्ति हो जाती है, इसके उपरान्त विक्रमादित्य को किसी विवाह की चिन्ता नही रह जाती। यदि कोई विवाह हो जाता है तो बात ही और है। उसका इस दौत्य से सम्बन्ध क्या जोडा जाय ?

हाँ, तो 'कुन्तलेश' की चिन्ता में संस्कृत-साहित्य को मथा गया तो उसमें से कृष्ण कवि का यह पद्य निकल आया—

"जलाशयस्यान्तरगाढमार्गमलब्धबन्धं गिरि चौर्यवृत्त्या।
लोकेष्वलं कान्तमपूर्वसेतुं, बबन्ध कीर्त्या सह कुन्तलेशः ॥४॥" (भरतचरित, प्रथम सर्ग)

उधर बाण कवि ने पहले से ही कह रखा था—

"कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला। सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना ॥१५॥" (हर्षचरित,)

फिर 'सेतुबन्धम्' के रचयिता प्रवरसेन को 'कुन्तलेश' मान लेने में अडचन क्या थी ? सो भी तब जब उसके टीकाकार महाराज भूपति रामदास ने स्पष्ट कर दिया था—

"इह तावन्महाराजप्रवरसेननिमित्तं महाराजाधिराजविक्रमादित्येनाज्ञप्तो निखिलकविचक्रचूडामणिः कालिदास-महाशयः सेतुबन्धप्रबन्धं चिकीर्षुः ॥" (रामसेतुप्रदीप, आरम्भ)

अथवा—

"धीराणां काव्यचर्चाचतुरिमविधये विक्रमादित्यवाचा, यं चक्रे कालिदासः कविकुमुदविधुः सेतुनामप्रबन्धम्।
तद्व्याख्या सौष्ठवार्थं परिषदि कुरुते रामदासः स एव, ग्रन्थं जल्लालदीन्द्रक्षितिपतिवचसा रामसेतुप्रदीपम् ॥" (वही)

रामदास का प्रस्तुत कथन पुराविदों के बडे काम का सिद्ध हुआ और उनको 'कुन्तलेश' की खोई हुई कडी मिल गई। 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' के 'कुन्तलेश' का पता कृष्णकवि से मिला तो 'सेतुबन्धम्' के रचयिता प्रवरसेन एवं कालिदास तथा विक्रमादित्य का नाता महाराज रामदास भूपति की कृपा से जुट गया, परन्तु रामदास भूपति के] प्रकृत कथन पर विचार करते समय भूलना न होगा कि उनके सामने सम्राट् अकबर विराजमान है जिन्हें वे महाराजाधिराज विक्रमादित्य के रूप

स्कन्दगुप्त के उसी भीतरी के 'स्तम्भलेख' से अनुमानतः निकाला गया है। जिसका आधार है—'हत रिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः' ॥६॥ इनमें से कौन किसे काकुत्स्थ-कन्या मानता है इसके विवेचन की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में स्मरण रखने की बात यह है कि कुमारगुप्त ध्रुवस्वामिनी के पुत्र थे जो रामगुप्त के निधन के उपरान्त चन्द्रगुप्त की 'पत्नी' बनी थी। अस्तु, कुमारगुप्त का जन्म सन् ३८० ई० के पूर्व मानना किसी प्रकार भी संगत नहीं दिखाई देता। यदि यह ठीक है तो सन् ३९० या ३९२ के लगभग उनका विवाह मानना कुछ ठीक नहीं जँचता। उनके अनुज गोविन्दगुप्त के विषय में भी यही कहा जा सकता है। (प्रकृत मत के लिए देखिए 'दी मौखरीज, ई० ए० पाइरेस (Pires) मद्रास, १९३४ ई०, बी जी पाल को० पृष्ठ ३२-३४)

† समय की गडबडी से ऊबकर 'कदम्बकुल' के यशस्वी लेखक ने 'स्कन्दगुप्त' को ही इस प्रणय के योग्य ठहराया है, किन्तु अनुमान के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से काम नहीं लिया है। उन्होंने वाकाटक-वधू अज्झिता भट्टारिका को भी काकुत्स्थ-कन्या मान लिया है जिसके कारण काकुत्स्थ का समय बहुत इधर खींच लिया है। उनके तर्क से कुमारगुप्त का जन्म लगभग ३७० ई० के सिद्ध होता है, जो किसी प्रकार भी साधु नहीं कहा जा सकता। निदान यह मत तो सर्वथा निर्मूल है। प्रसंगवश हम यहां इतना और स्पष्ट कह देते हैं कि उनकी कल्पना बहुत कुछ इसी आधार के कारण गिर गई है और फलतः कदम्बकुल का काल बहुत बाद में बढ़ाया गया है। (देखिए 'दी कदम्बकुल' ज्याज एम० मोरेस (Moraes) बम्बई, पृष्ठ २७)।

में पा रहे हैं और अपने आप को निश्चय ही महाकवि कालिदास के रूप में। अतः उनके इस कथन का सहसा यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि प्रवरसेन का तो 'सेतुबन्धम्' मे केवल ऊपरी सम्बन्ध है। कारण कि स्वय रामदास ही फिर कहते है--

"अभिनवेन राज्ञा प्रवरसेनेनारब्धा। कालिदासद्वारा तस्यैव कृतिरियमित्याशयः। प्रवरसेनो भोजदेव इति केचित्।"
(प्रथम आश्वास, ८९ की टीका)

किन्तु ध्यान से देखा जाय तो महाराज रामदास की दृष्टि मे प्रवरसेन भोजदेव तो माने जा सकते है, परन्तु 'कुन्तलेश' कदापि नही। और 'कुन्तलेश' का जो नाता 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' मे महाकवि कालिदास अथवा महाराजाधिराज विक्रमादित्य से जुटा है वह सर्वथा उससे भिन्न है जो 'सेतुबन्धम्' मे उनमे जुट रहा है। 'सेतुबन्धम्' मे तो प्रवरसेन 'अभिनवराजा' के रूप मे सामने आते हैं और टीकाकार रामदास की दृष्टि मे महाकवि कालिदास के प्रसाद से कवि बन जाते है। फिर भला यहाँ कुन्तलेश्वरदौत्यम् का विकट रूप कहाँ है? यहाँ तो सभी पात्रो मे स्नेह और सद्भाव है; शंका और सन्देह नही।

'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' के 'कुन्तलेश', 'सेतुबन्धम्' के 'कुन्तलेश' (?) हो नही सकते। माना कि कृष्णकवि ने अपने काव्य मे 'सेतुबन्धम्' के रचयिता को 'कुन्तलेश' लिख दिया, पर इससे यह सिद्ध कैसे हो गया कि उनका यह कथन ही यथार्थ है। 'सेतुबन्धम्' के टीकाकार महाराज रामदास ने 'सेतुबन्धम्' के रचयिता 'अभिनव राजा' प्रवरसेन, महाराजाधिराज विक्रमादित्य एवं कालिदास मे जो सद्भाव तथा सद्व्यवहार दिखाया है क्या वही सद्भाव और वही सद्व्यवहार किसी को 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' मे भी दिखाई देता है? भला 'सेतुबन्धम्' के प्रवरसेन कालिदास की अवहेलना कर सकते है और 'सेतुबन्धम्' के 'विक्रमादित्य' अपने दौहित्र प्रवरसेन के लिए यह कामना कर सकते है कि वह सदा विलास मे मग्न रहे? नही, यह तो पुराविदो की उतावली है जो कुन्तलेश की खोज मे बेतुकी बाते कर बैठते है और शोध की उमंग मे ऐसी भोली स्थापना कर जाते है जो वस्तु-स्थिति अथवा घटनाचक्र से सदा अनभिज्ञ रहती है। उचित तो यह था कि कृष्ण कवि की भूल का पता लगाया जाता और रामदास के भोजदेव पर भी कुछ विचार कर ही 'कुन्तलेश' की खोज की जाती पर प्रायः हुआ यही है कि कृष्णकवि के सहारे ही प्रवरसेन को कुन्तलेश मान लिया गया है और 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' का सम्बन्ध भी उसी प्रवरसेन से जोड़ दिया गया है। परन्तु यह एक अति प्रसिद्ध और इतिहास-सिद्ध बात है कि सेतुबन्धम् का प्रवरसेन विक्रमादित्य का कृपापात्र क्या सचमुच उनका दौहित्र वाकाटक प्रवरसेन ही है। यह तो खुली बात है कि वाकाटक भोजों पर राज्य करते थे और कुछ अजब नही कि इसी कारण प्रवरसेन भी भोजदेव बन गए हो और जनश्रुति के कारण रामदास को लिखना पड़ा हो कि 'प्रवरसेनो भोजदेव इति केचित्।'

प्रवरसेन को कुन्तलेश मानने का कोई ठोस आधार नही। उपलब्ध सामग्री के आधार पर कौन कह सकता है कि प्रवरसेन का शासन वहाँ था भी? सच है, 'अजन्ता' के लेख से यह सिद्ध होता है कि प्रवरसेन के पितामह पृथिवीषेण ने कुन्तल को जीत लिया था पर उससे यह सिद्ध कैसे हो जाता कि उसके पौत्र प्रवरसेन का शासन भी कुन्तल पर रहा अथवा 'कुन्तलेश' वाकाटको की उपाधि ही हो गई। सच तो यह है कि कुन्तल की कौन कहे और भी अनेक प्रान्त वाकाटक साम्राज्य से निकल गए थे और प्रवरसेन एक सामान्य महाराज के रूप मे ही रह गया था। वाकाटक वश का उदय फिर कही हरिषेण के समय मे हुआ जिसने फिर कुन्तल को जीत लिया। वाकाटक इतिहास मे दो समय ऐसे आते है जब कुन्तल उनके राज्य मे दिखाई देता है जिनमे से एक तो महाराज प्रवरसेन के पितामह पृथिवीषेण का समय है और दूसरा उन्हीके प्रपौत्र हरिषेण का समय। हाँ, इसी बीच मे एक बात और हो जाती है। वह यह कि प्रवरसेन का पुत्र नरेन्द्रसेन कुन्तल की राजकुमारी अज्झिताभट्टारिका से ब्याहा जाता है। सो भी ध्यान रहे कि वह ८ वर्ष की अवस्था मे ही सिहासन पर जा विराजा था। निदान प्रवरसेन को कुन्तलेश मानने का कोई आधार* नही। कुन्तलेश का रहस्य आगे आता है और वह तो आपही खुल जायगा।

---

* डाक्टर दिनेशचन्द्र सरकार ने अपनी पुस्तक 'दी सक्सेसर्स ऑफ सातवाहनाज' में इसे भलीभाँति दिखा दिया है कि किसी वाकाटक शासक को कभी 'कुन्तलेश' नही कहा गया है। उनका यह भी कहना है कि इस प्रकार का

हाँ, तो वाकाटकवंश के साथ ही साथ कुन्तलदेश पर जिस वंश का राज्य चल रहा था वह इतिहास में कदम्बकुल के नाम से ख्यात है। इसी वंश के एक शासक के सम्बन्ध में उसके पुत्र का लेख है—

"कदम्बानां धर्ममहाराजस्य अश्वमेधयाजिनः समरार्जितविपुलैश्वर्यस्य सामन्तराजविशेषरत्नस्य नागजानाक्रम्य-दायानुभूतस्य शरदमलनभस्योदितशशिसदृशैकातपत्रस्य धर्ममहाराजस्य श्रीकृष्णवर्म्मणः प्रियतनयो देववर्म्मयुवराज"।

(इंडियन एंटीक्वेरी, भाग ७, पृ० ३३४)

लेख में श्रीकृष्णवर्म्मा का जो विशेषण दिये गए हैं उनमें से एक अभी तक अस्पष्ट है। पुराविदों में 'नागजानाक्रम्य-दायानुभूत' की चर्चा प्रायः होती रहती है और इसका अर्थ भी कुछ न कुछ अपने अनुकूल निकाल लिया जाता है। इसके सम्पादक फ्लीट महोदय को भी यह पाठ साधु तो नहीं जँचा है फिर भी उन्होंने किसी प्रकार इसका कुछ अर्थ निकाल ही लिया है। उनकी दृष्टि में इसका अर्थ है कि उसने वह 'दाय' भोगा जो नागवंश में किसी को प्राप्त न हुआ। पर इस नागवंश का संकेत क्या? इसी प्रकार एक दूसरा अर्थ यह निकाला गया है कि उसने नागों को जीतकर* अपना 'दाय' भोगा। पर सच पूछिए तो उक्त किसी भी दशा में इसका अर्थ नहीं खुलता। कारण कि प्रत्यक्ष ही यही लेख उस कदम्बकुल का बताता है और अन्यत्र भी कहीं वह नागवंश का नहीं माना गया है। नागवंश कहीं सम्राट्-सत्ता का प्रतीक माना गया हो ऐसा भी प्रतीत नहीं होता। हाँ, नागवंश को जीतने का जो अर्थ निकाला जाता है अवश्य ही वह कुछ सीधा है, पर उसमें भी दोष यह आ जाता है कि 'दाय' से उसकी संगति नहीं बैठती। इतिहास में उस समय कोई ऐसा प्रबल नागवंश नहीं दिखाई देता जिसके पराजय का उल्लेख किसी अश्वमेधी की विजय के प्रसंग में किया जाय। निदान मानना पड़ता है कि इस 'नागजाना-क्रम्य' का रहस्य कुछ और ही है।

'नागजानाक्रम्य' के सम्बन्ध में हमारी धारणा तो यह है कि वास्तव में इसका शुद्ध पाठ है 'नागजामाक्रम्य'। अर्थात् हमारी दृष्टि में मूल शब्द 'नागज' नहीं प्रत्युत नागजा है और 'नागजाम' रूप है, इसका एक वचन द्वितीया का, जिसका अर्थ होगा 'नागजा' को।

अच्छा, तो यह 'नागजा' है कौन? निवेदन है उसी महाराज पृथिवीषेण की पुत्रवधू जिसके सम्बन्ध में लिखा गया है—

"........ पार्थिवेन्द्रस्य प्रश(शा) स धर्म्मेण मेदिनी(म्)।
कुन्तलेन्द्र(म्) वि (जित्य) (पृ) थिवी (षेण) ....॥८॥"

(अजन्ता का लेख, आ० स० वे० इ० भाग ४, पृष्ठ १२५)

शिथिल प्रयोग चालुक्यों के लिए ही पाया जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर कृष्णकवि की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। कृष्णकवि के समय के सम्बन्ध में इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि वे सुबन्धु और बाण के उपरान्त ही हुए। कारण कि उनका स्वयं कहना है—

"बृहत्कथाकारसुबन्धुबाणा केषामिवाद्भयपदं न ते स्युः। यत प्रसिद्धैरपि गद्यबन्ध श्लोकाननेकान् भुवनवितेनुः ॥६॥"

(भरत चरित, प्रथम सर्ग)।

इसके अतिरिक्त स्वयं 'भरतचरित' में ऐसी सामग्री उपलब्ध है जिसके प्रमाण पर उन्हें पाण्ड्याधिपति राजसिंह (७४० ६५ ई०) का राजकवि बताया जा सकता है। इससे भी यही भान होता है कि उनके भ्रम का कारण चालुक्यों का 'कुन्तलेश' होना ही है। डाक्टर सरकार के मत के लिए देखिए उक्त पुस्तक के पृष्ठ २१५ १६ एवं पृष्ठ २५३-४ की पाद टिप्पणियाँ। पुस्तक कलकत्ता विश्व विद्यालय से सन १९३९ ई० में प्रकाशित हुई है।

* देखिए 'इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस इलाहाबाद' सन् १९३८ ई० की 'प्रोसीडिंग्ज', पृष्ठ ४६। डाक्टर हेमचन्द्र राय-चौधरी ने इस विषय पर अच्छा विचार किया है, परन्तु 'नागजान्' को स्पष्ट नहीं किया है। 'उभय कुलालंकारभूता' से प्रभावती गुप्ता का तात्पर्य 'वाकाटक' और 'गुप्त' कुल से दिखाई देता है, 'नाग' और 'गुप्त' कुल से नहीं। हमारी समझ में इसका शुद्ध पाठ है 'नागजाम्' जिसका अर्थ है 'प्रभावतीगुप्ताम्'। शेष में हम उक्त विद्वान् से सहमत हैं।

श्री चन्द्रवली पांडे

वाकाटक पृथिवीषेण के कुन्तलेन्द्र को जीत लेने का प्रमाण आपके सामने है। अब 'नागजा' की साखी लीजिए। पृथिवीषेण की पुत्रवधू श्रीप्रभावती गुप्ता के दानपत्र मे जो उसीके शासन मे निकला है, स्पष्ट कहा गया है कि वह नागकुल की कन्या महादेवी कुवेरनागा की सन्तान है—

"वाकाटकललामस्य (क्र)मप्राप्तनृपश्रियः जनन्या युवराजस्य शासनं रिपु शास(न)म् ॥"

से स्पष्ट है कि उसका युवराज की ओर से 'शासन' भी चलता था। अर्थात् वह स्वयं युवराज के वाल्यकाल में शासन भी करती थी। अव रही उसके 'नागजा' होने की बात। सो उसी 'शासन' से यह भी सिद्ध है कि वह नागजा भी थी। लीजिए उसका कहना है—

"परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य दुहिता धारणसगोत्रा नागकुलसम्भूतायां श्रीमहादेव्यां कुवेर-नागायामुत्पन्नोभयकुलालंकारभूतात्यन्तभगवद्भक्ता वाकाटकानॉ महाराज श्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी युवराज श्रीदिवाकर-सेनजननी श्रीप्रभावतीगुप्ता।" (ए०, इं० भाग १५, पृष्ठ ४१)

श्री प्रभावती गुप्ता के 'नागजा' * होने मे न तो कोई सन्देह ही रहा और न उसके 'कुन्तलेन्द्र' पर अधिकार की कोई शंका ही। उधर श्रीकृष्णवर्मा भी 'नागजा' को परास्त कर अपना दाय प्राप्त करते है। और यदि अब कहना चाहे तो यहां तक कह सकते है कि वस्तुतः इसी पुत्री-पराभव और श्रीकृष्णवर्मा के पराक्रम से व्यथित होकर महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने राजदूत कवि कालिदास से पूछा था 'कि कुंतलेश्वरः करोति'; और उधर से अनुकूल उत्तर पाकर कहा था—'पिवतु।'

कहने को कह तो दिया पर विश्वास नही होता कि प्रचलित इतिहास के आधार पर यह विचार साधु भी समझा जा सकता है। उधर न जाने कितने इतिहास-प्रेमी एक स्वर से वोल रहे है कि 'यह तो इतिहास नही, कोरी उड़ान है। भला कभी कृष्णवर्मा प्रभावतीगुप्ता वा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन हो सकता है?' निवेदन है, रंचक धीर धरे और देखे कि उभयकुल का इतिहास क्या बोलता है। कदम्बकुल का अभिमान है—

"गुप्तादिपार्थिवकुलाम्बुरुहस्थलानि, स्नेहादरप्रणयसम्भवकेसराणि।
श्रीमन्त्यनेकनृपषट्पदसेवतानि योऽवोध्यद्दुहितृदीधितिभिः नृपार्कः ॥"

(तालगुन्द का लेख, ए० कर्नाटिका भाग ७, शिकारपुर १७६)

पुराविदों को 'छोटे मुह' की 'बडी बात' खली तो अवश्य है पर उन्होने किसी प्रकार इसका समाधान कर ही लिया है और काकुत्स्थवर्मा की पुत्री के गुप्तपति को मनमाना नाम दिया है। परन्तु इसके लिए भी कही अधिक भटकने की आवश्यकता नही है। 'व्याघ्रपराक्रम' समुद्रगुप्त के विवाह की बात प्रकट नही पर इतना तो विदित ही है कि—

"(—) स्य पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का, हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता।
(—) गृहेषु मुदिताबहुपुत्रपौत्र-संक्रामणी कुलवधूः व्रतिनी निविष्टा ॥५॥" (का० इ० इ० भाग ३, नं० २)

एरण के शिलालेख मे जो 'पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का' एवं 'हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता' का उल्लेख है उस पर विवेक की ऑख डाले तो पता चले कि इसका भी कुछ रहस्य है। यह एरण का शिलालेख आज भी साखी भर रहा है कि

---

* इस प्रकार के मातृकुल के व्यवहार के लिए देखिए डाक्टर सरकार की उक्त पुस्तक की पृष्ठ २२७ की पाद-टिप्पणी। डाक्टर सरकार ने जो प्रमाण जुटाए है उनसे यह तो प्रकट हो जाता है कि मातृकुल के नाम से भी सन्तान का उल्लेख हो जाता है, पर उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि चोलदेश पर कदम्ब-शासन था ही नहीं। हमारी धारणा तो यह है कि जो शान्तिवर्मा को 'तालगुन्द' के लेख में 'पट्टत्रयार्पण विराजितचारुमूर्त्ति' कहा गया है उसका संकेत है कि पाण्डच, चोल और केरल का शासन उसे मिला था। पुराणों में इनका उल्लेख 'त्रैराज्य' के रूप में प्रायः पाया जाता है। देखिए डाक्टर जायसवाल की 'हिस्ट्री ऑफ इंडिया' का पृष्ठ १२९: प्रकाशक मोतीलाल वनारसीदास, सन् १९३२ ई०।

एरण का लेख सच बोल रहा है। समुद्रगुप्त ने प्रणय में सचमुच अपनी धर्मपत्नी को 'पौरुष' और 'पराक्रम' के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिया और उधर से जो कुछ मिला वह उसके गौरव और आनन्द का कारण बना। तो क्या यह प्रणय एरण* के संग्राम का परिणाम था।

समुद्रगुप्त के सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि उसको उसके पिता ने युवराज बना दिया था, सो वह भी कुछ ठोस नहीं जँचता। हरिषेण ने उसके विषय में जो कुछ लिखा है उससे तो यह सिद्ध नहीं होता। नहीं, हमारा कहना तो यहाँ तक है कि वह इस प्रचलित धारणा के प्रतिकूल भी है। लीजिए वह प्रमाण है—

"आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै रोमभिः, सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेहव्यालुलितेन वाष्पगुरुणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा, यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति ॥४॥

(समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति)

"तुल्यकुलज" का अर्थ 'सहोदर' करना कहाँ तक ठीक है और 'पाह्येवमुर्वीमिति' में 'एव' का संकेत क्या है आदि बातों पर पूरा विचार होना चाहिए। 'आर्यो हि' भी कुछ कम महत्त्व का पद नहीं है। उधर 'कौमुदीमहोत्सव' † नाटक पुकार कर कह रहा है और कह रहा है सम्भवतः समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त के विषय में ही—

"प्रकटितवर्णाश्रमपथमुन्मूलितचण्डसेनराजकुलम्" ॥१॥ पंचम अंक ॥

अतएव हमारा कहना है कि समुद्रगुप्त को राज्य भी 'पौरुष' और 'पराक्रम' के बल से मिला था और बाला भी 'एरण' के शिलालेख में जो 'पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का' कहा गया है उसका भेद भी यही है।

अच्छा, तो एक बार फिर प्रयाग प्रशस्ति को लीजिए और देखिए तो सही कि वहाँ भी इस प्रणय का कोई सूत्र मिलता है या नहीं। हरिषेण कहते हैं—

"कौसलकमहेन्द्रमाहाकान्तारकव्याघ्रराजकौरालकमण्टराजपिष्टपुरकमहेन्द्रगिरिकौट्टूरकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमनकाञ्चेयकविष्णुगोपावमुक्तकनीलराजवैङ्गेयकहस्तिवर्म्मपालक्ककोग्रसेनदैवराष्ट्रककुबेरकौस्थलपुरकधनञ्जयप्रभृतिसर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य।"

हरिषेण के 'सर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रह' का अर्थ चाहे जो लगाया जाय पर इतना तो स्पष्ट ही है कि उन्होंने 'सर्वदक्षिणापथ' का उल्लेख किया है और साथ ही 'ग्रहण', 'मोक्ष' एवं 'अनुग्रह' का नाम भी लिया है। फिर समझ में नहीं आता कि क्या हमारे इतिहासप्रेमी पंडित इस 'सर्व' की उपेक्षा कर 'दक्षिणापथ' के एक विशिष्ट खण्ड (पश्चिमी घाट) का

* एरण का लेख है तो अधूरा पर जो कुछ बचा है वह समुद्रगुप्त के जीवन का द्वार है। उसे स्वयं समुद्रगुप्त का लेख मानना भूल है। उसमें 'बभूव', 'अभूत' आदि क्रियाओं का प्रयोग कुछ योंही नहीं कर दिया गया है। उनका निर्देश है कि समुद्रगुप्त दिवंगत हो गए हैं। स्थिति तो यह है परन्तु शत्रु आज भी 'स्वप्नान्तरेष्वपि विचिन्त्य परित्रसन्ति ॥६॥' यहाँ नहीं मन्दिर पर जो 'श्मशान दृश्य' अंकित है वह भी इसी तथ्य का द्योतक है। कहाँ तक कहें, हमें तो इस लेख में समुद्रगुप्त का पूरा जीवन दिखाई देता है और हम इसे उसके जीवन का सूत्रधार समझते हैं। हमारी समझ में यह उसके उपरत हो जाने पर ही लिखा गया, उसके जीवन में कदापि नहीं।

† 'कौमुदीमहोत्सव' नाटक का प्रकाशन 'ज० ऑ० हि० रि० सो०' भाग २ और ३ में हुआ है। 'नाटक' में कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे कालिदास का पूरा साम्य दिखाई देता है। उसका रचनाकाल अभी तक सन्दिग्ध ही है पर उसकी 'वस्तु' को प्रमाण माना जाता है। उसके प्रमाण से यही सिद्ध होता है कि महाराज चन्द्रगुप्त का राज्य नष्ट हो चुका था और उन्हें अपने पराक्रम से ही फिर उसे प्राप्त करना पड़ा था। इसके विषय में देखिए डॉ० जायसवालजी के उक्त इतिहास का पृष्ठ ८० विशेषतः।
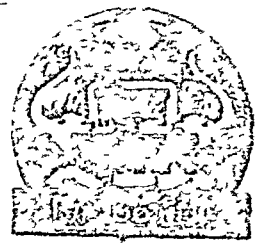
छोड़ जाते है और 'ग्रहण' एवं 'मोक्ष' की भाँति ही 'अनुग्रह' को भी स्वतंत्र रूप मे क्यो नही लेते। क्या ऐसा करने से प्रशस्ति की पंक्तियाँ आपही बोल नही उठती?

पुराविदों ने प्रायः मानसा लिया है कि 'रघुवंश' में रघु का जो दिग्विजय है वह वास्तव मे समुद्रगुप्त की दिग्विजय पर ही आश्रित है। अतः कुछ इस पर भी विचार होना चाहिए। कालिदास कहते हैं---

"गृहीतप्रतिमुक्तस्य सधर्मविजयी नृपः। श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥४३॥
ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना। अगस्त्याचरितामाशामनाशास्य जयो ययौ ॥४४॥
स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना। कावेरी सरितां पत्युः शंकनीयामिवाकरोत् ॥४५॥
बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः। मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः ॥४६॥
ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः। तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ॥४७॥
भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम्। नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीछेदिनामपि ॥४८॥
दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि। तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥४९॥
ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः। ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम् ॥५०॥
स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ। स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥५१॥
असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता। नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलंघयत् ॥५२॥
तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः। रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णवः ॥५३॥
भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम्। अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥५४॥
मुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतकं रजः। तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम् ॥५५॥
अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रसिञ्जितैः। वर्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः ॥५६॥
खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु। कटेषु करिणां पेतुः पुन्नागेभ्यः शिलीमुखाः ॥५७॥
अवकाशं किलोदन्वान्रामायाभ्यर्थितोददौ। अपरान्तमहीपालव्याजेनरघवे करम् ॥५८॥
मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम्। त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः ॥५९॥
पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना। इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥६०॥" (चतुर्थ सर्ग)

कालिदास के 'संयमी' रघु के इस विलास को सामने रखते हुए हरिषेण की रचना (प्रयाग-प्रशस्ति) पर ध्यान दें और कृपया भूल न जाएँ कि कालिदास दक्षिणापथ के उसी खण्ड का वर्णन कर रहे है जिसे प्रयाग-प्रशस्ति मे छोड़ दिया गया है अथवा जिसका सकेत 'प्रभृति' और 'अनुग्रह' के द्वारा कर दिया गया है। सच है, हमे तो सावन के अन्धे की भाँति कालिदास मे इतिहास ही दिखाई दे रहा है; पर आप तो सच कहे कि आपको कालिदास की इस रसिकता मे क्या दिखाई दे रहा है? क्या आप इतिहास का सहारा लेकर इससे दूर भाग सकते है? हम तो नही समझते कि क्यों नही इसमे भी समुद्रगुप्त का इतिहास देखा जाय और उनकी धर्मपत्नी दत्तदेवी को काकुत्स्थ-कन्या समझ लिया जाय? कालिदास और हरिषेण की साखी है तो इसी पक्ष मे, वैसे पुराविदो की शोध जाने। तनिक 'मलयदर्दुरौ', 'सह्य' आदि से पूछ देखिए तो पता चले कि कालिदास ने उनसे कौनसा काम लिया है और वस्तुतः उन्हें किस भोग्या का अंग बनाया है। कालिदास की उक्त विहार-भूमि के शासक के बारे मे उसी के औरस तनय का लेख है---

"ज्यायोभिस्सह विग्रहोर्थिषु दया सम्यक् प्रजापालनम्। दीनाभ्युद्धरणं प्रधान वसुभिः मुख्यद्विजाभ्यर्हणम्।
यस्यैतत्कुलभूषणस्य नृपतेः प्रज्ञोत्तरं भूपणम्। भूपालः खलु मेनिरे सुरसुखं काकुस्थमत्रागतम् ॥
धर्माक्रान्ता इव मृगगणा वृक्षराजं प्रविश्य, छायासेवामुदितमनसो निवृत्तं प्राप्नुवन्ति।
तद्वज्ज्याये विहतगतयो बान्धवास्सानुबन्धाः, प्रापुश्शर्माव्यथितमनसो यस्यभूमिं प्रविश्य ॥
नानाविधद्रविणसारसमुच्चयेषु, मत्तद्विपेन्द्रमदवासितगोपुरेषु।
संगीतवल्गुनिनदेषु गृहेषु यस्य, लक्ष्म्यंगना दृतमती सुचिरंचरेमे ॥" (तालगुन्द का लेख)

कालिदास का दूत-कर्म

तो क्या यह इसी लक्ष्मी का प्रसाद था कि 'महादेवी दत्तदेवी' 'हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता' थी ! अच्छा न सही। पर इस शासक से तो समुद्रगुप्त का घोर सघर्ष हो नही सकता। क्योकि इसका शील है—

"य दवसपन्नमवीनचेष्ट शक्तित्रयोपेतमथासनस्थं, शेषर्गुण पचभिरप्यसाध्यास्सामतचूडामणय प्रणेमुहु ॥" (वही)

साराश यह कि सभी प्रकार से हमें यही साधु दिखाई देता ह कि काकुत्स्यवर्मा की दुहिता दत्तदेवी थी जिसका विवाह समुद्रगुप्त से हुआ था और जिसने हरिषेण के शब्दा में कदम्बकुल पर 'अनुग्रह' किया था। यह इसी 'दान' और इसी 'अनुग्रह' का परिणाम था कि 'सवदक्षिणापथ' की विजय में उक्त राज्य तथा शासक का उल्लेख नही हुआ और कालिदास ने भी उसकी भूमि को रघु की विहार-भूमि के रूप म देखा।

काकुत्स्यवर्मा का समृद्ध शासन कितनी भूमि पर फला था इसका यथातथ्य बोध होने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है फिर भी अटकल से इतना तो कहा ही जा सकता ह कि वह उतना तो अवश्य ही था जितना कि वश-परम्परा अथवा उत्तराधिकार में मिला था। इसमें तो सन्देह नही कि अग्रज रघुवर्मा के शासन में युवराज काकुत्स्यवर्मा को भी स्वराज्य रक्षा के हेतु घोर सग्राम करना पडा था और यह इसी सग्राम का परिणाम था कि कदम्बकुल का शासन बना रहा। रघु के तुमुल सघर्षों का उल्लेख प्राय किया गया है और फलत यहाँ तक कहा गया है कि—

"रघुपार्थिव पृथुश्री पृथुरिव पृथ्वीं प्रसह्ययोऽरीनकृत पराक्रमत स्ववशभोज्याम् ।" (तालगुद का लेख)

कह तो नही सकते, पर अनुमान यही कहता ह कि यह सघष वाकाटक प्रवीर सम्राट् प्रवरसेन के पराक्रम का प्रतिफल था। मयूरशर्मा के एक लेख के आधार पर कदम्ब-राज्य 'पारियात्रिक' से 'पुणाट' तक माना जा सकता है—

"कदबाणं मयूरशम्मणा विणिम्मि अ। तटाक द्रूभ त्रेकूट आभीर पल्लव पारियात्रिक सकस्थाण सयिन्दक पुणाट मोकरिणा।" (चद्रवल्ली का लेख, म० आ० रि० १९३०)

इनमें से 'त्रिकूट' का वणन तो कालिदास के 'रघुवश' में ह और रघु ने वहाँ 'जयस्तम्भ' भी गाड दिया है और यदि पुराणा का 'कनक' कदम्बकुल का कगवर्मा ह ता इस राज्य का विस्तार ह—

"स्त्रीराज्यत्रराज्यमूषिकजनपदान् कनकाह्वय भोक्ष्यति ।" (विष्णुपुराण)

अब यदि स्व० डॉक्टर जायसवाल का यह मत साधु ह कि इसमें स्त्रीराज्य तो कुन्तल का वाचक है और त्रैराज्य—'चोलपाड्यकेरलधरणीधरत्रय' का तो कालिदास का उक्त विहार-वणन और भी सटीक उतरता है और यह सवथा सिद्ध कर देता है कि हो न हो यही समुद्रगुप्त का 'श्वसुरपुरनिवास' है। तो क्या शान्तिवर्मा के "पट्टत्रयापणविराजितचारुमूर्त्ते" के 'पट्टत्रय' का भी यही 'त्रराज्य' अथ है ? यदि यह ठीक हुआ तो कालिदास का उक्त विहार-वणन तो और भी खरा उतरा। परन्तु इसकी सम्भावना लोगा को कुछ कम दिखाई देती है। श्रीशान्तिवर्मा 'पल्लवेन्द्र' का कुछ विशेष ध्यान रखते हैं। इसका भी तो कुछ कारण* होना चाहिए।

* काकुत्स्यवर्मा के उपरान्त उनके वश में जो द्वन्द्व चला उसका थोडा-बहुत पता इतिहास से चल चुका ह। विवाद अब इस बात का है कि वास्तव में यह विच्छेद हुआ कब। अब तक प्राय यही मान्य रहा ह कि शान्तिवर्मा के निधन पर ही यह घटना घटी। यहाँ तक कि 'कदम्बकुल' में भी यही धारणा पुष्ट हुई। परन्तु इधर डॉ० सरकार ने इसे असाधु ठहरा दिया है। उनके मत में काकुत्स्यवर्मा के अनन्तर ही यह द्वन्द्व छिडा। इसमें तो सन्देह नहीं कि इस द्वन्द्व में अनुज श्रीकृष्णवर्मा ही विजयी रहे। पर साथ ही यह भी सम्भव क्या, सत्य दिखाई देता ह कि शान्तिवर्मा भी पल्लवेन्द्र की कृपा से कुछ भूभाग (त्रराज्य) के शासक बने रहे। 'तालगुद' के लेख में जो शिथिलता दिखाई देती ह उसका कारण भी यही ह। श्री० हेरस महोदय ने अपने एक लेख में इस त्रुटि पर विचार किया ह जो विशेषरूप से विचारणीय ह। देखिए 'ऑल इंडिया ओ० का०, सन् १९३३ पृष्ठ ५३९।

श्री चन्द्रबली पांडे

श्री शान्तिवर्मा श्रीकाकुत्स्थ के ज्येष्ठ पुत्र थे और इसीसे इतिहास मे उनके उत्तराधिकारी भी प्रसिद्ध हो गए। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो प्रमाण इसके प्रतिकूल प्राप्त होते हैं, उनके तनय श्रीमृगेशवर्मा का लेख है—

"श्रीशान्तिवरवर्म्मेति राजा राजीवलोचनः। खलेव वनिताकृष्टा येन लक्ष्मीर्द्विषद्गृहात् ॥"

(इंडियन ऐंटी०, भाग ६, पृष्ठ २४)

'द्विषद्गृहात्' का प्रयोग विशेष रूप से विचारणीय है। इसका सीधा संकेत है द्वेषी कृष्णवर्मा के घर से। बात यह है कि काकुत्स्थवर्मा के आँख मूंदते ही उनके शासन पर पराक्रमी कृष्णवर्मा की दृष्टि पडी और उसने उनके राज्य को अपने बड़े भाई से छीन लिया। कृष्णवर्मा बड़ा प्रतापी शासक निकला और अश्वमेधयाजी तक हो गया। उसका अन्त किस प्रकार हुआ इसका कही कोई उल्लेख नही, हाँ, शिवनदिवर्मा के एक लेख से इतना अवश्य पाया जाता है कि किसी संग्राम मे उसकी हार (मृत्यु?) हुई।

शिवनंदिवर्मा "स्वदेशस्यक्षये नणक्कासपल्लवराजकृष्णवर्मराजयोः समरे तुमुलिने प्रवृत्ते कृषवर्मराजसैन्यभग्ने प्रशमितहृदयः संकलित संकल्पः कृतदर्भ शयनः...............इन्द्रलोकसुखमकामयत।" (एपि० कर्नाटिका भाग ११, पृ० १६)

'कृष्णवर्मराजसैन्यभग्ने' की व्याप्ति कहाँ तक जा सकती है इसका निर्णय तो होने से रहा पर पूरे प्रसंग पर ध्यान देने और शिवनदिवर्मा के प्राणविसर्जन पर विचार करने से व्यक्त तो यही होता है कि वस्तुतः कृष्णवर्मा भी इसी तुमुल-समर में वीरगति को प्राप्त हो गए। तो क्या यह विक्रमादित्य के 'पिबतु' का दुःखद दुष्परिणाम और शान्तिवर्मा के किसी काण्ड का कुफल था? अथवा कुछ और? जो हो, इतना तो प्रत्यक्ष है कि कृष्णवर्मा का ज्येष्ठ तनय श्रीविष्णुवर्मा श्रीशान्तिवर्मा के अधीन है। देखिए—

"विकसितसच्छत्रावतंसदक्षिणापथवसुमतीवसुपत्यश्वमेधयाजी श्रीकृष्णवर्म्मा धर्म्ममहाराज ज्येष्ठतनयेन मानव्य-सगोत्रहारितीपुत्रप्रतिकृतस्वाध्यायचर्च्चकेन कदम्बेन श्रीविष्णुवर्म्माधर्म्म महाराजेन रणरभसप्रवर्त्तदर्त्थाष्टादशमंडपिकमंडित वैजयन्तीतिलकसमग्रकर्ण्णाटदेशभूवर्ग्गभर्त्तारम् ज्येष्ठपितरं श्रीशान्तिवरवर्म्मा धर्म्ममहाराजमनुज्ञाप्य (म्) वर्त्तमाने संवत्सरे तृतीये फाल्गुनमासशुक्लपंचम्यां ब्राह्मणेभ्यः...........”। (वीरूर का ताम्रपत्रः—एपि० कर्नाटिका, भाग ६, अंक १६२)

अस्तु, उचित तो यही प्रतीत होता है कि शान्तिवर्मा ने कृष्णवर्मा के उपरान्त ही शासन-सूत्र हाथ मे लिया और इसी कारण मृगेशवर्मा ने भी 'द्विषद्गृहात्' का प्रयोग किया। 'अनुज्ञाप्य' विशेष विचारणीय है।

अश्वमेधी कृष्णवर्मा का जो वृत्त हाथ लगा है उसके आधार पर किसी को यह मानने मे कोई अडचन नही हो सकती कि वास्तव मे वही कालिदास का 'कुन्तलेश्वर' है। 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' का जो अंश अभी तक प्रकाश में आया है वह किसी विवाह का द्योतक तो है नही, फिर उसका नाता किसी प्रणय से क्यो जोड़ा जाय? उसमे से तो खरी राजनीति झाँक रही है।

समुद्रगुप्त के स्वर्गस्थ होते ही गुप्त-साम्राज्य पर जो विपदा पडी उसकी झलक (विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्तम्'* में) आज भी विद्वानों को व्यथित कर देती है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किस परिस्थिति मे किस ढब से उसे सँभाला तथा उसे और भी उजागर कर दिया है, यह तो विषय के बाहर की बात है। परन्तु साहित्य इस बात का साक्षी है कि उसमे कालिदास का योग भी कुछ कम नही है। कुन्तलेश्वर मे दर्प की कमी न थी। प्रभुता भी पैर तोड़कर वही बैठी थी। ऐसी स्थिति मे यदि कालिदास अपनी सजग सूझ से काम न लेते और कुन्तलेश्वर की अवहेलना से उबल पड़ते तो चन्द्रगुप्त को रणभूमि मे उतरना अनिवार्य हो जाता, किन्तु क्रान्तदर्शी कवि कालिदास ने बातों मे कुन्तलेश्वर को वह झाड बताई कि उनकी आँख खुल गई और वे चट विक्रमादित्य के मित्र बन गए। विक्रमादित्य ने भी उन्हे छेडना ठीक न समझा।

---

* साहित्य-शास्त्र के विवेचन में यत्र-तत्र इसके अवतरण दिखाई देते है। पूरा ग्रंथ अभी तक देखने में नहीं आया। इसके विषय में हमने अन्यत्र विचार किया है जो अलग प्रकाशित होगा।

कालिदास का दूत-कर्म

काकुत्स्थवर्मा को समुद्रगुप्त एव कृष्णवर्मा को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानना मनमाना नही प्रत्युत प्रमाण पर अवलम्बित है। काकुत्स्थवर्मा के एक 'सवत्' पर बडा विवाद है। कहते हैं—

"कदम्बानाम् युवराज श्रीकाकुस्थवर्म्मा स्ववजयिके अशीतितमे सवत्सरे भगवतामहताम्... खेटग्रामे बदोवरक्षेत्र (म्) .. दत्तवा(न्)।" (हल्सी का दानपत्र इ० ऐंटि०, भाग ६, पृष्ठ २३)

'स्ववजयिके' पद का प्रयोग मृगेशवर्मा* ने भी किया है। किन्तु वहाँ उसका अर्थ निश्चय ही 'स्वराज्ये' है। परन्तु यहाँ 'स्ववजयिके' का अर्थ 'स्वराज्ये' हो नही सकता क्योकि अभी तो काकुत्स्थवर्मा युवराजमात्र है। और सो भी प्रश्न है ८० वर्ष का। निदान मानना पडता है कि इसका सकेत कुछ और ही है।

'स्ववजयिके' का अर्थ लक्षणाव्यापार से लिया जा सकता है कदम्बकुल के वजयिके। परन्तु यहाँ बाधा यह उपस्थित हो जाती है कि कदम्बकुल का अपना कोई सवत् नही दिखाई देता। फलत कुछ विद्वानो ने अपने विचारो में सगति बैठाने के निमित्त इसका सकेत मान लिया है गुप्त सवत्। जहाँ उन्होने गुप्त सवत् (३२० ई०) में ८० जोडा कि उन्हे ४०० ई० का अभीष्ट गुप्तकाल मिल गया और काकुत्स्थवर्मा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन हो गया। कहना न होगा कि इस इष्टसिद्धि के लाभ के अतिरिक्त इस स्थापना मे और कोई सार नही है। काकुत्स्थवर्मा के अतिरिक्त और किसने इस वश मे गुप्त-सवत् का प्रयोग किया है? और युवराज काकुत्स्थ भी उसका प्रयोग क्या करने लगा? नही, ऐसा हो नहीं सकता। पक्की बात तो यही है कि वस्तुत यह कदम्बकुल की स्थापना का सवत् है। मयूरशर्म्मा से इसका वही लगाव है जो गुप्त सवत् का चन्द्रगुप्त से है।

अच्छा, तो इस 'स्ववजयिके अशीतितम सवत्सरे' का सकेत हुआ कदम्बकुल के ८०वें वर्ष में। पर कदम्बकुल की स्थापना† का समय है क्या? आइए, इसकी भी थोडी छानबीन कर ली जाय।

---

* देखिए "श्रीविजयपलाशिकायाम् यापनि (नी) यनिग्रन्थकूर्च्चकानाम स्ववजयिके अष्टमे वर्षाखे सवत्सरे कार्त्तिकपौर्णमास्याम्" (इं० ऐं० भाग ७ पृष्ठ २४) यहाँ 'स्ववजयिके' का अर्थ है अपने राज्य में, क्योंकि 'आत्मन राज्यस्य तृतीयेवर्षे पौषे सवत्सरे कार्त्तिकमासबहुलपक्षे दशाम्याम् तिथौ उत्तराभाद्रपदे नक्षत्रे' का प्रयोग उन्होने अन्यत्र भी किया है।

एक बात और। इसी तिथि के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि या तो मृगेशवर्मा ४३४-५ ई० में राजा हुआ या ४६९-७० में। कहने की बात नहीं कि प्रचलित धारणा के दबाव के कारण उक्त डा० सरकार ने भी दूसरी तिथि को ही ठीक माना है, परन्तु हमारी दृष्टि में इसकी पहली तिथि ही ठीक ठहरती है। हम पहले दिखा चुके हैं कि वास्तव में कृष्णवर्मा चन्द्रगुप्त का साथी था और सम्भवत मरा भी उसके सामने ही था। उसके उपरान्त एक ओर तो शान्तिवर्मा का सिक्का जमा और दूसरी ओर उन्हींकी अधीनता में उसका आत्मज बैठा। शान्तिवर्मा के निधन पर फिर सग्राम छिडा पर मृगेश विजयी रहा। इस प्रकार ४३४-५ का राजगद्दी का समय ठीक बैठा।

† श्रीमयूरशर्मा की तिथि के विषय में बडा मतभेद है। 'मलवल्ली' के एक लेख के बारे में विद्वानो में बडा विवाद है। लेख की भाषा भी विलक्षण है—

"सिद्धम! जयति भगवान् मट्टपट्टिदेवो वजयन्ती धम महाराजाधिराजो पतिकत साभजाय धच्चापरो कदबाणं राजा शिव वम्मणा मानवसगोत्तेन हारितीपुत्तेन वजयन्तीपतिना पुव्वदत्तीति परित्यर्ज्येण (तुटठेन) मनसासि स मातुलाय बितीयदत्तम कोण्डिन्यसगोत्ताय कोसकी पुत्ताय कोण्डमानाकुलतिल्काय मिरिनागदत्ताय ८ सव्वच्छरं पडमसरदपक्ख बितीय दिवसं पडमनस्वत्तं रोहिणियं सप्पदत्त च .. "। (ए० क० भाग ७, शिकारपुर, २४४)

इस लेख में दी गई तिथि को एक महानुभाव ने बुधवार, २० सितम्बर सन् २४३ ई० सिद्ध किया है और दाता को शिवस्कन्दवर्मा माना है। पर कुछ लोगों की धारणा है कि यह मयूरशर्मा का ही लेख है। कदबाणं राजा
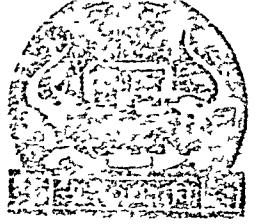
श्री चन्द्रबली पांडे

कहा गया है कि कदम्बकुल के एक सज्जन मयूरशर्म्मा अपने गुरु वीरशर्म्मा के साथ पल्लवेन्द्रपुरी की घटिका में प्रवचन में पारंगत होने के विचार से गए। दैवयोग से एक 'अश्वसंस्थ' मे ऐसा कलह उत्पन्न हो गया कि, उनका ब्रह्म वल परास्त हो गया और क्षात्रधर्म की जीत हुई। फिर क्या था, उन्हे भी शास्त्र छोडकर शस्त्र की सूझी और इसके फलस्वरूप धीरे धीरे एक राज्य की स्थापना भी हो गई। अव अधिकांश विद्वान्* इस पक्ष के हो चले है कि 'तत्र पल्लवाश्वसंस्थेन कलहेन' का अर्थ यह है कि यह कलह 'अश्वसंस्थ' अर्थात् 'अश्वमेध' मे उत्पन्न हुआ था। जो यह ठीक है, और इसके ठीक होने में तनिक सन्देह भी नही है, तो इसका आशय स्पष्ट है कि यह घटना किसी पल्लवाश्वमेध मे घटी। सौभाग्य से हमारे हाथ में एक ऐसा लेख है जो सारी स्थिति को स्वतः स्पष्ट कर देता है और किसी विवाद के लिए कोई विशेष स्थान भी नही छोड़ता। ध्यान से देखिए तो सही—

"अशोकवर्म्मादिषु देवभूयं गते (षु वंश्ये) ष्वथ पार्त्थिवेषु।
वंशस्य चूडामणिराविरासीद्भर्त्तेन्दिराया इव कालभर्त्ता ॥५॥
तत्सुतादजनि चूतपल्लवाद्वीरकूर्च्च इति विश्रुताह्वयः।
यः फणीन्द्रसुतया सहाग्रहीद्राजचिन्हमखिलं यशोधनः ॥६॥
अन्ववायनभश्चन्द्र [:] स्कन्दशिष्यस्ततोभवत्वि—
(द्वि) जानां घटिकां राज्ञस्सत्यसेनात्जहार यः ॥७॥
गृहीतकाञ्चीनगरस्ततोभूत्कुमारविष्णुस्समरेषु जि [ष्णुः]।
भर्त्ता भुवोभूदथ वुद्धवम्मा [र्म्मा] यश्चोलसैन्यार्ण्णववाडवाग्निः ॥८॥
सविष्णुगोपे च नरेन्द्रवृन्दे गते ततोजायत नन्दिवर्म्मा।
अनुग्रहाद्येन पिनाकपाणेः प्रनर्तितो दृष्टिविषः फणीन्द्र ॥८९॥" (सा०इं०, इं. भाग २ खंड ५, पृ. ५०८)

'वेलूसलैयम्' के इस लेख से इतना तो प्रकट ही है कि मयूरशर्मा जिस 'घटिका' में प्रवचन-पटु वनने गए थे वह स्कन्दशिष्य के समय मे पल्लवकुल के हाथ लगी और उसकी सारी काञ्चीपुरी तो कुमारविष्णु के शासन मे पल्लव-नगरी बनी। 'गृहीतकाञ्चीनगरः' से ध्वनित तो यह होता है कि काञ्ची को ही कुमारविष्णु ने अपनी राजधानी वनाली। जो हो, इस लेख की गवाही पर इतना तो मानना ही होगा कि कुमारविष्णु के पहले काञ्ची मे किसी 'पल्लवाश्वसंस्थ' की

और शिव...............म्मण की विभक्तियाँ भिन्न भिन्न हैं। प्रथमा को तृतीया का विशेषण कैसे बनाया जा सकता है। पाठभेद का प्रश्न अलग है। निदान अभी इतना ही कहा जा सकता है कि यदि यह मयूरशर्मा का लेख है तो इससे उनके 'पट्टबन्ध' अथवा महाराज होने का समय निकाला जा सकता है जो २४० के लगभग आता है। और यदि उक्त सज्जन (बी० वी० कृष्णराव) के विचारानुसार इसे धर्ममहाराजाधिराज शिवस्कन्दवर्मा का समय मानें और उसे पल्लव वीरकूर्च्च का प्रतिद्वन्द्वी समझें तो इतना और स्फुट हो गया कि यही कदम्ब-पल्लव-कलह पल्लवेन्द्र के 'अश्वसंस्थ' में भी फूट पड़ा था। यही नही इससे इतना और भी प्रकट हो गया कि नागकन्या के साथ वीरकूर्च्च को जो राज्य मिला था वह अधिक दिन तक पल्लवकुल में नहीं रहा। फिर कदम्बकुल के मयूरशर्मा ने उसे बहुत कुछ वापस ले लिया। वीरकूर्च्च के बाद स्कन्दशिष्य और फिर कुमारविष्णु हुए हैं। तो इस दृष्टि से मयूरशर्मा का समय सन् २६० के आसपास माना जा सकता है जो सभी प्रकार से ठीक बैठता है। परन्तु न जाने किस दृष्टि से श्री कृष्णरावजी ने मयूरशर्मा का समय ३१०-४० ई० तक माना है। प्रतीत होता है प्रचलित मत से प्रभावित हो गए है। देखिए—प्रोसीडिंग्ज, इं० हि० कांग्रेस, इलाहाबाद १९३८ ई०, पृष्ठ ८०। स्मरण रहे मयूरशर्मा का यह समय कतिपय अन्य विद्वानों को भी मान्य है। देखिए—मै० ऑ० स० ऐ० रि० १९२९ पृष्ठ ५६)।

* श्री श्रीकंठशास्त्रीः—'सोर्सेज ऑफ कर्नाटक हिस्ट्री, भाग १, मैसूर यूनीवर्सिटी, सन् १९४० ई० पृष्ठ १८। एवं डाक्टर सरकार—सक्सेसर्स ऑफ सातवाहनाज् (वही) पृष्ठ १८ [illegible] २३८ की पादटिप्पणियाँ।

यानना नहा हो सकती थी। पल्लववश के शासना से विदित ही है कि कुमारविष्णु 'अश्वमेधयाजी' था। निदान सिद्ध हुआ कि इसी पल्लवेन्द्र के 'अश्वसन्य' में कुछ ऐसा कलह उत्पन्न हो गया कि ब्राह्मण मयूरशर्म्मा 'वर्मा' बनने के लिए लालायित हो उठा।

मयूरशर्मा की भाँति ही कुमारविष्णु का समय भी अभी तक खटाई में पडा है। जिसे जो भाता है वही उसका भी समय हो जाता है। उक्त लेख के 'सत्यसेन' से भी कोई सहायता नहीं मिलती। किन्तु इस घोर निराशा में भी आशा की एक किरण फूटती दिखाई देती है जो हमारे बडे काम की है। सौभाग्य से मयूरशर्मा और कुमारविष्णु दोना ही महानुभावा की परम्परा प्रस्तुत है। इन परम्पराओं पर दृष्टि पडी नहीं कि आपका प्रयोजन सिद्ध हो गया। अच्छा तो मयूरशर्मा की परम्परा है—१ मयूरशर्मा, २ कगवर्मा, ३ भगीरथ, ४ रघु, और ५ काकुत्स्थवर्मा। उधर कुमारविष्णु की परम्परा है—१ कुमारविष्णु, २ स्कन्दवर्मा, ३ वीरवर्मा, ४ श्रीविजयस्कन्दवर्मा और ५ विष्णुगोपवर्मा। इस दृष्टि से कदम्ब काकुत्स्थवर्मा का वही समय आता है जो पल्लव विष्णुगोपवर्मा का। अर्थात् काकुत्स्थ और विष्णुगोप को समकालीन स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। स्मरण रहे, उक्त दोना परम्पराएँ उक्त वशा के निजी* लेखा से ली गई हैं और सर्वथा प्रमाण के योग्य है।

अब विष्णुगोपवर्मा के सूत्र को पकडकर आगे बढ़िए और देखिए कि हरिषेण ने समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में किस सचाई से क्या लिख दिया है। कहते है 'काञ्चेयकविष्णुगोप'। पुराविदो में यह भलीभाँति प्रतिष्ठित हो चुका है कि यह काञ्चेयक विष्णुगोप पल्लव ही है। तो भला अब किसी मनीषी को यह मानने में कितनी देर लग सकती है कि वास्तव में काकुत्स्थवर्मा भी समुद्रगुप्त के समकालीन हैं?

अभी अभी हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे है वह कितना उदार, व्यापक और सारपूर्ण है और किस प्रकार उसके सहारे उस समय का सारा इतिहास सुलझाया जा सकता है इसका विवेचन हम फिर करेंगे। यहाँ तो हमें केवल इतना ही दिखाकर सन्तोष कर लेना है कि वास्तव में काकुत्स्थ-कन्या का विवाह समुद्रगुप्त से हुआ था और कालिदास के दौत्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। जो लोग इतने पर भी यह प्रतिज्ञा उपस्थित करना चाहे कि समुद्रगुप्त के समय में ही समुद्र का नहीं, हाँ, विवाह उस कन्या का हुआ था चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से ही—क्योंकि चन्द्रगुप्त के समय तक भी तो काकुत्स्थ रह सकते है? तो निवेदन है, नहीं। इस तर्क का कोई आधार नहीं। चन्द्रगुप्त की प्रथम पत्नी कुबेरनागा तो निश्चय ही नागकुल की है। इसमें तो किसी को सन्देह नहीं। अब रही महादेवी ध्रुवस्वामिनी की बात। सो विशाखदत्त के 'देवी चन्द्रगुप्तम्' एव अन्य प्रमाणा† से पुष्ट हो चुका है कि वह पहले चन्द्रगुप्त की भ्रातृजाया थी और फिर चन्द्रगुप्त 'साहसाक' की जाया बनी। और तो और, स्वय चन्द्रगुप्त का 'रूपकृती' सिक्का इसका दृढ और स्वच्छ प्रमाण है। एक बात और। ध्रुवस्वामिनी का विवाह रामगुप्त से चाहे जब हुआ हो पर चन्द्रगुप्त से तो वह समुद्रगुप्त के उठ जाने पर ही हुआ। फिर कालिदास का दौत्य इसमें क्या काम दे सकता है? लोगा की धारणा तो यह है कि चन्द्रगुप्त पहले से ही उससे विवाह करना चाहता था पर रामगुप्त ने स्वय उससे कर लिया अथवा स्वय समुद्रगुप्त ने कर दिया। हाँ, ध्रुवस्वामिनी को तो कुछ‡ लोग शक-कन्या ही समझते है और शकाधिपति की माग को भी इसी का फल समझते है। जब स्वय ध्रुवदेवी की यह स्थिति है तब उसके पुत्रा—कुमारगुप्त, गोविन्दगुप्त आदि की तो स्थिति ही निराली है। भला उक्त काकुत्स्थ-कन्या से उनका विवाह कब हो सकता था? निदान, यह सम्बन्ध समुद्रगुप्त ही का साधु ठहरता है।

हाँ, तो कालिदास के दौत्य का किसी पाणि-ग्रहण से कोई सम्बन्ध न था। वह तो शुद्ध राजनीति की दृष्टि से भेजे गए थे। प्रभावतीगुप्ता को परास्त कर कुन्तलेश 'दक्षिणापथाधिपति' बन बैठा था और अपने पराक्रम का सूचक अश्वमेध

* कदम्बकुल की तो सर्वमान्य है ही पल्लवकुल की भी 'ओमगोड न० १' (ए० इ० भाग १५, पृष्ठ २४६) तथा 'उदयपल्ली (इं० ऐं० भाग ५, पृष्ठ ५०) पर आश्रित है।

† देखिए 'गुप्तसाम्राज्य का इतिहास, प्रथम भाग, इडियन प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९३९ ई० रामगुप्त का प्रसग।

‡ हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार श्री जयशकरप्रसाद ने इसी भावना से प्रेरित होकर 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना की।

तक कर डाला था। उसके और अधिक आगे बढने की जो सम्भावना थी वह और अधिक टाली नही जा सकती थी। चन्द्रगुप्त स्वय सकटो से घिरा था। निदान उसे कालिदास से कुशल व्यक्ति को दूत बनाकर भेजना पडा। कालिदास ने भूमि पर आसन जमाते ही वह वाग्विलास दिखाया और ऐसा गहरा बाण मारा कि कुन्तलेश्वर कटकर रह गए और विक्रमादित्य का लोहा मान लिया।

कालिदास के 'दौत्य' की चर्चा समाप्त हुई पर उनके दूतकर्म की अभी इति नही हुई। 'कुन्तलेश' के प्रसग मे वाकाटक प्रवरसेन का उल्लेख हुआ था और उनकी एक रचना भी सामने आई थी। अब यहाँ उसको भी समझ लेना चाहिए।

यह तो एक अति प्रसिद्ध बात है कि कालिदास ने 'मेघदूत' मे कुछ आपबीती भी सुनाई है। पर उस आपबीती का रहस्य क्या है इसे इतिहास के मुह से सुनिए। 'रामगिरि' मे पड़ी पड़ी प्रभावतीगुप्ता दान किया करती है। उसका एक दानपत्र है—

"जित (तं) भगवता।। रामगिरिस्वामिन—पादमूलाद्गुप्तान (ना) मादिराजो महाराज श्रीघटोत्कचस्तस्य...... महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य दुहिता...........वाकाटकाना (नां) महाराज श्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी वाकाटकानांम्महाराज श्रीदामोदरसेन प्रवरसेनजननी भगवत्पादानुध्याता साग्रवर्षशतदिवपुत्रपो (पौ) त्रा श्र (श्री) महादेवी प्रभ(भा) वति गुप्ता..........वाकाटकानां (नां) महाराज श्रीप्रवरसेनस्य राज्यप्रशासत (सं) वत्सरे एकोनविशंतितमे कार्त्तिकमासशुक्लपक्ष द्वादश्यां (श्यां) (।) दूतक (को) वेवन्दस्वामी (।) लिखितं।" (ज०, ए०, सु०, बंगाल, भाग २०, पृ० ६०)

श्री प्रवरसेन अब 'अभिनवराजा' नही रहे। राज्य करते हुए उनके १९ वर्ष बीत गए। प्रभावती गुप्ता भी १०० वर्ष की बुढिया हो चली पर रामगिरि वही रहा। कालिदास कहते है—

"कश्चित् कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः, शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येन भर्त्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु, स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ।।१।।" (मेघदूत)

कहते है किसी वैयाकरण ने किसी हृदयालु को टोका था कि 'कश्चित् कान्ता' कहाँ की संस्कृत है। समाधान मे उपहास भले ही हो पर हृदय नही। कालिदास की आँखो मे था तो कान्ता का विरह किन्तु उन्हे लिखना पडा 'कान्त' (यक्ष) का विरह। विरहिणी कान्ता को रस भी तो इसी मे मिल सकता था? अपना दु ख तो अपने आगे था ही, जब अपने कान्त का दु ख भी सामने आ गया तो वह सुख प्राप्त हुआ जो दु ख को आनन्द बना देता है। जनकतनया की जन्मभूमि पर भी ध्यान दें और कृपया भूल न जाये कि प्रभावती गुप्ता से भी कालिदास का कुछ लगाव है। कालिदास भी रामगिरि में जा विराजे है।

प्रभावती गुप्ता ने 'रामगिरि' के पुण्य 'आश्रम' को कब अपना स्थान बनाया इसका यथार्थ उत्तर तो सहसा नहीं दिया जा सकता, पर अनुमान यही कहता है कि विधवा होने तथा पराजय पाने के पश्चात्। 'कुन्तलेश्वर' के प्रसंग मे बताया जा चुका है कि प्रभावती गुप्ता के श्वसुर पृथिवीषेण ने 'कुन्तलेन्द्र' को जीत लिया था और फिर किसी 'कुन्तलेश' ने समय पाकर 'नागजा' पर चढाई की और उसे परास्त कर अपना 'दाय' प्राप्त कर लिया। अजन्ता के लेख मे पृथिवीषेण की बड़ी प्रशंसा की गई है। उन्हें 'धर्मविजयी' कहा गया है। जिसका अर्थ यह हुआ कि उन्होने 'कुन्तलेन्द्र' की 'श्री' को हर लिया 'मेदिनी' को नही। किन्तु 'कुन्तलेश्वर' को जब 'अश्वमेध' की सूझी तब उन्होने केवल वाकाटक-श्री को ही नही हरा अपितु उसकी कुछ 'मेदिनी' भी छीन ली। अब प्रभावती गुप्ता को उनसे कुछ दूर रहने की आवश्यकता पडी और कुछ सुख-शान्ति की भी। फलत वह रामगिरि मे जा बसी, और उसकी सान्त्वना तथा देखभाल के लिये कवि कालिदास को भी वही भेजा गया। प्रभावती गुप्ता का उपलब्ध सर्वप्रथम शासन इसीके निकट के नान्दिवर्धनग्राम का है जिसका वर्ष १३ दिया गया है। अजन्ता के लेख मे यह भी कहा गया है कि पृथिवीषेण 'वर्षशतमभिवर्द्धमानकोशदडसाधनसन्तानपुत्रपौत्रिन्' थे। इधर प्रभावती गुप्ता रुद्रसेन की 'अग्रमहिषी' है और उसका पुत्र युवराज दिवाकरसेन ही प्रथम पुत्र है।

युवराज दिवाकरसेन का अन्त कब हुआ, इसे कौन कहे? पर इतना तो कोई भी कह सकता है कि वह राज्याभिषेक के पहले ही चल बसा था, और राजमाता प्रभावतीगुप्ता को उसके अनुज प्रवरसेन की ओर से भी कुछ काल तक शासन करना

पडा था। यदि इस काल की अवधि का पता निकल आता तो बडे काम का सिद्ध होता। तो भी उसके अभाव में इतना तो बडी सरलता से कहा जा सकता है कि पिता के निधन के समय दिवाकरसेन की अवस्था (२५-१३) १२ वर्ष से अधिक न थी, कारण कि राज्याभिषेक की योग्यता की मर्यादा यही (२५ वप ही) ह। उधर पितामह पृथिवीषेण भी पौत्रिन् होकर मरे थे। तात्पय यह कि प्रभावतीगुप्ता के पति रुद्रसेन अधिक दिन तक राजा नही रहे। उनका शासन कितना क्षणिक था, इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता ह कि अजन्ता के एक लेख (आ० स० वे० इ० भाग ४ पृ० १२५) में तो उन्हे भगवतश्चक्रपाणे प्रमादोपार्जित श्रीसमुदाय' कहा गया है पर दूसरे (वही, पृ० १२६) में उनका नाम तक नही आया ह। कारण यही प्रतीत होता ह कि उनका शासन-काल अत्यन्त अल्प था। दिवाकरसेन के विषय म पहले कहा जा चुका है कि पिता के निधन के समय किसी दशा में भी उसकी अवस्था १२ वप से अधिक* नहीं हो सकती। अब इतना और जोड ले कि पितामह पृथिवीषेण के सामने ही वह उत्पन्न हो गया था। कारण कि प्रभावतीगुप्ता ही रुद्रसेन की 'अग्रमहिषी थी और पृथिवीषेण थे 'सन्तानपुत्रपौत्रिन्'। निदान, यही कहना पडता ह कि कम से कम दिवाकरसेन तो उनके सामने उत्पन्न हो चुका था। साराश यह कि रुद्रसेन का शासन कुछ ही दिनो का था। उनका अन्त किस प्रकार हुआ, इसका कहीं कोई उल्लेख नही। सम्भव है किसी सग्राम में ही वीरगति को प्राप्त हुए हो।

अस्तु, अब विना किसी सकोच के सरलता से कहा जा सकता ह कि प्रभावती गुप्ता पर सहसा जो वज्रपात हुआ था वह वडा ही भयावह और दु खप्रद था। कृष्णवर्मा के आक्रमण ने उसे और भी जजर कर दिया। ऐसी विपदा के समय उदार पिता चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त उसका सहायक कौन हो सकता था? पर स्वय चन्द्रगुप्त को भी तो सभी सकटो का सामना करना था? जिस विपदा से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने प्रभावती गुप्ता का वाकाटक-कुल मे विवाह किया था वह

---

* कालिदास का प्रभावती गुप्ता एव प्रवरसेन से जो सम्बन्ध रहा ह उसको देखते हुए यही मानने को जी चाहता ह कि हो न हो रघुवश में इस वश की भी कुछ छाप है। कहते ह—

"मणौ महानील इति प्रभावात्, अल्पप्रमाणोऽपि यथा न मिथ्या।
शब्दो महाराज इति प्रतीत, तथव तस्मिन् युयुजेऽर्भकेपि ॥४२॥
पर्य्यन्तसञ्चारितचामरस्य, कपोललोलोभयकाकपक्षात्।
तस्याननादुच्चरितोविवाद, चस्खाल वेलास्वपि नाणवानाम् ॥४३॥" एव
"न्यस्ताक्षरायक्षरभूमिकाया, कात्स्न्र्येन गृहणोति लिपि न यावत।
सर्व्वाणि तावत् श्रुतवृद्धयोगात्, फलान्यपायुङक्त स दण्डनीते ॥४६॥"

तो फिर यह मान लेने में क्या आपत्ति ह कि सचमुच दिवाकरसेन भी ६ वष की अवस्था में ही 'महाराज' हुआ। कारण कि इधर भी—

"त राजवीथ्यामधिहस्तियान्तम्, आधोरणालम्बितमग्र्यवेशम।
षडवषदेशीयमपि प्रभुत्वात, प्रक्षन्त पौरा पितृगौरवेण ॥३९॥" (रघुवश १८ सग)

आप चाहे तो इसे न भी मानें, पर कृपया भूल न जाए कि इसकी सगति बठती सटीक ह। दिवाकरसेन के १३ वष के युवराजपन का उल्लेख हो चुका ह। अब इसमें ६ वष और जोड दीजिए। इस प्रकार न्यूनातिन्यून उसके २० वप के जीवन का पता चलता ह जो सवथा साधु ठहरता ह। स्मरण रहे प्रभावती गुप्ता ने 'अनुज' प्रवरसेन की ओर से भी शासन किया ह। तो अब इस ६ वप को मान ही लीजिए तो ठीक हो। साथ ही राज्ञी प्रभावती गुप्ता की स्थिति को भी आंक लें—

"त भावार्थं प्रसवसमयाकाक्षिणीना प्रजानाम्। अन्तर्गूढ़ क्षितिरिव नभोवीजमुष्टि दधाना।
मौल साद्ध स्थविरसचिव हेमसिहासनस्था, राज्ञी राज्य विधिवदशिषदभर्त्तुरव्याहताज्ञा ॥५७॥" (रघु१९ सग)

तो क्या सचमुच दिवाकरसेन प्रवरसेन से ६ ही वप बडे थे? इतिहास के अभाव में 'काव्य' से तो यही सुर निकलता ह।

तो थी ही, इधर एक दूसरी विपत्ति भी फट पडी। विक्रमादित्य का आदित्य कुछ मेघाछन्न हो चला था कि सहसा कालिदास की प्रतिभा सामने आई और उसने अपनी आभा से उसको और भी अनुपम उगा दिया। ऐसे संकट के समय कवि कालिदास ने जो 'दौत्य' किया उसकी चर्चा हो चुकी है। उससे 'विक्रमादित्य' की चिन्ता तो दूर रही, पर अभी उनकी तनया प्रभावती गुप्ता का सन्ताप बना रहा। कहना न होगा कि उसी सन्ताप को दूर करने के निमित्त कालिदास भी उसकी सेवा में जा विराजे। दिवाकरसेन तो शीघ्र ही चल बसा पर दामोदर प्रवरसेन उनका प्रसाद पाने के लिए जीता रहा। 'सेतुबन्धम्' के रचयिता प्रवरसेन को कौन नही जानता ? उसका राज्य चला गया पर उसकी कृति आज भी उसका नाम उजागर कर रही है। और 'दामोदर ?' वह तो और कुछ नहीं, बस इस भागवत जोड़ी का प्रसाद है। 'चक्रपाणि' की भक्ति इसी 'दामोदर' मे भरी है, अन्यथा 'वाकाटक' थे तो शैव। दामोदर प्रवरसेन भी तो आगे चलकर शैव हो गया। तो क्या यह भी कालिदास का प्रभाव था ?

कालिदास और प्रवरसेन सा सम्बन्ध पिता-पुत्र का नही तो परस्पर गुरु-शिष्य का अवश्य था। अतः कालिदास के इस कर्म को दूतकर्म के भीतर कैसे गिना जाय ? कोई बात नही, परन्तु विषय को समाप्त करते करते एक दूसरा प्रसंग भी सामने आगया। कहते है कि कामरूप के कलितो को पंडित बनाने का श्रेय भी कवि कालिदास को ही प्राप्त है। प्रवाद है कि कालिदास पहले महामूर्ख थे। किसी बात पर खीझकर उनकी पत्नी ने उन्हें खूब पीटा। फिर करें क्या, हार मानकर वन मे तप करने चले गए और वहाँ जाकर ऐसा घोर तप किया कि उनकी आराधना से सरस्वती खिल उठी। प्रसन्न हो उन्हे ऐसा जल-पात्र दिया कि उसके रंचक जलपान से जपाट की भी बुद्धि खुल जाय और सहज में ही विद्या का प्रकाश हो जाय। फिर क्या था, एक दिन कालिदास को कामाख्या-दर्शन की सूझी। मार्गभर विष का घड़ा कहकर उसकी रक्षा की। दैवयोग से एक बरुआ जीवन से ऊबकर अपना अन्त करना चाहता था। फिर क्या था, विष के घड़े से थोड़ा विष-पान कर लिया। परिणाम प्रत्यक्ष है। तभी से उसके कुल मे विद्या चली आती है। कामरूप में बरुआ वा कलित ही प्रधान है।*

यह तो हुई कपोल की कथा। अब कालिदास की भी सुनिए। रघु चारों ओर से विजयी होकर कामरूप में पहुँचते है तो—

"तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम्। भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥८३॥
कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदैवताम्। रत्नपुष्पोपहारेणच्छायामानर्च पादयोः ॥८४॥" (रघुवंश, चतुर्थ सर्ग)

कामरूपेश्वर ने रघु की कुछ ऐसी पूजा की कि फिर उन्हें किसी और को जीतना न पडा। संग्राम की तो यह दशा है कि कामरूपेश्वर को यह महत्त्व दिया जा रहा है। उधर पुत्र अज का विवाह हुआ तो वहाँ भी —

"ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥१७॥" (वही, सप्तम सर्ग)

अन्त में 'कामरूपेश्वर' का ही समादर हुआ। क्यों ?

कामरूप का जो वृत्त प्राप्त है उसमे एक विलक्षण बात यह गोचर होती है कि भगदत्त के ३००० वर्ष के अनन्तर जो शासक उत्पन्न होता है उसका नाम पुष्यवर्मा और उसके उपरान्त जो पुरुष सामने आता है उसका नाम समुद्रवर्मा होता है और उसकी स्त्री भी दत्तदेवी के नाम से ही प्रसिद्ध होती है। दत्तदेवी महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त की माता हैं तो समुद्रगुप्त उनके पिता और पुष्यमित्र नाम है उस ब्राह्मण सेनापति का जिसने मौर्यवंश से राज्य छीनकर किया था अश्वमेधयज्ञ। सारांश यह कि कामरूप के राजवंश मे जो यह सम्राट् समता लक्षित हो रही है, इसका कुछ रहस्य है। साथ ही इतना और भी स्मरण रहे कि जिस विदर्भ में अज का विवाह हो रहा है उसी विदर्भ मे आगे चलकर 'नरक' का भी हुआ है। यही क्यों,

---

* पूरे प्रसंग के लिए देखिए 'ईस्टर्न इंडिया' भाग ३, मांट्गोमेरी मार्टीन रचित और लीडनहाल स्ट्रीट लंडन से प्रकाशित, सन् १८३८ ई०, पृष्ठ ५४३।

कालिदास का दूत-कर्म

पुराण-मत तो यहा तक हमारे पक्ष म है कि 'नरक' का प्राग्ज्योतिष का राज्य भी 'मगध' वा विदेह की सहायता से मिला था। तो क्या कालिदास का रघुवश पुराण का ही अनुकरण कर रहा ह? नही, इसका प्रयाजन कुछ और भी है। पहले ही कहा जा चुका है कि प्रवाद ह कि कालिदास के प्रसाद मे ही वरुआ विद्वान् बने। सो वरुआ ह भी [ब्रह्मचारी का वाचक। अस्तु इस प्रवाद में यदि कुछ भी सार ह तो इसका निष्कर्ष यही निकलता ह कि किसी समय कालिदास ने कामरूप के प्रधान पुरुष का सन्मार्ग दिखाकर मृत्यु से बचा लिया था। अच्छा होगा, स्थिति को स्पष्ट करने के हेतु एक दूसरे प्रवाद पर भी विचार करल। कहा जाता ह कि कामरूप का सुबाहु राजा बडा प्रतापी था। उसने अभिमान में आकर विक्रमादित्य के 'अश्व' को रोक लिया किन्तु सग्राम में हार कर भाग गया।

'विक्रमादित्य' और कालिदास का जो सम्बन्ध ह वह किसी से छिपा नही है। पर यह 'सुबाहु' ह कौन? भास्कर-वर्मा के ताम्रपत्र से प्रकट ह—

"वशेषु तस्य नृपतिषु वर्षसहस्त्रत्रय पदमवाप्य। यातेषु देवभूय क्षितीश्वर पुष्यवर्माभूत ॥७॥
मात्स्य न्यायविरहित प्रकाशरत्न सुतो द्वरथलघु पचम इव हि समुद्र समुद्रवर्माभवत्तस्य ॥८॥"
(ए० इ० भाग १२, पृष्ठ ७३)

'निधनपुर' के इस ताम्रपत्र से व्यक्त ही ह कि समुद्रवर्मा ही सचमुच वह व्यक्ति ह जो किसी विक्रमादित्य से लोहा ले सकता है, और सन्देह नही कि 'सुबाहु' ने हा दप मे आकर समुद्रगुप्त का नाम अपना लिया हो और अपने आपको समुद्र-गुप्त का अवतार ही कहन लगा हो। उसकी महिषी का नाम भी तो 'दत्तदेवी' ही है। प्रतीत होता ह कि समुद्रगुप्त के समय म जो प्रत्यन्त-सन्धि थी वह चन्द्रगुप्त के शासन म कभी टूट गई थी और फिर 'अप्रतिरथ' पराक्रमी होने पर ही जुटी थी। कालिदास के द्वारा 'कलिता' मे जिस ज्ञान का प्रसार हुआ उसका सम्बन्ध इसी विग्रह से तो नही ह? एक बात और। काशी-नागरी प्रचारिणी-सभा के भारत-कला भवन मे एक अश्व खडा ह जो पास की नगवा भूमि से वहा लाया गया ह। उसपर 'चित्रगु' लिखा हुआ पढा गया ह। इसस सिद्ध हो जाता ह कि वास्तव में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी अश्वमेध-यज्ञ किया था। अस्तु, अब यह मान लेने मे कोई प्रबल बाधा नही रह जाती कि इसी विक्रमादित्य से सुबाहु अथवा समुद्रवर्मा का युद्ध हुआ था, कुछ किसी और से नही।*

विक्रमादित्य के 'अश्वमेध' की जो इतनी कम चर्चा हुई है उसका मुख्य कारण सम्भवत उनकी नीति ही ह। कालिदास कहते ह—

"पराभिसन्धानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम्। जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत ॥७६॥"
(रघुवश, सप्तदश सर्ग)

अब चाहे इस 'पराभिसन्धान' का परिणाम हो चाहे कुछ और, पर इतना तो प्रकट ही ह कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को भी शत्रुओ स लोहा लेना पडा था। उसके लौहस्तम्भ से व्यक्त होता है कि उसे भी सग्राम करना पडा था। परन्तु पुराविदा म ऐसे पडित भी ह जो उक्त लौहस्तम्भ का सम्बन्ध किसी और ही 'चन्द्र' से जोडते ह, । अत थोडा इसपर भी विचार हो जाना चाहिए। अच्छा, तो वह लेख ह—

"यस्योद्वतयत प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान। वगेष्वाहववर्त्तिनोभिलिखिता खडगेन कीर्तिर्भुजे॥
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता वाह्लिका। यस्याद्याप्यधिवास्य ते जलनिधि वीर्यानिलदक्षिण ॥१॥

* श्री वरुआ महोदय ने प्रकृत प्रवाद का सम्बन्ध अश्वमेधयाजी समुद्रगुप्त से जोडा ह। पर वह ठीक नहीं बठता। परम्परा विक्रमादित्य के पक्ष में ही ह और वह भी अश्वमेधयाजी सिद्ध हो रहा ह। सुबाहु का समुद्रवर्मा नाम भी तभी सार्थक सिद्ध होगा जब उसके पहले समुद्रगुप्त का आतक फल चुका हो। इस अनुकरण में स्पर्द्धा का झलक ह। निदान, परम्परा को ही प्रमाण ठहराना चाहिए। देखिए, 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ कामरूप, शिल्लाग, १९३३ इ०, पृ० ४३।

श्री चन्द्रबली पांडे

खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतरां, मूर्त्या कर्म्म जितावनी गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ।
शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोः यत्नस्य शेषः क्षितिम् ॥२॥
प्राप्तेन स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं क्षितौ। चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशी वक्तृश्रियं बिभ्रता।
तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना धावेन विष्णो(ष्णौ)मतिम्। प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः ॥३॥"

(मेहरौली का लौहस्तम्भ)

'चन्द्राह्व' से इतना तो स्पष्ट है कि यह किसी 'चन्द्र' की ही गाथा है, पर वह चन्द्र है कौन ? इसी पर विचार है। माना कि बंगाल के 'सुसुनिया' पहाड पर 'पुष्करणाधिपति' की कोई 'कृति'* निकल आई पर उससे यह कैसे सिद्ध हो गया कि वस्तुत उक्त 'महाराज' मे "एकाधिराज्य" की क्षमता थी। सच तो यह है कि इस 'कृति' का जो उक्त वंग-विजय से कोई सीधा सम्बन्ध होता तो इसका उल्लेख भी यहाँ अवश्य होता। हमारी समझ मे तो इस अति सक्षिप्त लेख से यही ध्वनित होता है कि वास्तव मे महाराज श्रीचन्द्रवर्मा अपनी पुरानी मर्यादा भी खो बैठे थे और अब 'पुष्करणाधिपति' महाराज न रहकर केवल 'महाराज' ही रह गए थे। देखिए, उक्त लेख है—

"पुष्करणाधिपुरोर्म्महार (1) जश्रीसिंहवर्म्मणः पुत्रस्य
महाराजश्रीचन्द्रवर्म्मणः कृतिः
चक्रस्वामिनः दास (1) ग्र (ग्रे) ण (1) तिसृष्टः" (ए० इं०, भाग १३, पृष्ठ १३३)

और महाराज चन्द्रवर्मा के इस ह्रास का कारण है महाराजाधिराज अश्वमेधयाजी, सर्वराजोच्छेता श्री समुद्रगुप्त का 'अनेक आर्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्त' जिसमे 'चन्द्रवर्मगणपतिनागनागसेनअच्युतनन्दिबलवर्मा' आदि भी है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि कभी महाराज श्री चन्द्रवर्मा किसी समय गुप्त-सामन्त के रूप मे 'सुसुनिया' पहुँच गए और वहाँ एक अपना वैष्णव स्मारक खडा कर दिया। 'चक्रस्वामिन दासाग्र' भी सारगर्भित पद है। ध्यान रहे इसी वश का बन्धुवर्मा निश्चय ही कुमारगुप्त का सामन्त था। अस्तु, कोई आश्चर्य नही कि किसी वग-सग्राम मे ही महाराज चन्द्रवर्मा वग आए हो और लगे हाथो यह स्मारक भी छोड गए हो। जो हो, प्रस्तुत सामग्री के आधार पर कभी भी यह सिद्ध नही होता कि वास्तव मे 'सुसुनिया' के उक्त चन्द्रवर्मा मे 'मेहरौली' का 'एकाधिराज' होने की क्षमता थी। हाँ, उन विद्वानो के विचारो मे कुछ सार अवश्य है जो महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त † को ही उक्त 'चन्द्र' मानते है। कारण कि 'स्वभुजार्जित' की सगति जैसी सटीक सहसा उनके साथ बैठती है वैसी किसी अन्य के साथ नही। साथ ही 'प्रयाग-प्रशस्ति' मे जो 'निखिला पाह्येवमुर्वीमिति' कहा गया है वह भी उनके इसी वैभव का द्योतक है। और उसमे चन्द्रगुप्त कहे भी गए है निश्चय ही 'महाराजाधिराज'। फिर उन्ही को उक्त लौहस्तम्भ का अधिनायक वा नेता मान लेने मे आपत्ति क्या ? निवेदन है, तनिक ध्यान से सुने।

माना कि 'प्रयाग-प्रशस्ति' मे 'महाराजाधिराज' चन्द्रगुप्त ने अपने 'आर्य' पुत्र से 'निखिलां' मही के पालन को कहा, पर इससे यह सिद्ध कहाँ हुआ कि उनका आधिपत्य एक राज्य था। उसी प्रशस्ति मे खोलकर कह दिया गया है—

"उद्वेलोदितबाहुवीर्यरभसादेकेन येन क्षणादुन्मूल्याच्युतनागसेन..........................
दण्डग्राहयतैव कोटकुलजं पुष्पाह्वये क्रीडिता।"

---

* महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री का यह मत अब प्रायः प्राणहीन हो चुका है। कहने की आवश्यकता नही कि आपने ही इस लेख का सुचारु रूप से सम्पादन किया और उसके विषय में अपना उक्त मत प्रकट किया। विवाद उठने पर उनके शिष्य श्री राखालदास बनर्जी ने उसका पक्ष लिया पर वह प्रति दिन गिरता ही गया। इस पक्ष के लिए देखिए 'ए० इं० भाग १२, पृष्ठ ३१५; १३, पृ० १३३; १४, पृ० ३६८-७१।'

† इस मत के प्रबल समर्थक आज भी पाए जाते है। इसके लिए देखिए दीवान बहादुर डा० एस० कृष्णास्वामी ऐंगरकृत 'ऐंश्यंट इंडिया एण्ड साउथ इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर' प्रथम भाग, ओ० बु० एजेंसी, पूना; सन् १९४१ ई०, पृष्ठ १९२-२१०।

कालिदास का दूत-कर्म

जिससे स्पष्ट है कि उक्त सीमा का संकेत क्या था जिसका उल्लंघन नागसेन आदि ने किया। महाराज श्रीघटोत्कच के पुत्र महाराज श्रीचन्द्रगुप्त ने कुछ ऐसा पराक्रम किया कि उसके फलस्वरूप शीघ्र 'महाराजाधिराज' हो गए पर फिर कभी उससे आगे न बढ़े। और यदि 'कौमुदीमहोत्सव' को प्रमाण माना जाय तो कहना ही पड़ेगा कि अन्त में वह 'राजा' तक नहीं रह गए थे। फिर उनके निधन पर यह बात कैसे कही जा सकती है कि बुझ जाने पर भी आग का तेज बना ही है। अच्छा न सही, इसे न मानिए, पर तोभी इतना तो आपको भी मानना ही पड़ेगा कि प्रयाग-प्रशस्ति अथवा अन्यत्र कहीं भी महाराज चन्द्रगुप्त 'एकाधिराज' नहीं कहे गए हैं। हाँ, अधिक से अधिक 'महाराजाधिराज' तक ही रह गए हैं, सो भी सर्वत्र नहीं।

'एकाधिराज' विरुद बड़े महत्त्व का है। इसकी समता 'महाराजाधिराज' से हो नहीं सकती। यह तो 'सम्राट्' का समकक्ष है। भला वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन के सामने महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त को 'एकाधिराज' की पदवी कौन दे सकता है? नहीं यह सौभाग्य तो उसके 'आर्य' पुत्र समुद्रगुप्त को ही प्राप्त हुआ है। उसके पूर्व गुप्तों में किसी को 'एकाधिराज' का पद नहीं मिला था। निदान मानना पड़ता है कि मेहरौली के लोहस्तम्भ से महाराज श्रीघटोत्कच-सुत महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त का कोई लगाव नहीं।

हाँ, निश्चय ही मेहरौली का लोहस्तम्भ स्मारक है सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का और सुधि दिलाता है निपुण कवि कालिदास की मर्मभरी लेखनी और दूतकर्म का। सो कैसे, तनिक इसे भी शोध लें।

कहने की बात नहीं कि प्रकृत लोहस्तम्भ के लेख में केवल 'वंग', 'वाह्लिक' और 'दक्षिण' का उल्लेख किया गया है, कुछ कहीं 'आर्यावर्त' का नहीं। कारण प्रच्छन्न नहीं कि कल्पना को कष्ट दिया जाय। प्रयाग प्रशस्ति से अति प्रकट है कि 'आर्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहतः' किस तथ्य का द्योतक है। जो पूछा जाय कि फिर 'स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं' का संकेत क्या है तो तुरन्त कहना पड़ेगा कि बड़े काम का। रामगुप्त एवं ध्रुवस्वामिनी का प्रसंग* अब सामने आ चुका है और 'शकाधिपति' की चर्चा भी खूब हो चुकी है। फलतः संक्षेप में कहना पड़ता है कि दाय-दृष्टि † से

* स्वर्गीय राखालदास बनर्जी ने इस तथ्य का भेद बताया और उनके सहाध्यापक डा० आल्टेकर ने उसको अनेक प्रमाणों द्वारा पुष्ट किया। फिर तो अनेक पुराविदों ने उसे साधु माना और उसके सम्बन्ध में अपना अपना अभिमत दिया। सारांश के लिए देखिए श्री वासुदेव उपाध्याय एम० ए० कृत गुप्त साम्राज्य का इतिहास, प्रथम भाग, इंडियन प्रेस, प्रयाग, रामगुप्त का प्रकरण।

† चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को समुद्रगुप्त ने अपना अधिकारी बनाया था किन्तु कुछ कारण ऐसा आ पड़ा कि उसको पहले उससे दूर ही रहना पड़ा। जब राज्य का लोभी रामगुप्त 'क्लीव' बन गया और शत्रु को स्त्री देने पर उद्यत हो गया तब चन्द्रगुप्त को साम्राज्य की चिन्ता हुई। उसने कपट-वेष में शत्रु का वध किया और फिर भाई से ऊबकर किसी प्रकार उसका भी अन्त कर दिया। इसी को लक्ष्य कर उसकी कीर्ति पर पानी फेरते हुए अमोघवर्ष के चारण ने कहा है—

"हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद् देवीं च दीनस्ततो, लक्षं कोटिमलेखयन् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः ॥"

(ए० इ०, भाग १८, पृष्ठ २४८)

कैसे भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि 'तत्परिगृहीत' होने पर भी साम्राज्य के निमित्त चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को घर तथा बाहर, चारों ओर से लोहा लेना पड़ा। फिर वह 'एकाधिराज्य' अर्जित नहीं तो और क्या था? निश्चय ही वह चन्द्रगुप्त के साहस और पुरुषार्थ का प्रसाद था। यदि उसकी 'भुजा' में बल न होता तो उसका राज्य तो और ही के हाथ लग चुका था और जो उसका रक्षक होता वही तो उसका भक्षक बन बैठा था? फिर 'स्वभुजार्जित' में सन्देह क्यों?

श्री चन्द्रबली पांडे

भी उक्त साम्राज्य 'स्वभुजार्जित' ही था और साथ ही यह भी ध्यान रहे कि प्रसंग 'एकाधिराज्य' का है कुछ आर्यावर्त* का नही। सो वंग के विषय मे तो व्यक्त ही है कि शत्रु संघटित रूप में डटे थे। रही 'वाह्लिक' की वात। सो अभी यही नही खुला कि वस्तुत: यह वाह्लिक था कहाँ। 'सिन्धोः सप्तमुखानि' भी तो अभी तक झगड़े का घर बना हुआ है? फिर इसके बारे में बताया क्या जाय? जो कुछ हो, पर इतना तो निर्विवाद ही है कि उक्त दोनो देश गुप्त-साम्राज्य के छोर पर ही थे और किसी संकट के समय ही उभर आए थे।

'वाह्लिक' से कालिदास का कोई सीधा सम्बन्ध नही दिखाई देता अतएव विचार के हेतु पहले हम केवल 'वंग' और 'दक्षिण' को उठाते हैं। सुबाहु की विक्रमादित्य से जो मुठभेड हुई थी वह वंग से मिली-जुली थी या नही, इसका निर्भ्रान्त उत्तर तो अभी दिया नही जा सकता, पर अनुमान से इतना बताया अवश्य जा सकता है कि इस सन्धि में कवि कालिदास का भी हाथ था। पता नही समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति मे 'वग' का नाम क्यों नही आया। 'समतटडवाककामरूपनेपालकर्त्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपति' मे 'समतट' और 'डवाक' की सीमा क्या है यह कैसे स्पष्ट हो। तो भी यह तो निश्चित ही है कि इनका सम्बन्ध 'वंग'† वा बंगाल से ही है। 'समतट' मे तो कोई मतभेद नहीं पर 'डवाक‡' के बारे मे कुछ धाँधलीसी है। टाँकने की बात है कि कवि कालिदास रघु-दिग्विजय में 'वंगानुत्खाय' का स्पष्ट उल्लेख करते है पर कवि हरिषेण 'प्रशस्ति' मे कही उसका नाम तक नही लेते। तो क्या इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि समुद्रगुप्त के उठते ही 'वंग' एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया था जिससे सम्राट् चन्द्रगुप्त को स्वयं लोहा लेना पडा? सम्भावना तो यह है कि समुद्रवर्मा भी कुछ इसी ताक मे लगा था, किन्तु जब उसने देख लिया कि वस्तुत: विक्रमादित्य के सामने उसका पराक्रम ओछा है तब उनका साथी हो रहा और कालिदास का प्रिय पात्र बना। उसकी दुर्बुद्धि दूर हुई।

---

* 'वंग', 'वाह्लिक' एवं 'दक्षिण' का तो स्पष्ट उल्लेख है किन्तु 'आर्यावर्त' का नहीं है। परन्तु ध्यान से देखिए तो पता चले कि इस लेख में चन्द्रगुप्त का सारा जीवन समेट कर रख दिया गया है। मध्यदेश में किसी में इतनी शक्ति नहीं थी कि उसका विरोध करता। समुद्रगुप्त ने सबको उखाड़ फेंका था। क्लीव रामगुप्त कायर था। उससे लोहा लेने की बात ही नहीं थी। यह तो घर के काँटे को दूर करना था। सो तनिक साहस करने से हो गया। किन्तु चारों ओर की स्थिति एकसी नहीं थी। समुद्रगुप्त ने जिन्हे राज्य करने को छोड़ दिया था उनका मन स्थिति को देखकर बढ़ा। वंग ने संघटित होकर द्वन्द्व मचाया तो महाराज को स्वयं रणक्षेत्र में कूदना पड़ा। कुछ चोट भी खानी पड़ी। दक्षिण बात-चीत से शान्त रहा। उत्तर और पश्चिम का अभी निर्णय नहीं। 'वाह्लिक' का अर्थ भी खुले तो पता चले। पर इतना तो निश्चित ही है कि 'प्रतीची' और 'उदीची' दोनों ही में परदेशी राज्य था। प्रयाग प्रशस्ति में जो 'शकमुरुंड' और 'दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहि' आए है उनका निर्देश क्या है? क्या हम उन्हें 'वाह्लिकाः' के भीतर ले सकते हैं। क्या वाह्लिकों के चढ़ दौड़ने का अच्छा अवसर यही न था? स्वयं चन्द्रगुप्त को 'सिन्धु के सात मुखों को पार' कर उनपर चढ़ाई करने की क्या पड़ी थी? यदि हार जाता तो? स्मरण रहे, कालिदास कहते हैं—

"कातर्य्यं केवला नीतिः शौर्य्यं श्वापदचेष्टितम्। अतः सिद्धिं समेताभ्याम् उभाभ्यामन्वियेष सः ॥४७॥

(रघुवंश, सप्तदश सर्ग)

† देखिए श्री प्रमोदीलाल पाल एम० ए०, कृत 'दी अर्ली हिस्ट्री ऑफ बंगाल', दी इंडियन रिसर्च इन्स्टीटयूट, कलकत्ता; १९३९ ई०, भूमिका पृष्ठ ४-५।

‡ देखिए श्री बरुआ कृत 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ कामरूप' (वही) पृष्ठ ४२। कालिदास ने दिग्विजय में इसका अथवा 'समतट' का उल्लेख नही किया। इधर कुमारगुप्त के शासन में 'पुंड्रवर्द्धन' भुक्ति के रूप में दिखाई देता है। समुद्रगुप्त को भी किसी 'भस्ममाख्य' से युद्ध करना पड़ा था जो उसका अनुज और सम्भवतः गौड का शासक था। तात्पर्य यह कि इधर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

कालिदास का दूत कर्म

'वग' से कहीं अधिक बोलना प्रसग ह 'दक्षिण' का। कामरूप से कालिदास का जो सम्पर्क बताया गया है वह अनमान और प्रवाद पर ही अवलम्बित है, परन्तु दक्षिण का दौत्य तो पुराविदा मे घर कर चुका है। निदान उस पर कुछ खुलकर विचार होना चाहिए। मेहरौली के लेख से प्रकट ह कि 'चन्द्र' की दक्षिणापथ से कोई लडाई नही हुई पर उसकी धाक वहाँ बनी रही। सो 'कौन्तलेश्वरदौत्यम्' के प्रकरण में बताया जा चुका ह कि यथार्थत इसका कारण क्या ह। अत यहा उसकी चर्चा व्यथ होगी। विचारणीय तो यह ह कि कालिदास की सहज उपमा कौनसा तथ्य दिखाती है। लीजिए, कालिदास का मत ह—

"नक्येष्वेवाभवद यात्रा तस्य शक्तिमत सत । समीरणसहायोऽपि नाम्भ प्रार्थी दवानल ॥५६॥" (रघुवश ७ सर्ग)

कहना न होगा कि 'दवानल' विक्रमादित्य ने 'समीरण' कालिदास से जो काम लिया उसी का यह शुभ परिणाम था कि—"यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधि वीर्यानिल्दक्षिण "

ठीक ह, जब 'दवानल' क 'समीरण' ने 'जलनिधि' को भी सुवासित कर दिया तब वह किसी 'अम्भ' की याचना क्या करे? किन्तु काल की कृपा से यह 'दवानल' भी तो बुझ ही गया? तो क्या, तेज तो उसका अब भी अपनी 'मधुर' आच दिखाना ही रहा। देखिए—

"शान्तस्येव महावने हुतभुजा यस्य प्रतापो महान्ना, धाप्युत्सृजति प्रणाशितरिपो यत्नस्य शेष क्षितिम् ॥"
(मेहरौली का लौहस्तम्भ)

महाकवि कालिदास की 'उपमा' के पारखी चट बोल उठेंगे कि यह तो कालिदास की 'उपमा' ह। सच है, कालिदास की सटीक उपमा किसे नही मोहती? कौन जाने, सचमुच यह रचना कालिदास की ही हो। कारण—

"सच्छिन्नमूल क्षतजेनरेणु तस्योपरिष्टात् पवनावधूत । अगारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितोधूमइवावभासे ॥४३॥
(रघुवश सप्तम सग)

अथवा

"तेन भूमिनिहितककोटि तत कार्म्मुकञ्च बलिनाधिरोपितम् ।
निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां धूमशेष इव धूमकेतन ॥८१॥" (रघुवश, एकादश सग)

में तो वही भावना घूमफिर कर नया नया रूप धारण कर रही ह और कभी 'हुतभुज' या 'हुताशन' के प्रिय रूप में प्रकट हो रही ह तो कभी 'धूमकेतन' के अप्रिय रूप में, पर ह वास्तव में सदा वही। फलत स्वीकार करना होगा कि वस्तुत इस लौहस्तम्भ के लेख का कालिदास से घना सम्बन्ध ह और कालिदास ने भी तो इसके 'खिन्नस्य' में इसके सारे शील को भर दिया ह। विक्रमादित्य की 'खिन्नता' फिर भारत से कब दूर हुई?

'चन्द्र' के इस लौहस्तम्भ के सम्बन्ध मे हिन्दी के महाकवि 'चन्द्र' ने जो कुछ लिखा ह उसमें से कुछ इतिहास भी झांक रहा ह। वह कहता ह—

"तब अनगानी पुत्ति, कह सुनि पुत्त सुबत्तह। पुव्व कथा ज्यौं भई, सुनौ त्यौं कहूँ अपुव्वह ॥
हम पितु पुरिया पुव्व, नृपति कल्हन वन षीलत। सुता छंडि ता पुट्ठ, स्वान सचरिय सचील्लत ॥
सिमु समुप हुइ बठी सु तहा, भगिस्वान भभीत हुअ। सब सथ्य तथ्य आ चिज्ज भय, करि पारस ठट्ठे सुभय ॥१५॥
व्यास ज्योति जग जोति तहँ, सिद्ध महूरत ताव। दव जोग सेसह सिरह, किल किल्लित सु प्राव ॥१६॥
कल्हनपुर कल्हन नृपति, बासी नृप निज साज। कितक पाट अतर नृपति, अनगपाल भय राज ॥१७॥
(पृथ्वीराज रासो, तृतीय समय, ना० प्र० सभा काशी)

इस 'कल्हन नृपति' के विषय मे सम्पादको का निष्कर्ष ह—

'दिल्ली मे कुतुबमीनार के पास जो एक लोहे की बडी कीली अब तक विद्यमान ह उसके विषय मे पुरातत्त्ववेत्ता विद्वानो म मतभद है। तवरा की ख्यातिओ मे कलहन, कलिहन, कल्हन और किल्हन का चन्द भी नामान्तर मिलता है।

तथा कलहनादि नामान्तरों की चन्द्रवाचक व्युत्पत्ति हो सकती है। अतएव अनुमान होता है कि कीली पर जो नीचे लिखे (उक्त) श्लोक खुदे हुए हैं और उनमे जिस राजा चन्द्र का नाम है वह यही राजा कलहन उपनाम चन्द होगा।"

(उपसंहारणी टिप्पणी, वही पृ० २७३)

'कल्हन' की इस व्याख्या के साथ ही 'व्यास' की इस व्याख्या पर भी ध्यान दें—

"व्यास राजगुरु का वाचक है। तँवर राजपूतो के पांडववंशीय गिने जाने से उनके राजगुरु व्यास कहाते थे। यह वह व्यास था जो कल्हन राजा के समय मे राजगुरु था।" (पृथ्वीराजरासो, वही, पृ० २५८, पा. टि.)

इसी प्रकार 'सुसा-स्वान'–सघर्ष के विषय मे कहा जा सकता है कि वास्तव मे यह वह वीरभूमि है जहाँ 'स्वान' 'सुसा' से भयभीत होकर भाग गया और नृपति कल्हन ने पुरोहित वा राजगुरु व्यास के कहने पर उसे अपना स्थान बनाया। किन्तु वह स्थान था कहाँ? मेहरौली या कही अन्यत्र। चन्द कहता है—

"सुनी बात इह तत्त प्रमानं, व्यास करी किल्ली पुर थानं।
साठि सु अंगुल लोहय किल्ली, सुकर सेस नागन सिर मिल्लिय ॥२२॥
मुंध लोइ आचिज्ज सु मान्यौ, भावी गति सो व्यास न जान्यौ।
बरजे सह परिगह परिमानं, उष्षारी किल्ली भू थानं ॥२३॥"

जिस क्रूर जिज्ञासा के कारण 'किल्ली' को उखड़वाया गया उसका परिणाम सुखद कब हो सकता था? अतः 'व्यास' को विवश हो कहना पड़ा—

"अनंगपाल चक्कवै, बुद्धि जो इसी उकिल्लिय। भयौ तुअँर मतिहीन, करी किल्ली तैं ढिल्लिय ॥
कहै व्यास जग जोति, अगम आगम हौं जानो। तुअँर तै चहुआन, अंत व्है है तुरकानों ॥
तुअँर सु अवहि मंडव घरह, इक्क राय बलि विक्कवै। नव सत्त अंत मेवातपति, इक्क छत्त महि चक्कवै ॥२६॥"
एवँ—"हूँ गड्डि गयौ किल्ली सजीव, हल्लाय करी ढिल्ली सईव। तुअँर अवहि मंडव सुथान, भोगवै भूमि सुरतान पान ॥३०॥"

अस्तु, इससे तो यही सिद्ध होता है कि अनंगपाल ने उसे कही इधर से उधर नही किया; अपितु उसी स्थान पर ठीक पहले की तरह ही उसे गाड़ना चाहा। परन्तु 'पाषाण' के उखाड़ लेने से वह 'ढिल्ली' हो गई और तभी से 'दिल्ली' नाम निकल आया।

किन्तु, उधर 'ओझा' जी का मत है—'यह प्रसिद्धि चली आती है कि तँवर अनंगपाल ने दिल्ली को बसाया। उसीने वहाँ की विष्णुपद नाम की पहाडी पर से प्रसिद्ध लोहे की लाट को, जिसको 'कीली' भी कहते है और जो वर्त्तमान दिल्ली से ९ मील दूर मिहरौली गाँव के पास कुतुबमीनार के निकट खड़ी है, उठाकर वहाँ खड़ी करवाई थी। उक्त लाट पर का प्रसिद्ध लेख राजा चन्द्र (चन्द्रगुप्त दूसरे) का है जिसने वह लाट उक्त पहाड़ी पर विष्णु के ध्वजरूप से स्थापित की थी। उसपर छोटे छोटे और भी पिछले लेख खुदे है जिनमे से एक 'सवत् दिल्ली ११०९ अनंगपाल वही' है। उससे पाया जाता है कि उक्त लेख के खुदवाए जाने के समय अनंगपाल का उक्त संवत् मे दिल्ली का बसाना माना जाता था। कुतुबुद्दीन ऐबक की मसजिद के पास एक तालाव की पाल पर अनंगपाल के बनाए हुए एक मन्दिर के स्तम्भ अब तक खड़े है जिनमे से एक पर अनगपाल का नाम भी खुदा हुआ है। पृथ्वीराज रासो के कर्त्ता ने अनंगपाल की पुत्री कमला का विवाह अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के साथ होना, उसी से पृथ्वीराज का जन्म होना तथा उसका अपने नाना अनंगपाल का राज्य पाना आदि जो लिखा है वह सारी कथा कल्पित है। पृथ्वीराज की माता दिल्ली के अनंगपाल की पुत्री कमला नही किन्तु चेदि देश के राजा की पुत्री कर्पूरदेवी थी।"

(राजपूताने का इतिहास, प्रथम भाग, स० १९८३, पृ० २३४-२३५)

पृथ्वीराज रासो क्षेपकों से इतना भर गया है कि उसके मूल का पता लगाना अत्यन्त कठिन हो गया है। फिर भी इस 'किल्ली-कथा' के सम्वन्ध मे इतना तुरन्त कहा जा सकता है कि इसकी पहली कथा दूसरी से सर्वथा भिन्न है। पहली

कालिदास का दूत-कर्म

म इतिहास बोल रहा है तो दूसरी म चमत्कार अपना जौहर दिखा रहा ह। किन्तु उसम भी कुछ सार ह। उसमें 'पाषाण' का प्रसग कुछ दिखाने के लिये घुसड दिया गया है। वास्तव म वह उक्त मन्दिर के शिला-न्यास का द्योतक है। दूसरी कथा का सकेत यह है कि 'पाषाण' छोडने के उपरान्त किल्ली गाडी गई। सब कुछ ठीक हो जाने पर अनगपाल को व्यास-वचन में सन्देह हुआ और फलत 'पाषाण' उखाड लिया गया। जब बात सच निकली तब किल्ली फिर से गाडी गई पर वह दैववश ढीली ही रह गई। इस प्रकार 'किल्ली' के 'ढिल्ली' हो जाने के कारण उस पुर का नाम ही ढिल्ली हो गया। अस्तु, इस कथा का मुख्य लक्ष्य इतिहास नही प्रत्युत 'दिल्ली' की व्याख्या और 'तँवर' का पतन दिखाना ह।

पहली कथा का 'कल्हनपुर' कहाँ ह ? 'दिल्ली' को तो मान नही सकते। कारण कि उसे तो अनेक पीढ़ी के उपरान्त अनगपाल ने बसाया था। अच्छा, तो वह विष्णुपद पहाडी कहाँ है जहाँ पर उक्त स्तम्भ स्थापित हुआ था ! श्री ओझाजी ने 'प्रसिद्धि' का उल्लेख ता कर दिया ह पर यह दिखाने की चिन्ता नहा की ह कि वास्तव म वह पहाडी ह कहाँ ? 'वहाँ की विष्णुपद नाम की पहाडी' स व्यक्त ही ह कि उनकी दृष्टि म वह पहाडी वहीं कहीं दिल्ली के पास ही है। कुछ दूसरे लोग भी यही साधु समझत ह पर उनमें से कुछ कभी कभी यह भी कह जात ह कि वस्तुत वह 'किल्ली' पहले* से ही वहा गडी है। परन्तु अभी तक यह प्रकट नहीं हुआ कि उक्त स्थान के विष्णुपद होने का प्रमाण क्या है और क्या अनगपाल के साथ उसका ऐसा सारगर्भित सम्बन्ध जुट गया है।

इतिहास के पन्ना से पता चलता है कि 'तँवर' पाला का मुख्य स्थान लाहौर रहा है। गजनविया से पराजित होने के कारण ही अनगपाल को दिल्ली बसानी पडी। ऊपर कहा गया है कि अनगपाल के दिल्ली बसाने का समय सवत् ११०९ अर्थात् ई० सन १०५२ ह। अब गजनविया के इतिहास पर विचार करें ता अवगत हो कि यह अभी उनका सकट-काल † ह। महमूद गजनवी ने पाल-वश को परित परास्त कर दिया था। जयपाल, अनगपाल (अनन्दपाल) और जयपाल के अनन्तर द्वितीय अनगपाल ने भी उसका सामना किया किन्तु अन्त में उसे लाहौर छोडकर अजमेर भागना पडा और लाहौर महमूद के प्रिय 'माशूक' सेनानी 'अयाज' का अड्डा बना। अनगपाल का दव फिरा तो 'गजनी' में फूट हुई और सेलजूक वश का उदय (१०३७ ई०) हुआ। फिर क्या था राजपूता का भी सितारा चमका और सन् १०४३ ई० में हाँसी, थानेश्वर आदि तो फिर हाथ लगे ही, नगरकोट म फिर एक मन्दिर भी बन गया। किन्तु सन १०५२ ई० में सुल्तान अब्दुलरशीद ने उसे छीन ‡ लिया। तात्पर्य यह कि इसी १० वर्ष के उदय में अनगपाल ने दिल्ली में अपना शासन दृढ किया और दिल्ली नगर बसाया।

अनगपाल का मन्दिर बन गया तो उसे उस लाट की सूझी जो 'कल्हनपुर' में न जाने कब से गडी पडी थी और कालचक्र के प्रभाव से अब तुरुकों के राज्य म आ गई थी। अनगपाल ने अवसर देखा तो तुरन्त उसे अपना लिया और अपने मन्दिर की शोभा का स्तम्भ बनाया।

---

* श्री दीवान बहादुर डा० एस० कृष्णस्वामी ऐंगर ने इस पर विशेष ध्यान दिया ह। इसके लिये देखिए 'ऐंशट इडिया एण्ड साउथ इडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर' प्रथम भाग का उक्त प्रकरण।

† देखिए—'हिस्ट्री ऑफ अफगानिस्तान' सर पर्सी साइक्स (Percy Sykes) प्रथम भाग, म० एण्ड को लण्डन १९४० ई०, पृष्ठ २०७। यहाँ १०४९ से १०५२ तक प्राय वही स्थिति रही जो बहादुरशाह के बाद मुगलवश की।

‡ देखिए—'हिस्ट्री आफ दी पजाब' सयद मुहम्मद लतीफ, कलकत्ता सेन्ट्रल प्रेस कम्पनी, १८९१ ई०, पृष्ठ ८९–९०।

डा० धीरेन्द्रचन्द्र गगोली ने जो यह कह दिया ह कि परमार भोज और कलचुरि कर्ण के जीतेजी मुसलमानो ने फिर आक्रमण नहीं किया ठीक नहीं। अनगपाल को फिर कष्ट भोगना पडा और १०५२ में आक्रमण हुआ और सफल रहा। श्री गगोली के मत के लिए देखिए प्रो० आल इडिया ओ० कान्फरेन्स, १९३३ ई०, पृष्ठ ५३७।
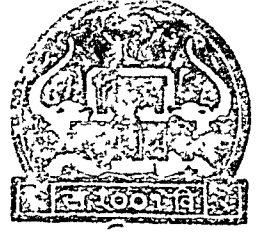
श्री चन्द्रवली पांडे

विष्णुपद की जो शोध हुई है उसमे सवसे अधिक सफल दिखाई देती है सुदामापर्वत * के विष्णुपद की शोध। महाराज दशरथ के निधन पर जो चर 'भरत को वुलाने के हेतु केकय भेजे गए है मार्ग में देखते है कि—

"अवेक्ष्याञ्जलिपानांश्च ब्राह्मणान्वेदपारगान्, ययुर्मध्येन बाह्लीकान्सुदामानं च पर्वतम् ॥१८॥
विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शाल्मलीम्, नदीर्वापीस्तटाकानि पल्वलानि सरांसिच ॥१९॥
पश्यन्तो विविधांश्चापि सिंहव्याघ्रमृगद्विपान्, ययुः पथाऽतिमहता शासनं भर्तुरीप्सवः ॥२०॥
(वा० रा०, अ० कांड, अष्टषष्टितमसर्ग)

'वाह्लीक' और 'विष्णुपद' पर दृष्टि पड़ते ही प्रफुल्ल हो जी चाहता है कि वस इसी को 'चन्द्र' का विष्णुपद मान लो। परन्तु उधर से कतिपय† विद्वानों की हुंकार सुनाई पड़ती है, 'नही' कदापि नही; इस वाह्लीक के कारण तो कभी भी नही। कारण, इसका शुद्ध पाठ है 'वाहीक'। वाह्लीक तो कभी पचनद मे था ही नही। क्योकि—

"पुराने ग्रन्थो मे वाह्लीक और वाहीक नामो मे वहुत गडवड हुई है। वाहीक पजाव या पंचनद का भाग था और वाह्लीक भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा का घेरा था। यह कम्बोज और लम्पाक आदि के पास ही था। वाह्लीक देश के हीग और कुंकुम वहुत प्रसिद्ध है। अतएव वाह्लीक पंजाव में हो ही नही सकता। पंजावान्तर्गत तो वाहीक ही है।"
(श्री भगवदत्त रचित भारतवर्ष का इतिहास, सन १९४०, लाहौर, पृ० १५७)

वाहीक और वाह्लीक की उलझन कुछ ऐसी नही कि वातों मे सुलझाई जा सके। अनेक स्थलो पर जो वाह्लीक का प्रयोग 'वाहीक' के लिए पाया जाता है तो इसका भी कुछ हेतु होना चाहिए। डॉक्टर‡ सरकार ने तो डॉक्टर भंडारकर के मत के खंडन में वड़ी तत्परता दिखाई है और 'वाहीक' की निरुक्ति भी ढूढ निकाली है—

"वहिश्च नाम हीकश्च विपाशायां पिशाचकौ। तयोरपत्यं वाहीका नैषा सृष्टिः प्रजापतेः॥"
(महाभारत, कर्णपर्व, अ० ४४, प० १०)

किन्तु इस वात की चिन्ता तक नही की है कि इस 'पिशाच' का रहस्य क्या है? क्या वाह्लीको के प्रभुत्व से इसका तनिक भी सम्वन्ध नही है? करे क्या, आज भी तो देशों के कुछ प्रयोग ऐसे प्राप्त हो जाते है जो चक्कर मे डाल देते है। पजाव का 'गुजरात' क्या इस 'वाह्लीक' से कम विलक्षण है? यही दशा तो 'मालव' की भी रही है। हमे तो संक्षेप मे यही भाता है कि इस वाह्लीक (वाहीक) को उस वाह्लीक का उपनिवेश भर समझे जो भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा का देश था।

'वाह्लीक' की व्याख्या के पहले कुछ 'विष्णुपद' की भी टीका हो ले। अव तो यह वताने की वात नहीं रही कि वास्तव मे यही वह विष्णुपद है जो पहले अनंगपाल के राज्य में था और फिर गजनवियो के हाथ मे चला गया था। अवसर

---

* डॉ० भंडारकर की प्रेरणा से श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने इस पर ध्यान दिया पर सफल न रहे। उनके अनन्तर उन्हींके एक दूसरे शिष्य श्री योगेन्द्र घोष ने इस पर विचार किया और 'विष्णुपद गिरि' शीर्षक लेख में (इंडियन कल्चर, प्रथम भाग, पृष्ठ ४१५.......) इसका पूरा पता दिया। इधर श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने उसमें इतना और योग दिया कि इसका सम्वन्ध उक्त 'वाह्लिक विजय' से ही है। उनके मत के लिए देखिए 'ज० बि० ओ० रि० सु०' भाग २०, पृष्ठ ९७।

† डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने डाक्टर भंडारकर के मत का खंडन किया है और उन्होंने उक्त स्तम्भ में दिग्विजय का दर्शन किया है। उनकी दृष्टि में उसका संकेत है वंग, वाह्लिक, सिन्धोः सप्तमुखानि और दक्षिण। इसमें सन्देह नहीं कि इससे चारों दिशाओं का निर्देश हो जाता है पर इसका प्रमाण क्या है? उनके मत के लिए देखिए 'ए वाल्यूम ऑफ स्टडीज इन इंडोलॉजी, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना २, १९४१ ई०, पृष्ठ ४६९।

‡ वही।

पाकर राजपूतों ने फिर इसे कैसे छीन लिया इसका भी संकेत मिल चुका है। अब यहाँ केवल इतना भर कह देना है कि अनंगपाल ने जब यह देखा कि तुरुकों को निकाल बाहर करना कठिन है तब अपने आपही वहाँ से निकलकर दिल्ली में आ बसा अथवा वहां फिर से नगर बसाया। इस लौहस्तम्भ से उसे इतना मोह था कि इसे भी समय पाकर उखाड़ लाया और अपने मन्दिर में गड़वा दिया। उसका राज्य तो गया गजनी की शक्ति और सबल नीति से, पर उसका सम्बन्ध जोड़ा गया 'ढिल्ली किल्ली कथा' से। यह सिद्ध ही है कि सं० ११०९ में दिल्ली बसाई गई और यह भी निश्चित है कि उसी सन् १०५२ ई० में अब्दुलरशीद फिर 'नगरकोट' का स्वामी हो गया। निदान जनता को यह कहने का अवसर मिल गया कि इस तुरुष्क जय का कारण है अनंगपाल का यह अपराध। होना था सो हो गया। अब ऊहा के अतिरिक्त और क्या है?

भावुक भक्तों को यह कहने में कितनी देर लग सकती है कि यह तो भक्त * सुदामा का प्रभाव था जो उनके नाम के पर्वत और सो भी विष्णुपद पर यह स्तम्भ खड़ा किया गया। अवश्य ही वैष्णव-दृष्टि से यह एक पक्की बात है। पर भूखे पुराविदों का पेट इतने से ही तो भरने से रहा। भला भ्रष्ट वाहीकों में उसे स्थापित करने की क्या आवश्यकता थी? वहाँ तो दर्शन † भी कठिन था। नहीं, इसका भी कुछ कारण है। क्या आप भूल गए कि चन्द ने 'पहली किल्ली कथा' में क्या कहा था? यही न कि यह भूमि का प्रताप था कि 'सुभा' ने 'स्वान' को भगा दिया और उसे देखकर 'बल्हन' ने उसे अपना स्थान बनाया? तो फिर आप इसे इतिहास में क्या नहीं ढूढ़ते? क्या बाण ने स्पष्ट नहीं कहा कि—

"अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत।" (हर्षचरित षष्ठ उच्छ्वास) एवं शंकराय ने नहीं लिखा है कि—

"शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादितः।" (उसी की टीका)

तो क्या ध्रुवदेवी वेषधारी चन्द्रगुप्त 'सुभा' एवं 'शकानामाचार्य शकाधिपति' उक्त 'स्वान' नहीं है? नहीं कहने को किसीमें साहस नहीं, पर इतने से ही इतिहास की गुत्थी कहाँ सुलझी? इससे न तो 'अरिपुर' का भेद मिला और न शकाधिपति का ही पता चला। पुराविदों ने खोज भी की तो उलझन बढ़ती ही गई। किसी ने 'शृंगारप्रकाश' के 'अलिपुर' ‡ को ठीक माना तो किसी ने ⁑ काठियावाड़ के शकों को 'शकाधिपति' ठहराया परन्तु किसी का अनुमान अभी तक प्रमाण न हुआ। परिस्थिति तो विकट है, पर जिज्ञासा भी पंगु नहीं कि पर तोड़कर बैठ रहे। निदान हमारा कहना है कि वास्तव में यह 'शकानामाचार्य शकाधिपति' और कोई नहीं, वही लौहस्तम्भ का 'वाह्लीक' है जो समुद्रगुप्त के उपरत हो जाने पर गुप्तों पर चढ़ दौड़ा था और जिसका विनाश चन्द्रगुप्त ने बड़ी चातुरी से कर दिया। प्रतीत होता है कि पारसीक पराक्रमी शापुर द्वितीय के निधन (३७९ ई०) अथवा उसी के प्रोत्साहन से अवसर पाकर उसने ऐसा किया और समुद्रगुप्त के यश को लूटना चाहा।

हाँ, तो उदयगिरि-गुहा के लेख को ध्यान से पढ़ा जाय तो प्रत्यक्ष हो जाय कि इस घटना का काठियावाड़ अथवा शकस्तान विजय से कोई सम्बन्ध नहीं। कारण कि उसका स्पष्ट कथन है—

"तस्य राजाधिराजर्षेरचिन्त्यो (— —) मन। अन्वयप्राप्तसाचिव्यो व्यापृत सन्धि विग्रह ॥३॥

* कल्हण ने 'राजतरंगिणी' (तृतीय तरंग) में विक्रमादित्य और मातृगुप्त के परस्पर व्यवहार विशेषतः मातृगुप्त के कश्मीर-गमन का जो चित्र खींचा है वह किसी सुदामा से कम नहीं है। इस पर्वत का यह नाम भी विचारणीय है।

† महाभारत कर्णपर्व, विशेषतः शल्य की भर्त्सना।

‡ डाक्टर भंडारकर और डाक्टर जायसवाल इसीको साधु समझते है। देखिए 'मालवीय कम्मेमोरेशन वाल्यूम, हिन्दू० यू० बनारस, सन् १९३२ ई०, पृष्ठ १९४ , एवं ज० बि० ओ० रि० सु० भाग १८ पृष्ठ २९।

⁑ देखिए ज० बि० ओ० रि० सु० भाग १४ तथा १५ में डाक्टर अल्टेकर का लेख।

श्री चन्द्रबली पांडे

कौत्सश्शाव इति ख्यातो वीरसेनः कुलाख्यया। शब्दार्थन्यायलोकज्ञः कविः पाटलिपुत्रकः ॥४॥
कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः। भक्त्या भगवतः शम्भोर्गुहामेतामकारयत् ॥५॥"

'कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन' से आप ही प्रकट हो जाता है कि इस यात्रा का यथार्थ लक्ष्य क्या है। उधर 'राजाधिराजर्षि' पद भी उसकी प्रतिष्ठा को व्यक्त कर रहा है। यही नही, यहाँ यह भी स्पष्ट रहे कि उक्त लेख मे 'विक्रमावक्रय क्रीतादास्य-न्यग्भूत पार्थिवा' भी कहा गया है जिसका तात्पर्य है कि अन्य सभी शासको को अधीन कर ही यह 'कृत्स्नपृथ्वीजय' की यात्रा हुई है। कहते हैं * कि सौराष्ट्र-विजय का कार्य युवराज कुमारगुप्त ने किया था, स्वयं महाराज चन्द्रगुप्त ने नही। यदि यह ठीक है तो इस शक-विजय का सम्वन्ध उक्त 'शकाधिपति' से किसी प्रकार जुट ही नही सकता। निःसन्देह यह महाराज के अश्वमेध की यात्रा है। हाँ, यह 'राजर्षि' चन्द्रगुप्त का प्रस्थान है, स्त्रीवेषधारी कुमार चन्द्रगुप्त का नही।

तो 'शकानामाचार्यः' की लीला समाप्त कहाँ हुई? कोई कवि कहता है—

"दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीम्, यस्मात्खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे, गीयन्ते तव कार्त्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्त्तयः ॥"

(काव्य मीमांसा)

'खसाधिपति' को 'शकाधिपति' एव 'श्रीशर्मगुप्त' को 'श्रीराम गुप्त' मान लेने मे कोई अड़चन नही। प्रायः विद्वानो ने किया ऐसा ही है। अस्तु, इस दिशा मे इतना और सकेत मिला कि उक्त घटना किसी 'कार्त्तिकेयनगर' मे घटी थी जो हिमालय पर था।

डाक्टर भंडारकर ने इस 'कार्तिकेयनगर' का जो पता दिया है वह नाम की दृष्टि से वड़े महत्त्व का है और एक 'विष्णुपद' के पडौस मे भी है। पर अब † उनके विचार मे उक्त विष्णुपद 'सुदामा' पर्वत पर है जो कही विपासा के पास कश्मीर ‡ के निकट है। अत· अव यह नही कहा जा सकता कि इस 'कार्तिकेयनगर' के सम्वन्ध मे वस्तुतः उनकी धारणा क्या है। फलतः इसकी यहाँ कुछ स्वतत्र चर्चा की जाती है। हमारी समझ मे वास्तव मे आज का 'नगरकोट' ही कभी 'कार्त्तिकेयनगर' के नाम से प्रसिद्ध था जो मुखसुख अथवा किसी कारणविशेषवश 'नगरकोट' मे परिणत हो गया। जव आस-पास के लोग आज भी 'अहमद नगर' वा 'विजया नगर' को सुविधा के लिये 'नगर' ही कहते है तव कभी 'कार्त्तिकेय-नगर' के लिये भी केवल 'नगर' का ही प्रयोग होता रहा हो और काल पाकर रूढिबद्ध हो गया हो तो इसमे आश्चर्य क्या? वचत की यह प्रवृत्ति तो घर घर गोचर होती है। निदान मानने को मन चाहता है कि वस्तुत. उक्त नगरकोट ही वह पुण्य पराक्रम-स्थान है जहाँ पर रामगुप्त किंवा श्रीशर्मगुप्त घिर गये थे। देखिए श्रीअवुल्हसन अली (१०२६ ई०) की साखी भी कुछ यही है। कहते है—

"रासल कफन्द का पौत्र और अयन्द का पुत्र था। रव्वाल के सिहासन पर वैठने के पहले वह खदेड़ दिया गया था। उसके पुत्र ने रव्वाल पर चढाई की। रव्वाल ने भागकर अपने भाई तथा सामन्तो के साथ एक ऊँची पहाड़ी पर शरण ली जहाँ

---

* इस प्रवाद के लिए देखिए 'हिस्ट्री ऑफ गुजरात'।

† डाक्टर भंडारकर ने 'विष्णुपद' को पहले (मालवीय कम्मेमोरेशन वाल्यूम सन् १९३२ में) हरिद्वार के पास माना था और वहीं कार्त्तिकेयपुर का भी पता वताया था किन्तु आगे चलकर (सन् १९३७ ई० में) उन्होंने सुदामागिरि के 'विष्णुपद' को साधु ठहराया। देखिए ज० आ० हि० रि० सु० भाग १० पृष्ठ ८६......।

‡ महाभारत में कहा गया है—

"एतद्विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम्। एषा रम्या विपाशा च नदी परमपावनी ॥८॥
अत्र वै पुत्रशोकेन वसिष्ठो भगवान् ऋषिः। वन्धात्मानं निपतितो विपाशः पुनरुत्थितः ॥९॥
कश्मीरमंडलञ्चैतत् सर्वपुण्यमरिन्दम। महर्षिभिश्चाध्युषित पश्येदं भ्रातृभिः सह ॥१०॥" (वनपर्व अ० १३०)

'कश्मीरमंडल' और 'विष्णुपद' के इस लगाव पर 'मातृगुप्त' के प्रसंग में अधिक विचार होगा।

कालिदास का दूत-कम

पहल से ही एक दढ दुग बना था। वहाँ उन लागा ने अपने आपको सुरक्षित समझ लिया था, पर किसी प्रकार शत्रु वहाँ भी पहुँच गया और अधिकार जमाना ही चाहता था कि रव्वाल की ओर से सधि का प्रस्ताव हुआ। उत्तर में कहा गया कि उक्त कन्या के साथ अन्य सामन्त पुत्रियों को भी भज दें तो म उन्ह अपने सामन्तो को द दू और यहाँ म टल जाऊँ। रव्वाल ने व्यथित होकर अपने प्रधान मन्त्री 'सफर' स मन्त्रणा की जिसने समयानुसार यह परामर्श दिया कि ऐसा कर लेना ही ठीक है। वे तत्पर हो ही रहे थे कि उनका भाई 'बरकामरिस' आ पहुँचा और प्रणाम कर प्रार्थना की कि एक ही पिता के पुत्र होने के नाते यदि उसकी भी कुछ सुनी जाय तो ठीक ह। युवा समझकर उसकी उपेक्षा न की जाय। जब बात सामने आई तब प्रस्ताव किया कि उसे स्त्रीवेष म अन्य सामन्त-कुमारो के साथ शत्रु-स्कन्धावार म जाने दिया जाय। उसने यह भी कहा कि उन स्त्री-वेषधारी कुमारो को एक एक छुरा और उन एक ढोल द दी जाय। जब सभी कुमार सामन्तो के पास पहुँच जायेंगे और वह उक्त अधिपति का काम तमाम कर लेगा तब दुन्दुभी बजा देगा और फिर क्षणभर में सारा उपद्रव शान्त हो जायगा। इधर से चट आक्रमण होगा और शत्रु मारे जायेंगे। रव्वाल प्रसन्नतापूर्वक उसकी सम्मति में आ गया। परिणाम यह हुआ कि शत्रु का एक भी सवार जीता न बचा। वह वहीं मार डाला गया और उस पहाड से नीचे फक दिया गया। सभी नष्ट हो गए और फलत रव्वाल की शक्ति बढ गई।" (दी हिस्ट्री ऑफ़ इडिया, सर एच० एम० एलियट, प्रथम भाग, पष्ठ ११)।

अबुल्हसन अली ने इस वृत्त को एक अरबी ग्रथ से लिया ह जो स्वय किसी हिन्दू ग्रथ पर आश्रित था। अरबी-लिपि-दोष के कारण नामो म परिवतन हो गया ह तो भी 'रव्वाल' को 'रामपाल' और 'बरकामरिस' को 'विक्रमादित्य' मानने म कोई दोष नहीं। अस्तु, इस घटना से भी यही सिद्ध होता ह कि स्त्री-वेषधारी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किसी 'रामल' की सन्तान का वध किया और गुप्त-साम्राज्य का विस्तार किया।

अच्छा तो इस 'शकाधिपति' की खोज म कहा दूर भटकने की आवश्यकता नहीं। सौभाग्य से स्व० डाक्टर जायसवाल ने इसे भी ढूढ * निकाला है। उनका कहना ह कि 'खुर' (नमक की पहाडी, पजाब) मे जो 'राजा (ति) राजमहाराज तोरमाण शाहि जो ' का लेख मिला ह वह वास्तव में इसी 'शकाधिपति' का लेख है। उनका यह भी कहना है कि अल्बेरूनी का 'लग तोरमान' भी यही ह। सचमुच डाक्टर जायसवाल का यह मत सवथा असाधु नही ह। कारण कि उसमें इसके विषय म जो कुछ लिखा है वह उक्त शकाधिपति म पूरा पूरा घट जाता है। और यदि कुछ अन्तर दिखाई देता ह तो उसका प्रधान कारण ह अल्बेरूनी का लिखित सामग्री के अभाव में प्रवाद पर † विश्वास करना। अल्बेरूनी को इस बात का पता था कि 'नगरकोट' में उक्त सामग्री सुरक्षित है पर दुर्दैववश वह उसे देख न सका। न सही, पर इतना तो निर्विवाद है कि उसके समय म वहाँ 'पाल' का राज्य था। तो क्या यह सम्भव नहीं कि रव्वाल अथवा 'रामपाल' का 'पाल' भी इसी 'पाल' प्रभुता का प्रसाद है ? पाल की इस पकड के सहारे मेहरौली के लोहस्तम्भ का कुछ पता लगाया जा सकता ह और यह भी बताया जा सकता ह कि क्या अनगपाल को उससे इतनी ममता थी।

'रासो की पहली किल्ली कथा' में बताया गया ह कि पहल वह उसी वीरभूमि में गाडी गइ थी जहाँ 'मुसा' ने 'स्वान' को खदेड दिया था। अब यहाँ यह दिखाया जा रहा है कि वास्तव म वह स्थान है नगरकोट के उत्तर 'जगतसुख' में। 'जगतसुख' के विषय म भूलना न होगा कि उसका प्राचीन नाम ह 'नष्ट'‡। प्रतीत होता है कि इसी पुण्य घटना के उपरान्त उसका नाम 'नष्ट' से जगतसुख' हो गया। यहाँ विशेष रूप स विचार करने की बात यह भी है कि यह भी 'नगरकोट' की भाँति ही महत्त्व का स्थान ह। अनुमान स सिद्ध यह होता ह कि समुद्रगुप्त के निधन पर जो वाह्लीक दौड आए थे उनका स्कन्धावार था यही जगतसुख और इसी जगतसुख में वाह्लीक हुए विजित और यही वधे गए 'शकाधिपति' और फिर यही

---

* देखिए ज० वि० ओ० रि० सु० भाग १८ पृष्ठ २०१।

† देखिए अल्बेरूनीज इडिया, द्वितीय भाग, ई० सी सचाऊ (Sachau) सन् १९१० ई०, पृष्ठ १० ११।

‡ देखिए काँगडा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, १९१७ पृष्ठ २१, पजाब डिस्ट्रिक्ट गजेटियस भाग ३० ए।

गाडा गया चन्द्रगुप्त का उक्त स्मारक लौहस्तम्भ जो हार जाने के कारण उखाड़कर फिर गाड़ा गया मेहरौली (मिहिर-कुल) के पास; जहाँ राजधानी वनी पालवश की दिल्ली।

हाँ, तो अल्वेरूनी सुनीसुनाई वात के आधार पर कहता है कि 'लगतोरमान' का 'मंत्री' 'कल्ल' * पहले तो गड़ा द्रव्य पाने के कारण वड़ा प्रभावशाली हो गया, फिर सुधार के विचार से विषयी राजा तोरमान को बन्दी वना लिया किन्तु राज-सुख के प्रलोभन मे पड़कर फिर स्वतन्त्र शासक हो गया। अल्वेरूनी उक्त पाल वश को इसी ब्राह्मण-वंश की परम्परा वताता है। पर इतिहास है कुछ और ही। पाल माने गए है क्षत्रिय। तो इसका भी कुछ कारण होना चाहिए। आखिर उसे ऐसा भ्रम क्यों हुआ?

यहाँ, हमारी समझ मे कल्हण की साखी वडे काम की सिद्ध होती है। कहते है—

"हिरण्यतोरमाणाख्यौ व्यधत्तामथ तत्सुतौ। साम्राज्ययुवराजत्वभाजने रञ्जनं क्षितेः ॥१०२॥
भ्रात्राहतानां प्राचुर्यं विनिवार्यासमञ्जसम्। तोरमाणेन दीन्नाराः स्वाहताः संप्रवर्तिताः ॥१०३॥
मामवज्ञाय राजेव कस्मादेतेन वल्गितम्। इति तं पूर्वजो राजा क्रोधनो बन्धने व्यधात् ॥१०४॥"
(राजतरंगिणी, तृतीय तरंग)

तोरमाण के 'बन्धन' का कारण सामने है, पर अभी ब्राह्मण की स्थिति स्पष्ट नही हुई। सो विदित ही है कि—

"पितुर्बन्धेन सक्रोधं तं कालापेक्षयाक्षमम्। शिक्षयित्वा जयेन्द्रोथ कार्यशेषाय निर्ययौ ॥१२१॥
उत्पिज्जोत्पादनात् सज्जे तस्मिन्भ्रात्रा यदृच्छया। बन्धात्त्यक्तो नृतरणिस्तोरमाणोस्तमाययौ ॥१२२॥
निष्वार्य मरणोद्योगं मातुर्निर्वेदखेदितः। ययौ प्रवरसेनोथ तीर्थौत्सुक्याद्दिगन्तरम् ॥१२३॥
रक्षित्वा दशमासीनाः क्ष्मामेकत्रिंशति समाः। तस्मिन्क्षणे हिरण्योपि शान्ति निःसंततिर्ययौ ॥१२४॥" (वही)

परिणाम यह हुआ कि—

"अथवास्यैव सूक्तेन स्मारितोस्म्यधुना यथा। वर्तते राजरहितं काम्यं कश्मीरमण्डलम् ॥१८६॥
पात्रायास्मै महीपालान्महतोप्यर्थनापरान्। अवधीर्य मही तस्मात्सा मया प्रतिपाद्यते। ॥१८७॥
इति निश्चित्य चतुरं क्षपायामेव पार्थिवः। गूढं व्यसर्जयद्दूतान्काश्मीरीः प्रकृतीः प्रति ॥१८८॥
आदिदेश च तान्यो वो दर्शयेच्छासनं मम। मातृगुप्ताभिधो राज्ये निःशंकं सोभिषिच्यताम् ॥१८९॥" (वही)

मातृगुप्त के ब्राह्मण होने का प्रमाण है—

"पुण्यां वाराणसीं गत्वा तस्माच्छमसुखोन्मुखः। इच्छामि सर्वसंन्यासं कर्तु द्विजजनोचितम् ॥२९७॥" (वही)

सारांश यह कि कल्हण के कथनानुसार 'हिरण्य' और 'तोरमाण' मे परस्पर ठन गई तो 'पूर्वज' हिरण्य ने अनुज तोरमाण को बन्दी बना लिया। जव वर्षो के वाद उसे छोडा भी तव वह उससे पहले ही चल बसा। हिरण्य भी नि सन्तान मरा। इस प्रकार कश्मीर का सिंहासन सूना हो गया तो शकारि विक्रमादित्य ने कवि मातृगुप्त को वहाँ का शासक बनाया जो अन्त मे विरक्त हो गया और वाराणसी की ओर चला गया।

मातृगुप्त और विक्रमादित्य के सम्वन्ध पर विचार करने के प्रथम ही 'तोरमाण' का स्पष्टीकरण हो जाय तो ठीक। कल्हण के कथन से व्यक्त होता है कि वस्तुत कश्मीर विक्रमादित्य के अधीन था और इसीलिये उन्हे उसके प्रवन्ध की चिन्ता करनी पडी। यदि यह ठीक है तो इसीके आधार पर इतना और भी कहा जा सकता है कि यह वास्तव में सम्राट् विक्रमादित्य की नीति का प्रसाद था कि एक ही राज्य के दो राजा वना दिए गए थे जो परस्पर भिड गए थे। विक्रमादित्य की इस

---

* इसे 'कल्लर' भी कहा गया है। अरबी-लिपि में नामों का ठीक ठीक लिखा जाना असम्भव है। रासो के 'कल्हन' से तो इसका कोई सम्बन्ध नहीं है?

तोड-नीति का कारण था उक्त राज्य का शक-संग्राम में योग देना। अल्बेरूनी ने जो 'लग तोरमान' लिखा है वस्तुत वह है लघु तोरमाण'। इस 'लघु' * का 'लग' रूप आज भी देखने में आता है। 'हिरण्य' के अनुज का यह नाम कैसे पडा यह कैसे कहा जा सकता है पर इतना तो भासता ही है कि राजातिराज तोरमाण से इसका कुछ सम्बन्ध अवश्य था। प्रतीत होता है कि उक्त शकाधिपति के वध के उपरान्त ही कुमार चन्द्रगुप्त ने उक्त देश को द्विराज† में विभक्त कर दिया और जब उसका कोई अधिकारी नहा रह गया तब ब्राह्मण मातृगुप्त को उसका राज्य मिला।

मातृगुप्त के शासन का शीघ्र ही अन्त हो गया। बात यह है कि तोरमाण की पत्नी इक्ष्वाकु ‡ कुल की कन्या थी। सघर्ष के समय एक कुलाल के घर में शरण ली और वहा प्रवरसेन को जन्म दिया। प्रवरसेन तीर्थयात्रा में था। जब उसे कश्मीर का समाचार मिला तब उसे फिर राज्य की चिन्ता हुई और

"त्रिगर्तानां भुवं जित्वा स व्रजन्नथ भूपति । विक्रमादित्यमश्रृणोत्कालधर्ममुपागतम ॥२८४॥
तस्मिन्नहनि भूभर्ता शोकान्निश्वसतानिशम्। नास्नाथि नाशि नास्वापि स्थितेनावनताननम् ॥२८६॥
अन्येद्युर्भुवमुत्सृज्य कश्मारेभ्यो विनिर्गतम्। शुश्राव मातृगुप्त स नातिदूरे कृतस्थितिम् ॥२८७॥ (वही)

'त्रिगर्त' की राजधानी 'नगरकोट' (?) में प्रवरसेन को समाचार मिला कि मातृगुप्त 'जगतसुख' ⁑ (?) में पडाव डाले हैं। फिर तो दोनो नरपुगवो में जो बातचीत हुई सो हुई ही। परिणाम उसका यह रहा कि—

"अथ वाराणसीं गत्वा कृतकाषायसग्रह । सर्वं संन्यस्य सुकृती मातृगुप्तोभवद्यति ॥३२०॥
राजा प्रवरसेनोपि कश्मीरोत्पत्तिमञ्जसा । निखिला मातृगुप्ताय प्राहिणोद्दृढनिश्चय ॥३२१॥
स हठापतितां लक्ष्मीं भिक्षाभुक्प्रतिपादयन् । सर्वार्थिभ्य कृती वर्षाण्दश प्राणानधारयत् ॥३२२॥" (वही)

कल्हण इस त्रयी के उपसहार में किस उल्लास से कहते है—

"अन्योन्य साभिमानानामन्योन्यौचित्यशालिनाम् । त्रयाणामपि वृत्तान्त एष विस्मयदायक ॥३२३॥" (वही)

---

* ध्यान देने की बात है कि 'लग' का प्रयोग आज भी उक्त प्रदेश के लिए पाया जाता है। देखिए उक्त कांगडा गजेटियर का चित्र न० १। 'नगर' और 'जगतसुख' इसी प्रदेश में है।

† इस नीति के लिए देखिए कालिदासकृत 'मालविकाग्निमित्र' में राजा का कथन—
"मौद्गल्य ! तत्रभवतोर्यज्ञसेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमवस्थापयितुकामोऽस्मि" (अ० ५, प० २३ के पूर्व)

‡ इसके लिए देखिए वाल्मीकी रामायण का 'पितृपैतामहीं पुण्यां तेरुरिक्षुमतीं नदीम्।" स्मरण रहे, यह सुदामा पर्वत के पहले का प्रदेश है। फलत यहीं से त्रिगर्त पर प्रवरसेन का आक्रमण हुआ होगा। राजतरंगिणी में उसके मामा का उल्लेख है ही।

⁑ मातृगुप्त ने विक्रमादित्य के निधन का समाचार सुना तो काशीवास के लिए चल पडा। विदित होता है कि इसी यात्रा में वह लोह लेख लिखा गया जो आज मेहरौली में विराजमान है। मातृगुप्त की इस समय जो स्थिति थी और जिस परिस्थिति में विक्रमादित्य का अन्त हुआ था उसको सामने रखकर उक्त लेख का अध्ययन करें तो सारा रहस्य आप ही खुल जाय। मातृगुप्त कहते भी है—
'यन्ममोपकृत तेन तद्विना प्रत्युपक्रियाम्। जीर्णमेवाधुनाङ्गेषु प्रभवत्वेष निश्चय ॥३१६॥
या गतिर्भूभुजोमुष्य मया तामनुगच्छता। पात्रापात्रविवेकत्वख्यातिर्नेया, प्रकाशताम् ॥३१७॥
एतावत्येव कर्तव्ये यातेस्मिन्कीर्तिशेषताम्। भोगमात्रपरित्यागाद्विदध्या सत्यसंधताम् ॥३१८॥"
(राजतरंगिणी, तृतीय तरग)

सब की तो नहीं पर अपनी जानते है कि मेहरौली का लोह स्तम्भ इसी मुख से बोल रहा है। तनिक 'ख्याति' और 'कीर्ति' पर ध्यान तो दें फिर कहें कि आपका पक्ष वास्तव में क्या है ?

श्री चन्द्रबली पांडे

अस्तु, अब इस मातृगुप्त की भी थोड़ी चिन्ता होनी चाहिए क्योंकि यह कहता है—

"मातृगुप्तस्ततोवादीत्कोपस्मितसिताधरः। अस्मानुत्सहते कश्चिन्नापकर्त्तुं बलाधिकः॥२९३॥
नयता गण्यतामस्मानन्तरज्ञेन तेन हि। न भस्मानि हुतं सर्पिर्नोप्तं वा सस्यमूषरे॥२९४॥" (वही)

इस मधुर फटकार का प्रवरसेन पर प्रभाव यह पड़ा कि वह गुप्त-वंश का आजीवन मित्र बन गया और—

"वैरिनिर्वासितं पित्रे विक्रमादित्यजं न्यधात्। राज्ये प्रतापशीलंस शीलादित्यापराभिधम्॥३३०॥
सिंहासनं स्ववंश्यानां तेनाहितहृतं ततः। विक्रमादित्यवसतेरानीतं स्वपुरं पुनः॥३३१॥ (वही)

मातृगुप्त, प्रवरसेन और विक्रमादित्य के इस इतिहास पर पुराविदों ने विचार तो किया पर वह सर्वथा साधु न ठहरा। डाक्टर भाऊदाजी ने 'मातृगुप्त' को जो कालिदास सिद्ध किया था उसका * खंडन तो हो गया पर उससे यह सिद्ध कैसे हो गया कि वस्तुतः 'मातृगुप्त' 'कालिदास' से सर्वथा भिन्न थे। नही, यह हो नही सकता। मातृगुप्त निश्चय ही कालिदास हैं। मेहरौली के लौह स्तम्भ पर जो 'खिन्नस्य' का व्यवहार हुआ है यथार्थतः वह इसी खिन्नता का द्योतक है और इसी पड़ाव में लिखा भी गया है।

मेहरौली के लौहस्तम्भ के लेख को विशेष महत्त्व देने का कारण अब प्रकट होता है और अब टूटता है उसका २५ वह पिनाक जो इतने दिनों से विद्वानो को भरमा रहा है। कहते है 'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता वाह्लिकाः' का अर्थ है—"येन सिन्धोः सप्तमुखानि तीर्त्वा समरे वाह्लिकाः जिताः"। निवेदन है, नही। इसका सीधा अन्वय है—'येन सप्तमुखानि तीर्त्वा समरे सिन्धोः वाह्लिका जिताः।' आप कहेंगे—अर्थ? सो उसे भी देख लीजिए।

कहना न होगा कि आज तक विद्वानों ने जो 'सिन्धोः सप्तमुखानि' को साधु मानकर अर्थ किया है वह 'सिन्धु' के निकलने से 'गिरने' तक दौड़ता रहा है। नदी अपने 'नायक' समुद्र से मिलने जाती है। अतः जहाँ समुद्र से मिलती है वही उसका मुख कहा जाता है। किन्तु यहाँ इस 'मुख' से काम नही चलता। सिन्धु के इस 'सप्तमुख' मे 'वाह्लीक' कब रहे? 'शक सत्रप' को भी तो लोग ठीक नही मानते? नही, 'सप्तमुखानि' का अर्थ 'गिराव' नही 'निकास' है। यहाँ 'मुख' का वही अर्थ है जो 'पंचमुख' या 'निशामुख' मे 'मुख' का। किन्तु नदी के अर्थ मे यह प्रचलित तो नही है? निष्कर्ष यह कि 'सप्तमुखानि' को पकड़ो तो 'वाह्लिकाः' दूर भाग जाता है और 'वाह्लिकाः' को घेरो तो 'सप्तमुखानि' अलग छूट जाता है। दोनों

---

* वस्तुतः उक्त डाक्टर महोदय के तर्क का ही खंडन किया गया है उनकी स्थापना का नहीं। हम स्वयं उक्त तर्कों से सहमत नहीं है और इस प्रवरसेन को 'सेतुबन्ध' के रचयिता प्रवरसेन से सर्वथा भिन्न मानते हैं। वाकाटक प्रवरसेन और दूत कालिदास का विचार हो चुका है। अब 'गोनन्द' प्रवरसेन एवं 'महाराज' कुमारगुप्त पर विचार करना है। सो इसके सम्बन्ध में सीधीसी बात यह है कि 'मातृगुप्त' ने कभी अपने आपको कश्मीर का शासक नहीं समझा। उन्होंने वहाँ जो कुछ किया सम्राट् विक्रमादित्य की ओर से ही किया और तभी तक राज्य किया जब तक वे जीवित रहे। तत्पर्य यह कि उन्होंने जो कुछ किया सम्राट् विक्रमादित्य के अनुरूप किया। यही कारण है कि उन्होंने 'मधुसूदन' का मन्दिर बनवाया शिव का नहीं। कहा जा सकता है कि फिर उसका नाम 'मातृगुप्त' क्यों रखा। निवेदन है, यह नाम भी तो उसी वंश का है। इसे भी आप उसी रूप में ग्रहण क्यों नहीं करते? यह भी तो सम्राट् का ही अंश है? एक बात और 'प्रबन्ध चिन्तामणि' से विदित होता है कि कालिदास वस्तुतः 'पशुपाल' थे। 'वररुचि' की धूर्तता से उनका विवाह विक्रमादित्य की 'सुताप्रियंगुमंजरी' से हो गया। फिर किस प्रकार कालिका की उपासना से वे कवि बने, इससे यहाँ प्रयोजन नहीं। यहाँ तो बस इतना भर निवेदन करना है कि उनकी घनिष्टता यहाँ तक फैल चुकी है। निदान यह मानने में कोई भी आपत्ति नहीं कि अवश्य ही मातृगुप्त कालिदास हैं। इस प्रसंग के लिए देखिए 'प्रबन्ध चिन्तामणि' सिंघी जैन ग्रन्थमाला, शान्ति-निकेतन बंगाल, सन् १९३३ ई० पृष्ठ ३-५।

की सगति बैठती नहीं। इसमें तो सन्देह नही कि 'येन वाह्लिका' जिता' ही इसमें मुख्य वाक्य है और यही मुख्य कर्म भी सो 'वाह्लिका' पर ही विद्वानो को विशेष विचार करना था और यह भी तुरन्त देख लेना था कि उसका सिन्धु स क सम्बन्ध है। किन्तु उन्होने ऐसा कुछ किया नहीं और 'सिन्धो सप्तमुखानि' के चक्कर में जाने कहाँ भटकते रहे।

वाह्लिका के विषय में यह पहले भी कहा जा चुका है कि 'बलख' तो उसका मूल ह किन्तु 'वाहीक' उसका उपनिवे बन गया है। वाह्लीक, वाल्हीक, वाह्लिक आदि शब्दो के प्रयोग पर कुमारी * पद्मा मिश्रा ने जो छानबीन की उससे प्रकट है कि आगे चल तीनो पर्याय हो गए ह और वाह्लीक में ही वाह्लीक भी आ गए ह। यहाँ दिखाया यह जा है कि इसी उपनिवेश का सकेत भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में इस प्रकार आया है—

"हिमवत्सिन्धुसौवारान्ये जना समुपाश्रिता। उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत्॥"

(नाट्यशास्त्र, १७ ३२ गा० ओ० सी०)

अथवा—"वाह्लीकभाषोदीच्यानां खसानां च स्वदेशजा।" (नाट्यशास्त्र, १७ ५३ गा० ओ० सी०)

कहने का तात्पर्य यह कि उक्त लौह-स्तम्भ का 'वाह्लिका' और कुछ नहीं यही वाह्लिका है। अब आपके साम दो वाह्लीक ह जिनमें से एक तो 'बलख' और दूसरा पचनद अथवा 'वाहीक' में है। इन दोनों में भेद उत्पन्न करने का म इससे सुगम मार्ग और क्या होगा कि इसे 'सिन्धो' से बाँध दिया जाय जिससे किसीको तनिक भी भ्रम न हो कि कहाँ 'वाह्लीक'? अवश्य ही कवि को यही 'सिन्धो वाह्लिका' इष्ट है।

'सिन्धो' का खुला अर्थ है सिन्धु प्रदेश का। उसी सिन्धु प्रदेश का जिससे 'हिन्दु' बना है और बना है जिससे 'सन्ध जिसका अर्थ होता है 'लवण' और 'अश्व'। अर्थात् इस 'सिन्धो' से यह भी प्रकट हो गया कि कहाँ का कौन जीता गया खुर ('नमक की पहाडी') से जो 'राजा (ति) राज महाराज तोरमाण शाहि' का लेख मिला है वस्तुत वही 'सिन्ध वाह्लिका' का प्रतीक ह। इस 'सिन्धु' को 'सिध' समझना भारी भूल है।

अच्छा, तो 'सप्तमुखानि' का गुर भी जान लीजिए। 'समर' के प्रसग में 'सप्तमुखानि' का अर्थ होगा—

"स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा। सप्तप्रकृतयोह्येता सप्ताङ्गराज्यमुच्यते॥" (मनुस्मृति ९-२९४ और 'सप्तमुखानि तीर्त्वा' का सकेत होगा बिना 'राजा, मत्री, पुर, राष्ट्र, कोश, दड और मित्र' के। यही क्यो? इनक भी तो उसे पार करना पडा? कितनी विलक्षण बात ह। कोई वीर 'समर' में जाने को उद्यत ह। राज्य वा 'सप्तमुख उसके प्रतिकूल है। प्रेम का पारावार सामने उमड रहा है। किन्तु वाह रे वीर, तुमने सब की अनसुनी कर 'साहस' औ 'सूझ' से ऐसा काम लिया कि 'स्मर' का 'समर' बना दिया और विवेक का ऐसा हाथ मारा कि वरी का सिर कही और ध कहीं, और तभी तो तेरा राजकवि भी बोल उठा 'तीर्त्वा सप्तमुखानि'। किन्तु क्या तेरा वरी कोई एक ही था कि हत क मदान मार लेता? नही। उसके तो सप्ताग थे। निदान 'समरे जिता वाह्लिका'। सो कहाँ के वाह्लीक? बस, इस सिन्धु के। अत 'सिन्धोर्ज्जिता वाह्लिका'। निदान कवि ने उल्लास में आकर 'प्रगटत दुरत' लिख ही तो दिया, 'तीर्त्व सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता वाह्लिका।'

तो क्या फिर भी जानना चाहते ह कि वह अनुपम साहसी वीर है कौन? मेहरौली का लौह-स्तम्भ आज भ उसे 'चन्द्र' ही बता रहा है। कारण अब वह 'गुप्त' नही, रक्षक नही, भस्म होकर नामशेष रह गया है और उसका राज कवि भी विरक्त होकर 'काशीवास' को चल पडा है। वह इस वीर के विषय में अधिक नही लिख सकता। वह 'विवरण का भक्त नहीं व्यजना का विधाता ह। उस वीर के विषय में कुछ और जानने के लिए उसके साथी विशाखदत्त से पूछ देखो वह कभी का 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में सारा चिट्ठा खोल चुका है। फिर कालिदास उसी का पचडा क्यो गाएँ और क्यो न बू में समुद्र को भरदें?

* इंडियन कल्चर, भाग ८, अक १, पृष्ठ ८५ ८९। पर्याप्त प्रमाणों से 'वाह्लीक' में 'बाह्लीक' सिद्ध किया गया और दोनों को महाभारत में पर्यायसा बताया गया है। स्वय पंजाब में दो बाह्लीक देश दिखाए गए ह

श्री चन्द्रबली पांडे

अच्छा तो उस वीर की प्रतिज्ञा है—

"सद्वंशान्पृथुवंशविक्रमबलान्दृष्ट्वाद्भुतान्दन्तिनः। हासस्येव गुहामुखादभिमुखं निष्क्रामतः पर्वतात् ॥
एकस्यापि विधूतकेसरजटाभारस्य भीताः मृगाः। गंधादेव हरेर्द्रवन्ति वहवो वीरस्य किं संख्यया ॥"

फलतः 'सप्तमुखानि तीर्त्वा' उसने 'सिन्धु के वाह्लीकों को जीत लिया' और विश्व में 'साहसांक' और 'सिंहचन्द्र' आदि अनेक वीर विरुदो से विख्यात हुआ। मेहरौली का लौहस्तम्भ और कुछ नही, उसीकी कर्मलीला को समेटकर आज भी इस दिव्य भूमि में किसी से कुछ कहने को खड़ा है। पर उसकी सुनने के कान कहाँ?

"तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे" का अर्थ "येन समरे सप्तमुखानि तीर्त्वा" करके भी लगाया जा सकता है परन्तु 'देवीचन्द्रगुप्तम्' से लेकर आज तक जो सामग्री इस विषय की उपलब्ध हुई है उसके आधार पर उक्त अर्थ ही साधु तथा समीचीन समझा गया है और इससे यह भी ध्वनित हो जाता है कि क्यों कालिदास को ही शकारि विक्रमादित्य ने कश्मीर का शासक बनाया और क्यो कालिदास ने वहाँ 'मातृगुप्त' के नाम से शासन किया। कल्हण ने राजतरंगिणी में इसके बारे में जो कुछ लिखा है वह इतना स्पष्ट है कि वरबस कालिदास को ही 'मातृगुप्त' मानने को जी चाहता है। मातृगुप्त पर विक्रमादित्य के वियोग का कितना गहरा प्रभाव पड़ा वह इसी से चट जान लिया जाता है कि उनके निधन की सूचना मिली नही कि मातृगुप्त ने गुप्तता का बाना उतार दिया और तुरन्त धारण कर लिया संन्यासी का वेश। तपस्वी प्रवरसेन समझाता ही रह गया पर मातृगुप्त के भरे कानों ने उसकी एक न सुनी और वह मार्ग दिखाया जिससे उसकी आँख खुल गई और वह गुप्त-वंश के वैरी से पक्का मित्र बन गया और संकट के समय उसका साथ भी भरपूर दिया। मातृगुप्त का यह उपकार उसीकी समझ में घर कर सकता है जिसने कालिदास को अति निकट से देखा तथा उनके दूतकर्म को दूर से पहचान लिया है। समझ में नही आता कि लोग फिर भी कालिदास को मातृगुप्त क्यों नही मानते और न जाने किस इतिहास की दुहाई दे उन्हें इधर से उधर फेक देते है। अरे कश्मीर का शासन उसी को तो सौपा जायगा जो हाथ चलाने की अपेक्षा बुद्धि चलाना अधिक जानता हो और अपनी वाणी में वह विलास भी रखता हो जो आग को पानी बना दे। कहना न होगा कि उस समय यह क्षमता उसी और केवल उसीमें थी जिसने दक्षिणापथ को चन्द्रगुप्त के आतंक से लहरा दिया था और रक्त की बूंद नाम को भी न गिरी थी। हाँ, कश्मीर के शासन में भी उसने यही किया और उसे छोडते छोडने अपनी बात तथा अपने व्यवहार से उस वीर को गुप्तवंश का परम मित्र बना लिया जो वस्तुतः वा जन्मतः उसका परम शत्रु था और बडे वेग से उसकी सीमा मे आ घुसा था। बस यही कालिदास के दूतकर्म की अन्तिम झलक है। उनके दस वर्ष के शेष जीवन से यहाँ कोई प्रयोजन नही और प्रयोजन नही उस वेश्या-विलास * से जिसके कारण उनका विनाश बताया जाता है। नही वह कोई और ही कालिदास होगा, किसी विक्रमादित्य का दूत कालिदास नहीं। इस कालिदास का रूप तो यह है—

"गुणी च दृष्टकष्टश्च वदान्यश्च स पार्थिवः। विक्रमादित्यतोप्यासीदभिगम्यः शुभार्थिनाम् ॥२५८॥
विवेचकतया तस्य श्लाघ्या सुरभीकृताः। लक्ष्मीविलासाः क्ष्माभर्तुरशोभन्त मनीषिषु ॥२५९॥
(राजतरंगिणी, तृतीय तरंग)

---

* 'भोजप्रबन्ध' की तो बात ही छोड़िए 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में भी कहा गया है—
"अथ कुमारसम्भव महाकाव्ये नवभिः सर्गैः शृंगारसुरतवर्णनकुपितयोमया कालिदासकवेः शापो दत्तः। यत्-त्वं स्त्रीव्यसनेन मरिष्यसि। तेन वेश्याव्यसनी बभूव। राज्ञा श्रीविक्रमेण व्यसनिनं मत्वा तिरस्कृतः।"
(सिंघी जैन ग्रन्थमाला, सन् १९३६, ई०, पृष्ठ १००)
कालिदास की मृत्यु का सम्बन्ध जिस 'समस्या' पूर्त्ति से माना जाता है वह भिन्न भिन्न बताई गई है। एक कथा में तो उसका सम्बन्ध सिंहल के कुमारदास से भी जोड़ा गया है। कल्हण के विरक्त 'यती मातृगुप्त' का अन्त कैसे हुआ, इसे हमने नहीं देखा, पर जिस वेश्या-व्यसन के कारण कालिदास की हत्या हुई वह 'शाप' का परिणाम था लिप्सा का प्रतिफल नहीं। कालिदास ने यहाँ भी अपना करतब ही दिखाया था पर कञ्चन ने कञ्चनी को जीत लिया। तो क्या यह सच है?

कालिदास का दूत-कर्म

विवादी बोल उठेगा 'मातृगुप्त' 'कालिदास' क्यो? उत्तर होगा—कल्हण की परम्परा ही कुछ ऐसी है। देखिए न वहाँ विक्रमादित्य का नाम क्या है। कहते हैं—

"तत्रानेहस्युज्जयिन्या श्रीमान्हर्षापराभिध । एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत् ॥१२५॥

(राजतरगिणी, तृतीय तरग)

तथा उनके आत्मज हैं—"राज्ये प्रतापशीलं स शीलादित्यापराभिधम् ।",

अस्तु, हमारा कहना है कि यदि 'विक्रमादित्य' का नाम कल्हण के यहाँ 'हर्ष' एव उनके आत्मज 'कुमार गुप्त' का 'प्रतापशील' वा 'शीलादित्य' है तो उसी न्याय और उसी सग से कालिदास का नाम भी 'मातृगुप्त' है। हमको तो इस मान्यता में कोई छिद्र नही दिखाई देता, औरो की राम जाने।

देखिए तो सही विधि की विडबना अथवा दैव का दुर्विपाक कि जिस कालिदास ने अपनी वचन-चातुरी, वाग्पटुता और दूरदर्शिता से अपनी प्रतिभा के बल पर इतना कुछ किया और जीवनभर विक्रमादित्य के पुरुषार्थ का सारथी रहा वही आज पडितो की मडली में विलासी ही नही घोर लम्पट बना और जाने क्या क्या भडौआ करता रहा। कुशल यही रही कि इतने पर भी उसकी निपुणता मारी नही गई और राजा भोज की भरी सभा में भी विवश हो कवि 'वाण' को कहना ही पडा—

"समे भवत सव एव कवय विषमे स्थाने तु स एक एव कवि ।" (भोजप्रबन्ध, द्वादश प्रबध)

क्रान्तदर्शी कवि कालिदास! तू धन्य है कि विरोधी भी तेरा लोहा मान रहे हैं और विपक्षी भी तेरा गुण गा रहे हैं। किन्तु, भारत वसुधरे! तुझे अपने इस अनुपम रत्न की भी कुछ सुधि है? यदि होती तो तेरी यह दशा ही क्यो होती!
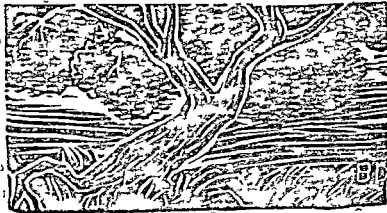
कालिदास का काव्य-वैभव

श्री सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

कालिदास अनुपम प्रतिभाशाली महाकवि थे। काव्य-रचना के लिए कवि मे शक्ति (प्रतिभा), निपुणता और अभ्यास का होना परमावश्यक है। कालिदास मे ये तीनों ही बातें पूर्ण रूप मे विद्यमान थी। काव्य-शक्ति उनमें यहाँ तक थी कि रचना के समय उनको सुमधुर भाव-व्यञ्जक शब्दो को स्मरण करने की आवश्यकता न रहती थी—तादृश शब्द-समूह प्रयोग के लिए उनके सम्मुख स्वयं उपस्थित रहते थे। निपुणता और अभ्यास का साक्ष्य तो कालिदास के ग्रन्थ ही प्रत्यक्ष दे रहे है। उनका सभी शास्त्रीय विषयो मे असाधारण अधिकार था। उनके ग्रन्थों मे वेदवेदान्त*, न्यायमीमांसा†, साख्य‡, योग, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, कामशास्त्र, नाटचशास्त्र और राजनीति एवं पदार्थविज्ञान§ आदि सभी विषयों के वर्णन मिलते है। ललितकला और लोक-व्यवहार का वर्णन तो प्राय: अनेक स्थलों में कालिदास ने बहुत ही सुन्दर किया है। प्रकृति के सम्पूर्ण चित्ताकर्षक दृश्य उनको अपनी प्रतिभा के दर्पण मे प्रतिविम्वित होकर प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते थे। कालिदास के काव्य के महत्त्व-सूचक आनन्दोद्गार अनेक काव्य-मर्मज्ञ रसानुभवी विद्वानों और महा-कवियों ने निकाले हैं। प्रकृति-वैचित्र्य के वर्णन मे अग्रगण्य कादम्बरी प्रणेता श्रीवाणभट्ट ने कहा है—

"निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु, प्रीतिर्मधुरद्राक्षासु मञ्जरीष्विव जायते ।" हर्षचरित

---

* कुमारसंभव २।१२, २।१४, ३।१५, रघुवंश १५।७६। † रघुवंश १३।१। ‡ कुमार संभव २।१३। रघुवंश १३।५२, कुमार संभव ३।५८। मेघदूत पूर्वमेघ १३। कुमार संभव २।४८, मालविकाग्निमित्र ४।४। रघुवंश १।१८, कुमार संभव ७।८४, शाकुन्तल ६।७। कुमार संभव २।३२, ३।४३, ७।६, ७।१, रघुवंश ३।१३।। देखो कामसूत्र कन्या संप्रयुक्त २०३।५ और २३६, २३७, शाकुन्तल कण्वाश्रम में दुष्यन्त का शकुन्तला के साथ व्यवहार तथा ४।१७। भरत नाटचशास्त्र में नृत्याभिनय और मालविकाग्निमित्र में। पञ्चागाभिनय ३।६। § कुमार ३।६७, ४।४४।

इसका भावार्थ यह है—आम्रमञ्जरी के सदृश मधुर एवं सरस कालिदास की सूक्तियों के रसास्वादन से किसके हृदय में आनन्दानुभव नहीं होता है।

कालिदास का काव्य-वैभव

महान् साहित्याचार्य श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

"अस्मिन्नतिविचित्र कविपरम्परावाहिनि ससारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्रा पञ्चषावा महाकवलयइति।"—ध्वन्यालोक

अर्थात् काव्य-ससार के गणमान्य दो चार महाकवियो में सब प्रथम कालिदास का ही नामोल्लेख किया है। केवल पूवकालीन ही नही आधुनिक भी सुप्रसिद्ध साहित्यानुभवी कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अरविन्द घोष और श्री राजेन्द्र-लाल राय जसे महान् आलोचक अनेक विद्वानो ने अपने ग्रथा और निबधा में कालिदास के काव्यों की विस्तृत आलोचनाओ में सर्वोच्च विचार प्रकट किये ह। कालिदास की पीयूष प्रवाहिनी सरस्वती ने अपने रसास्वादन से यूरोपीय सुप्रसिद्ध विद्वाना को भी विमुग्ध कर दिया है। जमनीय कविशेखर गेटी (Goethe) सुप्रसिद्ध तत्ववेत्ता हबाल्ड (Alexunder Vor Humboldt) एव श्लेजल आदि समालोचको ने कालिदास के काव्य का केवल अनुवाद रूप में आस्वादन करके आनन्दोद्रक से गिरकम्पन किया ह। इसीसे कालिदास का सावभौम कविराज होना सिद्ध है। केवल मेघदूत के विषय में पाश्चात्य विद्वाना ने अपने यूरोपीय साहित्य के किसी काव्य को उसकी तुलना के योग्य नहीं माना है।

और भी अनेक पाश्चात्य उच्च श्रेणी के विद्वाना ने मुक्त कण्ठ से अपने अपने आनन्दोद्गार निकाले ह, जिनके द्वारा द्वादश शताब्दी के कविवर सोडढल की यह उक्ति कि 'कालिदास की काव्यसुधामयी कीर्ति समुद्र के परले पार तक पहुँच गइ ह' सत्य चरितार्थ हो रही है।

"ख्यात कृती सोऽपि च कालिदास शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्रसिन्धो पर पारमवाप कीर्ति ॥"

कालिदास क्या आसमुद्रान्त सवश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं? उनमें ऐसे क्या अलौकिक गुण थे? उनकी उपमादि अलकारा की कल्पनाओ में क्या अनुपम चमत्कार ह? उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दावली कसी श्रवण-सुखद और प्रसाद-गुणालकृत है? उक्ति में क्या अर्थ-गौरव और गाम्भीय ह? सृष्टि-वणन में कसी सूक्ष्मदर्शिता ह? उनके काव्य-गह्वर के अन्तगत कस सदुपदेशात्मक रत्न छिपे हुए ह? इनपर प्रकाश डालने के लिए कालिदास के ग्रन्था के अवतरणो के लिए स्थान-सकोच के कारण यहाँ कवल मेघदूत के कुछ अवतरण दिये जायेंगे। इसके प्रथम मेघदूत का सक्षिप्त रूप में कुछ परिचय कराया जाना हम उपयुक्त समझते ह।

कालिदास का मेघदूत—सस्कृत साहित्य में मेघदूत आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध ह। मेघदूत दो भागो में विभक्त है, पूवमेघ और उत्तरमेघ। पूवमेघ में अलकाधीश कुबेर ने अपने एक यक्ष द्वारा कुछ अपराध किये जाने पर उसे एक वष तक के लिए अलका से निवासित कर दिया, तब वह यक्ष रामगिरि नामक पवत पर जाकर रहने लगा। कुछ समय बाद वर्षाकाल के प्रारम्भ में उसने वर्षाकालीन मेघमण्डल का कामोद्दीपक दृश्य देखा तो वह अपनी प्रियतमा के वियोग में और भी अत्यन्त विकल हो गया और उसने अपनी विरहिणी प्रिया के समीप सन्देश भेजना चाहा, किन्तु रामगिरि से हिमालयान्तगत अलका तक सन्देश भेजने का और कोई साधन न देखकर विरह-विधुर यक्ष विचार-शून्य होकर आकाशस्थित अचेतनमेघ द्वारा ही सन्देश भेजने को उद्यत हो गया, और उससे इस कार्य के लिए प्राथना करने लगा। महाकवि कालिदास ने इस प्रकार मेघदूत का प्रारम्भ करके यक्ष द्वारा पूव मेघ की समाप्ति तक रामगिरि से अलका तक के वर्षाकालिक मार्ग का वणन कराने के पश्चात् नगाधिराज हिमालय के हिमवेष्टित गगनचुम्बी उत्तुग शिखरस्थ अलका के मनोहारी दृश्य का वणन कराया है। तदनन्तर उत्तर मेघ में कवि ने यक्ष द्वारा अलकापुरी के अलौकिक सौन्दर्य का, यक्ष के रमणीय निवासगृह और उसकी वियोगसन्तापिता पत्नी की विरहावस्था का वणन कराने के बाद अन्त में यक्ष द्वारा उसकी प्राणप्रिया को कहने के लिए सन्देश कहलाया है। बस इसी के अन्तगत कालिदास ने प्रावट कालीन मेघमण्डल से प्रभावित होनेवाल प्राकृतिक दृश्या के नयनाभिराम विचित्र चित्र दृष्टिपथ कराये ह, और पुराणतिहासा में पवत, नदी और पवित्र स्थान जो भगवान् श्रीरामचद्र, सीता देवाधिदेव शकर और कार्तिकेय आदि के सम्बध से अद्यापि प्रसिद्ध है एव हिमालय प्रान्त के जो विचित्र दृश्य है उनका यथावत् शब्द चित्र अकित कर दिया ह। विशेषत उज्जयिनी और

अलका के मनोहर वर्णन द्वारा इस छोटे से खण्ड-काव्य की सुषमा में निरूपम अभिवृद्धि हो गई है। यक्ष पत्नी की विरहावस्था तथा यक्ष के सन्देश का विप्रलम्भ शृंगारात्मक कारुणिक वर्णन सहृदयों के चित्त को एक बार ही द्रवित कर देता है। सत्य तो यह है कि इस प्रकार कल्पना की आनन्दमयी सृष्टि मे यथेष्ट विहार करने का अधिकार मेघदूत के जैसे कवि का ही हो सकता है।

कवीन्द्र कालिदास ने यौवन के उद्यान मे क्रीडासक्त यक्षदम्पती को नायक और नायिका कल्पना करके प्रधानतया उनके विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन किया है। विप्रलम्भ शृंगार के पाँच भेद हैं—अभिलाषा-हेतुक, ईर्ष्याहेतुक, विरह-हेतुक, प्रवास-हेतुक और शाप-हेतुक। मेघदूत मे शाप प्रवास-हेतुक विप्रलम्भ का वर्णन है। कविकुलगुरु कालिदास की अभिरुचि शाप-प्रवास-हेतुक विप्रलम्भ के वर्णन में अधिक देखी जाती है। शाकुन्तल और विक्रमोर्वशीय मे भी उन्होंने विशेषतया इसी का वर्णन किया है। दाम्पत्य स्नेह के उन्नत भाव-गर्भित विप्रलम्भ शृगार के वर्णन मे संस्कृत साहित्य के सिद्ध-हस्त दो ही कवि सर्वोच्च है, एक कालिदास और दूसरे भवभूति। भवभूति ने भी उत्तररामचरित मे विप्रलम्भ का चित्ताकर्षक सजीव चित्र उपस्थित कर दिया है।

मेघदूत और वाल्मीकीय रामायण—साहित्यमर्मज्ञ विद्वानों से यह अविदित नही है कि महर्षि वाल्मीकि के सूक्ति सुधारस का निरन्तर आस्वादन करनेवाले कालिदास ने प्रायः अपने सभी काव्य और नाटकों मे न्यूनाधिक रूप मे श्रीरामायण का प्रतिविम्व ग्रहण किया है। विशेषतया मेघदूत का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर तो यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि महर्षि वाल्मीकि द्वारा वर्णित भगवती जनकनन्दिनी की विरहवेदना से आकुलित भगवान् श्रीरामचन्द्र का सन्देश लेकर दक्षिणोदधि को उल्लंघन करने के लिए गगन-मण्डल मे सौदामिनी विलसित मेघ के समान गमन करते-हुए पवनसुत हनुमानजी के प्रसंग के काव्यामृत से आकृष्ट चित्त होकर ही कालिदास ने रूपान्तर से मेघदूत मे वियोगी यक्ष की मानसीवृत्ति का वर्णन किया है। मेघदूत मे प्रयुक्त—'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु।' 'रामगिर्य्याश्रमेषु।' और 'रघुपति-पदैरंकितम्।' इत्यादि वाक्य-खण्डो के द्वारा वाल्मीकीय रामायणोक्त कथा के साथ मेघदूत का सम्बन्ध प्रतीत होता हो, सो नही, किन्तु रामायणोक्त इस प्रसंग के अनेक वर्णनों का सादृश्य मेघदूत मे प्रत्यक्ष दृष्टिगत हो रहा है। कवि सार्वभौम महर्षि वाल्मीकि ने—

"अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोद्य जलागमः, सं पश्यत्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसंनिभैः।"—४।२८।२।

इत्यादि पद्यो से मेघाच्छन्न गिरिशिखर के वर्षाकालीन दृश्य से परिवर्द्धित श्रीरघुनाथजी की विरहावस्था के वर्णना का आरम्भ किया है। मेघदूत मे भी—'आषाढस्य प्रशमदिवसे* मेघ माश्लिष्टसानु।' (पूर्व मेघ २) इत्यादि पद्यो द्वार तादृश वर्षाकालीन दृश्योत्पन्न यक्ष की वियोगावस्था का वर्णन आरम्भ किया गया है। रामायण मे वानराधिपति सुग्रीव द्वारा वानरो के प्रति गन्तव्य मार्ग मे आनेवाले स्थानो का वर्णन है, तदनुसार मेघदूत मे यक्ष द्वारा मेघ के प्रति गन्तव्य मार्ग में आनेवाले स्थानों का वर्णन किया गया है। रामायण मे आकाश के वायुमार्ग मे समुद्रोल्लघन करते हुए हनुमानजी को सिद्धों द्वारा सपक्ष पर्वत की उपमा दी गई है—

"शुशुभे स महातेजा महाकायो महाकपिः, वायुमार्गे निरालम्बे पक्षवानिव पर्वतः।" ५।१।७६।

मेघदूत मे भी सिद्धांगनाओं द्वारा मेघ को पर्वत की उपमा दी गई है—

"अद्रेः शृंगं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिः, दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धांगनाभिः।" पूर्वमेघ १४।

रामायण में हनुमानजी की पुच्छ को इन्द्र-धनुष की उपमा दी गई है। 'अम्बरे वायुपुत्रस्य शक्रध्वज इवोच्छितम्।' (५।१।५९) मेघदूत मे—'रत्नच्छायाव्यतिकर इव...............।' (पू. मे. १५) इत्यादि पद्य मे इन्द्र-धनुष के सम्पर्क से मेघ का सुशोभित होना कहा गया है। रामायण मे आतिथ्य के लिए समुद्र द्वारा भेजे हुए मैनाक ने हनुमानजी से कहा है—

* मेघदूत के टीकाकार मल्लिनाथ से प्राचीन वल्लभदेव ने 'प्रशमदिवसे' ही पाठ माना है। इसी पाठ से उत्तरमेघ के ४९वें पद्य के—'शेषान्मासानुगमय चतुरो।' इस कथन का चान्द्रमास की गणना से समन्वय हो सकता है।

अतिथि किल पूजार्ह प्राकृतोऽपि विजानता, धर्म जिज्ञासमानेन किं पुनर्यादृशो भवान्॥ वाल्मी० ५।१।११२।
इसी भाव को कालिदास ने सर्वांश में मेघदूत के निम्न लिखित पद्य में रख दिया है—

'न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय, प्राप्ते मित्रे भवति विमुखो किं पुनर्यस्तथोच्चैः।" पू० मे० १७।

रामायण में जलभार वहन करनेवाले मेघ का पर्वत-शृंगो पर विश्राम ले लेकर जाना कहा है। मेघदूत में यह भाव नीचे के पद्य में इस प्रकार लिया गया है—

"उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः, कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।" पू० मे० २३।

रामायण में लंका को पृथ्वी पर गिरा हुआ स्वर्ग कहा गया है। 'महीतले स्वर्गमिवप्रकीर्णम्।' (५।७।६)। मेघदूत में उज्जयिनी को स्वर्ग का एक खण्ड कहा गया है—'शेषैः पुण्यैर्हृतमिवदिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्।' (पू० मे० ३१) इनके अतिरिक्त रामायण में वर्णित श्रीजनकनन्दिनी की विरहावस्था का तो कालिदास ने यक्षपत्नी की वियोगावस्था के वर्णन में अधिकांश अनुकरण किया है। रामायण में जानकीजी को शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के चन्द्रमा की एक कला की उपमा दी गई है—"ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिवामलाम्।" (५।१५।१९) मेघदूत में भी यक्षपत्नी को यही उपमा दी गई है—"प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः।" (उ० मे० २८)। रामायण में सीताजी को शीतकालीन शोभा-विहीन कमलिनी की उपमा दी गई है, मेघदूत में भी यक्षपत्नी को यही उपमा दी गई है—"जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्।" (उ० मे० २२)। रामायण में शुभ शकुनसूचक सीताजी के वामनेत्र के स्फुरण को मीन द्वारा सञ्चालित कमलपत्र की उपमा दी गई है—

"प्रास्पन्दतैकं नयनं सुकेश्या मीनाहतं पद्ममिवभिताग्रम्।" (५।२९।२)

मेघदूत में इसके शब्द और अर्थ दोनों का अनुसरण है—

"त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या, मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति।" उ० मे० ३४।

इसी प्रकार ऊरुस्फुरण का भी रामायण के वर्णन का मेघदूत में अनुसरण है। यह तो दिग्दर्शनमात्र है। कालिदास ने मेघदूत के "इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा।" (उ० मे० ३९) इस वाक्य में तो श्रीजनकनन्दिनी का स्पष्ट नामोल्लेख करके निर्व्याज रूप में स्पष्ट सूचित कर दिया है कि मेघदूत की रचना का आधार वाल्मीकीय रामायण ही है। किन्तु इसके द्वारा यह समझना कि रामायण के वर्णनों का मेघदूत में अपहरण किया गया है, कविकुलदिवाकर कालिदास के साथ घोर अन्याय है। क्योंकि प्रथम तो मेघदूत की कल्पना ही रामायणान्तर्गत इस प्रसंग के चित्ताकर्षक वर्णनों पर निर्भर है, तो उसका अनुकरण ही क्या यत्रतत्र शब्द-साम्य भी होना स्वाभाविक ही है। फिर यह भी ध्यान देने योग्य है कि वाल्मीकीय रामायण और महाभारत ऐसे महत्त्वपूर्ण आर्ष महाकाव्य हैं कि इनका अस्तित्व यदि न होता तो किसी भी काव्य या नाटक का भी अस्तित्व दृष्टिगोचर न होता। यही दोनों ग्रंथ निर्विवाद रूप में संस्कृत साहित्य के पथ प्रदर्शक हैं। साहित्य-पथ प्रदर्शकों में अग्रगण्य श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य के—

"वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित्,
इष्यते प्रतिभानन्त्यं तत्तदानन्त्यमक्षतम्।" ध्वन्यालोक ४।७ की वृत्ति।

इस वाक्य से स्पष्ट है कि आदिकवि महर्षि वाल्मीकि का आदिकाव्य-रामायण ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें किसी का अनुसरण नहीं किया गया है। अर्थात् तदितर कवियों के काव्यों में वाल्मीकीय का अनुसरण किये जाने पर भी वह अपहरण-दोष नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत कवि प्रतिभा-जन्य काव्य-वैचित्र्य का आनन्त्य है। अतएव केवल कालिदास ही क्या उनके पूर्ववर्ती महामहिम पाणिनि और महाकवि भास आदि एवं परवर्ती भारवि, माघ और भवभूति आदि अनेक महाकवियों ने इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर अपने काव्य-नाटकों की रचना की है। किन्तु इस कार्य में सफलीभूत कविराट कालिदास ही हो सके हैं। यहाँ तक कि वाल्मीकीय में वर्णित पदार्थरत्नों को उन्होंने अपने प्रतिभा-कौशल से प्रसंगोचित स्थलों पर सुसज्जित करके और भी अधिक चमत्कृत कर दिया है।

श्री कन्हैयालाल पोद्दार

कालिदास और अन्यान्य महाकवि—कालिदास की मनोरम अलंकार-गर्भित सूक्तियों पर मोहित होकर उनके परवर्ती प्रायः बहुत से महाकवियों ने उनके वर्णनो का अनुसरण करने के लोभ को संवरण नही करके अपनी रचना का गौरव बढाने की यथेष्ट चेष्टा की है। उदाहरण रूप में यहाँ केवल मेघदूत की सूक्तियो का अन्य कवियों द्वारा किये गये अनुकरण का दिग्दर्शन कराया जाता है। देखिये, मेघदूत के—

"गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम्, बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या।" पू० मेघ ७।"

इस पद्यार्द्ध में और—

"यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पाः, हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा, नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः।" उ० मे० ३।*

इस पद्य मे अलका के बाह्योद्यान मे निवास करनेवाले भगवान् चन्द्रशेखर के ललाट पर स्थित चन्द्रमा की कान्ति से अलका के महलो का सर्वदा (कृष्णपक्ष की रात्रियो मे भी) श्वेतप्रभायुक्त रहना और वहाँ सर्वदा चाँदनी रात्रि का होना कहा गया है। इसी के अनुकरण पर महाकवि भारवि ने—

"स्नपितनवलतास्तरुप्रवालैरमृतलवस्रुतिशालिभिर्मयूखैः।
सततमसितयामिनीषु शम्भोरमलयतीह वनान्तमिन्दुलेखा।" किरातार्जुनीय ५।४४।

इस पद्य में कहा है—चन्द्रमा की किरणो से—ऐसी किरणो से जिनसे अमृत के बिन्दु झरते रहते है, सिंचित रहनेवाले लता और वृक्षों के पल्लवों के कारण हिमालय की वनभूमि सर्वदा (कृष्णपक्ष की अँधेरी रात्रियो मे भी) शुभ्रकान्तिमयी रहती है। और इसी के अनुकरण पर दार्शनिक महाकवि श्रीहर्ष ने भी—

"सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे हसदंकरोदसि। निखिलान्निशि पूर्णिमातिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिकाऽतिथीः।"
—नैषधीय चरित २।७६।

इस पद्य में कुण्डिनपुर के श्वेतमणि-निर्मित भवनो के प्रकाश द्वारा वहाँ प्रतिपदा आदि सारी तिथियो की अतिथि रूप होकर सर्वदा एक पूर्णिमा तिथि की स्थिति रहना कहा है। किन्तु कालिदास ने पद्य के चतुर्थ पाद मे जो भाव बड़ी खूबी के साथ रख दिया है, तादृश रोचकता भारवि के पूरे पद्य मे भी नही आ पाई है। श्रीहर्ष की कल्पना तो केवल अत्युक्ति मात्र है—सहृदयाह्लादक नही। मेघदूत के—

"रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात्, वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते, बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥" पू० मे० १५।

इस वर्णन पर गीतगोविन्द के प्रणेता भक्तवर श्रीजयदेवजी ने—

"चन्द्रकचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयितकेशम्, प्रचुरपुरन्दरधनुरनुरञ्जितमेदुरमुदिरसुवेषम्॥" —गीतगोविन्द।

इस प्रकार रचना की है। इसमे और मेघदूत के वर्णन मे भेद केवल यही है कि मेघदूत मे मयूर पिच्छ का मुकुट धारण किए हुए भगवान् गोपालकृष्ण की उपमा इन्द्र-धनुष से सुशोभित मेघ को दी गई है, और गीतगोविन्द मे तादृश मेघ की उपमा तादृश भगवान् गोपालकृष्ण को दी गई है। मेघदूत के इस वर्णन का अनुकरण महाकवि माघ ने—

"अनुययौ विविधोपलकुण्डलद्युतिवितानकसंवलितांशुकम्, धृतधनुर्वलयस्य पयोमुचः शबलिमा बलिमानमुषोवपुः
—शिशुपाल वध ६।२७

इस प्रकार किया है। इसमे इन्द्र-धनुष से सुशोभित मेघ को भगवान् विष्णु के श्यामवर्ण की कान्ति की उपमा दी गई है—

* भृंगाली से मुखरित जहाँ वृक्ष है नित्यपुष्पा, हंसश्रेणी-लसित-रसना-पद्मिनी नित्य पद्मा।
पिच्छाभा से युत गृहशिखी नित्य उत्कण्ठ-घोषा, है ज्योत्स्ना से विगत तम की नित्य रम्या प्रदोषा।
—लेखक के हिन्दी मेघदूत-विमर्श का समश्लोकी अनुवाद।

ऐसी कान्ति की जो अनेक रगा की मणियो के कुण्डल की प्रभाराशि से चमत्कृत हो रही थी। माघ का यह वणन भी बडा मनोहारी है। मेघदूत में उज्जयिनी के बाजार के—

* हारास्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिश शखशुक्ती, शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणा च भगान्सलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषा।" —पूर्व मेघ ३३।

इस वणन में कहा गया है—उज्जयिनी के बाजारो में रक्खे हुए असख्य मुक्ताहार, करोडा शख-सीपियाँ, पन्ना की मणियाँ और प्रवालो के ढेर देखकर अनुमान होता ह, कि अब समुद्र म केवल पानी मात्र ही शेष रह गया होगा, जबकि समुद्र में से इतनी रत्न राशि वहाँ आ गई ह। इस वर्णन का अनुकरण उज्जयिनी के वर्णन में ही महाकवि बाणभट्ट ने इस प्रकार किया है—

"प्रकटशखशुक्ति मुक्ता प्रवाल मरकत मणिराशिभिश्चामीकरचूर्णसिक्ता निकररचितराशिभिरगस्त्यपरिपीत सलिल सागररिव महाविपणिपथरुपशोभिता।" —कादम्बरी।

इसका भावाथ यह है कि शख, सीपी और मोती आदि के ढेरा से एव बिखरे हुए सुवण के चूरे से उज्जयिनी के विस्तृत बाजारा की शोभा ऐसी दृष्टिगत होती है, माना महामुनि अगस्त्यजी द्वारा सारा पानी पिया जानेपर समुद्र में शेष रह गये शख, शीपी और रत्न ही दिखलाई पडते हा। मेघदूत के इसी वणन का अनुकरण महाकवि माघ ने इस प्रकार किया ह—

"वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशि, लोलरलोल्द्युतिभाञ्जि मुष्णन् रत्नानि रत्नाकरतामवाप।"
—शिशुपालवध ३।३८।

अर्थात् द्वारिका के बाजारा में रक्खे गये रत्नो के ढेर के ढेर जलमाग द्वारा बहकर समुद्र के तट पर आ जाने से द्वारिका के समुद्र का ही रत्नाकर (रत्नो का भण्डार) नाम प्रत्यक्ष चरितार्थ होता ह—अन्यत्र तो समुद्र में जल ही जल देखा जाता है, कहने मात्र को ही रत्नाकर है। महाकवि श्रीहर्ष की भी कल्पना देखिये—

"बहु कम्बुमणिवराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्कर। हिमवालुकयाच्छवालुक पटु दध्वान यदापणाणव।"
— नवधीयचरित २।८८।

इसमें कुण्डिनपुर के बाजार को समुद्ररूप वणन किया गया ह। समुद्र में शख और मोती आदि रत्न होते हैं। कुण्डिनपुर के बाजार में भी शख आदि के ढेर लगे हुए हैं। समुद्र में कुलीर नाम के जलजन्तु फिरते रहते हैं, उसमें भी कौडियो को गिनने के लिये चलायमान हाथ ही कुलीर रूप ह। समुद्र में वालू रेती होती है, उसमें भी अत्याधिक कपूर का चूर्ण बिखरा रहता है।

सत्य तो यह ह कि सारे रत्नसमूह उज्जयिनी के बाजारा में आ जाने के कारण समुद्र में पानीमात्र शेष रह जाने के वणन में जो कालिदास की उपयुक्त कल्पना है वैसी उज्जयिनी के बाजारा में बाणभट्ट द्वारा की गई जल रहित समुद्र की उत्प्रेक्षा में नही। और श्रीहर्ष की कल्पना तो केवल अत्युक्ति मात्र ह। माघ की कल्पना अवश्य अधिकाश में कालिदास के वर्णन के समकक्ष प्रतीत होती है। और देखिये—

"तस्यापातु सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी, त्व चेदच्छस्फटिक विशद तर्कयेस्तिर्यगम्भ।
स सपत्स्या सपदि भवत स्रोतसिच्छाययाऽसौ, स्यादस्थानोपगतयमुनासगमे वाभिरामा।" —पूर्वमेघ ५४।

मेघदूत के इस पद्य म श्री गगा का जल लेने के लिए आकाश पर से नीचे को झुके हुए श्यामवण के मेघ के दृश्य का बडा ही चित्ताकषक वणन है—यक्ष कहता है, हे मेघ, श्रीगगा के स्फटिक के समान शुभ्र और स्वच्छ जल पीने को जब तू

* मुक्तामाला अगणित जहाँ ह पडी शख शीपी, दूर्वा जसी विलसितमणी श्याम-वपुष की भी।
मूगों के ह कन घन लगे, देख बाजार-शोभा, जी में आता अब उदधि में वारि ही शेष होगा। हिन्दी मेघदूत विमश।
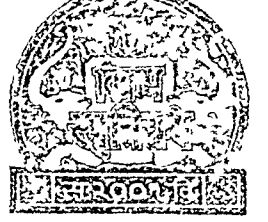
श्री कन्हैयालाल पोद्दार

इन्द्र के ऐरावत हस्ती के सदृश महत्काय श्यामवर्णवाला—आकाश में पिछले आधे भाग को ऊँचा किए और आगे के आधे भाग से तिरछा होकर नीचा झुकेगा, तब प्रवाह मे गिरी हुई तेरी छाया से भगवती गंगा ऐसी सुशोभित होंगी मानो प्रयाग से अन्यत्र ही यमुना का नयनाभिराम संगम हो गया हो। कालिदास की श्रीगंगा-यमुना के संगम के दृश्य की इस कल्पना ने महाकवियों के चित्त को वहुत आर्कार्षित किया है, माघ ने इस सूक्ति पर मुग्ध होकर रैवतक गिरि की तलहटी में बहनेवाली एक नदी का—

> "एकत्रस्फटिकतटांशुभिन्नतीरा नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसोऽपरत्र।
> कालिन्दीजलजनितश्रियः श्रयन्ते वैदग्धीमिह सरितः सुरापगायाः।"—शिशुपालवध ४।२६।

इस प्रकार वर्णन किया है कि एक ओर स्फटिक मणि के तट की श्वेत कान्ति के प्रतिविम्ब से शुभ्र और दूसरी ओर नीले पाषाणों के तट की छाया से नील प्रतीत होनेवाले प्रवाहवाली यह नदी, कलिन्दनन्दिनी यमुना की शोभा से मिली हुई भगवती गंगा की छवि धारण कर रही है। इस दृश्य का महाकवि मंखूक ने भी अनुकरण किया है—

> "यस्या सकृत्प्रणमतो धृतमन्तुतन्लुर्नम्रानना गिरिसुताश्रुभिरञ्जनांकः।
> मौलौ नवं लिखति शीतरुचेः कलंकम्, पुष्णात्यकाण्डयमुनाप्रणयां च गंगाम्॥—श्रीकण्ठ चरित ५।३९।

अर्थात् मानवती श्रीपार्वतीजी को बारम्बार प्रणाम करते हुए श्रीशंकर के ललाटस्थित चन्द्रमा के ऊपर, नम्रमुखी श्रीगिरिजा के अञ्जनमिश्रित अश्रु गिरते है, वे मानो चन्द्रमा के एक नवीन कलंक का उल्लेख कर रहे हैं और प्रयाग से अन्यत्र ही गंगा से यमुना का संगम करा रहे हैं। इस वर्णन में उत्प्रेक्षा की कल्पना विचित्र अवश्य है किन्तु साथ ही उपमेय-उपमान का परिमाण काव्यमर्मज्ञों की दृष्टि मे कुछ खटकता भी है।

यह केवल मेघदूत की सूक्तियों के अनुकरण का दिग्दर्शन मात्र है। इनके अतिरिक्त कालिदास के और भी अनेक वर्णनों का अश्वघोष*, दण्डी†, भवभूति‡, शूद्रक§ और अमरुक¶ आदि अनेक बड़े बड़े महाकवियों ने अनुकरण किया है।

कालिदास के काव्यों की विशेषता—कालिदास के सभी काव्य और नाटक संस्कृत के साहित्य मे विश्वतोन्मुखी प्रतिभा और सर्वोत्कृष्ट रचना के उदाहरण है। और अलौकिक कल्पनाओं की उद्यान वाटिका के कल्पतरु-प्रसून पुष्प-स्रावक हैं। इनपर प्रकाश डालने के लिए कालिदास के काव्य-नाटको के पर्याप्त अवतरणो पर अधिकाधिक विवेचन की आवश्यकता है। मेघदूत जैसे छोटेसे खण्डकाव्य के कुछ अवतरण ऊपर दिये गये है, इनपर भी तुलनात्मक दृष्टि से ध्यान देने पर स्पष्ट विदित हो सकता है कि कालिदास अपने रचनाकौशल से जो भाव थोड़ेसे सरल और सरस शब्दों मे गुम्फित करने एवं उपमा और उत्प्रेक्षादि अलंकारों की कल्पनाओं द्वारा वर्णनीय विषय का हृदयस्पर्शी यथार्थ चित्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने में सफलीभूत हुए है, तादृश सफलता विस्तृत शब्दावली में भी अन्य सुप्रसिद्ध बड़े बड़े महाकवि भी प्राप्त नही कर सके हैं। मेघदूत के दिखाए गए ऊपर के वर्णनों के अतिरिक्त भी विन्ध्याटवी के अन्तर्गत आम्रकूट, नर्मदा, चर्मण्वती एवं हिमालय प्रदेश के विचित्र दृश्यों पर और उज्जयिनी एवं कैलाशस्थित अलका के अप्रतिम दृश्यों के जो शब्दचित्र अंकित किये गये हैं, वे एक से एक बढ़कर आकर्षक है। केवल मेघदूत ही नहीं, कालिदास ने अपने सभी काव्य और नाटकों की रचना में पराकाष्ठा करदी है। उनके काव्यों में सृष्टि-सौन्दर्य किसी विशेष विषय-कामिनी के रूप लावण्य या किसी अवस्था विशेष के वर्णन में ही मर्यादित नहीं, किन्तु उनमे देश, काल, पात्र, गुण और कार्य की समष्टि आदि का भी परमोत्कृष्ट वर्णन किया

---

* उत्तर मेघ ४८ और बुद्धचरित 'अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्त दुःखः पुरुष· पृथिव्याम्, रघुवंश -२।३० सौंदरानन्द 'ततोविवक्तञ्च...........' कुमारसंभव ५।८५, सौंदरानन्द 'तंगौरवं बुद्धगतं.........'।

† पूर्वमेघ ६१ और दशकुमार चरित—शरदिन्दुकुन्द धनसार.......।

‡ उत्तरमेघ १८ और उत्तररामचरित ३।१८ एवं कुमारसंभव ४।२६ उत्तर रामचरित ४।८।

§ पूर्वमेघ ४१ और मृच्छकटिक ५।२।

¶ उत्तरमेघ ४९ और अमरुशतक २५।

गया है, और वे लोकशिक्षा एवं समाजोपयोगी विषयों से भी परिपूर्ण हैं। उदाहरण रूप में रघुवंश में देव, ब्राह्मणों में भक्ति, गुरुवाक्य में दृढ़ श्रद्धा, गो-सेवा, अतिथि की अभिलाषा की पूर्ति और लोकरञ्जन के लिए भगवान् रामचन्द्र द्वारा भगवती सीता जैसी प्राणप्रियतमा के त्याग का उच्चादर्श इत्यादि के मर्मस्पर्शी वर्णनों में कान्ता-सम्मित शब्दों द्वारा महत्त्वपूर्ण उपदेश दिये गये हैं। शाकुन्तल में भी यह शिक्षा गर्भित की गई है कि दाम्पत्य प्रेम जब तक स्त्री-पुरुष तक ही परस्पर मर्यादित रहकर उसका प्रभाव समाज, पुत्र और कन्या आदि पर नहीं हो पाता तब तक वह क्षणभंगुर ही है। और तो और मेघदूत जैसे केवल शृंगाररस पूर्णकाव्य में भी शिक्षा गर्भित कर देना यह विचित्रता कालिदास की ही दृष्टिगत होती है श्री गोवर्धनाचार्य ने बहुत ही यथार्थ कहा है—

"साकूतमधुर कोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये, शिक्षासमयेऽपि मुदे रतिलीलाकालिदासोक्ती।"*

—आर्यासप्तशती ३५।

मेघदूत के अनुकरण पर अन्य दूत काव्य और टीकाएँ—मेघदूत के अनुकरण पर बहुत से दूतकाव्यों की रचना भी संस्कृत साहित्य में अनेक प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा की गई है। उपलब्ध दूतकाव्यों में सबसे प्रथम जिनसेनाचार्य ने (शक ७०४) पार्श्वाभ्युदय लिखा है, तदनन्तर भोजराज ने चकोरदूत, विक्रमकवि ने नेमिदूत, वेदान्तदेशिक वेंकटाचार्य ने हंस-सन्देश, उदण्डशास्त्री ने कोकिल सन्देश, लक्ष्मीदास ने शुक-सन्देश, धोइक ने पवनदूत, वादिचन्द्र ने पवनदूत, विनयविजयगुणी ने इन्दुदूत, तैलंग व्रजनाथ ने मनोदूत, कृष्णसार्वभौम ने पदाङ्कदूत, माधवकवीन्द्र ने उद्धवदूत, श्री रूपगोस्वामी ने हंसदूत, भगवद्दत्त ने मनोदूत और लक्ष्मीनारायण ने रथाङ्गदूत इत्यादि लिखे हैं ‡। मेघदूत पर अनेक विद्वानों ने असंख्य टीकाएँ भी लिखी हैं। निष्कर्ष यह है कि उत्तर में पंजाब से लेकर दक्षिण में मद्रास तक और पश्चिम में महाराष्ट्र से बंगाल तक सभी प्रान्तों के सुप्रसिद्ध विद्वानों ने कालिदास और उनके काव्यों पर बहुत कुछ लिखा है। केवल एतद्देशीय ही नहीं, द्वीपान्तरीय विद्वानों द्वारा पाश्चात्य भाषाओं में भी मेघदूत के कई अनुवाद और व्याख्याएँ लिखी गई हैं। विल्सन् साहिब ने ई० सन १८१३ में अंग्रेजी में अनुवाद और व्याख्या लिखी है, गिल्डमीस्टर ने सन १८४७ में बोन में लटिन भाषा के कोष के साथ एक आवृत्ति निकाली थी। प्रोफेसर मेक्समूलर ने भी ई० स० १८४७ में एक आवृत्ति निकाली थी। अन्य पाश्चात्यों ने भी कई आवृत्तियाँ निकाली हैं। हमारी हिन्दी भाषा में भी मेघदूत के अनेक अनुवाद हो चुके हैं। जिनमें स्वर्गीय राजा लक्ष्मणसिंह का व्रजभाषानुवाद कालक्रम से ही नहीं, काव्यमाधुरी की सरसता में भी सर्व प्रथम है। इन पंक्तियों के लेखक ने भी मेघदूत का समश्लोकी अनुवाद, हिन्दी मेघदूत विमर्श लिखने का दुस्साहस किया है। बस उपसंहार में कालिदास के काव्यमर्मज्ञ भाष्यकार श्री मल्लिनाथ का निम्न लिखित पद्य लिखकर यह लेख समाप्त किया जाता है—

"कालिदासगिरां सारं कालिदास सरस्वती, चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशा ॥"

---

* मेघदूत के पद्यों में क्या शिक्षा गर्भित है, उसका दिग्दर्शन लेखक ने अपने हिन्दी मेघदूतविमर्श में कराया है।

‡ इनमें से ३५ टीकाओं के नाम और पतों का विवरण लेखक के हिन्दी मेघदूतविमर्श में दिये गये हैं।

मेघदूत में रामगिरि

महामहोपाध्याय श्री वासुदेव विष्णु मिराशी, एम्० ए०

कवि-कुल-गुरु कालिदास ने अपने मेघदूत नामक सुप्रसिद्ध खण्डकाव्य मे यह वर्णन किया है कि शापित यक्ष ने अलका से निर्वासित होने के पश्चात् रामगिरि के आश्रम मे आकर वास किया। मेघदूत के कुछ प्रारभिक श्लोको मे तथा अलका को जाने के मार्ग के वर्णन मे जो कुछ थोडी बहुत जानकारी मिलती है उसपर से इस रामगिरि का स्थान निश्चित करना सम्भव है। फिर भी इस सम्बन्ध मे किसी विद्वान् द्वारा व्यवस्थित प्रयत्न नही किया गया है। विक्रम संवत् के दो सहस्र वर्ष पूर्ण होने से भारतवर्ष मे स्थान स्थान पर विक्रम द्विसहस्राब्दी के उत्सव मनाए गए है। कालिदास का नाम विक्रमादित्य के साथ जुडा होने से इस अवसर पर उस कविश्रेष्ठ के ग्रन्थो का पुनर्मुद्रण तथा उनके सम्बन्ध मे चर्चा इत्यादि हो रही है। अत: रामगिरि के स्थल निर्णय की चर्चा करने की प्रस्तुत लेख मे योजना की गयी है।

शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, रघुवंश इत्यादि अपने अन्य ग्रन्थो के कथानक कालिदास ने प्राचीन वाङमय से लिए है। अत: उनमे उल्लिखित स्थलों का निश्चय करने मे उन संस्कृत ग्रन्थो से सहायता प्राप्त होती है। परन्तु मेघदूत का कथानक ठहरा केवल काल्पनिक ! अत: वहाँ हमे प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो से सहायता मिलना सम्भव नही है। रामगिरि के स्थान का निर्णय करने मे मुख्यत: मेघदूत मे आए हुए वर्णन पर ही हमको अवलम्बित रहना पडेगा। अत: मेघदूत काव्य से हमको रामगिरि विपयक क्या सूचना प्राप्त होती है यह देखना है।

यह रामगिरि पर्वत अत्यन्त पवित्र माना जाता था। वनवास-काल मे वहाँ के जलाशय मे सीतादेवी के स्नान करने के कारण उसका जल पावन हुआ था (श्लोक १)। उस पर्वत के मेखला भाग के कुछ स्थानों पर सर्व-जन-वन्दनीय श्रीरामचन्द्रजी के पादचिह्न अकित हुए थे (श्लोक १२)। ऐसे पुण्यक्षेत्र पर ऋपियो के अनेक आश्रम थे। रामगिरि पर्वत के अति उत्तुग होने के कारण, वर्षाऋतु मे उसपर आनेवाले मेघ वप्रक्रीड़ा करने के अर्थ झुके हुए दिग्गजो के तुल्य प्रतीत होते थे (श्लोक २)। उस पर घनी छायावाले अनेक वृक्ष थे। वहाँ निचुल नाम के सुन्दर स्थलवेतस वृक्ष थे (श्लोक १४)।

मेघदूत में रामगिरि

ऐसे रामगिरि पर अपने शाप के दिन व्यतीत करते हुए यक्ष को आषाढ मास के प्रथम दिन एक मेघ दिखाई दिया। उस समय उसे अपनी प्रिया का विरह दुःसह हो गया। उसकी प्रिया की भी वही अवस्था हुई होगी, यह कल्पना करके, उसके मन को धैर्य देने के उद्देश्य से, उसने मेघ को ही अपना दूत बनाकर उसे अलका नगरी में अपनी प्रिया के पास भेजने का निश्चय किया। उसने मेघ को नवीन कुटज पुष्प अर्पित किये (श्लोक ४) तथा उसकी प्रशसा करते हुए अलका नगरी के मार्ग का वर्णन करना प्रारम्भ किया। यक्ष ने कहा, 'हे मेघ, इस स्थान से उत्तर को जाते हुए पहले तुम्हें, जहाँ की भूमि तत्काल जोती हुई होने के कारण सुगन्धित होगी, वह माल नामक पठार दिखाई देगा। उसको पार करके तुम किञ्चित् पश्चिम की ओर मुडकर पुन उत्तर के पथ पर चलना (श्लोक १६)। तदुपरान्त प्रवास से खिन्न हुए तुम्हे आम्रकूट नामक सानुमान पर्वत अपने शिखर पर धारण करेगा (श्लोक १७)। उस पर्वत पर पक्व फलो से सुशोभित वन्य आम्रवृक्ष होने से वहाँ पहुँचने पर कृष्णवर्णयुक्त तुम्हारा रूप भूमि के स्तन जैसा प्रतीत होगा। उस स्थान पर जलवृष्टि करने के पश्चात तुम अपने मार्ग पर द्रुतगति से चल सकोगे। आगे चलकर विन्ध्य पर्वत के नीचे पथरीले प्रदेश म होकर प्रवाहित होनेवाली नर्मदा, हाथी के शरीर पर चित्रित वल्लरी के समान दृष्टिगोचर होगी (श्लोक १९)। इसके पश्चात् तुम्हे दशार्ण देश पडेगा। उस देश की सर्वत्र प्रसिद्ध राजधानी विदिशा है। वहाँ पहुँचने पर तुम्हें उस स्थल की वेत्रवती सरिता का मधुर जल पान करने को मिलेगा (श्लोक २४)। उस स्थान पर स्थित नीचगिरि नामक पहाडी पर तुम विश्राम के लिए रुक जाना। वहाँ की कन्दराओ में वेश्याओ के उपयोग में आए हुए सुगन्ध द्रव्यो के सौरभ से वहाँ के नागर लोक-समाज का उद्दाम यौवन उत्कृष्टता के साथ व्यक्त होता है (श्लोक २५)। इसके आगे जिस मार्ग का वर्णन है वह प्रस्तुत विवेचन में उपयोगी नही है, अत उसे देना आवश्यक नही है।

रामगिरि से विदिशा नगरी तक के मेघ मार्ग का ऊपर वर्णन किया गया है। उसके उत्तर बिन्दु विदिशा नगरी के स्थान निश्चित है। ग्वालियर राज्य में भेलसा नामक नगर के निकट स्थित बेसनगर नाम का एक छोटा-सा ग्राम ही यह प्राचीन विदिशा नगरी है। उसी के समीप वेत्रवती अथवा बेतवा नदी बहती है। उत्तर की ओर लगभग दो मील पर स्थित उदयगिरि नामक एक छोटी-सी पहाडी है। वह प्राचीन नीचगिरि है। इस पहाडी पर प्राचीन गुफाएँ हैं जिनमें गुप्तकालीन शिल्प तथा शिलालेख आज भी विद्यमान है। अत विदिशा नगरी के स्थान के सम्बन्ध में सन्देह नही है। इसके दक्षिण की ओर ही कही रामगिरि की स्थिति होना चाहिए। रामगिरि से विदिशा नगरी के मार्ग में प्रथम माल नामक पठार तथा पीछे आम्रकूट पर्वत एव नर्मदा नदी स्थित है, यह मेघदूत के वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है। इस भौगोलिक उल्लेख से रामगिरि के स्थान का निर्णय किया जाना है। फिर यह भी देखना है कि मेघदूत के वर्णन से इसकी कितनी संगति बैठती है।

पहले यह देखे कि इस सम्बन्ध में हमारे टीकाकारो का क्या कथन है। मेघदूत का सबसे प्राचीन टीकाकार वल्लभदेव दशम शताब्दी के प्रारम्भ में हो गया है। उसने मेघदूत के पहले श्लोक की अपनी टीका में कहा है कि "रामगिरिरत्र चित्रकूट। न तु ऋष्यमूक। तत्र सीताया वासाभावात्।" अर्थात् रामगिरि यहा चित्रकूट है। उसका ऋष्यमूक होना सम्भव नहीं है, कारण कि उस स्थान पर सीतादेवी का वास नहीं हुआ था। वल्लभदेव के निकट समकालीन स्थिरदेव नाम के टीकाकार ने कहा है—'रामगिरिर्दण्डकान्त प्रसिद्ध।' (रामगिरि यह दण्डकारण्य में स्थित प्रसिद्ध पर्वत है) इसके पश्चात् के टीकाकार दक्षिणावर्तनाथ ने यद्यपि निचुल तथा दिङ्नाग के सम्बन्ध मे दन्तकथाएँ विस्तृत रूप से दी है, तथापि रामगिरि के स्थान के सम्बन्ध में उसने मौन धारण किया है। दक्षिणावर्त नाथ के पश्चात्कालीन सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने वल्लभदास के इस मत की ही पुष्टि की है कि रामगिरि और चित्रकूट एक ही है। इनके पश्चात् के विद्युल्लतादि टीकाकारो ने प्राय मल्लिनाथ के निर्णय का ही अनुवाद किया है। अत बहुधा सभी संस्कृत टीकाकारो को 'रामगिरि और चित्रकूट एक ही है, यह मत मान्य था, ऐसा प्रतीत होता है। इन टीकाकारो में विवेक-बुद्धि के अभाव के कारण अथवा उनको इस विषय का महत्त्व प्रतीत न होने के कारण उन्होने इस प्रश्न पर गम्भीर विचार नहीं किया होगा। रामगिरि चित्रकूट होगा ऐसा उनका भाव होना भी स्वाभाविक है, कारण कि सम्पूर्ण रामायण म रामगिरि का कही भी उल्लेख नही आया है। मेघदूत के वर्णन से ऐसा स्पष्ट दिखता है कि इस गिरि पर श्रीरामचन्द्रजी ने सीतादेवी के साथ कुछ काल तक वास किया था, ऐसी कालिदास के काल में परम्परागत मान्यता थी। मुख्यत दो ही पर्वतो पर श्रीरामचन्द्रजी का
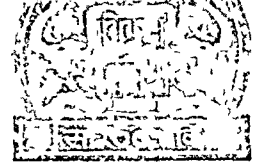
कुछ काल तक वास रहा था, रामायण में ऐसा वर्णन है। भारद्वाज आश्रम से प्रस्थान करने के पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी न सीतादेवी तथा लक्ष्मणजी के साथ चित्रकूट पर्वत पर कुछ काल तक वास किया, ऐसा आरण्यकाण्ड सर्ग ५६ में कहा गया है। उसके उपरान्त रावण द्वारा दण्डकारण्य में सीतादेवी के अपहरण किये जाने के पश्चात् उनका अनुसन्धान करते हुए श्रीरामचन्द्रजी ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँचे। वहाँ हनुमान एवं सुग्रीव से उनकी मित्रता होने के पश्चात् उस स्थान पर उन्होंने कुछ काल तक वास किया, ऐसा किष्किन्धाकाण्ड में वाल्मीकि ने वर्णन किया है। इस समय सीतादेवी साथ न होने से 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' इत्यादि मेघदूत में दिए हुए वर्णन की संगति ऋष्यमूक पर्वत के साथ स्पष्ट रूप से नही होती। अतः टीकाकारों का यह भाव होना कि चित्रकूट ही रामगिरि है, आश्चर्यजनक नही है। फिर भी थोड़ेसे विचार करने पर ही यह स्पष्ट हो जायगा कि इस मत का सत्य होना सम्भव नही है। भारद्वाज-आश्रम प्रयाग मे था। वहाँ पहुँचने पर श्रीरामचन्द्रजी ने भारद्वाज ऋषि से प्रार्थना की "भगवन्! हमसे मिलने की इच्छा रखनेवाले लोग यहाँ आने लगेगे, अतः इस आश्रम मे निवास करना मुझे प्रशस्त प्रतीत नही होता। अतः कोई एकान्त आश्रम-स्थान हमे बतलाइए।" इसके उत्तर मे भारद्वाज मुनि ने कहा, "राम, यहाँ से दस कोस के अन्तर पर ऋषियों से सेवित चित्रकूट नाम का पर्वत है, वह एकान्त स्थान है, अतः वहाँ अपना वनवासकाल व्यतीत करो।" इसके पश्चात् उस संगम से निकलकर यमुना तट के किनारे किनारे श्रीरामचन्द्र, सीतादेवी एवं लक्ष्मण सहित कुछ दूर तक गये और फिर उस नदी को पार करके आगे चित्रकूट पर्वत पर पहुँचे, ऐसा रामायण मे वर्णन है। चित्रकूट यमुना नदी से अधिक अन्तर पर न होगा यह इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है। इस चित्रकूट से तात्पर्य कामता के निकट के चित्रकूट से है,* ऐसा अब विद्वानो ने निर्णय किया है। चित्रकूट एवं कालंजर प्राचीन काल मे दुर्भेद्य दुर्ग समझे जाते थे और उन्हे अपने अधिकार मे रखने के लिए शक्तिशाली राजाओं मे स्पर्द्धा लगी रहती थी। शिलालेखों से यह भी ज्ञात होता है कि उत्तर-भारत मे अपना वर्चस्व स्थिर करने के लिए दक्षिण के राष्ट्रकूट राजाओ ने भी इन दुर्गो को अपने अधिकार मे रखा था।† कालंजर बाँदा जिले में स्थित सुप्रसिद्ध दुर्ग है। चित्रकूट उसके उत्तर की ओर कुछ ही दूरी पर है। आज भी यह पवित्र स्थान के रूप मे विख्यात है। यहाँ श्रीरामचन्द्र, सीतादेवी तथा लक्ष्मण की पादुकाएँ है। यह स्थान प्राचीनकाल से प्रसिद्ध है, इसमे सन्देह नही है। फिर भी यही चित्रकूट रामगिरि था यह सम्भव नही है, कारण कि रामगिरि से उत्तर की ओर जाते हुए मार्ग मे पड़नेवाली नर्मदा, विदिशा, उज्जयिनी इत्यादि नदियाँ तथा नगर चित्रकूट के दक्षिण की ओर स्थित है, उत्तर की ओर नही। अतः चित्रकूट ही रामगिरि है यह मत ठीक नही है।

इसके पश्चात् अब हम आधुनिक विद्वानो के मतों का परिशीलन करे। ठीक १३० वर्ष पूर्व सन १८१३ में होरेस हेमन विल्सन नामक सुप्रसिद्ध आंग्ल विद्वान् ने मेघदूत की अंग्रेजी भाषान्तर सहित प्रथम आवृत्ति प्रकाशित की। उसमे दी हुई टिप्पणी मे उन्होंने प्रतिपादित किया है कि "रामगिरि से तात्पर्य नागपुर के उत्तर की ओर कुछ अन्तर पर स्थित रामटेक से ही होगा कारण कि वहाँ रामचन्द्र के अनेक देवालय है तथा यात्रा के लिए दूर दूर से लोग आते ही रहते है।" यही मत आगे मेघदूत के अनेक टीकाकारों ने स्वीकार किया था, इनमे सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ स्वर्गीय प्रो० काशीनाथ बापूजी पाठक भी थे। उन्होने मेघदूत की अपनी प्रथमावृत्ति (सन् १८९४) मे इसी मत की पुनरावृत्ति की है। परन्तु उसके बाद

---

* यह चित्रकूट पर्वत प्रयाग से लगभग ६५ मील पर है। इससे यह शंका उपस्थित होती है कि रामायण में जिसका वर्णन है, वह क्या यही पर्वत है? इसका निराकरण दो प्रकार से हो सकता है। या तो रामायण में अन्तर अटकल से दिया हो अथवा जैसा कि पार्जीटर महोदय प्रतिपादन करते है, यह कोई विशिष्ट पहाड़ी न होकर केन नदी से प्रयाग की पश्चिम सीमा की ओर लगभग २० मील तक फैली हुई पर्वतमाला होगी। इनमें से प्रथम निराकरण अधिक संभवनीय प्रतीत होता है।

† राष्ट्रकूट सम्राट् तृतीय कृष्ण के सम्बन्ध में देवली के ताम्रपत्र का निम्न श्लोक—
"यस्य परुषेक्षिताखिलदक्षिणदिग्दुर्गविजयमाकर्ण्य। गलिता गूर्जरहृदयात्कालंजरचित्रकूटाशा॥" एपिग्राफिया इण्डिका पु० ५, पृष्ठ १९४।

मेघदूत में रामगिरि

रामटेक ही रामगिरि है, यह मान लेने पर यह शंका उत्पन्न होती है कि रामायण में उसका उल्लेख क्यों नहीं आया। परन्तु इसका समाधान करना कठिन नहीं है। रामायण के आरण्यकाण्ड में (सर्ग ११ श्लोक २८-२७) वर्णन है कि दण्डकारण्य में निवास करने के काल में भिन्न भिन्न ऋषियों के आश्रमों में कहीं तीन मास, कहीं चार मास, कहीं दस मास और कहीं एक वर्ष, इस प्रकार वास करके श्रीरामचन्द्र ने दस वर्ष व्यतीत किए। इन आश्रमों का सविस्तर वर्णन रामायण में न होने के कारण इस काल में उन्होंने रामगिरि के आश्रम में जाकर वास नहीं ही किया होगा ऐसा प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। रामगिरि के नाम का निर्देश रामायण में नहीं है, यह सत्य है। परन्तु वैसा निर्देश होना सम्भव भी नहीं था यह सहज ध्यान में आ जाएगा, कारण कि यह नाम श्रीरामचन्द्र के वास करने से उस स्थान को कुछ कालान्तर में प्राप्त हुआ होगा। इस पहाड़ी का प्राचीन नाम शवलगिरि था ऐसा रामटेक-माहात्म्य से ज्ञात होता है। यह शवल गिरि शम्बूक की तपश्चर्या का स्थान था ऐसा रामायण के उत्तरकाण्ड (सर्ग ७५) में उल्लेख है। रामटेक पर शम्बूक ने तपश्चर्या की, ऐसी आख्यायिका है। जिस स्थान पर उसका शिरच्छेद हुआ था वहाँ शिवलिंग स्थापित किया गया और वह आज भी धूम्रेश्वर* नाम से रामटेक पर प्रसिद्ध है। उस प्रसंग पर शम्बूक द्वारा की गयी प्रार्थना के फलस्वरूप श्रीरामचन्द्र ने इस गिरि पर वास किया और उस समय से उस पहाड़ी को रामटेक नाम से कहने लगे, ऐसा कहते हैं। रामायण में उल्लिखित शम्बूक के तपश्चर्या के स्थान के वर्णन की रामटेक से संगति ठीक बैठती है। अतः राम वनवास के वर्णन में 'रामगिरि' का उल्लेख नहीं है, इस आपत्ति में कुछ तथ्य नहीं रह जाता।

उपर्युक्त विवेचन से पाठकों को यह विश्वास हो जायगा कि कालिदास ने अपने मेघदूत काव्य में जिस रामगिरि का वर्णन किया है वह नागपुर के समीप का रामटेक ही है। रामगिरि एवं उसके चारों ओर के प्रदेश के कालिदास द्वारा किए गए सूक्ष्म वर्णन को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान करने में भी कोई बाधा नहीं है कि कालिदास ने इस पर्वत पर कुछ काल तक वास किया होगा एवं वहीं उसने 'मेघदूत' काव्य की रचना की होगी। ऐसे स्थान पर कवि-कुल-गुरु कालिदास का चिरकालीन स्मारक स्थापित हो, अतः विक्रम द्विसहस्राब्दी महोत्सव के अवसर पर नागपुर विश्वविद्यालय के उपकुलगुरु डॉ० तु० ज० केदार ने पिछली कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को रामटेक पर कालिदास स्मारक स्तम्भ का शिलान्यास किया। कालिदास अखिल भारतवर्ष का मान्य कवि होने से इस स्मारक को सफल करने में सम्पूर्ण भारतवर्ष को सहायता प्रदान करनी चाहिए। यह सहायता सभी की ओर से प्राप्त हो, इस इच्छा के साथ यह लेख समाप्त करता हूँ।

---

* ऊपर कहे गए रामदेवराय के काल के शिलालेखों में भी इसका उल्लेख धूम्रास नाम से आया है। देखिए सर देसाई स्मारक ग्रन्थ पृष्ठ १२६। शम्बूक की तपश्चर्या का स्थान पंचवटी के समीप था, भवभूति ने अपने उत्तररामचरित में ऐसा प्रकट किया है। उसने जिस प्रकार अन्य स्थलों पर रामायण की मूल कथा में परिवर्तन किए हैं वही यहाँ भी किया होगा।
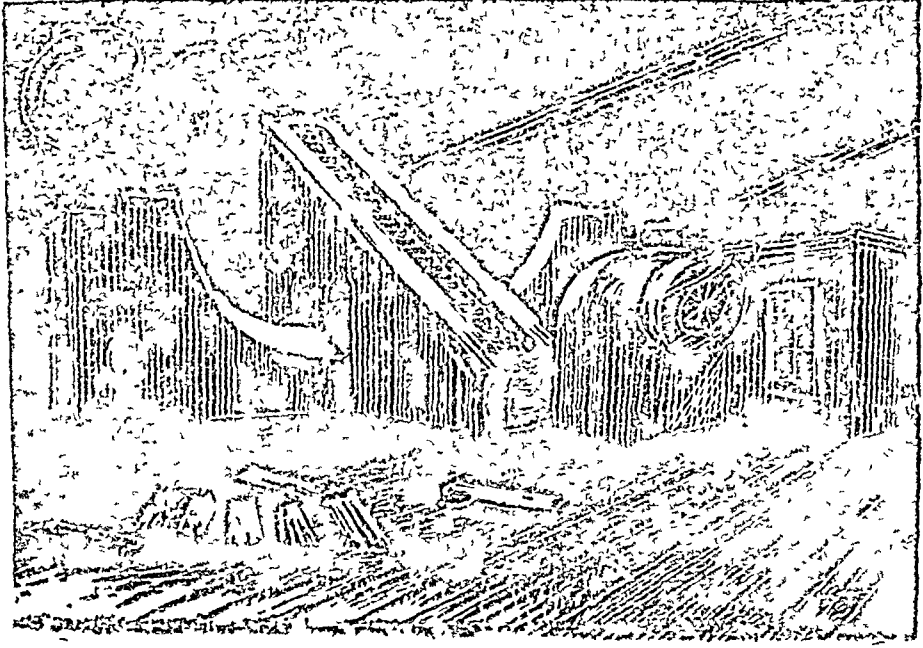
वराहमिहिर

श्री सूर्यनारायण व्यास, ज्योतिषाचार्य

ज्योतिर्विज्ञान के पूर्ववर्ती आचार्यों मे वराहमिहिर का स्थान असाधारण-महत्व रखता है। यह महा-पुरुष मालव-महि मण्डल मे उत्पन्न होकर केवल ज्योतिर्विदो के समाज मे ही नही, विश्व के इतिहास, और सस्कृति के समाराधको मे भी अपनी ग्रंथ-सम्पत्ति के द्वारा पंचभौतिक शरीर के शत-सहस्राब्दियों के पूर्व त्याग देने के पश्चात् भी यश:शरीर को चिरजीवी बनाए हुए है, और अनन्तकाल पर्यन्त बनाए रहेगा।

संस्कृत-साहित्य के पश्चिम-देशीय विद्वान्-विवेचक मेकडॉनल्ड ने वराहमिहिर के विषय मे यह प्रतिपादन किय है कि वे उज्जैन मे उत्पन्न हुए थे, और उन्होंने अपने गणित-शास्त्रीय लेखन का कार्य लगभग ५०५ ई० सन् मे आरम्भ किया था, और वराहमिहिर की विशाल एवं अमर कृति–'बृहत्संहिता' ग्रंथ के एक टीकाकार का यह कथन है कि आचार्य का निर्वाण ५८७ ई० सन् मे हुआ था। वराहमिहिर ने अपने पूर्ववर्ती जिन आचार्यो का उल्लेख किया है उनमे–"मय-यवन-मणित्य सत्य पूर्वैदिवस करादिषु वासरा: प्रदिष्ठा:" मयाचार्य के नाम और यवनाचार्य के उल्लेख से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये दोनों ही वैदेशिक थे। स्वभावत: 'यवनाचार्य' के ज्योतिर्विज्ञान का वराहमिहिर पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है, उन्होने अपने 'होरा-शास्त्र' को सर्वथा ग्रीक के निकट सम्पर्क से अपना लिया था, और ग्रंथ मे उसकी संगति लगाते हुए 'होरेत्यहोरात्र विकल्प मेके' कहकर अपने शब्द-व्युत्पत्ति शास्त्र की विशेषज्ञता का भी प्रमाण उपस्थित कर दिया है। अर्थात्-"कोई होरा इस शब्द को–'अहोरात्र' का वैकल्पिक (अपभ्रंश) रूप भी कहते है।" यही क्यों उन्होंने 'बृहज्जातक' और अन्य पुस्तकों मे भी यवनों के प्रेरित-शब्दों को उदारतापूर्वक अपनाया है। उन्होने अनेक राशिनामो को उसी रूप मे वर्णित कर ग्रंथ मे उन्हें संस्कृत मे गूथकर अपना लिया है। ग्रीक ग्रह-नामों में यथा ऑरिस के पर्याय मे आर (मंगल का नाम), हिलिऑस के बदले हेलि (सूर्य), 'केन्ट्रोन' के स्थान पर 'केन्द्र', और डायोमेट्रोन के स्थान पर 'जामित्र' आदि। भारतीयों ने सर्वदा अपनी सहानुभूतिक भावना के वशीभूत हो, जाति-देश-धर्म सम्प्रदाय की संकुचित भावना से ऊपर रहकर,—'गुणा: पूजा स्थानं गुणिषु नच लिंग नच वय:' गुण-ग्राहकता का, सहृदयता का परिचय, सद्भावना पूर्वक

में वराह मिहिर को प्रस्थापित किया गया ह, वह कसे सात हो सकता है? जो वराह मिहिर आदित्यदास तनय होकर उन्हीसे नान प्राप्त कर सूय से वर प्राप्त करता है, और ज्योतिष के ग्रथा में शिव विष्णु-सूय आदि की स्तुति करता है, उसे जैन धम-दीक्षित वतलाया जाना, और असुर भूत-प्रेत योनि तक में प्रकल्पित करना, सत्य पर आवरण डालकर अनगल प्रचार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

परन्तु कहा जा सकता ह कि भद्रबाहु भी एक नहीं दो थे, प्रथम भद्रबाहु यशाभद्र-सूरि के छात्र, एव चन्द्रगुप्त-मौय कालीन थे,* इससे स्पष्ट ह कि प्रथम भद्रबाहु का छठी शताब्दी के वराह-मिहिर से कोई सम्बन्ध नहीं। जिन नियुक्ति आदि के निमाता भद्रबाहु ह, वे यदि प्रथम भद्रबाहु होते तो कही वराहमिहिरादिक का, या हेमचन्द्र के ग्रथा में उक्त भद्रबाहु का अवश्य उल्लेख करते। जिन लोगा की दृष्टि में द्वितीय भद्रबाहु का छठी शताब्दी म अस्तित्व है, वे भद्रबाहु को ब्राह्मण कुलान्पन्न ही स्वीकार करते ह, सम्भव है, यह वराह मिहिर के भ्राता हा? वाद की जन रचनाआ में जो श्वताम्बरीय हैं, उनमें तथा उपयुक्त ग्रथा के अतिरिक्त सघतिलक सूरि कृत—'सम्यक्त्व सप्ततिका' आदि मे जिन भद्रबाहु का उल्लेख है वह यही द्वितीय हो सकते ह। सघतिलक सूरि की यह गाथा प्रकट ह—

'तत्थय चउदस विज्जाठाण पारगो छक्कम्म मम्मविऊ पयईए भद्दओ भद्दबाहु नाम माहणो हुत्था। तस्सय परम पिम्म सयसीरुह मिहरो वराह मिहरा नाम सहोयरो' परन्तु भद्रबाहु ने स्वय अपने किसी भी ग्रथ आदि में अपना समयादि कही अकित नही किया ह।

इसपर भी यदि कालक-कथा, एव कल्पसूत्र (१४८ सूत्र) आदि की विक्रम कालारम्भ की कल्पना से गणना करके भद्रबाहु के समय पर विचार किया जाये तो अनेक भ्रामक बातें उपस्थित हो जाती ह। सूत्र की कल्पना से भद्रबाहु १२५ वष से ऊपर की वय के ठहरते ह, और वराहमिहिर भी १०० से कम नही। यदि भद्रबाहु ३० वर्ष के लगभग वराह-मिहिर से वडे वना दिए जाएँ तो जन परम्पराएँ उनके साथ सु-सगत हो जाती ह। किन्तु मेरुतुग, या अन्य ग्रथकर्ता स्वय वराहमिहिर को लघु-वयु कहकर ही स्वीकार करते ह। इस प्रकार जन ग्रथा की विभिन्न चर्चाएँ स्वय ही अपनी प्रस्थापित कल्पना को प्रमाणित करने म असमय हो जाती ह। तव वराह मिहिर के जैन होने, या भद्रबाहु के बन्धुत्व की दन्तकथाएँ सवथा निरथक और तथ्यहीन हो जाती ह। और यह निर्विवाद ह कि वराह मिहिर छठी शती मे अपनी असीमित एव चमत्कृतिकर प्रतिभा के प्रकाश स भू-मण्डल को ज्योतिर्मय बनाए हुए थे। अवश्य ही 'कालिदास त्रयी' की तरह वराह मिहिर द्वय हो तो यह वात भिन्न ह। प्रथम वराह मिहिर विक्रमकालीन हो सकेगे। पचसिद्धान्तिका में वर्णित चर्चा से इस आशका के लिए अवसर ह कि एक वराह मिहिर वृहत्संहिताकार से पूववर्ती भी हो सकते ह। यद्यपि वे चाहे किसी विक्रम सभा की नवरत्न मालिका में परिगणित किए जाते हो या न हा, परन्तु स्वत व एक महान् रत्न थे, जिनमें अलौकिक आलोक पुजीभूत हो गया था। ज्योतिर्विदाभरण के प्रणेता ने वराह मिहिर को विक्रम की नवरत्न-मालिका में पिरो दिया है। स्वत वराह मिहिर ने कही भी उल्लेख नहीं किया है, और द्वितीय चन्द्रगुप्त की भी कहीं चर्चा नहीं होने देते ह। पराश्रित-प्रकाश की अपेक्षा वे स्वतत्र प्रतिभा-वैभव से ही ज्योतिष-जग पर सहस्र रश्मियों की दैदीप्यमान आभा प्रसारित कर रहे ह।

वराह मिहिर के ज्योतिर्विज्ञान पर, अतएव इस देश पर, अनन्त उपकार ह। इस उपकार भार से हम समस्त भारतियों का गर्वोन्नत मस्तक भी उनके समक्ष सादर विनयावनत बना हुआ है।

---

* वीर मोक्षाद वष शते, सप्तत्यग्रे गते सति। भद्रबाहु रपि स्वामी ययौ स्वग समाधिना ॥ परि० स० ९ श्लोक ११२।

महाक्षपणक और क्षपणक

श्री परशुराम कृष्ण गोडे, एम्० ए०

आख्यायिका के अनुसार विक्रमादित्य की राजसभा को नवरत्नों ने अथवा साहित्यिक उच्चता प्राप्त सुविश्रुत व्यक्तियों ने सुशोभित किया था। उन रत्नों मे हमें धन्वन्तरि, क्षपणक तथा अमरसिंह प्रभृति के नाम प्राप्त होते है। सम्भवतः विभिन्न कालवर्ती विभिन्न ग्रंथकर्ताओ के सम्मिश्रण से तथा उन सभी को विक्रमादित्य की राजसभा मे समकालीन वताने से उत्पन्न होने वाले काल व्यक्तिक्रम के कारण कुछ उच्च विद्वान् इस आख्यायिका को निरर्थक मानते है। परन्तु इस आख्यायिका को निरर्थक मानकर त्यागने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम आख्यायिका में कथित विभिन्न रत्नो के चतुर्दिक् शताब्दियों से एकत्र हुए धूमिल मडल को बेधने का वास्तविक प्रयत्न करे और इसके लिए यह अपरिहार्य है कि हम अत्यन्त प्राचीन अथवा अपेक्षाकृत कम प्राचीन ग्रन्थों मे प्राप्त इन रत्नो अथवा सुविश्रुत व्यक्तियो के समनामको के उल्लेखों का परीक्षण करें।

आख्यायिका में क्षपणक नवरत्नों में से एक है। इस सुविश्रुत व्यक्ति के समनाम व्यक्तियों की खोज में मुझे एक महाक्षपणक, प्राचीन पाण्डुलिपियों के पुस्तकालयों में अनेक पाण्डुलिपियों के रूप में उपस्थित 'अनेकार्थध्वनिमंजरी' नाम के प्राचीन कोष के सुविख्यात रचयिता के रूप में प्राप्त हुआ है।

'गणरत्नमहोदधि' के निम्न अवतरण मे वर्धमान ने एक क्षपणक का उल्लेख किया है :—

(श्लोक २६१)—"तालो घनुषि पीयूक्षा"; टीका "पीलुवाची" "पीयूक्षन्निति क्षपणकः"।

वर्धमान ने अपने ग्रंथ की रचना ११४० ईसवी मे की, अतः वर्धमान द्वारा उल्लिखित क्षपणक निश्चित रूप से ११४० ईसवी के पूर्व का है।

डॉ० झकेरी के विचार से क्षपणक तथा महाक्षपणक एक ही ग्रंथकर्ता के नाम हो सकते है। यद्यपि वे महाक्षपणक के काल का निर्णय नही कर सके, उनका कथन है कि 'उणादिसूत्र' के टीकाकार क्षपणक तथा महाक्षपणक के एक ही व्यक्ति होने की सम्भावना है।

महाक्षपणक और क्षपणक

क्षपणक तथा महाक्षपणक की अभिन्नता प्रामाणिक होने की दशा म 'अनेकाथध्वनिमजरी' एव 'एकाक्षरीकोश' नाम के शब्द कोशो के रचियता महाक्षपणक का समय 'गणरत्नमहोदधि' के काल से—११४० ईसवी से—पूर्व का ह।

अब म इसके अतिरिक्त अन्य स्वीकृत तत्त्वो का उल्लेख करूँगा जिससे महाक्षपणक तथा क्षपणक का काल और भी २०० वष या इससे अधिक पूव पहुँच जाता ह।

महाकाव्यो का टीकाकार वल्लभदेव अपनी व्याख्या की पुष्टि के लिए प्रमाणो का बहुत कम आश्रय लेता ह। तथापि उसकी रघुवश पर रचित टीका की पाण्डुलिपि* के ६८वें पष्ठ पर मुझे महाक्षपणक रचित अनेकाथध्वनिमजरी' का निम्न उद्धरण प्राप्त हुआ है—

"नरपतिश्चकमे मृगयारति समधुम मधुम मथसन्निभ"।

यह मूल के ५९व श्लोक की दूसरी पक्ति ह। इस पक्ति की टीका वल्लभ ने इस प्रकार की है —

"मन्मथ काम तत्समानमधू माद्य मधूक्षौद्र मधुपुष्परसस्तथा। मधुर्दैत्यो मधुश्चत्रो मधुकोपि मधुमद्' अनेकाथ ध्वनिमजरी"।

अनेकाथमजरी कोष, जिसे ऊपर के अवतरण म वल्लभ उद्धृत करता है, काश्मीरनिवासी महाक्षपणक का प्रतीत होता है। यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि वल्लभ जो स्वय काश्मीर निवासी था, एक अन्य काश्मीर निवासी महाक्षपणक द्वारा रचित अपने से प्राचीन कोष से उद्धरण ले।

उपर्युक्त उद्धरण पाठ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में मेरा कथन यह है कि यह अनेकाथध्वनिमजरी की मुझे प्राप्त हुई पाण्डुलिपि† म भी मिला है। इसपर सवत १५६८ अर्थात् १५१२ ईसवी तिथि का उल्लेख होने से यह पाण्डुलिपि स्वय ही ४३१ वष प्राचीन ह। इस पाण्डुलिपि के पृष्ठ १ पर उपर्युक्त उद्धरण इस प्रकार है —

"मधुर्दैत्यो मधुश्चत्रो मधुकोपिमधुमत"।

उद्धृत कोष दो नामो से प्रसिद्ध ह। राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा वर्णित इस ग्रथ की दो पाण्डुलिपियो मे तथा डॉ० एग्लिग् द्वारा वर्णित एक तीसरी प्रति म इस ग्रथ का नाम उपयुक्त वल्लभ के उद्धरण म कहे हुए नाम के समान ही 'अनेकाथमजरी' है। इस ग्रथ का नाम 'अनेकाथध्वनिमजरी' भी है। आफ्रेक्ट ने अपने विशाल कॅटेलॉगस कॅटलोगोरम म अनेक पाण्डुलिपियो का इस नाम के अन्तगत उल्लेख किया है। डॉ० एग्लिग् ने भी इस नाम की एक पाण्डुलिपि का उल्लेख इण्डिया आफिस के पुस्तकालय के अपने कॅटेलाग ऑव् सस्कृत मॅनुस्क्रिप्ट्स् में किया है।

रघुवश पर लिखी अपनी टीका में वल्लभदेव द्वारा उद्धृत अनेकाथध्वनिमजरी के प्राप्त हुए श्लोक को दृष्टि म रखते हुए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते ह कि अनेकाथध्वनिमजरी का रचयिता महाक्षपणक अथवा क्षपणक काश्मीर के वल्लभदेव से पूववर्ती है।

वल्लभदेव के काल के सम्बन्ध मे अब मुझे यह कहना है कि उसके पौत्र एव चन्द्रादित्य के पुत्र (९७७ ८२ ईसवी) कय्यट द्वारा काश्मीर के राजा भीमगुप्त (९७७ ८२ ई०) के शासनकाल म आनन्दवधन के देवीशतक पर ९७७-७८ ईसवी म टीका लिखे जाने के कारण विद्वानो ने उसे दशम शताब्दी के पूर्वाध मे रखा है। वल्लभदेव की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानो की अधिक स्पष्ट सूचना यह ह कि वह ई० ९२५ के लगभग विद्यमान था।

---

* भाण्डारकर रिसच इन्स्टीट्यूट, पूना में स्थित गवनमेण्ट मॅनुस्क्रिप्ट लायब्रेरी की १८८७ ९१ की पाण्डुलिपि, सख्या ४४९।

† उक्त इन्स्टीट्यूट तथा लायब्रेरी की १८८० ८१ की पाण्डुलिपि, सख्या २७०।

श्री परशुराम कृष्ण गोडे

इस प्रकार उल्लिखित कोश का लेखक महाक्षपणक अथवा क्षपणक ८०० ईसवी या ऐसी ही किसी तिथि से पूर्वकालीन नही तो ९०० ईसवी से पूर्व का अवश्य हो सकता है। महाक्षपणक की तिथि के सम्बन्ध मे यह सीमा, अमरकोश के विख्यात् रचियता अमरसिंह से, जो नवरत्नों की आख्यायिका के अनुसार अन्य सुविश्रुत व्यक्तियों के साथ विक्रमादित्य की राजसभा को अलंकृत करता था, उसके समकालीन होने की सम्भावना उत्पन्न करती है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय (अथवा विक्रमादित्य, ४०१ ई०) कवियों को आश्रय देता था। डॉ० ए० बी० कीथ के विचार में नवरत्नों की आख्यायिका विक्रमादित्य के इस यश की साक्षीभूत है। महाक्षपणक अथवा क्षपणक का काल मैंने पहले ही ८०० ईसवी अथवा ऐसी ही किसी तिथि से पूर्व का सिद्ध कर दिया है और यदि यह क्षपणक तथा आख्यायिका के क्षपणक एक ही हैं, तो यह तर्क करना सम्भव है कि वह चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा में—जिसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी—रहा हो। कुछ विद्वानो ने प्रचलित इस मत से कि कालिदास गुप्तकाल के कवियों मे से था, इस दृष्टिकोण का सामंजस्य है।*

सभी आख्यायिकाएँ प्रचलित कल्पनाओं से उत्पन्न होती हैं और फलतः वे सम्पूर्ण विस्तार में ऐतिहासिक सत्य नहीं होती। फिर भी इन आख्यायिकाओं की उत्पत्ति एवं शताब्दियों से हुए उनके आनुक्रमिक विकाश के ज्ञान को सम्भव बनाने के लिए हमे उनकी प्राचीनता की परीक्षा करना उपयुक्त है। भविष्य के विद्वानों को वे परीक्षण के लिए तत्काल प्राप्त हो जावे, इस उद्देश्य से भी इन सब आख्यायिकाओं को एकत्र संग्रहीत करना उपादेय है। प्रस्तुत निवन्ध में मैंने केवल आख्यायिका के क्षपणक की उसके समनामक अनेकार्थध्वनिमंजरी के रचयिता से, जिसकी स्थिति (८०० ई०) से पूर्व के काल की सिद्ध की जा चुकी है, अभिन्नता का परीक्षण किया है। इस समस्या मे रस लेनेवाले विद्वानों का मैं कृतज्ञ होऊँगा यदि वे क्षपणक के समनामकों के सम्बन्ध मे ८०० ईसवी से पूर्व के सूत्रों से उपादेय उल्लेखों का निर्देश करेंगे।

नवरत्नों की आख्यायिका के सभी सुविश्रुत व्यक्तियो के काल का जब हम निश्चित रूप से निर्णय कर लेंगे, तभी हम इस आख्यायिका को मिथ्या कहकर छोड़ सकेगे।

प्रस्तुत निवन्ध के आधारभुत प्रमाण के लिए मै पाठकों का ध्यान अपने लिखे डॉ० एम्० विण्टरनिट्ज (Dr. M. Winternitz) के फेस्ट्स्क्रिफ्ट (Frestschrift) (लेपजिग १९३३) मे प्रकाशित (पृष्ठ ८९-९१) 'अनेकार्थध्वनिमंजरी का काल' नामक निवन्ध की ओर आकर्षित करता हूँ। यह प्रमाण विक्रम-स्मृति-ग्रंथ के पाठकों को रुचिकर होना सम्भव है तथा फेस्टस्क्रिफ्ट (जर्मन भाषा मे) इस देश के सभी विद्वानों को सरलता से प्राप्य नही है, इस कारण मैंने प्रस्तुत निवन्ध मे अनेकार्थध्वनिमंजरी के रचयिता क्षपणक के काल के सम्बन्ध मे अपने तर्कों के तथा उसके विक्रमादित्य के नवरत्नों की आख्यायिका के क्षपणक से अभिन्न होने की सम्भावना के सम्बन्ध में संक्षिप्त निर्देश किया है।

---

* प्रो० भगवतशरण उपाध्याय का 'कालिदास का काल' (*Date of Kalidas*) नामक निवन्ध (जर्नल ऑव दी यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी, खण्ड १४, भाग २, पृष्ठ ३५)।

❀ कालिदास ❀

श्री उदयशंकर भट्ट

विश्व भारती कल्प-लता के अमर सुमन मकरंद अमंद,
युग-युगान्त का तिमिर चीर कर हुए प्रकाशित जिनके छंद,
नग-अधिराज शिखर गौरव से जिनके गाते गीत ललाम,
कवि कुल गुरु उन वश्यवाक् श्रीकालिदास को सतत् प्रणाम।

× × × ×

हिमगिरि शिखर-समाधि स्थित स्मर विजयी शंकर मुग्ध हुए,
जिनके वीणा पाणि-स्तव से प्रलयंकर उद्बुद्ध हुए,
गण गण गुंजित ताडव मंडित विश्व ध्वनि साकार हुई,
क्षण क्षण अणु परिमाणु हिल उठे गति में अयति पुकार हुई।

× × × ×

रस हिलोर से सप्त सिन्धु भर, नाच उठे भूधर सारे,
नदित स्तव से, भव-वैभव से आप्लुत हुए स्कंद न्यारे,
तारक-दल खिल झिलमिल झिलमिल जिनसे निज वैभव पाते,
रवि, शशि, उषा, मेघमालाएँ नितप्रति दूत बने आते।

× × × ×

नव-नव चेतन लिए समीरण पहुँचाता संदेश जहाँ,
यक्ष प्रिया को घूम घूम कर ठहर-ठहर निःशेष जहाँ,
अमर भारती वीणानादिनि, जिनको पा कृतकृत्य हुई,
कालत्रय की प्रकृति भाव ले शब्द शब्द की भृत्य हुई।

× × × ×

अति तेजस्वी, अमर यशस्वी, अपर विधाता अति अभिराम,
उस प्रकाश को, उस विकास को, कालिदास को सतत् प्रणाम।
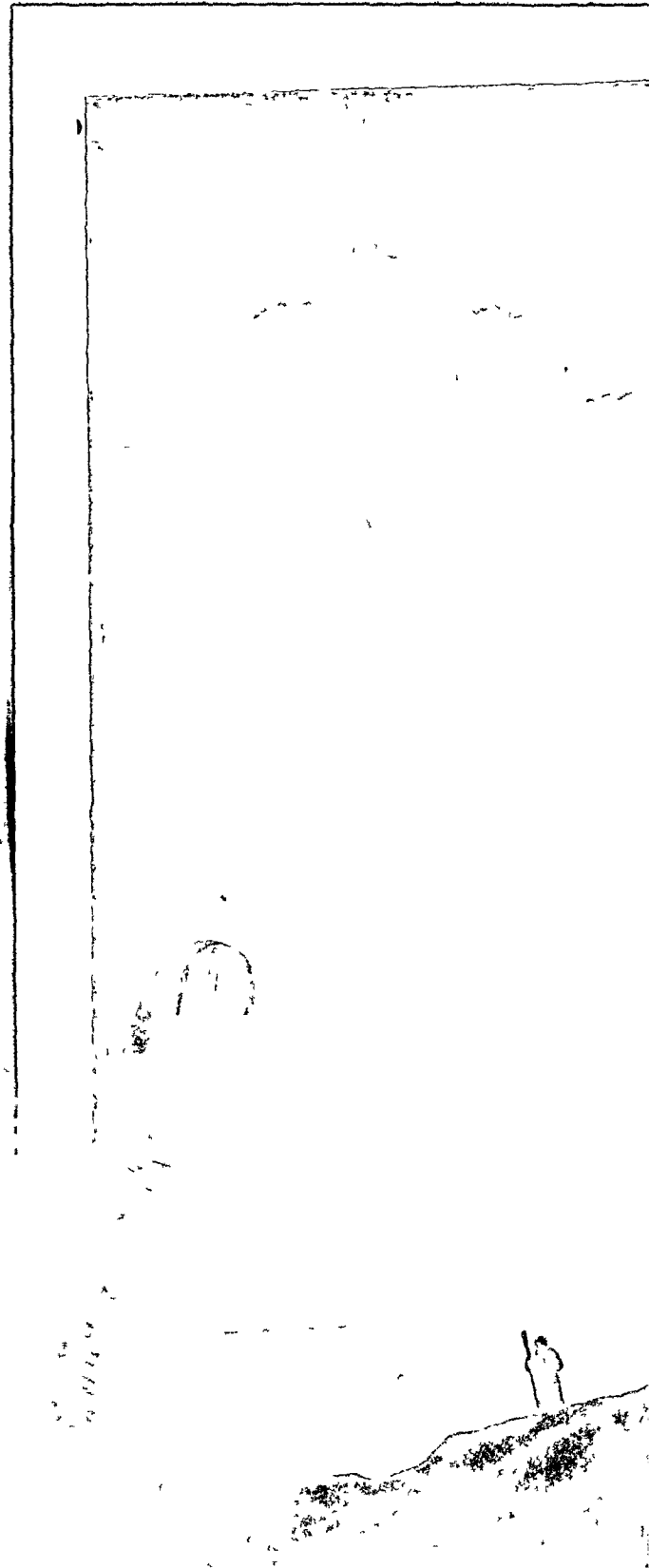
नगाधिराज

: —श्री रुद्र हंजी, मद्रास)

भारतीय इतिहास में धन्वन्तरि

श्री विजयगोविन्द द्विवेदी, बी० ए०, आयुर्वेदरत्न

भारतवर्ष की राजनीति, सस्कृति, साहित्य, विज्ञान तथा कला के इतिहास में विक्रमादित्य का नाम अपनी अनपायिनी प्रभा के साथ गौरव एवं प्रशंसा से विभूषित है और इसके साथ ही अमर है इनके यशःशरीर की रचना के अनेक बीजों मे से एक इनकी राजसभा के रत्नो की नाममाला। विक्रमादित्य के सम्बन्ध में प्रचलित विचारों और जन-श्रुतियों का आधार प्रधानतः गुणाढ्य की पैशाची मे रचित बृहत्कथा है। बृहत्कथा अब अप्राप्य है। उसका सोमदेवकृत संस्कृत संस्करण कथासरित्सागर प्राप्त होता है। इसके पश्चात् 'पट्टावली' भी विक्रमादित्य के सम्बन्ध मे प्रचलित अनुश्रुतियो का प्रश्रय है और 'ज्योतिर्विदाभरण' मे विक्रम के नवरत्नों के सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख है :—

धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

नेपाल-राजगुरु श्री हेमराज शर्मा तथा वी० एस० आपटे के मत—नेपाल-राजगुरु श्री हेमराज शर्मा ने काश्यप० संहिता के विस्तृत उपोद्घात मे विक्रमादित्य की नवरत्नमाला के धन्वन्तरि के सम्बन्ध मे इस प्रकार कहा है :—

'नवरत्नों मे गिना गया धन्वन्तरि कवि है, इसका वैद्याचार्य होना कही से भी प्राप्त नही होता।'*

श्री० वी० एस् आपटे महोदय ने भी नौ महर्ष रत्नो के नाम गिनाने के बाद 'नवरत्न' शब्द का अर्थ उक्त श्लोक उद्धृत करते हुए 'विक्रमादित्य की राजसभा के नौ रत्न अथवा कवि'† किया है।

---

* 'नवरत्नेषु गणितो धन्वन्तरिः कविः, नास्य वैद्याचार्यत्वं कुतोप्यायाति"—श्रीयादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य द्वारा संपादित 'काश्यपसंहिता वृद्धजीवकीयतंत्रं वा' का उक्त पंडितजीकृत उपोद्घात, पृष्ठ ६२।

† '—the nine gems or poets at the court of King Vikramaditya'—V. S. Apte's *Practical Sanskrit English Dictionary*.

भारतीय इतिहास में धन्वन्तरि

निबन्ध का क्षेत्र—दो दो विद्वानो द्वारा नवरत्नो की आख्यायिका के धन्वन्तरि को 'कवि' कहा जाने के पश्चात् उसे कवि के अतिरिक्त कुछ कहना साधारणत दु साहस हो सकता है। परन्तु उन्ही के स्वर में अपना स्वरक्य करने से पूर्व यह आवश्यक है कि भारतीय इतिहास में प्रचलित अनेक धन्वन्तरि नामो की ऐतिहासिकता का यहाँ परीक्षण कर लिया जाय और कम से कम इस सम्भावना पर विचार कर लिया जाय कि विक्रमादित्य से सम्बद्ध धन्वन्तरि दो विद्वानो द्वारा कवि कहा जाने के पश्चात् भी कवि के अतिरिक्त कुछ और हो सकता है अथवा नही।

ऋग्वेद में धन्वन्तरि—इस परीक्षण को वेदो से प्रारम्भ करके हम देखते है कि वहाँ यद्यपि 'धन्वन्तरि' नाम का उल्लेख नहीं है तथापि सुश्रुतसहिता में* उल्लिखित 'काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि', जिनके नाम के 'काशिराज' तथा 'धन्वन्तरि' भाग उपाधिजन्य तथा आनुवशिक प्रतीत होते है, और शेष दिवोदास बचता है, उनका आयुर्वेद के अन्य आचार्य भारद्वाज तथा अश्विनीकुमारो के साथ ऋग्वेद में इस प्रकार स्पष्ट उल्लेख है —

'यदयातं दिवोदासाय वर्ति भरद्वाजायाश्विनाहयन्ता'†

हरिवश तथा विष्णुपुराण के वशानुक्रम—इस धन्वन्तरि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में उत्पन्न सन्देह के निराकरण के लिए अन्य स्थलो पर हुए इनके नामोल्लेखो की गवेषणा में विष्णुपुराण तथा हरिवश में आये इनके निम्नलिखित वशानुक्रम उल्लेखनीय है —

विष्णुपुराण (४-८) ‡—पुरुरवा—आयु—क्षत्रवृद्ध—काश—काशिराज—दीर्घतपा—धन्वन्तरि—केतुमान्—दिवोदास—प्रतर्दन।

हरिवश (२९)‡—काश—दीर्घतपा—धन्व—धन्वन्तरि—केतुमान्—भीमरथ—दिवोदास—प्रतर्दन।

उपर्युक्त वशानुक्रम की पीढियो के क्रम में यद्यपि अन्तर है, तथापि इस बात में दोनो का मतैक्य है कि धन्वन्तरि दिवोदास के पूर्वज थे। इससे यह अनुमान करना अनुचित नही है कि दिवोदास ने, जो स्वयं आयुर्वेद का आचार्य था, अपने पूर्वपुरुष धन्वन्तरि के सर्वसम्मानित आचार्य होने से अपने नाम से पूर्व धन्वन्तरि नाम जोडा हो। इस तथ्य की पुष्टि चरकसहिता के इन उद्धरणो से भी होती है जिनसे शल्यचिकित्सको का भिन्न सम्प्रदाय होना और उसका नाम भी धान्वन्तरि पडना प्राप्त होता है —

'तत्र धान्वतरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ।' 'दाहे धान्वतरीयाणामपि भिषजा मतम्॥'

धन्वन्तरि के अन्य उल्लेख—ऋग्वेद के पश्चात् कौषीतकिब्राह्मण म हम आयुर्वेद के आचार्य धन्वन्तरि के वशज 'दैवोदासि प्रतर्दन' का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है —

'अथ ह स्माह दैवोदासि प्रतर्दनो नमिषीयाणा सत्रमुपगम्योपास्य .... विचिकित्सा पप्रच्छ'।⁂

कौषीतक्युपनिषत् में भी दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का उल्लेख 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रिय धामोपजगाम।'⁑ इस प्रकार मिलता है। काठकसहिता में हरिवश के भीमरथ को भीमसेन कहा है और वहाँ भीमसेन के पुत्र दिवोदास का उल्लेख इस प्रकार है —

'दिवोदासो भैमसेनिरारुणिमुवाच' ⁂

* "..............आथमस्य काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि.............. सुश्रुतप्रभृतय ऊचु" सुश्रुतसहिता सूत्र स्थान अध्याय १।

† ऋग्वेद १ ११२-१६।

‡ G N Mukhopadhyaya—*History of Indian Medicines*, Vol. II P 310—11

⁂ कौषीतकिब्राह्मण २६-५। ⁑ कौषीतक्युपनिषत् ३ १। ⁂ काठकसहिता ७-१-८।

श्री विजयगोविन्द द्विवेदी

धन्वन्तरि तथा दिवोदास नामों का उल्लेख महाभारत के उद्योग* तथा अनुशासन† पर्वों में प्राप्त होता है।

भगवान् वुद्ध के चिकित्सक जीवक द्वारा संग्रहीत काश्यपसंहिता में भी धन्वन्तरि‡ नाम का उल्लेख है, तथा ऋक्सर्वानुक्रमणी में दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है :—

प्रसेनानीश्चतुर्विंशतिर्दैवोदासिः प्रतर्दनः॥ (कात्यायनी ऋक्सर्वानुक्रमणी सू० ५२)।

पालि के मिलिन्दपञ्हो नामक ग्रंथ में भी पूर्वाचार्यों मे धन्वन्तरि को गिनाते हुए मिलिन्द (मीनाण्डर) ने नागसेन से इस प्रकार कहा है :—

"भन्ते नागसेन ! वैद्यक शास्त्र के जो पुराने आचार्य हो गए हैं—नारद, धन्वन्तरि, अंगिरस्.......................सभी ने अपने स्वयं अनुभव कर करके अपने शास्त्रों को लिखा था, क्योकि वे सर्वज्ञ नही थे।"¶

जातक ग्रंथों में भी आयुर्वेद के आचार्य धन्वन्तरि का उल्लेख है। अयोघर नाम के जातक** मे वैतरणि तथा भोज नाम के आयुर्वेद के आचार्यों के साथ धन्वन्तरि का नाम आया है। आर्यसूरीय जातक †† मे केवल धन्वन्तरि का नाम ग्रहीत हुआ है।

धन्वन्तरि के नाम का उल्लेख गरुड, स्कन्द, तथा मार्कण्डेय पुराणों में भी प्राप्त होता है।

वाराणसी अथवा काशी के स्वामी धन्वन्तरि दिवोदास—इन धन्वन्तरि के पौत्र दिवोदास ने इन्द्र के आदेशानुसार 'वाराणसी' वसाई ऐसा महाभारत के इस कथन से ज्ञात होता है :—

सौ देवस्त्वथ काशीशो दिवोदासोऽभ्यषिच्यत। दिवोदासस्तु विज्ञाय वीर्यं तेषां यतात्मनाम्। वाराणसी महातेजा निर्ममे शक्रशासनात्॥

दिवोदास ने ऊजड़ वाराणसी को वसाया, हरिवंश मे ऐसा उल्लेख भी मिलता है। महाभारत के उद्योग पर्व मे इनके काशीश होने का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है :—

महावलो महावीर्यः काशीनामीश्वरः प्रभुः। दिवोदास इति ख्यातो भैमसेनिर्नराधिपः॥

भावप्रकाश मे भी इनके काशी के स्वामी होने का उल्लेख प्राप्त होता है।‡‡ इस काशी तथा वाराणसी का उल्लेख महावग्ग में प्राप्त होता है तथा वुद्ध ने धर्मचक्र का प्रवर्तन वाराणसी नामक प्रदेश के ऋपिपत्तन मृगदाय मे किया यह सूचना भी वहीं प्राप्त होती है।§ जातक ग्रंथों मे तो वाराणसी का उल्लेख अनेक स्थानो पर मिला है और मिलिन्द-

---

* अध्याय ११७।

† अध्याय २९ तथा ९६।

‡ निर्णय सागर प्रेस का संस्करण, पृष्ठ ३९।

¶ भदन्त आनन्द कौसल्यायन कृत हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३३४।

** "धम्मंतरि वेतरणि च भोजो विसानि हत्वा च भुजंगमानम्"॥

†† "हत्वा विषाणि च तपोवलसिद्धमंत्राः व्याधीन्नृणामुपमशय्य च वैद्यवर्याः।
धन्वन्तरिप्रभृतयोऽपि गता विनाशं धर्माय मे नमति तेन मतिर्वनान्ते॥"

‡‡ नाम्ना तु सोऽभवत् ख्यातो दिवोदास इति क्षितौ...........
यत्नेन महता ब्रह्मा तं काश्यामकरोन्नृपम्
ततो धन्वतरिर्लोकैः काशीराजोऽभिधीयते॥ भा० प्र० १।७३-७४।

§ महावग्ग १, १।

पञ्हो नामक ग्रथ में भी वाराणसी* का निर्देश प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने अपने सूत्रा मे काशी का♦ तथा नद्यादिगण म नगरवाचक वाराणसी† शब्द का उल्लेख किया है।

धन्वन्तरि का प्रादुर्भाव—इन धन्वन्तरि के जन्म के विषय म, अन्य विभूतिया के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में उपस्थित अस्पष्टता के अविपरीत ही पुराणा तथा महाभारत ने विभिन्न मतो का अवलम्बन किया है। इनके सम्बन्ध में अम्बष्ठाचार-चन्द्रिका में उद्धृत पुराण के वचना के अनुसार‡ एक मनोरजक कथा इस प्रकार है —

"एक बार महर्षि गालव कुश आदि की खोज मे वन म अत्यन्त परिश्रान्त हो गए। वे अत्यन्त तृषार्त थे, किन्तु जल न मिलने से वन से बाहर निकले। उन्हे कटिप्रदेश पर जलकलस रखे एक युवती कन्या मिली। उसे देखकर प्रसन्न होकर मुनि पुगव ने कहा 'हे कन्ये त्व जल देहि प्राणरक्षा कुरुष्व मे।' उसने वह जल-कलस ऋषि को दे दिया। ऋषि ने उसमें से आधे से स्नान तथा आतृप्ति पान किया तथा कहा, 'हे कन्ये! तू पुत्रवती हो।' कन्या ने कहा, 'मेरा पाणि-ग्रहण नही हुआ है।' मुनिवर ने कहा 'तू कौन है और तेरा क्या नाम है?' उसने कहा, 'मैं वैश्य की कन्या हूँ और मुनिपुगव! मेरा नाम वीरभद्रा है।' तब ऋषि ने विचार किया और उसे साथ लेकर ऋषियो के पास जाकर सारा वृत्तान्त कहा। ऋषिया ने प्रसन्न होकर कहा, 'तथास्तु। इस वैश्य कन्या वीरभद्रा से धन्वन्तरि उत्पन्न होगा।' ऐसा कहकर उन ऋषियो ने कुश की एक पुतली बनाकर कन्या की गोद म रख दी और वेदमन्त्रो द्वारा उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की। उसी समय उस (कन्या) की गोद म स्वर्ण-राशि के समान गौर सौम्य आकृति का बालक देखकर श्रेष्ठ मुनियो को अत्यन्त हर्ष हुआ वह वेद मन्त्रा से उत्पन्न हुआ अत वैद्य और माता के कुल म स्थित था अत अम्बष्ठ नाम से विख्यात हुआ।"

स्कन्दपुराण म भी ऐसा ही एक उपाख्यान कहा गया है। वहा वीरभद्रा के पिता ने गालव ऋषि को वह कन्या प्रदान की है। परन्तु गालव ऋषि ने पाणिग्रहण स्वीकार न करके उस कन्या से धन्वन्तरि पुत्र होने का वर दिया है।‡

अब्जदेव धन्वन्तरि—इससे भिन्न समुद्र-मथन के फलस्वरूप चतुर्दश रत्नो के साथ जल से धन्वन्तरि के उत्पन्न होने की कथा भी प्राप्त होती है। भगवान् धन्वन्तरि की इस उत्पत्ति का उल्लेख महाभारत*, विष्णुपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण♦, अग्निपुराण‡ तथा हरिवश आदि में प्राप्त होता है। परन्तु सम्भवत यह उल्लेख दिवोदास अथवा उनके पितामह या प्रपितामह का न होकर आयुर्वेद के अधिष्ठाता अब्जदेव का है। इनका सम्बन्ध इन्हीके अवतार§ कहे गए मानव-शरीर-धारी धन्वन्तरि स अथवा उनके पौत्र या प्रपौत्र धन्वन्तरि दिवोदास से स्थापित नही किया जा सकता। यह सम्भावना हो सकती है कि लोकोत्तर प्रतिभासम्पन्न आयुर्वेद के उद्धारक आचार्य धन्वन्तरि के सम्बन्ध में ही इस अलौकिक जन्म की तथा देवत्व की कल्पना कर ली गई हो।

गुरुपरम्परा—इन धन्वन्तरि ने दक्ष प्रजापति के शिष्य अश्विनीकुमारा के अन्तेवासी देवराज इन्द्र से—जिनके आदि आचार्य ब्रह्मा थे—परम्परागत आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। सुश्रुतसहिता में यह इस प्रकार प्राप्त होता है —

ब्रह्मा प्रोवाच तत प्रजापतिरधिजगे, तस्मादश्विनावश्विनाभ्यामिन्द्र इन्द्रादह मया त्विह प्रदेयमर्थिभ्य प्रजाहित हेतो।‡

---

* भदन्त आनद कौसल्यायन कृत हिन्दी अनुवाद पृष्ठ २, २४, २२६, ४०२, ४०३, ४०७, ४२९।

♦ काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ ४।२।११६।

† नद्यादिभ्यो ढक ४।२।९७ वाराणसेय।

‡ G N Mukhopadhyaya—*History of Indian Medicines* Vol II P 313

‡ G N Mukhopadhyaya—*History of Indian Medicines* Vol II P 314

* धन्वन्तरिस्ततो देवो वपुष्मानुदतिष्ठत। श्वेतं कमण्डलु बिभ्रदमृतं यत्र तिष्ठति ॥ महाभारत आदिपर्व अ० १६।

♦ नारायणांशो भगवान् स्वय धन्वन्तरिर्महान्। पुरा समुद्रमथने समुत्तस्थौ महोदधेः ॥ ब्रह्मवैवर्तपुराण ३-५१।

‡ ततो धन्वन्तरिर्विष्णुरायुर्वेदप्रदर्शक। बिभ्रत्कमण्डलु पूर्णममृतेन समुत्थित ॥ अग्निपुराण अ० ३।

§ तस्य गेहे समुत्पन्नो देवो धन्वन्तरिस्तदा। काशिराजो महाराजा सर्वरोगप्रणाशन ॥ हरिवश अ० २९।

‡ सुश्रुतसहिता सूत्रस्थान १।१६।

श्री विजयगोविन्द द्विवेदी

इसके अतिरिक्त इन्द्र के शिष्य भरद्वाज से इनके आयुर्वेद अध्ययन करने का हरिवंश में इस प्रकार वर्णन है :—

काशिराजो महाराजः सर्वरोग प्रणाशनः। आयुर्वेदं भरद्वाजात् प्राप्येदं भिषजांक्रियाम्।
तमष्टद्या पुनर्व्यस्य शिष्येभ्यः प्रत्यपादयत् ॥*

अपने सतीर्थ से ज्ञान प्राप्त करने के उल्लेख का आधार यही हो सकता है कि अंग विशेष में वैशिष्ट्य प्राप्त करने के हेतु से दिवोदास धन्वन्तरि ने भरद्वाज से शिक्षा प्राप्त की हो।

इस विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि आयुर्वेद के अधिष्ठाता अब्जदेव धन्वन्तरि से भिन्न काशी के स्वामी एक धन्वन्तरि हुए तथा उनके पौत्र अथवा प्रपौत्र धन्वन्तरि दिवोदास दूसरे धन्वन्तरि हुए। उपर्युक्त उल्लेखों को दृष्टि मे रखते हुए श्री जी० एन्० मुखोपाध्याय द्वारा उत्पादित इस शका को कोई स्थान नही रह जाता कि 'काशिराज का अर्थ काशी का राजा है अथवा किसी राजा का नाम है, यह कहना कठिन है।'† यह भी किंचित् दृढ़ता के साथ स्वीकार किया जा सकता है कि महाभारत तथा पुराणों मे उन्ही दिवोदास के उपाख्यान तथा वशानुक्रम का विस्तार किया गया है जिनका उल्लेख बीजरूप से ऋग्वेद के उद्धृत मंत्र मे मिलता है। उक्त मंत्र मे दिवोदास का उल्लेख आयुर्वेद के अन्य आचार्य भारद्वाज तथा अश्विनीकुमारो के साथ होने से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

वैदिक धन्वन्तरि के कार्य

शिष्य-परम्परा—भगवान् धन्वन्तरि के आज भी प्राप्त होने वाले कार्यों में अपनी शिष्य-परम्परा के विस्तार द्वारा रुजाकुल संसार को रोग-मुक्ति का वरदान मुख्य कहा जा सकता है। सुश्रुत-सहिता मे उनके शिष्यों में औपधेनव, औरभ्र, वैतरण, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित तथा सुश्रुत प्रभृति के नाम इस प्रकार गिनाए हैं :—

'अथ खलुभगवतं...............धन्वंतरिमौपधेनव वैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्य-गोपुररक्षित-सुश्रुत-प्रभृतय ऊचुः।'‡

इसकी व्याख्या करते हुए डल्लणाचार्य ने प्रभृति शब्द से अभिप्राय निमि, कांकायन, गार्ग्य तथा गालव का बतलाया है। उनका कथन है कि कुछ टीकाकारो के अनुसार गोपुर तथा रक्षित ऐसे दो शिष्य है।‡

बॉवर पाण्डुलिपियो⁂ मे काशिराज का शिष्य सुश्रुत बतलाया है और वही केशव को इन्ही काशिराज से शिक्षा प्राप्त होने का उल्लेख है। इनके सो शिष्य कहे जाते है।

शल्यतंत्र का उपदेश—इनके द्वारा 'सवतंत्रों में सामान्य' तथा 'आशुक्रियाकारी' होने से 'अधिक अभिमत' शल्य-तंत्र का उक्त शिष्यों को दिया गया उपदेश आज सुश्रुत सहिता के रूप मे प्राप्य है। पृथ्वी पर शल्य-तंत्र का उपदेश करने के लिए इनका अवतार हुआ। इनकी यह घोषणा इस प्रकार है :—

अहं हि धन्वंतरिरादिदेवो जरारुजामृत्युहरोऽमराणम्।
शल्यांगमंगैरपरैरुपेतं प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम् ॥ ‡

---

* हरिवंश अध्याय २९।

† It is difficult to say whether Kashiraja means King of Kashi or is the name of a King—*History of Indian Medicine* Vol. II P. 312.

‡ सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान, अध्याय १।

‡ औपधेनवादयः सुश्रुतान्ताः सप्त शिष्या ऊचुः। 'प्रभृति' शब्देन भोजादयः। अन्ये तु 'गोपूररक्षितौ' इति नाम-द्वयं मन्यन्ते। इत्यौपधेनवादयोऽष्टौ। प्रभृतिग्रहणात् निमिकाकायनगार्ग्यगालवा इति। एवमेते द्वादश शिष्याः प्राहुः स्म।' सुश्रुतसंहिता पर डल्लणाचार्य की टीका। (सूत्रस्थान अ० १)।

⁂ *Bower Mss.* Ch. XIII P. 169.

‡ सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान १-१७।

धन्वन्तरि कृत ग्रंथ—इनके रचे ग्रथों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान ब्रह्मवैवर्त पुराण तक सीमित है। वहां इस कथन के अनुसार—

चिकित्सातत्त्वविज्ञान नाम तन्त्र मनोहरम्। धन्वन्तरिश्च भगवान् चकार प्रथमे सति॥
चिकित्सादर्शन नाम दिवोदासश्चकार स। चिकित्साकौमुदीं दिव्यां काशिराजश्चकार च ॥*

काशिराज धन्वन्तरि का अथवा दिवोदास के पितामह द्वारा रचित 'चिकित्सा कौमुदी' नाम का ग्रंथ है, 'चिकित्सा-तत्त्वविज्ञान' भी इन्हीं धन्वन्तरि की रचना है तथा धन्वन्तरि दिवोदास ने 'चिकित्सा-दर्शन' की रचना की है। धन्वन्तरि तथा काशिराज के नाम से कुछ अन्य ग्रंथ भी कहे जाते हैं। किन्तु वे इन वेदकालीन धन्वन्तरि के नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध में समुचित विवेचन वैक्रम धन्वन्तरि के सम्बन्ध में विचार करते हुए अधिक उपयुक्त होगा।

आयुर्वेद का अध्ययन करते हुए यह ज्ञात होता है कि योगों के नाम बहुधा उनके आविष्कारकों के नाम के ऊपर ही रखे गये हैं। धन्वन्तरि के नाम से भी एकाध योग है। कुछ योगों के धन्वन्तरिकृत होने का यत्र-तत्र उल्लेख है। परन्तु उन्हें इन धन्वन्तरि के नाम के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। इन योगों पर यथास्थान विचार किया जा सकेगा।

वैदिक धन्वन्तरि का काल-निर्णय

कालनिर्णय की योजना—इनके काल का निर्णय करने के लिए यह आवश्यक है कि उन ग्रंथों के काल के सम्बन्ध में गवेषणा कर ली जाय जिनमें इनका उल्लेख प्राप्त होता है। हम इस अनुशीलन में अपेक्षाकृत अर्वाचीन सूत्रों से प्रारंभ कर प्राचीनतर सामग्री का उपयोग करेंगे। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं है कि वैक्रम धन्वन्तरि से अब्जदेव धन्वन्तरि, धन्वन्तरि तथा धन्वन्तरि दिवोदास सर्वथा भिन्न हैं। विक्रम के धन्वन्तरि को विक्रमी संवत् से पूर्व के काल में ले जाना सम्भव तथा समीचीन नहीं है।

३०० से ६०० ईसवी से पूर्व—वैदिक धन्वन्तरि के सबसे पीछे के महत्त्वपूर्ण उल्लेख पुराणों में प्राप्त धन्वन्तरि के उपाख्यान तथा वंशानुक्रम हैं। इन पुराणों के निर्माण का काल श्री पाण्डुरंग वामन काणे के अनुसार ३०० से ६०० ईसवी † तक है, जिससे प्रस्तुत धन्वन्तरि का काल इससे पूर्व का होना प्राप्त होता है।

२०० ई० पू० से पहले—इससे पूर्व का प्राप्त होने वाला उल्लेख 'मिलिन्दपन्हो' का है। वहाँ धन्वन्तरि को पूर्वाचार्यों में ग्रहण किया है। इस ग्रंथ का सम्बन्ध बैक्ट्रिया के शासक मीनेन्द्र से होने के कारण वह इनको २०० ईसवी पूर्व से प्राचीनतर समय में ले जाता है।

४०० ई० पू० से पहले—धन्वन्तरि के द्वारा बसायी काशी या वाराणसी में भगवान बुद्ध द्वारा धर्मचक्रप्रवर्तन के उल्लेख से तथा पालि जातकों में इनका स्वयं का नामोल्लेख होने से इनका काल इससे प्राचीनतर प्राप्त होता है। ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में निर्मित भरोच और साँची के स्तूपों में इन जातकों की कथाओं के प्रस्तर चित्र हैं और भरौच के स्तूप में तो जातकों के नाम का भी उल्लेख है। जिस समय यह उल्लेख तथा चित्रण हुआ उस समय जातक समुचित ख्याति पा चुके होंगे। अतः इस सूत्र से धन्वन्तरि का काल लगभग ४०० ई० पू० से प्राचीनतर प्राप्त होता है।

पाणिनि के काल ९०० ई० पू० से पहले—इससे पूर्व का काशी तथा वाराणसी का उल्लेख पाणिनि के सूत्रों में है। पाणिनि का काल श्रीविजयकाली भट्टाचार्य के मतानुसार ५०० से ३०० ई० पू० ‡ तथा श्री काणे के अनुसार ६०० से ३०० ई० पू० का है। ‡ किन्तु पाणिनि के सूत्रों में अन्य अनेक उल्लेख मिलने पर भी महावीर तथा भगवान बुद्ध सम्बन्धी कोई निर्देश न होने से श्री गोल्डस्टूकर के मतानुसार पाणिनि का काल इन दोनों से पूर्व—८०० से ७०० ई० पू० ∓

* ब्रह्मवैवर्तपुराण—ब्रह्मखण्ड अ० १६।
† *History of Dharmashastra,* Vol II Part I
‡ वनौषधि विज्ञान की भूमिका, पृष्ठ १२।
‡ *History of Dharmshastra,* Vol. II Part I
∓ *Panini—His place in Sanskrit Literature,* by Goldstucker

प्राप्त होता है तथा श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार ९०० ई० पू०* का है। अतः धन्वन्तरि का काल इससे पूर्व होना अयौक्तिक नही है।

१५०० से १२०० ई० पू० से पहले—इसी काल के लगभग हुए उल्लेख अग्निवेश (चरक) संहिता तथा सुश्रुत-संहिता के हैं। अग्निवेश संहिता को वर्तमान रूप चरक तथा दृढवल इन दो आचार्यों द्वारा प्रतिसंस्कृत होकर प्राप्त हुआ है। इन प्रतिसंस्कारो का काल श्री विजयकाली भट्टाचार्य के अनुसार क्रमशः १२०० ई० पू० तथा २०० से १०० ई० पू०† है। सुश्रुनसहिता का प्रसिद्ध रासायनिक नागार्जुन द्वारा प्रतिसंस्कार होना सुविश्रुत है। यहां यह कह देना अप्रासंगिक नही है कि 'नागार्जुन सदृश रसतंत्राचार्य ने सुश्रुतसंहिता का प्रतिसंस्कार करके उसमें सर्वरोगनाशक पारद के आभ्यंतर प्रयोग का निर्देश कही भी नही किया, अतः सुश्रुत का प्रतिसंस्कार करनेवाला नागार्जुन कोई दूसरा ही होगा' ‡ विद्वद्वर्य म० म० श्री गणनाथसेन सरस्वती की यह स्थापना अस्थानिक है। प्रतिसंस्कार करनेवाले का यह कर्त्तव्य नही है कि वह मूल में अपनी ओर से ग्रन्थवस्तु से अधिक जोड़ दे। इन नागार्जुन का काल श्री भट्टाचार्य के अनुसार लगभग ५०० ई० पू० तथा मूल सहिता का काल १५०० ई० पू० है। ×

२९०० से १८५० ई० पू० से पहले—इससे पूर्व के उल्लेख कौषीतक्युपनिषत् तथा कौषीतकिब्राह्मण के हैं। ऐतरेयब्राह्मण में कौषीतकिब्राह्मण के वाक्यों⁑ का तथा निरुक्त⁂ में कौषीतकिब्राह्मण का अवतरण एवं उल्लेख है। यास्क के निरुक्त का काल श्री काने के मतानुसार ८०० से ५०० ई० पू० का है। ऐतरेय ब्राह्मण से पूर्वकालीन होने के कारण श्री वैद्य के अनुसार कौषीतकिब्राह्मण का काल २५०० ई० पू० है तथा ज्यौतिष गणना के आधार पर श्री दीक्षित महोदय इसके काल का निर्णय २९०० से १८५० ई० पू० निश्चित करते हैं। इस सूत्र से धन्वन्तरि का का काल कम से कम १८५० ई० पू० से पहले का प्राप्त होता है।

५००० ई० पू० तथा १८५० ई० पू० के बीच—इससे पहले का उल्लेख ऋग्वेद का है। ऋग्वेद का काल श्री काने महोदय के अनुसार ४००० से १००० ई० पू० तथा श्री भट्टाचार्य के अनुसार ५००० ई० पू० प्राप्त होता है। अब निर्णय वस्तु ५००० ई० पू० १८५० ई० पू० के काल के अन्तर्गत धन्वन्तरि एवं धन्वन्तरि दिवोदास का समय है।

श्री जयचंद्र विद्यालंकार के अनुसार धन्वंतरि की पीढ़ीगणना एवं उनकी कालसीमा—'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में पार्जीटर की प्राचीन युगों की वंशतालिका का अनुसरण करते हुए श्री जयचंद्र विद्यालंकार ने क्षत्रवृद्ध को छठी, काश को १२वी तथा दिवोदास (१) को २५वी पीढी में निर्दिष्ट किया है। वही दिवोदास (२) को ४०वी, प्रतर्दन को ४१वो, वत्स को ४२वी तथा अलर्क को ४३वी पीढी मे गिना है।§ उनका कथन है कि "अनुश्रुति के हिसाब से राजा सगर कृतयुग की समाप्ति और त्रेता के आरम्भ में हुआ, रामचन्द्र त्रेता के अन्त में और भारत युद्ध के वाद कृष्ण का देहान्त द्वापर की समाप्ति का सूचक था। इस प्रकार १ से ४० पीढी तक कृतयुग था, ४१ से ६५ तक त्रेता, ६६ से ९५ तक द्वापर। यदि १६ बरस प्रति पीढ़ी गिने तो कृतयुग अन्दाजन साढ़े छैः सौ वर्ष का, त्रेता ४०० का तथा द्वापर पौने पाँचसौ बरस का था। मोटे अन्दाज से २९५० से २३०० ई० पू० तक कृतयुग, २३०० से १९०० तक त्रेता और १९०० से १४२५ तक द्वापर रहा।¶"

श्री विद्यालंकार के मतानुसार धन्वन्तरि तथा धन्वन्तरि दिवोदास के काल की अनुमानित गणना—इसके अनुसार अनुमानतः दिवोदास (१) के २५वी पीढ़ीमें होने से इनका काल २५५० ई० पू० तथा दिवोदास (२) के ४०वी पीढ़ी

* *History of Sanskrit Literature*, Vedic Period P. 129.

† वही। ‡ म० म० श्री. गणनाथसेन सरस्वतीकृत 'प्रत्यक्ष शारीर' का संस्कृत उपोद्घात पृष्ठ, ११। × वही।

⁑ ऐतरेयब्राह्मण (७-११)। ⁂ यास्कनिरुक्त (१-९)।

§ श्री जयचंद्र विद्यालंकार कृत भारतीय इतिहास की रूपरेखा, द्वितीय संस्करण जिल्द १, पृष्ठ २६१-६२।

¶ वही, पृष्ठ १७-१८

में होने से इनका काल २३१० ई० पू० के लगभग प्राप्त होता ह। पूर्व निर्दिष्ट विष्णुपुराण तथा हरिवश के वशानुक्रम के अनुसार दिवोदास धन्वन्तरि की तीसरी अथवा चौथी पीढ़ी में हुए। अत विष्णुपुराण के वशानुक्रम के अनुसार धन्वन्तरि का काल २५८८ अथवा २३५८ ई० पू० के लगभग प्राप्त होता ह तथा हरिवश के अनुसार २६०४ अथवा २३७४ ई० पू० के समीप।

वैक्रम धन्वन्तरि

वक्रम धन्वन्तरि के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमें उनका सबसे प्रथम तथा स्पष्ट उल्लेख ज्योतिर्विदाभरण में प्राप्त होता है। कुछ समय पूव तक विक्रमादित्य तथा उनके नवरत्ना की आख्यायिका एक कल्पनामात्र थी। विद्वाना ने अब उन कल्पना शरीरा को विस्मृति के कुहासे में से प्रत्यक्ष करने का स्तुत्य प्रयास प्रारम्भ किया है। उनके काल के सम्बन्ध में यद्यपि अभी अन्तिम निर्णायक वाक्य नहीं कहे गए हैं, परन्तु इनमें स बहुता का अस्तित्व अब सिद्ध हो चुका ह।

नवरत्नो का अस्तित्व—'अनेकार्थ-ध्वनि-मजरी' कोष के रचयिता महाक्षपणक की वक्रम क्षपणक से सम्भावनीय अभिन्नता के सम्बन्ध में श्री प० कृ० गोडे का प्रयत्न* स्मरणीय ह। अमरकोष द्वारा अमरसिंह का व्यक्तित्व भी असदिग्ध है। इनका काल श्री विद्यालकार के अनुसार पहली शताब्दी ई० पू० है और इस प्रकार ये विक्रम तथा विक्रमी सवत् के प्रारभ के समकालीन प्राप्त होते ह †। वराहमिहिर अपने प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रथ बृहत्सहिता के कारण कल्पित व्यक्ति नही कहे जा सकते और वररुचि वयाकरण के रूप में जाने जाते है।

श्री हेमराज शर्मा तथा श्री आपटे के आक्षेपा का निराकरण—यहाँ हम पहले प्रारम में कहे नेपाल राजगुरु श्री हेमराज शर्मा के तथा श्री वी० एस० आपटे के वक्रम धन्वन्तरि के केवल कवि होने के आक्षेप पर विचार करता हैं। यह ज्ञात नहीं होता कि नेपाल-राजगुरु श्री हमराज महोदय को 'धन्वन्तरि' के केवल कवि होने की कल्पना का आभास कसे हुआ और कैसे विद्वद्वर्य श्री आपटे महोदय को विक्रम के सभी रत्ना के कवि होने का ज्ञान हुआ। कोषकार, वैयाकरण तथा ज्योतिर्विद् कवि नहीं होत। अमरकोष, अनेकार्थ ध्वनि-मजरी तथा बृहत्सहिता पद्यबद्ध अवश्य हं, किन्तु उनमें 'वाक्य रसात्मक' न होते हुए भी वे 'काव्य' नहीं हो सकते। प्राप्य प्राचीन वैज्ञानिक साहित्य अधिकाश पद्यबद्ध है। उक्त दोना विद्वाना के अनुसार उस साहित्य के अधिकाश कर्ता कवि हो जाने चाहिए थे। परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न प्रतीत होती हैं। नवरत्ना में केवल कविया का समावश न होना तथा कुछ 'रत्ना' का कवि के अतिरिक्त कुछ और प्राप्त होना इस सम्भावना को जन्म देता ह कि धन्वन्तरि आयुर्वेदज्ञ चिकित्सक हो सकते ह।

धन्वन्तरि उपाधि होने की सम्भावना—वेदकालीन धन्वन्तरि के सम्बन्ध में विचार करत हुए यह ज्ञात हो चुका ह कि शल्यतत्र के प्रवतक धन्वन्तरि होने से शल्यचिकित्सका का सम्प्रदाय 'धान्वन्तरि' कहलाता था। धन्वन्तरि के अत्यन्त मान्य आचाय होने के कारण उनके पीछे के आचार्य दिवोदास ने 'धन्वन्तरि' नाम धारण किया था। हमें यह भी प्रत्यक्ष है कि आज भी आयुर्वेद के मान्य आचार्यों को धन्वन्तरि तथा धन्वन्तरिकल्प ‡ कहा जाता ह तथा कुछ विद्वान् धन्वन्तरि उपाधि भी धारण करते ह।⁑ वक्रम धन्वन्तरि के चिकित्सक तथा सम्भवत शल्यचिकित्सक होने की दशा में वे अवश्य ही विक्रमादित्य के राजवद्य थे। स्वभावत विक्रमादित्य ने अपने समय के सर्वश्रेष्ठ आयुर्वेदज्ञ का सग्रह किया होगा। अत इस राजवद्य के 'धन्वन्तरि' उपाधि धारण करने का अनुमान किया जा सकता है।

धन्वन्तरि के राजवद्य होने की सम्भावना—इस सम्बन्ध में सब से महत्त्वपूर्ण तर्क यह ह कि विक्रमादित्य का स्मरण आदर्श शासक के रूप में किया जाता है। इतिहास में शासको की, राज्य के अन्य उपकरणा के साथ साथ चिकित्सक रखने

* *Festschrift* (जर्मन भाषा में) Dr. Winternitz (Leipzig 1933) पृष्ठ, ८९-९१।

† भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द २, पृष्ठ १००२।

‡ आयुर्वेदाचार्य श्री बदरीदत्त झा सग्रहीत 'अनुभूत योगशतक' पृष्ठ ८ के सामने तथा आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका, दिसम्बर १९४३ पृष्ठ ४३८ के सामने।

⁑ आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका, अक्तूबर १९४२ में सलग्न 'मतदाता सदस्यो की सूची' पृष्ठ २०-२१।

की परम्परा अविच्छिन्नसी प्रतीत होती है। हम इन्द्र के साथ अश्विनीकुमार तथा रावण के साथ सुषेण चिकित्सक होने से अनभिज्ञ हैं। 'शतंते राजन् भिषजः सहस्रम्*' ऋग्वेद के इस मंत्र से सुदूरवेदकाल मे राजा तथा भिषक् के सम्बन्ध की जानकारी प्राप्त होती है। महाभारतकाल मे भी चिकित्सक राजसभा का एक आवश्यक उपकरण था। सभापर्व के पाँचवें अध्याय मे राजा को सचिव, सेनाध्यक्ष, पुरोहित, ज्योतिषी तथा चिकित्सक अनिवार्य बतलाए गए है। इसी स्थान पर सात प्रकृतियों की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने छठी प्रकृति चिकित्सक बतलाया है।† महाकवि विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षसम्' नामक ऐतिहासिक नाटक उस काल की राजनीति का कुशल चित्रण कहा जा सकता है। वहाँ भी हम चन्द्रगुप्त मौर्य से सम्बद्ध अभयदत्त‡ नामक चिकित्सक का उल्लेख पाते है। यहाँ आग्रह 'अभयदत्त' नाम का नही अपितु राजसभा अथवा प्रासाद से सम्बद्ध चिकित्सक का है। इस प्रकार की परम्परा विक्रम के अत्यन्त पूर्व काल से प्रचलित थी। पीछे भी विशाखदत्त के ईसा की छठी शताब्दी§ के काल तक उसका पता लगाया जा चुका है। अतः विक्रमादित्य की राजसभा मे भी धन्वन्तरि चिकित्सक का होना सम्भावना से परे नही है।

धन्वन्तरिकृत कहे जानेवाले ग्रन्थों से व्यक्तित्व का समर्थन––इस सम्भावना के समर्थन मे धन्वन्तरि नाम के व्यक्ति द्वारा लिखित ग्रंथों के प्राप्त नामों तथा पांडुलिपियो का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। रोग-निदान, वैद्यचिन्तामणि, विद्या-प्रकाश-चिकित्सा, धन्वन्तरि-निघंटु, वैद्यक-भास्करोदय, तथा चिकित्सा-सार-संग्रह के नाम इस सम्बन्ध मे लिए जा सकते है। यह असदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि ये ग्रन्थ वेदकालीन धन्वन्तरि अथवा दिवोदास के साथ नही गूथे जा सकते। इनमें प्रतिपादित विषय तथा इनकी शैली उस काल से अथवा उसके पीछे के सहिता-काल से सामञ्जस्यपूर्ण नही है। इन ग्रंथों का धन्वन्तरि अथवा दिवोदास की अपेक्षाकृत अर्वाचीन चरक, सुश्रुत, काश्यप अथवा वाग्भट्ट सहिताओं मे भी कोई उल्लेख प्राप्त नही होता। अतः ये अवश्य किन्ही पीछे के धन्वन्तरियो की कृतियाँ हो सकती हैं। इनमे से कुछ के लेखक विक्रमादित्य के धन्वन्तरि भी हो सकते हैं। कृति प्राप्त होने के कारण उसका कर्त्ता होने की सम्भावना व्यर्थ नही कही जा सकती और इतने आयुर्वेद ग्रथों की रचना का श्रेय वैद्येतर व्यक्ति को भी नही दिया जा सकता।

धन्वन्तरिकृत योगों से उनके व्यक्तित्व की पुष्टि––अन्य ग्रंथो मे प्राप्त होनेवाले धन्वन्तरिकृत योग भी इनकी सत्ता की सूचना देते है। रसरत्न समुच्चय मे संकलित पाशुपतरस, मृत्युजयलौह, वारिशोषणरस एवं रसराजेन्द्र, आयुर्वेद-रत्नाकर का रसाभ्रगुग्गुल तथा गदनिग्रह के अश्वगधाद्यतैल, सप्तविंशति एवं द्वात्रिंशक गुग्गुल के आविष्कारक धन्वन्तरि कहे गए है। ये योग किसी रसकालीन धन्वन्तरिकृत हैं यह बात नि.सन्देह है। यह काल नागार्जुन से पीछे का है। नवरत्नो की आख्यायिका मे हमे वैक्रम धन्वन्तरि प्राप्त होते है। अतः यह सम्भव है कि इन योगों के कर्त्ता वैक्रम धन्वन्तरि हो।

वैक्रम धन्वन्तरि के सम्भावनीय कार्य––इनके सम्भावनीय कार्यों के सम्बन्ध मे व्यक्तित्व का निर्णय करते हुए दृष्टि डाली जा चुकी है किन्तु वहाँ धन्वन्तरि नाम से प्रचलित तथा श्रुत सभी ग्रथो एवं योगो का निर्देश हो गया है। हमे यहाँ उनपर पृथक् पृथक् इस दृष्टि से विचार करना है कि उनमे से कौन कौन अधिक दृढता के साथ वैक्रम धन्वन्तरि कृत होना सम्भव बतलाए जा सकते है।

रोग-निदान तथा वैद्य-चिन्तामणि––इस तारतम्य के प्रथम दो ग्रंथ रोग-निदान तथा वैद्य-चिन्तामणि की प्रतियाँ अथवा तत्सम्बन्धी सूचना प्राप्त नही हो सकी। अतः उनके सम्बन्ध में विशेष अनुमान तथा विवेचन सम्भव नही है।

---

* ऋग्वेद' १-२४-९।

† श्री सी० वी० वैद्य कृत *Epic India* पृष्ठ २०२-३।

‡ विशाखदत्तकृत मुद्राराक्षस, प्रोफेसर के० एस० ध्रुव द्वारा सम्पादित, पृष्ठ २८।

§ वही, भूमिका, पृष्ठ १०

भारतीय इतिहास में धन्वन्तरि

विद्या प्रकाश चिकित्सा—इसके पश्चात धन्वन्तरिकृत विद्या प्रकाश चिकित्सा ग्रंथ आता है। इसकी सूचना डॉ० आर० एल० मित्र कृत *Notices of Sanskrit Mss in the Asiatic Society of Bengal* 1880 स० १४४६ में इस प्रकार प्राप्त हुई है —

आदि—

यस्योदयास्तसमये पुरमुकुटनिष्ठचरणकमलोऽपि ।
कुरुतेऽञ्जलिं त्रिनेत्र स जयतु धाम्नां निधि सूर्य ॥ *

अन्त—

अमृत त्रिफलाक्वाथ पिप्पलीचूर्णसयुत ।
सोभ्रशीतलो नित्य सद्यो नेत्रव्यथा जयेत् ॥ इति नेत्ररोग ॥

ग्रन्थ-समाप्ति लेख—

इति श्रीधन्वन्तरिविरचिता विद्याप्रकाशचिकित्सा समाप्ता ।

यह ग्रंथ पूर्व श्रुति के अनुसार तथा निर्दिष्ट श्लोकों की शैली के कारण वेदकालीन धन्वन्तरि के साथ जोड़ा नहीं जा सकता और प्रारम्भिक मगलाचरण से सूर्योपासक धन्वन्तरिकृत प्रतीत होता है। सूर्य की वन्दना यह सम्भावना उत्पन्न करती है कि विक्रम के अथवा विक्रमादित्य के आश्रित वैद्य ने सूर्य के बहाने से अपने सरक्षक विक्रमादित्य का स्मरण किया हो। प्राप्त मालव मुद्राओं के एक पार्श्व पर बोधिसत्त्व का तथा दूसरे पर सूर्य का चिह्न होना भी इस अनुमान की पुष्टि करता है।

धन्वन्तरि-निघण्टु अथवा द्रव्यावलि—इसके पश्चात् आनन्दाश्रम-सस्कृत-सीरीज, पूना से प्रकाशित 'धन्वन्तरि निघटु' आता है। इसकी अनेक पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई है जिनका निर्देश डॉ० आर० एल० मित्रकृत *A catalogue of Sanskrit Mss in the Library of H H the Maharaja of Bikaner* 1880 में सख्या १३९२ पर, इण्डिया आफिस की पाण्डुलिपि सूची में स २७३६ तथा २७३७ पर, आक्सफोर्ड की १८६९ की आफेक्ट(Aufrecht) कृत *Catalogi codicum manuscriptorium bibliothecoe Bodlianoe codices Sanscricos* में स० ४५१ पर तथा *Catalogue of Government Oriental Mss Library, Madras* XXIII Medicine में स० १३२८३–१३२९४ पर प्राप्त होता है।

आदि—

अनेकदेशातरभाषितेषु सर्वेष्वपि प्राकृतसस्कृतेषु।
गूढेष्वगूढेषु च नास्ति सख्या द्रव्याभिधानेषु तदौषधीनाम ॥

इत्येवामत क्रमशो नव वर्गा प्रकीर्तिता ॥

ग्रन्थ-समाप्ति लेख—

इति धन्वन्तरि निघटु रसवीयसहित समाप्त ॥

इस प्रति से सूचनाएँ प्राप्त होती है कि यह मूलत धन्वन्तरि कृत है। उनके शिष्य ने इसे उनसे सुनकर लिखा है।† प्रारम्भ में धन्वन्तरि की वन्दना की गई है। इसके निर्माण के समय में अनेक निघण्टु ग्रंथ वर्तमान थे। इस समय प्राकृत भाषा का प्रचलन था। इस ग्रंथ में औषधियों को नौ वर्गों में विभाजित किया गया है। यह ग्रंथ सहिताओं की परिपाटी से भिन्न तथा पीछे के काल की सग्रहशैली का है। इसकी वर्ग-कल्पना चरक तथा सुश्रुत की वर्ग तथा गण-कल्पना से सर्वथा भिन्न है। इस ग्रंथ की भाषा सहिताओं की भाषा से अधिक प्राजल है। इसमें लौकिक छदों का प्रयोग है।

* यह श्लोक विद्याप्रकाश चिकित्सा में कैसे अपना लिया गया पता नहीं। यह वराहमिहिर के ग्रंथ बृहज्जातक का आरभिक श्लोक है।—सम्पादक।

† "द्रव्यावलि समादिष्टा धन्वन्तरिमुखोद्गता" ।
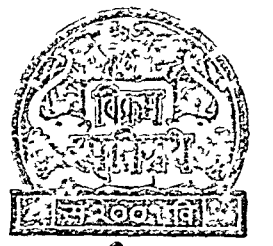
उपर्युक्त सूचनाएँ इस अनुमान को जन्म देती हैं कि यह ग्रंथ किसी धन्वन्तरि नाम के वैद्य की रचना है जिसने अपनी रचना को उसका महत्त्व बढ़ाने के अभिप्राय से धन्वन्तरि से सुनकर सुश्रुत द्वारा सुश्रुतसंहिता की रचना की परम्परा का आश्रय लेकर अपने शिष्य द्वारा संग्रहीत कराया। विक्रमादित्य के काल मे प्राकृत भाषा का प्रचलन था तथा उसे राजाश्रय भी प्राप्त था। उदाहरण के लिए गुणाढच की 'बढ्होकहा' तथा हाल सातवाहन की 'गाथासप्तशती' के नाम ले सकते हैं। अतः वह विक्रमादित्यकालीन हो सकता है। अपने समनाम अब्जदेव धन्वन्तरि का उसने मंगलाचरण मे स्मरण किया हो यह सम्भव है। प्रचलित निघण्टुओं का इस ग्रंथ मे नामोल्लेख नही है अतः यह इन सबसे पूर्व का होगा। यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक नही है कि इस ग्रंथ के प्रकाशक का यह अनुमान कि यह ग्रंथ सुश्रुतकृत हो सकता है- वस्तुस्थिति के विपरीत है। सुश्रुत-सहिता के द्रव्यगुण सम्बन्धी भाग से इसका कोई साम्य नही है। अतः यह अनुमान किंचित् दृढ़ता के साथ किया जा सकता है कि यह ग्रंथ नवरत्नों में परिगणित वैक्रम धन्वन्तरि कृत हो सकता है।

वैद्यक-भास्करोदय—इसके पश्चात् श्री भाण्डारकर की राजपूताने की पाण्डुलिपियों की रिपोर्ट मे निर्दिष्ट धन्वन्तरिकृत 'वैद्यक-भास्करोदय' ग्रंथ विचारणीय है। निर्देश के अतिरिक्त इस ग्रथ के सम्बन्ध मे अधिक नही ज्ञात हो सका है। विक्रमादित्य इस नाम मे, मालव मुद्राओ पर अकित सूर्य मे तथा इस ग्रथ के नाम के 'भास्करोदय' भाग मे साम्य होने से यह अनुमान हो सकता है कि यह ग्रंथ कदाचित् वैक्रम धन्वन्तरि कृत हो।

चिकित्सा-सार-संग्रह—अब विचार योग्य ग्रंथो मे जिनको धन्वन्तरि कृत कहा गया है 'चिकित्सा-सार-संग्रह' आता है। *Catalogue of Government Oriental Mss. Library, Madras* XXIII--Medicine मे सं० १३१३७-१३१४५ पर इसका निर्देश इस प्रकार प्राप्त होता है:—

आदि—

यस्य द्विरदवक्त्राद्याः..विश्वक्सेनं तमाश्रये।

आदौ समस्तरोगेषु अष्टस्थानं परीक्षयेत्। नाडी मूत्रमलं जिह्वा शब्दस्पर्शं (च) रूपदृक्॥

ग्रंथ-समाप्ति-लेख—

इतिश्री चिकित्सासारसंग्रहे धन्वन्तरिकृतौ सर्वरोगनिदानं नाम प्रथम विलासः।

इस ग्रंथ मे ऊपर निर्दिष्ट 'विद्याप्रकाशचिकित्सा' तथा 'द्रव्यावलि' के विरुद्ध मगलाचरण मे सूर्य अथवा धन्वन्तरि के स्थान पर विष्वक्सेन का स्मरण किया गया है। इसमे नाड़ी-परीक्षा का समावेश है। पाण्डुलिपि संख्या १३१४५ में रसार्णव, वाहट, पारिजात, कौमुदी, नागार्जुन, कापाल, दामोदर, रसप्रसिद्धसार, पिल्लट, कल्याणभेषज, समग्रह, कापाल-मिन्द्रनाथ, गुणचिन्तामणि, वीरभद्रीय, वेददीपक, सोमनाथ, नन्दनाथ, चिकित्सितम्, वैद्यमुक्तावली, केरुटचक्रवर्ती, सोमराजीय, चंद्रज्ञान, चरक तथा निघण्टु का पूर्वाचार्यो को प्रमाण रूप मे उद्धृत करते हुए उल्लेख है।

इस ग्रथ मे उल्लिखित भैरवानन्द योगीकृत 'रसार्णव' ईसा की १२वी शताब्दी का ग्रंथ है।* कापाल (कपाल पाद) चौरासी सिद्धो मे से एक है और इनका समय ईसा की ११वी शताब्दी है।† अतः यह ग्रथ ईसा की १२वी शताब्दी से अर्वाचीन होने के कारण वेदकालीन अथवा वैक्रम धन्वन्तरि का नही हो सकता।

इसके अतिरिक्त 'विश्वकोष' मे धन्वन्तरि रचित 'धन्वतरिपंचकम्' का उल्लेख है। परन्तु उक्त ग्रंथ के सम्बन्ध में अन्यत्र कोई ज्ञातव्य प्राप्त नही है तथा उसकी कोई प्रति भी प्राप्त नही हुई। इसके अतिरिक्त बम्बई से प्रकाशित 'धन्वन्तरि' नामक ग्रंथ भी प्राप्त होता है। परन्तु वह तो लाला शालग्राम कृत आधुनिक संग्रह मात्र है।

धन्वन्तरि के अन्य स्मृतिकोषो में महत्त्वपूर्ण उनके आविष्कृत पूर्वोक्त तैल, रस, लौह तथा गुग्गुल हैं। इन रस आदि का सम्बन्ध वेदकालीन धन्वन्तरि से इनके रसतंत्रातर्गत होने से तथा रसतंत्र का इतिहास अपेक्षाकृत अर्वाचीन होने से

* स्वामी हरिशरणानन्द कृत 'कूपीपक्व रस निर्माण विज्ञान' का उपोद्घात् पृष्ठ ४२।

† श्री राहुल सांकृत्यायन कृत पुरातत्त्वनिबंधावली, पृष्ठ १५०।

न्त जोड़ा जा सकता। इस प्रकार के योग वैदिक धन्वन्तरि के काल के पश्चात् रचित संहिताओं के भी अननुकूल हैं। उस काल में योग आविष्कर्ता के नाम पर होने की अपेक्षा उससे लाभ उठानेवाले रोगियों के नाम पर—यथा च्यवनप्राश—अथवा उन योगों में व्यवहृत औषधियों के नाम पर—यथा धात्र्यरिष्ट एवं दशमूलादिघृत—बहुधा प्रसिद्ध होते थे। धन्वन्तरि नाम से प्रचलित रसयोग रसतंत्र के अत्यन्त विकसित काल के नहीं है। अतः यह सम्भव है कि इन योगों के कर्ता वैक्रम धन्वन्तरि रहे हों।

वैक्रम धन्वन्तरि का काल निर्णय—इनके काल के सम्बन्ध में वेदकालीन धन्वन्तरि से इनके अर्वाचीन होने के कारण अपेक्षित अधिक स्पष्टता के विपरीत अधिक अस्पष्टता है। तथापि प्राप्त उल्लेखों तथा सम्बद्ध निर्देशों के आधार पर मत प्रकट करना अविधेय नहीं है।

ईसवी १७वीं से १३वीं शताब्दी पूर्व—सबसे पीछे का इनका उल्लेख ईसा की १७वीं शताब्दी में* रचित वैद्यवर श्री चूडामणि विरचित रसकामधेनु ग्रंथ में प्राप्त होता है। उसमें इनके 'पाशुपतरस' तथा 'वारिशोषणरस' संग्रहीत हैं। इससे पूर्व ईसवी १४वीं शताब्दी† में रची गई ढुण्ढुनाथ की 'रसेन्द्रचिंतामणि' में इनका 'मृत्युंजयलौह' तथा 'वारिशोषणरस' संग्रहीत है। इसी काल की रचना‡ अनन्तदेवकृत 'रस चिन्तामणि' में इनके वारिशोषण रस का समावेश है। इससे पूर्व का इनका उल्लेख वाग्भटकृत 'रसरत्नसमुच्चय' में मिलता है। यह ग्रंथ ईसा की १३वीं शताब्दी ¶ में लिखा गया था। इसमें उनके पाशुपतरस, मृत्युंजयलौह, वारिशोषण रस तथा रसराजेन्द्र संकलित हैं।

विक्रमादित्य का समकालीन होने की सम्भावना—इसके पश्चात् लगभग एक सहस्राब्दी के निविड तमसाच्छन्न काल में वैक्रम धन्वन्तरि के सम्बन्ध में कोई सूचना किरण प्राप्त नहीं हो सकी अथवा नियोजित प्रयत्न उस शोध में पर्याप्त नहीं हुआ। इस व्यवधान को संश्लिष्ट कर सकने की सम्भावना होने पर हम उस काल के समीप पहुँचते हैं जब विक्रमादित्य ने शकों का भारतवर्ष से उच्छेदन किया, मालवगणों की विजय की स्थापना की तथा मालव अथवा विक्रम संवत् का प्रवर्तन※ किया। इसी काल में प्रसिद्ध भारतीय रासायनिक नागार्जुन (सम्भवतः द्वितीय) तथा धातु तत्त्वज्ञ एवं लोहशास्त्रकार पातंजलि का आविर्भाव हुआ☉ और वहीं हमें अमरकोषकार अमरसिंह§ प्राप्त होते हैं।

यहाँ एक बार यह पुनरुक्ति करना अनुचित न होगा कि मालव मुद्राओं पर सूर्य की छाप है, विक्रमादित्य के नाम में सूर्य का समावेश है, 'विद्याप्रकाश चिकित्सा' नामक ग्रंथ में धन्वन्तरि ने सूर्य की वन्दना की है, 'वैद्य भास्कर' ग्रंथ यदि धन्वन्तरिकृत हो तो उसने—'भास्करोदय' शब्द विक्रमादित्य के लगभग समानार्थी होने से—विक्रमादित्य के नाम पर एक आयुर्वेद-ग्रंथ की रचना की तथा ज्योतिर्विदाभरण के रचयिता ने धन्वन्तरि को विक्रमादित्य के नवरत्नों में सबसे पहले गिना है। अतः हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि विक्रमादित्य के नवरत्नों में परिगणित धन्वन्तरि का विक्रमादित्य की राजसभा में ७५-८३ ईसवी में रहना सम्भव है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि अधिक स्पष्टता के लिए वैक्रम धन्वन्तरि तथा उनके कदाचित् समसामयिक अन्य आठ रत्न अतीत की विस्मृत शताब्दियों के तमसाच्छन्न प्रदेश में कालातिक्रम से उत्पन्न भू-स्तरों के नीचे समानधर्मा किन्तु अधिक अध्यवसायी एवं विद्वान् व्यक्तियों के अविश्रांत प्रयत्न की प्रतीक्षा आशापूर्ण नेत्रों से कर रहे हैं।

---

* स्वामी हरिशरणानन्दकृत कूपीपक्व रस निर्माण विज्ञान का उपोद्घात पृष्ठ ४२।

† वही, पृष्ठ ४२।

‡ वही। ¶ वही।

※ भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द २, पृष्ठ ८७०।

☉ वही पृष्ठ १०१२-१३।

§ वही पृष्ठ १००९।
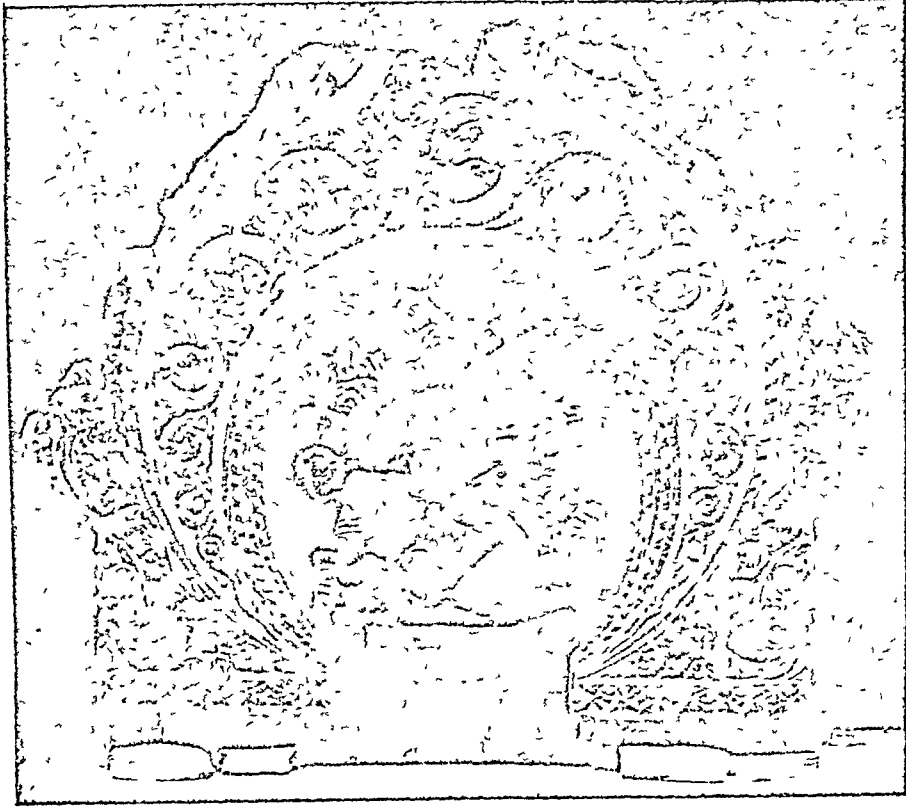
विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष

श्री सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे, एम्. ए.

संवत्-प्रवर्तक सम्राट् विक्रमादित्य वस्तुत: कौन व्यक्ति था, तथा किस समय विद्यमान था, इत्यादि समस्याओ पर आधुनिक विद्वान् संशोधक समय समय पर अनेक मत प्रकट कर चुके है। ये सब मत अन्ततः परस्पर-भिन्न परिणामो पर पहुँचते हुए भी कुछ स्वल्प वातें मूलतः मान्य कर लेने मे एकता रखते हैं, जैसे 'विक्रमादित्य' नाम वा विरुद्र धारण करने-वाला एक प्राचीन भारतीय सम्राट् अत्यन्त प्रभावशाली था, उसका साम्राज्य अत्यन्त विस्तीर्ण था, उसकी (मुख्य, सामयिक या प्रादेशिक) राजधानी उज्जयिनी थी तथा उसकी ओर से कविओं एवं अन्य विद्वानों को अतिसमृद्ध आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त होता था, इत्यादि। विक्रमादित्य के शौर्य, पराक्रम, औदार्य, रसिकत्व, आदि गुणो की असामान्यता का परिचय करानेवाले अनेक उज्ज्वल सुभाषित प्राचीन साहित्य मे मिलते हैं, उदाहरणार्थ—

वाणपूर्वकालिक हालसंगृहीत गाथासप्तशती, ५-६४—

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्। चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥

वाणपूर्वकालिक सुवन्धुविरचित वासवदत्ता, प्रास्ताविक पद्य १०—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कंकः। सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

ई० स० १०५० से पूर्व विरचित सोढलकी उदयसुन्दरीकथा, प्रास्ताविक पद्य १०—

श्रीविक्रमो नृपतिरत्र पतिः सभानामासीत्स कोऽप्यसदृशः कविमित्रनामा।
यो वार्थमात्रमुदितः कृतिनां गृहेषु दत्वा चकार करटीन्दुघटान्धकारम् ॥

ई० स० १३६३ में संगृहीत शार्ङ्गधरपद्धति, पद्य १२४९—

तत्कृतं यन्न केनापि तद्दत्तं यन्न केनचित्। तत्साधितमसाध्यं यद्विक्रमार्केण भूभुजा ॥

हुए असत्य तथा असम्बद्ध प्रलापो से अधिक महत्त्व आज नही देते। हरिस्वामी के उपर्युक्त कथन के वास्तविक होने वा न होने का निणय करने का कोई स्वतन्त्र अन्य साधन आज हमारे पास नही ह। ऐसे साधन के अभाव में केवल विवेचक दृष्टि से ही देखा जाय तो हरिस्वामी ने ऐसी कोई बात इन तीन श्लोका में नही कही ह जिसके ऐतिहासिक होने में सन्देह किया जाय। अजमेरनिकटवर्ती पुष्करक्षेत्र में मूलत रहनेवाले तथा शतपथब्राह्मण जसे गहन श्रुतिभागपर अत्यन्त गम्भीर भाष्य रचने की प्रतिभा रखनेवाले एक परम विद्वान् विप्र के उज्जयिनी म आकर सम्राट् विक्रमादित्य की शासनघटना में धर्माध्यक्ष तथा दानाध्यक्ष पदा पर स्थापित होने मे अवास्तविकता कुछ भी प्रतीत नही होती। दानाध्यक्ष के बैठने के लिए सुवणमय वेदिका का निर्माण किये जाने की बात भी सम्राट् विक्रमादित्य के परम्परागत परमोच्च वभव के वणन से पूणतया मिलती जुलती है। इन तीन श्लोको में हरिस्वामी ने न तो अपना समय निर्दिष्ट करने की ही चेष्टा की है न अपने पिता और आश्रयदाता के अतिरिक्त किसी अन्य समकालिक का उल्लेख ही किया ह। भाष्य में उन्होने यत्र तत्र वदिक सहिताएँ तथा ब्राह्मण, निरुक्त, अष्टाध्यायी, कात्यायनश्रौतसूत्र, अनेक स्मृतिग्रन्थ, इत्यादि से उद्धरण दिये ह। किन्तु प्रस्तुत लेखक को उनमें ऐसा एक भी स्थल अब तक नही मिला ह जिसका मूल किसी अन्य ग्रन्थ में होने के कारण हरिस्वामी के कथन का खण्डन किया जा सके।

कुछ मुद्रित सस्करणो में इस भाष्य के कतिपय अध्यायो के अन्तिम प्रशस्ति का पाठ निम्नलिखित दिया गया ह —

"इति श्रीसवविद्यानिधानकवीन्द्राचायसरस्वतीना श्रीहरिस्वामिना कृतौ माध्यदिनीयशतपथब्राह्मणभाष्ये .. .. काण्डे .. अध्याय समाप्त ॥"

और इस पाठ पर से नये सस्करण के सशोधकमहोदय की* ऐसी धारणा हुई दिखती ह कि 'सवविद्यानिधान कवीन्द्राचायसरस्वती' यह हरिस्वामी की ही उपाधि ह। जिन प्राचीन हस्तलिखित पोथिया के आधार पर प्रशस्ति का यह पाठ प्रथमत छपा था वे आज हमारे सामने नही ह। तो भी सम्भवत इस सम्बन्ध म मूल तथा नये सशोधको का गहरा भ्रम हो जाने की कल्पना की जा सकती ह। वस्तुत † कवीन्द्राचायसरस्वती नामक एक असामान्य प्रभावशाली विद्वान् सन्यासी मुगल सम्राट् शाहजहा (ई० स० १६५० के आसपास) के समकालिक थे। वे मूलत गोदातीरनिवासी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे किन्तु अनन्तर स्वय काशी में आकर वहा के पण्डित-समाज के नेता बन गये थे। युवराज दारा शिकोह में सस्कृतविषयक अनुराग इन्होने उत्पन्न किया था। शाहजहान की राजसभा में इनका असामान्य सम्मान

ने ग्राह्य नहीं माना। इधर ई० स० १९४० में भी श्रीयुत सदानन्द काशीनाथ दीक्षित ने कलकत्ते के *Indian Culture* त्रमासिक के छठवे वप के दो अको में Chandragupta II, Sahasanka alias Vikramaditya शीर्षक विस्तृत निबन्ध लिखकर वराहमिहिर के सम्बन्ध में मिलनेवाले तथा ज्योतिर्विदाभरण में दिये हुए समयनिर्देशो का समन्वय करने की एक नई युक्ति सुझाई थी जिससे दोना के समय ई० स० ४०५ से ४२९ तक आ जाने की एव ज्योतिर्विदाभरणकार के कथन की वास्तविकता सिद्ध होने की अपेक्षा वे करते थे। किन्तु उनकी नई युक्ति की और उसपर आधारित विवेचन की निर्मूलता, असफलता तथा अग्राह्यता श्रीयुत के० माधव कृष्ण शर्मा ने पूना के *Poona Orientalist* त्रमासिक के पाँचवें वप के चौथे अक में प्रकाशित 'The Jyotirvidabharana and Nine Jewels" शीर्षक अपने लेख में अनेक प्रमाणो से सिद्ध की ह।

* श्रीयुत श्रीधर अण्णाशास्त्री वारे का लक्ष्मीवकटेश्वर मुद्रणालय के सस्करण में जुडा हुआ सस्कृत उपोदघात, पृष्ठ २७।

† 'कवीन्द्राचायसूचीपत्र' के साथ प्रकाशित क० महामहोपाध्याय डॉ० सर गगानाथ झा का प्राक्कथन तथा श्री० आर० अनन्त कृष्ण शास्त्री का उपोद्घात, 'कवीन्द्रचन्द्रोदय' के सस्कर्ता क० डा० हरदत्त शर्मा और श्री एम्० एम्० पाटकर इनका उपोद्घात, तथा अन्य विद्वानो के लेख देखिए।

था तथा उसी सम्राट् ने इनकी अप्रतिम विद्वत्ता से मुग्ध होकर इन्हें 'सर्वविद्यानिधान' उपाधि से गौरवित किया था। इन्हीके प्रभावपूर्ण वक्तव्य के कारण शहाजहान ने काशी तथा अन्य तीर्थो की जनता को करभार से मुक्त कर दिया था। इस संस्मरणीय विक्रम के उपलक्ष्य मे काशी के तत्कालिक सव प्रमुख पण्डितो ने मिलकर इनके गौरवपर छोटी-वडी कई प्रशस्तियाँ रचकर इन्हें समर्पण की थी जिनका संग्रह 'कवीन्द्रचन्द्रोदय' नाम से विख्यात है तथा ई० स० १९३९ मे पूना से प्रकाशित भी हो गया है*। इसी अवसर के स्मारकरूप हिन्दी पद्यमय प्रशस्तियो का भी 'कवीन्द्रचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ वनकर काशी के तत्कालिक हिन्दी कवियों द्वारा इन्हे सर्मपित हुआ था जिसकी एक प्रति वीकानेर की अनूप-संस्कृत-लाइब्रेरी मे वर्तमान है†। कवीन्द्राचार्य ने कई संस्कृत तथा हिन्दी ग्रन्थों की रचना भी की थी। किन्तु विचाराधीन प्रश्न की दृष्टि से सवसे अधिक महत्त्व का विपय है उनका प्राचीन ग्रन्थो का विशाल संग्रह। उक्त संग्रह मे विविध विषयो के सहस्रों प्राचीन ग्रन्थ विद्यमान थे जिनके मुखपृष्ठ पर एक विशिष्ट हस्ताक्षर से लिखा हुआ—"श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनां...... (=ग्रन्थ का नाम)।" यह वाक्य मिलता है। यह वाक्य उन पोथियों पर कवीन्द्राचार्य का मूल स्वामित्व सूचित करता है, नकि उनके अन्तर्गत ग्रन्थो का कर्तृत्व जिसके सम्वन्ध मे प्रत्येक पोथी के अन्त मे भिन्न प्रशस्ति रहती ही है। कवीन्द्राचार्य के ग्रन्थसंग्रह की एक प्राचीन सूची वडौदा से कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित भी हुई है‡। उस संग्रह के उपर्युक्त-वाक्याकित कई ग्रन्थ अव गवर्नमेण्ट सस्कृत लाइब्रेरी (सरस्वतीभवन) वनारस, अनूप-संस्कृत-लाइब्रेरी बीकानेर, गायकवाड ओरिएण्टल इन्स्टीटयूट वडौदा, इत्यादि संस्थाओ मे प्रविष्ट हो गये है तथा कुछ अव भी विभिन्न नगरो के प्राचीन विद्वत्कुलों के संग्रहों मे दृग्गोचर होते है§। हो सकता है कि उसी संग्रह की हरिस्वामी के शतपथभाष्य के किसी अंश की एक पोथी उसके मूल मुद्रण के समय अथवा किसी प्रतिलिपि के वनने के समय काम में लाई गई हो तथा सम्वन्धित संशोधको ने अथवा प्रतिलिपिकर्ता ने ऊपर दिये हुए कवीन्द्राचार्य के इतिहास से अनभिज्ञ होने के कारण पोथी के मुखपृष्ठ पर दिखनेवाले "श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनां शतपथभाष्यम् ॥" इस वाक्य का अन्त में दिखनेवाली "इति श्रीमदाचार्य-हरिस्वामिनः कृतौ माध्यंदिनीयशतपथब्राह्मणभाष्ये... ....काण्डे ... . अध्यायः समाप्तः ॥" इस प्रशस्ति से समन्वय "इति श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनाॅ श्रीहरिस्वामिनाॅ कृतौ माध्यंदिनीयशतपथब्राह्मणभाष्ये...................... काण्डे ....अध्यायः समाप्तः ॥" ऐसी नयी मिश्रित प्रशस्ति वनाकर कर डाला हो! 'सर्वविद्यानिधान' उपाधि से विभूषित किसी अन्य कवीन्द्राचार्य का अस्तित्व इतिहास को अथवा प्राचीन परम्परा को अव तक ज्ञात नही है। अतः मुद्रित संस्करणों मे स्वल्प स्थानों पर ही दिखनेवाली इस प्रशस्ति की उपपत्ति इस प्रकार लगाना प्रायः अनुचित न होगा।

---

* पूना ओरिएण्टल सीरीज, नं. ६०।

† प्रो० दशरथ शर्मा-शाहजहाँकालीन कुछ काशीस्थ हिंदी कवि (नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४७ अंक ३-४)।

‡ गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं. १७। किन्तु इसमें ई० स० १६५० के अनन्तर के कुछ ग्रन्थकारों की रचनाएँ भी प्रविष्ट हुई दिखती हैं। अतः इस सूचीपत्र का कवीन्द्राचार्य के पश्चात् कई वर्ष अनन्तर बना हुआ मानना ही उचित होगा।

§ प्रस्तुत लेखक को ई० स० १९४१ में सागर (मध्यप्रान्त के) एक पण्डितकुल के संग्रह से ई० स० १५५७ में हरिदास के वनाए हुए 'प्रस्तावरत्नाकर' ग्रन्थ की मूलतः कवीन्द्राचार्य के स्वामित्व की एक पोथी प्राप्त हुई थी जो अव सिन्धिया ओरिएण्टल इन्स्टीटयूट, उज्जयिनी, के हस्तलिखितसंग्रह में समाविष्ट कर ली गई है। इस पोथी के मुखपृष्ठ पर उसी परिचित हस्ताक्षर से लिखा हुआ "॥श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्य-सरस्वतीनां प्रस्तावरत्नाकरः॥" यह वाक्य है तथा अन्त में ग्रन्थकार की अन्तिम प्रशस्ति "इति श्रीकरण-कुलालंकारपुरुषोत्तमसूनुहरिदासविरचिते प्रस्तावरत्नाकरे ज्योतिःशास्त्रं समाप्तं ॥" एवं पोथी के लेखक की प्रशस्ति "॥शुभमस्तु ॥ श्रीरस्तु ॥ संवत् १७१३ (=ई० १६५६) समये श्रावणशुक्लपंचम्यां लि० नन्दनमिश्रेण वल्लभकुलोद्भूतेन ।" है।

विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष

कथासरित्सागर के विषमशीललम्बक नामक अन्तिम भाग के पाच तरगो में आई हुई विक्रमादित्यकथा में उस सम्राट् से सम्बन्धित 'चन्द्रस्वामी', 'यज्ञस्वामी', 'देवस्वामी', इत्यादि व्यक्तियो के नाम आये ह किन्तु 'हरिस्वामी' यह नाम दृग्गोचर नही होता। उस ग्रन्थ के अन्य भागो में आई हुई कथाओ में 'हरिस्वामी' नाम का एक व्यक्ति मिलता है किन्तु उसका विक्रमादित्य से कोई सम्बन्ध नही है तथा उसका विद्वान् ग्रन्थकार होना भी सूचित नही किया गया है। अत उसका अपने हरिस्वामी से कुछ सम्बन्ध नही दिखता।

ज्योतिर्विदाभरण में विक्रमादित्य के तथाकथित समकालिको के निर्देश अध्याय २२ के निम्नोद्धृत तीन श्लोको में किए हुए ह —

> शङ्कु सुवाग्वररुचिमणिरंगुदत्तो जिष्णुस्त्रिलोचनहरी घटकर्पराख्य ।
> अन्येऽपि सन्ति कवयोऽमरसिंहपूर्वा यस्यैव विक्रमनृपस्य सभासदोऽमी ॥ ८ ॥
> सत्यो वराहमिहिर श्रुतसेननामा श्रीबादरायणमणित्थकुमारसिंहा ।
> श्रीविक्रमार्कनृपसंसदि सन्ति चैते श्रीकालतन्त्रकवयस्त्वपरे मदाद्या ॥ ९ ॥
> धन्वन्तरि क्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासा ।
> ख्यातो वराहमिहिरो नृपते सभाया रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥१०॥

श्लोक ८ के द्वितीय चरण म 'त्रिलोचनहरी' यह पद द्विवचनान्त होने से उसमें त्रिलोचन तथा हरि नाम के दो व्यक्तियो का निर्देश दिखता है। यदि ज्योतिर्विदाभरण प्राचीन कालिदास के ही कर्तृत्व का होता अथवा उसके ऐतिहासिक उल्लेख विविध विश्वसनीय प्रमाणो से बाधित न हुए होते, तो इस निर्देश के हरि से अपने हरिस्वामी का एकव्यक्तित्व मान लेने में कोई हानि नही थी। किन्तु, जसा ऊपर सक्षेप में निर्दिष्ट किया गया ह, इस ग्रन्थ की अर्वाचीनता तथा उसके ऐतिहासिक अंशो की अविश्वसनीयता अब कई विद्वानो ने सिद्ध कर दी है। अत उसके उपर्युक्त निर्देश का अपने विवेचन में कोई विशेष उपयोग नही ह।

अन्य विश्वसनीय साधनो से शतपथभाष्यकार हरिस्वामी के विषय म अधिक जानकारी प्राप्त करना एव उनके विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष होने के कथन की सत्यासत्यता का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक ह। आशा ह कि विद्वान सशोधक इस काम में सश्रम होगे। यदि उक्त कथन की सत्यता निश्चित हुई तो अवश्य ही हरिस्वामी का विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष होना सिद्ध होगा। किन्तु आधुनिक इतिहासज्ञो की दृष्टि से सवत्सरप्रवर्तक विक्रमादित्य का विशिष्टव्यक्तित्व तथा ई० स० पूर्व ५८ ५७ के आसपास होना अभी सिद्ध नही हुआ ह एव हरिस्वामी ने भी अपना विशिष्ट समय इन तीन श्लोको में किसी गणना से निर्दिष्ट नही किया ह। ऐसी अवस्था में, किसी वैभवशाली सम्राट् विक्रमादित्य का अस्तित्व ऐतिहासिक प्रमाणो से ई० स० पूर्व ५८-५७ के आसपास निश्चित होने तक, हरिस्वामी को, यदि उनका कथन सत्य हो तो, द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (ई० स० ४१३ के पूर्व) के अथवा स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (ई० स० ४५५ ४८०) के धर्माध्यक्ष मान लेने में भी कोई हानि नही होगी। पराशर-गोत्री, मूलत पुष्कर के रहनेवाले तथा इस समय 'पुष्करना (पोखरना) परासरी' नाम से परिचित ब्राह्मणो के कुछ प्राचीन कुल आज भी उज्जयिनी में विद्यमान ह। बहुत सम्भव है कि अपने हरिस्वामी इन्हीके पूर्वजो में से हो। अत इन कुलो के वर्तमान पुरुषो को चाहिए कि अपने घरो के प्राचीन विविध साहित्य को प्रकाश में लाकर उसके द्वारा हरिस्वामी के कथन की सत्यता यथासम्भव सिद्ध करने में तथा उनके आश्रयदाता विक्रमादित्य का विशिष्टव्यक्तित्व, समय, इत्यादि समस्याओ को सुलझाने में पूर्ण सहयोग दें।

अन्त में इस विषय पर अन्य सशोधको के किए हुए अन्वेषणो तथा उन पर से प्राप्त निष्कर्षों की स्वल्प समीक्षा करना उचित होगा।

औफ्रेक्तने शतपथभाष्यकार हरिस्वामी तथा कात्यायनकृत श्राद्धसूत्र और स्नानविधिसूत्र के भाष्यकार हरिहर इन दोनो का एकव्यक्तित्व मान लिया ह।* किन्तु यह उनका भ्रम ह। जसाकि महामहोपाध्याय प्रो० पाडुरग वामन

* *Catalogus Catalogorum* भाग १, (लिप्जिग, १८९१), पृष्ठ ७६२, ७६३।

काणे ने सप्रमाण दिखलाया है*, पारस्कर के गृह्यसूत्र पर भाष्य लिखनेवाले हरिहर ने ही कात्यायन के स्नानविधिसूत्र पर भाष्य लिखा है तथा दोनो भाष्यो के अन्तर्गत तथा अन्य प्रमाणो से भी उसका समय ई० स० के ११५० से १२५० तक होना चाहिये। इस हरिहर का अपने हरिस्वामी से एकव्यक्तित्व दिखानेवाला कोई भी प्रमाण प्राप्त नही हुआ है।

पंजाब युनिव्हर्सिटी के प्राच्यविभाग के प्राध्यापक डॉ० लक्ष्मणसरूप ने प्रथम १९२९ मे निरुक्त के अपने संस्करण के 'सूची और परिशिष्ट†' वाले भाग के उपोद्घात के एक अंश मे तथा अन्यत्र १९३७ मे 'झा-स्मारक ग्रन्थ' मे प्रकाशित 'स्कन्दस्वामी का समय' शीर्षक‡ अपने लेख मे इन हरिस्वामी के समय की चर्चा की है। उससे ज्ञात होता है कि बनारस की गवर्नमेण्ट सस्कृत लाइब्रेरी में हरिस्वामी के शतपथभाष्य की संवत् १८४९ मे लिखी (अर्थात् १५२ वर्ष पुरानी) एक प्रति विद्यमान है जिसमे भाष्यकार का समय एव उनके पितामह तथा गुरु के नामो का निर्देश करनेवाले, किन्तु मुद्रित संस्करणों एवं उनके आधारभूत हस्तलिखित पोथियो मे दृग्गोचर न होनेवाले, कुछ अतिरिक्त श्लोक मिलते है। उक्त प्रति डॉ० लक्ष्मणसरूप ने स्वय नही देखी है किन्तु उन्हे उसके ⁂ निम्नलिखित पाँच महत्त्वपूर्ण श्लोक उक्त पुस्तकालय के अध्यक्ष की ओर से प्राप्त हुए है :—

> नागस्वामी तत्र..................श्रीगुहस्वामिनन्दनः। तत्र याजी प्रमाणज्ञ आढचो लक्ष्म्या समेधितः ॥ ५॥
> तन्नन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद्वेदवेदिमान्। त्रयीव्याख्यानधौरेयोऽधीततन्त्रो गुरोर्मुखात् ॥ ६ ॥
> यः सम्राट् कृतवान्सप्तसोमसंस्थास्तथर्क्श्रुतिम्। व्याख्यां कृत्वाध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः ॥ ७॥
> श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमस्य क्षितीशितुः। धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यां कुर्वे यथामति ॥ ९॥
> यदादीनां (=यदाब्दानां) कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै। चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥

इन श्लोको के अनुसार हरिस्वामी के पितामह का (अर्थात् नागस्वामी के पिता का) नाम गुहस्वामी था तथा गुरु का नाम स्कन्दस्वामी था। स्कन्दस्वामी वेदो के प्रकाण्ड विद्वान् तथा वैदिक यज्ञकाण्ड के सभी विभागो मे अनुभव से निष्णात थे तथा उन्होंने ऋक्सहिता की व्याख्या भी रची थी⁑। पूर्वोक्त तीन श्लोको की तरह ये श्लोक भी हरिस्वामी के इस विशेष को विशिष्ट रूप से प्रस्तुत करते है कि सर्वत्र दिखनेवाला लक्ष्मी और सरस्वती का सहज वैरभाव उनके उदाहरण मे अस्तित्व नही रखता था। धुरन्धर विद्वान् होते हुए वे समृद्ध सम्पत्तिशाली भी थे। अन्तिम श्लोक के सरल अर्थ के अनुसार हरिस्वामी ने शतपथभाष्य की रचना कलियुग के ३७४० वर्ष समाप्त होने पर की।

यदि इन पाँच श्लोकों मे विश्वसनीयता हो तो अवश्य ही हरिस्वामी के समय का निर्णय हो जाता है तथा अन्तिम श्लोक के सीधे अर्थ के अनुसार इस्वी सन के ६३८वे वर्ष मे उनके शतपथभाष्य का रचा जाना मान लेना पडता है क्योकि कलिका प्रारम्भ ख्रिस्तपूर्व ३१०२ के फरवरी के दिनाक १८ से माना जाता है। यह समय विक्रम-सवत् के प्रारम्भ से प्राय: ६९५ वर्ष अनन्तर का है तथा 'विक्रमादित्य' उपपदधारी गुप्तवंशीय विख्यात सम्राटो से भी अनन्तर का है। अत-

---

* *History of Dharmasastra* भाग १, (पूना १९३०), पृष्ठ ३४१-३४३।

† Indices and Appendices to the *Nirukta* (लाहौर, १९२९), पृष्ठ २९-३०।

‡ *Date of Skandasvamin—Jha Commemoration Volume* (पूना, १९३७), पृष्ठ ३९९-४१०।

⁂ उक्त पोथी का विस्तार कितने पत्रों का है, उसमें समग्र शतपथब्राह्मण का अथवा उसके कुछ अंशों का ही भाष्य है, उद्धृत पांच श्लोक पोथी के किन पत्रों पर है, इत्यादि महत्त्व की बातों का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है! लेखनकाल संवत् १८४९ देनेवाली पोथीलेखक की प्रशस्ति भी मूल शब्दो में उद्धृत नहीं की गई है!

⁑ ऋक्संहिता के प्रारम्भ के तीन अष्टकों का स्कन्दस्वामीकृत भाष्य त्रिवेन्द्रम् से कुछ वर्ष पूर्व उपलब्ध होकर अब मुद्रित भी हो गया है। सम्भवतः इसी भाष्य के रचयिता स्कन्दस्वामी हरिस्वामी के गुरु थे।

विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष

समयनिर्देशक श्लोक के सीधे अर्थ के आधार पर हरिस्वामी का आश्रयदाता किसी और विक्रमादित्य को ही मानना पडेगा। किन्तु इस समयनिर्देशक श्लोक के सरलार्थ की विश्वसनीयता तथा उसपर से डॉ० लक्ष्मणसरूप ने निकाले हुए निष्कर्ष सब ऐतिहासिक प्रमाणो के विरुद्ध है जैसाकि नीचे दिखाया जायगा।

प्रथम लेख लिखने के समय तो डॉ० लक्ष्मणसरूप इस भ्रम में थे कि कलियुग का प्रारम्भ ई० स० पूर्व ३२०२ से होता है। इस भ्रान्त कल्पना के आधार से गणित करने पर उक्त श्लोक में दिया हुआ समय ई० स० का ५३८वा वर्ष निकला और डॉक्टर महोदय ने ई० स० ५२८ के आसपास हूणाधिपति मिहिरकुल को गहरा पराजय देनेवाले मालवे के एक प्रबल राजा यशोधर्मन् से हरिस्वामी के विक्रमादित्य का एकव्यक्तित्व मान लिया! किन्तु कुछ समय के पश्चात् अन्य संशोधकों के लिखने पर उन्हें सूझ आई कि यथार्थ में कलि का प्रारम्भ ई० स० पूर्व ३२०२ से नही किन्तु ३१०२ से होता है तथा इस हिसाब से उक्त श्लोक में निर्दिष्ट समय ई० स० के ६३८वें वर्ष से ऐक्य पाता है। इतिहास के अनुसार इस समय के आसपास उज्जयिनी में किसी विक्रमादित्य का होना पूर्णतया असम्भव है क्योंकि कन्नौज का हर्षवर्धन ई० स० ६०६ से ६४८ तक निर्विवाद रूप से समग्र उत्तरीय भारत का सम्राट था एवं सब ऐतिहासिक प्रमाण इस पक्ष में है कि प्रभाकरवर्धन, राज्यवर्धन तथा हर्षवर्धन इन तीनो की विजयपरम्परा से मालव का स्वतंत्र अस्तित्व ही इस समय तक पूर्णतया नष्ट हो चुका था और पूर्व तथा पश्चिम मालव दोनो कन्नौज-साम्राज्य के घटक प्रान्त बन गये थे। ऐसी अवस्था में समय-निर्देशक श्लोक उसके सीधे अर्थ के अनुसार एक निरर्गल प्रलाप से अधिक महत्त्व नही रखता तथा उसपर आधारित सब निष्कर्ष अन्तरिक्ष में लीन हो जाते है। किन्तु जान पडता है कि हरिस्वामी को यशोधर्मन् की ही राजसभा में बठाने का बीडा डॉ० लक्ष्मणसरूप उठा चुके थे। अत उन्होने उनके उपरिनिर्दिष्ट दूसरे लेख में इन कठिनाइयो का सामना इस श्लोक के विद्यमान पाठ को अशुद्ध बताकर उसके लिए केवल अपनी कल्पना से निम्नलिखित नवीन पाठ सुझाते हुए किया —

यदाब्दाना कलेजग्मु षट्त्रिंशच्छतकानि व। चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

जिससे भाष्यरचना का समय ठीक सौ वर्ष पीछे ई० स० ५३८ में अर्थात् यशोधर्मन् के शासनकाल में आ जाय। उन्होने इस सम्बन्ध में यशोधर्मन् का पक्षपात यह कहकर भी किया है कि हरिस्वामी के विक्रमादित्य का 'अवन्तिनाथ' यह विशेषण केवल मालवे वा मध्यभारत का आधिपत्य करनेवाले यशोधर्मन् का ही लागू पडता है नकि द्वितीय चन्द्रगुप्त को जो समग्र उत्तरीय भारत का सम्राट् था।

वस्तुत अपने मत की सुलभता के लिए किसी प्राचीन ग्रन्थ में दिखनेवाले पाठ को केवल कल्पना के आधार पर बदलना शास्त्रीय संशोधन से सम्मत नही है। अच्छा होता कि डॉक्टर महोदय समयनिर्देशक श्लोक को असमर्थित एवं अविश्वसनीय कहकर छोड देते। उनका यह कथन भी कि 'अवन्तिनाथ' यह विशेषण यशोधर्मन् के अतिरिक्त अन्य किसी विक्रमादित्य को लागू नही होता कुछ महत्त्व नही रखता। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। संवत् प्रवर्तक समझे जानेवाले मूल विक्रमादित्य का वर्णन सब प्राचीन कथाएँ, इस बात को पूर्णतया ध्यान मे रखते हुए कि वह समग्र भारत का सम्राट् था, 'अवन्तिनाथ' वा तत्सदृश विशेषणो से ही मुख्यतया करती है क्योंकि उनके अनुसार उसकी राजधानी उज्जयिनी थी। भोज को भी सर्वत्र 'धाराधीश' इसी रीति के अनुसार कहा जाता है। वैसेही देखा जाय तो 'अवन्तिनाथ' विशेषण यशोधर्मन् के वर्णन में भी अव्याप्ति-दोष से मुक्त है क्योंकि दशपुर (मन्दसौर) इत्यादि अनेक स्थान जोकि उज्जयिनी से सौ मील से भी अधिक दूरी पर है उसके आधिपत्य में थे। अथच, हरिस्वामी अपने आश्रय-दाता का निर्देश केवल 'विक्रमादित्य' नाम से करते है, वे उसका कोई दूसरा नाम होना ध्वनित भी नही करते। यशोधर्मन् का इस, अथवा अन्य भी किसी, विक्रमादित्य से एकव्यक्तित्व मान लेने में और भी कई गम्भीर बाधाएँ उपस्थित होती है। उसने उसके अब तक उपलब्ध हुए तीन शिलालेखो में, जिनमें मन्दसौर का स्तम्भगत ई० स० ५३२ का लेख अत्यन्त विख्यात है, अपना, अपने पराक्रम का तथा अपने साम्राज्य विस्तार का वर्णन बडे बडे आत्मश्लाघात्मक विशेषणो से किया है, किन्तु उसने अपने को 'विक्रमादित्य' उपपदधारी कही ध्वनित भी नही किया है। यदि वह वस्तुत 'विक्रमादित्य' उपपदधारी

होता तो उसने जिस प्रकार अपने नाम के साथ 'राजाधिराज', 'परमेश्वर' इत्यादि विरुदों का उपयोग किया है, उसी प्रकार 'विक्रमादित्य' उपपद का भी स्पष्ट रीति से किया होता। एवं यशोधर्मन् का हरिस्वामी के, अथवा अन्य भी किसी, विक्रमादित्य से विद्यमान अवस्था में ऐक्य सिद्ध नही हो सकता। डॉ० लक्ष्मणसरूप से पूर्व भी कुछ भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक प्रचलित आख्यायिकाओ के अनुसार कालिदास, मातृगुप्त, प्रवरसेन, इत्यादि व्यक्तिओं से सम्बन्धित विक्रमादित्य का ऐक्य यशोधर्मन् से संस्थापित करने का प्रयत्न किया था। किन्तु यशोधर्मन् के 'विक्रमादित्य' उपपदधारी होने के प्रमाण के अभाव मे उनके यत्न में भी असफलता रही।

डॉ० लक्ष्मणसरूप द्वारा प्रस्तुत किये हुए पॉच श्लोकों की, विशेषत: समयनिर्देशक अन्तिम श्लोक की, विश्वसनीयता अथवा अविश्वसनीयता का निर्णय करानेवाला कोई स्वतन्त्र साधन इस लेखक के पास आज नही है। किन्तु जो विवरण प्राप्त हुआ है उससे इनकी विश्वसनीयता संदिग्ध अवश्य हो जाती है। श्री० सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ते से 'बिब्लिओथिका इण्डिका' ग्रन्थमाला द्वारा तथा अन्य सशोधकों ने अन्य स्थानों से शतपथभाष्य के जो संस्करण निकाले है, उनमें केवल पूर्वोक्त तीन श्लोक ही मिलते है, इन पॉच श्लोकों का पता नही है। उन संस्करणों के आधारभूत हस्तलिखित पोथियों में कवीन्द्राचार्य के संग्रह की भी एक पोथी होना प्रतीत होता है जो कम से कम तीनसौ वर्ष पुरानी होनी चाहिए तथा जिसकी विश्वसनीयता इस एकसौवावन वर्ष पुरानी पोथी से अधिक होनी चाहिए। अर्थात् इन श्लोकों को प्रस्तुत अवस्था में असमर्थित ही मानना पड़ता है।

वस्तुस्थिति जो कुछ भी हो, हरिस्वामी का रुख, जैसाकि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, मुख्य अर्थात् सवत्-प्रवर्तक माने जानेवाले 'विक्रमादित्य' की ओर ही होना प्रतीत होता है। और इस दृष्टि से विचार किया जाय तो उक्त समयनिर्देशक श्लोक का अर्थ, उपस्थित पाठ को लेशमात्र भी परिवर्तित न करते हुए किन्तु केवल पदच्छेद और अन्वय निम्नलिखित रीति से करते हुए, अधिक समीचीन किया जा सकता है:—

यदादीनां (—यदाब्दानां) कलेर्जग्मुः सप्त त्रिंशच्छतानि वै। चत्वारिंशत्समाऽश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ।।
(अन्वय :—यदा कलेः अब्दानां त्रिंशच्छतानि, सप्त, अन्याः चत्वारिंशत् समाः च जग्मुः वै तदा इदं भाष्यं कृतम्।।)

'सप्त' और 'त्रिंशच्छतानि' इन पदों को पृथक् मानने पर समग्र वर्षसंख्या कलि के प्रारम्भ से ३०४७ होती है, ३७४० नही। यह लेख लिखने के समय कलिवर्ष ५०४६ तथा विक्रमसंवत् का वर्ष २००१ चालू है। अर्थात् कलिवर्ष ३०४५ मे विक्रमसंवत् का प्रादुर्भाव हुआ था। इस अर्थ के अनुसार हरिस्वामी अपने शतपथभाष्य की रचना विक्रमसंवत् के तीसरे वर्ष के आसपास, अर्थात् संवत्-प्रवर्तक मूल विक्रमादित्य के ही शासनकाल मे पूर्ण होना सूचित करते है।

विचाराधीन श्लोक का भिन्न अर्थ करने की जो नवीन युक्ति ऊपर सुझाई गई है उसमें न तो किसी विद्यमान पाठ का ही गला घोंटा गया है न संस्कृत व्याकरण के किसी नियम का ही भंग किया गया है। श्लोक के रचयिता का भी अभिप्रेत अर्थ यही प्रतीत होता है। तो भी वर्तमान अवस्था मे यह कहना असम्भव है कि श्लोक मे इस अर्थ के अनुसार किया हुआ विधान वस्तुस्थिति पर आधारित है अथवा ज्योतिर्विदाभरण के समयनिर्देश के सदृश केवल कल्पना से गणित की सहायता से किया गया है। यद्यपि मुझे इस विधान को निरस्त करनेवाला कोई अन्तर्गत प्रमाण हरिस्वामी के भाष्य मे अभी तक नही मिला है तो भी इस वात का विस्मरण नहीं किया जा सकता कि समयनिर्देशक तथा अन्य चार श्लोक अव तक केवल एक ही पोथी में उपस्थित है। यदि कालान्तर से भाष्य की अन्य प्राचीन प्रतियां प्रकाश मे आये तथा यह समयनिर्देशक श्लोक अन्य प्रमाणों से अप्रामाणिक सिद्ध न होकर उनके द्वारा समर्थित हो तो संवत्-प्रवर्तक मुख्य विक्रमादित्य का अस्तित्व आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व होना सिद्ध करने मे वह सवसे वलवान् समकालिक प्रमाण हो वैठेगा।

इस विषय की विद्वानों द्वारा अधिक गवेषणा की आवश्यकता है, उसके पश्चात् ही किसी निश्चित तथा अतिम निर्णय पर पहुँचा जा सकता है।

❊ विक्रम ❊

श्री सियारामशरण गुप्त

युग सहस्र वर्षान्त प्रसारित
काल-स्रोत के इस तट पर
विजयी विक्रम की गाथा में
ध्वनित आज कवि का जो स्वर—,

मानस क्षिप्रा की लहरों में
उमँग उठा वह उल्लासी,
उस सुदूर में महाकाल के
पदस्पर्श का अभिलाषी,
नूतन साके के प्रभात में
फहरा जो जयकेतु वहाँ,
बरसी जिस पर अरुण-कलश की
अभिषेकोदक धारा-सी,

किस अनन्त में है वह, उसकी
आती यह फहराहट भर,
युग सहस्र वर्षान्त प्रसारित
काल-स्रोत के इस तट पर!

श्री सियारामशरण गुप्त

जिस विक्रान्त बली विक्रम के
अभय कण्ठ का विजयोच्चार
अब्द अब्द के नित-नव रथ में
कर आया इतना पथ पार,

यहाँ आज के उत्सव में वह
थम न सकेगा एक निमेष,
शतियों के मुख से है उसको
आगे का आह्वान अशेष।
विकट पराभव की तमसा में
जहाँ निराशा की वर्षा
उसे वहाँ देते जाना है
पूर्व पराक्रम का सन्देश।

हुआ हमारा ही अपना यह
निखिल राष्ट्र-मय जयजयकार,
उस विक्रान्त बली विक्रम के
अभय कण्ठ का विजयोच्चार।
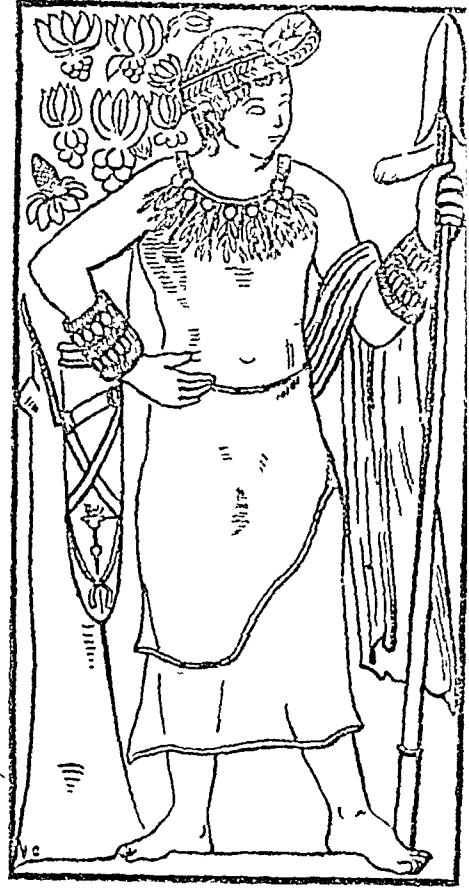
हुआ अधोन्मूलन, ध्वनि गूँजी—
'भय क्या है, किसका क्या भय!'
जब वह दुराक्रमक दुःशासक
कठिन दस्युदल था दुर्जय।

देखा जब भी हमने तब से
वह वैताल 'पुनस्तत्रैव',
उद्यत रहा हमारा विक्रम
नव वेशों में सतत तथैव।
वार, मास, वत्सर-वत्सर की
प्रांततिथि के मस्तक पर नित्य
अविच्छिन्न अंकित रक्खा है
उस विक्रम का स्मरण सदैव।

त्रिसहस्राब्द-द्वार पर फिर से
उठें वही स्वर निःसंशय,
अहरह जाग्रत है वर-विक्रम,
भय क्या है, किसका क्या भय!

विक्रम

वह विक्रम, जो उठा गगन में
धारण किये समग्र प्रकाश;
नवादित्य-सा तिमिर-सेज पर
पूरा कर निज निभृत निवास,

न हो भले, मिट्टी पत्थर पर
उसके पद चिह्नों की रेख,
हृदय-हृदय के ऊर्ध्व लोक में
अक्षय है उसका अभिलेख।
प्रति रजनी में राजमुकुट तज,
जन मन की उज्जयिनी में,
मधुर स्वप्न बन विचर रहा है
वह भय भजन-कारी एक !

समाश्वस्त है कुटी-कुटी का,
भवन भवन का, पवनाकाश,
वह आदित्य उदित फिर होगा
प्रकटित करके पूर्व-प्रकाश।
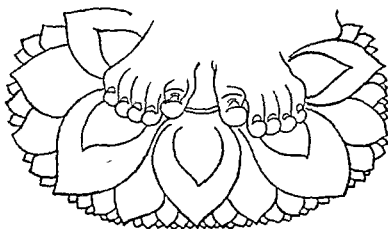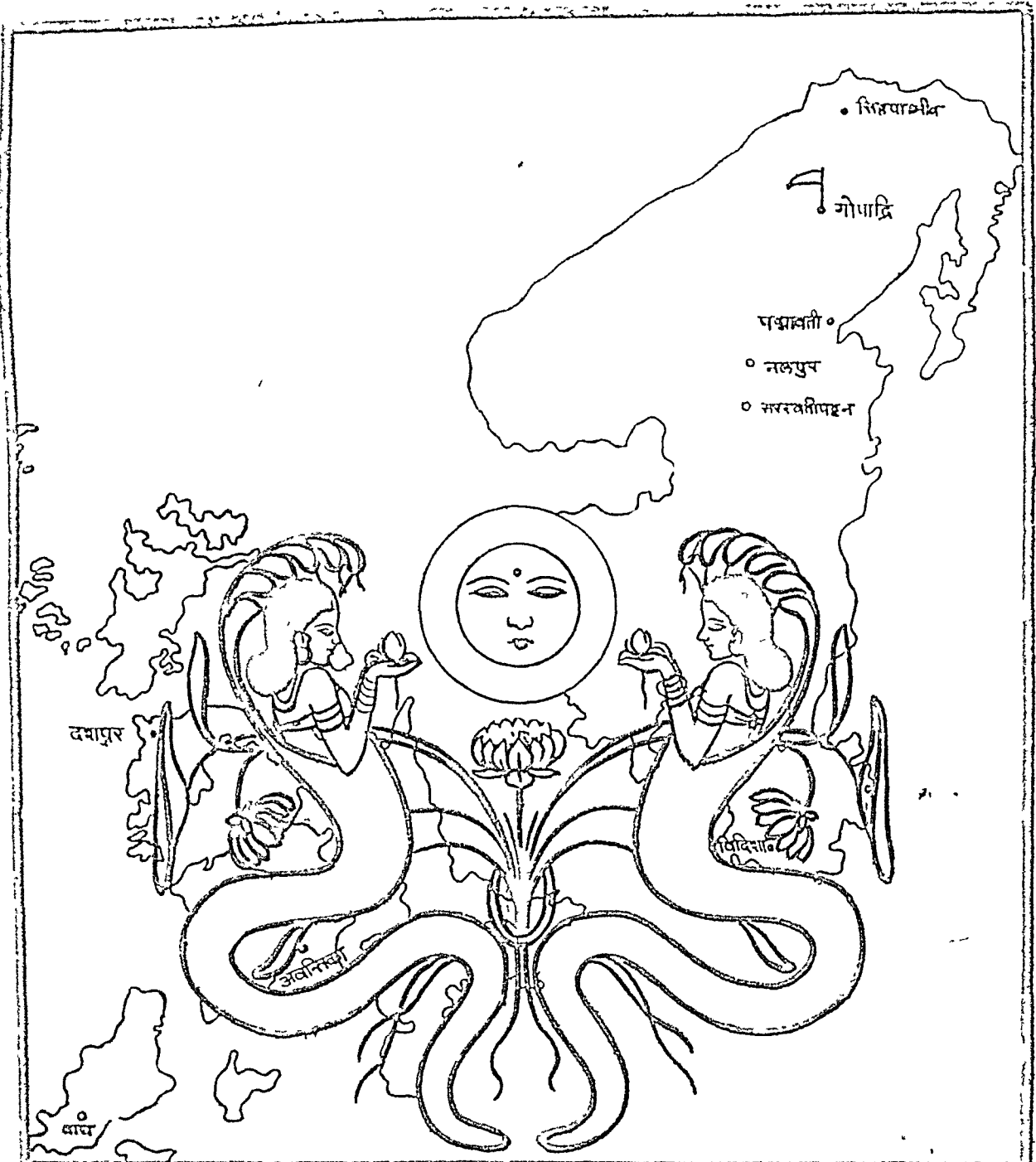
विक्रम-प्रदेश

गालवपुर की राज्य-परिधि !

स्व० श्री रमाशंकर शुक्ल, हृदय

(१)

ओ गोपाद्रि ! सम्हाले तूने कितने चरण-चिह्न कुछ तो कह ?
कितने धन्य हुए हैं आकर तेरे अंचल में कुछ तो कह ?
मूक न बन, तू बोल और इस क्षण अपना आशीष जगादे,
यह प्रभात तेरे मस्तक पर तरुणाई का मुकुट सजादे !
तपःपूत तेरा अणु-कण है—यह भगवे झंडे की साखी,
क्यों न करेगा आज तेजमय तू जीवन-प्रभात की झाँकी ?
उन्नत मस्तक रहा सदा ही उसी निरालेपन से तू रह,
ओ गोपाद्रि ! सम्हाले तूने कितने चरण-चिह्न कुछ तो कह !

(२)

तू विशाल है, तेरी सीमा आर्य-देश का रही पुण्य-पथ,
रेवा चरण चूमती, यमुना सदा हेरती है तेरे दृग !
तू सुवर्ण हो गया छिपाये इस सुवर्ण-रेखा की छाया,
महाकाल ने भी विराम तेरी शिप्रा के तट पर पाया !
पारवती भी आर्द्र हुई तुझ पर वात्सल्य-सनेह ढारती,
विकल तरंगों में चम्बल की तेरी ही करुणा पुकारती !
विविध प्रधावित ये सरिताएँ गाती हैं तेरी गौरव-गथ,
तू विशाल है, तेरी सीमा आर्य-देश का रही पुण्य-पथ !

गालवपुर की राज्य-परिधि

(३)

गालवपुर की राज्य-परिधि ! तू इतिहासों की लिए धरोहर,
दशपुर, विदिशा और अवन्ती की कहानियाँ क्यों न याद कर !
सूर्यसेन, सारग, करण-से नृपवर मानसिंह से मानी,
छोड़ गये हैं तेरी गोदी मे वैभव की अमिट निशानी !
कुलपति गुरु प्रभु यदुपति के वे सांदीपन विद्याभिमान से,
आर्यभट्ट वाराहमिहिर तुझ से पूजित हो विद्यमान थे !
बौद्ध महाकात्यायन जैसे विश्व-शान्ति-सन्देश वहन कर,
गालवपुर की राज्य परिधि, तू इतिहासों की लिए धरोहर !

(४)

खिंची मध्यरेखा भू मडल की मंगल-ग्रह दिखा यहीं पर,
यजुर्वेद का भाष्य प्रथम ज्ञानी उव्वट ने किया यहीं पर !
प्राकृत-आवन्तिकी वाणियों में साहित्य विधान हुआ था,
यहीं राग मालव में पहले मुग्धाओं का गान हुआ था !
कालिदास से कवि-कुल-गौरव मालव के महमान हुए थे,
यहीं परीक्षा देकर कितने जन विश्रुत विद्वान हुए थे !
सस्कृति का प्रवाह दिशि विदिशाओं से आकर मिला यहीं पर,
खिंची मध्य रेखा भू मडल की मगल-ग्रह दिखा यहीं पर !

(५)

नृपति-मुकुट प्रद्योत बौद्ध सम्राट् अशोक महान् भिक्षु बन,
करते थे तेरे आँगन में—तेरे रग-स्थल में क्रीड़न !
वे विक्रम, नृप विक्रम, जिनका है विशाल भारत में साका,
किसी समय फहराते थे तेरी सीमा में कीर्ति-पताका !
भूप यशोधर्मन तेरी इस पुण्य भूमि मे पूत हुए थे,
इसी अवन्ती यशवन्ती में मुज मान-सम्भूत हुए थे !
कौन समर्थ करेगा इनकी पुण्य कथाओं का अनुकीर्तन ?
नृपति मुकुट प्रद्योत बौद्ध सम्राट् अशोक महान् भिक्षु बन !

(६)

तानसेन सोया है तुझ में प्राणों का मधु-गीत सुना कर,
धन्य हुए कवि वृन्द प्रकृति से यहाँ भाव सवेदन] पाकर।
गोपाचल, इतने गौरव में भी तूने अभिमान न माना,
रखा अमीरी में भी तूने अपना मस्त फकीरी बाना।
सप्तपुरी की पुण्य-ज्योति तेरे जीवन मे ऐसी जागी,
राजमुकुटवाले भी आकर बने भर्तृहरि-से वैरागी।
नश्वरता मिट गई यहाँ पर तुझे अमर-सगीत सुना कर,
तानसेन सोया है तुझ मे प्राणों का मधु-गीत सुना कर।
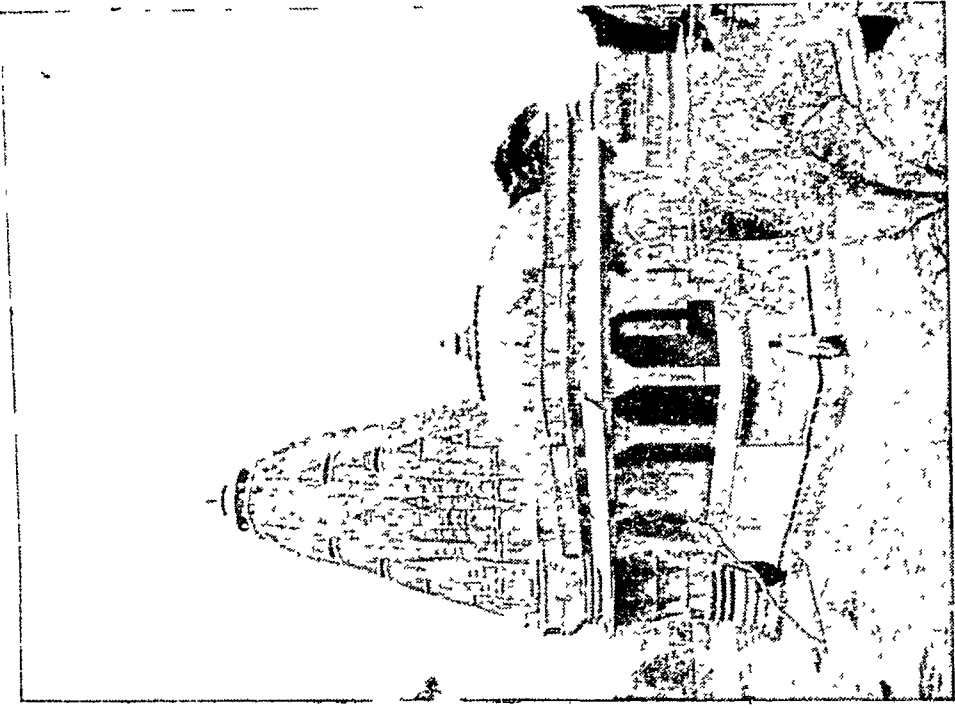
महाकाल मन्दिर, उज्जैन।
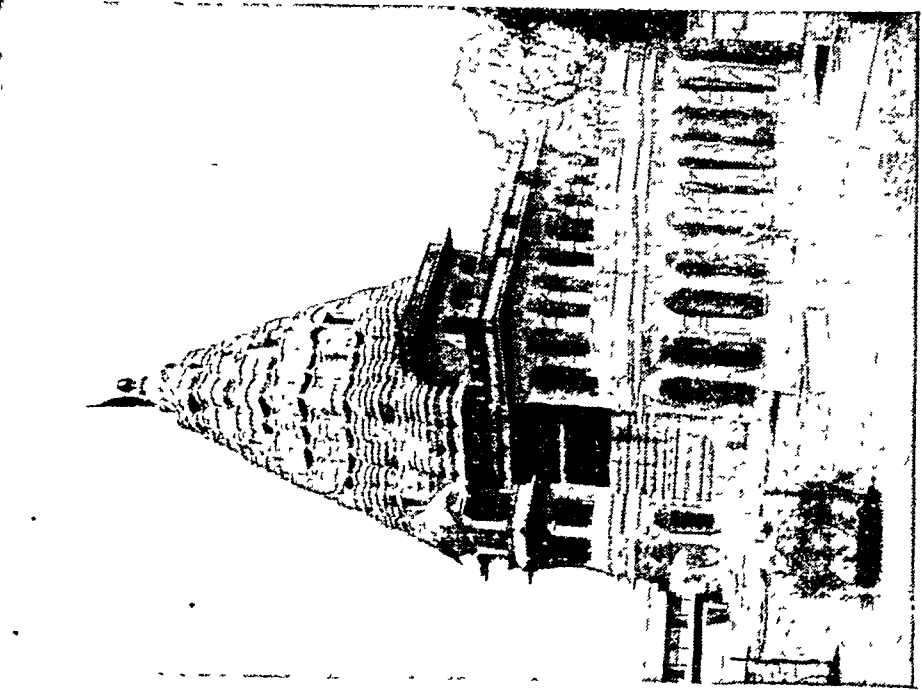
प्राचीन महाकाल मन्दिर, उज्जैन।
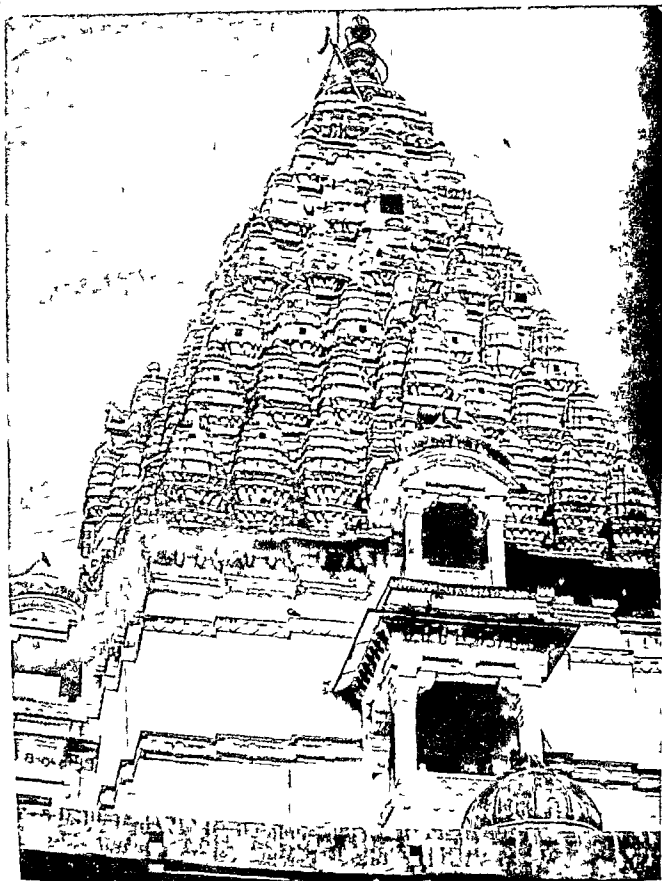
महाकालेश्वर का मन्दिर—'वन्दे महाकाल मह सुरेशम्'।
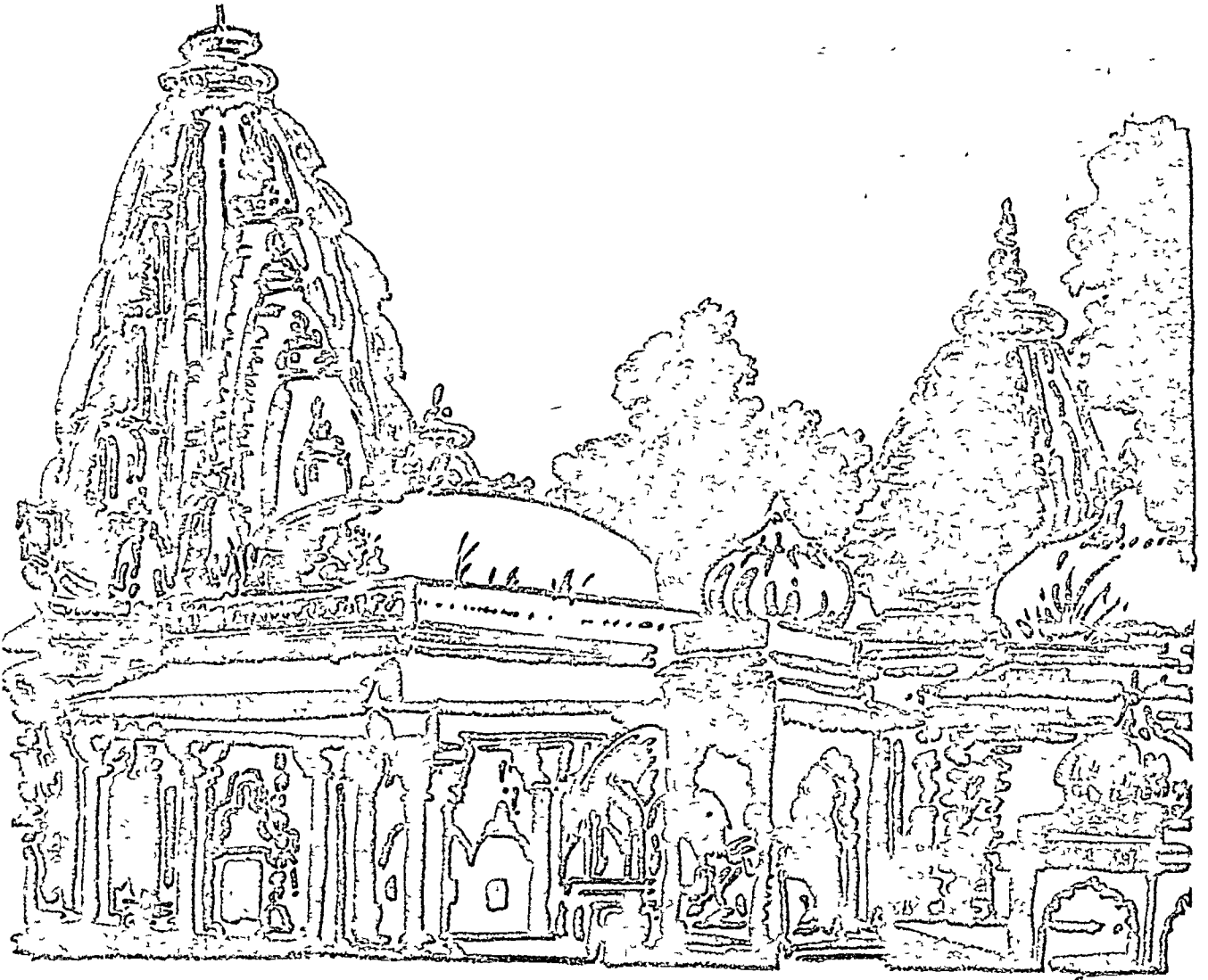
मानवलोकेश्वर महाकाल

श्री सूर्यनारायण व्यास, ज्योतिषाचार्य

'मृत्युलोके महाकालम्' इस पुराणोक्ति की पृष्ठभूमि मे अवश्य ही ऐतिहासिक तथ्य-परम्परा विद्यमान है। समस्त मानवलोक की स्वामिता का अधिकार महाकालेश्वर को केवल धार्मिक भावना से ही प्राप्त नहीं है, किन्तु महाकालेश्वर की इस विशिष्टता के लिए हमें मालव-भूमि की प्राग्-ऐतिहासिक युग से भी पूर्व की स्थिति पर दृष्टिपात करना होगा। प्रलयकालीन भारत की हमारे समक्ष एक धुंवलीसी कल्पना-रेपा है। उसके पश्चात् यदि कही मानव-सृष्टि के आरम्भिक विस्तार का कारण-स्थल ज्ञात होता है तो वह मालव-प्रदेश ही है और इसी कारण अवन्ती-देश की पौराणिक विभिन्न नामावलियाँ रहस्य से परिपूर्ण है। उसमे भी प्रतिकल्पा शब्द ऐसा है जो विभिन्न युगो (कल्पो) में इस प्रदेश के अस्तित्व की सूचना देता है। ये नाम और पौराणिक राजवंशों के वे नाम जो सुमेर, एवं इजिप्शियन संस्कृति से नाम-साम्य ही नहीं, अधिकार-क्षेत्र के व्यापक स्वरूप की भी संगति जुडाने मे पर्याप्त सहायक होते हैं, मालव की अति पुरातन महत्ता स्थिर करने मे सहायक बनते हैं। और यही कारण है कि पुराणों के 'प्रलयो न बाधते तत्र महाकाल पुरी' इस पद्यांश मे तत्कालीन ऐतिह्य भावना का ही प्रतिविम्व है। नर्मदा उपत्यका की सभ्यता के अनुसन्धान ने भी इन्ही विचारों को पुष्टि दी है। फलतः महाकालेश्वर की यह पावन पुरी मानव-जननी के रूप मे ही प्रकट होती है। तक्षशिला के धर्मराजिका मठ की मही से जिस पुरातनतम मानव के कंकाल ने प्रकट होकर भारत की किसी विशिष्ट सभ्यता का प्रदर्शन किया था, उससे

भी शताब्दियो पूर्व की सभ्यता के समर्थन करने के लिए एक दूसरे महा-मानव के मूल-पुरुष के व काल ने प्रत्यक्ष प्रगट होकर उज्जैन में मानव-सृष्टि की प्रथमोत्पन्नता का प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित कर दिया। वाल्मीकि महर्षि प्रणीत रामायण की पुरातनता इतिहास में नि सदिग्ध है। तत्कालीन विन्ध्याद्रि की परमोन्नतता—'अपश्यद्रावणो विन्ध्यमाविशन्तमिवाम्बरम' इतनी प्रख्यात ह कि स्वय रावण को भी विन्ध्य-सौध-शृग नील नभोमडल को छूता हुआ दिखाई पडा था। वह इस विन्ध्याटवी की उष्णता से भयभीत हो सीताहरण के समय सीधा रास्ता काटकर ही चला गया था। 'विन्ध्य' की उस गगनोन्नत अवस्था का जिस सहस्राब्दी को भास हो सकता है उसी युग की अवन्ति का मानवावास भी समर्थित है। स्वय किष्किन्धाकाण्ड इसका प्रमाण है। वदिक-रामायणयुगीन अवन्ती की आर्य-सस्कृति की रक्षा, विस्तार और व्यापकता एक नही अनेक प्रमाणो से सिद्ध है। प्रलयावृत पृथ्वीतट पर भारत-हृदयासीन मध्य भारत ही मानव सृजन में सन्नद्ध था, यही कारण है कि मानवलोकेश महाकाल इस सृष्टि-समारम्भ-साधिका पुरी के पुराण प्रवित्त प्रभु हैं। उपनिषद् और आरण्यक ग्रथो ने वाराह पुराण की उस पद्य-सगति को सबल बनाया ह जो इस भारत भूमि के नाभिदेशावस्था में शरीर-क्षेत्र के मानव मानचित्र पर अवन्ती रूप में प्रस्तुत है। [नाभिदेशे महाकालस्तन्नाम्ना तत्र वै हरः... ... इत्येषा तैत्तिरी श्रुति] और जिसको उपनिषदो में से अनेको ने प्रमाणित भी किया है। महाकालेश्वर इसी कारण ज्योतिर्लिंगो की द्वादशसख्यक सत्ता से उठाकर मृत्युलोकेश की सार्वभौम सत्ता के सर्वाधिकारी रूप म स्वीकृत हो गये ह।

यह उस आध्यात्मिक युग की स्थिति ह जिस युग की महत्ता ने समस्त जग को हमारे महादेश को सर्वतोपरि सुसस्कृत स्वीकृत करने को विवश कर दिया है।

महाकालेश्वर की मूर्ति और मन्दिर के विषय में पुरातनो और आधुनिकों के सघर्षो में इतिहास को बीच में रखकर हमें उलझने की आवश्यकता नही। शिल्पकला प्रवीणो के प्रासाद निर्माण साहित्य की कुछ निश्चित अवस्थाएँ हैं। उनकी 'युगों' की योजना में वह आयुर्निर्णयाधिकार प्राप्त करे, परन्तु महाकालेश्वर के आवन्तिक अस्तित्व और उनकी प्राचीनता के प्रमाणो की खोज करना सूर्य के महाप्रकाश में दीप का प्रकाश करना है। प्रलयान्तर सृष्टि-समर्पिका नगरी के प्रत्येक युगीन निर्माण 'प्रतिकल्पा' के नाम से न्याय-सगत ही हैं और अपना औचित्य भी रखते हैं। इस वदिक प्रदेश की महत्ता और महाकालेश्वर की महिमा सृष्ट्यारम्भ की है। यही कारण ह कि इस प्रदेश को वेदो से लेकर समस्त पुराणो ने अपनी प्रशसा पुष्पाजलि ही समर्पित नही की है इसको समस्त तीर्थों से 'तिलाधिक्य' प्रतिष्ठा का पद भी सादर समर्पित किया है। यदि इन समस्त महतियो के मूल को देखा जाए तो मानवलोकेश महाकालेश्वर ही इसके प्रमुख कारण है।

आज से दो हजार वर्ष पूर्व सम्राट् विक्रमादित्य के अभिन्न सखा विश्वाराध्य कवि कालिदास तभी अपनी प्रतिभा की पद्य पुष्पाजलि महाकालेश्वर के श्रीचरणो में सादर समर्पित कर देते ह। काव्य-माधुरी की अजस्र मधु धारा प्रवाहित करते समय वह (रघुवश के वर्णनावसर में) महाकालेश्वर की अर्चना का पुण्यार्जन किए बिना आगे नही बढते। विरह-विधुरावस्थ यक्ष के दौत्य के लिए मेघ को द्रुत गति देते हुए भी वह अपनी परमप्रिय नगरी अवन्ती में प्रेषित कर महाकालेश्वर के पूजन के लिए प्रेरित किए बिना नही रहते। साय सुषमा के समय सोधोत्सग प्रणय विमुख न बनाते हुए भी वह मेघ को मानवेश्वर महाकाल के सुन्दर मन्दिर के समागम का सन्देश देते हैं, और सान्ध्य (पूजन) साधना के समय घन-गर्जन द्वारा नक्कारखाने की भावना पोषित कर तथा त्रिशूली शकर की आर्द्रनागाजिनेच्छा पूर्ण कर (गीले गज-चर्मावृत शिव की ताण्डवनर्तन-कामना की पूर्ति कर*) वह मेघ के द्वारा भी अपने आराध्य के प्रति अर्घ्य अर्पित करवाने का मोह सवरण नहीं कर सकते, इसका कारण महाकालेश्वर की महती महिमा ही है।

अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले, स्थातव्य ते नयनसुभगं यावदत्येति भानु ।
कुर्वन्सन्ध्याबलिपटहता शूलिन श्लाघनीया, मामन्द्राणां फलमविकल लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥ (मेघ०)

---

* 'नृत्यारंभे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां'—मेघ० ॥
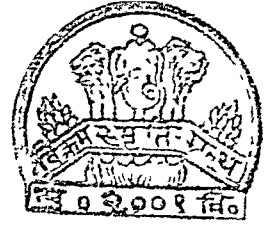
श्री सूर्यनारायण व्यास, ज्योतिषाचार्य

कालिदास की कीर्ति-कौमुदी के अमल-धवल-प्रकाश-विकास के अन्तर मे भूतभावन भगवान की यही भावनामयी शुचि भक्ति है। कालिदास, भास, भवभूति और बाण ने महाकालेश्वर को काव्यकुसुमों का कमनीय किंजल्क अर्पित किया है। बाण की शिप्रा-शोभा, और महाकाल महिमा मोहित करनेवाली है। मुज के मानित कवि पद्मगुप्त ने सिन्धुराज की विवाह यात्रा से (नागलोक से) लौटते समय राजदम्पति के द्वारा इन्ही महाकालेश्वर की पावन पूजा के प्रसंगवश जैसी पद्य-प्रतिभा प्रकट की है वह काव्य रसिको के मन-मधुपो को मुग्ध कर छोड़ती है। संस्कृत साहित्य मे अभिनव कालिदास (परिमल उर्फ पद्मगुप्त) की यह काव्य-कला-कृति आनन्दविभोर कर देनेवाली है। दसवी शताब्दी मे भी महाकालेश्वर ने इस कवि को आकर्षित किया है।

कथासरित्सागर (ग्यारहवी शताब्दी) के कवि को भी अनेक पृष्ठों के शतश' श्लोक उज्जैन और महाकालेश्वर की पूजा के लिए प्रस्तुत करने पड़े है। फिर अन्य ग्रंथों-पुराणों का तो कहना ही क्या है। महाभारत जैसे पंचम वेद ग्रंथ तथा भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ निदर्शक महाग्रथ के अनेक पर्वो का, तथा व्यास वाक्यो का विशद विवेचन करना यहाँ तो अप्रस्तुत ही होगा, परन्तु वनपर्व की वह घटना जिसमे महाकालेश्वर के सम्मुखस्थ कोटितीर्थ के स्पर्शमात्र से अश्वमेध के पुण्य प्राप्त करा देने की कथा वर्णित है, तथा सभापर्व की विन्दानुविन्द की सहदेव संघर्ष कथा, उद्योग-द्रोणपर्व द्वारा भी समर्थित हुई है, जिसका सीधा सम्बन्ध इन्ही महाकालेश्वर से है।

पौराणिक इन्द्रद्युम्न राजा की राजधानी अवन्ती, और उसके परमाराध्य प्रभु महाकाल की गौरवगाथा ब्रह्माण्ड-पुराण (४२वाँ अध्याय) मे भी ग्रथित हुई है। प्राचीन अग्निपुराण की अवन्ती महिमा (१०८ अध्याय) गरुड़पुराण के प्रेतकल्पोक्त (२७वाँ अध्याय) वर्णन, शिवपुराण (ज्ञानसहिता ३८ तथा ४६वाँ अध्याय) लिंगपुराण मे तो महाकालेश्वरपुरी को सृष्टि-समारंभ की स्थली ही कहा है। ८३वे अध्याय मे वामनपुराण में प्रह्लाद को शिप्रास्नान कर महाकालेश्वर के दर्शनार्थ पहुँचाने की चर्चा, विस्तारपूर्वक उल्लिखित की है। स्कन्दपुराण का एक विभाग ही ऐसा है, जिसमे लगभग २०० पृष्ठ से ऊपर उज्जैन और महाकालेश्वर का वर्णन बहुत विशदरूप से किया गया है। ब्रह्मोत्तरखंड के पंचमाध्याय में यहाँ के राजा चण्डसेन की महत्त्वपूर्ण कथा, और महाकालेश्वर की पूजा का वर्णन है। मत्स्यपुराण (१७८वाँ अध्याय), भविष्यपुराण पूरा प्रतिसर्गपर्व, तथा सौरपुराण (६७ अध्याय) यह पुराण-प्रियो के लिए उज्जैन की महत्ता का मनोहर इतिहास प्रदान करते है।

भागवत की इस महती कथा से सम्भवतः समस्त धर्म-भावना प्रधान, एवं शिक्षित समुदाय पूर्ण परिचित है कि गीताधर्म के सृष्टा भगवान् श्रीकृष्ण, अपने अग्रज बलराम, एवं मित्र सुदामा के सहित उज्जैन मे पढ़ने को आए थे, और महर्षिप्रवर सान्दीपनी व्यास के चरणों मे बैठकर इसी अवन्ती मे उन्होने चौदह विद्या एवं चौसठ कलाओ मे प्रावीण्य प्राप्त किया था और जिस समय ज्ञान-लाभ लेकर वे स्वगृह जाने को उद्यत हुए है तब गुरुवर के साथ जाकर भगवान् महाकाल की उन्होंने भक्ति-भावना-समवेत पूजा की है और एक सहस्र कमल शिवजी के सहस्रनाम के साथ समर्पित किए है। विष्णु-पुराण के २१वे अध्याय, ब्रह्माण्डपुराण के ८६वें अध्याय तथा ब्रह्मवैवर्त्त के ५४वे अध्याय ने भी भागवत के दशमस्कन्धोक्त इस घटना का एकस्वर से समर्थन किया है*। भवभूति, पेरिप्लस और टॉलमी ने भी महाकालेश्वर को ही 'कालप्रियनाथ' नाम से सम्बोधित किया है।

---

*नोट :—इस घटना के ऐतिहासिक प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप निरन्तर पाँच हजार वर्ष से महर्षि सान्दीपनी व्यास के वंशज इसी महाकालेश्वर मन्दिर के निकट आज भी विद्यमान है, और इस मन्दिर से सम्बन्धित बने हुए है। यह वास्तव में विस्मय की बात है कि अनेक उत्थान-पतन के पश्चात् भी यह वंश अपना अचल अस्तित्व रख रहा है। लेखक को उसी वंश में उत्पन्न होने का गौरव प्राप्त है। इस वंश का पूरा वंश-वृक्ष महात्मा सान्दीपनी से अब तक विद्यमान है। —लेखक।

मानवलोकेश्वर महाकाल

परम पुरातन बुद्ध-समसामयिक प्रद्योत के समय महाकालेश्वर का स्थान परमोत्कषमय था, उसके सुवर्ण तालद्रुमवन की शोभा का तो उज्जन के इतिहास में तथा प्रद्योतकाल में एक विशिष्ट स्थान है। आज भी उस वन की रमणीयता का स्मरण कर मन्दमलय मोहमयी वासवदत्ता की वीणा विनदित स्वर लहरी को वहन कर विस्तारित करने के लिए आकुल हो इतस्तत चक्कर लगाता रहता है।

सम्राट् विक्रमादित्य की यह कथा प्रसिद्ध है कि वह महाकाल की आराधना म सदोद्यत रहता था, अवन्तीनाथ का पद किसी व्यक्ति को नही महाकालेश्वर के लिए ही स्वतन्त्र था। हरसिद्धि देवी के चरणो में तो उसने, कहा जाता है, अपने मस्तक की बलि देकर १३४ बार कमल-पूजा ही की है। १३५वीं बार जब मस्तक चढा देने पर उसका मस्तक कबन्ध पर वापिस नही आया, तभी उसके शासन की इति हो गई, और शालिवाहन का शकारम्भ हुआ। जो कुछ भी हो, धर्म, अध्यात्म, पुराण, और तान्त्रिक ग्रथो में भी महाकाल की महत्ता का असाधारण वणन हुआ है। भारतवर्ष में नाट्यकला के अभ्युदय के साथ सव प्रथम जिस अभिनय की कल्पना का उल्लेख विदित होता है वह इन्द्रध्वज महोत्सव के प्रांगण पर महाकालेश्वर के प्रांगण में ही सव प्रथम अभिनीत हुआ था। इस प्रकार साहित्य और ललितकला में भी महाकालेश्वर की महत्ता स्वीकृत हुई है। महाकालेश्वर मन्दिर की सुन्दरता और विशालता का वर्णन साहित्य एव धर्मग्रथो में है। बाण एव कालिदास ने इस स्थल की अभिरामता का जसा मनहर चित्र खीचा है वह तो मनोमुग्धकारी ही है। यह मान्यता महाकालेश्वर के विषय में समस्त मालव में स्वीकृत है कि उज्जयिनी के इस महामन्दिर के प्रागण के विशालकाय किन्तु कलाश्रित स्तभो की सख्या १२१ थी और मन्दिर भी १२१ गज ऊचा था ऐसी जनश्रुति शताब्दियो से प्रचलित है। परन्तु इस जनश्रुति का आधार सत्य पर समाश्रित ही है केवल कथानक तक ही सीमित नही। आज भी महाकाल मन्दिर के निकटवर्ती भूस्तरो में वसे ही वास्तुशिल्प से उत्कीर्णित अनेक स्तम्भ सहज ही रजकण सम्पुटो को उठाते ही प्राप्त हो जाते हैं, जसे वर्तमान मन्दिर में लगे हुए हैं। तव इस कथन में भी सन्देह को स्थान नहीं रहता कि मन्दिर गगनोन्नत था। इसी प्रकार यह भी असम्भव भात नही होता कि महाकालेश्वर का मन्दिर अनेक रत्नालकरणो से जटित था, उसके स्फटिकप्रभ धवल प्रांगण में मणि मौक्तिको के झूमर-तोरण झूला करते थे, जिनकी आभा से वह स्फटिक शिलाएँ विविध वर्णो की द्युति धारण कर अनेक चित्रो की झाकी बना दिया करती थी, प्रवेशद्वार पर लटकती हुई घंटिकाएँ, सुवण रजत-राशि से निर्मित रहती थी, और उनके चारो ओर भी मोतियो की झालरे लटकती रहती थी, फिर भगवान् शिवजी के पूजार्चन वभव का तो कहना ही व्यर्थ है। इस काव्य-कथित सौन्दर्य रचना की सचाई में इस कारण भी सन्देह नही होता कि महाकवि कालिदास स्वय स्वीकार करते हैं कि वभवशालिनी अवन्ती के बाजारो में धान्य राशियो की तरह समस्त रत्नो की ढेरियाँ यत्रतत्र विस्तृत रहती थी, जिसके कारण कवि को यह कहना पडा है कि रत्नाकर सागर शायद इसीलिए केवल जलमात्रावशेष रह गये हैं क्योंकि समस्त रत्नराशि तो इस नगरी के बाजार में चकाचौंध लगाए हुए हैं—

> 'दृष्ट्वा विप्रान्विपणिरचितान्विद्रुमाणा च भगान्।
> सलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषा ॥'—मेघ० ॥

परन्तु इस वभव का स्मृतिशेषमात्र यह मन्दिर वर्तमान युग के समक्ष अपने भव्य अतीत का प्रतीक बनकर शून्य भावना से उपस्थित है, माना वह निर्लिप्त है। अतीत के 'सत्य' को वर्तमान के 'सन्देह' से चाहे भ्रम का विषय क्या न बना लिया जा सके, किन्तु उसकी विशालता और साहित्यिक अस्तित्व, चिरकाल पर्यन्त महनीय भावना को सजग बनाए रखेगा।

वर्तमान मन्दिर न तो १२१ गज की ऊचाई रखता है, न वह रजतचन्द्रिका-धौत धवल ही। वभव तो इस युग का प्रतिनिधित्व नही कर रहा है, तव मन्दिर पर उसकी मुद्रा कसे मिले? इस पर भी आज के मन्दिर पर अनेक सस्कार क्षत-विक्षत हुए हैं। सम्राट् प्रद्योत के पश्चात् के इतिहास ने मन्दिर की महिमा विक्रम-कालिदास से ही प्राप्त की है। और पुन कई शताब्दियो के नन्तर सिंधुराज एव मुज ने इसे सादर स्मरण किया है। भोज के आत्मज उदयादित्य ने तो मन्दिर का पुनर्वार जीर्णोद्धार करवाया है, जिसके प्रमाणस्वरूप अनेक शिलाखण्ड यथासमय महाकाल के पार्श्ववर्ती भू भाग से उपलब्ध

श्री सूर्यनारायण व्यास, ज्योतिषाचार्य

होते ही रहते हैं (एक शिलाखण्ड मन्दिर के ऊपर लगा है। दूसरा मन्दिर के पश्चिमी भाग की एक मन्दिरी में रखा है। तथा ३-४ खण्ड भारती-भवन उज्जैन में सुरक्षित हैं। एक दो खण्ड पुरातत्त्व विभाग को भी दिये गये हैं।) और विशद अन्वेषण-संशोधन के लिए निमंत्रण देते हैं। उदयादित्य के पश्चात् पेशवो के प्रिय, तथा राणोजी सिन्धिया के कार्यकर्त्ता रामचन्द्रराव शेणवाई (ई० स० १७३४) ने मन्दिर-सुधार मे सहयोग किया है। कहा जाता है कि गजनी के महमूद की आक्रमणकारी दूषित मनोवृत्ति का प्रभाव, भारतवर्ष पर उसके पश्चात् भी, वहुत काल तक बना रहा है। मनहर मालव-भूमि कैसे अछूती रहती, अनेक आक्रमणो से वह उध्वस्त छिन्न-विछिन्न हुई है। गुलामवंशीय अल्तमश ने जिस समय मालव की सौभाग्यश्री का अंचल उतारा है उस समय जड़ एवं चेतनों के धर्म और धन को भी पनाह पा लेनी पड़ी थी। यद्यपि सिन्ध के अमीर अल्तमश के श्वशुर ने भी अपनी यह साध पूरी की थी, परन्तु अल्तमश की तरह तमसावृत्त नही बनाई थी। उसने उज्जैन के सौभाग्य-शृंगार का अपहरण कर उसे भिक्षुणी बना डाला था। परन्तु यह अल्तमश और अन्य सुलतान तथा सम्राटो के द्वारा उज्जैन के वैभवापहरण की कथा बहुत कुछ यूरोपीय इतिहासकारों की सूचित की हुई है। इनमे सत्य का कितना अंश है कहना कठिन है, उनके इन आक्रमणो के प्रमाणों की परम्परा भी संशोधन की कसौटी पर कसकर परखने की वस्तु है। इसके विपरीत आज उज्जैन मे अनेक मुस्लिम सम्राटों की सात्विक-भावना प्रदर्शक प्रमाण प्रत्यक्ष उपस्थित हैं। जिन सम्राटो को दुष्ट और आक्रमणकारी समझा गया है स्वयं उन्ही सम्राटो मे से कई 'उग्रो' ने इस मालव-भूमि की मृदु-मन्द-समीरण मे अपने मस्तक को विवेकपूर्ण ही नही बना रखा है वल्कि अपने धर्म के विरुद्ध उज्जैन के अनेक देवालयों-महामन्दिरों में अपनी पूजा-पुष्पांजलि समर्पित कर श्रद्धा एवं सद्भावना भी व्यक्त की है।

औरंगजेव आदि १०-१२ मुस्लिम सत्ताधारियो ने उज्जैन के कई मन्दिरों को पूजा, नैवेद्य व्यवस्था के लिए अपनी सनदे सादर समर्पित की हैं। (उज्जैन के अकपात-स्थित जनार्दन-मन्दिर के लिए अनेक वादशाहो की ऐसी ही सनदे आज यहाँ विद्यमान है) उदाहरणार्थ यहाँ ऐसी एक-दो महत्वपूर्ण सनदो का विवरण प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा।

सम्राट् अकवर और जहाँगीर की उदारता तो उनकी महत्ता की साक्षी वन इतिहास मे उन्हें अमर बनाए हुए है। सम्राट् अकवर, और उनके पुत्र सम्राट् जहाँगीर प्रायः मालवदेश को वहुत पसन्द करते रहे हैं, अनेक वार अपने राजत्वकाल मे उज्जैन मे आकर उन्होने कई मास तक आवास किया है। मडप-दुर्ग (मांडव) के सुल्तनों द्वारा सूर्य मन्दिर ध्वस्त कर निर्मित कालियादेह महल प्रासाद मे जहाँगीर तो अनेको वार कई मास पर्यन्त रहे है और यहाँ के योगी जदरूप स्वामी की सेवा मे निरन्तर भक्ति रखकर पहुँचते भी रहे है। जदरूप स्वामी ने जहाँगीर वादशाह पर अपना प्रचुर प्रभाव डाल रखा था (तुजुक जहाँगीरी देखिए) और इस आकर्षण के वशीभूत हो वह वारवार अपनी साम्राज्यधानी छोड़कर उज्जैन आकर रह जाते थे और धार्मिक भावना प्रदर्शित करते रहते थे।

इसी प्रकार शाहजहाँ, आलमगीर औरगजेव आदि शाहो ने भी उज्जैन मे अपने राजत्वकाल मे धार्मिक मन्दिरों के विषय में सद्भावना-स्वरूप सनदे तक दी है। भारत मे कही भी प्रमुख शिव-मन्दिर हो वहाँ नन्दादीप (निरन्तर प्रदीप्त रहनेवाला दीपक) लगाने की शास्त्रीय प्रथा है। साहजिक है कि महाकालेश्वर के इस पुरातन मन्दिर में भी यह पद्धति अज्ञातकाल से प्रचलित रहती चली आई है। जो जो शासन इस महा-महिम नगरी पर होते रहे, उन्होने भी इस नन्दादीप और महाकालेश्वर मन्दिर के पूजार्चन कार्य में अपनी शासकीय सहायता श्रद्धापूर्वक भेट की, फिर हिन्दू-राजतंत्रो में तो इस पद्धति का निरन्तर पोषित होते रहना साहजिक ही था, प्रायः प्रत्येक शासको ने पूर्व-प्रथा-पोषक प्रवृत्ति के अनुरूप यह अपना कर्त्तव्य समझा है कि अपने शासनकाल मे भी पूर्वाज्ञा का समर्थन करे। परन्तु आश्चर्य और प्रशसा की बात तो यह है कि हिन्दू शासको की तरह ही मुस्लिम शासन-काल मे भी कई उग्र और उदार शासकों, सम्राटो और उनके स्थानीय प्रतिनिधिस्वरूप अधिकारियों ने उज्जैन के धार्मिक मन्दिर, मठो, पूज्य स्थानों की अधिकार परम्परा को ठीक हिन्दुओं की तरह ही, और कही कही उससे अधिक भी पोषित करने की विशेषाज्ञाएँ प्रदान की है।

हिजरी सन् १०६१ की एक घटना है। महाकालेश्वर के तत्कालीन पुजारी ब्राह्मण ने अनेक शासकों की सनदों-प्रमाण-पत्रों के साथ तत्कालीन सम्राट् आलमगीर के निकट निवेदन किया कि महाकालेश्वर मन्दिर मे नन्दादीपक जलाने

के लिए पिछले शासकों की आज्ञानुसार व्यय प्राप्त होता रहा है। इसलिए उन सम्राटों के आज्ञापत्रों के अनुसार ही आपके शासन से भी उस परम्परा का पोषण-समर्थन किया जाना चाहिए। इस निवेदन पर सम्राट् के 'वाकया नवीस' हकीम मुहम्मद मेंहदी ने ब्राह्मणों के निकट की सनदों की जांच-पड़ताल की और सही पाकर उस समय की तस्दीक करदी। सम्राट आलमगीर ने अपने अधिकारी के समर्थन पर ४ सेर घी रोजाना नन्दादीपक (महाकालेश्वर में) जलाने के लिए स्वीकृत किया। यह सनद मुस्लिम सम्राट् की परधर्म-सहिष्णुता का एक आदर्श उदाहरण है। इस सनद का मूल पाठ (और चित्र भी अन्यत्र दिया गया है) इस प्रकार है —

नकल

सुलतान मुहम्मद मुरादबख्श।

शरावखते सदारत वय अलीपनाह फजीलत व हिकमत दस्तगाह आंकि वाजिले वाके आनुमायन्द

———

चार आसार वजने अकबरी योमिया

———

तहरीर फी तारीख सदवजिक्र मुताबिक वाक़या वस्त

———

बलज मुकरर सानद

———

बतारीख हफ्तुम शहरे शब्वाल सन २५ जुलूस मुबारक बअर्जे आली रसीद

याददाश्त बमोहरे सुद आंकि बतारीख योमुल अर्बाबीस्त्रा पजुम, शहर शब्वाल सन् २५ जलूसे मुबारिक मुआफिक सन् १०६१ हिजरी व मा आली पनाह फजिलत व हिक्मत दस्तगाह हकीम मोहम्मद मेंहदी बनावतें वाकया नवीसी फमतरीन व दाह देवनारायन वा अर्जे आली मुतआली रशीद के दर किले उज्जन अज क़दीमुल अय्याम देवाला महाकाल वाक़े अस्त कदरे रोगने जद व वजने अकबरी व जेहत चिराग योमिया मरहमत शवद दरई, बाय हुकुँ हुक्म शवद अमरे वाला क़दर मम्बे उश्शान शरफे निफाज व इज ईराद याफ्त के मिक़दार चाहार आसार रोगने जुद बजहत चिराग आजा, अर्जे तहवील तेहवीलदार चबूतरे कोतवाली बुल्दे उज्जन रोज बरोज मरेहमत फमुर्देमकि हमेशा बरइजा रोशनाई मीनमूदा बाशन्द बमूजीवें दीगर यादवाश्त कल्मे शुद बतरीक इस्तिवायें मरहमत शुद।

मुहर

खादिमे शरा काजी मोहम्मदसहुल्ला सन् ११५३

इस सनद का सारांश यह है कि प्रार्थी देवनारायण ने (जिनके वंशज डॉ० लक्ष्मीनारायणजी पुजारी महाकालेश्वर इस समय विद्यमान हैं और जिनके पास ऐसी अनेक सनदें हैं) शहनशाह आलमगीर को प्रार्थना की कि अनादि काल से महाकालेश्वर के मन्दिर पर जो दीपक (नन्दादीप) जला करता है और जिसके व्यय की व्यवस्था पूर्ववर्ती विभिन्न शासकों द्वारा की जाती रही है उसके व्यय के लिए निवेदन किया, तब उनके वाक्यानवीस (रिपोर्टर) हकीम मुहम्मद मेंहदी ने इस बात की तस्दीक की कि वस्तुतः इसके पूर्व के भी अनेक प्रमाण लिखित रूप में प्राप्त हैं जिसके अनुसार इस मन्दिर के लिए दीपक का व्यय दिया जाना उचित है। इसपर से शहनशाह आलमगीर की आज्ञानुसार महाकालेश्वर के मन्दिर के लिए चार सेर घी रोजाना बिना किसी आपत्ति के हमेशा दिये जाने की आज्ञा जारी की गई और तहवीलदार चबूतरे तहवील उज्जन को ताकीद दी गई।

सुलतान मुरादबख्श ने जो शाहजहां बादशाह का लड़का और औरंगजेब का भाई था, यह सनद हिजरी सन् १०६१ तथा ईसवी सन् १६५२ में देवनारायण ब्राह्मण को दी है।

इसी प्रकार मालवे के तत्कालीन सूबे मुजिबुल्लाखां को आज्ञा प्रदान करने के स्वरूप में एक और सनद बादशाह शाहजहाँ की इस आशय की है कि महाकालेश्वर के मन्दिर की पूजा करनेवाले पुजारी के पोषण के लिए जो जमीन जमा से

खारिज हो गई थी और जिसे खालसा सरकार ने पीताम्बर आदि पुजारी को प्रदान किया था उसके पुनः वागुजाश्त कर देने के लिए नवाब मुमालिक मदार गेंदू इख्तिदार ने हुजूर आली बादशाह को गुजारिश भेजी कि "मौजे खजूरिया रेहवारी व मौजे सेमलिया नसर व मौजे टंकारिया काजी व मौजे नाईखेडी व मौजे करछली तकसीम से अलहदा करके अव्वल सन् ६ से इनको दे दी जावे, इसलिए मैं बडे रुतबेवाले बादशाह के हुक्म से मालवे का सूबा होकर आया और ये लोग मेरे रूबरू हाजिर आये। अपने हक हुकूक हयात की तस्दीक की जिसको मैंने सही पाया इसलिए साबिक दस्तूर के मुताबिक उस आराजी के बदले में मौजे नाईखेडी में कुल जमीन देने की आज्ञा दी और ताकीद की। इस लिखे मुताबिक तामील करके तमाम इखराजात व दीगर तमाम बातें जप्ती साल दरसाल वगैरा इन चक की तशखीस के बाद इस मन्दिर के किसी भी मामले मे रुकावट न डालें, इस मामले को बहुत सख्त ताकीद जाने। यह तेहरीर तारीख १७ महना फर्वरी इलाही सन् ७ मुताबिक चार शव्वाल १०२३ में लिखी गई है।

नीचे मोहर है जिस पर लिखा है कि 'मूजिबुल्लाखाँ मुरीदे शाहजहाँ'। ऊपर जिस ताकीद का सारांश दिया है उसका मूल (और चित्र अन्यत्र दिया गया है) इस प्रकार है:—

हजरत जन्नत मकानी—

अल्लाहो अकबर

बतारीख १७ माह फरवरीदी इलाही सन् ६ मुवाफिक १२ माह शव्वाल सन् १०२३ हिजरी (दस्तखत)

मुहर

मुजीबुल्ला मुरीदे शाहजहां

हजरत साहिब किरासानी गुमाश्तए जागीरदारान व करोरियान् मुतसद्दियान् मुहिम्मात व मुस्ताफिलान मामलात चौधरियान व कानूनगोयान परगने हवेली उज्जैन सूबा मालवारा एलम् आँकेचुंब तसीह सुदूर साबिक मवाजियक सद बीघा जमीन उफतादा बंजर खारिज जमा अज मौजे नाईखेडी, हस्ब एमाल परगने हवेली मजकूर दर वजह मददे म आश पीताम्बर वगैरा जुन्नारदारान के खिदमत देवालय महाकाल मिकुनन्द मुकर्रर बुद चूं जमीने मखलूता व खालसा बूदन व बमुमालिक मदार गदूं इक्तिदार बअर्जे अफदसे आला रसानीद मौजे खजूरिया व मौजे नाईखेडी व मौजे कर्छली अज तकसीम वर आउर्दाशुद अज इब्तिदाये फसले तखाकू इलाही सन् ६ बाये उजाम तजवीज नमूदन्द दरईं बिला के बन्दरा दरगाह हस्बुल हुक्म जहाँ मुस्तौता साहिबे शुआ गर्दूं इतिका बसदारते सूबेमालवा सरफराज शुदा हाजिर आमदंद इस्तेहकाक बीगाहाफी बवजूहे पेवस्त चूं हई व कायम अंद वदस्तूरे साबिक हस्बुल जमीन तसदीह यापत बशर्त कब्ज तसरुफ मुकर्ररदाश्ता बतरीके तदाखुल एवजे आराजी मजकूर रादर मौजे नाईखेडी पैमुदा व चक बस्ता बीदेहंद मावाजीयकसद बीघा जमीन उफतादा खारिज जमां बइस्मे मशारूनइलेह मुकर्रर दारंद के हांसिलाते आँरा साल बसाल सर्फे मायोह ताजखुद नमूदा दरदुआगोई दवाम दौलत बन्दगान इश्तगाल बाशन्द बहस्बुल मस्तूर अलेहिम-बईलत बिलवजूहात वा अखराज हरसाला बादश तशखीस चीकुल तकालिफे देवाला मजाहमत नरसायंनद दरई बाब ताकीद कदगन लाजिम दारंद।

तेहरीर १७ माह फर्वरो इलाही सन् ७ मुआफिक तारीख ४ शव्वाल।

उक्त सनदों के अनुसार ही एक और सनद बादशाह गौरीशाह की है। यह पुजारी श्रीगौडजूने वसंतलाल ब्रह्मशुक्ल उपाध्या कोटितीर्थ पर रहनेवाले को, महाकालेश्वर के दर्शन कराने (!) पर पुश्त दर पुश्त के अनुसार महाकालेश्वर की भेट लेने, और हर घर से एक रुपया लेते रहने के लिए दी गई है। यह सनद भी उज्जैन में लिखी गई है, और इसके लेखक वजीर अलीमुहम्मद है, और मुंशी अमीरखां फागुन वद्य १४ संवत् १४६५ है, जिसके नीचे हिन्दी में वजीर

रामचरण के भी हस्ताक्षर ह। (यह सनद वसन्तलाल ब्राह्मण के वंशज श्री लक्ष्मीनारायणजी पुजारी शनीमहाराज मन्दिरवाला के पास मौजूद है)।

इस तरह महाकालेश्वर के मन्दिर के सम्बन्ध में और भी अनेक सम्राटों तथा राजाओं की सनदें विद्यमान हैं जिन्होंने परधर्मी होते हुए भी मन्दिर के पूजन के लिए अथवा पुजारी के पोषण के लिए सनदें दी हैं। शहर में से अनेक प्रकार के टैक्स लगाकर उनको वसूल करने का भी अधिकार दिया है ताकि अपने पूजन कार्य में बाधा न हो। दूसरे इसी नगर के मन्दिरों के अर्चनादि के लिए ४०-५० सनदें खास तौर पर (श्री लक्ष्मीनारायणजी पुजारी जागीरदार राममन्दिर सराफा के निकट) इस प्रकार की है कि जिनमें आलमगीर, शाहजहाँ, जहाँगीर, अकबर आदि मोगल बादशाह और मालवे के सुल्तानों सूबा आदि ने धार्मिक कार्य में सहयोग देने के लिए सहृदयतापूर्वक सहायता की है। इसलिए उक्त सम्राटों की सद्भावना को स्वीकार करना पड़ेगा। अवश्य ही अल्तमश ने यदि अंग्रेज इतिहासकारों के कथनानुरूप उज्जैन के मन्दिरों के अगनन का प्रयत्न किया होता तो उसके पूर्ववर्ती और पश्चात्वर्ती उसी धर्म के सम्राटों ने इन मन्दिरों की इतनी अधिक महत्ता शायद ही स्वीकृत की होती और पश्चात्वर्ती परधर्म सम्राट् ने तभी महाकाल की मान्यता भी स्वीकृत की है जब उनके पूर्वकालीन शासकों ने मन्दिर के प्रति समादर (सनदों में) व्यक्त किया है। यथाक्रम उसी प्रकार उज्जैन पर शासक होकर आनेवालों ने चाहे महाकालेश्वर न सही और मन्दिरों के प्रति लगातार अनुराग व्यक्त किया है। यह लगभग तीस चालीस अन्य धर्मावलम्बियों की सनदों से प्रमाणित होता है। ऐसी अवस्था में उज्जैन को साम्प्रदायिक धर्मान्ध आक्रमण के शिकार होने में भी सन्देह होने लगता है। जबकि मिस्टर स्मिथ आदि का यह मन्तव्य कि महाकाल मन्दिर का ध्वंस कर वहाँ से सम्राट् विक्रम की सुवर्ण प्रतिमा को उठा लिया जाना प्रकाशित होता है, परन्तु उसके आधार के विषय में अंधकार ही रहने के कारण विश्वास का विषय नहीं बल्कि संदिग्ध बन जाता है। या तो अल्तमश के आक्रमणकारी रूप में उज्जैन का सर्वस्वापहरण हो या फिर स्मिथ आदि का इतिहास लेखन किसी विशेष हेतु की पूर्ति के लिए भ्रामक हो। मुसलिम सम्राटों के विभिन्नकालीन लेखों से तो स्मिथ के कथन की संगति संदिग्ध होने लगती है।

उज्जैन पर जिस समय से शिन्देशाही का अधिकार हुआ है, तब से महाकालेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा और आदर भावना में वृद्धि ही हुई है। यह तो हम प्रथम ही बतला चुके हैं कि रामचन्द्रराव शणवी ने कै० राणोजी के काल में महाकालेश्वर मन्दिर का जीर्णोद्धार किया है। वर्तमान राज्य के संस्थापक महाराजा महादजी ने तो उक्त मन्दिर, और अनेक पुजारी वर्ग को परम आस्था से ही पोषित किया है। साथ की प्रकाशित सनद में (फोटो अन्यत्र देखिए) महादजी महाराज की यह भावना बहुत स्पष्ट है। उन्होंने महाकालेश्वर के पुरातनकाल से पूजा करनेवाले ब्राह्मणों को रामपुरवाले कुछ लोग बाधा देते थे इसलिए महादजी महाराज ने 'राजेश्री ओंकारमल चौधरी को पत्र लिखकर आग्रहपूर्वक सूचना दी है कि इन्हें सताने से रोका जावे, जो परम्परा से इनके व्यवहार चले आये हैं उन्हें अक्षुण्ण रखे जावें। इतना ही नहीं महाराजा ने दयावश पुजारियों के ऊपर जो कर्ज हो गया था, उसको भी वाजवी रूप से निकाल करवा देने के लिए सूचना दी।

ग्वालियर राज्य, होल्कर राज्य और भारतीभूषण भोज के राजवंशियों की ओर से महाकालेश्वर की पूजनादि के लिए सहायता प्राप्त होती रहती है।

इस व्यय की व्यवस्था आज भी ग्वालियर संस्थान के अन्तर्गत होती जा रही है। महाकालेश्वर के इस महान् स्थान की दिन में त्रिकाल पूजा होती है। प्रातःकाल सूर्योदय के प्रथम एक पूजन होता है जिसमें भूतभावन भगवान् शिवजी पर चिताभस्म का लेपन किया जाता है, जिसकी अनादिकाल से किसी विशिष्ट चिताभस्म की निरन्तर प्रज्वलित रहनेवाली वह्नि से योजना की जाती है। इस पूजन का अधिकार स्थानीय महन्त को है, जिनकी परम्परा महिम्न-स्तोत्र के 'चिता भस्मा लेप' श्लोक की सार्थकता करती आई है। आज भी महन्तों की गुरु-परम्परा की समाधियाँ इसी मन्दिर के निकट महन्तों के पुरातन अस्तित्व और मन्दिर से सम्बन्ध को सूचित करती है। वर्तमान महन्त भैरवपुरीजी इसी परम्परा के प्रतीक होते हुए 'तेहिनो दिवसागता' के स्मारक हैं।

श्री सूर्यनारायण व्यास, ज्योतिषाचार्य

महाकालेश्वर की सरकारी प्रथम पूजा प्रातः ८ वजे, द्वितीय मध्याह्न मे और तृतीय सायंकाल के समय होती है। इन पूजनों का नैवेद्य स्थानीय महन्त के अधिकार की वस्तु है।

महाकालेश्वर के मन्दिर मे श्रावण मास में प्रतिदिन सैकडों हजारों यात्रियो का प्रात: से सायं पर्यन्त ताँता लगा रहता है। श्रावण (अमान्त) मास के चारों सोमवारो के रोज नगर मे महाकालेश्वरजी की एक रजत भव्य प्रतिमा की बहुत शानदार सवारी निकलती है। इन सवारियो के देखने के लिए नगर के ही नही वाहर से भी हजारों यात्री एकत्रित होते है और भक्ति-भावनाञ्जलि अर्पित करते है। इन सवारियों मे नगर के समस्त राज्याधिकारी वर्ग पैदल सम्मान के लिए साथ में चलते हैं। इसके अतिरिक्त हरिहर-मिलाप दशहरे के पूजन का दृश्य भी आकर्षक रहता है। शिवरात्रि के समय नवरात्रि को उत्सव होता है। प्रतिदिन महाकालेश्वरजी के विविध शृंगार किये जाते हैं। हरिकीर्तन भी विशाल प्रांगण मे किया जाता है। धार्मिक नर-नारियों की यात्रा लगी रहती है और शिवरात्रि को जो पूजा होती है वह तो वहुत ही भव्य कैलाश का पवित्र वातावरण उपस्थित कर देती है। जन-नियंत्रण कठिन हो जाता है। मन्दिर का पृष्ठ-भाग भी वहुत विशाल है। सहस्रों व्यक्तियों का सहज समावेश हो जाता है। इसी प्रकार मन्दिर के प्रवेश द्वार के प्रांगण में कोटितीर्थ का विशाल भाग चारो दिशाओं से मुक्त और विस्तृत है। शतशः जन इसमें स्नान कर शिवजी को जल अर्पण करते हैं। इसी प्रकार कार्तिक मास और वैशाख मे भी हजारों भावुकों की भीड़ दर्शनार्थ आती है। उज्जैन के प्रमुख स्थान होने के कारण धार्मिकों का आवागमन तथा सप्तपुरियों मे से श्रेष्ठ नगरी और भारत-यात्रा की आदिम आरभिक नगरी का सौभाग्य प्राप्त होने के कारण ही प्रतिदिन भारत भर के विभिन्न प्रदेशो से दर्शक-समूह का समारोह यहाँ जुड़ा करता है। धर्म-इतिहास, विक्रम और विश्वकवि कालिदास की आश्रयदात्री नगरी होने के कारण पश्चिम प्रदेश के प्रवासियो का तथा देश के विद्वान विवेचकों का दल भी अपनी श्रद्धांजलि लिए निरन्तर आया करता है।

वारह वर्षो मे जिस समय सिंह राशि पर वृहस्पति आते है तव उज्जैन में सिंहस्थ (कुभ की तरह) की महायात्रा होती है। इसमें कई लाख मानवो का समूह उज्जैन का यात्री बन एक मास निवास करता है। हजारों साधु-सन्त-साधकों का समाज भी सम्मिलित होता है। ग्वालियर राज्य की ओर से उनकी व्यवस्था और जैसा आतिथ्य किया जाता है वह महाप्रसंग अपूर्व अप्रतिम ही होता है। इस महासमुद्र समारंभ का वर्णन करना असम्भव है। यह तो प्रत्यक्ष करने का ही विपय है।

महाकालेश्वरजी की मूर्ति स्वयंभू और विशाल है। गुहा-गृह-द्वार से मन्दिर के अन्दर प्रवेश किया जाता है। मूर्ति की विस्तीर्ण जलाधारी रजत की सुन्दर कलामयनागवेष्टित निर्मित हुई है। मन्दिर मे शिवजी के सम्मुख विशाल नन्दिकेश्वर की पापाण-प्रतिमा धातुपत्र वेष्टित है। भगवान् शिव दक्षिण-मूर्ति है। तान्त्रिको ने जिस शिव की दक्षिण-मूर्ति की आराधना का महत्त्व प्रतिपादित किया है, द्वादश ज्योतिर्लिंगो मे यह महत्त्व केवल यही प्राप्त हो सकता है। पश्चिम की ओर गणेशजी, उत्तर की ओर भगवती पार्वती और पूर्व मे कार्तिकेय की प्रतिमा प्रस्थापित है। निरन्तर मन्दिर मे दो नन्दादीप (तेल और घृत के) प्रज्वलित रहते हैं। मन्दिर मे धवल पाषाण जडा हुआ है। आरम्भ मे प्रवेश का एक ही द्वार था और अव द्वितीय द्वार भी कुछ समय पूर्व वन गया है। मन्दिर की भव्यता दर्शनीय है। अत्युच्च शिखर पर विद्युद्दीप की योजना की गई है जो प्रकाशित होने पर समस्त मन्दिर को अपनी धवल ज्योत्स्ना के आवरण से ढककर एक सुषमा फैला देता है। मन्दिर के प्रांगण प्रवेश द्वार पर नक्कारखाना है जहाँ दिन रात मे चौघडिये की ध्वनि विस्तीर्ण होती रहती है।

महाकालेश्वरजी के ठीक ऊपरी भाग पर ओकारेश्वर शिवजी की प्रतिमा स्थापित है जैसाकि ओकारेश्वर के नर्मदा-स्थित मन्दिर के ऊपर महाकाल मूर्ति स्थापित है। कुण्ड के तटवर्ती गर्भागार मे ब्राह्मणो की वैठक है जहाँ निरन्तर कुछ ब्राह्मण पूजार्चन-व्यवस्था के लिए वैठे रहते हैं। महाकालेश्वरजी की पूजन व्यवस्था और दक्षिणा सोलह पुजारियो के अधिकार की वस्तु है। मन्दिर के दक्षिण विभाग मे ऊपर वृद्ध-कालेश्वर, अनादिकालेश्वर और शिव-मन्दिर है। पूर्व की कुशकों में पुरातत्त्व विभाग का छोटासा म्यूझियम भी है।

मानवलोकेश्वर महाकाल

महाकालेश्वर के निकटवर्ती भू भाग का महाकाल-वन कहने की पौराणिक ख्याति है, और चतुर्दिक परकोटा बने रहने के कारण इस विभाग का कोट-मुहल्ला भी कहा जाता है। आज वह परकोटा (सीमा दर्शक कोट) नहीं है पर कोट की ख्याति यथावत है। मध्य युग में इस विभाग में राजप्रासाद भव्यभवन उपवन आदि रहे हैं। भूगर्भ में से अनेक ध्वंसावशेष झाँककर अपनी पूर्वसत्ता का स्मरण करा देते हैं। शिखर और शिलाखण्डों, मन्दिरावशेषों की झाँकी भी प्राय इस ओर थोडे से खुद जाने पर ही हो जाती है। दीपवाल से ब्राह्मणों के समस्या में "महाकालवने हरसिद्धि पीठे बौद्धावतारे" की उक्ति में अवश्य ही रहस्य निहित है। महाकालेश्वर का महा-मन्दिर, कुण्ड और उसके चारों ओर की शिव-मन्दिरियाँ शुक्ल-पक्ष की रजत रजनी में इतने सुन्दर-आकर्षक बन जाते हैं कि कालिदास के काव्य-वैभव की सहसा स्मृति सजग बन जाती है। महाकालेश्वर के सभा मण्डप ही में एक ओर राम-मन्दिर के पृष्ठ भाग में अवन्तिका देवी की मूर्ति है जो इस पुरातन भव्य नगरी की अधिष्ठात्री है। काव्य-पुराण-साहित्य की अवन्तिका नगरी का वैभव चाहे गणनाओं की सीमा से परे का विषय हो पर हृदयहारी वर्णना की परम्परा एक बार अतीत की महत्ता व रम्य चित्र का अन्तर पर अंकित किए बिना नहीं छोडती। यशःपुञ्ज महाराज मुञ्ज से मानित कवि परमल (पद्मगुप्त) ने तभी कहा है कि पृथ्वी पर इन्द्र की अमरावती को छोडकर उज्जैन ही ऐसी नगरी है जहाँ द्वितीय इन्द्रोपम महत्तावाला विक्रमादित्य शासक है —

> "अस्ति क्षितावुज्जयिनीति नाम्ना, पुरी विहायस्यमरावती च।
> ददर्श यस्यां पदमिन्द्रकल्प श्रीविक्रमादित्य इति क्षितीश ॥"
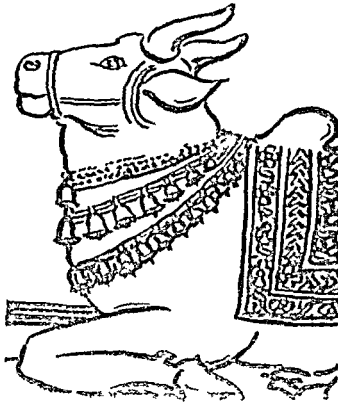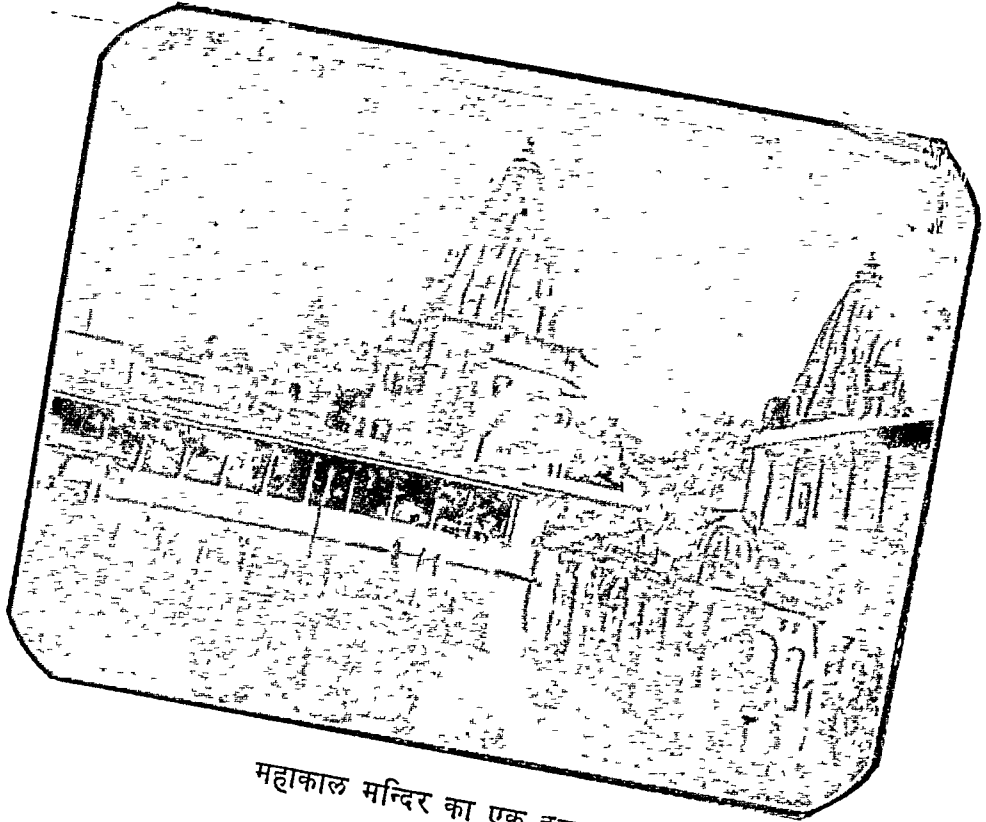
महाकाल मन्दिर का एक दृश्य।

महाकाल का कोटितीर्थ, पीछे हरसिद्धि मन्दिर की धुधली झाँकी।
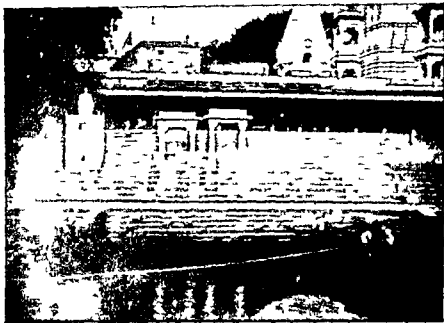
महाकाल मन्दिर के सभा-मण्डप से कुण्ड का दृश्य।

कोटितीर्थ का अन्तर्भाग।

जैन साहित्य और महाकाल-मन्दिर

डॉ० कुमारी शार्लोटे क्राउझे पी-एच्० डी०

जैन साहित्य के विशाल मन्दिर में जिन विभूतियों की पुनीत स्मृति पर शताब्दियों से भक्ति की पुष्पाञ्जलि चढ़ाई जा रही है उनमें संवत्सर-प्रवर्तक श्रीविक्रमादित्य और उनके माने हुए धर्मगुरू, प्रौढ विद्वान्, महाकवि श्रीसिद्धसेन दिवाकर, इन दो अमर व्यक्तियों की बेजोड़ जोड़ी है। दोनों के मिलाप कब-कब एवं कैसे-कैसे हुए, इस विषय की बहुतसी किंवदन्तियां जैन साहित्य मे पाई जाती है। इनमे उज्जैन के महाकाल-वन के महादेव के दरबार मे दोनो के उपस्थित होने का वह महत्त्वयुक्त वृत्तान्त है जिसके साथ श्रीमहाकालेश्वर मन्दिर की एक जैन मन्दिर से मानी हुई उत्पत्ति का अनोखा इतिवृत्त जोड़ा हुआ है।

उक्त इतिवृत्त की ऐतिहासिक प्रामाणिकता का अन्वेषण करने के मूलोद्देश से इस कहानी पर कुछ दृष्टिपात करने की आवश्यकता है। इसका सारांश (आगे उल्लिखित ग्रन्थो के आधार पर) निम्नलिखित है :—

[१] **महाकालवन में विक्रमादित्य और सिद्धसेन**—सिद्धसेन दिवाकर एक उच्च ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न और ब्राह्मण-विद्या के पक्के पण्डित होकर जैन मुनि बन गए थे। अपने संस्कृत-ज्ञान के अभिमान में जैन-शास्त्र की प्यारी प्राकृत भाषा को गौरवहीन और अयोग्य बताने का साहस करते हुए उन्होंने जैन आगम को संस्कृत मे अनुवादित करने का बीड़ा उठाया था। आगम-प्ररूपक महामुनियों के प्रति ऐसा अपमानसूचक विचार प्रकट करने के दण्ड मे सिद्धसेन को जैन मुनिवेश छिपाकर बारह वर्ष पर्यन्त अज्ञात रूप मे विचरते रहने का कठोर प्रायश्चित्त लेना पड़ा। विचरते विचरते वे हरसिंगार के फूलो से रंगित भिक्षुक-वेष धारण करके महाकालवन के शिव-मन्दिर में आए थे। श्री राजशेखर सूरि कृत 'प्रबन्धकोश'* (ई० सन् १३५१), श्रीतपाचार्यकृत 'कल्याण-मन्दिर-स्तोत्र टीका'† (रचनाकाल अज्ञात), श्री संघतिलक

---

* संपादक—जिनविजय, सिंघी जैन ग्रंथमाला नं० ६, शान्तिनिकेतन, १९३५।

† देखिए :—रायबहादुर हीरालाल, कॅटॅलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स्, नागपुर, १९२६, प्रस्तावना पृ० १२ आदि।

सूरि कृत 'सम्यक्त्वसप्ततिका टीका'* (ई० सन् १३६६), श्री शुभशील गणि कृत 'विक्रमचरित्र'† (ई० सन् १४४३ या १४३४?) और श्री विजयलक्ष्मी सूरि कृत 'उपदेशप्रासाद'‡ (ई० सन् १७८७) के अनुसार वह "महाकाल" या "महकाल" का मन्दिर था। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह'‡ (रचनाकाल अज्ञात) और श्री मेरुतुंग सूरि कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' आदर्श "डी"‡ (ई० सन् १३०५) के अनुसार वह "गूढमहाकालप्रासाद" और श्री भद्रेश्वर सूरिकृत 'कथावलि' (ई० सन् १२३५ के पूर्व), श्री प्रभाचन्द्र सूरि कृत 'प्रभावकचरित'*, (ई० सन् १२७८) तथा श्री जिनप्रभ सूरि कृत 'विविधतीर्थकल्प' अथवा 'कल्पप्रदीप' ‡ (ई० सन् १३३३) के अनुसार "कुडंगेसर", "कुडंगेश्वर", किंवा कुडुंगदेश्वर महादेव का मन्दिर था। इन नामों की चर्चा आगे की जायगी। यहाँ इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि वह मन्दिर महादेव ही का था।

मन्दिर में भिक्षुक ने शिव विग्रह को नमन नहीं किया। रुष्ट होकर श्रीविक्रमादित्य ने इसका कारण पूछा। उत्तर देते हुए श्रीसिद्धसेन दिवाकर ने 'लिंगभेद' और उसके परिणामस्वरूप अप्रीति होने का भय बताया। ऐसी अनहोनी बात सुनकर साहसांक नरेश ने अधीर होकर आज्ञा दी कि "तुरत ही नमस्कार करो। इसका परिणाम मेरे सिर पर हो।" तब श्री सिद्धसेन दिवाकर ने (जिनका अपरनाम कुमुदचन्द्र भी बताया जाता है) 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र टीका' के अनुसार अपने सुप्रसिद्ध संस्कृत 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' द्वारा तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के नाम से सच्चिदानन्दरूप वीतराग जगदीश की स्तुति सुनाते हुए आदरभाव से देवता को नमन किया। उक्त स्तोत्र अभी भी जैनियों में (चाहे वे दिगम्बर हों या श्वेताम्बर) विशेष पवित्र माना जाकर नित्यपाठ के रूप में बोला जाता है। 'विविधतीर्थकल्प', 'कथावली', 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' (आदर्श डी), 'पुरातन प्रबन्धसंग्रह' और 'सम्यक्त्वसप्ततिका टीका' के अनुसार सिद्धसेन ने उस अवसर पर अपनी विख्यात 'द्वात्रिंशिकाओं' का पाठ किया, जिनमें (एक को छोड़कर) तत्त्वज्ञान और न्यायशास्त्र के अनेक प्रश्नों की चर्चा-गर्भित, अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर की स्तुति होती है, और जिनके गाम्भीर्य के प्रति बहुत शताब्दियों के पश्चात् महाकवि श्री हेमचन्द्र सूरि ने भी अपनी 'अयोगव्यवच्छेदिका' के निम्न लिखित रमणीय पद्य द्वारा अपनी लघुता प्रदर्शित की है —

> क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा।
> तथाऽपि यूथाधिपतेः पथस्थः स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः ॥३॥ ('सन्मतितर्क', भूमिका पृ० ९१ से उद्धृत)

अर्थात् "कहाँ तो सिद्धसेन की महान् अर्थयुक्त स्तुतियाँ और कहाँ यह मेरा अशिक्षित आलाप। फिर भी यदि यूथपति (नेता) के मार्ग पर चलनेवाला बच्चा ठोकर खाता हुआ दिखता है तो वह शोचनीय नहीं है ॥३॥"

'प्रभावकचरित,' 'प्रबन्धकोश', 'विक्रमचरित्र' और 'उपदेशप्रासाद' के अनुसार सिद्धसेन ने 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' और 'द्वात्रिंशिकाएँ' दोनों को सुनाया। इस भिन्नता की चर्चा आगे की जायगी।

जगदीश की स्तुति के चमत्कारिक प्रभाव से लिंग में से एक तीर्थंकरमूर्ति निकलती हुई दृश्यमान हुई। उपर्युक्त सभी ग्रन्थों के अनुसार वह पार्श्वनाथ की मूर्ति थी। मात्र 'विविधतीर्थकल्प' में 'नाभिसूनु', 'नाभेय' इत्यादि प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव के नामान्तर पाए जाते हैं। इस भिन्नता का कारण यह हो सकता है कि मूलकहानी में श्रीपार्श्वनाथ ही की

---

* श्रीसम्यक्त्वसप्तति, संशोधक मुनि श्रीवल्लभविजय, श्रेष्ठी देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धारे ग्रंथांक ३५, ई० सन् १९१६।

† संशोधक और प्रकाशक पं० भगवानदास, वि० सं० १९९६।

‡ राजनगर, ई० सन् १९३८।

‡ संपादक जिनविजयमुनि, सिंघी जैन ग्रंथमाला नं० २, शान्तिनिकेतन, ई० सन् १९३६।

‡ वही, नं० १, ई० सन् १९३३।

* संपादक जिनविजयमुनि, सिंघी जैन ग्रंथमाला नं० १३, अहमदाबाद—कलकत्ता, ई० सन् १९४०।

‡ वही, नं० १०, शान्तिनिकेतन, ई० सन् १९३४।

मूर्त्ति का प्रादुर्भाव कथित हुआ होगा जिनके नामान्तर 'वामासूनु', 'वामेय' इत्यादि श्रीजिनप्रभ सूरि के आधारभूत मूल-ग्रन्थ की आदर्शप्रति मे लेखक की भूल से 'नाभिसूनु', 'नाभेय' आदि में परिवर्त्तित किए गए, और इस भूल के परिणामस्वरूप शेष परिवर्तन पिछली प्रतियों मे क्रमशः आ पड़े होगे। ऐसा अनुमान करने में कुछ आपत्ति दिखाई नही देती।

इसके विपरीत यह अनुमान इस विचार से विशेष न्याययुक्त जान पड़ता है कि 'विविधतीर्थकल्प' की 'अ' संज्ञक आदर्शप्रति मे दी हुई तीर्थकल्पों की अनुक्रमणिका मे (जिनविजयजी पृ० १११) प्रस्तुत तीर्थकल्प (नं० ४७) का नाम 'कुडुगेश्वरनाभेयदेवकल्प' के स्थान पर साफ साफ 'श्रीकुडुगेश्वरपार्श्व०' ही उपलब्ध है।

इसके अतिरिक्त 'विविधतीर्थकल्प' मे चौरासी जैन महातीर्थों के नामों की एक सूची चौवीस तीर्थंकरों के कालक्रम से दी गई है (जिनविजयजी पृ० ८५)। इस नामसंग्रह मे प्रथम तीर्थंकर के तीर्थस्थानो की नामावली मे न तो कुडुगेश्वर और न उज्जैन ही का उल्लेख है। किन्तु तेईसवे तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथ की तीर्थसूची में 'महाकालान्तरपातालचक्रवर्ती' (जिनविजयजी के मूल का पाठ 'महाकालान्तरा०') ऐसा नाम पाया जाता है। इससे भी उपर्युक्त अनुमान का कुछ समर्थन होता है कि प्रस्तुत विम्व, जोकि वाद मे एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान का केन्द्र वना, श्री आदिनाथ का नही, किन्तु वास्तव में श्रीपार्श्वनाथ का ही था (आगे देखिए)।

प्रस्तुत अनुमान के साथ यह वात भी भली भाँति मेल खाती है कि महादेव का आभूषणरूप माना हुआ सर्प पार्श्वनाथ का भी 'लाञ्छन' अर्थात् चिह्नविशेष है, और पार्श्वनाथ का शासनदेवता-युगल धरणेन्द्र पद्मावती नागदेवताओं का रूप धारण करते हुए कल्पित होते है। तदनुकूल प्रस्तुत प्रसंग मे भी एक सर्पचिह्न का उल्लेख 'प्रभावकचरित' में (पृ० ६० पद्य १५२) दिया गया है। यथा:—

शिवलिंगादुदैच्चात्र कियत्कालं फणावलिः।
लोकोऽघर्पोच्च (मूल—"ऽघर्षच्च") तां पश्चान्मिथ्यात्वदृढरंगमः ॥१५२॥

अर्थात्—"वहाँ शिवलिंग मे से थोड़े समय में सर्पफणो की श्रेणी निकली। पश्चात् लोगो ने मिथ्यात्व की दृढ़ भावना से जल-सिंचन कर उसकी पूजा की ॥१५२॥"

आज भी एक रत्नचक्षुमय सर्प महाकाल लिंग के चतुर्दिक् चाँदी के पत्रों से ढँकी हुई जलाधारी मे देखा जा सकता है।

दिगम्वर साहित्य मे भी 'श्रीकल्याणमन्दिरस्तोत्र' का पाठ होने से श्रीपार्श्वनाथ ही के विम्व का प्रगट होना कथित है। ऐसा उल्लेख श्रीअचलकीर्त्तिकृत 'विपापहारस्तोत्र भाषा' मे (जहाँ श्री विक्रम राजा का भी नाम इस सम्वन्ध में दिया गया है), 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र भाषा' मे और वृन्दावन कवि कृत 'मंगलाष्टक' आदि में मिलता है।

यदि उपर्युक्त कुछ ग्रंथों मे इस पार्श्वनाथ प्रतिमा के प्रादुर्भूत होने मे पार्श्वनाथ-स्तुति-रूप कल्याणमन्दिरस्तोत्र के अतिरिक्त महावीर-स्तुति-रूप 'द्वात्रिंशिकाओ' का पाठ भी निमित्तभूत कथित है, तो वह इस कारण से अवाधित है कि जैन रीति के अनुसार किसी भी एक तीर्थंकर की स्तुति, पूजा आदि मे वहुधा शेष तीर्थंकरों की आराधना भी अन्तर्भूत समझी जाती है। उक्त कविताएँ, विशेषतः प्रस्तुत प्रसग पर उचित ही ज्ञात होती है, क्योंकि इनमे कथित तीर्थंकर-स्तुति एक साथ परमात्मा रूपी महादेव के प्रति भी मानी जा सकती है; जैसा कि पहिली द्वात्रिंशिका के पहिले पद्य के निम्नलिखित शब्दो से विदित है :—

स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्रमनेकमेकाक्षरभावलिंगम् ।

आज भी "स्वयंभू" शब्द विशेषतः महाकालेश्वर-लिंग का एक प्रचलित विशेषण है।

इस स्तोत्रपाठ के चमत्कारिक प्रभाव से आश्चर्यान्वित विक्रमादित्य को अव सिद्धसेन प्रतिवोध देने और उस प्रादुर्भूत हुए जिन-विम्व का पूर्व-इतिहास सुनाने लगे, जोकि अवन्तिसुकुमाल मुनि के वृत्तान्त के साथ ग्रथित है। वह एक

जैन साहित्य और महाकाल मन्दिर

विस्तृत अन्तर्कथा के रूप में 'प्रबन्धकोश', शुभशीलकृत 'विक्रमचरित्र', और 'उपदेशप्रासाद' में, तथा अति संक्षिप्त रूप में 'पुरातन प्रबन्धसंग्रह' और 'प्रबन्धचिन्तामणि' (आदर्श डी) में दिया हुआ है। शेष ग्रंथों में वह नहीं पाया जाता है। परन्तु उनसे अधिक प्राचीन ग्रन्थों में इसका इतिवृत्त स्वतन्त्र रूप में उपलब्ध है। उस इतिवृत्त पर अब दृष्टि डालना आवश्यक है।

[२] श्वेताम्बर साहित्य में अवन्तिसुकुमाल-स्मारक—अवन्तिसुकुमाल का वृत्तान्त अति प्राचीन है। वह दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में प्रसिद्ध है। इसका आधार जैन इतिहास की कोई सत्य घटना होगी, ऐसा मानने में तनिक भी संकोच की आवश्यकता नहीं है। प्राचीन अवन्ति नगरी में एक श्रीमन्त-पुत्र को किसी जैन मुनि का व्याख्यान सुनने से प्रबल वैराग्य का उत्पन्न होना, मुनिवेश ग्रहण करके दीक्षित होना, महाकालवन की श्मशान-भूमि की एकान्तता में आहार निद्रा आदि का त्याग करके कुछ दिन तक अचल धर्मध्यान में मग्न रहना और इसी अवस्था में एक बुभुक्षित स्यारनी और उसके सन्तान से भक्षित होना, ऐसी घटना शृंखला को असम्भव कौन कह सकता है? जो दृढ़ श्रद्धा और अचल वैराग्य अवन्तिसुकुमाल को अपने घर की अगणित लक्ष्मी और स्वर्गसदृश सुख छोड़कर अपने जीवन का उत्तमार्थ समाधिमरण ही में पाने को प्रेरित करता है वह अपूर्व नहीं है। राजाओं ने भी अपने सिंहासन छोडकर सल्लेखना मृत्यु ही में अपना कल्याण माना, ऐसे दृष्टान्त श्री एस्० आर्० शर्मा कृत "जैनिज्म् एण्ड कर्णाटक कल्चर" और श्री बी० ए० सालेतोर कृत "मेडिईवल् जैनिज्म्" नामक सुप्रसिद्ध ग्रंथों में पाए जाते हैं। भूतकाल तो दूर रहा, आज भी ऐसी ही श्रद्धा और ऐसे ही वैराग्य से प्रेरित कई लक्ष्मीपति और उनकी सुकुमार महिलाएँ अपना सुख और वैभव छोडकर दुष्कर तपस्या करती हुई प्रत्यक्ष देखी जाती हैं।

अवन्तिसुकुमाल के सबसे पुराने उल्लेख श्वेताम्बर आगम के अन्तर्गत 'भत्तपरिण्णा', 'संथारयपइण्ण' और 'मरण-समाहि' नामक तीन 'पइण्णों' (अर्थात् 'प्रकीर्णक' नामक ग्रंथ विशेष) में, समाधिमरण के एक विशेष भेद के दृष्टान्त-स्वरूप मिलते हैं। श्वेताम्बर आगम की अन्तिम आकृति श्री देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ने वलभी नगर में वीरनिर्वाण से ९८० वर्ष के पश्चात् (या एक दूसरे मत के अनुसार ९९३ वर्ष के पश्चात्), अर्थात् ईसवी सन् ४५० के आसपास अत्यन्त प्राचीन मूलग्रन्थों के आधार पर सम्पादित की, ऐसा माना जाता है।

'भत्तपरिण्णा पइण्ण'* का उल्लेख निम्नलिखित है —

नालुकीए करुणं खज्जंतो घोरविअणत्तोवि। आराहण पवन्नो झाणेण अवंतिसुकुमालो ॥१६०॥

अर्थात्—"स्यारनी द्वारा करुणाजनक रीति से भक्षित होते हुए और घोर वेदना से पीड़ित होते हुए भी अवन्ति-सुकुमाल ने ध्यानस्थ अवस्था में आराधना की ॥१६०॥"

यही पद्य तनिक पाठान्तर सहित दिगम्बरीय 'भगवती आराधना' और 'कण्णड वड्डाराधना' में भी उपलब्ध है, जैसाकि श्री ए० एन्० उपाध्ये महाशय ने हरिषेण कृत 'बृहत्कथा-कोश' की प्रस्तावना में (पृ० ७८) बताया है। इससे प्रस्तुत वृत्तान्त की प्राचीनता भली भाँति ज्ञात होती है।

'संथारय पइण्ण' में उज्जैन के श्मशान का उल्लेख इस सम्बन्ध में दिया गया है। महात्मा का नाम "अवन्ति" मात्र है। यथा —†

उज्जेणी नयरीए अवंतिनामेण विस्सुओ आसी। पाओवगमनिवन्नो सुसाणमज्झम्मि एगंतो ॥६५॥
तिन्नि रयणीइ खइओ भल्लुकी रुट्ठिया विकड्ढती। सोवि तह खज्जमाणो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥६६॥

अर्थात्—"उज्जैन नगरी में अवन्ति नाम का विख्यात (पुरुष) था। उन्होंने श्मशान में एकान्त में पाओवगम् (नाम का समाधिमरण) अंगीकार किया ॥६५॥

* चतुःशरणादिमरणसमाध्यन्त प्रकीर्णकदशक, श्री आगमोदयसमितिग्रन्थोद्धारे नं ४६, सन् १९२७, पृ० ३०।
† वही, पृ० ५७।

रुष्ट स्यारनी ने उनको तीन रात तक विदीर्ण कर खाया। इस रीति से भक्षित होते हुए भी उन्होंने उत्तमार्थ प्राप्त किया ॥६६॥"

'मरणसमाहि पइण्ण'* का वर्णन कुछ अधिक विस्तृत और ऐतिहासिक दृष्टि से रुचिकर है। वह निम्नलिखित है :—

सोऊण निसासमए नलिणिविमाणस्स वण्णणं धीरो। संभरियदेवलोओ उज्जेणि अवंतिसुकुमालो ॥४३५॥

घित्तूण समणदिक्खं नियमुज्झियसव्वदिव्वआहारो। बाहिं वंसकुडंगे पायवगमणं निवण्णो उ ॥४३६॥

वोसट्ठनिसट्ठंगो तहिं सो भल्लुंकियाइ खइओ उ। मंदरगिरिनिक्कंपं तं दुक्करकारयं वंदे ॥४३७॥

मरणंमि जस्स मुक्कं सुकुसुमगंधोदयं च देवेहिं। अज्जवि गंधवई सा तंच कुडंगीसरट्ठाणं ॥४३८॥

अर्थात्—"उज्जैन मे रात के समय मे नलिनी विमान (नामक स्वर्ग) का वर्णन धीरतापूर्वक सुननेवाले अवन्ति-सुकुमाल को देवलोक का (जाति) स्मरण हुआ ॥४३५॥

अपने समस्त दिव्य भोगों को छोडते हुए उन्होने जैन-साधु-दीक्षा ग्रहण की और बाहर "वंस कुडंग" मे "पायवगमण" (नामक समाधिमरण) को अंगीकार किया ॥४३६॥

अपना निःसह (अर्थात् कोमल) शरीर वहाँ छोडकर वे श्रृगाली से भक्षित हुए। मन्दर पर्वत जैसे निष्कंप इस महात्मा को, जिन्होने (ऐसा) दुष्कर काम किया, मेरी वन्दना हो ॥४३७॥

उनके मरण (के समय) पर देवताओ ने उत्तम फूल और सुगन्धित जल बरसाया। आज भी वह गन्धवती (नदी) और वह कुडंगीसर का स्थान (वहाँ विद्यमान) है ॥४३८॥"

उपर्युक्त गन्धवती और इस नाम का घाट आज भी क्षिप्रा रपट की पूर्व दिशा मे श्री अवन्तिपार्श्वनाथ के जैन मन्दिर के पास उज्जैन मे विद्यमान है। वह स्थान प्राचीन काल मे जंगल और श्मशान था, यह हर किसी को ज्ञात है। वहाँ क्षिप्रा मे मिलनेवाला आधुनिक संकुलित नगर का मैला पानी ले जानेवाला 'गन्धवती नाला' अथवा 'गन्दा नाला' एक समय स्वच्छ जल की एक छोटी नदी था। इस नदी का 'गन्दे' पानी से सम्बन्ध रखने की कल्पना तो दूर रही। उसी को 'स्कन्द-पुराण' के 'अवन्तिखण्ड' मे (१६·४) 'पुण्या' और 'त्रैलोक्यविश्रुता' जैसे विशेषण दिए गए है, और कालिदास ने उसके कमल-पराग से सुगन्धित पवन और उसमे जलक्रीड़ा करनेवाली युवतियो का रमणीय उल्लेख किया है (मेघदूत पद्य ३५)।

'वंसकुडंग' और 'कुडंगीसर' के सम्बन्ध मे आगे विचार किया जावेगा।

मूल आगम के पश्चात् प्रस्तुत वृत्तान्त का सबसे प्राचीन उल्लेख श्री जिनदास गणि महत्तर कृत 'आवश्यक चूर्णि' में प्राकृत गद्य मे उपलब्ध है (देखिए 'श्रीमदावश्यकसूत्र', रतलाम ई० सन् १९३९, उत्तरभाग पृ० १५७)। इस ग्रन्थ के रचनाकाल की कल्पना इस बात से की जा सकती है कि इसी जिनदासगणि कृत 'निशीथ चूर्णि' शक ५९८ अर्थात् ई० सन् ६७६ मे रचित है (देखिए श्री० पं० सुखलाल और बेचरदास की भूमिका, सन्मतितर्क पृ० ३)। प्रस्तुत 'आवश्यक चूर्णि' मे अवन्ति-सुकुमाल की माता 'भद्दा सेट्ठिभज्जा', अर्थात् 'भद्रा श्रेष्ठिभार्या', उनकी बत्तीस सुयौवना पत्नियाँ, उनके धर्मगुरु "सुहत्थि", अर्थात् आर्य सुहस्ती आचार्य (अशोकपौत्र जैन सम्राट् सम्प्रति के प्रतिबोधक, (देखिए मुनि कल्याणविजय, 'वीरनिर्वाण और जैनकालगणना', नागरी प्रचारिणी पत्रिका १० और ११ से उद्धृत, जालोर, सं० १९८७ पृ० ७७), और पुत्र, इतने पात्र अधिक पाए जाते है। अवन्तिसुकुमाल के मृत्यु का स्थान "मसाणे कंथारकुडंगं" अर्थात् "श्मशान मे कंथारकुडंग" इन शब्दों में वर्णित है, जिनकी चर्चा आगे की जायगी। महात्मा के मरण के पश्चात् गन्धोदक बरसने का प्रसंग भी उल्लिखित है, यद्यपि गन्धवती नाम नही दिया गया है। उनकी माता और बत्तीस पत्नियों मे इकतीस साध्वी-दीक्षा ग्रहण करती है। बत्तीसवी गर्भवती है।

* वही, पृ० १२६।

तीसे पुत्तो तत्थ देवकुल करोति। त इयाणि महाकाल जात। लोकेण परिग्गहित।

अर्थात्—"उनके पुत्र ने वहा एक देवमन्दिर बनाया। वह अब महाकाल बन गया। (अन्यधर्मी) लोगो ने उसको ग्रहण कर लिया।"

श्री हरिभद्र सूरि की 'आवश्यकवृत्ति' में भी प्रस्तुत वृत्तान्त प्राय अक्षरश पाया जाता है। इस वृत्ति का रचना काल भी ई० सन् ६५०-७०० के आसपास समझा जा सकता है, अर्थात्, श्री जिनदासगणि और श्री हरिभद्रसूरि दोना ने एक ही प्राचीन आदर्श ग्रथ का उपयोग किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। प्रमुख भिन्नता यह है कि यहाँ महात्मा की माता का नाम 'भद्दा' के स्थान पर 'सुभद्दा' (सुभद्रा) दिया गया है (देखिए 'श्रीमदावश्यकसूत्रोत्तरार्ध पूर्वभाग', आगमोदय-समिति ई० सन् १९१७ पृ० ६७०)।

इसके पश्चात् अवन्तिसुकुमाल का वृत्तान्त सुप्रसिद्ध 'आवश्यक कथाओं' में उपलब्ध है। वहाँ की कहानी, जोकि मुझे मात्र अभिधानराजेन्द्रकोश में ('अणिस्सिओवहाण' शब्द के नीचे) मिली, सस्कृत पद्य में है, और उसका विवरण पूर्वोक्त कहानी के साथ ठीक ठीक मिलता है। मृत्युस्थान 'कन्यारिकावन' और माता का नाम 'सुभद्रा' है। अन्तिम पद्य नीचे के अनुसार है —

स्थितका तु गुर्विणी तत्सुतो तत ॥३२॥

अचीकरद्देवकुल श्मशानेऽद्भुतमुच्छ्रितम्। तदिदानीं महाकाल जात लोकपरिग्रहात ॥३३॥

अर्थात्—"परन्तु एक (पत्नी जोकि) गर्भवती थी (गृहस्थावस्था में) रही ॥३२॥

उनके पुत्र ने श्मशान में एक अद्भुत उच्च देवमन्दिर बनाया। वह अब (अन्यधर्मी) लोगो से ग्रहण किया जाकर महाकाल (मन्दिर) बन गया है ॥३३॥"

तदनन्तर अवन्तिसुकुमाल का इतिहास 'दर्शनशुद्धि'* नामक ग्रथ में प्राकृत गद्य में और पूर्वोक्त कथा के अनुरूप श्री चन्द्रप्रभसूरि द्वारा (ई० सन् १०९३ में) वर्णित है। यहाँ मृत्युस्थान को 'कथारिकुडगिनमीवे', अर्थात् 'कथारिकुडग के पास', और मृत शरीर को 'कुडगाओ नेरइयदिसाए आसयट्ठिय' अर्थात् 'कुडग से नैऋत्य दिशा के निकटवर्ती' बताया जाता है, जिन शब्दो का स्पष्टीकरण आगे किया जायगा। माता का नाम 'भद्दा' (भद्रा) है। अपनी पुत्रवधुओ के साथ उनके क्षिप्रा नदी के किनारे पर विलाप करने का वर्णन दिया गया है। अन्त में देवताओ ने गन्धोदक बरसाने के साथ "अहो महाकाल्ने" अर्थात् "वाह महान् मृत्यु" ऐसी आकाशवाणी सुनाई और बत्तीसवी वधू के पुत्र ने—

पिउमरणठाणे काराविया पिउपडिमा। समुग्घोसिय महाकालोत्ति नामेण आययण। त च

सवय लोइएहिं परिग्गहिय महाकालोत्ति विक्खाय। (अभिधानराजेन्द्रकोश, "अवन्तिसुकुमार" शब्द के नीचे)।

अर्थात्—"पिता के मृत्युस्थान पर पिता की प्रतिमा बनवाई। स्मारक मन्दिर का नाम 'महाकाल' उद्घोषित किया। वह लौकिको (अन्यधर्मिओ) से ग्रहण किया जाकर अभी भी 'महाकाल' नाम से विख्यात है।"

उसके पीछे श्री हेमचन्द्राचार्य कृत 'परिशिष्टपर्वन्'† रचित है (ई० सन् ११६०-७२), जिसके ग्यारहवें सर्ग के अन्त में सस्कृत पद्य में अवन्तिसुकुमाल की मृत्यु का वर्णन आर्य सुहस्ती सूरि के जीवनवृत्तान्त के अन्तर्गत पाया जाता है।

---

* अभिधानराजेन्द्र-कोश की अवतरणिका 'अवन्तिसुकुमाल' शब्द के नीचे।

† परिशिष्टपर्व, श्रीजनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर, वि० स० १९६८, पृ० ९६-९८।

इसका समस्त विवरण 'दर्शणशुद्धि' से मिलता-जुलता है। केवल देवताओं का "अहो महाकालो" पुकारना नही कहा गया है। अन्त में निम्नलिखित श्लोक है:—

गुर्व्या जातेन पुत्रेन चक्रे देवकुलं महत्। अवन्तिसुकुमालस्य मरणस्थानभूतले ॥१७६॥
तद्देवकुलमद्यापि विद्यतेऽवन्तिभूषणम्। महाकालाभिधानेन लोके प्रथितमुच्चकैः ॥१७७॥

अर्थात्—"गर्भवती से उत्पन्न हुए पुत्र ने अवन्तिसुकुमाल के मरणस्थान पर एक बड़ा देवमन्दिर बनाया ॥१७६॥

वह देवमन्दिर आज भी अवन्ति का भूषणरूप विद्यमान है और उसकी प्रशंसा महाकाल के नाम से आज भी जगत् में ऊँचे स्वर से होती रहती है ॥१७७॥"

श्री हेमचन्द्रसूरि के समकालीन श्री सोमप्रभसूरि विरचित 'कुमारपालप्रतिबोध' (ई० सन् ११८५) में भी अवन्तिसुकुमाल की कथा संस्कृत पद्य में और 'परिशिष्टपर्वन्' के अनुरूप पाई जाती है। उसके अनुसार* अवन्ति-सुकुमाल की बत्तीसवी पत्नी के पुत्र द्वारा बनाए हुए मन्दिर में महात्मा की प्रतिमा स्थापित हुई। उस मन्दिर को 'अवन्ति का अलंकार' कहा जाता है, जोकि "अपने शिखर के अग्रभाग द्वारा सूर्य के रथ के घोडों का मार्ग रोकता हुआ आज भी 'महाकाल' नाम से प्रसिद्ध है।"

इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि ईसा की बारहवी शताब्दी के अन्त पर्यन्त 'महाकाल-मन्दिर'-विद्यमान था। इतना ही नही, उसकी महिमा कालिदास के समय से इतनी शताब्दियों तक अक्षुण्ण रही थी और कालिदास के समय से तब तक महाकालेश्वर की आरती का गर्जनासदृश दुदुंभिनाद आकाश को प्रतिध्वनित करता रहा था।

परन्तु यह महिमा आगे नही रही, ऐसा श्री हेमचन्द्रसूरि और श्री सोमप्रभसूरि के पश्चात् के साहित्य से ज्ञात होता है। इस साहित्य का सिंहावलोकन करने पर पहिली दृष्टि संस्कृत गद्यबद्ध 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' तथा 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' नाम के ग्रन्थों पर पडती है। इनमे श्री अवन्तिसुकुमाल के सम्बन्ध मे इतना ही उल्लेख है कि जिस मन्दिर में श्री सिद्धसेन के स्तोत्रपाठ से श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई, वह अवन्तिसुकुमाल का उनकी बत्तीस पत्नियों द्वारा बनवाया हुआ स्मृति-मन्दिर था, और उक्त चमत्कार होने के पश्चात् **"तदा प्रभृति गूढमहाकालोऽजनि।"** अर्थात् "उस समय से गूढमहाकाल हुआ।"

'प्रबन्ध चिन्तामणि' ई० सन् १३०५ में और 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' भी लगभग उसी समय में रचित है। अर्थात् उपर्युक्त वाक्य ऐसे समय मे लिखा गया है जबकि श्री हेमचन्द्रसूरि और श्री सोमप्रभसूरि के महत्त्वपूर्ण वर्णन के रचनाकाल से लगभग सवा शताब्दी बीत गई थी। इतने समय मे 'अवन्तिभूषणरूप' गगनचुम्बी महाकाल-मन्दिर मिट गया और 'गूढ महाकाल' ने उसका स्थान ले लिया था, जिसकी पूजा-आरती आदि भूमि-गृह ही मे होती रही। इसका कारण अति स्पष्ट है। इस सवा शताब्दी ही के अन्दर अल्तमश का कालरात्रि-सदृश समय मालव-भूमि पर छा गया था और इसी कालरात्रि मे ही ई० सन् १२३५ मे महाकाल का विख्यात मन्दिर भूमिसात् हुआ था। वह इतिहास-प्रसिद्ध है। अतः विस्तार अनावश्यक है।

लगभग उसी समय के महाकालवन मे एक जिनालय भी विद्यमान था जोकि—**"महाकालान्तर-पातालचक्रवर्ती"** इस नाम से श्री जिनप्रभ सूरि के ई० सन् १३३३ मे रचे हुए 'विविधतीर्थकल्प' मे उल्लिखित है, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। कदाचित् वह 'पातालचक्रवर्ती' श्री अवन्तिसुकुमाल के मन्दिर की मूलनायक-प्रतिमा ही थी, क्योंकि दोनों प्रतिमाएँ श्री पार्श्वनाथ ही की थी। जब अवन्तिसुकुमाल का मन्दिर (आगे आनेवाले विवरण के अनुसार) दूसरी बार अन्य धर्मियों से ग्रहण किया गया था, उस समय वहाँ की उस मूलनायक-प्रतिमा को एक भिन्न जिनालय मे स्थापित किया गया होगा। वह मन्दिर भी पूर्वोक्त अमांगलिक प्रसंग पर नष्ट हो गया होगा, जिससे कि उसके मूलनायक को भी (महाकाल के सदृश) भूमिगृहरूपी "पाताल" ही मे शरण लेनी पड़ी होगी।

---

* गुजराती अनुवाद, श्रीजैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९८३।

जैन साहित्य और महाकाल-मन्दिर

इतने विवेचन के अनन्तर अब श्री अवन्तिसुकुमाल के वृत्तान्त के शेष साहित्य का अवलोकन करना रहा है। उसमें पहिले 'प्रबन्ध-कोश' (ई० सन् १३५१) का क्रम आता है। इसमें उक्त वृत्तान्त संस्कृत गद्य में ऐसे रूप में कथित है जोकि श्री हेमचन्द्र सूरि की कहानी से मिलता है। अन्त में अवन्तिसुकुमाल के पुत्र ने —

प्रासाद कारित। मम पितुर्महाकालोऽत्राभूदिति महाकालनाम दत्तम। श्रीपार्श्वनार्थबिंब मध्ये स्थापितम्। कत्यायहानि लोकेन पूजितम्। अवसरे द्विजैस्तदन्तरित कृत्वा मर्डलिंगमिद स्थापितम।

अर्थात्—"एक मन्दिर बनवाया। मेरे पिता का 'महान् काल' (अर्थात् महान् मृत्यु) यहाँ हुआ। इस कारण से 'महाकाल' नाम दिया। बीच में श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की। उसकी पूजा लोगो ने कुछ दिन तक की। अवसर पाकर ब्राह्मणो ने उसे छिपा दिया और यह शिव लिंग स्थापित किया।"

श्री शुभशीलगणि कृत 'विक्रमचरित्र' (ई० सन् १४४३ या १४३४) में अवन्तिसुकुमाल की अन्तर्कथा संस्कृत पद्य में और उसी कवि रचित 'श्री भरतेश्वर-बाहुबलि-वृत्ति' (ई० सन् १४५३) में उसकी स्वतन्त्र कहानी संस्कृत गद्य में दी गई है। यहाँ की और पूर्वोक्त कहानी में इतनी ही भिन्नता है कि अवन्तिसुकुमाल की माता 'भद्रा' के अतिरिक्त उनके पिता 'भद्र श्रेष्ठी' भी उल्लिखित है। 'विक्रमचरित्र' के अनुसार —

तस्मिन् स्थाने महच्चैत्य पार्श्वनाथजिनेशितु। मनोज्ञ कारयामास भद्रश्रेष्ठी धनव्ययात् ॥३९॥
तस्याऽजनि महाकालनामेति विश्रुत भुवि। कालक्रमाद् द्विजैर्लिंग स्थापित पार्वतीपते ॥४०॥

अर्थात्—"उस स्थान पर भद्र सेठ ने, बहुत धन व्यय करके, श्री पार्श्वनाथ जिनेश्वर का एक विशाल मनोहर मन्दिर बनवाया ॥३०॥

उसका जगद्विख्यात नाम महाकाल हो गया। कालक्रम से वहा ब्राह्मणो ने पार्वतीपति का लिंग स्थापित किया ॥४०॥"

श्री विजयलक्ष्मी सूरि कृत 'उपदेशप्रासाद' (ई० सन १७८७) मे आई हुई अवन्तिसुकुमाल कथा संस्कृत पद्य में और 'प्रबन्ध-कोश' के अनुसार है।

इनके अतिरिक्त श्री धर्मसमुद्र वाचक * (ई० सन् १५२० के आसपास) और प्रसिद्ध गुर्जर जैन कवि श्री जिनहर्ष सूरि तथा श्री ज्ञानविमल सूरि† (ई० सन् १७३० के आसपास) कृत गुजराती 'सज्झायो' (अर्थात् धर्मभावना-पोषक, 'स्वाध्याय' के योग्य छोटे गेय काव्य) आदि कृतियो में प्राचीन मूलग्रंथो के आधार पर अवन्तिसुकुमाल और बहुधा उनके समाधि-मन्दिर का भी वृत्तान्त वर्णित है। आधुनिक जैन भक्त-कवि मुनि श्री चौथमलजी महाराज ने भी एक 'अवन्ति-सुकुमाल-सज्झाय' हिन्दी में रची है, जो मुनियो से गाई हुई सुनी जा सकती है।

[३] दिगम्बर साहित्य में अवन्तिसुकुमाल—दिगम्बर साहित्य में अवन्तिसुकुमाल के वृत्तान्त का सबसे प्राचीन उल्लेख श्री शिवार्य कृत 'भगवती आराधना' में उपलब्ध है, जोकि श्री ए० एन्० उपाध्ये महाशय के मतानुसार (हरिषेण, 'बृहत्कथाकोश'‡ भूमिका पृ० ५८) जिनसेन के 'आदिपुराण' से अधिक प्राचीन है, अर्थात् ईसवी की नवमी शताब्दी के पूर्व में रचित है। वहा उक्त उल्लेख उस प्राकृत गाथा में विद्यमान है, जो ऊपर श्वेताम्बरीय (भत्तपरिण्णा पइण्ण' में से कुछ पाठान्तर के साथ उद्धृत की जा चुकी है। 'भगवती आराधना' में वह निम्नलिखित रूप में है (गाथा न० १५३९ पूर्वोक्त भूमिका पृष्ठ ७८ के अनुसार) —

भल्लुकीए तिरत्त खज्जतो घोरवेदणट्टो वि। आराधण पवण्णो झाणेणावंतिसुकुमालो ॥

अर्थात्—"तीन रात पर्यन्त स्यारनी से भक्षित और घोर वेदना से पीडित होते हुए भी अवन्तिसुकुमाल ने ध्यान में मग्न रहकर आराधना की ॥"

---

* जैन-गुर्जर कविओ, संग्राहक मोहनलाल दलीचंद देसाई, मुम्बई, ई० सन् १९२५ भाग १ पृ० ११८।

† श्री जैन सज्झाय संग्रह, संपादक साराभाई मणिलाल नवाब, श्री जैन प्राचीन साहित्योद्धार ग्रंथावली न० ९, ई० स० १९४०, पृ० ८०५५ और ५५-५९।

‡ सिंघी जैनग्रंथमाला, बम्बई १९४३।

डॉ॰ शालौटे क्राउझे

वास्तव में ऐसी गाथाएँ श्री उपाध्ये के कथनानुसार (उक्त भूमिका पृ॰ ५४) उस अति प्राचीन समय के साहित्य के अवशेष हैं जब जैन समुदाय और जैन साहित्य दिगम्बर और श्वेताम्बर शाखाओं में विभक्त नही हुआ था, अर्थात् उनको न तो श्वेताम्बरीय और न दिगम्बरीय ही, किन्तु सामान्य आदि-जैन-साहित्य गिनना समीचीन है। पूर्वोक्त भूमिका से विदित है कि यद्यपि इस गाथा के अतिरिक्त न तो श्री शिवार्य के मूलग्रंथ में और न उसकी किसी भी उपलब्ध टीका में अवन्तिसुकुमाल की कहानी का कुछ विवरण दिया गया है, तथापि उसकी एक लुप्त प्राकृत टीका में ऐसी कहानियों का संग्रह अवश्य विद्यमान था जो पश्चात् के दिगम्बरीय कथा-साहित्य का मुख्य आधार वन गया है (पृ॰ ५८)।

इस कथा साहित्य का एक प्रसिद्ध ग्रंथ श्री हरिषेण कृत 'बृहत्कथा-कोश' * है, जिसका रचनाकाल कवि ने स्वयं ई॰ सन् ९३२ दिया है। यह ग्रंथ संस्कृत पद्य मे रचित है। उसमे एक 'श्री अवन्तिसुकुमाल-मुनि-कथानक' (कथानक नं॰ १२६, पृ॰ २९७ आदि) है, जिसमे प्रस्तुत वृत्तान्त अति विस्तारपूर्वक २६० पद्यों मे कथित है। इस कथानक के अनुसार महात्मा की माता यशोभद्रा, उनका धर्मगुरु जिनसेन, और उज्जैन के *तत्कालीन राजा-रानी प्रद्योत और ज्योतिर्माला* हैं। अवन्तिसुकुमाल के घर की लक्ष्मी एवं अपूर्व वैभव का अति विस्तृत वर्णन दिया गया है। इसके अतिरिक्त, सव पात्रो के (स्यारनी और उसके वच्चों तक को न छोडकर) पूर्व जन्मों की शृखला भी वर्णित है। अन्त मे अवन्तिसुकुमाल के मृत्यु-स्थान के सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्य हैं:—

श्रीमदुज्जयिनीतोऽयं दक्षिणद्वारगोचरः। स्तोकमार्गमतिक्रम्य स प्रदेशो विराजते ॥२५६॥
अवंतीसुकुमालोऽयं यत्र कालगतो मुनिः। कापालिकैः प्रदेशोऽसौ रक्ष्यतेऽद्यापि पुण्यभाक् ॥२५७॥
तत्र कापालिकानां च दत्त्वा मूल्यं बहु स्फुटम्। पुण्यवुद्धचा दहन्त्येते मृतकानि महाजनाः ॥२५८॥
देवैर्गन्धोदके मुक्ते तस्मिन् काले गते मुनौ। सुगन्धीभूतसर्वाशा जाता गन्धवती नदी ॥२५९॥
तद्भार्याभिस्तरां तत्र कृते कलकले सति। बभूव लोकविख्यातो देवः कलकलेश्वरः ॥२६०॥

अर्थात्—"यह प्रदेश उज्जैन से (आनेवाले) मार्ग का थोड़ासा उल्लंघन करने पर दक्षिण दरवाजे के पास पाया जाता है ॥२५६॥

जहाँ मुनि अवन्तिसुकुमाल की मृत्यु हुई थी। इस पुण्यशाली प्रदेश की रक्षा आज तक कापालिकों से की जाती है ॥२५७॥

स्फुट रीति से कापालिकों को वहुत द्रव्य देकर महाजन लोग वहाँ पुण्य-बुद्धि से अपने शवों का दाह-संस्कार करते हैं ॥२५८॥

जव इस मुनि की मृत्यु हुई तव देवताओ ने सुगधित जल वरसाया। इससे सव दिशाओ को सुगंधित करती हुई गंधवती नदी उत्पन्न हुई ॥२५९॥

उनकी पत्नियों ने वहाँ 'कलकल', अर्थात् कोलाहल किया। इससे लोक-विख्यात कलकलेश्वर की उत्पत्ति हुई ॥२६०॥"

प्राचीन उज्जयिनी आधुनिक उज्जैन से कुछ दूर उत्तर की ओर लगभग उस स्थान पर विद्यमान थी जहाँ आजकल भैरवगढ और कालभैरव मन्दिर तथा आसपास के प्राचीन प्राकार के भग्नावशेष दिखते हैं। आधुनिक 'चौवीस खंभों' का प्रसिद्ध दरवाजा पुराने नगर का दक्षिण दरवाजा था, और वहाँ से ही वह मार्ग जाता होगा जिसका "थोड़ासा उल्लंघन करने पर" अवन्तिसुकुमाल का मृत्युस्थान पाया जाता था।

उस स्थान पर, 'चौवीस खंभों' के पास के 'कोटमुहल्ले' में ('गन्दे नाले' और महाकाल के बीच में), आज भी कापालिक साधुओ के 'जंगम' एवं 'चाकूकतिया' नाम से प्रसिद्ध गृहस्थ-लिंगी शिष्य-सन्तति की वस्ती है। वहाँ नया नगर वसाया जाने से विख्यात गंगागिर कापालिक ("औघड़") जोकि मृत-कलेवर-भक्षक स्थानीय कापालिक साधु-परम्परा के एक असली प्रतिनिधि थे, क्षिप्रा नदी के सामने के किनारे पर रहने लगे थे, जहाँ कि उनका देहान्त कुछ वर्षों के पहिले हुआ

---

* सिंधी जैनग्रंथमाला, वम्बई १९४३।

है, ऐसा अनेक उज्जन निवासियो को स्मरण है। इन बातो पर से श्री हरिषेण के उस कथन की सत्यता का अनुमान किया जा सकता है कि उक्त स्थान पर कापालिको का विशेष अधिकार था।

श्री हरिषेण द्वारा उल्लिखित कलकलेश्वर का मन्दिर भी उपर्युक्त स्थान के पास श्री के० वी० डागरे कृत 'श्री क्षेत्र अवन्तिका, नामक ग्रथ (ए० डी० प्रेस, ग्वालियर, प्रथम आवृत्ति, पृ० ५५) की सहायता से पटनी बाजार से मुडनेवाली एक सकरी गली में आए हुए 'मोदीजी के कुए' की उत्तर दिशा मे एक झोपडियो मे घिरे हुए बाडे में छिपा हुआ पाया जाता है। वह छोटा ही है, परन्तु उसके दरवाजे के परिकर के शिलापट्टो पर उत्कीर्ण दम्पती-मूर्त्तियाँ दर्शनीय है। वे अति प्राचीन कारीगरी के अवशेष और पुरातत्त्ववेत्ताओ के लक्ष्य योग्य ज्ञात होते है। इस मन्दिर का विवरण हिन्दू धर्म के दृष्टिकोण से 'स्कन्दपुराण' के अवन्ति-खण्ड (अध्याय १८) में कथित है।

श्री अवन्तिसुकुमाल के स्मारक मन्दिर का कोई भी उल्लेख श्री हरिषेण के प्रस्तुत ग्रथ मे नही पाया जाता है।

इस ग्रथ के साथ निकट सम्बन्ध रखनेवाले कतिपय अन्य दिगम्बरीय कथासग्रह-ग्रथो में भी श्री अवन्तिसुकुमाल का कथानक मिलता है, ऐसा श्री उपाध्ये की उपर्युक्त भूमिका (पृ० ७८ और ६३ आदि) में दिए हुए साधनो से ज्ञात होता है। उनमें निम्नलिखित ग्रथ हैं —

(१) श्री श्रीचन्द्र कृत अपभ्रश पद्य बद्ध 'कथाकोश' (रचनाकाल लगभग ईसवी की ग्यारहवी शताब्दी), कथा १४५।

(२) श्री प्रभाचन्द्र कृत सस्कृत गद्य-बद्ध 'कथाकोश' (वही रचनाकाल), कथानक ६३।

(३) प्राचीन कण्णडा गद्य-बद्ध 'वड्डाराधने' (ई० सन् ८९८ और १४०३ के बीच मे रचित), कथानक १, जिसमें 'भत्तपरिण्णा-पइण्ण' और 'भगवती आराधना' की पूर्वोल्लिखित प्राकृत गाथा भी पाई जाती है।

(४) श्री नेमिदत्त-ब्रह्मचारी कृत 'आराधना-कथाकोश' (रचनाकाल ईसा की सोलहवी शताब्दी का आरभ)।

श्री नेमिदत्त की कृति को छोडकर उक्त साहित्य अनुपलब्ध है।

श्री नेमिदत्त के ग्रथ (जैनमित्र कार्यालय, बम्बई, वीर स० २४४०।४२, पृ० २५६-२६९) के श्री सुकुमालमुने राख्यान' नामक ५७ वे कथानक में प्रस्तुत वृत्तान्त १४२ सस्कृत पद्यो में कथित है। उसके अनुसार मुनि का नाम सुकुमाल उनकी माता का यशोभद्रा और गुरू का गणधराचार्य है। शेष बहुधा श्री हरिषेण के विवेचन के साथ मिलता है। मृत्यु स्थान के सम्बन्ध में निम्नलिखित विवरण है —

> उज्जयिन्यां तदा देवमहाकोलाहल कृत । महाकाल कुतीर्थोऽभूज्जन्तूना तत्र नाशकृत ॥१४०॥
> गन्धतोयलसद्वृष्टि कृता देव सुभक्तित । तत्र गन्धवती नाम्नी नदी जातेति भूतले ॥१४१॥

अर्थात्—"उस समय देवो ने उज्जन में महा-कोलाहल किया। उस स्थान पर 'महाकाल' (नामक) जीवहिंसा का निमित्तभूत कुतीर्थ उत्पन्न हुआ॥१४०॥

भक्तिभाव से देवो ने सुगन्धित जल से सुन्दर वृष्टि कराई। वहाँ गन्धवती नामक नदी पृथिवी पर हुई॥१४१॥"

दुःख की बात है कि प्रस्तुत वृत्तान्त का न तो दिगम्बरीय और न श्वेताम्बरीय साहित्य ही अभी तक सम्पूर्णतया हस्तगत हो पाया है। इसमें कुछ महत्त्व के प्राचीन साधन जान पडते है, जैसेकि —

(१) भद्रेश्वर कृत 'कथावली', जो बारहवी शताब्दी में या उससे पहिले रची हुई है, और जिसका उपयोग मात्र कुछ अवतरणिकाओ पर से किया जा सका (देखिए 'अपभ्रश काव्यत्रयी', गायकवाड ओरियेण्टल सीरीज न ५७, श्रीयुत पडित एल० बी० गाधी की भूमिका पृ० ७४, नोट १, और 'सम्मतितर्क', पडित श्री सुखलालजी सघवी और बेचरदासजी की भूमिका पृ० १८ १९)।

(२) 'सुकुमाल-चरित्र' (देखिए श्रीयुत बनारसीदास जैन, पजाब जैन भडारो के हस्तलिखित ग्रथो की सूची, लाहौर, १९३९, पृ० १२२, न० ३००५)।

(३) 'सिद्धसेन-कथा' (देखिए पाटण के जैन-भंडारो के सूचीपत्र, भाग १, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं० ७६ पृ० २८)।

(४) प्राकृत-बद्ध 'सिद्धसेन-चरित' (वहाँ ही पृ० १९४)।

उन सब ग्रंथों की पूरी साक्षी नही दी जा सकी।

उपलब्ध साधनों के आधार पर कहा जा सकता है कि श्री अवन्तिसुकुमाल के एक स्मारक-मन्दिर के विद्यमान होने और उसमें से महाकाल मन्दिर के उत्पन्न होने के सम्बन्ध में जो कुछ उल्लेख मिलते हैं, वे कतिपय श्वेताम्बर ग्रंथो तक ही परिमित ज्ञात होते है। इसका कारण एक तो यह हो सकता है कि जिन ग्रंथो के आधार पर प्रस्तुत दिगम्बर ग्रंथ रचे हुऐ हैं, वे (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) आराधना-साहित्य की कृतियाँ थीं, जिनका उद्देश पूर्वोक्त श्वेताम्बर ग्रंथों की भाँति औपदेशिक या व्याख्याकारक नही, किन्तु साधुमरण आदि से सम्बन्ध रखनेवाले क्रियाकाण्ड के विषय मे दृष्टान्त-सहित सूचनाएँ ही देने का था। एक समाधिमरण विशेष के ऐसे एक दृष्टान्त ही के रूप मे वहाँ (पइण्णो मे जैसे) अवन्ति-सुकुमाल की मृत्यु मात्र के सक्षिप्त उल्लेख को स्थान दिया जा सका, नकि उसके पूरे विवरण को। इस कारण से श्री हरिषेण आदि दिगम्बर ग्रंथकारो को प्रस्तुत महात्मा के समाधि-मन्दिर के सम्बन्ध का कोई उल्लेख मूलग्रंथों मे नही मिला होगा।

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त ग्रंथकारों ने कदाचित् इस कारण से भी उसकी उपेक्षा की होगी कि सिद्धसेन दिवाकर (देखिए सन्मति-तर्क भूमिका पृ० १५९) एक श्वेताम्बराचार्य थे, और उक्त स्मारक मन्दिर की जो पार्श्वनाथ-प्रतिमा उनके प्रभाव से प्रादुर्भूत और पुनः प्रतिष्ठित हुई, वह एक महान् श्वेताम्वर तीर्थ का केन्द्र स्थान वन गई थी, जैसाकि आगे बताया जावेगा।

ऐसा भी हो सकता है कि उक्त मन्दिर कविकल्पनाशक्ति या लोकमनोगति की एक कृति थी, जिसको केवल श्वेताम्वर वृद्धपरम्परा मे ही स्थान मिल गया। अवन्तिसुकुमाल की कहानी के भिन्न भिन्न रूपों मे अनेक भिन्नताएँ इसी मनोगति के परिणामरूप विदित होती है। महामुनि की माता का नाम भद्रा, सुभद्रा और यशोभद्रा, उनके गुरू का नाम आर्य सुहस्ती गणधराचार्य और जिनसेन, उनके मन्दिर की वनानेवाली उनकी माता, उनका पिता और उनका पुत्र कथित है, इत्यादि उसके उदाहरण प्रत्यक्ष विद्यमान है। अत: उपर्युक्त शंका को भी यहाँ स्थान देना उचित है, परन्तु इसका निर्णय अब आगे अवन्तिसुकुमाल का वृत्तान्त सुननेवाले विक्रमादित्य की ओर तथा मूर्त्ति के प्रादुर्भाव के परिणाम की ओर कुछ ध्यान देने के पश्चात् किया जा सकेगा।

[४] **महाकालवन में कुडंगेश्वर जैन-तीर्थ**—जिस मूर्त्ति और उसके मन्दिर के इतिहास मे पूर्वोक्त प्रकरणो मे उतरना पडा, उसके प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में पूर्वोल्लिखित दिगम्वरीय स्तोत्रों, श्वेताम्बरीय सज्झायों और 'पुरातन-प्रवन्ध-संग्रह' मे सक्षिप्त उल्लेख मात्र है।

शेष ग्रथों मे विवरण के साथ उस चमत्कार के दो परिणाम कथित है। पहिला परिणाम यह है कि राजा विक्रमादित्य जैनधर्मानुरक्त अथवा जैन ही वन गए।

'प्रभावक-चरित' और 'सम्यक्त्व-सप्ततिका टीका' के अनुसार वे जैनधर्म मे प्रतिबोध पाकर जैनधर्मानुरक्त हुए।

'प्रवन्ध-चिन्तामणि', 'प्रवन्ध-कोश', शुभशीलकृत 'विक्रम-चरित्र', तपाचार्य-कृत 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र—टीका' और 'विविध-तीर्थ-कल्प' मे स्पष्ट कहा गया है कि श्रीविक्रमादित्य उस अवसर पर श्रावको के वारह व्रत अंगीकार कर जैन वन गए।

संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्य के श्रीसिद्धसेन दिवाकर के उपदेश से जैन वनने के सम्वन्ध मे श्वेताम्बरीय 'गुरु-पट्टावलियो' आदि सदृश ग्रंथो मे भी स्पष्ट उल्लेख पाए जाते है। इतना ही नही, सुतराँ श्रीविक्रमादित्य द्वारा श्री सिद्धसेन दिवाकर के उपदेश से कराए गए जैन तीर्थों के जीर्णोद्धार, यात्रा, मन्दिर एवं मूर्त्ति-प्रतिष्ठा आदि धार्मिक कार्यों के विस्तृत वर्णन श्री रत्नशेखर सूरि कृत विधिकौमुदी* (ई० सन् १४५०), और उसके पश्चात् 'अष्टाह्निका-व्याख्यान'†

* श्राद्धविधि (की इस नाम की टीका), श्रीजैन आत्मानंद ग्रंथरत्नमाला नं० ४८, वि० सं० १९७४, पृ० १६५।

† श्रीआत्मानन्द ग्रंथ रत्नमाला, पृ. ७।

(ई० सन् १८१४) आदि ग्रथो में भी मिलते ह, जिनमें श्री विक्रमादित्य एक आदर्श जन राजा के उदाहरण-रूप वर्णि है। श्री धमघोपसूरिकृत 'शत्रुञ्जय-लघु-कल्प'* (ईसा की तेरहवी शताब्दी) में विक्रम का नाम शत्रुञ्जय तीर्थ व जीर्णोद्धार करानेवाले महाविभूतिया की नामावली के अन्तगत ह। यथा —

सपइ विक्कम-वाहड-हाल-पल्ति-आम-दत्तरायाइ। ज उद्धरिहृति तय सिरि सत्तुञ्ज्य-महातित्थ ॥२९॥

अर्थात—"वह महातीथ शत्रुञ्जय (जयवन्त हो) जिसका जीर्णोद्धार करनेवाले सम्प्रति, विक्रम, वाहड, हाः पादलिप्त, आम, दत्तराजा (आदि हुए ह और) होगे ॥२९॥"

वहुशकित 'ज्योतिर्विदाभरण' (२२ ९) † में भी सवत्सर-प्रवतक विक्रमादित्य का सम्बन्ध श्री सिद्धसेन दिवाक के साथ उल्लिखित है, यदि मूल ग्रथ का 'श्रुतसेन' (टीकाकार श्री भावरत्न के मतानुमार) सचमुच सिद्धसेन का नामान्तर ह

प्रस्तुत अवसर पर इस जनहितपी या तो जन ही बने हुए विक्रमादित्य ने शिवलिंग से प्रादुर्भूत हुई प्रतिमा की पु प्रतिष्ठा कराई और इस मूर्ति की सेवा-पूजादि के लिए उदारतापूवक प्रबन्ध किया, वह पूर्वोक्त चमत्कार के दूस परिणाम-स्वरूप वर्णित ह। यथा —

(१) श्रीशुभशील-कृत 'विक्रमादित्यचरित्र' (७, ५५ ५६) के अनुसार —

महकालाभिधे चैत्ये बिंब पार्श्वजिनेशितु। भूपति स्थापयामास पूजायामास चादरात् ॥
देवपूजाकृते ग्रामसहस्रं नृपतिर्ददौ।

अर्थात्—"महकाल नाम के मन्दिर में राजा ने पार्श्वनाथ तीर्थंकर का बिम्ब स्थापित किया और आदर स उसक पूजा की। देवपूजा के लिए नृपति ने हजार ग्राम दिए।"

(२) 'प्रबन्ध-कोश' (पृ० १९) के अनुसार —

तच्छ्रवणान्नृप शासने ग्रामशतान्यदत्त देवाय।

अर्थात्—"यह सुनकर राजा ने शासन द्वारा देव को सैकडो ग्राम दिए।"

(३) 'उपदेश प्रासाद' (पृ० ६१) के अनुसार —

एवं निशम्य तत्पूजार्थं ग्रामशतान्यदत्त विक्रमार्कः।

अर्थात्—"ऐसा सुनकर विक्रमाक ने उसकी पूजा के लिए सकडो ग्राम दिए।"

(४) विशेष महत्त्वपूण श्री जिनप्रभ सूरि कृत 'विविध-तीर्थ-कल्प' (पृ० ८९) का निम्नलिखित उल्लेख जा पडता है —

ततश्च गोहृदमण्डले च सांबद्राप्रभृतिग्रामाणामेकनवर्ति, चित्रकूटमण्डले वसाडप्रभृतिग्रामाणा चतुरशीतिं, तथ घुटारसीप्रभृतिग्रामाणा चतुर्विशति, मोहडवासकमण्डले ईसरोडाप्रभृतिग्रामाणा षटपञ्चाशतं श्रीकुडुगेश्वर-ऋषभदेवा शासनेन स्वनि श्रेयसार्थमदात। तत शासनपट्टिका 'श्रीमदुज्जयिन्यां, सवत १, चैत्र सुदी १, गुरौ, भाटदेशीयमहाक्षपटलिक परमार्हतश्वेताम्बरोपासकब्राह्मणगौतमसुतकात्यायनेन राजाऽलेखयत।

अर्थात्—"तत्पश्चात् (राजा ने) अपने आत्म-कल्याण के लिए कुडुगेश्वर ऋषभदेव को शासन द्वारा गोहृद मडल में साबद्रा आदि ९१ ग्राम, चित्रकूट-मडल में वसाड आदि ८४ ग्राम तथा घुटारसी आदि २४ ग्राम और मोहडवासक मडल में ईसरोडा आदि ५६ ग्राम प्रदान किए।

पश्चात राजा ने शासनपट्टिका (ग्राण्ट) उज्जैन में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा सवत् १ गुरुवार को भाट देश निवासी महाक्षपटलिक (रेकोर्ड के अध्यक्ष) परम-श्रावक, श्वेताम्बर-मत के अनुयायी ब्राह्मण गौतम-पुत्र कात्यायन द्वारा लिखवाई।"

---

* श्री शत्रुजयादि महातीर्थादि यात्रा विचार, भावनगर, वि० स० १९८५, पृ० १९३-२०८।

† महाकवि कालिदास विरचित ज्योतिर्विदाभरणम् भावरत्नविरचित सुखबोधिकासमेतम्, प० नारायणशमण प्रकाशितं, मुबई, ई० सन् १९०८।

डॉ० शार्लोटे क्राउझे

उपर्युक्त स्थानों तथा प्रदेशो के नामों मे से चित्रकूट, वसाड और घुटारसी की कुछ चर्चा आगे की जायगी। गोन्हद कदाचित् गोध्रा और भाट देश जैसलमेर के आसपास का प्रदेश होगा (देखिए 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र', गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज १३, पृ० ९४ तथा टॉड, 'राजस्थान' १, पृ० ४२ और ९५), इतना ही अनुमान किया जा सकता है। तथापि इन और शेष नामों के सम्बन्ध में खोज की आवश्यकता है।

शासनपट्टिका लिखानेवाले राजा को "श्री विक्रमादित्यदेवः" कहा जाता है और उनका निम्नलिखित विशेषण दिया जाता है :—

सर्वत्रानृणीकृतविश्वविश्वम्भरांकितनिजैकवत्सरः।

अर्थात्—"जिसका एक ही निजी संवत्सर (चालू है जो) समस्त पृथ्वी को सर्वत्र ऋणरहित करने के कार्य से अंकित है।"

इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि श्री जिनप्रभ सूरि के मतानुसार 'संवत्सर प्रवर्तक' विक्रमादित्य ने, श्री सिद्धसेन दिवाकर द्वारा प्रतिबोधित होकर अपने निजी संवत् १ की चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन जैनधर्म अंगीकार किया और 'कुडुगेश्वर ऋषभदेव' को उक्त ग्राम अर्पित किए।

यह उल्लेख स्पष्ट और विस्तृत है। इसलिए पूर्वोक्त तीन उल्लेखो को और उनकी विशेषताओ को कुछ देर के लिए छोडकर सर्व प्रथम इसी चौथे उल्लेख पर ध्यान देना उचित है।

पहिले उसमें दिए हुए समयनिर्देश का निरीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि विक्रम संवत् १ की चैत्र शुक्ल प्रतिपदा का दिन गुरुवार कथित है। मेरी प्रेरणा से श्री आर० वी० वैद्य० एम्० ए०, बी० टी०, ज्योतिर्विद्यारत्न, सुपरिण्टेण्डेण्ट, श्री जीवाजी ऑब्जर्वेटरी, उज्जैन ने ज्योतिषशास्त्रानुसार गणित करने का कष्ट उठाकर इस बात का पता लगाया है कि विक्रम संवत् १ (अर्थात् ई० सन् ५६ बी० सी०) की चैत्र शुक्ल प्रतिपदा गुरुवार (अथवा शुक्रवार) हो सकती है, यदि संवत् का आरंभ कार्तिक से माना जाय। इस रीति से विक्रम संवत् का प्रारंभ कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से गिनना प्राचीन जैनप्रणाली के अनुकूल है। इसका प्रमाण 'तित्थोगालीय-पइण्णय' मे पाया जाता है (देखिए 'पट्टावली-समुच्चय', मुनि दर्शनविजय-संपादित, वीरमगाम, ई० सन् १९३३, १, परिशिष्ट ३, पृ० १९७), जिसके अनुसार वीर-निर्वाण-संवत्, जोकि कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा ही से प्रारम्भ होता है, और विक्रम-संवत् के बीच का अन्तर ठीक ४७० वर्ष है। आगे वीर-निर्वाण-संवत् और शालिवाहन-संवत् के बीच का अन्तर ६०५ वर्ष और ५ महीनो का कथित है। इसका तात्पर्य यह है कि 'तित्थोगालीय-पइण्णय' के संपादनकाल में अर्थात् ई० सन् की पाँचवी शताब्दी के पहिले, जैनकालगणना के अनुसार विक्रम-संवत् कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा ही से और शालिवाहन-संवत् आज की भाँति चैत्र शुक्ल प्रतिपदा ही से प्रारम्भ हुआ करता था। इस रीति से उपर्युक्त समयनिर्देश अबाधित है।

तथापि कुछ अन्य बातों से प्रस्तुत विवेचन की प्रामाणिकता मे शंका उत्पन्न होती है। उनमे 'चित्रकूटमंडल' का उल्लेख है। चित्रकूटमंडल मे वसाड और घुंटारसी गाँव कथित हैं। दोनों गाँव आज भी प्रतापगढ़ के पास विद्यमान होने से ज्ञात होता है कि प्रस्तुत चित्रकूट आज का चित्तौड़ ही हो सकता है। यह चित्तौड़ विक्रम सवत् ६०९ में बसाया गया और बसानेवाले चित्रांगद सोरिया से उसका नाम पडा (देखिए उपर्युल्लिखित 'पट्टावली-समुच्चय' १, पृ० २०२)। इससे उक्त चित्रकूटमंडल का विक्रम-संवत् १ मे विद्यमान होना अशक्य है।

सन्देह का एक दूसरा कारण 'श्वेताम्बर' शब्द है, जोकि प्रस्तुत तीर्थकल्प मे तीन बार, और विशेषतः उपर्युक्त शासनपट्टिका के लिखने को नियोजित अधिकारी के लिए प्रयुक्त है। वास्तव मे 'श्वेताम्बर' शब्द का प्रयोग साहित्य मे उस समय से हो सकता है जबकि जैन शासन दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो सम्प्रदायो में विभक्त हो चुका था, अर्थात् वीर-निर्वाण-संवत् ६०९ अथवा विक्रम-सवत् १३९ के पश्चात्। उससे विक्रम-सवत् १ मे श्वेताम्बरोपासको की विद्यमानता नही मानी जा सकती।

जैन साहित्य और महाकाल-मन्दिर

शका का एक तीसरा स्थान 'श्री कुडुगेश्वर ऋषभदेव' शब्द है, जिसका शासनपट्टिका में भी प्रयुक्त होना कथित है। ऊपर इस बात का निर्णय किया जा चुका है कि जो जिनबिम्ब अवन्तिसुकुमाल के स्मारक मन्दिर में स्थापित था वह, 'विविध-तीर्थ-कल्प' को छोड़कर सभी अन्य ग्रंथों के एकमुखी साम्य के अनुसार, श्री पार्श्वनाथ ही का था, और किसी लेखक के भ्रम से 'वामेय' का 'नाभेय' बना, जिस भ्रम के परिणामस्वरूप उक्त ग्रंथ में पार्श्वनाथ बिम्ब का स्थान ऋषभदेव के बिम्ब ने लिया था। यदि प्रस्तुत वर्णन प्रामाणिक होता तो उसमें 'कुडुगेश्वर ऋषभदेव' के स्थान पर 'कुडुगेश्वर पार्श्वनाथ' ही का उल्लेख होना चाहिए था, यह निर्विवाद है।

शासनपट्टिका को छोड़कर भी प्रस्तुत तीर्थकल्प के अन्य स्थानों पर शका के कारणों का अभाव नहीं है।

उनमें से एक यह है कि उसके एक पद्य में प्रस्तुत प्रतिमा को चारणमुनि श्री वज्रसेन के हाथ से प्रतिष्ठित बताया जाता है। यथा —

श्वेताम्बरेण चारणमुनिनाचार्येण वज्रसेनेन। शत्रावतारतीर्थे श्रीनाभेय प्रतिष्ठितो जीयात ॥१॥

अर्थात्—"शत्रावतार तीर्थ पर श्वेताम्बर चारणमुनि आचार्य वज्रसेन द्वारा प्रतिष्ठित श्री ऋषभदेव जयवन्त हो।"

श्री वज्रसेन सूरि एक प्रसिद्ध श्वेताम्बर आचार्य थे जिनका देहान्त वीर-निर्वाण-संवत् ६२०, अथवा विक्रम-संवत् १५० में माना जाता है।* अर्थात् यदि प्रस्तुत पद्य यहाँ अपने मूलस्थान पर समझा जाय तो वह उपर्युक्त शासनपट्टिका के समयनिर्देश से बाधित है।

परन्तु इसी वृत्तान्त के सम्बन्ध के एक अन्य पद्य में मूर्ति की प्रतिष्ठा श्री सिद्धसेन दिवाकर ही का कार्य बताया जाता है। यथा —

उदव्यूढपाराञ्चितसिद्धसेन दिवाकराचार्यकृतप्रतिष्ठ । श्रीमान् कुडुगेश्वरनाभिसूनुर्देव द्दियाद्वारतु जिनेश्वरो व ॥१॥

अर्थात्—"श्रीमान् कुडुगेश्वर ऋषभदेव जिनेश्वर जिनकी प्रतिष्ठा पाराञ्चित (नामक प्रायश्चित्त विशेष) उदवाहन करनेवाले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने की, तुम्हारा कल्याण करें ॥१॥"

इन दो उल्लेखों में यह अन्तर भी है कि दूसरे पद्य में दिया हुआ 'कुडुगेश्वर' नाम दूसरे में नहीं पाया जाता है। इसलिए ऐसा माना जा सकता है कि पहिला पद्य अन्य सम्बन्ध का होकर किसी लिखनेवाले की भूल से किसी अन्य ग्रंथ में से उद्धृत किया गया होगा। कदाचित् उस पद्य में उल्लिखित 'शत्रावतारतीर्थ' और उज्जैन से विशेष सम्बन्ध रखनेवाला 'वक्रतीर्थ' इन नामों के सादृश्य के आभास से ऐसा हो पाया होगा। ऐसी दशा में सिद्धसेन दिवाकर को ही उक्त मूर्ति के प्रतिष्ठाता मानने में कुछ आपत्ति नहीं है। इससे उपर्युक्त संशय का भी निराकरण होता है।

अधिक चिन्तनीय है आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर और 'संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्य' का समकालीन होना, जोकि प० सुखलालजी और बेचरदासजी ने 'सन्मतितर्क' की भूमिका में संदिग्ध ही नहीं, असंभव बताया है (देखिए उसका अंग्रेजी अनुवाद, श्री जैन श्वेताम्बर एज्युकेशन बोर्ड, ई० सन् १९३३)। उक्त विद्वानों ने सिद्धसेन आचार्य का गुप्त-काल में होना अनुमान किया है। यद्यपि दोनों की समकालीनता का समर्थन उपर्युल्लिखित और अन्य प्राचीन जैन ग्रंथों द्वारा निश्चित रीति से किया जाता है, जिनमें विशेषतः गुरुपट्टावलियाँ भी है,—तथापि उक्त पण्डितों के प्रमाण महत्त्वपूर्ण और उनका कथन यथार्थ ज्ञात होता है। अर्थात् यदि श्री सिद्धसेन दिवाकर ने वास्तव में किसी एक विक्रमादित्य राजा को धर्मोपदेश दिया है तो वह केवल विक्रमादित्य पदवी से विभूषित कोई गुप्तवंशीय राजा या सम्राट ही हो सकता है।

ऐसी वस्तुस्थिति में यह प्रश्न उठता है कि यदि इस रीति से श्री सिद्धसेन दिवाकर और संवत्सरप्रवर्तक विक्रमादित्य समकालीन हो नहीं थे, तो प्रस्तुत तीर्थकल्प के इतनी शकाओं से बाधित विवरणों में कितना ऐतिहासिक तत्त्व माना जा सकता है?

* देखिए खरतर-गच्छ-पट्टावली-संग्रह, संग्राहक श्रीजिनविजयजी, कलकत्ता, सं० १९८८, पृ० १८, तथा धर्मसागर-गणि विरचित श्री तपागच्छपट्टावली, पट्टावलीसमुच्चय, संपादक मुनि श्रीदर्शनविजय, वीरगाम, वि० सं० १९८९, पृ० ४८।

फिर भी उक्त कल्प के कर्त्ता निम्नलिखित शब्दों मे पाठको से विश्वास की माँग करते है कि :—

कुडुंगेश्वरनाभेयदेवस्यानल्पतेजसः। कल्पं जल्पामि लेशेन दृष्ट्वा शासनपट्टिकाम् ॥२॥

अर्थात्—"शासनपट्टिका को देखकर मै महान् तेजस्वी कुडुंगेश्वर नाभेयदेव के कल्प को संक्षेप मे कहूंगा ।।"

प्रस्तुत शब्द उस महान् जैनाचार्य श्री जिनप्रभ सूरि के है जिन्होने दिल्लीश्वर सुलतान मुहम्मद तुगलक को प्रतिबोध देकर जैनधर्म-हितैषी बनाया और उस बादशाह के हाथ से अहिंसाधर्म के अनेक कार्य कराए (देखिए पं० श्री लालचन्द्र गाधी, 'श्री जिनप्रभ सूरि अने सुलतान महम्मद', श्री सुखसागर–ज्ञानविन्दु नं० ३५, लोहावट, ई० सन् १९३९)। ऐसे महापुरुष के वचन की प्रामाणिकता मे सन्देह करना उचित कैसे समझा जा सकता है ? अतः यह बात अवश्य सत्य माननी पड़ेगी कि श्री जिनप्रभ सूरिजी ने उपर्युल्लिखित आशय की एक शासनपट्टिका (चाहे वह शिलालेख हो या ताम्रपत्र) देखी थी। परन्तु उन्होने उसके सम्बन्ध के शब्दो को स्मृति से लिखा और वृद्ध-परम्परा के मौखिक संस्मरणों के आधार पर बढ़ाया भी होगा। ऐसा मानने मे इस कारण से कुछ आपत्ति नही है कि प्रस्तुत कल्प के अन्तिम पद्य मे स्पष्टता से कहा गया है कि :—

कुडुंगेश्वरदेवस्य कल्पमेतं यथाश्रुतम्। रुचिरं रचयां चक्रुः श्रीजिनप्रभसूरयः ॥१॥

अर्थात्—"कुडुंगेश्वर देव का यह सुन्दर कल्प श्री जिनप्रभ सूरि ने जैसा सुना वैसा रचा ॥१॥"

इससे विदित है कि श्री जिनप्रभ सूरि ने प्रस्तुत तीर्थ को अति प्राचीन इतिहास की एक आदरणीय वस्तु समझकर और उसकी तत्कालीन विद्यमानता का प्रश्न छोडकर उसके सम्बन्ध मे प्रचलित किंवदन्तियों के संग्रह-रूप मे अपना कल्प रचा है। यह इससे भी स्पष्ट है कि उस समय मे विद्यमान जैनतीर्थ स्थानो की सूची मे (जैसाकि पहिले बताया जा चुका है) कुडुंगेश्वर तीर्थ का नाम नही है। ऐसी स्थिति मे यह समझा जा सकता है कि उपर्युक्त समयनिर्देश इत्यादि बाधित बाते ऐसी किंवदन्तियो के आधार पर प्रस्तुत 'तीर्थकल्प' में प्रविष्ट हो पाई होगी।

अथवा यह भी अशक्य नही है कि जो शासनपट्टिका श्री जिनप्रभ सूरि ने देखी वह विक्रम सवत् के उल्लेखो से अंकित पीछे के समय मे लिखे हुए नकली शिलालेख, ताम्रपत्र आदि मे से एक थी जो कभी कभी हस्तगत होते है।

फिर भी यह निर्विवाद है कि जिस कुडुंगेश्वर देव का अवलम्बन कर ऐसे आशय की एक जाली शासनपट्टिका बनाई जा सकी और जिसके सम्बन्ध मे वृद्ध-परम्परा के ऐसे सस्मरण प्रचलित हो सके उस कुडुंगेश्वर देव का नाम किसी समय में एक प्रसिद्ध वस्तु और उसका मन्दिर एक महिमा-संयुक्त जैन तीर्थस्थान अवश्य था।

इस बात का समर्थन 'प्रबन्धचिन्तामणि' के अन्तर्गत 'कुमारपाल-प्रबन्ध' (पृ० ७८) के एक वृत्तान्त से भी होता है। उसके अनुसार गुजरात के भावी राजा कुमारपाल वर्तमान राजा सिद्धराज के भय से भागते फिरते हुए मालव देश में 'कुडंगेश्वर' के मन्दिर मे आते है। उस कुडंगेश्वर के मन्दिर मे वे वहाँ की 'प्रशस्तिपट्टिका' में इस आशय का एक पद्य पढते है कि विक्रम से ११९९ वर्ष पश्चात् स्वयं कुमारपाल ही विक्रम के सदृश एक राजा होंगे।

उक्त पद्य अन्य अनेक ग्रंथो से भी ज्ञात है। मूल से उसमें श्री सिद्धसेन दिवाकर श्री विक्रमादित्य का सम्बोधन करते हुए कल्पित है।

'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' में (पृ० ३८ तथा १२३) भी कुमारपाल का यह वृत्तान्त कथित है। परन्तु वहाँ कुडंगेश्वर के स्थान पर 'कुण्डिगेश्वर' और 'कुण्डगेश्वर' ये ही विकृत रूप पाए जाते है और उपर्युक्त पद्य सिद्धसेन-कथित ही बताया जाता है।

कुडगेश्वर नाम के ये उल्लेख भी (उनके ऐतिहासिक मूल्य का प्रश्न छोडकर) कुडगेश्वर जैन तीर्थ की विद्यमानता की एक अस्पष्ट प्रतिध्वनि समझे जा सकते है।

[५] **कुडंगेश्वर महादेव**—उपर्युक्त प्रमाणो के अनुसार जिस कुडंगेश्वर महादेव के मन्दिर मे से यह कुडंगेश्वर जैनतीर्थ उत्पन्न हुआ, और जिस कुडंगेश्वर महादेव के नाम से 'कुडंगेश्वर ऋषभदेव' या हमारी कल्पना के अनुसार 'कुडगेश्वर पार्श्वनाथ' का नाम पडा, वह देव कौन था, यह ज्ञात हो जाने पर प्रस्तुत विषय पर कदाचित् प्रकाश पडेगा। ऐसी आशा से अब इस नाम का कुछ निरीक्षण करना उचित होगा।

जैन साहित्य और महाकाल मन्दिर

'कुडगेश्वर' या 'कुडुगेश्वर' एक संस्कृत समास है, जिसका पूर्व भाग ('कुडग' या 'कुडुग') 'अमरकोश' और अन्य संस्कृत कोशों में 'कुडग' रूप में पाया जाता है। अर्थात् वही रूप (न कि कुडुग) समीचीन है। 'कुडग' वास्तव में एक प्राकृत शब्द है जिसको श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपनी 'देशीनाममाला' में (२, ३७ एम्० बेनरजी द्वारा सम्पादित, कलकत्ता ई० सन् १९३१, भाग १, पृ० ७०) देशी शब्दों में गिना और उसका अर्थ 'लतागृह' बताया है। पाइयसद्दमहण्णवो-कोश के अनुसार 'कुडग' के विविध अर्थान्तरों का समावेश 'लता आदि से ढँका हुआ स्थान', 'जंगल', 'कुञ्ज' आदि में होता है। इसके अतिरिक्त प्राकृत में 'कुडगा' और 'कुडगी' भी विद्यमान हैं, जिनमें से 'कुडगा' का अर्थ 'लताविशेष' और 'कुडगी' का अर्थ 'बाँस की जाली' उक्त कोश में बताया जाता है। इन तीन शब्दों में से 'कुडग' शब्द ही का उपयोग उपर्युक्त समास में, और उसके अतिरिक्त, स्वतन्त्र रूप में भी श्री अवन्तिसुकुमाल के मरण-स्थान के वर्णन में किया गया है। यथा —

(१) 'बाहिं वंसकुडगे', अर्थात् 'बाहर बाँस के जाल में' ('मरणसमाहि-पइण्ण')।

(२) 'मसाणे कंथारकुडंग', अर्थात् 'श्मशान में कथारा (एक थोहर विशेष जिसको गुजराती में अभी भी 'कथारी' कहा जाता है) का जंगल' ('आवश्यकचूर्णि' और 'वृत्ति')।

(३) 'कंथारिकुडंगसमीवे', अर्थात् 'कथारा के जंगल के पास' ('दर्शनशुद्धि')।

(४) 'कथारकुडंगाख्य श्मशानमेत्य', अर्थात् 'कथारकुडंग नाम के श्मशान में जाकर' ('प्रबन्ध-कोश')।

इस चौथे उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि 'कथारकुडंग' उज्जैन के इस श्मशान का एक विशेष नाम था। वह स्थान प्राचीन काल में 'कथारा' से ढँका हुआ था, जिस पर से यह नाम पड़ने का अवसर प्राप्त हो सका था। ऐसे आशय के अन्य उल्लेख भी उपलब्ध हैं जैसे कि 'आवश्यक-कथाओं' का 'कथारिवन' और 'कुमारपालप्रतिबोध' का (अनुवादित) 'कथारीवन की वंसजाली'।

यह बात इससे भी सत्य प्रतीत होती है कि ऐसे 'कथार' नामक थोहर के गहरे जंगल कुछ वर्ष पहिले भी उज्जैन के आसपास फैले हुए थे, ऐसा उज्जैन निवासियों को स्मरण है। सम्भव है कि उक्त 'कथारवन' या 'कथारकुडंग' एक समय श्री अवन्तिसुकुमाल के समाधिस्थान, अर्थात् गंधवती घाट के आसपास के प्रदेश से उत्तर में 'सती दरवाजे' तक या उससे और भी दूर तक एकसा फैला हुआ था, और कदाचित् आधुनिक 'कठाल मुहल्ले' का नाम उसकी स्मृति का एक अवशेष हो।

इसी विशाल 'कथारवन' अथवा 'कथारकुडंग' में श्री अवन्तिसुकुमाल के समाधिस्थान पर इस महात्मा का स्मारक-मन्दिर बनाया गया था, ऐसा उपर्युल्लिखित साहित्य से विदित है।

उसी साहित्य से यह भी विदित है कि जिस समय श्री विक्रमादित्य और सिद्धसेन दिवाकर महाकालवन में आए, उस समय यह स्मारक-मन्दिर हिन्दुओं के अधिकार में आकर एक हिन्दू मन्दिर बन गया था, जिसमें 'कुडंगेश्वर महादेव' का लिंग स्थापित किया गया था।

इस 'कुडंगेश्वर' का सबसे प्राचीन उल्लेख 'मरणसमाहि-पइण्ण' में उपलब्ध है, जहाँ श्री अवन्तिसुकुमाल का मृत्युस्थान 'कुडंगीसरट्ठाण' प्राकृत शब्द से वर्णित है (देखिए पूर्वोक्त अवतरणिका)।

इसके पश्चात् उक्त नाम 'कथावली' में पाया जाता है, जहाँकि प्राकृत 'कुडंगेसर' साफ साफ उस हिन्दू मन्दिर के लिए प्रयुक्त है जहाँ श्री विक्रमादित्य और सिद्धसेन का मिलाप हुआ।

उसी मन्दिर के नामस्वरूप संस्कृत 'कुडंगेश्वर' उपर्युक्त 'विविध-तीर्थ-कल्प' की कुछ प्रतियों में, 'प्रभावक-चरित' में, और 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में, तथा 'कुडुंगेश्वर' 'विविध-तीर्थ-कल्प' की अन्य प्रतियों में उपलब्ध है।

इन ग्रंथों के अनुसार इसी कुडंगेश्वर महादेव के मन्दिर में अवन्तिसुकुमाल के समय की तीर्थंकर प्रतिमा निकली और 'कुडंगेश्वर नाभेय', या हमारी कल्पना के अनुसार 'वामेय', आदि नामों से फिर जैनियों से पूजित हुई, जैसाकि पहिले ब्योरेवार बताया जा चुका है। अस्तु।

उपर्युक्त कुल बातें जैनग्रंथों ही के आधार पर कथित हैं। यदि उनके लिए अन्य साहित्य के भी कुछ प्रमाण दिये जा सकेंगे तो उनकी प्रामाणिकता अधिक मान्य समझी जा सकेगी। यह विशेषतः कुडंगेश्वर महादेव के अस्तित्व के विषय में उचित है, जो एक राज-पूजित हिन्दू-देवता बताया जाता है। इसका पता हिन्दू साहित्य से लगाने का प्रयत्न अब किया जायगा।

डॉ० शालॉटे क्राउझे

[६] कुटुम्बेश्वर महादेव—'विविध-तीर्थ-कल्प'-अन्तर्गत और पहिले वारंवार उल्लिखित 'कुडुंगेश्वर-कल्प' में 'कुडुगेश्वर' शब्द छह बार आया है। मुनि श्री जिनविजयजी ने इस शब्द के केवल 'कुडुंगेश्वर' और 'कुडंगेश्वर' ये ही दो पाठान्तर दिए है। परन्तु 'अभिधानराजेन्द्र-कोश' मे ('कुडुवेसर' शब्द के नीचे) उक्त कल्प का जो रूप पाया जाता है उसमें उनके स्थान पर छह ही बार 'कुटुवेश्वर' यह पाठान्तर है। यद्यपि उक्त कोश के सम्पादक महाशय ने इस बात का स्पष्टीकरण नही किया है कि यह तीर्थकल्प कौनसी प्रति से उद्धृत किया गया है, तथापि अनुमान किया जा सकता है कि उनको ऐसी कोई प्रति हस्तगत हुई होगी जिसका उपयोग मुनिश्री अपने सम्पादनकार्य में न कर पाए होंगे।

उक्त तीन रूपों मे से 'कुडुगेश्वर' और 'कुडंगेश्वर' हिन्दू साहित्य मे अव तक सर्वथा अप्रसिद्ध हैं, जवकि 'कुटुवेश्वर' शब्द 'स्कन्दपुराण' के 'अवन्तिखण्ड' मे तीन भिन्न भिन्न स्थानों पर नीचे के अनुसार उल्लिखित हैं:—

(१) १.१०, पद्य १-१० (वेंकटेश्वर प्रेस एडिशन पृ० १४ व) :—वहाँ कुटुम्बेश्वर महादेव के दर्शन का फल बताया जाता है।

(२) १.६७, पद्य १-२५ (पृ० ७२ व) :—वहाँ भक्तों के 'कुटुंवी', अर्थात् वड़े-परिवार-युक्त हो जाने से 'कुटुंवेश्वर' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ (यौगिक अर्थ) वताया और कुटुंवेश्वर महादेव के मन्दिर का वर्णन किया जाता है। इसके अनुसार वहाँ एक चतुर्मुख लिंग, 'भद्रपीठवरा देवी भद्रकाली' अर्थात् 'सिहासन पर विराजमान भद्रकाली देवी', तथा एक पाँव से लँगड़े भैरव क्षेत्रपाल विद्यमान थे।

(३) २.१५, पद्य १-४१ (पृ० ९१ अ) :—वहाँ समुद्रमन्थन से लेकर उक्त लिंग का कल्पित इतिहास दिया जाकर ऐसी घटना का विस्तृत वर्णन है कि कामेश्वर लिंग से उत्पन्न हुआ कुटुवेश्वर लिग, आरंभ से एक विषलिंग और मृत्युदायक होकर महादेव के वरदान से और लकुलीश के उसमें अवतार लेने से वृद्धिकारक वन गया है।

कुटुवेश्वर महादेव का मन्दिर आज भी गन्धवती घाट के पास उज्जैन के उस भाग मे विद्यमान है, जो सिंहपुरी नाम से प्रसिद्ध है। वह शिखर-युक्त, परन्तु छोटा है, और उसका एक कमरा मात्र है। उसमे दरवाजे से लेकर सामने की दीवार तक एक पक्ति मे तीन लिंग स्थापित है, जिनमे से बीच का लिंग पुराण के वर्णन के अनुसार सचमुच चतुर्मुख है, अर्थात् उसे ही 'कुटुवेश्वर' समझना चाहिए। परन्तु पुराणोक्त 'भैरव क्षेत्रपाल' और 'भद्रपीठधरा भद्रकाली देवी' के नाम निशान तक नही दिखते हैं। दरवाजे के सामने की दीवार के पास गणपति के एक उभरे हुए चित्र से शोभित एक नीचा खभा और ऊपर झरोके मे चार हाथवाली खडी हुई पार्वती का एक उभार-चित्र है, जो केवल थोड़े वर्ष पहिले वनाया हुआ दिखता है। देवी के आगे के दोनो हाथो में लिग-योनि, पीछे के दाहिने हाथ मे एक सुराही और पीछे के वाएँ हाथ में एक त्रिल्व-पत्र है। बॉई दीवार के ऊपर के कोने मे एक साढ़े पॉच फुट ऊँचा और डेढ़ फुट चौडा शिलापट्ट जडा हुआ है, जिस पर उत्कीर्ण छोटी मूर्त्तियाॅ 'चौरासी महादेव' के नाम से पूजी जाती है।

पुराण-सम्पादनकाल से कुटुबेश्वर महादेव के परिवार मे इतना परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हुए भी उक्त महादेव का मृत्यु के साथ सम्बन्ध रखना अभी भी यहाँ तक माना जाता है कि किसी हिन्दू कुटुव में कोई अवसान होने के पश्चात् मृत के कुटुवजन शुद्धिकरण के लिए उनका दर्शन करने को आते है, ऐसा उज्जैन के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी और पुरातत्त्ववेत्ता श्री सूर्यनारायणजी व्यास महाशय से ज्ञात हुआ है।

इस 'कुटुवेश्वर महादेव' और जैनग्रंथो के 'कुडुगेश्वर महादेव' का सम्बन्ध निकालने का अधिकार केवल स्थान के साम्य और नामो के सादृश्य (विशेषत: प्राकृत मे 'कुडुगेसर'-'कुडुबेसर'), या उक्त प्रति के अनुसार नामाभेद ही पर निर्भर नही है। किन्तु दोनों का कुछ ऐतिहासिक सम्बन्ध होना ही चाहिए, इस अनुमान को उपर्युक्त 'चौरासी महादेव' के शिला-पट्ट से भी पुष्टि प्राप्त होती है। उस शिलापट्ट पर उत्कीर्ण मूर्त्तियों का निरीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि वे न तो चौरासी है और न महादेव ही की मूर्त्तियाँ है। ऊपर से नीचे तक गिनकर मूर्त्तियों की २० अथवा २१ पक्तियाँ है। शिलापट्ट का नीचे का किनारा इतना जीर्ण हो गया है कि सव से नीचे की पंक्ति के स्थान पर सचमुच मूर्त्तियों की एक पंक्ति अथवा कोई शिलालेख आदि विद्यमान था, इस बात का निर्णय नही किया जा सकता है। ऊपर की ९ तथा नीचे की ९ पक्तियों में (सबसे नीचे की सदिग्ध पक्ति को छोड़कर) ९-९ छोटी मूर्त्तियाँ विराजमान है। मध्यभाग की दो पंक्तियों में मात्र ३-२ मूर्त्तियाँ

हैं, जिनसे घेरी हुई एक बडी मूर्ति शिलापट्ट के केन्द्रस्थान पर विराजमान है। इस मूर्ति के सिर पर एक ५ या ७ फणवाले सर्प का आकार अस्पष्ट रीति से दिखता है। इस रीति से मूर्त्तियां की कुल सख्या १७५, अथवा यदि २१ पक्तियाँ समझी जाय तो १८४ ह। सब पद्मासनासीन और शिल्पशास्त्र के नियमानुसार सिद्ध या तीर्थंकरा की मूर्त्तियाँ ह। केन्द्रस्थ बडी मूर्त्ति सातवें तीथकर श्री सुपाश्व अथवा तेईसवे श्री पाश्वनाथ की हो सकती हैं।

इसी आकार के और ऐसी ही उत्कीर्ण मूर्त्तियां से सजाए हुए शिलापट्ट आज भी जन शिल्पकला की उस निर्मिति में देखे जा सकते हैं, जिसका एक उदाहरण 'सहस्रकूट' नाम से प्रसिद्ध ह। वह 'सहस्रकूट' शत्रुजय जन तीर्थ में 'पाँच पाडवा की देरी' के पिछवाडे के एक छोटे मन्दिर में विद्यमान ह (देखिए एस०एम० नवाव, 'भारत ना जन तीर्थो', अमदावाद, ई० सन् १९४२, पृ० ३३, चित्र न० ७० और नोट)। वह श्वेत सगमरमर की, वसही चार शिलापट्टा की एक निर्मिति ह, जिसका नोकदार शिखर इसी शली के छोटे शिलापट्टा से बनाया हुआ ह। उक्त सहस्रकूट पर उत्कीर्ण मूर्त्तियां की कुल सख्या (शिखर की मूर्त्तियां सहित) १०२८ है। सम्भव ह कि कुटुवेश्वर महादव के मन्दिर का शिलापट्ट वसे ही एक 'सहस्रकूट' के नीचे के भाग की चारा दीवारो मे मे एक है। उसकी बाह्य आकृति से यही अनुमान ठीक जँचता है।

फिर ऐसी निर्मिति का वहा क्या मूल प्रयाजन था और उसका आगमन श्री कुटुवेश्वर महादव के मन्दिर में कहाँ से और कसे हुआ, ये प्रश्न उठते हैं।

मूलत ऐसी शिल्प-कृतियाँ किस उद्देश्य से बनाई जाती थी, यह निश्चयपूवक नही कहा जा सकता। इतना ही स्पष्ट ह कि उनका आकार अवश्य तक्षशिला आदि के छोटे बौद्ध-स्तूपा का स्मरण कराता है। इसलिए वे भी कदाचित् आरम्भ म मुनि-महात्माओ के स्तूप, अर्थात् स्मारक विशेष थे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

यदि यह कल्पना मान्य हो और कुडगेश्वर महादव का सम्बध कुटुवेश्वर महादेव के साथ जोडा जाना उचित समझा जाय तो प्रस्तुत शिलापट्ट को श्री अवन्तिसुकुमाल मुनि के समाधिस्तूप का अवशेष मानने म क्या आपत्ति है, इस अनुमान का कुछ समथन शिलापट्ट की केन्द्रस्थ, फणयुक्त मूर्त्ति से होता है, यदि उस श्री पाश्वनाथ ही की समझी जाय, जिसका सम्बध उक्त स्मारक के साथ अनेक ग्रथा में कथित है (देखिए ऊपर की अवतरणिकाएँ)। तथापि उसके अतिरिक्त एक स्वतन्त्र पाश्वनाथ प्रतिमा भी उक्त स्मारक-स्तूप के पास स्थापित थी और स्तूप तथा प्रतिमा दोना एक भव्य मन्दिर में स्थित थे, ऐसा भी उक्त साहित्य से समझा जा सकता ह।

यह स्मारक मन्दिर श्री अवन्तिसुकुमाल की माता भद्रा या सुभद्रा, अथवा उस भद्रा या सुभद्रा के पौत्र के हाथ का (कही मुनि के पिता या पत्नियां के हाथ का भी) बनाया हुआ कथित ह जिनकी समृद्धि अपार थी। कदाचित् इन बनानेवालो ने प्राचीन जन स्थापत्य की प्रणाली और मथुरा के जन पुरातत्त्व के प्राचीन अवशेषों के उदाहरणा के अनुरूप अपना (या अवन्तिसुकुमाल के पुत्र ने अपनी पितामही का इत्यादि) कोई स्मारक-चिह्न प्रस्तुत मन्दिर में बनवाया हो। फिर ऐसा क्या नही माना जाय कि 'स्कन्दपुराण' के 'अवन्तिखण्ड' में उल्लिखित और एक समय में कुटुवेश्वर के मन्दिर में विद्यमान 'भद्रपीठवरा भद्रकाली दवी' का चित्र मूलत उक्त 'भद्रा' ही का स्मारक चिह्न था ? यह कल्पना इस कारण स कुछ सुसगत ह कि हिन्दुओ की 'भद्रकाली देवी' का रूप शिल्पशास्त्र के नियमानुसार विकराल ही है, और उनके लिए 'भद्र-पीठवरा' के विशेषण का प्रयोग देखने स आश्चय उत्पन्न होता है (देखिए हिन्दूशिल्पशास्त्र के सम्बध में श्री एस० श्रीकठ शास्त्री का निबन्ध क्वाटर्ली ऑफ दी मिथिक सोसायटी ३४, २ ३ में, पृ० १८३ आदि)। इसके अतिरिक्त, जिस स्थान पर १७५ (या १८८) तीर्थंकर प्रतिमाओ के '८४ महादेव' बन सके, उसी स्थान पर यह परिवतन भी सभाव्य समझा जा सकता है।

[७] मुनि-स्मारक-मन्दिर के इतिहास का सारांश—

पूर्वोक्त विवेचन से निम्नलिखित घटना-शृखला का अनुमान किया जा सकता ह —

ईसा के पूव किसी समय में गन्धवती के पास वतमान सिंहपुरी के अन्दर, श्री अवन्तिसुकुमाल मुनि का स्मारक-मन्दिर विद्यमान था, जिसमें मुनि का स्तूप और श्री पाश्वनाथ की एक प्रतिमा स्थापित थी। आसपास श्मशानभूमि और निजन जगल होने के कारण जनियां ने मूर्त्ति की पूजा-सेवा की उपेक्षा की। स्तूप खडित और मन्दिर उजाड पडा रहा।

उसमे (कदाचित् कुछ जीर्णोद्धार या अन्य परिवर्तन करते हुए) हिन्दुओ ने श्मशानो के अधिष्ठाता के उपलक्ष्य में एक लिंग स्थापित किया। तीर्थंकर-प्रतिमा लुप्त हो गई। मन्दिर हिन्दू-मन्दिर बना। स्थान के आधार पर उसको 'कुडंगीसर' या 'कुडंगेश्वर', अर्थात् 'गहरे जंगल का ईश्वर' यह नाम चल पडा। इस कुडंगेश्वर महादेव के मन्दिर मे किसी एक उदार विचारवाले, 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण करनेवाले गुप्त सम्राट् के समय और उपस्थिति मे श्री सिद्धसेन दिवाकर का आगमन और प्राचीन पार्श्वनाथ-प्रतिमा का प्रादुर्भाव--चाहे चमत्कारिक या प्राकृतिक रीति से--हुआ। उक्त प्रतिमा 'कुडंगेश्वर-पार्श्वनाथ' के नाम से पुन: प्रतिष्ठित होकर एक जैनतीर्थ का केन्द्र बनी, जिसकी उपासना के लिए राज्य की ओर से कुछ गाँव प्रदान किए गए।

पश्चात् उक्त मन्दिर फिर हिन्दुओं के हाथ मे आया। कुडंगेश्वर नाम उसके साथ जुड़ा हुआ तो था परन्तु उस नाम को व्युत्पत्त्यर्थ की दृष्टि से कल्पनाशक्ति के अधिक अनुकूल बनाने के उद्देश्य से, जिस न्याय से 'करण' का 'कर्ण', 'सिप्रि' की 'शिवपुरी', 'नाचिकेतस्' का 'नासकेत', 'तैलंग' का 'त्यक्तलंक' इत्यादि कृत्रिम रूपान्तर गढे गए, उसी न्याय के अनुसार वह रूप मिटाया जाकर 'कुटुम्बेश्वर' शब्द बनाया गया, जो पुराण मे (जैसा ऊपर बताया जा चुका है) प्रयुक्त होकर आज तक प्रचलित है।

इस मन्दिर की उत्पत्ति और प्रारम्भिक इतिहास का वृत्तान्त जैन साहित्य मे और मध्यकालीन स्थिति का वर्णन पुराण मे उपलब्ध रहा। फिर भी इतनी शताब्दियो के क्रम मे उसका नाश, जीर्णोद्धार, धर्म-परिवर्तन, और कदाचित् स्थानान्तर भी कितने बार और कब-कब हुए, इन रहस्यों की रक्षिका सिंहपुरी, गन्धवती घाट और महाकालेश्वर मन्दिर की सीमा के अन्तर्गत भूमि ही है, जहाँ कभी खोदने पर कदाचित् किसी दिन उस पर प्रकाश पडेगा।

मन्दिर का आधुनिक आकार पेशवा या सिंधिया काल से अधिक प्राचीन नही हो सकता। वह उसके छज्जे मे जड़े हुए एक शिलालेख से देखा जा सकता है, जो एक टूटी हुई इमारत का एक भग्नावशेष जान पड़ता है। इस शिलालेख के अनुसार वह इमारत संवत् १७८२ मे बनाई गई या उसका जीर्णोद्धार कराया गया था। इस इमारत के खंडित होने के पश्चात् कुटुंबेश्वर मन्दिर के अन्तिम जीर्णोद्धार के प्रसंग पर वह शिलालेख '८४ महादेव' के पूर्वोक्त शिलापट्ट के साथ खंडहरों में से निकाला जाकर दोनो वस्तुओ को अपने-अपने आधुनिक स्थान में जडाया गया होगा। उसी समय से उक्त शिलापट्ट उसी मन्दिर मे आतिथ्य भोगने लगा होगा, जिसके मूल-मन्दिर के केन्द्रस्थान मे वह एक बार महात्मा के स्तूप की एक दीवार था। कदाचित् स्तूप के शेष भाग और भद्रकाली या भद्रा श्राविका का चित्र भी किसी दिन इसी भाँति प्रादुर्भूत होकर दर्शन देगे।

[८] **मुनि-स्मारक और महाकाल**—मुनि-स्मारक-मन्दिर और उसमे से उत्पन्न हुए मन्दिरों के इतिहास की उपर्युक्त रूपरेखा के आधार मुख्य करके 'मरणसमाहि-पइण्ण', भद्रेश्वर-कृत 'कथावली' (परंतु वह केवल कुछ अंश से), प्रभाचन्द्र-कृत 'प्रभावक-चरित', और जिनप्रभ-सूरि-कृत 'विविध-तीर्थ-कल्प', इतने ही ग्रंथ है, जिनमे 'कुडंगेश्वर' नाम विविध रूप धारण करता हुआ, प्रस्तुत सम्बन्ध मे प्रयुक्त है।

वह नाम श्री हरिषेण-कृत 'बृहत्कथा-कोश' आदि दिगम्बर-ग्रंथो मे नही पाया जाता है। हरिषेण के एक पद्य (२४२) के अनुसार मुनि का समाधिस्थान 'महाकालवन' मे और एक दूसरे पद्य (२६०) के अनुसार उसी महाकालवन मे आई हुई 'गन्धवती नदी' और 'कलकलेश्वर मन्दिर' के पास, और श्रीनेमिदत्त के अनुसार 'गन्धवती' नदी और 'महाकाल' के पास था (देखिए ऊपर की अवतरणिकाएँ)। परन्तु वे सब स्थान 'कथारिकावन' मे विद्यमान होने से उपर्युक्त इतिहास इन उल्लेखो से बाधित नही होता है।

बाधा तो कुछ श्वेताम्बर ग्रंथकारों के इस आशय के कथन मे विदित होती है कि श्री अवन्तिसुकुमाल का स्मारक-मन्दिर हिन्दुओं से ग्रहण किए जाने के पश्चात् महाकाल ही का मन्दिर बना। ऐसे उल्लेख श्री जिनदास गणि महत्तर, श्री हरिभद्र सूरि, 'आवश्यक कथाओ' और 'दर्शन शुद्धि' के कर्ता, श्री हेमचन्द्राचार्य, श्री सोमप्राचार्य, श्री राजशेखर सूरि, श्री मेरुतुगाचार्य, श्री तपाचार्य, 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' के कर्ता, श्री शुभशील गणि, श्री विजयलक्ष्मी सूरि, और श्री संघतिलक सूरि की कृतियो मे से उद्धृत किए जा चुके है (ऊपर देखिए)।

इसके अतिरिक्त, यह भी विदित है कि उक्त ग्रन्थकारों को एक ही समान वृद्ध-परम्परा मान्य थी, जिसका प्रारंभ प्रस्तुत विषय की दृष्टि से श्री जिनदास गणि और श्री हरिभद्र सूरि का सामान्य आधार था।

दूसरी ओर, प्रस्तुत विषय उन ग्रंथकारों की दृष्टि से गौण और प्रसंगोपात्त ही था, जिसमें उन्होंने श्री जिनप्रभ सूरि की भांति, विशेष अन्वेषण करना आवश्यक ही नहीं समझा होगा।

यदि अति प्राचीन समय में—अर्थात् श्री जिनदास गणि और श्री हरिभद्र सूरि के पहिले—श्वेताम्बर-परम्परा के किसी लेखक या उपदेशक की भूल से 'महाकालवन का जैन-मन्दिर' 'महाकाल जैन-मन्दिर' में परिवर्तित हुआ, और इस भ्रान्त निर्देश से महाकाल मन्दिर के जैन मन्दिर में उत्पन्न होने की और भी भ्रान्त कल्पना उपस्थित हुई, जो परम्परागत इतने ग्रंथों में क्रमशः प्रविष्ट होती गई, तो यह बात आश्चर्यकारक नहीं है। यह इस कारण से स्वाभाविक ही समझी जा सकती है कि स्वधर्मपरायण प्राचीन श्वेताम्बर-वृद्ध-परम्परा ने, सूक्ष्म ऐतिहासिक खोज को अपना कर्त्तव्य नहीं समझकर, ऐसी भ्रान्तियों को शुद्ध करने की तरफ उदासीनता रक्खी है। इसके अतिरिक्त, खोज के साधनों के अभाव से भी व्यक्तिगत ग्रंथकारों को अपने अपने मूलग्रंथों पर बहुधा अन्धविश्वास रखना ही पड़ता था। इसके परिणाम-स्वरूप गुप्तकालीन सिद्धसेन दिवाकर द्वारा संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्य का प्रतिबोधित होना आदि विचित्र भ्रान्तियाँ भी अशोधित रहकर शताब्दियों के क्रम से जैन साहित्य के सर्वमान्य सिद्धान्त बन सकीं। ऐसी एक भ्रान्ति-स्वरूप श्री अवन्तिसुकुमाल के स्मारक-मन्दिर में से महाकालेश्वर-मन्दिर का उत्पन्न होना भी समझा जा सकता है।

साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि प्रस्तुत घटनाओं की रंगभूमि, प्राचीन उज्जयिनी, जैन धर्म का एक महिमायुक्त केन्द्रस्थान था। इतिहास-प्रसिद्ध जैन राजा सम्प्रति, जिनकी आज्ञा से कराई हुई जिन-प्रतिमाओं और जैन मन्दिरों की संख्या से आश्चर्य होता है, और कालकाचार्य द्वारा प्रतिबोधित जिनभक्त शक-राजा-मंडल (जो पश्चात् संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्य से पराजित बनाये गये हैं) उज्जैन ही में अपनी राजधानी रखते हुए राज्य करते थे। वहाँ ही 'आवश्यक चूर्णि' के अनुसार, उक्त अशोक-पौत्र सम्प्रति के समय में 'जीवित स्वामी' (अर्थात् किसी एक तीर्थङ्कर के समय में बनाई हुई उनकी एक प्रतिमा) का एक प्रसिद्ध मन्दिर विद्यमान था, जहाँ दर्शन करने को राजगुरु आर्य सुहस्ती आचार्य 'विहार कर' आए।

इस बात के पुरातत्त्व सम्बन्धी प्रमाण भी विद्यमान हैं। श्री पार्श्वनाथ की शासनदेवी पद्मावती की एक बड़ी, अति प्राचीन वाराणसी की सुन्दर मूर्ति गढ़ की कालिका देवी के मन्दिर में अभी भी विराजमान है। इस मूर्ति के आकार से अनुमान किया जा सकता है कि यह एक समय एक भव्य पार्श्वनाथ प्रतिमा के पास एक विशाल जिनालय में स्थापित हुई होगी, जिसकी पूजा-सेवा प्रतिदिन सैकड़ों श्रावक-श्राविकाएँ करती होंगी। प्राचीन जैन प्रभाव की एक अन्य निशानी वह भव्य, श्याम पाषाणमय पार्श्व प्रतिमा है जो कुछ समय के पहिले महाकालवन की भूमि में से निकली हुई, आज गन्धवती घाट के पास आए हुए श्वेताम्बर मन्दिर में 'अवन्ति पार्श्वनाथ' के नाम से पूजित है।

इन उदाहरणों से विदित है कि प्राचीन उज्जयिनी में जैनधर्म का स्थान इतना ऊँचा था कि उससे भी महाकालेश्वर मन्दिर की उत्पत्ति की उपर्युक्त कल्पना का उत्थान और इतनी शताब्दियों पर्यन्त प्रचलित रहने की शक्ति प्राप्त हो सकी।

प्रस्तुत निबन्ध पुस्तक अन्वेषण और मनन का फल है। उसमें पाठकों को जो कुछ नई बातें ज्ञात हों, वे आधार रहित नहीं हैं। तथापि कतिपय बातें अभी तक प्रत्यक्ष प्रमाणों से सिद्ध नहीं हुई हैं। यदि किसी दिन सिंहपुरी की भूमि में से कुडंगेश्वर जैन तीर्थ की श्री सिद्धसेन दिवाकर कृत प्रतिष्ठा का शिलालेख या श्री जिनप्रभ सूरि उल्लिखित शासन पट्टिका, अथवा श्री आदि महाकालेश्वर के स्थान पर उसके प्रारंभिक इतिहास का कोई शिलालेख आदि निकले, तो उपर्युक्त विवेचन की यथार्थता की कसौटी प्राप्त हो सकेगी। ऐसा अवसर शीघ्र उपलब्ध हो, यह इस रमणीय विषय के अन्वेषण में रस लेनेवाले प्रत्येक इतिहासज्ञ एवं पुरातत्त्ववेत्ता की अन्तःकरण से कामना होगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।*

---

* भारतीय संस्कृति के गाढ़ प्रेम से प्रेरित होकर मैंने विदेशी होते हुए भी यह निबन्ध हिन्दी ही में लिखा, अतः यदि इसमें कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो पाठक क्षमा करें, ऐसी प्रार्थना है। —लेखिका।

उज्जयिनी

श्री डॉ० हेमचन्द्र रायचौधुरी, एम्० ए०, पी-एच० डी०

जयनगरी* उज्जयिनी भारतीय इतिहास को गौरवमय वनानेवाले प्रभावशाली राजनीतिक एवं सांस्कृतिक केन्द्रों में से है। वनारस तथा मथुरा के समान शाश्वत नगरी होने का सम्मान इसे प्राप्त है और टाइवर नदी के तट पर स्थित प्रसिद्ध सप्त गिरीन्द्रो के नगर रोम से तथा सारोन की खाडी के समीपस्थ नील-लोहित-पुष्प-किरीट-शोभित नगर (City of the violet crown *i. e.*, Athens) से उसकी तुलना की जा सकती है। प्रद्योत एव वासवदत्ता, अशोक तथा मुंज, नवसाहसाक और भोज, सवाई जयसिंह तथा महादजी शिन्दे की स्मृतियो के प्रभा-मण्डल से उज्जयिनी दीप्तिमती है। सर्वाधिक यह उस विक्रमादित्य की राजधानी थी जिसे परम्परा उस सवत् से सम्वद्ध करती है जिसकी द्विसहस्राव्दी हम आज मना रहे हैं। इसी मे उन सभाओ का आयोजन हुआ था जिनमे कालिदास और अमर, भारवि एवं पद्मगुप्त ने कीर्ति प्राप्त की थी। भारतीयज्योतिर्विदो की प्रथम मध्याह्न रेखा (meridian) का यह स्थान थी। उज्जयिनी की अनेक प्रकारोंवाली संभ्रमकारी नामावली इस प्रकार है—अवन्तिका, पद्मावती, भोगवती, हिरण्यवती, कनकशृंग, कुशस्थली, कुमुद्वती, तथा प्रतिकल्पा†। इस सूची मे ल्यूअर्ड (Luard) द्वारा उल्लिखित नवतेरीनगर तथा

---

* उज्जितो दानवो यस्मात् त्रैलोक्ये स्थापितं यशः। तस्मात् सर्वैः सुरश्रेष्ठैर्ऋषिभिस्सनकादिभिः।।
कृतं नाम ह्यवन्त्या वा उज्जयिनी पापनाशिनी। अवन्ती च पुरा प्रोक्ता सर्वकामवरप्रदा।।
स्कन्द, आवन्त्य, ४३।५३-५४ तथा मिलाइए Badauni (Low) Vol. II, P. 43n.

† मेघदूत, १।३१; कथासरित्सागर, २ पृ० २७५ (Tawney का अनुवाद), स्कन्दपुराण, आवन्त्यखण्ड, प्रथम भाग, अध्याय ४०-४८, *P. H. A. I*, चौथा संस्करण, पृष्ठ ४६८।

शिवपुरी नाम और जुड जाते है। उज्जयिनी के ९ कोस चौडाई तथा १३ कोस लम्बाई के विस्तार से नवतेरीनगर नाम की उत्पत्ति मानी गई है*।

विक्रमादित्य की यह राजधानी सदा से भारत की सात पवित्र नगरियो में गिनी जाती है†—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिका ॥

इसकी पावनता को स्कन्दपुराण के आवन्त्यखण्ड में इस प्रकार स्वीकृत किया गया है‡ —

तस्माद्धितकरं क्षेत्र कुरुणा च सुरोत्तमा। तस्माद्दशगुणं मन्ये प्रयागतीर्थमुत्तमम् ॥

तस्माद्दशगुणा काशी काश्या दशगुणा गया। ततो दशगुणा प्रोक्ता कुशस्थली च पुण्यदा ॥

नगर के बाह्य प्रदेश में यहाँ महाकाल (शिव) और उनकी चिरसगिनी मगलचण्डी (दुर्गा का रूपविशेष) का प्रसिद्ध मन्दिर वर्तमान था। ये मगलचण्डी शाक्तसममतत्र में इस प्रकार उल्लिखित अवन्तिदेश की कालिका ही होगी —

उज्जयिन्या कूपरञ्च मागल्य कपिलाम्बर।

भैरव सिद्धिद साक्षाद्देवी मगलचडिका॥

अवन्तीसज्ञको देश कालिका तत्र तिष्ठति॥ शक्तिसगमतत्र॥६॥

उज्जयिनी चम्बल की सहायक नदी शिप्रा के पूर्वी तट पर (अक्षाश २३ ११ अश उत्तर, देशातर ७५ ५० अश पूर्व) समुद्रतल से १६९८ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। पुरातन नगरी वर्तमान उज्जैन से दो मील उत्तर की ओर थी। इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इसे "भूकम्प अथवा शिप्रा की असाधारण बाढ ने नष्ट कर दिया था। प्राचीन नगरी की भूमि पर प्राचीन नीवें आज भी दिखाई देती है और यहाँ "पुरातत्त्व की असम्य वस्तुएँ, रत्न, अक्ष, मुद्रा, आभूषण तथा सिक्के" प्राप्त हुए है। वर्तमान नगर आयताकार है और कभी गोल शिखरोंवाले प्रस्तर प्राकार से परिवेष्टित था, जिसका मालवा के सुल्तानो के द्वारा ईसवी १५वी शताब्दी में निर्मित होना बताया जाता है। किन्तु मालकम के समय में ही इस प्राचीर के अनेक भाग ध्वस्त हो रहे थे। १८१० ई० में राजधानी का स्थान-परिवर्तन ग्वालियर के समीप लश्कर को हो जाने के साथ ही प्रसिद्ध शिन्दे राजवश की राजधानी होने का इसका महत्त्व समाप्त हो गया। यह नगर अनेक विभागो में विभक्त है और ऐसे प्रत्येक विभाग का नाम उसके सस्थापक के अथवा उसमें निवास करनेवाले नागरिको की श्रेणी के नाम पर है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है जयसिंहपुरा—जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह द्वारा सस्थापित—जो १७३३ १७४३ तक मालवा सूबा के शासक थे, शिया मुसलमानो के एक विभाग बोहराओ के नाम पर बोहरावाखल तथा कोट या किला जो सम्भवत सस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध महाकालवन के स्थल का सकेत करता है। जयसिंहपुरा में वैज्ञानिक अध्ययन में तीव्र रुचिवाले जयपुर के सवाई महाराज द्वारा निर्मित सुविश्रुत वेध शाला है⁑।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, उज्जयिनी भारतवर्ष के प्राचीनतम नगरो में से है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि मत्रदृष्टा ऋषियो के काल में इसके प्राकार तथा कँगूरे वर्तमान थे, तथापि यह असदिग्ध सत्य है कि महाभारतकार महाकाल के प्रागण से तथा कोटितीर्थ (निश्चित रूप से उज्जयिनी का¶) से, जिसका उल्लेख वे नर्मदा, दक्षिणसिन्धु, चर्मण्वती तथा पश्चिमी भारत के अन्य तीर्थस्थलो के सम्बन्ध में करते है, परिचित थे।

महाकालं ततो गच्छेत् नियतो नियताशन। कोटितीर्थमुपस्पृश्य ह्यमेधफल लभेत ॥§

---

* Luard, *Gwalior State Gazetteer*, I, पृष्ठ २९९।

† C H I, पृष्ठ ५३१ टिप्पणी, *Memoirs of Jahangir* (Rogers) I, पृष्ठ ३५४।

‡ प्रथम भाग, Chap XLII, २३-२४।

‡‡ तुलना कीजिए शब्द-कल्पद्रुम (पीठ के अन्तर्गत), भारतचन्द्र, अन्नदामगल (ग्रथावली), पृष्ठ ९२, *Ind Culture* Vol VIII, p 39

⁑ Luard, *Gwalior State Gazetteer* Vol I, page 299f

¶ स्कन्दपुराण, आवन्त्य खण्ड, प्रथम भाग, अध्याय ७१, ९।

§ महाभारत ३, ८२, ४९।

श्री हेमचन्द्र रायचौधुरी

इसी तारतम्य में यह भी कहा जा सकता है कि कालिदास, बाण, अलबेरूनी तथा सोमदेव के ग्रंथों में उज्जयिनी के महाकाल के महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते हैं†।

रामायण अवन्ति से परिचित है, जो उज्जयिनी के समीप के प्रदेश का नाम ही नही है, वरन् स्वयं नगरी के नाम के रूप मे उल्लिखित है।‡

उज्जयिनी (प्राकृत––उज्जेनी) नाम के अन्य प्राचीन उल्लेखों के लिए पुरातन पालि सूत्रों की ओर अग्रसर होना होगा, जिनमे उज्जयिनी के महाकच्चान के जन्मस्थान के रूप में तथा बुद्ध एवं महावीर के समकालीन चण्डपज्जोत (चण्डप्रद्योत) की राजधानी के रूप मे उल्लेख है। गोदावरी के तट से गंगा की घाटी को जानेवाले मार्ग पर यह प्रधान स्थल था।⁑ प्रद्योत, उसकी सुता वासवदत्ता तथा वासवदत्ता के पति वत्सराज उदयन से सम्बन्धित कथाएँ भास, कालिदास, श्रीहर्ष एवं सोमदेव के पीछे के काल में भी सुविस्तृत प्रदेश में लोकप्रिय थी। भारतीय कविकुलगुरू ने उज्जयिनी के समीपवर्ती ग्रामो के वृद्ध जनों का 'उदयन कथा में सुप्रवीण' के रूप मे विशेष रूप से उल्लेख किया है। प्रद्योत के पुत्र पालक का मृच्छकटिक एवं जैन अनुश्रुति मे वर्णन प्राप्त होता है। ईसवी पूर्व चतुर्थ तथा तृतीय शताब्दी में अवन्ति के स्वतंत्र राज्य का अस्तित्व समाप्त हो गया था। अशोक के शासन लेख मे मौर्य सम्राट् के प्रतिनिधि-राजकुमार के स्थान के रूप में उज्जयिनी का उल्लेख प्राप्त होता है और इस तथ्य का साक्ष्य बौद्ध साहित्य में भी प्राप्त होता है। जैन ग्रन्थकर्ता अशोक पौत्र सम्प्रति की राजधानी के रूप में इस नगर का नाम लेते है। यह नाम पीछे से उजेनिहार प्रदेश को प्राप्त हुआ।⁂ ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में उज्जयिनी पश्चिमी भारत के शक शासकों तथा दक्षिण के सातवाहन सम्राटों के बीच युद्ध का कारण प्रतीत होती है। कुछ विद्वान् शकनिषूदन एवं वर वारनविक्रम चारुविक्रम उपाधिधारी एक सातवाहन विजेता को ईसवी पूर्व ५८-५७ मे संवत् प्रवर्तन करनेवाले शकारि विक्रमादित्य से अभिन्न मानने की सीमा तक चले जाते हैं। किन्तु अनुश्रुति के अनुसार उज्जैन के महान् विक्रम से सातवाहन अथवा शालिवाहन, जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी, स्पष्ट रूप से भिन्न था। पेरिप्लस ऑफ दि एरीथ्रियन सी (Periplus of the Erythrean Sea) का अज्ञात-नाम लेखक जो ईसवी प्रथम शताब्दी का एक यूनानी नाविक था, उज्जयिनी का उल्लेख 'ओजेनी' (Ozene) के रूप में करता है और उसे भूतपूर्व राजधानी कहता है। इसी स्थान से देश की समृद्धि के लिए आवश्यक तथा व्यापार की वस्तुएँ जैसे संगेशाह एव संगसुलेमानी, भारतीय मलमल आदि वस्त्र, प्रचुर मात्रा मे साधारण वस्त्र बरिगज (Barygaza भृगुकच्छ, भरोच) को आता है। इसी क्षेत्र तथा उत्तर प्रदेश मे होकर पोक्लेस (Poclais, वर्तमान पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त का चरसद्द) मे होकर आनेवाली जटामांसी प्राप्त होती है।

टालेमी (Ptolemy) के काल मे (ईसवी दूसरी शताब्दी) प्रसिद्ध रुद्रदामन के पितामह चष्टन के अधीन, जिसे उसने टियस्टनीज लिखा है, 'ओजेनी' ने राजधानीत्व का महत्त्व पुनः प्राप्त किया। इन शासकों से अपनी वंशानुक्रम माननेवाले राजाओं की परम्परा को गुप्तवंश के सुविश्रुत चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने (जिसे कृतज्ञ सन्तति ने शक-नृपति-निषूदन एवं उज्जयिनीपुरवराधीश्वर के रूप मे उद्घोषित किया) अन्तिम रूप से समाप्त कर दिया था।

वह महान् कवि, जिसे परम्परा विक्रम के सूर्य विक्रमादित्य के चतुर्दिक स्थित दीप्यमान नक्षत्रमाला में सर्वाधिक जाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप मे स्मरण करती है, अपने अमर मेघदूत-काव्य मे मेघदूत से उसकी प्रिय नगरी (उज्जयिनी) का दर्शन करने के लिए अपने मार्ग से किंचित् मुडने की प्रार्थना करता है।

---

† मेघदूत, १।३४-३७; रघुवंश, ६।३४; कादम्बरी (Ridding) पृष्ठ २१०, *Alberuni's India* (Sachau), I, 202. कथासरित्सागर, पेन्जर का संस्करण, भाग १०, पृष्ठ २१८।

‡ किष्किंधाकाण्ड, ४२, १४; स्कन्दपुराण, आवन्त्यखण्ड ४३।५४।
C. H. I. 1·531 n (अवन्तिका) आवन्तक रूप के लिए बृहत्संहिता १४।१२।

⁑ Malalsekera, *Dictionary of Pali Proper Names*, Vol. I, 344.

⁂ Luder's List, No. 268.

उज्जयिनी

महाराज हर्ष की राजसभा को सुशोभित करनेवाला एक अन्य महान् कवि 'कादम्बरी' में उज्जयिनी के सम्बन्ध में कहता है—"त्रिभुवन का उज्ज्वलतम रत्न, सतयुग की जन्मभूमि, महाकाल द्वारा मंजित, गम्भीर परिखा से आवेष्टित, रक्षा प्राकार से घिरी हुई दीर्घ पण्यवीथियों से सुशोभित एवं शिप्रा सरिता से परिवेष्टित" चित्रित प्रकोष्ठ, उज्ज्वल मन्दिर, भ्रमरावलि से श्यामवर्ण हुए कुंजें तथा गजदन्त के अट्ट "मालव ललनाओं के यौवन-माधुर्य-मत्त मुखमण्डलों" के समान ही नगर को सुशोभित करते थे। एक समकालीन चीनी यात्री ने नगर को वु-शे-येन-ना लिखा है और उसकी परिधि ३० ली (५ मील) बतलाई है। "उसके निवासी समृद्ध एवं सम्पन्न थे। उसमें कुछ दर्शक बौद्धमठ थे और उतनी ही संख्या देव-मन्दिरों की थी।" लगभग चार शताब्दी पश्चात् 'नवसाहसाकचरित' का लेखक इस नगर की तुलना देवताओं की राजधानी अमरावती से करता है और इसका सम्बन्ध श्रीविक्रमादित्य से बतलाता है।

अस्ति क्षितावुज्जयिनीति नाम्ना। पुरी विहायस्यमरावतीव।
बबन्ध यस्यां पदमिन्द्रकल्पः। श्रीविक्रमादित्य इति क्षितीशः॥

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पश्चात् इस नगर को जो राजनीतिक परिवर्तन देखना पड़े, उनका वर्णन यहाँ केवल संक्षिप्त रूप में ही हो सकता है। पंचम शताब्दी ने चन्द्रगुप्त के पौत्र एवं महेन्द्रादित्य के पुत्र स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य तथा म्लेच्छों—संभवतः हूणों—में चलनेवाला युद्ध देखा, जिसका उल्लेख जूनागढ़ के अभिलेख तथा कथासरित्सागर में है। इसके पश्चात् हमें मन्दसौर के यशोधर्मन की तथा सम्राट्-प्रतिनिधि नगम वंश की विजयों की सूचना प्राप्त होती है। ईसवी छठी शताब्दी के अन्तिम भाग में उज्जयिनी, आभोणा एवं सरसवणी के ताम्रपत्र-अभिलेखों के कटच्चुरियों के शासन में चली गई, जिनका उन्मूलन मंगक राजा ग्रहवर्मा प्रथम ने किया था।* हुएन्त्सांग के काल में वु-शे-येन-ना में एक ब्राह्मणवंश राज्य करता था। इसके पश्चात् 'राष्ट्रकूट' वंश के शासक हुए।† उनका अन्त सम्भवतः सिन्ध के शासक जुनैद (Junaid) के नेतृत्व में आक्रमण करनेवाली एक अरब सेना ने किया था, जिसने ईसवी आठवीं शताब्दी के प्रथम तथा द्वितीय दशकों में उजेन (Uzain) तथा पश्चिमी भारत के अन्य नगरों पर आक्रमण किये थे। तदनन्तर विक्रमादित्य की यह राजधानी 'मानकीर' (Manhir) के राष्ट्रकूट 'वल्हराओं' (Balharas) एवं जुज (Zurz, गुजरात तथा कन्नौज) के प्रतिहार राजाओं के महासम्मद का विषय बन गई। अनुश्रुति के अनुसार राष्ट्रकूट राजवंश के संस्थापक दन्तिदुर्ग ने उज्जयिनी में हिरण्यगर्भ उत्सव किया, जिसमें गुर्जर आदि नरेशों को द्वारपाल बनाया था। ईसवी सन् ७८३-८४ में अवन्ति के सिंहासन पर प्रतिहार सम्राट् वत्सराज ने अथवा उनके समकालीन किसी अन्य वत्सराज ने, जो दन्तिदुर्ग के चचेरे भाई ध्रुव का प्रतिस्पर्धी था, अधिकार कर लिया। वत्सराज के साम्राज्य स्वप्न राष्ट्रकूट शासक ने ध्वस्त कर दिए। किन्तु उसका पुत्र नागभट द्वितीय मालव पर, जिसके पश्चिमी भाग में उज्जयिनी सम्मिलित थी, आधिपत्य स्थापित करने में सफल हुआ। दक्षिण से शीघ्र ही उस पर एक नवीन आक्रमण हुआ और उसके नवनिर्मित साम्राज्य पर इससे तीव्र आघात पहुँचा। नागभट के पौत्र भोज आदिवराह पर सौभाग्य-लक्ष्मी अनुरक्त हुई और उसने प्रतिहार साम्राज्य की सीमा गिरनार पर्वतमाला तक पहुँचा दी। ऐसा प्रतीत होता है कि उज्जयिनी उसके उत्तराधिकारियों के आधिपत्य में ९४६ ईसवी तक रही जब उस प्रसिद्ध नगर में भोज के प्रपौत्र महेन्द्रपाल द्वितीय के 'तन्त्रपाल महासामन्त महादण्डनायक' माधव के नियुक्त रहने की सूचना प्राप्त होती है।

प्रतिहारों का स्थान शीघ्र ही परमारों ने ले लिया जो अकालवर्ष को, जिसे कृष्ण तृतीय मानने का लोभ उत्पन्न होता है, अपना पूर्व पुरुष मानते थे। इस सम्बन्ध में हर्ष सीयक के हरसोलवाले ताम्रपत्र का उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें एक कृष्णराज को परमारों का पूर्व पुरुष कहा गया है। इस वंश के प्रारंभिक शासक वाक्पति प्रथम का वर्णन "मालव-बालाओं के नयन सरोजों के लिए सूर्य" के रूप में किया गया है। वाक्पति द्वितीय ने, जो मुंज नाम से अधिक विख्यात है और जिसने सरस्वती को संरक्षण देने में विक्रमादित्य के अनुकरण का प्रयत्न किया, ऐसा प्रतीत होता है कि उज्जयिनी को राजधानीत्व का गौरव प्राप्त कराया। उसके भाई सिन्धुराज का विरुद 'नवसाहसाक', जिसका अर्थ नवीन विक्रमादित्य है,

* *P H A I*, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ५३५। † Tod *Rajasthan*, I, 618-19 (Calcutta Edition), Bhandarkar's *List of Inscriptions* No 16

यह सूचित करता है कि उसने भी विक्रम की प्रोज्वल परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया था। पद्मगुप्त तथा उदयपुर प्रशस्ति, गुप्तवंश के स्कन्द उनको विक्रमादित्य के समान उसे हूणों पर विजय प्राप्त करने का यश प्रदान करते हैं। सोढ्ढल विक्रमादित्य के पश्चात् विद्या के अत्यन्त मुक्तहस्त संरक्षक भोजदेव के साथ विक्रमादित्य, श्री हर्ष (कन्नौज का हर्ष शीलादित्य अथवा परमार सीयक) तथा मुंज के नाम जोड़ता है।*

बारहवीं शताब्दी में परमारों को उत्तर तथा पश्चिम के अपने समीपवर्ती शासकों से कठिन संग्राम लड़ने पड़े थे। अजमेर का चाहमान शासक अजयराज उज्जैन तक देश जीत लेने का दावा करता है। अनहिलवार के प्रसिद्ध राजा जयसिंह सिद्धराज ने नगर पर विजय प्राप्त करके 'अवन्तिनाथ' उपाधि धारण की। इसके पश्चात् बल्लाल नामक राजा हुआ जिसने अवन्ति, मालव एवं धार पर आधिपत्य स्थापित किया। उसका जयसिंह सिद्धराज के उत्तराधिकारी कुमारपाल के एक माण्डलिक ने वध कर दिया। इस पर शिप्रा के तटों पर चालुक्य शासन की पुनः स्थापना हुई। "महाकाल की नगरी" के परमारों के एक दानपत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि भाग्यचक्र में पुनः एक परिवर्तन हुआ और भोज के वंशजों ने एक बार फिर उज्जयिनी को प्राप्त किया। यह घटना ईसवी सन् १२१३ से पूर्व कभी हुई होगी।

उज्जैन में परमारों के शासन पर दिल्ली के सुल्तानों ने अन्तक आघात किया था। कुतबुद्दीन ऐबक, जब वह इतिहास प्रसिद्ध मुहम्मद गोरी का प्रतिनिधि ही था, उज्जैन के सीमान्त प्रदेशों तक विनाश करता चला गया था।† चालीस वर्ष पश्चात् कुतबुद्दीन के जँवाई और इलबरी शासकों में सबसे बड़े सुल्तान इल्तुतमिश (१२११-१२३६ ईसवी) का उज्जैन नगरी पर निर्दय आक्रमण हुआ। नगर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया और महाकाल का मन्दिर पूर्ण रूप से ध्वस्त किया गया था। सुलतान अपने साथ महाकाल की तथा पीतल की ढली हुई विक्रमादित्य आदि की मूर्त्तियाँ दिल्ली ले गया और उसने उन्हें जामा मसजिद के द्वार पर रखवा दिया। अलाउद्दीन खिलजी (१२९६–१३१६) के अधिकारी मलिक ऐन-उल-मुल्क ने उज्जैन तथा मालवा के अन्य प्रसिद्ध दुर्गों को बरबाद कर दिया।‡ ऐसा प्रतीत होता है कि इसके थोड़े समय पश्चात् ही विक्रमादित्य एवं नवसाहसाक की राजधानी दिल्ली के सुल्तानों के अधिकार में अन्तिम रूप से चली गई।

पन्द्रहवीं शताब्दी में मालवा के मुसलमान प्रान्तपति दिलावरखाँ गोरी ने अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर दिया। सुलतानों ने महमूद खिलजी प्रथम के अधीन सर्वाधिक शक्ति प्राप्त की और उसने गोरी शासकों का उन्मूलन कर दिया। उज्जयिनी का, जिसकी प्रतिस्पर्धा धारा से थी ही, इस समय तक महत्त्व समाप्त हो चुका था। मालवा में मुसलमान शासक का केन्द्र माण्डू—शादियाबाद में था लेकिन पुरानी राजधानी उज्जैन को, जिले का प्रधान कार्यालय होने से थोड़ी बहुत प्रतिष्ठा रह गई थी। उज्जैन के समीप कालियादेह पर सुल्तान नसीरुद्दीन खिलजी (१५००-१५१० ई०) ने बाग फीरोज में एक प्रासाद निर्मित कराया जिसकी जहाँगीर ने भी प्रशंसा की है।⁑ अन्तिम खिलजी सुलतान के शासनकाल में उज्जैन पर राजपूत अधिकारी सिलोहदी पूरबीय ने, जिसने दरबार में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था, अधिकार कर लिया। गुजरात के सुलतान बहादुर ने जिसने १५३१ ई० में मालवा हस्तगत कर लिया था, इस राजपूत अधिकारी का उज्जैन पर स्वत्व स्वीकृत किया। इसने अपने आपको विपरीत सिद्ध किया और उज्जैन का अधिकार दर्याखां मन्दोवाली को प्राप्त हुआ।⁂

मुगल सम्राटों के अभ्युदय की कहानी में उज्जयिनी का प्रमुख स्थान है। सुलतान बहादुर के विरुद्ध हुमायूं ने अभियान किया और ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपना केन्द्रीय कार्यालय इसी प्रसिद्ध नगर में स्थापित किया था।** उसने उस गुजरात के शासक को परास्त किया था और उसके पश्चात् उत्पन्न होनेवाली अव्यवस्था में मालवा के खिलजी सुल्तान के अधिकारी मल्लूखाँ ने उज्जैन नगर को घेर लिया तथा उसमें आश्रय लेनेवाले मुगलों के अधिकारियों को आत्म-समर्पण के लिए बाध्य किया।†† वह किसी प्रकार साम्राज्य-समर्थकों द्वारा भगा दिया गया। हुमायूं के आगरा लौट

---

* प्रियदर्शिका (नरीमॅन आदि द्वारा अनूदित) पृष्ठ XXXVII † तबकात-इ-नासिरी (Raverty) खण्ड १, पृष्ठ ५१७। ‡ Briggs, 1, 361 ⁑ तबकात-इ-अकबरी (दे) खण्ड ३, पृष्ठ ५६९; *Memoirs of Jahangir* (Rogers), खण्ड १, पृष्ठ ३५४। ⁂ तबकात-ए-अकबरी (दे), खण्ड ३, पृष्ठ ३५६ तथा ६१५-१६। ** अकबरनामा (Beveridge), खण्ड १, पृष्ठ ३०१। †† वही, पृष्ठ ३१८।

जाने पर मल्लूखाँ ने कादिरशाह उपाधि धारण करके अपने आपको सुल्तान घोषित कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि उज्जैन को उसने अपनी राजधानी बनाया। मालवा विजय के समय शेरशाह ने अपनी उपस्थिति से इस नगर को सुशोभित किया और इसे शुजाअतखाँ को प्रदान किया किन्तु इस्लामशाह ने उसका स्थान कुछ समय के लिए ईसाखा सूर को दिया। शुजाअतखाँ ने शासनाधिकार पुन प्राप्त होने पर नगर की शासन व्यवस्था के लिए अपने दत्तक पुत्र दौलतखाँ अजियाला को नियुक्त किया। शुजाअतखाँ के दूसरे पुत्र मियाँ बायाजीद ने, जो बाजबहादुर उपाधि के साथ सिंहासन पर बैठा था और अपने समय के उच्चकोटि के गायक के रूप में तथा सुन्दरी रूपमती का प्रेमी होने के लिए प्रसिद्ध था, दौलतखा का वध करके नगर पर अधिकार किया।* जब अकबर के अधिकारियों ने पुन मालवा पर विजय प्राप्त की, उज्जन पीरमुहम्मद को प्रदान की गई।† मालवा के सूबे में इसी नाम की सरकार का यह केन्द्रीय नगर बना दिया गया। हाकिन्स (Hawkins) (१६०८-१३ ई०) लिखता है—"उजम" (Ugam) मालवा का प्रधान नगर था और सर टॉमस रो (Thomas Roe) इस मत का समर्थन करता है। डीलेट (Delact, १६३१ ई०) तथा मडेल्स्लो (Mandelslo, १६३८ ईसवी) मालवा की राजधानी का नाम रन्तिपुर लिखते हैं। एक प्राचीन मानचित्र में इसकी स्थिति उज्जन के उत्तर में दिखाई गई है, किन्तु कुछ विद्वान् इसे जयपुर राज्यान्तगत रणथभोर मानते हैं।‡

सत्रहवीं शताब्दी के योरोपीय यात्रियो के वणन सूचित करते हैं कि उस काल में भी दक्षिण से गंगा के दोआब को जाने वाले मार्ग पर एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में उज्जन की स्थिति अक्षुण थी। राल्फ फिट्श (Ralf Fitch) लिखता है कि नगर में कपास, सूती वस्त्र का व्यापार समृद्ध था और वहाँ औषधियों का प्रचुर सग्रह था।‡ आइन-ए-अकबरी के अनुसार उज्जन की सरकार की राजस्व की आय ४३,८२७,९६० दाम थी। मनुक्की, जिसने राजकीय कागद-पत्र देखे थे, लिखता है कि 'उजेन' (Ugen) का प्रदेश केन्द्रीय राजकोष को दो कॅरोल (Carols) देता था।†

उज्जैन के समीप ही धरमत है जो उस नाटक के प्रथम दृश्य का प्रेक्षक था जिसका अन्त आलमगीर (१६५८-१७०७ ई०) द्वारा सिंहासन प्राप्त कर लेने पर हुआ था।

मालवा के मुगल प्रान्तपतियो में प्रसिद्ध राजपूत राजा सवाई जयसिंह था, जिसका सस्कृति के केन्द्र के रूप में उज्जन की कीर्ति के प्रति किया गया सत्प्रयास निरूपण की अपेक्षा नहीं करता।

अठारहवीं शताब्दी के लगभग मध्य में एक नवीन दृश्य का प्रादुर्भाव हुआ। पेशवा बाजीराव प्रथम (१७२०-१७४० ई०) की सेनाएँ मालवा में पहुँची। सन १७२६ ई० में उन्होंने अपने प्रतिनिधि रानोजी शिन्दे तथा मल्हारराव होल्कर को उस प्रान्त की चौथ तथा सरदेशमुखी ग्रहण करने का अधिकार दिया। आलीजाह शिन्दे राजवश के सस्थापक रानोजी (१७२६ ४५ ई०) ने महाकाल तथा विक्रम की प्राचीन नगरी में अपना केन्द्रीय कार्यालय स्थापित किया। उसके वश के राजा अहमदशाह अब्दाली से भारतवर्ष की रक्षा करने के लिए वीरता से लडे। इस राजवश के महत्तम शासक महादजी शिन्दे (१७६१ ९४ ई०) उच्च श्रेणी के राजनीतिक वचक्षण्य-युक्त एव श्रेष्ठ सामरिक प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति थे। उनके अधीन अन्तिम बार उज्जन एक विस्तृत राज्य की राजधानी बनी। महादजी के उत्तराधिकारी दौलतराव द्वारा राजधानी का स्थानान्तर लश्कर को होने के साथ ही "राजाओं की राज्यपीठ' की पदावनति प्रान्तीय नगर के रूप में हो गई। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि हम सुबन्धु के "सा रसवत्ता विहता" क्रन्दन की पुनरावृत्ति करें। उज्जयिनी के गर्भ में आज भी एक महान् भविष्य प्रसवोन्मुख है।

---

* मल्लूखाँ, शुजाअतखा तथा बाजबहादुर के लिए देखिए तबकात-इ-अकबरी (दे) खण्ड ३, पृष्ठ ६१७ ६२९।

† अकबरनामा (Beveridge), खण्ड २, पृष्ठ २१४।

‡ *Early Travels in India* (Foster), पृष्ठ १००, De Lact, *Empire of the Great Mogols* (Hoyland and Banerjee) पृष्ठ ९, Luard, *Gwalior Gaz* पृष्ठ ३०५।

‡ Foster, *Early Travels*, पृष्ठ १७, Luard, *Gwalior Gaz* खण्ड १, पृष्ठ ३०४।

† आइन-ए-अकबरी खण्ड २, पृष्ठ १९८, Catrou's edition of *Manucci* (बगवासी), पृष्ठ ३५८।
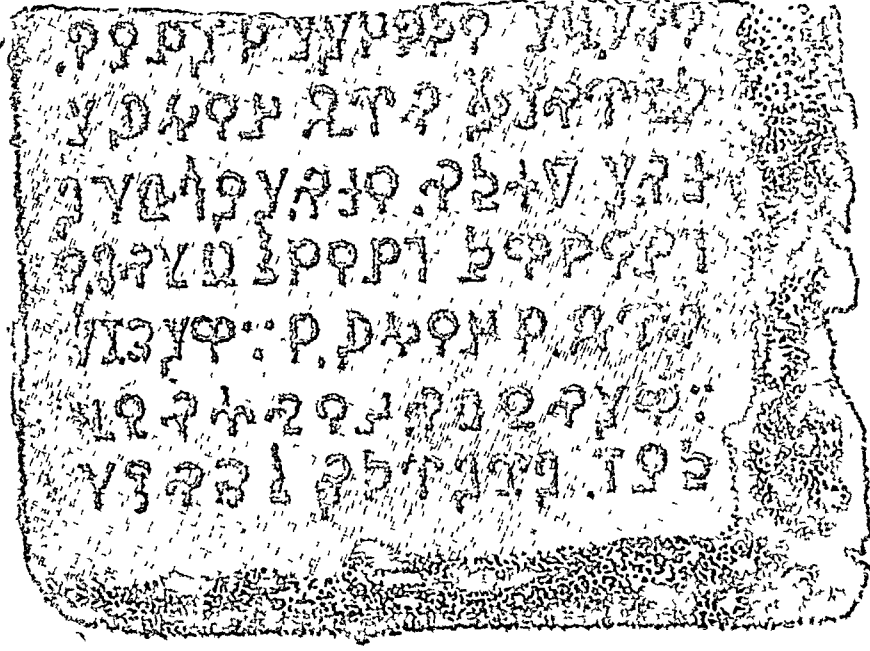
प्राचीन भारत में उज्जैन का स्थान

श्री वैजनाथ पुरी, एम० ए०, एल-एल० बी०

सम्राट् विक्रमादित्य की द्विसहस्राब्दिक जयन्ती मनाते समय, उनकी राजधानी उज्जैन पर साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रकाश डालना अति उपयुक्त होगा। क्षिप्रा नदी के दाहिने किनारे पर वसा हुआ उज्जैन आज भी अपनी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के लिए प्रसिद्ध है। इस प्राचीन नगर ने भारतीय इतिहास के लगभग २५०० वर्षों का उथल-पुथल अपने नेत्रो से देखा। कौशल-सम्राट् उदयन की सुन्दरी रानी वासवदत्ता ने यही अपने बाल्यकाल के स्वर्ण दिवस व्यतीत किये थे, अशोक ने अपने पिता विन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् यही से अपने को सम्राट् घोपित किया था, सम्राट् चष्टन की राजधानी के नाते व्यापार का यह प्रसिद्ध केन्द्र था और यही से होकर सार्थवाह भड़ौच और सोपारा के वन्दरगाह को जाते थे। यह वही स्थान है जहाँ सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर और वररुचि नामक नवरत्नो के साथ अपना दरबार करते थे। इस प्राचीन नगर का इतिहास पूर्ण रूप से सुरक्षित है और यहाँ यह कहना अपयुक्त न होगा कि यद्यपि प्राचीन काल के अन्य स्थान जैसे कौशल, तोशाली, सुवर्णगिरि उत्थान के पश्चात् पतन की ओर अग्रसर हुए, उज्जैन अब भी उसी नाम से भारत मे प्रसिद्ध है।

उज्जैन विशाला, पद्मावती, भोगवती तथा हिरण्यवती नामो से प्राचीन भारत मे प्रसिद्ध था। हिन्दुओ के सात विशाल तीर्थो मे यह एक तीर्थ था। धार्मिक मतानुसार यह नगर प्राचीन काल से विख्यात था। यही पर शिवजी की प्रथम पत्नी सती की कुहनी कटकर गिरी थी। इसी से इसका नाम पीकस्थान पड़ा। इस नगर की ऐतिहासिक महत्ता ईसवी पूर्व छठी शताब्दी से आरम्भ होती है। उस समय प्राचीन भारत मे सोलह जनपद अथवा राष्ट्र थे। इनमे से एक अवन्ति भी था जिसकी सीमा वर्त्तमान मालवा, निमाड़ तथा मध्य-प्रदेश मे स्थित कुछ स्थानो तक सीमित थी। डाक्टर भांडारकर के मतानुसार यह जनपद दो भागो मे विभाजित था—उत्तरी भाग की राजधानी उज्जैन थी; और दक्षिण भाग जिसे अवन्ति-दक्षिणापथ कहते थे, उसकी राजधानी माहिस्सती अथवा माहिष्मती थी, जिसकी समानता नर्मदा पर स्थित वर्त्तमान मानधात से की जाती है। उस समय अवन्ति के सिंहासन पर प्रद्योत नामक राजा राज्य करता था। उसके तीन पुत्र थे, जिनके नाम गोपालक, पालक और कुमारसेन थे। इसके अतिरिक्त उसके वासवदत्ता नामक एक कन्या भी थी जो बाद में कौशल-सम्राट् उदयन की प्रधान रानी हुई। प्रद्योत के चरित्र के विषय मे महाभाग* मे लिखा है कि वह क्रूर था किन्तु सच यह है कि उसने पास के राजाओ को अपने आधिपत्य मे कर लिया था। उसकी बढती हुई शक्ति के डर से मगध सम्राट् विम्वसार के पुत्र अजातशत्रु ने अपनी राजधानी राजगृह को सुरक्षित कर लिया था। इस बात का पता मज्झिम निकाय से चलता है। धम्मपद की टीका मे प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता और उदयन के विवाह का उल्लेख है और इसी आधार पर

* सैक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, जिल्द १७, पृष्ठ १८७।

प्राचीन भारत में उज्जैन का स्थान

दण्डिन ने भी अपनी वासवदत्ता लिखी। उज्जैन इसी अवन्ति-सम्राट प्रद्योत की राजधानी थी। ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व यह मगध साम्राज्य में चली गई और तभी से मौर्य्य सम्राट् की ओर से यहाँ एक राज्य-प्रतिनिधि रहने लगा। उज्जैन में एक प्रसिद्ध विहार था और बौद्धकाल में श्रावस्ती से पठन जाते समय उज्जैन विश्राम का स्थान था।*

ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व उज्जैन मौर्य्य साम्राज्य में चला गया। महावाधिवंश (पृष्ठ ९८) में लिखा है कि मौर्य्य साम्राज्य में उज्जैन अवन्ति प्रान्त की राजधानी थी और अशोक को उसके पिता बिन्दुसार ने यहाँ राज्य प्रतिनिधि बनाकर भेजा था। उज्जैन एक प्रसिद्ध नगर ही नहीं, किन्तु मौर्य्य साम्राज्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था, अशोक के कलिंग के लेख से यह पूर्णतया विदित है। धर्म प्रचार के लिए यहाँ से महामात्र भेजे जाते थे। महावाधिवंश (पृष्ठ ११६) के अनुसार सम्राट् अशोक अपने पिता के समय में उज्जैन में राज्य प्रतिनिधि था। यहीं उसने वेदिसा महादेवी से विवाह किया था। बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् यहीं से अशोक ने अपने सिंहासनारूढ होने की घोषणा की थी।

मौर्य्य साम्राज्य के अन्त के साथ ही साथ उज्जैन की प्रभुता भी घट गई, किन्तु क्षत्रप राजाओं के समय में चष्टन की यह राजधानी हो गई। टालेमी† के कथनानुसार ओजीन अथवा उज्जैन चष्टन की राजधानी थी। यह अभी प्राचीन प्रभुता थोड़े ही दिन तक रख सका था कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने चष्टन को हराकर इसपर अधिकार कर लिया। इस बात का पता गौतमी के नासिक के लेख‡ से लगता है। इसमें गौतमीपुत्र की राज्यसीमा में अवन्ति का भी उल्लेख है। सातवाहनों का अधिकार अधिक समय तक उज्जैन पर न रह सका। शीघ्र ही रुद्रदामन ने अवन्ति तथा अन्य प्रदेशों को फिर से अपने अधिकार में कर लिया जैसाकि आन्ध्र‡ और गिरनार‡ के लेखों से विदित है। यह लेख क्रमशः शक संवत् ५२ और ७८ के रुद्रदामन के समय के हैं। उज्जैन फिर क्षत्रपों की राजधानी हो गई। इस समय में इसने बड़ी उन्नति की। पेरीप्लस में लिखा है कि यह एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। सोपारा और भड़ौंच नामक बन्दरगाहों को यहीं से माल जाता था। यहाँ से मुख्यतया सुलेमानी पत्थर, मलमल तथा भाँति भाँति की मणि और रेशमी वस्त्र बाहर भेजे जाते थे। क्षत्रप राजाओं का अन्त चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किया और उस समय से यह गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित हो गया।

परम्परागत कथा प्रसिद्ध है कि यहाँ विक्रमादित्य अपने नवरत्नों के साथ राज्यसभा करता था। इन नवरत्नों में कालिदास का स्थान संस्कृत साहित्य में सबसे श्रेष्ठ और उच्च है। कालिदास के मेघदूत में जिस नगरी का मार्ग, कवि ने यक्ष द्वारा बतलाया है, उससे यह प्रतीत होता है कि उसका तात्पर्य उज्जयिनी से ही रहा होगा। कालिदास ने श्लोकों में उज्जयिनी का वर्णन किया है। इन श्लोकों में वहाँ की अपार सम्पत्ति, क्षिप्रा नदी सम्बन्धित कथाएँ, प्रसिद्ध महादेव का मन्दिर, सन्ध्याकाल की आरती तथा नृत्य और रात्रि में अभिसारिकाओं का प्रेम मिलन बड़े सुन्दर रूप से वर्णित है। इससे कालिदास का उज्जैन अथवा उज्जयिनी से सम्बन्ध प्रतीत होता है।

गुप्त सम्राटों के पश्चात् महाराज हर्ष के समय में भी यह एक प्रसिद्ध नगर रहा। उसका उल्लेख ह्वेनच्वांग* ने किया है। उसका कहना है कि यहाँ के लोगों की चाल-ढाल सुराष्ट्र के लोगों की जैसी थी। यहाँ के लोग धनी थे। यहाँ कोई ३०० बौद्ध पुरोहित थे जो हीनयान तथा महायान मतों के अनुयायी थे। यहाँ पर बहुत से मन्दिर भी थे जो भिन्न भिन्न मतों के थे।

उज्जैन भारत के बाहर भी प्रसिद्ध था, इसका पता एक चीनी पुस्तक से लगता है§। इसमें लिखा है कि ५४८ ई० में परमनि नामक एक उज्जैन निवासी को लायनवंश के सम्राट वू ने बुलाया था और वह चीन के दक्षिणी भाग में उतरा।

सम्राट् हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत में राज्य विप्लव हुआ। उज्जैन इस ठोकर को न सह सका। इसका परिणाम यह हुआ कि यह अपनी उन्नति के शिखर से गिर गया। यहाँ पहिले परमार राजाओं का आधिपत्य रहा किन्तु निकटवर्ती गुजरात के चालुक्य, चेदी के कलचुरी, बुन्देलखंड के चन्देल, और मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजाओं की सदैव इस पर नियत रही। परमारों के पश्चात् यहाँ तोमर राजपूतों का राज्य रहा, किन्तु इनके पश्चात् से उज्जैन का अधःपतन आरम्भ हुआ और यह देहली के मुसलमान बादशाहों के हाथ में चला गया।

इस प्रकार प्राचीन भारत में उज्जैन का उच्च स्थान रहा। ईसवी पूर्व छठी शताब्दी में प्रद्योत के समय से तोमर राजपूत राजाओं के समय तक यह उन्नति के शिखर पर रहा। कभी कभी यह विप्लवों की ठोकरों को न सह सका जिससे यह पतन की ओर अग्रसर हुआ, किन्तु समस्त हिन्दू राजाओं ने इसे अपनाया। आज भी सिन्धे राजवंश के छत्र के नीचे यह एक प्रफुल्लित और फलता फूलता नगर है। सम्राट् विक्रमादित्य की याद के लिए अब भी यही नगर बाकी है।

---

* रायस डेविड्स—बौद्ध भारत, पृष्ठ १०३। † प्राचीन भारत, पृष्ठ १४६। ‡ एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृष्ठ ६०। ‡ वही, जिल्द १६, पृष्ठ १९। ‡ वही, जिल्द ८, पृष्ठ ३६। * बील, जिल्द २, पृष्ठ २१०। § राधाकुमुद इण्डियनशिपिंग, पृष्ठ १६७।

संस्कृत साहित्य में उज्जयिनी

श्री गोपीकृष्ण द्विवेदी शास्त्री व्याकरणाचार्य

इस विशाल भारतवर्ष के इतिहास मे अवन्तीदेश अथवा मालव देश का स्थान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस देश की प्रधानतम एवं प्राचीनतम नगरी उज्जयिनी को अतीतकाल मे कई शताब्दियो तक राजधानी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसका वर्णन ऋग्वेद तथा महाभारत एवं पुराण और कालिदास आदि महाकवियो की रचनाओं में उपलब्ध होता है। इसी पुनीत पुरी मे भूतभावन भगवान् भवानीपति महाकालेश्वर विराजमान हैं।

गीता के उपदेश द्वारा संसारसागर मे जन्म-मरण के आवर्तों मे फँसकर नाना प्रकार के क्लेशों से पीडित होनेवाले प्राणियों को चिरशान्ति प्रदान करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने ज्येष्ठबन्धु बलराम के साथ विद्योपार्जन के लिए इसी उज्जयिनी में पूज्य गुरुवर सान्दीपनि महर्षि के पास उपस्थित हुए थे। यह वृत्तान्त श्रीमद्भागवत के निम्नलिखित पद्य से सुस्पष्टतया प्रतीत होता है :—

"अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः। काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम् ॥"

महाभारत के युद्ध मे उज्जैन के राजा विन्द और अनुविन्द दुर्योधन की सहायता करने के लिए सम्पूर्ण सेना समेत उपस्थित हुए थे। इस विषय मे महाभारतकार लिखते हैं :—

"आवन्त्यौ च महीपालौ सर्वसैन्यसमन्वितौ। बिन्दानुबिन्दौ" इत्यादि। —महाभारत, उद्योगपर्व।

संस्कृत साहित्य में उज्जयिनी

इसी प्रकार कविकुलगुरु कालिदास की अमृतमयी वाणी ने उज्जयिनी के गुणगान में अपना अपूर्व कौशल प्रदर्शित किया है। देखिये रघुवंश महाकाव्य के छठे सर्ग में स्वयंवर के अवसर पर इन्दुमती के सम्मुख आगन्तुक राजाओं का परिचय देती हुई सुचतुरा सुनन्दा उज्जयिनी-नाथ के साथ विवाह करने के लिये उससे आग्रह करती है—

"अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्य । आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ॥३२॥
अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि। कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि ॥३३॥
असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौले । तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान ॥३४॥
अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु! कच्चिन्मनसो रुचिस्ते। सिप्रातरंगानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥३५॥"
—(रघुवंश, षष्ठ सर्ग)

कालिदास के सुललित काव्य मेघदूत का नायक विरही यक्ष मेघ को उज्जयिनी मार्ग से जाने के लिये आग्रह करता है—

"वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां। सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मास्म भूरुज्जयिन्या ॥
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां। लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥२७॥" (पूर्वमेघ)
आकर्षण उत्पन्न करने के लिये उज्जयिनी के वैभव का सुविस्तृत रूप से वर्णन करता है—
"प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान। पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम् ॥
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां। शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम् ॥३०॥
दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां। प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ॥
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः। सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥३१॥
हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशः शङ्खशुक्तीः । शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान् ॥
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गान। संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥
प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे। हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः ॥
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा। दित्यागन्तून्रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥
पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः । शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात् ॥
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः । प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥

नागरिकों की विलासिता एवं ललनाओं की शृंगारप्रियता का सुन्दर चित्र अंकित करते हुए कविकुलगुरु ने कैसा उत्तम वर्णन किया है—

"जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपैः। बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः ॥
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथाः। लक्ष्मीं पश्यन् ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥ (पूर्वमेघ)

इसी प्रकार उज्जयिनी नगरी के अधिष्ठातृ देवता तथा "आकाशे तारकं लिंगं पाताले हाटकेश्वरम्। मृत्युलोके महाकालं दृष्ट्वा मोक्षमवाप्नुयात् ॥" इत्यादि धार्मिक वचनानुसार परमदर्शनीय भगवान् महाकालेश्वर के दर्शन के लिए मेघ से अनुरोध करते हुए काव्यनायक यक्ष ने कहा है—

"भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः। पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य ॥
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या । तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥
अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले। स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ॥
कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयां। मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥
पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतैः । रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ॥
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान् प्राप्य वर्षाग्रबिन्दून्। आमोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान कटाक्षान् ॥

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः। सांध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां। शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या।। (पूर्वमेघ)

इस प्रकार कवि श्रीमहाकालेश्वर की सेवा का उपदेश देकर अन्धकारमय रात्रि मे अपने प्रियतम के निकट जाती हुई अभिसारिकाओं को सहायता करने का परामर्श देता है—

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं। रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।।
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वी। तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः।। (पूर्वमेघ)

महाकवि भास–जो कालिदास के पूर्ववर्ती गिने जाते हैं–ने अपने सुप्रसिद्ध एवं लोकप्रिय वासवदत्ता एवं उदयन के अद्भुत चरित्र से भूषित स्वप्नवासवदत्त नामक नाटक मे कई स्थानों पर उज्जयिनी का उल्लेख किया है :—

(१) पद्मावती—अत्थि उज्जइणीओ राआ पज्जोदोणाम। तस्स बलपरिमाणणिव्वुत्तं णामधेअं महासेणोत्ति। (अस्ति उज्जयिनीयो राजा प्रद्योतो नाम। तस्य बलपरिणामनिर्वृत्तं नामधेयं महासेन इति)

(२) हलाएवं उज्जइणीओ जणो मन्तेदि (हला एवं उज्जयिनीयो जनो मन्त्रयते।)–स्वप्नवासवदत्त, द्वितीयांक।

इसी प्रकार राजा उदयन उसी नाटक चतुर्थांक मे विदूषक से कहता है :—

कामेनोज्जयिनीं गते मयि तदा कामप्यवस्थां गते। दृष्ट्वा स्वैरमवन्तिराजतनयां पञ्चेषवः पातिताः।।
तैरद्यापि सशल्यमेव हृदयं भूयश्च विद्धा वयं। पञ्चेषुर्मदनो यदा कथमयं षष्ठः शरः पातितः।।

—स्वप्नवासवदत्त, चतुर्थांक।

पञ्चमांक मे भी कहानी सुनाते हुए विदूषक ने राजा से कहा है :—

अत्थि णअरी उज्जइणी णाम। तंहि अहिअरमणीआणि उदआण्हाणाणि वत्तन्ति किल (अस्ति नगरी उज्जयिनी नाम। तत्र अधिकरमणीयान्युदकस्नानानि वर्तन्ते किल)

उपर्युक्त स्थानो पर महाकवि भास ने उज्जयिनी का उल्लेख किया है।

इसी प्रकार महाकवि गुणाढ्यरचित बृहत्कथा के अनुवादरूप कथासरित्सागर के कथानकों मे भी इस पुण्यपुरी उज्जयिनी का उल्लेख कई जगह उपलब्ध होता है :—

(१) सोऽपि चण्डमहासेन उज्जयिन्यामचिन्तयत्।। —कथासरित्सागर-कथामुखलम्बक, द्वितीय तरंग।

(२) उज्जयिन्यां स्मशाने यत् श्रृणु तत्कथयामि ते —कथासरित्सागर कथापीठलम्बक, द्वितीय तरंग।

(३) अत्स्त्यवन्तीषु विख्याता युगादौ विश्वकर्मणा। निर्मितोज्जयिनी नाम पुरारिवसतिः पुरा।।

—कथासरित्सागर विषमशीललंबक, द्वितीय तरंग।

महाकवि शूद्रक के सुललित मृच्छकटिक नामक प्रकरण का नायक चारुदत्त तथा उसकी प्रियतमा वसन्तसेना इसी उज्जयिनी की शोभा को वृद्धिगत करते थे :—

अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्तः। गुणानुरक्ता गणिका च तस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना।।

—मृच्छकटिक प्रस्तावना।

दशकुमारचरित के नायक राजहंस का प्रतिपक्षी अर्थात् कथा का प्रतिनायक मानसार उज्जयिनी का शासक था :—

(१) मानी मानसारो मालवाधीश्वरो वार्धकस्य प्रवलतया निजनन्दनं दर्पसारमुज्जयिन्यामभ्यषिञ्चत्।।

—दशकुमारचरित पूर्वपीठिका, चतुर्थोच्छ्वास।

संस्कृत साहित्य में उज्जयिनी

(२) प्राप्य चोज्जयिनीं तदेव सहायभूतस्त कुमार परिवृतेन राज्याहनेनातिबल्वानपि मालवेशो मानसार क्षणेन पराजिग्ये हतश्च।

—दशकुमारचरित उत्तरपीठिका।

काश्मीर शासकों के परम प्रामाणिक इतिहासग्रन्थ महाकवि कल्हणनिर्मित राजतरंगिणी में भी उज्जयिनी का उल्लेख उपलब्ध होता है —

तत्रानेहस्युज्जयिन्या श्रीमान् हर्षापराभिध । एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत ॥

—राजतरंगिणी, तृतीय तरंग।

महाकवि परिमल ने भी स्वरचित नवसाहसांकचरित नामक काव्य के प्रारम्भ में—

अस्ति क्षितावुज्जयिनीतिनामा पुरी विहायस्यमरावतीव। बबन्ध यस्या पदमिन्द्रकल्प श्री विक्रमादित्य इति क्षितीश॥
इस पद्य से लेकर—

कृतावधानातिशयेन मन्ये या वेधसा मध्यमलोकरत्नम्। स्वशिल्पविज्ञानपरप्रकर्षप्रकाशनायात्र विनिर्मितेन ॥

इस पद्य तक ८० श्लोकों के द्वारा उज्जयिनी का वर्णन किया है। इसी प्रकार महाकवि श्रीहर्ष ने अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य नैषधीयचरित में दमयन्ती के साथ परिणयन की आशा से स्वयंवर मण्डप में अपने अपने मंचो पर विराजमान हुए राजाओं का परिचय कराती हुई सरस्वती के द्वारा उज्जयिनी का वर्णन करवाया है —

प्रत्यर्थियौवतवतसतमालमालोन्मीलत्तम प्रकरतस्करशौर्यसूर्ये। अस्मिन्नवन्तिनृपतौ गुणसन्ततांग विश्रान्तिधामनि मनो दमयन्ति किं ते ॥८८॥

तत्रान्तरीरवनवासितपस्विविप्रा शिप्रा तवोर्मिभुजया जलकेलिकाले। आलिंगनानि ददती भविता वयस्या हास्यानुबन्धिरमणीयसरोरुहास्या ॥८९॥

अस्याधिशय्य पुरमुज्जयिनीं भवानी जागर्ति या सुभगयौवतमौलिमाला। पत्याधकायघटनाय मृगाक्षि तस्या शिष्या भविष्यसि चिरं वरिवस्ययापि ॥९०॥

निर्दग्धमकुरिततां रतिवल्लभस्य देव स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन। तत्रावलोक्य सुदृशा हृदयेषु रुद्रस्तद्देहदाहफलमाह स किं न विद्म ॥९१॥

आगच्छतां विदधतोऽपि समिद्धकामा नाधीयते परुषमक्षरमस्य वामा। चान्द्री न तत्र हरमौलिनिवासलुब्धा कानध्यायहेतुतिथिकेतुरपति रेखा ॥९२॥

महाकवि कृष्णानन्दकृत सहृदयानन्द महाकाव्य में दमयन्ती को मार्ग प्रदर्शन कराते हुए नल ने उसे उज्जयिनी का परिचय कराया है—

पुरश्चकोराक्षि विलोकय त्वं य एव दीर्घ सरलश्च पन्था। शिप्रातरंग परिरभ्यमाणा पुण्यामवन्तीमयमभ्युपैति ॥
तस्या महाकालकृतास्पदस्य देहार्धता शूलभृत प्रपन्नाम्। आराध्य गौरीं व्रज दक्षिणाशा दिदृक्षसे चेद् गिरिमृक्षवन्तम् ॥

वाराहपुराण में अवन्तिका (उज्जयिनी) को मणिपूरचक्र (शरीर का नाभिदेश) कहा गया है। और उस प्रदेश के अधिष्ठातृदेवता श्रीमहाकालेश्वर माने गये हैं—

आज्ञाचक्रं स्मृता काशी या बाला श्रुतिमूर्धनि।
स्वाधिष्ठानं स्मृता काञ्ची मणिपूरमवन्तिका॥
नाभिदेशे महाकालस्तन्नाम्ना तत्र च हर ।

श्री गोपीकृष्ण शास्त्री व्याकरणाचार्य

माधवकृत शंकरदिग्विजय के पन्द्रहवें सर्ग मे श्रीशंकराचार्य के द्वारा शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर आदि सम्प्रदाय-वादियों को अद्वैत-सिद्धान्त के अनुयायी बनाने के पश्चात् आचार्यप्रवर की उज्जयिनी-यात्रा का वर्णन किया गया है :—

इति वैष्णवशैवशाक्तसौरप्रमुखानात्मवशंवदान् विधाय ।
अतिवेलवचोझरीनिरस्तप्रतिवाद्युज्जयिनीं पुरीमयासीत् ॥
मकरध्वजविद्विडाप्तिविद्वान् श्रमहृत्पुष्पसुगन्धवन्मरुद्भिः ।
अगरूद्भवधूपधूपिताशं स महाकालनिवेशनं विवेश ॥ —शंकरदिग्विजय, १५ सर्ग ।

कादम्बरी एवं हर्षचरित के रचयिता महाकवि बाण ने कादम्बरी के पूर्वार्ध मे कथानायक चन्द्रापीड़ की जन्मभूमि उज्जयिनी का अत्यन्त रुचिर एवं विशद वर्णन किया है :—

अस्ति सकलत्रिभुवनललामभूता प्रसवभूमिरिव कृतयुगस्यात्मनिवासोचिता भगवता महाकालाभिधानेन भुवनत्रयसर्गस्थितिसंहारकारिणा प्रमथनाथेन.. अवन्तीषूज्जयिनी नाम नगरी । –कादम्बरी पूर्वार्ध

गणितज्योतिष के उद्भट विद्वान् भास्कराचार्य ने भी निम्नलिखित पद्यो द्वारा उज्जयिनी का ज्योतिष सम्बन्धी महत्त्व प्रदर्शित किया है :—

यथोज्जयिन्याः कुचतुर्थभागे, प्राच्यां दिशि स्याद्यमकोटिरेव ।
ततश्च पश्चान्न भवेदवन्ती, लंकैव तस्याः ककुभि प्रतीच्याम् ॥
यल्लंकोज्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत् । सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः ॥
आदौ प्रागुदयोऽपरत्र विषये पश्चाद्धि रेखोदयात् । स्यात्तस्मात् क्रियते तदन्तरभवं खेटेष्वृणं स्वं फलम् ॥
—सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय ।

महाकवि राजशेखर ने स्वरचित काव्यमीमांसा मे उज्जयिनी को कवियों की परीक्षाभूमि बतलाया है :—

श्रूयते हि उज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा ।
तथाहि :— इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः । हरिचंद्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥

उन्ही महाकवि ने उज्जयिनीनायक साहसांक (विक्रमादित्य) नरेश ने अपने अन्त.पुर में जो भाषानियमन किया था, उसके विषय मे भी कहा है :—

श्रूयते चोज्जयिन्यां साहसांको नाम राजा, तेन च संस्कृतभाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण ।
—काव्यमीमांसा ।

ज्योतिर्विदाभरणकर्ता कालिदास (?) ने भी विक्रमादित्य की राजधानी उज्जयिनी का उल्लेख किया है:—

यद्राजधान्युज्जयिनी महापुरी सदा महाकालमहेशयोगिनी ॥"

इसी प्रकार शिवमहापुराण में भी उज्जयिनी का कई स्थलो मे उल्लेख किया गया है :—

अवन्तीनगरे रम्ये दीक्षितो ऋषिसत्तमाः । सत्कुलीनः सदाचारः शुभकर्मपरायणः ॥ –शिवपुराण, ज्ञान सं० ७५ अ० ।
अवन्त्यां तु महाकालं शर्वं मध्यमकेश्वरे । —शिवपुराण, सनत्कुमार सं० ३१ अ० ।
अवन्ती नगरी रम्या मुक्तिदा सर्वदेहिनाम् । शिप्रा चैव महापुण्या वर्तते लोकपावनी ॥ शिवपुराण ज्ञान सं० ४६ अ० ।
अवन्ती नगरी रम्या तत्रादृश्यत वै पुनः । —शिवपुराण ज्ञान सं० ४६ अ० ।

सस्कृत साहित्य मे उज्जयिनी

इसी प्रकार कई जगह उज्जयिनी का उल्लेख किया गया है। स्कन्दपुराण में तो इस उज्जयिनी नगरी का अत्यन्त गौरवपूर्ण वर्णन किया है। इसका एक स्वतन्त्र 'अवन्तीखण्ड' ही है, जिसके 'लिंगमहात्म्य' एव 'क्षेत्रमहात्म्य' नामक दो खण्ड है—

अवन्तिकाया विहितावतार एव—
अवन्ती पुष्पनगरी प्रतिकल्पोद्भवा शुभा।
अस्ति चोज्जयिनी नाम पुरी पुण्यफलप्रदा, यत्र देवो महाकाल सर्वदेवगणस्तुत ॥ इत्यादि।

इसी तरह काशीखण्ड के सातवें अध्याय में शिववर्मा के आख्यान मे कहा गया है कि उज्जयिनी आज तक भी कलियुग के प्रभाव से रहित है।

'लिंगपुराण' में उज्जयिनी के प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग महाकालेश्वर की महिमा का सुविस्तृत वर्णन किया है। वामनपुराण के ८३वें अध्याय में परमभक्त प्रह्लाद का उज्जयिनी में आगमन तथा शिप्रा स्नान तथा महाकालेश्वर दर्शन उल्लिखित है।

विष्णुपुराण के इक्कीसवें अध्याय मे भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके ज्येष्ठ बन्धु बलराम का महर्षि सान्दीपनी के पास विद्याध्ययन के लिए आगमन सुविस्तृत रूप से उल्लिखित है। गरुडपुराण में भी —

"अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तता मोक्षदायिका ॥"

उक्त कथन के द्वारा उज्जयिनी को मोक्षपुरी माना गया है।

भविष्यपुराण के १४१वे अध्याय में उज्जयिनी का वर्णन है। इस प्रकार प्राय समस्त सस्कृत वाङ्मय में इस प्राचीन गौरवमयी मालवललामभूता उज्जयिनी का वर्णन उपलब्ध होता है। प्राय सभी महाकवियो ने इस पुनीत नगरी का गुणगान कर अपनी लेखनी को कृतार्थ माना है।
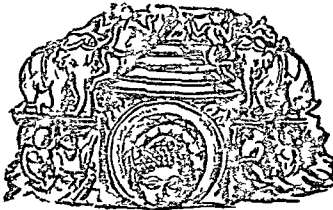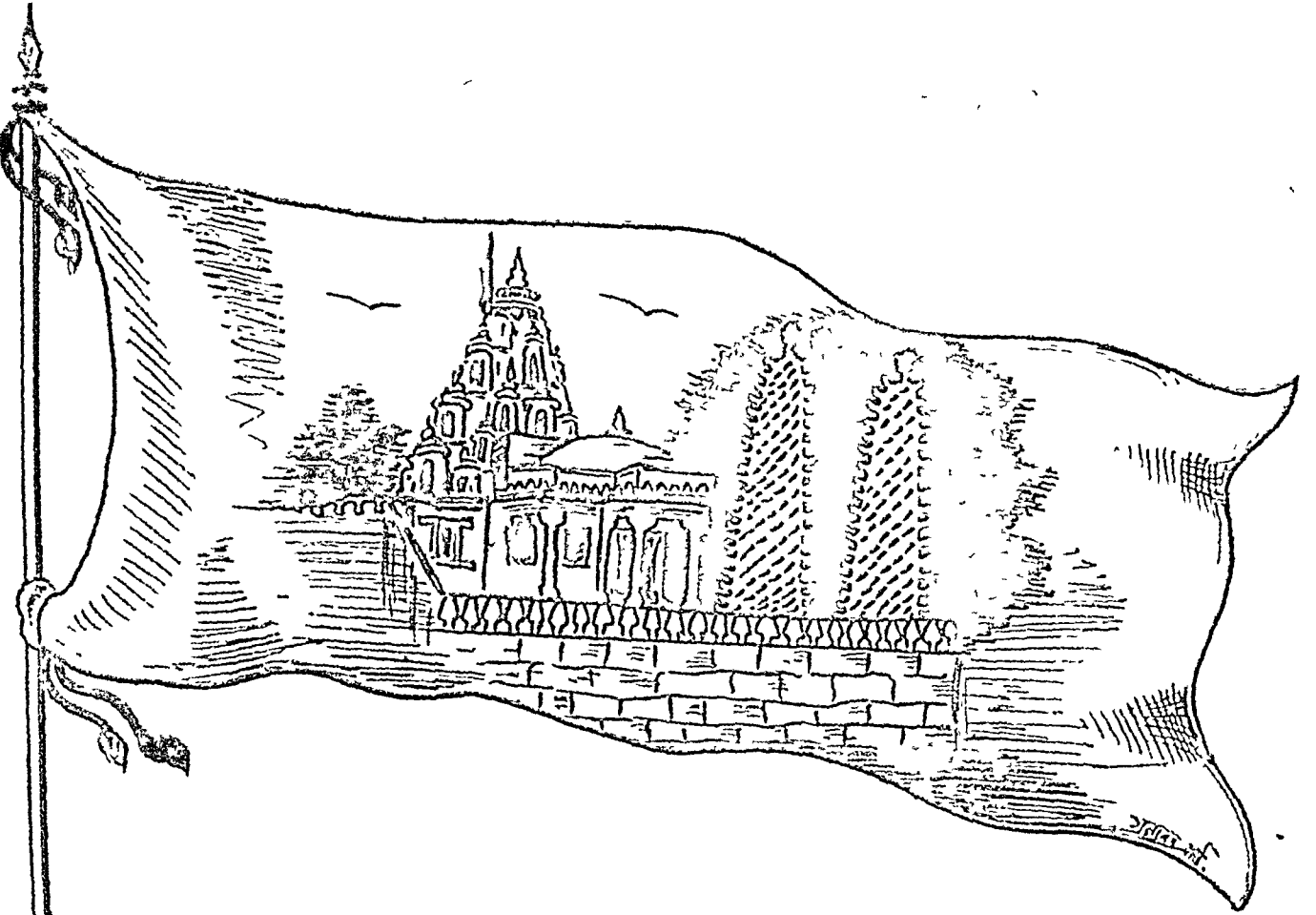
उज्जैन की पौराणिकता

श्री नारायणराव केशव सोरटी, एम्० ए०

'अवन्तिका', 'उज्जयिनी' और 'अवन्ती' देश की प्राचीनता के विषय में आज के इतिहासानुशीलन युग में अधिक बतलाने की आवश्यकता नही रहती। संस्कृत साहित्य और इतिहासप्रिय व्यक्तियो से यह छिपा नही है कि उक्त स्थान की महती प्रतिष्ठा, विद्वानो की, ग्रन्थ-प्रणेताओ की दृष्टि मे सर्वदा रही है, काव्य-नाटककारो ने भी किसी न किसी प्रकार इस अवन्ती देश, एव उज्जयिनी की गौरव-चर्चा करके अपने को सफल माना है। महाकवि कालिदास, भवभूति, दण्डी, शूद्रक, आदि प्रमुख कवि-कोविदो के नाम आज कौन नही जानता? इनके ग्रन्थो को जिन्होने किसी भी भाषा मे पढा है, वे उज्जयिनी की चर्चा से विविधरूपेण अवश्य परिचित होगे।

वैदिक काल की रूपक-चर्चा के अनन्तर, आरण्यक, और उपनिषद्काल में उज्जयिनी की महत्ता से आचार्यगण खूब परिचित थे, अनेक उपनिषदों मे उज्जयिनी की महत्ता यथावसर प्रतिपादित की हुई है।

आज बीसवी सदी मे पुराणो को भी जिन लोगो ने इतिहास की कसौटी पर कसा है, वे पौराणिक कथानकों मे ऐतिहासिक सत्य के स्पष्ट दर्शन करने लगे है। मोहंजोदारो की खुदाई, और इजिप्शियन, एवं सुमेर-संस्कृति के अवशेषो मे पुराण-कथित नामावलियो की संगति यथावत् बैठने लगी है। पुराण केवल ठंडे पहर के गपोडे, अथवा अलिफलैला के किस्से नही है, उनमे आलकारिक रूप से जिन कथाओं का वर्णन किया गया है, उनके पात्र अवश्य ही भारत के गौरवास्पद व्यक्ति रहे है। नर्मदावेली-रिसर्च-बोर्ड ने तो प्रलय-पूर्व, एवं प्रलयानंतर सृष्टि का विवरण प्रकट करते हुए जिस ऐतिहासिक विवेचन को पौराणिक संशोधन के द्वारा उपस्थित किया

है, उसने बड़े बड़े विचारक विद्वानों, एव पुरातत्त्वविदा का ध्यान सहसा आकर्षित कर लिया है। इधर अमृतवसन्त जस अध्ययनशील व्यक्ति ने, तथा अन्य विद्वाना ने पुराणो, और प्रागैतिहासिक संस्कृति का सुदर सामजस्य स्थापित कर दिया है।

अवन्तिका प्राचीन काल से ही कथा-साहित्य की घटक भूमि रही है। प्राय सभी पुराणा में, इस पावन भूमि का वणन अनेक रूप में पृष्ठा के पृष्ठा में भरा हुआ है। उज्जन के अनेक स्थलो का जिनके इतिहास के विषय में इतिहास भी मौन ह, वणन इन पुराणा में प्राप्त होता ह, और आज भी सहस्रा वर्षों से इस भूमि पर पौराणिक सगति को सिद्ध करने के लिए वे स्थान यहाँ पर अपना अस्तित्व रखकर गौरव बढा रहे ह। इतिहास निर्माण में, प्राय युद्ध, सत्ता, शासक, आदि विशिष्ट घटना मात्र का वणन प्राय रहता ह, पुराणा के निर्माण का हेतु ही इतिहासावशिष्ट धार्मिक अग की पूर्ति करना है, और इस रूप में, धार्मिक एव आध्यात्मिक भावनाएँ जाग्रत करते रहने के लिए उन देश, नगर और उनके महत्त्वपूर्ण स्थानो का प्रेरक वर्णन करना है। वे एक प्रकार से 'गाइड' ह, और उनका रूपकालकारपूर्ण वणन पूर्व-गौरव का स्मारक है। काशीखण्ड या अवन्तीखण्ड में काशी अथवा अवन्ती का स्तुतिपरक वर्णन करना तो स्वाभाविक है, परन्तु किसी भी देश विशेष, या नगर विशेष का वणन अनेक पुराण या ग्रन्था में आदरपूवक ग्रथित प्राप्त हो तो उसकी विशेषता सवमान्य होती ह। अवन्तिका (उज्जयिनी) के विषय में यही बात ह। इस स्थल का वणन जैसाकि हम पहले कह चुके ह सभी पुराणो में बहुत विशेषताओ के साथ किया गया है।

वाल्मीकीय रामायण पुराण ग्रथा से विशेष प्राचीन ग्रथ ह। उसमें जिस समय सुग्रीव ने सीताजी के अनुसन्धानार्थ अपने दूता को देश देशान्तरा में भिजवाया था, उसमें अवन्ती का भी नामोल्लेख हुआ है, किष्किधाकाड में लिखा है— 'आवन्तीमवन्तींश्च सवमेवानुपश्यत' इसी प्रकार 'ब्रह्ममालान विदेहाश्च मालवान् काशि-कोसलान' का उल्लेख भी है।

रामायण की तरह 'महाभारत' का लीजिए। उस समय भी यहाँ प्रसिद्ध राज्य माना जाता था। उस जमाने में एक साथ दो राजाओ के होने का वणन ह। विन्द और अनुविन्द का प्रभावशाली राज्य यहाँ मौजद था, इनका भयानक युद्ध सहदेव के साथ हुआ ह। इनकी म निक शक्ति बडी प्रबल थी, महाभारत के सभापव (अध्याय ३१) में इनका वर्णन आया है। "विन्दानुविन्दावावन्त्यौ, सन्येनमहताऽवतौ। जिगाय समरेवीरावाश्वनेय प्रतापवान्-ततो रत्नान्युपादाय" इत्यादि। इसी प्रकार एक समय उक्त पव के ३२ वें अध्याय में मालव के पश्चिम दिग्भाग में नकुल के साथ भी मालवा ने युद्ध किया था—

तान दशार्णान् सजित्वाच प्रतस्थे पाण्डुनन्दन। ... षष्ठान् मालवान पचकमणाम॥"

गर्ग-संहिता भी बहुत प्राचीन ग्रथ माना जाता ह। डा० जायसवालजी के मतानुसार इसमें इतिहास का बहुत तथ्य है। उसमें भी विन्दानुविन्द के उज्जैन में शासक होने का वणन आया है। और भी कई स्थलो पर उज्जन की महत्ता बतलाते हुए महाभारत में विभिन्न अवसरा पर चर्चा आई है।

वनपव के ८२वें अध्याय में महाकालेश्वर की विशेषता वर्णित की गई है। महाकाल के निकट जिस 'कोटितीर्थ' को हम आज अव्यवस्थित और क्षारोदक के रूप में देखते हैं, इस कोटितीर्थ के बारे में इसी जगह लिखा है कि इस तीर्थ का स्पश होते ही 'अश्वमेध' यज्ञ का फल प्राप्त होता है। यह तीर्थ तथा शिप्रा नदी महाभारत, भागवत तथा अन्य पुराणो में, नाना प्रकार से वर्णित है, और जिसका वणन महाकवि कालिदास ने "क्षिप्रावात प्रियतम इव प्राथना चाटुकार" कहकर दो हजार वष पूव किया ह, चाहे वह 'काव्य' के अन्तगत ही क्या न हो, और यजुर्वेद संहिता में 'शिप्रे-अवे पय' आदि मत्र में ५-६ सहस्र वर्ष पूव वणन किया है। ये तीर्थ और नदी अवन्ती के मध्य भाग में अपना गौरव-पूण अस्तित्व बनाये हुए पूवस्मृति को सादर जाग्रत कर देते ह।

उद्योगपर्व के १९ वें अध्याय म लिखा ह कि अवन्ती के नरश विन्द-अनुविन्द दो अक्षौहिणी सेना तथा अनेक दक्षिण दिशा के राजाओ के साथ कुरुक्षेत्र के महासमर में दुर्योधन के पक्ष में लडने को आये थे। इसी प्रकार द्रोणपव के ९७ वें अध्याय में कहा है कि अर्जुन ने इन राजाओ का वध कर डाला था।

श्री नारायणराव केशव सोरटो

आदि ब्रह्मपुराण के ४२ वे अध्याय में उज्जयिनी की गौरव-गाथा है। कहा है कि पृथ्वी की समस्त नगरियों में श्रेष्ठ अवन्ती नगरी है, महाकालेश्वर का प्रसिद्ध शिवस्थान है, और यहाँ शिप्रा नामक पावन सलिला नदी प्रवाहित होती है। इस नगरी में इन्द्रद्युम्न नामक राजा भी था। अनेक विष्णु, देवी आदि का सविस्तर विवरण दिया हुआ है।

इसी प्रकार अग्निपुराण के १०८ वें अध्याय मे अवन्ती को पापनाशिका और महान् पवित्र नगरी बतलाया है।

गरुड़पुराण के पूर्वार्द्ध के ६६वे अध्याय, तथा प्रेतकल्प के २७वे अध्याय मे महाकालपुरी को मोक्षप्रदा तथा पावनी नगरी प्रकट किया है, सप्तपुरियो में तिलाधिक्य वर्णन बतलाया है।

शिवपुराण मे अनेक स्थलों पर उज्जैन, महाकालेश्वर, तथा अन्य प्रमुख शिव-स्थानों का बहुत बड़ा वर्णन आया है। ज्ञानसंहिता के ३८वे अध्याय में ज्योतिर्लिंगों के प्रसंग मे महाकालेश्वर की बहुत स्तुति की गई है। पुनः ४६ वे अध्याय में शिप्रा नदी तट पर एक ब्राह्मण वेदविज्ञ की चर्चा आई है। उस समय रत्नमाल पर्वत पर रहनेवाले एक दुष्ट का आतंक था, उसने अवन्तिका मे भी आक्रमण किया और इस तपःशील ब्राह्मण को सताया, तब शिवोत्पत्ति हुई, और उसका वध किया, आगे वे ही महाकालेश्वर हुए है, जिनके दर्शन मे स्वप्न में भी कष्ट नही होने को कहा है।

लिंगपुराण में शिवलिंग की उत्पत्ति के विषय मे उज्जैन मे महाकाल की महान् स्तुति की है। समस्त मृत्युलोक का स्वामी महाकाल को माना है, और सृष्टि का आरंभस्थल भी उज्जैन को कहा है। अपने ८३ वें अध्याय मे वामनपुराण मे लिखा है कि प्रह्लाद ने शिप्रा के पवित्र जल मे स्नानकर विष्णु तथा महाकाल के दर्शन किए है।

स्कन्दपुराण में तो अनेक अवसरों पर, तथा विभिन्न तीर्थों के वर्णनो पर इस अवन्तिका नगरी का अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्णन किया है। इसका एक स्वतंत्र 'अवन्तीखण्ड' ही है, जिसके दो विभाग है, तीर्थ और क्षेत्र माहात्म्य वर्णन, इनमें लगभग दो-तीन सौ पृष्ठों मे अवन्तिका के सहस्रावधि स्थानों का बहुत रोचक वर्णन दिया हुआ है। इनको ठीक उज्जैन की 'गाइड' ही कहना चाहिए। सैकडों वर्षों के बाद भी सैकड़ों स्थल इस ग्रंथ की वर्णित जगह उसी रूप में यहाँ मौजूद है, और अनेकों नष्ट-भ्रष्ट हो गए हैं, और धीरे धीरे होती जा रहे है। पुराणो के इन वर्णनो का वस्तुस्थिति से मिलान किया जाय तो कौन कहेगा कि ये निरे गपोड़े है! इनमे के अन्य आलंकारिक वर्णनो को छोड़कर वे स्थल स्वयं यहाँ संगति को प्रत्यक्ष प्रमाणित कर देते है। जिन सप्त सागरों का महत्त्वपूर्ण वर्णन इन पुराणों ने विशदरूप मे किया है, अनेक सदियोंपूर्व के ग्रंथ जिनका अस्तित्व प्रमाणित करते हैं, उनका अब बीसवी सदी मे ही लोप होता जा रहा है। इन संस्कृतियो के नाश के बाद पुराणो को गपोड़े कहने का क्यों न कोई साहस करेगा? और क्या पता है कि इनके संशोधन का कठिन कार्य आगे कभी कोई करेगा भी या नही?

स्कन्दपुराण के 'ब्रह्मोत्तरखंड' के ५ वे अध्याय मे उज्जैन के परम धार्मिक भक्त चन्द्रसेन राजा का वर्णन आया है, यह महाकालेश्वर का बहुत श्रद्धा से पूजन किया करता था।

काशीखंड के ७ वे अध्याय में शिववर्मा की कथा प्रसिद्ध है; उसमे कहा है कि अभी तक उज्जैन में कलियुग की महिमा नही फैल पाई थी।

मत्स्यपुराण के १७८ वे अध्याय मे शिव तथा अंधक का विराट्-युद्ध महाकाल वन मे हुआ था, यह कथा है।

विष्णुपुराण की इस कथा से भारतवर्ष के धार्मिक, या इतिहास-प्रेमी सभी परिचित है कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने मित्र सुदामा तथा बन्धु बलराम के साथ उज्जैन मे मुनिवर सान्दीपनी के चरणो मे विद्याध्ययन करने आये थे, (२१वाँ अध्याय)। चौदह विद्याएँ और चौसठ कलाएँ उन्होंने गुरु-चरणों मे बैठकर सीखी, और अन्त में गुरु-दक्षिणा के लिए सान्दीपनी महर्षि से प्रार्थना की, तब महर्षि ने सब बाते जानने के कारण यही चाह की कि जब मै इच्छा करूँ तब तब आपके दर्शन कर सकूं, यही माँग लिया। किन्तु गुरुपत्नि को श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व पर स्त्री-सुलभ स्वभाव से सन्देह था। उनके निकट जब भगवान् गए और प्रार्थना की, तो उन्होंने कहा कि मेरा एक लडका शिप्रा में डूब गया है, वह मुझे वापिस ला दो तो यह वंश चलता रहे। भगवान् तथा अग्रज बलराम शिप्रा पर गये, और पता चला कि वरुण के निकट वह बालक पहुँच चुका है। तब वे वरुण के पास

गये, वहाँ से उस बालक को प्राप्त कर लाये और गुरुपत्नि को अर्पित किया, तब से सान्दीपनी आचार्य का वंश आज पाँच हजार वर्ष के नन्तर भी उज्जैन में विद्यमान है। अनेक उत्थान-पतनों के निरन्तर आने पर भी यह वंश अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखता है। यह महदाश्चर्य का विषय ही है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं गुरुवर्य के साथ जाकर भूतभावन भगवान् महाकाल का पूजन किया है, और सहस्र कमल अर्पित किए हैं। वह गुरु-वर्णित स्तुति-सहस्र नाम आज भी आचार्य प्रवर सान्दीपनी के वंशज (श्री सूर्यनारायण व्यास, ज्योतिषाचार्य) के पास है, यह पौराणिक संगति का उज्ज्वल प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यही कथा भागवत के दशम स्कन्ध (४५ वें अध्याय) में भी है और इसका वहाँ सविस्तर वर्णन है। आदि ब्रह्मपुराण के ८६ वें अध्याय में, ब्रह्मवैवर्त पुराण के कृष्णजन्मखण्ड के ५४ वें अध्याय में भी यह गौरवगाथा है।

भविष्यपुराण के १८१ वें अध्याय में उज्जैन के इतिहास के विषय में बहुतसी चर्चा है। विक्रम के राजा होने का वर्णन करते हुए बतलाया है कि यह करोड़ो म्लेच्छों का वध कर १३५ वर्ष राज्य कर संवत्-प्रवर्तक होगा। इस कथा पर भी कुछ आक्षेप किये जाते हैं, परन्तु इतिहास से संगति लगाते हुए अनेक विद्वानों ने इस कथन की तथ्यता सिद्ध की है। सौरपुराण के ६७ वें अध्याय में उज्जैन में महाकालेश्वर के दर्शन, तथा यात्रा से परम मोक्ष की प्राप्ति का होना वर्णित है। शक्ति-भेद तीर्थ और भद्रवट (सिद्धवट) के दर्शन से पापमुक्ति होने का उल्लेख है।

इस प्रकार प्रायः समस्त पुराणों में अवन्तिका नगरी का गौरव माना है। एकबार पुराण-वर्णित स्थलों की, और उनकी अवस्था स्थिति आदि की सूची बनाकर उज्जैन के उन उन स्थलों का पता लगाना आवश्यक है। अनेक स्थल जो काल-कवलित हो गए हैं, उनका संशोधन, तथा जो अस्तित्व-मात्र अवशेष के रूप में विद्यमान हैं, उनकी रक्षा की योजना की जाना प्रत्येक इतिहास, एवं धर्माभिमानी व्यक्ति के लिए आवश्यक है। उज्जैन की धार्मिक, ऐतिहासिक, आध्यात्मिक और राजकीय महत्ताएँ अत्यन्त आदरणीय गौरव-स्थान रखती हैं। इस नगरी का अतीत महान् रहा है, और परमात्मा करे भविष्य भी भव्य हो।
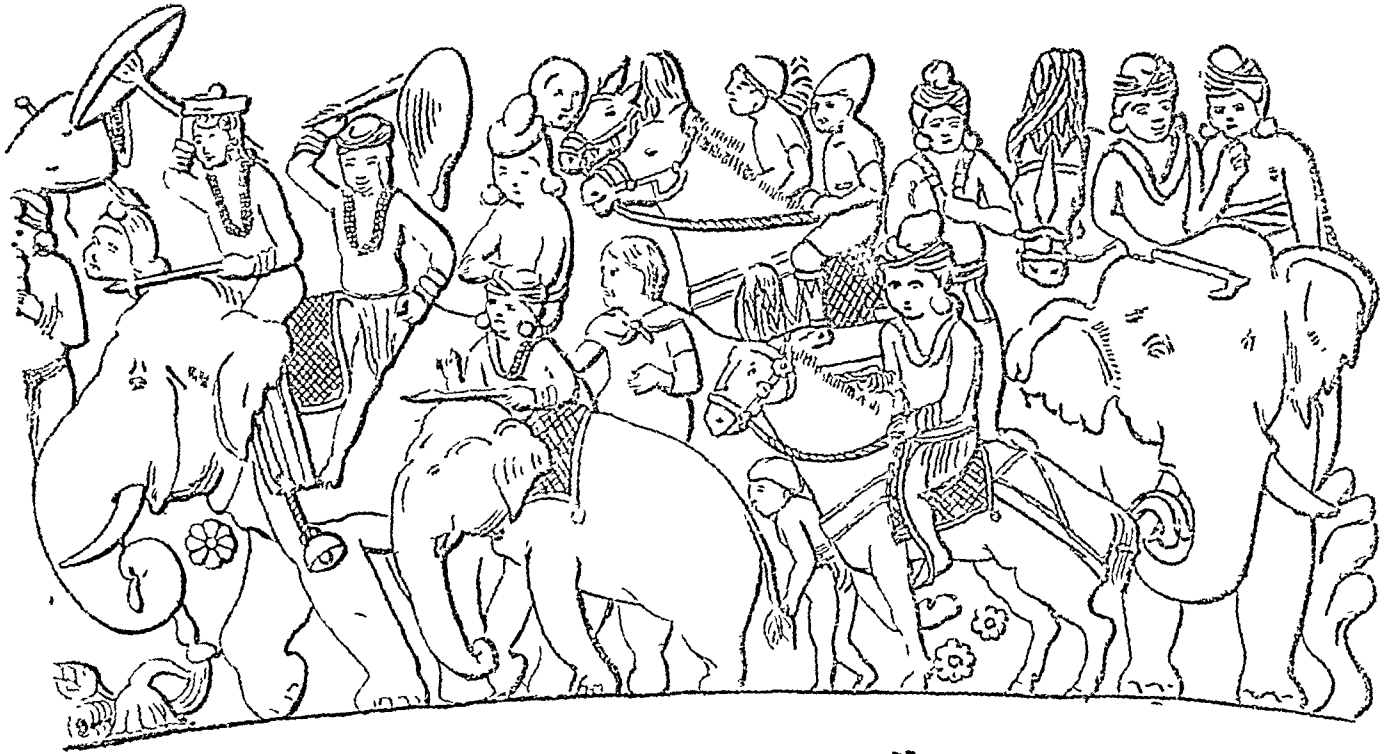
पाली वाङ्मय में उज्जैन

श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन

प्राचीन ग्रंथों मे स्थान-विशेष के जो उल्लेख मिलते है उनके बारे में एक बात सदैव ध्यान मे रखने की है और वह यह कि अनेक ग्रंथों का समय अनिश्चित है और जिनका समय कुछ निश्चित है उनमे वर्णित बातो की परम्परा अपेक्षाकृत बहुत प्राचीन है। ग्रन्थ का सम्पादन और उसमे वर्णित घटनाओं का समय सदैव एक ही नही है, प्रायः भिन्न ही है।

पाली ग्रंथो मे उज्जैन नाम अनेक स्थलो पर आया है। विषयपिटक के महावग्ग मे एक कथा है जिससे सिद्ध होता है कि भगवान् बुद्ध के समय उज्जैन अवन्ती की राजधानी थी। उज्जैन मे राजा प्रद्योत शासन करते थे और मगध-नरेश विम्बसार से उनकी मैत्री का सम्बन्ध था। कथा इस प्रकार है :—

"उस समय राजा प्रद्योत को पाडु-रोग की बीमारी थी। बहुत से बडे बडे दिगन्त-विख्यात वैद्य आकर निरोग न कर सके; बहुतसा हिरण्य (अशर्फी) लेकर चले गये। तब राजा प्रद्योत ने राजा मगध श्रेणिक बिम्बसार के पास दूत भेजा—

"मुझे देव! ऐसा रोग है, अच्छा हो यदि देव जीवक-वैद्य* को आज्ञा दे कि वह मेरी चिकित्सा करे।"

तब राजा बिम्बिसार ने जीवक को आज्ञा दी—"जाओ भणे जीवक! उज्जैन (उज्जेनी) जाकर, राजा प्रद्योत की चिकित्सा करो।"

"अच्छा देव।"......कह......जीवक......उज्जैन जाकर, जहाँ राजा प्रद्योत (पज्जोत) था, वहाँ गया। जाकर राजा प्रद्योत के विकार को पहचानकर बोला—"देव! घी पकाता हूँ, उसे देव पिएँ।"

"भणे जीवक! बस, घी के बिना (और) जिससे तुम निरोग कर सको, उसे करो। घी से मुझे घृणा है।"

---

* भगवान् बुद्ध के समय के लब्ध-प्रतिष्ठ वैद्यराज।

तब जीवक को यह हुआ—'इस राजा का रोग ऐसा है, कि घी के बिना आराम नही किया जा सकता, क्यो न मै घी को कषाय-वर्ण, कषाय-गध, कषाय-रस पकाऊँ।' तब जीवक ने नाना औषधो से कषाय-वर्ण, कषाय-गध, कषाय रस घी पकाया। तब जीवक को यह हुआ—'राजा को घी पीकर पचते वक्त उवात होता जान पडेगा। यह राजा क्रोधी है, मुझे मरवा न डाले। क्यो न मै पहिले ही ठीक कर रक्खू। तब जीवक जाकर राजा प्रद्योत से बोला—

"देव! हम लोग वैद्य है, वसे वसे (विशेष) मुहूत में मूल उखाडते है, औषध सग्रह करते है। अच्छा हो, यदि देव वाहन-शालाओ और नगर-द्वारो पर आज्ञा देदें कि जीवक जिस वाहन से चाहे उस वाहन से जावे, जिस द्वार से चाहे उस द्वार से जावे, जिस समय चाहे उस समय जावे, जिस समय चाहे उस समय (नगर के) भीतर आवे।"

तब राजा प्रद्योत ने वाहनागारो और द्वारो पर आज्ञा दे दी—"जिस वाहन से०"।

उस समय राजा प्रद्योत की भद्रवति नामक हथिनी (दिन में) पचास योजन (चलनेवाली) थी। तब जीवक कौमारभृत्य राजा के पास घी ले गया और बोला—"देव! कषाय पिएँ।"

तब जीवक राजा को घी पिलाकर हथिसार में जा भद्रवति हथिनी पर (सवार हो) नगर से निकल पडा। राजा प्रद्योत को उस पिए घी से उवात हो गया। तब राजा प्रद्योत ने मनुष्यो से कहा—

"भणे! दुष्ट जीवक ने मुझे घी पिलाया है, जीवक वैद्य को ढूँढो।"

"देव! भद्रवतिका हथिनी पर नगर से बाहर गया है।"

उस समय अमनुष्य से उत्पन्न काक नामक राजा प्रद्योत का दास (दिन में) साठ योजन चलनेवाला था। राजा प्रद्योत ने काक दास को आज्ञा दी—

"भणे काक! जा, जीवक वैद्य को लौटा ला—'आचार्य! राजा तुम्हें लौटाना चाहते है।' भणे काक! यह वैद्य लोग बडे मायावी होते है, उस(के हाथ) का कुछ मत लेना।"

तब काक ने जीवक कौमारभृत्य को मार्ग में कौशाम्बी में कलेवा करते देखा। दास काक ने जीवक से कहा—

'आचार्य! राजा तुम्हें लौटवाते है।"

"ठहरो भणे काक! जब तक खा लू! हन्त! भणे काक! तुम भी खाओ।"

"बस आचार्य! राजा ने आज्ञा दी है—'यह वैद्य लोग मायावी होते है, उस (के हाथ) का कुछ मत लेना।"

उस समय जीवक कौमारभृत्य नख से दवा लगा आँवला खाकर, पानी पीता था। तब जीवक ने काक से कहा—

"तो भणे काक! आवला खाओ और पानी पीओ।"

तब काक दास ने (सोचा) 'यह वैद्य आवला खा रहा है, पानी पी रहा है, (इसमें) कुछ भी अनिष्ट नही हो सकता'—(और) आधा आँवला खाया तथा पानी पिया। उसका खाया वह आधा आवला वही (वमन से) निकल गया। तब काक (दास) जीवक कौमारभृत्य से बोला—

"आचार्य! क्या मुझे जीना है?"

"भणे काक! डर मत, तू भी निरोग होगा, राजा भी। वह राजा चड है, मुझे मरवा न डाले, इसलिये मैं नहीं लौटूगा।" (कह) भद्रवति हथिनी काक को दे जहाँ राजगृह था, वहाँ को चला। क्रमश जहाँ राजगृह था, जहाँ राजा बिम्बसार था वहाँ पहुँचा। पहुँचकर राजा बिम्बसार से सब बात कह डाली।

"भणे जीवक! अच्छा किया, जो नहीं लौटा। वह राजा चड है, तुझे मरवा भी डालता।"

"तब राजा प्रद्योत ने निरोग हो, जीवक कौमारभृत्य के पास दूत भेजा—'जीवक आवें, वर (=इनाम) दूगा।"

श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन

"बस आर्य! देव मेरा उपकार याद रखें।"

उस समय राजा प्रद्योत को बहुत सौ हजार दुशाले के जोडों में श्रेष्ठ शिवि (देश) के दुशालों का एक जोड़ा प्राप्त हुआ था। राजा प्रद्योत ने उस शिवि के दुशाले को, जीवक के लिए भेजा।

तब जीवक कौमारभृत्य को यह हुआ—"राजा प्रद्योत ने मुझे यह शिवि का दुशाला जोडा भेजा है। उन भगवान् अर्हत् सम्यक् संबुद्ध के बिना या राजा मागध श्रेणिक बिम्बसार के बिना, दूसरा कोई इसके योग्य नही।"

× × × × ×

बिम्बसार के साथ प्रद्योत की जो मैत्री थी, वह बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु के साथ न रह सकी। आगे चलकर राजा प्रद्योत ने राजगृह पर चढ़ाई करना भी उचित समझा था। मज्झिम निकाय के गोपक मोग्गलान सुत्तन्त (३-१-८) में यह पंक्तियाँ हैं:—

"उस समय मगधराज अजातशत्रु वैदेहि पुत्र, राजा प्रद्योत के भय से नगर को सुरक्षित कर रहा था।

"उसी समय मगध महामात्य वस्सकार (=वर्षकार) ब्राह्मण राजगृह में होते (सैनिक तैयारी के) कामों की देख भाल करता···गया।"

× × × × ×

जातक (कथाओं) मे तो प्रायः उज्जैन ही अवन्ती (देश) की राजधानी है; किन्तु महागोविन्दसुत्त में (दीर्घनिकाय २।६) माहिष्मती (महिस्सति) को अवन्ती की राजधानी कहा गया है। भारत के प्राचीन सात-खण्डों और उनकी राजधानियों का वर्णन वहाँ इस प्रकार है:—

> कलिंग में दन्तपुर, अश्वक (देश) में पोतन, अवन्ती (देश) में माहिष्मती, सौवीर (देश) में रोरुक, विदेह (देश) मे मिथिला, अंग मे चम्पा, और काशी (देश) में वाराणसी—इन्हें महागोविन्द ने बनाया।

हो सकता है कि प्राचीन काल में माहिष्मती (वर्तमान इन्दौर) ही अवन्ती की राजधानी रही हो। पीछे उज्जैन का महत्व बढ गया हो। संयुक्तनिकाय में बावरी के शिष्यो का श्रावस्ती जाने का जो उल्लेख है उसमे माहिष्मती का नाम उज्जैन के ठीक पहले है। (संयुत्तनिकाय)।

× × × ×

प्राचीनकाल मे उज्जैन और काशी मे व्यापार सम्बन्ध तो खूब था ही, उसके साथ प्रतीत होता है कि अनेक कलाओं मे भी दोनों प्रधान नगरी की परस्पर प्रतिस्पर्धा थी। गुत्तिल जातक इस प्रतिस्पर्धा को—प्रमाण ही नही स्वयं बड़ी सुन्दर कथा है, वह इस प्रकार है:—

'पूर्व समय मे वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व गन्धर्व कुल मे पैदा हुआ। उसका नाम हुआ गुत्तिल कुमार। वह बडे होने पर गन्धर्व-विद्या में पारंगत हुआ कि सारे जम्बूद्वीप में गुत्तिल गन्धर्व ही सब गन्धर्वों से बढ़ गया। वह स्त्री का पालन न कर अपने अन्धे माता पिता का पालन करता था। उस समय वाराणसी-निवासी बनियों ने व्यापार के लिए उज्जयिनी जाकर उत्सव घोषित होने पर चन्दा करके बहुतसा माला-गन्ध-विलेपन आदि तथा खाद्य भोज्य ले क्रीडा-स्थान पर इकट्ठे हो कहा कि—वेतन देकर एक गन्धर्व को लाओ। उस समय मूसिल नामक ज्येष्ठ गन्धर्व था। उन्होंने उसे बुलवाकर अपना गन्धर्व बनाया।

मूसिल वीणा भी बजाता था, उसने वीणा को स्वर चढाकर बजाया। गुत्तिल गन्धर्व के गन्धर्व से परिचित उन लोगों को मूसिल का बजाना चटाई खुजलाने जैसा प्रतीत हुआ। कोई भी कुछ न बोला। उन्होंने अपनी प्रसन्नता प्रकट न की। मूसिल ने उनकी प्रसन्नता न देखी तो सोचा मालूम होता है मैं बहुत तीखा बजाता हूँ। उसने मध्यम स्वर चढ़ाकर मध्यम स्वर से बजाया। वे तब भी उपेक्षावान ही रहे। उसने सोचा–मालूम होता है ये कुछ नही जानते। स्वयं भी कुछ न जाननेवाला बन उसने वीणा के तारो को ढीलाकर बजाया। उन्होने तब भी कुछ न कहा।

मूसिल बाला--"आ व्यापारियो! क्या आप लोग मेरे वीणा-वादन से प्रसन्न नही होते?"

"तू वीणा बजाता था? हम तो समझते रहे कि तू वीणा को कस रहा है।"

"क्या तुम मुझसे बढ़कर आचार्य को जानते हो? अथवा अपने अज्ञान के कारण प्रसन्न नहीं होते हो?"

"वाराणसी में जिन्होंने गुत्तिल गन्धर्व का वीणा-वादन सुना है उन्हें तुम्हारा वीणा-वादन ऐसा ही लगता है जैसा स्त्री बच्चा को सन्तुष्ट कर रही हो।"

"अच्छा तो आपने जो खर्चा दिया है उसे वापिस लेलें। मुझे यह नहीं चाहिए। लेकिन हाँ, वाराणसी जाते समय मुझे साथ लेकर जाएँ।"

उन्हों ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। जाते समय उसे साथ वाराणसी ले गए। वहाँ "यह गुत्तिल का निवास स्थान है" बताकर अपने-अपने घर चले गए।

मूसिल ने बोधिसत्व के घर में प्रवेश कर वहाँ टँगी हुई बोधिसत्व की बहुत ही अच्छी वीणा देख, उतारकर बजाई। बोधिसत्व के माता पिता अन्धे होने के कारण उसे न देख सके! वे समझे चूहे वीणा खा रहे हैं। इसलिए उन्होंने कहा--"सू सू चूहे वीणा खा रहे हैं।"

उस समय मूसिल ने वीणा रखकर बोधिसत्व के माता पिता को प्रणाम किया। उन्होंने पूछा—"कहाँ से आया?"

"उज्जयिनी से आचार्य के पास विद्या सीखने आया हूँ।"

"अच्छा।" "आचार्य कहाँ हैं?"

"तात! बाहर गया है। आज आ जायगा।"

यह सुन मूसिल वहीं बैठ गया। बोधिसत्व के आने पर, उसके द्वारा कुशल समाचार पूछे जा चुकने पर, उसने अपने आने का कारण कहा। बोधिसत्व अंग विद्या के जानकार थे। वे जान गये कि यह सत्पुरुष नहीं है। उन्होंने अस्वीकार किया "तात! जा तेरे लिए विद्या नहीं है।"

मूसिल ने बोधिसत्व के माता पिता के चरण पकडे। उन्हें अपनी सेवा से सन्तुष्ट कर उसने उनसे याचना की कि मुझे विद्या सिखलवा दें। बोधिसत्व ने माता पिता के बारबार कहने पर उनकी आज्ञा का उल्लंघन न कर सकने के कारण उसे विद्या सिखा दी।

वह बोधिसत्व के साथ राज-दरबार जाता। राजा ने उसे देखकर पूछा "आचार्य! यह कौन है?" "महाराज! मेरा शिष्य है।"

वह शनै शनै राजा का विश्वासी हो गया। बोधिसत्व ने बिना कुछ छिपाए अपनी सारी जानी विद्या सिखाकर कहा--"तात! विद्या समाप्त हो गई।"

उसने सोचा मैंने विद्या सीख ली। यह वाराणसी देश सारे जम्बूद्वीप में श्रेष्ठ नगर है। और आचार्य भी बहुत बूढ़े हो गये हैं मुझे यहाँ रहना चाहिये।"

उसने आचार्य से कहा—"आचार्य मैं राजा की सेवा करूँगा।"

आचार्य बोला—"अच्छा तात! मैं राजा से कहूँगा।" उसने राजा से जाकर कहा—"महाराज हमारा शिष्य देव की सेवा में रहना चाहता है। उसका जो आज्ञा देना हो, जानें।"

राजा बोला—"आपको जितना मिलता है, आपके शिष्य को उससे आधा मिलेगा।" उसने मूसिल को यह बात कही। मूसिल बोला—"मुझे आपके बराबर ही मिलेगा तो सेवा करूँगा, नही मिलेगा तो सेवा नही करूँगा।"

"क्या!" "क्या आप जितनी विद्या जानते हैं वह सब मैं नही जानता?"
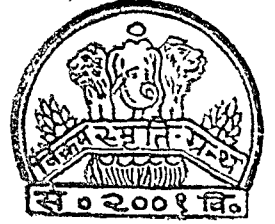
"हाँ जानते हो।"

"यदि ऐसा है तो मुझे आधा क्यों देता है?"

बोधिसत्व ने राजा से कहा। राजा बोला—"यदि आपके समान विद्या दिखा देगा तो बराबर मिलेगा।"

बोधिसत्व ने राजा की बात उसे सुनाई। वह बोला—"अच्छा, दिखाऊँगा।"

राजा को कहा गया। उसने कहा—"दिखाए।" यह पूछने पर कि "किस दिन मुकाबला होगा?" उसने उत्तर दिया—"महाराज! आज से सातवे दिन।"

राजा ने मूसिल को बुलवाकर पूछा—"क्या तू सचमुच आचार्य के साथ मुकाबला करेगा?"

"देव! सचमुच।"

"आचार्य के साथ मुकाबला करना उचित नही। मत कर।"

"महाराज! आज से सातवे दिन मेरा और आचार्य का मुकाबला होने ही दे। एक दूसरे के ज्ञान को जानेगे।"

राजा ने 'अच्छा' कह स्वीकार कर मुनादी करा दी—"आज से सातवे दिन आचार्य गुत्तिल तथा उनका शिष्य मूसिल राज दरबार मे एक दूसरे के मुकाबले मे अपनी अपनी कला दिखाएँगे, नगर निवासी इकट्ठे होकर देखे।"

बोधिसत्व सोचने लगे—यह मूसिल आयु में कम है, जवान है। मै बूढा हो गया हूँ, शक्ति घट गई है। बूढे आदमी से काम नही हो सकता। शिष्य हार गया तो इसमे मेरी कोई विशेषता नही, लेकिन शिष्य जीत गया तो उस लज्जा से तो अच्छा है जंगल मे जाकर मर जाना। वह जंगल मे जाता, लेकिन मृत्यु-भय से लौट आता। फिर लज्जा का मारा (जंगल में) जाता।

इस प्रकार उसे आना जाना करते ही छह दिन बीत गए। रास्ता चलने का निशान बन गया। उस समय शक्र का आसन गरम हुआ। शक्र ने ध्यान लगाकर देखा तो उसे मालूम हुआ कि गुत्तिल गन्धर्व शिष्य के भय से जगल मे महान् दुःख भोग रहा है "मुझे इसका सहायक होना चाहिए।"

ऐसा सोच शक्र ने जल्दी मे आकर बोधिसत्व के सामने खडे हो पूछा—"आचार्य जंगल मे क्यो दाखिल हुए हो?"

"तू कौन है?"

"मैं शक्र हूँ।"

बोधिसत्व ने "देवराज! मै शिष्य के भय से जंगल मे दाखिल हुआ हूँ।" पहली गाथा कही—

सत्त तन्तिं सुमधुरं रामणेय्यं अवाचयिं, सो मं रंगसि अव्हेति सरणम्मे होहि कोसिय॥

अर्थ—हे देवराज मैंने मूसिल नाम के शिष्य को सात तारोवाली सुमधुर, रमणीक वीणा जितनी मै जानता था उतनी सिखाई। अब वह मुझे रंगमच पर ललकारता है। हे कोसिय-गोत्र (इन्द्र)! तू मुझे शरण मे ले।

शक्र उसकी बात सुन बोला—"डरे मत। मै तुम्हारा त्राण करूँगा। मै तुम्हे शरण दूगा। यह कह उसने दूसरी गाथा कही—

अहं तं सरणं सम्भ अहमाचरियपूजको, न तं जयिस्सति सिस्सो सिस्समाचरियजेस्सति॥

(सौम्य! मै तेरा शरणदाता हूँ। मै आचार्य की पूजा करनेवाला हूँ। शिष्य तुझे नही जीतेगा। आचार्य्य ही शिष्य को जीतेगा।)

शक्र ने और भी कहा—"तुम वीणा बजाते हुए एक तार तोडकर छह बजाना। वीणा से स्वाभाविक शब्द निकलेगा मूसिल भी तार तोड़ देगा उसकी वीणा से स्वर न निकलेगा। उसी क्षण पराजित हो जाएगा। उसका पराजित होना जान दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवी, छटी और सातवी तार भी तोड़कर केवल वीणा- दण्ड ही बजाना। तार रहित खूटियो से स्वर निकलकर सारी बारह-योजन की वाराणसी नगरी को ढक लेगा। इतना कहकर शक्र ने बोधिसत्व को तीन गोटियाँ दी और कहा—"सारे नगर पर वीणा शब्द के छा जाने पर इसमें से एक गोटी आकाश पर फेंकना, तुम्हारे सामने तीनसौ

अप्सराएँ उतरकर नाचने लगेंगी। उनके नाचने के समय दूसरी फेंकना। दूसरी तीनसौ उतरकर वीणा के सिरे पर नाचने लगेंगी, तब तीसरी फेंकना और तीनसौ उतरकर रंग-मंडप में नाचेंगी। मैं भी तुम्हारे पास आऊँगा। जाएँ। डरें मत।"

बोधिसत्व पूर्वाह्न समय पर घर आ गए। राज-दरबार में भी मण्डप बनाकर राजासन तैयार कर दिया। राजा प्रासाद से उतर कर मण्डप में आसन के बीच में बैठा। दस हजार अलङ्कृत स्त्रियां तथा आमात्य, ब्राह्मण, राष्ट्रीय आदि ने राजा को घेर लिया। सभी नगरवासी इकट्ठे हो गए। राजाङ्गण में चक्कों के साथ चक्के तथा मञ्चों के साथ मञ्च बँध गए। बोधिसत्व भी स्नान करके, लेप कर नाना प्रकार के श्रेष्ठ भोजन कर वीणा ले, अपने लिए बिछे आसन पर बैठे। शक्र गुप्तरूप से आकाश में आकर ठहरा। केवल बोधिसत्व ही उसे देख सकते थे। मूसिल आकर अपने आसन पर बैठा, जनता घेर कर खड़ी हुई। आरम्भ में दोनों ने बराबर बराबर बजाया। जनता ने दोनों के बजाने से सन्तुष्ट हो हजारों हर्षनाद किए।

अशोक की कन्या संघमित्रा
(सिंहल में बोधि वृक्ष की शाखा ले जा रही है)
चित्री—नन्दलाल बसु

शक्र ने आकाश में ठहरकर बोधिसत्व को ही सुनाते हुए कहा "एक तार तोड़ दें?" बोधिसत्व ने भ्रमर तार तोड़ दी। वह टूटने पर भी टूटे हुए सिरे से स्वर देती थी। देव गन्धर्व का स्वर निकलता था। मूसिल ने भी तार तोड़ दी उसमें से स्वर न निकला। आचार्य ने दूसरी तीसरी करके सातों तार तोड़ दी। केवल दण्डे को बजाने से जो स्वर निकला उसने सारे नगर को छा लिया। हजारों वस्त्र फेंके गए। हर्षनाद हुए। बोधिसत्व ने एक गोटी आकाश में फेंकी। तीनसौ अप्सराएँ उतरकर नाचने लगी। इस प्रकार दूसरी और तीसरी गोटी के फेंकने पर जैसा कहा गया उसी तरह नौसौ अप्सराएँ उतर कर नाचने लगीं। उस समय राजा ने जनता को इशारा किया। जनता ने उठ कर "तू आचार्य से विरोध कर उनकी बराबरी का प्रयत्न करता है अपनी सामर्थ्य नहीं देखता" कहते हुए मूसिल को डरा, जो जो हाथ में आया पत्थर, डण्डे आदि से चूर चूर कर, जान से मार, पैरों से पकड़ कूड़े के ढेर पर फेंक दिया। राजा ने सन्तुष्ट हो घनी वर्षा बरसाते हुए कई तरह से बोधिसत्व को बहुत धन दिया, नगरवासियों ने भी वैसे ही किया।

भगवान बुद्ध के दो सौ वर्ष बाद अशोक हुए। उनका हाल या तो हमें उनके शिला-लेखों से ज्ञात होता है या फिर महावंश आदि पाली ग्रन्थों से। महावंश में भी उज्जयिनी का नाम आता है—

"पिता के दिये हुए अवन्ती राज्य का शासन करने के लिए उज्जयिनी पहुँचने से पूर्व अशोक कुमार (मार्ग में) विदिशा नगर में ठहरे थे। वहाँ एक सेठ की 'देवी' नाम की पुत्री से उनकी भेंट हुई। कुमार के सहवास से उसे गर्भ हो गया, और उज्जयिनी में उससे शुभ महेन्द्रकुमार का जन्म हुआ। उसके दो वर्ष बाद उस देवी से संघमित्रा पैदा हुई। इस समय वह विदिशा नगरी में रहती थी।"

अशोक पुत्र महेन्द्र और अशोक पुत्री संघमित्रा ने ही सिंहल में बौद्धधर्म का प्रचार किया। संघमित्रा बोधिवृक्ष की जिस शाखा को सिंहल ले गई थी, वह शाखा संसार के प्राचीनतम ऐतिहासिक वृक्ष के रूप में आज भी सिंहल के अनुराधपुर नगर में लहलहा रही है।

जैन साहित्य में उज्जयिनी

श्री कामताप्रसाद जैन

'एत्थथि अवंती णाम देसु, णं तुट्टिवि पडियउ सग्गलेसु।
तहिं णयणपियारी' णयरि अत्थि, उज्जेणि णाउ गयरविगभत्थि ॥' —मुनि कणयामर।

प्राचीन अवन्ती अथवा मालव देश की राजधानी उज्जयिनी थी। वह क्षिप्रा नदी के तट पर अवस्थित थी। एक समय अपने अपूर्व वैभव के कारण वह अमरावती के नाम से प्रसिद्ध रही; किन्तु आज उज्जयिनी का वह पूर्व-वैभव नही रहा है। आज भी ग्वालियर राज्य मे उज्जैन एक अग्रणी नगर है और उसके पड़ौस मे ही प्राचीन उज्जयिनी के ध्वसावशेष विद्यमान है। प्रस्तुत लेख मे जैन साहित्य के अन्तर्गत उज्जयिनी के दर्शन करना अभीप्ट है।

इन्द्र द्वारा स्थापित—जैनियो की मान्यता है कि इस कल्पकाल मे सभ्य और कर्मठ जीवन बिताने की शिक्षा अन्तिम मनु नाभिरायजी के पुत्र श्री ऋषभदेवजी ने दी थी।* उन्ही की व्यवस्था से इस आर्यदेश मे देश और नगरादि की स्थापना हुई थी। उनके पुत्र भरत के नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाया था†। जैन महापुराण मे लिखा है कि श्री ऋषभदेवजी की आज्ञानुसार इन्द्र ने भारतवर्ष मे बावन देशो की रचना की थी और उनमे अवन्ती देश सुकौशल देश के बाद गिनाया है‡। इस देश की राजधानी अवन्तिका थी, जो उपरान्त उज्जयिनी नाम से प्रसिद्ध हुई। अवन्तिका का वैभव इन्द्र की राजधानी अमरावती की तुलना करता था, इसलिए वह अमरावती भी कहलाई थी। उसकी रचना की भी तो इन्द्र ने थी!

---

* संक्षिप्त जैन इतिहास (सूरत), प्रथम भाग।

† 'तन्नाम्ना भारतं वर्ष मिति हासीज्जनास्पदं।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदं ॥१५९॥१५॥'—इति महापुराण।

‡ महापुराण, श्री जिनसेनाचार्यकृत (इन्दौर संस्करण) पृष्ठ ५६८।

जैन साहित्य में उज्जयिनी

प्रथम सम्राट् भरत—श्री ऋषभदेवजी ने विभिन्न देशों के शासक अनेक क्षत्रियपुत्र नियुक्त किये थे। उनमें अवन्ती नरेश भी थे, परन्तु उनका नाम अज्ञात है। जब भरत ने अखिल-भारतीय साम्राज्य की स्थापना की और छह खण्ड पृथ्वी को जीता, तब अवन्ती भी उनके शासन के अधीन हुई थी*। इसलिए उज्जयिनी-अवन्ती के प्रथम सम्राट् चक्रवर्ती भरत ही प्रगट होते हैं।

रक्षाबन्धन-त्योहार की कारणभूमि—जैन मान्यतानुसार जिन बलि आदि राजमन्त्रियों ने साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण रक्षाबन्धन त्योहार का जन्म हुआ, वे राजमन्त्री उज्जयिनी में रहते थे। उस समय उज्जयिनी में श्रीधर्म नाम का न्यायशील राजा राज्य करता था। एक समय दिगम्बर जैनाचार्य श्री अकम्पनस्वामी संघ सहित उज्जयिनी आये। राजा मन्त्रियों सहित वन्दना के लिए गया। बलि आदि मन्त्रियों ने श्रुतकीर्ति मुनि से वाद में निग्रह स्थान को पाया। वे खिसियाकर मुनि-हत्या पर उतारू हुए। इस कारण राजा ने उनको देश से निर्वासित कर दिया। उन्हीं के कारण उपरान्त हस्तिनापुर में विष्णुकुमार मुनि द्वारा संघ की रक्षा होने के उपलक्ष में रक्षाबन्धन-पर्व चला था। उज्जयिनी ही उस पर्व की कारण-भूमि है।†

अहिंसा धर्म की प्रचारभूमि—उज्जयिनी के राजा यशोर्ह जब अन्तिम जीवन में मुनि हो गये, तब उनके पुत्र यशोधर राजा हुए। उनके समय में रक्तरंजित पशु-बलिदान का अधिक प्रचार था। पशु ही नहीं, मनुष्य भी यज्ञ में होम दिये जाते थे। किन्तु जैन मुनियों की अहिंसाधर्म युक्त शिक्षा से राजा और प्रजा ने पशु-बलिदान को सर्वथा छोड़ दिया था। जनता जान गई थी कि दया ही धर्म है।‡

वीर अर्जुन की पूर्व-जन्म भूमि—पूर्व समय में उज्जयिनी की एक राजकुमारी का नाम सुमित्रा था। वह धर्मभीरु युवती थी। उसने एक मुनिदेव से धर्मोपदेश सुना और उनसे एक व्रत ग्रहण किया। उस व्रत को भावसहित उसने एक दिन ही पाल पाया कि उसकी मृत्यु हो गई। वह समभावों से मरी और उज्जयिनी में ही एक ब्राह्मण के घर वह पुत्र हुई। वह ब्राह्मण-पुत्र अपने कौशल से राजमन्त्री हो गया। प्रजा उसके शासन में प्रसन्न थी। वृद्धावस्था में उसने तप किया और वह स्वर्ग में देवता हुआ। वहाँ की आयु पूर्ण होने पर वही पाण्डवों में वीर अर्जुन हुआ। उज्जैन की राजकुमारी को यह गौरव प्राप्त हुआ।‡

धर्मवीर और रणवीरों की पवित्रभूमि—जैन शास्त्रों के उल्लेखों से स्पष्ट है कि उज्जयिनी धर्मवीर जैन मुनियों का केन्द्र प्राचीन काल से रहा है। अकम्पनाचार्य के समान वहाँ अनेक मुनिराज हमेशा आते रहे और होते आये हैं। अरिष्टनेमि के तीर्थ में हुए मगधराज-पुत्र नागकुमार महाभाग थे। उनके समय में भी उज्जयिनी में धर्मवीर मुनिराजों का बाहुल्य था। वहाँ उस समय पाँचसौ प्रसिद्ध योद्धा थे। जब उन्होंने विशेष ज्ञानी मुनिराज से यह जाना कि नागकुमार महाप्रतापी राजपुत्र है, तो वे सुभट उनके साथ हो लिए और उन्होंने अपनी अलौकिक वीरता का परिचय स्थान स्थान पर दिया।‡ उस समय उज्जयिनी के राजा जयसेन की राजकुमारी मेनकी किसी के साथ विवाह करने के लिए तैयार नहीं होती थी, परन्तु नागकुमार से उसने विवाह किया था।*

---

* महापुराण, पृष्ठ १०७९। † हरिवंशपुराण २०।१-६, हरिषेण कथाकोष, कथा नं० ११।

‡ यशोधरचरित्र १।२२।

‡ करकण्डचरिउ (कारंजा) १०।१८-२२, पृष्ट १०१-१०३, ('उप्पण्णउ अज्जुणु होवि सोइ। फलु एहउ पुत्ति विहाणे होइ।')

‡ णायकुमारचरिउ (कारंजा) ७।३, पृष्ट ७२।७३। ('उज्जेणिहिं मुणिणाहे सिटठउ।')

* "उज्जेणिहिं सिरिजयसेणु राउ, सुहवइआलोयणजणियराउ।
मेनकी सुय जइ वि अणंगसरिसु, ण समिच्छइ इदसमाणु पुरिसु॥'
'उज्जेणि पत्तु पहु णेह घुलिउ, अद्धवहे गपि जयसेणु मिलिउ।
पइ सारिउ पुरे जयलच्छिणाहु, लहुदिण्ण काण विरइउ विवाहु॥" —णायकुमारचरिउ, ८।५-७।

श्री कामताप्रसाद जैन

उज्जयिनी के धर्मात्मा और साहसी नरेश---उज्जयिनी को अपने शासकों पर सदा गर्व रहा है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तीर्थ मे हुए चम्पा नरेश करकंडु के चरित्र मे एक प्रकरण आता है, जिससे स्पष्ट है कि उस समय भी उज्जयिनी-नरेश अपनी धर्मनिष्ठा और वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। करकंडु के विषय में पूछे जाने पर एक मुनिराज उज्जयिनी के राजा अरिदमन का चरित्र वर्णन करते है, जो अनेक कठिनाइयों को सहन करके भी अपनी रानी से सकुशल आ मिले थे। यह उनके पुण्य और साहस का ही फल था।*

तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान की उपसर्ग-जयी तपोभूमि---अन्तिम तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान अपने साधनामय जीवन मे एकान्त स्थानों मे विचरण करते और ध्यान करते थे। उन्होंने बारह वर्ष साधनामय जीवन मे व्यतीत किये थे। इस समय मे वह उज्जयिनी के निकट अतिमुक्तक नामक स्मशानभूमि में आकर ध्यानमग्न हुए थे। उस समय रुद्र नामक व्यक्ति ने उन पर घोर आक्रमण किया था। परन्तु वह अपने ध्यान मे दृढ और निश्चल रहे थे। रुद्र की रौद्रता उनको तपस्या से चलित न कर सकी।† पशुबल आत्मबल के समक्ष नतमस्तक हुआ। रुद्र इन्द्रियजयी महावीर के चरणों मे गिरा और उनका 'अतिवीर' नाम रक्खा। उज्जयिनी आत्मबल की महत्ता को अपने अञ्चल में छुपाए हुए है। आत्मवीर ही उसे देखते और गौरवान्वित होते है। उज्जयिनी के चण्डप्रद्योत राजा जिनेन्द्र महावीर के अनन्य भक्त थे। उनके पश्चात् महावीर के निर्वाण दिवस को पालक नामक राजा सिंहासनारूढ़ हुए थे।‡

मौर्य प्रान्तीय राजधानी और तत्कालीन जैन सघ का केन्द्र---मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की मुख्य राजधानी यद्यपि पाटलिपुत्र (पटना) थी, परन्तु उनकी अन्य प्रान्तीय राजधानियो मे एक उज्जयिनी भी थी। उनके समय मे वहाँ का निर्ग्रन्थजैनसंघ श्रुतकेवली भद्रबाहु की अध्यक्षता मे लोक-प्रसिद्ध था। जैन ग्रंथो और शिलालेखों से स्पष्ट है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य श्रुतकेवली भद्रबाहुजी से धर्मोपदेश सुनते थे और उनके मुख से उत्तर भारत मे द्वादशवर्षीय अकाल पड़ने की बात जानकर वह उनके निकट दिगम्बर मुनि हो गये थे एवं जब निर्ग्रन्थसंघ दक्षिण भारत की ओर गया तो वह भी उसके साथ चले गये।§ इधर उज्जयिनी मे जो निर्ग्रन्थ श्रमण रह गये, वे अकाल की कठिनाइयो मे पड़कर चरित्रभ्रष्ट हो गये और अपने दिगम्बर भेष को छिपाने के लिए एक खडवस्त्र रखने लगे, जिसके कारण वे 'अर्द्धफालक' नाम से प्रसिद्ध हुए॥। इस प्रकार उज्जयिनी ही वह स्थान है, जहाँ निर्ग्रन्थसघ मे भेद उत्पन्न हुआ था। निस्सन्देह उज्जयिनी प्राचीनकाल से निर्ग्रन्थसंघ का केन्द्र रहा है और मौर्यकालीन भेदजनक घटना के उपरान्त भी उसका महत्त्व कम नही हुआ। कलिंग-सम्राट् खारवेल ने जब जैन श्रुतोद्धार के लिए निर्ग्रन्थ श्रमणो का सम्मेलन बुलाया, तो उसमें मथुरा, उज्जयिनी और गिरिनगर के भी निर्ग्रन्थ-श्रमण सम्मिलित हुए थे।¶

नृप गर्दभिल्ल और कालकाचार्य---कहते है कि सम्राट् खारवेल के वंशज गर्दभिल्ल नामक राजा ने भी उज्जयिनी पर शासन किया था। यह राजा नैतिक चरित्र से स्खलित था। उसके समय मे अर्द्धफालक (खंडवस्त्रधारी) सम्प्रदायान्तर्गत कालक नाम के आचार्य प्रसिद्ध थे। उनकी सरस्वती नामक बहन थी, जो साध्वी हो गई थी। गर्दभिल्ल साध्वी सरस्वती के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया और उसने बलात् उसे अपने अन्तःपुर मे रख लिया। कालकाचार्य को यह असह्य था। उन्होने शकवंश के राजाओ को गर्दभिल्ल के विरुद्ध आक्रमण के लिए उत्साहित किया था। शकराज अपने आक्रमण में

---

* करकंडचरिउ, (कारंजा) ८।१-१५, पृष्ठ ७१-७८।

† 'उज्जयिन्यामथान्येद्युस्तच्छ्मशानेऽतिमुक्तके। वर्द्धमानं महासत्त्वं प्रतिमायोगधारिणम्' ॥३३१॥७४॥ इत्यादि
--उत्तरपुराण।

‡ हरिवंशपुराण पर्व ६०, श्लोक ४८८।

§ संक्षिप्त जैन इतिहास (सूरत) भाग २, खंड १, पृष्ठ २१८-२४४ और जैन शिलालेख-संग्रह (मा० ग्रं०) की भूमिका देखो।

॥ काणे कोमेमोरेशन वॉल्युम (पूना) पृष्ठ २२८-२३७।

¶ जर्नल ऑव दी बिहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १३, पृष्ठ २३६।

सफल हुए और उनका अधिकार उज्जयिनी पर हो गया था। आर्यिका सरस्वती का भी उद्धार हुआ—वह प्रायश्चित्त लेकर पुन साध्वी हो गई।*

वीर विक्रमादित्य—उज्जयिनी के गर्दभिल्ल राजाओं के सम्बन्धी पठन के आन्ध्रवंशी राजा थे। उनको गर्दभिल्ल का पतन असह्य होना स्वाभाविक था। तत्कालीन आन्ध्रभृत्य गौतमीपुत्र शातकर्णी शकों से इसका बदला चुकाने के लिए उनसे जूझ पड़े। उस समय शकों की राजधानी भृगुकच्छ (भड़ौच) थी। नरवाहण या नहवाण (नहपान) वहाँ का राजा था। उसका राज्य उज्जयिनी तक विस्तृत था। उसकी शक्ति को आन्ध्रनृप नष्ट न कर सके। आखिर कूटनीति का उन्होंने सहारा लिया। नहपान का कोष धर्म कार्यों में खर्च कराकर खाली कर दिया और तब उस पर आक्रमण किया। इस बार नहपान गौतमीपुत्र शातकर्णि के समक्ष न टिक सका। शक राजा परास्त हो गया, उज्जयिनी एक बार फिर स्वाधीन हो गई।† स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार यह गौतमीपुत्र शातकर्णी ही उज्जयिनी आकर वहाँ के राजसिंहासन पर बैठे थे और वीर विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुए‡। जैनशास्त्रों में विक्रम राजा की बहुतसी कथाएँ मिलती हैं और पट्टावलियों से यह भी प्रगट है कि वह जैनधर्म के प्रति भी सदय हुए थे। जैनियों ने उनकी शकविजय के उपलक्ष में चालू हुए संवत को विशेष रूप से अपनाया है ⁑। कथाओं में विक्रम राजा के मुख से जैन धर्म का उपदेश भी दिलाया है।⁂ सारांशत उज्जयिनी के इस जगप्रसिद्ध सम्राट् का सम्बन्ध जैन धर्म से किसी न किसी रूप में होना स्पष्ट है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य और जैनाचार्य—गुप्त राजकुल में चन्द्रगुप्त द्वितीय प्रतापी राजा हुआ था। उसने मालवा को जीतकर उज्जयिनी पर अधिकार पाया था। उसकी राजसभा के नवरत्नों में क्षपणक दिगम्बर जैनाचार्य थे, जिन्होंने उनसे सम्मान पाया था।⁑ जैन शास्त्रानुसार वह सिद्धसेन नामक आचार्य थे। उन्होंने महाकाली के मन्दिर में चमत्कार दिखाकर चन्द्रगुप्त को जैन धर्म में दीक्षित किया था।⁂ इसी समय के लगभग दिगम्बर जैन मुनि संघ का केन्द्र भद्दलपुर (वीसनगर) से हटकर उज्जैन में हुआ था।

दिगम्बर जैन भट्टारकों का पट्ट-स्थान—गुप्त राज्यकाल से उज्जयिनी दिगम्बर जैन भट्टारकों का केन्द्र नियत हुआ था और वहाँ पर निम्नलिखित दिगम्बराचार्य प्रसिद्ध हुए थे —

१ महाकीर्ति (सन् ६२९), २ विष्णुनन्दि (६४७), ३ श्रीभूषण (६६९), ४ श्रीचन्द्र (६७८), ५ श्रीनन्दि (६९२), ६ देशभूषण (१०८), ७ अनन्तकीर्ति (७०८), ८ धर्मनन्दि (७२८), विद्यानन्दि (७५१), १० रामचन्द्र (७८३), ११ रामकीर्ति (७९०), १२ अभयचन्द्र (८२१), १३ नरचन्द्र (८४०), १४ नागचन्द्र (८५९), १५ हरिनन्दि (८८२), १६ हरिचन्द्र (८९१), १७ महीचन्द्र (९२७), १८ माघचन्द्र (९३३), १९ लक्ष्मीचन्द्र (९६६), २० गुणकीर्ति (९७०), २१ गुणचन्द्र (९९१), २२ लोकचन्द्र (१००९), २३ श्रुतकीर्ति (१०२२), २४ भावचन्द्र (२०३७), २५ महीचन्द्र (१०५८), उपरान्त दिगम्बर जैन संघ का केन्द्र भलसा आदि स्थानों में होता रहा था।⁂

---

* कालकाचार्य कथानक—'प्रभावक चरित्र' (बम्बई) पृष्ठ ३६-४६।

† आवश्यकसूत्रभाष्य—जर्नल ऑव दी बिहार एण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी—भाग १६, पृष्ठ २५१।

‡ जर्नल ऑव दी बिहार एण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १६, पृष्ठ २५२-२७८।

⁑ संक्षिप्त जैन इतिहास, (सूरत) भाग २ खंड २, पृष्ठ ६६।

⁂ पार्श्वनाथचरित्र (भवदेवसूरि कृत) सर्ग ३—जैन सेवियर पार्श्वनाथ (बाल्टीमोर, यू० एस० ए०) पृष्ठ ७४-८३।

⁑ संक्षिप्त जैन इतिहास (सूरत) भाग २, खंड २, पृष्ठ ९२-९३।

⁂ रत्नकरण्डक श्रावकाचार—भूमिका—जीवनचरित्र (मा० ग्र०)—पृष्ठ १३३ १४१।

⁂ जैनहितैषी, भाग ६ अंक ७ ८, पृष्ठ २८ ३१।

श्री कामताप्रसाद जैन

परमार वंश के राजा और जैनधर्म––वैसे तो परमार वंश के राजाओं की राजधानी धारा नगरी थी, परन्तु राजा भोज ने उज्जयिनी मे अपनी राजवानी स्थापित की थी। इन राजाओ में कई एक अपनी विद्या-रसिकता के लिए प्रसिद्ध थे। राजा मुञ्ज के दरवार मे धनपाल, पद्मगुप्त, धनञ्जय आदि अनेक विद्वान् थे। जैनाचार्य महासेन ने उनसे विशेष सम्मान पाया था। धनपाल और उनके भाई शोभन भी जैनधर्म में दीक्षित हुए थे। उज्जयिनी में जैनधर्म का अधिक प्रावल्य देख कर धनपाल धारा चले गए थे; पर अपने भाई के सम्पर्क से वह जैनधर्म के महत्त्व से प्रभावित हुए थे। आचार्य अमितगति भी इस समय के जैन यतियों मे प्रमुख थे*। मुञ्ज के समान ही राजा भोज के दरवार में भी जैनों को विशेष सम्मान प्राप्त था। श्री प्रभाचन्द्राचार्यजी का उन्हो ने वड़ा आदर किया था। दिगम्वर जैनाचार्य श्री शान्तिसेन ने भोज की सभा मे सैकड़ो विद्वानो से वाद-विवाद करके उन्हे परास्त किया था। † "चतुर्विंशति प्रवन्ध" से प्रगट है कि उज्जयिनी मे विशालकीर्ति नामक दिगम्बराचार्य के शिष्य मदनकीर्ति ने परवादियों पर विजय पाकर "महाप्रामाणिक" पदवी प्राप्त की थी‡। इस प्रकार मध्यकाल तक दिगम्वरजैनधर्म का प्रावल्य उज्जयिनी मे रहा था।

वैभव-वर्णन और विद्या-केन्द्र––महाकवि हरिषेण ने 'कथाकोष' में लिखा है कि 'उज्जयिनी नगरी रम्य, सुन्दर और दीर्घ जिन-मन्दिरों, विशाल राजमार्गों एवं उत्तग प्रासादो से पूर्ण थी। वहाँ के वाग-वगीचे मनमोहक थे। व्यापारिक पेठ (वाजार) होने के कारण दूरदूर के व्यापारी वहाँ आते थे। नगरी जहाँ एक ओर धन-वैभव मे इठला रही थी, वही दूसरी ओर उसके एक भाग मे दीन-दरिद्री और अन्धे लोग अपने दिन काटते मिलते थे।§ वह उज्जयिनी मानो संसार का ही चित्रण कर रही थी। महाकवि पुष्पदन्त ने 'यशोधर चरित्र' मे लिखा है कि 'अवन्ती देश मे स्वर्गपुरी के समान उज्जयिनी नगरी है। उस नगर मे मरकतमणियों की किरणो से व्याप्त हरित पृथ्वीतल मे मूढ बुद्धि हाथी घास और मधुरस की आशा-इच्छा को लेकर महावन के हाँकते हुए मन्दगति से गमन करते हैं। अर्थात्, इस नगरी के राजमार्ग मे मरकतमणियाँ जडी हुई थी, जिनकी आभा से हाथियो को घास की आशंका होती गई। वहाँ के घरों मे चन्द्रकान्त आदि मणियों की प्रभा चमचमाती थी। वहाँ की महिलाएँ सुशील पतिभक्ता थी। वडे वडे घरो मे रत्नजडित क्यारियों में पके हुए सुगंधित फूल अपना सौरभ फैला रहे थे। वहाँ के नगर-निवासी दूसरो को सुखी करते हुए, स्वयं उन्नत हो रहे थे। वहाँ कोई उपद्रव नही था।|| मुनि कनकामर ने 'करकंडुचरित्र' मे उज्जयिनी के वैभव को दिखाने के लिए लिखा है कि 'वह नयनप्यारी है और सूर्यरश्मियो को भी लज्जित करती है।¶'

उज्जयिनी प्राचीन काल से विद्या का केन्द्र रहा है। वहाँ के राजा विद्या-रसिक और कला चतुर हुए हैं। उज्जयिनी के राजकुमार चन्द्रप्रभ सत्रह भाषाओ के ज्ञाता थे। उनके गुरु कालसंदीव १८ भाषाएँ जानने थे और धनुर्विद्या में निष्णात थे। महावीर के निकट वह जैनमुनि हो गये थे।** श्रेष्ठिपुत्र नागदत्त उज्जयिनी मे एक अच्छा कवि था।†† राजपुत्र भागदत्त सर्प-विद्या मे निपुण था।‡‡ मूलदेव नामक राजा अशेष कलाकुशल, अनेक विज्ञाननिपुण, उदारचित्त और प्रतिपन्न सूर था। मूलदेव ने पाटलिपुत्र की गंधर्व-विद्या मे निपुण देवदत्ता नामक गणिका को वीणावादन मे परास्त किया था।

---

* भारत के प्राचीन राजवंश, भाग १ पृष्ठ १०३-१०४, मध्य प्रान्तीय जैनस्मारक, भूमिका, पृष्ठ २०; हिन्दी विश्वकोष, भाग २, पृष्ठ ६४ एवं विद्वद्रत्नमाला, पृष्ठ ११५।

† भारत के प्राचीन राजवंश, भाग १ पृष्ठ ११८-१२१।

‡ जैनहितैषी, भाग ११ पृष्ठ ४८५।

§ हरिषेण-कथाकोष, कथा नं० ३. (मराठी) पृष्ठ ६।

|| 'उज्जेणि णाम तहिं णयरि अत्थि, जहिं पाणि पसारइ मत्त हत्थि।
घत्ता––मरगयकरकलियहिं महियलि घुलियहिं फुरियहिं हरियहिं मूढमइ॥
विणडिउ वासइं रसविण्णासइं णीणिउ मिट्ठि मंदगइ ॥२१॥ इत्यादि।'––जसहरचरिउ १।२१-२२।

¶ करकंडुचरिउ (कारंजा) पृष्ठ ७१।

** हरिषेण-कथाकोष, (कथा भद्रवाहु की)।

†† उत्तरपुराण (इन्दौर) पर्व ७५, श्लोक ९५-१०५।

‡‡ आराधनाकथाकोष (बम्बई) भाग १, पृष्ठ १४९।

वह बोले कि उज्जयिनी के लोग अति निपुण है—वह सुन्दरासुन्दर की विशेषता को जानते हैं।* बनारस के राजा चन्द्रशेखर को जब एक निमित्त ज्ञानी की आवश्यकता हुई, तो उनके मन्त्री ने बताया कि उज्जयिनी का एक प्रसिद्ध निमित्त ज्ञानी ज्योतिषी आया हुआ है†! निस्सन्देह उज्जयिनी अपनी ज्योतिषविद्या के लिए हमेशा प्रसिद्ध रही है।

कनडी जैन साहित्य में—दक्षिण भारत के साहित्यिक भी उज्जयिनी की महत्ता से अनभिज्ञ न थे, यह बात वहाँ के कन्नडी और तामिल भाषाओं के ग्रंथों से स्पष्ट है। महाकवि जन्न ने अपने 'यशोधरचरित्र' (सन् १२०९) में उज्जयिनी का उल्लेख किया है। 'बेताल-पंचविंशति-कथे' में उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य की कथाएँ लिखी गई है और 'बत्तीस पुत्तलिकथे' में विक्रमादित्य के अतिरिक्त राजा भोज का भी उल्लेख है।‡

तामिल जैन साहित्य में उज्जयिनी—तामिल भाषा के साहित्य में 'आदि संगमकाल' की रचनाएँ प्राचीन है। तामिल साहित्य के दो महाकाव्य 'मणिमेखल' और 'शीलप्पदिकारम्' इसी काल की रचनाएँ है। 'शीलप्पदिकारम' को एक जैन धर्मानुयायी राजकुमार ने रचा था। इस महाकाव्य के छठे परिच्छेद में उज्जयिनी का उल्लेख है। एक कैलाश वासी विद्याधर दक्षिणभारत का मार्ग बताते हुए कहता है कि हिमालय के बाद गंगा नदी पार करेंगे, जिसके उपरान्त उज्जयिनी नगर आयगा।⁑ इसका अर्थ यह हुआ कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में उज्जयिनी उत्तर भारत का प्रमुख नगर था। इसी प्रकरण में अमरावती के पाँच जगप्रसिद्ध महामण्डपों का भी उल्लेख है जो अद्वितीय शिल्पकला के नमूने थे। अवन्ती नरेश ने चोलराज का स्वागत मणिमुक्ताखचित स्वर्णमय तोरण द्वार बनवाकर किया था, जिसका शिल्प-चातुर्य देखने की चीज थी।‡

जैन शिलालेखों में उल्लेख—मैसूर राज्य में श्रवणबेल्गोल एक प्रसिद्ध जैनतीर्थ है। वहाँ चन्द्रगिरि नामक पर्वत पर शक संवत् ५२२ के लगभग का एक शिलालेख है। उसमें आचार्य भद्रबाहु को उज्जयिनी में अवस्थित बताया है। वह अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता त्रिकालदर्शी कहे गये हैं। उन्होंने वहाँ बारह वर्ष के दुष्काल पड़ने की घोषणा की थी।⁂ कल्लुरगुड्ड (शिमोगा होब्ली) नामक स्थान के सिद्धेश्वर मन्दिर में एक शिलालेख सन् ११२२ का है, जिसमें श्री सिंहनन्दि आचार्य का वर्णन है। इसमें लिखा है कि उज्जैन के राजा महीपाल ने इक्ष्वाकु नरेश पद्मनाभ को पराजित किया था, जिसके कारण उनके पुत्र दडिग और माधव दक्षिण भारत को चले गये थे। वहाँ सिंहनन्दि आचार्य की सहायता से वह 'गंगराज्य' स्थापित करने में सफल हुए थे।⁂

इस प्रकार जैन साहित्य में उज्जयिनी का महत्त्वपूर्ण वर्णन है। आज भी उज्जैन में जैनों का प्रमुख स्थान है और वहाँ जैनियों के एक से अधिक मन्दिर भी है।

---

* 'अत्थि उज्जेणी नयरी। तीए य असेस-कला-कुसलो अणेग विन्नाण निउणो, उदारचित्तो कयन्नू पडिवन्न-सूरो गुणाणुराई पियवओवक्खो रूव-लावण्ण-तारुण्ण-कलिओ मूलदेवो रायउत्तो पडलिपुत्ताओ जूयवसणासत्तो जणगावमाणेण पुहविं परिभमंतो समागओ। ..
'मूलदेवेण भणियं 'अहो! अइनिउणो उज्जेणी-जणो, जाणइ सुंदरासुंदर विसेसं।'

—प्राकृतकथासंग्रह (अहमदाबाद) पृष्ठ ५६ ५७।

† *The Life and Stories of the Jain Savior Parsvanatha*, (Baltimore), pp 97-98

‡ Rice, *Kanarese Literature* (Calcutta), pp 43 and 97

⁑ *The Silappadikaram* (Oxford University Press), pp 122 123

‡ Ibid, pp 114 and 320

⁂ जैनशिलालेखसंग्रह (मा० ग्र०) पृष्ठ २।
"भद्रबाहु-स्वामिना उज्जयन्यामष्टांग-महानिमित्त-तत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादश-संवत्सर काल-वैषम्यमुपलभ्य—इत्यादि।"

⁂ Saletore, *Mediaeval Jainism* p 11

भास कृत नाटकों में उज्जयिनी

श्री सरदार माधवराव विनायकराव किबे, एम० ए०

कविकुलगुरु कालिदास ने भास नामक नाटककार की अभिवन्दना की है, उसपर से उनसे वह प्राचीन था यह निश्चित हो जाता है। अन्यत्र प्रस्तुत लेखक ने भास के नाटको का और उसका समय ४००० वर्षों के पूर्व का सिद्ध किया है। वह उस समय पैदा हुआ जान पड़ता है जब संस्कृत बोलचाल की भाषा होने से उसमे नाटक खेले जाते थे। वह शेक्सपीयर के समान अनेक लोकप्रिय नाटकों का रचयिता ज्ञात होता है। उसके अनेक नाटको मे से अब तक तेरह या चौदह नाटक पूर्ण या खण्डित मिले है। उसके और नाटक मिलना भी असम्भव नही है। अभी जो नाटक मिले है उनमे से (१) अविमारक (बहुधा), (२) प्रतिज्ञायौगंधरायण, (३) स्वप्नवासवदत्ता, और (४) चारुदत्त उज्जयिनी से सम्बन्धित है। यह कवि इसी देश या नगरी का ही निवासी प्रतीत होता है, क्योकि इसके नाटकों मे उज्जयिनी का विशद वर्णन मिलता है और वह कालिदासोक्त संक्षिप्त वर्णन से मिलता है।

महाकवि कालिदास ने अपने रघुवश एव मेघदूत मे उज्जयिनी के सम्बन्ध मे जो उल्लेख किये है उनमे महाकाल, उद्यान-परम्परा, ऊँचे ऊँचे मकान, वेश्याएँ, नागरिक आदि के वर्णनो का प्रमुख स्थान है। भास के उपरोक्त चारो नाटकों मे इनके वर्णन आये है। महाभारत काल से, अर्थात् आज से ५००० वर्षों से भी अधिक पूर्व, उज्जयिनी विद्यापीठ था। श्रीकृष्ण ने मथुरा सरीखे दूर के प्रदेश से आकर यहाँ विद्याध्ययन किया था। अतएव उसके करीब १००० वर्षों के बाद यहाँ भास की योग्यता का लोकप्रिय नाटककार उत्पन्न होना आश्चर्य की बात नही है। और जब प्रद्योतवंश का उत्कर्ष हुआ तब वह एक प्रमुख भारतीय राजधानी बन गई थी।

भास के उपरोक्त नाटको मे से अविमारक मे दी हुई कथा उसके समय के पूर्व की ज्ञात होती है। उसमे अद्भुतता एवं गन्धर्व-मनुष्य सम्बन्ध की प्रमुखता है तथा यह प्रकट होता है कि भारतवर्ष मे एकछत्र साम्राज्य की प्रमुखता नही थी और छोटे छोटे अनेक राज्यो का, कुतिभोज, काशी, सौवीर का अस्तित्व था। इन बातों पर से यह अनुमान करना ठीक होगा कि वह काल बृहद्रथो का समय होगा अर्थात् महाभारत युद्ध के १००० वर्ष बाद का काल था। इस नाटक मे वर्णित कुतिभोज देश या राज्य चम्बल नदी के यमुना नदी मे गिरने के स्थान के दक्षिण की ओर का प्रदेश था। काशीराज्य वाराणसी क्षेत्र माना जा सकता है, परन्तु यह प्रयाग के आगे भी बढकर कुतिभोज राज्य से मिला हुआ था और भास के नाटको के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि वह तीनों में प्रबल था। अभी तक कौशाम्बी मे चन्द्रवंशीय पाण्डवों का राज्य स्थापित नही हुआ था।

भास कृत नाटकों में उज्जयिनी

सौवीर राज्य का उल्लेख अन्यत्र "सिन्धु-सौवीर" संयुक्त नाम से आता है। यह भी कुंतिभोज से मिला हुआ था। इसमें निर्दशित "सिन्धु" मालवे की शिप्रा के साथ साथ बहनेवाली कालीसिन्ध ही प्रतीत होती है। अतएव वह देश इन दोनो नदियों के बीच का दाआव समझना चाहिए। इसकी राजधानी आगे सुप्रसिद्ध हुई उज्जयिनी ही समझना उपयुक्त होगा। जब इसका नायक अविमारक जो सौवीर का वैरन्त्य युवराज था, कुंतिभोज के राज्य की राजधानी में राजा के प्रासाद में प्रवेश करता है, तब वह महाकाल की वन्दना करता है (तृतीय अंक)। उसमें जो कुंतिभोज की राजधानी का वर्णन किया है वैसा कोई बड़ा नगर इस देश में होना नहीं पाया जाता। इसपर से यह अनुमान होता है कि इसमें जो वरन्त्य नगरी का वर्णन आया है वह उज्जयिनी का वर्णन हो सकता है क्योंकि यह बात नैसर्गिक है कि जब कवि किसी अप्रत्यक्ष एवं अज्ञात स्थल का वर्णन करता है, तब वह प्रत्यक्ष एवं ज्ञात स्थल का ही वर्णन करता है। जिस समय यह नाटक भास ने लिखा उस समय प्रद्योत चण्डमहासेन के प्रभाव से उज्जयिनी की बहुत कुछ अभिवृद्धि हुई थी, ऐसा शेष तीनों नाटकों पर से स्पष्ट होता है।

अविमारक के प्रथमांक में ही राजप्रासाद के सभागृह का निर्देश आया है। वैसे ही एक उद्यान, जिसमें राजघराने की स्त्रियाँ क्रीडार्थ जाती थीं और जो सार्वजनिक स्वरूप का भी था उसके चारों ओर कोई तट न होने से उसमें हाथी घुस आने का वर्णन है। आगे चलकर द्वितीय अंक में राजप्रासाद का ऐसा वर्णन है कि सूर्य अस्त होते समय उसके किरणों का जो वर्ण रक्त होता है वह राजप्रासाद के उच्च शुभ्र शिखरों पर पडने से एक विचित्र शोभा दिखने लगी। इसी पर से उज्जयिनी का सार्वजनिक उद्यान, जिसका उल्लेख चारुदत्त में आया है, और राज प्रासाद, जिसका उल्लेख रघुवंश में अवन्ति राजा के वर्णन में है, उज्जयिनी में उद्यान परम्परा होने का प्रमाण मिलता है। तृतीय अंक में यहाँ के विशाल मकान, उनके चन्द्र जैसा प्रकाश देनेवाले दीपक, जिनकी ओर संकेत रघुवंश में किया गया है—अवन्तिनाथ, महाकाल के निकट रहने के कारण "असौ महाकाल निकेतनस्य" है, राज में सदैव चन्द्र प्रकाश का आनन्द लेता है। वैसेही यहाँ के लोगों के सरस जीवन का वर्णन तृतीय अंक, श्लोक ५ ६ में, और अविमारक के स्वगत भाषण में किया है। राजप्रासाद का भव्यदृश्य, वहाँ की भित्तियो पर चित्रों की रचना, एवं उसके आसपास के उद्यान का वर्णन, जरा चारुदत्त में उसके घर के सामने के दीवाल से सटे हुए उद्यान का उल्लेख तृतीय अंक में सज्जलक के भाषण में आया है। इसी हालत में राजकन्या का स्वेच्छाचार, नैतिक अधःपतन एवं राज्य का विनाश बतलाता है। परन्तु इसी वर्णन से उज्जयिनी के वैभव का पता लगता है। इसके बाद प्रद्योत राज्य में, वह अधिक बढ़ा, परन्तु चारुदत्त के समय से उसमें कुछ शिथिलता आई थी, ऐसा शकार के अत्याचारों से प्रतीत होता है। चारुदत्त के प्रासाद की भव्यता उस नाम के नाटक के प्रथमांक से ही दीखने लगती है। जैसे आजकल के दिल्ली, कलकत्ता आदि नगरों में मालिश करनेवाले लोग होते है वैसाही मृच्छकटिक में संवाहक पात्र है। वह मगध देश की राजधानी से यहाँ आया था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि मगध साम्राज्य उस समय प्रमुख नहीं था। चारुदत्त के चतुर्थ अंक का सज्जलक ही मृच्छकटिक में शार्विलक, और फिर सेनाधिपति हुआ।

प्रतिज्ञा यौगन्धरायण के द्वितीय अंक पर से यह ज्ञात होता है कि राजप्रासाद में अनेक भवन बने थे और उसमें जो मणिभूमि थी वह बहुत रुचि से सजाई थी। चतुर्थ अंक में जलक्रीडा स्थल का वर्णन है। अविमारक का उसका उल्लेख ध्यान में रखने योग्य है। शायद यह क्षिप्रा पर ही होगा। क्योंकि वहाँ जाने के वास्ते हथिनी बुलाई गई। अविमारक में हाथी के मस्त होने का वर्णन है। यह उद्यान भी क्षिप्रा किनारे होगा। प्रतिज्ञा यौगंधरायण के चतुर्थ अंक पर से कन्याभवन, या प्रासाद अविमारक के समान ही अलग था, ऐसा दीखता है। इन सब वर्णनों से राजप्रासाद की विशालता प्रतीत होती है। स्वप्नवासवदत्ता की नायिका मगध राजकुमारी थी। चारुदत्त के संवाहक के समान ही ब्रह्मचारी भी मगध देश में के राजगृह से आया था। वह वत्स देश के लावाणक ग्राम में विद्याभ्यासार्थ रहता था। वही वत्स देश आगे उदयन के हाथों से छीन लिया गया था और मगधराजकुमारी से विवाह होने पर वापस मिला था। इस समय चण्डमहासेन की राजधानी का नाम अवन्ति था, और वासवदत्ता ने अपना नाम आवन्तिका रखा था, ऐसा चतुर्थ अंक में है। उसपर से अनुमान किया जा सकता है कि उदयन वत्सराज होने के बाद भी महासेन का श्रेष्ठत्व मानता था (स्वप्नवासवदत्ता, अंक ६)। इसपर से उज्जयिनी की भासकालीन प्रतिष्ठा भी स्पष्ट होती है।
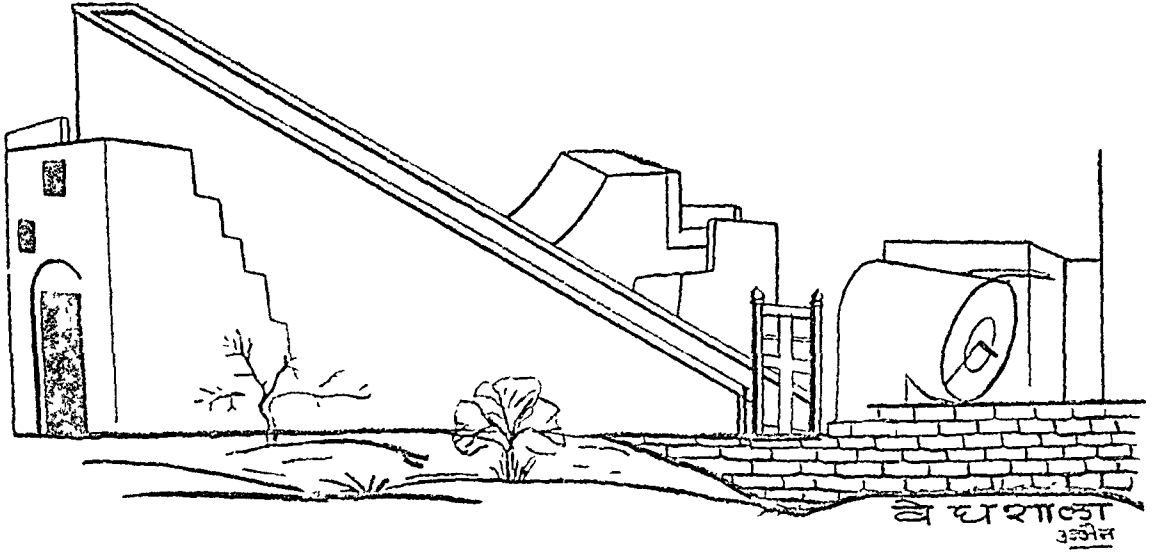
उज्जैन की वेधशाला

श्री रामचन्द्र विनायक वैद्य एम० ए०, बी० टी०

अप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादस्तेषु केवलं। प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रार्का यत्र साक्षिणौ ।।

आकाशस्थ ज्योतियो का निरीक्षण करके उनके गतिस्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेना और वर्तमान ग्रहगणित के नियमों मे इस स्थिति के योग्य परिवर्तन कराने मे सहायता पहुँचाना, यही संसार की प्रत्येक वेधशाला स्थापन किये जाने का प्रधान हेतु रहा है।

उज्जैन का ज्योतिष विषयक महत्त्व--उज्जैन नगरी का ज्योतिष विषयक महत्त्व भारतियों को कितने प्राचीन समय से है यह प्रथमत. वतलाना आवश्यक है। अति प्राचीन काल से कालज्ञान करा लेने का एक अद्वितीय स्थान रहने का सौभाग्य हमारी अवन्ती नगरी को प्राप्त हुआ है। इसीलिए श्रीमहाकालेश्वरजी का महत्त्व ज्योतिषियो के लिए वहुत है। इसके अतिरिक्त, जिस प्रकार वर्तमान समय मे ग्रीनिच में से जानेवाली भ्योत्तर रेखा (meridian) संसारभर के लिये शून्यरेखा मानी जाती है, उसी प्रकार कई शताब्दियो से हमारे भारतियो ने उज्जयिनी को "शून्यरेखा स्थित" माना है। सूर्यसिद्धान्त (मध्यमा० ६२) मे लिखा है--

राक्षसालयदेवौकः शैलयोर्मध्यसूत्रगाः। रोहीतकमवन्ती च यथा सन्निहितं सरः ।।

हमारे सिद्धान्त ग्रंथो मे उज्जयिनी सापेक्ष ही ज्योतिर्गणित के उदाहरण दिये हुए है। सुप्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्यजी पृथ्वी की मध्यरेखा का वर्णन इस प्रकार करते है'--

यल्लंकोज्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशन्। सूत्रं मेरुगतं वुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः ।।

सुप्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर अवन्ती नगरी मे ही रहकर अपना ज्योतिष विषयक प्रचण्ड कार्य कर सके। उन्होने भी उज्जैन को ही शून्य रेखा पर मानकर अपने गणित किये है।

भारतियों की दीर्घकालीन वेध-परम्परा--कुछ लोगो का कहना है कि वर्तमानकालीन धातुयंत्र निर्मित वेधशालाओं मे जिस प्रकार नियमितरूप से वेधकार्य चलता है वैसा कार्य भारतवर्ष मे ही क्या, संसारभर के किसी भी देश में प्राचीनकाल मे नही होता था। भारतीय ज्योतिषियो को वेधज्ञान नही था और इस देश मे वेधपरंपरा नही थी ऐसा आक्षेप यदि कोई करे, तो मेरी समझ से ऐसा कहना उनकी धृष्टता होगी।

उज्जैन की वेधशाला

(१) वेदकाल में वेधा के प्रमाण—ऋग्वेदकाल से भारतिया को २७ नक्षत्रा का और उनमें से भ्रमण करनेवाले चन्द्रमा की गति का अच्छे प्रकार से ज्ञान था, यह बात निम्नलिखित वेदग्रथा के प्रमाणा से स्पष्ट होगी —

(१) यथाग्नि पृथिव्या .. .. यथा सूर्यो दिवा चद्रमसे समनमन्नक्षत्रेभ्य समनमद यथा चद्रमा नक्षत्र वरुणाय समनमत् ॥ (तत्तिरीय० ७-५-२३)।

(२) सवत्सरस्य यत्फल्गुनी पूणमासो मुखत एव सवत्सरमारम्य दीक्षते चित्रापूणमासे दीक्षेरन ॥ (त० स० ७ ४-८)

(३) कृत्तिका प्रथम ॥ विशाखे उत्तम ॥ तानि देवनक्षत्राणि ॥ अनुराधा प्रथमं ॥ अपभरणीरुत्तमं ॥ तानि यमनक्षत्राणि ॥ (त० ब्रा० १-५-२)

(४) तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत ॥ एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवते (शतपथ ब्रा० २ १-२)

(५) बृहस्पति प्रथमं जायमान तिष्य नक्षत्रं अभिसबभूव ॥ तै० ब्रा० ३-१-१।

(२) महाभारतकालीन वेधो के प्रमाण—"चन्द्रमा की रोहिणी पर प्रीत" इस विषय पर तैत्तिरीय सहिता में बडी मनोरजक कथा ह। वेदकाल के बाद व महाभारतकाल के समय तक हमारे ज्योतिपिया ने आकाश निरीक्षण का काय सतत चालू रखते हुए ज्योतिष विषयक कई महत्त्व की बाता का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। दक्षिणायन, उत्तरायण, विपुवायन, ऋतुपर्याय, ग्रहा की वक्रीमार्गी गति, ग्रहणो का १९ वष का पर्याय, इत्यादि बातें उन्हे अच्छी प्रकार से मालूम हो गई थी। महाभारत के निम्नलिखित श्लोका से यह बात स्पष्ट होती है कि रवि चन्द्र के अतिरिक्त सप्तग्रहो की गतिस्थिति का भी बहुत कुछ ज्ञान हो गया था।

ते पीडयन् भीमसेन क्रुद्धा सप्त महारथा । प्रजासहरणे राजन् सोम सप्तग्रहा इव ॥ भीष्म० अ० १३०

यदासूर्यश्च चन्द्रश्च तथा तिष्यबृहस्पति । एकराशौ समेष्यन्ति प्रवत्स्यति तदा कृतम् ॥ वन० अ० १८८।

यथा हिमवत पाश्व पृष्ठ चन्द्रमसो यथा। न दृष्टपूर्वं मनुजन च तन्नास्ति तावता ॥ शान्ति० अ० २०३।

"चन्द्रमा की दूसरी बाजू अभी तक किसी भी मानव ने नहीं देखी ह", यह वतमान समय का विश्वमान्य सिद्धान्त महाभारतकाल में हमारे लोगो को मालूम था। इसी प्रकार कृतयुग का आरम्भ व ग्रहस्थिति इनका सम्बन्ध स्थापन करने योग्य ज्ञान महाभारतकालीन ज्योतिपिया ने प्राप्त कर लिया था, यह बात उपर्युक्त श्लोका से स्पष्ट होती ह। गगसहिता नामक ग्रथ से मालूम होता ह कि जिस प्रकार नित्य व्यवहार में दिन के लिए तारीख का उपयोग करते ह, उसी प्रकार महाभारतकाल में चन्द्रमा स्थित नक्षत्र से दिन का निर्देश किया जाता था। उस समय में नक्षत्रा को तीन प्रकार के विषय विभाग (प्रत्यक्ष नक्षत्र स्थिति देखते हुए) माने जाते थे। ६ नक्षत्र अधभोग, ६ नक्षत्र अध्यध-भोग व शेष १५ नक्षत्र समभाग मानते थे। इस प्रकार महाभारतकाल में भारतवष में वेध लिये जाने के अनेक प्रमाण मिलते हैं।

(३) सहिता ग्रथो के वेधो के प्रमाण—हमारे सहिताग्रथो में शनि-मगल द्वारा रोहिणीशकटभेद के अनिष्ट फल का वणन दिया हुआ है—

रोहिणीशकटमर्कनन्दनो यदि भिनत्ति रुधिरोऽथ वा शशी ॥ किं वदामि यदि नष्टसागरे जगदशेषमुपयाति सक्षय ।
बृहत्सहिता ३४।

भौमार्क्यो शकटभिदा युगातरे स्यात—प्र० ला० ११-१२।

शनी का स्पष्ट परमशर २°-४५' और भौम का २°-५३' होता है। यह स्थिति रोहिणीशकटभेद करने योग्य होती ह। गणित से मालूम होता है कि शकपूर्व ५००० वष शनी का स्पष्टशर २°-३८' था। उस समय और उसके पूर्वकाल में शनी भौम द्वारा रोहिणीशकटभेद अवश्य हुए होगे व देखे गये होगे। गुरु का स्पष्टपरमशर २°-३५' कभी नही हो सकता और इसीलिये सहिता ग्रथो में गुरुकृत रोहिणीशकटभेद के फलो का कोई वणन नहीं है। शकारभ के पश्चात् अभी तक शनी भौम द्वारा रोहिणीशकटभेद कभी नही हुआ। इन्ही सहिता ग्रथो में कौनसा धूमकेतु कितने वष बाद आता है इसका

वर्णन है।* वर्तमान समय मे जिस प्रकार एनकी, हॅले इत्यादि यूरोपीय ज्योतिषसंशोधकों के नाम उन्हों के द्वारा संशोधित किये हुए धूमकेतुओं को दिये गये है, उसी प्रकार ११० वर्ष का प्रवास करनेवाले धूमकेतु का नाम उद्दालक, ५०० वर्षवाले का पैतामह, १५०० वर्षवाले का काश्यप इत्यादि नाम रखे गये होगे, ऐसा विद्वानों का मत है। इन प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि आकाश का निरीक्षण व स्वस्थ ज्योतियों का चमत्कार दर्शन ७००० वर्ष पूर्व से ही हमारे पूर्वजों ने किया हुआ है।

(४) **सिद्धान्तकाल के वेधों के प्रमाण**---हमारे भारतवर्ष मे प्रत्यक्ष आकाश का अवलोकन व तद्द्वारा ज्ञानप्राप्ति कर लेने का कार्य वर्षानुवर्ष सतत चला करता था इसमे सन्देह नही। हमारे सूर्यसिद्धान्त ग्रंथ में ग्रहो के भगण दिये हुए हैं, जिन्हें देखकर अन्त करण आश्चर्य व आदर से भर जाता है। इसमे एक महायुग मे (४३,२०००० वर्षो मे) चन्द्रमा के भगण (फेरे, revolutions) ५७७५३३६ बताये हुए है---यह संख्या round figure नही है यह ध्यान में रखने योग्य बात है---इससे गणित करने पर ज्ञात होगा कि चन्द्रमा की प्रति दिन की गति १३.१७६ अंश होती है। आज के विश्वमान्य नॉटिकल आलमॅनॅक मे चन्द्रमा की दैनिक गति १३.१७६४ दी हुई रहती है। सिद्धान्तकाल मे ही इतना सूक्ष्म ग्रहगतिमान हमारे ज्योतिषियो ने निकाल रखा था, यह हमारे लिये बडे गौरव की बात है।

(५) **विक्रम द्विसहस्त्राब्दी-काल के वेधों के प्रमाण**---प्राचीनकाल की बात छोड दी जाय, तब भी गत २००० वर्षों मे वेधकार्यकुशल अनेक धुरधर विद्वान् ज्योतिषी हमारे भारतवर्ष मे हो गये है। उनमे से कुछ ज्योतिषियों के निम्नलिखित वचन, वेधपरंपरा दिखाने के लिये पर्याप्त होगे:---

(१) आश्लेषार्धादासीत् यदा निवृत्तिः किलोष्णकिरणस्य। युक्तमयनं तदासीत् सांप्रतमयनं पुनर्वसुतः॥
---वराहमिहिराचार्य।

(२) स्वयमेव नाम यत्कृतमार्यभटेन स्फुटं स्वगणितस्य। सिद्धं तदस्फुटत्वं ग्रहणादीनां विसंवदति॥---ब्रह्मगुप्त।

(३) शृंगोन्नतौ ग्रहयुतौ ग्रहणे तथास्ते। छायानिरीक्षणविधौ उदयेऽत्र देयम्॥ ---लल्लाचार्य।

(४) यस्मिन्दिने सम्यक् प्राच्यां रविरुदितो दृष्टः तद्विषुवद्दिनं। तस्मिन्दिने गणितेन स्फुटो रविःकार्यः......॥
---भास्कराचार्य।

(५) ब्राह्मार्यभटसौराद्येष्वपि ग्रहकरणेषु बुधशुक्रयोर्महदंतरं दृश्यते। मंदे आकाशे नक्षत्रग्रहयोगे उदयेस्ते च पंचभागादिकाः प्रत्यक्षं अंतरं दृश्यते। एवं..........वर्तमानघटनाम् आलोक्य.............ग्रहगणितानि कार्याणि॥ ---केशवदैवज्ञ।

(६) पूर्वोक्ता भृगुचन्द्रयोः क्षणलवाः स्पष्टा भृगोश्चोनिता। द्वाभ्यां तैरुदयास्तदृष्टिसमता स्याल्लक्षितैषा मया॥
---गणेशदैवज्ञ।

इन सब बातो से यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि हमारे देश मे अति प्राचीनकाल से वेध लेने के कार्य अवश्य होते थे। यदि शोक की बात कोई हो, तो केवल यही हो सकती है कि इस कार्य का परम्परागत लिखा हुआ इतिहास हमें उपलब्ध नही हुआ है। व्यक्तिश वेधनियमक प्रयत्न हमारे देश मे अनेक हुए है। किन्तु स्थाई वेधशाला बँधवाकर, उसमें वेध लेकर, करणग्रंथ बनाने का सफल उद्योग राजा सवाई जयसिहजी ने ही किया, यह इतिहास से मालूम होता है।

जयपुर के राजा सवाई जयसिहजी---राजा जयसिहजी वि० संवत् १७५० (शके १६१५, ई० स० १६९३) में अम्बर मे सिंहासनारूढ हुए। वे स्वय ज्योतिर्गणितज्ञ व वेधकार्यकुशल थे। उन्होने "सिद्धान्त-सम्राट्" नामक ग्रंथ

* "..........पैतामहः चलकेतुः पंचवर्षशतं प्रोष्य उदितः। ....अथोद्दालकः श्वेतकेतुः दशोत्तरं वर्षशतं प्रोष्य.... दृश्यः। ....शूलाग्राकारांशिखां दर्शयन् ब्राह्मनक्षत्रं उपसृत्य मनाक् ध्रुवं ब्रह्मराशिं सप्तर्षी संस्पृश्य.............काश्यपः श्वेतकेतुः पंचदशं वर्षशतंप्रोष्य पद्मकेतोश्चारांते..............नभसस्त्रिभागमाक्रम्य अपसव्यं निवृत्य अथप्रदक्षिणजटाकारशिखः स यावंतो मासान्दृश्यते तावद्वर्षाणि सुभिक्षमावहति। ...... अथ रश्मिकेतुः विभावसुजः प्रोष्य शतमावर्तकेतोरुदितः चारांते कृत्तिकासु धूमशिखः..............॥"
---दीक्षितकृत भा. ज्यो. इति. पृ. ३४२।

संस्कृत मे व "झिज्महमद" अरबी भाषा में बनवाया। "झिज्महमद" ग्रथ की प्रस्तावना म जयसिहजी ने लिखा है कि—"वतमान समय का भारतीय ज्योतिगणित दृक्तुल्य नही होता है। इसलिए बादशाह महमदशाह की आज्ञा से चूना, पत्थर, इटो के स्थायी बडे बडे यन्त्र जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, बनारस व मथुरा मे बनवाये। ऐसे यन्त्र बनवाने का मुख्य कारण यह है कि इनमें जिस प्रकार अशा के कलात्मक सूक्ष्म विभाग बनाये जा सकते है, वसे छोटे छोटे पीतल के यन्त्रो मे नही बनाये जा सकते। इसके अतिरिक्त उन यन्त्रो के अक्ष, वर्तुल मध्य, धरातल, इत्यादि वक्र व चलित हो सकते है और हवा, पानी, धूप व काल इनका अनिष्ट परिणाम अधिक हो सकता है। इसलिए प्रस्तरमय विशाल यत्र उपर्युक्त पाँच स्थाना पर उन्होने बनवाये।" राजा जयसिहजी ने उत्तम वेधकुशल ज्योतिषियो को नियुक्त करके ७ वप पयन्त इन वेधशालाओ मे वेध लिये। इन वेधा का वणन 'सिद्धान्तसम्राट' ग्रथ में मिलता है। इन वेधो पर से उन्होने ग्रहगत्यादिक मान निकाले, और उनके ग्रथ से किया हुआ गणित दृक्प्रत्ययी है एसा अनुभव होने लगा। इनके पूवकाल में हमारे ज्योतिषिया ने कई उपयुक्त धातुमय वेध-यन्त्र निर्माण किये थे, जिनका वणन ज्योतिषशास्त्र के इतिहास मे हमे पढने के लिये मिलता है। उदाहरणाथ भास्कराचायजी का चक्रयन्त्र, गणेशदवज्ञजी का प्रतोदयन्त्र, दीक्षितजी का गोलानदयन्त्र इत्यादि। किन्तु राजा जयसिहजी ने भव्य चूने पत्थरा के यन्त्रा से युक्त वेधशालाएँ निर्माण कराइ, यह उनके कल्पनाचातुय का ही फल है।

श्रीजीवाजी वेधशाला, उज्जन—यह वेधशाला सवत् १७७६, ई० स० १७१९ के लगभग बँधवाई गई। राजा जयसिहजी के पश्चात् इसमें वेधकाय नियमित रूप से किये जाने का कोई प्रमाण नही मिलता। दोसौ वष तक इसकी तरफ किसी का ध्यान नही गया। फलस्वरूप हवा, पानी, व धूप इनका अवश्यम्भावी परिणाम होकर इसके यन्त्रो की टूटफूट हो गई। अन्त मे उज्जन की पण्डिताश्रमसभा के प्रयत्ना से श्रीमान स्वर्गीय माधवराव महाराजा शिदे ग्वालियर नरेश का लक्ष्य इसकी तरफ आकर्षित हुआ और ई० स० १९२३ में जयपुर के विद्वान पण्डित श्री गोकुलचन्द्रजी भावन के निदशकत्व मे इस वेधशाला का पुनर्जीवन हुआ।

यन्त्रो का वणन—

(१) सम्राटयन्त्र—इस वेधशाला मे प्राचीन मुख्य यन्त्र चार है, जिनमें सबसे बडा व अधिक महत्त्व का यन्त्रराज "सम्राट्यन्त्र" है। इसके मध्य म लगभग ४८ फीट लम्बी व २२ फट ऊँची त्रिकोणाकार दीवाल है। यह दक्षिण से उत्तर की तरफ तिरछी (धरातल से अक्षाश तुल्य २३° १०′ का कोण बनाती हुई) बाँधी गई है। ऐसी स्थिति में इसके ऊपर की तिरछी बाजू पृथ्वी के अक्ष के समानान्तर होती है, जिसमें ग्रहो की क्रान्ति के वेध लने के लिये जाने के वास्ते एक जीना बनाया है। इस जीन की दोना बाजुओ पर ०′ से ६०′ तक दक्षिण व उत्तर की तरफ क्रातियो की रेखाएँ खुदी हुई है। इस दीवाल के दोनो तरफ—पूव की ओर एक व पश्चिम की तरफ दूसरी—दो वृत्तचतुर्थांश (Quadrants) विषुववृत्त के धरातल म बाधे हुए है जिनपर घटे, १५ मिनिट, ५ मिनिट, व २० सेकण्ड की लकीर खुदी हुई है। इन वृत्तो के जिस रेखा के साथ दीवाल की छाया मिलती हुई दिखती है, उससे घटा मिनिटात्मक काल का ज्ञान होता है। यह काल स्थानीय स्पष्टकाल (Local apparent time) होता है। इसमें प्रति दिन कुछ विवक्षित मिनिट सख्या जोडने से स्टेण्डर्ड टाइम आता है। किसी भी वप के प्रत्यक तारीख के लिये आवश्यक लगनेवाले मिनिट सख्या निदशक कोष्टक, इस यन्त्र के दोना बाजुओ के दीवालो म, पत्थर पर खुदवाकर लगाया गया है। सम्राट्यन्त्र से खासकर रवि चन्द्रादि ग्रहो के नतकाल व क्राति का ज्ञान, तथा छाया द्वारा समय का ज्ञान होता है।

(२) नाडीवलययन्त्र—सम्राट्यन्त्र के पास ही दक्षिण में एक छोटे से ओटले पर तकिये के आकार का एक यन्त्र है जिसका नाम "दक्षिणगोल उत्तरगोल व नाडीवलययन्त्र" है। किसी भी क्राति निकालन के पहिले वेधज्ञ यह निश्चित कर लेता है कि वेध्य ग्रह दक्षिणगोलाध में है या उत्तर में। जब ग्रह की क्रान्ति १ अश के पास आती है तब केवल दृष्टि से ग्रह की गोलाद्ध स्थिति निश्चित रूप से नही मालूम होती है। इसका निश्चय नाडीवलययन्त्र से किया जाता है। इसके दक्षिण व उत्तर भाग (Faces) विषुववृत्त के धरातल मे होने से, जिस तरफ देखने से इष्ट ग्रह दृष्टिगोचर होगा, उसी तरफवाले गोलाध में वह ग्रह है एसा निश्चय होता है। इस दक्षिण व उत्तर के सिरो के मध्य मे पृथ्वी के अक्ष के समानान्तर दिशा म एक एक कील लगी है, जिसकी छाया उन सिरो पर पडती है। इन सिरा पर एक एक नाडीवलय (Ghati

circle) पूर्व काल में खुदा हुआ था। अब बजाय घटिओं के घण्टे मिनिट की रेखाएँ खुदी हुई है, जिनसे छायार्क द्वारा स्थूल स्पष्टकाल मालूम होता है।

(३) दिगंशयंत्र—नाडीवलय यंत्र के पास पूर्व की तरफ समकेन्द्रचक्राकार (concentric) ८ फुट ऊँचाई की दीवालें है जिनके व्यासार्ध १० फुट व १६ फुट है। इस यंत्र के मध्य में ४ फुट ऊँचा व ४ फुट व्यास का चबूतरा है व इसके बीच मे ४ फुट ऊँचाई का सलिया है। भीतर की दीवाल के कोरपर दिग्बिन्दु योग्य स्थानो पर लिखे हुए है और भारतीय ज्योतिष-परम्परा के अनुसार पूर्व से दक्षिण ०' से ९०'; दक्षिण मे पश्चिम की तरफ ०' से ९०'; इस प्रकार अंश खुदे है। इस यत्र से केवल दिगश का ही ज्ञान होता था। परन्तु स्व० रावसाहब प० गो० स० आपटे साहब ने दिगशयत्र के मध्यस्थित सलिया पर एक तुरीय यत्र लगाया है, जिससे किसी भी ग्रह या तारका के दिगश तथा उन्नतांश एक समयावच्छेद मे ज्ञात होते है। इस यंत्र का उपयोग खासकर तिथि के वेध लेने मे होता है।

(४) भित्तियंत्र—दिगशयंत्र के नैऋत्य मे २२ फीट लम्बी व २२ फीट ऊँची दक्षिणोत्तर दीवाल बँधी हुई है। उसे भित्तियत्र कहते है। इस दीवाल के पूर्व भाग मे २० फीट के त्रिज्यावाले दो वर्तुलपाद (Quadrantal arcs) खुदे हुए है। इनमे ०' से ९०' तक अंश व कलाओ की रेखाएँ खुदी हुई है व इनके केन्द्र मे दो खूटियाँ है जिनका परस्पर अन्तर २० फीट का है। माध्याह्न के समय इन खूँटियो मे बँधी हुई डोर उन खूँटियो की लम्बी छाया के गर्भ मे से इस तरह खीची जाती है कि वह डोर वर्तुलपाद को किसी एक रेखा मे काटे। इससे माध्याह्नकालीन रवि के नताश मालूम होते है। अन्य ग्रहों के भ्योत्तरकालीन नताश भी इसी तरह ज्ञात होते है। वेधगत नताशो से (अक्षाश का धनर्ण सस्कार देकर) ग्रहो की क्रान्ति मालूम होती है। जिस दिन व जिस समय रवि की क्रान्ति शून्य होती है वह समय विषुवायन (equinox) का द्योतक होना है। भित्तियत्र से ग्रहो की वक्रीमार्गी गति का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

(५) शंकुयंत्र—शके १८५९ मे सम्राट्यत्र के उत्तर के तरफ नये यत्र की स्थापना की गई है, जिसे शंकुयंत्र कहते है। हमारे वेध-प्रक्रिया मे शकु का व तद्वारा प्राप्त छायार्क-वेध का बहुत महत्त्व है। यह यत्र ११ फुट त्रिज्यामित चक्राकार ओटले के रूप मे है। इसके केन्द्र मे ४ फुट ऊँचा शकु लगाया है और ओटले के किनारे पर शुद्ध दिक्साधन करके दिगश के अक खुदवाये है। रवि-चन्द्र के सूक्ष्म दिगश व उन्नताश का ज्ञान इस यत्र से अच्छी प्रकार से होता है। इस यत्र के ओटले पर, शकु छाया का प्रत्यक्ष वेध लेकर, सायनराशिसक्रमणकालदर्शक रेखाएँ निकली हुई है, जिनसे किसी भी दिन छाया की स्थिति देखकर ही, रवि किस राशि मे है यह स्पष्टतया मालूम होता है। इसी यत्र से रवि का सूक्ष्म माध्याह्न काल व तत्कालीन क्रान्ति मालूम होती है।

वेधशाला का कार्य—राजा सवाई जयसिहजी ने पंचांगों के जाँच करने के हेतु से ही अन्य वेधशालाओं के साथ यह वेधशाला बनवाई। हमारे धर्म के लिए शुद्ध कालज्ञान की आवश्यकता है। कालज्ञान के लिए तिथ्यादि अंगो से युक्त पंचाग होता है, और पचागों का गणित प्रत्यक्ष ग्रहस्थिति से मिलता है या नही, इसकी जाँच करने के लिए वेधशाला की आवश्यकता होती है। हमारे शिक्षाविभाग ने वेधशाला के लिए जो उद्देश रखे है उनमे से, पचाग की जाँच, जनता मे ज्योतिष ज्ञान का प्रचार, व सूक्ष्मगणितयुक्त ग्रथो का प्रकाशन, ये तीन महत्त्व के उद्देश्य है। इन्हीको सामने रखकर इस वेधशाला का कार्य चल रहा है।

इस वेधशाला का अध्यक्षत्व स्वर्गीय रा० सा० गोविद सदाशिव आपटे साहब, एम० ए०, बी० एस-सी०, गणकचूडामणि, की तरफ ई० सन १९३६ के अन्त तक रहा। इस अवसर मे आपने अत्यन्त वृद्धावस्था व क्षीणावस्था होते हुए भी, नियत-कालिको मे लेख लिखकर व व्याख्यानादिक देकर जनता मे ज्योतिष-ज्ञान का प्रचार किया। इससे भी अत्यन्त महत्त्व का कार्य किया है और वह है ज्योतिष ग्रथों का प्रकाशन। आपके सर्वानन्दकरण नामक ग्रंथ को काशी विद्यापीठ ने आचार्य परीक्षा के कोर्स मे स्थान दिया है। सर्वानन्दलाघव, पचागचिन्तामणि, ग्रह-चिन्तामणि (अप्रकाशित), ये ग्रथ भारतवर्षीय ज्योतिषियो के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए है। आपने चित्रा, मघा, पुष्य आदि क्रान्तिवृत्तस्थ तारकाओ के याम्योत्तरलघनकाल के वेध लेकर वर्षमान निकालने का अच्छा प्रयत्न किया है। उज्जैन के लिए रवि की उदयास्तसारिणी आपने बनाई है, जो आज भी हमारे लिए मार्गदर्शक हो रही है।

(१) प्रत्यक्ष वेधकार्य—ई० स० १९३९ से यहाँ पर दैनिक वेध लेने का कार्य सुचारुरूप से चल रहा है। प्रतिदिन प्रात. अरुणोदयपूर्व काल से, सायकाल मे ग्रह-नक्षत्रादिको के दर्शन होने तक सब ग्रहो के व मुख्य मुख्य नक्षत्रो के वेध लिए जाते है। इस कार्य के लिए वेधकार्यकुशल तीन सज्जन नियुक्त है, जो अपने अपने समय पर सर्व प्रकार का वेधकार्य करते रहते है, और लिये हुए वेध—(यानी वेध का समय, यत्र का नाम, व विद्ध ज्योतिओं के वेध विषयक अक)—वेधपत्र में

लिखते हैं। इन वेधों में मुख्यतः ग्रहों के विषुवांश व क्रान्ति, उन्नतांश व दिगंश, छाया की लम्बाई, ग्रहादिकों के नित्योदयास्त, ग्रहों के लोपदर्शन, चन्द्रोदयकाल, ग्रहों की युतियाँ, तथा वक्रीमार्गत्व, ग्रहणों में स्पर्शमोक्षादि काल, इत्यादि बातों का समावेश होता है। ये वेधपत्र, वेधशाला के कार्यालय में लाये जाते हैं, जिनपर से वेधों के रजिस्टर में वेध दर्ज किये जाते हैं। इन वेधागत अंकों पर से तिथ्यंत काल, ग्रहों के विषुवांशभोग, युतिकाल, इत्यादि बातों का गणित किया जाता है, व प्रतिवर्ष के प्रचलित पंचांगों के अंक तुलना के लिये इनके साथ लिखे जाते हैं। इस प्रकार प्रति वर्ष औसत ५००० वेध लिये जाते हैं।

(२) ज्योतिषसेवा व प्रचार-कार्य—भारतीय प्राचीन ज्योतिष तथा अर्वाचीन पाश्चिमात्य ज्योतिष का तुलनात्मक ज्ञान विद्यार्थियों को देना व जनता के ज्योतिष विषयक प्रश्नों का व शंकाओं का समाधान करना, यह इस वेधशाला का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है। भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध पंचांगकर्ता वेधशाला के साथ पत्रव्यवहार करते हैं, अपने अपने पंचांग दृकप्रत्यय की जांच के लिए भेजते हैं। उनके पंचांग का जितना गणित वेधों से मिलता है उतने ही के विषय में सन्तोषप्रद अभिप्राय दिया जाता है व अशुद्धि (जो कुछ हो) उनकी नजर में लाई जाती है।

प्रतिवर्ष हजारों दर्शक वेधशाला देखने आते हैं उनमें भारतीय व यूरोपीय विद्वान्, अत्यन्त हीन अवस्थाओं से लेकर, राजाओं तक के सब श्रेणी के स्त्री-पुरुष होते हैं, और दर्शकों की यह संख्या प्रति वर्ष औसत ४००० से कम नहीं होती है। इन दर्शकोत्सुक जनता में ज्योतिष विषयक रुचि उत्पन्न कराने के हेतु गत ४ वर्षों में कुछ चित्र (charts) तैयार करके रखे हैं, जिनमें तिथि-नक्षत्र-दर्शकयंत्र, वक्री मार्गी ग्रहों का चित्र, ग्रहणों का चित्र ये विशेष मनोरंजक मालूम होते हैं। इनके अतिरिक्त, "नक्षत्र द्वारा समयदर्शक यंत्र" अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो रहा है, जिसकी मदद से किसी भी रात्रि को किसी भी प्रसिद्ध नक्षत्र का वेध लेकर घड़ी का सूक्ष्म टाइम निकाला जाता है।

(३) प्रकाशन कार्य—इस वेधशाला का तीसरा व अत्यन्त महत्त्व का व लोकोपयोगी कार्य है दैनिक सायनस्पष्ट-ग्रहों का प्रकाशन। गत तीन वर्षों से (*Astronomical Ephemeris of Geo-centric places of Planets*) नामक पुस्तक इस वेधशाला से नियमितरूप से प्रसिद्ध हो रही है। प्रतिवर्ष इसमें सुधार किये जा रहे हैं, और इस वर्ष का एफिमेरिस संसार के सुप्रसिद्ध राफेल के एफिमेरिस से किसी बात में कम नहीं है। इसका गणित अत्यन्त सूक्ष्म होता है, और सब भारतवर्ष में—आसेतु हिमाचल—इसकी उपयुक्तता व आवश्यकता के विषय में भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान् ज्योतिषियों की तरफ से प्रशंसनीय अभिप्राय पत्र द्वारा आये हुए हैं और भारत के प्रसिद्ध पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं। भारतवर्ष की स्टेंडर्ड meridian (शून्यरेखा) उज्जैन होने से, इस एफिमेरिस का गणित उज्जैन मध्यरेखा का व भारत के स्टेंडर्ड टाइम का दिया जाता है, यह इसकी एक विशेषता है। राफेल का पंचांग मुख्यतः यूरोपीय ज्योतिषियों की आवश्यकताओं को पूरी करता है, लेकिन हमारे पंचांगकर्ताओं को आवश्यक ऐसी तिथि नक्षत्रादिकों की बातें उसमें नहीं होती हैं। वेधशाला के एफिमेरिस में तिथि, उज्जैन मध्यकाल के रवि के उदयास्त, व नाक्षत्रकाल, स्पष्टराहु सब ग्रहों के लोपदर्शन भारतवर्षीय मुख्य मुख्य नगरों की भावसारिणियाँ, इत्यादि भारतीय ज्योतिर्विदों के लिये उपयुक्त बातें दी जाती हैं, यह इसकी दूसरी विशेषता है। इस एफिमेरिस के गौरवार्थ ई० स० १९४२ में जलगाँव की ज्योतिषपरिषद ने श्रीमन्त ग्वालियर नरेश का अभिनन्दन करनेवाला प्रस्ताव पास किया है, यह हमारे लिये गौरव की बात है। इसकी योग्यता व उपयुक्तता बढ़ाने के हेतु से ज्योतिर्विदों की तरफ से प्रति वर्ष सूचनाएँ आती हैं उनका भी यथायोग्य विचार किया जाता है।

(४) अन्य आवश्यक कार्य—ऊपर वर्णन किये हुए कार्यों के अतिरिक्त और भी ऐसे कार्य करने योग्य हैं जिनकी वेधशाला के अधिकारियों को कल्पना है, उदाहरणार्थ, सब ग्रहों की कलात्मक केन्द्रों की मन्द फल की सारणियाँ, कर्तव्य-ज्योतिष का ग्रंथ (Practical Astronomy), नॉटिकल आल्मॅनॅकतुल्य भारतीय आल्मॅनॅक प्रसिद्ध करना, ज्योतिषपत्र का प्रकाशन, पौर्वात्य तथा पाश्चिमात्य ज्योतिष के तुलनात्मक शिक्षा के लिए ज्योतिषशाला की स्थापना, इत्यादि इत्यादि। आशा है कि निकट भविष्यकाल में इनको मूर्तस्वरूप दिया जा सकेगा।

भविष्य का सुखस्वप्न—संसार की वर्तमान यांत्रिक वेधशालाओं की पंक्ति में इस वेधशाला को स्थान प्राप्त नहीं हुआ है, यह खेद की बात है। भारतवर्ष में हैदराबाद राज्य की एकमेव यांत्रिक वेधशाला है जोकि अन्तर्राष्ट्रीय ज्योतिषसेवा में हाथ बँटा रही है। उसके वेधों को संसार में सत्य समझकर मान्यता दी जाती है। इस कार्य पर राज्य का व्यय प्रतिवर्ष कई हजार रुपयों का होता है। आशा है कि भविष्य में इस वेधशाला को भी अर्वाचीन यंत्रों से अद्यावत सुसज्जित किया जाए, व उज्जैन की यह वेधशाला भारतवर्ष की मुख्य वेधशाला हो, ऐसी श्रीमहाकालेश्वरजी के चरणों में मेरी प्रार्थना है।
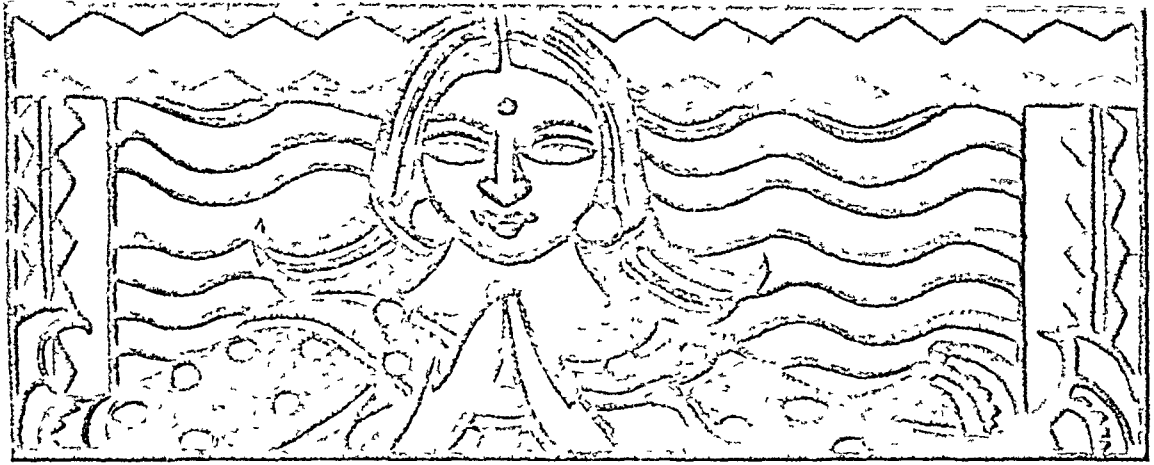
पौराणिक अवन्तिका और उसका माहात्म्य

रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न

प्रायः सभी पुराणों में तीर्थों की परिगणना तथा तीर्थयात्रा के प्रसंग मे महाकालवन, क्षिप्रा तथा अवन्ती का वर्णन आया है तथा उनके भिन्न-भिन्न माहात्म्य बताये गये हैं। पर स्कन्दपुराण मे अवन्ती नामक एक खण्ड है, जिसमे कुल मिलाकर तिरासी अध्यायों मे उपर्युक्त तीनो विषयो पर विविध माहात्म्यमूलक कथाएँ कही गई हैं।

तीर्थों के पौराणिक माहात्म्यो को सुननेवाले श्रद्धालु भक्तजनो की संख्या अब उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही है और उन मे वर्णित बातो पर विश्वास करनेवालो की भी कमी हो रही है। आज की बीसवी शती के व्यस्त मानवकुल की उदासीन या शुष्क भावभूमि मे व्यासो तथा सूतो के वे वाक्य श्रद्धा का उद्भव करने मे असमर्थ से जान पडते है। पर इससे यह नही समझ लेना चाहिये कि तीर्थों के वे माहात्म्य आधारहीन स्थिति मे हैं। प्राचीनकाल मे जब हमारी धार्मिक भावनाएँ परम कोमल तथा व्यस्तता की आधुनिक सामग्रियो का नितान्त अभावसा था तब इन माहात्म्यों की चर्चाएँ कानो में प्रविष्ट होकर तीर्थयात्रा की प्रवृत्ति उत्पन्न करती थी। किसी वस्तु या विषय मे प्रवृत्ति का कारण उसके गुणो का श्रवण है, उसे बढ़ाचढाकर कहने की कला मे आज का युग भी पीछे नही है। काश्मीर की सुषमा एव कैलास की निराली छटा को सुनकर सुदूर प्रान्तो के लोग दर्शनार्थ आते हैं। प्राचीनकाल मे उन तीर्थो मे ऋषिगण अहर्निशि तपस्या और साधना मे निरत रहते थे, प्रात.सायं अग्निहोत्र से समस्त वातावरण दोष रहित होकर सुगन्धित होता था, कुलपति अपने विद्यापीठ की शिष्य-मण्डली को साथ ले उनको वेद ध्वनि मे गुजरित करता था। सुन्दर शान्त वनप्रान्त रहता था, दो परस्पर विरुद्ध स्वभाव के भी जीवगण एक साथ विचरण करते थे, वृक्षो पर मयूर, चातक पिक आदि पक्षी अपनी सुरीली आवाजो से आगतों का स्वागत करते थे, फूली हुई अनेक प्रकार की लताएँ हरे भरे फूले फले वृक्षो पर तत्तत् ऋतुओं मे अपनी सम्पत्तियो का प्रदर्शन करती हुई इस वनश्री मे चार चाँद लगा देती थी, नदियो तथा सरोवरो मे विविध जलजन्तु तथा पक्षी विहार करते थे—ऐसे परम रमणीय शान्त वातावरण मे पहुँचकर गृहस्थी के कार्य से उद्विग्नचित्त प्राणी का मन आत्म विस्मृति कर जाता है, छल-छिद्रादि से बहुत दूर हो जाता है। तीर्थो की यात्रा मे वस्तुतः यही प्रलोभन थे, आज की तरह वहाँ शहर नही बसे थे और न दूकाने ही सजाई जाती थीं। वहाँ जाने पर धर्मोपदेश मिलता था। शकाएँ समाहित होती थी, जीवन की कितनी जटिल समस्याओ का हल सुलझाया जाता था। तीर्थों के इस वैज्ञानिक आकर्षण एवं कारण की चर्चा एक स्थल पर इस प्रकार की गई है—

प्रभावादद्भुदाद् भूमेः सलिलस्य च तेजसः, परिग्रहान्मुनीनाञ्च तीर्थानां पुण्यता स्मृता।

अर्थात् तीर्थ भूमि, वहाँ के सुन्दर स्वास्थ्यवर्द्धक जल तथा वातावरण के आश्चर्यकारी तेज के अद्भुत प्रभाव के कारण तथा वेदशास्त्र के तत्त्वो के जाननेवाले तपोनिष्ठ मुनियो के निवास एव साहचर्य के कारण ही तीर्थों की पुण्यता कही गई है।

बात वही ह। एस परम पावन, मनोग्राहक, स्वास्थ्यवद्धक तथा पारलौकिक नि श्रेयस में प्रवृत्ति करानेवाले तीर्थों के अदभुत माहात्म्यो के आकर्षणपूर्ण वणना म मूलत व्याता तथा मूला का यही तात्पय निहित था। पीछे चलकर उसीम पिण्डदानादि विविध कर्मकाण्डीय विधाना का भी सयोग सन्निविष्ट कर दिया गया।

अवन्ती के माहात्म्य का वणन करते हुए महाकालवन की प्रशसा म जहाँ यह कहा गया ह कि उस परम पुनीत महाकालवन मे ऋषिगण देवगण, यक्ष, किन्नर गन्धर्वादि देवयोनि विशेष, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि प्रमुख दव महाकाल की आराधना म निरत थे, वहा यह भी कहा गया ह कि वहा की पुण्यनगरी अवन्ती अति समृद्ध थी, सुवण के गगनचुम्बी प्रासाद तथा भवन विविध मणि मण्डित सोपाना तथा भित्तिया से चकाचौंध होते रहते थे। बरामदा तथा अट्टालिकाओ पर स्वग सुन्दरी रमणियाँ विहार करती थी। वहाँ के देवतुल्य निवासी स्वग के समान सुख का अनुभव करते हुए कालयापन करते थे, उन्ह किसी प्रकार की न तो चिन्ता थी न दु ख था। पाठका के मनोरजनाथ हम एक उद्धरण प्रस्तुत कर रहे ह।

"पुष्पा से लदे हुए साल और अजुन के वृक्ष उस वन प्रान्त म इस प्रकार खडे थे माना धोये हुए रेशमी वस्त्रा को ओढ हुए पुरुष खडे हा। फूली हुई लताओ म आच्छादित वक्षा के समूह, ललनाओ से आलिगित प्रियजना की भाँति शोभित हो रह थे। पवन द्वारा हिल्ती हुई मजरिया स सुशोभित आम और तिलक के वक्ष आपस में हाथ हिलाते हुए सज्जना की भाँति बाते सी करते थे। तिलक और अशोक के वक्ष दो अभिन्न सुहृदा के करस्पश की भाँति आपस म एक दूसरे के पल्लवा का स्पश कर रहे थे। फूला और फला की समद्धि से झुके हुए वक्षा के समूह सज्जना की भाँति परस्पर एक दूसरे को अर्पित से कर रहे थे। वायु के झोका स लाये गये ठडे जलकणा स युक्त वृक्षा के वे समूह सवदा सत्पुरुषा के स्वागताथ खडे से जान पडते थे। प्रचुर परिमाण में पुष्पा की समृद्धि को धारण किये हुए वे माना समान प्रभाववाला की स्पर्द्धा म खडे होकर एक दूसरे को प्रदर्शित से कर रहे थे। सुन्दर मस्तक वाले पक्षी उन सुशोभित वृक्षा के पुष्पादि की शोभा से सवलित शिखरा पर उन्मत्त होकर नाच रह थे। अमतवल्ली के पुष्पा पर बैठे हुए भ्रमरो के समूह पवन द्वारा प्रेरित होकर लता के साथ ही इस प्रकार नाच रह थे माना अपनी प्रियतमा के समेत कोई प्रेमी हो। कही पर परिपुष्ट कुन्द की लताओ से आवेष्टित वृक्षा के समह इस प्रकार शोभा पा रह थे माना शरत्कालीन आकाश मण्डल में अविरल तारागण उदित हुए हा। फूली हुई माधवीलता वक्षा के अग्रभाग पर इस प्रकार शोभा पा रही थी माना वहाँ पर वह बडी निपुणता से बिछाई गई हो। हरेभरे सुवण की भाँति शोभित फला तथा पुष्पा स सुशोभित वक्षो के समह सत्पुरुषा के समागम के अवसर पर सद्गहस्थ की भाँति अपनी सारी समद्धि लिए हुए खडे थे।" इसी प्रकार अनेक अध्याया म अति सुन्दर काव्यात्मक ढग पर महाकाल वन का मनामोहक रेखाचित्र उपस्थित किया गया ह। वन्य पशुओ तथा पक्षियो के विहार तथा सुरम्य कलरव का भी अतीव मनाग्राही वणन ह। अवन्ती के राजप्रासादा की चर्चा भी तनिक सुनिये —"वह पवित्र अवन्तिकापुरी अनेक योजनो मे विस्तत थी। उसमें अनेक लम्बे बाजार तथा हाट थे, जिनम ससार के कोने कोने की वस्तुएँ क्रय विक्रय के लिए आती थी। विशाल चौराहे बने हुए थे। सुन्दर महला एव प्रासादा स सडका की शोभा अति वृद्धि पर थी। वे प्रासाद स्फटिक की दीवाला से बने हुए थे। उनमें वद्रूयमणि की फश बनी हुई थी, प्रवाल के विशाल स्तम्भा पर उनका निर्माण हुआ था, यत्रतत्र सुवण के विविध अलकार जडे हुए थे। कुछ लाल रग लिए हुए मणिया की उनकी देहलियाँ बनी थीं, दरवाजा के बाजू मरकत प्रभृति मणिया से जटित थ, किवाडे सुवण के थे। उनम वज्र के ओंडे लगे हुए थे। विविध प्रकार के मणिया स आगन तथा द्वार की भूमि जडी हुई थी, वहा पर मोतिया की झालरें टँगी थी। प्रत्येक भवन में सुवण की ऊँची ध्वजाओ पर पताकाएँ फहरा रही थीं। मणि जटित सुवण के कलश उन भवना के शिखरो की शोभा वद्धि के कारण बने हुए थे। प्रत्येक बाजारा म विविध प्रकार की बावलियाँ, कूप, जलाशय तथा मनोहारि निमल जल से सुशोभित सरोवर थे, जिनम विविध जलजन्तु तथा लाल, नीले, श्वेत कमल खिले हुए मन को मोहित करत थे। विविध प्रकार के हस कलरव करते थे। गहो की बावलिया से आकर उद्याना मे फव्वारे लगे हुए थे। कही मयूर नाच रहे थे तो कही अपने सुरीले राग से कोकिला कुहू-कुहू कर रही थी। गहोद्याना के पुष्पस्तवका पर भ्रमरगण मस्त होकर गुजार कर रहे थे। वर्णाश्रम धम परायण नर नारीगण ऐसी स्वर्गीय शोभा को कही नीचे से कही किनारे बैठकर तथा कही सन्निकटवर्ती अपने महला के छज्जा पर से

बैठे हुए अवलोकन कर सुख का अनुभव करते थे।" इस वर्णन से आप कालिदास की अवन्ती मे कोई अन्तर नही पा सकते और वह सचमुच उस समय भूखण्ड पर अवस्थित पुण्यशाली जनों के लिए स्वर्ग की एक छोटी टुकड़ी थी।

इसी अवन्तीपुरी मे शिवजी को ब्रह्मा का शिर काट लेने पर प्रायश्चित्त भोगना पडा था। और यही कुशस्थली में उनके हाथों से कपाल का मोचन भी हुआ था। समस्त ससार मे अति उत्तम पुण्यतम क्षेत्र जानकर शिवजी इसे कभी नही छोडते, ऐसी कथाएँ भी अवन्ती के विषय मे वर्णित है। तीर्थो का सन्तुलनात्मक परिचय देते हुए सनत्कुमार कहते हैं--"संसार मे गंगा सभी तीर्थो से युक्त है; विष्णु भगवान् सर्वदेवमय है, वेद सर्वयज्ञमय है, और दया सभी धर्मो से युक्त है। पृथ्वी में नर्मदा सभी नदियों मे सर्वश्रेष्ठ तथा पुण्यमयी है, उससे बढकर पुण्यशाली कुरुक्षेत्र है, उससे भी दस गुणा अधिक माहात्म्य प्रयाग का है, उस प्रयाग से दस गुणा अधिक पुण्यदायिनी काशी नगरी है, काशी से भी दस गुणी गया है, उस गया से भी दसगुणित अधिक पुण्यप्रदायिनी यह कुशस्थली है।" जो हो इस संख्यापरक मानदण्ड का मूल्य इतना तो अवश्य है कि अवन्ती का माहात्म्य प्राचीनकाल मे कितना था। किन्तु इन सब बातो के होते हुए भी भविष्य पुराण को छोड़कर अन्य पुराणो मे अवन्ती के प्रसग पर विक्रमादित्य की कोई चर्चा नही आती। इसका कारण जो भी हो, पर इससे यह निश्चित होता है कि बहुत दिनों तक इस नगरी ने स्वर्णिम दिन देखे है।

पुराणों में इसके कनकशृगा, कुशस्थली, उज्जयिनी, अवन्ती, पद्मावती, कुमुद्वती, अमरावती, विशाला तथा प्रतिकल्पा--इन नौ नामो की चर्चा की गई है, और उन सबों के पड़ने का कारण भी बताया गया है; पर वे कारण ऐतिहासिक दृष्टि मे कोई विशेष महत्त्व नही रखते। पाठको के मनोरजनार्थ संक्षेप मे हम उसकी चर्चा कर रहे है।

महाकाल शिवजी के निवासार्थ विश्वकर्मा ने कनकरचित शिखरोवाले महलो से युक्त इस पुरी की रचना की थी और उस समय सभी देवतागण, ब्रह्मा आदि को साथ ले इसे देखने आये थे, तभी से इसका नाम कनकशृंगा पडा। ब्रह्मा ने सृष्टि रचना के बाद जब देखा कि लोग एक दूसरे से द्रोह करते है, युद्ध करते है, तथा रातदिन द्वेषाग्नि मे जलते हुए कलह पर उतारू रहते है, और समस्त जगत् मर्यादाविहीन हो रहा है तो उन्होने भगवान् विष्णु का ध्यान किया और निवेदन किया--'भगवन्! मेरी सृष्टि मे इस समय घोर द्वन्द्व मचा हुआ है, तुम्हारे बिना अब उसका कोई अन्य रक्षक नही दिखाई पड़ रहा है।' इस प्रकार ब्रह्मा के अनेक प्रणत वचनो से भगवान् विष्णु प्रसन्न हुए और बोले--'अच्छी बात है मुझे एक ऐसा पवित्र मण्डल दिखलाओ जिसे तुमने कभी नही छोड़ा है, उस कल्याणमयी पृथ्वी पर स्थिर होकर मैं सृष्टि का नया विधान करूँगा तब यह कलह दूर होगा।' ब्रह्मा ने कुशो की मुट्ठी ग्रहण की और पवित्र वनाश्रम की ओर प्रस्थान किया और थोडी दूर जाने के बाद देवताओ से सम्मति ले अति उन्नत स्थली को देखकर उन्होने भगवान् विष्णु से निवेदन किया कि 'आपकी सृष्टि रचना के आरम्भ के लिए यह पवित्र मण्डल है। हे देव! आप कुशो समेत यहाँ अवस्थित होइये।' भगवान् ने वैसा ही किया और ब्रह्मा को साथ ले उस पवित्र स्थली का नाम कुशस्थली रखा।

अवन्ती नाम पड़ने का कारण बताते हुए सनत्कुमार लिखते है--"प्राचीन ईशान नामक कल्प मे जब देवगण दानवो से पराजित एव भयभीत हो सुमेरु के शिखर पर एकत्र हुए और सम्मति की कि ऐसे संकटमय अवसर पर हमें भगवान् की सहायता की आवश्यकता है, अत उनकी आराधना करनी चाहिए तो इसी अवसर पर उन्हे आकाशवाणी सुनाई पडी कि आप लोग कुशस्थली को जाइए, वहाँ आदिदेव महाकाल का निवास है, निश्चय ही वहाँ जाने से आप लोग पुन: संकटों पर विजय प्राप्त करेगे। देववाणी सुन देवगण उस कुशस्थली को प्राप्त हुए जहाँ चारो वर्णो के लोग अपने अपने आश्रमो मे सुखपूर्वक निवास करते थे, जहाँ ऋषि तथा गन्धर्व आदि तपस्या मे लीन रहते थे, सिद्ध तथा चारण बडी संख्या मे विद्यमान थे, दरिद्र, अन्ध, मूर्ख, जड, रोगी, अभिमानी, एव आधिव्याधि युक्त कोई नही था, न तो कोई किसी का अपकार करता था न भूलकर भी मिथ्या व्यवहार करता था। सभी लोग शान्त, क्षमाशील, दानी, परोपकारी, वृद्धावस्था तथा मृत्यु से विहीन थे, तथा सदाचार और अतिथि सेवा मे सर्वदा लीन थे। ऐसी पवित्र पुरी को देख देवता अति प्रसन्न तथा विस्मित हुए। और वहाँ पहुँचकर अनेक तीर्थो मे स्नान कर विगत कल्मष हुए तथा पुन: स्वर्ग को प्राप्त कर सके। चूंकि प्रत्येक कल्पों में यह कुशस्थली देवता, तीर्थ, औषधि, बीज, एवं प्राणियों का अवन (रक्षण) करती है अत: तभी से अवन्ती नाम मे इसकी प्रसिद्धि हुई।"

उज्जयिनी नाम का कारण भी इसी प्रकार का है। प्राचीनकाल मे त्रिपुर नामक एक दानव ब्रह्मा से वरदान प्राप्त करने के लिए घोर तपस्या मे निरत था। उसकी उग्र तपस्या से सन्तुष्ट हो ब्रह्माजी ने उसे अभिमत वरदान दिया जिसके

पौराणिक अवन्तिका और उसका माहात्म्य

माहात्म्य से वह प्रचण्ड कर्म करने लगा। यज्ञ दानादि की मर्यादा नष्ट करदी, देवताओं को स्वाधिकार से वंचित कर दिया, जिससे अति दुःखी हो देवगण प्रजापति (ब्रह्मा) की शरण में गये, उनकी आर्ति सुन ब्रह्माजी अति दुःखी हुए और अपने को सहायता करने में असमर्थ जान देवताओं को साथ ले महाकालवन की ओर प्रस्थित हुए। वहाँ पहुँचकर शिवजी के उपदेश से सभी लोगों ने हवन दानादि किये, स्वयं शिवजी ने रक्तदन्तिका चण्डिकादेवी की आराधना की और देवताओं के इस महत्कार्य में सहायता की प्रार्थना की। देवी ने प्रसन्न होकर शंकर को महापाशुपत नामक अस्त्र दिया, जिसके द्वारा उन्होंने उस मायावी त्रिपुरासुर को तीन खण्डों में कर दिया। चूंकि इसी पुरी के माहात्म्य से देवताओं ने अपने पूर्वपदों की प्राप्ति की और प्रबल शत्रु त्रिपुर को उज्जित (बुरी तरह से पराजित) किया अतः तभी से इसका नाम उज्जयिनी पड़ा।

पद्मावती नामकरण का कारण बताते हुए कहते हैं कि एक बार दुरात्मा दैत्यों के कारण देवताओं को रत्नों की कमी पड़ गई थी तब उन्होंने दानवों तथा दैत्यों से कूटसन्धि कर पुराण प्रसिद्ध समुद्र मथन की योजना बनाई, जिसमें चौदह अमूल्य रत्न निकले जिनमें से अच्छी वस्तुएँ देवताओं के ही हाथ लगीं। और उनकी यह मन्त्रणा तथा कार्यनिष्पत्ति उज्जयिनी पुरी में ही हुई। इस कारण उन्होंने विचारा कि सचमुच इस पुण्यपुरी में पद्मा (लक्ष्मी) निश्चल रूप से निवास करती हैं अतः इसका पद्मावती नाम अति समीचीन है।

इस अतिमनोहारिणी पद्मावती नगरी के सरोवरों, गृहवापियों तथा अन्य जलाशयों में कुमुदिनी तथा कुमुद अति परिमाण में पुष्पित रहते हैं, तथा यहाँ के सुनिर्मल प्रान्तों, प्रासादों तथा राजपथों पर चाँदनी की चकाचौंध सर्वदा लगी रहती है अतः इसका नाम कुमुद्वती अति उत्तम प्रतीत हो रहा है, ऐसा निश्चय हुआ था।

अमरावती नाम पड़ने का कारण बताते हुए सनत्कुमार कहते हैं कि एक बार प्रजा की कामना से महर्षि कश्यप ने ब्रह्माजी के आदेश से इसी महाकालवन में परम तप किया। इसी अवसर पर आकाशवाणी द्वारा उन्हें यह सूचना मिली कि 'उनकी मन कामना सिद्ध हो जायगी और उनकी सन्तति कभी इस भूतल से विनष्ट नहीं होगी, अदिति छाया की भाँति उनकी सेवा में तत्पर रहेगी।' आकाशवाणी सुन महर्षि कश्यप अति प्रसन्न हुए और सृष्टि रचना में दत्तचित्त हुए। परिणामतः उनके द्वारा अमृतपायी देवताओं की वृद्धि हुई। उन्हें नन्दनवन, मनोरथदात्री कामधेनु, पारिजात वृक्ष, अम्लानपंकजा माला, विन्दु सरोवर आदि स्वर्गीय विभूतियाँ उसी महाकालवन में ही प्राप्त हुईं। और सभी को देवत्व की भी प्राप्ति हुई। अतः तभी से उन अमरों की निवासस्थली होने के कारण इसे अमरावती कहते हैं।

उस अमरावती नगरी में विशाल राजप्रासाद तथा भवनों के होने के कारण उसका नाम विशाला पड़ा। तथा प्रत्येक कल्पों में जबकि संसार की अन्य वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं और युगादि में पुनः उत्पन्न होती हैं, परन्तु इसका विनाश कभी नहीं होता अतः प्रतिकल्पा भी इसका नाम रखा गया। इस प्रकार दिव्य माहात्म्यों तथा कथाओं की अवन्तीखण्ड में भरमार है।

इस अवन्तीपुरी में प्रमुख अट्ठाईस तीर्थ हैं, तीर्थयात्री प्रयतमना हो कार्तिक, माघ, आषाढ़ एवं विशेषतया वैशाख में इनकी यात्रा करे, या तो जब कभी भी जाकर वह दर्शन कर अक्षय पुण्य प्राप्त कर सकता है। सर्व प्रथम रुद्रसर नामक तीर्थ में नित्य स्नान करे तथा सुवर्ण निर्मित गौ का दान करे, फिर शकराज नामक सरोवर को जाए और वहाँ घृतपूर्ण पात्र का दान दे, फिर नृसिंह नामक तीर्थ में स्नान कर काला मृगचर्म दान करे, फिर नीलगंगा और क्षिप्रा के पवित्र संगम स्थल पर स्नान कर संगमेश्वर का दर्शन करे और वाहनादि का दान करे, फिर पिशाच्यमोचन नामक तीर्थ को जाए और वहाँ दैनिक कार्य सम्पन्न कर निर्धन परिवारवाले ब्राह्मण को, जो वेदों का जाननेवाला हो, गौ दान करे। फिर पिशाचेश का दर्शन कर गन्धर्व तीर्थ को जाए और वहाँ पिङ्गलेश्वर देव की विधिवत् पूजा करे। फिर केदारतीर्थ में कम्बल दान करे, तदनन्तर क्रमशः चक्रतीर्थ, सोमतीर्थ, देवप्रयाग, वेणीतीर्थ, योगतीर्थ, कपिलाश्रम, घृतकुल्या, ऊषर, आदित्येश्वर, कालभैरव, द्वादशार्क, एकानंशा, अंगारकतीर्थ, गणेश्वरतीर्थ शक्तिभेद, प्रेतशिला, पितामहतीर्थ, मन्दाकिनी तीर्थ, यज्ञेश्वर महादेव की यात्रा कर फिर अन्य देवताओं का दर्शन करे। ये उपर्युक्त पौराणिक अवन्ती के तीर्थ स्थान हैं। उन उन तीर्थों में स्नान कर तत्रस्थ देवताओं की विधिवत् पूजा करने का विधान है। तथा विद्यार्थी शिव की, धनार्थी कुबेर की, सुतार्थी इन्द्र की, बुद्धि का इच्छुक गणेश की, प्रियार्थी शेष नाग की पूजा कर उज्जयिनी में अपने मनोरथ को प्राप्त करता है, यह यहाँ का विशेष माहात्म्य है।

ब्राह्मपुराण में अवन्ती के जो वर्णन हैं, वे प्रायः इसीसे मिलते जुलते हैं, उनके पृथक् उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।
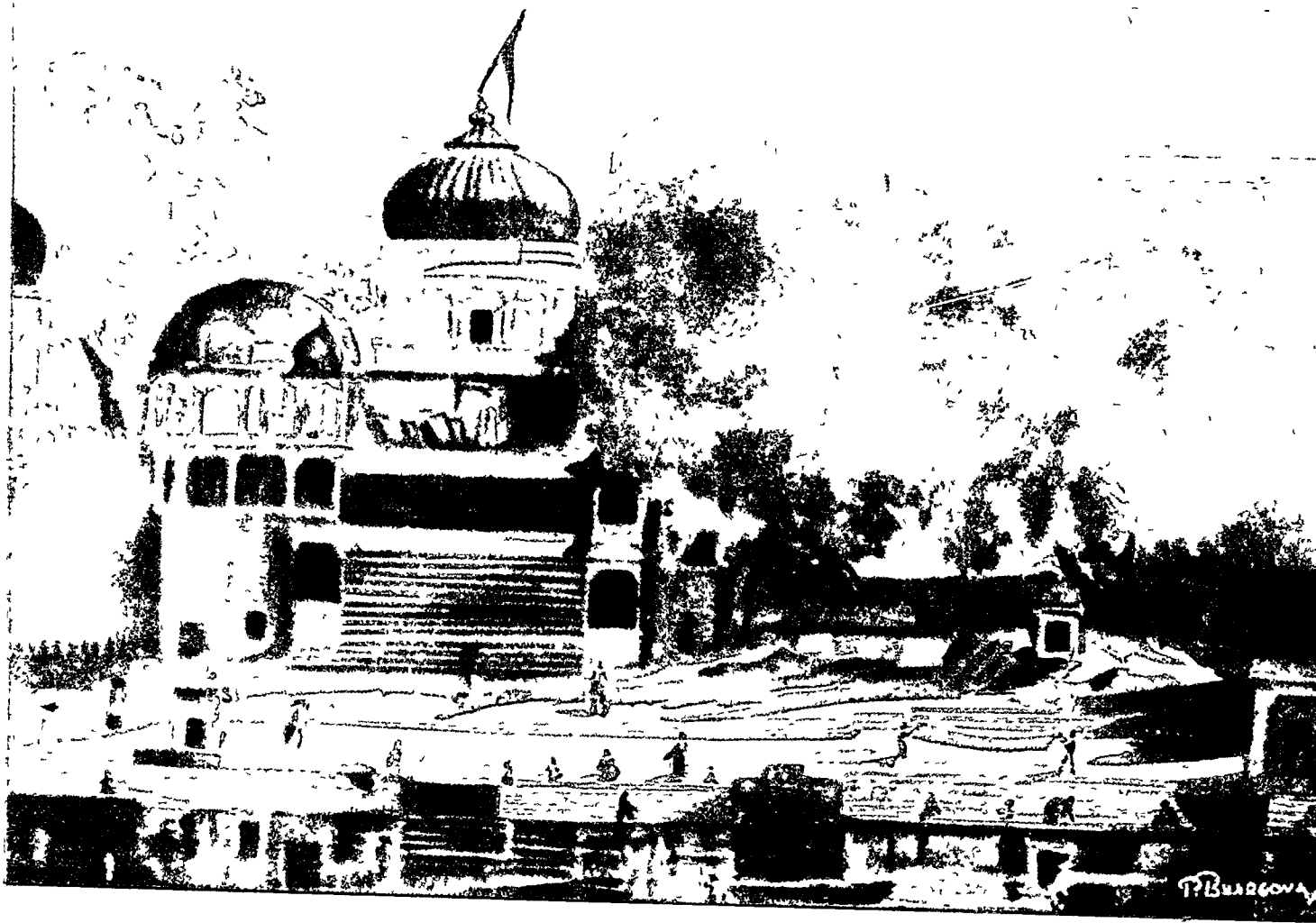
क्षिप्राघाट

(चित्रकार—श्री पी० भार्गव, मथुरा)
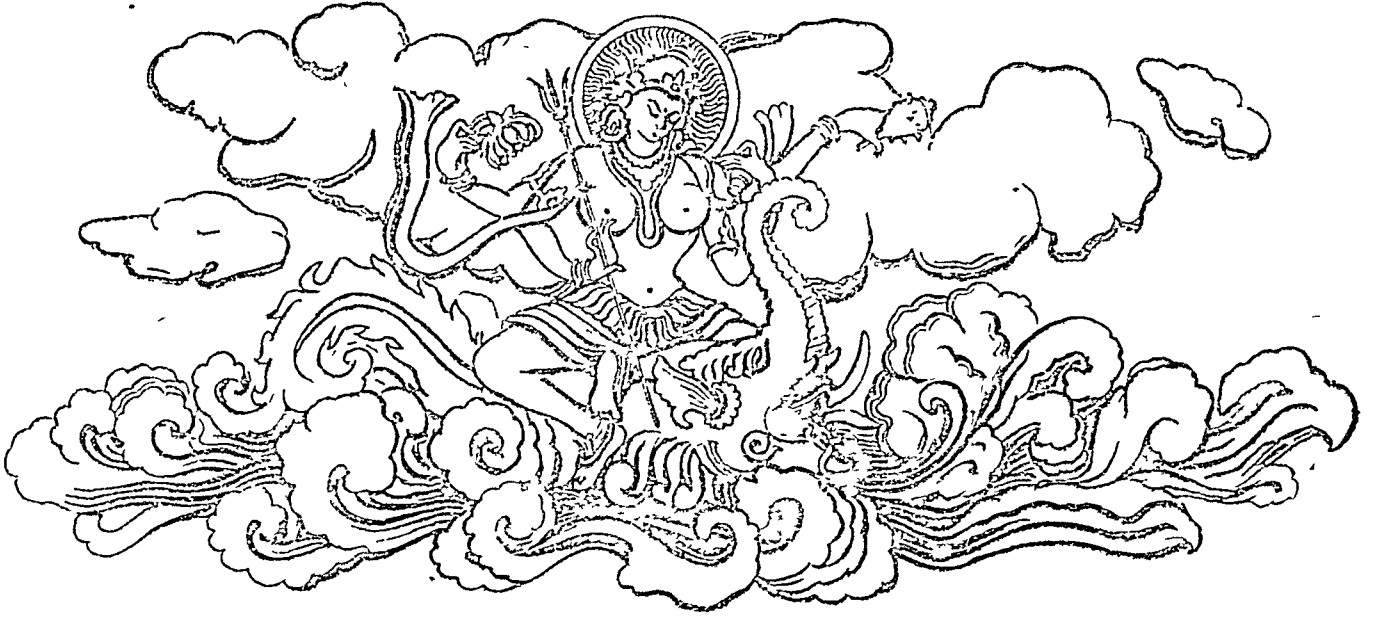
क्षिप्रा की महिमा

श्री पंडित दयाशंकर दुबे एम० ए०, एल-एल० बी०
और
साहित्यरत्न पंडित रामप्रताप त्रिपाठी, व्याकरणशास्त्री

क्षिप्रा मालव देश की सुप्रसिद्ध और पवित्र नदी है। यह इन्दौर के पास विन्ध्याचल पर्वत मे निकलकर चम्बल नदी मे मिल जाती है। इसकी लम्बाई करीब १५० मील है और तेज बहनेवाली नदी होने के कारण इसका नाम क्षिप्रा पडा है। भारत का प्राचीन उज्जैन नगर इसी नदी के तट पर बसा हुआ है। दो हजार वर्ष पूर्व भारत सम्राट् महाराजा विक्रम की यह राजधानी थी। आजकल भी यह ग्वालियर राज्य का एक सुप्रसिद्ध नगर और तीर्थ स्थान है। हिन्दुओं के सात पवित्र नगरो मे इसकी गणना है। इस नगर मे क्षिप्रा के अनेक सुन्दर और रमणीक पक्के घाट है, जिनमे से रामघाट मुख्य है। महाकालेश्वर ज्योतिर्लिंग का मन्दिर क्षिप्रा के तट पर ही है। इसके कारण इस नदी की पवित्रता और भी बढ गई है। उज्जैन से करीब तीन मील दूर सिद्धवट इसी नदी के किनारे पर है। प्राचीन कालियादह महल भी क्षिप्रा के तट पर ही है। इस महल मे सूर्य भगवान् के प्राचीन मन्दिर होने का प्रमाण मिलता है। इस महल को माडव के सुलतान नसीरुद्दीन खिल्जी ने बनवाया था। सम्राट् अकबर और जहाँगीर इस महल मे आकर महीनो रहते थे। महाराजा माधवरावजी शिन्दे ने इस महल की मरम्मत कराके इसे स्वर्गतुल्य बना दिया है। यहाँ का शीतल मन्दसमीर, यहाँ के विचित्रकला सम्पन्न बावन कुण्ड, यहाँ के रंग-बिरंगे सुन्दर वृक्ष, और क्षिप्रा का पवित्र किनारा दर्शकगणो के मन को आकर्षित कर लेता है।

भगवान् कृष्ण ने अपने गुरू महर्षि सान्दीपन से इसी नदी के किनारे शिक्षा प्राप्त की थी। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ अपने शिष्य भर्तृहरि के साथ इसी नदी के समीप निवास करते थे। भर्तृहरि के शतकत्रय की रचना भी यही पर हुई थी। भारत-सम्राट् विक्रम के समय मे महाकवि कालिदास की अपूर्व प्रतिभा का विकास इसी नदी के तट पर हुआ और शकुन्तला, रघुवंश और मेघदूत की सुन्दर रचनाएँ यही पर हुई। बाण की कादम्बरी, चारुदत्त का मृच्छकटिक, कल्हण की राजतरंगिणी इत्यादि ग्रंथरत्नो की सृष्टि इसी नदी के तट पर हुई। क्षिप्रा ने हिन्दुओं के प्राचीन वैभव को देखा है और उसके अधःपतन की

भी वह साक्षी ह। मुसलमाना के शासनकाल का समय बिताकर अब यह महाराजा ग्वालियर के सुशासन का आनन्द ले रही हैं।

पुराणा में इस नदी के चार नाम पाये जाते ह—क्षिप्रा, ज्वरघ्नी, पापघ्नी और अमृतसम्भवा। इन चारा नामा के सम्बन्ध में स्कन्दपुराण के अवन्तीखण्ड के ६९वें अध्याय तथा अन्य तीन अध्याया में जो कथा दी हुई हैं उसका वर्णन सक्षेप में नीचे किया जाता हैं।

व्यासजी सनत्कुमार से अवन्ती माहात्म्य का सुन लेने के बाद पूछते ह —"वेदज्ञानिया में श्रेष्ठ! म परम पवित्र कल्मषनाशिनी क्षिप्रा का माहात्म्य तुमस फिर सुनना चाहता हूँ।" सनत्कुमार ने कहा "भाग्यशाली व्यासजी! जिस प्रकार परमपावन महाकालवन में क्षिप्रा की उत्पत्ति हुई उस म तुमस बतला रहा हूँ। सुनो वत्स! इस समस्त पृथ्वीतल में क्षिप्रा के समान पुण्यदायिनी कोई अन्य नदी नहीं ह, जिसके किनारे क्षणभर में मुक्ति प्राप्त होती हैं, अधिक दिना तक के सेवन के लिए तो कहने की बात ही क्या हैं। यह पवित्र नदी वकुण्ठ में क्षिप्रा, स्वग में ज्वरघ्नी, यमद्वार में पापघ्नी तथा पाताल में अमृतसम्भवा नाम स विख्यात ह।"

व्यास ने पूछा—"महाराज! आपने तो बडी विचित्र बाते क्षिप्रा के विषय में बतलाई, कृपया सक्षेप में मुझे उसकी इस पापनाशिनी कथा का सुनाइये।"

सनत्कुमार ने कहा—"व्यासजी! जब शिवजी ब्रह्मा के कपाल* को लेकर भिक्षार्थ सभी लोका और सारी दिशाओं का भ्रमण कर चुके और उन्हें कहीं भी भिक्षा नहीं मिली, तब अतिक्रुद्ध तथा क्षुधित होकर मन में लोका की निन्दा करत हुए वे सायकाल क समय वकुण्ठ-लोक में पहुँचे और वहाँ जाकर आवाज दी कि "भगवन्! म सभी लोका स चक्कर लगाता हुआ यहा आ रहा हूँ और अति क्षुधित हूँ, मुझे भिक्षा दीजिए"। क्रुद्ध होने के कारण हाथ में कपाल को दिखाते हुए शिवजी ने वारम्बार जब यही रट लगानी शुरू की तब भगवान् विष्णु ने अपने हाथ को ऊपर उठाकर तजनी अगुली दिखलाते हुए कहा—'शिव! म भिक्षा तो तुम्हारी द रहा हूँ, ग्रहण करो।' भगवान् की अगुली दिखलाने को शिवजी सहन नहीं कर सके और तुरन्त अपने त्रिशूल स उन्होंने उसमें आघात कर दिया, जिससे रक्त की धारा बह निकली और उनके हाथ में रखा सारा कपाल शीघ्र ही भर गया और उसके चारों ओर रक्त की धारा बह निकली। वही धारा क्षिप्रा नदी के रूप में परिणित हुई। इस प्रकार त्रिलोक को पवित्र करनेवाली नदी शीघ्रता से वैकुण्ठ से प्रादुर्भूत हुई और तीनो लोका में उसकी प्रसिद्धी हुई।"

सनत्कुमार ने कहा—"अब इसके ज्वरघ्नी नाम पडने का कारण म बतला रहा हूँ। सुनो यह कथा तब की ह जब बाणासुर नामक दत्य भगवान् कृष्ण के साथ युद्ध कर रहा था। अनिरुद्ध स अपमानित हो सहस्र हाथा में विविध प्रकार के शस्त्रास्त्रों को धारण कर भगवान् कृष्ण पर जब अति क्रुद्ध होकर वह प्रहार करने लगा तब भगवान् ने सुदर्शन चक्र धारण कर अपने अति तीक्ष्ण शस्त्र अस्त्र से उसकी सहस्र बाहुओं को काट डाला। तब अपमानित तथा घायल होकर बाणासुर युद्धभूमि छोड अपने इष्टदेव शकरजी की शरण में गया। अपने भक्त की ऐसी दयनीय दशा देखकर भक्तवत्सल शकरजी दयावश स्वय युद्धभूमि में गये, जहाँ भगवान् कृष्ण अति क्रोध में अभी तक खडे थे। जाते ही शकरजी ने अपने तीक्ष्ण बाणा को उन पर छोडा। उन्होंने भी अपने विकराल बाणों को शिव पर छोडकर वध की इच्छा से अपने वैष्णव अस्त्र को छोडा। तब शकरजी ने भी उनके सहाराथ अपने पाशुपतास्त्र का सधान किया। परिणामत सभी लोकों में कोलाहल मच गया। उपरान्त कृष्णजी ने अपने सम्मोहनास्त्र का शिव पर प्रयोग किया, जिससे उन्हें रणभूमि में भी जम्हआई आने लगी, किन्तु थोडी ही देर में वे प्रकृतिस्थ हुए और अपने शरीर से माहेश्वर† ज्वर को उत्पन्न किया और देखते ही देखते उनके मस्तक से वीरभद्र

* यह कथा पुराणों में कई स्थलों पर आ चुकी ह कि शिवजी ने ब्रह्मा का शिर आवेश में आकर काट लिया था, जिससे उन्हें कपाल लेकर सारे भूमण्डल पर घूमना पडा था, प्रस्तुत कथा वहीं से प्रारम्भ होती ह।

† आयुर्वेद ज्वरोत्पत्ति के प्रकरण में यही कथा आती ह।

श्री दयाशंकर दुबे

भी निकल पडे। तीन नेत्र, तीन मस्तक, अल्पकाय, तीन चरण आदि अति भयानक आकृतिवाले उक्त ज्वर ने भगवान् कृष्ण की सारी सेना को व्याकुल कर विनष्ट कर दिया। बची हुई सेना कृष्ण के सामने ही भागने लगी। तब भगवान् ने वैष्णव ज्वर को उत्पन्न किया और तब उन दोनो ज्वरों मे भयानक युद्ध छिड़ गया। थोड़ी देर बाद वैष्णव ज्वर से व्याकुलित माहेश्वर ज्वर ने शरणार्थ तीनो लोको मे भागते हुए चक्कर लगाना शुरू किया, किन्तु कही भी उसे शान्ति नही मिली, तब महाकालवन मे आया और क्षिप्रा की धारा मे मग्न हो गया। इस प्रकार उस भीषण माहेश्वर ज्वर को क्षिप्रा मे शान्त होते देख वैष्णव ज्वर ने भी उसमे प्रवेश कर अवगाहन किया। थोडी ही देर मे क्षिप्रा के अद्भुत प्रभाव से वे दोनो ही शान्त होकर विनष्ट हो गये। यही कारण है कि क्षिप्रा को ज्वरघ्नी कहते है। जो प्राणी भीषण ज्वर से पीड़ित होकर सावधान चित्त से क्षिप्रा मे स्नान करते है तथा उसके पवित्र तट पर निवास करते हैं, उन्हें कभी ज्वर की बाधा नहीं होती।"

सनत्कुमार ने कहा—"परम तपस्विन्! अब मै क्षिप्रा के पापघ्नी (पापनाशिनी) नाम पडने का कारण सक्षेप में तुम्हे बतला रहा हूँ। प्राचीनकाल में कीकट देश मे एक दमनक नामक राजा था, जो घोर धर्मो का विनाशक, गौ तथा ब्राह्मणो की निन्दा एवं अपकार करनेवाला, मद्यप, सुवर्ण की चोरी करने वाला, गुरू की शय्या पर बैठनेवाला, और दूसरे के मागलिक कार्यो मे बाधा उपस्थित करनेवाला था। वह सर्वदा प्रजावर्ग का सर्वस्व अपहरण करने की ताक मे लगा रहता था, दूसरे की बहू-बेटी पर उसकी बुरी दृष्टि थी, पक्का धूर्त कपटी, कुसंगी चुगुल व चोरों का समर्थक था। गौशाला और नगरों को तुडवा देता था, किसी के घर को उजड़वा देना उसके बाएँ हाथ का खेल था। दूसरों की निन्दा करनेवालों का सम्मान करता था, संक्षेप में यह कि उसके समान पापाचारी तथा नीच राजा न तो पृथ्वी पर कभी हुआ और न होगा। एक बार शिकारियों को साथ ले वह महाकालवन के समीप शिकार खेलने गया और संयोग से सभी लोगो का साथ छूट गया, रात में भूख प्यास से व्याकुल होकर उस भयानक वन मे एक वृक्ष के नीचे घोडे को बाँधकर वह बैठ गया, इतने ही में वृक्ष पर से एक सर्प उसके शिर पर गिरा। जब तक उसने हाथ से उठा कर उसे फेकना चाहा तब तक उस विकराल सर्प ने उसके अगूठे मे काट खाया। परिणामत: उस निर्जन वन मे वह थोडी ही देर के बाद चल बसा। पश्चात् यमराज के दूतो ने उसे पूर्व जन्म के कुकर्मों के अनुरूप कठोर दण्ड देना शुरू किया। व्यासजी! इतने ही समय मे वन के पशुओ ने राजा के शरीर से माँसपिण्डों को नोच-नोचकर समाप्त कर दिया, कुछ अवशेष अंश को एक कौवे ने देखा और उसे उठाकर वह आकाश से उडता हुआ क्षिप्रा के ऊपर पहुँचा तब तक अन्य कौवे भी वहाँ पहुँच गये, और आपस मे छीना झपटी होने लगी। सयोग से वह माँस पिण्ड धारा में गिर पडा। भगवान् के अगूठे से निकलने के कारण पापनाशिनी क्षिप्रा के अनुपम प्रभाव से राजा तुरंत ही शिवरूप मे परिणित हो गया। त्रिलोचन, व्याघ्रचर्मधारी, चन्द्रभाल शिव रूप मे राजा को देख और तुरत ही शिवदूतों से ताडित हो यमदूतों ने वहाँ से भगकर यमराज की शरण ली, और निवेदन किया कि महाराज! परम पतित, गौ-ब्राह्मण की हत्या करनेवाला, कपटी, परम नीच, उस राजा दमनक को शिवरूप की प्राप्ति क्योकर हो गई? बहुत दिनो के बाद हम लोगों को यही एक अपराधी मनमानी दण्ड देने के लिए मिला था, सो उसकी यह गति हो गई अब हम लोग क्या करें? बेकार तो बैठे भी नहीं रहा जाता। धर्मराज ने ध्यान लगाया तो उन्हे सारी बातें स्पष्ट हुईं, धीरज बँधाते हुए उन्होने कहा—अनुचरगण! सावधान होकर सुन लो, महाकालवन मे पतित पावनी क्षिप्रा नदी बहती है, जो प्राणी उसके जल का स्पर्श करता है उसे पाप का स्पर्श नही होता। क्षिप्रा के सेवन से मन, शरीर और वचन से किये गये पापपुञ्ज तत्क्षण नष्ट हो जाते है। यही नहीं जो प्राणी केवल 'क्षिप्रा, क्षिप्रा' नामोच्चारण ही करता है, वह भी शिवत्व की प्राप्ति करता है। वैशाख के महीने मे जो प्राणी इस क्षिप्रा मे स्नान करते है वे शिव रूप धारण कर अनन्तकाल तक विहार करते हैं, उन्हे किसी नरक का दर्शन तक नहीं होता। बावली, कूप एवं सरोवर आदि के जल से नदी का जल दस गुणित पुण्यदायी होता है, सभी सामान्य नदियों से दस-गुणित अधिक तापी नदी का माहात्म्य है, उमसे दस गुनी अधिक गोदावरी तथा गोदावरी से दस गुनी अधिक पुण्यदायिनी नर्मदा है। उस नर्मदा से भी दस गुनी अधिक पुण्यदायिनी गगा कही जाती है, किन्तु यह क्षिप्रा तो उससे भी दस गुनी अधिक पुण्यशालिनी है। यह परमपावनी नदी अवन्तिका पुरी मे है। अधिक क्या वर्णन करे, देवता तक उस पुण्यसलिला के दर्शन की अभिलाषा मे रहते है।" धर्मराज की ऐसी बाते सुन उनके अनुचरगण परम विस्मित हुए।

क्षिप्रा की महिमा

सनत्कुमार ने कहा—"व्यासजी ! अब म क्षिप्रा के नागलोक में अमृतोद्भवा नाम पडने का कारण तथा उसका माहात्म्य वतला रहा हूँ, सुनिये। उसी प्रसग मे एक वार अति क्षुधित शिवजी भिक्षार्थ नागलोक में घूमते घूमते भोगवती पुरी मे पहुँचे और घर घर भिक्षा की रट लगाई, किन्तु किसी ने उन्हें भिक्षा नही दी, तव अति क्रुद्ध हो लाल नेत्र त्रिशूलधारी शिवजी भोगवती से वाहर निकले, जहाँ पर नागलोक की रक्षा के लिए अमृत के इक्कीस कुण्ड भरे हुए थे। वहाँ अमृत को रखा देख सर्वव्यापी कल्याणकारक शिवजी ने अपने तीसरे नेत्र से उन अमृत के कुण्डों से अमृतरस का पान कर लिया, परिणामत सभी कुण्ड रिक्त हो गये, और सारा नागलोक थर्राने लगा। सभी वासुकि आदि नागराज यह कहकर शोर मचाने लगे कि अरे किसने ऐसा दुष्कर कार्य किया, यह सारा का सारा अमृत कहाँ चला गया, किसने उसे पी लिया, अव हम लोग कैसे जीवित रह सकेंगे। थोडी देर पश्चात्ताप करने के बाद स्त्री-बालक वृद्ध सभी नागगण शंकित चित्त हो मन में भगवान् विष्णु का ध्यान करने लगे। भगवान के अनुग्रह से आकाशवाणी हुई कि नागो ! तुम लोगो ने देवताओं का अपमान किया था, हाथ में कपाल लिए अति क्षुधित शिवजी भिक्षार्थ अतिथि वेला में तुम लोगो की नगरी में घूमते रहे किन्तु किसी ने उन्हें भिक्षा नही दी, और वे निराश होकर वाहर चले आये। उसी कारण से तुम लोगो के कुण्डों से सारा अमृत गायव हो गया, अव तुम लोग पाताल से मर्त्यलोक के महाकालवन को जाओ, वहाँ क्षिप्रानामक एक पुण्यप्रदा नदी है, जो तीनों लोकों को पवित्र करनेवाली है, तथा सभी मनोरथों को पूर्ण करनेवाली है, उसके दर्शनमात्र से सभी पापों का विनाश होता है, वहाँ जाकर तुम लोग विधिपूर्वक स्नान करो और देवाधिदेव शिवजी की आराधना करो, तव पवित्र होओगे और तव शिवजी की कृपा से और क्षिप्रा के माहात्म्य से तुम लोगों के लोक में अमृत पुन प्राप्त होगा।" इस प्रकार की आकाशवाणी सुनकर सव नागों ने वास्तविक स्थिति समझी और वाल-वृद्ध-स्त्री समेत महाकालवन को प्रस्थित हुए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने त्रैलोक्यवन्दिता क्षिप्रा का दर्शन किया। उस क्षिप्रा नदी का मनोहर तट कुश और घासों से सर्वत्र कहीं आकीर्ण था, वृक्षों की शीतल और सुखद छाया परिश्रम को नष्ट करनेवाली थी, कारण्डव पक्षी हिलोरें ले रहे थे, मणिमुक्ता और मूँगा से जटित सीढियाँ वनी हुई थी, चारों ओर उसमें पद्मराग की चमक हो रही थी। सायकाल और प्रात काल ब्राह्मणों के झुण्ड के झुण्ड उसमें सन्ध्या वन्दनादि करते रहते थे। परम ऐश्वर्यवान महर्षि भृगु और आंगिरस उसके तट पर समाधि में लीन थे, गन्धर्वों समेत नारदादि देवर्षि आनन्दविभोर हो रहे थे। वसुगण आदित्यगण, अश्विनीकुमार, पवन, रुद्र, देवगण, निर्मल चित्त पितरगण सावधान चित्त हो सन्ध्या समय क्षिप्रा के सेवनार्थ आते थे। ऋषियों की पत्नियाँ, देव कन्याएँ, अप्सराओं के समूह, परम ऐश्वर्यशालिनी पतिव्रता ग्रहस्थों की स्त्रियाँ, अपने पतियों समेत यहाँ उपासना में तल्लीन थी। वडे वडे राजर्षि गण दान कर रहे थे। सिद्ध योगीश्वर गण शान्त चित्त हो ध्यान लगा रहे थे। सभी प्रकार के सौन्दर्य से युक्त क्षिप्रा को देखकर नागगण अति प्रसन्न हुए। और स्नानदानादि से निवृत्त हो महादेव की आराधना की, और वेदोक्तविधि से पूजा कर स्तुति की। नागों की स्तुति से आशुतोष भगवान् अति सन्तुष्ट हुए और वोले कि 'नागगण ! म एक वार भिक्षार्थ तुम लोगो के लोक मे कपाल धारण किए घर घर घूमता रहा किन्तु किसी ने मुझे भिक्षा नही दी। तुम लोगों के इसी पाप से सब अमृत नष्ट हो गया, किन्तु कुछ पुण्य शेष था जिसके प्रभाव से ऐसे परम पुनीत स्थान में तुम लोग आ गये और सभी लोगो ने पतितपावनी क्षिप्रा का अमोघ दर्शन प्राप्त किया। नागगण ! इस पुण्यसलिला के दर्शन करनेवाले मेरे पद को प्राप्त करते है।' शिवजी की वाते सुन उन लोगों ने स्त्री वच्चों समेत क्षिप्रा में स्नान किया और उन्हीं के आदेश से उसके जल को ले जाकर अमृत के उन रिक्त कुण्डों मे छिडका जिससे वे पूर्ववत् पूर्ण हो गये। व्यासजी ! तभी से इस क्षिप्रा का नाम अमृतोद्भवा कहा जाता है, और सभी लोको में इसकी यह प्रसिद्धि है। पृथ्वी तल में जो लोग इसमें स्नान करते है, उनके सभी रोग दोषादि नष्ट हो जाते है, सारी विपत्तियाँ अपने आप दूर हट जाती है। पुत्र, स्त्री, मित्रादि से कभी वियोग अथवा कष्ट नही होता। यह क्षिप्रा यों तो सर्वत्र कल्मषनाशिनी है, किन्तु अवन्तिका मे इसका विशेष माहात्म्य है।

उपर्युक्त कथाओं मे एक वात विशेष ध्यान देने योग्य है। क्षिप्रा के जल मे अमृत के गुण वतलाए गए है और यह कहा गया है कि जो प्राणी भीषण ज्वर से पीडित होकर क्षिप्रा में स्नान करते है वे ज्वर से मुक्त हो जाते है और जो क्षिप्रा का सेवन करते हैं उनको ज्वर की वाधा नही होती। क्षिप्रा के जल की जाँच वैज्ञानिक ढंग से की जानी चाहिये और ज्वर के रोगियों मे भी क्षिप्रा के जल के प्रयोग करने की आवश्यकता है।

महादजी शिन्दे के शासन में उज्जैन

डॉ० सर यदुनाथ सरकार एम्० ए०, डी० लिट्०, सी० आई० ई०

[महाराज महादजी शिन्दे राजपूताना के झगड़ो से निवृत्त होकर पूना जाने और वहाँ के मन्त्रिमण्डल से स्वयं वाद-विवाद करके कतिपय विवादास्पद बातों को तय करने---विशेष रूप से शिन्दे द्वारा उत्तर-भारत में एकत्रित किये गये कर और चौथ के सम्बन्ध मे उनका और पेशवा सरकार का लेना देना था, - उसका हिसाब करने, और फिर मालवे तथा उत्तर भारत में आकर अपने राज्य की व्यवस्था करने की इच्छा से वे २१ जनवरी १७९२ को उज्जैन पहुँचे। हमें ज्ञात है कि उनकी इन आशाओं की पूर्ति होने का नियति का विधान नहीं था---कारण कि उक्त सब प्रश्न जैसे के तैसे अनिर्णीत ही छोड़कर वे १२ फरवरी १७९४ को पूना में स्वर्गवासी हुए। महादजी के साथ ब्रिटिश रेजीडेण्ट, मेजर विलियम पामर थे, जो १७९१ के राजपूताना के अभियान में उनके साथ नहीं गए थे, कारण कि महादजी उस देश में प्रयाण करने की कठिनाइयों का सामना उन्हें नहीं कराना चाहते थे। अतः महादजी के कहने पर पामर ने आगरे से उज्जैन को प्रस्थान किया, जहाँ वे १५ अप्रैल १७९२ से १४ मार्च १७९३ तक ग्यारह मास पर्यन्त रहे। रेजीडेन्सी के चिकित्सक-अधिकारी डॉक्टर विलियम हण्टर ने अपनी २३ फरवरी १७९२ से आगरा से प्रस्थान करने और २१ अप्रैल १७९३ को फिर उसी नगर में लौटकर आने की यात्रा-संधियों का तथा अपने देखे हुए प्रदेश का विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन का लेखा छोड़ा है, उसमें से प्राचीन उज्जैन की एक झलक नीचे उद्धृत की गई है। वर्तमान शासन में उस नगर की सड़कों, भवनों, स्वास्थ्य-संरक्षण तथा कलाकौशलों में जो परिवर्तन किए गए है, वे आगे वर्णन की गई नगर की रचना के साथ साथ देखे जाने पर आश्चर्यजनक प्रतीत होंगे।]

आजकल जो नगर उज्जैन अथवा अवन्ती कहलाता है, वह उस प्राचीन नगर से एक मील दक्षिण मे बसा हुआ है, जो सुविश्रुत महाराज विक्रमादित्य के काल के लगभग प्रकृति के प्रचण्ड प्रहार से विनष्ट हो गया था।.........यह कहा जाता है कि आकाश से हुई धूलवृष्टि ने नगर एवं नगर-निवासियों को भूगर्भ मे सुला दिया था।.........

महादजी शिन्दे के शासन में उज्जैन

जहाँ प्राचीन नगरी खडा थी, यह कहा जाना है कि वहाँ अब भी १५ फीट से १८ फीट तक गहरा खोदा जाने पर इटो की पूरी पूरी भीत, पत्थर के स्तम्भ तथा लकडी के टुकडे असाधारण दृढ़ पाए जाते हैं। उन्ही स्थानो को खोदने से कभी कभी विभिन्न भाति के बरतन और प्राचीन सिक्के मिले है। हमारे उज्जैन के निवासकाल में एक व्यक्ति को ईंटो के लिए मिट्टी खोदने में बहुतसा गेहूँ प्राप्त हुआ था। यह इस स्थिति मे था कि देखने मे कोयले से मिलता जुलता था। इस टीले की मिट्टी नरम होने से वर्षा से उसमे अनेक कटाव हो गए है और इनमे से एक कटाव में, जिसमे से अनेक पत्थर के स्तम्भ खोदकर निकाल लिए गए थे, मैने १२ फीट से १५ फीट तक लम्बा और ७ या ८ फीट ऊँचा टूटे और आपस मे सटे हुए मिट्टी के बर्तनो से बना एक स्थान देखा। इस स्थल और नवीन नगर के बीच में एक बडा भारी विवर स्थित है, जिसमे होकर—ऐसा अनुश्रुति कहती है—प्राचीनकाल मे क्षिप्रा नदी बहती थी, यह अब पश्चिम दिशा की ओर बहती है।

क्षिप्रा के वर्तमान तट पर, इन खन्डहरों मे भग्नावशेषो से मिली राजा भर्तृहरि की गुफा स्थित है। प्रागण के प्रवेश द्वार के आगे पत्थर के स्तम्भो की दो श्रेणिया है, एक पूर्व से पश्चिम की ओर चली गयी है और दूसरी उत्तर से दक्षिण की ओर। प्रागण में आप दक्षिण से प्रवेश करेगे और इसी मे दो गुफाओ के अथवा राजप्रासाद के विभागो के प्रवेश-द्वार है। सबसे बाहर का द्वार दक्षिण के प्रवेश द्वार मे है, और वह पृथ्वी के भीतर तीन फीट गहरा है। यह भाग (जो एक पार्श्व से है) इस प्रवेश द्वार से ठीक पूर्व की ओर एक लम्बे अलिन्द के रूप मे चला गया है, और विशाल प्रस्तर स्तम्भो पर आश्रित है, जिनपर मानव आकृतिया अत्यन्त निपुणता से खोदी गयी है अब चिन्ह बहुत कुछ मिट भी गए है।

अन्तःपुर का प्रवेश द्वार भी दक्षिण की ओर से है। यह पर्याप्त विस्तृत कक्ष है और प्रायः भूमि के समतल है। इसकी छत प्रस्तर-स्तम्भो पर आश्रित है, जिनपर लम्बे पत्थर आडे तीर की भाति पडे हुए है। उत्तर दिशा मे, द्वार के सामने एक छोटीसी खिडकी है, जिसमें से उस कक्ष में क्षीण प्रकाश पहुँचता है। बाएं ओर अथवा कक्ष के पश्चिम मे पत्थर के फर्श मे एक तिकोना छिद्र है, इस छिद्र में से आप मनुष्य की ऊँचाई के बराबर नीचे उतरने पर वास्तव में भूगर्भस्थ एव पूर्णत अन्धकारयुक्त कक्ष मे पहुँच जाएँगे। यह भी प्रस्तर स्तम्भो पर आश्रित है यह पहले पूर्व की ओर चला गया है और फिर दक्षिण को मुड जाता है। बाई ओर दो कक्ष लगभग ७-७ फीट लम्बे और ८-८ फीट चौडे है। दक्षिण छोर पर एक द्वार स्थित है जो मिट्टी और कूडा कर्कट से बन्द है। यहाँ रहनेवाले फकीर हमसे कहते है कि इसे गवर्नमेण्ट ने १२ या १४ वर्ष पूर्व बन्द करा दिया था।

जहा तक मैने निरीक्षण किया है, मुझे उन भग्नावशेषो में ज्वालामुखी द्वारा उगले हुए पदार्थों के कोई चिह्न नही मिले और न वहाँ आसपास कही शकु के आकार की वे पहाडिया है, जिनमे हम यह मान सके कि पूर्वकाल मे इतनी विशाल अग्नि निकलती हो, जिसका परिणाम उपर्युक्त दुर्घटना सम्भव हुई हो (अर्थात प्राचीन नगर का भूगर्भ मे दब जाना) भूकम्प का आना इसका अत्यन्त सम्भव कारण प्रतीत होता है जिसके विरुद्ध प्राप्त होने वाली भीतो की अभग्न अवस्था ही एकमात्र आपत्ति है। प्रचण्ड आधी द्वारा उडायी गई बिखरी रेत तथा धूल ही एकमात्र ऐसा अवशिष्ट कारण है जिसकी मै कल्पना कर सकता हूँ।

वर्तमान उज्जैन नगर आयताकार बसा हुआ है। इसकी परिधि छह मील के लगभग है। इसके चारो ओर पत्थर का परकोटा खिचा हुआ है, जिसमे गोल मीनार है। इसके भीतर की कुछ भूमि ऊजड भी है, परन्तु भूमि के अधिक भाग मे बस्ती ही है। इसमें अत्यन्त घनी इमारते है और इसकी जनसख्या बहुत अधिक है। यहा घर कुछ इटो और कुछ लकडी के बने है। परन्तु इटो के घरो का ढांचा भी पहले लकडी का तयार किया जाता है और फिर बीच के स्थान मे इटें चुन दी जाती है। ये या तो चूने के छतो से या खपरैल से छाये जाते है। मुख्य बाजार एक चौडा असकीर्ण पत्थर के फर्शवाला राज मार्ग है। दोनो ओर के घर दो खण्ड के है। नीचे के खण्ड जिनपर आप सडक से पाँच छ पत्थर की सीढियाँ चढकर पहुँचते है अधिकाश पत्थर के बने हुए है और उनमे दूकाने है। ऊपर के इट या लकडी के बने हुए खण्ड गृह-स्वामियो के उपयोग मे आते है।

यहाँ की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इमारतो मे लोगो की व्यक्तिगत रूप से बनवाई मस्जिदे है और बहुसख्यक हिन्दू मन्दिर है। इनमे से सबसे अधिक गौरवशाली मन्दिर नगर से बाहर थोडी दूर स्थित है। यहाँ एक प्रस्तरनिर्मित सरोवर है, जिसमे पत्थर

की सीढ़ियाँ नीचे पानी के किनारे तक चली गयी है, और इसे बहुत प्राचीन कहा जाता है। परन्तु इसे पत्थर की एक भीत से घेर दिया गया है और इस घेरे मे दो मन्दिर बनाये गए हैं, जिनका पवार वंश के रंग-राव अप्पा ने २५ वर्ष पूर्व निर्माण कराया था..............।

नगर मे शिन्दे का राजप्रासाद जो अभी पूर्ण तैयार नही हुआ है, विशाल एवं पर्याप्त अवकाशपूर्ण किन्तु सौन्दर्यविहीन भवन है। यह अन्य मकानो से इतना अधिक घिरा हुआ है कि बाहर से वह दृष्टिगोचर नही होता। इसके समीप एक द्वार बना हुआ है जो उस गढ का एकमात्र अवशेष है, जिसे कहा जाता है कि विक्रमादित्य के काल के थोडे पीछे ही बनवाया गया था।

नगर के भीतर तथा पूर्व की दीवार के पास एक बडी ऊँची पहाडिया है, जिसके शिखर पर महादेवजी का एक हिन्दू मन्दिर स्थित है और उसीसे लगी हुई गोगा शहीद नामक एक मुसलमान सन्त की समाधि है। यह पहाडियाँ दूर से ही दिखाई देती है और इसके शिखर पर देखनेवाले को प्रत्येक दिशा मे विस्तृत दृगत होता है।.........

पश्चिम की ओर मुडने पर उसकी दृष्टि, परस्पर मिलकर दृश्य मे अनेकविधता उत्पन्न करनेवाले शस्य-क्षेत्रों एवं फल वृक्षो के वृन्दो से सुशोभित उर्वरा घाटी मे होकर कल्लोल करती क्षिप्रा के कुटिल प्रवाह का अनुसरण दूसरे तट पर स्थित भैरोगढ दुर्ग द्वारा उसका ध्यान आकृष्ट होने तक करती है। स्वाद्र से ऊपर और अधिक आगे तथा नगर के मध्य भाग के लगभग सामने आवा चिटनवीस तथा रानाखाँ के सुन्दर उद्यान है। रानाखाँ के उद्यान को सौन्दर्य प्रदान करने मे कला का कोई अलकरण अछूता नही रखा गया है, और चिटनवीस के उद्यान मे प्रकृति की समृद्ध सुषमा उद्दाम लीला करती है। इनसे ठीक ऊपर को नदी से लगभग आधे मील की दूरी पर एक टीले पर वृक्षो का कुञ्ज है। इसमें शाह दवाल नामक एक दूसरे सन्त की समाधि है। परन्तु यह स्थान ३० वर्ष पूर्व सिन्धिया और उसके एक सरदार रघुपागिया के बीच रक्तपानपूर्ण भयकर युद्ध का स्थल होने के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह सिन्धिया द्वारा उदयपुर मे कर लगाने के लिए भेजा गया था और उसने रुपया वसूल करके उसका हिसाब देने से मना कर दिया। इसपर उसके स्वामी शिन्दे ने उसके परिवार को-जो उज्जैन मे रह गया था——कैद कर लिया। जिसके परिणामस्वरूप रघु ने ३०,००० सेना लेकर शिन्दे पर, जो उस समय केवल ५ या ६ हजार सेना के साथ उज्जैन मे था, आक्रमण कर दिया। इन असमान साधनो के साथ दोनो मे शाह-दवाल की समाधि के पास के मैदान मे युद्ध हुआ, किन्तु शिन्दे की सहायता के लिए ६ हजार गोसाई और आ मिले, और लड़ाई मे अकस्मात् एक गोली लग जाने से रघु के मारे जाने पर, उसके साथियो मे भगदड मच गयी, और वे परास्त हुए।

दक्षिण-पश्चिम मे दो मील लम्बा किनारो पर वृक्ष श्रेणियो युक्त चौडा मार्ग है, जो चिन्तामणि नाम के गणेश के मन्दिर पर समाप्त होता है। नगर की दक्षिण प्राचीर को छूती हुई क्षिप्रा प्रवाहित होती है, जो इस स्थान पर आकर सहसा घूम जाती है। नगर के एक छोर पर, जो जयसिहपुरा कहलाता है, अम्बर के राजा जयसिह की बनवाई एक वेधशाला स्थित है।

पूर्व की ओर मुडने पर.. जहाँ तक नेत्र देख सकते है एकसा मैदान है, जिसका अपवाद तीन मील की दूरी पर स्थित केवल एक शक्वाकार पहाडी है जिसके पीछे एक विस्तृत झील है, जो भोपाल को जानेवाले मार्ग के किनारे बाई ओर है। उसी स्थान पर उस मार्ग के दाईं ओर शिन्दे का रमना है जिसमे हिरण प्रचुर सख्या मे है। उस नगर के आश्रित उस जिले मे लगभग १७५ ग्राम और है, उसकी वार्षिक आय पाँच लाख रुपया है।

उज्जैन मे बोहरा परिवारो की संख्या १५०० है। परन्तु उस जाति का केन्द्र स्थान बुरहानपुर है, जहाँ उनके मुल्ला अथवा सर्वश्रेष्ठ गुरू निवास करते है। मुल्ला का लघुभ्राता उज्जैन मे निवास करता है और उसी पद मे वहाँ के निवासी बोहरों पर उस पद से सम्बद्ध लौकिक एव पारलौकिक प्रभुत्व का प्रयोग करता है। नगर मे बोहरों के पाँच मोहल्ले है और वे उसके अधिकार क्षेत्र मे है।

उज्जैन मे जो अंगूर पैदा होते है वे बुरहानपुर के अंगूरों से छोटे और स्वाद मे कुछ फीके होते है। परन्तु यहाँ की जलवायु का यह एक विशेष गुण है कि वर्षाऋतु मे यहाँ अंगूरो की दूसरी फसल आ जाती है, परन्तु वे खट्टे होते है और

पहिली फसल के अगूरा से निकृष्ट होते हैं। आम, अमरूद, केले, खरबूज, तरबूज, शरीफे, आटाह और अनेक प्रकार के नीबू, नारंगी तथा फालसे, जिनमे यहा के निवासी अत्यन्त आनन्ददायक कुछ खट्टा शबत तैयार करते ह, यहाँ उत्पन्न होनेवाले अन्य फल हैं। किसी किसी उद्यान में कही कही दुलभ फल के रूप में पपीता भी ह।

निर्यात व्यापार की मुख्य वस्तुएँ कपास, जो अधिक परिणाम में गुजरात भेजा जाता है, छीट एव अन्य छपा हुआ मोटा कपडा, आल या मोरिण्डा सिट्रीफालिया की जड और अफीम है अफीम जब सस्ती होती ह तब १५ रुपये और जब महँगी होती ह तब २५ रुपये स ३० रुपये प्रति धडी के भाव से बिकती है। एक धडी ५¼ सेर की और एक सेर ८० रुपये की तोल के बराबर होता ह।

आयात—बारीक श्वेत वस्त्र चदेरी और सीहोर से आते ह, बुरहानपुर से पगडी, साफे, साडियाँ और अन्य छीट के वस्त्र आते ह। सूरत से यूरोप और चीन के माल का आयात होता ह। मोती भी यहाँ आयात होता है। सिन्ध से हीग आती है और बुन्देलखण्ड स हीरे यहाँ होकर सूरत को जाते ह।

परन्तु इस देश के पश्चिमी तथा पूर्वी प्रान्तो में परस्पर अधिकतर व्यापार होता है, और उसमे इन्दौर राज्य को अधिक लाभ होता ह। कारण कि वहाँ आयात तथा निर्यात कर कम लगता है। उस स्थान (अर्थात इन्दौर) में एक बैल की लाद पर, जिसम तीन अथवा चारसौ रुपये का माल होता है, केवल चार या पाच आना कर लिया जाता ह, जबकि उज्जन में वह आयात तथा निर्यात हुए माल के मूल्य का दस प्रति शत होता है, और इस प्रकार वहाँ होकर जानेवाले माल पर का बीस प्रति शत लाभ चुगी आदि करो में ही चला जाता ह। अहिल्याबाई के बुद्धिमत्ता एव शान्तिपूर्ण, शासन प्रबन्ध के अन्तगत होने का सौभाग्य इन्दौर को प्राप्त था।

हमारे आने मे पूव तीन वष तक (अर्थात् सन १७८९-१७९० और १७९१ में) यहाँ पर सूखा पड रहा था, जिसके परिणामस्वरूप गेहूँ का आटा एक रुपये का दस सेर बिकता था। वहाँ के सकडो निधन निवासियो को अपने लिए अधपेट भोजन प्राप्त करने के लिए अपने बालबच्चो को बेचने की दयपूर्ण स्थिति पर पहुँचना पडा था। काबुलीमल को शिन्दे ने उस जिले का भूमि कर वसूल करने का काम सौंपा था, उसकी अत्यन्त लोभपूर्ण वृत्ति ने इस अन्न के अभाव को कृत्रिम रूप से बढा दिया था। अपनी धनाढ्य और प्रभावशालीनता के कारण वह अन्न के गोदाम के गोदाम रोक रखने में और फलत उसके मूल्य को प्राकृत मान से अत्यन्त ऊँचा रखने में सफल हुआ था। सदाशिव नाइक नाम का एक प्रतिष्ठित साहूकार अपने घर दरिद्रो को भोजन देता था और इस प्रकार सहस्रो व्यक्ति अपनी जीवन रक्षा के लिए उसकी उदारता के ऋणी थे। नगर निवासियो का रोष अधिक समय तक छिपा न रह सका। उन्होंने मृतक सस्कार का प्रदशन किया और यह घोषित कर दिया कि हाकिम (अर्थात नगर का शासक काबुलीमल) मर गया है, और उसके स्थान पर सदाशिव नाइक की नियुक्ति की गई ह। इस वष* में प्रचुर जलवृष्टि हुई। हमारे प्रस्थान से पूव (अर्थात् मार्च १७९३ में) गेहूँ के आटे का भाव गिरकर एक रुपये का २० सेर हो गया था।

वर्षाऋतु के अन्त मे नगर में पारी का ज्वर अधिकता से फलता था और नवम्बर के मध्य तक यह और भी अधिकता स बढता जाता था। स्थिर जल गडढो म एकत्र हो जाता था, जिनमें से कुछ गडढे नगर के कोट के पास ही स्थित थे, और सूखते हुए वह दुगन्धयुक्त भाप छोड जाता था।

शाह दवार के छोटे से कुञ्ज के पास होकर बहने वाला जीरानाला वर्षाऋतु में बडी ऊँचाई तक बढ़ आया था और अब सूख रहा था नेहरुआ केवल यहाँ का स्थानीय विकार था। इसके किनारा पर पडे सडनेवाले वनस्पति अशो को रोगो का उद्गम-स्थल समझना स्वाभाविक ह यहाँ का एक मात्र स्थानीय रोग स्नायुक (नहरुआ) ह।

---

* जुलाई १७९२, १२ इच, अगस्त २१ इच, सितम्बर साढ़े पाच इच।
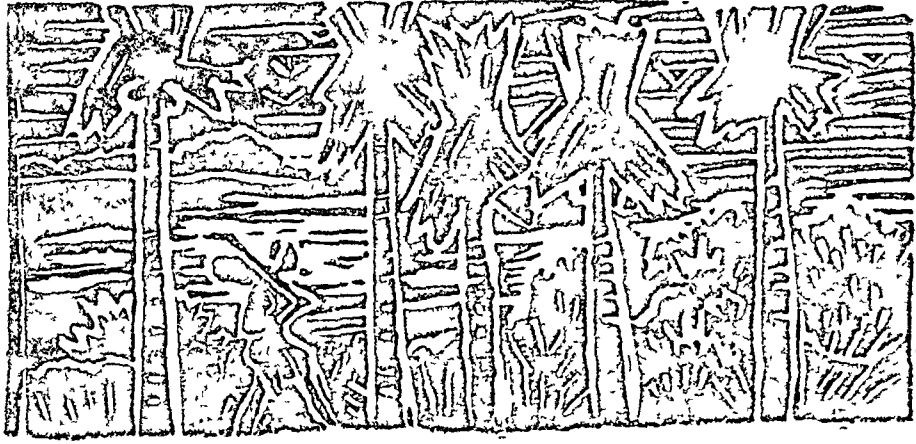
उज्जैन में उत्खनन

श्री गंगाधर मंगेश नाडकर्णी, बी० ए०, एल-एल० बी०

ग्वालियर-राज्य की सीमाओं में ऐसे अनेक प्राचीन स्थल है, जहाँ पर यदि उत्खनन किया जाय तो प्राचीन भारतीय इतिहास के वर्त्तमान ज्ञान मे अत्यधिक अभिवृद्धि हो सकती है। वेसनगर, पवाया, मन्दसौर आदि स्थलों पर प्राप्त की गई सामग्री ने हमारे प्राचीन सास्कृतिक, राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास पर जो प्रकाश डाला है, वह अभूतपूर्व है। परन्तु इन सब स्थलों मे प्राचीन उज्जयिनी का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, इसमे दो मत नही हो सकते। यही कारण है कि ग्वालियर-राज्य के पुरातत्त्व-विभाग ने यहाँ बड़े परिमाण मे उत्खनन कार्य किया।

संवत् १९९५ वि० मे यह कार्य प्रारम्भ किया गया था और १९९७ तक चलाया गया। यद्यपि अभी यह नही कहा जा सकता कि पर्याप्त कार्य हो सका है, परन्तु वहाँ पर जो कुछ भी सामग्री प्राप्त हो सकी है, वह इतनी बहुमूल्य है कि उसका वर्णन विद्वानो के सामने प्रस्तुत करना उचित होगा। इसका कुछ उल्लेख ग्वालियर-पुरातत्त्व-विभाग की वार्षिक रिपोर्टों मे किया गया है, वही यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

उज्जयिनी अत्यन्त प्राचीनकाल से राजनीतिक, व्यवसायिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक केन्द्र रहा है। प्राचीन नगरों में, पश्चिमी भारत मे इसकी महत्ता की समानता कर सकनेवाला कोई दूसरा नगर नहीं था। इसके नाम के साथ उदयन और वासवदत्ता, विक्रमादित्य एव कालिदास आदि की कथाएँ गुम्फित है। यह मौर्य तथा गुप्त सम्राटों की पश्चिमी राजधानी रही है। इसी को पश्चिमी क्षत्रपो ने अपना केन्द्र बनाया। द्वादश ज्योतिर्लिंगों मे परिगणित महाकाल की नगरी होने से इसे अपूर्व धार्मिक महत्ता प्राप्त हुई है। काशी के पश्चात् उत्तरी भारत का यही प्रधान शिव-पीठ है। प्राचीन भारतीय ज्योतिष का भी यही प्रधान केन्द्र है और यही से भारतीय भूमध्य रेखा का प्रारम्भ माना जाता है। उज्जयिनी का उल्लेख हिन्दू, जैन एवं बौद्ध साहित्य मे तथा संस्कृत काव्यो मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप से किया गया है।

आज का उज्जैन नगर प्राचीन उज्जैनी के स्थल से हटकर बसा है। समय की यह अपार लीला है कि जहाँ प्राचीनकाल मे महाकाल-वन स्थित था वहाँ आज जनावासपूरित उज्जैन नगर बसा हुआ है और प्राचीन उज्जयिनी आज ऊजड़ पड़ी है। उसे लोग गढ़ कहते है। यह स्थान वर्तमान नगर के उत्तर मे शिप्रा नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। यह स्थान आस-पास की भूमि से ३० या ४० फीट ऊँचा है। सम्भवतः इसके चारों ओर प्राकार या परकोटा भी था। देखने से ज्ञात होता

ह कि इस नगर का विस्तार उत्तर से दक्षिण की ओर लगभग एक मील था और पूर्व-पश्चिम में पौन मील के आसपास था, परन्तु इसके उपनगर दूर दूर तक फले हुए थे।

उत्खनन के लिए स्थानो का चुनाव ग्वालियर पुरातत्त्व विभाग के अवकाश प्राप्त डायरेक्टर, श्री मा० व० गर्दे ने श्री का० ना० दीक्षित, अवकाश प्राप्त डायरेक्टर जनरल भारतीय-पुरातत्त्व-विभाग के परामर्श से किया था। यह उत्खनन (१) वश्याटेकरी, (२) कुम्हारटेकरी तथा (३) गढ़ नामक तीन स्थानो पर किया गया था।

१ वश्याटेकरी—वश्याटेकरी वतमान उज्जन के उत्तर-पूर्व में प्राय तीन मील से कुछ अधिक पर स्थित ह। लगभग ५०० फीट के व्यास का यह प्राय १०० फीट ऊँचा वृत्ताकार टीला है। इसके चारो ओर एक चतुर्भुज आकार की खाई भी दिखाई देती ह। इस वैश्याटेकरी नामक टीले से लगभग ३०० फीट दूर दो छोटे छोटे टीले और ह, इनम से पश्चिम की ओर का टीला तुलावती की टेकरी तथा दक्षिण-पश्चिम की ओर का टीला ककर-टेकरी कहलाता है।

जनश्रुति यह ह कि वश्याटेकरी का यह नाम सम्राट् अशोक की वैश्य-पुत्री महारानी के महल या स्थान होने के कारण पडा ह। दूसरा प्रवाद यह भी ह कि उज्जन की एक वेश्या ने नगर की श्रम-शक्ति की ख्याति को हानि पहुँचाने से रोकने के लिए एक कुम्हार के बहुत स गधो पर लदी मिट्टी क्रय करके यहाँ टीला लगवा दिया। परन्तु उत्खनन से प्राप्त परिणाम इन जनश्रुतियो की पुष्टि नही करते और अशोक की वश्य महारानी तथा उज्जयिनी की मानिनी वेश्या दोनो का इसमे सम्बन्ध स्थापित न होते हुए इसका सम्बन्ध काषायधारी बौद्ध भिक्षुओ से लगता है। इन तीनो टीलो के खोदने पर ज्ञात हुआ कि ये स्तूपो के भग्नावशेष ह, परन्तु इस प्रकार की बनावट के स्तूप अन्यत्र कहा प्राप्त नही हुए ह। वैश्याटेकरी अब तक प्राप्त स्तूपो में सम्भवत सबसे बडे स्तूप का भग्नावशेष है, जो ३५० फीट व्यास का १०० फीट ऊँचा है। स्तूप के भीतरी भाग मे कूट कूट कर ठोस की हुई मुरम भरी हुई है, और बाहर गारे में ईंटो की जुडाई की हुई ह। ईंटो का आकार बहुत बडा ह। इनमें सबस बडी २२½"×१८½"×३¾" आकार की ह। सबसे छोटी एक ईंट का आकार २२½"×१५½"×३¾"ह। इन ईंटो के आकार से यह अनुमान होता ह कि यह स्तूप ईसा से ३०० वर्ष पूर्व मौर्यकालीन ह। इस अनुमान की पुष्टि उन चिह्नाकित तथा अवन्ति के चिह्न युक्त मुद्राओ से होती ह जो वहाँ प्राप्त हुई ह। ज्ञात यह होता ह कि स्तूप के भीतरी भाग में भरी हुई मुरम उसके चारो ओर वृत्ताकार बनी हुई खाई में से ली गई थी। इस खाई की पश्चिमी भुजा म एक मार्ग भी छूटा हुआ था, जिसपर होकर पूजा करनेवाले भक्तगण स्तूप के पास पहुँचते होगें। ऊपर के अवशेषो से यह अनुमान लगाया जा सकता ह कि बौद्ध सम्राट ने इस स्तूप को बनवाया होगा। सम्भव ह अनुश्रुति ने जिस अशोक की वश्य रानी का महल स्मरण रखा हो वह उस वैश्य रानी की बौद्ध धर्म में श्रद्धा एव भक्ति के प्रतीक का स्वरूप स्तूप ही रहा हो।

प्राचीन मालवा मे ईंटें पकाई नही जाती थी, यही कारण ह कि इस स्तूप का अधिक रूप परिवर्तन हो गया ह और इस कारण उसका मूल रूप क्या होगा, यह पूरी तरह कहा नही जा सकता। सम्भवत इस स्तूप का ऊर्ध्व भाग अर्ध-गोलाकार था जो एक आधार के ऊपर बना हुआ था। यह आधार गोलाकार था। इसके निर्माण म विचित्र निर्माणकला का परिचय दिया गया ह, क्योकि यह कटारे के समान बनावट का है।

अन्य दो स्तूपो में दक्षिण-पश्चिम के स्तूप के भीतरी भाग म उसके आसपास पाई जानेवाली काली मिट्टी भरी गई ह। पश्चिम स्तूप, ज्ञात होता ह, पूरा नही बनाया गया था।

इन स्तूपो म खाइयाँ खोदकर उत्खनन किया गया था। परन्तु इस स्थल की खुदाई म छोटी छोटी प्राचीन वस्तुएँ बहुत कम मिली और जो मिली वे एक रगीन चीनी बर्तन तथा हरे रँगे हुए शख के टुकडे को छोडकर अधिक महत्त्व की नही ह।

२ कुम्हारटेकरी—उत्खनन के लिए चुना गया दूसरा स्थल कुम्हारटेकरी नामक टीला था। यह टीला वश्याटेकरी से लगभग एक मील पर ह और उण्डासा तालाब के पास ही ह। यह तालाब सम्भवत मालवे के सुलतानो के समय में बनवाया गया था और इसमे आज भी सिंचाई होती ह। यह टीला प्राय २२० फीट लम्बा, इससे प्राय आधा

चौडा, और पन्द्रह फीट ऊँचा है। इस पर पाए गए कुम्हारो के बने हुए मिट्टी के वर्तनों के टुकड़ो के कारण ही यह सम्भवतः कुम्हारटीला कहलाता है।

इस टीले के बीच मे चौड़ाई मे खाई खोदने का काम प्रारम्भ करने के कुछ घंटो के पश्चात् ही मानव-अस्थियो और पिंजरो के दर्शन होना प्रारम्भ हो गए। इस खाई को और चौड़ी की गई तथा एक खाई लम्बाई मे भी खोदी गई। ज्ञात यह हुआ कि यह टीला श्मशान-भूमि था और यहाँ शव गाढे तथा जलाए जाते थे। ऊपर के भूमि-स्तर मे, जो प्रायः २ या ३ फीट गहरा है, बियालीस मानव अस्थि-पिंजर प्राप्त हुए, जिसमे से कुछ तो लगभग पूर्ण थे। इनकी स्थिति भी भिन्न-भिन्न थी। अधिकतर अस्थि-पिंजर उत्तर-दक्षिण की दिशा मे थे और उनके पैर दक्षिण की ओर थे, यद्यपि एक के पैर उत्तर की ओर थे और दो के उत्तर-पश्चिम के कोने की ओर थे। टीले के उत्तरी-भाग मे पाए गए पिंजर पेट के बल लिटाए हुए थे, तथा दक्षिण की ओर पाए गए सीधे लिटाए हुए थे। अधिकतर पिंजरों के मुख पश्चिम की ओर को थे, कुछ के पूर्व की ओर शेष के ऊपर आकाश की ओर। कुछ तो असाधारण स्थिति मे रखे पाए गए। दो की टाँगे मुड़ी हुई थी और घुटने ऊपर को उठा दिए गए थे। एक बैठा हुआ था और धड़ झुका हुआ तथा सिर आगे की ओर झुका हुआ था। एक का धड़ दाईं ओर को झुका हुआ था, घुटने मुडे हुए थे और पैर बाईं ओर को मुडे हुए थे। एक जैन या बौद्ध साधु की तरह ध्यानावस्थित मुद्रा मे बैठा हुआ मिला है। कुछ अस्थि-पिंजर उनकी आकृति, विकास तथा आकार से स्त्रियो तथा बच्चो के ज्ञात होते है।

कुछ अस्थि-पिंजरो के सिर के पास सीप की बनी हुई बालियाँ भी प्राप्त हुईं। एक पिंजर के पास सीप के गुरिये मिले थे और वे सख्या मे इतने अधिक थे कि उनसे एक माला सहज ही बनाई जा सकी। एक स्त्री के पिंजर के दाँत लाल रंग से रँगे हुए थे। अस्थि-पिंजरो के बीच में बहुत से मिट्टी के पात्र मिले। एक बडे पात्र मे कुछ हड्डियाँ, राख और छोटे-छोटे मिट्टी के पात्र रखे हुए थे। छोटे पात्रो में भी राख और हड्डियाँ थी। कुछ अस्थि-पिंजरो के चारो ओर मिट्टी के प्याले और तश्तरियाँ सिलसिले से रखी हुई पाई गई। इस टीले पर असख्य मिट्टी के वर्त्तनो के टुकडे पाए जाने का प्रधान कारण यह है कि किसी समय मृतक शरीरो के साथ यहाँ मिट्टी के वर्त्तन और प्याले भी बहुत अधिक संख्या मे रखे जाने की प्रथा थी।

टीले के ऊपरी स्तर से चार पाँच फीट नीचे चिताओ के चिह्न भी पाए गए। इससे यह प्रकट होता है कि जब यह भूमि-खण्ड स्मशान के रूप मे प्रयोग किया जाता था उस समय शव को गाड़ने की, जलाने की, अथवा जलाकर अवशेषो को गाड़ देने की प्रथाएँ साथ साथ प्रचलित थी।

ये अस्थि-पिंजर किस युग के है, इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नही है। कुछ लोगो का तो यह मत भी रहा है कि ये प्रायः आधुनिककालीन शव है परन्तु यह धारण नितान्त असत्य है। इनके तिथि-निर्णय मे पहिली सहायता तो वहाँ प्राप्त हुई मुद्राओ से मिलती है। टीले के ऊपरी स्तर पर ही जो मुद्राएँ प्राप्त हुई है, वे ढलवाँ मुद्राएँ है और उनके एक ओर हाथी या जगले से घिरा हुआ पेड़ है और दूसरी ओर चैत्य या पर्वत का चिह्न है। ये मुद्राएँ ई० पू० दूसरी या तीसरी शताब्दी की मानी गईं है। निश्चितरूपेण ये शव इस काल से पुराने है। परन्तु कितने प्राचीन है इसके विषय मे निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। अनुमान यह है कि ये अस्थि-पिंजर प्राग्-ऐतिहासिक काल के मानवो के है।

शवो के लिटाए जाने के विभिन्न प्रकारो को देखते हुए एक अनुमान यह भी किया गया था कि यहा किसी व्यक्ति-समूह पर अचानक कोई प्राकृतिक विपत्ति आ पड़ी थी और वे सब दबकर मर गए थे, और उनके शव विभिन्न अवस्थाओं मे सिकुड़ गए थे। परन्तु यह अनुमान भी सत्य नही है। मृत-व्यक्तियो के साथ रखे हुए पात्रों और पात्रो मे भरी हुई अस्थियो और भस्म से यह स्पष्ट प्रमाणित है कि यह स्थल स्मशान-भूमि के रूप मे ही काम मे लाया जाता था। साथ ही ऐसी प्रथाओ का भी पता चला है जिनके अनुसार मृत व्यक्तियों के शव को भाँति-भाँति की अवस्थाओं मे लिटाकर गाडा जाता था।

जिन व्यक्तियो की यह स्मशान भूमि है वे किस जाति और धर्म के थे, यह भी आज निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। इसके लिए अन्वेषण जारी है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह उज्जयिनी नगर की किसी जाति-विशेष का स्मशान था और वह जाति नगर के बाहर एक ही स्थान पर अपने मृतको की अन्त्येष्ठि क्रिया करती थी।

३ गढ़—ऊपर लिखा जा चुका है कि वर्तमान उज्जैन के उत्तर मे प्राचीन उज्जयिनी स्थित थी और वह स्थल आज गढ़ के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्राचीन नगर की सीमाएँ आज भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अन्य प्राचीन नगरियो

के समान यह नगरी भी प्राकार से घिरी हुई थी। इसके पूव, उत्तर और दक्षिण में कच्ची ईंटा की बनी हुई दीवार थी। ज्ञात यह होता है कि प्राचीन उज्जयिनी में भवन निर्माण के लिए कच्ची ईंटो का बहुत अधिक प्रयाग किया जाता था। यही कारण ह कि यहां की खुदाई में पक्की चुनाई प्राप्त नहीं हो सकी और चारो ओर धूल का बाहुल्य है। नगर की पश्चिमी सीमा पर शिप्रा नदी थी और इस ओर लकडी के लट्ठा की दीवारसी बना दी गई थी, जिसके अवशेष आज भी खुदाई में प्राप्त हुए ह। इस प्रकार के लकडी के प्राकार मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र में भी गगा के किनारे स्थित थे, इसका प्रमाण मेगस्थनीज के वर्णना से भी प्राप्त होता है। इस लकडी के प्राकार के पास कुछ पत्थर के गुरिये प्राप्त हुए ह जिनपर मौर्यों के काल की प्रसिद्ध ओप दिखाई देती ह। इससे यह अनुमान होता है कि यह प्राकार कम से कम मौर्यकालीन अवश्य है।

प्राचीन नगर का विस्तार बहुत अधिक है और वहां पर आजकल खेती भी होती है इस कारण केवल प्रयाग के रूप में कुछ स्थलो पर खुदाई की गई। इस खुदाई में भी अत्यन्त बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त हुईं। काल्का मन्दिर में दक्षिण-पश्चिम की ओर एक फर्लांग की दूरी पर जो खाई खोदी गई थी वहाँ विशेष रूप से उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त हुईं। वहाँ प्राप्त हुई पच मार्क्ड तथा कॉस्ट काइनस से तथा मौर्यकालीन ओपयुक्त पत्थर के टुकडा से यह अनुमान किया जाता है कि मौर्यकालीन भूमिस्तर तक पहुँचने के लिए वर्तमान खेतो के नीचे २५-३० फीट गहरा खोदना होगा। इसके ८ १० फीट ऊपर शुगकालीन स्तर प्राप्त होगा। नदी के द्वारा भूमि को अस्तव्यस्त कर देने के कारण क्षत्रप और गुप्तकालीन स्तरो का अनुमान नही किया जा सका। अभी तक घरा, सडका तथा गलिया का भी कोई अवशेष नहीं मिला ह।

यहाँ पर प्राप्त हुई वस्तुओ में सबसे मनोरजक गोलाकार कूप ह। इनकी बनावट भी बहुत विचित्र ह। मिट्टी के लगभग दो फीट वृत्त के सात से आठ इंच ऊँचे गोल नल एक दूसरे के ऊपर फँसा दिए गए ह। इस प्रकार के २० से २५ तक नल एक दूसरे म फँसे पाए गए और ये १२ से १८ फीट ऊँचे तक मिले ह। इनके भीतर पाई गई वस्तुएँ भी अनेक प्रकार की हैं, जसे मिट्टी की मुद्राएँ, मिट्टी के बर्तन और घोडे या (जसा एक स्थल पर पाया गया ह) गधे की हड्डियाँ आदि। अनुमान यह किया जाता है कि ये गोल पात्र अनाज या अन्य आवश्यक सामान रखने के काम में लाए जाते थे। बड़े बड़े मिट्टी के बर्तन भी यहाँ पर मिले ह। इनमें से एक में मनुष्य की हड्डियाँ रखी ह और उसमें एक मिट्टी की मुद्रा भी मिली ह, जिसपर सम्भवत उस व्यक्ति का नाम अंकित ह, जिसकी ये अस्थियाँ ह। इस मुद्रा के दूसरी ओर नन्दी का आकार बना हुआ ह। इसी पात्र में एक दूसरी मिट्टी की मुद्रा भी मिली है, जिसके ऊपर एक ओर मनुष्य का सिर है और दूसरी ओर कमल का फूल बना हुआ है।

यहाँ को दो खाइयों में बरसाती पानी ले जानेवाली नालियों के अवशेष भी मिले है, जो पकी हुई ईंटा के बने हुए ह। अन्य छोटी सामग्रियो म निम्नलिखित प्रधान है —

> मिट्टी के बर्तन, सुराहियाँ, ढक्कन, प्याले, तश्तरियाँ, दीपक, लोटे, खिलौना की गाडियो के पहिए, ईंटें, मिट्टी के खिलौने, मिट्टी, सीप, कांच आदि के गुरिये, मिट्टी और सीप के सादा और कढे हुए कडे, हाथीदाँत के सामान, मिट्टी की मुद्राएँ आदि।

यहाँ पर चिह्नांकित तथा तांबे की ढलवाँ मुद्राएँ भी प्राप्त हुई ह। ऊपर के स्तर पर महाराज दौलतराव शिन्दे की भी दो मुद्राएँ प्राप्त हुई ह।

इस स्थल की ऊँची भूमि पर भी खुदाई की गई और कृपानिवास राममन्दिर के सामने तथा एक ओर खेत में खाइयाँ खोदा गइ। इन खाइयों को कही कही चालीस फीट गहरा तक ले जाया गया। लगभग २२ फीट नीचे एक ईंटो की दीवार दिखाई दी, जो वहाँ प्राप्त हुए मिट्टी के खिलौना को देखते हुए गुप्तकाल की कही जा सकती है।

यद्यपि उज्जन क इस उत्खनन में कुछ अत्यन्त बहुमूल्य जानकारी प्राप्त हुइ है, परन्तु यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता ह कि न तो अभी पर्याप्त परिमाण और मात्रा में भारत के इस प्राचीनतम स्थल की खुदाई हुई है, और न अभी तक प्राचीन उज्जयिनी का पता ही लगाया जा सका है।

अपनी इस प्राचीनतम नगरी म प्राप्त हुए अवशेषो का यह सक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करते हुए हम यह आशा करते है कि किसी दिन हमारा पुरातत्त्व विभाग, अवन्ति के खण्डहरा में छुपे हुए हमारी प्राचीन सस्कृति के अवशेषा को प्रकाश में लाकर साहित्य और जनश्रुति में प्रसिद्ध उज्जयिनी, तथा उसके साथ ही हमारे राज्य और भारतदेश की महानता, सम्पूर्ण ससार के सम्मुख अकाट्य प्रमाणा के रूप म प्रकट करेगा।

अजन शलाका।
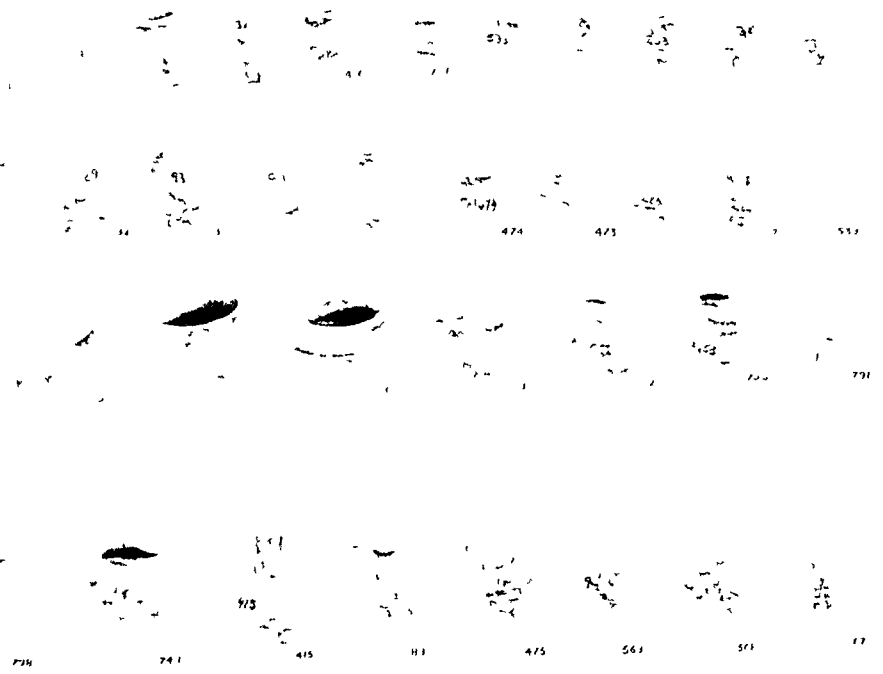
मृद्भाड।

गोलाकार कप।

वेश्या टेकरी।

उज्जैन में उत्खनन, (

हाल ही में प्राप्त उदयपुर प्रशस्ति के अन्तिम भाग के छापे का चित्र ।
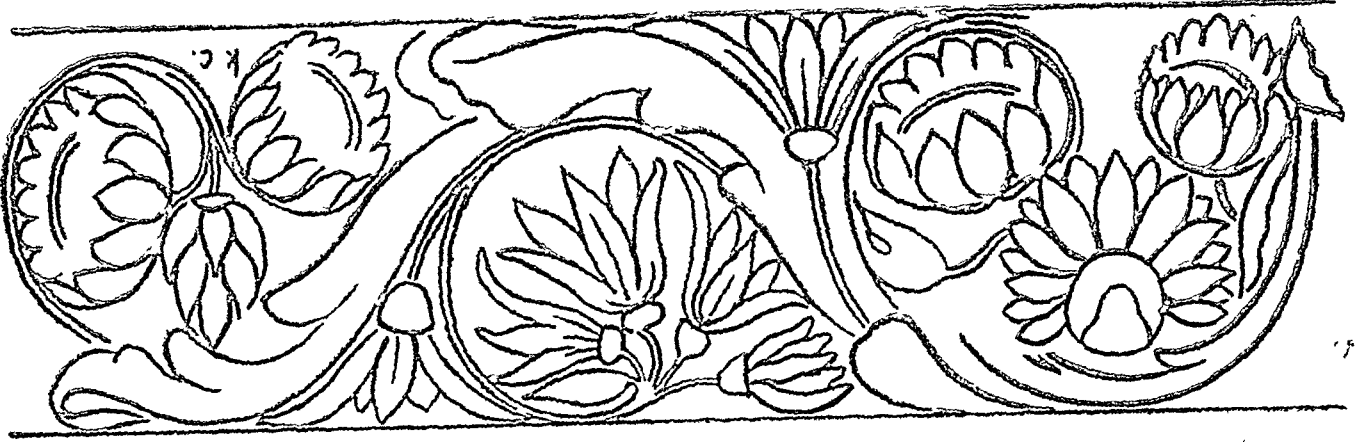
उज्जैन के दर्शनीय स्थान

श्री ठाकुर उत्तमसिंह बी० ए० (ऑनर्स), एल-एल० बी०, बी० कॉम

उज्जैन नगर २३·११' उत्तर-अक्षाश, और ७५·५२' पूर्व-रेखाश पर स्थित है। सागर की सतह से इसकी ऊँचाई १६७९ फीट है, तथा यह विन्ध्याचल पर्वत के उत्तरीय ढाल पर वसा हुआ है। स्कन्दपुराण मे उज्जैन का विस्तार एक योजन, यानी चार कोस का वतलाया है। यह नगर भारतवर्ष के मध्य मे स्थित होने से भारतीय ज्योतिषी उसके रेखाश को शून्य कल्पित करके वहाँ से अन्य रेखाश का गणित किया करते थे, व अव भी यहाँ एक वेधशाला है। इसके आसपास का भाग एक विस्तीर्ण पठारसा है, और यह प्रदेश समशीतोष्ण व वहुत उपजाऊ है। इस नगर को प्राचीनकाल मे 'अवन्ती' कहते थे। इसी कारण इस प्रदेश को भी 'अवन्ती-देश' कहा करते है। परन्तु पश्चात् उसपर पंजावनिवासी मालवो का अधिकार हो जाने से यह "मालव" देश कहलाने लगा, और उसका अपभ्रंश होकर इस प्रदेश को अव "मालवा" कहते है। यहाँ की रात्रि शीतल व आह्लादकारी प्रसिद्ध है। यह नगर पुण्य-सलिला क्षिप्रा नदी के पूर्वीय तट पर वसा हुआ है, और इसको प्रधान तीर्थस्थान का पावित्र्य प्राप्त है।

अवन्तिका नगरी किसने व किस समय वसाई इसका कोई निश्चित प्रमाण नही मिलता। स्कन्दपुराण मे उसको "प्रतिकल्पा" के नाम से भी सम्बोधित किया है, जो सृष्टि के आरम्भ मे उसकी उत्पत्ति का सूचक है। वेदो से लेकर ब्राह्मण ग्रथों, व उपनिषदो मे भी उज्जयिनी का महत्त्व प्रतिपादित है। अठारह पुराणो मे भी उज्जयिनी का धार्मिक दृष्टि से सव जगह वर्णन किया गया है। महाभारतकाल मे भारतवर्ष जव सौख्य व उत्कर्ष के शिखर पर पहुँच चुका था, उस समय भी उज्जैन का महत्त्व वहुत वड़ा हुआ था, और उज्जैन मे एक प्रसिद्ध विद्यापीठ भी विद्यमान था। हिन्दूधर्म मे तीर्थयात्रा के लिए चार प्रमुख धाम चार दिशाओ मे स्थित होना वर्णित है। उत्तर मे वद्रीनाथ, पूर्व मे जगन्नाथपुरी, दक्षिण मे रामेश्वर व पश्चिम मे द्वारकापुरी है, किन्तु इन सव तीर्थों मे उज्जैन प्रमुख माना गया है, और इसी कारण यह महातीर्थ कहलाता है। कारण यह भारतवर्ष के मध्य मे अर्थात् नाभिस्थान पर स्थित है। भारतवर्ष मे तीर्थयात्रा का प्रारम्भ तथा समाप्ति उज्जैन के महातीर्थ से ही होती है।

उज्जैन के दर्शनीय स्थान

एक कल्प में ४ अरब ३० करोड २० लाख वर्ष होते है, और प्रत्येक कल्प के अन्त में प्रलय होता है, ऐसा कहा जाता है। ऐसे प्रत्येक कल्प में उज्जयिनी के नाम बदलकर रखे गये थे जो नीचे लिखे है—१ कनकशृंगा, २ कुशस्थली, ३ अवन्तिका, ४ चूडामणि, ५ अमरावती, ६ पद्मावती, ७ कुमुद्वती, तथा ८ विशाला और श्री श्वेतवाराह कल्प जो चल रहा है इसमें इसका नाम "उज्जयिनी" है, इससे इसके प्राचीनता का अनुमान लग सकता है। सूत्र ग्रंथों में और पुराणों में उज्जैन के जो वर्णन है उससे ज्ञात होता है कि यह नगर पांच हजार वर्ष से पूर्व से विद्यमान है। भागवत (स्कन्द १० पूर्वार्ध, अध्याय ४५) में श्रीकृष्ण और बलदेव दोनों भ्राताओं का विद्याध्ययन के हेतु अवन्तिका में गुरुदेव सांदीपन ऋषि के आश्रम में आने की कथा कही गई है। महाभारत के सभापर्व (अध्याय ३१) में राजसूय यज्ञ के प्रसंग पर करभार प्राप्त करने के लिए सहदेव के अवन्तिका देश में आने का उल्लेख है, तथा उद्योगपर्व अध्याय १८ में अवन्ती देश के राजा विन्द एवं अनुविन्द दोनों भ्राताओं का कौरवों की तरफ से युद्ध में भाग लेने के लिए उपस्थित होने का वृत्तान्त है। अर्थात् यह तीनों वृत्तान्त भारतीय महायुद्ध के पूर्व के हैं। भारतीय युद्ध "कलिकाल" के प्रारम्भ में हुआ है यह कई प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है। कलिकाल का प्रारम्भ ख्रिस्ताब्द के ३१०१ वर्ष पूर्व होना भी प्रायः समस्त आर्य ज्योतिर्विदों को स्वीकृत है, उसमें ख्रिस्ताब्द पश्चात् के १९४३ वर्ष मिलाने पर संख्या ५०४४ आती है। इसपर से अवन्ति नगर का अस्तित्व ५००० वर्ष पूर्व होना तो सिद्ध होता ही है और उस समय भी यह नगर भारतीय नरेन्द्रों की वैभवशाली राजधानी तथा सुप्रसिद्ध विद्यापीठ था यह भी प्रमाणित होता है। रामचरित्र सर्वत्र श्रीकृष्ण चरित्र से पूर्व का माना जाता है और श्रीरामायण के किष्किन्धाकाण्ड (स० ४१, ४२) में भी श्री सीतादेवी के अन्वेषणार्थ वानर-दल को रवाना करते समय सुग्रीव ने अवन्ति देश का उल्लेख किया है। इसपर से भी यही सिद्धान्त निकलता है कि अवन्ति देश भारत काल से पूर्व रामायण-काल में भी प्रसिद्ध था। अतः इसका अस्तित्व ५००० वर्ष पूर्व तो अवश्य ही होना स्वीकृत किया जा सकता है। उज्जयिनी का वर्णन प्राचीन वाङ्मय के कवि और लेखकों की रचनाओं में भी पाया जाता है जैसे कालिदास, बाण, व्यास, शूद्रक, भवभूति बिल्हण, कल्हण, अमरसिंह, पद्मगुप्त आदि। इन वर्णनों से पाया जाता है कि प्राचीन उज्जयिनी शिप्रा नदी के दोनों तट पर बसी थी। वह भूमि अब वर्तमान उज्जयिनी के उत्तर में 'गढ' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान पर खोदने से प्राचीन सिक्के, धातुओं के पात्र आदि पुरातन वस्तुओं के कुछ चिह्न अब भी मिलते है। इन चिह्नों से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में किसी समय प्राचीन अवन्तिका या तो क्षिप्रा नदी के बाढ में डूब जाने से नष्ट हो गई होगी, अथवा धरणीकम्प से विचलित होकर भूगर्भ में समाई होगी और इसके पश्चात् उसके दक्षिण में वर्तमान अवन्तिका की बस्ती बसी। यदि ऐसा न होता तो कोई कारण नहीं कि इस स्थान को गहरे खोदने पर ही प्रासादों के अवशेष व अन्य संसारोपयोगी वस्तु भूगर्भ में से हस्तगत न होते। ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व विभाग की ओर से इस दिशा में खोज एवं उत्खनन अब भी चालू है और ऐसी आशा है कि सुव्यवस्थित प्रयत्न करने पर अनेक प्राचीन वस्तुएँ उपलब्ध होंगी और उनके द्वारा इस नगरी के अज्ञात इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड सकेगा।

तत्पश्चात् विदेश से आये हुए यात्री हुएनत्संग, टॉलेमी, पेरिप्लस, बर्नियर आदि ने अपनी आंखों देखा हुआ अवन्तिका के अनुपम वैभव का अत्यन्त सुंदर वर्णन किया है। बौद्ध ग्रंथों में भी उज्जैन का विस्तार-सहित वर्णन मिलता है। उस समय उज्जैन एक महाराष्ट्र था और पाली भाषा की उत्पत्ति यहीं से हुई है। प्रद्योत और उदयन के पश्चात् ३०० वर्ष का इतिहास कुछ विशृंखलितसा है। इसके बाद उज्जैन जब मौर्य साम्राज्य में आई। बिंदुसार के पुत्र सम्राट् अशोक के बाद यानी ई० पूर्व २७३ वर्ष से उज्जैन का इतिहास प्रायः उपलब्ध है। तत्पश्चात् इस नगरी पर गन्धर्वसेन भर्तृहरि, विक्रमादित्य जैसे महान् पराक्रमी विद्वान् व उदार राजाओं ने राज्य किया। विक्रमादित्य का नाम संवत्-प्रवर्तक के नाते, गुणग्राही व कलाप्रेमी महापुरुष के नाते सदा अमर रहेगा। ईसवी सन् के ५७ वर्ष पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य का शासन यहाँ प्रारम्भ हुआ। इसके बाद शकवंशीय शासक व तदनन्तर गुप्तवंशीय शासक रहे। तत्पश्चात् परमार-वंशीय प्रसिद्ध राजा भोजदेव यहाँ के शासक रहे। इसके बाद गुलामवंशीय शमसुद्दीन अल्तमश ने मालवे पर आक्रमण किया। बाद में खिल्जी व तुर्कों ने आक्रमण किया व मुगलों का शासन रहा। जब मराठों के हमले इस मालव देश पर शुरू हुए तब इनके भीषण आक्रमणों से तंग आकर मालवा पेशवा के आधीन कर दिया गया और पेशवा ने

श्री ठाकुर उत्तमसिंह

सन् १७३२ में उज्जैन सहित ६४।। लाख का इलाका राणोजी शिन्दे को दे दिया। तब से शिन्दे नरेश का शासन इस प्राचीन नगरी पर अव्याहत वर्तमान काल तक चला आ रहा है। कोई इतिहासकार शिन्देवंश का स्वामित्व उज्जैन पर तारीख ३१-१०-१७३१ ई० से होना मानते हैं।

उज्जैन को धार्मिक पावित्र्य व महत्त्व प्राप्त होने के विशेष कारण निम्नलिखित हैं :—

आकाशे ताडकं लिंगं पाताले हाटकेश्वरम्। मृत्युलोके महाकालं लिंगत्रय नमाम्यहम्॥

अर्थात् आकाश में ताडकेश्वर, पाताल में हाटकेश्वर और मृत्युलोक के ज्योतिर्लिंग श्रीमहाकालेश्वर हैं, जो उज्जैन में विराजमान है। महाकालेश्वर प्रसिद्ध द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से एक है। इसी तरह मोक्ष देनेवाली सप्तपुरियों में से उज्जैन प्रमुख है। इसके बारे में लिखा है :—

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवंतिका। पुरीद्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायका:॥

अन्य तीर्थों की अपेक्षा उज्जैन में विशेषता यह है कि निम्नलिखित श्लोक में वर्णित पाँच बातों का यहाँ योग है .—

स्मशानमुर्वरं क्षेत्र पीठं तु वनमेव च। पंचैकत्र न लभ्यंते महाकालवनादृते॥

अर्थात् उज्जैन में (१) स्मशान, यानी भगवान के रमण करने की जगह (२) उरवर, यानी जहाँ मृत्यु होने पर मोक्ष मिलता है (३) क्षेत्र, अर्थात् जहाँ सब पापों का विनाश होता है (४) जहाँ 'पीठ' है मतलब हरसिद्धिजी व अन्य मातृकाओं का स्थान है और (५) जहाँ महाकाल का निवास स्थान है; ऐसी पाँच महान् बातों का योग पृथ्वी के पृष्ठ पर सिवाय उज्जैन के और कहीं नहीं है। अतएव पुष्करराज आदि जितने तीर्थ इस पृथ्वी पर हैं वे सब तीर्थ महाकालवन अर्थात् अवन्तिकापुरी में विद्यमान हैं। इसी तरह कई लाख वर्ष काशीवास करने से जो फल मिलता है वह फल वैशाख मास में केवल पाँच दिन अवन्तिका में वास करने से मिलता है। विशेषत. पुण्यतोया क्षिप्रा नदी के तट पर यह नगर बसा होने से विशेष पवित्र माना जाता है। क्षिप्रा का ऐसा महात्म्य है कि इसके समान पावन करनेवाली कोई नदी नहीं और प्रेतों का उद्धार करनेवाला दूसरा स्थान नहीं। सिंह के गुरु और मेष के सूर्य होने पर बड़ा पर्वकाल होता है और उस समय उज्जैन में १२ वर्ष में एक बार सिंहस्थ का बड़ा मेला क्षिप्रा के तट पर लगता है, उस समय क्षिप्रा स्नान का विशेष महात्म्य वर्णित है। इसके बारे में एक ऐसी कथा है कि ब्रह्माजी के पुत्र सनत्कुमार व्यासजी से कहते हैं कि हे परतप! सत्ययुग में विहार देश में दमन नाम का एक बड़ा पापी राजा था। एक दिन शिकार खेलते में थक गया और रात्रि का समय होने से वह घोडा बाँधकर एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा। उस समय सर्पदंश से वह मर गया। तब यमराज के दूत उस पापी को फाँसे से बाँधकर यमराज के पास ले गये और उसके प्रेत को रातभर जंगली जानवरों ने खाया। प्रात काल में यह घटना हुई कि एक कौए की चोंच से उसके माँस का टुकड़ा क्षिप्रा नदी में गिर पडा। उस पवित्र जल का स्पर्श होने मात्र से इस पापी राजा की मुक्ति हो गई और वह साक्षात् शंकररूप हो गया। किन्तु, यहाँ तक इसका महात्म्य है कि 'क्षिप्रा' यह केवल नाम उच्चारने से मुक्ति प्राप्त होती है, तो न जाने क्षिप्रा में स्नान करने का कैसा भारी फल होगा। इसी पवित्र क्षिप्रा नदी के तट पर उज्जैन बसा होने से उसे विशेष महात्म्य प्राप्त हुआ है। आगे इस नगर में जो अन्य दर्शनीय स्थान हैं उनका वर्णन किया गया है।

महाकालेश्वर—उज्जैनी के दर्शनीय स्थानों में महाकालेश्वर का स्थान सर्व प्रमुख है। भारतवर्ष में शिवजी के बारह लिंग हैं जो ज्योतिर्लिंग के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन सबमें प्रधान स्थान महाकालेश्वर का है, क्योंकि ऊपर लिखे अनुसार आकाश पाताल व मृत्युलोक ऐसे तीनों लोकों में जो तीन मुख्य लिंग (अर्थात् तारकम्, हाटकेश्वरम् व महाकाल) हैं उनमें सर्वप्रमुख है। इस मन्दिर का वर्णन महाभारत, स्कन्दपुराण, वराहपुराण, नृसिंहपुराण, शिवपुराण, भागवत्, शिवलीलामृत आदि ग्रंथों में तथा कथासरित्सागर, राजतरंगिणी, कादंबरी, मेघदूत, रघुवंश आदि काव्यों में अत्यन्त सुन्दर दिया हुआ है। अलबेरूनी व फरिश्ता नाम के इतिहासकारों ने भी इस देवालय का वर्णन किया है।

उज्जैन के दर्शनीय स्थान

पुराणकारों के कथनानुसार प्राचीनकाल में महाकालवन में जब देव तथा ऋषि मुनियों ने तपस्या के लिए आकर यहां वास किया, तब से इस महाकाल वन को विशाल नगरी का रूप प्राप्त हुआ। उसी समय विश्वकर्मा ने श्रीमहाकालेश्वर के निवासार्थ एक भव्य मन्दिर निर्माण किया, चारों ओर एक परकोटा खिंचवाया। उस समय मन्दिर के महाद्वार पर एक बड़ा भारी घंटा स्वर्णशृंखला से लटकता था, और मन्दिर में सर्वत्र रत्नखचित दीपस्तंभ थे जिनपर रत्नजडित दीप प्रकाशित होते थे। मालववंशीय विक्रमादित्य के विषय में जो आख्यायिका है उससे प्रतीत होता है कि इस राजा ने महाकालेश्वर का स्वर्णशिखर-सुशोभित बड़ा मन्दिर बनवाया और उसके लिए अनेक अलंकार तथा चामर, वितानादि कितने ही राजचिह्न समर्पित किए। इस भक्ति व सेवा के गौरवार्थ विक्रमादित्य की एक स्वर्ण-प्रतिमा इस मन्दिर के सभामण्डप में रखी गई थी। इसके बाद ई० स० की ग्यारहवीं शताब्दी में इस मन्दिर का जीर्णोद्धार परमारवंश के भोज-राजा ने करवाया था। ई० स० १२६५ में दिल्ली के सुलतान शमसुद्दीन अल्तमश ने इस मन्दिर को तुड़वा डाला। महाकाल का लिंग कोटितीर्थ में फिकवा दिया और इसकी जगह मसजिद बनवा दी, किन्तु वह थोड़े समय बाद ही नष्ट हो गई। अल्तमश विक्रमादित्य की स्वर्णमूर्ति और मन्दिर की सर्व सम्पत्ति लूटकर ले गया।

इस घटना के पांचसौ वर्ष पश्चात् उज्जैन पर कै० राणोजीराव शिंदे का अधिकार हुआ उस समय उनके दीवान रामचन्द्रबाबा ने उसी स्थान पर महाकालेश्वर का मन्दिर फिर बनवाया जो आज भी स्थित है। मन्दिर के अन्दर श्री महाकालेश्वर के पश्चिम उत्तर और पूर्व की ओर क्रमशः गणेश, गिरिजा और षडानन की मूर्तियां स्थापित हैं। दक्षिण की ओर गर्भगृह के बाहर नन्दिकेश्वर विराजमान हैं। लिंग विशाल है और सुंदर नागवेष्टित जलाधारी में विराजमान है। महाकाल के सम्मुख एक घृत का और दूसरा तेल का अखण्ड नन्दादीप जलता रहता है, और दिन में तीन बार पूजन होता है। प्रातःकाल में भस्मपूजा, मध्याह्न में महापूजा और प्रदोषकाल की प्रदोष पूजा कहते हैं। महाकालेश्वर के लिंग के ऊपर के मंजिल पर ओंकारेश्वर विराजमान हैं। उनके प्रवेश द्वार के नीचे एक छोटा झरोखा है, जहां से ऊपर से ही यात्रियों को श्रीमहाकालेश्वर के दर्शन हो जाते हैं। जो स्त्रियां, बालवृद्धादि भीड़ के कारण अन्तर्भाग में प्रवेश करने से असमर्थ होते हैं वे यहां से भी दर्शन कर सकते हैं। ओंकारेश्वर के भी ऊपर की मंजिल पर नागचन्द्रेश्वर का मन्दिर है, और इसके ऊपर शिखर में जाने के लिए जीना है। महाकालेश्वर के मंदिर के दक्षिण दिशा में वृद्धकालेश्वर और सप्तऋषि के मन्दिर हैं। महाकालेश्वर के ऊपर जो ओंकारेश्वरजी का मंदिर है उसके पटांगण में स्वप्नेश्वर, बदरीनारायणजी, नृसिंहजी, साक्षी गोपाल तथा अनादिकालेश्वर आदि के भी मंदिर हैं।

उज्जैन के राजा महाकाल माने जाते हैं इसलिए विजयादशमी के दिन सायंकाल को सीमोल्लंघन व शमीपूजन के प्रसंग पर जो सवारी निकलती है उसके अग्रभाग में श्रीमहाकालेश्वर की पालकी रहती है। वैकुण्ठ चतुर्दशी के दिन भी यहां एक मनोरंजक व अपूर्व समारंभ होता है। यह दिन हरि और हर की भेंट का है। श्रीमहाकालेश्वर की सवारी तुलसी-पत्र अर्पण करने श्रीगोपालकृष्ण के मन्दिर में जाती है, तथा श्रीगोपालकृष्ण बिल्वपत्र अर्पण करने श्रीमहाकाल के मंदिर में पधारते हैं। महाशिवरात्रि के रोज यहां बड़ा मेला भरता है। इस दिन यहां रात्रि को एक विशेष महापूजा होती है उसका प्रारंभ रात्रि के पूर्वार्ध से होकर दूसरे दिन के सूर्योदय तक चलती है। इसमें पंचामृत पूजा, धान्यपूजा और पुष्पपूजा बहुत प्रेक्षणीय होती है। शिंदे, होलकर व पवार इन तीनों राजाओं की तरफ से मिलाकर करीब ४,०००) रु० की रकम वार्षिक व्यय के लिए मिलती है जिसमें पूजन अर्चन तथा अन्य व्यय का प्रबंध राज्य के निरीक्षण में होता है। श्रावण मास के चार सोमवारों पर महाकालेश्वर की सवारी बड़े सजधज व धूमधाम से निकलती है।

मन्दिर के नीचे सभामण्डप से लगा हुआ एक कुण्ड है जो "कोटितीर्थ" के नाम से प्रसिद्ध है, और यह पक्का बंधा हुआ है। इससे इस रम्य स्थल की शोभा और बढ़ गई है। महाकालेश्वर के सभा मण्डप में ही एक राम मंदिर है। इन रामजी के पीछे अवन्तिकादेवी की प्रतिमा है जो इस अवन्तिका की अधिष्ठात्री देवी है।

श्री चौबीसखंबी देवी—महाकालेश्वर से उज्जैन की ओर जाने के रास्ते पर एक विशाल द्वार का अवशेष दृष्टिगोचर होता है इसे चौबीसखंबी दरवाजा कहते हैं। इसे विक्रमादित्य के प्रासाद का द्वार भी कहते हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत
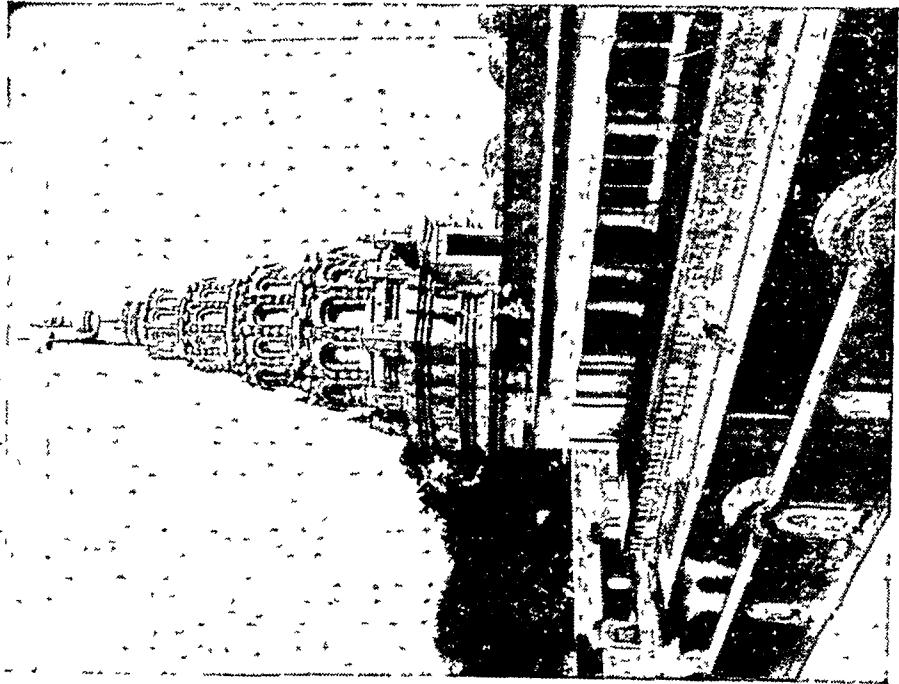
गोपाल-मन्दिर, उज्जैन।

क्लॉक टॉवर, उज्जैन।

भैरवनाथ मन्दिर का प्रवेश-द्वार, उज्जन।

चौबीस-खंभा, उज्जन।
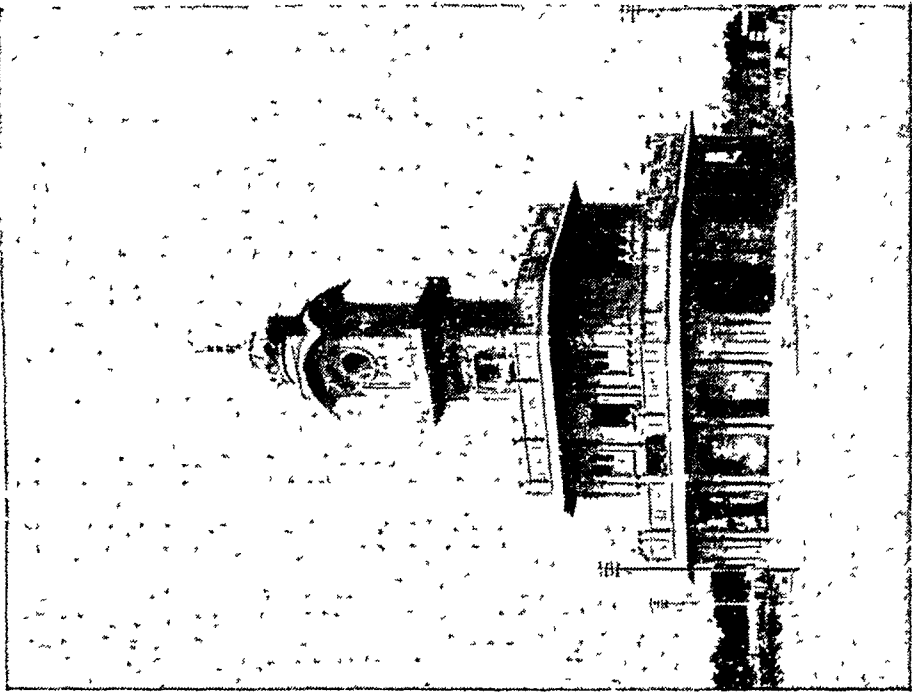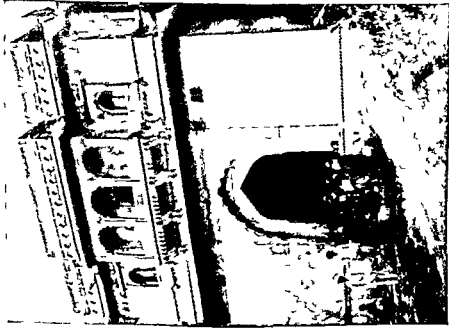
होता है कि यह महाकालवन मे प्रवेश करने का द्वार होगा। इसे भोज के प्रासाद का अवशेष होना भी मानते हैं। प्राचीनकाल मे महाकालवन एक वड़े कोट से घिरा हुआ था। इस कोट के भग्नावशेष अभी भी कहीं कही कायम है। इस द्वार से लगा हुआ कोट का हिस्सा अब गिर चुका है, और अब केवल यह-द्वार का अवशेष बाकी रह गया है। ऐसा अनुमान होता है कि इस द्वार के दोनों पार्श्वभागों मे चौवीस खंबे लगे है और इसीलिए इसे चौवीस खबी दरवाजा कहते है। भावुकजन इस दरवाजे को महामाया देवी मानते हैं, और नवरात्रि के अष्टमी को पूर्व परम्परानुसार प्राचीन जागीरदार, इस्तमुरारदार व उज्जैन के जमीदार होने के नाते, लेखक की ओर से पूजन आदि का प्रवन्ध किया जाता है। ऐसी आख्यायिका भी है कि प्राचीनकाल मे प्रतिवर्ष यहाँ कुमारीकन्या का वलिदान हुआ करता था, और यह परम्परा नाथसम्प्रदाय मे चली आती है। वर्तमान समय भी अष्टमी के पूजन के अवसर पर नाथसम्प्रदाय की कुमारी कन्या की करांगुली मे सुई से किंचित् छिद्र करके, रक्त के विन्दु का देवी पर सिंचन किया जाता है, जो एक प्राचीनकाल मे होनेवाले मनुष्य वलिदान का प्रतीक है। अष्टमी के नगर पूजन का प्रारभ इसी चौवीसखवा देवी के स्थान से होकर, क्रमशः कालियादेह दरवाजा, चौसठयोगिनी, फूलवाई, अंकपात, नगरकोट की रानी, ताजपूर दरवाजा, निजातपुरा, छत्रीपुरा दरवाजा, अहीरपुरा लालवाई दरवाजा, भूखीमाता, गनगौर दरवाजा, अगियावेताल से गढ़ की कालिका पर जाकर समाप्त होता है। इस प्रसंग पर विशेष वात यह होती है कि इस पूरी नगरपूजा के परिक्रमण मे चौवीसखवे से लगाकर, गढ़ की कालिका तक एक घट मे छिद्र करके, उस घट में मदिरा भरकर मदिरा की अखण्ड धारा वहाई जाती है।

इस सम्वन्ध मे एक ऐसी कथा है कि उज्जैन के राजसिंहासन पर विक्रमादित्य के सिवाय दूसरा राजा नही वैठ सकता था। एक समय जब राजा विक्रमादित्य पर्यटन को गये और सिंहासन रिक्त न रहे इस हेतु अन्य राजा को सिंहासन पर विठाया, तब उसे देवी ने अपना भक्ष्य वना लिया। इसी प्रकार प्रतिदिन नया राजा सिंहासन पर वैठाया जाता था और देवी रोज उसका भक्षण कर लेती थी। जब यह वृत्तान्त राजा विक्रमादित्य को ज्ञात हुआ तब वह रूप परिवर्तन करके वहाँ आये और रोज की भाँति सर्व सम्मति से राजसिंहासन पर विराजमान हुए। उसी दिन राजप्रासाद से लगाकर कालिकादेवी के स्थान तक, हार, फूल, इत्र, गुलाव आदि सुवासिक द्रव्यो से सुसज्जित व सुशोभित करके उज्जयिनी को अमरावती तुल्य सजा दी। हर स्थान पर महिष व मदिरा आदि का प्रवन्ध देवी को प्रसन्न करने के लिए किया, और सन्ध्या समय विक्रमादित्य ने अपनी मोम की प्रतिमा बनाकर उसे वस्त्र आभूषणादि से अलकृत करके, अपने मच पर बैठा दी और स्वय मच के नीचे छिपे रहे। प्रवन्ध से प्रसन्न होकर जव देवी आई तो सिंहासन पर राजा की मोहक मूर्ति देखकर मोहित होकर वर माँगने के लिए आदेश दिया। राजा विक्रमादित्य तुरन्त ही प्रकट होकर देवी के चरणो मे गिर पडे, और राजाओं का भक्षण वन्द करने का वर माँगा और व देवी को हर अष्टमी को पूजन तथा वलिदान चढ़ाने की प्रतिज्ञा की। देवी ने प्रसन्न होकर यह वरदान दिया। तब से ही प्रतिवर्ष नवरात्रि के अष्टमी के दिन यहाँ पूजन चढ़ता है।

हरसिद्धि देवी—ऐसी आख्यायिका है कि इस उज्जयिनी नगर के संरक्षण के लिए चौसठ देवियो का अखण्ड पहरा रहता है, जिनको चौसठ योगिनी कहते है। उनमे एक हरसिद्धि देवी है। यहाँ के अति प्राचीन स्थान मे श्रीहरसिद्धि देवी का स्थान विशेषतापूर्ण है। अवन्तिका के प्रसिद्ध सप्तसागर रुद्रसागर के पश्चिम तट पर रेलवे स्टेशन से लगभग एक मील के अन्तर पर महाकालवन मे स्थित यह मन्दिर है। यह मन्दिर चारों ओर से ऊँची व मजबूत दीवारो से घिरा हुआ है, और चारों दिशाओ मे अन्दर आने को चार दरवाजे है। शिवपुराण के अनुसार इस मन्दिर मे हरसिद्धि देवी की प्रतिमा नहीं है। मन्दिर के गर्भ-गृह मे सिंहासन पर एक शिलोत्कीर्ण श्रीयंत्र प्रस्थापित है। वही हरसिद्धि देवी कहलाती है। यहाँ पर जो मुखवटा बना है वह वाद मे वनाया गया है, ऐसा कहते है। उसके पीछे जो मूर्ति खड़ी है वह अन्नपूर्णा की है। अन्नपूर्णा के आसन के नीचे सात मूर्तियाँ दिखाई देती है, इसमे मध्य मे स्थित मूर्ति कालिका की, और दोनों ओर की दो मूर्तियाँ महालक्ष्मी और महासरस्वती की व अखीर मे दोनों तरफ की एक एक मूर्ति गणपति की होना कहा जाता है। **यस्मात् स्थानम् हि मातृणां पीठं, तेनैव कथ्यते।** अब भी सकल्प मे "महाकाल वने हरसिद्धि पीठे" ऐसा उच्चारण करते हैं।

उज्जैन के दर्शनीय स्थान

इसका महात्म्य वणन निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है —

हरसिद्धि महादेवीं नित्य व्योमस्वरूपिणीम्। हरसिद्धि प्रपश्येच्च सोऽभीष्ट लभते फलम ॥

अर्थात् जगन्माता ब्रह्माडरूपिणी श्रीहरसिद्धिजी के जो दशन करता है, उसकी मनोकामना पूरी होती है।

मन्दिर के पूव की ओर के दरवाजे पर एक सुन्दर कांच का बगला है व उसके निकट एक बडा वट वृक्ष व एकगुफा है। दक्षिण की तरफ महाकालेश्वर की तरफ जाने का रास्ता है। पश्चिम की तरफ अगस्तेश्वर व क्षिप्रा की ओर जाने का माग है। उत्तर की ओर का द्वार इसका मुख्य द्वार है। मन्दिर के आवार में एक हनुमानजी का और एक तरफ करकटेश्वर का भी मन्दिर है, और एक धमशाला भी है। उज्जयिनी के महात्म्य मे इस स्थान का परिचय निम्न प्रकार मे दिया है।

प्राचीनकाल में चण्ड एव प्रचण्ड नामक दो राक्षस थे। उन्होने मदोन्मत्त हो देव स्त्रियो का हरण किया और समस्त ससार को त्रस्त कर दिया। एक बार जब यह दोनो कलाश पर गए तब शिव व पावती द्यूतक्रीडा म निमग्न थे। द्वार पर ही उन्हे नन्दीगणो ने अन्दर जाने मे रोका, इस कारण नन्दीगण को उन्होने शस्त्रास्त्रो से घायल कर दिया। शिवजी ने जब यह घटना देखी तब चण्डी का स्मरण किया और उसे राक्षसो के वध की आज्ञा दी। आज्ञानुसार देवी ने राक्षसो का वध कर दिया तब शकरजी ने प्रसन्नता से कहा—

हे चण्डी तुमने इन दुष्टो का वध किया अत तुम अब लोक में हरसिद्धि नाम से प्रसिद्ध रहोगी। तभी से इस महाकालवन म हरसिद्धि विराजमान है।

ऐसा भी कहा जाता है कि राक्षस जब कलाश के अन्दर शिवजी के पास गये तब उन्होने गणो को यह आज्ञा दी थी कि वे बाहर ही ठहरें, किन्तु उन्होने नन्दी को भाले से घायल कर उसे रक्ताच्छादित कर दिया। यह वृत्तान्त पावती को मालूम होते ही उन्होने राक्षसो के पारिपत्य की सूचना दी। इसमे राक्षस ने क्रोधायमान हो पावती को उठा लिया और गणो का सकेत करके अन्दर बुला लिया। इस कारण शकर को उस समय पावती की (यानी सिद्धि की) प्राप्ति न हो सकी। अतएव उस समय शकर को वकुण्ठ जाना पडा, और वहा पहुँचने पर सब वृत्तान्त विष्णु को सुनाने पर, उन्होने देवी का रूप धारण करके राक्षसो को मारकर, पावती को मुक्त करके पुन शकर के आधीन की। इस प्रकार से हर को सिद्धि (यानी पावती) प्राप्त होने से इस देवी का नाम हरसिद्धि पडा। राक्षसो से भयभीत हुई पावती अभी भी पीछे छिपी हुई है। यही भाव इस हरसिद्धि देवी मन्दिर मे दर्शित होता है, क्योकि इसम हरसिद्धि देवी की मूर्ति दृष्टिगोचर नही है। इस मन्दिर के पूव दिशा के द्वार पर जो सुन्दर बगला है उसके निकट दक्षिण पूव के कोण म एक बावडी बनी हुई है जिसके अन्दर एक स्तभ है, उसपर सवत १४४७ माघ वदी १ खुदा हुआ है। जसा ऊपर लिखा है मन्दिर के अन्दर देवीजी की मूर्ति नही है केवल श्रीयन्त्र बना हुआ स्थान है। और इसी स्थान के पीछे भगवती अन्नपूर्णा की सुन्दर प्रतिमा विराजमान है।

कहा जाता है कि देवीजी सम्राट विक्रमादित्य की आराध्य रही है। और इसी स्थान पर विक्रमादित्य ने अनेक वष पयन्त तप किया है। मन्दिर के पीछे एक कोने में कुछ सिर सिन्दूर चढे हुए रखे है। ये विक्रमादित्य के सिर है, ऐसी दन्तकथा प्रचलित है। कहा जाता है कि देवी को प्रसन्न करने के हेतु विक्रमादित्य ने अनेक वर्षों तक घोर तपश्चर्या की और ग्यारह बार अपने हाथो से काटकर अपने मस्तक को देवी के चरणो में अपण करके आत्म बलिदान किया था। किन्तु बार बार फिर देवी नया मस्तक निर्माण कर देती थी। किन्तु बारहवी बार जब मस्तक अपण किया इसके पश्चात् फिर मस्तक निर्माण नही हुआ, और यही विक्रमादित्य का शासनकाल सम्पूर्ण हुआ। इस विधि से मस्तक अपण करके सम्राट विक्रमादित्य बारह वष में एक बार पूजा करते थे। इस प्रकार हिसाब लगाने से विक्रमादित्य का शासनकाल १४४ वष का होना माना जा सकता है।

किन्तु वसे भी विक्रमादित्य का शासनकाल १३५ वष का माना जाता है। सम्राट् विक्रमादित्य की यह आत्म बलिदान की रोमाचकारी कथा सुनकर एक विद्यार्थी के अन्त करण पर एसा प्रभाव पडा कि उसने भी अपना शीश अपने

श्री ठाकुर उत्तमसिंह

हाथों से काटकर देवीजी को चढ़ाया, और इस तरह आत्मबलिदान किया। यह देवी वैष्णवी है, अतएव पूजा में अब बलिदान नही किया जाता है। यहाँ का पुजारी गुसाँई है। ओरछा स्टेट के गॅझेटियर (पत्राक ८२–८३) मे लिखा है:—

"यशवन्तराव होलकर ने सत्रहवीं शताब्दी में ओरछा राज्य पर हमला कर उसे जीतना चाहा। वहाँ के लोक देवी (हरसिद्धी) के मन्दिर मे अरिष्ट निवारणार्थ प्रार्थना कर रहे थे। औचित वीरसिंह और उसका लड़का हरदौल, सवारो की एक टुकड़ी लेकर वहाँ पहुँचा। मराठों की सेना पर चढ़ाई कर दी। मराठे वहाँ से भागे। उन्होने यह समझा कि इनके विजय का कारण यह देवी ही है। तो फिर वापिस लौटकर वहाँ से उस मूर्ति को उठा लाये। वही मूर्ति उज्जैन के क्षिप्रा तट पर हरसिद्धीजी है।" किन्तु जब पुराणों मे भी हरसिद्धी का वर्णन उपलब्ध है तो इस अठाहरवी शताब्दी की इस घटना से इस मन्दिर का सम्बन्ध होना प्रतीत नही होता।

मन्दिर के सामने खड़े हुए दो भव्य दीपस्तम्भ है। प्रतिवर्ष नवरात्रि के दिनो मे उनपर पाँच दिन तक दीपमालिकाएँ लगाई जाती है। इन स्तभो पर लगभग ७२६ दीप लगते है। उस समय यहाँ सरकारी बैण्ड व नक्कारखाने का प्रबन्ध रहता है। सहस्रावधि यात्रियो का समुदाय एकत्रित होता है। जब निकटवर्ती रुद्रसागर के विस्तीर्ण जलपृष्ठ पर कमल-पुष्प खिले होते है उस समय का दृष्य बड़ा ही मनोहारी होता है। इसी तरह रात्रि के समय जब दीपस्तम्भ जगमगाने लगते है और उनका प्रतिबिम्ब दूर दूर तक प्रशान्त जलपृष्ठ पर अकित होता है, उस समय की इस पवित्र स्थल की शोभा अवर्णनीय होती है। वर्तमान समय मे इस रुद्रसागर का जल निकाल देने के कारण यह नैसर्गिक शोभा नष्ट हो गई है।

रुद्रसागर का मध्यवर्ती टापू—हरसिद्धि देवी के मन्दिर के व महाकालेश्वर के मन्दिर के बीच मे, रुद्रसागर के मध्य मे एक टापू के स्वरूप मे एक छोटा टीला है। इसपर विक्रमादित्य का सिंहासन था, ऐसी दन्तकथा है। कुछ मास पूर्व इसका उत्खनन किया जाने पर, इस टीले के शिखर पर एक मुगल पद्धति का बना हुआ कारंजा (पानी का फव्वारा) निकला है। इसके तले मे पानी आने का जो छिद्र है, उसकी ऊँचाई रुद्रसागर के जलपृष्ठ के सतह से ज्यादा होने से यह अनुमान होता है कि इसके फव्वारे के लिए जल रुद्रसागर के बाहर किसी उच्च स्थान से लाने का प्रबन्ध होगा। पानी निकालने के हेतु मृत्तिका के बने हुए नलों के अवशेष कही कहीं आज भी दृष्टिगोचर होते है। पुरातत्त्व-विभाग के दृष्टिकोण से इस स्थान का विशेष महत्त्व है।

गोपाल-मन्दिर—यह मन्दिर उज्जयिनी नगर के बीच बाजार के बड़े चौक के सामने है और इसको महाराजा दौलतराव शिन्दे की महारानी बायजाबाई शिन्दे ने बनवाकर उसमे श्रीगोपालकृष्ण की मूर्ति स्थापित की थी। मन्दिर का गर्भगृह और उसपर का शिखर सगमरमर का है। उसका द्वार तथा उसके अन्दर के द्वार चाँदी के पत्रो से मढे हुए है। बाहर के किवाड़ चाँदी के चौखट में जड़े हुए है। मन्दिर मे रत्नजड़ित एक द्वार है। इसके सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि ये किवाड़ गजनी की लूट मे शिन्दे सरकार लाए थे।

सिंहासन पर श्रीगोपालकृष्ण की श्यामवर्ण मूर्ति और उनके दाहिनी तथा बाई ओर क्रमश: शकर और राधिकाजी की गौरवर्ण मूर्तियाँ है। राधिकाजी के पास गरुड़जी की मूर्ति और शिवजी के पास बायजाबाई साहिबा की प्रतिमा स्थित है। यहाँ की व्यवस्था के लिए ग्वालियर राज्य की ओर से ४,०००) रु० की वार्षिक नेमणूक मिलती है। श्रीगोपालकृष्ण की चिबुक मे हीरा जमाने की जगह रखी है। यहाँ पर्व उत्सवादि प्रसग पर एक दैदीप्यमान हीरा जमा दिया जाता है। मूर्ति यहाँ की ऐसी ऊँचाई पर विराजमान है कि चौक से आनेवाले पथिको को श्रीगोपालकृष्ण के दर्शन सड़क पर से ही हो जाते है।

अंकपात—यह वह पुण्य स्थान है जहाँ सादीपनी ऋषी का आश्रम था, जिसमे श्रीकृष्ण भगवान उनके बन्धु बलराम और सुदामाजी ने विद्योपार्जन कर चौदह विद्याओ, तथा चौसठ कलाओ का ज्ञान सम्पादन किया था। यही भगवान श्रीकृष्ण छात्रावस्था मे गुरुगृह की पाकशाला के लिए लकड़ी सिर पर रखकर लाते थे, और इस तरह

ह, पश्चिम की तरफ एक बन्द रास्ता है इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह काशी जाने का रास्ता है। इसी तरह काशी के निकट चुनारगढ नामक पहाडी स्थान में टीले पर भी एक गुफा है। यह भी भर्तृहरि का स्थान बतलाया जाता ह, और इस गुफा के अन्दर एक माग ह जो उज्जन आने के लिए है ऐसा कहा जाता है।

सिद्धवट—भरथगढ के पूव में क्षिप्रा के मनोहर तट पर सिद्धवट का स्थान है। जिस प्रकार प्रयाग में अक्षय वट, नाशिक म पचवट, वृन्दावन में वशीवट तथा गया में गयावट ह उसी प्रकार उज्जन म यह पवित्र सिद्धवट है। वतमान वट १००, या १२५ वष से अधिक का प्रतीत नहीं होता। यह कमकाण्ड के लिए प्रमुख स्थान माना जाता है। कहा जाता ह कि इस वट वृक्ष पर भी मुगल बादशाहो ने इसक धार्मिक महत्व के कारण कुठार चलाया था, और इस वृक्ष को नष्ट कर उसपर लोह के बहुत मोटे पत्रे (तवे) जडवा दिए थे, किन्तु, उसपर भी अकुर फूट निकले और आज भी यह वृक्ष हराभरा ह। इस वट के नीचे महादव का लिंग व गणपति की मूर्ति ह और फश पर सफेद व काले पत्थर लगे हुए ह। इसके निकट जो क्षिप्रा की धारा ह वह "पापमोचन तीथ" कहलाती ह। नाग नारायण-बलि इसी तीथ पर हुआ करती ह। श्रद्धालुओ का यह भी विश्वास ह कि इस तीथ पर स्नान करने से भूतबाधा नहा होती। यहाँ वशाख शुक्ल चतुदशी तथा वकुण्ठ चतुदशी को मेला भी लगता ह। इस पापमोचन तीथ के सम्बध में ऐसी भी कथा कही जाती ह कि सिद्धवट के स्थान से कार्तिक स्वामी ने ताडकासुर पर शक्तिबाण चलाया था, जो क्षिप्राजी के प्रवाह में लय हो गया। इस बाण के आघात से यहाँ के प्रवाह की गहराई अथाह हो गई।

श्री महाकाली—यह श्री महाकाली का मन्दिर उज्जन शहर के बाहर एक मील की दूरी पर 'गढ' पर बना हुआ ह। इस मन्दिर को किसने व कब बनवाया था इसका निणय अब तक ठीक तरह नही लग पाया है। तथापि इस मन्दिर के कुछ अश का जीर्णोद्धार ई० स० ६०६ व ६४८ के बीच म सम्राट् श्री हष ने करवाया था। लिंगपुराण में इसकी उत्पत्ति के विषय में लिखा ह कि रावण के वध के पश्चात् जब श्री रामचद्रजी अयोध्या पधार रहे थे, तब किंचित् विश्रांति के लिए श्रीरामचन्द्रजी ने अवन्तिका म निवास किया था तथा हरसिद्धि दवी के पश्चिम में रुद्रसागर के तट पर उन्होने मुकाम किया। इस रात्रि का भगवती कालिका भक्ष्य के शोध म भ्रमण करती हुई इस स्थान पर आ पहुँची, और उसने हनुमान का पकडने की चेष्टा की। परन्तु हनुमानजी के अत्यत भीषण रूप धारण करने से, देवी भयभीत होकर जब भागी तब उनके काया का एक अश गलित होकर गिर गया और वह जिस स्थान पर गिरा वही स्थान कालिका के नाम से विख्यात है। शक्ति-सगम-तत्र में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है —

अवती सज्ञके देश कालिका तत्र तिष्ठति॥

कहा जाता है कि महाकवि कालिदास की यह आराध्य देवी थी, और उनके उग्र तप से देवी ने प्रसन्न होकर उन्हें प्रत्यक्ष दशन दिया, और देवी के प्रसाद स ही कालिदास को विद्वत्ता एव कवित्व की प्रतिभा प्राप्त हुई।

इस समय मन्दिर म दवी की उग्र व भव्य मूर्ति विद्यमान ह। किन्तु वयोवृद्ध जना का कहना ह कि वास्तव में मूर्ति की स्थापना बाद में हुई ह। केवल यह स्थल ही माननीय व पूजनीय ह। मन्दिर के अन्दर जाने पर छह हाथ चौडे व पतीस हाथ लम्बे दो दालान दोनो तरफ आते ह। प्रवेशद्वार के आगे ही पाँच हाथ की दूरी पर एक देवी के वाहन सिंह का प्रतिमा बनी हुई ह। मन्दिर के सामने एक विशाल गहरी बावडी बनी हुई है, और समीप ही बलिदान का स्थान बना हुआ है। दवी की मूर्ति के समीप ही चामुण्डा दवी की मूर्ति और ग्यारह रुद्र में के नवें गिरीश की मूर्ति विराजमान ह। इस मदिर के पाछे "स्थिर विनायका" का मन्दिर है जिसे श्रीमान् सरदार किबे (इन्दौर निवासी) ने बनवाया है। यहाँ चौरासी लिंग म के पचपनवे "सिंहेश्वर महादेव" ह। इस स्थान पर इमली के वृक्षा का एक घना वन होने से यह स्थान बडा रमणीय मालूम हाता है। शारदीय नवरात्रि म नौ दिनतक यहा महोत्सव हाता है, और अष्टमी के दिन हवन और बलिदान किया जाता ह। ऐसी किंवदन्ती है कि किसी पुरातन काल में यहाँ कुमारिका का बलिदान हाता था।

श्री ठाकुर उत्तमसिंह

कालभैरव--पुराणो के अष्टभैरवो मे यह कालभैरव प्रमुख हैं। यहाँ पूजन की सरकार की तरफ से व्यवस्था है। यह मन्दिर भैरवगढ़ नाम से प्रसिद्ध पुरातन उज्जयिनी मे स्थित है। यह भैरवगढ़ नामक उपनगर वर्तमान उज्जयिनी से तीन मील के अन्तर पर क्षिप्रा नदी के तट पर बसा हुआ है। यहाँ अधिकतर छीपे लोग रहते हैं। इस स्थान के प्रमुख देव 'भैरव' हैं। पश्चिमोत्तर दिशा की ओर अधिकाश भाग नगर के कोट से घिरा हुआ है। क्षिप्रा के उत्तर तट पर कालभैरव का विशाल मन्दिर बना हुआ है। भव्य व ऊँचे प्रवेशद्वार पर सरकारी नक्कारखाना बजता है। द्वार से अन्दर प्रवेश करने पर दीपस्तंभ खड़ा हुआ दिखाई देता है। कालभैरव की मूर्ति अत्यत भव्य तथा प्रभावशाली है। मूर्ति के मुख में कोई छिद्र नही है फिर भी मूर्ति को मद्यपान कराते समय जब मद्यपात्र मूर्ति के मुख से लगाया जाता है तब पात्र आपही आप खाली हो जाता है, ऐसा कहा जाता है। यह मन्दिर राजा भद्रसेन का बनाया हुआ है, ऐसा कहते हैं। यहाँ भैरवअष्टमी को यात्रा लगती है और भैरवजी की सवारी निकलती है। मन्दिर की बाई ओर से बाहर निकलने पर किले की ओर जाने का मार्ग है। यह किला लगभग ३०० हाथ लम्बा और ३० हाथ ऊँचा है। इसी जगह सम्राट् अशोक ने उज्जैन का कारागृह बनवाया था। वर्तमान समय मे भी ग्वालियर राज्य के मालवा प्रान्त का कारागृह (जेलखाना) यही बना हुआ है, जिसमें कैदियो के हाथ से कती बुनी दरी व अन्य वस्त्रादि बनवाये जाकर उनकी बिक्री की जाती है। इस किले के समीप से दो मार्ग जाते है, एक कालियादेह महल को व दूसरा सिद्धवट की ओर।

मंगलनाथ--अकपात के निकट क्षिप्रा-तट के एक टीले पर मगलनाथ का मन्दिर है। यह महादेव नवग्रह मे के है, और चौरासी महादेव मे तेतालीसवे महादेव हैं। जो लोग पचक्रोशी को जाते है वे अष्टतीर्थ की यात्रा करके यही आते है, और फिर उनके कुटुम्ब के लोग यहाँ उनसे मिलकर अपने घर ले जाते है। मत्स्यपुराण मे लिखा है कि--

अवंत्यां च कुजो जातो मगधे च हि माशुनः

तथा सकल्प मे भी--

अवंतीदेशोद्भव भो भोम्

इत्यादि अनेक प्रमाणो से मगल की जन्मभूमि उज्जैन मानी जाती है। यहाँ मगल की उत्पत्ति हुई है। अतः सर्वदा मगल ही होता रहता है। हर मगलवार को दिनभर पूजन होता रहता है और यात्रा भी होती है। इसके निकट इन्दौर निवासी श्रीमान् सरदार किबे साहब का बनाया हुआ सुन्दर गगाघाट भी है।

क्षीरसागर--सप्तसागर मे क्षीरसागर तीसरा सागर है और गोगेश्वर की टेकरी के निकट है। यहाँ शेषशाई भगवान् की प्रतिमा है। यह स्थान लेखक के वश परम्परागत "हवेली" नामक भवन के निकट है तथा लेखक के आधीन भूमि पर स्थित है। ऐसी दन्तकथा प्रचलित है कि जब श्रीकृष्ण भगवान् सादीपन ऋषि के आश्रम मे आये थे तब उन्होने यहाँ दुग्धपान किया था। सप्तसागर की यात्रा करने पर यहाँ खीर-पुरी का दान किया जाता है। यहाँ का जल किसी समय दुग्ध जैसा श्वेत था, इसी कारण इसका नामाभिधान क्षीरसागर किया गया था। आसपास के घाट, मन्दिर, वृक्षो की घनी छाया, छोटीसी पहाड़ी, आदि प्राकृतिक सौन्दर्य से यह स्थान बड़ा ही रमणीक प्रतीत होता है।

वेधशाला--यह वेधशाला उज्जैन के दक्षिण मे क्षिप्रा नदी के दक्षिण तट के उन्नत भूभाग पर स्थित है। इसे अधिकाश लोग 'यत्र महल' के नाम से जानते है। पुरातन काल मे उज्जैन ज्योतिषविद्या का प्रमुख केन्द्र था और यही से विषुववृत्त रेखा का आरम्भ माना गया था। जयपुर के राजा सवाई जयसिह ने, जब वे उज्जैन के बादशाह शाहजहाँ की ओर से सूबा थे, तब ई० सन् १७३० मे यह वेधशाला बनवाई थी। ये राजा स्वय ज्योतिष विद्या के विद्वान् तथा उसके बड़े प्रेमी थे। उनकी इच्छा थी कि भारतीय ज्योतिष मे ग्रहो का गणित यथार्थ हुआ करे, इसी हेतु उन्होने भिन्न स्थानों से

ग्रहा के वेध लने के लिए जयपुर, काशी, दिल्ली तथा मथुरा म वेधशालाएँ बनवाइ। उज्जन भारतीय ज्योतिष का केद्र तथा उसका मुख्य विद्यापीठ था जसा कि वतमान समय म 'ग्रीनविच' को मानते ह, और इसी कारण यहाँ भी जयसिंह ने वेधशाला स्थापित की थी। इस वेधशाला से उन्हान सात आठ वष तक ग्रहा और ताराआ के वेध लिए और उनके अनुसार एक ग्रथ भी तयार करवाया था। इसके पश्चात् लगभग २०० वष तक इस वेधशाला की ओर ध्यान नहीं दिया गया, और परिणामस्वरूप यह वेधशाला जीण हा गई थी। इस परिस्थिति की ओर शास्त्र व कला प्रेमी ग्वालियर नरेश कै० माधव महाराज का चित्त उज्जयिनी की पडिताश्रम सभा की ओर स आकर्षित कराया जाने पर, उन्हाने जयपुर के वेधशाला के प्रसिद्ध ज्यातिषी गोकुलचन्द भावन को बुलवाकर उनके निरीक्षण म इस वेधशाला का जीर्णोद्धार करवाया, और इस समय यह वेधशाला सुव्यवस्थित अवस्था में है। यहाँ एक सुपरिण्टेण्डेण्ट और निरीक्षक रहत ह। दशका का यत्रा का परिचय कराने का यहा पूरा प्रबध ह। इस वेधशाला में चार यत्र ह। (१) सम्राट् यत्र—इसस सूर्योदय से सूर्यास्त तक घटे, मिनिट और २० सेकण्ड तक का काल मालूम होता ह। (२) दिगश यत्र—इससे ग्रह नक्षत्रादिका के दिगश मालूम होते ह। इसके मालूम होने स उनके स्थान का पता चल जाता है। (३) नाडीवलय यत्र—इससे ग्रह नक्षत्रादिका के दक्षिणोत्तर गमन का ठीक समय जाना जाता है। (४) दक्षिणोत्तर-भित्ती-यत्र—इस यत्र द्वारा ग्रह नक्षत्रादिको के मध्याह्न वृत्त पर आने के समय उनके नताश व उन्नताश आदि का बोध होता ह। (५) पलभा यत्र—इस यत्र द्वारा सूय की छाया स दिन म ठीक समय जाना जाता है।

अगस्तेश्वर—अगस्तेश्वर का मन्दिर हरसिद्धि क पीछे ही ह। यह मन्दिर इतना प्राचीन है कि इसके निर्माण के सम्बन्ध मे कोई प्रमाण उपलब्ध नहा ह। अनुमान यह ह कि यह मन्दिर जूने महाकाल के मन्दिर इतना प्राचीन तो अवश्य ही होगा।

चिंतामणि गणपति—यह मन्दिर क्षिप्रा नदी के पार करीब तीन मील के अन्तर पर फतेहाबाद जानेवाली रेलवे लाइन पर ह। यह मन्दिर गत काल में होलकर शाही के अधीन था, किन्तु अब रियासत ग्वालियर के अन्तगत है। इस मन्दिर का पूजनीया रानी अहिल्याबाई होलकर ने बनवाया था। गणपति की प्रतिमा को स्वयम्भू बतलात ह। यह मूर्ति बहुत सुन्दर ह और इसके पास ही ऋद्धि सिद्धि ह परन्तु वह सिन्दूर स ढक जाने से दो खडे हुए स्तम्भा के समान दिखता ह। मन्दिर के सम्मुख एक बावडी पक्के पत्थर की बनी हुई ह जिसे बाणगगा कहत ह। इसके बारे म ऐसी कथा कहते ह कि रावणवध क बाद श्रीरामचन्द्रजी जब अयोध्या लौट रहे थे, तब उन्हाने यहाँ विश्राम किया था। प्यास लगने पर उन्हाने लक्ष्मणजी का जल लाने का कहा, किन्तु समीप म जल न मिलने के कारण भूमि पर तीर मारा जिसके लगते ही वहाँ जल निकल आया। इसी कारण इसका नाम "बाणगगा" है। फाल्गुन मास में अन्त के दोनो बुधवार को, और चत्र शुक्ल के दोनो बुधवार को यहाँ मेला भरता ह।

पवित्र क्षिप्रा नदी—यह नदी महू छावनी से ११ मील पर से उद्गम पाकर महतपुर स आगे चलकर चमण्वती म मिली ह। इसकी लम्बाई लगभग १२० मील बतलाई जाती है। अवन्ती महात्म्य म पुण्य-सलिला भगवती क्षिप्रा का वणन निम्नप्रकार स दिया ह —

> नास्ति वत्स महीपृष्ठे शिप्राया सदृशी नदी। यस्यास्तीरे क्षणा मुक्ति कि चिरात्सेवितेन व॥ तथा-—
>
> शिप्राशिप्रेति यो ब्रूयाद्योजनाना शतरपि। मुच्यते सव पापेभ्यो ॥

कालिकापुराण में इसकी उत्पत्ति की कथा दी ह जिससे उसका नाम शिप्रा प्रतीत होता ह। रघुवश की प्राचीन हस्तलिखित पोथी में 'शिप्रा' शब्द का प्रयोग किया ह। मेघदूत के श्लोक ३१ मे भी उसका 'सिप्रा' नाम से उल्लेख ह परन्तु उसके टीकाकार ने "क्षिप्राग्रहण शत्यद्योतनार्थं" इस प्रकार शिप्रा शब्द का प्रयोग किया है अतएव मूल नाम 'सिप्रा' होकर वह 'शिप्रा हो गया और उसका अपभ्रश 'क्षिप्रा' भी किया जाता ह। इसके सम्बन्ध म एसी कथा ह कि महाकालेश्वर एक समय क्षुधातुर होकर विष्णु के पास भिक्षा याचना करने को गये, ता उन्हाने तजनी अगुली दिखला दी। शिव ने क्रुद्ध

श्री ठाकुर उत्तमसिंह

होकर अगुली को छिन्न कर दिया और जो रक्त प्रवाह शुरू हुआ उसके नीचे शिव ने अपना कपाल कर दिया। जब वह रक्त नीचे प्रवाहित हुआ तब से यह क्षिप्रा कहलाई है। यहाँ सकल्प मे भी यही कहा जाता है कि **विष्णु देहातसमुत्पन्ने शिप्रे तथा शिप्राकस्मात—शिवपतित रक्ताति ति भवति शप्रा 'शवेन पतितं यत रक्तम तत प्रभवति तस्मात्।**

दूसरी कथा कालिकापुराण के अनुसार यह है कि मेधातिथि ऋषि ने अपनी कन्या अरुंधती दान मे जिस समय दी उस संकल्प का जल हिमालय से शिप्रा (सरका) था, उसके नीचे पड़ जाने से यह नदी उत्पन्न हुई।

क्षिप्रा तट पर सर्वत्र विशाल घाट वँधे हुए है। आस पास सर्वत्र मन्दिर, छत्री आदि वनी हुई है। नरसिह घाट, रामघाट, पिशाचमोचन तीर्थ, छत्रीघाट, गन्धर्वती तीर्थ, गगाघाट आदि विशेष महत्त्व के घाट है। गंगा दशहरे का उत्सव नौ दिन तक नदी तट पर ज्येष्ठ शुक्लपक्ष मे प्रति वर्ष होता है। सहस्रावधि स्त्री-पुरुष एकत्रित होते है और यत्रतत्र कथा पुराण प्रवचनादि होते रहते है, जो दृष्य वड़ा ही भक्तिभाव उत्पादक रहता है। कार्तिकी पौर्णिमा व वैशाखी पौर्णिमा को यहाँ घाट पर वड़ा मेला लगता है। सिहस्थ के पर्व पर घाट पर लाखो यात्री स्नान करते है।

श्री बड़े गणेशजी—महाकालेश्वर के निकट एक अत्यन्त सुन्दर, और भव्य गणेशजी की विशाल मूर्ति है। समस्त भारतवर्ष मे इतनी बड़ी व मनोहर मूर्ति अन्यत्र नही है, ऐसा कहा जाता है। इस मूर्ति को भारतविख्यात पंडित नारायणजी व्यास ने निर्माण किया है। गणेशजी से लगा हुआ पंचमुखी हनुमानजी का मन्दिर है। यह भी मूर्ति सप्त-धातुमयी है और सगमरमरी कच्छप-शेप और कमलपुष्प के सुन्दर पीठ पर विराजमान है। यहाँ ज्योतिष की पाठशाला भी है। यह मन्दिर भारत के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ रा० व० चिन्तामणिराव विनायक वैद्य की सहायता से वना हुआ है। यहाँ आकाश के कक्षाक्रम से नवग्रह स्थापित है।

वीर दुर्गादास की छत्री—क्षिप्रा नदी के तीर पर स्मशान के निकट एक टीले पर एक सुन्दर छत्री वनी हुई है जो वर्तमान समय वीरान सी पडी हुई है। यह छत्री राठौर वंशीय वीर दुर्गादास की होने वावत प्रमाण उपलब्ध हो चुके है। दुर्गादास का देहान्त यही हुआ था। इसी कारण प्रत्येक राजपूत वीर के लिए यह स्थान अत्यन्त पवित्र क्षेत्र के समान दर्शनीय माना जा सकता है।

वायजावाई साहवा का वनवाया हुवा द्वारकाधीश का मन्दिर—कै० दौलतराव महाराज की महाराणी वायजावाई साहवा ने कुछ काल उज्जैन मे निवास किया था। उन्होने उज्जैन मे एक द्वारकाधीश का मन्दिर वनवाया था जो क्षिप्रा-तट पर है।

श्री जीजा महाराज की धर्मशाला—कै० माधवराव महाराज शिन्दे अपनी मातोश्री को "जीजा महाराज" के नाम से सम्वोधन किया करते थे। उन्होने यह विशाल व सुन्दर धर्मशाला निज के धन से ई० सन् १९१६ मे बनवाई थी। यह स्थान उज्जैन रेलवे स्टेशन के निकट दो मजिला है। गरीब यात्री तथा साधुसन्तो के लिए यहाँ सदावर्त मिलता है, जिससे १०० व्यक्ति तक को भोजन सामग्री प्रति दिन धर्मार्थ दान की जाती है।

दत्त का अखाड़ा—सिहस्थ के प्रसग पर गुसाइयो की व वैरागियो की बड़ी बड़ी जमाते क्षिप्रा स्नान के लिए घाट पर एकत्रित होती है। इन पथो के अनुयायियो के लिए बड़ी वडी माफी व वर्षासन का प्रवन्ध होता है, और कुछ जमातो के पास हाथी, घोड़े, डका, निशानादि राजचिह्न व राजऐश्वर्य की सामग्रियाँ उपस्थित होती है। सिहस्थ के प्रसग पर, इन सव सम्प्रदायो व पंथो के मिलाकर लगभग चालीस पचास हजार साधुसन्त एकत्रित होते है। वैशाखी पौर्णिमा के दिन उनके निशानो के, तथा उनके स्नान के लिए समय व स्थान सरकार द्वारा निश्चित होते है। गुसाइयो की जमाते जिनको 'अखाड़े' कहते है, क्षिप्रा नदी के पार तीर पर रेती में ठहरते है। वहाँ जो इनका स्थान है उसी का नाम "दत्त का अखाड़ा" है। यह चारो ओर ऊँचे कोट से घिरी हुई, क्षिप्रा के पश्चिम तट पर एक छोटी 'गढ़ी' के समान सुन्दर इमारत है। इस अखाड़े की निकटवर्ती भूमि पर कृपि होती है और फल-वाग भी है। यहाँ प्रति दिन ३००-४०० अतिथि व साधु-सन्तों के भोजन का प्रवन्ध होता है। निकट मे एक वड़ी गौशाला भी है, जिसमे लगभग ४०० पशु रखे जाते है। एक सुन्दर छोटे मन्दिर मे

दत्तजी के चरण—चिह्न खुदे हुए हैं। यहाँ के वर्तमान मुख्य मठाधीश सन्ध्यापुरीजी हैं, और इनके निरीक्षण में यहाँ का प्रबन्ध बड़े सुचारु रूप से चल रहा है। यहाँ से क्षिप्रा के अर्ध धनुष्याकार पूर्वीय किनारे के घाट, मन्दिर व मठ तथा उनके जलपृष्ठ पर पड़े हुए प्रतिबिम्ब का बड़ा ही मनोहर दृश्य दिखाई पड़ता है। यह वही ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है जहाँ ई० सन् १७६७ में दत्त के अखाड़े का युद्ध हुआ था, जिसमें लेखक के पूर्वज ठाकुर पद्मसिंह को रणांगण में अपने पराक्रम का परिचय देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इनका उल्लेख माल्कम साहब ने "मेमाइर्स आफ सेण्ट्रल इण्डिया" नामक अपने ग्रंथ में भी किया है।

बिना नींव की मसजिद—जन्नपेठ में होकर उसके दरवाजे पर जड़े हुए शिलालेख से ज्ञात होता है कि यह मसजिद हिजरी सन् ८०६ ई० सन १३९७ में मालवे के सूबेदार दिलावरखान गोरी ने बनवाई थी। यह एक जैन मन्दिर को तुड़वाकर उसकी सामग्री से बनवाई जाने से, इसके लिए नींव खोदने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी, इसी कारण यह बिना नींव की मसजिद के नाम से प्रसिद्ध है।

ख्वाजा शकेब की मसजिद—यह सखीपुरे में रंगबावड़ी (पुष्कर सागर) के समीप है। कहा जाता है कि मुगल बादशाहों के सूबेदारों में से ख्वाजा शकेब नाम का एक सूबेदार यहाँ था, उसने इसे बनवाया था। यहाँ की मुसलमानी इमारतों में यह एक प्रसिद्ध इमारत है।

बोहरों का मकबरा—उज्जैन में बोहरों की बस्ती बहुत है। इसलिए यहाँ उनके धर्माध्यक्ष के प्रतिनिधि रहते हैं जो प्रायः उनके वंशज होते हैं। यह मकबरा उनके विशेष अधिकारी पुरुषों की कबरों पर बना हुआ है। यह इमारत भी प्रेक्षणीय है।

कोठी व अन्य प्रेक्षणीय इमारतें—उज्जैन के आग्नेय कोने में शहर से लगभग ढाई मील के अन्तर पर ई० सन् १८९५ में कै० माधवराव साहब शिन्दे नरेश ने अपने रहने के लिए यह महल बनवाया था। किन्तु अब यह इमारत सरकारी कार्यालयों का उपयोग के लिए दे दी है। रेल्वे स्टेशन के निकट देवास दरवाजे के पास माधव कॉलेज की इमारत भी लगभग इसी समय बनवाई गई थी, और यह दोनों इमारतें देखने योग्य हैं। ग्रॅण्ड होटल की व 'रुग्णालय' की इमारतें भी भव्य व प्रेक्षणीय हैं। इसके अतिरिक्त नए बसाए गए 'माधवनगर' नामक उपनगर में, कई सुन्दर इमारतें बन गई हैं, और कई औद्योगिक कारखानों व मिलों की भव्य इमारतें उज्जैन में अब निर्माण हो चुकी हैं, और प्रति दिन इस नगर का विस्तार बढ़ता ही चला जा रहा है।

वेश्या टेकड़ी—मक्सिया-आम सिन्धिया स्टेट रेलवे का एक छोटा स्टेशन आगर रोड पर उज्जैन से २ ३ मील पर है। वहाँ से उण्डासा तालाब पर जाने के लिए पूर्व दिशा में एक रास्ता जाता है। इस रास्ते पर एक टेकड़ी (टीला) है, जिसके ऊपर एक वृक्ष है। इस टेकड़ी की ऊँचाई लगभग ६० फीट है। इसके सम्बन्ध में यह आख्यायिका है कि प्राचीन-काल में जब उज्जैन ऐश्वर्य के शिखर पर पहुँचा हुआ था, उस समय उज्जैन के नागरिक इतने धनिक व रसिक थे कि यहाँ की यह ख्याति हो गई थी कि यहाँ कोई भी वस्तु बिक्री के लिए लाने पर व्यापारी को बिक्री न होने से निराश होकर वापिस लौटने का प्रसंग नहीं आता था, अर्थात् प्रत्येक वस्तु के ग्राहक मिल जाने से व्यापारियों की हर प्रकार की वस्तु बिककर व्यापारी अच्छा मुनाफा कमा कर ले जाते थे। एक समय यह प्रख्याति सुनकर एक बड़ा कुम्हार बाहर देश से सैकड़ों गधों पर मिट्टी लदवाकर बेचने के हेतु, आया और उज्जैन के सब रास्तों पर घूमकर, ग्राहक न मिलने से, निराश होकर नगरवासियों की भर्त्सना करता हुआ गधे लेकर वापिस लौट रहा था। यह एक धनिक वेश्या ने सुना। तब यह उज्जयिनी की अपकीर्ति सुनकर उसे भारी विषाद हुआ और इस प्राचीन नगरी की कीर्ति कायम रखने के हेतु जितनी मिट्टी थी, नगर के बाहर एक स्थान पर डालने का उस वेश्या ने आदेश दिया, तथा हर गधे के पीछे एक एक सुवर्ण मुद्रा का मोल उस कुम्हार को देने की आज्ञा दी। उस प्रसंग पर जो मिट्टी का ढेर लगा था वही आज वेश्या टेकड़ी के नाम से प्रसिद्ध है। वह भारतवर्ष का उन्नत काल था जब कि एक वेश्या जैसी पतिता स्त्री को भी अपने नगर के कीर्ति का ऐसा अभिमान
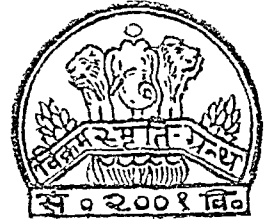
था कि उसे कायम रखने के हेतु उसने सुवर्ण मुद्राओ को मिट्टी तुल्य समझकर उसका मुक्त हस्त से व्यय करके अपने नगर की कीर्ति व यश अजरामर रखने की चेष्टा की। धन्य है वह नगर जो ऐसे नागरिको का निवासस्थान रहा है। और जहाँ ऐसे स्वदेशाभिमानी जन हो, उस नगर की कीर्ति यदि विश्व मे अजरामर हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या है?

कुछ समय पूर्व पुरातत्त्व-विभाग की ओर से इस टेकडी का उत्खनन किया जाने पर जो चिह्न दृष्टिगोचर हुए उनसे यह प्रतीत होता है कि यह किसी समय बौद्ध स्तूप था। इसके ऊपर के मिट्टी का स्तर खोदने पर अन्दर का हिस्सा प्राचीन प्रकार की ईंटो से मढ़ा हुआ पाया गया है। इसके ऊपर जो मिट्टी का स्तर है वह निकटवर्ती भूमि की मिट्टी से भिन्न प्रकार का, कुछ भगवा रग लिए हुए है।

अगिया वेताल का मन्दिर—इस मन्दिर के निकट एक छोटासा तालाब है, जिसको आग्यातलाई के नाम से सम्बोधन करते है। इस मन्दिर को 'अगिया वेताल' 'वीर वेताल' या 'पीर वेताल' का मन्दिर भी कहते है जो वास्तव मे 'अग्निवेताल' नाम का अपभ्रंश होना प्रतीत होता है। नवरात्रि की अष्टमी के दिन, नगर पूजन के अवसर पर लेखक की ओर से जो पूजन का प्रबन्ध होता है, उस प्रसग पर यहाँ कुक्कुट (मुर्गे) का बलिदान होता है। "वेताल पचविंशति" ग्रथ मे विक्रमादित्य के राज्यारोहण के सम्बन्ध मे एक रोचक कथा वर्णित है, उससे इस मन्दिर का सम्बन्ध होना प्रतीत होता है। उस कथा का सक्षेप मे आशय यह है कि एक समय ऐसा था कि जब उज्जैन के सिंहासन पर एक दिन से ज्यादा समय तक कोई राजा बैठ नही सकता था। इसका कारण यह था कि प्रति दिन जनता मे से एक राजा चुनकर सिंहासन पर बैठाला जाता था और रात्रि मे एक वेताल, धूम्रपटल व अग्नि के लपटो सहित विकराल रूप धारण कर राजप्रासाद मे प्रवेश करके राजा को प्रति दिन अपना भक्ष बना लेता था। एक दिन 'विक्रम' नामक एक निर्धन राजपूत की बारी राजसिंहासन पर बैठने की आई। तब उसने इस अग्निवेताल को अन्य उपायो से सन्तुष्ट करने के हेतु नाना प्रकार के मिष्टान्न तैयार रखे। अग्निवेताल ने इन पदार्थो से अपनी क्षुधा तृप्त की और सन्तुष्ट हुआ तथा इस चतुर सयोजक को अभय दान देकर सम्मुख प्रकट होने की आज्ञा दी। तब विक्रमादित्य प्रकट हुए, और राजा का भक्षण प्रतिदिन न करने का वर माँग लिया, जिसे अग्निवेताल ने इस शर्त के साथ स्वीकार किया कि उसके भक्षण का प्रबन्ध अन्य प्रकार से किया जाता रहेगा। इस प्रकार अग्निवेताल विक्रमादित्य का सहायक बन गया। इसी अग्निवेताल के नाम से यह मन्दिर बनवाया गया। यह कथा, चौबीसखम्बा देवी की कथा से कुछ मिलती जुलती है, किन्तु, विक्रमादित्य के नाम से सम्बन्धित इतनी कथाएँ प्रचलित है कि वास्तव मे उनमे की कौनसी यथार्थ है, यह निर्णय करना कठिन है।

उज्जैन के अन्य दर्शनीय स्थान

१ नगरकोट की रानी, २ अनन्तनारायण का मन्दिर, ३ महाराजवाड़ा, ४. त्रिवेणी सगम, ५. रणजीत, ६ नागनाथ, ७ सत्यनारायण का मन्दिर, ८ अष्टेवाले का मन्दिर, ९. खातियो का जगदीश मन्दिर, १०. श्रीनाथजी ढावा, ११. जैन मन्दिर (दिगम्बर ढावा), १२ अवन्तीपार्श्वनाथ, १३. राममन्दिर-सराफा, १४ रूमी का मकबरा, १५. वीर मछन्दर, १६. सतीघाट, १७. वाटर वर्क्स।

पंचक्रोशी यात्रा में आनेवाले देव—१ पिंगलेश्वर, २. कायावरोहणेश्वर, ३. विल्वेश्वर, ४. दुर्धरेश्वर, ५ १९. नीलकंठेश्वर।

महाकाल यात्रा—१. कोटेश्वर, २. महाकाल, ३. कपालमोचन तीर्थ, ४ कपिलेश्वर, ५. हनुमतेश्वर, ६. पैपलाद्य, ७ स्वप्नेश्वर, ८. विश्वतोमुख, ९ सोमेश्वर, १०. वैश्वानरेश्वर, ११ लकुलीश, १२. गङ्गानेश्वर, १३ विघ्ननायक, १४. वृद्धकालेश्वर, १५. विघ्ननाशक, १६. प्राणीशवल, १७ तनयेश्वर, १८ दण्डपाणि, गृहेश्वर, २०. महाकाल, २१. दुर्वासेश्वर, २२ कालेश्वर, २३ वाघिरेश्वर, २४. यात्रेश्वर।

उज्जैन के दर्शनीय स्थान

नगर प्रदक्षिणा के मुख्य देव—१ पद्मावति, २ स्वर्णशृंगा, ३ अवन्तिका, ४ अमरावती, ५ उज्जयिनी।

सप्तसागर यात्रा—१ रुद्रसागर, हरसिद्धी के पास, २ पुष्करसागर, नलिया बाखल में, ३ क्षीरसागर, डाबरी में ४ गोवर्धनसागर, बुधवारिये में, ५ रत्नाकरसागर, भोपाल लाइन में उडासे गांव में, ६ विष्णुसागर, अंकपात में तथा ७ पुरुषोत्तमसागर, अंकपात दरवाजे में।

देवी के स्थान—१ एकानंशा, सिंगपुरी में, २ भद्रकाली, चोबीसखंबे पर तथा ३ अवन्तिका, महाकालेश्वर में। नवदुर्गा अब्दालपुरा में, चतुष्षष्ठीयोगिनी नयापुरा में, विन्ध्यवासिनी गढ़ पर खेत में अथवा सिंगपुरी में कालिका के नाम से प्रसिद्ध है। वैष्णवी सिंगपुरी में पं० कालूरामजी त्रिवेदी के मकान में, कपाली जोगीपुरा में, छिन्न मस्तका अब्दालपुरा में, वाराही कार्तिक चौक में, वाराही माता की गली में, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती कार्तिक चौक में एक ही मन्दिर में।
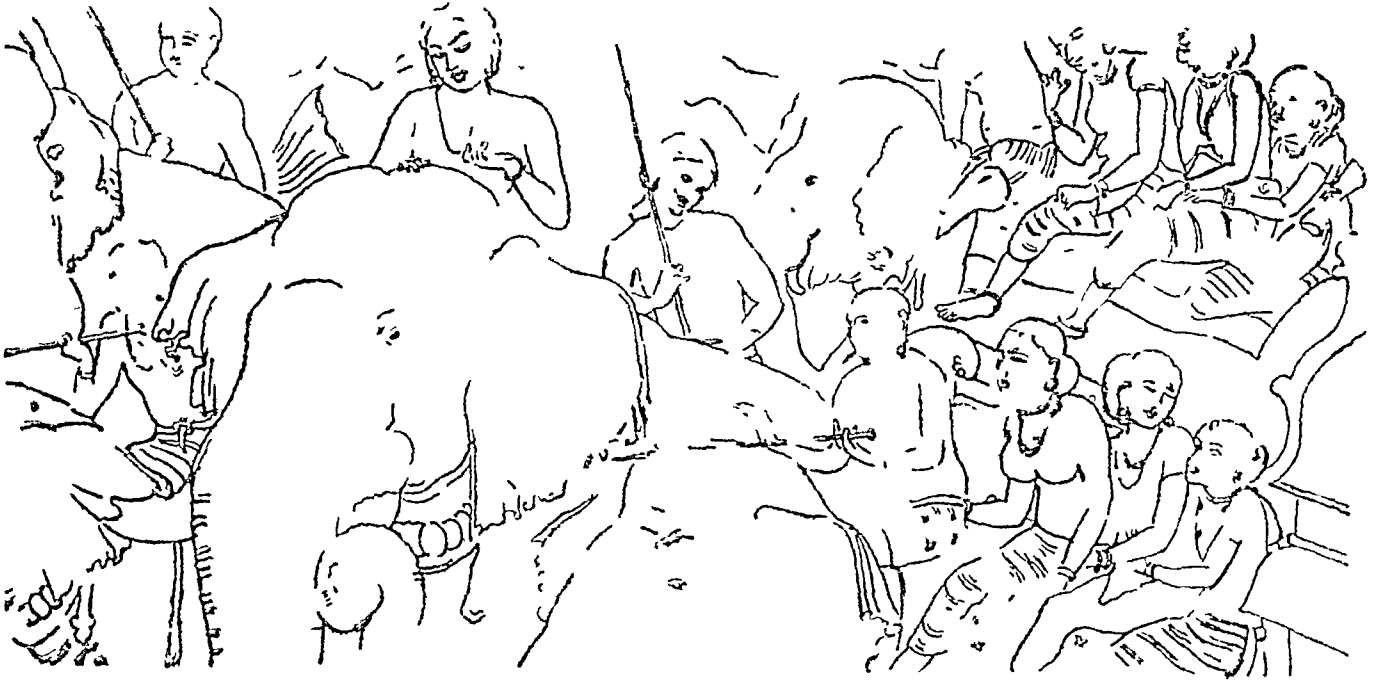
प्राचीन उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ महान् व्यक्ति

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी बार-एट-लॉ

[उज्जयिनी विद्या का केन्द्र होने पर भी विशेषकर धर्म का केन्द्र बनी रही है। प्रतिभाशाली कवि और सुलेखकों के साथ ही तांत्रिक, कापालिक, अथवा शान्ति-प्रिय तत्वज्ञानी तथा योगियों की यहाँ कमी नही रही। परन्तु इनमें से किसी किसी ने ही लोकसमाज में प्रसिद्धि प्राप्त की। अधिकांश महात्मा तो चुपचाप आध्यात्मिक-जीवन बिताकर चलते बने। ऋषिप्रोक्त धर्म का समस्त अनुष्ठान योग पर प्रतिष्ठित है। योगाभ्यास और लोक-प्रसिद्धि दो विरोधी बातें हैं। इसीलिए जिन महापुरुषों ने उज्जयिनी में रहकर यहाँ आध्यात्मिक जीवन और योगाभ्यास वर्षो किया और जो भारतवर्ष के रत्न रहे होंगे उनके जीवनचरित्र से तो क्या, उनके नाम से भी हम परिचित नही हो पाए। इसके अतिरिक्त, बहुत से काव्यकारों और शास्त्रकारो ने अपने जन्मस्थान और अपने समय का संकेत तक नहीं किया। सम्भव है उस समय के भारतवर्ष में ऐसी परिपाटी ही प्रचलित हो। सम्भव है समूचे भारतवर्ष को ही जन्म स्थान मानने का राष्ट्रीय लक्ष्य सम्मुख रहा हो। सम्भव है जन्मस्थान से प्रान्तीयता और स्थानीय भावना बढ़ जाने के कारण उनको त्याज्य समझा गया हो। उत्तर में कैलाश, दक्षिण में सेतुबन्ध और मध्य में उज्जयिनी में महाशिव का स्थान बताने का एकमात्र उद्देश्य सारे भारत को एक ही सूत्र में ग्रथित करने का होगा। आदिगुरु शंकर के स्थान स्थान पर मठ स्थापित करने का हेतु सिवाय इसके और क्या हो सकता था? अगर यह लक्ष्य नहीं था तो दूसरा कोई कारण ज्ञात नही होता कि वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, गुणाढ्य, वररुचि, पाणिनि, पतञ्जलि इत्यादि विद्वान् अपना जन्मस्थान और समय का सकेत तक क्यो नहीं करते! जो कुछ भी हो, इन कारणों से यह कहना कठिन हो जाता है कि भारतवर्ष के प्रमुख प्राचीन रत्नों में कितने वास्तव में उज्जैन के थे। ऐसी अवस्था में अधिकतर किंवदन्तियों और प्राचीन कथाओं का आधार ही लेना पड़ता है। इस आधार पर विक्रम के नवरत्नों के अतिरिक्त कुछ महापुरुषों के नाम उज्जैन से सम्बन्धित मिल पाए हैं उनका संक्षिप्त जीवन-चरित्र हमने यहाँ संकलित करने का प्रयास किया है। फिर भी बहुत से नाम रह गए हैं, यह भी हमें ज्ञात है। पुस्तकों के अभाव में और अधिक समय न मिलने के कारण अधिक महापुरुषों के जीवन-चरित्र एवं उनके रचनात्मक कार्य की सूची हम

यहाँ संकलित नहीं कर पाए, इसका अवश्य खेद है। जो प्रमाण हमने कहीं कहीं उद्धृत किए हैं उनका ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।—लेखक।]

(१) श्री सान्दीपन मुनि

सान्दीपन मुनि भगवान् कृष्ण और बलराम के गुरु माने जाते हैं। 'सन्दापा' के पुत्र सान्दीपन थे। जो उज्वल करता है वह 'सन्दीपन' कहाता है (सदीपयति स सन्दीपन)। पुराणों में श्रीकृष्ण भगवान् की शिक्षा अवन्तीपुर (उज्जैन) में सान्दीपन मुनि के द्वारा बताई गई है। परन्तु शिक्षा के विषय और वर्णन में कहीं कहीं भेद है।

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि वसुदेवजी ने अपने पुरोहित गर्गाचार्य तथा अन्य ब्राह्मणों से दोनों पुत्रों का विधिपूर्वक द्विजाति समुचित यज्ञोपवीत संस्कार करवाया। इसके बाद गुरुकुल में निवास करने की इच्छा से दोनों भाई अवन्ती (उज्जैन) में रहनेवाले कश्यपगोत्री या काशी से आए हुए (काश्य) सान्दीपन नामक आचार्य के पास गए। वे विधिपूर्वक गुरुजी के पास रहने लगे। उस समय वे बड़े ही सुसंयत और अपनी चेष्टाओं को सर्वथा नियमित रखे हुए थे। गुरुसेवा का उच्च आदर्श लोगों के सामने रखते हुए बड़ी भक्ति से उन्होंने इष्टदेव के समान गुरुजी की सेवा की। गुरुवर सान्दीपनजी उनकी शुद्ध भावयुक्त सेवा से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने दोनों भाइयों को छहों अंग और उपनिषदों के सहित सम्पूर्ण वेदों की शिक्षा दी। इसके सिवा मंत्र और देवताओं के ज्ञान के साथ धनुर्वेद, धर्मशास्त्र, मीमांसा और न्याय-शास्त्र की भी शिक्षा दी। साथ ही सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय इन छह भेदों से युक्त राजनीति का भी अध्ययन कराया। भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम सारी विद्याओं के प्रवर्तक हैं। परन्तु मनुष्य का व्यवहार करते हुए वे अध्ययन कर रहे थे। केवल चौंसठ दिन रात में ही संयमी-शिरोमणि दोनों भाइयों ने चौंसठों कलाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार अध्ययन समाप्त होने पर उन्होंने सान्दीपन मुनि से प्रार्थना की कि "आपकी जो इच्छा हो, गुरु-दक्षिणा माँग लें।"

सान्दीपन मुनि ने उनकी अद्भुत महिमा और अलौकिक बुद्धि का अनुभव कर लिया था। इसलिए उन्होंने अपनी पत्नी से सलाह करके यह गुरु दक्षिणा माँगी कि 'प्रभास क्षेत्र में हमारा बालक समुद्र में डूबकर मर गया था, उसे तुम लोग ला दो'। बलरामजी और श्रीकृष्ण का पराक्रम अनन्त था। दोनों ही महारथी थे। उन्होंने 'बहुत अच्छा" कहकर गुरुजी की आज्ञा स्वीकार की और रथ पर सवार होकर प्रभासक्षेत्र में गए। समुद्र के अन्दर जाकर शंखासुर (पाञ्चजन्य) नामी असुर को मारा और पाञ्चजन्य शंख को लेकर यमराज के यहाँ जाकर गुरुपुत्र लाकर सान्दीपनजी को गुरु-दक्षिणा में दिया। तदनन्तर गुरुजी से आज्ञा और आशीर्वाद लेकर वायु के समान वेग और मेघ के समान रथ पर सवार होकर दोनों भाई मथुरा लौट आए।

उज्जैन में इस शिक्षा का स्मारक सान्दीपन आश्रम किसी न किसी रूप में अभी तक मौजूद है, और भगवान कृष्ण की यह शिक्षास्थली क्षिप्रा नदी के किनारे "अंकपात" के नाम से प्रसिद्ध है।

ब्रह्मपुराण के १९४वें अध्याय में श्रीभागवत का ही अनुकरण करके कथा में लिखा गया है कि —

> विदिताखिलविज्ञानौ सर्वज्ञानमयावपि। शिष्याचार्यक्रमं वीरौ ख्यापयन्तौ यदूत्तमौ ॥१८॥
> ततः सान्दीपनिं काश्यमवन्तिपुरवासिनम्। अस्त्रार्थं जग्मतुर्वीरौ बलदेवजनार्दनौ ॥१९॥
> तस्य शिष्यत्वमभ्येत्य गुरुवृत्तिपरौ हितौ। दर्शयाञ्चक्रतुर्वीरावाचारमखिले जने ॥२०॥
> सरहस्यं धनुर्वेदं ससंग्रहमधीयताम्। अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या तदद्भुतमभूद् द्विजा ॥२१॥

यहाँ 'कश्यप' न लिखा जाकर 'काश्य' लिखा गया है। सम्भव है सान्दीपनजी 'काशी' से उठकर अवन्ती में बस गए हों। किसी किसी प्रति में 'शिक्षार्थं', किसी किसी में "शस्त्रार्थं" भी मिलता है परन्तु अधिकतर प्रतियों में "अस्त्रार्थं" बताया जाता है। इसीलिए 'आनन्दाश्रम एडीशन' १८९५ में 'अस्त्रार्थं' ही लिखा है।

श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी

अग्निपुराण में एक सूक्ष्म सकेत मिलता है और वहाँ उज्जयिनी में शिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख नही है। बस, इतना ही लिखा है कि:—

सान्दीपनेश्च शस्त्रास्त्रं ज्ञात्वा तद्बालकं ददौ ।। (अध्याय १२)

ब्रह्मवैवर्तपुराण मे सान्दीपनजी को "ब्रह्मांशो योगिना ज्ञानिना गुरुः" लिखा है। यज्ञोपवीत कुलपुरोहित गर्गजी ने कराया था परन्तु इस पुराण मे लिखा है कि बहुत से देवता और ब्राह्मण उपस्थित थे और सान्दीपनजी भी वही थे। वाद मे कृष्ण भगवान् उज्जैन गए और चारो वेदो को एक मास मे ही पढ लिया। गुरु-दक्षिणा मे गुरुपुत्र को देने के अनन्तर भगवान् कृष्ण ने अपने गुरु और गुरुपत्नी को कई लाख रत्न, मणि, हीरा, मुक्ता, माणिक्य दिए और वस्त्र, हार, अँगूठी और सुवर्ण से उनका घर भर दिया। थोड़े काल के अनन्तर, सारी सम्पत्ति अपने पुत्र को देकर सान्दीपनजी और उनकी पत्नी ने गोलोक को प्रयाण किया।

अवन्ती को 'सान्दीपन के आश्रम' ने एक ऐसा ऊँचा स्थान प्रदान किया है कि जो शिक्षा और साहित्य के इतिहास मे चिरस्मरणीय रहेगा।

(२) गुणाढ्य

किंवदन्ती है कि गुणाढ्य उज्जैन के राजा थे। परन्तु किसी प्रकाशित ग्रथ मे इसके समर्थन मे प्रमाण नही मिले। 'रामायण' और 'महाभारत' के वाद, भारतीय साहित्यिक कला का अखण्ड भडार गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' मे पाया जाता है।

क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामजरी' सोमदेव का 'कथासरित्सागर', और जयरथ के 'हरचरितचिन्तामणि' गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के ही दूसरे रूप है। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' पैशाची भाषा मे लिखी गई वताई जाती है और आजकल अप्राप्य है।

सुवन्धु, वाणभट्ट और दण्डी ने, सातवी शताब्दी मे, 'बृहत्कथा' के महत्त्व को स्वीकृत किया है। धनञ्जय के 'दशरूप', त्रिविक्रम के 'चम्पू', सोमदेव सूरी के 'यशस्तिलक' और गोवर्धन के 'सप्तशती' मे भी 'बृहत्कथा' की प्रशंसा की गई है। कम्वोडिया के एक शिलालेख मे गुणाढ्य और प्राकृत भाषा के प्रति उनकी घृणा का उल्लेख किया गया है।

'कथासरित्सागर' के अनुसार जव महादेवजी ने अपने गण पुष्पदन्त को शाप दिया तो दूसरा गण माल्यवन्त इस शाप का विरोध करने लगा। महादेवजी ने माल्यवन्त को भी यह शाप दिया कि वह भी मृत्युलोक मे जन्म ले और यक्ष काणभूति से कथा सुन लेने पर शाप से मुक्त होने का अधिकारी हो सकेगा। गण पुष्पदन्त ने वररुचि होकर कौशाम्बी मे जन्म लिया और वाद मे महाराज नन्द का मत्री होकर वैराग्य लिया ओर विद्याधरो के सात राजाओ की कथा काणभूति को सुनाकर मोक्ष प्राप्त की।

गण माल्यवन्त ने गोदावरी के किनारे प्रतिष्ठान नगर मे 'गुणाढ्य' नाम से जन्म लिया और फिर सातवाहन राजा के यहा ऊँचा पद प्राप्त किया। राजा की पटरानी ने एक वार जलक्रीड़ा के समय कहा कि "जल से अव ताड़न मत करो" (मा उदकै परिताड़य)। राजा सस्कृत कम पढ़े थे समझे कि पटरानी "मोदक" (लड्डू) मँगा रही है। उसी क्षण बहुत से मोदक मंगवा लिए जिसपर रानियाँ हँसने लगी। राजा अत्यन्त लज्जित हुए और सस्कृत पढ़ने का प्रयत्न करने लगे। गुणाढ्य से पूछने पर गुणाढ्य ने पूरे छह साल मे व्याकरण शास्त्र पढाने को कहा। शर्ववर्म्मा ने कहा कि "मैं छह मास मे ही पढ़ा दूगा। गुणाढ्य ने राजा से कहा कि "यह असम्भव वात है। अगर छह मास मे व्याकरण शास्त्र सीख गए तो मैं संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा तीनो का परित्याग कर दूँगा।"

श्रीकार्तिकेय की तपस्या करके शर्ववर्मा ने पूरा व्याकरण शास्त्र केवल छह महीनो मे ही राजा सातवाहन को सिखा दिया। सातवाहन ने प्रसन्न होकर शर्ववर्मा को भृगुकच्छ का स्वामी बना दिया। यह व्याकरण कातन्त्र नाम से प्रसिद्ध है।

गुणाढ्य को यह सव बुरा लगा और उसने वहाँ रहकर अपमानित न होना चाहा। वह विंध्यवासिनी देवी के दर्शन को चल पड़ा और वहाँ पैशाची भाषा सीखकर मौनव्रत तोड़ा।

प्राचीन उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ महान् व्यक्ति

फिर उज्जयिनी स वापिस आने पर यक्ष काणभूति ने गुणाढ्य को सात कथावाली वह दिव्य महाकथा सुनाई। गुणाढ्य ने भी सात वष म उसी पशाची भाषा में उस कथा को सात लाख श्लोको म बनाकर प्रस्तुत किया और स्याही न मिलने पर अपने रुधिर से ही लिख डाला। उस कथा के सुनने के लिए सिद्ध और विद्याधर आने लगे और भीड इतनी एकत्रित होती थी कि आकाश घिर जाता था। अपने शिष्य गुणदव और नन्दिदव के कहने पर यह कथा गुणाढ्य ने सातवाहन राजा को भिजवाई परन्तु उसने नीरस पैशाची भाषा एव रक्त म होने से वापिस करदी।

तब निराश होकर एक पवत की शिखा पर बठकर एक अग्निकुण्ड बनवाया और वहाँ बठकर लाखो पशु-पक्षीगण को सुना सुनाकर एक एक पत्र आग में डालने लगे। हजारो लाखो हरिण वराह और महिष एकत्र हो, मण्डल बाँध, उस दिव्य महाकथा को सुना करते थे। राजा सातवाहन को यह सब पता लगने पर वह आए और दिव्य कथा मागने लगे। परन्तु छह लाख श्लोक जल चुके थे, बाकी एक लाख श्लोक राजा को देकर गुणाढ्य शाप से मुक्त हो दिव्यगति को प्राप्त हुए।

'नपाऽमाहात्म्य' म शिव-पावती के शाप से 'भृगिन' का मृत्युलोक में आकर 'गुणाढ्य' के नाम से जन्म लेना और उज्जन के राजा मदन क यहाँ पडित बनकर शववमन म परास्त होकर, ऋषि पुलस्त्य के आदेशानुसार पैशाची भाषा में कथा लिखना बतलाया गया है।

'बृहत्कथा' और इसक आधार पर बने अन्य कथा-सग्रह में महाराज चण्डप्रद्योत, उनकी कन्या वासवदत्ता और वत्सराज उदयन और उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त की कथाएँ ही ह और इन कथाओ का सम्बन्ध उज्जन से ही ह। भास की स्वप्नवासवदत्ता, हष की रत्नावली आदि का आधार 'बृहत्कथा' में वर्णित उज्जैन म बीत हुए प्रेम-परिणय की कथाओ से ही ह।

इससे सिद्ध ह कि गुणाढ्य बहुत वर्षों तक उज्जयिनी नगरी म रहे थे।

राजशेखर ने काव्यमीमासा म लिखा है कि देश के विभिन्न भागो म विभिन्न भाषाओ का आधिपत्य था, यथा गौड देश म सस्कृत बोली जाती थी, लाट देश म प्राकृत का प्रेम था, मारवाड, टक्क देश और भादानक अपभ्रश बोलते थे। अवन्ती, परियात्रा और दशपुर म भूतभाषा प्रयुक्त होती थी और मध्यदेश वाले सब भाषाओ को जानते थे। यथा—

> आवन्त्या पारियात्रा सह दशपुरजर्भूतभाषा भजन्ते।
> यो मध्ये मध्यदेश निवसति स कवि सवभाषानिषण्ण ॥

अवन्ती क पडित होने के कारण गुणाढ्य का भूतभाषा में 'बृहत्कथा' लिखना अधिक समीचीन प्रतीत होता ह।

भूतभाषा क्लिष्ट होती हो, यह बात नही ह। 'बालरामायण' म राजशेखर ने लिखा ह कि प्राकृत भाषा प्रकृत्या मधुर ह अपभ्रश भव्य भाषा ह, और भूतभाषा सरस वचनो स भरी है —

> गिर श्रव्या दिव्या प्रकृतिमधुरा प्राकृतधुर सुभव्योऽपभ्रश सरसवचन भूतवचनम् ॥

अवन्ती की सरस भूतभाषा म पडित गुणाढ्य ने बृहत्कथा अवन्ती म ही लिखी थी, ऐसा ही सत्य प्रतीत होता ह।

(३) भर्तृहरि

उज्जन म भर्तृहरि की गुफा एक प्रसिद्ध स्थान ह। किंवदन्ती ह और 'प्रबन्धचिन्तामणि' म भी लिखा है कि भर्तृहरि विक्रमादित्य क भाई थे। यह भी कहा जाता ह कि गन्धवसेन ने ईसवी सन् पूव ७२ म माल्वान का लोकसत्तात्मक राज्य उज्जन म स्थापित करके भर्तृहरि को गणाधिपति बना दिया था और १२ साल राज्यशासन करके अपने छोटे भाई विक्रमादित्य को राज्य देकर भर्तृहरि ने वैराग्य धारण कर लिया था। गन्धवसेन के दो स्त्री बताइ जाती ह। धीमति से भर्तृहरि और श्रीमति स विक्रम उत्पन्न हुए। भर्तृहरि के शृगारशतक, वैराग्यशतक और नीतिशतक प्रसिद्ध ह। सस्कृत छन्दो म ऐसी मधुर रचना अन्यत्र कम पाई जाती है। इन शतको म कुछ छन्द तन्त्राख्यायिका शाकुन्तला, और मुद्रा

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी

राक्षस इत्यादि के भी है परन्तु इन तीन शतको का संकलन एक समय मे ही हुआ है, इसमें सन्देह नही है। एक एक श्लोक मे शृंगार, नीति अथवा वैराग्य की अनमोल वातों का सुन्दर रूप मे समावेश है।

भर्तृहरि का शार्दूल विक्रीडित छन्द प्रसिद्ध है। वुलहेन (Bohlen) के संग्रह मे १०१ पद्य शार्दूल विक्रीड़ित छन्दों में है। उसके अनन्तर शिखरिणी की संख्या ४८, श्लोक ३७, वसन्ततिलका ३५, स्रग्धरा और आर्या प्रत्येक १८ और गीति आर्या का २ बार प्रयोग किया गया है। कहीं कहीं इन्द्रवज्रा, मालिनी, हरिणी, मन्दाक्रान्ता, पृथ्वी, द्रुतविलम्बित वंशस्थ, शालिनी, रथोद्धता, वैतालीय, दोधक, पुष्पिताग्रा और मात्रसमक छन्दो का भी प्रयोग है।

इनसे प्रतीत होता है कि भर्तृहरि एक वहुत भारी कवि और अनुभवी विद्वान् थे। विद्वानो का मत है कि इनकी रचना का काल प्रथम शताब्दी या इसके पूर्व होना चाहिए।

चीनी यात्री ईत्सिग ने अपनी भारत यात्रा मे 'भर्तृहरिशास्त्र' का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह शास्त्र महाभाष्य की टीका है। इसमे २५००० श्लोक है और मानव जीवन तथा व्याकरण शास्त्र के नियमो का पूर्ण रूप से वर्णन है। इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'त्रिपदी' है। इसमे पतञ्जलि के 'महाभाष्य' के प्रथम तीन पादो की ही विस्तृत व्याख्या है। इसके कुछ भाग का एक पुराना लिखित ग्रंथ वर्लिन के पुस्तकालय मे सुरक्षित है।

ईत्सिग ने भर्तृहरि के विषय मे लिखा है कि यह विद्वान् भारत के पाँचो खडो मे सर्वत्र वहुत प्रसिद्ध था और उसकी विशिष्टताओ को लोग आठो दिशाओ मे जानते थे। उसका रत्नत्रय मे अगाध विश्वास था और वह 'दुहरे शून्य' का वड़ी धुन से ध्यान करता था। सर्वोत्कृष्ट धर्म के आलिंगन की इच्छा से वह परिव्राजक हो गया, परन्तु सांसारिक वासनाओ के वशीभूत होकर वह फिर गृहस्थी मे लौट गया। इसी रीति से वह सात वार परिव्राजक वना और सात ही वार फिर गृहस्थी में लौट गया। वह धर्मपाल का समकालीन था। एक वार जव वह मठ मे परिव्राजक था, सासारिक कामनाओ से तंग आकर उसकी रुचि गृहस्थी मे लौट जाने की हुई। परन्तु वह दृढ रहा और उसने एक विद्यार्थी को मठ के वाहर एक रथ लाने को कहा। कारण पूछने पर वताया कि "मनोराग प्रवल हो चुका है और मैं सर्वोत्तम धर्म पर चलने मे असमर्थ हूँ। मेरे जैसे मनुष्य को परिव्राजको की सभा मे घुसना नही चाहिए।" इसके वाद वह उपासक की अवस्था मे वापस चला गया और मठ मे रहते हुए, एक श्वेत वस्त्र पहिनकर सच्चे धर्म की उन्नति और वृद्धि करता रहा।

ईत्सिग ने लिखा है कि उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए है। इस हिसाव से भर्तृहरि की मृत्यु सन् ६५१-६५२ ई० मे हुई थी।

प्रश्न यह होता है कि कवि भर्तृहरि और वैयाकरण भर्तृहरि एक ही थे या अलग अलग? वगाल रॉयल एशियाटिक सोसायटी जरनल की अठारहवी जिल्द में श्रीयुत पाठक ने और अक्टूबर १९३६ के अन्नमलाई विश्वविद्यालय के जरनल में श्रीयुत रामस्वामी शास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'त्रिपदी' का लेखक भर्तृहरि वौद्ध था।

इसके विरुद्ध, शतको के अध्ययन से भर्तृहरि कवि, वेदान्ती शैव प्रतीत होते है। यह भी ज्ञात होता है कि भर्तृहरि को राजदरवार का अच्छा अनुभव था। या तो वे स्वय राजा रह चुके थे अथवा वे राजमत्री थे। 'वैराग्यशतक' के समय वे सन्यास ले चुके थे। 'सस्कृत साहित्य के इतिहास' मे डाक्टर कीथ ने यह भी शका की है कि भर्तृहरि वौद्ध हो गए हों और वाद में फिर शैव धर्म मे आगए हो। परन्तु यह समझ मे नही आता कि भर्तृहरि के शतक इतने प्रसिद्ध होते हुए भी ईत्सिग ने उनका जिकर क्यो नही किया? डाक्टर कीथ का उत्तर यह है कि या तो ईत्सिग को शतको का पता ही नही चला या वौद्ध धर्म की वस्तु न होने के कारण उसन इस का जिकर करना ही व्यर्थ समझा।

ईत्सिग ने भर्तृहरि की दूसरी रचना 'वाक्य-पदीय' का जिकर करते लिखा है कि इसमे ७०० श्लोक है और इसका टीकाभाग ७००० श्लोकों का है। यह पवित्र शिक्षा के प्रमाण द्वारा समर्थित अनुमान और व्याप्ति निश्चय की युक्तियो पर एक प्रवन्ध है। डाक्टर कीथ ने "वाक्य-पदीय" को भारतीय व्याकरणशास्त्र का अन्तिम स्वतत्र ग्रथ वतलाया है।

भर्तृहरि की तीसरी रचना ईत्सिंग ने 'पेइ-न' बतलाई ह। इसम तीन हजार श्लोक ह और १४,००० श्लोका में टीकाभाग है। श्लोकभाग भतृहरि की रचना है और टीकाभाग धमपाल का बताया ह। ईत्सिंग ने लिखा है कि यह पुस्तक आकाश और पृथ्वी के गभीर रहस्या की थाह लेती है और इसमे मानवी नियमा के तात्विक सौन्दय का वणन ह। जो मनुष्य यह पढ लेता है उमे व्याकरणशास्त्र का पूण पडित कहा जाता है।

श्रीयुत प० भगवदत्तजी ने 'पे इन' को 'बेडा-वृत्ति' बतलाया ह और सरस्वती सीरीज मे छपी "ईत्सिंग की भारत-यात्रा" म लिखा है कि इसपर काश्मीरी पडित हेलाराज की वहत् टीका ह मगर धमपाल की टीका अभी तक नही मिली।

ईत्सिंग ने अन्तिम समय वे बौद्ध धम के पण्डिता में धमपाल, धमकीत्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ और जिनप्रभ का नाम आदर और श्रद्धा के साथ लिया ह।

युइनचाग की भारतयात्रा मे नालन्द विश्वविद्यालय के प्रमुख अध्यापका में धमपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र और शीलभद्र के नाम आते ह। युइनचाग के समय में शीलभद्र जीवित थे। यह धमपाल के शिष्य थे। कहा जाता ह कि धर्मपाल का ६०० ई० के पूव देहान्त हो चुका था। युइन चाग के वणन से पता चलता है कि धमपाल का परिपक्व वृद्धावस्था में शरीरान्त हुआ था।

ईत्सिंग के अनुसार, भतृहरि के 'पे इन' के श्लोका की टीका धमपाल ने की थी। इससे भतहरि का धमपाल के बहुत पूववर्ती होना सिद्ध होता है। यदि धमपाल भतृहरि के समकालीन होत ता यह सम्भव न था कि युइनचाग जिकर न करता। कुछ जन ग्रथा में भतहरि को दिगम्बरा के प्रसिद्ध आचाय शुभचन्द्र का भ्राता बताया है और शुभचन्द्र को भी विक्रम का सम्बन्धी बताया है।

(५) महारासायनिक व्याडि

'कथासरित्सागर' के अनुसार महाराज विक्रमादित्य के समय म एक बडा रसायनशास्त्रज्ञ व्याडि, उज्जन नगर मे रहता था। अलबरूनी ने अपनी प्रसिद्ध यात्रा मे इस व्याडि रासायनज्ञ की जीवनी की चर्चा की ह। व्याडि ने 'भेषज-सस्कार' ग्रथ लिखा था परन्तु आर्थिक अवस्था के कारण उसे निराशा हुई और नदी में फेक दिया। वहाँ से एक वेश्या ने उठा लिया और व्याडि की कल्पनासिद्धि के लिए उसे बहुतसा रुपया दिया जिसके द्वारा बहुतसी ओषधियाँ तयार हो पाई। अलबरूनी ने लिखा ह कि एक क्वाथ ऐसा तैयार किया गया था कि शरीर पर मल लेने पर व्याडि और उनकी स्त्री दोना वायु में उडने लगते थे। यह हाल विक्रमादित्य ने स्वय अपनी आखा से देखा था। अलबेरूनी के समय यह विश्वास किया जाता था कि व्याडि और उसकी स्त्री दोना जीवित ह।

राजशेखर ने 'काव्यमीमासा' म लिखा ह कि शास्त्रकारा की परीक्षा पाटलिपुत्र मे होती थी और पाणिनी, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतञ्जलि ने पाटलिपुत्र मे ही परीक्षा दी थी। व्याडि का 'सग्रह' प्रसिद्ध ह और महर्षि पतञ्जलि और भर्तृहरि ने इस सग्रह से कई उद्धरण दिए ह। नागेश ने 'उद्योत' में ('महाभाष्य' पर 'कयट' की समालोचना पर अपनी आलोचना म) व्याडि के विषय म लिखा है कि व्याडि के 'सग्रह' के एक लाख श्लोक प्रसिद्ध ह। सम्भव है कि साहित्यिक व्याडि और वज्ञानिक व्याडि एक ही हो। व्याडि के 'उत्पलिनी' नामक कोषग्रथ से भी उद्धरण कही कही मिलते ह।

'शब्दकल्पद्रुम' में व्याडि को कोषकार बताया गया ह। 'रसरत्नसमुच्चय' में व्याडि को रसविद्या का आचार्य बताया गया ह। हेमचन्द्र ने व्याडि को विन्ध्यवासी और नन्दिनीतनय बताया है। दक्ष की सबसे बडी कन्या दाक्षी के पुत्र पाणिनि बताए जाते है और दक्ष के सब से छोटे पुत्र के प्रपौत्र व्याडि बताए जाते है। पतञ्जलि ने लिखा ह—

अपिशल-पाणिनीय-व्याड़ीय-गोतमीया।

डाक्टर गिरीन्द्रनाथ मुकर्जी भिषगाचार्य ने 'भारतीय औषधि के इतिहास' म 'व्याडि' को (chemistry of gems) रत्ना के रसायनशास्त्र पर प्रामाणिक माना ह, और लिखा है कि रामराजा के 'रसरत्नप्रदीप' मे व्याडि

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी

के कई उद्धरण मिलते हैं। आचार्य सर प्रफुल्लचन्द्र राय ने अपने 'हिन्दू कैमिस्ट्री के इतिहास' में 'रसराजलक्ष्मी' में व्याडि की प्रशंसा बताई है और 'व्याडि' के विषय में गरुड़पुराण का यह श्लोक प्रसिद्ध बतलाया है :—

व्याडिर्जगाद जगतां हि महाप्रभावः सिद्धो बिदग्धहिततत्परया दयालुः॥

(५) भर्तृमेण्ठ

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में लिखा है कि मेण्ठ ने काव्यकार की परीक्षा उज्जयिनी में उत्तीर्ण की थी। राजशेखर ने अपने आपको भर्तृमेण्ठ का ही अवतार माना है। अपने 'बालरामायण' में लिखा है :—

बभूव वल्मीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्त्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

'सूक्तिमुक्तावली' में लिखा है :—

वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्। आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः॥

'उदयसुन्दरीकथा' में बताया है—

स कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे प्रसिद्धनामा भुवि भर्तृमेण्ठः।
रसप्लवेऽपि स्फुरति प्रकामं वर्णेषु यस्योज्ज्वलता तथैव॥

मेण्ठ को हस्तिपक भी कहते हैं। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि राजा मातृगुप्त ने मेण्ठ के 'हयग्रीववध' को बहुत ही सुन्दर काव्य बतलाया और जब पुस्तक की जिल्द बँध रही थी तब यह विचार कर कि कहीं इसका "रस" चला न जाय, पुस्तक के नीचे रखने को एक सुवर्ण की थाली दी थी।

राजशेखर के अनुसार वाल्मीकि ही ने मेण्ठ होकर जन्म लिया था। फिर मेण्ठ भवभूति हुए और भवभूति ही राजशेखर हुए।

मंख कवि ने मेण्ठ को सुबन्धु, बाण, और भारवि की श्रेणी में रखा है।

डाक्टर ए० बैरीडेल कीथ की राय में ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में मेण्ठ का होना सही प्रतीत होता है।

'शारंगधरपद्धति' में विक्रम और भर्तृमेण्ठ की सम्मिलित सूक्तियाँ उद्धृत की हुई मिलती हैं। 'राजतरंगिणी' में विक्रम, भर्तृमेण्ठ और मातृगुप्त (कालिदास) को मित्र बताया है।

(६) मत्स्येन्द्रनाथ

उज्जैन में क्षिप्रा के किनारे भर्तृहरि गुफा के पास और महाकाली (गढ़ कालिका) के मन्दिर से थोड़ी दूर पीर मछन्दरनाथ का बड़ा रमणीक स्थान है।

यह 'नाथ' सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। 'स्कन्दपुराण' नागरखण्ड, 'नारदपुराण' उत्तरभाग, 'शंकरदिग्विजय,' 'ज्ञानेश्वर चरित्र', 'नाथलीलामृत', 'भक्तिविजय' और कल्याण के 'संत-अंक' में मत्स्येन्द्रनाथ की कथाएँ दी गई हैं।

कहा जाता है कि एक मछली के पेट से इनका जन्म हुआ था। पूर्व-पुण्य के कारण इन्हें शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो गई थी। इनको मत्स्यनाथ, मीननाथ, सिद्धिनाथ आदि भी कहते हैं। आपकी उत्कृष्ट योग रचना 'मत्स्येन्द्रसंहिता' के नाम से प्रसिद्ध है।

वे आदिनाथ शंकर के शिष्य तथा गोरखनाथ के गुरू थे। प्रसिद्ध है कि—

आदिनाथो गुरुर्यस्य गोरक्षस्य च यो गुरुः। मत्स्येन्द्रं तमहं वन्दे महासिद्धं जगद्गुरुम्॥

कहा जाता है कि एक बार अपना शरीर छोड़ सिंहल द्वीप के राजा के शरीर में प्रवेश किया। शरीर की रक्षा का भार गोरखनाथ के ऊपर था। खोज करते करते गोरखनाथ सिंहल द्वीप में गए और गुरु के हृदय में स्मृति जगाने के निमित्त

तबला बजाते थे जिसमें से "जाग मछन्दर गोरख आया" की स्पष्ट ध्वनि निकलती थी। होश आने पर वे पूर्व शरीर में लौट आए।

ये 'काव्य व्यूह' की रचना करते हुए एक काया से लीला दिखाते थे और दूसरे में 'भँवरगुफा' में बैठकर निर्विकल्प समाधि में लीन होते थे। समस्त उत्तर-भारत में और महाराष्ट्र में इनके नाम से सम्बद्ध स्थान पाए जाते हैं।

(७) राजा साहसाक

राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' में साहसाक नाम के आदर्श साहित्यप्रेमी उज्जैन के राजा का उल्लेख किया है। राजा साहसाक ने अपने अन्तःपुर और राज प्रासाद में संस्कृत भाषा के सिवाय दूसरी भाषा बोलने का निषेध कर दिया था और 'ट, ठ, ड, ढ' और 'ष' का प्रयोग भी रोक दिया था। उनके राज्यकाल में उज्जयिनी में कोमलकान्त पदावली और संस्कृत भाषा कितनी फली फूली होगी, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। जहाँ राजा के चोबदार और द्वारपाल भी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे वहाँ अवश्य ही साहित्य भी बहुत ही ऊँची श्रेणी का रहा होगा।

वासुदेव, शूद्रक, सातवाहन और साहसाक इन चार राजाओं के राज्यकाल में कवियों का बड़ा सम्मान रहा था।

राजशेखर के अनुसार यह राजा लोग ब्रह्मसभा (कवि दरबार) में सभापति रहते थे और कवियों को दान देकर मान बढ़ाते थे। राजशेखर ने लिखा है कि ब्रह्म सभाओं में काव्य परीक्षा होनी चाहिए और परीक्षोत्तीर्ण को रथ में बैठा कर जलूस निकाला जाए और पट्टबन्ध होना चाहिए। साहसाक के काल में, एवं उज्जयिनी में प्राचीन काल में सदा ऐसी ही काव्यकार की परीक्षा होती आई है यह 'काव्य मीमांसा' से विदित होता है।

सूक्तिमुक्तावली में राजा साहसाक के विषय में लिखा है —

शूरः शास्त्रविधेर्ज्ञाता साहसाङ्कः स भूपतिः। सेव्यः सकललोकस्य विदधे गन्धमादनः॥

'सरस्वतीकंठाभरण' में लिखा है—

केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः। काले श्रीसाहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः॥

'इण्डियन कल्चर' के आक्टोबर १९३९ में श्री० एस० के० दीक्षित महोदय ने साहसाक सम्बन्धी लेख में दो शिलालेखों का पता दिया है —

(१) महोबादुर्ग का शिलालेख जिसमें लिखा है—

व्योमार्काणवसङ्ख्याते साहसाकस्य वत्सरे।

(२) रोहतासगढ़ शैल का लेख जिसमें लिखा है—

नवभिरथ मुनीन्द्रैर्वासराणामधीशे परिकलयति सङ्ख्यां वत्सरे साहसाके॥

'प्रबन्धचिन्तामणि' के प्रथम प्रबन्ध के प्रारम्भ में "विक्रमाक" की प्रशंसा है। अन्त में 'साहसाक' की प्रशंसा इन शब्दों में है —

यं या हस्ती स्फटिकघटित भित्तिभागे स्वबिम्बं दृष्ट्वा दूरात्प्रतिगज इति त्वद्द्विषां मन्दिरेषु।
हत्वा कोपाद् गलितरदनस्तं पुनर्वीक्ष्यमाणो मन्दं मन्दं स्पृशति करिणीशङ्कया साहसाङ्क॥

जैन ग्रंथों में विक्रमाक और साहसाक इस प्रकार एक ही माने गए हैं।

'अमरकोष' की टीका में क्षीरस्वामी ने साहसाक को विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त का पर्यायवाची शब्द बतलाया है यथा—

विक्रमादित्यः साहसाङ्कः शकान्तकः। शूद्रकस्त्वग्निमित्रः स्याद्धालः स्यात्सातवाहनः।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही 'साहसाक' थे, ऐसा मत विद्वानों का है। प्रमाण में वे 'देवीचन्द्रगुप्त नाटक', अबुल हसन अली का 'मजमल उल-तवारीख (१०२६ ईसवी), सज्जन ताम्रपत्र, और गोविन्द चतुर्थ राष्ट्रकूट की प्रशंसा में सांगली और कम्बे में निकले कुछ शिलालेख बतलाते हैं।

श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी

ये प्रमाण बहुत अंगों में कल्पना को सही बतलाते हैं परन्तु यह नहीं है कि ये प्रमाण निर्विवाद ही हों। सम्भव है कि साहसांक कोई दूसरे विक्रमादित्य हों।

(८) मयूरकवि

मयूर का अवन्ती में शंकर से शास्त्रार्थ में परास्त होना 'शंकरदिग्विजय' में लिखा हुआ है। यह बाणभट्ट के श्वशुर व उनके व मातंग दिवाकर के समकालीन बताए जाते हैं। इन्होंने अपनी लड़की या बहिन के ऊपर कुछ कविता बनाई थी जिससे क्रुद्ध होकर उसने इनको शाप दिया कि तुम कोढ़ी हो जाओ। कुष्ठ होने पर इन्होंने सूर्याष्टक बनाकर सूर्य की प्रार्थना करके शाप से मुक्ति पाई। पद्मगुप्त के 'नवसाहसांकचरित' में बाण और मयूर की प्रतिद्वन्द्विता का वर्णन किया है।

'प्रबन्धचिन्तामणि' व अन्य ग्रंथों में लिखा है कि मयूर की बहिन बाणभट्ट को ब्याही थी जिसने मयूर को शाप दिया था। मेरुतुंगाचार्य के कथनानुसार राजा भोज की राजसभा में बाण और मयूर रहे थे। दूसरे ग्रंथ इनको राजा हर्षवर्धन की राजसभा में होना मानते हैं।

इनका 'मयूराष्टक' प्रसिद्ध है। इनके काव्य की भाषा दुरूह व जटिल है, परन्तु इनमें प्रतिभा पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है।

(९) बाणभट्ट

श्री माधवाचार्य के 'शंकरदिग्विजय' में लिखा है कि अवन्ति-देश के प्रसिद्ध विद्वान् बाण, मयूर और दण्डी को भी शंकराचार्य ने, भट्ट भास्कर के अनन्तर, शास्त्रार्थ में परास्त किया और अपने भाष्य के सुनने के लिए उत्सुक बना दिया।

दाक्षिणात्य विद्वानों में शंकराचार्य के अनन्तर तत्सदृश माधवाचार्य ही माने जाते हैं। यह सायण के भाई थे। दोनों भाई विजयनगर के बुक्क और हरिहरराय के सभा पण्डित और मंत्री थे। विजयनगर की पुस्तकालय उन दिनों बहुत प्रसिद्ध था। 'शंकरदिग्विजय' प्राचीन पुस्तकों के आधार पर ही लिखी गई होगी और बिना प्रमाण के बाण, मयूर, दण्डी का अवन्ती में होना नहीं लिखा गया होगा ऐसा हमारा विचार है।

> स कथाभिरवन्तिषु प्रसिद्धान् विबुधान् बाण-मयूर-दण्डिमुख्यान्।
> शिथिलीकृतदुर्मताभिमानान्निजभाष्यश्रवणोत्सुकांश्चकार ।।

'हर्षचरित' के अनुसार बाणभट्ट वात्सायन वंश में जन्मे थे। उनके पूर्वज सोन नदी के किनारे प्रीतिकूट ग्राम में रहते थे। उनके पिता चित्रभानु थे, माता का नाम राज्यदेवी था। माता का बचपन में ही देहान्त हो गया था। पिता भी १४ वर्ष की अवस्था में चल बसे थे। इसलिए लालन पालन भली प्रकार नहीं हुआ था। बचपन में ही देशाटन को चल पड़े थे और नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त किए थे जिससे बुद्धिविकास और सांसारिक अनुभव हुआ। इसके अनन्तर महाराज हर्षवर्धन ने उनको बुलाया। पहले तो उनका विशेष सत्कार नहीं हुआ पर बाद में उनको अपने आश्रय में रख लिया।

'हर्षचरित', 'कादम्बरी', 'चंडिकाशतक', 'पार्वतीपरिणय', 'मुकुटताडित नाटक' ये ग्रंथ बाण के बताए जाते हैं 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' दोनों अपूर्ण हैं। 'कादम्बरी' को बाणभट्ट के पुत्र भूषणभट्ट या पुलिनभट्ट ने पूर्ण किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य को त्यागकर, वृद्धावस्था में, बाण की रुचि योग या वैराग्य की तरफ हुई होगी और वे अवन्ती में चले आए होंगे।

'कादम्बरी' गद्यकाव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। लम्बे लम्बे समास, कठिन कठिन वाक्य, विशेषणों और अलंकारों की भरमार से कहीं कहीं जटिलता बढ़ गई है। लालित्य और सरसता होते हुए भी, कथानक बड़ा जटिल है। वैबर ने लिखा है कि पृष्ठ-पर-पृष्ठ पढ़ने पर भी एक ही क्रिया मिलती है परन्तु हर पृष्ठ पर अलंकारिक भाषा, दुरूह समास और विशेषणों की इतनी भरमार है कि यह प्रतीत होता है कि एक ऐसे घने जंगल में चल रहे हैं जहाँ बिना अपने हाथ से

जगल काट आगे बढना असभव ह और फिर भी इस बात का भय बना रहता है कि आगे कोई अज्ञात भयानक शब्द सहसा न आ जाय।

डाक्टर कीथ और काल ने इस आलोचना को सही बतलाया है।

बाणभट्ट को उज्जयिनी म बडा प्रेम प्रतीत होता है। कादम्बरी म पृष्ठ-पर-पृष्ठ उज्जयिनी की प्रशसा म लिखे गए ह जिससे ज्ञात होता ह कि इस नगरी म उनका निवास बहुत वर्षो तक रहा था।

'कादम्बरी' म आया उज्जयिनी नगरी का वणन बाण के उज्जयिनी-प्रेम के अतिरिक्त उस समय मे उज्जयिनी नगरी की वास्तविक अवस्था का भी परिचायक ह।

(१०) भट्ट भास्कर

आदि गुरू शकराचाय क समकालीन उज्जयिनी म भट्ट भास्कर थे जिनके लिए 'शकरदिग्विजय' में लिखा ह कि वे ब्राह्मणवश के अवतस थे और उन्होने सब वेद मत्रो की व्याख्या लिखी है। माधवाचाय ने लिखा ह कि—

अभिरूपकुलावतसभूत बहुधा व्याकृतसववेदराशिम्॥

भट्ट भास्कर को भी अपनी विद्या पर अभिमान था और शास्त्राथ क पूव, 'शकरदिग्विजय' मे लिखा ह कि उन्होने स्वय अपने लिए यह कहा कि "सूक्तिया जब मेरे मुह म निकलती ह तब कणाद की कल्पना क्षुद्र मालूम होती ह और कपिल का प्रलाप भाग खडा होता ह। जब प्राचीन आचार्यों की यह दशा ह तब आजकल के विद्वानो की गणना ही क्या ह?"

इस कथन मे सत्य का बहुत अश था, इसका पता शकर और भट्ट भास्कर के उज्जयिनी म किए हुए शास्त्राथ और युक्तियो का पठन करने से भलाभाँति चलता ह।

अन्त मे शकराचाय की विजय हुई परन्तु इस विजय क समय भी, 'शकरदिग्विजय' म, भट्ट भास्कर की विद्वत्ता का स्वीकृत किया गया। अन्तिम श्लोक ह—

इति युक्तिशतैरमत्यकीर्त्ति सुमतीन्द्र तमतन्द्रित स जित्वा।

श्रुतिभावविरोधिभावभाज विमतप्रथममन्यरं ममन्थ॥

(इस प्रकार अनेक सूक्तियो से अमरकीर्ति शकर ने उस उद्योगशील पडितश्रेष्ठ भट्ट भास्कर को जीतकर श्रुतिभाव क विरुद्ध अभिप्राय का प्रकट करनेवाले उनके ग्रथ का शीघ्र खण्डन किया।)

यह ग्रथ भेदाभेद मत का प्रतिपादक था।

(११) हरिचन्द्र भट्टारक

राजशेखर ने लिखा ह कि उज्जयिनी म काव्यकार-परीक्षा म हरिश्चन्द्र और चन्द्रगुप्त भी परीक्षित हुए थे। विद्वानो की कल्पना ह कि हरिचन्द्र तो भट्टारक हरिचन्द्र ह और चन्द्रगुप्त साहसाक विक्रमादित्य ह। गुप्त शिलालेखो मे भट्टारक पद का बहुत प्रयोग हुआ ह। और 'विश्वप्रकाशकोश' म लिखा ह कि भट्टारक पद राजा क लिए भी प्रयुक्त होता ह। इसलिए श्रीयुत भगवद्दत्तजी ने अपने 'भारतवष क इतिहास' म लिखा है कि भट्टारक हरिश्चन्द्र, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का भाई या निकटतम सम्बन्धी रहा होगा।

बाणभट्ट ने इन्ही हरिचन्द्र भट्टारक क एक गद्य ग्रथ का स्मरण करते हुए लिखा ह—

भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते।

भट्टारक हरिचन्द्र की 'चरकटीका' का कुछ भाग अब भी प्राप्त ह और आयुर्वेद ग्रथो म हरिचन्द्र की 'चरकव्याख्या' क उद्धरण बहुत मिलते है। 'अष्टागसग्रह' की व्याख्या म इन्दु ने भट्टारक हरिचन्द्र को एक 'खरणाद सहिता' का कर्त्ता भी बतलाया ह।

श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी

महेश्वर ने शक १०३३ मे अपने 'विश्वप्रकाशकोश' की भूमिका मे कन्नौज के राजा के वैद्य श्रीकृष्ण को हरिचन्द्र के कुल मे पैदा हुआ बतलाया है। और इस कुल को अनेक राजाओ से वन्दनीय कुल ("आसीदसीम-वसुधाधिप-वन्दनीये") बतलाया है। यह भी लिखा है कि चरक व्याख्याकार हरिचन्द्र श्रीसाहसाक राजा का ही वैद्य था।

श्रीसाहसांकनृपतेरनवद्यवैद्य विद्यातरंगसुपदद्वयमेव बिभ्रत्।

यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलञ्चकार॥

इस प्रकार वैद्यवर हरिचन्द्र भट्टारक का परीक्षा स्थान ही नही, वहुत काल तक निवास स्थान भी राजा साहसांक की उज्जयिनी रहा है। विल्सन का यह लिखना सही नही है कि साहसाक ११११ ई० मे गाजीपुर मे राजा था जिसके यहाँ महेश्वर वैद्य था। वास्तव मे उपर्युक्त श्लोक मे हरिचन्द्र भट्टारक की ही प्रशसा है कि वह सम्राट् साहसाक के यहाँ वैद्य था और श्रीकृष्ण और महेश्वर उसी के वडे कुल मे जन्मे थे।

कहा जाता है कि विना हरिचन्द्र की व्याख्या के चरकसहिता का समझना अत्यन्त कठिन है। श्लोक प्रसिद्ध है—

हरिश्चन्द्रकृतां व्याख्यां विना चरकसंमतम्। यस्तृणोत्यकृतप्रज्ञः पातुमीहति सोऽम्बुधिम्॥

(१२) आर्यसूर

राजशेखर ने सूर का नाम उन आठ महाव्यक्तियो मे लिखा है कि जिन्होने उज्जयिनी मे शिक्षा प्राप्त करके काव्यकार की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। विद्वानो का मत है कि यह सूर बौद्ध कवि आर्यसूर है। आर्यसूर की 'जातकमाला' प्रसिद्ध है और चीनी यात्री ईत्सिग ने लिखा है कि मठो मे और चैत्यो मे विद्यार्थीगण और भिक्षु लोग 'जातकमाला' का वड़ी श्रद्धा के साथ अध्ययन करते थे।

ईत्सिग के अनुसार 'जातक' का अर्थ है 'पूर्व जन्म' और 'माला' हार को कहते है। जातकमाला मे बोधिसत्वो के पूर्वजन्मों मे किए कठिन कार्यों की कथाएँ एक सूत्र मे पिरोई गई है। 'जातकमाला' वडे मधुर सस्कृत काव्य मे है जिससे पता चलता है कि अश्वघोष की तरह आर्यसूर भी पाली छोडकर सस्कृत काव्यधारा के प्रेमी थे। इससे यह भी पता चलता है कि प्रसिद्ध विद्वान् लोग उस समय पाली का सहारा छोड़कर राज्यदरबार व साहित्यिको की रुचि देखकर संस्कृत को ही अपना रहे थे। 'जातकमाला' के कई श्लोको को लेकर अजन्ता की गुफा मे कई चित्र भी बनाए गए है जिससे ज्ञात होता है कि 'अजन्ता' गुफा की चित्रकला के पूर्व आर्यसूर की 'जातकमाला' अत्यन्त प्रसिद्धि पा चुकी थी। आर्यसूर का एक अन्य ग्रथ ईसवी सन् ४३४ मे चीनी भाषा मे अनुवादित हुआ था। इसलिए इस समय से बहुत पहिले आर्यसूर का प्रादुर्भाव हुआ होगा।

आर्यसूर के गद्य और पद्य दोनो प्राञ्जल और मधुर है। उनका काव्य सुन्दर कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उनका छन्द ज्ञान बहुत ऊँचा और भाषा दूषण रहित है। वडे वडे समास, विशेष करके गद्य मे, जातकमाला मे अवश्य आते है परन्तु वे कृत्रिम न होकर स्वत आते चले जाते है और उनसे भाषा की सरसता और सुन्दर प्रवाह मे बाधा नही पड़ती। सस्कृत साहित्य के इतिहास मे 'जातकमाला' का एक अद्वितीय स्थान है।

(१३) महाकवि धनपाल

श्री मेरुतुगाचार्य के 'प्रबन्धचिन्तामणि' मे महाकवि धनपाल का जीवन-चरित दिया हुआ है। लिखा है कि स काश्य गोत्रीय सर्वदेव नामक ब्राह्मण उज्जयिनी मे रहा करता था। उसके दो पुत्र थे, धनपाल और शोभन। सर्वदेव की आस्था जैनधर्म पर थी और श्रीवर्धमान सूरि के कहने के अनुसार शोभन ने जैनधर्म मे दीक्षा ले ली। धनपाल जैनियो का विरोधी रहा। उज्जयिनी मे समस्त विद्याध्ययन करने के अनन्तर वह भोज की पडित मडली मे सुप्रतिष्ठित हुआ और उसने बारह वर्ष उस देश मे जैन दार्शनिको के आगमन को निषिद्ध कराया। बाद मे शोभन के ससर्ग से धनपाल भी जैनधर्म मे रस लेने लगा। बुद्धिमान तो था ही, अतएव कर्मप्रकृति प्रभृति जैन विचार-ग्रथों मे भी वह बड़ा प्रवीण हुआ।

धनपाल के कई वाक्य-चातुरी और काव्य-चातुरी के उदाहरण 'प्रबन्धचिन्तामणि' मे मिलते है। धनपाल की प्रेरणा से राजा ने मृगया (शिकार) और जीवो की हत्या का त्याग किया। एक दिन यज्ञ-मण्डप मे यज्ञ-स्तभ मे बँधे हुए बकरे की

आवाज सुनकर उसकी तरफ देखकर राजा भोज ने पूछा कि यह बकरा क्या कह रहा है ? धनपाल ने उत्तर दिया कि यह बकरा कह रहा है—

नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया सन्तुष्टस्तृणभक्षणेन सततं साधो न युक्तं तव।
स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहिता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः ॥

(मैं स्वर्गफल भोगने का अभिलाषी नहीं हूँ, मैंने इसके लिए तुमसे याचना भी नहीं की। मैं तो केवल तृण खाकर ही संतुष्ट हूँ। तुम्हारा यह कार्य उचित नहीं है। यदि निश्चय ही यज्ञ में मारे जानेवाले प्राणी स्वर्ग में जाते हैं, तो हे साधो, अपने माता पिता, बांधव और पुत्रों का यज्ञ में बलिदान क्यों नहीं करते ?)

इस उत्तर को सुनकर राजा को अहिंसा पर श्रद्धा उत्पन्न हुई।

एक दिन राजा क्रोध में धनपाल के साथ आ रहा था। एक बालिका के साथ एक वृद्धा रास्ते में आती दिखाई दी। वृद्धा का सिर बुढ़ापे के मारे हिल रहा था। राजा ने पूछा इस वृद्धा का सिर क्यों हिल रहा है। धनपाल ने उत्तर में श्लोक पढ़ा—

किं नन्दी किं मुरारिः किमु रतिरमणः किं विधुः किं विधाता
किं वा विद्याधरोऽसौ किमुत सुरपतिः किं नलः किं कुबेरः।
नायं, नायं, न चायं, न खलु नहि न वा नापि नासौ न चासौ
क्रीडां कर्तुं प्रवृत्तः स्वयमपि च हले भूपतिर्भोजदेवः ॥

(यह वृद्धा सोचती है कि यह जो सामने चला आ रहा है वह नन्दी है या मुरारि ? कामदेव है या चन्द्रमा ? विद्याधर है या विधाता ? इन्द्र है या नल है या कुबेर ? फिर देखकर उत्तर देती है, "ना ना यह वह नहीं है, यह भी नहीं है, बिलकुल यह नहीं है, वह भी नहीं है, और वह भी नहीं है। यह तो क्रीडा करने में प्रवृत्त स्वयं राजा भोज है"। इसीलिए वृद्धा का सिर बारबार हिल रहा है।)

यह सुनकर राजा का क्रोध जाता रहा।

धनपाल ने 'तिलकमंजरी' नामक सुन्दर काव्य-ग्रंथ लिखा था। राजा ने पढ़कर यह इच्छा की—"इस ग्रंथ का नायक मुझे बनाओ, विनीता के स्थान में अवन्ती का नाम रखो, गंगावतार तीर्थ की जगह महाकाल करो, फिर जो माँगोगे मैं तुमको दूँगा।" स्वतन्त्र प्रकृति कवि ने इसको अस्वीकार किया और यह और कह दिया कि "जिस प्रकार खद्योत और सूर्य में, सरसों और सुमेरु में, काँच और काञ्चन में, तथा धतूरे और कल्पवृक्ष में महान अन्तर है उसी तरह तुममें और उनमें है।" जब इस प्रकार कवि अनर्गल बक रहा था राजा ने क्रोध में आकर मूल प्रति को जलती आग में फेंक दिया।

उदास होकर पंडित अपने घर में आकर मञ्च पर सो गया। उसकी विद्वान कन्या बालपंडिता ने पंडित को उठाया और 'तिलकमञ्जरी' की प्रथम प्रति के लेखन का स्मरण कर आधा ग्रंथ लिखा दिया। फिर पंडित ने उत्तरार्ध नया लिखकर ग्रंथ सम्पूर्ण किया। ग्रंथ समाप्त होने पर रुष्ट होकर नाणागाँव में चला गया। परन्तु भोज ने फिर बुलवा लिया। और अन्त तक राजा भोज के साथ बना रहा।

रियासत धार के इतिहास में धनपाल और शोभन राजा मुंज के दरबार में बताए गए हैं, राजा भोज के नहीं। धनपाल के लिए कहा गया है कि "धनपाल का मर्म वचन और मलयागिरि का सरस चन्दन हृदय में लगाकर कौन शान्त नहीं होता ?"

वचनं धनपालस्य चंदनं मलयस्य च। सरसं हृदि विन्यस्य कोऽभून्नाम न निर्वृतिः ॥

(१४) गुणशर्मा

गुणशर्मा एक वेद विद्या विशारद, संगीत, नाट्यकला में दक्ष राजनीति में चतुर ब्राह्मण थे जो राजा महासेन के मंत्री हुए और उसके अनन्तर उज्जयिनी के राजा हुए।

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी

'कथासरित्सागर' मे इनके पिता का नाम आदित्यसेन बतलाया है। पाँचवी वर्ष मे आदित्यसेन के पिता का स्वर्गवास हुआ और उनकी माता सती हुई। आदित्यसेन उज्जैन मे अपने मामा के घर पाले गए। विद्याध्ययन के अनन्तर एक परिवार के साथ यक्षिणी सिद्ध की और बाद मे वेना नदी के तीर पर दक्षिण मे तुम्ववन नामी स्थान पर बौद्ध सन्यासियों मे श्रेष्ठ विष्णुगुप्त से दीक्षा लेकर सुलोचना यक्षिणी की सिद्धि की। सुलोचना के गर्भ से, या प्रसाद से, गुणशर्मा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो आदित्यसेन के मामा के घर उज्जैन मे ही पाला गया। विद्याध्ययन के अनन्तर गुणशर्मा राजा महासेन के दरबार मे पहुँचे और फिर उनकी अतरंग सभा के सदस्य बने।

गुणशर्मा नृत्यकला मे इतने दक्ष थे कि उनकी कला हावभाव कटाक्ष की उत्तमता देखकर देखनेवाले आनन्द से विभोर हो जाते थे। जब वीणा बजाते तो उनकी सगीत की लहरी ऐसी मनोहर लगती थी मानो तीनो लोको को पावन करनेवाली गंगा की धारा हो। उनका गाना सुनकर मनुष्य चित्र के समान देखते रह जाते थे। शस्त्र और अस्त्र विद्या मे उनके समान गुणी दूसरा न था। बन्धकरण मत्र मे ऐसे दक्ष थे कि अस्त्रशस्त्र से सुसज्जित शत्रु को भी बाँध सकते थे। एक बार सोमक राजा पर जब महासेन ने चढ़ाई की तब महासेन को गौडेश्वर राजा विक्रमशक्ति ने बीच मे ही घेर लिया था तब बडे साहस के साथ, रात्रि के समय, गुणशर्मा ने राजा विक्रमशक्ति के शिविर मे पहुँचकर विष्णु भगवान् के दूत बनकर, उनकी सेना को वापिस जाने पर मजबूर किया था। तदनन्तर महासेन ने सोमक राजा पर विजय पाई थी।

एक बार नदी मे कूदकर महासेन राजा को घडियाल से बचाया और दूसरी बार जब महासेन को सर्प ने डस लिया था तो सर्प-विष से राजा की रक्षा की।

शस्त्र चलाने मे ऐसे निपुण थे कि विक्रमशक्ति से जब बाद मे यद्ध हुआ तो शनैः शनैः सेना थकने लगी थी। दोनो राजा विरथ होकर पैदल लडने लगे थे। महासेन पृथ्वी पर फिसल पड़े उसी समय विक्रमशक्ति ने खड्ग का प्रहार किया। गुणशर्मा ने तुरन्त ही एक चक्र से उसको काट दिया और राजा विक्रमशक्ति को तलवार की धार से स्वर्ग पहुँचाया।

इतने राजभक्त मत्री को भी राजा महासेन ने रानी अशोकवती के मिथ्या दोषारोपण के कारण अपमानित करके देश से निकलवा दिया। गुणशर्मा ने तदनन्तर निराश होकर अवन्तिका के समीपस्थ एक ग्राम मे अग्निदत्त के गृह मे अत्यन्त गुप्त पातालवसति नामक भूगृह मे रहते हुए तपस्या करके स्वामिकार्तिक को प्रसन्न किया और फिर धीरे धीरे एक बड़ी सेना को एकत्रित करके उज्जयिनी पर धावा बोला और राजा महासेन पर विजय पाकर उज्जयिनी का राज अपने हाथ मे लिया। अग्निदत्त की कन्या सुन्दरी से ब्याह करके अभीष्ट भोगो को भोगते हुए बहुत दिन तक सुखपूर्वक उन्होंने उज्जयिनी पर राज्य किया।

(१५) महाकवि भारवि

राजशेखर ने लिखा है कि भारवि उज्जैन मे शिक्षा प्राप्त करके काव्यकार परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए थे।

एहोललेख मे भारवि कालिदास के समकालीन बनाए हैं। दोनो का नाम साथ साथ है। काशिका वृत्ति मे भी उनके उदाहरण है। कालिदास का प्रभाव उनके काव्य मे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है और माघ के काव्य में भारवि का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। विद्वानो का मत है कि वे ५०० ई० और ५५० ई० के मध्य मे रहे होगे।

उनका 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य है। यह अधिकतर महाभारत की एक अन्य कथा के रूप मे है। पाडवों ने १२ वर्ष के वनवास मे किस तरह निर्वाह किया और अर्जुन को वेदव्यास ने किस तरह हिमालय पर्वत पर इन्द्र की आराधना करने को भेजा और अर्जुन ने इन्द्र को प्रसन्न करके शिवजी को युद्धकला दिखाकर किस तरह से अमूल्य शस्त्र लिए, इसकी विस्तृत कथा किरातार्जुनीय मे कही गई है। अलकार और विविध छन्दो से किरातार्जुनीय भरा पड़ा है। भारवि इतने प्रसिद्ध हैं कि इनके काव्य के विषय मे अधिक लिखना व्यर्थ है।

प्राचीन उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ महान् व्यक्ति

(१६) आचार्य दण्डी

जिस प्रकार कालिदास की 'उपमा' प्रसिद्ध है उसी प्रकार दण्डी का 'पद-लालित्य' भी प्रसिद्ध है। श्री माधवाचार्य ने 'शंकरदिग्विजय' में लिखा है कि शंकर ने अवन्तिका में दण्डी को भी शास्त्रार्थ में परास्त किया था। दण्डी के समय का पता नहीं चलता परन्तु इनको भामह (७०० ई०) का पूर्ववर्ती सिद्ध किया जाता है। दण्डी ने अपने तीन ग्रंथ बताए हैं जिनमें से दो ही प्रसिद्ध हैं। प्रथम 'दशकुमारचरित' और द्वितीय है 'काव्यादर्श'। तीसरे ग्रंथ का पूर्ण पता नहीं चलता।

'दशकुमारचरित' में दस राजकुमारों के प्रेम-परिणय का वर्णन है। गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' की तरह ही एक कथा में दूसरी कथा की गुत्थी उलझी हुई प्रतीत होती है। 'दशकुमारचरित' में वर्णित देशों के नाम व भूगोल से यह पता चलता है कि वे नाम हर्षवर्धन के साम्राज्य के पहिले के हैं। भाषा की सादगी के कारण 'दशकुमारचरित' बाणभट्ट और सुबन्धु के पूर्व लिखित बताया जाता है।

'दशकुमारचरित' में किसी शैली की व्यवस्था नहीं है परन्तु जहाँ कहीं किसी का वर्णन किया गया है वह अद्वितीय है। साहसी कार्य और निम्नकोटि के जीवन का दिग्दर्शन उत्तम रीति से कराया गया है। जादूगर और पाखंडी, चोरशास्त्र के विशेषज्ञ, प्रेमी और प्रेमिकाओं का वर्णन यत्र-तत्र किया गया है। अपहारवर्मन चोरों का राजा है। कर्णीसुत चोरशास्त्र का आचार्य और ग्रंथकार है। कर्णीसुत के शास्त्र के अनुसार एक नगर को लूटने के लिए अपहारवर्मन प्रबंध करता है। कारण केवल मात्र यह है कि एक वेश्या से एक अभागा पुरुष लूट लिया गया था और नगर में बहुत से कंजूस बसते थे। धर्म के सिद्धान्त जो कुछ बताए गए हैं वे निम्नप्रकार के हैं। धार्मिक ब्राह्मणों पर व्यंग की बौछार है, एक दिगम्बर जैन साधु का उपहास किया गया है और एक बौद्ध भिक्षुणी कुट्टिनी के कार्य में दक्ष बताई गई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक संघों में दण्डी के समय में अधर्म बढ़ चुका था और ग्रंथकार ने जो कुछ देखा उसको किसी न किसी बहाने इस ग्रंथ में वर्णन कर दिया। यह नीतिसार का ग्रंथ बताया जाता है परन्तु कथा ऊँची नहीं है और न उनमें किसी ऊँचे सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है।

'काव्यादर्श' एक बहुत ऊँचा ग्रंथ है और इसीलिए समालोचकों ने यह शंका प्रकट की है कि 'काव्यादर्श' से ऊँचे ग्रंथ का रचयिता 'दशकुमारचरित' सरीखा साधारण ग्रंथ शायद न लिखेगा। शंका का समाधान यह बताया जाता है कि 'दशकुमारचरित' अल्प अवस्था में लिखा गया और 'काव्यादर्श' शायद परिपक्वावस्था में रचा गया था। वास्तव में 'काव्यादर्श' से ही दण्डी को साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान मिला है।

श्री कन्हैयालालजी पोद्दार ने लिखा है कि दण्डी का समय सम्भवतः ईसा की सप्तम शताब्दी का अन्तिमचरण है। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' अभी मद्रास से मुद्रित हुई है जिसके आधार पर लिखा है कि आचार्य दण्डी सुप्रसिद्ध 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य के प्रणेता कवि भारवि के प्रपौत्र थे। 'इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली' की तीसरी जिल्द में श्रीयुत् हरिहर शास्त्री ने इस मुद्रित पुस्तिका को अशुद्ध बतलाया है और इसलिए इसके आधार पर कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। एक प्राचीन श्लोक में लिखा है—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्। कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

जगत में पहिला कवि वाल्मीकि हुआ, दूसरा व्यास, और तीसरा दण्डी।

(१७) सुबन्धु

सुबन्धु महाराज विक्रमादित्य के समकालीन और वररुचि के भानजे (भागिनेय) थे। सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' नाम की कथा गद्यकाव्य में लिखी है। बाणभट्ट ने इस 'वासवदत्ता' की 'हर्षचरित' में प्रशंसा की है। यह 'वासवदत्ता' चण्डप्रद्योत की कन्या नहीं है, परन्तु एक दूसरे राजा शृंगारशेखर की कन्या है। राजा चिन्तामणि के पुत्र कन्दर्पकेतु उसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर प्रेम में पड़ जाते हैं और घूमते घूमते वासवदत्ता को खोज लेते हैं और तदनन्तर ब्याह हो जाता है। कथा कोई बड़ी नहीं है, कथानक भी साधारण है। परन्तु काव्य में प्रतिभा अवश्य है। वाक्पति राज के 'गौडवह' में सुबन्धु को भास, कालिदास और हरिचन्द्र की श्रेणी में बताया है। मंख के 'श्रीकण्ठचरित' में सुबन्धु को भर्तृमेण्ठ, भारवि

और वाणभट्ट की श्रेणी मे वताया है। 'राघवपाडवीय' मे कविराज, वाणभट्ट और सुवन्धु को श्लेष कविता का आचार्य वताया है। वाणभट्ट ने यहाँ तक लिखा है कि 'वासवदत्ता' से कवियो का दर्प जाता रहा—

कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।

'वासवदत्ता' से ज्ञात होता है कि उस समय वौद्ध और ब्राह्मण विद्वानो के परस्पर दार्शनिक वादविवाद होते थे। मुबन्धु ने लिखा है कि—

केचिज्जैमिनिमतानुसारिणि इव तथागत-मत-ध्वंसिनः।

(तथागत वा बुद्ध के सिद्धान्त का विध्वंस जैमिनि के मतानुयायी करते है।)

सुवन्धु ने एक स्त्री की प्रशमा मे लिखा है—

न्यायस्थितिम् इव उद्योतकरस्वरूपाम्, वौद्धसंगतिम् इव अलंकारभूषिताम्॥

यहाँ पर न्यायवार्तिक के ग्रथकार उद्योतकर का नाम स्पष्टत· लिया गया है। इससे पता चलता है कि सुवन्धु उद्योतकर के पश्चात् हुए है। श्रीयुत् गगाप्रसादजी मेहता ने सुवन्धु का काल छठवी शती माना है। डाक्टर कीथ के अनुसार वह वाणभट्ट के समकालीन थे।

महाराज विक्रमादित्य के अनन्तर साहित्य की अवनति को लक्ष्य करते हुए सुवन्धु ने 'वासवदत्ता' मे लिखा है कि—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कंकः। सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये।

(रसवता नष्ट हो चुकी है। नए लोग विलासी है। सरोवर की भाँति पृथ्वी पर विक्रमादित्य की कीर्तिशेष रह गई है।)

(१८) महाक्षत्रप रुद्रदामा

यूनानी भूगोलज्ञ क्लौडियस टालेमी (Klaudius Ptolemy) ने अपने इतिहास मे उज्जैन के टियस्टनस (Tiastenes of OZENE) का उल्लेख किया है। वास्तव मे यह क्षत्रप चष्टन था। रुद्रदामा इसी चष्टन का पौत्र था।

शक लोगो के कई दल भारतवर्ष मे पहली शताब्दी मे आ चुके थे। इनके सूवेदार अपने को क्षत्रप कहते थे। पुराने ईरानी "क्षथ्रपावन" का शुद्ध संस्कृत रूप छत्रप (पृथ्वी का रक्षक) है। उत्तरी 'क्षत्रप' पार्थियन राजाओ को अपना बादशाह मानते थे। पश्चिमी क्षत्रप ईसवी प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध मे सिन्ध और गुजरात से होते हुए पश्चिमी भारत मे आए थे। ये लोग प्रारभ मे उत्तरी-पश्चिमी भारत के कुणाष राजाओ के सूवेदार मालुम होते है। परन्तु अन्त मे इनका प्रभाव वहुत वढा और मालवा, गुजरात, काठियावाड, कच्छ, सिन्ध, उत्तरी कोकण और राजपूताना तक इनका अधिकार हो गया था। ये स्वतत्र होकर 'महाक्षत्रप' कहलाने लगे। इसके पहले ही ये पौराणिक धर्म मानने लगे थे और ब्राह्मण-धर्म और सस्कृत भाषा के उद्धार मे इन लोगो का प्रमुख हाथ रहा है।

मत्स्य. वायु और ब्रह्माण्ड मे १८ शक राज लिखे है। विष्णु और भागवत मे सख्या १६ बताई है। मञ्जुश्री-मूल-कल्प मे भी १८ ही वताई है। इस तरह १८ शक भूपति तो अनुमानित किए ही जाते है। उज्जयिनी के शको के अनेक सिक्के व शिलालेख अभी तक मिल चुके है। प० भगवद्दत्तजी ने उनका निम्नलिखित वश-वृक्ष प्रस्तुत किया है·—
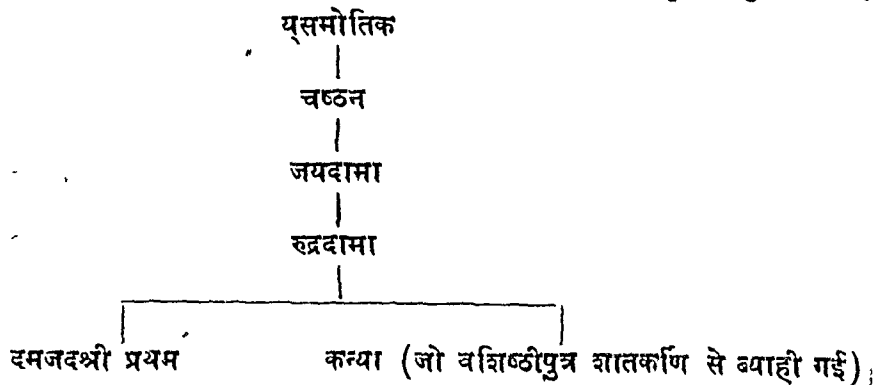
प्राचीन उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ महान् व्यक्ति

प० जनार्दनभट्ट ने भूमक और नहपान को भी चष्टन का पूर्वज माना है। परन्तु 'त्रलोक्यप्रज्ञप्ति' की गाथा म लिखा है कि नहपान ने उज्जैन में ४० वर्ष राज्य किया। तत्पश्चात् चष्टन हुआ। चष्टनो का राज्य २४२ वर्ष रहा। इनके पश्चात् गुप्त हुए। इसलिए सम्भव है नहपान का चष्टन वंश से कोई सम्बन्ध नही रहा हो।

चष्टन का पौत्र रुद्रदामा महाप्रतापी हुआ है। उसने महाक्षत्रप की उपाधि धारण कर आकर (पूर्वी मालवा) अवन्तिदेश, अनूप, आनत (उत्तरी काठियावाड), सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड), श्वभ्र (उत्तरी गुजरात), मरु (मारवाड), कच्छ, सिन्ध, सौवीर (मुल्तान), कुकुर(पूर्वी राजपूताना), अपरान्त(उत्तरी कोंकण)और निषाद(भीलो के देश) पर अधिकार कर लिया था। इसने एक बार यौधेय लोगो को और दो बार आन्ध्र राजा पुलमायि द्वितीय को हराया था। फिर अपनी कन्या का ब्याह इसी राजा से कर दिया था। अपने राज्य के भिन्न भिन्न प्रान्तो में इसने अपने सूबेदार नियुक्त कर रखे थे।

एक सुदर्शन झील जूनागढ के गिरिनार पर्वत के निकट थी। इसको सब प्रथम चन्द्रगुप्त मौर्य के सूबेदार वैश्य पुष्यगुप्त ने बनवाया था। सम्राट अशोक के ईरानी सूबेदार तुषास्फ ने इसमें नहरें निकलवाई थी। तूफान और अतिवृष्टि के कारण रुद्रदामा के राज्यकाल म सुदर्शन झील का बाँध टूट गया। तब रुद्रदामा के सूबेदार पह्लववंशी सुविशाख ने इसका जीर्णोद्धार कराया। इसी घटना के स्मारक रूप में गिरिनार पर्वत की चट्टान के पीछे एक प्रशस्ति खुदी हुई है। एक तरफ अशोक का लेख है दूसरी तरफ रुद्रदामा का। इस शिलालेख से ही रुद्रदामन के इतिहास का असली पता चला है। इससे पहले के शिलालेख सब प्राकृत या प्राकृत-मिश्रित संस्कृत म है। परन्तु यह प्रशस्ति शुद्ध संस्कृत म है।

शक संवत् ७२ (ई० स० १५०) का गिरनार का यह संस्कृत शिलालेख उत्कृष्ट रचना का उदाहरण है। इसमें लिखा है कि रुद्रदामा व्याकरण, संगीत, तर्क आदि शास्त्रो का प्रसिद्ध ज्ञाता था, धर्म पर उसका बडा अनुराग था —

अजिशोर्जितधर्मानुरागेण शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्तविपुलकीर्तिना स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य (काव्यविधानप्रवीणेन)

उज्जयिनी की प्रसिद्ध विद्यापीठ में रहकर महाक्षत्रप रुद्रदामा ने संस्कृत काव्यकला में कौशल प्राप्त किया था।

आलंकारिक गद्य और पद्य की रचना मे वह बडा कुशल था। कवि समयोचित उदारता और अलंकार के साथ साथ स्फुट, लघु, मधुर, विचित्र और सुन्दर शब्दो का वह अच्छा प्रयोग करता था।

भरत के नाट्यशास्त्र म कथित काव्य के गुणो का उल्लेख इस प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से किया गया है। प्रकट है कि रुद्रदामा 'वैदर्भी रीति' की काव्यशैली से पूर्ण परिचित था।

डॉक्टर कीथ ने लिखा है कि —

An inscription at Girnar is written in prose (गद्य काव्यम्) and shows in a most interesting manner the development from the simple epic style to that of the Kavya

(१९) आचार्य भद्रबाहु

जैन साहित्य में हेमचन्द्र के 'परिशिष्टपर्व' का प्रथम स्थान है। दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'भद्रबाहुचरित्र' है। इसमे उज्जैन के महाराज चन्द्रगुप्त के गुरु श्रुतकेवलि आचार्य भद्रबाहु का जीवन चरित्र लिखा है। आचार्य भद्रबाहु जैनाचार्यों में प्रमुख है।

भद्रबाहु चरित्र म लिखा है कि अवन्ती देश म 'चन्द्रगुप्ति' नाम का राजा राज्य करता था। उसकी राजधानी उज्जैन थी। एक बार राजा चन्द्रगुप्ति ने रात को सोते हुए भावी अनिष्ट फल के सूचक सोलह स्वप्न देखे। प्रात काल होते

ही उसको भद्रबाहु स्वामी के आगमन का समाचार मिला। यह स्वामी उज्जैन नगरी के वाहर एक सुन्दर वाग में ठहरा हुआ था। वनपाल ने जाकर राजा को सूचना दी कि गण के अग्रणी आचार्य भद्रबाहु अपने 'मुनिसन्दोह' के साथ पधारे हुए है। यह सुनकर राजा वहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय भद्रवाहु को बुला भेजा और अपने स्वप्नो का फल पूछा। स्वप्नों का फल ज्ञात होने पर राजा ने जैन-धर्म की दीक्षा ली और अपने गुरू की सेवा मे दत्तचित्त हो गया। कुछ समय वाद आचार्य भद्रवाहु सेठ जिनदास के घर आये। इस घर मे एक अकेला वालक पालने पर झूल रहा था। यद्यपि इसकी वय दो मास ही की थी तथापि भद्रवाहु को देखकर "जाओ जाओ" ऐसा बोलना शुरू किया। भद्रवाहु समझ गए कि घोर दुर्भिक्ष पड़नेवाला है। अतएव उन्होने ५०० मुनियो को लेकर दक्षिण देश मे जाने का निश्चय किया। एकान्त मे रहते हुए गिरिगुहा मे भद्रवाहु ने अपने प्राण त्याग कर दिए। यद्यपि भद्रवाहु ने चन्द्रगुप्त को अपने पास रहने से वहुत मना किया, परन्तु उसने एक न मानी। इसी गिरिगुहा मे वह निवास करने लगे और यही प्राण त्याग किया, यह स्थान श्रवण वेलगोला (मैसूर) वतलाया जाता है।

'आराधनाकथाकोष' एव 'पुण्याश्रवकथाकोष' मे भी यही कथा पाई जाती है। श्रवण-वेलगोला की स्थानीय अनुश्रुति भी यही बात वतलाती है।

एक पर्वत पर भद्रबाहु स्वामी की गुफा है और पास ही एक मठ 'चन्द्रगुप्तवस्ति' है। यहॉ पर कई शिलालेख मिले है जो राइस के 'मैसूर एण्ड कुर्ग फ्रोम इन्स्क्रिप्शॅन' मे छापे गए है। श्रीयुत सत्यकेतु विद्यालकारजी ने अपने 'मौर्य साम्राज्य के इतिहास' मे इनको उद्धृत किया है। इन शिलालेखो से भी इस कथा की पुष्टि होती है।

प्रश्न यह है कि यह चन्द्रगुप्त कौन थे? विद्वानो ने (मुख्यकर डॉक्टर राधाकुमुद मुकर्जी और विन्सेण्ट स्मिथ ने) यह सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य माने है। श्रीयुत सत्यकेतुजी ने अन्य विद्वानो के साथ यह चन्द्रगुप्त—सम्राट् अशोक के प्रपौत्र और उतराधिकारी सम्राट् सम्प्रति चन्द्रगुप्त द्वितीय माने है।

जैनग्रथ 'राजावलिकथा' मे इन चन्द्रगुप्त के पुत्र सिंहसेन बताए है जिनको राजगद्दी देकर चन्द्रगुप्त भद्रबाहु के साथ दक्षिण गए। चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र विन्दुसार थे, सिंहसेन नही। इसलिए श्री सत्यकेतुजी चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्त मौर्य नही मानते।

परन्तु सम्प्रति (जिनको श्री चन्द्रशेखर शास्त्री और सत्यकेतुजी चन्द्रगुप्त द्वितीय मानते है) के कोई पुत्र सिहसेन नाम का नही था। सम्प्रति अवश्य जैन था और सम्राट् सम्प्रति की राजधानी भी उज्जैन थी परन्तु उनके वाद साम्राज्य का उतराधिकारी शालिशुक हुआ था। शालिशुक ने अपने वड़े भाई का घात कर स्वय राज्य पर अधिकार जमा लिया था। शालिशुक के भाई का नाम भी सिहसेन नही था। अतएव भद्रवाहु किस सवत् मे कौन से चन्द्रगुप्त के साथ मैसूर गए थे यह निश्चित करना बहुत कठिन हो गया है।

श्री मेरुतुगाचार्य ने 'प्रबन्धचिन्तामणि' मे आचार्य भद्रबाहु को आचार्य वराहमिहिर का सगा भाई वतलाया है। वहॉ वह वराहमिहिर को पाटलिपुत्र का रहनेवाला वतलाते है। सम्भव है वराहमिहिर पाटलिपुत्र रहने लग गए हो। वराहमिहिर ज्योतिषाचार्य थे परन्तु भद्रवाहु उनसे भी वडे ज्योतिषी थे। जब वराहमिहिर के पुत्र उत्पन्न हुआ तो उनके घर भेट देने राजा से लेकर रंक तक सब कोई गया परन्तु भद्रबाहु नही गए। पूछने पर वतलाया कि थोड़े दिनो वाद बच्चे का देहान्त हो जायगा और ऐसा ही हुआ, तब से वराहमिहिर भी अपने भाई को वहुत बडा ज्योतिषी मानने लगे और जैनधर्म पर श्रद्धा करने लगे थे।

आचार्य वराहमिहिर कपित्थ (वर्तमान कायथा) के रहनेवाले थे (जो उज्जैन से १९ मील पर है) ऐसा उन्होने 'बृहज्जातक' मे स्वय लिखा है। भद्रबाहु भी उज्जैन मे वहुत रहे थे। सम्भव है दोनो भाई ही हो और दोनो समकालीन रहे हो। 'वृहत्गार्ग्यसहिता' मे शालिशुक की कई कथाएँ दी गई है। भद्रबाहु, वराहमिहिर और चन्द्रगुप्त यदि एक ही काल मे थे तो वराहमिहिर का शक ४२७ शालिवाहन शक न होकर अवश्य ही कोई दूसरा शक सवत् है। इसीलिए भारतीय तिथि-

क्रम या कालगणना में श्री० नारायण शास्त्री की कालगणना अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है जिसके अनुसार वराहमिहिर का काल १२३ ई० पू० से ४३ ई० पू० निश्चित किया गया है। और इसी के आसपास भद्रबाहु का समय होना चाहिए।

इस तरह भद्रबाहु के काल के विषय में विद्वानों के कई मत हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय का कथन है कि भद्रबाहु नाम के दो आचार्य थे (१) प्रथम चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे जिनका देहान्त महावीर भगवान् के निर्वाण के १६२ साल बाद हुआ (३६५ ईसा के पूर्व) और दूसरे आचार्य का देहान्त उक्त निर्वाण के ५१५ वर्ष बाद (ईसवी सन के १२ वर्ष पूर्व) हुआ। जकोबी ने 'भद्रकल्पसूत्र' की भूमिका में और श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक' में इस मत की पुष्टि की है।

परन्तु इन दोनों आचार्यों से तृतीय भद्रबाहु पृथक् थे जिन्होंने उत्तराधिकार के विषय में धर्मशास्त्र (कानून) का ग्रंथ 'भद्रबाहुसंहिता' लिखा है।

आचार्य भद्रबाहु भगवान् महावीर के बाद छठवें थेर माने जाते हैं। 'उसाउ' और 'दसनिज्जुत्ति' के अतिरिक्त उनके 'कल्पसूत्र' का महत्त्व जैन धार्मिक साहित्य में बहुत है।

डाक्टर विंतरनीतज की राय में 'कल्पसूत्र' के तीनों भाग पृथक् पृथक् लिखे गए हैं। प्रथम भाग 'जिन-चरित्र है' जिसमें बड़े विस्तार के साथ भगवान् महावीर का जीवन चरित्र वर्णित है। यह 'ललितविस्तर' के ढंग का ही है। 'आचारंग सुत्त' के अनुसार महावीर का ब्राह्मणी के गर्भ में आने के बाद क्षत्राणी के गर्भ में चला जाना बताया गया है। जिसे विद्वान् लोग कृष्ण की परिपाटी बतलाते हैं। इसके बाद महावीर के पूर्व तीर्थंकरों की जीवनलीला भी बतलाई है।

'कल्पसूत्र' के द्वितीय भाग में थेरावली गण, शाखा और गणधरों का वर्णन है। इस भाग का ऐतिहासिक महत्त्व स्वीकार किया जा चुका है। भद्रबाहु के बहुत समय के अनन्तर जो गणधर हुए हैं उनका भी इसमें वर्णन है इसलिए इस भाग को भद्रबाहु का लिखा जाना नहीं माना जा सकता।

कल्पसूत्र के तृतीय भाग में 'सामाचारी' की रीति बताई है। जैन साधुओं को किस प्रकार रहना चाहिए ऐसे नियम बताए गए हैं। इसमें 'पज्जोसन' के नियम भी हैं। कल्पसूत्र का नाम भी 'पज्जोसवनकप्पो' (पर्यूषणकल्प) था इसलिए यह भाग बहुत प्राचीन माना जाता है।

भद्रबाहु के चले जाने के अनन्तर ही श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय अलग अलग हुए हैं। इसलिए जैन इतिहास में भद्रबाहु और उज्जैन का स्थान बहुत ऊँचा है।

(२०) परमार्थ

बौद्धधर्म का चीनदेश में प्रचार करने का श्रेय जिन मध्यभारतीयों को दिया जाता है उनमें परमार्थ का नाम अग्रगण्य है। परमार्थ ने उज्जैन में एक ब्राह्मण कुल में जन्म लिया था। इनका जन्मकाल ४९९ ईसवी में निश्चित किया गया है।

लियांग वंश के सम्राट् वु-टी (Wu ti) ने परमार्थ की विद्वत्ता और बौद्ध धर्मज्ञान की प्रशंसा सुनकर चीन में उनको निमंत्रित किया था। आज से १४०० वर्ष पूर्व, धार्मिक भावना से प्रेरित होकर सन् ५४६ ईसवी में ४७ वर्ष की अवस्था में परमार्थ सुदूर चीन देश गए और ७१वां वर्ष में कण्टन नगर में सन् ५६९ ईसवी में उनका देहान्त हुआ। उनके जीवनकाल के बहुमूल्य २४ वर्ष संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करने में व्यतीत हुए। उनके कुल अनूदित ग्रंथों की संख्या ५०५ है।

अनुवाद के अतिरिक्त उन्होंने प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु का जीवनचरित्र भी चीनी भाषा में लिखा था। और यह ग्रंथ वसुबन्धु के सम्बन्ध में सबसे प्रथम ग्रंथ है जिसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में किसी को सन्देह नहीं है। इस

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी

ग्रंथ से पता चलता है कि वसुवन्धु के गुरु बुद्धमित्र थे। प्रसिद्ध साख्य दार्शनिक विध्यवास ने बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ मे पराजत कर दिया था। वसुवन्धु की प्रसिद्धि के पूर्व ही बुद्धमित्र का देहान्त हो चुका था।

परमार्थ ने एक साख्य कारिका वृत्ति का भी चीनी भाषा मे अनुवाद किया था जिसे विद्वानों ने गौडपाद का भाष्य स्वीकृत किया है। गौडपाद शकराचार्य के परम गुरु थे।

परमार्थ के चीनी अनुवाद के ही आधार पर श्रीयुत् वेलवलकर महोदय ने माठराचार्य के 'माठरवृत्ति' पर एक विद्वत्ता-पूर्ण लेख श्री भाण्डारकर-अभिनन्दन-ग्रंथ मे लिखा था जिसमे ईश्वरकृष्ण की 'साख्यकारिका' का काल निश्चित किया गया है और यह वतलाने का प्रयत्न किया गया है कि वौद्ध दार्शनिक भी कपिल के साख्य को अधिक महत्त्व देते थे।

वहुत से विद्वानो के काल निर्णय करने मे परमार्थ के चीनी अनुवाद अत्यधिक सहाय्य प्रदान कर रहे है।

(२१) व (२२) कुमार महेन्द्र और कुमारी संघमित्रा

यह सम्राट् अशोक के पुत्र व कन्या थे। सम्राट् अशोक अपने पिता सम्राट् बिन्दुसार के काल मे पहले तक्षशिला और फिर उज्जैन के शासक नियुक्त किए गए थे। कुमार महेन्द्र का जन्म उज्जैन मे ही हुआ था।

मौर्य साम्राज्य बहुत विस्तृत था। साम्राज्य को अनेक प्रान्तो मे विभक्त किया गया था। प्रान्त दो प्रकार के थे। एक साधारण, दूसरे जिन प्रान्तो का राजनीतिक दृष्टि से अधिक महत्त्व था। इन दूसरे प्रान्तो पर शासन करने के लिए कुमारो को ही नियुक्त किया जाता था। ऐसे प्रान्त तीन थे—

(१) उत्तर मे तक्षशिला।

(२) दक्षिण मे सुवर्णगिरि।

(३) पश्चिमी प्रदेशो का मुख्य नगर उज्जयिनी।

इनके अतिरिक्त कलिंग विजय के अनन्तर तुषाली प्रान्त भी इस श्रेणी मे कर दिया गया था।

'महावश' ओर 'दीपवश' के अनुसार जब अशोक अवन्ती के 'कुमार' थे तव उनका सम्वन्ध 'वेदिसगिरि' (भिलसा का वेसनगर) की एक सेट्ठी जाति की कन्या से हो गया था। राजकुमार के साथ फिर इस कन्या का विवाह हो गया। बुद्ध की मृत्यु के २४० वर्ष बाद इस कन्या से एक पुत्र हुआ जिसका नाम महेन्द्र रखा गया। महेन्द्र के जन्म के दो वर्ष बाद एक कन्या उत्पन्न हुई जिसका नाम सघमित्रा रखा गया।

सम्राट् विन्दुसार की अन्तिम अवस्था का समाचार मिलते ही अशोक उज्जयिनी से पाटलिपुत्र चले गए और पुत्र और कन्या को भी लेते गए। उनकी रानी वेसिनगर मे ही रह गई थी। बाद मे सघमित्रा का ब्याह एक ब्राह्मण 'अग्नि-ब्रह्मा' से किया जिससे सुमन पुत्र हुआ।

अशोक के राज्यारोहण के चार वर्ष बाद अशोक के भाई तिष्य और अग्निब्रह्मा ने बौद्धधर्म मे दीक्षा ले ली थी। तब तक तिष्य युवराज कहलाते थे। बौद्ध धर्म मे दीक्षित होने के अनन्तर तिष्य का स्थान महेन्द्र को दिया जाने वाला था। परन्तु महेन्द्र के धर्मगुरू "मोद्गलिपुत्त तिष्य" इससे सहमत नही हुए। उन्होने महेन्द्र और सघमित्रा दोनो को भिक्षुव्रत देना निश्चय कर लिया था। सम्राट् इसके लिए सहमत हो गए। दोनो को दीक्षा दे दी गई। सम्राट् के राज्याभिषेक की नौवी वर्ष मे देश देशान्तरो मे बौद्ध धर्म प्रचार के लिए सभा हुई, और कई प्रचारक मण्डल नियुक्त किए गए। लका (ताम्रपर्णी) मे जो प्रचारक मडल भेजा गया था उसके प्रधान कुमार महेन्द्र थे। कुमार महेन्द्र लका यात्रा के पूर्व अपनी माता से मिलने वेसिनगर गए, वहाँ उनको एक भव्य विहार मे ठहराया गया। वहाँ माता के भतीजे के पुत्र भन्दु को बौद्ध धर्म मे दीक्षित करके महेन्द्र लका ले गए।

ताम्रपर्णी के राजा "देवाना प्रिय तिष्य" पहले ही स्वागत के लिए तैयार थे। राजा के साथ ४०,००० मनुष्यों ने बौद्ध धर्म को स्वीकृत किया। राजकुमारी अनुला ने भी ५०० अनुयायी स्त्रियों के साथ बौद्ध धर्म में दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। महेन्द्र ने कहा कि स्त्रियाँ ही स्त्रियों को दीक्षा दे सकती है, पुरुष नहीं। राजा तिष्य ने तब 'महाअरिट्ठ' के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि-मण्डल सम्राट् अशोक की सेवा में भेजा। सम्राट ने अपनी पुत्री संघमित्रा को जाने की अनुमति दी। उसके साथ बड़े समारम्भ के साथ बोधिवृक्ष की शाखा भेजी गई, और बड़े आदर के साथ शाखा का लंका में आरोपण किया गया। संघमित्रा के पहुँचने पर अनुला ने ५०० स्त्रियों के साथ बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली। राजा तिष्य ने महेन्द्र के लिए 'महाविहार' निर्माण कराया और संघमित्रा के लिए एक स्त्री विहार बनवाया। संघमित्रा की मृत्यु ७९ वर्ष की आयु में वहीं हुई। महेन्द्र की मृत्यु भी ९० वर्ष की आयु में राजा 'उत्तिय' के राज्यकाल में लंका में ही हुई।

महावंश और दीपवंश के अनुसार, उज्जयिनी में जन्मे और पाले गए महेन्द्र और संघमित्रा के प्रचारकार्य से धीरे धीरे सारा ताम्रपर्णी द्वीप बौद्ध धर्म की शरण में पहुँच गया।

(२३) श्री सिद्धसेन दिवाकर

जैन ग्रंथों में सिद्धसेन दिवाकर को साहित्यिक एवं काव्यकार के अतिरिक्त नैयायिक और तर्कशास्त्रज्ञों में प्रमुख माना है। यह सम्राट् विक्रमादित्य के गुरु और समकालीन माने गए है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय पट्टावलि के अनुसार महावीर भगवान के निर्वाण के ४७० वर्ष व्यतीत होने पर सम्राट विक्रमादित्य को जैनधर्म की दीक्षा दी गई थी जिसके अनुसार विक्रम संवत् १ होता है। पं० ईश्वरचन्द्रजी विद्यासागर ने सिद्धसेन दिवाकर को ही विक्रम नवरत्नों में से 'क्षपणक' होना सिद्ध किया है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर का प्रादुर्भाव और उनका काल महावीर भगवान् के निर्वाण के अनन्तर ७१४ से ७९८ वर्ष तक रहा है। इस हिसाब से उनका काल ईसवी सन् १८७ से २७१ तक रहा है। श्री सिद्धसेन के गुरु का नाम वृद्धवादि सूरि बताया जाता है जो सिंहगिरि और पालित्त के समकालीन थे।

वेबर ने अपने 'इंडिशे स्टूडीन' में विक्रमादित्य और सिद्धसेन दिवाकर के कई कथाओं और किंवदंतियों का हाल बतलाया है। कहा जाता है कि जैनधर्म की दीक्षा लेने पर विक्रमादित्य का नाम "कुमुदचन्द्र" हो गया था। जेकोबी का विचार है कि "कल्याणमन्दिरस्तोत्र" के काव्यकार ने "कुमुदचन्द्र" का नाम दिए जाने की कथा बिना प्रमाण के लिख दी है। जकोबी के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर का काल ६७० ईसवी के लगभग है। श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने सिद्धसेन दिवाकर का काल सन् ४८० से ५५० ईसवी तक माना है।

'वररुचि' की जीवनी के सम्बन्ध में हमने पहिले लिखा है कि सिद्धसेन दिवाकर के आदेशानुसार सम्राट् विक्रमादित्य ने एक शासनपट्टिका तैयार कराई थी जिसको कात्यायन ने लिखा था। संवत १ चैत्र सुदी १ गुरुवार को लिखी गई इस पट्टिका को जिनप्रभसूरि ने स्वयं देखा था। इस हिसाब से सिद्धसेन दिवाकर के विषय में श्वेताम्बर कालगणना अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है।

श्री सिद्धसेन दिवाकर का स्थान जैन इतिहास में बहुत ऊँचा है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय उनके प्रति एक ही भाव से श्रद्धा रखते है। उनके दो स्तोत्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' ४४ श्लोकों में है। यह पार्श्वनाथ भगवान् का स्तोत्र है। इसकी कविता में प्रासाद गुण कम है और कृत्रिमता एवं श्लेष की अधिक भरमार है परन्तु प्रतिभा की कमी नहीं है। किंवदन्ती यह है कि 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' का पाठ समाप्त होते ही उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में शिवलिंग फट गया और उसके मध्य में पार्श्वनाथ की मूर्ति निकल आई।

दूसरा 'वर्धमान-द्वात्रिंशिका' स्तोत्र है। यह ३२ श्लोकों में भगवान वर्धमान महावीर की स्तुति है। इसमें कृत्रिमता एवं श्लेष नहीं है। प्रासाद गुण अधिक है। भगवान् महावीर को शिव, बुद्ध, हृषीकेश, विष्णु, जगन्नाथ एवं जिष्णु मानकर प्रार्थना की गई है। इन दोनों स्तोत्रों में सिद्धसेन की काव्यकला एक ऊँची श्रेणी की पाई जाती है।

श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी

'तत्वार्थाधिगमसूत्र' की टीका बडे बड़े जैनाचार्यों ने की है। इसके ग्रन्थकार को दिगम्बर सम्प्रदाय 'उमास्वामिन्' और श्वेताम्बर सम्प्रदाय 'उमास्वाति' बतलाते हैं। उमास्वाती के इस ग्रथ की टीका श्री सिद्धसेन दिवाकर ने बड़ी विद्वत्ता के साथ लिखी है।

सम्राट् विक्रमादित्य और सिद्धसेन दिवाकर के सम्वन्ध अत्यन्त घनिष्ट थे इसमें सन्देह नही है। एक का ऐतिहासिक काल दूसरे के ऐतिहासिक काल को अवश्य ही निश्चित कर सकेगा।

(२४) वाक्पतिराज मुञ्ज

नवी शताब्दी मे मालवा पर परमारवंशीय राजाओ का अधिकार हुआ। यह अग्निवंशीय कहलाते है। इनकी राजधानी उज्जयिनी ही थी। परन्तु धार को भी उच्च स्थान मिलता रहा और नवे राजा भोजदेव के समय में परमार राजाओं की राजधानी उज्जैन से धार चली गई। परमार राजाओ का वशवृक्ष इस प्रकार वताया जाता है :—

(१) उपेन्द्रराज अथवा कृष्णराज।
(२) वैरिसिंह प्रथम।
(३) सीयक प्रथम।
(४) वाक्पतिराज प्रथम (८५७-९१४ ईसवी)
(५) वैरिसिंह द्वितीय (९१४-९४१ ई०)
(६) सीयक द्वितीय (९१४-९७३ ई०)
(७) वाक्पतिराज मुञ्ज (९७३-९९७ ई०)
(८) सिन्धुराज (सिधुल) (९८७-१०१० ई०)
(९) राजा भोजदेव (१०१५-१०५५ ई०)

सातवे, आठवे व नवे राजा अत्यन्त प्रसिद्ध साहित्यप्रेमी हुए है और उन्होने नामी विद्वानो, पडितो एव कवियो को आश्रय दिया था।

उदैपुर प्रशस्ति मे परिमारवशीय राजाओ का वर्णन मिलता है। सातवे राजा वाक्पतिराज मुञ्ज का वर्णन करते हुए लिखा है कि १६ वार इन्होंने चालुक्यवशीय राजा तैलपदेव पर आक्रमण किया था। १६वी वार युद्ध वर्धा नदी पर हुआ। राजा वाक्पतिराज मुञ्ज ने इस युद्ध मे तैलपदेव को पकड़ लिया और कैद करके उज्जयिनी ले आए। उदारता मे आकर उज्जयिनी मे उसको मुक्त कर दिया। तैलवदेव अपमान को नही भूला। मुक्त होने के कुछ दिन वाद उसने फिर युद्ध प्रारम्भ किया। राजा वाक्पतिराज ने अपने मत्री रुद्रादित्य की राय न मानते हुए अपनी सेना को गोदावरी पार उतार दिया। युद्ध मे राजा मुञ्ज का पराभव हुआ। तैलपदेव इनको पकड़कर अपनी राजधानी ले आया और वहाँ प्रथम तो अपनी वहिन मृणालवती का शिक्षक वनाया परन्तु वाद मे यह पता चलने पर कि मत्री रुद्रादित्य राजा मुञ्ज को कैद से भगाने के प्रयत्न कर रहा है मुञ्जदेव का सिर कटवा दिया गया।

मुञ्जराज जिस प्रकार के शूर व युद्धकला मे निपुण थे उसी प्रकार सस्कृत के पडित, कवि तथा ग्रथकार थे। उनके यहाँ वहुत से संस्कृत कवि व पडित आश्रय पाते थे इस कारण से विद्वज्जन उन्हे कवि-मित्र और कवि-बाधव कहते थे।

धारा नगरी मे नैसर्गिक सौन्दर्य होने से वहाँ भी वे महल वनवाकर रहने लगे थे। कई स्थानो मे मुञ्जराज ने घाट, ताल, मन्दिर और धर्मशाला बनवाए थे। उज्जयिनी मे पिशाचमोचन घाट उन्ही का बनाया हुआ है। नर्मदा के किनारे ओंकारेश्वर एवं महेश्वर मे भी उनके मन्दिर, ताल इत्यादि वर्तमान है।

उज्जयिनी के महत्त्व की कमी शनैः शनैः राजा मुञ्ज के काल से ही प्रारभ होने लग गई थी और राजा मुञ्ज के ही समय से अनादि काल से चला आया उज्जयिनी का साहित्यिक स्थान धारा नगरी को जाने लगा था। राजा मुञ्ज के

कवि पद्मगुप्त ने राजा मुञ्ज के भाई सिंधुराज की प्रशंसा में नवसाहसांक चरित्र लिखा है और उसमें धारानगरी की जो प्रशंसा लिखी है उससे पता चलता है कि धारानगरी उन दिनों कितनी प्रसिद्धि पा चुकी थी। परिमल ने लिखा है—

विजित्य लंकामपि वर्तते या यस्याश्च नायात्यलकाऽपि साम्यम्।
जेतु पुरी साप्यपरास्ति यस्या धारेति नाम्ना कुलराजधानी॥

इसी ग्रंथ में राजा मुञ्ज की भी प्रशंसा पाई जाती है। विद्वत्प्रिय एवं सरस्वतीभक्त राजा का वास्तव में उस समय सरस्वती कल्पलता का कंठ कहा जाता था और इनकी मृत्यु पर कहा गया था कि —

गते मुञ्जे यशःपुञ्जे निरालम्बा सरस्वती॥

इनके समय में प्रसिद्ध कवि एवं शास्त्रकार निम्नलिखित थे ऐसा धार रियासत के इतिहास में लिखा है —

(१) धनपाल—इनका जीवन चरित मेरुतुगाचार्य ने भी दिया है। जैन ग्रंथों में इनको राजा भोज के समय में माना है। परन्तु धार के इतिहास में इनको राजा मुञ्ज के समय में बताया गया है और इनको मुञ्जराज का कुल पुरोहित बतलाया है। इनकी कन्या इला और बहिन अवन्तिसुन्दरी दोनों ही विदुषी थीं। अवन्तिसुन्दरी के अलंकारशास्त्र एवं कोष के प्रमाण उद्धृत किए जाते हैं। धनपाल के रचित 'ऋषभपंचाशिका' और 'तिलकमंजरी' के अतिरिक्त पालीभाषा का कोष "पाइयलच्छि" अथवा "देशी-नाममाला" प्रसिद्ध है। इनका छोटा भाई शोभन मुनि भी विद्वान् था और राजदरबार में प्रतिष्ठित हुआ था।

(२) धनञ्जय—का 'दशरूप' नाम का नाट्यशास्त्र ग्रंथ सर्वमान्य है। इसकी टीका 'दशरूपावलोक' नाम से धनञ्जय के छोटे भाई धनिक ने की है। धनिक ने एक दूसरा ग्रंथ 'काव्यनिर्णय' भी लिखा है। धनिक का पुत्र वसन्ताचार्य भी विद्वान् था। राजा मुञ्ज ने वि० सं० १०३१ में इसको एक ग्राम दिया था ऐसा एक ताम्रपत्र से सिद्ध होता है।

(३) अमितगति—का "सुभाषितरत्नसन्दोह" नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। यह एक जैनमुनि थे।

(४) भट्ट हलायुध—यह राजा मुञ्ज के राज्य के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त थे। भट्ट हलायुध की "राजव्यवहारतत्व" नाम की पुस्तक प्रसिद्ध है जिसमें दीवानी, फौजदारी कार्यप्रणाली पर प्रकाश डाला है। इनकी पिंगल छन्द सूत्रों पर टीका "हलायुध वृत्ति" के नाम से भी प्रसिद्ध है।

न जानें कितने पंडित, विद्वान् और कवि राजा मुञ्ज के आश्रित रहे थे परन्तु बहुतों की कृतियों का तो आज तक पता ही नहीं चला।

(२५) राजा भोजदेव

राजा मुञ्ज के छोटे भाई सिन्धुराज की प्रशंसा में 'नवसाहसांकचरित' परिमल कवि ने लिखा था। 'नवसाहसांक' के पुत्र राजा भोज का संस्कृत साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। सम्राट विक्रमादित्य के अनन्तर भरतखण्ड में यदि उतना कोई कीर्तिशाली और सर्वविश्रुत राजा हुआ है तो वह राजा भोज है। इनके समय में संस्कृत साहित्य का गौरव धारा नगरी को प्राप्त हुआ और जहाँ तक उज्जयिनी का सम्बन्ध है प्राचीन साहित्यिक राजाओं में यह अन्तिम राजा है। धारा के अनन्तर मालवा की राजधानी माण्डू हुई और उज्जयिनी की साहित्यिक कीर्ति राजा भोज अपने साथ उज्जयिनी से सदा को लेते गए। राजा भोज के जीवन-चरित्र से सभी अच्छी तरह परिचित हैं इसलिए उनके जीवन की छोटी छोटी बातें यहाँ लिखना उचित प्रतीत नहीं होता। चालुक्यवंशी राजाओं से उनके कई युद्ध हुए। गांगेयदेव से भी युद्ध हुआ, इसके विजय के स्मारक में एक लौहस्तम्भ खड़ा किया था। अन्तिम युद्ध में कल्चुर के भीमदेव, चेदिराज कर्णदेव एवं कर्नाटक देश के राजा ने सम्मिलित शक्ति से भोजदेव के राज्य पर हमला किया जिसमें भोजदेव का पराभव हुआ और उनकी मृत्यु भी हुई।

इस पराभव से उनकी राज्य की सीमा की अधिक हानि नही हुई थी। धार रियासत के इतिहास मे लिखा है कि बुन्देलखंड व बघेलखंड को छोड़कर नर्मदा के उत्तर का सारा भारत और दक्षिण मे गोदावरी तक सारा देश भोजदेव के अधीन रहा।

प्राचीन सस्कृत ग्रंथो मे भोजदेव को "त्रिविध-वीर-चूडामणि" की उपाधि से विभषित किया गया है। वे रणवीर, विद्यावीर और दानवीरों के शिरोमणि थे। उनके आश्रित १४०० पडित थे। मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' मे लिखा है—

यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम्॥

भोजदेव के आश्रित विद्वानो का जो ऐश्वर्य दिखाई देता है वह सब भोजराज की दानलीला है।

अलवेरूनी ने भी भोजराज की अत्यधिक प्रशसा की है। भोजराज के समय मे ही महमूद गजनवी के भारतवर्ष पर धावे प्रारंभ हो चुके थे और महमूद के साथ अरवी भाषा का विद्वान् अलवेरूनी भी भारत आया था। एक विदेशी शत्रु के पडित की प्रशंसा वास्तव मे भोजदेव की अतुल कीर्ति की सूचक है।

वाङमय का कोई विभाग ऐसा नही जिस पर उनकी ग्रथरचना न हो। काव्य को छोड़कर अनेक शास्त्रों पर राजा भोज के लिखित ग्रंथ आज भी विद्यमान है। धार के इतिहास मे लिखा है कि जर्मन पडित आऊफ्रेक्ट अपनी ग्रंथ-सूची मे २३ ग्रंथ राजा भोज के मानता है। विषयसूची के अनुसार उनके ग्रंथ 'धार रियासत के इतिहास' मे इस प्रकार दिए गए है :—

(१) काव्य .. .. .. चपूरामायण कांड ५, महाकाली-विजय; विद्याविनोद, शृंगारमञ्जरी, कई प्राकृत के स्तोत्र।

(२) अलकार, कोष, व्याकरण .. . सरस्वती-कठाभरण, नाममाला, शब्दानुशासन, सुभाषितप्रबन्ध, सिद्धान्त-सग्रह।

(३) धर्मशास्त्र .. .. .. पूर्तमार्तण्ड, दण्डनीति, व्यवहार-समुच्चय एव चारुचर्या।

(४) योगशास्त्र .. .. . राजमार्तण्ड (यह पातञ्जलियोगसूत्र पर टीका है)।

(५) शिल्पशास्त्र .. .. .. युक्तिकल्पतरु और समरागण सूत्रधार।

(६) ज्योतिषशास्त्र .. .. .. १. राजमृगाककरण, २. राजमार्तण्ड, ३. विद्वज्जन-वल्लभ, ४. प्रश्नज्ञान, ५. आदित्यप्रताप सिद्धान्त।

(७) वैद्यशास्त्र .. .. .. १. विश्रान्त-विद्या-विनोद, २ आयुर्वेद-सर्वस्व।

(८) पशुचिकित्सा .. .. . शालिहोत्र।

सस्कृत-साहित्य मे भोजदेव का स्थान वहुत ही ऊँचा था। परन्तु शिल्पशास्त्र मे भी उनकी विद्या कम नही थी। 'युक्ति कल्पतरु' मे शिल्प विद्या के अतिरिक्त जहाज वनाने की क्रिया पर भी अच्छा प्रकाश डाला है और डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन शिप विल्डिग' मे 'युक्तकल्पतरु' के श्लोको को आदर के साथ उद्धृत किया है। श्री राजेन्द्रलाल मित्र ने लिखा है कि यह ग्रथ भोजदेव का ही विरचित है।

राजा भोज पर कई ग्रथ लिखे जा चुके है। इन ग्रथो मे हिन्दी मे श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ का 'राजा भोज' और अग्रेजी मे श्रीयुत अध्यापक श्रीनिवास अभ्यकर एम. ए., (अन्नमलाई विश्वविद्यालय से प्रकाशित) का 'भोज राजा' प्रमुख है। परन्तु भोज के काव्य की आलोचना का इन दोनो मे से किसी मे जिकर नही है।

राजा भोज के वनाए १०४ मन्दिर वताए जाते है जिनमे केदारेश्वर, रामेश्वर, सोमनाथ, सुण्डीर, काल, अनल और रुद्र के मन्दिर प्रसिद्ध थे। धार मे सरस्वती का मन्दिर जिसमे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय वर्षो तक रहा, राजा भोज का ही वनाया हुआ था। कातत्र व्याकरण के दो अहिफन इस विद्यालय मे पत्थरो पर लगे हुए मिले है। उज्जयिनी मे महाकाल के मन्दिर मे भी एक ऐसा अहिफन खुदा हुआ है।

प्राचीन उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ महान् व्यक्ति

राजा भोज का सबसे प्रसिद्ध काय भोजपुर झील का निर्माण करना था। भोज के समय के वडे दक्ष इन्जीनियरो ने वेतवा नदी की घाटियो म २५० वर्गमील के क्षेत्रफल में यह झील वनाई थी। यह झील वतमान भोपाल से २० मील की दूरी पर पहाडो के बीच में थी। भोपाल—'भोज-पाल' का अपभ्रंश ही है। भोपाल स कालियाखेडी सडक इसी झील के अवशिष्ट खडहरो में से जाती है। राजा भोज नाव में बैठकर इस झील मे प्रात हवाखोरी को जाया करते थे। इस झील के कारण वेतवा में कभी वाढ नही आती थी।

राजा भोज के ८०० वर्ष बाद माडू के सुलतान हुसेनशाह ने इस झील के बाँधो को तुडवाया और असख्य मजदूरो को लगाकर तीन साल मे इस झील का पानी निकलवा दिया। वर्षा पानी रहने के कारण यहा की आवहवा मे गर्मी नही रही और जहाँ पहिले झील थी वहा गहूँ की खेती अच्छी होने के कारण कई अच्छे अच्छे ग्राम और नगर बस गए है। कर्नल किनकेड को इस झील के वास्तविक स्थिति के पता लगाने में कई वर्ष लगे थे।

राजा भोज के रचित काव्य ग्रथो और उनके काव्यज्ञान का परिचय कराना व्यर्थ है क्योकि इस विषय में कई ग्रथ छप चुके है। यहाँ हम केवल उनके शिल्पज्ञान के विषय में ही कुछ उल्लेख करना अधिक समीचीन समझते है।

शिल्पज्ञान विषयक राजा भोज का रचा हुआ प्रसिद्ध ग्रथ 'समरागण सूत्रधार' गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, वडौदा स दो भागो म प्रकाशित किया गया है। इसमे ८३ अध्याय है। प्रारभ म शिवजी की इस प्रकार प्रार्थना है—

देव स पातु भुवनत्रयसूत्रधारस्त्वा बालचन्द्रकलिकाकितजूटकोटि ।
एतत्समस्तमपि कारणमन्तरेण कात्स्न्र्यादसूत्रितमसूत्र्यत येन विश्वम्॥

(तीनो लोको को वनानेवाला वह कारीगर जिसकी जटा चन्द्रमा की कला से शोभित है और जिसने यह सारा जगत बिना कारण और बिना नक्शे के ही पूरी तौर से बना डाला—तुम्हारी रक्षा करे।)

एक अध्याय में भूमि की परीक्षा के तरीके वतलाकर फिर नगर, प्रासाद, आदि के निर्माण की विधियाँ बताई है।

इकतीसवाँ अध्याय महत्वपूर्ण है। यह "यत्रविधानाध्याय" है। अनेक यत्र बनाने के सिद्धान्त वताए गए है। यत्र की परिभाषा यह है —

यदृच्छया वृतानि भूतानि स्वेन वर्त्मना। नियम्यास्मिन नयति यत् तद् यत्रमिति कीर्तितम्॥

(अपनी इच्छा से अपने रास्ते पर चलते हुए भूतो [पृथ्वी, जल आदि तत्वो] को जिसके द्वारा नियम में बाँधकर अपनी इच्छानुसार चलाया जाय उसे यत्र कहते है।)

आगे वताया है कि यत्र म जल, अग्नि, पृथ्वी और वायु इन चारो का ठीक तौर से, यथास्थान रखना ही उसके चार तरीके है। इन् चारो तत्वो का आश्रय होने से ही आकाश की भी उसम आवश्यक्ता होती है। जिन लोगो ने पारे को इन तत्वो से भिन्न वताया है वे ठीक तौर से नही समझ है। वास्तव म पारा पृथ्वी का ही भाग है और जल, वायु और तेज के कारण ही उसमें शक्ति उत्पन्न होती है।

यत्रो के चार प्रकार के भेद बताए है। (१) अपने आप चलनेवाला, (२) एक बार चलाने से फिर अपने आप चलनेवाला, (३) दूर से गुप्त शक्ति द्वारा चलाया जानेवाला और (४) पास खडे होकर चलाया जानेवाला। इनमे अपने आप चलनेवाला यत्र अन्य तीन यत्रो से श्रेष्ठ है।

यत्रो के द्वारा बनी हुई वस्तुओ का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यत्र लगा हुआ हाथी चिंघाडता हुआ और चलता हुआ प्रतीत होता है। इसी प्रकार तोते आदि पक्षी भी ताल पर नाच और बोलकर देखनेवाले को आश्चर्य म डालते है, तथा पुतली, हाथी, घोडा, अथवा बन्दर अपने अगो का सचालन कर लोगो को प्रसन्न कर देते है।

इन यत्रो के द्वारा भूचरो का आकाश म सञ्चार और आकाश सचारियो का भूमचार, जल म अग्निदर्शन, अग्नि में जलदर्शन, नीचे से पाचवा मजिल (तल) तक शय्या का चला जाना (lift), लकडी की पुतली का दीपको के पास

जाकर दीपकों में यथाविधि तेल डालकर लौट आना, यत्र-निर्मित हाथी के द्वारा विपुल जलपान, यत्र (pump) द्वारा वावड़ी कूओं में से जल निकालकर खेतो मे जल देने की पूरी पूरी विधियों का वर्णन किया है।

आकाशचारी विमानो के निर्मित करने की विधि वतलाई गई है। विमान-निर्माण मे रसराज पारद (पारा) का प्रधान उपयोग वताया है। पारद मे विलक्षण उड़ने की एक विशिष्ट शक्ति पाई जाती है। पारे को एक हलके काष्ठ-निर्मित पक्षी के ढाँचे मे कुभ मे वन्द करके तप्त किया जाय तो उसके शक्ति से विमान आकाश सञ्चारी हुआ करता है ऐसा लिखा हुआ है। दुष्ट गज को भय वतलाने के लिए भी रसयत्र के द्वारा सिंहनाद कराए जाने की विधि वतलाई है।

पुस्तक के हिन्दी अनुवाद की अत्यन्त आवश्यकता है। पुस्तक पढने से प्रतीत होता है कि यत्र चलाने मे जो स्थान आज स्टीम (Steam) और पैट्रोल का है वही स्थान प्राचीन भारत मे पारद (Mercury) का था। जो यत्र आज उपस्थित है उनसे भी अधिक विलक्षण यत्र प्राचीन भारत की शोभा वढाते थे, ऐसा 'अशुबोधिनी शास्त्र' और 'अगस्त्यसहिता' के अनन्तर राजा भोज के 'समरांगण सूत्रधार' पढने से प्रतीत होता है। राजा भोज ने युक्ति कल्पतरु और 'समरागण सूत्रधार' की रचना से प्राचीन भारत की वास्तु और शिल्प विद्या को अजर और अमर वना दिया है।

(२६) महाकात्यायन

'अगुत्तर निकाय' मे भगवान् वुद्ध ने कहा था कि "सक्षिप्त प्रदेश का विस्तारपूर्वक अर्थ करनेवाले मेरे जितने भिक्षु श्रावक है उनमे महाकात्यायन श्रेष्ठ है।"

उज्जयिनी के महाराज चडप्रद्योत के पुरोहित के लड़के का नाम महाकात्यायन (या महाकाञ्चन) था। श्री धर्मानन्द कोशवी ने मालवमयूर के चैत्र १९८२ के अक मे महाकात्यायन की जीवनी लिखी है।

काचन अपने गोत्रनाम 'कात्यायन' से प्रसिद्ध हुए है। कहते है कि उनके शरीर की कान्ति सोने की होने के कारण उनका नाम 'काचन' पड़ा था। महाराज चण्डप्रद्योत वुद्ध-दर्शन के लिए अतीव उत्सुक थे क्योकि उन दिनो सर्वत्र बुद्ध भगवान् की कीर्ति फैल रही थी।

उन्होने वुद्ध भगवान् को वुलाने के लिए महाकात्यायन को प्रव्रज्या सन्यास लेने के लिए अनुमति दी। चुने हुए सात मनुष्यो को लेकर महाकात्यायन बुद्ध के पास आया और धर्मोपदेश श्रवण करके अपने सात साथियो के साथ अर्हतपद को प्राप्त हुआ।

भगवान् वुद्ध के प्रसिद्ध शिष्यो मे महाकात्यायन की गणना है। परन्तु किसी कारणवश भगवान् बुद्ध उज्जयिनी नही आ सके। महाकात्यायन को उज्जयिनी वापिस आने की आज्ञा मिलने पर वह उज्जयिनी चले आए। महाराज चण्ड प्रद्योत ने उनका वडा आदर सत्कार किया।

रास्ते मे 'तेल एनालि' नामक शहर मे इन लोगो को कोई भिक्षा नही मिली थी। यह सुनकर एक व्यापारी की दरिद्र कन्या को वड़ा दु ख हुआ। उसके सौन्दर्य की और लम्वे केशों की शहर मे वड़ी ख्याति थी। एक धनिक की कन्या अल्पकेशा थी। वह दरिद्र कन्या के केशो को एक सहस्र कार्पापण मे लेना चाहती थी। परन्तु स्वाभाविक सौन्दर्य की वस्तु होने के कारण उसने केश नही वेचे।

जव महाकात्यायन के सदृश भिक्षु को शहर मे भिक्षा न मिलने की वात सुनी तो उस दरिद्र कन्या ने अपने केश काटकर दासी को वेचने को दे दिए। दासी जव धनिक कन्या के पास लाई तो उसने केवल आठ कार्पापण ही दिए। इन आठ कार्पापण को लेकर शहर के नाम वचाने के लिए उस दरिद्र कन्या ने महाकात्यायनादि को भिक्षा का प्रवन्ध किया था।

जव महाराज चण्डप्रद्योत ने यह कथा सुनी तो मंत्री को भेजकर उस दरिद्र कन्या को वुलाया और अपनी पटरानी वनाया। इस रानी से चण्डप्रद्योत को पुत्र हुआ। इस कन्या के पिता का नाम 'गोपालक' था। महाराज चण्ड प्रद्योत ने अपने पुत्र का नाम भी गोपालक रखा। इस तरह महाकात्यायन के प्रभाव से एक दरिद्र कन्या उज्जैन की पटरानी हुई थी।

इस रानी का नाम ही 'गोपाल माता देवी' पड़ गया था। इसने फिर 'काञ्चन-वनोद्यान' में महाकात्यायन के लिए एक विहार बनवाया। परन्तु बुद्ध-दर्शन सुलभ होने के कारण कात्यायन अधिकतर गंगा-यमुना प्रदेश में चले जाते थे।

'मज्झिमनिकाय' के 'मधुपिंडक', 'महाकच्चान' 'भद्देकरत्त' और 'उद्देस विभंग' इन सुत्तों में महाकात्यायन ने भगवान् बुद्ध के संक्षिप्त उपदेशों का अर्थ विस्तारपूर्वक लिखा है। 'मधुरिय सुत्त' में मथुरा के राजा अवन्तिनाथ का कात्यायन बुद्ध भगवान की शरण में किस प्रकार ले आए इसका वर्णन है।

डाक्टर विनरनान्ज के मत से 'नेत्तिपकरण' और 'पेटकोपदेश' भी महाकात्यायन के बनाए हुए बताए जाते हैं। 'पेटकोपदेश' में 'पिटकों' के विद्यार्थियों को आदेश दिए गए हैं।

(२७) इसिदासी

"परमत्थदीपनी" में लिखा है कि उज्जैन के उत्तम कुल के पवित्र विभवसम्पन्न नाम के सेठ के घर में इसिदासी ने जन्म लिया था। उसने इसिदासी का व्याह एक बड़े अच्छे कुल के सेठ के लड़के से किया। इसिदासी अत्यन्त पतिव्रता रही परन्तु पति ने घृणा करके उसका त्याग किया। सास और श्वसुर के अनुरोध से इसिदासी फिर उज्जैन पिता के पास रहने लगी। पिता ने उसका व्याह फिर किसी अन्य पुरुष के साथ कर दिया परन्तु दासीभाव से रहते हुए भी इसिदासी वहाँ से भी निकाली गई। तीसरी शादी के अनन्तर भी वही हाल हुआ। उसके अनन्तर संसार त्याग और प्रव्राजिका की ओर इसिदासी की प्रवृत्ति हुई। बहुश्रुत शील सम्पन्न थेरी जिनदत्ता के आगमन पर इसिदासी ने बौद्ध धर्म में प्रविष्ट होने की इच्छा प्रकट की। पिता ने स्नेहवश पहले तो रोकने का प्रयत्न किया परन्तु दृढ़ संकल्प देखकर उसे निर्वाण प्राप्त करने का आदेश दिया। संन्यासिनी (थेरी) होकर सारी विद्याओं में पारंगत होकर उस काल की प्रमुख बौद्ध थेरियों में इसिदासी की गणना हुई। 'थेरीगाथा' में इसिदासी की सुन्दर पाली कविता (रचना) दी हुई है। उस कविता में इसिदासी ने अपने पूर्वजन्मों का विस्तृत हाल दिया है, जिसके कारण इस जन्म में उसको सच्चरित्र होने पर भी अनेक यातनाएँ भोगनी पड़ी थीं।

(२८) अभय, (२९) अभयमाता और (३०) अभयत्थेरी

श्री वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में लिखा है कि उज्जयिनी की वेश्याएँ भी आर्यप्राय और पवित्र थीं।

आर्यप्राया शुचय आवन्तिकाः।

चारुदत्त नाटक में पवित्र वेश्याओं में अग्रिणी 'वसन्तसेना' का नाम आज सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुका है। बौद्धकाल में ऐसी ही वेश्या पद्मावती के नाम से उज्जैन में रहती थी। धम्मदास ने 'परमत्थदीपनी' में इसको 'नगरशोभिनी' लिखा है। राजा बिम्बिसार ने उसके रूप, गुण और सम्पत्ति के विषय में बहुत सुना था। उस पर मोहित होकर राजा ने पुरोहित से उज्जैन यात्रा का प्रबन्ध करने के लिए कहा। पुरोहित ने कुम्भीर नाम के यक्ष को बुलाया और कुम्भीर राजा को उज्जैन ले आया। राजा ने पद्मावती के साथ संभोग किया और उसके कुक्ष में गर्भ देखकर उसको यह कहते हुए अपनी मुद्रिका दी कि अगर तेरे पुत्र उत्पन्न हो तो मेरे पास ले आना। पुत्र होने पर पद्मावती ने उसका नाम अभय रखा। और सात वर्ष की अवस्था होने पर राजा के पास ले गई। राजा अभय को देखकर पुत्र प्रेम से विह्वल हो गया और राजगृह में बड़े मान सत्कार से पालन-पोषण किया। अभय बड़ा होने पर बौद्ध भिक्षु हुआ। उसकी माता ने भी पुत्र के मुख से बौद्धधर्म सुनकर संन्यास ग्रहण किया, और अभयमाता के नाम से प्रसिद्धि पाई। आत्मदृष्टि लाभ करके अरहत का परमपद प्राप्त किया।

अभयमाता के साथ ही उनकी सखी अभयत्थेरि ने भी सन्यास ग्रहण किया। अभयत्थेरि ने उज्जैन के उत्तम कुल में जन्म ग्रहण किया था। और अभयमाता के साथ अन्तिम दिवस राजगृह में बिताए। दोनों की रचनाएँ थेरीगाथा में दी हुई हैं। अभयत्थेरि ने बुद्ध के दर्शन प्राप्त करके अरहत पद प्राप्त किया।

(३१) उवट

उवट ने शौनक के ऋक्प्रातिशाख्य पर भाष्य लिखा था और अवन्तिका (उज्जैनी) में शुक्ल यजुर्वेद पर मंत्रभाष्य लिखा था। यह मंत्रभाष्य राजा भोज के समय में लिखा गया था, और इसमें अपूर्व विद्वत्ता प्रदर्शित की गई है

श्री व्रजकिशोर चतुर्वेदी

सवत् १७७९ (सन् १७२३ ई०) मे श्री भीमसेन दीक्षित ने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पर सुधोदधि या सुधासागर नाम की टिप्पणी मे यह लिखा था कि मम्मट के ही भाई कैयट और उवट (औवट) थे। मम्मट ने ही अपने भाइयों को शिक्षा दी थी जिनमे से कैयट ने पतञ्जलि के महाभाष्य पर "प्रदीप" नाम की व्याख्या लिखकर प्रसिद्धि पाई और उवट ने वेद पर मत्रभाष्य लिखकर प्रसिद्धि पाई थी।

श्रीमान् कैयट औवटो ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतः॥

थियोडोर औफ्रेक्ट ने 'कैटेलोगस कैटेलोगोरम्' के प्रथम भाग पृष्ठ ४३२ पर प० भीमसेन के इस कथन को मिथ्या वतलाया था। औफ्रेक्ट का समर्थन करते हुए श्रीयुत प्रोफेसर काणे और डॉक्टर डे का भी यही मत है। 'साहित्यदर्पण' की अग्रेजी भूमिका मे प्रोफेसर काणे ने तो यह भी लिखा है कि मम्मट, कैयट, उवट के नामो के नादसाम्य के ही कारण तीनो के भाई होने की कथा चल निकली थी। वास्तव मे यह कथा सही नही है।

प्रोफेसर गजेन्द्रगड्कर ने 'काव्यप्रकाश' की अग्रेजी भूमिका मे इन मतो का खण्डन करते हुए पं० भीमसेन के मत का समर्थन किया है। उनका तर्क यह है कि तीनो नाम विशेषत काश्मीरी है। अल्लट, अद्भट, उवट, औवट, कैयट, जैयट, भल्लट, रुद्रट, लोल्लट--सभी काश्मीरी नामकरण सूचित करते है।

कैयट ने अपने पिता का नाम जैयट लिखा है यथा--

महाभाष्यार्णवावारपारिणि विवृतिप्लवम्। यथागमं विधास्येऽहं कैयटो जैयटात्मजः॥

उवट ने अपने मंत्रभाष्य मे लिखा है--

ऋष्यादींश्च पुरस्कृत्य अवन्त्यामुवटो वसन्। मंत्रभाष्यमिदं चक्रे भोजे राज्यं प्रशासति॥

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना। मंत्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति॥

यहाँ पर स्पष्टतः उवट ने अपने पिता का नाम वजूट लिखा है। प्रश्न यह है कि क्या वजूट और जैयट एक ही थे?

लन्दन मे इण्डिया आफिस के पुस्तकालय मे सस्कृत हस्तलिखित पुस्तको की सूची जूलियस ऐगेलिग ने तैयार की थी। भाग १ पृष्ठ २९ पर वाजसनेयी-सहिता पर उवट के मत्रभाष्य की दो प्रतिलिपि वताई गई है (न० १८६ व १८७)। इन पर जो श्लोक लिखे पाए गए है उनमे एक पर भाष्यकार के पिता का नाम वजूट और दूसरे पर जैयट लिखा है। श्लोक ये है:--

(१) आनन्दपुरवास्तव्यजय्यटाख्यस्य सूनुना। उवटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः॥

(२) आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना। मंत्रभाष्यमिदं क्लृतं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः॥

सम्भव है जैयट और वजूट एक ही हो। और मम्मट, कैयट, उवट भाई ही हो। मम्मट ने काव्यप्रकाश मे उदात्त अलंकार के उदाहरण मे राजा भोज के दान की भी अत्यधिक प्रशंसा की है। इससे भी पं० भीमसेन दीक्षित का मत सही प्रतीत होता है। क्योकि यह प्रशसा मम्मट ने अपने भाई उवट से सुनी होगी जो राजा भोज के आश्रय मे रहते थे।

सारांश यह कि तीनो भाई काश्मीर के आनन्दपुर ग्राम के रहनेवाले थे। काशी मे विद्याध्ययन करने के अनन्तर उवट ने उज्जैन मे निवास किया और यहीं मत्रभाष्य लिखकर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। साहित्याचार्य प० विश्वेश्वरनाथ रेउ का यह मत कि उवट गुजरात मे आनन्दपुर के रहनेवाले थे और वहाँ से उज्जैन चले आए थे, सही नही है। आनन्दपुर काश्मीर के अन्तर्गत था, और उवट काश्मीर से ही आए थे।

(३२) महाराज चण्डप्रद्योत

उज्जयिनी के पूर्व कालीन इतिहास मे महाराज चण्डप्रद्योत का काल कई दृष्टियो से अत्यन्त महत्त्वपर्ण है। कवि कालिदास ने भी इस काल का स्मरण करके 'मेघदूत' मे लिखा था.--

प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।

अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तंभमुत्पाटच दर्पादित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धनभिज्ञः॥

प्राचीन उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ महान् व्यक्ति

(प्रद्योत की कथा—वासवदत्ता को वत्सराज उदयन ने हरण किया था। उसी प्रद्योत के यहाँ सुनहरी (या सोने के?) तालवृक्षा का वन भी था। यहीं नलगिरि हाथी ने स्तम्भ को उखाड़कर भ्रमण किया था। यह कथा सुना-सुनाकर वहाँ क वृद्ध इतिहासज्ञ कथुजनो को प्रसन्न किया करते ह।)

'कथासरित्सागर' म यह हाल बडे मनोहर रूप से वणन किया गया ह। राजा महेन्द्रवमा उज्जन के राजा थे। उनक पुत्र जयसेन और इन्हीं जयसेन क पुत्र महासेन बताए गए हैं। महासेन का दूसरा नाम प्रद्योत था। महासेन ने बडी भारी तपस्या की और देवी भगवती के ऊपर अपना मास काट काटकर हवन किया जिससे प्रसन्न होकर देवी ने इन्द्र के वज्र के समान अपना एक खड्ग और एरावत क समान एक बडा नलगिरि नाम हाथी दिया और कहा कि तूने बडा चण्डकम किया ह, इसलिए तेरा नाम चण्डमहासेन होगा। देवी यह कहकर अन्तधान हो गई कि अगारक-दैत्य की पुत्री अगारवती अति सुन्दरी कन्या महासेन को मिलेगी।

कालान्तर म चण्डमहासन ने अगारक को मारकर अगारवती स अपना ब्याह किया। जिसस उनके गोपालक और पालक दो पुत्र और एक चन्द्ररेखा के समान अत्यन्त रूपवती कन्या वासवदत्ता उत्पन्न हुई।

महासेन उसका विवाह वत्सराज उदयन स करना चाहते थे क्योंकि वे पाडववश म जन्मे थे। पुराणो की राज-वशावलियो के अनुसार उदयन क पिता का नाम शतानीक था। उदयन-पिता शतानीक, महाभारत के पश्चात्, पौरवकुल के शतानीक द्वितीय थे। ऐसे वश का छोड़कर अपनी प्यारी कन्या चण्डमहासेन और किसीको देने को तयार न थे। अन्य राजाओ में उस समय पाडव-वश ही सवश्रेष्ठ समझा जाता था।

राजा उदयन युवक थे। शतानीक की मृत्यु होते ही पान्चाल राजा आरुणि ने उदयन पर आक्रमण कर दिया और वत्सदेश का कुछ भाग हस्तगत कर लिया था। गद्दी पर बठते ही वत्सदेश इस प्रकार छोटा रह जाने से उदयन को निराशा हुई और मन्त्रियो पर राज छोड़कर स्वय हाथी पकडने क व्यसन में लिप्त हो गए। उदयन अपनी घोषवती वीणा बजाकर हाथियो की उद्दण्डता दूर कर उन्ह आसानी से पकड लेते थे।

राज्याभिषेक के अनन्तर उदयन एक बार विन्ध्याचल के वन म गए। चण्डमहासेन का उस समय महामत्री भरत-रोहक था। उसने उदयन को पास म आया जानकर, चण्डमहासेन की आज्ञा लेकर, उदयन को कैद करने के लिए बडा भारी षडयन्त्र रचा। एक यन्त्र का हाथी बनवाकर उसके भीतर बडे बडे वीरो को भरकर विन्ध्याचल के वन में छोड दिया। राजा उदयन क शिकारियो न उस हाथी की बडी प्रशसा की। दूसरे दिन कुछ गुप्तचरो को लेकर उदयन-सेना को छोडकर हाथी पकडने चल दिए। सन्ध्या हो चुकी थी, उदयन वीणा म तल्लीन हो गए थे। कृत्रिम और वास्तविक गज मे उनका भेद नहीं दिखाई दिया। अकेले उदयन को पाकर शस्त्रधारी सनिक कृत्रिम हाथी स निकल पडे और उदयन को कद करके उज्जयिनी ले आए। चण्डमहासेन ने उदयन का बडा सम्मान किया। वीणा सिखाने के लिए उदयन को वासवदत्ता का शिक्षक नियुक्त किया। दोनो का प्रेम-परिणय हो गया। तब तक उदयन के महामत्री यौगन्धरायण और पुरोहित वसन्तक भेष बदलकर उज्जयिनी आगए और छल स उदयन और वासवदत्ता दोनो को वत्सदेश ले गए। वहाँ गद्दी पर बठकर, वासवदत्ता को उदयन ने अपनी रानी बनाया और चण्डमहासेन ने भी प्रसन्न होकर अपने लडके गोपालक को भेजकर दोनो का विधिवत विवाह करा दिया। इस विवाह के कुछ काल अनन्तर यौगन्धरायण ने वासवदत्ता की सलाह से मगधराज-कुमारी पद्मावती से भी उदयन का ब्याह करा दिया, और चण्डमहासेन और मगध की सेनाओ की सहायता स पान्चाल देश जीतकर वत्सराज म मिला लिया।

'कथासरित्सागर' में उदयन और वासवदत्ता के पुत्र नरवाहनदत्त की और भी अधिक कीर्ति वर्णित की गई ह। बताया यह जाता ह कि सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' उज्जैन म ही लिखी थी। अन्य ग्रथकार उदयन के पुत्र का नाम वहीनर बताते ह। 'मत्स्यपुराण' ने लिखा ह कि उदयन और उसके प्रतापी पुत्र भरतवश के अन्त म होगे।

जो कुछ भी हो, उदयन वासवदत्ता की प्रणय-कथा ने सस्कृत साहित्य को एक जीवन प्रदान कर उज्जयिनी और उसके नरपति चण्डप्रद्योत की कीर्ति को ही अमर बना दिया ह। सस्कृत साहित्य के प्राचीनतम नाटककार कविकुलगुरु

कालिदास के अनुसार भास, सौमिल्ल और कविपुत्र आदि हैं। वास्तव में कालिदास के समय में भास का यश अच्छी तरह फैला हुआ था। राजशेखर ने लिखा है कि भास का नाटक-संग्रह था और स्वप्नवासवदत्ता सबसे श्रेष्ठ नाटक था :—

भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्। स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥ (सूक्तिमुक्तावली)

भास के 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' नाटक में उदयन और वासवदत्ता के ऊपर लिखित प्रेम-परिणय कथा का वर्णन है। भास का दूसरा छह अंकों का 'स्वप्नवासवदत्ता' नामका नाटक है जिसमें वत्सराज उदयन की सार्वभौमत्व प्राप्ति के लिए मगधराज कन्या पद्मावती से विवाह की पूरी कथा दी गई है। भास का 'चारुदत्त' नाटक भी चण्डप्रद्योत के पुत्र पालक राजा की उज्जयिनी से सम्बन्धित है और शूद्रक का 'मृच्छकटिक' इसी 'चारुदत्त' का ही दूसरा परिवर्द्धित संस्करण समझा जाता है। बाण के 'हर्षचरित' में भी यह कथा मिलती है। और कई पाली ग्रंथों में भी यह कथा उद्धृत की गई है। 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' और 'विष्णुगुप्त' में भी यह प्रणयकथा किसी न किसी संक्षिप्त रूप में दिखाई है। ऐसा भी बताया जाता है कि भास ही संस्कृत भाषा में प्रथम नाटककार थे और संस्कृत नाटकों का सूत्रपात चण्डप्रद्योत की उज्जयिनी से ही हुआ है। बाद के नाटक भी इसीलिए उज्जयिनी से सम्बन्धित हैं। संस्कृत साहित्य और संस्कृत नाटक के इतिहास में महाराज चण्डप्रद्योत का महत्त्व इसीलिए अत्यन्त अधिक माना जाता है। हर्ष की 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' और कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' 'मालविकाग्निमित्र' और 'शकुन्तला' में कई स्थल पर 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'चारुदत्त' की छाया प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है।

'मृच्छकटिक' और 'चारुदत्त' नाटकों में महासेन के पुत्र पालक को दुराचार, कुनृप और बलमन्त्रिहीन लिखा है। पालक के पीछे अवन्ति का राज्य विजयाकुल में चला गया, ऐसा 'त्रैलोक्य-प्रज्ञप्ति' में लिखा है।

ऐतिहासिक दृष्टि—गौतम बुद्ध के काल में भारतवर्ष में चार महाराज ही श्रेष्ठ बताए जाते हैं। (१) उज्जयिनी के चण्डप्रद्योत महासेन, (२) मगध के श्रेणिक बिम्बसार, (३) कौशल के प्रसेनजित और (४) वत्स के उदयन।

'वीणावासवदत्ता' में निम्नलिखित राजाओं के नाम और भी बतलाए गए हैं परन्तु यह अधिक बलशाली प्रतीत नहीं होते :—

(१) अश्मकराज संजय, (२) माथुरराज जयवर्मा, (३) काशीपति विष्णुसेन, (४) अंगेश्वर जयरथ,
(५) मत्स्यराज शतमन्यु, (६) सिंधुनरेश सुबाहु, (७) पांचालराज आरुणि।

पाली ग्रंथों में चण्डप्रद्योत को 'चण्डपज्जोति' लिखा गया है और वे गौतमबुद्ध के समवयस्क ही बताए गए हैं। पाली ग्रंथों में चण्डप्रद्योत के पिता का नाम पुलिक या अनन्तनेमि बताया गया है। 'समन्त पासादिका' में बुद्धघोष ने प्रद्योत का जन्म कुछ और भी रहस्यमय बताया है परन्तु वह सही प्रतीत नहीं होता। पुराणों में चण्डप्रद्योत का शासन-काल २३ वर्ष ही बताया है परन्तु पाली ग्रंथों में ५२ वर्ष बताया गया है। श्रीयुत डाक्टर विमलाचरण लॉ एम० ए०, बी० एल०, पी-एच्० डी० ने हाल में ही 'पुरातन भारत में अवन्ती' एक छोटी पुस्तिका अंग्रेजी में लिखी है जो ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व विभाग से प्रकाशित की गई है। पाली ग्रंथों के आधार पर श्रीयुत् लॉ महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सूरसेन के राजा का नाम 'अवन्तिपुत्त' होने से उज्जयिनी और मथुरा राजकुलों में विवाह सम्बन्ध अवश्य मानना पड़ेगा। उत्तर पूर्व में अवन्ती राज्य वत्सराज की सीमा से भी मिलता हुआ था। उनके अनुसार राजा बिम्बसार अवन्ती नरेश प्रद्योत के मित्र थे। गौतम बुद्ध से उमर में वे ५ वर्ष छोटे थे और ५२ वर्ष राज करके बुद्ध निर्वाण के ८ वर्ष पूर्व उनके पुत्र अजातशत्रु ने बिम्बसार की हत्या करके राज हस्तगत कर लिया। जब इस हत्या का समाचार चण्डप्रद्योत ने सुना तो उन्होंने अजातशत्रु पर धावा करने की तैयारी प्रारंभ कर दी। चण्डप्रद्योत के धावे से भयभीत होकर अजातशत्रु ने राजगृह की रक्षा के लिए सारे प्रबन्ध किए परन्तु फिर चण्डप्रद्योत ने किसी कारण से अपना विचार छोड़ दिया।

पाली ग्रंथों में चण्डप्रद्योत को उग्रकर्मा, नयवर्जित, सिद्धान्त-रहित और नास्तिक बताया गया है।

प्राचीन उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ महान् व्यक्ति

चण्डप्रद्योत ने गौतम बुद्ध को उज्जैनी निमन्त्रित करने के लिए अपने राजगुरु के पुत्र कात्यायन को भेजा था। परन्तु बोधिसत्व उज्जैन न पधार सके। महाकात्यायन बुद्धदेव के प्रमुख शिष्यों में अत्यन्त प्रसिद्ध हुए हैं। उनके कारण चण्डप्रद्योत का नाम आदर से लिया जाता था। अवन्ती एवं सूरसेन देश में बौद्ध धर्म को फलाने में उनका ही श्रेय था। गौतम बुद्ध के अनन्तर बोधिसत्व की भाँति ही महाकात्यायन का सम्मान होता रहा। मथुरा नरेश को जो कात्यायन ने वर्ण-व्यवस्था के विरोध में उपदेश दिया था वह 'मधुरा-सुत्त' के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ और आज भी बौद्धधर्म विद्वता के एक उत्कृष्ट उदाहरण की भाँति उद्धृत किया जाता है। महाकात्यायन के उपदेशों के आधार पर अत्यन्त प्रसिद्ध "महानिद्देस" की रचना की गई थी। कात्यायन को 'कान्ना' या 'कच्चन' भी लिखा है। इनके जीवन चरित सम्बन्धी बातें हमने अन्यत्र लिखी हैं।

पाली ग्रन्थों में महाप्रसिद्ध वैद्य जीवक के उज्जैन आकर महाराज चण्डप्रद्योत की बीमारी हटाकर उनको स्वस्थ करने का वर्णन बड़ी बड़ी कथाओं के रूप में दिया गया है। कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित डा० गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अंग्रेजी ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ दी इण्डियन मेडीसिन' के तृतीय भाग में इनमें से कुछ वर्णन का अनुवाद पाली ग्रन्थों से किया गया है। अन्य ग्रन्थों में भी यही वर्णन मिलते हैं।

इन ग्रन्थों के आधार पर बताया गया है कि श्रेणीय बिम्बिसार के कुमार अभय के एक वेश्या से उत्पन्न पुत्र 'जीवक' को महाराज बिम्बिसार ने पुत्रवत मानकर पाला था। बड़े होने पर जीवक अपनी इच्छानुसार तक्षशिला विश्वविद्यालय में पढ़ने गए थे और वहाँ भारत के सिरमौर अध्यापक आत्रेय ने उनको सात साल आयुर्वेद पढ़ाकर दक्ष कर दिया था। अत्यन्त प्रतिभावान् होने के कारण उनको शीघ्र ही यशश्री प्राप्त हो गई। भारतवर्ष में जहाँ अन्य वैद्य निराश हो जाते वहीं जीवक बुलाए जाते थे। फलतः उनकी कीर्ति दिगन्त में व्याप्त हो गई।

एक बार उज्जयिनी के महाराज चण्डप्रद्योत पाण्डुरोग से बीमार पड़े। संसार प्रसिद्ध वैद्य बुलाए गए परन्तु उनके रोग को दूर नहीं कर सके। तब उन्होंने श्रेणीय बिम्बिसार को जीवक को भेजने की प्रार्थना की। आज्ञा मिलते ही जीवक उज्जैन आए। यहाँ आने पर उनको पता चला कि चण्डप्रद्योत का क्रूर स्वभाव है और वह ऐसे रस से घृणा करते हैं जिसमें घी या तेल की चिकनाहट हो। परन्तु ऐसा रस लिए बिना रोग दूर नहीं हो सकता। ऐसा रस लेते ही इनको वमन होगी। और स्वभाव से ही क्रोधित होने पर वमन होते ही, पता नहीं क्या क्रूर आज्ञा दे डालेंगे। क्रोध इतना है कि मृत्यु-दण्ड की आज्ञा भी असम्भव नहीं है।

ऐसा सोचते सोचते भारतीय वैद्यों के उज्ज्वल रत्न जीवक, महाराज चण्डप्रद्योत के यहाँ पहुँचकर कहने लगे कि "हे महाराज! हम वैद्य लोगों को जंगल में दूर दूर जाकर नाना प्रकार की जड़ी बूटी एकत्रित करनी पड़ती हैं। कोई जड़ी प्रातःकाल, कोई सायंकाल, कोई किसी समय, कोई किसी समय, लानी पड़ती हैं। इसलिए प्रथम तो कोई बहुत तेज वाहन का प्रबन्ध होना चाहिए और द्वितीय यह भी आज्ञा होनी चाहिए कि उज्जयिनी के किसी भी द्वार से किसी भी समय अन्दर आते या बाहर जाते हुए हमको कोई द्वारपाल, सैनिक या कर्मचारी रोकने न पाए"। -

महाराज ने वैसी ही आज्ञा कर्मचारियों को दे दी। और सारे वाहन भी उनको दिखलाने का आदेश दिया। उस समय द्रुतगतिवाले वाहनों में चार या पाँच वाहन उज्जयिनी में अत्यन्त प्रसिद्ध थे—

(१) उद्यनिका रथ—जिसको एक दास उद्यनिका ले जाता था। यह एक दिन में ६० योजन जाकर लौट आता था।
(२) नालागिरि—हाथी जो एक दिन में १०० योजन जाता और उतनी ही दूरी से वापिस भी आ जाता था।
(३) मुड़केशी (मंजुकेशी)—घोड़ी जो १२० योजन जाकर वापिस आ सकती थी, और
(४) तेलकर्णिका—घोड़ा जिसकी तेजी भी इतनी ही थी। (कहा कहीं इसको शेजकठी घोड़ी लिखा है)

उदनवत्तु' में पाँच वाहन लिखे हैं, रथ का नाम कक्का' और भद्रावती हथिनी भी लिखा है।

श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी

जीवक कभी किसी वाहन पर, कभी किसी वाहन पर, कभी किसी समय, कभी किसी समय, आते जाते बने रहे। कई दिवस व्यतीत होने पर रस तैयार करके राजमहल मे ले गए और महाराज को नाक बन्द करने को कहा। नाक बन्द करके रस पी लेने पर, जीवक शीघ्रता से चले गए और भद्रावती हथिनी लेकर कौशांवी भाग आए। महाराज चण्डप्रद्योत का जी मिचलाता रहा और थोडी देर के अनन्तर उन्होंने वमन करना प्रारंभ किया। तव उन्हे पता चला कि उनके आदेश के प्रतिकूल उनको किसी प्रकार के तेल मे मिलाकर औषधि देदी गई है, उसी समय जीवक को बुलाया गया परन्तु जीवक का पता कैसे लग सकता था? वह तो कौशावी पहुँच चुके थे।

महाराज ने रथ लेकर उघनिका दास को तुरन्त ही रवाना कर दिया। कौशांवी मे जीवक को उस दास ने आ घेरा। जीवक उस समय भोजन कर रहे थे। उस दास को भी खाने को कहा परन्तु उसने स्वीकार नही किया। परन्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध एक फल का थोडासा टुकड़ा उसको खिला ही दिया। फल खाते ही उस दास का सिर चक्कर खाने लगा। जब जीवक भोजन समाप्त करके राजगृह चलने को उद्यत हुए तब उस दास को वही फल और खिला दिया। जिससे वह तुरन्त ही अच्छा हो गया। हथिनी उसको वापिस देते हुए जीवक ने यह कहा कि औषधि जो महाराज चण्डप्रद्योत को दी थी वह अचूक थी। वमन होने के अनन्तर इतना समय हो चुका है कि उसने अपना प्रभाव दिखाया होगा और वह विलकुल अच्छे हो गए होगे और उनका क्रोध भी जाता रहा होगा। अब तुम उज्जयिनी लौट जाओ। निदान दास ने उज्जैन लौटकर सारी कथा जब महाराज को सुनाई तो वे वहुत प्रसन्न हुए और बहुमूल्य वस्त्र जीवक को भेट मे भेजे।

इस समय, अकस्मात् गौतम बुद्ध बहुत वीमार पड गए और सारे भारतवर्ष मे खलबली मच गई। आनन्द ने जीवक से कहा कि ससार के महापुरुष का उपचार असाधारण रीति से होना चाहिए क्योकि सारे ससार की दृष्टि आज इस ओर है। जीवक ने सोचा कि जुलाब दिए बिना वोधिसत्व अच्छे नही हो सकते परन्तु इनका शरीर इतना शक्तिशाली नही रहा है कि साधारण जुलाव दिया जा सके, इसलिए तीन कमल के फूल मगाए गए और उन कमल पुष्पो मे सुगधित औषधियाँ बड़े यत्न से बन्द करके एक एक फूल बुद्ध भगवान् को सूघने को दिया गया। एक फूल सूघने पर दस वार उदर स्वच्छ करने को जाना पडता था। परन्तु उससे किंचित् भी कष्ट या दुर्वलता प्रतीत नही होती थी। तीस वार मलशुद्धि के अनन्तर भगवान् बुद्ध बिलकुल स्वस्थ हो गए और सारे ससार मे जीवक की कीर्ति और भी उज्जवल हो गई।

भगवान् ने प्रसन्न होकर जीवक को आशीष दी। तव साहस करके जीवक ने भगवान् से एक वरदान मागा। भगवान् ने कहा जो तू कहेगा वैसी ही आज्ञा दूगा। तव जीवक ने कहा कि "भगवान् को एव भिक्षु भ्राताओ को, रद्दी चिथड़ो के कपडे जोड जाड़कर पहनते देखदेख मेरा चित्त थक गया है। इसलिए उज्जयिनी के महाराज चण्डप्रद्योत के भेजे हुए बहुमूल्य 'शिवेटचक' वस्त्र अव धारण करने की आज्ञा प्रदान की जावे और स्वय भी भगवान् यह वस्त्र धारण करने की कृपा करे। जीवक की बात मानते हुए उस दिन भगवान् ने यह आज्ञा प्रदान की कि जो भिक्षु चाहे वह प्रसन्नता से अच्छे वस्त्र पहिन सकता है। वस्त्रो के विषय मे जो कड़ी आज्ञा प्रारभ मे दी गयी थी, जीवक की प्रार्थना के अनुसार अब वह शिथिल की जाती है।

स्वय बुद्ध भगवान् ने भी जीवक का आभार मानकर दूसरे वस्त्र धारण किए और इस प्रकार महाराज चण्डप्रद्योत की उज्जयिनी के बने हुए सुन्दर वस्त्रो ने ससार मे उज्जयिनी की कीर्त्ति-पताका फहराकर बौद्ध भिक्षुओ के सामाजिक इतिहास मे महान् परिवर्तन कराया।

काव्य, साहित्य, नाटक, प्रेम-परिणय, प्रणयकथा, राजनीति, हस्तिशिक्षा, युद्ध-शिक्षा, मोने के ताल-बन, नाना प्रकार के वाहन, यत्र-शिक्षा, नीलागिरि हाथी, बौद्धधर्म, धर्म-प्रचार, काचन की भूमि, बहुमूल्य नाना प्रकार के बने वस्त्रो और सुन्दर वस्त्र-कला के लिए महाराज चण्डप्रद्योत और उज्जयिनी की कीर्ति सदा अजर और अमर बनी रहेगी।

(३३) स्वामी जदरूप

मुगल काल मे प्राचीन उज्जयिनी के गौरव का स्मरण दिलानेवाले स्वामी जदरूप का नाम मुगल बादशाहो के इतिहास मे कई बार आया है।
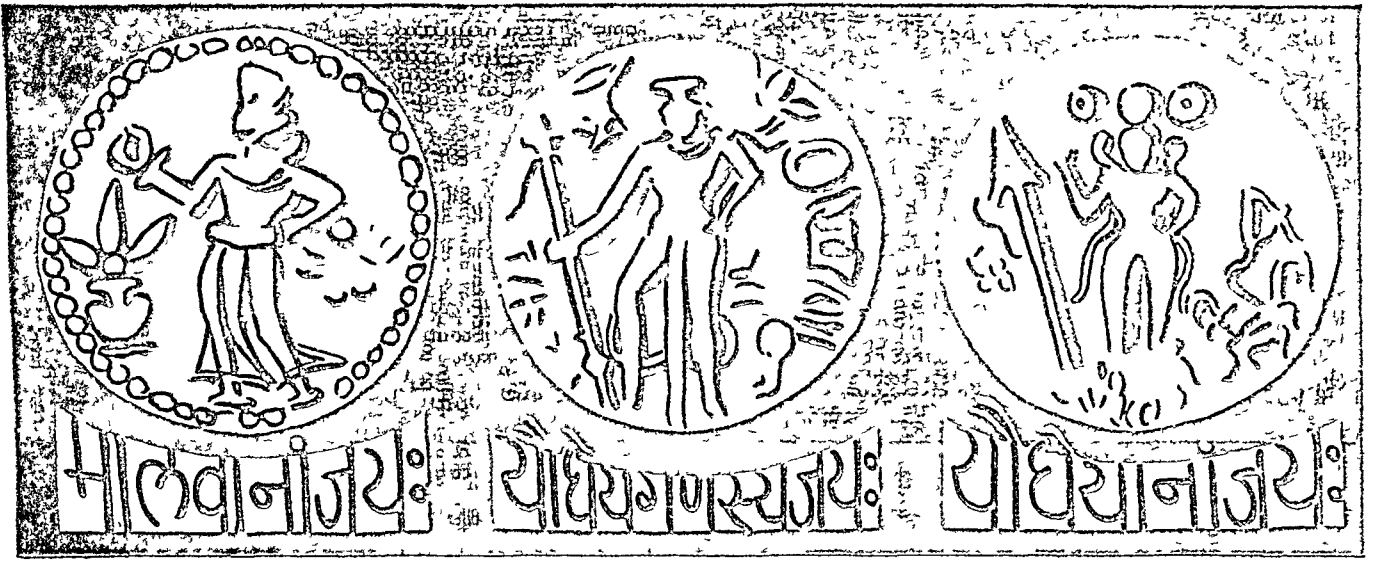
मालवों का संक्षिप्त परिचय

श्री कृष्णदेव एम्० ए०

प्राचीन भारत के इतिहास मे मालव जाति का वड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। वैय्याकरण पाणिनि (लगभग ८०० ई० पू०) के युग से लेकर कम से कम गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त (३५०-३८० ई०) के काल तक अर्थात् एक सहस्राब्दी से भी अधिक इस जाति की महत्ता अक्षुण्ण वनी रही। पजाब की आदिम निवासी यह जाति, राजपूताना, मध्यभारत, युक्तप्रान्त, लाटदेश तथा मालवा प्रभृति भारत के जिन विभिन्न प्रान्तो मे कालान्तर मे जा वसी, उन सभी प्रान्तो पर इसकी अमिट छाप पडी। मध्यभारत का मालवा प्रान्त इस जाति के चिरस्थायी प्रभाव का एक ज्वलन्त प्रतीक है। यूनानी सिकन्दर की विश्व-विख्यात वाहिनी के सामने जहाँ उत्तर-भारत की कितनी ही जातियो ने सिर झुका दिया, वहाँ कतिपय वीर जातियो के साथ इसने उससे अन्त तक लोहा लिया और उसे घायल कर उसके विशेष कोप का भाजन वनी। इस जाति ने देश-देशान्तर की खाक छानी पर अपनी टेक नही छोड़ी। भाग्य-चक्र के फेरे खाकर इसने स्थान परित्याग किया पर अपनी स्वतंत्रता तथा स्वाभिमान का परित्याग नही किया। एकता और स्वातन्त्र्य प्रेम का जो आदर्श इस जाति ने उपस्थित किया वह हमारे इतिहास का अत्यन्त गौरवपूर्ण अध्याय है।

मालवो की प्राचीनता के प्रमाण हमारे साहित्य और इतिहास मे प्रचुरता से मिलते है। प्राचीनकाल मे मालवो की चर्चा अधिकतर क्षुद्रको के साथ हुई देखी जाती है। इसका कारण यह था कि ये दोनो ही पंजाव की पडोसी शक्तियाँ थी और इनके पारस्परिक सम्वन्ध घनिष्ट थे। पाणिनि ने स्पष्टत. इनका नाम नही लिया किन्तु अपने एक सूत्र (५।३।११४) मे इनकी ओर इगित किया है। इस सूत्र मे इन्हे 'आयुधजीविसघ' कहा है जिसका तात्पर्य है कि इन सघो की विशेषता क्षत्रिय वृत्ति थी। काशिका की व्याख्या ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन सघो मे मालवो और क्षुद्रकों की गणना प्रमुख थी। सिकन्दर के ऐतिहासिको ने अपने लेखो मे इन दोनो का एक साथ विस्तार मे वर्णन किया है। इन्होने मालवो को मल्लोइ, मल्लि अथवा मल्लइ तथा क्षुद्रको को औक्सिद्रकइ, सुद्रकि, हाइद्रकइ, अथवा साइद्रकइ नामो से निर्देश किया है। इनमे से कर्टियस नामक ऐतिहासिक लिखता है कि क्षुद्रको और मालवो की सम्मिलित सेना मे ९०,००० पैदल, १०,००० घुड़सवार और ९०० रथ है। पाणिनि के एक सूत्र (४।१।१६८) पर टिप्पणी करते हुए पतञ्जलि न अपने महाभाष्य मे क्षत्रिय जनपदो

श्री कृष्णदेव

यूनानी ऐतिहासिको के विवरण से यह भी पता चलता है कि मालव बड़े ही समृद्ध थे और उनका देश सुविस्तृत एव धन-धान्य सम्पन्न था। उनके नगरो तथा उनके प्रतिनिधियो के बहुमूल्य वस्त्रो से मालवो की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति का थोड़ा दिग्दर्शन हो जाता है। मालवसत्ता प्रजातत्र थी जिसमे क्षात्रधर्म को सर्वोच्च स्थान दिया गया था। क्षत्रियत्व उनकी राजनीति की आधारशिला था। उनके नागरिक युद्ध-विद्या मे अपना अधिकाश समय देने के लिए नियमबद्ध थे। इसका समर्थन हमारे वैय्याकरणो के प्रासगिक निर्देशो से होता है जिनमे मालवो को 'आयुधजीविसघ' तथा 'क्षत्रिय जनपद' कहा है।

इतिहास बताता है कि १५० ई० पू० के लगभग मालवगण पंजाब छोड़कर पूर्वीय राजपूताना मे जा बसे। पैत्रिक भूमि के परित्याग का कारण सम्भवत: वाह्लीकदेश के यूनानियो और कुषाणो का आक्रमण था। इन स्वतन्त्रता के पुजारियो ने दासत्व की अपेक्षा चिरन्तन प्रवास को कही अधिक श्रेय समझा। उनके जीवट का पता इससे चलता है कि अपने नये निवास-स्थान मे भी वे उतने ही सुसगठित और शक्तिशाली रहे जितने पहले थे। कुछ काल के बाद उनकी बढ़ी हुई शक्ति का पश्चिम भारत की शक-सत्ता से सघर्ष होना अनिवार्य हो गया। क्षत्रप नहपान के जामाता शक उषवदात के नासिक लेण मे उत्कीर्ण शिलालेख से ज्ञात होता है कि मलय (मालव) राजपूताना की शक्तिशाली जाति थी और उन्होने शको और उनके मित्र उत्तमभद्रो के छक्के छुडा रक्खे थे किन्तु अन्त मे वे उषवदात के हाथ पराजित हुए। अस्तु, इस पराजय के कारण मालवो के आन्तरिक बल और सगठन का ह्रास नही हुआ और कुछ काल बाद उन्होने फिर सिर उठाया।

पूर्वीय राजपूताना मे मालवो का सबसे प्रधान केन्द्र 'नगर' था जो जयपुर रियासत के उणियारा ठिकाना मे है। इन पक्तियों के लेखक ने इस स्थान की खुदाई करके इतिहास पर जो प्रकाश डाला है उससे पता चलता है कि प्रथमशती ई० पू० के लगभग मालवो ने इसकी स्थापना की और कम से कम दसवी शती तक यह स्थान 'मालव-नगर' के नाम से विख्यात था। मालवो के सिक्के यहा हजारो की सख्या मे पाए गए है। बहुत छोटे आकार और हलके वजन के होने के कारण इन सिक्को की गणना ससार के विलक्षण सिक्को मे की जाती है। लिपि के आधार पर इनका समय ईसा की पहली तीन शतियाँ निर्धारित होता है। ये सिक्के तीन श्रेणियो मे विभक्त किये जा सकते है। पहली और दूसरी श्रेणी के सिक्को पर 'मालवाना जय' और 'मालवगणस्य जय' अकित है जिनके अर्थ स्पष्ट है। तीसरी श्रेणी के सिक्को पर भपयन, मजुप, मपोजय, मपय, मगजश, मगोजय, मपक, पच, गजव, मरज, जमकु आदि लिखे है। इन विचित्र लेखो के अभिप्राय के सम्बन्ध मे विद्वानो में मतभेद है। कुछ विद्वान् इन्हे मालव सरदारो के नाम समझते है, और दूसरे इन्हे साकेतिक लेख समझते है। अलन का मत है कि मकार और जकार की प्रधानता के कारण इन्हे 'मालवाना जय' का सक्षिप्त रूप समझना चाहिए। डॉक्टर देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर 'मगज' को 'मालवगणस्य जय' का साकेतिक रूप तथा 'मपय' को 'मलय' पढ़कर इसे 'मालव' का रूपान्तर मात्र मानते है। इसी प्रकार एक और विद्वान् ने 'मगोजय' को 'मालवगणस्य यश.' का सकेत माना है। इन लेखो की सख्या २० के लगभग है जिनमे १२ मकारादि है और चार को छोडकर शेष मे मकार आता है, अत: मकार का मालव नाम से सम्बन्ध होना असम्भव नही।

जयपुर रियासत मे रेढ़ नामक एक दूसरे स्थान की खुदाई से एक ताम्रमुद्रा मिली है जिसपर पहली शती ईसवी की ब्राह्मी लिपि मे 'मालव जनपदस' अकित है। कम से कम गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त के काल (३५०-३८० ई०) तक मालव राजपूताना मे ही जमे रहे। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति मे मालवो का नाम राजपूताना के आर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर प्रभृति जनपदो मे प्रमुख आया है। और जनपदो के साथ मालवो ने भी समुद्रगुप्त का तथा बाद मे उसके उत्तराधिकारियो का आधिपत्य स्वीकार किया।

समुद्रगुप्त के समय के बाद मालव मध्यभारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर दशपुर प्रदेश मे जा बसे। इसमे कोई सन्देह नही कि जैनभगवती सूत्र के १६ महाजनपदो मे मलय-मालव नाम का जनपद यही था और इसे ही अगुत्तर निकाय

के उदाहरण में क्षुद्रकों और मालवों की एक साथ चर्चा की है। इसी प्रकार व्याकरण के एक और प्राचीन आचार्य आपिशलि ने 'क्षौद्रकमालव' समस्त-पद का विधान किया है। महाभारत (६।५९।१३५) में इन दोनों शक्तियों के कौरव-पक्ष की ओर से लड़ने का वर्णन आता है।

ऊपर लिखे प्रमाणों से जहाँ एक ओर मालवों का क्षुद्रकों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध ज्ञात होता है वहाँ दूसरी ओर यह भी सिद्ध होता है कि वे पञ्जाब के निवासी थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनकी सिकन्दर से मुठभेड़ पञ्जाब में ही हुई। इसके बाद भी पतञ्जलि के समय तक ये अपने आदिम स्थान में ही रहे। महाभारत में एक प्रसंग में इनकी चर्चा त्रिगर्तों के साथ (द्रोणपर्व, १०।१७) और दूसरे में शिवि तथा अम्बष्ठों के साथ (सभापर्व, ३२।७) हुई है, जो पञ्जाब की जातियाँ थीं। इनसे यह प्रमाणित होता है कि लगभग १५० ई० पू० तक मालव पञ्जाब में ही जमे रहे। अब प्रश्न यह होता है कि वे पञ्जाब के किस हिस्से के निवासी थे? इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। मैक्क्रिण्डल का मत है कि वे लोग चनाब और रावी के दोआब में थे और उनका राज्य सिन्धु और चनाब के संगम (वर्तमान मुल्तान और मौण्टगोमरी जिले) तक फैला था। स्मिथ का ख्याल है कि वे झेलम और चनाब के संगम के नीचे के प्रदेश में अर्थात् आधुनिक झंग और मौण्टगोमरी जिलों में बसे थे। रायचौधरी के मतानुसार वे रावी के निचले काठे में नदी के दोनों तटों के निवासी थे।

यूनानी ऐतिहासिकों के लेखों से ज्ञात होता है कि मालव और क्षुद्रक पंजाब प्रदेश के सर्वाधिक शक्तिशाली तथा युद्धप्रिय जनपद थे। जब विजयी सिकन्दर झेलम के रास्ते पंजाब से कूच कर रहा था तो इन दोनों ने उसका संग्राम में स्वागत करने को कमर कस ली और स्त्रियों और बालकों की रक्षा के लिए दुर्गों में भेज दिया। कर्टियस का कहना है कि इन दोनों जनपदों में पहले वैमनस्य था किन्तु राष्ट्रीय विपत्ति के सम्मुख ये दोनों अपना वैर भूल गए और ९०,००० पैदल, १०,००० घुड़सवार और ९०० रथ की सेना एकत्र कर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गए। इनके बल और पराक्रम की इतनी ख्याति थी कि यूनानी सेना इन वीर योद्धाओं का सामना करने के नाम से ही काँप उठी और बागियों की भाषा में अपने राजा को बुरा-भला कहने लगी। सिकन्दर ने अपनी भय-त्रस्त सेना को समझाया और प्रोत्साहित किया कि "भारतभूमि से हम वीरोचित सम्मान के साथ कूच करना चाहते हैं, कापुरुषों की भाँति प्राण बचाकर भागना नहीं चाहते।" यूनानी सिपाही प्रभावित हुए और युद्ध के लिए इतने उन्मत्त हो उठे कि कोई सूचना दिए बिना ही सहसा मालवों पर टूट पड़े जब कि वे निःशस्त्र अपने खेतों में काम कर रहे थे। मालव बड़ी संख्या में हताहत हुए पर उन्होंने साहस और धैर्य नहीं छोड़ा। शत्रुओं का मुकाबला बड़ी वीरता से किया। उनके कितने ही नगर वीरान हो गए और हजारों की संख्या में वे काम आए। नगर पर नगर उनके हाथ से निकलते गए, उन्हें जंगल और मरुभूमि की शरण लेनी पड़ी, पर विदेशियों के सामने उन्होंने सिर नहीं झुकाया। जब सिकन्दर ने मालवों की राजधानी पर आक्रमण किया तब संग्राम और भी प्रचण्ड हो उठा जिसमें सिकन्दर बुरी तरह घायल हुआ। यह पहला अवसर था कि भारतभूमि पर सिकन्दर आहत हुआ था। इसकी खबर होते ही सिकन्दर की सेना में तहलका मच गया और प्रतिशोध स्वरूप उसने प्रत्येक मालव का कत्ल करना शुरू किया और बच्चों और स्त्रियों तक को नहीं छोड़ा। जब मालवों ने देखा कि अब युद्ध करने से कोई लाभ नहीं तब उन्होंने और क्षुद्रकों ने सन्धि करने के उद्देश्य से १०० प्रतिनिधि भेजे। यूनानी ऐतिहासिकों ने लिखा है कि ये राजदूत असाधारण कद के तेजस्वी सुपुरुष थे। ये रथों में सवार होकर आए और इनके कपड़े सोने और जवाहरात से जड़े थे। उन्होंने आकर कहा कि "युग युगान्तर से अक्षुण्ण अपनी स्वाधीनता का हमें गर्व है। स्वाभिमान और स्वतंत्रता से जितना हमें अनुराग है उतना और किसी को नहीं। हमारी पराजय का कारण दैवी इच्छा है, भय नहीं।" सिकन्दर ने वीर जनपदों के इन वीर प्रतिनिधियों का राजकीय सम्मान और सत्कार किया। उनका राजसी स्वागत और आवभगत देखकर सिकन्दर के सेनाध्यक्षों को भी ईर्ष्या होने लगी। अस्तु, ऊपर के वृत्तान्त से जिसका आधार यूनानी ऐतिहासिकों के लेख हैं यह स्पष्ट हो जाता है कि सिकन्दर ने मालवों के साथ विजयी और विजित का नहीं, प्रत्युत समानता का व्यवहार किया। उनकी वीरता और बाहुबल का वह आस्वादन कर चुका था और सन्धि के लिए वह स्वतः उत्सुक था। इसलिए सन्धि का प्रस्ताव आते ही उसने स्वीकार किया और निश्चिन्तता का निःश्वास लिया।

मालवों का संक्षिप्त परिचय

म अव नी महाजनपद का नाम दिया गया है। विदिशा (वर्तमान भेलसा) समेत इस प्रदेश को अभी भी मालवा कहते हैं। पुराणों में भी मालवा की चर्चा सौराष्ट्र, अवन्ती, आभीर, शूर और अर्बुदों के साथ हुई है और उनका वास-स्थान पारियात्र (पारियात्र) पर्वत के निकट कहा है (भागवत पुराण १२।१।३६, विष्णुपुराण २।३, ब्रह्मपुराण १९।१७)।

दशपुर तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश में प्राप्त शिलालेखों से प्रमाणित होता है कि ईसा की ५वीं और ६ठी शतियों में विक्रम संवत् मालवा के नाम से विख्यात था। 'मालवानां गण स्थित्या', 'श्रीर्मालवगणाम्नाते' तथा 'मालवगणस्थिति-वशात्' पद इन शिलालेखों में संवत्सर गणना के साथ आते हैं। दक्षिण पूर्वीय राजपूताना में भी उस काल में विक्रम संवत् की ख्याति मालवों के नाम से थी, जैसा कि नगरी, कणस्वा और ग्यारसपुर के शिलालेखों से ज्ञात होता है। अतः दशपुर तथा उसके निकट प्राप्त लेखों से जहाँ एक ओर मालवों की शक्ति और प्रभाव का ज्ञान होता है वहाँ दूसरी ओर यह भी सिद्ध होता है कि मालवसत्ता छठी शताब्दी तक गणतन्त्रात्मक थी।

ईसा की ५वीं और ६ठी शतियों में गुप्त साम्राज्य के आधिपत्य में दशपुर में औलिकर नामक एक राजवंश राज्य कर रहा था जिसमें जयवर्मा, सिंहवर्मा, नरवर्मा, विश्ववर्मा और बन्धुवर्मा प्रभृति राजाओं के उल्लेख हैं। इसी वंश में यशोधर्मन विष्णुवर्धन नाम का महान् पराक्रमी राजा हुआ जिसका ५८९ मालव (विक्रम) संवत् का शिलालेख तथा दो स्तम्भ लेख दशपुर में प्राप्त हुए हैं। इन लेखों से ज्ञात होता है कि इस राजा ने ब्रह्मपुत्र से लेकर पश्चिम समुद्र तथा हिमालय से लेकर विन्ध्य तक दिग्विजय किया था।

> ये भुक्ता गुप्तनाथैर्न सकलवसुधाक्रान्तिदृष्टप्रतापैर्नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपतिमुकुटाध्यासिनी यान्प्रविष्टा।
> देशांस्तान्धन्वशैलद्रुमगहनसरिद्वीरबाहूपगूढा वीर्यावस्कन्नराज्ञः स्वगृहपरिसरावज्ञया यो भुनक्ति॥
> आलौहित्योपकण्ठात्तलवनगहनोपत्यकादामहेन्द्रादागङ्गाश्लिष्टसानोस्तुहिनशिखरिणः पश्चिमादापयोधेः॥
> सामन्तैर्यस्य बाहुद्रविणहृतमदैः पादयोरानमद्भिश्चूडारत्नांशुराजिव्यतिकरशबला भूमिभागाः क्रियन्ते॥

इन प्रशस्तियों में अत्युक्ति अवश्य है पर इनसे विष्णुवर्धन का पराक्रमी तथा विजयी होना सिद्ध होता है।

सातवीं शताब्दी से मालव मालवा से पूर्व की ओर फैलते दीखते हैं। वे सम्भवतः भेलसा से प्रयाग के बीच प्रदेशों में जा बसे थे। बाण के हर्षचरित में राजा महासेनगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त और माधवगुप्त को 'मालवराज पुत्र' संज्ञा दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्षचरित में पूर्वमालव अर्थात् विदिशा को ही मालव कहा गया है। इसी काल प्रसिद्ध चीनी यात्री युआनच्वांग (६२९-६४० ई०) अपनी यात्रा के सिलसिले में मालव आया था और इस प्रदेश का वर्णन कर गया है। उसने मालव देश की राजधानी माही नदी के किनारे बताई है। यह मालव वलभी ताम्रशासनों में उल्लिखित मालवक आहार (वर्तमान खेडा और अहमदाबाद जिले तथा बडोदा का एक हिस्सा) प्रतीत होता है। उस काल में वलभी राज्य के अन्तर्गत था। इस देश के विषय में चीनी यात्री लिखता है कि यह अत्यन्त धन धान्य है और यहाँ विद्या की बडी प्रतिष्ठा होती है।

मध्ययुग के कितने ही शिलालेखों तथा ताम्रशासनों में मालवा का उल्लेख आया है। यद्यपि चौथी शती के बाद मालव स्वतन्त्र सत्ता नहीं रही पर इसका उत्तर-भारत के इतिहास पर गहरा प्रभाव पडा और अब तक विद्यमान है मालवा प्रान्त तथा मालवी या मालवीय ब्राह्मण प्राचीन मालवों के अमिट प्रभाव के द्योतक हैं। ये ब्राह्मण मालवा, गुजरात में ही नहीं अपितु वर्तमान मध्य प्रान्त तथा युक्तप्रदेश तक फैले हुए हैं। मध्ययुग के एक शिलालेख में १८ । देश का उल्लेख आया है जिससे स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों में पश्चिम में माहीकण्ठ से लेकर पूर्व गंगातट तक के प्रदेशों की ख्याति मालवा के नाम पर हुई थी।

संत-नृपति और सत्कवि भर्तृहरि

श्री शंकरदेव विद्यालंकार

सन्त-कवि और नृपति भर्तृहरि केवल इतिहास के ही नही अपितु सस्कृत-साहित्य और भारतीय-संस्कृति के एक विशिष्ट व्यक्ति है। उनकी सस्कृत सूक्तियाँ भारतीय-साहित्य मे इतनी अधिक लोकप्रिय और हृदयंगम हो चुकी है कि वे रामायण, महाभारत, चाणक्य-नीति और पचतत्र के कर्त्ताओ की श्रेणी मे निर्विवाद खडे किए जा सकते है। जीवन और जगत् के विषय मे उनकी अनुभूतियाँ इतनी सूक्ष्म, विशद, विपुल और पैनी है कि भारतीय जनता ने उनको ऋषि कोटि का मनीषी और कृतिकार मान लिया है। अवश्य ही वे हमारे साहित्य-भाण्डार और संस्कृति-कोष के एक महामूल्य और प्रोज्ज्वल रत्न है।

भारतीय-इतिहास मे यह अनुश्रुति सर्वत्र ही प्रचलित है कि भर्तृहरि उज्जयिनी के महाराजा विक्रमादित्य के ज्येष्ठ बन्धु थे। पहले ये राज्य का उपभोग करते रहे और बाद को अपनी पत्नी के चरित्र पर सन्देह हो जाने से इनके मन मे वैराग्य का उदय हुआ और ये अपना राजपाट महाराजा विक्रम को सौपकर वैरागी हो गए। यह भी प्रसिद्ध है कि आगे जाकर ये नाथ-सम्प्रदाय मे सम्मिलित हो गए और हठयोग, रसविद्या और मत्र-विद्या आदि की सिद्धियाँ प्राप्त करने लगे। इनकी कृतियों मे हिमालय और गगा का सकेत पर्याप्त मात्रा मे है, अतः बहुत सम्भव है कि ये गंगातीर परे और हिमालय की घाटियो मे साधना करते रहे हो।

इनके वैराग्य के विषय मे एक गाथा सर्वत्र सुनी जाती है। जब ये राज्य भोग रहे थे तब अपनी रानी पिंगला से अतिशय प्रेम रखते थे। परन्तु रानी का मन राजा पर नही था। वह अन्यत्र लोचन लगाए रहती थी। परन्तु उस मनुष्य का मन रानी की ओर नही था, अपितु एक दासी की ओर आसक्त था और वह दासी मन से राजा के प्रति आसक्त बनी हुई थी।

ऐसी स्थिति मे एक दिन एक साधु ने राजा को एक अमृत-फल भेट मे दिया। राजा ने वह अमरफल स्वय नही खाया और अपनी प्राणप्यारी रानी पिंगला को दे दिया। रानी ने वह अपने प्रेमी को दे दिया। और उसने उसे अपनी प्रेमिका दासी को दे दिया। अन्त मे दासी के द्वारा वह अमरफल पुनः राजा के हाथ मे आ पहुँचा। यह सब प्रक्रिया निहार कर

संत-नृपति और सत्कवि भर्तृहरि

राजा भर्तृहरि की स्त्री-विषयक आसक्ति नष्ट हो गई और वह संन्यासी होकर साधनामय जीवन व्यतीत करने लगा। इस प्रसंग पर भर्तृहरि ने स्वयं एक श्लोक रचा है*।

चीनी पर्यटक इत्सिंग का कथन है कि उसके भारत में आने से पचास वर्ष पूर्व भर्तृहरि नामक एक विख्यात वैयाकरण मर चुका था। बौद्ध मतानुसार वह सात बार गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम में चक्कर लगाता रहा। इसके इस प्रकार बारम्बार वैरागी और गृहजीवन के गमनागमन को दृष्टि में रखकर बहुत से विद्वान् यह कहते हैं कि वह बौद्धधर्मी था। परन्तु इसमें विशेष सचाई नहीं प्रतीत होती, क्योंकि भर्तृहरि की कृतियों में सर्वत्र ही वेदान्तवाद और शिव की महिमा आती है। अनेक स्थानों पर वह अन्य देवताओं की अपेक्षा शिव का ही अधिक स्मरण करता है। भर्तृहरि कृत तीनों शतकों की पृष्ठभूमिका में भी ब्राह्मण धर्म और ब्राह्मण-संस्कृति ही प्रधान है। "पूना आरियेण्टलिस्ट' त्रैमासिक में भी श्रीयुत माधव कृष्ण शर्मा ने अच्छी युक्तियों द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि भर्तृहरि बौद्धमतावलम्बी नहीं था। यह शिव और विष्णु में अभेद माननेवाला शैव था।

कुछ भी हो इसमें कोई सन्देह नहीं कि इत्सिंग वर्णित भर्तृहरि ही "वाक्यपदीय" का रचयिता है। वाक्यपदीय व्याकरण का एक अनुपम ग्रंथ है। उसके अध्ययन से यह भी पता चलता है कि भर्तृहरि एक निपुण वैयाकरण और दार्शनिक भी था। इत्सिंग ने यह भी कहा है कि भर्तृहरि ने महाभाष्य पर भी एक टीका लिखी थी। भर्तृहरि रचित महाभाष्य की टीका के विषय में वर्धमान-कृत (विक्रम संवत् ११९७) "गणरत्नमहोदधि" में भी उल्लेख आता है।† इत्सिंग ने वाक्यपदीय कर्ता भर्तृहरि का मृत्यु समय ६५१ ईसवी लिखा है। इत्सिंग ने इसके बनाए शतकों के विषय में कोई उल्लेख क्यों नहीं किया यह एक शंका की जाती है। बहुत सम्भव है उसने इन शतकत्रय के विषय में उस समय कुछ न सुना हो या उन शतकों के ब्राह्मण-संस्कृति परक होने के कारण जानबूझकर उनकी उपेक्षा की हो।

भर्तृहरि की कविता को पढ़ते हुए ऐसा विचार नहीं आता कि उसे कोई राजा लिख रहा है। यदि राजा लिखे तो वह राजा की भूमिका पर रहकर लिखे या अन्य किसी भूमिका पर रहकर। तो भी उसमें राजत्व की झलक तो आ ही जाती है। परन्तु यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि राजा के वैभव की ईर्ष्या करनेवाला और वहाँ से खण्डित होने से राजवैभव का तिरस्कार करनेवाला कोई पंडित कह रहा है। इसकी उपमाएँ, इसके रूपक, इसकी आशाएँ और अभिलाषाएँ—सब कुछ सामान्य जनता की कोटि का है।

कुछ विचारकों का मत है कि शतकत्रय के सब श्लोक भर्तृहरि के अथवा किसी एक व्यक्ति के लिखे हुए नहीं हैं। वे कहते हैं कि इनमें से बहुत से सुभाषित संस्कृत साहित्य में से भर्तृहरि द्वारा चुने गए हैं और बाकी का भर्तृहरि ने स्वयं निर्माण किया है। इस कथन में कुछ सत्यांश अवश्य प्रतीत होता है। यह तो सर्वमान्य सी बात है कि नीतिशतक, वैराग्य-शतक और शृंगारशतक की अधिकतम सूक्तियाँ भर्तृहरि निर्मित ही हैं। रचनाशैली, विषय प्रतिपादन और विचारपद्धति का अनुशीलन करने से हम सहज ही यह प्रतीति हो जाती है कि वे एक ही कृतिकार की कृतियाँ हैं। और साथ ही यह भी पता लग जाता है कि इन शतकों का प्रणेता जगत् और जीवन के तत्त्वों का मर्मज्ञ है, वह एक सुदक्ष और संस्कार समृद्ध सत्कवि है। उसका अनुभव विशाल है और जीवनदृष्टि विमल है। भर्तृहरि के इन शतकों की अनेक सूक्तियाँ परवर्ती ग्रंथों और सूक्ति-सन्दर्भों में छूट से संगृहीत होकर समादृत हुई हैं।

कविगुरु कालिदास और वैरागी राजा भर्तृहरि में पूर्ववर्ती कौन है यह भी एक विचारणीय विषय है। महाकवि कालिदास की अमरकृति शकुन्तला के दो श्लोक ("भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः"‡ तथा 'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलून

---

* यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता, साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या, धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥ —नीतिशतक श्लोक २॥

† भर्तृहरिर्वाक्य-पदीय प्रकीर्णकयोः कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च।

‡ नीतिशतक, श्लोक ७१, निर्णयसागर प्रेस, संवत १९४७ में मुद्रित।
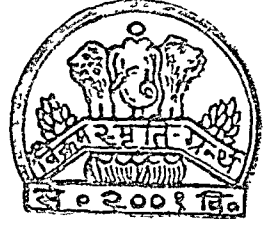
श्री शंकरदेव विद्यालंकार

करष्हे:*) हमे क्रमश नीतिशतक और शृंगारशतक मे उपलब्ध होते है। और कविकुल-कुमुद-कलानिधि कालिदास जैसा आत्मसम्मानशील सत्कवि अन्य कवि की रचना को अपनी विश्रुत कृति मे उतार ले यह सम्भव नही। इसी प्रकार की अन्य बातों को देखकर न्यायमूर्ति काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग आदि ऐतिहासिक विद्वान् भर्तृहरि को कालिदास के बाद का मानते है। अधिक सम्भव तो यह है कि परवर्ती सहृदय रसिक मनीषियो द्वारा इन शतको मे परिवर्धन और प्रक्षेप होता रहा हो। क्योकि आज हमे तीनो शतक जिस रूप मे उपलब्ध होते है, उनमे श्लोकों की संख्या सौ से कही अधिक है। संवत् १९४७ विक्रमी मे, मुम्बई के विख्यात् निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित शतकत्रय मे श्लोको की संख्या इस प्रकार है--

नीतिशतक ११० श्लोक, शृगारशतक १०० श्लोक, वैराग्यशतक ११६ श्लोक।

श्री तैलग द्वारा सम्पादित वैराग्यशतक मे श्लोको की संख्या ११३ है। अतः यह स्पष्ट है कि इन शतको मे बाद को प्रक्षेप होता रहा है। कविवर विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक का "प्रारभ्यते न खलु विघ्न भयेन नीचैः" श्लोक भी नीति-शतक मे सगृहीत है।

भर्तृहरि के नाम से सम्बद्ध अनेक ग्रंथ है परन्तु भर्तृहरि का नाम लेते ही उसके तीनो शतक ही हमारे ध्यान मे खड़े हो जाते है। इन कृतियो का परिशीलन करने से यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि भर्तृहरि का समय कोई महासाम्राज्य का समय नही है। छोटे छोटे राजा अपने अपने राज्यो की गाडी हाँकते होगे। वे परस्पर मे ईर्ष्या भी करते होगे। सम्राट् अशोक के शिलालेखो मे जिस प्रकार की राज्य-व्यवस्था विदित होती है या कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे राजत्व का जो आदर्श हमे उपलब्ध होता है, उसकी ध्वनि हमे शतको मे नही मिलती।

टीकाकार सामान्यतया नीति, शृगार और वैराग्य-इस क्रम को भारतीय आर्य-जीवन के आदर्श के साथ समन्वित करते है। कुमारावस्था मे ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करके विद्याभ्यास करना होता है तथा लोक-जीवन के साथ परिचय प्राप्त करना होता है। यही समय ऐसा होता है, जब नीति की नीव सुदृढ बनाई जा सकती है। बाद को यौवन की वासन्ती फुलवारी के खिलने का समय आता है। तरुणाई की इस चार दिन की चन्द्रिका मे शृगाररस से उपराम प्राप्त करके भोग मय जीवन की व्यर्थता समझने के लिए वैराग्य-साधना की आवश्यकता होती है। जिससे "अतुल परिताप" से बचकर "अनन्त शमसुख" प्राप्त किया जा सके।†

भर्तृहरि भिक्षा की प्रशसा करते है। वन मे रहकर कन्द-मूल के द्वारा जीवन विताने का उपदेश करते है। दैव की मीमासा भी स्थान स्थान पर आपने की है। दाम्पत्य जीवन को इन्होने भावना-प्रधान चित्रित करने के स्थान पर भोग-प्रधान बताया है। पति-पत्नी को मिलकर कुटुम्ब सेवा तथा समाज-सेवा करते हुए जीवनरस का आस्वादन करना चाहिए, इस प्रकार का आदर्श स्मृतिकारो ने सूचित किया है। भर्तृहरि के शृगार मे तो उस आदर्श का उल्लेख भी नही है। इ समस्त विषयो पर हमे पुनः मीमासा करनी चाहिए।

यह तो सत्य है कि शृंगार-शतक की भोगवृत्ति विलासी होते हुए भी अनार्य नही है! वह यौवनोचित है पर उच्छृंखल नही। नैतिक आदर्श की अवमानना करके सामाजिक जीवन की भित्ति को तोड़नेवाला उत्पथगामी शृगार यह नही है। हमे यह भूल नही जाना चाहिए कि भर्तृहरि ने जिस तीव्रता से शृगार का चित्र अकित किया है, उतनी ही मार्मिक भाषा मे भोगमय जीवन की व्यर्थता भी समझाई है।

हिन्दू-धर्म और हिन्दुओ के सामाजिक जीवन के क्रमविकास का इतिहास, जगत् के इतिहास का एक महत्त्वपर्ण प्रकरण है। जिस समय इस इतिहास का कार्यकारण भाव की दृष्टि से अन्वेषण, सशोधन, सगठन और रहस्योद्घाटन

---

* शृगारशतक श्लोक १६, निर्णयसागर प्रेस, संवत् १९४७ में मुद्रित।

† अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषयाः। वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत् स्वयममून्॥
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः। स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥ वैराग्यशतक श्लोक १६॥

होगा, उस दिन भारतीय इतिहास और आर्य-संस्कृति का हार्द हमारे सामने सूर्यप्रकाश की तरह स्पष्ट हो जायगा। क्रम-विकास के उस इतिहास में भर्तृहरि के शतकों को अवश्य स्थान मिलेगा। क्योंकि इन शतकों का प्रभाव, गीता के प्रभाव जितना ही सार्वभौम है। और यदि चारित्र्य संगठन को हम राष्ट्रीय शिक्षा का एक अंग मान लें तो इन शतकों का राष्ट्रीय-शिक्षा के इतिहास में भी मानपूर्ण स्थान अवश्य मिलेगा।

ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जायगा कि तीनों शतकों को लिखते हुए भर्तृहरि ने एक विशाल, प्रसन्न और स्वस्थ जीवनदृष्टि को अपने सामने रक्खा है। जीवन का आदर्श निश्चित और लोकसुलभ बनाना अभीष्ट है। हम जानते हैं कि समाज में नीति के तीन भिन्न भिन्न आदर्श प्रचलित हैं। गृह-जीवन का परित्याग करके विरक्त रहनेवाले सन्त महात्माओं और यतियों का एक पृथक् आदर्श है। उसी प्रकार जगत में रहकर जगत् की सामान्य सेवा करते हुए दुनियादारी जीवन में सामान्य शील और सदाचार को विकसित करने का एक पृथक् आदर्श है।

इसके अतिरिक्त आदर्श का एक तीसरा प्रकार भी है, जिसे वर्णानुसार बदलनेवाला स्वमान का या सत्व का आदर्श कहा जा सकता है। उसे हम स्वधर्म का आदर्श भी कह सकते हैं। ब्राह्मण यदि युद्ध में से भाग जाय तो उसका सत्व नष्ट नहीं होता। हां यदि वह तपोभ्रष्ट हो जाय तो उसका सत्व चला जाता है। क्षत्रिय यदि दिवालिया हो जाय तो यह उसके लिए लज्जास्पद नहीं है, परन्तु वह युद्ध में भागकर नहीं आ सकता। जगत् को ठगने और लूटनेवाले चोरों में भी अन्दर अन्दर ईमानदारी निभाने का एक आदर्श होता है, जिसके बिना चोरों का आन्तरिक संगठन सम्भव ही नहीं। विश्व-इतिहास के विश्रुत लेखक हर्बर्ट ज्योर्ज वेल्स ने इस प्रकार के व्यक्तिगत, वर्गगत और वर्णगत आदर्श के लिए PERSONA शब्द प्रयुक्त किया है। यह आदर्श सार्वभौम नहीं माना जाता। जाति स्थान और व्यवसाय की दृष्टि से पृथक् पृथक् होने के कारण यह अमुक अंश में एकांगी होता है। परन्तु इसी कारण से इस आदर्श के माननेवाले लोगों में इसके पालन के लिए असाधारण तत्परता—तन्मयता—होती है। सन्तों और महात्माओं का आदर्श लोकोत्तर होता है। सामान्य लोग उसे लोकग्राह्य कहते हैं। समाज ऐसे आदर्श की पूजा तो अवश्य करता है पर उसे अपनाता नहीं। सर्व-सामान्य नीति का आदर्श सर्वत्र एक समान होता है, और यही आदर्श मानवता के विकास का परिचायक होता है। वर्ण का आदर्श उस उस वर्ग के लिए ही होता है।

भारतीय संस्कृति में ये तीनों आदर्श सुन्दर रीति से विकसित हुए हैं। भारतीय-संस्कृति की यही एक विशेषता है। इसी कारण भारतीय नीति परायणता इस देश में सार्वभौम हुई है, और वह इतने युगों तक अखण्ड रूप में चली आई है कि उसे हम सनातन धर्म के नाम से पहचानते हैं।

भर्तृहरि का युग धर्मप्रयोग में नया नया था। अतः भिक्षावृत्तिवाले जीवन के दूषण लोगों के ध्यान में नहीं आए थे। आज हम लोग धर्मपरायण लोगों का घरघर भीख मांगकर जीना सर्वथा पसन्द नहीं करते। क्योंकि इस प्रकार के जीवन का हमारे समाज में भयानक अतिरेक हो गया है। निवृत्त होकर अमुक परिस्थिति में वनवास सेवन की साधना के रूप में हम भले ही पसन्द कर लें परन्तु सार्वभौम नीति में अकर्मण्य निवृत्ति का तथा भिक्षाचर्या को हमने बहिष्कृत ही कर दिया है। दैववाद में से त्याग, निश्चिन्तता और क्षात्रतेज उत्पन्न होने के स्थान पर अकर्मण्यता और जड़ता ही पैदा हुई है। अतः इस दैववाद—भाग्यवाद—को भी तिलांजलि देना ही अभीष्ट है।

भर्तृहरि की शैली रामायण-महाभारत की शैली जैसी अथवा पुराणकर्त्ताओं की शैली की तरह सादी और सरल नहीं है, नाहीं वह परवर्त्ती कवियों की शैली की तरह कृत्रिम, जटिल व पर्युषित है। भर्तृहरि की शैली में प्रसाद है, प्रभा है और व्यापक अर्थ में ओजगुण भी है। शैली की सर्वश्रेष्ठ कसौटी तो उसकी ग्राहिका शक्ति है। यह ग्राहकत्व गुण तो भर्तृहरि के श्लोकों में प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। जो शब्द या शब्द-समूह एवं वाक्य श्लोक को बांचते ही मन में बस जांय अथवा कहावतें बनकर समाज में सिक्कों की तरह प्रचलित हो जांय, वे सभी देशों में और प्रत्येक युग में आदर्शशाली के द्योतक होते हैं। भर्तृहरि की मुक्तक-सूक्तियों में यह गुण शत प्रतिशत पाया जाता है। पंजाब से बंगाल तक और काश्मीर से केरल तक सर्वत्र भर्तृहरि के श्लोक घर घर कण्ठाग्र किए जाते हैं।

श्री शंकरदेव विद्यालंकार

महाराष्ट्र के विख्यात सुकवि मोरोपन्त ने संभाषण के लिए एक सुन्दर आदर्श स्वनिर्मित आर्या मे उपनिबद्ध किया है—

बहुवर्थ, जनमनोहर, अल्पाक्षर, मधुर सत्य बोलावें। ज्या सद्वाक्य श्रवणें श्रोत्यांचें चित्त शिरहि डोलावें॥

श्रोता का सिर और हृदय दोनो ही प्रसन्नता से आन्दोलित होने लगे, ऐसी अल्पाक्षर, मधुर और अर्थ गभीर-शैली की आवश्यकता होने पर सस्कृत काव्य का रसिक भर्तृहरि के समीप दौडता हुआ आ पहुँचेगा।

भर्तृहरि की रचनाओ मे दूसरा एक चातुर्य और भी है। वह अपने एक ही श्लोक मे एक समग्र कहानी और उसका बोधवचन भर देता है। उसी प्रकार वह एक आदर्श को पूर्णतया एक ही बडे श्लोक मे सविस्तर प्रस्तुत कर देता है। एक श्लोक मे एक समग्र चित्र अकित हुआ होता है। भर्तृहरि की यह चित्रण शक्ति कालिदास और भवभूति से किसी तरह कम नही है। आदर्श की भव्यता को प्रतिष्ठित करने के लिए अच्छे अच्छे कवियों को भर्तृहरि से शिक्षा लेनी चाहिए। समग्र चित्रण के दो एक सुन्दर उदाहरण लीजिए—

भग्नाशस्य करण्डपीडिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा। कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः॥
तृप्तस्तत् पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा। स्वस्थास्तिष्ठत दैवमेव हि परं वृद्धौ क्षयकारणम्॥
क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः। क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः॥
गन्तु पावकमुन्मनस्तदवत् दृष्ट्वा तु मित्रापदं। युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी॥

इस प्रकार की कथाएँ कम से कम शब्दो मे मनोहर और सरल रूप मे व्यक्त करना भर्तृहरि को बहुत पसन्द है। और इस कला मे उसने असामान्य चातुर्य और साफल्य अधिगत किया हुआ है।

अग्रेजी काव्य-साहित्य मे सॉनेट (Sonnet) नामक छन्द का एक प्रकार है। स्वाभाविकता, सम्पूर्णता, सक्षिप्तता और हृदय-तृप्ति को अक्षुण्ण रखते हुए केवल चौदह पक्तियो मे एक विचार को उपनिबद्ध करने मे ही सॉनेट का वैशिष्ट्य समाया हुआ है। कवि के अन्तर मे जागी हुई एकाध प्रतिभापूर्ण कल्पना को चौदह पक्तियो मे ही पूरा करना होता है। इस मर्यादा के कारण कवि को अपनी समस्त शक्ति और चातुरी इसमे प्रयुक्त करनी पडती है। यही खूबी हमें भर्तृहरि के शतको के भारी-भरकम शार्दूल-विक्रीडित, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता और शिखरिणी छन्दो मे प्राप्त होती है। ये गौरवशाली वृत्त भर्तृहरि के हाथ मे आकर ऐसा चमत्कार दिखाते हैं कि एक एक श्लोक सॉनेट का आनन्द देता है।

बहुत से कवि छोटे छोटे वृत्तो को लेकर एक यमक, पचक या कुलक मे एक समग्र भाव या प्रसंग को पूर्ण करते हैं। परन्तु भर्तृहरि को ऐसा नही करना पड़ता। उसका साहित्ययोग इतना समर्थ है कि ऊपर कथित एक एक वृत्त उसके हाथ मे कुशल किंकर की तरह काम आते है।

आज भारतवर्ष मे मत्स्य, कूर्म और वराह—इन तीनो विष्णु के अवतारो की कही पूजा नही होती। वामन अवतार केवल नाम से ही विष्णु के अवतारो मे समा गया है। परशुराम एक दो जातियो का कुलदेवता बन बैठा है। नृसिह का भी यही हुआ है। आज तो अवतारो मे केवल राम और कृष्ण ये दो ही प्रधानतया सार्वभौम बन पाए है। बुद्ध भगवान् इन दशावतारो मे कब सम्मिलित हुए और पश्चिमी भारत मे पढरपुर मे इनका "विठोबा" के रूप मे कब रूपान्तर हो गया इसका अन्वेषण अभी तक किसी ने नही किया है। सनातनी हिन्दू मानते है कि अभी "कल्की" अवतार होने वाला है। हिन्दू-धर्म की पौराणिक धारणाएँ कितनी अराजकतापूर्ण हो गई है, इसका हिन्दुओ को ही अब तक पूरा विचार नही है। हिन्दू-सस्कृति और हिन्दू-समाज मरते मरते भी हजारो वर्ष तक टिका रहनेवाला महान् वटवृक्ष है। उसकी शाखा प्रशाखाएँ कितनी है, और उसकी छाया मे अन्य कितने वृक्ष उगे हुए है, वे उसे पोषण देते है या उसका जीवन-रस चूस लेते है—इसका उसे स्वय पता नही है।

शतकत्रयी मे अवतारो का उल्लेख कई स्थानो मे आता है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इन अवतारो मे मुख्य माने जानेवाले राम और कृष्ण उसमे नही मिलते। भर्तृहरि के धार्मिक तत्वज्ञान पर बौद्धधर्म का प्रभाव ठीक ठीक

सत-नृपति और सत्कवि भर्तृहरि

दिखाई देता है तो भी शतकों में बुद्ध का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इसका कारण खोज निकालना चाहिए। भर्तृहरि सदृश शिवोपासक ने जो समयानुसार आग्रह बनाया होता तो गौतम बुद्ध विष्णु के अवतार माने जाने के स्थान पर शिवजी के ही एक अवतार मान लिए जाते। और यह ठीक भी होता। अहर के प्रचारक बुद्ध को यदि संहारकारी शिव का अवतार मानने में विसंगति मानी जाय तो "विनाशाय च दुष्कृताम्" अवतार लेनेवाले विष्णु का भी वह अवतार नहीं हो सकता। जीवन दृष्टि से विचार करने पर बुद्ध शिव के ही अवतार माने जाने चाहिए। विष्णु नाम से ही यत्र तत्र प्रवेश पा गये हैं। शिव कल्याणकारी है, कल्याणमूर्ति है। इस प्रकार यद्यपि भर्तृहरि विष्णु के अमुक अवतारों के प्रति आदरबुद्धि रखते हैं तथा शिव के उपासक हैं, तथापि उनके तत्त्वज्ञान (दार्शनिकता) पर बौद्धधर्म का प्रभाव विशेष रूप से है। हिन्दू लोग अनेक पंथों को प्रारम्भ करते हैं परन्तु देखते देखते ही उन सब पंथों और विचारभेदों को जीवनदृष्टि से एकता के सूत्र में अनुस्यूत भी कर देते हैं। यह हमारी जाति का एक विशेष स्वभाव है। यह स्वभाव जिस प्रकार भगवद्गीता में दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार भर्तृहरि में भी पूर्णतया विकसित हुआ उपलब्ध होता है।

भर्तृहरि का विशेष आग्रह कर्म के प्रति है। देवों की भक्ति करना अच्छा है परन्तु देवता तो कर्म के आधीन है। देवों की अपेक्षा दैव की माया (शक्ति) अधिक मान तो वह भी कर्म के ही आधीन है। इस प्रकार भर्तृहरि ने कर्म की ही सर्वोपरिता प्रतिपादित की है।*

यह कर्म क्या है? उपनिषद्कार ऋषियों से पूछना चाहिए। सच पूछा जाय तो यह समस्त विश्व अनादि अनन्त कर्म का ही विस्तार और विलास है। जिनको हम पंचमहाभूत कहते हैं वे जड पदार्थ भी कर्म की ही विभूति हैं। और यदि गहराई में जाकर विचार करें तो आत्मा और कर्म के बीच में विशेष भेद नहीं मिलेगा। जो कुछ हलन चलन और स्पन्दन स्वयं हो रहा है या विचारपूर्वक किया जा रहा है, उतना ही कर्म नहीं है। परन्तु इस विश्व में जो प्रेरणा काम कर रही है, और जिस प्रेरणा ने ही विश्व का रूप धारण किया हुआ है, उसे आत्मा भी कहा जा सकता है और कर्म भी कहा जा सकता है। आत्मा कोई स्थावर वस्तु नहीं है और कर्म भी कोई क्षणजीवी परिवर्तन नहीं। दोनों एक ही हैं। यदि हम इतना समझ लें तो कर्म ही साध्य बन जाता है और वही साधन भी हो जाता है। भर्तृहरि को इस कर्म की उपासना ही अभिमत है। इसीलिए वह सब दृष्टियों का समन्वय समझ सकता है, और इसीलिए ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और सूर्य आदि सबको कर्म के साम्राज्य में व्यवस्थित कर सकता है।

× × × ×

भर्तृहरि जीवन प्रेमी और जीवनदर्शी सत्कवि थे। उनकी दृष्टि विमल थी और साथ पारदर्शी भी थी। जीवन की विविध भूमिकाओं में रहकर उन्होंने एक समग्र जीवनदर्शन का अनुशीलन किया था। इसीलिए उनकी अनुभूतियाँ नित्य-नूतन और जीवनानुगामिनी हैं। उनका रस कभी पुराना-पर्युषित नहीं होता। "देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति"—देवों की कविता कभी मरती नहीं, न वह जीर्ण होती है, भर्तृहरि की कविता भी देवों की कविता की तरह अमर है।

---

* नमस्यामो देवान् ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा । विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ॥
फलं कर्मायत्तं यदि किममरैः किं च विधिना । नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥

नीतिशतक, श्लोक ॥९१॥
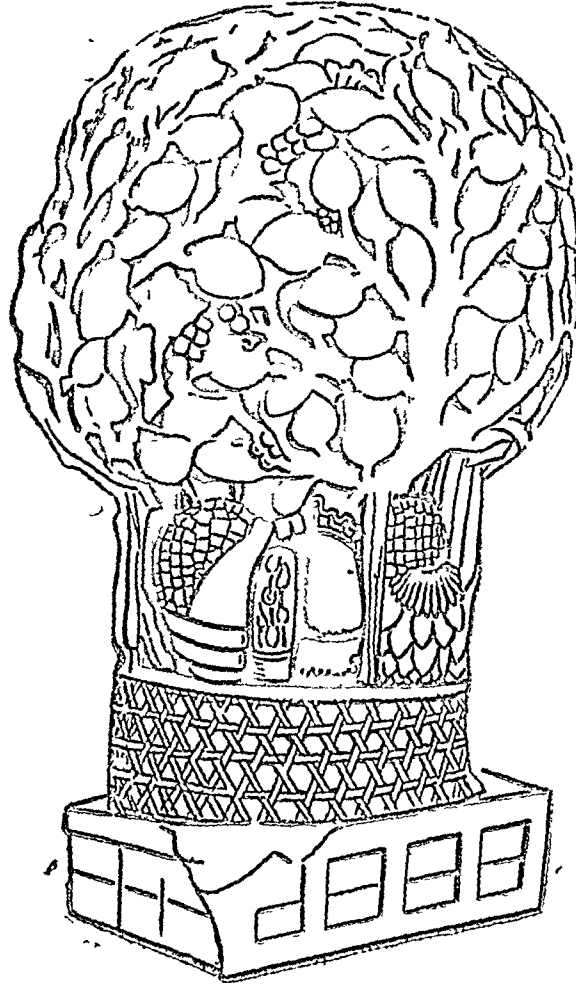
आचार्य शंकर और मालव-महिमा

श्री सूर्यनारायण व्यास ज्योतिषाचार्य

भगवान् आद्य शकराचार्य का जन्म कब हुआ, यह विचार और विषय विवादास्पद है। दुर्भाग्यवश हमारे देश की अनेक विभूतियो का तथ्यवादी-इतिहासविदो के समक्ष शिलालेख तथा ताम्रशासनो के प्रमाणाभाव मे अस्तित्व ही साशक बना हुआ है। आद्य शकराचार्य, अध्यातमप्रधान भारतवर्ष की प्रात.स्मरणीय-धार्मिक विभूति है। अनेक विद्वानो का मत है कि वे ईसवी सन् के बहुत प्रथम उत्पन्न हुए है, तब कईयो का यह मत भी है कि वे ईसा की पाँचवीं शताब्दी से लेकर नौवीं शताब्दी पर्यन्त के किसी काल मे हुए है। हिन्दू-विश्व-विद्यालय के सस्कृत-पाली-प्राध्यापक प० बलदेवप्रसादजी उपाध्याय ने हाल ही मे शकरदिग्विजय जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रथ का हिन्दी रूपान्तर किया है। उक्त ग्रथ की भूमिका मे उन्होने आचार्य प्रवर के जन्म समय के विषय मे अनेक मतो का उल्लेख किया है। उन्होने बतलाया है कि 'कामकोटि पीठ' के अनुसार आचार्य का जन्म २५९३ कलिवर्ष मे हुआ था, और तिरोधान २६२५ मे हुआ था। 'शारदा पीठ' के वशानुक्रम के अनुसार २६३१ वैशाख शुक्ला पचमी को। 'केरलोत्पत्ति' के अनुसार विक्रम की पाँचवी शताब्दी और महाराष्ट्र के महानुभाव पथी 'दर्शन-प्रकाश' के अनुसार ६१० शक मे जन्म होता है। इसी प्रकार एक मत यह भी है कि ८४५ विक्रमी मे आचार्य का आविर्भाव हुआ है। इस प्रकार अनेक मतो एव पक्षो के कारण इस समय पर्यन्त कोई निश्चय नही है। स्वय प्राध्यापक प० बलदेवप्रसादजी ने भी इस विषय को ऐसे ही छोडकर अनुवाद-कार्य सम्पन्न कर दिया है। वास्तव मे शकराचार्य का आविर्भाव ऐसे संधिकाल मे हुआ है जब भारतवर्ष मे बौद्ध-धर्म का पर्याप्त प्रभाव बढा हुआ था और जैन धर्म उसके साथ ही प्रगत्युन्मुख होता जा रहा था।

आचार्य शंकर और मालव-महिमा

अवश्य हा 'मौर्यों से लेकर अशोक' नामन्काल पर्यन्त भारत बुद्ध धर्माभिभूत हो गया था। यद्यपि अशोक की सर्वधर्म सहिष्णुता ने उस लोकप्रियता और ऐतिहासिक अमरता का श्रेयोभागी बना दिया था, तथापि उसके स्वतः बुद्ध धर्मानुराग, और अपने प्रिय पुत्र महेन्द्र एवं संघमित्रा सुता के धर्मदीक्षित बना उज्जैन से लंका तक प्रचारार्थ भेजना बौद्धों के प्रोत्साहन के लिए पर्याप्त था, इसलिए इस काल में तो शंकर का आविर्भाव कहीं इतिहास में वैदिक धर्म संघर्ष के रूप में प्रकट नहीं होता, परन्तु शुंगों के सत्ताधीश्वर पुष्यमित्र का काल अवश्य ही एक ऐसा है, जहाँ मध्य-भारत से लेकर दक्षिण भारत तक वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा प्रकट प्रतीत होती है। सम्भवतः विक्रम पूर्व शंकराविर्भाव को माननेवालों के लिए यही काल अनुकूल-सा विदित होता है। यद्यपि शंकर के ग्रंथों में कहीं भी किसी के शासनकाल का कोई उल्लेख नहीं मिलता, सिवा इसके कि बौद्ध-जैन धर्म की प्रतिक्रिया स्वरूप यह वैदिक-धर्म प्रतिष्ठा आवश्यक हुई। पुष्यमित्र के राज्यकाल में अशोक की पोषित बुद्ध निष्ठा विकृत हुई हो, और उसके धर्मांध स्वरूप ने ऐसे अवसर उपस्थित किए हों कि उसके विरुद्ध वैदिक धर्म को सबल बन शासन के सहयोग में उत्थान करना पड़ा हो, और सम्भवतः उसी संक्रमणकाल में आचार्य शंकर जैसी विभूति ने जन्म लिया हो। यह स्वाभाविक है कि बुद्ध एवं जैन धर्म-पोषक तत्कालीन शासकों का नाम लेना भी 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि नगच्छेज्जैन मन्दिरम्' के नियमानुसार उचित नहीं समझा हो, और विक्रमादित्य का आविर्भाव न होने के कारण उसका भी कहीं उल्लेख नहीं आ सका हो। इस प्रकार का सन्धिकाल यही पुष्यमित्र का समय हो सकता है, अन्यथा विक्रम के पश्चात् होनेवाले आचार्य द्वारा सर्वविजय और धर्म प्रतिष्ठा प्रशस्ति का कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाना यही ज्ञापित करता है कि उनका जन्म विक्रम पूर्व है। यदि मतान्तरानुकूल वे पाँचवीं शताब्दी से लेकर नौवीं शताब्दी के मध्य में उत्पन्न हुए हैं, तो यह काल जैन या बुद्ध धर्म की इतनी उग्रता का नहीं है जिसमें ऐसी कटुता आ गई थी कि पराभव के लिए आचार्य को उग्र शक्ति साधना करनी पड़े। बल्कि यह पाँचवीं सदी से नववीं सदी तक का काल तो प्रायः 'परम भागवत' महाराजाधिराजों के शासन का ही रहा है। यदि इसमें शंकराचार्य का जन्म स्वीकृत किया जाए तो भी चौथी सदी से पाँचवीं तक के सम्राट् समुद्रगुप्त और उसके आत्मज चन्द्रगुप्त (२) का शासन भारत का सुवर्णकाल ही था। कहीं न कहीं उस वैभव की देश की समाधान स्थिति का किसी प्रकार उल्लेख होना आवश्यक था। इस समय जिस प्रकार क्रमशः शक हूणों के प्रभाव विशेष, और आक्रमणों का अवसर उपस्थित था, उतना जैन या बुद्ध का नहीं था, परचक्राक्रमण के कारण धार्मिक आघात होते रहते थे, परन्तु कहीं भी अशोक या कुषाण काल के सिवा बौद्ध-जैन प्रभाव का प्रसंग विशेष उपस्थित नहीं हुआ था, इस कारण भी यही ज्ञात होता है कि जिन विद्वानों के मतों में शंकर का जन्म ईसवी सन् के पूर्व में है वह अशोक के पश्चात् एवं विक्रम से प्रथमकाल में जो एक ऐतिहासिक अंधकार है उसी में सम्भव हो सकता है। किसी भी शासक का उल्लेख न होना भी इसी अंधकारावृत भारत-दशा का प्रतीक हो सकता है। यही कारण है कि अशोक काल में बौद्ध धर्म ने जिस प्रकार चीन-जापान-स्याम तिब्बत आदि में प्रवेश पा लिया था, उनके उत्तरकाल ही में शंकर जैसी शक्ति के प्रकट हो जाने से, बल्कि उनकी प्रचण्ड प्रचार-प्रतिष्ठा से पराभूत हो वह बौद्ध धर्म यथाक्रम भारत से बाहर ही पोषण प्राप्त करता रहा होगा। कुषाणों के क्षणिक-काल में उसके पुनः प्रचार प्राप्त कर लेने पर भी वैदिक धर्म की जागृति के कारण वह विशेष समय टिका नहीं रह सका होगा। जो भी हो, यह विषय अत्यन्त विचार और विवेचन का आकांक्षी है।

हाँ, जिस समय भगवान् शंकराचार्य की विजय वैजयन्ती इस अध्यात्म प्राण भारतवर्ष पर चतुर्दिक फहरा रही थी, उस समय हमारी यह अवन्तीजनपदस्थ उज्जैन नगरी भी वैभवपूर्ण बनी हुई थी। मध्यभारत की प्रतिष्ठा उस समय भी अपूर्व रही है, यह स्वयं आचार्य के उल्लेखों से ही ज्ञात हो सकता है। जिस समय दक्षिण भारत के प्रवास से चलकर वे ब्रह्मज्ञान-सम्पादनार्थ सद्गुरु के सन्निधान प्राप्त करने के लिए उत्तर दिग्भाग में चले, तब नर्मदा तटवर्ती गोविन्दाचार्य की सेवा में आकर प्रस्तुत हुए। उन्हें शैशव में ही अपने शास्त्र शिक्षक से यह ज्ञान हो गया था कि महाभाष्य प्रणेता पतञ्जलि का वर्तमान अवतार वर्तमानकाल में गोविन्दाचार्य ही हैं। उनकी सेवा में लगभग तीन वर्ष रहकर इसी मध्यभारत भूमि में आचार्य शंकर ने, अपनी वय के अल्पकाल ही में अद्वैत-वेदान्त की सफल साधना की है और उसी समय कई चमत्कृतिकर कार्य किए हैं, जिनसे शंकराचार्य की महत्ता सहज ही प्रकाश में आने लग गई थी।

श्री सूर्यनारायण व्यास ज्योतिपाचार्य

आचार्य शकर के प्रभावकाल ही मे मध्यभारत की पश्चिम दिग्भागस्थ हैहयाधिष्ठित राजधानी माहिष्मती अपनी विशिष्टताओ को लेकर स्वतत्र महत्त्व रखती थी, ज्ञान-विज्ञान और वैभव का तत्कालीन विशिष्ट केन्द्र वनी हुई थी। उस समय 'दिग्विजय' ग्रंथ मे उल्लेख है कि आचार्य शंकर के साथ, माहिष्मती के महापण्डित मण्डनमिश्र का, जो ब्रह्मदेव के अवतार-स्वरूप माने जाते थे, जवरदस्त शास्त्रार्थ हुआ था। मण्डनमिश्र की असाधारण विद्वत्ता की यह ख्याति आचार्य के इस दिग्विजय मे वर्णित है। जिस समय आचार्य ने माहिष्मती मे (आधुनिक होलकर राज्यान्तर्गत महेश्वर नाम से प्रसिद्ध नगर है) प्रवेश किया, वे मण्डनमिश्र के स्थान से अनभिज्ञ थे। उन्होने पथ पर जानेवाली पनिहारिनो से पूछा कि मण्डनमिश्र का मकान कहाँ है? इस पर जो उत्तर उन्होने दिया, वह श्लोक वहुत प्रसिद्ध है; वह यह है—

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्ध जानीहि तन् मण्डन पंडितौकः॥ और
जगद् ध्रुवं स्याज्जगदध्रुव स्यात्कीरांगना यत्र गिरं गिरन्ति। द्वारस्थ......................"

अर्थात् वेद स्वत प्रमाण है, या परत प्रमाण है, जगद् ध्रुव है या अध्रुव, इत्यादि वातो पर जहाँ दरवाजे पर पीजरो मे टँगी हुई मैना विचार कर रही हो, समझ लीजिए कि वही मण्डनमिश्र का मकान है। आचार्य शंकर को केवल इसी चर्चा ने विस्मित कर डाला था, और जव वे शास्त्रार्थ के लिए वहाँ पहुँचे तो दो विवादशील विद्वानो के वेदान्त-विवाद का मध्यस्थता द्वारा निर्णय करने के लिए स्वय मण्डनमिश्र की सरस्वती-प्रतिभ विदुषी धर्मपत्नी ने कार्य सम्पादित किया था, यह कथा नही, आचार्य शंकर की वास्तविक जीवनी का प्रामाणिक विवरण है और मालव की माहिष्मती नगरी का महत्त्व है। जहाँ मण्डनमिश्र जैसे महाविद्वान् रहते हो, उनकी भार्या जैसी महाविदुषी महिला मण्डलालंकृता देवी रहती हो, वहाँ की सभ्यता कितनी ऊँची होगी जहाँ ये पंजरवद्ध पक्षि भी वेदान्त विज्ञान विवेचन-क्षमता रखते हो।

इसी प्रकार जव आचार्य प्रवर ने दिग्विजय-यात्रा प्रसग मे उज्जयिनी का प्रवास किया, उस समय महाकालेश्वर मन्दिर के दर्शन भी किए है, और वहाँ मन्दिर के अगरू-सुरभित वातावरण से परितृप्त हो, दिव्य मणि-मण्डित सभा-मण्डप मे विश्रान्ति ग्रहण करने का वर्णन जैसा सुन्दर रसमय किया है, वह उद्धृत करने योग्य है :—

(१) इति वैष्णव-शैव-शाक्त-सौर-प्रमुखानात्मवशं वदान्विधाय,
अतिवेलवचोझरीनिरस्तप्रतिवाद्युज्जयिनी पुरीमयासीत् ॥७६॥
(२) सरदि प्रतिनादितः पयोदस्वनशंकाकुलगेहकेकिजालैः।
शशभृन्मुकुटार्हणा मृदंगध्वनिरश्रूयत तत्र मूर्च्छनाशः॥
(३) मकरध्वजविद्विडाप्तविद्याश्रमहृत्पुष्पसुगन्धवन्मरुद्भिः।
अगरूद्भवधूपधूपिताशं स महाकालनिवेशनं विवेश॥
(४) भगवानभिवन्द्य चन्द्रमौलिं मुनिवृन्दैरभिवन्द्यपादपद्मः।
श्रमहारिणि मण्डपे मनोज्ञे स विशश्राम विसृत्वर-प्रभावः ॥७९॥ (सर्ग १५)

महाकालेश्वर-मन्दिर मे आचार्य ने विश्रान्ति ग्रहण करके उज्जैन निवासी तत्कालीन महाविद्वान् वेद-व्याख्याता भट्ट भास्कर को शास्त्रार्थ के लिए आमत्रित किया था। मालव-प्रदेश की ज्ञानोज्वल प्रतिभा का यह प्रमाण है कि उसके विभिन्न भू-भागों मे अनेक शास्त्र प्रवीण पुरुषो का प्रसार हो रहा था। शकराचार्य-प्रवर के उक्त वृत्त से जहाँ उज्जैन का वैभव और पाडित्य प्रदर्शित होता है, वहाँ 'दिग्विजय' के एक दो पद्याशो से पुन एक शका भी सहज उत्पन्न हो जाती है। उक्त दिग्विजयकार ने १५वे सर्ग के १४१ वे श्लोक मे यह भी वतलाया है कि अवन्ती मे प्रसिद्ध वाण-मयूर-दण्डि प्रमुख पडितो को भी वाद मे पराभूत कर अपने भाष्य के श्रवण करने के लिए उत्सुक वना दिया था।* सम्भवत· यह श्लोक क्षेपक हो। किसी आचार्यानुगामी ने दिग्विजय मे पीछे से जुड़ा दिया हो, नही तो सातवी शताव्दी मे जन्म लेनेवाले कान्यकुब्जेश्वर श्रीहर्ष की राजसभा के पडित-वाण और मयूर को आचार्य के समकालीन घोपित कर देने मे कैसी सगति जुड सकती है†।

* स कथाभिरवन्तिषु प्रसिद्धान्विवुधान् वाणमयूर-दण्डिमुख्यान्।
शिथिलीकृतदुर्मताभिमानान् निजभाष्यश्रवणोत्सुकांश्चकार ॥१४१॥

† 'अहो प्रभावो वाग्देव्याः यन्मातंगदिवाकरः। श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो वाण-मयूरयोः॥" —राजशेखर।

आचार्य शंकर और मालव महिमा

यदि 'दिग्विजय' प्रणेता माधवाचार्य एवं नृसिंह सरस्वती को केवल शंकर का दिग्विजय अभीष्ट था, तो यह असंगत-घटन उनकी ही पुरातनता के प्रतिकूल बन जाती है। मालूम होता है कि जिस समय वाण-मयूरादि की प्रतिभा प्रकाशित हो रही थी उस समय उन्हें भी आचार्य का अनुगामी बना देने में किसी ने महत्त्व समझा हो। उक्त श्लोक की असंगति का एक और कारण है। वाण-मयूर मुख्य कवि का परास्त करने की कल्पना भी अटपटी-सी लगती है। 'वाण' की 'कादम्बरी' के पाठक जानते हैं कि स्वयं 'वाण' ने भगवान् महाकालेश्वर का कैसा मोहक वर्णन किया है। यदि वह धार्मिक और विशेषतः शैव न होता तो यह अनुरागमयी वाणी कैसे उसके हाथ से प्रस्फुटित होती ? उस 'वाण' के लिए जिसकी कादंबरी के अनेक पृष्ठों में महाकाल और महाकालपुरी का मनोहारी वर्णन है, उसे दिग्विजयकार "शिथिलीकृत दुर्मताभिमानान्" कैसे कह सकते हैं ? मयूर कवि ने भी 'सूर्य-शतक' का निर्माण किया है। उसकी धार्मिक सद्भावना में भी आशंका नहीं उठाई जा सकती। तब दण्डि जैसे कवि पर भी कैसे यह आरोप किया जा सकता है कि ये कवि-गण अधार्मिक थे, जिनके दुर्मताभिमान का मर्दन करने के लिए आचार्य को कष्ट उठाना पड़ा था ! यह सूक्तियाँ किसीने व्यर्थ ही उक्त ग्रंथ में प्रविष्ट करा दी होंगी यही ज्ञात होता है।

दिग्विजयकार ने ऐसी ही एक चर्चा और १५वें सर्ग में की है। शंकराचार्य ने जिन जिन को परास्त किया है उनका उल्लेख करते समय बतलाया है कि शाक्त-पाशुपत, क्षपणक, कापालिक, वैष्णव आदि भी उनमें शामिल थे।*

आचार्य के प्रतिस्पर्धी नाकुलिश-पाशुपताचार्य का उल्लेख तो स्वाभाविक है। वह समसामयिक उज्जैन का महान दार्शनिक पंडित था जिसने शांकर के विपक्ष में अपना पाशुपत दर्शन निर्माण किया था। परन्तु यह वैष्णव कौनसे थे, जिनको कि आचार्य ने परास्त किया ? क्योंकि शैव-स्पर्धी रामानुजों का तो तब तक आविर्भाव ही नहीं हुआ था, यह तो शैव-मत की उग्रता की प्रतिक्रिया स्वरूप ३०० वर्ष पूर्व ही उत्पन्न हुए थे। इसी प्रकार पद्यों के 'क्षपणक' से क्या अभिप्रेत है ? पं० बलदेवजी ने क्षपणक को 'जैन' नाम से ज्ञापित किया है। पता नहीं, यह सम्प्रदाय विशिष्ट अभिधा कैसे ज्ञापित हुआ है। क्षपणक के विषय में यह मान्यता है कि वह बौद्ध भिक्षु था, और यह प्रसिद्ध है कि विक्रमादित्य के नवरत्नों में जिस 'क्षपणक' का नामोल्लेख हुआ है वह बौद्ध धर्मानुयायी था। यदि विक्रम-नवरत्न-सभा का यह भिक्षु क्षपणक माना जाये तो सम्भवतः यह विक्रम पूर्ववर्ती होगा, और आचार्य के (हमारे सूचित) आविर्भाव काल का सदस्य होगा। आगे चलकर यही विक्रम-काल में नवरत्न-सभा में समाविष्ट हुआ हो। परन्तु दिग्विजय-ग्रंथ में क्षपणक का उल्लेख-सातवीं शताब्दी के वाण-मयूर के नामोल्लेख को स्वतः असंगत साबित कर देनेवाला है। और यही कारण है कि 'दिग्विजय' का १५वाँ सर्ग, अनेक असंगतियों के वर्णन से क्षेपक-सा प्रतीत होने लगता है। और इन क्षेपकों से आचार्य की पुरातनता (ईसवी सन् पूर्व की) स्वयं व्यर्थ बन जाती है, और वे आधुनिक ८वीं या ८वीं सदी के प्रतीत होने लगते हैं। परन्तु इसमें क्षपणकादि, जैन-बौद्ध प्रभावकाल में उनके आविर्भाव की कोई संगति भी नहीं ठीक लग पाती।

हमारा तो यह अनुमान है कि वे बुद्ध प्रभावाभिभूत भारत के विक्रम-पूर्व-पुष्यमित्रकालीन वैदिक धर्म जागृति के प्रतिनिधि हैं, जबकि हमारे देश को स्वधर्म प्रतिष्ठापना की परमावश्यकता थी, और इसी काल में पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र की प्रतिष्ठा बढ़ानेवाले 'मालविकाग्निमित्र' प्रणेता महाकवि कालिदास का भी अस्तित्व बहुत संभव होता है। क्योंकि अश्वघोष जैसे बौद्ध विद्वान् और दिङ्नाग जैसों के तिरस्कर्ता कवि के लिए यही उचित समय था, तभी वह अपनी कृति में एक अप्रसिद्ध अग्निमित्र का तो राजपारिवारिक वर्णन तक मार्मिक रूप में अंकित करता है, और विक्रम का उल्लेख भी नहीं। संभव है वह तात्पर्य में 'नृप सखा किल कालिदास' बनकर रह गया हो। हम तो कविवर के उस उल्लेख से भी यही संगति मिलती है, जिसमें उसने महाकवि भास, सौमिल्ल आदि को अपना पूर्ववर्ती मानकर, अपनी नाट्य-कृति उपस्थित की है। उससे स्पष्ट है कि भास के नाटकों से प्रभावित हो, उसने यह मधुर रचना तदनन्तर सहज ही अग्निमित्र के नाम पर राजसभा में प्रविष्ट होने हो की होगी, और पूर्ववर्तियों की प्रतिष्ठा का पद प्राप्त कर लिया होगा, इसी कारण अग्निमित्र जैसों का वर्णन हो गया, विक्रम का अज्ञात रहना स्वाभाविक है। और उसी समय में नवजागृत भारत के धर्मोपदेष्टा शंकर ने भी प्रभाव प्रस्थापित किया होगा। शंकर की काव्य प्रतिभा और माधव, कालिदास की रस-निर्झरिणी से सुस्नात अवश्य विदित होता है।

---

* शाक्तैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवैः।" ॥१६४ सर्ग १५ ॥

मालव-राग

श्रीमती सौ० विजयालक्ष्मी व्यास

जिस मालव-प्रदेश की साहित्यिक समुन्नति ने उसको विभिन्नकाल मे जगत् के समक्ष सांस्कृतिक साम्राज्य के सिंहासन पर आसीन करवाया है उसकी साहित्य-सहयोगिनी संगीत-साधना कितनी समुन्नत और सौधशिखरासीन हुई होगी, कहने की आवश्यकता नही। महाश्वेता की वीणा-विनदित स्वर-लहरी का आकर्षण वाण की कविता-मंजरी को भी सौरभित बनाने मे प्रेरक हो गया था, वासवदत्ता की वीणा-पटुता, और नलगिरी जैसे मत्त गजेन्द्र को वशीभूत कर लेने-वाली 'घोषवती' (वीणा) का स्वर-सधान सस्कृत साहित्य रसिको को सदा विमोहित करता रहेगा। फिर उस वसन्तसेना की सगीत-साधना, एव मधुर-मदस्यदिनी स्वर-लहरी को आज चारुदत्त के चरणो मे चढाते हुए कौन नही जानता ? सम्राट् समुद्रगुप्त की तो यह प्रसिद्धि ही है कि वह परम रसिकाचार्य था, और स्वर-शास्त्र एव वेणु-वादिता मे उसकी समता करना साहस के लिए भी साहस की वात थी। उसके अश्वमेध यज्ञो मे तथा शुगवशीय विदिशाधिराज पुष्य-मित्र के याग प्रसगो पर वीणा के प्रवीण-वादक चारो द्वार पर अपनी स्वर-लहरी निरन्तर प्रवाहित करते रहते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय की रसिकता की कथाएँ इतनी अधिक है कि इतिहास के पृष्ठो पर नेत्र के व्यायाम की आवश्यकता रहती है। अशोक के रसविलास का वर्णन उसके चण्डाशोक से महनीय कीर्ति अशोक के बीच के रस-रहस्य मे सन्निहित है। ध्रुवस्वामिनी की गाथाओ का साक्षी स्वय इतिहास है। परन्तु विक्रम के दीपक-राग-प्रावीण्य की प्रचुर प्रसिद्धि की गाथा दो हजार साल के वाद भी जन-श्रुतियो मे जुड़सी गई है। उसी प्रकार महाकवि कालिदास की रसवन्ती ने जिस रस की सृष्टि की है, उसमे महाकालेश्वर के सान्ध्य-पूजन और ताण्डव-नर्तन से लेकर गंधर्व-यक्ष-किन्नरो की रस-निर्झरिणी तक का समावेश है। उसके नाटकों मे गीतवाद्यो की, गायन-कला-कुशलो की महत्ता और समादर उसके वास्तविक साहित्य-रस की साकार-प्रतिभा के प्रतिभ

मालव-राग

प्रकाश में ला देते हैं। और भोज भर्तृहरि के विषय में कहना ही क्या है? जिन्होंने शृंगार और स्वर-साहित्य पर ग्रंथ सृष्टि का अपनी कला प्रवणता का ही नहीं, मर्मज्ञता का भी परिचय प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिया है। उसी किसी कलोन्नति के पुरातनतम काल में उस 'मालव राग' को जन्म दिया है जिसे पवित्र प्रादेशिक नाम से राग-राष्ट्र में प्रवेशाधिकार मिला है। वह मालव राग अपने प्रदेश की राग-साधना सिद्धि का चिर प्रतीक बनकर अमर बना हुआ है।

परन्तु संगीत स्वर-नाद शास्त्र के पुरातन रूप, रस, और भेदों का मर्म, और तद्रूप अस्तित्व आज के युग में कहाँ रह गया है। राग-राज्य पर विदेशी विभिन्न संस्कारों के प्रभाव पड़ जाने के कारण हमारे अपने रागों से इतना विराग हो गया है कि पुरातनों के अस्तित्व नामशेष रह गए हैं, और कुछ को तो विस्मृति में विलीन ही हो जाना पड़ा है। उनकी रूपरेखा का भी ज्ञान हमारा दयनीय बन गया है।

आवन्ती, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, पाली भाषा में आज कितनों का अस्तित्व है? आवन्ती तो आज इतिहास स्मरणीय हो ही रहा है। इसी प्रकार नाट्यों की रीतियों में से 'आवन्ती' का प्रयोग प्रच्छन्न ही है। तब राग-मालिकाओं के मध्य से यदि 'मालव राग' का भी भुला दिया जाने लगे तो आश्चर्य का कारण नहीं। आज के रागानुरागी व्यक्तियों के ज्ञान की निधि तो इतनी अल्प है कि वे उसीपर चाहे अपने वैभव का गर्वोन्माद क्यों न सेवित करते हों, परन्तु उनके अन्तर की स्थिति ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले उन पूंजीपतियों की प्रतिष्ठा के अनुरूप है जिनका कोष दारिद्र्य राशि पर रजत आवरण डालकर व्यय की प्रदर्शिनी लगाये रहता है।

आज यह बतलाना असम्भव है कि राग-शास्त्र में 'मालव' की महत्ता किस प्रकार है? उसके विश्लेषण, राग के अन्तर्गत विभेदों से हम परिचित नहीं हैं, परन्तु इतना स्पष्ट है कि चाहे संगीत के किसी ग्रंथ में उक्त राग का उल्लेख आया हो या न हो इस राग का प्रयोग स्वतंत्रतापूर्वक हुआ अवश्य है। कुछ लोग 'मालकस' को ही 'मालव-कौशिक' का अपभ्रंश या विकृत रूप बतलाकर शब्दशास्त्र की शस्त्र क्रिया द्वारा अपना ज्ञान प्रकट करते हैं, और कुछ लोग 'मारवा' को 'रलयोरभेद' के न्यायानुसार 'मालवा' का रूपान्तर प्रदर्शित करते हैं, परन्तु ये दोनों ही बातें वैयक्तिक खींचातानी, और अज्ञान का दयनीय प्रदर्शन ही है। इन निरर्थक कल्पनाओं से किसी राग विशेष की अन्य राग पर प्रतिष्ठापना कर देने से उद्देश्य सिद्धि नहीं होती, न उसकी मौलिक भावना, और महत्त्व की स्वतंत्रता का ही भान होता है। मालव या अन्य अनेक राग, स्वर, आदि न जाने किन किन कारणों और न जाने किन समयों में नामशेष भी नहीं रहे हैं। परन्तु राग शास्त्र के अन्दर उनके समावेश न होने से ही उनके न होने की कल्पना कर लेना सुसंगत एवं तर्कशुद्ध नहीं होगा।

जो वस्तुएँ किसी कारणवश किसी ग्रंथ विशेष में प्रवेश पाने से रह गई हों तो वे अस्तित्व नहीं रखती थीं, यह तर्क उचित नहीं है। कई बातें अति प्राचीन ग्रंथान्तरों में उल्लेख पाकर जीवित रह गई हैं, और उनका उस विषय के शास्त्र ग्रंथ में पता नहीं। संगीत या कोई भी विषय इसके अपवाद नहीं रह सकते। मालव राग का नाम, अति पुरातन प्रख्याति प्राप्त है। अवश्य ही संस्कृत साहित्य में उसके उदाहरणों का उल्लेख अधिकता नहीं, किन्तु है अवश्य। रस राज, शब्द-सुरसरी का एकमात्र भागीरथ मधुर मन्दस्पन्दिनी सुकुमार सुन्दरी कविता का कान्त जयदेव कवि, संस्कृत साहित्य के विलास वैभव का रसिक-सम्राट है। उसका काव्य गेय है। और गीतिकाव्य के विभिन्न प्रयोगों को उसने सहज, किन्तु साधिकार प्रयोग किया है। जयदेव की संगीत प्रवणता पर कोई भी संगीत मर्मज्ञ अंगुलि निर्देश करने का सामर्थ्य नहीं रख सकता। वह विभिन्न राग रागिनियों का न केवल ज्ञाता ही, अथच उनका सफल प्रयोक्ता भी रहा है। जयदेव की वाणी ने जो अमंद-अविरल रस-धार प्रवाहित की है, वह विभिन्न राग रागिनियों में ही स्रवित हुई है। जयदेव ने अपने गीत-गोविन्द (जिसका नाम ही गीति प्रावीण्य का प्रमाण है) नामक गेय-काव्य में प्रथम पद्य ही 'मालव राग' में ग्रथित कर, काव्य में अग्र प्रथम-स्थानीय बना दिया है। मालव राग का यह सम्मान, जयदेव के काल में उस राग की लोकप्रियता और सर्वमान्यता का प्रमाण ही कहा जा सकता है, अन्यथा वंग भूभाग का यह रसिक शिरोमणि जयदेव, किसी अपने अन्य प्रिय-राग, या प्रादेशिक संगीत का सहज ही प्रथम प्रयोग कर सकता था। पर उसने सब प्रथम 'मालव राग' से गीति-काव्य का आरम्भ कर, अपनी मालव

रागानुरागिता और तदीय विशेषता का स्वीकार ही सूचित किया है। गीत-गोविन्द-काव्य का यह प्रथम 'गीत' मालव-राग के उदाहरण स्वरूप यहाँ हम उपस्थित करते हैं, वह इस प्रकार है :—

[मालव-रागे, रूपकताले, अष्टपदी ?]

(गीतं)

प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदम्!
विहितवहित्र चरित्रमखेदम्!
केशव, धृतमीनशरीर,
जय जगदीश हरे! (ध्रुव)

क्षितिरतिविपुलतरे तव तिष्ठति पृष्ठे।
धरणीधरणकिणचक्रगरिष्ठे।
केशव धृतकच्छपरूप
जय जगदीश हरे ॥२॥

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना,
शशिनि कलंककलेव निमग्ना,
केशव धृतसूकररूप
जय जगदीश हरे ॥३॥

इस प्रकार दशावतारो का इस पद्य मे क्रमश. वर्णन ११ पदो मे मालव-राग मे रूपक-ताल, और अष्टपदी मे किया गया है।

इसके वाद विभिन्न पाँच रागो मे अन्य गीतो के देने के वाद पुन 'मालव-राग' का दूसरा उदाहरण भी गीत-गोविन्द ही मे दिया है। परन्तु इस वार उसके ताल-लयादि मे भेद कर दिया गया है, अर्थात् मालव राग को अन्य भेद मे प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय सर्ग का यह अन्तिम गीत निम्नप्रकार है :—

[मालवरागे, एकताली-ताले अष्टपदी २]

(गीतं)

निभृत-निकुंजगृहं गतया, निशि रहसि निलीय वसन्तम्!
चकितविलोकितसकलदिशारतिरभसभरेण हसन्तम्।
सखि हे, केशिमथन मुदारम!
रमण मया सह मदन मनोरथ भावि तया सविकारम्! (ध्रुव)
प्रथमसमागमलज्जितया पटुचाटुशतैरनुकूलम्।
मृदु-मधुरस्मित भाषितया शिथिलीकृतजघनदुकूलम्।
सखि हे, केशिमथन मुदारम!
किसलयशयननिवेशितया, चिरमुरसि ममैव शयानम्!
कृतपरिरंभणचुम्बनया परिरभ्य कृताधरपानम्।
सखि हे, केशिमथन मुदारम!

कविवर जयदेव ने मालव-राग के उक्त दो भेदों के अतिरिक्त एक और राग मिश्रित रूप मे सप्तम सर्ग के आरंभिक गीत मे प्रकट किया है। यह गौड मालवराग है। गौड-मल्हार जिस प्रकार रागो मे प्रसिद्ध है, उसी प्रकार यह मालव का 'गौड-मालव' भेद है इसका उदाहरण भी यह है :—

(गीतं)

[गौड़-मालव रागे प्रतिमंठताले, अष्टपदी]

कथितसमयेऽपि हरिरहह नययौवनम्। मम विफलमेतदनुरूपमपि यौवनम् ॥
यामि हे, कमि शरणं, सखीजनवचनवंचिता ॥ (ध्रुव०)
यदनुगमनाय निशि गहनमपि शीलितम्। तेन मम हृदयमिदमसमशरकीलितम् ॥ (यामहे०)

गीत-गोविन्द का प्रणेता कविवर जयदेव वारहवी शताव्दी मे उत्पन्न हुआ था। आज से अनेक शताव्दियो पर 'मालव राग' के विभिन्न भेदों का ही उसे परिचय नही था, किन्तु उस समय के लोकप्रिय राग होने के कारण उसने अपने काव्य मे भी ताल-स्वर के भेदान्तरो से स-सम्मान उक्त राग के प्रति प्रयोगात्मक आसक्ति भी प्रकट करदी है, मध्यकालीन शंकुक, जो

मालव-राग

मालव नवरत्नों में सम्मान स्थानासीन बने हुए ह वे भी सगीत शास्त्र के श्रेष्टतम पडितो म मानित थे, चाहे उनके ग्रन्थो का कही पता न चलता हो, परन्तु मालव-राग पर उनके अनेक आविष्कारो की किम्वदन्ती प्रख्यात है।

स्वय 'सगीत कलाधर' नामक सगीत-शास्त्र के प्रामाणिक और विशाल ग्रथ में मालव-राग के विषय में विविध वर्णन प्राप्त होता है। उसके स्वर भेद वर्णन नामक पचम-कला विभाग के अन्त में स्पष्ट सूचित किया है कि "भरत मुनि ने नारद मुनि के सम्मुख मालवा, राग, श्रीराग, और मनोहर का मिश्रण करके जिस राग का गायन किया उसका नाम 'राजहस' प्रसिद्ध हुआ। अर्थात् मालव राग के विभिन्न मिश्रण का यह स्वरूप था। आज राग-ससार में हनुमन्त-मत का विशेष प्रचार है, और उसके नियमानुसार ६ रागों की प्रमुखता है, उनम पचम राग जिसे 'श्रीराग' सज्ञा है।, उसकी जो रागिणियां ह, वे पाच ह, जिन्हें राग की 'स्त्री' माना गया है, और ८ पुत्र ह। उक्त श्रीराग के आठ पुत्रो में १ सिंधु, २ मालव ३ गौड, ४ गुणसागर, ५ कुभ, ६ गभीर, ७ शकर, ८ विहागडा की गणना ह। हनुमत-मतानुरूप 'मालवा-राग को श्री राग का द्वितीय पुत्र प्रथित किया है।

मारवा, और मालकस को जो लोग, 'रूपो रभेद' समझकर 'मालवा' बतलाना चाहते ह, यह तो कदापि उचित नही है। 'मारवा' सर्वथा भिन्न ह। वह मारू मे 'मारवा' ह। और यह 'मालकस' का पुत्र राग है, जिसका एक भेद 'मेवाडा' भी है, जो स्पष्ट ही मरुभूमि, मेवाड आदि से अपना प्रादेशिक सम्बन्ध सूचित करता ह। जिस मालश्री को 'मालव श्री' के 'अपभ्रश' रूप में कहा जाता ह, वह भी 'रागश्री' की 'भार्या रागिणी' है। उसका स्वतत्र राग-स्थान नहीं है। ये सभी 'मालकस' के भेदो म ही मान्य ह।

जिस 'श्रीराग' के अष्ट पुत्रो में 'मालव राग' की मान्यता है वह 'श्रीराग' भी शुद्ध राग है। उसका निर्माण किसी मिश्रण से नही ह। महादेव के पश्चिमाभिमुख से उसकी उत्पत्ति मानी गई है। कुछ शेषनागोत्पन्न भी मानते ह। इसी 'श्रीराग' की पाँच भार्याओं में 'मारवा' का स्थान है, जिसका खरज, शुद्ध, रिखब, कोमल, गधार, तीव्र, मध्यम तीव्र, धैवत कोमल और निषाद तीव्र इस प्रकार ६ स्वर आते ह, पचम इसमें वर्ज्य है। ग्रह-स्वर रिषभ है। मध्यम और धैवत इसमें न्यास है। और वादी-स्वर धैवत ह। सवादी मध्यम-तीव्र है, और यह मारवा-रागिणी गौरी परज एव सोरठ के सम्मिश्रण से निर्मित है। परन्तु 'श्रीराग' के आठ पुत्रो में जिसे 'मालव' राग माना जाता है वह 'विभास गौरी और परज' से मिश्रित होकर राग रूप प्राप्त करता ह, अतएव जो लोग मारवा को ही मालवा कहते ह, वे सगीत के भेदो के अज्ञान व गभीर भूल एव व्यर्थ दम्भ करते है। सगीत के विविध मतान्तरो के अनुसार भी मालव राग का प्रचार और अस्तित्व सिद्ध है। यथा शिवमत के अनुरूप 'श्रीराग' का ही एक भेद 'मालव' को माना ह। और उनकी यह मान्यता ह कि यह राग (मालवा) शाम के समय गाया जाता है।

ठीक 'शिवमत' के अनुसार ही कृष्ण-मत भी, (अथवा कल्लिनाथ मत) मालव राग को श्रीराग का ही पारिवारिक स्वीकृत करता है। परन्तु भरत की मान्यता के अनुकूल, मालव राग 'श्रीराग' के उपरागो में परिगणित न होकर 'हिंडोल' राग (के पुत्र रागरूप) में स्वीकृत किया गया ह, इतना अन्तर है। इस सम्बन्ध में 'सगीत कलाधर' नामक सगीत शास्त्र के विशद ग्रथ म विस्तृत विवरण ह। महाकवि जयदेव तथा अन्य सगीत प्रवीणो ने प्रादेशिक नामों से सम्बन्धित विभिन्न रागो का नामोल्लेख किया ह, जसे विराडी, वैराडी, देश विराडी, कर्नाटकी, माली-गौर, देशक राग, गुजरी, जौनपुरी सुल्तानी, मुल्तानी, आशावरी, ईमन, पुरिया, गौड-मल्हार, और मिया मल्हार आदि अनेक नाम ऐसे ह, जिनका वर्तमान समय में प्रचार नहीं है, तथापि वे अस्तित्व रखते थे। मालव राग के उदाहरणो का अभाव उसके प्रचाराभाव को आभारी ह। परन्तु जयदेव के काव्य के संस्कृत उदाहरण से यह प्रतीत होता ह कि मालव-देश में जिस काल म संस्कृत का प्रचार बाहुल्य था, उस समय मालव-राग तो प्राधान्य रहा होगा। धीरे धीरे प्राकृतादि के प्रवेश से इस राग का प्रचार शिथिल पड गया होगा। जिसके फलस्वरूप आजके अनेक सगीत प्रवीणो म मालव राग विषयक ज्ञान का अन्धकार ही बना हुआ है। रहासहा प्राचीन राग शास्त्र अपनी विज्ञान विशेषता एव सगीत की सीमा को छोड सीमा में सिमिटता चला जा रहा है।

मालवा के शासक

श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

१

प्राचीन काल से मराठों तक

भारतीय इतिहास मे मध्यदेशान्तर्गत अवन्ति-मालव प्रान्त तथा उसकी राजधानी उज्जयिनी का सांस्कृतिक एवम् भौतिक कारणो से अपार महत्त्व है। उत्तर-दक्षिण और पूर्व पश्चिम दिशा का ऐसा कोई पराक्रमी सम्राट् या राजा नही हुआ, जिसने इस प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित करने मे गौरव न समझा हो। धार्मिक दृष्टि से मोक्षदायिनी सप्तपुरियो मे उज्जैन भी गिनी जाती है, यथा—

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका। पुरी द्वारावतिश्चैव सप्तैता मोक्षदायिका॥

"**मालव धरती गहन गँभीर। मग मग रोटी पग पग नीर।**" इस लोकप्रिय उक्ति के अनुसार इस प्रदेश को सुजला, सुफला कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, अतएव ऐसे प्रदेश की सहायता से वैभव-सम्पन्न बनना किसे नही भावेगा? भूगर्भवेत्ता तथा इतिहासकारो का तो यहाँ तक कथन है कि कल्पान्त जल-प्रलय के समय भी केवल यही विन्ध्य-कटि प्रदेश, विन्ध्य-मेखला-प्रात उस घटना से अछूता रहा।

पूर्वकालीन ऐतिहासिक पुराणयुग के मालवा-प्रान्त का इतिहास लोकोत्तर है। इस भूमि को महाराजा मान्धाता, कार्तवीर्य-सहस्रार्जुन, राजा रतिदेव आदि जैसे महान् नरपुरुषो ने भूषित किया है, जिनके नाम भारतीय संस्कृति के विशिष्ट अर्थद्योतक प्रतीक बन गए है। ऋषिवर्य सादीपनि, भगवान् कृष्ण, बलराम, सुदामा आदि पुराण-पुरुष तथा गन्धर्वसेन, विक्रमादित्य, भर्तृहरि, मत्स्येन्द्रनाथ, मैनावती, गोपीचन्द आदि महापुरुषो से इस प्रान्त का सम्बन्ध रहा है, किन्तु इस लेख की सीमा तो केवल इतिहास-युग ही है। हमने इन्दौर, उज्जैन, धार आदि स्थानो के सार्वजनिक और कई व्यक्तिगत पुस्तक-संग्रहालय छानकर इस लेख के प्रणयन के लिए एक बृहत् सन्दर्भ-सूची सकलित करने का प्रयत्न किया, जिससे कहा जा

सकता है कि वेद, ब्राह्मण, रामायण, महाभारत के विभिन्न पर्व, विविध पुराण, बौद्धग्रंथ, जैनग्रंथ, कौटिल्य, पाणिनि, भास, राजकवि शूद्रक, गुणाढ्य, कालिदास, भवभूति, बाण, वात्स्यायन, भास्कराचार्य, राजशेखर, जयदेव आदि कवियों के ग्रंथान्तर्गत उल्लेख, ग्रीक, चीनी, मुसल्मान, अंग्रेज यात्रियों के वृत्तान्त आदि साधनों से तत्कालीन प्राचीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यथा ऋग्वेद में भोज तथा सत्वत वंशों का, ऐतरेय ब्राह्मण में भोज तथा सत्वत के समकालीन होने (मत्स्य-वायु), शतपथ ब्राह्मण में भरत द्वारा सत्वत को हराने, रामायण के अयोध्या तथा किष्किन्धाकाण्ड में यहाँ के मावुओं का सीताशोध और रावण युद्ध में सम्मिलित होना, महाभारत में मालवाधीश विंद और अनुविंद का युद्ध में भाग लेने (नर्मदा संहिता), सभापर्व में सहदेव की दिग्विजय, भीष्मपर्व में अवन्तिका का भूगोल, वनपर्व में अवन्ति-वर्णन, मत्स्यपुराण में पालित के पुत्र प्रद्योत का राज होने, अवन्ति में यदुवंश का राज्य, वायुपुराण में हैहयवंश कार्तवीर्यार्जुन, लिंगपुराण में कार्तवीर्यार्जुन से अवन्ति विक्रय करने, विष्णु, अग्नि और पद्मपुराण में सोलह महाजनपदों में अवन्ति होने, स्कन्दपुराण का अवन्तिखंड, अग्निपुराण में वसुदेव की कन्या का अवन्ति में विवाह, बौधायनसूत्र, श्रीमद्भागवत, हरिवंश आदि के उल्लेख, बौद्धग्रंथान्तर्गत मालवा सम्बन्धी वर्णन (महागोविन्द सुत्त में माहिष्मति के राजा वसुबन्धु, अंगुत्तरनिकाय में अवन्ति वर्णन, मज्झिमनिकाय में चण्डप्रद्योत, महावग्ग, महाबोधीवंश, धम्मपद की टीका में वासवदत्ता) पाणिनि की अष्टाध्यायी में अवन्ति, पातञ्जलि के महाभाष्य, कात्यायन के वार्तिक, गर्ग की संहिता उत्पलाचार्य की टीका, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हैहयवंश द्वारा नागवंश का निपात, बृहत्संहिता में अवन्ति, जैन ग्रंथों में भगवान महावीर का अवन्ति में पर्याय-ज्ञान प्राप्त करना, बृहत्कथा, ज्योतिर्विदाभरण, हाल राजा की प्राकृत सप्तशति, वात्स्यायन का मालव स्त्रियों के सौंदर्य का वर्णन, सुबन्धु की वासवदत्ता, धर्मदास कृत बाण सम्बन्धी विदग्धमुखमण्डन, बाण की कादम्बरी तथा उज्जयिनी के राजपुत्र चन्द्रापीड का वर्णन, बृहत्कथार्णव, पद्मगुप्त, मण्डनमिश्र की स्त्री सरस्वती का वाक्पाण्डित्य, गणितज्ञ भास्कराचार्य की कन्या लीलावती का अवन्ति में श्वसुरालय, आशाधर, भवभूति, सुबन्धु, अमरकुमार, ईशदत्त, धनपाल, कात्यायन आदि महापंडितों का मालवा से सम्बन्ध, जीवक भिषगाचार्य के द्वारा प्रद्योत की चिकित्सा, बाल रामायण, रत्नावलि, कथासरित्सागर आदि ग्रंथों में अवन्तिका का वैभव तथा भास-कालिदास से लगाकर भोज प्रबन्धकार बल्लाल तथा सुदूर दक्षिण के बालाजी पर्वतीय कवि वेंकटाध्वरि के विश्वगुणादर्श चम्पू (१७वीं सदी) में, ग्रीक, चीनी, यूरोपीय तथा मुसलमान यात्रियों (यथा एरियन, मैंगस्थनीज, टालमी, ह्वेनसांग, अल्बरूनी, टैवेनियर, मेलेट आदि प्रवासियों) और ऐतिहासिक मराठी, फारसी आदि पत्र-व्यवहार में इस प्रान्त का जो वर्णन पाया जाता है, उस बृहत् सामग्री का सम्पादन और समीकरण अत्यन्त परिश्रम, समय तथा द्रव्य साध्य विषय है। इन्दौर के अखिल भारतीय-साहित्य-सम्मेलन तथा महू के प्रान्तीय-सम्मेलन ने प्रान्तीय इतिहास प्रणयन सम्बन्धी हस्व दस्तूर प्रस्ताव भी पास किए, किन्तु मालूम नहीं कि वे कार्य रूप में परिणित कैसे और कब होंगे?

अब हम सबसे पहिले वर्तमान मध्यभारत में सम्मिलित मालवा प्रान्त की सीमा को प्राचीन ऐतिहासिक साधनों के आधार पर निर्धारित करके, फिर उसके वास्तविक अर्थ का विचार करते हुए, प्राचीन इतिहास का विहंगावलोकन करेंगे। हमारी दृष्टि से तो—

इत चम्बल* उत बेतवा† मालव सीम सुजान। दक्षिन दिसि है नर्मदा, यह पूरी पहिचान॥

इस समय जिसको हम हमारी दृष्टि से (आधुनिक अंग्रेजी राजकीय विभाग बुन्देलखण्ड को छोड़कर) मध्य भारत या मालवा कह सकते हैं वह प्राचीन पुराण-काल में अवन्ति देश कहलाता था। उस अवन्ति देश के उत्तरीय विभाग की राजधानी उज्जैन थी तो दक्षिणीय विभाग की माहिष्मती। इस समग्र विभाग को मोटे तौर पर विन्ध्य मेखला या विन्ध्य-कटिबन्ध कह सकते हैं। इसी का पर्याय नाम मालवा है। मालवा के पश्चिम भाग को अवन्ति व पूर्व को दशार्ण भी कहते थे। अवन्तिका की राजधानी उज्जैन थी जिसके भिन्न भिन्न नाम विभिन्न स्थानों पर पाए जाते हैं—यथा कनकशृंगा, अवन्ति, अनूप पद्मावती अमरावती, उज्जयिनी, कुमुद्वती, विशाला, प्रतिकल्पा शिवपुरी पुष्पकरंडिनी आदि। उज्जयिनी

* पश्चिम-उत्तर, † पूर्व।

श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

के दक्षिण नर्मदा नदी का टापू-द्वीप मान्धाता है, जहाँ माहिष्मती नगरी थी। कोई उसे महेश्वर बताते है। भगवान बौद्ध के समकालीन प्रद्योत महाचण्डसेन के आधीन माहिष्मती भी थी। इसके पूर्व तीसरी शताब्दी तक यह प्रान्त उक्त नाम से ही प्रसिद्ध था। उसके अनन्तर वह विशिष्ट कारणो से मालवा कहलाया। अस्तु अब हम मालवा शब्द की उत्पत्ति और उसके यथार्थ अर्थ पर विचार करे। कुछ विद्वान् इसे मा+लव=लक्ष्मी का अश अथवा विभूति बताते है, तो कोई माल-सुफला-उपजाऊ भूमि। एक हिन्दी-भाषी विद्वान् ने तो मल्व शब्द से उसकी उत्पत्ति बताकर विस्तृत विवेचन किया है। मालवा प्रान्त मे अब भी मैदानी और कृषियोग्य जमीन को माल कहते है। मालवा प्लेटो अधिक उपजाऊ, समशीतोष्ण, प्रत्येक प्रकार की वनस्पति फल-फूल तथा धान्य के उपार्जन योग्य होने से वह लक्ष्मी की विभूति भी कही जाए तो अतिशयोक्ति नही होगी। यह भी कहा जाता है कि पजाब प्रान्त की मालव नामक जाति स्थानान्तरित होकर वह इस प्रदेश मे उपनिवेशित हुई और उसी जाति के कारण यह प्रान्त मालवा कहलाया। आर्य ज्योतिषियो का याम्योत्तरवृत्त (First Meridian) इसी प्रान्त की राजधानी उज्जैन से होकर जाता है; अतएव इसे भारत का ग्रीनविच कह सकते है।

अब हम इतिहासकाल से आज तक के उन राजवंशो और तदन्तर्गत शासको का क्रमानुसार विवेचन करेगे, जिनका प्रत्यक्ष और आधिपत्य के नाते इस प्रान्त से सम्बन्ध रहा। मालवे के दो विभाग अवन्ति और दशार्ण मे आरम्भ मे यादवो का राज्य होने का उल्लेख पाया जाता है। माहिष्मती नगरी यादवो के इक्कीस गणराज्यो या जनो मे गिनी जाती थी। अनन्तर कई जन-राज्य सयुक्त रूप से जनपदो मे तथा वे कई जनपद मिलकर महाजनपद कहलाये। ईसा पूर्व ८०० से लगाकर ५०० तक भारतवर्ष मे १६ महाजनपद अग्रगण्य थे, जिनमे अवन्ति, अश्मक (कर्नाटक का भाग) तथा मूलक (प्रतिष्ठान) आदि प्रमुख थे। विदर्भ, मूलक और अश्मक मिलकर ही महाराष्ट्र कहलाता था। भगवान् बुद्ध के समय वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी मे प्रतापी उदयन राज्य करता था। उसका समकालीन अवन्ति बड़ा राज्य था। राजधानी उज्जैन बड़ी मण्डी और दक्षिण का नाका था। भरुकच्छ आदि पश्चिमीय सागर के बन्दरो और दक्षिण से व्यापार-पथ उज्जैन होकर विदिशा से कौशाम्बी की ओर तथा दूसरा मथुरा से कुरु-गाधार को जाता था। अश्मक की सीमा अवन्ति से मिलती थी और मूलक अश्मक मे ही सन्निहित था। अवन्ति के राजा प्रद्योत को चण्ड (डरावना) कहते थे। मथुरा तक उसके राज्य की सीमा थी। वह चक्रवर्ती बनना चाहता था। उसके राज्य और मगध की सीमा के बीच मे वत्सदेश था। वहाँ के राजा उदयन-प्रद्योत सम्बन्धी पुराण तथा नाटक-साहित्य मे बडी मनोरजक कथाएँ अकित है। उसीका आधार अभूतपर्व भारतीय नाट्य स्त्रीपात्र वासवदत्ता है। कहा जाता है कि उदयन हस्तिस्कंध वीणा बजाकर हाथी पकड़ता था। उसको चकमा देकर उसका गर्व हरण करने के उद्देश्य से मालवाधीश प्रद्योत ने एक काष्ठ का यात्रिक विशाल हाथी (जिसके पेट के भीतर कुछ सैनिक छिपाए गए थे) उदयन के आखेट मार्ग पर, अपनी सीमा मे खडा कर दिया। उदयन उस हाथी को पकडने गया तो हाथी उलटा दौड़ा और अन्त मे उसके शरीर के भीतर के सैनिक प्रगट होकर उदयन को कैद करके उज्जैन लिवा लाए। अनन्तर उदयन की सगीत विद्या पर मुग्ध होकर प्रद्योत ने अपनी कन्या वासवदत्ता को वह कला सिखाने पर उसकी नियुक्ति की। निकट सहवास के कारण उन दोनो मे प्रेम उत्पन्न हो गया और उदयन वासवदत्ता को अपने देश ले भागा। उस घटना के कारण मगध के शासक अवन्तिराज से सर्वदा सतर्क रहते थे। यह घटना ईसा पूर्व ५५० की बताई जाती है। भास आदि प्रख्यात सस्कृत कवियो ने इस प्रणय-कथा को अपनी अमर लेखनी से अविस्मरणीय कर दिया है। उक्त घटना के ५ वर्ष के अनन्तर ही प्रद्योत की मृत्यु हुई। महाराजा चण्ड की वीरता, स्वाभिमान और यश अमर है। प्रद्योत के बाद भी अवन्तिका ईसा पूर्व ५५० से ३६६ तक कभी मगध साम्राज्य के काबू मे नही आई; किन्तु बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु के पोते अजउदयी (४८६-४६७ ई० पू०) ने पाटलीपुत्र राजधानी बसाकर मालवा पर चढाई करके उसे जीत लिया। उसका प्रपौत्र महानन्द (४०९-३७४) शिशुनागवशीय था। उसके दो बेटो का अभिभावक महापद्मनन्द उन्हे मारकर स्वय गद्दी पर बैठा। नदवंश ने केवल दो पीढी तक राज्य किया। उसके विरुद 'सर्वक्षत्रातक' 'उग्रसेन' (भयकर सेनावाला) तथा महापद्म (पद्मो धन-वाला) थे। उसके पुत्र धनचन्द के ही समय यवन-सम्राट् सिकन्दर ने भारत पर चढाई करके कैकयदेश के राजा पुरु को हराया था। नन्द सम्राट् को मोरिय जनपद के राजा चन्द्रगुप्त ने मारकर मगध पर अपना अधिकार स्थापित कर दिया (३२२ ई० पू०)। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार ने पश्चिमीय समुद्र तक अपना साम्राज्य फैलाया। उसी समय राजपुत्र अशोक

का स्वीकार किया था, किन्तु बौद्धा और ब्राह्मणा को भी सहायता उनके द्वारा मिली थी। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने मालवगण की सहायता म शका को हराया था, किन्तु जान पडता है कि शक जल्दी ही सँभल गए और उन्हाने शीघ्र ही मालवे से विक्रमवश नष्ट कर दिया। ऊपरले हिन्द (सरहिन्द) खोतान म ऋषिक नामक जाति थी, वही कुशाण का वश था। उसने मथुरा तक अपना राज फलाकर इस तीर्थ को अपनी राजधानी बनाया। उसका पुत्र विमक और उसका पुत्र कनिष्क था। उसका शक शालिवाहन से विक्रम सवत १३५ (सन् ७८) मुल्तान के पास करोड ग्राम में सघर्ष हुआ, उसी विजय के स्मारक म कनिष्क ने शालिवाहन शक सवत् प्रचलित किया, जो कुछ प्रान्ता में आज भी चालू है। सन् ११९ म नहपान ने आन्ध्रो से मालवा छीन लिया किन्तु अनन्तर सन १२५ म उज्जैन पर कनिष्क का अधिकार हो गया। स० ११० में चष्टन महाक्षत्रप उज्जैन में था। उसके पोते रुद्रदामन ने स० १५० तक सम्पूर्ण मालवा अपने अधिकार म कर लिया। शुगा के अनन्तर विदिशा म कुछ दिवस नागा का राज्य था, जिसको नहपान ने जीता था। तीसरी सदी के उत्तरार्द्ध मे अवन्ति और आकर मालवा बना।

नागा ने कान्तिपुरी (मिर्जापुर के पास) अपनी राजधानी बनाई और भारशिव नाम धारण किया। यद्यपि नागवश की दो शाखाएँ पद्मावति (पवाया) और कुन्तलपुरी (कोतवाल) म राज्य करती रही। माहिष्मती—मालवा प्रान्त—में पुष्यमित्र नामक गणराज भी शामिल था। विन्ध्यशक्ति भारशिवा का सेनापती था, उसका पुत्र प्रवरसेन वाकाटक हुआ (२८४ ३४४)। प्रवरसेन सुत गौतमीपुत्र भारशिव भवनाग का जामात था। वही उसका उत्तराधिकारी होने से भारशिव वाकाटक एक हो गए।

इसी समय भारत म एक प्रतापी वश का उदय हुआ, जिसने भारतीय सस्कृति और ब्राह्मणधर्म का बडा सवर्द्धन किया। साकेत, प्रयाग का राजा गुप्त, उसका पुत्र घटोत्कच और उसका पुत्र चन्द्र था, जिसको लिच्छवी राजकन्या ब्याही गई थी। उसीने पाटलिपुत्र राजधानी बनाई। उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने बीना नदी के तटस्थ अरिकिण (एरण) स्थान पर प्रवरसेन-सुत रुद्रसेन का मारा और उसके पुत्र पृथ्वीसेन (३४८-३७५) को दक्षिण चेदी और महाराष्ट्र प्रान्त देकर कायम रखा तथा सभी सामन्ता एवम् मालवा और वहाँ के छोटे छोटे छह गण राज्या ने गुप्तो का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। समुद्रगुप्त महान् पराक्रमी था, जिसने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। समुद्रगुप्त के पुत्र रामगुप्त का नाम इतिहास म कलकित रूप से विद्यमान ह। कुषाणा ने उसके राज पर चढाई की और रामगुप्त को ब्यास नदी के तट पर विष्णुपद पहाडी गढ में घेरकर हराया। तब गुप्त राजा ने अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी भेंट करके सन्धि करली। यह बात रामगुप्त के भाई चन्द्रगुप्त को अपमानजनक मालूम दी। उसने कुषाणा को दे दबाचा और ध्रुवस्वामिनी को छीन लिया, तथा स्वय राज्य का स्वामी बना। यही घटना उदयगिरि गुफा के वराह रूपी शिल्प चित्र मे अकित की गई ह। वही चन्द्रगुप्त मूल विक्रमादित्य घोषित किया है, किन्तु वह कथन ठीक नही है।

पुष्यमित्र गण को समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित करने का हाल पीछे हम कह चुके ह। चन्द्रगुप्त की कन्या प्रभावती वाकाटक पृथ्वीसेन के पुत्र रुद्रसेन को ब्याही थी। उसीका पुत्र हरिषेण अवन्ति का राजा था। सन ५०० ५१० तक तोरमण-हूण मालवा का शासक हुआ। इसी समय मन्दसौर के राजा यशोधर्मन ने मिहिरकुल हूण को हराकर हूणा का नाम सदा के लिए भारत म मिटा दिया (सन् ५२८)। भानुगुप्त बन्धुवर्मा के पुत्र विश्ववर्मा का यशोधर्म के कुछ वर्ष पूर्व मालवा तथा मन्दसौर पर आधिपत्य था, जिसके समय का एक शिलालेख भी मन्दसौर में उपलब्ध हुआ है। वह राजा कुमारगुप्त द्वितीय का माडलिक था (मालव स० ५२९)। बालादित्य के पुत्र प्रकाशादित्य का छठी शताब्दी के आरम्भ म, जो पिछला गुप्तवश कहलाता ह, मगध, बगाल तथा मालवा पर आधिपत्य था। अनन्तर कुरुक्षेत्र के राजा प्रभाकरवर्धन न मालवे पर अधिकार कर लिया। "मालव लक्ष्मी लतापरशु" जैसा उसका वर्णन कविवर बाणभट्ट ने हर्षचरित में किया ह मालवा से उसे विपुल सम्पत्ति मिलना सिद्ध है। गुप्त सम्राटो के मालव सूबेदार महासेन गुप्त न उज्जैन म स्वतत्र राज्य स्थापित किया था और उसने कुमारगुप्त तथा माधवगुप्त का उसे सौंप दिया। महासेन के बेटे देवगुप्त ने कन्नौज पर चढाई की और मौखरी-वशीय गृहवर्मा को मारकर उसकी स्त्री राज्यश्री को कैद कर ले आया। बगाल के राजा शशाक ने भी उसे सहायता की थी।

राज्यश्री थानेश्वर के राजा हर्ष की भगिनी थी; अतएव बदला लेने के उद्देश्य से थानेश्वर-नरेश राज्यवर्धन ने देवगुप्त पर चढ़ाई करके उसे परास्त कर दिया। तब उज्जैन कन्नौज राज्य का सूबा बनाया गया।

राजा हर्ष निपुत्रिक मरा, तब कन्नौज राज्य कमजोर हो गया। माधवगुप्त के पुत्र आदित्यसेन ने मालवा जीत लिया, किन्तु कुछ वर्ष बाद दक्षिण नरेश विक्रम चालुक्य प्रथम के पुत्र विनयादित्य ने आदित्यसेन-पुत्र देवगुप्त से मालवा छीन लिया। सन् ७५३ मे अन्तिम चालुक्य राजा के सामन्त दतिदुर्ग राष्ट्रकूट ने वह राज्य छीन लिया। गुर्जर देश का राजा नागभट्ट प्रतिहार गुर्जर था। उस समय मगध-गौड का राजा धर्मपाल (७७०-८०९) था। उसपर नागभट्ट के भाई के पोते वत्सराज प्रतिहार ने चढाई करके उसे हरा दिया; किन्तु उन दोनो पर राष्ट्रकूट कृष्ण के पुत्र ध्रुव धारावर्ष ने चढ़ाई की (७८३-९३)। इस प्रकार मालवा तथा लाट (गुर्जर) देश के लिए राष्ट्रकूट और प्रतिहारवश मे युद्ध होते रहे। राष्ट्रकूटो ने दोनो को पराभूत किया। अनन्तर ध्रुव के बेटे गोविन्द धारावर्ष ने वत्सराज के पुत्र नागभट्ट द्वितीय (कन्हड़देव) से मालवा छीन लिया (७९४)। इस प्रकार गुप्तो के अनन्तर कई शताब्दियो तक मालवे जैसे सुजला, सुफला प्रदेश पर अधिकार स्थापित करने के लिए कई राजवशो मे परस्पर सघर्ष होते रहे। गुप्तो के समय मालवा प्रान्त की बहुत कुछ उन्नति हुई; किन्तु उस वंश के किसी शासक ने इसी प्रान्त मे रहकर शासन नहीं किया, क्योकि उनकी राजधानी पाटलीपुत्र बहुत दूर थी। साम्राज्य के प्रतिनिधि सूबेदार यहाँपर नियंत्रण करते रहते थे, जिससे गुप्त साम्राज्य के अन्य विभागो की नाई एक प्रान्त मालवा भी एक प्रान्त के रूप में उनके आधीन था। गुप्त सम्राटो ने मालवा प्रान्त की विशेष उन्नति के लिये कोई विशेष प्रयत्न किए हो, ऐसा उल्लेख नही पाया जाता। शकारि विक्रमादित्य के अनन्तर मालवे के खास नाम लेवा प्रतापी राजा यशोधर्मनदेव ही हुए, किन्तु उनके पूर्वज या उत्तराधिकारी का कोई पता नही चल सका। चष्टनवशीय जाहिरा विदेशी थे। उनका मालवे पर २००-२५० वर्षो तक आधिपत्य रहा और वे यहाँ की सभ्यता मे घुलमिल भी गए; किन्तु फिर भी वे मालवीय नही थे। उनके अनन्तर के शासको का अधिकार भी क्षणिक काल ही रहा।

नवी शताब्दी के अन्त मे फिरसे मालवा का भाग्य जागा और उसको स्वराज्य का लाभ मिला, जो लगभग ३०० वर्षो तक खूब पनपा (८७५-१२१६)। अर्बुद प्रदेश पर परमारो का शासन था। उसी वश के एक पुरुष सीयक (श्रीहर्ष) ने मालवे से राष्ट्रकूटो को भगाकर अपना राज्य स्थापित कर लिया। मालवे के उसी परमार वश मे कृष्णराज, वैरिसिंह, सीयकदेव आदि कई विख्यात राजा हुए। विद्वान् नरेन्द्र भोजराज और उनके पितृव्य-पृथ्वीवल्लभ मुजराज के नाम तो विक्रम की नाई ही अमर है। भोजराज (जो भारतीय आगस्टस कहलाए) ने ही उज्जैन के बदले एकान्त-स्थल धारा नगरी राजधानी बनाई। इन चचा भतीजे उभय राजपुरुषो के शासनकाल मे विद्या, कला, व्यौपार आदि मे मालवा प्रान्त की जो अद्भुत उन्नति हुई, वह वर्णनातीत है—

गते मुंजे यशः पुंजे, निरालम्बा सरस्वती।

अर्थात् मुजदेव जैसे विद्वानो के गुणग्राहक राजा के उठ जाने के कारण विद्यादेवी सरस्वती-निराबलम्ब हो गई। यह फतवा पंडितो ने निकाला, जो यथार्थ है, क्योकि मुज-भोज के अनन्तर किसी ने भी भारतीय विद्या तथा कला के उपासको को इतना आश्रय-प्रश्रय नही दिया।

मुज और भोज के शासनकाल मे भी त्रिपुरी-नरेश गागेयदेव, कलचुरि तथा तैलप की युग्म सेना ने मालवे पर चढ़ाई की थी, किन्तु उस सेना को गहरी शिकस्त मिली; जिसके स्मारकस्वरूप धारा नगरी मे एक विजय-स्तभ खडा किया, जो अब भी तेलन की लाट के नाम से प्रसिद्ध है। "कहाँ राजा भोज कहाँ गागली तेलिन" यह प्रसिद्ध हिन्दी कहावत उसी घटना का स्मारक है। उस ऐतिहासिक कहावत का केवल गागेय तैलप के बदले गागली तेलन जैसा निरर्थक विकृत रूप हो गया है। मुज और भोज के ही समय महमूद गजनवी ने प्रसिद्ध सोमनाथ पर चढाई की थी और उसका विचार मालवे को भी लूटने का था; किन्तु मुज और भोज ने सैनिक सगठन करके उसका रास्ता रोक दिया, जिससे वह राजपूताना तथा मालवा का मार्ग छोड़कर कच्छ-सिन्ध होता हुआ वापिस चला गया।

मालवा के शासक

भोजदेव के अनन्तर जयसिंह उदयादित्य (१०५९), लक्ष्मणदेव (१०८६), नरवर्मन् (११०४), यशोवर्मदेव (११३३), अर्जुनवर्मदेव तथा देवपालदेव (१२१६ १२३५) परमारवंशी राजा हुए।

अजमेर के राजा वीसलदेव चौहान के विन्ध्याचल प्रान्त जीतने की घटना दिल्ली के स्तम्भ पर अंकित है, किन्तु वास्तव में उसने मालवे का कौनसा विभाग जीता, इसका स्पष्ट पता नहीं चलता।

परमारों के अनन्तर मालवे पर दुर्भाग्य से विदेशीय यवनों का पराक्रम आया और उसने ५०० वर्षों तक ऐसा आतंक जमाया कि हमारी विशिष्ट मालव संस्कृति का विकास और उन्नति तो दूर रही, यहाँ के प्राचीन चिह्न भी नष्टभ्रष्ट और तितर बितर हो गए। यहाँ तक कि हमारे प्रसिद्ध विक्रमादित्य तथा यशोधर्मदेव जैसे प्रतापी अमर नायकों के यथार्थ इतिहास से भी हम वंचित हो गए। दिल्ली के गुलामवंशीय शमसुद्दीन अल्तमश ने मालवे पर चढ़ाई की, और सन १२३५ में उसने उज्जैन के अनेक मन्दिर और मूर्तियों के साथ ही प्रसिद्ध महाकालेश्वर मन्दिर को भी नष्टभ्रष्ट कर डाला। उसके अनन्तर नसीरुद्दीन ने भी मालवा लूटा। १२९१ में जलालुद्दीन खिलजी ने उज्जैन पर चढ़ाई की, उसके भतीजे और दामाद अलाउद्दीन ने सन १३१० में भेलसा लूटा, तभी से दिल्ली (यवन राज्य) का मालवा पर स्वतन्त्र सूबा बनाया गया। कुछ वर्षों तक तो मालवा के सूबेदार की नियुक्ति दिल्ली से ही होती रही, किन्तु फीरोज तुगलक की मृत्यु के अनन्तर मध्यवर्ती सत्ता को निर्बल पाकर सन् १४०१ में दिलावरखाँ, जो मुहम्मद गोरी का वंशज था, स्वतन्त्र बन बैठा और उसने माण्डू को अपनी राजधानी बनाकर मालवा सुल्तान की स्वतन्त्र शाही निर्माण की। तैमूर के आक्रमण की गड़बड़ी से उसने खूब लाभ उठाया।

दिलावरखाँ का पुत्र अल्पखाँ हुशंगशाह गोरी के नाम से उसका उत्तराधिकारी हुआ (१४०५-१४३४)। उसने माण्डू में कई सुन्दर भवन निर्माण किए। मालवा जैसी सुफला भूमि से लाभ उठाने दिल्ली, जौनपुर और गुजरात के सुल्तान सर्वदा चढ़ाइयाँ करते रहे। गुजरात सुल्तान ने एक युद्ध में हुशंगशाह को पराभूत कर कैद कर लिया, किन्तु शीघ्र ही वह मुक्त कर दिया गया। उसका पुत्र गजनीखाँ उर्फ मुहम्मद गोरी बिल्कुल निर्बुद्धि था। वह उसके मंत्री महमूदखाँ के द्वारा मार डाला गया। महमूदखाँ की बहिन ही मुहम्मद गोरी को ब्याही गई थी। मुहम्मद गोरी अत्यन्त व्यभिचारी और शराबी था, जिससे महमूद खिलजी ही सर्वाधिकारी होकर अन्त में स्वयं सुल्तान बन बैठा।

महमूदखाँ एक खिलजी तुर्क था (१४३६-६९)। उसके राजकाल में मालवा सुल्तानों का बड़ा दबदबा बढ़ा। उसने राजपूताना, गुजरात तथा दक्षिण की बहमनी बादशाहत से भी युद्ध किए। उसका जीवन युद्धों में ही बीता। इतिहासकार फरिश्ता ने उसे बड़ा सच्चा, उदार और न्यायी लिखा है। उसके शासन में हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियाँ सुखी और परस्पर सौहार्द से रहती थीं। सन् १४४० में उसने दिल्ली पर भी चढ़ाई की, किन्तु बहलोल लोदी ने उसे हरा दिया। चित्तौड़ के महाराणा कुंभा पर भी उसने चढ़ाई की थी, किन्तु युद्ध का कोई खास निश्चय नहीं निकला। राणाजी ने चित्तौड़ किले पर विजय-स्मारक कीर्ति स्तम्भ निर्माण किया तो खिलजी ने भी सात मंजिला गुम्बज माण्डू में बनाया, किन्तु वास्तव में राणाजी ने सुलतान को छह मास तक अपने यहाँ कैद रखकर उसकी क्षमा याचना पर उसे छोड़ दिया था। अबुल्फजल ने उसको चरित्रहीन लिखा है। उसके अनन्तर उसका पुत्र गयासुद्दीन तख्त पर बैठा (१४६९), किन्तु उसके पुत्र नसीरुद्दीन ने उसको सन् १५०० में जहर देकर मार डाला। नसीरुद्दीन अत्यन्त क्रूर, विषयी और कामान्ध था। कहा जाता है कि उसकी हरम में कन्याकुल १५,००० स्त्रियाँ थीं। जहाँ कहीं किसी सौन्दर्यशीला स्त्री का उसे पता लगता, उसे वह पकड़वा मँगाता था। उज्जैन के कालियादेह महल का निर्माण उसी ने किया था। वहीं वह एक समय शराब के नशे में चूर होकर एक हौज में गिरकर मर गया।

उसके अनन्तर महमूद द्वितीय तख्त पर बैठा (१५१०)। उसने मुसलमान सरदारों का महत्त्व घटाने के लिए मेदिनीराय चन्देरीवाले को अपना मंत्री बनाया, जिससे राजपूतों का प्रभाव बढ़ गया। तब सुलतान ने गुजरात के बादशाह मुजफ्फरशाह से सहायता ली (१५१७), और मेदिनीराय गुजरात भाग गया और फिर राणा सांगा की सहायता के लिए
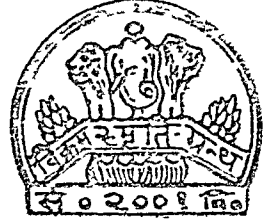
श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

लिवा लाया। राणाजी ने चन्देरी, भेलसा और गागरौन जीत लिए, महमूद का राणा संग्राम से गागरौन के युद्ध मे मुकावला हुआ। वह कैद भी कर लिया गया, किन्तु राणाजी ने उदारता से उसे छोड दिया। सुलतान ने राणाजी की उदारता को भूलकर उनके पुत्र पर चढ़ाई करदी; किन्तु राणाजी के मित्र गुजरात के सुलतान वहादुरशाह ने उसको गहरी शिकस्त देकर और चंपानेर किले मे कैद रखने के उद्देश्य से भेजकर मार्ग मे ही उसे मरवा डाला। उसके सभी कुटुम्बी भी मार डाले गए और सन् १५३१ मे मालवा गुजरात की वादशाहत मे सम्मिलित कर लिया गया। इसी समय गढा के राणा संग्रामशाह ने मालवे का भोपाल जीत लिया। चार वर्षों के अनन्तर हुमायू ने १५३५ मे मालवे पर चढ़ाई की और मन्दसौर के निकट बहादुरशाह को शिकस्त देकर माडू पर अधिकार कर लिया। हुमायू सन् १५३५ की फरवरी मे उज्जैन भी आया था। हुमायू के लौटने पर बहादुरशाह ने फिरसे मालवा ले लिया, किन्तु जोधपुर के मालदेव राठौर ने चढाई करके मालवा जीता। दिल्ली का तख्त शेरशाह के अधिकार मे होने पर उसने रायसेन का किला जीता और शुजाअतखाँ को मालवे का सूवेदार वनाया। उसी का पुत्र बाजवहादुर था। उसकी निम्न जाति की कवूतरी वेगम भानुमती थी। उसी रूपमती की संगीत-प्रियता के कारण उन दोनों के नाम प्रसिद्ध हुए। अकवर ने सन् १५६२ मे मालवा जीतकर मुगल साम्राज्य का उसे एक सूवा वनाया, जो मराठो का अधिकार स्थापित होने तक दिल्ली के ही आधीन रहा (१७३२)। अकवर और जहाँगीर दोनो समय समय पर मालवा और माडू आते रहे। अकवर के अन्तिम दिनो मे तो जहाँगीर ही मालवा का सूवेदार वनाया गया था। उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करके स्वतत्र वन वैठने का उज्जैन मे ही षड्यत्र रचा था, जिसकी जाँच के लिए प्रसिद्ध विद्वान् अवुल-फजल को उज्जैन भेजा गया था। वह वापिस दिल्ली पहुँच भी नही पाया था कि जहाँगीर की प्रेरणा से स्वतत्र राज्य-प्राप्ति के लोभ से, वीरसिंहदेव बुन्देला (दतिया-राज्य-स्थापक) ने उसको मार्ग मे ही ग्वालियर के निकट आतरी स्थान पर मार डाला था।

औरंगजेब के राज्यकाल मे चम्पतराय बुन्देला ने मालवे पर अधिकार करना चाहा; किन्तु उसको सफलता नही मिली (१६६१)। तत्पूर्व औरगजेब ने अपने पिता शाहजहाँ को कैद करके अपने भाइयो का काँटा अपने मार्ग से हटाकर निष्कटक राज्य करने के सिलसिले मे उसका सवसे पहिले उज्जैन से ही सम्बन्ध आया। फरवरी १६५८ मे महाराजा जसवन्तसिंह राठौड़ वादशाह के हुक्म से औरगजेव के मुकावले के लिए उज्जैन पहुँचे। मुराद भी गुजरात से ससैन्य औरगजेव की सहायता के लिए उज्जैन की तरफ आने लगा। तव राठौर सेना ने उसे खाचरोद के निकट जा रोका; किन्तु फिर भी वे दोनो भाई आपस मे मिल ही गए। अन्त मे उज्जैन के निकट पाँच कोस पर औरंगजेव व शुजा की फौज से राठौड का युद्ध हुआ। औरगजेव के फ्रेंच और अग्रेज तोपचियो ने गजव ढा दिया, जिससे राठौड़ वीर जसवन्तसिंह को पीछे हटना पड़ा। वह स्थान जहाँ औरगजेव को सफलता मिली, फतेहावाद कहलाया। उस युद्ध मे मुकुन्दसिंह हाडा, सुजानसिंह सिसोदिया, रतनसिंह राठौर, अर्जुनसिंह गौड, दयालदास झाला, मोहनसिंह आदि राजपूत वीर खेत रहे। रतनसिंह की सुन्दर छत्री उनके वशज रतलाम के राजा ने उस स्थान पर वनाई जो अभी तक वर्तमान है। राठौर कुलभूषण, सीतामऊ के राजकुमार डॉ० रघुवीरसिंहजी मालवा मे मुगल राज्य गनीमत समझते है, जो गलत है।

उक्त घटना के अनन्तर औरगजेव का मालवे से विशेष सम्पर्क होना नही पाया जाता। अलवत्ता उसके राजकाल की एक ऐतिहासिक घटना उल्लेखनीय है। औरगजेव वड़ा कट्टर मुसलमान था और उसने हिन्दू प्रजा पर अपमानजनक 'जजिया' कर कायम किया था। *Anecdotes of Aurangjeb* मे इतिहासकार सर सरकार ने एक घटना अकित की है, जिससे सिद्ध है कि उसने एक अपने प्रीतिपात्र सरदार की माता के समाधि-स्थान पर उसकी यात्रा के लिए आनेवाले हिन्दू व्यौपारियो को जजिया से माफी देने को साफ इन्कार कर दिया था, किन्तु महान् आश्चर्य की वात है कि उसी आलमगीर ने उज्जैन के ब्राह्मणो-पडो को उसी जजिया कर से मुक्त कर दिया था, जिसका असली पत्र हमको उज्जैन मे ही उपलब्ध हुआ है। वल्कि उस हुक्मनामे मे साम्राज्य और सम्राट् के यशोचिन्तन की भगवान् से प्रार्थना करने की भी इच्छा प्रगट की गई है।

औरंगजेब की मृत्यु के अनन्तर तो उसकी कट्टरता के परिणामस्वरूप शीघ्र ही मुगल साम्राज्य का प्रभाव नष्ट हो गया। औरंगजेब के जीतेजी ही विजयेच्छु मराठे नर्मदा लांघकर धार, माडू और उज्जैन तक चढाइयाँ करने लगे थे। सन १६९०-१७०७ के अनन्तर तो मराठों का वहाँ प्रभाव बढने लगा, और १० वर्ष के भीतर ही वे मालवे में अपना राज्य स्थापित करने का भी सुखस्वप्न देखने लगे। १७१८ में मराठा सेनापति उदाजीराव पवार की फौज तो दिनदहाडे मालवे में घूमने लगी और घासदाना वसूली के साथ ही धीरे धीरे अपने पैर भी उस प्रान्त में जमाने लगी। अन्त में मराठों भगवा झण्डा मालवे के विभिन्न स्थानों पर फडकने लगा। १७२८ में मालवा के सूबेदार से अमझरा (तिरला) के निकट युद्ध हुआ। सूबेदार मारा गया और मराठों का प्रभाव स्थायीरूप से मालवे पर स्थापित हो गया। १७३२ में मालवा के जीत हुए प्रदेश का वीर बाजीराव पेशवा ने बटवारा करके ग्वालियर के शिन्दे, इन्दौर के होल्कर, धार तथा देवास छोटी और बडी पाँती के पवार सूबेदार (सरंजामी जागीरदार) स्थापित कर दिए। आरम्भ में उन सरदारों को जो प्रान्त दिया गया, वह सरंजाम फौजखर्च के लिए दिया गया, अर्थात मराठा साम्राज्य की सहायता के लिए नियमित संख्या तक की सेना सर्वदा तैयार रखना तथा उस फौज का खर्चा उसी सरंजामी प्रान्त की आय से चलाना। तदनुसार उन मराठा सरदारों ने अपने साम्राज्य की श्रीवृद्धि के साथ ही उसकी सीमा के बढाने में भी खूब प्रयत्न किया। दिल्ली, पंजाब, राजपूताना, बुन्देलखण्ड, आगरा अवध, बंगाल, कटक-उडीसा आदि उत्तर भारतीय प्रान्तों पर मराठों का प्रभुत्व स्थापित होने का स्वतन्त्र इतिहास है। सन १७३२ में मालवा में स्थापित मराठा सरदार ही अब यहाँ के स्वतन्त्र राज्यों के शासक है, उन्ही की आदर्श शासन प्रणाली के फलस्वरूप अवन्ति का मालव प्रान्त सुख शान्ति का अनुभव करके निशि दिन भारतीय संस्कृति की उन्नति करने में कटिबद्ध है। विक्रम और परमारों के अनन्तर अब ही वहाँ मालवे के भाग जागे हैं। भगवान् करे वर्तमान शासकवर्ग की छत्रछाया में मालवा परमोच्च उन्नति प्राप्त करके भारतीय सभ्यता का मुख उज्ज्वल करे।

२

मराठे तथा मालवा

भारत माता के गले का अनमोल मोती "गोपाचल दुर्ग" तथा "सप्तैता मोक्षदायिक" जैसी पुरी अवन्तिका-उज्जैन का आधिपत्य, पूर्वपुण्य बल से जिस बदा था उस शिन्देवंश के सौभाग्य का क्या कहना है? सात्विक-राजस गुणों का पुञ्ज, धार्मिकता और वीरता का आगर जिसे प्राप्त हो जाए, उसका नाम इतिहास में क्यों न अमर रहेगा? पेशवा ने जीते हुए प्रान्त का बटवारा किया, उस समय होल्कर ने तो मालवा और नीमाड जैसा उर्वर प्रदेश लिया तो राणोजी शिन्दे ने अवन्तिका-विदिशा-दशपुर जैसा पुण्य प्रदेश लेना पसन्द किया। हमारा संकेत इसी घटना से है।

महाराष्ट्रीय देवगिरि का यादव-राज्य विदेशीय यवनों द्वारा आक्रान्त होते ही दक्षिण का स्वराज्य नष्ट हो गया। तदुपरान्त विद्यारण्य माधवाचार्य ने विजयनगर हिन्दू साम्राज्य की पुन प्रतिष्ठा भी की, किन्तु वह कायम न रह सका। फिर 'परित्राणाय साधूना विनाशायच दुष्कृताम्' इस ध्येय की पूर्ति के लिए गौ-ब्राह्मण प्रतिपालक क्षात्रकुलावतंस छत्रपति शिवाजी महाराज ने महाराष्ट्र स्वराज्य की पुन संस्थापना की। महाराज के गुरू समर्थ रामदासजी ने भी—

> मराठा तितुका मेळवावा। अवघा कल्लोळ करावा। ये साठीं न करिता तकवा। पूर्वज हासती॥
> मराठा साम्राज्य करावे। जिकडे तिकडे॥

जैसे उद्बोधन रूप में ध्येय प्रवणता का उपदेश दिया। वीरवर संभाजी का धार्मिक हौतात्म्य, राजाराम की स्वार्थहीन भरत-सदृश निस्पृहता, शाहू का राजस तेज एवम् उदार आचरण, मंत्री बाजीराव का मुगल 'वृक्ष की जड पर आघात करके शाखाएँ और टहनियाँ साध्य करने" का ध्येय तथा तलवार बहादुरी एवम् बुद्धि-सामर्थ्य के प्रभाव से दिल्ली विजय का शिवाजी छत्रपति का उद्देश्य पूर्ण करके आसेतु-हिमालय मराठों का प्रभाव स्थापित करने की पाटिलबाबा महादजी शिन्दे की कर्मण्यता का स्रोत अवन्तिका और गोपाचल ही तो था, यही हमें बताना है।

श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

भोगावती-पुरवराधीश्वर-प्राचीन शेषकुली के सेंद्रक-शिन्देवशज महाराष्ट्र मे यत्रतत्र विखरे हुए है। सितारे के निकटस्थ कन्हेरखेड ग्राम के पटेलो मे नेमाजी शिन्दे वडे वीर हो गए है। औरगजेव मराठो को नष्ट करने सदल-वल दक्षिण मे जा अड़ा। तव वीर मराठो ने केवल महाराष्ट्र मे ही नही वरन् वाहर शत्रु प्रदेश पर भी आक्रमण करने का प्रण किया।

तदनुसार सन् १६९० से महाराष्ट्र सीमा के वाहर विन्ध्य-नर्मदा लाँघकर मराठो ने मध्य-भारत पर आक्रमण करना आरम्भ किया और 'मुल्कगिरी' का प्रत्यक्ष फल सन् १७२० से उनके हाथ लगा। मराठों के वीर सरदार 'अर्जुन-तुल्य' उदाजीराव पवार को मालवे पर अधिकार स्थापित करने का आदेश दिया गया और सन् १७२४ से मल्हारजी होलकर, राणोजी शिन्दे तया पिलाजी जाधव उस ध्येय प्राप्ति मे आ जुटे। उदाजीराव विश्वासराव वीरकुल परमार वंशज थे और पिलाजीराव प्राचीन जाधव वंश के तत्कालीन प्रतिष्ठित सरदार थे—अलवत्ता शेष दो सरदार होलकर और शिन्दे स्ववाहु-वल पर ही वीरो की श्रेणी मे समाविष्ट हुए। होलकर जाति के धनगर-गड़रिये थे। उनके मामा कदम वांडे मराठा सेनापति दाभाडे के यहाँ घुडसवारो मे थे। भानजे मल्हारजी होलकर मामा की वकरियाँ चराते फिरते। अकस्मात् उनका पूर्वपुण्य उदित हुआ और वे भी घुडसवारों मे भर्ती होकर मराठा राज मे ६४ लड़ाइयाँ लड़नेवाले दूसरे 'हमीर' कहलाये! स्वराज्य मे यही तो विशेषता होती है कि साधारण व्यक्ति को भी भाग्य चमकाने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

राणोजी शिन्दे की बात जुदी थी। परिस्थितिवश वे "मेमने के झुण्ड मे पालित शेरवच्चे" ही थे। उनके पिता पटेली-खेती करके उदर निर्वाह करते थे। प्राचीन वीर वंशज होने से यद्यपि रस्सी जल चुकी थी, तथापि ऐंठन शेष थी। घुड़सवारी का शौक उन्हे था। किसी अज्ञात युद्ध मे स्वामी सेवा प्रीत्यर्थ उन्हें इनाम मोकासा मिलने के असली पत्र पेशवा के दफ्तर से उपलब्ध हो जाने के कारण ग्रेडफ, मुख्यत. मालकम द्वारा वेपर की उड़ाई हुई राणोजी के उदय सम्वन्धी दन्त-कथा विल्सन, हण्टर आदि इतिहासकारो के दाँत गिराने के लिए पर्याप्त है। एक प्राचीन अप्रकाशित साधन के आधार से राणोजी का करोल होना और उनका वाजीराव पेशवा का साथी होना सिद्ध है। उत्तर-भारतीय चढ़ाइयो मे राणोजीराव मल्हारजी के साथ भेजे जाने की दन्तकथा मे हमारा विश्वास नही है। हाँ पिलाजीराव जाधव के साथ उनका जाना ऐतिहासिक साधनो से सिद्ध है। अनन्तर जव पिलाजी की उद्दण्डवृत्ति के कारण पेशवा की उनपर नाराजगी हुई, तव पिलाजी के सिक्के मोरतव राणोजी को ही दिए गए (सन १७३०)। उधर राणोजी की पायगाह और सेना के सैनिक भी मालवा प्रान्त के सौधवाडा-सतमहाल आदि विभिन्न उप-विभागों पर अपना मराठी भगवा झण्डा फहरा रहे थे (१७२४-३०)। इस प्रकार १७२८ के तिरला के युद्ध मे मुगल सूवेदार दयावहापुर का हनन होने तथा अमझरा, सारगपुर, उज्जैन आदि की लड़ाइयो मे विजय मिलने से पुष्कल प्रदेश मराठो के हाथ लगा। वैसे तो १७१८ से ही मराठे मालवा को मुगल साम्राज्य से छीनना चाहते थे। विचारो के आदान-प्रदान भी १७४१ तक होते रहे। उधर मराठो की जड़ मालवे मे पक्की भी हो गई। तव वलात् मुगल वादशाह को मालवे की सनद पेशवा वालाजी वाजीराव को दे देनी पड़ी।

मराठो के मालवा पर आक्रमण, वहाँ पर प्रदेश जीतना, मालवा की प्रजा की तत्सम्वन्धी सहायता आदि आरंभिक इतिहास वड़ाही मनोरजक और वोधप्रद है। औरंगजेव की कट्टरता तथा हिन्दू-विरोधी नीति ने साम्राज्य की जड़ खोखली कर दी थी। दरवार मे विभिन्न सरदारो के पक्ष स्वार्थ-साधना मे जुटकर नित नये वादशाह भी वदलते रहे। आसफजहाँ निजाम का प्रभाव दरवार से घटाने के लिए उसे मालवा से मराठों के आक्रमण की रोक के वहाने मालवा का सूवेदार वनाया गया, किन्तु उसके मन मे दक्षिण का स्वतन्त्र सूवेदार वन वैठने की आकांक्षा प्रवल वन गई और उसने मराठो को मालवे मे, अपनी दक्षिण की सूबेदारी और दिल्ली की वादशाहत के वीच मे फच्चर ठोकने के उद्देश्य से प्रवल होने दिया, जिससे साम्राज्य का ध्यान मालवे मे ही अटककर दक्षिण मे उसके स्वतंत्र वन वैठने मे वाधक न हो। अन्ततोगत्वा निजाम मालवे से हटाया गया और मालवे का प्रवन्ध सवाई जयसिंह को सौपा। सवाईजी जाहिरा तो राज्य और जागीर के लोभवश साम्राज्य का विरोध नही कर सकते थे। हाँ; हिन्दू-हितैषी तथा अन्त.करणपूर्वक मुगल विद्वेषी होने से मराठो से उन्हे सहानुभूति भी थी। साम्राज्य सरकार ने भी उनकी भावनाएँ देखकर उन्हे भी हटा दिया और दयावहादुर नागर मालवे का सूवेदार नियत किया गया। सन् १७२३-२४ मे मालवे मे घोर अकाल पड़ा। चील, गीदड़, श्वान की नाई मुगल सूवेदार प्रजा को

साम्राज्य और स्वहित भावना के प्रीत्यर्थ चूसना ही पसन्द करते थे। प्रजा ने त्राहि त्राहि मचाई कि अकाल के कारण भूमि कर वसूल न किया जाय, प्रजा ने दरबार तक यह अनुनय विनय भी की, पर उस अन्धेर खाते में कौन किसको पूछे? मालवा प्रान्त की नमदा-विन्ध्य की सरहद्द की रक्षा मुगल जागीरदार नन्दलाल मण्टलोई २००० घुड़सवारों द्वारा करता था। वह प्रजारंजक और प्रभावशाली था। उसने सवाईजी से उस आपत्ति से रक्षा प्रीत्यर्थ परामर्श किया। सवाईजी ने विजयेष्णु मराठा सरदार बाजीराव की ओर संकेत किया। उनकी सिफारिश से मालवीय प्रतिनिधि पेशवा से मिले और सहायता स्वरूप सेना देने का विश्वास दिलाया। मुगल सूबेदार यह सुन तमक उठा। उसने मराठी सेना के मार्ग नालछा-माण्डू घाटपर सुरंग बिछा दिए। तब रहस्योद्घाटन न होने देने के उद्देश से मालवे की सहायक सेना तो उसी रास्ते आई और आत्म समर्पण कर गई, किन्तु मराठी सेना स्वरक्षा के हेतु मार्ग बदलकर टांडा, बलवारी, भैराघाट से निकल आ धमकी और घनघोर युद्ध में सूबेदार को मार डालने में कृतविद्य होकर (२९ नवम्बर १७२८) मालवा में मराठी झण्डा फहराने में समर्थ हुई। उस प्रान्त के राठौड, सौंधिये, गिरासिए आदि भी दबाए जाकर मुल्क जीता गया। २१ जुलाई सन् १७३२ तक पेशवा मालवा में पर्याप्त विभाग के धनी बन गए थे। पवार, होल्कर तथा शिन्दे इन तीन सरदारों ने ही उस प्रान्त को जीतने में पराक्रम बताया, अतएव उनका सम्मान करके प्रान्त की सुव्यवस्था के उद्देश से पेशवा ने जीता हुआ प्रदेश अपने सरदारों में निम्नरूप से विभाजित किया —

२२॥ प्रतिशत होळकर।

२२॥ प्रतिशत शिन्दे।

२२॥ प्रतिशत पवार (१७ प्रतिशत धार ३ प्रतिशत देवास बडी पाँती तथा २॥ प्रतिशत देवास छोटी पाती)।

३२॥ प्रतिशत पेशवा।

१००

तदनुसार उदाजीराव पवार ने अपने पूर्वज परमारों की धारा नगरी और मण्डप दुर्ग (माण्डू) के आसपास का प्रदेश, उनके सहायक भ्रातानन्द छोटे दो पवार भाइयों ने देवास बडी और छोटी पाती तथा मल्हारजी होल्कर ने इन्दौर-महेश्वर तथा नीमाड का उर्वरा भाग लेना पसन्द किया। दक्षिण के विजयेष्णु मराठा राजाओं के महलों के मुख्य मुख्य द्वार दिल्ली जीतने के उद्देश्य से उस दिशा में रखने के कारण 'दिल्ली दरवाजे' कहलाए। राणाजी शिन्दे ने दिल्ली विजय की प्रबल भावी घटना का साध्य करने के उद्देश्य से, अन्य सरदारों के मुकाबले में, दिल्ली की ओर का उज्जैन-भेलसा प्रान्त ही लेना स्वीकृत किया। दशपुर (मन्दसौर) भी उन्हें मिला। धार्मिक क्षेत्र एवम् विक्रमादित्य जैसे पराक्रमी अमर हिन्दू सम्राट् की राजधानी तथा शुंग-गुप्तों के वैभवागार विदिशा-दशपुर अपने अधिकार में रखने की लालसा किस ध्येय का दर्शाती हैं। इन महान् राणाजी के पुत्र महादजी की दिल्ली विजय की सफलता का आधार वही दूरदर्शिता ता थी ही। राणाजी का ६४॥ लाख का प्रान्त बटवारे में मिला था।

महान् विक्रमादित्य के अनन्तर, सच पूछा जाय तो, आर्य-संस्कृति-रक्षक हिन्दू राज्य की राजधानी बनने का सौभाग्य अवन्तिका को महाराज राणाजीराव शिन्दे सूबेदार ने ही प्रदान किया। नदी का उद्गम छोटा होता है। अनन्तर वह बहते बहते प्रचण्ड रूप धारण करती है। पेशवा के सेनापति सूबेदार राणोजी शिन्दे के पुण्य-प्रताप से उनके सत्पुत्र महादजी छत्रपति शिवाजी के उद्देश्य की पूर्ति करनेवाले दिल्ली विजयी महाराजा और एक विशाल समृद्ध राज्य के संस्थापक कहलाए। अवन्तिका का राजधानी बनने का सौभाग्य सन् १७३१ से १८०९ तक ८० वर्षों तक बना रहा। आज भी तत्कालीन सरदार, जागीरदार और दरबदारों के बाडे, राजमहल (महाराजबाडा) आदि उस मूल राजधानी की शोभा बढ़ाकर प्राचीन स्मृति कायम रखे हुए हैं।
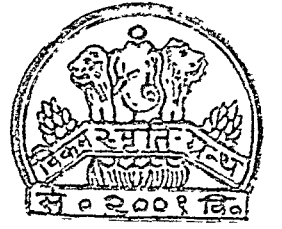
श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

उज्जैन सूवेदार राणोजी शिन्दे के अधिकार मे आने के पूर्व उसपर मल्हारजी होलकर तथा राणोजीराव का संयुक्त अधिकार होने का एक असली पत्र हमारे स्वर्गीय मित्र ठाकुर मोतीसिंह कानूगो उज्जैन (सिंहपुरी पेठ) के संग्रह से उपलब्ध हुआ। तारीख २५ अक्टूवर १७३१ को वह पत्र उभय सरदारो के संयुक्त नाम से लिखा गया था, जिसमे पूर्ववत् मौजेवार दामीभेट वसूली की स्वीकृति दी गई थी। अनन्तर उज्जैन वटवारे मे राणोजी शिन्दे के अधिकार मे आ जानेपर, उन्होने उसे राजधानी वनाकर वहाँपर कुटुम्व-कवीला, सरकारी कार्य के स्थान आदि प्रस्थापित करके भारतीय नरेश की राजवानी वनने का सौभाग्य प्रदान किया। उसी महान् कार्य के कारण ही उनके दिग्विजयी पुत्रों ने वीरकार्य किये और राणोजी-सुत महादजी शिन्दे ने तो दिल्ली पर भी भगवा झण्डा फहराकर मराठों का नाम तत्कालीन इतिहास मे अमर वना दिया। महाराजा राणोजी ने उज्जैन का विगत एवम् नष्ट वैभव पुन: स्थापित करने मे कोई कोर-कसर नही रखी। अवन्तिका क्षेत्र होने के कारण वहाँपर धर्म स्थापना, मन्दिर मठो का जीर्णोद्धार और पूजा अर्चन तथा घाटो का निर्माण, विद्वान् व्राह्मण तथा मठो के साधु सन्तो को आश्रय-प्रश्रय, संस्कृत भाषा और ज्योतिष विद्या का पुनरुज्जीवन आदि सत्कार्य किये। "प्रजा से भलाई प्राप्त करके मुगलो के राज्य की अपेक्षा मराठो का शासन अधिक सुखकारक होने की भावना प्रजा मे उत्पन्न करने का सहृदयतापूर्वक प्रयत्न किया गया"। मध्यभारत के संस्मरण लेखक सर जॉन मॉलकम ने भी लिखा है कि "मुगलों के दुर्वल और अव्यवस्थित शासन की अपेक्षा मराठो का राज्य प्रजा को सुखप्रद मालूम दिया, जिससे थोड़े ही समय मे उनका राज्य स्थायी हो गया"। महाराजा राणोजी के राजकाल मे सवसे महत्त्व का, चिरस्थाई तथा "यावच्चन्द्रदिवाकरौ" यश स्थापित करनेवाला कार्य हुआ है उज्जैन के श्रीमहाकालेश्वरजी की पुन: स्थापना और मन्दिर-निर्माण, उनके सहायक एवम् दीवान रामचन्द्र मल्हार उर्फ रामचन्द्र वावा शेणवी के द्वारा कराना, भारत के द्वादश ज्योतिर्लिगो मे से उज्जैन के महाकालेश्वर की मूर्ति को यवनाधीश अल्तमश ने नगर और मन्दिर विध्वंस के ही साथ उखाड़कर कोटितीर्थ ताल मे फेक दिया था, (सन् १२३५) उनकी प्राणप्रतिष्ठा करना आवश्यक था। तत्सम्वन्धी एक वड़ी मनोरजक ओर वोधोत्पादक किम्वदन्ती प्रसिद्ध है। रामचन्द्र वावा वड़े प्रभावशाली और पेशवा के विश्वासपात्र थे। गुजरात, मालवा, राजपूताना आदि के युद्धो मे उन्होने पुष्कल द्रव्य कमाया था; किन्तु उन्हे कोई पुत्र सन्तान नही थी। उनकी पत्नी अपने भाई के पुत्र को गोद लेना चाहती थी, किन्तु वे कोकण-गोवा के किसी भैयावन्द के पुत्र को गोद लेने की चिन्ता मे थे। वैसे तो स्वभावत. वे दत्तक प्रथा के विरोधी थे। एक दिन उनकी पत्नी ने "नाम लेवा पानी देवा" को ढूंढ़ने से उदासीन रहने के उपलक्ष मे उनका घोर विरोध किया, तव वे नाराज होकर क्षिप्राजी की ओर टहलने चले गए; सहसा उन्हे कल्पना सूझी कि दत्तक पुत्र न मालूम कैसा निकले ? उसकी अपेक्षा तो सम्पत्ति का विनियोग श्रीमहाकालेश्वर मन्दिर निर्माण मे ही करना ठीक होगा। तदनुसार उनकी पत्नी भी उनकी उदारातिशयता से सहमत हो गई, जिससे रामचन्द्रवावा के शुभ हाथो मन्दिर और मूर्ति की पुन प्रतिष्ठा हुई। उनके उस पुण्यकार्य मे सूवेदार राणोजी शिन्दे ने भी हाथ वँटाकर अपनी जागीर आय मे से पूजन अर्चनादि का समुचित प्रवन्ध कर दिया, जो आज तक कायम है। उनके उक्त सत्कार्य के कारण महाराजा राणोजीराव तथा उनके दीवान रामचन्द्र बावा सुखटनकर के नाम अमर हो गए है। उसी समय उज्जैन तथा पचक्रोशी के अन्तर्गत उच्छिन्न और उध्वस्त देवस्थानो मे से १०० से भी अधिक देवताओ की पुन. स्थापना की, और उनके मन्दिरो का जीर्णोद्धार किया। क्षिप्रा नदी के तीर पर रामघाट तथा नरसिंह तीर्थ के भी घाट वनवाए गए।

दूसरा महत्त्वपूर्ण धार्मिक कार्य महाराज राणोजी शिन्दे के राज्यकाल मे हुआ सिंहस्थ मेले की प्रतिष्ठा और राजकीय व्यवस्था। विद्वान् साधु सन्यासियो द्वारा तत्वज्ञान विषय की चर्चा और विचार विनिमय व्रह्मसत्र, तथा सरस्वतीसत्र की वैदिक परम्परा को सम्राट् अशोक ने वौद्ध धर्मसभा मे परिणत किया और कान्यकुब्जाधिपति हर्षदेव ने उसे पुन: परिचालित किया। वौद्ध धर्म की वह प्रथा सनातन धर्मियो ने भी अपनाई। गुरू गृह मेषादि १२ राशियो मे से प्रत्येक राशि पर हर वारहवे वर्ष आता है, और वारह माह तक उसी राशि पर रहता है। सिंह राशि पर गुरू होने पर वैशाख शुक्ल १५ को क्षिप्रा नदी मे स्नान करना पुण्यमय माना जाता है। तदनुसार प्रति वारहवे वर्ष सिंहस्थ के मेले पर बैरागी, गुसाई, उदासी, नाथसम्प्रदायी और अघोरीपथ तथा उन पंथो के अन्तर्गत सभी शाखा उप-शाखाओ के सन्यासियो का समूह उज्जैन मे आता है। उनकी जमाते व अखाड़ो का दृश्य देखते ही बनता है। एक प्राचीन प्रमाण से तो वृश्चिक राशि पर गुरु होने पर

मालवा के शासक

उज्जैन में मेला होने का उल्लेख पाया जाता है। किन्तु अनन्तर सिंहस्थ गुरू में नासिकतीर्थ में एकत्रित साधु पड़ौस में ही पवित्र पर्वणी वैशाख शुक्ल १५ को उज्जैन ही आने लगे। उज्जैन में शताब्दियों तक मुसल्मान शासकों का आधिपत्य रहा, जिससे उस धार्मिक समारोह में राजकीय सहायता का अभाव रहा। प्रचलित दन्तकथा के अनुसार महाराजा राणोजी के समय से ही राजकीय सहायता से सिंहस्थ समारोहपूर्वक होने लगा, अतएव बहुत सम्भव है कि महाराष्ट्रस्थ नासिक में एकत्रित साधुओं को उज्जैन के महाराष्ट्रीय शासक के द्वारा खास तौर पर आमन्त्रित किया जाकर सिंहस्थ गुरु के योग पर होने की प्रथा प्रचलित की गई हो।

उज्जैन में स्वराज्य स्थापित होने के सुसम्वाद ज्ञात होने पर ही वहाँ के सिंहस्थ ने विशाल रूप धारण किया। भूतपूर्व महाराजा जयाजीराव, माधव महाराज एवम् वर्तमान महाराज श्री जीवाजीराव महाराज ने तो ४.५ लाख यात्रियों का सुप्रबन्ध करने और साधु सन्तों का प्रबन्ध और सम्मान करने की प्रथा में चार चाँद लगा दिये।

राणोजी महाराज की समग्र आयु युद्धकार्य और राजनीति के दाँवपेंच खेलने में ही बीती, अतएव उन्हें उज्जैन राजधानी में रहने का बहुत कम अवसर मिला, फिर भी उनके चतुर मंत्री रामचन्द्र मल्हार ने उज्जैन तथा आसपास के प्रान्त की ऐसी सुन्दर व्यवस्था की जिससे स्वराज्य एवम् सुराज का उपभोग करनेवाली मालव प्रजा अहोभाग्य समझने लगी। राणोजी की उज्जैन से की हुई राजनैतिक हल्चलों के कई उल्लेख यत्रतत्र तत्कालीन पत्रों में उपलब्ध हैं, किन्तु महाराजा राणोजी के उक्त दो कार्य तो अजर-अमर हैं।

सन १७४५ में मालवे में ही शुजालपुर के निकट राणोगंज स्थान पर महाराजा राणोजी का देहान्त हुआ। उनके ज्येष्ठ पुत्र जयाप्पा उनके उत्तराधिकारी हुए। बडौद (आगर) का गोपालजी का देवालय, सुसनेर का श्रीराम-मन्दिर-धर्मशाला के शिलालेखों में तथा उज्जैन में प्राप्त कई सनदों में श्रीमन्त जयाप्पा शिन्दे का नामोल्लेख पाया जाता है, जिससे उज्जैन के धार्मिक महत्त्व की रक्षा और मराठों के आदर्श शासन का पूर्ण परिचय मिलता है। उनकी बनाई हुई राणोजीराव की विशाल छत्री उज्जैन में वर्तमान है। तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार जयाप्पा को भी मराठा स्वराज्य को साम्राज्य में परिणत करने को प्रयत्नशील होना पडा, जिससे उनका समस्त किन्तु अल्पायु जीवन रणांगण पर ही बीता। यदि मारवाड के विश्वासघातक राजा विजयसिंह ने नागौर में उन्हें धोखे से न मरवाया होता (१७५४) तो उनके जैसे यशस्वी और प्रतापी शासक द्वारा उनकी उज्जैन राजधानी की बहुत कुछ उन्नति होती, और तत्कालीन स्मारक भी आज गौरव के साथ बताए जाते। उन अर्जुनवत् जयाप्पा के अभिमन्यु की नाईं सत्पुत्र वीर जनकोजीराव ने भी केवल १७ वर्ष की अवस्था में पानीपत रणक्षेत्र पर सन् १७६१ के मराठा अफगान युद्ध में ऐसी अपूर्व वीरता दिखाकर आत्मत्याग किया कि उसका दूसरा कोई उदाहरण मराठों के ही क्या महाभारत के अतिरिक्त भारतीय इतिहास में भी उपलब्ध नहीं है। पिता की मृत्यु के समय वे अल्पायु थे, अतएव उनकी ओर से काका दत्ताजी राजप्रबन्ध करते थे। वे दत्ताजी भी पानीपत युद्ध के २ वर्ष पूर्व सन् १७५९ के युद्ध में बदायू के घाट पर "बचेंगे तो और भी लडेंगे" कहते हुए खेत रहे। दूसरे काका जोत्याजी उनके पूर्व ही सन १७४७ में बुन्देलखण्ड में कुम्हेर/ब्रह्मसागर के युद्ध में मारे गए थे। अकेले जनकोजी भी सन १७६१ में चल बसे। राणोजी की गान्धर्व-प्रथा परिणीता राजपूत रानी के दो पुत्रों में से तुकोजी भी पानीपत में ही खेत रहे। तुकोजी के दो पुत्र केदारजी और आनन्दराव दक्षिण में थे। राणोजी के दूसरे पुत्र तुकोजी के भाई वीरवर महादजी पानीपत के रणांगण से घायल होकर भाग निकले, जिन्होंने अनन्तर दिल्ली रक्षक और विजेता के नाते प्रसिद्धि प्राप्त की। इस प्रकार राणोजी के चार पुत्र और एक नाती ने रणांगण पर आत्मत्याग करके मराठी साम्राज्य सुदृढ किया।

महाराजा राणोजी के एक दूर के भैयावंद मानाजीराव फाँकडे असली शिन्देवंश को नष्ट बताकर राणोजी की जागीर पाने को लालायित हो उठे। आरम्भ में उनको राघोबा पेशवा ने 'बडी रकम नजराना' पाने की ओट में सहायता भी की पेशवा सरकार से उस प्रश्न का अन्तिम निर्णय होने तक शिन्दे वंश की जागीर जेर निगरानी भी लाई गई (सन् १७६१-१७६५)। किन्तु वीरवर महादजी का पक्ष सच्चा था, अतएव अन्त में पेशवा ने केदारजी और महादजी के संयुक्त नाम से शिन्देवंश की सरदारी की स्वीकृति दी। तदनुसार महादजी जागीर का चार्ज लेने उज्जैन पहुँचे, तब शिन्दे

शिन्दे-राजवंश-संस्थापक महाराज माधवराव प्रथम (महादजी शिन्दे)
सिंह का आखेट करते हुए एक प्राचीन चित्र (पृष्ठ ५५६)

ज मन्दिर (पृष्ठ ६३०)
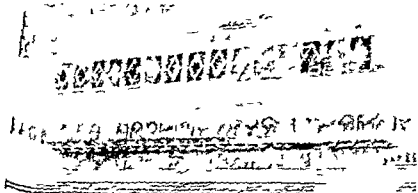
मानमन्दिर का भीतरी भाग (पृष्ठ ६३२)
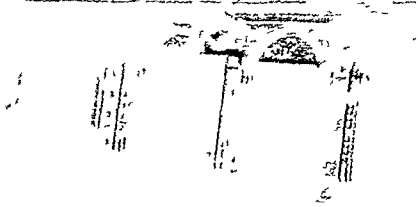
दीर्घाकार जन मूर्ति (पृष्ठ ६३४
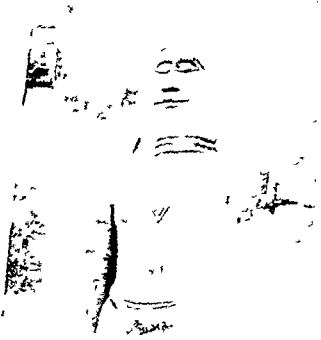
मानमन्दिर का भीतरी भाग (पृष्ठ ६३२)
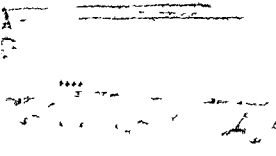
वंश के मृत पुरुषो की स्त्रियों को भैयावन्दों ने फोडा। एक वनावटी जनकोजी शिन्दे खड़ा किया गया और मंत्रियों ने भी महादजी का खुल्लमखुल्ला विरोध करके उन्हे ससैन्य उज्जैन मे घुसने से रोक दिया गया। वीरवर महादजी तो अपने प्रवल पुरुषार्थ के भरोसे अपने भाग्य से कुश्तियाँ लडना जानते थे। उन्होने क्षिप्रा के तट पर दत्त के अखाड़े के निकट विरोधी राघो मल्हार मंत्री तथा उनकी सेना से युद्ध किया। राघो मल्हार मारा गया तथा प्रजा की सहानभूति और वलवूते पर महादजी उज्जैन के अधिपति घोषित हुए (सन् १७६५ ई०)।

महाराजा महादजी का राज्यकाल १७६५ से १७९४ तक रहा। वे प्राय: उज्जैन मे भी रहते थे और उस तीर्थ-स्थान के सान्निध्य से उनकी भक्ति प्रवणता मे वहुत कुछ वृद्धि हुई। उनके समय के महाराष्ट्रीय पद्धति के मन्दिर और वाड़े आज भी उज्जैन मे वताए जा सकते है। सिंहपुरी के महाराष्ट्रीय साधु दत्तनाथ का मठ, सोहिरोवा नाथ आंविये का विस्मृत मठ आदि महाराष्ट्रीय साधु-सन्तो के निवास स्थान महाराजा महादजी ने ही वनाये थे। उज्जैन के अकपात का अन्नक्षेत्र, सदावर्त, काशीजी का महादजी की रानी साहिवा गगावाई के नाम पर वनाया हुवा गंगाघाट एवम् वालाजी का मन्दिर और ५०० मनुष्यो को प्रतिदिन भोजन देनेवाले अन्नक्षेत्र उनके नाम को चिरस्थाई वनाए हुए है। उज्जैन के तीर्थ स्थानो का महत्त्व और मन्दिरो की यथार्थ रक्षा उन्ही के समय मे हुई। उनकी वीरता के लिए उज्जैन कार्यक्षेत्र सकुचित था। जिस दिल्ली विजय का उनका ध्येय था, वहाँ से राजधानी दूर पडती थी। वे भक्त अवश्य थे और इसीसे इच्छा और साधन मथुरा-वृन्दावन जैसे स्थान साध्य करके भी उन्होने उज्जैन को राजधानी पद से वचित नही किया। उनका वाना वीरता का था; अतएव उन्होने पेशवा से अनुरोध करके सैनिक सामग्री के योग्य ग्वालियर जैसे प्रचण्ड किले को सरदार विंचूरकर से हस्तगत करने मे सफलता प्राप्त की (सन् १७७७)। फिर भी उज्जैन दूर देखकर और धार्मिकता मे खण्ड न पडने देने के उद्देश्य से उन्होने १७८४ से मथुरा जैसे तीर्थस्थान को ही अपनी सैनिक छावनी और निवास का केन्द्र वनाया, जिससे उज्जैन जैसे प्राचीन तीर्थस्थान राजधानी के सम्मान से वचित भी नही हुआ और धर्मप्रेम का उद्देश्य भी सफल हो गया।

महाराजा महादजी का जीवन एक सच्चे वीर का जीवन था। राजधानी मे वैठकर सुखोपभोग की उन्हे कहाँ फुरसत थी? कभी इलाहावाद तो कभी दिल्ली, कभी राजपूताना तो कभी रुहेलखण्ड, कभी दक्षिण तो कभी कर्नाटक आदि प्रान्तों मे ही सेना के साथ वे घूमते रहे। अन्तिम १० वर्षो तक वे मथुरा-वृन्दावन रहकर दिल्ली निकट होने से स्वार्थ परमार्थ साधने मे प्रयत्नशील रहे। फिर भी अग्रेजो के प्रथम युद्ध १७८०–८१ मे वे उज्जैन ही डटे रहे, और वही राजनीतिक मत्रणाएँ भी उन्होने की, जिसके उल्लेख अग्रेजी-मराठी पत्रो मे पाए जाते है। १७८५ मे अग्रेज दूत सर चार्ल्स मेलेट ने उज्जैन का आँखो देखा वर्णन लिखा है, जो महादजीकालीन अवन्ति राजधानी का यथार्थ चित्र वताता है। महाराजा महादजी के स्थायी रूप से उज्जैन राजधानी मे न रहने पर भी उसके वैभव, व्यौपार आदि मे कोई कमी नही हुई।

उज्जैन मे महादजी ने अपने नाम की टकसाल भी १७८१ मे स्थापित की जो हाली सिक्का कहलाता था। महाराजा महादजी के अनन्तर उनके भतीजे केदारजी के भाई आनन्दराव के पुत्र महाराजा दौलतराव के नाम से उनके उत्तराधिकारी हुए। उनके समय मे भी आरम्भ मे उज्जैन को ही राजधानी वने रहने का सौभाग्य प्राप्त रहा। मराठो की राजधानी पूना के राजनीतिक षड्यत्रो के कारण १७९४ से १८०३ तक यद्यपि महाराजा दौलतराव का पूना मे ही सदलवल निवास रहा, तथापि उनकी प्रचण्ड सेना और सरकारी दरखदारो के दफ्तरो के कार्य उज्जैन मे ही होते रहे। महाराजा दौलतराव ने अपनी माता श्रीमन्त मैनावाई साहिवा के निवास के योग्य एक अपूर्व वाडा (महल) उज्जैन के वीच वाजार मे निर्माण किया था, जिसकी वास्तुकला मराठो की तत्सम्वन्धी योग्यता की निदर्शक थी। ऐसा सुन्दर भवन इस समय ग्वालियर मे भी देखने को नही मिलता। इन पक्तियों के लेखक ने उसे कई वार उसी दृष्टि से देखा था। काश, उसका मानचित्र भी रखा जाता। दुर्भाग्य से वह अपूर्व भवन सन् १९२५ मे 'अग्नय स्वाहा' हो गया।

महादजी के अनन्तर शिन्देराज को महाराष्ट्र के नादिरशाह सर्जेराव घाटगे रूपी शनिश्चर की साढ़ेसाती लगी, जिससे हमारे राजवश के वैभव की जो क्षति हुई, वह अकथनीय है। मराठो के प्रवल पराक्रमी सरदार दो भाई शिन्दे और होलकर के आपसी युद्ध के कारण प्रथमत. शिन्दे की सेना ने होलकर की राजवानी इन्दौर को जलाकर नष्ट किया तो होलकर

ने भी उज्जैन के नागझिरी ग्राम के निकट शिंदे के सेनापति पागनवीस चिंतो आत्मारम बावडे का वध करके उज्जन नगरी को भस्मीभूत कर दिया। वह तो मराठा के पतन का समय था। मराठा-पेशवा की केन्द्रीय मुख्य सत्ता अकमण्य बन गई थी, अतएव उसीके सहायक शिन्दे-भासले आदि सरदार भी उसके अनिष्ट परिणाम से क्यांकर बच सकते थे? शिन्दे-भासले की युग्म सेना से भी अंग्रेजो ने युद्ध छेड दिया और अन्त में विजय पाई। मराठा के मुख्य फ्रेंच सेनापति पेरन को रिश्वत देकर अलीगढ-आगरा दिल्ली हस्तगत किए गए और १८०३ में सुर्जी अंजनगांव की संधि के अनुसार चम्बल नदी का तटवर्ती विभाग ही उनके आधीन रह गया।

महाराजा दौलतराव उज्जन राजधानी म बहुत कम रहे तो भी उनके समय उस नगर का व्योपार आदि वैभव खूब उन्नत रहा। महाराजा दौलतराव को १८०३ की संधि और अपने राज्य के विस्तार की कमी बडी अखरी, अतएव उसके अनन्तर उन्होंने अपने राज्य के अन्तगत राजा जमींदारा के विद्रोह को दबाकर सुव्यवस्था करने में ध्यान दिया। हाँ, योग्य अवसर प्राप्त होने पर वे पुनश्च गत वैभव प्राप्त करने की मंत्रणा में भी लगे रहे। १८०४ से १८१७ तक के उनके यशवंतराव होल्कर, बाजीराव पेशवा, रघजी भासले आदि मराठा प्रमुख सरदारों के पत्र-व्यवहार से महाराज की उस "टीस" का भलीभांति पता चलता है। सन् १८०७ में उनके सरदार अम्बूजी इंगले ने नरवर गढ शिन्देवश-अविन कछवाहा राजा से छीन लिया, और उसपर मराठा साम्राज्य वैभव दर्शक मुख्य स्वामी सितारे के छत्रपति, पूना के पेशवा तथा शिन्दे सरकार के नाम शिलालेख में अंकित किए। महाराजा दौलतराव को उज्जैन राजधानी एकान्त स्थल पर मालूम देती थी। गत वैभव प्राप्त करने के उद्देश्य से विगत प्रदेश के ही निकट सैनिक संचालन के लिए एकाध सुदृढ़ दुर्गस्थान को केन्द्रीय शक्ति बनाना उन्हें आवश्यक प्रतीत होता था, जो सर्वदा स्वाभाविक ही था। आरम्भ में महाराज ने नरवर गढ को ही उज्जैन के बदले अपनी राजधानी बनाना योग्य समझा, किन्तु अनन्तर ग्वालियर दुर्ग की तुलनात्मक दृढता, विशालता एवम् ऐतिहासिक महत्त्व के देखते हुए उसी ग्वालियर के गोपाचल दुर्ग को अपनी राजधानी बनाने का निश्चय किया। तदनुसार शिंदे सरकार की समग्र सेना ग्वालियर दुर्ग की तलहटी में एकत्रित हुई। निकट म विशाल दुर्ग और उसके आसपास विशाल "लश्कर" (सैनिक शिविर) देखकर सैनिको और उनके स्वामी का मन आनन्द से पुलकायमान हो उठा। राजधानी का निर्णय करने के हेतु सभी सामन्त सैनिकों का दरबार हुआ और महाराज ने अपने आन्तरिक भाव प्रकट किए, तथा दरबारियों से राय पूछी गई। अन्त म महाराजा दौलतराव ने सन् १८१० में अवन्तिका उज्जन नगरी को राजधानी के वैभव से वंचित करके उसके बदले ग्वालियर को अपनी राजधानी बनाया। फिर भी महाराज और उनकी महारानी पुण्यशीला श्रीमन्त बायजाबाई साहिबा शिन्दे उज्जैन को नहीं भूलीं, और समय समय पर उज्जैन पधारकर धार्मिक कार्य सम्पन्न करती रहा। महाराजा दौलतराव के राजकाल में भी उनकी उप-माताएँ शिंदे बाइयो का द्रोह, सर्जेराव का पतन, भोपाल राज को छीन लेना आदि कई ऐतिहासिक घटनाएँ उज्जैन में ही घटी। महाराजा दौलतराव ने ही महाकाल मन्दिर का सुप्रबन्ध किया।

महाराजा दौलतराव की मृत्यु के अनन्तर १८२७ से १८४३ तक उनके दत्तक पुत्र महाराजा जनकोजीराव का शासनकाल रहा। "डूबनेवाले का पर गहरे पानी में" की कहावत के अनुसार आरम्भ में तो ४।५ वर्षों तक श्रीमन्त बायजाबाई की संरक्षणता में राज काज-ठीक चला, किन्तु फिर स्वार्थी ठलुओं की बन बठी। माँ बेटे म मुद्दाम बिगाड किया गया।

महारानी बायजाबाई के ग्वालियर राजधानी त्यागने के समय उज्जन क्षेत्र मे रहने की इच्छा प्रदर्शित करना उनके खासगी दीवान बालकृष्ण पन्त दादा कुण्टे की डायरी और पत्र व्यवहार से पाया जाता है, किन्तु अपने स्वार्थ पर कुठाराघात करनेवाली बाई को दूरदर्शी लोग राज्य मे क्योंकर रहने देने लगे? बलात् उन्होंने फरुखाबाद, प्रयाग, नासिक आदि स्थानो पर वे अज्ञातवास के दिन बिताए।

जनकोजीराव महाराज के राजकाल के आरम्भिक दिनों में उज्जन में राज्य संरक्षिका श्रीमन्त बायजाबाई का श्रीशाही रुपया ढलने की टकसाल के अतिरिक्त उज्जन का तत्कालीन कोई महत्त्वपूर्ण उल्लेख नहीं पाया जाता।

श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

सौभाग्य से महाराजा जयाजीराव के राजत्वकाल मे उज्जैन के दिन फिर से पलटे ! महाराजा वायजावाई साहिवा की छोटी कन्या चिमणाराजा सरदार रामचन्द्रराव अप्पा साहव पाटणकर एवम् वड़ी कन्या तलेगाँव के प्रसिद्ध मराठा सेनापति सरदार यशवन्तराव दाभाडे के पुत्र मन्यावा उर्फ वावूराव को व्याही गई थी। जयाराजा दाभाडे की एक कन्या गजराराजा सरदार खानवलकर को परिणीत हुई। उनकी कन्या श्रीमन्त चिमणाराजे साहिवा (राजराजेन्द्र शीतोले की माता गुणवन्ताराजा की जननी) का विवाह वायजावाई साहिवा के प्रयत्न से ही जयाजीराव साहव से ही निश्चित हुआ। सरदार सर माइकेल, मल्हारराव वामन सुभेदार भालेराव उर्फ अप्पा साहिव आदि श्रीमन्त वायजावाई साहिवा को सादर एवम् सम्मानपूर्वक नासिक से ग्वालियर लिवा लाए और उक्त विवाह माघ शुक्ल ७ स० १९०४ को सम्पन्न होने पर वायजा-वाई साहिवा को राजकीय नक्द पेन्शन के वदले उज्जैन परगना खासगी खर्चे मे लगा दिया गया, जिससे महारानी वायजावाई साहिवा ने उज्जैन निवास करके उसके गत वैभव को पुनः चमका दिया। श्रीमन्त मैनावाई साहिवा के वाड़े मे उनका निवासस्थान था। उसके निकट ही श्रीगोपाल मन्दिर (मथुरा के प्रसिद्ध द्वारिकाधीश मन्दिर के ढग का) राजवैभव से विभूषित निर्माण किया गया। श्री मदनमोहन मन्दिर, रामघाट के निकटस्थ वायजावाई साहिवा की छत्री आदि स्थानो का निर्माण उन्हीने किया। उज्जैन का धार्मिक जीवन और दान-पुण्य ने श्रीमन्त वायजावाई साहिवा को देवी अहिल्यावाई की अत्युच्च पक्ति मे आसीन करा दिया ! उनके खासगी महल के कमाविसदार (तहसीलदार) सुव्वाराव लक्ष्मण थे। उनका पत्र-व्यवहार तथा माफी की सनदों से उनका शासन प्रवन्ध भी आदर्श होना सिद्ध है। सन् १९१३ आश्विन तक वाई साहिवा का उज्जैन मे ही निवास रहा।

श्रीमन्त जयाजीराव महाराज के राज्यकाल मे उज्जैन की कुछ घटनाएँ तो ग्वालियर के इतिहास मे अमर है। सरसूवा वावा साहव आपटे के सुशासन से उज्जैन की प्रजा वड़ी पुष्ट और सन्तुष्ट रही। ग्वालियर राज्य के मालवे प्रान्त का वह व्यापारिक केन्द्र तभी से वना और इन्दौर के महाराज तुकोजीराव के लाख प्रयत्न करने पर भी वह इन्दौर के मुकावले मे अपना व्यावसायिक वर्चस्व अक्षुण्ण वनाए रहा।

महाराज जयाजीराव का शिन्देवंश की प्राचीन राजधानी उज्जैन की उन्नति की ओर वरावर ध्यान रहा। पवित्र क्षेत्र के नाते उन्होने क्षेत्रनाथ श्री महाकालेश्वर मन्दिर की सुव्यवस्था, कार्तिक-माघस्नान, शिवरात्रि एवम् श्रावण सोमवार के उत्सव, चिताभस्म पूजा आदि का सुप्रवन्ध किया। श्रीमन्त वायजावाई साहिवा के द्वारा प्रतिष्ठित धार्मिक स्थानो के प्रवन्ध के लिए एक स्वतत्र कार्यालय निर्मित किया, एवम् कुलदेव गोपालजी के उपासक होते हुए भी शैवपथ की दीक्षा प्रतिदिन शिवलिंगार्चन (पार्थिव पूजा) का व्रत लेकर उसे आजन्म निभाया, जो उनके सुपुत्र आदर्श नररत्न माधोमहाराज ने भी विदेश यात्रा तक मे अखण्ड चालू रखा। और उसी परम्परा का हमारे वर्तमान अधीश्वर श्रीमन्त जीवाजीराव महाराज भी पोषण कर रहे है।

कैलासवासी जयाजीराव महाराज को पुत्ररत्न प्राप्ति की कामना थी; अतएव श्री महाकालेश्वर दर्शन के अवसर पर ही उन्होंने संकल्प किया था कि उनके मनोरथ पूर्ण होने पर राज्य की तत्कालीन ६९ तहसीलो मे नूतन शिव-मन्दिर स्थापित किए जावेगे। भगवान् आशुतोष श्रीमहाकालेश्वरजी के कृपाकटाक्ष से महाराज को श्री माधव महाराज जैसा अनमोल पुत्ररत्न प्राप्त हुआ, जिसके उपलक्ष मे राज्यभर की ६९ तहसीलो मे श्रीजयेश्वर महादेवजी के मन्दिरो की प्रतिष्ठा होकर उनकी सेवा अर्चनार्थ प्रति मन्दिर १०० वीघे जमीन एवम् १००) नक्द उपहार स्वरूप दिए गए। पवित्र पुरी अवन्तिका के संस्कारो का उक्त कर्मोदय उज्जैन के इतिहास मे अमर है।

श्रीमन्त कैलासवासी माधव महाराज (१८८६-१९२५) का उज्जैन सम्वन्धी प्रेम का वर्णन हमारी शक्ति से परे है। यदि राजधानी ग्वालियर से भौतिक दृष्टि से उज्जैन अधिक अन्तर पर न होती तो वही हमारे राज्य की उप-राजधानी और विश्रामस्थान वनती। फिर भी उसी ध्येय प्राप्ति के उद्देश्य से कैलासवासी महाराज ने अपनी गत राजधानी उज्जैन का महत्त्व दृष्टिगत रखकर "सिप्री" को शिवपुरी वनाया और श्री माधवेश्वर की स्थापना करके संक्षिप्त उज्जैन

का आभास उत्पन्न कर दिया। उज्जैन में भी सरकारी कोठी (महल) बनाई और अनन्तर प्राचीन अपूर्व स्थान कालियादह महल को आधुनिक सुख सामग्री से सुसज्जित कर सोने में सुगंध कहावत चरितार्थ की। राज्य भर में सबसे पहले उज्जैन में ही जल-कष्ट निवारणार्थ वाटर वर्क्स खोला गया, और महाराज के ही नाम पर माधव कॉलेज की भी स्थापना हुई। रेलवे, कल-कारखाने, मिल, व्यापार व्यवसाय आदि की वृद्धि के कारण उज्जैन ग्वालियर राज्य का "मैंचेस्टर" कहा जाता है। इस मैंचेस्टर के विधाता हमारे माधव महाराज ही तो हैं। उनके सत्पुत्र हमारे वर्तमान अधीश्वर श्रीमन्त जीवाजीराव महाराज के राजकाल में कै० बड़े महाराज के व्यवहार पटुत्व के स्मरण-स्वरूप "माधवनगर" फ्रीगंज मण्डी बसाकर उज्जैन नगरी से उनका शुभ नाम अमररूप में संलग्न कर दिया है। जन्तर महल ज्योतिष की वेधशाला का जीर्णोद्धार तथा सुव्यवस्था महाराज ने ही की।

कै० महाराज पक्के भौतिकवादी होते हुए भी धर्म प्रवणता में भी एक ही थे। उनकी प्रेरणा से उज्जैन की धार्मिक परम्परा की रक्षा और वृद्धि में भी उन्नति हुई। यहाँ पर राजकोष से दान धर्म, ब्राह्मण-भोजन, पुरश्चरण, संकल्प तथा अनुष्ठान सर्वदा चालू ही रहे।

सं० १९६५ और ७६ के सिंहस्थ के मेले का कै० महाराज ने ऐसा सुन्दर प्रबन्ध किया और सहस्रों लाखों साधु-सन्तों की सेवा सम्मान में इतना अधिक परिश्रम और राजकोष से व्यय किया कि धार्मिक जगत् में माधव महाराज का नाम अमर हो गया। उस पुण्य-चक्र और साधु-सन्तों के महान् आशीर्वाद ही से तो हम ग्वालियर राज्य निवासियों के परम सौभाग्य से वर्तमान अधीश्वर श्रीमन्त जीवाजीराव महाराज जैसा प्रजारंजक भूपाल प्राप्त हुआ है।

सप्तपुरी अलंकृता अवन्तिका एवम् उसके अधिपति भगवान् महाकालेश्वर के अक्षय कृपा-कटाक्ष से यहाँ की धार्मिक परम्परा तो सिन्दे राजवंश की छत्रछाया में अटूट है ही, किन्तु अब तो श्रीमन्त जीवाजीराव महाराज के सुकार्य कलापों से उज्जैन रूपी स्वर्ण में सुगंध उत्पन्न हो गया है। वर्तमान युग की भौतिक अहमहमिका के कारण कालिदास-कालीन प्राचीन शृंगारादि सुखोपभोग युक्त हर्म्य प्रासादों के स्थान पर अब व्यवसाय प्रवण मिलों की ऊँची चिमनियाँ, व्यापारिक आयात निर्यात के साधन, रेलवे तथा मोटरें, नगर की सुन्दर रचना निर्माण के साथ ही प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक उत्थान की भी तो प्राणप्रतिष्ठा श्रीमन्त महाराज जीवाजीराव के ही द्वारा की जा रही है।
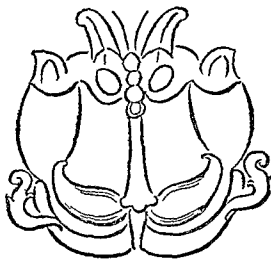
मालवा के सुलतान तथा उनकी मुद्राएँ

श्री गोपालचन्द्र सुगन्धी, एम० ए०

प्राचीन काल से हमारे देश के इतिहास में मालवे का बहुत ऊँचा स्थान है। हिन्दू-काल में मालवे में कई प्रसिद्ध प्रजा-पालक लोकप्रिय सम्राट् हुए जिन्होंने सारे भारतवर्ष में अपनी शक्ति और प्रभाव का आतंक जमाकर शासन किया तथा सदा के लिए अपनी स्मृति अमर कर गए। प्राचीन तथा मध्यकालीन समय में मालवे की भौगोलिक स्थिति इतनी महत्त्व की थी कि हमारे देश के जितने महत्त्वाकांक्षी सम्राट् तथा सुलतान हुए और जिन्होंने सारे भारतवर्ष पर अपनी विजय-पताका फहराकर शासन-सुख-भोग करने का ध्येय निश्चित किया उन्होंने इस प्रान्त पर अधिकार करना अनिवार्य समझा। गुजरात, दक्षिण आदि भागों पर अधिकार करने के लिए यह एक सहायक सीढ़ी थी। केन्द्रीय शासन के सूत्र जैसे-जैसे ढीले पड़ते गए, मालवा अपनी स्वतंत्रता ग्रहण करता गया और साथ ही साथ उपर्युक्त अन्य प्रान्त भी केन्द्रीय शासन के अधिकार की बेड़ियों को तोड़ने लगे।

मध्य-कालीन समय में मालवे पर पहला आक्रमण गुलाम वंश के तीसरे प्रसिद्ध सुलतान इल्तुतमिश की अध्यक्षता में हुआ, इसके बाद सुलतान बलबन ने हिजरी सन् ७१० में मालवे पर विजय प्राप्त की। सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ने भी मालव-नरेश मालवदेव को अपने सेनापति आइन-उलमुल्क-सुलतानी के द्वारा हराकर अधिकार प्राप्त किया और स्थायी रूप से मुसलमानों का इस प्रान्त पर अधिकार हो गया।

लगभग दोसौ साल के शासन के पश्चात् सुलतानों का दिल्ली राज्य अवनति की ओर अग्रसर हुआ। जो शक्ति तथा स्फूर्ति उसके कर्मचारियों में थी वह फीरोज तुगलक के राज्य के अन्तिम काल तक प्राय नष्ट सी हो गई थी। वे लोग लालची, विलासी तथा आरामतलब हो चुके थे। तैमूर के आक्रमण के पहले ही दिल्ली राज्य बिलकुल शक्ति-हीन हो गया था और सारे देश में अराजकता फैल गयी थी। मुसलिम सत्ता सैनिक शक्ति पर निर्भर थी, उस शक्ति का लोप होते ही महत्वाकांक्षियों की बन पड़ी। चारों ओर से विद्रोह के बादल उमड़ आये। राज्य-वैभव के लोभी प्रान्तीय सूबेदारों ने स्वतंत्रता की पताका फहराने का प्रयत्न किया। फीरोज तुगलक की नीति के कारण केन्द्रीय-शासन के सूत्र ढीले पड गये थे, अतः प्रान्तीय सूबेदारों को अपनी स्वतंत्रता घोषित करने में बहुत कम कठिनाई अनुभव करना पड़ी, एक के बाद एक प्रान्त स्वतंत्र

होता गया, तुगलक-साम्राज्य केवल दिल्ली और उसके निकटवर्ती प्रान्त में ही सीमित रहा। हालत यहाँ तक गिरी कि एक समय देहली-शहर म ही शतरज के बादशाह की तरह दो सुल्तान साम्राज्य लिप्सा से प्रेरित होकर अपनी कूट-चालो का प्रयोग कर रह थे।

ऐसी शोचनीय स्थिति में तैमूर ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया और महमूद तुगलक द्वितीय को देहली छोडने के लिए बाध्य किया। फीरोज तुगलक ने दिलावरखाँ गोरी को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया था। तमूर के आक्रमण के समय दिलावरखाँ मालवा में ही था। जब महमूदशाह को गुजरात में शरण नही मिली तो दिलावरखाँ ने महमूदशाह का अपनी राजधानी धार में सहर्ष स्वागत किया और तीन मास तक अपने शाही मेहमान की उचित सेवा की। सन १४०१ ई० में महमूदशाह के दिल्ली लौट जाने पर उसने अपनी स्वतन्त्रता घोषित की। सर वुल्जे हग का कथन ह कि दिलावरखाँ गोरी ने कभी भी अपने आपका स्वतन्त्र सुल्तान घोषित नहीं किया, यद्यपि वह देहली सुलतान के अधीन होने का कोई दिखावा नही करता था *। लेकिन अन्य इतिहासकारा तथा शिलालेखो से इसकी पुष्टि नही होती। व लिखत ह कि धार से महमूद के जाते ही दिलावरखाँ मालवा का स्वतन्त्र सुलतान बन बैठा। उसने अपने नाम का खुतबा पढ़वाया और सिक्का प्रचलित किया। †

दिलावरखाँ गोरी (१४०१ १४०५ ई०)—दिलावरखा की राजधानी धार थी, परन्तु वह माडू हमेशा आया करता था और वहा कई महीना तक मुकाम करता था। उसने ही माडव का "शादियाबाद" (आनद नगर) नाम दिया था। ‡ सन् १४०५ ई० म दिलावरखाँ की मृत्यु हो गई। लोगा को विश्वास हो गया कि हुशगशाह ने राज्यलोभ से अपने पिता को जहर द दिया लेकिन फरिश्ता आदि इतिहासकार इस कथन की सत्यता पर अविश्वास करते ह। ‡

हुशगशाह गोरी (१४०५ १४३५ ई०)—सिंहासनारूढ होते ही हुशगशाह ने मांडू को अपनी राजधानी बनाया। गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरखाँ ने अपने मित्र दिलावरखाँ की मत्यु का बदला लेने के लिए मालवा पर आक्रमण किया और धार पहुँचा। हुशगशाह ने गुजरात के सुल्तान का मुकाबला किया लेकिन अपनी कमजोरी देखकर वह मुजफ्फरखाँ की शरण गया। मुजफ्फरखाँ उसे कैद करके अपनी राजधानी में ले गया। उसका छोटा भाई नसीरखाँ मालवे का प्रबन्ध करने के लिए धार म रहा। लेकिन प्रजा ने उसके दुर्व्यवहार से तग आकर उसे भगा दिया। बाद में हुशग की प्रार्थना पर गुजरात-सुलतान ने उसे मुक्त कर मालवा की गद्दी पर बैठाया। माडू को फिर से प्राप्त करने में मलिक मुगीस से सहायता मिलने के कारण हुशग ने उसको अपना प्रतिनिधि तथा वजीर नियुक्त किया।

सन् १४१० ई० में गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरशाह का देहान्त हो गया और अहमदशाह सिंहासनारूढ हुआ। सन् १४१०, १४१३ और १४१८ में सुलतान हुशग ने गुजरात पर तीन असफल आक्रमण किये। सन् १४१९ में अहमदशाह ने हुशग को परास्त किया और उस मांडू के किले म शरण लेना पडी।

इसी बीच म सन् १४१७ ई० में उसने मलिक मुगीस के पुत्र महमूद का 'खाँ की उपाधि दी और उसे हमेशा अपने साथ रखने लगा।

सन् १४२१ में हुशग अपने साथ कई रग के कुछ घोडे लेकर सौदागर के वेश में जाजनगर (उडीसा) पहुँचा। जब वहा का राय नरसिंह चतुर घोडे देखने आया तो उसने उसे कद कर लिया। राय ने ७५ हाथी देकर छुटकारा पाया।

---

* केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द ३, पृष्ठ ३४९।

† (अ) डे—तबकाते अकबरी, जिल्द ३, पृष्ठ ४६८। निजामुद्दीन अहमद के शब्द ये ह —दावे इस्तकलाल करदा बतरीके सलातीन खुतबा ए मालवा बनाम खुद करदा चतर व सरा पर्दा सुर्ख साख्त।

(ब) ब्रिग्ज—फरिश्ता जिल्द ४, पृष्ठ १७०, कलकत्ता सस्करण।

‡ माडव के तारापुर दरवाजे का शिलालेख।

‡ ब्रिग्ज—फरिश्ता, जिल्द ४, पृष्ठ १७०।

लौटने वक्त हुशंग ने खेरला पर अधिकार कर लिया। इसपर अहमदशाह वहमनी से युद्ध छिड़ गया। हुशंग की हार हुई और वह माँडू की ओर रवाना हुआ। उसके हरम की स्त्रियाँ अहमदशाह के हाथ लगी। अहमदशाह ने उन्हें सम्मानपूर्वक माँडू भेज दिया।

गगरोन और कालपी के किले ले लेने के वाद हुशंगशाह ने नर्मदा नदी के तट पर हुशंगावाद वसाया। इसके वाद हुशंगशाह के ताज से वदखशाही लाल गिरने की अशुभ घटना हुई और वह ता: ६ जुलाई १४३५ ई० को वहुमूत्र रोग से मर गया।* हुशंगशाह साहित्य और कला का वड़ा प्रेमी था। उसने अनेक सुरम्य भवन निर्माण कराये।

मुहम्मदशाह गोरी—(१४३५-३६) यह पक्का शरावी था। अत: इसने सारा राज्य कार्य अपने ससुर मलिक मुगीस और उसके पुत्र महमूदखाँ के हाथ मे छोड़ रखा था। महमूद मालवे का सुलतान वनना चाहता था। अतएव एक दिन उसने सुलतान को जहर देकर मरवा डाला।

महमूद खिलजी प्रथम (१४३६-१४६९)—२९ शव्वाल ८३९ हिजरी (२४ अगस्त १४३६) को ३४ वर्ष की अवस्था मे महमूद खिलजी मालवा का सुलतान हुआ। मलिक मुगीस को निजामुलमुल्क की उपाधि दी गई और वह वजीर के पद पर नियुक्त किया गया। इसी समय गुजरात के सुलतान अहमदशाह ने मसूद को मालवा के सिहासन पर वैठाने के लिए आक्रमण किया, लेकिन असफल रहा। चन्देरी का किला विद्रोही महमूद ने जीत लिया और माँडू लौटकर उसने जामे मसजिद को पूरा किया जिसकी नीव हुशंगाशाह ने डाली थी।

इस समय देहली मे सैयद मुहम्मद राज्य करता था। उसकी कमजोर नीति से दुखित होकर कुछ अमीरों ने महमूद खिलजी को दिल्ली के तख्त पर वैठने के लिए आमन्त्रित किया। सन् १४४० ई० मे महमूद ने दिल्ली की ओर कूचकर तुगलकावाद मे मुकाम किया। दिल्ली और मालवा की सेनाओ मे रातभर युद्ध चलता रहा। सुवह मुहम्मदशाह ने सन्धि की प्रार्थना की। महमूद खिलजी को अहमदशाह गुजराती की मालवा पर चढ़ाई करने की खवर मिल चुकी थी। अत:, उसने सन्धि करली। इसी समय उसने नालछा मे एक वाग और माँडू मे कुछ राज-महल वनवाए और अपने सरदारों को वहुत कुछ इनाम दिया।

कालपी की विजय के वाद महमूद ने चित्तौड़ की ओर प्रस्थान किया। मेवाड़ का राज्य दिल्ली, मालवा और गुजरात मे राज्यो से घिरा हुआ था और साम्राज्य वढ़ाने के लिए इन राज्यो मे हमेशा झगड़ा हुआ करता था। इस समय यह युद्ध परिणाम-रहित रहा। दोनों दलो ने अपने आपको विजयी समझा।† राना कुम्भ ने इस विजय के स्मारकस्वरूप एक विजय-स्तभ वनवाया और महमूद खिलजी ने भी अपनी राजधानी माँडू मे विजय-स्तम्भ निर्मित किया।

---

* फरिश्ता और तवकाते अकवरी के अनुसार हुशंगशाह की मृत्यु ता: ९ दिहिज्जा ८३८ हिजरी है, लेकिन कर्नल व्रिग्ज (फरिश्ता, जिल्द ४, पृष्ठ १८९) हुशंग की मृत्यु ता: ९ दिहिज्जा ८३५ हिजरी अर्थात् ७ सितम्वर १४३२ ई० लिखते हैं। मि० यजदानी अपनी पुस्तक—*Mandu, The City of Joy* में हुशंग की मृत्यु ता: ९ दिहिज्जा ८३५ हिजरी (७ अगस्त १४३२) लिखते हैं। "आहशाह हुशंग नुमान्द" से हिजरी सन् ८३८ ई० निकलता है, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया जिल्द ३, पृष्ठ ३५२ पर ६ जुलाई १४३५ ई० लिखी है लेकिन सीवेल और दीक्षित के इन्डियन केलेण्डर के अनुसार हुशंग की मृत्यु ता: ७ सितम्वर सन् १४३५ ई० है।

† लेनपुल —मेडिवल इण्डिया पृष्ठ १७४—
(अ) फरगुसन-हिस्ट्री ऑफ इण्डिया आर्किटेक्चर, जिल्द २, पृष्ठ ५९।
(व) टाड-एनाल्स एण्ड एँटिक्विटीज ऑफ राजस्थान, जिल्द १, पृष्ठ ३३४-३५।
(स) ओझा—राजपूताने का इतिहास, जिल्द १, पृष्ठ ५९९।

इसी समय मन्दसौर के पास महमूद खिलजी के पिता तथा वजीर मलिक मुगीस की मृत्यु हो गई। इससे महमूद के हृदय पर कड़ी चोट पहुँची। वह फूट-फूट कर रोया, यहाँ तक कि उसने अपने चेहरे को जख्मी कर लिया। मलिक मुगीस की लाश मांडु में दफनायी गई।

इसी समय जौनपुर के सुलतान महमूद शर्की ने काल्पी के सूबेदार नसीरखां के विरुद्ध महमूद खिलजी से शिकायत की कि नसीरखां इस्लाम के विरुद्ध आचरण कर रहा है। मालवा सुल्तान ने महमूद शर्की को उसे सजा देने के लिए अपनी स्वीकृति दे दी लेकिन बाद में अफसोस प्रकटकर उसे मना किया। जौनपुर-सुल्तान ने उत्तर देने में टालमटोल की, अतः वह स्वयं चन्देरी पहुँचा। जौनपुर और मालवे की सेनाओं में मुठभेड़ हुई लेकिन युद्ध परिणाम रहित रहा। सन्धि हो जाने पर महमूद माडू लौट आया।

इसके बाद महमूद ने मेवाड पर पाँच बार असफल आक्रमण किये*। इसी प्रकार सन् १४५० और १४५१ ई० में गुजरात पर भी इसके आक्रमण असफल रहे। एक बार फिर महमूद खिल्जी ने गुजरात के सुल्तान कुतुबुद्दीन की सहायता से मेवाड पर चढाई की, लेकिन फिर भी नाकामयाब रहा।

सन् १४६१ ई० में महमूद खिलजी ने अपने एक सम्बन्धी निजामुलमुल्क के खून का बदला लेने के लिए बहमनी राज्य पर आक्रमण किया और बीदर के किले में प्रवेश किया। बरार जीत लिया गया लेकिन बहमनी राज्य के योग्य मंत्री महमूद गाँवा और गुजरात के सुल्तान महमूद बीगड के आ जाने से महमूद खिल्जी पूर्वीय बरार से होकर मेलघाट के रास्ते मांडू लौटा। सन् १४६२ ई० में हार का बदला लेने के लिए महमूद ने ९०,००० सवारों के साथ फिर बहमनी राज्य पर आक्रमण किया लेकिन गुजरात के सुल्तान के नन्दुरवार तक आ जाने के कारण उसे लौटना पडा।

रास्ते में खलीफाबाद नामक† गाँव में उसने मिश्र के नाम-मात्र के खलीफा यूसुफ बिन अब्बास के दूत शाफ-उल्-मुल्क का स्वागत किया और उसे कई बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट की। सन् १४६६ ई० में बहमनी और मालवा राज्य में सन्धि हो गई। खेरला का किला मालवा राज्य में रहा।

सन १४६७ ई० में महमूद ने सैयद मुहम्मद नूरबख्श के दूत मौलाना इमादुद्दीन का स्वागत किया। मौलाना इमादुद्दीन ने सैयद की कफनी महमूद को दी। सुल्तान ने उसे चूमा और विद्वानों तथा शेखों को खूब रुपया बाँटा।

(य) हरविलास शारदा—महाराणा कुम्भ, पृष्ठ ४७।

उपर्युक्त लेखकों का कथन है कि इस युद्ध में महाराणा कुम्भ ने महमूद को हराकर अपने यहा छह माह तक कैद रखा था, लेकिन तबकाते अकबरी, फरिश्ता और सर वुल्जेहेग का कथन इन लेखकों के विरुद्ध है। इनके कथनानुसार महमूद ने महाराणा कुम्भ को हराकर चित्तौड के किले में शरण लेने के लिए बाध्य किया।

ब्रिग्ज—फरिश्ता, जिल्द ४, पृष्ठ २११। डे—तबकाते अकबरी, जिल्द ३, पृष्ठ ५१३।

केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द ३, पृष्ठ ३५५। मैं इस घटना पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डालना चाहता था लेकिन तारीखे महमूदशाह मडवी की हस्त लिखित प्रति की माइक्रोफिल्मस जो महाराजकुमार डॉ० रघुबीर-सिंहजी के संग्रहालय में है, प्रतिलिपि तयार न होने से निश्चयात्मक रूप से विवेचन नहीं किया जा सका।

* पं० गौरीशंकर ओझा ने शिलालेखों तथा प्रशस्तियो के आधार पर सिद्ध किया है कि मुसलमान इतिहासकारो ने महाराणा कुम्भ पर महमूद की विजय का जो वर्णन किया है वह पक्षपात रहित नहीं है—उदयपुर का इतिहास, जिल्द १ पृष्ठ ६०९-२१। श्री हरविलास शारदा ने भी इन आक्रमणों का असफल होना प्रमाणित किया है—महाराणा कुम्भ पृष्ठ, ५७ ५८।

† डे—तबकाते अकबरी, जिल्द ३ पृष्ठ ५३६। ब्रिग्ज—फरिश्ता, जिल्द ४, पृष्ठ २२९, सर वुल्जे हेग उक्त राजदूत का मांडू में मिलना बतलाते हैं। देखो केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द ३, पृष्ठ ३६२।

श्री गोपालचन्द्र सुगन्धी

इसके कुछ समय बाद ही सारंगपुर में महमूद ने तैमूर के वंशज मिर्जा अबुसैयद के राजदूत जमालुद्दीन असतराबादी का स्वागत किया और उसे बढ़िया चीजें दीं और अपनी तरफ से शेखजादा अलाउद्दीन को राजदूत बनाकर भेजा।

सन् १४६८ ई० में कचवारा के जमींदारों को दबाने के लिए महमूद चन्देरी गया और वहाँ पर दिल्ली के सुलतान बहलोल लोदी के दूत मुहम्मद फरमली और कपूरचन्द उपस्थित हुए तथा सुलतानहुसैन शर्की के विरुद्ध सहायता के लिए प्रार्थना की और बदले में बयाना देने का वादा किया। सुलतान महमूद ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की।

मई २६, १४६९ ई० को ३४ साल के शासन के बाद कचवारा प्रान्त में महमूद का देहान्त हो गया। मालवा सुलतानों में महमूद का सबसे ऊँचा स्थान है। कोई ऐसा वर्ष नहीं गया जिसमें उसने लड़ाई न लड़ी हो। वह बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। उसकी इच्छा दिल्ली, गुजरात, चित्तौड़ और दक्षिण जीतने की थी लेकिन वह असफल रहा। उसकी कीर्ति मिश्र, मध्य एशिया आदि सुदूर देशों में फैल चुकी थी। बहलोल लोदी जैसे सुलतान उसकी सहायता के इच्छुक थे। महमूद धर्मान्ध मुसलमान था। उसने कई मूर्तियाँ और मंदिर तोड़े तथा इनके मसाले से मसजिदें बनवाईं। माँडू में उसने अनेक भव्य इमारतें बनवाकर उस नगर की शोभा बढ़ाई। अपनी राजधानी में उसने पागलों का एक अस्पताल खोला था और मौलाना फजलुल्ला हकीम को मालिक-उल-हुक्मा की उपाधि देकर उसका संचालक नियुक्त किया था। मध्यकालीन युग में इस प्रकार के अस्पताल का यही पहले जिक्र मिलता है।* सारे राज्यभर में उसने कई बाग-बगीचे लगाये थे। उसे हरी शाक-भाजी खाने का बड़ा शौक था। दक्षिण के आक्रमण के समय जब महमूद के पास हरी शाक-भाजी समाप्त हो गई तो उसे बाजार से मँगवाने के लिए हुक्म देना पड़ा था। मालवा सुलतानों की मुद्राओं का चौकोर रूप इसी के समय से प्रारंभ होता है।

गयासुद्दीन खिलजी (१४६९-१५०० ई०)—महमूद के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र गयासुद्दीन के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने अपने भाइयों को जागीरें दीं और उन्हें सन्तुष्ट रखा। सुलतान के बड़े लड़के अब्दुलकादिर को नासिरशाह की उपाधि दी गई और वह उत्तराधिकारी तथा वजीर घोषित किया गया और सुलतान अपना सारा समय ऐश आराम में व्यतीत करने लगा। उसने अपने दरबार में कई गवैये एकत्रित किये और अपना हरम सुन्दर रमणियों तथा कनीजों से भरा एवं प्रत्येक स्त्री की इच्छानुसार उसे नाचना, गाना, बजाना, कविता-पाठ तथा कुश्ती लड़ने की शिक्षा दी गई। उसके महल में अबीसीनिया निवासी ५०० सशस्त्र लड़कियां पुरुषवेश में रहती थीं। यह फौज "हबीबाश दल" कहलाती थी। ५०० तुर्की सशस्त्र गुलाम लड़कियों का दूसरा दल "मुगल दल" कहलाता था। इसी प्रकार ५०० लड़कियों का एक और दल था जो अपने ज्ञान और बुद्धि के लिए प्रसिद्ध था। इनमें से एक लड़की प्रति दिन सुलतान के साथ भोजन करती थी। हरम में स्त्रियों की संख्या १६,००० थी। प्रत्येक की तनख्वाह अनाज आदि के रूप में निश्चित थी। स्त्रियों से उसे प्रेम था। राज्यभर में सुन्दर स्त्रियां उसके लिए ढूंढ ढूंढकर लाई जाती थीं।

सन् १४८२ में जब बहलोल लोदी ने रणथम्भोर के पास पालनपुर पर चढ़ाई की तो सुलतान को इसकी खबर देने की किसी को हिम्मत न पड़ी। अन्त में हसन नामक एक व्यक्ति ने वजीरों की सलाह से यह खबर सुलतान को दी तो चन्देरी के सूबेदार शेरखाँ को आज्ञा दी गई कि वह सारंगपुर और चन्देरी की सेनाओं की सहायता से बहलोल का मुकाबला करे। बहलोल बयाना छोड़कर देहली की तरफ बढ़ा। शेरखाँ ने उसका पीछा किया और अन्त में बहलोल ने बहुतसा नजराना देकर छुटकारा पाया।

गयासुद्दीन में कट्टर धार्मिकता थी। वह समय पर नमाज पढ़ता था और कनीजों को हिदायत थी कि नमाज का समय होने पर अगर वह गहरी नींद में भी सोया हो तो जगा दिया जाय। वह इस्लाम धर्म से वर्जित किसी भी वस्तु का उपयोग नहीं करता था।

---

* डे—तबकाते अकबरी, जिल्द ३, पृष्ठ ५१९, फुटनोट।

धर्मांधना के कारण वह कई बार बुरी तरह ठगा गया। इसके कई किस्से हैं, स्थानाभाव के कारण यहा एक दो किस्से ही दिए जा रहे ह। एक बार का जिक्र ह कि एक मनुष्य एक गधे का खुर लेकर सुल्तान के सामने उपस्थित हुआ और निवेदन किया कि यह ईसा मसीह के गधे का खुर है। इसपर उस ५०,००० टका इनाम दिए गए। तीन मनुष्य आये और उन्होने न भी यही बात दोहराई। उन्हे भी इसी तरह का इनाम दिया गया। कुछ दिन बाद पाँचवाँ आदमी एक और खुर लेकर आया और यही बात कहा तो सुल्तान ने उस भी ५०,००० टका देने के लिए कहा। जब दरबारियों ने अर्ज किया कि जहाँपनाह गधे के चार ही पर होते ह तब सुल्तान ने उत्तर दिया "कोई मुजायका नही, शायद उन चार म से कोई एक झूठा हो और यह सच हो।"*

गयासुद्दीन नशीली वस्तुओ स परहेज करता था। एक समय करीब एक लाख टका की लागत से करीब ३०० से अधिक वस्तुओ को मिलाकर 'माआजून' तयार किया गया। सुल्तान के पूछा जाने पर सब वस्तुओ की सूची पढकर सुनाई गई। परन्तु यह जानकर कि उसम करीब एक माशा जायफल भी ह उसने सारी माआजून नाली में फिकवा देने की आज्ञा देदी। दरबारियो म से किसी एक ने अर्ज करने की हिम्मत की कि जहाँपनाह, हमम से किसी एक को यह माआजून देने की इज्जत बख्शी जावे। तब सुल्तान ने फरमाया कि जिस चीज का म इस्तेमाल नहीं कर सकता उसे अपनी रिआया को किसी भी हालत में नहीं दे सकता।†

एक समय शेख महमूदनुमान (जाकि गयासुद्दीन की खिदमत मे था) का पडौसी दिल्ली से अपनी लडकी की शादी के लिए धन प्राप्त करने के लिए माडू आया। शेख ने उसे काफी रुपया देने का वादा किया लेकिन यात्री ने यह बात स्वीकार नहीं की। उसने शेख से अर्ज की कि अन्य लोगो की तरह मुझे भी सुल्तान से कुछ दिलवा दिया जाए ताकि मेरी इज्जत दिल्ली म बढ जावे। शेख ने कहा आपम किसी तरह की योग्यता नही और न आपका नाम ही मशहूर है, म किस तरह आपकी इम्दाद कर सकता हूँ। पडौसी ने कहा कि म तो आपके भरोसे हूँ, जो चाहे करें। वह उसे अपने साथ राजमहलो म ले गया। इस समय भीख बाँटी जा रही थी। शेख ने अपना रूमाल देते हुए कहा कि एक मुट्ठीभर गेहूँ ले लो, वसाही किया गया। दोनो सुल्तान की खिदमत म हाजिर हुए। सुल्तान ने पूछा यह कौन है? शेख ने अर्ज की कि यह देहली से आए ह और इन्हे कुरानशरीफ हिफ्ज है। ये अपने साथ जितने गेहूँ के दाने लाए ह उतनी बार कुरान शरीफ पढा है। इसपर सुल्तान ने जवाब दिया कि इन्हे यहा क्या लाए हो मुझे जाना चाहिए। शेख ने अर्ज की कि हुजूर यह तो ठीक नहीं। सल्तनत के वजीर तथा उमरा सुल्तान का वहाँ जाना पसन्द न करेंगे। सुल्तान ने कहा इसकी कोई चिन्ता नही। आखिरकार यह तय हुआ कि शुक्रवार के दिन सुलतान जामे मसजिद मे उक्त गेंहू के दाने प्राप्त करें। वसाही किया गया। नमाज खत्म होते ही सुल्तान ने वस्त्र फैलाया और शेखजी के पडौसी ने गेहूँ के दाने उसम डाल दिए और बहुतसा रुपया प्राप्त करके दिल्ली लौट गया।‡

रानी खुर्शीद और शुजाअतखा तथा नासिरुद्दीन के झगडो के कारण सुल्तान गयासुद्दीन के अन्तिम दिन बहुत कष्ट हो गए थे। नासिरुद्दीन अपने पिता के जीतेजी ही सुलतान बन बैठा। इसके कुछ समय बाद सन् १५०१ ई० में गयासुद्दीन की मृत्यु पचिश की बीमारी से हो गई। कुछ इतिहासकारो का मत है कि नासिरुद्दीन ने अपने पिता को जहर देकर मरवा डाला।‡‡

---

* इलियट और डासन जिल्द ४, वाकिआते मुश्ताकी, पृष्ठ ५५५।

† वही, पृष्ठ ५५५।

‡ वही, पृष्ठ ५५५ ५६।

‡‡ डे-तबकाते अकबरी, जिल्द ३, पृष्ठ ५५३। पिता को जहर देने का नासिरुद्दीन दोषी था इसलिए शेरशाह जब नासिरुद्दीन की कब्र पर पहुँचा तो उसपर डडे मारने का हुक्म दिया। जहाँगीर तथा उसके कतिपय नौकरों ने कब्र को कई ठोकरें मारीं और उसकी लाश के अवशेष को नमदा में फिकवा दिया।
रोजर्स और बेवरीज—जहाँगीरनामा, जिल्द २, पृष्ठ ३६७।
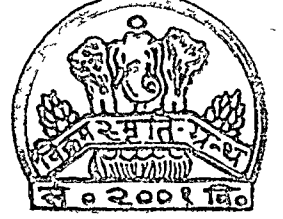
श्री गोपालचन्द्र सुगन्धी

नासिरुद्दीन खिलजी (१५००-१५११)--नासिरुद्दीन के सिहासन पर बैठते ही चन्देरी के सूबेदार शेरखाँ, एरिच के सूबेदार सिकन्दरखाँ और मन्दसौर के सूबेदार महावतखाँ ने विद्रोह किया। विद्रोही पराजित हुए। सिकन्दर तथा शेरखाँ लड़ाई मे काम आए।

सन् १५०२ मे सुलतान ने कचवारा के राजपूतो को दबाया और १५०३ ई० मे चित्तौड़ पर आक्रमण किया तथा नजराने का रुपया लेकर वापस लौट गया। इसी समय वह राना रायमल के निकट सम्बन्धी भवानीदास की पुत्री को अपने साथ ले गया था और उसका नाम चित्तौड़ी बेगम रखा।* इस घटना का जिक्र मेवाड़ के किसी शिलालेख या ख्यात मे नहीं मिलता।†

इसके बाद नासिरुद्दीन ने खानदेश के सुलतान दाऊदखाँ की सहायता के लिए एक बडी सेना भेजी लेकिन मालवी सेना के पहुँचने के पहले ही अहमद निजामशाह अहमदनगर लौट गया और असीरगढ तथा बुरहानपुर मे नासिरुद्दीन के नाम का खुतबा पढा गया।

नासिरुद्दीन बड़े चिड़चिड़े स्वभाव का था। वह खूब शराब पीता था। विजय ने तो उसका दिमाग फेर दिया था उसके अत्याचारो से तग आकर उसके उत्तराधिकारी शहाबुद्दीन ने विद्रोह किया। सुलतान ने उसे धार मे परास्त किया और चन्देरी तक उसका पीछा किया। जब वह माँडू लौट रहा था तब रास्ते मे उसकी मृत्यु हो गई।

नासिरुद्दीन को इमारते विशेषकर हौज आदि बनवाने का बडा शौक था। उज्जैन के पास कालियादह महल और माडव मे बाजबहादुर का महल इसी के बनवाये हुए है। इमारतो पर इसने पाँच करोड़ रुपया खर्च किया था।

महमूद खिलजी द्वितीय (१५११-१५३१ ई०)--महमूद के सिंहासनारूढ़ होने के समय मालवा की परिस्थिति बहुत खराब थी। शहाबुद्दीन मुहम्मद द्वितीय के नाम से राज्याधिकार के लिए प्रयत्न कर रहा था। मुहाफिजखाँ की सहायता से उसने मांडव पर अधिकार कर लिया था। मुसलमान सरदार उसके पिता के अनुभवी मत्री बसन्तराय का खून कर चुके थे। ऐसे समय मे सुलतान ने मेदिनीराय से सहायता मागी। राजपूतो की सहायता से महमूद फिर मालवा की गद्दी पर बैठा और मुहम्मद द्वितीय खानदेश की ओर भाग गया।

मेदिनीराय के मंत्री हो जाने से मुसलमान अमीर नाराज हो गए। गुजरात के सुलतान मुजफ्फर द्वितीय ने मालवा पर आक्रमण किया। विद्रोह दबा दिया गया और मुजफ्फर गुजरात लौट गया। सिकन्दर लोदी की ओर से विद्रोहियो की सहायता के लिए भेजी हुई सेना भी सारगपुर के पास हार गई। विद्रोहियो ने सन्धि कराई और राज्य मे शान्ति स्थापित हुई।

मेदिनीराय का प्रभाव दिन प्रति दिन बढने लगा। उसने सारे राज्य का उचित प्रबन्ध किया और कई सुधार किए। फरिश्ता तथा निजामुद्दीन अहमद का कथन है कि मेदिनीराय की सलाह से सुलतान ने कई अमीरो को मरवा डाला। मुसलमान नौकरी से निकाल दिए गए। सुलतान के पास केवल २०० मुसलमान रहे।‡ कुछ ओहदो पर हिन्दू नियुक्त किए गए। एक दिन सुलतान ने पान भेजकर मेदिनीराय को नौकरी से अलग कर दिया। इसपर ४०,००० राजपूत जिन्होंने सुलतान की सेवा अच्छी तरह की थी बिगड गए। मेदिनीराय ने उन्हे शान्त किया और सुलतान की सहायता करने का आदेश दिया। सुलतान ने अपने दूसरे मंत्री सालिवाहन को जहर देकर मरवा डाला। मेदिनीराय की जान लेने मे महमूद असमर्थ रहा। मेदिनीराय केवल जख्मी हुआ। मेदिनीराय ने स्वस्थ होने पर सुलतान को लिखा कि मै आपका हमेशा हितैषी रहा हूँ इसपर फिर उसकी नियुक्ति पुराने पद पर हो गई।

---

* फरिश्ता में जीवनदास की, जो रायमल का मातहत था, लड़की लेकर जाने का उल्लेख है और उसका नाम रानी जयपुरी बतलाया गया है।

† ओझा--उदयपुर का इतिहास, जिल्द १, पृष्ठ ६४२-४३।

‡ ब्रिग्ज--फरिश्ता, जिल्द ४, पृष्ठ २५६, डे--तबकाते अकबरी, जिल्द ३, ५९७।

एक दिन मेदिनीराय के बढ़ते हुए प्रभाव से घबराकर सुलतान गुजरात की सीमा तक भाग गया। वहाँ उसका स्वागत हुआ। 'मिराते सिकन्दरी' से पता चलता है कि महमूद के जाने पर भी मेदिनीराय ने सुल्तान के हरम का खर्च किसी प्रकार कम नहीं किया था और आम दरबार में कहा था कि सुलतान आकर अन्य किसी मंत्री को नियुक्त करे।* मुजफ्फर ने मांडू पर आक्रमण किया। २३ फरवरी सन् १५१८ को होली थी। राजपूत त्यौहार मनाने में लगे थे। गुजराती सेना गुप्त रास्ते से मांडू में घुस आई। कत्ले-आम के बाद राजधानी पर मुजफ्फर का अधिकार हो गया। इस समय १९,००० राजपूत मारे गए।†

मेदिनीराय की प्रार्थना पर राणा सांगा सारंगपुर तक आया लेकिन मांडू पर गुजरात सुलतान की सहायता से महमूद का अधिकार हो जाने से वापस लौट गया। राणा सांगा की ओर से गगरौन और चन्देरी मेदिनीराय के अधिकार में रहे। आसफखाँ गुजराती की सहायता से महमूद ने गगरौन पर चढ़ाई की। महाराणा सांगा चित्तौड़ से आगे बढ़े और महमूद को परास्त किया। महमूद जख्मी हालत में पकड़ा गया और चित्तौड़ में तीन मास तक कैद रहा। अन्त में महाराणा ने इसे मालवा का राज्य देकर विदा किया। सुल्तान ने नजराने के रूप में अपना रत्न-जटित-ताज और कमरपट्टा राणा सांगा को समर्पित किया। मुसल्मान इतिहासकारों ने महाराणा के इस कार्य की बड़ी प्रशंसा की है। बाबर की आत्मकथा से पता चलता है कि यही ताज और कमरपट्टा राना रतनसिंह के छोटे भाई राना विक्रमाजीत द्वारा बयाना प्राप्त करने के लिए बाबर को भेंटस्वरूप दिए गए। ‡ (अ)

महमूद के अत्याचारों का हाल सुनकर बहादुरशाह गुजराती ने माल्वे पर आक्रमण किया और १७ मार्च सन १५३१ ई० को इसे जीत लिया‡ और महमूद तथा उसके सात पुत्रों को कैद करके गुजरात ले गया। रास्ते में दोहद के पास रायसिंह ने दो हजार भील और कोलियों की सहायता से गुजरात की सेना पर आक्रमण किया। पहरेदारों ने महमूद को भागने के डर से मार डाला और दूसरे दिन दोहद में दफनाया गया।

सन १५३४ ई० में हुमायूं ने बहादुरशाह को मन्दसौर के पास हराकर मालवा जीता। बहादुरशाह राजा भोज के प्रसिद्ध विजय-स्तम्भ को गुजरात ले जाना चाहता था। इसी प्रयत्न में इसके तीन टुकड़े हो गए। बहादुरशाह ने गुजरात में भागकर शरण ली।

सन् १५३६ १५४२ तक मालवा खिल्जीवंश के एक सरदार मल्लूखाँ उर्फ कादिरशाह के अधिकार में रहा। इसे शेरशाह ने पराजित कर सन् १५४२ ई० में अपने मित्र तथा रिश्तेदार शुजाअतखाँ को मालवे का सूबेदार नियुक्त किया। सन् १५५४ ई० तक शुजाअतखाँ मालवा का सूबेदार रहा।

बहादुरशाह (१५५५ १५६४)—शुजाअतखाँ की मृत्यु के बाद उसका लड़का मलिक बायजीद बाजबहादुर के नाम से मालवे का सुलतान हुआ। इसने एक वर्ष बाद ही गोंडवाना पर चढ़ाई की लेकिन रानी दुर्गावती ने इसे बुरी तरह हराया। इस पराजय से वह बहुत शर्मिन्दा हुआ और भोग-विलास में पड़कर दुःख भूलने का प्रयत्न करने लगा।

बाज बहादुर के हरम में कई स्त्रियाँ थी। इनमें रूपमती अति प्रसिद्ध है। यह सारंगपुर की एक "चतुर, सुघर, सुन्दर, सुजान पातुर" थी इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद है। फरिश्ता उसे एक दरबारी महिला कहता है। मासिरुल-उमरा और अहमदुल-उमरी के लेखक उसे पातुर कहते हैं। तबकाते अकबरी का लेखक निजामुद्दीन अहमद

---

* बेले—हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृष्ठ २६२-२६३।

† डे—तबकाते अकबरी, जिल्द ३, पृष्ठ ६०४।

‡ (अ) किंग बाबरनामा जिल्द २, पृष्ठ ३४१, आक्सफोर्ड संस्करण।

‡ बहादुर की विजय की ता ९ शाबान ९३७ हिजरी है। कर्नल ब्रिग्ज २० मई १५२६ मानते हैं। ब्लाकमन आइने अकबरी में यही तारीख मानते हैं। केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द ३ में १७ मार्च १५३१ दी है जो ठीक प्रतीत होती है।

उसे वाजवहादुर की प्रिय पत्नी लिखता है। इस प्रकार इतिहासकारो मे मतभेद है, लेकिन उसके गुणो का गान सव एक स्वर से करते हैं। उसका स्वर मधुर था और वह हिन्दी मे कविता करती थी। संगीतशास्त्र मे वह इतनी प्रवीण थी कि कई तत्कालीन गवैये उसका लोहा मानते थे। वाजवहादुर के साथ उसका प्रेम अद्वितीय था। वह एक सच्ची वीर विदुषी महिला थी। उसका जन्म भले ही किसी भी जाति मे हुआ हो, लेकिन यह मानना पड़ेगा कि पतिव्रत-धर्म के लिए उसका वलिदान आदर्श था। वह शिकार करती थी और निशाना लगाने मे विलकुल अचूक थी। घोड़े की सवारी मे भी वह अपना सानी नही रखती थी।*

सन् १५६१ ई० मे अकवर के सेनापति आदमखाँ ने वाजवहादुर को सारंगपुर के युद्ध मे हराया और मालवे पर कब्जा कर लिया। वाजवहादुर खानदेश की ओर चला गया और राज्य पाने का फिर से प्रयत्न करने लगा। आदमखाँ रूपमती को अपनी पत्नी वनाना चाहता था। अत. रूपमती ने जहर खाकर प्राण दे दिए। सन् १५७० मे वाजवहादुर अकवर की शरण चला गया।

उपर्युक्त वर्णन से भलीभाँति विदित होता है कि मध्यकालीन युग मे मुसलमानी सत्ता सैनिक-शक्ति पर निर्भर थी। सैनिक वर्ग की सहायता पर ही राज्य की उन्नति हो सकती थी। मालवा की भौगोलिक स्थिति के कारण उसे मेवाड, गुजरात और वहमनी राज्यो से सदैव सचेत रहना पडता था। इन वाह्य आक्रमणो के कारण प्रजा भयभीत रहती थी और रक्षा चाहती थी। मालवा के सुलतान वीर तथा कुशल सेनापति थे। महमूद खिलजी प्रथम तो प्रत्येक वर्ष अपनी महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए रणक्षेत्र के दर्शन करता था। उसकी वीरता और शक्ति के कारण अनेक राजा उसकी सहायता चाहते थे। गयासुद्दीन जैसे विलासी तथा ऐशो आराम चाहनेवाला वादशाह भी रण-भीरु नही था। उसने अपने पिता के राज्यकाल मे अनेक लड़ाइयाँ लड़ी थी। मालवा सुलतानो के शासन पर अन्य प्रान्तों की तरह मुल्ला-मौलवियो का काफी प्रभाव पाया जाता है। राजा के प्रभावशाली होने के समय इनकी दाल नही गलती थी, लेकिन कमजोर राजाओं के समय इनकी वन आती थी।

उत्तराधिकार का कोई नियम नही था। प्राय: गद्दी के लिए ज्येष्ठ पुत्र का हक समझा जाता था, लेकिन दिल्ली के खिलजियो के समय से छोटे भाइयो का भी अधिकार माना जाने लगा था। अत., राज्य के लिए झगडे होते थे। राज्य-कार्य मे रिश्तेदारी-नातेदारी का कोई स्थान नही था। Kingship Knows no Kinship सिद्धान्त के मालवा सुलतानो के पुत्र पक्के अनुयायी थे। राज्य के लिए पुत्र पिता को जहर देने के लिए नही हिचकता था। भाई-भाई के प्राण लेता था। जागीर की प्रथा होने से अक्सर विद्रोह हुआ करते थे। अमीरो मे पारस्परिक द्वेष रहता था। अत: राज्य मे दलवन्दियाँ रहती थी। सारा राज्य कई सूवो मे विभाजित था। प्रान्तीय सूवेदार सुलतान के प्रति जवावदार थे। उन्हे अपने सूवे की रक्षा के लिए सेना रखनी पडती थी। मालवा का मध्यकालीन सामाजिक जीवन अन्य प्रान्तो की तरह था।

आमतौर से मुसलमानो को ऊँचे ओहदे दिए जाते थे। लेकिन योग्य हिन्दू ऊँचे पदो से वंचित नही रखे जाते थे। महमूद खिलजी प्रथम का अर्थमंत्री मक्सी के प्रसिद्ध पार्श्वनाथ मन्दिर का निर्माता, संस्कृत का प्रसिद्ध विद्वान् संग्रामसिंह सोनी था और इसे नकद-उल-मुल्क की उपाधि थी। गयासुद्दीन के समय सारा राज्यकार्य नासिरुद्दीन देखता था। जीवन तथा मेघराज जिसे फख्र-उल-मुल्क की उपाधि थी, पुजराज, रणमल्ल, गोपाल और सहसा आदि भी ऊँचे ऊँचे पदो पर नियुक्त थे। नासिरुद्दीन और महमूद के दीवान वसन्तराय तथा मेदिनीराय का वर्णन पहले लिखा जा चुका है।

साहित्य तथा कला—मालवा के सुलतान विद्याप्रेमी तथा विद्वानो के आश्रयदाता थे। उनके दरवार मे कई देशी विदेशी कवि और कलाकार मौजूद थे। तारीख महमूदशाही मडवी, तारीखे नासिरशाही और तारीखेमहमूदशाही खुर्द मंडवी की रचना इसी समय हुई।

---

* 'वाजवहादुर और रूपमती' के सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिए दिसम्बर १९३९ की 'वीणा' में इसी शीर्षक का मेरा लेख देखिए।

शिक्षा का उचित प्रबन्ध था। हुशंगशाह और महमूद खिल्जी प्रथम ने विद्यालय खोले थे। गयासुद्दीन के हरम की व्यवस्था को पढ़कर हम कह सकते हैं कि स्त्री शिक्षा की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी।

पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम अर्द्धभाग में महाकवि मंडन ने मंडपदुर्ग में कई सुंदर ग्रंथों की रचना की। अभी तक उनमें से निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं। (१) कादम्बरीदर्पण, (२) चंपूमंडन, (३) चन्द्रविजयप्रबंध, (४) अलंकारमंडन, (५) काव्यमंडन, (६) शृंगारमंडन, (७) संगीतमंडन, (८) उपसर्गमंडन, (९) सारस्वतमंडन और (१०) कविकल्पद्रुमस्कन्ध। ये सब ग्रंथ सन् १४४७ तक रचे गये। सन् १४६३ ई० में संग्रामसिंह सोनी ने बुद्धिसागर नामक ग्रंथ की रचना की। इसके बाद पुंजराज ने सारस्वत व्याकरण की पुंजराजी नामक टीका तथा मधुमंजरी नामक ग्रंथों को लिखा। सोमागणी ने महावीरचरित की टीका भी इसी समय की। हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान विष्णुदास, प्रभाचन्द्र, हरिनाथ, रामदास और गोविन्ददास इसी समय हुए। महेश कवि भी इसी समय के संस्कृत के अग्रगण्य विद्वानों में थे।

साहित्य की तरह ललितकलाओं का भी पूर्ण विकास हुआ। अपने राजत्वकाल में मालवा के सुल्तानों ने अपनी राजधानी मांडू को अनेक भव्य इमारतों से सुशोभित किया।

सुल्तानों ने गुजरात की वास्तु-शैली का अनुकरण किया। स्थानीय कला ममज्ञ काम पर अवश्य लगाए गए जैसा कि इस समय की विशाल इमारतों की बनावट से प्रतीत होता है, लेकिन मोटे रूप में इन इमारतों की शैली उत्तरी भारत की वास्तु शैली का ही रूप है, जिसमें मध्यएशिया, मिश्र और फारस की कलाओं का सम्मिश्रण है। धार की लाट मसजिद, मांडव की जामे मसजिद, हुशंगशाह का मकबरा, जहाजमहल, बाजबहादुर का महल (नासिरुद्दीन खिल्जी का महल), रूपमती का महल, चिश्तीखां का महल, लाल बंगला उज्जैन का कालियादह महल आदि में इसी शैली का समावेश है। पन्द्रहवीं शताब्दी में इस कला की बहुत उन्नति हुई और इसका राजपूत वास्तु-कला पर, विशेषकर महराब, गुम्बद, छत्रियाँ और दीवारों की सजावट पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

मूर्तिकला ने जैसी चाहिए वैसी उन्नति नहीं की। तब भी कुछ धनी मानी व्यक्तियों के प्रयत्न से कई मूर्तियों का निर्माण हुआ और हिन्दू मूर्ति कला जीवित रही। इस कला के नमूने आज भी मक्सी, ऊरछा, उज्जैन, इन्दौर, धार और मांडव के जैन मन्दिरों में मिलते हैं।

चित्रकला और संगीत ने भी अन्य कलाओं का साथ दिया। बाजबहादुर और रूपमती के समय संगीतकला का अच्छा विकास हुआ था। बाजबहादुर और रूपमती दोनों कविता करते थे और गाने में भी प्रवीण थे। आज इन कलाओं के अवशेष ही उपलब्ध हैं।

मुसलमानों की विजय से भारत की मुद्रा प्रणाली में आमूल परिवर्तन हुआ। मुसलमानों ने कुछ समय तक राजपूत राजाओं की मुद्रा पर अपने नाम नागरी लिपि में अंकित कर जारी रखा। लेकिन मुद्रा का प्रश्न उनके जीवन की अन्य समस्याओं से अलग नहीं था। इस्लाम में मूर्ति चित्रण मना है अतः इनके सिक्कों पर चित्रकारी दिखाई नहीं देती। दोनों तरफ राजा का नाम, उपाधियाँ हिजरी सन् और टकसाल का स्थान दिया जाने लगा। अभी तक सिक्कों पर टकसाल के नाम नहीं दिये जाते थे।

मालवा के सुल्तानों ने भी अनेक प्रकार के सिक्के चलाए। इनमें से कई गोल और चौकोर थे। मुसलमान बादशाहों में चौकोर सिक्का पहिले पहल अलाउद्दीन खिल्जी ने चलाया था।* कुतुबुद्दीन मुबारिकशाह तथा काश्मीर के सुल्तान सिकन्दरशाह ने भी इसी आकार के सिक्के प्रचलित किए थे।†

* न्यूमिसमेटिक क्रॉनिकल १९२१, पृष्ठ ३४५।

† L W King *History and Coinage of Malwa* पृष्ठ ६२।

श्री गोपालचन्द्र सुगन्धी

हुशंगशाह और मुहम्मदशाह के समय गोल आकार के सिक्के अधिकतर बने। हुशंगशाह का एक तांबे का चौकोर सिक्का हिजरी सन् ८२९ का प्राप्त हुआ है। महमूद खिलजी प्रथम ने सोना, चाँदी तथा ताँबे के गोल तथा चौकोर दोनो तरह के सिक्के काफी तादाद में जारी किए। गयासुद्दीन के समय से चौकोर सिक्को का प्राधान्य हुआ। हुशंगशाह, मुहम्मदशाह प्रथम और महमूदशाह प्रथम के सोने के सिक्के '९५" से '९०" और नसीरशाह और महमूद द्वितीय के ८०" से '७०" तक के मिले हैं। गयासुद्दीन की सोने की मुद्रा दोनो लम्बाई की पाई जाती है।

सोने के सिक्के अधिक से अधिक १०० रत्ती या १७५ ग्रेन के पाए जाते है। लेकिन ब्रिटिश अजायबघर में गयासुद्दीन का २०७ ग्रेन का एक सिक्का संग्रहित है। चादी के सिक्के चार प्रकार के है। वे अधिक से अधिक १०० रत्ती फिर उससे छोटे ५०, २५ और १२॥ रत्ती तक के है। लेकिन महमूद द्वितीय के समय का कोई कोई ऊँची कीमत का सिक्का ६४ रत्ती वजन का भी पाया गया है।

महमूद खिलजी ने चाँदी और ताँबे के मिलावट के सिक्के प्रचलित किए थे और यह प्रणाली उसके उत्तराधिकारियो ने पूर्ण रूप से चालू रखी थी। लेकिन इनमें से कुछ में चाँदी की मात्रा अधिक है और कुछ तो बिलकुल ही ताँबे केसे है जिससे लेन-देन में अवश्य ही बाधा पहुँची होगी।*

ताँबे के सिक्के अलग अलग तौल के सख्या मे पाए जाते है। लम्बाई के हिसाब से सिक्के इस प्रकार विभाजित किए जा सकते है :—

लम्बाई	सोना	चाँदी	ताँबा	चाँदी और ताँबा
प्रथम	'९५ "से '९०"	'१०५ "से '९५"	'९५ "से '९०"	८५ "से '८०"
द्वितीय	८० "से '७०"	'८० "से '७०"	'८० "से '७०"	'७०"
तृतीय	..	'५५"	'६५ "से '६०"	'६५ "से '६०"
चतुर्थ	. ..	४५"	५५ "से ४५"	..

सिक्को से केवल माडव में ही टकसाल का होना पाया जाता है। हुशंगशाह से गयासुद्दीन के सिक्को पर जरब "दारुलमुल्क" शादियाबाद खुदा है। किसी किसी सिक्के पर "हजरत" भी लिखा हुआ पाया जाता है। बाद के सुलतानो के सिक्को पर "जरब" नहीं है।

इन सुलतानो की मुद्राओ पर ४२ प्रकार के चिह्न पाये जाते है। इनपर स्वस्तिक तथा अष्टकोण चिह्न देखने से पता चलता है कि संग्रामसिंह सोनी 'नकदुल-मुल्क' जैसे हिन्दू अर्थ मंत्रियो का काफी प्रभाव था।

तारीखे प्राय. सभी प्रकार के सिक्कों पर अको मे ही अकित देखी गई है। केवल महमूद खिलजी प्रथम के कतिपय सिक्को पर अरबी के शब्दो मे सन् लिखे गए है। अधिकतर सन् सिक्के के पिछले हिस्से पर दिए गए है, लेकिन नासिरुद्दीन के ताँबे के छोटे सिक्को पर आगे की ओर है।

महमूद के लडके गयासुद्दीन के नाम के सिक्के उसके युवराज (वली-अहद) होने के समय मे ही जारी किए गए थे।

---

* इस मिलावट में परिवर्तन का कारण यह है कि ताँबा और चाँदी क्रम से २८ ११ तथा ७१ ८९ के अनुपात ही में मिलने पर अच्छी मिली हुई धातु बनाते है और लोग इस समय इस अनुपात को शायद ही जानते हों। I. A. S., N. XXXV P. 22, *The Currency of the Pathan Sultans*; H. R. Neuill.

मालवा के सुलतान तथा उनकी मुद्राएँ

उपाधियाँ—प्रभावशाली सुल्तानो के सिक्को पर बडी बडी उपाधियाँ पाई जाती है। ताँबे के सिक्को पर साधारण पदविया का जिक्र है। प्रत्येक सुलतान के एक-एक उपाधि प्रदर्शित करनेवाले सिक्को पर अंकित उपाधियो का नमूना नीचे दिया जाता है —

हुशगशाह गोरी का चादी का गोल सिक्का * —

सामने—अबु-उल-मुजाहिद हुशगशाह अल्-सुलतान।

पीछे—अल् मुलतान-उल आजम हिसाम्-दुनिया वा-उलदीन।

मुहम्मदशाह—आकार—गोल, धातु—सोना †।

सामने—मुहम्मदशाहबिन हुशगशाह अल्-सुल्तान।

पीछे—अल-मुलतान-उल आजम ताज उल दुनिया वा उल्दीन अबु-उल मुजाहिज।

महमूदशाह खिलजी प्रथम—आकार—गोल, सोना —

(अ) ‡ सामने अल मुलतान उल आजम अलाउल्दुनिया वाउलदीन अबु-उल मुजफ्फर महमूदशाह खिलजी खल्दुल्ला खिलाफता।

पीछे—सिकदर-उस-सानी या मीन-उल खिलाफता नासिर अमीरुल मोमनीन।

(ब) सोने का सिक्का §—

सामने—अल-सुलतान-उल-आजम अबुल मुजफ्फर अला-उल-दुनिया।

पीछे—वादीन महमूदशाह उल खिलजी रब्ल्दुल्ला सुल्ताना ८४९।

गयासुद्दीन—चादी का चौकोर सिक्का ‡—

सामने—अल् वासिक वाउल मुल्क मजा अबु फतह गयासशाह।

पीछे—बिन महमूदशाह अल खिलजी उल सुलतान खलद मल्क।

नासिरुद्दीन—चादी का चौकोर सिक्का ‡—

अल्वासिक वा समदे ल्मयाजअली अबुल मुजफ्फर नसीरशाह बिन गयासशाह अल खिलजी उल सुलतान खलद मलकहू ९०६।

महमूद द्वितीय—चादी का चौकोर सिक्का *—

सामने—अलवासिक वा उल मुल्क अल समद अबुल मुजफ्फर महमूदशाह।

पीछे—बिन नासिरशाह अल खिलजी उल सुल्तान खल्द मल्कहू ९२३।

बाजबहादुर—चादी और तांबे की मिलावट का चौकोर सिक्का ‡ वजन १०४ ग्रेन—

सामने—बाजबहादुर अल् सुलतान।

पीछे—(पढा नहा जाता)।

---

* टॉमस—क्रॉनिकल ऑफ दी पठान किंग्ज ऑफ देहली, न ३०५ पृष्ठ ३४७।

† किंग—हिस्ट्री एण्ड कॉयनेज ऑफ मालवा, पृष्ठ ७१।

‡ वही, पृष्ठ ७२।

§ प्रिंस ऑफ वे ल्स म्यूजियम बम्बई का सग्रहालय—इसका वर्णन श्री सिंगल ने न्यूमिसमेटिक सोसायटी जर्नल १९३९ के अक में पृष्ठ ३८ पर किया है।

‡ लेखक के पास।

‡ लेखक के पास।

* टॉमस—क्रॉनिकल आफ दी पठान किंग्ज ऑफ देहली।

‡ किंग—हिस्ट्री एण्ड कॉयनेज आफ मालवा, पृष्ठ ९३।

मालव-मणि भोज

श्री अनन्त वामन वाकणकर बी० ए०, बी० टी०

पुराण, आख्यायिका, लोककथा, उत्खनन, आलेख, मूर्ति-मुद्रा, प्राचीन स्थापत्य सम्वन्धी सामग्री एवं इसी प्रकार के अन्य साधनो के आधार पर, अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा राष्ट्रीय भावनाओ के अनुकूल, प्राच्यविद्या-विशारदो द्वारा किए गए अन्वेषण और स्पष्टीकरणो से अनुमोदित ऐसा अत्यन्त पुरातन काल का इतिहास लिखा जा रहा है। उन्होंने जिन युगों का विवेचन किया है वे या तो गौरवपूर्ण है अथवा अन्धकारमय; फिर भी उनके ऐतिहासिक अनुक्रम के कारण एक युग दूसरे का दर्शन कराता है। पूर्व काल के इतिहास मे आख्यायिकाओ के सुप्राचीन नायक विक्रमादित्य का स्थान गौरवपूर्ण है, यद्यपि प्राचीन काल के ऐतिहासिक साक्ष्यो से उनका व्यक्तित्व विद्वानो द्वारा अभी सिद्ध किया जाने को है। इसी प्रकार मालवा के परमारो का भी अपना पूरा वर्णन योग्य इतिहास है। फिर अव तक अनेक प्रकार से अधलिखा इतिहास भी पूर्ति की ओर अग्रसर है। भारतीय* एवं योरोपीय† सुविश्रुत प्राच्यविद्या विशारदो द्वारा समान रूप से प्रकाश मे लाए गए तथ्यो के आधार पर किया गया इस प्रकार का संक्षिप्त पर्यालोचन भावी इतिहास-लेखको को एवं उनके उन उत्साही पाठको को, जिन्हे अपने गौरवपूर्ण अतीत के आधार पर नवीन उत्कर्ष सीमा का निर्माण करते हुए अपनी कृतियों द्वारा इतिहास का निर्माण करना है, समान रूप से शिक्षाप्रद तथा उद्‌वोधक होगा।

मालवा के परमारों का मूल निवास-स्थान निश्चित रूप से सुदूर आरावली पर्वतमाला मे अचलगढ़ (वर्तमान सिरोही राज्य के अन्तर्गत) था, जहाँ से वे अग्नि मे होकर, जो मानों सुदूर दक्षिण पूर्व को शाद्वल भूमि से आनेवाले कुषाण, शक तथा हूणो के प्रवाह को रोकने के लिए युद्ध में सलग्न मौर्य एव गुप्त सदृश विभिन्न राजवशो से युक्त समस्त उत्तर-भारत मे प्रचण्ड होमकुण्ड हो रही थी, प्रादुर्भूत हुए थे। परमारो का वशक्रम विस्तृत एवं कुछ राजाओ के सम्वन्ध मे शंकास्पद

---

* सर रामकृष्ण भाण्डारकर और डॉ० भाण्डारकर, राजरत्न का० कृ० लेले, म० म० डॉ० गौरीशंकर ओझा, रा० व० हीरालाल ओझा, म० म० प्रो० मिराशी, डिस्कलकर, गर्दे, चि० वैद्य, अय्यंगर।

† वुल्हर, हुल्ट्ज्, स्मिथ, कीलहॉर्न, ल्युअर्ड।

होते हुए भी अनिश्चित नहीं है, और सीयक* के समय से प्राचीन से लेकर भोपाल† के अनतिप्राचीन तथा जयसिंह‡ तृतीय के विक्रम संवत १३३१ के दान-ताम्र-पत्र तक के विविध लेखों में उसे प्रमाणित किया जा सकता है। वे निश्चित रूप से अग्निकुल के हैं, जिसकी सूचना धार-राज्य के संग्रहालय के एक अभिलेख⁑ में सिद्ध की जा सकती है, फिर भी यह देखना कि वे मान्धाता के ताम्र-पत्र में उल्लिखित धाराधीश से प्रारम्भ करते हैं, मनोरंजक है। अब यह देखना शेष रह जाता है कि यह नायक कल्पनाप्रसूत है अथवा मालवा एवं नर्मदा की घाटी के अधीश्वर मान्धाता के रूप में उसका अस्तित्व है। इस प्रकरण को यहीं छोड़ते हुए अब हम यह देखते हैं कि उदयपुर प्रशस्ति, नागपुर-प्रशस्ति एवं धर्मपुरी⁂ के अभिलेख के कथन का समर्थन स्वयं भोजकृत कोदण्डकाव्य⁎ में प्राप्त होता है।

अब यह दृष्टव्य शेष रहता है कि दक्षिण के, मध्यभारत के वैनगंगा के, राजपूताना के तथा अन्य वर्तमान पंवार क्या मालवा के ऐतिहासिक परमारों के वंशज हैं? इस सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। स्वर्गीय राजरत्न पंडित के० के० लेले ने उमरावों के वंश में, टेहरी गढ़वाल के राजवंश से, सिन्ध के पवारों से, गुजरात, बिजोलिया, भंडारा गोंदिया, सिवनी एवं वैनगंगा के पवार-वंशों तथा मराठा-पवारों के साथ कुछ पत्र-व्यवहार किया था। परम्परा के समर्थक तत्वों की अत्यधिक अनुपस्थिति में वे किसी प्रमेय को दृढ़ न कर सके। आज हम केवल यही कह सकते हैं कि अचलगढ़ से बागड़ (डूंगरपुर बाँसवाड़ा) होते हुए परमार मालवा, मन्दसौर, उज्जैन तथा धार पहुँचे। पश्चात् राष्ट्रकूटों के अधीन वे दक्षिण की ओर स्थानान्तरित हुए। फिर ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमान सुल्तानों के अत्यधिक दबाव के कारण परमार-राजवंश के मालवा से परास्त होने से कुछ कुटुम्ब गुजरात, वैनगंगा⁂, मध्य भारत तथा दक्षिण की ओर पुनः स्थानान्तरित हुए।

भारत का आकर्षण केन्द्र—मालवा—भारत का गर्भ केन्द्र मालवा प्रत्येक यात्री को अपने ऐतिहासिक गौरव के साथ साथ अपने नैसर्गिक सौन्दर्य का पान करने का निमंत्रण देते हुए, विजेता एवं चारण दोनों के लिए समान रूप से आकर्षण-केन्द्र रहा है। गत दो सहस्र वर्षों से महान् विक्रमादित्य तथा उनके प्रिय राजकवि कालिदास ने अगणित परम्पराएँ उत्पन्न की हैं जो किसी भी दृष्टि से कल्पित नहीं हैं, किन्तु दृढ़ सत्य हैं, और जो यहाँ की कला एवं स्थापत्य के द्वारा प्रकट हैं। अपनी भौगोलिक स्थिति, आकार, खनिज एवं वन-सम्पत्ति के कारण यह स्वयं एक प्राकृतिक क्षेत्र है। अतएव अवन्ति, आकर (आगर), विदिशा (भेलसा) प्रभृति अनेक गौण इकाइयां, जो मिलकर भारत के अध्ययन योग्य तत्वों के सुश्लिष्ट संग्रह के रूप में उपस्थित होती हैं, उसमें समाविष्ट होने के कारण यह भौगोलिक इकाई है। विक्रम के पूर्वकालीन सामाजिक एवं राजनीतिक गौरव को पुनः प्राप्त करते हुए और साथ ही साथ मुंज एवं भोज के रूप में अपनी प्रतिमूर्तियों को तथा इसी प्रकार विज्ञान एवं कला क्षेत्र में भी पद्मगुप्त तथा अमितगति आदि अपने कवि एवं विद्वानों को प्रस्तुत करते हुए परमारों ने मालव के समान चित्रफलक पर अपने इतिहास को अंकित किया।

---

* डिस्कलकर-पुरातत्त्व, २, ३, राजपूताने का इतिहास—ओझा, भाग १, पृष्ठ १८३-२१०।

† हिन्दुस्तान टाइम्स ५-३, १९३८, पृष्ठ ७।

‡ वि० स० १३३१ का दानपत्र—चि० व० लेले, ना० प्र० स०।

⁑ अग्गीहोतो वसो निपज्जइ, भोजकृत कोदण्डकाव्य, *Parmar Inscriptions* पृष्ठ ७४, (विक्रम-स्मारक-ग्रंथ, धार।)

⁂ (विक्रम-स्मारक-ग्रंथ, धार, १९४३) *Parmar Inscriptions* पृष्ठ ८८।

⁎ भोजकृत कोदण्डकाव्य, पृष्ठ ६९।

⁂ महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष—डा० केतकर, सी० पी० गजेटियर, इतिहास आणि ऐतिहासिक वर्ष ३, अंक २६-२७, नवजीवन, अक्षयवट मिश्र।

श्री अनन्त वामन वाकणकर

परमारों की वंश-परम्परा—मालवा के परमार विदेशों से भारत मे प्रविष्ट होनेवाले किसी वंश* अथवा जाति मे से है अथवा उन्होने स्वय वश† का निर्माण किया, इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय सम्भव नही है। उनका मूल निवास-स्थान निश्चित रूप से अचलगढ (सिरोही राज्य) था और अग्नि से उत्पत्ति‡ स्वय भोज के कोदण्डकाव्य मे उसका उल्लेख होने के कारण है ही।

सुदूर पूर्वकाल के वनराज परमार¶ से, जो उज्जैन के सम्राट् विक्रमादित्य की वश परम्परा मे था और जो प्रमार भी कहा जाता है, इनका प्राचीनकालीन सम्बन्ध प्रमाणित नही हुआ है। दूसरी ओर विक्रम सवत् १३३१ का मान्धाता का दान-ताम्र-पत्र उनका प्राचीनतम पूर्वज एक धाराधीश के रूप में बतलाता है। धार का जयसिह तृतीय तथा माण्डू उसकी वशावलि का वाक्पति मुज के एवं किंचित् आधिक्य के साथ उदयपुर-प्रशस्ति के कथन के अनुरूप समर्थन करते है।

समाजशास्त्र के विद्यार्थियो की अध्ययन-पद्धति के अनुसार उनके शिवपूजक होने के कारण हम उनका उद्गम शक, कुषाण, अथवा गुर्जरो मे भी खोज सकते है। किन्तु उनके दान-ताम्र-पत्रो के विष्णु की वन्दना से प्रारम्भ होने का, उनके ध्वज पर गरुड होने का, तथा उज्जैन के महाकाल की एवं धार की कालिकादेवी की वन्दना का क्या अर्थ होगा? धार-राज्य के सग्रहालय मे अनन्त-नारायण, यक्ष, कुबेर एव शिव की भी अनेक मूर्तियाँ है। इसके अतिरिक्त धर्मपुरी मे खुजावा संगम पर विष्णु, नरसिह, शिव तथा भीम (?) की विशाल मूर्तियाँ है। इनके साथ-साथ उसी स्थल पर माताजी के मन्दिर की भीतो पर डाढीवाले धनुर्धर योद्धाओ की खुदी हुई कुछ आकृतियाँ भी है। माण्डू, धार, धर्मपुरी तथा वदनावर मे विष्णु, बुद्ध, पार्श्वनाथ तथा गणेश की मूर्तियाँ अत्यधिक है। वे परमारो के अधिकृत स्थल के सामाजिक इतिहास का वर्णन करती है। धर्मपुरी के प्रस्तरपट्ट॥ पर एक अभिलेख अकित है, वह अवश्य शिव की वन्दना से प्रारम्भ होता है॥। इससे हम सरलता से यह समझ सकते है कि शक एव हूणो के समान ही उनके पूर्वजो ने सुप्राचीन काल मे शैव सम्प्रदाय स्वीकार किया होगा।

परमार-विजय की पृष्ठ-भूमि—प्रकृति ने मालवा को भारतवर्ष का केन्द्र होने का सौभाग्य प्रदान किया है। धुरपश्चिम मे माही, तथा मध्यम मे उत्तर-वाहिनी चंबल, क्षिप्रा, कालीसिन्ध, पड़वाँ, पश्चिम में वेतवा नदियो से गहरे कटे हुए इसके निम्नोन्नत विस्तृत मैदान है। मही के अतिरिक्त उनमे से सब पठार के मन्द ढाल के सहारे इस प्रदेश को दशपुर, अवन्ति, आकर (आगर), तथा विदिशा के उप-प्रदेशो मे विभाजित करती हुई उत्तर की दिशा को बहती है। धार के अतिरिक्त जिसे सामरिक महत्व की सुदूर एव एकाकी स्थिति की विशेष सुविधा प्राप्त है, इन नदियो ने मालवा के प्रत्येक प्रसिद्ध नगर के लिए नगर-निर्माण योग्य स्थल प्रदान किया है। खनिशास्त्र ※ के सुन्दर वर्णन के अनुसार मालवा ने समुन्नत कृषिक्षेत्र उत्पन्न करने के लिए उर्वरा भूमि को एवँ पश्चिम मे गुजरात※※ से, दक्षिण मे दक्षिण भारत से, पूर्व मे चेदि※※※ देश से और उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम से आनेवाले घाटमार्गों पर आधिपत्य रखने के हेतु दृढतायुक्त वनाच्छादित

---

* वॉटसन। *I. A* Vol IV।

† का० कृ० लेले साहब के नोट्स।

‡ कोदण्डकाव्य—(विक्रम-स्मारक-ग्रंथ) *Parmar Inscriptions*, पृष्ठ ६१।

¶ *History of Parmar Dynasty* —गांगुली पृष्ठ ६, नोट।

※ सरिदद्रिवनाद्येषु त्रासाद्यस्यां विशेषतज्जनः। जनापश्रययोग्यत्वाद अपाश्रयवती च सा॥ खनिशास्त्र—वझे, महाराष्ट्र-साहित्य-पत्रिका, पृष्ठ ८५।

※※ पर्वपर्वतोपत्यकापरिसरेषु—पावागड़ से आनेवाला रास्ता—पारिजातमंजरी; (Parmar Inscriptions, पृ० ४५।)

※※※ चेदिदेश (डाहाल) जिसकी त्रिपुरी (जबलपुर के निकटवर्ती तेवूर) राजधानी थी उस देश का नाम है। यहाँ कलचुरि राजवंश का राज्य था।

※※※※ वाणभट्टकृत कादंबरी में इसका विस्तृत वर्णन है।

ए तिहासिक महत्त्व प्राप्त होता है, यह घटना परमारो के विजयकाल के आगमन की सूचना देती है। इसके अतिरिक्त सीयक द्वितीय को एक और विजय का श्रेय प्राप्त ह जो उसके कलचुरि के युवराज* प्रथम के उज्जयिनी पर आक्रमण करने पर उसके ऊपर प्राप्त की थी। इस घटना से उज्जन तथा मालवा पर उनका प्रभुत्व, एव त्रिपुरी के कलचुरियो के साथ शत्रुतापूण सम्बन्ध† साथ साथ स्थापित हुए।

सीयक द्वितीय के, जो सिहराज तथा सिहभट‡ भी कहलाता था, जीवन के प्रारभिक भाग म पुत्र नहीं था, अत मुञ्ज घास में एक बालक की प्राप्ति को उसने शुभ शकुन माना और अपनी परम्परा अविच्छिन्न रखने की इच्छा से उसे दत्तक ग्रहण किया। कुछ वष पश्चात् उसके पुत्र उत्पन्न हुआ और अपने नाम से भिन्नता रखने के लिए उसका नाम कुमार सिन्धुल रखा। मुञ्ज तथा सिन्धुल‡ दोनो भाइयो में स्वभावत सम्बन्ध अच्छे नही रहे और फलत सिन्धुल को कुछ वष तक निर्वासित रहना पडा। मुञ्ज ने अपने स्वीकृत पिता की आशाओं की पूर्ति की।

वीरवर मुञ्ज--ऐसे थोडे शासक हुए ह जो रणभेरी के तुमुलनाद के साथ साथ विद्वानो को सरक्षण प्रदान करते हुए राजा की कल्पना से ऊँचे उठे हो। 'वाक्पति', 'उत्पलराज', 'पृथ्वीवल्लभ', 'श्रीवल्लभ, तथा 'नरेन्द्र' उपाधियाँ धारण करना मुञ्ज का बहुमुखी व्यक्तित्व सूचित करता ह। 'अमोघवष' विरुद निश्चितरूप से उसकी चालुक्यो पर प्राप्त हुई विजय का सूचक है। अनेक माण्डलिक राजाओ का 'महाराजाधिराज' होने की उसकी यश -परम्परा को उसकी 'श्रीवल्लभ' 'पृथ्वीवल्लभ' तथा 'नरेन्द्र' उपाधियाँ अक्षुण्ण रखती ह। सबसे अधिक महत्त्वपूण उसके राज्य का जिसके अन्तगत भारत का मुख्य एव राजधानी-पद विभूषित नगर उज्जन था, अधिराज्य होने का गौरव है। धार इतना महत्त्वपूण नही था, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि टॉलेमी (Ptolemy) इसे झेरोगिरि¶ (Zarogiri) नाम से जानता था। गुजरात, कन्नौज, राजपूताना, तथा दक्षिण मे भागते हुए जैन एव बौद्धो को बहुधा आक्रमणकारी अभियानकारियो के अत्याचार के लक्ष्य उज्जन से दूर तथा अपेक्षाकृत असामान्य स्थान में ही चैन मिल सकता था। इससे यह प्रकट होता ह कि यहाँ विष्णु, नरसिंह, त्रिमूर्ति, अनन्तनारायण तथा देवी के मन्दिरो की अपेक्षा जैन मन्दिर एव बौद्ध विहारो की सख्या अधिक क्यो है? भोज के अतिरिक्त मुञ्ज की अपेक्षा इस सास्कृतिक एव सामाजिक समुन्नति के लिए अन्य कोई अधिक प्रशसा का अधिकारी नही ह।

सयोजक तत्व से विहीन विजय-परम्परा विजेता के अस्तित्व को विफल कर देती ह। सम्पूण भारतवष में चलनेवाले युद्धो के बीच मुञ्ज अपने साम्राज्य को सगठित करने मे सफल हुआ था। उसके काल मे मालवा में विभिन्न जनपद-निवासियो का महान् सम्मिश्रण प्रस्तुत था। घाटो के तथा नदी की घाटियो के सभी पथो पर जन मन्दिर एव बौद्ध‖ विहार अत्यधिक सख्या में निर्मित थे। मुसल्मानो के शासन के अन्तगत हुए प्रतिमा विध्वस सम्बन्धी परिवतन भी उन्हे पूण रूप से नष्ट न कर सके। वे आज भी उस काल के सामाजिक इतिवृत्त के विद्यार्थी को प्रचुर सामग्री प्रदान करते हैं।

मुञ्ज का युद्ध विक्रम--मुञ्ज के युद्ध-विक्रम एव सामरिक प्रवृत्तियो की परिगणना उदयपुर-प्रशस्ति** में की गई ह। कृष्ण तृतीय के पश्चात राष्ट्रकूटो का पराभव हो गया और तैलप के अधीन वातापी के चौलुक्य उन्हे अभिभूत कर रहे थे। अत मुञ्ज ने कर्णाटक पर छह बार आक्रमण किया और तैलप को भी बन्दी बना लिया, किन्तु क्षमा प्रदान की।

---

* विद्धशालभंजिका—राजशेखर १ २०।

† परमास ऑफ धार एण्ड मालवा—ल्युअड एण्ड लेले, जबलपुर, ज्योति २०—हीरालाल।

‡ प्रबन्धचिन्तामणि—मेरुतुग।

‡ भोजचरित—राजवल्लभ।

¶ *Dhar State Gazetteer*—Luard and Lele, पृष्ठ १०७।

‖ बाग, पाडवगुफा, अमझेरा जिला, ग्वालियर राज्य।

** कर्णाटलाटकेरलचोल.. .. ..उदयपुर प्रशस्ति।

श्री अनन्त वामन वाकणकर

तैलप के सेनापति वारप्पा को पराजित करके गुजरात में अनहिलवाड़ पर मुञ्जराज ने अपना साम्राज्य स्थापित किया। इसके परिणामस्वरूप सोलंकी और परमारों की वंशगत शत्रुता मुञ्ज के उत्तराधिकारियों के लिए विनाशकारी सिद्ध हुई। इसी समय के समीप मुञ्ज तीर्थयात्रा के लिए 'धर्मारण्य' को गया होगा। जहाँ वर्तमान मुञ्जपुर* (अब राधनपुर-राज्य के अन्तर्गत) स्थित है तथा उसका यह नाम भी उसी समय पड़ा होगा।

केरलविजय के लिए वह स्वयं नहीं गया था किन्तु केरलराज के विरुद्ध उसने तैलप की सहायता की होगी।

चोलराज राजराज (९८५-१०१८ ईसवी) ने लंका से उत्तरी सरकार तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था। चोल सेनापति के नेतृत्व में होनेवाले आक्रमणों में से एक में मुञ्ज ने उसे चक्रकोट्य (मध्य-प्रदेश के वस्तर जिले के अन्तर्गत) पर सम्भवतः पराजित किया था।

कलचुरि युवराजदेव प्रथम ने सीयक के जीवनकाल में एक बार उज्जैन पर आक्रमण करने का साहस किया था, परन्तु पराभूत हुआ था। त्रिपुरी पर मुञ्जराज का आक्रमण कलचुरि के इस दुःसाहस के प्रतिशोध के रूप में हुआ था। इस प्रकार युवराज द्वितीय पराजित हुआ था।

हूण, जिन्होंने मालवा के पश्चिमी सीमान्त पर अधिकार कर लिया था, मुञ्ज के पिता सीयक द्वारा पहले ही पराजित किये जा चुके थे। इस पराजय से व्यथित होकर हूणों ने कलचुरियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। कर्ण (कलचुरि) ने हूण राजकुमारी आवल्लादेवी से विवाह किया। इस मुञ्ज ने उन्हें पुनः दण्डित किया होगा†।

यह लिखा जा चुका है कि मारवाड़-नरेश चाहमान बलिराज ने मुञ्ज को एक बार पराजय दी थी। अतः मुञ्ज ने स्वयं उस पर आक्रमण करके उसे पराजित किया होगा।

चित्रकूट‡ (चित्तौड़) का प्रसिद्ध दुर्ग वाप्पा के वंशज गुहिलों से मुञ्ज ने जीत लिया था और यह १२वीं शताब्दी के मध्य तक चौलुक्य सिद्धराज जयसिंह द्वारा हस्तगत किए जाने तक परमारों के अधीन रहा।

नागपुर के प्रोफेसर मिराशी का विश्वास है कि मुञ्ज ने अन्य विजयें भी प्राप्त की होंगी उदाहरणार्थ कन्नौज के विजयपाल पर (९९०-९९५ ई०)।

अन्त में सचिवों की मंत्रणा के विरुद्ध दक्षिण के तैलप पर दुर्भाग्यपूर्ण⁑ अभियान किया गया। जिसकी समाप्ति मुञ्ज के वन्दीकरण, कारागृहवास, मृणालवति से प्रणय और अन्त में वध के साथ हुई।

विद्वानों एवं ब्राह्मणों का संरक्षक मुञ्ज—मुञ्ज के शासन के समृद्धिपूर्ण काल में भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों से विद्वान् एवं ब्राह्मण समान रूप से आकृष्ट होते थे, जिनका विवरण ताम्र-दान-पत्रों में⁂, 'नवसाहसाक चरित्' में तथा आज भी स्थित अन्य सार्वजनिक स्थापत्यों में अंकित है। मुञ्ज के जीवन चरित्र को लिखने का प्रथम प्रयास पद्मगुप्त रचित 'नवसाहसाकचरित्' प्रतीत होता है। पंडित धनपाल दूसरा ग्रंथकार था, जिसने 'पाइयलच्छि' 'देशीनाममाला', 'तिलकमञ्जरी'

---

* राधनपुर और वडोदा-राज्य के सिद्धपुर शहर के आसपास का प्रदेश 'धर्मारण्य' कहलाता था। उसी प्रकार धार-राज्य में नर्मदा तीर पर स्थित धर्मपुरी के आसपास के प्रदेश को भी 'धर्मारण्य' कहते थे।

† वाक्पति मुञ्जराजा चे दिग्विजय—म० म० प्रो० मिराशी, इन्दौर विशेषांक।

‡ म० म० डॉ० ओझा—राजपूताने का इतिहास—खण्ड १, पृष्ठ ३४९—६४।

⁑ धार स्टेट गजेटियर; वीणा के धारा-अंक में प्रकाशित सूर्यनारायण व्यास का 'मालवपति मुञ्जदेव'।

⁂ पृथ्वीवल्लभ मुञ्ज का प्रथम ताम्रपत्र—रा० व० का० ना० दीक्षित, धारा अंक, वीणा; धरमपुरी ताम्रपत्र; ताम्रपत्र में उल्लिखित चिखिल्लिका, पिप्परिका, गर्दभपानीय आदि नाम अनुक्रम से चिखली, पिपरी, गधिनदी आदि विद्यमान हैं नकि 'चिखलदा' इत्यादि, इस प्रकार डॉ० गांगुली अपनी पुस्तक में पृष्ठ ४९ पर प्रदर्शित करते हैं।

तथा 'ऋषभपञ्चाशिका' की रचना की। उनके भाई शोभन का भी जैन वाङ्मय में प्रमुख स्थान है। 'धनंजय' ने दशरूप रचा जिसपर उसके भाई धनिक ने 'दशरूपावलोक' नामक टीका की। उसका काव्य निर्णय भी सुविश्रुत है। धनिक का पुत्र वसन्ताचार्य भी बड़ा विद्वान् था और उसने मुञ्ज से पुरस्कार प्राप्त किया था*। भट्ट हलायुध ने 'राजव्यवहारकोष' की रचना की तथा 'पिंगलसूत्र' पर हलायुधवृत्ति लिखी। जैन पंडित अमितगति ने अपने सुप्रसिद्ध 'सुभाषितरत्नसंदोह' की जिसमें मुञ्ज की तिथि एवं कवित्व की समीक्षा है, रचना की।

मुञ्ज के सजीव स्मारक—बहुसंख्यक शिवालय, घाट तथा धर्मशालाओं में से अब महेश्वर-मन्दिर एवं घाट, धार-राज्य धरमपुरी पर 'कुञ्जासंगम† घाट' (खुजावा), उज्जैन में क्षिप्रा तट पर घाट तथा 'पिशाचमोचनतीर्थ', धार राज्यान्तर्गत गधवानी में 'पिशाचदेव तीर्थ‡', धार में 'मुञ्ज सागर' तालाब तथा मुञ्ज द्वारा अपनी पुत्री के लिए निर्मित आजकल 'चवाराऊ' नाम से ज्ञात 'चक्रवापी' नामक क्रीडावापी एवं शिखर अवशिष्ट है।

चौथाई शताब्दी के विजयी जीवन के पश्चात् इस वीरश्रेष्ठ का अपने शत्रु चौलुक्य तैलप एवं उसकी सुन्दर कन्या मृणालवती द्वारा दुःखद अन्त हुआ। उसके जयपूर्ण जीवन एवं साहित्यकारों के संरक्षण की दृष्टि से उसका अन्त अत्यन्त दुःखपूर्ण था, और उसकी कुछ छाया पद्मगुप्त के करुणाक्रंदन 'गते मुञ्जे यशःपुञ्जे निरालम्बा सरस्वती।' से प्राप्त होती है। उसके पुत्र दूर राजपूताने में होने के कारण अथवा कुछ के मतानुसार उसके निःसन्तान होने से उसका उत्तराधिकारी उसका अनुज सिंधुल हुआ, जो समीप ही, सम्भवतः धार के पश्चिम में अमझेरा‡ में था।

आख्यायिका का नायक सिंधुल⁑ (९९९–१०१०)—किसी परमार नरेश का जीवन सिंधुल के समान सुख-दुःख-पूर्ण एवं चित्ताकर्षक नहीं था। उसके अग्रज को उसके पिता सीयक द्वितीय ने दत्तक ग्रहण किया था, वह सिंधुराज भी कहलाता था। अतः अपने पिता के नाम का छोटा रूप 'सिंधुल' उसके हिस्से में पड़ा था। उसे अपनी प्राणरक्षा के लिए कारागार में से भाग जाना पड़ा था और वह पुनः नवसाहसांकचरित में अपने जीवनचरित के रचयिता पद्मगुप्त के वर्णन के अनुसार अपने जीवन का कवित्व एवं साहसपूर्ण नूतन अध्याय प्रारम्भ करने के लिए राजधानी को लौटा था। नागपुर के प्रो० मिराशी ⁂ने उसके अद्भुत जीवन की सफल व्याख्या की है।

उसके जीवन सम्बन्धी तथ्यों को प्रकाशित करनेवाला नवसाहसांकचरित सिंधुल का एकमात्र जीवन चरित्र है। उसके नागकन्या शशिप्रभा के प्रति प्रणय को केन्द्र बनाकर कवि ने अपने आश्रयदाता की, जिसकी स्वयं की राजधानी उज्जयिनी तथा कुल राजधानी धारा थी, प्रणयप्राय कथा गुम्फित की है। उसने हूण, कोशल (छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश) के शासक चौलुक्य कुन्तलराज, वागड के निवासी, लाट (मध्य एवं दक्षिण गुजरात) तथा मुरल (केरलदेश नाम से भी विख्यात मालाबार) पर भी विजय प्राप्त की। किन्तु इन सफलताओं के पीछे अपनी सत्ता सर्वोच्च स्थापित रखने के लिए वह आजकल 'शक्ति-संतुलन' नाम से परिचित राजनीति का अनुसरण करता था। यह वही काल था जब सुदूरदक्षिण के चोलराज ने अपनी विजय परम्परा का सूत्रपात किया था और सत्याश्रय चौलुक्य की राजधानी के द्वार आ खटखटाए थे। अधिक दबाव पड़ने पर सत्याश्रय ने अपने श्वसुर वज्रांकुश के नागराज से साहाय्य की याचना की। सिंधुल ने समयानुकूल कोकण

---

* गधवानी ताम्रपत्र वि० सं० १०३१।

† धरमपुरी (धार राज्य) के पश्चिम में खुजावा नामक ग्राम है। यहाँ खुज नदी का एक घाट प्रपात के समीप विद्यमान है। खुज 'कुब्जा' शब्द का अपभ्रंश है। यहाँ अब तक कई विशाल मूर्तियाँ हैं।

‡ धार राज्य के गधवानी गाँव के उत्तर में इस तीर्थ के मंदिर के अनेक अवशेष आज भी पड़े हैं। समीप ही ताम्रपत्र में निर्दिष्ट सिंहल्या एवं पीपरी गाँव स्थित हैं।

‡ धार से १६ मील पश्चिम में आमझेरा नामक ग्राम है। वहाँ अम्बिकादेवी का प्रसिद्ध मंदिर है। सम्भवतः मुञ्जराज सिंधुल से मिलने वहाँ गया होगा। —नवसाहसांकचरित ११।९८।

⁑ राजवल्लभकृत भोजचरित्र।

⁂ सिंधुराजाच्या चरित्रातील एक प्रसंग—प्रो० मिराशी भा० इ० सं० मं० ४०, वर्ष १३।

के महाराज से मैत्रीपूर्ण सन्धि करके, जिसके वदले मे उसने चौलुक्यो की शक्ति के निग्रह का वचन दिया, अपने अपहृत प्रदेश को पुन: प्राप्त कर लिया। इसी समय चोल आक्रमण के उत्तर शाको के प्रवाह को स्तभित करने के लिए उसने नागराज से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। जिनका सफल प्रतिकार नही हो सकता था, ऐसे केवल दो ही शत्रु रहे थे--अनहिलवाड़ के चामुण्डराज तथा पाटण के वल्लभराज। अन्ततोगत्वा वल्लभराज ने धारा पर आक्रमण किया किन्तु स्वयं मारा गया। कुछ काल पश्चात्, जैसाकि कहा जाता है, विचारा सिन्धुल* १०१८ ई० मे अथवा इससे कुछ पूर्व चामुण्डराज के विरुद्ध एक युद्ध मे मारा गया।

जहाँ तक मालवा की साधारण स्थिति का सम्बन्ध है, उसका अनुरूप वर्णन करते हुए पद्मगुप्त प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार उज्जयिनी के प्रासाद† अपने युवतिजनो के सुखप्रद आलोक से दीप्तिमान थे तथा कुल-राजधानी‡ धारा अपनी तडागमेखला के कारण लका से प्रतिस्पर्धा करती थी! उसकी महाकाल की भक्ति⁑ तथा हाटकेश्वर की यात्रा भी उतनी ही स्तुत्य है।

सिन्धुल ने अपने पीछे दूसरे विवाह से उत्पन्न एक पुत्र छोडा जो उसका उत्तराधिकारी हुआ। शुभचन्द्र लिखता है¶ कि उसकी रानी नागकन्या मृगावती ने युगलो को जन्म दिया जिसके नाम शुभचन्द्र तथा भर्तृहरि रखे गए। ऐसी माता से जन्म लेने के कारण यह स्वाभाविक है, जन्म से ही उनकी योगवृत्ति रही हो। इस परिस्थिति की व्याख्या मानववश-शुद्धिशास्त्र (Eugenics) एवं आनुवशिक नियमो के अनुसार की जा सकती है। भोज तो अपने पिता के पश्चात् महान् शासक के रूप मे आलोकित हुआ तथा वे युगल योग एव मत्रशास्त्र के क्षेत्र मे अतिमानव विकसित हुए।

महान् भोज (१०१०-१०५५)--साधितं विहितं दत्तं ज्ञातं तद्यन्न केनचित्।
किमन्यत्कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते।। --उदयपुर प्रशस्ति।

उज्जयिनी के महान् विक्रमादित्य के पश्चात् किसी अन्य भारतीय शासक ने विजयश्री के साथ साथ कवि-सम्राट् होने की कीर्ति अर्जित नही की। भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागो मे§ उनकी प्रोज्ज्वल सत्कृतियो, अलौकिकताओ तथा वास्तविकताओं से ओतप्रोत अनुश्रुति, कथा, उपाख्यान तथा लोकोक्तियाँ प्रचलित है। सौभाग्य से अपने ग्रथो के तथा सत्कृत्यो के फलस्वरूप भोज पर कालात्यय का दुष्प्रभाव नही हुआ। इसके अतिरिक्त दूरदूर तक फैले उनके अभिलेख‖, भव्य सार्वजनिक भवन तथा नगरों¶ के नाम उनकी स्मृति के अमर-चिह्न है।

---

* म० म० डॉ० ओझाजी का लेख, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १९२० श्रावण।

† उज्जयिनीवर्णनम्, प्रथम सर्ग १७-५७।

‡ कुलराजधानीवर्णनम्--धारेतिनाम्ना कुलराजधानी ।।९०।। --नवसाहसांकचरित।

⁑ *Parmars of Dhar and Malwa*--Luard and Lele.

¶ ज्ञानार्णव--शुभचन्द्र।

§ राजा भोज सम कहाँ गांगू तैली कहिए--सुन्दरविलास।
क्या राजा भोज ने क्या गांगली घाचन (तैलिन)--गुजराती।
कहाँ राजा भोज और कहाँ टूटा तैली--बुन्देलखण्ड।
कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगा तैली--कोकण।
कहाँ राजा भोज कहाँ घांगो तैली--रेवाकाठा, पंचमहल।
कहाँ राजा भोज और कहाँ भोजवा तैली--युक्तप्रान्त।
कत राजा भोज कत गङ्गिया तैलिनी--बंगाल।

‖ कोदण्ड और खंग काव्य--भोज, *Parmar Inscriptions* (वि० स्मा० ग्रं०), धार।

¶ भोपाल (भोजपाल), भोजकटक (हुशंगाबाद), भोपावर (भोजकच्छपुर), अमझेरा जिला, भोजपुर (जी० आई० पी० रेलवे का दीप स्टेशन)।

मालव मणि भोज

उसका नाम भोज अवन्ति के इतिहास प्रसिद्ध भोज से ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। उसके पिता सिंधुल का जीवन अद्भुत कल्पनापूर्ण था अत भोज का नामकरण भी कन्नौज के भोज परिहार (८४० ९० ईसवी) के नाम से, जिसके अपने काल मे महत्त्वहीन पूर्वकालीन महत्त्वाकांक्षी परमार लोग गौरव का अनुभव करते रहे होंगे, तदनुरूप ही किया गया होगा। स्थिति वैपरीत्य के कारण जब उसका पिता युद्ध में हत हुआ, भोज केवल १४ वर्ष का था। उसे अत्यन्त अल्प आयु में शासनसूत्र का सचालन करना पडा, अत यह स्वाभाविक ही था कि अन्य युवराजो की भाँति भाग्यलक्ष्मी ने उसका आलिंगन न किया होगा।

राज्य-सिंहासन ग्रहण करते ही उसे शासन व्यवस्था में व्यस्त होने के स्थान पर मालवा पर, दूसरे शब्दो में सम्पूर्ण भारत पर अपना सर्वोच्च आधिपत्य स्थापित करने में अपनी विधि से सप्रयत्न राजाओ से गृह-कलह के लिए सन्नद्ध होना पडा। उसका पिता अनहिलवाड के चौलुक्य के साथ युद्ध करते हुए हत हुआ था तथा दक्षिण के तैलप चौलुक्य ने उसके प्रतापी पितृव्य मुञ्ज का निर्दयतापूर्वक शिरच्छेद किया था। इसके अतिरिक्त समीप ही पूर्व में महत्त्वाकांक्षी कल्चुरि उसपर सहसा आक्रमण करने को कटिबद्ध थे। इस प्रकार ग्रसित अवस्था में बालक भोज ने अपने शक्तिशाली शत्रुओ को चकित करते हुए अपने प्रोज्ज्वल चरित्र का निर्माण किया।

भोज की प्रारम्भिक युवावस्था—भोज का पिता निर्वासित होने के कारण स्वभावत उसका पालन उसके पितृव्य मुञ्ज के राजप्रासाद में हुआ। उसके बाल्यकाल की कथाएँ* तथा सकटपूर्ण घटनाएँ अनेक है किन्तु वररुचि ज्योतिषी की भविष्यवाणी को सुनकर मुञ्ज द्वारा दी गई उसके वध की आज्ञा उसके प्रारंभिक जीवन की दुखद घटना थी। किन्तु भोज ने घटना व्यतिक्रम उपस्थित करनेवाला अपना दार्शनिक उत्तर‡ अपने वध्यापुरुष द्वारा भिजवाया। यह दार्शनिक उक्ति हमें स्मरण दिलाती है कि अहकारी साम्राज्य लोलुपो का भविष्य क्या है। मान्धाता से लेकर युधिष्ठिर तक कोई भी शाश्वत रूप से साम्राज्य शक्ति को धारण करने म सफल नहीं हुआ अत वर्तमान साम्राज्यिक अधिनायको को चिन्ता किस अर्थ!

प्रचुर कथा-साहित्य में से शुभचन्द्र की उसके ज्ञानार्णव में देखी गई कथा वास्तव में ऐतिहासिक है और मालवा के प्रसिद्ध पुरुषों की प्रारंभिक जीवनियो पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। भोज एव भर्तृहरि उन नामो मे से है जिनकी स्मृति उनके सार्वजनिक स्थापत्यो में, स्थानो के नामो मे एव साहित्यिक रचनाओ मे अमर है। जहाँ तक भोज का सम्बन्ध है उसके धार में प्राप्त हुए ताम्रपत्रो एव प्रशस्तियो के द्वारा उसका ऐतिहासिक आधार अधिक दृढ है, किन्तु भर्तृहरि के व्यक्तित्व की खोज होना अभी शेष है। शुभचन्द्र कहता है कि भोज के पिता सिंधुल का राजकुमारी मृगावती से, विवाह हुआ जिससे शुभचन्द्र एव भर्तृहरि युगल उत्पन्न हुए। वे दोनो पीछे से महान् योगी हुए। शुभचन्द्र ने जन दीक्षा ग्रहण की और योगाभ्यास के निमित्त सासारिक जीवन से निवृत्ति ली तथा भर्तृहरि ने मत्रशास्त्र एव धातुवाद में नैपुण्य प्राप्त किया। इस कथा के साथ हमें उज्जैन की वर्तमान भर्तृहरि गुफा का एव भर्तृहरि की कल्पनात्मक उत्पत्ति का स्मरण होता है। इन यमल सन्तानो के जन्म के बहुत काल पश्चात्, जब सिंधुल कारागार में था, भोज का जन्म हुआ। अत नवसाहसाकचरित की प्रसिद्ध नायिका इन यमल पुत्रो की माता रही होगी, न कि भोज की।

भोज की विजय-परम्परा—अब तक भोज की विजयो की परिगणना उदयपुर प्रशस्ति म हुई थी किन्तु अब उसके निश्चित प्रमाण एव साक्ष्य उनके कोदण्ड तथा खड्गकाव्य मे, जो धार स्टेट हिस्टोरिकल रिकॉर्डस् सीरीज के विक्रम-स्मारक-

---

* उसके बाल्यकाल की कथाएँ बहुविध ग्रथो में से दिग्दर्शित की जा सकती है, जैसे (१) भोज प्रबन्ध—मुनि सुन्दरसूरि के शिष्य शुभशीलकृत (ना० प्र० पत्रिका, भाग १, अक २), (२) भोजप्रबन्ध—सुकृतसागर रचयिता रत्नमडनगणि (विद्याधिकारी, बडौदा)। (३) भोजचरित—राजवल्लभ। (४) भोजप्रबन्ध—बल्लाल। (५) सत्पराजगणि (जैसलमेर ग्रंथ भडार)। (६) प्रबन्धचिन्तामणि—मेरुतुग। (७) गुजराथ चा इतिहास—लोकहितवादी।

‡ मान्धाता स महीपति ... मन्ये त्वया यास्यति॥

ग्रंथ (*Parmar Inscriptions*) मे प्रथम वार प्रकाशित होकर प्राप्य है। किन्तु अभी घटनाओं के ऐतिहासिक अनुक्रम के सम्बन्ध मे कोई निश्चित वात नही कही जा सकती।

उज्जयिनी के राजसिंहासन पर भोज के आसीन होने का काल भारतवर्ष के इतिहास मे घटना-बहुल था। उसे अपने पिता की मृत्यु का, जिसका वध अनहिलवाड़ के भीम चौलुक्य ने किया था तथा अपने पितृव्य मुञ्ज के निधन का भी जिसका शिरच्छेद तैलप चौलुक्य ने किया था, प्रतिशोध लेना था। पूर्व मे कलचुरि राजवंश था, जिसका डाहल (चेदि देश नाम से भी ज्ञात यमुना एवं नर्मदा के बीच का प्रदेश) पर आधिपत्य था। राजा युवराज द्वितीय ने अपनी वहिन का विवाह दक्षिण के चौलुक्य राजा के साथ किया था जिससे मुञ्ज का शत्रु तैलप उत्पन्न हुआ था। उत्तर भारत के शासक साम्राज्य शक्ति की प्राप्ति के लिए वेगवान यत्न कर रहे थे। परमारो ने अपना पहले ही स्वर्णप्रसून एवं ऐतिहासिक विख्यात परम्परायुक्त भूमि के रूप मे विश्रुत मालव पर दृढ़ आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इसकी मध्यस्थ स्थिति के कारण इसे सब दिशाओ से आक्रान्ताओ का सामना करना था—पश्चिम से भीम चौलुक्य का, पूर्व से युवराज कलचुरि का, दक्षिण से विक्रम चौलुक्य पचम का, और अन्त मे सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण राजपूतो का पश्चिमोत्तर से एवं मुसलमानो का उत्तर से।

कोकण का अभियान भोज का प्रथम साहस प्रतीत होता है, जिसमे उसने शिलाहार राजा अरिकेसरी को पराजित किया और उससे जयफल के रूप मे गरुडध्वज छीनकर उसे अपना राजध्वज वनाया। यह घटना, जैसा बेटमा* एव वासवाडी† के ताम्रपत्रो से सिद्ध हो चुका है, १०२० ईसवी से कुछ पूर्व हुई। इस प्रकार उसकी विजय-परम्परा का प्रारम्भ हुआ।

कर्नाट एव लाट (दक्षिण गुजरात) के राजा जयसिंह द्वितीय एवं उसका उत्तराधिकारी सोमेश्वर प्रथम (१०१८-४० ईसवी) थे। किन्तु भोज के युद्धो के प्रारंभिक भाग मे तैलप की मृत्यु के पश्चात् विक्रमादित्य चौलुक्य (१००९-१८ ईसवी) के साथ उसका वास्तविक युद्ध हुआ। अतः भोज ने मुञ्ज की पुरातन प्रेयसी कुसुमावति‡ की सहायता से जो इस समय जैन साध्वी हो गई थी, विक्रमादित्य को वन्दी वना लिया और उसका वध करा दिया। पीछे से भाग्यचक्र भोज के विपरीत परिचालित हुआ। एक लम्बे विराम के पश्चात् सोमेश्वर प्रथम के साथ जो आहवमल्ल§ भी कहलाता था, शत्रुता प्रारभ हुई। एक युद्ध मे सोमेश्वर विल्हण के कथन के अनुसार वास्तव मे विजयी हुआ।

गुजरात के भीम ने धार पर दुवारा आक्रमण किया था। भोज व्याकुल हो गया था, किन्तु सौभाग्यवश भीम शीघ्र ही सिन्ध के शासक को दण्ड देने चला गया। उसकी अनुपस्थिति मे भोज ने अपने सेनानी कुलचन्द्र को आक्रमण के लिए भेज दिया। वह अनहिलवाड़ को हस्तगत करने मे सफल हुआ और विजयी होकर धार लौटा। सिन्ध से लौटने पर भीम अपने शहर पर हुए आक्रमण से तथा भोज के सेनापति से अपमानित होने के कारण अत्यन्त उद्विग्न हुआ। धार को हस्तगत करने के लिए सेनाएँ भेज दी गई। विचारा भोज अनवदित अवस्था मे था और वन्दी वना लिया गया था, किन्तु पीछे से मुक्त कर दिया गया था। उन्होने परस्पर सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर किए और भीम के राजदूत डामर‖ (दामोदर) ने भोज को विश्वास-पत्र दिया। उस काल मे भोज जैसे शासको की राजसभा मे अनेक विद्वान् पण्डित रहा करते थे जो अपने स्वामी के शत्रुओ पर साहित्यिक अवहास कटु एव उच्छृखलतापूर्ण कुटिल उक्तियो से प्रहार किया करते थे। भोज विद्वानो के आश्रयदाता के रूप मे प्रसिद्ध था ही। ऐसी जनश्रुति है कि भीम एक वार भोज की वैभवशालिनी राजसभा को

---

* इन दोनो दानपत्रों पर श्री डिस्कलकर ने पर्याप्त प्रकाश डाला है।

† वासवाड़ी प्लेट माघ शुक्ल ७ वि० सं० १०७६ की है। पश्चात् काल गणनानुसार भाद्र शुक्ल १५ वि० सं० १०७६ में कोंकण-ग्रहण विजय-पर्वणी के उपलक्ष्य में वेटमा प्लेट का दानपत्र दिया गया।

‡ धार स्टेट गजेटियर।

§ ....नलस्तस्याप्याहवमल्लदेव नृपतेर्दोर्दण्ड............ .. ..द्रूहरः। धर्मपुरी शिलाखंड, विक्रम-स्मारक-ग्रंथ धार पृष्ठ, ८८।

‖ "समुद्रा दामरोराव सते..................पमार्क" विक्रम-स्मारक-ग्रथ, धार, पृष्ठ ३५।

देखने के लिए इतना लालायित था कि वह प्रच्छन्न रूप में स्वयं धार पहुँचा और छद्मरूप में उसकी सेवा में रहा। अपने स्वामी की प्रशंसा करते हुए डामर ने अपनी वक्रोक्ति का भोज को लक्ष्य बनाया। उसी समय पहचाने जाने की आशंका से भीम राज-सभा से खिसक गया। इसके पश्चात् अपने स्वामी को बचाने के लिए भोज का ध्यान दक्षिण की ओर आकृष्ट करते हुए, जहाँ मुन्ज की मृत्यु का प्रतिशोध लिया जाना शेष था, डामर ने दूसरा व्यंग्योक्ति का प्रहार किया। इस प्रकार चौलुक्य के विरुद्ध आक्रमण हुआ, किन्तु लड़ाई समाप्त हो गई और भीम एवं सोमेश्वर दोनों के साथ संधि हुई।

अनहिलवाड के भीम चौलुक्य को एवं दक्षिण के सोमेश्वर चौलुक्य को संधि द्वारा मौन कर देने के पश्चात् युद्ध करने के लिए सबसे बड़ा अवशिष्ट शत्रु कल्चुरि गांगेयदेव* था। कन्नौज गुर्जर प्रतिहार का उन्मूलन करके गांगेयदेव ने अपने राज्य का विस्तार उत्तर में नेपाल एवं तिरहुत तथा दक्षिण में कर्णाटक† पर्यन्त कुन्तल तक कर लिया था। अतः स्वभावतः उत्तर भारत पर एकाधिपत्य स्थापित करने की महत्वाकांक्षा से उसने भोज के राज्य पर आक्रमण किया। एक निर्णायक युद्ध लड़ा गया जिसमें गांगेयदेव‡ पूर्ण रूप से पराजित हुआ। इस प्रकार अपमानित होकर वह प्रयाग-वास करने चला गया और १०४१ ईसवी में मर गया। इस विजय की स्मृति में भोज ने जयस्तंभ निर्मित कराया जिसे आज भी धार में लाट मसजिद पर, जिसका यह नाम ही इस स्तंभ के कारण पड़ा है, देखा जा सकता है। स्थानीय जनता उस स्तंभ की ओर संकेत करते हुए बतलाते हैं कि इस विशाल तोल के स्तंभ को गांगी नाम की एक तेलिन ने स्थापित किया था। वेदिका की जिन दीर्घकाय शिलाओं में वह रोपा गया था, वे उस तेलिन के समान भार के हैं ऐसी जनश्रुति है। यह मनोरंजक लोककथा सम्पूर्ण भारत में प्रचलित है। सौभाग्यवश इस जनश्रुति ने तेलगन के साथ भोज एवं गांगेय दोनों का सम्बन्ध सुरक्षित रखा है। माण्डवदुर्ग के राजपथ पर नालछा के समीप एक पहाड़ी है। यह तेलण टेकड़ी के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवतः उसका यह नाम उस पहाड़ी के समीप युद्ध होने का संकेत करता है। उस काल में नलकच्छपुर (नालछा) की विद्या के केन्द्र के रूप में, जहाँ अमितगति सदृश§ विद्वान शिष्यों को विद्यादान करते थे, पहले से ही प्रसिद्ध थी। इस स्थान पर विद्वानों द्वारा सुभाषितरत्नसंदोह, पंचसंग्रह सदृश कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना हुई थी। इस विजय का एक प्रमाण धार की आर्केऑलॉजिकल म्यूजियम में सुरक्षित कोदण्डकाव्य नामक अभिलेख|| में पढ़ा जा सकता है। 'कहाँ राजा भोज और कहाँ गांगली तेलन' इस पंक्ति में गंगा एवं तेलन क्रमशः कल्चुरि गांगेयदेव एवं तेलगन का संकेत करते हैं। पारिजातमंजरी नामक दो अंक का नाटक भी इस ऐतिहासिक घटना का, जो पीछे जनश्रुति में परिवर्तित हो गई, समर्थन करता है। अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि कुछ परिवर्तन के साथ यह लोकोक्ति भारतवर्ष के सभी भागों में प्राप्त होती है।¶

जहाँ तक भोज द्वारा मुसलमानों के प्रतिरोध एवं उन्हें पराजित किए जाने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में किसी निश्चित तिथि एवं स्थान का निर्देश नहीं किया जा सकता। यह सम्भव है कि भोज की सेनाओं ने महमूद गजनवी से सम्मिलित युद्ध करनेवाले अन्य राजाओं की सेनाओं से सहयोग किया हो। यह घटना १००८ ईसवी अथवा १०१९ ईसवी की हो सकती है। अथवा उस समय की हो सकती है जब १०४३ ईसवी में हिन्दू राजाओं ने महमूद गजनवी के प्रतिनिधि शासक के विरुद्ध सम्मिलित युद्ध किया था। 'तुरुष्का'** पर भोज की विजय का निर्देश, उसका उल्लेख कोदण्डकाव्य में होने के कारण स्थिर करता है।

---

* जबलपुर ज्योति—रा० ब० हीरालाल, रासमाला।

† जबलपुर ज्योति। ‡ वही। § प्राचीन ग्रंथकार—गोविन्दराम परवार, धार अंक, वीणा।

|| अतिकिरणरज्जुबद्ध जेण जयकुंजर तुम धरसि। जयकुंजरस्स थंभोए — कोदण्डकाव्य (विक्रम-स्मारक ग्रंथ) धार, पृष्ठ ७४।

¶ देखिए टिप्पणी, पृष्ठ ७।

** तइ रक्खिआ तुरक्का धरणी अज्ज वणे सुसले। तिरखेडुताण इह — कोदण्डकाव्य, पृष्ठ ७६, विक्रम-स्मारक-ग्रंथ, धार।

लुहांगीगुहा, मांडव (पृष्ठ ५९९)
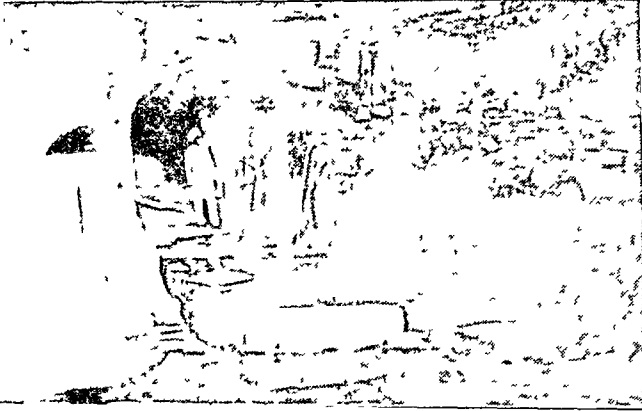
लुहाँगी गुहा, माँडव (पृष्ठ ५९९)
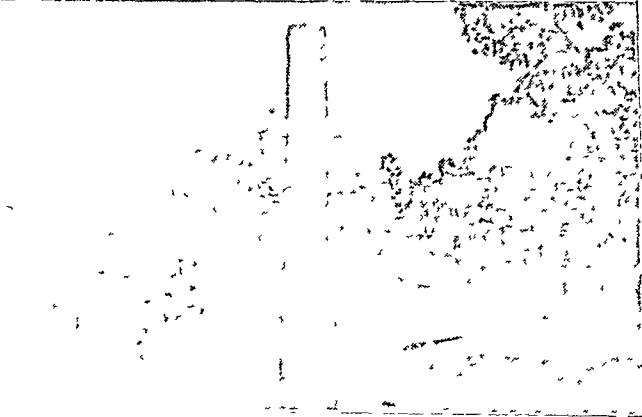
एकपत्थरी-स्तभ, माँडव (पृष्ठ ६०१)

भोज के भारती-भवन की सरस्वती-प्रतिमा
तथा ५९०)

धार एवं मांडव चित्रावली
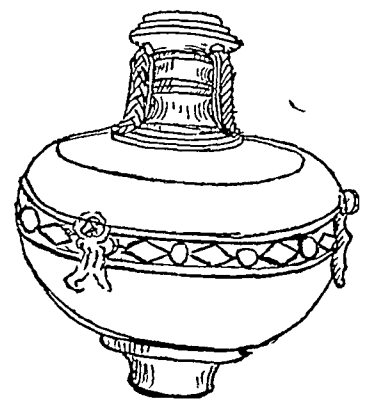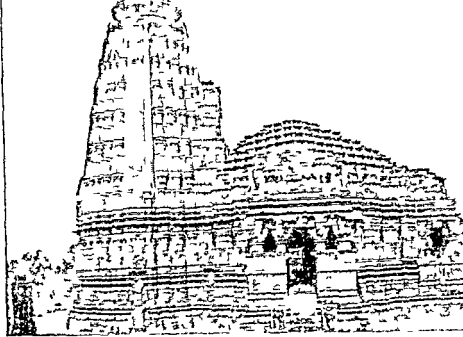
उदयेश्वर मंदिर, बगल से।

उदयेश्वर-मंदिर, पीछे से।

उदयेश्वर-मंदिर, भीतरी भाग।

उदयेश्वर-मन्दिर चित्रावली (पृष्ठ

एक छोटी म

श्री अनन्त वामन वाकणकर

इन्द्रस्थ पर उसकी विजय का निश्चित रूप से उल्लेख नही किया जा सकता यद्यपि विद्वानो की मनोवृत्ति उसे कलिंग के गग का सामन्त मानने की है। यह वही राजा हो सकता है जो राजेन्द्रदेव चोल का शत्रु था।*

लाट-विजय के सम्बन्ध मे भोज द्वारा कीर्तिराज को दी गई पराजय का निर्देश किया जा सकता है।

स्वर्गीय के० के० लेले ने तोग्गल† को दक्षिण मे बीजापुर जिले का वर्तमान 'तोगिल' कहा है जो अब शिन्दे नामक मराठा सरदार के अधीन है।

भोज के युद्धो का अनुक्रम बतलाने का डॉ० गागुली का प्रयत्न वास्तव मे मनोरजक एवं बहुत अंश मे प्रत्ययकारक है।

इस प्रकार उदयपुर-प्रशस्ति‡ मे भोज की विजयों का उल्लेख एवं स्वयं भोज द्वारा उनका समर्थन भोज के अनुश्रुति-पूर्ण आवेष्टन से उत्पन्न विवाद को समाप्त कर देता है।

भोज के सर्वोच्च व्यक्तित्व की तुलना मे उसके अन्य समकालीन राजाओं की प्रभा मन्द पड़ जाती है। इसमे त्रिपुरी के महान् राजा गागेयदेव तथा उसी के समान निम्न श्रेणी के तैलगानाधिपति को अपवाद मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। वह अद्वितीय विजेता था ओर साहित्य के विस्तृत क्षेत्र मे एवं अनुपम वदान्यता‖ मे उसकी वरिष्टता नवीन प्रमाण की अपेक्षा नही करती।

साहित्यसेवी भोज—मुज को विद्वानों ने 'कविमित्र' नाम दिया था किन्तु भोज को वे 'कविराज' उपाधि से विभूषित करते है। उसकी अगाध सर्वतोमुखी विद्वत्ता उसके निर्मित विविध विषयों के ग्रथों की परिगणना से ज्ञात होती है और भोज की इतने ग्रंथो के निर्माण की क्षमता के सम्बन्ध मे शका नही की जा सकती है। उसके काल की विद्वत्ता के मान से परीक्षण करते हुए यह ज्ञात होता है कि शास्त्रो का साधारण ज्ञान प्राप्त करने के लिए अध्यवसायपूर्वक लगभग १२ वर्ष लगते थे। साधारण अंग्रेजी की पढ़ाई मे भी १२ वर्ष के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी बी० ए० हो सकता था। किन्तु विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए केवल व्याकरण के अध्ययन मे ही १२ वर्ष और लगते थे—"द्वादशवर्षै. व्याकरणं श्रूयते"—इससे भी संस्कृत साहित्य की विशालता की भी कल्पना होती है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि धार के अपने 'भारती-भवन' अथवा 'शारदासदन'¶ को, जिसके अध्यक्ष पद पर लन्दन म्यूजियम मे स्थित विक्रम संवत् १०९१ की सरस्वती** (देखिए चित्र) की मूर्ति आसीन थी, अलंकृत करना भोज की कितनी महान् सफलता थी।

पूर्व टिप्पणी के अनुसार भोज का साहित्य के विस्तृत क्षेत्र पर अधिकार था और उसकी सर्वतोमुखी विद्वत्ता के सम्बन्ध मे जो उसकी रचनाओ द्वारा ज्ञात होती है, पूर्ण विवेचन उपयोगी है। स्वर्गीय राज्यरत्न का० कृ० लेले ने भोज एवं उसकी रचनाओं पर अपना समालोचनात्मक विवेचन§ प्रकट किया है। यहाँ उसकी रचनाओ की सूची देना असम्बद्ध न होगा:—

ज्योतिष—राजमार्तण्ड, राजमृगाककरणं, विद्वज्जनवल्लभप्रश्नज्ञान, आदित्यप्रतापसिद्धान्त।

अलकारशास्त्र—सरस्वतीकंठाभरण।

---

* *History of Parmar Dynasty*—Ganguli पृष्ठ ९५।

† स्व० का० कृ० लेले महोदय के ऑर्केऑलॉजिकल नोट्स।

‡ चेदीश्वरेन्द्ररथतोग्गलभीममुख्यान् कर्णाटलाटपति गुर्जरराट् तुरुष्कान्।

‖ गोसहस्साणं दाणं केणावि कयावि एत्थ विहिअं................, पृष्ठ ७४।

गोलक्खदाण धूली अत्थक्कंनव............॥३१९॥ कोदण्डकाव्य।

¶ स्तूर्ण पूर्गमनोरथश्चिरसभूद्गांगेयभंगोत्सवे ॥३॥—पारिजातमंजरी;

............न्मधि चेदिनाथे ग्लपितगरिमणिक्षा............धरमपुरी शिलालेख-पृष्ठ ८८, विक्रम-स्मारक-ग्रंथ, धार।

** इस मूर्ति के अस्तित्व के सम्बन्ध में रा० ब० का० ना० दीक्षित सेवानिवृत्त डायरेक्टर जनरल ऑर्केऑलॉजी ने सर्व प्रथम सूचना दी। कलकत्ता के "रूपम्" मासिक मे तथा अन्यत्र इस ग्रन्थ में इसका फोटो छपा है।

§ भोजदेव यांची साहित्यसेवा—का० कृ० लेले, मालवसाहित्य, इन्दौर।

योगशास्त्र—राजमार्तण्ड नामक पतंजलिप्रणीत योगसूत्र पर टीका।
धर्मशास्त्र—भूतमानण्ड, दण्डनीति, व्यवहारसमुच्चय, चारुचर्या।
शिल्पशास्त्र—समरागणसूत्रधार, युक्तिकल्पतरु।
काव्य—चपू रामायण ५ काड, महाकाली विजय, विद्याविनोद, शृगारमजरी, सरस्वतीकठाभरण, रसप्रकाश, कूर्मशतक, कोदण्डकाव्य, खड्गकाव्य, (अनामकाव्य त्रुटित शिलालेख)।
नाटक—हनुमान नाटक।
वैद्यकशास्त्र—विश्रातविद्याविनोद, आयुर्वेदसर्वस्व, राजमृगाक।
संस्कृतकोश—नाममाला।
व्याकरण—संस्कृत और प्राकृत व्याकरण।
शैवमत—तत्वप्रकाश, शिवतत्वरत्नकलिका।
संगीत—रुद्रयेना यभूपालो भोजवल्लभस्तया। परमर्दीच सोमेशोजगदक (व) महीपति ॥ १८॥—संगीत रत्नाकर।
इतर—शालिहोत्र (अश्वशास्त्र पर) इत्यादि।

ऐसा दिग्गज साहित्यकार साथ साथ शासक एव सम्राट भी था। विक्रमादित्य महान् के समान ही सुविश्रुत विद्वानो को सरक्षण देने में वह अप्रतिम था। सुभाषितावलि में उनकी गणना इस प्रकार की गई है —

भोजश्चित्तप बिल्हणप्रभृतिभि कर्णोऽपि विद्यापति। ख्याति यान्तिनरेश्वर कविवरे स्फारनभेरीरव ॥

यहा उल्लिखित बिल्हण* 'सरस्वतीस्तोत्र' का रचयिता नही हो सकता, कारण कि वह स्वय महाराज विन्ध्यवर्मन की राजसभा म अपना साधिविग्रहिक होना स्वीकार करता हूँ।

उसमे सरक्षण प्राप्त अन्य जैन विद्वान्‡ थे—उवट, शुभचन्द्र, नेमिचन्द्र चक्रवर्ति, प्रभाचन्द्र एव निचुल। अपनी राजसभा में नवरत्न रखने के लिए भोज द्वारा अपनी तुलना विक्रम‡ से किए जाने के कारण यह स्वाभाविक है कि उसका अपना कालिदास भी हो। कुछ उपर्युक्त साहित्यकारो में से एक के साथ उसकी अभिन्नता स्थापित करते है। प्रोफेसर पराजपे कहते है कि कालिदास‖ तीन होने के प्रमाण है। सर रामकृष्ण भडारकर का मत भी इसी प्रकार का है। भोज का कालिदास उनमें से एक था।

---

* विरचितमिहविष्णोर्दा मवाक्यप्रसूनश्चरणसततपूजा वाक्कृता बिल्हणेन—माडव शिलालेख, विक्रम-स्मारक ग्रथ, पृष्ठ ४३, धार।

‡ गुणरत्नमहोदधि, विक्रम सवत् ११९७—
शालानुरीय१ शकटागज२ चन्द्रगोमी, दिग्वस्त्र३ भर्तृहरि४ वामन५ भोज६ मुख्या।
मेधाविन प्रवरदीपक७ कर्तयुक्ता प्राज्ञैर्निषेवित पदद्वितयाजयन्ति ॥२॥

‡ पाणिनि, २ शाकटायन, ३ देवनदी, ४ वाक्यपदीयप्रकीर्णकयो कर्ता महाभाष्यनिपाद्या व्याख्याताच। ५ अविश्रात विधाधर व्याकरणकर्ता, ६ सरस्वतिकठाभरणकर्ता, ७ भद्रेश्वर सूरि। शृगारप्रकाश—के० पी० जायसवाल, *Modern Review* June, 1928

‖ वल्मीकप्रभवेण रामनृपतिर्व्यासेन धर्मात्मजो व्याख्यात क्लिकालिदासकविनाश्रीविक्रमाकोनृप।
भोजश्चित्तप बिल्हणप्रभृतिभि कर्णोऽपि विद्यापते ख्याति यान्तिनरेश्वरा कविवरैस्फारनभेरीरव ॥
सुभाषित रत्न भाण्डागार–निर्णयसागर, प्रॉ० शर्मा की सूची।
शृगारप्रकाश–पाण्डेय रामावतार शर्मा, सुधा, श्रावण सवत् १९८५।

(१) एकोऽपिजीयते हन्त कालिदासो न केनचित। शृगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥
(२) गोविंदराय पवार, धारा अक, वीणा।
(३) चवण धवला अज्ज पण्डिअवग्गोभम्बत ओ .. ३८१—विक्रम-स्मारक ग्रथ, धार।

श्री अनन्त वामन वाकणकर

उसके काल मे उज्जैन के अतिरिक्त विद्या के तीन केन्द्र थे उनमे धार का प्रसिद्ध भारतीभवन था। दूसरा मांडू में था और तीसरा नलकच्छपुर (नालछा, धार-राज्य) मे था।

उसके औदार्य एव विद्या के संरक्षण के सम्बन्ध मे कोदण्डकाव्य की निम्नलिखित पंक्तियाँ आकर्षक हैं :—

गोसहसाणं दाणं केणावि कयावि एत्य विहिअं। गोल.................

उसके विस्तृत एवं गम्भीर पांडित्य के कारण और विशेषत: सब धर्मो के प्रति उसके उदार विचारों के कारण विद्वानों की एक परिषत् की अध्यक्षता के लिए भोज को निमन्त्रित किया गया था :—

आस्थानाधिपतिः तौ बुधादविगुणो श्रीभोजदेवेनृपे।—प्राचीन लेखमाला, भाग २, पृष्ठ २२३।

भोज के सार्वजनिक निर्माण—भोज के नाम से सीधे सम्बद्ध एवं दैव के घातक प्रहार के पश्चात् भी उसकी पुण्यस्मृति को पुनरुज्जीवित करने के लिए निम्नलिखित स्थानो के नाम एवं देवालय अवशिष्ट हैं :—

भोजपाल (भोपाल) तथा दीप नामक जी० आई० पी० रेलवे स्टेशन के समीप की विस्तृत झील,* जो अब लुप्त हो गई है और उसका केवल द्वीप (दीप जो अब रेलवे स्टेशन है) शेष रह गया है तथा थोड़े से सेतु, बेतवा (वेत्रवति) के समीप भोजपुर देवालय, भोजकटक (होशंगाबाद), अमझेरा जिला भोपावर, भोजशाला‡ एवं उसका सरस्वती कूप, राजमार्तण्ड राजमहल‡ तथा अन्तिम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वि० सं० १०९१ की अब लन्दन म्यूजियम मे स्थित सरस्वती की मूर्ति (देखिए चित्र)।

उदयपुर प्रशस्ति मे उल्लिखित देवालय इस प्रकार हैं :—

केदार रामेश्वर सोमनाथ सुंडीर कालानलरुद्रसत्कैः। सुराश्रयैं र्व्याप्यचयः समंतात् यथार्थसंज्ञांजगतीं चकार।

इन अनेक मे से केवल दो को निश्चयपूर्वक बताया जा सकता है। एक तो काश्मीर मे कपटेश्वर के समीप 'पापसूदनतीर्थ' है तथा दूसरा अब भी सुन्दरवन (मुण्डीर) बगाल मे वर्तमान है जिसमें दुरूहता एव जल की गम्भीरता के कारण यात्रियो को वर्ष मे केवल दो बार दर्शन प्राप्त होता है।

भोज के अन्तिम दिन—अन्य जन्मजात महान् व्यक्तियों के समान ही भोज के अन्तिम दिवस भी सुखप्रद न हो सके। कारण कि ऐसे व्यक्तित्वो के जन्म से ही महान् होने के कारण दैव उनके प्रति प्रतिरोधात्मक रहता है। गुजरात के भीम एव चेदि के कर्ण ने उस काल के उच्चतम व्यक्ति पर आक्रमण करने के लिए परस्पर सन्धि की। उसका युद्ध-परिश्रांत-स्नायु-मण्डल क्षीण हो रहा था। भयभीत शत्रुओं के उत्क्रोश बीच नियति की इच्छा को उसने सहर्ष स्वीकार किया और अपनी जाति के भावी गौरव के निमित्त देह त्यागी। उसकी मृत्यु लगभग १०५५ ईसवी † मे हुई।

स्वर्गीय पण्डित का० कृ० लेले की टिप्पणी के अनुसार "सम्राट् भोज का अपना विशिष्ट अनुपम महत्त्व है।"

उसका उत्तराधिकारी उदयादित्य हुआ और मालवा के परमारो के गौरव को पुनरुज्जीवित करने के लिए उसने कठिन युद्ध किया। सुविश्रुत उदयपुर-प्रशस्ति द्वारा वह अपनी कीर्ति को अमर करने मे सफल हुआ।

---

* *Ind. Ant.* XVII पृष्ठ ३४८–५२।

‡ वर्तमान कमालमौला मस्जिद जिसमें नागबंध, पारिजातमंजरी, कूर्मशतक एवं भग्नशिलाएँ विद्यमान हैं।

‡ वर्तमान लाट मस्जिद जिसमें साक्षीभूत विजयस्तंभ है।

† *Parmars of Dhar and Malwa*—Luard and Lele.

धार की भोजशाला में उदयदित्य तथा नवमदेव के उल्लेख युक्त स्तंभोत्कीर्ण व्याकरण सम्बन्धी सर्पबन्ध।

(देखिये पृष्ठ ५१५ तथा ५९३)

मालवे के परमार—पवार

श्री चिंतामण बलवंत लेले बी० ए०

"It is a curious coincidence that the success of the Marathas should, by making Dhar the capital of Anandrao and his descendants, restore the sovereignty of a race who had seven centuries before been expelled from the Government of that city and territory."

—Sir John Malcolm.

सर जॉन मालकम मालव-भूमि में अंग्रेजी सत्ता की नीव डालने के लिए प्रमुख सन्धि-विग्रहक के नाते से नियुक्त थे। मराठा-राज्य का नर्मदोत्तर विस्तार होना आक्रमण कहा जाता है, किन्तु हिन्दू-समाज का वह विक्रमण, आक्रमण नही कहा जा सकता, यह सिद्ध हो चुका है। पेशवा बाजीराव का ध्येय, छत्रपति शिवाजी महाराज के राष्ट्रीय कार्यक्रम का प्रमुख एव प्रधान भाग था। पवार वंश का धारा नगरी पर आधिपत्य होना, इतिहास मे पुनरावर्त्तन के सिद्धान्त को दोहराना मात्र है। लगभग एक हजार वर्ष पूर्व इसी नगरी पर परमार राज्यवश के पुरुष राज्य करते थे। उपेन्द्रराज अथवा कृष्णराज, अचलगढ़ तथा चन्द्रावती नगरी से अपने राज्य का विस्तार करते हुए, मालवदेश में आए और उज्जयिनी एवं धारा नगरी को केन्द्र-स्थान बनाकर उन्होने चतुर्दिक अपना स्वामित्व प्रस्थापित किया। तदनन्तर धारा का महत्त्व "धारेति नाम्ना कुल राजधानी"* के रूप मे हुआ। मालवे मे परमार-वंश की स्थापना ई० स० ८०० से हुई और चौदहवी सदी के प्रथमार्द्ध तक, इसी वंश का मालवे पर आधिपत्य रहा। कृष्णराज से लेकर जयसिंह चतुर्थ तक परमारों के चौबीस राजपुरुष हुए। इस वंश के नेतृत्व में राज्य का विस्तार एव काव्य, शास्त्र, कला, वैभव आदि अनेक अंगो का उत्कर्ष हुआ। परन्तु जिसके लिए भारतीय इतिहास मे इनका स्थान गौरवपूर्ण माना जाता है, अनेक देशीय तथा विदेशी पंडित, सशोधक एव राजवेत्ता आज भी धारा का आदरभाव से स्मरण करते है; लन्दन के ब्रिटिश-म्यूजियम-स्थित राजा भोज की अधिष्ठात्री

* नवसाहसांकचरितम्।

सरस्वतीदेवी* इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रभावशाली एवं भारत विख्यात वंश का संक्षिप्त रूप से परिचय देना इस लेख का एकमेव उद्देश्य है। यह केवल संक्षिप्त विहंगमावलोकन ही होगा।

कृष्णराज के पश्चात् वैरसिंह प्रथम और सीयक प्रथम ये दो नरेश अधिष्ठित हुए। इनका वृत्तान्त ताम्रपत्र अथवा शिलालेख द्वारा अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। अनन्तर वाक्पतिराज प्रथम, जिनका दूसरा नाम अजयराज भी था, गद्दी पर बैठे (ई० स० ८७१-९१८)। उत्तर में गंगा † तक इन्होंने विजय प्राप्त की। अन्त में इन्होंने अपनी रानी कमलादेवी के साथ वानप्रस्थ में अपना शेष जीवन व्यतीत किया। इसके बाद वैरसिंह द्वितीय, जिसे वज्रट नाम से भी पुकारा जाता है, स्थानापन्न हुए। गुर्जर, प्रतिहार तथा राष्ट्रकूटों का सामना करके इस परमार-नृप ने धारा नगरी में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। इसके बाद सीयकदेव द्वितीय, जिन्हें हर्षदेव ‡ भी कहते हैं, सिंहासनारूढ हुए। राजकाल के आरम्भ में ही इन्होंने 'महाराजाधिराजपति' 'महामाण्डलिक चूडामणि' उपाधियाँ लीं। मेरुतुंग ने इनको 'सिंहदत्तभट्ट ⁑' कहा है। इन्होंने सौराष्ट्र के चालुक्य, हूण, चन्देल आदि से यशस्वी सामना किया, तथा दक्षिण के मालखेट राजा खोट्टिगदेव † पर उल्लेखनीय विजय प्राप्त की। अपने जीवनकाल में ही इन्होंने अपने सुपुत्र मुञ्जदेव को राज्य का सम्पूर्ण भार सौंप दिया था। राष्ट्रकूट साम्राज्य का विनाश, जिसका आदिश्रेय हर्षदेव को है, परमारों के इतिहास के विकासकाल की एक प्रमुख एवं महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। वाक्पतिराज के शासनकाल में परमार-राज्य का क्षेत्र विस्तृत हुआ था। उत्तर में बांसवाडा, दक्षिण में गोदावरी, पूर्व में भेलसा तथा पश्चिम में माही तक परमार राज्य का विस्तार था। इसकी पत्नी का नाम वडजा था। अन्त में यह राजा योगी बन गया। वाक्पतिराज (ई० स० ९७३-९९७ तक) ने कर्नाटक, गुजरात, केरल आदि के विरुद्ध विजय प्राप्त की। उत्पलराज, अमोघवर्ष, मुञ्जदेव इन्हीं नामों से वे शासनपत्रों में सम्बोधित हैं। 'श्रीवल्लभ' 'पृथ्वीवल्लभ' ये उनके विरुद हैं। इन्होंने कल्याणपुर के चालुक्यवंशीय राजा तैलपदेव का अनेक वार पराभव किया। अन्त में ई० स० ९७५ के युद्ध में तैलप पकडा गया। तैलप ने बदला लेने का प्रयत्न किया, जिसके परिणामस्वरूप ई० स० ९९५ के लगभग मालवे पर आक्रमण हुआ। मंत्री रुद्रादित्य द्वारा विरोध करने पर भी वाक्पतिराज ने चालुक्य-राज्य में प्रवेश किया। अन्ततोगत्वा इनकी मृत्यु बडी निर्दयतापूर्वक हुई। ⁂ इनकी अनेक विजयों से राज्य की मर्यादा बढ गई। कुछ समय तक पूर्व में कलचुरि, पश्चिम में गुजरात और लाट, उत्तर में मेवाड तथा दक्षिण में मारवाड तक परमार राजाओं का आधिपत्य अबाधित रहा। वाक्पतिराज केवल शूर ही नहीं था, परंतु विद्यानुरागी एवं पण्डित भी था। विद्वद्समाज में इनको 'कविमित्र' अथवा 'कविबान्धव' नाम से स्मरण किया जाता था। वाक्पतिराज के समय में (परिमल कालिदास), धनपाल, शोभन, धनिक, धनंजय, भट्ट हलायुध, अमितगति धनेश्वरादि अनेक पण्डितों एवं कवियों को परमार-राज्य द्वारा आश्रय प्राप्त था। ⁂ इनके अतिरिक्त मुञ्जदेव के समय में कलावन्तों को भी आश्रय मिला। धार तथा माण्डव का मुञ्जसागर, धरमपुरी, ओंकारेश्वर, उज्जयिनी आदि स्थानों पर अनेक देवालयों तथा घाटों के रूप में इनके स्मारक आज

---

* पादपीठ पर निम्नलिखित लेख खुदा हुआ है — ॐ श्रीमद्भोज नरेन्द्र चन्द्र नगरी विद्याधरी
मौनधिनमात स्म खलुसुख (प्राप्यान) याप्सर वाग्देवीप्रतिमा विधाय जननीम् यस्याजितना त्रयीं
फलाधिका धारा मूर्ति शुभा निर्ममे॥ इति शभम्॥
सूत्रधार साहिरसुत मनथलेन घटिताम् वीटिका शिवदेवेन लिखिताम॥ इति संवत् १०९१॥

† उदयपुर प्रशस्ति—"सतमसान् कृतिस्तुरंगा। गंगासमुद्र सलिलानि पिबन्ति यस्य॥ शात्रोवर्गं धारया सैनिहित्य। श्रीमद्धारा सूचिता येन राजा॥

‡ ई० स० ९४१-९७३। ⁑ प्रबन्धचिंतामणि, पृष्ठ ३०।

† यह युद्ध खलघाट में लगभग ई० स० ९७० में हुआ। ⁂ नवसाहसांकचरितकर्ता।

⁂ (अ) पद्मगुप्त—नवसाहसांकचरितम्। (आ) धनपाल—तिलकमंजरी, पयवाक्षीनाममाला, ऋषभपंचाशिका। (इ) धनंजय—दशरूपम्। (ई) धनिक—दशरूपावलोक, काव्यनिर्णय। (उ) हलायुधभट्ट—मृतसंजीवनी—पिंगलछंदसूत्र पर भाष्य, कविरहस्य राजव्यवहारतत्व। (अ) अमितगति—सुभाषितरत्नसंदोह।

भी विद्यमान है। राधनपुर रियासत में 'मुंजपुर' नामक एक गाँव है। यह नाम निश्चय ही धार के परमार राजा से सम्बन्धित है। वाक्पतिराज के कुछ दान-पत्र † भी उपलब्ध हुए हैं। ऐसे विद्यानुरागी परमार राजा का अन्त विद्वानो * को बड़ा दुखदायी हुआ। इनके उपरान्त इनके भ्राता सिन्धुराज सिंहासनासीन हुए। इनका राजकाल शान्तिपूर्ण रहा। इनको 'नवसाहसाक' तथा 'कुमार नारायण' उपाधियाँ थी। इनका चरित्र-लेखक पद्मगुप्त इनका "अवन्तीश्वर, परमार महीभर्त, मालवराज" नामो से उल्लेख करता है। यशोभट्ट (=रामागद) इनका प्रधान मत्री था। धरमपुरी के एक खंडित शिलालेख ◆ मे नवसाहसाक नाम से इनका उल्लेख आया है। नागराज-कन्या शशिप्रभा से इनका प्रेम-विवाह हुआ था। नवसाहसांकचरित मे इसी विवाह सम्बन्ध का एक सक्षिप्त कथानक मे वर्णन है। इनका कुञ्ज नाम कुञ्जसागर अभिधान से आज भी अक्षुण्ण है। सिन्धुराज ने हूणो तथा लाट और गुजरात के चालुक्यो से युद्ध किया था।

परमारवंश के मेरुमणि राजा भोजदेव ⚘ थे (१०१० से १०५५)। इनकी कीर्ति उज्जयिनी के विक्रमादित्य के समकक्ष है। प्रथमत. ‡ मुञ्जराजा के मन मे, भोजराजा के प्रति, ईर्ष्यावश द्वेष-वृद्धि का प्रणयन हुआ; परन्तु अन्त मे उसकी प्रखर वुद्धि एव विद्वत्ता ⁂ आदि से प्रभावित होकर उसका वालशिक्षण, सुचारुरूप से मुञ्जराजा के निरीक्षण मे सम्पन्न हुआ। शासनदण्ड अपने हाथ मे लेने के पश्चात् इन्होने धारा नगरी को अपनी राजधानी वनाया और स्वयं 'धारेश्वर' उपाधि से अलंकृत हुए। भोजदेव के काल मे मुसलमानो के कई आक्रमण हुए, इस वात का उल्लेख शिलालेखो मे मिलता है। ⁑ कल्याणपुर के चालुक्य आदि अनेक राजाओ को भोजदेव ने युद्ध मे परास्त किया। त्रिपुरी का गागेयदेव विक्रमादित्य और कल्याणपुर के चालुक्य, इन्होको भोजदेव ने परास्त किया। इस महान् विजय का उत्सव अपनी राजधानी में वड़े समारोह के साथ मनाया गया। अपने 'राजमार्तंड' नामक प्रासाद के सामने एक वृहत् लौहस्तभ खड़ा किया गया, जिसका साहित्यिक स्मारक स्वरचित 'कोदंडकाव्य' ‡ मे स्पष्टतया दिखाई देता है। भोजदेव के अन्तिम दिनो मे, अनहिलवाड़ के भीमदेव, चेदिराज कर्णदेव और कर्नाटक के राजा ने भोजदेव पर आक्रमण किया (१०५५)। इस प्रवल ˥ आक्रमण को निष्फल करने मे भोजदेव असमर्थ रहा, नही तो उस समय के सभी राजाओ § पर उसने विजय प्राप्त की थी। भोजदेव का मंत्री जैन कुलचन्द्र था। परमारवश ¶ के अग्निकुलोत्पन्न होने का भोजराज को गर्व था। वह स्वयं विद्वान् था और अनेक विद्वानो का आश्रयदाता था। तत्कालीन पडितो और कवियो के ग्रथो मे, भोजदेव के "त्रिविध-वीर-चूडामणि, महाराजा-

---

* प्राचीन लेखमाला— *History of the Parmar Dynasty*, Part II, अप्रकाशित।

† लक्ष्मीर्यास्यति गोविंदे वीरश्रीवेश्मनी। गते मुञ्जे यशःपुंजे निरालंवा सरस्वती॥
अतीते विक्रमादित्ये गस्तेसं सातवाहने। कविमित्रे विशश्राय तस्मिन्देवी सरस्वती॥ पारिजातमंजरी, सर्ग ११-३०।

◆ श्री डिस्कलकर द्वारा प्रकाशित।

⚘ पंचाशत्पंचवर्षाणि सप्तमासदिनत्रयम्। भोजराजेन भोक्तव्यः सगौड़ो दक्षिणापथः॥

‡ प्रवन्धचिंतामणि तथा आइन-ए-अकवरी, भाग २, पृष्ठ २१६।

⁂ मान्धाता स महीपतिः कृतयुगालंकारभूतोगतः। सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यांतकः॥
अन्येचापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवंभूपते। नैकेनाऽपि समंगता वसुमति नूनं त्वयायास्यति॥

⁑ रक्खिआ तुरुक्का धरणी अज्ज वणे सुसते॥ ———कोदण्डकाव्यम्।

‡ असिकिरण रज्जुबद्धं जेणं जयकुंजरं तुमं धरसि। जयकुंजरस्सथंभोए...........।

˥ कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगा तैलण।

§ चेदीश्वरेन्द्रथतोग्गल भीम मुख्यान्। कर्णाट लाटपति गुर्जरात्तुरुष्कान्॥
यद्भृत्यपात्रविजितान्वलोक्य मौला दोह्णां बलानि...........कवयन्ति न तो...........॥
प्राचीन लेखमणिमाला, भाग १, पृष्ठ १९९।

¶ "अग्गीहोंतो वंसो निपज्जइ"—कोदण्डकाव्यम्; उदयपुर-प्रशस्ति; नागपुर-प्रशस्ति।

धिराज परमेश्वर, पृथ्वीवल्लभ, श्रीवल्लभ, विक्रम" आदि विरदों से अलंकृत होने का प्रमाण मिलता है। संस्कृत ताम्रपत्र तथा शिलालेख भी इस कथन की साक्षी भरते हैं। सुप्रसिद्ध जर्मन पंडित आउफ्रेक्ट ने भोजदेवकृत, अनेक विषयों पर लिखे हुए, तेईस ग्रंथों की सूची प्रस्तुत की है।‡ परन्तु इस सूची को हम सम्पूर्ण सूची नहीं कह सकते। पाश्चात्य पंडित भोजदेव को "भारतीय आगस्टस" कहकर पुकारते हैं। उदयपुर प्रशस्ति में† इस परमार-मुकुट-मणि भोजदेव की बड़ी प्रशंसा की गई है। इनके आश्रय में अनेक पंडितों को पुरस्कार मिलता रहा, जिसमें परिमल, धनंजय, भट्टगोविंद*, विद्यापति भास्कर भट, उवट‡ आदि प्रमुख थे। वल्लालकृत भोजप्रबन्ध तथा राजवल्लभकृत भोजचरित्र में भोजदेव विषयक विपुल सामग्री उपलब्ध है। इस राजा के अनेक शिलालेख तथा शासन-पत्र उपलब्ध हुए हैं। इनके अतिरिक्त स्वरचित कूर्मशतक, कोदण्ड काव्य, खड्गकाव्य आदि काव्य रचनाएँ भी धार की भोजशाला§ में सरक्षित है। धार अथवा मालवे के पुरातत्व-संशोधन का आधिपत्य सुविख्यात इतिहासाचार्य स्व० राज्यरत्न काशीनाथ कृष्ण लेले महोदय को प्राप्त है। भोजदेव ने अनेक प्रासाद मन्दिर*, घाट तालाब† तथा गाँव‡ बसाए। मन्दिरों में शिव के मन्दिर बहुत है। भोजदेव के समय में धारा नगरी को "अद्यधारा सदाधारा सदालम्बा सरस्वती" के रूप में गौरव प्राप्त था, परन्तु भोजदेव की मृत्यु के उपरान्त इस नगरी का महत्त्व 'निराधारा निरालम्बा सरस्वती' के रूप में रह गया।

इसके पश्चात् जयसिंह सिंहासनारूढ़ हुए। इन्होंने धार में "कैलाशभवन" बनवाकर यात्रियों को आश्रय दिया। इनके समय का मान्धाता शासनपत्र उपलब्ध हुआ है। इनके बाद उदयादित्य ने राजदण्ड सँभाला, (१०५९-१०८६)। ये बहुत शूर एवं विद्यानुरागी थे। इन्होंने उदयपुर (भेलसा जिला) बसाया, नीलकण्ठेश्वर (उदयेश्वर), उदयसमुद्र बँधवाए (१०५९)। भोजशाला में इनके समय के दो व्याकरण विषयक नागबन्ध‡ लेख स्तंभों पर उत्कीर्ण हैं। आज भी इनके

‡ *Catalogus Catalogorum* १ राजमार्तंड, २ राजमृगांक, ३ विद्वज्जनवल्लभ (प्रश्नज्ञान), ४ आदित्यप्रतापसिद्धांत, ५ आयुर्वेदसर्वस्वम, ६ विश्रांतविद्याविनोद, ७ शालीहोत्र, ८ समरांगणसूत्रधार, ९ शब्दानुशासनम, १० राजमार्तंड, ११ राजमार्तंड (भाष्य), १२ तत्वप्रकाश, १३ सिद्धांतसंग्रह, १४ शिवतत्वरत्नकारिका, १५ युक्तिकल्पतरु, १६ व्यवहारसमुच्चय, १७ चारुचर्या, १८ चाणक्यनीति-पुत्रमार्तंड, १९ सरस्वतीकंठाभरण, २० शृंगारप्रकाश, २१ रामायण चंपू, २२ विद्याविनोद काव्यम्, २३ कूर्मशतकम्, २४ महाकालिविजयम्, २५ शृंगारमंजरी, २६ सुभाषित प्रबंध, २७ कोदण्डकाव्य-खड्गकाव्य, २८ नाममालिका। संगीत पर इनका ग्रंथ होगा संभव है। "रुद्रपेमालभूपालो भोजभूवल्लभस्तथा। परमर्दीच सोमेशो जगदेक महीपती ॥ शारंगदेवकृत-संगीत रत्नाकर, अध्याय १।

† साधित विहितं दत्त ज्ञातं तद्यन्नकेनाचितं। किमन्यत्कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते॥

* मांडव के विद्यालय का मुख्य अध्यापक।

‡ (अ) यजुर्वेद पर भाष्य, (आ) मंत्रभाष्य, (इ) वाजसनेयसंहिता पर भाष्य।
दशपाल—तियीसारणिक, विनयसुंदर—भोजव्याकरण, प्रभाचंद्र—अभयकुमार (अभयदेव)—सीता कविपिनी (प्रबंधचिंतामणि, पृष्ठ ६३)।

§ इसको 'शारदासदन' व 'भारती भवन' कहते है। इस विश्वविद्यालय की स्थापना ई० स० १०३५ में हुई होगी। इस इमारत के पास ही "ज्ञानवापी" नामक कुआ (अक्कलकुई) विद्यमान है।

* राजमार्तंड (आज की लाटमशीद)।

† केदार रामेश्वर सोमनाथ सुंडीर कालानल रुद्रसत्कैः। सुराश्रयैर्व्याप्य च यः समन्तात् यथार्थ संज्ञा जगतीं चकार॥

‡ भोपाल रियासत में—भोजपाल। भोजेश्वर भव्य शिवालय। भोजपुर—भोजकट (हुशंगाबाद)। काश्मीर में "पापसूदन तीर्थ"।

‡ एकेयमुदयादित्यनरवर्मामहीभुजो। महेशस्वामिनोवर्ण स्थित्यै सिद्धासिपुत्रिका॥
उदयादित्यदेवस्य वर्णनागकृपाणिका। कवीनाच नृपाणाच तोपायोर सिरोपित॥ (वेषो वक्षसि रोपित — चित्र का पाठ) (देखिए इसी ग्रंथ के पृष्ठ ५८८ और ५९६)

स्मारक में एक पार्वतीदेवी* की मूर्ति उपलब्ध है। इन्हे 'अरिवलमंथन'* भी कहते थे। राजा भोजदेव के अन्तिमकाल में अस्तंगत परमार-वैभव तथा वैक्रम मूर्य उदयादित्य के शासनकाल मे पुनः ज्योतिर्मान हो उठा। इनके तीन पुत्रों—लक्ष्मणदेव, नरवर्मदेव, जगदेव में, जगदेव परमार चालुक्यवशीय सिद्धराज जयसिह के सेनापति रहे। लक्ष्मणदेव ने अंग, चोल, पांड्य, चेदि और कलिंग राजाओ पर विजय प्राप्त की। मुसलमानों को भी इन्होने युद्ध-क्षेत्र मे पराभूत किया था। इनके उपरान्त इनके कनिष्ट भ्राता नरवर्मदेव ने गौड और गुजरात पर चढाई की। ये वड़े रसिक और विद्याप्रिय थे। स्वरचित नागपुर-प्रशस्ति मे परमारवश का वर्णन उपलब्ध है। उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर मे रत्नसूरिनामक तथा विद्याशिववादी का विद्वत्तापूर्ण विवाद, इनके समय में ही हुआ था। ये अनेक पडितो के पुरस्कारदाता थे। इनका दूसरा नाम निर्वाणनारायण था। इनकी रानी चेदिराजकन्या श्रीमोमलदेवी थी। इनके उपरान्त इनका पुत्र यशोवर्मदेव स्थानापन्न हुआ (११३३-४२)। इसने गुजरात पर वड़ा प्रवल आक्रमण किया। अन्त मे सिद्धराज जयसिह ने इनको पराजित करके अनहिलवाड़ के वन्दी-गृह मे रखा। इसके परिणामस्वरूप मालवा गुजरात के अधिकार मे आ गया। यशोवर्मदेव की कैद से मुक्ति हो गई।§ जयसिह ने जैन मत्री जिनचन्द्र को मालवे की सूबेदारी पर नियुक्त किया।

यशोवर्मदेव के पश्चात् परमारकुल मे आन्तरिक विरोध उत्पन्न हो गया। इसके परिणामस्वरूप मालवे के परमार कुल की दो शाखाएं हो गईं। धार के परमार सिहासन पर इनके वाद जयवर्मदेव, विंध्यवर्मदेव, सुभटवर्मन और अर्जुनवर्मदेव (१२१०-१६) सिंहासनासीन हुए। विन्ध्यवर्मन ने गुजरात पर से अपने अधिकार को त्याग दिया। ये वड़े विद्यानुरागी थे। विल्हण* इनका प्रधान मत्री था। आशाधर† नामक एक जैन पडित विंध्यवर्मदेव के आश्रित, नलकच्छपुर (नालछा) मे रहता था। इनके अनेक विषयो पर रचे हुए ग्रथ सस्कृत साहित्य मे प्रसिद्ध है। सुभटवर्म का राज्यकाल ३० वर्ष तक

---
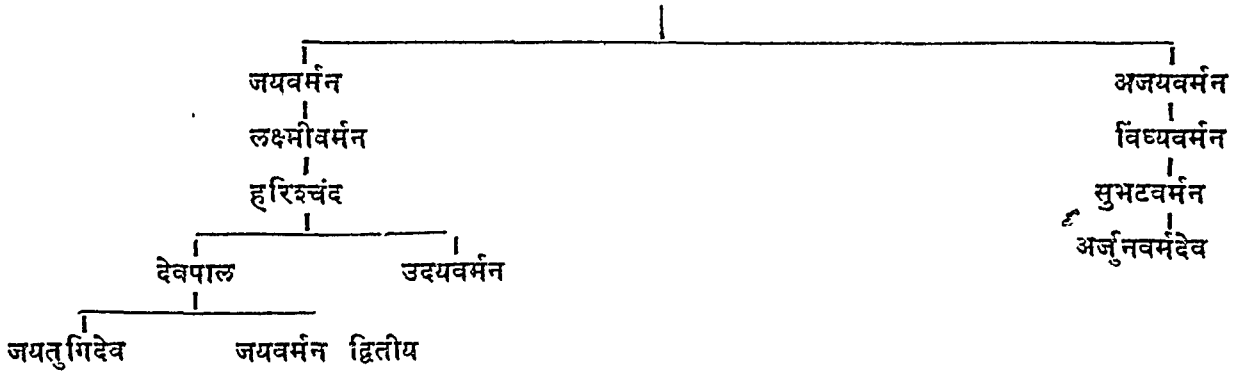
* पादपीठ पर—"सं० ११३८ जस हरः अग्नि छि.............ता प्रणयतिः लाखार्ग्य—
* *History of the Parmar Dynasty*—Dr. Ganguli, p. 133.
* ग्यारासो एकावने चैतसुदी रविवार। जगदेव शीस समापियो धारा नगर पँवार॥
* खरगोन के पास "उन" गाँव में तथा महाकालेश्वर मन्दिर में इसी तरह नागवंध उत्कीर्ण किए हुए हैं। समुद्रघोष का 'तर्कशास्त्र' पर अभ्यास (२) वल्लभ—जैनयति।
* अभयदेवसूरि—जयन्तकाव्य; सोमेश्वर—कीर्तिकौमुदी; मेरुतुंग—सिंधुराजप्रवन्ध; नरवर्मदेव—परमारप्रशस्ति।
* वीजामंडल—भेलसा—उत्कीर्ण लेख।

§ प्रवन्धचिन्तामणि—मेरुतुंगाचार्यकृत कीर्तिकौमुदी।

* (अ) विंध्यवर्मनृपतेः प्रसाद भूः। सांधिविग्रहक विल्हणः कविः॥
(आ) पंडित धारसेन। (इ) महावीर।

† आशाधर—धर्मामृत—कुसुमचंद्रिका—त्रि त्रिष्टी स्मृति—(मदन कवि के गुरू)। नलकच्छपुर (नालछा) से इनका सम्बन्ध निकटवर्ती रहा। उस समय नलकच्छपुर समृद्ध नगर था।

रहा। इसने अनहिलवाड के भीमदेव का उच्छेद किया। अर्जुनवमदव का राज्याभिषेक ई० स० के १२१० फरवरी महीने में हुआ। भोजदेव के समान ये गुणियो के आश्रयदाता थे। 'त्रिविधचूडामणि' इनकी उपाधि थी। नारायण इनका प्रधान मत्री था। गुजरात के राजा जयसिंह से इनका विकट सग्राम हुआ, जिसका वणन अर्जुनवमदेव के कुलगुरु मदन ने अपनी 'पारिजात-मजरी विजयश्री' नाटिका में विस्तृत रूप से दिया है। इस नाटिका के दो अक‡ आज भी धार की भोज-शाला (सरस्वतीसदन) में विद्यमान ह। अन्त में जयसिंह ने इनसे पुन मैत्री सम्बध स्थापित किया और अपनी कन्या विजयश्री परमारराज को अपण की। यह राजा स्वय कवि तथा अनेक विद्वानो का आश्रयदाता था। इन्होने अमरुशतक पर सजीवनीरसिक नामक सुन्दर भाष्य किया ह। इनके सन्तान न होने के कारण महाकुमार हरिश्चन्द्र का पुत्र देवपालदेव परमार गद्दी पर बैठा। इसका फल यह हुआ कि परमारवश की दोनो शाखाएँ पुन एक सूत्र मे आबद्ध हो गईं। इनका दूसरा नाम साहसमल्ल† भी था। इसी समय मुसलमानो ने मालव देश पर अनेक आक्रमण किए। इस समय परमार साम्राज्य की चतु सीमा पूव म उदयपुर दक्षिण म हुशगाबाद तथा नीमाड, पश्चिम मे भडौच परगना तक फली हुई थी। ई० स० १२३२ मे बादशाह शमसुद्दीन अल्तमश ने ग्वालियर पर कब्जा किया और उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर को नष्ट करके वहाँ की मूर्तियाँ तथा विक्रमादित्य की प्रतिमा दिल्ली ले गया। दवपाल द्वारा‡ इन्दौर रियासत का दवपालपुर ग्राम बसाया गया। इनके बाद जयतुगिदेव (जयसिंह द्वितीय १२४०-५६) जयवमदव द्वितीय (१२५६-६१), जयसिंहदेव ततीय (१२६१-१२८०), भोजदेव द्वितीय (१२६०-१३१०) और जयसिंहदेव चतुथ ऐसे पाँच नरेश हुए। जयतुगिदव का दूसरा नाम बालनारायण था। परमार राज्य पर अनेक राजाओ के आक्रमणो का वेग बढ चला। मध्यवर्ती सत्ता क्षीण हो गई। यादव, चाहमान, मुसलमान, बघेल आदि राजशक्तियो से परमारो को सामना करना पडा। जयसिंह अपनी राजधानी मडपदुग ले जाने को बाध्य हुआ, और इस प्रकार मडपदुग का राजधानी बनने का गौरव प्राप्त हुआ। पृथ्वीधर जन अथवा पयडकुमार उसका प्रधान मत्री था। पेथडकुमार ने अनेक मन्दिर बनवाए। इन्दौर के मानिकचन्दजी यति ने मालवे के जैन ग्रथो का विपुल सग्रह किया ह। इससे विदित होता है कि इस समय मालवे में जैनो की सख्या बढ गई थी। तारापुर के पास जो सूयकुण्ड विद्यमान ह, यह जैन मत्री द्वारा निर्मित है। भोज द्वितीय के शासनकाल म रणथभोर के राजा हमीर* ने मालवे पर आक्रमण किया, और भोजदेव को परास्त किया। इसी भोजदव के समय दक्षिण से ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि सन्त नमदोत्तर यात्रा करते हुए उज्जयिनी, धार एव माडव पधारे थे। भोजदेव विद्वानो का आश्रयदाता था। जयसिंहदेव चतुथ के समय मे अलाउद्दीन खिलजी के अधीन एन-उल मुल्क ने मालवे पर आक्रमण किया। परिणामस्वरूप मालवा-प्रान्त मुसलमानी सत्ता के अन्तगत आ गया। पाचसौ साल तक जिस परमार-वश ने भारत के विस्तृत भू भाग पर अपनी महत्व पण सत्ता का जयघोष किया, उसको मुसलमानो के इस आक्रमण के पश्चात् शस्त्र-सन्यास लेना पडा।

लगभग पच्चीस पीढी तक परमार वश का मालव भूमि पर आधिपत्य रहा। ई० स० १३०५ में इस महान् नाटक का प्रथमाक समाप्त हुआ। यह अक हिन्दू-साम्राज्य के उत्थान का अरुणोदय था। इस काल में साहित्य एव कला का चरम उत्कष हुआ। साहित्य की ममानता में शस्त्र प्रयोग क्षीण होने से साम्राज्य के विनाश का समय निकट आ पहुँचा। इसके साथ ही इस महान् नाटक का 'विष्कभक' शुरू हुआ, जिसम मालवदेश दिल्ली की बादशाही के अन्तगत आ गया। इसके उपरान्त परमारो के वशजो ने किस दिशा की ओर प्रस्थान किया, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। ऐसा अनुमान

---

‡ रूपकारप्रकाडस्य मोहाकस्यागज मना। प्रशस्तिरियमुत्कीर्णा रामदेवेनशिल्पिना॥

† जिनयज्ञकल्प—आशाधन।

‡ दो मूर्तियाँ—ब्रह्मदेव तथा विष्णु—धार म्यूजियम में सरक्षित ह। ये मूर्तियाँ सलकनपुर ग्राम में मिली थीं। अर्जुनवमदेव के समय सलखन एक प्रसिद्ध सधिविग्रहक के रूप में विद्यमान था। उसी ने यह गाँव स्थापित किया था।

* हमीरमहाकाव्यम।

किया जाता है कि ये चित्तौड जैसे सुदूर प्रान्त मे आश्रय एव आवास के हेतु घूमते रहे। मालवे मे सुलतानो का स्वतंत्र राजशकट निर्मित हुआ, जो माडव (शादियाबाद) के सुलतान के नाम से विख्यात है। ई० स० १४०१ से प्रायः सवासौ साल तक इन्होंने मालवे पर राज्य किया। अन्त मे बादशाह हुमायू ने मालवे को दिल्ली के अन्तर्गत मिला लिया, इसपर सूबात कायम हुई। लगभग साढे तीनसौ वर्ष के इस काल मे परमार वश की २०-२५ पीढियाँ बीत गई। फिर भी इस वंश का अन्त नही हुआ। अपनी सत्ताहीन स्थिति मे ये अपने उज्ज्वल भविष्य की आशा मे कालयापन करते रहे। निम्न-लिखित वंशावली[1] से परमार-पवार राजाओ के वर्तमान वश का पता चलता है :—
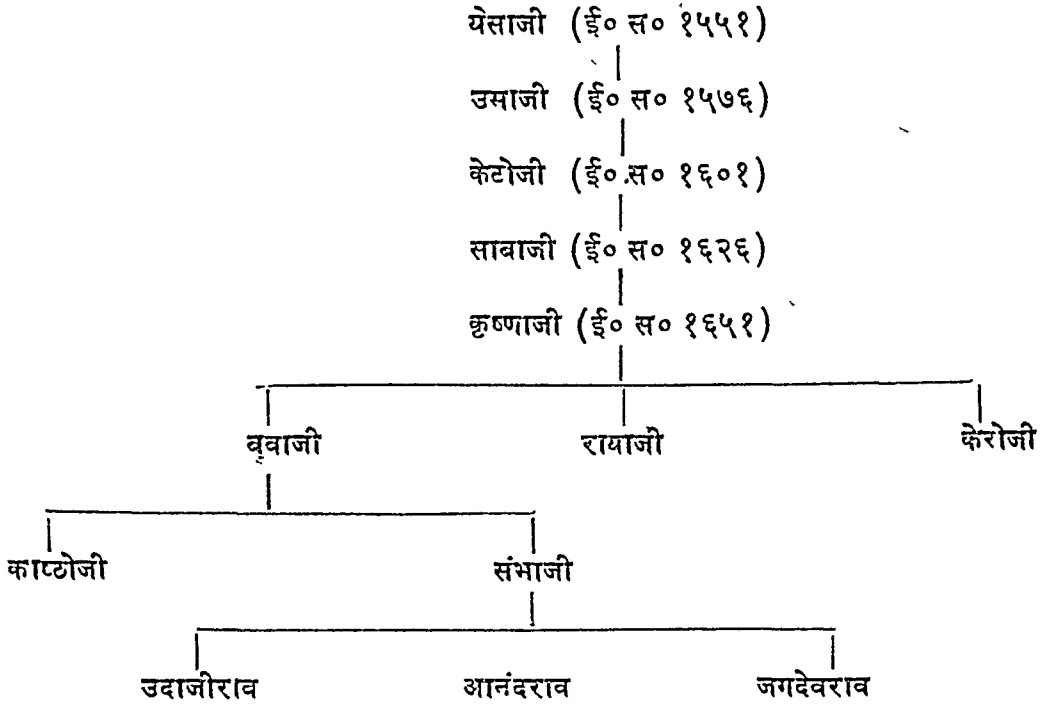
इसी कारण सर जॉन मालकम महोदय ने पूर्वकथित विधान प्रस्तुत किया है। इस वाक्य से एक बहुत बड़े अर्थ की पुष्टि होती है।

लगभग ३०० साल का उपरोक्त 'विष्कंभक' छोड़ दिया जाए तो यह 'परमार-पवार-विजय' नामक महान् नाटक, भारतीय इतिहास मे निस्सन्देह अपना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। यही नही, वर्तमान तथा भविष्य भारत के उत्थान मे यह वंश अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त करेगा, क्योकि इस वंश की राज-प्रणाली लगभग ई० स० ८०० से लेकर आज पर्यन्त अखण्ड रूप से गौरवान्वित है। आज भी धारा नगरी का महत्त्व कम नही हुआ है, और जब तक धारा नगरी परमारो-पवारो की कुल राजधानी के रूप मे प्रतिष्ठित रहेगी, तब तक इस नगरी का सम्बन्ध इस प्रतापशाली वंश से सम्बन्धित रहेगा। इस वश का इतिहास-संशोधन कार्य भारत को गौरव का पद देनेवाला है, यह सत्य है। वर्त्तमान काल मे इतिहास-कचहरी द्वारा परमार-पंवार द्वारा प्रोत्साहित इतिहास-सशोधन कार्य अखण्ड रूप से चालू है। यह उज्ज्वल भविष्य का प्रतीक है।

---

[1] धार ऐतिहासिक दफ्तर।

Conjugational signs of the 1st 4th 5th, 7th 8th and 9th classes of verbs

धार की भोजशाला में स्तम्भोत्कीर्ण वर्णमाला सम्बन्धी सर्पबन्ध। (देखिए पृष्ठ ५१५ तथा ५९३)
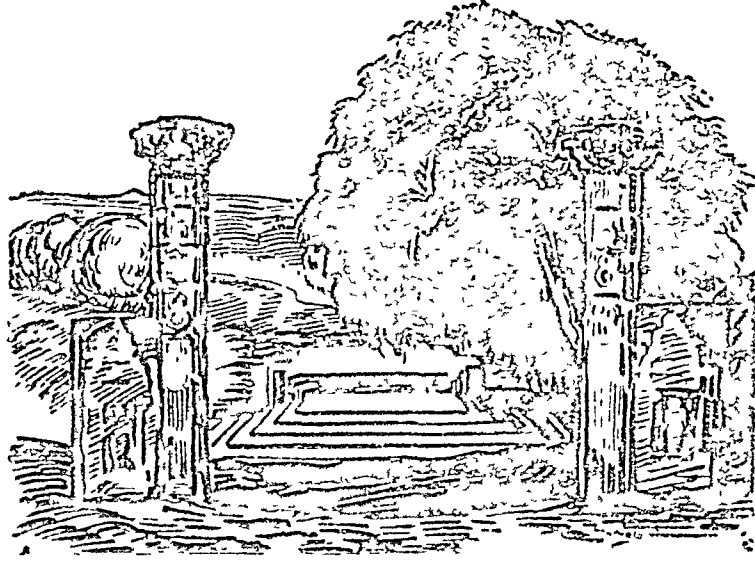
मांडव के प्राचीन अवशेष

श्री विश्वनाथ शर्मा

सम्पूर्ण भारतवर्ष का मध्य-भारत और विशेषतया मालवा हृदयस्थान होने से उसका इतिहास आसपास के प्रदेशों से सम्बन्ध रखता हुआ सारे भारतवर्ष के इतिहास से गुथा हुआ है। उज्जैन के समान धार और माडव को भी सम्पूर्ण मालवे को सदिओ तक राजधानी रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, अतः इन स्थानो पर धरातल के ऊपर और उसके नीचे अनेक अनमोल सामग्री का होना आश्चर्य की बात नही। यही कारण है कि वर्तमान धार राज्य ऐतिहासिक सामग्री के लिए एक समृद्ध राज्य माना जाता है। चौरासी प्राचीन ऐतिहासिक इमारतो के रक्षण और जीर्णोद्धार का काम राज्य की ओर से सतत चलता रहता है। इन ८४ इमारतो में से ७८ इमारते मांडवगढ मे है जिनके जीर्णोद्धार और रक्षण का काम गत ४० वर्ष से नियमित रूप मे किया जा रहा है। यूतो मध्य-भारत के किसी भी राज्य का पुरातत्व विभाग अधिक पुराना नही है, कारण कि वरसो सुषुप्ति अवस्था मे पड़े हुए इस कार्य को अभी अभी वीसवी सदी के आरम्भ मे प्रारम्भ करने की प्रेरणा हुई है किन्तु नियमपूर्वक ठोस काम इस सदी के प्रथम दशक के वाद ही से सर्वत्र होने लगा, और स्वाभाविक कार्यक्रमानुसार भूमि के ऊपर जितने अवशेष थे उनके रक्षण तथा आवश्यकीय जीर्णोद्धार की ओर प्रथम लक्ष दिया गया। उदीयमान वर्तमान विद्याप्रेमी धारा नरेश के इतिहास और पुरातत्व सम्बन्धी खोजो के प्रति अनुराग के कारण ऐसे कामों को अधिक प्रोत्साहन हुआ, और भूमि के अन्दर दवे हुए महत्त्वपूर्ण स्थानो की खोज का काम भी मांडव मे ई० सन् १९३५-३६ से प्रारम्भ किया गया। गत ७ वर्ष मे खोज का जितना काम हुआ वह अवश्य ही मनोरंजक और महत्त्व का है। हिन्दू और मुसलमानी काल मे सम्पूर्ण मालवे की राजधानी होने का सौभाग्य जिसको प्राप्त हुआ था उस ४० मील लम्बे परकोटे से घिरे हुए मांडव के एक लाख घरो के विस्तृत खंडहरों मे छिपी हुई ऐतिहासिक सामग्री को खोजने का काम असाध्य नही तो कष्टसाध्य तो अवश्य ही है। मांडव का और उसकी आलीशान इमारतों का सविस्तर ऐतिहासिक तथा तक्षणकला सम्बन्धी वर्णन देने का यह स्थान नही है, अतः केवल पुरातत्व सम्बन्धी खोज जो अभी तक वहाँ हुई है उसीका संक्षेप मे यहाँ वर्णन किया गया है।

माडव के प्राचीन अवशेष

माडव का प्राचीन इतिहास मुसलमानी शासनकाल से ही प्रारम्भ होता है। इस कल्पना को लेकर अनेक विद्वानों ने मांडव का वर्णन चित्रित किया है। पुरातत्व सम्बन्धी खोज के पूर्व जनसाधारण ही नहीं किन्तु कुछ प्राचीन वस्तुज्ञान विशारदों ने भी माडव की वर्तमान इमारतों में हिन्दू शिल्पकला का जो कही कही दर्शन होता है उसके लिए लिख दिया है। कि हिन्दू कारीगर इन मुसल्मानी इमारतों के निर्माण के काम पर लगाए गए थे, यही कारण है कि हिन्दू शिल्पकला की छाया मसजिद जैसी इमारतों के काम में यत्रतत्र दिखाई देती है। किन्तु वास्तव में यह कथन ठीक नही है। मुसलमानो के पूर्व माडव लगभग सात लाख की जनसंख्या का अनेक सुन्दर और गगनचुम्बी शिखरवाले देवालयों से विभूषित समृद्ध नगर था। आज यद्यपि वहाँ उन अनेकों गगनचुम्बियों में से एक भी देवालय अपना मस्तक भूमि से ऊपर उठाए हुए खड़ा नही है, किन्तु उनके वहा होने के अनेकों प्रमाण है।

मन्दसौर और उज्जैन पर ईसा की छठी शताब्दी में राज्य करनेवाले सम्राट् यशोधर्मन् (विष्णुवर्धन्) के राज्यकाल में माडव अत्यन्त समृद्ध था। अनेक गगनचुम्बी मन्दिर खडे थे, और बहुत से धनकुबेर यहाँ रहते थे, यह हमको कुक्षी के पास तालनपुर ग्राम के जैनमन्दिर में श्री-आदिनाथ की मूर्ति के शिलालेख से मालूम होता है। लेख सवत ६१२ का है, और यह मूर्ति धनकुबेर सा चन्द्रसिह ने माडव में स्थापन की थी।*

कनौज के प्रतिहारवशी राजा महेन्द्रपाल द्वितीय (ई० स० ९४६) का माडव पर अधिकार था और दक्षिण के राष्ट्रकूट राजाओं से उपद्रव न हो इसके लिए कनौज की ओर से माधव† नामका प्रान्तिक शासक उज्जैन में रहता था और उसका मुख्य सेनापति श्री शमन‡ एक बलवान सेना के साथ माडव (मडपिका) में रहता था। अर्थात् दसवीं सदी में दक्षिण के राष्ट्रकूट और कनौज के प्रतिहारों की सीमा पर माडव एक महत्त्वपूर्ण सेना की छावनी थी।

प्रतिहारों के पश्चात् विद्या और कला के परम उपासक परमार राजाओं का माडव पर जब राज्य हुआ तब माडव इतना आबाद था कि मालव सम्राट् भोजदेव को वहाँ संस्कृत महाविद्यालय स्थापन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। जामी मसजिद के सामने बने हुए अशरफी महल के नीचे के भाग को आज भी मदरसा कहते है। वहाँ से एक संस्कृत शिलालेख का खण्ड मिला, उसपर वाग्देवी की स्तुति का कुछ भाग लिखा हुआ है। जान पडता है कि धार के सरस्वती मन्दिर (भोजशाला) में जिस प्रकार सरस्वती की प्रतिमा स्थापन की गई थी, उसी प्रकार माडव के विद्यालय में भी की गई थी, और उसकी स्तुति में वह शिलालेख तथा विद्यालय स्थापना की तिथि बगैरा लिखी गई होगी, जिसका विध्वस मुसलमानी काल में हुआ। सरस्वती की एक नीले पाषाण की भग्न मूर्ति वीणा-वादन करती हुई भी मिली है। उसका जितना भाग अवशेष है उसपर से अनुमान किया जा सकता है कि वह मूर्ति कितनी सुन्दर होगी। परमार राजा मुंज के नाम से जहाज-महल माडव के पीछे का तालाब प्रसिद्ध है। तथा भोज-कुड और सोमवती कुड नाम के दो प्राचीन जलाशय आज माडव में विद्यमान है।¶ सोमवती भोज की पुत्री का नाम बताया जाता है। परमार राजा विंध्यवर्मदेव का भी एक शिलालेख माडव में मिला है।

रत्नमण्डनगणिकृत काव्यमनोहर (सुकृत सागर§) और पृथ्वीधर चरित्र§ तथा उपदेश तरंगिणी‖ से ज्ञात होता है कि परमार राजा जयसिंहदेव तृतीय (ई० स० १२६१-८०) के मंत्री पेथडकुमार ने माडव में ३०० जैन मन्दिरो का

---

* सवत ६१२ वर्षे शुभवत्र मासे शुक्लेच पचम्या तिथौ भौमवासरे श्रीमडपदुर्गे मध्यभागे तारापुर स्थित पार्श्व नाथ प्रासादे गगनचुम्बी शिखरे श्रीवर्द्धमान बिम्बस्य प्रतिष्ठा कर्ताच धनकुबेर सा चन्द्रसिहस्य भार्या यमुना पुत्रधर्मोर्थ प्र—जगचद्र सूरिभि ॥ तालनपुर (कुक्षी) के आदिनाथ की मूर्ति का शिलालेख।

† माधव दामोदर का पुत्र था इसको "तत्रपाल, महासामत, महादडनायक लिखा है।" हिस्ट्री ऑफ कन्नौज।

‡ श्री शमन को "बलाधिकृत" की समिति पदवी लिखी है। हिस्ट्री आफ कन्नौज।

¶ दयाजी की कब्र के पास सभोती कुण्ड और उसके उत्तर-पूर्व में कुछ दूरी पर भोजा (भोजकुण्ड) माडव में बने हुए है।

§ § ये दोनो ग्रंथ पना डेक्कन कॉलेज में है। ‖ रत्नमडन गणिकृत उपदेशतरंगिणी, पृष्ठ ४९।

जीर्णोद्धार किया और उनपर सोने के कलश चढवाए थे। इसी प्रकार अठारह लाख रुपये की लागत का "श्रीशत्रुजयावतार" नाम का विशाल मन्दिर बनवाया था। पेथड़ के पुत्र झांझण ने मांडव मे बहुतसी धर्मशालाएँ, जैनमन्दिर, पाठशालाएँ स्थान स्थान पर बनवाई और एक बहुत विशाल ग्रथालय स्थापन किया था। ७०० मन्दिरो की संख्या केवल जैन श्वेताम्बरियों की थी। चाँदाशा नाम के धनी व्यापारी ने ७२ जिनदेवालय और ३६ दीपस्तंभ मांडव नगर मे बनवाए थे। धनकुबेर श्रीमाल भूपाल लघुशान्तिचन्द्र जावड़शा ने ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के सौध शिखरी पाँच जिनदेवालय बँधवाए और उनमे एक ग्यारह सेर सोने की तथा दूसरी बाईस सेर चाँदी की और शेष पाषाण की जिन प्रतिमाएँ साधुरत्न सूरी की आज्ञा से स्थापन कराई थी। इस उत्सव मे ११ लाख रुपए व्यय किए। एक लाख रुपए तो केवल मुनि के माडव नगर प्रवेश के समय किए थे। इस प्रकार और भी प्रमाण इस बात की पुष्टि करनेवाले मिलते है कि ई० स० १३१० यानी मुसलमानो के आने तक परमार राजाओ की राजधानी मांडव एक समृद्ध नगर था, जिसका विध्वस बाद मे मुसलमानी शासनकाल मे हुआ और सदियो के बने हुए देवालयो तथा अन्य इमारतो की सामग्री का रूपान्तरित करके यावनी तक्षणकला की तर्ज की मौजूदा आलीशान इमारते मुसलमानी समय मे निर्माण हुई, जिससे हिन्दू-राजत्वकाल की एक भी इमारत जमीन के ऊपर अभग्न न रही।

– नि.सन्देह माडव के सुलतानो को भवन-निर्माण का अत्यधिक शौक था और यद्यपि प्राचीन हिन्दू मन्दिरो और राजप्रासादो की भवन-निर्माण की विपुल सामग्री उनको तैयार मिली तौभी करीब १५० वर्ष के स्वल्प शासनकाल मे और सतत युद्धो मे उलझे रहने की दशा मे उन्होने पठानी वास्तुकला के उत्तम नमूनो की इमारतो से मांडव को जिस व्यापक परिमाण मे सजाया था उसको अभिनन्दनीय ही कहा जायगा। विशाल जामी मसजिद, अशरफी महल, हफ्तमजिल मीनार, होशगशाह का मकबरा, नीलकठ, हिण्डोलामहल, बाजबहादुर का महल, रूपमती, जलमहल, तबीलीमहल, हाथीपागा, दर्याखाडी कब्र, जैसी भव्य इमारते और भूलभुलैया के समान लम्बे चौडे जनानखाने, परकोटे, कारजे, नहरे, बागीचे, पुल और सुन्दर दरवाजे इत्यादि को जिस अकथ और सतत परिश्रम तथा शौक से बनवाए थे वह देखने योग्य ही है। परन्तु अबाधित गति से चलनेवाला कालचक्र इन आलीशान इमारतो को भी खण्डित और अनेको को धराशायी कर ही गया।

मांडव के निम्न लिखित प्राचीन हिन्दू राजत्वकाल के स्थानो की पुरातत्व सम्बन्धी खोज की गई ––

लोहानी गुफा––ऊपर वर्णन किया गया है कि भूमि के ऊपर खड़ी हुई महत्त्वपूर्ण शाही इमारतो का रक्षण और आवश्यकीय जीर्णोद्वार का काम ई० स० १९०१ के आसपास से होने लगा और भूमि के भीतर दबी हुई अज्ञात की खोज आज से केवल ७-८ वर्ष पूर्व ही आरम्भ की गई। माडव किले के पश्चिमी परकोटे मे लोहानी दरवाजा मुसलमानी काल का बना हुआ है जो होशगशाह के मकबरे से पश्चिम मे करीब दो फर्लांग की दूरी पर है। दरवाजे से नीचे उतरने पर लोहानी नाम का परगना (अब इन्दौर राज्य का) है इसलिए यह दरवाजा लोहानी दरवाजा कहा जाता है और दरवाजे के समीप ये गुफाएँ होने के कारण इनको लोहानी नाम प्राप्त हुआ। दरवाजे को जो पटा हुआ रास्ता जाता है वह मुसलमानी काल मे बनाया गया था और उसका बहुतसा भाग बारामासी की सघन झाडी मे ढँका हुआ था। पटे हुए रास्ते के उत्तरी भाग के नीचे का हिस्सा पानी से धुल जाने के कारण उसमे एक दरी दिखाई दी जिसका मलबा साफ किए जाने पर वहाँ चट्टान मे खुदी हुई प्राचीन गुफाएँ निकली जिनमे कमरे और दालान बने हुए है। सामने पानी का एक कुण्ड भी निकला। इस कुण्ड मे और गुफा के मलबे मे प्राचीन हिन्दू मन्दिरो के अनेको भग्न भाग तथा शेषशायी की एक सुन्दर मूर्ति अन्य दूसरी मूर्तियो के भग्न अवशेषो के साथ मिली। यह शेषशायी की मूर्ति जसो की शेषशायी की मूर्ति से बहुत साम्यता रखती है। मालवे मे जिस प्रकार खोलवी, रामगाँव, बनीजा, हटेगाँव, धमनार, पोलाडूगर और बाग मे गुफाएँ बनी है उसी प्रकार माडव की ये गुफाएँ है। गुफा के एक कमरे के सामने बनी हुई शखावटी से ये ब्राह्मण काल के आसपास की कही जा सकती है। बौद्ध प्रस्तर कला का कोई चिह्न या शिलालेख अभी तक मिला नही। मालूम होता है कि इन गुफाओ का काम पूरा नही हुआ था। इसी कारण बाग की गुफाओ के समान दीवालो पर चित्रलेखन का कोई चिन्ह नही मिलता। ई० स० १९३९ मे पुन खोज का काम यहाँ शुरू किया गया। मनोहर मुद्रा की गरुड पर बैठी हुई लक्ष्मीनारायण की सुन्दर मूर्ति तथा सिंहासन

के छत की एक शिला जिसपर उठावदार बढ़िया खुदाई का काम किया हुआ है मिली। ठीक इसी नमूने की एक शिला शेषशायी की मूर्ति के साथ भी मिली थी। परमार राजाओं के समय की अभी तक जितनी प्रस्तर कला की वस्तुएं मांडव में मिली है उनमें अपने ढंग की यह अनुपम वस्तु है। इसके साथ अनेक देवी-देवताओं की खण्डित किन्तु सुन्दर मूर्तियाँ और उनके अंग प्रतिमाशास्त्र के विधानानुसार निर्माण की हुई मिली। शंकर की मूर्ति का टूटा हुआ मस्तक जिसपर जटा मुकुट, कपालनेत्र, गंगा, बालचन्द्र और भुजंग सुन्दरतापूर्वक संगमरमर पाषाण का बना हुआ है। लक्ष्मीनारायण की अनेक भग्न मूर्तियाँ, सरस्वती की वीणावादन करती हुई खण्डित और शेषशायी की टूटी हुई मूर्ति इस प्रकार लगभग ८० भिन्न २ मन्दिरों के भग्नावशेष गुफा में और कुण्ड में पाए गए। लक्ष्मीनारायण और शेषशायी की मूर्तियाँ तेरहवीं सदी की है, ऐसा उनके शिलालेखों से ज्ञात होता है। अर्थात् इन मूर्तियों की मन्दिर में स्थापना के कुछ ही वर्ष बाद उनका विध्वंस हुआ था। एक सुन्दर कोरे हुए पत्थर पर "कोकदेव" का नाम खुदा हुआ मिला। जान पड़ता है कि यह पत्थर मन्दिर के सिंहासन की छत में लगा हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि कोकदेव ने माडव में और सम्भवतः लोहानी गुफा के समीप ही एक सुन्दर मन्दिर बनवाया था। तारीख अलाइ, फरिश्ता† तजियतुल आसार‡ और हमीर महाकाव्य‡ से हमको ज्ञात होता है कि परमार राजा भोज द्वितीय (ई० स० १२९०-१३१०) माडव में राज्य करता था और उसका प्रधान कोकदेव था। परमार राजाओं की शक्ति इस समय क्षीण हो गई थी, राज्य में चौहानों का बल और प्रभाव अधिक बढ़ गया था। ऐन-उल-मुल्क मुल्तानी के आक्रमण के पूर्व ही परमार राजा और उसके प्रधान में अनबन हो जाने के कारण राज्य के दो हिस्से हो गए थे। उज्जैन से चन्देरी तक प्रदेश बलवान कोकदेव ने अपने अधिकार में कर लिया था। बाद में यही कोकदेव कोकाराजा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कोकाराजा के समय का एक फारसी शिलालेख चन्देरी में मिला है उससे ज्ञात होता है कि हि० स० ७११(ई० स० १३११)में महमदशाह (अलाउद्दीन खिलजी) के राज्यकाल में और उसके अमीर-उल-उमरा (ऐन-उल मुल्क) के शासनकाल में तथा कोकाराजा के राज्य में मसजिद का काम पूरा हुआ‡। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि कोकदेव ने लोहानी गुफाओं के समीप ही जब वह माडव में प्रधान था एक विशाल देवालय बनवाया था और वह देवालय ई० स० १४०५ के आसपास तक वहाँ विद्यमान था। कारण कि इस काल के पूर्व माडव में मुसलमानी इमारत तामीर किए जाने का उल्लेख अभी तक नहीं मिला। गुफाओं के आंगन में और पटे हुए रास्ते के नीचे से मन्दिरों के बहुत से अडक शिखर, प्रभावलि, दौड़ती हुई हंसों की पंक्तियाँ, शंकर के ताडव नृत्य की मूर्ति, काली तथा यक्षों और दैत्यों की खण्डित और टूटी हुई मूर्तियाँ भी पाई गई। मन्दिरों की कुर्सियों के पत्थरों से अनुमान किया जा सकता है कि ये किसी विशाल मन्दिर के होना चाहिए, जो लोहानी गुफा के समीप ही बने हुए होंगे। कारण कि इतने बड़े पत्थरों को दूर से लाने की अपेक्षा किसी नजदीक के स्थान से ही उखाड़कर रास्ता बनाने के काम में लिए गए होंगे, यह अधिक सम्भवनीय मालूम होता है। एक सुन्दर कोरे हुए शिखर के लाल पत्थर पर कोकदेव के नाम की तरह सलखण का भी नाम खुदा हुआ मिला। अब यह सलखण कौन होना चाहिए? भाग्यवशात् १९३९ में मद्रास के श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री ओंकारेश्वर से माडव आए वे कुछ रोज ओंकारेश्वर ठहरे थे। वहाँ के राजा साहब के पास एक ताम्रपत्र उनको देखने को मिला, उसको साफ किया और उसकी नकल अपने साथ लेते आए थे। जब उनसे मेरी भेंट हुई उन्होंने उस ताम्रपत्र की अनुलिपि मुझे दिखलाने की कृपा की। ताम्रपत्र १'-२॥—१'—६" आकार का है और वह परमार राजा जयवर्मदेव (ई० स० १२५६-१२६१) के राज्यकाल में वि० स० १३१०=ई० स० १२५३ में माडव मे दिया हुआ था। यह ताम्रपत्र ई० स० १९३९-४० तक अप्रकाशित था। इसमें माडव और धार पर राज्य करनेवाले परमार राजाओं के इतिहास पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री है परन्तु उसका विस्तारपूर्वक विवेचन इस निबन्ध में नहीं किया जा सकता। इसलिए माडव की लोहानी गुफाओं

---

* जसो स्टेट बघेलखण्ड। † ब्रिग्ज फरिश्ता १ पृष्ठ ३६१।

‡ अब्दुल्ला वस्साई कृत। ‡ हमीर महाकाव्य सर्ग ९ श्लोक १८।

‡ इंडियन हिस्टॉरिकल क्वाटरली दिसम्बर १९२५ पृष्ठ ६५३। इससे मालूम होता है कि कोकाराजा अलाउद्दीन का एक करद राजा था।

में जो प्राचीन वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनपर इस ताम्रपत्र से क्या प्रकाश पड़ता है यही देखना है। ताम्रपत्र में प्रथम शंकर-स्तवन के वाद परमार राजाओ की नामावली देते हुए धूमराज से जयवर्मदेव तक के राजाओ के नाम और उनके पराक्रम का वर्णन दिया है। वाद मे चाहमान (चौहान) कुल के पल्हणदेव, सलषणसिंह और अनयसिंह के नाम और उनके पराक्रम तथा परोपकारादि कामो का वर्णन है और अनयसिंह के चार पुत्रो के नाम तथा जिन १५ ब्राह्मण तथा एक क्षत्रिय अनयसिंह को भूमि दान दिया गया उनके नाम दिए हैं। अनयसिंह के कुछ और पूर्व पुरुषो का वर्णन इस प्रकार दिया है :—

चाहमान कुले राठोराउत्तः क्रमतो भवत् चण्डदोर्दण्डयोर्यस्य जयश्री स्थिरता मगात् ॥५७॥ पल्हणदेव स्तस्माद भवद् भुजदंड मंडली चण्डः यस्मिनिजय श्रीयमात्म नियशएव चाधत्त ॥५८॥ सलषणसिंहस्तस्मा तनयोनय भूरभूतसुभुजः ॥ अर्जुनदेवस्याजिष्णु यशोर्जन सखलु सहकृत्वा ॥५९॥

जित्वा सिंहण देवदुर्धर महासैन्यं चमूनायकम् मध्यात्सागयराणकम् स्वयमिहाधः पातयित्वा हयान् ॥ तस्मात् पट्टमयाति सप्तसमरे पश्चामराण्यग्रहीत। मूर्धानोपरिधूनयन् रसवसासिंहाजुनक्षा भुजोः ॥६०॥

तस्माद् नयसिंहो भूत कुलावानिववारिधेः य एकः कल्पवृक्ष दिमध्ये गणनयांकितः ॥६१॥ देवपालपुरे येन प्रासादे कारिते शिवः श्रान्तकुण्डजल व्याजासिद्ध सिन्धं दधौपुरा: ॥६२॥ शाक पुरडेभ्रं लिह शिखरं सुरसदनम्बिकाधिगतम् यो चीकर दिवदातुं विश्रान्तिखे द्विजस्य सम्भ्रमतः ॥६३॥ ओकार प्रासाद समया निर्माय यत्तरांतुगम् जम्बूकेश्वर नाम्नः शंम्भोर्यः सदन मनुपमिति ॥६४॥ यत्कारिते सरसिमंडपदुर्ग मध्ये गुम्भोद्भव प्रतिनिसंप्रति विद्यमानः जोतिमयोलवण वारिधिवारिपानः दुस्वादमिवभाप्टि विवर्जपोन्तः ॥६५॥ प्राकारेण प्रतोल्या षडधिगदशभिर्मन्दिर स्वर्ण कुम्भैरुत्तंगैर्भूरि कक्षैर्गुरू सुरसदने नाम्बुकुण्डेन युक्ताम् यो दुर्गे मंडपाख्ये व्यतर दिहपुरीम् ब्राह्मणेभ्यो नृपाज्ञाम् लब्धामान्धातृ दुर्ग्रेप्यनुपम रचना तद्वदेव व्यधत्त ॥६६॥ स एव पूर्वोक्त राजावलि विराजमानेन भक्त्यादिभिः प्रसादितेन श्रीमद्जयवर्मण धाराधिपेन अनुज्ञातः साधनिको अनयसिंह देवो धर्माध्व सम्बद्ध वृद्धिविजयी वर्धनापुर (वदनावर) प्रतिजागर्णके कुम्भडाउद ग्रामे तथा तत्रैव वालोद (वालोदा) ग्रामे तथा सप्ताशीति प्रतिजागर्णके वघाडी ग्रामे तथा नागदह (नागदा) प्रतिजागर्णके नादिया ग्रामे समस्त राजपुरुषान् ब्राह्मणोत्तरान् प्रति निवासी पट्टकिल जनपदादिंश्च वोधयत्यस्तुवः सम्विदितम् यथा मंडपदुर्गावस्थितै रस्माभि एक त्रिंशदधिक त्रयोदशशत संख्यान्विते (ई० स० १२५३) प्रमाथिनाम्नि संवत्सरे भाद्रपद मासि शुक्लपक्षे सप्तभ्याम् तिथौ शुक्रदिने मैत्रेय नक्षत्रे स्नात्वा भगवन्तम् पार्वतीपतीम् समभ्यर्च्य संसारस्यासारताम् दृष्ट्वा तथा वाताभ्र विभ्रममिदं वसुधाधिपत्यम् (इत्यादि, परमार राजाओ के अन्य दानपत्रो के समान श्लोक देकर वाद में) स्वपुत्रैः कमलसिंह धारासिंह जयसिंह पद्मसिंह इत्यं ते सहितो नाना गोत्रेभ्यो—(इसके आगे १६ ब्राह्मणों के नाम गोत्र प्रवर शाखा और उनके रहने के मूल स्थानो के नाम दिए हैं। १५ ब्राह्मणो के नाम के पश्चात् सोलहवे नाम का मजमून इस प्रकार है)—वत्सस गोत्राय भार्गव च्यावनाप्नवानोर्वजायदग्न्येति पंचप्रवराय चाहमान कुले वर्द्धमानाय पल्हणदेव वर्मणः पोत्राय सलषणसिंह वर्मणः पुत्राय साधनिक अनयसिंह वर्मणे क्षत्रियाय पदद्वयम्।

अर्थात् १५ ब्राह्मणो के साथ दो पद्म भूमि सलषण के पुत्र अनयसिंह को भी दी गई थी। ताम्रपत्र के अन्त मे—

"इति श्रीकंठेन नियुक्तेन सभायाम् जयवर्मणा। चक्रेकुलक्रमायात्र त्रैविद्यत्वेन शासनम् ॥ उत्कीर्णम् वरूपकार कान्हाकेन।

तातपर्य लोहानी गुफा मे मन्दिरो के सिंहासन और शिखरो के तथा अन्य भागो के जो पाषाण सुन्दर खुदाई किए हुए मिले हैं उनमे एक पर जिस सलषण का नाम खुदा हुआ मिला है वह इस ताम्रपत्र का सलषण होना चाहिए। जाति का वह चौहान था और राजा अर्जुनवर्मदेव (ई० स० १२१०-१६) के दरवार मे था। उसके पिता का नाम पल्हणदेव तथा पुत्र का अनयसिंह और पौत्र कमलसिंह, धारासिंह, जयसिंह और पद्मसिंह थे। लोहानी गुफाओ के समीप ही उसने मन्दिर निर्माण कराया था और वह मन्दिर चौदहवी शताब्दी के अन्त तक यहाँ विद्यमान था ऐसा ज्ञात होता है।

एकपत्थरी स्तंभ—लोहानी गुफाओ के दक्षिण टीले के ऊपर पत्थर का १६ फुट ६ इंच ऊचा वगैर जोड़ का एक हिन्दू स्तभ खड़ा हुआ है। उसका नीचे का भाग दो फुट हम-चौरस तथा ऊपर अष्टपहलू है, उसपर कोई नक्काशी या चित्र वगैरा नही है। इस स्तंभ के आसपास करीव एकसौ फीट के घेरे मे खोज का काम आरम्भ किया गया। स्तंभ से

दक्षिण में एक खाई है। यह खाई लोहानी गुफाओं के यहाँ से होशंगशाह का मकबरा, जामी मसजिद, त्रिपोलिया दरवाजा, अशरफी महल, रामपाल दरवाजा के पास तक बने हुए एक परकोटे का खंदक था, (अब इस खंदक का अधिकांश भाग अशरफी महल के मलबे से भर दिया गया है)। स्तंभ से दक्षिण-पूर्व करीब १५०' की दूरी पर इसी खंदक में खोज का काम शुरू किया गया। करीब चार फीट गहरा जाने पर चालुक्य तक्षणकला की तर्ज के बने हुए मन्दिरों के अनेक पाषाण मिले। शिखरों के कुछ पत्थरों पर खुदाई का जो काम किया हुआ है वह मालवे के परमार राजा उदयादित्य (ई० स० १०५९ ८६) का उदयपुर (ग्वालियर राज्य) मे बनवाए हुए मन्दिर से अत्यधिक भिन्नता है। अभी तक कोई शिलालेख यहाँ नहीं मिला। स्तंभ उसके मूल स्थान पर है या योंही खड़ा कर दिया गया है इसकी जाँच की गई तो मालूम हुआ कि वह उसकी प्राचीन जगह पर खड़ा है। स्तंभ के समीप दो गोलाकार खुदी हुई पत्थर की कुम्भी मिली। अवश्य ही ये स्तंभ के शिरोभाग में लगी थी जो बाद में गिर गई। कारण कि स्तंभ के शिरोभाग पर और इन दोनों कुम्भियों में पों जोड़ के सूराख और खूंच बने हुए हैं। जान पड़ता है कि यह स्तंभ लोहानी गुफा के ऊपर दक्षिण टीले पर बने हुए लक्ष्मीनारायण या शेषशायी के मन्दिर के सामने खड़ा किया हुआ गरुडध्वज स्तंभ या दीपस्तंभ था। मन्दिर के पाए तक का निशान नहीं मिलता किन्तु स्तंभ से पश्चिम में कुछ ही फासले पर परकोटे का एक मीनार मुसलमानी काल का बना हुआ टूटी हालत में अभी खड़ा है। वह प्रायः सारा ही मन्दिर के दरवाजे, कुर्सी और अन्य भागों में लगे हुए पत्थरों का बना हुआ है। टीले के नीचे नाले की खोह में दूर तक सुन्दर खुदाई का काम किए हुए पत्थर पड़े हैं। स्तंभ के आसपास बौद्धकालीन कोई चिह्न अभी तक नहीं मिला।

भोज द्वितीय ? के समय का खंडित शिलालेख—रूपमति सड़क पर २३वाँ मील जहाँ खड़ा है उसके समीप ही एक टीला था उसकी जाँच की गई तो शिवलिंग, यानि, तथा अन्य खंडित मूर्तियों के साथ भोजराजा का नाम खुदा हुआ शिला-लेख का एक टुकड़ा मिला जो १॥"×४॥" नाप का है, उस पर सात अधूरी पंक्तियाँ हैं। यह टुकड़ा भी किसी इमारत में लगा हुआ था ऐसा उसके टूटे हुए भाग से मालूम होता है। शिलालेख के अक्षर तेरहवीं शताब्दी से प्राचीन नहीं है। इन सात अधूरी पंक्तियों से यही ज्ञात होता है कि भोज के समय (सम्भवतः भोज दूसरा ई० स० १२८०-१३१०) किसी मूर्ति की स्थापना की गई थी। शिलालेख का शेष भाग अभी तक नहीं मिला।

पचपावली—मांडव में सागर तालाब के उत्तर किनारे सड़क से लगा हुआ यह स्थान खिरनी के बड़े बड़े सायादार पुराने वृक्षों से घिरा हुआ है। नाम पर से संशय हुआ कि पंचदेवली का कदाचित पचपावली समय जाते हो गया हो। यहाँ खोज करने पर करीब दो फीट गहराई में एक बड़ी शालुंका (जलाधारी-योनि) दौड़नी हुई हंसपंक्ति, शिवलिंग और मन्दिर के अनेक चिह्न जिनमें छोटे शिखर और स्तंभों के शिखर भी थे, मिले। इस स्थान के अधिकांश भाग पर अब काश्त होती है अतः अधिक खोज अभी नहीं की जा सकी। पास ही तालाब में एक छोटा द्वीप है उसमें भी काश्त होती है। खेत में से निकली हुई तीन मुख की खड़ी मूर्ति अभी द्वीप पर ही है।

लालकोट—चंपा बावडी और शाही महल के खंडहरों से पश्चिम-उत्तर करीब आध फर्लांग की दूरी पर लाल-कोट नाम की मुसलमानी समय की इमारत के खंडहर हैं। अब सिवाय एक लम्बे अहाते के वहाँ कुछ न रहा। छत अन्दर गिर जाने से मलबे से इमारत भर गई है। मालूम होता है कि सुल्तानों के समय हौद, नालकी, पालकी, अम्बारी, तामझाम इत्यादि वस्तुओं को रखने का यह लम्बा चौड़ा फराशखाना था। यहाँ जाँच के लिए तीन जगह खोदा गया, एक स्थान पर देवी की खंडित छह मूर्तियाँ और सिंह का टूटा हुआ एक सिर अभी तक मिला है।

जेठासा के द्वार पर गडी हुई १४०० जैन मूर्तियाँ—मांडव पर मुसलमानों के आकस्मिक आक्रमणों के कारण यहाँ के सैकड़ों जिन देवालयों की मूर्तियाँ मांडव से बाहर अन्य सुरक्षित स्थानों को पहुँचा दी गई थी। मांडव में स्थापन की हुई अनेक मूर्तियाँ आज भी मालवे के तथा मांडवे के आसपास के अनेक स्थानों में हैं, यह उनके शिलालेख से ज्ञात होता है। किन्तु अधिकांश मूर्तियों को आक्रमण के समय खंडित हो जाने के भय से मांडव में जमीन के अन्दर रख दिया गया था और तत्सम्बन्धी विवरण-पत्र आसपास के उपाश्रयों में इस हेतु से रख दिए गए थे कि शांति स्थापन होने पर उस आधार के द्वारा पुनः जमीन में रखी हुई मूर्तियों को बाहर निकालने में सुगमता हो। इस प्रकार का एक ताम्रपत्र ईडर से मिला है उससे

ज्ञात होता है कि मणि, धातु और पाषाण की १४०० जैन मूर्तियाँ जेठासा के दरवाजे पर गडी हुई है।* मांडव के नामशेष विस्तृत खंडहरो मे जेठासा श्रावक का मकान कहाँ था इसका पता अभी तक नही लगा। बहुत से चिह्नो के द्वारा जैनियों के एक मुहल्ले का पता लगा है।

सोनगढ़ की ऊँची पहाड़ी पर मन्दिर निर्माण—सोनगढ़ मांडव का वाले किला है। इसकी पहाड़ी की ऊँचाई समुद्र सतह से २,२९९ फीट है। इसके शिखर भाग पर मन्दिर निर्माण का काम हिन्दू राजाओं के समय आरम्भ किया गया था। पहाडी के ऊपरी भाग का पश्चिम से पूर्व तरफ का बहुतसा भाग काटकर मैदान किया गया और बड़े बडे पत्थर जिनपर सुन्दर खुदाई का काम किया गया है ऊपर पहुँच चुके थे। अधूरा काम किए हुए पत्थर भी ऊपर जहाँ तहाँ पड़े हुए है। कदाचित मुसलमानी आक्रमण आरम्भ हो जाने से काम पूरा नही होने पाया। वर्षाऋतु मे बादल उतरने का यहाँ जो दृश्य दिखाई देता है वह दर्शनीय है। मन्दिर का काम यदि पूरा हो जाता तो माडव ही नही सम्पूर्ण मालवे मे ऐसे मनोहर दृश्य का यह एक ही स्थान होता।

दिलावरखाँ की मसजिद—मांडव की मुसलमानी इमारतों मे यह मसजिद सबसे पुरानी है। धार की भोजशाला, लाट मसजिद और माँडव मे मलिक मुगीज की मसजिद की तरह प्राचीन हिन्दू मन्दिर मे किंचित् कमोबेशी कर यह मसजिद सुलतान होशगशाह के पिता दिलावरखा गौरी ने ई० स० १४०५ मे बनवाई थी, यह इसके पूर्वी दरवाजे के फारसी शिलालेख से मालूम होता है। मसजिद की दक्षिण दीवार गिर जाने के कारण उसको पुन. बनाने के लिए मलबा साफ किया जा रहा था, कि दुर्गा देवियो के चित्र और नाम खुदा हुआ एक काला पाषाण का टुकड़ा मिला। पत्थर की आकृति से मालूम होता है कि वह एक गोलाकार पत्थर का एक भाग है। उसपर अनेक देवियो के नाम, चित्र और वाहन तथा शस्त्र करीब करीब २ इंच लम्बे चौड पंक्तिबद्ध खानो मे खुदे हुए है। चित्रो के भिन्न भिन्न अगो के हावभाव सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट है, जैसे चित्र लेखक ने सफेद रंग की पेन्सिल से पत्थर पर खीच दिए हो। प्रत्येक चित्र के नीचे नाम और उसकी अनुक्रम संख्या भी दी है। चामुण्डादेवी, कुसुमावती देवी, मानसीदेवी इत्यादि नाम पढे जाते है। कुछ समय पूर्व इसी चित्रित शिलाखण्ड का एक भाग माडव मे हाथीपोल दरवाजे के पास मिला था। हाथीपोल दरवाजा दिलावरखाँ की मसजिद के पास ही है। अक्षरो से ज्ञात होता है कि ईसा की दशमी सदी के आसपास का यह होना चाहिए। सूक्ष्म अवलोकन से मालूम होता है कि ये चित्र पत्थर पर कोई पतला लेप लगाकर, उस लेप के कठिन होने के पूर्व चित्रकार ने चित्रलेखन का काम पूरा कर दिया था। लेप की मुटाई एक मालवी कागज की मुटाई से अधिक नही है। यदि यह ठीक है तो दशमी शताब्दी के आसपास माडव मे निरिन्द्रिय रसायन का प्रस्तरा कला मे किस सीमा तक उपयोग करना जानते थे यह भलीभाँति विदित होता है। वास्तुप्राकार और मन्दिरप्राकारादि भारतीय प्राचीन वास्तुकला विषयक ग्रथो मे वज्रलेप नाम के एक लेप का वर्णन और वह किन किन पदार्थो से बनता है उसकी सूची हमको मिलती है। उसके साथ यह स्पष्ट विवरण भी मिलता है कि लेप जब गरम हो उस हालत मे पाषाण के ऊपर लगा दिया जाय तो सहस्रों वर्ष तक वह कायम रहता है। जान पडता है कि इसी वज्रलेप का प्रयोग इन दोनो चित्रित पाषाणो के खण्डो के सहित सम्पूर्ण शिला पर किया गया था। चित्रो के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भाग मे करीब एक हजार वर्ष का दीर्घ काल व्यतीत होने पर भी किंचित्मात्र विकृति का चिह्न नही दिखाई देता। इन चित्रो के चित्रकार को लेप कठिन होने के पूर्व चित्र लेखन के लिए जो थोडा समय मिला था उसमे जिस निपुणतापूर्वक उसने इन चित्रो को मुक्त हस्त लेखन कला द्वारा अकित किया है देखने योग्य है। मुसलमानी शासनकाल के पूर्व की पुरातत्व सम्बन्धी खोज मे अभी तक जितनी वस्तुएँ माँडव मे मिली है उनमे यह एक महत्त्व की वस्तु है। उक्त मसजिद के आसपास खोजने पर शिव की ताडवनृत्य की मूर्ति और शाक्त मन्दिरो के भी कुछ चिह्न तथा खडित मूर्तियाँ मिली है। निरीक्षण से यही जान पडता है कि जहाँ अब हिण्डोला महल खड़ा है उसकी चारो दिशा मे खाजुराहो के मन्दिर के प्लान मुताबिक पंच देवालय, मुसलमानी शासनकाल के पूर्व यहाँ बने हुए थे। हिण्डोल महल के उत्तर मे और नहारझरो के चौक मे खोज करने पर हिन्दू मन्दिर के पाए के निशान भी मिले है। इसी प्रकार खास हिण्डोला महल मे जनानी दालान के नीचे की वर्तुलाकार छत और दीवारो के भराव मे चुनी हुई सप्तमातृकादि की मूर्तियाँ इत्यादि चिह्न इसी निर्णय पर पहुँचाते है कि बुन्देलखण्ड के चन्देल राजाओ के समान ही मालवे के परमार राजा भी मन्दिर निर्माण के अत्यधिक शौकीन थे। भोज राजा ने तो वास्तुप्राकार पर सुन्दर ग्रंथ लिखा है। बुन्देलखण्ड के चन्देल और मालवे के परमार राजा दोनो वश समकालीन और पडौसी रहे है। चन्देलो ने जिस प्रकार खजुराहो मे सुन्दर स्थापत्य

* मणीनी धातुनी अने पाषाणनी १४०० मूर्तिओं जेठासा श्रावक ने बारवे भांडारे की छे। ईडर का ताम्रपत्र।

कलापूर्ण शैव मन्दिरों का निर्माण किया इसी प्रकार परमार राजाओं ने बहुत सम्भव माण्डव में सुन्दर मन्दिर निर्माण किए थे और हिंडोला महल के आसपास खजुराहो जैसे पंच देवालय निर्माण किए हों तो आश्चर्य नहीं।

सप्तकोठडी के पीछे एक प्राचीन मन्दिर की खोज—सप्त कोठडी की इमारत दयामों की कब्र से पश्चिम में रूपमती सडक से लगी हुई बनी है। मुसल्मानी काल में यह एक बडी सराय थी जिसका उत्तरी आधा भाग और मुख्य दरवाजा गिर गया है। दरवाजे के दक्षिण भाग की ९ कोठडियां अभी बची हैं, लोग इसको सात कोठरी कहते हैं। इसके पीछे के खेत में एक रोज मित्रों के साथ होली खेलने का प्रसंग आया, खेत में दौडती हुई हंसपंक्ति का एक पत्थर मिला। यह पत्थर यहां कैसा? पहले (अब नहीं) इस प्रकार की हंस पंक्ति गुप्त राजाओं के समय की इमारतों की सजावट का एक चिह्न माना जाता था। माडव का फुलजी भील कोठडियों के पीछे बरसों से खेती करता है। चने की फसल कटने बाद जहां हंस पंक्तिवाला पत्थर मिला था खोज का काम शुरू किया गया। करीब चार फीट गहरा जाने के बाद मन्दिर के पत्थर दिखाई दिए और सुन्दर खुदाई का काम किया हुआ एक सिंहासन सहित मन्दिर दिखाई दिया। छत गिरी हुई निकली किन्तु दीवारें और ताक बगैरा अच्छी हालत में मिले। महिषासुरमर्दिनी, लक्ष्मीनारायण, शिवलिंग, जलधार और एक बडा नंदी यथा स्थान टूटा हुआ मिला, छत के गिरे हुए पत्थरों पर बहुत ही सुन्दर कोराई का काम किया हुआ है। पत्थर उडया जाति का होने से और बरसों जमीन के अन्दर रहने के कारण सड गया, जिससे बारीक नक्काशी और खुदाई का काम प्रायः नष्ट हो गया है। मन्दिर में दो कमरे हैं, एक में सिंहासन तथा दूसरे में शिवलिंग मिला। सामने का सभामण्डप बिल्कुल गिरा हुआ निकला। सिंहासन बहुत अच्छी हालत में मिला उस पर उठावदार हाथी और सिंहों की दौडती हुई पंक्ति है। इन प्राणियों के चित्र उतने अच्छे नहीं हैं जितनी सुन्दर सिंहासन के दासे की पट्टी है। मन्दिर के गर्भगृह की वर्तुलाकार छत में गायन, वादन, नृत्यादि करनेवालों की मूर्तियां लगी थीं। मन्दिर के कमरों का नाप तेरह फुट समचौरस है। सिंहासन के कमरे के सामने दालावदी अच्छी हालत में मिली। सभा मण्डप में पत्थर पटे हुए थे। एक दैत्य की विशाल मूर्ति सभा मण्डप के पास निकली। मालूम होता है कि मुसल्मानी काल में इस मन्दिर के खंडहर पर एक मामूली मकान बना था उसके ईंटों के टुकडे और कवेलू मलवे में से निकले। कवेलू का मकान गिर जाने के वर्षों बाद उस भूमि पर भीलों ने काश्त करना शुरू किया होगा। मन्दिर की तक्षण कला ईसा की बारहवीं शताब्दी के आसपास की जान पडती है। अभी तक कोई शिलालेख नहीं मिला।

बूढी माडव—बूढी माडव का नाम बहुत थोडे लोग जानते हैं। माडव किले से पश्चिम-उत्तर करीब तीन मील पर एक प्राचीन किला बना हुआ है। माडव की वर्तमान शाही इमारतों से प्राचीन हिन्दू मन्दिरों के चिह्न वहां होने के कारण लोग उसको बूढी (वृद्ध) माडव कहते हैं। इसके परकोटे की रचना मांडव जैसी ही है। दरवाजे, तालाब घाट हिन्दू राजाओं के समय के हैं। माडव की तरह यह किला भी माल्वे की समतल पठार से अलग किन्तु एक सकड रास्ते से उत्तर में जुडा हुआ है, इस रास्ते को नरकद्वारी कहते हैं। क्षेत्रफल में माडव किले से बहुत छोटा किन्तु दुर्गम है। किले के अन्दर प्राचीन मन्दिरों के छोटे और बडे सो खंडहर जिनका ढेर भी कह सकते हैं पडे हुए हैं। मुसल्मानी शासनकाल के पूर्व परमार राजाओं के समय की वास्तुकला के सुन्दर दर्शन बूढी माडव में ही होते हैं। भोज के उत्तराधिकारी उदयादित्य के बनवाए हुए उदयपुर (ग्वालियर राज्य) के सुन्दर देवालय की प्रस्तरकला से बूढी माडव के मन्दिरों की प्रस्तरकला बहुत मिलती है। मूर्तिभंजकों ने इन्हें भी धराशायी कर दिया किन्तु उनका एक भी पाषाण वहां से हटाया नहीं गया। मन्दिर गिरते समय जो पत्थर जहां और जिस करवट से पडा था वैसा ही आज पडा हुआ है। इन मन्दिरों की शिलाओं के जोड बगैर चूने के ऐसी सुन्दरता और सूक्ष्मता से मिलाकर रखे थे कि देखकर आश्चर्य होता है। मन्दिरों के गिरे हुए खंडहरों में खोज का काम बडे बडे पत्थरों के उलटने से ही शुरू होता है। जिस पत्थर को उलटकर देखा उसी पर स्थापत्य कला के मनोहर दर्शन हुए। अनेक मूर्तियां निकली। मन्दिर उडया जाति के पत्थर के बने थे अत उसपर किया हुआ सूक्ष्म काम अब नष्ट होने लगा है। किले के अन्दर लोगों के मकान बने हुए थे ऐसा चिह्नों से ज्ञात होता है किन्तु वे ज्वालाग्राही पदार्थ के थे अत नष्ट हो गए। जहां तहां बडे आकार की ईंटें और उनके खंड मिलते हैं। तालाब में एक भारी दीपस्तंभ था वह गिरा हुआ पडा है। मन्दिर बहुत बडे नहीं हैं किन्तु जिस मौके की जगह के बने हैं देखने योग्य हैं। बूढी माडव में खोज का काम अधिक नहीं किया गया। किन्तु इन मन्दिरों के खंडहर खोज के लिए सर्वोत्तम कहे जा सकते हैं।

राजा विक्रम जात पवार—पवार के श्रीमन्त मनुरामजी महाराज बाबा साहब पवार धरस्थान मल्ठन बडे इतिहास व्यासंगी रईस थे। अत्यन्त खेद है कि कुछ ही महीनों के पूर्व उनका स्वर्गवास हो गया। आप जब कभी माडव आते थे कुछ न कुछ ऐतिहासिक चर्चा अवश्य ही करते थे। विक्रम संवत् का आरम्भ कब हुआ, इसपर एक निबंध लिखाने के लिए मुझे कहा था और साथ ही कहा था कि "हमारे पास एक प्राचीन खांडा है उस पर इन्सक्रिप्शन है तुम लिखलो, उसका मजमून इस प्रकार का है —'सिप्रा नदी उज्जैनी धार, राजा विक्रम जात पवांर॥' विक्रम राजा परमारवंशी थे या नहीं, इसके लिए जो प्रमाण एकत्र किए जा रहे हैं, उनमें यह किस सीमा तक उपयोगी होगा आज नहीं कहा जा सकता।

शिन्दे-राजवंश की हिन्दी-कविता

श्री गोपाल व्यास, एम्० ए०, साहित्यरत्न,

यद्यपि शिन्दे-राजवश की मातृभाषा मराठी है तथापि शिन्दे नरेशो ने ग्वालियर की लोक-भाषा हिन्दी की अभिवृद्धि मे सर्वदा योग दिया है। जहाँ अन्यान्य शासक अपनी भाषा को शासितो पर लादने का दुराग्रह करते है वहाँ उदारमना शिन्दे-नरेशो ने शासितो की भाषा को अपनाकर लोकमत का समादर किया है। उन्होने केवल राज्य-कार्यो मे ही हिन्दी को स्थान नही दिया प्रत्युत उसकी काव्य-मन्दाकिनी मे अवगाहन कर शब्द-साधना द्वारा अपनी भाव-कुसुमाजलि भी समर्पित की है। उन्होने मनोविनोद मात्र के हेतु हिन्दी कवियो को आश्रय देकर ही अपने हिन्दी-प्रेम का परिचय नही दिया स्वय अपने हृदय का रस उँड़ेलकर वीणा-पाणि की समाराधना भी की है। उन्होने केवल प्रचुर धन-राशि व्यय कर के ही हिन्दी के प्रचार मे योग नही दिया अपितु अपने तन-मन द्वारा भी राष्ट्र-वाणी की चतुर्दिक समुन्नति मे साहाय्य देकर यशार्जन किया है। प्रस्तुत लेख मे शिन्दे-नरेशो की हिन्दी कविता पर ही विचार किया जायगा।

ग्वालियर-राज्य के प्रतिष्ठापक महाराज महादजी शिन्दे लोकोत्तर पुरुष थे। उनके शौर्य, राजनीति-पटुता, दूरदर्शिता आदि गुणो से इतिहास के पृष्ठ भरे पड़े है। परन्तु ऐतिहासिको ने उनकी भावुकता, सहृदयता, भक्ति-विह्वलता एवं कवित्व जैसे उदात्त गुणो की अवहेलना की है। वास्तव मे महादजी शिन्दे के व्यक्तित्व मे वज्रादपि कठोरता एवं कुसुमादपि मृदुता थी, हृदय और मस्तिष्क के गुणो का समन्वय था, अवसरानुकूल शासकोचित कठोरता एव मानवोचित कोमलता का मणि-काचन सयोग था। यही कारण है कि वे जहाँ एक ओर सुविस्तृत ग्वालियर-राज्य की सुदृढ़ स्थापना करने मे समर्थ हुए वहाँ दूसरी ओर वृन्दावन-विहारी के अलौकिक प्रेम मे डूबकर भक्ति-भावित कविता के सृजन मे भी सफल हुए। इस सम्बन्ध मे स्वर्गीय 'हृदय' जी ने ठीक ही कहा है :—

तलवारों की धारों पर भी जिसने किया कृष्ण का गायन।
वह कवि थे कर्मण्य, वीरता उनपर करती थी आत्मार्पण॥ **—विजय-वैजयन्ती।**

महादजी शिन्दे की कविता पर विचार करने के पूर्व उनके कवित्व को प्रेरित करनेवाली कृष्ण-भक्ति की चर्चा अनुपयुक्त न होगी। नव-प्रतिष्ठित एव विशाल राज्य के शासन तथा सुप्रबन्ध की दृष्टि से उन्हे मथुरा मे प्रायः रहना

पडता था। इस स्थान को उन्होंने कई कारणों से चुना था। एक तो मथुरा तीर्थ-स्थान है, दूसरे दिल्ली आगरे के बीच में है। आगरा उस समय उनकी सेना का मुख्य स्थान था और दिल्ली पतनोन्मुख मुगल-साम्राज्य की राजधानी थी। मथुरा से जाटों पर भी नियंत्रण रखा जा सकता था और राजपूतों पर भी दृष्टि रखी जा सकती थी। भगवान् कृष्ण की ललित-लीला-भूमि में दीर्घ काल पर्यन्त निवास करने से उनके हृदय में प्रेम-पारावार हिलोरें लेने लगा। उन्होंने वृन्दावन में अनेक मन्दिर बनवाए तथा उनकी सेवा-पूजा के लिए पुष्कल द्रव्य-राशि दान की। भगवत् किशोरदासजी-रचित 'निजमत सिद्धान्त' एवं सहचरिशरण-विरचित 'ललितप्रकाश' आदि ग्रंथों में महादजी शिंदे के कृष्ण-प्रेम का उल्लेख मिलता है। 'ललितप्रकाश' के एक प्रसंग से टट्टी सम्प्रदाय के महन्त श्री ललितमोहिनीदेव (सं० १८२३–१८५८) के प्रति महाराज महादजी शिंदे की उत्कृष्ट श्रद्धा एवं प्रेम की व्यंजना होती है। महादजी महाराज ने एक बार वृन्दावन में रासपंचाध्यायी लीला कराई थी, जैसाकि अधोलिखित दोहे से प्रकट होता है —

> नाम महादजी सिंधिया वृन्दावन बिच आय।
> श्रीगुपाल लीला करी परम प्रीति दरसाय॥ —ललितप्रकाश।

उक्त रास-लीला में वृन्दावन के प्रायः सभी प्रमुख भक्त समवेत थे। महादजी महाराज स्वयं श्री ललितमोहिनीदेवजी को उस अपूर्व आयोजन में लाने के लिए गए थे। जब श्री ललितमोहिनीजी को पालकी में बैठाकर स्वयं उनके भार वाही बने तब स्वामीजी ने कहा कि 'छोडिके पालकी, पालकी में चढ़ौ, प्रेम की लीक हो नीक आगे बढ़ौ"। स्वामीजी की आज्ञा शिरोधार्य कर आप उनके साथ चल गए। रासमंडल में उक्त स्वामीजी को ही सर्वोच्च आसन पर समासीन किया गया। फिर, रास-लीला हुई जिसका वर्णन निम्नांकित पद्य में पठनीय है —

> महान प्रेम सो सुजान कृष्णलीला रुचिर राधिका समेत सब गोपिका बनी ठनी॥
> मृदंग ताल बान ले प्रवीन ते बजावहीं रसाल बेनु किन्नरी उपंग तान त्यों तनी॥
> सभा प्रभा अनेकधा विनोद भाँति भाँति की सुमिधियाहिकी प्रतीति प्रीति रीति हू घनी।
> कृपानिधान मोहिनी निहारि के प्रसन्न भा गिरा गंभीर उच्चरी खरी मनो सुधा सनी॥ —ललितप्रकाश।

श्री ललितमोहिनीजी के सत्संग एवं आग्रह से, कहते हैं, महादजी महाराज कृष्ण भक्त वैष्णव हो गए एवं अपने हृदय की भावमालिका नन्द-नन्दन के चरणों में अर्पण करने लगे। कभी उनके हृदय का मधुर आवेग अपने आराध्य के लीलास्थल ब्रज की बोली में व्यक्त हुआ और कभी अपनी मातृभाषा मराठी में। यहाँ पर हमारा उद्देश्य उनकी हिंदी-कविता का परिचय देना ही है।

हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में केवल 'मिश्रबन्धु विनोद' में महादजी शिंदे के सम्बन्ध में, अति-संक्षिप्त उल्लेख मिलता है (देखिए मिश्रबन्धु विनोद, पृष्ठ ७५२)। कुछ वर्ष पूर्व 'साहित्य समालोचक' में भी उनकी कविता प्रकाशित हुई थी। सन् १९२१ में श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव ने महादजी शिन्दे की हिंदी मराठी कविताओं को 'माधव विलास' नामक पुस्तक में प्रकाशित किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि माधवराव उनका वास्तविक नाम था और 'माधव' कविता में प्रयुक्त लघुनाम है, उपनाम नहीं, जैसाकि कुछ लोग अनुमान करते हैं।

'माधव विलास' में मराठी भाषा में लिखित कविताओं की संख्या हिंदी कविताओं की अपेक्षा अधिक है। कदाचित् महाराष्ट्र देश में उत्पन्न एवं शिक्षित होने के कारण उन्हें मराठी में अपने भावों को व्यंजित करने में अधिक सुविधा होती होगी। परन्तु 'माधव विलास' के अन्त में संगृहीत उनकी हिंदी कविता पर दृष्टिपात करने से यह विदित नहीं होता कि ब्रजभाषा में उन्हें विशेष प्रयास करना पडता होगा। कविताओं को पढ़ने से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उनमें किसी अहिंदीभाषी व्यक्ति के उद्गार हैं। कुछ कविताओं में तो उच्चकोटि का कवित्व निहित है।

महादजी शिंदे की कविता कृष्ण-परक हैं परन्तु उनमें रीतिकालीन कवियों की भाँति वासना की दुर्गन्ध के स्थान पर अलौकिक प्रेम का सौरभ है। उनके वर्ण्य विषय वे ही हैं जो अन्यान्य तत्कालीन भक्त कवियों के हैं, यथा, गुरु-महिमा, कृष्ण जन्म, रूप माधुरी, मुरली माधुरी, होली क्रीडा, रास विहार, गोपी विरह और उद्धव-गोपी संवाद।

श्री गोपाल व्यास

कृष्ण-जन्म सम्बन्धी पदों मे, जिनकी संख्या लगभग बीस है, वर्णनात्मकता अधिक है। परन्तु अन्य पदों मे, जहाँ वर्णनात्मकता के स्थान पर मंजुल भावों का चित्रण किया गया है, सुन्दर गीति-काव्य के दर्शन होते हैं। रूप-माधुरी का एक उदाहरण लीजिए:—

बिनु गथ मोल लईरी इन मोहन मोकों ।।ध्रु०।। सीस-मुकुट कटि काछै आछै कुण्डल झलक झई।
रूप-ठगोरी डारि साँवरे उलटी प्रीति नई। कुटिल अलक नचाय दृगन कौ, लखि माधौ बस भई ।।

लौकिक बाधा-बंधनों से मुक्त गोपियो के गम्भीर प्रेम की व्यंजना नीचे लिखे हुए सवैये मे मिलती है :—

पाँय परौ मनुहारि करौं सखि साँवरे के घर लाल वसैं दै। नँनदी ननदा ससुरौ अरु सासु दुरानि जिठानि रिसैं तु रिसैं दै।
ब्रजकी बनिता जु चबाउ करो मुखमौरि कै खीझि सिखेतु सिखेदै। मो मन 'माधव' रंग रच्यौ अब लोग हँसै तो हसै तो हँसै दै ।।

उपर्युक्त सवैये में भावोत्कर्ष के साथ ही चलती हुई ब्रजभाषा का सौन्दर्य भी द्रष्टव्य है। संयोग-शृंगार के एकाधिक पदो में गोपियो की भाव-प्रेरित वचन-वक्रता के दर्शन होते हैं। यथा—

लाल मैं गारी देऊँगी।
निगुनी है तू बहुत दिननि कौ, कुल जाति नहीं, यह प्रकट करौगी।
धर्म रहित तू अग्य सदा को, कुल-भूषन सब कीरति कहौगी।।

कहने की आवश्यकता नही कि केशवदास की रामचन्द्रिका की 'गारियो' की भाँति ही यह 'गारी' श्लेष, व्याज-स्तुति एवं वक्रोक्ति अलकारो से सुन्दर तथा मधुर-प्रेम-व्यजक होने के कारण बडी मीठी है।

गोपी-विरह-वर्णन मे तो भक्ति-विह्वल-हृदय का उन्माद ही फूट पडा है। रासक्रीडा मे प्रियतम कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर गोपियो का हृदय शतधा होकर प्रकृति के कण-कण से बडे मर्मस्पर्शी एव करुण-स्वर मे कृष्ण के विषय मे पूछता है। समस्त पद इतना सुन्दर है कि हम उसके कतिपय अतिशय सुन्दर चरणो को उद्धृत करने का लोभ सवरण नही कर सकते —

माधवि मालति मल्लिका फूली तरुनि समेत। कित 'माधव' व्रजराज है मोहि कहौ करि हेत।।
गुल्मलता तरु मृग-कुल कालिन्दी इत देखि। मो प्यारो माधव कहाँ मोहि बताउ बिसेखि।।
ए हो ताल तमाल तरु वकुल कदम्ब रसाल। मोसौं कहिए कृपा करि कित 'माधव' नँदलाल।।
चकित व्यथित ह्वै देखती हे हरिनी हरिपंथ। मोहि बताओ कृपा करि श्री 'माधव' ब्रजचन्द।।

निर्गुण ब्रह्म की अग्राह्यता, दुष्करता एव नीरसता तथा सगुण ब्रह्म की सुग्राह्यता, सुकरता एव सरसता प्रति-पादित करने के लिए महात्मा सूरदास से अनुप्रेरित होकर आधुनिक युग के कवियो तक ने भ्रमर-गीत के प्रसग पर कविताएँ की है। महादजी महाराज की कविता मे भी एतद्विषयक कुछ पद है जिनमे तर्क-पूर्ण वाद-विवाद के स्थान पर गोपियो के व्यग्य-विनोद की अच्छी छटा है। यथा—

जान्यौ जू जान्यौ भलो उधौ तुम्हरो नाथ। कुबिजा पटरानी करी आपु त्रिभंगी नाथ।।
मन मोहन मोहे सबै गो, गोपी, गोपाल। दासी के रस-बस भए, भले बिकाने लाल।।

हाव-चित्रण सम्बन्धी एक पद मे महादजी शिन्दे ने काव्य-कौशल का चरमोत्कर्ष प्रदर्शित किया है। वह यह है—

चरखा कातनवारी री तू। भौंह चढ़ाय नचाय दृगन कौं, चल चुटकी चटकीले चितसो।
नासा मोरि, नवाय ग्रीव कौ, तोरति, जोरति गुण अति हित सो।
लाज तजी जन-मन गुरुजन की, मोह वढ़ायौ 'माधव' मित सों।।

सौभाग्य से महाकवि बिहारी—जो हाव-चित्रण की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में अप्रतिम है—का भी एक दोहा ठीक इसी विषय पर मिलता है जो नीचे उद्धृत है—

ज्यौं कर त्यौं चुंहटी चलै ज्यौं चुंहटी त्यौं नारि।
छबिसौं गतिसी लै चलति चातुर कातनहारि।।

बिहारी के दोहे की भाँति ही पद के दो चरणों की भाषा बड़ी समस्त है। बिहारी द्वारा वर्णित 'कर' 'चुटकी' और 'नारि' की गतियों के अतिरिक्त महादजी के पद में 'भौंह' के चढ़ाने का, नासा के मोड़ने का तथा 'गुन' के जोड़ने-तोड़ने का चित्रण अधिक है। जहाँ तक संगीत माधुर्य एवं सुरों के आरोहावरोह का सम्बन्ध है महादजी का पद निश्चय ही श्रेष्ठ है। शेष बातों के सम्बन्ध में उत्कर्षापकर्ष का निर्णय हम सहृदय पाठकों पर ही छोड़ते हैं। उपर्युक्त विवेचन एवं उदाहरणों के बल पर हम कह सकते हैं कि महादजी शिंदे हिंदी के अच्छे कवि थे। उन्होंने चलती हुई, प्रसाद प्रवाहमयी भाषा में गीति काव्य की रचना की है। यत्र-तत्र अलंकारों की भी अच्छी आभा दिखाई पड़ती है। हिन्दी के प्रसिद्ध छन्द दोहा और सवैया के अतिरिक्त उन्होंने मराठी भाषा के प्रख्यात छन्द 'ओवी' का प्रयोग भी हिंदी में किया है।

महादजी महाराज के उत्तराधिकारी दौलतराव शिन्दे भी बड़े काव्य रसिक व्यक्ति थे। हिंदी के प्रसिद्ध कवि पद्माकरभट्ट कुछ दिनों आपके दरबार में रहे थे। महाराज दौलतराव के सम्बन्ध में उनका निम्नलिखित छन्द अत्यन्त प्रसिद्ध है—

मीनागढ़ बम्बई सुमन्द मन्दराज बंग, बन्दर को बन्द करि बंदर बसावगो।
कहैं पद्माकर कसकि कासमीर हू को, पिंजर सो घेरिकै कलिंजर छुड़ावगो॥
बांका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौं, साजि दल पकरि फिरंगिन फिरावगो।
दिल्ली दहपट्टि, पटना हू को झपट्ट करि, कबहूँक लत्ता कलकत्ता को उड़ावगो॥

पद्माकर की कविता से संतुष्ट होकर उन्हें दौलतराव शिंदे द्वारा एक लक्ष रौप्य-मुद्रा एवं हाथी देकर सम्मानित करने की बात परम्परा से चली आ रही है। पद्माकरजी ने 'आलीजाह प्रकाश' की रचना ग्वालियर दरबार के आश्रित कवि के रूप में ही की थी। खेद है कि उक्त कृति अभी तक अप्रकाशित है। पद्माकर के अतिरिक्त 'दौलत वागविलास' के रचयिता शिव कवि भी उनके दरबार में थे। इस प्रकार एक ओर तो महादजी सिंधिया के कविता प्रेम एवं दूसरी ओर आश्रित कवियों के सम्पर्क के कारण अवश्य ही उन्होंने पर्याप्त मात्रा में कविता की होगी। परन्तु खेद है कि हमें उनका एक ही पद मिल सका। वह यह है—

चरण गहे की लाज दुलारो,
तुम तो दीनानाथ कृपा करि भगत काज उद्धारो।
'दौलत' प्रभु के चरण गहे हो दीनबन्धु प्रभुता विस्तारो॥ (नागरी प्रचारिणी पत्रिका से उद्धृत)

मिश्रबन्धु विनोद में महाराजा दौलतराव के निम्नांकित दो ग्रंथों का उल्लेख और मिलता है—(१) प्रार्थना-संग्रह, (२) आध्यात्मिक, स्फुट रचना।

सरदार बलवन्तराव भैया साहब शिंदे तो उच्चकोटि के हिंदी-कवि थे। यद्यपि आप राज-परिवार में उत्पन्न हुए थे तथापि आप स्वभाव से ही बड़े त्यागी एवं भावुक भक्त थे। आपने अपने सम्बन्ध में स्वयं कहा है—

यद्यपि राजवंश में जायो। रूप सील बल बिपुल सुहायो।
बहु विद्या वैभव गुन राज। विविध कला कौशल्य विराज॥
राजकाज कीन्हे बहुतेरे। पद अमात्य लौं काज निबेरे॥
दिन दिन नव वैभव अधिकायो। पै सुख लेस कहूँ नहिं पायो॥
गयो शरण वृषभानु दुलारी। विनय कीन्ह लोचन भरि बारी॥
उपज्यो जब कछु ज्ञान श्रीस्वामिनी प्रसाद ते।
विद्या वैभव मान अवगुण इव लागन लगे॥ —श्रीमद्भाषाभागवत, पृष्ठ २५६-२५७।

भैया साहब के भक्ति सौरभ से आज भी ग्वालियर प्रदेश सुरभित है। ब्रजमण्डल में उनकी यश पताका आज भी फहरा रही है। आपकी अपार धनराशि से परिचालित 'राधामाधव भंडार (मथुरा)' में आज भी चारों सम्प्रदायों के १३१ वैष्णवों को नित्य भोजन कराया जाता है एवं अनेक विरक्त साधुओं की द्रव्यादि से सेवा की जाती है। आप प्रेमावतार

श्री गोपाल व्यास

गौरांग महाप्रभु-प्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। 'पदमाला' के एकाधिक पदों मे आपने 'निताई गौर' की स्तुति की है। विलास-वैभव के अशेष उपकरणो के होते हुए भी उन्होंने सरल त्यागमय जीवन द्वारा प्रेममूर्ति कृष्ण की भक्ति में आनन्द प्राप्त किया, जैसाकि श्रीमद्भाषाभागवत के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। राज्य-कार्यो को कुशलतापूर्वक करते हुए भी आप नित्य भक्ति भावना मे मग्न रहते थे। 'वर्षो तक आप प्रति दिन तीन घण्टे हरिकीर्तन करते थे। चातुर्मास व्रत के लिए आपने प्रतिदिन के भजनो के लिए छह पहरे नियत किए और तब दिन रात अखण्ड श्रीहरिनाम का भजन चलाया।' (देखिए, पदमाला के प्रारंभ मे दिया हुआ भैया साहब का जीवन चरित)। कहते है कि जीवन के अन्तिम दिनों मे तो वे एक लक्ष भगवन्नामों का जप किया करते थे। इसके अतिरिक्त आप प्रति वर्ष वृन्दावन मे कई मास तक रहते थे। स० १९७१ मे व्रज-मण्डल के भक्तो ने उन्हें 'भक्तनिधि' एव १९७६ मे दिल्ली की 'नवल-प्रेम-सभा' ने उन्हें 'भक्तराज' की पदवियो से विभूषित किया। निस्सन्देह वे इन उपाधियो के अधिकारी थे। इस प्रकार उनका जीवन ही कृष्ण-मय था। राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं के गान मे स्वभावतः उन्हें अपरिमेय आनन्द आता था। यही कारण है कि उनके उद्गारों मे अकृत्रिमता, मर्मस्पर्शिता एव सरसता का अनुभव पाठक को होता है। परमाराध्य कृष्ण तथा व्रज-भूमि से सम्बद्ध होने के कारण उनका मराठी से अधिक व्रजभाषा पर अनुराग एवं अधिकार हो गया था। यों तो भैया साहब की कृतियों की संख्या बहुत है पर विशेष प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ये हैं :—

(१) श्रीकृष्ण लीलामृत (२) श्रीमद्भाषाभागवत और (३) पदमाला।

'श्रीकृष्ण लीलामृत' मे, जैसाकि नाम से ही प्रकट है, श्रीकृष्णजी की विविध प्रेम-लीलाओं का वर्णन है; जैसे, वसन्त-लीला, शरद्लीला, उद्धवागमनलीला, मानलीला और श्रीरुक्मिणी-स्वयवर आदि। इन्हे हम वर्णनात्मक प्रबन्ध कह सकते हैं। भक्तिकाल एवं रीतिकाल मे अनेक भक्त-कवियो ने उक्त प्रकार के प्रबन्ध लिखे हैं। इन लीलाओ मे षड्ऋतु-सम्बन्धिनी लीलाएँ विशेष ध्यान देने योग्य है। प्रायः प्रत्येक लीला की पृष्ठ-भूमि के रूप मे उद्दीपन की दृष्टि से 'पद्माकरी शैली' मे ऋतु-वर्णन मिलता है। परन्तु इस प्रकार के कवित्तो में भैया साहब की भाषा का अलकृत, धारावाहिक निखरा हुआ रूप भी पाया जाता है। एक उदाहरण लीजिए :—

बौरन ते झौंरन ते भौंरन की दौरन ते, कोकिल की रौरन ते सुख सरस्यो परै॥
'बलवंत' त्रिविध समीर की झकोरन ते, काम की करोरन ते तन हरस्यो परै॥
माधुरी ते मधु ते मयंक की मयूखन ते, मन की तरंग ते उमंग दरस्यो परै॥
बनते, विहार ते, विनोद ते, विहंगन ते, बसन ते बासर बसंत बरस्यौ परै॥ —(वसन्त-ऋतुलीला, पृष्ठ १)।

श्रीमद्भाषाभागवत (दशम स्कध) ठीक गोस्वामी तुलसीदास की रामचरित मानस-शैली मे लिखित व्रज-भाषा काव्य है। कवि ने स्वय गोस्वामीजी की प्रेरणा और प्रभाव को माना है। यथा—

गुरु तुलसी पद नावहुँ माथा, जे षटमास रहे मम साथा॥

या तो निरन्तर षण्मास तक उन्होने 'मानस' आदि ग्रंथो का पारायण किया होगा अथवा स्वप्न मे गोस्वामीजी दर्शन देते रहे होगे। श्रीमन्त बलवन्तराव की इच्छा तो सम्पूर्ण भागवत को 'भाषा-बद्ध' करने की थी परन्तु समयाभाव के कारण वे ऐसा न कर सके। उन्होने स्वय लिखा है :—

ग्रंथ समस्त लिखन मन भाई। समयऽरु शक्ति करी लघुताई।
अमृत उदधि भागवत भारा। तामें कृष्ण चरित इक सारा।
सो समस्त निज मति अनुहारा। व्रजभाषा किय तजि विस्तारा॥

श्रीमद्भाषाभागवत की रचना-शैली में प्रौढ़ता है, प्रयोगात्मकता नही। कुछ प्रसगो मे तो कवित्व की अच्छी छटा पाई जाती है। उदाहरणार्थ—शरदऋतु वर्णन, रासपचाध्यायी, भ्रमरगीत आदि। यत्र-तत्र नवीन नवीन कल्पनाएँ, अलकृत सरस वर्णन बड़े चित्ताकर्षक प्रतीत होते है। उदाहरण के लिए प्रारंभिक मंगलाचरण ही लीजिए—

सुमिरत श्री गननाथ, सीस नमायो लेखनी। करत शब्द, यश गाथ, खींचत रेखा पत्र पर॥
मूक भई वाचाल, पाई दो रसना सरस। होवत कृपादयाल, माधव परमानन्द घन॥
लागी करन बखान, दोउ रसना सों एकरस। सुजस पुनीत महान, राधा-माधव को सरस॥

शिन्दे-राजवंश की हिन्दी-कविता

समस्त रचना इतनी सुन्दर है कि सुन्दर उदाहरण खोजने के लिए पाठक को श्रम न उठाना पड़ेगा। चौपाई छन्द में एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। गोपियाँ कृष्ण के विरह में कहती हैं —

हे सरोज, कहुँ स्याम निहारे। तुम सम नयन अमल अनियारे॥
कलिके, मौन कवन हित धारो। कहहुन कवन दिसागत प्यारो॥
हाहा पवन, पनो कछु दीजै। गोपिन प्राण दान जस लीजै॥
हे बरही, घनश्याम हमारे। बोलत सुने कतहुँ कहुँ प्यारे॥
मधुप चतुर कहोरे भाई। गंध जलज तन की कहुँ आई॥

भैया साहब की रचनाओं में कदाचित् लोक-प्रियता की दृष्टि से 'पदमाला' सर्वोपरि है। उसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। उसकी जन प्रियता का अनुमान इसी से हो सकता है कि ग्वालियर के गाँवों के रसिक भक्तों की जिह्वा पर भी उनके अनेक पद विराजमान हैं।

'पदमाला' में कवि के विभिन्न समयों पर रचित पदों को ग्रथित किया गया है। भक्ति एवं प्रेम के आवेश में जो मधुर भाव उनके कंठ से फूट पड़े वे ही उसमें संगृहीत हैं। इसकी रचना गीति-शैली पर हुई है। छोटे छोटे पदों में मनोरम भाव-मूर्तियाँ अंकित की गई हैं। श्रीमन्त भैया साहब एक अत्यन्त उच्चकोटि के संगीत-मर्मज्ञ ही नहीं, संगीतकार भी थे, और यही कारण है कि 'पदमाला' में विभिन्न राग-रागिनियों में सुन्दर गीत मिलते हैं। भावों की दृष्टि से यद्यपि यत्र-तत्र मौलिकता एवं नवीनता के दर्शन होते हैं तथापि गोस्वामीजी की विनय पत्रिका एवं सूरदास का प्रभाव कई पदों पर स्पष्ट लक्षित होता है। कुछ पदों में तो शब्दावली भी प्राय वही है। 'पदमाला' से एक उदाहरण लीजिए—

झूलें श्यामा श्याम सरस ऋतु पावस छाई॥धृ०॥
पुष्प-पराग मई भई धूरी, महक विपिन सरसाई।
मधुकर गुंजारव घन मानहुँ नारद बीन बजाई।
गीत मनोहर गोप-वधुन के कोकिल सुनत लजाई।
श्री दंपति झूलन छवि निसिदिन दृग 'बलवन्त' समाई॥

भारतेन्दु-युग के अन्तिम वर्षों में लावनियों और कजलियों का बड़ा प्रचार था। भैया साहब ने भी कदाचित् इसी कारण अनेक सुंदर लावनियाँ लिखी हैं जिनमें खड़ी बोली का प्रयोग किया गया है। परन्तु भाषाभिव्यक्ति की शैली में बड़ी मर्मस्पर्शिता है। यथा—

यह एक जिया कहिए वारूँ किस किस पै।
भृकुटी पै, भाल पै, कपोल पै तिल पै॥ इत्यादि।

'पदमाला' में उत्कृष्ट भाव, अलंकृत मधुर पदावली, तन्मयकारी संगीत के अतिरिक्त ऐसी मर्मस्पर्शी प्रासादिकता है कि उसके अनेक पद हृदय में घर कर जाते हैं। 'पदमाला' चिर-नवीन एवं चिर-सौन्दर्य-माधुर्य-समन्वित भाव-कुसुमों के कारण सदा प्रेमोन्मत्त भक्तों के कण्ठ की शोभा बढ़ाती रहेगी।

संक्षेप में, यही शिन्दे राजवंश की हिन्दी कविता को देन है। परिमाण एवं गुण दोनों की दृष्टि से उसका अपना महत्त्व है। काव्य-रचना के अतिरिक्त हिन्दी के प्रचार-प्रसार में भी उन्होंने सतत योग दिया है।

अत्यन्त हर्ष की बात है कि ग्वालियर के वर्तमान शासक श्रीमन्त जीवाजीराव महाराज भी हिन्दी की समुन्नति एवं प्रचार में अपने पूर्व-पुरुषों की भाँति ही तन-मन-धन से संलग्न हैं। प्रति वर्ष ग्वालियर के साहित्यिकों की कृतियों को पुरस्कृत कर हमारे प्रजा-वत्सल श्रीमन्त महाराज अपने हिन्दी प्रेम का परिचय दे रहे हैं। साथ ही, श्रीमन्त ने हिन्दी को राज्य-भाषा उद्घोषित कर वह कार्य किया है जो अन्यान्य देशी नरेशों के लिए भी अनुकरणीय है। अरबी-फारसी के भारी-भरकम शब्दों से लदी हुई देवनागरी लिपि में लिखित उर्दू के स्थान पर ग्वालियर के लक्ष-लक्ष नर-नारियों की हिन्दी को उसका उचित स्थान देकर हमारे श्रीमन्त महाराज ने जो कार्य किया है उसके लिए हिन्दी जगत उनका चिर-आभारी रहेगा। हिन्दी में कानून बनवाने के सत्प्रयत्न का उल्लेख हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में किया जाना चाहिए। निश्चय ही श्रीमन्त सरकार के इस अनुपम कार्य का महत्त्व वर्तमान की अपेक्षा भविष्य में अधिक आँका जायगा। हमें विश्वास है कि विक्रम शिन्दे विश्व विद्यालय की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योजना शीघ्र ही कार्य रूप में परिणत होकर वह शिन्दे-वंशावतंस की अक्षय कीर्ति एवं अखण्ड गौरव का कारण बनेगी।

उदयेश्वर

श्री कृष्णराव घनश्यामराव वक्षी, वी० ए०, एल-एल० वी०

ग्वालियर राज्य ने अपनी सीमाओ के भीतर अत्यन्त बहुमूल्य पुरातत्व-सामग्री को एकत्रित कर रखा है, विशेषत: मध्यकालीन स्थापत्यकला के जो बहुमूल्य नमूने यहाँ उपलब्ध होते हैं, उनके द्वारा संसार का कोई भी भूमि-खण्ड गर्व का अनुभव कर सकता है। मध्यकालीन तक्षण-कला के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि उदयेश्वर महादेव के मन्दिर का यहाँ संक्षिप्त वर्णन दिया जाता है।

असाधारण स्थापत्यकला का दिग्दर्शन करानेवाले प्राचीन भारतीय निर्माणो मे जी० आई० पी० रेलवे के बरेठ स्टेशन से लगभग ४ मील पूर्व स्थित उदयपुर ग्राम का यह उदयेश्वर अथवा नीलकंठेश्वर शिवालय अग्रगण्य है। बरेठ से उदयपुर को पक्की सड़क गई है यद्यपि जिले के केन्द्र भेलसा से उदयपुर जाने के लिए मोटर द्वारा यात्रा करने योग्य कोई मार्ग नही है।

पुरातत्ववेत्ताओं का ध्यान मध्यकालीन स्थापत्यकला ने पर्याप्त मात्रा में आकृष्ट नही किया। उस काल मे भारतीय स्थापत्य कला जिस पूर्णता को पहुँची थी, उदयपुर शिवालय उसका एक सुन्दर प्रदर्शन है।

फरगुसन ने अपने महान् ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर' में इस मन्दिर के सम्बन्ध में कुछ पंक्तियां लिखी है।

इस मन्दिर में शिव-लिंग की स्थापना की गई है। सन १७७५ ईसवी मे खण्डेराव अप्पाजी द्वारा इस लिंग का मानवाकृति का आवरण निर्मित कराया गया था। पुण्यश्लोक स्वर्गीय श्रीमन्त महाराज सर माधवराव सिन्दे ने इस प्राचीन स्मारक की सुरक्षा की दृष्टि से इसका आवश्यक जीर्णोद्धार कराया था।*

जनश्रुति के अनुसार इस शिवालय का निर्माण धारा नगरी के महाराज भोज के पुत्र उदयादित्य ने कराया था। इसी मन्दिर के विविध अभिलेखो से यह जनश्रुति प्रामाणिक सिद्ध होती है। महाराज भोज परमार वंश के थे और उन्होंने १०१५ से १०५५ ईसवी तक मालवा पर शासन किया। उनके पुत्र उदयादित्य ने एक अभिलेख में अपने पिता का यशोगान गौरव के साथ किया है और लिखा है कि उसने (उदयादित्य ने) अपने वंश के गौरव एवं समृद्धि में वृद्धि की है एवं अपने पूज्य पिता की स्मृति में उसके पराक्रम के चिन्ह के रूप में उस मन्दिर का निर्माण कराया है। अभिलेख में आगे लिखा है कि उदयादित्य ने इस मन्दिर के समीप उदयपुर नाम का एक नगर भी बसाया तथा एक जलाशय का निर्माण कराया और उसका नाम उदयसागर रखा। इस अभिलेख में उदयादित्य को उसके महान् निर्माणियो में के कारण 'अपर स्वयभू' कहा है और लिखा है--

स्वयंभूरपर श्रीमानुदयादित्यभूपति पुरेश्वर समुद्रादीनुदयोपपदा व्यधात ॥
किमन्यबहुभिर्वेदे किमन्यैबहुभि स्तव एकच्छत्रादिकवेदशास सर्व्वायसिद्धिद ॥
उत्कीर्णा श्लोका सूत्रधार श्री मधुसूदन भ्रातृधीरदेवेन। मगलम्महाश्री ॥‡

उदयादित्य के निवासस्थान को पीछे से मुसलमान शासको ने दफ्तर मे बदल दिया था। ऐसा कहा जाता है कि उदयादित्य के वंशज आगरा में निवास करते है और आज भी नन्दादीप का सम्पूर्ण व्ययभार वे ही वहन करते है।

वि० स० १५६२ की एक प्रशस्ति‡ से ज्ञात होता है कि इस मन्दिर के निर्माण का प्रारम्भ महाराज भोज की मृत्यु के ४ वर्ष पश्चात् सवत् १११६ वि० में हुआ था। एक दूसरे अभिलेख द्वारा ज्ञात होता है कि सवत ११३७ में निर्माण कार्य पूरा हुआ था और ध्वज-स्तंभ स्थापित किया गया था।†

---

* इसके सम्बन्ध में श्री० काशीप्रसादजी जायसवाल का कथन भी द्रष्टव्य है--"हमारे मध्यकालीन पूर्वजो से उत्तराधिकार में प्राप्त हुए आर्यावर्त के इस सुन्दरतम धार्मिक स्थापत्य की सुरक्षा के लिए सम्पूर्ण देश उस (ग्वालियर) राज्य का कृतज्ञ है। मानव ने अपने इष्टदेव के लिए इससे अधिक सुन्दर निवास स्थान अन्यत्र कहीं निर्मित नहीं किया है। पेशवाओ के अधीन मराठा शासको ने शतश भग्न देवमन्दिरो का जीर्णोद्धार कराया एवं उनमें पुन देवार्चन का प्रबन्ध किया। उनके एक सेनापति ने उदयपुर मन्दिर के शिवलिंग को स्वर्ण आवरण से अलंकृत किया। इस पुण्य कार्य की तिथि स्वर्ण पत्र पर अभिलिखित है। शेष स्वर्गीय महाराजा सिंधिया के लिए रहा, जिन्होंने सम्पूर्ण मन्दिर को उसकी विस्तृत प्रस्तर-खचित भूमि सहित जीवित हिन्दू मन्दिर के गौरव से युक्त किया।

जिस समय उदयेश्वर के मन्दिर द्वारा प्रदान किए गए कलात्मक एवं आध्यात्मिक आहार से मेरे नेत्र तृप्त हो रहे थे, मेरा हृदय ग्वालियर के स्वर्गीय शासक के प्रति कृतज्ञता से भर गया जिन्हे जानने का गौरव मुझे प्राप्त हुआ था तथा जो अनेक सत्कार्य करने के कारण हमारी पीढ़ी के महानतम भारतीय थे, जिनमें से एक है महाराज भोज के कार्यों से स्पर्धा करनेवाले शिवपुरी में महान सजल भारतीय जलाशय का निर्माण। (*Udayapur Temple of Malwa and its Builder*, by K P. Jayaswal, *The Modern Review*, *June* 1932)

‡ अभिलेख का चित्र साथ में है।

† एकच्छत्रो करोतुसमामुदायादित्य भूपति। इत्याद्य सिद्धिद वेद शासाम सर्व्वतोमृप॥

अमवारी मे प्राप्त शिव सिर, (पृष्ठ ६४२
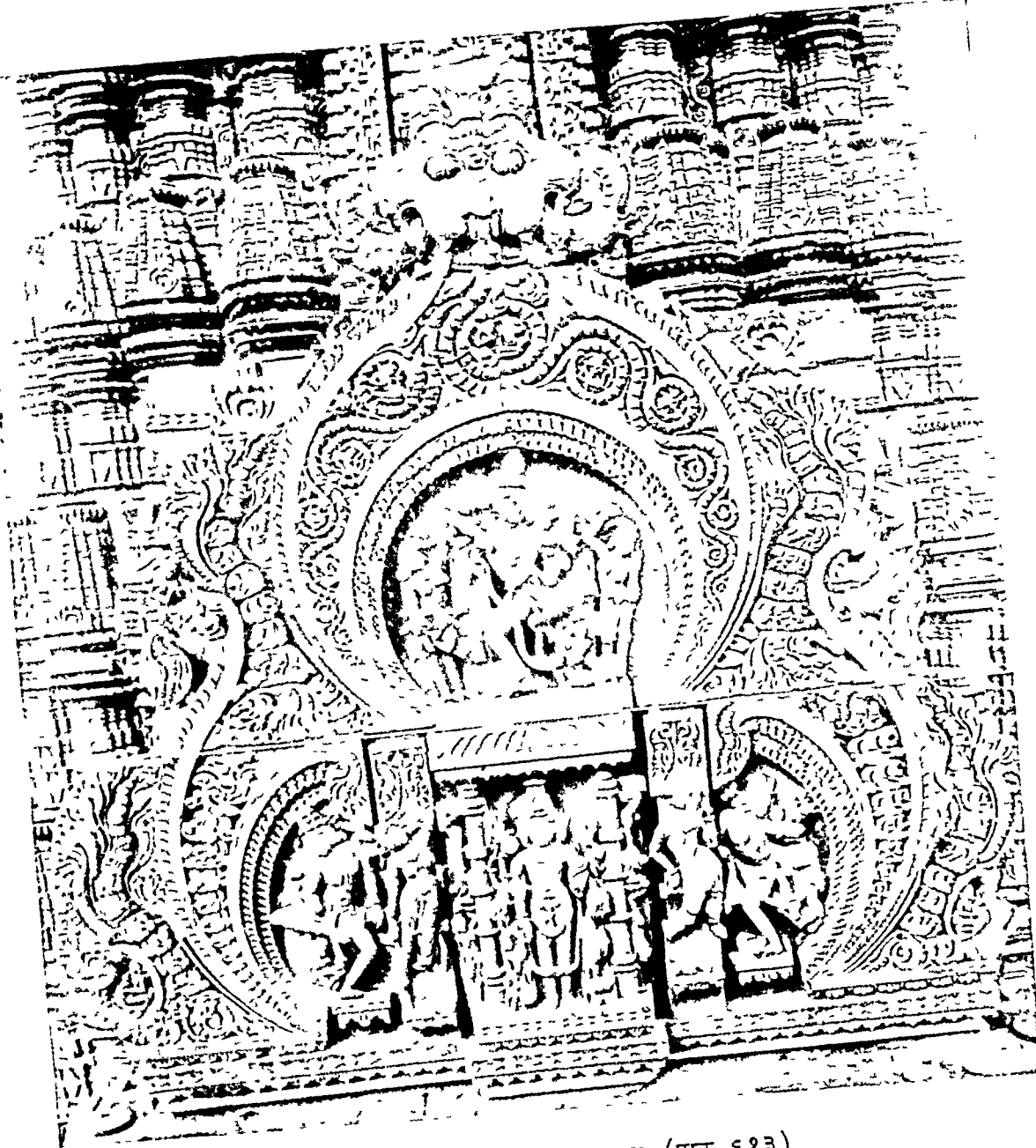
उदयेश्वर मन्दिर की महामुद्रा, (पृष्ठ ६१३)

उदयेश्वर पर मूर्तियाँ—विस्तार से, (पृष्ठ ६१२)
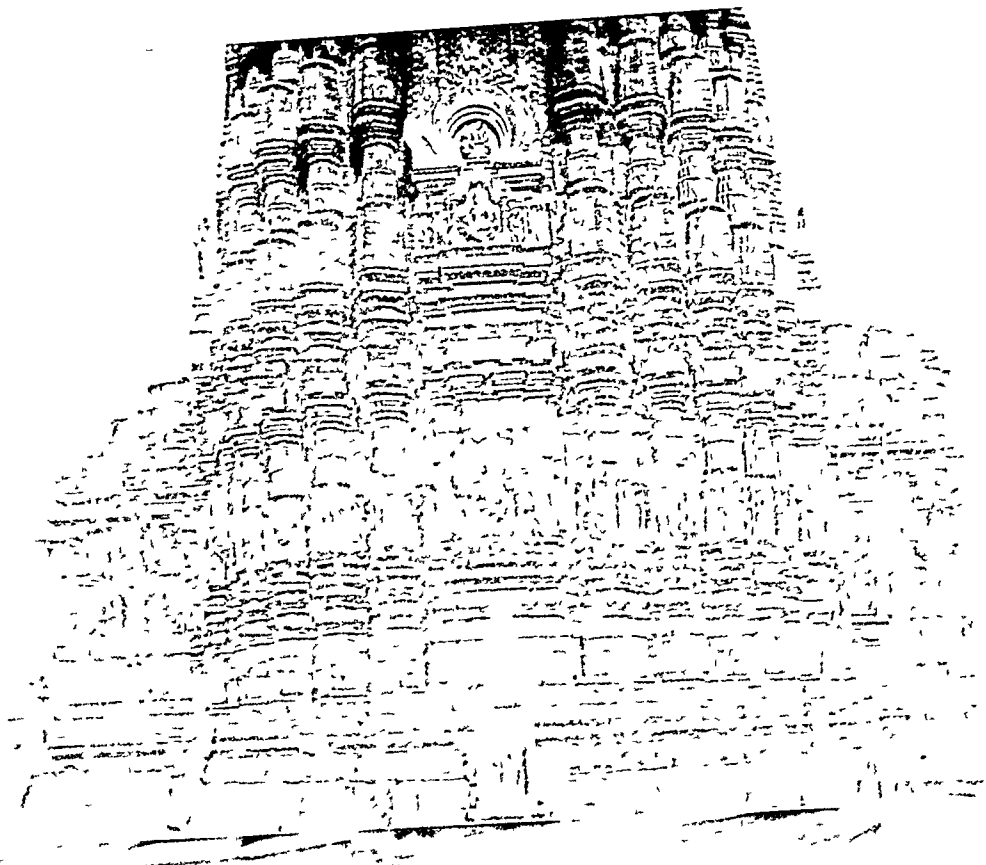
महिषमर्दिनी (पृष्ठ ६१३)
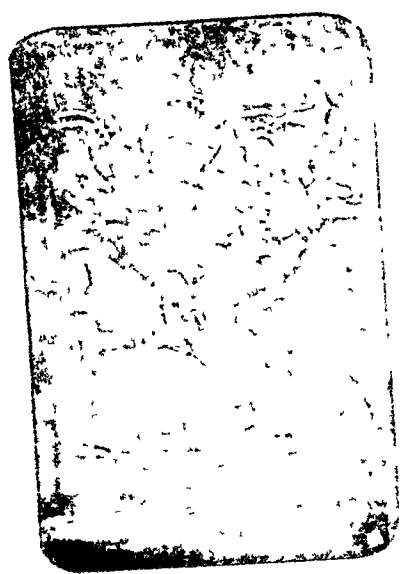
बागगुहा-चित्रावली (पृ
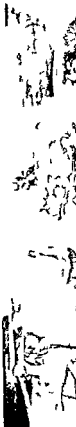
श्री कृष्णराव घनश्यामराव वक्षी

शिखर के शृंग के समीप एक मानवमूर्ति स्थापित है जिसका निर्माण ध्वजदण्ड ग्रहण करने के लिए हुआ था। यह मूर्ति इस सुन्दर मन्दिर को निर्माण करनेवाले कलाकार की समझी जाती है। स्वर्गीय श्री जायसवालजी के अनुसार यह आकृति स्त्री की है। नीचे से उसे देखने से यद्यपि यह मत निश्चयपूर्वक नही दिया जा सकता, उस मूर्ति की बनावट एवं प्रदर्शित अलंकारो से यह सूचित होता है कि वह मूर्ति स्त्री की हो सकती है। प्राचीन शिल्प मे विष्णु एव इन्द्र के ध्वज-दण्ड वहन करनेवाली के रूप मे स्त्रियाँ बहुधा प्रदर्शित की गई है।

यह मन्दिर विस्तृत खुले क्षेत्र मे ऊँची कुर्सी देकर लाल पत्थर से निर्मित किया गया है। यह प्रागण-भित्ति से घिरा हुआ है, जिसका विस्तार २१० × २१०' है और उसका बाह्य पार्श्व कलापूर्ण पत्थर की कटाई से अलकृत है। इस भीत के भीतरी पार्श्व मे इसी के तारतम्य मे पृष्ठाधार सहित पत्थर की मचिकाओ की पक्ति है। इस भीत मे प्रत्येक दिशा मे ऐसे चार द्वार है। पूर्व दिशा के द्वार के अतिरिक्त शेष सब द्वार आजकल बन्द कर दिए गए है। प्रधान मन्दिर को आठ छोटे देवालय घेरे हुए थे जिनमे से कुछ तो बिलकुल ही मिट गए है और शेष ध्वस्त अवस्था मे है। मन्दिर के सामने एक वर्गाकार बाह्य कोष्ट है जो वेदी कहलाती है। इसका यज्ञशाला के रूप मे अथवा नन्दी के, जो अब वहाँ नही है, आश्रय के रूप मे कदाचित उपयोग मे आता रहा हो। मन्दिर के पीछे भी एक ऐसा बाह्य-कोष्ठ था। किन्तु एक मसजिद बनाने के लिए मुसलमानों ने इसे नष्ट कर दिया।

मुख्य मन्दिर के दो भाग है, एक गर्भगृह कहलाता है दूसरा मण्डप। सभामण्डप मे तीन ओर तीन प्रवेश-अलिंद है और प्रधान प्रवेश-अलिंद पूर्व दिशा मे है। द्वारो के पार्श्व पर खुदाई का काम अत्यन्त सुन्दर किया गया है। पूर्व की दिशा के मुख्य द्वार का निर्माण ऐसा कलापूर्ण हुआ है जिससे उदीयमान सूर्य की किरणे देव-प्रतिमा को आलोकित कर सकती है। सभा-मण्डप की छत ह्रस्वकाय शैल जैसी दिखती है। मन्दिर का शिखर अपनी विशालता, अनुरूपता, सौन्दर्य एवं सौष्ठव से नेत्रों को तत्काल प्रफुल्लित करता हुआ गगनचुम्बीसा दृष्टिगत होता है। लम्बरूप पार्श्वो मे स्थापित सूक्ष्म अभिप्रायों की पुनरावृत्तियो से इसे अलंकृत किया गया है। देव एव देवियो की मूर्तियाँ महामुद्रा मे जड़ी गई है।

सभा-मण्डप २ फीट ९ इन्च के वर्गाकार तलवाले चार स्तम्भो पर उत्तभित है। तल से ५॥ फीट की ऊँचाई तक इन स्तभों की आकृति चतुष्कोण है और उसके पश्चात् ३ फीट ८ इन्च तक वे अष्टकोण है। इस अष्टकोण की प्रत्येक भुजा ११ इन्च है। इन स्तंभों का सबसे ऊपर का भाग जो १ फुट ३ इन्च है, गोल है। इस प्रकार स्तम्भो की कुल ऊँचाई १० फीट ५ इन्च है। ये स्तंभ अप्सराओ की मूर्तियों तथा अन्य शिल्पाकृतियो से आवृत्त है, जिनकी शैली मध्यकालीन वास्तु-कला की अनोखी विशेषता है।

मन्दिर का शिखर ३७ फीट ९ इन्च व्यास के वृत्ताकार आधार पर १६२ फीट ऊँचा है। शिखर के पूर्व भाग पर महामुद्रा का शिल्प अत्यन्त सुन्दर है। (देखिए पृष्ठ ६११ का रेखाचित्र)।

मन्दिर की लम्बाई ९९ फीट है तथा इसकी चौड़ाई ७२ फीट है। मन्दिर का बाह्य पार्श्व हिन्दूदेवी एवं देवों की शिल्पकृतियों से अलंकृत है। इनमें ब्रह्मा, विष्णु, गणेश एव कार्तिकेय आदि की मूर्तियाँ है। दिशाओं के आठ दिग्पाल अपने उचित स्थान पर स्थापित है। शिव एवं उनकी सहचरी दुर्गा की आकृतियाँ अनेक स्थलों पर अभिनिर्मित है। (इस मन्दिर की मूर्तिकला के लिए इस ग्रन्थ में मुद्रित चित्र देखिए)।

इस निर्माण में प्रयुक्त लाल पत्थर इतना उत्तम है कि यद्यपि लगभग ९०० वर्ष व्यतीत हो गए है, मन्दिर आज भी काल एवं प्रकृति के प्रहारों से अप्रभावित, पर्याप्त रूप से अच्छी स्थिति मे विद्यमान है। यहाँ दृष्टिगत होनेवाली वास्तु-निपुणता, अलंकरण एवं सौष्ठव से तुलना में श्रेष्ठ सिद्ध होनेवाला कोई मन्दिर उत्तर भारत में नहीं है।

उदयेश्वर

महादेव की परिक्रमा के लिए प्रयुक्त होनेवाले मार्ग के एक छोटे से अलिन्द पर एक अभिलेख में पढ़ा जाता है कि विध्वस्त किए गए देवालयों में से मुहम्मद तुगलक ने मसाला एकत्र किया और एक मसजिद बनवाई (१३३८ से १३३८ ईसवी तक)। उसने मुख्य मन्दिर के आसपास के छोटे देवालय नष्ट किए होंगे।

इस मन्दिर में अब तक लगभग ३८-४० अभिलेख पढ़े गए हैं। इनसे परमारों के वंशवृक्ष का तो प्रामाणिक ज्ञान होता ही है, साथ ही अनेक मनोरंजक प्रथाओं पर भी प्रकाश पड़ता है। दानी लोग देवालय को जब जब दान देते थे, मन्दिर के अभिभावक उनके उस दान धर्म को प्रस्तर पट पर अंकित करते रहे।

प्रायः एक सहस्राब्दी पूर्व निर्मित यह विशाल मन्दिर हमारे राज्य की अत्यन्त गौरवपूर्ण एवं बहुमूल्य सांस्कृतिक थाती है।
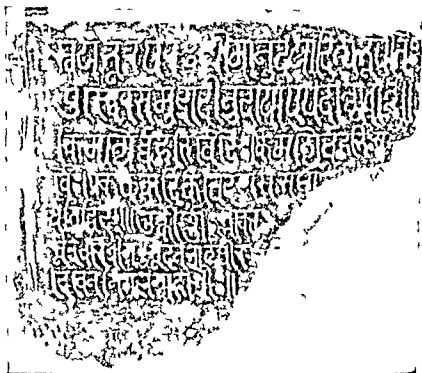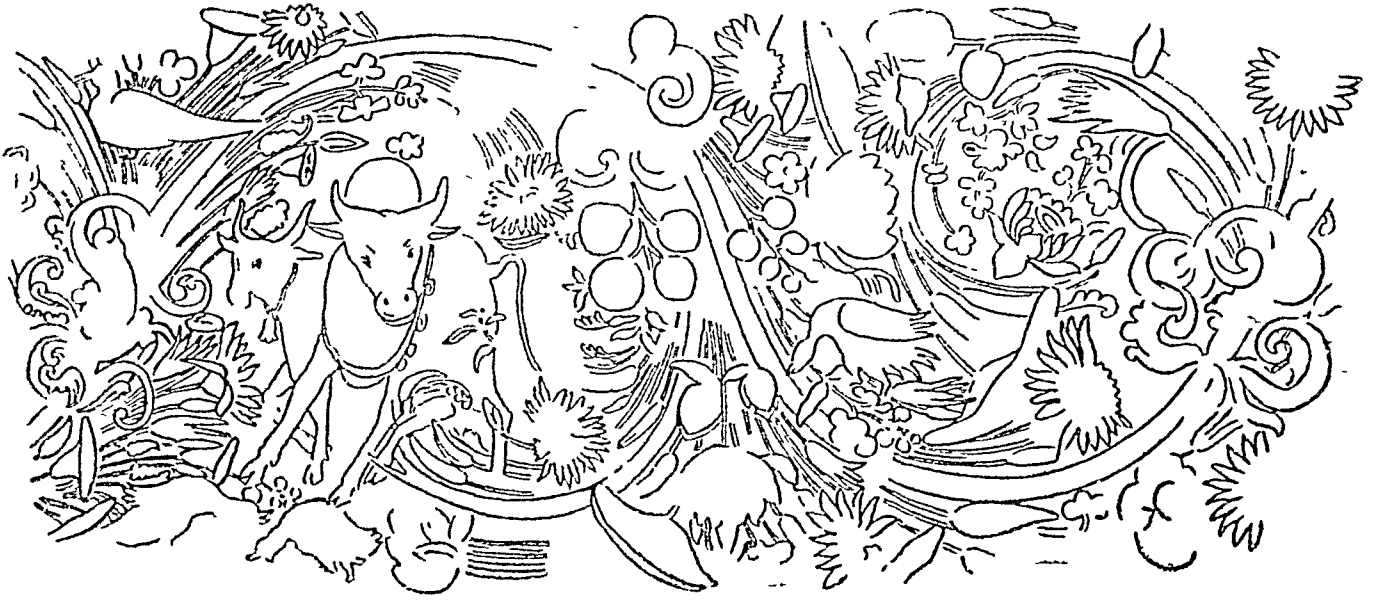
बाग गुहा-मंडप का चित्र-वैभव

श्री श्यामसुन्दर द्विवेदी, एम्० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न

आदि-काल से मनुष्य का मन भौतिक विश्व से अतृप्त रहकर अपनी सौन्दर्य-पिपासा को तृप्त करने के लिए कल्पित अमृत पीता रहा है। अपनी सोन्दर्य भावना के अनुकूल वह अपने अस्थिर स्वप्नो की सृष्टि करता रहा है। अपनी इस चिर-प्यास को बुझाने के लिए उसने पृथ्वी की गंगा से लेकर स्वर्ग की मन्दाकिनी के अन्तर तक को नाप डाला। कितने प्राचीन काल से, कितने सकेतो मे, कितनी भाषाओ मे, कितनी लिपियो मे तथा कितनी तूलिकाओ से, कितनी छेनियो से और कितनी लेखनियों से मनुष्य की इस अतृप्ति के चिह्न किन-किन रूपो मे अभिव्यक्त हो सके है? मनुष्य ने सोचा, वह अपनी इस अतृप्ति को ऐसा रूप दे जो अक्षय हो, नष्ट न हो, मरे नही, एक काल से कालान्तर तक चित्रित होता हुआ प्रवाहित होकर चलता रहे। अपनी इस सतत प्रवहमान-धारा को अक्षुण्ण एव निर्पक रखने के मोह से उसने अपनी कला-भावना को सस्कृति एव धर्म की शाश्वत गति मे लय करके उसकी अक्षुण्णता को सदैव के लिए सुरक्षित कर लिया। यही कारण है कि भारतीय कला मे सस्कृति एवं धर्म का ऐसा दृढ़ ग्रन्थि-बन्धन मिलता है जो जीवन से अधिक मृत्यु मे भी दृढ़ हुआ। निर्माण के सभी क्षेत्र काव्य, मूर्ति, चित्र सबमे युगयुगान्तर से यथार्थ-रेखाओ एव स्थूल रूपो मे अध्यात्म एव सूक्ष्म आदर्श की प्राण-प्रतिष्ठा होती चली आई है। धर्म की इस व्यापक प्रेरणा एव सस्कृति की दृढ पीठिका पर प्रतिष्ठित भारतीय-कला के प्रति मनुष्य ने अपनी विस्मयपूर्ण श्रद्धा एव भक्ति को ही प्रगट किया है। उसने कला की उपासना की है। मानव द्वारा रचित सोन्दर्य सृष्टि अपने से महान् सौन्दर्य के प्रति चिरकाल से करवद्ध नत है। इसीलिए भारतीय कलाविद् यह नही कहता कि मै जहाँ विहार एव आमोद-प्रमोद करता था उस स्थान को देखो अथवा निष्प्राण होकर जहाँ मै मिट्टी मे अस्तित्व खो चुका हूँ वहाँ मेरी महिमा को देखो। वह अपनी भोग-लीला की विज्ञप्ति नही चाहता। आज अशोक का प्रमोद-उद्यान कहाँ है? उसके राजभवनो के एक भी प्रकोष्ठ का चिह्न आज अवशिष्ट नही है। लेकिन जिस पुण्य-भूमि मे तथागत बुद्ध ने मानव-कल्याण एव दु.ख-निवृत्ति का आलोक पाया था, राज-चक्रवर्ती सम्राट् अशोक ने उसी निर्जन मे, उसी परम मंगल-मय स्मरण-स्थल मे कला एव सौन्दर्य के विस्मय-चिह्न अकित कर दिए। अपने भोग-विलास को इस प्रकार उपासना का अर्घ्य उसने कभी नही दिया। तो क्या उसके राज-मन्दिर इस प्रकार सुरुचि-सज्जित नही थे? किन्तु कहाँ है वे आज? हिन्दू राजाओं के विलास-गृह और उनके स्मृति-चिह्न कहाँ गए? जिनकी गौरव-गाथा गाने के लिए ये प्रमोद-उद्यान निर्मित हुए उनके साथ ही वे भी मिट्टी मे मिल गए। समय ने उन्हे विस्मृति की चादर से ढँक दिया। किन्तु दुर्गम पहाड़ो के गात्र

बाग गुहा मंडप का चित्र वैभव

में, निजन समुद्र के किनारों पर अथवा विस्तृत मरुभूमि के रेतीले मैदान में कितने देवालयों एवं कला-कौशल के विस्मय चिह्नों का अंकन हुआ है, इसकी भी कोई सीमा है ? युग के बाद युग खिसकते गए किन्तु आदि काल से चली आई कला की भूख-पुकार-विस्तृत होती चली गई, यह अन्तश्चेतना उसी प्रेरणा से स्पंदित होती रही। राजधानी के विशाल एवं सुरम्य नगरों को छोड़कर जंगल एवं दुर्गम पहाड़ों की कन्दराओं में कला एवं सौन्दर्य का यह समारोह क्यों रचा गया, इसका भी इतिहास कितना रोचक है ? अशोक जानता था कि उसे यदि 'देवताओं के प्रिय' की बात को युग युगान्तर की बात बनाना है तो उसे पहाड़ के शरीर में खोद देना चाहिए, इसलिए कि पहाड़ की अनन्त विद्यमानता निश्चित है। वह मरता नहीं, हटता नहीं, अनन्त काल तक, ईमानदारी से, पथ के किनारे अचल रूप से खड़े रहकर नव-नव-युग के पथिकों को वह अपने अंग पर उत्कीर्णित कथन की आवृत्ति करता रहता है। समय असमय के प्रभाव से मूक पहाड़ ने इस उत्तरदायित्व को जिस खूबी से निभाया वह विस्मयजनक नहीं तो क्या होगा। आज भी अपरिचित एवं विस्मृत अक्षरों में किसी अभिलेख का छोटा सा टुकड़ा शत शत शिलाखंडों के ढेर में अपना मस्तक उन्नत किए स-गौरव उस महावाणी को दुहरा देता है। कितने युगों के कषाघात सहे इन पत्थरों ने, किन्तु पथिक आज भी रास्ते के किनारों पर खड़े किसी शिलालेख अथवा स्तम्भ में देवताओं के प्रिय की एकान्त आराधना को देखने के लिए क्षणभर के लिए ठहर जाते हैं। सौन्दर्य-रचना में अपनी भक्ति-शक्ति को भगवान के मंगलमय रूप में निरोहित कर भारतीय-कला धन्य हुई। और यही कारण है कि हमने अति दुर्गम स्थानों में भी उन पावन स्थलों की रक्षा करने की चेष्टा की, फलतः एक पत्थर का भी नष्ट नहीं होने दिया। इसीलिए अजन्टा, ऐलोरा, हाथीगुफा और बाग गुफाओं में विस्तीर्ण प्रस्तर पर अंकित विशाल कला-साधना विश्व के इतिहास में नितान्त अतुलनीय है!

चलिए, इस भूमिका को यहीं पर छोड़कर अब हम बाग-गुहाओं की ओर मुड़ चलें। किसी सवेरे राजपूताना-मालवा रेल्वे पर स्थित महू स्टेशन से मोटर पर सवार होइए और पक्की सड़क पर राजा भोज की पुरातन ऐतिहासिक धारा-नगरी के गत-वैभव के बिखरे रजकण एवं अतीत की अस्पष्ट-स्मृतियों के खंडहरों पर एक दृष्टि दौड़ाते, दूर के सुहावने निर्जन निवृक्ष-मैदानों को चीरते हुए नब्बे मील का रास्ता तय कीजिए और बाग नाम के उस पथरीले स्थान में पहुँच जाइए जहाँ से दो-तीन मील की दूरी पर ऊपर पहाड़ियों में बाग का कला-वैभव छिपा पड़ा है। एकाएक देखने पर आप यह गुमान भी न कर सकेंगे कि यहाँ, इन्हीं ढेरों के अंधकार में, संसार की अप्रतिम कला-कृतियाँ छिपी पड़ी हैं। सड़क के किनारे स्थित डाक-बंगले में उतरकर मन को स्वस्थ एवं प्रफुल्लित हो लेने के बाद वहाँ के निवासी किसी जंगली भील से तलाश कीजिए कि 'बाग-गुहाएँ' कहाँ हैं, तो एक बारगी वह आश्चर्य में पड़कर आपको बताएगा कि जिन गुहाओं की आकर्षण-डोर से खिंचे खिंचे आप वहाँ तक पहुँचे हैं वे 'पांडव गुफा' कहलाती हैं। लेकिन 'पांडव-गुफा' का नाम सुनकर पौराणिक-गाथा की उलझन में पड़ने की आपको किंचित् भी आवश्यकता नहीं है। प्राचीन कला सृष्टि के खंडहरों के रहस्यमय अँधेरे में टटोलते-टटोलते मनुष्य जब कहीं आश्रय खोज पाने में समर्थ नहीं हो पाता तब उस ऐतिहासिक गहन रहस्यात्मकता में पौराणिक गाथाओं का आरोप कर सहज ही में अपनी जिज्ञासा की तृप्ति पा लेता है। इन गुहाओं में अंकित चित्रित बौद्ध दृश्यों एवं मूर्तियों को पहिचान लेने में जब मानव बुद्धि को किसी प्रमाण युक्त अभिलेख का सहारा उपलब्ध न हुआ, तब पांडवों के अज्ञात-वास के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ देना अत्यन्त स्वाभाविक हो गया। इस प्रकार के उदाहरण अन्यत्र भी सुलभ हैं, जिनका भ्रम निवारण उपयुक्त ऐतिहासिक अन्वेषण के बाद ही सम्भव हो सका। वस्तुतः इन गुहाओं का महा-भारत के पांडवों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन गुहाओं में बौद्धों के पवित्र 'विहार' एवं चैत्य हैं जिन्हें धर्म की प्रेरणा एवं कला की दृष्टि से निर्मित कर भारतीय श्रद्धालु कला विदों ने अपनी अपार श्रद्धा एवं कला प्रियता का परिचय दिया।

बाग गुहाओं का कल्कित प्रकृति के अनुकूल वातावरण ही में किया गया है। आसपास का पर्वतीय सौन्दर्य भी अत्यन्त सुषमा युक्त है। बाग गुफाओं तक पहुँचने में आपको बाग नाम की ही नदी मार्ग में दो-तीन बार उतरनी पड़ेगी। गर्मी के मौसम में इसके सूख जाने पर मोटर द्वारा भी ठेठ गुहा के द्वार तक पहुँचा जा सकता है। किन्तु, सर्पाकार घुमावदार रास्ते के सुरम्य दृश्यों का आनन्द लेना हो तो पैदल-यात्रा ही में आनन्द आता है। इन सुहावने दृश्यों को पार कर एक घुमाव के बाद प्रायः डेढ़सौ फीट की ऊँचाई पर वर्तुलाकार दीवार या कुछ दरवाजनुमा चौखटेवाला एक टीला पहाड़

में से आगे की ओर निकला हुआ प्रतीत होगा। नदी के तट पर स्थित व्यक्ति को यह विन्ध्य-श्रेणी किसी गगनचुम्बी विशाल प्रासाद के अवशेष-सी दिखाई देगी। उसकी ऊँचाई को देखकर सम्भव है आप पहिले ही थकान का अनुभव करने लगे, परन्तु सुविधा के लिए वाद मे बनी आधुनिक ढंग की सीढियों का सिलसिला एवं अन्त मे मिलनेवाली कला-निधि इस चढ़ाई की चिन्ता और श्रम को कम कर देगी।

सीढ़ियों के ठीक सामने एक द्वार है जो वाग की नौ गुहाओं मे से एक के प्रांगण मे ले जाकर आपको खड़ा कर देगा। यों प्रारम्भ ही मे बाहर से इस गुफा की विशालता को देखकर, जो साढे सात सौ गज की लम्बाई तक विस्तृत है, आप आश्चर्य मे पड़ जाएँगे। और उसमे प्रवेश होने के वाद उसके सुदृढ एव कलापूर्ण भव्य-स्तंभो की बारीकियो एवं कला-मूर्तियो के सौष्ठव युक्त अकन को देखकर तो आप हैरान हो जाएँगे। न जाने कितने मस्त शिल्पियो की सतत एव निःश्रेयस साधना के फलस्वरूप यह गुहाएँ अपना कलामय वेष, एव वैभव पा सकी होगी? और फिर क्या मजाल कि एक ही टीले के गर्भ मे प्रतिमाओ, स्तम्भों या छतो की खुदाई करते समय पत्थर का एक भी टुकड़ा कही आवश्यकता से अधिक या कम छिल जाए? सर्वत्र आपको एकसी सुरेखा, निश्चित कौशल एवं सुडौलता मिलेगी जो आपको विस्मय विमुग्ध किये विना न रहेगी। अवश्य ही समय के विध्वंसकारी प्रभाव के चरणो पर यहाँ का वहुत कुछ कला-वैभव चढ गया। किन्तु न खंडहरो के जो ध्वंसावशेष वच सके है वे अपने स्वर्णिम अतीत की गौरव-गाथा सुनाने के लिए अव भी पर्याप्त है।

कला-निर्माण के अपने स्वप्नों को साकार करने के लिए पूरी सावधानी के वाद भी सम्भवत: इन शिल्पियो को सर्वोत्कृष्ट चट्टान उपलब्ध न हो सकी। लेकिन भारतवर्ष के इस भू-भाग मे उनकी कला-साधना का कोई अमिट चिह्न न हो, इसे वे कल्पना मे भी नही ला-सकते थे। परिस्थितियों मे जहाँ भी अनुकूलता सुलभ हुई, उन्होने दृढ़ता से अपनी कला-साधना को साकार किया। गुहाओ के प्रवेश द्वार से घुमावदार चट्टान के किनारे-किनारे जरा पीछे की ओर हटते जाइए और आप पाएँगे एक पूरा खुदा दरवाजा; किन्तु केवल चौखटा, खुदी हुई गुफा नही। और पीछे हटिए तो आप दरवाजे की शक्ल का एक प्रयोग और पाएँगे। थोड़ा और पीछे हटकर आप छैनी से दरवाजा खोदने की तैयारी की रेखाएँ देखेगे। और यदि चट्टान के घुमाव के साथ किंचित् और वढे तो चट्टान पर छैनी से खुदी हुई अस्त-व्यस्त रेखाएँ भी आपको मिलेगी। रेखाओ से लेकर दरवाजे के चौखटे तक कलाकारो के ये वे परीक्षण-क्रम है जिन्हे चट्टान के भुरभुरी होने के कारण उन्हे कड़ी चट्टान की तलाश मे एक के वाद एक छोड़ देना पड़ा। जहाँ उन्हे सख्त आधार उपलब्ध हुआ वही से गुहा-निर्माण का कार्य प्रारम्भ हो सका।

वाग मे कुल नौ गुहाएँ है, लेकिन एक का दूसरे से कोई सम्वन्ध नही है। इन नौ मे से छह गुफाओ मे अन्दर जाकर देखा जा सकता है, किन्तु शेष तीन मे इतनी मिट्टी जमा है कि उसे साफ कराने के वाद भी कोई विशेष वस्तु उपलब्ध नही हो सकती, ऐसी मान्य पुरातत्ववेत्ताओ की धारणा है। इन छह गुफाओ मे से पहिली 'गृह-गुफा' के नाम से जानीजाती है किन्तु कलात्मक दृष्टि से यह अधिक महत्व की नही है। शेष पाँच गुहाओ मे ही वाग गुहाओ का समूचा कला-वैभव निहित है।

इसके वाद दूसरी गुफा 'पाडव-गुफा' के नाम से परिचित है। निर्माण-कौशल, श्रमशीलता एवं भव्यता की दृष्टि से यही गुफा सर्वाधिक सुन्दर एव सुरक्षित है। लगभग एकसौ पचास फीट के वर्गाकार प्रागण मे अव केवल छह स्तम्भो के अष्ट-पहलू स्तम्भ-पाद शेष है। धुएँ और चमगीदड़ो ने इसके चित्रो को पोंछ दिया है। प्रकाश और हवा के लिए तीन दरवाजे और दो खिडकियाँ है। खभो की महीन कारीगरी इस गुफा की विशेषता है। चौकोर स्तम्भो से लेकर चौवीस वाजू के स्तम्भ भिन्न-भिन्न शैलियो मे देखकर आश्चर्य मे डूव जाना पड़ता है। सवके स्तम्भ-पाद, स्तम्भ-दड और स्तम्भ किरीट भिन्न भिन्न शैलियो मे अकित किए गए है। कही घुमावदार, कही पेचदार, कही झुके, कही तिरछे और कही सुन्दर नक्काशी से कुरेदे विशालकाय स्तम्भों की पंक्तियाँ आश्चर्य की पुस्तक का एक-एक पृष्ठ आपके सामने खोलती चली जाएँगी। स्तम्भ-किरीटो पर जो भव्य खुदाई है वह ऐसी लगती है मानो किसीने अत्यन्त वारीकी से कुरेदी हुई लकडियो के वण्डल को नक्काशीदार फीते से वाँधकर वहाँ लगा दिया हो। अन्दर के प्रांगण की छत को वीस स्तम्भ उठाये हुए है और प्रत्येक पर वेल-वूटे और सुन्दर खुदाई का काम अत्यन्त मनोहारी है। कही-कही चैत्य के ध्वंसावशेष से भी मिलते है और वुद्ध दो वोधिसत्वो के साथ अकित किए गए है।

बाग गुहा मंडप का चित्र-वैभव

तीसरी गुहा 'हाथीखाना' कहलाती है, पर वस्तुतः यह हाथीखाना नहीं। कलाकारों की श्रमशीलता आप यहां भी पाएँगे। इस गुहा की सजावट एवं अवस्था को देखते प्रतीत होता है कि भिक्षु गणों में से विशिष्ट व्यक्तियों के रहने के लिए यह बनाई गई थी। यद्यपि अपनी वर्तमान स्थिति में यह गुहा निष्प्रभ-सी लगती है, परन्तु जो कुछ अवशिष्ट है, उससे सहज ही में इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि यहां का अंकन सजीव एवं सौष्ठवपूर्ण अंकन इसमें रहा होगा। इसके प्रांगण के गर्भ-मन्दिर में भगवान बुद्ध की एक रंगीन प्रतिकृति है और उनके चरणों में श्रद्धा से नत एक उपासक का भी अत्यन्त लालित्यपूर्ण अंकन उस स्थान के उपासना गृह होने का प्रमाण देता है। ऊपर की ओर शिखर की दो पंक्तियाँ हैं जिनमें से एक में क्रम से हाथी और शेर तथा दूसरी में सिंह एवं चैत्य का अत्यन्त सुगठित अंकन क्रम मिलता है। चैत्य में मनुष्य का आधा चित्र क्रम से भी चित्रित किया गया है। आर्मीनियन चित्रकार श्री वचडारीन ने इस गुहा के कुछ चित्रों की प्रतिकृति तैयार की है। उनमें दो स्त्रियों का एक अंकन अत्यन्त सुन्दर एवं भावपूर्ण है। चामर ग्राहिणी की भावभंगी एवं उसके शरीर की रूपरेखा अत्यन्त आकर्षक है। (प्रथम चित्र देखिए)

बाग-गुहा का वास्तविक वैभव और उसकी अमूल्य कला निधि चौथी गुहा है जिसे 'रंग-महल' के नाम से पुकारा जाता है। अन्य गुहाओं की तरह यहाँ की दीवालों पर भी पग-पग पर खड़े तथागत बुद्ध की वही सौम्य मूर्ति और उनके अनुचर पार्षदों के भक्तिपूर्ण की पंक्तियाँ पाएँगे। किन्तु इस गुहा में भी जो बोधिसत्त्वों के रंगीन चित्र श्री वचडोरीन ने तैयार किए हैं वे अजण्टा के विख्यात बोधिसत्त्व के चित्रण से इक्कीस ही हैं। इस ग्रंथ में केवल एक रंगा चित्र दिया जा रहा है, उसके मूल रंगीन चित्र की शोभा अवर्णनीय है।

बाग गुहाओं की जिस श्रेष्ठतम निधि का संकेत हम ऊपर कर आए हैं वह चार और पाँच नम्बर की गुहाओं में निहित है। दिवालों के जिस अनघड़ चित्र-फलक पर यहाँ रंगीन चित्रों की पंक्तियाँ हैं वे विश्व की अनुपम कलानिधियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। इन चित्रों में कलाकारों ने अनन्त परिश्रम के साथ रेखा-रेखा में अपनी आत्मा को मिलाया है। मानव हृदय में छिपी हुई मार्मिक भावनाओं की जिस प्रेरणा, एवं संवेदनात्मक अनुभूति के जिस गहरे रंग से इन चित्रों को आकार मिल सका है वे युग-युगान्तर तक विस्मय के चिह्न की तरह ही रहेंगे।

इन गुहाओं के सिलसिले में पहिले लगभग दो सौ बीस फीट लम्बा, बीस कलापूर्ण स्तम्भों पर टिका हुआ एक बरामदा था जो अब पत्थरों के ढेर में दबा है। परिणाम-स्वरूप चित्रों का अधिकांश भाग नष्ट हो गया और भाग्य से जो बचा वह प्रकृति के 'भाजन' के लिए खुला हो गया। किन्तु बात यहीं तक रहती तब भी ठीक था। यात्रियों की, चित्रों के नीचे अपने नाम कुरेदकर 'अमर' बन जाने की अत्यन्त घृणित मनोवृत्ति के कारण चित्रों का रहा-सहा सौन्दर्य भी नष्ट होता गया। आज तो तेल की चमक दिए बिना इन चित्रों के सौन्दर्य को मन पर उतारा भी नहीं जा सकता। किसी शृंखला के न जुड़ पाने के कारण उनके पीछे छिपी कथा-प्रेरणा का सूत्र भी इसीलिए उपलब्ध नहीं हो सकता।

उपर्युक्त कथित दो-सौ बीस फीट के बरामदे में से अब केवल पैंतालीस फीट का टुकड़ा बचा है। इन चित्रों में प्रायः नारी मूर्ति का रूप विन्यास एवं शृङ्गारिक रूप सज्जा जाग्रत रूप में देखने में आती है। यों पुरुषों के भी चित्र हैं, अश्व और गज का भी सुव्यवस्थित चित्रण उपलब्ध है, किन्तु नारी चित्रों की संख्या अधिक है। प्रथम चित्र ही नारी की कोमल अनुभूति से प्रेरित है—'सान्त्वना'। एक उन्मुक्त कक्ष में दो सुन्दरियाँ आसीन हैं। उनमें से एक दुःखातिरेक से अभिभूत हो अपनी सहेली के पास सान्त्वना की भीख मांगने आई है। एक हाथ से मुँह ढाँपकर जिस निस्तब्धता से वह अपनी वेदना को ध्वनित कर रही है वह आपकी भी सम्पूर्ण संवेदनीयता पर अधिकार कर लेगी। दूसरा हाथ उसने इस निपुणता से फैलाया, मानो उसके जीवन की सम्पूर्ण निराशा मूर्तिमन्त हो उठी हो। इन छोटी छोटी रेखा-मुद्राओं ने जिस मार्मिकता को व्यक्त किया है वह विस्मयजनक नहीं तो क्या है? सान्त्वना प्रदान करती हुई रमणी का मुख भी करुणाभिभूत है। बड़े कोमल दुलार एवं आत्मीय भाव को दरसाते हुए उसने उस विषादभरी देवी का सिर अपने पाणि-पल्लवों पर रख लिया है। नेत्रों से प्रेम एवं सहानुभूति का स्रोत जैसे उमड़ा चला आ रहा हो। चित्र को देखते ही उस अभागी दुःखिनी के विषाद के कारण को जान लेने की सहज जिज्ञासा आपको बेचैन कर देगी।

एक और भी कलापूर्ण रंगीन चित्र बाग गुहाओं में सुरक्षित है। 'शोभा यात्रा' 'नृत्य-दृश्य' चित्रों में तो अभिनय-सी मन्थरता परिलक्षित होती है। नृत्य-दृश्यों में जो चित्र अंकित हैं वे माधुर्य मंडित तो हैं ही, किन्तु निर्दोष भी हैं। उनमें

वासनाजनित चेष्टा न होकर उच्च-सस्कार जन्य जीवन की शाश्वत लय भी गतिशील है। नारी-रूप-सौन्दय का प्रतिष्ठान हमे जहाँ मिलता है, वहाँ वह सौन्दर्य और शक्ति की सात्विक गरिमा से भूषित होकर ही उपलब्ध होता है। आभूषणो के प्रयोग मे भी कलाकार की अभिनव परिकल्पना एव उन्नत परिमार्जित रुचि ने चित्रो की स्वाभाविकता को सुरक्षित रक्खा। चित्रों मे केश-कलाप और मुद्राओ का रेखाकण मुग्ध किए विना नही रहता।

'शोभा-यात्रा' वाले चित्र मे आप हाथी-घोड़ो का सुडौल एवं सुगठित अकन पाएँगे। अश्वारोही एव महावत का चित्रण मनोविज्ञान की अनौखी सूझ लिए है। कलाकार ने वेष-भूषा मे भी अपूर्व सावधानी का प्रयोग किया है। अश्व की चाञ्चल्यपूर्ण मुद्रा चित्रकार के सूक्ष्म अध्ययन की द्योतक है।

हाथी भारतीय-शिल्प-कला का एक प्रिय विषय रहा है। बौद्ध-चित्रों मे हाथी के प्रयोग का जो वाहुल्य मिलता है वह 'जातक' की भिन्न-भिन्न कथाओ से उद्भूत है। हम यहाँ उन कथाओ के भीतर प्रवेश करना अनावश्यक समझते है। किन्तु हाथी के चित्रण मे कलाकार ने इस सम्माननीय पशु के राजसी वैभव की सव जगह रक्षा की है।

इसी प्रकार दरवाजो के पार्श्व मे, चौखटो पर, शिखरों पर मुडेरो पर और छत पर कला के उत्कृष्ट नमूने मिलेगे। यक्ष-किन्नरो का गाते-वजाते हुए आकाश-मार्ग की यात्रा का भी दृष्य अत्यन्त सुन्दर है। मुंडेरो पर जिस लता-वल्ली का लहराता हुआ वारीक काम आप यहाँ पाएँगे वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। फल-पत्ते, पशु-पक्षी भी सर्वत्र कलाकार की कुशल-तूलिका का मृदु एव सधा हुआ स्पर्श पाते है। वाग गुफाओ मे जो डिझाइने प्राप्त है वैसी ही 'साँची' मे भी मिलती है।

पाँचवी गुहा का आकर्षण उसके ९४ फीट एक विशाल प्रागण मे है जिसमे स्तम्भो की मुग्धकारी रचना मिलेगी। छठी गुहा पाँच-दालान से युक्त है जो सम्भवत. रहने के लिए वनाई गई थी। इसमे मगल-घट की पक्ति विशेप प्रभावोत्पादक है। शेप तीन गुफाओ मे रोड़ो का ढेर पड़ा है।

रगीन चित्रो के निर्माण मे तत्कालीन चित्रकारो ने जिस कौशल का परिचय दिया वह आश्चर्यजनक है। चित्र बनाने की अपनी आधार-शिला को चिरस्थायित्व देने के लिए दीवारो को छेनी से खुरदरा वनाया गया। तदनन्तर गारे और चूने का ऐसा महीन पलस्तर चढ़ाया जिसने ऊपर खिंची हुई रेखाओ एवं आकृतियों की झाँकी तद्रूप भीतर भी उतार ली। आज भी जहाँ पलस्तर कुरद गया है, रगो एव रेखाओ की ज्यों की त्यो आकृतियाँ उनके अनुपम कला-कौशल के रहस्य को स्पष्ट कर देती है।

सव गुफाओ का पूर्ण रूप से अवलोकन कर लेने के वाद मानस-पटल पर कला-सम्वन्धी कुछ अमिट स्मृतियाँ अपने आप उतर आती है। यहाँ के कलाकारो ने भास्कर और तक्षणकला की जिस अनुपम धरोहर को आनेवाली पीढ़ियो के लिए सुरक्षित रखा, वह निश्चय ही अत्यन्त महिमामयी है। जिस किसी का भी अकन-चित्रण किया सवमे उपयुक्त सौष्ठव, मार्दव एव विविध मुद्राओं के आलेखन दर्शनीय ही नही स्तुत्य भी है। पशु-पक्षियो के उत्कीर्ण करने तक मे उन्होने प्रकृति-अध्ययन से काम लिया है। और इन सवसे अधिक वहाँ के चित्रो की अभिनव-अलौकिकता मुग्ध बनाने के लिए पर्याप्त है। भगवान् बुद्ध की वोधिसत्वो के साथ अकित मूर्तियाँ भी हस्त-कौशल के सुन्दर उदाहरण है। बुद्ध जीवन के ऐसे ही चित्र अजण्टा की प्रसिद्ध गुहाओ मे भी प्राप्त है किन्तु अजण्टा के कलाकन मे बुद्ध-जीवन की धार्मिक कथाओ का ही प्रसंग अधिकतर मिलता है। वाग-गुफा के कलाकन का प्रेरणा स्रोत इससे भिन्न है। मानवीय यथार्थ जीवन का जो स्पर्श यहाँ सुलभ है वह अजण्टा मे भी नही। कलाकारो ने अपने दैनिक-जीवन से इन उत्कृष्ट-कलांकनो के लिए प्रेरणा पाई। लेकिन चूकि वे भारतीय कलाकार थे इसलिए कला के मूल-स्रोत को विस्मृत नही कर सकते थे। इसीलिए उनकी यथार्थ रेखाओ मे धर्म और आध्यात्म का सूक्ष्म आदर्श अनायास उतरता चला आया। यह सच है कि अजण्टा के कतिपय भव्य चित्रो एवं मूर्तियों की तुलना मे वाग की कला समृद्ध नही है, फिर भी वाग के चित्रो मे अपना निजी व्यक्तित्व है। अजण्टा के चित्रो को अवलोकन कर लेने पर लगता है मानो कलाकारो ने दीर्घ अवकाश के साथ टुकड़ो-टुकड़ो मे अपना कार्य समाप्त किया। लेकिन, वाग के शिल्प दृढ सकल्प, निश्चित प्रेरणा-योजना एक लगन तथा नियत परिश्रम की देन है। वे एक ही समय मे प्रेरित और अकित किए-से प्रतीत होते है। सजावट यदि देखे तो अजण्टा वाग से वहुत पीछे रह जाएगी। विशालकाय स्तम्भों की रचना अपने एकाकी गुरुत्व की प्रतीक वनकर विद्यमान है। वेल-वूटों की दर्शनीयता एवं वारीक तक्षण-कला का जो

उत्कृष्टतम रूप बाग गुहाओं में सुलभ है वह अजण्टा में भी नहीं। यह अवश्य है कि चित्रों के निर्माण करने में यहाँ के कलाकार कुछ असावधानी कर गए। जिन पलस्तरों से प्रस्तर के 'कैनवास' को टिकाऊ बनाया था, वे वैसा नहीं कर पाए, इसीलिए वे अजण्टा से पहिले पुछ गए। लेकिन फिर भी यदि कला-नैपुण्य की तुलना की जाए तो अजण्टा एवं बाग गुफाओं में तूलिका की एकसी साधना, विषयों की व्यापकता, मुद्राओं का वैविध्य, सौष्ठव, माधुर्य, गति, लय एवं संगीत आपको इस विशाल कला साधना के प्रति श्रद्धा से नत कर देगा। भारतीय शिल्प और स्थापत्य की इन लालित्यपूर्ण कृतियों को देखते-देखते आप आत्म विभोर हो उठेंगे। बीस फीट लम्बा चलने वाला हाथियों का विराट् जुलूस इतना सजीव, सुन्दर एवं भावपूर्ण है कि चित्रकार के प्रति हमारे मन में असीम श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। हाथी को लेकर इस प्रकार की चित्रकारी भारत के अतिरिक्त और कहीं की गई है अथवा इस समय ऐसे चित्रकार मिल सकते हैं, इसमें सन्देह ही है।

इन बारीकियों की गहराई में अधिक न जाते हुए अब हम इसकी ऐतिहासिकता पर जरा दृष्टि निक्षेप कर लें। भारत का यह दुर्भाग्य रहा है कि अपनी प्राचीन ऐतिहासिक निधियों का पुष्ट प्रमाण उसे कभी सुलभ नहीं हो सका। मन्दिर, मठ, पुस्तकालय आदि या तो लूट लिए गए अथवा जला दिए गए। इसीलिए पग पग पर खोज के मार्ग में बैठी हुई अड़चनों का सामना करना पड़ता है। स्तूपों, शिलालेखों, दानपत्रों एवं सिक्कों से जो कुछ सहायता मिल सकती थी, वह भी नहीं मिल पाई—लोग प्राचीन लिपि को जो विस्मृत कर बैठे। और इस बीच ये प्रमाण के अभिलेख या तो 'देवताओं के अक्षर' या 'गढ़े धन के बीजक' अथवा 'सिद्धि-दायक' यन्त्र बन गए। बात यहीं तक रहती तब भी ठीक था। शिलालेखों को खुरदरे समझकर उनपर भंग पीसी गई, ताम्र-पत्र से बर्तन बन गए और सिक्कों ने आभूषण का रूप पाया। फिर भला विदेशी पुरातत्ववेत्ता क्योंकर भारतीय कला वस्तुओं को ईसा से पूर्व की मानकर सन्तोष करते? किन्तु प्रकृति की लीला भी विचित्र है। ध्वंस के विनाशकारी परिणाम के बावजूद भी अपने आँचल में वह सृजन के महान् तन्तु छिपाए रहती है। यदि हाल ही में प्राप्त एक ताम्रपट्टी बाग गुहा से उपलब्ध न होती तो इन गुफाओं के पाँचवीं सदी के पूर्व की होने में अनेक सन्देह करते। इस ताम्र-पत्र की लिपि ने गुफा की प्राचीनता को असंदिग्ध कर दिया। माहिष्मती के राजा सुबन्धु ने इन गुफाओं के बौद्ध निवासियों की जीविका एवं पूजा-उपासना के लिए जब कुछ गाँव प्रदान किए तब उसके प्रमाण में यह प्रशस्ति भी प्रदान की थी। इसके अतिरिक्त इन गुफाओं के सम्बन्ध में और कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। एक चित्र के नीचे अकेला 'क' अक्षर मिलता है जो किसी अभिलेख का अवशिष्ट है।

ये गुहाएँ कई दिनों तक उपेक्षित एवं अन्धकार में पड़ी रहीं। बाग गुहाओं को प्रकाश में लाने का श्रेय सबसे प्रथम लेफ्टिनेण्ट डेंगरफील्ड को, दूसरा डाक्टर इम्पी को, तीसरा कर्नल ल्युआर्ड को है। इनमें भी डाक्टर इम्पी का परिश्रम सर्वाधिक स्तुत्य एवं विशिष्ट है। इसके बाद बाग-गुहाओं की रक्षा और रचना का उत्तरदायित्व ग्वालियर राज्य के 'मोतीवाले महाराज' स्वर्गीय श्रीमन्त माधवराव शिन्दे के कर कमलों में आया। इन गुहाओं के जीर्णोद्धार में जिस अक्षय अनुराग, तथा अटूट लगन का परिचय एवं अपने राज्य की जिन समूची धन-जन सुविधा को सुलभ किया वह भारतीय अन्वेषण के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। श्री गर्दे महोदय के तत्वावधान में ग्वालियर के पुरातत्व विभाग ने जिस तत्परता एवं मनोयोग से अनुसंधान का कार्य किया वह भी स्तुत्य है। बाग गुफाओं के नष्ट होते चित्रों की प्रतिलिपियाँ तय्यार करने में शान्तिनिकेतन के श्री नन्दलाल बोस, लखनऊ कलामन्दिर के श्री असितकुमार हल्दार तथा रियासत ही के प्रतिभावान कलाकार श्री मुकुन्दराव भांड जैसे कलाविदों का सहयोग आमन्त्रित किया गया, यह पुरातत्व-विभाग की सावधानी का द्योतक है। इन चित्रों के नमूने ब्रिटिश म्यूजियम तक में प्रदर्शित हुए हैं। रंगीन चित्रों की मूल प्रतियाँ ग्वालियर म्यूजियम में हैं। बाग गुफाओं का पर्याप्त परिचय देने के लिए स्वर्गीय श्रीमन्त माधव महाराज की ही प्रेरणा से, सर जान मार्शल, बोगेल, हैवेल तथा डाक्टर कजिन्स जैसे मान्य कला मर्मज्ञों के सहयोग के साथ एक अत्यन्त सुन्दर एवं मूल्यवान पुस्तक का प्रकाशन भी किया गया जिसमें गुफाओं के भीतर बाहर के दृश्य और रंगीन चित्रों की प्रतिलिपियाँ भी प्रकाशित की गई हैं। खेद है कि उक्त प्रकाशन के पूर्व ही श्रीमन्त महाराजा माधवराव शिन्दे का स्वर्गवास हो गया। किन्तु कला मर्मज्ञता एवं ऐतिहासिक अनुसंधान के प्रति अतुल अनुराग वे अपने पीछे छोड़ गए। ग्वालियर के वर्तमान नरेश और उनका उज्ज्वल शासन भी कलानुराग की उस परम्परा का मनोयोग से निर्वाह कर रहा है।

बागगुहा मे प्राप्त ‿ब
तम्रशासन-पत्र (पृष्ठ ६

बागगुहा की भित्तियो पर ब
बोधिसत्त्वो के चित्र (पृठ

'रगमहल' में अंकित बलरे।

ग्वालियर का संगीत और तानसेन

नाट्यशास्त्र के उपरान्त लगभग एक सहस्र वर्षों का एक ऐसा समय है, जिसे कुछ इतिहासकार हिन्दू-संगीत का स्वर्ण-युग कहते हैं। परन्तु संस्कृत-साहित्य के महान युग में, जिसमें कि कालिदास और भवभूति ने अपनी उत्कृष्ट रचनाएँ की हैं, उस समय संगीत शास्त्र की क्या स्थिति थी, इसका तनिक भी ज्ञान नहीं होता। कारण, इस काल का कोई भी संगीत-ग्रंथ इस समय प्राप्य नहीं है।

लोचन-कवि की 'राग-तरंगिणी' पहला ग्रंथ है, जो संगीत के इस अन्धकार युग के बाद हमें प्रकाश-पथ पर लाता है। यह कब लिखी गई, इसका अभी ठीक ठीक निश्चय होना बाकी है। लेखक स्वयं अपना रचनाकाल ११६२ ईसवी सन देता है। परन्तु १४वीं शताब्दी से विद्यापति के गीत—देशी संगीत के उदाहरण स्वरूप उसकी १०० पृष्ठ की पुस्तक के ६२ पृष्ठ पूरे करते हैं। इसके बाद राजमहेन्द्री के तेलुगु ब्राह्मण सोमनाथ की लिखी हुई 'राग विबोध' पहली पुस्तक है, जिसमें भिन्न भिन्न रागों का और ध्यान के लिए उनके चित्रित स्वरूपों का संस्कृत में वर्णन है। दूसरी पुस्तक है दामोदर मिश्र की राग-दर्पण जो सन् १६२५ में लिखी गई। इसमें रागों के दृश्य स्वरूपों का पूरा उल्लेख है।

मुसलमानों के आने के साथ एक नई संस्कृति का आगमन हुआ, जिसके प्रभाव से भारतीय-संगीत में, विशेष कर उत्तर में, गहरे परिवर्तन हुए। नए वाद्य, नई शैलियाँ और नए रागों की सृष्टि हुई। इस समय तक हिन्दी, संस्कृत भाषा से आगे अपने साहित्य में बढ़ गई थी। यही समय था जब इस विषय की पुस्तकें हिन्दी में भी लिखी गई, जिनमें गंगाधर की 'राग-माला' और पन्नालाल, चुन्नीलाल की 'नाद-विनोद' और 'नाद चिन्तामणि' उल्लेखनीय हैं। इसी काल में अमीर खुसरो ने कव्वाली और सितार का प्रचार किया। जयदेव के प्रबन्धों के स्थान पर ध्रुपद व्यवहार में आया, जिसे ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर ने प्रौढ़ता प्रदान की।

सोलहवीं शताब्दी का प्रारम्भ विश्व के इतिहास में विभिन्न कला, उद्योग, विद्या उन्नति के विषय में क्रांतिकारी युग माना जाता है। संगीत की भी इस शताब्दी में आशातीत उन्नति हुई। केवल भारत में ही नहीं विश्व का संगीत-मंच मधुर लय-तालों से प्रतिध्वनित हो उठा। यदि उस समय भारत में महात्मा हरिदास, तानसेन, बैजूबावरे जैसों आदि का आविर्भाव हुआ, ठीक उसी तरह सोलहवीं शताब्दी का प्रारम्भ और सत्रहवीं शताब्दी का मध्य-काल यूरोप के भिन्न भिन्न देश में भी संगीत-कला में उचित विकास का समय हुआ है। इसी समय गियोवनी पिरल्युगी डी पलेस्ट्रीन इटली में गाग फ्रेडरीक हण्डेल जर्मनी में जोसफ हायडौन आस्ट्रिया में, फ्रेड्रिक फ्रेन्कोइस शॉपन पोलेण्ड में और फ्रेंच लिजट् हंगरी में अमर कलाकार हुए। जिन्होंने पुरातन संगीत की नींव पर आधुनिक इमारत का निर्माण किया।

वास्तव में देखा जाए तो वर्तमान भारतीय-संगीत का इतिवृत्तात्मक इतिहास पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही होता है। और इस सोलहवीं शताब्दी से ही ग्वालियर ने संगीत में प्रमुख-स्थान ग्रहण किया। महाराज मानसिंह तोमर, बाबा हरिदास, मोहम्मद गौस और मियाँ तानसेन ग्वालियर से ही सम्बन्धित थे। ग्वालियर का यह प्राचीन संगीत वैभव समस्त भारत के लिए स्पर्धा का आज भी विषय है। यथार्थ में तानसेन के नाम से भारतीय-संगीत अमर है। और जब तक विश्व में भारतीय संगीत का अस्तित्व रहेगा, ग्वालियर अपने केवल इस अतीत गौरव से अपना मस्तिष्क हिमालय के शृंगों सा उन्नत किए रहेगा। इन तानसेन के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, जिनमें से यहाँ हम कुछ प्रमाणिक एवं अत्यधिक प्रचलित जनश्रुतियों का विवरण देंगे, जिनसे इस महान कलाकार के जीवन पर प्रकाश पड़ेगा, एवं ग्वालियर के संगीत के सम्बन्ध में यथेष्ट जानकारी की सामग्री मिलेगी।

पं० गौरीशंकर द्विवेदी ने बुन्देलखण्ड वैभव के प्रथम भाग में तानसेन के विषय में लिखा है कि 'तानसेनजी ग्वालियर के निवासी और ब्राह्मण थे। आप स्वामी हरिदासजी के शिष्य थे। आपका असली नाम त्रिलोचन मिश्र था। आपके पितामह ग्वालियर नरेश महाराज राम निरंजनसिंह के दरबार में जाया करते थे, और तानसेनजी को भी अपने साथ ले जाते थे। इन्हीं महाराज राम निरंजनसिंहजी ने आपको तानसेन की उपाधि दी थी।

श्री शम्भुनाथ सक्सेना

गान-विद्या के गुरू आपके बैजूबावरे और शेख मोहम्मद गौस ग्वालियरवाले माने जाते हैं। शाही घराने की कन्या से विवाह कर लेने के कारण आप मुसलमान हो गए थे। कुछ लोगो का यह कथन है, कि शेख मोहम्मद गौस ने अपनी जिह्वा को तानसेन की जिह्वा से लगा दिया था, तब से अच्छे गायक और मुसलमान हो गए थे, किन्तु इस किंवदन्ती के पीछे सार नही जान पड़ता।

आपका जन्म प्राय. सं० १६०० वि० के लगभग हुआ था। आपका कविता-काल सं० १६३० वि० के लगभग माना जाता है। सूरदासजी ने आपके सम्बन्ध मे कहा है :—

विधना यह जिय जानके सेसहि दिए न कान। धरा मेरु सब डोलते तानसेन की तान।।

तानसेनजी ने भी सूरदासजी की प्रशसा मे यह दोहा कहा था:—

किधौं सूर कौ सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर। किधौं सूर कौ पद लग्यो, तन मन धुनत शरीर।।

आपन (१) सगीत-सागर, (२) राग-माला और (३) श्री गणेशस्तोत्र नामक ग्रथ की रचना की है। आपकी रचनाओ मे अभी तक अधिक उदाहरण प्राप्त नही हो सके हैं।

तानसेन के जीवन, कला-विकास, प्रारम्भिक राजाश्रय और सगीत गुणो के विषय मे अनेक जनश्रुतियाँ है, जो एक दूसरे से विपरीत है। केप्टन औगस्टर ने उस राजा राजा का नाम जिसके आश्रय मे तानसेन की कला का प्रारभिक-विकास हुआ, राजाराम बताया है, जबकि दूसरे रीवाँ नरेश रामचन्द्र बघेल का नाम लेते हैं। इसी प्रकार जहाँ श्री गौरीशकर द्विवेदी ने तानसेन का बाल्यकाल का नाम त्रिलोचन मिश्र लिखा है, वहाँ अन्य इतिहासकार तन्नू पाँडे बताते है। तानसेन की संगीत-कला के सम्बन्ध मे सर डब्ल्यूएनसली ने अपनी एक पुस्तक मे लिखा है—

'अकबर के वख्त मे तानसेन एक चमत्कारी गवैया हो गया है। एक दिन उन्होने ठीक दोपहर मे रात का राग गाया, तो उनके गाने की अद्भुत शक्ति से उसी समय रात हो गई, और राजमहल के चारो ओर अन्धकार हो गया।'

सन् १७९० ई० मे डाक्टर हण्टर और १८१० ई० मे मिस्टर लिलियड ने स्वय मियाँ तानसेन रचित रागमाला नामक पुस्तक, जो कदाचित आजकल अप्राप्य है, १९०७ मे प्रकाशित हुई थी, के आधार पर लिखा है—

तानसेन अन्त मे ग्वालियर मे जाकर समाधिस्थ हुए। ग्वालियर मे अब तक उनकी कब्र मौजूद है। कब्र पर एक इमली का पेड़ है। उसके लिए यह प्रसिद्ध है कि जो कोई उसकी पत्ती चबाता है, उसका कण्ठ-स्वर अत्यन्त मनोहर हो जाता है।

इस कथन की पुष्टि मे ग्वालियर राज्य के पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री० मो० ब० गर्दे ने लिखा है.—

Close by is the Tomb of Tansen, one of the nine gems of Akbar's Court and the greatest musician India has ever produced. He was a native of Gwalior and has found his last resting place near the place of his birth. There is a Tamarind-tree near the tomb, the leaves of which are chewed by the singers in the belief that they impart a sweet voice.

(*A Hand Book of Gwalior,* Page 42)

बम्बई प्रान्त के प्रसिद्ध नाद-विद्या-गुणी पारसी धनजीशाह पटेल राग 'सूह' की उत्पत्ति का विवरण देते समय अपनी 'कलावन्त' पुस्तक मे तानसेन के सगीत-चमत्कार के सम्बन्ध मे एक अद्भुत बात लिख गए है :—

'उस समय तानसेन केवल सम्राट् अकबर की सभा मे ही नही, बल्कि भारतवर्ष मे प्रसिद्ध गवैया हो रहे थे। ऐसे ही समय में ग्वालियर के प्रवीण सगीत-शास्त्री ब्रजनाथ दिल्ली पहुँचे। ब्रजनाथ ने बादशाह के सामने तानसेन को कई एक

ग्वालियर का सगीत और तानसेन

नाटचशास्त्र के उपरात लगभग एक सहस्र वर्षों का एक ऐसा समय ह, जिसे कुछ इतिहासकार हिन्दू-सगीत का स्वण-युग कहते ह। परन्तु सस्कृत साहित्य के महान युग म, जिसमें कि कालिदास और भवभूति ने अपनी उत्कृष्ट रचनाएँ की हैं, उस समय सगीत शास्त्र की क्या स्थिति थी, इसका तनिक भी ज्ञान नही होता। कारण, इस काल का कोई भी सगीत-ग्रथ इस समय प्राप्य नही है।

लोचन-कवि की 'काव्य-तरगिणी' पहला ग्रथ है, जो सगीत के इस अधकार युग के बाद हमें प्रकाश-पथ पर लाता है। यह कब लिखी गई, इसका अभी ठीक ठीक निश्चय होना बाकी ह। लेखक स्वय अपना रचनाकाल ११६२ ईसवी सन् देता है। परतु १४वी शताब्दी से विद्यापति के गीत—देशी सगीत के उदाहरण स्वरूप उसकी १०० पृष्ठ की पुस्तक के ६२ पष्ठ पूरे करते ह। इसके बाद राजमहेन्द्री के तेलगु ब्राह्मण सोमनाथ की लिखी हुई 'राग विबोध' पहली पुस्तक ह, जिसमें भिन्न भिन्न रागो का और ध्यान के लिए उनके चित्रित स्वरूपा का सस्कृत में वणन है। दूसरी पुस्तक है दामोदर मिश्र की राग-दपण जो सन १६२५ में लिखी गई। इसम रागा के दृश्य स्वरूपा का पूरा उल्लेख है।

मुसलमाना के आने के साथ एक नई सस्कृति का आगमन हुआ, जिसके प्रभाव से भारतीय सगीत में, विशेष कर उत्तर में, गहरे परिवतन हुए। नए वाद्या, नई शलिया और नए रागो की सृष्टि हुई। इस समय तक हिन्दी, सस्कृत भाषा से आगे अपने साहित्य में बढ गई थी। यही समय था जब इस विषय की पुस्तके हिन्दी म भी लिखी गई, जिनमें गगाधर की 'राग-माला' और पन्नालाल, चुन्नीलाल की 'नाद विनोद' और 'नाद चिन्तामणि' उल्लेखनीय हैं। इसी काल में अमीर खुसरा ने कव्वाली और सितार का प्रचार किया। जयदेव के प्रबधा के स्थान पर ध्रुपद व्यवहार में आया, जिसे ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर ने प्रौढता प्रदान की।

सोलहवी शताब्दी का प्रारम्भ विश्व के इतिहास में विभिन्न कला, उद्योग, विद्या उन्नति के विषय में क्रातिकारी युग माना जाता है। सगीत की भी इस शताब्दी में आशातीत उन्नति हुई। केवल भारत म ही नही विश्व का सगीत-मच मधुर लय-ताला से प्रतिध्वनित हो उठा। यदि उस समय भारत में महात्मा हरिदास, तानसेन, बजूबावरे जीनखाँ आदि का आविर्भाव हुआ, ठीक उसी तरह सोलहवी शताब्दी का प्रारम्भ और सत्रहवी शताब्दी का मध्य-काल यूरोप के भिन्न भिन्न देश में भी सगीत-कला मे उचित विकास का समय हुआ है। इसी समय गियोवेनी पिरल्युगी डो पलेस्ट्रीन इटली में गाग फेडरीक हण्डेल जर्मनी म जोसेफ हायडोन आस्ट्रिया में, फेड्रिक फेकोइस कॉपन पोलण्ड में और फ्रैंच लिजट् हँगेरी म अमर कलाकार हुए। जिन्होने पुरातन सगीत की नीव पर आधुनिक इमारत का निमाण किया।

वास्तव में देखा जाए तो वतमान भारतीय-सगीत का इतिवृत्तात्मक इतिहास पन्द्रहवी एव सोलहवी शताब्दी के प्रारम्भ स ही होता है। और इस सोलहवी शताब्दी स ही ग्वालियर ने सगीत में प्रमुख-स्थान ग्रहण किया। महाराज मानसिंह तोमर, बाबा हरिदास, मोहम्मद गौस और मियाँ तानसेन ग्वालियर से ही सम्बन्धित थे। ग्वालियर का यह प्राचीन सगीत वभव समस्त भारत के लिए स्पर्द्धा का आज भी विषय है। यथाथ म तानसेन के नाम से भारतीय सगीत अमर है। और जब तक विश्व में भारतीय सगीत का अस्तित्व रहेगा, ग्वालियर अपने कवल इस अतीत गौरव स अपना मस्तिष्क हिमालय के श्रृगा सा उन्नत किए रहेगा। इन तानसेन के विषय म अनेक किंवदन्तिया प्रचलित ह, जिनमें से यहाँ हम कुछ प्रमाणिक एव अत्यधिक प्रचलित जनश्रुतियो का विवरण देंगे, जिनसे इस महान् कलाकार के जीवन पर प्रकाश पडेगा, एव ग्वालियर के सगीत के सम्बन्ध में यथेष्ट जानकारी की सामग्री मिलेगी।

प० गौरीशकर द्विवेदी ने बुन्देलखण्ड वभव के प्रथम भाग म तानसेन के विषय में लिखा है कि 'तानसेनजी ग्वालियर के निवासी और ब्राह्मण थ। आप स्वामी हरिदासजी के शिष्य थे। आपका असली नाम त्रिलोचन मिश्र था। आपके पितामह ग्वालियर नरेश महाराज राम निरजनसिंह के दरबार में जाया करते थे, और तानसेनजी को भी अपने साथ ले जाते थे। इन्हा महाराज राम निरजनसिंहजी ने आपको तानसेन की उपाधि दी थी।

श्री शम्भुनाथ सक्सेना

गान-विद्या के गुरू आपके वैजूबावरे और शेख मोहम्मद गौस ग्वालियरवाले माने जाते हैं। शाही घराने की कन्या से विवाह कर लेने के कारण आप मुसलमान हो गए थे। कुछ लोगो का यह कथन है, कि शेख मोहम्मद गौस ने अपनी जिह्वा को तानसेन की जिह्वा से लगा दिया था, तब से अच्छे गायक और मुसलमान हो गए थे, किन्तु इस किंवदन्ती के पीछे सार नही जान पड़ता।

आपका जन्म प्राय. सं० १६०० वि० के लगभग हुआ था। आपका कविता-काल सं० १६३० वि० के लगभग माना जाता है। सूरदासजी ने आपके सम्बन्ध मे कहा है :—

विधना यह जिय जानके सेसहि दिए न कान। धरा मेरु सब डोलते तानसेन की तान॥

तानसेनजी ने भी सूरदासजी की प्रशंसा मे यह दोहा कहा था:—

किधौं सूर कौ सर लग्यो, किधौं सूर की पीर। किधौं सूर कौ पद लग्यो, तन मन धुनत शरीर॥

आपन (१) सगीत-सागर, (२) राग-माला और (३) श्री गणेशस्तोत्र नामक ग्रंथ की रचना की है। आपकी रचनाओं मे अभी तक अधिक उदाहरण प्राप्त नही हो सके है।

तानसेन के जीवन, कला-विकास, प्रारम्भिक राजाश्रय और सगीत गुणो के विषय मे अनेक जनश्रुतियाँ है, जो एक दूसरे से विपरीत है। केप्टन औगस्टर ने उस राजा राजा का नाम जिसके आश्रय मे तानसेन की कला का प्रारभिक-विकास हुआ, राजाराम बताया है, जबकि दूसरे रीवाँ नरेश रामचन्द्र बघेल का नाम लेते है। इसी प्रकार जहाँ श्री गौरीशकर द्विवेदी ने तानसेन का बाल्यकाल का नाम त्रिलोचन मिश्र लिखा है, वहाँ अन्य इतिहासकार तन्नू पाँडे बताते है। तानसेन की सगीत-कला के सम्बन्ध मे सर डब्ल्यूएनसली ने अपनी एक पुस्तक मे लिखा है—

'अकबर के वक्त मे तानसेन एक चमत्कारी गवैया हो गया है। एक दिन उन्होने ठीक दोपहर मे रात का राग गाया, तो उनके गाने की अद्भुत शक्ति से उसी समय रात हो गई, और राजमहल के चारो ओर अन्धकार हो गया।'

सन् १७९० ई० मे डाक्टर हण्टर और १८१० ई० मे मिस्टर लिलियड ने स्वयं मियाँ तानसेन रचित रागमाला नामक पुस्तक, जो कदाचित आजकल अप्राप्य है, १९०७ मे प्रकाशित हुई थी, के आधार पर लिखा है—

तानसेन अन्त मे ग्वालियर मे जाकर समाधिस्थ हुए। ग्वालियर मे अब तक उनकी कब्र मौजूद है। कब्र पर एक इमली का पेड़ है। उसके लिए यह प्रसिद्ध है कि जो कोई उसकी पत्ती चबाता है, उसका कण्ठ-स्वर अत्यन्त मनोहर हो जाता है।

इस कथन की पुष्टि मे ग्वालियर राज्य के पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री० मो० ब० गर्दे ने लिखा है.—

Close by is the Tomb of Tansen, one of the nine gems of Akbar's Court and the greatest musician India has ever produced. He was a native of Gwalior and has found his last resting place near the place of his birth. There is a Tamarind-tree near the tomb, the leaves of which are chewed by the singers in the belief that they impart a sweet voice.

(*A Hand Book of Gwalior*, Page 42)

बम्बई प्रान्त के प्रसिद्ध नाद-विद्या-गुणी पारसी धनजीशाह पटेल राग 'सूह' की उत्पत्ति का विवरण देते समय अपनी 'कलावन्त' पुस्तक मे तानसेन के सगीत-चमत्कार के सम्बन्ध मे एक अद्भुत बात लिख गए है :—

'उस समय तानसेन केवल सम्राट् अकबर की सभा मे ही नही, बल्कि भारतवर्ष मे प्रसिद्ध गवैया हो रहे थे। ऐसे ही समय में ग्वालियर के प्रवीण सगीत-शास्त्री ब्रजनाथ दिल्ली पहुँचे। ब्रजनाथ ने बादशाह के सामने तानसेन को कई एक

राग अतिरिक्त तानो के साथ गाने के लिए कहा। बादशाह ने आज्ञा दी, कि तुम दोनो में जो भी हारेगा, उसे हाथी के पैर के तले दबा दिया जावेगा और जीतनेवाले को मुह-मांगा इनाम मिलेगा।

'ब्रजनाथ ने 'लंक-दहन' राग का गाया जिसे सुनकर दरबार स्तब्ध रह गया। तानसेन विस्मय विमूढ़, हतवाक हो रहा। 'लंकदहन' राग के अलाप से श्रोताओ के मन में द्वेष की चिनगारियाँ उठने लगी, और हारे हुए तानसेन को मस्त हाथी के पैरतले दबा देने का हुक्म हुआ। तब एक प्रशस्त प्रागण में दिल्ली की जनता इकट्ठी हुई। तानसेन को इस जन्म से बिदा देने के लिए स्वय बादशाह भी उपस्थित हुए थे। जल्लादो ने घेरे के भीतर मस्त हाथी को लाकर खडा कर दिया।'

'तानसेन ने गम्भीर मुद्रा से सम्राट् और जनता से अन्तिम बिदा ली। फिर हाथी के सामने खडा हो गया। तानसेन का ढिठाई के साथ अपने सामने खडा होता देखकर हाथी ने उसके चारो ओर घेरा डालना शुरू कर दिया। वह अपनी मरोडदार सूड को कभी ऊपर, कभी नीचे करता हुआ फुफकारे मारने लगा। और ठीक उसी समय तानसेन ने 'सुहा' राग को छेड दिया। उस स्वशास्त्र तथा सुललित संगीत के सामने जनता मूर्ति की भांति खडी रह गई, और मस्त हाथी भी क्रमश परिवर्तित होने लगा। कभी तो वह आनन्द से हिलता, कभी वह स्थिर हो रहता, कभी वह अपनी सूड तानसेन के माथे पर प्रेम से फेरता। हठात् उस हाथी ने जोर से चीख मारी और पलभर में तानसेन को सूड से लपेटकर अन्तरिक्ष में झुलाने लगा। और इसके बाद धीरे से तानसेन को अपनी पीठ पर बिठाकर नाचने लगा। तत्पश्चात हाथी ने तानसेन को बादशाह के तख्त के पास सूड द्वारा उतारकर खडा कर दिया और शान्त भाव से चला गया। बादशाह ने प्रसन्न होकर तानसेन को पहले से ज्यादा इज्जत दी और पुरस्कार दिया।'

तानसेन के जीवन, उसके कला विकास तथा संगीत चमत्कार के सम्बन्ध में जितनी किंवदन्तियाँ है, उनमें जो सबसे अधिक प्रचलित और प्रमाणिक है उनके आधार पर यहाँ हम उनका क्रम-बद्ध संक्षिप्त में जीवन-चरित्र दिया जाता है —

बात सोलहवी शताब्दी की है। एक दिन ग्वालियर से लगभग पच्चीस मील दूर बेहट ग्राम के मकरन्द पाण्डे ग्वालियर के पास के खुले मैदान में टिके हुए हजरत मोहम्मद गौस से 'पुत्र-रत्न' का आशीर्वाद ग्रहण करने के लिए गए। फक्कड फकीर हजरत मोहम्मद गौस के आशीर्वाद से मकरन्द पाण्डे को पुत्र रत्न प्राप्त हुआ, जिसका कि नाम तन्नू रखा गया। लेकिन दुर्भाग्यवश फकीर के आशीर्वाद से प्राप्त यह लडका प्रकृति से ही मूक और गूगा था। कहते है जब तन्नू आठ वर्ष का था उस समय वृन्दावन के साधुओ की एक टोली बेहट ग्राम में आकर ठहरी। मकरन्द पाण्डे अपने भविष्य की आशा, स्वप्निल कल्पतरु-तन्नू को लेकर उन महात्माओ की टोली में गए और तन्नू के लिए वाणीदान मांगा। एक संयासी ने इस निस्वार्थ पितृवात्सल्य से प्रभावित होकर बताया कि पिता-पुत्र शिव पिण्ड पर नित्य दूध चढाया करें। मकरन्द पाण्डे ने उक्त विधि को अपने दैनिक-क्रम में ग्रहण कर लिया।

एक दिन जबकि वर्षा और अंधड के कारण रात्रि अत्यन्त भयानक और पिशाच-छायासी डरावनी प्रतीत होती थी, पिता-पुत्र अत्यन्त संकट से दूध मकल्पित कर अपनी दैनिक आराधना पूर्ति के हेतु चल दिए। और उसी दिन भगवान् शंकर की असीम कृपा से तन्नू को वाणी-दान मिला। तन्नू का स्वर अपनी अवस्था और समय के साथ मंजता गया। एक दिन हजरत मोहम्मद गौस ने मकरन्द पाण्डे के पास आकर अपनी धरोहर मांगी। पिता ने निसंकोच भाव से तन्नू को हजरत गौस के हाथ में सौंपते हुए कर्तव्य की वेदी पर वात्सल्य का बलिदान कर दिया। हजरत गौस ने प्रारंभिक संगीत-शिक्षा तन्नू को स्वय दी, बाद को बालक की प्रतिभा से प्रभावित होकर संगीत की शास्त्रोचित शिक्षा प्राप्त करने के हेतु अपने मित्र, मथुरा निवासी संगीत के तात्कालीन श्रेष्ठतम विद्वान् बाबा हरिदास के पास भेज दिया। बाबा हरिदास से विधिवत् संगीत शिक्षा प्राप्त कर तन्नू ने ग्वालियर के तोमर राजा मानसिंह द्वारा स्थापित संगीत शाला में भी विद्याध्ययन किया। मोहम्मद गौस की संगति में रहने के कारण तन्नू पाण्डे मियाँ तानसेन के रूप में परिवर्तित हो गए। इस प्रकार संगीत की पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर तानसेन रीवाँ नरेश रामचन्द्र बघेल के राज्य-दरबार में चले गए। रीवाँ के कलाप्रिय

श्री शम्भुनाथ सक्सेना

महाराज रामचन्द्र अपने संगीत-प्रेम के लिए प्रसिद्ध थे अतएव मियाँ तानसेन का वहाँ पर्य्याप्त आदर हुआ। अपनी कला के चमत्कार और हृदयस्पर्शी मधुर-कण्ठ के कारण वे महाराज रामचन्द्र के अन्तरंग अभिन्न मित्रों मे गिने जाने लगे। इब्राहीम सूर ने मियाँ तानसेन की संगीत-कला ख्याति से प्रभावित होकर अपने पास रखने के लिए निमंत्रित किया, लेकिन तानसेन ने सम्मान और प्रतिष्ठा से अधिक मैत्री को ही प्रमुखता दी, वे नही गए।

कहा जाता है, जब सम्राट् अकबर ने अपने शत्रुओ का ध्वंस कर साम्राज्य विकासक नवविधान मे भारत के श्रेष्ठतम् कलाकारो को दरबार से सम्बद्ध करने का सकल्प किया, उस समय तक सम्राट् के कला-पिपासु कर्ण मियाँ तानसेन की ख्याति और संगीत-पाडित्य के सम्बन्ध मे पर्याप्त सुन चुके थे। दरबार-गायक जीनखाँ का बागेश्वरी-गायन इस सम्बन्ध मे उसकी उत्कट इच्छा का विराम चिह्न न बन सका। सगीत के अद्वितीय रत्न की अनवरत खोज ने उसे तानसेन को पाने की अभिलाषा को और अधिक तीव्र कर दिया। तभी रीवाँ नरेश को सम्राट् द्वारा सन्देश भेजा गया कि तानसेन, अपनी अनिद्य सुन्दरी रानी और अमूल्य हीरा अविलम्ब सम्राट् की सेवा मे उपस्थित करदे। तानसेन ने अपने मित्र राजा रामचन्द्र से केवल स्वय विदा लेकर आश्वासन दिया कि वे सम्राट् द्वारा अन्तिम दो अनुचित माँगो की पुनरावृत्ति नही होने देगे। यथार्थ मे हुआ भी ऐसा ही। कलाप्रिय अकबर ने सगीत-सम्राट् को पाकर अपनी दो माँगो के अनौचित्य को स्वीकार कर लिया।

जनश्रुति है कि सम्राट् अकबर ने तानसेन के सगीत से विमुग्ध होकर अपनी प्रिय शाहजादी मेहरुन्निसा का पाणिग्रहण उनसे कर दिया, जिससे चार पुत्र और एक पुत्री प्राप्त हुई। कहते है जीवन मे आगे चलकर मियाँ तानसेन साम्राज्य से प्राप्त ऐश्वर्य मे लिप्त होकर अभिमान और दम्भ के शिकार हो गए। उन्होने राजाज्ञा निकलवा दी कि आगरा शहर मे जो कोई गाता हुआ निकलेगा वह तानसेन का सगीत-कला मे प्रतिद्वन्दी समझा जायेगा। उसे या तो तानसेन को संगीत मे पराजित करना होगा अथवा वह मृत्यु के घाट उतार दिया जावेगा। इस क्रूर राजाज्ञा के शिकार अनेक निरीह भोले प्राणी हुए। वे पकड़े गए और निरपराध होते हुए भी मियाँ तानसेन के दम्भ के कारण अक्षम्य समझकर भेड़-बकरियो की तरह तलवार के घाट उतार दिये गये। ऐसे ही अपराधियो मे साधुओं की एक टोली, जो भजनानन्द मे विभोर आगरा-नगर से निकल रही थी, पकड़ ली गई। वे सभी प्रतिद्वन्द्विता के लिए तानसेन के सम्मुख लाए गए। तानसेन ने टोड़ी रागिनी गाकर वन से मृगो की टोली को आकृष्ट किया। उनके मधुर कण्ठ से निकले हृदय-स्पर्शी स्वर ने विमुग्ध मृगो की टोली को सम्मुख ला खड़ा किया। तानसेन ने आगे बढ़कर अपने गले की रुद्राक्ष की माला एक मृग के गले मे डाल दी। और मृग-झुण्ड स्वर-लहरी के थमते ही वन्य-प्रदेश मे तिरोहित हो गया। मियाँ तानसेन ने गर्व से दीप्त होकर साधुओ की ओर देखा और साधुओ को अपने सगीत द्वारा पुनः उस मृग-झुण्ड को बुलाने के लिए ललकारा। लेकिन साधु-वृन्द सगीतज्ञ तो थे नही, वे भरसक प्रयास कर सकने पर भी अपनी जीवन-रक्षा करने मे सफलीभूत नही हुए—वे अपने संगीत द्वारा मृग-झुण्ड को न बुला सके। और तब वे बिना दया के, बिना किसी न्याय के मियाँ तानसेन की महत्त्वाकाँक्षा पर कुर्बान कर दिये गये। जब समस्त साधु कत्ल कर दिए गए, तो एक निर्बोध अल्प-वयस्क बालक के बलिदान की बारी आई, जोकि उसी समुदाय के साथ था। उस बालक को देखकर पत्थर से कठोर तानसेन के हृदय मे भी एक क्षीण ममत्व की भावना जाग्रत हुई।-वह बालक अपनी कमसिनी के कारण छोड़ दिया गया।

बालक का हृदय अपने पिता और स्वजनो की हत्या के कारण प्रतिहिंसा से अग्निपुञ्ज बन गया था। लेकिन वह नही जानता था, कि किस प्रकार इस जघन्य कार्य का बदला लिया जाये, किस प्रकार इस प्राणी का, जिसकी निरंकुशता और अमानवीय दम्भ ने उसके अपनो के प्राणो का अपहरण कराया है, मान-मर्दन किया जाए। एकाकी बालक आगरा के पार्श्व मे स्थित जंगल मे निर्वाक्य, बेसुधि-सा बढ चला। यही अनायास उसे बाबा हरिदास का स्वर्गसा सुरक्षित प्रश्रय मिला। बालक ने सन्त-सगीतज्ञ को अपनी दारुण पीडायुक्त कथा सुनाई, साथ ही तानसेन के दर्प स्खलन करने की प्रतिहिंसा भी छिपा नही रखी। बाबा हरिदास ने बालक को सगीत-दान देने का दृढ़ वचन दिया। बाबा हरिदास के सतत परिश्रम और बालक की प्रतिहिंसापूर्ण लगन के मिश्रण ने उसी बालक के रूप मे महान् संगीतज्ञ 'बैजू बावरे' को जन्म

दे दिया। बालक अपने जीवन की महत्त्वाकांक्षा का चरम-बिंदु परिलक्षित कर आगरा पहुँचा। उसका मानस विजय प्राप्ति की उमंगा से उन्मत्त सागर की उद्वेलित लहरासा हिलोरें ले रहा था।

आगरा 'बजू बावरे' के संगीत में डूब गया। जिधर से वह अपने मन्द्र विलम्बित-मृदु-स्वर में गाता निकल जाता, मेघाच्छादित-नभ में विद्युत-रेखा-सी कौंद जाती। तानसेन की आज्ञानुसार नियमोल्लंघन करनेवाले को पकड़ लिया गया। 'बैजू बावरे' ने आगरा में अपनी संगीत-लहरी छेड़ी थी और वह तानसेन का प्रतिद्वंदी था। तानसेन ने प्रतिद्वन्दिता में अपने पूर्व नियमानुसार टोडी गाई और मृगों का झुण्ड आ उपस्थित हुआ। उसने अपने गले की रुद्राक्ष की माला एक मृग के गले में पहना दी, और मृग-झुण्ड चौकड़ी भर कर गाना बन्द होते ही वन में विलीन हो गए। 'बैजू' ने अपना सितार सँभाला, रागिनी उठाई और फिर मध्यम-पंचम और सप्तम में आरोह-अवरोह के साथ स्वर भरा। उसकी स्वर-लहरी समुद्र की शान्त लहरों पर पूर्ण चन्द्र की ज्योत्स्नासी थिरक उठी। मृग-झुण्ड संगीत की ध्वनि में विभोर उसके निकट आ गया। अब बैजू बावरे की बारी थी। कहते हैं उसने संगीत के प्रभाव से पत्थर की शिला को पिघला दिया और उसमें अपने मँजीरे रख दिए। शिला संगीत के प्रभाव से पिघली थी, संगीत बन्द होते ही पुनः पत्थर के कठोर रूप में परिवर्तित हो गई। तानसेन से कहा गया कि वह अपने संगीत से मँजीरों को निकाल दें। संगीत-सम्राट् तानसेन ने निष्फल प्रयास किया लेकिन सफलता उनसे दूर खड़ी मुस्कराती रही। वे विजित थे और घोर पराजय उनके सामने मुँह फाड़े खड़ी थी। राजाज्ञा द्वारा वे मृत्यु-दण्ड के भागी थे। लेकिन बैजू को तो केवल उनके गर्व और थोथे दम्भ का अपहरण कर मानवीय शिक्षा देनी थी, उसने तानसेन को क्षमा कर दिया।

तानसेन के दीपक-राग के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि सम्राट् अकबर दीपक-राग सुनाने के लिए उन्हें एक बार विवश करने लगे। तानसेन ने पहले तो दीपक-राग से उदित होनेवाली भीषण विभीषिका सम्राट् के सामने वर्णन कर, निवृत्ति चाही। लेकिन उन्हें सम्राट की हठ के आगे नत हो जाना पड़ा। उनके दीपक-राग गाने के प्रभाव से महल के बुझे दीपक, कन्दील, फानूस जल उठे। लेकिन राग के साथ ही मियाँ तानसेन का सारा शरीर भी एक भीषण तपिश से झुलस गया। तानसेन की चिकित्सा के लिए सम्राट् ने कुछ भी उठा न रखा, लेकिन उनकी शारीरिक और मानसिक तपिश कम न हो सकी। अन्त में वे गुजरात चले गए। कहते हैं वहाँ अचानक एक दिन पनघट पर दो स्त्रियों ने मिलकर 'मेघ राग' गाना आरम्भ किया। राग के प्रभाव से आस-पास के आकाश पर सावन की-सी घनी काली बदरी छागई और वर्षा होने लगी। तानसेन ने इस वर्षा में स्नान किया और उन्हें अपनी असह्य वेदना और तपिश से मुक्ति मिली। जनश्रुति है कि तानसेन ने अपने तराना में जिन 'तोम-नाना' शब्दों को प्रयोग किया है, वह इन स्त्रियों के नाम के ही पर्यायवाची है। तानसेन ने दोनों स्त्रियों को आगरा चलने के लिए आग्रह किया। लेकिन इसके पहले कि वे आगरा आयें, अपने स्वजनों द्वारा मार डाली गईं। उनकी स्मृति में 'तोम-ताना' तानसेन की संगीत-पद्धति के साथ मानव जीवन में सुख-दुख की भाँति एकाकार हो गए।

संगीतज्ञ के अतिरिक्त तानसेन एक कुशल कवि भी थे। और अपने समकालीन अष्टछाप के श्रेष्ठ रत्न सूरदास के जबरदस्त प्रशंसक थे। कहा जाता है चक्षु-विहीन महाकवि सन्त सूरदास और संगीत-सम्राट् मियाँ तानसेन में पारस्परिक भेंट भी हुई थी। तानसेन की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्रों में कोई भी इस योग्य नहीं था जो उनकी कला का प्रतिनिधित्व करता हुआ उत्तराधिकारी होता। ज्येष्ठ-पुत्र विलासखाँ की मन प्रवृत्ति वैराग्य की ओर थी और इसी कारण वे गृह-परित्याग कर चले भी गए थे। जब तानसेन की मृत्यु हो गई, तो उनके उत्तराधिकार के लिए काफी संघर्ष और विवाद रहा। कहते हैं उन्हीं दिनों अनायास विलासखाँ भ्रमण करते हुए आ पहुँचे, और आपने टोडी-रागिनी गाकर अपनी श्रेष्ठता और उत्तराधिकार सिद्ध किया। इसी रागिनी को संगीत शास्त्र में 'विलासखानी' टोडी नाम से सम्बोधित किया गया है।

इस महान् संगीतज्ञ का मकबरा आज भी ग्वालियर में उसके गुरु हजरत मोहम्मद गौस के पास है। प्रत्येक वर्ष भारत के सुदूर प्रान्तों से अनेक प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन-उर्स में सम्मिलित होकर श्रद्धा से तानसेन और उनकी अमर

कला के प्रति श्रद्धाञ्जलि चढाते हैं। इन तानसेन ने ही भारतीय संगीत मे ध्रुपद, जोगिया, दरवारी, कान्हरा तानों को जन्म दिया। तानसेन यद्यपि अपनी गुरु-भक्ति एवं समकालीन यवन-संस्कृति से प्रभावित होकर मुसलमान हो गए थे, लेकिन उनकी जन्मजात मनोवृत्ति वैसीही अक्षुण्ण वनी रही, जिसका उदाहरण उनके रचे पदों से मिलता है—

(१) तेरे नैन लोने री जिन मोहे श्याम सलौने।
अति ही दीर्घ विसाल विलोकि कारे भारे पियरस रिझए कोने॥
वदन-ज्योति चन्दहूँ ते निर्मल कुच कठोर अति होने-वोने।
तानसेन प्रभु सों रति मानी कँचन कसौटी कसाने॥ (शिवसिंह सरोज से)

(२) वृन्दावन छाए भाई सरस वसन्त,
वासन्ती वसन, भूषन तन वसन्ती खेलत हरस वसन्त।
फूल-फूल वसन्ती, पंछी अलि दसंती, रङ्गचोरी रंग-रंग वरस वसन्त,.
हरि सहचरि हित कृपा, वृज जीवन पायोरी दरस वसन्त॥ वृन्दावन छायो॥२॥

(३) प्यारी फेंकत मूठ गुलाल, पिचकारी लिए रह गए तक मुख लाल।
वाकी छवि कछु कहत न आवे, पिय दृग भये हैं निहाल॥
सनये-सनये सरकन लागे, भिजई प्यारी वाल............................।
जुगल खेल लखि लखि वृज जीवन, अलि वजवत डफ ताल॥ (ईश्वरीप्रसादकृत तानसेन से)

तानसेन ने गीतो के अतिरिक्त सगीत के गुणो का भी काव्य मे वर्णन अपनी राग-माला मे किया है। उदाहरण के लिए नीचे हम कुछ दोहे दे रहे हैं—

(१) षर्ज प्रथम सुर मेघ पर, आनि होत है लीन। तानसेनि संगीत मत, जानि लेहु परवीन॥
(२) मध्यम सुर आसावरी, मिलत आनि वढ़ भाग। तानसेनि संगीत मत, जामे अवरन लाग॥

राग अलाप—कटिता रूपक छप्पना, अन्तर सुर हैं चारि। आलापन स्थान पै, तानसेनि जिय सारि॥
गमक लक्षण—कहो गमक सुर कम्प को, श्रवन चित्त सुख देत। मत संगीत के होत तव, तानसेनि करि लेत॥

सम्भवत: तानसेन की अद्भुत संगीत-कला एव ललित मधुर कण्ठ होने के कारण ही ग्वालियर-भूमि को संगीत-कला के सम्बन्ध मे ख्याति मिली। यह सत्य है, तानसेन से पूर्व राजा मानसिंह का एक नाम ऐसा आता है, जिन्होंने ग्वालियर मे ही संगीत की विधिवत् शास्त्रोचित शिक्षा देने का विद्यालय के रूप मे प्रवन्ध किया था। लेकिन तानसेन के नाम ने ही ग्वालियर को ख्याति को चरम-विन्दु वनाया, यही अधिक प्रामाणिक है। तानसेन के पश्चात् तो ग्वालियर के विषय में सर्व साधारण की एक धारणासी हो गई कि ग्वालियर का वच्चा भी यदि रोता है, तो स्वर में। लोगो की यह भी धारणा है कि ग्वालियर की भूमि मे, जहाँ तक संगीत का सम्वन्ध है, अद्भुत आकर्षण एवं लालित्य है।

इसी शास्त्रीय-तत्व प्रधान वैज्ञानिक संगीत के कारण ग्वालियर की पावन वसुधरा आज भी भारतवर्ष में अपना एक विशेष अस्तित्व रखती है। कवि रमाशंकर शुक्ल 'हृदय' ने इसी भावना से प्रेरित होकर ग्वालियर के प्रति अपनी एक कविता मे लिखा है:—

नश्वरता मिट गई यहाँ पर, तुझे अमर संगीत सुना कर।
तानसेन सोया है तुझ में प्राणों का मधु गीत सुना कर॥

---

* मालवाभिनंदनम् *

प० श्री गिरिधरशर्मा नवरत्न

सान्दीपनिर्यत्र बभूव विद्वा--
नाचार्यधुर्य श्रुतपारदृश्वा
छात्रत्वमासाद्य यदीयमात्त
कृष्णोऽपि कीर्ति शरदिन्दुरम्याम् ॥ १ ॥

श्रीमन्महाकालसुशोभिताङ्का
क्षिप्राप्रवाहैरभिवन्द्यमाना
पुरातनापीह सदा नवीना
विराजते विक्रमराजधानी ॥ २ ॥

श्रीकालिदासेन प्रगीयमाना
विराजमाना सकलै समृद्धे
श्रीविक्रमार्केण च पाल्यमाना
जयत्यवन्ती जगतीमवन्ती ॥ ३ ॥

य स्वमजाद्रु सदवाग्नितप्त
सुवर्णकाय कृतवान् स्वकायम्
आदर्शरूप स धरानृपाणा
श्रीविक्रमार्को नहि कस्य मान्य ॥ ४ ॥

द्वात्रिंशदा पुत्तलिका कलावत्—
कृता व्यराजन्त यदीय पीठे
श्रीविक्रमादित्यविभु कलाभृत्
स विस्मयानामपि विस्मयोऽभूत् ॥ ५ ॥

वेतालभट्ट खलु यस्य भट्टो
धन्वन्तरिर्यस्य च वैद्यराज
श्रीकालिदासादिबुधा कवीन्द्रा
स विक्रमोऽभून्नवरत्नशोभ ॥ ६ ॥

सम्पूर्णकामा सकलार्थदात्री
यस्मिन् प्रसन्ना हरसिद्धिरासीत्
यस्या प्रसादात् जनतार्तिहर्ता
कर्ता हिताना च स विक्रमोऽभूत् ॥ ७ ॥

पद्मावती यत्र विभाति देवी
तथैव यत्रास्ति च पार्श्वनाथ
श्वेताम्बराणा च दिगम्बराणा
यस्यामनेके खलु जैनसघा ॥ ८ ॥

यत्राभवद् भर्तृहरिर्महात्मा
यत्राभवत्सत्कविकालिदास
भूपोऽभवद् यत्र च विक्रमार्को
साऽवन्तिका विश्वपुरीषु धन्या ॥ ९ ॥

यस्या बभूवुर्बहवो नृपाला—
स्तेजोविशाला धृतकीर्तिमाला
तेषा तु नामान्यपि नामतोऽपि
निर्देष्टुमीशा न हि लेखिनी मे ॥१०॥

राज्य तनोत्यद्य तु भूमिपाल
श्रीमाधवात्मा स* जयाजिरार्य
सद्राष्ट्रनिर्माणमना नयाढ्यो
विद्यानुरागी प्रकृतिप्रियो य ॥११॥

जीयाच्चिर विक्रमराजधानी
जीयाच्चिर भूपतिविक्रमार्क
जीवाजिराजो जयतात् सपुत्रो
देव्यान्वितो† भारतभूपरत्नम् ॥१२॥

---

* स प्रसिद्ध अनेकगुणसम्पन्न जीवाजीनामा भूप ।

† महाराज्ञा विजयया अन्वित ।
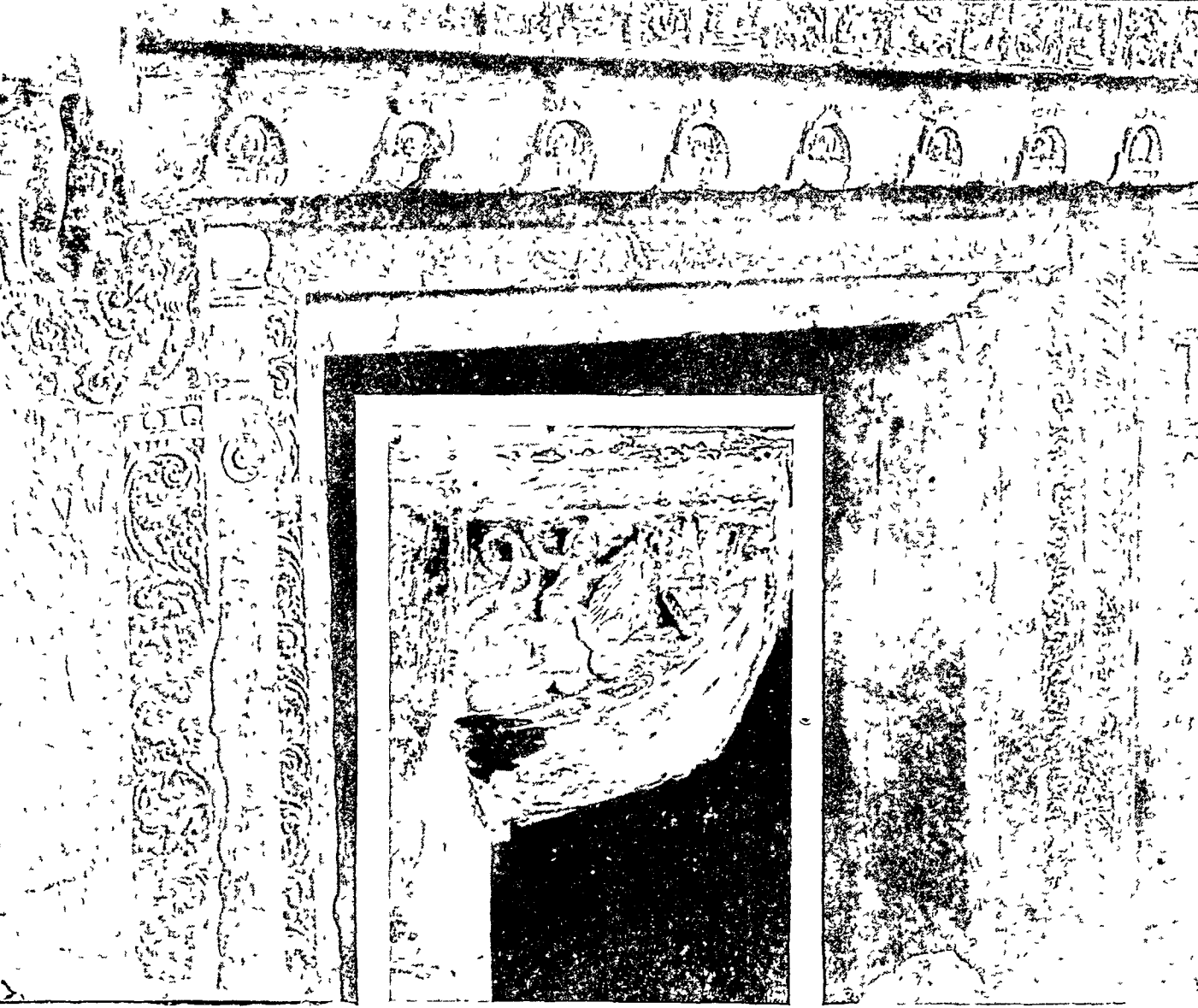
बागगुहा नं. ४ का द्वार
एवं
गुहा नं. २ में बोधिसत्त्व मूर्तियाँ

...त्र्या का मंदिर।

...हथिया पौर।
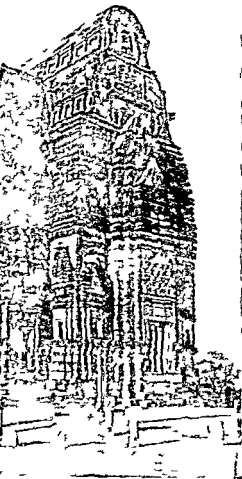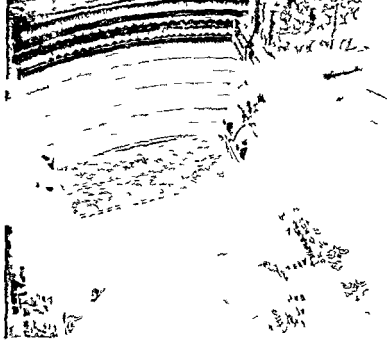
बडे सासबह के मंदिर की छत।

ग्वालियरगढ-चित्रावली
(पृष्ठ ६२९)

मानमंदिर।
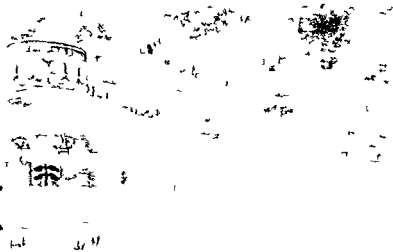
ग्वालियर दुर्ग

मेजर रईसुद्दौला राजाबहादुर श्री पंचमसिंहजी

भूतत्व के पडितो के मत मे पृथ्वी की प्राचीनतम चट्टान पर स्थित आज का 'ग्वालियर का किला', गोपाद्रि, गोपाचल एव गालवगिरि नामक सन्तो की साधना और गोपो की क्रीडा-भूमि से वदलकर भारत के सुदृढ़तम और अत्यन्त प्रख्यात् गढ़ के रूप मे कब और कैसे परिवर्तित हो गया, यह प्रश्न इतिहास एवं पुरातत्त्व के लिए तो महत्वपूर्ण है ही, प्रत्येक ग्वालियर प्रेमी के लिए भी अध्ययन के योग्य है। अपने दृढ स्कधो को गर्व से ऊँचा उठाकर शिन्दे सरकार के भगवाँ झण्डे को उच्चतर स्तर पर फहरानेवाले इस प्राचीन दुर्ग के प्रस्तर खडो के नीचे गुप्त साम्राज्य की गौरव-गाथाएँ, मिहिरकुल हूण और उसके साथियो की निर्दय स्मृतियाँ, वीर राजपूतो द्वारा सर्वाहुति देकर स्वाभिमान रक्षा की तथा राजपूत रमणियो की जौहरव्रत-उद्यापन की कथाएँ, महाराज मानसिंह और राई की गूजरी—परम सुन्दरी मृगनयना के प्रणय की कहानियाँ तथा अपने सुहृद् सगो द्वारा ही कैद किए गए तुरुक शहजादो के द्वारा काल कोठरियो मे किए गए हृदयद्रावक चीत्कार छिपे पड़े हैं। भले ही इस किंवदन्ती को लोग सत्य न माने कि सजीवनी वूटी लेने के लिए भरत के वाण के वेग के समान चलनेवाले हनुमानजी ने भी इस पर्वत पर विश्राम किया था, अथवा भगवान् राम को भी गालव ऋषि की इस तपस्थली पर अपना पुष्पक विमान रोकना पड़ा था, परन्तु यह तो इतिहास प्रसिद्ध है कि प्राचीनकाल मे दक्षिण भारत की विजयेच्छा रखने-वाला कोई वीर इस गढ़ को हस्तगत किए गए विना आगे नही वढ़ सका था। ग्वालियर के गौरव ऐसे महत्वपूर्ण इस गढ़ का सक्षिप्त वर्णन विक्रम-प्रदेश के परिचय के क्रम मे दिया जाना उचित ही है।

यह दुर्ग प्राय: उत्तरी और दक्षिणी भारत की सीमा पर स्थित है। अपनी विशेष स्थिति के कारण इस पर सदैव मानव-संघर्ष का ताण्डव-नृत्य होता रहा। ग्वालियर दुर्ग का निर्माणकाल अतीत के अन्धकार मे निहित है। इसका प्रारभिक इतिहास भी अवगत नही। जिस पर्वत श्रृखला पर यह दुर्ग स्थित है वह हिमालय से भी प्राचीन है। इसीसे अनुमान

लगाया जा सकता है कि हिमालय के अस्तित्व से से भी पूव इन चट्टानो पर मानव सघर्ष प्रारभ हुआ होगा। दुग के निर्माण के सम्बन्ध में कुछ किवदन्तिया भी हैं। कोतवाल (प्राचीन कुन्तलपुर) स्थान ग्वालियर से २० मील दूर उत्तर दिशा म है। एक किवदन्ती यह है कि किसी समय कोतवाल का सूरजसिंह सामन्त आखेट करता हुआ दैवयोग से इस पहाडी के शिखर पर पहुँच गया। जल की खोज में सामन्त का गवालय नाम के एक सन्त से साक्षात्कार हुआ। जल मांगने पर साधु ने जलाशय से पानी दिया। उसके पीने से सामन्त का कुष्ट अच्छा हो गया। सूरजसेन सामन्त साधु की दैवी शक्ति से बहुत अधिक प्रभावित हुआ और उसकी आज्ञा से गढ का निर्माण किया तथा उक्त जलाशय को बडा करके सुन्दर रूप में बनवाया। जलाशय का नाम सूरजकुण्ड रखा, और साधु की स्मृति में इस स्थान का नाम गवालियावर रखा। साधु ने सामन्त का नाम सूरजपाल रखा और भविष्यवाणी की कि जब तक उसके वशधरो के नाम के अन्त म पाल शब्द का प्रयोग होता रहेगा तब तक वे इस प्रान्त के शासक रहेंगे। इस वश के ८३ राजाओ ने इस प्रान्त पर शासन किया। अन्तिम राजा का नाम तेजकरन था जो दूल्हा भी कहलाता था। इस राजा के नाम के अन्त में पाल शब्द का प्रयोग नही हुआ था। इसको प्रतिहारो ने ११८६ वि० में पराजित किया। साधु की भविष्यवाणी सत्य हुई। परन्तु यह सब केवल किवदन्ती है।

ग्वालियर दुग के अस्तित्व का सर्व प्रथम ऐतिहासिक प्रमाण एक शिलालेख है। ग्वालियर की पहाडी पर स्थित मात्रिचेता* द्वारा निर्मित सूय-मन्दिर के एक शिलालेख मे ग्वालियर दुग का उल्लेख है। यह शिलालेख हूण शासक मिहिर-कुल के राज्यकाल के पन्द्रहवे वष का है। अतएव यह निश्चित है कि विक्रमी छठवी शताब्दी मे ग्वालियर दुग का अस्तित्व था।

दुग पर स्थित चतुर्भुज मन्दिर के दो शिलालेखो में भी ग्वालियर दुग का उल्लेख है। यह शिलालेख क्रमश ९३२ और ९३३ विक्रमी सवत के है। इन शिलालेखो से यह प्रकट है कि इस किले को उत्तरी भारत के प्रतिहार राजा मिहिरभोज ने जीतकर इसे कन्नौज राज्य में मिला लिया। विक्रमी सवत् की ११वी शताब्दी के प्रारभ में कछवाहा (कच्छप घात) वश के वज्रदामन नामक एक राजा ने ग्वालियर को कन्नौज के प्रतिहार वश के राजा से जीत लिया। कछवाहा वशी राजपूतो का शासन ग्वालियर दुग पर दो शताब्दी तक रहा। कछवाहा राजपूतो के राज्य में कला का विकास हुआ। इस वश के राजाओ ने कलाकारो को प्रश्रय एव प्रोत्साहन दिया। ग्वालियर दुग पर बहुत से मन्दिरो का निर्माण इन्ही के काल में हुआ।

कछवाहा के पश्चात ग्वालियर पुन प्रतिहारो की दूसरी शाखा के अधिकार में चला गया। सवत् १२८९ वि० में एक अत्यन्त करुणाजनक घटना घटित हुई। देहली के राजा अल्तमश के आधीन मुसल्मानो ने दुग के चारो ओर घेरा डाल दिया। राजपूतो और मुसल्मानो में घोर युद्ध हुआ। मुसल्मानो द्वारा दुग का विध्वस किया गया। राजपूतो की शक्ति क्षीण हो गई। किन्तु राजपूतो के लिए यह स्वतन्त्रता, सस्कृति और आत्म-सम्मान की रक्षा का प्रश्न था। राजपूत हथियार डालकर आत्म-समर्पण करने का लज्जाजनक उदाहरण अपनी भावी सतति के सामने नही रखना चाहते थे। दासत्व की अपेक्षा मर जाना उन्होने श्रेष्ठतर समझा। राजप्रासाद की रानियो ने दासियो सहित जौहर व्रत का उद्यापन किया। एक वृहत चिता बनाई गई, उसमें रानियो सहित सब राजपूत ललनाएँ जलकर भस्म हो गइ। राजा तथा उनके बचे हुए अनुचर योद्धा भी केसरिया बाना पहिनकर बाहर निकल पडे। उनके शौय से शत्रु सैनिक विचलित हो उठे। मुट्ठी भर राजपूतो से लडने के लिए विपक्षियो ने अगणित सेना झोंक दी। अन्त म राजपूतो के पराभव के साथ साथ ग्वालियर दुग अल्तमश के अधिकार में चला गया और १४५५ वि० तक दिल्ली के मुसलमान राजाओ के हाथ में रहा।

सवत् १४५५ वि० म तैमूरलग ने भारत पर आक्रमण किया। दिल्ली के राजा महमूद ने तमूर का सामना किया किन्तु हार गया। तीन दिन तक दिल्ली लूटी गई। महमूद के शासन प्रबन्ध में शिथिलता आगई। एक तोमर राजपूत वीरसिंहदेव ने अवसर पाकर ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। तोमरो का १६वी शताब्दी के अन्त तक दुग पर अधिकार रहा। तोमरो के समय में ग्वालियर प्रान्त की उन्नति हुई। प्रजा सुखी और समृद्धिशाली बनी। राजपूतो के शासन में सदव कला को प्रश्रय मिला है। डूगरसिंह तोमर ने भी धार्मिक निष्पक्षता के साथ कला को प्रोत्साहन दिया। दुग पर चट्टानो को काटकर विशालकाय जन मूर्तियो का निर्माण इसी के काल में हुआ। राजा मानसिंह तोमर ने १५४५ वि० से १५९३

वि० तक राज्य किया। मानसिंह के समय मे तोमर राजवंश अत्यन्त शक्तिशाली था। राजा मानसिंह स्थापत्य, शिलपकला तथा संगीत आदि ललित कलाओ के प्रेमी थे। इनके समय में दुर्ग की कला का कोष और भी समृद्धिशाली हो गया।

राजा मानसिंह की मृत्यु के पश्चात् दुर्ग इब्राहीम लोदी के अधिकार मे चला गया। इब्राहीम लोदी मुगलों द्वारा पराजित हुआ और दुर्ग पर मुगलों का आधिपत्य हो गया। राजपूत शक्ति के क्षय होने के पश्चात् दुर्ग के कलास्रोत का प्रवाह तो वन्द हो ही गया, युग युग के संचित कलाकोष मे से वहुत कुछ लुट भी गया। वावर वीर होने के साथ साथ प्रतिभाशाली था। वह अपने स्मृतिलेख लिखने के लिए प्रसिद्ध है। यह लिखते हुए दुःख होता है कि धर्मान्धता के कारण वावर ने कलाकार होकर भी कला का विध्वंस किया। सवत् १५८४ वि० मे जव वावर दुर्ग देखने आया तो उसने अपनी आज्ञा से वहुतसी जैन मूर्तियो के अंग भंग करा दिए। यह मूर्तियाँ प्लास्टर से अव वहुत कुछ ठीक कर दी गई है; परन्तु फिर भी उनमे वह सजीवता नहीं आ सकी जो मौलिक रूप मे थी।

हुमायू अधिक काल तक दुर्ग को अपने अधिकार मे न रख सका। हुमायू के शत्रुओ ने जव उसे भारत से विताड़ित कर दिया तो ग्वालियर दुर्ग शेरशाह सूर के अधिकार मे चला गया। १६१६ वि० मे अकवर ने पुनः दुर्ग को जीत लिया। इसके पश्चात् ग्वालियर दुर्ग लगभग २०० वर्ष तक मुगलो का रहा। मुगलो के समय मे यह दुर्ग प्राय: राजवन्दियो के रखने के काम मे लाया गया। औरंगजेव का भाई मुरादवख्श इसमे वन्दी रहा।

१८११ वि० मे मराठो ने दुर्ग को हस्तगत कर लिया। १८३४ वि० मे यह दुर्ग महाराजा महादजी शिन्दे के अधिकार मे आया और इसी समय से शिन्दे राजवंश का सम्वन्ध इस दुर्ग से हुआ। मेजर पोफम ने १८३७ वि० में अचानक दुर्ग पर अधिकार कर लिया और १८३८ वि० मे गोहद के राजा छत्रपतिसिंह को दे दिया, किन्तु दो वर्ष पश्चात् ही महादजी शिन्दे के सेनापति खंडेराव हरिने इसको छीन लिया। मराठो के दूसरे युद्ध मे १८६१ वि० मे जनरल ह्वाइट ने दुर्ग को जीत लिया, किन्तु एक वर्ष पश्चात् सन्धि हो जाने पर पुनः वापिस कर दिया। महाराजपुर की लड़ाई के पश्चात् दुर्ग पर ब्रिटिश सेना का अधिकार रहा। किन्तु महाराजा जयाजीराव शिन्दे के वयस्क होने पर उन्हें वापिस कर दिया गया।

संवत् १९१४ के वात्याचक्र का झोका इस गढ़ को भी लगा और कुछ समय के हस्त परिवर्तन के पश्चात् यह किला शिन्दे राजवश का हो गया।

स्वर्गीय महाराजा माधौराव शिन्दे ने इस किले को विशेष गौरव प्रदान किया। उन्होने इस युद्ध-मन्दिर को सरस्वती-मन्दिर मे परिणत कर दिया। सामन्तो की सन्तति की शिक्षा के लिए दुर्ग पर सरदार स्कूल की स्थापना की जिससे सामन्तगण ज्ञान का पवित्र प्रकाश पा सकें और संसार की गति के साथ चलकर अपना विकास भी कर सके। हमारे वर्तमान प्रजावत्सल श्रीमन्त महाराजा जीवाजीराव शिन्दे के समय मे अव यह विद्या-मन्दिर सर्व-साधारण के निमित्त खोल दिया गया है और श्रीमन्त स्वय इसमे वहुत दिलचस्पी लेते है।

इस सक्षिप्त ऐतिहासिक सिंहावलोकन के पश्चात् अव हम इस किले की रूपरेखा का वर्णन करेगे।

ग्वालियर दुर्ग प्राय: १०० गज ऊँची पहाड़ी के ऊपर स्थित है। उत्तर-दक्षिण इसकी लम्वाई पौने दो मील है और चौड़ाई पूर्व-पश्चिम ६०० फीट से लेकर २८०० फीट तक है। दुर्ग की प्राचीर १० गज ऊँची है जो पहाड़ी के टेढेमेढ़े किनारों पर स्थित है। दुर्ग की पहाड़ी के पूर्वी भाग से वहुत काल तक पत्थर निकाला गया है। पत्थर की इन खानो के कारण पूर्वी भाग मे वड़ी वड़ी कन्दराएँ वन गईं और नीचे से वडे वड़े शिलाखण्ड लटकते हुए दिखाई देते है। ऐसा प्रतीत होता है कि लटकती हुई चट्टाने टूटकर गिरना चाहती है। राजा मानसिंह के महल की उत्तुंग मीनारे और गुम्मटें, दुर्ग की महानता की ओर मानव-समाज का ध्यान आकर्षित करती है और मध्य मे युग-युग की भूरी काई से आच्छादित अनेक वृहत् हिन्दू मन्दिर हिन्दू सभ्यता की श्रेष्ठता की घोषणा-सी करते है। ग्वालियर दुर्ग के अंचल मे उत्तर की ओर प्राचीन ग्वालियर और दक्षिण की ओर लश्कर नगर स्थित है।

ग्वालियर दुर्ग

दुग में जाने के लिए इस समय दो पथ ह् । पूव में ग्वालियर द्वार से होकर और पश्चिम में उरवाही द्वार से होकर। दोनो द्वारो के लिए सडके गई है । पहले तीन और प्रवेश पथ थे । उनम से छोटा द्वार और गडगज द्वार पश्चिम की ओर थे। तीसरा पथ एक सुरग में होकर था जो झिलमिल खिडकी में होकर जाता था। अब यह तीनो पथ बन्द कर दिए गए है। पूव के पथ में ५ द्वार ह —(१) आलमगीरी फाटक जिसे अब लोग 'ग्वालियर दरवाजा' कहते हैं। (२) बादल महल द्वार अथवा हिण्डोला द्वार, (३) गणेश द्वार (४) लक्ष्मण द्वार (५) हथिया पौर। पहले इस पथ पर दो और द्वार थे, एक भ रो द्वार जो दूसरे और तीसरे द्वार के बीच में था और दूसरा हवा पौर अथवा पवन द्वार, यह पाँचवें द्वार के आगे था। दुग पर जाने के लिए पहले सीढियाँ थी। अब ढालू पथ बना दिया गया है किन्तु अत्यधिक ढालू होने के कारण इस ओर स गाडी आदि जाने की रोक है।

आलमगीरी फाटक मोतमिदखाँ ने १७१७ वि० में औरगजेब (आलमगीर) के नाम पर बनवाया था। राजा मानसिंह के काका बादल ने एक सुन्दर बादल महल द्वार (हिण्डोला द्वार) बनवाया था। इसका निर्माण हिन्दू शैली के अनुसार हुआ। डोगरसिंह तोमर ने गणेश द्वार बनवाया। लक्ष्मण द्वार हिन्दू शैली के अनुसार बना है। कदाचित १५वी शताब्दी के अन्त में इसका निर्माण हुआ, किन्तु टूट जाने के कारण तोमर वश के राजा लक्ष्मण ने इसे ठीक कराया और इसका नाम लक्ष्मण द्वार रखा। कहा जाता ह कि हथिया द्वार के सामने पत्थर का एक बडा हाथी था, इसलिए यह द्वार हथिया द्वार कहलाता है। द्वार बडा और प्रभावोत्पादक होने के साथ साथ सुन्दर भी है। दुग के पश्चिमी पथ पर केवल दो द्वार हैं। पश्चिमी पथ से दुग पर गाडियाँ आ सकती ह।

दुग पर (१) मानमन्दिर (२) गूजरीमहल (३) करनमन्दिर (४) विक्रममन्दिर, (५) जहाँगीरी महल, (६) शाहजहानी महल नामक छह राजप्रासाद हैं। इनमें मानमन्दिर और गूजरीमहल उल्लेखनीय हैं।

छह राजप्रासादो में से मानमन्दिर अत्यन्त सुन्दर और भव्य है। फरग्यूसन ने इसके सम्बन्ध में लिखा ह —"मानमन्दिर भारत के पूवकालीन हिन्दु राजप्रासाद का उज्ज्वल और आकषक उदाहरण ह"। ३०० फीट लम्बे और ८० फीट चौडे इस राजप्रासाद का पूर्वी अग्रभाग छह आकषक गोल गुम्बदो से सुसज्जित है और पश्चिमी भाग पर तीन सुन्दर मीनारें ह।दीवार पर मनुष्यो, बतखो, हाथियो, शेर, केले के पेड आदि से चित्रित नीले, हरे, पीले प्रस्तर खड लगे हैं जिससे दीवाल के सौन्दय में अतुलनीय आकषण और वैभव का समावेश हो गया है। महल के भीतरी भाग म दो खुले आँगन हैं। मानमन्दिर का मुख्य भाग दुखण्डा ह किन्तु पूर्वीय भाग में नीचे दो खण्डा तलघर भी है। यद्यपि दोनो प्रागण छोटे हैं तथापि बनावट म सुन्दर और कलापूर्ण ह। रगीन टाइलो, खुदे हुए जालीदार परदो, सुन्दर टोडियो के प्रयोग तथा हारो पुष्प, पत्तो, पौदो और जानवरो के चित्रो से भीत और छतें सजी ह। महल के कमरो की रगीन चित्रो से युक्त छते दशनीय ह।'

दूसरा महत्वपूण प्रासाद गूजरी महल ह, जिसे राजा मानसिंह ने मृगनयना गूजरी के लिए बनवाया था। यह महल दुग के नीचे बना है किन्तु दुग की बाहरी प्राचीर के भीतर है। इसम जाने के लिए बादल महल-द्वार से दाहिनी ओर मुडना पडता है। यह महल दुखण्डा है और पत्थर को काटकर बनाया गया है। प्रागण बडा और खुला हुआ ह। इसके चारों ओर भिन्न भिन्न बनावट के खुदे हुए कमरे ह। मध्य में एक बडा तलघर ह। आजकल गूजरी महल म पुरातत्व विभाग का सग्रहालय है। इसमें सम्पूर्ण राज्य से एकत्रित किए जाकर प्राचीन चित्र, लेख, मूर्तियाँ, सिक्के तथा अन्य वस्तुएँ सजाई गई ह।

गूजरी महल से सम्बन्धित एक किंवदन्ती ह। राजा मानसिंह आखेट करते हुए राई ग्राम के पास पहुँचे। वहा पर उन्होने गूजर की एक अत्यन्त सुन्दर कन्या को देखा। उसका नाम मृगनयना था। राजा ने उसके सम्बन्ध म पूछताछ की तो उसे पता चला कि मृगनयना केवल सुन्दरी ही नही, उसम असाधारण बल भी है—एक बार इसने अकेले ही जगली भैंसे को हरा दिया था। राजा ने मृगनयना से पूछा—'तुमने यह असाधारण बल कहाँ से प्राप्त किया।' गूजर की लडकी ने सरल भाव स उत्तर दिया कि 'राई गाँव के जल से।' राजा मानसिंह, मृगनयना के रग-रूप और स्वभाव पर मोहित होगए और उससे विवाह का प्रस्ताव किया। मृगनयना ने पुन सरल स्वभाव से उत्तर दिया—'यदि महलो में मुझे राई ग्राम का जल

पीने को मिल सके तो विवाह कर सकती हूँ।' राजा ने वचन दिया और मृगनयना से विवाह कर लिया। उसके रहने को यह गूजरी महल वनवाया। राई ग्राम से गूजरी महल तक पानी का नल वनवाया गया। इस नल द्वारा नित्य मृगनयना के लिए राई से जल आता था। अव भी इसके अवशेष चिह्न पाए जाते हैं।

दुर्ग पर अनेक धार्मिक स्थान भी हैं, जिनमें उच्चकोटि की स्थापत्य और शिल्पकला का प्रस्फुरण हुआ है। इन धार्मिक स्थानो मे ७ प्रमुख हैं। (१) ग्वालिया मन्दिर, (२) चतुर्भुज मन्दिर, (३) वड़ा सास वहू का मन्दिर, (४) छोटा सास- वहू का मन्दिर, (५) मातादेवी का मन्दिर, (६) जैन मन्दिर और (७) तेली का मन्दिर।

मोतमिदखाँ १७२१ वि० मे दुर्ग का शासक था। उसने ग्वालिपा ऋषि के स्थान को तुड़वाकर उसके स्थान पर छोटीसी मसजिद वनवा दी। यह स्थान गणेश द्वार के पास है। इसी मसजिद के पास, ग्वालिपा ऋषि की स्मृति में, एक छोटासा मन्दिर भी वना दिया गया है। कुछ आगे चलकर चतुर्भुज का मन्दिर है जो चट्टान काटकर वनवाया गया है। इसका निर्माण मध्यकालीन भारतीय आर्यशैली पर हुआ है। कान्यकुब्ज (कन्नौज) के प्रतिहारो के समय मे वैल्लभट्ट के पुत्र अल्ल ने ९३२ वि० मे इसे वनवाया था।

कलात्मक दृष्टि से सास-वहू के मन्दिरों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। मध्यकालीन भारत मे हिन्दुओं की संस्कृति तथा धार्मिक भावना क्या थी? उनके देवी-देवता कौन थे? उनकी अभिरुचि कैसी थी। ये दोनों मन्दिर इन वातों पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं। इसके अतिरिक्त इन मन्दिरों की वनावट से यह भी सिद्ध होता है कि उस समय हिन्दुओ की स्थापत्य-कला और शिल्पकला अत्यन्त उन्नति पर थी। हिन्दुओ के अनेक देवी-देवता थे और वे अपने मन्दिरो को अच्छी तरह सजाते थे।

यदि एक ही स्थान, एक ही प्रकार के दो कुआ, वावड़ी या मन्दिर हों तो उन्हें सास-वहू के नाम से सम्वोधित करने की प्रणाली है। ये दोनो मन्दिर एकसे हैं इसलिए सास-वहू के मन्दिर कहलाते हैं। सास वहू के मन्दिर मे संस्कृत मे एक लेख खुदा है जिससे पता चलता है कि ११५० वि० मे कछवाहे राजपूत राजा महीपाल ने इसको वनवाया। द्वार पर ब्रह्मा और शिव के मध्य मे विष्णु भगवान् की मूर्ति होने से यह अनुमान किया जाता है कि यह मन्दिर विष्णु का है। मन्दिर १०२ फीट लम्बा और ७४ फीट चौड़ा है। गुम्वद के घेरे से अनुमान किया जाता है कि मन्दिर किसी समय १०० फीट ऊँचा था। मंच के ऊपर की गुम्वद हिन्दू शैली के अनुसार वनी है। मन्दिर के प्रवेश द्वार पर शिल्पकारी की प्रचुरता है। द्वार के निकले हुए ऊपरी पत्थर पर हिन्दुओ के त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मूर्ति वनी है। मध्य मे विष्णु की, दाहिनी ओर शिव की तथा वाई ओर ब्रह्मा की। विष्णु के नीचे गरुड़ है। द्वार की आलीनो पर नीचे की ओर अनेक देवी-देवता वने है। एक मे गंगादेवी की प्रधानता है, दूसरी में यमुना की। देहली के दाहिनी ओर गणेश की और वाई और कुवेर की मूर्ति है। लगभग इसी प्रकार दूसरा छोटा सास-वहू का मन्दिर है। मन्दिर की देवी-देवता की मूर्तियो के देखने से पता चलता है कि १२वी शताब्दी मे पूर्णरूप से वौद्ध धर्म भारत से विदा हो चुका था और पौराणिक ब्राह्मण धर्म की स्थापना हो चुकी थी।

मातादेवी मन्दिर का अवशेष सूर्यकुण्ड के पास है। वनावट से प्रतीत होता है कि इसका निर्माण विक्रम की १२वी शताब्दी के अन्त मे हुआ होगा। जैन मन्दिर भी टूटी फूटी अवस्था मे है। इसके ऊपर अव शिखर नही है और न इसके अन्दर अव कोई मूर्ति ही है। जैन तीर्थकरो की कुछ टूटी फूटी मूर्तियाँ मन्दिर के वाहर पड़ी हैं। मन्दिर के प्रत्येक द्वार पर तीर्थंकर की एक प्रतिमा है। कटाई की शैली को देखते हुए प्रतीत होता है कि इसका निर्माण १५वी शताब्दी के अन्त मे हुआ।

तेली का मन्दिर गंगोला ताल के पश्चिम मे है। दुर्ग की सव इमारतो से यह ऊँचा है। इसकी ऊँचाई १०० फीट से भी अधिक है। यह ९वी शताब्दी का विष्णु या शिव मन्दिर है और इसकी वनावट विचित्र है। इसके शिखर की वनावट द्रविड़ शैली के अनुसार हुई है। इस प्रकार के शिखर दक्षिणी भारत मे देखने मे आते हैं। शिखर के अतिरिक्त मन्दिर की अन्य सजावट की शिल्पकारी भारतीय आर्य शैली के अनुसार है, जैसी उत्तरी भारत मे पाई जाती है। इस मन्दिर मे सुन्दर रूप मे आर्य और द्रविड़ कला का सम्मिश्रण पाया जाता है।

ग्वालियर दुर्ग

सूर्यकुण्ड के पश्चिम में शिव और सूर्य के दो आधुनिक मन्दिर हैं। एक शिलालेख से पता चलता है कि सूर्य मन्दिर के स्थान पर एक पुराना सूर्यमन्दिर था और इसी लिए यह कुण्ड सूर्यकुण्ड कहलाता है।

दुर्ग पर अनेक कुएं और तालाब हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि पहले इन स्थानों से इमारतों के लिए पत्थर निकाले गए, बाद में इन्हींको तालाब बना दिया गया। दुर्ग के ऊपर इन तालाबों में प्रमुख जौहरताल, मानसरोवर, सूर्यकुण्ड, गंगोला ताल, एक-खम्भा ताल, रानी ताल और चेदी ताल हैं। इनके अतिरिक्त चट्टान में कटे हुए अनार बाउडी और शरद् बाउडी नाम के दो हौज हैं तथा अस्सी खम्भा नाम की एक वापी है। दोनों हौज ढके हुए चट्टान के भीतर बने हैं। इनमें सालभर पानी रहता है। शरद बाउडी में जाने को एक छोटासा महराबदार प्रवेश द्वार है किन्तु अन्दर बहुत विस्तार है। इस हौज की प्राकृतिक छत चट्टानों से कटे हुए खम्भों पर आधारित है।

ग्वालियर-दुर्ग पर चट्टानों में कटी हुई अनेक मूर्तियाँ हैं। इनमें कुछ हिन्दू धर्म सम्बन्धी हैं और कुछ जैन धर्म सम्बन्धी।

चतुर्भुज मन्दिर और लक्ष्मण द्वार के बीच में चट्टान में कटे हुए एक रिक्त मूर्ति-स्थान के नीचे शिलालेख में गणेश की प्रार्थना लिखी है। ऐसा ज्ञात होता है कि रिक्त स्थान पर चट्टान में कटी हुई गणेश की प्रतिमा थी, किन्तु नष्ट कर दी गई। इसके दोनों ओर, और सड़क के दूसरी ओर शिव, पार्वती और गणेश की मूर्तियाँ हैं। लक्ष्मण द्वार से थोड़ा ऊपर चलकर दाहिनी ओर की चट्टान में अनेक मूर्तियाँ खुदी हैं। इनमें से दो तीन जैन मूर्तियों के अतिरिक्त सभी हिन्दू देवी देवताओं की मूर्तियाँ हैं। लक्ष्मण द्वार के ठीक सामनेवाली बड़ी खण्डित मूर्ति को कनिंघम तथा अन्य विद्वानों ने भूल से विष्णु भगवान् के शूकर अवतार की मूर्ति समझा था। वास्तव में मूर्ति में शिवजी को रुद्र रूप में हाथी की चर्म, छत्र की भाँति ऊपर फैलाए हुए बतलाया है। इस समूह में विष्णु, सूर्य और महिषमर्दिनी देवी की मूर्तियाँ हैं और बहुत से शिवलिंग हैं। ये मूर्तियाँ नवीं शताब्दी ईसवी की बनी प्रतीत होती हैं जब चतुर्भुज का मन्दिर बना। इन मूर्तियों से इस बात का अनुमान होता है कि नवीं शताब्दी में मध्य भारत में बौद्ध धर्म के स्थान पर ब्राह्मण धर्म की पुनः स्थापना हो चुकी थी।

जैन मूर्तियाँ दुर्ग के चारों ओर पाई जाती हैं। शिलालेखों में अनेक मूर्तियों के निर्माण-काल का भी उल्लेख है, जिससे पता चलता है कि ग्वालियर के तोमरवंशीय राजा डोंगरसिंह और उसके पुत्र कीर्तिसिंह के राजत्वकाल में १४९७ और १५२९ ई० के बीच में इन मूर्तियों का निर्माण हुआ।

इनमें से उरवाही द्वार की मूर्तियाँ विशाल आकार के लिए और दक्षिण-पूर्व की कलात्मक सजावट के लिए प्रसिद्ध हैं। अधिकतर जैनियों के चौबीस तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियाँ हैं। इनमें आदिनाथ की सबसे बड़ी मूर्ति उरवाही घाटी में है जो ५७ फीट ऊँची है। उत्तरी भारत में कहीं भी इतनी अधिक संख्या में ऐसी विशालकाय मूर्तियाँ नहीं पाई जातीं।

प्राचीनकाल में सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यह ग्वालियर का किला हमारे प्राचीन गौरव एवं वैभव की सजीव निशानी है। स्थापत्य एवं मूर्तिकला के अत्यन्त सुन्दर उदाहरणों का आगार है तथा अब प्रधान शिक्षा-केन्द्र है। भगवान् से प्रार्थना है कि यह सुदृढ़ गढ़ हमारे शिन्दे सरकार के भगवा झण्डे को फहराता हुआ सदा उनके गौरव, विक्रम एवं कलाप्रेम की उद्घोषणा करता रहे।
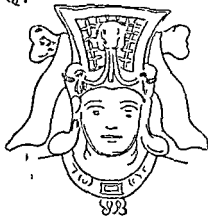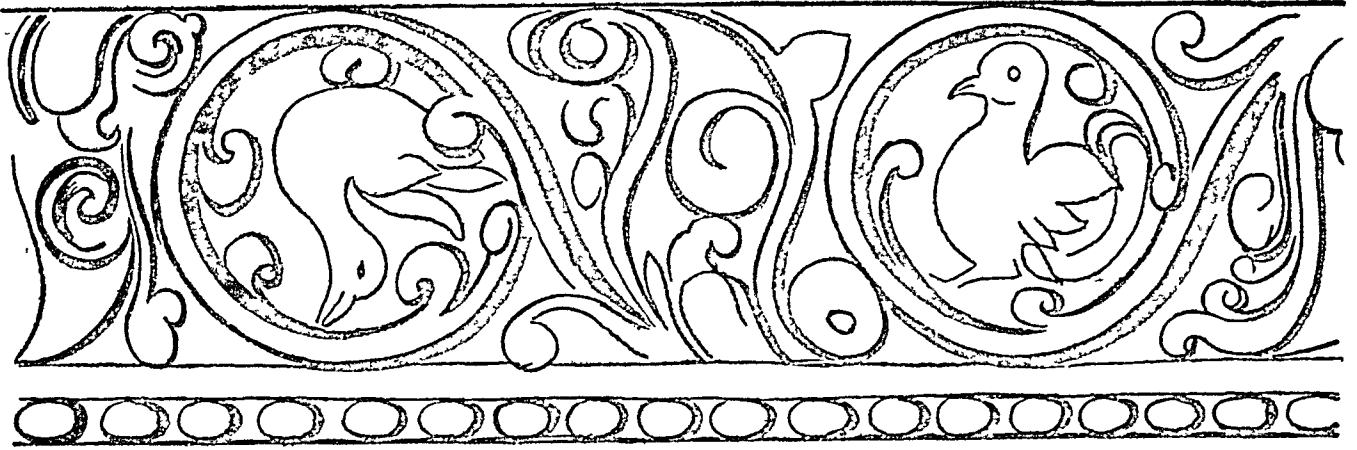
नरवर और चन्देरी के गढ़

श्री भानुप्रतापसिंह सेंगर, बी० ए०, एल-एल० बी०

दुर्ग-मानव समाज की स्वतंत्रता की भावना का प्रतीक है। जब आततायी मानवता को पद-दलित करने के लिए अग्रसर हुए, मिट्टी-पत्थर दुर्ग का रूप धारण कर स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए खड़े हो गए। दुर्गों का इतिहास केवल इसी बात का द्योतक नही कि अमुक दुर्ग की रक्षा अथवा विजय में कितना रक्तपात हुआ, उससे टकराकर कब कब कौन कौन पराजित हुआ और कौन कौन कब कब उसे जीतने मे समर्थ हुआ ? वास्तव में इन दुर्गो के उत्थान-पतन के साथ साथ भिन्न भिन्न सभ्यताओ का उत्थान-पतन हुआ। इन दुर्गो मे मानव-समाज का रोदन-क्रन्दन और उल्लास निहित है। इनमें मानव-समाज की स्थापत्यकला, मूर्ति-निर्माण-कला तथा चित्रकारी आदि ललित कलाओ का भाण्डार केन्द्रीभूत है। किसी दुर्ग का इतिहास उससे सम्बन्धित देशवासियो की सस्कृति का इतिहास है।

जिन पर्वत-शृखलाओं पर सुदृढ़ दुर्ग स्थित है, उनपर गृह-निर्माण-कला के ज्ञान से पूर्व मानव संघर्ष प्रारंभ हुआ। जब मानव ने झोपडी बनाना भी न सीखा था, प्राकृतिक खोहो मे और वृक्षों पर रहता था, उस समय से ही मानव-संघर्ष चला आता है। फलो और आखेट के प्रश्न पर जब भिन्न भिन्न चलते-फिरते अनिकेतन मानव-झुण्डो मे झगड़ा हुआ तो उन्होने इन्ही पर्वत शृंखलाओ और उपत्यकाओ का सहारा लिया; इन्ही मे लुक-छिप कर उनके युद्ध होते थे। ये उपत्यकाएँ और शृखलाएँ प्रायः पथ पर स्थित होती थी। गृह-निर्माण-कला के ज्ञान के साथ साथ इन स्थानो पर दुर्ग निर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ। बनते बिगडते इन दुर्गो ने विशालकाय रूप धारण किए।

विक्रमादित्य और विक्रमादित्यो की भूमि ग्वालियर सदा से आर्थिक, राजनीतिक एवं सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रही है। इस कारण से इसमे भारतवर्ष के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दुर्ग विद्यमान है। इन दुर्गों के अधिपति जहाँ अप्रतिम समर-शूर रहे है, वहाँ उनके कला प्रेम की कहानी भी आज इन दुर्गों के पत्थर कह रहे है। ग्वालियर मे तीन दुर्ग प्रधान है—ग्वालियर, नरवर और चन्देरी। ग्वालियर के विषय मे अन्यत्र लिखा जा चुका है। यहाँ हम अत्यन्त संक्षेप मे शेष दो दुर्गो का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते है।

नरवर का दुर्ग—कहा जाता है कि पौराणिक काल के राजा नल इसी दुर्ग मे रहते थे। नल-दमयन्ती की कथा प्रायः प्रत्येक शिक्षित हिन्दू जानता है। दूल्हा द्वार के पास दुर्ग के कंगूरो की एक पक्ति झुकी हुई है। सर्वसाधारण का

नरवर और चन्देरी के गढ

यह विश्वास है कि जब राजा नल दुर्ग को सदैव के लिए छोड़ कर जाने लगे तो कंगूरे श्रद्धा के साथ सम्मान प्रदर्शनार्थ झुक गए और तब से उसी दिशा में झुके हुए हैं।

तेजकरन (जिसे दूल्हा भी कहते हैं,) के सम्बन्ध में दो किंवदन्तियाँ हैं प्रथम यह कि प्रेमाहत दूल्हा उत्तर-पश्चिमी दरवाजे से भागा था इसीलिए उस दरवाजे का नाम दूल्हा दरवाजा पड़ा। दूसरी किंवदन्ती यह है कि एक बार राजा दूल्हा और उसकी रानी मारू, मकरध्वज कुण्ड के बीच में चबूतरे पर बैठे थे। आनन्द विभोर राजा रानी किसी तरह जल में डूब गए। इस घटना के पश्चात् प्रत्येक सावन की पूर्णिमा को चबूतरा पर से हाथ उठना दिखाई देता था। एक बार एक सैनिक ने हाथ पर बाण चलाया, तब से हाथ दिखाई नहीं देता।

एक और किंवदन्ती है जिसका वर्णन कनिंघम साहब इस प्रकार करते हैं कि कई शताब्दियों पूर्व दुर्ग शत्रुओं द्वारा घेर लिया गया। इस दुर्ग के निकट एक दूसरी पहाड़ी थी। इन दोनों पहाड़ों के बीच में एक रस्सी बँधी थी। राजा दुर्ग के सामनेवाली पहाड़ी पर अपने मित्रों के पास एक पत्र भेजना चाहता था। यद्यपि राजा ने इस रस्सी पर से पत्र ले जाने-वाले को अपना आधा राज्य देने की घोषणा की किन्तु किसी ने साहस न किया। अन्त में एक नटनी पत्र ले जाने को तैयार हुई और सबके समक्ष राजा को आधा राज्य देने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध किया। राजा ने प्रतिज्ञा की और नटनी परिश्रम के साथ रस्सी पर से पत्र ले गई। जब वह पत्र देकर लौट रही थी एक सरदार ने राजा को मन्त्रणा दी कि आधा राज्य बचाने का अवसर है। राजा ने रस्सी कटवा दी। नटनी गिरकर मर गई। उस समय से नटों ने नरवर में प्रवेश नहीं किया। वे नरवर का रास्ता छोड़कर दूसरे पथ से निकल जाते हैं।

जहाँ जहाँ पहाड़ियों की दो चोटियाँ इस प्रकार पास पास हैं वहीं इस तरह की किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इसी कारण इस दुर्ग के सम्बन्ध में इस कहानी का प्रचार हुआ।

इतिहास—इस दुर्ग पर राजा नल का आधिपत्य था इसका ऐतिहासिक प्रमाण नलपुरा नाम का गाँव ही है। मध्यकालीन कई शिलालेखों में इस ग्राम का नाम आया है। कनिंघम साहब की धारणा थी कि पद्मावती को ही अब नरवर कहते हैं। ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी में नागवंशी राजाओं की यहाँ राजधानी थी। किन्तु अन्तिम नागवंशीय राजा गणपति के कतिपय सिक्कों के अतिरिक्त दुर्ग में इतनी पुरानी कोई ऐतिहासिक वस्तु नहीं मिलती। अनुसन्धान से अब सिद्ध हो चुका है कि पद्मावती नगर आधुनिक पवाया ग्राम के स्थान पर था। पवाया सिन्ध पार्वती के संगम पर नरवर से २५ मील पूर्व की ओर है।

नरवर का इतिहास ग्वालियर दुर्ग से सदैव सम्बन्धित रहा। विक्रमी दसवीं शताब्दी के अन्त में ये दोनों दुर्ग कछवाहा राजपूतों के अधिकार में चले गए। ११८६ वि० में प्रतिहारों का अधिकार हो गया। एक शताब्दी शासन करने के पश्चात् जब सुलतान अल्तमश ने ग्वालियर को जीत लिया तो प्रतीहारों ने नरवर के दुर्ग में आकर शरण ली। विक्रम की १३वीं शताब्दी के अन्त में चाहडदेव ने दुर्ग प्रतिहारों से छीन लिया। नरवर और उसके आसपास जो सिक्के और शिलालेख मिले हैं उनसे पता चलता है कि चाहड के वंश में चार राजा हुए। इस वंश का अन्तिम राजा गणपति था जिसे विक्रम की १३वीं शताब्दी के मध्य में अलाउद्दीन खिलजी ने हराकर दुर्ग पर अधिकार कर लिया। तैमूरलंग के हमले के कारण से पठानों के साम्राज्य में शिथिलता आ जाने से नरवर का दुर्ग ग्वालियर के तोमरवंश के अधीन चला गया। जयस्तम्भ नाम के एक पत्थर के खम्भ पर तोमरों की वंशावली खुदी है। यह खम्भ नरवर-दुर्ग से एक मील पूर्व की ओर है जो कदाचित् माण्डू के सुलतानों पर विजय प्राप्त करने की स्मृति में खड़ा किया था। एक वर्ष के घोर युद्ध के पश्चात् १५६३ वि० संवत में सिकन्दर लोदी ने दुर्ग पर विजय प्राप्त की। विजयी सिकन्दर लोदी ने दो वर्ष तक दुर्ग में ठहरकर मन्दिरों को तोड़ा और मसजिदें बनवाईं। सिकन्दर लोदी ने दुर्ग राजसिंह कछवाहा को दे दिया जो प्राचीन स्वत्वाधिकारी थे। अकबर के समय में नरवर में मालवा की सूबात थी।

विक्रम की १६वीं शताब्दी के मध्य में दुर्ग पर जयसिंह का शासन था। दुर्ग पर लोहे की शत्रुसंहार और फतेहजंग नाम की दो तोपें पड़ी हैं, उनपर लेख खुदे हैं जिनमें राजा जयसिंह के नाम का उल्लेख है। लेख में १७५३ वि० संवत् पड़ा है।
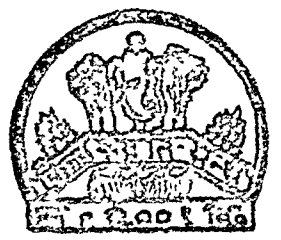
श्री भानुप्रतापसिंह संगर

इस वंश के एक प्रसिद्ध राजा दक्षिणी भारत मे युद्ध करते हुए संवत् १७८२ वि० में मारे गए। इससे २५ वर्ष पहले राजा का सुन्दरदास पुरोहित युद्ध मे मारा गया था। राजा ने पुरोहित का दुपट्टा नरवर मे भेज दिया। इस दुपट्टे के साथ पुरोहित की दो पत्नियाँ लाढमदेवी और स्वरूपदेवी सती हो गई। पुरोहित के पुत्र ने सती स्तम्भ बनवाया किन्तु टूट जाने के कारण पुरोहित की ५वीं पीढ़ी मे यदुनाथ ने १८८० वि० मे उस स्थान पर स्मारक बनवा दिया।

कछवाहे वंश के अन्तिम राजा मनोहरसिंह से महाराजा शिन्दे ने विक्रम की १९वी शताब्दी के मध्य मे नरवर को जीत लिया। मनोहरसिंह के पुत्र मधुसिंह ने १९१४ वि० के विद्रोह मे विद्रोहियो का साथ दिया और तात्या टोपी को शरण दी, किन्तु फिर तात्या टोपी को अंग्रेजों के सुपुर्द कर दिया। इसके बदले उसे पाड़ौन की जागीर मिली जिसे अब भी उसके वंशज भोग रहे है।

महाराजा दौलतराव शिन्दे के समय मे अम्बाजी इंगले इस दुर्ग के शासक थे। विक्रमी संवत् १८५७ मे उन्होने इस दुर्ग का पुनरुद्धार किया। एक विशाल भवन अब भी इंगले की हवेली कहलाती है। एक-खम्भा छतरी के स्तम्भ पर खुदे लेख मे महाराजा दौलतराव और अम्बाजी इंगले का उल्लेख है।

दुर्ग की स्थिति---आसपास की भूमि से ४०० फीट ऊँची, विन्ध्याचल की एक ढालू पर्वत श्रेणी पर यह दुर्ग सुशोभित है। यह श्रेणी समुद्रतल से १००० फीट की ऊँचाई पर है। सिन्ध सरिता की मोड़ पर स्थित होने के कारण दुर्ग के पश्चिम और उत्तर की ओर नदी है। दुर्ग का घेरा लगभग ५ मील के है। विस्तार की दृष्टि से ग्वालियर-राज्य मे यह सबसे बड़ा दुर्ग है।

दुर्ग की पत्थर की प्राचीर और अन्य दीवालों पर अनेक गढ़गजे है। विभाजक दीवालें दुर्ग को चार सुदृढ़ घेरो मे विभाजित करती है। मध्य के घेरे को 'मझ-लोक' कहते है। यह भाग खण्डहर हो चुका है। पहाड़ी के पश्चिम भाग का घेर 'दूल्हा अहाता' कहलाता है इसी भाग मे दूल्हा दरवाजा स्थित है जिसमे से अन्तिम कछवाहा राजा निकलकर भागा था। दुर्ग का दक्षिणी अहाता 'मदार' अहाता कहलाता है, क्योकि इस भाग मे मदारशाह की मजार है। दुर्ग का धुर-दक्षिणी भाग 'गूजर' अहाता कहलाता है क्योकि यहाँ पर गूजर रहते थे।

नगर भी पत्थर की प्राचीर से घिरा है। दुर्ग के पश्चिम की ओर उरवाही घाटी का मुख बन्द करने के लिए दुर्ग के अन्चल मे एक पूरक दीवाल है।

दुर्ग मे जाने के लिए पहले चार पथ थे। इनमे से डाँक दरवाजा और दूल्हा दरवाजा बन्द कर दिए गए है। आजकल केवल दो प्रवेश-पथ है। पहले दुर्ग का मुख्य द्वार शहर दरवाजा था। यह दरवाजा भी बन्द है। पिसनारी दरवाजा, जिसे आलमगीरी दरवाजा भी कहते है, सिरे पर बहुत ढालू है इसलिए उसमे सीढ़ियाँ लगा दी गई है। एक दरवाजा बीरनपौर अथवा सैयदन का दरवाजा कहलाता है क्योकि इसके पास सैयद की दरगाह है। तीसरा द्वार गणेशपौर कहलाता है। सबसे ऊपर का द्वार हवापौर कहलाता है।

पश्चिमीय पथ भी ४ दरवाजो मे होकर जाता है। पहले दरवाजे का कोई नाम नही, दूसरा बंस दरवाजा कहलाता है, तीसरा दरवाजा गौमुख दरवाजा कहलाता है क्योकि पास ही एक झरने का जल गौमुख में होकर गौमुख कुण्ड मे गिरता है। चौथा उरवाई दरवाजा है जो सबसे ऊपर है।

मुख्य-मुख्य भवन---दुर्ग के दो द्वार उल्लेखनीय है। एक हवापौर और दूसरा दूल्हा दरवाजा। जैसा पहले लिखा जा चुका है हवापौर का पुनरुद्धार अम्बाजी इंगले ने कराया। दूल्हा दरवाजा केवल बड़े बड़े पत्थर के ढोकों का बना है। इसमे चूना का प्रयोग नही किया गया। द्वार के पत्थरो पर सुन्दर शिल्पकारी है।

मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व नरवर का दुर्ग भव्य मन्दिरो के लिए प्रसिद्ध था किन्तु सिकन्दर लोदी ने विक्रम की १५वी शताब्दी के अन्त मे सब हिन्दू और जैन मन्दिरों को तुड़वा दिया। आजकल दुर्ग पर प्राचीन मन्दिरो के कोई भी

चिह्न नहीं पाए जाते, यत्रतत्र खंडित मूर्तियों के टुकड़े पाये जाते हैं और हवापौर के निकट एक मंदिर के कुछ अवशेष पाए जाते हैं। अन्य तीन मन्दिर बहुत पीछे के बने हैं, सम्भवतः कछवाहा राजपूत राजाओं ने बनवाए हैं।

दीर्घ काल तक दुर्ग मुसलमानों के प्रभाव में रहा इसलिए दुर्ग पर अनेक मसजिद और दरगाहें हैं। सबसे प्राचीन मसजिद सिकन्दर लोदी की बनवाई हुई है जो बड़ी मसजिद कहलाती है। मसजिद का आँगन बड़ा है। पश्चिम की ओर प्रार्थना भवन है, तीन ओर दालानें हैं। छत पर कोई गुम्बद नहीं और मीनारों की जगह चारों कोनों पर छोटे छोटे खुले बंगले हैं। मसजिद पर दो लेख खुदे हैं, एक अरबी में है और दूसरा फारसी में। फारसी में लिखा है कि मसजिद सिकन्दर लोदी ने हिजरी संवत् ९१२ (ई० १५०६) में बनाई। दूसरी मसजिद हवापौर के पास है इसमें भी तीन लेख खुदे हैं। पहाड़ी के पूर्वी किनारे पर प्रसिद्ध मुसलमान फकीर मदारशाह की दरगाह है।

दुर्ग कछवाहे राजाओं के बनवाए हुए महलों के खण्डहरों से भरा पड़ा है। यह महल मझलोक के पूर्वीय भाग में हैं। यहाँ से सिन्ध नदी की घाटी का दृश्य दिखता है। राजा के महल में अनेक आँगन हैं। प्रत्येक आँगन में एक सभा भवन सिंहासन-गृह, दालान, स्नानागार, अन्तःपुर, आनन्दवाटिका और झूला है। महल काँच और चूने की सजावट से सजे थे और दीवालों पर सुन्दर चित्रकारी थी। यद्यपि महल टूटी फूटी अवस्था में हैं तथापि राजप्रासादों के अवशेषों से पता चलता है कि राजपूत राजाओं का जीवन आनन्दमय और वैभवपूर्ण था। इन सब महलों में बड़े महल को महाराजा माधोराव शिन्दे ने ठीक कराया था। यह कचहरी महल कहलाता है। इसके एक भवन में लकड़ी के मञ्च पर चटाई बिछी रहती थी। लोगों का विश्वास था कि यह राजा नल की गद्दी है। इस भवन के ताकों और द्वारों पर काँच के टुकड़ों के बेलबूटे हैं। शीशमहल में भी इस प्रकार के बेलबूटे हैं।

खड़ाऊ बंगले के चारों ओर ढलवां छतें हैं। इसी के पास एक घर में बैलों से चलनेवाली एक बड़ी चक्की है। खड़ाऊ बंगले के पास ही द्वीपमहल है, इसमें एक पत्थर के ढोके में कटा हुआ सुन्दर बड़ा नहाने का हौज है। हौज की बनावट अण्डाकार पुष्प की भाँति है जिसमें छह नलियाँ हैं।

राज महलों के अहाते के बाहर, बहुत से सुदृढ़ और कई खण्डवाले भवन हैं जिनमें राज्य के पदाधिकारी तथा अन्य आश्रित जन रहते थे।

दुर्ग में अनेक छोटे बड़े ताल हैं। उनमें प्रमुख मकरध्वजताल, कटोराताल, छत्रताल, चन्दनताल, सागरताल, गोमुख-कुण्ड और बिशन-तलइयाँ हैं।

मकरध्वज-ताल सबसे बड़ा है। जनश्रुति के अनुसार इसे राजा मकरध्वज ने बनवाया था। यह ३० फीट गहरा है और इसका क्षेत्रफल ३०० वर्गफीट है। यह मध्यकालीन हिन्दू शैली के अनुसार बनाया गया है। इसके पश्चिमीय किनारे पर एक भवन है उसमें एक पत्थर लगा है जिसमें एक बहती हुई नदी दिखाई गई है जिसके दोनों ओर देवी-देवताओं के चित्र हैं। साधारण लोग इन्हें पनिहारे कहते हैं। तालाबों के अतिरिक्त दुर्ग पर अनेक कुआँ और बावड़ी भी हैं।

दुर्ग के उत्तर में एक रोमन कैथोलिक चर्च और कबरिस्तान है। कब्रों के एक खुदे लेख में सन १७४७ ई० लिखा है। कदाचित् ये ईसाई तोपची थे जो कछवाहा राजाओं के यहाँ नौकर थे।

चन्देरी का दुर्ग — ग्वालियर राज्य में तीन मुख्य दुर्ग हैं। इन तीन दुर्गों में से एक चन्देरी दुर्ग है। ग्वालियर दुर्ग और नरवर दुर्ग का वर्णन किया जा चुका है। चन्देरी दुर्ग के निर्माणकाल तथा दुर्ग के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दुर्ग अति प्राचीन है। किंवदन्ती के अनुसार द्वापर युग में चन्देरी राजा शिशुपाल की राजधानी थी किन्तु पुराणों या महाभारत में कहीं भी यह उल्लेख नहीं कि चन्देरी राजा शिशुपाल की राजधानी थी। महाभारत में शिशुपाल की राजधानी शुक्तिमती बतलाई गई है।

श्री भानुप्रतापसिंह सेंगर

स्थानीय जनश्रुति यह है कि चन्देरी का पुराना नगर ऐतिहासिक काल के पूर्व राजा मोरदन्त ने वसाया था। इसके पश्चात् क्रमशः उप-चारवसु और चन्द्रवसु राजा हुए। चन्द्रवसु प्रतापी राजा था, इन्द्र से उसकी मित्रता थी। चन्द्रवसु के पुत्र चेत ने नगर का नाम चेतपुरी रखा। शिशुपाल इसीके वंशजो मे से था। राजा कूर्मदेव, शिशुपाल के वंशजों में से था, उसे कोढ हो गया। आखेट करता हुआ राजा एक वार इस पहाड़ी के पास आया। यहाँ पर उसने एक निर्झर का जल पिया तो कोढ अच्छा हो गया। राजा ने उस स्थान पर एक कूर्मेश्वर ताल वनवा दिया। कदाचित् आधुनिक परमेश्वर ताल ही कर्मेश्वर ताल है। इसी राजा ने नए नगर की नीव डाली।

इतिहास—इस दुर्ग का उल्लेख सवसे पहले अलवरुनी ने किया है। इब्नवतूता ने भी इस दुर्ग के सम्बन्ध मे लिखा है। इन दोनों का काल क्रमशः १०८७ व १०९३ वि० संवत् है। ग्वालियर आर्कऑलॉजीकल म्यूजियम मे एक शिलालेख है, जो लगभग १२वी शताब्दी के अन्त का है। इसमे संस्कृत लिपि मे चन्देरी (चन्द्रपुर) के परिहार वंश के १३ राजाओं की वंशावली दी है। इस शिलालेख से पता चलता है कि इस प्रतीहारवंश के सातवें राजा कीर्तिपाल ने अपने नाम पर कीर्ति-दुर्ग, कीर्ति-नारायण और कीर्तिसागर वनवाए। कीर्ति-नारायण मन्दिर अव नही है। एक तालाव का नाम इस समय भी कीर्तिसागर है। इसलिए सिद्ध होता है कि कीर्तिपाल का वनवाया हुआ यही दुर्ग है। शहरपनाह के दिल्ली दरवाजे पर फारसी लिपि मे लिखा है कि ८१४ हिजरी सन् मे चन्देरी दुर्ग को सुदृढ़ किया। इससे पाया जाता है कि कदाचित् पहला दुर्ग सैनिक दृष्टि से कोई महत्त्व नही रखता था रखता था इसीलिए मुसलमान आक्रमणकारियों ने इसका उल्लेख नही किया।

१३०८ वि० संवत् मे इस दुर्ग पर प्रथम मुसलिम आक्रमण गयासुद्दीन वलवन ने किया। आक्रमण असफल रहा और दुर्ग १३६१ वि० तक हिन्दुओ के आधिपत्य मे रहा। उक्त संवत् मे अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति एन-उल-मुल्क ने दुर्ग जीत लिया। तैमूर के आक्रमण के समय दिलावरखाँ ने दिल्ली के शाहशाहो से स्वतत्र होकर गौरीवंश की स्थापना की। किन्तु कुछ समय पश्चात् दूसरे खिलजी वश ने इस पर अधिकार कर लिया। १५७७ वि० मे चित्तौड़ के राणा साँगा ने यह दुर्ग मालवा के खिलजी सुलतानो से छीनकर मेदनीराय को दे दिया। आठ वर्ष पीछे घोर युद्ध के पश्चात् वावर ने यह दुर्ग मेदनीराय से जीत लिया। वावर के भारत से प्रवास करने के पश्चात् दुर्ग शेरशाह सूरी के अधिकार मे चला गया। अकवर ने पुनः इसे जीत लिया और चन्देरी मे मालवा की सूवात कायम करदी। आईनेअकवरी मे उल्लेख है कि चन्देरी नगर वहुत वड़ा था। जहाँगीर ने चन्देरी को ओरछा के राजाराम साहु वुन्देला को जागीर मे दे दिया। औरंगजेव के काल मे जव मुगल शक्ति क्षीण हुई तो अठारहवी शताब्दी के मध्य मे दुर्ग का वुन्देला शासक स्वतत्र हो गया। इस वश ने ६ पीढ़ियो तक चन्देरी पर शासन किया। १८७२ वि० मे महाराजा शिन्दे ने इसे वुन्देलावश के अन्तिम राजा मोर प्रहलाद से जीत लिया। कुछ समय पश्चात् शिन्दे सरकार ने चन्देरी सैनिक व्यय के लिए अग्रेजो को देदी। १९१४ वि० के विद्रोह मे अवसर पाकर राजा मोर प्रहलाद के पुत्र मदनसिह ने अग्रेजो को पराजित करके दुर्ग पर अधिकार कर लिया। कुछ समय पश्चात् अग्रेजों ने इसे पुन. जीत लिया और १९१७ वि० मे कुछ जिलो के वदले महाराजा शिन्दे को दे दिया।

चन्देरी का दुर्ग वेतवा नदी की घाटी के ऊपरवाली पहाड़ी पर है। दुर्ग मे जाने को केवल एक पथ है। यह पथ वहुत सकड़ा है। प्राचीन समय मे पथ सकडा होने के कारण दुर्ग का सैनिक दृष्टि से वड़ा महत्व था। दुर्ग के आसपास की भूमि उर्वर है और आसपास की पहाड़ियो पर सघन वन है। चन्देरी मे मांडू के सुलतानो और वुन्देला राजाओ के भवनो के अनेक खडहर पाए जाते है।

स्थिति—चन्देरी का दुर्ग २०० फीट ऊँची पहाड़ी पर स्थित है। इसके अंचल मे चन्देरी नगर है जो प्राचीर से सुरक्षित है। दुर्ग की प्राचीर पहाडी के ऊपर है जिसमे अनेक वुर्ज है। इनमे से तीन वुर्जो के नाम कमाला-वुर्ज, गदा-वुर्ज और भदभदे का वुर्ज है। कमाल वुर्ज उत्तर की ओर, गदा वुर्ज दक्षिण की ओर और भदभदे का वुर्ज पश्चिम की ओर है।

दुर्ग की लम्बाई उत्तर-दक्षिण लगभग ४५०० फीट और चौड़ाई पूर्व पश्चिम लगभग ३२०० फीट है। दुर्ग के लिए केवल एक सड़क गई है। यह सड़क तीन दरवाजो मे होकर गुजरती है। नीचे का दरवाजा खूनी-दरवाजा कहलाता है। इसके

नरवर और चन्देरी के गढ

सम्बन्ध में दो किंवदन्तियाँ है। पहली यह कि प्राचीन समय में अपराधी ऊपरी चट्टान से यहाँ पर पटके जाते थे दूसरी किंवदन्ती यह है कि बाबर के अधीन जब मुसलमानों ने आक्रमण किया तो इस दरवाजे के पास इतने राजपूत भट मरे कि रक्त की सरिता बह निकली। मध्य के दरवाजे का कोई नाम नहीं। ऊपरी दरवाजे को हवापौर कहते हैं। इस पथ के अतिरिक्त दुर्ग पर जाने के लिए दो पगडंडियाँ है, एक उत्तर-पूर्व में जगेश्वरी मन्दिर होकर और दूसरा दक्षिण की ओर खण्डर की पहाड़ी पर होकर।

चन्देरी नगर भी १२ से १५ फीट ऊँची पत्थर की प्राचीर से घिरा है। इसमें पाँच द्वार और दो खिड़कियाँ हैं। मुख्य द्वार देहली दरवाजा कहलाता है जो उत्तर की ओर है।

मुख्य मुख्य भवन—दुर्ग पर नवखण्डा महल, हवा महल, मसजिद, दरगाह छतरी और ईसाई समाधियाँ प्राचीन इमारतें है।

नवखण्डा महल वास्तव में चार ही खण्ड का है। नवखण्डा-महल और हवामहल से नीचे नगर दिखता है। यह दोनों कछवाहे राजाओं के बनवाए हुए हैं, अब बिलकुल खण्डहर हो चुके हैं। हवापौर दरवाजा के निकटवाली मसजिद की महराबों के पत्थरों पर सुन्दर नक्काशी है किन्तु यह मसजिद भी खण्डहर हो चुकी है। शेख सैयदुल गाजी की दरगाह गिल्उआ ताल के किनारे है। छतरी और ईसाई समाधियाँ किसकी हैं कुछ पता नहीं। छतरी में एक शिवलिंग की स्थापना है।

दुर्ग के उत्तरी किनारे पर कुछ समय पहले एक बडा डाक बंगला बनवा दिया गया है और पहाड़ी के पश्चिमीय भाग में एक बारादरी। इन दोनों स्थानों से नगर तथा आसपास की भूमि का सुन्दर दृश्य दिखाई देता है।

महल के निकट एक छोटासा ताल है जो जौहर-ताल कहलाता है। इस ताल के निकट एक स्मारक है जिसका निर्माण जौहर की स्मृति में हुआ। जौहर १५८५ वि० में हुआ। जौहर की घटना इस प्रकार है कि बाबर की अपार सेना ने दुर्ग को घेर लिया। राजा मेदनीराय ने दुर्ग को बचाने का बडा प्रयत्न किया। राजपूतों और मुसलमानों का घोर युद्ध हुआ थोडेसे राजपूत अपार सेना से कहाँ तक लडते। अन्त में दुर्ग के बचाने की जब कोई आशा न रही तो राजपूतों ने जौहर करने का निश्चय किया। महल के निकट जौहर-ताल पर एक बृहत् चिता बनाई गई। अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के हेतु राजपूत महिलाएँ चिता में जलकर भस्म हो गई और एक-एक राजपूत युद्ध करता हुआ खूनी-दरवाजे के निकट मर गया किन्तु जीतेजी मुसलमानों को दुर्ग में प्रवेश न करने दिया। जौहर के कारण ताल का नाम जौहर-ताल पडा और इसी जौहर की स्मृति में यह स्मारक बना। छतरी का निर्माण राजपूत-शैली के अनुसार हुआ है। इसमें चार नक्काशीदार खम्भे हैं और छत्री पर शिखर है।
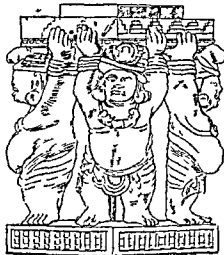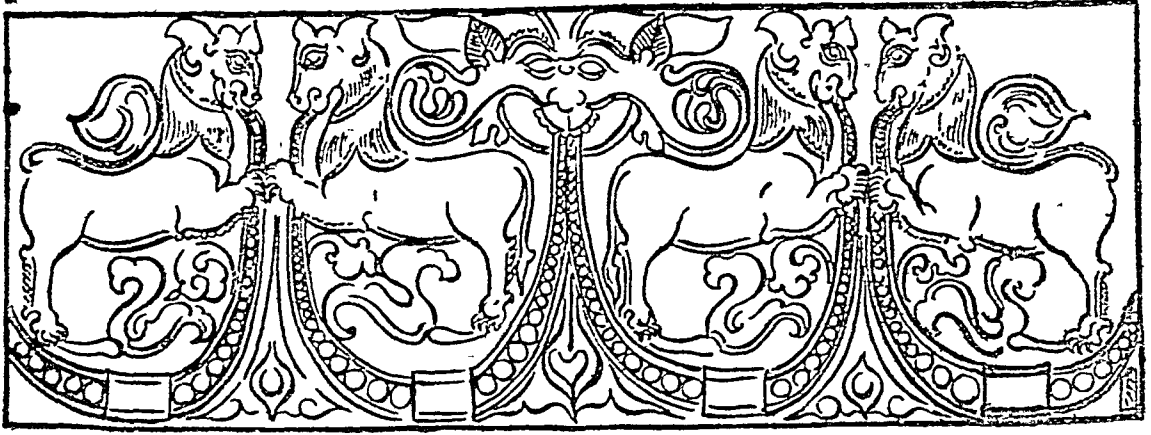
इब्नबतूता की अमवारी

श्री वनमाली द्विवेदी, साहित्यरत्न

जिस समय मुहम्मद तुगलक भारतवर्ष में राज्य करता था (ई० स० १३२५ से १३५१) उस समय संसार-प्रसिद्ध यात्री अबू-अब्दुल्ला-मुहम्मद (इब्नबतूता) भारतवर्ष में आया था। उसने अपना लिखित यात्रा-विवरण प्रस्तुत किया है। यह यात्रा-विवरण अरबी भाषा मे लिखा गया है। इसके अनेक अनुवाद अग्रेजी, उर्दू तथा हिन्दी भाषाओं मे हुए हैं। इब्नबतूता ने अपनी यात्रा मे जिन नगरो के नाम दिए हैं, उनमे से कुछ कम प्रसिद्ध स्थलो के विषय मे अनुवादकों ने अनेक अनुमान लगाए हैं।

इब्नबतूता की यात्रा का एक बहुत बडा भाग ग्वालियर-राज्य की सीमा मे पड़ता है। इस सीमा मे जिन नगरो के नाम इब्नबतूता ने बतलाए हैं वे (१) मावरी (२) मरह (३) अलापुर (४) ग्वालियर (५) अमवारी (६) चन्देरी और (७) उज्जैन है। इनमे से ग्वालियर, चन्देरी और उज्जैन तो अत्यन्त प्रख्यात है, किन्तु शेष चार के विषय मे इस यात्रा-विवरण के अनुवादको ने बड़े विचित्र अनुमान लगाए हैं।

शेष चार मे से मावरी के वर्तमान स्थान के विषय में हम भी कुछ ठीक अनुमान नही कर सके हैं। मरह हमारे विचार से वर्तमान नोनेरा है, जो गोहद के पास है। इब्नबतूता ने यहाँ के गेहूँ की बहुत प्रशंसा की है। नोनेरा के गेहूँ भी बहुत प्रसिद्ध हैं, परन्तु फिर वह यह भी लिखता है कि इस नगर मे मालव जाति निवास करती है। इस उल्लेख की सगति बैठाने का हमारे पास कोई साधन नही है।

इसके पश्चात् बतूता अलापुर गया। यह तो निश्चय ही मुरेना जिले का अलापुर है। इसके पश्चात् ग्वालियर होकर बतूता बड़ौन गया। इसे लोगों ने नरवर से अभिन्न बतलाया है। यह धारणा ठीक नहीं है। ग्वालियर-राज्य की सीमा के पास दतिया राज्य का एक स्थान बड़ौन है। यह बुन्देला राजपूतों के प्रमुख केन्द्रों मे रहा है। बतूता का तात्पर्य इसी बड़ौन से है।

बतूता ने लिखा है "बरौन नामक नगर से चलकर हम अमवारी होते हुए कचराद पहुँचे।" इस कचराद का जो वर्णन बतूता ने किया है, उससे यह वर्तमान खजराहा सिद्ध होता है। परन्तु यह अमवारी कौनसा स्थान है, इससे हमारा अभिप्राय है। इसे अब तक पहिचाना नही जा सका है।

जिला शिवपुरी के परगना करेरा मे झाँसी-शिवपुरी सडक पर दिनारा नामक कस्बा है, जहाँ बुन्देला राजा वीरसिंहदेव ने बहुत बड़ा तालाब बनवाया था। इसी स्थान के उत्तर की ओर प्राय. ४ मील दूर पर एक छोटासा ग्राम है, जिसका नाम आज भी अमवारी ही है। ग्रामवासी उसे 'अमुआरी' कहने लगे हैं। इब्नबतूता ने इस ग्राम का नामोल्लेख किया,

इससे ज्ञात होता है कि इसका ईसवी चौदहवी शताब्दी में कुछ महत्त्व अवश्य रहा होगा। इस विचार से हमने इस स्थल को ध्यान से देखा। हमें इस बात का विश्वास हो गया कि इस स्थल का मध्य काल में अधिक महत्त्व रहा होगा।।

इसके आसपास देखने पर यह विदित होता है कि जिस अवस्था में यह वर्तमानकाल में है, प्राचीनकाल में वह इससे बहुत अधिक समृद्ध तथा महत्त्वपूर्ण रहा होगा। दिनारा से एक मील दूर चन्दावरा नामक ग्राम है। यहाँ से अमवारी तक लगातार पुराने खंडहर तथा ईंटों के टुकड़े पाए जाते हैं। अमवारी में मुस्लिम राज्य कालीन एक सराय के भी अवशेष है।

चन्दावरे के पास अब लगभग १ वर्गमील क्षेत्र में विचित्र प्रकार की दीवालों के चिह्न हैं। बीच में ३-४ फीट स्थल छोड़कर, जो दीवाल की चौड़ाई बतलाते हैं, दीवाल के दोनों किनारों पर बिना छँटे अत्यन्त भद्दे पत्थर लगे हैं जो उनके बहुत सुन्दर निर्मित होने के परिचायक नहीं हैं। यहाँ से अमवारी तक सारे भूभाग में ईंटों के टुकड़े बिछे हुए हैं। बीच में वैष्णव एवं शैव मन्दिरों की मूर्तियों के अवशेष पड़े पाए जाते हैं। ये मूर्तियाँ मध्यकालीन हैं तथा कुछ मूर्तियाँ इनमें अत्यन्त सुन्दर हैं। कुछ मूर्तियाँ तो खेरट* (अम्बाह) नामक स्थान में प्राप्त मूर्तियों के इतने अनुरूप हैं मानो एक ही शिल्पी द्वारा दोनों निर्मित हुई हों। इनमें से शिव की प्रतिमा के एक सिर का चित्र इस ग्रंथ में है।

इस स्थल की विशालता में यहाँ की कुछ पुरानी परिपाटियाँ और अधिक योग देती हैं। उनमें 'लारमलार' की प्राचीन पद्धति मुख्य है। इसमें विवाहोपरान्त गोदान के लिए पत्थर के दो बड़े खंभे द्वार के रूप में गाड़ दिए जाते थे। उनमें से गायें निकाली जाती थीं तथा ब्राह्मण उनपर हल्दी छिड़कता था। जितनी गायों पर हल्दी के चिह्न होते थे, वे सब दान कर दी जाती थीं। यह प्रथा बुन्देलखण्ड में बिलकुल समीपवर्ती ग्रामों तक में कभी प्रचलित नहीं रही। यह अमवारी तथा चन्दावरा की विशेष प्रथा है। आज भी लार-मलार के चार स्तम्भ, जो दो आयोजनों के सूचक हैं, चन्दावरा में पाए जाते हैं। इस आयोजन में अधिक गायें दान करना पड़ती होंगी, तभी केवल चार स्तम्भ पाए जाते हैं। शिल्पकारी की दृष्टि से ये विशेष सुन्दर नहीं हैं।

पुराने स्थलों में यहाँ अब कोई स्थल अभग्न नहीं है। एक पुरानी बावड़ी उस समय की ज्ञात होती है। उसकी ईंटों का आकार ९×१२×३ इंच है।

जहाँ मूर्तियाँ पाई जाती हैं वहाँ अनेक टीले हैं। अनुमान यह है कि उनकी खुदाई करने पर पुरातत्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अनेक वस्तुएँ निकल सकती हैं।

१४वीं शताब्दी में यह स्थल बहुत महत्त्वपूर्ण रहा होगा। आज के अवशेष देखने पर ज्ञात होता है कि यह ४ मील लम्बा तथा २॥ मील चौड़ा नगर रहा होगा। १५वीं शताब्दी तक यह स्थल नष्ट भ्रष्ट हो गया था। यह बात सुप्रसिद्ध है कि दिनारा के वीरसरोवर के (सं० १६१५ वि०) सबसे विशाल तथा सुन्दर, बाँध 'सुरइन' का बहुतसा भाग इसी अमवारी के वैष्णव मंदिर के भग्नावशेष के पत्थरों से बना है। उस बाँध की कुछ वैष्णव मूर्तियाँ भी इसकी परिचायक हैं। ये मूर्तियाँ अमवारी के मन्दिर की ही हैं।

जिस स्थल पर इतने विशाल मन्दिर थे, जिनके अवशेष से इतने विशाल घाट का निर्माण हो सका, जिसकी ईंटें पत्थर इत्यादि आज भी लगभग १०-१२ वर्गमील में फैले हुए हैं तथा जहाँ की टूटी मूर्तियाँ भी उच्च कला की द्योतक हैं, वह अमवारी अवश्य ही वही रही होगी, जिसका इब्नबतूता ने अपनी यात्रा में वर्णन किया है। बड़ौन के आसपास इस नाम का तथा इससे अधिक सस्कृत दूसरा स्थान पाया भी नहीं जाता। यदि पुरातत्व विभाग द्वारा उत्खनन करके खोज की जाए तो निश्चय ही बहुत अधिक ज्ञानवर्धन की संभावना है।

इसके पश्चात् इब्नबतूता चन्देरी गया था। वहाँ से धार होता हुआ उज्जैन पहुँचा। उज्जैन से दौलताबाद जाते समय यह विश्व विख्यात यात्री ग्वालियर राज्य की सीमा के बाहर हुआ।

---

* ग्वालियर राज्य पुरातत्व विभाग की रिपोर्ट, संवत् १९८७ वि०।

ग्वालियर राज्य की मुद्राएँ

श्री सुखरामजी नागर

भारत का प्राक्कालीन इतिहास अर्थात् वेदोत्तर और पौराणिक काल से मुसलमानों के आने तक प्रामाणिक रूप में उपलब्ध नही होता। अब कुछ विद्वानो ने इस ओर दृष्टि डाली है। जो कुछ सामग्री इतस्ततः बिखरी हुई मिली है व मिल रही है उसी को क्रमशः एकत्र कर इस सर्वतोलुप्त इतिहास पर यत्किंचित् प्रकाश डालकर जनता के समक्ष उसे उपस्थित करने की यथासाध्य चेष्टा हो रही है। यह सामग्री अन्यान्य रूप मे सर्वत्र ही मिलती है, आवश्यकता है उसे बिचारपूर्वक एक सूत्र मे आबद्ध करने की।

वेद, पुराण एवं प्राचीन काव्यादि मे उस समय की सभ्यता, सामाजिक जीवन, राजाओं के नाम एवं उनके राज्यकाल की मुख्य मुख्य घटनाएँ इत्यादि बातों के विशद वर्णन दिए हुए है। किन्तु उस रूप मे वह वर्णन इतिहास कहे जाने योग्य नही है। उसमे काव्य-लेखन-पद्धति के अनुसार जो अधिकाश अथवा अल्पाश हो उसे और और आधारों के आश्रय से न्यूनाधिक कर परिपूर्ण करना ही एक समर्थ इतिहास लेखक का कर्तव्य है। उपर्युक्त ग्रंथो के व्यतिरिक्त अनेक शिलालेख ऐसे प्राप्त हुए है जिनमे भी बहुत ऐतिहासिक मसाला भरा पड़ा है। इसी तरह प्राचीन मुद्राओ का भी साधन इतिहास के लिए कम महत्त्व नही रखता। मुद्राओं मे अंकित अनेक ऐसे राजाओ के नाम अवगत होते है जिनका उल्लेख ग्रंथों मे नही मिलता। यही नही, कही कही तो कितने लुप्त राजवंशों के अनेक भूपालो के नाम क्रमवार मुद्राओं द्वारा हमें प्राप्त होते है।

मुद्राएँ समय समय पर भूगर्भ से निकलती रहती है। इनकी परीक्षा कुछ समय पूर्व तो बहुत कठिन थी परन्तु अब आंग्ल भाषा मे कितनी ही पुस्तके इस विषय पर प्रकाशित हो चुकी है व उनके अध्ययन से यह मुद्रा परीक्षा का कार्य कुछ सुकर हो गया है। ऐसी नव-प्राप्त मुद्राओ की परीक्षा की जाकर उनका वर्णन पुन. जनता के सामने आना चाहिए। इस कार्य के लिए कुछ व्यक्ति को छोड़कर अभी केवल एक संस्था भारत मे है, जिसका नाम न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी है, जो अपने परिशोध का फल एक 'त्रैमासिक' द्वारा प्रकाशित करती रहती है। बहुधा सब ही मुद्रा-शास्त्र-प्रेमी इस संस्था के सदस्य है। तब भी इस क्षेत्र मे कार्य करनेवालो की अभी बड़ी अपेक्षा है। देशी भाषाओ मे इस मुद्रा-शास्त्र पर एक दो पुस्तके ही लिखी गई है। ये भी शास्त्र के सुविस्तृत विशाल रूप के अनुरूप नही कही जा सकती। हिन्दी भाषा मे मुद्रा-

शास्त्र पर और भी विशद ग्रंथ लिखे जाना आवश्यक है, जिससे इतिहासकारों को इतिहास संशोधन तथा उनके पुनर्निर्माण में विशेष साहाय्य मिले।

यही बात ग्वालियर राज्य सम्बन्धी इतिहास के लिए लागू होती है। इस राज्य का भी प्राचीन इतिहास अंधकार के गहन गर्त में विलीन है। उसका उद्धार भी प्राचीन लेखों एवं प्राचीन मुद्राओं के सहारे सबलित कर जनता के समक्ष प्रस्तुत करना पुरातत्वविशारदों का प्रमुख कर्तव्य है।

प्रस्तुत लेख पाठकों को इसी दिशा में कुछ स्वल्प माहिती देने के हेतु लिखा गया है अथवा यदि यह लेख पाठकों का ध्यान इस शास्त्र की ओर आकर्षित कर सका तो लेखक अपना श्रम सफल हुआ समझेगा।

ग्वालियर राज्य में कितनी ही प्राचीन नगरियों के अवशेष मिलते हैं जैसे बेसनगर (प्राचीन विदिशा), उज्जैन (अवन्तिका), कोतवाल (कुन्तलपुर), पवाया(पद्मावती), मन्दसौर (दशपुर) इत्यादि। इन स्थानों पर खुदाई की गई है व अनेक तत्कालीन वस्तुएँ व मुद्राएँ वहाँ से प्राप्त हुई हैं। इन्हीं तथा और और स्थानों पर भूगर्भ से निकली हुई मुद्राओं का अब संक्षेप में वर्णन किया जाता है तथा वर्णित कुछ मुद्राओं के चित्र इस ग्रन्थ में प्रकाशित हैं।

कालमानानुक्रम से ये मुद्राएँ प्रधान सात भागों में विभाजित की जाती हैं —

(१) अंक चिह्नित (Punch marked) ई० स० पूर्व पाँचवीं शताब्दी से ई० स० पूर्व दूसरी शताब्दी।

(२) साँचे में ढली हुई (Cast) ई० स० पूर्व दूसरी शताब्दी से ई० स० प्रथम शताब्दी इन्हें प्रान्तिक या गणीय (tribal) भी कहते हैं।

(३) कुषाण।

(४) क्षत्रप।

(५) नाग।

(६) गुप्त।

(७) मध्यकालीन हिन्दू राजा।

(८) दिल्ली और मालवा के सुलतान और मुगल बादशाह।

(९) शिन्दे नरेश।

(१) भारतवर्ष के प्राचीनतम सिक्के अंकचिह्नित ही माने जाते हैं। इनसे पूर्व के और कोई सिक्के अब तक नहीं मिले। इनका काल ई० स० पूर्व पाँचवीं शताब्दी से द्वितीय शताब्दी का गृहीत है। ये चाँदी और ताँबे दो धातुओं के होते हैं। आकार में ये चौखूटे या वर्तुल (गोल) होते हैं। अधिकांश सिक्कों पर एक ओर चिह्न होते हैं व दूसरी ओर कोरे अर्थात् उस तरफ कुछ नहीं होता। कुछ सिक्कों पर दोनों ओर चिह्न बने होते हैं। ये विशेषतः मनुष्य, पशु, वृक्ष, वृक्ष की शाखा, फल, मूल, स्वस्तिक, शिव, सूर्य, कार्त्तिकेयादि देवता, नदी, कच्छ, मत्स्य तथा ज्योतिष्क मण्डल के सांकेतिक चिह्न होते हैं। उज्जैन और बेसनगर के सिक्कों पर एक विशेष चिह्न अधिकतया होने से मुद्राशास्त्रवेत्ता द्वारा वह मालव या अवन्ती चिह्न इस नाम से ही अभिहित किया जाता है। एक ही मुद्रा पर एक ओर चार चार पाँच पाँच चिह्न तक होते हैं। दूसरी ओर उतने नहीं पाए जाते। अनेकों पर तो केवल एक ही होता है जिसे Caduceus कहते हैं। कई चिह्न ऐसे भी हैं जिनका परिचय नाम द्वारा होना असम्भव है। ये केवल आकार से ही परिज्ञात हैं।

ऐसी चिह्नित मुद्राएँ हमें बेसनगर से अधिक मिली हैं। उज्जैन और पवाया में भी ऐसी मुद्राएँ मिलती रहती हैं। इन मुद्राओं पर कोई लेख या अक्षर नहीं होते।

(२) साँचे में ढली हुई ये मुद्राएँ बहुधा गोल होती हैं। इन्हें साँचों में ढालकर बनाया जाता था। इनमें अंक चिह्नित मुद्राओं के सदृश वृक्ष, फूल, मनुष्य, पशु, जंगल युक्त वृक्ष, चैत्य और अर्द्धचन्द्र चिह्नादि बने होते हैं। इनमें

श्री सुखरामजी नागर

दोनो तरफ ही चिह्न होते है। इन मुद्राओ पर कही कही कोई नाम या अक्षर लिखे मिलते है जो राजाओं के नाम होने चाहिए। इन मुद्राओ को गणीय (tribal) अथवा प्रादेशिक (local) कहते है। ऐसे सिक्के सभी प्राचीन स्थानो पर मिले है जैसे कौशाम्बी, ईरन, मथुरा, तक्षशिला, अयोध्या इत्यादि।

ये सिक्के भी बेसनगर, उज्जैन और पवाया से प्राप्त हुए है। इनका काल अंक चिह्नित के अनन्तर ई० स० पूर्व दूसरी शताब्दी से ई० स० पहली शताब्दी माना गया है।

(३) कुशान—इन्हे (Indo-Parthian) भी कहते है। ये राजा मध्यएशिया से आकर भारतीय यूनानी शासको को परास्त कर भारत-भूमि पर अधिकार कर बैठे। विशेषकर इनका शासन उत्तरीय भागों मे सीमित था। इन्होने भारतीय यूनानी शासको की मुद्रा-पद्धति का अनुसरण कर वैसी ही मुद्रा चलाई। ये मुद्राएँ भी अपने राज्य मे प्राप्त हुई है। इनमे एक ओर राजा की खड़ी मूर्ति होती है जिसके एक हाथ मे राज-दण्ड और दूसरे में त्रिशूल होता है। दूसरी ओर आसीन वा खड़ी देवी होती है। इन मुद्राओ मे परिचायक बात यह है कि इन मुद्राओ मे राजा के पैरो मे पादत्राण होते हैं। ये सिक्के सोने चाँदी, ताँबे आदि सभी धातुओ के पाए जाते है। इनमें नामोल्लेख दो लिपियो ब्राह्मी और खरोष्ठी मे रहता है।

(४) आध्र—उज्जैन की खुदाई में हमे ये सिक्के मिले है। हमारे प्राप्त सिक्को पर एक ओर हाथी व दूसरी ओर चैत्य अथवा सुमेरु है। ये परिमाण मे छोटे होते है व इनपर कोई लेख नही मिला। और अन्य स्थान पर आध्रो के बड़े बड़े सिक्के मिले है। ये ताँबे, सीसे आदि मिश्र धातु के होते है। इन सिक्को पर कुछ लिखा मिलता है जैसे रञ्जो वासिठीपुतस विलिवायकुरस, रजो मादरिपुतस सिवलकुरस इत्यादि।

(५) क्षत्रप—इनके सिक्के बेसनगर व उज्जैन मे मिले है। ये भी छोटे और गोल होते है। इनमे पूरे नाम का लेख रहता है व विशेष करके इनमे वर्ष भी अको मे दिए होते है। इनमे अमुक पुत्र अमुक का, ऐसा लेख गोलाई मे किनारे पर रहता है व मध्य मे मुखाकृति होती है, दूसरी ओर चैत्य रहता है।

गुप्त—बेसनगर की खुदाई मे कुछ गुप्त सिक्के मिले है। इनमे कुमारगुप्त के मुख्य हैं। इन राजाओं की मुद्रा कुषाण मुद्रा के आधार पर रचित हुई प्रतीत होती है। केवल भेद इतना है कि इन पर लेख गुप्त लिपि व शुद्ध संस्कृत मे रहता है। ये कई प्रकार के होते है। इनमे राजा की मूर्ति खड़ी धनुष-बाण लिए अथवा सिंह-वध करती हुई रहती है। दूसरी ओर सिंहासनारूढ़ लक्ष्मी रहती ह। और भी एक दो प्रकार के साधारण भेद होते है। ये गुप्त राजाओ की मुद्राएँ सोने, चाँदी की पर्याप्त सख्या मे और विभिन्न प्रकार की मिलती है। हमे मिले हुए सिक्के तो अत्यन्त सामान्य है। हमारे सिक्के छोटे है व उन पर लेख स्पष्ट पढने मे नही आते। हमारे मुद्रा-सग्रह मे उत्तम मुद्राएँ सगृहीत है, परन्तु उनका उल्लेख इस लेख के क्षेत्र मे न होने से यहाँ करना युक्तिसंगत नही है।

नाग—अनेक पुराणो तथा श्रीमद्भागवत मे नागवशीय नौ राजाओ का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनके नाम किसी ग्रंथ मे उपलब्ध नही हुए। इनकी मुद्राओं पर से जो हमे अत्यधिक सख्या मे कोतवाल और पवाया से मिली है, इनके नाम प्रमाणभूत ज्ञात होते है, जैसाकि आगे मुद्रापरिचय से आपको प्रतीत होगा। इन मुद्राओ पर नाम के साथ साथ नागस्य अथवा नागस दिया रहता है।

कोतवाल, पवाया व आसपास ये नाग सिक्के बहुतायत से मिले है व पवाया मे प्रति वर्ष वर्षाकाल के अनन्तर वहाँ के प्राचीन अवशेषो पर अनेक बिना प्रयास ही भूमिस्तर पर पड़े दृष्टिगोचर होते है। यही इसका प्रमाण है कि नाग राजाओं का राज्य यही पर अवस्थित होगा एव कोतवाल (कुन्तलपुर) व पवाया (पद्मावती) उस समय उनकी राजधानी होगी। यही आधुनिक इतिहास संशोधको का कथन है।

क्रमश: दस पन्द्रह वर्ष से मिले हुए इन सिक्कों की सम्यक् परीक्षा के फलस्वरूप आज हमे नौ ही नाग राजाओ के नाम अवगत होते है जो इस प्रकार है:—(१) भव (२) भीम (३) बृहस्पति (४) देव (५) गणपति वा गणेन्द्र (६) स्कन्द,

(७) वसु (८) विभु और (९) वृष। इनमें अब तक पूर्वापर का निर्धारण नहीं हुआ है जो अधिक अभ्यास सापेक्ष व श्रमसाध्य है। कारण अन्य सामग्री के एकान्त अभाव में लिपि व लेख के आधार पर ही वह निर्भर है। एक शिलालेख से यह अवश्य ज्ञात होता है कि गणपति इस नागवंश का अन्तिम राजा था जो गुप्त नृपति चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा परास्त किया गया।

नाग राजाओं की मुद्राओं का परिचय संक्षेप में इस प्रकार है —

नाम	सीधा		उल्टा
(१) भव	गतिमान वृष	दक्षिण मुख	लेख महाराज भवनाग (गोलाई में) व त्रिशूल।
(२) ,,	,,	,,	लेख अधिराज श्रीभवनाग, त्रिशूल।
(३) ,,	,,	वाम मुख	लेख महाराज भवनाग, त्रिशूल।
(४) ,,	,,	,,	लेख अधिराज श्री भवनाग, त्रिशूल।
(५) ,,	त्रिशूल	,,	लेख महाराज भवनाग।
(६) ,,	,,	,,	लेख अधिराज श्रीभवनाग।
(७) भीम	मयूर	वाम मुख	लेख महाराज भीमनाग (ऊपर नीचे दो सरल रेखाओं में)।
(८) बृहस्पति	वृष आसीन	दक्षिण मुख	लेख महाराज बृहस्पति नाग।
,,	,,	वाम मुख	,, ,, ,,
,,	त्रिशूल परशु (संयुक्त)	,,	,, ,, ,,
(९) देव	चक्र मय आरे	,,	लेख श्रीदेव नागस्य।
(१०) गणपति	गतिमान वृष	वाम मुख	लेख महाराज गणपति।
गणपति (गणेन्द्र)	,,	,,	लेख ,, श्रीगणपतीन्द्र।
,,	,,	,,	लेख ,, श्री गणपेन्द्र।
,,	,,	,,	लेख ,, श्रीगणेन्द्र।
(११) स्कन्द	मयूर	दक्षिण मुख	लेख ,, श्रीस्कन्द नागस्य।
,,	,,	वाम मुख	,,
,,	वृष	दक्षिण मुख	,,
,,	,,	वाम मुख	,,
(१२) वसु	मयूर	दक्षिण मुख	लेख ,, श्री वसु नागस्य।
(१३) विभु	वृष	वाम मुख	लेख ,, श्री विभुनाग व अंकुश।
(१४) वृष	,,	सम्मुख	लेख ,, श्री वृष ना(ग)।

इससे स्पष्ट विदित होगा कि इन राजाओं के नाम के साथ नाग शब्द का योग होने से इन उपर्युक्त नवनृपों के नागवंशीय होने में तनिक सन्देह के लिए भी स्थान नहीं है।

इन उक्त नौ नागनृपों के सिक्कों के साथ ही तथा तत्सदृश ही एक दो और राजाओं के सिक्के मिलते हैं, किन्तु उनके आगे नाग शब्द न होने से उन्हें उस वंश में परिगणित करना संशयास्पद अवश्य है पर उसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि प्रधान नागवंश के अतिरिक्त अथवा इनके पश्चात् कुछ और भी इस वंश के राजा हुए होंगे। यह भी सम्भव है कि इन्हीं के वंशज अन्य पार्श्ववर्ती प्रदेशों में शासन करते होंगे जिन्होंने भी अपने नाम से मुद्राओं का प्रचलन किया होगा।

श्री सुखरामजी नागर

ऐसे दो राजाओं के सिक्के हमे मिले हैं जैसे प्रभाकर और वीरसेन।

	नाम		सीधा	उल्टा
(१)	प्रभाकर	सिंह	दक्षिण	महाराज श्रीप्रभाकर।
	,,	,,	वाम	,,
	,,	वृष	दक्षिण	,,
	,,	,,	वाम	महाराज श्री वीरसेन।
(२)	वीरसेन	,,	,,	महाराज श्री वीरसेन।

यहाँ पर यह कह देना असंगत न होगा कि भारतवर्ष मे किसी अन्य स्थान पर नाग राजाओं की मुद्राओं का इतना सम्पूर्ण और सुन्दर सग्रह नही है जितना हमारे मुद्राकोष मे सुरक्षित है। ये मुद्राएँ हमारी एक विशेष वस्तु हैं जिसके लिए हमारा ग्वालियर गर्व कर सकता है। अन्यत्र सब स्थानो, संस्थाओ तथा प्राचीन वस्तु संग्रहालयो मे हमारे ही विभाग से प्रेषित प्रति-मुद्राएँ संरक्षित व सम्प्रदर्शित हैं।

कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार राजा मिहिरभोज का आधिपत्य कुछ समय तक ग्वालियर पर रहा। उसके चलाए हुए सिक्के यहाँ बहुत मिलते हैं। इन सिक्कों पर एक ओर वाराह-मुख नराकृति आदिवराह की मूर्ति होती है और दूसरी ओर श्रीमदादिवराह यह लेख होता है। ये चाँदी, मिश्र (चाँदी और ताँबे) अथवा केवल ताँबे के होते है। अपने यहाँ इन्हीके साथ इसी राजा के एक नवीन प्रकार के सिक्के मिले है जो अन्यत्र कही नही मिले। इनपर एक ओर तो वही नृवराह की मूर्ति है परन्तु दूसरी ओर पूर्व लेख के स्थान मे 'श्रीवनविकट बलदेव' लिखा है।

उत्तर पश्चिम और मगध प्रान्तो मे पारस्य देश के सैसनीय मुद्राओ के अनुकरण पर कुछ राजाओ ने मुद्राएँ प्रचलित की जिन्हें इण्डोसेसेनिअन वा गधैया कहते है। इनमे एक ओर राजा की विकृत मुखाकृति व दूसरी ओर अग्नि-वेदी अंकित है। ये सिक्के चाँदी, मिश्र धातु और ताँबे के पाए जाते है व आकार मे गोल होते है। अधिकाश मे इन पर लेख नही होता। कुछ सिक्को पर 'श्री' एवं 'वि' अक्षर लिखे होते है।

गुजरात और मालवा के प्रधान प्रधान सभी सुलतानो के सिक्के प्राय: अपने राज्य मे प्राप्त हुए है। सोने की मुद्राएँ उज्जैन मे एक प्राचीन खंडहर की खुदाई में मिली जो शमसुद्दीन अल्तमश, मोइजुद्दीन बेहरामशाह, अलाउद्दीन मासूदशाह और नसीरुद्दीन महमूदशाह के है। ये चारो १३वी सदी मे दिल्ली के सुल्तान थे। मुगल बादशाह का राज्य विस्तार विशाल होने से ग्वालियर राज्य के अधिकांश भाग पर उनका शासन लगभग दो शताब्दियो तक अक्षुण्ण रहा। इस कारण जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ग्वालियर के सिक्कों पर भी मुगल राजा शाहआलम द्वितीय तथा मोहम्मद अकबर द्वितीय के भ्रष्ट लेख अंकित है व इसके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट परिचायक चिह्न रहते हैं।

महाराज महादजी वा माधवराव प्रथम एवं दौलतराव की मुद्राओ पर खड्ग होता है। इसी प्रकार बैजाबाई की मुद्राओ पर सर्व प्रथम त्रिशूल के दर्शन हुए। जनकोजीराव ने धनुर्बाण देना आरंभ किया व जयाजीराव प्रथम के पैसों पर सर्प का आगमन हुआ।

मुगल राजाओ के सिक्के ग्वालियर राज्य मे बहुधा बहुतायत से मिलते रहते है। अतएव प्राय: बाबर को छोड़कर सभी मुगलो की मुद्राएँ हमे प्राप्त हुई है। शाहजहाँ, औरंगजेब, मोहम्मदशाह और शाहआलम द्वितीय की मुद्राएँ सहस्रावधि समय समय पर यत्रतत्र भूगर्भ से निकलती रहती हैं। इन मुद्राओ पर राजा का नाम, राज्य-वर्ष, हिजरी सन्, मुद्रणस्थान का नाम एवं बिरुद उत्कीर्ण रहते है। ये मुद्राएँ सोने चाँदी और ताँबे की होते हुए भी विशेषकर चाँदी की अधिक मिलती है। मुगल राजाओ की सुवर्ण मुद्राएँ भी कम नही मिलती।

ग्वालियर राज्य की मुद्राएँ

कुछ काल अनन्तर ब्रिटिश सत्ता के प्राबल्य होने से ये ग्वालियरी सिक्के भी ब्रिटिश मुद्राओं के अनुरूप ढाले जाने लगे। तथापि राज्य की अपनी विशेषता की छाप तो बराबर बनी ही रही, जैसे स० १९४६ में माधवराव के बाल्यकाल के सिक्कों पर एक ओर किनारे की गोलाई में फूल, बीच में एक वृत्त जिसमें सूर्य का चेहरा और दोनों ओर सर्प बना होता है। संवत् १९५४ के मुद्रित सिक्कों पर राजचिह्न (सूर्य और सर्प) दृष्टिगोचर होते हैं। संवत् १९५८ के पैसों पर त्रिशूल, भाला और नाग पाए जाते हैं। संवत् १९७० के पैसों में एक ओर महाराज का चेहरा और दूसरी ओर वही राजचिह्न सूर्य और सर्प रहते हैं। यह पैसा अभी भी प्रचलित है। वर्तमान सिक्के भी इन्हीं के सदृश हैं। चाँदी के सिक्के रुपये से लेकर इकन्नी तक प्रचार में थे जिनके नमूने अपने मुद्राकोष में सुरक्षित हैं। इसी प्रकार ताँबे के पैसे जितने प्रकार के उपलब्ध हुए हैं सब सुरक्षित हैं। इन सब शिन्दे राजाओं की मुद्राओं का सविस्तर वर्णन इस संक्षिप्त लेख में सम्भव नहीं है।

पार्श्ववर्ती छोटे बड़े मध्यभारतीय और राजस्थानीय राजघरानों की मुद्राएँ भी हमारे शिन्दे राजाओं के सिक्कों के साथ साथ प्राय मिलती रहती हैं। परन्तु इनकी मुद्रण प्रणाली में मुगल राजाओं का अनुकरण होते हुए भी उन्हीं के विकृत रूप को लिए हुए होने से उनका उल्लेख करना निष्प्रयोजनीय ज्ञात होता है।
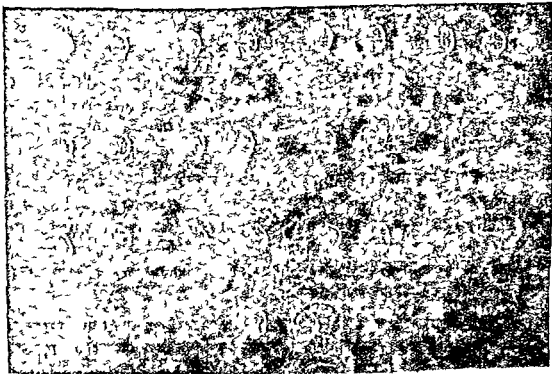
कुछ नाग सिक्के
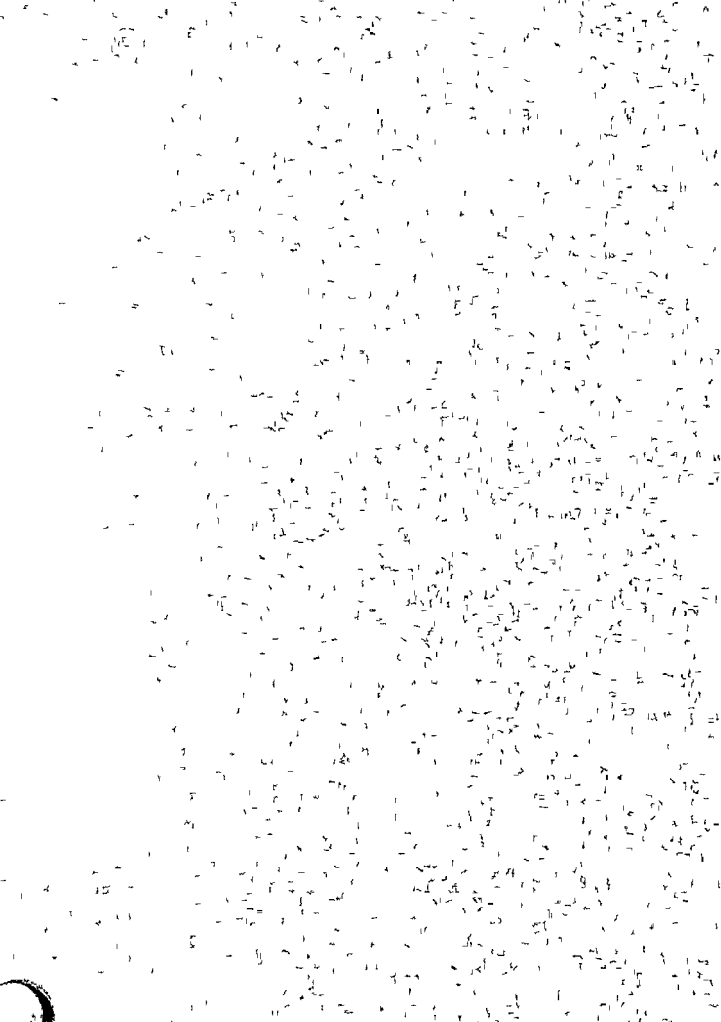
महाराज सुबन्धु का एक ताम्रपत्र-शासन

श्री मोरेश्वर वलवंत गर्दे, बी० ए०

इस ताम्रपत्र की खोज लेखक ने सन् १९२९ की शिशिर-ऋतु मे ग्वालियर राज्यान्तर्गत अमझेरा (सांप्रत सरदारपुर) जिले में स्थित वाघ की प्रसिद्ध वौद्ध गुहाओ के उत्खनन के समय की थी। यह ताम्रपत्र दो नम्वर की गुहा के पास ही एक गुहा के खण्डहर मे मिला था। पहले यह ध्वस्त गुहा दूसरे नम्वर की गुहा का ही भाग ज्ञात होती थी, परन्तु थोड़े से कूड़े को साफ करने के पश्चात् ज्ञात हुआ कि वह एक स्वतंत्र गुहा है। यह गुहा दूसरे नम्वर की गुहा की कोठरियों की वाईं ओर की पंक्ति को छूती हुई है और इसमे आने जाने का भीतरी मार्ग है। अभी यह गुहा गिरकर अपने ही कूडे से भरी हुई है, केवल द्वार की सफाई की गई है। इस गुहा को वाघ में स्थित कुछ अन्य ध्वस्त गुहाओं की भाँति क्रमसख्या अभी नही दी जा सकी है। यह ताम्रपत्र जो कूड़े-करकट मे दवा हुआ था आजकल ग्वालियर किले के गूजरीमहल संग्रहालय मे सुरक्षित है। सर्वप्रथम इसका संक्षिप्त उल्लेख लेखक द्वारा राज्य के पुरातत्त्व-विभाग की संवत् १९८५ (सन् १९२८-२९ ई०) की वार्षिक रिपोर्ट के पृष्ठ १५ पर तथा परिशिष्ट 'डी' के क्रमाक १ पर किया गया है।

ताम्रपत्र के एक ओर ही लेख उत्कीर्ण है। वह सम्पूर्ण प्राप्त है, परन्तु पहिली चार पंक्तियों के प्रारम्भ के कुछ अक्षर वहुत ही अस्पष्ट हो गए हैं तथा ताम्रपत्र का कोना टूट जाने से अन्तिम चार पंक्तियों के अन्त के कुछ अक्षर सर्वथा नष्ट हो गए हैं। ताम्रपत्र ८$\frac{५}{१६}$ इन्च लम्वा तथा ४$\frac{७}{१६}$ इन्च चौड़ा है। इसमे १२ पंक्तियाँ पूरी है। तेरहवी पंक्ति की लम्वाई अन्य पंक्तियो से केवल चौथाई है, वह दाहिनी ओर उत्कीर्ण है, और ताम्रपत्र के टूटे हुए भाग में अंशतः नष्ट हो गई है। वाईं ओर के कोरे स्थान (margin) में दाता का नाम खड़ी लकीर में लिखा है। लिपि दक्षिणी गुप्त है और अक्षरो की औसत ऊँचाई चौथाई इन्च से कुछ अधिक है। भाषा शुद्ध संस्कृत है। परन्तु छठी पंक्ति मे केवल एक अशुद्धि है, जिसके लिए रचनाकार ही उत्तरदायी होगा। 'वुद्धाय' के स्थान पर 'वुद्धस्य' होना चाहिए था। अन्यत्र और भी कुछ अशुद्धियाँ हैं जो केवल लिपिकार अथवा उत्कीर्णक की भूलें हो सकती हैं। उदाहरणार्थ सातवी पंक्ति में 'स्फुटित' के स्थान पर 'प्फुटित', आठवी पंक्ति मे 'शय्या' के स्थान पर 'शेय्या', दसवी पंक्ति मे 'रन्य' के स्थान पर 'रेण्य', ग्यारहवी पक्ति मे 'प्रीत्या' के स्थान पर 'प्रित्या', तथा वारहवी पंक्ति मे 'आच्छेत्ता' के स्थान पर 'आच्छत्ता', 'नरके' के स्थान पर 'नरक', 'वसेत्' के स्थान पर 'वसत्' लिखा है। सन्धि का नियम कही २ नही पाला गया है। उदाहरणार्थ चौथी पंक्ति में 'वः यथैष', सातवी पंक्ति में '"पयोज्यः भग्न"', नववी पंक्ति मे '"परिकर. भूमि"', दसवी पंक्ति में '"तिसृष्टः विदित्वा"'।

महाराज सुबन्धु का एक ताम्रपत्र-शासन

वर्ण विचार (Orthography) की दृष्टि से यह उल्लेखनीय है कि 'सुबन्धु कुशली' (प० १) में विसर्ग जिह्वामूलीय चिह्न से लिखा गया है। और 'र्' के अनुगामी व्यंजन, क्, ग्, प्, थ, द्, तथा य् सदैव दुहराए गए हैं, जैसे 'व्यायतन्र्त्यं' (प० ५), "वर्त्र्णव" (प० ६), "सस्कारणात्र्यमार्य्य भिक्षु" (प० ७) 'चातुर्द्दिश' (प० ८) और 'स्वर्ग्गे' (प० १२)।

यह अभिलेख महाराज सुबन्धु का माहिष्मती नगर से प्रचालित दानपत्र है। इसमें महाराज सुबन्धु ने दत्तटक नामक व्यक्ति के बनवाए हुए कलयन नामक बौद्ध विहार के भगवान् बुद्ध की पूजा-सामग्री के लिए, भग्न स्फुटित के सस्कार के लिए, तथा आगत आर्य भिक्षु सघ के आदर सत्कार के लिए एक ग्राम प्रदान किया है।

अभिलेख म इसकी तिथि उत्कीर्ण थी। परन्तु जहाँ सवत् उत्कीर्ण था, ताम्रपत्र का वह कोना टूट गया है और टूटे हुए खड के साथ सवत् तथा दिन के अक लुप्त हो गए ह। केवल मास का नाम 'श्रावण' शेष रह गया है। सौभाग्य से इन्ही महाराज सुबन्धु का माहिष्मती नगर से ही प्रचालित दूसरा एक ताम्रपत्रशासन बडवानी राज्य में मिला है और वह एपिग्राफिया इण्डिका के भाग १९ के पृष्ठ २६२ पर प्रकाशित हुआ है। बडवानी बाघ-गुहाओ से दक्षिण की ओर १५ मील पर स्थित ह। बडवानी शासन में सवत् १६७ दिया हुआ है। अतएव यह कहा जा सकता है कि हमारे बाघ के ताम्रपत्र-शासन की तिथि भी उसी के लगभग होगी। यह ताम्रपत्र शासन गुप्तकालीन लिपि में लिखा गया है, अत यह मानना वितर्क न होगा कि इसमें उल्लिखित तिथि गुप्त सवत् की थी, जिसका प्रारभ ईसवी सन् के ३१९ वष में माना जाता है। महामहोपाध्याय मिराशी*, महाराज सुबन्धु के ताम्रपत्र शासनो की तिथियाँ कलचुरी चेदि सवत् की होना अधिक सभवनीय समझते ह। कलचुरी सवत् का प्रथम वष ई० स० का २४९–२५०वा वष था। अत तिथि का सबध इन दोनो में से किसी सवत् से भी लगाया जाय तो ये दोनों ताम्रपत्र ईसा की पाँचवीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं।

इन दोना शासनो में सुबन्धु को केवल 'महाराज' की एक उपाधि है। इस कारण यह ज्ञात होता है कि वह स्थानीय शासक थे। दोनो शासन माहिष्मती नगर से ही प्रचालित हैं अत यह अनुमान किया जा सकता है कि माहिष्मती ही उनकी राजधानी होगी।

बाघ-गुहाओ में प्राप्त यही एक अभिलेख है। इससे इन गुहाओ के निर्माणकाल तथा नाम पर कुछ प्रकाश पडता है। इस ताम्रपत्र के प्राप्त होने के पूर्व बाघ गुहाओ का निर्माणकाल स्थापत्य की शैली के आधार पर ईसवी सन् की सातवी शताब्दी के लगभग माना गया था। प्रस्तुत अभिलेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ की कुछ गुहाएँ तो ईसवी सन् की पाँचवी शताब्दी के बाद की नही हो सकती, जैसा कि लेखक पहिले ही अन्यत्र† लिख चुका है।

बाघ गुहाओ का प्राचीन नाम अभी तक ज्ञात नही हुआ है। इस ताम्रपत्रशासन में विहार का नाम '*कलयन*' दिया गया है। यह नाम प्राय उस गुहा (विहार) से ही सम्बन्धित होगा, जिसके खण्डहरा में यह ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ है। यह नाम पूरे गुहा-समूह का है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योकि 'कलयन' विहार का निर्माण दत्तटक के द्वारा हुआ था और पूरा गुहा-समूह एक ही काल में तथा एक ही व्यक्ति विशेष के द्वारा बनवाया गया था, यह कहना दु साहस है।

इस अभिलेख म दो स्थाना के नाम आए ह—माहिष्मती और दासिल्लकपल्ली। माहिष्मती की भौगोलिक स्थिति के विषय में विद्वाना में मतैक्य नही है। माहिष्मती के महाराज सुबन्धु एक स्थानीय शासक थे, यह ऊपर कहा जा चुका है। इससे यह धारणा की जा सकती है कि उनके राज्य का विस्तार बडा न होगा। उनके ताम्रपत्रशासन बडवानी और बाघ में ही मिले ह अत माहिष्मती बडवानी तथा बाघ से बहुत दूर न होना चाहिए। इस भूभिभाग में दो ही स्थान ऐसे ह जो प्राचीन नगरो की श्रेणी में आते हैं—ओंकारमान्धाता और महेश्वर। कवि चूडामणि कालिदास ने रघुवश के छठे सर्ग के ४३ वे श्लोक में रेवा (नर्मदा) नदी का वर्णन करते हुए उसे माहिष्मती नगरी की काञ्ची (girdle) कहा है अर्थात् माहिष्मती

---

* इंडियन हिस्टॉरिकल क्वाटर्ली भाग २१, पृष्ठ ८४।

† ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व विभाग की वार्षिक रिपोर्ट सवत १९८५ (सन् १९२८-२९ ई०), परिशिष्ट 'डी', क्रमांक १, पृष्ठ २८।

नगरी नर्मदा से परिवेष्टित थी। यह वर्णन ओंकार मान्धाता को ही, जिसका प्राचीन भाग नर्मदा के एक द्वीप पर स्थित है, लागू हो सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि कालिदास का माहिष्मती से तात्पर्य वर्तमान ओंकारमांधाता से है। कालिदास का समय प्रायः ईसवी सन् की पाँचवी शताब्दी माना जाता है। हमारे अभिलेख का समय भी यही है। इसलिए उक्त अभिलेख में उल्लिखित माहिष्मती को वर्तमान ओंकार मांधाता मानना ही संगत होगा। माहिष्मती अनूप (देश) की राजधानी थी।

अभिलेख मे दूसरा नाम दासिलकपल्ली आया है। लेख की पहिली पंक्ति 'दासिलक पल्ली-प' से पूर्ण है। दूसरी पंक्ति के आरंभ के कुछ अक्षर स्पष्ट नही है। परन्तु महाराज सुबन्धु के बड़वानी ‡शासन के सादृश्य पर से यह अनुमान किया जा सकता है कि दासिलकपल्ली उस पथक अर्थात् प्रादेशिक विभाग का नाम होगा जिसके अन्तर्गत शासन से प्रदान किया हुआ ग्राम स्थित था। 'पथक' शब्द का आद्याक्षर पहिली पंक्ति में विद्यमान है। बाद के दो अक्षर 'थके' दूसरी पंक्ति के आरम्भ मे लिखे होगे। और उसके अनन्तर प्रदान किये हुए ग्राम का नाम होगा जो अब अस्पष्ट अतः अपठ्य हो गया है। दासिलकपल्ली अभी विद्यमान है या नही और यदि विद्यमान हो तो उसका आधुनिक नाम क्या है यह ज्ञात न हो सका।

इसी प्रकार व्यक्तियों के दो नाम भी इस शासन लेख में आए है—सुबन्धु और दत्तटक। महाराज सुबन्धु के दो ताम्रपत्रशासन उपलब्ध हुए है, उनसे यह अनुमान होता है कि वह एक स्थानीय शासक थे और उनकी राजधानी माहिष्मती नगरी थी। सुबन्धु का उल्लेख उक्त दो ताम्रपत्रो के अतिरिक्त अभी तक अन्यत्र कही नही मिला है। दूसरा व्यक्ति दत्तटक है। जिस स्थान के प्रबन्ध के लिए प्रस्तुत दान-पत्र दिया गया था, वह कलयन विहार दत्तटक का निर्माण किया हुआ ('कारित') था। दत्तटक के नाम के साथ किसी उपाधि का उल्लेख नही है जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि वह कोई राज्याधिकारी, धनिक, अथवा प्रभावशाली बौद्ध भिक्षु थे। इस व्यक्ति का भी उल्लेख कही अन्यत्र नही मिल सका है।

पाठ*

(पंक्ति १) ॐ [स्वस्ति] माहिष्मतीनग[रान्म]हा[रा]जसुबन्धुः† कुशली दासिलकपल्लीप-
(पंक्ति २) ………… [न]लकदित्योद्ग्राहकायुक्तकविनियुक्तक-
(पंक्ति ३) चाटभटकाष्ठिकगमागमकदूतप्रेषणिकादीन्ग्रामप्रतिवा-
(पंक्ति ४) सिनश्च समाज्ञापयति विदितमस्तु वः(वो) यथैष ग्रामो मया दत्तट-
(पंक्ति ५) ककारितकलयनविहारे मातापित्रोरात्मनश्च पुण्याप्यायनार्त्थमाचन्द्रा-
(पंक्ति ६) र्क्कार्ण्णवग्रहनक्षत्रक्षितिस्थितिसमकालीनः(नो) भगवतो बुद्धाय (बुद्धस्य) गन्धधूप-
(पंक्ति ७) माल्यबलिसत्रोपयोज्यः(ज्यो) भग्नस्फु(स्फु)टितसंस्कारणार्त्थमार्य्यभिक्षुसङ्घस्य
(पंक्ति ८) चातुर्द्दिशाभ्यागतकस्य चीवरपिण्डपातग्लानप्रत्ययशे(श)य्यासनभै-
(पंक्ति ९) षज्यहेतोराग्रहारस्सोद्रङ्गस्सोपरिकरः(रो) भूमिच्छिद्रन्यायेनाग्रहारो-
(पंक्ति १०) तिसृष्टः(ष्टो) विदित्वाद्यदिवसादारभ्यास्मदीयैरेष्य(रन्य)विषयपतिभिश्च———
(पंक्ति ११) प्रि(प्री)त्यास्मत्प्रीत्या च भिक्षवो भुञ्जन्तो न व्यासेद्धव्याः षष्टिवर्ष[सहस्राणि]‡

---

‡ बड़वानी शासन में पथक और ग्राम का उल्लेख इस प्रकार हैः—'उदुम्बरगर्त्तापथकः (के) सोहजना पद्रके' (एपि. इडिका भाग १९ पृष्ठ २६२).

* मूल ताम्रपत्र से पठित।

† 'जिह्वामूलीय' चिह्न से विसर्ग लिखा गया है।

‡ यह शब्द ताम्रपत्र के टूटे कोने के साथ अंशत. नष्ट हो चुका है, परन्तु यह श्लोक अन्य शासनों में भी आता है। उसमें यह शब्द पाया जाता है।

(पंक्ति १२) स्वर्गे मोदति भूमिद [*।]आच्छ(च्छे) त्ता चानुमन्ताच तान्येव नरक (के) वस(से)त्॥ स्वय[म]

(पंक्ति १३) श्रावण‡

(पंक्ति १४) *[म]हाराजसुबन्धो

उक्त ताम्रपत्र के छापे का चित्र नीचे दिया जाता है। मूल ताम्रपत्र की लम्बाई ऊपर दी गई है और इस चित्र की लम्बाई ५ इंच है, अतएव मूल से इसका अनुपात ८ ५ है। ताम्रपत्र का चित्र अन्यत्र दिया गया है।

---

‡ बारवीं पंक्ति के अन्त में संवत वाचक संज्ञा 'सं' तथा वर्षवाचक संख्यांक लिखा होगा वह पत्र का कोना टूटने से नष्ट हो गया है। पक्षनाम तथा दिनसंख्यांक भी १३वीं पंक्ति के अन्त में होंगे वह भी नष्ट है। १३वीं पंक्ति के अन्त के समीप लिखा हुआ केवल मास का नाम 'श्रावण' शेष बचा है, अतएव इस ताम्रशासन की तिथि पूर्णतया ज्ञात नहीं हो सकती।

* यह पंक्ति ताम्रपत्र के बाईं ओर खड़ी उत्कीर्ण है।

गोपाचल के सन्त कवि—ऐन साहब

स्व० श्री किरणविहारी दिनेश

मुस्लिम संस्कृति की जो कालिन्दी अरब और फारस से वही वह आकर हिन्दू धर्म की गंगा से टकराई। कुछ समय पृथक् अस्तित्व रखते हुए ये दोनों धाराएँ साथ साथ चली। कट्टर पंडितों और मौलवियो के रूप मे दो किनारे दूर दूर ही रहे, परन्तु जनता का मन अलग न रह सका। जनता की गगा-यमुना के हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव को मिटाने का काम सन्तों ने किया। यदि राजनीतिक कारणों से (धार्मिक कारणो मे कदापि नही) इन दो धाराओ के बीच कृत्रिम दीवाल खड़ी न की जाती तो इन सन्तो की कृपा से राम और रहीम के ये बन्दे बिलकुल घुलमिल गए होते और अब तक भेदभावमूलक सब बाते नष्ट होकर पवित्र भारतीय सांस्कृतिक भागीरथी का रूप-निर्माण हो गया होता।

ग्वालियर ने भी ऐसा एक पुण्य-कर्मा सन्त उत्पन्न कर इस सास्कृतिक एकता के प्रयास मे अपना हाथ बटाया है। आज भी गोपाचल की गोदी मे उस सन्त की पावन अस्थियाँ दबी हुई है। इस सास्कृतिक पर्व के आयोजन मे हाथ बटानेवाले ग्वालियर गढ़ के सन्त कवि 'ऐन' का संक्षिप्त परिचय यहाँ देना उपयुक्त होगा।

जब ऐन साहब और उनकी कविता से मेरा प्रथम परिचय हुआ वह बात ढाई युग (लगभग तीस वर्ष) से अधिक की नही है; फिर भी इस समय तक विज्ञान की तीव्र चमक से संसार की आँखे चौंधिया नही गई थी। सात्विक युग मे एक भादों सुदी एकादशी को जल-विहार के एक जुलूस मे भगवान् कृष्ण की मूर्ति के सामने एक मुस्लिम कलावन्त को गाते सुना, इस भेद को बतलादो श्री चंद्रावल महाराज'। उस समय एक परिपाटी थी कि गानेवाले एक अस्थायी लेकर बीच

बीच में सन्तो के दोहा का भी गानो में प्रयोग किया करते थे। उसी के अनुसार निम्नांकित दो दोहे भी उपरोक्त अस्थायी के साथ मुझे सुनने को मिले —

> जो गुजरा सो ख्वाब था, जो गुजरे सो ख्याल,
> ऐन गनीमत जानिए, जो गुजरा सो हाल॥
> नैन नैन कँ जात है नैन नैन के हेत।
> नैन नैन के मिलत ही नैन 'ऐन' कह देत॥

एक मित्र से ज्ञात हुआ कि ये दोनो दोहे साइं 'ऐनानन्द' नामक एक मुस्लिम सन्त के कहे हुए हैं, जो यथासम्भव अपने उपनाम 'ऐन' का उपयोग सार्थक रूप में किया करते थे।

उस समय इच्छा हुई कि ऐन साहब के कुछ और दोहे सुनने को मिलते तो अच्छा होता, लेकिन किशोरावस्था की क्रियाओं मे यह उत्सुकता अधिक दिन तक न टिक सकी। उसके बाद एक बार विद्यार्थी-जीवन की स्वाभाविक घुमक्कड वृत्ति के चक्कर में अपने नगर के पार्श्व में स्थित गोपाचल गढ के कटिप्रदेश मे परिभ्रमण करते हुए अनायास ही ऐन साहब की समाधि पर पहुँच गया। एक बार दोहेवाली घटना की स्मृति फिर हरी हो गई और उस समय इच्छा हुई कि ऐन साहब के विषय में और बात भी जानी जाएँ। परन्तु साधना के तथा अनुकूल साहित्यिक वातावरण के अभाव के कारण कुछ कुण्डलिया प्राप्त करने से आगे कुछ काम न हो सका। प्रगतिशील-साहित्य मण्डल की वसन्त बैठक के उपलक्ष में एक बार फिर ऐन साहब की समाधि पर जाने का अवसर मिला। उस समय ऐन साहब के विषय में खोज करने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उसके प्रति किए गए प्रयत्नो के फलस्वरूप यह विवरण प्रस्तुत है।

ऐन साहब अपने समय के लोकप्रिय सन्त कवियो में से थे। ग्वालियर के सीमित क्षेत्र में उनके जीवन के बाद भी नवीन सभ्यता के आगमन के पहिले तक ऐन साहब की कुण्डलिया और दोहो का वही मान था जो तुलसीदास और कबीर दासजी के वचनो का था। ऐन साहब के विषय में उनके सन्यास ग्रहण करने से पहिले का विवरण मिल सकना आज तक सम्भव न हो सका, केवल यह ज्ञात है कि वे ग्वालियर नगर के मोहल्ला नूरगंज के एक पठान थे, किन्तु इसके विषय में भी कोई लिखित प्रमाण नही मिलता। जो भी दन्तकथाएँ प्रचलित है अथवा जो अन्य व्यक्तियो द्वारा लिखे गए संस्मरणो अथवा स्वयं ऐन साहब द्वारा अपने ग्रन्थो में यत्र तत्र वर्णित जो घटनाएँ है वे सब सन्यास-ग्रहण के बाद की है। ऐसा ज्ञात होता है कि ऐन साहब का परिवार नगर में एक बहुत साधारण स्थिति का था। उस परिवार में कोई विशेषता न होने के कारण जनता उसके परिचय को स्मरण न रख सकी। किन्तु ऐन साहब अपने नवीन स्वरूप में जनता के हृदय मे बस गए, और यही कारण है कि उनके सन्यास ग्रहण के बाद का प्रामाणिक परिचय प्राप्त होता है। ऐन साहब के जीवन की घटनाएँ तीन साधनो से प्राप्त होती है —(१) अपने ग्रंथो में यत्रतत्र स्वयं ऐन साहब द्वारा वर्णित घटनाएँ, (२) अन्य व्यक्तियो द्वारा ऐन साहब के विषय मे लिखित संस्मरण, (३) प्रचलित दन्तकथाएँ।

हमारा विवरण अन्तिम साधन से प्रारंभ होता है क्योकि ऐन साहब के विषय में केवल एक दन्तकथा कुछ हेरफेर के साथ दो स्वरूपो में प्राप्त होती है जिसमे ऐन साहब के सन्यास ग्रहण करने के कारण पर प्रकाश पडता है। कहा जाता है कि ऐन साहब एक बार ग्वालियर बस्ती के बीच से बहनेवाली स्वर्ण रेखा नदी के तीर पर स्थित रामसनेही सम्प्रदाय के रामद्वारे के निकट शिकार खेलने गए। रामद्वारे के तत्कालीन महन्त ब्रह्मदास महाराज वही पर भगवत् भजन कर रहे थे। रामद्वारे के वर्तमान अधिपति बाबा कन्हई महाराज से ज्ञात हुआ कि कई बार प्रयत्न करने पर ऐन साहब शिकार में सफल न हुए। इसपर ऐन साहब ने ब्रह्मदास महाराज को एक पहुँचा हुआ योगी समझकर उनके चरण पकड लिए। किन्तु ब्रह्मदासजी महाराज मुसलमान को शिष्य बनाने के लिए तयार नही थे और उन्हीके आदेश से ऐन साहब गुरु ढूढन निकल पडे। नगर के वयोवृद्धो में प्रचलित किंवदन्ती में इतना भेद है कि ऐन साहब शिकार में असफल होने पर विक्षिप्त से हो गए और वे ब्रह्मदासजी महाराज को मारने दौडे। इसपर ब्रह्मदासजी ने उन्हे एक धक्का दिया और कहा कि इधर कहाँ

बताता है उधर को चला जा। कहा जाता है कि जिस दिशा की ओर ब्रह्मदासजी ने इंगित किया था वह दिल्ली की दिशा थी, जहाँ तीन वर्ष भटकने के बाद ऐन साहब की अपने सद्गुरु से भेंट हुई। यहाँ पर ऐन साहब के विषय में एकमात्र यही दन्तकथा मिलती है। इस घटना का अभी तक कोई निश्चित आधार प्राप्त नही हुआ है। इसके बाद उस एकमात्र लिखित संस्मरण से ऐन साहब की जीवनी का कुछ प्रामाणिक आधार मिलता है जो उनके किसी अज्ञात भक्त द्वारा गीता की भूमिका नामक ग्रंथ के प्रारंभ में लिखी गई है। इस संस्मरण मे लिखित घटनाएँ स्वयं ऐन साहब के लिखे हुए 'आत्मचरित्र भिक्षुक-सार' नामक ग्रंथ से मेल खाती है।

एक विद्वान् ने ऐनानन्दजी की कुछ कुण्डलियों का परिचय देते हुए ऐन साहब का जन्म संवत् १९२० में होना बतलाया है। किन्तु इसका कोई प्रमाण अथवा आधार ढूढ़ने की आवश्यकता नही है। मेरे पास ऐन साहब के जो ग्रंथों का संग्रह है उसमें उनका पाँचवाँ ग्रंथ ब्रह्मविलास संवत् १८८७ का लिखा हुआ है जब १९२० मे उनके जन्म की कल्पना भी हास्यास्पद होगी। ऐन साहब के जीवन का जो प्रामाणिक भाग मिलता है वह केवल इतना है कि उनका जन्म ग्वालियर में हुआ था। वे अपने भिक्षुक सार नामक आत्मचरित्र मे मंगलाचरण के बाद लिखते है :—

जनम ग्वालियर में हुआ, जन केते बड़ भाग।
बीस बरस कुल धरम का किया सरब खट राग॥

किया सरब खट राग खुशी माता की कीनी।
ता सेवा परताप प्रीति हरि अपनी दीनी॥

फिर त्यागा सब कुल धरम ऐन लिया बैराग।
जनम ग्वालियर में हुआ जन केते बड़ भाग॥

इसी प्रकार ब्रह्मविलास के अन्त मे ऐन साहब कहते है :—

पढ़े जो पंडित होय, ग्रंथ जाने ये बनाया। तिन गुरू धाम, ग्वालियर जनम है पाया॥

इससे सिद्ध होता है कि ऐन साहब को बीस वर्ष की आयु मे वैराग्य उत्पन्न हुआ। अपने इस वैराग्य की कथा कहते हुए ऐन साहब कहते है :—

फिर साई ये बुद्ध दई गुरू का सरना लेउ।
तीन बरस खोजत फिरे तब पाये गुरू देउ॥

तब पाये गुरू देव सहर दिल्ली के माहीं।
दरसन गुरू के करत चाह जो थी सो पाई॥

उपरोक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि ऐन साहब अपनी माता के बडे भारी भक्त थे और उन्होने उनकी बहुत बड़ी सेवा की थी और इसी मातृ-भक्ति के फलस्वरूप उनके हृदय मे ईश्वर-भक्ति जाग्रत हुई जिसको उन्होने परमात्मा का प्रसाद माना। इन उद्धरणों से उस दन्तकथा के सत्य होने की शंका हो जाती है जो उनके सन्यास लेने के लिए शिकार की घटना में वर्णित है। यदि यह दन्तकथा सही होती तो ऐन साहब जैसे नि.स्पृह और निर्भीक पुरुष को अपने इस आत्मचरित्र मे उसके वर्णन करने में सकोच न होता।

उनके गुरु का नाम फिदाहुसैन था, इनका उल्लेख जो ग्रंथ मुझे प्राप्त हुए है उनमे केवल एक स्थान पर है। 'ऐन-स्वर्ग-प्रकाश' ग्रंथ के आरंभ मे ऐन साहब इस प्रकार कहते हैं :—

सतगुरु फिदाहुसैन सो मेरे खावंद करीम।
सब कुल का सुख देन तिनका ऐन फकीर में॥

फिदाहुसन साहब अपने अग में भस्म लगाया करते थे और उन्होंने इनको ऐन नाम दिया और भस्म धारण करने का आदश भी दिया था। इसका उल्लेख 'श्रीनरचरित्र-सुन्दर कथा' में इस प्रकार आया है —

ऐसे गुरु पाये हम सांईं। भस्म अग प्रभु दिल्ली माही॥
परम हस बालक सम ताई। ज्ञान वैराग भक्त सुखदाई॥

देखत मोपर भये कृपाला। ऐन सत गुरु दीन दयाला॥
जिन दीना मोहि दीन विचारा। दृढ़ विश्वास नबिन दई सारा॥

फिर गुरु ऐन नाम मोहि दीना। मूरख से कीना परवीना॥
भस्म भेख फिर दिया गुसांईं। परकट ऐन किया जग माहीं॥

इसी ग्रथ में ऐन साहब ने यह स्वीकार किया है कि गुरु की वाणी अरबी और फारसी मे हुई, उसम से ऐन शिष्य ने कुछ को भाषा में वणन किया।

सस्मरण लेखक लिखते ह कि 'दिल्ली में जब भेष पहरे पीछे गुरु के पास बरस एक रहे फिर गुरु ने आज्ञा दीनी जो तुम अपनी माता को ये भेष का स्वरूप दिखा आवो फिर उनकी आज्ञा लेकर यहाँ आवो जब दिल्ली से ग्वालियर माता के दर्शन करके आज्ञा ले बाग में आय रहे।'

ऐन साहब ने अपने आत्मचरित्र में यह तो स्वीकार किया है कि वे एक वष तक गुरु के सतसग में रहे और योग के साधनो को उन्होंने सीखा। किन्तु गुरु ने माता को भेष दिखाने की आज्ञा दी इसका कोई उल्लेख नहीं किया। ऐसा ज्ञात होता है कि इस उल्लेख का जिक्र बातों ही बातो म ऐन साहब ने अपनी भक्त मडली में किया होगा, जिसे सस्मरणकार ने लिखित रूप दे दिया। ऐन साहब के 'वाणी' कहने का कारण बताते हुए सस्मरण में लिखा है 'सो गुरु की आज्ञा बानी कहने की हुई थी सो भेष पहरे पीछे चार महीने बाद बानी कुण्डली कहने लगे थे, किन्तु ऐन साहब स्वय इस दिशा म मौन ह। ऐन साहब तो अपना आत्मचरित्र इस प्रकार आगे बढाते ह—

एक बरस भटके किया सतगुरु का सतसग।
माफिक चित सेवा करी सीखे साधन ढग॥

सीखे साधन ढग फेर गुरु आज्ञा दीनी।
गुरु प्रसाद धर सीस वृत्ति अजगर की लीनी॥

ऐन रहे बारह बरस अजगर वृत निसग।
एक बरस भरके किया सतगुरु का सतसग॥

यहाँ ऐन साहब के आत्मचरित्र म उनके जीवन की घटनाओ के वर्णन का लगभग अन्त हो जाता ह।

आगे आत्मचरित्र में ऐन साहब ने अपनी रहन सहन तथा सन्तो की वृत्तियो के विषय में अपने विचारो को प्रकट किया है। केवल एक दो कुण्डलियो से ऐन साहब की वेषभूषा के विषय म कुछ प्रकाश पडता ह —

ओमकार का तिलक कर लई भीख की वत्ति।
देखन को नरनार गति घर घर मांगन फित्ति॥

इस आत्मचरित्र मे ज्ञात होता है कि ऐन साहब केवल सिर ही नहीं मुडाते थे, दाढी और मूछ भी साफ रखते थे। पीताम्बर के साथ साथ अग में भस्म भी लगाया करते थे, शरीर की शक्ति और वस्तुओ के अनुसार गरम, तथा ठडे वस्त्रो का व्यवहार किया करते थे। उनके मस्तक के तिलक पर ओकार लिखा रहता था। बारह वष की अजगर वृत्ति के समाप्ति

के वाद उन्होंने फिर भ्रमरवृत्ति ग्रहण की थी, जिसके अनुसार वह संग्रह करके कुछ नही रखते थे वलिक जव भूख लगती थी तव भाँति भाँति के फलफूल से पराग एकत्रित करनेवाले भ्रमर की तरह घर घर से टुकड़े माँग लाया करते थे। इसके लिए प्रातः-साय-समय-असमय देर अवेर का वे विचार नही करते थे। जिस समय भूख लगती भिक्षा के लिए निकल पड़ते थे। इसके अतिरिक्त 'आठ पहर हर भजन मे ऐन रहे सरसार' कहकर वह अपनी दिनचर्या प्रकट करते है।

उन्होने अपने को अकिंचन और अपदार्थ महामूर्ख भ्रमजाल मे पड़ा हुआ वतलाया है, और ज्ञान प्राप्त करने का सारा श्रेय गुरु की कृपा-करामात को दिया है। 'तव प्रभू नाम ऐन मोहि दीना, मूरख से कीना परवीना'। गुरु की महत्ता के विषय मे उन्होने अपने प्रत्येक ग्रथ मे अनेको वार वहुत कुछ लिखा है जो गुरु के प्रति अनन्य भक्ति को प्रकट करता है। इससे अधिक अपने जीवन की घटनाओ के विषय मे कोई प्रकाश नही डाला।

संस्मरणकार ने अपने विषय से सम्वन्धित घटनाओ पर कुछ अधिक प्रकाश डाला है। इससे ज्ञात होता है कि ऐन साहव अपनी तेईस चौवीस वर्ष की आयु मे वानी-कुण्डली कहने लगे थे, क्योकि सस्मरणकार के अनुसार गुरु की आज्ञा वानी कहने की हुई। अत सन्यासी भेष धारण करने के चार महिने वाद ही उन्होने अपनी रचनाएँ प्रारभ करदी। ग्वालियर आने पर जब यहाँ की हिन्दू-मुस्लिम जनता ने उनकी वाणी सुनी तो दोनो ही वहुत प्रभावित हुए। उन दिनों काशी के राजा चेतसिहजी ग्वालियर मे रहने लगे थे। उनके पुत्र राजा वलचन्द्रसिह एक जिज्ञासु भक्त थे। सम्भवतः इसलिए वे साधुओ के सत्संग मे अधिक रहते थे। ऐन साहव से मिलने पर उन्हे वडा सन्तोष हुआ और उनकी शंकाओं का समाधान होने से वे ऐन साहव के शिष्य हो गए। संस्मरणकार ने इन काशीवाले राजा साहव को गौड़ ब्राह्मण लिखा है, किन्तु वस्तुतः वे भूमिहार ब्राह्मण थे और उनके वशज आज भी ग्वालियर मे स्थित है। इन्ही राजा साहव ने ऐन साहव को श्रीमद्भागवत का एकादश स्कंद और गीता संस्कृत और उसके अर्थ सहित सुनाई। इस विषय मे सस्मरणकार के शव्द अधिक मनोरंजक होगे :—

"सो वे राजा काशी के पंडित थे। सो उन्होने एकादश व गीता ऐन साहव रूवरू संस्कृत मे अर्थ टीका सहित सुनाया। सो प्रथम तो इस जनम मे ऐन साहव को काशी के राजा ने हिन्दवी चर्चा मे वेद शास्तर भागवत गीता सुनाया। ऐन साहव कोई पूरव जोगी भ्रष्ट थे, सो सुनते ही सव अरथ खुल गया।"

इसके कुछ समय उपरान्त ऐन साहव दतिया गए और वहाँ दतिया के राज-पुरोहित खेतसिहजी के वाग मे ठहरे।

दतिया मे ऐन साहव एक वरस तक रहे और वहाँ उन्होने 'सिद्धान्तसार नामक' ग्रथ लिखा। वहाँ से ग्वालियर लौटकर छह महिने के लिए दिल्ली को चले गए, जहाँ उन्होने गुरू के साथ सत्सग किया। वहाँ से लौटकर ग्वालियर होते हुए दतिया को गए और उपरोक्त पुरोहितजी के वाग मे ही ठहरे। पुरोहितजी वड़े भक्त थे। उन्होने ऐन साहव से कुछ सेवा करने का आदेश माँगा। ऐन साहव ने गीता व एकादश स्कध सुनने की इच्छा प्रगट की। पुरोहितजी ने अपने गुरु गुसाईं किशनदासजी को इस कार्य के लिए नियुक्त किया। गुसाईंजी रोजाना एकादश स्कध और गीता सुनाया करते थे। संस्मरणकार कहते है 'सो वे तो सुनाय के अपने डेरे को जाते। सो ऐन साहव दोनो कथा सुनके जो कुछ अनुभव मे याद रही, जिनकी भूमिका कुण्डली कही सो किशनदास गुसाईं को सुनाई सो वे सुनके वहुत प्रसन्न हुए और उन्होने वे कुण्डली लिख लीं। ऐसे ही वे रोजीना दोनो कथाऐं सुनाए जाते थे, सो वे सुनके उसमे जो कुछ याद रहती थी जिसकी भूमिका को कुण्डली कहते थे। सो गुसाईजी रोजीना लिख लेते थे। सो ऐन साहव दतिया से ग्वालियर को आए सो वे कुण्डली किशन-दास गुसाई ने लिखी थी सो सव लेते आए। पुरजों मे सो पुरजे सो यहाँ ग्वालियर के सतसगियो मे मल्हारराव ने 'सिद्धान्त सार' ग्रथ मे उपदेश हुलास मे उनकी समझ मे आई जिस तरह जहाँ तहाँ लिख दिनी। सो उन्होने लिखी जहाँ तहाँ से उस तरह ही टीका मे लिखी है सो गीता की भूमिका की कुण्डलियाँ आगे पीछे जहाँ तहाँ लिखी गई है सो कोई पडित इसको वाँच के गीता की भूमिका की आगे पीछे की संख्या (शका) करे जिस वास्ते यह विस्तार करके टीका का कच्चा अहवाल लिख दिया है।'

अन्त मे इस सन्त के 'श्रीनर-चरित्र' नामक ग्रथ मे उपसहार का उद्धरण देकर इस लेख को समाप्त करते है। इससे स्पष्ट प्रकट होगा कि इस ग्रथ का नाम किस प्रकार रखा गया था तथा राम-रहीम की एकता का प्रतिपादन यह सन्त किस प्रकार करते थे —

"सो यह हमारी पुशी हूँ के इस पोथी का नाम ब्रामन के मुष सें होय। तब उनमें सें नाना साह्त्र पडन ब्रामन भक्त ग्यानी विवेकी थे सो उनोने कहा कै इस ग्रिंथ का नाम "श्रीनरचरित्र'। तब सबनें पसद किया सो यों इस ग्रिंथ का नाम जनम सरद की पूनों के दिन हुआ ब्रामन के मुष करकें। तब इसमें बारें बिसराम किये ग्यारें स चौपाई दोहा सोरठा करकें। सो जो कोई इस ग्रिंथ को पढ विचारें या सुनें समझें। साप्यात ब्रह्म भगवान के दरसन होइ नर नारायन गुरु भगवान के बीच में। हाजर नाजर मौजू पुदा को देषें। मुरसद अलाह की सान मैं सच करकें। सो भाई दोस्त सत सगियो मनें सब तरह तहकीक तमुही करकें कुरान सें, हदीस सें, कौल सें, मुरसद के फरमान सें, अपनी अक्ल, अनुभव सें। वेदसें, गीता भागवत सें, मान-भाव की बानी सें, यह सिद्धान्त सही किया। क यक तो ब्रह्म जान पुदा उसको कहने केचून चेचिगून निराकार निरविकार को सो वा की नर नारायन मुरसद अलाह हैं। दूसरें ब्रह्म जात पुदा औतारा को कहते ह। सो वे की मोहमद रसूल पगमर हजरत आदम रामकृष्ण सोव की नर की स्यान हैं। तीसरे ब्रह्म जात खुदा नर के सम्प आदम को कहते हैं। सो तीनों तरें से तहकीक ब्रह्म जात पुदा की नर मैंई नारायण सही किया हैं। सो दोनों तरह सें हिंदू मुसल्माना की तहकीकात सही है। ब्रह्मजात पुदा नर आदम कों कहते ह। मालक सबों का। सब तरह सें सब र आदम कोंई डडोत सिरदा किया हैं अरू करते ह। सो भाई दोस्त सतसगिया यह नर चरित्र ग्रिंथ कैसा हुआ हैं मानिद सूद सच्चे आईने की तर स। सो जो कोई नर इनसान इसको वाचें सुनें समझें तों उसकों उसीके बीच म अलाह भगवान की झाकी दीदार होवें सच करक। पहचान अपन आपको कें हो मैं कैसा ऐसा हूँ। स्यान खुदा की। अल इनसान सुरते रहमान। सो यह नरचरित्र श्रीभगत ईठलराव* सदिया बहादर की पातर सबब करकें हुआ। मुरसद अलाह की नेक निगाह महरबानी सें।"

---

*विट्ठलराव शिंदे सवत् १८७६ में जागीर के अधिकारी हुए और सवत १९४४ में स्वर्गवासी हुए (तारीख जागीरात, भाग १, पृष्ठ २४४)।
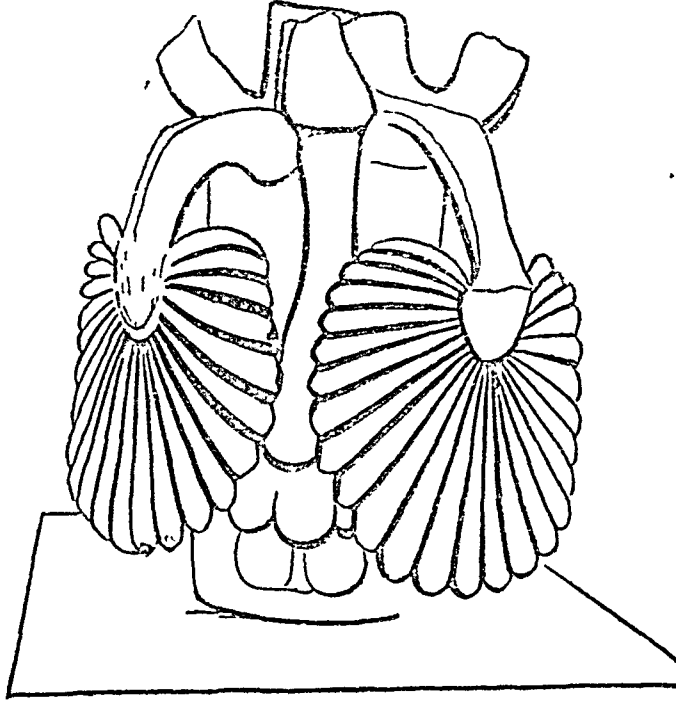
विदिशा

श्री डॉ० देवेन्द्र राजाराम पाटील, एम्० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०

चन्द्रवंश मे ययाति एक अत्यन्त प्रसिद्ध राजा हो गए है। उनके पाँच पुत्र थे। जब वे सन्यास ग्रहण करके वन में तपस्या करने को जाने लगे तो उन्होंने चर्मण्वति (वर्तमान चम्बल) और शुक्तिमती (वर्तमान केन) के जल से सिंचित प्रदेश को अपने एक पुत्र यदु को दे दिया। यदु के सन्तान भी बढी और परिणामत. उसकी दो शाखाएँ हो गईं। प्रधान शाखा यादव कहलाई और दूसरी हैहय। यादवो का राज्य यदु के राज्य के उत्तरी भाग पर हुआ और हैहयो का दक्षिण भाग पर, जिसे आजकल पूर्वी मालवा कह सकते है।* ज्ञात यह होता है कि हैहयों का राज्य अखड रूप से नही रहा क्योंकि सूर्यवंशी मान्धाता, विशेषतः मुचकुन्द जिसने माहिष्मती नगरी की स्थापना की तथा पुरुकुत्स का भी इस प्रदेश पर राज्य रहा।† परन्तु शीघ्र ही हैहयो ने अपना राज्य पुन. ले लिया। कार्तवीर्य अर्जुन उनमे अत्यधिक प्रसिद्ध विजेता हुआ, जिसकी विजय-वाहिनी उत्तर मे हिमालय तक गई। उसका उत्तराधिकारी उसका दूसरा पुत्र जयध्वज हुआ, जो अवन्ती मे भी राज्य करता था।‡ यहाँ तक पुराणों अथवा महाकाव्यों मे विदिशा का उल्लेख नही मिलता, अतएव यह निश्चित नही है कि हैहयों की राजधानी के रूप मे विदिशा का अस्तित्व था भी या नही। कार्तवीर्य अर्जुन की राजधानी सम्भवत. माहिष्मती‡ ही रही। विदिशा के उदय के बहुत पूर्व और कुछ समय पश्चात् भी माहिष्मती ही राजधानी रही, फिर विदिशा का उल्लेख मिलना प्रारम्भ होता है।

मार्कण्डेय पुराण मे उल्लेख है कि विदिशा में एक स्वयंवर हुआ था जिसके कारण विदिशा के राजा और वैशाली के राजा करन्धम के पुत्र अवीक्षित् के बीच युद्ध हो गया था। विदिशा का राजा हैहयवंशी था। उसने अवीक्षित् को हराकर

* पार्जीटरः एन्शिएण्ट इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रैडीशन, पृष्ठ २५९-२६०।

† वही, पृष्ठ २६२-३।

‡ वही।

‡ वही।

बन्दी बना लिया। अवीक्षित के पिता ने और उसके मित्रों ने हैहय राज्य के विरुद्ध आक्रमण करके उन्हें हरा दिया और अवीक्षित् को छुड़ा लिया।* इस अनुश्रुति से ज्ञात होता है कि इस समय विदिशा राजधानी हो गई थी।

कुछ समय पश्चात् राजा सगर ने हैहयों को हरा दिया और विदिशा सगर के आधीन हुई। सगर के पश्चात् इस प्रदेश में फिर यादव आए और अनेक छोटे छोटे राज्य स्थापित किए, जिनमें से एक विदिशा भी था।†

इसके पश्चात् का विदिशा का इतिहास कुछ उलझा हुआसा है। कहा जाता है कि दाशरथि राम के भाई शत्रुघ्न ने विदिशा के आसपास के प्रदेश के अधिपति सात्वत यादवों पर आक्रमण कर दिया और उन्हें भगाकर अपने एक पुत्र सुबाहु को विदिशा का शासक बना दिया।‡ कार्तवीर्य अर्जुन के पश्चात माहिष्मती का उल्लेख कम मिलता है और उसी प्रदेश की राजधानी के रूप में विदिशा का उल्लेख अधिक मिलता है अत, यह अनुमान है कि पूर्वीय मालवा की राजधानी के रूप में माहिष्मती के बजाय विदिशा का स्थान प्राप्त हो गया था।‡ यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि इस समय तक मालवा की राजधानी के रूप में उज्जयिनी का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है और उसका वह रूप नहीं दिखाई देता जो बाद में इस बौद्ध जातकों के समय में प्राप्त हुआ।

आगे के काल में हम विदिशा के विषय में बहुत कम सुनते हैं। महाभारत के युद्ध और उसके पश्चात् आपसी गृहयुद्ध में यादवों का जो संहार हुआ उसमें इस नगरी का महत्त्व भी नष्ट हो गया होगा। जातकों के समय में विदिशा का राजनीतिक महत्त्व उज्जैन को मिल गया, ज्ञात होता है। इसके पूर्व उज्जयिनी का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। बुद्ध के समय‡ में अवन्ती सोलह महाजनपदों* में से एक थी और उसकी राजधानी उज्जयिनी बहुत समृद्धशाली थी। इस काल में विदिशा का बहुतसा राजनीतिक महत्त्व कम हो गया था, क्योंकि पश्चिमी मालवे में उज्जयिनी महत्त्वशाली हो रही थी और वह प्रदेश जिसमें विदिशा स्थित थी दशार्ण (पाली ग्रंथों का 'दसण्ण')‖ नाम से प्रख्यात हुआ। राजनैतिक महत्त्व में कमी आने पर भी विदिशा का सामरिक अथवा व्यापारिक महत्त्व कम नहीं हुआ था, क्योंकि वह उस समय के प्रधान सामरिक एवं व्यापारिक पथों पर स्थित थी। वह उज्जयिनी, कौशाम्बी और काशी से होते हुए पश्चिमी समुद्रतट की ओर जानेवाले और दक्षिण पश्चिम से उत्तर पूर्व को आन्ध्र राजधानी प्रतिष्ठान से श्रावस्ती तथा कोशल और पांचाल के अन्य नगरों को जानेवाले मार्गों पर स्थित थी। उसकी सीमाएँ पश्चिम में उदयगिरि तक, दूसरी ओर पूर्व में दो नदियों के संगम तक और अधिकाधिक भेलसा तक और उत्तर में ठीक उस स्थान तक फैली हुई थी, जहाँ कनिंघम ने कल्पद्रुम और मायादेवी की प्रतिमा प्राप्त की थी।

महावाविवश में यह लिखा है कि विदिशा को उन शाक्यों ने बसाया जो "विडूडभ" के संहार से भागकर बच सके।‡ यह कथन सत्य नहीं है, क्योंकि पुराणों एवं महाकाव्यों में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि यह नगरी बहुत पूर्व मध्यभारत के राज्यों की राजधानी के रूप में विद्यमान थी। बौद्ध ग्रन्थों में दसण्ण को तीव्र धार की तलवारों के लिए प्रसिद्ध लिखा है। बेसनगर की खुदाई में जो लोहे के टुकड़े मिले हैं उन्हें पुरातत्ववेत्ता "स्टील" का प्राचीनतम टुकड़ा मानते हैं। (आ० स० इ० वार्षिक रिपोर्ट १९१३ १४ पृष्ठ, २०४)

---

* वही, पृष्ठ २६८, मार्कण्डेय पुराण १२१, १३१ भी देखिए।

† पार्जीटर, ऊपर का उल्लेख, पृष्ठ २७३।

‡ वही, पृष्ठ २७९, रघुवंश से भी तुलना कीजिए।

‡ यह कहा जाता है कि माहिष्मती के पश्चात् उज्जैन को प्रधानत्व मिला (देखिए मलूलशेखर १, पृष्ठ ३४५) परन्तु उनके ध्यान में विदिशा का उत्थान न रहा।

‡ लॉ ज्योग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म, पृष्ठ २२ २३।

* मिलाइए, मलालशेखर डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स, भाग १, पृष्ठ १०६४।

‖ वही, भाग २, पृष्ठ ९२२।

‡ आ० स० इ० वार्षिक रिपोर्ट, १९।

प्रो० डॉ० देवेन्द्र राजाराम पाटील

विदिशा मौर्यो के राज्यकाल मे पुनः सामने आई। जब अशोक चन्द्रगुप्त की ओर से उज्जैन में शासक थे उन्होंने वेस्सानगर अथवा वैशानगर की एक वैश्य कन्या से विवाह किया था, उनसे उनके संघमित्रा नामक एक कन्या हुई। जब अशोक सम्राट बने तब भी देवी विदिशा मे ही रही, जिससे ज्ञात होता है कि सम्राट् अशोक का विदिशा आगमन होता रहा होगा। मौर्यकाल मे विदिशा समृद्ध स्थिति में थी यह तो उस समय के अवशेषों से ज्ञात होता है। इस काल मे ही विदिशा के दन्तकारो ने दक्षिण-द्वार-तोरण पर अपने दान का उल्लेख कराया (मार्शल· गाइड टु साँची,) और भरहुत स्तूप पर विदिशा के फल्गुदेव ने अपने दान का उल्लेख कराया (वरुआ· भरहुत, पृष्ठ ४१)

विदिशा के राजनीतिक महत्त्व का श्रेष्ठतम काल तो ई० पू० दूसरी शताब्दी मे प्रारंभ हुआ है, जब प्रबल प्रतापी पुष्यमित्र शुग ने अत्याचारी एव दुर्बल अन्तिम मौर्य राजा ब्रहद्रथ को मारकर मगध का राज्य अपने अधिकार मे कर लिया। शुगों का निवास स्थान यही दशार्ण देश की राजधानी विदिशा थी। यद्यपि पुष्यमित्र ने अपने प्रबल प्रताप से भारत के बहुत बड़े भाग को अपने आधीन कर लिया था परन्तु विदिशा से अपने निकट सम्बन्ध के प्रमाणस्वरूप अपने बेटे अग्निमित्र को अपनी ओर से उसका शासक बनाया।

शुंगो के राज्य मे वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ। पुष्यमित्र ने पुन· प्राचीन यज्ञों का एवं भागवत धर्म का प्रचार किया। विदिशा के पास ही गोनर्द नामक स्थान के निवासी, पाणिनी की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखनेवाले पातंजलि भी उसके यज्ञों मे पुरोहित बने थे। पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध और राजसूय यज्ञ किए थे। विदिशा मे अनेक विष्णु मन्दिरों का निर्माण हुआ। इन मन्दिरो मे शुगवंशीय राजा भागभद्र ने एक गरुडध्वज का निर्माण कराया।

शुगो का प्रताप उस समय बहुत अधिक था। तक्षशिला के यवन राजा आन्तलिकित (Ant alchidas) ने शुग राजा भागभद्र की राजसभा मे हेलियोडोरस-नामक अपना राजदूत भेजा था। हेलियोडोरस ने विदिशा के विष्णु मन्दिर मे गरुड़ध्वज का निर्माण कराकर अपनी श्रद्धाजली अर्पित की थी। इससे वहाँ शुगो के राजनीतिक प्रभाव का द्योतन होता है और वहाँ उनके द्वारा पुन स्थापित भागवत धर्म की सार्वभौमता भी प्रगट होती है। वह ग्रीक राजदूत स्वय भागवत धर्म मे दीक्षित हो गया था। दूसरे एक डिमिट्रियस ग्रीक (अन्य देशीय) ने यज्ञ किया था। इतना ही नही शुंगो के इस प्रयास का परिणाम यह भी हुआ कि उस काल के परमप्रतापी सम्राट् खारवेल तक ने राजसूययज्ञ किया और इस सब नवजाग्रति का केन्द्र विदिशा थी।* वहाँ के उत्खनन से प्राप्त हुए यज्ञकुण्डो के अवशेष आज भी उस युग की गाथा कह रहे हैं। ज्ञात यह होता है कि पुष्यमित्र एव उसके वशजों ने जो अश्वमेधादि बड़े बड़े वैदिक यज्ञ किए, उनमे से एक दो अवश्य ही विदिशा मे भी हुए थे। साधारण यज्ञ तो अवश्य ही अनेक हुए।†

शुग वंश के पश्चात् विदिशा पर नागों का प्रभुत्व हुआ।‡ शुग वंश का जैसा प्रताप और ऐश्वर्य था उससे अधिक इन भारशिव नागो का था। कुषाण एव अन्य विदेशी शक्तियों के अत्याचारपूर्ण शासन से भारतवर्ष की रक्षा कर इन्होंने

---

* भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ ८११। † वही।

‡ पार्जीटरः डायनेस्टीज ऑफ दि कलि एजः पृष्ठ ४८-५०।

नृपान्वैदिशकांश्चापि भविष्यांस्तु निबोधत। शेषस्य नागराजस्य पुत्रः परपुरंजयः॥
भोगी भविष्यते राजा नृपो नागकुलोद्भवः। सदाचन्द्रस्तु चन्द्रांशो द्वितीयो नखवांस्तथा॥
धनधर्मा ततश्चापि चतुर्थो वङगरः स्मृतः। भूतिनन्दस्ततश्चापि वैदिशे तु भविष्यति॥
शुंगानां तु कुलस्यान्ते शिशुनन्दिर्भविष्यति। तस्य भ्राता यवीयांस्तु नाम्ना नन्दियशाः किल॥
तस्यान्वये भविष्यन्ति राजानस्ते त्रयस्तु वै। दौहित्र शिशुको नाम पुरिकायां नृपोऽभवत्॥
विन्ध्यशक्ति-सुतश्चापि प्रवीरो नाम वीर्यवान्। भोक्ष्यते समाः षष्टि पुरीं काञ्चनकां च वै॥
यक्ष्यते वाजपेयैश्च समाप्तवरदक्षिणैः। तस्य पुत्रास्तु चत्वारो भविष्यन्ति नराधिपाः॥

(विदिशा के भावी राजाओं के विषय में सुनो। नागराजा शेष के पश्चात् उसका पुत्र भोगी राजा होगा जो शत्रुओं के नगरों को जीतेगा तथा नागवंश के गौरव को बढ़ायेगा। फिर सदाचन्द्र और चन्द्रांश होगा जो दूसरे

हिन्दू धर्म की स्थापना की। यह शिव के परम आराधक थे, इसी कारण इनका नाम भारशिव पड़ा। नागों ने गंगा किनारे काशी में दस बार अश्वमेध यज्ञ किया।* जिस घाट पर यह दस अश्वमेध यज्ञ किए गए वह आज भी दशाश्वमेध कहलाता है। यह भारशिव नाग मूलतः विदिशा के ही थे। भारतीय इतिहास में इन नागों का प्रभुत्व समुद्रगुप्त के समय तक रहा है।

शुंग काल में विदिशा भागवत धर्म की प्रधान नगरी रही और भारशिव नागों के समय में वह शैवमत का केन्द्र बन गई। एक बार पुनः विदिशा को हिन्दू संस्कृति का प्रधान केन्द्र बनने का अवसर प्राप्त हुआ।

वैदिश नागों के पश्चात् भारतीय इतिहास में विदिशा को राजनीतिक महत्व फिर कभी नहीं मिला। गुप्तकाल में समुद्रगुप्त ने विदिशा को अपने साम्राज्य में मिला लिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया, इससे विदिशा का राजनीतिक महत्व कम हो गया। परन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय भी एक बार शैव धर्म के इस केन्द्र पर आया। उस समय उदयगिरि के पहाड़ों में, जो विदिशा के ही एक अंग हैं, बहुतसी गुफाएँ बनाई गईं जिनमें हिन्दुओं की अनेक मूर्तियाँ स्थापित की गई थीं और जिनमें शेषशायी विष्णु की मूर्ति तथा वह वराह मूर्ति भी है † जिसकी सानी की वराह-मूर्ति भारतवर्ष में और कहीं नहीं है।

इसके पश्चात इतिहास में विदिशा का नाम कहीं नहीं मिलता। उसका स्पष्ट उल्लेख फिर महाराज हर्ष के राज कवि बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी में किया है। परन्तु उसने भूतकालीन क्रिया का उपयोग किया है। अतः उसके समय में प्रायः ईसवी सन ६०० के लगभग विदिशा का अस्तित्व था भी या नहीं, और यदि था तो उसका पूर्व गौरव शेष था या नहीं यह सन्देहपूर्ण बात है।

विदिशा नामक यह महत्वपूर्ण नगरी छोटे से बेस नामक ग्राम में कब और कैसे परिवर्तित हो गई इसके विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। ज्ञात यह होता है कि विदेशियों के बर्बरतापूर्ण आक्रमण और प्रकृति के प्रकोप ने इसको ध्वस्त कर दिया।

नखवान जैसा होगा, फिर धनधर्मन् होगा और फिर चौथा वंगर होगा उसके पश्चात् वैदिश (राजाओं) में भूतिनन्द होगा। जब शुंगों के कुल का अन्त होगा तब शिशुनन्दि होगा, उसके भाई का नाम यशनन्दि होगा। उसके वंश में तीन राजा होंगे। उसकी लड़की का लड़का शिशुक पुरिका में राजा होगा। विन्ध्य शक्ति का प्रवीर नामक वीर्यवान पुत्र काञ्चनका नामक पुरी पर ६० वर्ष तक राज्य करेगा और वाजपेय यज्ञ करेगा, उसके चार बेटे राजा होंगे)।

* अन्धकार-युगीन भारत।

† देखिए "विक्रम व्हाल्यूम" में मेरा उदयगिरि पर लेख।
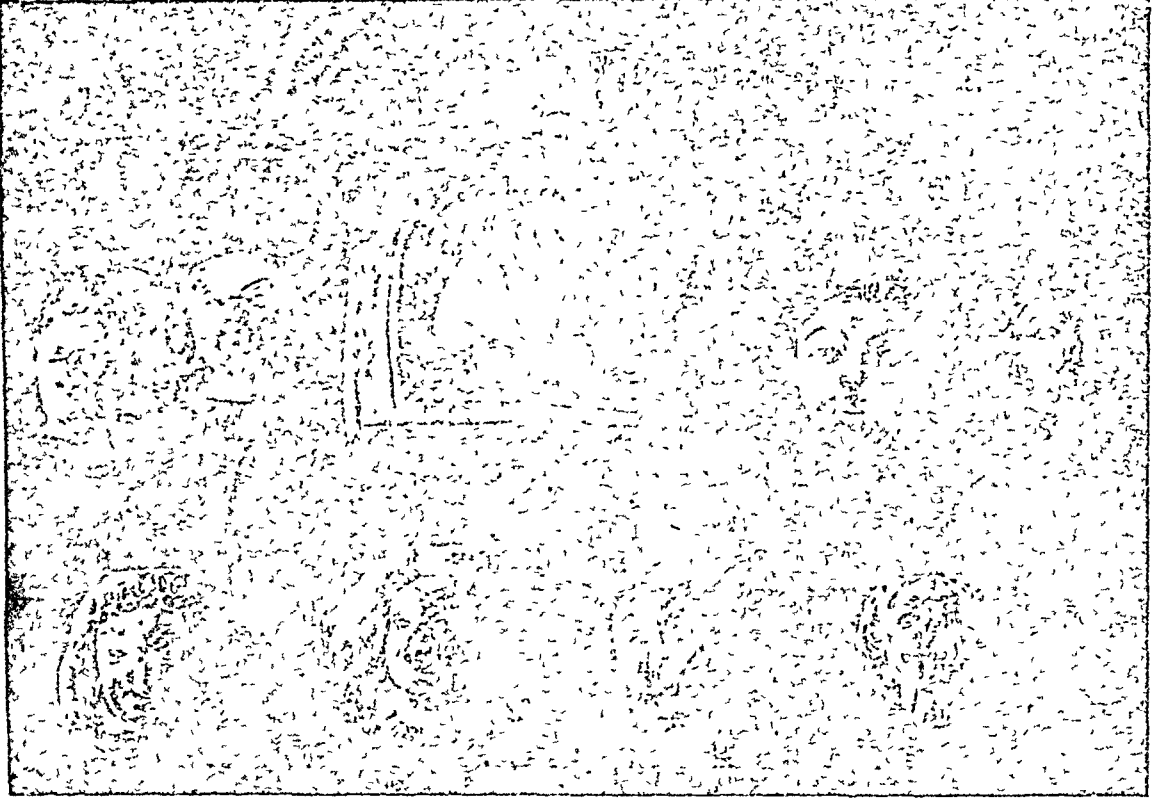
पद्मावती

श्री कुञ्जविहारी व्यास

पद्मावती नगरी पुराण, साहित्य एवं इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है। नाग राजधानियों की परिगणना करते हुए विष्णुपुराण में लिखा है :—

"नवनागापद्मावत्यां कांतिपुर्यां मथुरायां।

प्रसिद्ध नाग राजाओं की राजधानी यह "पद्मावती" कहाँ पर स्थित थी, यह बहुत समय तक अनिश्चित ही रहा। प्रसिद्ध विद्वान् विल्सन ने इसके विषय में तीन मत व्यक्त किए। अपनी पुस्तक "थियेटर ऑफ दि हिन्दूज" भाग २ के पृष्ठ ९५ पर इस पद्मावती को उज्जैन से अभिन्न माना, फिर उसे वरार के पद्मपुर से अभिन्न माना और अन्त में वर्तमान भागलपुर के निकट बतलाया। कनिंघम साहब ने नरवर को प्राचीन पद्मावती का वर्तमान स्वरूप कहा।

पुराण में पद्मावती के नामोल्लेख के अतिरिक्त अन्य कोई भौगोलिक विवरण नहीं दिया है। इसका विस्तृत वर्णन मिलता है विक्रमीय सातवीं शताब्दी के लगभग लिखे गए महाकवि भवभूति के प्रसिद्ध नाटक "मालतीमाधव" में। "मालती माधव" नाटक के नीचे लिखे उद्धरण इस विषय में उपयोगी हैं।

मकरंदः (माधवं प्रति) :— तदुत्तिष्ठ पारासिन्धुसंभेदमवगाह्य नगरीमेव प्रविशावः।

सौदामिनी :—एषास्मि सौदामिनी भगवतः श्रीपर्वतादुत्पत्य पद्मावतीमुपाश्रिता।

..........भोस्तयाऽहमुत्पतिता यथा सकल एष गिरिनगरग्रामसरिदरण्यव्यतिकरश्चक्षुषा परिक्षिप्यते। साधु साधु।

पद्मावती विमलवारिविशालसिन्धुपारासरित्परिकरच्छलतो बिभर्ति।
उत्तुंगसौधसुरमन्दिरगोपुराट्टसंघट्टपाटितविमुक्तमिवान्तरिक्षम् ॥

अपि च—

सैषा विभाति लवणा ललितोर्मिपङ्क्ति
रयमसौ भगवत्या सिन्धोर्दारितरसातलस्तटप्रपात ।

अयं च मधुमतीसिन्धुसम्भेदपावनो भगवान्भवानीपतिरपौरुषेयप्रतिष्ठा सुवर्णबिन्दुरित्याख्यायते ॥

इन उद्धरणो से निम्नलिखित बाते स्पष्ट होती ह —

१ पद्मावती नगरी "सिन्धु" और "पारा" नामक दो नदियो से घिरी हुई उनके सगम पर स्थित थी।

२ नगर के पास ही सिन्धु का एक जल प्रपात था।

३ नगर से थोडी दूर पर ही "सिन्धु" और "मधुमती" नामक नदियो का भी सगम था, जहाँ "सुवर्ण विन्दु" नामक शिव मूर्ति थी।

४ नगर के पास ही "लवण" नामक सरिता भी थी।

"मालतीमाधव" के उक्त वर्णन के अतिरिक्त ईसवी ग्यारहवीं सदी में रचित "सरस्वती कण्ठाभरण" म भी नागराज (फणपति) के वन युक्त बौद्ध विहारोवाली, पारा और सिन्धु नदियो से मण्डित "विशाला" पद्मावती का वर्णन ह

पर पाराऽपारा तटभवि विहार पुरवर तत सिन्धु सिन्धु फणिपतिवन पावनमत ।
तदग्रे न्वग्रो गिरिरिति गिरिस्तस्य पुरतो विशाला शालाभिलल्तिललनाभिर्विजयते ॥

इन उल्लेखो में दिए गए विवरणो के आधार पर प्राचीन पद्मावती के स्थान को ठीक रूप में खोज निकालने में बहुत सरलता हुई है। यद्यपि कनिंघम ने जिस स्थान (नरवर) को पद्मावती माना था वह ठीक नही था, फिर भी उसने एक बहुत बडी खोज इस दिशा में की थी। उसने भवभूति द्वारा उल्लिखित सिन्धु, पारा, मधुमती एव लवण नामक सरिताओ को आज की सिन्ध, पावती, महुअर और नून से अभिन्न घोषित किया। इस सूत्र को लेकर श्री लेले ने "मालतीमाधव सार आणि विचार" में ग्वालियर राज्य के गिद जिले में स्थित पवाया नामक स्थान को पद्मावती का वतमान रूप बतलाया। इस कथन की पुष्टि श्री गर्दे ने भी भारतीय पुरातत्त्व रिपोर्ट, सन् १९१५-१६* में की। यह ग्राम सिन्ध (सिन्धु) और पावती (पारा) के सगम पर स्थित है। ग्राम से दो मील दक्षिण पश्चिम एक सुन्दर जल प्रपात भी है। पवाया से दो मील दूर सिन्ध में महुअर (मधुमती) मिलती है और वहाँ आज भी एक शिवलिंग स्थापित है जो मालती-माधव के सुवर्ण बिन्दु शिव का वत्तमान रूप है। पवाया में चार पाच मील की दूरी पर ही नून (लवण) नदी ह जो आगे सिन्धु में मिली ह।

यह पद्मावती प्राचीन नागो की राजधानी रही है, यह "सरस्वती-कण्ठाभरण" के ऊपर उद्धत श्लोक से स्पष्ट है। क्योकि उसमें फणपति वन (नागराज का उपवन) स्थित था। वहा पर पुरातत्त्व विभाग की खोज से जो सामग्री उपलब्ध हुई वह भी इस मत का पूर्ण समर्थन करती है।

१ इस स्थान पर बहुतसी ताम्र मुद्राएँ प्राप्त हुई है, जिनमें से अधिकाश नाग मुद्राएँ ह। इनपर भव, भीम, बृहस्पति, देव, गणेन्द्र, पुम, स्कन्द, वसु और वृष नौ नाग राजाओ का उल्लेख मिलता ह। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति म जिस गणपति नाग के बलपूर्वक नष्ट करने का उल्लेख ह वह यही गणेन्द्र ह, जिनकी मुद्राएँ अत्यधिक सख्या में प्राप्त होती ह।

२ मणिभद्र यक्ष की मूर्ति और उसपर अकित अभिलेख से इस नगरी का प्रसिद्ध नाग राजाओ की वैभव भूमि होना स्पष्टत सिद्ध ह। यद्यपि इस मूर्ति का सिर तथा कुछ अन्य भाग खण्डित हो गए ह परन्तु सौभाग्य से

*श्री मो० ब० गर्दे के इस लेख से तथा उनके जयाजी प्रताप वष ३७ क ३७ के लेख से इस लेख के लिखने में बहुत सहायता ली गई है।

श्री कुञ्जविहारी व्यास

इसका अभिलेख बहुत कुछ सुरक्षित है। इस अभिलेख मे निम्नलिखित छह पंक्तियाँ हैं :—

(पंक्ति १) [रा] ज्ञः स्वा [मि] शिव[न]न्दिस्य संव[त्स]रे चतुर्थे ग्रीष्मपक्षे द्वितीये २ दिवसे

(पंक्ति २) द्व[ा]द[शे] १० २ एतस्य पूर्वाये गौष्ठ्या माणीभद्रभक्ता गर्भसुखिताः भगवतो

(पंक्ति ३) माणीभद्रस्य प्रतिमा प्रतिष्ठापयन्ति गौष्ठ्यम् भगवाय्‌यु वलं वाचं कल्य[ा]णायु

(पंक्ति ४) दयम् च प्रीतो दिशतु। ब्राह्म[ण]स्य गोतमस्य कु[मा]रस्य ब्राह्मणस्य रुद्रदासस्य शिव[त्र]दाये

(पंक्ति ५) शमभूतिस्य जीवस्य खं [जवल]स्य शिव[ने]मिस[य] शिवभ[द्र]स्य [कु]मकस्य धनदे

(पंक्ति ६) वस्य दा।

यह अभिलेख शिवनन्दी नाग के राज्यकाल के चौथे वर्ष मे लिखा गया है। शिवनन्दी का उल्लेख अन्य किसी स्थल पर नही मिलता है। इस अभिलेख की लिपि को देखकर विद्वान् इसे ईसवी प्रथम शताब्दी का मानते हैं। शिवनन्दी के लिए "स्वामी" उपाधि का प्रयोग यह बतलाता है कि वह स्वतंत्र सम्राट् था। शिवनन्दी का नाम पुराणो में न होने के कारण डॉ० जायसवाल ने यह अनुमान लगाया है कि इस मूर्ति के निर्माणकाल के पश्चात् ही शिवनन्दी कनिष्क द्वारा पराजित हुआ। (देखिए—अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ १९)।

३. पारा के वाम तट पर ताड़पत्र से सुशोभित स्तंभ शीर्ष प्राप्त हुआ है। ताड़ नागों का चिह्न है और इससे उनकी कला पर तो प्रकाश पड़ता ही है साथ हो पद्मावती के नाग साम्राज्य के उन भागों मे से एक भाग होना भी सिद्ध होता है, जहाँ जहाँ यह ताड़पत्रो के अलंकरण पाए जाते है।

४. एक नागराज की मूर्ति भी यहाँ प्राप्त हुई है। यह मूर्ति अत्यन्त भग्न है और अभिलेख रहित है, अन्यथा इससे नाग सम्राटों के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ सकता था।

यह नगर अत्यन्त वैभवशाली एवं प्रसिद्ध था, इसके भी लिखित प्रमाण विद्यमान हैं। मालतीमाधव मे उसके प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन तो है ही, उसमे यह भी लिखा है कि यह नगरी भारत का प्रसिद्ध शिक्षाकेन्द्र थी। दूर देश विदर्भ (वर्तमान वरार) के कुण्डनपुर का विद्यार्थी भी इस शिक्षा-केन्द्र मे अन्वीक्षकी विद्या के अध्ययन के लिए आता था। खजुराहो मे प्राप्त १०५८. विक्रमी के अभिलेख मे "सरस्वती कंठाभरण" की इस "विशाला" के विषय मे लिखा है :—

आसीदप्रतिमा विमानभवनैराभूषिता भूतले लोकानामधिपेन भूमिपतिना पद्मोत्थवंशेन या॥
केनापीह निव(वे)शिता कृतयुगेत्रेतान्तरे श्रूयते सत्छा(च्छा)स्त्रे पठिता पुरा[ण]पटुभिः पद्मावती प्रोच्यते॥
सौधोत्तुंगपतंगलंघनपथप्रोत्तुंगमालाकुला शुभ्राभ्रंकषपाण्डुरोच्चशिखरप्राकारचित्राम्व(म्ब)रा॥ (।)
प्रालेयाम(च)लश्रृगसंन्नि(नि)भशुभप्रासादसद्मावती भव्यापूर्वमभूदपूर्वरचना या नाम पद्मावती॥
त्वंगत्तुंगतुरंगमोद्गमक्षु(खु)रक्षोदाद्रजः प्रो[द्ध]तं यस्यां जीर्न(र्ण)कठोरवभ्रु(स्त्र ?)मकरोत्कूर्मोदराभं नभः॥
मत्तानेककरालकुंभिकरटप्रोत्कृष्टवृष्ट्या[द्भु] त [यु]क्तं कर्दममुद्रया क्षितितलं तांवू(ब्रू) त किं संस्तुमः॥

(देखिए एपिग्राफिया इंडिका भाग १, पृष्ठ १४९)।

यह पुराण-प्रसिद्ध पद्मावती भारतीय इतिहास मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसने हिन्दू सभ्यता के महान्तम दिन देखे हैं। डॉ० जायसवाल ने अपनी पुस्तक "अन्धकारयुगीन भारत" मे लिखा है "आधुनिक हिन्दुत्व की नींव नाग सम्राटो ने रखी थी। वाकाटको ने उसपर इमारत खड़ी की थी, और गुप्तो ने उसका विस्तार किया था।" इस त्रयी मे नागों और गुप्तों का पद्मावती से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। नागों के विषय मे ऊपर लिखा जा चुका है। ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त द्वारा नागवश से छिन जाने के पूर्व ही पद्मावती पर विदेशी कुषाणों का प्रभुत्व हो गया था। यह ऊपर लिखा जा चुका है कि शिवनन्दी नाग अपने राज्य के पाँचवे वर्ष मे कनिष्क से हारा होगा। कुषाणों को पुनः नागों ने पद्मावती से भगा दिया। नागो के समय के प्राप्त अवशेषो का उल्लेख ऊपर हो चुका है "दशाश्वमेधावभृथ स्नानाम्"—दश अश्वमेध यज्ञ करके अवभृथ स्नान करनेवाले, हिन्दू सस्कृति के संस्थापक भारशिव नागों के समय मे पद्मावती बहुत समृद्ध रही होगी, इसमे सन्देह नही है।

परन्तु कला और साहित्य के महान् उत्तेजक "असम-समर-विजयी" गुप्तों के काल में भी पद्मावती अपनी पद्मप्रभा को पूर्ण गौरवशाली बनाए थी। इसके प्रमाण में एक तोरण द्वार का वह अंश प्रस्तुत करना ही पर्याप्त होगा जो आज गूजरी-महल संग्रहालय में सुरक्षित है और जिसे पवाया के उत्खनन में प्राप्त किया गया था। इस प्रस्तर खण्ड पर परम भागवत गुप्त सम्राटों के राज्यकाल में पनपनेवाला हिंदू धर्म का प्रफुल्ल रूप अत्यन्त कलापूर्ण एवं सुन्दर रीति से प्रदर्शित किया गया है। यद्यपि इसका एक पार्श्व कुछ अस्पष्ट हो गया है, परन्तु उसपर समुद्र मथन का दृश्य तथा षडानन को स्पष्ट पहचाना जा सकता है। दूसरी ओर बलि और वामन की कथा का एवं त्रिविक्रम का चित्रण है। इसी पार्श्व के वाम भाग पर जो दृश्य अंकित है उसमें आज भी अलौकिक संगीत एवं नृत्य माना मुखरित होना चाहते हैं। इस नृत्य संगीत दृश्य के वाम भाग का ऊपरी कोना टूट गया है, परन्तु उसमें इस समाज का एक ही व्यक्ति नष्ट हुआ है। नर्तकी एवं वादक सभी स्त्रियां हैं। टूटी हुई स्त्री सहित इस मण्डली में दस स्त्रियां होंगी। यह दृश्य रंगमहल के भीतर रात्रि के समय का दृश्य है जैसाकि इसमें दर्शित दीप स्तम्भ से प्रकट है। इसके अतिरिक्त यहाँ प्राप्त मिट्टी के खिलौने आदि भी अत्यन्त सुन्दर एवं दर्शनीय हैं। इनमें विभिन्न भावों का प्रदर्शित करती हुई स्त्रियों की आकृतियां, पशु पक्षियों के आकार, सजावट के उपकरण आदि इस कला के पूर्ण उत्कर्ष के साक्षी हैं।

गुप्त सम्राटों की धार्मिक नीति सहिष्णुतापूर्ण थी और इस कारण से उनके समय में पद्मावती में बौद्ध धर्म भी विकास पा सका होगा। आठवीं शताब्दी का भवभूति पद्मावती में बौद्धमठों का उल्लेख करता है और उसके पश्चात् लिखा गया "सरस्वती कण्ठाभरण" विहारों का अस्तित्व बतलाता है। कापालिकों का शाक्त और शैव सम्प्रदाय भी यहाँ स्थान पा सका था।

गुप्तों के पश्चात् पद्मावती का ऐतिहासिक गौरव विलुप्त होना प्रारम्भ हुआ। दसवीं व ग्यारहवीं शती में सम्भवतः कोई परमार शाखा वहाँ प्रभावशील रही जैसाकि जनश्रुति में प्रसिद्ध पुण्यपाल एवं धर्मपाल के नामों से ज्ञात होता है। चन्देल वीर मलखान के नाम पर यहाँ एक पहाड़ी का नाम "मलखान पहाड़िया" भी लोगों ने रख दिया है, धूमेश्वर मन्दिर के पास एक पृथ्वीराज चौहान का चबूतरा भी प्रसिद्ध है। परन्तु यह सब इतिहास न होकर बहुत कुछ जनश्रुति ही है। इतिहास तो फिर केवल यही बतलाता है कि सिकन्दर लोदी के सूबेदार सफदरखाँ ने वर्तमान किला बनवाया और इस पद्मावती का नाम भी असकन्दराबाद रखने का प्रयत्न किया। बुंदेलखण्ड के प्रसिद्ध वीरसिंह जू देव द्वारा धूमेश्वर महादेव के मन्दिर के निर्माण के पश्चात् पद्मावती अपने अत्यन्त घटनापूर्ण, गौरवशाली एवं अनेक शताब्दियों तक विस्तृत इतिहास को अपने अंक में समेटकर काल के अंचल में सो गई है, और "माया तेरे तीन नाम, परसू परसा परसराम" के समान लोगों ने इस गरीबनी को अब पद्मावती के स्थान पर पवाया कहना प्रारंभ कर दिया।

पुरातत्ववेत्ताओं ने पद्मावती और उसके प्राचीन गौरव को खोज निकाला है परन्तु अभी यहाँ बहुत अधिक कार्य होना शेष है। इस कार्य से राज्य के एक प्राचीनतम नगर का इतिहास तो ज्ञात होगा ही, भारतीय इतिहास के अनेक गौरव-पूर्ण अंशों के अत्यन्त पुष्ट प्रमाण भी प्रकट हो सकेंगे।
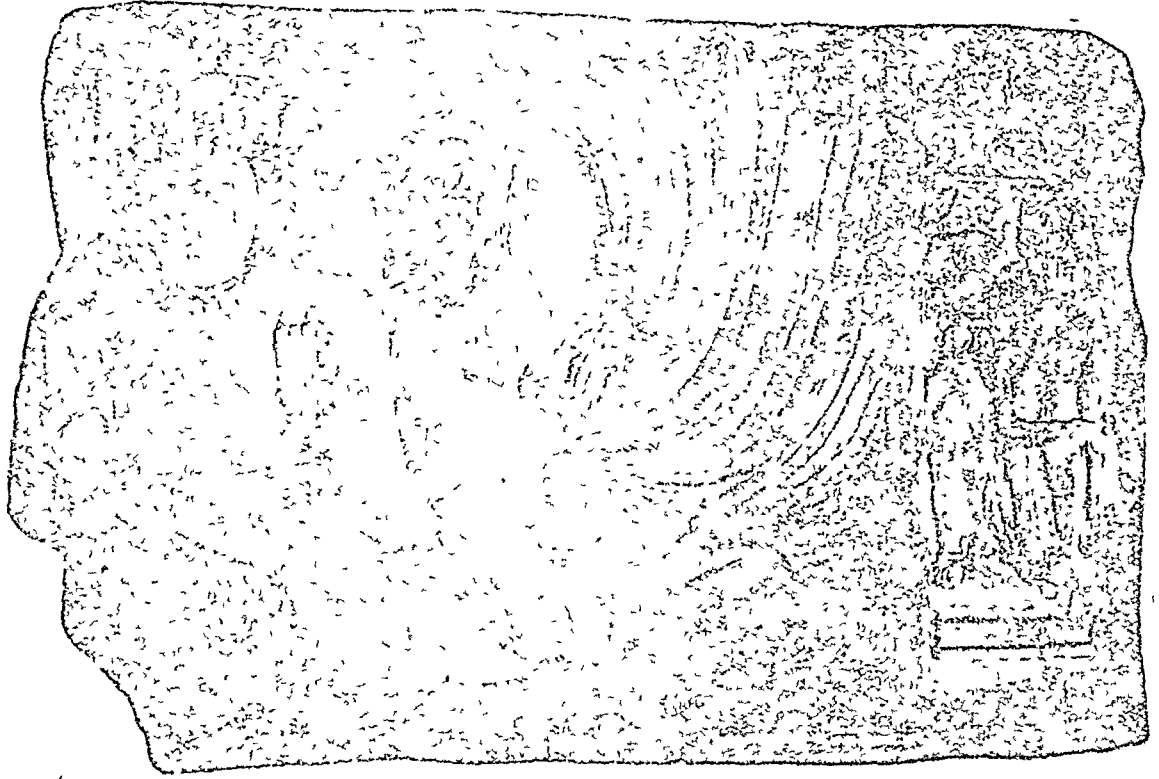
ग्वालियर राज्य में प्राचीन मूर्तिकला

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

प्रारंभिक—कला राजनीतिक सीमाओ को नही मानती, अतएव ग्वालियर-राज्य की प्राचीन मूर्तिकला से हमारा तात्पर्य किसी ग्वालियरी शैली विशेष से नही है। ग्वालियर की प्राचीन मूर्तिकला से तात्पर्य यही है कि हम उन मूर्तियों का विवेचन करे जो ग्वालियर-राज्य के अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न स्थलों पर प्राप्त हुई है। यह विवेचन इस कारण से और भी सम्भव है कि इस राज्य की वर्तमान सीमाओ मे प्राचीन भारत के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थल रहे है। कुछ विशिष्ट शैलियो को छोड़कर ग्वालियर की मूर्तिकला भारत की मूर्तिकला की प्रतिनिधि है। अत: यह कहा जा सकता है कि इस राज्य की प्राचीन मूर्तियो का विवेचन बहुत अंश तक प्राचीन भारत की मूर्तिकला का विवेचन है।

इस राज्य की प्राचीन मूर्तिकला पर प्रकाश डालने के लिए प्रेरित करनेवाली मूल वृत्ति इस भूमि से लेखक का ममत्व तो है ही, परन्तु केवल यही प्रधान कारण नही है। समस्त भारत की मूर्तिकला के विवेचन के समय एक प्रदेश विशेष की कला-सम्पत्ति के साथ पूर्ण न्याय नही किया जा सकता है। इस प्रकार के प्रादेशिक अध्ययन द्वारा सार्वदेशिक महत्त्व की बातों के विवेचन के साथ ही प्रादेशिक महत्त्व की वस्तुओ पर भी प्रकाश-पात करने को स्थान मिलता है। ग्वालियर-राज्य की कला-सम्पत्ति पर प्रकाश डालने का एक कारण यह भी है कि बाहर के विद्वानो ने यहाँ की कला-सम्पत्ति को अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से देखा है और साथ ही उनमे अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई है। प्राचीन मूर्तिकला के एकाधिक इतिहासों में उदयगिरि गुहा को भूपाल-राज्य मे लिखा देखकर आश्चर्य होता है।* उदयगिरि को जितना चाहिए उतना महत्त्व भी नही दिया जाता। चित्रकला के इतिहासों मे बाग (अमझरा जिला) की सुन्दरतम कृतियों को अनुपस्थित

---

* स्मिथ: हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, चित्र ४६। कुमारस्वामी : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृष्ठ ७७ तथा चित्र नं० ७७।

पाया। साथ ही अनेक सुन्दरतम मूर्तियाँ उनकी दृष्टि मे नही आई ह। अनेक मूर्तियो के काल एव विषय के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तिया हुई ह।* अस्तु।

मानव-हृदय म व्याप्त सौन्दय भावना को किसी उचित माध्यम द्वारा साकार रूप प्रदान करने की प्रवृत्ति ही कला को जन्म देती हैं। यह प्रवृत्ति आदिम मानव में भी पाई जाती थी। उसने अपने आराध्य एव प्रिय का जहाँ वाणी द्वारा गान किया वहा उसको अधिक स्थायी माध्यम प्रस्तर, मत्तिका अथवा धातु द्वारा रूप देने का भी प्रयास किया। इसी प्रवृत्ति ने मूर्तिया का निर्माण कराया। सिन्ध और पजाब मे मोहन-जो-दडो तथा हडप्पा म प्राग्-इतिहासकालीन मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई ह, परन्तु हमारे राज्य का मूर्तिकला का इतिहास मौयकाल के कुछ पहले से अथवा पूव से पूव शशुनाक काल से प्रारभ होता है।

इस स्थल पर उन माध्यमो पर भी विचार कर लेना उचित हैं जिनको आधार बना कर मूर्तिकार अपनी कला को साकार रूप देता हैं। इनम प्रधान प्रस्तर-खण्ड ह। शिलाओ को कुरेद कर अथवा शिलाखडो को गढकर मूर्तिया का निर्माण करते ह, जिनका आकार ग्वालियर गढ की पवताकार मूर्तियो से लेकर अत्यन्त छोटी मूर्तियो तक हैं। कुछ मूर्तिया चारो ओर से बनी ह, कुछ का केवल सामना बनाया जाता है। कुछ पत्थर पर चित्रा के समान उभरी हुई (अधचित्र) कुरेद कर बनाली जाती ह। दूसरा आधार मिट्टी है। मिट्टी के ठीकरा पर उभरी हुई मूर्तियाँ बनाने की कला भारत में बहुत पुरानी है। प्रागैतिहासिक स्थलो पर भी ये प्राप्त होती हैं। इस राज्य मे भी बहुत प्राचीन मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई ह और पवाया पर जो राशि प्राप्त हुई हैं वह इस कला के चरम विकास का प्रमाण हैं। तीसरा साधन धातु है। प्राचीनकाल की धातु मूर्तियाँ राज्य म अत्यन्त कम प्राप्त हुई ह, जो मिली ह वे महत्वहीन ह। परन्तु पुरातत्व विभाग के सग्रहालय में बाहर से कुछ अच्छी धातु मूर्तिया सग्रहीत हुई ह।

मूर्तिया के विषय और प्रयोजन भी अनेक रहे ह। मूर्ति-निर्माण की प्रधान प्रेरणा धार्मिक पूजा-स्थला से मिली है। इस कारण से बहुसख्यक मूर्तिया किसी न किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित ह। विजयगाथाओ अथवा धार्मिक दाना को उत्कीण किए हुए प्रस्तर-स्तभा पर निर्मित मूर्तियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती ह, परन्तु ये स्तम्भ बहुधा मन्दिरा से सम्बन्धित कर दिए जाते थे। मालव-वीर यशोधमन्-विष्णुवद्धन् के विजय-स्तभा के पास पाए गए शिव मन्दिर के अवशेष इसे सिद्ध करते ह। स्मारक एव सती स्तम्भो पर धार्मिक दृश्य अकित रहते ही ह। वास्तव म भारत जसे धमप्राण देश में प्राचीनकाल में प्रत्येक कला धर्मानुगामिनी होकर ही रही ह। ऐसी मूर्तिया बहुत कम प्राप्त हुई ह जो किसी सम्प्रदाय अथवा धम से सम्बन्धित न हा, परन्तु इनका अभाव नही है। यहाँ तक कि मदिरा-पान एव आखेट तक के दृश्या को अकित करनेवाली मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई ह।

हमारी बहुतसी सास्कृतिक विरासत अनेको सहस्राब्दिया के चक्र के नीचे विलीन हो गई ह। काल के क्रूर हाथा से पत्थर भी नही बच सका। परन्तु काल के साथ साथ मानव ने भी हमारी मूर्तिकला-भाण्डार के विनाश में पूरा हाथ बटाया ह।‡ मूर्तिकला का सबसे बडा दुश्मन धार्मिक असहिष्णु मानव रहा है। मूर्ति-कला का आश्रय देनेवाले भवनो से

* बेसनगर की तेलिन (महिषमर्दिनी) की मूर्ति को स्मिथ ने पूव मौयकालीन लिखा हैं। देखिए—स्मिथ, वही, पृष्ठ३०)। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी मणिभद्र यक्ष की मूर्ति को पूव-मौयकालीन बतलाते ह। (हिन्दू सिविलिजेशन, पृष्ठ ३१५)।

‡ कनिंघम ने आ० स० ई० भाग २०, पृष्ठ १०३ में दुबकुण्ड (श्योपुर) की मूर्तियो के विषय में अत्यन्त आश्चयपूर्ण बात लिखी हैं कि वहाँ की जैन मूर्तियों को मराठों ने तोडा हैं। यदि मराठे मूर्तियाँ तोडने की इच्छा रखते तो चन्देरी, ग्वालियर गढ आदि बहुत से स्थलो पर जन धम के अवशेष भी न मिलते। दूसरे, हिन्दू धम में अन्य धर्मों के देवमन्दिरो को नष्ट करने की भावना का प्रचार कभी नहीं किया गया। यह विचार अत्यन्त भ्रांतिपूर्ण तथा असत्य ह।

नवीन भवन-निर्माण के लिए सुलभ सामग्री खोजनेवाले व्यक्तियों ने भी इस कला को ध्वस्त किया है। इन सब विनाशों से बची हुई जो मूर्तिकला-सम्पत्ति राज्य के विभिन्न स्थानों में प्राप्त हुई है उसका संक्षिप्त विवेचन करने का प्रयास आगे किया गया है। हमने अपने इस विवरण को गुप्तकाल तक लाकर समाप्त कर दिया है।

इस विवेचन को हमने कुछ कालो मे बाँट लिया है। यह काल कुछ मूर्तियों के तथा शैलियो के आधार पर है। राजनीतिक इतिहास भी उससे गुंथा रहता ही है, अतः अत्यन्त संक्षेप मे पहले सम्बन्धित प्रदेश का राजनीतिक इतिहास देकर प्रधान मूर्तियो के काल, शैली, कला आदि का विवरण दिया है।

प्राग्-मौर्य कालीन (ई० पू० ६०० [?] से ई० पू० ३०० तक)—ईसा से प्रायः ६०० वर्ष पूर्व उज्जैन पर महाप्रतापी प्रद्योत नामक राजा राज्य करता था, जो अपने प्रताप एवं वीरता के कारण चण्ड-प्रद्योत कहलाता था। वत्सदेश का राजा उदयन इसका दामाद हुआ। यह वही उदयन है जिसकी कथाएँ उज्जैन के ग्रामवृद्ध अनेक शताब्दियो के पश्चात् भी सुनाते रहते थे।* मगध का राजा उस समय शिशुनाक वंशी अजातशत्रु था। उदयन के पश्चात् अवन्ती का राजा पालक हुआ। पालक के प्रजा-पीड़न से दुःखी होकर उज्जयिनी की जनता ने उसे राज्य-च्युत करके विशाखयूप को राजा बनाया। अजातशत्रु के पश्चात् मगध का राजा दर्शक हुआ और उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र अजउदयी हुआ। इस अजउदयी ने अवन्ति के राजा विशाखयूप को जीतकर उसे अपना करद बनाया और विशाखयूप की मृत्यु के पश्चात् अवन्ती के राज्य की बागडोर सीधे अपने हाथ मे ले ली। इसी अजउदयी ने मगध में पाटलिपुत्र नगर की स्थापना की। अजउदयी के पश्चात् नन्दिवर्धन गद्दी पर बैठा।

इस प्रकार भारतवर्ष के इतिहास मे मगध-साम्राज्य की स्थापना हुई, जिसकी पूर्वी राजधानी पाटलिपुत्र थी और पश्चिमी उज्जयिनी। उज्जयिनी और पाटलिपुत्र के राज-मार्ग पर प्राचीन विदिशा नगरी स्थित थी। उज्जयिनी ने इतने उथल-पुथल देखे है कि वहाँ प्राचीनकाल के अवशेष नही मिलते। विदिशा नगरी भी प्राचीन काल मे कम महत्त्वपूर्ण नही थी। यह अनेक राजमार्गों पर स्थित होने के कारण व्यापारिक, सामरिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र रही है। अतः यह कोई आश्चर्य नही है कि हमारी प्राचीन मूर्तिकला के इतिहास के प्रारंभिक अध्याय विदिशा के खण्डहरों से ही प्रारम्भ हो।

जहाँ पहले प्राचीन विदिशा नगरी बसी हुई थी उस स्थान के एक कोने मे आज बेस नामक ग्राम बसा है। इसके अवशेषो मे प्राचीनतम काल की कला-कृतियाँ दबी पड़ी है।

सन् १८७४ मे एलेक्जेण्डर कनिंघम, डायरेक्टर जनरल ऑफ आर्क्यालॉजी ने विदिशा के ध्वंसावशेषो पर पडी हुई मूर्तियों का अन्वेषण किया था। उनकी दृष्टि मे हमारी प्राचीनतम एक मूर्ति आई थी और उसका वर्णन उन्होने आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया के भाग १०, पृष्ठ ४४ पर किया है। यह एक विशालकाय स्त्री-मूर्ति है जो ६ फीट ७ इञ्च ऊँची है। यह मूर्ति दो भागों मे टूट गई है और हाथों का पता नही चल सका। सबसे प्रथम इस मूर्ति का केश-विन्यास अपनी विशिष्टता के कारण आकर्षित करता है जो अत्यन्त भारी और प्रभावशाली है। ज्ञात यह होता है कि कनक-खचित कपड़े या डोरो के साथ बालो को सजाया गया है जिससे कि एक मुण्डासा सा बन गया है, जिसने सम्पूर्ण सिर को पीछे गले तक ढक लिया है। पीछे बालो की दो चौड़ी गुंथी हुई चोटियाँ कमर के नीचे तक लटक रही हैं। कानो मे भारी बाले लटक रहे हैं। उनका भारीपन केश-विन्यास के भारीपन से मेल खाता हुआ है। गले मे अनेक मालाएँ पड़ी हुई है, जिनमे एक बहुत मोटी है और स्तनों के बीच मे से पेट के ऊपरी भाग तक लटक रही है। अधोवस्त्र और अलंकरण भी कम विचित्र

---

* प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् ॥पूर्वमेघ ३२॥

अथवा

प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे। हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः॥

अत्रोद्भ्रांतः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पादित्यागन्तून्रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः॥ पूर्वमेघ ३५॥

सिल्यूकिद की तलवार भी श्रीहीन होकर भारत वीरो के चरणो में झुक गई थी। हेलेना अथवा कार्नेलिया के विवाह की कथा मे कल्पना का मिश्रण भले ही हो परन्तु मेगस्थनीज के राजदूतत्व की घटना तो ऐतिहासिक तथ्य ही है। भारत के सम्राटो के राजदरबारो में अपनी विनम्र मैत्री दिखाने की इस परम्परा का प्रमाण अन्तलिकित (एण्टिअल्कीड्स) के समय तक मिलता है। जो हो, परन्तु ग्रीक और भारतीय सस्कृतियो का मिलन मौर्यकाल से प्रारम्भ हो गया था, यह प्रमाणित है। इन 'यवनो' से भारत ने विजित के रूप में नही परन्तु विजेता के रूप में सम्पर्क प्रारम्भ किया था। अतएव भारतीय कला-धारा ने ग्रीक तथा अन्य पश्चिमी देशो की कला की नकल की होगी, यह सोचना समीचीन नही है। परन्तु साथ ही यह भी नही सोचा जा सकता कि भारतीय कलाकार ने पश्चिमी कला के सम्पर्क में आकर भी उसके सौन्दर्य को ग्रहण करने से एकदम इन्कार कर दिया होगा। वास्तव में इस सम्पर्क का परिणाम यह हुआ कि भारतीय कलाकार ने उन कला-कृतियो को आत्मसात किया है जो उसे भारतीय रुचि के अनुकूल दिखी। ऐसी दशा में अनेक विद्वानो ने अशोक के द्वारा बाहर के कलाकार बुलाने की कल्पना की है*, वह अत्यन्त अप्राकृतिक एव भ्रान्त है।

पाटलिपुत्र-पुरवराधीश्वर सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य तथा बिन्दुसार अमित्रघात के समय में भी उज्जयिनी एव विदिशा को गौरव प्राप्त था, इसके प्रमाण मौजूद है। जब अशोक केवल युवराज थे, तब वे राज प्रतिनिधि के रूप में उज्जयिनी में रह थे और विदिशा की श्रेष्ठि-दुहिता 'देवी' से उनके सघमित्रा नामक कन्या एव महेन्द्र तथा उज्जैनीय नामक दो पुत्र हुए थे।† इन वैश्या महारानी की स्मृति जनश्रुति ने 'वैश्या टेकरी' के नाम में अब तक जीवित रखी है।

प्रद्योत, उदयन और अजातशत्रु के समय में शाक्य मुनि गौतम बुद्ध ने अहिंसामय धर्म का विस्तार उत्तर भारत में किया था। कलिंग विजय में जो अगणित नरबलि देनी पडी, उसने अशोक का हृदय बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित किया। वह बौद्ध धर्म का प्रबल प्रचारक बन गया। उसने उसे अपने साम्राज्य का राजधर्म बनाया और भारत के बाहर भी प्रचार किया। कहते है कि उन्होने ८४,००० बौद्ध स्तूप बनवाए‡ और अपने आदेशो से युक्त अनेक स्तम्भ खडे किए। इन स्तूपो के चारो ओर बाड (रेलिंग) होती थी। यह बाड या तो काठ की होती थी या पत्थर की। उन पर बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी अनेक चित्र अंकित किए जाते थे, इन दृश्यो के विषय में एक बात स्मरणीय है, बुद्ध भगवान ने अपना चित्र अंकन करने का निषेध कर दिया था। अतएव इन बाडो पर बुद्ध की मूर्ति नही है।

चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के महलो का वर्णन हमें ग्रीक राजदूत और फायहान द्वारा लिखा हुआ मिलता है। उनकी विशालता से वे अत्यधिक प्रभावित हुए थे और तत्कालीन अन्य विदेशी राजधानियो के राजमहलो से भी श्रेष्ठ थे, ऐसा मेगस्थनीज ने लिखा है। फायहान तो उनकी महानता को देखते हुए उन्हें मानवकृत मानने में भी सन्देह करता है और उन्हें देवयोनि द्वारा निर्मित मानता है।§ इससे यह प्रकट होता है कि उस काल में स्थापत्य कला तथा उसकी सगिनि मूर्तिकला अत्यन्त समुन्नत दशा में थी, और साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि भारत को मौर्यकाल में परदेशी कारीगर बुलाने की आवश्यकता भी न पडी होगी जैसाकि मार्शल आदि का मत है।

मौर्यकालीन कारीगर पत्थर पर एक अत्यन्त चमकदार ओप करने की रीति जानते थे जो उस काल की कला की एक अत्यन्त निजी विशेषता थी। मूर्ति या स्तभ बनाकर वे उसे इतना चिकना कर देते थे कि हाथ फिसलता था। यह ओप उस काल की मूर्तियो की अचूक पहिचान है। यद्यपि पत्थर पर ओप आगे भी हुआ परन्तु इस अशोकीय ओप की बराबरी न की जा सकी। साची के तोरणो पर इसका आभास मिलता है और मध्यकाल में तो अनेक मूर्तियो पर चिकनाहट की गई है, परन्तु इसकी अपनी निजी विशेषता है। इसमें चुनार का पत्थर अधिक सहायक हुआ है।

---

* मार्शल ए गाइड टू साची, पृष्ठ १०।

† वही, पृष्ठ ८ तथा महावश।

‡ फायहान यात्रा विवरण, अध्याय ५८।

§ वही।

वेसनगर मे प्राप्त यक्षी-मूर्ति।
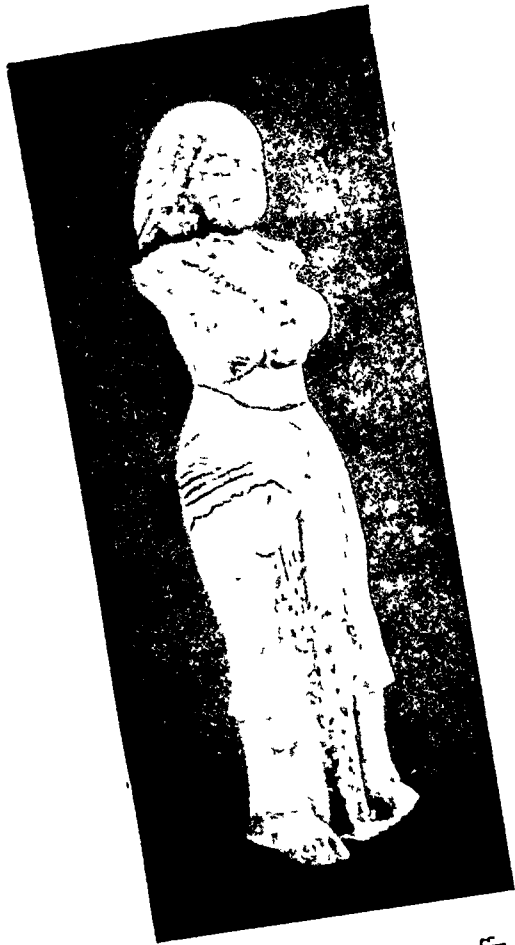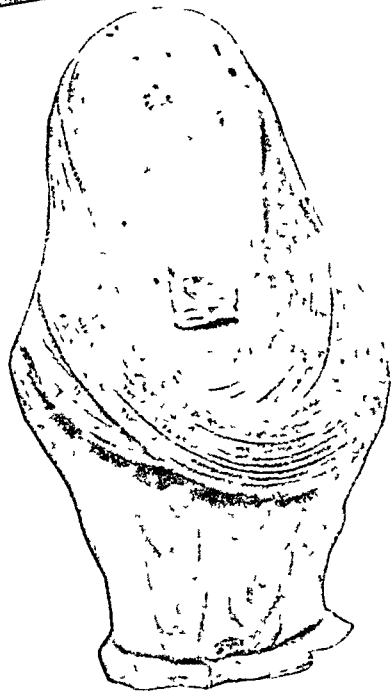
परखम की यक्षमूर्ति।

वेसनगर मे प्राप्त यक्षी की मूर्ति।

वेसनगर मे प्राप्त बौद्ध वेदिका के चित्र (दोनो पार्श्व)।

चामर ग्रहिणी, पटना

बेसनगर की वेदिका के स्तंभ तथा सूची।

स्तभ शीष, टुहागी।

एकसिंह स्तंभशीर्ष, उदयगिरि।

विष्णु मूर्ति

सवारयुक्त हाथी, बेसनगर।
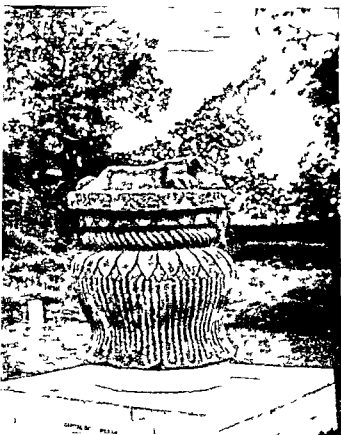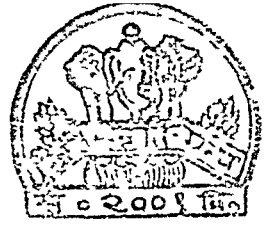
श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

मौर्य सम्राटों का विदिशा और उज्जैन से राजनीतिक सम्बन्ध था, इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। अतएव यहाँ भी मौर्यकाल की मूर्तिकला के सुन्दर उदाहरण प्राप्त हुए है और आगे भी प्राप्त होने की आशा है। विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि पत्थरों पर उभरी हुई मूर्तियाँ (अर्ध-चित्र) तथा अलंकरण हाथी दाँत पर बनी हुई कलाकृतियों का अनुकरण करने की चेष्टा से बने हैं। ये हाथीदाँत के कारीगर विदिशा में रहते थे, इसका प्रमाण भी मिलता है। साँची के दक्षिण तोरण के बाएँ खम्बे पर विदिशा के दन्तकारों के दान का उल्लेख है।* भरहुत में विदिशा के किसी फल्गुदेव का दान-सम्बन्धी लेख है।†

ग्वालियर-राज्य की सीमाओं में प्राप्त मौर्यकालीन कला-कृतियों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) विदिशा के स्तूप की बाड़ के अवशेष,

(२) उदयगिरि के बौद्ध अवशेष तथा कुछ अन्य स्तम्भ-शीर्ष, तथा

(३) कुछ मृण्मूर्तियाँ, गुरिए, हाथीदाँत की वस्तुएँ तथा उज्जैन की कुम्हार-टेकरी मे प्राप्त मृत्तिका-पात्र आदि।

उज्जैन मे वैश्या-टेकरी के उत्खनन के फलस्वरूप जिन स्तूपों का पता लगा है वे अपनी विशालता एवं विशिष्ट स्थापत्य कलाकौशल की दृष्टि से अशोककालीन स्तूपों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं; परन्तु उनके चारों ओर या तो, कोई वेदिका (बाड़) थी ही नहीं और यदि थी तो वह लकड़ी की बनी हुई थी। इस प्रकार यहाँ पर मूर्तिकला का कोई उदाहरण प्राप्त न हो सका। यह एक विचित्र संयोग है कि बेसनगर (विदिशा) के पास हमे एक स्तूप की बाड़ के कुछ अंश प्राप्त हुए हैं; परन्तु वहाँ स्तूप का पता नहीं लगा। ज्ञात यह होता है कि स्तूप की ईंटे तथा बाड़ के कुछ अंश कोई मकान बनानेवाला ले गया और सौभाग्य से बाड़ का कुछ अंश हमे प्राप्त हो सका। सन् १८७४ में सबसे पहले कनिंघम ने इन्हें देखा था। उसने लिखा है, "बेसनगर ग्राम के बाहर पूर्व की ओर मुझे एक बाड़ के कुछ अंग मिले, जो कभी बौद्ध स्तूप को घेरे हुए थी। .... चारो अभिलेखयुक्त है जिनमे अशोककालीन लिपि मे दाताओं के छोटे छोटे लेख हैं। इस कारण से इस स्तूप की तिथि ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी के मध्य के पश्चात् की नही मानी जा सकती।‡"

इन लेखो की लिपि के कारण तो यह वेदिका अशोककालीन ज्ञात होती ही है; साथ ही यदि इनकी तुलना भरहुत एवं साँची की उभरी हुई मूर्तियो से की जाए तो इनका उन दोनों से पूर्वकालीन होना सिद्ध होगा। भरहुत एवं साँची में जो जातको तथा बुद्ध के जीवन सम्बन्धी दृश्य दिखाए गए है वे अधिक विकसित एवं अधिक रूढ़िबद्ध है। बेसनगर की बाड़ इस दिशा मे पूर्वतम प्रयास ज्ञात होती है। सम्भव यह है कि विदिशा के नागरिको ने साँची को अपना प्रधान पूजा-स्थल बनाया, उसके पूर्व विदिशा के अत्यन्त निकट का यह छोटासा स्तूप बनाया गया होगा। इसके पश्चात् उदयगिरि पर कुछ निर्माण हुआ और अन्त मे साँची पर। बुद्ध द्वारा उनकी मूर्ति-अकन-निषेध का पालन इस बाड़ की मूर्तियों मे किया गया है। प्राचीन बाड़ों पर बुद्ध का स्वय का चित्रण (१) सिहासन (२) बोधिवृक्ष (३) त्रिरत्न, तथा (४) स्तूप द्वारा किया गया है। इनमे त्रिरत्न को छोड़कर शेष तीनो प्रतीक बेसनगर की बाड़ मे मौजूद है। साँची के स्तूप की बाड़ों में भी सारी प्रकृति—जड़ और चेतन—बुद्ध की आराधना में तत्पर दिखलाई है परन्तु उत्कीर्णक की छैनी बुद्ध-विग्रह के अंकन के निषेध की मर्यादा मे बँधी ही रही।

कला की दृष्टि से बेसनगर की बाड़ के यह अर्धचित्र साँची और भरहुत के पूर्वगामी है, यह ऊपर कहा जा चुका है। दाताओ की असमर्थता के कारण भी उनमे विशालता एवं अनेकरूपता नही है। बाड़ का केवल कुछ अंश ही प्राप्त हुआ है और कोई तोरण द्वार भी नही मिला है। इस कारण से इसमें साँची या भरहुत की सी न तो प्रचुरता है और न

---

* मार्शल तथा फुशेः मानूमेण्टस ऑफ साँची, तीसरा भाग।

† बरुआ: भरहुत, पृष्ठ ४१।

‡ कनिंघम आ० स० ई०, भाग १०, पृष्ठ ३८।

कला की परिपक्वता अथवा विकास। परन्तु सांची और भरहुत की पूर्वगामिनी होने के कारण इसकी कला का महत्त्व अवश्य बहुत अधिक है।

कनिंघम ने इस बाड के वेष्टन (Coping Stone) का एक खण्ड, एक स्तम्भ और दो तकिए (उष्णीश) के पत्थर (rail bars) देखे थे। उसके पश्चात् अब एक वेष्टन का खड, एक स्तम्भ का खड तथा तीन तकिए के पत्थर और मिल गए है। इस प्रकार अब दो वेष्टन के खड, दो स्तम्भ खड तथा पाँच तकिए के प्रस्तर प्राप्त है। यह सब गूजरीमहल सग्रहालय में सुरक्षित है।

उष्णीष प्रस्तर के खड ११ इच ऊँचे और ११ इच मोटे है। बडा टुकडा ७ फीट ४ इच लम्बा है और छोटा टुकडा लम्बाई में इससे प्राय आधा है। इनके भीतरी ओर हाथी और घोडा का समारोह अकित है। प्रत्येक हाथी के सिर पर बुद्ध-चिह्न की पिटारी रखी हुई है। हाथी के पीछे एक पदाति है जो ध्वजा या चमर लिए हुए है, उसके पीछे एक अश्वारोही है। अश्वारोही के पीछे फिर एक पदाति है। इस प्रकार इन दोना खण्डा में १३ पदाति, ६ घोडे और ६ हाथी है।

बाहरी भाग में वेष्टन प्रस्तर-खण्डो का ऊपरी गोल हिस्सा अधचित्रो के ऊपर निकला हुआ दो इच चौडी छज्जीसी बना देता है जिससे इनकी रक्षा होती रहे। बडे तथा छोटे दोनों टुकडा में दो स्तूपा की पूजा का अकन है। गोमूत्रिका* के आकार में फैलाई गई एक पद्म-बेल द्वारा १० खन बना दिए गए है। इस बेल में यत्र-तत्र पूर्ण विकसित, अर्धविकसित एव अविकसित कमल-पुष्प तथा पत्ते बने हुए है। दाहिनी ओर के पहले खन में एक हाथी है, दूसरे और नवें खन में दो दो गायक है, जिनमें से एक मृदग बजा रहा है। तीसरे और चौथे खना में एक स्त्री और पुरुष है। स्त्री भरा हुआ थाल लिए है और पुरुष के हाथ में ध्वजा है। इस प्रकार की ध्वजाएँ बौद्ध स्तूप पर टँगी हुई भरहुत में भी दिखाई गई है और इसी बाड के दूसरे टुकडे में भी है। पाँचवें, छठवें, सातवें और आठवें खन में प्रत्येक में एक एक स्त्री है जो अपने दोना हाथो में भरे हुए थाल लिए है। दसवें खन में एक स्तूप है जिसके दाहिनी ओर एक स्त्री है। इस स्तूप में ऊपर का छत्र नहीं है। छोटे वेष्टन प्रस्तर-खण्ड में बडे खण्डा के समान पद्म-बेल द्वारा पाँच खन बतलाए गए है। पहले खन में बुद्ध चिह्न की पिटारी सिर पर रखे हाथी है। चौथे खन में बोधिवृक्ष है, जिसके दोना ओर स्त्री और पुरुष है। पाँचवें खन में, जिसमें स्तूप है, दाहिनी ओर उपासिका खडी है। दूसरे खन में दो व्यक्ति है, जिनमें से एक भरा हुआ थाल लिए है। दूसरा ध्वजा लिए है। तीसरे खन में एक स्त्री और एक पुरुष है जो गायन वादन कर रहे है।

बडे खम्भा में बोधिवृक्ष की पूजा दिखाई गई है। इस दृश्य का अकन बहुत अकुशल हाथा द्वारा किया गया है और अर्धचित्रा के अत्यन्त अविकसित रूप का परिचायक है। मूर्तिकार बोधिवृक्ष और नौ उपासका का सश्लिष्ट चित्र बतलाने में असफल रहा है। पहली पंक्ति में बोधिवृक्ष बना है, फिर नीचे तीन पक्ति में तीन तीन उपासक है। अन्तिम पक्ति के उपासका का इस समय केवल सिर का कुछ भाग शेष रह गया है। स्तम्भ के छोटे टुकडे पर अकन अधिक रुचिर है। इसके एक ओर सगीत का दृश्य दिखाया गया है। ऊपर एक सिहासन है। आठ स्त्रियाँ विविध वाद्य बजा रही है। बीच में एक दीपक जल रहा है। इसमें वीणा, मुरली, मृदग आदि वाद्य स्पष्ट दिखाई देते है।‡ इसी स्तम्भ-खण्ड के

* इस शब्द को हमने उसी अर्थ में प्रयुक्त किया जिसमें राय कृष्णदासजी ने अपनी 'भारतीय मूर्तिकला' में किया है।

‡ इस प्रकार के गीत नृत्य का दृश्य ग्वालियर की सीमाओ में मेरे देखने में तीन स्थानो पर आया है। पहला मौर्यकालीन बेसनगर में प्राप्त बाड पर है, दूसरा उदयगिरि में है और तीसरा पवाया में है। यद्यपि चौथा बाग गुहा की भित्तिया पर चित्रित है परन्तु वह इन सबसे भिन्न है। इन सब दृश्यो में अनेक समानताएँ है। एक तो यह सब पूर्णत स्त्रियो की मडलियाँ है, दूसरे हमारे विषय से वाद्य में समानता है। उदयगिरि का स्त्रियो का गीतनृत्य 'जन्म' से सम्बन्धित है, ऐसा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है। उन्होने लिखा है कि इस उत्सव को 'जातिमह' कहते थे। विशिष्ट जन्म-उत्सव के अकन में सगीत का प्रदर्शन भारतीय

दूसरी ओर नीचे-ऊपर दो खन हैं। ऊपर के खन में वन का दृश्य है। चार मृग और दो मोरें अत्यन्त सुन्दर रूप में बनी हुई हैं। ऊपर का कुछ भाग टूट गया है। नीचे के खन में दो घोड़ों के रथ में एक राजपुरुष दिखाया गया है। एक पारिषद छत्र लिए हुए है और दूसरा चामर। रथ के नीचे की ओर दो व्यक्तियों के सिर से दिखाई देते हैं।

पाँच सूची प्रस्तरों मे से चार मे सुन्दर एवं विविधि प्रकार के फुल्ल कमल हैं। एक मे बोधिवृक्ष के दोनों ओर दो उपासक दिखाए गए हैं।

इन अर्धचित्रों में उस समय के वेश-भूषा तथा सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

पुरुषों के सिर पर भारी साफासा बँधा रहता था जिसमें सामने और पीछे गुम टीसी उठी रहती थीं। यह भारी-भरकम शिरोभूषा युक्त एक सिर गूजरी-महल संग्रहालय मे रखा हुआ है। यदि इस शिरोभूषा को शुंगकालीन यक्ष की शिरोभूषा से तुलना करें तो ज्ञात होगा कि यह भारी साफा उस काल तक अधिक सरल हो गया था। गुमल्यिाँ गायब हो चली हैं। छोटे खंभे मे राज-पुरुष के साथ जो दो पारिषद हैं उनके ऐसे साफे नहीं है। अतएव यह ज्ञात होता है कि इस प्रकार का साफा समाज मे विशिष्ट स्थिति का प्रमाण है। पुरुष कानों में भी भारी आभरण पहने दिखाए गए हैं। स्त्रियों के केश-विन्यास भी विशेष प्रकार के हैं। सिर के चारों ओर गोल चक्कर के ऊपर गोल टोपसा है। नीचे के बाल कही कही गर्दन तक भी आए हैं। पुरुषों के शरीर पर कोई वस्त्र नहीं हैं। केवल कमर के नीचे धोती बँधी हुई है। सामने पटली है और धोती प्रायः घुटने के नीचे तक है। गले से पेट के ऊपर तक आनेवाली मालाएँ हैं। हाथों में चूड़े हैं। स्त्रियाँ भी छाती और पेट पर कोई वस्त्र पहने दिखाई नहीं देती। कानों मे भारी बाले, हाथों में चूड़े और गले मे मालाएँ हैं। हाथियों पर झूले हैं; परन्तु घोड़ों का साज अधिक अलंकृत है। दो घोड़ों का रथ भी दर्शनीय है। राज-पुरुष स्वयं घोड़ों की बागडोर लिए है। भरहुत एवं साँची के रथो के समान ही इस रथ का रूप है। स्त्री-पुरुष धार्मिक उत्सवों तथा समारोहों मे समान भाग लेते दिखाए गए हैं।

बेसनगर, भरहुत एवं साँची आदि के इन दृश्यों मे बुद्ध-जीवनी तथा जातकों की कथाओं के अंकन हैं। ऊपर लिखा जा चुका है कि बेसनगर के ये दृश्य यद्यपि अधिक सार्थक है, परन्तु वे न तो पूर्णतः रूढ़िबद्ध हैं और न किसी कथा या घटना का पूर्ण अकन करने का प्रयास ही हैं। बुद्ध के जीवन की महान् घटनाएँ इस बाड़ पर अंकित हैं।

(१) बुद्ध-जन्म—अलौकिक पुरुषों के जन्म के साथ कमल सदा सम्बन्धित रहा है। इस बाढ़ पर भी तकिए कें प्रस्तरो में कमलों के अंकन के साथ ही कमल-बेल का सुन्दर अंकन हुआ है। आगे नृत्य का दृश्य भी बुद्ध-जन्म से सम्बद्ध हो सकता है।

(२) सिद्धार्थ का राजसी जीवन—छोटे प्रस्तर-खण्ड पर जो संगीत और वाद्य का दृश्य दिखाया गया है वह महाभिनिष्क्रमण के पूर्व राज-प्रासादों मे सिद्धार्थ के सुखी एव मनोरंजनपूर्ण जीवन का चित्रण हो सकता है। सिद्धार्थ का प्रतीक सिंहासन भी मौजूद है।

(३) सम्बोधि—सिद्धार्थ को बोधिवृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्त हुआ था, अतएव बौद्ध धर्म मे बोधिवृक्ष की पूजा को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इस बाड़ मे तीन स्थान पर बोधिवृक्ष दिखाया गया है।

कला की प्राचीन परिपाटी थी। (ना० प्र० प०, सं० २०००, पृष्ठ ४६)। डॉ० अग्रवाल का मत उदयगिरि के दृश्य के सम्बन्ध में ठीक नहीं जँचता। बेसनगर का दृश्य बुद्ध-जन्म से सम्बन्धित हो सकता है, परन्तु उदयगिरि का दृश्य 'गंगा-यमुना' के जन्म से सम्बन्धित न होकर उनके समुद्र के साथ विवाह से सम्बन्धित है। गंगा-यमुना को समुद्र की पत्नी भी कहा है। पवाया का दृश्य किस 'जातिमह' अथवा विवाह से सम्बन्धित है यह हमें ज्ञात नहीं क्योंकि वह किस मन्दिर का तोरण है यह मालूम नहीं हो सका।

(४) मृगदाव में धर्मचक्र-प्रवर्त्तन—छोटे खभे के ऊपर जो मृगायुक्त वन का दृश्य दिखाया गया है यह सम्भवत काशी के पास के प्रसिद्ध मृगदाव का चित्रण है। यह ऋषि पतन या मृगदाव बौद्ध साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। इसके सम्बन्ध में 'निग्रोधमृग जातक' कथा जातकों में है,* जहाँ बुद्ध ने धर्मचक्र-प्रवर्त्तन किया था।‡

(५) बिम्बसार या अजातशत्रु का बुद्ध से मिलना—इसी दृश्य के नीचे जो राजपुरुष है वह बिम्बसार अथवा अजातशत्रु है। बुद्ध से यह नरेश मिलने गए थे, इस घटना का अकन साँची भरहुत आदि स्थलो पर भी है। यहाँ पर भी सम्भवत यह उसी घटना का अकन है।

(६) परिनिर्वाण—अस्सी वर्ष की अवस्था में गौतमबुद्ध ने कुशीनगर के पास दो साल वृक्षो के बीच में प्राण त्याग किया। कुशीनगर के मल्लो ने बहुत समारोह से अन्तिम सस्कार किया और चिता के फूलो को अपने अधिकार में ले लिया। समाचार मिलते ही बुद्ध के अनुयायी सात हिस्सेदार और आ उपस्थित हुए (१) मगध के राजा अजातशत्रु (२) वैशाली के लिच्छवि (३) कपिलवस्तु के शाक्य (४) अल्लकप्प के बुलि (५) रामग्राम के कोलिय (६) वेठदीप का एक ब्राह्मण और (७) पावा के मल्ल। कुशीनगर के मल्ल जब फूल देने में आनाकानी करने लगे तो सातो पक्षो ने कुशीनगर को घेर लिया। यह झगडा द्रोण नामक एक ब्राह्मण के हस्तक्षेप से टल सका। द्रोण ने सब अवशेषो को आठ भागो में बाँट दिया और प्रत्येक पक्ष को एक एक भाग दे दिया। उसे वह पात्र मिल गया जिसमे अवशेष रखे हुए थे। सातो पक्ष अवशेष के अपने अपने भाग का लेकर चले गए। इन सब दृश्यो का विशद अकन भरहुत और साँची में मिलता है। इस बाड में तो अन्तिम दृश्य ही दिखाया गया है। वेष्टन के दोनो टुकडो पर छह हाथी बुद्ध चिह्नो की पिटारी सहित दिखाए है। सातवाँ हाथी अप्राप्य भाग में नष्ट होगया ज्ञात होता है। साथ के अश्वारोही इन दलो के नायक होगे। बटवारे के पश्चात् यह अपने अपने भाग के बुद्ध-चिह्न लिए जा रहे हैं।

इन अवशेषो पर स्थान स्थान पर स्तूप बनवाए गए और इस प्रकार बुद्ध के समान ही स्तूपो की पूजा की जाने लगी। इस बाड में दो स्तूप बतलाए गए हैं। वेष्टन के बडे टुकडे के भीतरी भाग में स्तूप-पूजा का ही समारोह है, परन्तु छोटे टुकडे का भीतरी भाग कुछ विचित्र है। उसमे बुद्ध-चिह्न की पिटारी लिए हाथी, बोधिवृक्ष और स्तूप सभी दिखाए गए हैं। उपासक भी है। इसका स्पष्ट तात्पर्य क्या है, समझ में नही आया।

कनिंघम ने बेसनगर की यात्रा सन् १८७४ में की थी, यह ऊपर लिखा जा चुका है। उस समय उसे इस बाड के दक्षिण-पश्चिम में साँची की दिशा में प्राय एक मील दूर पर उदयगिरि पहाडी के दक्षिण में बौद्ध बाड और स्तम्भ के अवशेष मिले थे। आश्चर्य है कि आज सिंह-शीर्ष युक्त स्तम्भ के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं है। अतएव आज कनिंघम द्वारा उनके वर्णन के अतिरिक्त हमारे पास कोई दूसरा साधन नहीं है। वह लिखता है‡ "पहाडी (उदयगिरि) के दक्षिणी भाग तथा चोटी पर बहुत से बौद्ध अवशेष है। पूर्व में सोम (सुन) पुरा ग्राम के पास मुझे एक बौद्ध बाड का एक टूटा खम्भा मिला, जिसका सिरा ८×६ इच था और जिसके सामने सुपरिचित मुद्राएँ बनी हुई थी और जिसमें तकिए के प्रस्तरो के घुमावदार छेद बने हुए थे। पास ही मुझे एक पूरा वेष्टन-प्रस्तर मिला जो एक बहुत बडी बाड का खण्ड था और २ फुट १ इच लम्बा तथा १ फुट १० इच चौडा था, इसकी मोटाई बीच में ७॥ इच थी। इनकी नापें भरहुत के वेष्टन प्रस्तरो से लगभग मिलती जुलती है, अत हम यह अनुमान लगाते हैं कि उदयगिरि में भी कभी बडा बौद्ध स्तूप रहा होगा।

"पहाडी का चक्कर खाकर दक्षिण की ओर जाने पर मुझे एक इमली के पेड के नीचे एक बौद्ध स्तम्भ की चौकी मिली, जो २ फुट ६॥ इच वर्ग की तथा १ फुट ९॥ इच ऊँची थी जो साँची और बेसनगर के समान बौद्ध बाड से अलकृत थी। अन्य खण्डो में मुझे कुछ घण्टाकृति खभे मिले, जो बहुत प्राचीन मन्दिर के अवशेष ज्ञात होते है।

* भदन्त आनन्द कौसल्यायन कृत 'जातक' अनुवाद, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १९६–२००।

‡ मजूमदार गाइड टु सारनाथ, पृष्ठ १२।

‡ आ० स० ई० भाग १०, पृष्ठ ५५-५६

शेषशायी विष्णु, उदयगिरि।

वराह,

विष्णु (दाहिनी ओर), उदयगिरि।

नसिंह मूर्ति, बेसनगर।

बालि और वामन, पवाया।

शिवमूर्ति, मन्दसौर।

नृसिंह मूर्ति (दूसरी ओर से)।
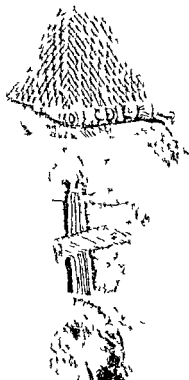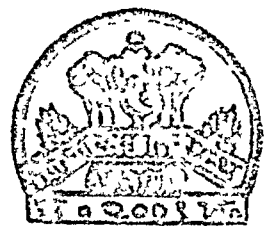
श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

"पहाड़ी के ऊपर अनेक स्थानों पर भवनों के चिह्न हैं। गुहाओं के ठीक ऊपर एक चौकोर चबूतरा है जिसके पास मुझे एक बडे स्तम्भ का एक-सिंहयुक्त घण्टाकृति स्तम्भशीर्ष मिला। पहाडी के उत्तरी भाग की ओर, जो प्राय: ३५० फीट ऊँची है, मुझे एक गोल स्तम्भ-खण्ड मिला जो ९ फुट ९ इंच लम्बा था और जिसका व्यास २ फुट ८।। इंच था और ढाल की ओर २ फीट ७ इंच था। इस स्थल के कुछ ऊपर इस स्तम्भ का भारी सिरा है जो २ फीट ११ इंच वर्ग का है और ६ फुट ५ इंच लम्बा है। यह अब भी अपने मूल स्थान पर ज्ञात होता है, किन्तु पश्चिम की ओर झुक गया है। स्पष्टत. यह बौद्धो का महान् सिंह-स्तम्भ था, जो शताब्दियो तक पहाड़ी के शीर्ष पर खडा रहा और आसपास के मीलो दूर के जन-समुदाय का महान् मार्गदर्शक बना रहा। एक दिन उसका विध्वंसक उसे ले जाने के लिए आया, जिसने उसकी नीव खोद डाली और उसे उखाड़ने का प्रयत्न किया। लेकिन चौकोर सिरे के ऊपर से ही स्तम्भ चटक गया और गड्ढे की चट्टान से टकराया जिससे गोल स्तम्भ तो टुकडे टुकड़े होकर छितर गया है, स्तम्भ-शीर्ष दूर जाकर गिरा और खंडित हो गया है।"

हमारे अनुमान से यह ध्वंस शुगकाल मे हुआ होगा और इस प्रकार यह स्तम्भ मौर्यकालीन ही है। इतना अवश्य है कि इसमे उस उत्कृष्ट कला के दर्शन नही होते जो सारनाथ के अन्य कुछ स्तम्भो पर होते हैं; फिर भी यह अत्यन्त सुन्दर है और अशोककालीन कहे जानेवाले अनेक स्तम्भो की टक्कर का है। विशेषत. इनकी तुलना संकीसा तथा बटवारी ग्राम के स्तम्भो से की जा सकती है। आज इसपर ओप भी दिखाई नही देता। घण्टाकृति अथवा कमलाकृति भाग आधा टूट गया है। उसके ऊपर भँजी हुई रस्सी की आकृति का कण्ठा बना हुआ है। इसके ऊपर ही एक गोल सादा पट्टी है, जिसके ऊपर गोल चौकी है। इस चौकी मे चारो ओर बैल, हाथी, सपक्ष ऊँट, सपक्ष घोड़ा, विदेशी जिराफ और दाढी युक्त मानवमुख सपक्ष सिंह आदि आठ उभरे हुए पशुओं को देखकर ही अनेक विद्वान् इस स्तम्भ को शुगकालीन मानते है। परन्तु यह स्पष्ट है कि यह सपक्ष पशु शुगकाल के पूर्व भी बनाए गए है। ऐसी दशा मे यह मानना पडेगा कि इस स्तम्भ-शीर्ष की चौकी पर अंकित ये सपक्ष पशु मौर्यकालीन ही हैं।* ये पशु सारनाथ के स्तम्भ शीर्ष पर भी आसीन है। चौकी के ऊपर एक विशाल केशरी बैठा हुआ उसका मुख टूट गया है, परन्तु फिर भी उसकी विशालता एव दृढ़ता दर्शनीय है।†

---

* फिर सपक्षसिंह उदयगिरि की गुहा नं० ६ के द्वार के अलंकरणों में तथा पवाया में प्राप्त हुए हैं। इन सपक्ष पशुओं तथा अभिप्रायों के विषय में प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ राय कृष्णदास ने लिखा है—"अशोकीय स्तम्भों पर के परगहों की बैठकों के विषय में, पाटलिपुत्र में निकले हुए अशोक के सभाभवन के छेंकन के विषय में, तथा पिछले मौर्यकाल से लेकर कुषाणकाल तक की वास्तु और मूर्तियो पर आनेवाले कुछ अभिप्रायो के विषय में कतिपय विद्वानों का मत है कि वे ईरान की कला से आए हैं। उक्त परगह और छेंकन के सिवा जिनकी चर्चा आगे की जायगी, ये अभिप्राय संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

(१) पंखदार सिंह (२) पंखदार वृषभ (३) नर-मकर, जिनमें से कुछ में घोड़े जैसे पैर भी होते हैं और कुछ की पूंछें दोहरी होती हैं (४) नर-अश्व (५) मेष-मकर (६) गज-मकर (७) वृष-मकर (८) सिंह-नारी (९) गरुड़-सिंह तथा (१०) मनुष्य के धड़वाले पक्षी। किन्तु इस प्रकार के अभिप्राय ईरानी कला में लघु-एशिया के देशों से आए थे और वहाँ से भारतवर्ष का बहुत पुराना सम्बन्ध था।" भारतीय मूर्तिकला, पृष्ठ ३७—३८।

† इस राज्य में अब तक वि० १००० के पूर्व के कुल नीचे लिखे स्तम्भ, स्तम्भशीर्ष अथवा स्तम्भखण्ड प्राप्त हुए हैं—(१) उदयगिरि का एक सिंह का स्तम्भशीर्ष गूजरीमहल संग्रहालय, ग्वालियर मे (२) लुहांगी का स्तम्भ-शीर्ष—लुहांगी पहाड़िया पर (३) कल्पवृक्ष स्तम्भशीर्ष—कलकत्ता संग्रहालय में (४) खामबाबा—बेसनगर (५) गौतमीपुत्र के अभिलेख युक्त स्तम्भ का खण्ड—गूजरीमहल संग्रहालय में (६) गरुड़ स्तम्भ-शीर्ष—गू० म० सं०। (७) मकर शीर्ष—गू० म० सं० (८) ताड़ स्तम्भ-शीर्ष—बेसनगर (९) ताड़ स्तम्भ-शीर्ष—बेसनगर गू० म० सं० (१०) ताड़ स्तम्भ-शीर्ष—पवाया गू० म० स० (११) सिंह और

ग्वालियर राज्य में प्राचीन मूर्तिकला

'देवाधिदेव वासुदेव का यह गरुडध्वज (स्तम्भ) तक्षशिला निवासी दिय के पुत्र भागवत हेलियोदोर ने बनवाया, जो (हेलियोदोर) महाराज अतलिकित के यवन (ग्रीक) राजदूत होकर (विदिशा) के महाराज काशी(माता)पुत्र (प्रजा-)पालक भागभद्र के समीप उनके राज्य के चौदहवें वर्ष में आये थे।'

इस स्तम्भ का मूर्तिकला के उदाहरण के रूप में इसके महत्व का विवेचन आगे किया जाएगा परन्तु यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से उस पर विवेचन करना उचित है। ग्रीक राजा अन्तलिकित (Antialkidas) का समय ई० पू० १४० निश्चित है। अतएव यह अनिवार्य निश्चित रूप से सिद्ध करता है कि ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में भागवत धर्म को ग्रीकों तक ने अपनाया था। दिय का पुत्र हेलियोदोर अकेला ग्रीक नहीं है जिसका भागवत धर्म में श्रद्धा का प्रमाण हमें प्राप्त है। विदिशा में जो शुगकालीन यज्ञशाला के अवशेष प्राप्त हुए हैं* उनमें कुछ मिट्टी की मुद्राएँ मिली हैं। उनमें से एक पर लिखा है—

(पंक्ति १) टिमित्र—त्राविस्य[स]—होता

(पंक्ति २) प[ो]तामत्र—सजन [? ि]

इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है, परन्तु इसमें 'होता' 'पोता' तथा 'मंत्र' के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध किसी हिन्दू (ब्राह्मण) यज्ञ से है। इसमें 'टिमित्र' शब्द व्यक्ति का सूचक ज्ञात होता है। यह टिमित्र ग्रीक डेमेट्रियस (Demetrius) है और वह दाता या यजमान है जिसके साथ 'होता' 'पोता' आदि थे।

अतएव इस काल में ब्राह्मण (हिन्दू) धर्म का पुनरुद्धार हुआ, उसे ग्रीकों (यवनों) तक ने स्वीकार किया तथा उसका प्रभाव जैन खारवेल तक पर पड़ा, यह सिद्ध है। परन्तु एक बात ध्यान रखना आवश्यक है। दिव्यावदान तथा तारानाथ के इतिहास में पुष्यमित्र शुंग के विषय में यह लिखा है कि उसने तलवार के बल से बौद्ध धर्म का दमन किया। यह कथन कुछ बढ़ाकर किया गया ज्ञात होता है। पहले लिखा जा चुका है कि प्राचीनकाल में धार्मिक असहिष्णुता कम होती थी और होती भी थी तो वह सीमित ही होती थी। अन्यथा यह सम्भव नहीं होता कि शुंगकाल में ही साँची के बौद्ध स्तूपों के चारों ओर अत्यन्त सुन्दर तोरण बनाए जाते। यह अवश्य है कि इन राजाओं के द्वारा ब्राह्मण धर्म का प्रचार और प्रसार अधिक अवश्य हुआ।

इन राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों का प्रभाव कला पर पड़ना प्राकृतिक था। ब्राह्मण (हिन्दू) धर्म के प्रभाव का जो सूत्रपात इन शुंगों के काल में हुआ उसे नाग और वाकाटकों ने पोषित किया तथा गुप्तों के काल में वह पूर्ण विकसित हुआ। उसी प्रकार मूर्तिकला के क्षेत्र में भी जिस हिन्दू कला का प्रारंभिक रूप इस काल में दिखाई दिया उसी का विकास क्रमशः नाग, वाकाटक तथा गुप्तवंश में हुआ। शुंग-पूर्व की मूर्तिकला तथा शुंगकालीन मूर्तिकला में प्रधान अन्तर यही है कि जहाँ प्रथम बौद्ध धर्म की अनुगामिनी है वहाँ यह ब्राह्मण धर्म की।

दूसरी प्रधान बात है यवनों (ग्रीकों) के सम्पर्क के प्रभाव की। यद्यपि ग्रीक कारीगर भारत में बुलाने अथवा ग्रीक कला की भारतीय कलाकारों द्वारा नकल करने का कथन हास्यास्पद ही है, परन्तु यह तो प्राकृतिक है कि भारतीय कलाकार विदेशी कला से किसी सीमा तक प्रभावित हो सकता है। वह प्रभाव बढ़ने के साधन और अवसर मौर्यकाल की अपेक्षा अधिकतर होते गए। प्राग्-मौर्य और मौर्यकला यथार्थ चित्रण की ओर प्रवृत्त होती थी, अब उस दिशा की ओर प्रयाण प्रारम्भ हुआ जिसने गुप्तकालीन तथा पूर्व मध्यकालीन आदर्शवादी भाव प्रधान कृतियों को जन्म दिया।

इस काल की मूर्तिकला के उदाहरण में कुछ स्तम्भ शीर्ष ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं और सम्भवतः बेसनगर की विष्णु मूर्ति को इस काल की माना जा सकता है। साथ ही नागों की कला और शुंगों की कला के बीच कोई विभाजक रेखा-

---

* आर्केआलॉजीकल सर्वे आफ इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट सन् १९१४ १५, पृष्ठ ७२-८३।
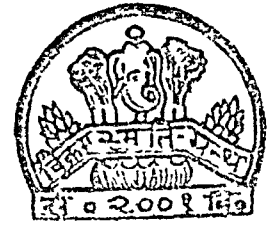
खीचना भी कठिन है;* परन्तु खामबाबा के निर्माण की तिथि निश्चित होने के कारण उसे केन्द्र मानकर इस काल की मूर्तिकला पर प्रकाश डाला जा सकता है।

खामबाबा (हेलियोदोर का गरुड़ स्तम्भ) के पास कोई विष्णु-मन्दिर था यह वहाँ के अवशेषों के उत्खनन से सिद्ध हुआ है।† एक अन्य स्तम्भ के अभिलेख से भी सिद्ध होता है कि यहाँ भागवत (वासुदेव) का कोई 'प्रासादोत्तम' था, जिसमें भागवत गोतमीपुत्र ने गरुड़ध्वज बनवाया।‡

बेसनगर में एक विष्णु-प्रतिमा मिली है। वह अत्यन्त भग्नावस्था में है। उसके चार हाथों में से तीन टूट गए हैं। नाभि के नीचे का भाग नष्ट हो गया है। पैरों का भाग पृथक् प्राप्त हुआ है। इस पर अलंकार अत्यन्त थोड़े हैं। मुकुट के अतिरिक्त गले में कौस्तुभ मणियुक्त कण्ठा है। कानों में भरहुत की मूर्तियों जैसे बड़े बड़े बाले है। बचे हुए बाएँ हाथ में सिंहमुखी गदा है। सिर के पीछे प्रभामण्डल है। यदि इस मूर्ति की तुलना उदयगिरि की गुहा नं० ६ के द्वार पर बनी हुई विष्णु-मूर्तियों से अथवा पवाया में प्राप्त विष्णु-मूर्ति से की जाए तो यह उनसे बहुत पूर्व का प्रयास स्पष्ट ज्ञात होती है। यह प्राप्त भी हेलियोदोर के स्तम्भ के पास हुई है, इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह प्रतिमा ई० स० १४० पूर्व में अस्तित्व रखनेवाले प्रासादोत्तम में स्थापित विष्णु-प्रतिमा है।

इस प्रतिमा के विषय में डॉ० देवदत्त भाण्डारकर ने यह अनुमान किया है कि यह गरुड़ की प्रतिमा है और हेलियोदोर के स्तम्भ पर स्थापित थी। उनका प्रधान तर्क यह है कि उन्हें चारों ओर कुरेद कर बनाई हुई इतनी प्राचीन विष्णु-प्रतिमा नही मिली है। परन्तु आगे वे इस प्रतिमा को चन्द्रगुप्तकालीन लिखकर यह लिखते है कि 'इससे अधिक प्राकृतिक

---

* शुंग और नागकालीन अर्धचित्रों का अन्तर श्री० डॉ० मोतीचन्द्र, क्यूरेटर, आर्ट सेक्शन, प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युजियम, बम्बई ने निम्नलिखित लिखकर भेजने की कृपा की है—"शुंगकाल की मूर्तियाँ या चित्र अपनी कारीगरी से पहचाने जा सकते है। इसमें आकृतियाँ चिपटी होती हैं, दूर और निकट दिखलाने की प्रथा नही है और एक ही पृष्ठ भूमि पर सब काम दिखलाए जाते हैं जिसका फल यह होता है कि पीछे या आगे की सभी आकृतियाँ प्रायः समान होती हैं। आकृतियों के अंकन में भी कुछ कमजोरी दीख पड़ती है। इसके विपरीत नागयुग की कला भरहुत या साँची से बहुत आगे बढ़ गई है। दूर-निकट दिखलाने की प्रकार इस कला में रूढ़ि बन गई है। इस कला में एक ऐसी गति है जो भरहुत में तो नही पाई जाती पर जिसका प्रारंभ सांची में हुआ और जो अपने पूर्ण रूप को अमरावती में प्राप्त हुई।" शुंगकालीन अर्ध-चित्रों के इस राज्य में अभाव के कारण मैं इस जानकारी का लाभ न उठा सका।

† आ० स० इ०, वार्षिक रिपोर्ट सन् १९१४–१५, पृष्ठ ६६।

‡ आ० स० इ०, वार्षिक रिपोर्ट सन् १९१३–१४, पृष्ठ १९०।

इस स्तम्भ का लेखयुक्त खण्ड इस समय गूजरीमहल संग्रहालय में रखा है। वह अठपहलू है और हरएक पहलू पर नीचे लिखा लेख ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण है :—

(पंक्ति १) गोतम(ी)पुतेन
(पंक्ति २) भागवतेन
(पंक्ति ३) ....
(पंक्ति ४) [भ]गवतो प्रासादोत-
(पंक्ति ५) मस गरुड़ध्वज [।]कारि [त]
(पंक्ति ६) [द्वा]दस-वस-अभिसिते
(पंक्ति ७) ...भागवते महाराजे

अर्थात्, गौतमी के पुत्र भागवत ने विष्णु के प्रासादोत्तम में गरुड़ध्वज बनवाया जबकि महाराज भागवत के अभिषेक को बारह वर्ष हो गए थे।' सम्भवतः यह 'भागवत' और खामबाबा का 'भागभद्र' एक ही व्यक्ति होंगे।

और क्या होगा कि विष्णु का परम उपासक यह गुप्त सम्राट्, जिसका विदिशा आना अभिलेखों से सिद्ध है, इस स्तम्भ (हेलियोदोर स्तम्भ) पर गरुड की यह प्रतिमा स्थापित करे।'* अर्थात् वे इस तर्क को प्रस्तुत करते समय यह भूल गए कि वे 'हेलियोदोरेण भागवतेन' कारित 'गरुडध्वज' के विषय में लिख रहे हैं। उस पर गरुड चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने नहीं उससे अनेक शताब्दियों पूर्व के हेलियोदोर ने बैठाया था।

इसकी अविकसित मूर्तिकला तथा शास्त्रों में वर्णित विष्णु-मूर्ति की कल्पना का अधूरा चित्रण इसे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में बनी विष्णु-प्रतिमाओं से बहुत पूर्व की घोषित करते हैं। जिस गुप्तकालीन कलाकार ने उदयगिरि की वराह मूर्ति एवं बेसनगर की नृसिंह मूर्ति बनाई है, उसीकी बनाई हुई यह प्रतिमा नहीं हो सकती।

कुरेद कर बनाई जाने के कारण मूर्ति का समय निर्धारित करने के तर्क की तथ्यहीनता ऊपर बतलाई ही जा चुकी है।

इस मूर्ति में हमें मौर्य अथवा प्राग्मौर्य कला के यथातथ्य चित्रण की प्रवृत्ति से हटने का प्रयास स्पष्ट दिखाई देता है। मूर्तिकार ने विष्णु भगवान् की कल्पना साधारण मानव जैसी नहीं की। उनका चतुर्भुज अलौकिक रूप उसके नेत्रों में घूमने लगा और वही मूर्त करने का प्रयास उसने किया। धार्मिक मूर्ति केवल मानव अंगों का प्रत्यक्षीकरण न होकर साधक अथवा भक्त के इष्टदेव के अंकन का प्रयास होने लगी। ग्रीकों के देवी देवताओं की मूर्तियाँ मानवों की लौकिक सौन्दर्य एवं स्वास्थ्य की प्रतिमाएँ हैं परन्तु भारतीयों के आराध्य देवों की मूर्तियाँ अलौकिक चित्रण होती है। इस भावना ने पूर्ण विकास आगे पाया, परन्तु यह बेसनगर की विष्णुमूर्ति इस अलौकिक रूप-कल्पना का प्राचीनतम प्रमाण है। इससे यह भी स्पष्ट है कि भारतीय कलाकार की आत्मा को ग्रीक कला प्रभावित न कर सकी, बाह्य उपकरणों में कहीं किया हो तो किया हो।

इस मूर्ति के अतिरिक्त इस काल के केवल कुछ स्तम्भ शीर्ष ही मूर्तिकला के उदाहरण के रूप में हमें प्राप्त है। विदिशा (बेसनगर) में प्राप्त खामबाबा, कल्पवृक्ष स्तम्भ शीर्ष, मकर तथा गरुड शीर्ष इस काल की कृतियाँ हैं।

पूरा स्तम्भ मूर्तिकला के अन्तर्गत नहीं आता। वह एक प्रकार का स्थापत्य है। परन्तु उसके ऊपर का अलंकरण मूर्तिकला की सीमा में अवश्य आता है।

खामबाबा (हेलियोदोर स्तम्भ) का गरुड अभी मिला नहीं है। इस स्तम्भ पर अशोककालीन ओप नहीं है, उसका धरातल खुरदरा है। स्तम्भ शीर्ष के नीचे भी इसमें दो अलंकृत पट्टियाँ खुदी हुई हैं। नीचे की पट्टी में आधे आधे विकसित कमलों का अलंकरण है। इनके ही नीचे ऊपर दिया गया प्रसिद्ध अभिलेख है तथा उसके नीचे दो पंक्तियाँ और खुदी हुई हैं। कमल के अलंकरण के ऊपर बटी हुई रस्सी, खूटी तथा फूलों का अत्यन्त सुन्दर अलंकरण बनाया गया है। शीर्ष में कमलाकृति अथवा घण्टाकृति भाग के ऊपर बटी हुई रस्सी का अलंकरण है। इसके ऊपर चौकोर चौकी है। इस पर भी सुन्दर अलंकरण बने हुए है। ग्रीक हेलियोदोर द्वारा बनवाए इस स्तम्भ में प्रत्यक्ष ग्रीक प्रभाव कुछ भी नहीं है।

बेसनगर में ही किसी अन्य स्तम्भशीर्ष के दो खण्ड मिले थे, जिनमें एक मकर था। यह मकर दूसरे खण्ड के ऊपर रखा हुआ था और इस प्रकार यह मकर-शीर्ष किसी स्तम्भ पर सुशोभित था। वासुदेव, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न की साथ साथ पूजा की जाती है। इनमें प्रद्युम्न कामदेव के अवतार 'मकर-केतन' है। 'नगरी' में वासुदेव, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न के मन्दिर साथ साथ मिले है। यह 'मकरध्वज' भी विदिशा के किसी ऐसे मन्दिर की स्मृति है। इसका मकर कुछ भद्दा बना है और इसके कान के पास के छेद यह बतलाते है कि इसके ऊपर भी कोई मूर्ति रही होगी। दूसरा खण्ड अधिक कलापूर्ण है। घण्टाकृति के ऊपर बटी हुई रस्सी का अलंकरण है। फिर गुरियों और फूलों के अलंकरणों युक्त दो पट्टियों के ऊपर बाड़ जैसी चौकी है। चौकी पर आमलक की आकृति का अनेक पहलू का गोल चपटा शीर्ष है, जिसमें एक मुठियासी [illegible] है। इसी पर मकर रखा गया होगा।

गरुड की मूर्तियुक्त एक स्तम्भ-शीर्ष की चौकी भी प्राप्त हुई। इसका गरुड टूट गया है, केवल पैरों के चिह्न [illegible] जिनसे ज्ञात होता है कि इसका गरुड पक्षी के रूप में था। यह भी इसी काल के किसी स्तम्भ का अवशेष है, ऐसा अनुमान है।

* आर्केलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट, सन् १९१५–१६, पृष्ठ १९५-१९६।

परन्तु सबसे अद्भुत एवं कुतूहलवर्धक कल्पवृक्ष-स्तम्भ-शीर्ष है। यह बेसनगर मे ही प्राप्त हुआ था तथा अब कलकत्ता संग्रहालय में है, यह ऊपर लिखा जा चुका है। यह शुंगकालीन है इसका भी ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

बाड़ की सी चौकी के ऊपर एक गमले जैसी आकृति मे बड़ जैसे पत्तों एव जटाओं युक्त पेड़ बना है। पेड़ की गुमटी बन गई है। पत्तों के अतिरिक्त छोटे छोटे फलों के आकार भी बीच बीच मे बने हुए है। जो जटाएँ नीचे को आई है उनसे आठ भाग बन गए है। इनमे चार मे मुंह बँधे हुए भरे बोरे एक एक भाग छोड़कर रखे हुए है। बीच बीच मे चार मुद्राओं से लबालब भरे हुए पात्र रखे है। चारों पात्र पृथक् पृथक् है। एक औंधा शंख है, दूसरा फुल्ल कमल की आकृति का है, तीसरा पूर्ण घट है, चौथी कोई अज्ञात वस्तु है।

यह एक प्रसिद्ध पौराणिक कथा है कि समुद्र-मंथन के समय अन्य वस्तुओं के साथ साथ यह मनवांछित फल देने-वाला देवतरु अथवा कल्पवृक्ष भी निकला था। उससे जो भी जिस पात्र को लेकर याचना की जायगी वही लबालब भर जाएगा, इस भावना का अंकन इस मूर्ति में है। इस कल्पना का सम्बन्ध पूर्णतः ब्राह्मणधर्म से है, अतः यह शुंगकालीन है।

विदिशा तथा पास मे ही प्राप्त अनेक मुद्राओं पर बाड़ और वृक्ष का चिह्न मिलता है। यह बोधिवृक्ष माना गया है। मेरे मत मे इन मुद्राओं की इस दृष्टि से परीक्षा होना चाहिए कि यह वृक्ष कल्पवृक्ष है। जिस काल मे 'कल्पवृक्ष' स्तम्भ के शीर्ष के रूप मे बनाया जा सकता है, उसी काल मे मुद्राओं पर भी उसका अंकन हो सकता है।

अभी शुगकालीन मूर्तियाँ इस राज्य की सीमाओं में अधिक नही मिली है। यद्यपि उपरोक्त उदाहरणो से उस काल के राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है, परन्तु मानव-मूर्तियाँ न मिलने से रहन-सहन और वेशभूषा के विकास पर दृष्टि नही डाली जा सकती। विदिशा की यज्ञशालाओं के तथा गौतमीपुत्र एवं हेलियोदोर-कालीन विष्णु के प्रासादोत्तम के आसपास अभी शुंगकालीन मूर्तिकला के अन्य उदाहरण भी मिल सकेंगे, ऐसी आशा है।

नाग कालीन (ई० पू० ७३ से ई० सन् ३४४ तक)—विदिशा के शुग धीरे धीरे मगध के हो चुके थे, विदिशा केवल प्रान्तीय राजधानी रह गई थी। शुंगो का मगध का राज्य कण्वो के हाथ आया। परन्तु विदिशा मे शुंगो के राज्यकाल मे ही एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजवश का प्रभाव बढ़ रहा था। विदिशा के नागो द्वारा शासको की जिस परम्परा का विकास हुआ उसने अपने प्रचण्ड प्रताप, कला-प्रेम और शिव-भक्ति की स्थायी छाप भारतीय इतिहास पर छोड़ी है। इन नागों का प्रभाव-क्षेत्र यद्यपि बहुत विस्तृत था, मध्यभारत के वनाक्रांत भूखण्डो से लेकर गंगा-यमुना का दोआब तक उसमे सम्मिलित था, परन्तु इन नागो का समय हमारे लिए अनेक कारणो से महत्त्व का है। प्रथम तो ग्वालियर-राज्य के उत्तरी प्रान्त के गिर्द शिवपुरी जिलों मे इनका राज्य था जहाँ नरवर, पवाया, कुतवाल आदि स्थलों इनका पर प्रभाव था और उधर दक्षिण में मालवे धार तक इनका राज्य था।* उनका प्रधान केन्द्र अधिक समय तक इस राज्य के तीन नगर रहे—विदिशा, पद्मावती और कान्तिपुरी † (वर्तमान कोतवाल)। दूसरे हिन्दू इतिहास के स्वर्णकाल—'प्रसिद्ध गुप्तवशीय श्रीसंयुत एवं

---

* नागों के साम्राज्य की सीमा के विषय में कनिंघम ने लिखा है (आ० स० ई० भाग २, पृष्ठ ३०८-३०९):—
"The Kingdom of the Nagas would have included the greater part of the present territories of Bharatpur, Dholpur, Gwalior, and Bundelkhand, and perhaps also some portions of Malwa, as Ujjain, Bhilsa and Sagar. It would thus have embraced nearly the whole of the country, lying between the Jamuna and the upper course of Narbada, form the Chambal on the west to the Kayan, or Kane River, on the east,—an extant of about 800 (o) square miles..."

† कोतवाल को श्री म० ब० गर्दे, भूतपूर्व डायरेक्टर, पुरातत्त्वविभाग, ग्वालियर ने विल्सन तथा कनिंघम (आ० स० रि०, भाग २, पृष्ठ ३०८) से सहमत होते हुए प्राचीन कान्तिपुरी माना है (ग्वा० पु० रिपोर्ट,

गुण-सम्पन्न राजाओ के समद्धिमान राज्यकाल'* की महत्ता को नाग लोगो ने ही दृढ आधार पर स्थापित किया था। जिस प्रकार छोटी नदी बडी नदी में मिलती है तथा वह बडी नदी महानद में, उसी प्रकार नागवश ने अपने साम्राज्य को अपनी सास्कृतिक सम्पत्ति के साथ वाकाटको को समर्पित कर दिया। भवनाग ने अपनी कन्या वाकाटक प्रवरसेन के लडके गौतमीपुत्र को ब्याह कर उनका प्रमुत्व बढाया था। ठीक उसी प्रकार वाकाटक राजकन्या गुप्तो को ब्याही गई और वाकाटक वैभव गुप्त-वैभव के महासमुद्र में समाहित हो गया।

इस काल के भारत के राजनीतिक इतिहास को हम अत्यन्त पेचीदा पाते ह। शुगा के समय म ही कलिंग और आध्र राज्य प्रबल हो गए थे। उत्तर-पश्चिम में गाधार और तक्षशिला पर विदेशी यवन जोर पकड रहे थे। शुगा के पश्चात् उत्तर-पश्चिम के यवन राज्य अवन्ति आकर पर घात लगाए रहते थे। धीरे धीरे उनके आक्रमण प्रारम्भ हुए और सातवाहन, नाग, मालव-क्षुद्रक सबको मिलाकर या अकेले अकेले इनका सामना करना पडा। इस राजनीति का धार्मिक क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रभाव पडा। बृहद्रथ मौर्य के समय तक बौद्ध धम भारत का धम था। अब बौद्ध धर्म ने इन विदेशी आकान्ताओं का सहारा लिया। अतएव धार्मिक कारणो के अतिरिक्त राजनीनिक कारणा से भी हिन्दू धम को बौद्ध धम का विरोध करना पडा।

नागो के राजवश को हम तीन भागो में बाँट सकते ह, शुगा के समकालीन, शुगा से कनिष्क तक और कुषाणा के पश्चात् से वाकाटको तक। पहली शाखा विदिशा में सीमित थी। उसके विषय मे हमें कुछ ज्ञात नही है, केवल पुराणो† में उनका उल्लेख है। शुगा के पश्चात् नागो ने अपना राज्य विदिशा से पद्मावती तक फैला लिया था, इसके प्रमाण उपलब्ध ह।

पुराण और सिक्को से उनकी वशावली भी निर्धारित की गई है, जो इस प्रकार है —

शेष ई० पू० ११०–९०
भोगिन् ई० पू० ९०–८०
रामचद्र ई० पू० ८०–५०
धर्मवमन ई० पू० ५०–४०
वगर ई० पू० ४०–३१

सवत् १९९७ पृष्ठ २२)। श्री० जायसवाल ने कन्तित की प्राचीन नागराजधानी से अभिन्नता स्थापित की ह (अधकारयुगीन भारत, पृष्ठ ५९-६६)। श्री गर्दे ने अपनी स्थापना के पक्ष में कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किए। श्री० जायसवाल ने जो तर्क कन्तित के पक्ष में प्रस्तुत किए हैं वे कोतवाल से भी सम्बन्धित किए जा सकते ह। जनश्रुति है कि किसी समय पढ़ावली, कोतवाल और सुहानियाँ बारह कोस के विस्तार में फले हुए एक ही नगर के भाग थे (कनिघम आ० स० इ० भाग २, पृष्ठ ३९९ तथा भाग २० पृष्ठ १०७)। कुतवाल के विषय में कनिघम ने भी लिखा है यह बहुत प्राचीन स्थल ह (वही, भाग २०, पृष्ठ ११२) पास ही पारौली (प्राचीन पाराशर ग्राम) तथा पढावली (प्राचीन धारौन) में गुप्तकालीन मन्दिरो के अवशेष मिले हैं (वही, पृष्ठ १०४ और १०९)। कोतवाल पर नागराजाओं की मुद्राएँ भी प्राप्त होती हैं (पीछे, पृष्ठ६४५)। अतएव कन्तित के बजाय कोतवाल ही प्राचीन पुराण कथित नागराजधानी ह, यह मानना उचित होगा। इस कान्तिपुरी का अगला नाम कुतलपुरी हुआ (वही, भाग २, पृष्ठ ३९८)। कच्छपघात राजाओ के काल तक यह गत गौरव 'कोतवाल' बन चुकी थी और सुहानिया प्रधानता पा चुकी थी।

* उदयगिरि गुहा न० २० का शिलालेख।

† देखिए श्री० जायसवाल द्वारा 'अधकारयुगीन भारत' में पृष्ठ ८१ पर उद्धृत 'भावशतक' जिसमें गणपति नाग को 'धाराधीश' लिखा है।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

भूतनन्दी ई० पू० २०–१०
शिशुनन्दी ई० पू० १०–२५ ई०
यशनन्दी २५ ई०–३० ई०

३० ई० से ७८ ई० तक के पाँच राजा लेख और सिक्को के आधार पर। —
पुरुषदात
उत्तमदात
कामदात
भवदात
शिवनन्दी या शिवदात

पिछले पाँच राजा सम्भवत: केवल पद्मावती (पवाया) से ही सम्बन्धित रह गए थे। यह शिवनन्दी कनिष्क द्वारा पराजित हुआ है, ऐसा अनुमान किया गया है। मणिभद्र यक्ष की प्रतिमा की चरण-चौकी पर खुदे अभिलेख मे उसके राज्यारोहण के चौथे वर्ष मे उसे 'स्वामी' लिखा है। 'स्वामी' प्राचीन अर्थो मे स्वतत्र नरेश को लिखा जाता था। अतएव अपने राज्य के चौथे वर्ष के पश्चात् उसे कनिष्क ने हराया होगा। सन् ७८ से सन् १७५ ई० के आसपास तक नागो को अज्ञातवास करना पड़ा। वे मध्यप्रदेश के पुरिका और नागपुर आदि स्थानों पर चले गए थे।

कुषाणों का अन्तिम सम्राट् वासुदेव था। सन् १७५ ई० के लगभग वीरसेन नाग ने इस वासुदेव को हराकर मथुरा मे हिन्दू राज्य स्थापित किया। इन नव नागों के विषय मे वायुपुराण मे लिखा है—'नवनागाः पद्मावत्या कांतिपुर्यां मथुरायां।'

मथुरा मे राज्य स्थापित कर वीरसेन नाग ने अपने राज्य को पद्मावती तक फिर फैला दिया*। कान्तिपुरी ग्वालियर-राज्य का कोतवाल है, ऐसा ऊपर सिद्ध किया गया है, और पवाया ही प्राचीन पद्मावती है, इसमें भी शंका नही है।† वीरसेन के बाद पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा में नागवश की तीन शाखाओं के तीन राज्य स्थापित हुए। सिक्कों पर से निम्नलिखित राजाओ के नाम ज्ञात हुए है:—

भीम नाग (सन् २१०–२३० ई०)
स्कन्द नाग (सन् २३०–२५० ई०)
बृहस्पति नाग (सन् २५०–२७० ई०)
व्याघ्र नाग (सन् २७०–२९० ई०)
देवनाग (सन् २९०–३१० ई०)
गणपति नाग (सन् ३१०–३४४ ई०)

गणपति नाग का उल्लेख उन राजाओं मे है जिनको समुद्रगुप्त ने हराया।‡ इन पिछले नागों के अधिकार में कुन्तलपुरी के साथ विदिशा भी थी क्योकि वहाँ पर भी इनके सिक्के मिले है।⁑

इसके पूर्व कि इस काल के राजनीतिक इतिहास को समाप्त कर मूर्तिकला का विवेचन प्रारम्भ किया जाए, यह लिखना उपयुक्त होगा कि इसी काल मे विक्रम संवत् के प्रवर्तन की घटना घटित हुई थी। ई० पू० ५७ के पूर्व उज्जैन पर मालवो का अधिकार था। विदिशा मे नागवश जोर पकड़ रहा था। मालवो और नागों की सभ्यता, संस्कृति एव राज्य

* वीरसेन के सिक्के पवाया और कोतवाल में भी मिले है।
† आ० सर्वे० इण्डिया वार्षिक रिपोठ सन १९४५–१६ पृष्ठ १०१.
‡ फ्लीट: गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ६।
⁑ आ० स० इ० वार्षिक रिपोर्ट सन् १९१३–१४, पृष्ठ १४-१५।

प्रणाली एकसी ही थी। जब विदेशी शकों की सेनाओं ने अवन्ति-आकर को रौंदा होगा तब ब्राह्मण सातवाहनों एवं अन्य गणराज्यों की सहायता से मालव एवं नाग दोनों ने ही उनके उन्मूलन में भाग लिया होगा। *

नागकालीन मूर्तिकला के उदाहरणों का वर्णन करने के पूर्व हम उन विशेष अभिप्रायों † अथवा अलंकरणों का परिगणन करके उनपर विचार करले जो नागों के कारण भारतीय मूर्तिकला को मिले और आगे की मूर्तिकला के अन्यतम अंग बन गए। इनमें से प्रधान निम्नलिखित हैं —

(१) गंगा (केवल मकरवाहिनी गंगा, गंगा-यमुना की जोडी नहीं, जैसीकि उदयगिरि की वराह मूर्ति के दोनों ओर गुप्तकाल में बनी)।

(२) ताड-वृक्ष।

(३) नाग छत्र।

गंगा—गंगा को नाग राजाओं ने अपना राजचिह्न बनाया था। उनके सिक्कों तक पर कलश लिए हुए गंगा की आकृति होती है। ‡ राजचिह्न के रूप में गंगा केवल सिक्कों तक ही सीमित नहीं रही। इन परम शिवभक्त ⁑ नागों ने उसकी मूर्ति का उपयोग अपने शिव-मन्दिरों को सजाने में भी किया। इस रूप में इसका उपयोग गुप्तों ने भी किया है। जानखट में वीरसेन नाग के अभिलेखयुक्त एक मन्दिर के अवशेषों को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें द्वार के ऊपर की ओर लगाने की मकरवाहिनी गंगा की मूर्ति भी है। इस गंगा की मूर्ति का द्वार के अलंकरण के रूप में उपयोग भी तत्कालीन हिन्दू धर्म के पुनर्विकास का प्रमाण है। इसके लिए यह आवश्यक है कि गंगा के इस अलंकरण का मूल रूप खोजा जाए। इस हेतु नागकालीन मन्दिरों से लेकर मध्यकालीन मन्दिरों तक में गंगा-मूर्ति के उपयोग की विशेषताओं को नीचे दिया जाता है —

(१) आरम्भ में द्वार के दोनों ओर मकरवाहिनी गंगा की ही मूर्ति एक ही रूप की बनाई जाती थी ⁂ (देखिए उदयगिरि-गुहाद्वार तथा बाग-गुहाद्वार)।

(२) गंगा की यह मकरवाहिनी मूर्ति प्रारम्भ में द्वार की चौखट के दोनों बाजुओं के ऊपर की ओर बनाई जाती थी।

---

* जायसवाल अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ ११५।

† अंग्रेजी शब्द 'मोटिफ' के अर्थ में रायकृष्णदास ने अपनी पुस्तक भारतीय मूर्तिकला इस शब्द का प्रयोग में किया है। उसी अर्थ में हमने इस शब्द का प्रयोग किया है।

‡ जायसवाल अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ ४०।

⁑ नागों की शिव और गंगा भक्ति के प्रमाण में नीचे लिखा अभिलेख उद्धृत करना समीचीन होगा—
"अंसभारसन्निवेशितशिवलिंगोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवंशानाम् पराक्रम अधिगतभागीरथी-अमल-जल मूर्द्धाभिषिक्तानाम् दशाश्वमेध-अवभृथस्नातानाम भारशिवानाम।"
"अर्थात, उन भारशिवों का, जिनके राजवंश का आरम्भ इस प्रकार हुआ था कि उन्होंने शिवलिंग को अपने कंधे पर रखकर शिव को परितुष्ट किया था, वे भारशिव जिनका राज्याभिषेक उस भागीरथी के पवित्र जल से हुआ था जिसे उन्होंने अपने पराक्रम से प्राप्त किया था—वे भारशिव जिन्होंने दस अश्वमेध यज्ञ करके अवभृथ स्नान किया था।"

⁂ स्मिथ ने अपने 'हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन' के पृष्ठ ७९ पर लिखा है— 'At Udayagiri, on the doorway of the Chandragupta Cave excavated in A D 401—2, the goddesses are represented without their vehicles' यह कथन सत्य नहीं है। उदयगिरि में जहाँ भी द्वार से दोनों ओर इन देवियों की मूर्ति है, वहाँ उनका वाहन मकर है।

(३) गंगा की मूर्ति की बनावट मे यह विशेषता रहती है कि गंगा किसी वृक्ष (सफल आम्र) की डाली पकड़े दिखाई गई है।

(४) आगे चलकर यह दोनों ओर की मूर्तियाँ बाजुओं के नीचे की ओर आगईं और एक ओर मकरवाहिनी गंगा और दूसरी ओर कूर्मवाहिनी यमुना बन गईं। यह पिछले गुप्तकाल मे दिखाई दिया है। (देखिए-मन्दसौर के शिव-मन्दिर के द्वार का प्रस्तर—'श्रवण की कवाड़')।

(५) प्रारम्भ में यह केवल शिव-मन्दिरों मे ही प्राप्त है।

ऐतिहासिक क्रम में गंगा के समान मूर्तियों की खोज करते समय भरहुत एवं मथुरा की वृक्षकाएँ तथा यक्षिणियों की ओर दृष्टि आकृष्ट होती है। परन्तु मन्दिर-के द्वार के बाजुओ के रूप मे इसकी स्थिति एव आकृति की ठीक समानता साँची स्तूप के उत्तरी एव पूर्वी तोरण द्वारों के दोनों ओर के स्तंभों के और नीचे की बडेरी के मिलने के कोने मे बाहरी ओर स्थित स्त्री मूर्तियो से है। ठीक उदयगिरि अथवा बाघ की मकरवाहिनी मूर्तियों के समान इनकी स्थिति है। नागकाल के हिन्दू धर्मावलम्बी कलाकारों ने जब शिव-मन्दिरो के द्वार बनाए होंगे तब साँची का यह बौद्ध अभिप्राय उनकी आँखों में झूल रहा होगा। नागों ने गंगा को विशेप आदर दिया, अतः उन्होंने इन तोरणों की सुन्दर कलाकृतियों के साँचे मे गंगा की मूर्ति ढालदी और ठीक उसी स्थान पर जड़दी जहाँ इन तोरणों मे ये यक्षणियाँ थी (अर्थात् द्वारो के ऊपर के भाग मे)। प्रारम्भ मे दोनों ओर एकसी आकृति की गंगा-मूर्ति होना भी इसी स्थापना की पुष्टि करता है। साँची के तोरण द्वार के दोनो ओर की आकृतियाँ समान है। यह इस बौद्ध अभिप्राय का ठीक हिन्दू अनुवाद है। साँची के तोरणों की यक्षणियो में धार्मिक महत्त्व एवं सौन्दर्यवर्धन के उपयोग के साथ साथ बडेरियों कोस हारा देने का स्थापत्य सम्बन्धी 'तोड़ो' के रूप में भी उपयोग है; परन्तु इन गंगा-मूर्तियो का यह उपयोग नही है क्योकि वे तो ठोस द्वारो के अंग है।

समय पाकर आगे जब ये देवियाँ द्वार-स्तंभ के ऊपर की ओर से नीचे आईं तो इन्होने गंगा और यमुना के पौराणिक रूप धारण किए और शिव-मन्दिर के द्वार की पवित्रता की रक्षिकाएँ बनी। ऊपर के वृक्ष की आकृति भी पौराणिक रूप से मेल न खाने के कारण चली गई। यह स्मरणीय है कि गंगा और यमुना की पृथक् पृथक् वाहनो पर की कल्पना के सर्वं प्रथम दर्शन उदयगिरि की वराह मूर्ति के दोनों ओर होते है, जहाँ वे अपने अपने वाहन मकर और कूर्म पर दिखलाई गई है। यही से स्फूर्ति लेकर द्वार की मकरवाहिनी देवियाँ गंगा और यमुना बन गईं और इसका प्राचीन रूप उत्तर-गुप्तकालीन मन्दसौर की यमुना की मूर्ति है।

ताड़—नागों को महाभारत मे 'ताडध्वज' कहा है। इनका यह राजचिह्न इनकी मुद्राओ पर भी मिलता है।* जानखट मे प्राप्त मन्दिरों के अवशेष नागकालीन है जैसाकि वहाँ प्राप्त वीरसेन नाग के अभिलेख से सिद्ध है, इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। वहाँ पर ताड की आकृति का अलंकरण भी मिला है। नागो की पहली राजधानी विदिशा एवं पश्चात् की राजधानी पद्मावती मे ताड़-स्तम्भशीर्ष प्राप्त हुए है। ये स्तम्भ नागो ने या तो शिवमन्दिरो के सामने स्थापित किए होगे या इन 'ताड़ध्वजो' के आवास के सामने ये बने होगे। विदिशा और पद्मावती के ताड़-स्तम्भ-शीर्षों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि विदिशा के ताड़शीर्षो की बनावट अधिक सरल है अतएव ये पूर्वकालीन होगे और पद्मावती का ताड़- स्तम्भ-शीर्ष अधिक सश्लिष्ट है इसलिए यह बाद का है। यह बात इतिहास के भी अनुकूल है क्योंकि विदिशा पहली राजधानी है ओर पद्मावती बाद की। स्तम्भ के शीर्ष पर वृक्ष बनाने की कल्पना शुंगों के काल में भी 'कल्पवृक्ष-स्तम्भ-शीर्ष' के रूप मे देख चुके हैं। ये ताड़-स्तम्भशीर्ष उसी प्रकार की कल्पना के उदाहरण है।

---

* जायसवालः अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ ४०।

नाग छत्र—नागो की मुद्राओं में नाग-छत्र का चिह्न बहुत आया है।* वीरसेन नाग के सिक्कों पर नाग की आकृति मिलती है। नागपूजा भारत में बहुत पुरानी है। नागों ने सर्प को अपने राजकीय चिह्नों में सम्मिलित किया। नाग राजाओं की मूर्तियों में भी इस नाग-छत्र ने स्थान पाया (देखिए—पवाया के नाग राजा की मूर्ति)।

नागों के काल में प्रसिद्धि प्राप्त इस विशेष अलंकरण अथवा अभिप्रायों के वर्णन के पश्चात् अब हम नागों के धर्म को लेते हैं, क्योंकि उसी से प्रेरित होकर नागों ने अपने मन्दिर बनवाए होंगे। नागों के विषय में पहले उद्धृत ताम्रपत्र से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हैं —

(१) भारशिव (नाग) अपने कंधों पर शिवलिंग रखे रहते थे अर्थात् वे परमशैव थे।

(२) उनका राज्याभिषेक उस भागीरथी के पवित्र जल से हुआ था जिसे उन्होंने अपने पराक्रम से प्राप्त किया था। (इसमें उस कारण पर भी प्रकाश पड़ता है जिससे प्रेरित होकर नागों ने गंगा को राजचिह्न बनाया।)

(३) भारशिवों ने दस अश्वमेध यज्ञ करके अवभृथ स्नान किया था, अर्थात् उन्होंने शुंगों की यज्ञों की परम्परा को प्रगति दी।

इन नागों ने भी जो मन्दिर बनवाए होंगे वे शिव-मन्दिर ही होंगे यह कल्पना सहज ही की जा सकती है। अब देखना यह है कि इस राज्य में नागकालीन शिवमन्दिरों के अवशेष कहाँ कहाँ मिलते हैं? इनके लिए भी हमें तत्कालीन नगरों के खण्डहर ढूँढने होंगे। पद्मावती में अभी जितनी चाहिए उतनी खुदाई नहीं हुई है, फिर भी वहाँ नागकालीन शिव-मन्दिर होने के प्रमाण मिलते हैं। मालतीमाधव में वर्णित 'स्वर्ण विन्दु' महादेव का स्थान भले ही नागकाल का हो परन्तु अब तक उस चबूतरे के इतने संस्करण हो चुके हैं कि उस पर विचार करना व्यर्थ है। वहाँ पर प्राप्त मानवाकार नन्दी की मूर्ति वहाँ के शिव-मन्दिर का स्पष्ट प्रमाण है। इसका सब शरीर मनुष्य का है केवल सिर बैल का सा है तथा यह चारों ओर कोर कर बनी हुई है। यह नन्दी निश्चित ही नागकालीन है। वायुपुराण में नागों को वृष अर्थात शिव का साँड अथवा नन्दी कहा है।* नागों के सिक्कों पर भी वृष को स्थान मिला है। (देखिए, पृष्ठ ६४६)। अतएव इस मूर्ति को देखकर यही कल्पना होती है कि अपने इष्टदेव शिव के सामने यह नागराज के वृषत्व के प्रतीक रूप से खड़ी की गई थी। इस मध्यम आकार की मूर्ति की गढ़न और अलंकरण अत्यन्त सुन्दर है। परन्तु इस नन्दी के अतिरिक्त नागकालीन शिवमन्दिर के अवशेष पद्मावती में अधिक नहीं मिले हैं।

विदिशा में शिव मन्दिर के अस्तित्व के विषय में यहाँ कुछ विस्तार से लिखना पड़ेगा। बेसनगर में प्राप्त और अब बोस्टन के संग्रहालय में स्थित गंगा की मूर्ति किसी शिव-मन्दिर के द्वार के खंभे के ऊपर सुशोभित होगी। यह शिव-मन्दिर बेसनगर की बस्ती में न होकर उदयगिरि में था, जहाँ उस मन्दिर के द्वार में से यह मूर्ति बेसनगर के एक साधु के कब्जे में आई।‡ परन्तु मेरी स्थापना यह नहीं है कि यह मूर्ति उदयगिरि के किसी नागकालीन शिव-मन्दिर की है। यह तो प्रारंभिक गुप्तकालीन मूर्ति है। यहाँ यही कहना है कि उदयगिरि पर एक या एकाधिक गुहाएँ नागकालीन हैं।

---

* जायसवाल अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ १८।

‡ कनिं०, आ० स० रि० भाग १०, पृष्ठ ४१, पर कनिंघम ने लिखा है—' Close by, in the house of a Sadhu, were found a small lion of the Gupta period and a large figure of Ganges standing on her Crocodile, which must certainly have belonged to the Gupta age" ये दोनों मूर्तियाँ श्री भण्डारकर महोदय बेसनगर के उत्खनन के समय अपने साथ लेते गए। गंगा की मूर्ति तो बोस्टन संग्रहालय में पहुँची और सिंह की मूर्ति का पता नहीं उन्होंने क्या किया।

हेलियोदोर स्तभ खामवावा , वेसनगर।

स्तभ-शीर्ष, वेसनगर ।

मिट्टी के पात्र उज्जैन।

[illegible] की वस्तुएं, उज्जैन।

बाग की मकरवाहिनी मूर्ति।

ताड-स्तम्भशीर्ष, बेसनगर।
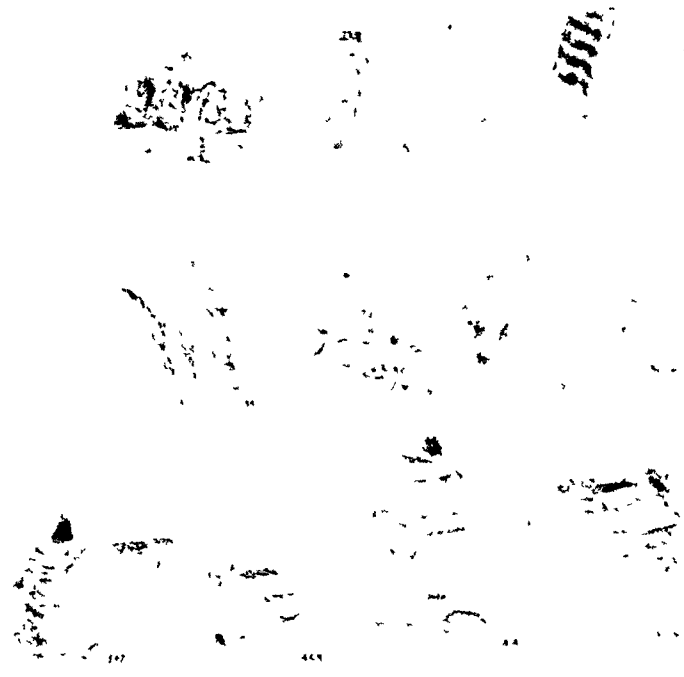
ताड-स्तम्भशीर्ष, पवाया।

नदी, पवाया।

नदी, पवाया।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

उदयगिरि का अध्ययन जैसा चाहिए वैसा नहीं हुआ। वास्तव में इस पहाड़ी पर मौर्य, शुंग, नाग, प्रारंभिक गुप्त तथा पिछले गुप्तकालीन स्थापत्य तथा मूर्तिकला के उदाहरण मौजूद हैं। पहले तो इसकी ओर विद्वानों ने दृष्टि डाली ही नहीं और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा कुछ अन्य गुप्तकालीन अभिलेखों के कारण ध्यान दिया भी तो इसे गुप्तकालीन कहकर छोड़ दिया।

मेरा विचार यह है कि कम से कम वीणागुहा (कनिंघम की गुहा नं० ३) गुप्तों के पहले की है। इसके भीतर एक एक-मुख शिवलिंग स्थापित है। द्रविड़ों की लिंगपूजा ने आर्यों के 'शिश्ण' पूजा के विरोध को कब जीत लिया, यह बतलाना हमारा विषय नही है, परन्तु गाधार एव मथुरा में बुद्ध की जो ध्यान-मूर्तियाँ बनीं उनमे तथा तत्कालीन शिवमूर्तियों में बहुत अधिक समानता है, यह स्पष्ट है। यह प्रभाव भी धीरे धीरे मिटा और शिव का पौराणिक रूप धीरे धीरे बढ़ा है। इस दृष्टि से इस शिवलिंग पर बनी मुखाकृति को देखा जाए तो शिव की पौराणिक कल्पना का इसमें केवल एक लक्षण— माथे पर तीसरे नेत्र का सा चिह्न है। जटाओं मे चन्द्रमा का चिह्न तक नही है। यदि इसकी नागकालीन तथा गुप्त-कालीन एकमुख लिंगो से तुलना की जाए तो इस मूर्ति की उन सबसे प्राचीनता स्वतः सिद्ध होती है। भूमरा तथा खोह के एकमुख शिवलिंगों से इसकी तुलना करने पर ज्ञात होता है कि बनावट की समानता होते हुए भी वीणा गुहा का शिवलिंग उन सबसे कम रूढ़िगत है। डॉ० जायसवाल ने भूमरा तथा खोह की इन मूर्तियों को भारशिव नागकालीन माना है। उदयगिरि की अन्य गुहाओ में स्थित शिवलिंगों से तुलना करने पर भी यह सबसे प्राचीन ज्ञात होता है। इस एकमुखलिंग के मुखकी सौम्य-शान्त मुद्रा अत्यन्त आकर्षक है। जटा सिर के ऊपर जूड़े के रूप मे बँधी है, कुछ बाल गले पर सामने की ओर लटक रहे है। गले में एक मणियों का कण्ठा पडा है।

बेसनगर मे मिले, और अब गूजरीमहल संग्रहालय मे स्थित, दो शिवलिंग भी प्रारंभिक नागकालीन ज्ञात होते है। इनके कानों के भारी आभरण तथा जटाओ के बाँधने का प्रकार इन्हें भरहुत आदि की शुंग-कुषाणकालीन मूर्तियों की परम्परा मे रखते है। इनमे भी शिव के कोई पौराणिक अलंकार अथवा चिह्न नहीं है।

इन एकमुखलिंगो के अतिरिक्त मन्दसौर मे प्राप्त हुआ अष्टमुख-शिवलिंग भी पूर्व-गुप्तकालीन है। यह अष्ट-मुख शिवलिंग शिव-मूर्तिनिर्माण के इतिहास मे अद्वितीय है। प्राचीन अथवा अर्वाचीन शिवलिंगों मे एकमुख, त्रिमुख, चतुर्मुख, पंचमुख, शिवलिंग बहुत पाए जाते है, परन्तु अष्टमुख शिवलिंग अब तक कही नही मिला है। ग्वालियर पुरातत्त्व-विभाग के अधिकारियों ने मन्दसौर (प्राचीन दशपुर) के पास एक नदी के किनारे पानी में धोबियो को इस विशाल-प्रस्तर-मूर्ति पर कपड़े धोते पाया और इसे अपने अधिकार मे लिया। इसका व्यास ४ फीट से अधिक ही है और जब यह पूरी होगी तो प्रायः ७ या ८ फीट ऊँची होगी। इसको मन्दसौर के कुछ शिव-भक्तों(?)ने विभाग से छीन लिया और उसके प्राचीन मुखों को छीलकर नवीन मुख बना डाले। यदि पुरातत्त्व विभाग में इसका चित्र सुरक्षित न होता तो प्राचीन मूर्तिकला के विद्यार्थी के लिए यह एक दुखद कहानी ही रह जाती। इस शिवलिंग पर अत्यन्त भव्य शिव के त्रिनेत्रयुक्त अष्टमुख बने हुए है। जो मुख चित्र मे दिखाई देते है वे अत्यन्त सौम्य एवं सुन्दर है। जटाओ की बनावट तथा कानों का आभरण पूर्व-गुप्तकालीन है।

यद्यपि अष्टमुख शिव की कोई अन्य मूर्ति नही मिली है फिर भी वह है शास्त्र सम्मत ही। शिव के आठ नाम होने का उल्लेख शतपथ एवं कौशीतकी ब्राह्मणों मे है। वहाँ शिव को उषा का पुत्र बतलाया गया है और उनको प्रजापति द्वारा आठ नाम देने का उल्लेख है। इनमें आठ नाम रुद्र, शर्व, उग्र, अशनि, भव, पशुपति, महादेव और ईशाण दिए हुए है। पहले चार नाम शिव की संहार-शक्ति के प्रतीक है और पिछले चार कल्याणकारी वृत्ति के। वायुपुराण मे भी शिव के अष्टनामो [illegible] ा उल्लेख है।

दशपुर (मन्दसौर) का उल्लेख उषवदात के नासिक के शिलालेख* मे है। वहाँ पर उषवदात ने चतुःशाल वसध (सराय) बनवाई थी। उषवदात उज्जैन पर अधिकार करनेवाले महाक्षत्रप नहपान (ई० पू० ८२–७७) का

* ए० इ० भाग ८, पृष्ठ ७८।

दामाद था। तात्पर्य यह कि उस प्राचीन काल में भी दशपुर (मन्दसौर) प्रख्यात था। नागो के आराध्यदेव शिव की यह अद्वितीय मूर्ति दशपुर में बनी हो, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं।

यह भी अनुमान किया जा सकता है कि दशपुर का यह अष्टमूर्ति शिव-मन्दिर उस प्राचीनकाल में अत्यधिक प्रसिद्ध था। कालिदास ने इस अष्टमूर्ति शिव से अत्यधिक परिचय होने का प्रमाण अपने ग्रंथो में दिया है। अपने पूर्वतम नाटक मालविकाग्निमित्र के मगलाचरण में वे लिखते है —

'अष्टाभियस्य कृत्स्न जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमान

आगे अभिज्ञान शाकुन्तल के मगलाचरण में तो महाकवि ने शिव की इस अष्टमूर्ति का अर्थ और भी स्पष्ट कर दिया है —

> या सृष्टि स्रष्टुराद्या वहति विधिहुत या हविर्या च होत्री।
> ये द्वे काल विधत्त श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्॥
> यामाहु सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिन प्राणवन्त ।
> प्रत्यक्षाभि प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीश॥

काव्य में हमें रघुवश में इन अष्टमूर्ति शिव का उल्लेख मिलता है। रघुवश के सर्ग २ के ३५वें श्लोक में राजा दिलीप से सिंह कहता है —

> कैलासगौर वृषमारुरुक्षो पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।
> अवेहि मा किंकरमष्टमूर्ते कुम्भोदर नाम निकुम्भमित्रम्॥

कालिदास को यदि ई० पू० ५७ के मालवगणाधिपति विक्रमादित्य का समकालीन माना जाए तब तो यह स्पष्ट होता है कि मालवगण की सभा में अभिनय किए जानेवाले अभिज्ञान शाकुन्तल में अष्टमूर्ति के उल्लेख का कारण यह प्रसिद्ध अष्टमूर्ति शिव का मन्दिर होगा। यदि नाटककार और काव्यकार कालिदास दो माने जाएँ तब भी इस स्थापना की पुष्टि ही होती है। ई० पू० का यह शिव-मन्दिर फिर अनेक शताब्दियों तक प्रसिद्ध रहा, यह मानना पडेगा। जिन्होंने काव्यकार एव नाटककार कालिदास को गुप्तकालीन सिद्ध माना है उन विद्वानों के समक्ष भी इस स्थापना पर कोई आघात नहीं पहुँचता कि यह शिवलिंग पूर्व गुप्तकालीन है। वह गुप्तकाल में भी प्रसिद्ध रहा, और अपने मेघ को दशपुर होकर ले जानेवाले कालिदास को इन अष्टमूर्ति के प्रति उतनी ही श्रद्धा थी जितनी महाकाल पर।

उदयगिरि में एक नीम के नीचे एक नन्दी की मूर्ति मिली है, जो अब भेलसा सग्रहालय में रखी हुई है। इसकी बनावट पूर्व गुप्तकालीन है। यह भी उदयगिरि के किसी नागकालीन शिव-मन्दिर का प्रमाण है।

उदयगिरि में नागकालीन अन्य कौन कौनसी मूर्तियाँ है, यह अभी पूर्ण रूप से निश्चित होना है।

शिवनन्दी को कनिष्क ने जीत लिया था और बहुत समय तक पद्मावती पर कुषाणों का अधिकार रहा था। कुषाण कला तथा इस स्थान पर प्राप्त कुछ मूर्तियो में समानता हो, यह बहुत सम्भव है। उदाहरण के लिए मथुरा सग्रहालय में स्थित छारगाँव में प्राप्त नाग की मूर्ति की तुलना पवाया में प्राप्त नागराज की मूर्ति से की जा सकती है। दुर्भाग्य से पवाया की नागराज की मूर्ति बहुत अधिक टूटी हुई है, फिर भी खडे होने की रीति, कमर पर बँधे हुए वस्त्र की गाँठ लगाने की रीति तथा सिर के ऊपर जानेवाले अहिछत्र में बहुत अधिक समानता है। मथुरा की इस मूर्ति पर हुविष्क के राज्यकाल के चालीसवें वर्ष के उल्लेखयुक्त अभिलेख है। वह ईसवी सन् ११८ की बनी हुई है।

वर्तमान गिर्द सूबात के कार्यालय के पास सडक के किनारे एक झोपडी में मथुरा के लाल पत्थर की एक मानवाकार बुद्ध-मूर्ति का धड प्राप्त हुआ है। ग्वालियर में ऐसा पत्थर कहीं नहीं मिलता और न यह मूर्ति ही किसी मन्दिर

आदि ऐसे स्थल पर थी कि जिसे उसका प्राचीन स्थल माना जा सके। कुषाणकाल की यह मूर्ति अपने लाल पत्थर के अतिरिक्त वस्त्र की धारियों के कारण अपने आपको गांधार और मथुरा पर राज्य करनेवाले कुषाण राजाओं के कारीगरो की कृति घोषित करती है। ज्ञात होता है कि ग्वालियर मे यह प्रवासी मूर्ति-खण्ड बाहर से आया है।

नागकाल की हमारी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मूर्ति पवाया में प्राप्त मणिभद्र यक्ष की मूर्ति है। मूर्तिकला की दृष्टि से तो यह प्राग्-मौर्यकालीन, विशालकाय एवं भद्दे पैरों की मूर्तियों की परम्परा के अविशृंखल रूप से चलने का प्रमाण प्रस्तुत करती है और ऐतिहासिक दृष्टि से अपनी चरण-चौकी के लेख द्वारा मूर्तिकला के इतिहास में एक सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करती है। इसमे लिखा है कि इस मूर्ति का निर्माण मणिभद्र पूजक गोष्ठी ने स्वामिन् शिवनन्दी के राज्यकाल के चौथे वर्ष में कराया था।

मातृका, नाग, यक्ष आदि की पूजा का मूल श्री आनन्द कुमारस्वामी द्राविड़ सभ्यता में मानते है।* परन्तु यह तो निश्चित है कि बौद्धों मे यक्षपूजा का बहुत प्रचार था। साँची, भरहुत आदि बौद्ध स्तूप की वाड़ों और तोरणों पर अनेक यक्ष और यक्षणियों की मूर्तियाँ बनी है, परन्तु वे पारिषदों के रूप मे ही है। स्वतंत्र रूप से भी यक्षों की पूजा होती रही है। प्राचीन पद्मावती में परमशैव नागों की प्रजा इन यक्षों की पूजा कर रही थी, यह इस मूर्ति से प्रमाणित है। यह मूर्ति मानवाकार से कुछ बड़ी है। बनावट यद्यपि बेडौल है फिर भी प्रभावशाली है। मूर्ति की बनावट मे कोई अलौकिकता नही है। दो हाथ है जिनमे एक मे सम्भवतः थैली है, वह कोहनी से टूट गया है। थैलीवाले बाएँ हाथ के मूल में कंधे पर तीन बार लिपटा हुआ मोटा दुपट्टा है, गले मे जनेऊ है। बड़ा मोटा मोतियों का कण्ठा पीछे मोटे मोटे फुन्दने से बँधा हुआ है। ठोड़ी के ऊपर मुह टूट गया है, फिर भी ठोड़ी के नीचे मुटाई के कारण दुलेट स्पष्ट दिखाई देती है। बड़े पेट के नीचे घुटने तक आनेवाली धोती कुछ बेडौल ढंग से बँधी हुई है। सामने की पट्टी और पीछे की काँछ पंजों तक लटकती है। पैर सूजे से भद्दे है। इस मूर्ति मे सुकुमार सौन्दर्य चाहे न हो परन्तु विशालता और प्रभावोत्पादन की शक्ति है तथा यह निम्न मध्यमवर्ग की पूजा की मूर्ति ज्ञात होती है।

बेसनगर का कुवेर अधिक सुन्दर एवं सुडौल है। यह नागकाल की अन्तिम सीमा को छूता हुआ ज्ञात होता है। इसके बाएँ हाथ मे मुद्राओं की बनी थैली है, दायाँ टूट गया है और नीचे घुटनो से पैर भी टूट गए है। सम्भव है यह मूर्ति प्रारंभिक गुप्तकाल की हो। तेरही की तथा कुछ अन्य स्थानो की गूजरीमहल संग्रहालय मे सुरक्षित बड़े पेट की सुरापायी कुवेर की मूर्तियाँ इसी परम्परा की है। इनमे कुषाण-प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित है। मथुरा सग्रहालय मे रखी सुरापायी कुबेर की मूर्ति की तुलना करने पर ग्वालियर सग्रहालय की सुरापायी कुवेर की बनावट की समानता स्पष्ट होगी।

भेलसे मे एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति-खण्ड प्राप्त हुआ है। आजकल लोग उसे 'सीतला माता' कहकर पूज रहे है। परन्तु यह यक्ष और यक्षणियो की मूर्ति ज्ञात होती है। एक ओर यक्ष है और दूसरी ओर उसकी पीठ से पीठ मिलाए यक्षिणी है। यह मूर्ति-खण्ड मूल मे किसी वाड़ या और किसी ऐसी ही जगह लगी होगी, जैसा कि उसके नीचे की ठल्ली से ज्ञात है। यह मूर्ति भरहुत की परम्परा की है और बेसनगर के किसी नागकालीन अथवा कुछ पूर्व के निर्माण का भाग होगी। यक्षिणी हाथो मे कोहनी तक तथा पैरों मे घुटने तक कड़े पहने है। कमर पर करधनी है। मूर्ति प्रायः नग्न है, माथे पर अवश्य कोई कपड़ासा बँधा हुआ है। बायाँ हाथ कमर पर रखा है, दाएँ मे कमल लिए है। गले मे स्तनो के बीच मे होता हुआ हार पड़ा है। कानो के आभरण अत्यन्त भारी है। एक दुपट्टा हाथो मे पड़ा है। दूसरी ओर पुरुष की शिरोभूषा और कानो के आभरण स्त्री से प्राय. मिलते जुलते है। गले मे बहुत चौडा कण्ठा है। हाथो में भी बहुत ऊपर तक गहने पहने है। मणिभद्र यक्ष की मूर्ति जैसी धोती बँधी है। यह मूर्ति दाएँ हाथ मे कमल का फूल लिए है और बायाँ हाथ कमर पर रखा है।

इस काल की मूर्तियों मे हमे साधारण सामाजिक जीवन का अंकन करनेवाली मूर्तियाँ नही मिली है, अतएव तत्कालीन वेश-भूषा आदि पर हम अधिक प्रकाश नही डाल सकते। परन्तु इन मूर्तियों के सहारे हम यह तो कह ही सकते है

---

* हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृष्ठ ५।

कि शैव राजाओं के राज्यकाल में प्रजा अपने मन के इष्टदेव को पूजने को स्वतन्त्र थी, हिंदू धर्म का पुनरुत्थान हो रहा था और मूर्तिकला गुप्त एवं प्रारंभिक मध्यकालीन श्रेष्ठता की ओर बड़े वेग से प्रगति कर रही थी। नागराजाओं ने जहाँ उस कला के लिए भूमि तैयार की वहाँ प्रजा ने प्राग्-मौर्यकालीन लोककला की परम्परा की कृतियाँ भी निर्मित कराईं।

गुप्त कालीन (३२० ई० से ६०० ई०)—ईसा की चौथी शताब्दी के प्रारंभ में साकेत प्रयाग के आसपास श्रीगुप्त नामक एक छोटासा राजा हुआ। उसके पुत्र का नाम था घटोत्कच। घटोत्कच का पुत्र चन्द्र अपने आपको चन्द्रगुप्त कहता था। उसने प्रसिद्ध लिच्छवि गण-तन्त्र की कन्या कुमारदेवी से विवाह करके गुप्तवंश के उस महान् साम्राज्य की नींव डाली जिसके अधीन प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष हो गया और भारतीय संस्कृति तथा कला अपने चरम विकास को पहुँची। चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने लिच्छवियों की सहायता से पाटलिपुत्र को जीत लिया, परन्तु उसे पीछे मगध छोड़ देना पड़ा। उसके दिग्विजयी पुत्र समुद्रगुप्त ने पहले हल्ले में ही मगध और नागों के राज्य को अपने अधीन कर लिया और फिर सम्पूर्ण भारत को अपनी विजय-वाहिनी के वशीभूत कर एवं 'शक-मुरुडों' को पराभूत कर अश्वमेध यज्ञ करके 'श्रीविक्रम*' एवं 'पराक्रमाङ्क' विरुद ग्रहण किए। इस महान् विजेता का 'काव्य कविमति के विभव का उत्सरण' करता था और वह संगीत-कला में तुंबुरु, नारद आदि को भी लज्जित करता था।† इस प्रकार उसके समय से ही कला एवं साहित्य को गुप्तों द्वारा प्रश्रय मिलना प्रारंभ हुआ। अपनी कन्या प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक रुद्रसेन से करके इन्होंने गुप्त साम्राज्य का राजनीतिक महत्त्व ही नहीं बढ़ाया, साथ ही वाकाटकों के सांस्कृतिक वैभव से भी नाता जोड़ लिया।

साम्राज्य स्थापन और विदेशी शकों के उन्मूलन का शेष कार्य किया चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने, और साढ़े चारसौ वर्ष पूर्व हुए विक्रमादित्य के पौरुष के प्रतीक 'विक्रमादित्य' नाम को विरुद के रूप में ग्रहण किया। विदिशा के पास डेरा डालकर उसने पश्चिमी क्षत्रपों का भी उन्मूलन किया। उस समय चन्द्रगुप्त वहाँ पृथ्वी को जीतने के उद्देश्य से आया था, ऐसा उदयगिरि के शाब वीरसेन के गुहा-लेख से प्रमाणित है।‡ इस प्रकार हमारे इस प्रदेश के राजा गणपति नाग आदि को जीतकर समुद्रगुप्त ने जो सम्बन्ध स्थापित किया था, वह दृढ़तर हो गया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने जो विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया उसका वर्णन महरौली लौह-स्तम्भ की भाषा में नीचे दिया जाता है —

"वंगदेश में एकत्रित होकर सामना करनेवाले शत्रुओं को रण में (अपनी) छाती से मारकर हटाते हुए जिसके खड्ग से भुजा पर कीर्ति लिखी गई, युद्ध में सिन्धु के सात मुखों को उल्लंघन कर जिसने वाह्लीकों को जीता, जिसके पराक्रम के पवनों से दक्षिण समुद्र भी अब तक सुवासित हो रहा है।"§

इस महान् साम्राज्य का हृदय था अवन्ति और विदिशा के आसपास का प्रदेश। दशपुर में चन्द्रगुप्त का स्थानीय शासक नरवर्मन् था जो अपने आपको 'सिंहविक्रमगामिन्' लिखता है और इस प्रकार अपने आपको चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सेवक घोषित करता है। श्योपुर जिले के हासलपुर ग्राम में किसी नागवर्मन के राज्य उल्लेख है जो गुप्तों का ही माण्डलिक होगा।¶

इस साम्राज्य का पूर्ण उपभोग और अत्यन्त विकसित प्रणाली से शासन किया सम्राट् कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य ने। कुमारगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य डगमगा उठा। उत्तर-पश्चिम से अब हूणों के सैन्य-समुद्र के थपेड़े लगना प्रारंभ हुए और मालव प्रदेश में 'पुष्यमित्र' नाम गणतन्त्र मगध-साम्राज्य का विरोधी हो गया। ई० सन् ४५५ में स्कन्दगुप्त

---

* विक्रम स्मृति-ग्रंथ, पृष्ठ ४७-४८ पाद टिप्पणी।

† प्रयाग स्तम्भ लेख, फ्लीट, गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ६।

‡ फ्लीट गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ३५।

§ फ्लीट गुप्त अभिलेख, पृष्ठ १३९।

¶ देखिए मेरी पुस्तक 'ग्वालियर राज्य के अभिलेख'।

ने इन दोनों संकटों पर विजय पाई और गुप्तों की 'विचलित कुललक्ष्मी' का 'स्तम्भन'* करके पुनः विक्रमादित्य विरुद धारण किया।

परन्तु यह हूणो का समुद्र फिर उमड़ पड़ा और गुप्त-साम्राज्य उसके प्रवाह मे बह गया। स्कन्दगुप्त के पश्चात् ग्वालियर-राज्य की कला के इस इतिहास मे गुप्तवंश के 'बुधगुप्त' उल्लेखनीय है, सम्भवतः जिनका माण्डलिक नरेश माहिष्मती का सुबन्धु था जिसने दासिलकपल्ली नामक ग्राम 'कलयन विहार' (बाग-गुहा-समूह) को दान दिया था।†।

बुधगुप्त के पश्चात् ही तोरमाण हूण ने उत्तर-पश्चिम के गांधार-राज्य से गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया और मालवा उसके अधिकार मे चला गया। तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल का राज्य ग्वालियर-गढ़ तक था, इसका प्रमाण किसी मात्रिचेट द्वारा बनवाए ग्वालियर-गढ़ के सूर्य-मन्दिर के शिलालेख से मिलता है।‡ मिहिरकुल शैव था। उसने बुद्ध धर्म का अत्यधिक विरोध करके उसका उन्मूलन किया। उस आक्रमणकारी हूण पर यद्यपि भानुगुप्त बालादित्य ने विजय प्राप्त करली, फिर भी उसने उसका वध नही किया और उसे काश्मीर, गान्धार आदि पर अत्याचार करने के लिए छोड़ दिया।

गुप्त सम्राटों की इस कमजोरी से त्राण पाने के लिए 'जनता के नेता' मालव-वीर यशोधर्मन्-विष्णुवर्धन ने तलवार उठाई। उसने आततायी हूणों का पूर्णतः विनाश कर दिया और 'लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से महेन्द्रपर्वत (उड़ीसा) तक तथा हिमालय से पश्चिमी समुद्र तक एव उन प्रदेशों पर, जिन पर गुप्तों और हूणो का भी अधिकार न हुआ था, अपने अधिकार मे कर लिए और केवल पशुपति के चरणो मे सिर झुकानेवाले मिहिरकुल से अपने पादपद्मो की अर्चा कराई।‡‡ इन विजय-गाथाओ से युक्त स्तम्भ आज भी सौदनी मे (मन्दसौर के पास) पड़े है।

गुप्तकालीन मूर्तिकला का विवेचन करते समय यह बात स्पष्ट दिखाई देती है कि यह प्रदेश गुप्त-साम्राज्य मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है, अतएव गुप्तकला के अत्यन्त श्रेष्ठ उदाहरण प्रचुर मात्रा मे मिलने के साथ ही वह अत्यधिक विस्तृत सीमा मे मिलते है। उदयगिरि, बेसनगर (विदिशा), मन्दसौर (दशपुर), बडोह-पठारी (वटोदक), तुमेन (तुम्बवन), बाग (कलयन), पवाया (पद्मावती), नाम प्राचीन अभिलेखो मे प्रसिद्ध है और साथ ही काकपुर†, महुआ*, चूर्ली‡, मकनगज§, पारौली (पाराशरग्राम) पढावली (धारौन) §, आदि अनेक स्थलो पर गुप्तकालीन मूर्तियाँ एवं मन्दिर प्राप्त हुए है।

गुप्त-सम्राट् प्राय. सभी 'परम भागवत' थे, परन्तु उनकी धार्मिक नीति इतनी उदार थी कि उनके अधीन बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त सभी मत विकास पा सके। यही कारण है कि इस काल मे प्रायः सभी सम्प्रदायों की सुन्दरतम मूर्तियाँ प्राप्त होती है। ऊपर लिखा जा चुका है कि गुप्त-सम्राट् कलाओ को आश्रय देते थे। इनके काल मे काव्य, संगीत, चित्र-कला, मूर्तिकला एव स्थापत्य सब का ही पूर्ण विकास हुआ। तत्कालीन महाकवियों के काव्यो मे भाषा का जो परिमार्जन एवं कल्पना की जो प्रशस्त उड़ान दिखाई देती है उसके दर्शन उत्कीर्णक की छैनी और चित्रकार की तूलिका मे भी होते है।

---

* फ्लीटः गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ५२।

† विक्रम-स्मृति-ग्रंथ, पृष्ठ ६४९।

‡ फ्लीटः गुप्त अभिलेख, पृष्ठ १६२।

‡‡ फ्लीटः गुप्त अभिलेख, पृष्ठ १४६।

† ग्वालियर पुरातत्त्व रिपोर्ट संवत् १९८८ पृष्ठ ६।

* वही, संवत् १९९१ पृष्ठ ५।

‡ वही, संवत् १९८६ पृष्ठ १४।

§ वही, संवत् १९८६ पृष्ठ १८-१९।

§ कनिंघम आ० स० ई० पृष्ठ १०५, १०७।
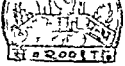
पर लकडी के मन्दिर बनाए जाते होंगे जिनमें प्रतिमाएं स्थापित रहती होंगी। पवाया में प्राप्त विष्णु-प्रतिमा इसी मन्दिर में स्थापित थी, ऐसा मेरा अनुमान है। सम्भव यह भी है कि यह प्रतिमा गुप्तकाल से कुछ पूर्व की हो। उदयगिरि की विष्णु प्रतिमाओं की अपेक्षा यह अधिक सरल है।

विष्णु के अवतारो में ग्वालियर राज्य में हमें गुप्तकालीन कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन (त्रिविक्रम सहित) की मूर्तियाँ मिली है। मीन, भृगुपति, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि अवतारो की गुप्तकालीन मूर्तियाँ इस राज्य मे नहीं मिली। इनमें से अनेक की तो विष्णु के अवतार के रूप में उस समय तक कल्पना ही नही हुई थी, शेष को मूर्तिकार ने उस समय तक अपनी छैनी का आधार नही बनाया था। यद्यपि पूर्व-मध्यकाल में बडोह में दशावतार मन्दिर की मूर्तियाँ गुप्त-कला की परम्परा में दशावतार को प्रस्तुत करती है।

कूर्मावतार का सम्बन्ध अमृत-मथन की कथा से है। अमृत-मथन का यह दृश्य उदयगिरि की गुहा न० १८ के द्वार के ऊपर है और दूसरा पवाया के द्वार के तोरण प्रस्तर पर अंकित है। कला की दृष्टि से इनमें दृष्टव्य कुछ भी नही है।

वराह अवतार का अकन उदयगिरि की गुहा न० ५ में किया गया है। यह लोकोत्तर सौन्दर्ययुक्त प्रतिमा गुप्तकला ही नही सम्पूर्ण भारतीय कला का अप्रतिम उदाहरण है। मूर्तिकला के सुन्दर उदाहरण के वर्णन में गिरा का नयन की और नयन को गिरा की सहायता की आवश्यकता होती है। इस नयन की तत्त्व की पूर्ति हम चित्र द्वारा करते है। परन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि उत्तम से उत्तम चित्र भी इस प्रतिमा के सौन्दर्य को, उसकी भव्यता एव सजीवता को शतांश भी अंकित नही कर सकता। और फिर कलाकार ने जो वातावरण मूर्ति के चारो ओर अंकित किया है, वह एक चित्र में आ भी नही सकता। अत यहाँ 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' की भावना सार्थक होती है।

यह विशाल मूर्ति लगभग बारह फीट ऊँची है। चतुर्भुज न होकर यह मूर्ति दो हाथो की है। सारा शरीर मानवाकार है केवल मुख वराह का है। दन्तकोटि पर पृथ्वी स्थित है। बायाँ हाथ बाएँ पैर के उठे हुए घुटने पर रखा है और दायाँ हाथ-कमर पर। पैर शेषनाग की कुण्डली पर स्थित है, जिसका सिर और हाथ मानवाकार है और जो इस विशाल प्रतिमा को हाथ जोडे हुए है। गले में विशाल वैजयन्ती माला है, हाथो मे कडे है और धोती की पटलियाँ लटक रही है। सारे शरीर की बनावट इतनी दृढता और ओज से पूर्ण है कि अग प्रत्यग से शक्ति और सजीवता फूटी पडती है। पृथ्वी स्त्री-आकृति की है। उसका मुख टूट गया है, परन्तु शेष सम्पूर्ण शरीर अखण्ड है जो मूर्तिकार के अनुपम सौन्दर्य-निर्माण का साक्षी है। पृथ्वी की तुलनात्मक लघुता जहाँ विष्णु के इस अवतार की महानता की द्योतक है वहाँ उसके शरीर की आकृति अपने आपको पूर्णत वराह के आश्रित कर देने का भाव व्यजित कर रही है। पृथ्वी के शरीर पर अलकार और वस्त्र अत्यन्त सूक्ष्म, परन्तु सुन्दर एव सुरुचिपूर्ण है।

पुराणो में वर्णन है कि सृष्टि के प्रारभ में भगवान् ने वराह का अवतार धारण कर पृथ्वी का सागर के गम्भीर गर्त्त से उद्धार किया था। इसी दृश्य का अकन यहाँ है। पृष्ठभूमि की लहरें और शेषनाग समुद्र का अस्तित्व प्रगट करते है। पृथ्वी के इस उद्धार पर सम्पूर्ण देव-सृष्टि आनन्द मना रही है। ब्रह्मा, शिव, यक्ष, किन्नर, राक्षस सभी इस महान वराह का स्तवन करते हुए तथा पृथ्वी के उद्धार के कारण आनन्द मनाते हुए दिखाए गए है। थोडी दूर पर इसी दृश्य से लगे हुए दाएँ और बाएँ दोनो ओर एक और दृश्य अंकित है। यद्यपि दोनो ओर एकसा ही दृश्य है, परन्तु बाई ओर का कुछ विशेषता लिए है। सबसे ऊपर कोई देवागना हाथ जोडे आकाश में उड रही है। उसके नीचे छह स्त्रियो का गीत, वाद्य और नृत्य युक्त दृश्य दिखाया गया है। मध्य में एक स्त्री नृत्य कर रही है, शेष सब वीणा, वेणु, मृदग, कास्यताल बजा रही है। नीचे गगा और यमुना अपने अपने वाहन मकर और कूर्म पर सवार हाथो में घट लिए अवतरण कर रही है। उनकी जल की धारा एक स्थल पर मिली है और फिर नीचे समुद्र (वरुण) हाथ में घट लिए है, जिसमें इन दोनो नदियो का जल मिल रहा है। वराह मूर्ति के दाहिनी ओर गगा, यमुना और समुद्र सब इसी प्रकार के है, केवल ऊपर नृत्य-गीत का दृश्य नहीं है।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

देखना यह है कि क्या यह सब चित्रण निरर्थक, केवल कुछ पौराणिक घटनाओं का अंकन करने को हुआ है ? क्या विष्णु के वराह रूप मे पृथ्वी का उद्धार करने की कथा को मूर्त रूप देने भर के लिए कलाकार ने यह लोकोत्तर प्रतिमा समूह का निर्माण किया है। गुप्त सम्राटो का यह सर्वश्रेष्ठ कलाकार इससे कुछ अधिक अंकित करने के लिए नियत किया गया होगा, ऐसा निश्चित है। यदि कोई अन्य उद्देश्य न होता तो गंगा-यमुना और समुद्र के दोनों पार्श्ववर्ती चित्र वराह मूर्ति सम्बद्ध नही किए जा सकते। डॉ० अग्रवाल ने इसे मध्यदेश का कलात्मक चित्रण माना है।* हमारे विनम्र मत मे सम्राट् समुद्रगुप्त ने सम्पूर्ण भारतवर्ष की विजय यात्रा करके अश्वमेधादि यज्ञ किए और गंगा यमुना की पवित्रता को सार्थक किया, उसीका अंकन उसके दिग्विजयी पुत्र ने इस वराह-मूर्ति के दोनो ओर कराया जो उसके निज के पराक्रम के चित्रण के लिए निर्मित की गचन्द्रई। गुप्त ने अपनी दिग्विजयो द्वारा भारत-धरा को अराजकता के समुद्र-तल से निकालकर उसका उद्धार किया अथवा यदि सम्राट् के साधिविग्रहिक शाव वीरसेन के शब्दो मे कहें तो 'अन्य राजाओं को दास बनाकर अपने पराक्रम रूप मूल्य से जिसने पृथ्वी को मोल लिया है'† और जिसके धर्माचरण के कारण पृथ्वी जिसपर अनुरक्त है, उस चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने आदिवराह के उस तेजोमय रूप का अकन कराया जिसने अपने अतुल पराक्रम से पृथ्वी का उद्धार किया था।

स्वर्गीय काशीप्रसादजी जायसवाल ने इस दृश्य मे पृथ्वी को ध्रुवस्वामिनी माना है और वराह को चन्द्रगुप्त। वे लिखते हैं, "चन्द्रगुप्त के धर्म का और देश का उद्धार करने के उपलक्ष मे उनके समसामयिक हिन्दुओं ने विदिशा के उदयगिरि पहाड़ मे एक विष्णु मूर्ति बनाई जो आज तक मौजूद है। विष्णु पृथ्वी की रक्षा वाराही तनु लेकर कर रहे हैं, वीरमुद्रा मे खड़े अपने दन्तकोटि से एक सुन्दरी को उठाए हुए है और ऋषिगण स्तुति कर रहे है; सामने समुद्र है। यह मूर्ति गुहा-मन्दिर के बाहर है। गुहा-मन्दिर खाली है, उसके द्वार पर जय-विजय की प्रतिमाएँ अंकित है और आसपास गुप्तवंश के सिक्कोंवाली मूर्तियाँ दुर्गा और लक्ष्मी की है। इस वराह-मूर्ति को 'चन्द्रगुप्त-वराह' कहना चाहिए, क्योकि यह मूर्ति विशाखदत्त के मुद्राराक्षसवाले भरतवाक्य का चित्रण है। चन्द्रगुप्त ने आर्यावर्त की रानी श्री ध्रुवदेवी का उद्धार शक-म्लेच्छों से किया था और भारत-भूमि का उद्धार म्लेच्छों से किया था। विशाखदत्त कई अर्थवाले श्लोक लिखते थे, यह 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक से सिद्ध है। उनका भरतवाक्य यह है—

> वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावस्थितस्यानुरूपाम्।
> यस्य प्राग्दंतकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री॥
> म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः।
> स श्रीमद्बंधुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चंद्रगुप्तः॥

इसमे कवि ने (अधुना) वर्तमान चन्द्रगुप्त (जिसका अर्थ विष्णु होता है, चन्द्र=स्वर्ण, चंद्रगुप्त=हिरण्यगर्भ) राजा की विष्णु से तुलना की। जैसे विष्णु ने इस पृथ्वी का उद्धार म्लेच्छ (असुर) से किया उसी प्रकार दन्त-कोटि शस्त्र से मारकर म्लेच्छ से चन्द्रगुप्त पार्थिव ने भारत-भूमि और ध्रुव (पृथ्वी) देवी का उद्धार किया। दोनों को रूप बदलना पड़ा था। चन्द्रगुप्त ने शक्ति (ध्रुवदेवी) का रूप पकड़ा और विष्णु ने शूकरी-तनु धारण किया अर्थात् रक्षण कार्य में (अवनविधौ) अयोग्य पर जरूरी रूप धारण किया।"‡

बेसनगर मे प्राप्त हुई नृसिंह मूर्ति भी गुप्तकालीन प्रतिमाओं मे बहुत श्रेष्ठ है। परन्तु वह अत्यधिक टूटी हुई है, और इस कारण उसका मूल सौन्दर्य पूर्ण प्रकट नही है। दोनों हाथ और वैजयन्ती माला टूट गई है। मुखाकृति भी अस्पष्ट होगई है। वह मानवाकार से कुछ बड़ी है और उसके अंग अंग से सिंह-विक्रम प्रकट होता है। गले मे कौस्तुभ मणियुक्त

---

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४८, संवत २०००, पृष्ठ ४३।

† फ्लीटः गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ३५।
"विक्रमावक्रयक्रीता दास्यन्यभूतपार्थि(वा)..................मानसंरक्ता-धर्म्म......................"

‡ गंगाप्रसाद मेहताकृत 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' की प्रस्तावना, पृष्ठ ३-४।

हार है धोती घुटनो तक की है, परन्तु आगे और पीछे पटली पजा तक गई है। सम्पूर्ण मानव शरीर पर केवल सिर ही सिंह का है। वास्तव में उदयगिरि के वराह की विशाल प्रशस्त कल्पनापूर्ण कला इस मूर्ति में भी प्रदर्शित है।

वामन रूप धारण कर भगवान् ने बलि को ठगा था। यह दृश्य पवाया में प्राप्त द्वार के तोरण प्रस्तर पर अंकित है। बलि की यज्ञशाला बहुत सुन्दर रूप में अंकित है। दस गवाक्षो में दस स्त्रियाँ बैठी दिखाई गई हैं। उनकी वेशभूषा पर आगे प्रकाश डाला जाएगा। नीचे यज्ञ-यूप है, उसके पास बलि-पशु बँधा है। वेदी के पीछे चार व्यक्ति कुर्सी जैसी ऊँची आसंदियों पर बैठे हैं। राजा बलि कमण्डल में से सकल्प का जल छोड रहे हैं। छोटे से वामन सामने खडे हैं। बलि के पीछे एक और आगे दो व्यक्ति खडे है। इस दृश्य से यज्ञशाला की रचना पर प्रकाश पडता है। बीच में हवन-कुण्ड है और उसके ऊपर चारो ओर दर्शको के लिए गोखो में गवाक्ष बने हैं।

जब प्रह्लाद का पौत्र, विरोचन का पुत्र बलि यज्ञ कर रहा था उस समय अदिति के गर्भ से उत्पन्न भगवान् के अवतार वामन ने उससे तीन पग भूमि का दान मांगा था। गुरु शुक्राचार्य ने बलि को समझाया कि स्वय भगवान् तुझसे छल करके तेरा राज्य लेकर देवताओ को देना चाहते है, परन्तु दानी बलि ने एक न मानी और दान का सकल्प कर दिया। फिर वामन ने अत्यन्त विशाल रूप धारण कर लिया और एक पग में भूलोक नाप लिया, दूसरे पग में अतरिक्ष नापा और तीसरे पग से नापने को जब कुछ न बचा तब बलि ने अपना मस्तक आगे कर दिया। विष्णु ने प्रसन्न होकर तीसरा पग उसके माथे पर रखकर उसे पाताल का राजा बना दिया। इस तीन पग से सब ब्रह्माण्ड नापनेवाले वामन के रूप को त्रिविक्रम रूप कहा है। उसीका अकन पवाया के इस तोरण पर वामन के दृश्य के दाई ओर किया गया है।

इस तोरण के पीछे ऊपर लिखे समुद्र-मथन के दृश्य के अतिरिक्त नृत्य के दृश्य के ठीक पीछे स्वामि कार्तिकेय की उभरी हुई मूर्ति का अकन है।

(२) शिव मूर्तियाँ—गुप्तकालीन शिव-मूर्तियाँ अनेक प्रकार की है। जिनमें प्रथम तो वे शिवलिंग हैं जिनपर एक, चार अथवा आठ मुखाकृतियाँ बनी हुई है। एकमुख लिंग तो गुप्तकाल से भी पहले के विदिशा और उदयगिरि में मिले है। गुप्तकाल का चारमुख लिंग मकनगज* में था। प्राचीन अष्टमुख शिवलिंग जो मन्दसौर में प्राप्त था, उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। मन्दसौर की खडी हुई शिव-मूर्ति, तुमन एव बडोह की आधी टूटी शिव-मूर्तियाँ तथा उज्जैन में प्राप्त ताण्डव नृत्यरत शिवमूर्ति अपने अपने प्रकार की पृथक् पृथक् हैं।

गुप्तकाल में शैव मत का बहुत प्रचार था। शिव की कुछ अत्यन्त सुन्दर मूर्तियाँ गुप्तकाल में बनी थीं। इस राज्य की सीमाओ में भी गुप्तकालीन कुछ ऐसी मूर्तियाँ प्राप्त हुई है जिनके बराबर सौन्दर्य अथवा मूर्तिनिर्माण शास्त्र की विशेषताओ युक्त मूर्तियाँ अन्य कहीं नहीं मिली है। ये शिव प्रतिमाएँ मुखलिंग तथा सम्पूर्ण मानवी शरीर-युक्त दोनो प्रकार की मिली हैं। शिव-मन्दिर निर्माण का गुप्तकालीन ऐतिहासिक उल्लेख उदयगिरि की गुहा न० ७ का चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के मत्री शाव वीरसेन का अभिलेख है जिसमें उसने शम्भु की गुहा बनवाने का उल्लेख किया है। परन्तु उसका शिवलिंग आज नहीं है।

गुप्तकाल की अत्यन्त भव्य प्रतिमा मन्दसौर में प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा मानवाकार से भी ऊँची है। कभी यह मन्दसौर के किले के दक्षिण-पूर्व में भूमि में आधी गडी हुई थी। उसके मुख का अगला भाग टूटा पडा था। श्री गर्दे ने उसे खोदकर एव उसके सब अंगो को यथास्थान बैठाकर वर्तमान सूबात के बाडे में खडा कर दिया है। इस समय केवल घुटने के नीचे तक पर टूटे हुए हैं, परन्तु चरण चौकी बनी हुई है। इसमें सात उपासक है। परशुयुक्त विशाल त्रिशूलधारी शिव-विग्रह के दोनो ओर शिव गण खडे है। इन गणो की तुलना उन विशाल द्वारपालो से की जा सकती है जो साँदनी में यशो-धर्मन—विष्णुवर्धन के स्तम्भ के पास खडे हैं। वास्तव में वे किसी समय में किसी शिव-मन्दिर के द्वार पर स्थित होंगे।

* ग्वालियर पुरातत्व रिपोर्ट, सवत् १९८६, पृष्ठ १९।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

(यह शिव-मन्दिर इस प्रतिमा का हो सकता है।) इन शिवगणों की ऊँचाई शिव से आधी से भी कम रखी गई है और इस प्रकार तुलनात्मक रूप मे मूर्तिकार ने शिव की महानता प्रदर्शित की है। शिव को घेरे हुए शिव की सेना के विकराल भूत-प्रेत अंकित हैं। शिव के मस्तक पर अत्यन्त भव्य मुकुट है, कानों मे कुण्डल एवं गले मे वेसनगर की महिषमर्दिनी अथवा अन्य गुप्तकालीन विष्णु-मूर्तियों के समान छोटासा हार है। हाथ केवल दो है। धोती के बाँधने का ढंग अत्यन्त सुन्दर है। शिव ध्यान-मुद्रा मे आँखें बन्द किए हैं। इस मूर्ति की भव्यता एव सौन्दर्य की बराबरी करनेवाली शिव-मूर्तियाँ कम हैं। यह एकाएक परेल (बम्बई) मे प्राप्त शिवमूर्ति (जो बम्बई सग्रहालय मे है) का स्मरण दिला देती है। यद्यपि दोनों मूर्तियों के विषय मे भिन्नता है, फिर भी कारीगरी की अत्यधिक समानता है। वास्तव मे गुप्तकला भौगोलिक दूरी को नहीं मानती है, उस समय भारत के सम्पूर्ण भाग मे एक ही कला-शैली प्रचलित थी।

गुप्तकालीन कला के पिछले भाग को छूती हुई उज्जैन की शिवमूर्ति मूर्तिकला की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह नीले पत्थर की है और आजकल गूजरीमहल सग्रहालय मे है। इसमे शिव को ताण्डव-नृत्य-रत दिखलाया गया है। मुकुट, गले का छोटा हार तथा धोती लगभग मन्दसौर के गुप्तकालीन शिव से मिलती जुलती है। यह मूर्ति ताण्डव नृत्य करते हुए शिव की है। इनके दस भुजाएँ हैं। ऊपर के दो हाथों मे एक नाग अत्यन्त लीलापूर्वक पकड़े हुए है। दाहिनी ओर के दूसरे हाथ मे डमरू है, तीसरा हाथ व्याख्यान मुद्रा मे उठा है और चौथे मे त्रिशूल है। पाँचवाँ हाथ वरदमुद्रा मे दायी ओर गया है, परन्तु खण्डित हो गया है। बाईं ओर केवल दो भुजाएँ ही अखण्ड है, जिनमे से नीचे की अभय मुद्रा मे उठी हुई है। चरणो मे गति का लक्षण है। दोनो पैरो के बीच शिव गण के रूप मे मानों विश्व ही शंकर के ताल पर नाच रहा है। यह शिव के ताण्डव नर्तन की अत्यन्त प्राचीन प्रस्तर मूर्ति है। दक्षिण-भारत मे ताण्डव शिव की अनेक सुन्दर कांस्य मूर्तियो ने प्रसिद्धि पाई है, परन्तु महाकाल की पुरी उज्जयिनी ने शिव-मूर्ति मे अपनी इस प्राचीन कृति द्वारा उपयुक्त अशदान किया है।

कुमारगुप्त कालीन गुप्त सवत् ११६ के अभिलेख* से सिद्ध है कि वर्तमान तुमेन गुप्तकाल मे तुम्बवन के रूप में प्रख्यात था। उसमे 'शशि' कीसी प्रभा वाला 'गिरिश्रृंग' जैसा 'तुंग' 'देव निकेतन' वटोदकवासी श्रीदेव, हरिदेव तथा धन्यदेव तीन भाइयो ने बनवाया था। इसी तुमेन मे एक अत्यन्त सुन्दर शिव-मूर्ति प्राप्त हुई है। दुर्भाग्य से यह अत्यन्त भग्न है, परन्तु फिर भी इतनी बची है कि इसके अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन हो सके। इसकी शान्त, गम्भीर मुखमुद्रा, अधखुले ध्यान-मग्न सुन्दर नेत्र, त्रिवलीयुक्त सुन्दर कण्ठ अत्यन्त आकर्षक हैं। दाहिने हाथ का केवल पंजा शेष है जो छाती के पास वरद मुद्रा मे उठा है।

वर्तमान बडोह (प्राचीन वटोदक) मे भी एक शिव-मूर्ति का सुन्दर खण्ड मिला है। यह भी अत्यन्त सुन्दर तथा कलापूर्ण है। शिवमूर्ति सम्भवत. चतुर्भुज है। दाहिनी ओर के ऊपर के हाथ मे सम्भवतः एक कमल है। शिव की जटाओ के नाग ने सरककर अपना फन इस कमल पर रख दिया है। शिव की मुखमुद्रा अत्यन्त प्रसन्न एवं लीलामय है।

(३) अन्य देवी-देवता—गुप्तकाल के समाप्त होते होते हिन्दुओ के अखिल देवतागणों की प्रतिमाओ का निर्माण हो चुका था, विशेषतः सूर्य, गणेश, शक्तियाँ आदि अनेक देवी-देवताओ की मूर्तियो के निर्माण का उल्लेख मिलता है।

सूर्य-मन्दिर के निर्माण का उल्लेख मन्दसौर के शिलालेख में मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि मालव संवत् ४९३ (ई० स० ४३६) के 'शीतकाल मे' पूस मास के तेरहवे दिन जब कुमारगुप्त पृथ्वी पर राज्य कर रहा था और पार्थ समान विश्ववर्मा स्थानीय शासक था, एक अद्वितीय सूर्य-मन्दिर को तन्तुवाय श्रेणी ने तैयार करवाया। उस श्रेणी का धन उनकी दस्तकारी के कारण एकत्रित था। उस मन्दिर के चौडा और ऊँचा शिखर, जो पर्वत के समान मालूम पड़ता था, चन्द्रमा की राशिधारा के समान सफेद था, जो पश्चिम के इस अद्वितीय नगर मे ऊँचा खड़ा और चमक रहा था।'† मन्दसौर का

* ए० ई० भाग २६, पृष्ठ ११५-११८।

† फ्लीटः गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ८१।

ध्वस कल्पनातीत रूप में हुआ है। यह तो अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि कुछ प्रस्तरखण्ड इन लेखों को वहन किये मिल सके और कुछ मूर्तियाँ इधर उधर टूटी-अवटूटी मिल गईं। अब न तो उस गगनचुम्बी सूर्य मन्दिर का पता है और न उसकी सूर्य प्रतिमा का। दुर्भाग्य से शिलालेख में प्रतिमा का वर्णन भी नहीं है। ग्वालियर गढ़ पर भी किसी मात्रिचेट * ने मिहिरकुल हूण के शासन काल के १५वें वर्ष में एक सूर्य-मन्दिर का निर्माण किया था।

त्रिदेव के तीसरे देवता ब्रह्मा की दो मूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं। बेसनगर में चतुर्मुख ब्रह्मा की भग्न मूर्ति तथा पवाया के पद्मासनासीन ब्रह्मा मूर्तिकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न हो परन्तु मूर्ति विकास में इसका स्थान अवश्य है।

दुर्गा, शक्ति एवं मातृकाओं की मूर्तियाँ अधिक पूर्ण एवं प्रचुर संख्या में प्राप्त हुई हैं। गुप्तकाल तक शक्ति-पूजन पूर्ण विकास प्राप्त कर चुका था। पार्वती महिषमर्दिनी, सप्तमातृका एवं अष्टशक्ति की अत्यन्त सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं।

इनमें सबमें प्राचीन मूर्ति महिषमर्दिनी की लगभग ग्यारह फीट ऊँची वह मूर्ति है, जिसे कनिंघम ने तेलिन की—मूर्ति कहे जाने का उल्लेख किया है।† स्मिथ ने इसे पूर्व मौर्यकालीन मूर्तियों में गिना, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। कनिंघम ने इसे ७ फीट ऊँचा लिखा है, परन्तु वास्तव में वह उससे बहुत ऊँची है। इसकी बनावट से यह निश्चित ही गुप्तकालीन है। माथे पर मुकुट बँधा हुआ है और त्रिनेत्र का चिह्न है। कानों में गोल कर्णफूल हैं। गले में दो अलंकार हैं। बाईं ओर के हाथ टूटे हुए हैं। केवल कमर के ऊपर एक हाथ का पंजा शेष है। दायीं ओर तीन हाथ अक्षुण्ण बने हुए हैं, जिनके आयुध टूट गए हैं। कमर पर पेटी बंधी है और उसके ऊपर अलंकारदार वस्त्र मथुरा एवं पवाया की नागराज की मूर्ति से मिलता है। पैरों के नीचे महिष का सिर है। महिष के दोनों ओर विपरीत दिशाओं में मुख किए दो सिंह हैं। बाईं ओर के सिर के ऊपर एक पुरुष खड़ा है, जिसका सिर टूट गया है और जो सिर पर प्रहार कर रहा है। शिल्परत्न के अनुसार महिषमर्दिनी के दस भुजाएँ होना चाहिए, तीन नेत्र, जटामुकुट, सिर पर चन्द्रकला होना चाहिए। दाएँ हाथों में त्रिशूल, खग, शक्त्यायुध, चक्र और धनुष होना चाहिए और बाएँ हाथों में पाश, अंकुश, खेटक, परशु तथा घंटिका होना चाहिए। उसके चरणों के पास महिष होना चाहिए जिसका सिर कटा हुआ हो, और असुर हो जिसे देवी ने नाग-पाश में बाँध लिया हो और जिसके हाथ में खड्ग तथा ढाल हो। देवी का दायाँ पैर सिंह की पीठ पर हो और बायाँ महिष को छूता हुआ हो।‡

यह बेसनगर की विशाल प्रतिमा उपर्युक्त वर्णन से पूरा मेल नहीं खाती। परन्तु उदयगिरि की गुहा नं० ६ तथा १७ की महिषमर्दिनी की उभरी हुई मूर्तियाँ इस शास्त्रीय वर्णन से अधिक मेल खाती हैं। इन मूर्तियों के १२ भुजाएँ हैं, और असुर पशु (महिष) के रूप में है।

शिव की अन्यतम शक्ति पार्वती की गुप्तकालीन मूर्तियों में तुमेन की सिंहवाहिनी पार्वती तथा पवाया की खंडित मृत्तिका मूर्ति अधिक उल्लेखनीय है।

गुप्तकालीन सप्त मातृकाओं की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। बडोह और पठारी के बीच एक पहाड़िया में सप्त मातृकाओं की मूर्तियाँ चट्टान में खुदी हुई हैं। उनके नीचे गुप्त लिपि में एक १० पंक्ति का अभिलेख भी है, जो अब तक पूरा नहीं पढ़ा जा सका है। उसमें तिथि थी, जो नष्ट हो गई है, केवल 'शुक्लदिवसे त्रयोदश्यां' और 'भगवती मातर'

---

* फ्लीट गुप्त अभिलेख, पृष्ठ १६२।

† आ० स० ई० भाग १०, पृष्ठ ३९४०।

‡ गोपीनाथ राव हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृष्ठ ३४५ ३४६।

ताण्डव शिव, उज्जैन।

शिव, वडोह।

शिव, तुमेन।

महिषमर्दिनी, वेसनगर।

पार्वती तुमेन।

सप्तमातृकाएँ, बेसनगर।

स्कंद, तुमेन।

स्कंद, उदयगिरि।

यगिरि, गुहा नं ६ का द्वार, विस्तार से।

उदयगिरि, गुहा नं ५ व ६ के द्वार।

तथा 'विषयेश्वर महाराज जयत्सेनस्य' शब्द स्पष्ट रूप से पढे गए हैं। श्री गर्दे ने इस लिपि को पाँचवी शताब्दी का बतलाया है।* इससे हमें यहाँ सम्बन्ध नही है कि 'विषयेश्वर महाराज जयत्सेन' किस गुप्त सम्राट् के 'विषयेश्वर' थे, यहाँ हम केवल यह दिखलाना चाहते है कि प्रारंभिक गुप्तकाल में सप्तमातृकाओ की मूर्तियो का निर्माण होता था। बाग में भी गुप्तकालीन सप्त मातृकाओ की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उदयगिरि पर गुहा न० ४ तथा ६ मे अष्टशक्तियो की विशाल प्रतिमाएँ मिली हैं। गुहा नं० ४ के बगल मे एक खुली गुहा मे छह मूर्तियाँ सामने बनी हैं और एक दाहिनी ओर और एक बाईं ओर हैं। इसी प्रकार गुहा नं० ६ मे हैं।

मूर्तिकला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर सप्तमातृकाओं अथवा अष्टशक्तियो की मूर्तियाँ बेसनगर मे प्राप्त हुई हैं। इनके निर्माण में गुप्तकाल का मूर्ति-निर्माण-सौष्ठव पूर्ण प्रकाशित हुआ है। गुप्तकालीन केश-विन्यास इन मातृकाओ मे प्रदर्शित हुआ है। यद्यपि यह अत्यन्त भग्न अवस्था मे है, फिर भी इनके निर्माण की निकाई स्पष्ट प्रकट है। ग्वालियर के उत्तर मे प्राय. ९ मील पर स्थित पारौली एव वहाँ से ७ मील दूर पढावली मे गुप्तकालीन मन्दिर मिले हैं। पढावली मे एक छह भुजा देवी की इस प्रकार की एक मूर्ति मिली जो एक बालक को लिए है।†

गुप्तकाल मे से शिव-परिवार मे स्कन्द का बहुत महत्त्व था, ऐसा ज्ञात होता है। गुप्त सम्राटो द्वारा भी देव सेनापति को विशेष मान मिला है, जैसा कि 'स्कन्द'-गुप्त एव 'कुमार'-गुप्त नामो से ही प्रकट होता है। इस काल की कुछ अत्यन्त सुन्दर 'स्कन्द' प्रतिमाएँ राज्य मे प्राप्त हुई हैं। उदयगिरि की गुहा नं० ३ मे दण्डधारी प्रतिमा सम्भवत स्कन्द की ही है। गुहा न० ६ पर बनी प्रतिमा भी स्कन्द की ही है। इस मूर्ति की वेषभूषा अत्यन्त प्रभावशाली है और इसके देवसेना-पतित्व की साक्षी है। बालब्रह्मचारी स्कन्द के काकपक्ष और उनका दण्ड स्कन्द की पहिचान के रूप मे दिखाई देते हैं। तुमेन मे प्राप्त स्कन्द प्रतिमा यद्यपि छोटी है, किन्तु बहुत सुन्दर है। स्कन्द को गुप्तकालीन वेशभूषा धारण किए हुए दण्ड लिए दिखलाया गया है। पीछे मयूर बना हुआ है। इस मूर्ति के खडे होने का ढग देखकर स्कन्दगुप्त की स्वर्ण-मुद्राओ पर अकित गुप्त सम्राट् की बकिम मूर्ति का स्मरण हो आता है। कोटा से प्राप्त स्कन्द की मूर्ति, जो अब गूजरीमहल सग्रहालय मे है, पिछले गुप्तकाल की अत्यन्त सुन्दर मूर्ति है।

गणेश की गुप्तकालीन अनेक महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। उदयगिरि मे ही तीन गणेश मूर्तियाँ हैं। गुहा नं० ६ तथा १७ मे दो गणेश मूर्तियाँ हैं और गुहा न० ३ के दक्षिण की ओर एक और गणेश बने हुए हैं। इनमे गुहा नं० ६ के गणेश की आकृति भद्दीसी है। शरीर पर कोई आभरण नही है और गणपति के कोई भी शास्त्रीय चिह्न अकित नही हैं। इस कारण से हमारे मित्र डॉ० पाटील इसे गणेश की प्राचीनतम मूर्तियो मे एक बतलाते हैं।‡ गुहा न० १७ की गणेश-मूर्ति के सिर पर मुकुट और बढ गया है, अन्य बातो मे वह गुहा न० ६ की गणेश-मूर्ति से मिलती जुलती है। तीसरी गणेश मूर्ति पूर्णत. शास्त्रीय चिह्नोयुक्त है। बैठे हुए गणेश चतुर्भुज हैं। दाहिने हाथो मे से एक मे परशु है, दूसरा टूट गया है। बाएँ हाथों मे से ऊपर का हाथ अस्पष्ट रह गया है, नीचे के हाथ मे मोदक है। दो छोटे छोटे पारिषद बने हैं और मूषक वाहन भी बना हुआ है।

गुप्तकालीन कुछ अन्य गणेश भी प्राप्त है, परन्तु उन सबका उल्लेख यहाँ व्यर्थ है।

गंगा और यमुना की मूर्ति के विकास के विषय मे पहले लिखा जा चुका है। उक्त विवरण से ज्ञात होगा कि इनके स्पष्टत: दो प्रकार हैं। एक तो वे प्राचीनतर गगा-मूर्तियाँ जो द्वार के ऊपर दोनो ओर एक ही वाहन (मकर) पर आरूढ़ अलंकरण के रूप मे दिखाई गई है, जिनमे प्रधान बाग गुहा-समूह की गुहा न० ४ के द्वार पर तथा उदयगिरि की गुहा नं० ६ तथा १८ के द्वार के ऊपर बनी हुई है। गुहा नं० १७ पर इनके केवल स्थान खाली पड़े हैं। इस श्रेणी मे बेसनगर की बोस्टन

---

* ग्वालियर पुरातत्त्व रिपोर्ट, संवत् १९८२, पृष्ठ १२।

† आ० स० इ० भाग २७ पृष्ठ१०।

‡ देखिए विक्रम वाल्यूय में डॉ० पाटील का लेख।

के संग्रहालय में सुरक्षित गंगा की मूर्ति तथा गूजरीमहल-संग्रहालय में सुरक्षित मूर्ति-खण्ड है। यह मूर्ति गुहा नं० १७ की हो सकती है। दूसरी श्रेणी में वे देवियाँ आती हैं जो आगे चलकर द्वार के नीचे एक ओर मकरवाहिनी गंगा और दूसरी ओर कूर्मवाहिनी यमुना के रूप में अंकित हुई है। इनमें मुख्य मन्दसौर की यमुना-मूर्ति, तुमैन की गंगा मूर्ति, मड़ुआ के शिव मन्दिर के नीचे गंगा और यमुना की मूर्तियाँ है। अतः पूर्व मध्यकाल की चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं है जबकि प्रत्येक मन्दिर के द्वार पर गंगा और यमुना अंकित होती ही थीं। उदाहरण के लिए, ग्वालियर के तेली के मन्दिर पर जहाँ भी द्वार अथवा द्वार का आकार है वहाँ एक ओर गंगा और दूसरी ओर यमुना मौजूद है।

मन्दिर-द्वारों से असम्बद्ध गंगा और यमुना का अपने पृथक् पृथक् वाहनों पर अथवा उदयगिरि की गुहा नं० ५ में वराह मूर्ति के दोनों ओर हुआ है, इसका उल्लेख पहले हो चुका है।

बाग-गुहा-समूह की गुहा नं० ४ के ऊपर दोनों ओर सफल वृक्षों के नीचे मकरवाहिनी देवी हिन्दुओं की गुप्तकालीन गंगा की पूर्व रूप है, परन्तु वे बौद्ध अभिप्राय हैं और उनका मूल साँची तोरण की यक्षिणी ही है।* यही अभिप्राय उदयगिरि में हिन्दू गंगा के रूप में दिखाई देता है। इनमें बेसनगर संग्रहालय में सुरक्षित मूर्ति अधिक सुडौल एवं मनोहारी है।† गंगा अत्यन्त लीलापूर्ण ढंग से मकर पर खड़ी है, एक शिशु इस मकर से खेल रहा है और एक परिचारक पास खड़ा है। शरीर पर अलंकार अत्यन्त थोड़े है, परन्तु वे बहुत सुरुचिपूर्ण है और मूर्ति की शोभा को बढ़ाते हैं। ऊपर सफल आम्र की डाली है, जिसे गंगा पकड़े हुए है। इस वृक्ष और स्त्री के सम्मिश्रण से प्राप्त अनुपम सौन्दर्य की तुलना किसी अंश तक गूजरीमहल संग्रहालय में एक कमरे के कोने में रखे मूर्ति खण्ड से की जा सकती है। उसमें भी एक देवी आम्र की डाली को पकड़े हुए है। यह मूर्ति भी पूर्ण हालत की दशा में अत्यन्त भव्य होगी।

तुमैन की गंगा मूर्ति पिछले गुप्तकाल की है। मकरवाहिनी गंगा हाथ में पूर्ण घट लिए हुए है और उसके पीछे एक परिचारिका छत्र लिए हैं और दूसरी डिब्बे जैसा कोई पात्र। मकर अत्यन्त खण्डित रूप में बचा है। मूर्ति सुन्दर है, परन्तु अत्यन्त क्षत विक्षत होगई है।

मन्दसौर में मिले द्वार का केवल बाईं ओर का तोरण मिला है। इस पर कूर्मवाहिनी यमुना बनी है। इसमें यमुना के सिर के पास कुछ फूल एवं पत्तों की आकृति बनी है, परन्तु वह खण्डित है। शरीर कुछ मांसलसा है। अधोवस्त्र पिछले गुप्तकाल की कुछ मूर्तियों जैसा झीना दिखलाया गया है।

यक्ष-पूजा गुप्तकाल में भी जनता करती रही थी और अनेक यक्ष मूर्तियाँ अन्य देवों के पारिषदों के रूप में बनती थीं। यह यक्ष-पूजा, ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन सभी धर्मों के अनुयायी करते थे। कुबेर की प्रतिमा के अंश बाग की गुहा नं० ४ में प्राप्त है।‡ गुप्तकाल की एक सुन्दर कुबेर-मूर्ति तुमैन में मिली है। उड़ते हुए गन्धर्वों की जोड़ी की जो मूर्ति मन्दसौर में प्राप्त हुई है वह सौन्दर्य के कारण अद्वितीय है। श्री गर्दे का कथन है कि गन्धर्वयुग्म की इस मूर्ति को देखकर सर जॉन मार्शल ने कहा था कि इसके बदले में यदि इसकी तौल का सोना दिया जाए तो भी थोड़ा है। कलाकार ने जहाँ उड़ते हुए सिंह, घोड़े आदि की कल्पना की वहाँ एक ऐसी योनि की भी कल्पना की जो आकाशचारी है और देवताओं तथा महान् कार्य करनेवालों का यशोगान करती है। इस गन्धर्वयुग्म के मुकुट एवं अलंकार उस समय के राजा रानियों के मुकुटों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अत्यन्त अनुपातपूर्ण एवं सुगठ अंगों में उड़ने का भाव भी बड़ी चतुराई से दिखलाया गया है। गन्धर्व के पीछे की ओर को मुड़े हुए पैर और आगे को बढ़ा हुआ सीना और शान्त मुख-मुद्रा उसके सहज भाव से आकाशचारण को व्यक्त कर रहे है। गन्धर्व रानी गन्धर्व से सटी हुई और सम्भवतः दाएँ हाथ से उसका सहारा लिए

---

* इस प्रमाण के अनुसार यह अनुमान किया जा सकता है कि बाग गुहाओं का निर्माण प्रारंभिक गुप्तकाल में हुआ।

† देखिए पृष्ठ ७०८ पर रेखा चित्र।

‡ वर्णन के लिए देखिए बागकेव्स, पृष्ठ ४०।

हुए उसकी अनुगामिनी है। उसका उड़ता हुआ दुकूल जिसे वह वाएँ हाथ से थामे है, उडान की गति की व्यंजना कर रहा है।

(४) **बौद्ध मूर्तियाँ**—गुप्तकाल मे हिन्दू धर्म के शैव एवं वैष्णव आदि सम्प्रदायों के पश्चात् जिस धर्म की मूर्तियों का अधिक महत्त्व है, वह है बौद्ध धर्म। कुषाणो के राज्य मे गाधार और मथुरा मे बुद्ध-मूर्तियाँ निर्माण करने की प्रवृत्ति की एक वाढ़सी आई थी। उसका अत्यन्त निखरा रूप दिखाई दिया गुप्तकाल मे। सारनाथ की अलौकिक सौन्दर्यमयी बैठी हुई बुद्ध मूर्ति, मथुरा की खड़ी हुई मूर्ति और सुलतानगज की धातुमूर्ति उनके सुन्दरतम उदाहरण है। इनकी समता करनेवाली मूर्तियाँ इस राज्य की सीमा मे भले ही न मिले, परन्तु जिन्हे अत्यन्त भव्य कहा जा सके, ऐसी अवश्य है। वाग में प्राप्त अत्यन्त विशाल एव भव्य बुद्ध और वोधिसत्त्व की मूर्तियाँ बौद्ध प्रतिमाओं मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

वाग-गुहा-समूह मे प्राप्त माहिष्मती के महाराज सुवन्धु के ताम्रपत्र के आधार पर यह सिद्ध है कि इस गुहा-समूह में से कुछ गुहा ईसा की चौथी शताब्दी मे वनी और उसका नाम कलयन विहार था, तथा 'महाराज' सुवन्धु ने गुप्त सवत् १६७ मे दासिलकपल्ली नामक ग्राम इस विहार को दान दिया। इस विहार का निर्माता कोई 'दत्तटक' था।

नहपान के राज्यकाल मे वनी नाशिक की गुहाओ मे बुद्ध का प्रतीक केवल स्तूप ही मिलता है। अजण्टा मे उसके स्थान पर व्याख्यानमुद्रा मे बैठी हुई बुद्ध-मूर्ति स्थापित हुई। वाग की दो नम्वर की गुहा मे इन दोनो के वीच की कड़ी मिलती है।* सामने स्तूप-मन्दिर है और स्तूप मन्दिर के आगे के अलिन्द मे दोनों ओर बुद्ध प्रतिमाएँ है। इससे भी हमारी इस स्थापना की पुष्टि होती है कि वाग गुहाएँ गुप्तकाल के पश्चात्वर्ती नही है, जैसाकि अनेक विद्वानों का मत है।† इस गुहा नं० २ मे स्तूप-मन्दिर के द्वार के दोनो ओर दो विशाल वोधिसत्त्वो की प्रतिमाएँ मेहरावदार स्थानों मे वनी हुई है। वाई ओर की ८ फीट ३ इन्च ऊँची है और उसके माथे पर ऊँचा जटा-मुकुट है जिसमे अभयमुद्रा मे बैठी हुई छोटीसी बुद्ध मूर्ति वनी हुई है। इस छोटी बुद्ध मूर्ति के दोनो ओर माला लिए दो छोटे छोटे सिंह वने है। पीछे प्रभा-मण्डल जैसा कोई अलंकार है। गले मे तीन हार है और जनेऊ भी पडा है। हाथों मे भुजवन्द है और धोती के ऊपर सुन्दर कमरपट्टी है। पैरो के बीच मे छोटीसी पटली है। दाहिना हाथ टूट गया है और वायाँ कमर पर रखा है। मूर्ति रूढ़िवद्ध रूप मे अकित कमल पर खड़ी है।

दायी ओर की मूर्ति ८ फुट ९ इन्च ऊँची है। इसका निर्माण अधिक सरल हुआ है। जटाओ का जूडा सिर के ऊपर बँधा हुआ है। दो फूलों के गुच्छो के वीच मे अभयमुद्रा मे छोटीसी वुद्ध-प्रतिमा वनी हुई है। शरीर पर कोई अलंकार नही है। धोती की वनावट दूसरी प्रतिमा के समान ही है। पादपीठ का कमल पहली मूर्ति से अधिक सुन्दर है। दाएँ हाथ मे सम्भवत: अक्षमाला और वाएँ हाथ मे कमण्डल था।

आगे अलिन्द के दोनो ओर तीन तीन प्रतिमाओ के समूह वने है जिनमे वीच की प्रतिमाएँ बुद्ध की है और दोनों पार्श्व की बोधिसत्त्वो की है। दोनो समूह लगभग एकसे है।

दाहिनी ओर के समूह मे मध्य की बुद्ध प्रतिमा १० फीट ४ इन्च ऊँची है और कमलाकार पादपीठ पर खड़ी है। दाहिना हाथ वरद्मुद्रा मे फैला हुआ है। वाएँ हाथ मे दुकूल का छोर पकड़े हुए है। बुद्ध-प्रतिमा बड़ा वस्त्र इस प्रकार ओढ़े हुए दिखाई गई है कि दायाँ कंधा खुला हुआ है। वस्त्र की सिकुडन लहरो द्वारा दिखलाई गई है। सिर पर घुघराले बाल और महापुरुष का लक्षण उष्णीष है। बुद्ध के दाई ओर का पारिपद ९ फीट ऊँचा है। वह दाहिने हाथ मे चमर लिए है। वायाँ हाथ कुषाणकालीन प्रतिमाओ मे प्राप्त अधोवस्त्र की गाँठ पर सधा हुआ है। माथे पर मुकुट, कानो मे कुण्डल, गले में

---

* वाग केव्स, पृष्ठ २८-२९।

† स्मिथः ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्टस इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृष्ठ १०९, राय कृष्णदास भारत की चित्रकला, पृष्ठ ३८।

आभूषण है और कंधे पर जनेऊ भी पड़ा हुआ है। बुद्ध के बाईं ओर का पारिषद ८ फीट ३ इञ्च ऊँचा है। इसके मुकुट नहीं है केवल जटा की गाँठ ऊपर लगी है। अन्य आभरण प्राय पहले पारिषद से मिलते जुलते हैं। दाएँ हाथ में कमण्डलु लिए है और बायां अधोवस्त्र की गाँठ पर रखा है।

दूसरी ओर का समूह प्राय ऐसा ही है, परन्तु उसकी ऊँचाई कुछ कम है, बुद्ध ९ फीट ६ इञ्च है तथा दोनों पारिषद लगभग ७ फुट ऊँचे है।

डॉ० बागल ने सारनाथ की बौद्ध मूर्तियों से तुलना करके यह स्थापना की है कि स्तूप-मन्दिर के तथा दोनों बौद्ध प्रतिमाओं के दाहिनी ओर की अधिकांश प्रतिमाएँ अवलोकितेश्वर की है, और बाईं ओर की सारी मूर्तियाँ मैत्रेय की है।*

बाग की गुफा नं० ८ में बुद्ध की धर्मचक्र प्रवर्तन की प्रतिमा बनी हुई थी। आज वह नष्ट हो चुकी है और केवल घुँघराले बालोंयुक्त बुद्ध के मस्तक का कुछ अंश तथा पारिषदों के हाथों के चमरों के अंश ऊपर की ओर बचे है और दो मृगों के बीच में धर्मचक्र भी दिख रहा है। प्रतिमा के ऊपर के दो आकाशचारी गन्धर्व भी अभी बने हुए है।

कोटा में प्राप्त बुद्ध की धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में बैठी हुई बुद्ध प्रतिमा गुप्तकाल की ही ज्ञात होती है। इसके हाथ और घुटने टूट गए है परन्तु इसके घुँघराले बाल एवं उष्णीष, बड़े बड़े कान एवं शान्त सुखमुद्रा इसकी उत्कृष्ट कोटि की निर्माण कला प्रदर्शित करते है।

ग्यारसपुर का बौद्ध स्तूप और वहाँ की बुद्ध प्रतिमाएँ पिछले गुप्तकाल की कृतियाँ है। इसी समय में राजापुर का बौद्ध स्तूप बना होगा। परन्तु इनमें बौद्ध अवशेषों के विस्तार के प्रमाण के अतिरिक्त ऐतिहासिक अथवा कला सम्बन्धी विशेषता कुछ नहीं है।

५ जैन मूर्तियाँ—ग्वालियर राज्य में जो प्रतिमाएँ कला, संख्या आदि सभी दृष्टि से अद्वितीय हैं परन्तु इनका अध्ययन एवं वर्गीकरण सबसे कम हुआ है। यहाँ के जैन समाज को इस दिशा में आगे कदम उठाना चाहिए। अस्तु।

जैन प्रतिमा निर्माण का प्राचीनतम उल्लेख हम उदयगिरि की गुहा नं० २० में मिलता है, जिसमें "प्रसिद्ध गुप्त वंशीय श्री सयुक्त एवं गुण-सागर राजाओं के समृद्धिमान राज्य के १०६वें वर्ष (ई० सं० ५२८) के कार्तिक कृष्णा ५ के शुभ दिन को शमदमयुक्त शंकर नामक व्यक्ति ने विस्तृत सर्प फणों से भयंकर (दिखनेवाली) जिन श्रेष्ठ पार्श्वनाथ की मूर्ति गुहाद्वार में बनवाई।"† इस गुहा में आज वह पार्श्वनाथ प्रतिमा नष्ट हो गई है, केवल सर्पफणों का छत्र शेष रह गया है।

गुप्तकालीन दूसरी जैन प्रतिमा बेसनगर में प्राप्त हुई थी और आज गूजरीमहल संग्रहालय में सुरक्षित है। इस आजानबाहु तीर्थंकर प्रतिमा की ऊँचाई लगभग ७ फीट है। चरण-चौकी के दोनों पारिषदों के मुख तथा प्रतिमा की हथेलियाँ टूट गई है और मुख भी अस्पष्ट है, फिर भी इसका भव्य सौन्दर्य स्पष्ट है। सिर के पीछे बहुत बड़ा प्रभा-मण्डल है जिसमें कमल तथा अन्य पुष्पों के अलंकरण हैं, दो गन्धर्व माला लिए सिर के दोनों ओर उड रहे है। गन्धर्वों के वस्त्राभरण केश आदि प्रतिमा के गुप्तकालीन होने के प्रमाण है। अत्यन्त सुगठ शरीर में हाथों को घुटनों के नीचे तक लम्बा दिखलाया गया है। चरणों के पास दो उपासक बैठे है, जिनके मुख टूट गए है।

६ द्वारपाल, मिथुन, आदि—ऊपर वर्णित धार्मिक प्रतिमाओं के पश्चात् अब आगे उन मूर्तियों को लेते है जिनमें गुप्तकालीन कलाकार ने समाज के साधारण मानव का अंकन किया है। इनमें सैनिकों का अंकन तो उदयगिरि की गुहा नं० ४, ६, ७, १० तथा १८ के द्वार के दोनों ओर अंकित द्वारपालों में हुआ है। बिलचीपुर, मन्दसौर में जो कुछ स्त्री

---

* बागकेव्स, पृष्ठ ३६।

† फ्लीट गुप्त अभिलेख, पृष्ठ २५८।

आकाशचारी युग्म, मन्दसौर।

गणेश, उदयगि

बौद्ध स्तूप, राजापुर।

नृत्य-गीत, पवाया।

धूपधारिणी, मेलसा।

युग्म, मिलचीपुर।

मिथुन, मन्दसौर।

माता और
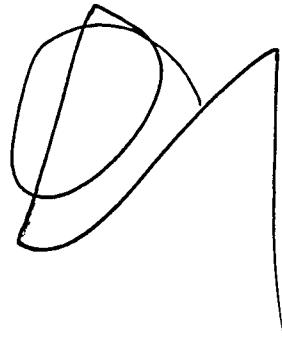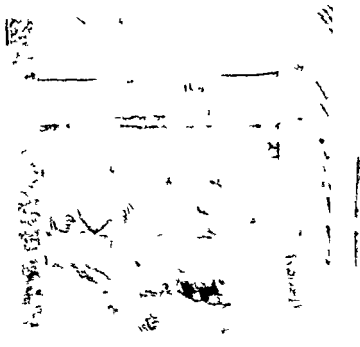
पुरुष की उभरी हुई मूर्तियाँ (अर्धचित्र) मिली है वे उस समय के नागरिकों के सुन्दरतम चित्रण है। किसी धार्मिक मन्दिर से सम्बन्धित होते हुए भी पवाया का गीत-नृत्य का दृश्य तत्कालीन उत्फुल्ल एवं प्रसन्न कलामय सामाजिक जीवन की सजीव झाँकी है। उदयगिरि के गुप्तकालीन मन्दिर के उत्खनन के समय प्राप्त स्त्री-पुरुषो के सिर तत्कालीन केशविन्यास एवं वेशभूषा पर पर्याप्त प्रकाश डालते है।

उदयगिरि के गुहाद्वारों पर बने हुए द्वारपालो मे सबसे अधिक सुरक्षित गुहा नं० ६ के द्वार की मूर्तियाँ है। इनके भारी भरकम केशकलाप, सुदृढ शरीर तथा विशालकाय फरसे उन्हे अत्यन्त भीषण तथा आतंकित करनेवाला रूप प्रदान करते है। उनकी धोती का पहनाव भी बहुत प्रभावशाली है तथा कमर पर ताड के पंखे जैसी कलगी एक विशेषता है।

खिलचीपुर के तोरण पर स्तम्भ स्त्री-पुरुष की मूर्ति अथवा मिथुन मूर्तिकला के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण है। मन्दिर द्वार पर इस स्त्री-पुरुष का युग्म मे सात्विक श्रृंगार और प्रजनन के जिस स्वस्थ भाव का प्रदर्शन किया गया है, उसका अत्यन्त विकृत रूप हमे मध्यकालीन मन्दिरों मे मिलता है। खजुराहो और (इस राज्य मे ही) पढावली मे इस पारिभाषिक मिथुन को अश्लील 'मैथुन' दृश्यो मे परिवर्तित कर दिया है।

खिलचीपुर मे प्राप्त द्वार तोरण का स्त्री-पुरुष युग्म मूर्तिकला की दृष्टि से सुन्दर है। स्त्री और पुरुष दोनों का ही केशविन्यास अत्यन्त सुन्दर है। ज्ञात यह होता है कि उनकी रचना मे मुक्ता एव पुष्प दोनो की सहायता ली गई है। स्त्री और पुरुष दोनो गले मे हार पहने है। भुजाओ पर, कलाई पर स्त्री और पुरुष भिन्न भिन्न प्रकार के अलंकार पहने हुए है। स्त्री पैरो मे भी कडे पहने हुए है, पुरुष के पैरो मे कोई अलंकार नही है। स्त्री और पुरुष के बीच मे एक बालक भी है, जो घुटने के सहारे आधा खड़ा हुआ है। स्त्री अपने बाएँ हाथ मे फल लिए बालक को दिखा रही है।

मन्दसौर मे प्राप्त युग्म अधिक कलापूर्ण है। पत्थर की अनगढ़ चौखट के बीच मे यह कलाकृति बनी है। ऊपर पत्तो के गुच्छे बनाकर वृक्षिका जैसा सौन्दर्य लाने का प्रयास है। इसमे खड़े होने का वह बंकिम ढंग दिखाई देता है जो आगे मध्यकाल की मूर्तियो मे अत्यन्त रूढ़िबद्ध रूप मे पाया जाता है। परन्तु इसके शरीर अत्यन्त कमनीय बने है। खिलचीपुर के युग्म की अपेक्षा इन पर आभरण कम है, गले मे मोतियो की माला, बाहुओ पर दो दो कंगन और कलाइयो पर एक कड़ा है। दाहिने हाथ मे स्त्री फूल लिए है। स्त्री का अधोवस्त्र खिलचीपुर की यमुना जैसा चुस्त और पारदर्शी है। पुरुष की धोती जाँघो के बीच तक है। एक वस्त्र कमर पर उसी प्रकार बँधा है जिस प्रकार पवाया के नागराज, बाग के बुद्ध अथवा खिलचीपुर के तोरण पर है। दोनो ओर एक एक बालक है।

मन्दसौर मे मिली द्वारपालो (?) की मूर्तियो की वेशभूषा ऊपर के मूर्ति समूह के पुरुष जैसी ही है, केवल सिर के बालो का विन्यास उदयगिरि के द्वारपालो से मिलता हुआ है। कृपाण मूर्तियो जैसा कमर का वस्त्र इनके भी बँधा है।

पवाया के मन्दिर तोरण पर अन्य पौराणिक आख्यानों के साथ एक कोने पर प्रायः दो फीट लम्बे तथा दो चौड़े प्रस्तर खण्ड पर एक गीत नृत्य का अनुपम दृश्य अंकित है। दुर्भाग्य से इसका ऊपर का बायाँ कोना टूट गया है। इस दृश्य मे एक स्त्री मध्य मे खड़ी अत्यन्त सुन्दर भावभंगी मे नृत्य कर रही है। स्तनो पर एक लम्बा वस्त्र बँधा हुआ है, जिसका किनारा एक ओर लटक रहा है। बाएँ हाथ मे पोहचे से कुहनी तक चूड़ियाँ भरी हुई है। दाहिने हाथ मे सम्भवतः एक दो ही चूड़ियाँ है। कमर के नीचे अत्यन्त चुस्त धोती (या पजामा) पहनी हुई है, जिस पर दोनो ओर किंकणियों की झालरें लटक रही है। पैरो मे सादा चूडे है। कानो मे झूमरदार कर्णाभरण है। यद्यपि इस स्त्री के चारों ओर नौ स्त्रियाँ विविध वाद्य बजाती हुई दिखाई गई है, परन्तु उनका प्रसाधन इतनी बारीकी एवं विस्तार से नही बतलाया गया है। ये वाद्य बजाने-वाली स्त्रियाँ गद्दियों पर बैठी है। टूटे हुए कोने मे एक स्त्री मूर्ति का केवल एक हाथ बच रहा है, शेष सब शरीर टूट गया है। वाद्यो मे दो तो तारो के वाद्य है। दाहिनी ओर का वाद्य समुद्रगुप्त की मुद्रा पर अंकित वीणा के समान है। बाँयी ओर का वाद्य आज के वायोलिन की बनावट का है। एक स्त्री ढपली जैसा वाद्य बजा रही है। उसके पश्चात् एक स्त्री सम्भवतः पंखा अथवा चमरी लिए है। फिर एक स्त्री मंजीर बजा रही है। पुनः एक स्त्री बिना वाद्य के है। इसके पश्चात्

मृदगवादिनी ह। कोने की टूटी मूर्ति के वाद की स्त्री वेणु बजा रही है। बीच में दीपक जल रहा है। इन सबके केशविन्यास पथक् पथक् प्रकार के ह, जिनका विवेचन आगे किया जाएगा।

इस प्रकार गीत नृत्य का दृश्य ग्वालियर की सीमाओ में मेरे देखने म तीन स्थानो पर आया है। पहला मौर्यकालीन वेसनगर में प्राप्त बाड पर ह, दूसरा यह उदयगिरि में ह, और तीसरा पवाया म ह। (चौथा बाग गुहा की भित्तियों पर चित्रित हैं, परन्तु वह इन सबसे माध्यम तथा विषय दोनो म भिन्न ह।) इन सब दृश्यो म अनेक समानताएँ ह। एक तो ये पूर्णत स्त्रियों की मण्डलियाँ ह, दूसरे इन सबके वाद्य भी समान ह। उदयगिरि का स्त्रियो का गीत-नृत्य 'जन्म' से सम्बन्धित ह, ऐसा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत ह। उन्होने लिखा ह कि इस उत्सव को 'जातिमह' कहते थ। 'विशिष्ट जन्म-उत्सव के अकन में सगीत का प्रदर्शन भारतीयकला की प्राचीन परम्परा थी।'* डॉ० अग्रवाल का मत उदयगिरि के दृश्य के सम्बन्ध में ठीक नही जँचता। वेसनगर का दृश्य बुद्ध-जन्म से सम्बन्धित हो सकता ह, परन्तु उदयगिरि का दृश्य गगा-यमुना के जन्म से सम्बन्धित न होकर उनके समुद्र के साथ विवाह से सम्बन्धित है। गगा-यमुना को समुद्र की पत्नी माना भी है। पवाया का दृश्य किस 'जातिमह' अथवा विवाह से सम्बन्धित ह, यह हमें ज्ञात नहीं क्योकि यह किस मन्दिर का तोरण है, यह मालूम न हो सका।

गुप्तकाल के पूर्व कुषाणकाल म ही मन्दिरो अथवा राजमहलो को अलकृत करने के लिए स्तम्भो के सहारे सुन्दर स्त्री मूर्तियाँ निर्मित होना प्रारम्भ हो गया था। इसका सुन्दर उदाहरण कला भवन काशी में सुरक्षित प्रसाधिका की मूर्ति है। इस प्रकार की कुछ मूर्तियाँ ग्वालियर राज्य म भी प्राप्त हुई ह। इनम भेलसा सग्रहालय म रखी हुई हाथ जोडे हुए स्त्री मूर्ति, तथा गूजरीमहल सग्रहालय की (मामौन एवं पढावली में प्राप्त) दीपलक्ष्मी एव धूपधारिणी प्रधान ह। इनमें से कुछ पिछले गुप्तकाल की हैं, विशेषत भेलसा की मूर्ति।

देवसमाज एव मानवो के अतिरिक्त गुप्त कलाकार ने पशु-पक्षी, वेल-बूटे आदि की भी सुदर कृतियाँ बनाई ह। कमल भारतीय मूर्तिकला का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। यह देवताओ के प्रभामण्डल म, चरणचौकी म, द्वारो के अलकरण म सब जगह पाया जाता है। पशुओ म सिंह देवताओ के वाहन, स्तम्भ शीर्ष एव द्वारो के अलकरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। पक्षयुक्त सिंह भी गुप्तकाल में प्राप्त हुआ है। कमल और सिंह यथार्थवादी न होकर रूढिबद्धसा हो गया ह। ऐसे सिंह के लिए पवाया का सपक्ष सिंह एव उदयगिरि की गुहा न० ६ के द्वार के अलकरण म प्रयुक्त सिंह विशेष दर्शनीय ह।

घोडा, मछली, बन्दर, मोर आदि पशु-पक्षियो की मृण्मूर्तियो का वर्णन आगे किया जाएगा।

७ **मृण्मूर्तियाँ**—'मानसार' के अनुसार मूर्ति निर्माण का एक माध्यम मृत्तिका भी ह। मृत्तिका द्वारा जीवन के उपयोगी भाड निर्माण की कला बहुत पुरानी ह। इन्ही उपयोगी वस्तुओ को सौन्दर्य प्रदान करने की मानव प्रवृत्ति सब स्थान म सब कालो म रही है। परन्तु केवल अलकरण एव क्रीडा के लिए मृण्मूर्तियाँ बनाने की प्रथा भी भारतभूमि में प्राग्-ऐतिहासिक काल से प्रचलित ह, जैसा कि मोहन-जो-दडो तथा हडप्पा पर प्राप्त मृण्मूर्तियो से सिद्ध ह। उज्जैन तथा विदिशा में भी कुछ प्राचीन मृण्मूर्तियाँ मिली ह। परन्तु जो गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ श्री गर्दे न पवाया के उत्खनन म खोद निकाली ह, वे तो सौन्दर्य एव कला की दृष्टि से अद्वितीय ह। इनको देखने से उन कारीगरो के चातुर्य पर आश्चर्य होता ह जो मृत्तिका जैसे माध्यम से भी इतनी सुदर तथा भावपूर्ण मूर्तियो का निर्माण कर डालते थ।

ये मृण्मूर्तियाँ विभिन्न प्रकार के केशविन्यासवाली स्त्रियो की ह, पुरुषो की ह, देवियो की ह तथा पशु-पक्षियो की ह। उन सबका अकन अत्यन्त मनोहर हुआ है।

मानव मूर्तियों म विशेषता यह है कि कुछ मूर्तियाँ हँसती हुई बनाई गई हैं, कुछ रोती हुई। इस प्रकार मिट्टी के ठीकरो द्वारा भाव प्रदर्शन का यह प्रयास अत्यन्त सफल तो है ही, आश्चर्यजनक भी है। स्त्रियो की कुछ मूर्तियाँ तो अत्यन्त मनोहारी ह।

---

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सवत् २००० पृष्ठ ४६।

दो सिर, पवाया।
घोडा, पवाया।

पशु-पक्षी, पवाया।

मृण्मूर्तियाँ।

हँसते हुए सिर, पवाया।

पशु-पक्षी,प
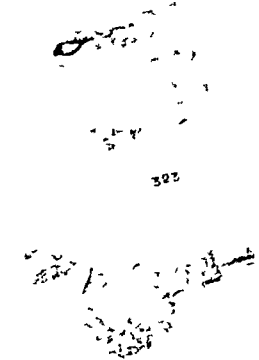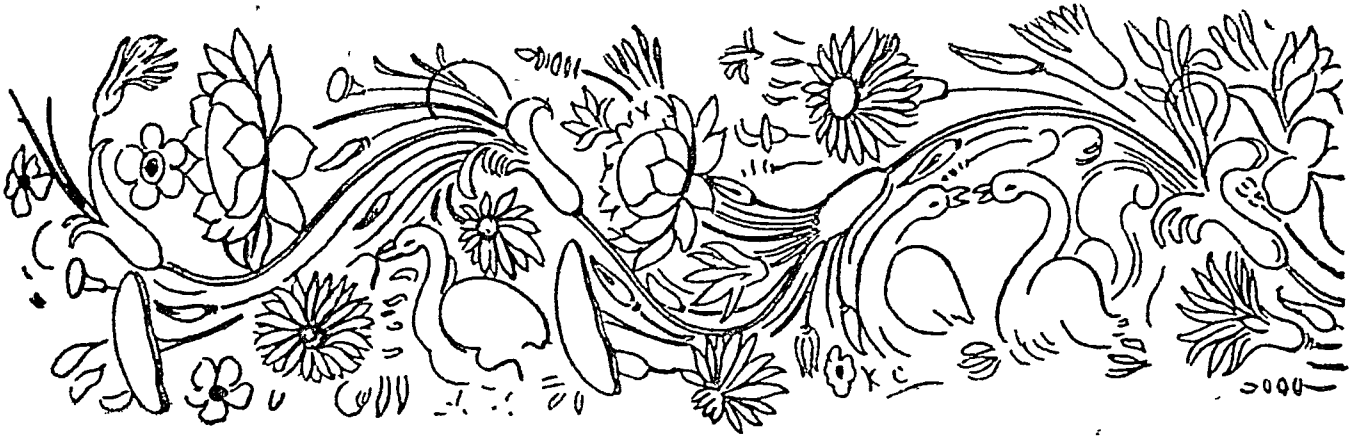
भारतीय दर्शनों का स्वरूप निरूपण

महामहोपाध्याय डॉक्टर श्री उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०,

भारतीय दर्शनो के अध्ययन के लिए हमे सबसे पहले 'दर्शन' शब्द का वास्तविक अर्थ समझना आवश्यक है। जिससे देखा जाय उसे 'दर्शन' कहते हैं। अर्थात् जिस विज्ञान या शास्त्र के द्वारा लौकिक या पारलौकिक तत्त्वो का यथार्थ ज्ञान हो सके वही 'दर्शन' कहलाता है। यद्यपि अपने अपने दृष्टिकोण के अनुकूल शास्त्रकारो ने भिन्न भिन्न तत्त्वो का निरूपण किया है किन्तु प्रधान रूप से 'आत्मतत्व' का ही निरूपण करना सबका ध्येय है। जैसा कि उपनिषद् ने कहा है—'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः'।

यह तो सभी को मालूम है कि घट, पट के समान 'आत्मा' कोई ऐसा पदार्थ नही है जिसे हम अपने चर्मचक्षु से देख सके। फिर प्रश्न होता है कि इसका दर्शन कैसे हो सकता है? अतएव उपनिषद् ही ने इसके यथार्थज्ञान के लिए कहा है— 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च'। अर्थात् श्रुति के वाक्यो के द्वारा आत्मा के सम्बन्ध मे सुनना चाहिए, सुनकर युक्तियो के द्वारा उन कथनो पर 'मनन' करना चाहिए, तत्पश्चात् 'निदिध्यासन' के द्वारा मनन से प्राप्त ज्ञान को निश्चित अर्थात् दृढ़ करना चाहिए। यदि इन तीनो प्रक्रिया के द्वारा एक ही ज्ञान प्राप्त हो एव सब मे समन्वय हो तभी उस ज्ञान को निश्चयात्मक मानना चाहिए। अतएव हमे आत्मा के यथार्थ ज्ञान के लिए उपर्युक्त उपायो का ही आश्रय लेना चाहिए। इसके पूर्व और भी एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। किसी वस्तु को समझने के लिए उसके प्रति हमे 'श्रद्धा' चाहिए। बिना इस के यथार्थ ज्ञान होना असम्भव है। इसीलिए भगवान् ने गीता मे भी कहा है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'।

इन विधियो से सुसज्जित होकर हमे शास्त्र का विचार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक और विषय पर ध्यान रखना आवश्यक है। जब कोई किसी वस्तु का प्रतिपादन करता है तो वह अपना दृष्टिकोण नियत करके ही अग्रसर होता है। उस दृष्टिकोण को न समझकर यदि कोई उस प्रतिपादन करनेवाले का अभिप्राय समझने का प्रयत्न भी करे तो वह निष्फल हो जाता है। आत्मतत्त्व सर्वव्यापक है, इसका स्वरूप अनन्त है। अतएव एक साथ सभी स्वरूप का निरुपण कभी नही किया जा सकता है। जब कभी कोई इसका निरूपण करता है तो किसी एक ही अश को लेकर प्रतिपादन करता है। तथा वस्तुतः सभी अश को एक साथ प्रतिपादन करने से कोई लाभ भी नही हो सकता है। हमारे शास्त्रो मे 'अधिकारि-भेद' का बहुत विचार है और सबसे प्रथम यही विचार किया जाता है कि अमुक विषय को समझने के लिए कौन यथार्थ मे उसका अधिकारी है। बालक से लेकर वृद्ध पर्यन्त सभी सब विषयो को जानने के लिए अधिकारी नही होते। इसी प्रकार प्रत्येक शास्त्र को जानने का अधिकार सभी अवस्था मे सबको नही है।

भारतीय दर्शनों का स्वरूप निरूपण

यही एकमात्र कारण है कि यद्यपि आत्मतत्त्व ही का प्रतिपादन करने में सभी शास्त्र प्रवृत्त हैं फिर भी सबको भावेन एक ही शास्त्र में सब अंशों का न तो निरूपण हमें मिलता है और न शास्त्रकारों का ही यह ध्यान कभी रहा है।

इन बातों को मन में रखकर उपनिषदों के आधार पर क्रमशः सभी दर्शन बने हैं। यद्यपि 'षड्दर्शन' द्वारा न्याय, वैशेषिक, सांख्य योग, मीमांसा तथा वेदान्त का तात्पर्य माना जाता है किन्तु 'षड्दर्शन' कोई एक ही अर्थ में रूढ़ पारिभाषिक शब्द नहीं है। दर्शनों की संख्या बहुत ही अधिक है और षड्दर्शनों के परिगणन में भी बहुत से मत हैं। हरिभद्रसूरि (११६८ ई० के लगभग) के अनुसार षड्दर्शनों में बौद्ध, नैयायिक, कपिल, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनीय लिए गए हैं। जिनदत्त सूरि (१२२० ई०) के अनुसार जैन, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य, शैव, तथा नास्तिक ये छह दर्शन हैं। राजशेखर सूरि (१३४८) के अनुसार जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक, तथा सौगत षड्दर्शन हैं। मल्लिनाथ के पुत्र (१४वीं शतक) ने पाणिनि, जैमिनि, व्यास, कपिल, अक्षपाद तथा कणाद दर्शन बतलाये हैं। सर्वमतसंग्रहकार ने वैदिक और अवैदिक विभाग कर मीमांसा, सांख्य, तर्क तथा बौद्ध आर्हत एवं लोकायत छह दर्शन बतलाये हैं। सर्वसिद्धान्तसंग्रह में लोकायत, आर्हत, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक, वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य, पातञ्जलि, वेदव्यास तथा वेदान्त इतने दर्शनों को गिनाया है। इसी प्रकार माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में चार्वाक, बौद्ध, आर्हत, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ, नकुलीशपाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा, रसेश्वर, औलूक्य, अक्षपाद, जैमिनि, पाणिनि, सांख्य, पातञ्जल तथा शांकर इन सोलहों के नाम गिनाए हैं, इत्यादि। अनेक भेदों को देखते हुए हमें यह मालूम होता है कि दर्शनों की कोई संख्या न निश्चित ही है और न हो सकती है। वस्तुतः आत्मतत्त्व को जानने के लिए जो अनुकूल तर्कानुसार तथा श्रुति-स्मृति से अविरुद्ध मार्ग हो वही दर्शन कहा जा सकता है।

उपनिषद् में दर्शनों के सारभूत तत्त्व सभी वर्तमान हैं। बड़े बड़े आचार्यों ने उन्हें ही निकालकर उनके समन्वय को ध्यान में रखते हुए भिन्न भिन्न मार्ग का दर्शनरूप में निरूपण किया। यही हमारे सामने आज दर्शनों के नाम से प्रसिद्ध है। इन दर्शनों के आदि ग्रंथ हमें सूत्र के रूप में मिलते हैं। इन सूत्र ग्रंथों के रचनाकाल के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। फिर भी ईसा के पूर्व ही इन सबों की रचना हुई होगी इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

यद्यपि परस्पर सलाह कर किसी आचार्य ने किसी एक दर्शन का स्वरूप नहीं दिया फिर भी जिज्ञासु की दृष्टि से इन सभी दर्शनों में परस्पर समन्वय ही नहीं है किन्तु ये दर्शन क्रमिक सोपान परम्परा की शृंखला से बद्ध भी हैं। ऊपर यह कहा गया है कि आत्मतत्त्वनिरूपण ही एकमात्र सब दर्शनों का ध्येय है और आत्मा के अनन्तरूप होते हुए भी उसमें कुछ ऐसे गुण हैं जिनका क्रमिक निरूपण करना अत्यावश्यक होती है। इसके साथ साथ यह भी स्मरण रखना है कि दर्शनशास्त्र और मनुष्य जीवन ये दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं। जिस प्रकार मनुष्य के जीवन में क्रमिक विकास है तथा एक अवस्था दूसरी अवस्था से अधिक है उसी प्रकार जब हम सभी दर्शनों को एक दृष्टि से देखते हैं तो उनमें वही जीवन का क्रमिक विकास तथा परस्पर समन्वय स्पष्ट देख पड़ता है। बालक को कुछ समय तक केवल चक्षु इन्द्रिय ही के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है तथा क्रमशः अन्य बाह्येन्द्रियाँ भी उसके ज्ञान में सहायक होती हैं। इस अवस्था में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही पर मनुष्य निर्भर रहता है। अतएव यह चार्वाकदर्शन के अनुकूल है और हम इसे चार्वाकदर्शन का व्यवहारिक बाह्यस्वरूप कह सकते हैं। इस अवस्था में मनुष्य अपनी देह के अतिरिक्त आत्मा नामक किसी अन्य पदार्थ को नहीं जानता है। 'अहं गौरः' 'अहं कृष्णः' इत्यादि अनुभवों में 'अहं' शब्द से शरीर ही का बोध होता है। अर्थात् जिस प्रकार चार्वाक मतावलम्बी देह आदि से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते उसी प्रकार इस अवस्था में मनुष्य भी आत्मा का कोई अतिरिक्त अस्तित्व नहीं मानता है।

किन्तु वास्तव में संसार में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से कार्य नहीं चल सकता है तथा यह भी इसके अनन्तर अत्यावश्यक हो जाता है कि हम आत्मा को देहादि से पृथक् मानें। यह हम न्याय वैशेषिक दर्शन में मिलता है। इस दर्शन में सबसे प्रथम आत्मा का अस्तित्व साधन किया गया है किन्तु यहाँ पर भी यह स्पष्ट ही है कि आत्मा में ज्ञान स्वभावतः वर्तमान नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य-जीवन में भी एक अवस्था होती है जब वह आत्मा के अस्तित्व को पृथक् तो मानता है किन्तु

उसमें ज्ञान स्वभावत वर्त्तमान है यह हृदय से मानने को तैयार नही है। अत: यह न्याय-वैशेषिक दर्शन की अवस्था कही जा सकती है।

इसके अनन्तर कुछ थोडी बुद्धि और जब बढती है तब मनुष्य यह भी समझने लगता है कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है। वस्तुत: आत्मा और चैतन्य मे कोई भी अन्तर नही है। यह अवस्था हमें साख्य मे मिलती है। अतएव यह साख्य-दर्शनावस्था कही जा सकती है। इसके वाद विशेष खोज करने पर तथा मनुष्य जीवन का चरम विकास होने पर यह भी प्रतीत होता है कि आत्मा न केवल चैतन्यस्वरूप ही है प्रत्युत यह आनन्द भी है। यह अद्वैत वेदान्त मे हमें मिलता है। अतएव मनुष्य की इस जीवनदशा को हम अद्वैतवेदान्तावस्था कह सकते है।

इस प्रकार न्याय दर्शन से लेकर अद्वैत वेदान्त पर्यन्त मे हमें सत्, चित् तथा आनन्द का पूरा पता लग जाता है और 'सच्चिदानन्द ब्रह्म' यह वाक्य अक्षरश अनुभूत हो जाता है। इसी को समझने के लिए जिज्ञासु के सभी प्रयत्न रहते है। इस प्रकार यद्यपि हमने केवल तीन प्रधान अवस्था के द्योतक तीन दर्शनो का ही विचार यहाँ किया है किन्तु वस्तुत: अन्य जितने दर्शन है सभी क्रमश अपने अपने स्वरूप के अनुसार भिन्न भिन्न स्थानो मे सन्निविष्ट हो सकते है। यह समझना बिलकुल भ्रम है कि एक ही तत्त्व के एक ही अश को एक ही दृष्टिकोण से सभी दर्शनो ने प्रतिपादन किया है। जो ऐसा समझते है उन्हे ही प्रतेक वात मे विरोध दिखाई पड़ता है। वस्तुत: भारतीय दर्शनो में परस्पर विरोध कही नही है। जो विरोध स्थूल दृष्टिवालो को मालूम होता है वह केवल अधिकारिभेद तथा दृष्टिकोण भेद को न समझने के कारण ही है। इन वातो को ध्यान मे रखते हुए विना किसी प्रकार की पक्षपात दृष्टि से जो दर्शन शास्त्र का अध्ययन करता है वही उसकें मर्म को समझ सकता है अन्य, नही।

घर की, उपवन की तानों में,
गीता-इञ्जील-कुरानों में।
हिन्दू, ईसाई या मुसलिम,
तुम हो सब के ईमानों में।
तुम गूँज रहे बन चेतन का स्वर,
जन जन के तन मन प्राणों में।

× × ×

पल-पल पग-पग तुम बढ़ते हो,
है तुमने लक्ष्य अमर देखा।
तुम चित्र बना रहे भावी का,
जब खींच रहे हैं सब रेखा।
तुम करते नित प्रत्यक्ष हमें,
जो रहा अभी तक अनदेखा।
तुम प्रेम सुधा ले पिला रहे—
लिखता जग लोहू का लेखा।

× × ×

पीड़ित मानवता के मन को,
सुख का मंगल सन्देश लिये।
अस्त्रों-शस्त्रों मय राष्ट्रों में,
हथियार रहित निज वेष लिये।
कर में लेकर वह सुधा-कलश,
पी-पी जिसको मृत देश जिये।
तुम आगे ही बढ़ते जाते,
पीछे सब देश विदेश किये।

× × ×

तुम कोटि-कोटि कण्ठों में मिल,
कहते हो युग-युग की वाणी।
पाते तुमसे सञ्जीवन का,
सञ्चार मिटे मानव प्राणी।
तुम अखिल विश्व-मानवता की,
संस्कृति के हो जीवन-दानी।
तुम बरसाते विश्वम्भर की,
वसुधा पर करुणा-कल्याणी।
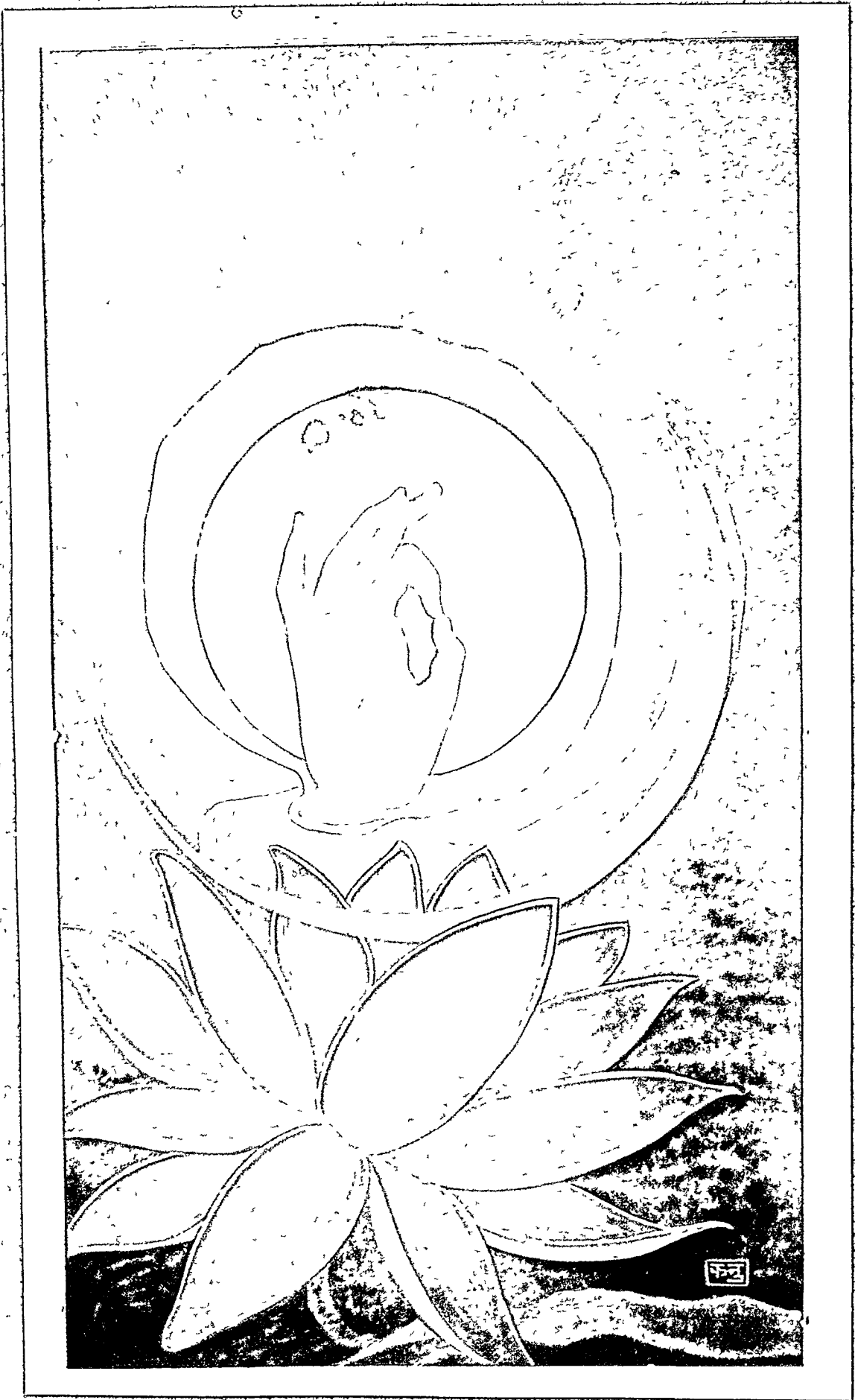
सत्यं शिवं सुन्दरम्

(चित्रकार—श्री कनु देसाई, अहमदाबाद)

प्राचीन भारत के शिक्षा केन्द्र

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, एम्० ए०,

शिक्षा की महत्ता तथा उसकी उपादेयता का ज्ञान भारत के विचारशील व्यक्तियो को पुरातन काल से रहा है। प्राचीन आर्यों ने जीवन को पूर्ण तथा सफलीभूत वनाने के लिए चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की व्यवस्था की थी। इनमे प्रथम स्थान धर्म को दिया गया था, जिसकी प्राप्ति ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए लगभग २५ वर्ष की आयु पर्यन्त गुरुओ के द्वारा ऐहिक तथा पारलौकिक ज्ञान उपलब्ध करने से होती थी। जीवन के इस प्रथमाश्रम की परीक्षा मे सफलता प्राप्त करने पर ही आर्य स्नातक अन्य गुरुतर आश्रमो मे प्रविष्ट हो सकने का वास्तविक अधिकारी था। वैदिक साहित्य तथा वाद के सस्कृत, प्राकृत आदि साहित्यो मे शिक्षा के गौरव सम्वन्धी जो अनेक कथन मिलते है उनसे प्रकट होता है कि भारतीय धर्मशास्त्रकारो ने जीवन मे शिक्षा को कितना ऊँचा स्थान दिया था। भारतीय राष्ट्र तथा जनता ने सम्मिलित उद्योग से अनेक विश्वविद्यालय तथा प्रचुर सख्या मे विद्यालय और पाठशालाएँ खोलकर देशभर मे ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि और उनके सवर्धन के सुगम साधन प्रस्तुत किए। यहाँ पर शिक्षा के इन प्राचीन केन्द्रो का सक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

विश्वविद्यालय और महाविद्यालय

(१) **तक्षशिला**—यह स्थान आधुनिक पजाव प्रान्त मे रावलपिण्डी से २६ मील उत्तर-पश्चिम मे स्थित है। यहाँ के विस्तृत खँडहरो मे प्राचीनकाल मे गाधार प्रदेश की समृद्ध राजधानी तक्षशिला नगरी स्थित थी। इसके एक ओर ग्रीक तथा ईरानी संस्कृतियो का प्रसार था और दूसरी ओर भारतीय तथा चीनी संस्कृति फैली हुई थी। तक्षशिला इन सवका केन्द्र था। इन सस्कृतियो मे पारस्परिक आदान-प्रदान छठी शताव्दी ई० पू० से अधिक वढा। लगभग ५५० ई० पूर्व से लेकर ई० ५५० तक गाधार प्रदेश क्रमश ईरानी, मौर्य, यवन, पह्लव, शक, कुषाण तथा हूण शासको के अधिकार मे रहा। इनमे मौर्यो को छोड़कर सभी वश विदेशी थे। ग्यारह शताब्दियो के इस दीर्घ काल मे तक्षशिला ही पश्चिमोत्तर प्रदेश (गाधार) की राजधानी वनी रही। उपर्युक्त विदेशियो के आगमन से इस प्रदेश मे राजनैतिक उत्थान-पतनो के साथ साथ भारतीय समाज तथा शिक्षा के भी क्षेत्र मे अनेक परिवर्तन हुए।

प्राचीन भारत के शिक्षा केन्द्र

गांधार प्रदेश वैदिककाल से शिक्षा और संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र था। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में अनेक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इस प्रदेश की राजधानी तक्षशिला विद्या और कला के लिए प्रख्यात थी। बौद्ध ग्रंथों, विशेषतः जातकों, से विदित होता है कि तक्षशिला नगरी में ई० पू० सातवीं शताब्दी में उत्तर-पश्चिम भारत का सर्वश्रेष्ठ विश्व विद्यालय स्थापित हो चुका था। इसमें मथुरा, कोशल, मगध, कलिंग और उज्जैन तक के राजकुमार तथा मध्यम वर्ग के विद्यार्थी ज्ञान विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त करने आते थे। कोशल के युवराज प्रसेनजित ने यहीं शिक्षा पाई थी। (जातक सं० २५२, ३७८)। कुमार जीवक माग के अनेक कष्टों की परवाह न करते हुए एवं सहस्र मील की यात्रा कर तक्षशिला विश्व विद्यालय पहुँचे और वहाँ सात वर्षों के कठोर परिश्रम से शल्य विज्ञान का कुछ ही अंश सीख सकने में सफल हुए (महावग्ग, अ० ८)। पाणिनि, पतंजलि और चाणक्य जैसे धुरंधर वैयाकरण और महान् राजनीतिज्ञ इसी विद्यालय के स्नातक थे।

तक्षशिला विश्व विद्यालय में 'जगद्विख्यात शिक्षकों' के द्वारा वेद, वेदांग, षड्दर्शन, पाश्चात्य दर्शन, व्याकरण, साहित्य, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र तथा समरशास्त्र की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। भूगर्भ विज्ञान, समरशास्त्र (विशेषकर धनुर्विद्या) तथा शल्य चिकित्सा के शिक्षण की व्यवस्था प्राचीन भारत में यहीं सर्वोपरि थी। महासुतसोम जातक (सं० ५३७) के अनुसार छठी शताब्दी ई० पू० में धनुर्विद्या की कक्षा में १०३ युवराज थे। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि तक्षशिला में १८ शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी (जातक सं० १८५, २५६, ४१६, मज्झिमनिकाय, भाग १, पृ० ८५)। ये शिल्प कृषि, व्यापार, अश्वायुर्वेद, वास्तुकला, चित्रकला, गरुडविद्या, सर्पविद्या, भूतविद्या तथा देवविद्या आदि थे। इनमें से कुछ का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् (७, १२) में भी है। मिलिन्द (मेनंडर) ने तक्षशिला में ही शिक्षा पाई थी। मिलिन्द-पन्ह (भाग १, पृ० ६) के अनुसार वह उपर्युक्त सभी शिल्पों का ज्ञाता था। सभी भारतीय वर्णों तथा विदेशियों की सद् शिक्षा के कारण तक्षशिला विश्व विद्यालय शताब्दियों तक चातुर्दिक शिक्षण का केन्द्र बना रहा। इस विद्यालय को अश्वघोष, नागार्जुन तथा चरक जैसे प्रकाण्ड विद्वानों का सान्निध्य प्राप्त था।

विभिन्न विदेशी आक्रान्ताओं के समय समय पर आगमन से तक्षशिला की शिक्षा प्रणाली में भी तदनुकूल परिवर्तन अवश्यम्भावी थे। ईरानियों का आधिपत्य होने पर राजकीय भाषा ब्राह्मी का स्थान खरोष्ठी ने ले लिया। यह उस काल के उपलब्ध अभिलेखों से प्रकट होता है। विश्वविद्यालय में खरोष्ठी के लेखन और शिक्षण की व्यवस्था इसी काल से प्रारम्भ हुई होगी। ३२७ ई० पू० में पंजाब पर सिकन्दर का आक्रमण हुआ, जिसके फलस्वरूप तक्षशिला के विश्वविद्यालय में यूनानी ज्योतिष, दर्शन और समरशास्त्र के विशेष अध्ययन की नींव पड़ी। यूनानी मुद्राशास्त्र तथा मूर्तिकला के अध्ययन का भी सुअवसर इसी समय प्राप्त हुआ। ये कलाएँ आगे बराबर बढ़ती रहीं। मौर्यों के एक शताब्दी (३२५-२२५ ई० पू०) के आधिपत्य में मौर्य-सम्राटों का पश्चिमी देशों से मैत्री-सम्बन्ध दृढ़ हुआ और इस काल में पौर्वात्य तथा पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान का विशद तुलनात्मक अध्ययन हुआ। २२५ ई० पू० से लेकर लगभग १०० ई० पूर्व तक पुनः यवनों का आधिपत्य तक्षशिला पर रहा। इस काल में समरशास्त्र, मुद्राशास्त्र और मूर्तिकला का शिक्षण अधिक उन्नत हुआ। गांधार-कला का श्रीगणेश इसी समय हुआ। यह कला पश्चिमोत्तर भारत में शनैः शनैः बढ़ने लगी। भारतीयों तथा यूनानियों ने एक दूसरे के दर्शन शास्त्र का विशद अध्ययन किया, जैसा कि फिलास्ट्रेटस आदि ग्रीक लेखकों के लेखों से ज्ञात होता है। यूनानियों तथा कतिपय भारतीयों के लिए यूनानी भाषा में शिक्षा देने की भी व्यवस्था हुई। शकों और कुषाणों के राज्यकाल में भी तक्षशिला की बड़ी उन्नति हुई। विशेषतः इसी विश्व विद्यालय में शिक्षित होने तथा उसमें धर्मोपदेश सुनने के कारण यूनानी, शक, पह्लव तथा कुषाण अधिकांश में बौद्ध और हिन्दू हो गए थे। २२५ ई० के बाद से किदार कुषाणों के आधिपत्य में तक्षशिला के शिक्षालय की अवनति होने लगी। अत्याचारी हूणों ने लगभग ५०० ई० में सरस्वती की इस महती शाला को नष्ट कर दिया।

तक्षशिला के स्नातक न केवल भारत के विभिन्न भागों में शिक्षण कार्य करने आते थे, अपितु विदेशों में भी ज्ञान-विज्ञान की ज्योति प्रदीप्त करते थे। अर्हत वैरोचन ने प्रथम शताब्दी ई० पू० में सबसे पहले खोतन जाकर वहाँ बौद्ध धर्म

का प्रचार किया। काश्यप, मातंग तथा धर्मरक्ष ने प्रथम शताब्दी मे चीन सम्राट् मिंग-ती के अनुरोध से चीन मे जाकर बौद्ध ज्ञान का प्रसार किया। इसके अनन्तर धर्मरक्ष (२४०-३१८ ई०), धर्मप्रिय (३८२ ई०) तथा गुणवर्मन् (३६७-४३१ ई०) आदि विद्वानो ने विदेशो मे भारतीय-सस्कृति का आलोक फैलाया था।

(२) **मध्यमिका**—आधुनिक चित्तौड से ६ मील उत्तर-पूर्व नगरी नामक स्थान है, जिसे प्राचीन काल मे मध्यमिका या ताँवावती कहते थे। शिवि नामक गणतत्र का प्रधान केन्द्र यही था। शिवियो के सिक्के, जिनपर 'मझमिकाय शिविजानपदस' लेख रहता है, नगरी और उसके आसपास के प्रदेश से प्राप्त हुए है। तृतीय शताब्दी ई० पू० मे यूनानियो के लगातार आक्रमणो से पजाव की स्वातत्र्यप्रिय वीर जातियाँ—शिवि, मालव, कुणिद, यौधेय आदि—दक्षिण-पूर्व को चलकर राजपूताना मे वस गई थी, तथा अन्य समीपस्थ प्रदेशो मे अपना प्रसार धीरे धीरे करने लगी थी।

तृतीय शताब्दी ई० पू० से मध्यमिका की समृद्धि वढी। यह नगरी गणराज्यो की शिक्षा का केन्द्र हुई। गणो के संगठन तथा उनकी सामरिक शिक्षा आदि का यहाँ उत्तम प्रवन्ध था। अपने दृढ़ संगठन तथा युद्ध-प्रवीणता के कारण ही ये गणराज्य शताब्दियों तक अपनी स्वतत्रता वनाये रख सकने मे सफल हुए। यूनानियो तथा शकों ने अनेक वार इनको नष्ट करने के प्रवल प्रयत्न किए। परन्तु वीर मालवो, कठो और क्षुद्रको आदि ने सिकन्दर जैसे प्रतापी शत्रु के भी दाँत खट्टे कर दिए थे। द्वितीय शताब्दी ई० पू० मे जव मिलिन्द ने मध्यमिका पर हमला किया तव अग्निमित्र शुग के वीर पुत्र वसुमित्र ने उसे परास्त कर यवनो को वहाँ से खदेड दिया। मध्यमिका विद्यालय की शिक्षा-प्रणाली के विषय मे विशेष वृत्तान्त नही मिलता। समरशास्त्र का अध्ययन यहाँ विशेष रूप से होता रहा होगा। यह शिक्षा गणो के सभी युवको के लिए अनिवार्य थी। इसी कारण कुछ गणो का नाम ही 'आयुधजीवीसंघ' पड़ गया था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे भी इन सघो का उल्लेख किया है। (अर्थशास्त्र, ९।१; २।१, ३४)।

(३) **मथुरा**—यह नगरी भारत की प्राचीन सप्तमहापुरियो मे से एक है। इसका दूसरा नाम मधुपुरी भी मिलता है। भगवान् कृष्ण की लीलाभूमि होने का सौभाग्य इसी नगरी को प्राप्त हुआ। मथुरा शताब्दियों तक भारतीय धर्म और सस्कृति का केन्द्र रही। सातवी शताब्दी ई० पू० से लेकर ई० वारहवी शताब्दी तक जैन तथा वौद्ध धर्मो का भी यहाँ प्राधान्य रहा। मथुरा मे खुदाई के द्वारा उपलब्ध अनेक अवशेषों से इसकी पुष्टि होती है। जैनो का सवसे प्राचीन ('देवनिर्मित') स्तूप, जिसका उल्लेख एक अभिलेख मे प्राप्त होता है, लगभग सातवी शताब्दी ई० पू० मे मथुरा मे वना। इस समय से लेकर मथुरा मे मूर्ति-निर्माण-कला की वरावर उन्नति होती रही और यहाँ की विशिष्ट कला का नाम ही 'माथुर कला' प्रख्यात हुआ।

मथुरा का विद्यालय दीर्घकाल तक कला का प्रमुख शिक्षाकेन्द्र वना रहा। यहाँ भारत के प्रसिद्ध कलाविद् विभिन्न ललित कलाओ की व्यावहारिक शिक्षा देते थे। कौशावी, काशी, श्रावस्ती, पाटलीपुत्र तथा सुदूर दक्षिण के अमरावती प्रदेश से विद्यार्थी मथुरा मे कला की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते थे। इन स्थानो मे प्राप्त कला की कृतियो से ज्ञात होता है कि ये प्रदेश मथुरा-कला के कितने ऋणी है। भाँति भाँति के मनोहर तोरण, द्वारस्तभ, सूची, वेदिका स्तभ, सिरदल तथा आयागपट्ट आदि यह उद्घोषित करते है कि मथुरा के कलाविद् प्रकृति तथा मानव-भावो के अकन मे कितने सिद्धहस्त थे। कुषाणकाल तथा गुप्त-काल मे भारतीय कला ने जो सजीवता, विशिष्टता तथा उत्कृष्टता प्राप्त की वह स्वर्णाक्षरों मे अंकित करने योग्य है। मध्यकाल (६००-१२०० ई०) मे भी माथुर कला की विशदता तथा समृद्धि अतीव प्रशंसनीय है।

(४) **अहिच्छत्र**—यह नगर आधुनिक रामनगर है जो वरेली से २० मील पश्चिम मे स्थित है। महाभारत काल मे अहिच्छत्र उत्तरी पाचाल की राजधानी था। इस राज्य का प्रसार उस काल मे उत्तर मे हिमालय से लेकर दक्षिण मे चम्वल नदी तक था। महाभारत मे (आदिपर्व, अ० १६८) अहिच्छत्र का दूसरा नाम छत्रवती भी मिलता है। द्रोणाचार्य ने उत्तर पांचाल को द्रुपद से छीन लिया था। उस समय से अहिच्छत्र धनुर्विद्या का प्रमुख केन्द्र वन गया था। महाभारत के अनुसार कौरव-पाडवों ने द्रोणाचार्य से ही धनुर्विद्या की शिक्षा प्राप्त की थी।
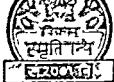
अहिच्छत्र की वर्तमान खुदाई से अनेक महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनसे इस स्थान की प्राचीनता तथा अन्य विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। शुंगों के उत्तराधिकारी 'मित्र' राजाओं के सिक्के बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि अहिच्छत्र उत्तर भारत में ब्राह्मण धर्म के प्रधान केन्द्रों में से था। गुप्तकाल तथा मध्यकाल की अनेक सुन्दर मिट्टी की देव-मूर्तियां, खिलौने तथा मुहरें मिली हैं। इनसे प्रकट होता है कि अहिच्छत्र में ललितकला, विशेषतः मूर्तिकला तथा मुद्रानिर्माण कला के शिक्षण की व्यवस्था रही होगी। जहाँ मथुरा में जैन तथा बौद्ध धर्मों का प्राबल्य था, वहाँ अहिच्छत्र में ब्राह्मण धर्म का। ह्वेन्सांग के समय में बौद्ध धर्म के भी अनेक मठ वहाँ हो गए थे। उसके लेख से ज्ञात होता है कि उस समय (सातवीं शताब्दी में) वहाँ १० मठ थे, जिनमें एक सहस्र भिक्षु रहते थे और धर्म तथा विद्याभ्यास में लोगों की बहुत प्रवृत्ति थी।

(५) कान्यकुब्ज (कन्नौज)—यह स्थान फर्रुखाबाद जिले में काली नदी के पश्चिमी किनारे पर बसा है। इसके प्राचीन नाम कान्यकुब्ज, कन्याकुब्ज, गाधिपुर, महोदय, कुशस्थलपुर आदि मिलते हैं। रामायण, महाभारत, हरिवंश और पुराणों में इस नगर के वर्णन तथा तत्सम्बन्धी अनेक कथाएँ मिलती हैं। प्राचीन काल में यहाँ राजर्षि गाधि की राजधानी थी। विश्वामित्र भी यहीं रहे थे। कान्यकुब्ज भारतीय संस्कृति का बहुत काल तक प्रमुख स्थान रहा।

बौद्ध धर्म के आविर्भाव से कन्नौज में इस धर्म की भी स्थापना हो गई। भगवान् बुद्ध स्वयं यहाँ पधारे थे। सम्राट् अशोक ने यहाँ कई स्तूप बनवाए थे, जिनका चीनी यात्रियों ने उल्लेख किया है। गुप्तकाल में कन्नौज की उतनी उन्नति नहीं हुई जितनी पाटलिपुत्र, अयोध्या और उज्जैन की। परन्तु मध्यकाल के आरम्भ से लेकर बारहवीं शताब्दी के अन्त तक कान्यकुब्ज उत्तर भारत का मुख्य केन्द्र बना रहा। मौखरी, बैस, गुर्जर-प्रतिहार तथा गहड़वाल राजवंशों ने कन्नौज को ही अपनी राजधानी बनाए रक्खा।

राजनीतिक केन्द्र होने के साथ साथ कन्नौज इस दीर्घ काल में विद्या का भी केन्द्र बना रहा। महाकवि और नाटककार भवभूति तथा कविराज वाक्पतिराज यशोवर्मा के समय में कन्नौज में वर्तमान थे। 'मुद्राराक्षस' के कर्त्ता विशाखदत्त मौखरी नरेश अवन्तिवर्मा के समय महोदय की श्री को बढ़ा रहे थे। धावक, चन्द्रादित्य जैसे विद्वानों के अतिरिक्त प्रकाण्ड पंडित बाणभट्ट हर्षवर्धन के समय में कान्यकुब्ज के विद्यावैभव की पताका फहरा रहे थे। नवीं शताब्दी के आचार्य राजशेखर प्रतीहार शासक महीपाल के समय कन्नौज को गौरवप्रदान कर रहे थे तथा बारहवीं शताब्दी में महाकवि श्रीहर्ष जयचन्द्र की सभा के रत्न थे। इन प्रख्यात कवियों तथा विद्वानों के सम्पर्क से कन्नौज के महाविद्यालय को बड़ा प्रोत्साहन तथा गौरव मिला होगा। सातवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के दीर्घ काल में कान्यकुब्ज व्याकरण, साहित्य, नाट्यकला, छंदशास्त्र तथा अन्य ललितकलाओं का प्रमुख केन्द्र बन गया। इनके शिक्षण की व्यवस्था भी बड़ी सन्तोषजनक रही होगी। यद्यपि इस सम्बन्ध में विशेष ज्ञात नहीं है तो भी ईशानवर्मा, अवन्तिवर्मा, यशोवर्मा, प्रभाकरवर्धन, हर्षवर्धन, मिहिरभोज, महीपाल, गोविन्दचन्द्र और जयचन्द्र जैसे विद्वान तथा शिक्षा प्रेमियों के द्वारा अवश्य ही अपने यहाँ के विश्व-विद्यालय को सुव्यवस्थित तथा उन्नत बनाने के लिए सभी प्रयत्न किए गए होंगे। बाणभट्ट के वर्णनों से ज्ञात होता है कि कान्यकुब्ज विद्या का आकर था, श्री और सरस्वती का यहाँ पर समान उत्कर्ष था। ह्वेन्सांग के वर्णन से प्रकट होता है कि इस यात्री के आगमन के समय (७वीं शताब्दी) में कान्यकुब्ज के निवासी विद्याव्यसनी तथा धार्मिक चर्चा-परायण थे। भाषा की शुद्धता सर्वप्रसिद्ध थी। कई सौ संघाराम थे जिनमें दस सहस्र साधु निवास करते थे। दो सौ देवमन्दिर भी थे। विभिन्न धर्मवालों में धार्मिक शास्त्रार्थ हुआ करते थे। सम्राट हर्षवर्धन के द्वारा आयोजित कन्नौज के धर्म-सम्मेलनों से व्याख्यान तथा शास्त्रार्थ की प्रवृत्ति को बहुत प्रेरणा मिलती थी। राजशेखर ने काव्यमीमांसा (१, १०) में 'राजसभा' का उल्लेख किया है, जिसमें विद्यालय में शिक्षा समाप्त किए हुए स्नातकों की परीक्षा तथा उनका सम्मान प्रदर्शन होता था। काव्य-चर्चा, कवि-सम्मेलनों आदि का आयोजन भी इन सभाओं के द्वारा होता था।

(६) अयोध्या—यह स्थान फैजाबाद के समीप सरयू नदी पर बसा हुआ अद्यावधि हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। प्राचीन महापुरियों में सर्वप्रथम अयोध्या का ही उल्लेख है। बौद्ध ग्रंथों में इसे साकेत कहा गया है, जिसका उल्लेख

टालेमी ने भी 'सगद' नाम से किया है। अयोध्या प्राचीन कोशलदेश की राजधानी थी। वाल्मीकि रामायण से ज्ञात होता है कि इक्ष्वाकुवंशी शासको के समय मे अयोध्या सर्वतोमुखी उन्नत दशा पर थी। कुमारो के लिए यहाँ वेद, वेदांग की शिक्षा के अतिरिक्त राजनीति, वार्ताशास्त्र तथा समरशास्त्र की शिक्षा का प्रवन्ध था। महाराज दशरथ तथा श्रीराम के समय (लगभग २००० ई० पू०) अयोध्या सम्पत्ति से परिपूर्ण होने के साथ विद्या से गौरवमयी थी। उसकी यह उन्नत दशा वहुत काल पीछे तक न्यूनाधिक परिवर्तनो के साथ वनी रही।

लगभग ७०० ई० पू० से लेकर ४०० ई० तक के काल मे अयोध्या के शिक्षालय की गति मन्द हो गई। इस काल में तक्षशिला, मथुरा, काशी और पाटलिपुत्र के विद्यालयो की उन्नति हुई। कोशल के राजकुमार प्रसेनजित तथा जीवक आदि ने तक्षशिला के सुदूरवर्ती विश्वविद्यालय मे शिक्षा प्राप्त की थी। गुप्तकाल, मे दीर्घावधि के पश्चात्, पुन अयोध्या को विस्तृत साम्राज्य की राजधानी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के आगमन से अयोध्या के विद्यालय को पुन प्रोत्साहन मिला। काव्यगोष्ठी तथा राजसभा के आयोजनो से साहित्य-सरिता फिर से प्रवाहित हुई। महाकवि कालिदास के काव्यो ने अयोध्या की दार्शनिक शुष्कता को शृंगाररस से आप्लावित कर दिया। अयोध्या के महा-विद्यालय ने इस स्वर्णयुग मे महाकवियो, कलाविदो तथा दैवज्ञो के साहाय्य से प्रचुर उन्नति की होगी और प्रदेशान्तरो से आए हुए विद्यार्थियो की ज्ञान-पिपासा को शान्त किया होगा। अयोध्या के शिक्षालय ने मध्यकाल मे भी वाग्देवी की आराधना की पूर्व परम्परा को स्थिर रक्खा होगा।

(७) **काशी**—काशी या वाराणसी नगरी, जो सप्तमहापुरियो मे से एक है, प्राय चार सहस्राब्दियो से भारतीय संस्कृति के प्रधान केन्द्रो मे रही है। वैदिक साहित्य (अथर्व०, पिप्पलाद शाखा, ५-२-२२) मे भी इस नगरी का उल्लेख है। परन्तु वैदिक काल मे काशी को वह गौरव नही प्राप्त था जो उसे कालान्तर मे प्राप्त हुआ।

काशी का प्राचीन विश्वविद्यालय तक्षशिला के विश्वविद्यालय से कुछ समय वाद ई० पू० छठी शताव्दी से प्रारंभ हुआ। इस काल के पहले भी काशी मे छोटे शिक्षालय रहे होगे। तक्षशिला विश्वविद्यालय की महत्ता वहुत समय तक अक्षुण्ण वनी रही। वौद्ध ग्रथो से ज्ञात होता है कि काशी, कोशल, पाटलिपुत्र आदि के विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए एक सहस्र मील दूर स्थित तक्षशिला के लिए प्रस्थान करते थे (जातक, १३०, ४३८, ४४७ आदि)।

भगवान् वुद्ध ने अपनी प्राथमिक शिक्षाएँ सारनाथ मे देकर काशी का गौरव वढाया। शैशुनाग नरेश विम्वसार तथा तथा अजातशत्रु ने पाटलिपुत्र मे वड़ा शिक्षालय न होने से काशी के ही विद्यालय को अपनी संरक्षकता प्रदान की। प्रियदर्शी सम्राट् अशोक के समय काशी मे प्रवल धार्मिक लहर उठी और वौद्ध तथा ब्राह्मण दोनों धर्मो मे सजगता आई। मौर्य शासनकाल मे ब्राह्मी लिपि तथा प्राकृत भाषा की विशेष उन्नति हुई। शुगों के समय मे प्राकृत का स्थान संस्कृत ने लिया और हिन्दू धर्म प्रवल हुआ, परन्तु कुषाणो के राज्यत्वकाल मे पुन वौद्धधर्म का पलड़ा ऊँचा हुआ। इस काल मे वौद्धिक ज्ञान के शिक्षण के साथ-साथ मूर्तिकला की भी शिक्षा विद्यालय के पाठ्यक्रम का अग वन गई। गुप्तोत्कर्षकाल मे काशी मे वौद्ध धर्म का ह्रास हुआ और सस्कृत भाषा शिक्षा का प्रधान माध्यम वनी। काशी के महाविद्यालय मे पहले वेद, वेदांग, व्याकरण, तर्क और न्याय की ही विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी, परन्तु अव साहित्य के विभिन्न अगों तथा व्यावहारिक शास्त्रो की भी शिक्षा आधिक्य से दी जाने लगी। तत्त्वज्ञान की उच्च शिक्षा तथा शास्त्रार्थ का केन्द्र भी काशी मे हुआ। शकराचार्य जैसे प्रकाण्ड विद्वान् अपनी विद्वत्ता को प्रमाणित करने के लिए काशी आए थे। ह्वेन्सांग के समय मे काशी मे विद्या और धर्म का प्रधान केन्द्र था। अलवरूनी की यात्रा के समय (११वी शताव्दी) मे भी यही दशा थी। गहडवाल शासकों के दानपत्रो से ज्ञात होता है कि उन्होने अनेक अग्रहार ग्राम काशी के ब्राह्मणो को दान मे दिए थे। ये ब्राह्मण इन ग्रामों मे अवैतनिक रूप मे नि.शुल्क प्रारभिक शिक्षा प्रदान करते थे।

मुसलमानो के राज्यकाल मे भी काशी उत्तर भारत मे संस्कृत शिक्षा का प्रधान केन्द्र रही। १७वी शताव्दी के यात्री वर्नियर ने (ट्रैवेल्स, पृ० ३४१) लिखा है कि काशी के अनेक शिक्षालयो मे शिक्षक थोड़े थोड़े विद्यार्थियो को अपनी

सरक्षकता में रखकर शिक्षा देते थे। शिक्षा की यह प्रणाली काशी म १९वीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही और उसकी स्मृति कुछ अंशो में यहाँ अब भी अवशिष्ट है।

(८) पाटलिपुत्र—यह नगर आधुनिक बिहार प्रान्त के पटना शहर तथा उसकी समीपस्थ भूमि पर स्थित था। शैशुनाग राजा उदयादव ने ५०० ई० पू० के लगभग मगध की राजधानी गिरिव्रज से हटाकर पुष्पपुर या पाटलिपुत्र में स्थापित की थी। इस नगर को क्रमश शैशुनाग, नन्द, मौर्य, शुग, काण्व तथा गुप्त शासकों की राजधानी होने का सौभाग्य लगभग ११ शताब्दियों के दीर्घ काल तक प्राप्त हुआ।

पाटलिपुत्र के महाविद्यालय की स्थापना काशीवाले विद्यालय से कुछ समय बाद हुई। यहाँ आयुर्वेद, विशेषकर शल्य चिकित्सा, के शिक्षण की उत्तम व्यवस्था थी। तक्षशिला के बाद यहीं का नम्बर था। अग्निवेशसंहिता, चरक और सुश्रुत पर योग्य विद्वानों द्वारा व्याख्यान दिए जाते थे। अशोक के समय से पाटलिपुत्र में अनेक बड़े चिकित्सालय खुले जिनमें विद्यार्थियों को शल्य शास्त्र (सर्जरी) की व्यावहारिक विधि बताई जाती थी। अश्वायुर्वेद की भी शिक्षा यहाँ दी जाती थी। चिकित्सालयों में डाक्टरों की ट्रेनिंग की भी व्यवस्था थी। मिलिन्दपह (भाग २, पृ० २५४-५५) में सर्जरी की प्रणाली का विशद रूप से वर्णन है, जिसकी उपर्युक्त व्यवस्था पाटलिपुत्र के विद्यालय में थी। फाह्यान और ह्वेनसांग ने भी यहाँ के चिकित्सालयों का उल्लेख किया है।

अरब के खलीफा पाटलिपुत्र के चिकित्सालयों म ट्रेनिंग पाए हुए डाक्टरों को अपने यहाँ बड़े सम्मान से नियुक्त करते थे। वे अपने यहाँ के हकीमों को भी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला तथा पाटलिपुत्र जैसे भारत के उन्नत शिक्षालयों में भेजते थे। आठवीं शताब्दी म खलीफा हारूँरशीद ने व्याधि विज्ञान तथा शल्य चिकित्सा म दक्षता प्राप्त करने के लिए अपने कई हकीमों को भारत भेजा और तीन भारतीय डाक्टरों को अपने यहाँ बुलाया। वे वहाँ के चिकित्सालयों के अध्यक्ष नियुक्त किए गए। चरक और सुश्रुत के अनुवाद भी इन्हीं विद्वानों के द्वारा अरबी में कराए गए। इन विद्वानों में माणिक्य तथा धन्वन्तरि प्रमुख थे।

राजनीतिक केन्द्र होने के कारण पाटलिपुत्र को अनेक उद्भट विद्वानों के आवास-स्थल होने का सौभाग्य प्राप्त था। कात्यायन (५वीं शताब्दी ई० पू०), चाणक्य तथा मेगस्थनीज (चौथी शताब्दी ई० पू०), उपगुप्त (तृ० श० ई० पू०), आर्यभट्ट (५वीं शताब्दी) आदि प्रकाण्ड पंडितों ने अपने जीवन का दीर्घकाल यहीं व्यतीत किया। पाटलिपुत्र के शिक्षालय में राजनीति शास्त्र तथा वार्ताशास्त्र की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध मौर्यों के शासनकाल से प्रारंभ हुआ। अर्थशास्त्र तथा मेगस्थनीज के वृत्तान्त से इस विषय पर बहुत प्रकाश पड़ता है। राजकुमारों के लिए विविध प्रकार की शिक्षा का आयोजन पाटलिपुत्र म ही किया गया। इसके लिए उन्हें तक्षशिला भेजने की आवश्यकता अब न थी। बौद्ध तत्त्वज्ञान के उच्च शिक्षण की व्यवस्था भी अशोक के समय से हुई होगी। बौद्ध आचार्य उपगुप्त की सहायता से अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के अनेक सुगम उपाय निकाले थे। पाली और ब्राह्मी मौर्यकाल में शिक्षण के माध्यम रहे। शुग, काण्व तथा गुप्त शासकों के समय संस्कृत अधिक प्रतिष्ठित हुई, तथा ब्राह्मण धर्म का उत्कर्ष हुआ। गुप्त साम्राज्य का अन्त होने पर पाटलिपुत्र के शिक्षालय की भी अवनति होने लगी। इस समय से समीपस्थ नालन्दा तथा विक्रमशिला के विश्व विद्यालय अधिक उन्नत हुए और उनके सामने पाटलिपुत्र के विद्यालय की महिमा घटने लगी।

(९) नालन्दा—इस नगरी के भग्नावशेष बिहार प्रान्त के पटना जिले में राजगृह से ८ मील पश्चिमोत्तर अब भी दृष्टिगोचर है। प्राचीनकाल में यह बड़ी समृद्ध नगरी थी।

नालन्दा में ई० पाँचवीं शताब्दी म विश्व विद्यालय की स्थापना हुई। इस समय तक्षशिला का महान् विश्व विद्यालय नष्टप्राय हो चुका था, और उत्तर भारत मे अन्य कई विद्यालय उन्नति पर थे। तक्षशिला के शिक्षालय का स्थान इस काल में नालन्दा ने ले लिया और पूरी सात शताब्दियों तक वह उत्तर भारत के विद्यालयों में अग्रगण्य रहा। गुप्त शासकों की सरक्षकता में नालन्दा के बौद्ध विद्यालय ने आशातीत उन्नति की। धर्म तथा विद्या के क्षेत्र म गुप्तों की विशाल हृदयता का

परिचय इससे मिलता है। कुमारगुप्त प्रथम, तथागतगुप्त, नरसिंहगुप्त, वालादित्य, बुधगुप्त तथा वज्र आदि ने शिक्षा के इस महान् केन्द्र की उन्नति के लिए मुक्तहस्त होकर भूमि तथा धन का दान किया। मिहिरकुल के मगध पर आक्रमण से तथा हर्ष-शशांक युद्ध से नालन्दा के विश्व-विद्यालय को अवश्य कुछ क्षति पहुँची होगी परन्तु वह विशेष आपत्तिकारक नही थी।

ह्वेन्सांग की नालन्दा-यात्रा के समय वहाँ का विद्यालय पूर्ण उन्नति पर था। उसके विशाल भवनों ने चीनी यात्री का मन मुग्ध कर लिया था (वाटर्स—युवान्च्वाग, २, पृ० १६४-७१)। इस विस्तृत विश्व-विद्यालय का, जिसके चारों ओर चहार दीवारी थी, ह्वेन्साँग ने जी खोलकर वर्णन किया है। यशोवर्मन् के शिलालेख से भी नालन्दा के गगनचुम्बी शिखरो का ज्ञान प्राप्त होता है। (एपि० इंडि०, भाग २०, पृ० ४३)।

ह्वेन्साग के जीवन-चरित्र लेखक ने लिखा है कि चीनी यात्री की नालन्दा-यात्रा के समय मे वहाँ दस सहस्र भिक्षु शिक्षा प्राप्त करते थे। (बील, लाइफ, पृ० ११२)। इत्सिग के समय विद्यार्थियो की संख्या तीन सहस्र थी। इनके शिक्षण के लिए एक सहस्र शिक्षक नियुक्त थे। नालन्दा की खुदाई से मिले हुए इमारतो आदि के अवशेषों से ज्ञात होता है कि भिक्षुओ की संख्या अवश्य बहुत बडी रही होगी। उनके निवास तथा पठन-पाठन के लिए सभी प्रकार के प्रवन्ध थे।

ह्वेन्साग के वर्णन से ज्ञात होता है कि नालन्दा के शिक्षक और विद्यार्थी नियमपूर्वक विद्याध्ययन मे अपना अधिकांश समय व्यतीत करते थे। वे दिन-रात तर्क-सम्मत शास्त्रार्थ के द्वारा अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करते थे। विदेशों से अनेक विद्वान् अपनी जटिल समस्याओ को सुलझाने के लिए नालन्दा आते थे। नालन्दा की इतनी ख्याति हो गई थी कि यहाँ के शिक्षालय मे अपनी शिक्षा-प्राप्ति का उल्लेख मात्र कर देने से स्नातक सभी जगह बड़ी प्रतिष्ठा से सम्मानित होते थे। प्रसिद्ध विद्वान् धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, जिनचन्द्र तथा शीलचन्द्र आदि नालन्दा विश्व-विद्यालय मे शिक्षक थे। ये शिक्षक केवल अध्यापन से संतुष्ट न थे, वे अपना शेष समय ग्रथों के संशोधन, अनुवाद तथा नवीन ग्रंथो के लेखन मे लगाते थे। वेद, वेदांग, हेतुविद्या, साख्य तथा शब्द-चिकित्सा की उच्च शिक्षा का नालन्दा विश्व-विद्यालय मे प्रवन्ध था। आठ वड़े कक्षो तथा तीन सौ छोटे कमरो मे व्याख्यानो आदि का प्रवन्ध था। प्रवन्धकों के द्वारा विशेषज्ञो से उच्च विषयो पर सौ व्याख्यान नित्य करवाए जाते थे। ह्वेन्सांग ने मुक्तकण्ठ से नालन्दा की शिक्षा-प्रणाली की प्रशंसा की है (वाटर्स, २, पृ० १६५)। इत्सिग ने भी यहाँ विद्याभ्यास कर अपने भाग्य की भूरिभूरि प्रशंसा की है (इत्सिग, पृ० ३०, १८५)।

नालन्दा के विश्व-विद्यालय मे प्रवेश पाना वलभी तथा विक्रमशिला के विद्यालयों से भी क्लिष्ट था। प्रविष्ट विद्यार्थियो के लिए विना मूल्य भोजन तथा वस्त्रादि का प्रवन्ध था। सैकड़ों गाँव इस विद्यालय के निमित्त लगे हुए थे। इस विश्व-विद्यालय की ख्याति इतनी वढ़ी थी कि सुमात्रा-जावा के नवी शताव्दी के शासक व्रालपुत्रदेव ने 'चातुर्दिश संघ' के निमित्त नालन्दा मे विहार वनवाया था (एपि० इडि० १७, पृ० ३१०)। चीन, कोरिया, तिव्वत, जापान आदि विदेशो से वड़ी संख्या मे विद्वान् नालन्दा आते थे तथा अनेक दुष्प्राप्य ग्रंथो की प्रतिलिपियाँ तथा अनुवाद करके स्वदेश ले जाते थे। भारतीय विद्वान् भी उक्त देशों से निमन्त्रित होकर वहाँ जाते और ज्ञान का विस्तार करते थे। नालन्दा का विशाल पुस्तकालय धर्मगज स्थान मे था और 'रत्नसागर', 'रत्नोदधि' तथा 'रत्नरजक' नामक तीन विभागो मे वँटा हुआ था। १२वी शताव्दी मे वंगाल के शासको का ध्यान विक्रमशिला विद्यालय की ओर अधिक आकृष्ट हुआ, तव से नालन्दा विश्व-विद्यालय की गति मन्द हुई। शीघ्र ही इसी शताव्दी के अन्त मे मुसलमानो द्वारा उसकी इतिश्री हो गई।

(१०) **विक्रमशिला**—यह नगर विहार प्रान्त के भागलपुर से २० मील पूर्व पथरघाट पहाड़ी पर वसा हुआ था। आठवी शताव्दी मे प्रसिद्ध पाल नरेश धर्मपाल ने इसमे वौद्ध शिक्षालय की स्थापना की थी। इसके लिए उसने १०८ मन्दिर तथा अनेक वड़े व्याख्यानालय वनवाए थे। विभिन्न शास्त्रो के शिक्षण के लिए १०८ शिक्षक नियुक्त थे।

लगातार चार शताव्दियो तक विक्रमशिला और तिव्वत मे ज्ञान-सम्पर्क वना रहा। तिव्वती साहित्य से ज्ञात होता है कि विक्रमशिला के विद्वान् ज्ञानपाद, विरोचन, रक्षित, रत्नाकर, रत्नवज्र तथा दीपंकर श्रीज्ञान आदि ने तिव्वत

जाकर वहाँ बौद्ध साहित्य के प्रचार का श्लाघ्य प्रयत्न किया। अन्तिम विद्वान दीपंकर श्रीज्ञान (९८२–१०५४ ई०) विक्रमशिला महाविद्यालय के 'महापंडित' थे। तिब्बत के राजभिक्षु ज्ञानप्रभ के निमन्त्रण से बाध्य होकर ये तिब्बत गए। उन्होंने जीवन का अन्तिम काल कठोर परिश्रम से धार्मिक सुधार और ग्रन्थानुवाद के कार्यों में बिताया। इनके लिखित, अनुवादित और संशोधित ग्रन्थों की संख्या सैकड़ों है।

बारहवीं शताब्दी में विक्रमशिला के शिक्षालय में तीन सहस्र विद्यार्थी अध्ययन करते थे। यहाँ अनेक अमूल्य ग्रन्थों से सम्पन्न विशाल पुस्तकालय था। इसकी प्रशंसा उसके नष्टकर्ता मुसलमानों ने भी जी खोलकर की थी।

पाल शासकों ने विद्यालय के प्रबन्ध के लिए एक कमेटी बना दी थी, जो शिक्षा की व्यवस्था तथा शिक्षकों और विद्यार्थियों के लिए सभी प्रकार की सुविधाओं का प्रबन्ध करती थी। विक्रमशिला के विद्यापीठ में प्रवेश पा जाना आसान काम नहीं था। प्रवेशार्थियों को पहले 'द्वार-पंडितों' के प्रश्नों का उचित उत्तर देकर प्रवेश-परीक्षा में सफल होने का प्रमाण-पत्र लेना पड़ता था। तभी वे उस विद्यालय में अध्ययन करने के उपयुक्त समझे जाते थे। कनक राजा के राजत्वकाल में आचार्य रत्नाकर शान्ति, काशी के वागीश्वर कीर्ति, नरोप, प्रज्ञाकरमति, काश्मीर के रत्नवज्र तथा गौड़ के ज्ञानश्री द्वार-पंडित थे।

इस महाविद्यालय में व्याकरण, न्याय और तत्वज्ञान का विशेषरूप से अध्ययन-अध्यापन होता था। इस शिक्षालय को उन्नत बनाने में बंगाल के शासकों का बड़ा हाथ था। वे अपने यहाँ के श्रेष्ठ स्नातकों को विशिष्ट उपाधियाँ प्रदान कर सत्कृत करते थे। जेतारि नामक विद्वान् को सम्राट महीपाल तथा रत्नवाहु को कनक नरेश ने उपाधियों के द्वारा मंडित किया था। दिग्गज विद्वानों की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए उनके चित्र शिक्षालय में रखे जाते थे। नागार्जुन, दीपंकर श्रीज्ञान आदि विद्वानों के तैल चित्र विद्यालय की भित्तियों को शोभित करते थे।

१२०३ ई० में बख्तियार खिल्जी ने इस महान् विद्यालय को, जहाँ से सरस्वती के उपासक शताब्दियों से ज्ञान-ज्योति का प्रसार कर रहे थे, नष्ट भ्रष्ट कर दिया। राजनीति-सम्बन्धी प्रपंचों से कोसों दूर भिक्षु और विद्यार्थी तलवार के घाट उतार दिए गए। भारत के इतिहास में यह बहुत बड़ी हृदयविदारक घटना है।

(११) वलभी—यह नगरी काठियावाड़ में वल नाम से अब भी प्रसिद्ध है और आजकल उस प्रान्त के व्यापारिक केन्द्रों में से है। यहाँ ४८० ई० से ७८० ई० तक मैत्रकों की राजधानी थी। ये राजा शैव थे, परन्तु बौद्ध धर्म पर भी श्रद्धा रखते थे। श्रम, कला कौशल और विद्या में इन शासकों की बड़ी आस्था थी और इनकी उन्नति के लिए उन्होंने अपनी धन धान्य सम्पन्न नगरी वल्भी में सभी प्रयत्न किए। भटार्क, ध्रुवसेन प्रथम और द्वितीय तथा धरसेन चतुर्थ के समय वल्भी के विद्यापीठ की बड़ी उन्नति हुई।

ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी में वलभी में कई सौ करोड़पति व्यक्ति थे और यह नगरी विदेशों से बहुमूल्य वस्तुओं के आयात निर्यात का केन्द्र थी। उस समय वहाँ लगभग सौ संघाराम थे, जिनमें छह सहस्र साधु निवास करते थे। कई सौ देव-मन्दिर भी थे जिनमें विरोधी सम्प्रदायों के लोग रहते थे (वाटर्स-युवानच्वांग २, पृ० २४६)। वल्भी में व्याकरण, तन्त्र और न्याय की उच्च शिक्षा के साथ सूत कातने-बुनने, व्यापारिक शिक्षा तथा अर्थशास्त्र के अन्य विविध अंगों की उच्च शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध था। वणिक लोग दूर दूर से आकर अपने व्यवसाय की शिक्षा यहाँ प्राप्त करते थे। कथासरित्सागर (३२, ४२) से ज्ञात होता है कि अन्तर्वेदी में वसुदत्त का पुत्र विष्णुदत्त उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से वल्भी आया था।

मध्यकाल के उत्तरार्ध (९००-१२०० ई०) में वल्भी और नालन्दा के विद्यालयों की इतनी ख्याति हो गई थी कि यहाँ के स्नातकों को राजदरबारों में विशेष सम्मान मिलता था (इत्सिंग, पृ० १७७)। धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में निपुण होने के कारण इन्हीं स्नातकों को सर्वप्रथम राज्य के शासन सम्बन्धी उच्च पदों पर नियुक्ति प्रदान की जाती थी।

बौद्ध शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् गुणमति और स्थिरमति वलभी के विश्व-विद्यालय मे ही प्रधानाध्यापक थे (इंडि० ऐंटि० भाग ६, पृ० ११)। ह्वेन्सांग ने भी इनका उल्लेख किया है। इत्सिंग के वर्णन से ज्ञात होता है कि भारत के प्राय: सभी भागों से आकर शिक्षार्थी कई वर्ष वलभी के विद्यालय में रहते थे और वहाँ के महामहोपाध्याय से अपनी शकाओं का समाधान करवाते थे। वलभी के शासक तथा धनाढ्य निवासी अपनी पुरी के महा-विद्यालय की उन्नति के लिए मुक्त-हस्त होकर दान देते थे। शासकवर्ग तथा जनता का यह सम्मिलित उद्योग शताब्दियो तक चलता रहा, जिसके परिणाम-स्वरूप वलभी के विद्यापीठ मे ज्ञान की ज्योति मैत्रक राज्य के अन्त होने पर भी वहुत काल तक प्रज्वलित रही।

(१२) उज्जयिनी—उज्जयिनी (आधुनिक उज्जैन) प्राचीन अवन्ति प्रदेश की राजधानी थी। इस नगरी की गणना भारत की सप्त-महापुरियो मे है। काशी तथा मथुरा की तरह उज्जयिनी भी पुरातन काल से भारतीय संस्कृति का केन्द्र रही है। प्राचीन साहित्य मे इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। मौर्यकाल मे मालव प्रदेश मे सुराष्ट्र, लाट, मालवा, कछ, सिन्ध और उत्तरी कोकण सम्मिलित थे। इस प्रदेश की राजधानी उज्जयिनी थी। मौर्यो के वाद गन्धर्वसेन (गर्दभिल्ल) के वंश ने मालव पर राज्य किया। फिर शको का कुछ काल के लिए शासन हुआ। विक्रमादित्य ने शकों को परास्त कर उज्जयिनी पर पुन. हिन्दू-सत्ता स्थापित की। लगभग ७५ ई०. से फिर शको का प्रावल्य हुआ और उनका अधिकार मालव- प्रदेश मे प्राय. तीन शताब्दियो तक रहा। चौथी शताब्दी के अन्त मे गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शको का मूलोच्छेदन कर मालव प्रान्त को विदेशी शासन से मुक्त कर दिया। इस समय से उज्जयिनी के विद्यालय की आशाजनक उन्नति हुई।

सम्राट् अशोक तथा संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य के समय मे उज्जयिनी के विद्यापीठ ने अधिक ख्याति प्राप्त की होगी। सातवाहन वंश की भी सत्ता कुछ समय के लिए उज्जयिनी और उसके आसपास थी। इन शासको के समय में प्राकृत की अधिक उन्नति थी। गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने प्राकृत के स्थान मे सस्कृत को प्राधान्य दिया। कई शताब्दियों तक उज्जयिनी ब्राह्मण, वौद्ध तथा जैन तीनो धर्मो की शिक्षा का केन्द्र रही। ज्योतिप के विभिन्न अगों की शिक्षा उज्जयिनी के विश्व-विद्यालय मे सर्वोत्कृष्ट थी। गुप्त काल मे सस्कृत काव्य तथा नाट्यशास्त्र की उच्च शिक्षा का केन्द्र भी यहाँ था। भवभूति के नाटक कालप्रियनाथ या महाकाल के मन्दिर के सामने खेले जाते थे। कालिदास, भवभूति, भारवि तथा भर्तृहरि आदि प्रख्यात कवि और दार्शनिक उज्जयिनी मे बहुत काल पर्यन्त रहे।

श्रीकृष्ण के गुरु सादीपनि मुनि का आश्रम उज्जयिनो मे ही था। पुराणो के वर्णनो से ज्ञात होता है कि कृष्ण और सुदामा यहाँ के दामोदरकुण्ड मे अपनी पट्टियाँ धोते थे।

उज्जयिनी से कुछ दूर स्थित साँची मे ई० पू० तृतीय शताब्दी से कला की शिक्षा का केन्द्र था। सम्राट् अशोक के पहले यहाँ लकड़ी और हाथीदाँत पर कारीगरी का काम विशेष रूप से होता था। परन्तु अशोक ने पत्थर पर शिल्प का काम कराना आरभ किया। मध्यभारत मे भरहुत के कलाकारो ने भी अपने कौशल का परिचय पापाण पर ही दिया। साँची तथा भरहुत स्तूपों की अवशिष्ट वस्तुएँ भारत की ही नही संसार की उत्कृष्ट कारीगरी मे अपना स्थान रखती ह। उज्जयिनी के विद्यालय मे इस उन्नत कला के शिक्षण की अवश्य कुछ व्यवस्था रही होगी।

(१३) धान्यकटक—यह स्थान मद्रास प्रान्त मे गुंतूर से २० मील की दूरी पर स्थित है। अमरावती का प्रसिद्ध स्तूप यही पर वना था। धान्यकटक का अन्य नाम धरणीकोट भी मिलता है। इस नगर का इतिहास २५० ई० पू० से मिलता है, जवकि यह आध्रों की पूर्वी राजधानी था। सम्राट् अशोक का भेजा हुआ महादेव धान्यकटक आया था और उसने वहाँ वौद्ध धर्म का प्रचार किया था। तव से यह स्थान दक्षिणी भारत के प्रमुख वौद्ध केन्द्रो मे हो गया। वौद्धो का प्रसिद्ध महासंघिक स्कूल यही पर था। आंध्रनरेश हाल के समय मे यहाँ प्राकृत का प्राधान्य हुआ और शिक्षालय की विशेष उन्नति हुई, जैसा काव्यमीमासा (१, १०) आदि से प्रकट होता है। *'लीलावती कथा'* से ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध विद्वान् नागार्जुन ने समीपस्थ श्रीपर्वत मे मठ स्थापित किया था जिसका वह प्रधान शिक्षक था। इसी पुस्तक से विदित होता है

कि नागार्जुन कुछ काल के लिए हाल का मन्त्री रहा और उसने शून्यवाद का प्रचार धान्यकटक में किया। नागार्जुन के बाद मैत्रेयनाथ ने यहां योगाचार की शिक्षा को बढ़ाया। यहाँ के अन्य विद्वानों में बुधरक्षित तथा आर्यदेव उल्लेखनीय हैं। कालान्तर में धान्यकटक का विद्यापीठ महासांघिक स्कूल की अनेक शाखाओं—गोकुलिक, एकव्यवहारिक, प्रज्ञाप्तिवाद, लोकोत्तरवाद आदि—के शिक्षण का केन्द्र बना। यह बात आन्ध्रों और उनके सामन्तों के अनेक अभिलेखों से सिद्ध होती है। वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावी के समय में धान्यकटक को सातवाहन साम्राज्य की प्रधान राजधानी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसके समय में शिक्षालय की विशेष उन्नति हुई होगी।

ह्वेनसांग के समय में धान्यकटक में २० संघाराम थे। जिनमें एक सहस्र भिक्षु निवास करते थे और सभी महासांघिक स्कूल के अनुयायी थे। इस चीनी यात्री ने यहाँ के शिक्षालय में रहकर अभिधम्म सीखा था। 'मंजुश्री-मूलकल्प' (अ० १, पृ० ८८) में धान्यकटक के चैत्य और विद्यालय की प्रशंसा है। बौद्ध धर्म की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए पाटलिपुत्र तक से भिक्षु यहाँ आते थे। तिब्बत के विद्वान् तारानाथ ने भी यहाँ के विद्यालय का महत्त्व स्वीकार किया है। आठवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में ब्राह्मण धर्म ने पुनः जोर पकड़ा। कुमारिल, शंकर तथा उदयनाचार्य आदि विद्वानों ने बौद्ध धर्म की शक्ति को मन्द कर दिया। इस समय से धान्यकटक के विद्यालय में भी परिवर्तन हुए होंगे।

ई० द्वितीय शताब्दी में धान्यकटक में अमरावती का प्रख्यात बौद्ध स्तूप बना। कुछ समय बाद नागार्जुनीकोंड और जगय्यपेट्ट में भी विशाल स्तूप बने। इन स्तूपों से प्राप्त अनेक कलाकृतियाँ भारतीय मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरणों में से हैं। जिस प्रकार उत्तर भारत में मथुरा में कला की शिक्षा का केन्द्र था उसी प्रकार दक्षिण में धान्यकटक में अवश्य रहा होगा। चित्रकला की उच्च शिक्षा का भी प्रबन्ध धान्यकटक के शिक्षालय में रहा होगा। जान पड़ता है कि अजन्ता के अवर्णनीय, भव्य भित्ति चित्रों की रचना में समीपस्थ धान्यकटक विद्यालय के कलाविद् स्नातकों का ही विशेष हाथ था।

(१४) कांची—यह नगरी मद्रास से ४३ मील दक्षिण-पश्चिम स्थित है। इसकी गणना भारत की सप्तमहापुरियों में है। उत्तर-भारत में काशी की तरह दक्षिण में कांची बहुत पवित्र नगरी मानी गई है। इसका उल्लेख पतंजलि ने अपने महाभाष्य (अष्टा० ४।२।२ पर टीका) में भी किया है। महाभारत (भीष्म प० अ० ९) में कांची का नाम कांजीवर दिया है। इस नगरी का पूर्वी भाग विष्णुकांची तथा पश्चिमी भाग शिवकांची के नाम से विख्यात है। कांचीपुरी दीर्घकाल तक वैदिक तथा स्मार्त धर्मों का केन्द्र रही। भगवान् बुद्ध ने भी यहाँ बहुत समय निवास किया था और अशोक ने अनेक स्मारक बनवाए थे, यह ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है। इस यात्री ने कांची के निवासियों के विषय में लिखा है कि वे सचाई और ईमानदारी को बहुत पसन्द करते हैं और उनमें विद्या की बड़ी प्रतिष्ठा है। उनकी भाषा और अक्षर मध्य भारतवालों से कुछ भिन्न हैं। ह्वेनसांग के वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी में कांची में कई सौ संघाराम थे, जिनमें दस सहस्र साधु थे जो सभी स्थविर संस्था के महायान सम्प्रदायी थे। वहाँ ८० देवमन्दिर भी थे, तथा असंख्य विरोधी थे, जो निर्ग्रन्थी कहलाते थे।

चीनी यात्री के उपर्युक्त वर्णन से प्रकट होता है कि सातवीं शताब्दी तक कांची का विश्वविद्यालय बहुत उन्नत हो गया था और उसमें सभी प्रचलित धर्मों की शिक्षा का प्रबन्ध था। परन्तु मध्यकाल (६०० १२०० ई०) में कांची विद्यापीठ ने इससे भी अधिक उन्नति की। इस काल में वहाँ दर्शनशास्त्र, विशेषतः वेदान्त के अध्ययन, अध्यापन और तत्सम्बन्धी शास्त्रार्थ का केन्द्र स्थापित हो गया। शंकराचार्य, कुमारिल, उदयनाचार्य, रामानुजाचार्य आदि प्रकाण्ड दार्शनिकों के सम्पर्क से कांची के विद्यालय ने बड़ी ख्याति पाई होगी। नवीं शताब्दी तक कांची विद्याप्रेमी पल्लवों की राजधानी रही। सिंहविष्णु, महेन्द्रवर्मन् तथा नरसिंहवर्मन जैसे उदारचेता विद्वान् शासकों की संरक्षकता में कांची के शिक्षालय की आशा-जनक उन्नति हुई। किरातार्जुनीय के लेखक महाकवि भारवि कुछ काल कांची में रहे थे। उनके पौत्र उद्भट विद्वान् दण्डी थे जो नरसिंहवर्मन् (६६०–६८५ ई०) के यहाँ प्रतिष्ठित राजकवि थे। पल्लवों के समय में संस्कृत साहित्य का बड़ा आदर हुआ। उन्होंने कांची विद्यापीठ में काव्य, नाट्यशास्त्र, छन्दशास्त्र आदि की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध किया होगा।

पल्लवों के बाद कांची मे चोडों का प्रभुत्व हुआ। ये शासक भी वड़े विद्या-व्यसनी तथा कलाप्रिय थे। राजराज, राजेन्द्र आदि नरेशो ने अवश्य ही अपने यहाँ के शताब्दियो से प्रसिद्ध विद्यालय की उन्नति मे समुचित भाग लिया होगा।

शिक्षा के अन्य केन्द्र

(क) **वनों-उपवनों के आश्रम**—प्राचीन भारत मे तत्त्वज्ञान तथा पारलौकिक चिन्तन की ओर ऐहिक चिन्तन की अपेक्षा अधिक प्रवृत्ति थी। वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमो की व्यवस्था कर भारतीय ऋषि-मुनियो ने यह प्रयत्न किया था कि जीवन का अधिकाश भाग उच्च तत्त्वज्ञान के चिन्तन मे व्यतीत हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सासारिक कोलाहल से दूर प्रकृति के क्रीड़ा-स्थल वन-उपवन चुने गए। इन स्थानों मे ऋषि-मुनियो के आश्रमों की स्थापना हुई जो विद्या तथा धर्म के केन्द्र वने। ऋषि-मुनियो के कुमार-कुमारिओ के सहाध्ययन भी इन्ही आश्रमों मे होते थे। शुक्राचार्य के आश्रम मे कुच और देवयानी साथ साथ शिक्षा पाते थे। अन्त मे दोनों प्रेम-पाश में भी वँध गए थे। आत्रेयी पहले वाल्मीकजी के आश्रम मे लव-कुश के साथ अध्ययन करती थी। फिर निगमांत विद्या की प्राप्ति के लिए अगस्त्य के आश्रम मे गई थी (उत्तर रामचरित, अंक २)। घोषा, लोपामुद्रा, गार्गी और काशकृत्स्नी आदि विदुषियाँ भी ऐसे ही आश्रम-शिक्षालयों की स्नातिकाएँ थी। ऐसे आश्रमो मे राजन्यवर्ग के लोग भी वेद-वेदान्त की उच्च शिक्षा प्राप्त करने आते थे। आरण्यको और उपनिषदों का निर्माण इन्ही आश्रमो मे हुआ था। नैमिषारण्य नामक आश्रम मे सौति ने कई सहस्र ऋषियों को पुराण और उपपुराण सुनाए थे। इन आश्रमों मे निवास करनेवाले विभिन्न चरणों तथा शाखाओ के कुल अपनी सागोपाग शिक्षा का व्यवस्थित प्रवन्ध रखते थे। इनमे अधिकांश की अपनी मुद्राएँ भी होती थीं। माध्यंदिनी, छांदोग्य आदि शाखाओ तथा वह्वृच नामक चरण की मुद्राएँ प्राप्त हुई है।

(ख) **बौद्ध मठों के विद्यालय**—नालन्दा और विक्रमशिला आदि बौद्धो के महान् विश्वविद्यालय थे। इनके अतिरिक्त अगणित छोटे बौद्ध मठ भी शिक्षा के केन्द्र थे, जिनमे भिक्षु-भिक्षुणियाँ शिक्षा पाती थी। बौद्ध धर्म के जटिल सात्त्विक अंगो को समझने के हेतु तथा त्रिपिटक और अन्य गम्भीर सूत्रो को अवगत करने के लिए संस्कृत तथा प्राकृत का यथेष्ट ज्ञान आवश्यक था। अन्य धर्म वालो से शास्त्रार्थ का लोहा लेने के लिए उनके धर्मो के भी तत्त्वज्ञान मे प्रचुर गति अपेक्षित थी।

ह्वेन्सांग के भारत-भ्रमण के समय अनेक उन्नत बौद्ध मठ थे जिनमे पुस्तकालयो की तथा उच्च शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। इस यात्री ने काश्मीर के जयेन्द्र मठ का उल्लेख किया है जहाँ वह पूरे दो वर्ष तक रहकर ज्ञान प्राप्त करता रहा। ह्वेन्साग ने २० लेखको को नियुक्त कर दो वर्षो के अनवरत परिश्रम से यहाँ के विशाल पुस्तकालय की अनेक उत्तम पुस्तको की प्रतिलिपियाँ प्राप्त की (वील–'लाइफ', पृ० ६९-७०)। इस यात्री के कथनानुसार इस मठ के शिक्षक नित्य कोष-शास्त्र, न्यायानुसार शास्त्र और हेतुविद्या पर व्याख्यान देते थे, जिनको सुनने के लिए प्रान्त भर के शिक्षित व्यक्ति एकत्र होते थे। कपिशा, उद्यान (पेशावर के उत्तर), जालंधर, स्रुघ्न (देहरादून के पास) हिरण्य (?), मतिपुर, श्रावस्ती और वैशाली आदि मे भी ऐसे मठ थे जो शताब्दियो तक प्रख्यात शिक्षालय रहे। फाह्यान सुगयुन, ह्वेन्सांग, इत्सिंग और अलवरूनी आदि यात्रियो ने इन मठो मे से अनेक का उल्लेख अपने वर्णनो मे किया है। विहार और वंगाल मे बौद्ध धर्म वारहवी शताब्दी के अन्त तक रहा। साथ ही साथ मठों के विद्यालय भी इस समय तक चलते रहे। मुसलमानो के द्वारा उक्त प्रदेशो पर अधिकार कर लेने पर शीघ्र ही इन विद्यालयो की भी इतिश्री हो गई।

(ग) **ब्राह्मणों के शिक्षा-मन्दिर**—बौद्ध मठो के समान ब्राह्मणो के मन्दिर भी शिक्षा के केन्द्र थे। हिन्दू संस्कृति की यह विशेषता है कि इसका प्रत्येक अग धर्म से अनुप्राणित है। शिक्षा का क्षेत्र भी धर्म से अछूता नही वचा। वाग्देवी की आराधना के लिए देवालय का पवित्र प्रागण वहुत उपयुक्त समझा गया। ई० पाँचवी शताब्दी के पहले हिन्दू मन्दिरो की शिक्षा-प्रणाली के सम्वन्ध मे विशेष ज्ञात नही है। परन्तु इसके वाद से चौदहवी शताब्दी के अन्त तक इन शिक्षा-मन्दिरों के विषय मे वहुत कुछ ज्ञात है।

प्राचीन भारत के शिक्षा केन्द्र

उत्तर भारत में कई विश्व विद्यालय होने के कारण वहाँ अन्य विद्यालयों की अधिक आवश्यकता न थी। परन्तु दक्षिण भारत में अन्य शिक्षालय अपेक्षित थे। दक्षिण के जिन शिक्षा मन्दिरों के विशेष वृत्तान्त मिलते हैं उनमें से सालोतगी (जिला बीजापुर), एनायिर (दक्षिण अर्काट), तिरुमुक्कूडल (जिला चिंगलेपट, मद्रास), मल्कपुर (गुंटूर), हिब्बाल (जिला धारवार), दक्षिणेश्वर (बल्गांव) और रामेश्वर (जिला चितलदुर्ग) के शिक्षा-मन्दिर मुख्य हैं।

इन शिक्षालयों का प्रबंध अभिलेखों में प्राप्त उल्लेखानुसार बड़ा सुव्यवस्थित था। शास्त्र विज्ञान की विविध शाखाओं का शिक्षण अधिकारी शिक्षकों के द्वारा होता था। जनता सुकाल में इन विद्यालयों के लिए भूमि, धन, वस्त्र और अन्न का दान देती थी। दानदाताओं के नाम दक्षिण के अनेक मन्दिरों में उत्कीर्ण हुए मिलते हैं। इस दान से विद्यार्थियों तथा शिक्षकों का भरण-पोषण होने के साथ साथ वेद-वेदांग, षड्दर्शन आदि में उच्चकोटि की शिक्षा का प्रबंध किया जाता था। इन मन्दिरों के पुस्तकालय होते थे जो 'सरस्वती भवन' कहे गए हैं। इन शिक्षालयों को सुव्यवस्थित रखने में उचित सहायता मिलती थी। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक सम्पूर्ण भारत में ऐसे विद्या मन्दिर थोड़े बहुत अंशों में के लिए राष्ट्र वर्तमान थे, और काशी जैसे स्थानों में अब भी इस श्रेणी के मन्दिर अवशिष्ट हैं।*

(घ) जैनों के शिक्षा केन्द्र—बौद्धों तथा ब्राह्मणों ने जिस प्रकार मठों और मन्दिरों को सरस्वती सदन बनाने में अथक प्रयत्न किया उसी प्रकार जैनों ने भी अपने मन्दिरों में शिक्षालय स्थापित किए। मध्यकाल में जैनियों के विशाल मन्दिर बने, जैन धर्म को राष्ट्रकूटों तथा चालुक्यों जैसे प्रतापी वंशों की संरक्षकता प्राप्त हुई। हेमचन्द्राचार्य तथा उनके शिष्यों ने गुजरात और दक्षिणापथ में अनेक शिक्षा-केन्द्र स्थापित किए। चालुक्य कुमारपाल ने जैन धर्म और संस्कृति के प्रसार के लिए बड़ा प्रयत्न किया। मध्यकाल में विशाल पुस्तक भंडार जैन मन्दिरों में एकत्र किए गए। ये पुस्तकालय 'भंडार' नाम से ही अभिहित होते थे। ऐसे अनेक अमूल्य भंडार प्राचीन जैन मन्दिरों से उपलब्ध हुए हैं। प्राचीनकाल में इन मन्दिरों का अधिकांश धन निर्धन विद्यार्थियों के शिक्षा-व्यय तथा भंडारों को समृद्ध बनाने में लगाया जाता था।

(ङ) अग्रहार ग्राम—राष्ट्र की ओर से विद्वान सच्चरित्र ब्राह्मणों को दान में गाँव दिए जाते थे। मध्यकाल के ताम्रपत्रों में ऐसे ग्राम की संज्ञा 'अग्रहार' दी है। इस ग्राम को दान में प्राप्त करनेवाले एक या अनेक ब्राह्मणों का कर्तव्य था कि उस ग्राम में शिक्षण का कार्य करें। इस प्रकार ये अग्रहार ग्राम शिक्षा के छोटे केन्द्र हो जाते थे, जिनमें विद्वान शिक्षक प्रारंभिक व्याकरण और साहित्य तथा वेद, पुराण, न्याय, ज्योतिष आदि की शिक्षा देते थे। ये ग्राम शिक्षालय वर्तमान काल की ग्राम-पाठशालाओं की तरह थोड़ी थोड़ी दूर पर रहते थे, जिनमें विशेषतः छोटे बालक और बालिकाएँ शिक्षा पाती थीं तथा कुछ अंशों में वयस्कों को भी ऊँची शिक्षा प्रदान की जाती थी।

उपसंहार—ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से प्राचीन भारत में शिक्षा की दशा पर कुछ प्रकाश पड़ता है। भारत के प्राचीन शिक्षालय आजकल के पाश्चात्य ढंग पर चलनेवाले कॉलेजों और स्कूलों से बहुत बातों में भिन्नता रखते थे। पर यह मानना पड़ेगा कि आजकल के आवागमन सम्बन्धी तथा कतिपय अन्य वैज्ञानिक साधनों के अभाव में भी प्राचीन भारत में शिक्षा की व्यवस्था वर्तमानकाल से कहीं अधिक सुगम और सुव्यवस्थित थी। धनहीन माता पिता को अपनी सन्तान की शिक्षा के लिए चिन्तित होने की आवश्यकता न थी, क्योंकि निर्धन विद्यार्थियों को निःशुल्क तथा अन्न-धनादि से सहायता कर विद्यादान करना जनता तथा राष्ट्र अपना परम धार्मिक कर्तव्य समझते थे। उच्च शिक्षा के लिए अनेक विश्व विद्यालय खुले थे जिनमें ऐहिक और पारलौकिक ज्ञान विज्ञान की उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी। इन विद्यालयों के द्वारा न केवल

---

* भारत में प्राचीन शिक्षा मन्दिरों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी के लिए देखिए एपि० इंडि० भाग ४, पृ० ६०४, ३५५, इंडि० ऐंटि० भाग १०, पृ० १२९ तथा डॉ० अल्तेकर कृत 'एज्युकेशन इन ऐंश्यण्ट इंडिया' (काशी, १९३४), अ० ८।

प्राचीन ज्ञान की रक्षा और समयानुसार उसका संशोधन, परिवर्धन और प्रकाशन होता था, अपितु उनमे विद्यार्थियों को सुदृढ़ और सच्चरित्र बनाकर उन्हें वास्तविक मनुष्य बनाया जाता था। प्रायः सभी विदेशी यात्रियों ने भारतीयों के विद्या-प्रेम तथा उनकी शिक्षा-प्रणाली की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

उपनयन संस्कार को आवश्यक बनाकर, ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन अनिवार्य कर, शिक्षालयो को सुव्यवस्थित कर तथा स्नातको के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित कर भारतीय राष्ट्र तथा जनता ने विद्यार्थी-जीवन को बडा महत्त्व प्रदान किया। भारत मे लगभग आठवी शताब्दी के अन्त तक जाति-प्रथा कठोर बन्धनों से मुक्त थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यो को वैदिक शिक्षा के अतिरिक्त शस्त्रास्त्रविद्या, व्यापारिक शिक्षा तथा वार्ताशास्त्र के विविध अगो को सीखने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। वैदिक काल से लेकर आठवी शताब्दी पर्यन्त भारतीय शिक्षा का क्षेत्र बडा व्यापक रहा। इस काल मे शूद्रो को केवल वेदाध्ययन का अधिकार नही था, अन्य सभी शिक्षाएँ वे द्विजो के समान ही प्राप्त कर सकते थे। आठवी शताब्दी से जाति-प्रथा मे जटिलता आने लगी थी। तो भी कम से कम बारहवी शताब्दी के अन्त तक भारतीय शिक्षा-क्षेत्र मे उतनी चिन्ताजनक सकीर्णता नही आ पाई जितना कि उस समय के बाद दृष्टिगोचर हुई।

प्राचीन भारत मे पुरुषों की शिक्षा के साथ ही स्त्री-शिक्षा पर भी पूरा ध्यान दिया जाता था। वैदिक काल से लेकर लगभग ५०० ई० तक स्त्री-शिक्षा की दशा बडी सन्तोषजनक रही। इस दीर्घकाल मे बालिकाओ का भी उपनयन सस्कार आवश्यक माना जाता था, जिसके कारण ब्रह्मचर्य ग्रहण करके उन्हे अध्ययन करना अनिवार्य था। यज्ञों मे पत्नी का साथ रहना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। अपत्नीक पुरुष धार्मिक कृत्यो के अयोग्य था ('अयज्ञियो वा एपयोऽपत्नीक.'—शतपथ ५, १, ६, १०)। शिक्षा-केन्द्रों मे विदुषी स्त्रियाँ शिक्षण का कार्य करती थी। उन्हें 'उपाध्यायिनी' और 'उपाध्याया' कहा गया है। जीवन पर्यन्त अविवाहित रहकर ब्रह्म-विद्या का अभ्यास और अध्यापन करनेवाली विदुषियाँ ब्रह्मवादिनी कही गई है।*

वेद, वेदाग तथा षड्दर्शन आदि के साथ साथ स्त्री-शिक्षा मे नृत्य, गीत, वाद्यादि ललित कलाएँ भी सम्मिलित थी। भरत के नाट्यशास्त्र तथा वात्स्यायन-रचित कामसूत्र से विदित होता है कि संभ्रान्त कुलो की कन्याएँ तथा विवाहित स्त्रियाँ विविध प्रकार की चौसठ कलाओ मे दक्ष होती थी। कुछ महिलाएँ आयुर्वेद मे भी पारगत होती थी, विशेषतः प्रसूति-विज्ञान मे। रसा नामक भारतीय विदुषी के द्वारा लिखे हुए प्रसूतिशास्त्र का अनुवाद आठवी शताब्दी मे अरबी भाषा मे हुआ था। शासक वर्ग के कुलो की स्त्रियाँ राजनीति तथा सामरिक शिक्षा का भी अभ्यास करती थी। इनके लिए शिक्षा का पृथक् प्रबन्ध रहता था। घर मे शिक्षको और शिक्षिकाओं को नियुक्त कर भी इन शास्त्रो का अभ्यास कराया जाता था। कैकेयी, कुन्ती, द्रौपदी आदि के अतिरिक्त नयनिका (प्रथम शताब्दी ई० पू०), प्रभावती गुप्ता (५वी शताब्दी), विजयभट्टारिका (७वी शताब्दी), राज्यश्री (७वी शताब्दी), सुगधा और दिद्दा (१०वी शताब्दी) तथा अक्कादेवी (११वी शताब्दी) के उदाहरण प्रत्यक्ष है। इन देवियो ने अपनी राजनीतिक कुशलता, वीरता तथा प्रबन्ध-पटुता के कारण विभिन्न राज्य शासनो का योग्यतापूर्वक परिचालन किया था।

ऊपर दिए हुए शिक्षा सम्बन्धी सिंहावलोकन से विदित होगा कि प्राचीन भारत मे शिक्षा की व्यवस्था बड़े ही दृढ़ नियमो पर आधारित थी। शताब्दियो तक राष्ट्र और जनता ने मिलकर सारे देश को शिक्षित बनाकर उसे सुसंस्कृत करने का श्लाघ्य परिश्रम किया। ज्ञान-विज्ञान के सर्वतोमुखी प्रसार मे प्राचीन भारतीय शिक्षा-विशारदो ने दीर्घकाल तक जो प्रयत्न किए वे आज भी अनुकरणीय है।

---

* वैदिक काल में स्त्री-शिक्षा के विशद विवेचन के लिए देखिए मेरा लेख 'भारतीय समाज में नारी' (जनवरी १९४१ की 'माधुरी', पृ० ७७८-८४ में प्रकाशित)।

विक्रम संवत्सर का अभिनन्दन

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

मैं संवत्सर हूँ, राष्ट्र के विक्रम को साक्षी, अतीत का मेरुदण्ड और भविष्य का कल्पवृक्ष। मुझसे राष्ट्र पोषित हुआ है और मैं राष्ट्र से विक्रमांकित हुआ हूँ। भारतीय महाप्रजाओं के मध्य में मैं महाकाल का वरद प्रतीक हूँ। मेरा और राष्ट्र का गौरव एक है। मेरे विक्रमशील यश की लिपि सब ओर अंकित है। गौरवशील शताब्दियाँ मेरी कीर्ति के जयस्तम्भ हैं। मैं सोते हुओं में जागनेवाला हूँ। मेरे जागरणशील स्पर्श से युग युग की निद्रा और तन्द्रा गत हो जाती है। महाकाल की जो शक्ति सृष्टि को आगे बढाती है, वही मुझमें है। मेरे सशक्त बाहुओं में राष्ट्र प्रतिपालित हुआ है।

मैं चलनेवालों का सखा हूँ। मेरे संचरणशील रथ-चक्रों के साथ जो चल सका है वही जीवित है। मेरे अक्ष की धुरी कभी गरम नहीं होती। धीर अबाधित गति से मैं आगे बढता हूँ। पृथ्वी और द्युलोक के गभीर प्रदेश में मेरी विद्युत् तरंगे व्याप्त हैं। उनसे जिनके मानस संचालित हैं उनकी निशा बीत जाती है।

मैं प्रजापति हूँ। प्रजाओं के जीवन से मैं जीवित रहता हूँ। प्रजाएँ जब वृद्धिशील होती हैं तब मैं सहस्र नेत्रों से हर्षित होता हूँ। मैं आयुष्मान् हूँ। प्रजाओं का आयुसूत्र मुझसे है। मैं प्रजाओं से आयुष्मान् और प्रजाएँ मुझसे आयुष्मान् होती हैं। उनके जिस कर्म में आयु का भाग है वही अमर है। प्रत्येक पीढी में प्रजाएँ आयु का उपभोग करती चलती हैं, परन्तु वे समष्टि रूप में अमर हैं क्योंकि उनके प्रांगण में सूर्य नित्य अमृत की वर्षा करता है। सूर्य अहोरात्र के द्वारा मेरे ही स्वरूप का उद्घाटन करता है। मैं और सूर्य एक हैं। मेरे एक रस रूप में संवत् और तिथियों के अंक दिव्य अलंकारों के समान हैं। उनकी शोभा को धारण करके मैं गौरवान्वित होता हूँ।

मेरे विक्रमांकित स्वरूप के स्मरण और अभिनन्दन का यही उपयुक्त अवसर है। मेरे अभिनन्दन से प्रजा स्वस्तिमती हो, यह मेरा आशीर्वाद है। (ना० प्र० प०)

सहज और शून्य

श्री क्षितिमोहन सेन

धर्म की साधना मे सहज का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योकि साधना के सहज (स्वाभाविक) होने की अपेक्षा और कौनसा बड़ा लक्ष्य हो सकता है ? रामानन्द, कबीर, नानक प्रभृति सभी ने साधना के सहज होने की इच्छा की है। तब दुर्भाग्य क्रम से मनुष्य ने अपने निर्मल पवित्र मानव धर्म को भूलकर, अपने को पशुधर्मी समझकर उस सहजभाव को ही मन मे सहज की कल्पना की है। विशेषकर बंगाल मे यह दुर्गति घटी है। स्वभावत: ही इस देश मे "सहज" और "सहजिया" कहने से सब का मन विमुख हो उठता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि सिर्फ प्रयोग एवं व्यवहार के दोष से इतना बड़ा एक सत्य हमारी धर्म-साधना से निर्वासित हो गया है। साधना के लिए इतनी बड़ी क्षति असहनीय है। जैसे भी हो, यह भ्रान्ति दूर होनी चाहिए अवश्य !

सहज कहने से कोई इन्द्रियोपभोग की धारा मे अपने को अबाध गति से छोड़ देना समझते है, अथवा निश्चेष्ट भाव से अपने को कोई एक धारा मे बहा देना समझते है। यह घोर तामसिकता है। सत्वगुण के द्वारा दिव्य होना होगा और उससे सर्वांश जीवन को दिव्य करना होगा। जीवन का अल्प अंश ही हम लोग जानते है अधिकांश अजान ही है।

किन्तु जब तक हम लोग कामना-वासना के पाशविक जगत मे है तब तक यह दुहाई देने से नही चलेगा। उतना ही दिन भीतर और बाहर से अपने को ले चलना होगा। आत्म-कल्याण एवं सर्व कल्याण के द्वारा अपने को नियमित करना होगा। जब इस कामना का पाश्विक बन्धन मिट जायगा, जब जीव शिवभावापन्न होगा, उसी समय अपने को उस विश्व चराचर व्यापी भागवत सहज धारा मे छोड़ देने से काम चल सकता है। काठ को धारा मे बहता हुआ देखकर यदि लोहा लघु न होकर भी जल मे अपने को बहाए तब उसका नाम आत्मघात नही तो और क्या ?

उस सहज अवस्था मे पहुँच जाने पर साधना सिर्फ धर्म-कर्म एवं आचार और अनुष्ठान मे बद्ध नही रह जाती है, उस समय सांसारिक जीवन-यात्रा से होकर ही एकबारगी साधना-क्षेत्र मे प्रविष्ट होना चाहिए। उस समय हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से निरन्तर सहज साधना चलेगी। उस समय उसके लिए कही भी खीचातानी नही रह जाएगी। साधना के लिए हमे अपनी जीवनयात्रा को ही सहज करनी होगी। जीवनयात्रा के सहज हो जाने पर बनावटी रूप मे रोककर, संचित कर धर रखने मे कुछ भी नही चलेगा, मिथ्या भी नही झूठा भी नही ? जो कुछ आये उसे सब को वितरण कर एवं स्वयं संभोगकर अग्रसर होना होगा। पूर्ण नदी के प्रवाह की तरह पाई हुई सम्पत्ति को व्यवहार करना होगा। कारण, धारा की तरह जो आती जाती है, वही माया है।

"रोक न राखै झूठ न भाखै, दादू खरचै खाय। नदी पूर परवाह ज्यौं माया आवै जाय ॥" (माया अंग, १०५)

माया का धर्म ही निरन्तर आना-जाना हुआ। आने पर माया का कोई दोष नही। उसे स्थाई नित्य वस्तु समझकर धरते रखने जाने पर ही वह झूठी हो जाती है। उसे संचित न कर व्यवहार मे लाना चाहिए। तभी उसमें कोई दोष नही दीख पड़ेगा। दोष उसीका, जो लोभवश उसे संचित करने जाता है।

सहज और शून्य

मनुष्य के सग व्यवहार में भी इस सहज की ही साधना करनी होगी। "किसी के सग वादविवाद करने की आव श्यकता नही, ससार में रहकर भी निर्लिप्त होकर रहना चाहिए। अपने आपमें ही आत्म विचार कर सहज के बीच स्वभाव से समदृष्टि साधना कर रहना चाहिए।"

वाद विवाद काहू सौं नाहीं, माँहि जगत थे न्यारा। समदृष्टि सुभाइ सहज में आपहि आप बिचारा॥ (राग गौड़ी, शब्द ६६)

इस समदृष्टि के नहीं होने पर व्यर्थ का वादविवाद भी मिटता नही, निर्लिप्त होकर चलता नहीं। आत्मा में एकत्व-बोध की उपलब्धि होने पर ही ससार में समदृष्टि घटती है। पहले अन्तर में एक की उपलब्धि करनी चाहिए। बाद में विस्मय एकत्व-बोध एव समदृष्टि। अन्तर में ही सहज स्वरूप है। उस अनुपम तात्विक सौंदर्य को देखकर मन मुग्ध हो जाता है। तभी दादू कहते है, "अन्तर की आँखो से अन्तर में ही हमेशा उस सहज स्वरूप को देख रहा हूँ। देखते जाने पर ही मन मुग्ध हो गया। अनुपम है वह तत्व। उस स्थान में भगवान् वास करते है, वहाँ सेवक और स्वामी एक साथ ही विराजित है। अन्तर में ही भयरहित उस सुन्दर धाम को देख चुका, वहाँ सेवक और स्वामी योगयुक्त है। अनेक यत्न कर मने वहा अन्तर्यामी को पाया।"

"सेवक स्वामी सगि रहै, बैठे भगवाना॥
मधि नैन निरखौं सदा सो सहज स्वरूप।
निर्भै स्थान सुहात सो तहँ सेवक स्वामी॥
देखत ही मन मोहिया, है सो तत्व अनूप॥
अनेक जतन करि पाइया मैं अन्तर जामी॥ (राग रामकली, शब्द २०५)

इस उपलब्धि को पाने के लिए सिर्फ प्रेम की एकान्तिकता चाहिए। यहाँ बाह्य क्रिया-कर्म, साधना सिद्धि अथवा उपाय की कोई सार्थकता नही। दादू कहते हैं—'मेरे लिए तप भी नही इन्द्रिय निग्रह भी नहीं, तीर्थ पर्यटन भी नही। देवालय पूजा के मन्त्र भी नही, ध्यान धारणा भी कुछ नहीं। योग युक्ति भी नही, और न साधना ही। ये मैं सब कुछ नही जानता हूँ। दादू एक भगवान में लीन हैं। हे प्राण, उन्ही से ही प्रत्यय करो। क्योंकि केवल एकमात्र हरि ही मेरा अवलम्बन है। वेही मेरे तारण-तरण है।'

"ना तप मेरे इन्द्री निग्रह ना कुछ तीरथ फिरनाँ। देवल पूजा मेरे नाहीं ध्यान कछु नहीं धरणाँ॥
जोग जुगति कछू नहिं मेरे ना मैं साधन जानौं। दादू एक गलित गोविन्द सौं इहि विधि प्राण पतीज॥
हरि केवल एक अधारा। सोइ तारण तिरण हमारा॥ (राग आसावरी, २१६ शब्द)

वाहरी क्रिया कर्म और अनुष्ठान से तो इसे पाने की बात नही कही जा सकती। तभी दादू कहते है—"घर में ही आश्रय मिला, सहज तत्त्व उसमें ही तो समाहित है। सद्गुरू ने उसका अनुसन्धान बता दिया।"

उसी अन्तर की साधना की ओर सभी लौटे। उन्होने स्वय अपने को दिखा दिया। महल का दरवाजा खोलकर उन्होने ही स्थिर अचचल स्थान को दिखा दिया।

इसे देखते ही, भय, भेद और समस्त भ्रम दूर भाग गए, मन उस सत्य में जाकर मिल गया। काया और स्थूल के अतीत धाम में जहाँ जीव जाना है, वही वह 'सहज' समाहित है।

यह सहज हमेशा स्थिर और निश्चल रहता है, कभी चचल नही रहता। इस सहज से ही निखिल विश्व पूर्ण रहता है। इसी में मेरा मन लगा है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी (द्वैत तत्त्व) नही है।

उस घर को आदि अनन्त पाया, अब मन अन्यत्र नही जाना चाहता। दादू कहते है उसी एक रग में रँग गया। उसी में मन समाहित हो गया।

भाई रे घर ही में घर पाया,
सहज समाइ रह्यो ता माहीं, सतगुरु खोज बताया॥
ता घर काजि सबै फिरि आया, आप आप लखाया।

खोलि कपाट महल के दीन्हें, फिर अस्थान दिखाया ॥
भयऊ भेद भर्म सब भागा, साच सोइ मन लागा।
निहचल सदा चलै नहीं कबहूँ, देख्या सब मैं सोई ॥
ताही सों मेरा मन लागा, और न दूजा कोई ॥
आदि अनन्त सोई घर पाया; इब मन अनत न जाई।
दादू एक रंगै रंग लाया, तामें रहा समाई ॥ (राग गौड़ी, ६८ शब्द)

अन्तर मे जो ऐक्य है जो योग है, उसमे ही परमानन्द है। इसको प्राप्त करना ही यथार्थ ज्ञान है। तभी दादू कहते है—"ज्ञानी मन ऐसे ही ज्ञान की बात कहो। इसी अन्तर मे ही तो सहज आनन्द विराजमान है।"

ऐसो ज्ञान कथौ मन ज्ञानी। इहि घरि होइ सहज सुख जानी। (राग गौड़ी शब्द ६०)

यह घट के भीतर काया में योग की भी बात है। जिस तरह बाहर गगा, यमुना और सरस्वती के योग से त्रिवेणी-सगम बना है, उसी तरह भीतर भी इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के योग से त्रिवेणी-योग होता है। किन्तु वह सब बात साधारण मनुष्य के लिए नही है, विशेषज्ञ को ही उससे आनन्द मिलता है। तभी यहाँ उसका उल्लेख करना मैने अनचित समझा।

सबके ग्रहण करने लायक त्रिवेणी के मर्म को दादू नीचे लिखे शब्दो मे अभिव्यक्त करते है। "सहज आत्म-समर्पण स्मरण और सेवा इस तीन के योग से ही यह त्रिवेणी है। इसी त्रिवेणी सगम के किनारे स्नान करना चाहिए। यही तो सहज तीर्थ है।"

सहज समर्पण सुमिरण सेवा, तिरवेणी तह संगम सपरा ॥ (राग गौड़ी, ६२)

इस मिश्रित धारा की सहज-त्रिवेणी में स्नान करने मे ही मुक्ति है। किन्तु यह त्रिवेणी अन्तर मे है बाहर मे नही। तभी दादू कहते है :—

"त्रिकुटी का किनारा आत्मा मे ही प्राप्त हुआ। सहज मे ही उन्होने अपने को प्रकाशित किया; सम्पूर्ण शरीर मे वे व्याप्त हो रहे।

उस निरन्तर निराधार की उपलब्धि आत्मा मे ही हुई, सहज मे ही उन्होने अपने को प्रकाशित किया; ऐसे ही वे समर्थ सार अर्थात् सामर्थ्यवान है।

सभी देवो के देव को आत्मा मे ही देखा, सहज मे ही उस देवाधिदेव ने अपने को प्रकाशित किया, ऐसे ही वे अलख अनिर्वचनीय है।"

काया अन्तरि पाइया त्रिकुटी के रे तीर। सहजै आप लखाइया व्याप्या सकल शरीर ॥
काया अन्तरि पाइया निरन्तर निरधार। सहजै आप लखाइया ऐसा समृथ सार ॥
काया अन्तरि पाइया अनहद बेन बजाइ। सहजै आप लखाइया सुन्य मण्डल मैं जाइ ॥
काया अन्तरि पाइया सब देवन का देव। सहजै आप लखाइया ऐसा अलख अभेव ॥ (परचा अंग १०-१३)

अन्तस्तल मे प्रवेश कर यह लीलारस संभोग करने जाने पर 'अहम्' भाव को क्षय करना होगा। 'अहम्' भाव को अकड़कर पकड़ रखने मे उस सहज मूलाधारो को पाना कठिन है। दादू कहते है—

"अहम् को समूल नष्ट कर देने पर ही प्रियतम को पा सकोगे। जिस विश्वमल विश्वाधार से अहम् की उत्पत्ति होती है वहीसे उस सहज को पहचान लेना चाहिए।

"मैं" "मेरा" इस सबको यदि लुप्त कर सको तभी तुम प्रियतम को पा सकोगे। "मैं" "मेरा" जब सहज मे ही मिल जाता है तभी निर्मल दर्शन होता है।"

तौं तू पावै पीव कौं, आपा कछु न जान। आपा जिस थैं उपजै सोइ सहज पिछान ॥
तौ तूं पावै पीव कौं मैं मेरा सब खोइ। मैं मेरा सहजै गया तब निर्मल दर्सन होइ ॥ (जीवन मृतक कौ अंग १६, १७)

सहज और शून्य

उस मूलाधार सहज को पाने जाने पर "नति-अस्ति" (negative-positive) का प्रकार की साधना प्रयोजनीय है। इस "नति" में से होकर ही "अस्ति" में पहुँचना पड़ता है। तभी दादू कहते हैं—"पहले शरीर और मन को मारना चाहिए, इनके अभिमान को चूर कर फेंकना चाहिए, तब अपने को बाहर लाना चाहिए, उसके बाद उस सहज में डूबना चाहिए।"

पहली तन मन मारियें इनका मर्दै मान। दादू काढ़ अंत में पीछे सहज समान॥ (जीवन मृतक को अंग, ४३)

जाग्रत मनुष्य जब सोता है उस समय जिस तरह उसका मन शरीर को छोड़ देता है, उसी तरह यदि दृष्ट जगत का भी अतिक्रमण किया जाय, तब हमेशा ही सहज के संग ध्यान एवं लय को युक्त कर लाया जा सकता है।"

ज्यों मन तज शरीर कों ज्यों जागत सो जाइ। दादू विसर देखतां सहजैं सदा ल्यौ लाइ॥ (लौ को अंग, ३६)

"उस हरि-जल-नीर के समीप ज्योंही आया, उसी समय बिन्दु बिन्दु से मिलकर सहज में समाहित हो गया।",

हरि जल नीर निकटि जब आया। तब बूंद बूंद मिलि सहज समाया॥ (राग गौड़ी ६८)

सम्पूर्ण आकाश उस हरि रस से भर गया। इस प्रेम-रस के सहज-रस का नशा निरन्तर चढ़ा रहता है। इस रस में रसिक मनुष्य सर्वदा ही असीम आकाश में वास करते हैं।

"प्रेम-प्याला का सहज-नशा आकाश के मध्य में नित्य वास करता है। हे दादू, जो इस रस के रसिक हैं वे इस रस में ही मत्त रहते हैं। राम-रसायन पीकर वह निरन्तर तृप्त और भरपूर रहता है।"

रहैं निरंतर गगन मझारी। प्रेम पियाला सहज खुमारी।
दादू अमली इहि रस माते। राम रसाइन पीवत छाके॥ (राग आसावरी, २३९)

इस नित्य सहज रस के जो रसिक है वह सब मलिनता का अतीत है। पाप उसे स्पर्श नहीं कर सकता। दादू कहते हैं—

"बाबा के कौन ऐसे योगी पुरुष हैं, जो अंजन छोड़कर निरंजन होकर रहता हैं, हमेशा सहज रस का वह भोगी? पाप-पुण्य कभी भी उसे लिप्त नहीं कर सकता, दोनों पक्ष से ही वह अलग है। धरणी आकाश दोनों से ही वह ऊपर है, वहाँ जाकर वह रसलीला में रत हो जाता है।"

बाबा को ऐसो जन जोगी।
अंजन छाड रहै निरंजन सहज सदा रस भोगी॥
पाप पुनि लिपै नहिं कबहूँ दोई पष रहिता सोई॥
धरणि आकास ताहि थें ऊपरि, तहाँ जाइ रत होइ॥ (राग रामकली, २१०)

जहाँ पाप-पुण्य का द्वैत कुछ ही नहीं रहता, अलख निरंजन स्वयं वहीं वास करते हैं। वही स्वामी सहज में विराजित रहते हैं, घटघट में वह अन्तर्यामी व्याप्त है।"

तहँ पाप पुनि नहिं कोई। तहँ अलख निरंजन सोई॥
तहँ सहजि रहैं सो स्वामी। सब घटि अन्तरजामी॥ (राग रामकली, २०८)

कामना और कल्पना के परे प्रिय और प्रेममय पूर्ण ब्रह्म है। दादू कहते हैं—

"कभी भी कल्पना और कामना नहीं करनी चाहिए, उस प्रियतम पूर्ण ब्रह्म की प्रत्यक्ष उपलब्धि करनी चाहिए। हे दादू, इस पथ से ही पहुँचकर किनारा पाकर उस सहज तत्त्व का आश्रय लेना चाहिए।"

काम कल्पना कदै न कीजै पूरण ब्रह्म पियारा।
इहि पंथि पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहजि सभारा॥ (राग गौड़ी, ६६)

कामना और कल्पना के परे, स्वच्छ नेत्र के बिना उस "रूपारूप" 'गुणागुण" भगवान की उपलब्धि नहीं की जा सकती। एकमात्र "सहज" ही इस लीला को प्रत्यक्ष कर सकता है। गुरु की तरह यह "सहज" नहीं है,—

प्रियतमा सखी की तरह वह अन्तरग है। तभी दादू कहते हैं, "हे मेरी प्रिय सखी, सहज, तुम स्वच्छ आँखो से देखो, यह जो रूप-अरूप गुण-निगुणमय त्रिभुवन पति भगवान है।"

सहज सहेलड़ी हे तूं निर्मल नैन निहार। रूप अरूप गुण निर्गुण मैं त्रिभुवन देव मुरार ॥ (राग रामकली, २०७)

उन्हे देख लेना ही परमानन्द है, वही परम समाधि है। उन्हे देखने मात्र से ही पूर्ण ब्रह्म मे समस्त ही सहज मे समाहित हो जाते है। पूर्ण ब्रह्म मे जो सहज समाधि है उस आनन्द की उपलब्धि होने पर भी वह अवर्णनीय है। दादू कहते हैं—

"स्थगित होकर मन हार गया, फिर भी तो कहा नही जा सकता। सहज मे, समाधि में अपने को लीन करो। समुद्र के बीच मे बिन्दु तोला ही जा सकता कैसे। स्वत ही अबोल हो, क्या कहकर वर्णन कर सकोगे?"

थकित भयौ मन कह्यौ न जाइ। सहजि समाधि रह्यौ ल्यौ लाई ॥
सादर बूंद कैसैं करि तोलै। आप अबोल कहा करि बोलै ॥ (राग आसावरी, २४४)

वर्णन नही हो सका तो नही, वह सहज ही परम आनन्द है। इस आनन्द मे ही रसिक मनुष्य के जीवन का सार सर्वस्व है। दादू कहते हैं—

"अन्तस्तल मे जो एक को रखते है, जो मन इन्द्रिय को प्रसार करने नही देते, सहज विचारो के आनन्द मे जो डूबे रहते हैं, हे दादू वही तो महा विवेक है।"

सहज विचार सुख मैं रहै दादू बड़ा बमेक। मन इन्द्री पसरै नही अन्तरि राखै एक ॥ (विचार को अंग, ३१)

मन और इन्द्रिय का प्रसार वहाँ नहीं हो सकता। मिथ्या वहाँ पहुँच ही नही सकती। मिथ्या की समस्या ही वहाँ नहीं है।"

"उस सत्य मे मिथ्या पहुँच ही नही सकती। उस सत्य मे कोई भी कलक नही लग सकता। दादू कहते हैं, सत्य-सहज मे (चित्त) यदि समाहित हो तब सभी झूठ विलीन हो जाता है।"

साचै झूठन पूजै कबहूँ सत्तिन लागै काई। दादू साचा सहजि समानां फिरि वै झूठ बिलाई ॥ (राग रामकली, १९१)

सत्य और मिथ्या का पाप और पुण्य का नैतिक बन्धन ही साधारणत. सभी को अभ्यस्त हो गया है। किन्तु वह नैतिक बन्धन अत्यन्त संकीर्ण है, अति क्षीण और दुर्बल है। उसके बीच मे नित्य धर्म ही कहाँ? जो सहज की मुक्ति हैं, उसमे एक ऐसा मुक्त सामञ्जस्य है जो नित्य है, जो सब कर्म-बन्धनो के परे है।

"कर्म बन्धन के मिट जाने पर भी सहज का बन्धन कभी छूट नही सकता। बल्कि सहज के साथ बद्ध होने पर ही सब कर्म बन्धन कट जाता है। तभी सहज के साथ बद्ध होओ, सहज के बीच मे ही भरपूर परिष्कृत होकर रहो।"

सहजै बाँधी कदे न छूटै कर्म बन्धन छुटि जाइ। काटै करम सहज सौं बाँधै सहजै रहै समाई ॥ (राग गौड़ी ७३)

निखिल सामजस्य के मूल मे विश्व सगीत अन्तर्हित हैं। इस संगीत के योग के बीच ऐक्य का सामञ्जस्य है। निद्रा से अचेतना से वह भोग वह ऐक्य का सामञ्जस्य हो जाता है। क्षुद्रता और खण्डता के सकीर्ण मोह मे ही सभी निद्रित हैं। उस सगीत को सुनकर ही शून्य सहज मे सभी जाग पडते है। दादू कहते हैं—

"उस एक सगीत से ही मनुष्य का उद्धार हो जाता है, शून्य सहज मे जाग उठता है, अन्तस्तल उसी एक के साथ लीन हो जाता है; उस समय उसके मुह मे और कोई सुरस अच्छा नहीं लगता। उस सगीत से भरपूर निमज्जित और समाहित होकर ही मनुष्य उस परमात्मा के सामने अवस्थित रहते हैं।"

एक सबद जन उधरे, सुनि सहजै जागे। अन्तरि राते एक सूं न मुख लागे ॥
सबदि समाना सनमुख रहै पर आतम आगे ॥ (राग रामकली १६७)

वह सहज शून्य विश्व सगीत से भरपूर है। यह भरपूर शून्य ही ब्रह्मशून्य हुआ। साधक जब उस ब्रह्मशून्य मे पहुँचता है, तब और कोई जप-साधना की उसे आवश्यकता ही नही रह जाती। उस समय उसका "नख-शिख-जाप" अखिल-छन्द" के साथ साथ निरन्तर ही सहज हो चलने लगता है। उस समय की अवस्था का वर्णन करते हुए दादू कहते है—

सहज और शून्य

"ब्रह्म शून्य अध्यात्म धाम में तुम अवस्थित हो, प्राण कमल में नाम कहो, मन पवन के स्वर में नाम कहो, प्रेम ध्यानावस्था में (सुरति) नाम कहो।"

प्राण कमल मुखि नाम कह मन पवना मख नाम।
दादू सुरति मुखि नाम कह ब्रह्म सुंनि निज ठाम ॥ (सुमिरन कौ अंग, ७८)

इस अखिल-छन्द के साथ छन्दमय होना ही सहज हुआ। उस साधना के लिए अपने को शान्त स्थिर और निर्मल करना चाहिए। उस साधना के प्रसंग में दादू कहते हैं—

"मन मानस प्रेमध्यान (सुरति) 'सबद' और पंच इन्द्रिय को स्थिर और शान्त करो। उनके साथ "एक अंग" "सदा संग" होकर सहज में ही सहज रस पान करो।

सब रहित और मूल गृहीन होकर 'अहम्' को अस्वीकार करो। उस एक को ही मन में मानकर अन्तर के भाव और प्रेम को निमल करो।

उस परम-पूर्ण प्रकाश के होने पर हृदय शुद्ध होगा, बुद्धि विमल होगी, जिह्वा में (पर) अध्यात्म रस नाम प्रत्यक्ष होकर अन्तस्तल को नाममय कर देगा।

परमात्मा में मति होगी, गति पूर्ण होगी, प्रेम में रति होगी, और भक्ति से अनुरक्ति होगी। (भक्ति में विश्वास होगा)। उस रस में दादू मग्न है, उस रस में ही परस्पर लीन होकर दादू मतवाला बन गया है।"

मनसा मन सबद सुरति पाँचौं थिर कीजै। एक अंग सदा संग सहज रस पीजै॥
सकल रहित मूल सहित आपा नहिं जानैं। अन्तर गति निर्मल मति एकै मनि मानै॥ (राग धनाश्री, ४३४ सबद—'त्रिपाठी')
हृदय सुधि विमल बुधि पूरन परकासै। रसना निज नाउँ निरखि अन्तर गति वासै॥
आगम मति पूरण गति प्रेम भगति राता। मगन गलत अरस परस दादू रसि माता॥ (राग भैरौं, २० सबद 'द्विवेदी')

उनकी दया के बिना अन्तर की उपलब्धि असम्भव है। जीवन की वही परम सार्थकता है। उस अवस्था की उपलब्धि और प्रेम का वर्णन किया ही नहीं जा सकता। दादू कहते हैं—"अखण्ड अनन्त स्वरूप प्रियतम को किस तरह वर्णित किया जा सकता! शून्य मण्डल के बीच वह सत्य स्वरूप हैं, आँख भर ला उन्हें देखकर।

नेत्रसार उन्हें देख लो, देखो, वेही लोचन सार हैं। वेही प्रत्यक्ष दीप्यमान हो रहे हैं। ऐसे प्रेममय दयामय हैं कि वे सहज में ही अपने आपको प्रकाश में ला देते हैं।

जिनके समीप प्रत्यक्ष हैं, सहज में ही अपने आपको प्रेममय दयामय कर लेंगे। तभी तो प्राणों के प्राण प्रियतम का अखण्ड अनन्त स्वरूप की उपलब्धि हो सकती है।"

अकल स्वरूप पीव का, कसैं करि आलेखिये। शून्य मण्डल माहि साचा, नयन भरि सो देखिये॥
देखौ लोचन सखि, देखौ लोचन सार, सोई प्रकट होई॥
अकल सरूप पीव का, प्राण जीव का सोई जन पायई। दयावन्त दयाल ऐसो सहज आप लखावई॥
(राग धनाश्री ४३६ सबद 'त्रिपाठी')। राग भैरो २३ सबद—'द्विवेदी')।

उनकी उपलब्धि उस भीतरी संसार में होगी, अतिशय व्यर्थ वस्तु से हमारा वह भीतरी संसार भरा है। तभी तो उन्हें प्रत्यक्ष करने का अवसर नहीं मिलता। उनके आविर्भाव के लिए ही हमें भीतरी संसार को शून्य करना चाहिए। यह शून्यता नति धर्मात्मक नहीं है। कारण शून्य होने पर ही उनके सहस रस से भरपूर उनके भीतरी संसार को हम देखते हैं। इस रस सरोवर में ही आत्मकमल ब्रह्मकमल विकसित हो उठता है।

शून्य सरोवर के आत्म कमल में परम पुरुष के प्रेम विहार की उस अवस्था का वर्णन करते हुए दादू कहते हैं —

भगवान उस आत्म कमल में प्रत्यक्ष विराजमान हैं। जिस स्थान में वह परम पुरुष विराजमान हैं उस स्थान में ज्योति झिलमिल झिलमिल करती है।

कोमल कुसुमदल निराकार ज्योति जल, शून्य सरोवर जहाँ है, वहाँ कूल किनारा नहीं रहता, हंस होकर दादू वहाँ विहार करते हैं और विलस विलसकर अपनी सार्थकता पूर्ण करते हैं।"
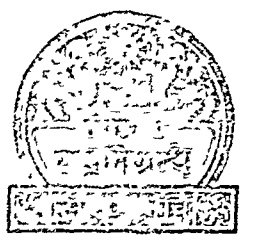
श्री क्षितिमोहन सेन

राम तहां परगट रहे भरपूर ।
आतम कमल जहाँ, परम पुरुष तहाँ झिलमिलि झिलमिलि नूर ॥
कोमल कुसुम दल, निराकार जोतिजल, वार नहिं पार ।
शून्य सरोवर जहाँ, दादू हँसा रहै तहाँ, बिलसि बिलसि निजसार ॥
(राग धनाश्री, ४३८ सबद 'त्रिपाठी') (राग भैरो २४ सबद 'द्विवेदी')

वह लीला हमारे अन्तर मे ही है, उसके लिए वाहर कही भी जाने की आवश्यकता नही। दादू कहते हैं—

"पलभर भी दूर न जाकर निकट मे ही निरजन को देखो। वाहर-भीतर एक रूप, सव कुछ भरपूर और परिपूर्ण है।

सद्गुरू ने जव उस रहस्य को दिखाया, उसी समय उस पूर्णता को पा लिया। सहज ही अन्तर मे आया, अव नेम से निरन्तर उस लीला को ही प्रत्यक्ष करूँगा।

उस पूर्ण स्वरूप के साथ परिचय होते ही बुद्धि पूर्ण हो उठी। जीवन मे ही जीवन स्वरूप और उनकी प्रतिमा मिल गई, ऐसा ही मेरा सौभाग्य है।"

निकटि निरंजन देखिहौं, छिन दूरि न जाई। वाहरि भीतरि यकसा, सव रह्या समाई ॥
सतुगुरू भेद लखाइया, तब पूरा पाया। नैनन ही निरखूं सदा घरि सहजै आया ॥
पूरे सौं परचा भया, पूरी मति जागी। जीव जाँनि जीवनि मिल्या, ऐसें वड़ भागी ॥ (राग रामकली २०६)

जो वनमाली हैं वे फिर मनमाली भी हैं। उनके दर्शन से हमेशा हर जगह नवजीवन की सृष्टि होती है। वे अन्तर मे सिर्फ विराजते ही हैं, ऐसा नही, वे माली की तरह से फूलवारी की रचना करते हे कि प्रेममय स्वामी होकर स्वयं वेही प्रेम की रास खेलने आते हैं। दादू कहते हैं—

"मोहनमाली अन्तरस्थ सहज लोक मे नितान्तपूर्ण है। कदाचित् ही कोई रसिक साधक उनके मर्म को जानते है। अन्तर की फुलवारी मे ही माली है, वही वे रास रचना करते हैं। सेवक के साथ खेलने के लिए वहाँ दयाकर वे स्वयं ही उपस्थित हुए। वाहर-भीतर सर्वत्र सव मे वे निरन्तर भरपूर हो रहे हैं। प्रकट ही गुप्त हुआ और गुप्त ही प्रकाश हुआ; इन्द्रिय और बुद्धि के परे अवर्णनीय वह लीला है। उस माली की अनिर्वचनीय लीला कहते जाने पर भी कहा नही जा सकता वह आनन्द अगम अगोचर है।

मोहन माली सहज समानाँ। कोइ जानें साध सुजानाँ ॥
काया वाड़ी माँहैं माली तहाँ रास वनाया। सेवग सौं स्वामी खेलन कौं आप दया करि आया ॥
वाहरि भीतरि सर्व निरन्तरि सब मे रह्या समाई। परगट गुपत गुपत पुनि परगट अविगत लख्या न जाई ॥
ता माली की अकथ कहानी कहत कही नहिं आवै। अगम अगोचर करत अनंदा दादू जे जस गावे ॥
(राग वसन्त ३६१)

उनकी रचना शक्ति अपूर्व है। उनकी रचना का मूल रहस्य प्रेम और आनन्द है। प्रेम और आनन्द के भागवत रस से जीवन लता मे वे अपूर्व प्राण सचार करते हैं। फूल और फल से दिन दिन वह भरपूर हो चलता है। दादू की वाणी मे वह साफ दीखती है—

"आनन्द और प्रेम मे यह आत्मा-लता पूर्ण हुई। भागवत-रस की धारा उस स्थान मे चल रही है, उस सहज रस मे मग्न होकर दिन दिन वह लता वढ़ रही है।

सद्गुरू उस लता को सहज रस मे ही रोपते और सीचते हैं। सहज मे ही मत्त होकर वह लता सम्पूर्ण अन्तस्तल मे व्याप्त हो गई। सहज सहज मे ही नव पत्राकुरदल उस स्थान मे लहराने लग गया, हे अवधूत राय, इसे ही प्रत्यक्ष अनुभव किया।

सहज मे ही वह आत्म-वल्ली कुसुमित होती है, हमेशा फल-फूल उपजाती है; कायारूपी फुलवारी सहज मे ही विकसित होकर नवजीवन मे भर उठता है, कदाचित् ही कोई इस रहस्य को जान पाता है।

सहज और शून्य

"हठ" के वश में आकर आत्मा दिन दिन सूखने लगती है, किन्तु सहज होने से ही युग युग तक वह जीवित रह सकती है। हे दादू सहज होने पर उसमें अमर अमृत फल लगता है, नित्य सहज में रस पान करती है।"

बेली आनन्द प्रेम समाई। सहजैं मगन राम रस सींच दिन दिन बधती जाइ ॥
सतगुरु सहजैं नाही बेली सहजि मगन घर छाया। सहज सहज कूपल मेल्हैं जानी ब्रह्म राया ॥
आतम बेली सहज फूलैं सदा फूल फल होई। काया बाडी सहज निपज जानैं बिरला कोई ॥
मन हठ बेली सुरवन लागी सहजैं जुगि जुगि जीव। दादू बेली अमर फल लाग सहज सदा रस पीव ॥
(राग रामकली २०३)

जो अन्तर में विराजित है, आत्मा उनके साथ ही सहज रस पान करती चले। उनका ऐश्वर्य समस्त-कला से भरपूर है। वेही हमारे सर्वस्व हैं, उनके बिना जीवन में हमारा और है ही कौन ?

"मेरे मन में कलापूर्ण-स्वरूप उनका अवस्थित हैं। मैं दिन रात उन्हें ही हृदय में देख रहा हूँ।

हृदय में ही देखा और प्रियतम को समीप ही प्रत्यक्ष पाया। अगर अन्तर में उन्हें छिपा लो। तब सहज में ही उस अमृत का पान कर सकोगे।

जिस समय उस मन के साथ इस मन का योग हुआ, उसी समय ज्योति-स्वरूप के जीवन में जाग्रत हुए। जब ज्योति स्वरूप को पाया तब अन्तर में ही मैं अनुप्रविष्ट हुआ।

जब चित्त-चित्त बराबर हो गया, तब हरि के बिना मेरे जानने और कुछ नहीं रहा। समझा मेरे जीवन में वे ही जीवन स्वरूप हैं, अब हरि के बिना और कोई नहीं हैं।

जब आत्मा परमात्मा के साथ मिल गई, तब उस परमात्मा का प्रकाश अन्तर में ही हुआ। प्रियतम प्रेममय दीख पडे, दादू कहते हैं वे ही हमारे मित्र हैं।

मेरा मन लगा सकल करा। हम निसदिन हिरदैं सो धरा ॥
हम हिरद माहि हेरा। पीव परगट पाया नेरा ॥
सो नेरे ही निज लीजैं। तब सहज अमृत पीजैं ॥
जब मन ही सो मन लागा। तब जोति सरूपी जागा ॥
जब जोति सरूपी पाया। तब अन्तरि माँहि समाया ॥
जब चित्तहि चित्त समानाँ। हम हरि बिन ऊर न आना ॥
जाना जीवनि सोई। इब हरि बिन ऊर न कोई ॥
जब आतम एकैं बासा। पर आतम माँहि प्रकासा ॥
परकासा पीव पियारा। सो दादू मीत हमारा ॥ (राग गौडी, ७९)

परमात्मा के संग आत्मा का, ब्रह्म के संग जीव का जो निविड मिलन है उसका वर्णन कभी क्या सम्भव हो सकता है ? उस आनन्द का अनिर्वचनीय ऐश्वर्य संगीत में ही उच्छ्वसित हो उठता है। भाषा में उस तरह ठीक अनुवाद करना सम्भव नहीं हो सकता। अन्तर के इस प्रेम मिलन और इस सहज-भाव के आनन्द में दादू गाते हैं—

'प्रकाश हुआ, अतिशय दीप्यमान ज्योति हुई, परमतत्त्व स्वयं प्रत्यक्ष हुए। निर्विकार परमसार प्रकाशमान हुए। कदाचित् ही कोई इस रहस्य को समझ सके।

परमाश्रय आनन्दनिधान, परम शून्य में लीला कर रहे हैं। सहज भाव आनन्द में भरपूर निमज्जित हैं। जीव और ब्रह्म का मिलन हो रहा है।

अगम और निगम भी सुगम हो जाते हैं, दुस्तर भी तर जाता है। आदि पुरुष के साथ निरन्तर दरस, परस चलता है। दादू का वही सौभाग्य मिला है।"

होइ प्रकास, अति उजास, परस तत्त्व सूझ। परमसार निर्विकार, बिरला कोई बूझ ॥
परम थान सुख निधान, परम सुनि खेल। सहज भाइ सुख समाइ, जीव ब्रह्म मेल ॥
अगम निगम होइ सुगम दुतर तिरि आव। आदि पुरुष दरस परस दादू आ पावैं ॥ (राग मारू, १६२)
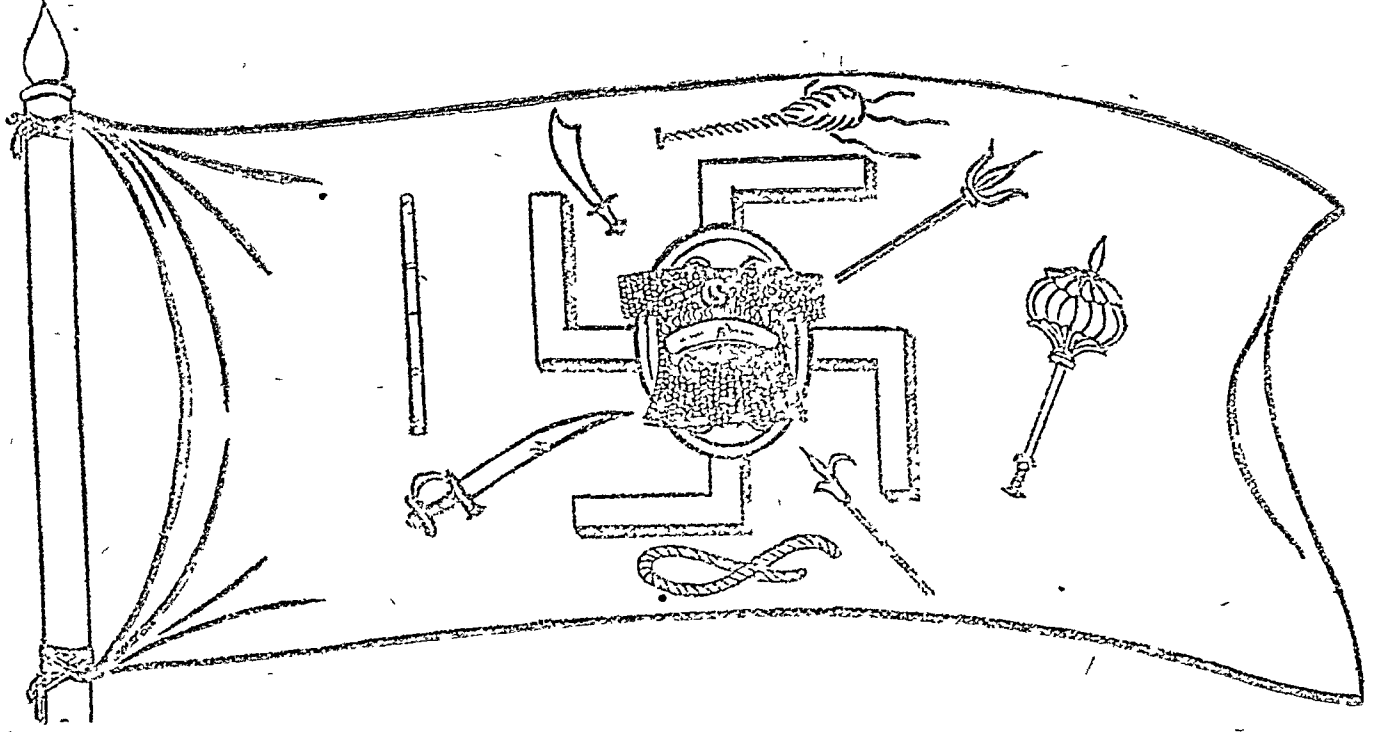
हिन्दू-राष्ट्र-ध्वज

श्री गणेशदत्त "इन्द्र"

जब संसार मे मानव-सभ्यता का जन्म हुआ, और व्यवस्था के निमित्त शासन-योजना का निर्माण हुआ, तब साथ ही साथ राष्ट्र, राज्य, अथवा व्यक्ति विशेष के महत्त्व प्रदर्शनार्थ 'ध्वज' सम्वन्धी विचार भी उन लोगो के मस्तिष्क मे उत्पन्न हुए। राष्ट्र-ध्वज, राज्य-ध्वज, और व्यक्ति विशेष के ध्वज एक ही आकार प्रकार और वर्ण के नही होते थे। सब मे भिन्नता रहती थी। पहले-पहल यह भिन्नता केवल वर्ण पर ही अवलम्बित रही। तदुपरान्त उनमे अपने अपने चिह्न अकित किए जाने लगे। ध्वजाओं का यह एक छोटासा इतिहास है जो पृथ्वी के समस्त देशो की ध्वजाओ का आरभिक काल का सूचक है।

हमारे वैदिक काल मे राष्ट्र-ध्वज का एक ही रग था। उसपर कोई चिह्न नही होता था। तत्कालीन योद्धा एक ही प्रकार के ध्वज का उपयोग करते थे। वेदमत्रो मे उस समय के ध्वज का वर्णन है :—

> "ई शां वो वेद राज्यं त्रिषंधे अरुणैः केतुभिःसह।
> ये अन्तरिक्ष ये दिवि पृथिव्यां येच मानवाः।
> त्रिषंधेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम्॥" (अ० ११-१०-२)
>
> और
>
> धूमाक्षी संपततु कृधुकर्णीच क्रोशतु।
> त्रिषधेः सेनयाजिते अरुणाः सन्तु केतवः॥७॥

इन दोनो मत्रो मे युद्ध के समय "अरुण" रग के ध्वज का उल्लेख है। 'अरुण' गहरे लाल रंग को नही कहते है, वल्कि हलके लाल रग को, जिसमे हल्का पीतरग मिश्रित हो वह अरुण कहलाता है। हल्का पीला और हल्का लाल रंग मिलकर हल्का केसरिया रंग वन जाता है। यह रंग शुद्ध केसरिया न वनकर भगवाँ केसरिया-सा रहता है। यह हमारे भारत का प्राचीन राष्ट्र-ध्वज का रग रहा है। जव से ध्वज निर्माण का विचार हम भारतीयो के मस्तिष्क मे आया तवसे आजतक वही रंग हमारी राष्ट्र-पताका मे रहा है।

हिंदू-राष्ट्र-ध्वज

वेदकाल में राष्ट्र ध्वज का महत्त्व विशेष था। बिना ध्वज के युद्धागण में कोई नही जाता था। जिस प्रकार युद्ध के लिए शिरत्राण, अगत्राण, कवच, गोधा, अगुलित्राण शस्त्रास्त्र आदि अनिवार्य वस्तु थी, उसी प्रकार ध्वज भी एक अत्यन्त आवश्यक था।

"उत्तिष्ठत मनत्यध्वमुदारा केतुभि सह।" (अ० ११-१०-१)

यह वेदमत्र योद्धाओ को सम्बोधित करते हुए कहा रहा है कि "वीरो! उठो और अपने झण्डो के साथ कवच पहनो।" हमारे प्राचीन इतिहास में जहाँ तहाँ युद्धो का वर्णन है, वहाँ ध्वज के महत्त्व का भी प्रदर्शन है। कुरुक्षेत्र के मैदान में जब भारत की युद्धोज्झित दो प्रबल शक्तियाँ, कौरव और पाण्डव समरागण में उतरे, तब प्रत्येक महारथी के रथ पर उनका पृथक् पृथक् वर्ण और चिह्नो से अकित ध्वजो के फहराने का उल्लेख महाभारत ग्रथ में है। उस समय हमारा देश राष्ट्रीयता को खो बैठा था, और अपने-अपने राज्य के तथा व्यक्तिगत ध्वज बना लिए थे। जैसे अर्जुन का कपि चिह्नयुत, भीष्मपितामह का व्याघ्रपद चिह्नित, और द्रोणाचार्य का धनुष कमण्डलु चिह्नवाला इत्यादि। इतना होते हुए भी राष्ट्रीयता-सूचक ध्वजवर्ण सभी ने अपना रखा था। कोई पीले रग को, कोई कपिल रग को, कोई गुलाबी रग को, कोई केसरिया रग को और कोई लाल रग को अपनाए हुए था। ये सभी रग हमारे राष्ट्रध्वज के रग के अन्तर्गत मूल रग कहे जा सकते है।

जबकि अन्य राष्ट्रो के झण्डो का रग समय की ऐतिहासिक घटनाओ के साथ बदलता रहा है, तब हमें यह देखकर अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि भारतीय राष्ट्रध्वज का हमेशा एकसाँ रग रहता आया है। जब भारत में विदेशी लोगो का पैर जमा तब हमें हमारे रग के अतिरिक्त दूसरी जातियो के रग को अपने राष्ट्रध्वज में सम्मिलित करने की उदार नीति का अवलम्बन करना पडा। परन्तु जब अन्य देशीय जातियाँ यहाँ नही आई थी तब हमारा राष्ट्रध्वज अरुण-वर्ण का ही था।

हमारा राष्ट्रध्वज जिस रूप में था उसी का वर्णन यहाँ किया गया है। उक्त राष्ट्रध्वज के सम्बन्ध में प्राचीन इतिहासकारो ने बताया है कि भगवान विष्णु ने इन्द्र को एक ध्वज दिया था—

"तं विष्णु तेजोभवमष्टचक्रे, रथेस्थिते भास्वति रत्न चित्रे।
देदीप्यमान शरदीव सूर्यं, ध्वज समासाद्यमुमोद शक्र ॥

उसी ध्वज के अनुरूप विक्रम-काल में राष्ट्र ध्वज बनाया जाता था। उक्त ध्वज के सम्बन्ध में विस्तृत विधान है। शुभ मुहूर्त में राजा, वृक्षकाटनेवाले बढई और ब्राह्मण तथा मत्रियो को साथ लेकर जगल में जावे—

तस्य विधान शुभकरण दिवस नक्षत्र मगल मुहूर्त्ते ।
प्रस्थानिकं वनमियात् दैवज्ञ सुनधारश्च ॥" (व० संहिता)

ध्वज के लिए प्राय अर्जुन (अजन) वृक्ष की लकडी ही पसन्द की जाती थी। इसके अभाव में शाल्मलि, आम्र, कदम्ब आदि दूसरे वृक्षो की लकडी ली जाती थी। ध्वज-दण्ड के लिए लकडी देखने में बहुत सावधानी की जाती थी। आडी टेढी सूखी, गाँठवाली, छेदवाली, काटोवाली, और स्त्रीनामवाचक वृक्षो की लकडी अशुभ मानी जाती थी।

कुब्जोर्ध्व शुष्क कण्टकि वल्लीवन्दाक युताश्च ॥
बहु विहगालय कोटर पवनानल पीडिताश्च ये तरव ॥
ये चस्यु स्त्रीसंज्ञा नते शुभा शक्र केत्वर्थे॥ (व० संहिता)

अच्छा, शुभ, दोष रहित, वृक्ष देखकर फिर रात्रि को उसकी पूजा की जाती थी। और वृक्ष से प्रार्थना की जाती थी कि—

यानीह वृक्षे भूतानितेभ्य स्वस्ति नमोऽस्तुव । उपहार गृहीत्वेम क्रियतां वास पयय ॥
पार्थिवस्त्वावरयते स्वस्तितेऽस्तु नगोत्तम, ध्वजाय देवराजस्य पूजयं प्रतिगृह्यताम् ॥ (व० संहिता)

प्रात शुभ मुहूर्त में बढई उसे काटता था। काटने में बडी सावधानी बरती जाती थी। शुभ दिशा में ही, कटा हुआ वृक्ष गिरे इसका बहुत ध्यान रखा जाता। उसे काटकर कई दिनो तक जल में रखा जाता। तदुपरान्त उसकी छाल निकालकर और ठीकठाक बनाकर, बैलगाडी से नगर में लाया जाता था।

जिस दिन ध्वजदण्ड गाड़ी मे लादकर नगर मे लाया जाता, उस दिन सारा नगर ध्वजा-पताका और वन्दनवारो से सजाया जाता था। गीत, वाद्य और नृत्य का आयोजन किया जाता था। राजा, मंत्री, ब्राह्मणों और नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियो के समूह सहित ध्वजदण्ड को आरोपण-स्थान पर पहुँचाता था। ढोल, भेरी और तुरही के तुमुल घोष से दिशाएँ निनादित हो उठती थी। राजा भाद्रपद मास की श्रवण नक्षत्रयुक्त द्वादशी को उस ध्वज दण्ड की विधिवत पूजा करता था। इसके चौथे दिन ध्वजदण्ड स्थापित किया जाता था—

"विधिवद्यष्टि प्ररोपयेद्यन्त्रे।" (व० संहिता)

ध्वजदण्ड अट्ठाईस हाथ लम्बा और अनुपातानुसार मोटा होने के कारण उसके स्थापनकार्य मे यंत्रो से सहायता ली जाती थी। उस दण्ड मे जो ध्वज-वस्त्र होता था उसकी लम्बाई बारह हाथ और चौड़ाई आठ हाथ होती थी। वस्त्र बीच मे से सिला हुआ नही होता था। उसे फीके लाल रंग से रंगकर उसके ठीक मध्य मे गहरे लाल रंग का 'स्वस्तिक' बनाया जाता था।

'स्वस्तिक' भारतीयों का बहुत प्राचीन मांगलिक शुभ चिह्न है। यह वेदकालीन चिह्न होने के कारण उस समय राष्ट्रध्वज मे इसे प्रमुख स्थान दिया गया था। आज स्वस्तिक के सम्बन्ध मे अनेक खोज हो रही है, परन्तु वेद ने इसे अति प्राचीन काल से हमे सुझा दिया है—

"स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषाविश्ववेदाः।
स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनोवृहस्पतिर्दधातु॥" (यजु० २५-१९)

यह मंत्र "दैवतगोल और ग्रहो के मार्ग" द्वारा स्वस्तिक को प्रदर्शित करता है। इसमे जो खगोलीय नक्षत्र पुज है, वे परस्पर क्रमानुसार इस प्रकार ९०-९० अश पर आए है कि उनसे स्वस्तिक की आकृति बन जाती है। इससे स्वस्तिक की प्राचीनता पर कोई सन्देह नही रह जाता। वैसे तो आधुनिक विद्वानो ने भी स्वस्तिक का भारत मे, ईसा के पाँचसौ वर्ष पूर्व प्रचलन स्वीकार कर लिया है। अग्रेज इतिहासकार मि० एच० जी० वेल्स ने अपनी 'इतिहास की रूपरेखा' नामक पुस्तक मे स्वीकार किया है कि 'स्वस्तिक' का प्रचार पाषाण-युग से ही आरम्भ होने का पता चलता है। विदेशो के भूगर्भ मे मिलनेवाली वस्तुओ पर स्वस्तिक चिह्न पाए जाते है। एक समय जब भारत की सस्कृति से सारा ससार प्रभावित था, उस युग मे स्वस्तिक का प्रचार दूसरे देशो मे हुआ मालूम होता है। एक समय चीन, जापान, फ्रान्स, जर्मनी, इंग्लैण्ड, इटली, तिब्बत, रूस और अमेरिका तक मे स्वस्तिक का प्रचार रहा है। सबो ने इसकी महत्ता को स्वीकार किया है। केवल इंग्लैण्ड ने इसे अशुभ बताया है (सम्भव है शत्रुपक्षीय चिह्न होने के कारण)। भारतीय इसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सूचक मानते है। यह चारो युगो मे अक्षुण्ण रहनेवाला चिह्न माना जाता है। इसे सर्व साधारण 'सातिया' कहते है जो चार, सात मिलकर बना है—सात के अको द्वारा इस प्रकार सातिया बन जाता है।
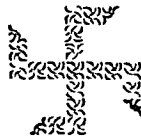
कुछ भी हो स्वस्तिक हमारा प्राचीन शुभ चिह्न होने के कारण राष्ट्रध्वज के मध्य मे अंकित किया जाता था। स्वस्तिक के ऊपर ढाल, अंगत्राण, मुकुट आदि राजकीय चिह्न अंकित होते थे।

स्वस्तिक की प्रत्येक दिशा मे आठों दिक्पाल देवो के शस्त्रास्त्रों के चिह्न बनाए जाते थे। जिस दिन ध्वजा-रोपण-उत्सव होता था उस दिन राजा और प्रजा दोनो मिलकर इस महोत्सव को बड़े समारोह के साथ मनाते थे। नृत्य, गीत, आदि मंगल-कार्य किए जाते थे। खेल, तमाश, नाटक, आदि कार्यो का आयोजन होता था। घर घर स्वस्तिवाचन और शान्ति-पाठ होता था। राज-कोष से ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा और भोजनादि से सम्मानित किया जाता था। रात्रि को नगर दीपावलि से जगमगा उठता था।

ध्वजारोपण के दिन ध्वज पर असंख्य पुष्प मालाएँ डाली जाती थी। एक बाँस की बनी पिटारी भी ध्वज के समीप बाँधी जाती थी जिसमे विविध मंगल-द्रव्य रखे जाते थे।

———
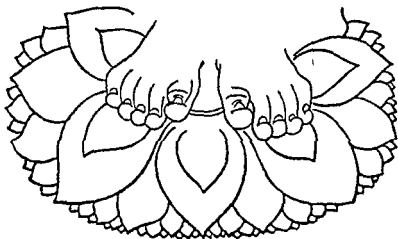
* शांति-दूत *

श्री महादेवी वर्मा

चित्त जिसका हो चुका हो,
द्वेषमुक्त महान,
सब कहीं सब के लिए
हो सौमनस्य समान

एक सीमा में उसी से
आचरित सविशेष
आचरण क्यों हो न जाता—,
है यहीं निःशेष

क्यों न रुकता शंखवादक—
का तनिक आयास,
दूर तक प्रतिध्वनि जगा
भरता विपुल आकाश ॥ *

(दीघनिकाय)

---

* सामने के चित्र पर लिखी हुई कविता। 'दीघनिकाय' के इस अंश का पद्यानुवाद स्वयं चित्रकार सुश्री महादेवी वर्मा ने किया है।

भारतीय दर्शनों की रूपरेखा

श्री गुलाबराय एम० ए०,

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

यद्यपि भगवान् महाकाल का चक्र शाश्वत गति से चलता ही रहता है और प्रत्येक क्षण अपनी नवीन आभा लेकर उपस्थित होता है तथापि भारत के परम गौरवास्पद महामहिम विक्रमादित्य के संवत्सर की द्विसहस्राव्दी का अन्त और एक नवीन सहस्राब्दी का प्रवेश देश और जाति के इतिहास मे अपना विशेष महत्त्व रखता है। जिस प्रकार वर्षारम्भ मे हम अपनी आर्थिक स्थिति का लेखा-जोखा ठीक कर लेते है उसी प्रकार इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर अपनी मूल्यतम आध्यात्मिक सम्पत्ति का सरेखा कर लेना समय और परिस्थिति के अनुकूल ही होगा। यद्यपि हमारी सम्पत्ति अनन्त रत्न-राशि-रंजित है और प्रत्येक रत्न का मूल्यांकन करना लेखक के लिए एक छोटी लकडी से सागर की थाह लेने से भी अधिक हास्यास्पद होगा तथापि लेखक उन रत्नों का तो नही किन्तु कुछ वडी वडी मञ्जूषिकाओ की ओर, जिनमे ये रत्न निहित है, अंगुलि निर्देश कर अपने को धन्य समझेगा।

नाम की सार्थकता—दर्शन कहते है देखने को। यह शब्द देवादि महान सत्ताओ के देखने मे विशिष्ट हो गया है; जैसे चन्द्र-दर्शन देव-दर्शन आदि। किन्तु दर्शन सदा मूर्त पदार्थो का ही नही होता है वरन् अमूर्त पदार्थो का भी। उपनिषदो मे आत्मा को भी दर्शन का विषय माना है–**आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**'। दर्शन द्वारा परम दैवत ब्रह्मस्वरूप सत्य के दर्शन किए जाते है। हमारे वाताम्बुपरणहारी ऋषियो ने भारत के विस्तृत तपोवनो मे, जिनकी महिमा रवि वावू ने 'प्रथम सामरव तव तपोवने' लिखकर गाई है, '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' के दर्शन कर अमरत्व प्राप्त किया था। यह दर्शन भिन्न भिन्न झरोको मे से प्राप्त करने के कारण पूर्ण नही हो सकता किन्तु देवताओ की झाँकी का सा महत्त्व रखता है। यही दर्शन शब्द की सार्थकता है और यही भारतीय दृष्टिकोण को अन्य देशों के दृष्टिकोण से पृथक् कर देता है। अग्रेजी मे दर्शन का पर्यायवाची शब्द है Philosophy। उसका शाब्दिक अर्थ होता है ज्ञान का प्रेम। इसलिए उनका दृष्टिकोण केवल बौद्धिक जिज्ञासा का है। भारतीय मनीषी दर्शन को केवल चिन्तन की वस्तु नही समझता वरन् साक्षात्कार का विषय वनाता है। इसीलिए उपनिषदो मे आत्मज्ञान के लिए तप और ब्रह्मचर्यादि साधन वतलाए है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

दर्शन शब्द के अनुकूल ही भारतवर्ष मे ज्ञान प्राप्ति का साधन केवल बौद्धिक मनन ही नही माना है। उस दर्शन के लिए उन्होने तीन साधन वतलाए है—श्रोतव्यः मन्तव्य. निदिध्यासितव्य.। इन तीनों को दर्शनो का हेतु कहा गया है :—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च संततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

अर्थात् श्रुतियो द्वारा सुनना चाहिए, युक्तियो द्वारा मनन करना चाहिए और मनन कर उसका सदा ध्यान करना चाहिए। (इसी ध्यान में आत्मा का साक्षात्कार होता है) ये तीन दर्शन के हेतु है।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी प्रातिभज्ञान (Intuition) को माना है। वह बौद्धिक ज्ञान से ऊँचा है किन्तु उसमें योग का सा साक्षात्कार नही है। भारतवर्ष में दर्शन का एक व्यावहारिक उद्देश्य है, वह घृताधार पात्रवा पात्राधार घृत कीसी कोरी कौतूहलमयी जिज्ञासा नहीं है। उन्होंने उसको अमरत्व प्राप्ति का साधन माना है। भारतीय मनोवृत्ति आध्यात्मिक है। वह अपने पुरुषार्थ की इतिकर्तव्यता इस दृश्य जगत के क्षणभगुर वैभव की उपलब्धि में नही समझता है। याज्ञवल्क्य की स्त्री मैत्रेयी अपनी पति की भौतिक सम्पत्ति नही चाहती है, क्योंकि उसमे अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती। वह अमरत्व देनेवाली विद्या को चाहती है। मत्रेयी ने जब यह कहा था कि 'येनाहं नामृतास्या किमहम् तेन कुर्या, मदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि'। जिससे मै अमरत्व को नही प्राप्त हूँगी उसको लेकर क्या करूँगी। जिस आत्मज्ञान को आप जानते है उसे मुझे बतलाइये। तब उसके द्वारा भारत की अन्तरात्मा मुखरित हो उठी थी। इसी प्रकार वाजश्रवा के पुत्र कुमार नचिकेता ने जब यम के दिए हुए प्रलोभनो का यह कहकर तिरस्कार कर दिया कि इनका 'श्वोभाव' है अर्थात् ये कल रहेंगे या नही तब उसने भारत की सच्ची ब्राह्मण मनोवृत्ति का परिचय दिया था। वह भी ससार के दुख से निवृत्त होना चाहता था।

भारतीय दार्शनिक दुख की समस्या से अधिक प्रभावित था। हेय (दुख का स्वरूप) हेयहेतु (दुख के हेतु) हान (दुख के अभाव का स्वरूप अर्थात् मोक्ष या निर्वाण) और हानोपाय (दुख निवृत्ति के साधन) का विवेचन हमारे यहाँ के दार्शनिक विवेचन का मूल ध्येय रहा है। हानोपायो में आत्मा और अनात्मा का विवेक मुख्य माना गया है और इसी सम्बन्ध में प्राय सारी दार्शनिक समस्याओ का विवेचन हो गया है। बौद्ध दर्शन मे भी इन ही चार बातो का विवेचन है और दुख की निवृत्ति के ही सम्बन्ध में ससार और आवागमन की कार्यकारण श्रृंखला पर विचार किया गया है। यूरोप की दार्शनिक जिज्ञासा कौतूहल रूप मे ही आरम्भ होती है। प्लेटो ने कहा है कि "Philosophy begins in wonder" इस कौतूहल बुद्धि का हमारे यहाँ अभाव तो न था, 'कोऽहं कस्त्वम्' के प्रश्न चलते ही रहते थे। गोस्वामी तुलसीदासजी के 'केसव कहि न जाय का कहिये' में भी आद्भुत्य की भावना परिलक्षित होती है, किन्तु आत्यन्तिक दुख निवृत्ति के उपाय सोचने की प्रवृत्ति का प्राबल्य रहा है। दुख निवृत्ति की चिन्ता दर्शनो में अधिक रही है। वेदो और उपनिषदो में 'अमृतत्व' को अधिक महत्त्व दिया गया है। अमृतत्व में भी ससार के दुख से बचने की व्यञ्जना है किन्तु आनन्द का भावात्मक पक्ष अधिक प्रबल है। पश्चिमी दार्शनिक दृष्टा और दृश्य प्रमाता और प्रमेय के चक्कर में अधिक रहे। रुचि वैचित्र्य के कारण दोनो धाराओ का मार्ग अलग रहा किन्तु समस्याएँ अन्त मे जाकर एक ही हो गई। हमारे यहाँ यद्यपि विचार की पूर्ण स्वतन्त्रता रही है तथापि धर्म और दर्शन का विच्छेद कम हुआ है।

हमारे यहाँ धर्म और दर्शन का उद्देश्य एक ही रहा है। वह है सासारिक आभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति। किन्तु धर्म का अर्थ साम्प्रदायिकता नही रहा है। 'अथातो धर्म व्याख्यास्याम' यह वैशेषिक जसे भौतिक दृष्टिकोण प्रधान दर्शन की ही भूमिका है। हमारे सासारिक अभ्युदय की नितान्त उपेक्षा नही की गई है किन्तु वह जीवन का अन्तिम लक्ष्य नही रहा है।

सख्या और क्रम—भारतीय दर्शनो की सख्या निर्धारित करना कठिन है क्योंकि दर्शनशास्त्र का विषय व्यापक है। यह सभी विद्याओ का प्रदीप है। सबका इससे सम्बन्ध है और सभी अन्तिम तत्त्व इसके प्रकाश के मुखापेक्षी रहते है। इसीलिए तो हमारे यहाँ पाणिनि और रसेश्वर दर्शनो के नाम से व्याकरण और आयुर्वेद के दर्शनो को भी स्थान मिला है। सर्वदर्शनकार ने सोलह दर्शन माने है।

साधारणतया हम दर्शनो के दो विभाग कर सकते है—वैदिक और अवैदिक। इन्हीको हमारे यहाँ आस्तिक और नास्तिक दर्शन कहा गया है। हमारे यहाँ वेदो की प्रतिष्ठा ईश्वर से भी अधिक है। वेद की प्रतिष्ठा ज्ञान का सम्मान है। 'नास्तिको वेद निन्दक' साख्य दर्शन ईश्वर की उपेक्षा करके भी आस्तिक है क्योंकि वह वेदो को आप्त प्रमाण मानता है।

श्री गुलाबराय

आस्तिक दर्शनों के नाम इस प्रकार है—वैशेषिक, न्याय, साख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमासा (वेदान्त)। चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन नास्तिक दर्शनो मे प्रमुख है। हमारे यहाँ के दार्शनिक सदा देश और काल के परे जाने की कोशिश करते रहे है। इसलिए उन्होने काल की परवाह भी नही की। भारत के अन्य वाङमय की भाँति दार्शनिक साहित्य का काल-क्रम निर्धारित करना कठिन है। हम केवल यही कह सकते है कि पहले वेद, फिर उपनिषद, उनके अनन्तर सूत्र और उसके पश्चात् उनके वार्तिक भाष्य, टीका, कारिका आदि ग्रथ। वाल्मीकीय रामायण, महाभारत (विशेषकर श्रीमद्भगवद्-गीता मे) और श्रीमद्भगवत आदि पुराणो मे जो दार्शनिक चिन्तन हुआ है वह उपेक्षणीय नही है। सम्प्रदायो के तत्र ग्रंथो मे भी उच्च कोटि का दार्शनिक विवेचन है।

सूत्रो मे किसका आगे निर्माण हुआ और किसका पीछे, यह कहना इसलिए कठिन है कि सूत्रो से पहले दार्शनिक सम्प्रदाय वर्तमान थे। इसीलिए सूत्र ग्रथो मे एक दूसरे के सिद्धान्तो का उल्लेख आता है और उनका समर्थन या खण्डन भी। उपनिषदो मे हमे प्राय सभी दर्शनो के बीज मिलते है। हमारे ऋषियो ने उपवनो मे रहकर प्राय समस्त दृष्टिकोणो से सत्य के दर्शन किए थे। (दार्शनिक चिन्तन केवल ब्राह्मणो का ही एकाधिकार नही रहा है महाराज जनक, प्रवाहण और अजातशत्रु आदि क्षत्रियो ने ब्रह्मविद्या का उपदेश किया है) ये विचारधारा बहुत दिनो तक गुरु-शिष्य परम्परा मे चलकर सूत्रबद्ध हुई। ऐसी अवस्था मे कालक्रम का निश्चय करना बहुत कठिन हो जाता है।

यदि हम यह मानले कि विकास का क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर है तो इस दृष्टिकोण से हम दर्शनो के तार्किक क्रम (Logical order) का अनुमान लगा सकते है। वैशेषिक, न्याय, साख्य, योग पूर्व मीमासा और उत्तरमीमासा (वेदान्त) एक दूसरे के पश्चात् तार्किक क्रम से आते है और सम्भव है कि यह कालक्रम भी हो। भाष्य ग्रथो का कालक्रम अधिक निश्चित है। सूत्र ग्रथ तो सकेतमात्र है। पूरा दार्शनिक उत्साह तो भाष्य ग्रथो मे है और कही कही इसी कारण उनमे साम्प्रदायिकता भी आ गई है। नीचे लिखे दर्शनो के विवेचन से इस क्रम की सार्थकता स्पष्ट हो जायगी।

वैशेषिक—इसके प्रवर्त्तक महर्षि कणाद है। कणाद शब्द का अर्थ है कणों (खेत मे पड़े हुए अन्न के कणो) को खानेवाले। यह था ऋषियो का सासारिक वैभवविहीन सात्विक जीव। सम्भव है कि कण या परमाणुओ के मानने के कारण यह नाम पडा हो। वैशेषिक नाम 'विशेष' नाम के एक पदार्थ मानने के कारण पडा। वैशेषिक का दृष्टिकोण यद्यपि भौतिक है तथापि उसका भी उदय धर्म की व्याख्या के लिए ही हुआ है, 'अथातो धर्म व्याख्यास्याम.' धर्म से सासारिक अभ्युदय और निश्रेयस (Summum Bonum) की प्राप्ति होती है। निश्रेयस की प्राप्ति पदार्थो के ज्ञान द्वारा होती है। इस सम्बन्ध मे पदार्थो की व्याख्या हो जाती है। पदार्थ ६ माने गए है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इसमे सब वस्तुओ को विषय रूप से ही देखा गया है। आत्मा को अन्य और द्रव्यो (पच तत्त्व, काल, दिशा, आत्मा और मन) के साथ एक द्रव्य माना है। पचभूतो का प्रकृति मे एकीकरण नही हुआ है। पञ्चभूत भी विशेष विशेष परमाणुओ से बने है। इसमे अनेकत्त्व की भावना का प्राधान्य है। वैशेषिक के तत्त्वो मे द्रव्य का ही प्राधान्य है और पदार्थ द्रव्य से ही सम्बन्ध रखते है। गुण और कर्म द्रव्य के ही आश्रित रहते है। सामान्य विशेष द्रव्यो मे ही पाए जाते है। समवाय गुणो को द्रव्यो मे बाँधे रखनेवाला सम्बन्ध है। वैशेषिक ने इन सब पदार्थो की यद्यपि स्वतत्र सत्ता मानी है तथापि है ये द्रव्य से हो सम्बन्धित। अदृष्ट की शक्ति द्वारा परमाणुओ मे गति आती है। सांख्य की अपेक्षा वैशेषिक मे ईश्वर के लिए अधिक गुजाइश है। साख्य भी निरेश्वर नही है। जिसको वैशेषिक ने आत्मा कहा है उसको वेदान्ती जीव कहेगे। जीवात्मा नित्य-विभु और सख्या मे अनेक है।

न्याय—इसके प्रवर्तक है महर्षि गौतम, जिनको अक्षपाद भी कहते है। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्याय.' अर्थात् जिसके द्वारा अभीष्ट अर्थ की सिद्धि तक पहुँचाया जाय वह न्याय है। न्याय मे विवेच्य विषयो की अपेक्षा विवेचन और सत्योपलब्धि के साधनो पर अधिक ध्यान दिया गया है। इसीलिए उनके सोलह पदार्थो मे पन्द्रह तर्कशास्त्र से सम्बन्ध रखते है और प्रमेय मे दुनियाँ के और सब विषय आ जाते है। न्याय के पदार्थ इस प्रकार है—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा,

हेत्वाभास (Fallacy), छल, जाति, निग्रहस्थान। न्याय ने प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और शब्द नाम के चार प्रमाण माने है। प्रमाण यथार्थ ज्ञान के साधन है। वैशेषिक में उपमान और शब्द को स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया है।

न्याय में बारह प्रमेय माने गये है। वे है—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (मरणोत्तर जीवन) फल (कर्मफल), दुःख, अपवर्ग (मोक्ष)। इनमें आत्मा मुख्य है। बाह्य भौतिक पदार्थों का विवेचन अर्थ के अन्तर्गत हुआ है। वैशेषिक के परमाणुवाद को न्याय ने भी माना है। आत्मा के लक्षण इस प्रकार बतलाए गए है —

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि आत्मनो लिंगम

वैशेषिक ने पलक मारना आदि भौतिक क्रियाओं को भी आत्मा के चिह्नों में माना है—प्राणापान निमेषोन्मेष जीवन । इस प्रकार वैशेषिक का ध्यान स्थूलत्व की ओर अधिक गया है। न्याय इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख ज्ञान आत्मा के चिह्न माने है। न्याय प्रतिपादित आत्मा भी सक्रिय और कर्ता भोक्ता है। न्याय के पिछले विकास में ईश्वर सिद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। शंकराचार्य से पूर्व न्याय ने ही बौद्धों से लोहा लिया था तभी तो नैयायिक गर्व से भगवान को भी फटकार देते थे। द्वार बन्द होने के कारण जगन्नाथजी के मन्दिर में प्रवेश न पाने पर उदयनाचार्य की गर्वोक्ति देखिए —

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे। उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः ॥

अर्थात् तुम अपने ऐश्वर्य के घमण्ड में भूले हुए मेरी अवज्ञा करते हो किन्तु बौद्धों के उपस्थित होने पर तुम्हारे अस्तित्व की रक्षा करना मेरा ही काम है। और दर्शनों की अपेक्षा न्याय का विकासक्रम बहुत काल तक चलता रहा। नव्यन्याय ने तर्कशास्त्र को तत्वज्ञान से पृथक कर शुद्ध तर्कशास्त्र की स्थापना की और व्याप्ति ग्रहण (Induction) के उपायों की विशद विवेचना की। यह क्रम उन्नीसवीं शताब्दी तक चलता रहा।

न्याय वैशेषिक दर्शनों की मान्यताएँ प्रायः एकसी है और उनको एक वर्ग में रखा जाता है। तर्क संग्रह, तर्कभाषा आदि जो प्रकरण ग्रंथ बने उनमें न्याय वैशेषिक के सिद्धान्त सम्मिलित है। आर्य समाज में इन दर्शनों की विशेष प्रतिष्ठा है।

सांख्य—इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल है। सांख्य के सिद्धान्तों का उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी है। उसमें कपिल को तत्वों का गिनानेवाला (तत्त्व सम्ख्याता) कहा है। सांख्य के २५ तत्त्व इस प्रकार है —

पुरुष* । × मूल प्रकृति (सत, रज तम की साम्यावस्था) यह किसी का विकार नहीं है और सब इसके विकार है। २

↓

महत्तत्त्व (बुद्धि) १

↓

अहंकार १

↓

गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द की पंचतन्मात्राएँ + दश इन्द्रियाँ और मन १६

↓ (तन्मात्राएँ पंच भूतों की सूक्ष्म कारण है)

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पंचतत्त्व। ५

२५

इनमें से मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ अष्ट प्रकृतियाँ कहलाती है। मूल प्रकृति केवल प्रकृति है, अर्थात वह किसीका विकार नहीं है शेष सात प्रकृति विकृति है। १६ विकार या विकृतियां मानी गई है क्योंकि इनसे और कोई विकार आगे उत्पन्न नहीं होते। पुरुष न प्रकृति है न विकृति। पुरुष की सत्ता से ही प्रकृति काम करती है। जिस प्रकार राजा के आ जाने से नटी नाचने लगती है उसी प्रकार पुरुष की प्रसन्नता के लिए प्रकृति क्रियाशील हो उठती है।

*पुरुष न किसी का विकार है, और न उससे कोई विकार उत्पन्न होता है।

श्री गुलाबराय

इस सयोग मे अन्ध पंगु न्याय से प्रकृति पुरुष दोनों का ही लाभ है। प्रकृति ज्ञान के प्रभाव वश अन्धी है पुरुष क्रिया के प्रभाव के कारण पंगु है। अंधा लंगड़े को यदि अपने ऊपर बैठा ले तो दोनो रास्ता चल सकते है। अंधा चलेगा लंगड़ा रास्ता बतलायगा। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टी चलती ह। प्रकृति पुरुष के बन्धन का भी कारण है और मोक्षका भी। इसी को हम सांख्य का प्रयोजनवाद कह सकते हैं। इस सम्बन्ध मे निम्नोल्लिखित कारिका पठनीय है :—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थ तथा प्रधानस्य। पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥

इस सृष्टि में निष्क्रिय, आत्मा प्रकृति के संयोग के कारण सक्रिय दिखाई देने लगता है और अपने को कर्ता और भोक्ता मानता है। ज्ञान होने पर पुरुष अपने मुक्त स्वरूप को पहचान लेता है और दुख का नाश हो जाता है। सांख्य मे पुरुष का अनेकत्त्व माना है किन्तु यह अनेकत्व भी वास्तव मे प्रकृति के सयोग का ही फल है।

न्याय और वैशेपिक मे आत्मा को एक प्रकार से सगुण माना है। सांख्य मे आत्मा निर्गुण है। सुख-दुख से परे है। न्याय मे आत्मा को सुख दुख का अनुभव होता है। सांख्य मे मन, बुद्धि के संयोग होने पर आत्मा को सुख दुख का ज्ञान होता है। जो बाते न्याय और वैशेपिक मे आत्मा को सहज प्राप्त है वे साख्य मे प्रकृति से प्राप्त लिंग शरीर और अन्त.करण द्वारा आती है। साख्य को अधिकाश लोगो ने निरेश्वर माना है और योग को सेश्वर साख्य कहा है। प्रकृति पुरुष के अस्तित्व मात्र से स्वय ही कार्य कर लेती है। उसमे ईश्वर की जरूरत नही पड़ती। साख्य सूत्रो मे एक प्रसग विशेष मे 'ईश्वरा सिद्धे.' प्रारम्भ भावत्' कहा है। इसी के आधार पर विद्वानों ने साख्य के निरीश्वर होने की कल्पना की है। ईश्वर की सिद्धि साधारण प्रमाणो से नही होती है। किन्तु **'सहि सर्ववित सर्वकर्ता, ईदृशेश्वर सिद्धिः सिद्धा'** आदि सूत्रो मे उसकी सिद्धि भी मानी गई है। फिर भी ईश्वर के सम्बन्ध मे न्याय वैशेपिक और साख्य के दृष्टिकोण मे अन्तर रहेगा। सांख्य के अनुसार ईश्वर कर्ता नही होता; दृष्टा साक्षी मात्र रहता है।

योग—इसके प्रवर्त्तक है महर्षि पतञ्जलि। चित्त वृत्तियो के निरोध को योग कहते है 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'। जिस प्रकार वैशेषिक के सिद्धान्तो की पुष्टि न्याय प्रतिपादित प्रमाणो से होती है उसी प्रकार साख्य की पुष्टि और पूर्ति योग द्वारा होती है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योग के आठ अग है। वे इस प्रकार है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। योग दर्शन मे कर्म की विशद व्याख्या है। योगदर्शन मे साख्य की सृष्टियोजना मे ईश्वर का स्थान स्पष्ट कर दिया जाता है। वह उस माली का सा है जो बरहे को साफ कर पानी की गति को अबाधित कर देता है। मेरी समझ मे साख्य की सृष्टि योजना मे इतनी गुजायश अवश्य है कि प्रकृति की साम्यावस्था को विपम बनाकर सृष्टिक्रम जारी करने के लिए एक निमित कारण की आवश्यकता प्रतीत होती है।

पूर्व मीमांसा—इसके आचार्य है महर्षि जैमिनि। यद्यपि इसका मूल विपय धर्म की जिज्ञासा है तथापि इसमे वेदो के पौरुषेय या अपौरुषेय होने तथा उनके अर्थ लगाने की विधि और यज्ञों का विवेचन है।

मीमांसा मे कर्म की प्रधानता है—'कर्मेति मीमांसकाः'। इस प्रधानता के कारण कुछ लोगो ने मीमासा शास्त्र को निरेश्वर माना है। इसका कारण यह है कि कर्म फल देने मे ईश्वर की आवश्यकता नही रक्खी गई है। कर्म स्वयं ही फलवान हो जाते है। किन्तु जो शास्त्र वेदो को पूर्णतया प्रामाणिक मानता है वह ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार नही कर सकता है।

उत्तर मीमांसा वा वेदान्त—वेदान्त शब्द के कई प्रकार से अर्थ किये गए है—वेदों का अन्त अर्थात् वेदो के कर्म और उपासना के पश्चात् ज्ञानकाण्ड जो उपनिपदो मे प्रतिपादित है। वेदान्त का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि जो विद्या वेदो के अध्ययन के पश्चात् आती हो। वेद और उसके अंगो को अपरा विद्या कहा है और वेदान्त या ब्रह्म-विद्या को पराविद्या कहा है :—

तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षाकल्पोव्याकरणम्। निरुक्तंछन्दो ज्योतिषमिति, अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ मुण्डकोपनिषद्।

भारतीय दर्शनों की रूपरेखा

वेदो के अन्त, सार वा निचोड को भी वेदान्त कह सकते ह। उत्तर-मीमासा शब्द में भी यही भाव है। वेदो के ज्ञानकाण्ड का विकास हमको उत्तरकालीन उपनिषदो में मिलता है। इस लिए ज्ञानप्रधान वेदान्त उत्तरकालीन मीमासा नाम से प्रख्यात हुआ। कर्मकाण्ड प्रधान मीमासा पूर्व मीमासा कहलाई। वेदान्त में तीन ग्रथ प्रमाणिक माने जाते ह—उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता, इनको प्रस्थानत्रयी भी कहते ह। ब्रह्मसूत्र के कर्ता बादरायण या वेदव्यासजी है। ब्रह्मसूत्र म चार पाद हैं जिनमें चार चार अध्याय के हिसाब से सोलह अध्याय ह। ये चार पाद स्वय ब्रह्म के ही द्योतक ह। छान्दोग्य उपनिषद म कहा गया है—'पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि' अर्थात सारा विश्व ब्रह्म का एक चौथाई भाग है और तीन पाद म वह अमृत रूप स स्थित ह। ब्रह्म का व्यापक अश थोडा है, ससार से परे जो अतीत अश (Transendental) है वह बहुत ह। ब्रह्मसूत्रों पर भिन्न भिन्न आचार्यों ने अपने अपने मत के अनुसार टीकाएँ की ह। यद्यपि वे एक ही ग्रथ की टीकाएँ ह और उनमें सिद्धान्त का काफी भेद ह तथापि वे सब श्रुति वाक्यो से बँधे हुए ह और सब ही किसी न किसी प्रकार से जीव और ब्रह्म की एकता मानते ह। सिर्फ मध्वाचार्य पूर्ण इतना मानते ह।

शाकर वेदान्त—यह मायावाद के नाम से प्रख्यात ह। इसको अद्वैत वेदान्त भी कहते ह। श्री शकराचार्य का जन्म ईसा की सातवी शताब्दी के अन्त वा आठवी म हुआ माना जाता ह। बहुमत से उनका जन्म काल सन् ७८८ ई० माना जाता ह। शाकर वेदान्त का मूल सिद्धान्त तो यही ह कि 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर'। यह वाद शकराचार्य कृत शारीरिक भाष्य पर अवलम्बित ह। शारीरिक का अर्थ है शरीर म रहनेवाला आत्मा। श्रुतियो में तो आत्मा की एकता के अनेक प्रमाण मिलते ह—'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय' (छान्दोग्य ६ २-१) 'मनसैवानुद्रष्टव्यं नेहनानास्ति किञ्चन', 'तत्त्वमसि' 'अह ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्य भी इस बात को प्रमाणित करते ह। भेद पर बुद्धि भी नहीं ठहरती। बुद्धि एकता ही चाहती ह किन्तु प्रश्न यह होता है कि यह दृश्यमान भेद ह क्या? शाकर मत से यह भेद अध्यास मात्र ह और उसी प्रकार है जिस प्रकार रस्सी में साँप दिखाई देता ह। ज्ञान का प्रकाश हो जाने पर सर्प नहीं दिखाई देता ह। सर्प की स्थिति तभी तक ह जब तक कि अज्ञान है। यह अविद्या के कारण ह। भ्रम के सिवाय भेद का अस्तित्व ही नहीं है। ज्ञान हो जाने पर विश्व का पता भी नहीं चलता, अधिष्ठान मात्र ब्रह्म रह जाता है। रस्सी रस्सी ही रहती है, साप रहता ही नहीं, वास्तव में था भी नहीं। शकराचार्य कहते ह—

> नह्यस्ति विश्व परतत्वबोधात्सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे।
> कालत्रये नाप्यहिरीक्षितो गुणे, नह्यम्बुबिन्दुर्मृगतृष्णिकायाम् ॥

यह भ्रम व्यवहार में तो सत्य ह किन्तु परमार्थ में असत्य है। इसलिए इसको न यह कह सकते ह कि है और न यह कह सकते ह कि नहीं ह। वेदान्त के हिसाब से सत् वही है जो तीनो काल में सत् हो, जो आदि में न हो अन्त में न रहे और मध्य में ही रहे वह परमार्थ म सत् नहीं कहा जा सकता है। जब तक ह तब तक के लिए तो नितान्त असत् भी असत नहीं कहा जा सकता। इसलिए इसको सत् और असत के बीच की चीज कहा ह। इस कारण माया को शाकर मत अनिर्वचनीय कहता ह।

शाकर मायावाद परमार्थ म जीवो की एकता बतलाकर परोपकार के लिए एक भित्ति तयार कर देता है। सब भूतो म एक ही आत्मा का देखना परम कर्तव्य हो जाता ह। ब्रह्म ससार में व्याप्त भी ह और उसको अतीत करता है। व्याप्तरूप को उसका शबल स्वरूप कहा ह और अतीत स्वरूप को शुद्ध स्वरूप कहा है। उपनिषदो म भी कहा ह कि वह विश्व में व्याप्त भी ह और उससे बाहर भी ह। यह जो बाहर ह वही उसका अतीत स्वरूप है—

> अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो, रूप रूप प्रतिरूपो बभूव।
> एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च ॥

प्रचार और व्यापकता की दृष्टि से शाकर मत का प्रभाव बहुत व्यापक ह। हिन्दी साहित्य पर उसकी अमिट छाप है। कबीर (और अधिकाश में जायसी भी) तो स्पष्ट रूप से प्रभावित ह ही। तुलसीदास में 'रजौयथाहेर्भ्रम',—'रजत सीप मह भास जिमि, यथा भानुकर वारि, जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि' आदि वचनो म मायावाद

की स्पष्ट छाप है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि गोस्वामीजी जीव ब्रह्म की एकता के सम्बन्ध मे भी शांकरवादी थे तथापि उनपर उस वाद का प्रभाव पर्याप्त मात्रा मे था।

राधानागरी के अनन्य उपासक कवि बिहारीलाल पर भी मायावाद की छाप थी—

मै देखो निरधार यह जग कॉचो कॉच-सो। एकहि रूप अपार प्रतिबिम्बित जहँ देखिए ॥

विशिष्टाद्वैत—इसके प्रवर्तक है श्री यामुनाचार्य किन्तु यह उनके प्रख्यात शिष्य रामानुजाचार्य (संवत १०७४–११९४) के नाम से अधिक सम्बद्ध है। इनका ब्रह्म सूत्रो का भाष्य श्रीभाष्य कहलाता है।

रामानुजाचार्य ने ब्रह्म या ईश्वर को अद्वैत तो माना है, उसके सिवाय और कुछ नही है किन्तु उसे चिद् चिद्विशिष्ट माना है। (चित जीव और अचित जड) दो विशेषणो से युक्त होने के कारण वह विशिष्ट है। विशिष्ट होकर भी वह अद्वैत है। श्री रामानुजाचार्य के सिद्धान्त नीचे के श्लोक मे सक्षिप्त रूप से बतलाये जा सकते है—

ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयो हरिः। ईश्वरश्चित् इत्युक्तो जीवो दृश्यमचित् पुनः ॥

अर्थात् हरि का त्रिपदार्थात्मक रूप है। ईश्वर चित् और अचित् (चित् जीव है और दृश्य जगत अचित् है) विशिष्ट है।

विशिष्टाद्वैत ब्रह्म मे स्वगत भेद मानता है। शाकर वेदान्त किसी तरह के भेद नही मानता। ब्रह्म मे सजातीय भेद (जैसा मनुष्य मनुष्य का) और विजातीय भेद—(जैसा मनुष्य और घोडे का) तो रामानुजाचार्य भी नही मानते। वे स्वगत भेद (जैसा हाथ पैर और अगुली अगुली का) मानने मे कोई आपत्ति नही देखते। जीव और जगत परमात्मा के शरीर-रूप है।

विशिष्टाद्वैत जीव और ब्रह्म मे अशाशीभाव मानता है। जीव पृथक्-पृथक् है। विशिष्टाद्वैत मत नारायण की उपासना मानता है। स्वामी रामानन्द ने नारायण को राम-रूप से माना। विशिष्टाद्वैत मत का आधार उपनिषदो मे इस प्रकार मिलता है।

द्वे वाव ब्रह्मराणे रुपे मूर्त चैवामूर्तं च, मर्त्य चासृनं, च स्थिनं च यच्चू, सच्च त्यच्च।
'अथनामधेयं सत्यस्य सत्यमिति। प्राराणःवै सत्यं, तेषा मेव सत्यम्' ॥ —वृहदारण्यक

श्री रामानन्दजी इसी सम्प्रदाय मे हुए। इनके द्वारा हिन्दी साहित्य मे दो शाखाएँ चली—एक तो कबीर द्वारा ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी इनकी शिष्य-परम्परा में आये हुए तुलसीदासजी द्वारा रामाश्रयी भक्ति शाखा।

शुद्धाद्वैत—इसके मूल प्रवर्तक है विष्णु स्वामी किन्तु यह महाप्रभु वल्लभाचार्य (सवत् १५३५–१५८७) के नाम से अधिक सम्बद्ध है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने वेदान्त सूत्रो पर अणुभाष्य लिखा था और श्रीमद्भागवत पर सुबोधिनी नाम की टीका लिखी है। वल्लभ सम्प्रदाय मे श्रीमद्भागवत का सम्मान वेदो के ही बराबर है।

शुद्धाद्वैत मत मे माया को स्थान नही है इसीसे उसका नाम शुद्धाद्वैत पड़ा है—**'माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः'**। जीव और ब्रह्म तत्त्व से एक ही है। ब्रह्म मे सत् चित् और आनन्द तीनो गुण है। जीव मे आनन्द का तिरोभाव हो जाता है, उसमे सत् और चित् गुणो का आविर्भाव रहता है। जड मे सत् और चित् दोनों गुणो का तिरोभाव हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म जीव और जड जगत् मे गुणो की कमी-बेशी का प्रश्न रह जाता है।

इस सम्प्रदाय मे श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म माना है। उनकी शरणागति को परम कर्तव्य माना है—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**। भगवत् अनुग्रह पर ही पूरा भरोसा करने के कारण यह मत पुष्टिमार्ग कहलाता है। इसका अर्थ अच्छे भोजनो से शरीर पुष्ट करना नही है—**'पोषणं तदनुग्रहः'**। भगवान का अनुग्रह ही पोषण है। जिस पर भगवान की कृपा होती ह उसी को ज्ञान की प्राप्ति होती है। उपनिषदो मे भी कहा है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥

गोस्वामी तुलसीदासजी भी ऐसा ही कहते है—

'सो जाने जिहि देहु जनाई'

हिंदी कवियों में अष्टछाप के कवि इसी सम्प्रदाय के हुए हैं। सूरदासजी इनमें प्रमुख थे। रसखान भी इसी सम्प्रदाय के कवि हुए हैं। इस सम्प्रदाय में बालकृष्ण की उपासना मानी गई है।

द्वैताद्वैत—इसके प्रवर्तक श्री निम्बार्काचार्य (मृत्यु संवत ११६२) थे। ये सूर्य के अवतार माने जाते हैं। कहा जाता है कि इन्होंने एक जैन साधु की खातिर जिनको व दिन छिपने से पहले ही आतिथ्य सत्कार करना चाहते थे, सूर्य की गति को रोक एक नीम के पेड पर स्थित कर दिया था। आपके भाष्य का नाम है—वेदान्त सौरभ।

श्रुतियां द्वैत और अद्वैत दोनों का प्रतिपादन करती हैं। द्वैताद्वैत में ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध अंशांशी भाव से द्वैत और अद्वैत माना है। ये भी संसार को सत्य मानते हैं 'सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकम'। ब्रह्म जगत में परिणत होने पर भी निर्विकार रहता है। वह अतीत रूप में निर्गुण है। इस मत में भी भक्ति ही परम साधन है। ब्रह्म सार्वभौम होने के कारण सुखी है, जीव सीमित होने के कारण दुखी है। निम्बार्काचार्य ने तीन तत्वों को इस प्रकार माना है जीव (भोक्ता) प्रकृति (भोग्य) ईश्वर (नियन्ता)।

द्वैतवाद—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं श्री मध्वाचार्य (संवत १२५४–१३३३) इनके सिद्धान्त इस प्रकार हैं —

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो, भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं ह्यक्षादित्रितयप्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

अर्थात् श्रीमध्वाचार्य के मत से हरि से बढ़कर कोई नहीं है, जगत् तत्त्व से सत्य है (व्यवहार में सत्य तो शंकराचार्य जी ने भी माना है)। जीवों में भेद है अर्थात् उनमें परस्पर भेद है, जीव ईश्वर का भेद है, जीव जड का भेद है और जडों में भी परस्पर भेद है। वे सब हरि के अनुचर हैं। भक्ति का अर्थ भगवान् से हमारा निजी सम्बन्ध है इस सुख की अनुभूति है। उसका साधन अमला भक्ति है। प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द ये प्रमाण हैं। सब शास्त्रों में जानने योग्य पदार्थ हरि ही हैं। इस मत की विशेषता है कि इसने भेदों को उडाया नहीं है उनको सत्य माना है 'सत्यता च भेदस्य' भगवान् पूर्णरूप से स्वतन्त्र है और जीव परतन्त्र है।

समन्वय—यद्यपि भारतीय दर्शनों की संख्या ६ है और उनमें परस्पर भेद भी है तथापि वह भेद दृष्टिकोण का है। वे एक दूसरे के विरोधी नहीं कहे जा सकते, वे एक दूसरे के पूरक हैं। इनका दृष्टिकोण भेद समझ लेना चाहिए। ६ दर्शनों में वास्तव में तीन प्रकार की विचार धाराएँ हैं। ये छओं दर्शन तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्व और उत्तर मीमांसा। इन युग्मों में एक अनुष्ठापक और दूसरा ज्ञापक कहा जा सकता है अर्थात् एक का सम्बन्ध साधनों और क्रियाओं में है दूसरे का सम्बन्ध ज्ञान से। न्याय वैशेषिक में न्याय ज्ञापक है और वैशेषिक अनुष्ठापक। वैशेषिक धर्म की व्याख्या के लिए आया, 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' सांख्य-योग में सांख्य ज्ञापक है और योग अनुष्ठापक है। योग में चित्त वृत्ति के निरोध का साधन बतलाया है। उत्तर मीमांसा ज्ञापक है और पूर्व मीमांसा अनुष्ठापक है। उसका भी उदय धर्म की जिज्ञासा और व्याख्या के लिए हुआ।

ऊपर एक श्रुति का उल्लेख आया है उसमें 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' आत्म-दर्शन के तीन साधन बतलाये गये हैं।

श्रवण का सम्बन्ध पूर्व और उत्तर मीमांसाओं से है क्योंकि वे श्रुति को ही प्रमाण मानकर आगे बढ़ी हैं। न्याय वैशेषिक और सांख्य में मनन की प्रधानता है योग में निदिध्यासन की।

संसार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन दृष्टिकोण माने गये हैं। आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद। आरम्भवाद कार्य को उत्पत्ति से पूर्व असत् मानता है इसीलिए वह इस नाम से पुकारा जाता है। इसको असत्कार्यवाद भी कहते हैं। न्याय और वैशेषिक इस दृष्टिकोण को ही लेकर चले हैं। परिणामवाद कार्य को उत्पत्ति के पूर्व भी सत् मानता है। उत्पत्ति के पूर्व जो अव्यक्त रूप में सत था उत्पत्ति के पश्चात् व्यक्त रूप से सत होता है। दूध दही से भिन्न अवश्य है किन्तु दूध में ही था और सत् था और सत है। इस मत को सांख्य-योग ने माना है। विवर्तवाद में कार्य को असत् माना गया है। कारण के परिणाम बिना ही कार्य दिखाई देने लगता है। इसको शांकर वेदान्त ने माना है। विवर्त और परिणाम में यही भेद है कि परिणाम में कार्य सत् होकर कारण से भिन्न होता है और विवर्त में असत् होकर कारण से भिन्न होता है—

सतत्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीर्यते। अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीर्यते। ये तीनो दृष्टिकोण भी एक दूसरे के पूरक है। आरम्भ और परिणामवाद कार्य पर विशेष ध्यान रखते है और विवर्तवाद कारण पर। आरम्भवाद कार्य की नवीनता पर जोर देता है और परिणामवाद कार्य और कारण की एकता पर, क्योकि वह मानता है कि असत् से सत की उत्पत्ति नही हो सकती। किन्तु कार्य और कारण मे कुछ भेद मानना ही पडेगा। अव्यक्त से व्यक्त होना ही नवीनता है। यहाँ पर साख्य को न्याय की वात माननी होगी। न्याय भी कार्य कारण मे किसी न किसी प्रकार का तादात्म्य मानता है क्योकि घट मिट्टी से ही होता है और पट तन्तुओ से। विवर्तवाद कारण को प्रधानता देता है और कार्य को उसकी अपेक्षा गौण मानता है।

इन दर्शनो का भेद अधिकारी भेद से भी माना गया है। अधिकारी मानसिक उन्नति के क्रम से स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता है। पहली श्रेणी न्याय-वैशेषिक की है, दूसरी श्रेणी साख्य-योग की तीसरी श्रेणी पूर्व और उत्तर मीमासा की।

वेदान्त के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो का भी झगडा ऐसा नही है जिसका निपटारा न हो सके। वेदान्त के पाँच प्रमुख भाष्यकारो मे तीन ने तो ईश्वर और जीव का सम्वन्ध भिन्न-भिन्न रूप से अशाशी भाव मे माना है। दोनो ने अर्थात् शकराचार्य ने और मध्वाचार्य ने अशाशी भाव नही माना है। शंकराचार्य ने विलकुल तादात्म्य माना है। माध्वाचार्य ने विलकुल भेद। अंशाशी भाव वीच की चीज है। शकराचार्य ने परमार्थिक और व्यावहारिक का भेद करके सवके लिए गुञ्जाइश कर दी है। व्यावहारिक दष्टि से अशाशी भाव और द्वैत भक्ति-भाव मान्य होता है। जगत की सत्यता भी व्यवहारिक दृष्टि से प्रमाणित हो जाती है। हाथी के पैर की भाँति ब्रह्म मे सव वादो को आश्रय मिल जाता है। वही एक सब का ध्येय है--**एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति।**

चार्वाक--इस शब्द की व्युत्पत्ति चारु अर्थात् सुन्दर वाक्य से की जाती है क्योकि इसके सिद्धान्त साधारण मनुष्य को अच्छे लगते है, वे चारुवाक के रूप मे उसे दिखाई पडते है। इसके आचार्य है देवताओ के गुरु बृहस्पति। ऐसा माना जाता है कि इन्होने दानवो को धोका देने के लिए गलत मत का प्रचार किया था। यह वात ठीक नही मालूम होती। देवता या ऋषि लोग किसीको धोका नही देते। ये लोग देहात्मवादी है। आत्मा को शरीर का ही विकार मानते है कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार महुवा से शराव उत्पन्न होती है--**'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'** यह इनका मूल मत्र है।

वौद्ध दर्शन--इसका भी उदय साख्य की भाँति दुख की निवृत्ति के लिए हुआ। जिस प्रकार साख्य का मूल उद्देश्य दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति है (**दुखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ**) उसी प्रकार वुद्ध महाराज के आने का उद्देश्य वतलाया गया है कि उन्होने दुख और उसके कारणो और उसके शमन का उपाय वतलाया--

ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह। तेसं च यो विरोधो एवं वादी महासमणो॥

दुख के कार्य-कारणो की शृखला को खोजते हुए उसका मूल वासना मे मिलता है। उसके ही नाश करने से दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। वुद्ध महाराज ने चार आर्य सत्य वतलाये है। वे इस प्रकार है (१) दुख (२) दुख समुदय अर्थात् दुख के कारणो की तृष्णा मूलक परम्परा (३) दुख विरोध अर्थात् तृष्णा पर विजय प्राप्त कर दुख का रोकना (४) मार्ग वा मध्यम प्रतिपदा अर्थात् वीच का मार्ग। इसका व्योरा अष्टागिक मार्ग मे वतलाया है।

संसार और जीव के सम्वन्ध मे वौद्ध लोग किसी शाश्वत आत्मा को नही मानते और न वे चारवाको की भाँति आत्मा के अस्तित्व को विलकुल मिटाते ही है। जव तक वासना का क्षय नही होता तव तक आवागमन का चक्र चलता रहता है लेकिन जो आत्मा जन्म लेती है वह कोई स्थायी वस्तु नही है वरन् वह आगे वढ़ती हुई संस्कारो की परम्परा है। जिस प्रकार दीपक की ज्योति मे प्रतिक्षण नये कण आते रहते है उसी प्रकार नये संस्कारो का प्रवाह चलता रहता है। वाह्य सत्ता भी इन क्षणिक विज्ञानो के अतिरिक्त कुछ नही है।

इस ससार के सभी पदार्थ क्षणिक है। इन क्षणिक विज्ञानो के आधार के सम्वन्ध मे वौद्धो के चार सम्प्रदाय है--वैभाषिक और सौत्रान्तिक तो वाह्याधार मानते है और माध्यमिक और योगाचार नही मानते। योगाचार वाले शून्यवादी है। श्रुति मे शून्यवाद का भी आधार मिलता है। सिद्धान्त रूप से नही वरन् एक पक्षरूप से--

'तद्ध एक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत'।

भारतीय ज्योतिष का विकास

समय की तीन इकाइयाँ—प्राचीनतम मनुष्य ने भी देखा होगा कि दिन के पश्चात् रात्रि, रात्रि के पश्चात् दिन होता है। एक रातदिन—ज्योतिष की भाषा में एक अहोरात्र और साधारण भाषा में केवल दिन—समय नापने की ऐसी इकाई थी जो मनुष्य के ध्यान के सम्मुख बरबस उपस्थित हुई होगी। परन्तु कई कामो के लिए यह इकाई बहुत छोटी पडी होगी। उदाहरणत, बच्चे की आयु कौन जोडता चलेगा कि कितने दिन की हुई। सौ दिन के ऊपर असुविधा होने लगी होगी।

सौभाग्यवश एक दूसरी इकाई थी जो प्राय इतनी ही महत्त्वपूर्ण थी। लोगो ने देखा होगा कि चन्द्रमा घटता-बढता है। कभी वह पूरा गोल दिखलाई पडता है, कभी वह अदृश्य भी रहता है। एक पूर्णिमा से दूसरी तक, या एक अमावस्या से दूसरी तक के समय को इकाई मानने में सुविधा हुई होगी। यह इकाई—एक मास या एक चान्द्रमास—कई कालो के नापने में सुविधाजनक रही होगी, परन्तु सबके नही। कुछ दीर्घ काल, जैसे बालक-बालिकाओ की आयु बताने में मासो का उपयोग भी असुविधाजनक प्रतीत हुआ होगा, इससे भी बडी इकाई की आवश्यकता पडी होगी।

परन्तु लोगो ने देखा होगा कि ऋतुएँ बार बार एक विशेष क्रम मे आती रहती है—जाडा, गरमी, बरसात, फिर जाडा, गरमी, बरसात, और सदा यही क्रम लगा रहता है, इसलिए लोगो ने बरसातो की सख्या बताकर काल-मापन आरम्भ किया होगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वर्ष शब्द की उत्पत्ति वर्षा से हुई है, और वर्ष के पर्यायवाची शब्द प्राय सभी ऋतुओ से सम्बन्ध रखते है जैसे शरद, हेमन्त, वत्सर, सवत्सर, अब्द, इत्यादि। शरद और हेमन्त दोनो का सम्बन्ध जाडे की ऋतु से है, वत्सर और सवत्सर से अभिप्राय है वह काल है जिसमें सब ऋतुएँ एक बार आ जाय, अब्द का अर्थ जल देनेवाला या बरसात है।

समय की इकाइयों में सम्बन्ध—सैकडो वर्षों तक अहोरात्र, मास और वर्ष के सम्बन्ध को सूक्ष्म रूप से जाने बिना ही काम चल गया होगा, परन्तु जैसे जैसे गणित का ज्ञान बढा होगा, जैसे जैसे राजकाज में क्रमबद्ध आय-व्यय लेखा वर्षों तक रखने की आवश्यकता पडी होगी, या लम्बे लम्बे एक या अधिक वर्षों के यज्ञ होने लगे होगे, तैसे तैसे इन तीन इकाइयो के सम्बन्ध को ठीक ठीक जानने की आवश्यकता तीव्र होती गई होगी।

मनुष्य के दोनो हाथो में कुल मिलाकर दस अँगुलियाँ होती है और इसी कारण गणित में दस की विशेष महत्ता है। सारा गणित दस अको से लिख लिया जाता है—१ से ९ तक वाले अक और शून्य ०, इन्हींसे बडी से बडी सख्याएँ लिख ली जाती है। प्राचीनतम मनुष्य ने जब देखा होगा कि एक मास मे लगभग तीस दिन होते है तो मास में ठीक ठीक तीस दिन मानने में उसे कुछ भी सकोच न हुआ होगा। उसे मास में तीस दिन का होना उतना ही स्वाभाविक जान पडा होगा कि जितना दिन के बाद रात का आना।

परन्तु सच्ची बात तो यह है कि एक मास मे ठीक ठीक तीस दिन नही होते। सब मास ठीक ठीक बराबर भी नही होते। इतना ही नही, सब अहोरात्र भी बराबर नही होते। इन सब इकाइयो का सूक्ष्म ज्ञान मनुष्य को बहुत पीछे हुआ। आज भी जब सेकण्ड के हजारवें भाग तक वैज्ञानिक लोग समय नाप सकते है और डिगरी के दो हजारवें भाग तक कोण नाप सकते है इन इकाइयो का इतना सच्चा ज्ञान नही है कि कोई ठीक ठीक बतला दे कि आज से एक करोड दिन पहले कौनसी तिथि थी—उस दिन चन्द्रमा पूर्ण गोल था, या चतुर्दशी के चन्द्रमा की तरह कुछ कटा हुआ।

ऋग्वेद में वर्षमान—निस्सदेह इन तीन इकाइयो के सम्बन्ध की खोज ही से ज्योतिष की उत्पत्ति हुई और यदि किसी काल की पुस्तक में हमें यह लिखा मिल जाता है कि उस समय मास में और वर्ष में कितने दिन माने जाते थे तो हमको उस समय के ज्योतिष के ज्ञान का सच्चा अनुमान लग जाता है।

ऋग्वेद हमारा प्राचीनतम ग्रथ है। परन्तु वह कोई ज्योतिष की पुस्तक नही है। इसलिए उसमें आनेवाले ज्योतिष सम्बन्धी सकेत बहुधा अनिश्चित से है। परन्तु इस में सन्देह नही कि उस समय वर्ष में बारह मास और एक मास में तीस

दिन माने जाते थे। एक स्थान पर लिखा है—

'सत्यात्मक आदित्य का, वारह अरों (खूंटो या डडो) से युक्त चक्र स्वर्ग के चारों ओर बारबार भ्रमण करता है और कभी भी पुराना नही होता। अग्नि, इस चक्र मे पुत्रस्वरूप, सातसौ वीस (३६० दिन और ३६० रात्रियाँ) निवास करते हैं*।'

परन्तु यह मानने मे कि मास मे बराबर ठीक तीस दिन होते हैं एक विशेष कठिनाई पड़ती रही होगी। वस्तुतः एक महीने मे लगभग २९॥ दिन होते हैं। इसलिए यदि कोई बराबर तीस-तीस दिन का महीना गिनता चला जाय तो ३६० दिन मे लगभग ६ दिन का अन्तर पड़ जायगा। यदि पूर्णिमा से मास आरम्भ किया जाय तो जब वारहवे महीने का अन्त तीस-तीस दिन बारह वार लेने से आवेगा तव आकाश मे पूर्णिमा के बदले अधकटा चन्द्रमा रहेगा। इसलिए यह कभी भी माना नही जा सकता कि लगातार बारह महीने तक तीस-तीस दिन का महीना माना जाता था।

मास में दिनों की संख्या—पूर्णिमा ऐसी घटना नही है जिसके घटित होने का समय केवल चन्द्रमा की आकृति को देखकर कोई पल-विपल तक बतला सके। यदि इस समय चन्द्रमा गोल जान पड़ता है तो कुछ मिनट पहले भी वह गोल जान पड़ता रहा होगा और कुछ मिनट बाद भी वह गोल ही जान पड़ेगा। मिनटो की क्या बात; कई घण्टो मे भी अधिक अन्तर नही दिखलाई पड़ता। इसलिए एक मास मे २९॥ दिन के बदले ३० दिन मानने पर महीने, दो महीने तक तो कुछ कठिनाई नही पडी होगी, परन्तु ज्योही लोगो ने लगातार गिनाई आरम्भ की होगी उनको पता चला होगा कि प्रत्येक मास मे तीस दिन मानते रहने से साल भर मे गणना और बेध मे एकता नही रहती। जब गणना कहती है कि मास का अन्त हुआ तब आकाश मे चन्द्रमा पूर्ण गोल नही रहता; जब वेध बतलाता है कि आज पूर्णिमा है तब गणना बतलाती है कि अभी महीना पूरा नही हुआ।

लकीर के फकीर—अवश्य ही कोई उपाय रहा होगा जिससे लोग किसी किसी महीने मे केवल २९ दिन मानते रहे होगे। इन २९ दिन वाले महीनो के लिए ऋग्वेद के समय मे क्या नियम थे यह अब जाना नही जा सकता, परन्तु कुछ नियम रहे अवश्य होगे। पीछे तो हिन्दू ज्योतिष में ऐसे पक्के नियम बन गए कि लोग उन नियमों के दास बन गए; ऐसे दास कि आज भी हिन्दू ज्योतिषी तभी ही पूर्णिमा मानते है जब उनकी गणना कहती है कि पूर्णिमा हुई, चाहे वेध आँख से देखी बात कुछ बतलावे। मुसलमान वेध के भक्त हैं, हिन्दू गणित के। चाहे गणना कुछ भी कहे, जब तक मुसलमान ईद के चाँद को आँखो से देख न लेगा—चाहे निजी आँखों से, चाहे विश्वस्त पुजारियो की आँखो द्वारा—वह ईद मनायेगा ही नही। परन्तु आजका हिन्दू डेढ़ हजार वर्ष पहले के बने नियमो का इतना भक्त है कि वह वेध को भाड मे झोकने के लिये उद्यत है। हकतुल्यता—गणना मे ऐसा सुधार करना कि उससे वही परिणाम निकले जो वेध से प्राप्त होता है—आज के प्रायः सभी पडितो को पाप-सा प्रतीत होता है। वेध की अवहेलना अभी इसलिए निवाही जा रही है कि सूर्य-सिद्धान्त के गणित से निकले परिणाम और वेध मे अभी घण्टे, दो घण्टे, से अधिक का अन्तर नही पड़ता और घण्टे, दो घण्टे, आगे या पीछे पूर्णिमा बतलाने से साधारण मनुष्य साधारण अवसरों पर गलती पकड़ नही पाता। इसी से काम चला जा रहा है। ग्रहण के अवसरों पर अवश्य घण्टे भर की गलती सुगमता से पकड़ी जा सकती है,† परन्तु पडितो ने चाहे वे कितने भी कट्टर प्राचीन मतावलम्बी हों, ग्रहणो की गणना आधुनिक पाश्चात्य रीतियों से करना स्वीकार कर लिया है। अस्तु। चाहे आज का पडित कुछ भी करे ऋग्वेद के समय के लोग साल भर तक किसी भी प्रकार तीस दिन ही प्रति मास न मान सके होगे। सम्भवतः कोई नियम रहा होगा; ऐसे नियम ज्योतिषवेदाग मे दिये हैं और उसकी चर्चा नीचे की जायगी। परन्तु यदि कोई नियम न रहे होगे तो कम से कम अपनी आँखो देखी पूर्णिमा के आधार पर उस काल के ज्योतिषी समय समय पर एक दो दिन छोड़ दिया करते रहे होगे।

---

* १।१६४।४८; रामगोविन्द त्रिवेदी और गौरीनाथ झा की टीका से।

† क्योंकि चन्द्रग्रहण का मध्य पूर्णिमा पर और सूर्यग्रहण का मध्य अमावस्या पर ही हो सकता है।

भारतीय ज्योतिष का विकास

वर्ष में कितने मास—यह तो हुआ मास में दिनों की संख्या का हिसाब। यह भी प्रश्न अवश्य उठा होगा कि वर्ष में कितने मास होते हैं। यहाँ पर कठिनाई और अधिक पड़ी होगी। पूर्णिमा की तिथि वेध से निश्चित करने में एक दिन या अधिक से अधिक दो दिन की अशुद्धि हो सकती है। इसलिए बारह या अधिक मासों में दिनों की संख्या गिनकर पड़ता बैठाने पर कि एक मास में कितने दिन होते हैं अधिक त्रुटि नहीं रह जाती है।

परन्तु यह पता लगाना कि वर्षाऋतु कब आरम्भ हुई, या शरदऋतु कब आई, सरल नहीं है। पहला पानी किसी साल बहुत पहले, किसी साल बहुत पीछे, गिरता है। इसलिए वर्षाऋतु के आरम्भ को वेध से ऋतु को देखकर निश्चित करने में पन्द्रह दिन की त्रुटि हो जाना साधारणसी बात है। बहुत काल तक पता ही न चला होगा कि एक वर्ष में ठीक ठीक कितने दिन होते हैं। आरम्भ में लोगों की यही धारणा रही होगी कि वर्ष में मासों की संख्या कोई पूर्ण संख्या होगी। बारह ही निकटतम पूर्ण संख्या है। इसलिए वर्ष में बारह महीनों का मानना स्वाभाविक था। दीर्घकाल तक होता यही रहा होगा कि बरसात में लोग मोटे हिसाब से महीनों को गिनते रहे होंगे और समय बतलाने के लिए कहते रहे होंगे कि इतने मास बीते।

तो भी, जैसे जैसे ज्योतिष के ज्ञान में तथा राज्य ज्ञान, सभ्यता आदि में वृद्धि हुई होगी, वैसे वैसे अधिकाधिक दीर्घ काल तक लगातार गिनती रक्खी होगी और तब पता चला होगा कि वर्ष में कभी बारह कभी तेरह मास रखना चाहिए, अन्यथा बरसात उसी महीने में प्रतिवर्ष नहीं पड़ेगी। उदाहरणतः यदि इस वर्ष बरसात सावन भादों में थी और हम आज से बराबर बारह-बारह मासों का वर्ष मानते जायें तो कुछ वर्षों के बाद बरसात कुआर-कातिक में पड़ेगी, कुछ अधिक वर्षों के बीतने पर बरसात अगहन-पूस में पड़ेगी। मुसलमानों की गणना-पद्धति आज भी यही है कि एक वर्ष में कुल १२ मास (चान्द्रमास) रक्खे जायें। इसका परिणाम यही होता है कि बरसात उनके हिसाब से प्रति वर्ष एक ही महीने में नहीं पड़ती। उदाहरणतः उनके एक महीने का नाम मुहर्रम है। उसी महीने में मुसलमानों का मुहर्रम नामक त्यौहार पड़ता है। परन्तु यह त्यौहार जैसा सभी ने देखा होगा बराबर एक ही ऋतु में नहीं पड़ता।

ऋग्वेद के समय में अधिमास—हिंदुओं ने तेरहवाँ मास लगाकर मासों और ऋतुओं में अटूट सम्बन्ध जोड़ने की रीति ऋग्वेद के समय में ही निकाल ली थी। ऋग्वेद में एक स्थान पर आया है—

"जो व्रतावलम्बन करके अपने अपने फलोत्पादक बारह महीनों को जानते हैं और उत्पन्न होनेवाले तेरहवें मास को भी जानते हैं, ..."।*

इससे प्रत्यक्ष है कि वे तेरहवाँ महीना बढ़ाकर वर्ष के भीतर ऋतुओं का हिसाब ठीक रखते थे।

नक्षत्र—लोगों ने धीरे धीरे यह देखा होगा कि पूर्णिमा का चन्द्रमा जब कभी किसी विशेष तारे के निकट रहता है तो एक विशेष ऋतु रहती है। इस प्रकार तारों के बीच चन्द्रमा की गति पर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ होगा। तारों के हिसाब से चन्द्रमा एक चक्कर २७⅓ दिन में लगाता है। मोटे हिसाब से प्राचीन लोगों ने इसे २७ ही दिन माना होगा। इसलिए चन्द्रमा के एक चक्कर को २७ भागों में बाँटना और उसके मार्ग में २७ चमकीले या सुगमता से पहचान में आने-वाले तारों या तारिकापुंजों को चुन लेना उनके लिए स्वाभाविक था। ठीक ठीक बराबर दूरियों पर तारों का मिलना असम्भव था क्योंकि चन्द्रमा के मार्ग में तारों का जड़ना मनुष्य का काम तो था नहीं। इसलिए आरम्भ में मोटे हिसाब से ही वेध द्वारा चन्द्रमा की गति का पता चल पाता रहा होगा, परन्तु गणित के विकास के साथ इसमें सुधार हुआ होगा और तब चन्द्र-मार्ग को ठीक ठीक बराबर २७ भागों में बाँटा गया होगा। चन्द्रमा २७ के बदले लगभग २७⅓ दिन में एक चक्कर लगाता है, इसका भी परिणाम जोड़ लिया गया होगा।

चन्द्रमा के मार्ग के इन २७ बराबर भागों को ज्योतिष में नक्षत्र कहते हैं। साधारण भाषा में नक्षत्र का अर्थ केवल तारा है। इस शब्द से किसी भी तारे का बोध हो सकता है। आरम्भ में नक्षत्र तारे के लिए ही प्रयुक्त होता रहा होगा।

* १।२५।८ रामगोविन्द त्रिवेदी और गौरीनाथ झा का अनुवाद।

परन्तु चन्द्रमा अमुक नक्षत्र के समीप है कहने की आवश्यकता बार बार पड़ती रही होगी। समय पाकर चन्द्रमा और नक्षत्रों का सम्बन्ध ऐसा घनिष्ट हो गया होगा कि नक्षत्र कहने से ही चन्द्र-मार्ग के समीपवर्ती किसी तारे का ध्यान आता रहा होगा। पीछे जब चन्द्रमार्ग को २७ बराबर भागो मे बाँटा गया तो स्वभावत. इन भागो के नाम भी समीपवर्ती तारो के अनुसार अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी आदि पड़ गए होंगे।

ऋग्वेद मे कुछ नक्षत्रों के नाम आते हैं जिससे पता चलता है कि उस समय भी चन्द्रमा की गति पर ध्यान दिया जाता था*।

कौषीतकी ब्राह्मण—ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य ग्रथो मे भी ज्योतिष-सम्बन्धी कुछ बाते आई हैं। उनसे पता चलता है कि तब तक ज्योतिष का ज्ञान और बढ़ गया था। तैत्तिरीय सहिता मे सत्ताइसों नक्षत्रो की सूची है† और यह सूची आज की तरह अश्विनी से न आरम्भ होकर कृत्तिका से आरम्भ होती है (इसका कारण हम पीछे बतायेंगे)। यह भी निश्चयात्मक रूप से लिखा है कि वर्ष का आरम्भ फल्गुनी नक्षत्र मे पड़नेवाली पूर्णिमा से होता था। ‡अथर्ववेद मे ग्रहणो की चर्चा कई स्थानो मे है※ और राहु का नाम भी आया है⁂।

कौषीतकी ब्राह्मण मे इसका सूक्ष्म वर्णन है कि उदयकाल के समय सूर्य किस दिशा मे रहता है। क्षितिज पर सूर्योदय-बिन्दु स्थिर नही रहता क्योकि सूर्य का वार्षिक मार्ग तिरछा है और इसका आधा भाग आकाश के उत्तर भाग मे पड़ता है, आधा दक्षिण मे। कौषीतकी ब्राह्मण ने सूर्योदय-बिन्दु की गति का सच्चा वर्णन दिया है कि किस प्रकार यह बिन्दु दक्षिण की ओर जाता है, कुछ दिनो तक वहाँ स्थिरसा जान पड़ता है और फिर उत्तर की ओर बढ़ता है⁑। यदि यज्ञ करनेवाला प्रति दिन एक ही स्थान पर बैठकर यज्ञ करता था—और वह ऐसा करता भी रहा होगा—तो क्षितिज के किसी विशेष बिन्दु पर सूर्य को उदय होते हुए देखने के पश्चात् फिर एक वर्ष बीतने पर ही वह सूर्य को ठीक उसी स्थान पर (उसी ऋतु मे) उदय होता हुआ देखता रहा होगा। वस्तुत, क्षितिज के किसी एक बिन्दु पर उदय होने से लेकर सूर्य के फिर उसी बिन्दु पर वैसेही ऋतु मे उदय होने तक के काल मे दिनो की सख्या गिनने से वर्ष का मान पर्याप्त अच्छी तरह ज्ञात हो सकता है और सम्भव है कि इस रीति से भी उस समय वर्षमान निकाला गया हो। कम से कम इतना तो निश्चय है कि कौषीतकी ब्राह्मण के कर्त्ता ने सूर्योदय-बिन्दु की गति को कई वर्षो तक अच्छी तरह देखा था।

तारों का उदय और अस्त होना—वर्षमान जानने की एक अन्य रीति भी थी। लोग सूर्य की उपासना करते थे। प्रात काल, सूर्योदय के पहले से ही, पूर्व दिशा की ओर ध्यान दिया करते थे। इस क्रिया मे उन्होने देखा होगा कि सूर्योदय के पहले जो तारे पूर्वीय क्षितिज के ऊपर दिखलाई पडते है वे सदा एक ही नही रहते। उदाहरणत, यदि मान लिया जाय कि आज प्रात काल मघा नामक तारा लगभग सूर्योदय के समय पूर्वीय क्षितिज से थोडीसी ही ऊँचाई पर दिखाई पड़ रहा था तो यह निश्चित है कि आज से बीस-पच्चीस दिन पीछे यह तारा सूर्योदय के समय क्षितिज से बहुत अधिक ऊँचाई पर रहेगा, और बीस-पच्चीस दिन पहले सूर्योदय के समय यह क्षितिज से नीचे और इसलिए अदृश्य था। अवश्य कोई दिन ऐसा रहा होगा जिस दिन यह तारा पहले पहल लगभग सूर्योदय के समय, या तनिकसा पहिले, दिखलाई पड़ा होगा। वह तारा उस दिन 'उदय' हुआ, ऐसा माना जाता था। लोगो ने देखा होगा कि विशेष तारो का उदय विशेष ऋतुओ मे होता है। तुलसीदास ने जो लिखा है "उदेउ अगस्त्य पथ जल सोखा" उसमे उदय होने का अर्थ

* १०।८५।१३।

† ४।४।१०।

‡ ७।४।८।

※ ३।२।२; २।१०।८।

⁂ ९।९।१०।

⁑ १९।२।३।

यही है कि अगस्त्य पहले प्रातःकाल नहीं दिखलाई पड रहा था, जब वह सूर्योदय के पहले दिखलाई पडने लगा तो बरसात बीत गई थी।

विशेष तारा के उदय होने के समयों को बार बार देखकर और इस पर ध्यान रखकर कि कितने कितने दिनो पर एक ही तारा उदय होता है लोगो ने वर्ष का स्थूल मान अवश्य जान लिया होगा। एक बरसात से दूसरी बरसात तक के दिनो को गिनने की अपेक्षा तारा के एक उदय से दूसरे उदय तक या सूर्योदय विन्दु के क्षितिज के किसी विशेष चिह्न पर फिर आ जाने तक के काल म दिनो के गिनने से वर्ष का अधिक सच्चा ज्ञान हुआ होगा, परन्तु इसमें भी स्थूलता तब तक न मिटी होगी जब तक कई वर्षों तक दिनो की गिनती लगातार न की गई होगी।

तारा का उदय प्राचीन काल म भी देखा जाता है यह तैत्तिरीय ब्राह्मण के एक स्थान से स्पष्ट है।*

पूर्वोक्त प्रमाणो से प्रत्यक्ष है कि ऋग्वैदिक काल में ज्योतिष की सच्ची नीव पड गई थी।

ज्योतिष वेदाग—ज्योतिष-वेदाग या वेदाग-ज्योतिष वेद के छह अगो मे से एक है। इसका उद्देश्य था कि यज्ञ आदि के लिए उचित समय बताये। ज्योतिषवेदाग एक छोटीसी पुस्तक है जिसके दो पाठ मिलते है। एक ऋग्वेद-ज्योतिष, दूसरा यजुर्वेद-ज्योतिष। दोनो में विषय और अधिकाश श्लोक एक ही है। परन्तु ऋग्वेद में कुल ३६ श्लोक है और दूसरे में ४४। पता नहीं कि आरम्भ में भी इन पुस्तको में कुल इतने ही श्लोक थे या पहले कुछ और भी थे जो अब अप्राप्य हो गए है।

इन श्लोको का अर्थ लगाना अत्यन्त कठिन था। लोग अर्थ भूल ही गए थे और पुस्तक का मिलना दुर्लभ था। वेबर ने पहले पहल इसको प्रकाशित किया और अधिकाश श्लोको का अर्थ भी छापा। फिर थीबो और सुधाकर द्विवेदी ने शेष म से कुछ श्लोको का अर्थ लगाया, जिनम से कुछ पीछे अशुद्ध सिद्ध हुए। लाला छोटेलाल ने कई क्लिष्ट श्लोको का अर्थ लगाया। इस पुस्तक की नूतनतम टीका डाक्टर शामशास्त्री की है (१९३६, सरकारी प्रेस, मैसूर)।

श्लोको के अर्थ लगाने में कठिनाई इसलिए पडती है कि कई स्थानो पर केवल सकेत के शब्द या अक्षर दिए हुए है। वस्तुत श्लोक गुर है और उन लोगो की स्मरणशक्ति के सहायतार्थ बनाए गए है जो नियम को पहले से अच्छी तरह जानते है, केवल उपयोग के समय ऐसा सूत्र चाहते है जिससे उनको गणना करने में सहायता मिले। एक श्लोक में २७ नक्षत्रो के नाम एक विशेष क्रम स गिनाए गए है। क्रम सख्या से तुरन्त पता चलता है कि उस नक्षत्र में पर्व (अमावस्या या पूर्णिमा) के पडने से चन्द्रमा नक्षत्र के आदि विन्दु से कितना अश आगे बढा रहेगा। २७ मात्राओ को ऐसा चुनना कि प्रत्येक नक्षत्र का बोध असदिग्ध रूप से हो, उन्हे ऐसे क्रम से रखना कि गणना ठीक बैठे, और फिर छन्द के पढने में कही टूट (भग) न रहे, सराहनीय है।

इस पुस्तक के आरम्भ के एक श्लोक से प्राचीन समय म ज्योतिष की महत्ता स्पष्ट प्रकट होती है —

यथा शिखा मयूराणा नागाना मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणा ज्योतिष मूर्धनि स्थितम्॥

अर्थात् जैसे मोरो के मस्तक पर शिखा और नागो के मस्तक पर मणि, उसी प्रकार वेदागशास्त्रो के मस्तक पर ज्योतिष स्थित है।

फिर एक श्लोक मे ज्योतिषशास्त्र का उद्देश्य यज्ञ आदि के लिए उपयुक्त काल का ज्ञान बताया गया है। एक अन्य श्लोक में ग्रथ के सिद्धान्तो के शिक्षक का नाम लगध महात्मा बताया गया है। लगध सस्कृत शब्द नही जान पडता, इसलिए कुछ लोगो की धारणा है कि ज्योतिष विद्या सम्भवत विदेश से भारत में आई। परन्तु केवल लगध के सस्कृत न होने से

* १।५।२।१, लोकमान्य तिलक ने अपनी पुस्तक ओरायन में पृष्ठ १८ पर इसकी व्याख्या की है।

ऐसा अनुमान करना अनुचित जान पड़ता है। क्या लगध के पहले यज्ञ आदि के लिए समय जानने की आवश्यकता नही पड़ती थी?

ग्रंथ के अन्तिम दो श्लोकों मे क्रमानुसार लगध का नाम और ज्योतिष की महिमा है—

सोमसूर्यस्तृचरितं विद्वान् वेदविदश्नुते।
सोमसूर्यस्तृचरितं लोकं लोके च संततिम्॥

अर्थात् वह विद्वान् जो चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्रो की गतियो को जानता है वह इस संसार में सन्तति लाभ करता है और (मृत्यु के पश्चात्) चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रो के लोक मे जाता है।

इस प्रकार के सात श्लोकों को निकाल देने पर कुल ३७ श्लोक वच जाते है जिनमे ज्योतिष सम्वन्धी वातो की चर्चा है।

पंचवर्षीय युग——ज्योतिष-वेदांग से पता चलता है कि पॉच वर्षो का एक युग माना जाता था। कल्पना यह थी कि पॉच वर्षो के वाद सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र सभी अपने पुराने स्थान में आ जाते है। युग का आरम्भ तव होता था जव मध्य जाड़े मे (दिन के सवसे छोटे होने की ऋतु मे) अमावस्या होती थी; और चन्द्रमा श्रविष्ठा नक्षत्र मे रहता था। एक वर्ष मे ३६६ दिन माने जाते थे और पाँच वर्षो मे दो अधिकमास लगते थे।

पुस्तक के अधिकाश श्लोको मे वतलाया गया है कि विविध समयो पर नक्षत्रो के हिसाव से चन्द्रमा और सूर्य की क्या स्थिति रहती है। तिथियो की गणना करने की रीति भी दी गई है, परन्तु यह मानकर कि चन्द्रमा और सूर्य समान वेग से चलते है। सवसे लम्वा दिन १८ मुहूर्त (=१४ घण्टा २४ मिनिट) का वतलाया गया है जिससे पता चलता है कि इस ग्रंथ को किसी काश्मीर निवासी ने लिखा होगा क्योकि भारतवर्ष मे केवल वही इतने लम्वे दिन होते है।

इस पुस्तक मे दी गई स्थितियो से पता चलता है कि वे वेध जिनके आधार पर पुस्तक की रचना की गई है वारहवी शताब्दी ई० पू० मे लिए गए होगे।

इसमे सन्देह नही कि ज्योतिष-वेदाग के नियम वहुत स्थूल है। उनसे सूक्ष्म गणना नही की जा सकती। पॉच वर्ष का युग यदि लगातार वीस-पच्चीस वर्षो तक प्रयुक्त किया जाय तो वहुत अधिक गडवड़ी पड जायगी। उदाहरणत. ५ वर्षो मे से प्रत्येक मे ३६६ दिन मानने से और इतने काल मे २ अधिमास मानने से यह परिणाम निकलता है कि ६२ मास मे ३६६×५ दिन होते है; परन्तु वस्तुत. ६२ मास मे दिनो की सख्या ३६६×५ से कुछ कम होती है। इसका परिणाम यह होता रहा होगा कि उन्नीस-वीस वर्ष तक लगातार गणनानुसार तिथियो को मानने पर गणना द्वारा प्राप्त अमावस्या तव पड़ती रही होगी जव आकाश मे तृतीया या चतुर्थी का चन्द्रमा दिखलाई पड़ता रहा होगा!

स्वामी कन्नू पिल्लाई की सम्मति है कि जव कभी वेध और ज्योतिष वेदागानुसार गणना मे स्पष्ट अन्तर पड़ जाता रहा होगा तो एक तिथि को लोग छोड़ देते रहे होगे। लाला छोटेलाल की सम्मति है कि ज्योतिष-वेदाग हमको अधूरा ही मिला है। अवश्य ही और भी नियम रहे होंगे जिनमे वतलाया गया होगा कि दीर्घकाल के लिए गणना करना हो तो क्या करना चाहिए। यह असम्भव नही है, परन्तु अधिक सम्भावना इसी वात की है कि गणना ज्योतिष-वेदांग के उन्ही नियमो से की जाती थी जो आज हमें प्राप्य है, और समय समय पर वेध द्वारा गणना की शुद्धि कर ली जाती थी।

महाभारत——महाभारत के समय मे भी पॉच वर्ष वाला युग चलता था।* ज्योतिष-वेदाग मे मंगल, वुध आदि ग्रहों की चर्चा नही है। परन्तु महाभारत मे उनका स्पष्ट उल्लेख है।† उनके नामो का क्रम एक स्थान पर इस

* ६।५२।३।

† ३।१९०।९०।

अल्बीरूनी ने ब्रह्मगुप्त को सबसे बडा ज्योतिषी माना हैं। परन्तु उसने यह भी लिखा है कि वह सत्य से भागता है और असत्य को आश्रय देता ह।*

यवन ज्योतिष का प्रभाव—आयभट, वराहमिहिर, आदि ज्योतिषिया के ग्रथा पर यवन (ग्रीस के) ज्योतिष का प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य पडा हैं। इसके थोडेसे प्रमाण–के महोदय की पुस्तक 'हिंदू ऐस्ट्रॉनोमी' मे नीचे दिये जाते ह।

वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त आदि ने यवना की चर्चा की है। वराहमिहिर ने लिखा है—म्लेच्छ और यवन ज्योतिष जाननेवालो का भी आदर ऋषियो के समान होता हैं, तो फिर यदि कोई ज्योतिषी ब्राह्मण हो तो उसका सम्मान कौन नही करेगा।† अलबीरूनी ने इस वाक्य का उल्लेख किया है और भारतवष में यवनो की विद्या के आने की चर्चा की है‡। ब्रह्मगुप्त ने भी यवना की ओर सकेत किया है क्योकि उन्हाने रोमक सिद्धान्त को 'स्मृतिबाह्य' माना है। सूयसिद्धात म लिखा है कि पुस्तक के विषय को स्वय सूय भगवान ने मय नामक असुर को दिया॥। असुर से पता चलता ह कि सम्भवत यह कोई अभारतीय था। यद्यपि महावीरप्रसाद श्रीवास्तव ने मय को एक व्यक्ति न मानकर जाति विशेष माना है जो शिल्प और यन्त्र विद्या म बहुत कुशल थी, क्योकि मय की चर्चा महाभारत में सभा भवन के बनाने के प्रसग में आई ह॥। रोमक सिद्धान्त अवश्य पश्चिम से भारतवष में आया क्याकि वराहमिहिर ने रोमक नामक देश के देशान्तर (लाजीट्यूड) को लका से ९०० पश्चिम माना है॥।

इस काल में ज्योतिष विशेषकर फलित ज्योतिष में—कई नवीन शब्द आये जो स्पष्ट रूप से यवन मूल के ह। बारह राशियो में से प्रत्येक के दो दो नाम हैं जिनमें से एक यवन शब्दा से मिलता जुलता है, दूसरा शुद्ध सस्कृत शब्द ह, जिसका अथ वही हैं जो यवन शब्द का ह। यवन शब्दो से मिलते-जुलते शब्दा का प्रयोग अब मिट गया है॥। परन्तु उस समय वे सस्कृत पुस्तको में प्रयुक्त होते थे। मेष, वृष, आदि के लिए ये शब्द थे —क्रिय, तावुरि, जितुम, कुलीर, लेय, पाथोन, जूक, कौर्प्य, तौक्षिक, आलोकेर, हृदरोग और इथुसी, जो ग्रीक के क्रियॉस, टॉरस आदि से लिये गए जान पडते ह॥।

आयभट आदि की पुस्तक म ग्रहा की स्थिति की गणना की जो रीति दी गई ह वह यवना (ग्रीसवालो) की रीतिया से बहुत मिलती जुलती ह।

इस समय की ज्योतिष ज्योतिष-वेदाग की ज्योतिष से बहुत विकसित अवस्था म और उससे कही अधिक सूक्ष्म और सच्ची हैं।

बहुत ऋणी नहीं है—परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ऐसा नही हुआ कि ज्योतिष-वेदाग के समय से भारतायो ने ज्योतिष में स्वय कोई उन्नति न की हो और आयभट के समय में उन्हाने अपने प्राचीन ज्योतिष का

---

* 'भारतवष' २।११० १२।

† बृहतसहिता २।७।

‡ अलबीरुनी का 'भारतवष' १।२३।

॥ १।२ ९।

॥ महावीरप्रसाद श्रीवास्तव, सूर्य सिद्धात का विज्ञानभाष्य, भूमिका, पृष्ठ ७।

॥ १।३

॥ उन लोगो को इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो वज्ञानिक शब्दो को ज्यो-का-त्यों अग्रेजी से ले लेना चाहते हैं। अधिकांश विदेशी शब्द भाषा के शब्दों से अधिक कठिन, अधिक कणकटु और उच्चारण की दृष्टि से अधिक क्लिष्ट होते ह। इसलिए वे ज्यों-के-त्यों चल नहीं पाते। या तो वे मर जाते ह, या धीरे धीरे बदल जाते ह, जसे लैन्टर्न अब लालटेन हो गया ह।

॥ या दोनों किसी अन्य मूल से लिए गए हो।

तिरस्कार कर एकाएक यवन ज्योतिष को अपना लिया हो। आर्यभट आदि के ज्योतिष मे और तत्कालीन यवन ज्योतिष मे वहुत अन्तर है। प्रश्न पर प्रत्येक कोण से विचार करने पर यही परिणाम निकलता है कि उस समय के भारतीय ज्योतिषियो को यवनो से अधूरा ज्ञान या सकेतमात्र मिला। नए मसालो का उपयोग भारतीय ज्योतिषियों ने अपने ढंग से किया। उसका उन्होने अपनी प्राचीन प्रणाली मे समावेश कर लिया। कुछ व्यौरो मे भारतीय ग्रथो के नियम यवनो की रीतियो से उत्तम है। कुछ भारतीय भगणकाल (ग्रहो के चक्कर लगाने का काल) यवनो के मानो से अधिक सच्चे है। सूर्यसिद्धान्त को अंग्रेजी मे अनुवाद करनेवाले वरजेस ने लिखा है "अव तक मुझे जो कुछ मालूम हो सका है उससे मै यह नही मान सकता कि ज्योतिर्विज्ञान के लिए हिन्दू यवनो के वहुत ऋणी है।" और सच्ची वात यही जान पडती है।

मुसलमानो ने ज्योतिष का ज्ञान पहले-पहल हिन्दुओ से प्राप्त किया। इसका व्यौरेवार विवरण इब्नअल आदमी नामक ज्योतिषी छोड गया है। सन् ७७१ ई० मे वगदाद मे खलीफा अल मन्सूर के पास दूत गए थे जिनमे से एक को ज्योतिष का अच्छा ज्ञान था। उससे अरववालो को ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त से परिचय प्राप्त हुआ। इस पुस्तक का नाम अरववालों में सिंद-हिंद पड गया*। यह शब्द 'सिद्धान्त' का अपभ्रश है। इस पुस्तक के आधार पर इब्राहीम इब्न हवीव अल-फजारी ने अपना सिंदहिंद वनाया। इस सिंदहिंद के आधार पर अवू जाफर मुहम्मद विन मूसा अल ख्वारिज्मी ने सारिणियाँ वनाईं जिससे मुसलमानों का पचाग वनने लगा। पीछे खडखाद्यक का भी अरवी मे अनुवाद हुआ और उस अनवाद का नाम अल-अरकन्द रक्खा गया। अवुलहसन अलअहवाजी ने 'अल-अरजमद' के अनुसार ग्रहो की गणना प्रकाशित की। अवश्य ही यह आर्यभट का अपभ्रश है। ग्यारहवी शताब्दी तक भारतीय सिद्धान्त ग्रथो के नमूने पर युग और महायुग लेकर ग्रह आदिको का भगण काल वतलाया जाता था। परन्तु सन् ८०० मे ही प्रसिद्ध यवन ज्योतिषी टॉलमी की पुस्तक अलमजिस्ती का भी अनुवाद अरवी मे हो चुका था। धीरे धीरे अरववालो पर यवन ज्योतिष का रोव छा गया और भारतीय ज्योतिष का आदर कम हो गया।

यूरोपीय ज्योतिष का इतिहास—यह समझने के लिए कि भारतवर्ष मे यवन (ग्रीस) से ज्योतिष-ज्ञान के आने की सम्भावना सन् ४०० ई० के आसपास कितनी थी, यूरोपीय ज्योतिष के इतिहास का कुछ परिचय प्राप्त कर लेना उचित होगा। यह इतिहास नीचे इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के एक लेख के आधार पर दिया जाता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सिकन्दर (अलेकजेण्डर) ने भारतवर्ष पर सन् ३२६ ई० पू० मे आक्रमण किया था और उसके वाद से कई सौ वर्षो तक ग्रीस और भारतवर्ष का थोड़ा-वहुत सम्वन्ध वना रहा। मेनेंडर ने भारत पर ११० ई० पू० मे चढाई की थी। यूनानियो का भारतीय सस्कृति पर भी प्रभाव पडा। उत्तर-पश्चिम मे पाई जानवाली वुद्ध की मूर्तियो की वनावट और पोशाक मे यूनानी शैली के चिह्न दिखलाई पड़ते है। अनेक यूनानी हिन्दू हो गए और ब्राह्मण अथवा वौद्ध धर्म को मानने लगे।†

यवनो ने ज्योतिष का प्रथम ज्ञान वावुलवालो से (वैविलोनियनो से) प्राप्त किया। उन्होंने वावुलवालो से राशियो तथा अन्य तारा-मण्डलों के नाम ले लिए, ग्रहो की गति का ज्ञान भी उन्हीसे प्राप्त किया और सैरोस नामक युग के प्रयोग से ग्रहणो की भविष्यद्वाणी करना भी जान लिया। सैरोस १८ वर्ष ११ दिन का युग है। एक युग मे जिस क्रम से और जितने जितने दिनो पर सूर्य और चन्द्र-ग्रहण लगते है आगामी युग मे भी उसी क्रम से और उन्ही समयो पर प्राय. वैसेही ग्रहण लगते है। इस युग मे २२३ मास होते है। इस युग का आविष्कार कव हुआ था यह पता नही, परन्तु काल्दी मे इसका आविष्कार हुआ है इतना ज्ञात है।

अक्काद के सारगन नामक राजा के समय (३८०० ई० पू०) के कुछ लेख मिले है जिनसे पता चलता है कि उस सुदूर भूतकाल के वहुत पहले से ही आकाश का निरीक्षण विशेषज्ञो द्वारा हो रहा था। सारगन के समय मे भी राशियो तथा

* इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स १२।९५।

† ईश्वरीप्रसाद, ए न्यू हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, हिन्दी संस्करण, पृष्ठ ९६।
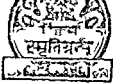
भारतीय ज्योतिष का विकास

अन्य तारा-मण्डलों की सीमाएँ और नाम उस समय भी प्राय वैसे ही थे जैसे पीछे यवन-ज्योतिष में वे थे। यवन तारा मण्डलो के प्राचीनकाल से आने का एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। आकाश का कुल भाग किसी एक देश से नही दिखलाई पडता है। बाबुलवालो को जितना आकाश दिखलाई पडता रहा होगा उसी का वर्णन उन्होंने किया होगा। परन्तु अयन* के कारण एक स्थान से सदा आकाश का एक ही भाग नही दिखलाई पडता। हजारो वर्षो में उसमे अन्तर पड जाता है और उस अन्तर को समझकर आधुनिक ज्योतिषी बतला सकते हैं कि किस समय में आकाश का अमुक अमुक भाग दिखलाई पडता था। इस तर्क को यवन राशियो और तारा-मण्डलो पर लगाने से पता चलता है कि यवन नाम यवनकाल में नही रक्खे गए थे, वे लगभग २८०० ई० पू० में रक्खे गए होगे, अर्थात् यवनों को ये नाम किसी अन्य प्राचीन जाति से मिले होगे। ये नाम यवनवालो को बाबुलवालो से ही मिल सकते थे। इसलिए अवश्य ही ये नाम बाबुलवालो के रक्खे हुए है।

दूसरी शताब्दी ई० पू० के कुछ खपर (मिट्टी के खपडे) मिले हैं जिनके लेख पढे जा सके है। उनसे ठीक पता चलता है कि मेसोपोटैमिया में उस समय ज्योतिष की क्या अवस्था थी। उस समय ग्रहो के भगणकाल का जैसा सच्चा ज्ञान था उससे स्पष्ट है कि वहा ज्योतिष सम्बन्धी वेध सैकडो वर्षो से होते आए रहे होगे। उस समय जो पचाग बनते थे उनमें ग्रहो का स्थान, अमावस्या का समय, चन्द्र-दर्शन (अर्थात चन्द्रमा किस दिन पहले पहले आकाश को दिखलाई पडेगा), चन्द्र और सूर्य ग्रहण, तारा के उदय और अस्त होने का समय, ग्रहो का युति-समय सब दिया रहता था। बाबुलवाले यह भी जानते थे कि सूर्य प्रतिदिन समान वेग से आकाश में नहीं चलता। उन्होने महत्तम वेग की स्थिति भी निर्णय करली थी और इसमें कुल १० अश की अशुद्धि थी। वर्षमान में केवल ४॥ मिनट की अशुद्धि थी। परन्तु उनको अयनचलन का ज्ञान नही था।

यूरोप में ज्योतिष का प्रथम ज्ञान—सातवी शताब्दी ई० पू० में बाबुल का ज्ञान पश्चिम पहुँचने लगा। बाबुल के एक ऋषि ने, जिनका नाम बरोसस था, लगभग ६४० ई० पू० में अपनी पाठशाला कोस टापू में स्थापित की। पाइथागोरस ने (समृद्धिकाल ५४०-५१० ई०पू०) मिश्र, भारतवर्ष आदि में भ्रमण किया था। उसने सीखा कि एक ही ग्रह शुक्र कभी सवेरे कभी सध्या के समय दिखलाई पडता है और ये दो विभिन्न ग्रह नहीं है जैसा यवन कवियो का विश्वास था। पाइथागोरस यह भी मानता था कि पृथ्वी अन्तरिक्ष में निराधार है। उसके चारो ओर आकाश है। हेराक्लाइडिस (जो ३६० ई० पू० में प्लेटो का शिष्य हुआ) यह सिखाता था कि सूर्य पृथ्वी के चारो ओर घूमता है परन्तु बुध और शुक्र सूर्य के चारो ओर घूमते है। सैमोस के अरिस्टार्कस ने (समृद्धिकाल २८०-२६४ ई० पू०) यह सिद्धान्त स्थापित किया कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह उसकी प्रदक्षिणा करते है, परन्तु दूसरो ने इसे मजाक में उडा दिया और उसके सिद्धान्त को लोग प्राय भूल गए।

सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहो की स्थितियो को गणना से निकालने की रीति पहले पहल आयोडोक्सस ने निकाली (४०८-३५२ ई०पू०)। दर्शनशास्त्र से प्रभावित होकर वह यह मानता है कि ग्रह नाचते (घूमते) हुए गोले में थे। इसलिए उसके सम्मुख यह प्रश्न था कि वह किस प्रकार नाचते हुए गोलो की आयोजना करे कि ग्रहो की गतियाँ वही हो जाय जो वेध से मिलती है। अन्त में सूर्य, चन्द्रमा और पाँचो ग्रहो में से प्रत्येक के लिए कई नाचते हुए गोले स्थिर किए गए। कुल मिलाकर २७ गोलो की आवश्यकता हुई। कैलिपस और अरिस्टॉटल (अरस्तू) और अन्त में पर्गा के अपोलिनियस (समृद्धिकाल २५०-२२० ई० पू०) के सशोधनो के बाद वृत्त और उपवृत्त वाला सिद्धान्त उत्पन्न हुआ जो टॉलमी द्वारा परिमार्जित होकर १८०० वर्षों तक अचल बना रहा।

यवन ज्योतिष की उन्नति होती गई, विशेषकर अलेक्जेड्रिया में। अरिस्टिल्स और टिमोकरिस ने (लगभग ३२० २६० ई०पू०) नक्षत्रो की प्रथम सूची बनाई जिसमें तारो के लिए वेधद्वारा प्राप्त स्थितिया दी हुई थी।

एराटास्थिनीज (२७६ १९६ ई० पू०) ने कई एक बहुत सच्चे यत्र बनाये, जिनसे उसने सूर्य की परम क्राति नापी ध्रुवो को मिलानेवाली रेखा से समकोण बनाती हुई तल जहाँ आकाश को काटती हुई दिखाई पडती है उसे विषुवत रेखा

---

* यह शब्द आगे समझाया गया है।

कहते हैं और इस रेखा से सूर्य की महत्तम कोणिक दूरी को परम क्रांति कहते हैं। परम क्राति के लिए ऐराटॉस्थिनीज का मान २३° ५१' निकला, जो सच्चे मान से केवल ५' अधिक है। हिन्दू ज्योतिपियों ने परम क्राति को २४° माना है जो वहुत स्थूल मान है। उसने दो स्थानो की दूरी नापकर और उनके अक्षांशो का अन्तर वेध द्वारा जानकर गणना की कि पृथ्वी कितनी वड़ी है और इस प्रकार पृथ्वी की नाप का वहुत अच्छा मान निकाला।

हिपार्कस और टॉलमी---परन्तु यवनो मे सवसे प्रसिद्ध ज्योतिपी हिपार्कस और टॉलमी हुए। हिपार्कस (समृद्धिकाल १४६-१२६ ई० पू०) ने ज्योतिष के प्रधान स्थिराकों का मान नापा---सायन, वर्ष, नाक्षत्र वर्ष, मास, पाँचों ग्रहों के भगणकाल, सूर्य की परम क्रान्ति, चन्द्रमा की परम क्रान्ति, सूर्य-शीघ्रोच्च की स्थिति, सूर्य-कक्षा की उत्केन्द्रता और चन्द्रमा का लम्वन। सभी मान प्राय. शुद्ध थे। उसने ज्योतिप की वैज्ञानिक नीव डाली। त्रिकोणमिति के ज्ञान से वह कई सरल ज्योतिष के प्रश्नो को हल कर सकता था। संपातविन्दु का पीछे हटना---अयन का भी उसे पता चला, परन्तु इसका वह सच्चा मान न निकाल सका क्योकि प्रथम तारासूची (टिमोकैरिस वाली) कुल लगभग डेढ़सौ वर्ष पहले की थी। अयन के ठीक मान को जानने के लिए पर्याप्त समय बीतने पर ही तारों की स्थितियो को दुवारा नापना चाहिए, क्योकि संपात विन्दु वहुत धीरे धीरे चलता है और उसके एक चक्कर लगाने मे लगभग २५ हजार वर्ष लगते है। उसकी नक्षत्र-सूची मे १०८० तारे थे और यह सूची प्राचीन ज्योतिप का एक सर्वोत्तम स्मारकस्तम्भ मानी जाती है। उसने ग्रहों की स्थितियो की अधिक सूक्ष्म गणना करने मे भी सफलता प्राप्त की।

हिपार्कस के लगभग २५० वर्ष वाद टालमी हुआ (समृद्धिकाल १२७-१५१ ई०)। उसने हिपार्कस की लिखी पुस्तकों और उनके वेधों को, तथा उसके सिद्धान्तों को लेकर, उसमे अपनी ओर से अनेक छोटे-मोटे सुधार कर, ज्योतिष को इस प्रकार परिमार्जित रूप मे अपनी पुस्तक अलमजिस्ती* मे उपस्थित किया कि सैकड़ो वर्षो तक उसके आगे कोई वढ़ न सका, यहाँ तक कि उसके वाद उसके भाष्यकार तो कई एक हुए, परन्तु स्वतत्र सिद्धान्तकार कोई न हुआ। सन् ६४१ ई० मे अलेकजेंड्रिया मुसलमानो के हाथ मे चला गया और तवसे यवन ज्योतिष का पतन होने लगा।

अरव में ज्योतिष---सन ७७१ ई० मे अरववालो को भारतीय ज्योतिप का परिचय मिलने की वात ऊपर लिखी जा चुकी है। हारून अल-रशीद की आज्ञा से अलमजिस्ती का अनुवाद सन् ८०० ई० मे हुआ। खलीफा अल-मामून ने ८२९ मे एक वड़ीसी वेधशाला वगदाद मे वनवाई। यही पर अवूमाशर (८०५-८८५) साविट वेन कुररा (८३६-९०१), अवदुर्रहमान अलसूफी (९०३-९८६), जिसने टॉलमी की सूचीवाले तारो की स्थितियाँ फिर से नापी, अवुल वफा (९३९-९९८) आदि प्रसिद्ध अरव ज्योतिपी वेध किया करते थे। इव्नयूनूस (लगभग ९५७-१००८) मिश्र मे वेध करता था। उसने ग्रहो की सारिणियाँ वनाई। नासिरुद्दीन ने (१२०१-१२७४) वार्पिक अयन का मान वेध द्वारा ५१" निकाला जो वहुत सच्चा है। उलूघवेग ने (१३९४-१४४९), जो तैमूरलंग का पोता था, १४२० मे एक वहुत सुन्दर वेधशाला समरकन्द मे वनवाई, जिससे उसने टॉलमी की सूची के तारों की स्थितियो को फिर से वेध द्वारा नापा।

आधुनिक यूरोपीय ज्योतिष---अरवो का ज्योतिष मूरो द्वारा स्पेन पहुँचा। वहाँ उसकी कुछ उन्नति अवश्य हुई, परन्तु केवल जव कोपरनिकस ने १५४३ मे अपनी पुस्तक छापी, जिसमे केन्द्र मे पृथ्वी को न रखकर वह स्थान सूर्य को दिया गया था, तव टॉलमी के सिद्धान्त डगमगाने लगे। जैसे जैसे समय वीता, कोपरनिकस की वात अधिक सच्ची जँचने लगी। अन्त मे टाइकोव्राही (१५४६-१६०१) के वेध और इन्ही वेधो पर आश्रित केपलर (१५७१-१६३०) के नियमों ने टॉलमी के सिद्धान्तों को समूल नष्ट कर दिया। गैलीलियो (१५६४-१६४२) ने दूरदर्शक का आविष्कार किया जिससे पता चला चला कि वृहस्पति के उपग्रह वृहस्पति का चक्कर लगाते हैं; उसने गतिविज्ञान की भी नीव डाली। फिर न्यूटन (१६४२-१७२७) ने प्रसिद्ध आकर्षण सिद्धान्त की घोषणा की जिससे आधुनिक गतिविज्ञान के आधार

---

* टॉलमी ने स्वयं अपनी पुस्तक का नाम मजिस्टी सिनटैक्सिस रक्खा था। अरववालों ने इसका नाम रक्खा अलमजिस्ती, जिससे अंग्रेजी में इसका नाम ऐलमैजेस्ट पड़ा है।

पर सूय, च द्रमा, और ग्रहा की स्थितिया की गणना सम्भव हो गई। आजकल गतिविज्ञा के नियमो से प्राप्त सूत्र और वेधा द्वारा प्राप्त ध्रुवाको पर ही सूय आदि आकाशीय पिंडो की स्थितिया पचागा में छापने के लिए निकाली जाती ह।

सूय सिद्धात—आयभट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कर आदि के ग्रथो म से सबसे प्रसिद्ध सूय सिद्धात ही ह। इस ग्रथ का साराश वराहमिहिर ने भी अपनी पचसिद्धान्तिका में दिया था। परतु वतमान सूय सिद्धान्त और वराहमिहिर की पचसिद्धातिका में दिये गये सूय सिद्धान्त म पयाप्त अन्तर है। सूय सिद्धान्त से कुछ अवतरण अन्य ज्योतिष ग्रथो में भी आए ह। इन सबके अध्ययन से, तथा स्वय सूय सिद्धान्त म दी गई बाता से यह निष्कष निकलता है कि सूय सिद्धान्त का प्रथम निमाण लगभग सन ४०० ई० में हुआ। वराहमिहिर ने इसमें कुछ सशोधन अपने मन से कर दिया, पीछे के ज्योतिषी समय समय पर इसम आवश्यकतानुसार सशोधन करते रहे और अन्तिम सशोधन लगभग सन् ११०० ई० में हुआ*।

सूय सिद्धान्त में किन किन विषया की चर्चा है यह जान लेने से इस काल के समस्त ग्रथा की शैली का पता चल जायगा। इसलिए नीचे सूय सिद्धान्त का वणन कुछ अधिक ब्यौरे से दिया जाता है।

सूय-सिद्धात में क्या ह—वतमान सूय-सिद्धान्त में ५०० श्लाक ह। ग्रथ १४ अध्याया में बँटा ह। प्रथम अध्याय मे यह बतलाया गया ह कि सूय, चद्रमा, ग्रह, आदि के एक चक्कर लगाने में कितना समय लगता ह। इस समय के बतलाने में ऐसी युक्ति लगाई गई ह कि भिन्ना की आवश्यकता न पडे। जैस दूकानदार यह नही कहता कि आम का भाव ह पसे में ढाई आम—वह यही कहेगा कि दो पैसे में पाँच आम मिलते ह—उसी तरह सूय सिद्धान्त में यह नही बतलाया गया ह कि एक पूर्णिमा से दूसरी पूर्णिमा तक २९ दिन १२ घण्टा ४४ मिनट २८ सेकण्ड समय लगता है। इसके बदले बतलाया गया है कि ४३२०००० वर्षों में ५३४३३३३६ चाद्रमास होते हैं।

यह युक्ति अति उत्तम है। ४३२०००० वष के काल को एक महायुग (कही कही युग) कहा गया है। इतने लम्बे युग के लेने का कारण समझने के लिए दखना चाहिए कि ज्योतिष वेदाग में माना गया था कि ५ वष के एक युग में ६२ चाद्रमास होते ह। यदि केवल पूण सख्याओ का ही प्रयोग करना है तो स्पष्ट है कि युग जितना ही लम्बा होगा ग्रहादि का भगणकाल उतनी ही अधिक सचाई से बताया जा सकेगा। ५ वष के युग में चाद्र मासो की सख्या ६२ मानने के बदले ६३ या ६१ मानने में मास की लम्बाई में बहुत अन्तर पड जायगा, परन्तु ४३२०००० वर्षों के चाद्र मासो की सख्या म एक घटाने या बढाने से प्रत्येक मास की लम्बाई म कुल ३⁄₄ सकण्ड का अन्तर पडता है। इसलिए ४३२०००० वर्षों का युग (या महायुग) मानने से चाद्रमास तथा ग्रहो के भगणकाल बहुत सूक्ष्मता से बतलाए जा सकते हैं†।

ग्रहो की स्थिति बताने के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नही ह कि जाना जाय कि वे किस वेग से चक्कर लगाते ह। यह भी जाना आवश्यक है कि वे आरम्भ में कहाँ पर थे। उनकी प्रारभिक स्थिति और वेग दोनो जानने से भविष्य के किसी भी समय पर उनकी स्थिति की गणना की जा सकती है।

सूय सिद्धान्त ने यह माना ह कि एक विशेष क्षण पर, जो आधुनिक पद्धति के हिसाब से १८ फरवरी सन् ३१०२ ई० पू० का आरम्भ (१७ फरवरी का अन्त) ठहरता ह, सूय, चद्रमा, बुध, मगल, आदि सभी ग्रह एक स्थान पर थे।

सूय सिद्धात की प्राचीनता—जब पहले-पहल भारतीय ज्योतिष का पता यूरोपीय विद्वानो को लगा तो वहाँ-वालो ने यह सोचा कि भारतीय ज्योतिषियो ने सन् ३१०२ ई० पू० में वध किया था और वेध द्वारा देखा था कि उस समय सब ग्रह एक स्थान पर थे। इसलिए वे सूय सिद्धात की प्राचीनता पर आश्चर्यान्वित हो गए। परन्तु अब प्राय सभी यही मानते हैं कि वेध द्वारा नहीं, गणना द्वारा लगभग पाचवी शताब्दी में ग्रथकारो ने पता चलाया कि सन् ३१०२ की

* प्रबोधचद्र सेनगुप्त, कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से छपे बरजेस के सूय सिद्धात-अनुवाद के प्राक्कथन में।

† ज्योतिष वेदांग में ५ वष का युग था, रोमक सिद्धात में २८५० वष का, पचसिद्धातिका के सूय सिद्धात में १,८०,००० वष का, आधुनिक सूय सिद्धात में ४३,२०,००० वष का।

१८ फरवरी को सब ग्रह लगभग एक साथ थे। * इसलिए, गणना की सुविधा के लिए उन्होने मान लिया कि सब ग्रह उस समय ठीक एक ही स्थिति मे थे; और फिर लम्बा-सा महायुग लेकर उसमे भगणकालो की सख्या को इस प्रकार चुना कि आकाशीय पिण्डो की तत्कालीन स्थितियाँ ठीक निकले। उस क्षण को जिस समय सब ग्रह आदि एक ही स्थान मे एकत्रित हुए माने गए थे ज्योतिषियो ने कलियुग का आरम्भ मान लिया।

सूर्य-सिद्धान्त के अन्य अध्याय—सूर्य-सिद्धान्त के दूसरे अध्याय मे बतलाया गया है कि सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहों के वास्तविक स्थान की गणना कैसे की जाय। यह मानकर कि ये पिंड सदा समान वेग से चलते हैं जो स्थिति निकलती है (और जिसे मध्यम स्थिति कहते हैं) वास्तविक या 'स्पष्ट' स्थिति से भिन्न होती है, क्योकि ग्रह आदि बराबर समान वेग से नही चलते। इन स्पष्ट स्थितियो को निकालने की रीतियो को ही देखकर लोग कहते हैं कि भारतीय ज्योतिष पर यवन ज्योतिष की छाप पड़ी है, क्योकि ये रीतियाँ यवन रीतियो से बहुत मिलती हैं। ज्योतिष-वेदाग मे मध्यम स्थितियो से ही सब गणना की गई है।

तीसरे अध्याय मे इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि दिशा, स्थान और समय का ज्ञान कैसे किया जाय। इन्ही तीन प्रश्नो पर विचार करने के कारण इस अध्याय का नाम त्रिप्रश्नाधिकार पड़ गया है।

आगामी तीन अध्यायों मे सूर्य और चन्द्र ग्रहणो की गणना के लिए नियम दिए गए हैं।

अध्याय ७ से ९ तक मे ग्रहों, चन्द्रमा और नक्षत्रो की युतियो की गणना बताई गई है, अर्थात् इसकी कि कब कोई ग्रह किसी अन्य ग्रह या चन्द्रमा या नक्षत्र के निकटतम दिखलाई पड़ता है। यह भी बतलाया गया है कि ग्रह कब 'उदय' या 'अस्त' होता है, अर्थात् कब सूर्योदय के जरासा ही पहले पूरब मे या सूर्यास्त के जरासा ही बाद पश्चिम मे वह दिखलाई पड़ता है।

इसके बाद वाले अध्याय मे चन्द्रोदय के समय की गणना और चन्द्रमा के श्रृगो की दिशा की गणना है। फिर एक अध्याय मे फलित ज्योतिष सम्बन्धी कुछ बाते बताई गई है।

ग्यारहवाँ अध्याय सबसे लम्बा है। इसमे भूगोल सम्बन्धी बाते है। पृथ्वी कैसे उत्पन्न हुई, सूर्य, चन्द्रमा, मगल आदि ग्रह कहाँ से आए; पृथ्वी कितनी बडी है, कैसे आश्रित है। ग्रह आदि कितनी दूरी पर है; जाड़ा-गरमी आदि ऋतुओं का कारण क्या है, इत्यादि।

आगामी अध्याय मे ज्योतिष-सम्बन्धी यंत्रो की चर्चा है जिसमे से 'भूभगोल' नामक यंत्र प्रधान है। यह काठ का का बना एक गोला है जिसमे धुरी के लिए एक डडा जड़ा जाता है। आकाश के अन्य वृत्त, जिसमे सूर्य चलता है या जिसकी अपेक्षा ग्रह आदि की स्थितियाँ बताई जाती है, काठ के गोले के चारो ओर बाँस की तीलियो से बनाए जाते है।

भूभगोल को पृथ्वी की दैनिक गति के समान गति से चलाने के लिए पारा, जल, सूत, तेल आदि के उपयोग की ओर सकेत किया गया है, परन्तु इतना ब्यौरा नही दिया गया है कि कोई इनका उपयोग कर सके। जान पड़ता है कि लेखक ने अनुमान किया था कि इन सबके उपयोग से भूभगोल सचालित किया जा सकता है, परन्तु वह स्वयं इसे बना नही सकता था, क्योकि यह भी लिखा है कि "यह रचना प्रत्येक युग मे नष्ट हो जाती है और सूर्य भगवान् की इच्छानुसार उनके प्रसाद से फिर किसी को प्राप्त होती है†।'

---

* आधुनिक ज्योतिष के आधार पर गणना करने से पता चलता है कि उक्त समय पर सब ग्रह और सूर्य तथा चन्द्रमा एक साथ नहीं थे।

† महावीरप्रसाद श्रीवास्तव का अनुवाद 'विज्ञान-भाष्य', पृष्ठ ११२६।

था जिसके लिए अन्य देशों में कोई विशेष सावधानी नहीं रहती थी। उदाहरणत, देवनागरी वर्णमाला, स्वर और व्यंजन के भेद तथा उच्चारण के अनुसार क्रम से बनाया गया है, जहाँ अन्य देशों के वर्णमाला में इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। फिर, वेद की ऋचाएँ क्रम से रक्खी गई है। पचांग भी वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आश्रित था, आजकल के पाश्चात्य पचांग की तरह नहीं जहाँ जूलियस सीजर ने अपने नाम पर एक महीने का नाम जुलाई रख दिया और उसमें ३१ दिन रख दिये। उसके बाद ऑगस्टस सीजर ने सोचा कि हमी क्यों घाटे में रहे। उसने भी एक महीने का नाम ऑगस्ट रखकर उसमें ३१ दिन रख दिये और फरवरी बेचारी से एक दिन काट लिया। नक्षत्रों की आधुनिक सूची अश्विनी से आरम्भ होती है और वह इसलिए कि जब नवीन सूची बनी तो वसन्त-सपात बिन्दु अश्विनी के आरम्भ में था। इसलिए सम्भावना यही है कि जब प्रथम सूची बनी थी तो कृत्तिकाएँ वसन्त-सपात बिन्दु पर थी। वेबर* की यही सम्मति थी।

यदि कृत्तिकाएँ वसन्त-सपात बिन्दु पर थी तो वे ठीक पूर्व में उदित होती रही होगी। इस प्रकार यह बात शतपथ की बात का समर्थन करती है और इससे सूची के बनने की तिथि २५०० ई० पू० निकलती है। तिलक और याकोबी ने तो यह माना है कि कृत्तिका से आरम्भ होनेवाली सूची के पहले एक दूसरी सूची थी और जब वसन्त-सपात बिन्दु खिसक कर कृत्तिकाओं के पास आ गया तब कृत्तिकाओं से आरम्भ होनेवाली सूची बनी। यदि यह सिद्धान्त ठीक है तब तो निश्चय है कि उस समय जान-बूझकर सूची को कृत्तिकाओं से आरम्भ किया गया और ऊपर की तिथि निश्चयात्मक है।

गृह्य-सूत्र का प्रमाण—आज भी प्रथा है कि विवाह समय में वर वधू को ध्रुवतारा दिखलाता है और कहता है कि तुम ध्रुव के समान मेरी भक्ति में अचल रहना। यह प्रथा गृह्य सूत्रों से चली आ रही है†। सभी गृह्यसूत्रों में इसका उल्लेख रहने से प्रत्यक्ष है कि यह प्रथा सर्वत्र फैली थी और यह प्राचीन प्रथा है‡। परन्तु अयन-चलन के कारण प्रत्येक काल में ध्रुव तारा नहीं रहता है। इन दिनों है। सन् २७८० ई० पू० के कुछ शताब्दी आगे-पीछे तक था। परन्तु बीच में कोई ध्रुवतारा था ही नहीं, कम से कम कोई ऐसा चमकीला तारा नहीं था जो कोरी आँख से (अर्थात् बिना दूरदर्शक के) सुगमता से दिखलाई पड सकता। इससे सिद्ध होता है कि यह प्रथा सन् २७८० ई०पू० के दो ढाईसौ वर्ष इधर और उधर के बीच में कभी चली होगी। होगी। याकोबी की भी यही सम्मति है।‡‡

ज्योतिष-वेदांग की तिथि उसमें दी गई बातों से बारहवीं शताब्दी ई० पू० निकलती है।††

निष्कर्ष—इस प्रकार हमें निम्न तिथियाँ प्राप्त होती है —

शतपथ ब्राह्मण—२५०० ई० पू०
बौधायन श्रौत सूत्र—१३०० ई० पू०
ज्योतिष-वेदांग—१२०० ई० पू०
आर्यभटीय—५०० ई० (लगभग)।

* नक्षत्र २।२६२ ३६४, इण्डिशेस्टुडीन। १०।२३५, इत्यादि।

† पारस्कर गृह्य सूत्र १।८।१९, आपस्तंब गृह्यसूत्र २।६।१२, हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र १।२२।१४, मानव गृह्य सूत्र १।१४।९, बौधायन गृह्य सूत्र १।५।१३, गोभिल गृह्य सूत्र २।३।८।

‡ याकोबी, जनरल रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१०।४६१।

‡‡ इण्डियन ऐण्टिक्वेरी २३।१५७।

†† वेद-काल निर्णय के सम्बन्ध में अधिक जानकारी के लिए बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसायटी की पत्रिका में मेरा लेख देखें, जिल्द २१, भाग ३ (१९३५)।
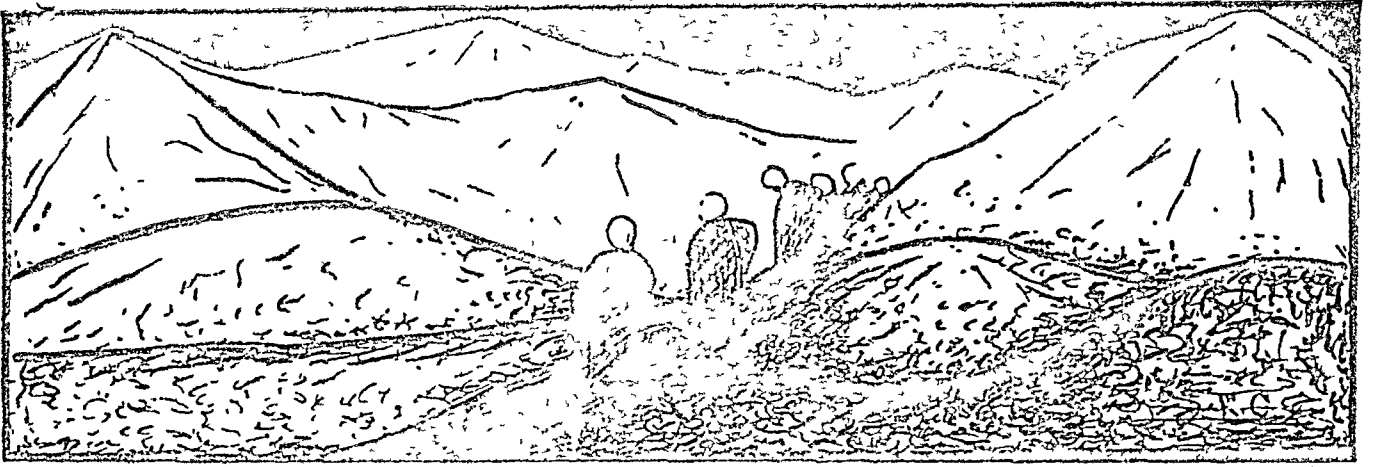
चीन और भारत में सांस्कृतिक सम्पर्क

श्री युआँग चुंग-यिन, एम० ए०,
श्रीराम एम० ए०

चीन और भारत बहुत प्राचीनकाल से एक दूसरे से सम्बन्धित रहे हैं। उस समय जब यातायात के साधन इतने सुलभ और शीघ्रगामी न थे और मार्गो का अनेक प्रकार से संकटपूर्ण होना एक साधारणसी बात थी, तब भी चीन और भारत मे सास्कृतिक एवं सामाजिक घनिष्टता थी। एक दूसरे की संस्कृति से लाभ उठाने की इच्छा उस समय की प्राकृतिक कठिनाइयो के भय से अधिक बलवती होती थी। भारतवर्ष ने बौद्ध धर्म को जन्म देकर चीन और भारत के बीच एक अमर और अटूट सम्बन्ध स्थापित कर दिया। भारत बौद्ध धर्म का जन्मस्थान होने के कारण चीन से बौद्ध भिक्षुओ का ताँता लगा रहता था। उस समय तो भारत चीनी बौद्ध भिक्षुओ एवं अनुयायियो के लिए एक तीर्थ स्थान बन गया था। केवल इसी नाते नही वरन् नालन्दा विश्व विद्यालय मे अध्ययन के हेतु विदेशो से आनेवाले विद्यार्थियो मे चीन के विद्यार्थियो की संख्या एव ख्याति विशेष होती थी। उस विश्व विद्यालय का उसी काल के चीनी विद्यार्थी इत्सिंग द्वारा किया गया नालन्दा का वित्ररण आज अधिक विश्वसनीय समझा जाता है।

इसके अतिरिक्त ६५ ई० मे चीन के राजा मिंगती ने बौद्ध धर्म का सन्देश लाने के लिए भारतवर्ष को राजदूत भेजे। यह राजदूत अपने साथ कश्यप मातंग और छबरकेह नाम के दो भारतीय विद्वानो और कई ग्रंथों को ले आए। कश्यप मातग ने ४२ खंडों के एक छोटे से सूत्रग्रथ का चीनी भाषा मे अनुवाद किया, इससे चीन देश मे बौद्ध धर्म के प्रति अधिक जिज्ञासा बढ़ी एव भारतवर्ष के प्रति सास्कृतिक एवं धार्मिक सम्बन्ध स्थापित करने के क्षेत्र मे प्रयत्न किए गए। जिस सफेद घोड़े पर लदकर भारतवर्ष से धर्म ग्रथ लाए गए थे उसी के नाम पर पहला मन्दिर बना। दोनो भारतीय विद्वान इस मन्दिर मे रहकर मृत्यु पर्यन्त ग्रथो का अनुवाद एवं धर्म-प्रचार का कार्य करते रहे। ४०५ ई० मे भारतवर्ष के प्रसिद्ध भिक्षु कुमारजीव चीन मे पहुँचे। ये नानलू के कौत्जी राज्य मे ठहरे हुए थे। इनको लाने के लिए चीन के शासक ने नानलू पर आक्रमण किया। कुमारजीव ने कई बौद्ध ग्रथों का अनुवाद और सम्पादन करने के अतिरिक्त एक शास्त्र भी चीनी भाषा मे लिखा।

प्राचीन चीन और भारत मे पारस्परिक संस्कृति एवं राष्ट्रीयता को समझने की अनेक चेष्टाओ के तारतम्य मे से ये कुछ घटना मात्र हैं। सास्कृतिक समानता के अतिरिक्त चीन और भारत की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि मे भी अनेक दृष्टि से समानता है। मध्य एशिया की मंगोल जाति के अनेक आक्रमण भारत पर हुए और अपनी स्थिति एवं शक्ति के अनुसार उन आक्रमणो का सामना किया गया। चीन को तो इस दिशा मे मगोलिया के बिलकुल ही समीप होने के कारण अधिक
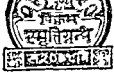
कष्ट उठाने पडे। पश्चिम में चीन की बडी दीवाल जो आज भी ससार के लिए एव आश्चर्य की वस्तु है, उस समय के उस दिशा से किए गए आक्रमणो से बचने का एव देश की सुरक्षा का साधन मात्र थी। निस्सदेह चीन पर भारत की अपेक्षा मगोल जाति का अत्यन्त अधिक प्रभाव पडा।

चीन को अपनी सभ्यता तथा सस्कृति की प्राचीनता और उत्कृष्टता पर वैसा ही गर्व है जैसा भारत को अपनी प्राचीन आर्य सस्कृति पर। ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व फूइसी नामक व्यक्ति के समय से उनके देश का इतिहास यथेष्ट रूप से प्राप्य है। तदनन्तर 'शेननुग' 'ह्वांगटी' नामक शासकों के अन्तर्गत चीन राज्य की सीमा की वृद्धि हुई और वहा की सस्कृति का विकास हुआ। इसके बाद अनेक ऐतिहासिक क्रान्ति एव परिवर्तनो का क्रम चालू रहा। यहाँ तक कि १३वीं शताब्दी में चीन के अधिक भाग पर मिगूजिन या चगेजखा का राजनीतिक प्रभुत्व हो गया।

इस मगोल शासनकाल में भी चीन वैभवशाली एव सम्पन्न था। अत इसके वैभव और सम्पन्नशीलता को देखकर पश्चिम से ईसाई और मुसलमान जातियाँ आकृष्ट हुईं और यहाँ आकर बस गईं। चीन ने सभी शान्तिप्रिय जातियो को आश्रय दे मनुष्यत्व का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन किया। ये घटना उस समय की है जब यूरोप में 'क्रूसेड्स' का समय था और धार्मिक कट्टरता एव असहिष्णुता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी।

चीन ने शान्तिप्रिय जातियो को आश्रय दिया परन्तु आक्रमक जातियो से आत्मसम्मान की रक्षा के लिए युद्ध भी किया। सन् १३६८ ई० में चीनियो ने मगोलो के एक भीषण आक्रमण को असफल बनाया परन्तु विदेशियो की बुरी नियत से चीन में आने का मार्ग, विज्ञान की उन्नति एव भाप से जलयानो के आविष्कार से पश्चिम के थल के स्थान पर पूर्व का समुद्र प्रधान हो गया, और चीन के प्राकृतिक धन को इस जोर से प्राप्त करने के प्रयत्न होने लगे।

चीन की इस सक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि पर भारतवर्ष के दृष्टिकोण से यदि हम देखें तो हमें "अपनी ही कहानी" का दिग्दर्शन होगा।

ह्वागच्वांग और फाह्यान जैसे यात्रियो का भारत में आना राजनीतिक महत्त्व रखता है। उस समय की राजनीतिक परिस्थिति एव शासन-व्यवस्था विशेषकर न्यायविधान आदि में परस्पर विचार विनिमय से दोनो राष्ट्रो को जो परस्पर लाभ हुए होगे उन्हे कोई भी इतिहास का विद्यार्थी अस्वीकार नही कर सकता। तत्कालीन चीनी और भारतीय राज्य-व्यवस्था में इन यात्रियो के आगमन, उनके भ्रमण एव उनके निरीक्षण और विवरण राजनीतिक दृष्टि से अवश्य ही उपयोगी सिद्ध हुए है। अनिश्चित काल से चीनी और भारतीय राजनीति का आधार धर्म रहा है। उनके राजनीतिक कार्यों का औचित्य सदा ही धार्मिक मापदड से निश्चित किया गया है जिसके फलस्वरूप इन देशो के लिए दुर्बल एव पिछडी हुई जातियो का शोषण करना एक अपरिचित बात रही है।

भौगोलिक दृष्टि से चीन और भारत में अनेक भिन्नताएँ होने पर भी कुछ मौलिक समानताएँ है। भारत के समान चीन भी एक विशाल प्रदेश है, और अनेक उपजातियो द्वारा बसा हुआ है, फिर भी इन राष्ट्रो की आधारभूत एकता इनका ही एक मौलिक गुण है जिससे यूरोप, अमेरिका आदि महाद्वीपो को अभी पाठ पढना है। चीन की तीन बडी नदियां (ह्वागो, याग्टीसी क्याग और सिक्याग) के उर्वरे मैदान उतने ही उपजाऊ और उपयोगी है जितने भारतवर्ष मे गगा और सिंध के मैदान। एक ही मानसून की हवाएँ दोनो देशो को वर्षा का दान देती है, दोनो देशो के कई प्रान्तो की जलवायु में पारस्परिक समानता है। उपज की दृष्टि दोनो देश कृषि प्रधान है। खनिज पदार्थों की दृष्टि से दोनो ही देश स्वावलम्बी एव धनी हैं। ससार के पूर्वीय देशो में यही दो देश ऐसे है जिनका अनेक समानताओ के कारण एक ही साथ नाम लिया जाता है। पाश्चात्य देशो की दृष्टि से ये दोनो देश एक ही रक्त के दो भाइयो के समान रहे है। ससार की दृष्टि में दोनो राष्ट्र एक ही सस्कृति एव सभ्यता के प्रतीक है। दोनो की सस्कृति अत्यन्त प्राचीन, दोनो का अतीत अत्यन्त उज्ज्वल, दोनो के ही सभ्यता के अग्रदूत होने के कारण दुनिया की दृष्टि में एक ही रहे है, एक ही समझे गये है। इतना ही नही, अपितु दोनो ही अपनी राष्ट्रीय आर्थिक जीवन व्यवस्था के एक विशिष्ट प्रकार के होने के कारण एव आधुनिक विज्ञान, एव उद्योगीकरण में (जिनका प्रादुर्भाव यूरोप में हुआ) पिछडे रहने के कारण, पाश्चात्य शक्तियो की लिप्सा एव शोषण के शिकार बने।

श्री युआँग चुंग-यिन

पूर्व के इन दो राष्ट्रों की संस्कृति मे पारस्परिक समानताओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी असमान परिस्थितियाँ उपस्थित हुई जिनके कारण राष्ट्रीय धाराओं मे अन्तर पड गया। चीन विदेशी जातियो के आर्थिक आक्रमण को सहन कर सका, वह अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता को अभी तक स्थायी रख सका। परन्तु ऐसा करने के लिए उसे अनेक राष्ट्रीय आघात सहने पडे है। चीन के वर्तमान अधिनायक मार्शल च्याँगकाईशेक ने स्वयं कुछ समय पूर्व कहा था "चीन यूरोपीय विज्ञान और कला-कौशल की ओर झुका और धीरे धीरे विदेशी संस्कृति और विदेशी वस्तुओं का भी भक्त वन गया। वह अपनी परम्परागत जातीय भावनाओ और अपने राष्ट्रीय चरित्र की अच्छाइयो और गुणों को भूल गया"। संक्षेप मे उसने चीनी महात्मा 'मेन्शियस' के अमर वाक्य 'मनुष्य के ऊपर प्रेम दिखाओ और भौतिक चीजो की कद्र करो' को विस्मृत कर दिया था। आज ये ही शब्द भारतवर्ष के लिए कितने अधिक अंश मे सत्य सिद्ध होते हैं, यह अपने अतीत पर गौरव करनेवाला प्रत्येक भारतीय अनुभव कर सकता है।

चीन और भारत के राष्ट्रीय जीवन के अनेक पहलुओं पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि जिन देशों की संस्कृति, सभ्यता एवं इतिहास मे इतनी स्पष्ट समानता रही हो, उन देशो की जनता का दृष्टिकोण एव विचारधारा भी समान हो तो कोई आश्चर्य की वात नही है। यह तो नित्य प्रति के अनुभव की वात है कि भारतीय नगरो मे वसे हुए चीनी व्यापारी अथवा अन्य व्यवसायी व्यक्ति, घूमते हुए यात्री या अन्य प्रकार के चीनी लोग भारतीय जनता के प्रेम, आदर एवं आतिथ्य के सहज ही पात्र वन जाते है।

चीन और भारत के अतीत पर इस विहंगम दृष्टिपात के पश्चात् एवं उनकी मौलिक समानताओ पर विचार कर, हम उस काल से दोनों देशो के राष्ट्रीय जीवन पर दृष्टिपात करना चाहते है जवसे ये पूर्व के दो महाराष्ट्र विदेशी सत्ता के सम्पर्क मे आये।

१८वी शताब्दी यूरोप के लिए 'राष्ट्रीयता का युग' माना जाता है और १९वी शताब्दी मे उद्योगीकरण के साथ साथ साम्राज्यवाद की जन्म-शताब्दी समझी जाती है। अत. पूर्व के देशो के साथ पश्चिम की इस राष्ट्रीय विचारधारा का संघर्ष १८वी शताब्दी से ही होने लगा। इस प्रकार की संकुचित एवं प्रतिक्रियावादी राष्ट्रीयता से पूर्व अपरिचित था। शनैः शनैः इस संक्रामक रोग का प्रभाव पूर्व के देशो पर भी होने लगा। इसके प्रतिकूल उन शोषित और दलित देशो मे एक प्रकार की नई भावना का उद्रेक होने लगा जिसके फलस्वरूप गत सौ वर्षो मे चीन, जापान भारतवर्ष आदि पौर्वात्य देशो मे प्रवल राष्ट्रीय आन्दोलन प्रादुर्भूत हुए। यूरोप मे हमने कई राष्ट्रो की स्थापना एव उत्थान देखा है जिसमे गत महायुद्ध के वाद दो राष्ट्र-जर्मनी और इटली का प्रभुत्व विशेष महत्वपूर्ण रहा है। पूर्व मे केवल जापान ही अपने राष्ट्रीय आन्दोलन से सन्तुष्ट रहा है। जापान के इस राष्ट्रीय उत्थान को पूर्व के जन-समुदाय ने एक वरदान स्वरूप समझा था, यह विचार १९०४ के रूस-जापान युद्ध मे जापान की विजय से और भी दृढ हो गया। परन्तु जापानी राष्ट्रीयता एक गहरी वीमारी का वाह्य लक्षण था। वह तो साम्राज्यवाद की ओर वढनेवाला पहला प्रयास था। इसी आशय की चेतावनी आजसे ३० वर्ष पूर्व जापान देश मे जापानियो के ही सम्मुख स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी दी थी। उनकी भविष्यवाणी के अनुसार जापान का यह राष्ट्रवाद आज साम्राज्यवाद के कलुषित रूप मे परिणत हो ससार के लिए शाप सिद्ध हुआ। जापानी साम्राज्यवाद की लिप्सा का सर्व प्रथम शिकार उसके निर्दोष एवं शान्तिप्रिय पडौसी चीन को होना पडा। जापान के इस अत्याचार से चीन अत्यधिक सुदृढ़ और संगठित हो गया और चीन के वज्र राष्ट्रीय संकल्प का प्रत्यक्ष उदाहरण उस आत्मरक्षा के हेतु युद्ध से हो रहा है जो उसने ७ जौलाई सन् १९३७ ई० के दिन से प्रारम्भ कर दिया था। चीन-की राष्ट्रीय संगठित शक्ति इस अत्याचार विरोधी युद्ध के रूप मे प्रकट हो चुकी है, जिसमें वह पूर्णतः विजयी हुआ।

चीन और भारत को अनेकवार अनेक विदेशी जातियों से युद्ध करने पड़े परन्तु वे भी केवल आत्मरक्षा के हेतु, संसार मे सम्मानित राष्ट्र के समान जीवित रहने के लिए, 'जीवित रहो और जीवित रहने दो' के सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देने के लिये।

चीन और भारत में सांस्कृतिक सम्पर्क

वैसे तो महाराजा हर्षवर्द्धन अन्तिम हिन्दू सम्राट् माने जाते हैं जिन्होंने अपनी साधना से एक छत्र अधीश्वर की भाँति भारतवर्ष के एक विशाल खण्ड को राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधा। उसके बाद अनेक छोटे छोटे राजपूत राज्यों की स्थापना हो गई और राजनीतिक एकता छिन्न भिन्न हो गई। जिस देश से सिकन्दर जैसे दिग्विजयी को निराश हो लौटना पड़ा था, उसपर विदेशी आक्रमणों का श्रीगणेश ७१२ ई० में मु० बिन कासिम के आक्रमण से हुआ। जैसे जैसे राष्ट्रीय जीवन में एकता का अभाव 'संघ शक्ति' की कमी के कारण होता गया उसी प्रकार देश का राष्ट्रीय जीवन क्षत विक्षत होने लगा। इस समय के आक्रमण धन प्राप्ति के लालच एवं लूटमार कर चले जाने के हेतु ही हुआ करते थे, राष्ट्रीय जीवन में अभी इतनी शिथिलता न आ पाई थी कि विदेशी आक्रमणकारी देश में स्थायी होकर आधिपत्य रख सकते। पश्चिमी सीमान्त के मध्य प्रदेश पर्वतीय एवं शुष्क होने के कारण वहाँ के निवासियों को सुख एवं जीवन की सुविधाएँ देने में असमर्थ थे, अतः वहाँ के निवासियों का जीवन कष्टमय था जिससे मुक्ति पाने के लिए वे आसपास के देशों में पहुँचना चाहते थे। इसलिए वे भी भारत में आकर सुखपूर्वक रहने का लोभ संवरण न कर सके। अतएव जितने आक्रमण हुए उन सभी के पश्चात् आक्रमणकारी परिस्थिति के अनुसार बसते गए और इसी देश को अपना देश स्वीकार करते गए। लगभग ७०० वर्ष बाद भी मुगल शासन काल में भारत में फिर एक बार राजनीतिक एकता स्थापित करने के लिए सफल प्रयत्न किए गए। परन्तु मुगल राज्य के पतन के पश्चात् भारत के राष्ट्रीय जीवन को फिर एक धक्का लगा।

भारत के इतिहास का सबसे दुर्भाग्यशाली अध्याय आरम्भ होता है यूरोप की जातियों का भारतवर्ष में व्यापार की सुविधाएँ प्राप्त करने के हेतु आगमन से। विदेशी व्यापारियों के रूप में आकर उन्होंने देश की आन्तरिक राजनीति में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। अपना स्वार्थ सिद्ध करने तथा अपने मन्तव्यों की पूर्ति के लिए अनेक षडयन्त्र रचे गए, हर प्रकार के साधनों का आश्रय लिया गया, एवं देश पर राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करने के ध्येय की पूर्ति के लिए सभी कुछ किया गया।

चीन को भी इसी प्रकार की अनेक भयंकर राष्ट्रीय परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा है। उसे भी पश्चिम से अनेक आघात सहने पड़े हैं, पूर्व में जापान और उत्तर में रूस की ओर से भी उसे अनेक यातनाएँ मिली हैं, उसे भी आत्म रक्षा के लिए अनेक युद्ध करने पड़े हैं। उसे भी आन्तरिक विद्रोह और गार्हस्थिक वैमनस्य की ज्वालाओं में से निकलना पड़ा है। इतना ही नहीं वरन् उसके समुद्र तट पर सदा से ही विदेशी शक्तियों के दाँत रहे हैं। १८वीं शताब्दी से तो आरम्भ से ही चीन की पुष्कल खनिज सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए अमेरिका और जापान सदा से ही प्रतिद्वन्दी रहे हैं। चीन और भारत दोनों के ही दुर्भाग्य से इन देशों की आन्तरिक स्थिति असंगठित, वैमनस्यपूर्ण, स्वेच्छाचारिता एवं व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं से परिपूर्ण रही है, इसी कारण विदेशी शक्तियाँ अपने अनुचित ध्येय में सफल रहीं।

चीनी और भारतीय दोनों ही शान्तिप्रिय और सद्गुणी जातियाँ हैं। दोनों ही सत्य और न्याय में विश्वास करती हैं, दोनों ही अत्याचार और बुराई से घृणा करती हैं। दोनों ही मनुष्यों के पारस्परिक मतभेद एवं तज्जन्य समस्याओं को क्रूर एवं अन्यायपूर्ण साधनों की अपेक्षा सत्य, न्याय और औचित्य द्वारा हल करना चाहती हैं। चीनी 'वाँग ताओ' एवं 'पायो ताओ' साधनों में स्पष्ट भेद समझते हैं। 'वाँग ताओ' का शाब्दिक अर्थ 'राजमार्ग' है जिसका भारतीय पर्यायवाची 'धर्म' और 'अहिंसा' है। 'पायो ताओ' का अभिप्राय 'पाशविक शक्ति' से है। जापान 'पाओ ताओ' का अनुयायी था और इसके विपरीत चीन 'वाँग ताओ' का कट्टर समर्थक है। चीन में राष्ट्रीय जागृति का शंखनाद विदेशी आक्रमणों एवं तज्जन्य अत्याचारों के फलस्वरूप बजा, परन्तु चीन की राष्ट्रीय विचारधारा का केन्द्र बिन्दु तो 'वाँग ताओ' अर्थात् 'धर्म, सत्य और अहिंसा' का मार्ग ही रहा।

१५०० मील लम्बी दीवाल के परे के प्रदेशों के अतिरिक्त मुख्य चीन का विस्तार रूस के अतिरिक्त शेष समस्त यूरोप के बराबर है। चीन केवल विस्तार की दृष्टि से ही नहीं, भौगोलिक विभिन्नताओं की दृष्टि से भी यह एक बड़ा महाद्वीप है। चीन पाश्चात्य प्रणाली की उन्नतिशीलता की दृष्टि से प्राचीनतम संस्कृति के आधारभूत सत्र से अर्वाचीन राष्ट्र है। चीन की जनसंख्या ४० करोड़ से भी अधिक है जिनमें अनेक जातियों एवं उपजातियों के लोग सम्मिलित हैं। इस

श्री युआँग चुंग यिन

महान देश मे कई लाख मंगोल है, लगभग दस लाख मंचू है, कई लाख तिब्वती है, लगभग दस लाख तुर्क मुसलमान है और बहुत अल्प सख्या मे मूल निवासी है। इन सब जातियो की सम्मिलित संख्या एक करोड़ से अधिक नही है। अत्यधिक बहुमत चीनियो का है जो हान (मध्य) अथवा मूल चीनी जाति के वंशज है जिनमे एक ही रक्त, जिनकी एक ही भाषा, जिनका एक ही धर्म, और जिनके समान रीति रिवाज है। संक्षेप मे चीनी जनसख्या का बहुमत चीन के आदि पूर्वजों के ही शुद्ध वंशज है। राष्ट्रीय सगठन एव ऐक्यता स्थापित करने की दृष्टि से चीन को भारतवर्ष की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ है।

शान्तिप्रिय होते हुए भी चीनी लोग क्रान्तिकारी व्यक्ति है। जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है, वर्त्तमान वैज्ञानिक उन्नति की दृष्टि से चीन सबसे अधिक अर्वाचीन राष्ट्र है। पर दुर्भाग्य से नैनकिंग सरकार के केवल ९ साल (१९२८-३७) के पवित्र प्रयत्नो एव तद फलस्वरूप आशातीत सफलता को विदेशी शक्तियाँ सहन न कर सकी। इसके पूर्व कि चीन एक सुदृढ और समृद्धशाली राष्ट्र बन जाय, जापान ने स्वार्थ साधन के हेतु उसके भविष्य को अन्धकार बनाने की दृष्टि से आक्रमक युद्ध छेड़ दिया। ७ साल तक चीन ने जो युद्ध आत्मरक्षा एव प्राचीन संस्कृति के लिए किया उसका सदेश समस्त संसार को है, समस्त मनुष्य जाति के लिए है।

चीनियों का क्रान्तिकारी होने का प्रत्यक्ष प्रमाण जापानी आक्रमण को रोकने, उनके जघन्य उपायो को विफल बनाने मे जो आश्चर्यजनक शक्ति, एवं क्षमता दिखाई है, उससे स्पष्ट है। चीन पर दो बार विदेशी आधिपत्य रहा है, प्रथम बार मगोल लोगो का और दूसरी बार मचू लोगों का। लेकिन वे अपना स्वतत्र अस्तित्व स्थापित नही रख सके, चीनी जाति ने उनको अपने मे सम्मिलित कर लिया और वे चीनी जाति का एक अंग बन गई।

चीनियो के संयुक्त राष्ट्र निर्माण होने एव विकास प्राप्त करने मे ऐतिहासिक एव भौगोलिक कारणों का महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है। चीन राजनीतिक एव सांस्कृतिक दृष्टिकोण से एक राष्ट्र है। तीन हजार वर्ष पूर्व की सभ्यता का प्राचीनतम परिपोषक उत्तरी चीन का समतल प्रदेश था। इस प्रदेश की भूमि उपजाऊ, जलवायु समशीतोष्ण और मनुष्य परिश्रमी होने के कारण उनके श्रम एव प्रयत्नों का उचित फल मिलता था। प्राचीन काल मे भारतवर्ष मे प्रकृति के वरदान स्वरूप कम श्रम करने मात्र से ही भोजन वस्त्र आदि की चिन्ता से मनुष्य मुक्त हो जाया करते थे अत. आत्मा, परमात्मा तथा लौकिक पारलौकिक ज्ञान चर्चा व चिन्तन के लिए उनके पास पर्याप्त समय व सुविधाएँ रहती थी। इसलिए उस काल मे भारतवर्ष ने विश्वविश्रुत दार्शनिक व विचारक उत्पन्न किये।

इसके विपरीत चीनियो का दृष्टिकोण अधिक क्रियात्मक रहा जिसके फलस्वरूप चीन में उच्च श्रेणी के व्यापारी सैनिक एवं राजनीतिज्ञ उत्पन्न हुए। उन्होने पारलौकिक ज्ञान की अपेक्षा मनुष्यो के ऐहिक सम्बन्ध को नियत्रित करने, मनुष्य का मनुष्य के प्रति सामाजिक सम्बन्ध निर्धारित करने एव उनको सुचारु रूप से चलाने की व्यवस्था पर अधिक विचार किया। चीनियो मे धार्मिक सहिष्णुता अत्यधिक है, वे जाति मे ऊंच-नीच का भेद नही रखते, इसीलिए चीनी सभ्यता मे अन्य वर्गो को आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता रही है जो देश के कोने कोने मे व्याप्त है।

चीनी जाति एक महान समुद्र के समान है जो प्रत्येक वस्तु को जो इसमे सम्मिलित हो जाता है, लवणमय कर देता है। चीनी इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि चीनी राष्ट्र सदा से एक पूर्ण इकाई के रूप मे रहा है जिसका विभाजन किसी भी दृष्टि से कभी नही हो सका। पूर्वोत्तर के चार प्रान्त जो जापान के आधीन कभी रहे है और जिन पर कुछ समय जापान की कठपुतली 'मचूको सरकार' का शासन रहा है, सदा से चीन के अग रहे है इसी प्रकार तिब्बत और मगोलिया भी निस्सन्देह चीनी प्रान्त है।

चीन मे कुल मिलाकर २८ प्रान्त और दो उप-प्रान्त (तिब्बत और मंगोलिया) है। चीन की उस समय की सीमा जब वह अपने वैभव के शिखर पर था आज की सीमा से कही अधिक विस्तृत थी। चीन के सम्बन्ध मे सबसे प्राचीन उल्लेखों मे जो ईसा से १२०५-६७ वर्ष पूर्व लिखे गए थे, यह वर्णित है कि चीन की सीमा पूर्व मे समद्र तक, और उत्तर एव दक्षिण मे अन्तिम सीमा तक विस्तृत थी।
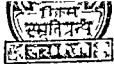
जो उस भाषा को जानता है वही उसके अर्थ को समझ सकता है। पर स्वर का अर्थ हृदयस्पन्दन द्वारा समझ लिया जाता है। इसीलिए पशु तक भी संगीत के वशीभूत हो जाते हैं।

> वनेचर स्तृणाहारश्चित्रं मृगशिशु पशु।
> लुब्धो लुब्धकसंगीते गीते यच्छति जीवितम्।
> तस्य गीतस्य माहात्म्यं के प्रशंसितुमीशते।
> धर्मार्थकाम मोक्षाणामिदमेवैकसाधनम्॥—संगीतरत्नाकर।

हमारे जीवन में आदिकाल से संगीत का एक बहुत ही उच्च स्थान रहा है। गीत, वाद्य और नृत्य तीनों को हमारे शास्त्रकारों ने संगीत कहा है। "गीतम् वाद्य तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते।" (संगीतरत्नाकर) इनमें से गीत प्रधान है। मनुष्य पहले कण्ठ से गाता है। इसके अनन्तर वाद्य इत्यादि में वह उन्हीं स्वरों को व्यक्त करता है। स्वर और लय गीत के मुख्य अंग हैं। लय और ताल के ही आधार पर नृत्य होता है।

> गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते।
> तद्द्वयानुगतं नृत्तं नादाधीनमतस्त्रयम्॥—संगीतरत्नाकर।

वैदिककाल में भारतीय संगीत का पर्याप्त विकास हो चुका था। वेदों में दुन्दुभि, आडम्बर, भूमि दुन्दुभि, वनस्पति, आघाति, काण्डवीणा, वीणा, तूणव इत्यादि वाद्यों का उल्लेख मिलता है। सामवेद की ऋचाएँ एक व्यवस्थित नियम से गाई जाती थीं। यहाँ पर हम स्वर, गीत और ताल तीन मुख्य शीर्षकों में भारतीय संगीत के विकास का कुछ विवरण देंगे।

स्वर—वैदिककाल में भारतीय संगीत के सातों स्वर आविष्कृत हो चुके थे। ऋक् प्रातिशाख्य में प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्वरों का और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में क्रुष्ट और अतिस्वार्य स्वरों का उल्लेख मिलता है। सात स्वरों के समूह को सप्तक कहते हैं। वैदिककाल में 'सप्तक' के स्वरों के नाम थे 'क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र, अतिस्वार्य'। कालान्तर में इन स्वरों के नाम बदल गए। अब सारे भारत में सातों स्वरों के प्रचलित नाम ये हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद। इन स्वरों के नामों की व्युत्पत्ति 'संगीत समयसार' में यों दी है —

> नासाकण्ठ उरस्तालुजिह्वादन्तांस्तथैव च।
> षड्भि संजायते यस्मात तस्मात् षड्ज इति स्मृत॥
> नाभे समुदितो वायु कण्ठशीर्षसमाहत।
> ऋषभवन्नदेद यस्मात तस्मात् ऋषभ ईरित॥
> नाभे समुदितो वायु कण्ठशीर्षसमाहत।
> गन्धवसुखहेतु स्यात गांधारस्तेन कथ्यते॥
> वायु समुत्थितो नाभेहृदयेषु समाहत।
> मध्यस्थानोद्भवत्वाच्च मध्यमस्तेन कीर्तित॥
> वायु समुत्थितो नाभेरोष्ठकण्ठ शिरोहृद।
> पञ्चस्थान-समुद्भूत पञ्चमस्तेन सम्मत॥
> नाभे समुत्थितो वायु कण्ठतालुशिरोहत।
> निषीदन्ति स्वरा सर्वे निषादस्तेन कथ्यते॥

स्वरों के तीन स्थान हैं—मन्द्र, मध्य और तार।

> व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते।
> कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तर॥

जो स्वर सबसे नीचा सुनाई पड़ता है और अधिकतर नाभिदेश से व्यक्त होता है वह मन्द्र-स्थान का स्वर है। जो स्वर उससे

अधिक ऊँचा सुनाई पड़ता है और अधिककर कंठ से व्यक्त होता है वह मध्य स्थान का स्वर है। जो उससे भी अधिक ऊँचा सुनाई देता है और अधिककर मूर्धा द्वारा व्यक्त होता है वह तार स्थान का स्वर है।

श्रुति और स्वरस्थान—संगीतोपयोगी ध्वनि को नाद कहते हैं। श्रवणगोचर नाद को श्रुति कहते है। शास्त्रकारों ने श्रति की बहुत सरल व्याख्या की है—"श्रूयते इति श्रुतिः।" जो नाद कानो से स्पष्ट सुना जा सकता है अर्थात् पहचाना जा सकता है उसे 'श्रुति' कहते है।

इन श्रुतियो के कितने भेद माने गए है? इस विषय पर निम्नलिखित विद्वानों का मत संगीतज्ञो के लिए सर्वदा मान्य रहा है:—भरत, शार्गदेव, लोचन, अहोवल, हृदयनारायणदेव और श्रीनिवास। इनके ग्रंथो के नाम ये है:—नाटचशास्त्र; संगीतरत्नाकर; रागतरगिणी; संगीत पारिजात; हृदयप्रकाश; रागतत्ववोध। मैकडानल ने (*India's Past* p. 97) भरत का काल ईसा पूर्व २०० वर्ष माना है। शार्गदेव तेरहवी शताव्दी मे हुए; लोचन प्रन्द्रहवी, अहोवल १६वी, हृदय १७वी और श्रीनिवास १८वी शताव्दी मे हुए। अतएव कम से कम १३वी शताव्दी से १८वी शताब्दी तक के ग्रंथों मे 'श्रुति' की सख्या के विषय मे प्रायः ऐकमत्य रहा है। एक सप्तक मे वे २२ 'श्रुतियाँ' मानते थे और उनके आधार पर फिर शुद्ध और विकृत स्वरों की स्थापना करते थे। इन श्रुतियों को सात स्वरों मे बाँटते समय वे एक परम्परागत नियम को स्वीकार करते थे। कहा है:—

> **चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपंचमाः।**
> **द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्री ऋषभधैवतौ॥**

अर्थात् षड्ज, मध्यम और पंचम स्वरो के हिस्से मे चार-चार श्रुतियाँ पड़ती है, गांधार और निषाद मे दो दो श्रुतियाँ और ऋषभ और धैवत के हिस्से मे तीन तीन श्रुतियाँ है।

यह नियम आज तक चला आ रहा है। परन्तु आजकल के शुद्ध और विकृत स्वर प्राचीन ग्रंथकारों के स्वरो से कुछ भिन्न है। इसका कारण यह है कि प्राचीन ग्रथकार अपना प्रत्येक शुद्ध स्वर उस स्वर के शास्त्रोक्त अन्तिम श्रुति पर रखते थे। उनके स, रे, ग, म, प, ध, नि—ये शुद्ध स्वर ४, ७, ९, १३, १७, २०, २२ इन श्रुतियो पर रक्खे जाते थे। रागमञ्जरी मे इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है—

> **वेदाचलांकश्रुतिषु त्रयोदश्यां श्रुतौ तथा।**
> **सप्तदश्यां च विंश्यां च द्वाविंश्यांच श्रुतौ क्रमात्॥**

आजकल के सगीतज्ञ शुद्ध स्वर एक भिन्न नियम से स्थापित करते है। उनका क्रम प्राचीन विद्वानो के क्रम से उलटा है। प्राचीन विद्वान् प्रत्येक शुद्ध स्वर को उस स्वर की शास्त्रोक्त अन्तिम श्रुति पर रखते थे। आधुनिक विद्वान् प्रत्येक शुद्ध स्वर को उसकी शास्त्रोक्त पहिली श्रुति पर रखते है। निम्नलिखित तुलनात्मक विवरण से श्रुति स्वर-व्यवस्था विलकुल स्पष्ट हो जायगी:—

प्राचीन विद्वानों की श्रुति स्वर व्यवस्था	आधुनिक विद्वानो की श्रुति स्वर व्यवस्था
१. तीव्रा	१. तीव्रा—षड्ज (शुद्ध)
२. कुमुद्वती	२. कुमुद्वती
३. मन्दा	३. मन्दा
४. छन्दोवती—षड्ज (शुद्ध)	४. छन्दोवती
५. दयावती	५. दयावती—ऋषभ (शुद्ध)
६. रजनी	६. रंजनी
७. रक्तिका—ऋषभ (शुद्ध)	७. रक्तिका

प्राचीन विद्वानों की श्रुति स्वर व्यवस्था	आधुनिक विद्वानो की श्रुति स्वर व्यवस्था
८ रौद्री	८ रौद्री—गाधार (शुद्ध)
९ क्रोधी—गाधार (शुद्ध)	९ क्रोधी
१० वज्रिका	१० वज्रिका—मध्यम (शुद्ध)
११ प्रसारिणी	११ प्रसारिणी
१२ प्रीति	१२ प्रीति
१३ माजनी—मध्यम (शुद्ध)	१३ माजनी
१४ क्षिति	१४ क्षिति—पन्चम (शुद्ध)
१५ रक्ता	१५ रक्ता
१६ सदीपनी	१६ सदीपनी
१७ आलापिनी—पन्चम (शुद्ध)	१७ आलापिनी
१८ मदन्ती	१८ मदन्ती—धवत (शुद्ध)
१९ रोहिणी	१९ रोहिणी
२० रम्या—धैवत (शुद्ध)	२० रम्या
२१ उग्रा	२१ उग्रा—निपाद (शुद्ध)
२२ क्षोभिणी—निपाद (शुद्ध)	२२ क्षोभिणी
१ तीव्रा	१ तीव्रा—षड्ज (शुद्ध)
२ कुमुद्वती	२ कुमद्वती
३ मन्दा	३ मन्दा
४ छन्दोवती—षड्ज (शुद्ध)	४ छन्दोवती

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन विद्वान् अपने शुद्ध स्वरो को ४, ७, ९, १३, १७, २० और २२ श्रुति सख्या पर रखते थे, और आधुनिक विद्वान् अपने शुद्ध स्वरो को १, ५, ८, १०, १४, १८ और २१ श्रुति सख्या पर रखते है।

यह तो श्रुतियो का साधारण वर्णन हुआ, परन्तु श्रुति स्वरो का ध्वनि-दृष्टि से ही ठीक स्पष्टीकरण हो सकेगा। ध्वनि-दृष्टि से विचार करने में मध्यकालीन विद्वान् लोचन, अहोबल, हृदय, श्रीनिवास इत्यादि के ही ग्रथ सहायक हो सकते हैं। ध्वनिदृष्टि से श्रुति स्वर-स्थानो को निर्दिष्ट करने के लिए दो साधन है। पहिला वीणा के तार की भिन्न भिन्न लम्बाई से ध्वनि बतलाना। दूसरा प्रत्येक ध्वनि के एक सेकन्ड में होनेवाले तुलनात्मक आन्दोलन द्वारा। मध्यकालीन पण्डितो ने पहिले साधन का अवलम्बन किया है। इनके वर्णन के अनुसार शुद्ध स्वर स्थान इस प्रकार होगा —

	तार की लम्बाई इचो में
षड्ज	३६ (मानी हुई)
तार षड्ज	१८
अति तार षड्ज	९
मध्यम	२७
पचम	२४
गाधार	३०
ऋषभ	३२
धवत	२१$\frac{1}{3}$
निषाद	२०

ये शुद्ध स्वर आधुनिक आन्दोलन (Vibration) पद्धति से इस प्रकार रक्खे जायँगे :—

	आन्दोलन
षड्ज	२४० (माने हुए)
तार षड्ज	४८०
अतितार षड्ज	९६०
मध्यम	३२०
पचम	३६०
गाधार	२८८
ऋषभ	२७०
धैवत	४०५
निषाद	४३२

विकृत स्वर—ऊपर हमने यह देखा है कि भरत के समय से लेकर १८वी शताब्दी तक किस प्रकार शुद्ध स्वर निर्धारित हुए। श्रीनिवास पण्डित के मत के अनुसार जो ऊपर शुद्ध स्वर स्थान बतलाया गया है वही आजकल के संगीतज्ञो को मान्य है।

अब प्रश्न यह होता है कि मध्यकालीन विद्वानो के अनुसार विकृत स्वरों के क्या स्थान थे। इस सम्बन्ध मे श्रीनिवास पण्डित का मत निम्नलिखित है :—

भागत्रयोदिते मध्ये मेरोऋर्षभसंज्ञितात्।
भागद्वयोत्तरं मेरोः कुर्यात् कोमल रिस्वरम्॥
मेरुधैवतयोर्मध्ये तीव्रगांधारमाचरेत्।
भागत्रय विशिष्टेऽस्मिन् तीव्रगांधार षड्जयोः॥
पूर्वभागोत्तरं मध्ये मं तीव्रतरमाचरेत्।
भागत्रयान्विते मध्ये पंचमोत्तर षड्जयोः॥
कोमलो धैवतः स्थाप्यः पूर्वभागे विवेकिभिः।
तथैव धसयोर्मध्ये भागत्रय समन्विते॥
पूर्वभागद्वयादूर्ध्वं निषादं तीव्रमाचरेत्॥

इसके अनुसार तार की लम्बाई और आन्दोलन की दृष्टि से श्रीनिवास पण्डित के पाँचो विकृत स्वरो के स्थान इस प्रकार होगे :—

विकृत स्वर	तार की लम्बाई	आन्दोलन संख्या
कोमल ऋषभ	३३ $\frac{१}{३}$ इंच.	२५९ $\frac{४}{५}$
तीव्र गाधार	२८ $\frac{२}{३}$,,	३०१ $\frac{१७}{४३}$
तीव्रतर मध्यम	२५ $\frac{१}{९}$,,	३४४ $\frac{८}{११३}$
कोमल धैवत	२२ $\frac{२}{९}$,,	३८८ $\frac{४}{५}$
तीव्र निषाद	१९ $\frac{१}{९}$,,	४५२ $\frac{४}{३}$

इन पाँच स्थानो को आधुनिक संगीतज्ञ नही मानते। आधुनिक संगीतज्ञो के स्थान पाश्चात्य पण्डितो के निश्चय किए हुए आन्दोलन पर स्थित है :—

श्रीनिवास के स्वर	आधुनिक हिन्दुस्तानी स्वर	पाश्चात्य पण्डितो द्वारा निश्चित किए हुए आन्दोलन
१ कोमल ऋषभ	कोमल ऋषभ	२५६
२ तीव्र गाधार	शुद्ध गांधार	३००

श्रीनिवास के स्वर	आधुनिक हिन्दुस्तानी स्वर	पाश्चात्य पण्डितो द्वारा निश्चित किए हुए आन्दोलन
३ तीव्रतर मध्यम	तीव्रतर मध्यम	३३७ १/२
४ कोमल धवत	कोमल धैवत	३८४
५ तीव्र निषाद	शुद्ध निषाद	४५०

श्रीनिवास के शुद्ध स्वरस्थान आधुनिक विद्वानो को भी मान्य है। केवल शुद्ध धैवत में थोडासा अन्तर है। पाश्चात्य विद्वान् शुद्ध धवत का आन्दोलन ४०० मानते ह, हिन्दुस्थानी विद्वान् ४०५।

प्रचलित हिन्दुस्थानी सगीत के जो विकृत स्वरो के स्थान है वे पहिले के पण्डितो के विकृत स्वरो के स्थानो से नही मिलते। प्रचलित सगीत के विकृत स्वरो के स्थानो का निर्देश 'अभिनव रागमजरी' कार न किया है। 'अभिनव राग मजरी' के कोमल ग और कोमल नि श्रीनिवास के शुद्ध ग और शुद्ध नि है। इस ग्रथ के अनुसार वारह स्वर स्थान आदोलन की दृष्टि से यो रखे जायेंगे —

अभिनव राग मजरी के स्वर	आन्दोलन	पाश्चात्य विद्वानो के आदोलन
म	२४० (माने हुए)	२४० (माने हुए)
कोमल रे	२५४ २/१७	२५६
तीव्र रे	२७०	२७०
कोमल ग	२८८	२८८
तीव्र ग	३०१ १७/३२	३००
शुद्ध म	३२०	३२०
तीव्र म	३३८ १४/१७	३३७ १/२
प	३६०	३६०
कोमल ध	३८१ ३/१७	३८४
तीव्र ध	४०५	४००
कोमल नि	४३२	४३२
तीव्र नि	४५२ ४/३२	४५०
तार स	४८०	४८०

अभिनव रागमजरी के कोमल रे, कोमल ध और तीव्र म—ये स्वर प्राचीन ग्रथो के आधार पर नही ह। पाश्चात्य विद्वानो के कोमल रे, तीव्र ग, कोमल ध और तीव्र नि—इन स्वरो का भारतीय शास्त्र ग्रथो में कोई आधार नही मिलता।

हिन्दुस्थानी सगीत के प्रचलित रागो के आधार उपर्युक्त १२ स्वर ही ह। २२ श्रुतियो मे से १० श्रुतियो का अधिक विवेचन मध्यकालीन ग्रथो में भी नही मिलता। चिरकाल से वारह स्वर ही अधिककर प्रयोग में रहे ह।

गीत—अभी तक हम लोगो ने यह देखा है कि वैदिककाल से लेकर अभी तक स्वर स्थान किस प्रकार निश्चित किए गए ह और प्रचलित स्वरो के क्या आन्दोलन है।

अब हम सक्षेप में यह देखना ह कि प्राचीनकाल से आज तक गीत का किस प्रकार विकास हुआ है। गीत की शैली में क्या परिवर्तन हुआ ह और कौनसी नवीनताएँ समाविष्ट हुई है।

सगीतरत्नाकर ने गीत की परिभाषा यो दी है —

रजक स्वरसदर्भो गीतमित्यभिधीयते।
गाधर्वं गानमित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम्॥

श्री जयदेवसिंह

कुछ ऐसे स्वर-समूह जो रंजक हों 'गीत' कहलाते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) गान और (२) गांधर्व। गाधर्व और गान का वर्णन संगीतरत्नाकर ने इस प्रकार दिया है :—

गांधर्व—अनादि-सम्प्रदायं यद् गंधर्वैः संप्रयुज्यते।
नियतं श्रेयसो हेतुस्तद् गांधर्वं जुगुर्बुधाः॥

गान—यत्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम्।
देशीरागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरंजनम्॥

अर्थात्—जिसका सम्प्रदाय अनादि है, जिसका गंधर्व प्रयोग करते हैं और जिसका उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है वह गांधर्व है। जिस गीत की रचना वाग्गेयकारों ने की है, जो लक्षणवद्ध हो और देशी रागों मे उपयुक्त हो और जिसका मुख्य उद्देश्य लोक-रंजन हो वह गान है।

प्राचीन ग्रथकार गीत के ये दो भाग करते थे :—(१) मार्ग और (२) देशी। संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ का कहना है कि गाधर्व और मार्ग तथा गान और देशी एक ही हैं। मार्ग-सगीत प्रचार मे नही है। शार्गदेव के समय मे भी मार्ग सगीत प्रचार मे नही था। केवल देशी संगीत प्रचलित था। किन्तु उस समय का देशी संगीत आधुनिक हिन्दुस्थानी सगीत से भिन्न था। संगीतरत्नाकर मे देशी सगीत का निम्नलिखित वर्णन मिलता है :—

देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरंजकम्।
गानं च वादनं नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते॥

देशी संगीत लोक-रुचि पर अवलम्वित है। इसलिए रुचि के अनुसार उसका परिवर्तन होता रहता है।

गान दो प्रकार का होता था—(१) निवद्ध और (२) अनिवद्ध।

निवद्धमनिवद्धं तद्द्वेधा निगदितं वुधैः।
वद्धं धातुभिरंगैश्च निवद्धमभिधीयते॥
आलप्तिर्वंधहीनत्वादनिवद्धमितीरितम्॥
संज्ञात्रयं निवद्धस्य प्रवंधोवस्तुरूपकम्॥—संगीतरत्नाकर।

इसका अर्थ यह है कि विद्वानो ने गान दो प्रकार के कहे हैं—निवद्ध और अनिवद्ध। जो गान धातु अवयवो से वँधे हुए हैं वे निवद्ध गान कहलाते हैं। जो धातु अवयवो से वँधे हुए नही हैं; जिनमे आलप्तिमात्र है वे अनिवद्ध गान कहलाते हैं। निवद्ध-गान के तीन प्रकार हैं—प्रवध; वस्तु; रूपक।

आजकल के ध्रुवपद आदि गान उस समय नही थे। उस समय प्रवन्ध, वस्तु, रूपक आदि गान प्रचलित थे। प्रवन्ध के भिन्न भिन्न भागों को 'धातु' कहते थे। संगीतरत्नाकर मे इन धातुओ के नाम इस प्रकार मिलते हैं—उद्ग्राह; मेलापक; ध्रुव; अन्तरा; आभोग। जिस प्रकार आधुनिक ध्रुवपद के स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग—ये अवयव होते है उसी प्रकार प्रवन्धों के उद्ग्राह इत्यादि 'धातु' होते थे। अनिबद्ध गान या आलप्ति आजकल के आलाप से मिलता जुलता है।

संगीतरत्नाकर मे रागालाप का निम्नलिखित लक्षण दिया हुआ है :—

ग्रहांशमन्द्रताराणां न्यासापन्यासयोस्तथा।
अल्पत्वस्य वहुत्वस्य षाडवौडुवयोरपि॥
अभिव्यक्ति र्यत्र दृष्टा स रागालाप उच्यते।

अर्थात् जिस गान मे राग के ग्रह, अश, मन्द्र, तार, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, वहुत्व, षाडवत्व और औडुवत्व की अभिव्यक्ति होती है उसे 'रागालाप' कहते है।

विस्तार भय के कारण इन पारिभाषिक शब्दो की यहा व्याख्या नही दी जा रही है। व्यकटमखी के 'चतुदण्ड-प्रकाशिका' नामक ग्रथ में इनकी विशद व्याख्या दी हुई है।

प्रचलित आलाप गायन—आजकल के गायक त, ना, तोम्, त, न, न, री, रेन, तोम्, नोम् इत्यादि शब्दो के आधार पर आलाप करते है। जिस प्रकार प्राचीन आलाप गायन में रूपक, आलाप्ति, आक्षिप्तिका इत्यादि का भेद करते थे उस प्रकार आजकल के गायक नहीं करते। रागो में आविर्भाव और तिरोभाव भी सुव्यवस्थित रूप मे नहीं दिखलाए जाते। आजकल के अच्छे आलाप गायक आलाप के स्थायी, अन्तरा, सचारी और आभोग-ऐसे चार विभाग करते है। स्थायी में वह सुन्दर सुन्दर स्वर-समुदायो को जोडते हुए मध्यस्थान के धवत और निषाद तक गाते है। फिर तार षड्ज को थोडा स्पर्श करके स्थायी समाप्त करते हैं।

अन्तरा का आलाप वह मध्यस्थान के गाधार अथवा पचम से प्रारम्भ करते हैं। इसमें तार सप्तक के षड्ज, ऋषभ अथवा गाधार तक कई प्रकार से आलाप करते हैं और धीरे धीरे उतरते हुए मध्यसप्तक के षड्ज पर अन्तरा के आलाप को समाप्त करते है। सचारी का आलाप म, प इनमे से किसी स्वर से आरम्भ करते है। इसमे गमक, मींड, कम्पन इत्यादि का अधिक प्रयोग करते है। सचारी को प्राय तार स्थाना तक नहीं लेजाते। उसे मध्य सप्तक के पचम अथवा षड्ज पर समाप्त करते हैं। सचारी के अनन्तर स्थायी को नहीं दुहराते, आभोग प्रारम्भ कर देते हैं। इसमें तार स्थानो में अधिक काम होता है, प्राय तार स्थान में पचम तक गायक आलाप करता है। इसका विस्तार अधिकतर अन्तरा के सदृश होता है। राग की सबसे अधिक सजावट मद्र और मध्य स्थानो में की जाती है। अन्तरा में ऊँचे स्वर लगते हैं। इसलिए उसमें उतना अच्छा काम दिखलाया नही जा सकता। आलाप पहले छोटे छोटे स्वरसमुदायो से प्रारम्भ होता है और बार बार षड्ज पर समाप्त होता है। षड्ज पर गायक प्राय 'तन तोम्' इस आलाप से समाप्त करते है। आलाप गायन के लिए राग का बहुत ही उत्तम ज्ञान होना चाहिए। आलाप गायन किसी ताल में नही होता। गायक केवल पहिले विलम्बित लय में आलाप करता है, फिर क्रमश मध्य और द्रुत लय में।

तान—तान शब्द तन् (तानना या फैलाना) धातु से निकला है। तान से राग का विस्तार होता है। पहिले छोटे छोटे स्वर समुदायों की तान लेते है, धीरे धीरे तानें लम्बी करने लगते है। तानो में किसी शब्द का अवलम्बन नहीं रहता भिन्न भिन्न स्वर-समुदायो में आ, आ, आ, आ—द्वारा तानें लेते है। उदाहरणार्थ 'यमन' राग की कुछ तानें दी जाती है —

रेरे सस, गगरेग, सरेगम, गरेसस
आ ऽ ऽ ऽ

निरे गम, पम गरे, गम पम, गरेसस
आ ऽ ऽ ऽ

निरे गम, धपपम, गमपम, गरेसस
आ ऽ ऽ ऽ

निरे गम, पधनिनि, धपमग, रेसनिस
आ ऽ ऽ ऽ

निरेगम, पमगरे, गमपम, गरेगम, पधपम, गमपध, निनिधप मगरेस
आ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

निरेगम, पधनिनि, धपमग, मपधनि, सरेंसनि, धनिसरें, सनिधप, मगरेस,
आ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

निरेगम, पधनिसं, गंरे गरे, सनिधप, मगमप,
आ ऽ ऽ ऽ ऽ

धनिसंरे, सं नि धप, मगरेस—इत्यादि, इत्यादि।
ऽ ऽ ऽ

इसी प्रकार स्वर-समुदायो का क्रम वढ़ता जाता है, और ताने लम्वी होती जाती हैं। गायक भिन्न भिन्न स्वर समुदायो से तरह तरह की तान लेते हैं। सुन्दर तानो की रचना के लिए रागज्ञान और कल्पना की आवश्यकता है। तान ऐसी होनी चाहिए जो राग के मुख्य भावो की परिपोषक हो। तानो का प्रयोग ख्याल नामक गीतो मे होता है। ध्रुवपद मे तान नही लेते।

हिन्दुस्थानी संगीत के गीत—आजकल उत्तरी हिन्दुस्थान मे निम्नलिखित प्रकार के गीत गाए जाते हैं—ध्रुवपद, होरी, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, तराना, चतुरंग, सरगम। मध्यभारत और महाराष्ट्र मे भी ये ही गीत गाए जाते हैं। इनका थोड़ासा वर्णन नीचे दिया जाता है।

ध्रुवपद—यह हम पहिले वतला चुके हैं कि सगीत रत्नाकर के समय मे प्रवन्ध, वस्तु रूपक इत्यादि गान गाए जाते थे। प्रवन्ध के निम्नलिखित अवयव होते थे—उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव, अन्तरा और आभोग। जयदेव के 'गीत गोविन्द' के गान प्रवन्ध मे ही हैं। परन्तु जयदेव के प्रवन्ध मे दो ही अवयव मिलते हैं—ध्रुव और आभोग। कालान्तर मे प्रवन्ध की गायकी विलकुल उठ गई। आजकल उसका कोई उदाहरण नही मिलता। उसके स्थान मे १५वी शताब्दी से ध्रुवपद की गायकी प्रचलित हुई। ध्रुवपद का अर्थ है—ध्रुव अर्थात् निश्चितपद। इसके निश्चित, बँधे हुए पद होते है। इसके चार अवयव होते हैं—स्थायी, अन्तरा, सचारी और आभोग। कुछ ध्रुवपद ऐसे भी मिलते हैं—जिनमे स्थायी और अन्तरा केवल दो ही अवयव होते हैं। ध्रुवपद प्रवन्ध का रूपान्तर मालूम पड़ता है। आजकल के गवैये इसको 'धुरपद' कहते है। यह अधिकतर चौताल, सूलफाकताल, झपा, गजताल, तीव्रा, ब्रह्म, रुद्र इत्यादि तालो मे गाया जाता है। ध्रुवपद गायक पहिले तोम् नोम् के आधार पर आलाप करता है। इस प्रकार के आलाप का विस्तृत वर्णन हम 'प्रचलित आलाप गायन' शीर्षक मे कर चुके है। आलाप समाप्त होने पर गायक गीत प्रारम्भ करता है। पहिले वह स्थायी, अन्तरा, सचारी और आभोग क्रमशः विलम्वित लय मे गाता है। इन अवयवो की स्वर रचना मे क्या अन्तर है यह हम 'प्रचलित आलाप गायन' मे दिखला चुके है। चारो अवयवो को गाकर गायक उन्हे पुनः द्विगुन, तिगुन, चौगुन लयो मे गाता है। लय और ताल मे ध्रुवपद-गायक भिन्न रीति से—कभी वक्र लय द्वारा, कभी वाँट करके—अपनी कुशलता दिखलाता है। ध्रुवपद गाने के लिए अच्छा दम चाहिए और आवाज मे वड़ी कस चाहिए। ध्रुवपद मे ताने, मुर्की इत्यादि नही प्रयोग करते। इसमे राग की शुद्धता बहुत ही सुरक्षित रहती है। कोई कोई गायक आलाप के अनन्तर गीत को गाकर समाप्त कर देते है। वे द्विगुन, तिगुन इत्यादि करने के पक्ष मे नही हैं। इसमे वीर, शृंगार और शान्त रस की प्रधानता रहती है। ध्रुवपद के वाणी के अनुसार चार भेद किए जाते थे—खंडहार, नोहार, डागुर और गोवरहार। इन वाणियो को स्पष्टरूप से अलग अलग कर दिखलानेवाले गायक आजकल नही मिलते। मध्यकाल मे ध्रुवपद के गानेवाले 'कलावन्त' कहलाते थे।

होरी—होरी को धमार ताल मे गाते हैं। इसको ध्रुवपद के कलावन्त ही गाते है। इसकी कविता मे अधिकतर कृष्ण और गोपियो की लीला का वर्णन रहता है। धमार ताल मे होने के कारण कभी कभी लोग इसे केवल धमार ही कहते हैं। गायक इसे पहिले विलम्बित लय मे गाते है, फिर द्विगुन, तिगुन, चौगुन लय मे गाते हैं। इसमे भी ताने नही लेते।

परम्परा से होरी को धमार ताल मे ही गाते चले आए हैं। और गायको की परिभाषा मे होरी से यही समझा भी जाता है। परन्तु आजकल जिस किसी कविता मे होली का वर्णन होता है चाहे वह किसी भी ताल मे हो उसे 'होरी' कह वैठते हैं। इस प्रकार की होरियाँ अधिकतर दीपचन्दी ताल मे और कभी कभी त्रिताल मे सुनने को मिलती है।

ख्याल—ख्याल का अर्थ है कल्पना। जिस प्रकार ध्रुवपद में गायक नियमो मे जकडा हुआ रहता है और उसे कोई स्वतन्त्रता नही होती उस प्रकार इसमे वह जकडा हुआ नही रहता है। इसमें वह भिन्न भिन्न प्रकार से स्वर रचना की कल्पना कर सकता है। सम्भव है इसी कारण इसका ख्याल नाम पडा हो। इसको सबसे पहले जौनपुर के नवाब सुलतानहुसेन शर्की ने प्रोत्साहन दिया। बादशाह मुहम्मदशाह (सन् १७१९) के दरबार के प्रसिद्ध गायक सदारग और अदारग ने हजारो ख्यालो को रचकर अपने शिष्यो को सिखाए। आजकल इन्हीके बनाए हुए ख्याल भारतभर में अधिककर गाये जाते है। इनके समय से ख्याल की गायकी बहुत ही लोकप्रिय हो गई है।

ख्याल अधिकतर एकताल, तिलवाडा, झूमरा, आडाचौताला, झपताल में बँधा हुआ होता है। ख्याल दो प्रकार के होते है—बडा ख्याल और छोटा ख्याल। दोनो के केवल स्थायी और अन्तरा दो ही भाग होते है।

बडे ख्याल की रचना ध्रुवपद की शैली पर हुई है। यह विलम्बित लय में गाया जाता है। गायक पहले स्थायी और अन्तरा को एक बार गाकर सुना देता है। फिर वह स्थायी के सम के अनन्तर आलाप प्रारम्भ करता है। पहिले छोटे छोटे आलाप गाता है। धीरे धीरे, लम्बे लम्बे आलाप लेने लग जाता है। इसी प्रकार गायक अन्तरा में भी आलाप करता है। इसके अनन्तर वह गान के शब्दो के साथ आलाप करता है। इसे 'बोल-आलाप' कहते है। फिर वह तान आरम्भ करता है। इसमें भी पहिले वह छोटी छोटी तानें लेता है, फिर लम्बी लम्बी ताने। कभी कभी वह तान बन्द कर मध्य पचम या तारषडज पर देर तक रुकता है। इसके अनन्तर वह गान के बोलो के साथ तानें लेता है। इसे 'बोल-तान' कहते है।

छोटे ख्याल तीन ताल में पहिले मध्य लय मे गाए जाते है। फिर लय धीरे धीरे द्रुत कर दी जाती है। ख्याल गायक किसी राग में पहिले बडा ख्याल गाते है फिर छोटा ख्याल। विद्वानो का मत है कि छोटे ख्याल को अधिकतर कव्वालोने लोक प्रिय बनाया है। ख्याल की कविता मे प्राय शृगाररस होता है।

टप्पा—टप्पा में शब्द बहुत थोडे होते है। इसमें तानें अधिक होती है। इसमें भी स्थायी और अन्तरा दो ही भाग होते है। इसमे चपलता होती है। इसके गान अधिकतर पजाबी भाषा में ही मिलते है। इसलिए यह अनुमान होता है कि इसका उद्भव पजाब में ही हुआ होगा। आजकल जो टप्पे सुनने को मिलते है वे प्राय शोरीमियाँ के रचे हुए है। टप्पा अधिकतर काफी, झिझोटी, भैरवी, खमाच, पीलू, इत्यादि रागो में गाया जाता है। इसकी तानें कॉपती हुई जाती है और उनमें मुरकी, गिटकरी, जमजमा इत्यादि होते है। टप्पा के गानो मे शृगाररस की प्रधानता होती है।

ठुमरी—यह भी एक बहुत लोकप्रिय गायन की शैली है। जैसाकि इसके नाम से प्रकट है इसमें एक सुन्दर ठुमक होती है। अन्य गायन शैलियो में स्वर प्रधान है। इसमे कविता प्रधान है। इसमें गायक कविता के भाव को व्यक्त करने के लिए उसके अनुकूल स्वर रचना करता है। इसकी भी कविता में शृगाररस प्रधान होता है। इसे अधिकतर पजाबी ताल में गाते है।

ठुमरी की गायकी दो प्रकार की दिखलाई देती है। एक प्रकार की ठुमरी की रचना ऐसी होती है जो नृत्य के साथ गायी जा सकती है। इसके बोल ऐसे होते है जिसमें भिन्न भिन्न प्रकार से लयकारी की रगत दिखलाई जा सकती है। इसे अधिकतर मध्य या द्रुत लय में गाते है। गायक बीचबीच में नाचता है और गाता जाता है। साथ ही गायन के भाव को अभिनय (acting) के द्वारा भी व्यक्त करता जाता है। उदाहरणार्थ इस प्रकार का एक गान है—"कोयलिया कूक सुनावे सखी री, मोहे बिरहा सतावे पिया बिन कछू न सुहावे निशि अँधियारी कारी बिजरी चमके जिया मोरा डरपावे—" इसे गाकर गायक अभिनय द्वारा दिखलाता है कि कोयल की कूक कहीं सुनाई देती है, आकाश की ओर वह बिजली की चमक दिखलाता है और उस बिजली से डरने का अभिनय करता है—इत्यादि। कत्थक और सगीत व्यवसायी स्त्रिया इस प्रकार अभिनय के साथ ठुमरी गाती है। इस प्रकार की ठुमरी के साथ अभिनय करना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। अभिनय के बिना भी लोग ऐसी ठुमरियो को गाते है। पर वास्तव में प्रारम्भ में ऐसी ठुमरियो की सृष्टि नृत्य और अभिनय के साथ गाने के लिए ही हुई।

श्री जयदेवसिंह

दूसरे प्रकार की ठुमरी 'ठाह की ठुमरी' कहलाती है। यह विलम्बित लय में गाई जाती है। इसमें गायक कविता के एक एक टुकडे को पकड़कर उसके भाव भिन्न भिन्न प्रकार की स्वर-रचना द्वारा व्यक्त करता है। इसे 'वोल वनाना' कहते है। एक वोल को पकड़कर वह कभी आलाप द्वारा, कभी मीड से, कभी स्वर को समेटकर, कभी वहलावे से उसके भाव को व्यक्त करता है। आगे चलकर वह लय को थोडा वढ़ा देता है। और इस प्रकार भाव की व्यग्रता को प्रकट करता है। इस प्रकार की ठुमरी वहुत मनोरंजक होती है। ठुमरी में तानें या सरगम नहीं होते। इसे केवल छोटी मुरकियों और गिटकिरियों से सजाते हैं। कुछ लोग ख्याल के ढंग की तानें और सरगम लेकर इसे एक छोटा ख्याल वना देते है। यह ठुमरी की गायकी के विलकुल विरुद्ध है।

ठुमरी अधिकतर संयुक्त प्रान्त और विहार मे–विशेषकर लखनऊ, वनारस, पटना और गया में गायी जाती है। लखनऊ और वनारस ठुमरी के मुख्य केन्द्र है। इस गायकी को लखनऊ के नवावो और विशेषकर वाजिदअलीशाह के काल मे अधिक प्रोत्साहन मिला।

ठुमरी प्रायः उन रागों मे गाई जाती है जोकि लोक-गीत के धुनों से निकले है—जैसे खमाज, काफी, माँड, पीलू, झिंझोटी इत्यादि। प्रसिद्ध शास्त्रीय रागो मे से केवल भैरवी मे ठुमरी सुनने को मिलती है। विहाग, केदारा, देश, दुर्गा इत्यादि मे भी कुछ ठुमरियाँ है, पर इनकी सख्या वहुत कम है। जिन रागों की प्रकृति गम्भीर है, जैसे भैरव, तोड़ी, दरवारी, शंकरा, हिंडोल, मारवा, श्री इत्यादि, उनमे ठुमरी नही होती। ठुमरी मे लोकगीत और शास्त्रीय संगीत दोनों की सुन्दरताओं का मधुर समन्वय है।

ठुमरी मे प्रायः राग की शुद्धता आवश्यक नही होती। इसमे गायक कविता के भाव के परिपोषक अन्य स्वरों का भी सुन्दर रीति से मिश्रण करता है।

तर्राना—तर्रानों में कविता नही होती। इनमे केवल राग और लय का सौन्दर्य रहता ह। इनमे दानि, तोम् नोम, तनोम्, तदरेदानि, ओदानि, यलली, यललोम् इत्यादि शब्द होते है। ये शब्द स्वर के आधार के लिए ही प्रयोग किए जाते है। इनका कोई अर्थ नहीं होता। कभी कभी तर्रानो मे मृदग या तवले के वोल या फारसी के एक-दो शेर भी मिले हुए होते है। तर्राने मध्य या मन्द्र लय मे गाए जाते है।

चतुरंग—इस प्रकार के गीत मे चतुः+अग—अर्थात् चार भाग होते है। इसलिए इसे चतुरंग कहते है। पहले भाग मे कोई कविता होती है, दूसरे भाग मे तर्राना, तीसरे भाग मे जिस राग का चतुरग होता है उसी राग का सरगम और चौथे भाग मे मृदग या तवले के वोल।

सरगम—भिन्न भिन्न रागो में केवल स, रे, ग, म इत्यादि स्वरों की तालवद्ध रचना को सरगम कहते है। इसके गाने से राग के स्वरों का अच्छा ज्ञान हो जाता है।

उत्तर और दक्षिण की स्वर-तुलना—भारत मे आजकल दो संगीत-पद्धति है। उत्तर की संगीत पद्धति को हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति और दक्षिण की पद्धति को कर्णाटकी पद्धति कहते है। उत्तर की पद्धति पर मुसलमान संगीतज्ञों का प्रभाव पड़ा है। दक्षिण की पद्धति मे प्राचीन सगीत की वहुत कुछ शुद्धता वर्तमान है। आजकल दोनो पद्धतियों के रागों के नामो मे भी भिन्नता आगई है। पर और वहुतसी वातों मे दोनो मे समता है। दोनो मे प्रचार मे वारह स्वर लगते है, पर दोनो के शुद्ध स्वर स्थान कही कही भिन्न है और कही कही उनके स्वरनामों मे भी अन्तर है। नीचे दोनो पद्धतियों के स्वर नाम दिए जा रहे है:—

हिन्दुस्थानी स्वरनाम	कर्णाटकी स्वरनाम
स (शुद्ध)	स (शुद्ध)
कोमल रे	शुद्ध रे

हिन्दुस्तानी स्वरनाम	कर्णाटकी स्वरनाम
तीव्र अथवा शुद्ध रे	चतु श्रुति रे अथवा शुद्ध ग
कोमल ग	षट्श्रुति रे अथवा साधारण ग
तीव्र अथवा शुद्ध ग	अन्तर ग
शुद्ध अथवा कोमल म	शुद्ध म
तीव्र म	प्रति म
प (शुद्ध)	प (शुद्ध)
कोमल ध	शुद्ध ध
शुद्ध अथवा तीव्र ध	चतु श्रुति ध अथवा शुद्ध नि
कोमल नि	षट्श्रुनि ध अथवा कौशिक नि
तीव्र अथवा शुद्ध नि	काकली नि

ताल—ताल का भी कुछ विवरण देदेना आवश्यक प्रतीत होता है। 'ताल कालक्रियामानम'। कालगति के नामको ताल कहते हैं। सगीत के लिए यह आवश्यक है कि स्वर की कालगति एक नियमित क्रम से चले। इस नियमित कालगति को अपने यहा ताली बजाकर प्रदर्शित करते थे। इसीसे इसका नाम ताल पडा। ताल गिनने के पैमाने को मात्रा कहते है। गाने बजाने के गति-वेग अथवा चाल को लय कहते हैं। लय तीन प्रकार के होते है—विलम्बित, मध्य और द्रुत। विलम्बित लय वह है जिसमें स्वर की गति बहुत धीरे धीरे चलती है। मध्य लय वह है जिसमें उसकी गति न बहुत धीमी होती है न बहुत तेज। द्रुत लय वह है जिसम स्वर की गति तेज होती है।

प्राचीन काल में छन्द के समान ताल में गुरु लघुप्लुतो का ही प्राधान्य था। प्राचीन सगीत ग्रथो में रागो की तरह तालो के भी मार्ग तथा देशी दो भेद बतलाए है। सगीतरत्नाकर ने लगभग १२० देशी ताल कहे है। उन तालो का वर्तमान सगीत में प्रयोग नही दिखलाई पडाता। आजकल उत्तरी भारत म चौताल, आडा चौताल, एकताल, झपताल, रूपक, झूमरा, सूलफाक, दीपचन्दी, त्रिताल, दादरा इत्यादि ताल प्रयोग में है। दक्षिण की तालपद्धति कुछ भिन्न है। उसमें मुख्य सात ताल है—ध्रुव, मठ, रूपक, झप, त्रिपुट, अठ, एकताल। प्रत्येक ताल की पाच जातियाँ है—चतस्र, तिस्र, मिश्र, खण्ड और सकीर्ण।

ऐतिहासिक दृष्टि से सगीत का विकास—पीछे हमने स्वर, गीत और ताल-तीन दीपको में सक्षेप में यह दिखलाने की चेष्टा की है कि प्राचीनकाल में इनकी क्या रूपरेखा थी और वर्तमान भारतीय सगीत में इनकी क्या रूपरेखा है। इससे प्राचीन सगीत से आधुनिक सगीत का किस प्रकार विकास हुआ है यह साधारणत समझ में आजायगा। अब हम सक्षेप में ऐतिहासिक दृष्टि से यह देखेंगे कि भारतीय सगीत में क्रमश किस प्रकार परिवर्तन या विकास हुआ है।

वैदिककाल में सामगायन होता था और जैसाकि पीछे बतलाया जा चुका है उस काल में कई वाद्य प्रयोग में थे। सबसे प्राचीन ग्रथ जिसमें सगीत शास्त्र का कुछ स्पष्ट वर्णन मिलता है 'ऋक् प्रातिशाख्य' (ई० पू० ४०० वर्ष) है। इसमें तीन सप्तको और सात स्वरो का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल के सात स्वरो के नाम ये थे—क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मद्र, अतिस्वार्य। कालान्तर में इनके नाम बदल गए।

वाल्मीकि के रामायण (ई० पू० ४०० से ई० पू० २०० तक) में मृदग, वीणा, भेरी, दुन्दुभि, पटह, घट, पणव, डिंडिम आडम्बर, इत्यादि वाद्यो का उल्लेख है। इसमें जातियो का भी उल्लेख आता है जोकि रागो के पूर्वरूप के समान थीं।

महाभारत (ई० पू० ५०० से ईसा पू० २०० तक) में सात स्वरो और गांधार ग्राम का उल्लेख मिलता है।

श्री जयदेवसिंह

दक्षिण 'परिपादल' नामक ग्रंथ मे स्वरो और सात 'पालइ' (द्राविड़ संगीत की प्राचीन जाति) का उल्लेख ह। तामिल प्रदेश मे उस समय 'याल' नामक एक वाद्य था। इस वाद्य के कुछ ऐसे प्रकार थे जिसमे १००० तार लगते थे। 'सीलप्पदिगारम्' (ई० पू० ३००) नामक एक बौद्ध नाटक मे वीणा और याल का उल्लेख है। इसी काल का लिखा हुआ 'तिवाकरम्' नामक एक जैन कोष है जिसमे सम्पूर्ण, षाडव और ओडव रागो और २२ श्रुतियो का जिक्र है।

संगीत शास्त्र पर जो सबसे प्राचीन, प्रसिद्ध और विस्तृत ग्रथ मिलता है वह भरत (ई० पू० २०० वर्ष) का 'नाटच-शास्त्र' है। इसमे भरत ने स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्छना और नृत्य पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। नाटचशास्त्र मे षड्जग्राम और मध्यमग्राम का वर्णन है। भरत के समय मे राग नही थे, 'जाति' थी। भरत ने १८ जातियो का वर्णन दिया है। नाटचशास्त्र मे नृत्त नृत्य और अभिनय का अधिक विवरण मिलता है, गीत का कम।

'जाति' के स्थान मे 'राग' भारतीय संगीत मे कब से आया यह कहना कठिन है। अभी तक जो सबसे प्राचीन ग्रथ प्राप्त हुआ है जिसमे राग का वर्णन सबसे पहिले मिलता है वह मतग का बृहद्देशी है (ई० पू० ४००)। राग का वर्णन करते हुए मतग कहते है राग पद्धति पर भरत इत्यादि ने कुछ नही कहा; इसलिए मै लक्षणसहित उसका वर्णन करता हूँ।

रागमार्गस्य यद्रूपं यन्नोक्तं भरतादिभिः।
निरूप्यते तदस्माभिर्लक्ष्यलक्षणसंयुतम्॥

इससे सिद्ध होता है कि मतग के काल तक राग पद्धति का पर्याप्त विकास हो चुका था। उस समय तक तरह तरह के लोक-प्रिय देशी राग प्रचलित हो गए थे। मतग ने इन्ही देशी रागो का वर्णन करने के लिए ही बृहद् देशी नामक ग्रंथ लिखा था। अपने अपने देश मे राजा, स्त्री, बाल, गोपाल जिसको रुचि के अनुकूल गाते थे और जिससे उसका मनोरजन होता था उसे मतग ने देशी राग कहा ह।

अबलाबालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया।
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते॥

गुप्तकाल मे सगीत की पर्याप्त उन्नति हुई। प्रयाग की प्रशस्ति मे लिखा है कि सम्राट् समुद्रगुप्त संगीत का बहुत बडा प्रेमी था और इसमे उसने तुम्बरु और नारद को भी लज्जित कर दिया था—"गान्धर्वललितैः व्रीडितत्रिदशपतिगुरु तुम्बुरुनारदादेः।"

सोये हुए राजा को प्रातःकाल मागधलोग स्तुतिगान करके जगाते थे। रघुवश मे कालिदास ने इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। रघुवंश मे पुष्कर, वेण, वीणा इत्यादि वाद्यो का उल्लेख है तथा कई ऐसे श्लोक है जिनसे प्रकट होता है कि उस समय गीत, वाद्य और नृत्य का प्रचुर प्रचार था। उज्जयिनी मे बने हुए महाकाल के मन्दिर मे 'पटह' (नगाडा) बजाने का भी कालिदास ने उल्लेख किया है—"कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहता शूलिनः श्लाघनीयाम्"। (मेघदूत) कालिदास के ग्रथो के देखने से जान पडता है कि वह सगीत के भी पण्डित थे। भरत के नाटचशास्त्र के नियमो का उन्होने पूर्णरूप से परिपालन किया है। उनके कुछ पद्यो से यह भी पता चलता है कि गुप्तकाल मे 'जाति' का स्थान 'राग' ने ले लिया था। 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' नाटक के प्रथम अंक मे सूत्रधार नटी से गाने के लिए कहता है। नटी गाती है। फिर सूत्रधार कहता है, "आर्ये, साधु गीतम्। अहो रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रग.।" इसके अनन्तर फिर सूत्रधार ने कहा ह:—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा॥

राघवभट्ट ने 'गीतरागेण' पर अपनी टीका मे लिखा है, "गीतौ निबद्धेन रागेण।" कुछ सगीत विद्वानो का मत है कि 'सारगेण' शब्द से केवल मृग का अर्थ नही है बल्कि सारंगराग भी प्रतिध्वनित है।

भारतीय सगीत का विकास

'नारदशिक्षा' की रचना, जिसके विषय में कुछ लोगों की भ्रमपूर्ण धारणा है कि नारद की कृति है, १० और ११वीं शताब्दी की बीच में मानी जाती है। इसमें भी 'जाति' के स्थान में रागपद्धति का ही विस्तृत वर्णन है।

१२वीं शताब्दी में जयदेव नामक विख्यात संगीतज्ञ हुए जिनका 'गीतगोविन्द' जगत् प्रसिद्ध है। इसके गीतों की रचना प्रबन्धों में हुई है। प्रत्येक प्रबन्ध के विषय में यह लिखा हुआ है कि यह किस राग और ताल में गाया जायगा। उदाहरणार्थ—"अथ प्रथम प्रबन्धो मालवरागेण रूपकताले गीयते।" अथ द्वितीय प्रबन्धो गुर्जरीरागेण प्रतिमठताले गीयते'। ये प्रबन्ध स्वरलिपि में नहीं लिखे हुए हैं। इसलिए यह कहना कठिन है कि जयदेव इसको किस प्रकार गाते थे। आजकल लोग इन्हें इन राग और तालों में नहीं गाते। इतना स्पष्ट है कि जयदेव के प्रबन्ध में ध्रुव और आभोग ही प्रधान थे। उनके प्रबन्ध में उद्ग्राह, मेलापक और अन्तरा ये अवयव नहीं थे।

१३वीं शताब्दी का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ शार्ङ्गदेव द्वारा रचित 'सगीतरत्नाकर' है। 'सगीतरत्नाकर' प्राचीन ग्रन्थों में सगीत का सबसे विस्तृत ग्रन्थ है। शार्ङ्गदेव देवगिरि के यादववंश के दरबार के संगीतज्ञ थे। ग्रन्थ के देखने से जान पड़ता है इनको उत्तर और दक्षिण दोनों के सगीत का अच्छा ज्ञान था। इनके ग्रन्थ में गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का विस्तृत वर्णन है। मतग के समय तक 'जाति' का लोप हो गया था और उसका स्थान 'राग' ने ले लिया था। शार्ङ्गदेव के समय में कुछ नए राग हो गए थे जिनको उन्होंने 'अधुना प्रसिद्ध' राग कहा है। शार्ङ्गदेव ने अपने समय के प्रसिद्ध रागों को प्राचीन रागों से मिलाने का प्रयत्न किया है, पर उन्होंने स्पष्टरूप से यह वर्णन नहीं किया कि उनके समय के राग प्राचीन राग से किस प्रकार निकले अथवा प्राचीन रागों की जाति से किस प्रकार उत्पत्ति हुई। अतएव इतने बड़े ग्रन्थ में भी रागों के विकास का कोई शृंखलाबद्ध क्रम नहीं मिलता। उनके ग्रन्थ में दिए हुए रागों का समझना बहुत कठिन हो गया है और यह पता नहीं लगता कि वर्तमान रागों से इन रागों का क्या सम्बन्ध है।

उत्तरी भारत के रागों को समझने के लिए जो सबसे प्राचीन ग्रन्थ अभी तक प्राप्त हुआ है वह है लोचन कवि द्वारा रचित 'राग-तरंगिणी'। लोचन कवि ने इसके रचनाकाल को इन शब्दों में वर्णन किया है।

> भुजवसुदशमितशाके श्रीमद्बल्लालसेन राज्यादौ।
> वर्षैकषष्टिभोगे मुनयस्त्वासन् विशाखायाम्॥

'भुजवसुदशमितशाके' से पण्डितों ने १०८२ शाके संवत् निकाला है जोकि ११६२ ईस्वी सन् के बराबर है। इस ग्रन्थ के 'स्वर संज्ञा प्रकरण' देखने से पता चलता है कि लोचन कवि का शुद्ध ठाट वही था जिसे आजकल काफी कहते हैं। आगे चलकर ग्रन्थकार ने कहा है कि पहिले १६,००० राग थे, पर अब केवल ३६ राग रह गए हैं। लोचन कवि ने किस आधार पर १६,००० राग माना है इसका कुछ पता नहीं चलता। उन्होंने जिन ३६ रागों का उल्लेख किया है उनमें से ६ राग हैं और प्रत्येक राग की ६ रागिनियाँ। ६ रागों के नाम लोचन कवि ने इस प्रकार दिए हैं —

> भैरव कौशिकश्चैव हिंदोलो दीपकस्तथा। श्रीरागो मेघरागश्च षडेते हनुमन्मता॥

इस ग्रन्थ में रागों के देवात्मक चित्रों का भी बड़ा सुन्दर वर्णन है। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है —

> मेघराग।
>
> असित कमलकान्ति पीतवासा स्मितास्य,
> समदयुवतियूथानंगतन्त्र प्रवृत्त।
> वितरति किल लोके जीवन य स्वभावात,
> स जयति समुपास्यश्चातकैर्मेघराग॥

लोचन कवि ने १२ जनकमेल या ठाट दिए हैं और सब अन्य रागों को इनके अन्तर्गत दिखलाए हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है —

> भैरवी टोडिका तद्वत् गौरी कर्णाट एव च।
> केदार इमनस्तद्वत् सारंगो मेघरागक॥

श्री जयदेवसिंह

धनाश्रीः पूरवी किंच मुखारी दीपकस्तथा।
एतेषामेव संस्थाने सर्वे रागा व्यवस्थिताः॥
तत्र यद्रागसंस्थाने ये ये रागा व्यवस्थिताः।
यथा यद्रागसंस्थानं तत्तथैव वदाम्यहम्॥

उत्तरी भारत के संगीत के लिए १४वी और १५वी शताब्दियाँ वहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस समय में उत्तरी भारत के संगीत पर मुसलमान संगीतज्ञों का पर्याप्त प्रभाव पडा। कई रागों मे परिवर्तन हुआ; कई रागों की कायापलट होगई, कई नए राग वने। इसी समय से हिन्दुस्थानी और कर्णाटकी संगीत मे अधिक भिन्नता आगई। सुलतान अलाउद्दीन (१२९५-१३१६) के दरबार मे अमीर खुसरू नाम के एक प्रसिद्ध सगीतज्ञ थे। उत्तरीय भारत मे कव्वाली पद्धति की गायकी इन्होने चलाई। कहा जाता है कि जीलफ, साजगिरि, सरपर्दा इत्यादि राग इन्हीके वनाए हुए हैं। सितार, जोकि वीणा के आधार पर वना हुआ है, अमीर खुसरू का ही आविष्कार कहा जाता है।

बंगाल मे चैतन्य महाप्रभु (१४८५-१५३३) द्वारा लोकप्रिय गान सकीर्तन का वहुत प्रचार हुआ।

ग्वालियर के राजा मार्नासह तोमर (१४८६-१५२६) ने ध्रुवपद की गायकी का उत्थान कर उसे वहुत प्रोत्साहित किया। कुछ विद्वानों का मत है कि ध्रुवपद की गायकी का इन्हीने आविष्कार किया। इनके दरवार मे नायक वख्शू नाम के एक प्रसिद्ध गायक थे। राजा मानसिह की आज्ञा से 'मानकुतूहल' नाम का संगीत का एक वृहद्-ग्रंथ तैयार हुआ जिसका फक्रउल्ला ने फारसी में अनुवाद किया था। यह मार्नासह तोमर अकवर के सरदार मार्नासह से भिन्न थे।

अकवर (१५४२-१६०५) के समय मे हिन्दुस्थानी सगीत को वहुत प्रोत्साहन मिला। इनके दरवार मे वहुत से गायक थे जिनमे तानसेन सवसे अधिक प्रसिद्ध थे। कहा जाता है कि मुसलमान होने के पूर्व इनका नाम तन्न मिश्र था। इनके खानदान के लोग 'सेनिये' कहे जाते हैं। इन्होंने कई रागो मे परिवर्तन किए और कुछ राग जिनमे 'मियाँ' लगा हुआ होता है—जैसे मियाँ की टोडी, मियाँ की मल्लार—इन्हीके आविष्कार हैं। उत्तरी भारत मे आजकल जो रागपद्धति है उसपर तानसेन की अमिट छाप है। तानसेन ने 'रवाव' नाम के एक वाद्य का भी आविष्कार किया था। उनके घराने के लोग कुछ, जो 'रवाव' वजाते थे, पीछे से 'रवावियार' कहलाए और कुछ जो वीन वजाते थे वे वीनकार कहलाए। पर अकवर के ही समय मे तानसेन से वढकर एक सगीतकलाविद् थे जिनका नाम था हरिदास स्वामी। तानसेन इनके शिष्य थे। हरिदास स्वामी वृन्दावन मे रहते थे और अपने ध्रुवपद रचकर भगवान् कृष्ण को सुनाते थे। इस समय ध्रुवपद की गायकी अपनी पराकाष्ठा पर थी। इसी काल मे मीरा, सूर और तुलसी भी हुए जिन्होने अपने भजनो से मानव हृदय को अपूर्व शान्ति प्रदान की।

पुडरीक विट्ठल नाम के सगीत के एक वडे भारी पण्डित भी इसी समय मे थे। पहले वह खानदेश मे वुरहानपुर मे फर्कीरवंश के वुरहानखा के दरवार मे थे। जान पड़ता है कि इस समय उत्तरी भारत के रागों मे वहुत कुछ गड़वड़ी आगई थी। संगीतप्रिय वुरहानखाँ ने पुण्डरीक को उत्तरी भारत के सगीत को सुव्यवस्थित करने की आज्ञा दी थी। सद्रागचन्द्रोदय मे पुण्डरीक ने कहा है :—

सन्त्यस्मिन् वहुधा विरोधगतयो लक्ष्ये च लक्ष्मोदिते।
जानन्तीह सुलक्ष्मपक्ष्म विगतिं केचित्परे लौकिकीम्॥
तत्कुर्वन्तु सुलक्ष्मलक्ष्यसहितं रागप्रकाशं वुधा।
इत्युक्ते वुरहानखाननृपतौ विद्वत्सभामण्डले॥

जव अकवर ने खानदेश को १५९९ मे जीत लिया तव पुडरीक दिल्ली चले गए। इन्होने चार ग्रंथ लिखे थे :—सद्रागचन्द्रोदय, रागमाला, रागमंजरी और नर्तननिर्णय। इनको श्री वि० ना० भातखण्डेजी ने सवसे पहले वीकानेर के राज्य पुस्तकालय

से ढूढ निकाला। पुडरीक कर्णाट देश के निवासी थे जसाकि इन शब्दो से प्रकट होता है —

श्री कर्णाटजातीय पुडरीकविटठल विरचिते सद्रागचद्रोदये॥

पुडरीक का शुद्ध ठाट 'मुखारी' था जोकि दक्षिण के आजकल के कनकागी ठाट से मिलता है। उत्तरी भारत के रागो का वर्गीकरण उन्होंने अपने रागमाला ग्रथ मे राग रागिणी-पुत्र व्यवस्था के अनुकूल किया है। उनके राग ये हैं —

शुद्ध भरवहिदोलो देशिकारस्तत परम्।
श्रीराग शुद्धनाटश्च नट्टनारायणश्च षट॥

रागो के वर्णन मे इन्होंने केवल १४ श्रुतियो से और वीणा में १२ पर्दो से काम लिया है। वीणा प्रकरण से यह पता चलता हैं कि यह वीणा के तारो को 'स प स म' इस ढग से मिलाते थे। यह भी पता चलता है कि उस समय सारा सगीत केवल षडज ग्राम के आधार पर गाया बजाया जाता था।

१५५० ई० के लगभग राम अमात्य ने 'स्वरमेल कलानिधि' लिखा। इसमें कर्णाटक सगीत का बहुत ही विशद वर्णन है। १६१० ई० में दक्षिण के प्रसिद्ध पण्डित सोमनाथ ने 'राग विबोध' की रचना की। इन्होंने दक्षिण और उत्तर दोनो सगीत पद्धति के स्वरनामो का प्रयोग किया है। सोमनाथ ने रागो का जनक और जन्य भागो में वर्गीकरण किया है।

इसी काल के लगभग पण्डित व्यकटमखी ने 'चतुर्दण्डी प्रकाशिका' की रचना की। यह कर्णाटक सगीत का बहुत ही प्रसिद्ध ग्रथ है। उन्होंने १२ स्वरो का प्रयोग किया है और सब रागो को ७२ मेलकर्ताओ के अन्तर्गत वर्गीकरण किया है। उन्होंने दिखलाया है कि ७२ 'मेलकर्ता' से कम या अधिक मेलकर्ता हो ही नही सकते। उनका कहना है —

यदि कश्चिदसदुर्नीत मेलेऽभ्यस्त द्विसप्तते॥
न्यून वाप्यधिक वापि प्रसिद्ध द्वादशस्वर॥
कल्पयेमेतन्ने तर्हि ममायासो वृथा भवेत्॥
नहि तत्कल्पने भाललोचनोऽपि प्रगल्भते॥
तस्माद्यर्थकपचाद्वर्णा स्युर्मातराभिया॥
न हीयन्ते न वर्धन्ते तथा मेला द्विसप्तति॥
एव मामायतो मेला प्रोक्ता ह्यधिकसप्तति॥

जहाँगीर के समय में लगभग १६२५ मे दामोदर मिश्र ने 'सगीत-दर्पण' नामक एक ग्रथ लिखा था। इसमें उन्होंने शार्गदेव से बहुतसी बाते ली है, पर सगीतरत्नाकर की भाँति यह भी दुर्बोध हो गया है।

शाहजहाँ (१६२८-१६६६) के समय में कई सगीतज्ञ हो गए है जिनमे जगन्नाथ और लालखा प्रसिद्ध हो गए है। जगन्नाथ को कविराज की उपाधि मिली थी। लालखाँ तानसेन के घराने के थे। कहा जाता है कि एकबार शाहजहाँ ने जगन्नाथ और एक दूसरे सगीतज्ञ दीरखा को उनके तौल के बराबर रुपया दिया।

औरगजेब को तो सगीत से चिढ थी। अतएव उसके दरबार में कोई सगीतज्ञ नही रहा।

१७वी शताब्दी मे अहोबल पण्डित ने 'सगीत पारिजात' नामक एक प्रसिद्ध ग्रथ लिखा जोकि उत्तरी भारत के सगीत को समझने के लिए एक बहुमूल्य ग्रथ है। इसका १७२४ ई० के लगभग फारसी भाषा में अनुवाद हुआ था। 'सगीत पारिजात' का शुद्ध ठाट वही है जो आजकल काफी राग है। यह कर्णाटक के खरहरप्रिया ठाट से मिलता है। सगीत पारिजात में १२२ रागो का वर्णन है।

भावभट्ट नामक सगीतज्ञ भी इसी काल के है। उनके पिता का नाम जनार्दनभट्ट था जोकि शाहजहाँ के दरबार में थे और जिनको 'सगीतराज' की उपाधि मिली थी। शाहजहा की मृत्यु के पश्चात् भावभट्ट बीकानेर आगए और अनूपसिंह

के दरवार मे होगए। भावभट्ट ने 'अनूप सगीतरत्नाकर', 'अनूपविलास' और 'अनूपाकुश' नामक ग्रंथ लिखे हैं। भावभट्ट का शुद्ध ठाट 'मुखारी' है। इन्होंने सव रागो का २० ठाटो मे वर्गीकरण किया है।

मुहम्मदशाह वादशाह (१७१९) के काल मे अदारग और सदारंग दो बहुत प्रसिद्ध गायक थे। इन्होने ख्याल की गायकी को प्रोत्साहित किया। इसी काल मे शोरीमियाँ ने टप्पा का आविष्कार किया। ख्याल और टप्पा का पीछे वर्णन किया जा चुका है।

दक्षिण मे तंजोर के मराठा राजा तुलजाजी (१७६३-१७८७) अच्छे संगीतज्ञ थे। इन्होने 'संगीत-सारामृत' की रचना की थी।

उत्तर के रागों मे वहुत ही गड़वड़ी देखकर जयपुर के महाराज प्रतापसिंहदेव (१७७९-१८०४) ने प्रसिद्ध संगीतज्ञो का एक सम्मेलन किया और उन लोगो के सहयोग से 'संगीतसार' नामक ग्रथ तैयार करवाया। इसका शुद्ध ठाट विलावल है।

पटना के मुहम्मदरजा ने 'नगमाते आसफी' नामक ग्रंथ १८१३ ई० मे लिखा। यह हिन्दुस्थानी संगीत का एक वहुत ही विस्तृत और उत्तम ग्रंथ है। उनके समय मे राग-रागणी-पुत्र वर्गीकरण के सम्वन्ध मे जो प्रचलित चार मत—भरतमत, हनुमत्मत, कल्लिनाथमत, सोमेश्वरमत थे उसका उन्होने अपन ग्रथ मे युक्तिपूर्वक खण्डन किया है और यह दिखलाया है कि प्रचलित रागो का यह कोई भी वर्गीकरण ठीक नही है। उन्होने यह दिखलाया है कि राग और उसकी रागिणी मे कोई साम्य होना चाहिए, जिस किसी रागिणी को हम जिस किसी भी राग मे नही ठूंस सकते। इस साम्य सिद्धान्त के अनकूल उन्होन अपना स्वय एक वर्गीकरण दिया है। उनका शुद्ध ठाट विलावल है।

१९वी शताव्दी का कृष्णानन्द व्यास का लिखा हुआ 'सगीतरागकल्पद्रुम' नाम का एक वहुत ही प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह कलकत्त मे १८४२ मे छपा था। हिन्दी भाषा के उस समय जितने प्रसिद्ध गीत प्राप्य थे उनका इस ग्रथ मे एक वहुत ही अच्छा सग्रह है। दुर्भाग्यवश वे स्वरलिपि मे नही लिखे हुए है। अतएव उन गीतो के केवल शव्द मिलते है, स्वर रचना का पता नही चलता।

१९वी शताव्दी मे ही राजा शौरीन्द्रमोहन टागोर ने अँगरेजी मे संगीत का एक उत्तम ग्रथ लिखा जिसका नाम था *'Universal History of Music'* इनके लिखे हुए ग्रंथ कठकौमुदी, सगीतसार और यत्रक्षेत्रदीपिका भी उल्लेखनीय हैं। श्रीकृष्णधन वैनर्जी ने भी 'गीतसूत्रधार' लिखा जिसमे वहुत से ध्रुवपद और ख्याल दिए हुए हैं।

इधर पूना-गायन-समाज ने कुछ अच्छे ग्रंथ प्रकाशित किए। पण्डित विष्णु दिगम्वर पलुस्कर ने कई ख्याल, ध्रुवपद, भजन, टप्पे स्वरलिपि मे प्रकाशित किए हैं। पण्डितजी के ग्रथो की एक विशेषता यह है जो अन्य ग्रथ मे नही पाई जाती कि उन्होंने कई भजन, ख्याल इत्यादि आलाप, तान, वोलतान, सरगम, लयकारी इत्यादि के साथ प्रकाशित किए हैं। इनसे यह पता चलता है कि २०वी शताव्दी के गायक की गायनशैली क्या है, एक राग का पूर्ण विस्तार किस प्रकार होता है, उसको किस प्रकार सजाते है। आधुनिक गायनशैली का क्रियात्मकरूप से ऐसा पूर्ण चित्र अन्यत्र कही नही मिलता।

पण्डित वि० ना० भातखण्डे आधुनिक युग के वहुत वड़े सगीत-शास्त्री हुए हैं। इन्होने इस विद्या के पुनरुद्धार के लिए अथक परिश्रम किया है। इन्होने पण्डित व्यकटमरवी के मेलकर्ता के आधार पर हिन्दुस्थानी रागो का ठाठो मे वर्गीकरण किया है और उत्तरी भारत के सगीत को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। चतुर पण्डित के उपनाम से इन्होने सस्कृत मे 'लक्ष्य सगीत' नाम के एक वहुत ही उपयोगी ग्रथ की रचना की है। इसके अतिरिक्त इन्होने भिन्न भिन्न स्थानो से संग्रह कर 'हिन्दुस्थानी सगीत पद्धति' क्रमिक ६ भागो मे सहस्रो ख्याल, ध्रुवपद, धमार, तराने इत्यादि प्रकाशित किए हैं। हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति नामक ग्रंथ के चार भागो मे (जिनमे लगभग २,५०० पृष्ठ हैं) इन्होने सगीतशास्त्र के मुख्य सिद्धान्तो का वहुत ही पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। इन ग्रथो के आधार पर आगे विचार किया जा सकता है और जो

कुछ कमी दिखलाई दे उसकी पूर्ति हो सकती है। कदाचित् किसी भी विद्वान् ने आज तक एक जीवनकाल में संगीत की इतनी सेवा न की होगी जितनी पण्डित भातखण्डेजी ने की है।

हैदराबाद निजाम के यहाँ के संगीत विद्वान् पण्डित अप्पा तुलसी ने 'संगीत कल्पद्रुमांकुर' नामक ग्रंथ लिखा है जिसमें उन्होंने श्री भातखण्डे के लक्ष्य संगीत की मुख्य बातों को अपने ढंग से संस्कृत श्लोकों में लिखा है। उन्होंने संस्कृत में 'रागचंद्रिका' नामक एक और ग्रंथ लिखा है। संस्कृत न जाननेवालों के लिए उन्होंने हिन्दी में 'रागचंद्रिकासार' लिख दिया है।

श्री भातखण्डेजी के 'लक्ष्य संगीत' और 'हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति' में भारतीय संगीत के विकास का बहुत ही विशद वर्णन मिलता है। भविष्य में रचनात्मक कार्य करने के लिए इन ग्रंथों से बहुत सामग्री मिल सकती है।

नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्॥—संगीतरत्नाकर।
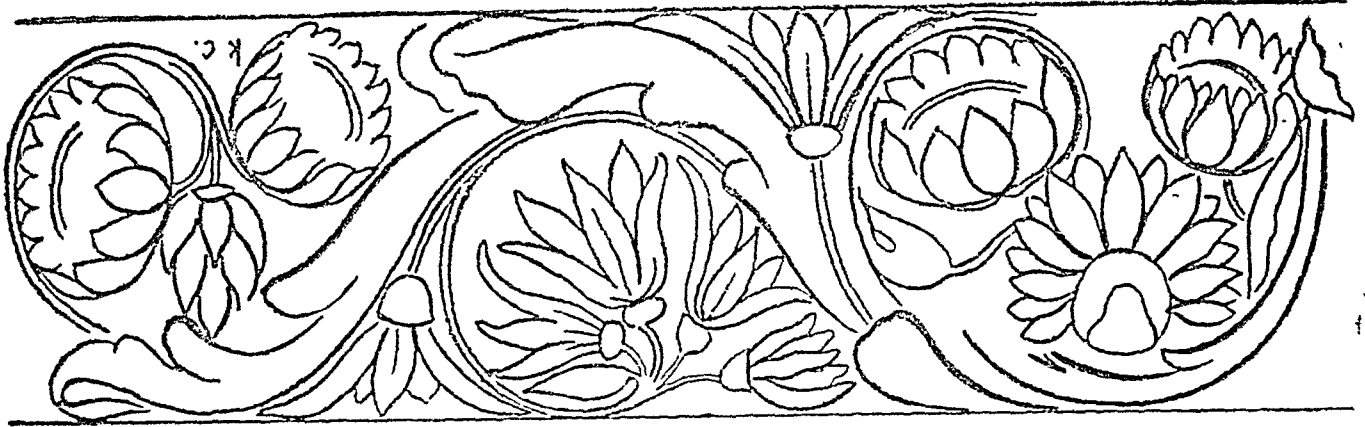
भारतीय दर्शन : एक दृष्टि

श्री धर्मदेव शास्त्री दर्शन केसरी, पंचतीर्थ

भारतीय दर्शन के सम्बन्ध मे विचार करते समय एक वात को ध्यान मे रखना चाहिए। भारत की प्राचीन व्यवस्था मे विचारो मे स्वतंत्रता और आचार मे परतंत्रता का सिद्धान्त सर्वमान्य रहा है। "तुम क्या मानते हो?" इसपर सामाजिक स्थिति निर्भर नही, "क्या करते हो?" इस प्रश्न के उचित समाधान पर ही धर्म, नीति और सामाजिक दर्जा निर्भर है। विचारो मे स्वतत्रता और आचार मे परतंत्रता के इस स्वर्ण नियम के कारण ही हमारे देश मे उच्चतम दार्शनिक विचारो को स्वतत्र वायुमण्डल मे विकसित होने का अवसर मिला है और साथ ही आचार की सुरक्षा के कारण बुरे से बुरे समय मे भी जातीय सदाचार का मानदण्ड सन्तुलित रहा है। आर्यजाति, आर्य संस्कृति और आर्य आचारशास्त्र मे उक्त सिद्धान्त का प्रमुख स्थान है इसीलिए कालचक्र मे यह अमर रहे है।

आर्य-धर्म और सैमेटिक धर्म मे भेद करनेवाली यही रेखा है। आर्यधर्म मनुष्य को विचार करने मे पूर्ण स्वतत्रता देता है पर आचरण मे पूर्ण अंकुश को समाज के लिए आवश्यक समझता है। जवकि सैमेटिक धर्म इससे सर्वथा उलटा है।

विचार स्वातत्र्य की मान्यता के विना दर्शन का जीवन ही नही रह सकता। भिन्न भिन्न दर्शनों का समान रूप से हमारे देश मे विकास हुआ है, ईश्वर की सत्ता से इन्कार करनेवाले और ईश्वर के अतिरिक्त अन्य पदार्थ की सत्ता से ही इन्कार करनेवाले दोनो को भारतीय व्यवस्था मे समान आदर मिला है। मेरा मत है कि आचार की मान्यता के साथ विचार-स्वातत्र्य के उक्त सिद्धान्त को धीरे धीरे कम महत्त्व दिया जाने लगा है, वर्ण व्यवस्था की समाज-व्यवस्था जिस दर्जे तक जातिपाँति में परिणत होती गई है उसी दर्जे तक व्यवहार मे विचार करने का अधिकार मनुष्यमात्र का न समझा जाकर सीमित होता गया है। इसके साथ ही धीरे धीरे आचार का अर्थ सामाजिक रूढ़ियाँ ही समझा जाने लगा है। परिणाम आज स्पष्ट है—देश और जाति टुकड़े टुकड़े हो गई है, आचार और शुद्धता के नाम पर मनुष्यो को अस्पृश्य समझ लिया गया है। परन्तु एक चीज अब भी ऐसी है जो देश के मानसिक स्तर को ऊँचा करने मे समर्थ है वह है हिन्दू धर्म और भारतीय दर्शन का लचकीलापन। हिन्दू धर्म और दर्शन ने यह कभी दावा नही किया कि सत्य का अन्तिम रूप उसे ही प्राप्त है।

धार्मिक और दार्शनिक मे जो वात कभी नही होनी चाहिए वह प्रायः धर्मो मे घर कर लेती है। परिणामस्वरूप धम एक मत का रूप धारण कर लेता है, वह वुराई है आग्रह वुद्धि "जो कुछ सत्य है वह अमुक धर्म मे ही है" तथा "सत्य का इसके वाद कोई स्वरूप नही" यह दो धारणाएँ मनुष्य की जन्मसिद्ध विचार-स्वतंत्रता को न मानने का आधुनिक रूप ह।

हिन्दू दर्शन विकासशील दर्शन है। उसने कभी यह दावा नही किया कि अव दार्शनिक विकास समाप्त हो गया है। उपनिषद् का ऋषि (दार्शनिक, ऋषि और दार्शनिक दोनो शब्दो का धात्वर्थ समान है) स्पष्ट कहता है—"जो कहता है कि मै उसे (पूर्णरूप से) जानता हूँ, वह नही जानता।"

भारतीय दर्शन : एक दृष्टि

भेद में अभेद—भारतीय दर्शन की रूपरेखा निश्चित करते समय यह भी देखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों के हृदय में कौनसा समान सूत्र काम कर रहा है ? विचार करने पर प्रतीत होगा कि वह समान सूत्र है 'भेद में अभेद दर्शन'। इसी समान सूत्र के कारण ही विभिन्न प्रतीत होनेवाले दर्शन भी एक माला में पिरोये हुएसे प्रतीत होते हैं। दर्शन का अध्ययन किए बिना ठीक ठीक समाज व्यवस्था का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्येक समाज व्यवस्था एक सुदृढ़ दर्शन पर अवलम्बित रहती है। जिस व्यवस्था के पीछे दर्शन नहीं वह टिक नहीं सकती, मनुष्य सामाजिक प्राणी है समाज का आधार अभेद समानता ही हो सकता है। इसीलिए हमारा पक्का विश्वास है कि मानव-समाज की सामाजिक व्यवस्था का आधारभूत दर्शन भारतीय दर्शन ही हो सकता है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि भारतीय दर्शन मनुष्य को ससीम से असीम की ओर, सान्त से अनन्त की ओर, अनेक से एक की ओर नहीं ले जा रहे अपितु ससीम में ही असीम का, सान्त में अनन्त का और अनेक में एक का दर्शन करने की प्रेरणा कर रहे हैं। उपनिषद् का ऋषि कह गया है —

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति॥

अर्थात् वह मृत्यु से मृत्यु की ओर ही जा रहा है जो विश्व में भेद-नाना-अनेकता विरोध का दर्शन करता है।

गीता का अमर सन्देश सुनानेवाले योगेश्वर कृष्ण ने भी यही कहा है —

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

जो सांख्य और योग को एक (भेद में अभेद) देख रहा है वही चक्षुष्मान् है। जिस राष्ट्र का दर्शनसूत्र 'भेद में अभेद' होगा वह सदा विकासशील ही होगा, परन्तु हमारे देश का दुर्भाग्य यही है कि भारतीय दर्शन का समाज-व्यवस्था के साथ धीरे धीरे सम्बन्ध कम होता गया है। भेद में अभेद दर्शन का ही फल है कि भारतीय आचार्यों ने संकीर्ण राष्ट्रवाद से परे समूची पृथ्वी को ही एक राष्ट्र ('पृथ्वी राष्ट्रम्' पृथ्वी सूक्त अथर्ववेद) वसुधा को कुटुम्ब ("वसुधैव कुटुम्बकम्") तथा मनुष्यमात्र को भाई भाई (सभ्रातरः यूयम्, ऋग्वेद) समझा है।

उपसंहार—भारतीय दर्शन मनुष्य को व्यापक दृष्टि से दर्शन का सन्देश देता है। समूचा विश्व एक ही सत्य से ओतप्रोत है। जीवन का कोई पहलू सर्वथा पृथक् नहीं। जीवन का समग्र दर्शन किए बिना मनुष्य को सन्तोष नहीं हो सकता। मनुष्य के पास अपने भावों और विचारों को व्यक्त करने के जो भी साधन (भाषा, कला आदि) हैं वे अपूर्ण हैं पंगु हैं, इसलिए सत्य के अन्तिम दर्शन का कभी दावा न करो।

भारतीय दर्शन मानवता का दर्शन है क्योंकि इसका विकास उन्मुक्त वातावरण में हुआ है।

आइए विक्रम द्वि-सहस्राब्दी के पुनीत अवसर पर हम सोचें कि भारतीय दर्शन जैसी अमूल्य निधि रहते हुए भी आज हम क्या अपने ही घर में पराधीन हैं। वर्तमान युग मशीनि युग है। प्रभु हमें शक्ति दे कि हम मानवमात्र तक भारतीय दर्शन के अमर सन्देश को पहुँचा सकें।
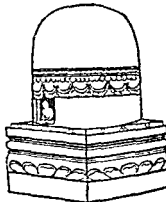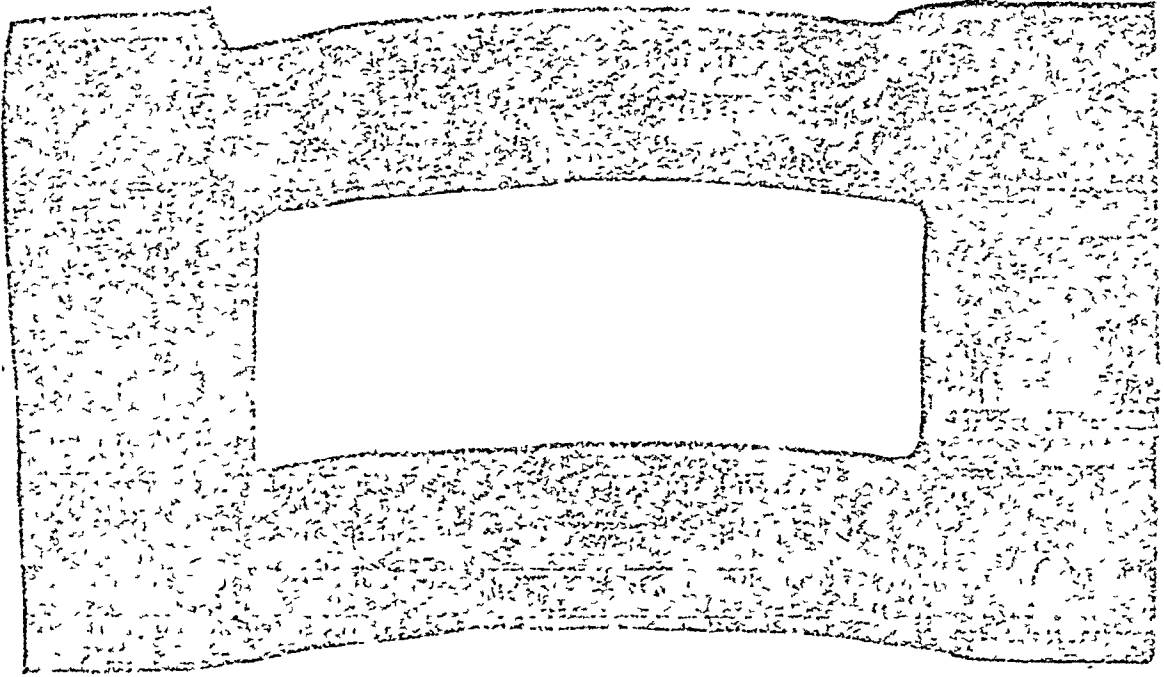
भारत की प्राचीन स्थापत्य एवं तक्षण कला

श्री नगेन्द्रनाथ घोष एम० ए०

यद्यपि यह कथन कुछ असगत प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी है नितान्त सत्य कि मूक प्रस्तर खण्डो, ईंटो और चूने-मिट्टी की कृतियों मे ग्रथो की अपेक्षा प्राचीन इतिहास और सस्कृति के अधिक विश्वस्त प्रमाण मिलते हैं। इसका कारण यह है कि मुद्रणकला के विकास के पूर्व ग्रथो के अत्यधिक पाठभेद हुए और उनमे बहुत से क्षेपक जुड गए और बहुत से अश निकल गए। इसके विपरीत कला की वे कृतियाँ जो मानव और प्रकृति के ध्वस से बच सकी वे उस काल की सस्कृति का सच्चा प्रतिनिधित्व करती है जिसमे उनका निर्माण हुआ। लेकिन प्राचीन भारत की मूर्तियाँ हमे बहुत ही परिमित संख्या मे मिली है और इसके विपरीत उस समय का साहित्य-भाण्डार बहुत विस्तृत है। साथ ही जहाँ हमारा साहित्य प्राचीन इतिहास की पूर्वतम धुधली सीमा तक की अनुश्रुति को सचित किए है, स्थापत्य एव तक्षणकला के उदाहरण ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी के पहिले के प्राप्त नही हुए है। मोहन-जो-दरो एव हडप्पा के उत्खनन मे प्राप्त प्राग्-आर्यकालीन सामग्री को एक पृथक वर्ग मे मानकर यदि विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि अशोक के पूर्व के प्रस्तर निर्माण के उदाहरण आज बहुत थोडी सख्या मे प्राप्त है। परखम और पटना की विशाल प्रतिमाएँ, चित्तौर के पास नागरी मे प्राप्त वासुदेव-सकर्षण मन्दिर की प्राचीर के अवशेष, राजगिरि मे प्राप्त 'जरासध की बैठक' नामक प्रस्तर-निर्माण, पिपरावा स्तूप मे प्राप्त विशाल प्रस्तर-भाण्ड और कोल्हुआ का प्रस्तर-स्तंभ वे कतिपय अवशेष है जो अशोक के पूर्व के है।

इसके दो कारण है। प्रथम तो यह कि अशोक के पूर्व लोग अपनी कला-कृतियों मे पत्थर के बजाय लकड़ी का उपयोग करते थे। वे स्थापत्य एवं तक्षणकला जानते थे इसमे कोई सन्देह नही है। अशोककालीन भूमिस्तर के नीचे प्राप्त हुए लकड़ी के महल के अवशेष इसके प्रमाण है। प्राचीन भारतीय स्थापत्य के मान्य विद्वान् फरगुसन ने लिखा है 'पत्थर के प्राचीनतम निर्माणो मे लकड़ी के काम के जोड़ और ढाँचो का अनुकरण मिलता है उससे प्रमाणित है कि उनके पूर्व लकडी के भवनो का अस्तित्व था। प्रारंभिक वैदिक साहित्य मे इस बात के प्रमाण मिलते है कि उस समय के समाज में बढई, लुहार, कुम्हार, बुनकर आदि उपयोगी वस्तुएँ बनानेवालो के अतिरिक्त कलाकार, चित्रकार, सुनार, लकड़ी और हाथीदाँत पर खुदाई का काम करनेवाले भी थे। मौर्य एव शुंगकाल के प्रस्तर पर तक्षण का कार्य करनेवाले जिन्होने सुन्दर

अशोकीय स्तम्भों का निर्माण किया तथा भरहुत एवं साँची के तोरणों पर मनोरम अर्धचित्र बनाए इन कलाओं में नौसिखिये नहीं थे। उनकी कृतियों को देखते हुए यह स्पष्ट है कि यह कृति ऐसे कलाकारों की है जो अपने कार्य में दक्ष थे। उन्होंने केवल माध्यम बदल दिया, लकड़ी के स्थान पर पत्थर पर तक्षण का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस न्यूनता का दूसरा कारण यह है कि बौद्ध युग के पूर्व निर्माण कला को धर्म से कोई प्रेरणा नहीं मिली। निर्माणकला धर्म की अनुगामिनी रही है। बुद्ध के पूर्व वैदिक एवं ब्राह्मण धर्म में देव पूजा मूर्तियों द्वारा न होकर आश्रमों में जलनेवाली यज्ञ की अग्नि से होती थी। यदि उस काल में भी धर्म द्वारा स्फूर्ति मिलती तो देव प्रतिमाएँ अथवा उनके लिए मन्दिरों के निर्माण करने के स्थायी साधन जुटा लिए जाते।

चैत्य—पाली वाङ्मय और प्राचीन बौद्ध अवशेष यह प्रकट करते है कि पूर्वीय भारत, विशेषतः विदेह, मगध और अंग में एक प्राचीनतम धर्म का अस्तित्व था जो वैदिक धर्म की अपेक्षा स्थापत्य एवं तक्षण कलाओं को अधिक प्रोत्साहक था। इस धर्म का मुख्य अंग चैत्य की पूजा करना था। अंगुत्तर निकाय में बुद्ध ने लिच्छवियों की उन्नति के लिए सात बातें बतलाई है जिनमें एक यह भी है कि जब तक वे उनके नगर के बाहर स्थित वज्जिय चैत्यों का आदर करते रहेंगे और उनकी पूजा अर्चा करते रहेंगे तब तक लिच्छवि-वज्जियों का पतन न होगा। इसी प्रकार दीघनिकाय के महापरिनिब्बान सुत्तान्त में भी बुद्ध ने चैत्यों की पूजा लिच्छवियों की उन्नति के लिए एक आवश्यक अंग बतलाई है और वैशाली के छह चैत्यों के नाम गिनाए है —उदेन, गोतमक, सत्तम्बक, बहुपुत्त, सरन्दद तथा चपल। दिव्यावदान में अन्तिम तीन भिन्न प्रकार से दिए हुए हैं—गोतम, न्यग्रोध, चाल्पत, सप्तक (सप्राप्तक) और इनसे यह प्रगट होता है कि ये चैत्य या तो पूज्य वृक्ष थे या वृक्ष-कुंज। गोतम-न्यग्रोध चैत्य नाम से प्रकट होता है कि यह न्यग्रोध (अर्थात वट) का वृक्ष था। बहुपुत्त अथवा बहुपुत्र शब्द से ज्ञात होता है कि यह सम्भवतः पवित्र पीपल का वृक्ष था। दिव्यावदान (पृष्ठ १६४) में बुद्ध ने 'चैत्य-वृक्ष' का स्पष्ट उल्लेख किया है। भारतवर्ष में वृक्ष पूजा अत्यन्त प्राचीन है। सिन्धु-सभ्यता (ई० पू० ३०००) के अवशेषों में प्राप्त मुद्राओं पर अश्वत्थ वृक्ष का चित्र है और उस समय वह पूजनीय माना जाता था। यह प्रारम्भिक वृक्ष-पूजा ई० पू० दूसरी शताब्दी तक रही। यह भरहुत एवं साँची के स्तूपों के अर्धचित्रों से प्रमाणित है। भरहुत की वेदिका के वेष्टन के एक अर्धचित्र में एक पूज्य वृक्ष बतलाया गया है जिसके चारों ओर सिंह एवं हरिण मैत्री भाव से बैठे है। इस अर्धचित्र के ऊपर ब्राह्मी अक्षरों मे खुदा हुआ है 'मिग समदक चेत्य' (मृगों को आनन्द देनेवाला चैत्य)। इसके अर्धचित्र मे एक अन्य वृक्ष दिखलाया गया है जिसकी तीन हाथी पूजा कर रहे है। एक अन्य अर्धचित्र में एक चैत्य-वृक्ष दिखलाया गया है जिसमें से दो मानव हाथ निकल रहे है जिसमें से एक में एक पात्र है और दूसरे में जल-पात्र में से डलिया पर बैठे हुए एक मनुष्य के सिर पर जल धारा डाली जा रही है। यह हाथ वृक्ष-देवता के है और इस चित्र में धम्मपद की टीका (२, १, ६) की उस कथा का चित्रण है जिसमें हिमालय प्रदेश के कौशाम्बी को आनेवाले दो यात्रियों ने एक पीपल के नीचे बसेरा लिया था और वृक्ष देवता से जलयाचना करने पर उसे वृक्ष देवता द्वारा जल प्राप्ति हुई थी।

कोने के एक स्तम्भ के एक खंड में एक अर्धचित्र में एक वृक्ष बना है जिसकी पूजा छह हाथी कर रहे है। वेदी पर खुदा है 'बहुहथि को निगोधो नडोदे' (निडोद टीले पर स्थित बहुत से हाथियों द्वारा पूजित पीपल)। यह पीपल वृक्ष स्पष्ट ही चैत्य वृक्ष है और 'बहु हस्तिक' से प्रकट होता है कि उसकी पूजा हाथी विशेष रूप से करते थे। बहु हस्तिक जैसे वृक्ष-देव को वास देनेवाले चैत्य वृक्ष का वंशज बोधि वृक्ष है। चैत्यों से सम्बन्धित देवयोनि 'यक्ष' है। बुद्ध घोष के अनुसार चैत्य 'यक्ष-चैत्य' अथवा यक्ष का वास स्थान होता है। संयुत्त निकाय (१।१०।४१) के अनुसार मगध का मणिमाला चैत्य मणिभद्र यक्ष के वास स्थान है। एक प्राचीन जैन ग्रंथ के अनुसार 'प्रजापति' नामक एक 'मणिभद्र' चैत्य मिथिला के उत्तर पूर्व में स्थित था। आगे चैत्य पूजा ने वेदिकाओं और द्वारों को जन्म दिया जिनके द्वारा चैत्य वृक्ष के सुरक्षित रहने की कल्पना की गई। भारत की प्राचीनतम मुद्रा 'कार्षापणों' पर 'वेदिका' में घिरे 'वृक्ष' का अभिप्राय प्रायः मिलता है। चैत्य वृक्ष के चारों ओर की वेदिका के स्तम्भ, उष्णीष तथा वेष्टन उस समय लकड़ी के बने होते थे और उन पर उस नक्काशी का जन्म हुआ जिसका प्रयोग आगे स्तूपों की पत्थर की वेदिकाओं पर दिखाई दिया। शुंगान्ध्रकाल में जब लकड़ी के स्थान पर पत्थर की वेदिका बनना प्रारम्भ हुई तो लकड़ी पर की गई तक्षण-कला भी पत्थर पर उतारी गई।

मगसमदकचैत्य (पृष्ठ ७९८)

चैत्य और हाथी (पृष्ठ ७९८)

वृक्षदेवता (पृष्ठ ७९
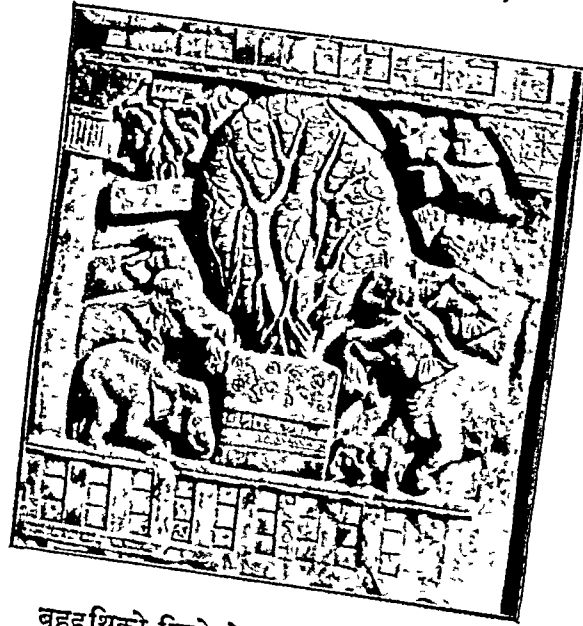
बहुहथिको निगोधो नडोदे (पृष्ठ ७९८)

यक्ष, परखम (पृष्ठ ७९९)

चामर ग्राहिणी, पटना (पृष्ठ ७९९)

यक्षी, बेसनगर (पृ
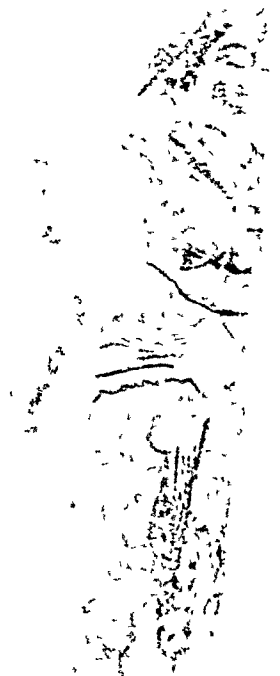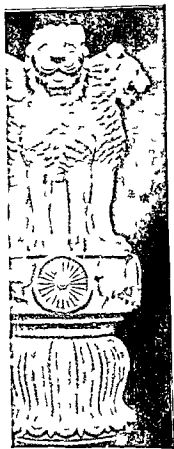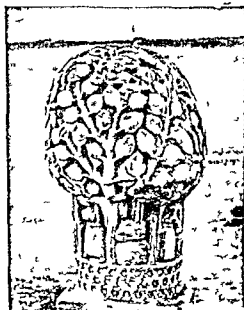
श्री नगेन्द्रनाथ घोष

स्तूप—प्रस्तर तक्षण की यह विशिष्ट कला भरहुत एवं साँची के स्तूपो मे जातक कथाओ एवं प्रकृति और मानव आकृतियो के अंकन मे विकसित हुई। स्तूप पूजा प्राचीनता मे कम से कम बुद्धकाल तक तो ले जाई ही जा सकती है। स्तूप का निर्माण मानव अस्थियो के ऊपर एक ठोस अण्डाकार बृहत् टीले के रूप मे होता है। पाली ग्रंथो के अनुसार बुद्ध के परि-निर्वाण के पश्चात् उनके फूल आठ भागो मे बाँटे गए थे जिन पर प्रत्येक भाग-गृहीता ने एक एक स्तूप बनवाया। इस प्रकार मूल मे केवल आठ स्तूप थे। दिव्यावदान के अनुसार यह सख्या अशोक ने ८४००० कर दी। इस प्रकार बौद्धो के लिए स्तूप अत्यन्त आदरणीय वस्तु है और चैत्यो के समान उसके चारो ओर भी वेदिका और द्वार बनाए जाते थे। अशोक के बनवाए हुए बौद्ध-स्तूपो मे भरहुत एवं साँची के स्तूप अत्यन्त प्रसिद्ध है जिनकी मूल काष्ट-वेदिका के स्थान पर बनी हुई प्रस्तर वेदिका एवं तोरण द्वारो पर शुग एवं आन्ध्र काल की तक्षण कला के उदाहरण मिलते है। क्रमश. यह स्तूप विहारों एव मठो से सम्बन्धित हो गए और वे चैत्य-मण्डप कहलाने लगे जहाँ भिक्षुगण पूजा करते थे। प्रारम्भ मे कारीगर पत्थर के आधार के ऊपर लकडी के ढाँचे के रूप मे अथवा पूर्णत लकडी के विहार एव चैत्य-मण्डप बनाते थे। ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ मे पश्चिमी भारत के बौद्ध एव जैनो ने ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी मे अशोक द्वारा बराबर नामक पहाड़ मे बनवाई आजीवको के गुहा निवासो के समान गुहाओ का निर्माण किया। इस गुहा के पुरोभाग मे घोड़े के नाल के आकार के तोरण ही इसके एकमात्र अलकरण है। इसमे सन्देह नहीं कि ईसवी पूर्व दूसरी एव पहिली शताब्दी के भाजा, अजण्टा, बेडसा, नाशिक एव कार्ली के चैत्य-मण्डप बराबर की लोमश ऋषि की गुहा की अनुकृति मे बनाये गये है और उनके पुरोभाग मे भी नाल के आकार के तोरण है, परन्तु उन पर मानव आकृतियाँ एव अन्य दृश्य अकित करके उन्हे अधिक सुन्दर बना दिया गया है।

चैत्य मण्डपों की रचना ईसाई गिरजो से मिलती जुलती हुई होती है। बीच मे सभामण्डप होता है। उसमे पूजा स्थल पर ठोस स्तूप होता है। यह सब या तो चट्टान को काटकर बनाया जाता है या लकडी और ईटो का बना होता है। सभा-मण्डप के चारो ओर प्रदिक्षणा पथ होता है। प्राचीन बौद्ध चैत्य मण्डपो मे सबसे बडा और समस्त भारत के भवनो मे भव्यतम कार्ली का चैत्य-मण्डप है, जिसका निर्माण ईसवी सन् के प्रारम्भ के लगभग हुआ था। यह १२४ फीट लम्बा, ४५ फीट चौड़ा और ४५ फीट ऊँचा है और आकार मे इसकी तुलना गोदिक कैथेड्रल से की जा सकती है। स्तूप ऊँचा वर्तुलाकार है, जिसमे दो वेदिकाओ के चिह्न बने है और लकड़ी का मूल-छत्र आज भी सुरक्षित है। नाशिक लेण के समान ही उसका पुरोद्वार दुमजिला है। नीचे की भित्ति में तीन द्वार है जिसके ऊपर दूसरी मजिल मे नाल के आकार की विशाल खिड़की है। दूसरी खिडकी मे खुदी हुई लकड़ी के अवशेष अभी भी प्राप्त होते है। सभा-मण्डप और प्रदक्षिणा-पथ के बीच के स्तम्भो के शीर्ष परसीपोलिटन शैली के औधे घट के रूप मे है और भित्ति-तक्षण-चित्र तथा कोर्निस का आभास देते है। पुरोभाग की नीचे की मजिल मे द्वारो के बीच बीच मे दाताओ की और बुद्ध की मूर्तियाँ बनी है।

मौर्यकला (अशोक-पूर्व)—प्रारम्भ मे ही परखम तथा पटना की मूर्तियों का उल्लेख किया गया है जिन्हे कुछ विद्वान अशोक पूर्व की मानते है और कुछ अशोक के पश्चात् की। यह तो इन मूर्तियो की शैली से ही स्पष्ट है कि यह अशोकीय नही है। यह विशालकाय प्रतिमाएँ चारो ओर कुरेदकर बनी हुई है। उनमे यथार्थ की अनुरूपता नही है जो अशोकीय स्तम्भशीर्षो की विशेषता है। प्राचीन आकृति एव अग्रगत दृष्टिकोण से बनी हुई चिपटे पार्श्वो की ये मूर्तियाँ आद्य स्वदेशीय कला की प्रतिनिधि है। सरजॉन मार्शल लिखते है कि परखम और पटना की मूर्तियाँ एकसी है और उनमे सब देशो की आद्यकला के प्रधान तत्व मौजूद है। उदाहरणार्थ पार्श्वो और पीठ का अग्र भाग की तुलना मे गौण स्थान प्राप्त करना, कानो का कुडौल अकन, ग्रीवा की भौडी बनावट, पेट का बढ़ा हुआ रूप तथा पैरो को गढ़ने के प्रयास का अभाव।

पटना मे प्राप्त चामर ग्राहिणी की मूर्ति इन मूर्तियो से बहुत समानता रखती है। डॉ० स्पूनर का मत है कि पटना की यह मूर्ति निश्चित ही स्वदेशीय है और परखम मूर्ति के निर्माणक आद्य कलाकार की कृति है जो मौर्यकालीन कलाकार के शिष्यत्व मे कार्य कर रहा था और इस मौर्य कलाकार ने इस मूर्ति को अन्तिम रूप मे सँवार दिया। इस अन्तिम-सँवारने मे मौर्य स्तम्भ के दर्शन हुए जिससे इस पर ग्रीस-पर्शियन प्रभाव झलकने लगा, परन्तु उस सीमा तक नही जिस तक अशोकीय

भारत की प्राचीन स्थापत्य एवं तक्षण कला

तथा भीतर दपण का सा ओप दिया गया है। स्पष्टत उनका निमाण उस काल की भारतीय शैली के आधार पर हुआ था।

शुग आन्ध्रकाल —सांची और भरहुत—चुनार के रेतीले प्रस्तर के मौयकालीन निमाण से हम मध्य भारत के रेतीले लाल पत्थर के निमाणो पर आते हैं जिसका उपयोग शुगो एव आन्ध्रो ने किया तथा जिसके उदाहरण सांची एव भरहुत के तोरणो तथा वेदिकाओ में मिलते हैं। विन्ध्याचल से प्राप्त इस प्रस्तर द्वारा भारतीय कला शैली म नवीन युग का सूत्र पात हुआ। सन् १८७३ में जनरल कनिघम न एक बौद्ध स्तूप के अवशेष खोज निकाले थे। इस स्तूप का आकार प्रकार सम्भवत साची के बडे स्तूप के समान ही था और ज्ञात यह होता है कि स्थानीय परिस्थितियो के कारण किए गए परिवतनो को छोडकर दोनो ही भारतीय कला के विकास की एक ही स्थिति के हैं। आज जो प्रस्तर वेदिकाएँ तथा तोरण मिले हैं वह पिछले शुग काल म बने हैं और उनका निर्माण उनसे पूव विद्यमान लकडी की वेदिकाओ एव तोरणो के स्थान पर हुआ होगा। आज जो प्रस्तर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं व इन्ही लकडी पर खोदी हुई कला के अनुकरण में बनी हैं। आरम्भ में लकडी पर कारीगरी दिखाने म सुगमता रही होगी।

बुद्ध युग के पूव भी 'स्तूप' अन्त्येष्टि से सम्बन्धित था, ऐसा उल्लेख ऊपर हो चुका है। यही बुद्ध भगवान के जीवन की अन्तिम घटना 'परिनिर्वाण' से सम्बन्धित हो गया, और उसके नीचे बुद्ध अथवा अन्य बौद्ध भिक्षुओ के अवशेष स्फटिक, स्वण अथवा अन्य किसी वस्तु के पात्र में सुरक्षित दबाए जाते हैं। भगवान बुद्ध के प्रामाणिक अवशेष तक्षशिला के स्तूप में मिले हैं। प्रारभिक बौद्ध स्तूप ईटो के अथवा ईटो और रोडो के बनते थ। बाद को व एक पत्थर को काटकर बनाए जाने लगे जिनके उदाहरण चैत्यो म मिलते हैं, परन्तु यह स्तूप स्तूपो के प्रतीक मात्र हैं। स्तूप बहुधा एक या दो चौकोर चबूतरो के (मेधि) के ऊपर बनाया जाता है, कम से कम उसके चारो ओर पटावदार प्रदक्षिणा-पथ तो होता ही है। 'मेधि' पर चढने के लिए 'सोपान' होती है। इसमें एक ठोस अण्डाकार 'गभ' होता है जो तिहरे वलयाकार आधार पर स्थित होता है। इस 'गभ' के ऊपर घनाकार 'हर्मिका' होती है जिसम धातु की यष्टि गडी रहती है। इस यष्टि पर 'छत्र' होता है। सबसे ऊपर हिंदू मंदिरो के कलश के समान 'वर्षस्थाल' होता है।

स्तूप के चारो ओर वेदिका (बाड) होती है। यह वेदिका चैत्य-वृक्ष की रक्षा के लिए बनाए जानेवाले लकडी के घेरे के समान है। भारतीय कला में बहुधा चित्रित वाले इस चैत्य वृक्ष का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वेदिका वृत्ताकार होती है और स्तूप के चारो ओर प्रदक्षिणा पथ का स्थान छोडकर बनाई जाती है। वेदिका मे सबसे नीचे 'आलम्बन' होता है उसके ऊपर स्तम्भखड होते हैं। इन स्तम्भो का सामने का भाग आयताकार होता है और एक स्तम्भ से दूसरे स्तम्भ के बीच 'सूची' होती है। यह सूचियाँ आडी तीन पंक्तियो में होती है और स्तम्भ के बगलो में गाल्डर में फँसी रहती है। स्तम्भो के ऊपर विशाल 'उष्णीष' होता है। वेदिका की सम्पूण ऊँचाई लगभग ९ फुट होती है। इस घेरे के चार प्रवेशद्वार होते हैं जिनपर बहुधा इकहरे, दुहरे अथवा तिहरे तोरण बने होते हैं।

भरहुत तथा साची दोनो ही स्थानो के स्तूपो के अत्यन्त भव्य तोरण बने थे। भरहुत स्तूप का पूर्वी तोरण २२॥ फुट ऊँचा है। वह आजकल कलकत्ते के इण्डियन म्यूजियम में सुरक्षित है। उस पर एक अभिलेख खुदा है जिससे ज्ञात होता है कि वह शुगो के काल में बना था। इसम दो खभे हैं जिनका तना अठपहलू है और अनेक स्तम्भो के मिलने से बने होने का आभास देता है। तना के ऊपर कमल या घण्टाकृति के शीष है जिनके ऊपर दो सिंह तथा दो बैल पीठ से पीठ लगाए बैठाए गए हैं। इन स्तम्भो के ऊपर तिहरे तोरण बने हैं जिनके सिरे पेचदार सवेष्टित हैं। इनके बीच आधार देने के लिए प्रस्तर लगे हैं। वेदिका तथा तोरणो की सम्पूण कल्पना इस स्थापना की पूणत पुष्टि करती है कि ये लकडी के निर्माण की प्रतिकृति हैं। वेदिका और तोरण अर्धचित्रो से अलकृत किए गए हैं जिससे दो उद्देश्यो की सिद्धि होती है, एक तो सौन्दय वधन होता है दूसरे बौद्ध यात्रियो के हृदय म वे धार्मिक भावना को जाग्रत करते हैं। किन्तु, साची के विपरीत, भरहुत के स्तम्भो का निचला भाग अनलकृत छोड दिया गया है, परन्तु शीष के ऊपर का भाग अत्यधिक अलकृत है। पूर्वीय तोरण के सिरो पर खुले हुए मुह के और पूछयुक्त ओपदार मकर बने हुए हैं। तोरण के इन सिरो का तथा मध्यभाग के बीच का

चौकोर स्थल एक ओर स्तूप तथा दूसरी ओर मन्दिर के अर्धचित्र से अलकृत किया गया है। भरहुत के प्रस्तर शिल्प मे सबसे महत्त्वपूर्ण वेदिका पर खदे अर्धचित्र है, जिनपर सम्भवत: कोई स्थान खाली नही छोडा गया है। उष्णीष, स्तम्भ, सूची सब पर उत्कीर्णक की कला के चिह्न मौजूद है। उष्णीष के बाहरी भाग मे अत्यन्त सुन्दर कमलावली बनी हुई है, जो बहुधा किसी हाथी के मुख से निकलती हुई दिखलाई गई है। भीतरी भाग मे एक लम्बी लहरदार बेल सम्पूर्ण स्थान को खनो मे बाँट देती है जिनमे सिह, हाथी अथवा अन्य पशुओ की आकृतियाँ बनी हुई है। उष्णीष के ऊपरी भाग मे बेलो की पक्ति है जिसके बीच बीच मे नीलकमल है। नीचे के किनारे पर लटकती हुई घण्टिकाओ की श्रृखला है। उष्णीष के नीचे के स्तम्भ नीचे ऊपर की दो अर्धमुद्राओ (half medallions) द्वारा तीन खनो मे बाँटे गए है, जिनके बीच मे पूर्ण मद्राएँ (full medallions) बनी है। इन स्तम्भो के नीचे बहुधा बौनी एवं कुभोदर आकृतियाँ बनी हुई है जो निर्माण का भारी बोझ उठाए हुए दिखाई गई है। तीनो सूचियो मे भी पूर्ण मुद्राएँ बनी हुई है। उष्णीष के खनो मे जातक कथाएँ अकित है और स्तम्भो पर अकित दृष्य जातक कथाओ तथा अन्तिम बोधिसत्व गौतम की जीवन-कथाओ को अकित करते है। कोने के स्तम्भो पर बहुधा मानवाकार आकृति बनी है। इन अर्धचित्रो मे से अधिकतर केवल अलकरण के हेतु बनाए गए है जिनमे अभिप्रायो की विविधता दर्शनीय है। कमलदलवेष्टित मानव शीर्षयुक्त पूर्ण मुद्राएँ बहुधा पाई जाती है, जो सम्भवत तत्कालीन धनिकवर्ग अथवा सामन्तवर्ग की प्रतिकृति है जैसाकि उनके बहुमूल्य आभरणो से प्रकट है। जिन पूर्ण मुद्राओ के बीच मे फुल्लकमल है उनमे सपक्ष सिह, सूड मे कमल लिए हुए हाथी, एव नाग-फण आदि अभिप्राय भी है। कभी कभी मकर, मधु-चूषक मयूर किसी व्यक्ति के मुख से निकलता हुआ पुष्पयुक्त वृक्ष आदि अभिप्राय भी पूर्ण मुद्राओ मे बने होते है। इन अर्धचित्रो के कुछ अभिप्राय धार्मिक है, उदाहरणार्थ मगलघट जो प्राचीन मुद्राओ पर भी प्राप्त है। एक पूर्ण मुद्रा मे एक अत्यन्त सुन्दर आकृति कमलासना देवी की है जिसके दोनो ओर एक एक कमल निकलता हुआ दिखाया गया है जिनपर एक एक हाथी खड़ा है। हाथी सूड मे एक एक पात्र लेकर देवी पर जल डाल रहे है। यह देवी या तो कुमारस्वामी के मतानुसार ऋग्वेद के श्रीसूक्त मे वर्णित लक्ष्मीदेवी है या फिर मजुमदार के मतानुसार मातृका है। परन्तु फूशे ने इसकी गौतम-जननी माया से अभिन्नता स्थापित की है जो ठीक नही है। बुद्ध-मात को देव-श्रेणी मे कभी स्थान नही दिया गया। भरहुत-वेदिका के कोने के खभो मे यक्ष एव यक्षणियो एवं नागो के मानवाकार अर्धचित्र है। यह अर्धचित्र बहुत गहरे खुदे हुए है जो लगभग चारो ओर कुरेदकर बनाई गई मूर्तियो जैसे है।

यह स्मरणीय है कि वेदिका के अर्धचित्र जातक कथाओं का चित्रण करते है जिनमे बोधिसत्व गौतम तथा बुद्ध की जीवन कथाएँ अकित की गई है। बुद्ध की जीवनी के चित्रण मे तथा गत को मानवाकृति मे नही दिखाया गया, उसको केवल बोधि-वृक्ष धर्म-चक्र, वज्रासन आदि प्रतीको द्वारा दिखाया गया है। उसके नीचे उत्कीर्ण अभिलेखो से यह स्पष्ट है कि ये प्रतीक स्वय बुद्ध के लिए है। परन्तु यह प्रतिबन्ध केवल बुद्ध तक ही सीमित है, बोधिसत्वों को मानव रूप मे दिखाया गय है। उदाहरणार्थ वेस्सन्तर को मानवरूप मे दिखाया गया है। माया के स्वप्न का दृश्य तथा जेतवन दृश्य कथा-दृश्यो मे अनुपम है।

साँची मे मौर्य, शुग एव पहिले आध्र-काल की कला के उदाहरण मिलते है। अभिलेखयुक्त सुन्दर सिह शीर्षयुक्त स्तम्भ तथा मूल स्तूप (न० १) जो ईंटो और लकडी की वेदिका का बना था मौर्यकला के उदाहरण है। यह वेदिका पीछे पत्थर की बना दी गई थी। स्तूप न० २ तथा ३ और उनकी वेदिकाएँ, स्तूप न० १ का बढा हुआ अग तथा भूमिस्तर पर बनी सादा वेदिका शुगकाल की कृतियाँ है। स्तूप न० १ तथा ३ के तोरणद्वार पहिले आन्ध्र-काल के है। स्तूप न० २ की वेदिका एव स्तूप न० १ तथा ३ के तोरणो पर अर्धचित्र बने हुए है। भरहुत के समान यहाँ भी बुद्ध का अकन प्रतीको मे ही हुआ है। स्तूप न० २ की वेदिका के अर्धचित्र शैली मे भरहुत के समान ही है। परन्तु इसी वेदिका मे कुछ अर्धचित्र ऐसे है जिनमे अधिक विकसित कारीगरी के दर्शन होते है। स्तूप न० १ के तोरण पर ओर भी अधिक विकसित कला दिखाई देती है। भरहुत के समान यहाँ भी इन अर्धचित्रो के विषय जातक कथाओ तथा बुद्ध-जीवन से लिए गए है। स्तम्भो पर यक्षो की आकृतियाँ बनी है ओर तोरणो के अन्त मे नग्न वृक्षकाओ की आकृतियाँ है। स्तम्भो एव तोरणो की यहाँ आकृतियाँ अत्यन्त प्राकृतिक, गतिमान एव सजीव है।

भारत की प्राचीन स्थापत्य एवं तक्षण कला

साँची की कला के कुछ उदाहरण ग्वालियर राज्य के भेल्सा नगर के पास बेसनगर (प्राचीन विदिशा) में मिले हैं। एक तो प्रसिद्ध कल्पद्रुम है जो किसी स्तम्भ का शीर्ष था। इसे सर ए० अलेक्जेंडर कनिंघम ने खोजा था और सन् १८८५ में महाराजा सिन्धे ने इस कलकत्ता संग्रहालय को भेंट किया था। लम्बे पत्ते और छोटे छोटे फलयुक्त वृक्ष गोल नलिकाकार आधार पर स्थित है जिसके नीचे एक चौकोर चौकी है जिसपर चार वृक्ष की एक बाड़ की आकृति बनी है। दूसरा उदाहरण प्रसिद्ध गरुड़ध्वज है, जिसका शीर्ष नहीं मिला है। यह हेलियोदोर ने बनवाया था जो भागभद्र नामक शुंग राज की सभा में अन्तलिकित नामक ग्रीक राजा की ओर से राजदूत था। इसी स्थल पर कल्पद्रुम के पास ही वह विशाल स्त्री मूर्ति मिली थी जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। यह मूर्ति ६ फुट ७ इन्च ऊँची है। मुख अस्पष्ट है और हाथ टूट गए हैं। वेदिका की स्त्रियों की तरह इसके सिर पर भी कनक-खचित पट्टियों का अलंकरण है। गले में अनेक हार तथा मालाएँ हैं। नीचे दो साड़ियाँ पहिने हैं जिनमें से एक नीची टखना तक गई है और एक घुटना तक। मौय ओर का पता नहीं है। यह आज ग्वालियर महाराजा की भेंट के रूप में कलकत्ता संग्रहालय में है।

अब उड़ीसा की कुछ प्रस्तर गुहाओं पर भी विचार कर लेना उचित होगा जो सभी जैन विहार हैं। उदयगिरि (उड़ीसा) एवं खण्डगिरि में इस प्रकार की गुहाएं हैं। खारवेल (लगभग ई० पू० १००) के प्रसिद्ध अभिलेखयुक्त हाथी गुम्फा में एक प्राकृतिक गुहा है। सबसे अधिक अलंकृत गुहाएँ अनन्त, रानी, तथा गणेश गुम्फा हैं जो इसी समय के आसपास बनीं। अनन्त गुहा का प्रधान अर्धचित्र हाथियों युक्त खड़ी स्त्री मूर्ति है। गणेश एवं रानी गुम्फा दो मंजिली हैं। रानी गुम्फा सबसे बड़ी और सबसे अधिक अलंकृत है। इसके अर्धचित्रों में जैन कथाओं का अंकन है परन्तु अब तक सन्तोषजनक रूप में उनका अभिप्राय नहीं जाना जा सका है। उड़ीसा के और दक्षिण में आन्ध्रों के अपने प्रदेश कृष्णा-गोदावरी के मुहाने पर अमरावती में ई० पू० दूसरी शताब्दी में एक स्तूप था। इसके अंश बहुतायत से पाए जाते हैं। उनके अर्धचित्र उथले हैं और इस प्रकार पिछले अर्धचित्रों से उनकी पृथकता पहचानी जा सकती है। अमरावती से ३० मील दूर जग्गयपेट पर एक प्राचीन स्तूप था। इस स्थल से अनेक प्राचीन महत्त्वपूर्ण अर्धचित्र मिले हैं जिनमें भरहुत शैली के कुछ घण्टाकृति खम्भे तथा सपक्ष पशु मुख्य हैं।

मथुरा शैली (कुषाणकाल) —जिस प्रकार शुंगकाल में साँची और भरहुत कला के केन्द्र थे उसी प्रकार कुषाण काल में मथुरा भारतीय कला का महान केन्द्र बन गया। मथुरा में कुषाणों के पूर्व शक-क्षत्रप काल का संवत ७२ (सम्भवत ई० सन् १५) का सिंह स्तम्भ है और अशोक पूर्व के मौर्यकाल की परखम में प्राप्त प्रतिमा है। कुषाणकालीन मथुरा की मूर्तिकला में एक नवीन दिशा दिखाई देती है जिसमें कि बुद्ध विग्रह का अंकन अधिक उल्लेखनीय है। प्रारम्भिक कुषाणकाल की बुद्ध और बोधिसत्त्व की मूर्तियों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं मूर्तियाँ या तो चारों ओर कुरेदकर अथवा बहुत गहरी कुरेदकर बनाई गई हैं, वे सीकरी के लाल रेतीले पत्थर की बनी हैं, सिर घुटा हुआ दिखाया जाता है और उसपर घुंघराले बाल नहीं बनाए जाते। जहाँ भी उष्णीष होता है प्रलम्ब होता है, भौंहों के बीच ऊर्णा तथा मूँछें नहीं होतीं, दायाँ हाथ अभय मुद्रा में उठा रहता है और बायें हाथ की मुट्ठी बँधी रहती है जो बैठी मूर्तियों में जाँघ पर रखा रहता है। यद्यपि मूर्ति पूर्णत पुरुष होती है फिर भी छाती कुछ असाधारण रूप से उभरी हुई होती है, कन्धे खुले हुए रहते हैं, आसन पर कमल नहीं होता वरन् वह सिंहासन के रूप में छोटे छोटे पारिषदों रहित होती है। खड़ी मूर्ति की दशा में सिंह पैरों के बीच में रहता है, गुप्तकालीन बुद्ध मूर्तियों के समान मुख पर शान्ति एवं सौम्यता के भाव के स्थान में पौरुष एवं शील का भाव होता है और प्रभामण्डल सादा होता है या किनारा पर हल्की खुदाई का काम होता है। यह विशेषताएँ कुषाणकाल के प्रारम्भ की जिन-मूर्तियों में भी पाई जाती हैं। बोगल के मतानुसार मथुरा-कला गंधार के किसी भी प्रकार से मेल नहीं खाती।] निश्चय ही यह विशुद्ध भारतीय कला शैली है जिसका पूर्व कुषाणकालीन यक्षों से विकास हुआ है। यह खड़ी मूर्तियों के विषय में तो पूर्णत सत्य है। बुद्ध और बोधिसत्व की खड़ी मूर्तियाँ सारनाथ के संग्रहालय में भी हैं। भारत के अन्य भागों में भी इस काल की मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए सारनाथ संग्रहालय में कनिष्क के राज्य के तीसरे वर्ष (लगभग ई० सन् ८१) में भिक्षु बल द्वारा निर्मित बोधिसत्त्व की विशाल प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है जिसका छत्र अत्यधिक अलंकृत है,

श्री नगेन्द्रनाथ घोष

पंरो के बीच मे सिंह है और मूर्ति अत्यन्त भव्य तथा शक्तिपूर्ण है। ऐसी ही एक प्रतिमा जेतवन मे भिक्षु वल द्वारा निर्मित बोधिसत्त्व की प्रतिमा इण्डियन म्यूजियम मे है। कनिष्क के राज्यकाल के दूसरे वर्ष मे निर्मित एक सुन्दर बुद्ध-प्रतिमा जिसका सिर एव एक हाथ टूट गया है, अभी हाल में कोसम मे मिली है और अव इलाहावाद संग्रहालय मे है।

भले ही प्रारभिक कुषाण प्रतिमाएँ गंधार-कला का प्रभाव प्रदर्शित नही करती हों परन्तु पिछली कुषाण मूर्तियों पर गंधार प्रभाव स्पष्ट लक्षित है जिनमे नुकीला मुकुट एवं बुद्ध जीवन के अनेक दृश्यो का अंकन मिलता है। मथुरा में कोई पूर्ण वेदिका प्राप्त नही हुई है परन्तु अनेक स्थलों पर अनेक वौद्ध एवं जैन वेदिकाओ के अंग प्राप्त हुए हैं। इनमे से प्रधान जमालपुर एवं कचहरी के टीले से निकले हुए अंश हैं, उनको कलकत्ता, लखनऊ और मथुरा के संग्रहालयों मे वॉट दिया गया है, जहाँ खुदे हुए इन अर्धचित्रो में बुद्ध, बोधिसत्त्व तथा अनेक भावभगियो मे स्त्रियो की मूर्तियाँ हैं। स्त्री मूर्तियों की विशेषता उनकी नग्नता एव वृक्ष का सामीप्य है जो साँची एवं भरहुत की यक्षियाँ एवं वृक्षकाओं की परम्परा मे ज्ञात होती हैं। हिन्दू अनुश्रुति मे वृक्षकाएँ सन्तति-विस्तार के लिए शुभ लक्षण मानी जाती थी। मालविकाग्निमित्र नाटक मे सन्तति प्राप्ति के लिए विदिशा की महारानी को अशोक वृक्ष का पूजन करते हुए वतलाया गया है। अनेक वृक्ष आज भी सन्ततिदाता माने जाकर पूजे जाते हैं। अतएव यह नग्न मूर्तियाँ नृत्तिकाएँ नही मानी जानी चाहिए जैसाकि अनेक विद्वानों ने लिखा है। कुछ अत्यन्त सुन्दर मूर्तियो मे दो मधुपान-उत्सवो के अंकन हैं। पालीखेरा नामक ग्राम में मिले मूर्तिखण्ड मे बड़े पेट का यक्षो का राजा धनपति कुवेर कैलाश पर बैठा हुआ मधुपात्र से आसव पीता हुआ वनाया गया है। उसकी पत्नी उसके दाहिनी ओर खड़ी है। कुवेर के पीछे एक पारिषद है। इस प्रकार के आसव-पायी कुवेर और उसकी पत्नी कर अंकन मथुरा कला मे बहुत मिलता है। सन् १८८८ मे माहोली मे मिला मधुपान-उत्सव का मूर्तिखण्ड कुछ थोड़े विस्तार के भेदो के अतिरिक्त पालीखेरा-मूर्तिखण्ड के समान ही है। इसमें एक मधु-मत्त स्त्री झुकी हुई दिखाई गई है जिसे एक ओर उसका स्वामी सहारा दिये है दूसरी ओर कोई लड़कीसी है। सेविका अपने वाये हाथ मे चषक लिये है। पीछे एक हिजड़ा सेवक खडा है। यह सारा दृश्य एक पुष्पयुक्त अशोक वृक्ष के नीचे वना है जिसके शीर्ष पर चषक वना हुआ है, जो आनन्द एव उल्लास से भरे हुए जीवन-चषक का प्रतीक है। मथुरा के कलाकार ने अनेक एव विभिन्न विषयो को उत्कीर्ण किया और उसका विस्तार पूर्व-मौर्य-काल से गुप्त काल तक है, यद्यपि उसका पूर्ण विकास काल कुषाणों के समय मे था। मथुरा के कर्जन म्यूजियम मे हमें प्रत्येक प्रकार की प्राचीन वस्तुएँ मिलती हैं जिनमे खडे एव बैठे बोधिसत्त्वों, नागी-नागों, यक्ष-यक्षियो कुवेरों, मधुपायी मूर्तिखण्डो, राजाओ की मूर्तियो, ब्राह्मण-धर्मी देवी-देवताओ की मूर्तियो से लेकर स्तम्भ एवं स्तम्भ-शीर्ष तक हैं।

गंधार कला—वह कला शैली जो ईसा के पूर्व लगभग दूसरी शताब्दी मे उत्तर-पश्चिम भारत मे प्रकट हुई गंधार शैली कहलाती है। प्राचीनकाल मे गंधार पेशावर जिला और उसके आसपास के कुछ प्रदेश को कहते थे। उसके दो प्रधान नगर पुरुषपुर (वर्तमान पेशावर) तथा पुष्कलावती (वर्तमान चारसद्दा) थे और साथ ही वर्तमान हजारा तथा रावलपिण्डी एवं टक्सिला (प्राचीन तक्षशिला) भी इस प्रान्त मे कभी कभी सम्मिलित माने जाते थे और इस कला-शैली के प्रभाव-क्षेत्र मे थे। गंधार के उत्कीर्णक एक नीले प्रकार का प्रस्तर जिसे 'चिश्त' कहते है उपयोग मे लाते थे; साथ ही मट्टी तथा चूना (Stucco) का भी प्रयोग करते थे। पत्थर पेशावर जिले के उत्तर मे स्थित स्वात तथा बुनेर की खदानो से लाया जाता था। चन्द्रगुप्त मौर्य के काल मे गाधार उसके राज्य मे सम्मिलित था और तक्षशिला उसकी प्रान्तीय राजधानी थी। ईसा के लगभग दो शताब्दी पूर्व वाख्त्री के ग्रीक राजाओ ने उसे जीत लिया। तक्षशिला मे प्राप्त ताँवे और चाँदी की मुद्राओ से तीस ग्रीक राजाओ के नाम ज्ञात हुए है। यह मुद्राएँ बनावट एव प्रकार मे पूर्णतः ग्रीक हैं। ईसा के पूर्व पहिली शताब्दी से ईसा के पश्चात् पहिली शताब्दी के वीच तक्षशिला ग्रीको से छीनी जाकर शको के अधिकार मे रही, जो मध्य एशिया की अनिकेत जाति थी। इस वंश के प्रथम राजा मेयुस तथा उसके उत्तराधिकारियो ने ग्रीक शैली के सिक्के तो प्रचलित किए परन्तु उनमे भारतीय सास्कृतिक प्रभाव भी सम्मिलित कर दिया। भारतीय देवी लक्ष्मी एजिलिस की मुद्राओ पर उसी रूप मे मिलती है जिस रूप मे वह भरहुत मे मिलती है। सिथोपार्थियन राजा गण्डोफेरिस की मुद्राओ पर शिव एवं नन्दी विराजमान है। सिथोपार्थियनो के पश्चात् गंधार पर कुषाणों का राज्य हुआ। इन्होने भारतीय संस्कृति

को और अधिक अपनाया। इस वंश के तीसरे राजा कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और वह उसका प्रबल प्रचारक बन गया। शक और कुषाण ईरानियों, ग्रीकों, रोमनों और भारतीयों के सांस्कृतिक ऋणी थे। कनिष्क एवं हुविष्क की मुद्राओं पर केवल बुद्ध की मूर्ति ही नहीं है वरन् जोरोस्ट्रियन, हिन्दू एवं ग्रीक देवताओं की भी मूर्तियाँ हैं। कुषाणों का गांधार पर ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी से ईसवी पांचवीं शताब्दी तक राज्य रहा जबकि उत्तर भारत पर हूण लोग हमले करते रहे थे।

जैसाकि उसके इतिहास से विदित है, भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर स्थित गांधार प्रान्त स्वाभाविक रूप में भारतीय, ग्रीक एवं पारसीक सभ्यताओं का मिलन-स्थल बन गया और परिणामतः एक मिश्र संस्कृति का सूत्रपात हुआ जिसने समाहृत कला शैली को जन्म दिया। इस कला के विषय एवं अभिप्राय भारतीय हैं परन्तु निर्माण शैली विदेशी है। गांधार की बौद्ध मूर्तियां शैली में भारतीय मतिविज्ञान का अनुसरण करती है, और गांधार के कलाकारों का मुख्य आधार बुद्ध की जीवन कथा है। जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है भारत में उससे पूर्व बुद्ध भगवान की मानवाकृति न बनाई जाकर उनका अंकन प्रतीकों द्वारा किया जाता था। गंधार में बुद्ध विग्रह के अंकन का सर्व प्रथम दर्शन होता है। यहाँ पर बुद्ध मूर्ति का जो विकास हुआ उसका अनुसरण अफगानिस्तान, मध्य एशिया, चीन, जापान तथा एशिया के अन्य द्वीपों में किया गया। गांधार में बुद्ध के साथ साथ कुछ बोधिसत्वों की, मूर्तियां बनीं। जिनमें अवलोकितेश्वर, मंजुश्री तथा मैत्रेय प्रधान है, यह मूर्तियां बैठी तथा खड़ी दोनों प्रकार की मिलती हैं। बैठी हुई मूर्तियां भारतीय योगी की ध्यान-मुद्रा युक्त है। यह पूर्णत भारतीय कल्पना है। योगमुद्रा भारत के बाहर अज्ञात है। खड़ी मूर्तियां का समान रूप सांची एवं भरहुत के यक्षों में प्राप्त है। उष्णीष बुद्धगया में उस समय प्रचलित था तथा कमलासन भारत में स्थिर सुख की प्रतीक है और सांची में प्राप्त है। उन पर प्राप्त मुद्राएँ विशेषतः अभय तथा ध्यान मुद्राएँ भारतीय है। उनकी निर्माण-शैली अवश्य ग्रीक है। गंधार में ग्रीक अपालो को भारतीय बुद्ध का रूप नहीं दिया गया वरन् बुद्ध को अपोलो के सांचे में ढाला गया है। भले ही गंधार के कलाकार ने किसी भारतीय मूर्ति का अनुकरण न किया हो, परन्तु उसकी कृतियाँ भारतीय अनुश्रुति एवं शास्त्र पर आधारित अवश्य है।

भरहुत एवं सांची के समान गांधार मूर्तियों में जातकों की तथा बुद्ध का जीवन-कथाएँ भी अंकित की गई है। अब तक श्यामजातक, छान्दजातक, दीपंकरजातक, वेस्सन्तरजातक, सिविजातक, ऋष्यश्रृंगजातक की कथाएँ पहचानी जा सकी है। दीपंकरजातक संस्कृत के दिव्यावदान की कथा के अनुसार है नकि पाली ग्रंथों के आधार पर। गौतम शाक्य मुनि के जीवन से परिनिर्वाण तक की कथाओं के अंकित गांधार मूर्तियों की विशेषता है। माया देवी का स्वप्न, उनका कपिलवस्तु से प्रस्थान गौतम शाक्यमुनि का जन्म, सप्तपदी, प्रथम-स्नान कपिलवस्तु को प्रत्यागमन, असित की भविष्य वाणी, पाठशाला में वाजिसूत बुद्ध विवाह, राजमहल का दृश्य, महाभिनिष्क्रमण तथा विदा, सिद्धार्थ का मिलन कुटी-वासी से वस्त्रग्रहण, तपस्या, कालिक नागद्वारा पूजा, घास का गट्ठा प्राप्त करना, सम्बोधि प्राप्ति, मार-विजय, क्षीर-पान, देवताओं का धर्म प्रचार का आग्रह, प्रधान व्याख्यान, कपिलवस्तु को प्रत्यागमन तथा राहुल की दीक्षा, नन्द तथा सुन्दरी की कथा देवदत्त के आदमियों द्वारा बुद्ध पर आक्रमण, नीलगिरि हाथी को वश में करना—ज्योतिष्क का अवतरण, आनन्द को सान्त्वना, शक्र का आना आदि ऐसे दृश्य है, जिनके अध्ययन से पूर्ण बुद्ध-जीवन अवगत हो सकता है। इन दृश्यों में प्रदर्शित कला अनेक श्रेणियों की है। सर्वमत में इनमें सर्वोत्तम बुद्ध-जन्म का दृश्य है। इसकी एक प्रतिकृति लुम्बिनी के मन्दिर में भी है, परन्तु वह बहुत घटिया है। गंधार के मूर्तिखण्ड में मायारानी शालवृक्ष के नीचे उसकी एक शाखा को पकड़े खड़ी है। उसके पास उसकी बहिन महाप्रजापति है, उसके पास एक स्त्री शंख बजा रही है। देवता बालक माया की कुक्षि से जन्म ले रहा है और इन्द्र एक वस्त्र फैलाकर उसे अपने हाथों में ले रहा है। नीचे बालक बुद्ध अभय मुद्रा में दायाँ हाथ उठाए खड़े है। महाप्रजापति के बाल ग्रीक शैली में बंधे है।

गांधार शैली इस देश के कला के इतिहास में एक प्रमुख एवं विशेष प्रकार की अवतीर्ण करती है। इसमें बहुत कुछ विदेशी विशेषतः ग्रीक-रोमन प्रभाव परिमाणित है, परन्तु आगे यह कला भारतीय हो गई और गुप्तकाल में भारतीय कलाकारों द्वारा पूर्णतः आत्मसात् कर ली गई।
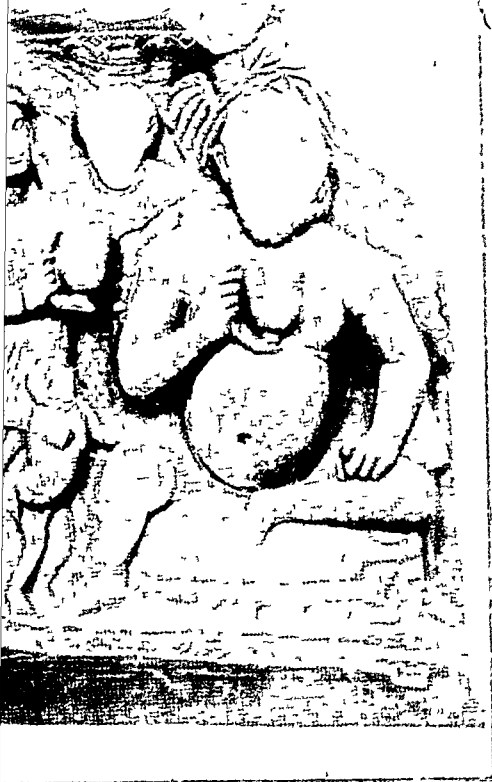
वृक्षका, साँची (पृष्ठ ८०३)

ासवपायी, कुबेर (पृष्ठ ८०५)

बुद्धजन्म (पृष्ठ ८०६)

ुरा (पृष्ठ ८०७)

बुद्ध, सारनाथ (पृष्ठ ८०७)

बुद्ध, सुल्तानगज (पृष्ठ ८०

ा (काव्य, सगीत और चित्रक ा) का समन्वय (पृष्ठ ८४५)
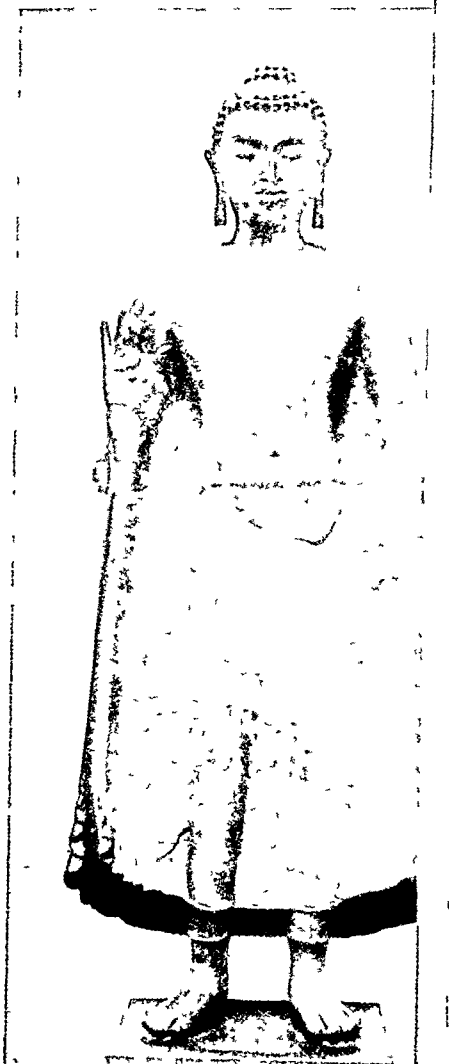
अहिल्या उद्धार, देवगढ़ (पृष्ठ ८०८)

तमालवृक्ष के नीचे राधाकृष्ण-मिलन

ागिनी चित्र (पृष्ठ ८४६)

श्री नगेन्द्रनाथ घोष

गुप्तकाल—गुप्तकालीन कला की विशेषता उसकी अभिजात श्रेष्ठता है। कुषाण-काल मे मूर्तिकला एक नवीन कल्पना थी अतएव यह प्राकृतिक है कि उस समय की मूर्तियो मे भद्दापन तथा अनुपातता की न्यूनता है। गुप्तकाल मे मूर्ति को स्थापत्य मे स्थान मिला, सौष्ठव तथा सौन्दर्य प्राप्त हुआ, निर्माण-कौशल पूर्णता को पहुँचा और मूर्तिकला भावनाओ की अभिव्यजना का सुकुमार साधन बनी। परिभाषाओ के नवीन सौन्दर्य के साथ वह भारतीय कला की अभिजात शैली की स्थापना करती है जो दृढ़ तथा शक्तिपूर्ण है और है आध्यात्मिक एवं ऐन्द्रिय। गुप्तकालीन भव्य अलकारो को समझने के लिए उस दाय पर की दृष्टि डालनी होगी जो उसे देशज, प्राचीन एशियायी, पारसीक एव ग्रीक कलाओ से प्राप्त हुआ। निर्माण शैली मे उसका सीधा सम्बन्ध मथुरा की कुषाण शैली से ही, परन्तु साथ ही उसमे गाधार शैली सहित पिछली सब शैलियों की श्रेष्ठतम विशेषताएँ आत्मसात् हुई है। गुप्तकालीन मूर्तियाँ यद्यपि कम आडबरपूर्ण है, फिर भी उनकी विशालता एव शक्ति विशेष रूप से प्रत्यक्ष है। यह शक्ति एव पौरुष आन्तरिक है और चलित की अपेक्षा स्थिर है। गुप्तकालीन बुद्ध एवं बोधिसत्व मूर्तियाँ सासारिक की अपेक्षा आध्यात्मिक है, उनके नेत्र शान्त एव भक्तिभाव पूर्ण है, और मुख पर गाधार कला की अपेक्षा बहुत अधिक आध्यात्मिक शान्ति का भाव प्रदर्शित है। गुप्तकालीन बुद्ध प्रतिमा का प्राचीनतम उदाहरण मानकुवर मे प्राप्त मूर्ति है। इसका मस्तक कुषाण-शैली के अनुसार घुटा हुआ है, परन्तु गुप्तकालीन विशेषता अर्थात् झिल्लीदार उँगलियाँ स्पष्ट दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमाओ की निम्नलिखित विशेषताएँ है—मुख पर गम्भीर आध्यात्मिक भाव, घुघराले बाल, ऊर्णा का अभाव, मुद्राओ की अनेकता, अलकृत प्रभामण्डल, अत्यन्त पारदर्शी एक या दोनो कधो को ढके हुए वस्त्र, कमल या सिंह युक्त आसन एव बहुधा दाताओ की छोटी छोटी मूर्तियाँ। यह विशेषताए मथुरा सग्रहालय की खड़ी हुई बुद्ध-मूर्ति मे, सारनाथ की बैठी बुद्ध प्रतिमा मे, सुल्तानगज की ताँबे की बुद्ध-मूर्ति मे और अजण्टा की गुहा नं० १९ बुद्ध के अर्धचित्रो मे स्पष्ट दिखाई देती है। कसिया की परिनिर्वाण की लेटी हुई मूर्ति की गुप्तकाल की विशेष मूर्ति है जिसमे पाँचवी शताब्दी का अभिलेख है, और भिक्षु हरिबल का दाता के रूप मे तथा मथुरा के दिन्न का मूर्ति के उत्कीर्णक के रूप मे उल्लेख है। अन्य बौद्ध मूर्तियो मे सारनाथ का जातककथा युक्त द्वार-प्रस्तर, कन्हेरी के द्वार-पुरोभाग के अर्धचित्र आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

गुप्तकालीन ब्राह्मण धर्मी मूर्तियो मे उदयगिरि (ग्वालियर) की वराह मूर्ति, देवगढ की पौराणिक गाथाओ युक्त मूर्तियाँ, कोसम की उमामहेश्वरमूर्ति समूह जिस पर ई० सन् ४५८।५९ की तिथि पड़ी है, सीदनी (ग्वालियर) की आकाशचारी गधर्वयुग्म की मूर्तियाँ उल्लेखनीय है।

गुप्तकालीन स्थापत्य को इन शीर्षको मे विभाजित किया जा सकता है—(१) स्तूप (२) शिलाओ मे खुदे चैत्यमण्डप और विहार (३) ईंट चूने के बने चैत्य-मण्डप (४) बिना शिखर के मन्दिर (५) शिखरयुक्त मन्दिर तथा (६) राजमहल तथा नागरिको के निवास गृह।

गुप्तकाल के स्तूपो मे सारनाथ का धमेक स्तूप बहुत प्रसिद्ध है। यह आज भी सुरक्षित दशा मे है। इसमे पत्थर का अण्डाकार गोला है जो भूमि पर ही बना हुआ है और नीचे चौकी नही है। इस अण्ड के ऊपर ईटो का गोलनलिकाकार निर्माण है। ऊचाई १२८ फुट है। चारो ओर चार प्रतिमास्थान बने हुए है जिनमे कभी बुद्ध मूर्तियाँ होंगी। इनके बीच अजण्टा की छतों के समान पुष्पो एव ज्यामितिक आकारों के अलकार है। दूसरा स्तूप राजगिरि मे जरासन्ध की बैठक का, दूसरा मीनार की बनावट का है जिसका निर्माण काल ५०० ईसवी सन् के लगभग है। गुप्तकाल की गुहाएँ अनेक है। अजण्टा की गुहा न० १६ तथा १७ लगभग ५०० ईसवी के विहार है, गुहा न० १९ चैत्य मण्डप है और लगभग ५५० ईसवी की है। विहार नं० १६ एव १७ स्तम्भोयुक्त सभामण्डप है जिनमे कोठरियाँ बनी है और पीछे की भीत मे प्रलम्बपद आसन मे (यूरोपीय ढंग मे) बैठे बुद्ध की मूर्ति है। यह आसन सर्व प्रथम यही दिखाई देती है। इन विहारो का सौन्दर्य एवं उनके निर्माण की विविधता दर्शनीय है, जहाँ कोई भी दो स्तम्भ एक प्रकार के नही है। न० १९ का चैत्यमण्डप प्राचीन रूप का अनुसरण करता है, परन्तु पुरोभाग मे बहुत अन्तर है और महायान-सम्प्रदाय की बहुतसी मूर्तियाँ भी बन गई है। पुरोभाग नाशिक के उन्नत प्रकार का है। इलेरा के विश्वकर्मा चैत्य-मण्डप का भीतरी भाग अजण्टा की गुहा न० १९ के सभामण्डप

के समान है। उसका पुराभाग अद्वितीय है जिसकी नीचे की मंजिल में अलिन्द है जिसमें घट और पुष्प के अभिप्राय बने हैं और ऊपरी मंजिल में एक वातायन है जिसके दोनों ओर बुद्ध-मूर्ति-युक्त प्रतिमा-स्थान है।

गुप्त सम्राट् ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे और उनके राज्यकाल में ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ। अनेक ब्राह्मण मन्दिरों का निर्माण हुआ जिनमें से आज भी मानव एवं प्रकृति के सहार से कुछ बच सके हैं। तिथि अनुसार यह मन्दिर दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं,—प्रारंभिक गुप्तशैली के एवं पिछली गुप्त शैली के। छोटे, चौरस छत के, एवं गर्भगृह के, प्राय सादा भीतों के सकरे बहुधा स्तम्भों युक्त सभामण्डप से घिरे हुए और बिना किसी प्रकार के शिखर युक्त मन्दिर प्रारंभिक गुप्तकालीन हैं। सांची का सुन्दर मन्दिर इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। यहाँ अलिन्द के स्तम्भ एक विशिष्ट विकास के द्योतक हैं। उनके शीर्ष भारी और चौकोर हैं और उसकी दीवार गर्भगृह के चारों ओर गई है। उत्तर भारतीय शिखर का विकास पिछले गुप्तकाल में हुआ है। गंगा की घाटी के प्रदेश में गर्भगृह और शिखर एक पयक मीनारसी बनाते हैं और वही मन्दिर का मुख्य भाग होता है, इसके सामने सभामण्डप हो या न हो। भीतरगाँव का ईंटों का मन्दिर इसका विशेष उदाहरण है। उसका आकार चौकोर है जिसके दुहरे अवकाशयुक्त कोने हैं, दुहरी कार्निस है और झुकी हुई ईंटों की दुहरी पट्टी है। दोहरी कार्निस के ऊपर कोणाकार छत है जिसमें चैत्याकार प्रतिमाधार से बने हुए हैं। ब्राह्मण धर्म की मृण्मूर्तियों से भित्तियाँ सजी हुई हैं। इस प्रकार के कुछ अधिक विकसित मन्दिर बंगाल में बाँकुरा के पास चिनपुर, मानभूमि आदि स्थलों पर मिलते हैं। ललितपुर के पास देवगढ का दशावतार-मन्दिर जो लगभग सन् ६०० ईसवी का बना हुआ है पत्थर का है। उसकी भीतें सादा हैं, केवल तीन बगलों में मूर्तियों के समूह खुदे हुए हैं जिनमें गजेन्द्रमोक्ष, शेषशायी विष्णु एवं साधुओं के दृश्य अंकित हैं। चौकी और द्वार पर गंगा-यमुना बनी हैं। कुर्सी में रामायण की कथा अंकित करनेवाले अत्यन्त सजीव चित्र बने हुए थे।

मधुगोष्ठी
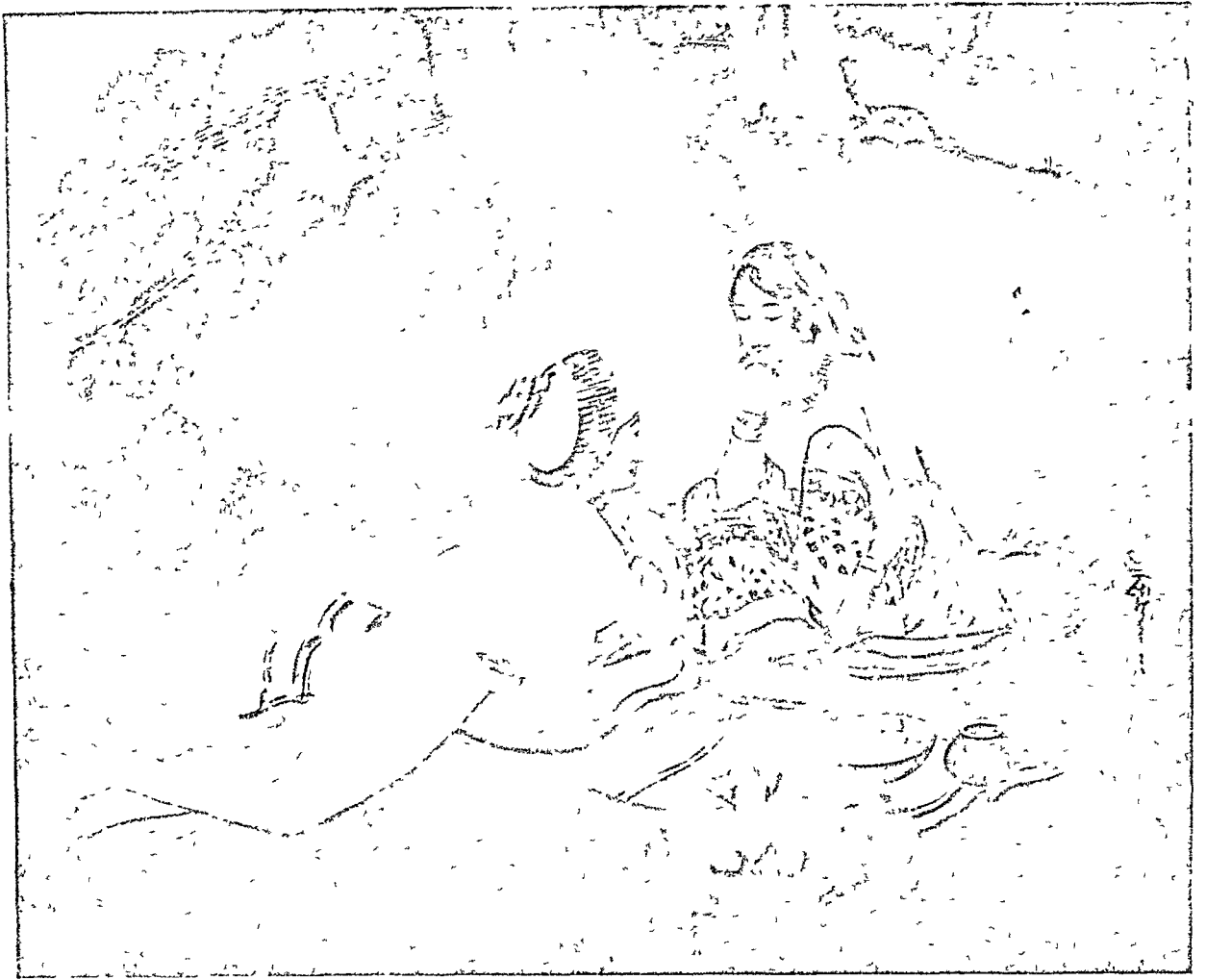
(चित्रकार—श्री सोमालाल शाह, अहमदाबाद)
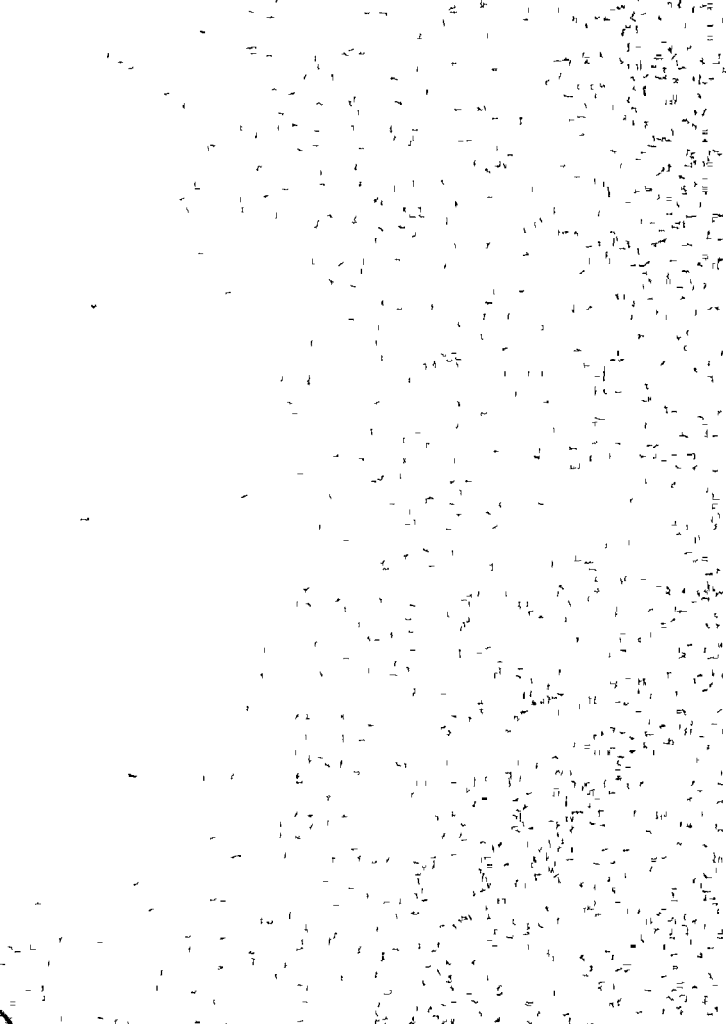
आयुर्वेद का इतिहास

श्री प्रतापसिंह कविराज, प्राणाचार्य, रसायनाचार्य, वैद्यरत्न

यज्ञ पुरुष से प्रकट होनेवाले चतुर्वेदो से आयुर्वेद पाँचवाँ उपवेद बना। आयुर्वेद चारो वेदो का उपवेद है ऐसा महर्षि काश्यप का मत है—**एवमेवायमृग्वेद यजुर्वेद सामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमो भवत्यायुर्वेदः॥ (काश्यप संहिता विमानस्थान १)**

महर्षि चरक व सुश्रुत ने अथर्ववेद का उपवेद बताया है यथा—
तत्रभिषजा पृष्टेनैवऋक् सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदेभक्तिरादेश्या। (चरक सूत्र रथा० अ० ३०)
इहखल्वायुर्वेदाष्टांगमुपांगमथर्ववेदस्य (सुश्रुत)

वैदिक साहित्य को अनुशीलन करने से भी अथर्ववेद ही अधिकतर आयुर्वेदिक साहित्य का उद्‌गम प्रतीत होता है। ऋग्वेद में इससे कुछ न्यून विवरण प्राप्त होते हैं—जिससे वेद व आयुर्वेद का घनिष्ट सम्बन्ध (उत्पादक व उत्पाद्य सम्बन्ध प्रतीत होता है। यज्ञ पुरुष ने प्रजा उत्पादन करने से पूर्व ही इसकी उत्पत्ति कर दी थी—

अनुत्पाद्यैवप्रजा आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्॥ सुश्रुत सू० अ० १॥

महर्षि काश्यप ने भी स्पष्ट कहा है यथा:—

आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्ततो विश्वानिभूतानि (काश्यप सं० पृ० ४२)

इससे इस विज्ञान की कितनी आवश्यकता थी स्पष्ट पता चलता है। प्राणिसृष्टि से पूर्व आयुर्वेद की उत्पत्ति पर जिन्हे सन्देह हो उन्हे आधुनिक क्रम से सृष्टि उत्पादन के इतिहास को जानने के बाद कोई स्थान सन्देह का नही रह सकता। डार्विन का सिद्धान्त इसका पोषक है। विकासवाद का इतिहास प्राणिसृष्टि होने से पूर्व वृक्ष तथा पौधों की उत्पत्ति का ज्ञान कराता है। ऋग्वेद का भी यही मत है—**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे.........................पुनः ऋतं च सत्यं चाभिद्धात्तपसो.........................॥**

आयुर्वेद का औषधभण्डार वनस्पतियो के ऊपर निर्भर करता है। ये जड़ी-बूटियाँ पहिले उत्पन्न हुई थी। जैसे जैसे सृष्टि मे प्राणियों की उत्पत्ति के पश्चात् वृद्धि हुई उनकी आवश्यकताओ ने चिकित्सा के इस गुप्त भण्डार को उनके ऊपर न्यौछावर कर दिया। वनस्पति का समय समय पर प्रयोग हुआ। सामूहिक रूप मे चिकित्सा तत्व एकत्र होता गया। मन्त्रदृष्टा ऋषियो ने इस विज्ञान की सज्ञा "चिकित्सा विज्ञान" के नाम से की।

यह विज्ञान वेदो मे इस प्रकार समृद्ध पाया गया कि यह जीवन मरण के प्रश्न को हल करनेवाला था। आय के हिताहित सुख दुख सम्बन्ध इत्यादि के विज्ञान को सबके सामने रखकर प्राणित्राण का हेतु बना अतः इस विज्ञान की समष्टि

आयुर्वेद का इतिहास

रुद्र—दिव्यभिषजा में सर्वाग्रणी माने जाते हैं। कहा है —

भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि ॥ ऋ० २।३३।४ ॥

तथा "प्रथमो दव्यो भिषक्" कहकर वर्णन किया गया है। यद्यपि इस रुद्ररचित कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं होता किन्तु यह आयुर्वेद के रसग्रंथों में आदि आचार्य रसप्रवर्तक माने गए हैं। इनका विशेष वर्णन ऋग्वेद के दूसरे अष्टक के सूक्त ३३ के अन्दर वर्णित है। अर्वाचीन आयुर्वेद साहित्य में रुद्र नाम से ७५ औषधियों का उल्लेख मिलता है।

अग्नि—दिव्यभिषजा में प्रसिद्ध अन्नप्रदाता, औषधि पुष्टिकर्ता, रोगहर्ता स्वास्थ्यदायक के रूप में वेदों के कई सूक्तों में वर्णित हैं। अग्नि का विशेष वर्णन चतुर्वेदों में प्राप्त होता है। "त्वं भिषक् भेषजस्यासि कर्ता, पिशाचजम्भनी" इत्यादि के रूप में औषधिकर्ता व औषधि का प्रदाता कहा है।

वरुण—वरुण को वेदों में "भिषक्तमत्व" के रूप में प्राप्त करते हैं। यह चिकित्साध्यक्ष, भिषजों के स्वामी व श्रेष्ठ भिषक् के रूप में वर्णित हैं। इनके नाम का कोई ग्रंथ आजकल नहीं मिलता।

भास्कर—दिव्यभिषजा में श्रेष्ठ थे। "आरोग्यंभास्करादिच्छेत्" इस प्रकार का वर्णन भास्कर की वैद्यत्वेन ख्याति के लिए प्रसिद्ध ही है। लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में भारतीय सम्पत्ति के रूप में "भास्करसंहिता" नाम की पुस्तक भारतीय चिकित्सा विज्ञान के ग्रंथों में अंकित है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, प्राणोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् में भास्कर का वर्णन मिलता है। इनके नाम से आज भी कई लवणभास्कर आदि औषधियाँ प्रसिद्ध हैं। वेदों के कई सूक्तों के देवता भी हैं।

इन्द्र—दिव्य भिषकों में उत्तम भिषक् समझे जाते हैं। आयुर्वेदिक साहित्य में इन्द्र आचार्य के रूप में पाए जाते हैं। धन्वन्तरि भारद्वाजादि ने इनसे आयुर्वेद सीखकर प्रचार किया था। ऋग्वेद के कई सूक्तों के देवता हैं। इन्द्र से यक्ष्मामुक्ति के लिए यक्ष्मचिकित्सक के रूप में स्पष्ट वर्णन मिलता है। औषधि, धन, बल, स्वास्थ्य लाभ के लिए प्रार्थना की गई है। इन्द्र के नाम से "वज्रभित्संहिता" नामक ग्रंथ का उल्लेख आचार्य गणनाथसेन सरस्वती ने किया है किन्तु यह उपलब्ध नहीं है।

अश्विद्वय—इनके विषय में तो कुछ पूछना ही नहीं है। यह स्ववैद्य और शल्य शालाक्य के आचार्य के रूप में वेदों में वर्णित हैं, कई सूक्तों के देवता हैं, आयुर्वेद में आचार्य के रूप में वर्णित हैं। इनके नाम से "अश्वसंहिता" नामक पुस्तक हस्तलिखित मद्रास की लाइब्रेरी में प्राप्त है।

आथर्वण वैद्य—ब्रह्मा ने अपने पुत्र अथर्वा को सर्वप्रथम इस विद्या को पढ़ाया था, इस नाम से ही एक सम्प्रदाय चल पड़ा। इनके सम्प्रदाय में भिषगाथर्वण व बृहद्दिव ऋषि का नाम सुप्रसिद्ध है। भिषगाथर्वण अथर्वा के पुत्र व उत्तम वैद्य थे। ये अथर्ववेद के कई मंत्रों के देवता हैं।

ये मंत्र द्वारा चिकित्सा किया करते थे। आत्मबल-प्रेम, ईश्वरभक्ति, बलिमंत्र, उपहार द्वारा चिकित्सा इनके सम्प्रदाय में प्रचलित थी और आज भी साधुओं में झाड़ने फूंकने की जो पद्धति आ रही है इसी सम्प्रदाय की देन है।

अंगिरा—ने चिकित्सा क्षेत्र में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की और वेद प्रवक्ता ऋषियों में प्रधान थे। इन्होंने जो चिकित्सा क्रम चलाया वह उत्तम था अतः यह आथर्वण भिषकों से अधिक ख्याति प्राप्त कर गए। इनके सम्प्रदाय में बहुतसे वैद्य वैदिक काल में हुए जिनका नाम ऊपर लिखा है। ये शरीरांगों के पोषक प्रधान रसों के द्वारा होनेवाली क्रियाओं को अच्छी तरह जानते थे। हाथ को शरीर पर फेरकर विश्वास व आत्मबल से अंगों में पुनः जीवनशक्ति लाते थे।

वेदकाल में चार प्रकार की चिकित्साओं में इन दोनों का नाम आता है। यथा —

आथर्वणी रांगिरसी दवीमनुष्यजा उत। औषधयः प्रजायन्ते यदात्व प्राणजिन्वसि ॥ अथर्व० ११।४।१६।

अर्थ स्पष्ट है—हे प्राणवायो ! जब तक तू प्रेरणा करता है तब तक ही आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी व मनुष्यजा औषधियाँ फलती हैं।

श्री प्रतापसिंह

वैदिक काल मे इन चार प्रकार की औषधि विधानो मे आथर्वणी व आंगिरसी इनके प्रचारक आथर्वण व आंगिरस सम्प्रदाय के वेदोक्त ऋषि थे। "दैवी चिकित्सा" का वर्णन भी वेदों मे है जिनमे वायु, जल, अग्नि, सूर्य इत्यादि द्वारा चिकित्सा का वर्णन है। मनुष्यजा औषधियो मे क्वाथ, चूर्ण अवलेह गुटिका इत्यादि वर्णित है जो उस काल मे प्रसिद्ध थी।

इस ऊपर के उद्धरण से जो वैद्य आयुर्वेद के आदि आचार्य के रूप मे प्रसिद्ध थे और हैं वे सवके सव वेदकालीन दिव्य- भिपक् सिद्ध होते हैं। ऊपर के वैद्यों के उद्धरण से वैदिककालीन दिव्य भिषजो का पता चलता है और तत्कालीन वैद्य अपने कर्म मे इतने लब्धख्याति थे कि रोगी उनके पास जाकर रोगनिवारणार्थ प्रार्थना करते थे।

औषधि—प्रशस्त औषधि के गुणो में महर्षि चरक ने जो उल्लेख किया है वह अधोलिखित रूप मे है :—

बहुतातत्रयोग्यत्वमनेक विधकल्पना। सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणांगुणउच्यते ॥

इसके अनुसार औषधि द्रव्य का पर्याप्त मात्रा मे होना तथा अनेको प्रकार के योगों की कल्पना करने योग्य होन आवश्यक है। इसी प्रकार की औषधियो के उल्लेख को हम वेदो मे पाते हैं।

ऋग्वेद के ८ अष्टक १० मण्डल ५ अध्याय अनुवाक् ७ तथा सूक्त ९७ मे सोमादि औषधियो के ७सौ स्थानो मे प्राप्त होने का उल्लेख है जिनके अनुलेप, वाह्याभ्यन्तर मार्जन, अभिषेकादि के विभिन्न रूपो मे प्रयुक्त होने का वर्णन है। यथा :—

याओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगंपुरा। मनैनु वभ्रुणामहं शतंधामानिसप्तच ॥

अर्थात्—पूर्व समय मे तीन युगो (सत्य, त्रेता, द्वापर या वसन्त, शरद, वर्षाऋतु) मे जो औषधियाँ सोमादि पिंगलवर्ण की देवो ने वनाई वे औषधियाँ ७०० स्थानो मे विद्यमान है यह मै जानता हूँ।

वहुत्वभेद के अर्थ मे या उस समय के औषधि-विज्ञान के विषय मे स्पष्ट है कि एक दो ही औषधियो का ज्ञान न था वल्कि वनौषधियो के विभिन्न उद्‌गम स्थानो का ज्ञान हो चुका था। औषधियो के सैकड़ों कर्मो का ज्ञान था जो कई प्रकार से प्रयुक्त होकर चिकित्सार्थ काम मे आती थी। यह विचार पूर्व मंत्र "**शतं वो अम्वधामानि, सहस्रमुतवोरुहः। अधा शतक्रत्वो पूयमिमं अगदंकृत** ॥ से आगे के मंत्र मे है।

तत्कालीन औषधियो का चमत्कार इसी अष्टक के ९७ सूक्त के ११ मत्र मे आता है। वैद्य औषधियो के गणो से विश्वसित है। कहता है कि—जव मै **यदिमा ताजयन्नह मोषधीर्हस्त आदधे। आत्मायक्ष्मस्यनश्यति पुरा जीव गृभो यथा ॥** इन सव औषधियो को हाथ मे लेता हूँ तभी रोग की आत्मा मरसी जाती है जैसे मृत्यु से जीव मरता है। पुनश्च—**यस्योषधीः प्रसर्पथांगमंगं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं विवाधध्व, उग्रो मध्यम शीखि ॥** औषधियाँ शरीर मे पहुँचकर वलपूर्वक रोग को अपने गुणो से नाश करने के निमित्त अंग प्रत्यंग मे प्रविष्ट होकर लाभ पहुँचाती है। रोगी के शरीरावयवो से रोग दूर करती है।

जो लोग वेदो मे औषधि न होने का दम भरते है उन्हे यह ध्यानपूर्वक पढना चाहिए, कि न केवल औषधिमात्र ही इनमें लिखा है वल्कि वर्गीकरण भी है जो चरक के वर्गीकरण से मिलता जुलतासा है। चरक ने सूत्रस्थान अध्याय १ में **मूलिन्यः षोडशैकोना फलिन्यः विंशतिः स्मृताः। च० सूत्र अ० १-७३, १६ मूलिनी व १९ फलिनी** औषधियों का वर्णन किया है तथा **वनस्पतिस्तथावीरुद्वानस्पत्यस्तथौषधिः ॥च० सू० अ० १ ॥** वनस्पति वीरुधवानस्पत्य तथा औषधि यह चार भेद भी वतलाए है। वह सव वेदो मे मिलती है। यथा—

या फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्चपुष्पिणीः ॥ ऋ० १०।९।७।१५ ॥
या ओषधीः सोमराज्ञीर्वह्वीः शतविचक्षणाः ॥ ऋ० १०।९७।१९ ॥
इमां खनाम्योषधिं वीरुधां वलवत्तमाम् ॥ अथर्व० ३।१८।१ ॥
इयं वीरुन्मधु जाता, मधुना त्वा खनामसि ॥ अथर्व० १४।३४।१ ॥

आयुर्वेद का इतिहास

इसी प्रकार कई औषधियों के भेदों का उल्लेख मिलता है। यही नहीं (अथर्ववेद ३० काण्ड २४ सूक्त) धान्य इत्यादि के सहस्रों भेदों का उल्लेख भी मिलता है। उन औषधियों का वर्णन करते हुए पयस्वती (पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः ॥ अथर्व० ३।२४।१।) क्षीरी वनौषधियों व घासों का वर्णन भी किया है उनका यहाँ पर उल्लेख करके स्थान नहीं भरना चाहता। भूमि की औषधियों के खोदने का विधान भी मिलता है। जैसा प्रार्थनापूर्वक वनौषधियों को खोदना चाहिए, ये सब बात दृष्टिगोचर होती है। खोदनेवाला रोगनाशनार्थ औषधि खोदता है किन्तु डरता हुआ प्रार्थना करता है कि हमारे रोगों को नाश करो। हमारे धनधान्य को समृद्ध रक्खो, मैं तुम्हें खोदने जा रहा हूँ—मायोरिषत् खनिता, यस्मै चाहं खनामि वः। द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् ॥ ऋ० ८ १० ५ ७-९७ २० इत्यादि।

यही नहीं जिसके पास अच्छी और उत्तम औषधियाँ होती हैं उसी को भिषक् के नाम से सूचित किया गया है— जैसे युद्धार्थ जिस राजा के पास सेना होती है वही विजयी होता है वैसे ही जिसके पास औषधियाँ होती हैं और जो उनके गुणों को भी जानता है वही बुद्धिमान् चिकित्सक है यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ ऋ० १० ९७-६ ॥) भिषक् कहा जाता है और वही रोगों को नाश करता है।

इस एक ही सूक्त के अन्दर कितना औषधि तात्विक विचार भरा है नहीं कहा जा सकता।

औषधियों के पोषणार्थ (—औषधयः सोवदन्ते सोमेनसहराज्ञा ऋग्वेद १० ९७ २२ ॥) सोम का वर्णन आता है। जितनी भी औषधियाँ हैं वे सोमरस (द्रवांश) के ऊपर अपना जीवन निर्वाह करती हैं यह विचार भी स्पष्ट पोषण विषयक विवरण के ऊपर प्रकाश डालता है।

औषधियों के उत्पन्न होने व ग्रहण करने तथा उनके गुणों का वर्णन करने का पूरा पूरा वर्णन मिलता है। अथर्ववेद में इस उल्लेख प्रथम काण्ड से लेकर २० काण्ड तक प्राप्त है। पञ्चम काण्ड में कूठ व लाक्षा का वर्णन बहुत रोचक है। इस प्रकार वेदों में औषधियों की उत्कृष्टता का पूरा वर्णन मिलता है। यदि वैदिक औषधियों का वर्णन लिया जाय तो अपर वैदिक निघण्टु बन सकता है। मैं कुछ नाम देकर इस वर्णन को समाप्त करता हूँ।

अपामार्ग पिप्पली चीपद्रु गुग्गुलु तितली नीली पृश्निपर्णी जंगिड़ विषाण रामा पिप्पली चीपद्रु गुग्गुलु तितली नीली पूतकुमारी जजगुंगी पृश्निपर्णी औक्षगन्धी प्रमन्दिनी कृष्णा एकगुग्गु प्रतवनी अश्मनी काण्डिनी विशाखा विश्वा उग्रा अश्वत्थ प्रमूमनी फल्गिनी दर्भ सोमव्रीहि यवान्वित जलग्र ब्राह्मणी अयस्कं दर्भमग औदुम्बर मणिर्धन इत्यादि सैकड़ों औषधियों का विभिन्न रोगों में वर्णन किया हुआ पाया जाता है। यहाँ इनका वर्णन अप्रासंगिक होने से छोड़ा जा रहा है।

इस प्रकार हम पर्याप्त उत्कृष्ट औषधियों को जान सकते हैं। यही नहीं जल, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र इत्यादि को भी औषधि रूप में वर्णन किया गया है। इस प्रकार उपर्युक्त द्रव्यगुण को हम पाते हैं।

उपचारक—रहा उपचारक जाकि वैद्य की आज्ञानुसार चलता हो वह तो सर्वत्र प्राप्त है। हर एक स्थान पर भिषक् से प्रार्थना की गई है कि वह उचित आज्ञा दे और सेवाविधि का उल्लेख करे यथा—परिचारक वैद्य से कहता है कि हे भिषक् शीघ्र इस बालक के कृमिरोग का नाश करो—

अस्येन्द्रकुमारस्य कृमीन् धनपते जहि ॥ अथ० ५।२३।२ ॥

पुनश्च—कृमिनाश के लिए वैद्य द्वारा बतलाए विधान के अनुसार कार्य परिचारक यह सूचना देता है कि हे भिषक्! देखो यह कृमियों में शीघ्रगामी था मारा गया।

हतो येवाष कृमीणाम् अथर्व० ५ २३ ८ ॥

इत्यादि, इसी प्रकार प्रसव में वैद्य उपचारक को क्रम बतलाता है जिसका वर्णन अथर्ववेद के कई स्थानों पर है। इस प्रकार हम चतुष्पाद सम्पत् को बिल्कुल अक्षुण्ण पाते हैं। अतः आयुर्वेद का स्थान वेदों में पूर्ण उत्तमता से स्पष्ट हो जाता है।
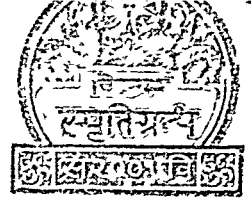
श्री प्रतापसिंह

त्रिदोष—आयुर्वेद का सारा मर्म त्रिदोष पर निर्भर है। यदि हम इसे वेदों मे पावे तो स्पष्ट मानना पडेगा कि वेदों से ही आयुर्वेद प्राप्त है। प्रथम वात चिकित्सा को लीजिए, वाह्य व आभ्यन्तर वायु का उल्लेख खूब है। वायु चिकित्सा का एक प्रधान अंश हम इसमे पाते है। ऋग्वेद के ७–१०१–१०२ में वात पित्त कफ का इस प्रकार उल्लेख है—

यो वर्धन ओषधीनां यो अपां भो विश्वस्यजगतो देवईशे।
स त्रिधातु शरणं शर्म यंसत् त्रिवर्तु ज्योतिः स्वभिष्टचस्मे॥

अर्थात—जो औपधियो को तथा जल को बढ़ाते है, जो सारे संसार के ईश्वर है वे पयदेव तीनो धातुओं वात पित्त, कफ को शरीर मे सम परिमाण मे रखकर सुख दे और तीनों ऋतुओ वर्षा, शरद, वसन्त मे इनकी रक्षा कर (त्रिदोप की क्योकि यही इनके प्रकोपकाल है) हमे सुन्दर ज्ञान-ज्योति दे।

यहाँ पर त्रिधातु का अर्थ महामान्य सायण महीधर ने वात, पित्त व कफ ही किया है। जिसे सन्देह हो इनके भाष्यो को देखे।

वाह्य वायु के गुणो का वर्णन ऋग्वेद मण्डल १ अष्टक २ अध्याय २० सूक्त १३४-१३५ मे तथा अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड २५-२७ सूक्त मे सविता व वायु का सयुक्त स्पष्ट वर्णन है जिसमे वायु द्वारा सूर्य रश्मि का प्रसार तेज का प्रसार जीवन का रहना तथा बलदायक, वृष्टिकारक गुणो का स्पष्ट वर्णन है। ये सूक्त यदि सार्थ लिखे जॉय तो वहुत वड़ा स्थान चाहिए। इसमे वात–वायु कई स्थानो पर प्रयुक्त है।

आभ्यन्तर वायु मे प्रसिद्ध प्राण व अपान वायु है जिनका वर्णन कई स्थानो पर है। श्वास रोगो मे इसका स्पष्ट वर्णन है। प्रसंग व नाम का उल्लेख ही दिखायेगे।

यथाजीवा अदितेरुपस्ये प्राणापानाभ्यां गुपितं शतं हिमाः।
मेमं प्राणो हृचासीन्मो अपानो मेमं मित्रावधिषुर्मो अमित्राः॥ अथर्व० का० २ सूक्त २८॥
प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा। अ० २।१६।१ ॥ इत्यादि, इसी प्रकार पित्त का भी उल्लेख स्पष्ट शब्दो मे देखिए।
सुपर्णोजातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्त मासिथ ॥अथर्व० २ कां० २४ सूक्त ४॥

औषधि का वर्णन करते हुए वतलाया है कि तू परमेश्वर के पित्तस्वरूप हो। पित्त शरीर मे तेज वीर्य आभा प्रदाता है। अत. यहाँ पर पित्त के अर्थ मे श्रेष्ठ अर्थ किया गया है।

बलास—मास्यैतान सखी कुरूपा बलासकासमुद्‌युगम्॥ अथर्व० ५-२९-१२॥

यों तो ये वहुत स्थानो मे स्पष्ट इसी नाम से वर्णित है किन्तु व्याधि प्रसग मे इनकी सत्ता सर्वत्र स्वीकृत है। इस प्रकार वात, पित्त, कफ को हम वेदो मे इसी नाम से पाते है। इन त्रिदोषो को जो आयुर्वेद की भित्ति या स्तम्भ है हम वेदों मे पाते है। आयुर्वेद अष्टागपूर्ण है। वेदो मे यदि अष्टांग सम्वन्धी विवरण मिले तो फिर यह भी एक दोनो के तारतम्य का पूरा सम्वन्ध होगा। अस्तु आठो अगो सम्वन्धी साहित्य की सूची अधोलिखित क्रम मे दी जाती है।

आयुर्वेद के अष्टांग—वेदो मे आयुर्वेद के प्रचलित अष्टाग शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, अगदतंत्र, कौमार-भृत्य, वाजीकरण, रसायन का पर्याप्त विवरण है। यह अष्टाग साहित्य सूत्र व विस्तार रूप मे प्राप्त होता है। नीचे की सूची से स्पष्ट पता चलेगा.—

शल्यतंत्र	ऋग्वेद
१. विश्पला के कटे पैर को लोहे का वनाना	१-११६-१५.
२. अत्रि आदि के विश्लिष्ट अग का पुनर्योजन	१-११७-१९.
३. श्यावाश्व के कटे अंगो को जोड़ना	१-११७-२४.
४. दधीचि के शिर को काटकर अश्व का शिर लगाना, मधुविद्या प्राप्त कर पुन. पूर्व शिर का अश्विद्वय द्वारा संयोजन।	१-११६-१२
५. पगु परावृज का जानुसन्धान, लँगड़े श्रोणीष को गतिमान वनाना	१-११२-८.

श्री प्रतापसिंह

कायचिकित्सा—नाना प्रकार के कृमियों का शरीर मे प्रवेश व उनका प्रतिषेध ..	२-३१-१-५.
	अथर्ववेद
	५-२३-१-११.
	२-३८-१-६.
	४-३६-१-१८.
	१-२२-१-४.
	६-२४-१-३.
हृद्रोग मे वर्फ की तरह नदी-जल का प्रयोग जल का सर्व रोगनाशकत्व	६-९२-३
	ऋग्वेद.
यक्ष्मा, अज्ञात यक्ष्मा, राजयक्ष्मा, हृद्रोग व पृष्ठ के रोग	१-२३-८९, १०-९७-१०५. व १३७-१६१-१६७.
अर्थ शोथ गण्ड श्लीपद यक्ष्मा मुखपाक	यजुर्वेद १९-८१-९३. २५-१-९.
सतनाशन विशूचिका हृद्रोग चर्मरोग कुष्ठ	३१-१०-१३-३०-८-१०.
यक्ष्मा उन्मादशीहारयक्ष्मा राजयक्ष्मा की उत्पत्ति तैत्तिरीयोपनिषद (सहिता)	२-१-१-१
कुष्ठरोग से श्यावाश्य को बचाकर युवक बनाना	ऋग्वेद १-११७-७.
अपाला का चर्मरोगनाशन	,, १-११७-८.
वल्वाट के पिता का व्याधिनाशन	,, ८-९१-७.
सूर्यरश्मि से हृद्रोगनाशन..	,, १-५०-१०.
यक्ष्मनाशन	,, . १-२३-८९.
छन्दोग्योपनिषद—आहार पाक प्रक्रिया	६-५.
पामारोग	४-१-८.
वृहदारण्यक—मृत्युवर्णन..	३-८-२१.
शाप से रोगोत्पत्ति .. .. . ,.	३-६-१-३-९-२६.
सामविधान—रोगक्रान्ति..	२-२-३.
भूतक्रान्ति	८-८-८.
आश्वलायन—सूर्योदय समय सोने से रोगोत्पत्ति	३-७-१-१.
शाख्यायनीय—सर्वरोगनाश	५-६-११.
गोभिलीय—सर्व रोग निवर्त्तक यंत्रविधान	४-६-८.
आपस्तम्भ—क्रिमिजन्य अर्धावभेदक बालापस्मार कुक्कुर भूतादि का वर्णन	७-१८-१.
क्षेत्रियरोग परिहारादि	६-१५-४.
पारस्करीय—शिर: पीड़ा का मर्दन से प्रतिकार	३-६-०.

भूतविद्या—भूतविद्या के विषय मे तो वलिमत्र मंगल उपहारादि का वर्णन अथर्ववेद मे बहुत आता है। इसके अतिरिक्त सूक्ष्म प्राणी व क्रिमियो का भी पर्याप्त वर्णन प्राप्त है। इनका कुछ उद्धरण देते हैं। यह वह है जिसका वर्णन आयुर्वेदिक साहित्य मे अत्यल्प है और जिसके आधार पर कृमिरोग की नीव आयर्वेद मे है।

	अथर्ववेद
कृमियो की रोगकारिता	५-२३-१-१३.

क्रिमि के सूक्ष्मस्थूल भेद	२-३२-१ ६
नाना प्रकार के कृमियों का शरीर में प्रवेश, रोगोत्पत्ति व उनका प्रतिषेध	२ ३१-१-५
	५-२३-१ १
	२ ३८-१ ६
	४ ३७ १-१२
तैत्तिरीय ब्राह्मण—क्रिमियों की रोगकारिता	४ ३६ १
आपस्तम्बीय—कृमिवर्णन	१५-१९-५, ४ १८-१
खादिर आ०—कृमिवर्णन	४-४ ३
द्राह्यायणीय—यन भाज्य जन्तु से भूतनिषेधविधि इत्यादि अथर्वतन्त्र	३-८
	ऋग्वेद
नाना प्रकार के विषक्रिमि व उनका प्रतिकार	१ १९१-(१ १६)
विषहारिता	८-७ १-७
प्राणिविषनाशन (पणाधि नागकुमल औषध द्वारा)	८ ६ १-८
सर्पविषनाशन	६-१८-१०३
नानव विष क्रिमिनाशक मधुक	७ ५६-१-८
विष से विष प्रतिकार	८ ५-१-१६
	८ ६ १ ४
सामविधान—गवभयरक्षण	२ ३-३
गोभिल—सर्पदशनाय	८ ९ १५
खादिर ब्रा०—सर्पदंशनाय	८ ८ १ इत्यादि
कौमारभृत्यधातुरोग स्त्रीरोग—निवत्सप्रसवा का प्रसवबाहुल्य व स्तन्यवृद्धि	ऋग्वेद १-११६ ८८
	१ ११७ २०
हिरण्यकेशीय ब्रा०—बालक का क्षत्रिय रोग व प्रतीकार	२ ३ १०
आपस्तम्बीय ब्रा०—बालक का क्षत्रिय रोग व प्रतीकार	६ १५ ८
कौमारभृत्यादि—गर्भ की उत्पत्ति, गर्भपुष्टि, प्रसव	अथर्ववेद १ २-११ (१ ४)
जरायुपातन, मूढगर्भ में शल्यक्रिया, कुमारापातन, योनिभेदन, जरायुपातन	१-२ ११ (५)
दशममासानन्तर प्रसव वर्णन	१ २ ११ (६)
दशममासानन्तर प्रसव वर्णन	ऋग्वेद ५ ७८-८ इत्यादि
रसायनतन्त्र व वाजीकरण—च्यवन का जरामोचन पुनर्यौवनदान	ऋग्वेद १-११६ १०
	१ ११७-१३, १ ११९-७
जल में डूबे व अग्नि से जल रहित के गिर कर नष्ट होने पर भी पुन जीवनदान व जरानाश	१ १५८-४ ६
वध्रिमती के नपुंसक पति को पुरुषत्व पुत्रोत्पादन	१-११६-१३
दानवपायुलाभ विधान (बृ० चा०)	३ १६
बलैव्यनाशनाय	अथर्ववेद ६-१३८ १-५

इत्यादि।

इस प्रकार अष्टाङ्ग आयुर्वेद के साहित्य को हम वेदों में पाते हैं। यही विषय हमारे आयुर्वेद साहित्य में प्राप्त है। इन उद्धरणों को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि आयुर्वेद के प्राय प्रत्येक विषय इसमें ओतप्रोत हैं। यही आयुर्वेद के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध का द्योतक है।

श्री प्रतापसिंह

आजकल कुछ लोगों मे यह प्रकृति एक प्रकार की फैल गई है कि चाहे कुछ हो स्वयं वेदों को व आयुर्वेद के साहित्य को देखने का कष्ट नही उठाते, किन्तु इस पर टिप्पणी अवश्य करते हैं और यह कहना प्रारम्भ करते है कि वेदों मे यह सब था तो पहले क्यो नही कहा, अब क्यों "यह वेदों मे है" कहकर चिल्लाते हो। उनके लिए केवल इतना उत्तर है कि जब आधुनिक विज्ञान के जन्मदाता जन्म भी नही लिए थे वेदों मे यह ज्ञान था किन्तु उनके ज्ञाता उसका शोर मचाते नही फिरते थे। जब आधुनिक विज्ञानवादी यह कहने लगे कि यह हम ही जानते है हमने ही इसे आविष्कार किया है, तब उत्तर यह दिया जाता है कि तुम भूल करते हो यह प्रश्न पहले से हल है। कीटाणुवाद को एक महत्त्व की दृष्टि से देखनेवाले कृमि-विज्ञान के उद्धरणों को देखे कि हर प्रकार के अधिकांश सूक्ष्म व स्थूल कृमि, दृश्य व अदृश्य कृमि सबका कितना सुन्दर वैदिक साहित्य मे वर्णन है।

कुछ लोग तार, डाक, विद्युत का वर्णन आने पर झुंझलाकर कहते है यह कपोल कल्पना है। उन्हे तो हमे कुछ नही कहना है, क्योकि—**अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसिमालिखमालिख मालिख॥** की तरह अरण्यरोदन सिद्ध होगा, किन्तु जो कुछ विचार करना चाहते है उस समुदाय के सामने हमे कुछ विचार जरूर रखना है। वह उपर्युक्त है तथा विद्युत के विभिन्न अशो का जो नाम आता है वह इस प्रकार है—

विद्युत विज्ञान (Electricity)—आज इसी विज्ञान पर पाश्चात्य देशो मे उचित अभिमान हो रहा है, जिस विद्युत शक्ति से आज विविध आविष्कार किए जा रहे है, उसका पूरा वर्णन वेद व शास्त्रो मे अनादिकाल से निहित है। किन्तु यह सब कार्य "सौरविद्युत" के क्षेत्र मे ही सीमित है। कई हजार वर्ष पूर्व तीन प्रकार की विद्युच्छक्तियों का उल्लेख "सौर विद्युत" "सौम्य विद्युत्" "ध्रौवविद्युत्" प्राप्त है।

ध्रुवनक्षत्र से प्रतिष्ठित जिस विद्युत् ने अपने आकर्षण बल से गुरुत्वाकर्षण की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए पांच भौतिक भूपिण्ड को कन्दुक की तरह निरावलम्ब आकाश मे नियत क्रान्तिवृत्त पर गतिशील बना रखा है एवं जिसके प्रवेश से लोहा फौलाद बन जाता है उसका नाम "ध्रौवविद्युत्" दिया गया है।

जिसके सचार से चक्षु मुंह नासिका मन प्राण वाक् हस्त पादादि देहेन्द्रियो का संचालन होता है जिसके आघात प्रत्याघात से अंग प्रत्यंग का स्फुरण होता है जिसके निकल जाने से शरीर निष्चेष्ट हो जाता है। वही दूसरी विद्युत् "सौम्य विद्युत्" है।

इसका प्रधान सम्बन्ध सोममय अन्न से बननेवाले सौम्यमन के साथ है। अतः इसे सौम्य विद्युत् की संज्ञा दी गई है। यही सौम्य विद्युत् मन की तीव्रगति की संचालिका है। इसीके सहयोग से मन स्वप्नावस्था मे भी अपने अन्तर्जगत् के संस्कारों पर दौड़ लगाता है। मन की इसी विद्युत ज्योति का दिग्दर्शन अधोलिखित मंत्रश्रुति मे है:—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु॥ यजुः सं. ३४।१॥

स्वयं प्रकाशमान् ज्योति. पिण्डसूर्य से आपोमय आन्तरिक्ष्य समुद्र के गर्भ से निकलनेवाली सौर विद्युत् है।

अग्ने देवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवां ऊचिषेधिष्ठ्या ये।
या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चवस्तादुप विष्ठन्त आपः॥ ऋक् सं. ३-८८-३॥

उपर्युक्त मत्र के वर्णन के अनुसार आपोमय सरस्वान समुद्र के गर्भ मे सूर्य बुद्बुद्वत् प्रतिष्ठित है। इस सूक्ष्म अपय समुद्र से ही उक्त विद्युत का विकास हुआ है। सूर्य स्वयं विद्युन्मूर्ति है। यथा—**वि देव सविता (गो. ब्रा. पू. १।३३)** यह विद्युत् जल से उत्पन्न है। अतः इसे ब्राह्मण ग्रंथ व संहिता "अयांज्योतिः" नाम से वर्णन करते है यथा—"**विद्युद्वा अयां ज्योतिः**" (शतः ७-५-२-९) व यजुः सं. (१३-५-३)

इसी अयसमुद्र का सार वीर्य है। अतः "वीर्यवा आपः" (शत ५-३-४-१) के कारण से प्राणधारकता इसमे स्व सिद्ध है। इन तीनो विद्युतो का प्रधान आवास इन्द्रतत्त्व है यथा—"**स्तनयित्नुदेवेन्द्रः**" (शत० ११-३-९)

आयुर्वेद का इतिहास

यही विद्युत् सोम सम्बन्ध से सोममय प्रज्ञानात्मा (मन) पर अपना अधिकार जमा लेती है। सोम व रुद्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है यह स्वयं सिद्ध विषय है। आकाश में चमकनेवाली विद्युत् भौतिक विद्युत् है। मन में की विद्युत् आध्यात्मिकी है। केनोपनिषद् में इसका स्पष्ट विवरण जो पुरुष इस क्रियाशक्ति सम्पन्न इन्द्रतत्त्व का पूर्ण ज्ञान रखते हैं उसको ही पूर्ण वैज्ञानिक समझा जाता है, यह वैदिक विवरण है। इसका पूर्ण वर्णन ऋक् संहिता के १-३१-१०, १ ६३-१, १ १६४ २९, ६-३-८ ९-९-६-३, १०-९१-१५ सूक्तों में मिलता है।

अतः यदि विद्युत तत्त्व का निरूपण कोई आप्त विद्वान् इस रूप में करता है तो क्या यह अयं उचित नहीं है? क्या यह ऐंच खेंचकर अर्थ निकालना है? भौतिक विद्युत् के अतिरिक्त अन्य विद्युनद्वय का वर्णन क्या आधुनिक विज्ञान कर देता है? यदि हां तो वह किस रूप में है? इसके ऊपर विवेचक विद्वान् प्रकाश डालें।

इस प्रकार हर एक विज्ञान का पूर्ण उद्गम प्रदेश वेद ही है। आयुर्वेद उसका उपांग होने से यह सब उन विषयों को बतलाता है। अतः उनका नाम आने पर झटकनेवाले अपने हृदय पर हाथ रखकर विचारें।

जिस किसी भी विषय को हम वर्तमान आयुर्वेद में पाते हैं वही वेदों में वर्णित है। यही इसका पित पारम्पर्य प्रधान पाप्य पापक सम्बन्ध है। इसी आधार पर अनेक आचार्यों ने संहितायें रचकर आयुनिक आयुर्वेद साहित्य की अभिवृद्धि की है। इस समय चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट (अष्टांग हृदय, अष्टांग संग्रह) आदि ग्रन्थरत्न प्रसिद्ध हैं। इसके साथ रसग्रन्थों का प्रचार हुआ और इसकी उत्तर अधिक उन्नति हुई है।

रसार्णव, रसहृदयतन्त्र, रसकामधेनु, रसरत्नसमुच्चय, रसेन्द्रचिन्तामणि रसोपनिषद, आदि अनेक ग्रन्थ प्रचलित हैं और नवीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो रहा है। प्रत्यक्षशारीर, सिद्धान्तनिदान, अष्टांगशारीर, शारीरतत्त्वविवेक, अभिनवप्रसूति शास्त्र आदि अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं और लिखे जा रहे हैं। आयुर्वेद की इधर ३०-३२ वर्षों में समुन्नति हुई है। आशा है यह क्रमविकास बढ़ता ही रहेगा और शीघ्र ही अपना गत गौरव प्राप्त कर भारतवासियों की सेवा पूर्ववत् करने में पूर्ण समर्थ होगा।
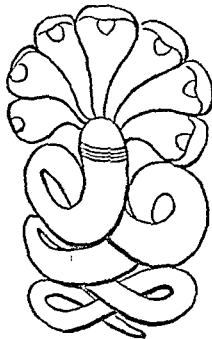
चक्रवर्ती राजा के लक्षण

श्री डॉ० वाबूराम सक्सेना, एम्० ए०, डी० लिट्०

आर्य साहित्य मे शासक और शासित जन के परस्पर सम्बन्ध की भावना आरम्भ से ही बहुत ऊँची रही है। परमेश्वर इस सारे जगत का अद्वितीय राजा है, ऐसी भावना श्रुति मे मिलती है (इन्द्रो विश्वस्य राजति) और उसी के अनुरूप भारतीय राजा मे अदभुत तेजस्विता रहती थी और वह शासित जन को प्रजा (सन्तान) समझता था। कविकुल गुरू कालिदास के शब्दो मे प्रजा को खुश (रंजित) रखने से ही शासक का नाम राजा पडा। रघु का यथार्थ वर्णन इस महाकवि ने दिया है :—

प्रजानां विनयादानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥

(रघु ही स्वय प्रजाओ को शिक्षा देने के कारण और उनकी रक्षा और पालन पोषण करने के कारण, उनके सच्चे पिता थे, प्रजाओ के पिता तो केवल जन्म देनेवाले ही थे।)

इससे राजा के आदर्श का आभास मिलता है। यह समझ लेना कि यह केवल अत्युक्ति है, भूल है। इस आदर्श का पालन होता था। मनुस्मृति आदि नीतिग्रथो मे दिए हुए राजधर्म के विवरण को देखने से पता चलता है कि राजा का काम चौवीसो घंटे प्रजा का हितचिन्तन और हित-सम्पादन था। ईसा पूर्व तीसरी सदी मे हुए प्रसिद्ध मौर्य सम्राट प्रियदर्शी राजा अशोक की यह आज्ञा थी कि उनके पास हर समय, उठते वैठते, खाते पीते और आराम करते समय भी, प्रजा के कार्य की वात पहुँचाई जाय। यह विवरण उस राजर्षि के शिलालेखो से मिलता है।

चक्रवर्ती राजा के लक्षण

चक्रवर्ती राजा ससार की विभूति होती थी। राजनीति के ग्रथो में उसको समकालीन नरेशो में सवश्रेष्ठ बताया गया है। पालि ग्रथो में उसको वही स्थान दिया गया है जो बुद्ध को। जिस बालक में (दीघनिकाय के महापदानसुत्त म वर्णित) महापुरुष के बत्तीस विशिष्ट लक्षण पाए जाते थे, उसकी दो ही गतियाँ होती थीं। यदि वह घरबार छोडकर प्रव्रज्या ले लेता था तो ससार के दुखो को हटाकर सम्यक सबुद्ध बनता था। महाराज शुद्धोदन के सुपुत्र सिद्धार्थ में बत्तीसो लक्षण उपस्थित थे, वे घरबार छोडकर इस गति को प्राप्त हुए और गौतम बुद्ध कहलाए। और यदि ऐसा बालक घर में रहता था तो धार्मिक धमराजा, चारों ओर विजय पानेवाला और शान्ति स्थापित करनेवाला, सात श्रेष्ठ चीजो से सयुक्त चक्रवर्ती राजा होता था। इस प्रकार बुद्ध और चक्रवर्ती राजा दोनो का समान पद है। दोनो लोक के कल्याण के लिए और शान्ति की स्थापना करने के लिए आते हैं, एक निवृत्ति माग से, दूसरा प्रवृत्ति माग से। लोकहित की नजर से दोनों का लक्ष्य एक है।

चक्रवर्ती राजा के चेहरे में ऐसा तेज होता था कि क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य अथवा साधु-सन्यासी कोई भी मिलने जाय तो दर्शनमात्र से कृतकृत्य हो जाता था। यदि चक्रवर्ती राजा भाषण करता था, तो वह कितनी भी देर तक बोले, सुननेवाली सभा की तृप्ति नहीं होती थी, चाहती थी कि और बोले। ऐसी मिठास और ऐसी शक्ति होती थी उसकी वाणी में।

चक्रवर्ती राजा के लक्षण, पालिग्रथो में ये बताए गए है। धमपूवक आचरण करनेवाला होता था। धम से ही शासन करता था, न्याय और समता ही उसके साधन थे, पक्षपात उसको छू नहीं सकता था। उसका राज्य एक समुद्र के किनारे से दूसरे समुद्र के किनारे तक समझा जाता था। वह विनयशील था, अपने भीतरी मन मोह क्रोध आदि विकारों का विजयी और बाहर सभी राजाओ का। कोई भी सेना उसके मुकाबले में ठहर न सकती थी। अन्य राजा, प्रजा, वश बने या परिवर्तित हो पर वह सारे राष्ट्र की स्थिर स्थावर वस्तु था। शान्ति की स्थापना करना उसका लक्ष्य था और इसी हेतु उसे दुष्टो का दमन करना पडता था। स्वार्थबुद्धि से कभी कोई युद्ध न छेडता था। चक्रवर्ती राजा के पास सात रत्न होते थे, अर्थात् उत्तम उत्तम सभी पदार्थ। बढिया बढिया रथ आदि चक्रों से वह नए नए देशो पर अधिकार प्राप्त करता जाता था। धम ही उसका शासन था, दण्ड और शस्त्र का प्रयोग उसे नहीं करना पडता था। उसके पास उत्तम से उत्तम हाथी घोडे रहते थे जिनसे वह अपने राज्य में आसानी से घूम फिरकर प्रजा को सुख देता था। उत्तम मत्रियो की मदद से राज्यभर में न्याय, सुख और शान्ति स्थापित किए रखता था। उसकी रानियाँ स्वामिभक्त और अद्वितीय रूपवती होती थीं। पर-स्त्री पर वह स्वप्न में भी दृष्टि न डालता था। उसके एक हजार से भी ज्यादा लडके होते थे, सभी शूरवीर, यशस्वी और पितपरायण।

इस विवरण में थोडी बहुत अतिशयोक्ति की सम्भावना है। पर इतना निश्चित है कि चक्रवर्ती सभी राजाओं में श्रेष्ठ होता था और उसमें अलौकिक शक्ति होती थी। 'चक्र' का आशय समस्त भूमण्डल या भूमण्डल का सम्य खण्ड रहा होगा। चक्रवर्ती का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होना चाहिए। श्रुति-ग्रथों में अश्वमेध की कल्पना से ही चक्रवर्ती की भावना का पुराना होना सिद्ध होता है।

हमारे देश को इस बात का गव है कि यहाँ अनेक चक्रवर्ती राजा समय समय पर होते रहे है। बुद्धों के सहयोग से ये शान्ति की स्थापना करते रहे हैं। विक्रम भी इनमें से एक थे। हमारे अन्तिम चक्रवर्ती शायद यही थे। बाद को केवल पदवी लेनेवाले बहुतेरे हुए।

वतमान काल में दीन हीन अवस्था में हैं पर जागृति के लक्षण झलक रहे है। इस समय भी महात्मा बुद्ध के समकक्ष महात्मा गाधी का उपदेश हमें मिल रहा है। जरूरत है चक्रवर्ती शासक की। ईश्वर की कृपा होगी तो वह भी मिल जायगा और भारत एक बार फिर समस्त भूमण्डल का पथप्रदर्शक बन सकेगा। उस समय की कल्पना से हर्ष रोमाच होता है।

वेदान्त

श्री रावराजा डॉ० श्यामबिहारी मिश्र, एम० ए०, डी० लिट्०,
रायबहादुर श्री शुकदेवबिहारी मिश्र

दर्शन-शास्त्र वेदान्त का कथन करता है। वेदान्त क्या है यह आगे कहा जायगा। भारतीय दर्शनशास्त्र का कुछ भी ज्ञान रखने के लिए ज्योतिषशास्त्र के वर्तमान आविष्कारो के अनुसार विश्व को भी थोड़ा बहुत जान लेना ठीक समझ पड़ता है। पृथ्वी का व्यास ८००० मील है। यह कुछ-कुछ अण्ड गोलाकार है तथा उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के पास कुछ (प्राय. २७ मील) दबी हुई भी है। इन दोनो ध्रुवो के बीच की कल्पित रेखा को अक्ष या भ्रमणाक्ष कहते है। भूमि इसी पर लट्टू की भॉति नाचा करती है तथा आगे भी बढ़ती जाती है। इन्ही दोनो चालो से दिन रात अथच ऋतु परिवर्तन होते है। आगे चलने मे पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। इस परिक्रमा के मार्ग का नाम क्रांतिवृत्त है, जो अण्डाकार होता है। पृथ्वी की परिक्रमा करने मे चन्द्रमा को प्राय. ३५५ दिन लगते है। सूर्य की परिक्रमा पृथ्वी एक साल मे करती है। पृथ्वी और चन्द्र दोनो पश्चिम से पूर्व की ओर चलते है। समुद्र मे ज्वारभाटा चन्द्राकर्षण के बल पर आता है। वह पृथ्वी से २,३८,००० मील की दूरी पर है। चन्द्र मे कभी जीव जन्तु थे किन्तु अब वह वायुशून्य एक मृत जगत् है। वहाँ पन्द्रह-पन्द्रह दिनो के दिन रात होते है। दिनो मे वहाँ बड़े कडाके की गर्मी और रात मे बड़ी करारी ठंडक होती है। सूर्य का व्यास पृथ्वी से १०८ गुना है किन्तु तोल मे वह पृथ्वी से केवल ३,२०,००० गुना है। वह समय के साथ सिकुड़ रहा है। सौर-परिवार मे दस ग्रह है अर्थात् बुध, शुक्र, पृथ्वी, मगल, अवान्तर ग्रह, गुरू, शनि, यूरेनस, नेप्चून और प्लूटो। इसी क्रम से इन ग्रहों के एक एक साल (अर्थात् सूर्य के इनके द्वारा चक्कर) हमारे ८८, २२५, ३६५, ६८७, २२००, ४३३२, १०७५९, ३०६८७, ६०१२७ तथा ९१३१२ दिनो के होते है। प्लूटो का एक वर्ष हमारे ३० वर्षों का है। प्राचीन ज्योतिषी अन्तिम तीनो ग्रहो को नही जानते थे तथा अवान्तर ग्रहो का जानना भी सन् १८०१ मे प्रारम्भ हुआ। मंगल मे मनुष्य के समान लोग होगे तथा शुक्र मे शायद वृक्षों के ही समान वस्तुएँ। शनि के उपग्रह टाइटन

में प्राणियों का होना सम्भव है। शेष सारे ग्रह तथा उपग्रहादि मृतजगत हैं। इनमें कोई वृद्ध है, कोई युवा, किन्तु बृहस्पति अभी बालक है। यूरेनस पहले पहल सन १८७८ में देखा गया, नेप्चून सन् १८४१ में तथा प्लूटो सन् १९३० में। प्रति वर्ष असंख्य उल्का पृथ्वी, सूर्य आदि पर गिरा करते हैं। नेप्चून सूर्य से २ अरब ७८ करोड़ मील दूर है। कई केतु इससे भी दूर जाते हैं। हमारा कहने सुनने भर का कुछ पुष्ट ज्ञान उपर्युक्त सौर परिवार मात्र का है। इनमें केवल सूर्य एक तारा है, शेष सब ग्रह उपग्रह, केतु, उल्का, अग्निबिन्दु आदि हैं।

आकाश में लाखों करोड़ों तारे हैं जिनमें कई सूर्य से बहुत बड़े हैं। ज्येष्ठा तारा सूर्य से साढ़े तीन लाख गुना है तथा कपेला ८००० गुना। सैकड़ों तारों के अपने अपने सौर परिवार हैं जिन सबको लिए हुए वे प्रति सेकिण्ड सैकड़ों मीलों तक की गति से न जाने किधर जा रहे हैं। सम्भवतः वे भी किसी की परिक्रमा करते हैं। कोई सूर्य बालक है, कोई युवा, कोई वृद्ध कोई मृत और कोई गर्भस्थित तथा कोई आगे गर्भ में आवेंगे। आकाश गंगा तथा सर्पिल नीहारिकाओं में नित्य नए तारों के बनने का क्रम चलता रहता है। तारों की अवस्था उनकी ज्योति के रंग से परखी जाती है। हमारे सूर्य प्रायः ८० वर्षादि मनुष्य के समान अवस्था में है। इनकी अवस्था का एक-एक सेकिण्ड हमारे हजारों लाखों वर्षों का होता है। मृत सूर्यों में भी बहुतेरे अभी खण्ड-खण्ड नहीं हुए हैं वरन् अपनी ज्योति और गर्मी खोकर अपने मृत ग्रहों आदि के साथ पुराने मार्ग पर चले जा रहे हैं। इस प्रकार विश्व में कोटिकोटि ब्रह्माण्ड प्रस्तुत हैं जिनकी पूरी गणना जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। यह सारा कारबार गुरुत्वाकर्षण आदि के बल पर चल रहा है। ज्योति एक सेकिण्ड में १,८६००० मील चलती है। ऐसे भी तारे हैं जिनकी ज्योति हमारी पृथ्वी पर लाखों वर्षों में पहुँचती है। यदि वे आज नष्ट हो जायँ तो भी लाखों वर्षों तक हमें वैसे के वैसे चमकते हुए दिखेंगे। इन तारों के ग्रह उपग्रहादि में कौन या कितने मृत या जीवित जगत् हैं, यह बताना असम्भव है।

वाष्पाणव में पहले छोटे-छोटे असंख्य कण होंगे जो गुरुत्वाकर्षणादि शक्तियों के कारण आपस में टकरा टकराकर छोटे बड़े गोले बनाते रहे। ये गोले भी टकरा-टकराकर एक दूसरे में मिलते रहे होंगे। समय के साथ ऐसे गोले तैयार हो गए जिनके मार्ग मुख्य गोलों से पृथक् होने से उनमें यह टकराने का क्रम समाप्त हुआ। नियम यह है कि यदि कोई छोटा गोला किसी बहुत बड़े के प्रभाव क्षेत्र में आ जाता है तो उससे मिलने के पूर्व पहले ही से खण्ड खण्ड हो चुकता है। समझा जाता है कि हमारा सूर्य पहले केवल अकेला होगा जिस दशा में वह किसी भारी तारे के प्रभावक्षेत्र में कुछ काल के लिए आ गया किन्तु खण्ड-खण्ड होकर और उसमें मिलकर समाप्त होने के स्थान में फिर बाहर निकल गया। इस बीच में उसकी आकर्षण शक्ति के कारण उसका आकार सूर्य का वृत्त कुछ लम्बा हो गया तथा कीली (अक्ष) पर घूमने के कारण कई खण्ड उससे निकल निकलकर बाहर चक्कर लगाने लगे। यह सब ग्रह हो गए। ग्रहों के रूप पूरे गोले न होकर पहले कुछ चटोलेदार थे सो अपनी अपनी धुरी पर घूमने के कारण उनसे भी कुछ भाग निकलकर उपग्रहादि हो गए तथा अपने-अपने ग्रह के चक्कर लगाने लगे। हमारा चन्द्रमा इसी प्रकार बना हुआ समझा जाता है। यहाँ तक सोचा जाता है कि जहाँ अब प्रशान्त महासागर है वहीं से भू-भाग निकलकर चन्द्र बन गया होगा। बृहस्पति के ९ चन्द्र हैं जिनमें चार मुख्य हैं। बृहस्पति को मिलाकर पाँचों मुख्य गोले एक ही सीधी रेखा के रूप में हैं। शनि के भी कई उपग्रहादि हैं। ऐसा ज्ञात हुआ है कि हमारा सूर्य हर्क्यूलीस लायरी नामक तारे की ओर अब भी जा रहा है। सूर्य प्रति सेकिण्ड ११ मील चलता है।

तारे अधिकतर राजमार्ग (आकाश गंगा) में या इसके निकट देख पड़ते हैं। आकाशस्थ जो अंश इससे जितने ही दूर हैं उसमें उतने ही कम तारे हैं। तारों की संख्या ५० या ६० करोड़ से कम न होगी, ऐसा कूता गया है। जितना आकाश हम देखते हैं सम्भवतः उसके बाहर भी तारा-समूह पूर्ण दूसरा आकाश हो। इस प्रकार के कई लोकों पर ज्योतिषियों का उचित विश्वास है। सारे विश्व की सृष्टि या प्रलय का कथन असंगत है क्योंकि उत्पत्ति और नाश विश्व के अंश-मात्र का होता है। आदि में केवल आकाश होगा जिसका कुछ अंश वाष्पपूर्ण (वाष्पाणव) हो जाता है। एक-एक नभस्तूप में बहुतेरे तारे बनते हैं। जायसन आदि ऐसे सैकड़ों नभस्तूप हैं। ज्योतिषियों ने उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार से लगाया है—नभस्तूप नाक्षत्रिक तारे, श्वेततारे, पीले, लाल, श्याम-लाल, मृत, भस्म होते हुए तारे आदि। सभी प्रकार के तारे आज
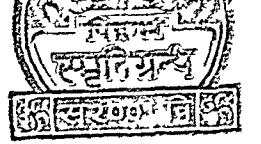
भी आकाश मे देखे जाते हैं। एक रंग के तारे आकाश में पास-पास दिखते है जिससे समझ पड़ता है कि उनकी उत्पत्ति प्राय साथ ही साथ हुई होगी। तारों के समान कभी कभी ग्रहों की भी उत्पत्ति नभस्तूपो मे हो जाती है किन्तु इनका वयक्रम तारो से वहुत कम होता है। इनका जीवन तो भी तारो के ही प्रकार से चलता है। पृथ्वी मे पहले निरन्तर पानी वरसता करता होगा। ऐसे समय मे वादल पृथ्वी की ही गर्मी से विशेष वनते थे। जव धीरे धीरे पृथ्वी ठण्डी हुई तव, यह वादल कम वनने लगे और एकत्रित जल से समुद्र वन गए। समय पर यहाँ वायु और जल की कमी होगी और पृथ्वी की वही दशा हो जायगी जो आजकल मगल की है। जो जीवधारी उस थोडे जल वायु में रह सकेंगे वही जियेंगे, शेष नष्ट हो जायँगे। जव समय पर इतना जल वायु भी न रह जायगा, तव कई अन्य ग्रहों के समान पृथ्वी भी मृत जगत वन जायगी; समय पर भस्म होकर फिर कारणार्णव मे परिणत होगी और तव किसी नभस्तूप का अंश होकर शायद कोई सौर परिवार वनने में इसके भी कण योग दे। यही वास्तविक प्रलय और उत्पत्ति का क्रम है।

आज भी एक-एक तारा प्रवाह मे हजारों सौर चक्र है तथा जगत मे सैकड़ो तारा प्रवाह है। प्रति-क्षण उत्पत्ति और विनाश का वाजार तारो के सम्वन्ध मे भी गरम रहता है। जगत मे स्थान की अनन्तता भी चित्त को चक्कर मे डालती है। आकाश मे स्थान कहाँ तक फैलता चला गया है सो ध्यान मे नही आता। ईस्टिन महोदय का एक सिद्धान्त निकला है जिसके अनुसार स्थान सान्त होकर किन्ही (वृत्तो) चक्करो से भी चलता है सीधा नही। उधर इन वृत्तों के आगे भी किसी न किसी रूप मे स्थान होगा ही। समय की भी अनन्तता होती ही है जो समझ मे नही आती। कहा जाता है कि विना पृथ्वी के अपनी कीली (अक्ष) पर घूमने के हमे समय का वोध जव हो ही नही सकता था, तव जहाँ पृथ्वी सूर्यादि का पता नही है, वहाँ समय भी नही है। इस तर्क पर भी निश्चय नही जमता है। समय की हमारी नाप पृथ्वी की चाल से भले ही हो, किन्तु विना नाप के भी समय है ही क्योकि कुछ स्थानो मे जव पृथ्वी की चाल से हम समय नापते है तव विना चालवाले इतर स्थानो मे भी तो वही समय वीतता है। सृष्टि के उपर्युक्त क्रमो पर ध्यान देने से ईश्वरीय प्रति दिन मे संसारोत्पत्ति तथा प्रति रात्रि मे उसके विनाश की कल्पना असगत दिखने लगती है। विश्व मे उपर्युक्त सभी पदार्थ सम्मिलित होने से उसकी ससीमता की कल्पना भी जँचती नही। आकाश जगत का अंग है ही और वह अनन्त भी है। ऐसी दशा मे ईश्वर उसके अन्दर तो हो सकता है किन्तु वहिश्च (वाहर भी) कैसे है यह सहज वुद्धिगम्य नही, क्योकि विश्व जव असीम है तव उसके वाहर क्या हो सकता है? इन्ही सव वातो का कथन वेदान्त मे आने से ज्योतिप के अनुसार पहले जगत का कथन कर दिया गया है जिसमे स्थान स्थान पर उसके समझने मे भ्रम पडने का खटका न रहे। अव वेदान्त का विषय उठाया जाता है।

वेदान्त—हमारे यहाँ के धार्मिक विचारों मे चारो सहिता, सारे ब्राह्मण, उपनिपद् और आरण्यक ग्रंथ अनादि और अपौरुषेय है तथा सवकी सज्ञा वेद है। यह पर हम विश्वासात्मक भावो पर न जाकर तर्कात्मक विचारो के आधार पर कथन करेंगे तथा सहिता को वेद कहकर इतर ग्रंथों को उन्हीके नामो से पुकारेंगे। मुख्यतया उपनिषद् के आधार पर ही वेदान्त है तथा ब्रह्मसूत्र (वेदान्त दर्शन) वेदान्त के उपकारी मात्र है और केवल गौणरूप से वेदान्त कहे जा सकते है। ब्रह्म, जीव और जड को तत्वत्रय कहते है। महर्पि पतञ्जलि के अनुसार वेद की शाब्दी भावना नित्य नही वरन अर्थी भावना (प्रज्ञा) मात्र नित्य है। भागवत पुराण मे ब्रह्मा आदि कवि कहे गए है। उपनिषत्कार हमारे ऋषिगण वुद्धि (Intellect) से तो विशेप काम लेते ही थे किन्तु प्राय वोधि (Intuition) का भी प्रयोग अपने निर्णयो पर पहुँचने को करते थे। यहाँ तक माना गया है कि ऋषियो की प्रधानता वोधि मे है तथा टीकाकारो की वुद्धि मे। फिर भी दर्शन के निष्कप वुद्धि द्वारा ही ग्राह्य हो सकते है न कि वोधि द्वारा। वोधि का मान धार्मिक हो सकता है, दार्शनिक नही। हमारे यहाँ दर्शन थोड़ा वहुत धर्म से मिला रहा है तथा पीछेवाले दार्शनिक अपने पूर्ववर्तियो का मान आवश्यकता से इतना अधिक करते रहे कि उन्होने अपने नवीन विचारो तथा आविष्कारो का कथन नवीनता के रूप मे न करके प्राचीन शब्दों के ही नवीन अर्थ लगाकर अपने को नवदार्शनिक न कहकर प्राचीनो का टीकाकार मात्र कहा। ऐसी दशा मे जो नवभाव प्राचीन शब्दों में किसी भाँति न लाए जा सके होगे उनके कथन ही न किए गए होगे। इस प्रकार पूर्ववर्ती दार्शनिक ऋपिगणों परवर्त्तियो

(उसके ब्रह्म के पहले, पीछे, भीतर या बाहर अन्य कुछ भी नहीं है।)

तदनन्यत्वम। वादo ब्रo २।१।१४। (ससार ब्रह्म से अभिन्न है।)

(११) एष ब्रह्मैष इन्द्र, एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पन्च भूतानि पृथिवी वायु आकाशआपो ज्योतींषी- त्येतानीमानि चक्षुद्र मिश्राणीव बीजानी तराणि, चेतराणि चाण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि चोदिभज्जानि, चास्वागावा पुरुषा हस्तिनो यत किञ्चेदप्राणि जगमचपतत्रिच यच्च स्थावरम् सव त प्रज्ञानेत्रम् प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम प्रज्ञानेत्रोलोक प्रज्ञा प्रतिष्ठिता प्रज्ञान ब्रह्म। ऐतरे० ३ ३२,

यह (सब) ब्रह्म है और यही इन्द्र है और यही प्रजापति है और सब ये देवता ब्रह्म है पञ्चमहाभूत (अर्थात्) पृथ्वी, वायु आकाश, जल, तेज ये ब्रह्म हैं और क्षुद्र मिलनेवाले जीव भी और कारणवाय और इनसे इतर अण्डों से उत्पन्न होनेवाले और गर्भाशय जात् जीव और पसीने से उत्पन्न होनेवाले (कीडे मकोडे) और वनादि ये सब ब्रह्म है और घोडे, गऊ बैल, मनुष्य, हाथी और जो कुछ यह प्राणवाला चरजीव है और पखवाले और जो अचल पदार्थ हैं सो सब प्रज्ञानरूप नेत्रवाले और प्रज्ञान विषे स्थित है और लोक प्रज्ञानेत्र है और प्रज्ञा जगत् का आश्रयभूत है अतएव प्रज्ञान (प्रकपज्ञान) ही ब्रह्म है।

(१२) सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् इति ब्रह्म। तैत्तिरीय० प्रथमोनुवाक।

विकारशून्य ज्ञानस्वरूप काल दिक का अवधि से शून्य ऐसा ब्रह्म है।

(१३) तदात्मान स्वयमकुरुत्॥ तैत्ति० २।७।

उस (ब्रह्म) ने खुद अपने को ही (जगत रूप मे) किया, अर्थात् कारणाणव से क्रियाशक्ति के प्रयोग के द्वारा वह ब्रह्म जगत् रूप में हुवा।

(१४) अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्व भावेन चोभयो। अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव प्रसीदति॥ कठ० १३।११४।
वह है, बस इतने ही विचार से वह प्राप्त हो सकता है और पचतत्त्व सम्बन्धी काय, इन्हीं दो से (प्राप्त होने योग्य) है। वह है, इस विचार का जो पा गया है उसके लिये शरीर और इन्द्रियो के समुदाय प्रसन्न होते है।

(१५) तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत॥ईशो० ५।
वह चलता है वह नही चलता (जो भाव चलने का हम समझते है उस प्रकार नही चलता किन्तु क्रियाशक्ति व्यवहार के कारण उन शक्तियो द्वारा वास्तव में चलता है।) वह दूर है वह निकट है, वह इस सारे जगत् के बाहर है। यहाँ भी विश्वानुग और विश्वातिग का भाव कथित है।

(१६) यद्वाचा नभ्युदित येन वागभ्युद्यते। तदेवब्रह्मत्व विद्धिनेद यदिद मुपासते॥ केन० ४।
जो (ब्रह्म) वचन द्वारा न कहा गया है (अपितु) जिसके द्वारा वाणी बोलती है, उसेही तू परमात्मा जान, उस नही जिसकी उपासना करते है।

(१७) तदुर्दर्श गूढ मनुप्रविष्ट गुहाहित गह्वरेष्ठ पुराणम। अध्यात्म योगाधिगमेन देव मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ कठ० १२।४१।

उसको (परमात्मा) जो कठिनता से जाना जाता है, छिपा हुवा है, शरीर के भीतरवाले (जीव) मे भी प्रविष्ट अनादिकाल से है, जो सेवा के भीतर स्थित है और गह्वरेष्ठ (ऐसे स्थान पर है जहाँ पहुँचना दुस्तर है।) जो आकाश रूप अध्यात्मयोग से जाना जाता है ऐसा जानकर धैर्यवान् व्यक्ति हर्ष शोक को त्याग देता है।

(१८) य एष सुप्तेषु जागर्तिकाम काम पुरुषो निर्मिमाण। तदेव शुभ्र तद ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिल्लोका श्रिता सर्वे तदुनात्येतकश्चन॥ एतद्वत॥ कठ० ८।९४।

जो सर्वव्यापक जगत् को बनाता हुआ, परमात्मा के अर्थों को पूर्ण करने के लिए इन (सब) के सोते रहने पर भी जागता

है, वही जगत् का बीजरूप तथा ब्रह्म है, जो नाश रहित कहलाता है। उसी के सब लोग आश्रित है और कोई भी उसके नियमो का उल्लघन नही कर सकता। आश्रित होने से प्रयोजन उसीकी शक्ति से ठहरे हुए से है। वह ऐसा है।

(१९) अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एक स्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ कठ० ९।९५।

जैसे अग्नि एक ही, ससार मे घुसकर प्रत्येक रूप के साथ उसी रूप का हुवा, उसी भाँति सारे जड़-जगम पदार्थो मे व्याप्त होनेवाला आत्मा (ब्रह्म) प्रत्येक रूप के साथ वैसा ही है तथा वाहर भी।

(२०) भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥३।१०४॥

उसी परमात्मा के भय (आशय) से आग जलती है, उसी के आशय से सूर्य तपता है, उसी के आशय से इन्द्र (मेघ) और वायु (काम करते) है और (इन चारो से इतर) पाँचवी मौत अपने काम मे लगी है।

(२१) न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदामनीषा मनसाभि क्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ कठ० ९।११०।

इस परमात्मा का रूप सामने नही खडा होता है तथा कोई इसे आँख से नही देखता है। हृदय (प्रेम) से, बुद्धि से तथा मन से सर्वव्यापी प्रकाशक परमात्मा जाना जाता है। जो लोग इसे जान जाते है वे अमर हो जाते है। यहाँ कहा गया है कि केवल बुद्धि और विचार से ही नही वरन् प्रेम होने से भी परमात्मा जाना जा सकता है अन्यथा नही।

उपर्युक्त २१ अवतरणो से निर्गुण ब्रह्म का विवरण किया गया है। इससे जितना ऊँचा परमात्मभाव उस परम प्राचीन काल मे कथित है, उससे बढ़कर किसीने आज तक नही कह पाया है। जगदुत्पत्ति के दो मुख्य विचार है अर्थात् आरम्भवाद और परिणामवाद। पहले का यह भाव है कि किसी समय मे ईश्वर ने स्वेच्छा से विश्व बनाया। ऐसा सोचने मे उसमे इच्छा का स्थापन करना पड़ता है जो एक दरिद्रता गर्भित भाव है क्योकि जिसके पास कोई कमी नही वह इच्छा किस बात की करेगा? यदि यह कहा जाए कि संसार रचना की शक्ति रखकर भी उसके पास ससार न था जिसके रचने की उसने इच्छा की, तो भी बिना ससार के उसे कुछ तो कमी भासित हुई, तब न उसने ससार बनाया। इसीलिए आरम्भवाद कुछ नीचा भाव है, यद्यपि उपर्युक्त अवतरणो मे से कुछ से निकलता अवश्य है। किसी समय मे पूरा का पूरा विश्व वर्तमान रूप मे ईश्वर द्वारा बनाया जाना मानने से विश्वासी पुरुष हमारे सारे अनुभवो तथा प्राकृतिक नियमो के भी प्रतिकूल जाता है। परिणामवाद का प्रयोजन यह है कि पहले कारणार्णव था जिससे प्राकृतिक शक्तियो द्वारा विश्व बना जो अब भी उन शक्तियो के व्यवहार से उन्नतिशील है। कारणार्णव के अनादि होने तथा शक्तियो के भी अनादि होने से ईश्वर मे कभी कोई इच्छा स्थापित नही होती, केवल उसके नियम उन्नतिशील है। उपर्युक्त कई अवतरणो मे बिना ईश्वरेच्छा के भी सासारिक नियमो से जगत् का निर्माण कथित है जो निर्माण कारणार्णव की क्रमिक उन्नति से होता आया है और अब भी हो रहा है। इसीलिए कथन जगत् बनाते हुवे का है नकि बनाने का। बनाने का काम अब भी चल रहा है और अनन्त पर्यन्त चलता रहेगा। अतएव यह भाव बहुत ही ऊँचा है और कई मत्रो से प्रतिध्वनित भी होता है। यह कहा गया है कि परमात्मा से इतर जग मे कुछ नही है। विज्ञान भी इस बात को सिद्ध कर चुका है कि निर्जीव जगत अन्तिम अवस्था मे परमाणुओ का समूह है तथा प्रत्येक परमाणु केवल शक्तियो का केन्द्र है। अतएव निर्जीव जगत् शक्तियो का केन्द्रमात्र होकर और परमात्मा का शक्ति समूह होने से उससे बाहर नही रह जाता। सजीव जगत् मे निर्जीव से बढकर सजीवताभर विशेष है। जीव भी शक्ति से इतर कुछ न होकर पूरा निर्जीव और सजीव जगत् ब्रह्म का ही अंग दिखता है। इन मंत्रो मे परमात्मा केवल विचारमग्न होकर इन्द्रियो की शक्ति से बाहर माना गया है। तो भी इतनी कठिनता पड़ती है कि विश्व-रूप होकर परमात्मा विश्वानुग तो है, किन्तु विश्वातिग भी है या नही? हमारे उपनिषदो मे उसे विश्वातिग भी माना गया है। यह बात तभी कही जा सकती है जब विश्व ससीम हो। आकाश भी जब जगत् का अग है और वह असीम (अनन्त) है ही, तब विश्व ससीम कैसे कहा जा सकता है? यह प्रश्न हमारे उपनिषदो मे उठाया ही नही गया, फिर भी विश्व ससीम मान लिया गया, नही तो विश्वातिगता का भाव कैसे कहा जाता? कुछ महात्माओ से भी हमने यही जिज्ञासा की तो उनका यही

तब हुआ कि विश्व हमारे लिए असीम अवश्य है किन्तु ब्रह्म के लिए नहीं। उत्तर यही प्रत्यक्ष है कि कोई असीम वस्तु किसी के लिए भी ससीम न हो जायगी। फिर परमात्मा जब अज्ञेय है तब उसके लिए कोई वस्तु कभी है या हम जान ही कैसे सकते हैं? इन दोनों बातों के अतिरिक्त अपने शास्त्रीय ब्रह्मज्ञान के विषय में कोई शंका उठती नहीं दिखती और अपने शास्त्रीय ब्रह्मज्ञान की महत्ता तो प्रत्यक्ष ही सर्वमान्य है। एवं यह भी बात कही जा सकती है कि जहाँ विश्व ससीम माना गया है वहाँ वह केवल दृश्य जगत के भाव में आया है। विश्व का मूल विश शब्द है जिससे वेद में भी विश और अन्य शब्द आए हैं जिनका सम्बन्ध इस जगत से है। आकाश हमारे यहाँ भी असीम माना गया है। उसे उपादानकारण मानने में ही शंका उठ सकती है। यह अर्थ ध्यान में आने से शास्त्र का विश्वातिगवाला भाव तो तदनुकूल हो जाता है, किन्तु अपने आचार्यों ने विश्वातिगता से जगत के बाहर भी परमात्मा का अस्तित्व मानकर एक प्रकार से जो परमश्रवणीय महत्ता दिखलाई है, वह भाव लुप्त हो जाता है।

ब्रह्म का अज्ञेय कथन—(१) न सत न चासत् शिव एव केवल। श्वेताश्वतर, ४।१८।
वह सत है न असत, केवल अद्वैत शिव है।

(२) अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ गीता १३।१२।
वह ब्रह्म अनादि है, वह न सत है न असत।

(३) कश्चेतनो पि पाषाण। योगवाशिष्ठ। ब्रह्म चेतन होकर भी पाषाण (सा) जड़ है।

यहाँ के प्रथम दो मंत्र ब्रह्म में सत्ता और असत्ता दोनों स्थापित करके प्रतिकूलता का पोषण करते दिखते हैं, किन्तु मुख्य भाव यही समझ पड़ता है कि वह हमारे लिए अज्ञेय है।

जैसे भाव परमात्मा के सम्बन्ध में कह गए हैं, उनसे परमात्मा का भाव जगत से अभिन्न विश्वेश्वर भाव (Pantheism) हो जाता है। इसीलिए हमारे ऋषियों ने विश्वातिगता का विचार दिखलाया है कि हम विश्व को ही ईश्वर मानने के कथन से बचें। इसका विवरण परमात्मा सम्बन्धी भूमावाद में विशेष है। उसमें ब्रह्म सम्बन्धी कई और भी ऊँचे ऊँचे भाव कथित हैं। मुख्य बात यह दिखती है कि मनुष्य की बुद्धि ससीम होने से असीमता का पूर्ण भाव उसकी समझ के बाहर है।

भूमावाद (Pantheism)—भूमैव सुखम् नाल्पे सुखमस्ति। छान्दो०॥ भूमा ही सुख है, अल्प (मनुष्य) में सुख नहीं है।

यत्रनान्यत् पश्यति, नान्यत् शृणोति, नान्यत् विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत् पश्यति, अन्यत् शृणोति, अन्यत् विजानाति तदल्पम्। योवैभूमा तदमृतं अथ यदल्पं तन्मर्त्यं। छान्दो० ७।२४।१।
(जहाँ और को नहीं देखता, नहीं सुनता नहीं जानता वह भूमा (निर्गुण ब्रह्म) है। और जहाँ और को देखता है, सुनता है (तथा) और को जानता है, वह अल्प (लघु, मनुष्य) है। जो वह भूमा है वह अमर है और जो अल्प है वह मर्त्य (मरनेवाला) है।

यत्रत्वस्य सर्व मात्मैवाभूत्तत्केनकं जिघ्रेत, तत केनकं पश्येत् तत केनकं शृणुयात् तत केनकं अभिवदेत तत केनकं मन्वीत तत् केनकं विजानीयात॥ बृह० २।४।१४।
(जहाँ सब कुछ उसी का आत्मा ही होगा, वहाँ किसके द्वारा कौन सूँघा जायगा? वहाँ कौन किसे देखेगा, वहाँ कौन किसे सुनेगा, वहाँ कौन किससे बोलेगा, कौन किसका मनन करेगा, कौन किसे जानेगा?)

नह्यस्य प्राच्यादि दिशः कल्प्यन्तेऽस्य तिर्यगाश्चोर्ध्वाश्चाधश्च नूह्य एव परमात्मा परिमितोऽज। मैत्राणि उपनि० ६।१७। (उसके लिए पूर्वादि दिशाएँ नहीं हैं, ऊपर नीचे भी नहीं है, वह निराधार, असीम और अज है।)

नैवमूर्ध्वंन तिर्यञ्चनमध्ये परिजग्रभत्। श्वेताश्व० ४।१९। (ऊपर, बगल अथवा बीच मे वह कही से भी घेरा नही जा सकता।)

पुरुष एवेद सर्वं यद्भूतं यच्चभव्यम्। (ऋग्वेद) (सब जो कुछ है, जो कुछ हुवा था अथच जो होगा वह सब पुरुष (परमात्मा) ही है।)

आत्मैवेदं सर्व्वं—छान्दो० ७।२५।२। (यह सब आत्मा ही है।)

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता। सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः॥ माण्डक्यकारिका॥

जिस प्रकार अन्धकार मे निश्चय की कमी से रस्सी मे सॉप की कल्पना हो जाती है, उसी भॉति आत्मा मे ससार की कल्पना है। यहॉ थोड़े ही आधार पर ससार की असारता मान ली गई है जो बहुत मान्य नही है। यह उत्प्रेक्षा एकांग मे प्रत्यक्षतया ज्ञातव्य होकर भी दूसरे पक्ष मे इसी प्रकार ज्ञेय न होने से ठीक न बैठेगी क्योकि ससार के पक्ष मे अल्पायु होने से जिज्ञासु उसके मिथ्या रूप का निश्चय नही कर सकता।

प्रतीति मात्रमेवैतद् भाति विश्वं चराचरम्। मायैव अघटन घटना पटीयसी।

(जो विश्व की प्रतीति हम सबको होती है वह माया के बल से, क्योकि सकल्प शक्ति द्वारा माया (Hypnotism की भॉति) अघटित घटना हुईसी दिखला सकती है। यहॉ अपना शास्त्र तर्क तजकर सीधा विश्वास पर आ गया है क्योकि यदि जादू से कोई अघटित घटना दिखलाई भी जाय तो उसके सहारे से सारा अनुभव नही कट सकता।)

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः। (गीता)

(असत् का भाव (होना) नही हो सकता तथा सत् का अभाव नही हो सकता।)

यहॉ प्रकट है कि हमारा वेदान्त अभाव से भाव की उत्पत्ति नही कहता। इसलिए सृष्टि अनादि मानी जायगी नहीं तो अभाव से भाव की उत्पत्ति आ जायगी।

आत्मा वा इदमग्नआसीत्॥ ऐत० २।१। (यह परमात्मा ही पहले था।)

सतपः तप्त्वा इदं सर्व्वं असृजत् यदिदं किञ्च—तैत्तिरीय० २।६।

उसने तप (शक्ति का व्यवहार) करके यह जितना कुछ (सारा विश्व) है उसका सृजन किया। यहॉ इच्छा का कथन न होने से यह मत्र आरम्भवाद मे न जाकर प्राकृतिक शक्तियो द्वारा विश्व-सृजन का समर्थन करता हुवा परिणामवाद का पोषक माना जा सकता है।

तत्सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्॥ तैत्तिरीय० २।६।

विश्व को रचकर परमात्मा पीछे से उसी मे प्रवेश कर गया। इस स्थान पर उपनिषद् ब्रह्म को पहले जगत् के बाहरसा मानकर आरम्भवाद की ओर चला गया है। वैज्ञानिक विचार तो ऐसा है कि जड़ और चेतन जगत् अन्त मे केवल शक्ति का केन्द्र होकर सारी प्रकृति शक्ति मात्र रह जाती है जो शक्ति समूह परमात्मा से पृथक् न होने से अद्वैत मत आता है। विविध वस्तुएँ सदैव थी और उनका अस्तित्व केवल परमात्मा मे था। प्राकृतिक शक्तियो की सत्ता, स्थिरता, आयोजन तथा समय के साथ विश्व की उन्नति के ही अनुभव से हम ब्रह्म की सत्ता का विचार करते है। यदि जगत् का आश्रय छोड़कर परमात्मा पर विचार करे तो उसका अस्तित्व अनुभवाश्रित, विचाराश्रित, या तर्काश्रित न होकर केवल विश्वासाश्रित रह जायगा। ऐसी दशा मे ब्रह्म का किसी समय जगत् मे प्रवेश करना तर्कविज्ञान और विचार के प्रतिकूल जायगा क्योकि विश्व ही के रूप मे उसका अस्तित्व समझ मे आ सकता है, "अन्तर्बहिश्च" का वाक्य विचाराश्रित या विज्ञानाश्रित न होकर केवल विश्वासवाद है, क्योकि यह विचार विश्व को ससीम और परमात्मा को असीम मानता है, किन्तु जगत् की ससीमता का हमारे सामने कोई प्रमाण नही है, वरन् ब्रह्म का अस्तित्व हमे विश्व से ही ज्ञात है और हो सकता है। जगत् से बाहर के कथन विश्वासमात्र रह जाते है सोभी विज्ञान के प्रतिकूल, जिससे उन्हे असिद्ध मानना

पड़ना है जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। यदि यह असीमता केवल दृश्य जगत् से सम्बद्ध मानी जाय तो कोई झगड़ा नहीं रह जाता।

मयाततमिदम् सर्व्वं जगदव्यक्त मूर्तिना ॥गीता।

मैं अव्यक्त रूप से सारे जगत् में व्याप्त हूँ। यहाँ जगत् को ईश्वर का रूप शब्दों में नहीं कहा गया है किन्तु है प्रस्तुत। अव्यक्त (प्रकृति, आत्मा) व्याप्त है ही क्योंकि जब वह शक्ति रूप है और उससे इतर कोई शक्ति नहीं तथा विश्व भी शक्ति का केन्द्र मान है, तब वही विश्व रूप हो जाता है। इन कारणों से यद्यपि भूमावाद ब्रह्म का कथन मात्र जगत् के बाहर होने का भी करता है तथापि वह निराकार हो जाता है, और ब्रह्म विश्वरूप ही होने से वह भूमावाद(Pantheism) (विश्वेश्वरवाद) के आगे कथन मात्र में जाता है, विचाररूपेण साधारण प्रकार से नहीं। गीता का उपर्युक्त कथन इसी मत का समर्थन-सा करता है। यहाँ परमात्मा विश्वानुगमात्र है विश्वातिग भी नहीं। "पादोऽस्य विश्व भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि"। (परमात्मा के एक पाद में सारा विश्व है और तीन पाद विश्वातिग (अमृत) है। यहाँ भी विश्वासवाद दिखता है। 'बहिरन्तश्च भूतानाम्।" (गीता) (परमात्मा भूतों) निर्जीव सजीव पदार्थों के भीतर है तथा बाहर भी।) अतएव हमारे शास्त्रों का मत है कि ब्रह्म जगत् के परिमाणत्व में आतप्रोत है। इस भाँति वह विश्वानुग होकर प्रपञ्चातिरिक्त भाव में विश्वातिग भी है। यह अन्तिम भाव उसकी महत्ता के कारण जोड़ा सा गया है और बोधि में बैठता भी है क्योंकि यदि उस जगत्भर में ही माना तो कुछ ससीमतासी दिखती है, किन्तु बोधि द्वारा प्राप्त ज्ञानानुद्ध यानि होने से तर्क द्वारा समर्थित न होकर विश्वासात्मकमात्र रह जाता है। इतना ही दोष इस भारी और उदार विचार में पड़ता है। 'तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्" (तैत्तिरीय) स्वगुणैर्निगूढाम् (श्वेता०) विश्व को रचकर वह (परमात्मा)उसी में प्रविष्ट हुआ (यहाँ आरम्भवाद आ जाता है जो विज्ञान और तर्क से ईश्वरीय महत्ता के प्रतिकूल पड़ता है।) तथा प्रपञ्च जाल में अपने आपको घेर लिया। (यहाँ भी आरम्भवाद आ जाता है।) जगत सर्वं शरीरले। (रामायण) (सारा जगत् परमात्मा का शरीर है) यह कथन वर्तमान विचार में भी मिल जाता है।

सर्व्वानन शिरोग्रीव सर्व भूतगुहाशय। सर्व्वव्यापी स भगवान तस्मात् सर्वगत शिव ॥ (श्वेताश्व० ३।११)

सबके मुखवाला (अर्थात् सब मुख उसीके मुख हैं) सबके शिरवाला, (तथा) सबका गर्दनावाला वह परमात्मा सबके मध्य स्थित होने से शिव (कल्याणकर) और सर्वगत (सबके भीतर विराजमान) है।

सर्वत पाणिपाद तत सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम। सर्व्वत श्रुतिमल्लोके सर्व्वमावृत्य तिष्ठति ॥ (श्वेताश्व० ३।१६)

उसके हाथ, पैर, आँख, शिर, मुख, कान सब कहीं हैं, वह सब में व्याप्त होकर वर्तमान है। इन मंत्रों में वर्तमान विचारों का भी समर्थन है। यहाँ ईश्वर समष्टि रूप से व्यष्टियों में स्थित कहा गया है। वास्तव में शुद्ध भूमावाद को समष्टिवाद द्वारा समर्थित होना चाहिए। हमारा शरीर असंख्य cells कोषाणुओं (घटकों) से बना हुआ है। उनमें से प्रत्येक कोषाणु औरों के साथ पूर्ण शरीर स्थापन में तो योग दिया करता है किन्तु अपना स्वतंत्र जीवन भी रखता है। हमारे शरीर में प्रतिक्षण सैकड़ों कोषाणु मरते तथा नवीन उत्पन्न होते रहते हैं। शरीर बिना कहे देखने में जैसे का तैसा बना रहता है किन्तु उसके कोषाणु बराबर बदला करते हैं। इसी प्रकार सांसारिक पदार्थ प्रतिक्षण बदलते अवश्य रहते हैं किन्तु समष्टिरूप में परमात्मा उनका आधारभूत होकर भी नहीं बदलता। महेश्वर को ब्रह्म और ईश्वर को ब्रह्मा समझने का भाव धार्मिक हो सकता है, दार्शनिक नहीं।

कोटि कोट्ययुतानीशे चाण्डानि कथितानितु। तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्राह्मणो हरयोभवा ॥ (देवी भागवत)

ब्रह्माण्ड अयुतों करोड़ों हैं और उनमें से प्रत्येक में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं। उन सबके समष्टि रूप महेश्वर हैं। (ब्रह्म विष्णु शिवा, ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्म शक्तय) ॥ ब्रह्मा, विष्णु और शिव ब्रह्म की प्रधान शक्तियाँ हैं।) यह कथन धार्मिक है दार्शनिक नहीं।

महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्नपरं किञ्चित् साकाष्टा सा परागतिः॥ कठ० १।३।११।
प्रकृति से अव्यक्त बडा है और अव्यक्त से पुरुष। पुरुष से वड़ा कुछ नही है। वही पराकाष्ठा और परम गति है।

उपर्युक्त विचारो से समझ पड़ता है कि हमारे जो भूमावाद से ग्राह्य विचार है वे (Pantheism) के आगे नही वढ़ते, क्योकि हमारा विश्वानुगता का विचार Pantheistic है ही और विश्वातिगता तर्काश्रित न होकर केवल विश्वासात्मिका है। इतना होने पर भी हमारा शुद्ध भूमावाद है सर्वोत्कृष्ट और इसके वरावर तक परमेश्वरीयभाव संसार के किसी धर्म मे तो है नही, दर्शनशास्त्र मे भी शायद न होगा। केवल Pantheism के नाम से भड़ककर हम लोगो को अपने परमोत्कृष्ट भूमावाद की उपेक्षा न करनी चाहिए।

ब्रह्म का सगुण कथन—(१) द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूप भेदोपाधि विशिष्टं तद्विपरीतञ्च सर्वोपाधि-विवर्जितं। शंकर।

ब्रह्म के दो रूप वतलाए गए है, एक तो नाम रूप भेदोपाधिवाला तथा दूसरा उसके विपरीत सभी उपाधियो से विवर्जित। (इन्ही दोनो को सविशेष लिंग और निर्विशेष लिंग भी कहते है।)

(२) एतद्वैसत्यकाम परञ्च अपरञ्च ब्रह्म। प्रश्नोप० ५।२।

हे सत्यकाम। यह ब्रह्म पर है और अपर भी। (सविशेष लिंग पर है तथा निर्विशेष अपर।)

(३) अभिध्येये शब्दश्च अशब्दश्च। मैत्री ६।२२।

ब्रह्म का ध्यान शब्द और अशब्द दोनो प्रकार से करना चाहिए। (निर्विशेष ब्रह्म का कथन तत् द्वारा होता है और सविशेष का सः द्वारा।)

(४) द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तंचामूर्त्तञ्च मर्त्यम् चामृतञ्च॥ वृह० २।३।१।

ब्रह्म के दो रूप है मूर्त्त तथा अमूर्त्त, मर्त्य और अमृत। इन दोनो प्रतिकूल भावो का तर्क से सामजस्य नही हो सकता। जव ससार मे ज्ञानगम्य विचारो के मान करनेवालो की संख्या पड़ते मे बहुत कम निकली, तव विश्वासात्मक अपर भाव निकाला गया जो तर्क से असिद्ध होकर भी उपयोगिता से संसार मे चला।

(५) लीलयावापियुज्जेरन् निर्गुणस्यगुणाः क्रियाः॥ भागवत ३।७।२।

निर्गुण ब्रह्मलीला के द्वारा गुण और क्रिया से युक्त होता है। (वह ऐसी लीला क्यो करता है; इस प्रश्न का उत्तर सुगम नही है।)

(६) गृहीतमायोरुगुणाः सर्गादावगुणः स्वतः॥ भागवत २।६।२९।

निर्गुण ब्रह्म खुद माया की उपाधि लेकर सगुण हो जाता है। यह तर्क के प्रतिकूल होकर भी आवश्यकता के कारण संसार मे चलाया गया और जोर से चला।

(७) लोकवत् तु लीला कैवल्यम्। वाद० ब्र० २।१।३३ (सृष्टि ब्रह्म की केवल लीला है।)
वैषम्यनैर्वृण्येन सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति॥ वाद० ब्र० २।१।३४।

ससार मे शरीरियो के साथ जो विषमता (लोगो का भली वुरी विविध दशाओ मे उत्पन्न होना) दिखती है वह उन्ही के कर्मानुसार है अथच परमात्मा पक्षपातशून्य है। यदि कहिए कि आदि मे वैषम्य क्यो हुवा, तो ऐसे वैषम्य की आदिम स्थिति का कोई प्रमाण नही है। पहले सब जीव समान हुए होगे और पीछे के जन्मो मे गुण कर्मानुसार विषमता आई।

(८) यस्तूर्ण नाभिः इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतोदेवएकः स्वमावृणोत्॥ श्वेता० ६।१०।

जैसे मकरी अपने ही उत्पन्न किए हुए तारो से अपने को वेष्टित कर लेती है, इसी भाँति प्रकृतिज तन्तुओ से एक ही देव अपने को घेर लेता है। प्रयोजन यह है कि सगुण ब्रह्म भी है वास्तव मे सगुणत्व से परे किन्तु जगत् के कल्याणार्थ सगुण रूप दिखता है। अतएव सविशेष और निर्विशेष कोई भिन्न तत्व नही, जैसे साँप और अहिकुण्डल।

(९) भक्त चित्त समासीन ब्रह्म विष्णु शिवात्मक। सूत संहिता ३।४८।

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक् सृष्टि केवलात्मने। गुणत्रय विभागाय पश्चात् भेदमुपेयुषे॥

तुम तीन मूर्तिवाले को नमस्कार है, जो सृष्टि के पूर्व अद्वितीय एक थे, किन्तु सत्वरजादि तीनो गुणो के विभाग से पीछे भेद को प्राप्त हुए। तुम भक्त के चित्त (मात्र) मे ब्रह्मा, विष्णु और शिव होकर स्थित हो (वास्तव में नहीं।)

(१०) स्यात परमेश्वरस्यापीच्छा वशामायामय रूप साधनानुग्रहायम॥ ब्रह्मसूत्र १।१।२०॥

साधको पर कृपा करने के लिए परमेश्वर भी अपनी इच्छा के वश मायामय रूप धारण करता है। जब ससार में नेतिनेतिपूर्ण "नमःमुखेनिष्ठनिरूपस्य" (इसका रूप सामने नही टिकता) वाली औपनिषत् शिक्षा ससारी साधारण मनुष्यो की ज्ञानशून्यता के कारण न चल सकी, तब इच्छापूर्ण सगुण अपर ब्रह्म का वर्णन होने लगा। पहले तो ईश्वर का विचार केवल सत्तारूप से कठोपनिषत् आदि मे हुवा, अर्थात् हम यह नहीं जानते कि वह कैसा है, केवल इतना ज्ञान है कि वह है किन्तु जब स्वल्पज्ञानी साधको का सन्तोष इस शुद्ध ज्ञान से न हुवा तब लीला और भक्तो पर अनुग्रह की इच्छा से सम्बद्ध, सगुण वर्णन किया गया और उस अव्यक्तात्मा के पर और अपर, अशब्द और सशब्द, निर्विशेष और सविशेष, निर्गुण और सगुण आदि भाव पूर्ण कुछ अशुद्ध किन्तु लोक सग्रहोपयुक्त भाव बादरायण व्यासादि तक ने कहे। इसीलिए कहा गया है कि बोधि ऋषि युग है, तथा बुद्धि भाष्यकार का।

साधकाना हितार्थाय ब्रह्मणोरूप कल्पना। (भक्तो के हितार्थ ब्रह्म के रूप की कल्पना की जाती है।) जब शुद्ध विचारो से उसका कोई रूप है ही नहीं किन्तु स्वल्पज्ञानी साधको की सन्तुष्टि के लिए उस अरूप का रूप कहा जाता है, तब वह कथन वास्तविक न होकर कल्पनामात्र होगा ही। गीता के टीकाकार श्री मधुसूदन सरस्वती कहते है कि अवतार में भगवान का वास्तविक देह सम्बन्ध समझना ठीक नहीं है। यहाँ पर हमारा ऋषि उपयोगितावश साकार कथन करता हुवा भी उसे अशुद्ध बतलाकर निराकारता पर चला जाता है।

अरूप वदेवहि तत्प्रधानत्वात्। सूत्र ३।२।१४। ब्रह्म प्रधानतया अरूप ही कहा गया है।

सर्व्वेन्द्रिय गुणाभास सर्वेन्द्रिय विवर्जितम॥ वह सर्वेन्द्रिय विवर्जित होकर भी सर्वेन्द्रिय गुणोवाला है। सिसृक्षा (सृष्टि रचनेच्छा) उसमें किस कारण से हुई इसका लीला के अतिरिक्त कोई उत्तर नहीं दिया गया है। दिया ही क्या जाता, जब साधको का सन्तोष बिना लीला के न हुवा तब परमेश्वर में भी यह भाव अवश जोडना ही पडा।

जगदुत्पत्ति—(१) अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥ मुण्डक॥

यह ससार अनन्त ब्रह्म से होता है।

(२) सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत॥ ऋग्वेद॥

पहले समान सूर्य और चन्द्र को धाता (धारण करनेवाले) ने कल्पित किया (बनाया)। यहाँ पहले के कथन से यह प्रयोजन नहीं है कि कभी सूर्य चन्द्रादि ससार से लुप्त होकर फिर से बने। ऐसे लोक नित्य प्रति बनते ही रहते है सो नवीन लोक उसी प्रकार से बने जैसे पुराने बनने थे जैसाकि ज्योतिषीय वर्णन में ऊपर आया है।

(३) तद्वेदर्ताहि अव्याकृत आसीत्॥ बृहदारण्यक॥

उस दशा में (ससारोत्पत्ति के पूर्व) वह अव्याकृत अप्रकट (unmanifest) था। यह ऋचा अनुभव को छोडकर बोधि द्वारा ससार की केवल परमाणुपूर्ण कारणावस्थावाली अवस्था कहती है।

(४) सदेव सोम्या इदमग्र आसीत एकमेवाद्वितीयम्। आत्मा वा इदमेव अग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन मिषत्। बृहदा०।

उस पहली दशा में अद्वितीय सत् एक ही था। यही आत्मा ही पहले था और कुछ भी न था। इन मंत्रो में भी उपर्युक्तानुसार ही विचार है।

(५) नासत् आसीत् तदानी नो सत् आसीत् तदानीम्।

उस समय सत् (existence) था न असत्। यह भाव समझना कुछ कठिन है। सत् का होना तो समझ ही पड़ता है किन्तु असत् का नही, क्योकि जब तक सदसत् भेद समझनेवाले ब्रह्म से इतर कोई पुरुष न था तब भी सत्ता तो थी ही (ईश्वर के सम्बन्ध मे ऐसे प्रतिकूल कथन हमारे शास्त्रो मे प्रायः मिलते है जो केवल साहित्यिक है दार्शनिक भी नही।

(६) 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे'।

पहले अन्धकार के द्वारा और भी तमावृत अन्धकार था। यह दशा किसी भी सूर्य की उत्पत्ति के पूर्व कारणार्णववाली स्थिति की है।

(७) स अकामयत् बहुः स्यामप्रजायेव—तैत्ति० ॥ तत् ऐक्षत् बहुस्यां प्रजायेव—छान्दोग्य०

उसने कामना की कि प्रजा के रूप मे मैं बहुत होऊं। उसने प्रजारूप मे बहुत होने की इच्छा की। यहाँ दोनों मंत्रो मे जगदुत्पत्ति के सम्बन्ध मे ईश्वरेच्छा कथित है जो एक दरिद्रता सूचकभाव होने से परमेश्वर के सम्बन्ध मे बहुत ठीक नही है। ये विचार ईश्वरीय सगुणत्व की ओर जाते है।

(८) सोऽपोभ्यतपत् ताभ्याऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत यावैसा मूर्ति रजायतान्नवैतत् ॥ ऐतरेय० १०।

उस (परमेश्वर) ने महाभूतो को तपाया (संकल्प से भावित किया) (उन तपाये हुवों से मूर्ति उत्पन्न हुई और जो वह मूर्ति उत्पन्न हुई वही निश्चय करके अन्न (भोग्य वस्तु) है। इस मत्र मे ईश्वरीय तप (स्फुरण, हरकत) से संसारोत्पादन कथित है जिसमें ईश्वरीय कामना का विचार नही है। ईश्वरीय तप से प्राकृतिक स्फुरण का विचार माना जा सकता है।

(९) तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ईश ५।

वह (परमात्मा) सब के अन्दर है और बाहर भी। यहाँ परमात्मा जब ससार के बाहर भी माना गया तब ससार ससीम समझा गया, किन्तु ससार की सीमा है ही कहाँ? केवल ईश्वरीय महत्ता दिखलाने को वह संसार से बड़ा कहा गया है, किन्तु जब संसार अनन्त है, तब उससे बाहरवाला भाव ठीक बैठता नही।

(१०) सभूमिं विश्वतो वृत्वा अत्य तिष्ठत् दशांगुलम् ॥ ऋग्वेद, पुरुषसूक्त।

सारी भूमि और संसार को घेरकर परमात्मा दश अंगुल अधिक स्थित है। यहाँ दश अंगुल का कथन उदाहरणात्मक है; प्रयोजन यह है कि परमात्मा विश्वानुग (जगत् के अन्दर) तथा विश्वातिग (जगत् के बाहर भी) है।

(११) विष्टभ्याह मिदं कृत्स्नं एकांशेन स्थितो जगत् ॥ गीता १०।४२।

मैं सारे ससार को एक ही अंश से व्याप्त करके स्थित हूँ। यहाँ भी यह दर्शाया गया है कि ईश्वरीयसमग्राश जगत् मे नही है। फिर भी ईश्वर का ज्ञान जब हमे ससार के द्वारा ही होता है, तब उसके बाहर का भाव अनुभवातीत होने से कथन मात्र रह जाता है।

(१२) यच्च किञ्चित् जगत् सर्व्वं दृश्यते श्रूयतेऽपिवा। अंतर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः। नारायण उपनिषत् १३ अनुवाक।

सारा ससार जो कुछ देख या सुन पड़ता है उस सबके भीतर और बाहर भी व्याप्त होकर नारायण स्थित है। यहाँ केवल दृश्य और श्रुत जगत् का कथन है, सारे जगत् का नही। सो यह उसके भागमात्र का कथन समझ पड़ता है, पूरे विश्व का नही। अतएव विश्वातिगता का दोष यहाँ नही है।

वेदान्त

(१३) अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्तत स्थितानि एतादृशानि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डानि सावर्णानि ज्वलन्ति ॥ छा दो०

हमारे इस ब्रह्माण्ड के सब ओर स्थित ऐसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड इसी प्रकार के तेज फैला रहे हैं। यह विचार उपयुक्त ज्योतिषीय वचनो से मिल जाता है।

(१४) प्रतीति मात्र सेवेतद भाति विश्व चराचरम्। मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्। श्वेताश्व० ४।१०।

यह चराचरयुक्त सारा जगत् समझ भर पडता है अपितु वास्तविक नहीं है। प्रकृति को केवल माया समझो। वस्तु की असारता का विचार पाश्चात्य दर्शन में भी है किन्तु दृढ वहाँ भी नहीं मिलता। वस्तुमात्र अन्त में परमाणु है जो शक्तियों का केन्द्रमात्र है। तो भी है वह सत्। सारी वस्तुएँ अन्त में शक्ति के केन्द्रमात्र होने तथा परमात्मा के शक्ति समुदाय होने से वे वस्तुएँ सत्ता केवल परमात्मा में रखती हैं, उससे बाहर नहीं। फिर भी है वह सत्ता वास्तविक। जीवात्मा भी अन्त में शक्तिमात्र होकर परमात्मा से पृथक् सत्ता नहीं रखता किन्तु है वह भी सत्। इस प्रकार परमात्मा से इतर जड चेतन की कोई सत्ता नहीं है और अद्वैतवाद सिद्ध हो जाता है किन्तु इस सिद्धि से प्रकृति की सत्ता घटती नहीं। आजकल भूत और रसायनशास्त्र (Physics and Chemistry) की उन्नति से अद्वैतवाद को मायावाद से इतर तथा विवर्तवाद से पृथक् भी अपूर्व दीप्ति मिलती है जिससे अद्वैतवाद के लिए जगत् को आभासमात्र मानने की आवश्यकता अब नहीं रहती है।

(१५) प्रजाकामोवै प्रजापति सतपो तप्यत सतपस्त्वा मिथुनमुत्पादयते रयिञ्च प्राणञ्चेति एतौ मे बहुधा प्रजा करिष्यत इति ॥ ४॥ प्रश्नो०।

प्रजा के लिए उस प्रजापति ने तप तपा (शक्ति का व्यवहार किया, प्राकृतिक शक्तियों से काम लिया)। उसने तप करके एक जोडा उत्पन्न किया जिसमें रयि (भोग्य जड जगत्) तथा प्राण (भोक्ता सजीव जगत्) है (इस विचार से कि) ये दोनो मेरे बहुत प्रकार की प्रजा करेंगे,

जगदुत्पत्ति का कथन किसी भी धर्म में सिसृक्षा (ईश्वरीय सृष्टि रचनेच्छा) से पृथक् नहीं कथित है। दर्शनशास्त्र युद्ध तक के सहारे आरम्भवाद तथा परिणामवाद पर विचार करके अन्तिम भाव को पुष्ट ठहराता है। हमारे यहाँ वेदान्त में मिलते दोनो भाव है, किन्तु उसकी भारी बहादुरी हम इसी ज्ञान से समझते है कि भूतशास्त्र (Physics), रसायन शास्त्र (Chemistry) तथा दर्शनशास्त्र (Philosophy) की अनुन्नत प्राथमिक दशा में भी हमारे वेदान्त ने वह परमोन्नत विचार बोधि द्वारा देख तो लिया जिसका शुद्ध रूप अब उपयुक्त शास्त्रों तथा ज्योतिष शास्त्र के परमोन्नत विचार जान लेने से हम लोगो के सामने सुगमतापूर्वक आ जाता है। अब माया, विवर्तवाद सर्परी आदि के उदाहरण अनावश्यक हो गए है क्योंकि उपयुक्त शास्त्रों की उन्नति से अब अद्वैतवाद सुगमतापूर्वक सिद्ध हो सकता है।

माया और प्रकृति

ब्रह्म एक मेवाद्वितीयम्' (ब्रह्म एक है, उससे दूसरा कुछ नहीं है)। सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म। (छांदोग्य ३।१४।१) (यह सब निश्चयपूर्वक ब्रह्म है)। असख्यातादच रुद्राख्या असख्याता पितामहा। हरयञ्च असख्याता एकएव महेश्वर ॥ देवी भागवत॥

(प्रति ब्रह्माण्ड से सम्बद्ध ब्रह्मा, विष्णु, महेश के होने तथा असख्य ब्रह्माण्डो के होने से) असख्य रुद्र कहे गए है, असख्य ब्रह्मा है और असख्य विष्णु किन्तु परमात्मा एक ही है। परमात्मा में "नेह नानास्ति किञ्चन" बृह० ४।४।१९) सिवा एक रसत्व के कोई विविधपन नहीं है। जो प्रकृति यहाँ देख पडती है उसकी परमात्मा से पृथक् कोई सत्ता नहीं है वरन् "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेताश्व० ४।१०) प्रकृति को (केवल) माया समझो। तत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृत। वस्तु के स्वरूप की प्रच्युति के विनाही किसी वस्तु में अन्य के भाव होने को विवर्त कहते हैं। इस भांति ब्रह्म में

जगत् का अध्यास होता है, सीप म चाँदी का, रज्जु मे कभी कभी अहि का, मरुस्थली मे सौर किरणो से जल का, इत्यादि। ये सब विवर्त के उदाहरण हैं।

वास्तव मे हमारा अनुभव भूतों (सांसारिक जड़ चैतन्य स्वरूपो) को सत् वतलाता है, अतएव इन्हे असत् मानना अनुभव के प्रतिकूल है। भूतशास्त्र (Physics) तथा रसायन शास्त्र (Chemistry) द्वारा अब सिद्ध हो चुका है कि चैतन्य जगत् का मूल कारण जड़ जगत् ही है जिसमे चैतन्यता मात्र जुड़ गई है, तथा जड़ पदार्थो के मूल विविध परमाणु है जो अन्त मे शक्तियो के केन्द्र मात्र है। यदि परमात्मा को शक्ति रूप अथवा उनका आधार मान लें तो उससे इतर भूतों की स्थिति नही रहती, क्योकि जीवात्मा तक सत् होने पर भी कुछ शक्तियो का केन्द्र मात्र माना जा सकता है। इस प्रकार शक्तिवाद के सहारे सारे जड़ चैतन्यो अथच जीवात्माओ को सत् मानकर भी और अपने सांसारिक अनुभवो को पूरा मान करके भी अद्वैतवाद सिद्ध हो जाता है। ऐसी दशा मे माया और विवर्तवादो की आवश्यकता नही रह जाती तथा अद्वैतवाद भी सिद्ध रहता है।

जीवात्मा--(१) आकाशेकं हि यथा घटादिषु पृथग् भवेत्। तथात्मैको ह्यनैकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्॥

जैसे एक ही आकाश घटों (मठो) आदि मे अलग हो जाता है (यद्यपि घटाकाश, मठाकाश और महाकाश रहते एक ही है, कथन मात्र का अन्तर रहता है) उसी भाँति कई जलाधारो (वर्तनों) मे सूर्य्य के प्रतिबिम्बसा परमात्मा सभी आत्माओ मे पृथक् आभासित होकर भी रहता एक ही है।

(२) घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा। आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वत्जीव इहात्मनि॥ गौड़पाद (शंकर के दादागुरू)।

जैसे घटादि के टूटने से घटाकाशादि महाकाश मे विलीन हो जाते है, उसी प्रकार देह के विनाश से जीव ब्रह्म में लय हो जाता है।

(३) अथयादद अस्मिन् ब्रह्मपुरे। पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चतुष्पदः॥ पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्। देहो देवालयः प्रोक्ता योजीवः स सदाशिवः मैत्रेयी २।१।

अब उस (ब्रह्म) का कथन करते है जो इस देहरूपी पुर मे है। इसीसे देह ब्रह्मपुर कहलाता है। उसने द्विपद और चतुष्पद का पुर बनाया और पक्षी होकर तथा पुरुष बनकर उन पुरो मे प्रवेश कर गया। देह को देवालय कहा है और जो जीव है वही सदाशिव है।

(४) मनसैतानि भूतानि प्राणमेद् बहुमानयन्। ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥ भागवत, ३।२९।२९।

इन सब भूतो को बहुत आदर के साथ मान से प्रणाम करे (क्योकि) स्वय भगवान कलारूप जीवद्वारा इनमे प्रविष्ट है।

(५) उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन पुरुषः परः॥ गीता १३।२३।

इस शरीर मे सबसे ऊँचा पुरुष विराजमान है जो परमात्मा भी कहा गया है। वही देखनेवाला, अनुमान करने-वाला, भरणकर्ता, भोगनेवाला महास्वामी है।

(६) एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्॥ ब्रह्म बिन्दु, १२। आभास एवच ब्रह्म सूत्र २।३।५०।

[वह (जीवात्मा) दीखता भर है।] हर एक भूत (प्राणी) मे एक ही आत्मा भली भाँति विद्यमान है जो जल में चन्द्र परछाई की भाँति एक और अनेक रूपो मे दिखता है।

(७) तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारे ष्विवांशुमान्। ऐतरेय १०।

जैसे सूर्य कई बरतनो के जलो मे अलग अलग दिखता है [illegible] ी एक आत्मा अनेक शरीरो मे पृथक् दिखता है।

(८) समाने वृक्षे पुरुषो निमग्न अनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशं अस्य महिमानं इति वीतशोक ॥ मुण्डक ॥

एक ही वृक्ष (शरीर) में दो पुरुष (जीवात्मा और परमात्मा) है। उनमें से जो निमग्न (संसार में लिप्त) है वह अनीश भाव के कारण मोहित होकर (अनेकानेक सांसारिक कारणों से) शोक करता है, (किन्तु) जब उसी में युक्त दूसरे को देखता है जो ईश (मालिक) है (तथा) महिमा (समझना) है तब शोक से पार हो जाता है।

(९) ज्ञाज्ञौ द्वौ ईशानीशौ ॥ मुण्डक ॥

ईश और अनीश दो हैं जिनमें एक प्राज्ञ है और दूसरा अज्ञ।

(१०) तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थान सोऽहम अहं ब्रह्मास्मि॥ (पतञ्जलि)

जब जीव महिमा में प्रतिष्ठित होकर अपने (वास्तविक) रूप में स्थित होता है तब जान लेता है कि "वह (ब्रह्म) मैं हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ।" इस प्रकार वेदान्त में जीव और ब्रह्म की अन्तिम एकता ज्ञान की दशा में मानी गई है।

(११) ह्लादिनी संधिनी संवित त्वय्येके सर्व संस्थितौ ॥ विष्णुपुराण ॥

ये तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं जो ईश्वर में स्थित कही गई हैं। आनन्द (प्रेम) का प्रकाश ह्लादिनी शक्ति में होता है सत् भाव का संधिनी में और चित भाव का संवित में। इस प्रकार इन तीनों से सच्चिदानन्द भाव बनता है। ये तीनों शक्तियाँ जीव में अव्यक्त या अवव्यक्त रहती हैं, जिससे उसका ब्रह्म चक्र (संसार के शरीरों) में भ्रमण करता है, यथा, तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। श्वेताश्व० (इसी कारण से हंस (जीवात्मा) ब्रह्म चक्र में भ्रमण करता है।)

(१२) अविभागेन दृष्टत्वात—बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र ४।४।४।

मुक्त जीव का ब्रह्म से अभेद (अविभाग) हो जाता है।

(१३) ततो मां तत्त्वतोज्ञात्वा विशते तदनन्तरम ॥ गीता १८।५५।

मुक्त जीव मुझ (ब्रह्म को) शुद्ध रूप में जानकर मुझी में प्रविष्ट हो जाता है। अतएव यह केवल मिलन न होकर बिंदुसागरवत पूर्ण मिश्रण है।

(१४) पुरि वसति शेते वा पुरुष। नर और नारी दोनों पुरुष हैं। देह पुर कहा गया है और देही (जीवात्मा) उसमें बसने से पुरुष है।

"नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहि। श्वेताश्व० ३।१८। "पुरमेकादश द्वारं" कठ, ५।१।१।

नवद्वार के पुर (शरीर) में हंस (जीवात्मा) बाहर में भ्रमण करता है। ब्रह्मरन्ध्र और नाभिरन्ध्र को मिलाकर शरीर के ग्यारह दरवाजे कथित हैं।

(१५) अणोरणीयान महतो महीयान्।

(जीवात्मा छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है।) जीवात्मा के विषय में पहले एक और स्थान पर इस निबन्ध में कहा जा चुका है। उपर्युक्त मन्त्रों में जीवात्मा और परमात्मा का अन्तर काल्पनिक सा होने से जीवात्मा की वास्तविक सत्ता सन्दिग्ध सी हो जाती है। मुक्ति का विचार भी संसार को बखेड़ा मात्र समझकर उससे छुटकारा पाना ही अलभ्य लाभ समझना है। जगत को दुःखयोनि वास्तव में वे ही लोग मानते हैं जो अपने उचित भाग से बहुत अधिक सांसारिक सुख पाने का अपना अधिकार स्वयं सिद्ध समझते हैं। हमारा सारा अनुभव यही बतलाता है कि संसार का छोड़ना दुःखद तथा यहाँ रहना सुखद है, नहीं तो प्रिय लोगों की मृत्यु पर सुख मनाने और ढोल बजाने का मामला सिद्ध हो जायगा। अपनी सबसे पहली और बड़ी थाती शरीर है। वह तो एक दिन छूट ही जाता है किन्तु उसके प्रतिनिधि जीवात्मा का मरणानन्तर अस्तित्व का विचार दृढ़ मानकर मनुष्य अपने अमरत्व की आशा से सुख मानना चाहता है। मुक्ति का भाव इस आशाप्रद भाव के बहुत कुछ प्रतिकूल पड़ता है। हम जीवात्मा के अस्तित्व को मरणानन्तर भी सिद्ध माननेवालों में हैं। मुक्ति से आवागमन का विचार हमें विशेष हृदयग्राह्य और आशाजनक समझ पड़ता है।
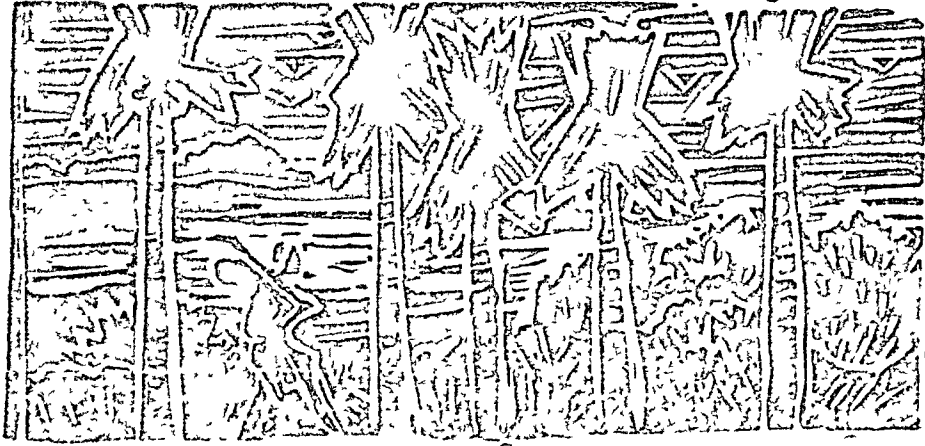
शूर्पारक अर्थात् सोपारा बंदर

श्री रणछोड़दास जी० ज्ञानी, एम० ए०

बहुत कम लोगो को ज्ञात होगा कि अर्वाचीन बम्बई के आसपास अनेक प्राचीन नगरो, मन्दिरो, महालयो, किलों और गुफाओ इत्यादि के भग्नावशेष बिखरे पड़े हैं। ऐसे ऐतिहासिक अवशेषों मे से एक प्राचीन नगर शूर्पारक भी है। इसे हाल में सोपारा या नाला-सोपारा कहते है। सोपारा के समीप तीन मील की दूरी पर नाला नामक ग्राम है जहाँ प्राचीन जैन मन्दिर है। आज जिस प्रकार बम्बई व्यापार उद्योग का धाम और विदेशी वस्तुओ की आयात-निर्यात का मुख्य केन्द्र होने के नाते मोहमयी विलासपुरी बना हुआ है उसी प्रकार प्राचीन काल से ठेठ पन्द्रहवी शताब्दी तक भारतवर्ष का प्रवेश द्वार, विदेशियो के आवागमन का महत्त्वपूर्ण नौ-प्रतिष्ठान अर्थात् बन्दरगाह था। पश्चिम भारत के इस महान नगर मे भी बम्बई की तरह समग्र ससार के जन-समाज का सम्मेलन स्थान रहता था।

मोहेन्जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई मे ५००० वर्ष के प्राचीन अवशेष निकले है उनमे से अनेक वस्तुएँ ऐसी प्राप्त हुई है कि जिनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय भी भारतवर्ष के इन नगरो मे विदेशियो का आवागमन था। यहाँ के निवासी भी ईरान, अरबस्तान, काबुल और मिश्रादि देशो मे जाते रहते थे और उन देशो के साथ हर प्रकार का व्यापार चालू था। मिश्र देश अर्थात् इजिप्ट के पिरामिडो अर्थात् समाधि-स्तभो के नीचे के तहखानो मे गड़े हुए मम्मियो (सुरक्षित शवो) को जिस लकडी की पेटी मे बन्द किया जाता था वह इमली की मजबूत लकडी और उन सन्दूको पर के चित्रो का मुख्य नीलारग जिसे वे समरे-हिन्द और हिंदिगो कहते थे, भारतवर्ष से ही जाता था और बडी कीमत पर बिकता था। सम्भवतः अग्रेजी भाषा के शब्द टमरिंड और इण्डीगो इन्ही शब्दों के अपभ्रंश है। डॉ० रॉलिन्सन ने अपने गवेषणापूर्ण ग्रंथ मे सिद्ध किया है कि कम से कम २५०० वर्ष पूर्व से भारतवर्ष के साथ विदेशियों का सम्पर्क रहा है और समुद्रयात्रा बराबर जारी थी। ईजिप्ट, ईरान, ईराक, फोनिशिया, ग्रीस, रोम, अरबस्तानादि सारे देशो के साथ भारतवर्ष का व्यापारिक सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध के साथ-साथ धर्मप्रचार और सास्कृतिक प्रभाव भी एक दूसरे पर पडते थे। पुरातत्त्व विभाग के उत्खननो द्वारा ऐसे अनेक अवशेष मिले है जो उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते है। इसी प्रकार ससार की भिन्न-भिन्न जातियो का मिलन-स्थान शूर्पारक भी था। विदेशी विद्वानो के प्रवास वर्णनो और अन्य ग्रथो मे इस नगर के लिए सैकडो महत्त्व सूचक उल्लेख मिलते हैं।

पौराणिक कथाओ मे शूर्पारक को परशुराम का धाम माना गया है। क्षत्रियो से निर्भय रहने के लिए सह्याद्रि पर्वत की कन्दराओ मे बसे हुए ऋषि-मुनि व ब्राह्मणो के लिए समुद्र को हटाकर नई भूमि परशुराम ने निकाली व वहाँ उन्हे बसाया। यह सारा मलबार का तीस मील चौड़ा तटप्रदेश इस प्रकार निकल आया। बाद मे इसे आनर्त देश का नाम दिया गया।

शूर्पारक अर्थात् सोपारा बंदर

पुराणों में परशुराम की उपासना और यज्ञपुरुष द्वारा प्राप्त शूर्प द्वारा इस नई भूमि की प्राप्ति का एक विशेष ढंग का वर्णन है। सम्भवतः बम्बई की बेकवे स्कीम जैसी कोई योजना द्वारा परशुरामजी ने समुद्र को पीछे हटाकर जमीन निकाली होगी। इस प्रदेश का मुख्य नगर सोपारक था। सम्भवतः इसकी शूर्पाकार भौगोलिक रचना के कारण भी इसका नाम यह पड़ गया होगा। सोपारा के पूर्वभाग में तो समुद्रतट है, दक्षिण और उत्तर भाग की भूमि ऊँची उठन-उठी पिछली तरफ सह्याद्रि पर्वत से मिल जाती है और नक्शे में ठीक सूप जैसी दीख पड़ती है। यहाँ की नदी का नाम वनरणी है जो पौराणिक पापनाशिनी सरिता है। रामकुण्डादि अनेक पुराने कुण्ड और तालाब यहाँ अभी तक मौजूद हैं। उदाहरणार्थ चोखरण का कुण्ड पुरानी पुष्करिणी का ही अपभ्रंश मालूम होता है। प्राचीन साहित्य में भी यहाँ के कई स्थानों के नाम आते हैं। महाभारत के वनपर्व के ११८वें अध्याय में अर्जुन का यहाँ आने और यहाँ से समुद्रयान द्वारा सोमनाथपट्टन की यात्रा के लिए प्रयाण करने का उल्लेख है। जैन साहित्य में भी सोपारा पवित्र यात्रा स्थल माना गया है। यहाँ के मूलनिवासी शूर्पारक कच्छ के जैन कहलाते हैं। यहाँ से कई प्राचीन जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। यहाँ से तीन मील की दूरी पर नाला नामक ग्राम है। वहाँ एक पुराना जैन मन्दिर है उसमें भी कई पुरानी पाषाण और धातु की मूर्तियाँ हैं। इस स्थान से ही आजकल का शूर्पारक का नाम मिलाकर नाला सोपारा कहा जाता है। चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जैनाचार्य जिनप्रभ सूरि ने एक ग्रंथ की रचना की थी जिसमें तत्कालीन दन्तकथाओं का संग्रह मिलता है, उसमें सोपारक नगरी के राजा महासेन की पुत्री तिलकसुंदरी के साथ श्रीपाल के विवाह की कथा भी है। इसमें सोपारक नगरी का बड़ा बड़ा ही रोचक है।

बौद्धसाहित्य में भी सोपारा का बड़ा महत्व है। जातक कथाओं में भगवान बुद्ध का एक जन्म में बोधिसत्व सुप्पारक के नाम से यहां जन्म लेना माना गया है।

बौद्ध धर्माचार्यों में भिक्षु पुण्ण का नाम बहुत प्रख्यात है। पूर्वाश्रम में वे शूर्पारक नगर के पूर्णनायक नामक बड़े व्यापारी थे। बौद्ध धर्म में इन्हें दीक्षित करने के बाद इन्हें इसी प्रदेश में प्रचार के लिए भेजा गया। यहाँ इन्हें बड़ी बाधाएँ आई और खूब कष्ट भी पड़ा। इनकी बड़ी लम्बी कथा है। उस कथा में लिखा है कि फिर इन्होंने भगवान बुद्ध को स्वयम् यहां पधारने का निमंत्रण भेजा और वे वायुयान द्वारा सोपारा पधारे। उनके उपदेश से प्रभावित हो बाकल ऋषि जैसे कट्टर वैदिक धर्मानुरागी ने और कृष्ण व गौतम नाम के दो नागजाति के राजपुत्रों ने भी बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया और उनके साथ और हजारों उनके अनुयायी हुए। बाकल ऋषि के आश्रम का स्थान अभी तक गास ग्राम के निकट बाकल टेकरी के नाम से पहचाना जाता है। इसी जगह एक विधवाश्रम भी था जिसमें ५०० विधवाएँ धार्मिक जीवन व्यतीत करती थीं। उस समय भगवान् बुद्ध ने उनके नख और बालों की प्रसादी देकर उसपर एक स्तूप बनवाया। फिर तो इस सारे प्रान्त में बौद्ध-धर्म का प्रचार हो गया। यहाँ से निकट बम्बई से कोई पच्चीस मील की दूरी पर कन्हेरी नामक पहाड़ है जिसमें १०० से अधिक बौद्ध गुफाएँ हैं। कन्हेरी का पुराना नाम कृष्णगिरी या महाभारत के अनुसार कृष्णगिरि था।

विक्रम-संवत से पूर्व तीसरी शताब्दी में सम्राट् अशोक ने पश्चिम भारत में और विशेषतः अपरान्त में प्रचार करने के लिए एक यवन (ग्रीक) साधु भिक्षु धर्मरक्षित को भेजा था। उस समय इस प्रदेश में यवनों की अच्छी खासी बस्ती रही होगी। इस भिक्षु ने थोड़े ही समय में यहाँ सत्तर हजार मनुष्यों को बौद्ध धर्म से प्रभावित किया और यहीं से एक हजार भिक्षु और उससे भी अधिक भिक्षुणियाँ तैयार कर उनके द्वारा खूब प्रचार कराया।

सोपारा की बुरुड कोट नामक टेकरी से १८८२ ई० में स्व० भगवानलाल इन्द्रजी ने एक स्तूप के गर्भ में से एक पत्थर का डब्बा खोदकर निकाला था जो सम्भवतः उस स्तूप के निर्माणकाल में ही वहाँ रखा गया था। उसमें रखी हुई चीजों में कुछ मूर्तियों के अतिरिक्त भगवान् बुद्ध के भिक्षापात्र के कुछ छोटे-छोटे टुकड़े निकले हैं। साथ ही उसमें से श्री गौतमीपुत्र सातकर्णी की चांदी की मुद्रा भी मिली है, इससे स्तूप की रचना का काल निश्चित रूप से कहा जा सकता है। अब ये अवशेष
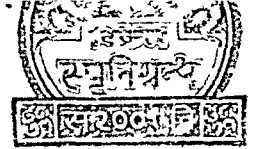
बम्बई की रॉयल एशियाटिक सोसायटी के संग्रह मे है। कोई आठ वर्ष पूर्व इसी स्थान पर सरकारी पुरातत्त्व विभाग द्वारा खुदाई कराई गई थी जिसके परिणामस्वरूप पूरा स्तूप निकल आया। सम्भवत: भारतवर्ष मे सबसे बड़ा ईट का स्तूप यही होगा। इसकी परिधि करीब २८० फीट है।

पश्चिम भारत के गुफा-मन्दिरो के कुछ लेखो द्वारा भी सोपारा के दानी व धनिक नागरिको और उस नगर के महत्त्व पर प्रकाश पडता है। कार्ला के गुफा मन्दिरवाले प्रथम शताब्दी के एक लेख मे सोपारा के भिक्खु धमुत्तरीय के शिष्य नन्दपुत्त सत्तमित्त द्वारा एक स्तम्भ के निर्माण के लिए धनदान का उल्लेख है। नाशिक की गुफाओं मे सौराष्ट्र नरेश क्षहरात वशीय नहपान के दामाद उषवदत्त द्वारा सोपारा मे एक भव्य धर्मशाला और अन्नक्षेत्र की स्थापना कराने का वर्णन है। इसी लेख मे यह भी बताया गया है कि सोपारा के रामतीर्थ नामक पवित्र स्थलवासी चरकपथ के साधुओं के निर्वाहार्थ उपवदत्त ने बत्तीस हजार नारियल के पेड़ दान मे दिए थे। नानाघाट के दूसरी शताब्दी के शिलालेख मे सोपारा निवासी गोविन्ददास द्वारा वहाँ एक जलकुण्ड खुदवाए जाने की सूचना मिलती है।

अपरान्त अर्थात् कोंकण के शिलहारवशीय राजा आनन्ददेव के शक सवत् १०१६ के शिलालेख मे भमण और धनप नामक मत्रियो को श्रीस्थानक (थाना), श्रीमूलि (चिम्बूर) और शूर्पारक (सोपारा) आदि बन्दरो पर आयात निर्यात कर से मुक्ति (Exemption) दिए जाने का उल्लेख है। इसी वंश के राजा अपरादित्य के राजत्त्वकाल के एक लेख द्वारा ज्ञात होता है कि सोपारा के पंडित तेजकण्ठ को काश्मीर मे होनेवाली पडित-परिषद मे आनर्तदेश का प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया था।

इसके अतिरिक्त विदेशी साहित्य मे भी सोपारा का महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। कुछ उदाहरण देखें।

बाइबल मे सोपारा का नाम ओफीर है। इस बन्दरगाह के व्यापार-रोजगार की चर्चा उसमे है जिससे ज्ञात होता है कि यहाँ से सोना, जवाहरात, हाथीदाँत और बन्दरो की भेट राजा तायर को भेजी गई थी। टॉलेमी ने भी सोपारा के महत्त्व का वर्णन किया है। ग्रीक व्यापारी और साधु कोसमोस कोपलियसटिस ने ५५० ई० के अपने प्रवास-वर्णन मे सिबोर नाम से इस नगर का वर्णन लिखा है। दसवी शताब्दी के प्रारम्भ (९१५ ई०) मे अरब-यात्री मसूदी ने पश्चिम-भारत के मुख्य बन्दरगाहो मे सुबारा का स्थान महत्त्वपूर्ण बतलाया है। इसी के समकालीन ईरानी यात्री इब्नहूकल और अल-इस्तख्री ने सुबराह और सुबराया नाम से इस नगर का उल्लेख किया है। करीब १०३० मे महम्मद गोरी के योग्य मंत्री ज्योतिषी, विद्वान भूगोल और इतिहास के ज्ञाता अलबेरूनी ने भी अपने प्रवास-वर्णन मे सोपारा नगर की सराहना की है। ११५३ ई० मे मिसरी भूगोलज्ञ अलइद्रीसी ने सोपारा को एक वैभवशाली धनवानो का धाम और विदेश के साथ के व्यापार का मुख्य भारतीय केन्द्र लिखा है। १३२२ ई० के एक ईसाई पादरी जोरडीनस की रोजनिशी से तत्कालीन सोपारा की धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थिति पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। सोपारा मे ईसाइयो ने गिरजाघर बनवाकर ईसाई-धर्म का प्रचार शुरू किया, उस समय उनका मुसलमानो के साथ बड़ा संघर्ष रहता था। आखिर चौदहवी सदी मे पुर्तुगीजो ने बसई मे अपना किला बनवाकर सोपारा छोड दिया। इसके बाद से सोपारा का महत्त्व घट गया और उत्तरोत्तर उसकी अवनति हो गई। अब तो यह छोटासा गाँव रह गया है परन्तु फिर भी बड़ा रमणीय स्थान है। जगह जगह पर पुराने तालाब भरे है, उनमे कमल खिले हुए दीख पडते है। कुछ विशाल सरोवरो के अंश भरकर वहाँ केले और पान उगाए जाते है। यहाँ से हर रोज मनो शाक-भाजी, केला और पान बम्बई के बाजार मे बिकने जाता है। यहाँ के मुसलमान वही पुराने अरब व्यापारियो के वशज है जो किसी जमाने मे अरबस्तान से यहाँ आकर बस गए होगे। दर्शनीय स्थानो मे अब भी चक्रेश्वर और गास के तालाब, चक्रेश्वर का मन्दिर और वहाँ की सग्रहीत मध्यकालीन मूर्तियाँ और वाकलटेकरी इत्यादि है। प्राचीन जलयान प्रतिष्ठान यानी बन्दरगाह भी अब तो व्यर्थसा हो गया है, बहुत दूर तक रेती से पटा मैदानसा दीखता है। फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से देखनेवाले के लिए सोपारा मे बहुत सामग्री मिल सकती है।

भारत तेरी संस्कृति महान्

श्री श्रीकृष्ण वार्ष्णेय

भारत तेरी संस्कृति महान् ।

जो आदि सृष्टि के साथ चली,
जो प्रलय अग्नि के बीच पली,
अगणित परिवर्तन देख चुकी,
युग युग के संकट लेख चुकी,
कण्टकाकीर्ण फुलवारी में,
जो नवल पुष्प सी रही खिली,
करती आई जग को सुरभित,
दे निज सौरभ का अमरदान ।
भारत तेरी संस्कृति महान् ॥

कितनी संस्कृतियाँ लुप्त हुईं,
कितनी जाग्रतियाँ सुप्त हुईं,
कितने इतिहास विनष्ट हुए,
साहित्य नष्ट निर्जीव हुए,
तेरी संस्कृति का चिर प्रकाश,
कब बुझा सकीं आँधियाँ प्रबल ?

श्री श्रीकृष्ण वार्ष्णेय

जो अखिल विश्व का ज्योति-केन्द्र,
जिससे कण-कण दीप्यमान ।
भारत तेरी संस्कृति महान् ॥
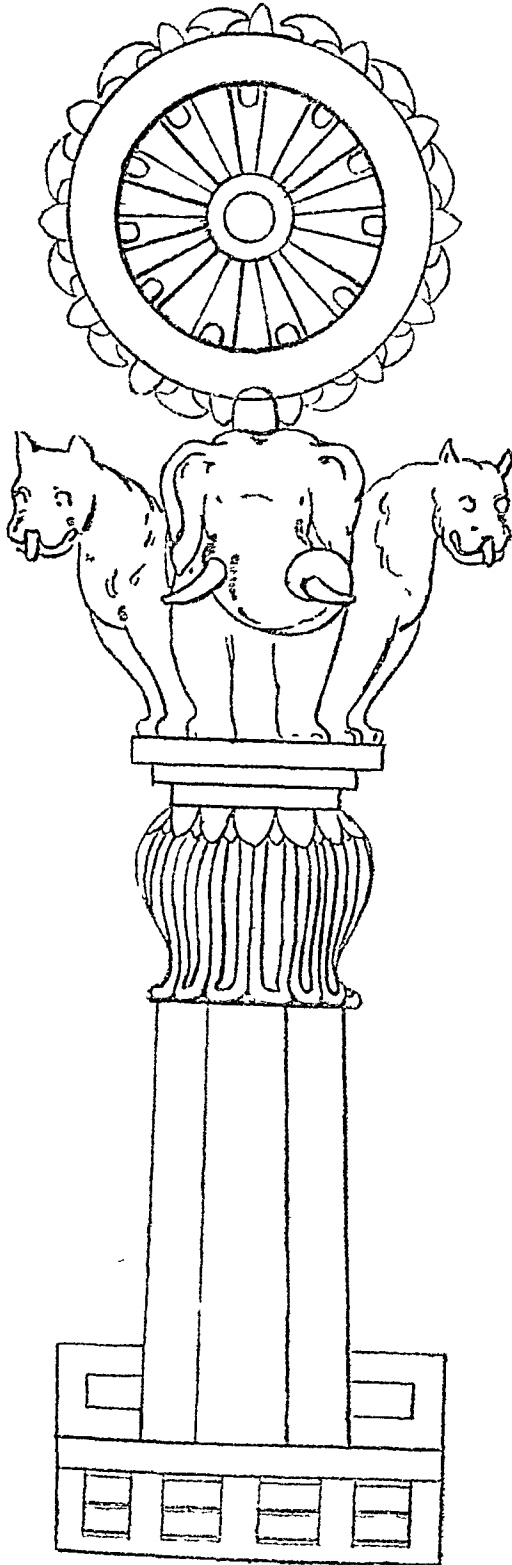
जब-जब इस पर संकट आया,
भूपर अन्याय तिमिर-छाया,

तब राम, कृष्ण, गौतम, शंकर,
शिवि, दयानन्द सम ऋषियों ने,
इसकी धुँधली होती लौ में,
अपने जीवन की ज्योति मिला,

जीवन की अन्तिम घड़ियों तक,
होने न दिया आलोक म्लान ।
भारत तेरी संस्कृति महान् ॥

ये जन्म-मरण के गूढ़ सार,
जग के सारे तात्विक विचार,

तेरी संस्कृति की अमर खोज,
तेरी ही संस्कृति के प्रसाद,
तेरी संस्कृति वह क्षितिज जहाँ,
परलोक-लोक का दिव्य मिलन,

वह भव्य स्रोत जिससे जग में,
वह निकला सारा आत्मज्ञान ।
भारत तेरी संस्कृति महान् ॥

उस हिंसक बर्बर मानव ने,
उस पशुता जकड़े दानव ने,

जब प्रथम किया होकर सचेत,
तेरी संस्कृति का अमृत पान,
मिट गया विकृति का अंधकार,
नव ज्ञान-रश्मि फैली अनन्त,

भारत तेरी संस्कृति महान्

निद्रालस युग ने आँख खोल,
गाए जाग्रति के अमर गान ।
भारत तेरी संस्कृति महान् ॥

अब फिर से बर्बरता छाई,
मानव में दानवता आई,

फैला हिंसा का ज्वाल जाल,
तेरी ही संस्कृति का प्रताप,
ले आज अहिंसा सुधा पान,
अवतरित हुए गाधी महान्,

करने पशुता का तिमिर नाश,
मानवता को जीवन प्रदान ।
भारत तेरी संस्कृति महान् ॥

ललित कलाओं का समन्वय

श्री डॉक्टर राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी०-एच० डी०

मानव की कल्पनाशील प्रवृत्तियाँ, अपने विशुद्धतम एव अत्यन्त निर्द्वन्द्व, अत: अत्यधिक सार्वदेशिक रूपो मे यथार्थ आलेख्यो की अपेक्षा लाक्षणिक विन्यासो द्वारा निरूपित आदर्श अथवा प्रतीकात्मक आकृतियों मे अधिक सम्यक् प्रकार से अभिव्यंजित की जा सकती है। वह आदर्शवादी शैली ही है जो प्रतीको का अधिष्ठान कर कलाकार को सूक्ष्म एव उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूतियो को सर्वग्राह्य माध्यम द्वारा अभिव्यक्त करने मे सहायता देती है। धार्मिक कला, अपने श्रेष्ठतम रूप मे, जैसे पूर्व मे अजटा, जावा, एव होरियोजी मे, अथवा पश्चिम के जियोटो, इलग्रिको तथा रोरिक जैसे कलाकारो के हाथ, समष्टिगत चेतनाओ की अभिव्यक्ति मे, व्यक्त-प्रतीको पर कम ही निर्भर करती है। इसी प्रकार प्रदेश-चित्र भी, यदि उचित रूप से चित्रित किए जाएँ, जैसा कि चीनी अथवा जापानी सिद्धहस्त कलाकारो, या फिर भारतीय रागमालाओ के चित्रकारों द्वारा हो सका है, तो वह सार्वत्रिक भावनाओ एवं जीवन-सगतियो की सशक्त अभिव्यञ्जना कर सकता है। पूर्वकालीन कला मे कमल, वेणु, मृग, मराल, व्याल एव केहरि जैसे पशु तथा पक्षी प्राय प्रतीक-रूपों मे व्यजित हुए है, किन्तु मानवीय प्रकृति एव अनुभूति को पूर्ण अभिव्यक्ति की ही तरह जीवन-रहस्य के किसी अग की अभिव्यजना मे इनका भी अपना सौन्दर्य एव सांकेतिक महत्त्व है। ओर जीवन के ये रहस्य और गरिमाएँ, प्रदेश-चित्रण के चित्रकार द्वारा उसी प्रकार प्रदर्शित की जा सकती है जैसे निर्जन प्रान्तो एव शून्य तलहटियो मे प्रवाहित निर्झरो के किनारे, एकान्त-चिन्तन से प्रसूत समष्टिगत अनुभूतियो के काव्य द्वारा, अथवा शान्त प्रभात या निशीथ की गहनता मे प्रस्फुटित उस मधुर स्वर-लहरी द्वारा की जा सकती है जो मनुष्य को जीवन के विकल-उद्भ्रान्त बना देनेवाले घोर सघर्षो के निम्न-स्तर से ऊपर उठा देती है। जिस प्रकार चीन मे चित्रकारो ने, प्रदेश-चित्रण को, कतिपय अत्यन्त सुन्दर एव सश्लिष्ट स्तर तक उठा दिया है, उसी प्रकार भारत मे रागमाला के चित्रकारो ने भी, जो सगीत की विभिन्न स्वर-लहरियो के मनोवैज्ञानिक सकेतो के अनुरूप चित्रण करते थे, सार्वत्रिक लयो के स्वर-बोध के उस स्तर का स्पर्श किया, जिसका भारत के बाहर अन्यत्र पाया जाना दुर्लभ है।

काव्य, संगीत और चित्रकारी—रागमालाओ के चित्र, राग अथवा रागिनी या स्वर-लहरियो की, प्रकृति की आत्मा एवं उसकी सहचरियो के रूप मे कल्पना कर, उसके अमूर्त रूप को, उचित मधुर-स्वर-लहरियो के अनुरूप ऋतु-विशेष के दिवस अथवा रात्रि मे निहित दृश्यो एव वातावरण को चित्रित करते है। भारतीय सगीत पद्धति मे प्रत्येक प्रधान राग का, सामान्य मानवीय प्रवृत्ति एव मनोभावो का ऐसा स्वर-सामजस्य है कि प्रकृति, ऋतु और काल-विशेष मे मानव-हृदय के

उन समस्त रागों के स रे ग म को अङ्कित कर देता है। संगीत-मनोविज्ञान के साम्प्रतिक अध्ययन से यह देखा जा सकता है कि सप्तक के (सा, रे, ग, म, प, ध, नी) कुछ स्वर स्वानुभूति, शृंगार, उत्साह, उत्कर्ष, निर्वेद, करुणा, निवृत्ति एवं विनाश जैसे मनोभावों को सजग करता है। भारतीय संगीत-पद्धति में प्रत्येक प्रधान राग में विशिष्ट भावानुभूतियों एवं अनुरागों से संश्लिष्ट स्वर अन्तर्निहित हैं जो विशेष ऋतु-काल के परिवर्तन चक्र के अनुसार मानव हृदय में सदैव उन्हीं अनुभूतियों को जाग्रत करते हैं। प्रत्येक प्रधान राग में, राग की कोमल एवं सुकुमार स्त्री रूप में की गई कल्पना की पाँच-छह रागिनी भी होती है, इस कारण कि इनके स्वरों के आधारभूत रूप राग के स्वरों के अनुगामी होते हैं। उषःकाल, प्रभात, मध्याह्न, संध्या एवं अर्ध रात्रि के राग भारत में अपने स्वर-वैशिष्ट्य के कारण एक दूसरे से पृथक् है। रवीन्द्रनाथ का कथन है—हमारे गीत भारत के स्वर्णिम उषःकाल और रत्नखचित उडुगण मण्डित मध्यरात्रियों के गान गाते हैं, हमारे गान शत-शत विरल वारि फुहारों के गृहत्याग की वियोग-गाथा होते हैं, और वे सुदूर वन प्रान्तरों का स्पर्श करते नवागत वसन्त के अलौकिक उन्मत्त उल्लास होते हैं। (जीवन-स्मृति)। भारतीय प्रदेश चित्रों का अपरिमित ऋतु-वैभिन्य, भारतीय संगीत परम्परा के वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद एवं शिशिर आदि ऋतु प्रत्यावर्तन समारोह की सूक्ष्म मनोभावनाओं द्वारा उन्मेषित मधुर-स्वर-लहरियों का साथ लेकर चलता है। ऐसे मनोभाव राग और रागमाला चित्रों में रूप दृश्यों एवं प्रासंगिक आख्यानों की पृष्ठभूमि पर विचित्र निगूढ़ रूप में उचित अभिव्यक्ति पा जाते हैं। किसी राग के शब्द तथा स्वर एवं किसी चित्र के दृश्य, ऋतु विशेष के समय की सामान्य मनोभावनाओं एवं वृत्तियों को जाग्रत करने में सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए प्रभात की रागिनी 'भैरवी' के ओरछा से प्राप्त राजपूत युगीन उस चित्र पर विचार कीजिए जहाँ भैरवी, शिव की सहचरी के रूप में, शारदीय प्रभात के अरुणोदय की आभा-से वस्त्रों से विभूषित होकर, मृदंग एवं मंजीर बजाती तथा नृत्य करती अपनी सहेलियों के साथ शिवपूजन के लिए शिव-मन्दिर की ओर जाती हुई चित्रित की गई है। शिव-पूजन का राग भारतीय संगीतज्ञों द्वारा उषःकाल में भैरवी (भैरव अथवा शिवराग के अधीन) के स्वरों में गाया जाता है जो हृदय में जीवन की निस्सारता एवं अस्थिरता तथा अनन्त के रहस्य के प्रखर भावों को जाग्रत करता है। वसन्त में गाई जानेवाली हिंडोल राग की वसन्त रागिनी की स्वर-सुषमा के उस रेखांकन को लीजिए जो विश्व-प्रणयी कृष्ण को हाथ में वेणु लिए नृत्य करते हुए, मृदंग एवं मंजीर बजाती हुई दो गोपियों के बीच चित्रित करता है। वसन्त के प्रेम एवं यौवन के पूर्णोन्मेष का यह दृश्य यमुना-तट के वासन्तिक विराम से पुष्पित-पल्लवित वृक्षों के तले दिखाया गया है, जहाँ पुष्प, राग के लय में झूमते हैं और लता-वल्लरी वासन्तिक प्रणय-ऊष्मा से संचरित हो वृक्षों को लयानुसार प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध किए हुए हैं। और लीजिए, भारत में वर्षा ऋतु में गाये जानेवाले मेघ-मल्हार को। यहाँ रागिनी का प्रबल झंझा से विलोडित हो रहे पर्णोज्ज्वल में सज्जित, पुष्पों, हंसों एवं अन्य वन्य पक्षियों से घिरे सरोवर में कमलासना रमणी के रूप में प्रदर्शित किया गया है। भारत में वर्षा-ऋतु के इससे रम्य वासन्तिक रूपान्तर की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसमें रेखाओं एवं रंगों के सहारे प्रकृति के उस पूर्ण तादात्म्य को मूर्त किया गया है जिसकी अभिव्यंजना एवं प्रतिष्ठा की कामना गीतिकाव्य एवं संगीत, दोनों करते हैं।

भारतवर्ष में विभिन्न ऋतुओं के लिए समीचीन राग हैं, स्वर-लहरियों के अनुरूप रागमाला चित्र भी हैं, विभिन्न ऋतुओं के 'बारहमासा' गीत-काव्य और वैसे ही चित्र भी हैं जिनके प्रत्येक निदर्शन में व्यक्ति या रूप का रेखांकन न होकर ऋतु, काल, दिन एवं रात्रि के अनुरूप समान रूप से व्याप्त भावानुभूतियों की अभिव्यंजना केवल किसी प्रच्छन्न नाटकीय परिस्थिति की कल्पना कर की जाती है। गहरे रंगों के द्वारा स्थान-संयोजन एवं रेखाओं के सारल्य के दृढ़तापूर्वक किए गए चित्रण का यह ध्येय बहुत ही कम रहा है कि वे सशक्त किन्तु अवैयक्तिक शैली में भावानुभूतियों एवं परिस्थितियों के विश्लेषण, समाहार एवं एकीकरण करने की अपेक्षा किसी आख्यान अथवा चित्र-कल्पना के प्रभाव को व्यक्त करें। संगीत तत्त्वतः भावात्मक कला है, चित्रकला से उसका संयोग हो जाने पर वह अपने सहज संवेदन का भावन पाने में चित्रकला को समर्थ कर मनुष्य का ध्यान, रंग और राग के प्रत्यक्ष रूपों में छिपी परोक्ष सत्ता की ओर उन्मुख कर देता है। गीति काव्य के वर्णनात्मक कल्पना-वैभव, राग एवं रागिनियों की लय-संगति एवं चित्रों की रंग-सज्जा, सब समान एवं सम्यक् रूप से, पूर्णत्व, आश्चर्य एवं पुलक जैसी शाश्वत एवं सर्व-व्याप्त भावात्मकता को मूर्त एवं जागरूक कर प्रकृति में पुरुष के साक्षात्कार की अनुभूति सुलभ करते हैं। पुनश्च, रागमाला चित्रों की अधिष्ठात्री है और ऋतु-काल के प्रत्यावर्तन के साथ गीति-काव्य एवं संगीत द्वारा अभिव्यक्त एवं निरूपित मानव हृदय के आश्चर्य एवं संभ्रम, उसकी परिणीता पत्नी। प्रायः तीन शताब्दी, १५ ई० स० से १८ ई० सन् तक, लोक कला के तीन रूप—काव्य, संगीत एवं चित्रकला भारतवर्ष में साथ-साथ विकसित

कलाओ का
रागिनी मलार
...लीन चित्र
. ८४६)

हिंडोलराग का मध्यकालीन चित्र (पृष्ठ ८४६)
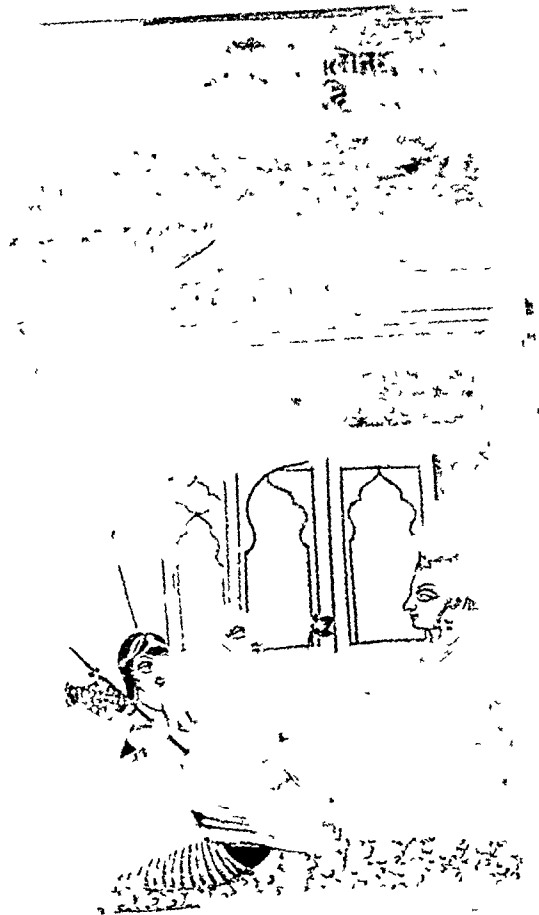
का एक चित्र
८४६)

संगीत, काव्य एवं चित्रकला का समन्वय
मधुमाधवी रागिनी का मध्यकालीन चित्र (पृष्ठ ८४८)

हुई एवं विभिन्न रूढ़ियों द्वारा एक ही अवैयक्तिक भावना की अभिव्यंजना भी की। वे सब श्रीमद्भागवत् तथा अन्य पुराणों से ली गई गाथाओ के धार्मिक अभिप्रायो से अनुरंजित थी, और सन्त, कवि, संगीतज्ञ एवं चित्रकारो की ज्योति-गंगा के द्वारा जन-जन के मन तक पहुँचती रही। कला-रूपों मे राष्ट्र एव युग की सम्यक् कल्पनाओ एवं कला-स्वप्नो की जैसी अभिव्यंजना तब के उत्तर भारत मे पाई गई, विश्व-सस्कृति के इतिहास मे कलाओ का वैसा समन्वय कदाचित ही अन्यत्र हो।

सार्वदेशिक भावों के माध्यम के रूप मे चित्रकला—चीन के अनेक ऐसे चित्रकार कवि एव दार्शनिक थे, जिन्होने दृष्यो के माध्यम द्वारा उन्ही सर्व-व्याप्त भावनाओ एव विकारो को व्यक्त किया जो कविता मे व्यंजित किए जाते थे। एक प्रसिद्ध चीनी चित्रकार के विषय मे इस प्रकार कहा गया है, "मैं कविता मे चित्र के रस का आस्वाद पा लेता हूँ और चित्रों मे काव्य के दर्शन!" चीन ही के समान भारत मे भी भावो की उत्कृष्टतम गहराई एवं सौकुमार्य-युक्त काव्य के निर्माण तथा चित्रो के चित्रण मे एक ही उपकरण को साधन बनाया। भारत मे इन उपकरणो की सजीव अभिव्यंजना के लिए सगीत की विशेष सहायता ली, और इस प्रकार उनमे संगीत की सूक्ष्म-मार्मिकता एव सहज सारल्य का समावेश करने की चेष्टा की गई। प्राचीनकाल मे, अजण्टा के भित्ति-चित्रो पर आर्यसूर की जातकमाला के पद लिखे रहते थे, और मध्यकाल मे राजपूत शली के चित्रकार अपनी रचनाओ पर जयदेव के 'गीत-गोविन्द', केशवदास की 'रसिक-प्रिया' तथा अन्य नायिकाभेद की कविताओ के छन्द उद्धृत कर देते थे। वैष्णव-कविताएँ प्राय. दोहा और चौपाई मे रची जाती थी, और तीव्र भावानुभूति एव गहन विचार-वैभव से सम्पन्न होने के कारण छोटे कोमल-भाव-पूर्ण चित्रो के अनुरूप होती थी, और इसीलिए काव्य एव चित्रकला ने एक-दूसरे को स्पष्टतया आत्मसात् किया। प्रकृति के सार्वभौमिक प्रेम-नाटच मे कृष्ण की लीलाओ एव राधा की अनुराग विभोरता की जिस अनुभूति का स्पर्श मनुष्य ने गीतो मे पाया एव चित्रो मे देखा, उसे उसने अपनी स्वर-साधना से स्पदित किया। चीन की ही तरह भारत मे भी चित्रकला साहित्य की अनुसगिनी रही, और चीन की चित्रकला मे सूक्ष्म को साकार करने के लिए जिस चारू-लेखन-कला से काम लिया गया, भारतीय चित्रकला मे उसकी उपलब्धि के लिए सगीत को अपनाया गया। महान् कला-विवेचक ग्रेथहोल्ड ने त्साग-कलाकारो के चित्रो को सर्वकालीन उत्कृष्ट-अभिनवता से विभूषित किया है; और कहा है: "हमारे चित्रो से चीनी-चित्रो का मनोवैज्ञानिक अन्तर प्रमुखतः इस आधार पर निर्भर करता है कि चीनी चित्रकार चित्र-रचना का निर्वाह उस प्रकार करता है जिस प्रकार हम समस्त मानवीय-सवेदनो एव भावानुभूतियो के उद्रेक तथा रंग-विन्यास के निमित्त चित्र-रचना का नही, अपितु, सगीत का निर्वाह करते है। भावो एव विचारो की गहनतम सस्वर अभिव्यजना मे, महान त्सांग-कलाकार, बिथोवन कला से स्पर्धा करते है और रेखाओ एव रंगो के कौशल मे मोझरत के अक्षय-सौन्दर्य एवं लालित्य का स्पर्श करते से प्रतीत होते है। चीनी चित्रकला सगीत की समस्त स्वरयुक्त शैलियो के स्वराभासो से चित्रित की गई है।" भारत मे राजपूत चित्रकारी ने स्वरो के सम्मोहक एव भावपूर्ण मूल्याकन करने की जिज्ञासा व्यक्त की है तथा सगीत एव चित्रकला ने समान भावो एव सस्थितियो के उन्मेष एव निरूपण मे परस्पर एक दूसरे को सहायता दी है। राजस्थानी एवं पहाडी चित्रो ने प्रायः चित्रित-धार्मिक-गीतो के उन्नत स्तर का स्पर्श किया है जो समय की देहरी पर हीरो की भाँति प्रदीप्त है।

गीति-काव्यों एव चित्रो तथा उनका भावानुरूप मजुल स्वर-लहरियो के सहारे सानुराग आलेखित सार्वभौमिक प्रवृत्तियो एव संवेदनाओ का यह दृढ ग्रथि-बधन, जिसकी समता का कोई उदाहरण पश्चिम प्रस्तुत नही करता। काव्य, संगीत एव चित्रकारी के प्रगाढ सयोग ही से उत्कृष्टतम रूप मे स्थिरता पा सका, मानवीय सवेदनाओ का सार्वभौम हो जाना केवल आभ्यन्तरिक धार्मिक व्यवस्था की ही बात नही है जो अलौकिक शान्ति एवं निर्विकारता ले आए। चित्र-कला को सगीत एव काव्य से सयोजित कर, चित्रकार द्वारा यह उद्देश्य और भी सुसाध्य किया जा सकता है ताकि काव्य के विषय के चाक्षुष-मूल्याकन करने मे उसे सजीवता प्रदान कर सके। एक के भाव की अभिव्यजना दूसरे के सहारे की जाती है; ध्वनि एव दृश्य, और अनुभूति की पराकाष्ठा का स्पर्श करते हुए काव्यो के रहस्यपूर्ण अर्थो के भावो को, जो मानव-हृदय मे अगाध और विमल हर्ष, अन्तर्दृष्टि एव चिरन्तनता को जाग्रत करते है, उज्ज्वल, समृद्ध एव ललित चित्राकृतियो द्वारा सयोजित की जाती है। संगीत हमे सहज ही अलौकिक आल्हाद एव अतीन्द्रीय-रहस्यो के लोक मे ले जाता है। अमूर्त की मूर्त मे अभिव्यजना के लिए, चित्रकला, कल्पना के उज्ज्वल शिखर का स्पर्श पा सके, यह संगीत एव रहस्यवादी कविता के आनुषगिक हो जाने ही से होता है।

पृथ्वी एवं स्वर्ग के व्यवधान का अन्त—प्रखर भाव-प्रवेगो एव सवेदनाओ तथा आत्मा के विस्तार की अपेक्षा तुमुल कोलाहल का उपयुक्त क्षेत्र, तटस्थ विषय-निष्ठा को अवश्य स्वीकार करते हुए, जिसके बिना कला-रूपो मे इनकी समुचित

अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, संगीत और चित्रकारी ही है। मानवीय प्रेम से बढ़कर कोई भी आवेग प्रखर, व्यापक और साथ ही दुर्ग्राह्य नहीं, एवं चित्र निर्माण के विषय के लिए इसकी अपेक्षा सहज तथा आकर्षक प्रेरणा नहीं। और इस मानवीय प्रेम में भी नारी की, अपने प्रणयी के प्रति रहनेवाली भावना से बढ़कर, इस स्नेह का प्रतिदान प्रेमी दे या न दे, कोई भी भावना तीव्र एवं मर्मस्पर्शिनी नहीं। भारतीय साहित्यिक-परम्परा में इसे 'अभिसारिका' के प्रणय में अभिहित किया जाता है जहाँ वह भयानक घोर वनों की अन्धकार-पूर्ण तूफानी रात्रि में भी अपने प्रेमी से मिलने का साहस करती है। भारतीय रहस्यपूर्ण-काव्य एवं चित्रकारी में इस प्रगाढ़ अनुरक्ति को, भयावह रात्रि में आत्मा की अनन्त प्रेम की साधना के रूप में, सर्वत्र परिव्याप्त कर दिया है। आत्मा की दृढ़ अनुरक्ति एवं आत्म विस्तृत प्रेम परायणता को व्यक्त करने के लिए आर्द्र कर देनेवाली वृष्टि, बिजली की गड़गड़ाहट, क्षणभर में चमक उठनेवाले विषधर व्याल, ये सब, ऐसे चित्रों में दृढ़ता-पूर्वक चित्रित किए जाते हैं। अभिसारिका को प्रायः संकेत स्थान अथवा परमात्मा के नन्दन निकुञ्ज पर आते हुए चित्रित किया जाता है जहाँ वह अत्यन्त व्यग्र-प्रतीक्षा में, जिसमें समीर स्तम्भन करते हुए वन्य हरिण भी सहयोग देते हैं, खड़ी रहती है। वर्षा-ऋतु में जब शनैः-शनैः फुहारें आती हैं, समूचा विश्व वियोग की एक अनिर्वचनीय वेदना का अनुभव करता है, तब भारत के खेतों एवं वाटिकाओं में जो गीत गाए जाते हैं वे हिंडोल राग एवं मधु माधवी रागिनी में होते हैं। राजपूत चित्रकारी में हिंडोल का निदर्शन वर्षाकाल के वन-उपवनों के हिंडोला झूलते हुए चित्रों द्वारा किया गया है, और इस प्रेरणा के मूल में अमर प्रेमी-युगल राधा और कृष्ण होते हैं। 'मधु माधवी' का शाब्दिक अर्थ है, मधुर-मधु—मधु-कुञ्जों में प्रेमिका[1] वर्षा ऋतु के योग्य सर्वकलाओं का चित्रकार चित्रित करता है और कवि उन्हें निम्न छन्दों में अभिव्यक्त।

मधुमाधवी रागिनी-यथा॥ सवैया—

जोबन पूरि रही पट सुन्दरि पहिर के आँगन ठाढी रही है। अम्बर नील में हार सिंगार निकचुकी पीत मनोहर ही है। चंचला की चमक लखि भीत वह भौंन गई भमि चौंकि चही है। यौं मधु-माधवी राग हिंडोल की रागिनी चित्र कै चौंप लही है॥

दोहा—मध्यम गह मधु माधवी सुखदाई।

म प ध नि सुर जत सरद अरु बरषा समय बताई॥ इति मधुमाधवी रागिनी॥ ५॥

संगीत मौन की अभिव्यक्ति करता है, और वर्षा ऋतु की उद्विग्नता को चित्रण बना देता है जब एक प्रदेश चित्र में काले-नीले मेघ घुमड़ कर मंद्र गर्जन करते हैं और पड़-पड़ कर वृष्टि होती है, और जो प्रिय वियोग के कारण निरन्तर बहनेवाले अश्रुओं एवं प्रचण्ड झंझा में दीर्घ-निश्वास लेते हुए व्याकुल बना दिया जाता है। अतीन्द्रीय-रहस्यों के साकार दर्शन में चित्रकारी भी अपनी प्रेरणा प्रदान करती है। और इस प्रकार गीति-काव्य, संगीत एवं चित्रकारी, अपने प्रेरणा-स्रोतों का संगम कर मानवीय प्रेम को अनन्त प्रेम एवं पृथ्वी को स्वर्ग में रूपान्तरित कर देते हैं। व्यष्टि का प्रतीक एवं समष्टिगत चेतनाओं तथा प्रवृत्तियों में यह रूपान्तर भारतीय सौन्दर्यानुभूति की एक अत्यन्त सूक्ष्म एवं अपूर्व वस्तु है। सम्मोहक संगीत के भावानुरूप ध्वनि संकेत, उत्कृष्टतम चित्रकारी की रूप एवं रंग सज्जा तथा भावातिरेक से युक्त गूढ़ दार्शनिक रहस्यों से परिपूर्ण ललित-काव्य-रचना, अपने पारस्परिक सहयोग द्वारा सूक्ष्म की अभिव्यक्ति में असाधारण रूप से समृद्ध साथ ही सशक्त एवं सर्वव्यापी प्रभाव से युक्त, यहाँ, एक कलात्मक परिनिष्पत्ति की प्राप्ति करती है। भिन्न भिन्न रेखाओं के एकत्रीकरण का कौशल मानवीय प्रवृत्तियों की मूल प्रेरणाओं की अनन्त गहराई तक पहुँचने में सौन्दर्य के अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि करता है, जो एक ही साथ प्रगाढ़, स्थिर एवं उदात्त भी है। शिल्प जिसमें ईश्वर, देवदूत एवं महापुरुष, मानव के अति मानवीय रूप तथा अन्य लोक की आकांक्षाएँ एवं अनुभूतियाँ अथवा समाज द्वारा पोषित प्रेम एवं भक्ति तथा त्याग एवं तपस्या के पुनीत आदर्शों की उपासना, आदर्श रूपों एवं प्रतीकों में व्यक्त करते हैं, चित्रकारी, जिसमें मनुष्य, पशु-पक्षी एवं प्रकृति के रहस्य, मन, गहन आध्यात्मिकता के एक सूत्र में गुम्फित किए गए हों, संगीत एवं नृत्य जो प्रकृति के परिवर्तन से स्पन्दित सार्वत्रिक भावनाओं एवं स्पन्दनों की सशक्त अभिव्यक्ति हैं, सबने, प्राचीनकाल के समाज दर्शन में मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों एवं वस्तु के जागतिक-व्यवस्था के अन्य रूप की अभिव्यक्ति चरम-गौरव के उन्नत स्तर के रूप में की गई है। इस प्रकार ललितकला ने उन सामान्य तथा अवैयक्तिक भावनाओं एवं संवेदनाओं की प्रगाढ़ता एवं अभिव्यक्ति में उन व्यापारों एवं मूल्यों को प्रगट किया है जिसमें मनुष्य की मनुष्य तथा सृष्टि के इतर प्राणियों के प्रति और भी प्रगाढ़ होती हुई भावना एवं विश्वासपूर्ण साहचर्य को नवीन-बन्धनों में दृढ़ किया गया है। प्राचीनकाल में ललित-कलाओं ने स्वर्गोपम आनन्द को अतीन्द्रीय जगत से मानवीय जगत में लाने तथा सामाजिक जीवन एवं सम्बन्धों को उस आनन्द में विभोर कर देने का एक महत् एवं विराट् कार्य किया है और इस प्रकार लौकिक एवं अलौकिक, संसार एवं मुक्ति, पृथ्वी एवं स्वर्ग के अन्तर को नाप कर दिया है।
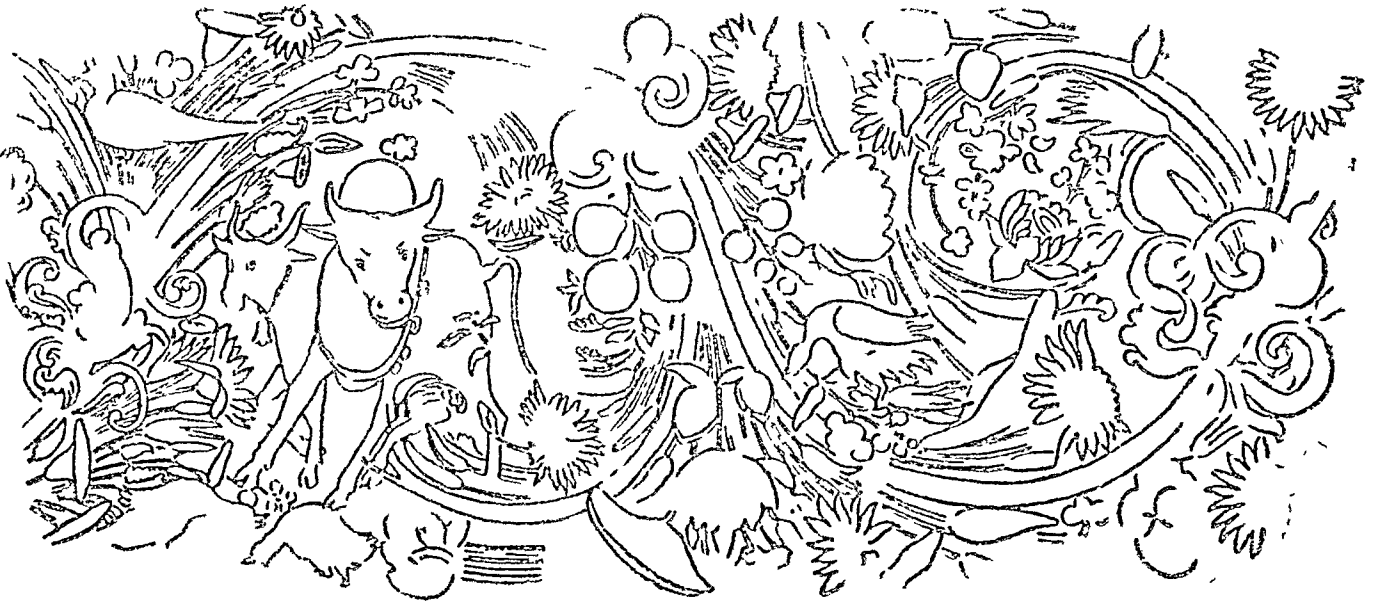
प्राचीन युग और कला

श्री रामगोपाल विजयवर्गीय

युग परिवर्तित होते है, सभ्यताएँ नवीन रूप धारण करती है, जातियाँ बनती है बिगड़ती है और नित्य नूतन संस्कारों की सृष्टि होती रहती है। प्रत्येक सभ्यता का इतिहास अपनी आनेवाली सन्तानो के लिए कुछ स्मृति-चिह्न छोड़ जाता है। चाहे वे उत्कृष्ट हो या निकृष्ट, उस जाति या उस समाज के लिए पथ-प्रदर्शन का काम करते है। इन्ही स्मृति चिह्नो से किसी सभ्यता या युग विशेष की उन्नत या अवनत अवस्था का प्रमाण मिल जाता है।

मानव सभ्यता का यदि अध्ययन किया जाय तो प्रतीत होता है कि साहित्य, संगीत और कला उसके ऐसे विशेष अग है कि जिनके आधार पर उसके आदर्शो का निर्माण होता है और उसकी संस्कृति का ससार के सम्मुख तद्वत् रूप प्रकट हो जाता है। आर्य सभ्यता की यही तीनो कलाएँ है जो उसके गौरव की आज भी रक्षा कर रही है। और जब तक उसकी कला-कृतियाँ ससार के सम्मुख रहेगी, कोई शक्ति नही जो उसकी आदर्श संस्कृति पर शंका करे या उसकी प्राचीनता पर मतभेद हो।

भारत की कला साधना के उस स्वर्ण युग पर दृष्टिपात किया जाय जो मौर्यकाल मे विद्यमान था या आगे तक चलता रहा तो हमारे आश्चर्य की सीमा न रहेगी। ज्ञात होगा कि उस काल के मानव ने अपने अतरग और बहिरग को इतना कला-पूर्ण बना लिया था कि जीवन की विषमताएँ कला के द्वारा उत्पन्न हुई आनन्द निधि मे डूब चुकी थी।

उसने अपने चारो ओर ऐसे रसमय ससार की सृष्टि कर ली थी कि जिसमे विश्व के संघर्ष कुण्ठित हो चले थे। सारा देश इसी साधना मे तत्पर था। उस काल के साधारण गृहस्थ के जीवन मे भी हम ऐसे शान्त और काव्यमय जीवन का दर्शन करते है जो इस युग मे दुर्लभ हो गया है। इसके उदाहरण हमे पृथ्वी के गर्भ मे छुपे उन अवशेषो से मिल जाते हैं जो नष्टप्राय हो जाने पर भी अभी तक उस अतीत युग का गौरवगान अपनी मूक भाषा मे कर रहे है। इन अवशेषो से चाहे ऐतिहासिक सत्य तक हमे पहुँचने मे कठिनाई हो पर एक ऐसा कल्पना-चित्र हमारे सम्मुख अवश्य उपस्थित कर देते है जिससे उस पूर्वकाल की एक झलक दिखलाई पड जाती है और हमारे मुख से निकल जाता है वह कैसा सुवर्ण युग था, वह कैसे देव-स्वरूप मानव थे। उनके अद्भत निवासस्थान, विचित्र वेशभूषा, अनुपम कला-कृतियाँ हमे चकित कर देती है। वे बड़े-बड़े उन्नत और विशाल भवन जिनमे चारो ओर मानवीय जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले शोक, हर्ष, करुणा, शान्ति मिलन, मान आदि अनेको भावो को प्रस्तर प्राचीरो के कठिनतम हृदय मे उत्कीर्ण कर दिया गया है जो काल की अबाध गति से भी अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए निरन्तर काव्यरस की आनन्दधारा प्रवाहित कर रहे है।

प्राचीन युग और कला

उनके शयनागार, स्नानागार, भूषण-वसन, आमोद प्रमोद जहा भी दृष्टि जाती ह एक अद्भुत कलामय ससार की ज्योति झलक रही है। गृहस्थ हो या त्यागी, महान् हो या क्षुद्र, धनी हो या निधन प्रासाद हो या झोपडी सभी अपनी-अपनी विशेषताओ में सम्पूर्ण हैं। सभी का लक्ष्य सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की साधना में लीन है। उन मानवो ने स्वर्ग को ससार में उठा लाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने विश्व के दुख-दावानल की विभीषिका को काव्य और कला के आनन्दस्रोत से सिक्त कर दिया है। कहीं पाषाण निर्मित चामरधारिणी स्त्रियो के पार्श्व भाग से लगे खम्भो के करतलो पर शोभित बडे बडे स्तम्भ खडे ह। कहीं कमलकोषो की आकृतियो से सुशोभित द्वार, कहीं आगे की ओर निकले हुए गवाक्षो पर झलती हुई कुसुम कलियो के आकारवाली झालरें। कही गगनचुम्बी शिखर, कही नानावर्ण के प्रस्तर खण्डो से विजडित सोपान-माला। कहीं द्वारो पर उत्कीर्ण किए हुए प्रेमलीला में निरत यक्ष-दम्पति, शालभञ्जिकाएँ, वृक्षकाएँ, नृत्यरता नारी-मूर्तियाँ, आकाशमार्ग में उडते हुए देवगण, विचित्र अग भगिया में खडी हुई रमणियाँ, नयन करती हुई नाग कन्याएँ, कमल वन में विहार करती देवांगनाएँ, विरहिणी नायिकाएँ, मानिनी मान खडिता, मुग्धा विविध नायिकाओ के रूप। काव्य को कला में ऐसा गूथ डाला ह कि काव्य कलामय हो गया कला काव्यमय हो गई। इस प्रकार से भवनो की शोभा बढाते हुए अलकरण नाना-रूपो में प्रस्फुटित होकर उस मानव सभ्यता की परिष्कृत रुचि का गुण गान कर रहे हैं। जहाँ दृष्टि जाती है हृदय में आनन्द की हिलोरें उठने लगती ह। एक क्षण के लिए जीवन के तापो को दुख द्वन्द्वों को भूलकर प्राणी एक स्व-रचित्त स्वर्गीय ससार में विचरने लगता ह। दृष्टि को भ्रम की भावनाओ में उद्वेलित करते हुए अनेको भवन जिनके भाग एक से दूसरे में निकलते चले गए ह मस्तिष्क में अपूर्व कल्पना जगत् का निर्माण कर देते ह, जिसमें प्रतीत होता है कि जीवन की अनन्त धाराएँ एक ही आनन्दसागर म गिरने के लिए मचलती बलखाती बड वेग से बढी चली जा रही ह। भवनों की प्राचीरें जहा प्रस्तर आकृतियो से बच रही ह व चित्रो से चित्रित कर दी गई ह, जिनसे शृगार, करुण, वीर, शान्ति आदि नवो रस एक साथ एक ही स्थान पर उतर आए ह। शृगार रस की मादक भावनाओ ने रूपरस की वह अलौकिक छटा निर्माण की है कि मनुष्य उन्हे देखकर 'गिरा अनयन-नयन बिनु बानी" कहकर रह जाता ह। विचित्र लावण्यमय अग सचालन से नृत्य गति में गमन करती हुई किन्नरियाँ जिनकी कमलकोष से युक्त बाहुलता लहरा रही ह, उन्नत वक्ष पर उलझे हुए मुक्ताहार, कटि पर मणि-मडित दोलायमान किंकिणियाँ, नानाविधि से पुष्प ग्रथित केशकलाप, कपोलो को छूते हुए कर्णभूषण, स्मित मुख मनोमोहक रूप, पारदर्शी वस्त्रो मे प्रकट होता हुआ प्रफुल उरुयुग, पादपद्मों की शोभा बढाते हुए नूपुर, मानो स्त्री सौन्दर्य को मूर्त रूप देने का कलाकार ने प्रयत्न किया है। कहीं मृदगो पर ताल देते हुए रसिकजन जिनके विशाल वक्ष पर छहराता हुआ उत्तरीय उडा जा रहा ह। ग्रीवा तक लटकते केश, कानो की बालियों से उलझे पडते ह। पुष्ट भुज-दण्डो पर बँधे हुए आभूषण, उन्नत ललाट और नासिका पर बोलता हुआ पुरुषत्व, गम्भीर मुखमुद्रा, मानो जीवन के जजालो पर विजय प्राप्त कर चुके ह। प्रशान्त दृक्पात धनुषाकार भ्रू-लता, अगुलियो द्वारा प्रदर्शित विचित्र मुद्राएँ जो नृत्य-कला को चित्रकला स साक्षात्कार कराकर काव्य की कल्पनाओ को लेकर शिल्पकला की त्रिवेणी बन जाती ह। रेखाओ का मार्दव, रगो का सामजस्य पृष्ठभूमि की आकृति और भावानुकूल सन्तुलन विषय की गभीरता उस युग का तदवत चित्रण करती हुई चित्रकला की चरम सीमा का प्रकट करती ह। माधवी चम्पा चमेली, लवली लताओ का कुसुमासव पान करती हुई भृगावलियाँ। कहीं सारिकाओ की चञ्चु से चञ्चु मिलाकर आम्र-कुञ्जो में छुपे हुए शुक, कही मत्त कुञ्जरो की अवलियाँ, कही मीन, कही मगर, कही मगशावको को दुलराती हुई कोमलागी कामिनियाँ, कहीं शृगाररता कही विरहातुरा कही प्रोषित-पतिका नायिकाओ के भेद, कहीं कमल वन आम्र निकुञ्ज, चन्द्र-चकोर, चक्रवाक, कारण्ड विविध पशु-पक्षियो की प्रेमलीला, वाहनो पर चढे हुए शूरवीर। ऋतु-उत्सव, साधारण से साधारण दृश्यो को ऐसे मनोहर रूप में चित्रित किया है कि कलाकारो की उस कला साधना पर आश्चर्य से कहना पडता ह यह देव-कृतियाँ ह, मानवीय नहीं। ये चित्र उस काल के सामाजिक जीवन को हमारे सम्मुख एक चलचित्र की भाँति ले आते ह।

चित्राकन और चित्रदर्शन को, जान पडता है, उन मानवो ने अपनी दिनचर्या में स्थान दिया होगा। उनके वस्त्रो और आभूषणो में भी कला ह, काव्य ह। वे भी चातक, चकोर, मयूर, मराल आदि पक्षियो के भावपूर्ण चित्रो से युक्त कर

दिए गए हैं। प्रत्येक वस्तु मे मानों वह ईश्वरीय सृष्टि के उत्तम उदाहरणो को देखकर अपने दुखसुख भूला हुआ है। वह इस चित्र-जगत के साथ स्वयम् भी चित्र वन गया है। उसके शारीरिक सौन्दर्य मे वस्त्रो को अधिक स्थान नही दिया गया, केवल लज्जा निवारण मात्र ही के लिए वस्त्रो की आवश्यकता है। शेष सारा अंग अलंकारो से सुसज्जित देखा जाता है। किरीट, कुण्डल, ककण, किंकिणी, कण्ठहार विविध आभूषण मण्डित शरीर पर शुक्ल, पीत, नील, चीनाम्वर शोभा पाते है जो नेत्रो को सुखकर प्रतीत होते है। जीवन की गति में चारो ओर सरसता को लेकर चलना ही ध्येय था। काव्यकला और संगीत की त्रिवेणी मे अवगाहन करता हुआ वह उस आसन पर पहुँच चुका था जहाँ ईर्ष्या, द्वेष, कलह, अहिंसादि घातक भावनाओं की इतिश्री हो जाती है। वाण की कादम्बरी मे वर्णित जावालि आश्रम इसका उदाहरण है। जहाँ जगत के पातक-पुञ्ज उसकी सीमा के वाहर ही भस्म हो जाते हैं। और यह जावालि आश्रम प्रत्येक गृहस्थ का घर था। मेघदूत के यक्ष की भावना जन-जन के हृदय मे विराजती होगी। अल्का का ऐश्वर्य हमारे भारतवर्ष के कोने-कोने मे फैल रहा होगा। चीनी यात्री इसका साक्षी भी हैं। कालिदास, भवभूति, माघ, भट्टि आदि कवियो ने काव्यरस की वह धारा वहा दी थी जिससे प्राणी-मात्र के स्वरो मे संगीत फूट पड़ा था। गृह-पालित पक्षी भी काव्य निर्मित वाक्यावलियो का गान किया करते थे। चारो ओर साहित्यामृत पान किया जाता था। सगीत की स्वरलहरी पर जीवन की गति ताल देती हुई चल रही थी। कर्मयोग, कलापूर्ण कौशलो से युक्त होकर उस परम पद की प्राप्ति कर लेता था जो वैराग्य और हठयोग की साधना से भी उच्च है। गीता का ज्ञान काव्य और कला के रस-सिन्धु मे अवगाहन करके घर-घर को पवित्र कर रहा था।

उस उन्नतिशील मानव समाज के छोड़े हुए भग्नावशेष अमूल्य स्मृतिचिह्न की याद दिलाते हैं। भारत का वह सुवर्णयुग, वह प्रतिभाशाली वैभव, वह शान्त सरस वातावरण, जहाँ वैठकर मानव ने सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की उपासना की है, जहाँ जीवन सग्राम अपनी कठोरता त्यागकर नृत्य कर रहा है, मृत्युलोक स्वर्गलोक के साधन जुटा रहा है, कही राम भगवान् राम की पर्णकुटीर, कही कण्व-आश्रम, कही पार्वती की तपश्चर्या, कही दिलीप का गोचारण, कही महाश्वेता का वीणावादन, कही अज-विलाप, कही यक्षिणी की करतल ध्वनि पर मयूर का स्वर्ण-यष्टि पर स्थित नृत्य, भगवान् शंकर का किरातवेष-समस्त भारत मानो एक नाट्यशाला था जिसमे सुन्दर दृश्य और अभिनयकला मे कुशल प्रत्येक प्राणी अपना कौशल दिखला रहा है, और कला, सगीत और काव्य की सुरा मे आत्म-विभोर होकर ईश्वरदत्त दुर्लभ मानवयोनि के एक-एक क्षण को सफल वना रहा है।
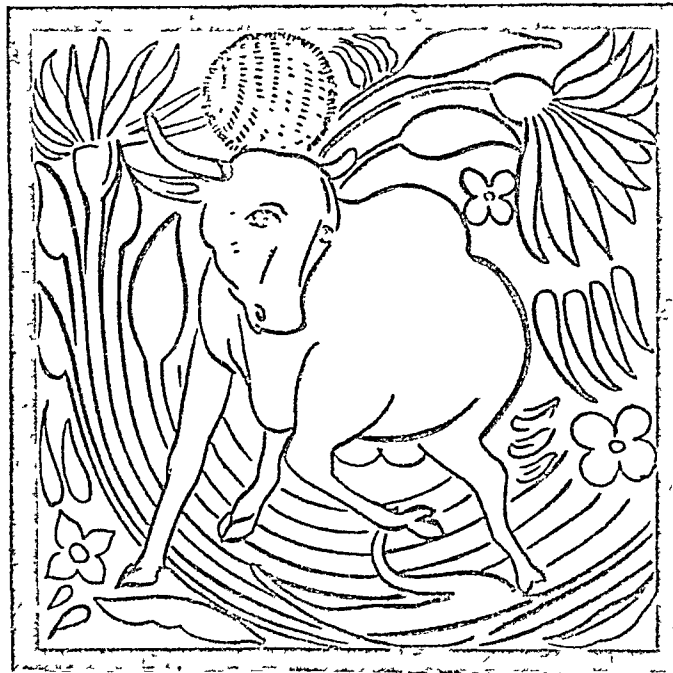
साहित्यिक व सांस्कृतिक सगम

अर्थात ऐ मनुष्य ! तू ससार में एकता फैलाने के लिए आया है, अनेकता और विभिन्नता फैलाना तेरे जीवन का उद्देश्य नहीं होना चाहिए।

आज हिन्दू समुदाय सगम पर पहुँचता है और सगम में डुबकी भी लगाता है परन्तु सगम की जो पवित्रता है और सगम स्नान का जो महात्म्य है उससे वह अपरिचित-सा प्रतीत होता है। सगम स्नान से पवित्र शरीर क्या किसी अनेकता का साधन बन सकता है? दुःख के साथ कहना पड़ता है कि सगम में स्नान करनेवाला भावुक हिन्दू आज सगम के स्नान का महात्म्य भूल गया है। उसके जीवन के प्रत्येक काम, उसके जीवन की सब व्यवस्थाएँ स्पष्ट रूप से बता रही हैं कि सगम स्नान का महात्म्य वह भूल चुका है।

आज हिन्दू का जीवन केन्द्रीकरण का पोषक नहीं, विकेन्द्रीकरण ही उसका लक्षण बन गया है। वर्णाश्रम के स्थान में जातियों और उपजातियों के बन्धन, अखण्ड भारत की विशालता के स्थान में प्रान्तीयता की सकीर्णता, एक धर्म के स्थान में अनेक धर्मों व सम्प्रदायों की स्थापना व एक भाषा के स्थान में अनेक भाषाओं का प्रचार बता रहे हैं कि हमारा सगम स्नान वास्तविक सगम स्नान नहीं, केवल मन के बहलाने के एक क्षणिक साधन रह गया है। यदि हिन्दू समाज ने वास्तविक सगम स्नान का महात्म्य समझ लिया होता तो देश में न तो इतनी जातियाँ व उपजातियाँ होती, न इतने पथ और सम्प्रदाय होते, न इतनी भिन्न भिन्न भाषाएँ होतीं और न इतने भिन्न भिन्न आचार विचार होते। सगम में स्नान करनेवाली जाति सगम के स्नान को सबसे अधिक भूल गई है।

आज इन कृत्रिम विभिन्नताओं के कारण कहीं पाकिस्तान का नाद उठता है तो कहीं द्रविडस्तान की माँग देश के सामने आती है। कोई जातीय सभाएँ खोलता है तो कोई प्रान्तीय मण्डल बनाने की धुन में लगा हुआ है। साराश जहाँ देखो वहा छोटे छोटे भेदों को बढ़ाकर तिल का ताड़ बनाया जा रहा है और गृहकलह के साधन जुटाए जा रहे हैं। देश को जहाँ सुसगठित होकर उन्नति के पथ पर अग्रसर होना चाहिए था वहाँ प्रान्त प्रेम के नाम से घरघुसू की कायरतापूर्ण नीति का अवलम्बन किया जा रहा है।

कहा जाता है कि विज्ञान ने भौगोलिक अन्तर को कम कर दिया है और इस वैज्ञानिक युग में सुदूरस्थित महाद्वीप एक दूसरे के निकट आ गए हैं, परन्तु भारत में और विशेषकर हिन्दू समाज में तो इस पाश्चात्य शिक्षा के प्रादुर्भाव से वह भेड़ियाधसान प्रारम्भ हुई कि समाज का पिछला शीराजा (सगठन) सब बिखर गया। कभी कभी होता भी है—
"One man's meal is another man's poison"

निष्कर्ष यह कि जिन सास्कृतिक सूत्रों से सारा भारतवर्ष बँधा हुआ था वे सूत्र अब अत्यन्त निर्बल हो चुके हैं और मणियों को गुम्फित रखने में असमर्थ हैं।

भाषा विज्ञान के विद्वानों का एक मत से कहना है कि भारत में जो प्रमुख भाषाएँ प्रचलित हैं उन सब की जननी सस्कृत ही है। सब में एक ही सास्कृतिक भाव है और सब की एक ही पृष्ठभूमिका है, परन्तु प्रान्तीयता के भाव इतने बढ़ गए हैं कि इन सब पवित्र सम्बन्धों व मूल आधारों की उपेक्षा करने में ही हमने मातृभाषा की सेवा समझ ली है।

वैसे तो कहा जाता है कि भारत में लगभग २२५ भाषाएँ व बोलियाँ प्रचलित हैं परन्तु ११ भाषाएँ प्रमुख मानी जाती हैं जिनके अक निम्नलिखित हैं —

	सन् १९३१ की जनसख्या
(१) हिन्दी (पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, उर्दू आदि सभी रूप)	८,५४,४५,०००
(२) बगला	५,३४,६९,०००
(३) तलगू	२,६३,७४,०००
(४) मराठी	२,०८,९०,०००

स्व० श्री रामनाथ शर्मा

(५)	तामिल	२,०४,१२,०००
(६)	पंजाबी	१,५८,३९,०००
(७)	कन्नड	१,१२,०६,०००
(८)	उड़िया	१,११,९४,०००
(९)	गुजराती	१,०८,५०,०००
(१०)	मलयालम	८८,३८,०००

ये भाषाएँ लिपि की दृष्टि से तीन समुदायो मे विभक्त की जा सकती है—(१) नागरी समुदाय, (२) उर्दू समुदाय, (३) मद्रासी समुदाय।

नागरी समुदाय मे हिन्दी व मराठी की लिपि एक ही है, अत इन दोनों भाषाओं मे बहुत कुछ सान्निध्य है परन्तु हिन्दी के पश्चात् बंगाली भाषा का ही स्थान है। बगाली भाषा भी सस्कृत प्रचुर भाषा है और उसका साहित्य अत्यन्त मधुर व सरस है। अन्य प्रान्तीय भाषाओं की अपेक्षा इसके साहित्य मे पाश्चात्य विज्ञान, इतिहास, कला, कौशल इत्यादि अगो की बहुत कुछ पूर्ति हो चुकी है। परन्तु बगाली साहित्य का लाभ अन्य प्रान्तवासी पूर्ण रूप से इसलिए नही उठा सकते है कि कोमल स्वभाव बंगाली महाशय लिपि के सम्बन्ध मे आवश्यकता से अधिक कठोर है। जो बगाली अपनी भावुकता के लिए प्रख्यात है, जिस बंगाल देश ने महाप्रभु चैतन्य, जगत्‌विख्यात स्वामी रामकृष्ण परमहस व स्वामी विवेकानन्द को जन्म दिया; जिस बंगाल को राजा राममोहनराय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्रसेन व ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे सुधारको की जन्मभूमि होने का अभिमान है, जिस भूमि ने जगदीशचन्द्र बोस, सर पी० सी० राय, डॉ० रासबिहारी घोष, डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे विश्वविख्यात विद्वानो को उत्पन्न किया, जो बगाल राष्ट्रीय भावनाओ के जाग्रत करने मे सबमें प्रथम है वही बगदेश आज लिपि के सम्बन्ध मे कैसी सकीर्णता का प्रदर्शन कर रहा है। जैसाकि मराठी के प्रसिद्ध कोषकार प्रो० माधव त्रिम्बक पटवर्धन ने कहा है—"सुदैवाने बालबोध लिपि ही बहुताशी पूर्ण व मराठीच्या गरजा भागविण्यास समर्थ आहे। उच्चार व लेखन यात तन्तोतत मेळ ठेवणे म्हणजे, शुद्ध लेखन होय।" महाराष्ट्र प्रान्त ने देवनागरी लिपि को ग्रहण करके जो राष्ट्र भाषा के निर्माण मे सहयोग दिया है वही सहयोग यदि बगाल दे देता तो आज राष्ट्रभाषा की समस्या सुलझ ही जाती।

बगाल का यह उदाहरण गुजरातियो व पजाबियो के लिए भी अनुकरणीय बन जाता और आज मद्रास प्रान्त को छोड़कर सारा भारतवर्ष भाषा की दृष्टि से एकसूत्र मे बँध जाता।

हिन्दी लिपि व गुजराती लिपि मे केवल ६ अक्षरो मे भेद है और यही दशा पजाबी की भी है। सिक्खो के सम्पूर्ण धर्म-ग्रंथ सुन्दर सुललित हिन्दी भाषा मे होते हुए भी अन्य प्रान्तो के हिन्दुओं की सम्पत्ति इसलिए नही बन सके कि अब तक वे गुरुमुखी लिपि मे ही प्रकाशित होते रहे है। यदि हिन्दी लिपि मे यह अमृतवाणी प्रकाशित हो गई होती तो आज उसक प्रचार उतना ही सर्वव्यापी हो गया होता जितना कि सन्त कबीर की वाणी का हुआ है। केवल हिन्दी के पक्षपातियो का ही यह कथन नही है कि बगाली, मराठी, गुजराती भाषाओ की उत्पत्ति संस्कृत भाषा से ही हुई है सुतरा इन भाषाओ के विद्वानों की भी यही स्पष्ट सम्मति है। दक्षिण के प्रकाण्ड विद्वान्, सूक्ष्म इतिहासज्ञ व मराठी के महारथी कैलाशवासी विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे ने मराठी भाषा की उत्पत्ति निम्नलिखित शब्दो मे दी है :—

"आर्यांनी कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश, पंचाल व शूरसेन या प्रदेशात कायमची वस्ती केल्यानतर आपली दृष्टी दक्षिण दिशेकडे वळवली, आदि दडकारण्यात वसाहती स्थापन करण्यास आरंभ केला। जे शूर धाडसी आर्य या वसाहती करून तेथे कायमचे रहिवासी झाले, ते स्वत.स महाराष्ट्रीय आणि आपल्या वसाहतीना महाराष्ट्र देश असे अभिमानपूर्वक म्हणू लागले। कालातराने या आर्यांच्या वाणीत तेथील मूळच्या रानटी लोकाच्या ससर्गाने अपभ्रंश होऊन, एक प्राकृत भाषा जन्मास आली, या प्राकृत भाषेला त्यानी महाराष्ट्री असे नाँव दिले।'

साहित्यिक व सांस्कृतिक संगम

जिसका भावार्थ यह है कि जिस समय आर्य कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश, पंजाब व शूरसेन प्रदेशों में अपने उपनिवेशन स्थापित करके दक्षिण की ओर आगे बढ़े तो उन्होंने दण्डकारण्य में पहिले बस्तियाँ बसाईं और उस देश का नाम महाराष्ट्र रखा। कालान्तर में इन आर्यों की भाषा में मूल निवासियों के संसर्ग से अपभ्रंश हुए और प्राकृत भाषा का जन्म हुआ। इस प्राकृत भाषा का नाम पहिले महाराष्ट्री रहा फिर अराजकता के काल में महाराष्ट्री से मराठी हो गया।

जिस भागवत धर्म के जन साधारण में प्रचार करने के लिए महाराष्ट्र के सन्तों ने मराठी का निर्माण किया वह संस्कृत निष्ठा आज भी मराठी का लक्षण बनी हुई है। उत्तर भारत में जब हिन्दी के पर भी न जमे थे मराठी जनसाधारण के मानसिक विकास का साधन बन रही थी। आज से चालीस वर्ष पूर्व हिन्दी की कविता की प्रवाह धारा ब्रजभाषा व अवधी में ही सीमित थी वहाँ मराठी कविता का संस्कृतनिष्ठ स्वरूप विकसित हो रहा था। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि आज भी मराठी हिन्दी की अपेक्षा कहीं अधिक संस्कृतनिष्ठ है।

हिन्दी के विकासकाल में ही हिन्दी के स्वरूप के सम्बन्ध में अनिश्चितता रही। कहीं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपनी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रचार करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं तो कहीं उसी हिन्दी को फारसी और अरबी के कठिन शब्दों से बोझल करने में राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' दिखाई पड़ते हैं। खड़ी और पड़ी बोली की चर्चा तो कल ही की बात है। विविध शक्तियों के सहयोग से और उसके स्वाभाविक अधिकार से हिन्दी राष्ट्रभाषा के मुकुटमणि से सुसज्जित हो ही नहीं पाई थी कि उसको एक प्रकार से हिन्दुस्तानी का ग्रहण लग गया। परंतु मराठी भाषा को ऐसी विलक्षण परिस्थिति से नहीं निकलना पड़ा। उसका प्रवाह एक समान निश्चित सीमाओं में आगे बढ़ रहा है।

यह बात अब एक मत से स्वीकार कर ली गई है कि यदि भारत में कोई राष्ट्रभाषा हो सकती है तो वह हिन्दी ही हो सकती है। हिन्दी भाषा न केवल संस्कृतजन्य भाषाओं के ही निकट है, वस्तुतः उर्दू भाषा के भी निकट है जिसे देश का एक प्रमुख जन विभाग अपनी मातृभाषा कहता है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनने के लिए यह बात आवश्यक है कि वह न केवल उर्दू के ही साथ अपने सम्बन्ध निश्चित करे, सुतरां उसको मराठी, बंगाली, गुजराती, पंजाबी, तामिल, तेलगू, मलयालम इत्यादि भाषाओं के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित करने होंगे। जहाँ जहाँ हिन्दी भाषा व प्रान्तीय भाषाओं का इस प्रकार संगम होगा वे ही स्थल हमारी धार्मिक शब्दावली के अनुसार हमारे पवित्र तीर्थ होंगे।

भारतवर्ष के मध्य प्रदेश व मध्य भारत दो ही ऐसे खण्ड हैं जो एक प्रकार से मराठी व हिन्दी के संगम हैं। इन दोनों प्रान्तों में मराठी और हिन्दी का एक समान आदर है। दोनों प्रान्तों में ऐसे विद्वानों की कमी नहीं है जिनका दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है और जिनके प्रति दोनों भाषाभाषी एकसी श्रद्धा रखते हैं। मध्य भारत में हिन्दी के प्रचार का श्रेय बहुत अंशों में उन महानुभावों को है जिनकी मातृभाषा मराठी थी और जिनमें सर्व प्रथम स्थान पुण्यश्लोक, स्वनामधन्य, देशगौरव स्व० माधव महाराज का है। वास्तव में इन्होंने तीर्थराज प्रयाग का महत्व समझा और त्रिवेणी के स्नान का पुण्य कमाया।

शिन्दे वंश को गौरव है कि उनके विस्तृत राज्य में उस प्राचीन वैभवशाली भारत के वे सब स्मारक आज भी विद्यमान हैं। अवन्तिका, दशपुर, विदिशा, पद्मावती एक एक स्थान अपने साथ एक एक इतिहास लिए हुए हैं जिस पर भारत को ही गर्व नहीं सम्पूर्ण सभ्य संसार को गर्व है। आज उज्जयिनी के आर्य संस्कृति के पुनरुद्धारक सम्राट विक्रमादित्य के संवत की द्वि-सहस्राब्दि समाप्त होना संसार के सांस्कृतिक इतिहास का एक भव्य पृष्ठ है। इस पवित्र अवसर पर, इस पवित्र स्थल पर क्या सुन्दर हो, भारतीय वाङ्मय की ये दोनों धाराएँ इतने निकट आ जावें कि यह एक दूसरे में अपना वास्तविक स्वरूप देखने लगें और दोनों मिलकर वह प्रवाहशक्ति धारण कर लें जो चट्टानों को उखाड़ती हुई, पहाड़ों को फोड़ती हुई भारतीयों के विकास व उनके वैभव, सुख एवं समृद्धि का कारण बनें।
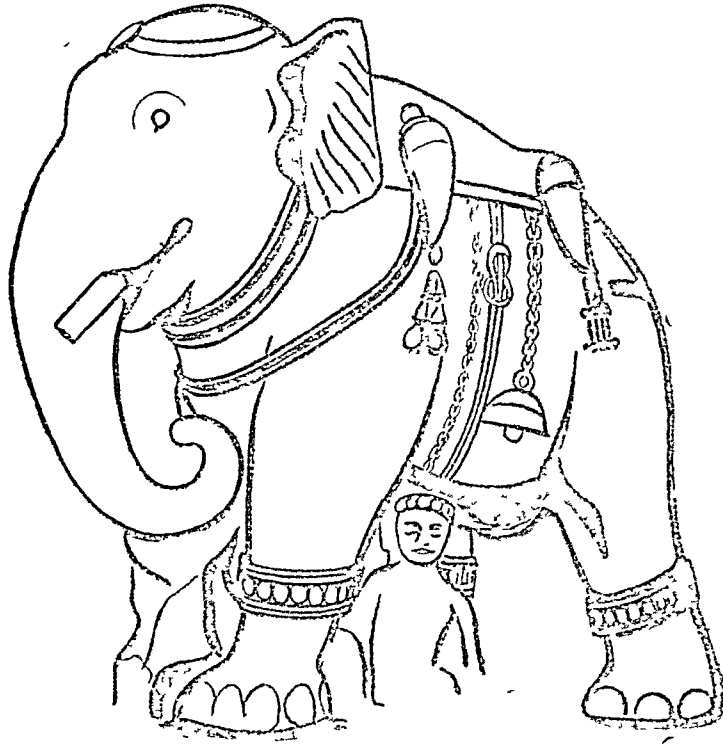
हमारी प्राचीन संस्कृति

श्री डॉक्टर रामविलास शर्मा एम ए., पी. एच डी.

मोहेंजोदडो और हडप्पा की खुदाई के पहले पृत्सीलुस्की ने सस्कृत मे अनार्य शब्दो की छानवीन करते हुए लिखा था कि शायद लिंगोपासना आर्यो ने भारतवर्ष के आदिम निवासियो से सीखी थी। "शिव" शब्द भी उन्हे इन्ही अनार्य निवासियो से मिला था। भाषा-विज्ञान और पुरातत्त्व की खोज से सभ्यता के वे प्राचीन स्तर उघर चुके है जिन पर आर्यो ने अपनी सश्लिष्ट सभ्यता का भवन बनाया था। भारतवर्ष की अपेक्षा ग्रीस मे यह ऊहापोह और भी स्पष्टता से दिखाई देता है। भारतवर्ष की आर्य या वैदिक सभ्यता और उससे पूर्व की अनार्य या भारतीय सभ्यता किसी एक देश की सीमाओ मे बँधी हुई अनोखी नही है। आर्य और अनार्य, दोनो ही प्रकार की भारतीय सभ्यता की तुलना ग्रीस, मिश्र, सुमेर आदि की प्राचीन और परवर्ती सभ्यता से हो सकती है। इस तुलना से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि आर्य और अनार्य सभ्यता मे अनेक समानताएं होते हुए भी उनकी रूपरेखा भिन्न है। वास्तव मे दोनो की रूपरेखाएँ आज एक ऐसे नये आकार मे मिल गई है जिसमे उनका अलगाव करना कठिन है।

मिश्र, क्रीट, सुमेर और सिन्धु घाटी की प्राचीन सभ्यता मे जो बात सामान्य रूप से मिलती है, वह लिंगोपासना और प्रजनन-सम्बन्धी रीति-रिवाजो (fertility Cults) का प्रचार है। भाषा-विज्ञान और पुरातत्त्व दोनो से ही इसकी पुष्टि होती है। आर्यो ने इस उपासना का विरोध किया परन्तु अनार्य जनता से ज्यो-ज्यो उनका सम्पर्क बढ़ता गया, त्यो-त्यो वे उस विरोधी सस्कृति को अपनाते भी गए। इस अपनाव से ही आज की हिन्दू सस्कृति का जन्म हुआ।

ग्रीस मे बैकस शराब का देवता माना जाता है परन्तु उसका आदिम रूप दूसरा था। वह खेतो मे पैदावार का रक्षक, प्रजनन-सम्बन्ध का देवता था। उसकी उपासना के विचित्र ढग थे जिन्हे हेलेनिक जातियो ने अपने मन्दिरो की गुप्त उपासना मे अपनाया। प्रजनन-देवता इन्द्र के समान बहुगुण सम्पन्न था। बैकस वाणी का देवता भी था; इसीलिए ग्रीक शब्द अँवैकान्टी का वही अर्थ है जो संस्कृत "अवाक्" का है। "वाक्" और "बैकस" की जड़ एक ही है और सम्भवत: उसका छोर अनार्य सस्कृति के गूढतम स्तरो मे है।

हमारी प्राचीन सस्कृति

पत्सीलुस्की के अनुसार "लागल" शब्द की सस्कृत म कोई मान्य व्युत्पत्ति नही है। इसे आर्यो ने अनार्यो स पाया था और उसका अर्थ हल और लिंग दोना था। लिंगोपासना का जन्म खेती के रीति रिवाजा मे हुआ है। इसका आधार यह विश्वास था कि प्रजनन-क्रिया स खेता की पैदावार बढेगी। इसीलिए लागल शब्द के दो अर्थ ह जो वास्तव म सम्बद्ध ह।

खेती के रीति रिवाजा से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक चिन्ह मोहेंजोदडो और हडप्पा की मुद्राओं में मिलते ह। एक मुद्रा पर नग्न-नारी-आकार अंकित है जिसका सिर नीचे को है और दोनो पैर ऊपर को है। उसकी जघाओ के बीच से एक पौधा निकल रहा ह।* इससे खेती में प्रजनन-सम्बन्धी रीति रिवाजा का प्रचलित होना स्पष्ट है। आगे चलकर इन्ही रीति-रिवाजा का वाम-मार्ग और वज्र-यान में विकास हुआ।

मोहेंजोदडो की वे मुद्राएँ सुविख्यात ह जिन पर पशुपति का चित्र अंकित है। मार्शल की पुस्तक की बारहवीं प्लेट मे १७वी आकृति पशुपति की है। वे योगासन मारे बैठे ह, दोनो एडियाँ एक दूसरे से जुडी है और अँगूठे नीचे को है। हाथ घुटना पर ह और कर्मा की देहाती स्त्रियो की तरह कडो से ढके ह। दाहिनी ओर हाथी और चीता ह, बाईं ओर भैसा और गैंडा ह। सिंहासन के नीचे दो हरिण ह।

सिंह कसे भी वन का राजा समझा जाता ह। वन का देवता या तो उसी का रूप धारण करता है या उससे किसी प्रकार सम्बन्धित रहता है। फ्रेन्च लेखक आरी बादम्सा ने हिन्द-चीन के असभ्य निवासियो के विश्वास के बारे में लिखा ह कि चीता वन का स्वामी होता है, इसलिए किसी पेड को काटने के पहले उसकी आज्ञा मागना आवश्यक होता ह। असाम प्रदेश के लोगो म पशुपति की उपासना प्रचलित है और इस देवता का चीते से निकट का सम्बन्ध है। यहाँ के असभ्य निवासी हाथी को पवित्र मानकर उसकी बलि देते हैं और उसकी जननेंद्रियो को राँधकर खाते ह।

नवीन और प्राचीन—दोना ही प्रकार की अनार्य जातियो में लिंगोपासना के साथ जगदम्बिका भवानी की उपासना भी प्रचलित ह या थी। लाओशियन लोग ऐस मन्दिर की यात्रा करते ह जहा काली जसी देवी की मूर्ति स्थापित है। इस काली देवी के हाथ में—जिसका रग भी काला है, लिंग स्थापित ह। पुरातत्त्व के विद्यार्थी जानते ह कि नील नदी से लेकर सिन्धु घाटी तक प्राचीन काल म जगदम्बा की उपासना प्रचलित थी। इसके विपरीत आर्यो म पुरुष-देवा की प्रधानता थी और पुरुष-देवा में पशुपति-पूजा या लिंगोपासना का अभाव था।

मोहेंजोदडा की सस्कृति म योग कितना विकसित हो चुका था, यह कहना कठिन ह। उसके विकास का प्रमाण केवल मुद्राओ में अंकित आकार ह। अनेक मुद्राओ में बैठने का एक विशेष आसन है—दाहिने पर का घुटना छाती से लगा ह और बाएँ पर का घुटना समकोण बनाता हुआ सामने को ह। पशु और वृक्ष-लता की उपासना को देखते हुए यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि योग अपनी चरम सीमा तक विकसित न हुआ था। पशु और देवता एक मुद्रा म साथ साथ बैठे ही नहीं मिलते वरन उनके आकार भी बहुधा एक दूसरे से मिल जात है। मोहजोदडा के बैल जिनका मुह मनुष्य का है, क्रीट और असीरिया के गो-पुरुषो से मिलते-जुलते है। बल, हाथी, वानर आदि देवता होने के साथ सम्भवत सूर्य-चन्द्र की भाँति वश चलानेवाले पुरखे भी थे। जसे चन्द्रवशी और सूर्यवशी क्षत्रिय होते थे, वसेही मिस्र म पशु-पुरखा की उपासना प्रचलित थी। मोहजोन्डा की मुद्राएँ सम्भवत इन्ही पशु-पूर्वजा की उपासना में बनाई गई थी और उन पर जो अक्षर अंकित है वे सम्भवत पूर्वजा के नाम अथवा मन्त्र ह, विशेषकर इसलिए कि मुद्राओ पर उनकी पुनरावृत्ति भी होती ह। यदि बैल की उपासना गो-वशी करते थे तो मानना होगा कि इनके भाई-बन्द बहुत दूर-दूर तक फले थे क्योकि वृषभोपासना क्रीट से लेकर मोहजोन्डो तक प्रचलित थी। ऋगवेद में इन्द्र की वृषभ स तुलना करना क्या दासो को भयभीत करने के लिए न था? तुम वृषभ की पूजा करते हो? हमारा इन्द्र सौ वृषभो के बराबर ह। ऐसी ध्वनि वृषभ स तुलना करनेवाले मन्त्रो स निकलती ह।

साधारण उपासना म अपना महत्त्व घोषित करने के लिए पुजारी या उपासक सिर में वृषभ के सीग लगा सकता है। आसाम के "नागा" अब भी सिर म सीग लगात ह। मोहजोन्डो के पशुपति के सिर पर भी दो विशाल सीग ह। सुमेर और बेबिलोन में सीगो का इस भाति प्रयोग किया जाता था। वृषभ की भाँति 'वानर' भी पवित्र पशु था। मोहेंजोन्डो

*Sir John Marshall—*Mohenjodaro and the Indus Civilisation* (Plate XII fig 12)
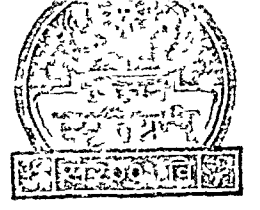
की मद्राओ पर वन्दरो को देखिए और हिन्द-चीन और आसाम के उन निवासियो का स्मरण कीजिए जो कमर से वन्दर की पूंछ बाँधे रहते है। अनार्य सस्कृति का वह अजस्त्र, प्रवाह पूर्वी-एशिया की घाटियों उपत्यकाओ-मे ज्यो का त्यों बना है।

मोहेजोदड़ो के निवासी लिंगोपासक थे। इसी तरह दक्षिण ग्रीस और क्रीट के प्राचीन निवासी भी शिश्नोपासक थे। ग्रीक (आर्य) जातियों ने इनसे लिंगोपासना सीखी। चौराहो पर ये लिंग स्थापित थे और उनकी पूजा होती थी। सिसिली पर एथेन्स की सेना ने जब आक्रमण की तैयारी की थी, तब प्रयाण की रात्रि मे ये लिंग चोरी चले गए थे। इसे अपशकुन माना गया था। हिन्दुस्तान के घरो मे यह लिंग-गौरी की उपासना आज भी प्रचलित है। भाषा-विज्ञान ने शिव की व्युत्पत्ति मे असफल होकर उसे अनार्य शब्द ठहराया था। पुरातत्त्व ने पशुपति-अंकित मुद्राएँ निकालकर शंकर भगवान को अनार्य सिद्ध किया। काशी मे अनार्यो ने आर्यो से दृढ मोर्चा लिया; इसलिए काशी तीन लोक से न्यारी शिव के त्रिशूल पर स्थित हुई। नन्दी शिव का वाहन है और वह पूज्य है। दक्ष वैदिक मत के माननेवाले थे; शिव के गणो ने उनके यज्ञ का विध्वंस किया। नन्दी ने दक्ष के मत की भर्त्सना करते हुए उन्हे "वेदवादविपन्नधीः" कहा। इस शैवमत—लिंगोपासना और उसके लिए विकट संग्राम के स्मृति-चिन्ह नगरो के नाम है जैसे दुर्जयलिंग-दार्जीलिग।

सिन्धु घाटी की खुदाई मे नर्तक की एक सुन्दर मूर्ति मिली है। जितनी सुन्दर है, उतनी ही स्त्रैण भी है यद्यपि मूर्ति नर्तकी नही, नर्तक की है। क्नौसस (क्रीट) के भित्तिचित्रों मे यही स्त्रैणता व्यजित है। अनार्य सभ्यता के पतन के लक्षण इन चित्रो मे झलकते है; उसे पतन के गर्त मे ढकेला नई पुरुषदेवोपासक आर्य सस्कृति ने।

पुरातत्त्व की भूमिका के वाद ऋग्वेद के मत्र पढने पर कभी कभी ऐसा लगता है मानो वे उस अनार्य सभ्यता पर टीका-टिप्पणी करने के लिए लिखे गए है। कम से कम उस भूमिका को ध्यान मे रखने से उनमे एक नया अर्थ-बोध होताहै।

पशु, प्रकृति, योनि और लिंग की उपासना तथा तत्र—मत्रों की संस्कृति को आर्य-आक्रमण का धक्का लगा। अनार्यो के सुन्दर नगर तोड़फोड़ डाले गए जिससे आर्य विजेता का नाम ही पुरन्दर पड़ गया। ग्रीक मे इसी का पर्यायवाची शब्द "प्तोलीपोर्थास" "ओदेसियस" आदि के लिए प्रयुक्त होता है। वैसे "पुर" शब्द अनार्य है और सस्कृत के साथ ग्रीक मे भी अनार्यो से आया। है दक्षिण भारत में स्वाभाविक ही उसकी वहुतायत है। इन्द्र ने "पुरो" का ध्वंस किया परन्तु आर्य शब्दा वली मे "पुर" शब्द अमर हो गया।

इन्द्र ने सर्पोपासकों को मारा; असुरो की पृथ्वी आर्यो को दी; उन्हे गायें दी और उन्हे धन-धान्य से पूर्ण गाँव दिए।

> **यः हत्वा अहिम् अरिणात् सप्त सिन्धून् यः गाः उतऽआजत् अपऽधा वलस्य।**
> **यः अश्मनोः अन्तः अग्निम् जजान संऽवृक् समत्ऽसु सः जनासः इन्द्रः॥**

और भी, "दास वर्ण" को उसने आर्यो की सेवा के लिए दिया और उसने ४० वर्ष तक पर्वतो में छिपे हुए शम्बर को मारा।

> **यः शम्बरम् पर्वतेषु क्षियन्तम् चत्वारिंश्याम् शरदि अनुऽअविन्दत्।**
> **ओजायमानम् यः अहिम् जघान दानुम् शयानम् सः जनासः इन्द्रः॥**

इस "स. जनासः इन्द्र" के वज्र-घोष के साथ पुन· पुन· मंत्रो मे इन्द्र की महत्ता घोषित की जाती है। इन्द्र एक अलौकिक देवता अवश्य है परन्तु देवताओ की सृष्टि भी अवारजविक लोक मे नही होती। दूसरे शब्दो मे न इन्द्र, न और कोई देवता केवल आसमानी होता है। उसकी उत्पत्ति पशुओ, वृक्षो और मनुष्यो से होती है। इन्द्र के पास अपार धन है परन्तु वह "पुरन्दर" भी है। क्या उसके पुरन्दर होने की किवदन्ती के पीछे कोई यथार्थ सत्य नही छिपा है?

> **यस्य अश्वासः प्रऽदिशि यस्य गावः यस्य ग्रामाः यस्य विश्वे रथासः॥**

ग्राम, रथ, गौ, घोड़े सब उसके पास है; इसलिए कि "ओजायमान् अहि" को उसने मारा है। मोहेजोदड़ो की मुद्राओ पर सर्प के फन के नीचे उपासक के चित्र इस "ओजायमान अहि" को एक नया अर्थ प्रदान करते है। इन्द्र का नाम पुरन्दर यो ही न पड़ गया था और उसे योंही आर्य योद्धा विजय के लिए स्मरण न करते थे।

हमारी प्राचीन संस्कृति

यस्मात न ऋते विजयन्ते जनास यम् युध्यमाना अवसे हवन्ते ॥

वे उसे युद्ध में इसलिए स्मरण करते थे कि जिनके विरुद्ध इन्द्र के उपासक लड़ रहे थे,उनके विरुद्ध इन्द्र भी लड चुका था।

य दस्यो हन्ता स जनास इन्द्र ॥

इन्द्र की उपासना में आर्यों ने उन पूर्ववर्ती वीरों की स्मृति सुरक्षित रखी, जिन्होंने सामूहिक रूप से इन मन्त्रों में वर्णित कृत्यों को किया था।

वेदों में इन्द्र जितना महान् है, पुराणों और भाषा-ग्रन्थों में वह उतना ही पतित भी है। कौनसा पाप है जो इस देवता ने नहीं किया? इस देवता को मद्यपी और व्यभिचारी ठहराकर, सहस्राक्ष का रूप देकर, उसे जघन्यतम रूप से तिरस्कृत करके अनार्य संस्कृति के उद्गम से प्रवाहित हिन्दू संस्कृति ने "आजायमानो अहि" की मृत्यु का बदला लिया।

यह संघर्ष दीर्घकालीन और भयानक था। रामायण की गाथा में उसका छायाचित्र अंकित है।

अचायन नाम की हेलेनिक जाति की तरह कुछ आर्य जो पहले भारत में आए थे, अनार्यों से मिल गए और उनपर शासन करने लगे। बाद के आर्य आकर अनार्यों के साथ अपने भाई आर्यों से भी लड़े। ट्रॉय के महान् युद्ध में दोनों ओर के योद्धा आर्य थे। जो लोग हेलेन को भगा लाए थे, वे मिनिनोस के ही भाईबन्द थे। होमर इसीलिए इस भ्रातृ-युद्ध कहता है। रावण भी आर्य था, वेदपाठी था परन्तु उसने शैवोपासना भी स्वीकार कर ली थी। शैवोपासना स्वीकार करके ही वह अनार्यों का प्रभु बन सका था। शैवोपासना द्वारा ही राम भी उस पर विजयी हुए। इसका अर्थ स्पष्ट है, बिना अनार्यों का धर्म स्वीकार किए उनमें फूट डालना असम्भव था।

राम ने जनस्थान में (राक्षसस्थान में नहीं) राक्षसों का नाश किया। बालि को उन्होंने छिपकर मारा। जब बालि ने चुनौती दी—"तुम्हें सुग्रीव के साथ मित्रता ही निबाहनी थी तो सामने आकर क्यों युद्ध नहीं किया?"—तो राम ने यही उत्तर दिया कि सारी पृथ्वी 'आर्य' भरत की है, अनार्य जाति धर्म-अधर्म क्या जानें? जिन आरण्य की स्त्रियों को अगस्त्य और उनके साथी मिशनरी न जीत सके थे, उसे राम ने जीता। इसीलिए वह वाल्मीकि के आदर्श सम्राट हुए।

राम ने अनार्य वानरों से सहायता ली थी। इन वानरों का बन्दरों से बहुत सम्बन्ध रहा होगा तो इतना कि आसाम और हिन्द-चीन के जंगली निवासियों की भांति वे पूछ लगाए रहते होंगे। कम से कम जिस सुन्दरी तारा ने लक्ष्मण की ओर मदभरी चितवन से देखा था, उसके पूछ नहीं थी। परन्तु भारतीय संस्कृति के अनार्य उद्गम ने फिर बदला लिया। हनुमान एक मुख्य देवता हो गए, बन्दर की भांति पूछवाले, यद्यपि वाल्मीकि के हनुमान की सम्भाषण सुनकर आर्य श्रोताओं को आश्चर्य होता था (पता नहीं किस मिशनरी स्कूल में पढे थे!)। मोहेंजोदड़ो की मुद्राओं में अंकित बन्दरों की भांति, हिन्द चीन के वानर-देवता की भांति, आधुनिक 'आर्य" हनुमान का स्मरण करता है। पोस्टे स्टेशन की ओर जाता हुआ किसान या इम्तहान के लिए उससे कुछ देर में चलता हुआ विद्यार्थी "जय हनुमान ज्ञान गुणसागर" गुनगुनाने लगता है। यह कहां की 'नाना पुराण' या 'नाना पुराण निगमागम सम्मत" उपासना है? यह वही उपासना है जो भारतीय किसान के हृदय में सहस्राब्दियों के बाद भी अपना अति प्राचीन रूप नहीं खो सकी।

फिर भी गोस्वामीजी की रामायण "नाना पुराण, सम्मत" तथा 'निगमागम सम्मत" दोनों ही है। भारतवर्ष की धरती ने, यहां की जल वायु ने आर्य-अनार्य संस्कृतियों को एक कर दिया। तुलसीदास इस संस्कृति-सम्मिलन के सबसे बड़े कवि है। दोनों से श्रेष्ठ तत्त्व लेकर दोनों के त्याज्य तत्त्वों का उन्होंने बहिष्कार किया। ऋग्वेद का "इन्द्र" रामायण का खल-पात्र बना। वैदिक "पुरन्दर" तुलसीदास का उपास्य नहीं है। शिव और विष्णु के अति प्राचीन संघर्ष को उन्होंने निपटाया और नवमत को हिन्दू धर्म का अविच्छिन्न अंग बना दिया। "मलेस" संस्कृति में भूत प्रेतों की पूजा को उन्होंने महा-अधम उपासना ठहराया, "भजहिं भूत घनघोर" के बहाने उसकी तीव्र निन्दा की। इस सांस्कृतिक सम्मिलन के कारण आज का हिन्दू धर्म तुलसीदास का हिन्दू धर्म है। उसमें 'आजायमान अहि' का नाश करनेवाले इन्द्र का ओज कम है परन्तु उसके बदले सिन्धु जैसी अथाह करुणा है जो सभी धर्मों और संस्कृतियों का आधार है। तुलसीदास मानव-सुलभ करुणा और सहानुभूति के कवि है जिसके प्रतीक-चरित्र राम नहीं भरत है।
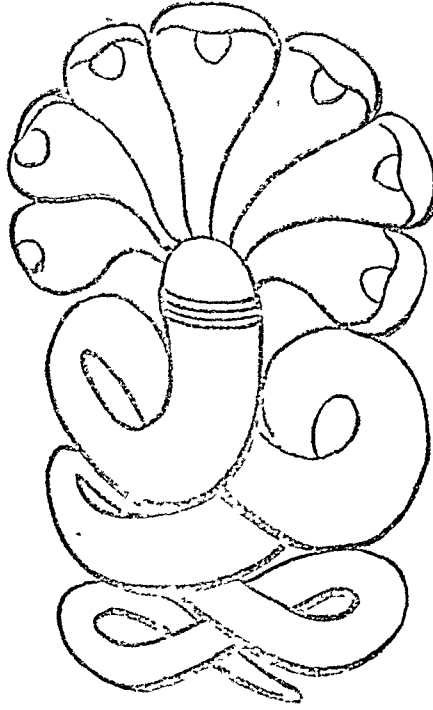
गांधर्व-विवाह

श्री लुडविक स्टर्नवाख, पोलेण्ड।

प्रोफेसर पी० व्ही० काणे के मतानुसार (धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द २, भाग १, पृष्ठ ५१९) गान्धर्व-विवाह का प्रमुख उद्देश्य भोग-विलास की परितृप्ति है'। जे० जॉली (वही, पृष्ठ ५१) का कथन है कि गान्धर्व-विवाह माता-पिता की स्वीकृति प्राप्त किए विना ही किया गया प्रेम-परिणय मात्र है। गुरुदास वेनरजी (हिन्दू-विवाह कानन एव स्त्री-धन, टैगोर लॉ लेक्चर्स, १८७८, पृष्ठ ८५) कहते है कि इस रूप मे विवाह, जो केवल सम्वन्धित व्यक्तियो के समझौते पर निर्भर करता है, ग्रेट्न-ग्रीन के उन विवाहो से कुछ हद तक मिलता-जुलता है जो अग्रेजी कानून के अन्तर्गत आनेवाले स्कॉट-लैण्ड के ग्रेट्न ग्रीन तथा अन्य स्थानो के रहनेवाले भगोडो द्वारा, गलत-प्रेरणा तथा गुप्त रूप से आयोजित विवाहो के लिए लगे प्रतिबन्धो से वचने के लिए चुपचाप कर लिए जाते है। जॉन डी० मेन (हिन्दू लॉ और उसके उपयोग का विवेचन, मद्रास १९००, पृष्ठ ७९) के मत मे गान्धर्व-विवाह यौन-प्रवृत्तियो एव विलासपूर्ण आलिगनो के लिए सम्पन्न होते है।

स्मृतियो से यह स्पष्ट है कि गान्धर्व-विवाह एक कन्या (कन्या, वाला, वधू अथवा स्त्री) का (मनुस्मृति भाग ३, ३२, कोटिल्य ३-२), अपने प्रेमी के साथ किया गया स्वेच्छापूर्ण सयोग है। (मनु० ३-३२ अस्पस्तम्ब २: ५, १२, २० इत्यादि) अथवा जैसा कि वीर० का कथन है, दो प्रेमियो का सयोग इस प्रकार के विवाह को रूप देता है। अपस्तम्व का कथन है कि पारस्परिक समझौते के हो जाने के वाद ही ऐसे विवाह सम्पन्न किए जाते है (वीर० स० ८५२) पारस्परिक यह स्वीकृति अथवा पारस्परिक सहयोग इस प्रकार के विवाह की अनिवार्य शर्ते है। इस प्रकार के विवाहो को और भी भली-भाँति समझने के लिए कुछ स्मृतियो का कथन है कि प्रेम के कारण ऐसे विवाह होते है (अपस्तम्ब २-५, १२, २०, शंख, ४-५ देव वी० स० ८५५) अथवा कामेच्छा से इसका उद्भव होता है और यौन-सगति से इसकी पूर्ति। (मनु० ३-३२) वशिष्ठ के अनुसार प्रेमी (१, ३३) स्वजातीय एक कन्या को, विना माता-पिता की अनुमति प्राप्त किए किसी पुण्य-स्थल पर ले जाता है।

गांधर्व विवाह

गन्धर्व विवाह, राक्षस विवाह एवं पिशाच-विवाह में वैवाहिक शिष्टाचार एवं निश्चित आदेशों के पालन के प्रश्न पर नारद का मत विवादास्पद है। देवल तथा भरत गृह्य परिशिष्ट (शौनक) के एक उद्धरण के आधार पर, उनकी सम्मति में, कम से कम आर्य-दम्पत्तियों के लिए हवन क्रिया का सम्पादन होना अनिवार्य है। किन्तु कुमारी कन्याओं द्वारा विवाह के समय मंत्रोच्चार करने पर लगे मनु के उस निषेध का वे भी समर्थन करते हैं और कहते हैं कि ऐसे विवाहों में वैदिक-विवाहों के मंत्रों का पाठ नहीं होना चाहिए। चौंतीसवें श्लोक पर मेधातिथि की टिप्पणी से यह स्पष्ट होगा कि इस प्रश्न पर विद्वानों के मत विभिन्न थे, उनमें से कुछ मंत्रोच्चार के साथ विवाह की अनुमति के पक्ष में थी और कुछ वैवाहिक शिष्टाचार की आवश्यकता को ही अस्वीकार करती थी।

एक स्मृति का कथन है कि गान्धर्व तथा अन्य विवाह पद्धतियों में, पति-पत्नी को वैधानिक अधिकार प्रदान करने के लिए, हवन-क्रिया से लेकर सप्तपदी तक सब कर्म सम्पन्न करना चाहिए।

इस क्रम में मैं कामसूत्र (भाग ३, अध्याय ५) में प्राप्त इस प्रकार के विवाह की व्याख्या उद्धृत करना पसन्द करूँगा। उस व्याख्या के अनुसार "जब एक नवयुवक द्वारा एक युवती प्रेम-पाश में बँध जाती है, तब वह सर्वथा उसीकी हो जाती है। समाज में वह उसके साथ वैसा ही व्यवहार करता है मानो वह उसकी पत्नी ही हो। किसी ब्राह्मण के हवन-कुण्ड से वह अग्नि प्रतिष्ठा करता है, दर्भ से भूमि आच्छादित करता है, अग्नि में हविष-सामग्री डालता है तथा इस प्रकार के विवाहों के लिए उपस्थित धार्मिक रीति-रस्मों के अनुसार विवाह करता है। साक्षी की इसमें आवश्यकता नहीं। इस रीति रस्म के हो जाने के पश्चात वर, कन्या के माता पिता को, अपने द्वारा सम्पादित सब घटना की सूचना देता है। अग्नि को साक्षी कर सम्पन्न किए गए ऐसे विवाह अविच्छेद्य होते हैं। अन्य पारिवारिक सम्बन्धियों को भी इसकी सूचना दी जाती है तथा उनसे स्वीकृति की प्रार्थना की जाती है। गन्धर्वों की यही प्रथा रही है।"

इस उद्धरण से यह देखा जा सकता है कि कन्या के माता पिता की अनुमति प्राप्त किए बिना ही रचा गया गान्धर्व विवाह विधिवत विवाह होने तक केवल वेश्या रखना जैसा ही है (देखो, वि० ६, २८२३)। उदाहरणार्थ, पंचतंत्र में हम पढ़ते हैं कि किसी विवाहित स्त्री के साथ यौन-संगति अर्थात् व्यभिचार, गान्धर्व विवाह पद्धति के अनुसार पूर्ण सम्पादित विवाह होता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में हम इस प्रकार के अनेक और उदाहरण पा सकते हैं। (जैसे कालिदास द्वारा रचित शकुन्तला और दुष्यन्त की कहानी इत्यादि)।

किन्तु महाभारत में हम एक बिल्कुल ही भिन्न दृष्टिकोण पाते हैं। उसमें हम पाते हैं कि "जब कन्या का पिता अपनी इच्छाओं की उपेक्षा कर लड़की को उन हाथों में प्रदान कर देता है, जिसे लड़की पसंद करती है और जो लड़की की भावनाओं का समादर करता है, युधिष्ठिर के अनुसार, उन लोगों के द्वारा गान्धर्व विवाह कहलाता है जो वेद विधियों को जानते हैं। हम देखते हैं कि महाभारत के अनुसार यह विवाह का वास्तविक तरीका था। यह उच्चतम विवाह रूपों में से एक रूप था जहां लड़की द्वारा अपनी रुचि के अनुकूल पति को चुनने में पिता का कोई प्रभाव नहीं रहता था।

मनुस्मृति के भाग ३ २६ में हम निम्न श्लोक भी पाते हैं —

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्व चोदितौ। गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ॥
अर्थात उपर्युक्त गान्धर्व एवं राक्षस दोनों प्रकार के विवाह क्षत्रियों के लिए शास्त्रीय वर्णित किए गए हैं, चाहे वे फिर मिश्रित रूप में हों अथवा पृथक् रूप में।

इस वाक्य से हमें यह ज्ञान हो सकता है कि इस विवाह के दो विभाग थे। एक राक्षस विवाह के साथ मिला हुआ गान्धर्व-विवाह, और दूसरा इससे पृथक् अर्थात शुद्ध गान्धर्व-विवाह।

राक्षस-विवाह के साथ मिले हुए गान्धर्व-विवाह का एक अत्यन्त सुन्दर अंश हम भाष्य लिखित मनुस्मृति की *टिप्पणी* (३, २६) में मिलता है। उसके अनुसार संयोग से यदि पिता के घर में ही रहते हुए लड़की, उसी घर में रहते हुए किसी

लड़के को देखकर तथा आगतुकों द्वारा उसकी प्रशंसा सुनकर, उसके प्रेम-बन्धन मे पड़ जाती है; किन्तु स्वयं अपनी स्वामिनी न होने के कारण जब वह उससे मिल नही पाती, तब वह अपने प्रेमी के साथ एक समझौते के लिए प्रवृत्त होती है और उससे अपने पलायन की प्रार्थना करती है। प्रेमी चूंकि सशक्त होता है, वह लड़की के पिता अथवा सरक्षको को घायल अथवा मार कर उसे उड़ा ले जाता है। अत: ऐसे प्रसंगो मे चूंकि दोनो मे परस्पर स्वेच्छापूर्ण सयोग होता है, गान्धर्व विवाह की शर्तें पूर्ण हो जाती है; और इसलिए कि वह लड़की को उसके संरक्षको को घायल अथवा मार कर उडा ले गया, राक्षस विवाह की शर्तें भी पूरी हो जाती है। राक्षस-विवाह से मिश्रित ऐसा गान्धर्व-विवाह (सदोष-गान्धर्व विवाह) राक्षस-विवाह के ही एक निश्चित रूप के अतिरिक्त और कुछ नही, अतएव राक्षस-विवाह के निश्चित विधि-निषेधो के अनुसार ही इसका अर्थ ग्रहण करना होगा, यद्यपि, कभी कभी इस तरह के विवाह की सभी अनिवार्य शर्तें स्पष्ट रूप से प्रयुक्त होती नही देखी जाती (जैसे भागवत् पुराण मे रुक्मिणी-विवाह की कहानी)। इस प्रकार के गान्धर्व-विवाह कभी कभी पिता की अनुमति से या बिना अनुमति के भी, लड़के और लड़की के पारस्परिक समझौते के बाद, सम्पन्न कर लिए जाते है।

दूसरी ओर हम विभिन्न प्रकार के एक अन्य विवाह को पाते है जिसे गान्धर्व-विवाह भी कहते है (राक्षस-विवाह से पृथक्–शुद्ध गान्धर्व-विवाह)। यह वह विवाह है जिसे हम महाभारत मे (सर्ग १३, ४४) पाते है और जिसको हमे विवाह के श्रेष्ठ रूपो मे समझना होगा। इसके अनुसार लड़की की वर-पसन्दगी पर पिता (सरक्षक) का कोई प्रभाव नहीं होता है।

इस प्रकार का गान्धर्व-विवाह लड़की के सुख की दृष्टि से किया जाता था। और यही वास्तव मे सच्चा विवाह था जिसमे पिता की अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य शर्त न थी। लेकिन लड़की के पिता अथवा सरक्षक को बिना इसकी अपेक्षा किए कि वर अनुकूल है अथवा नही, लडकी को प्रदान कर देना होता था। अपने लाभ को दृष्टि मे न रखकर उसे अपनी लडकी के सुख को ध्यान मे रखकर कार्य करना होता था।

गान्धर्व-विवाह को शास्त्रीय विधान पर आश्रित विभाजित विवाह के इन दो रूपो में बाँटकर अन्य जातियो के लोगो द्वारा गान्धर्व-विवाह कर लेने की अनुमति-स्वीकृति के प्रश्न पर (मनु० ३-२६, महाभारत आदि पर्व ७३, १२, १३) हम गान्धर्व-विवाह की परस्पर विरोधी कल्पनाएँ तथा इस तरह के विवाह के परस्पर विरोधी नियम समझ सकते है।

गान्धर्व-विवाह, विवाह के प्राचीन मान्य रूपो मे नही है। अत. इस तथ्य के साधारण परिणाम, केवल मानव-धर्म-शास्त्र मे वर्णित अपवादो (९–१९६, १९७) को छोड़कर, गान्धर्व-विवाह पर भी लागू होते है, जिसके अनुसार यदि गान्धर्व-विवाह-पद्धति (शायद राक्षस-विवाह से मिश्रित नही) से विवाहित कोई स्त्री नि सन्तान मर जाए, तब उसकी सम्पति अर्थात् स्त्री-धन, पति का होता है, पिता का नही। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार भी यदि पति द्वारा स्त्री धन का उपयोग होता है तो उसे ब्याज सहित वापिस लौटाना होता है।

सदोष (आपत्तिजनक) गान्धर्व-विवाह के सम्बन्ध मे यह बता देना है कि मनुस्मृति और यम (वीर स० पृष्ठ ८६५) (३, ४२) के अनुसार इस प्रकार के विवाहों को टालना चाहिए, इसलिए कि ये आपत्तिजनक विवाह है।

इस प्रकार के गान्धर्व-विवाह क्षत्रियो, वैश्यो और शूद्रो के लिए योग्य है। (मनुस्मृति ३, २३) तथा अन्य वैधानिक-परम्पराओ के अनुसार क्षत्रियो को ही इसकी स्वीकृति है। (मनु० ३, २६, महाभारत, आदि पर्व ७३, ६, २४-२७ बी. १, ११-२०, १२, पंच० १०, २५२६, देखो शंख ४-३)।

इससे विपरीत दूसरे रूप मे गान्धर्व-विवाह, अर्थात् राक्षस-विवाह से पृथक् गान्धर्व-विवाह ब्राह्मण जाति के लिए भी न्याय्य है। (मनु० ३-२३, २५, ना० १२, ४४) लेकिन प्रेम पर निर्भर एवं जातीय मतभेदो के बन्धनो से मुक्त इस प्रकार के विवाहो के स्वाभाविक रूप के कारण, कुछ लोग, सब जातियों के लिए गान्धर्व-विवाह की सिफारिश करते है।

गान्धर्व विवाह

वैधानिक परम्पराओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'आपत्तिजनक गान्धर्व विवाह' एक साधारण नियम था और यही कारण है कि विवाह-पद्धतियों की गिनती में गान्धर्व-विवाह निचला स्थान ग्रहण करता है। प्राचीन मान्य विवाह पद्धतियों के बाद इसका प्रथम स्थान है अर्थात् आपस्तम्ब के अनुसार विवाह-पद्धतियों की साधारण तालिका में चौथा स्थान। (आपस्तम्ब २, ५, १२) (ब्राह्म, आर्ष और दैव के बाद)। और नारद-(१, ३९) (ब्राह्म, दैव एवं आर्ष के बाद) और गौतम, बृहस्पति के आधार पर पाँचवाँ (ब्राह्मण, प्राजापत्य, आर्ष और दैव के पश्चात्) तथा गृह्य० (१, ६) के अनुसार ब्राह्मण, दैव, प्राजापत्य और आर्ष के पश्चात्। दूसरी परम्पराओं के आधार पर प्राचीन विवाह पद्धतियों के बाद दूसरा स्थान ग्रहण करता है अर्थात् विवाह की साधारण तालिका में छठा स्थान। (मनु० ३, २१) (या० १-५ ९-६१) नारद (४-२) (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य एवं आसुर के बाद)। विवाह का यह रूप सब वैधानिक परम्पराओं में पाया जाता है।

कलाकार का दण्ड

श्री वृन्दावनलाल वर्मा

(१)

अन्तक यवन था—यूनानी। अपने पिता के समय से उज्जयिनी का निवासी था, स्थापत्य और वास्तुकला का जानकार। परन्तु उसकी बनाई हुई मूर्तियाँ बिकती बहुत कम थी। इसलिए वह जंगली पशुओ के प्रतिबिम्ब बना बना कर अपना जीवनयापन करने लगा। तो भी सुन्दर स्त्री-पुरुषो की मूर्तियाँ बनाने की वेदना बिलकुल कुठित नही हुई थी। उसने अपने बचेखुचे समय मे से अवकाश निकाल निकाल कर अपने देवता, अपोलो, की पीतल की मूर्ति बनाई। पीतल को उसने ऐसा चमत्कार दिया कि वह स्वर्णसी मालूम पड़ती थी। विक्रमादित्य के कान तक इस मूर्ति की प्रशसा पहुँच गई।

मूर्ति के शरीर की गठन, अवयवो की माँसपेशियो, रग-पट्ठो तथा नस-नाडियो का अनुपात तथा उठाव उभाड़ और गर्त गड्ढे ऐसे सुडौल ओर बालबाल सच्चे थे कि उसकी यथार्थमूलक कला मे कोई भी जानकार भ्रम नही कर सकता था। वह मूर्ति अन्तक को इतनी प्यारी लगी कि उसने बेचने की कल्पना का नितान्त परित्याग कर दिया। परन्तु सुजान और अजान सभी को उसका प्रदर्शन कराना उसके अवकाश के समय की एक वासना सी हो गई। लोग आते, देखते रहते और चले जाते, सराहना करते करते।

(२)

एक दिन एक मैले-कुचैले से व्यक्ति को उस मूर्ति ने असाधारण समय तक के लिए अन्तक के निवासस्थान पर, जहाँ अपोलो की मूर्ति का प्रदर्शन होता था, रोक लिया। उस दिन अन्तक को भी अवकाश था। जब यह आगन्तुक देर तक उस मूर्ति का निरीक्षण करने के उपरान्त भी लालच भरे नेत्रो से उसको देख रहा था अन्तक ने पूछा—"आप क्या मूर्तिकार है ?"

उत्तर मिला—"हाँ, हूँ।"

अन्तक ने कहा—"उज्जयिनी के नहीं हो। यहाँ के तो लगभग सब मूर्तिकारों को मैं जानता हूँ।"

आगन्तुक—"मैं बाहर से आया हूँ। आपकी इस मूर्ति की प्रशंसा सुनकर चला आया। बड़ी कुशलता से बनाई गई है। आपको एक उपकरण ने सहज सहायता दी है।"

अन्तक—"वह कौनसा ?"

आगन्तुक—"सोना मुलायम धातु है। उसीपर आपने काम किया है।" आगन्तुक अपनी सूक्ष्म आलोचना पर मन ही मन सन्तुष्ट था। अन्तक को इस कलाकार के अज्ञान पर एक क्षण के लिए विस्मय हुआ, फिर तुरन्त परिहासवृत्ति ने उसको प्रेरित किया। बोला, "आर्य, है तो अवश्य यह सोना, परन्तु सोने की मूर्ति का बनाना उतना ही कठिन है जितना अन्य धातुओं की मूर्ति का बनाना।"

आगन्तुक—"मैं आर्य नहीं हूँ। मैं तक्ष हूँ और मेरा नाम शख है। आप कौन हैं ?"

अन्तक—"मैं यवन हूँ। भारतवर्ष में कई युग हो गए। मेरे पिता उज्जयिनी आए थे। मेरा नाम अन्तक है। आपकी कला का नमूना देखना चाहता हूँ।"

शख—"दिखलाऊँगा। अभी लाता हूँ। मैं पत्थर और लकडी पर काम करता हूँ।"

अन्तक—"लकडी पर काम करने की प्रथा तो अब यहाँ से उठगी गई है ?"

शख—"हाँ, लगभग। धातु की अपेक्षा लकडी और पत्थर पर काम करना दुस्साध्य है।"

अन्तक जरा मुस्कराया। शख को अच्छा नहीं लगा। बोला, "मैं अपनी बनाई मूर्ति लाता हूँ। देखना और फिर शिलाखण्ड पर काम करो। मेरे वर्ग में धातु पर काम करना वर्जित है, नहीं तो करके दिखला देता।"

अन्तक शख को रुष्ट नहीं करना चाहता था। वह शख निर्मित शिला-मूर्ति को देखने के लिए लालायित हो उठा। उसने भारतीय कारीगरों की बनाई अनेक मूर्तियाँ, जालियाँ और प्रतिमाएँ देखी थीं, इसलिए शख का उदगार केवल अहंकार सा अवगत हुआ। तोभी यह सोचकर कि शख की टाँकी और हथौडी में शायद कुछ विशेषता निकले संयम करके रह गया। मूर्ति ले आने के लिए आग्रह करते हुए अन्तक ने कहा—"यदि मूर्ति बोझिल हो तो आपके घर चलूँ ?"

शख ने निषेध किया और द्रुतगति से चला गया। अन्तक उसकी अपेक्षा करने लगा।

(३)

शख शीघ्र ही लौटा। एक श्वेत परिधान में छोटी सी मूर्ति लपेटे हुए मुस्कराता हुआ आया। अन्तक मूर्ति को देखने के लिए उत्कंठित हो रहा था। परिधान को हटाकर शख ने मूर्ति सँभालकर रखदी। अन्तक उसको बारीकी के साथ परखने लगा।

मूर्ति चतुर्भुजी विष्णु की थी। अंग-उपांग सभी सुडौल थे। अनुपात में बाल बराबर भी कहीं वैषम्य न था। ओठों के किनारों पर एक बहुत बारीक मुस्कराहट खेल रही थी और आँखों में विशाल मृदुलता थी, जो वरदान के लिए छलकी पडती हो। अन्तक ने देर तक निरीक्षण किया। अन्त में बोला—"तक्ष शख, तुम्हारी इस प्रतिमा में एकाध बात विलक्षण होते हुए भी शेष सब बहुत साधारण है।"

शख खिन्न और क्षुब्ध हो गया, परन्तु उसको अपनी कृति पर परम सन्तोष था और बहुत अभिमान। इसलिए उसने क्षोभ को पराभूत कर लिया। कहने लगा—"यवन अन्तक पहिले यह बतलाओ इस प्रतिमा में तुमने विलक्षण क्या देखा और फिर इसमें साधारण क्या है वह तो कहोगे ही।"

अन्तक ने उत्तर दिया—"कुशल तक्ष, पत्थर की मूर्ति के ओठों पर ऐसी मुस्कराहट और आँखों में ऐसी मिठास बहुत ही कम देखी। आप बौद्ध नहीं हो ?"
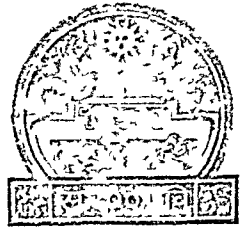
श्री वृन्दावनलाल वर्मा

शख—"नही, मै वैष्णव हूँ, अहिंसा का पुजारी नही हूँ, दोनो हाथो से अमित वर लुटानेवाले विष्णु का भक्त हूँ।"

अन्तक—"विष्णु चक्र चलाते होगे तो क्या ऐसे ही कदली खंभ जैसे सुते हुए हाथो से ? वलिष्ठ भुजा की पेशियाँ और रगे तो अलग-अलग उठी और उभडी हुई दिखलाई पड़नी चाहिए।"

शख—"कैसी यवन ?"

अन्तक—"मेरा हाथ देखो। मै अपने देश का व्यायाम करता हूँ। वज्र मुष्ठि कर लेने पर मेरी भुजा का प्रत्येक उपाग लोहवत हो जाता है और प्रत्येक उपाग का सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग, आँख से देखा जा सकता है और हाथ से टटोला जा सकता है। हमारे देश के कारीगर तो स्त्रियो के भी ऐसे प्रतिविम्व नही वनाते। प्रवल और वलिष्ठ पुरुषो की आपके देश मे काफी वहुतायत है। नमूनो की कमी नही। हमारे देश मे तो शरीर के वारीक से वारीक और छोटे से छोटे व्यौरे और डोरे को चित्र तथा मूर्ति में दिखलाते है। इस तरह की मूर्ति का तो हमारे देश मे शायद ही कुछ मूल्य लगे—निस्सन्देह यह मुस्कराहट और मृदुलता आश्चर्यजनक है। जान पडता है आपके आचार्यो ने जैसा पुस्तको मे लिख दिया है वैसाही अनुसरण करते चले जाते हो। कुछ अपनी निज की भी व्युत्पत्ति रखना चाहिए।"

शंख—"यवन आपके यहाँ भी आचार्य हुए होगे और उन्होने भी अनुभवो के निष्कर्ष रूप कुछ साधारण नियम निर्धारित किए होगे। इसलिए दम्भ की बात मत करिए। हमारे आचार्यो ने जो कुछ कहा है वह वडी लम्वी तपस्या के वल पर और सार्वभौम कल्याण की दृष्टि से।"

अन्तक ने समझा शंख परम्परा का वृथाभिमान कर रहा है। वोला—"तक्ष, जव आप शिलाखण्ड को प्रतिमा मे परिर्वातत करने लगते है तव आपकी आँख कहाँ चली जाती है ? क्या आपके मत मे शरीर की नसो रगों और भिन्न भिन्न पेशियो का उत्कीर्ण करना अनावश्यक है ? तव कला का सौन्दर्य कहाँ है ? आपकी वनाई हुई इस मूर्ति मे आँखो और ओठो को छोडकर वाकी अगो मे अनुपात का सौष्ठव होते हुए भी सूक्ष्मता का गौरव कही भी नही है।"

शंख के भारतीय रक्त मे साहित्य का अलंकार विशाल मात्रा मे था। कहने लगा, "यवन, हमारी दृष्टि भीतर के अग और उपॉग अधिक देखती है, वाहर के अपेक्षाकृत कम। कमल के भीतर का पराग और मधुर मधु भ्रमर भीतर जाकर ही भोग सकता है। ऊपर से टटोलनेवाले का हाथ भटका चाहे जितना करे सम्पर्क की स्निग्धता का सुख भले ही उसको प्राप्त हो जाय, परन्तु भीतर का अमृत उसे नही मिलेगा।"

अन्तक के देश के साहित्य मे भी अलकारो की कमी नही थी। वोला, "शख, उपवन और उद्यान के रंग-विरगे फूलों को देखते हुए भी तुम नही देख पाते। कुसुम की सुडौल गठन, सुन्दर रूप रग देखा और मन ने वाँध लिया; चिड़िया की चहक और स्वर-मण्डल की तान कान पर आई और हृदय ने वाँध ली। आपके लिए तो रूप, रग, महक, चहक, रस और तान सव एक भाव है, आप जव कील और हथौड़ी साधते है तव कहाँ देखा करते है ?"

शंख ने तुरन्त ताव के साथ उत्तर दिया, "आकाश की ओर। आकाश के सूर्य और चन्द्रमा की ओर। आकाश के झिलमिलाते हुए तारो की ओर। रूप बना और विगडा; महक आई और चली गई। चहक और तान एक क्षण के लिए ठहरी और चली गईं।"

अन्तक ने टोक कर कहा, "यह तो वौद्धो की सी कुछ वात मालूम होती है, वैष्णवो की सी नही जान पड़ती।"

तक्ष वोला, "हम सव चाहे वौद्ध हो चाहे वैष्णव, जैन हो चाहे शव उस विशाल आँख की ओर टकटकी लगाते है जिसमे होकर सूर्य, चन्द्र और अन्य नक्षत्र अपने अपने समय पर झाकते है। जान पड़ता है आप नसो और मांस-पेशियो की ऊपरी शक्ति का ही दिग्दर्शन करा सकते है। पद्म के भीतर की महाशक्ति, अनाहतनाद की अनन्त, तान अन्तर्दृष्टि की अखण्ड अभग ज्योति और कक्षान्तर्गत अपरमित वल की आपने और आपके आचार्यो ने कल्पना भी नही की।"

इस भाषा मे केवल अलकार की ध्वनि ही न थी। अन्तक वाद को वढाने के लिए एक तर्क की खोजकर ही रहा था कि उसकी आँख चतुर्भुजी विष्णु की मृदुल आँख और वरद मुस्कराहट पर गई और वही अटक गई। क्यो ? वह समझ

कलाकार का दण्ट

अन्तक—"आपही इसका उत्तर दो तम, क्योंकि हम तो जन्मभर हँसते रहना चाहते ह और हँसते हँसते मरना चाहते ह। बौद्धा की तरह तृष्णाओ स बचन की रट लगा लगाकर प्रतिक्षण अपने को घायल नहीं करना चाहते ह।"

बौद्ध पर किए गए इस प्रहार को शख ने पसन्द किया, इसलिए विवाद की धारा को दूसरी दिशा मिलने लगी।

शख ने कहा—"यवन आपके यहा लोग कितने वष तक इस तरह के हष और विनोद का जीवन व्यतीत करते ह।"

अन्तक—"हमारे यहाँ जिनके ऊपर देवताओ की अधिक कृपा होती हैं वे युवावस्था में ही ससार से विदा ले जाते ह* वसे किसान मजदूर तो बहुत लम्बा जीवन पाते ह।"

शख—"हमारे यहाँ इससे उल्टा ह। यहाँ देवताओ की जिन पर अधिक कृपा होती ह वे बहुत जीते ह। विष्णु भगवान की मुस्कराहट और आँखो की मदुता का वणन यही सकेत करता हैं।"

विष्णु की मूर्ति की बात छिडते ही अन्तक को कपकपी आ गई। उसकी स्पष्ट घबराहट को देखकर शख को सन्तोष हुआ। उसने कहा, "जीवन और मरण दोनो म जो आनन्द ह विष्णु की मूर्ति अपालो की सी देहवाली न होते हुए भी उस आनन्द का विपुलता के साथ प्रदशन करता हैं।"

अन्तक विचारमग्न हो गया। शख न सोचा शास्त्राथ में उसकी विजय हुई। बोला, 'मेरी बात के लिए प्रमाण चाहता हो तो मूर्ति को एक क्षण के लिए फिर दशन करलो।' अन्तक कोई उत्तर न दे सका।

शख के जरा अनुरोध पर दोनो पौर म गए जहाँ अपोलो और विष्णु की मूर्तियाँ रक्खी हुई थी।

अन्तक जानता था कि एक क्षण उपरान्त विष्णु की मूर्ति को हाथ लगाया जाएगा और उसका खडित होना प्रकट हो जाएगा। उसने सोचा मूर्ति को शख न उठावे। इसलिए मूर्ति की ओर बढते हुए अन्तक ने कहा "जहा तक इस मूर्ति की आकृति का कल्याणकारिता स सम्बन्ध हैं प्रसग निर्विवाद हैं, सौन्दय भी, अब म मानता हूँ, इसमें प्रचुर हैं, परन्तु सत्य के आदश से यह दूर हैं।" अन्तम वाक्य कहते कहते अन्तक का गला काप गया—उधर मूर्ति को उठाने में हाथ भी काप गया—मूर्ति का सिर धड से अलग होकर पृथ्वी पर गिर गया।

शख के मुह से चीत्कार निकल पडा, अन्तक के मुह स भी नाटय करनेवाले नट की "ओफ" से अधिक गहरी "ओफ" निकल पडी। थोडी देर सन्नाटा छाया रहा।

एक घडी उस स्थान का वातावरण करुणा से भर गया। जब शान्ति की थोडी सी स्थिरता आई अन्तक ने भरे गले स कहा, "अपालो रक्षा करें। विष्णु मूर्ति को अपालो की मूर्ति के पास रखने से ही यह दुघटना घटी। अपोलो ने क्रोध करके विष्णु मूर्ति का स्वय खडित किया ह।'

शख का भाव क्रोध के रूप में पलटने का हुआ। अन्तक चतुर था उसने तुरन्त उद्बोधन किया "आप चिन्ता मत करिए मुझको ऐसा ससाला मालूम ह जिससे खडित भाग बिल्कुल पूर्ववत् जुड जायगा, कोई नही कह सकेगा कि मूर्ति खडित ह।"

शख न कहा "यवन तुम नहीं जानते हो आय लोगो में खडित मूर्ति का कोई महत्त्व नही।"

अन्तक ने प्रस्ताव किया, "परतु कोई जान सके तब तो।"

शख न उन दोनो मूर्तियो की ओर प्रेक्षण किया। पौर म शब्द गूज गए "कोई जान सके तब तो।" शख के कान म शब्द भर गए "कोई जान सके तब तो।"

दो क्षण के लिए उसने अपालो की मूर्ति को सतृष्ण देखा।

शख ने पूछा—'इसके जोडने में कितना समय लगेगा?"

अन्तक ने उत्तर दिया "आज दिन म जोड लग जाएगा और रात भर म सूखकर पक्का हो जावेगा।'

---

* Those whom gods love die young
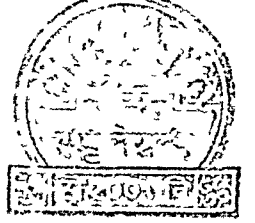
शख ने कहा, "तब ठीक है। जो हुआ सो हुआ। परन्तु मैं तुम्हारे अपोलो की परीक्षा करना चाहता हूँ। खडित मूर्ति के पास ही इसको यथावत रहने दो; फिर देखो जोड़ लगाने मे अपोलो भी कुछ सहायता करते है या नही ? यदि जोड़ ऐसा बैठे कि खंडित हो जाने का निशान न मालूम पडे तो मै भी समझूंगा कि अपोलो मे कुछ प्रताप है।"

अन्तक ने स्वीकार किया।

शख कहता चला गया—"खैर, जो हुआ सो हुआ।"

(६)

अन्तक ने सोचा सस्ते छुटे और वह उत्साह तथा श्रद्धा के साथ अपोलो का स्मरण कुछ क्षण करता रहा। उसने चतुरता के साथ सिर को धड से जोड़कर अपोलो की मूर्ति के पास रख दिया। काम करने मे उसको काफी समय लग गया, परन्तु उसको अखरा नही। जब वह जुड़ाई का काम समाप्त कर चुका तब सन्तोष की हँसी हँसा। उसने सफाई के साथ तक्ष शंख को धोखा दिया और बाद को सहज ही पुटिया लिया इस बात पर वह आनन्दमग्न था। उस रात उसको नीद अच्छी आई।

सबेरे उठा तो देखा पौर मे अपोलो की मूर्ति नही है ! आँखे मली। बन्द की। फिर मली; परन्तु अपोलो की मूर्ति न दिखलाई पड़ी। फिर भ्रम मे घर का कोना कोना छान डाला, परन्तु अपोलो की मूर्ति न मिली। कई घडियाँ घोर कष्ट मे काटी। अन्त मे उसने कोटपाल और दण्डनायक से सहायता लेने का निश्चय किया। एकाध बार उसको सन्देह होता था, कही विष्णु ने बदला तो नही लिया। किन्तु यह सन्देह शीघ्र ही विलीन हो गया।

परन्तु कोटपाल और दण्डनायक के पास जाने के पहिले वह शख के पास गया।

शंख को उसने अपोलो की मूर्ति के गायब हो जाने की बात सुनाई।

किञ्चित् विचारमग्न होकर शंख ने कहा—"यवन, अपोलो आपसे रुष्ट तो नही हो गए है ?"

अन्तक को यह आक्षेप अच्छा नही लगा। उसने उत्तर दिया, "अपोलो अपने भक्त से रुष्ट नही होते। कोई देवता अपने भक्त से विरक्त नही होता।"

शंख बोला, "फिर क्या बात है ?"

अन्तक—"आप ही बतलाओ।"

शंख—"अधिक तो कुछ समझ मे नही आता केवल एक बात उपजती है।"

अन्तक—"मैं बहुत चिन्तित हूँ। शीघ्र कहो।"

शख—"जान पड़ता है भगवान् विष्णु ने अपोलो से बदला लिया है, कदाचित् ब्याज समेत।"

अन्तक व्यंग को समझ गया। जी मे बहुत कुढ़न हुई। बोला "यदि मनुष्य मनुष्य निबट ले तो देवताओं को परस्पर लडाने की आवश्यकता नही है। तक्ष, मैं कोटपाल और दण्डनायक से इसका निर्णय करवाऊँगा।

शख अन्तक के खिसियाए हुए स्वर के प्रच्छन्न सकेत को अवगत करने की चेष्टा करने लगा, परन्तु उक्त सकेत के अन्तिम आवरण को उसकी अन्तर्दृष्टि न भेद सकी।

शंख ने कहा—"यवन कोटपाल और दण्डनायक देवद्वन्द्व का न्याय निर्धार नही कर सकते। अपोलो से बडा आपका कौनसा देवता है ?"

"वज्रपाणि इन्द्र।" अन्तक ने उत्तर दिया, "हमारे देश मे उनको जुपिटर कहते है। "क्यों पूछ रहे हो ?" शंख चुप रहा। अन्तक कुछ सोचने लगा। कुछ क्षण बाद बोला, "तक्ष, क्या आप सचमच कहोगे ?"

"अन्तक, यह प्रश्न आप अपने से करो।" शंख ने तुरन्त उत्तर दिया।

थोडी देर के लिए सन्नाटा छा गया। अन्तक शम्ब के घर से चल पडा। जाते जाते बोला, "देवताओ की यह लडाई बहुत अहितकर हुई। म तो लुट गया।"

"और म भी लुट गया", शम्ब ने शान्त स्वर में कहा।

अन्तक कोटपाल के पास गया। विष्णु की मूर्ति क्रम खण्डित हुई यह उसने नहीं बतलाया। दुर्घटना को आकस्मिक और दवी बतलाने का भरसक प्रयत्न किया।

कोटपाल अन्तक को दण्डनायक के पास ले गया।

दण्ड विधान में दवी घटनाओ को भी मान्यता प्राप्त थी। कोटपाल दव प्रकोप और सरल चोरी के बीच म अपने सशय को टाँगे हुए था। किसी निश्चय पर न पहुँच पाने के कारण वह दण्डनायक के पास गया। दण्डनायक को भी इसी भ्रम में थोडे समय तक फँसना पडा। परन्तु वह विष्णुगुप्त चाणक्य के अर्थशास्त्र से परिचित था और वह विक्रमादित्य के तेजस्वी स्वभाव को भी जानता था। वह यह नहीं चाहता था कि इस साधारणसी घटना पर राजसभा में विवाद हो और सम्राट् को न्याय करने के लिए विवश होना पडे। दण्डनायक ने कोटपाल को आज्ञा दी, "उस तक्ष को पकडो और उसके घर की छानबीन करो।"

कोटपाल ने सदिग्ध मन से आज्ञा पालन करना स्वीकार किया, और एक घडी पीछे ही शम्ब को अपने पहरे में ले लिया। घर की छानबीन करने पर अपाला की मूर्ति भी शम्ब के घर में मिल गई।

कोटपाल ने शम्ब को कुत्सित कर्म के लिए दोष दिया। पूछा, "एक विदेशी को तूने क्या इस प्रकार कष्ट दिया? जानता है परमभट्टारक विदेशियों की कितनी रक्षा करते ह?" शम्ब कोटपाल का मुह ताकने लगा।

कोटपाल ने कहा, "विदेशियों की छोटीसी चोरी करने पर ही मृत्यु दण्ड की व्यवस्था है।" शम्ब जरासा काँप गया।

फिर दृढतापूर्वक बोला, "परन्तु परमभट्टारक के राज्य में प्रत्येक मनुष्य के साथ चाहे वह विदेशी हो या देशी न्याय किया जाता है। इस यवन की बात वेदवाक्य नहीं मानी जा सकेगी। यदि इसका अपोलो मेरे विष्णु की गर्दन तोड सकता था तो मेरा विष्णु निश्चय ही इसके अपोलो को अपने ही गर्भगृह म सेवा के लिए पहुँचा सकता ह। कोटपाल ने अन्तक से प्रश्न किए। उसने हाथ नहीं धरने दिया। कोटपाल के विवेक में मामला कुछकुछ बठा, परन्तु पूरी बात समझ में नहीं आई।

दण्डनायक की समझ म लगभग पूरी बात आ गई। अन्तक से उसने प्रश्न किए, परन्तु विदेशी होने के कारण अपने को सुरक्षित समझकर वह झूठ पर झूठ बोलता चला गया। उसका विश्वास था कि झूठ या फरेब को चतुरता के साथ बर्ता जाय और वह पकडा न जा सके तो एक प्रकार का सद्गुण ही ह। परन्तु दण्डनायक चाणक्य के अर्थशास्त्र का अनुयायी था।

दण्डनायक ने कहा, 'विदेशी तुम रक्षणीय होने पर भी आराध्य नही हो। सत्य कहो विष्णु की मूर्ति कस टूटी?"

सिवाय सत्य के अन्तक न सभी कुछ कहा।

तब दण्डनायक बोला, "अब तुम्हारे हाथ पत्थर के चक्का के बीच दबाकर कुचले जायेंगे, नहीं तो सच बतलाओ।"

अन्तक न कहा, "मने सत्य ही बतलाया है। केवल एक बात झूठी ह, परन्तु वह निरर्थक थी कला के अग की था, इसलिए प्रकट नहीं की। अब कहता हूँ। अपाला की मूर्ति सोने की नहीं ह"। एकाएक शम्ब ने पूछा, "तब काहे की ह?"

"पीतल की" अन्तक न ठडक के साथ उत्तर दिया, "उसके अग प्रत्यग को न केवल यथावत् बनाना आवश्यक था वरन् उस अग प्रत्यग का भीतरी कर्म म समन्वयन भी कराना था।"

परन्तु वह मर्ति, यवन," "शम्ब न धृष्टता के साथ विक्षेप किया, "सोने की न बन सकी। यह तो एक प्रकार की गविता रही। मेरी कला शिला के अन्चल म खेलती हुई भी वर्तमान में कहीं अधिक विभूतिमयी ह।"
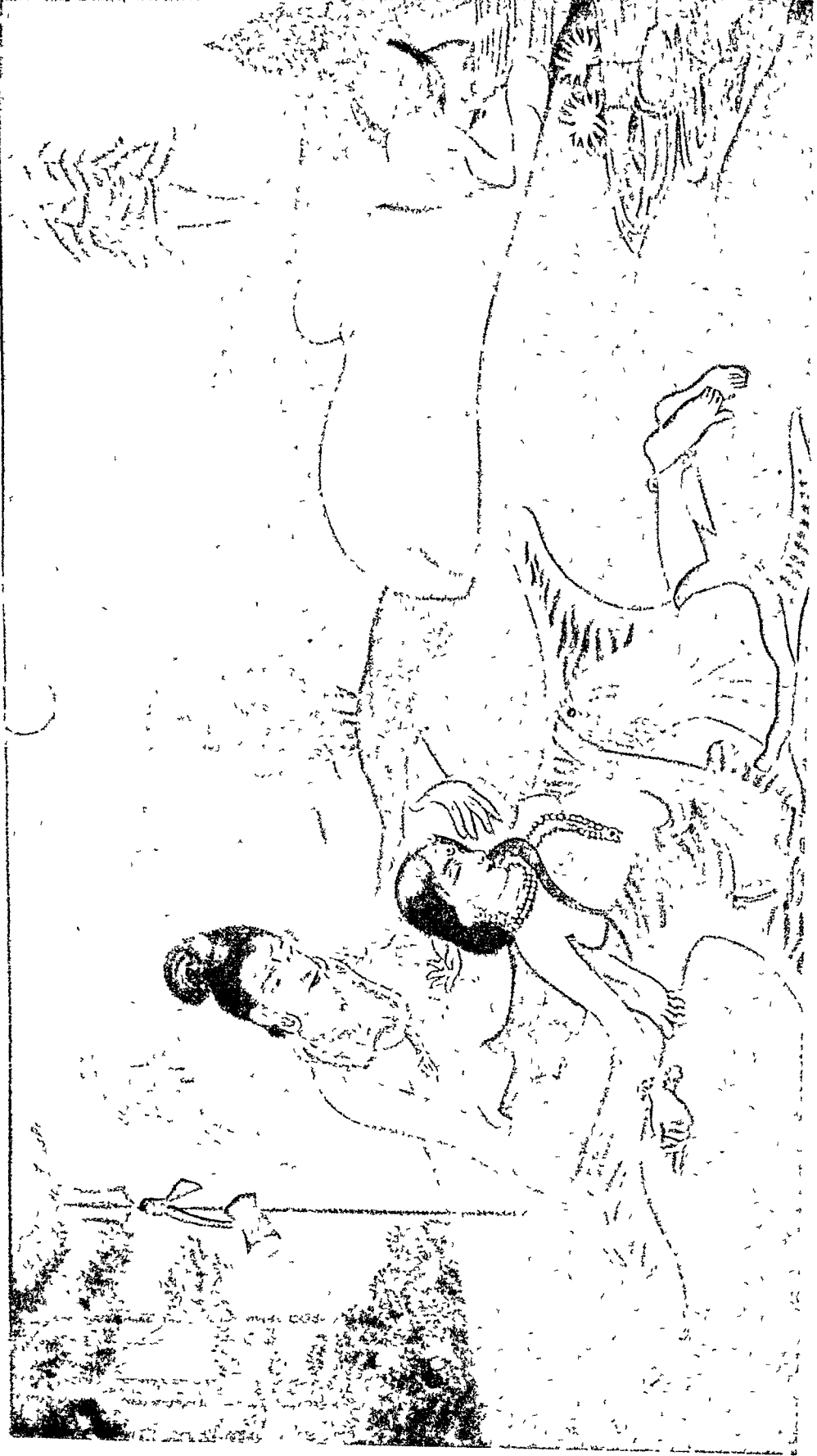
कैलाश में रात्रि

(चित्रकार—श्री रविशंकर रावल, अहमदाबाद)
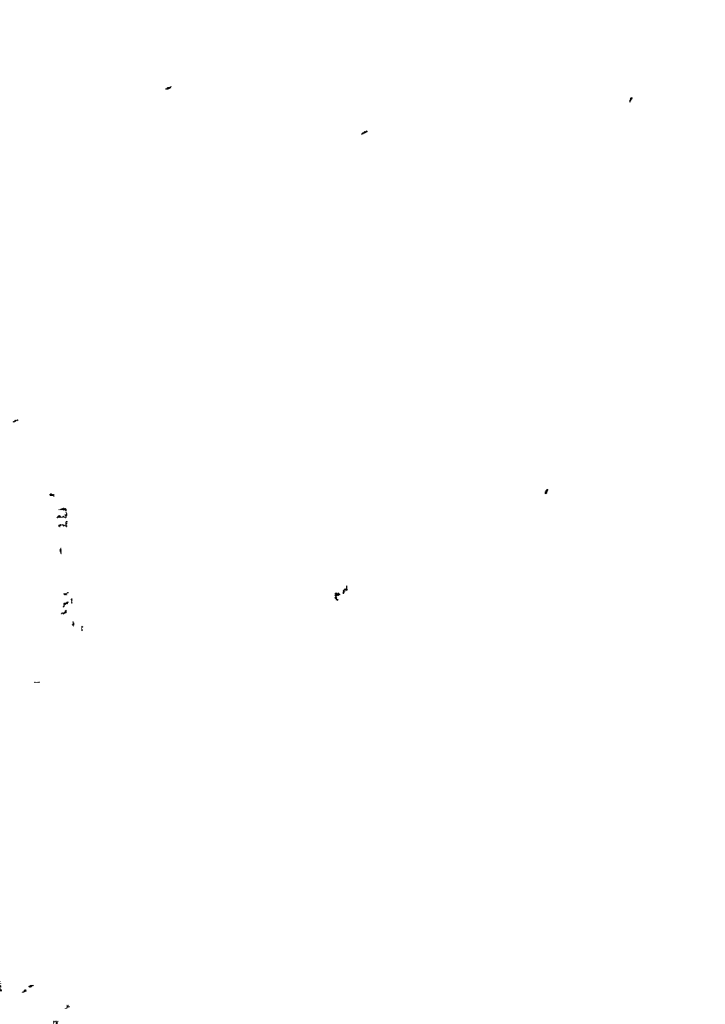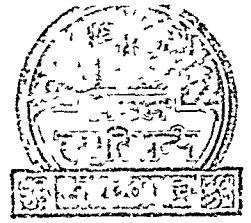
श्री वृन्दावनलाल वर्मा

दण्डनायक यूनानी के उत्तर से सन्तुष्ट नही हुआ था। अभी उसके लिए विष्णु-मूर्ति के टूटने का सही कारण जानना शेष था। शंख पर खिजलाहट की दृष्टि डालकर रूखे स्वर मे बोला, "तुमको, तक्ष, इस विदेशी से कही अधिक बड़ा उत्तर देना है। मुझको जान पड़ता है कि अपोलो की मूर्ति की तुमने ही चोरी की, और विष्णु भगवान के कोप का तुमने बहाना बनाया। तुमको प्राण-दण्ड तक दिया जा सकता है।"

"प्राण दण्ड !" शंख मे सशंक होकर कहा।

"प्राण दण्ड !" अन्तक ने आश्चर्य के साथ कहा।

"हाँ प्राणदण्ड", दण्डनायक बोला, "सावधान, यवन, सत्य कहो, नही तो जिस हाथ ने द्वेषवश अथवा अकस्मात् तक्ष निर्मित मूर्ति को तोडा है वह कुल्हाड़ी से काट दिया जाएगा; और जिस सिर मे अपोलो की मूर्ति की स्वर्ण-प्रतिमा समझकर चोरी की बात समाई उसको खड्ग से काटकर फिकवा दिया जायगा।"

"परन्तु मै तो ब्राह्मण हूँ" शंख ने कहा, "ब्राह्मण अवध्य है। परमभट्टारक विक्रमादित्य के राज्य मे अधर्म नही हो सकता।"

"परमभट्टारक के राज्य मे चोरो के लिए अनुकम्पा भी नही है", दण्डनायक बोला, अतः मुक्त होकर बात करो; पीछे दया की भिक्षा माँगना व्यर्थ होगा।"

अन्तक ने आश्चर्य प्रकट किया, "शंख तो अपने को तक्ष प्रकट करता रहा है। यह सब क्या है ?"

दण्डनायक ने तीव्र स्वर मे आदेश किया, "दोनों अभियुक्त और दोनों ही अभियोक्ता हो, इसलिए बिलकुल सत्य बोलना अन्यथा दोनो को ही धर्म के अनुसार कठोरतम दण्ड दूंगा। शंख तुमको अभी अपने ब्राह्मण होने का प्रमाण देना है।"

दोनो ने घटना को सचाई के साथ बतला दिया। एक ने भय के मारे झूठ बोला था, दूसरे ने हिंसा और लोभवश। शिल्पकारो की रक्षा की विशेष व्यवस्था होने के कारण दण्डनायक ने निर्णयपत्र दे दिया।

अन्तक को उज्जयिनी के गुरुकुल मे एक वर्ष तक रहकर आर्य वास्तुकला के अध्ययन करने का दण्ड मिला। दण्ड-नायक ने कहा, "तुम जिस कला को तुच्छ समझते रहे हो उसको आचार्य के चरणो मे बैठकर सीखो। तुम अपने कुछ भ्रम-पूर्ण दुराग्रहो को प्यार करते हो। उनको भुलाने की चेष्टा करना ही तुम्हारे लिए काफी दण्ड है। यदि तुमने कल्याणकारी कला को मनोगत कर लिया तो गुरुकुलवास तुम्हारे लिए तुम्हारे जीवन का एक श्रेयस्कर समय होगा।"

शंख अपने दण्ड की घोषणा की प्रतीक्षा मे अन्तक को दिए गए दण्ड की मन में आलोचना न कर सका। दण्डनायक मेरे लिए क्या निर्णय करते है इसके सुनने के लिए शंख विह्वल हो उठा।

दण्डनायक ने पूछा, "शंख तुमने अपनी जाति क्यो छिपाई ?"

"उसका सम्बन्ध मेरी कला से है, इस अभियोग से नही।" शंख ने उत्तर दिया।

दण्डनायक ने रुष्ट होकर आग्रह किया, "तो भी तुमको बतलाना पड़ेगा; नही बतलाओगे तो इस कपटाचार के विषय मे तुमको अलग दण्ड दूगा।"

शंख दण्डनायक के तीखेपन को समझ गया। बोला, "दण्डनाथ, मै ब्राह्मण हूँ इसमे कोई सन्देह नही। एक तक्ष युवती जो सौन्दर्य मे किसी भी नागकन्या से अधिक रूपवती है—लक्ष्मी के सदृश है—मेरे हृदय की अधिष्ठात्री देवी बन गई। उसका स्मित और उसकी नेत्र ज्योत्स्ना मिलकर मेरे जीवन के लिए जो सम्पदा है वह मेरी दृष्टि मे परमभट्टारक के साम्राज्य के भी मूल्य से परे है। उसी स्मित और उसी नेत्र ज्योत्स्ना को मै स्थायित्व देने की चेष्टा करता आया हूँ। कैसे करता ? चित्र बनाता तो कदाचित् कुछ पल उपरान्त वह भदरंगा हो जाता, इसलिए शिलाखण्ड पर अपनी साधना को मूर्त करने का मैने निश्चय किया। ब्राह्मण होकर यह कार्य असम्भव था। इसलिए तक्ष बना। तक्ष बनकर लगन के साथ इस कला को सीखा और हृदय को पसीने के साथ बहाकर वह मूर्ति बनाई। मै विष्णु का पूजक हूँ। जैसे मेरी प्रेमिका मेरी कला को
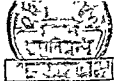
उत्प्राणित करती है वैसे ही विष्णु मेरे मन को पवित्र करते हैं। इसलिए मैंने विष्णु की पवित्र आराधना में उस अद्वितीय स्मित और विलक्षण मोहकतावाले नेत्रलालित्य का गुम्फन करके अपनी लालसा को एक वर्ष में पूरा किया। इस मूर्ख यवन ने उस मूर्ति को तोड़कर मेरे हृदय के टुकड़े किए।"

दण्डनायक ने कहा—"तक्ष या ब्राह्मण जो कुछ तुम होओ, मेरा विश्वास है कि तुम सत्य ही बोल रहे हो—मैं तुमको उज्जयिनी से एक वर्ष के लिए निष्कासित करता हूँ। तुम अपनी प्रेमिका को साथ नहीं ले जा सकोगे। यदि आज्ञा का उल्लंघन करोगे तो घोरतर दण्ड के भागी होगे।"

"तब प्राणदण्ड ही दीजिए", शाक ने निराश होकर कहा।

दण्डनायक पर इस उद्गार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बोला—"तभी तो तुम संसार को उस स्मितवाले ओठों की और उस विशालतावाले नेत्रों की मूर्ति दे सकोगे।"
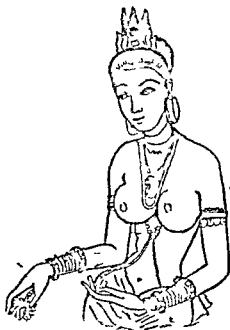
भारतीय मूर्तिकला

श्री सतीशचन्द्र काला, एम्० ए०,

भारतीय मूर्तिकला का विषय अति गूढ तथा रहस्यपूर्ण है। अतएव भारतीय मूर्तियो का अवलोकन एवं अध्ययन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि भारतीय मूर्ति-निर्माण के सम्बन्ध मे किन-किन सिद्धान्तो को दृष्टि मे रक्खा जाता है। भारतीय मूर्तियाँ किसी देव या अन्य वस्तु के वास्तविक चित्रण के परिणामस्वरूप नही है। उनमे कल्पना तथा दर्शन का मिश्रण होता है। कलाकार ध्यान-मुद्रा मे जिस रूप को देखते है उसी का चित्रण प्रायः करते है। इस कल्पना के साथ देवताओ के शारीरिक अवयवो की भी रचना की गई। फिर भावभगी के लिए भी अनेक प्रकार की मुद्राओ को उत्पन्न किया गया। इन सव गुणो के कारण देवी देवताओ के जितने भी रूप वनाए गए वे सांसारिक मानव से परे जान पड़ते है।

भारतीय मूर्तिकला की उत्पत्ति कव हुई, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। ऋग्वेद भारत का प्राचीनतम ग्रथ है; किन्तु उससे भी मूर्तिपूजा के सम्वन्ध मे विशेष ज्ञात नही होता। विद्वानो ने कुछ मत्रो से यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वैदिक युग मे मूर्तिपूजा थी। किन्तु वास्तव मे समस्त ऋग्वेद के एक ही मत्र से मूर्तिपूजा पर कुछ प्रकाश पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिककाल मे मूर्तिपूजा किसी विशेष सम्प्रदाय के बीच प्रचलित थी। अधिकतर लोग प्रकृति के उपादानो की ही पूजा किया करते थे।

कालान्तर मे समाज की धार्मिक प्रवृत्ति मे परिवर्त्तन हो चला। ई० पू० दूसरी सदी मे व्याकरणाचार्य पतञ्जलि ने मूर्तियों का स्पष्ट उल्लेख किया। यथा:—जीविकार्ये चापण्ये (५, ३, ९९)।

एक दूसरी युक्ति के सम्वन्ध मे पतञ्जलि, वसुदेव, शिव, स्कन्द, विष्णु तथा आदित्य का उल्लेख करते है।

कौटिल्य भी अर्थशास्त्र मे मूर्तियो का उल्लेख करते है। उनके अनुसार नगर के मध्य मे अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त, वैश्रवण आदि आदि की मूर्तियाँ स्थापित रहती थी। महाभारत तथा रामायण के स्थलों पर मूर्तिपूजा का उल्लेख आया है।

कुर्टियस (लगभग ई० पू० ३२७ ई०) ने भी हरक्यूलीज की एक मूर्ति का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि जव पोरस की सेना अलेक्जेडर से युद्ध करने जा रही थी तो भारतीय सेना के आगे आगे हरक्यूलीज की एक मूर्ति ले जाई जा रही थी। डॉ० हीरानन्द शास्त्री हरक्यूलीज की इस प्रतिमा को सूर्य की मूर्ति वतलाते है।

भारतीय मूर्तिकला

मूर्तिपूजा का दूसरा उदाहरण ग्वालियर राज्य के भेलसा नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। भेलसा में एक गरुड़-स्तम्भ स्थापित है। इसपर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि यह स्तम्भ तक्षशिला निवासी महाराजा अतलिकित के राजदूत हिलियोदोर ने स्थापित किया था। इसी स्थान से प्राप्त दूसरे लेख से ज्ञात होता है कि यह गरुड़ध्वज विष्णु मन्दिर से सम्बन्धित था।

जान पड़ता है कि देवताओं की मूर्तियाँ बनाने का पूर्ण प्रचार ई० पू० दूसरी सदी, याने शुंगकाल में हो चुका था। लखनऊ के प्रान्तीय संग्रहालय में मथुरा से प्राप्त बलराम की एक मूर्ति है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह ब्राह्मण धर्म की सब प्राचीनतम है। भीटा से प्राप्त शिव का पंचमुखी लिंग भी ई० पू० दूसरी सदी का है।

इन बिखरे उदाहरणों से हम अब बुद्ध प्रतिमा के प्रश्न पर आते हैं। ई० पू० प्रथम सदी से आठ दस सदियों तक बुद्ध भगवान् की अनेक प्रतिमाएँ बनीं। कुछ काल पूर्व विद्वानों की धारणा थी कि बुद्ध प्रतिमा की उत्पत्ति सर्वप्रथम गांधार प्रदेश में यूनानी प्रेरणा से उत्पन्न हुई। किन्तु इस धारणा का अब खण्डन हो गया है। डॉ० कुमारस्वामी ने अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया है कि बुद्ध की सर्व प्रथम मूर्ति मथुरा में बनी। यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि बुद्ध की मूर्तियाँ ई० पू० की सदियों में क्यों नहीं बनीं। इसका एक कारण तो जैसा ब्रह्मजाल सुत्त से ज्ञात होता है, यह है कि 'मृत्यु के बाद भगवान् अदृश्य हो जायेंगे' और इसका अर्थ यही था कि लोग बुद्ध भगवान् का किसी भी रूप में चित्रण न करें। इसलिए सम्पूर्ण बौद्धकला में बुद्ध का अस्तित्व केवल लाक्षणिक चिह्नों से ही दिखलाया गया है। फिर ई० पू० की प्रथम सदी में भागवत् धर्म का उदय होना भी बुद्ध प्रतिमा के निर्माण में विशेष सहायक हुआ।

भारतवर्ष में एक विशेष प्रकार की वृहदाकार ११ यक्ष मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों में आकार और तौल पर विशेष महत्त्व दिया गया है। इन मूर्तियों के विषय में डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी लिखते हैं "... इस वर्ग की मूर्तियाँ किसी मूल भारतीय कला शाखा की देन हैं। और इनके निर्माणकर्त्ता वे लोग रहे होंगे जोकि ग्रामीण देवताओं, यक्ष, यक्षी, नाग, जल, वृक्ष, अप्सरा आदि आदि की पूजा में विश्वास रखते थे ।" इस वर्ग में मथुरा के परखम यक्ष, पटना के यक्ष तथा ग्वालियर के मणिभद्र यक्ष की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। पटना के यक्षों की मूर्तियों पर कुछ लेख भी उत्कीर्ण हैं। सन् १९१९ में स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने इन लेखों के आधार पर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि ये मूर्तियाँ शैशुनाग वंश के राजा उदयिन (ई० पू० ४८३-४६७) तथा नन्दीवर्धन (ई० पू० ४४९-४०९) की हैं। इस धारणा पर बड़ा विवाद खड़ा हुआ। प्राचीनकाल में वास्तव में सम्राटों की मूर्तियाँ स्थापित करने की प्रथा थी। किन्तु पटना की मूर्तियों के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे शैशुनाग नरेशों की हैं। लेख की शैली तो ई० पू० द्वितीय सदी की जान पड़ती है। जो कुछ भी हो इन यक्ष मूर्तियों में भारतीय परम्परा है और यह परम्परा बाद की कुषाण-कालीन बोधिसत्त्वों की मूर्तियों में भी देखने में आती है।

मौर्यकाल में कला और कौशल की बड़ी उन्नति हुई। देश सम्पन्न एवं समृद्धिवान् था। कला को राज्याश्रय मिला। यूनानी भ्रमणकारों ने चन्द्रगुप्त के राजमहल की कारीगरी की बड़ी प्रशंसा की है। अशोक के काल में कला चरम सीमा पर पहुँची। यह कला प्रायः लाटों के ऊपर की चौकी पर उत्कीर्ण पशुओं से देखी जा सकती है। इनमें सबसे दर्शनीय सारनाथ की चौकी है। इसमें सिंह, अश्व, वृषभ आदि आदि का चित्रण अत्यन्त सजीव तथा स्वाभाविक हुआ है। इस कारण सर जॉन मार्शल की धारणा थी कि चौकी के पशु किसी यूनानी कलाकार ने बनाए हैं। अशोक के स्तम्भों पर चमकीली पालिश भी लगी है। इस पालिश तथा ऐसे स्तम्भों का उत्पत्ति स्थान अनेक विद्वान् फारस से बतलाते हैं, किन्तु तुलना करने पर अशोकीय तथा फारस के स्तम्भों में विशाल अन्तर दीख पड़ता है। अशोक की लाटों की चौकी पर कुछ प्रतीक ऐसे अवश्य हैं, जो असीरिया या फारस से लिए गए हैं। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि अनेक उदाहरणों से ज्ञात होता है कि मौर्यकालीन सम्राटों का यूनान आदि देशों के साथ सम्बन्ध था।
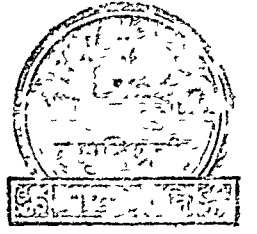
श्री सतीशचन्द्र काला

मौर्य्य साम्राज्य की समाप्ति के वाद देश मे अशान्ति फैली। ऐसा अवसर पाकर सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अपने लिए कुछ सीमा को विजय कर लिया। शुंगकाल में भारुत का प्रसिद्ध स्तूप वना। यह स्तूप नागौद रियासत के भारुत गाँव मे स्थापित था। कालचक्र की गति से यह स्तूप धूल के नीचे दव गया। जनरल सर अलेक्जेंडर ने १८७४ ई० मे इस स्तूप को खोद निकाला। इसके अवशेष इण्डियन म्यूजियम कलकत्ते मे सुरक्षित है। कुछ अवशेष अभी हाल ही मे इलाहावाद के संग्रहालय मे भी आए है।

डॉ० वेणीमाधव वरुआ का कहना है कि भारुत का स्तूप तीन विभिन्न युगो मे वना और यह वात कला की शैली से भी प्रमाणित होती है। केवल वेष्टनी के पूर्वी द्वार पर एक लेख है जिससे ज्ञात होता है कि यह द्वार राजा गार्गीपुत्र के प्रपौत्र तथा गणपतिपुत्र अग्रजा के पुत्र वत्सपुत्र धनमूर्ति ने वनवाया था।

भारुत स्तूप के चारो ओर एक अति सुन्दर वेष्टनी थी। इस वेष्टनी पर चार द्वार थे। वेस्टनी पर कई स्तम्भ तथा सूचियाँ भी लगी थी। इन सव पर वड़ी सुन्दर मूर्तियाँ, फल फूल, पशु-पक्षी आदि आदि वने है। उनके फुलको तथा स्थानो पर जातक कथाएँ उत्कीर्ण है। वुद्ध भगवान् का मनुष्य रूप मे कही पर भी चित्रण नही। उनका अस्तित्व केवल लाक्षणिक चिह्नो से दिखलाया गया है। अनेक जातक दृश्यो पर सूचियाँ भी खुदी है, जिनसे कि उन्हे सरलता के साथ पहिचाना जा सकता है। भारुत की कला एकदम ग्रामीण कला है। इस कला मे गहराई तथा दूरी निदर्शन का काम ध्यान रक्खा गया है। चेहरे प्रायः चपटे तथा आखे खुली हुई है। यह ऐसे युग की कथा है जवकि कलाकार लकडी से पाषाण पर चित्र वनाने की प्रारंभिक चेष्टा कर रहा था।

भारुत से कुछ काल पश्चात् भोपाल रियासत मे स्थित साँची का स्तूप वना। साँची की वेष्टनी के तोरण सम्भवतः ई० पू० प्रथम सदी के मध्य मे वने। वेष्टनी पर जातक कथाओ, यक्ष, यक्षिणी, वौद्ध-प्रतीक आदि आदि अंकित है। साँची की कला द्वारा तत्कालीन जीवन का वड़ा सुन्दर अध्ययन हो सकता है। साँची की कला भारुत की कला से प्रौढ है। हाथी दाँत तथा लकडी पर काम करनवाले कलाकार पत्थर पर भी इस काल मे सुसगति लाने का सफल प्रयत्न कर रहे थे। फिर इस कला मे जो वेग, प्रवाह तथा स्फूर्ति दीख पड़ती है वह पूर्व कला के किसी भी अन्य उदाहरण मे नही दीख पड़ती।

कुषाणकाल की मूर्तिकला (१) गांधार और (२) मथुराकला शाखाओ मे विभाजित की जा सकती है। गांधार कला तो उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त मे उत्पन्न हुई। इस कला मे भी जातक कथाओ का वाहुल्य है, किन्तु शैली सर्वथा यूनानी तथा रोमन है। गांधारकला एक तूफान की तरह भारतीय कला के इतिहास मे आई। कुछ शताब्दियो के वाद इस कला का नाम ही न रहा, क्योकि भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन का साम्य होना कठिन था। गाधार कला दुर्वल कला कही जा सकती है। दूसरी ओर मथुरा मे भारतीय परम्पराओ की शिला पर एक दूसरी कला-शाखा उत्पन्न हुई। सिक्री के लाल चित्तीदार पत्थर पर मथुरा मे कुषाणकाल मे सैकडो मूर्तियाँ वनी। ये मूर्तियाँ कौशाम्वी, काशी, गया, आदि सुदूर स्थानो को भेजी जाती थी। मथुरा मे अनेक वुद्ध, वोधिसत्व, यक्ष, और नागो की मूर्तियाँ तथा वेष्टनियाँ प्राप्त हुई है। गाधार की तरह मथुरा मे भी वुद्ध मूर्तियाँ वहुत वनती रहीं। इस काल की मूर्तियो के शरीर के वस्त्रो की तह मे अव अधिक सुघडपन तथा सुन्दरता आने लगी थी। इन मूर्तियो मे मौर्य्य तथा प्राग मौर्य्यकालीन तत्त्व प्रलक्षित होते है। मथुरा की यक्षिणियो की मूर्तियाँ दर्शनीय है।

गुप्तकाल (ई० वा० ३२०-६००) भारतीय कला का स्वर्णकाल कहा जा सकता है। कला सम्वन्धी सिद्धान्त अव दृढ़ हो चुके थे। पाश्चात्य तत्त्वो का समय निकल चुका था। उन्हे भारतीय कला पचा चुकी थी। इसलिए गुप्त काल की कला शुद्ध तथा सात्विक रूप मे ससार के सम्मुख आती है। शान्ति की अनुपम मुद्रा तथा वस्त्र को शरीर के साथ सुन्दर मिलान करने मे ससार का कोई कलाकार गुप्तकालीन कलाकार को नही पा सकता। कुषाणकालीन मूर्तियों की कुरूपता की कोई परम्परा गुप्त-कला मे नही दीख पडती। अजण्टा, कन्हेरी, मथुरा आदि आदि स्थानो की मूर्तियाँ, शैली की दृष्टि से उच्च होने के अतिरिक्त विलक्षण भी कही जा सकती है।

भारतीय मूर्तिकला

प्रारंभिक मध्यकालीन कला (ई० पू० ६०० से ८०० तक) के सबसे महत्वपूर्ण अवशेष एलोरा तथा एलीफण्टा में है। एलोरा के कैलाश-मन्दिर में जो सुन्दर कारीगरी की गई है, उससे कलाकारों की लगन का आभास किया जा सकता है। एक चट्टान को समूचे मंदिर रूप में काटने तथा उसमें अनेक देवी देवताओं की मूर्तियों को बनाना एक अति साहसपूर्ण कार्य है। ऐलीफण्टा की त्रिमूर्ति में ब्रह्मा विष्णु तथा महेश की स्वाभाविक भावमुद्रा का जो अनुपम प्रदर्शन है वह अवर्णनीय है।

मध्यकालीन कला में भावभंगी या दर्शन को कम महत्व प्राप्त हुआ है। किन्तु शैली की दृष्टि से ये अवशेष अनूठे है। बुन्देलखण्ड के चन्देल वंशज राजाओं के खजुराहो में बनाए मन्दिर मध्यकालीन मूर्ति तथा स्थापत्य कला के अच्छे उदाहरण है। खजुराहो की स्त्री-मूर्तियों में लावण्यता तथा चपलता दीख पड़ती है। कुछ अश्लील दृश्य भी इस कला में है और ऐसा प्रतीत होता है कि शाक्त धर्म की आड़ में कलाकार अश्लील दृश्यों का चित्रण करना चाहते थे।

इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय मूर्तिकला कालानुसार चलती रही। विस्तृत अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि मूर्तिकला समाज की एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति भी करती रही।
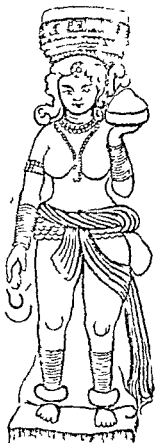
भारत में रसायन की परम्परा और औद्योगिक धन्धे

श्री डॉ० सत्यप्रकाश डी० एस-सी०

हमारा गत दो सहस्र वर्षो का इतिहास उत्थान, पतन, विप्लव, अवसान, उदासीनता और अन्ततोगत्वा परवशता का इतिहास है। महाराज विक्रम की इस स्मारक जयन्ती के अवसर पर उन्हे श्रद्धाञ्जली अर्पित करते समय इस लेख मे हम अपने देश की रासायनिक परम्परा और उद्योग-धन्धो के सम्बन्ध मे सिंहावलोकन करने का प्रयास करेगे। राज्य वनते और विगडते है, शासन-पद्धतियो मे परिवर्तन होता है, पर यह नितान्त आवश्यक नही है कि उसी परम्परा के साथ साथ कलाकौशल या उद्योग व्यवसाय मे भी कोई परिवर्तन हो जाय। शासन की व्यवस्था के आन्तरिक परिवर्तन के अवसर पर ऐसे परिवर्तन बहुधा कम होते है, पर जव कभी बाहर से नई सस्कृति के वाहक वनकर कुछ शासक देश मे अपना आधिपत्य स्थापित करते है, तब बहुधा ऐसा हुआ करता है कि विदेशी और स्वदेशी पद्धतियो के सम्पर्क से एक नई स्वदेशी पद्धति का विकास होता है। इस प्रकार युग युग की स्वदेशी पद्धतियाँ पृथक् पृथक् होती है। व्यापारिक आयात-निर्यात का भी पद्धतियो पर वडा प्रभाव पडता है। हमारे व्यापारी अन्य देशो मे जाते, और अन्य देश के हमारे देश मे आते, इस प्रकार के आवागमन से पारस्परिक आदान-प्रदान, और कला कौशल मे परिवर्तन होता है। इसके अतिरिक्त युग-युग की नयी प्रवत्तियाँ—धर्म, भक्ति, राजनीति, दर्शन आदि से प्रभावित प्रवृत्तियाँ—कभी किसी समय किसी विशेष कला को प्रोत्साहन देती है और कभी किसी दूसरी को। हमारे पास अपने उद्योग-धन्धो का कोई क्रम-वद्ध इतिहास नही है। प्रदर्शनालयो मे सग्रहीत सामग्री तैयार वस्तुओ का दिग्दर्शन अवश्य कराती है, पर वे वस्तुएँ किस प्रकार वनायी गयी, और किन मूल्यो पर वनी और विकी, इसका कोई विवरण हमे प्राप्त नही है। औद्योगिक विधियो को लेखवद्ध करने की परम्परा हमारे देश मे कभी नही रही थी, और न इन विपयो का शिक्षण लिखित ग्रथो द्वारा होता था। यही कारण है कि हमारे पास युग-युग के धन्धो का साहित्य विद्यमान नही है। इस लेख मे यह तो सम्भव नही है कि ऐतिहासिक काल-क्रम के अनुसार सिंहावलोकन किया जाय, केवल कुछ विशेष स्फुट विषयों का सामान्यतः ही दिग्दर्शन कराया जा सकेगा। रसायनशास्त्र का प्रयोग इस देश मे आयुर्वेद और उद्योग धन्धों—दोनो मे हुआ है। पहले हम आयुर्वेदिक विवरण देगे।

रसायन की परम्परा

आयुर्वेद और रसायन—आयुर्वेद की दृष्टि से चरक और सुश्रुत हमारे देश के प्राचीन और मान्य ग्रंथ हैं। भारतीय आयुर्वेद के ये ग्रंथ अत्यन्त प्रामाणिक हैं। इन दोनों में चरक अधिक प्राचीन और सम्भवतः ब्राह्मणकालीन है, और सुश्रुत धन्वन्तरि के शिष्य सुश्रुत ने लिखा था। सुश्रुत के मौलिक ग्रंथ का नाम "वृद्ध सुश्रुत" है, और वर्तमान सुश्रुत नागार्जुन द्वारा परिवर्द्धित संस्करण है। दृढ़बल ने चरक के मौलिक ग्रंथ में भी कुछ विशेष बातें सम्मिलित कर दीं। चरक और सुश्रुत का ठीक रचनाकाल चाहे जो भी कुछ रहा हो, पर ऐसा कोई समय बाद का नहीं आया, जबकि इन ग्रंथों का प्रभाव न रहा हो। सुश्रुत के बाद ही जो सबसे प्रमुख नाम हमको मिलता है वह नागार्जुन का है। तीन नागार्जुनों का उल्लेख है—सिद्ध नागार्जुन, लोहशास्त्र के रचयिता नागार्जुन और माध्यमिक सूत्रवृत्ति के रचयिता बौद्ध नागार्जुन। बहुत सम्भव है कि ये तीनों एक ही हों। इस साहित्य के सम्बन्ध में चक्रपाणि, माधव और वाग्भट्ट के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

प्राचीन ग्रंथों में पतञ्जलि का लोहशास्त्र भी अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। इस ग्रंथ में नमक और शोरे के तेजाबों का और इनके मिश्रण "विडम्" का (aqua regia) उल्लेख है। पतञ्जलि का लोहशास्त्र इस समय उपलब्ध नहीं है, पर इसके अवतरण बाद के लिखे आयुर्वेद और रसायन के ग्रंथों में मिलते हैं। नागार्जुन ने पारद धातु के सम्बन्ध में विशेष प्रयोग किए। चक्रदत्त ने नागार्जुन के ग्रंथ का जो सारांश दिया है, उसमें शुद्ध लोहे के पहिचान की रासायनिक विधि दी हुई है। वासवदत्ता नामक ग्रंथ में पारदपिण्ड का उल्लेख है—पारदपिण्ड इव धातुधातु कान्ति। वृन्द (९५० ई०) ने रसामृत चूर्ण का उल्लेख किया है जो पारे का सल्फाइड है। इसी ने पर्पटीताम्र (cuprous sulphide) का भी उल्लेख किया है। चक्रपाणि ने (१०५० ई०) पारद और गन्धक की बराबर मात्रा लेकर पारे के काले सल्फाइड (कज्जली) बनाने का विस्तार दिया है।

रसार्णव ग्रंथ में ज्वालाओं का रंग देखकर धातुओं की पहिचान की विधि दी है —

> आवर्तमाने कनके पीता तारे सिता शुभा।
> शुल्वे नीलनिभा तीक्ष्णे कृष्णवर्णा सुरेश्वरि॥
> वंगे ज्वाला कपोता च नागे मलिनधूमता।
> शैले तु धूम्रा देवि आयसे कपिलप्रभा॥
> अयस्कान्ते धूमवर्णा सस्यके लोहिता भवेत्।
> वज्रे नानाविधा ज्वाला सस्यके पाण्डुरप्रभा॥ (रसार्णव, यन्त्रमूषा० चतुर्थ पटल, ४९-५७)।

अर्थात् तांबे की ज्वाला नीली, वंग की कपोतवर्ण, सीस की मलिन धूम, लोह की कपिलवर्ण, सस्यक की लाल इत्यादि।

इसी रसार्णव में तीन तरह के क्षारों का उल्लेख आता है —

> त्रिक्षाराष्टंकणक्षारो यवक्षारश्च सर्जिका॥ (पंचम पटल ३५)।

अर्थात् टंकण या सुहागा (borax), यवक्षार (potash carbonate) और सर्जिका (trona, soda)।

आठ महारस निम्न गिनाए हैं —

> माक्षिक विमल शैलश्चपलो रसकस्तथा।
> सस्यको दरदश्चैव स्रोतोऽञ्जनमथाष्टकम्॥

माक्षिक (copper, pyrites), विमल, शैल (Silica) चपल, रसक (calamine), सस्यक (blue vitriol), दरद (cinnabar) और स्रोताञ्जन ये आठ महारस हैं।

रसरत्नसमुच्चय ग्रंथ ने आठ रसों का विभाग इस प्रकार किया है —

> अभ्रवैक्रान्त माक्षीक विमलाद्रिज-सस्यकम्।
> चपलोरसकश्चेति ज्ञात्वाष्टौ संग्रहेद्रसान॥ (२, १)

अभ्र (mica), वैक्रान्त, माक्षिक, विमल, अद्रिज (शिलाजीत या bitumen), सस्यक, चपल और रसक; ग्रंथकार ने इन आठो का विस्तृत उल्लेख भी किया है जिसका कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करेगे।

१. पिनाकं नागमंडूकं वज्रमित्यभ्रकं मतम् ।
श्वेतादिवर्ण भेदेन प्रत्येकं तच्चतुर्विधम् ॥

अभ्रक तीन तरह का होता है–पिनाक, नागमंडूक, और वज्र। श्वेतादि वर्णभेद से (सफेद, लाल, पीला, काला) यह चार प्रकार का और होता है।

प्रतप्तं सप्तवाराणि निक्षिप्तं काञ्जिकेऽभ्रकम् ।
निर्दोषं जायते नूनं प्रक्षिप्तं वापि गोजले ॥
त्रिफलाक्वथिते चापि गवां दुग्धे विशेषतः ॥ (२, १७-१८)

सात बार अभ्रक को गरम करके यदि खटाई मे या गोमूत्र मे छोडा जाय, अथवा त्रिफला के रस में या गाय के दूध मे रक्खा जाय तो यह शुद्ध हो जाता है।

२. अष्टास्रश्चाष्टफलकः षट्कोणो मसृणो गुरुः ।
शुद्ध मिश्रित वर्णैश्च युक्तो वैक्रान्त उच्यते ॥
श्वेतोरक्तश्च पीतश्च नीलः पारावतच्छविः ।
श्यामलः कृष्णवर्णश्च कर्बुरश्चाष्टधा हि सः ॥ ५५-५६ ॥
विन्ध्यस्य दक्षिणे वाऽस्ति ह्युत्तरे वाऽस्ति सर्व्वतः ।
विक्रामयति लोहानि तेन वैक्रान्तकः स्मृतः ॥६१॥

वैक्रान्त मे आठ फलक, और ६ कोण होते है। यह चिकना और भारी होता है। यह आठ रंगों का–सफेद, लाल, पीला, नीला, पारावत, छवि, श्यामल और कृष्ण–होता है। विन्ध्या पर्वत के उत्तर और दक्षिण मे सभी जगह पाया जाता है।

३. सुवर्णशैल प्रभवो विष्णुना काञ्चनो रसः ।
तापी किरातचीनेषु यवनेषु च निर्मितः ॥
माक्षिकं द्विविधं हेममाक्षिकन्तार माक्षिकम् ।
तत्राद्यं माक्षिकं कान्यकुब्जोत्थं स्वर्ण संनिभम् ॥
पाषाण वहलः प्रोक्तस्ताराख्योऽल्पगुणात्मकः ॥७७–८१॥

सोनेवाले पर्वतो मे माक्षिक रहता है। तापी नदी के किनारे, किरात देश मे, चीन मे और यवनदेश मे पाया जाता है। यह सोने का सा और चाँदी का सा, दो तरह का होता है। कन्नौज मे सोने का सा पाया जाता है। दूसरा माक्षिक पत्थरो के साथ मिश्रित पाया जाता है और कम गुणवाला है।

क्षौद्र गन्धर्व तैलाभ्यां गोमूत्रेण घृतेनच ।
कदलीकन्दसारेण भावितं माक्षिकं मुहुः ॥
मूषायां मुञ्चतिध्मातं सत्त्वं शुल्वनिभं मृदु ॥८९-९०॥

शहद, गन्धर्वतेल, गोमूत्र, घी और कदलीकन्द के रस से भावित करके मूषा (crucible) में गरम करने पर यह माक्षिक शुद्ध ताँवा देता है।

४. विमलस्त्रिविधः प्रोक्तो हेमाद्यस्तारपूर्वकः ।
तृतीयः कांस्य विमलस्तत् तत् कान्त्या स लक्ष्यते ॥९६॥
वर्त्तुलः कोणसंयुक्तः स्निग्धश्च फलकान्वितः ॥९७॥

रसायन की परम्परा

> विमल शिग्रु तोयेन काशीकासीसटंकणैः ।
> वज्रकन्दसमायुक्तं भावितं कदली रसैः ॥
> मोक्षकक्षारसंयुक्तं ध्मापितं मूकमूषगम् ।
> सत्वं चन्द्रार्क संकाशं प्रयच्छति न संशयः ॥१०३-१०४॥

विमल तीन तरह का होता है—सोने, चाँदी और काँसे की सी आभावाला। यह वर्तुलाकार, कोणों से संयुक्त और फलकान्वित होता है। इसे शिग्रु के जल से एवं काशी (alum फिटकरी), कासीस (green vitriol) और टंकण (borax) से, और फिर वज्रकन्द और कदलीरस से भावित करके मूकमूषा (covered crucible) में गरम किया जाय तो चन्द्रक धातु (एक प्रकार का ताँबा) मिलता है।

सम्भवतः विमल रस भी ताम्रमाक्षिक का ही कोई भेद हो अथवा सम्भवतः इसमें कुछ और धातुओं के भी मिश्रण हो।

> ५ शिलाधातुर्द्विधा प्रोक्तो गोमूत्राद्यो रसायनः ।
> कर्पूरपूर्वकश्चान्यस्तत्राद्यो द्विविधः पुनः ॥१०९॥
> ग्रीष्मे तीव्रार्कतप्तेभ्यः पादेभ्यो हिमभूभृतः ।
> स्वर्ण-रूप्यार्क गर्भेभ्यः शिलाधातुर्विनिःसरेत् ॥११०॥

शिलाजीत दो तरह का होता है, एक में गोमूत्र की सी और दूसरे में कपूर की सी गन्ध होती है। गर्मी की ऋतु में हिमालय की पादस्थ चट्टानों से यह पिघलकर बह आता है।

> ६ मयूरकण्ठवच्छायं भाराढ्यमतिशस्यते ॥१२७॥
> लकुचद्राव गन्धाश्म टंकणेन समन्वितम् ।
> निरुध्य मूषिकामध्ये म्रियते कौक्कुटे पुटे ॥१३२॥
> सस्यकस्य तु चूर्णं तु पादसौभाग्यसंयुतम् ।
> करंजतैलमध्यस्थं दिनमेकं निधापयेत् ॥
> मध्यस्थमन्धमूषाया ये ध्मापयेत कोकिलत्रयम् ।
> इन्द्रगोपाकृति चैव सत्वं भवति शोभनम् ॥१३३ १३४॥

सस्यक का नाम मयूरतुल्य भी है क्योंकि मोर के कण्ठ के रंग का सा होता है। इस नीले थोथे (तूतिया) से ताँबा प्राप्त करने की विधि इस प्रकार दी है—नीलाथोथा में ¼ भाग सुहागा मिलाओ। इसे करंजतैल में एक दिन रखो और फिर बन्द मूषा में कोयले की आग पर गरम करो। इन्द्रवधूटी के रंग की धातु प्राप्त होगी।

> ७ गौरः श्वेतोऽरुणः कृष्णश्चपलस्तु चतुर्विधः ।
> हेमाभश्चैव ताराभो विशेषाद् रसबन्धनः ॥१४३॥
> शेषौ तु मध्यौ लाक्षावच्छीघ्रद्रावी तु निष्फलौ ।
> वंगवद् द्रवते वह्नौ चपलस्तेन कीर्तितः ॥१४४॥
> चपलः स्फटिकच्छायः षडस्रः स्निग्धको गुरुः ॥१४६॥

चपल चार रंगों के होते हैं—पीला, सफेद, लाल और काला। रसबन्धन अर्थात् पारे के स्थिरीकरण में चाँदी और सोने की सी आभावाले चपल अधिक उपयोगी हैं। अन्तिम दो (लाल और काले) लाख की तरह शीघ्र गलनेवाले और बेकार हैं। आग पर गरम करने से चपल शीघ्र गल जाते हैं और इसीलिए इनका नाम चपल पड़ा है। चपलों में ६ फलक, और स्फटिकों की सी आभा होती है।

यह कहना कठिन है कि चपल वस्तुतः कौनसा रस है।

८. रसको द्विविधः प्रोक्तो दुर्दुरः कारवेल्लकः।
सदलो दुर्दुरः प्रोक्तो निर्दलः कारवेल्लकः ॥१४९॥
हरिद्रा त्रिफला राल सिन्धुधूमैः सटंकणैः।
सारुष्करैश्च पादांशैः साम्लैः संमर्द्य खर्परम् ॥
लिप्तं वृन्ताकमूषायां शोषयित्वा निरुध्यच ॥
मूषां मूषोपरि न्यस्य खर्परं प्रधमेत् ततः।
खर्परे प्रहृते ज्वाला भवेन्ननीला सिता यदि ॥
तदासंदंशतो मूषा धृत्वाकृत्वा त्वधोमुखीम्।
शनैरास्फालयेद् भूमो यथा नालं न भज्यते ॥
वंगाभं पतितं सत्वं समादाय नियोजयेत् ॥१५७-१६१॥

रसक (calamine) दो तरह का होता है, एक दुर्दर (laminated) और दूसरा कारवेल्लक (non-laminated)। इसे हल्दी, त्रिफला, राल, नमक, धुआँ, सुहागा, और चौथाई भाग सारुष्कर और अम्लरसों के साथ समर्दन करके और वृन्ताकमूषा (tubulated crucible) मे रखकर धूप मे सुखावे, और इस पर दूसरी मूषा ढाँककर गरम करे। पिघले रसक से निकली ज्वाला जब नीली से सफेद पड़ जाय, तो सदंश (pair of tongs) से मूषा को पकडकर उल्टा करे, फिर सावधानी से जमीन पर इस तरह गिराए कि मूषा की नाल (tube) न टूटे। ऐसा करने पर वग के समान आभावाला सत्त्व नीचे गिरेगा। यह धातु जस्ता (zinc) है। खर्पर रसक का ही दूसरा नाम है।

रसरत्नसमुच्चय के तीसरे अध्याय मे उपरसो का विवरण दिया है जिसका उल्लेख हम स्थानाभाव के कारण विस्तार से नही कर सकते। आठ उपरस निम्न है :—

गन्धाश्म गैरिकासीस कांक्षीताल शिलाञ्जनम्।
कंकुष्ठं चेत्युपरसाश्चाष्टौ पारद कर्मणि ॥३।१॥

गन्धक (sulphur), गेरू (red ochre), कसीस (green vitriol), कांक्षी (alum), ताल (orpiment), मनःशिला (realgar), अजन और कामकुष्ठ ये आठ उप-रस है जिनका व्यवहार पारे को रसायन मे किया जाता है।

गन्धक तीन तरह का होता है—लाल (तोते की चोंचसा), पीला और सफेद। कुछ लोग काले गन्धक का होना भी बताते है। गैरिक (गेरू) के दो भेद है—पाषाण गैरिक, स्वर्ण गैरिक। कसीस भी दो तरह का है—वालुक कासीस (हरा), पुष्पकासीस (कुछ पीला सा)। काक्षी, तुवरी या फिटकरी सूरत या सौराष्ट्र मे प्राप्त होती थी—सौराष्ट्राश्मनि संभूता मृत्स्ना सा तुवरी मता। इसके एक दूसरे भेद को फटकी, या फुल्लिका कहते है जो कुछ पीली होती है। एक फुल्ल-तुवरी होती है जो सफेद है। हरिताल या तालक (orpiment) दो तरह का होता है—पत्राख्य (पत्रेसा) और पिंडसज्ञक (गोलीनुमा)। मन शिला लोहे के जग (किट्ट), गुड, गुग्गुल और घी के साथ कोष्ठि-यत्र मे गरम करने पर सत्त्व देता है। अंजन कई तरह के होते है—सौवीराजन या सुरमा (galena or lead sulphide), रसाजन, स्रोताजन, पुष्पाजन, नीलाजन। सफेद सुरमा या स्रोताजन सम्भवत आइसलैण्ड स्पार है। रसाजन आजकल रसोत के नाम से प्रसिद्ध है। कामकुष्ठ क्या है यह कहना कठिन है। यह हिमालय के पाद शिखर मे पाया जाता था। यह नवजात हाथी की विष्ठा है, ऐसा कुछ का विचार था। यह तीव्र विरेचक है।

उपरसो के अतिरिक्त कुछ अन्य साधारण रसों का भी वर्णन आता है—

कम्पिल्लश्चपरो गोरी पाषाणो नवसारकः।
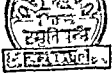
कपर्दो वह्निजारश्च गिरिसिन्दूर हिंगुलौ ॥
मृद्दारशृंगमित्यष्टौ साधारण रसा स्मृता ॥३।१२०-१२१॥

धम्पिल्ल (ईंट के रंग का विरेचक), गौरीपाषाण (स्फटिक, हरा और हल्दी के रंग का), नवसार या नौसादर (salammoniac) जिसे चूलिका लवण भी कहते हैं, कपर्द (वराटक या कौडी), अग्निजार (समुद्र-नक्र के जरायु से निकला अज्ञात पदार्थ), गिरि सिन्दूर (rock vermilion), हिंगुल (cinnabar) जिसे दरद भी कहते हैं, मृद्दार शृंगक (गुजरात में और आबू पर्वत पर प्राप्य), और राजावर्त्त (lapis lazuli) ये साधारण रस हैं।

इसी ग्रंथ में रत्न या मणियों का उल्लेख भी है —

मणयोऽपि च विज्ञेया सूतबन्धस्य कारका ।
वैक्रान्त सूर्यकान्तश्च हीरकं मौक्तिकं मणि ॥
चन्द्रकान्तस्तथा चैव राजावर्त्तश्च सप्तम ।
गरुडोद्गारकश्चैव ज्ञातव्या मणयस्त्वमी ॥
पुष्पराग महानील पद्मराग प्रवालकम ।
वैदूर्यं च तथा नीलमेते च मणयो मता ॥४।१-३॥

पारे के बंधन के सम्बन्ध में ही इन मणियों का उल्लेख है। मणि ये हैं—वैक्रान्त, सूर्यकान्त (sun-stone), हीरक (diamond), मौक्तिक (pearl), चन्द्रकान्त (moon-stone), राजावर्त्त (lapis lazuli), गरुडोद्गार (emerald)। इनके अतिरिक्त पुष्पराग, महानील, पद्मराग, प्रवाल (coral), वैदूर्य और नील ये मणि और हैं।

हीरे को वज्र भी कहते हैं। इसका विवरण इस प्रकार है—

अष्टास्र चाष्टफलक षट्कोणमति भासुरम ।
अम्बुदेन्द्रधनुर्वारितरं पुंवज्रमुच्यते ॥४।२७॥

इसमें ८ फलक और ६ कोण होते हैं, और इसमें से इन्द्र धनुष के से रंग दीखते हैं। वज्र नर, नारी और नपुंसक भेद से तीन प्रकार के बताए गए हैं जिनके विस्तार की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

रसरत्नसमुच्चय ग्रंथ के पाँचवें अध्याय में धातुओं का उल्लेख है। धातुओं का सामान्य नाम 'लोहा' है।

(क) शुद्ध-लोह अर्थात शुद्ध धातु तीन हैं—सोना, चाँदी और लोहा।

शुद्ध लोह कनकरजत भानुलोहाश्म सारम्।

(ख) पूती-लोह (दुर्गन्ध देनेवाले धातु) दो हैं—सीसा (नाग) और राँगा या वंग (lead and tin)।

पूती लोह द्वितयमुदितं नागवंगाभिधानम्।

(ग) मिश्र लोह (धातुओं का मिश्रण-alloy) तीन हैं—पीतल (brass), कांसा (bell-metal) और वर्त्तलोह—

मिश्र लोहं त्रितयमुदित पित्तल कांस्यवर्त्तम्।

सोना पाँच प्रकार का माना गया है—प्राकृतिक, सहज, वह्निसमूत, खान से निकला, रस-वेध से प्राप्त।

प्राकृतं सहज वह्नि सभूतं खनिसभवम्। रसेन्द्र वेध सजात स्वर्णं पंचविधं स्मृतम ॥५।२॥

चाँदी तीन प्रकार की है—सहज खनिसजात कृत्रिम च त्रिधामतम्। अर्थात् सहज, खान से निकली और कृत्रिम। इसके शोधन की विधि यह है —

नागेन टंकनेनैव वापित शुद्धिमृच्छति।

सीसे और सुहागे के संयोग से यह शुद्ध होता है। किसी खपडे पर चूने और राख का मिश्रण धरे, और फिर बराबर बराबर चाँदी और सीसा। फिर तब तक धमन (roast) करे जब तक सीसा सब खतम न हो जाय। ऐसा करने पर शुद्ध चाँदी रह जायगी (५।२२-४१)।

ताँबा दो प्रकार का होता है; एक तो नेपाल का शुद्ध, और दूसरा खान से निकला जिसे म्लेच्छ कहते है :—

म्लेच्छं नेपालकं चेति तयोर्नेपालमुत्तमम्।
नेपालादन्यखन्युत्थं म्लेच्छमित्यभिधीयते ॥५।४४॥

लोहा तीन प्रकार का होता है—मुण्ड (wrought iron), तीक्ष्ण और कान्त। मुण्ड के भी तीन भेद है—मृदु, कुण्ठ और कडार।

मुण्डं तीक्ष्णं च कान्तंच त्रिप्रकारमयः स्मृतम्।
मृदु कुण्ठं कडारं च त्रिविधं मुण्डमुच्यते ॥७०॥
द्रुत द्रावमविस्फोटं चिक्कणं मृदु तच्छुभम्।
हतं यत् प्रसरेद्दुःखात् तत्कुण्ठं मध्यमं स्मृतम् ॥
यद्धतं भज्यते भंगे कृष्णं स्यात् तत् कडारकम् ॥७१-७२॥

मृदु (soft iron) वह लोहा है जो आसानी से गलता है, और टूटता नही, और चिकना होता है। कुण्ठ लोहा वह है जो हथौड़े से पीटने पर कठिनता से बढ़ता है। जो हथौड़े से पीटने पर टूट जाय उसे कडारक कहते है।

तीक्ष्ण लोहा (cast iron) के छह भेद है। इनमे एक परुष है और भंग होने पर पारे का सा चमकता है, और झुकाने पर टूट जाता है। दूसरे प्रकार का लोहा कठिनता से टूटता है और तेज धारवाला है।

कान्तलोहा (nagnetic iron) पाँच प्रकार का है—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक, द्रावक और रोमकान्त—

भ्रामकं चुम्बकं चैव कर्षकं द्रावकं तथा।
एवं चतुर्विधं कान्तं रोमकान्तं च पंचमम् ॥५।८४॥

यह लोह एक, दो, तीन, चार या पाँच अथवा अधिक मुखवाला होता है, और रंग भी किसी का पीला, किसी का काला या लाल होता है। जो कान्त-लोहा सभी प्रकार के लोहो को घुमादे उसे भ्रामक कहते है। जो लोहे का चुम्बन करे उसे चुम्बक, जो लोहे को खीचे उसे कर्षक, जो लोहे को एकदम गलादे उसे द्रावक, और जो टूटने पर रोम ऐसा स्फुटित हो जाय उसे रोमकान्त कहते हैं (८४-८९)।

लोहे के जग को लोहकिट्ट (iron rust) कहते है।

वंग (tin) दो प्रकार का होता है—खुरक और मिश्रक।

खुरकं मिश्रकं चेति द्विविधं वंगमुच्यते ॥ (५।१५३)

इसमे मे खुरक (white tin) उत्तम है। यह सफेद, मृदु, निःशब्द और स्निग्ध होती है, दूसरी मिश्रक (grey tin) श्यामशुभ्रक वर्ण की है।

सीसे के सम्बन्ध मे ग्रंथकार का कथन है—

द्रुतद्रावं महाभारं छेदे कृष्ण समुज्ज्वलम्।
पूतिगन्धं बहिः कृष्णं शुद्धसीसमतोऽन्यया ॥१७१॥

यह शीघ्र जलता है, बहुत भारी होता है, छेदन करने पर (fracture) काले उज्ज्वल रंग का होता है, यह दुर्गन्धयुक्त और बाहर से काले रंग का होता है।

पीतल दो प्रकार की होती है—रीतिका और काकतुण्डी। रीतिका वह है जो गरम करके खटाई (काजी) में छोडी जाय तो ताम्र रग की हो जाय, और ऐसा करने पर जो काली पड जाय वह काकतुण्डी है।

रीतिका काकतुण्डी च द्विविध पित्तल भवेत्।
सतप्ता काञ्जिके क्षिप्ता ताम्राभा रीतिका मता॥
एव या जायते कृष्णा काकतुण्डीति सा मता ॥१९२-१९३॥

आठ भाग ताबा और दो भाग वग (tin) साथ साथ जलाने से कांसा बनता है—

अष्ट भागेन ताम्रेण द्विभाग कुटिलेन च।
विद्रुतेन भवेत् कास्य .. .. ॥२०५॥

वर्त्तलोह पाच धातुओं के मिश्रण से बनता है—कांसा, तांबा, पीतल, लोहा और सीसा।

कास्यार्करीति लोहाहिजात तद्वर्त्तलोहकम्।
तदेव पच लोहाख्य लोहविद्भिरुदा हृतम् ॥२१२॥

धातुओ और रसो के सम्बन्ध में अब तक हमने जो लिखा है वह रसरत्नसमुच्चय के आधार पर। पर इस ग्रथ से पूर्व भी अनेक ग्रथ थे जिनमें लगभग इसी प्रकार के अनुभव दिए गए है। इस सम्बन्ध में नागार्जुन का "रसरत्नाकर" नामक ग्रथ भी बडे महत्त्व का है। यह महायान सम्प्रदाय का एक तत्रग्रथ है। इस ग्रथ में शालिवाहन, नागार्जुन, रत्नघोष और माडव्य के बीच का सवाद दिया है और सवाद द्वारा रासायनिक विषय स्पष्ट किए गए है। महाराज नेपाल के पुस्तकालय में छठी शताब्दी की नकल की हुई एक तत्र पुस्तक "कुब्जिकामत" की है। यह भी उस सम्प्रदाय का एक तत्र ग्रथ है जो महायान का समकालीन है। इस ग्रथ मे शिवजी पारद को अपना वीर्य घोषित करते है, और छह बार मारने के बाद पारद की उपयोगिता की ओर सकेत करते है —

मद्वीर्यं पारदो यद्व पतित स्फुटित मणि।
मद्वीर्येण प्रसूतास्ते तावार्ग्या सूनके वहि।
तिष्ठन्ति सस्कृता सन्त भस्मा षड्विप्रजारणाम्॥

तत्र मत्र के काल में रसायन विद्या का विशेष प्रचार हुआ। इस विद्या में निपुण व्यक्तियो को मत्रवज्राचार्य कहा जाता है। यह युग असग और धर्मकीर्ति के समय के मध्य में चला। छठी शताब्दी से १२वी शताब्दी तक तत्र सिद्धान्तो का विशेष प्रचार रहा। उदण्डपुर और विक्रमशिला के मठो के विध्वस के बाद बौद्धो का इस देश में पतन हुआ, बौद्ध छिन्न भिन्न हो गए। उनके तत्र ग्रथ कालान्तर में हिन्दू तत्र ग्रथो में समाविष्ट भी कर लिए गए। मौलिक बौद्ध ग्रथो के सवाद तारा, प्रज्ञापारमिता और बुद्ध के बीच में थे, और बाद के ग्रथो में ये ही सवाद शिव और पार्वती के मुख से कहलाए जाने लगे।

माधव का रसार्णव पारद के सम्बन्ध में एक मुख्य ग्रथ है। यह ग्रथ १२वीं शताब्दी का है। माधव का एक ग्रथ "रस हृदय" भी है। रसरत्नसमुच्चय, जिसके उद्धरण हमने ऊपर दिए हैं, १३वी या १४वीं शताब्दी की रचना है। इस पुस्तक में सोमदेव नामक ग्रथकार का उल्लेख आता है। इसकी एक पुस्तक रसेन्द्रचूडामणि, दक्षिण-कॉलेज, पूना के पुस्तकालय में प्राप्त है। यह ग्रथ रसरत्नसमुच्चय से बहुत मिलता जुलता है। यह रचना १२-१३वी शताब्दी की है। इस ग्रथ में यह उल्लेख है कि नन्दिन् नामक कलाकार ने ऊर्ध्वपातन यत्र (sublimation apparatus) और कोष्ठिकायत्र (चित्र १) का निर्माण किया—

ऊर्ध्वपातनयत्र हि नन्दिना परिकीर्त्तितम्।
कोष्ठिका यत्रनेऽद्धि नन्दिना परिकीर्त्तितम्॥

श्री डॉ० सत्यप्रकाश

रसरत्नसमुच्चय ग्रंथ में २७ रसायनज्ञों का उल्लेख आता है—

आगमश्चन्द्रसेनश्च लंकेशश्च विशारदः।
कपाली मत्त मांडव्यौ भास्करः शूरसेनकः ॥
रत्नकोषश्च शंभुश्च सात्त्विको नरवाहनः।
इन्द्रदो गोमुखश्चैव कम्बलिर्व्याडिरेवच ॥
नागार्जुनः सुरानन्दो नागबोधिर्यशोधनः।
खण्डः कापालिको ब्रह्मा गोविन्दो लमपकोहरिः।
सप्तविंशति संख्यका रससिद्धि प्रदायकाः ॥

आगम, चन्द्रसेन, लंकेश, विशारद, कपाली, मत्त, मांडव्य, भास्कर, शूरसेनक, रत्नकोष, शंभु, सात्त्विक, नरवाहन, इन्द्रद, गोमुख, कम्वलि, व्याडि, नागार्जुन, सुरानन्द, नागबोधि, यशोधन, खड, कापालिक, ब्रह्मा, गोविन्द, लमपक, और हरि ये २७ पूर्ववर्त्ती रसायनज्ञ थे। रसरत्नसमुच्चय के रचयिता वाग्भट्ट का पिता सिंहगुप्त भी प्रसिद्ध चिकित्सक था। ऊपर २७ व्यक्तियो के जो नाम दिए है, उनमे एक व्यक्ति यशोधन है। सम्भवतः इसका शुद्ध पाठ यशोधर हो। यशोधर का एक ग्रंथ रसप्रकाश-सुधाकर मिलता है। यह ग्रथ रसरत्नसमुच्चय से मिलता जुलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रसरत्नसमुच्चय कोई मौलिक ग्रथ नही है। यह रसार्णव एवं सोमदेव और यशोधर के अन्य ग्रथो का संग्रह मात्र है।

यशोवर को ही जस्ता धातु बनाने की विधि का श्रेय देना चाहिए। इस विधि का उल्लेख हम ऊपर कर आए है। यशोधर ने अपने ग्रंथ मे साफ साफ लिखा है, कि उसने ये प्रयोग स्वयं अपने हाथ से किए, और अतः ये अनुभवसिद्ध है—

स्वहस्तेन कृतं सम्यक् जारणं न श्रुतं मया।
स्वहस्तेन भवयोगेन कृतं सम्यक् श्रुतेनहि ॥
धातुबन्धस्तृतीयोऽसौ स्वहस्तेन कृतो मया।
दृष्ट-प्रत्यय-योगोऽयं कथितो नात्र संशयः ॥

यशोधर के ग्रंथ "रस प्रकाश सुधाकर" की प्रतिलिपि रणवीर-पुस्तकालय काश्मीर मे सुरक्षित है।

इसी समय का एक ग्रंथ रसकल्प है जो रुद्रयामल तंत्र का एक भाग है। इसमे गोविन्द, स्वच्छन्द भैरव आदि रसायनज्ञों के नामों का उल्लेख भी है। रसकल्प मे पारे मारने की विधि, महारस, रस, उपरस, ४ प्रकार के गन्धक, अनेक प्रकार की फिटकरी (सौराष्ट्री), ३ प्रकार के कासीस (कासीस, पुष्पकासीस और हीरकासीस), २ प्रकार के गैरिक, सोना मारने का विड (नौसादर-चूलिकलवण, गन्धक, चित्रार्द्रभस्म, और गोमूत्र के योग से), ताम्रसत्त्व, और रसकसत्त्व (जस्ता) आदि का उल्लेख है। इस ग्रथ मे भी ग्रंथकार ने साक्षात् अनुभव के महत्त्व पर वल दिया है—

इति सम्पादितो मार्गो द्रुतीनां पातने स्फुटः।
साक्षादनुभवैर्दृष्टो न श्रुतो गुरुदर्शितः ॥

विष्णुदेव विरचित एक और ग्रंथ रसराजलक्ष्मी है। इसमें इसने पूर्ववर्ती तंत्रों और रसायनज्ञों का उल्लेख किया है, और इस दृष्टि से इस ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्त्व है।

दृष्ट्वेमं रससागरं शिवकृतं श्रीकाकचण्डेश्वरी-
तंत्रं सूतमहोदधिं रससुधाम्भोधिं भवानीमतम्।
व्याडिं सुश्रुतसूत्रमीगहृदयं स्वच्छन्दशक्त्यागमम्।
श्रीदामोदरवासुदेवभगवद्गोविन्दनागार्जुनान् ॥१॥
आलोक्य सुश्रुतं वृन्दहारीत चरकादिकान्।
आत्रेयं वाग्भट्टं सिद्धसारं दामोदरं गुरुम् ॥२॥

रसायन की परम्परा

विष्णुदेव ने निम्न आचार्यों और ग्रंथो के प्रति इन श्लोकों में कृतज्ञता प्रदर्शित की है—रसार्णव, काकचण्डीश्वर, नागार्जुन, व्याडि, स्वच्छन्द, दामोदर, वासुदेव, भगवद् गोविन्द, चरक, सुश्रुत, हारीत, वाग्भट्ट, आत्रेयादि। ये सब तेरहवीं शताब्दी तक के आचार्य है।

संवत् १५५७ आश्विन कृष्ण ५ सोमे को मदनसिंह ने रसनक्षत्रमालिका ग्रंथ पूर्ण किया। इस ग्रंथ में पहले पहल अफीम का उल्लेख आता है —

> चतुश्चतु शाल कपर्दिकाना, सतक्र जम्बीरविमर्दितानाम्।
> आफेन माक्षिकविषद्वयाना, पल पल दत्ति फलान्वितानाम् ॥२५॥

स्वच्छन्द नामक आचार्य का उल्लेख विष्णुदेव के ग्रंथ में आ चुका है। इनके नाम पर एक स्वच्छन्द भैरव रस है, जिसका उल्लेख रसनक्षत्रमालिका में मिलता है—स्वच्छन्दभैरवाख्यो रस समस्तामयध्वसी (१२५)। इससे स्पष्ट है कि रसाचार्यों के नाम पर पहले भी रसों के नाम रक्खे जाने की प्रथा थी।

लगभग इसी समय का एक ग्रंथ पार्वतीपुत्र नित्यनाथ विरचित रसरत्नाकर है। इस ग्रंथ में शिव रचित रसार्णव, रसमगलदीपिका, नागार्जुन, चर्पटिसिद्ध, वाग्भट्ट और सुश्रुत का उल्लेख है इसके अतिरिक्त—

> यद्यद् गुरुमुखज्ञान स्वानुभूतञ्च यन्मया। तत्तल्लोकहितायाय प्रकटीक्रियतेऽधुना ॥

नित्यनाथ के इस ग्रंथ के अनन्तर रसेन्द्रचिन्तामणि का उल्लेख किया जा सकता है। इसके रचयिता कालनाथ के शिष्य ढुढुकनाथ है। इस ग्रंथ का सम्पादन उमेशचन्द्र सेनगुप्त, संस्कृत कॉलेज कलकत्ता ने किया है। इस ग्रंथ में रस-कर्पूर शब्द कलोमल (calomel) के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसका उल्लेख रसार्णव म भी है। इस ग्रंथ में रसार्णव, नागार्जुन, गोविन्द, नित्यनाथ, सिद्धलक्ष्मीश्वर, त्रिविक्रमभट्ट और चक्रपाणि का उल्लेख है। रसेन्द्र चिन्तामणि कब लिखा गया यह कहना कठिन है।

इसके बाद के एक ग्रंथ रससार में पारे पर की जानेवाली १८ प्रक्रियाओं का उल्लेख है। इसके रचयिता गोविन्दाचार्य हैं। इस ग्रंथ में बौद्ध रसायनाचार्यों के प्रति विशेष कृतज्ञता प्रकट की है—भोटदेश (भूटान या तिब्बत) के बौद्धों का उल्लेख महत्त्व का है।

> एव बौद्धा विजानन्ति भोटदेशनिवासिन ।
> बौद्धमत तथा ज्ञात्वा रससार कृतो मया ॥

रससार ग्रंथ में अफीम (अहिफेन) का वर्णन आता है। समुद्र में चार तरह की विषैली मछलियाँ होती है, जिनके फेन से ४ तरह की अफीम निकलती है—सफेद, लाल, काली और पीली। कुछ का कहना है कि अफीम साँप के फेन से निकलती है—

> समुद्रे चव जायते विषमत्स्याश्चतुर्विधा ।
> तेभ्य फेन समुत्पन्न अहिफेनो विषस चतुर्विध।
> केचिद्वदन्ति सर्पाणा फेन स्यादहिफेनकम् ॥

पर सम्भवत यह अहिफेन आजकल पोस्ता से निकली अफीम न हो। प्राणियो के फेन से निकले सभी विष (मत्स्य, चाहे साँप के) सम्भवत अहिफेन कहलाते हो।

शार्ङ्गधर संग्रह के रचयिता शार्ङ्गधर का एक ग्रंथ "पद्धति" भी है जो संवत् १४२० वि० म रचा गया। शार्ङ्गधर संग्रह की आढमल्ल ने एक बृहद् टीका भी की। राजा हम्मीर शार्ङ्गधर के बाबा राघवदेव को बहुत मानता था। इसके समय में सौगतसिंह नाम का भी एक वैद्य था जसा कि निम्न वाक्य से स्पष्ट है—

> एषा सौगतसिंह नाम भिषजा लोके प्रकाशीकृता।
> हम्मीराय महीभुजे सभोजभाजे नृणाम् ॥
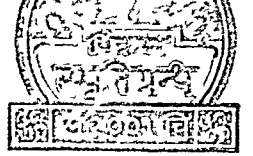
रसमंजरी, चन्द्रिका आदि तंत्र ग्रंथ के आधार पर गोपालकृष्ण ने रसेन्द्रसारसंग्रह नामक एक ग्रंथ लिखा। इसमें अनेक खनिज रसायनो के बनाने की विधि दी हुई है। सिन्धु चिन्तामणि और इस ग्रंथ मे बहुत स्थल समान है। इस ग्रंथ का टीकाकार रामसेन कवीन्द्रमणि मीर जाफर का राजवैद्य था। यह ग्रंथ बंगाल मे बहुत प्रचलित है।

इसी समय का एक ग्रथ रसेन्द्रकल्पद्रुम है। यह ग्रंथ रसार्णव, रसमंगल, रत्नाकर, रसामृत और रसरत्नसमुच्चय के आधार पर लिखा गया है। चौदहवी शताब्दी का एक ग्रथ धातुरत्नमाला भी है जिसका रचयिता देवदत्त गुजरात का रहनेवाला था।

अब हम आधुनिक काल मे आते है। सोलहवी शताब्दी मे पुर्तगालवासी इस देश में आने लगे। उनके सम्पर्क से एक नए रोग की वृद्धि हुई जिसका नाम "फिरंग रोग" रक्खा गया। यद्यपि उपदंश का उल्लेख पुराने ग्रंथों मे है, पर यह नया रोग (सिफलिस) बड़े प्रकोप से यहाँ फैलने लगा। इस समय "रसप्रदीप" नामक ग्रथ की रचना हुई। इस ग्रंथ मे फिरंग-व्याधि का इलाज इस प्रकार लिखा हुआ है—

गैरिकं रसकर्पूरमुपला च पृथक् पृथक्।
टंकमात्रं विनिष्पिष्य ताम्बूली दलजैः रसैः॥
वटचश्चतुर्दशास्तेषां कर्त्तव्या भिषगुत्तमैः।
सायं प्रातः समश्नीयात् एकैकां दिनंसप्तकम्॥
सघृता योलिका देया भोजनार्थं निरन्तरम्।
फिरंगव्याधिनाशाय वटिकेयमनुत्तमा॥

फिरंग रोग के निवारणार्थ चोपचीनी का प्रयोग भी इस ग्रंथ मे मिलता है जोकि एक नई बात थी—

चोपचीनी भवं चूर्णं शाणमानं समाक्षिकम्।
फिरंगव्याधिनाशाय भक्षयेल्लवणं त्यजेत्॥

त्रिमल्लभट्ट की "योग तरंगिणी" मे कर्पूर-रस का प्रयोग फिरंग रोग के लिए दिया है। यह ग्रंथ संवत् १८१० में वम्बई मे छपा—फिरंग रूप हाथी के लिए कर्पूररस शेर का काम करता है—

फिरंग करिकेशरी सकलकुष्ठ कालानलः।
... ...
समस्तगद तस्करो रसपतिः स कर्पूरकः॥६६॥

फिरंगरोग मे चोपचीनी और रसकर्पूर का प्रयोग, गोआ निवासी पुर्तगालवालों को चीनदेश के व्यापारियों से सन् १५३५ ई० के लगभग मालूम हुआ था, ऐसी फ्लूकिगर और हैनवरी की सम्मति है। रस प्रदीप मे शंखद्रावरस के बनाने की भी विधि दी है जो ऐसा खनिज-ऐसिड (mineral acid) है जिसमे शंख घुल जाता है, और धातुएँ भी जिसमें घुल जाती है। सम्भवतः यह नाइट्रिक या हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड है। इसकी विधि इस प्रकार है—

स्फटिका नवसारश्च सुश्वेता च सुवर्च्चिका।
पृथक् दशपलोन्मानं गन्धकः पिचुसंमितः॥
चूर्णयित्वा क्षिपेत्भाण्डे मृन्मये मृदविलेपिते।
तन्मुखं मुद्रयेत् सम्यक् मृद्भाण्डेनापरेणच॥
सरन्ध्रोदरकेणैव चुल्ल्यां तिर्यक् च धारयेत्।
अधः प्रज्वालयेद्वह्निं हठाद् यावद्रसः स्रवेत्॥
कपर्द्दकाश्च लोहानां यस्मिन् क्षिप्ता गलन्ति हि॥

माधव की रसकौमुदी और गोविन्ददास के रसरत्नप्रदीप और भैषज्यरत्नावली मे भी इस खनिजाम्ल का विवरण आता है। इसे बनाने के लिए फिटकरी (स्फटिक), नवसार (नौसादर), सुवर्च्चिक (शोरा) या सौवर्च्चल, गन्धक, टंकण (सुहागा) आदि के मिश्रण को साथ साथ गरम करते है, और स्रवण (distil) करके ऐसिड प्राप्त करते हैं।

इस ऐसिड मिश्रण का (शखद्रावरस का) आविष्कार रस प्रदीप के समय मे (१६वीं शताब्दी के आरम्भ से) ही हुआ। यह विशेष उल्लेखनीय है कि भाव प्रकाश (जिसकी रचना रस प्रदीप के बाद की है) के रचयिता को शखद्रावरस का ज्ञान नहीं था, क्योकि उसने कही इसका उल्लेख नहीं किया।

भावप्रकाश का रचयिता भावमिश्र है। यह आयुर्वेद का विस्तृत ग्रथ है। इसमें चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट, हारीत, वृन्द और चक्रपाणि का उल्लेख है। इसमें रसप्रदीप, रसेन्द्र चिन्तामणि, शागधर आदि ग्रथो के आधार पर धातु सम्बन्धी योगो का वर्णन है। फिरगरोग के उपचार में चोपचीनी और कर्पूररस का प्रयोग इसने भी स्वीकार किया है। भावमिश्र अकबर के समय में हुआ था, और उसके ग्रथ पर मुसल्मानी प्रभाव भी स्पष्ट दीखता है।

१६वी शताब्दी के लगभग ही धातु क्रिया या धातुमञ्जरी नामक एक उपयोगी ग्रथ का सग्रह हुआ। इसे रुद्रयामल-तन्त्र के अन्तगत ही समझा जा सकता है। इसमें फिरगा का और रूम (कुस्तुनतुनिया) का उल्लेख है। अन्य ग्रथो की अपेक्षा इस ग्रथ में कुछ विशेष बातें है, अत हम इनका उल्लेख कुछ विस्तार से करेंगे। महादेव-पार्वती सवाद के रूप में विषय का प्रतिपादन हुआ है।

(१) मुख्य प्राधान्यतया एते रगलोहक ताम्रक।

रांगा, लोहा और तावा ये मुख्य धातु है। यहा वग (tin) के लिए रग (रागा) शब्द का प्रयोग उल्लेखनीय है।

(२) रजतेनव सयुक्ता धातोवुत्तमता सदा ॥१२॥

सभी धातुएँ चादी के साथ सयुक्त होकर उत्तम हो जाती है।

(३) मध्यमा सत्वजा धातु नीचा च त्रपुसीसयो ॥१३॥
त्रपुताम्रसयोगेन जाता धातुश्च मध्यमा ॥१५॥

सत्वजा धातु (जो त्रपु और तावा के सयोग से बनती है) मध्यम है। सीसा और त्रपु के सयोग से बनी धातु निकृष्ट है।

(४) शुल्वखपरसयोगे जायते पित्तल शुभम् ॥६३॥

शुल्व (तावा) और खपर (calamine, जस्ता) के सयोग से पीतल बनती है।

(५) वग ताम्र सयोगेन जायते तेन कास्यकम् ॥६५॥

वग और तांबे के सयोग से कांसा बनता है।

(६) खपर सहपारदं दिव्य किंचित् प्रमेलयेत्।
जायते रसको नाम नाना रोगहरो भवेत् ॥६८॥

खपर और पारे के सयोग से रसक बनता है। वैसे तो रसक और खपर दोनो ही एक पदाथ के नाम है। पर यहाँ खर्पर का अथ जस्ता धातु से है, और पारे के मेल से जो रसक बना वह जिक-एमल्गम है।

(७) नागस्तु रहते हीनो मृतधातुस्तु जायते।
स एव कोमलाग्निस्थ सिंदूर जायते ध्रुवम् ॥६९॥

कोमलाग्नि में गरम करने से सीसा (नाग) सिंदूर (red lead) में परिणत हो जाता है।

(८) स्वण के पर्य्याय नाम—स्वण, सुवण, हाटक, वह्निरोचन, देवधातु, हेम इत्यादि ॥३९-४२॥

(९) चाँदी के पर्य्याय नाम—रजत, रूप्य, चन्द्र, चन्द्रदीपक इत्यादि ॥४३-४६॥

(१०) तावे के पर्य्याय नाम—ताम्र, म्लेच्छ, शुल्व, नागमदन, आदि ४७-४९॥

(११) जस्ते के पर्य्याय नाम—जासत्व, जरातीत, राजत, यशद (यशदायक), रूप्यभ्राता, चमक, खपर, रसक आदि ॥५०-५२॥

(१२) वग या रांगा के पर्य्याय नाम—त्रपु, तापहर, वग, रजनारि, इत्यादि ॥५३-५४॥

(१३) सीसे के पर्य्याय नाम—सीसक, धातुभग, नाग, नगाल्य, इत्यादि ॥५५-५८॥

(१४) लोहे के पर्य्याय नाम—लोह, आयस, स्वणमारक, ताटक, रुधिर, आदि ॥५९-६२॥

(१५) ताम्रदाहजलैर्योगे जायते तुत्थकं शुभम् ।।७१।।

इस श्लोक मे पहली वार "दाह-जल" (जलानेवाला पानी) शब्द आया है जो गन्धक का तेजाव (sulphuric acid) है। ताँवा इसके योग से नीलाथोथा या तूतिया (तुत्थक) देता है।

(१६) ताँवा प्राप्त होने के स्थान—

नेपाले कामरूपे च वंगले मदनेश्वरे।
गंगाद्वारे मलाद्रौ च म्लेच्छदेशे तथैव च ।।१४४।।
पावकाद्रौ जीर्णदुर्गे, रूमदेशे फिरंगके।

(१७) जासत्व (जस्ता) प्राप्त होने के स्थान—

कुम्भाद्रावथ काम्वोजे रूमदेशे वलक्षति ।।१४६।।
जासत्वं वंगले नागं नेपाले च सदैव हि ।।१४७।।

(१८) १०० भाग वंग (tin) मे १ भाग पारद मिलाने से शुद्ध चाँदी वन जाती है जिसको वेचकर मालामाल हो सकते है (वस्तुतः यह नकली चाँदी है) ।।८४-८५ ।।

(१९) इसी प्रकार सीसे और ताँवे के संयोग से नकली-सोना वनाने की विधि इस प्रकार है—

नागस्य सम्भगं ताम्रं मध्ये मेलापनं कृतम्।
विभागे तु कृते तत्र जायते कुम्पिका शुभा ।।९७।।
तन्मध्ये गालयेन्नाग त्रिवारं यत्नपूर्वकम्।
जायते निर्म्मलं स्वर्णम् उदितं चैव कुम्पिके ।।९८।।

रसायन वनाने के यंत्र—वाग्भट्ट के रसरत्नसमुच्चय के ९वे अध्याय मे रासायनिक यंत्रो का उल्लेख मिलता है। यह विवरण सोमदेव के ग्रंथ के आधार पर लिया गया है—"समालोक्य समासेन सोमदेवेन साम्प्रतेन", और सोमदेव ने भी अन्य अनेक ग्रथो को देखकर यह विवरण लिया था।

१. दोला यंत्र (चित्र २)—द्रवद्रव्येन भाण्डस्य पूरितार्द्धोदरस्य च।
मुखमुभयतो द्वारद्वयं कृत्वा प्रयत्नतः ।।३।।
तयोस्तु निक्षिपेद्दंडं तन्मध्ये रसपोटलीम्।
वद्धास्तु स्वेदयेदेतद् दोलायंत्रमिति स्मृतम् ।।४।।

हाँडी या मटकी को द्रव से आधा भरते है। मुह पर एक दड (rod) रखकर उसके वीच से रसपोटली वाँधकर द्रव में लटकाते है। ऊपर से ढकने से मटकी वन्द कर देते है। द्रव को उवालकर स्वेदन करते है।

२. स्वेदनी यंत्र (चित्र ३)—साम्बुस्थाली मुखावद्धे वस्त्रे पाक्यं निवेशयेत्।
पिधायपच्यते यत्र स्वेदनी यंत्रमुच्यते ।।५।।

उवलते पानी की हाँडी के मुंह पर कपडा वाँधते और उस पर पदार्थ को रखते और ऊपर से दूसरी हाँडी उलटकर रखते हैं।

३. पातना यंत्र.—अष्टांगुल परिणाहमानाहेन दशांगुलम्।
चतुरंगुलकोत्सेधं तोयाधारं गलादधः ।।
अवोभांडे मुखं तस्य भांडस्यो परिवर्त्तिनः।
षोडशांगुल विस्तीर्ण पृष्टस्यास्ये प्रवेशयेत् ।।
पार्श्वयोर्महिषी क्षीरचूर्णमंडूरफाणितैः।
लिप्त्वा विशोषयेत् सन्धि जलाधारे जलं क्षिपेत् ।।
चुल्यामारोपयेदेतत् पातनायन्त्रमीरितम् ।।६-८।।
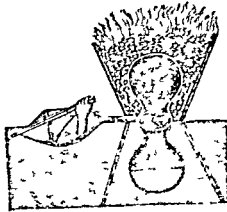
चित्र १—कोष्ठिका यंत्र
(रसक से जस्ता निकालने के लिये

चित्र २—दोला यंत्र

चित्र ३—स्वेदनी यंत्र

चित्र ४—ढेकी यंत्र

चित्र ५—वालुका यंत्र
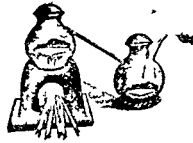
चित्र ६—तिर्यक्पातन यंत्र

चित्र ९—सन् २००—३०० ई० का बौद्धकालीन तांबे का एक लोटा,
जिसपर अंकित चित्र का विस्तार नीचेवाले चित्र में है।

एक हाँडी पर दूसरी हाँडी उलटकर इस तरह रखते है कि एक का गला दूसरे के भीतर आ जाय। गले के जोड़ों पर भैंस के दूध, चूना, कच्ची खाँड और लोहे के जंग का मिश्रण लेप देते हैं। यह यंत्र ऊर्ध्वपातन (sublimation) और स्रवण (distillation) दोनो का काम देता है।

४. अधःपातना यंत्र.—अथोर्द्धभाजने लिप्तं स्थापितस्यजले सुधीः।
दीप्तैर्वनोपलैः कुर्य्यादधः पातं प्रयत्नतः ॥९॥

यह यंत्र पातना यंत्र के समान ही है। ऊपर की हाँडी के पैंदे मे पदार्थ लेप देते है, और कंडों से गरम करते है। नीचेवाली हाँडी मे पानी रखते है। पदार्थ से निकली भापे नीचेवाले पानी मे घुल जाती है।

५. दीपिका यंत्र—कच्छपयन्त्रान्तर्गत मृण्मयपीटस्थदीपिकासंस्थः।
यस्मिन्निपतति सूतः प्रोक्तं तद्दीपिकायंत्रम् ॥१०॥

६. ढेकी यंत्र (चित्र ४)—भाण्डकंठादधश्छिद्रे वेणुनालं विनिक्षिपेत्।
कांस्यपात्रद्वयं कृत्वा संपुटं जलगर्भितम् ॥
नलिकास्यं तत्र योज्यं दृढं तच्चापि कारयेत्।
युक्त द्रव्यैर्विनिक्षिप्तः पूर्वं तत्र घटे रसः।
अग्निना तापितो नालात् तोये तस्मिन् पतत्यधः ॥
यावद्रुष्णं भवेत् सर्वं भाजनं तावदेव हि ॥
जायते रससंधानं ढेकीयन्त्रमितीरितम् ॥११-१४॥

घड़े या हाँडी की गर्दन के नीचे एक छेद करके इसमे वाँस की नली लगाते है। नली का दूसरा सिरा काँसे के पात्र से जुड़ा रहता है। इस पात्र मे पानी रहता है। काँसे का पात्र दो कटोरों से मिलकर बनता है। एक कटोरा दूसरे पर औंधा होता है। घड़े को भट्टी या चूल्हे पर गरम करते है।

७. वालुका यंत्र—(Sand bath) (चित्र ५)
सरसां गूढ वक्त्रां मृद्वस्त्रांगुलघनावृताम्।
शोषितां काचकलसीं पूरयेत् त्रिषु भागयोः ॥
भांडे वितस्तिगम्भीरे वालुका सुप्रतिष्ठिता।
तद्भाण्डं पूरयेत् त्रिभिरन्याभिरवगुण्ठयेत् ॥
भांडवक्त्रं माणिकया सन्धिं लिपेन्मृदा पचेत् ॥
चूल्ल्यां तृणस्य चादाहान्मणिकापृष्ठवर्तिनः।
एतद्धि वालुकायंत्रं तद् यंत्रं लवणाश्रयम् ॥३४-३६॥

लम्बी गर्दन की काँच की कलसी (glass flask) मे पारद योगवाले द्रव्य रखते है, और इस पर कपड़े के कई लपेट चढ़ाते है। फिर मिट्टी ऊपर से लेपकर धूप मे सुखा लेते है। कलसी का तीन चौथाई भाग वालू मे गाढ देते है। (वालू मिट्टी के चौड़े घड़े मे ली जाती है।) वालूवाले घड़े को भट्टी पर रखते है। घड़े के मुँह पर एक और हॉडी उलटकर रख देते है। तव तक गरम करते है, जव तक ऊपर पृष्ठ पर रक्खा हुआ तिनका जल न जाय।

८. लवण यंत्र—एवं लवणनिक्षेपात् प्रोक्तं लवण यंत्रकम् ॥३८॥

अगर ऊपर के यंत्र मे वालू की जगह नमक भरा जाय तो इसे लवणयत्र (salt bath) कहेगे।

९. नालिका यंत्र—लोहनालं गतं सूतं भाण्डे लवणपूरिते।
निरुद्धं विपचेत् प्राग्वन्नालिका यंत्रमीरितम् ॥४१॥

ऊपर के वालुकायंत्र में काँच की कलसी के स्थान मे लोहनाल ली जाय और वालू की जगह नमक लिया जाय।

१० तिर्यक्पातनयन्त्र (चित्र ६)—

क्षिपेद् रस घटे दीघनताधोनाल सयुते ।
तन्नाल निक्षिपेदय घटकुक्ष्यन्तरे खलु ॥
तत्र रुद्धा मृदा सम्यग् वदने घटयोरघ ।
अधस्ताद् रसकुम्भस्य ज्वालयेत् तीव्रपावकम् ॥
इतरस्मिन् घटे तोय प्रक्षिपेत् स्वादुशीतलम् ॥
तिर्यक् पातनमेतद्धि वार्तिकैरभिधीयते ॥४८-५०॥

यह आजकल के भभके के समान है। एक घडे के पेट में लम्बी नाल (tube) लगाते ह, और इस नाल का दूसरा सिरा दूसरे घड की कुक्षी में जुडा होता ह । जोड के स्थाना पर मिट्टी लेप देते ह। दोनों घडा के मुह भी मिट्टी से बन्द कर देत ह। पहले घडे के नीचे आग जलात ह, और दूसरे पर पानी डालते रहते हे जिसमे ठढा रह।

११ विद्याधर यत्र—स्थालिकोपरि विन्यस्य स्थालीं सम्यङनिरुध्य च ।
ऊर्ध्वस्थाल्या जल क्षिप्त्वा वह्निं प्रज्वालयेदय ॥
एतद् विद्याधर यत्र हिंगुलाकृष्टिहेतवे ॥५७-५८॥

हिंगुल (cinnabar) से पारद निकालने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। एक हाडी के ऊपर दूसरी हाँडी सीधी रखते ह। ऊपरवाली हाडी में पानी और नीचेवाली में हिंगुल रखते ह । नीचेवाली हाँडी के नीचे आग जलाते ह । पारा नीचेवाली मे उडकर ऊपरवाली ठण्डी हाँडी के पेंदे में जमा हो जाता है।

इनके अतिरिक्त धूपयत्र का भी विस्तत वणन दिया गया है (७०-७६) ॥

१२ मूषा (crucible)—निम्न पदार्थों की मूषा बनाने का उल्लेख ह —

मृत्तिका पाडुरस्थूला शर्करा शोणपाण्डुरा ।
तदभावे हि वाल्मीकी कौलाली वा समीयते ॥
या मृत्तिकादग्धतुष शाणेन शिखित्रकर्वा हयलद्दिना च ।
लोहेन दण्डेन च कुट्टिता सा साधारणी स्यात् खलुमूषिकायम् ॥१०१५-६॥

पीली मिट्टी, कक्कर, दीमक के घरा की मिट्टी, या धान की तुषा जलने पर बची राख मे मिली मिट्टी, कोयला और लीद और लोहे के जग के मिश्रण से मूषा बनाते ह।

रसरत्नसमुच्चय के दशम अध्याय में मूषा और उसके प्रयोगों का विस्तत वणन है।

प्राचीन औद्योगिक परम्परा—अब तक हमने आयुर्वेद और चिकित्साशास्त्र के अन्तगत रसायन की परम्परा में जो उन्नति हुई उसका सिहावलोकन किया। इस विकास का उल्लेख तो आयुर्वेदिक ग्रथा के आधार पर किया जा सका ह, पर उद्योग धन्धों के सम्बन्ध में जो रसायनिक उन्नति हुई उसका लिखित विवरण कहीं नहीं मिलता ह। खनिज पदार्थों में से धातुएँ कस निकाली जाती था, और उन धातुओ में क्या क्या मिलावट करके काम के योग्य पदाथ तयार किए जाते थे, इस बात की शिक्षा इस देश में मौखिक ही होती थी, न कि लिखित ग्रथा द्वारा। परम्परा से कुलों में सन्तानें अपने पूवजा से उद्योग धन्धा को सीखती थीं। इन धन्धा का सिखलाने की यह प्रथा आज तक इस देश में पूववत चली आ रही है। पर पाश्चात्य कला कौशल की पद्धति के प्रभाव के साथ साथ अब इसमें परिवतन हो रहे ह, और कुलपरम्परायें इस युग में शीघ्र नष्ट हो रही ह।

कौटिल्य के अथशास्त्र में निम्न चीजा पर शुल्क या चुगी ली जाने की व्यवस्था है —
पुष्पफल शाकमूल कन्द वाल्लिक्य बीज शुष्क मत्स्यमासाना षडभाग गृहणीयात् ॥२।२२।४॥
शखवज्र मणि मुक्ता प्रवालहाराणा तज्जातपुरुषं कारयेत्कृतकम प्रमाणकाल वेतनफल निष्पत्तिभि ॥५॥

क्षौमदुकूल क्रिमितान कंकट हरिताल मनःशिला हिंगुलुकलोहवर्णधातूनां चन्दनागरुकटुक किण्वावराणां सुरादन्ताजिनक्षौम-दुकूलनिकरास्तरण प्रावरण क्रिमिजातानामजैलकस्य च दशभागः पंचदशभागो वा ॥६॥

वस्त्र चतुष्पद द्विपद सूत्रकार्पासगन्ध भैषज्यकाष्ठवेणुवल्कलचर्म मृद्भाण्डानां धान्यस्नेहक्षारलवण मद्य पक्वान्नाजीनां च विंशतिभागः पंचविंशतिभागो वा ॥७॥

१. फूल, फल, शाक, मूल, कन्द, वाल्लिक्य (वेल पर लगनेवाले पेठा, लोकी आदि) (fruits, flowers and vegetables)।
२. वीज (seeds)।
३. सूखी मछली और माँस (dry fish and meat)।
४ शख (conch), वज्र (diamond), मणि (jewels), मुक्ता (pearl), प्रवाल (coral), हार।
५. क्षौम, दुकूल, क्रिमितान (Silk).
६. कंकट।
७. हरताल, मैनसिल, हिंगुल, लोह, वर्णधातु (ochre)--(minerals).
८. चन्दन (Sandal), अगर, कटुक, (मसाले)— oil producing.
९. सिरका, सुरा और मद्य (vinegar wine and liquor)
१०. दाँत (ivory)
११. चमड़ा (tannery products)
१२. क्षौम, दुकूल-निकर, आस्तरण (bed sheets), प्रावरण (blankets)—cotton textiles.
१३. अर्जैलक—(woolen)
१४. वस्त्र, सूत्र, कार्पास।
१५. चौपाये, दुपाये (cattle and fowl)
१५. गन्ध (cosmetics)
१६. औषधि (medicines)
१७. काष्ठ, वेणु, वल्क (wooden products)
१८. धान्य (cereals and grain)
१९. क्षार, नमक (salt and alkali)
२०. मद्य (alcohol)
२१. मिट्टी के वर्तन (pottery)
२२. घी-तेल (oils and butter)

इस सूची से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत का व्यापार कितना व्यापक था। वस्तुतः सभी प्रकार के आवश्यकीय धन्धे देश मे वर्त्तमान थे। कौटलीय अर्थशास्त्र का प्रभाव इस देश मे कई शताब्दियो तक रहा, और जो धन्धे चाणक्य के समय प्रचलित थे, वे लगभग परम्परा से आज तक चले आ रहे है। आर्य्य-राज्यो के छिन्न-भिन्न होने पर शुल्क-व्यवहार में चाहे परिवर्तन क्यो न हो गया हो, पर जिन पदार्थों पर शुल्क लगाया जाता था, उनका वनना एवं उनका व्यापार इस देश मे वरावर रहा।

कौटिल्य का समय विक्रम से पूर्व का है, पर कोई कारण नही कि कौटिल्य के समय की परम्परा अनेक शताब्दियों तक देश मे वर्त्तमान न रही हो। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे अनेक ऐसे विषयों का उल्लेख हैं जिनका सम्वन्ध रसायनशास्त्र और रासायनिक धन्धो से हैं। स्थानाभाव के कारण हम सवका विस्तार से उल्लेख नही कर सकते, पर कुछ का नाम निर्देश नीचे किया जाता है। इस विषय से रुचि रखनेवालों से हमारा आग्रह है कि इन विषयो के लिये अर्थशास्त्र को अवश्य देखे।

(१) अन्न, व्यंजन, द्रव्य (रसदार तरकारी), रस (घी, तेल, रस आदि), मद्य, दूध, जल, दही मधु, फल, बिछौने, ओढ़ने आदि में मिलाए गए विष की पहिचान ॥ १।२१।१०-२२ ॥

(२) दुर्ग में सदा एकत्रित रहनेवाली सामग्री—

सर्पिस्नेह धान्य क्षार लवण भैषज्य, शुष्कशाकयवसवल्लूरतृण काष्ठलोह चर्मांगारस्नायु विषविषाण वेणुवल्कल सारदारु प्रहरणावरणाश्मनिचयाननेकवर्षोपभोगसहान्कारयेत् ॥२।४।३४॥

घी, तेल, अन्न, क्षार, नमक, दवाई, सूखी तरकारी, भुस, सूखा माँस, घास, जलाने की लकड़ी, लोहा, चमड़ा, कोयला, स्नायु (तांत), विष, सींग, बाँस, छाल, सारदारु (अच्छी लकड़ी), हथियार, कवच और पत्थर अनेक वर्षों के उपयोग के लिए रक्खे।

(३) खनि द्रव्य (खान से निकाले जानेवाले)—

सुवर्ण रजत वज्र मणिमुक्ता प्रवाल शंख लोह लवण भूमि प्रस्तर—रसधातव खनि ॥२।६।४॥

(४) मोतियों के उत्पत्ति स्थान, मोतियों की उत्पत्ति के कारण, दूषित मोती, उत्तम मोती, मोती और मणियों के अनेक तरह के हार ॥२।११।२-२१॥

(५) मणियों के उत्पत्ति स्थान, ५ प्रकार, वदूर्यजाति के ८ प्रकार के मणि, ८ प्रकार के इन्द्रनील मणि, ४ प्रकार के स्फटिक, मणियों के स्फटिक गुण (crystallography), मणियों के दोष, १८ अवान्तर जातियाँ ॥२।११।२२-३७ ॥

(६) वज्र अथवा हीरे का वर्णन, उत्पत्ति स्थान, हीरे के भेद, हीरे के रंग प्रशस्त और दूषित हीरा ॥२।११।३८-४२ ॥

(७) मूगा के भेद ॥२।११।४३ ॥

(८) चन्दन, अगर, तैलपर्णिक आदि सुगन्धित काष्ठों का वर्णन ।२।११।४४-७५॥

(९) चमड़ों का विवरण ॥२।११।७७-१०१॥

(१०) ऊनी कम्बल, दुशाला आदि ॥२।११।१०२-११९॥

(११) कपास ॥२।११।१२०-१२१॥

(१२) सोने की खान की पहिचान, ताँबा और चाँदी को सोने का रूप देना, धातुओं को शुद्ध करने की विधि, धातुओं को मृदु बनाना, मृदुता का लोप करना, त्रपु (राँगा) का उत्पत्ति-स्थान, लोहधातु निरूपण, और लोहाध्यक्ष के कर्तव्य ॥२।१२।१-२६॥

आकराध्यक्ष (superintendent of mines) की व्यवस्था में क्या क्या हो यह नीचे के सूत्र से स्पष्ट है।

आकराध्यक्ष शुल्वधातु शास्त्ररस पाकमणि रागज्ञस्तज्ज्ञसखो वा तज्जातकर्म करोपकरणसपन्न किट्टमूषांगारभस्म लिंग वाकर भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा भूमि प्रस्तररसधातुमत्यर्थवर्णगौरवमुग्रगन्धरस परीक्षेत ॥२।१२।१॥

(१३) ताँबे, सोने की मिलावट के सम्बन्ध में दूसरे अधिकरण के १३ और १४वें अध्याय महत्व के हैं। इनमें टकसाल (mint) का भी उल्लेख है।

(१४) स्नेह (fats) चार तरह के—घी, तेल, वसा और मज्जा ॥२।१५।१४॥

(१५) क्षारवर्ग फाणित (राब), गुड़, मत्स्यण्डिका, खंड, शर्करा (शक्कर के व्यवसाय के ५ पदार्थ) ॥२।१५।१५॥

(१६) ६ तरह के लवण ॥२।१५।१६॥

(१७) सिरका (शुक्त वर्ग) बनाने की विधि—ईख के रस, गुड़, मधु, राब, आम्रफल और आमलक से ॥२।१५।१८॥

(१८) तिलहन में से तेल कितना निकलता है ॥२।१५।४९-५१॥

(१९) लिखने के काम के पत्ते—ताली, ताल (ताड़), भूर्ज (भोजपत्र) ।।२।१७।९।।

(२०) रंगने के साधन—किंशुक (ढाक), कुसुम्भ, कुंकुम ।।२।१७।१०।।

(२१) विषो का वर्णन।।२।१७।१२-१३।।

(२२) धातुओं के भेद—कालायस (काला लोहा), ताम्रवृत्त (ताँबा), काँस्य (काँसा), सीस (सीसा), त्रपु (राँगा), वैकृन्तक (एक तरह का लोहा), आरकूट (पीतल) ।।२।१७।१५।।

(२३) हथियार आदि के निर्माण के लिए द्वितीय अधिकरण का १८वाँ अध्याय उल्लेखनीय है।

(२४) शराब बनाने की विधि, अनेक भेद और स्वादिष्ट करना ।।२।२५।१७-३४।।

यद्यपि प्राचीन धन्धों के विस्तार का लेखबद्ध साहित्य हमारे पास नही है, फिर भी हमारे संग्रहालयों मे ऐसे पदार्थ संग्रहीत है जिनसे उन धन्धों का प्रमाण हमे मिलता है। इस सम्बन्ध मे हम पाठको का ध्यान ज्यॉर्ज सी० ए० एम० वर्डवुड की प्रसिद्ध पुस्तक 'दी इण्डस्ट्रियल आर्टस् ऑफ इण्डिया' की ओर आकर्षित कराना चाहते है। यह पुस्तक सन १८८० में चैपमन एण्ड हौल द्वारा प्रकाशित की गई थी। इस पुस्तक के दूसरे खण्ड The Master Handicrafts of India (मास्टर हेडिक्राफ्ट्स ऑफ इण्डिया) मे अनेक विषयों का सचित्र विवरण है। इस पुस्तक के आधार पर हम कुछ विवरण नीचे देगे।

(१) सोने की सबसे पुरानी प्राप्त चीज एक कैस्केट रत्नपेटिका है जो बौद्धकालीन है, और इण्डिया ऑफिस लायब्रेरी में सुरक्षित है। (चित्र ७) सन १८४० के लगभग मैसन (Masson) महोदय को काबुल उपत्यिका में जलालाबाद के पास मिली थी। विल्सन के १८४१ के एरियाना- इण्डिका मे इसका विस्तृत वर्णन है। यह विल्सन के मतानुसार ५० वर्ष ई० से पूर्व अर्थात् विक्रम की समकालीन है।* इसका कुछ उल्लेखनीय वर्णन नीचे टिप्पणी में दिया जाता है।

* The tope in which it was found is known as No. 2 of Bimaran. Dr. Honigberger first op ned this monument, but abandoned it, having been forced to hastily return to Kabul Mr Masson continued Honigberger's pursuit, and in the centre of the tope, discovered a small apartment, constructed as usual, of squares of slate, in which were found several most valuable relics. One of these was a good sized globular vase of steatite, which with, its carved cover or lid, was encircled with inscriptions, scratched with a style, in Bactro Pali-characters. On removing the lid, the vase was fo nd to contain a little fine mould, mixed up with burnt pearls, sapphire beads, etc., and this casket of pure gold, which was also filled with burnt pearls, and beads of sapphire, agate, and crystal and burnt coral, and thirty small circular ornaments of gold, and a metallic plate, apparently belonging to a seal engraved with a seated figure. By the side of the vase were found four copper coins, in excellent preservation, having been deposited in the tope freshly minted They were the most useful portion of the relics, four they enabled Prof. H. H. Wilson to assign the monument to one of the Azes dynasty of Graeco-Barbaric kings who ruled in this part of India about 50 B. C. (p. 145).

(२) बर्डवुड ने चाँदी के एक प्राचीन पात्र का उल्लेख किया है (चित्र ८) जिसका व्यास ९ इन्च, गहराई १½ इन्च, और तौल २९ औंस से कुछ अधिक है। यह बदख्शाँ के मीरों की सम्पत्ति थी, जो सिकन्दर के वंशज थे। यह संवत ४००-५०० वि० का रहा होगा। बर्डवुड की सम्मति है कि पंजाब में सोने और चाँदी का काम सदा से कुशलतापूर्वक होता आया है।* काश्मीर की चाँदी की सुराहियाँ आदि प्राचीनकाल से महत्त्व पाती रही हैं।

लखनऊ की सुराहियाँ भी काश्मीर की सुराहियों की समता कर सकती थीं।† चाँदी और सोने की थालियों के लिए ढाका, कलकत्ता और चिटगाँव भी अब तक प्रसिद्ध रहा है। मध्य-भारत में बाँदा जिला सभी प्रकार के धातुओं के काम के लिए प्रसिद्ध था। कच्छ और गुजरात भी चाँदी और सोने के बरतनों के लिए प्रसिद्ध उल्लेखनीय हैं। यही हाल का भी है। बर्डवुड का कहना है कि मद्रास में सोने और चाँदी का काम हर जगह ही बड़ी कुशलता से किया जाता है। मद्रास धार्मिक कृत्यों के लिए सोने की प्रतिमाएँ समस्त देश में बनाई गई हैं। रघुनाथराव (राघोवा) ने दो ब्राह्मण इंग्लैण्ड भेजे थे। जब १७८० ई० में वे वापिस आए तो उनके प्रायश्चित्त के लिए शुद्ध सोने की एक विशाल 'योनि' बनाई गई, जिसमें होकर वे निकाले गए। ऐसा करने के अनन्तर वे जाति में सम्मिलित किए जा सके। लगभग उसी समय महाराजा ट्रावनकोर ने युद्ध में की गई हत्या का प्रायश्चित्त किया—सोने की एक बड़ी सी गाय बनाई गई, और इसके उदर में राजा को कुछ समय तक रक्खा गया, इसका फिर 'पुनर्जन्म' हुआ और इस प्रकार यह पूर्व पापों से मुक्त समझा गया। राज सिंहासन पर बैठते समय यह प्रक्रिया ट्रावनकोर के सभी राजाओं को करनी पड़ती रही है।

(३) पीतल, ताँबे और टीन के काम—भारतवर्ष में गृहस्थी के सभी बर्तन इन धातुओं के बनते रहे हैं। सन् १८५७ में मेजर हे (Hay) ने कुण्डला (कूलू) में एक बौद्ध-गुफा में दबा हुआ ताँबे का एक लोटा पाया जो सन २००-३०० ई० का प्रतीत होता है। यह लोटा आजकल के लोटों से मिलता जुलता है। इसके ऊपर गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली चित्रकारी भी है। (चित्र ९)

सुल्तानगंज में पाई गई बुद्ध की ताम्र-मूर्ति (जो बर्मिंघम के किसी व्यक्ति के पास चली गई है) ताँबे की बनी सबसे बड़ी प्रतिमा है। दिल्ली की कुतुब मीनार के निकट बना लौहस्तम्भ भारतवर्ष के लौह-निर्माण-कौशल का जीता जागता नमूना है। यह २३ फुट ८ इन्च ऊँचा, नीचे की ओर १६.४ इन्च व्यास का और ऊपर चलकर १२.०५ इन्च व्यास का है। यह लगभग ४०० ई० में बनाया गया था, और आज १५५० वर्ष बाद भी उतना ही दृढ़ बना हुआ है, और धूप-पानी में बिल्कुल खुला रहने पर भी इसमें जंग कहीं नहीं लगा।‡ अहमदाबाद में शाह आलम के मकबरे के फाटक सुन्दर पीतल के बने हुए हैं और भारतीय कारीगरी के अद्भुत नमूने हैं। करनाल, अमृतसर, लाहौर, लुधियाना, जालधर आदि स्थानों में

---

* The Punjab has ever maintained a high reputation for the excellence of its gold and silver work (p 149)

† The silver sarais made at Lucknow are very like those of Kashmere (p 150)

‡ Mr Fergusson assigns to it the mean date of A D 400, and observes that it opens our eyes to an unsuspected state of affairs to find the Hindus at that age capable of forging a bar of iron larger than any that has been forged in Europe up to a late date, and not frequently, even now After an exposure of fourteen centuries, it is still unrusted, and the capital and inscription are as clear and as sharp as when the pillar was first erected (p 155)

धातुओ का काम कुशलता से होता रहा है। काश्मीर मे ताँवे के वर्तनो पर राँगे की कलई वड़ी सुन्दरता से शताब्दियो से की जाती रही है। मुरादावाद के कलई के वर्तन (पीतल पर राँगे की कलई) सदा से प्रसिद्ध रहे है। बनारस मे धातु के वर्तनो का काम बहुत पुराना है। यहाँ पीतल मे सोना, चाँदी, लोहा, राँगा, सीसा और पारा मिलाकर अष्ट-धातु तैयार की जाती है (पीतल मे ताँवा और जस्ता होता है) और यह धातु मिश्रण वडा पवित्र समझा जाता रहा है। पारा और राँगा के मिश्रण से वना शिवलिंग वडा पवित्र माना जाता है। वर्दवान और मिदनापुर मे काँसे के वर्तन अच्छे वनते आए है। नरसिंहपुर (मध्य प्रान्त) के तेदूखेरा में बहुत सुन्दर इस्पात वनती रही है। नासिक, पूना, अहमदावाद आदि स्थलो मे भी सभी प्रकार की धातुओ का काम होता रहा है। तजौर के वर्तन सदा प्रसिद्ध रहे है।

(४) कुफ्त और वीदरी का काम (damascened work)—कलई मुलम्मे से नही, वल्कि एक धातु के तार को दूसरी धातु पर पीटकर लगाने का नाम कुफ्त है। यह प्रथा दमस्कस (Damascus) नगर के नाम पर अंग्रेजी मे डेमेसेनिंग (damascening) कहलाती है और पूर्वी देशो की ही प्रथा है। काश्मीर, गुजरात, सियालकोट, और निजाम राज्य मे यह विशेषतया होती है। जव चाँदी का कुफ्त करना होता है, तो इसी का नाम वीदरी हो जाता है (वीदर नगर के नाम पर)। कभी कभी इस्पात के प्लेट पर नक्काशी करके और फिर उस पर सोने का पत्र पीटकर भी कुफ्त करते है। विहार के पूर्निया और भागलपुर मे भी यह कार्य कुशलता से होता है। इन सब की नक्काशी और चित्रकारी देखने योग्य होती है।

(५) एनेमेल या मीना—एनेमेल की प्रथा संसार भर मे महत्त्व की समझी जाती है, और यह काम जयपुर में अति प्रारम्भिक समय से होता आ रहा है।* महाराज एडवर्ड जब इस देश मे प्रिन्स ऑफ वेल्स के रूप मे आए थे, तो उन्हें (चित्र १०) एनेमेल किया हुआ जो थाल भेट किया गया था उसके वनाने मे चार वरस लगे थे। लेडी मेयो के पास इस कला का वना हुआ एक चम्मच और प्याला था। एण्डरसन को जो इत्रदान मिला था, वह साउथ केनसिंगटन म्यूजियम में सुरक्षित है और जयपुर की कुशलता का स्मारक है। इण्डिया म्यूजियम मे कलमदान, हुक्का (चित्र १०) आदि अनेक चीजे इस प्रकार के कामो की रक्खी है।

(६) काँच का काम—चूड़ियाँ—रायपुर की मणिहारिन वहुत समय से प्रसिद्ध है। काँच के आभूषण होशियारपुर, मुलतान, लाहौर, पटियाला, वाँदा, डलमौ, लखनऊ, वम्बई, काठियावाड, मैसूर आदि मे वनते रहे है। काँच की गंगाजली नगीना (विजनौर जिला) की प्रसिद्ध रही है।

(७) अस्त्र शस्त्र और इस्पात—निर्मल से २० मील की दूरी पर जो लोहे का खनिज मिलता है, उससे दमस्कस-इस्पात वहुत दिनो से वनती चली आ रही है। इस्पात वनाने का विवरण वर्डवुड के शब्दो मे नीचे दिया गया है।† गोदावरी की दिमदुर्ती खानो से भी यह इस्पात वनाया जाता रहा है।

---

* Enamelling is the master art craft of the world, and the enamels of Jaipur in Rajputana rank before all others, and are of matchless perfection. The Jaipur enamelling is champleve (in which pattern is cut out of the metal itself). (p. 165)

† The Dimdurti mines on the Godawari were also another source of Damascus steel, the mines here being mere holes dug through the thin granitic soil, from which the ore is, detached by means of small iron crowbars. The iron ore is still further separated from its granitic or quartzy matrix by washing and the sand thus obtained is still manufactured into Damascus Steel at Kona Samundram

भारतवर्ष के अस्त्र-शस्त्रों पर भी चित्रकारी की जाती थी। लाहौर, स्यालकोट, काश्मीर, मुंगेर, चिटगाँव, सिहाली (सीतापुर जिला), मध्य प्रान्त के अनेक स्थान, मसूर, गोदावरी प्रान्त आदि में इस्पात की तलवारें, चाकू, भाला आदि बनते रहे हैं। सतारा और कोल्हापुर में शिवाजी के अस्त्र शस्त्र अब तक सुरक्षित रक्खे हुए हैं और वे पवित्र माने जाते हैं।* उसकी भवानी नामक तलवार की बराबर पूजा होती रही है। एगरटन ने इण्डिया ऑफिस में अस्त्रशस्त्रागार की एक सूची तयार की—"Handbook of Indian Arms" इसमें उक्त साँची के लेखों के आधार पर सन २५० ई० से पूर्व के अस्त्रों के चित्र दिए हैं। उदयगिरि और अजन्ता की चित्रकारी में (सन ६००), भुवनेश्वर के मन्दिर के चित्रों में (सन ६५०), सन्नौन (राजपूताना) के मूर्ति चित्रों में (सन ११००), इत्यादि जो अस्त्र शस्त्र चित्रित हैं उनके आधार पर पूर्ण विवरण दिया है। अस्त्रों के बनाने की विधि भी दी है। खेद है कि मद्रास सरकार ने अपने प्रान्त के पुराने अस्त्र-शस्त्रों को धातु की लालच में गलवा डाला, और इसलिए अब हमारे अजायबघरों में इस प्रान्त के अस्त्र-शस्त्र देखने को नहीं मिलते।† (चित्र ११)

(८) राजसी ठाठ के सामान—चँवर, छत्र, मोरछल, सिंहासन, हौदे, हाथी और घोड़ों की झूलें, शामियाने, तोरण आदि ठाटबाट के सामान प्राचीन प्रथा के अनुसार आज तक राजघरानों और महन्तों के यहाँ चले आ रहे हैं। बहुत सी शृंगार सामग्री कई पीढ़ियों पुरानी है। आईने-अकबरी में राज्य चिह्नों का औरंग, छत्र, सायेबान, अलम, नक्कारे आदि का वर्णन है। मुहर्रम के जलूसों की शृंगार-सामग्री का उल्लेख हेरक्लोट (Herklot) की पुस्तक कानून-इस्लाम (१८३२) में पाया जाता है। सन १८७५ में राजेन्द्रलाल मित्र ने एक पुस्तक 'एंटीक्विटीज ऑफ उड़ीसा" लिखी थी, जिसमें "युक्तिकल्पतरु" नामक ग्रंथ का उल्लेख है। इस ग्रंथ में तरह तरह के छत्रों के बनाने का विस्तृत विधान है—जैसे (चित्र १२) प्रसाद-छत्र (जो बाँस और लकड़ी और लाल कपड़े का बनता है। यह राजाओं को भेंट देने योग्य है), प्रताप-छत्र (नीले कपड़े पर सुनहरे किनारे का), कनक-दण्ड छत्र (चन्दन की डंडी, और उस पर स्वर्ण-कलश) और नव दंड छत्र (राज्याभिषेकादि महत्त्वपूर्ण अवसरों के लिए), यह स्वर्ण-और रत्न-जटित होता है।)

---

near Dimdurti The sand is melted with charcoal, without any flux and is obtained at once in a perfectly tough and malleable state, superior to any English iron or even the best Swedish In the manufacture of the best steel, three-fourths of Samundram ore is used, and one fourth of Indore, which is a peroxide of iron (p 170)

* Every relic of his, his sword, daggers, and seal, and the wagnak or "tigerclaw" with which he foully assassinated Afzal Khan, have all been religiously preserved at Sattara and Kolhapur ever since his death in 1680 (p 174)

† In his preface, Mr Egerton expresses a regret, in which every one will concur, that the Government of Madras should have recently allowed the old historical weapons from the armouries of Tanjore and Madras to be broken up and sold for old metal This act of vandalism is all the more to be deplored, as neither the tower, nor the India museum collections are, as Mr. Egerton points out, rich in Southern Indian arms (p 178)

चित्र १४—ट्रावनकोर का चन्दनकी लकड़ी पर पुराना काम

चित्र १२—सिन्ध मे पलंगों के पायों पर लाख द्वारा की गई चित्रकारी

चित्र १०—मोगल समय का मीना किया हुआ हुक्के का आधार-पात्र

चित्र ११—दिल्ली का बहुत पुराना बना मिट्टी का बर्तन
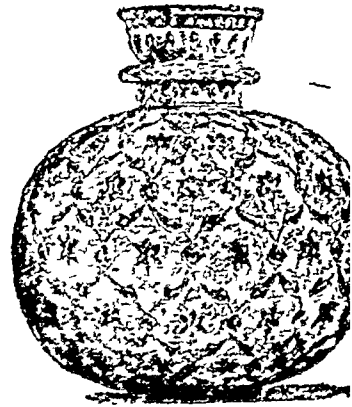
चित्र १३—मोगल कालीन जेड-पत्थर का रत्नजटित पात्र

चित्र ८—चाँदी का प्राचीन पात्र

चित्र ७—ई० से ५० पूर्व की स्वर्णांकित रत्नपेटिका

(९) बरतनों को रँगना और चमकाना—भारत के सभी प्रान्तों में मिट्टी के बरतन बनते रहे हैं। इनको पकाने की विधि भी स्थल स्थल पर अलग अलग है। जैसी लकड़ी जहाँ मिली, वहाँ वैसा ही व्यवहार किया गया। इन बरतनों पर चमक लाने के लिए दो चीजों का उपयोग होता रहा है—(१) काँच (२) सिक्का। पंजाब में दो तरह के काँचों का प्रयोग होता रहा है—अंग्रेजी काँची, और देशी काँची। (चित्र १३)

अंग्रेजी काँची में २५ भाग संग-ए-सफेद, ६ भाग सज्जी, ३ भाग सोहागा तेलिया, और १ भाग नौसादर लिया जाता है। सब चीजों को महीन पीसा जाता है, और फिर छानकर थोड़े से पानी के साथ गूँधा जाता है, और नारंगी के आकार की सफेद गेंद तैयार की जाती है। इन्हें फिर गरम करके लाल कर लिया जाता है। फिर ठंडा करके पीसते हैं और कलमी शोरा मिलाकर भट्ठी पर गलाते हैं। ऊपर उठा हुआ भाग अलग कर लेते हैं, और काम में लाते हैं। (चित्र १४)

देशी काँची में भी संग-ए-सफेद, सोडा और सुहागा काम में लाते हैं।

सिक्का चार तरह के काम आते हैं—सिक्का सफेद (white oxide), सिक्का जर्द, सिक्का सबनी (litharge), सिक्का लाल (red oxide)। सिक्का-सफेद सीसा में आधा भाग राँगा मिलाकर बनाते हैं, सिक्का जर्द में सीसे का चौथाई भाग राँगा से अपचयित करते हैं, सिक्का सबनी में राँगा की जगह जस्ता लेते हैं, और सिक्का लाल बनाने के लिए सीसा को हवा में ऑक्सिडाइज करते हैं।

काँच और सिक्का-सफेद मिलाकर सफेद रंग तैयार करते हैं। दक्षिण भारत में रत या कोबल्ट का काला ऑक्साइड (rita or zaffre) मिलता है। इसे गरम करके सफेद रंग के साथ पीसकर नीला रंग तैयार करते हैं। इस तरह इन्हें ताँबे के साथ मिलाकर हरा रंग भी तैयार करते हैं। इनके विस्तार के लिए बडवुड महोदय की पुस्तक (पृ० ३०७-३१२) देखनी चाहिए।

हमने इस लेख में कुछ थोड़े धन्धों का ही दिग्दर्शन कराया है। सुवर्णकारी सम्बन्धी रसायन का विस्तृत उल्लेख सर प्रफुल्लचन्द्रराय की हिन्दू केमिस्ट्री में देखा जा सकता है। १९वीं शताब्दी के अन्त से इस देश में पाश्चात्य विधियों का समावेश हुआ है। पाश्चात्य ढंग के विश्व विद्यालयों में रसायन शास्त्र की नए ढंग से शिक्षा आरम्भ हुई है। लगभग सभी चीजों के बड़े बड़े कारखाने देश में खुल गए हैं, जिनके फलस्वरूप देशी विधियों का लोप होता आ रहा है। विदेशों से तैयार रंग, औषधियाँ और जीवन की अन्य आवश्यक सामग्री हमारे बाजारों में आने लगी है। फिर भी अब भी बहुत से प्राचीन धन्धे देश में पूर्ववत् विद्यमान हैं। पाश्चात्य ढंग पर खुले कारखानों का इतिहास केवल गत पचास वर्षों का इतिहास है पर इतने थोड़े से समय में ही देश की काया पलट गई है और जो पद्धतियाँ सहस्रों वर्षों से प्रचलित थीं, वे बहुत शीघ्र नष्ट होती जा रही हैं।
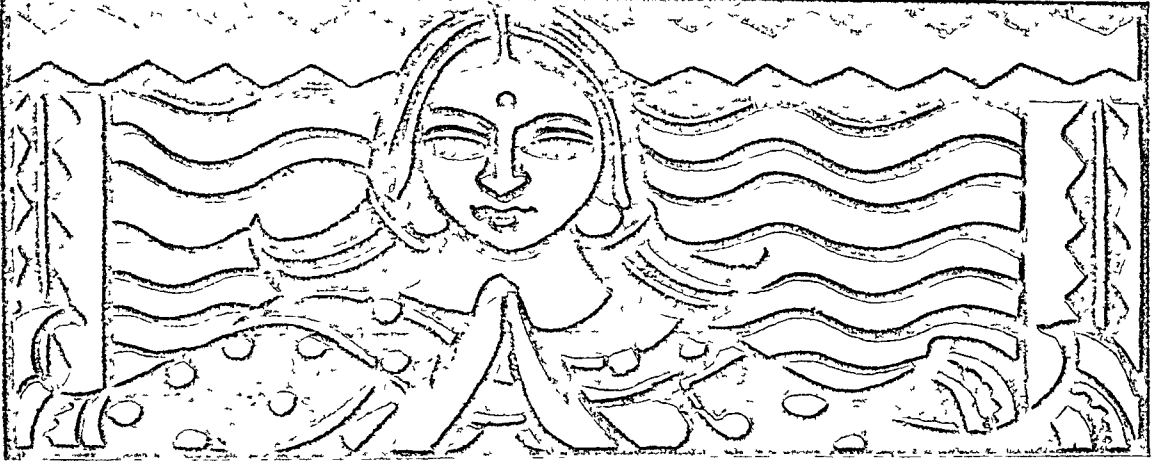
काव्य-कला

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

काव्य भी एक कला है। यह बात बहुत तरह से कही जाती है, पर इसके अन्तर्निहित अर्थ पर विचार नही किया जाता। नीचे की पंक्तियो मे यही प्रयास किया जा रहा है।

यह तो नही कहा जा सकता कि कलाओ की गणना वौद्धपूर्व काल मे प्रचलित थी ही पर अनुमान से ऐसा निश्चय किया जा सकता है कि बुद्धकाल और उसके पूर्व भी कलामर्मज्ञता एक आवश्यक गुण मानी जाने लगी थी। ललित-विस्तर मे केवल कुमार सिद्धार्थ को सिखाई हुई पुरुष-कलाओ की गणना ही नही है ६४ काम कलाओ का भी उल्लेख है*। और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बुद्ध के समय मे कलाएँ नागरिक जीवन का आवश्यक अंग हो गई थी। प्राचीन ग्रंथों मे कलाओ के नाम पर ऐसी कोई विद्या नही जिसका उल्लेख न हो। वौद्ध ग्रंथो मे इनकी संख्या निश्चित नही है पर चौरासी शायद अधिक प्रचलित संख्या थी। जैन ग्रंथो मे ७२ कलाओं की चर्चा है। पर वौद्ध और जैन दोनो ही सम्प्रदाय के ग्रथो मे ६४ कलाओ की चर्चा प्राय. मिल जाया करती है। जैन ग्रथो मे इन्हे ६४ महिलागुण कहा गया है। कालिका-पुराण एक अर्वाचीन उप-पुराण है। सम्भवत. इसकी रचना विक्रम की दसवी-ग्यारहवी शताव्दी मे आसाम प्रदेश मे हुई थी। इस पुराण मे कला की उत्पत्ति के विषय मे यह कथा दी हुई है : ब्रह्मा ने पहले प्रजापति को और मानसोत्पन्न ऋषियो को पैदा किया और उसके वाद सन्ध्या नामक एक कन्या को जन्म दिया। इन लोगो के वाद ब्रह्मा ने सुप्रसिद्ध मदनदेवता

---

* चतुःषष्टि कामकलितानि चानुभपिया।
नूपुरयेखलाअभिहनी विगलितवसनाः॥
कामशराहतास्समदनाः प्रहसितवदनाः।
किन्तव आर्यपुत्र विकृति यदि न भजसे॥ —ललितविस्तर, पृ० ४१७।

को उत्पन्न किया जिसे ऋषियों ने मन्मथ नाम दिया। इस देवता को ब्रह्मा ने वर दिया कि तुम्हारे बाणे लक्ष्य से कोई बच नहीं सकेगा, और इसीलिए तुम अपनी इस त्रिभुवन विजयी शक्ति से सृष्टि रचना में मेरी मदद करो। मदनदेवता ने वरदान और कर्तव्यभार दोनो को शिरसा स्वीकार किया। प्रथम प्रयोग उन्होने ब्रह्मा और सन्ध्या पर ही किया। परिणाम यह हुआ कि वे दोनो प्रेमपीडा से अधीर हो उठे। उन्हीके प्रथम समागम के समय ब्रह्मा के ४९ भाव, तथा सन्ध्या के बिब्बोक आदि हाव और ६४ कलाएँ हुई।* कला की उत्पत्ति का यही इतिहास है। कालिका पुराण के अतिरिक्त किसी अन्य पुराण से भी यह कथा समर्थित है या नही, यह मुझे ठीकठीक नही मालूम। परन्तु इतना स्पष्ट है कि उक्त पुराण स्त्रियो की चौंसठ कलाओ का जानकार है।

श्रीयुत ए० वेंकट सुब्बैया ने भिन्न भिन्न ग्रथो का सग्रह करके कलाओ पर एक पुस्तिका प्रकाशित कराई है जो इस विषय के जिज्ञासुओ के बडे काम की है। उक्त पुस्तिका मे सग्रहीत कला-सूचियो को ध्यान से देखने से पता चलता है कि कला उन सब प्रकार की जानकारियो को कहते है जिनमें थोडी चतुराई की आवश्यकता हो। व्याकरण, छन्द, न्याय ज्योतिष और राजनीति भी कला है, उचकना, कूदना, तलवार चलाना, और घोडे पर चढना आदि भी कला है, काव्य, नाटक, आख्यायिका, समस्यापूर्ति, बिंदुमती, प्रहेलिका भी कला है, स्त्रियो का शृगार करना, कपडा रँगना, चोली सीना और सेज बिछाना भी कला है, रत्न और मणियो को पहचानना घोडा, हाथी, पुरुष, स्त्री, छाग, मेष, कुक्कुट का लक्षण जानना चिडिया की बोली से शुभाशुभ का ज्ञान करना इत्यादि भी कला है, और तित्तिर-बटेर का लडाना, तोते का पढाना, जुआ खेलना वगैरह भी कला ही है। प्राचीन ग्रथो से जान पडता है कि कई कलाएँ पुरुषो के योग्य समझी जाती थी, यद्यपि कभी कभी गणिकाएँ भी उन कलाओ में पारगत पाई जाती थी। गणित, दर्शन, युद्ध, घुडसवारी आदि ऐसी ही कलाएँ है। कुछ कलाएँ विशुद्ध कामशास्त्रीय है। परन्तु सब मिलाकर ऐसा जान पडता है कि ६४ कोमल कलाएँ स्त्रियो के सीखने की है और चूकि पुरुष भी उनकी जानकारी रखकर ही स्त्रियो को आकृष्ट कर सकते है इसीलिए स्त्री प्रसादन के निमित्त उन्हें भी इन कलाओ की जानकारी होनी चाहिए। कामसूत्र में पचाल की कलाएँ विशुद्ध कामशास्त्रीय है, परन्तु वात्स्यायन की अपनी सूची मे काम-कलाओ के अतिरिक्त अन्यान्य सुकुमार जानकारियो का भी सम्बन्ध है। उनमे लगभग एक तिहाई तो विशुद्ध साहित्यिक है, बाकी कुछ नायक-नायिकाओ की विलास-क्रीडा मे सहायक है कुछ मनोविनोद के साधक है और कुछ दैनिक प्रयोजनो के पूरक है।† श्री० वेंकट सुब्बैया ने अपनी पुस्तिका में दस पुस्तको से दस सूचियाँ सग्रह की है। इनमें यदि पचाल और यशोधर की सूचियो को छोड दिया जाय तो बाकी सभी में काव्य, आख्यायिका, समस्यापूर्ति आदि को विशिष्ट कला समझा गया है। श्री० सुब्बैया की गिनाई हुई सूचियो के अतिरिक्त भी ऐसी सूचियाँ है जिनमें ६४ कलाओ की चर्चा है। सबमे काव्यादि का स्थान है।

परन्तु ऐसा जान पडता है कि आगे चलकर कला का अर्थ कौशल हो गया और भिन्न भिन्न ग्रथकार अपनी रुचि, वक्तव्य-वस्तु और सस्कार के अनुसार ६४ भेद कर लिया करते थे। सुप्रसिद्ध काश्मीरी पडित क्षेमेन्द्र ने कलाविलास नामक एक छोटीसी पुस्तक लिखी थी जो काव्यमाला सीरीज (प्रथम गुच्छक) में छप चुकी है। इस पुस्तक में वेश्याओ की ६४ कलाएँ है जिनमे अधिकाश लोकाकर्षण और धनापहरण के कौशल है, कायस्थों की १६ कलाएँ है जिनमे लिखने के कौशल से लोगो को धोखा देने की बात ही प्रमुख है, गानेवालो की अनेक प्रकार की धनापहरण के कौशलमयी कलाएँ है, सोना चुरानेवाले सुनारो की ६४ कलाएँ गिनाई गई है, गणको की बहुविध धूर्तताएँ भी कला के प्रसग मे ही गिनाई गई है

---

* उदीरितेन्द्रियो धाता वीक्षाचक्रे यदाथ ताम्।
तदैवह्यूनपचाशद् भावा जाता शरीरत।
बिब्बोकाद्यास्तया हावाश्चतुःषष्टिकलास्तया।
कन्दर्पशरविद्धाया सन्ध्याया अभवन्द्विजा॥ —कालिकापुराण, २, २८ २९।

† कामसूत्र १ ३।

और अन्तिम अध्याय में उन चौंसठ कलाओं की गणना की गई है जिन्हें सहृदयों को जानना चाहिए। इनमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की बत्तीस तथा मात्सर्य-शील-प्रभाव-मान की बत्तीस कलाएँ हैं। दस भेषज कलाएँ हैं जो मनुष्य के भीतरी जीवन को निरोग और निर्बाध बनती हैं और अन्त में कलाकलाप में श्रेष्ठ सौ सार-कलाओं की चर्चा है। क्षेमेन्द्र की गिनाई हुई इन शताधिक कलाओं में काव्य समस्यापूर्ति आदि की चर्चा भी नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने अपने वक्तव्य को चौंसठ या अधिक कम भागों में विभक्त करके 'कला' नाम दे देना बाद में साधारण नियम हो गया था! परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि कोई अनुश्रुति इस विषय में थी ही नहीं। चौंसठ की संख्या का घूम-फिरकर आ जाना ही यह सूचित करता है चौंसठ कलाओं की अनुश्रुति रही अवश्य होगी। जैन लोगों में ७२ की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। साधारणतः वे पुरुष कलाएँ हैं। ऐसा लगता है कि चौंसठ की संख्या के अन्दर प्राचीन अनुश्रुति में साधारणतः वे ही कलाएँ रही होंगी जो वात्स्यायन की सूची में हैं। कला का साधारण अर्थ उसमें स्त्री-प्रसादन और वशीकरण है और उद्देश्य विनोद तथा रसानुभूति। निश्चय ही उसमें काव्य का स्थान था। राज-सभाओं में काव्य-आख्यायिका आदि के द्वारा सम्मान प्राप्त किया जाता था और यह भी निश्चित है कि अन्यान्य कलाओं की अपेक्षा साहित्यिक कलाएँ अधिक श्रेष्ठ मानी जाती थीं। घटाओं, गोष्ठियों और समाजों में, उद्यान-यात्राओं में, क्रीड़ाशालाओं में, और युद्धक्षेत्र में, भी काव्यकला अपने रचयिता को सम्मान के आसन पर बैठा देती थी।

स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि वह काव्य कैसा होता था जो राज-सभाओं में सम्मान दिला सकता था या गोष्ठी-समाजों में कीर्तिशाली बना सकता था। सम्भवतः वह मेघदूत या कुमारसम्भव जैसे बड़े बड़े काव्य नहीं होते थे। वस्तुतः जो काव्य समाजों और सभाओं में मनोविनोद के साधन हुआ करते थे वे उक्ति-वैचित्र्य ही थे। दण्डी जैसे आलंकारिकों ने स्वीकार किया है कि कवित्व शक्ति यदि क्षीण भी हो तो भी कोई बुद्धिमान् व्यक्ति यदि काव्यशास्त्रों का अभ्यास करे तो वह राज-सभाओं में सम्मान पा सकता है।* राजशेखर ने उक्ति विशेष को ही काव्य कहा है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से कह रखना उचित है कि मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि रसमूलक प्रबन्ध-काव्यों को उन दिनों काव्य नहीं माना जाता था या उनके कर्ता सम्मान नहीं पाते थे, मेरा वक्तव्य यह है कि काव्य नामक वह कला जो कवियों को गोष्ठियों समाजों और राज-सभाओं में तत्काल सम्मान देती थी वह उक्ति वैचित्र्य मात्र थी। दुर्भाग्यवश ऐसे सम्मानों के वे सब विवरण हमें उपलब्ध नहीं हैं जिनका ऐतिहासिक मूल्य हो सकता था, पर आनुश्रुतिक परम्परा से जो कुछ प्राप्त होता है उससे हमारे वक्तव्य का समर्थन हो जाता है। यही कारण है कि पुराने अलंकार शास्त्रों में रस की उतनी परवा नहीं की गई जितनी अलंकारों, गुणों और दोषों की। गुण-दोष का ज्ञान वादी को पराजित करने में सहायक होता था और अलंकारों का ज्ञान उक्ति वैचित्र्य को अधिकाधिक आकर्षक बनाने में सहायक होता था। काव्य करना केवल प्रतिभा का विषय नहीं माना जाता था, अभ्यास को भी विशेष स्थान दिया जाता था। राजशेखर ने काव्य की उत्पत्ति के दो कारण बताए हैं, (१) समाधि अर्थात् मन की एकाग्रता और (२) अभ्यास अर्थात् बारम्बार परिशीलन करना। इन्हीं दोनों के द्वारा शक्ति उत्पन्न होती है। यह स्वीकार किया गया है कि प्रतिभा नहीं होने से काव्य सिखाया नहीं जा सकता। विशेषकर उस आदमी को तो किसी प्रकार कवि नहीं बनाया जा सकता जो स्वभाव से पत्थर के समान है, किसी कष्टवश या व्याकरण के निरन्तर अभ्यासवश नष्ट हो चुका है या तर्क की आग से झुलस चुका है या सुकवि जन के प्रबन्धों को सुनने का मौका ही नहीं पा सका है। ऐसे व्यक्ति को तो कितना भी सिखाया जाय कवि नहीं बनाया जा सकता क्योंकि कितना भी सिखाओ गधा

---

* न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबंधि प्रतिभानमद्‌भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवंकरोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
तदस्ततंद्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशेकवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥ —काव्यादर्श १, १०४-५।

गान नहीं कर सकेगा और कितना भी दिखाओ अंधा सूर्य को नहीं देख सकेगा।* पहला उदाहरण प्रकृत्या जड का है और दूसरा नष्ट-साधन का। यह और बात है कि पूर्व जन्म के पुण्य से या मंत्र सिद्धि से कवित्व प्राप्त हो जाय या फिर इसी जन्म में साधना से प्रसन्न होकर सरस्वती कवित्व शक्ति का वरदान करदें (कविकंठाभरण १-२८)। परन्तु प्रतिभा थोड़ी बहुत आवश्यक है अवश्य। कवित्व सिखानेवाले ग्रंथों का यह दावा तो नहीं है कि वे गधे को गाना सिखा देंगे परन्तु वे यह दावा अवश्य करते हैं कि जिस व्यक्ति में थोड़ीसी भी शक्ति हो उसे इस योग्य बना देंगे कि वह सभाओं और समाजों में कीर्ति पा ले।

यदि हम इस बात का ध्यान में रखें तो सहज ही समझ में आ जाता है कि उक्ति-वैचित्र्य को आलंकारिक आचार्यों ने इतना महत्त्व क्यों दिया है। उक्ति वैचित्र्य वाग् विजय और मनोविनोद की कला है। भामह ने बताया है कि वक्रोक्ति ही समस्त अलंकारों का मूल है और वक्रोक्ति न हो तो काव्य हो ही नहीं सकता। भामह की पुस्तक पढ़ने से यही धारणा होती है कि वक्रोक्ति का अर्थ उन्होंने कहने के विशेष ढंग को ही समझा था। वे स्पष्ट रूप से ही कह गए हैं कि "सूर्य अस्त हुआ, चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है, पक्षी अपने अपने घोंसले को जा रहे हैं।" इत्यादि वाक्य काव्य नहीं हो सकते क्योंकि इन कथनों में कहीं भी वक्रभंगिमा नहीं है। दोष उनके मत से उस जगह होता है जहाँ वाक्य की वक्रता अर्थ-प्रवाद में बाधक होती है। भामह के बाद के आलंकारिकों ने वक्रोक्ति को एक अलंकारमात्र माना है किन्तु भामह ने उसे काव्य का मूल समझा था। दण्डी भी भामह के मत का समर्थन ही कर गए हैं यद्यपि वे वक्रोक्ति का अर्थ अतिशयोक्ति समझ गए हैं। सिद्धान्ततः वक्रोक्ति को निश्चय ही बहुत दिनों तक काव्य का मूल समझा जाता रहा है पर व्यावहारिक रूप में कभी भी काव्य केवल वक्रोक्तिमूलक नहीं माना गया। उन दिनों भी रसमय काव्य लिखे जा रहे थे। परन्तु मैंने अन्यत्र (विश्वभारती पत्रिका खंड १, अंक १) दिखाया है कि उन दिनों रस का अर्थ प्रधान रूप से शृंगार ही माना जाता था। सरस काव्य का अर्थ होता था शृंगारी काव्य। इस प्रकार यदि उक्ति वैचित्र्य हुआ तब भी काव्य एक कला था क्योंकि उससे राजसभाओं और गोष्ठियों तथा समाजों में सम्मान मिलता था और सरस अर्थात् शृंगार ही हुआ तब भी वह कला ही था क्योंकि वात्स्यायन की कलाओं का मूल उद्देश्य वशीकरण और स्त्री प्रसादन था और वह उद्देश्य ऐसे काव्यों से सिद्ध होता था।

वक्रोक्ति काव्य का एकमात्र मूल है, यह सिद्धान्त सदियों तक साहित्य के अध्येताओं में मान्य रहा होगा, यद्यपि भिन्न भिन्न आचार्य इससे भिन्न भिन्न अर्थ समझते थे। नवीं या दसवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त की बहुत ही महत्त्वपूर्ण और आकर्षक परिणति कुन्तक या कुन्तल नामक आचार्य के हाथों हुई। उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर वक्रोक्ति की एक ऐसी व्यापक व्याख्या की कि वह शब्द काव्य के वक्तव्य को बहुत दूर तक समझाने में सफल होगया। कुन्तक के मत का सारमर्म इस प्रकार है—केवल शब्द में भी कवित्व नहीं होता और केवल अर्थ में भी नहीं होता शब्द और अर्थ दोनों के साहित्य अर्थात् एक साथ मिलकर भाव प्रकाश करने के सामंजस्य में काव्यत्व होता है। काव्य में शब्द और अर्थ के साहित्य में एक विशिष्टता होनी चाहिए। जब कवि प्रतिभा के बल पर एक वाक्य अन्य वाक्य के साथ एक विचित्र विन्यास में विन्यस्त होता है तब एक शब्द दूसरे से मिलकर रमणीय माधुर्य की सृष्टि करते हैं उसी प्रकार तद्गर्भित अर्थ भी उसके साथ होड करके परस्पर का एक अद्भुत चमत्कार से चमत्कृत करते हैं। वस्तुतः ध्वनि के साथ ध्वनि के मिलन और अर्थ के साथ अर्थ के मिलन से जो परस्पर स्पर्द्धिचारुता उत्पन्न होती है वही साहित्य है, वही काव्यत्व है।

काव्य के बहुत से गुण-दोष विवेचक ग्रंथ लिखे गए हैं पर सभी लेखकों ने किसी वस्तु के उत्कर्ष निर्णय में सहृदय को ही प्रमाण माना है। अभिनवगुप्त के मत से सहृदय वह व्यक्ति है जिनके मनरूपी मुकुर में—मनोमुकुर जो काव्यानुशीलन-

---

* यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः।
तर्केण दग्धोऽनलधूमिना वाऽप्यविद्धकर्णः सुकवि प्रबंधैः॥
न तस्य वक्तृत्व समुद्भवस्स्याच्छिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यति नार्कमंधः॥ (कविकंठाभरण १ २३)।

से स्वच्छ हो गया होता है—वर्णनीय विषय के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता होती है वे ही हृदय-संवाद के भाजन रसिक जन सहृदय कहे जाते हैं। परन्तु इतना कहना ही पर्याप्त नही है। हृदय-संवाद का भाजन कैसे हुआ जाता है। केवल शब्द और अर्थ की निरुक्ति जानने से यह दुर्लभ गुण नही उत्पन्न होता। प्रसिद्ध आलंकारिक राजानक रुय्यक ने सहृदयलीला नामक अपनी पुस्तक मे गुण अलंकार जीवित और परिकर के ज्ञान को सहृदय का आवश्यक गुण बताया है। गुण और अलंकार केवल काव्य के नहीं, वास्तविक मनुष्य के। इन गुणो और अलंकारादिकों को जानने से हम आसानी से समझ सकेंगे कि सहृदय किस प्रकार कला-सुकुमार हृदय का व्यक्ति होता था और जो वस्तु उसे ही प्रमाण मानकर उत्कृष्ट समझी जायगी उसमे उन सभी गुणो का होना परम आवश्यक होगा जिन्हें वात्स्यायन उत्तम नागरक या रसिक के लिए आवश्यक समझते है। कोई आश्चर्य नही यदि ऐसा काव्य वात्स्यायन की कलाओ मे एक कला मान लिया गया। सहृदयलीला के अनुसार गुण दस होते हैं :—

रूपं वर्णः प्रभा रागः आभिजात्यं विलासिता।
लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमीगुणाः॥

शरीर अवयवों की रेखाओं की स्पष्टता को रूप कहते हैं, गौरता, श्यामता आदि को वर्ण कहते है, सूर्य की भाँति चमकवाली कान्ति को प्रभा कहते है, अधरो पर स्वाभाविक हँसी खेलते रहने के कारण सबकी दृष्टि को आकर्षणकरने-वाले धर्म विशेष को राग कहते हैं, फूल के समान मृदुता और स्पर्श-सुकुमारता को आभिजात्य कहते हैं, अंगो और उपांगों से युवावस्था के कारण फूट पड़नेवाली विभ्रम-विलास नामक चेष्टाएँ जिनमे कटाक्ष भुजक्षेप आदि का समुचित योग रहता है, विलासिता कहलाती है, चन्द्रमा की भाँति आह्लादकारक वह सौन्दर्य का उत्कर्षभूत स्निग्ध मधुर धर्म जो अवयवो के उचित सन्निवेश जन्य मुग्धिमा से व्यंजित होता है लावण्य कहा जाता है, अंगोपांगों की असाधारण शोभा और प्रशस्तता का कारणभूत औचित्यमय स्थायी धर्म लक्षण कहा जाता है; वह सूक्ष्म भंगिमा जो अग्राम्यता के कारण वक्रिमत्वख्यापिनी होती है अर्थात् बाह्य शिष्टाचार, विक्रम-विलास और परिपाटी को प्रकट करती है, जिससे ताम्बूल-सेवन, वस्त्र-परिधान नृत्त-सुभाषित आदि मे वक्ता का उत्कर्ष प्रकट होता है छाया कहलाती है; सुभग उस व्यक्ति को कहते हैं जिसमे स्वभावतः वह रंजक गुण होता है जिससे सहृदयजन स्वयमेव आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर आकृष्ट होते हैं, इसी सुभग के आन्तरिक वशीकरण धर्म-विशेष को सौभाग्य कहते है। ये दस गुण विधाता की ओर से प्राप्त होते है, ये जन्मान्तर के पुण्यफल से मिलते हैं। अलंकार सात ही है—

रत्नं हेमांशुके माल्यं मण्डन द्रव्य योजने।
प्रकीर्णं चेत्यलंकाराः सप्तैवैते मयामताः॥

वज्र, मुक्ता, पद्मराग, मरकत, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुष्पराग, कर्केतन, पुलकरुधिराक्ष, भीष्म, स्फटिक, प्रवाल ये तेरह रत्न होते हैं। वराहमिहिर की वृहत्संहिता मे इनके लक्षण दिए हुए है। भीष्म के स्थान मे उसमे विषमक पाठ है। शब्दार्थचिन्तामणि के अनुसार यह रत्न हिमालय के उत्तर प्रान्त मे पाया जानेवाला कोई सफेद पत्थर है। बाकी के बारे मे वृहत्सहिता (अध्याय ८०) देखनी चाहिए। हेम सोने को कहते है। प्राचीन ग्रंथ मे यह नौ प्रकार का बताया गया है; जांबूनद, शातकौंभ, हाटक, वैणव, शृंगी, शुक्तिज, जातरूप, रसविद्ध और आकरोद्गत। इन तेरह प्रकार के रत्नों और नौ प्रकार के सोनों से नाना प्रकार के अलंकार बनते है। ये चार श्रेणियो के होते हैं—(१) आवेध्य, (२) निबन्धनीय, (३) प्रक्षेप्य और (४) आरोप्य। ताड़ी, कुण्डल, कान के बाले आदि अलकार अंगो को छेदकर पहने जाते हैं इसलिए आवेध्य कहलाते है; अगद (बाहुमूल मे पहना जानेवाला अलंकार) श्रोणी-सूत्र (करधनी आदि) चूड़ामणि प्रभृति बाँधकर पहने जाते है इसलिए उन्हे निबन्धनीय कहते है, अर्मिका, कटक, मंजीर आदि अंग मे प्रक्षेप-पूर्वक पहने जाते है इसलिए प्रक्षेप्य कहा जाता है; झूलती हुई माला, हार, नक्षत्रमालिका आदि अलकार अरोपित किए जाने के कारण आरोप्य कहे जाते है। वस्त्र चार प्रकार के होते है, कुछ छाल से (क्षौम), कुछ फल से (कार्पास) कुछ रोओं से (रांकव) और कुछ कीटो के कोश से (कौशेय) बनते है। इन्हे भी तीन प्रकार से पहनने की प्रथा है—पगड़ी, साड़ी आदि निबन्धनीय है, चोली

आदि प्रक्षेप्य है, उत्तरीय (चादर) आदि आरोप्य ह। वर्ण और सजावट के भेद से ये नाना भांति क होते ह। सोने और रत्न से बने हुए अलकारो की भांति माल्य के आवेध्य, निबन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्य ये चार भेद होते हैं। प्रत्येक भेद में ग्रथित और अग्रथित रूप से दो दो उपभेद हो सकते ह। इस प्रकार कुल मिलाकर माल्य के आठ भेद होते ह—वेष्टित विस्तारित, सघात्य, ग्रथिमत्, उद्वनित, अवलबित, मुक्तक और स्तवक। कस्तूरी, कुकम, चन्दन, कर्पूर, अगुरु, कुल्व, ... पटवास, सहकार, तल, ताम्बूल, अलक्तक, अन्जन, गारोचना आदि से मण्डन द्रव्य बनते ह। भ्रू घटना, केशरचना, जूडा बांधना आदि योजनामय अलकार ह। प्रकीर्ण अलकार दो प्रकार के होते हैं (१) जन्य और (२) निवेश्य। श्रमजल, मदिरामद आदि जन्य ह और दूर्वा, अशोक, पल्लव, यवाकुर, रजत त्रपु, शख, तालदल, दन्तपत्रिका, मृणालवलय, ... निवेश्य ह। इन सबके समवाय को वेश कहते ह। यह वेश देशकाल की प्रकृति और अवस्था के सामजस्य से ... शासनीय होता है। इनके उचित सन्निवेश से रमणीयता की वद्धि होती है। परतु अलकार इतने ही नहीं है। ये ... अलकार ह। अगज, अयत्नज और स्वभावज तीन अलकार और होते ह। भाव, हाव और हेला अगज अलकार ह, शोभा कान्ति माधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये अयत्नज अलकार ह और लीला, विलास, विच्छित्ति, वि... किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित और विहृत ये दस स्वभावज अलकार ह। इनका लक्षण ... ग्रथो में देखना चाहिए। शोभा का जीवित या प्राण यौवन है और निकट से उपकारक परिकर। इनका विस्तार रीति ग्रथो में मिलेगा।

इस प्रकार के सहृदय के चित्र को जो कविता तन्मय कर सके वह अवश्य ही वात्स्यायन की स्त्री प्रमादिनी ... वशीकारिणी कला में स्थान प्राप्त करेगी। वस्तुत जिन दिनो काव्य को कला कहा गया था उन दिनो उसके इन्हीं दो ... का प्राधान्य लक्ष्य किया गया था (१) उक्ति-वैचित्र्य और (२) सहृदय-हृदय रजन। ज्यो ज्यो अनुभव का क्षेत्र ... विचार का क्षेत्र विस्तीर्ण होता गया त्यो त्यो कला की परिभाषा भी व्यापक होती गई और काव्य का क्षेत्र भी विस्तीर्ण होता गया।

हर हर महादेव हर हर ।

श्री मैथिलीशरण गुप्त

नारायण मय हो नर नर ।
हर हर महादेव हर हर ॥

कोरी नीति न केवल बल हो, उभय समन्वय पावें ।
मिटें विषमताएं आपस की, सब समत्व पर आवें ॥
तम से ज्योति, असत् से सत् की ओर सतत हम जावें ।
काल-सर्प को रज्जु बनाकर, खींच अमृत घट-लावें ॥

पियें पिलावें रस भर भर ।
हर हर महादेव हर हर ॥

एक पंथ के पथिक सभी हम, सबकी एक महत्ता ।
इष्ट परस्पर परिचर्या रत, प्रेममयी परवत्ता ॥
जन का सामाजिक जीवन हो, मानों मधु का छत्ता ।
रहे सत्य-सुन्दर दोनों पर, हे शिव तेरी सत्ता ॥

वहे सुगति-गंगा झर झर ।
हर हर महादेव हर हर ॥

* समाप्त *

संशोधन

१. पृष्ठ ४२२ के नीचे यह टिप्पणी जोड़ने का कष्ट करें:——

टिप्पणी—

जिस युग के धर्मान्ध-प्रचार ने राम और कृष्ण जैसी विभूतियो को दुश्चित्रित करने का साहसपूर्ण काम कर डाला हो उस युग के साहित्य मे यदि देश के पूर्ववर्ती प्रमुख व्यक्ति समकालीन महज्जनो के विषय मे तथा विशिष्ट स्थानो के विषय में भ्रामक वाते अकित कर रखी हो तो विस्मय का विषय नही। आज स्वत: उसी समाज या सम्प्रदाय के अनुगामियो की दृष्टि मे वे 'सत्य' वनने मे असमर्थ वन गई है। वर्तमान तथ्य निरीक्षक वैज्ञानिक युग मे उस प्रचार-भार वाहिनी रचनाओं के पुनरुच्चारित करने की आवश्यकता भी नही रह गई है। फिर उसके तथ्यानुमोदित वनाने का विचार तो और भी उपहासास्पद ही होगा। जिन "परम भागवत" "परम माहेश्वरो" के अनेक शिला-ताम्र-लेखो ने प्रत्यक्ष उपस्थित होकर अपनी वास्तविकता का प्रमाण प्रकट कर दिया है, उनके विषय मे अव तक जो भी साहित्य किसी 'धर्मान्तिर दीक्षित' होने की भावना को अज्ञ-समाज मे पोषित करता चला जाता हो, वह जिस पत्र पर लिखा गया होगा उसका वजन भी वह निरर्थक वढ़ाकर उस तोल का मूल्य भी नही रख सकता है। वह निरर्थक प्रयास और दुराग्रह को प्रश्रय देना ही कहा जायगा। महाकालेश्वर का मन्दिर भारत का सर्व विश्रुत महत्त्व रखनेवाला स्थान है। जिसके लिए विभिन्न युगो मे समुत्पन्न महाकवि कोविदगण, तथा कालिदास, भास, वाण आदि ने समादर व्यक्त किया हो, और जिसके लिए गतश: पृष्ठो मे उपनिषद् और १८ पुराणो ने यशोगाथा का अकन किया हो, उसकी प्रति-शताब्दि-प्रथित-परम्पराओ को सहसा किसी कल्पित 'कहानी' का आधार मानकर अनुमानों, और असंगतियो से भरे कथनो से 'धर्मान्तिरित' स्थान वतलाने का साहस करना इतिहास का उपहास ही करना होगा। कुमारी क्रौझे का लेख इस ग्रथ मे केवल विचार स्वातत्र्य की भावना से यहाँ ही दिया जा रहा है। लेखिका ने जैन साहित्य का अनुशीलन किया है। और इस लेख के लिए श्रम भी किया है। लेखिका स्वयं अनेक उद्धरणो को देने का श्रम लेकर यह मान्यता वनाने को विवश हुई है कि :——

"स्वधर्म परायण प्राचीन श्वेताम्वर-वृद्ध-परम्परा ने सूक्ष्म ऐतिहासिक खोज को अपना कर्त्तव्य नही समझकर ऐसी भ्रान्तियो को शुद्ध करने की तरफ उदासीनता रखी है। इसके अतिरिक्त खोज के साधनों के अभाव से भी व्यक्तिगत ग्रथकारो को अपने अपने मूल ग्रथों पर अन्ध विश्वास रखना ही पड़ता था। इसके परिणामस्वरूप गुप्तकालीन सिद्धसेन दिवाकर द्वारा सम्वत् प्रवर्तक विक्रमादित्य का प्रतिबोधित होना आदि विचित्र भ्रान्तियां भी अशोधित रहकर शताव्दियो के क्रम से जैन साहित्य के सर्वमान्य सिद्धान्त वन सकी। ऐसी एक भ्रान्ति स्वरूप श्री अवन्ती सुकुमाल के स्मारक मन्दिर मे से महाकालेश्वर मन्दिर का उत्पन्न होना भी समझा जा सकता है।"

जिस 'कहानी' को 'सत्य' वनाने के लिए अनेक ग्रथकारो ने अनेक रचनाओ मे समाविष्ट किया, वह यद्यपि 'धर्मान्धिता तक' ही जीवित वनी रह सकी है परन्तु उसको 'सत्य' वनाने का साहस तो कदापि नही किया जा सकता, तथ्यनिरीक्षक दृष्टि के सर्व साधारण मे अभाव होने के कारण 'भ्रामक प्रचार' का एक विषय वनी रही है। विवेचक, एवं सत्य-प्रिय विद्वानो का यह कर्तव्य है कि साहित्य मे से ऐसे अनुमानाश्रित असगत असत्यो का मार्जन करदे। 'कहानी' और 'सत्य' ये अपने नाम का ही महत्त्व रख सकते है। महाकालेश्वर मन्दिर को स्मृति मन्दिर वनानेवाली कहानी यद्यपि 'कहानी' तक ही जीवित रही है, पर वह 'सत्य' कदापि न वन सकी, न वन सकेगी। अवश्य ही ऐसी असगतियो से भरे हुए साहित्य के लिए अनेक आशकाएँ उत्पन्न कर सकेगी। सू० ना० व्या०।

२. पृष्ठ ४२९ का शीर्ष का ब्लाक उल्टा छपा है।

३. 'उज्जैन की वेधशाला' लेख (पृष्ठ ४५५) में लेखक का नाम 'रघुनाथ' के स्थान पर 'रामचन्द्र' छप गया है। पाठक कृपा कर ठीक करलें।